॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५१

॥ श्रीः ॥

# कादम्बरी-पूर्वभागः

'चन्द्रकला' 'विद्योतिनी' समेतः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मूल्यं १२-५०

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५१



श्रीबाणभट्टप्रणीता

# कादम्बरी

## 'चन्द्रकला' 'विद्योतिनी' द्वयोपेता

व्याख्याकारः

**आचार्यः श्रीकृष्णमोहनठक्कुरः** एम. ए.

( प्रधानाचार्य, रणवीरसंस्कृतपाठशाला, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी )

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी.

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी.

संस्करण : तृतीय, संवत् २०१७.

मूल्य : ३-७५.



Chowkhamba Sanskrit Series Office,

P. O. Box 8, Varanasi.

( INDIA )

1960

# प्रस्तावना

## संस्कृत-गद्य

संस्कृत-भाषा का गद्य-साहित्य कुछ अपनी विशिष्टता लिए हुए हैं। गद्य का प्रथम आविर्भाव हमें वैदिक-संहिताओं में ही प्राप्त होता है। समग्र ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना भी गद्य-रूप में ही हुई है। इतना ही नहीं आरण्यक एवं प्राचीन उपनिषद् भी गद्यात्मक ही हैं। लौकिक संस्कृत-गद्यों की अपेक्षा वैदिक साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत व्यापक एवं उदार-रूप से हुआ है।

समस्त दर्शन-ग्रन्थों की सैद्धान्तिक विवेचना गद्य-रूप में ही मिलती है। ऐसा होने पर भी आयुर्वेद एवं ज्यौतिष आदि के ग्रन्थ पद्य में ही मिलते हैं। लौकिक संस्कृत-ग्रन्थों की अधिकतर रचना पद्यों में ही हुई, उसका एकमात्र कारण था शीघ्रता से स्थायीरूप में अभ्यास हो जाना। क्योंकि छन्दोबद्ध पद्य का रूप संगीतमय एवं लघुकाय हो जाता है, जिससे वे स्मृति-पट पर अमिट रूप से अङ्कित हो जाते हैं।

संस्कृत-गद्य में समासवाले पद अधिक प्रयुक्त होते हैं, जिससे गद्य का लघु रूप हो जाता है। ऐसी स्थिति अन्य किन्हीं भाषाओं में नहीं है। समास संस्कृत-गद्य का जीवन है। इसमें ओजोगुण का आधिक्य रहता है, जिसके कारण ही अद्भुत-प्रकार की भावग्राहिता और गाढ़बन्धता का सञ्चार होता है। इससे गद्य का सौन्दर्य पूर्ण-रूप से विकसित हो जाता है। समास की बहुलता रूप ओज ही गद्य का प्राण है। इस बात को **दण्डी** ने अपने काव्यादर्श में स्पष्ट रूप से बताया है(१)। दण्डी का आविर्भाव गद्य के सुवर्णयुग में हुआ था। ईसवीय प्रथम तथा द्वितीय शतक के शिलालेखों में प्रचुरता से इस गद्य की उपलब्धि होती है। शास्त्रीय ग्रन्थों एवं टीका-टिप्पणियों में गद्यों का ही साम्राज्य है। यद्यपि लैटिन भाषा का ही गद्य अधिक प्रौढ़, सुन्दर एवं ओजस्वी बतलाया जाता है, तथापि यह पक्षपातरहित सत्य है कि संस्कृत-भाषा के गद्य में इन गुणों का उससे कहीं अधिक-मात्रा में सन्निवेश हुआ है।

पौराणिक ग्रन्थ में हम वैदिक तथा लौकिक संस्कृत गद्यों का संमिश्रण पाते हैं। उदाहरण के लिए यह स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण का गद्य नितान्त आलङ्कारिक तथा प्रासादिक है।

## गद्य-कथा का अभ्युदय

कात्यायन ने 'क्रतूक्थादिसूत्रान्त्राट्ठक्' ( ३।२।६० ) सूत्र के अपने वार्तिक—'आख्यानाख्यायिकेतिहास-पुराणेभ्यश्च' में आख्यान और आख्यायिका का पृथक् रूप में स्पष्ट उल्लेख किया है। इसके ऊपर भाष्य करते समय पतञ्जलि ( ई० पू० ३०० ) ने 'यवक्रीत' 'प्रियङ्गव' तथा 'ययाति' का आख्यान के उदाहरण में एवं

---

( १ ) 'ओजःसमासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।' ( काव्यादर्श )

'वासवदत्ता' और 'सुमनोहरा' का आख्यायिका के उदाहरण में नाम निर्देश किया है। इससे पता चलता है कि संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही हुआ था।

कादम्बरी के मुखभाग में बीसवें पद्य में **'धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा'** ऐसा स्पष्ट उल्लेख किया गया है, इससे पता चलता है कि कादम्बरी गद्य-कथा के पहिले 'वासवदत्ता' और 'बृहत्कथा' नाम की दो कथाएँ बनकर प्रसिद्ध हो चुकी थीं, जिन्हें अतिक्रमण करने के लिए ही बाणभट्ट का प्रयास इस कादम्बरी के रूप में सफल हुआ है।

काव्य-ध्वनि तथा गुणीभूत, श्रव्य तथा दृश्य भेद से चार प्रकार के हैं। उनमें श्रव्य गद्य-पद्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। छन्दोबद्ध पद्य कहलाता है, वृत्तबन्धोज्झित गद्य। गद्य भी कथा-आख्यायिका-भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें कादम्बरी कथारूप गद्य काव्य है। कथारूप गद्य काव्य में सरस पदार्थों का आर्या, वक्त्रक, अपवक्त्रक आदि छन्दों में ही समावेश होता है और आरम्भ में पद्यों से नमस्कार एवं खलादिकों का वृत्त-कीर्त्तन होता है। विशेषतया मुक्तक, चूर्णक, वृत्तगन्धि, उत्कलिका भेद से गद्य चार प्रकार के होते हैं। जिनमें कादम्बरी-कथा का गद्य उत्कलिकाप्राय है। आख्यायिका भी कथा की तरह ही होती है, किन्तु इसमें अन्य कवियों का भी समावेश होता है और कथाओं का विराम जहाँ होता है उसे **'आश्वास'** नाम दिया जाता है, इत्यादि। साहित्य-दर्पणकार **विश्वनाथ** ने कथा और आख्यायिका का पृथक् पृथक् भेद स्पष्ट करते हुए बाणभट्ट की कथा रूप कादम्बरी और आख्यायिका रूप हर्षचरित का ही उद्धरण दिया है(१)।

लौकिक गद्य काव्यों के लेखकों में सुबन्धु का ही सर्वप्रथम स्थान है। 'वासवदत्ता' इनकी एकमात्र कृति है। बाण ने इसे महावीर की शक्ति के समान बतलाकर इसकी महनीय प्रशंसा की है। पारमार्थिक रूप से विचार करने पर पता चलता है कि रस-भाव से पूर्ण अभिनवार्थ की कल्पना इसमें है ही नहीं, केवल श्लेष का ही सर्वत्र चमत्कार दिखलाई देता है। कवि का कौशल गद्य काव्य के द्वारा ही परीक्षित है। प्राचीनों ने गद्य को कवियों की कसौटी माना है(२)। गद्य में कविको पूरी सफलता मिलने का श्रेय प्राप्त होता है। बाण का मूर्धन्य स्थान गद्य कवियों में ही नहीं है, किन्तु महाकवियों में भी ये चूड़ामणि ही माने जाते हैं।

## कादम्बरी

यह संस्कृत-साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। इसमें भाषा-भाव एवं शब्द और अर्थ का समुचित सन्निवेश हुआ है। ग्रंथ के इस आश्रमवर्णन-पर्यन्त छोटे से भाग को ही हम देखते हैं तो पता चलता है कि यदि कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहस-प्रेमी शबर-सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन जाबालिमुनि तथा उनके परम-पावन मनोरम आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय मोह रही है। इस ग्रन्थ के सभी स्थलों में अलंकारों का मधुर झङ्कार कानों

---

(१) 'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम्॥' यथा—कादम्बर्यादिः।
'आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकीर्त्तनम्। अस्यामन्यकवीनाञ्च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वासइति कथ्यते। आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।' यथा—हर्षचरितादि)

(२) 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।'

को सुख दे रहा है। रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यंजना हृदय को प्रफुल्लित कर रही है। यथार्थ में विचार करें तो अलंकार तथा रस के मधुर मिलन में—भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में—कल्पना तथा वर्णन के अपूर्व संघटन में—कादम्बरी संस्कृत साहित्य में अनुपम ग्रन्थ है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त करनेवाली मीठी मदिरा है। बाणतनय की उक्ति ही उत्तरार्द्ध में इसका समर्थन करती है(१)।

इसमें हृदयग्राहिणी उपमाओं, चमत्कारी श्लेषों एवं सुन्दर परिसंख्याओं का अधिक विलक्षण सन्निवेश हुआ है। भव्यार्थ कमनीय एवं मनोहारी है। महाकवि की कविता मौलिक अर्थों की निधि है। अर्थों का पिष्ट-पेषण कहीं भी इसमें दिखाई नहीं देता, सर्वत्र अभिनव अर्थ ही विद्यमान हैं। प्राकृतिक दृश्य वर्णन में तो इनकी निपुणता अत्यधिक है(२)। उदाहरण के रूप में इनकी कविताओं में पहिले उपर्युक्त गुणावलियों में उपमा के लिए इस ग्रन्थ के चतुर्थ पद्य को ही ले लीजिये(३)। जिसमें खलों की शृङ्खला से तथा सज्जनों की मणिनूपुर से जो उपमा दी गई है वह हृदय को अत्यधिक चमत्कृत करती है। गद्य कविता के दिग्दर्शन में इसी प्रस्तुत छोटे अंश के अन्तर्गत आश्रमवर्णनप्रसंग में परिसंख्या का रोचक प्रयोग विदग्धों का नितान्त हृदयावर्जक है(४)।

कादम्बरी में अनुकूल धीरोदात्त नायक है। 'कादम्बरी' विवाह से पहिले कन्या परकीया, मुग्धा नायिका है। विवाह के अनन्तर ( उत्तरार्ध में ) स्वकीया मध्या नायिका है। यहाँ प्रधान रस विप्रलम्भ शृङ्गार है। पूर्व भाग और उत्तर भग के कुछ अंश तक पूर्वरागरूप, शेष में करुणरूप है। कहीं पर सम्भोग शृङ्गार भी है, तो कहीं कहीं पर करुण, हास्य आदि रस भी विद्यमान हैं। माधुर्य गुण की इसमें अधिकता है, जहाँ तहाँ प्रसाद गुण भी है। पाञ्चाली रीति अधिक है, गौड़ी आदि रीतियाँ भी जहाँ-तहाँ अवश्य हैं। इस प्रसङ्ग में म. म. हरिदास सिद्धान्तवागीशजी ने सुन्दर रूप में एक पद्य का उद्धरण दिया है(५)।

## महाकवि बाणभट्ट

महाकवि बाणभट्ट सरस्वती के वरद पुत्र थे। प्राचीनतम संस्कृत के कतिपय महाकवियों की जीवनी अन्धकार से अनावृत्त नहीं है। किन्तु यह परम सौभाग्य का विषय है कि बाण ने हर्षचरित के प्रथम दो परिच्छेदों में अपने वंश एवं जीवनचरित का सुन्दर सुस्पष्ट वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि इनके पूर्वज सोन नद पर 'प्रीतिकूट' नामक नगर में निवास करते थे। यह स्थान सम्भवतः बिहार प्रान्त के पश्चिमभाग

---

(१) 'कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।'

(२) देखिये—वाचस्पति गैरोला का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास'

(३) 'कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव ।
मनस्तु साधु ध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥'

(४) 'यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितम् , वयःपरिणामे द्विजपतनम् , उपवनचन्दनेषु जाड्यम् , अग्नीनां भूतिमत्वम् , एणकानां गीतव्यसनम् , शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ।' ( कादम्बरी )

(५) 'चन्द्रापीडोऽनुकूलः सकलगुणधरो नायकोऽस्मिन्नुदात्तो
नेत्री कन्याऽन्यदीया मृदुललिततनुर्मुग्धकादम्बरी च ।
पाञ्चाली नाम रीतिर्विलसति बहुला विप्रलम्भो रसोऽङ्गी
माधुर्याख्यो गुणो वा कविमुकुटमणेः काव्ययोरन्त्यमेतत् ॥'

शाहाबाद (आरा) जिले के अन्तर्गत था। इनका कुल वात्स्यायन गोत्रीय था। वात्स्यायन से छठी सन्तति में बाण का स्थान है(१)।

बाल्यावस्था में ही इनकी माता **राजदेवी** का स्वर्गवास हो गया था। जब ये चौदह वर्ष के थे तभी इनके पिता **चित्रभानु** भी परलोकवासी हो गये। उस समय पैतृक-सम्पत्ति इनके पास अधिक थी किन्तु वैसे सुयोग्य अभिभावक के न रहने के कारण अपने मित्रों के साथ बाण—ग्राम, नगर एवं देशदेशान्तरों का परिभ्रमण कर बहुत दिनों के बाद अपने नगर लौट आये। इस बीच में हर्ष के दरबार में अन्य विद्वान् इनकी पर्याप्त निन्दा कर चुके थे, जिससे हर्ष को इनके प्रति श्रद्धा नहीं रह गई थी। एक दिन अचानक हर्ष के चचेरे भाई **कृष्ण** के दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया, जिसमें यह संकेत किया गया था कि—तुम अविलम्ब दरबार में चले आओ। बाण ने पत्र पढ़ने के अनन्तर ही **श्रीहर्ष** की सभा में उपस्थित होने के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचने पर यद्यपि पहिले राजा द्वारा इनका अपमान तो अवश्य हुआ किन्तु अपने प्रखर पाण्डित्य के बल से राजा को प्रसन्न कर इन्होंने राजप्रदत्त सर्वोच्च आसन ग्रहण किया। कुछ समय के बाद राजा से विशेष आग्रह किये जाने पर इन्होंने सर्वप्रथम हर्षचरित आख्यायिका का निर्माण किया।

## महाकवि बाणभट्ट का समय

बाणभट्ट, मातङ्गदिवाकर और मयूर श्रीहर्ष की सभा में प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। राजशेखर ने इन कवियों का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है(२)। चीनदेशीय प्रसिद्ध यात्री 'ह्वेनत्साङ्ग' ने ६२९-३४५ ई० तक भारत का पर्यटन किया था। उन्होंने अपने लेख में यह स्पष्ट किया है कि—'उत्तर भारत में उस समय श्रीहर्ष ही एकमात्र अधिपति थे, दूसरा कोई प्रशासक नहीं था।' भारतीय इतिहास से यह स्पष्ट पता चलता है कि ६०६ ई० में श्रीहर्ष थानेश्वर में सिंहासनारूढ़ हुए और ६४८ तक उन्होंने राज्य किया। यद्यपि भारतीय राजाओं में हर्ष नाम के अनेक व्यक्ति हो गये हैं, किन्तु यह निश्चित है कि—थानेश्वर के अधिपति ही बाण

---

**(१) हर्षचरितानुसार बाण का वंशक्रम**

ब्रह्मा
|
पुलह
|
वात्स्य ('स्वयं वात्स्यस्तु पुलहात्'—ब्रह्मवैवर्त)
|
कुबेर
|
अच्युत, ईशान, हर, पाशुपत
|
(पाशुपत) अर्थपति
|
भृगु, हंस, शुचि, कवि, महीदत्त, धर्म, जातवेदा, चित्रभानु, लक्ष, आर्हस्त, विश्वरूप
|
(चित्रभानु) बाणभट्ट
|
भूषणभट्ट

[पुलिन्द यह नाम वहाँ नहीं है।]

(२) 'अहो! प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः। श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥'

के हर्षचरित के नायक थे। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि ६०० ई० के अन्तिम एवं ७०० ई० के पूर्वार्ध में बाणभट्ट थे।

हर्षचरित में बाण ने अपने पूर्वग्रन्थकारों में व्यास, भट्टार हरिचन्द्र, सातवाहन, सेतुकृत्प्रवरसेन, भास, कालिदास और आढ्यराज का, एवं ग्रन्थों में वासवदत्ता, बृहत्कथा का नामोल्लेख किया है। बाण के परवर्त्ती वामन ( ८०० ई० ), आनन्दवर्धन ( ९०० ई० ), भोजराज ( ११०० पूर्वार्ध ) आदि महाकवियों ने मुक्तकण्ठ से बाण की प्रशंसा की है। इससे भी यही निश्चित होता है कि बाण का समय सप्तम शतक का पूर्वार्ध अवश्य रहा होगा।

## जाबाल्याश्रम कथा

विदिशा नाम की प्रसिद्ध राजधानी में समस्त गुणों का आकर शूद्रक नाम का राजा राज्य करता था। एक समय जब वह सभामण्डप में राजाओं से परिवेष्टित होकर परस्पर वार्त्तालाप कर रहा था, तब प्रतिहारी ने आकर उससे निवेदन किया—महाराज! एक चाण्डालकन्या पिंजड़े में वैशम्पायन नामक शुक ( तोते ) को लेकर एक वृद्ध के साथ द्वार पर खड़ी है और आपका दर्शन करना चाहती है। उस समय कौतुकी राजा ने उसे अविलम्ब प्रवेश कराने की अनुमति दे दी। तदनन्तर आज्ञा पाकर वे दोनों राजा के समक्ष उपस्थित हुए। चाण्डालकन्या के प्रणाम करने के अनन्तर वह वृद्ध प्रणामपूर्वक उस शुक को राजा के आगे रखकर उसकी गुणावलियों को सुनाकर अतिशीघ्र वहाँ से चला गया। उनके चले जाने पर उस शुक ने अपने दाहिने चरण को उठाकर राजा की प्रशंसा में इस आर्या को पढ़कर सुनाया :—

**'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।**
**चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ॥**

इसे सुनकर सभासदों के साथ राजा अत्यधिक आश्चर्यान्वित हो—'इसे अन्तःपुर में शीघ्र ले जाकर स्वादु भोजनादि द्वारा तृप्त कराओ'—ऐसी आज्ञा देकर नित्य कृत्य के लिये सभामण्डप से उठ गया। नित्य-कृत्य सम्पन्न हो जाने के अनन्तर परम बुद्धिमान् कुमारपालित नामक प्रधान मन्त्री के साथ आनन्द से बैठकर राजा ने उस तोते को मँगवाकर उसे अपना समस्त वृत्तान्त सुनाने के लिये आदेश दिया। इसके बाद उसने इस प्रकार अपना वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया :—

विन्ध्य नाम के जङ्गल में एक विशाल शाल्मली ( सेमर ) वृक्ष के कोटर में मेरे माता-पिता रहते थे। मेरे उत्पन्न होने के अनन्तर ही जब मेरी माता का देहावसान हो गया, तब मेरे वृद्ध पिता ने ही मेरा पालन किया। एक समय मृगया ( शिकार ) करने के लिए मातङ्ग नामक सेनापति के पीछे पीछे चलने वाला कोई वृद्ध शबर अपने साथियों से बिछुड़ कर उस शाल्मली वृक्ष के निकट उपस्थित हुआ। वहाँ पक्षियों का कोलाहल सुनकर अपनी बुभुक्षा निवृत्ति के लिए वह उस वृक्ष पर चढ़कर तोतों के प्राण ले-लेकर उन्हें भूमि पर पटकने लगा। मेरे पुत्र पर भी कदाचित् यह दुष्ट आक्रमण न कर दे इस भय से मेरे पिता ने अपने पंखों में मुझे चिपका लिया। उस चाण्डाल के द्वारा जब वे भी मार कर नीचे फेंके गये तब मैं भी उनके साथ ही नीचे चला आया किन्तु संयोगवश उस समय उस दुष्ट ने मुझे नहीं देखा। मैं वहाँ से धीरे-धीरे खिसकर एक तमाल वृक्ष की जड़ में जा छिपा। इतने में वह दुष्ट नीचे उतरकर मरे हुए पक्षियों को लेकर चला गया। तदनन्तर मुझे पिपासा अधिक लगी जिससे अत्यधिक व्याकुल होकर मैंने आसपास में ही जल का अन्वेषण करने के लिए वहाँ से चलने का उद्योग किया, किन्तु उड़ने का सामार्थ्य उत्पन्न न होने के कारण उस स्थान में ही इधर-उधर तड़प रहा था। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर महर्षि जाबालि का अतिरमणीय पवित्र आश्रम था।

॥ श्रीः ॥

# कादम्बरी

## चन्द्रकला-विद्योतिनी-व्याख्योपेता

### मङ्गलाचरणम्

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे ।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥ १ ॥

---

ध्यायेत्सत्यं परमगहनं शुद्धमद्वैततत्त्वं मायातीतं सुरवरनुतं सर्वलोके विभातम् ।
स्थूलं मूलं सकलमहसां सच्चिदानन्दरूपं सृष्ट्यारम्भे गुणगणयुतं तत्त्वबोधैकगम्यम् ॥
श्रीलोकनाथशर्माणं तातं दैवज्ञभूषणम् । यशसा द्योतितं शश्वत् प्रणमामि महाशयम् ॥
साहित्यतत्त्ववेत्तारं विद्वत्कुलविभूषणम् । भट्टाचार्यं सद्गुरुं तं 'ताराचरण'संज्ञकम् ॥
ग्रन्थग्रन्थिविभेदाय व्याख्याने सुलभाय च । सत्तत्त्वाधिगमायापि नमामि ब्रह्मरूपिणम् ॥
कादम्बर्या'श्चन्द्रकलां' व्याख्यां 'विद्योतिनीं'तथा । कृष्णमोहनशर्माहं वितनोमि स्फुटाशयाम् ॥
कदाचित्किं न लोकैस्तु कटुरास्वाद्यते मुदा । व्याख्यानं च तथैवैतज्जिघृक्षिष्यन्ति किन्न हि ? ॥

अथ तत्रभवान् ग्रन्थकारः निर्विघ्नं प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामः 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' इति शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्त्तव्यताकं जगत्कारणसगुणब्रह्मनमस्कारात्मकं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थादौ निबध्नाति–रजोजुष इति । प्रजापदमत्र 'प्रजायन्त' इति व्युत्पत्त्या अनित्यपदार्थमात्रोपलक्षकम् । एवञ्च प्रजानां संसाराणां जन्मनि प्रादुर्भावसमये रजोजुषे रजोगुणावलम्बिने हिरण्यगर्भाय विरञ्चिरूपिणे, स्थितौ प्रजानां परिपालनकाले सत्त्ववृत्तये सत्त्वगुणयुक्ताय विष्णुरूपिणे, तथा प्रलये प्रजानां संहारसमये तमःस्पृशे तमोगुणयुक्ताय रुद्ररूपिणे, सर्गः सृष्टिः, स्थितिः पालनं, नाशः संहारः तेषां हेतवे निमित्तकारणाय, त्रयीमयाय ब्रह्मविष्णुशिवस्वरूपाय, यथा मृद उत्पन्नेऽपि घटे मृन्मय इति व्यवहारस्तथा त्रयाणां ब्रह्मण उत्पादकत्वेऽपि त्रयीमयत्वव्यवहार इति केचित् । त्रिगुणात्मने त्रिगुणं माया आत्मनि स्वस्मिन् यस्य तस्मै मायावते, अजाय जन्मादिषड्विकाररहिताय नित्याय कूटस्थाय परब्रह्मण इत्यर्थः, नमः नमस्कारः अस्त्विति शेषः ।

यथैकस्मिन् स्फटिके नीलपीतादिगुणयोगान्नीलः पीत इति व्यपदेशस्तथैकस्मिन्नपि परब्रह्मणि सृष्टिसमये रजोगुणयोगात्प्रजापतिरिति स्थितिसमये सत्त्वगुणयोगाद्विष्णुरिति विनाशसमये तमोगुणयोगाद् रुद्र इति व्यपदेशः । ननु परब्रह्म तु निर्गुणं तदा तस्य त्रिगुणात्मकत्वं यदुक्तं तत्कथमिति चेत् ? सत्यम्,—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम् ।

---

सृष्टि के जन्मकाल में रजोगुण-सम्पन्न ब्रह्मा, पालन-काल में सतोगुण-सम्पन्न विष्णु तथा विनाशकाल में तमोगुण-सम्पन्न शिव के रूप में व्यक्त होनेवाले—अतः उसके जन्म, पालन तथा विनाश के एक मात्र हेतु उस निर्विकार परब्रह्म परमेश्वर को नमस्कार है जो इस रूपत्रयी ( ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा 'वेद भगवान के स्वरूप हैं', इस नाते ऋक्, यजुः और सामवेद ) की तन्मयी ( उन तीनों से युक्त ) समष्टि ( समूह ) तथा गुणत्रयी ( सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा 'गुणों की पृथक्-पृथक् प्रतीति ही माया है', इस नाते त्रिगुणात्मिका माया ) का घनीभूत संस्थान ( अस्तित्व ) है ॥ १ ॥

जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः ।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥ २ ॥

---

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' इति श्रुत्या,
मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् । अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥
इति स्मृत्या च मायायुक्तसमये तस्य त्रिगुणात्मकत्वाभ्युपगमात् । ब्रह्मणः सृष्ट्यादिनिमित्तत्वे बीजन्तु—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' इति श्रुतिः,
'ब्रह्मत्वे सृजते लोकान् विष्णुत्वे पालयत्यपि । रुद्रत्वे संहरत्येव तिस्रोऽवस्थाः स्वयम्भुवः ॥' इति स्मृतिश्च ।
तथा श्रीमद्भागवतेऽपि—
'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् , तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा, धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥'
इति प्रथमस्कन्धारम्भ एव निरूपितम् । अमीषां गुणानां लक्षणन्तु सांख्यकारिकायाम्—
'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः । गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥'
'चत्वारि श्रृङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्तहस्ता अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश', इति श्रुत्या 'वेद एव परं ब्रह्म' इति स्मृत्या च त्रयीमयत्वं ब्रह्मणो वेदितव्यम् ।
अत्र प्राचा तु केवलमनेन प्रजापतिनमस्कार एव योजयित्वा व्याख्यातम्, तत्तु 'विधेः सृष्टिमात्रकर्तृत्वेन केवलं रजोगुणस्यैव सम्बन्धात्त्रिगुणात्मकत्वमतिविरुद्धम्' इति भानुचन्द्रेणैव समाहितम् । युक्तञ्चैतत, अन्यथा पौराणिकानां 'गुणभेदेनैव मूर्त्तिभेद' इति सिद्धान्तो व्याकुप्येत ।
अत्र रजोजुषे सर्गहेतवे, सत्त्ववृत्तये स्थितिहेतवे, तमःस्पृशे नाशहेतवे, इति यथासङ्ख्येन सम्बन्धसंभवात् यथासङ्ख्यमलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—'यथासङ्ख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।'
इतः प्रभृतिषु निखिलपद्येषु वंशस्थं छन्दस्तल्लक्षणन्तु—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥ १ ॥
'ज्ञानमिच्छेत्तु शङ्करात्' इति स्मृत्या चिकीर्षितकाव्यविधानोपयोगिज्ञानप्राप्तये तत् पादरज उत्कर्षप्रतिपादनमुखेन महेश्वरस्मरणमाचरति-जयन्तीत्यादिना । बाणासुरस्य बाणाख्यपरमशिवभक्तस्य दैत्यस्य मौलिना मुकुटेन मूर्ध्ना वा ललिताः प्रणामकाले आदरेण स्वीकृताः, दशास्यो रावणस्तस्य चूडामणयः किरीटरत्नानि तेषां चक्रं समूहं चुम्बन्ति नमस्कारकाले स्पृशन्ति ये तथोक्ताः, सुष्ठु परब्रह्मणि रमन्ते ये ते सुरा देवाः तद्भिन्ना असुरा दैत्याः तेषामधीशाः स्वामिनः तेषां शिखाः चूडास्तासाम् अन्तेषु अग्रभागेषु शयितुं नमनकाले स्थातुं शीलं येषां ते तथोक्ताः, तथा भवच्छिदः संसारनिवर्त्तकाः, मोक्षोपयोगितत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारा भवदुःखविच्छेदिन इत्यर्थः, त्रीणि अम्बकानि नयनानि यस्य तस्य तथोक्तस्य शिवस्य 'अम्बकं नयनं दृष्टिः' इति हलायुधः, त्रयाणां लोकानामम्बकस्य पितुरिति वा, यद्वा त्रीन् वेदान् अम्बते शब्दायते 'अबि शब्दे' इत्यस्मात् कर्मण्यणि 'संज्ञायाम्' ५।३।८७ इत्यनेन के कनि वा तस्येति विग्रहो विधेयः, पादपांसवः चरणरेणवः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्त इत्यर्थः । 'जि जये अस्माल्लटि रूपम् । अत्र जय उत्कर्षप्राप्तिः एवञ्चोत्कर्षप्रतिपादनेन नमस्कारो व्यञ्जनयाऽवगम्यते, तथाहि—उत्कर्षो हि विशेषानुपादानात्सर्वप्रतियोगिको लभ्यत इति त्र्यम्बके सर्वोत्कृष्टत्वज्ञाने तुल्यवित्तिवेद्यत्वन्यायेन प्रकारान्तरेण वा त्र्यम्बकापेक्षया सर्वस्यापकृष्टत्वज्ञाने सर्वान्तःपाति स्वस्मिन्नप्याराध्यापेक्षयापकृष्टत्वज्ञानं भवति, तथा च 'अपकृष्टत्वज्ञानबोधानुकूलो व्यापारः स्वरादिपठितनमःशब्दार्थः,' इति मञ्जूषोक्तिदिशा नमस्कारोऽत्र स्फुट एव प्रतीयत इति
अत्र उत्कर्षकथनकार्यं प्रति बाणासुरमौलिलालनादिहेतुचतुष्टयप्रदर्शनेन समुच्चयालङ्कारः ।
तदुक्तं दर्पणे—
'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके । खले कपोतकन्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥
गुणौ क्रिये वा युगपत् स्यातां यद्वा गुणक्रिये ॥'
तथा अनेकलकार-चकार-शकारादिव्यञ्जनवर्णानां स्वरूपतः क्रमतश्च साम्यात् वृत्त्यनुप्रासश्च

---

देवताओं तथा दैत्यों के अधिपतियों के सिर पर शयन करनेवाली तथा सांसारिक बन्धनों के काटने में पटु त्रिनेत्रधारी भगवान शंकर के चरणों की उस धूल की जय हो, जिसे बाणासुर ने अत्यंत आदर के साथ अपने सिर पर चढ़ाया था तथा जिसे दस सिरवाले रावण की चूड़ामणियों ने भक्ति से विह्वल होकर चूमा था ॥ २ ॥

जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो बिभित्सया यः क्षणलब्ध[1]-लक्ष्यया[2] ।
दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्रपाटलम् ॥ ३ ॥
नमामि भर्वो[3]श्चरणाम्बुजद्वयं सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम् ।
समस्तसामन्तकिरीटवेदिका-विटङ्कपीठोल्लुठितारुणाङ्गुलि ॥ ४ ॥

तदुक्तं दर्पणे—
'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा । एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥'
एवञ्चानयोर्मिथोऽनपेक्षत्वात्संसृष्टिरलङ्कारः ॥ २ ॥

इष्टदेवताध्यानेन सकलकामनासिद्धिर्भवतीति नरसिंहरूपं विष्णुं ध्यायति—जयतीत्यादिना । स विख्यातः अनुजत्वेन इन्द्रमुपगत इत्युपेन्द्रः । 'कुगतिप्रादयश्च' इत्यनेन समासः, नृसिंहरूपधारी विष्णुः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यो नृसिंहो बिभित्सया भेत्तुमिच्छया दूरतः दूरात् क्षणं क्षणकालं लब्धं प्राप्तं लक्ष्यं तदेव वक्षःस्थलं यया तया क्षणं तदुरःस्थलमवलोकयन्त्या इत्यर्थः, अत एव कोपेन क्रोधेन अरुणया, लोहितरूपया दृशैव दृष्ट्यैव न तु नखद्वारा भेदनेनेत्येवकारार्थः, रिपोः वैरिणो हिरण्यकशिपोः उरो वक्षःस्थलं भयात् नृसिंहत्रासात् स्वयम् आत्मना भिन्नमिव विदीर्णमिव अस्रपाटलं स्वीयारुणलोचनरश्मिनिपातेन शोणितवत् श्वेतरक्तं चकार कृतवान् 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः । अनेन ग्रन्थकारस्येष्टदेवो नृसिंह आसीदित्यवगम्यते । इह हिरण्यकशिपूरःस्थलस्य स्वीयश्यामगुणराहित्यात् श्वेतरक्तगुणोपादानेन तद्गुणालङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—'तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः' इति ।

तथा अस्रपाटलमित्यत्र लुप्तोपमा । तथा भावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा, सा च भयात् स्वयं भिन्नमिवेत्यनेन वाच्या, इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः । यद्यप्यत्रापाततो यच्छब्दस्य पूर्वमनुपादानाद्वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषः प्रतीयते तथाप्यत्र तच्छब्दस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वेन यच्छब्दस्य तूत्तरवाक्यगतत्वेन तच्छब्दापेक्षाभावान्न दोष इति विभावनीयम् ॥ ३ ॥

अथ गुरुनमस्कारं विदधाति—नमामीत्यादिना । शेखरैः शिरःस्रग्भिः वा मुकुटैः सह वर्त्तमानाः इति सशेखराः तैः, मौखरिभिः प्राचीन-भारतीय-राजवंशिभिः यद्वा मुखरस्य वेदाद्युच्चारणेन शब्दायमानस्य भावो मौखरं तदेषामस्तीति मौखरिणः 'अत इनि ठनौ' इतीन्प्रत्ययः तैः वेदादिध्वनिविधायिभिः छात्रैः, आसीच्च ई० पञ्चमशतकान्तादष्टमशतकमध्ये प्राचीनभारतीयक्षत्रियराजवंशो मौखरीति प्रसिद्धः इत्यैतिहासिकानां मतम् । कृतम् अनुष्ठितम् अर्चनं पूजनं यस्य तत् । समस्ताः सकला ये सामन्ता अधिकृता नृपतयः तेषां किरीटानि मुकुटान्येव वेदिकाः परिष्कृतभूमयः तासु यानि विटङ्कपीठानि कपोतपालिकाभूमयः मध्यगतोन्नतभागा इत्यर्थः, तेषु उल्लुठिता अभिवादनकाले संलग्नाः, अरुणाः मुकुटरत्नरश्मिसम्पर्कात् स्वभावाच्च लोहितवर्णा अङ्गुलयः करशाखा यस्य तत्, भर्वोः भर्वुसंज्ञकगुरोः चरणाम्बुजद्वयं पादकमलयुगलं नमामि अभिवादयामि । एतेन प्रतिदिनाध्यापकत्वं चक्रवर्तिनृपामात्यत्वञ्च द्योत्यते ।

नन्वत्र 'कपोतपालिकायान्तु विटङ्कं पुन्नपुंसकम्' इत्यमरोक्तदिशा विटङ्कशब्दस्य कपोताधारभूतकाष्ठवाचित्वेन किरीटमध्यगतोन्नतभागार्थे कथं प्रवृत्तिरिति चेत्? सत्यम्, तत्रार्थे अत्युन्नतत्वप्रतिपादनाय लक्षणया प्रयोगात्, अतो नात्र नेयार्थत्वदोषः । यद्यपि—
'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥'

---

उन नृसिंह रूपधारी भगवान वासुदेव की जय हो, जिन्होंने दूर से ही शत्रु के हृदय को विदीर्ण करने की अभिलाषा से क्षण-मात्र में ही लक्ष्य तक पहुँच जानेवाली क्रोध से लाल दृष्टि डाल कर उसकी लाल-लाल किरणों ( ज्योति ) से शत्रु के हृदय को ऐसा लाल बना दिया मानों वह भयभीत हो अपने आप फटकर रक्त से भर गया हो ॥ ३ ॥

मैं मोखरी राजाओं के मुकुटों से सदैव पूजित भगवान 'भर्वु' के उन चरणों की वन्दना करता हूँ, जिनकी उँगुलियाँ समस्त सामन्तों की मुकुट-वेदिका की ऊँची रत्न-पीठिका पर संलग्न होने के कारण और भी लाल हो जाती हैं ॥ ४ ॥

---

१. बद्धः । २. लक्ष्यया । ३. भर्त्सोः, भर्त्सोः ।

## सज्जनदुर्जनयोः स्तुतिनिन्दे

अकारणाविष्कृतवैरदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते ।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुःसहं सन्निहितं सदा मुखे ॥ ५ ॥
कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव ।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥ ६ ॥
सुभाषितं हारि विशत्यधो गलान्न दुर्जनस्यार्करिपोरिवामृतम् ।
तदेव धत्ते हृदयेन सज्जनो हरिर्महारत्नमिवातिनिर्मलम् ॥ ७ ॥

---

इति स्मृत्या गुरोर्नामग्रहणनिषेधात् प्रकृते कथं तन्नामग्रहणमित्याक्षेपः समापतति तथाप्ययं निषेधो राशिनामोच्चार एवेति शास्त्रकारैरुक्तत्वेन व्यावहारिकनाम्नो व्याहारे लेखे च क्षत्यभावात्। अत्र गुरोरित्येकवचनमेकस्मादेव सर्वविद्यालाभ इति द्योतनार्थमित्यवधेयम्। पद्येऽस्मिन् समन्तात् समानताद्योतनाय किरीटेषु वेदिकात्वारोप इति यथा–कथञ्चित् निरङ्गं केवलरूपकमलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे–'निरङ्गं केवलस्यैव रूपणम्' इति ॥ ४ ॥

अथ सज्जनदुर्जनयोः स्तुतिनिन्दे प्रतिपादयति—अकारणेति। अकारणम् अनिमित्तमेव आविष्कृतम् उद्भावितं यद्वैरं निन्दादिना विरोधः तेन दारुणात् भीषणस्वभावात् असज्जनात् दुष्टपुरुषात् कस्य सज्जनस्य भयं त्रासो न जायते नोत्पद्यते अपि तु सर्वस्यैवोत्पद्यत इत्यर्थः। महाहेः महासर्पस्य विषं गरलमिव यस्य दुर्जनस्य मुखे वदने सुदुःसहम् अतीवोद्वेगजनकत्वेन सहनीयं दुर्वचः कटुवाक्यं सदा निरन्तरं सन्निहितं समीपस्थं विद्यते। एवञ्च करिष्यमाणकाव्येऽस्मिन् कदाचित्कोऽपि दुर्जनो मह्यं द्रुह्येत् तस्मान्मे भयं भवतीत्याशयः। इह पूर्वार्द्धे अर्थापत्तिः, उत्तरार्द्धे चोपमालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—
'दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।' इति। 'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।' इति।
एवञ्चानयोर्मिथोऽनपेक्षत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः॥ ५ ॥

कट्विति कटु दुःश्रवं यथा स्यात्तथा क्वणन्तः रटन्तः कुत्सितं शब्दायमानाश्च मलदायकाः मिथ्याकलङ्काविष्कारिणः स्वसंसक्तदेशे मलोत्पादकाश्च खला दुर्जनाः, बन्धनशृङ्खला इव मनुष्यादेर्बन्धनलोहनिगडा इव 'शृङ्खला पुंस्कटीवस्त्रबन्धे च निगडे त्रिषु' इति मेदिनी। अलम् अत्यर्थं तुदन्ति चित्तं बन्धनदेशञ्च पीडयन्ति 'तुद् व्यथने' अस्माल्लटि बहुवचनम्। एवं पूर्वार्द्धेन दुर्जनान् सन्निन्द्योत्तरार्द्धेन सज्जनान् स्तौति—मनस्त्विति। तु किन्तु सन्तः सज्जनाः मणिनूपुरा इव रत्नखचितमञ्जीराणीव पदे पदे शब्दे शब्दे सर्वत्रैवेत्यर्थः प्रतिपदक्षेपं च साधुध्वनिभिः सन्तोषदायिवचनैः मनोहारिशब्दैश्च मनश्चित्तं हरन्ति आकर्षन्ति। इह पूर्वार्द्धे तथोत्तरार्द्धे च पूर्णोपमालङ्कारः, उभयोश्चापि परस्परनैरपेक्ष्यात् संसृष्टिरलङ्कारः॥

सुभाषितमिति। हारि मनोहरं सुभाषितं प्रशस्तसन्दर्भं सुकाव्यानि ( कर्तृ ) अर्करिपोः राहोः अमृतं पीयमानं पीयूषमिव दुर्जनस्य असज्जनस्य गलात् कण्ठात् अधो न विशति प्रवशं न प्राप्नोति। यथा राहोः गलादधःस्थानाभावेन पीयमानस्याऽपि चन्द्रस्यामृतं न क्वचित्तिष्ठति तथा दुर्जनस्यापि हृदयशून्यत्वेन परिश्रमेण पाठ्यमानमपि सुकाव्यादि बोधयोग्यं न भवतीति स्पष्टार्थः। किन्तु तद्वैपरीत्यं सज्जने दर्शयति—तदेवेति। सज्जनः गुणग्राहकः पुरुषः हरिः विष्णुः अतिनिर्मलम् अतिस्वच्छं महारत्नं कौस्तुभमणिमिव तदेव हारि सुभाषितं हृदयेन चेतसा धत्ते गृह्णाति, स हृदयगतत्वान्न तत् कदाचिदपि विस्मरतीत्याशयः।

---

अकारण शत्रुता करनेवाले उन भयंकर दुष्टों से भला कौन नहीं भयभीत होगा जिनके मुख अत्यन्त विषैले सर्पों के विष-भरे मुखों के समान सदा ही दुर्वचनों से भरे रहते हैं ॥ ५ ॥

कठोर शब्दों में खनखनाती हुई संलग्न अंगों में काला चिह्न बना देनेवाली तथा उन्हें घावों से भर देनेवाली बेड़ियों के समान कटुभाषी तथा व्यर्थ ही कलंकित करनेवाले दुष्ट भी हृदय में घाव कर देते हैं किन्तु पग-पग पर मधुर झंकार से मन मुग्ध कर लेनेवाले मणि-नूपुरों के समान सज्जन भी बात-बात में अपनी मधुर वाणी से मन को खींच लेते हैं ॥ ६ ॥

जैसे अमृत भी राहु के कंठ से नीचे नहीं उतर पाया वैसे ही निर्मल मनोहर सुभाषित सूक्तियाँ भी दुष्टों के गले नहीं उतर पातीं। किन्तु हृदय पर निर्मल कौस्तुभमणि धारण करनेवाले भगवान विष्णु के समान सज्जन उन्हें ही अपने हृदय में धारण कर लेते हैं ॥ ७ ॥

## कथाप्रशंसा

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥ ८ ॥
हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः ।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव ॥ ९ ॥

---

एवञ्च समाप्येतत्काव्यमज्ञानो दुर्जनस्त्यजेदपि किन्तु सज्जनस्त्वामूलं ज्ञायमानमवश्यमेव सत्कुर्वीतेति ग्रन्थकर्त्तुराशयः । इहापि मिथो निरपेक्षतया पूर्ववदेवालङ्कारः ॥ ७ ॥

कथाकाव्ये जनमनः प्रवेशयितुं पूर्वं तत्प्रशंसामाचरति—स्फुरदित्यादिना । स्फुरन्तः प्रकाशमानाः स्फुटं प्रतीयमाना ये कलालापा गीतवाद्यादिचतुःषष्टिविद्यासम्बन्धिवचनानि तेषां विलासेन विन्यासेन कोमला मृद्वी संग्रामवर्णनादिवदौद्धत्यरहितेत्यर्थः, पक्षे स्फुरन्तौ द्योतयन्तौ कलालापविलासौ मधुरवचनव्यापारौ ताभ्यां कोमला हृदयाकर्षिणी, 'कोमलं मृदुसुन्दरे' इति विश्वः । तथा रसेन शृङ्गारादिना शय्यां शब्दगुम्फं स्वप्राकरणिकत्वेनावान्तरप्रबन्धानां सम्बन्धमिति तात्पर्यम् । स्वयम् आत्मना अभ्युपागता सान्निध्यं प्राप्ता, पक्षे—रसेन आश्लेषप्रेम्णा, स्वयम् आत्मनैव शय्यां तल्पं शयनीयमिति यावत् । 'शय्या तल्पं शब्दगुम्फे' इत्यनेकार्थः, अभ्युपागता प्राप्ता, अभिनवा नवीना कथा गद्यपद्यमयप्रबन्धः अभिनवा वधूरिव युवती भार्येव जनस्य पुंसः हृदि चेतसि कौतुकं कुतूहलम् अधिकं बहुलं रागं श्रवणस्य आश्लेषस्य च प्रीतिं करोति जनयति । एवञ्च मद्रचिताऽपीयं कादम्बरी कथा जनस्य श्रवणानुरागं करिष्यतीत्यभिप्रायः । इह साधारणधर्मादिसद्भावात्पूर्णोपमालङ्कारः ।

यद्यप्यत्र 'रसस्योक्तिः स्वशब्देने'त्यादिदर्पणोक्तदिशा रसशब्दस्य साक्षादुपादानेन 'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत' इत्यादाविव दोषः प्रतीयते तथापि स्वरूपेणानुभूयमानस्यैव रसस्य तत्तच्छब्देन प्रतिपादने तद्दोषस्वीकारेणात्र तथात्वाभावात् ॥ ८ ॥

हरन्तीति । उज्ज्वलाः प्रकटाः दीपकालङ्कारविशेषा उपमालङ्कारविशेषाश्च येषु तैः तथोक्तैः, नवैः स्वमनीषयैव निर्मितत्वेनापूर्वैः पदार्थैः शब्दाभिधेयैः, उपपादिता विनिर्मिताः निरन्तरेण अव्यवधानेन प्रतिपदे वा प्रायेण सर्वत्रैव वर्त्तमानेन श्लेषेण तदाख्यालङ्कारेण घना बहुलतराः दुर्बोधा इत्यर्थः, सुष्ठु शोभना जातिः छन्दोविशेषो यासु ताः सुजातयः कथा गद्यपद्यादिप्रबन्धाः, उज्ज्वला दीपकाः प्रदीपा उपमाः सादृश्यानि येषां तैः, उज्ज्वलप्रदीपसदृशैरित्यर्थः; नवैर्नूतनैः अम्लानैरित्यर्थः, पदार्थैः उपादेयपदार्थभूतैः चम्पककुड्मलैः हेमपुष्पकमुकुलैः उपपादिताः सम्पादिता ग्रथिता इत्यर्थः, निरन्तरम् अव्यवधानं यः श्लेषः संयोगस्तेन घनाः सान्द्राः, तथा सुष्ठु शोभना जातयः जातीपुष्पाणि यासु ताः तथोक्ताः, महास्रजो महामाला इव कं जनं न हरन्ति न वशीकुर्वन्ति अपि तु सर्वमेवेत्यर्थः । एवञ्च मामकीनाऽप्येषा कथा समस्तमेव लोकं वशीकुर्यादित्याशयः । इह पूर्णोपमा अर्थापत्तिश्च, अनयोरङ्गाङ्गिभावेनैकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करालङ्कारः ॥ ९ ॥

---

जैसे उत्साह-पूर्ण मधुर वचनों तथा भावभंगियों से रमणीय नवोढ़ा अपनेआप शैय्या पर आकर मधुर-रस से नायक के हृदय में उत्कट रति-भावना जगा देती है, उसी प्रकार फड़कते हुए कथोपकथनों की वक्रता से अत्यन्त रमणीय शब्दों की लड़ियों में उतरी हुई नवीन कथा भी अपने रस की मधुरता से लोगों के हृदयों में उत्सुकतापूर्ण आसक्ति उत्पन्न कर देती है ॥ ८ ॥

चम्पा की नवीन कलियों से अत्यन्त घनी गुँथी हुई तथा दीपक के समान उज्ज्वल कान्तिवाली चमेली की बड़ी माला के समान अत्यन्त प्रशस्त दीपक और उपमा आदि अलंकारों तथा अपूर्व शब्दों एवं अर्थों से गुँथी हुई अत्यन्त श्लिष्ट गद्य-पद्यमयी कथा भला किसके मन को नहीं हरण कर लेती है ? ॥ ९ ॥

## कविवंशवर्णनम्

बभूव वात्स्यायनवंशसम्भवो द्विजो जगद्गीतगुणोऽग्रणीः सताम् ।
अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः कुबेरनामांश इव स्वयम्भुवः ॥ १० ॥
उवास यस्य श्रुतिशान्तकल्मषे सदा पुरोडाशपवित्रिताधरे ।
सरस्वती सोमकषायितोदरे समस्तशास्त्रस्मृतिबन्धुरे मुखे ॥ ११ ॥
जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्त्तिभिः शुकैः ।
निगृह्यमाणा वटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः ॥ १२ ॥

---

इत्थं कथां स्तुत्वा कीर्त्यनुवृत्त्यर्थं स्वकुलजान्निर्दिशति—बभूवेत्यादिना । वत्सस्यापत्यं पुमान् वात्स्यः सः अयनं कुलप्रवर्त्तकत्वेन आश्रयः यस्य स तथोक्तो यो वंशः कुलं तत्र सम्भवः समुत्पन्नः, वत्सवंशीय इत्यर्थः । जगति संसारे गीता जनैः गानविषयीकृताः गुणाः दयादाक्षिण्यादयो यस्य सः तथोक्तः, सतां सज्जनानाम् अग्रणीः अग्रेसरः तन्मध्ये उत्तम इत्यर्थः । अनेकैः अधिकैः गुप्तैः गुप्तनामाङ्कितैः वैश्यैः, तदुक्तम्—'शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु । गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥'

यद्वा गुप्तैः ईस्वीयपञ्चमषष्ठशतकमध्यवर्तिप्राचीनराजवंशिभिरित्यर्थः । अर्चिते पूजिते पादपङ्कजे चरणकमलयुगले यस्य सः । तथा स्वयंभुवः प्रजापतेः अंशः अंशावतार इव अतिवैदिकत्वादित्याशयः, कुबेरनामा कुबेराभिधेयः द्विजो विप्रो बभूव आसीत् 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः, अत्रोत्कृष्टद्विजत्वद्योतनाय द्विजपदोपादानम् , हस्तिमात्रस्य दन्तवत्त्वेऽपि उत्कृष्टदन्ते दन्तीतिपदस्य यथा प्रयोगस्तद्वदिव इह भावाभिमानिनी द्रव्योत्प्रेक्षा, सा च स्वयम्भुवोंऽश इव इत्यनेन वाच्या ॥ १० ॥

उवासेति । श्रुतिभिः वेदैः तदध्ययनैरित्यर्थः 'श्रुतिस्तु वेद आम्नायः' इत्यमरः, शान्तं विलीनं कल्मषं पापं यस्य तस्मिन्, नित्यवेदाध्ययनेन वाचनिकपापरहित इत्यर्थः । पुरोडाशेन अग्निहोत्रादौ देवेभ्यो हुतहविरवशिष्टेन हविषा 'पुरोडाशो हविर्भेदे हुतशेषे च कीर्त्तितः' इति विश्वः, पवित्रितौ भक्षणसमये संबन्धेन पावनीकृतौ अधरौ ओष्ठौ यस्य तस्मिंस्तथोक्ते । सोमेन सोमयागे सोमनामकलतारसपानेन कषायितं पुष्टम् उदरम् अभ्यन्तरं यस्य तस्मिन् तथोक्ते । तथा समस्तानि सकलानि यानि शास्त्राणि व्यासादिरचितब्रह्मसूत्रादीनि स्मृतयश्च मन्वादिरचितनिबन्धाः तैः तदध्ययनैः बन्धुरं मनोहरं तस्मिंस्तथोक्ते । यस्य कुबेरद्विजस्य मुखे वदने सरस्वती वाग्देवी सदा सर्वस्मिन् काले उवास वासं करोतिस्म । अनेनास्य महात्मनः प्रत्यहं वेदाध्ययनशीलत्वं नित्याग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठापकत्वं समग्रशास्त्रज्ञातृत्वञ्च स्पष्टीकृतम् ।

जगुरिति । यस्य कुबेरद्विजस्य गृहे भवने वटवः छात्रभूता ब्रह्मचारिणो ब्राह्मणशिशवः, अभ्यस्तं बहुधा श्रवणाज्जिह्वाग्रवर्ति समस्तं सम्पूर्णं वाङ्मयं चतुर्दशविद्यात्मकं शास्त्रं यैस्तैः तथोक्तैः, पञ्जरवर्त्तिभिः लोहशलाकानिर्मितपक्षिगृहे विद्यमानैः, सारिकाभिः सहेति ससारिकैः शुकैः कीरपक्षिभिः पदे पदे प्रतिपदाभ्यासे निगृह्यमाणाः 'भवद्भिरशुद्धमभ्यस्यते अत्रैवं भवितव्यम्' इत्थं निर्भर्त्स्यमानाः, अत एव शङ्किताः यद्यशुद्धं स्यात्तदा पुनरपि मम दोषप्राकट्यं नूनं शुकाः करिष्यन्तीति भययुताः सन्तः, यजूंषि यजुर्वेदान् सामानि सामवेदांश्च जगुः अपठन् । तिर्यग्योनीनां शुकानामपि समस्तविद्यापारङ्गतत्वमिति दर्शनादद्भुतमेतन्माहात्म्यमिति द्योतितम् । इह तथाविधशुकैः तादृक्पराभवासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः ॥ १२ ॥

---

अपने गुणों से संसार में विख्यात, सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ, अनेक गुप्तवंशी राजाओं से पूजित चरण-कमलोंवाले तथा ब्रह्मा के अंश के समान तेजस्वी कुबेर नाम के एक ब्राह्मण वात्स्यायन वंश में उत्पन्न हुए थे ॥ १० ॥

निरन्तर वेद-पाठ से निष्कलुष, यज्ञ के हविष्यान्नभक्षण से पवित्र, अन्तर भाग में सोमपान से कसैले तथा समस्त शास्त्रों और स्मृतियों से सुशोभित, उसके मुख में भगवती सरस्वती सदैव निवास करती थीं ॥ ११ ॥

जिसके घर मैनाओं के साथ पींजरों में पले हुए ( निरन्तर शास्त्र-चर्चा सुनते सुनते ) सभी शास्त्रों में अभ्यस्त सुग्गों द्वारा पद-पद पर टोके जाने के भय से सशंकित वटु ( ब्रह्मचारी बालक ) यजुः और सामवेद का निरन्तर पाठ किया करते थे ॥ १२ ॥

---

१ ग्रस्त***।

हिरण्यगर्भो भुवनाण्डकादिव क्षपाकरः क्षीरमहार्णवादिव ।
अभूत् सुपर्णो विनतोदरादिव द्विजन्मनामर्थपतिः पतिस्ततः ॥ १३ ॥
विवृण्वतो यस्य विसारि वाङ्मयं दिने दिने शिष्यगणा नवा नवाः ।
उषस्सु लग्नाः श्रवणेऽधिकां श्रियं प्रचक्रिरे चन्दनपल्लवा इव ॥ १४ ॥
विधानसम्पादितदानशोभितैः स्फुरन्महावीरसनाथमूर्त्तिभिः ।
मखैरसंख्यैरजयत सुरालयं सुखेन यो यूपकरैर्गजैरिव ॥ १५ ॥

हिरण्येति । भुवनस्य भूर्भुव इत्यादि-चतुर्दशजगतः अण्डकं ब्रह्माण्डं तस्मात् द्विजन्मनां ब्राह्मणानां पतिः अधिपतिः हिरण्यगर्भः प्रजापतिरिव, क्षीरमहार्णवात् दुग्धसागरात् द्विजन्मनां पतिः द्विजराजः क्षपाकरः सुधांशुरिव, विनतायाः तन्नामिकायाः कश्यपपत्न्या उदरात् कुक्षेः द्विजन्मनां पतिः पक्षिराजः सुपर्णः गरुड इव, ततः कुबेरद्विजात् द्विजन्मनां ब्राह्मणानां पतिः श्रेष्ठः अर्थपतिः अर्थपतिसंज्ञकः कश्चित् पुत्रः अभूत् उत्पन्नः । इह हिरण्यगर्भसादृश्येन वेदपारगामित्वम् , क्षीरसमुद्रोत्थचन्द्रतुलनया सकलजनाह्लादकत्वम् , गरुडोपमया च नारायणपरायणत्वं द्योतितम् । चतुर्दशभुवनपदेन—

भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यमित्येते सप्त उपरितना लोकाः; अतलं वितलं सुतलं तलातलं रसातलं महातलं पातालमित्येते सप्त अधस्तना लोका ज्ञेयाः । तदुक्तमग्निपुराणे—

'चतुर्दशविधं ह्येतद् भूतवृन्दं सुकीर्त्तितम् । भूर्भुवस्स्वर्महश्चैव जनश्च तप एव च ॥
सत्यलोकश्च सप्तैते लोकास्तु परिकीर्त्तिताः । अतलं वितलञ्चैव सुतलञ्च रसातलम् ।
महातलं रसातलं पातालं सप्तमं स्मृतम्' ॥ इति ।

ब्रह्माण्डतः प्रजापतेरुत्पत्तौ प्रमाणं यथा मनुः—

'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

इहालङ्कारश्च मालोपमा ॥ १३ ॥

विवृण्वत इति । दिने दिने प्रतिदिनम् उषस्सु प्रातःसमयेषु नवा नवा नूतना नूतना उत्तरोत्तरं धीमन्त इति तात्पर्यम्, एवंविधाः शिष्यगणाः छात्रसमूहाः चन्दनपल्लवाः मलयजवृक्षकिसलयानि इव 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः, श्रवणे शास्त्रविचाराकर्णने योषितां कर्णे च लग्ना आसक्ताः सन्तः, विसारि विस्तृतं वाङ्मयं चतुर्दशविद्यात्मकं शास्त्रं विवृण्वतः व्याख्यानेनार्थं स्पष्टीकुर्वतः पाठयत इत्यर्थः, यस्य अर्थपतेः गुरोः अधिकाम् अत्यर्थं श्रियं शोभां प्रचक्रिरे वितेनिरे । इह वाच्योपमालङ्कारः ॥ १४ ॥

विधानेति । यः अर्थपतिः विधानेन वेदप्रतिपादितमार्गेण सम्पादितं विहितं यद्दानं विप्रेभ्यः सुवर्णादिवितरणं तेन शोभितैः मण्डितैः, अन्यत्र तु विधानेन मदाविर्भावार्थं दीयमानभक्ष्यग्रासेन सम्पादितं निष्पन्नं यद्दानं मदजलं तेन शोभितैः भूषितैः । स्फुरन्तो देदीप्यमाना ये महावीरा हवनवह्नयः तैः सनाथा युक्ता मूर्तयः स्वरूपाणि येषां तैः 'होमाग्निस्तु महाज्वालो महावीरः प्रवर्गवत्' इति भानुचन्द्रोद्धृतकोशः, अन्यत्र स्फुरन्तः सक्रियाः ये महावीरा महाशूराः तैः सनाथा अधिष्ठिता मूर्तयः शरीराणि येषां तैः । यूपा यज्ञे पशुबन्धनाय स्थाणुविशेषाः त एव करा हस्ता येषां तैः, अन्यत्र तु यूपा इव कराः शुण्डादण्डा येषां तैः । गजैः करिभिरिव असंख्यैः अगण्यैः मखैः यज्ञैः सुखेन अक्लेशेन सुरालयं स्वर्गम् अजयत् स्ववशमकरोत् स्वर्ग-

जैसे भुवन रूपी ब्रह्मांड से ब्रह्म-वादियों के अधिपति ब्रह्मा, क्षीरसागर से तारों के अधिपति चन्द्रमा और विनता के गर्भ से पक्षियों के अधिपति गरुड़ उत्पन्न हुए, उसी प्रकार उस कुबेर से ब्राह्मणों के अधिपति 'अर्थपति' उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

जिस प्रकार प्रतिदिन प्रातःकाल कानों में लगी हुई चंदन की नयी नयी कोपलें निरन्तर उनकी शोभा बढ़ाती रहती हैं, उसी प्रकार निरन्तर प्रातःकाल पाठ सुनने में तल्लीन नये नये आये हुए शिष्य, विस्तृत व्याख्या के साथ संपूर्ण वाङ्मय का अध्यापन करनेवाले गुरु अर्थपति की शोभा बढ़ाते रहते थे ॥ १४ ॥

जिस प्रकार राजा, मद बहा देनेवाले पदार्थों के भक्षण द्वारा उत्पन्न मद जल से सुशोभित, युद्धोत्साही महावीरों से अधिष्ठित तथा यज्ञ स्तम्भ के समान सूँडोंवाले असंख्य वलिष्ठ युद्ध के हाथियों द्वारा इन्द्र जैसे पराक्रमी राजा का भी देश सरलता से जीत लेता है, वैसे ही अर्थपति ने विधि-विधान से दिए गए दान से सुशोभित, प्रज्वलित होमाग्नि से सम्पन्न तथा यज्ञस्तम्भों से प्रतिष्ठित असंख्य यज्ञों द्वारा स्वर्ग को भी अपने अधीन कर लिया था ॥ १५ ॥

स चित्रभानुं तनयं महात्मनां सुतोत्तमानां श्रुतिशास्त्रशालिनाम् ।
अवाप मध्ये स्फटिकोपलामलं[1] क्रमेण कैलासमिव क्षमाभृताम् ॥ १६ ॥
महात्मनो यस्य सुदूरनिर्गताः कलङ्कमुक्तेन्दुकलामलत्विषः ।
द्विषन्मनःप्राविविशुः कृतान्तरा गुणा नृसिंहस्य नखाङ्कुशा[2] इव ॥ १७ ॥
दिशामलीकालकभङ्गतां गतस्त्रयीवधूकर्णतमालपल्लवः ।
चकार यस्याध्वरधूमसञ्चयो मलीमसः[3] शुक्लतरं निजं यशः ॥ १८ ॥

प्राप्तीच्छया विहितानेकयज्ञैरनायासेन तत्प्राप्तिमवश्यंभाविनीं कृतवानिति निष्कर्षः। इह कार्येण हस्तिसैन्यैरन्यदेशविजयिनः कस्यचिद्राज्ञो व्यवहारसमारोपात् समासोक्त्यलङ्कारः, स च पूर्णोपमयाऽनुप्राणितेति भावुकाः ॥ १५ ॥

स इति । सः अर्थपतिः क्रमेण सुतोत्पत्तिपरम्परया क्षमाभृतां पर्वतानां मध्ये स्फटिकोपलैः स्फटिकमणिभिः अमलं स्वच्छं कलङ्करहितमित्यर्थः कैलासमिव क्षमाभृतां क्षान्तिगुणयुक्तानां महात्मनां जितेन्द्रियाणां महामनीषिणां श्रुतिशास्त्रशालिनां वेदशास्त्राध्यापकानां सुतोत्तमानाम् उत्कृष्टात्मजानां मध्ये चित्रभानुं चित्रभानुनामानं तनयम् आत्मजम् अवाप लब्धवान् । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' 'आत्मजस्तनयः सूनुः' इति चामरः। इहोपमा ।

अर्थपतेरेकाश पुत्रा आसन्निति हर्षचरिते ग्रन्थकृता स्वयमेवोल्लिखितम्, तथाहि—'सोऽजनयद् १. भृगुं २. हंसं ३. शुचिं ४. कविं ५. महीदत्तं ६. धर्मं ७. जातवेदसं ८. चित्रभानुं ९. लक्षम् १०. अहिदत्तं ११. विश्वरूपञ्चेत्येकादशरुद्रानिव सोमामृतरसशीकरच्छुरितमुखान् पवित्रान् पुत्रान्' इति । एष्वष्टमश्चित्रभानुरिति स्फुटमवगम्यते ॥ १६ ॥

महात्मन इति ।सुदूरनिर्गता अधिकदूरदेशव्यापाः, पक्षे आधिक्येन नखराग्राद्बहिर्भूताः कलङ्केन मृगलाञ्छनेन मुक्ता वर्जिता या इन्दुकला चन्द्रषोडशांशः तद्वत् अमला स्वच्छा त्विट् छविर्येषां ते, पक्षान्तरेऽप्येवमेव । तथा कृतं स्वप्रभावान्निष्पादितम् अन्तरं प्रवेशावकाशो यैस्ते, पक्षे तु कृतम् अन्तरं भेदः यैस्ते 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्भेदतादर्थ्ये' इत्यमरः। यस्य महात्मनः महाबुद्धिमतः चित्रभानोर्गुणाः दयादाक्षिण्यादयः अपिपदाध्याहारेण पितुस्तुल्या अपि नृसिंहस्य नृसिंहस्वरूपधारिणो विष्णोः नखाङ्कुशा सृणिवद्विस्तृताः 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्' इत्यमरः, नखराः पुनर्भवा इव द्विषतां शत्रूणां मनोऽपि पक्षे द्विषतो वैरिणो हिरण्यकशिपोः मनोऽन्तःकरणं वक्षश्च प्राविविशुः प्रवेशं विदधुः यद्गुणा वैरिणामपि चित्ताकर्षकाः, तत्प्रभावः कथं वर्णनीयः ? इत्याशयः। साधारणधर्मादिसद्भावात्पूर्णोपमालङ्कारः ॥ १७ ॥

दिश मिति । दिशां पूर्वादीनां वधूस्वरूपाणामिति यावत्, अलीकेषु ललाटदेशेषु 'अलीकमप्रिये भाले' इति हैमः, ये अलकाश्चूर्णकुन्तलाः तेषां भङ्गतां रचनाविशेषत्वं गतः प्राप्तः। त्रयी वेदत्रयी ऋग्यजुःसामरूपेत्यर्थः सैव वधूः स्नुषा तस्याः कर्णे श्रवणे तमालपल्लवः तापिच्छद्रुमकिसलयस्वरूपः, स्थलद्वयेऽपि प्राकृतिकश्यामरूपत्वादित्याशयः 'तापिच्छोऽपि तमालः स्यात्' इत्यमरः। मलीमसः प्राकृतिकमलिनो यस्य चित्रभानोः

अन्त में उनके क्षमाशील, महानुभाव तथा वेदशास्त्रों में पारंगत कई पुत्र-रत्नों में पर्वतों के बीच स्फटिक मणियों से अत्यन्त निर्मल कैलास पर्वत के समान चमकते हुए गुणों से अत्यन्त उत्कृष्ट चित्रभानु नाम के पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १६ ॥

चन्द्रकलाओं जैसी अपनी कोरों से दूर तक निर्मल कान्ति बिखेरते हुए शत्रु के हृदय को फाड़ कर उसमें प्रविष्ट हो जानेवाले भगवान नृसिंह के नखरूपी अंकुशों के समान उस महानुभाव के दूरतक विस्तृत, निष्कलंक तथा चन्द्रकलाओं जैसी उज्ज्वल कान्तिवाले गुणों ने विरोधियों के हृदयों को भी खोलकर उसमें अपना स्थान बना लिया था ॥ १७ ॥

जैसे कामिनियों के ललाट पर रची हुई घुँघराली केशरचना तथा नवोढ़ा के कान में लगी हुई तमालपल्लवों की रेखा स्वभावतः साँवली होती हुई भी शोभा में अत्यंत निखर उठती है, उसी प्रकार दिशाओं की छोरों पर इधर-उधर बिखरी हुई एवं आकाश में लगी हुई यज्ञ के धुओं की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं ने स्वभावतः काली होकर भी अपनी शोभा को अत्यंत उज्ज्वल बना दिया था ॥ १८ ॥

---

१. स्फटिकोपलोपमम् । २. नखाङ्कुरा । ३. मलीमसन् ।

सरस्वतीपाणि-सरोजसम्पुट-प्रमृष्टहोमश्रमशीकराम्भसः ।
यशोंऽशुशुक्लीकृतसप्तविष्टपात्ततः सुतो बाण इति व्यजायत ॥ १९ ॥
द्विजेन तेनाक्षतकण्ठकौण्ठ्यया महामनोमोहमलीमसान्धया ।
अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा ॥ २० ॥

---

अध्वरधूमसञ्चयः यज्ञधूमराशिः निजं स्वीयं यशः प्राकृतिकस्वच्छां सुकीर्तिं शुक्लतरम् अतिशयेनोज्ज्वलं चकार विदधे । इह प्रथमचरणेनाजस्रं यज्ञसमूहसम्पादनेन धूमस्य दिगन्तव्यापित्वं ध्वनितम् । एवञ्च नियतक्रतुविधानात् धर्माचारतत्परताया अपि द्योतने गुणजनिता सुकीर्त्तिरधिका सञ्जातेति निष्कर्षः ।

इह दिशासु वधूत्वारोप आर्थः, अध्वरधूमसञ्चये केशरचनाविशेषत्वारोपस्तु शाब्द इत्येकदेशविवर्त्ति-रूपकम्, धूमसञ्चये तमालपल्लवत्वारोपः, त्रय्यां वधूत्वारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकम्, तथा मलिन-धूमसञ्चयेन शुक्लतरयशसो जननात् कारणगुणविपरीतकार्यगुणोत्पत्तेर्विषमालङ्कारश्च इति परस्परमेतेषा-मङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कार इति तत्त्वविदः ॥ १८ ॥

सरस्वतीति । सरस्वत्या भारतीदेव्याः पाणिसरोजसम्पुटेन करकमलद्वयेन मृष्टानि प्रमार्जितानि होम-श्रमस्य होमादिकर्मसम्बन्धिक्लेशस्य शीकराम्भांसि प्रस्वेदजलानि यस्य तस्मात्, तथा यशसः सुकीर्त्तेः अंशुभिः मयूखैः शुक्लीकृतानि शुभ्रीकृतानि सप्त विष्टपानि भूप्रभृतीनि सप्त भुवनानि येन तस्मात् 'विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः, ततः चित्रभानोः सकाशात् 'बाण' इति बाणनामधेयः सुतः पुत्रः व्यजायत अभवत् । इह भारत्याः करकमलयुगलेन स्वेदजलबिन्दूनां प्रोञ्छनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनात् प्रथमातिशयोक्त्यलङ्कारः, तथा कीर्त्तिराशिभिः सप्तभुवनानां शुभ्रीकरणासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनाद् द्वितीयातिशयोक्त्यलङ्कारश्चेत्युभयोः परस्परमपेक्षाभावेन संसृष्ट्यलङ्कार इत्यवधेयम् ॥ १९ ॥

सम्प्रति स्वाहङ्कारं परिहरति—द्विजेनेति । तेन द्विजेन ब्राह्मणेन बाणेन, अक्षतम् अविनष्टं कण्ठ-कौण्ठ्यं वचनव्यापारे गलस्य मान्द्यं यस्याः सा तया, महान् उत्कृष्टो यो मनोमोहः शिशुत्वेन चित्तवैकल्यं तेन मलीमसा मलिना प्रशंसितुमयोग्या अत एव अन्धा सदसत्प्रतिपादनासमर्था तया, तथा अलब्धोऽप्राप्तो यो वैदग्ध्यविलासः वैदुष्यचातुर्यं तेन हेतुना मुग्धा मूढा तया वैदुष्यचातुर्यासत्त्वेनात्यन्तकोमलयेत्यर्थः 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इत्यमरः, धिया प्रज्ञया इयं मद्बुद्धिस्था कादम्बरीरूपा, गर्हितत्वे द्वयीं बृहत्कथां वासवदत्तां च अतिक्रान्तेति अतिद्वयी अधमत्वे अद्वितीया ( अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीया ) इत्यनेन समासः, व्यङ्ग्यार्थस्तु—उत्तमत्वे अद्वितीया कथा गद्यपद्यादिप्रबन्धः निबद्धा ग्रथिता; पूर्वमपरिणतबुद्ध्या विषयीकृत्य पश्चाद्विनिर्मितेत्यर्थः, एतेन शैशवचापल्यजातदोषा धीधनैर्मनीषिभिः शोधनीया इत्यभिप्रायः।

इह—'छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा । अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥'

इति साहित्यदर्पणोक्तदिशा प्रथमचरणे छेकानुप्रासः, शेषे तु वृत्त्यनुप्रास इत्यनयोर्मिथोऽनपेक्ष्य स्थितत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः ॥ २० ॥

---

निरन्तर यज्ञ में हवन करने के परिश्रम से आयी हुई, जिसके पसीने की बूंदों को भगवती सरस्वती स्वयं अपने संपुटित करकमलों से पोंछा करती थीं तथा जिसकी कीर्ति ने सातों लोकों को अपनी निर्मलता से अत्यन्त उज्ज्वल बना दिया था उन चित्रभानु से बाण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

जिसके कंठ की तुतलाहट अभी तक नहीं मिट पायी है अर्थात् जिसका कंठस्वर अभी भी वर्णों के स्पष्ट उच्चारण में मँज नहीं पाया है, जिसका हृदय अज्ञान रूपी अन्धकार से अभी तक ढका हुआ है तथा जिसकी बुद्धि अभी भी विद्वानों की वचनवक्रता सीख न पाने के कारण अत्यंत मूढ़ है अर्थात् जिसकी बुद्धि का अभी तक विकास नहीं हो पाया है उसी बाण ने अपने से पूर्व रची गयी दो कथाओं ( बृहत्कथा तथा वासवदत्ता ) के अतिरिक्त अथवा तुच्छता में अद्वितीय या उन दोनों से अत्यन्त उत्कृष्ट इस कथा की रचना की है ॥ २० ॥

# कथा-मुखम्

## शूद्रकवर्णनम्

आसीदशेष-नरपति-शिरः-समभ्यर्च्चित-शासनः पाकशासन इवापरः, चतुरुदधि-माला-मेखलाया भुवो भर्त्ता, प्रतापानुरागावनत-समस्त-सामन्तचक्रः, चक्रवर्त्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाण-शङ्ख-चक्र-लाञ्छनः, हर इव जितमन्मथः, गुह इवाप्रति-

---

अथ सम्प्रति कथां (१) प्रस्तौति—आसीदिति । आसीदिति भूतक्रियापदस्य 'राजा शूद्रको नाम' इति दूरस्थेन कर्त्तृपदेन सम्बन्धः । राजानं विशिनष्टि—अशेषेति । अशेषैः समग्रैः नरपतिभिर्महीपतिभिः ( कर्त्तृभिः ) शिरोभिरुत्तमाङ्गैः ( करणैः ) समभ्यर्च्चितं सादरं गृहीतं शासनम् आदेशो यस्य स तादृशः । समस्तजनाज्ञापको न त्वाज्ञाकर इत्याशयः, अत एव अपरः सुरराजाद्भिन्नो द्वितीयः पाकशासन इन्द्र इव। इन्द्रो हि पाकनामानं दैत्यं हतवानिति पुराणी वार्त्ता । पाकं शासितवानिति पाकशासनः 'विडौजाः पाक·शासनः' इत्यमरः । इह शासनपदावृत्त्या यमकालङ्कारः, भावाभिमानिनी वाच्या द्रव्योत्प्रेक्षा चेत्युभयोः शब्दार्थालङ्कारयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः । अत्र हि शासनपदावृत्त्या लाटानुप्रासो नाशङ्कनीयः, शक्यार्थभिन्नत्वे केवलतात्पर्यतो व्यतिरेक एव तदभ्युपगमेन प्रकृते शक्यार्थस्यापि व्यतिरेकात् ।

चतुरिति । चत्वारश्च भूमण्डलचतुर्दिक्षु विद्यमानास्त उदधयश्च समुद्राश्च चतुरुदधयस्तेषां माला श्रेणिः सैव मेखला काञ्ची अवधिरिति यावत् यस्यास्तथाभूतायाः, भुवो वसुधायाः भर्त्ता नायकः ।

इह वसुधाशूद्रकयोर्नायकनायिकाव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः ।

प्रतापेति । प्रतापः कोशदण्डजतेजः अनुरागः प्रेम ताभ्याम् अवनतं वशीभूतं समस्तं कृत्स्नं सामन्तचक्रं स्वाधीननृपतिसमूहो यस्य स तादृशः । अन्यदपि लोहचक्रमग्निप्रतापातपादवनतं जायते । तथा च न केवलं तत्प्रभाववशाद्वशीभूताः सामन्तनृपतयः किन्तु तदीयप्रेमवशादपीति ध्वनितम् ।

चक्रवर्तीति । चक्रवर्त्ती सार्वभौमस्तस्य लक्षणैश्चिह्नैः सामुद्रिकशास्त्रोक्तकरतललौहित्यादिभिः उपेतो युक्तः । तथा चोक्तं सामुद्रिकरहस्ये—

'अतिरक्तः करो यस्य ग्रथिताङ्गुलिको मृदुः । चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽपि चक्रवर्त्ती भवेद् ध्रुवम् ॥'

पुनरपि तमेव विशिनष्टि—चक्रधर इति । चक्रमलातकं धरतीति चक्रधरो विष्णुरिव करकमले

---

शूद्रक नाम का एक राजा था । वह मानों दूसरा इन्द्र था । सभी राजा श्रद्धा से सिर झुका कर उसका आदेश ग्रहण करते थे । वह चार समुद्रों से घिरी हुई मानों चौलड़ी करधनी पहिने हुई पृथ्वी रूपी नायिका का पालन-पोषण करनेवाला ( दक्षिण ) नायक था । उसके प्रताप अथवा अपनी अनुरक्ति से सभी सामन्त-गण उसके अधीन थे । वह चक्रवर्ती सम्राटों के सभी लक्षणों से युक्त था । भगवान विष्णु के हाथों में चक्र और शंख है, उसके करकमलों में शंख और चक्र के चिह्न थे । भगवान शंकर ने कामदेव को जीता था, उसने काम-

---

१. कथालक्षणं साहित्यदर्पणे—

'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् । क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम् ॥'

इह चतुर्विधान्येव मुक्तकादीनि गद्यानि सन्ति, किन्त्विहोत्कलिकाप्रायमेव बहुलम् । तथा च तत्रैव—

'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च । भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्थकम् ॥
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् । अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तूर्यञ्चाल्पसमासकम् ॥'

एतेन—'गद्यपद्यमयी चम्पूर्द्विधा श्लेषवती च या । राजवर्णनमादौ स्यान्नगरीवर्णनं ततः ।
तया चामुकमन्यस्मिन्न तु तन्नृपु कुत्रचित् ॥'

यथा—'शूलसम्बन्धो देवतायतनेषु न नृषु' इति नलचम्प्वाम्, तथात्रैवाग्रे 'चित्रकर्मसु वर्णसङ्करो न मनुष्येषु' इत्यादि चम्पूलक्षणसंयुक्तामेनां वदन्तः परास्ताः ।

हतशक्तिः, कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंसमण्डलः, जलधिरिव लक्ष्मीप्रसूतिः, गङ्गाप्रवाह इव भगीरथपथप्रवृत्तः, रविरिव प्रतिदिवसोपजायमानोदयः[1], मेरुरिव सकलोपजीव्यमान-[2]

पाणिपद्मतले उपलक्ष्यमाणम् अवलोक्यमानं शङ्खचक्रलाञ्छनं शङ्खचक्राकाररेखोपरेखास्वरूपं चिह्नं पक्षे वस्तुतः शङ्खचक्रस्वरूपं चिह्नं यस्य स तादृशः । 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः ।

इहोपमानोपमेयभावस्य साधारणधर्मस्य चोपादानात् पूर्णोपमा, चक्रपदस्यासकृदुक्तत्वाद् वृत्त्यनुप्रासश्चेत्युभयोः परस्परमनपेक्षत्वात्तिलतण्डुलवत्संसृष्टिः ।

हर इवेति । हरति पापं यः स हरो महेश्वरः तद्वदिव जितः पराभूतः मन्मथः कन्दर्पः येन स तथोक्तः एकत्र भाललोचनाग्निना नामशेषकरणात्, अपरत्रात्यन्तलावण्यवत्त्वादित्याशयः । उभयोः पूर्णसाम्यात्पूर्णोपमालङ्कारः ।

गुह इवेति । गुहः कार्तिकेय इव 'सेनानीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः, अप्रतिहता केनाप्यकुण्ठिता शक्तिः प्रभावोत्साहमन्त्रजनितं सामर्थ्यम् आयुधविशेषश्च यस्य स तथोक्तः । उभयोः साम्यात् पूर्णोपमालङ्कारः ।

कमलेति । कमलं भगवतः श्रीमहाविष्णोर्नाभिपद्मं योनिरुद्गमस्थानं यस्य स कमलयोनिर्विधातेव, विमानं देवयानं तत्स्वरूपीकृतं नभसि वाहनीकृतमित्यर्थः राजहंसानां चञ्चुचरणैरतिलोहितानां पक्षिविशेषाणां मण्डलं समूहो येन स तादृशः, 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इति, 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैरतिलोहिताः' इति चामरः । राजपक्षे—विगतः पराजयेन विनष्टः मानोऽहङ्कारो यस्य तद्विमानं तथाभूतं कृतं राजहंसानाम् अत्युत्तममहीपतीनां मण्डलं गणो येन स तादृशः । अस्मिन् पक्षे राजहंसपदे राजानो हंसा इवेति 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्युपमितसमासः । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्र' इत्याद्यमरात्तस्यात्युत्तराजवाचकत्वमिति बोध्यम् । उभयोः साम्यात् पूर्णोपमालङ्कारः ।

जलधिरिवेति । जलानि धीयन्तेऽस्मिन्निति जलधिः समुद्र इव लक्ष्म्या रमायाः शोभाया वा प्रसूतिर्निर्गमस्थानं देवासुरैः समुद्रमन्थने चतुर्दशरत्नेष्वस्या अपि तस्मादेव निर्गमात् तया च जगदलङ्कृतमिति शोभाजनकत्वमित्याशयः । राजपक्षेऽपि लक्ष्मीर्धनसम्पत्तिः शोभा वा 'लक्ष्मीश्छाया च शोभायाम्' इति हैमः, तस्याः प्रसूतिरुद्भवस्थानम्, नीतिचातुर्यादित्याशयः । उभयोः साम्यात्पूर्णोपमालङ्कारः ।

गङ्गेति । गङ्गायाः स्वर्धुन्याः प्रवाह ओघ इव भगीरथस्य तन्नामकसूर्यवंशीयभूपतिविशेषस्य पन्थाः स्वपितॄणामुद्धाराय रथचक्रकृतमार्गः सदाचारसरणिश्च तत्र प्रवृत्तो लग्नः । उभयोः साम्यात्पूर्णोपमालङ्कारः ।

पुरा किल सगरो नाम राजाश्वमेधेन यष्टुमश्वं मुमोच तच्च सुरराजोऽपहृत्य पाताले कपिलाश्रमे बबन्ध । ततश्च तमन्विष्यन्तः सगरसुताश्चतुर्दिक्ष्वनवलोक्य नखेन भुवो मृद उत्खन्य पातालं प्रविश्य तमृषिं भर्त्सितवन्तः । कुपितेन तेन मुनिनाऽभिशप्तास्ते भस्मीभूता अभूवन् । तत्प्रपौत्रो भगीरथो हि तानुद्दिधीर्षुः गङ्गामानेतुं तपस्तप्तवान् । तेन तुष्टा हि सा हिमालयान्निर्गत्य भूमण्डले तद्रथचक्रनिर्मितमार्गे च प्रसरन्ती पातालं प्रविश्य तांस्तारयामास । राजा भगीरथो हि परमसदाचारवानासीदिति च पौराणिकी कथानुसन्धेया ।

रविरिवेति । रविर्दिवाकर इव प्रतिदिवसं प्रतिदिनम् उपजायमान उत्पद्यमान उदय उदयगिरिसम्बन्धः सम्पत्तेरुद्रेकश्च यस्य स तथोक्तः । पूर्णोपमालङ्कारः ।

मेरुरिवेति । मेरुः सुमेरुगिरिरिव, सकलैः समस्तैरर्थादृवैर्लोकैश्च उपजीव्यमाना सेव्यमाना पादानां प्रत्यन्तपर्वतानां छाया आतपाभावः, पादयोश्छाया कान्तिश्च यस्य स तथोक्तः । 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इति चामरः ।

वासनाओं को जीत लिया था । ब्रह्मा ने भोले-भाले हंसों को अपना वाहन बनाया था, उसने बड़े-बड़े राजाओं का अभिमान चूर-चूर करके उनके हृदय रूपी हंसों पर अपना आसन जमा लिया था । समुद्र से भगवती लक्ष्मी पैदा हुई थीं, उससे राज्यलक्ष्मी का जन्म हुआ था । गंगा का प्रवाह राजा भगीरथ के रथ की लीकों का अनुगामी था, वह राजा भगीरथ के कठोर सदाचारों और प्रयत्नों की परिपाटी का अनुगामी था । सूर्य के समान उसकी भी श्रीसम्पत्ति दिनोंदिन नये नये रूपों में उगती रहती थी । देवलोक सुमेरु पर्वत के वृक्षों

१. '''उपचीयमानोदयः । २. सकलभुवनो, सकलभुवनतलो''' । 'बृहस्पतिरिव सकलशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः' इत्यधिकः पाठः क्वचित् ।

पादच्छायः, दिग्गज इवानवरतप्रवृत्तदानार्द्रीकृतकरः, कर्त्ता महाश्चर्य्याणाम्, आहर्त्ता क्रतूनाम्, आदर्शः सर्वशास्त्राणाम्, उत्पत्तिः कलानाम्, कुलभवनं गुणानाम्, आगमः काव्यामृतरसानाम्, उदयशैलो मित्रमण्डलस्य, उत्पातकेतुरहितजनस्य, प्रवर्त्तयिता गोष्ठीबन्धानाम्, आश्रयो रसिकानाम्, प्रत्यादेशो धनुष्मताम्, धौरेयः साहसिकानाम्, अग्रणी-

'एकविंशत्यमी स्वर्गा निर्मिता मेरुमूर्धनि'

इति साम्बपुराणात् मेरुसन्निकटगिरीणां छायासु सुराः सञ्चरन्तीति पौराणिकी वार्ता। पूर्णोपमालङ्कारः।

दिग्गज इति। दिग्गज ऐरावतप्रभृतिको दिङ्नाग इव 'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः॥' इत्यमरः।

अनवरतं सततं प्रवृत्तं जातं यद्दानं मदजलं जलसहितं धनादिदानञ्च तेनार्द्रीकृतः क्लिन्नीकृतः करः शुण्डो हस्तश्च यस्य सः। 'मदो दानं प्रवृत्तिश्च', 'आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितं समुन्नमुत्तं च' इति चामरः। पूर्णोपमालङ्कारः।

कर्त्तेति। महाश्चर्याणाम् अतिप्रबलरिपुपराजयाद्यद्भुतावहानन्यकृतकार्याणां कर्त्ता निष्पादकः। क्रतूनां यज्ञानाम् आहर्त्ता अनुष्ठाता। सर्वशास्त्राणां सकलवाङ्मयवेदादीनाम् आदर्शो दर्पणः, 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः, यथा हि दर्पणे संक्रान्ताः पदार्थाः समवलोक्यन्ते तथा तस्मिन्नपि राजनि सर्वेषां सच्छास्त्राणां छाया निरन्तराभ्यासवशाज्जनैः समवलोक्यन्ते स्मेत्याशयः। कलानां (१) नृत्यगीतादिचतुःषष्टिकलाविद्यानाम् उत्पत्तिः शिक्षाप्रदानाज्जन्मस्थानम् कलापदेन द्विसप्ततीनां ग्रहणमिति व्याख्यानं हेयमेव। गुणानां दयादाक्षिण्यगाम्भीर्यादीनां कुलभवनं वंशपरम्परागताश्रयस्थानम्, तस्मिन्नेव तेषां स्थिरभावेन विद्यमानत्वादित्यभिप्रायः। काव्यानां दृश्यश्रव्यादीनां ये अमृतरसाः सुधातुल्यश्रृङ्गारादिरसास्तेषाम् आगम उद्भवस्थानम्, कविराजत्वेनोत्कृष्टकाव्यसम्पादनादित्याशयः। इह एकस्य महीपतेर्विषयभेदेन बहुविधोल्लेखादुल्लेखालङ्कारः।

उदयेति। मित्राणि सखायस्तेषां मण्डलं समूहस्तस्य उदयशैलोऽभ्युन्नतेः स्थानम्। अन्यत्र मित्रमण्डलस्य सूर्यबिम्बस्य उदयशैलः पूर्वाद्रिः। दिवाकरो यथा पूर्वाद्रौ उदयं प्राप्नोति तथा मित्रगणस्तदाश्रितोऽभ्युन्नतिं प्रापेति भावः। इह श्लेषालङ्कारः।

उत्पातेति। अहितजनस्य वैरिजनस्य उत्पातकेतुः विनाशव्यञ्जको धूमकेतुः। तत्प्राकट्य एव तेषां क्षयारम्भादित्याशयः। इह नृपतौ केवलोत्पातकेतुत्वारोपात् केवलं निरङ्गं रूपकमलङ्कारः।

प्रवर्तयितेति। गोष्ठीबन्धानां मधुरकथापरिषत्स्थापनानां प्रवर्त्तयिता प्रवर्त्तकः। प्रतिस्थानं मधुरकथापरिषत्स्थापक इत्यर्थः। रसिकानां विदग्धजनानां रसज्ञातॄणामित्यर्थः, आश्रयः अवलम्बनस्थानम्।

प्रत्यादेश इति। धनुष्मतां धनुर्धारिणां प्रत्यादेशो निराकृतिः प्रशस्तधनुर्धरश्रेष्ठ इत्यर्थः। 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः।

धौरेय इति। साहसिकानां संग्रामादौ हठविधायिनां मध्ये धौरेयो धुरन्धरो मुख्य इति यावत्। 'धुरो यड्ढकौ' इति ढकि धौरेय इति रूपम्।

अग्रेति। विदग्धानां पण्डितानां मध्ये अग्रणीरग्रगण्यः। वैनतेयो गरुड इव विनतेभ्यः कृतप्रणामेभ्य आनन्दस्य हर्षस्य जननः सम्पादकः। सोऽपि विनतायाः स्वमातुः आनन्दजननः हर्षकारकः। वैन्यो

की छाया का सेवन करता था, मृत्युलोक उसके चरणों की छाया में जीवित रहता था। दिग्गजों के सूँड निरन्तर बहनेवाले मद-जल से भीगे रहते हैं, उसके हाथ निरन्तर दिए जाने वाले दान के जल से भींगे रहते थे। वह आश्चर्य-पूर्ण कार्यों में लगा रहता तथा निरन्तर यज्ञों का अनुष्ठान किया करता था। शीशे के समान उसके निर्मल हृदय में सभी शास्त्र झलक उठे थे. वह ललित कलाओं का उद्गम और काव्य के अमृत-तुल्य रसों का संगम था। उदयाचल सूर्यमंडल के उदय का स्थान है, वह अपने मित्रमंडल की उन्नति का स्थान था। धूमकेतु संसार के विनाश का सूचक है, वह शत्रुओं के विनाश का चिह्न था। वह निरन्तर विद्वत्परिषदें बुलाया करता था। वह काव्यरसिकों का एक मात्र आश्रयस्थान था, धनुर्धारियों के मानभंग की मूर्ति था,

१. नृत्यगीतादिचतुःषष्टिकलानां नामानि अस्मत्सम्पादितसाहित्यदर्पण **'लक्ष्मी'** टीकायाः प्रथमसंस्करणस्य प्रथमपरिच्छेदेऽवगन्तव्यानि, विस्तरभयाच्च नेहोपन्यस्तानि।

  

विदग्धानाम्, वैनतेय इव विनतानन्दजननः, वैन्य इव[1] चापकोटिसमुत्सारित[2]सकलारातिकुलाचलो राजा शूद्रको नाम।

नाम्नैव यो निर्भिन्नारातिहृदयो विरचितनरसिंह[3]-रूपाडम्बरम्, एकविक्रमाक्रान्तसकलभुवनतलो विक्रमत्रयायासित[4]भुवनत्रयं जहासेव[5] वासुदेवम्।

अतिचिरकाललग्नमतिक्रान्तकुनृपतिसहस्रसम्पर्ककलङ्कमिव क्षालयन्ती यस्य विमले[6] कृपाणधाराजले चिरमुवास राजलक्ष्मीः[7]।

---

वेनराजात्मजः पृथुरिव चापकोट्या कोटिसंख्यककार्मुकैः अगणितधनुर्धरसैनिकैरित्यर्थः, पक्षे-चापो धनुस्तस्य कोटिरग्रभागस्तेन समुत्सारिता विनाशिताः स्थानान्तरं प्रापिताश्च सकलारातयः समग्ररिपवः कुलाचलाः महेन्द्रादयः कुलपर्वता इव येन स तथोक्तः। कुलपर्वताश्च—'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥' उभयोः साम्यात्पूर्णोपमालङ्कारः। पुरा किल पृथुः पर्वताकीर्णां वासानर्हां पृथ्वीं समवलोक्य तत्समतलीकरणप्रवृत्तो धनुःकोट्या पर्वतानुत्सारयामासेति पौराणिकी वार्त्तानुसन्धेया।

नाम्नैवेति। यः शूद्रकः नाम्नैव निजनामश्रवणमात्रेणैव निर्भिन्नानि भयोत्पादनेन विदारितानि अरातीनां शत्रूणां हृदयानि वक्षांसि येन स तादृशः। विरचितः हिरण्यकशिपुहृदयभेदनाय विहितो नरसिंहस्वरूपधारणस्य आडम्बर आटोपो दीर्घव्यापार इति यावत्, येन स तं तादृशम्। एकेनाद्वितीयेन विक्रमेण, पराक्रमेण आक्रान्तम् अधीनीकृतं सकलं समस्तं भुवनतलं विष्टपतलं येन स तादृशः 'विष्टपं भुवनत्रयम्' इत्यमरः। विक्रमः पादन्यासः तस्य त्रयं त्रितयं तेन आयासितं खिन्नं कृतं भुवनत्रयं विष्टपं येन तं तथोक्तं वासुदेवं श्रीपतिं जहासेव हसति स्मेव। अयमाशयः—महीपतिरयं निजनामश्रवणमात्रेणैव शत्रूणां वक्षो भेदितवान्, वासुदेवस्तु शत्रुवक्षोभेदनाय नृसिंहावताराडम्बरं धृतवान्, तथा महीपतिना चानेनानायासेनैकेनैव पराक्रमेण चतुर्दशभुवनानि स्वाधीनीकृतानि, वासुदेवेन तु त्रिभिरेव विक्रमैः केवलानि त्रीण्येव भुवनान्याक्रान्तानीति योऽयं महीपतिकृतो वासुदेवोपहासः स न्याय्य एवेति।

विष्णुना बलिं विजेतुं वामनरूपमङ्गीकृत्य छद्मना तं भुवनत्रयं विक्रमत्रयेणासादित इति पौराणिकी वार्त्ता। इहोपमानाद्वासुदेवादुपमेयस्य महीपतेराधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकालङ्कारः। जहासेवेति क्रियोत्प्रेक्षा चेति उभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

अतिचिरकालेति। अतिचिरकालो भूयान् समयः तेन लग्नम् आत्मनि संयुक्तम्, अतिक्रान्तं व्यतीतं यत् कुनृपतिसहस्रं कदर्यनरपतिसमूहः तस्य सम्पर्केण सम्बन्धेन यः कलङ्को दूषितचिह्नं पापञ्च तं तथोक्तम्, क्षालयन्तीव प्रक्षालनेन प्रमार्जयन्तीव यस्य महीपतेः ( शूद्रकस्य ) विमले स्वच्छे कृपाणधाराजले खड्गधारारूपे जले चिरं बहुसमयं यावत् लक्ष्मीः राज्यश्रीः उवास वसतिं चक्रे, अन्योऽपि लोकः पङ्कादिलग्नं शरीरं जलेन क्षालयति। खड्गबलेनैव राजा राज्यलक्ष्मीं स्वाधीनीकृतवानित्याशयः। इह क्षालयन्तीवेति क्रियोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, 'कृपाणधाराजल, इत्यत्र निरङ्गं रूपकञ्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

---

पराक्रमियों का प्रधान था और चतुर पंडितों का अगुआ था। गरुड़ ने अपनी माता विनता को आनन्दित किया था, उसने अपने अधीनों को आनन्दित किया था। राजा पृथु ने अपने धनुष की कोरों से पर्वतों को हटाकर पृथ्वी को समतल किया था, उसने अपने धनुष की कोरों से शत्रुओं का विनाश करके शासन को निष्कंटक बना दिया था।

उसने अपने नाम के प्रताप से ही शत्रुओं के हृदय को विदीर्ण कर दिया था और अद्वितीय पराक्रम से सारी पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया था। इसी नाते वह शत्रु-वध के लिए नृसिंह रूप का आडम्बर रचनेवाले, तथा तीन पगों से तीनों लोकों को नाप लेने के लिए वामन रूप धारण करने का कष्ट उठाने वाले भगवान वासुदेव की हँसी सी उड़ाया करता था।

युगों से दुष्ट राजाओं के सहवास में रहने के कारण राज्यलक्ष्मी में जो कलंक लग चुके थे उन्हें ही मानो धोती हुई वह उसके कृपाण की जल-धारा में बहुत दिनों तक निवास करती रही।

---

१. वैण्यः, पृथुः। २. समुत्सारितारातिʼ••। ३. नारसिंह•••। ४. आयासितम् आयासिमानम्। ५. हसति स्मेव। ६. 'विमले' इति पाठः क्वचिन्न विद्यते। ७. लक्ष्मीः।

यश्च मनसि धर्म्मेण, कोपे यमेन, प्रसादे धनदेन, प्रतापे वह्निना, भुजे भुवा, दृशि श्रिया, वाचि सरस्वत्या, मुखे शशिना, बले मरुता, प्रज्ञायां सुरगुरुणा, रूपे मनसिजेन, तेजसि सवित्रा च वसता सर्वदेवमयस्य प्रकटितविश्वरूपाकृतेरनुकरोति भगवतो नारायणस्य।

यस्य च मदकल-करि-कुम्भ-पीठपाटनमाचरता[1] लग्न-स्थूलमुक्ताफलेन, दृढ[2]-मुष्टि-निष्पीडन[3]-निष्ठ्यूत-धाराजलबिन्दु-दन्तुरेणेव[4] कृपाणेनाकृष्यमाणा सुभटोरःकपाट-घटित[5]-

यश्चेति। चकारोऽत्र किञ्चेत्यर्थे। यो राजा (शूद्रकः) इति दूरस्थायाम् 'अनुकरोति' इति क्रियायामन्वेति। मनसीत्यादीनि सप्तम्यन्तपदानि दूरस्थवसतेत्यस्याधिकरणप्रतिपादकानि करणतृतीयान्तपदानि धर्मेणेत्यादीनि च वसतेत्यस्य विशेष्याणि सन्तीति विभावनीयम्। वसतापदस्य च यथालिङ्गं सर्वत्र सम्बन्धो विधेयः। तथा च मनसि हृदये धर्मेण पुण्येन वसता वासं विदधता, सर्वदैव धर्मचिन्तनादिति भावः। कोपे क्रोधे यमेन धर्मराजेन, अपराधिनां तत्क्षणमेव दण्डदानादित्याशयः। प्रसादे अनुग्रहे धनदेन कुबेरेण, परिचर्यादिना प्रसन्ने सति मनोरथाधिकसमर्पणादित्यभिप्रायः। प्रतापे कोशदण्डजे तेजसि वह्निना अग्निना, सकलवैरितापकत्वादित्याशयः। भुजे बाहौ भुवा मेदिन्या, राज्यभारवहनसमर्थत्वादिति भावः। दृशि लोचने श्रिया लक्ष्म्या, सानुरागदृष्टिमात्रेणैव तत्सम्भवादित्याशयः। वाचि वचने सरस्वत्या गीर्वाण्या 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः, निरन्तरगद्यपद्याद्यनेकप्रबन्धनिर्माणादित्याशयः। मुखे आनने शशिना चन्द्रेण तदनुकारित्वात्सकलजनानन्दकत्वाच्चेति भावः। 'आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः। बले शक्तौ मरुता वायुना, अतिबलशालित्वादिति भावः। प्रज्ञायां मतौ सुरगुरुणा, बृहस्पतिना अनुपमबुद्धिशालित्वादित्यभिप्रायः। 'धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः', 'बृहस्पतिः सुराचार्यः' इति चामरः। तथा रूपे सौन्दर्ये मनसिजेन अनङ्गेन, मानिनीमानापहरणादित्याशयः। तेजसि प्रतापलक्षणे सवित्रा सूर्येण, विपक्षिणां दुर्निरीक्ष्यत्वादिति भावः। 'तपनः सविता रविः' इत्यमरः। सर्वे च ते देवाश्च सर्वदेवास्तत्स्वरूपः सर्वदेवमयस्तस्य तथोक्तस्य। अत्र 'प्राचुर्यविकारप्राधान्यादिषु' इत्यनेनादिपदात्स्वरूपार्थेऽपि मयट् प्रत्ययो ज्ञेयः। प्रकटिता प्रकाशिता विश्वरूपा 'पश्यामि देवांस्तव देव! देहे' इत्यर्जुनोक्ता आकृतिः स्वरूपं येन स तस्य तथोक्तस्य श्रीमद्भागवते ११ स्कन्धे-'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः' इति। भग ऐश्वर्यादिरस्यास्तीति भगवान् तस्य भगवतः नृणां समूहो नारं तस्य जीवसमुदायस्येत्यर्थः, अयनं गतिरिति नारायणो महाविष्णुस्तस्य 'कृञः प्रतियत्ने' इत्यनेन कर्मणि षष्ठी। अनुकरोति तत्सादृश्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्रातीते लट्। इहौपम्यवाचकपदाभावादर्थोपमालङ्कारः।

यस्य चेति। किञ्चेति चार्थः। यस्य राज्ञः (शूद्रकस्य) समीपमित्यत्र सम्बन्धः। मदेन दानजलेन कलानि मनोज्ञानि यानि करिणां हस्तिनां कुम्भपीठानि शिरःपिण्डफलकानि तेषां पाटनं विदारणम् आचरता कुर्वता, अत एव लग्नानि संयुक्तानि स्थूलानि विपुलानि हस्तिसम्बन्धीनि मुक्ताफलानि मौक्तिकानि यस्मिंस्तेन तथोक्तेन, दृढमुष्टिना यन्निपीडनं धारणं तेन निष्ठ्यूता इव निर्गता इव धारा निशितभागा एव जलबिन्दवः जलकणपङ्क्तयः, ताभिर्दन्तुरेण विषमेण उच्चावचेन कृपाणेन खड्गेन, आकृष्यमाणेव समन्ता-

उसके मन में धर्म का निवास था, क्रोध में मृत्यु का वास था, प्रसन्नता में कुबेर का आवास था। प्रताप में अग्नि जलती थी, भुजाओं पर पृथ्वी टिकी थी, आँखों में लक्ष्मी हँसती थी, वाणी में सरस्वती बोलती थी, मुख पर चन्द्रमा खेलता था, बल में वायु की गति थी, बुद्धि में बृहस्पति का विलास था, सौन्दर्य में कामदेव उतर आया था, तेज में सूर्य चमक रहा था, इस नाते वह सभी देवताओं से युक्त विश्व रूपधारी भगवान नारायण की प्रतिमूर्ति सा प्रतीत हो रहा था।

युद्ध में मतवाले हाथियों के मस्तक को विदीर्ण करने के समय बड़े-बड़े गजमोतियों के दानों से भरी हुई तथा मुट्ठी में दृढ़ता से पकड़ कर दबाने के समय मूठ से निचुड़ी हुई जल-धारा से और भी पैनी एवं जल-कणों से दंतुरित (ऊँची नीची, लहराती हुई) लगनेवाली शूद्रक की तलवार से खींची गयी, हाथियों के

१. पाटन् आचरतः, विदधतः। २. दृढ। ३. 'निपीडनात् निष्ठ्यूततलः'। ४. 'जलदन्तुरेण' ५. विघटित।

कवच-सहस्रान्धकार-मध्यवर्त्तिनी करि-करट[1]-गलित-मदजलासार-दुर्दिनास्वभिसारिकेव समरनिशासु समीपमसकृदा[2]जगाम राजलक्ष्मीः।

यस्य च हृदयस्थितानपि पतीन् दिधक्षु[3]रिव प्रतापानलो वियोगिनीनामपि रिपुसुन्दरीणामन्तर्जनितदाहो[4] दिवानिशं जज्वाल।

यस्मिंश्च राजनि जितजगति परिपालयति[5] महीं चित्रकर्म्मसु वर्णसङ्कराः, रतेषु

दुगृह्यमाणेव, यद्यपि दृढमुष्टिरित्यत्र दृढशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् पुंवद्भावनिषेधः प्राप्नोति तथापि दार्ढ्यमात्रविवक्षया सामान्ये नपुंसकत्वमास्थाय निर्वाहः कार्यः। तथा सुभटानां प्रशस्तसैनिकानाम् उरांसि वक्षांस्येव कपाटानि तेभ्यो विघटितानि वियोजितानि यानि कवचसहस्राणि लौहवर्मसमुदायास्तान्येव नैल्यतुल्यत्वात् अन्धकारास्तमांसि तेषां मध्यवर्त्तिनी अन्तःपातिनी, राजलक्ष्मीः शत्रुराजश्रीः, करिणां हस्तिनां करटानि कपोलस्थलानि तेभ्यो गलितं निःसृतं यन्मदजलं दानवारि तस्य आसारो धारासम्पातस्तेन दुर्दिनं मेघजनितं तमः यासु तथोक्तासु, गाढतमोऽभिव्यञ्जनायैतदभिहितम् 'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' इत्यमरः, समरा युद्धानि निशा रात्रय इव तासु अभिसारिका ध्वान्ते दत्तसङ्केता वनितेव यस्य शूद्रकस्य समीपम् अन्तिकम् असकृत् संग्रामस्यानेकत्वात् मुहुर्मुहुः आजगाम आगतवती वशवर्त्तिनी जातेत्यर्थः। अभिसारिकालक्षणं यथा दर्पणे—

'अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा। स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका॥'

इह 'आकृष्यमाणेव' इति क्रियोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, उरःकपाटेत्यत्र कवचसहस्रेत्यत्र च रूपकद्वयम्, अभिसारिकेवेत्युपमालङ्कारश्चेति परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

यस्येति। अत्रापि चः किञ्चार्थे। किञ्च यस्य महीपतेः ( शूद्रकस्य ) प्रतापः कोषदण्डजं तेजस्तदेव अनलो वह्निः, वियोगिनीनामपि पूर्वमेव स्वामिमरणात् विरहिणीनामपि, स्वामिमरणशङ्कया संयुक्तानां किं वक्तव्यमित्याशयः। रिपुसुन्दरीणां वैरिवनितानाम् अन्तर्मनसि जनित उत्पादितः दाहो दग्धियेन स तथोक्तः, हृदयस्थितानपि ताभिर्निरन्तरध्यानेन अन्तर्वर्त्तिनोऽपि भर्तॄन् पतीन् दिधक्षुर्दग्धुमिच्छुरिव दिवानिशं रात्रिन्दिवं जज्वाल प्रदीप्तो बभूव। वियोगिनीनामपीत्यनेन दाहायोग्यत्वं व्यञ्जितम्। एतेन यत्प्रतापो हृदयवर्त्तिनमपि रिपुगणं सोढुमसमर्थ इति तत्प्रतापातिशयवर्णनेन महीपतेरतिशयवर्णनम्, तथा च राजाऽयं महाप्रतापशालीति निष्कर्षः। दिधक्षुरिति दहातेः सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उः।

इह 'प्रतापानल' इत्यत्र केवलं निरङ्गं रूपकमलङ्कारः, 'दिधक्षुरिव' इत्यनेन क्रियोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारश्चेत्युभयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

पुनस्तदतिशयमेव वर्णयति—यस्मिंश्चेति। यस्मिन् महीपतौ ( शूद्रके ) जितजगति निर्जितसंसारे महीं भुवं पालयति रक्षणं विदधति शासति सतीत्यर्थः, एते विषया एतेषु स्थलेषु विद्यमाना आसन् न प्रजानामित्यग्रिमेण सर्वत्र सम्बन्धः। तान्येव दर्शयति—चित्रेत्यादि। चित्रकर्मसु आलेख्यनिर्माणेषु वर्णानां नीलपीतादीनां सङ्कराः परस्परसम्बन्धाः, न तु जनतासु अनुलोमविलोमेन वा ब्राह्मणादिभ्यः क्षत्रियादीनां तद्वैपरीत्येन वोत्पत्तिरूपा वर्णसङ्कराः दुराचरणाद्यभावादिति भावः। रतेषु मैथुनेषु केशग्रहाः सुगमताविधानाय कचाकर्षणानि, न तु कलहेषु तदनुपलम्भात्। काव्येषु कविकर्मसु दृढबन्धाः समासाधिक्यादिना पदानां प्रगा-

कपोलों से मद बरसानेवाली युद्ध रूपी वर्षा की घनघोर रात में योद्धाओं के हृदयरूपी कपाट पर लगे हुए कवचों के घने अंधकार से होती हुई अभिसारिका नायिका के समान राजाओं की राज्यलक्ष्मी बार-बार उसके पास आती थी।

उसके प्रताप की अग्नि पति-वियोगिनी ( विधवा ) शत्रु-स्त्रियों के हृदयों में स्थित उनके पतियों को मानो जलाने की अभिलाषा से ही उनके हृदय के बीच अन्तर्ज्वाला ( मानसिक संताप ) बन कर रात-दिन धधकती रहती है।

संपूर्ण जगत को जीतकर पृथ्वी का पालन करनेवाले शूद्रक के शासनकाल में विपरीत वर्णों के संबंध से संतान उत्पन्न करने की परिपाटी प्रजावर्ग से उठकर विभिन्न रंगों के मिश्रण से नए रंग बनाने के रूप में केवल

१. करतट। २. सकृदगात। ३. धक्षुरिव। ४. दाघो। ५. पालयति।

केशग्रहाः काव्येषु दृढबन्धाः, शास्त्रेषु चिन्तां[1], स्वप्नेषु विप्रलम्भाः, छत्रेषु कनकदण्डाः, ध्वजेषु प्रकम्पाः, गीतेषु रागविलसितानि, करिषु मदविकाराः, चापेषु गुणच्छेदाः, गवाक्षेषु जालमार्गाः, शशिकृपाणकवचेषु कलङ्काः, रतिकलहेषु दूतसम्प्रेषणानि[2], सार्यक्षेषु शून्यगृहाः न प्रजानामासन्।

---

ढसन्निवेशाः, न तु कारागृहेषु दृढबन्धा अपराधाभावात्। शास्त्रेषु वेदोपबृंहितधर्मशास्त्रादिषु सिद्धान्तेषु चिन्ता मनोव्यापारः, न तु उदरपोषणादिषु समस्तविषयविद्यमानत्वात्। स्वप्नेषु स्वप्नदशायां विप्रलम्भाः इष्टवस्तूनां झटिति तिरोधानात् वञ्चनाः, न तु अन्यकालेषु वियोगस्याजायमानत्वात्। छत्रेषु आतपत्रेषु कनकदण्डाः सुवर्णयष्टयः, न तु जनेषु कनकदण्डाः दण्डेन सुवर्णपरिग्रहः, स्वकीयपद्धत्यां तेषां विद्यमानत्वेनापराधाभावादित्याशयः। ध्वजेषु पताकासु प्रकम्पाः प्रकर्षेण चाञ्चल्यानि, न तु जनस्वान्तेषु भीतेरसत्त्वादिति भावः। 'ध्वजं चिह्नं पताकायां ध्वजः शौण्डिकशेफसोः। खट्वाङ्गेषु च'... इति विश्वः। गीतेषु गानेषु रागाः वसन्तादिरागाः शास्त्रीया धनाश्रीप्रभृतयो देशीयाश्च तेषां विलसितानि व्यवहाराः, न तु जनेषु रागा मात्सर्यादयस्तेषां विलसितानि द्वेषाद्याचरणानि समेषामेव अत्यन्तसदाचरणसम्पन्नत्वादिति तात्पर्यम्। 'रागः क्लेशादिके रक्ते मात्सर्ये लोहितादिषु' इति त्रिकाण्डकोशः। करिषु गजेषु मदो दानं तस्य विकाराः तेजोजनितविकृतयः, न तु लोकेषु मदो रागोऽहङ्कारो वा तस्य विकारा विचेष्टितानि सर्वस्मिन्समये आप्तोपदेशामृतपानसक्तमनस्कत्वेन तेषामनुपलम्भादिति भावः। चापेषु धनुःषु गुणस्य मौर्वीरूपस्य रज्जोः छेदः कर्त्तनम्, न तु जनेषु गुणानां दयादाक्षिण्यादीनां छेदा विलोपाः, तथाविधगुणानां सर्वदोपलम्भादित्याशयः। गवामक्षीवेति विग्रहे 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' ५।४।७६ इति पा० सूत्रेणाच्। गावो जालानि किरणा वाक्षन्ति व्याप्नुवन्ति एनमनेन वेति विग्रहे 'अक्षू व्याप्तौ' इत्यस्माद्धातोः अकर्त्तर्यर्थे घञि सति गवाक्ष इति 'वातायनं गवाक्षः' इत्यमरः, तेषु जालमार्गा वातागमनाय क्षुद्रक्षुद्रपथाः, न तु जनेषु जालमार्गाः छद्मकल्पनामार्गाः समेषामेव सत्प्रकृतिकत्वादिति भावः। शशी चन्द्रः, कृपाणम् असिः, कवचो लोहनिर्मितवर्म्म एतेषां द्वन्द्वः एषु कलङ्काश्चिह्नानि, तत्र चन्द्रे कलङ्को मृगलाञ्छनरूपः स्वाभाविकः, कृपाणकवचयोस्तु अधिकदिनपर्य्यन्तं व्यवहाराभावे मालिन्यरूपी कलङ्को, न तु जनाचरणेषु कलङ्काः कुलमालिन्यादिजनका दुराचरणादिदूषितव्यवहाराः सर्वेषामेव सदाचरणशीलत्वादित्याशयः। रतिकलहेषु कामविषयकविवादेषु दूतसम्प्रेषणानि सञ्चारकगमनानि, न तु युद्धेषु प्रबलविपक्षिणोऽविद्यमानत्वादिति भावः। सारयः क्रीडन्यः अक्षा विभीतकाः तेषु गुटिकाक्षेत्रेष्वित्यर्थः शून्यगृहाः गुटिकारहितस्थानानि, न तु ग्रामेषु लोकशून्यसदनानि केनापि प्रकारेण राजादेयकरजनितबाधाद्यभावादित्यभिप्रायः। इह 'वर्णसंकरा' इत्यारभ्य 'शून्यगृहाः' इत्येतेषु चतुर्दशसु श्लेषानुप्राणितार्थपरिसंख्यालङ्कारस्य मिथोऽनपेक्षत्वेन विद्यमानत्वात् संसृष्टिः।

---

चित्रकला ही में चलती थी, बाल पकड़ने की क्रिया कामिनियों की चोटी पकड़ने के रूप में केवल रतिक्रिया में ही होती थी, कारागार आदि कठोर बन्धन की रीति बंधों ( विशिष्ट रचना-शैलियों ) के रूप में केवल काव्य में ही बरती जाती थी, जीवननिर्वाह की चिंता अध्ययन और मनन के रूप में केवल शास्त्र-चिंतन में मग्न थी, वियोग की दशा दृष्ट वस्तुओं को न पा सकने के रूप में केवल सपनों में आती थी, अर्थदंड की व्यवस्था सोने की डाँड़ियों के रूप में केवल राज-छत्रों में पाई जाती थी, भय से काँपने की स्थिति वायु से हिलने के रूप में केवल पताकाओं में स्थित थी, मद-मोह आदि खटरागों की हलचल, रागरागिनियों की क्रीडाओं के रूप में केवल गीतों में होती थी, अहंकार का दोष गजमद के रूप में केवल हाथियों में मिलता था, गुणों से हीनता रोंदे के उतरने के रूप में केवल धनुषों में दिखाई पड़ती थी, धोखा-धाड़ी की कारीगरी जालीदार कटानों के रूप में केवल झरोखों में की जाती थी, कलंक की कालिमा काले काले धब्बों के रूप में केवल चंद्रमा, तलवार और कवचों में लगी हुई थी, दूत-संबंध की स्थापना मान-मोचन के लिए दूतों के आवागमन के रूप में केवल कामकलह में ही होती थी तथा घर का धन से सूना होना मुहरों से सूने कोठों के रूप में केवल चौपड़ आदि खेलों में ही पाया जाता था।

---

१. चिन्ता। २. दूतप्रेषणानि।

यस्य च परलोकाद्भयम्, अन्तःपुरिकालकेषु[1] भङ्गः, नूपुरेषु मुखरता, विवाहेषु करपी-डनम्[2], अनवरतम्[3]मखाग्निधूमेनाश्रुपातः, तुरगेषु[4] कशाभिघातः, मकरध्वजे चापध्वनिरभूत्[5]।

तस्य च राज्ञः कलिकाल-भयपुञ्जीभूत-कृतयुगानुकारिणी[6] त्रिभुवनप्रसवभूमिरिव विस्तीर्णा मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालन-जर्जरितोर्म्मिमालया जलावगाहनावतारि[7]त-जयकुञ्जर-कुम्भ-सिन्दूर-सन्ध्यायमान-सलिलया उन्मद-कलहंस-कुल-कोलाहल-

---

यस्य चेति। यस्य च महीपतेः (शूद्रकस्य) परलोकात् जन्मान्तरादेव भयम्, न तु शत्रुवर्गात् तस्मात् स्वस्यातिशयबलशालित्वमिति तात्पर्यम्। भयमित्यादेर्हि अभूदित्यग्रिमक्रियया सर्वत्र सम्बन्धोऽवसेयः। अन्तःपुरे भवा आन्तःपुरिकाः भवार्थे ठक् प्रत्ययः, तासाम् अन्तःपुरवासिनीनां कामिनीनां कुन्तलेषु अलकेषु चूर्णकुन्तलेषु 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः, भङ्गः कुटिलता, न तु समरेषु भङ्गः पराजयः अतिप्रबलसैन्ययुक्तत्वादिति भावः। नूपुरेषु हंसकेषु मुखरता शब्दायमानता, न तु लोकेषु मुखरता वाचालता, सर्वेषामेव प्रियभाषित्वादित्याशयः, विवाहेषु उपयमनेषु करपीडनं पाणिग्रहणं न लोकेषु करो राजदेयद्रव्यं तेन पीडनं तद्ग्रहणाय बाधनं जनानां समृद्धिशालित्वेन यथोचितसमय एव तत्समर्पणात् नृपतेश्च परिस्थित्यनुकूलेन कार्यविधानादित्याशयः। अनवरतं निरन्तरं मखाग्निधूमेन क्रतुवह्निधूमेन अश्रुपातो नेत्रजलनिःसरणं न तु शोकादिना, असमयप्राणवियोगाद्यभावादिति भावः। तुरगेषु घोटकेषु कशाभिघातः चर्मदण्डप्रहारः, न तु दस्युप्रभृतिषु तेषामसद्भावात्। मकरध्वजे कामदेवे चापस्य धनुषो ध्वनिः जनमानसवशीकरणाय टङ्कारः, न तु सैनिकजने प्रायेण सङ्ग्रामाद्यभावादित्यभिप्रायः, इहापि पूर्ववदेव सप्तार्थपरिसंख्यालङ्काराः, अपि च 'मकरध्वजे चापध्वनिः' इत्यत्र असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरित्येतेषां परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

तस्य चेति। तस्य च राज्ञो महीपतेः (शूद्रकस्य) विदिशा अभिधानं नाम यस्याः सा विदिशाभिधाना राजधान्यासीदिति क्रियायामन्वयः। तामेव विशेषयति—कलीत्यादिना। तत्र प्रथमान्तं विदिशायाः, तृतीयान्तञ्च वेत्रवत्या विशेषणमिति बोध्यम्। कलिकालात् कलियुगस्थापनाद् यद्भयं भीतिस्तस्मात् पुञ्जीभूतम् एकत्रीभूतम् अवयवसङ्कोचेन सङ्कुचितमिव कृतयुगं सत्ययुगं तदनुकर्त्तुं शीलं स्वभावो यस्याः सा तादृशी, अनेनातिशयपुण्यस्थानमेतदिति व्यञ्जयति। त्रयाणां भुवनानां जगतां समाहारस्त्रिभुवनम् 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समाहारे तत्पुरुषः, तस्य प्रसवभूमिरिव उत्पत्तिस्थलमिव विस्तीर्णा विपुला। मज्जन्त्यः स्नानाय अवगाहमानाः मालवविलासिन्यो मालवदेशीयकामिन्यः तासां कुचतटानि वक्षोजस्थलानि तेषाम् आस्फालनेन अतिशयवक्षोजाघातेन जर्जरिताः क्षीणीकृता ऊर्मीणां तरङ्गाणां मालाः पङ्क्तयो यस्याः सा तया तथोक्तया। 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा' इत्यमरः, 'माला तु पङ्क्तौ पुष्पादिदामनि' इति हैमः। एतेन कुचानामतिकर्कशत्वं व्यञ्जयति। जलावगाहनाय पानीयावलोडनाय अवतारिता रक्षकैः प्रवेशिता जयकुञ्जराः विपक्षिदलनसमर्थहस्तिनः तेषां कुम्भाः शिरःपिण्डाः तेषु शोभमानं यत्सिन्दूरं नाग-

---

उसके शासनकाल में लोगों में यदि भय था तो केवल परलोक से, कुटिलता थी तो केवल महलों की सुंदरियों की घुँघराली लटों में, वाचालता थी तो केवल नूपुरों में, करग्रहण (पाणिग्रहण करना) था तो केवल विवाहों में, आँसुओं का गिरना था तो केवल यज्ञ के धुओं से, कोड़ों की चोट थी तो केवल घोड़ों पर और धनुष का शब्द केवल कामदेव के धनुष ही में पाया जाता था (अर्थात् युद्ध का अभाव था; सहज शांति थी)।

विदिशा नाम की नगरी उसकी राजधानी थी। जहाँ के लोग अत्यन्त सात्विक थे मानों कलियुग से भयभीत होकर सतयुग सिमिटकर वहीं आ बसा था। वह इतनी लंबी-चौड़ी थी कि तीनों लोक उसी से उत्पन्न जैसे प्रतीत होते थे। वह वेत्रवती (बेतवा) नाम की नदी से घिरी हुई थी; जिसकी लहरें स्नान करनेवाली मालव सुंदरियों के कठोर कुचों के तट से टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाती थीं, जिसका जल स्नान के लिए जल में उतरे हुए जयकुंजरों के मस्तकों में लगे सिंदूर के घुल जाने से सन्ध्या के समान लोहित हो जाता था, तथा जिसके किनारे मतवाले हंसों के कलरव से गूंजते रहते थे।

---

१. अन्तःपुरिकाकुन्तलेषु। २. करग्रहणम्। ३. अनवरतप्रवृत्त। ४. तुरङ्गेषु। ५. उद्भूत ६. अनुसारिणी। ७. आयात आगत।

मुखरित[1]-कूलया वेत्रवत्या[2] परिगता विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत्।

स तस्याञ्च [3]विजिताशेष-भुवनमण्डलतया विगतराज्यचिन्ताभारनिर्वृतः, द्वीपान्तरागतानेक-भूमिपाल-मौलिमाला-लालित-चरणयुगलः, वलयमिव लीलया भुजेन भुवनभारमुद्वहन्, अमरगुरुमपि प्रज्ञयोपहसद्भिरनेककुलक्रमागतैरसकृदालोचित-नीतिशास्त्र-निर्म्मलमनोभिरलुब्धैः स्निग्धैः प्रबुद्धैश्चामात्यैः परिवृतः, समानवयोविद्यालङ्कारैरनेकमूर्द्धाभिषिक्त-पार्थिवकुलोद्गतैरखिल-कलाकलापालोचन-कठोरमतिभिरतिप्रगल्भैः कालविद्भिः

---

सम्भवं रक्तचूर्णकमिति यावत् 'सिन्दूरं नागसम्भवम्' इत्यमरः,'सिन्दूरं तरुभेदे स्यात् सिन्दूरं रक्तचूर्णके' इति मेदिनी, तेन सन्ध्यायमानं सन्ध्यावदाचरत् रक्तीभूतं सलिलं जलं यस्यास्तया तथोक्तया। उन्मदानाम् उत्कटमदानां कलहंसानां कादम्बानां कुलस्य सङ्घस्य यः कोलाहलोऽनभिव्यक्तरवः तेन मुखरितं शब्दायमानीकृतं कूलं तटं यस्यास्तया तथोक्तया। वेत्रवत्या तन्नामिकया नद्या परिगता परिवेष्टिता।

अत्र कलिकालेत्यादिविशेषणे पुञ्जीभूतत्वोत्प्रेक्षालङ्कारः आर्थी उपमालङ्कारश्च, त्रिभुवनेत्यादिविशेषणे द्वयोत्प्रेक्षालङ्कारः, कुचतटास्फालनेन ऊर्मिमालाया जर्जरितत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः,सन्ध्यायमानेति व्यङ्गतोपमा चेत्येतेषां परस्परापेक्षाभावेन तिलतण्डुलवत् संसृष्टिरलङ्कारः।

स तस्यामिति। स राजा ( शूद्रकः ) तस्यां विदिशानगर्याम् अतिचिरं बहुसमयं प्रथमे आद्ये वयसि प्राणिनां कालकृतावस्थाविशेषे सुखम् आनन्दो यथा स्यात्तथा उवास वसतिं चक्रे इति सम्बन्धः। वयसः केचित् कुमारादिभेदेन व्यवस्थां मन्यन्ते, तथाहि—

'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥' इति दर्शनात्। केचिच्च चतुरवस्थां मन्यन्ते, तथाहि—

'आद्ये वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति॥'

अत्र प्रथमान्तपदानि राजविशेषणानि, तृतीयान्तपदानि च सचिवानां राजपुत्राणाञ्च विशेषणानि। तत्र राजविशेषणं—विगतेति। विगतो दूरीभूतो यो राज्यचिन्ताभारस्तेन निर्वृतः सुनिश्चिन्तः। तत्र कारणमाह—विजितेति। विजितानि स्वाधीनीकृतानि अशेषाणि सकलानि भुवनमण्डलानि चतुर्द्दशभुवनानि येन तस्य भावस्तया तथोक्तया। एकस्माद्द्वीपाद्भिन्ना ये द्वीपास्ते द्वीपान्तराणि तेभ्य आगतानां समायातानाम् अनेकभूमिपालानां बहुतरमहीपतीनां मौलयो मुकुटानि शिरांसि वा तेषां मालाः स्रजः श्रेणयो वा ताभिर्लालितं सादरं संस्पृष्टं चरणयुगलं पादयुग्मं यस्य स तादृशः। वलयं कटकमिव 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, लीलया अनायासेन। भुवनभारं संसारवीवधम् उद्वहन् धारयन्। प्रज्ञया धिया 'धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः, अमरगुरुं बृहस्पतिमपि उपहसद्भिः उपहासं कुर्वद्भिः, अनेककुलक्रमागतैः वंशपरम्परया अमात्यपदारूढैर्न त्वाधुनिकैरित्यर्थः, असकृद् वारंवारम् आलोचितैः अनुशीलितैः नीतिशास्त्रैः राजोचितव्यवहारबोधकग्रन्थैः निर्मलानि स्वच्छीकृतानि मनांसि येषां तैस्तथोक्तैः। अलुब्धैः लोभशून्यैः, अन्यथा प्रच्छन्नरूपेण द्रव्यग्रहणादिना राज्ञः क्षतिमपि विदध्युरित्याशयः। स्निग्धैः वत्सलैः 'स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः, प्रबुद्धैः जागरितैः कार्यज्ञैर्वा। अनेके बहवो ये मूर्धाभिषिक्ताः ब्राह्मणेभ्यः क्षत्रियासु समुत्पन्ना मूर्धाभिषिक्तास्तेषाम्, पार्थिवानां महीपतीनाञ्च कुलानि वंशास्तेभ्यः उद्गता उत्पन्नास्तैस्तथोक्तैः, अखिलानां समग्राणां कलानां नृत्यगीतादीनां कलापस्य समुदायस्य आलोचनेन विमर्शेन कठोराः शास्त्रे परिपक्वा मतयो धियो येषां तैस्तथोक्तैः, अतिप्रगल्भैः प्रतिभान्वितैः 'प्रगल्भः प्रतिभान्विते' इत्यमरः,

---

वह अपनी युवावस्था में बहुत दिनों तक सुख के साथ उस नगरी में निवास करता रहा। उसने संपूर्ण पृथ्वी को जीत लिया था इसलिए वह राज्य-भार की चिंता से मुक्त होकर निश्चिंत हो गया था। अनेक द्वीपों से आये हुए राजा अपनी मुकुट मालाओं से उसके चरणों की पूजा किया करते थे। वह अनेक मंत्रियों से घिरा रहता था जो अपनी प्रतिभा से बृहस्पति की भी खिल्ली सी उड़ानेवाले, वंश-परम्परा से अपने पदों पर आसीन और निरन्तर नीतिशास्त्र का मनन-चिंतन करने से निर्मल-हृदय, निर्लोभी, हित-चिंतक तथा जागरूक थे। वह अनेक राजपुत्रों के साथ आमोद प्रमोद में लगा रहता था; जो अवस्था, विद्या तथा आभूषणों में उसी के समान थे, विभिन्न श्रेष्ठ राजाओं के वंशों में उत्पन्न थे, अनेक कलाओं के मनन से परिपक्वबुद्धि तथा अत्यन्त प्रखर थे।

---

१. मुखरीकृत। २. वेत्रवत्या सत्या, वेत्रवत्या सरिता। ३. तस्यामवजिताशेष।

प्रेमानुरक्तहृदयैरग्राम्यपरिहासकुशलैरिङ्गिताकारवेदिभिः काव्य-नाटकाख्यानकाख्यायिका-लेख्यव्याख्यानादिक्रियानिपुणैरतिकठिन-पीवर-स्कन्धोरु-बाहुभिरसकृदवदलित-समद-रिपु-गज-घटा-पीठबन्धैः केशरिकिशोरकैरिव, विक्रमैकरसैरपि विनयव्यवहारिभिरात्मनः प्रति-बिम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास ।

तस्य चातिविजिगीषुतया महासत्त्वतया च तृणमिव लघुवृत्ति स्त्रैणमाकलयतः प्रथमे वयसि वर्त्तमानस्यापि[2] रूपवतोऽपि सन्तानार्थिभिरमात्यैरपेक्षितस्यापि सुरतसुख-स्योपरि द्वेष इवासीत् ।

---

कालविद्भिः अवसरज्ञैः, प्रभावेण माहात्म्येन अनुरक्तानि आसक्तानि हृदयानि मनांसि येषान्तैस्तथोक्तैः, अग्राम्येषु नागरिकेषु अश्लीलादिरहितेष्विति यावत् य उपहासो नर्मवचोविलासस्तत्र कुशलैः अभिज्ञैः 'कुशलश्चतुरोऽभिज्ञः' इत्यमरः । इङ्गितं चेष्टितम् आकारो भ्रूनेत्रादिसङ्कोचादिरूपो रचनाविशेषः तौ विद-न्तीति तैः तथोक्तैः, काव्यं रसात्मकं वाक्यं पद्यमयमहावाक्यं वा, नाटकं रूपकविशेषः अवस्थानुकृतिरिति यावत्, आख्यानकानि चूर्णकानि, आख्यायिका गद्यकाव्यविशेषो वासवदत्तादिः आलेख्यानि चित्रनिर्मा-णानि व्याख्यानानि अर्थपल्लवितकरणानि इत्यादिका याः क्रियाः कार्याणि तासु निपुणैः निष्णातैः 'निष्णातो निपुणो दक्षः' इत्यमरः । अतिकठिना नितान्तदृढाः पीवराः पुष्टाश्च स्कन्धोरुबाहवो येषान्तैस्त-थोक्तैः, असकृन्मुहुर्मुहुः अवदलिता विमर्दिताः समदा मदयुक्ता या रिपुगजघटाः शत्रुकरिसमूहाः ता एव पीठबन्धाः पृष्ठस्थितासनानि यैस्तैस्तथोक्तैः । केसरिणां सिंहानां किशोरकैः शिशुभिरिव विक्रमे पराक्रमे एकोऽद्वितीयो रस आसक्तिर्येषान्तैस्तथोक्तैरपि । विनयेन सारल्येन व्यवहारो वृत्तिरस्ति येषां तैस्तथोक्तैः, एतेन सामर्थ्ये सत्यपि विनयातिशयो व्यञ्जितः । आत्मनः स्वस्य प्रतिबिम्बैरिव अनेनात्यन्ततुल्यत्वं दर्शितम् । रममाणः क्रीडन् । अन्वयस्तु पूर्वमेव प्रदर्शितः । इह 'वलयमिव'इत्यत्रोपमालङ्कारः स च वाच्य एव 'अमरगुरुमपि प्रज्ञयोपहसद्भिः' इत्यत्र त्वार्थोपमालङ्कार आक्षिप्यते '', 'रिपुगजघटापीठबन्धैः' इत्यत्र रूपकमलङ्कारः, 'केसरिकिशोरकैः' इत्यत्र 'प्रतिबिम्बैः' इत्यत्र च वाच्योपमालङ्कार इत्येतेषां मिथोऽपेक्षा-भावेन संसृष्टिरलङ्कारः ।

तस्य चेति । अतिशयेन विजेतुमिच्छुर्विजगीषुस्तस्य भावस्तत्ता तया तथोक्तया परमोत्कर्षप्राप्तेरिच्छया व्युपसर्गाज्जयतेः सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इत्युः । महत्सत्त्वमतिशायिधैर्यं यस्य स तस्य भावस्तत्ता तया तथोक्तया च । तृणमिव घासमिव लघ्वी विशेषोत्कर्षजनकत्वाभावात् तुच्छतया निःसारेति यावत्, वृत्तिः व्यवहारो यस्य तत्तथोक्तम्, स्त्रैणं स्त्रीगणम् आकलयतः निश्चिन्वतः, अनेन तासामकिञ्चित्करत्वं द्योतितम् । प्रथमे आद्ये तारुण्ये वयस्यवस्थायां वर्त्तमानस्यापि, रूपवतोऽपि परमसौन्दर्यवतोऽपि तस्य राज्ञः ( शूद्रकस्य ) सन्तानमपत्यं तदेवार्थः प्रयोजनमस्ति येषान्तैस्तथोक्तैः अमात्यैर्मन्त्रिभिः अपेक्षित-स्यापि आकाङ्क्षितस्यापि, एतेनामात्यस्यानुकूल्यमुपपादितम् । सुरतसुखस्य आश्लेषजनितानन्दस्योपरि द्वेष इवासीत् । इह सुरतसुखे द्वेषहेतोरसत्त्वेऽपि तदुत्पत्तेः किं विभावना आहोस्वित् विद्यमानेष्वपि सुरत-हेतुषु तारुण्यादिषु तदनुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरित्यनयोः सन्देहसङ्करः, सोऽयं तृणमिवेत्यत्रोपमया च सङ्कीर्णः ।

---

वे व्यावहारिक, शूद्रक के प्रति आसक्त, शिष्ट-परिहास करने में कुशल, संकेत और आंगिक चेष्टाओं के ज्ञाता तथा काव्य, नाटक, कथा, कहानी, चित्रलेखन और व्याख्यान आदि क्रियाओं में निपुण थे । उनके कंधे, छाती तथा भुजायें अत्यन्त पुष्ट, स्थूल एवम् बलिष्ठ थीं । वे अनेक बार सिंहों के बच्चों के समान शत्रुओं के मतवाले हाथियों की पीठ पर अपना आसन जमा चुके थे और अद्वितीय पराक्रमी होते हुए भी अत्यन्त विनम्र स्वभाव-वाले तथा उसकी ही प्रतिमूर्ति जैसे प्रतीत होते थे ।

विजय प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा एवं अपनी पराक्रमशीलता के कारण वह स्त्रियासक्ति को घास के समान अत्यन्त तुच्छ समझता था । यद्यपि वह युवा था, सुंदर था और उसके मंत्रियों में उससे संतान उत्पन्न होने की प्रबल अभिलाषा भी थी तथापि उसका संभोगसुख से कुछ वैर सा था ।

---

१. आख्यानकालेख्य ।　　२. वर्त्तमानस्यातिरूपवतोऽपि

सत्यपि रूपविलासोपहसित-रतिविभ्रमे लावण्यवति विनयवत्यन्वयवति[१] हृदयहारिणि चावरोधजने, स कदाचिदनवरतदोलायमान–रत्नवलयो घर्घरिकास्फालन-प्रकम्पमान-झणझणायमान-मणिकर्णपूरः स्वयमारब्धमृदङ्गवाद्यः सङ्गीतकप्रसङ्गेन, कदाचिदविरल-विमुक्त-शरासार-शून्यीकृतकाननो मृगयाव्यापारेण, कदाचिदाबद्धविदग्धमण्डलः काव्यप्रबन्धरचनेन, कदाचिच्छास्त्रालापेन, कदाचिदाख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन, कदाचिदालेख्यविनोदेन, कदाचिद्वीणया, कदाचिद्दर्शनागत-मुनिजन-चरणशुश्रूषया, कदाचिदक्षरच्यु-

---

सुरतसुखस्योपरि विद्वेषमुपपादयितुमन्यविधकार्यासक्तिमुपपादयति—सत्यपीति। रूपं सौन्दर्यं विलासः 'धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः।' इति लक्षणलक्षितः ताभ्याम् उपहसितो हास्यास्पदीकृतः, रतेः कामदेवपत्न्याः विभ्रमो विलासो येन स तस्मिंस्तथोक्ते। विनयो वल्लभागमने आसनादुत्थानादिरूपस्तद्वति तद्युक्ते, अन्वयः कुलमस्यास्तीति तस्मिंस्तथोक्ते, अत्र 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इत्यनेन प्रशंसायां मतुप्, सत्कुलप्रसूत इत्यर्थः, अत्र प्रशस्तकुलोत्पन्नत्वेन रूपलावण्याधिक्यं प्रतीयते। हृदयस्य चित्तस्य हारिणि आकर्षणविधायिनि, एतेनाखिललोकस्पृहणीयत्वं व्यञ्जितम्। अवरोधजने स्त्रीसमूहे सत्यपि। स राजा ( शूद्रकः ) दिवसम् अनैषीत् वासरमगमयदिति वक्ष्यमाणक्रिया सर्वत्र सम्बध्यते। प्रथमान्तपदानि राजविशेषणानि तृतीयान्तपदानि च दिवसनयनक्रियाकरणानीत्यवगन्तव्यानि। कदाचित् कस्मिंश्चित्प्रकरणे, अनवरतम् अजस्रम् दोलायमाने वादने हस्तविधूननात् स्पन्दमाने रत्नवलये उभयहस्तस्थितरत्नमयकङ्कणद्वयं यस्य स तादृशः, तथा घर्घरिका वाद्यविशेषो वीणा तस्या आस्फालनेन हस्तेन वादनेन यः प्रकम्पः शरीरकम्पनात् शिरःकम्पनं तेन झणझणायमानौ 'झण झण' एवं शब्दं कुर्वाणौ मणिकर्णपूरौ मणिमयकर्णभूषणे यस्य स तादृशः स्वयमात्मनैव आरब्धं कृतं मृदङ्गवद् वाद्यं वादित्रं येन स तादृशः। गीतनृत्यवाद्यत्रयं दर्शनार्थं कृतं सङ्गीतकमभिधीयते, तस्य प्रसङ्गः सम्बन्धस्तेन तथोक्तेन, तथा च सङ्गीतरत्नाकरे—'गीतं नृत्तं च वाद्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते' इति। अविरलं सान्द्रं यथा स्यात्तथा विमुक्ता विक्षिप्ता ये शरा इषवस्तेषाम् आसारो धारासम्पातः तेन शून्यीकृतं हिंस्रजन्तुरिक्तीकृतं काननं वनं येन स तादृशः 'गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। मृगयाव्यापारेण आखेटकक्रियया। आबद्धम् अनुष्ठितं विदग्धानां विदुषां मण्डलं समूहो येन स तादृशः। काव्यं पूर्ववर्णितस्वरूपं, प्रबन्धाः कथास्तेषां रचनेन निर्माणेन, अनेन विद्वज्जनानुरागित्वं व्यञ्जयति। शास्त्रालापेन न्यायाद्यापृच्छनेन 'आपृच्छालापसंलाप' इत्यमरः। आख्यानकं स्फुटकथा, आख्यायिका वासवदत्तादिका, इतिहासः पुरावृत्तम्, पुराणं 'मद्वयं भद्वयं च' इत्यादिनाष्टादश मत्स्यादि, तेषाम् आकर्णनेन श्रवणेन। आलेख्यं चित्रनिर्माणं तस्य विनोदेन तद्दर्शनानन्देन। वीणया वीणावाद्यश्रवणेन। दर्शनार्थं प्रेक्षणार्थम् आगता आयाता ये मुनिजनाः साधुलोकास्तेषां चरणशुश्रूषया पादसेवनया। अक्षरस्य अकारादिवर्णस्य च्युतं च्युतिर्यत्र तदक्षरच्युतकं काव्यम्। यथा—

'कुर्वन् दिवाकराश्लेषं दधच्चरणडम्बरम्। देव! यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ॥'

इत्यत्र करेणुपदस्य ककारच्युतौ द्वितीयार्थरेणुप्रतीतिः। मात्रायाश्च्युतिर्यत्र तन्मात्राच्युतकम्। यथा—

'मूलस्थितिमधः कुर्वन् पात्रैर्जुष्टो गताक्षरैः। विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पथिकस्य सः॥'

---

यद्यपि उसका रनिवास सौन्दर्य और काम-कलाओं में रति एवं उसके हावों-भावों की हँसी उड़ानेवाली कमनीय, सलज्ज, कुलीन एवं मन को चुरा लेनेवाली सुंदरियों से भरा था फिर भी स्त्री-सहवास के सुखों से उदासीन होकर वह अपनी मित्र-मंडली में ही सुख से समय बिताता था। वह कभी संगीत-गोष्ठियों में स्वयं मृदंग बजाता जिससे निरन्तर हिलते हुए हाथों में रत्नों के कंकण और कभी मस्त होकर घर्घरी ( एक बाजा ) बजाता जिससे कानों में झूलते हुए मणियों के कर्णफूल झनझना उठते थे। कभी शिकार खेलने में निरन्तर बाणों की वर्षा द्वारा हिंसक जन्तुओं से जंगलों का जंगल साफ कर देता था। कभी मर्मज्ञ विद्वानों की गोष्ठियों में काव्यप्रबंधों की रचना करता अथवा शास्त्रीय चर्चा में लगा रहता था। कभी कथा, कहानी, इतिहास और पुराणों के सुनने में तल्लीन रहता था, कभी चित्र बनाने अथवा वीणा बजाने में मन बहलाया करता था, कभी अपने दर्शन के लिए आए हुए मुनियों की सेवा में लगा रहता था और कभी अक्षरच्युतक ( जिस छन्द

---

१. अन्वयवत्यभिजनति।

तक-मात्राच्युतक-विन्दुमती-गूढचतुर्थपाद-प्रहेलिका-प्रदानादिभिः, वनितासम्भोगसुख-पराङ्मुखः सुहृत्परिवृतो दिवसमनैषीत्[1] ।

यथैव च दिवसमेवमारब्ध-विविध-क्रीडा-परिहास-चतुरैः[2] सुहृद्भिरुपेतो निशामनैषीत् । एकदा तु नातिदूरोदिते नव-नलिन-दलसम्पुट-भिदि किञ्चिन्मुक्त[3]-पाटलिम्नि भगवति

---

अत्र विटपदादिकारमात्राच्युतौ द्वितीयार्थवदवृत्तस्यावगमः । पद्यवर्णसंख्यया विन्दुमात्रनिवेशनेन तत्तद्वर्णोपलब्धिर्विन्दुमती । यथा—

ि◌ं◌◌◌◌ूवा◌ं◌ं ि◌ं◌ं ि◌ं◌ोः ◌ु◌ु◌ु◌ी◌ं◌ुः ।

◌◌◌ु◌◌ि ,◌ु◌ू◌ा◌ु◌◌◌◌ी◌◌◌ो◌◌◌ं◌ूः ॥

एतत्पदं यथा—

'त्रिनयनचूडारत्नं मित्रं सिन्धोः कुमुद्वतीबन्धुः । अयमुदयति घुसृणारुणरमणीवदनोपमश्चन्द्रः ॥'

यत्र प्रथमद्वितीयतृतीयचरणेषु तुरीयपादस्य वर्णा गुप्तास्तिष्ठन्ति स गूढचतुर्थपादः । यथा—

'दयावान् प्रयतः शुद्धः प्रबुद्धकमलेक्षणः । पापापहस्त्रिभुवनं बुद्धः पायादपायतः ॥'

इह चतुर्थः पादः पादत्रयगतानामेकाद्यङ्काङ्कितानामक्षराणां यथाक्रमं योजनया समुल्लसति ॥ अर्थस्तु सुगम एव । प्रहेलिकालक्षणम्—

'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात् । यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते सा प्रहेलिका ॥

सा द्विधार्थी च शाब्दी च विख्याता प्रश्नशासने । आर्थी स्यादर्थविज्ञानाच्छाब्दी शब्दविभागतः ॥'

तथार्थी यथा—'तरुण्यालिङ्गितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः । गुरूणां सन्निधानेऽपि कः कूजति मुहुर्मुहुः ॥'

अत्र 'पानीयकुम्भः' इत्युत्तरम्, न तु वल्लभः । शाब्दी यथा—

'दुर्वारवीर्यसरुषि त्वयि का प्रसुप्ता श्यामा सपत्नहृदये सुपयोधरा च ।

तुष्टे पुनः प्रणतशत्रुसरोजसूर्ये सैवाद्य वर्णरहिता वद नाम का स्यात् ?॥'

अत्र 'शस्त्री' ( छुरिका ) प्रथमप्रश्नोत्तरम्, न तु स्त्री । 'स्त्री' इति द्वितीयप्रश्नोत्तरम् ।

यथैवेति—यथैव येन प्रकारेणैव दिवसं वासरमनैषीत, एवं तथैव निशां रात्रिमप्यनैषीदगमयदिति सम्बन्धः । आरब्धाः प्रवर्त्तिताः विविधा नानाप्रकाराः क्रीडापरिहासाः खेलोपहासास्तेषु चतुरैः कुशलैः, सुहृद्भिर्मित्रैः उपेतः संयुतः । अत एव सम्भोगसुखस्योपरि द्वेष इव आसीदित्याशयः ।

एकदेति । एकदा एकस्मिन्समये प्रतीहारी द्वारदेशे नियुक्ता स्त्री समुपसृत्य समीपदेशमागत्य आस्थानमण्डपगतं सभागृहस्थितं राजानं सविनयं विनयेन सह अब्रवीदवोचदित्यन्वयः । अत्र प्रथमान्तपदानि प्रतीहारीविशेषणान्यवगन्तव्यानि । सूर्यवर्णनाव्याजेन उक्त्यवसरं विशेषणेन दर्शयति—नातिदूरेति । नातिदूरं स्वल्पकालीनम् उदितम् उद्गमनं यस्य स तस्मिन् तथोक्ते आकाशस्य किञ्चिद् दूरोदिते सतीत्यर्थः, नवानि नूतनानि यानि नलिनानि पद्मानि तेषां दलानि पर्णानि 'पत्रं पलाशं छदनं दलः पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः, तेषां सम्पुटं मुकुलीभावं भिनत्ति दूरीकरोतीति स तस्मिंस्तथोक्ते, किञ्चिन्मुक्तः किञ्चिद्दूरोदयात् ईषत् परित्यक्तः पाटलिमा श्वेतरक्तत्वं येन स तस्मिंस्तथोक्ते, 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः, दूरोदितेत्यारभ्य विशेषणत्रयैः प्रत्यूषकालो ध्वन्यते । भगवति ऐश्वर्यशालिनि, सहस्रसंख्याः ये

---

का एक अक्षर निकाल देने से दूसरा अर्थ निकले ), मात्राच्युतक ( जिस छन्द की एक मात्रा परिवर्तित हो जाने से दूसरा अर्थ निकले ), बिन्दुमती ( जिस रचना में अक्षरों के स्थान में केवल बिन्दु रख दिए जायँ ) एवं गूढ़-चतुर्थ-पाद ( जिस पद्य के चौथे चरण के अक्षर पहले तीन चरणों में छिपे हों ) नामक काव्यबन्धों की रचना तथा पहेलियों के निर्माण करने-कराने में व्यस्त रहता था ।

जैसे नाना प्रकार की क्रीडाओं और परिहासों में कुशल मित्रों की मण्डली से उसका दिन बीतता था उसी प्रकार उन्हीं के बीच उसकी रात भी बीतती थी ।

एक बार प्रातःकाल जब नयी-नयी कमल की कलियों की सम्पुटों को खोलते हुए अपनी किरणों को

---

१. अनयत् । २. चतुरः । ३. उन्मुक्त··· ।

सहस्रमरीचिमालिनि, राजानमास्थानमण्डपगतमङ्गनाजनविरुद्धेन वामपार्श्वावलम्बिना कौक्षेयकेण सन्निहितविषधरेव चन्दनलताभीषणरमणीयाकृतिः, अविरलचन्दनानुलेपनधवलित-स्तनतटा उन्मज्जदैरावतकुम्भमण्डलेव मन्दाकिनी, चूडामणिसंक्रान्तप्रतिविम्बच्छलेन राजाज्ञेव मूर्त्तिमती राजभिः शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बरा, जामदग्न्यपरशुधारेव वशीकृतसकलराजमण्डला, विन्ध्यवनभूमिरिव वेत्रलतावती, राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी, प्रतीहारी समुपसृत्य क्षितितल-निहित-जानु-करकमला सविनयमब्रवीत्—

"देव ! द्वारस्थिता सुरलोकमारोहतस्त्रिशङ्कोरिव कुपितशतमखहुङ्कार-निपातिता राज-

---

मरीचयो रश्मयस्तैर्मालते शोभते तान् धारयतीति वा यः स तस्मिंस्तथोक्ते सूर्ये सतीत्यर्थः। अङ्गनाजनः प्रमदाजनः तस्य विरुद्धेन सङ्ग्रामोपकरणत्वाद् व्यवहारप्रतिकूलेन। वामपार्श्वे सव्यप्रदेशेऽवलम्बतेऽवतिष्ठत इत्येवंशीलेन, कौक्षेयकेण तरवारिणा, 'तरवारिर्मण्डलाग्रः खड्गकौक्षेयकोऽसिः' इति कोशः। अयन्तु भीषणत्वे हेतुः। सन्निहितः पार्श्ववर्त्ती विषधरः सर्पो यस्याः सा तथोक्ता 'सर्पः......आशीविषो विषधरः' इत्यमरः, चन्दनलतेव भीषणा भयानका स्वभावतो रमणीया मनोहरा च आकृतिः स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ता तथा च यथा चन्दनलतायाः स्वभावतो रमणीयत्वेऽपि सन्निहितविषधरत्वेन भीषणत्वम्, तथैव तस्याः प्रतिहार्या अपि निसर्गतो मनोहरत्वेऽपि वामपार्श्वस्थितखड्गत्वेन भीषणत्वमित्याशयः। पूर्णोपमा।

अविरलं निविडतरं यन्मलयजस्य चन्दनस्य अनुलेपनमुद्वर्त्तनं तेन धवलितं शुभ्रीकृतं स्तनतटं कुचतटं यस्याः सा तथोक्ता, अत एव उन्मज्जन् जले प्रविश्य स्नानं कुर्वन् य ऐरावत इन्द्रहस्ती तस्य कुम्भमण्डलं शिरःस्थमांसपिण्डो यस्यां सा तादृशी, मन्दाकिनी शुभ्रजला वियद्गङ्गेव। चन्दनशुभ्रकुम्भोपमानेन स्तनतटस्य काठिन्यं ध्वन्यते। उपमालङ्कारः।

चूडामणिषु सन्निहितराजमस्तककिरीटरत्नेषु संक्रान्तं पतितं यत् प्रतिबिम्बं प्रतीहार्य्याः प्रतिच्छाया तस्याः छलेन व्याजेन, राजभिः सन्निहितसामन्तनृपैः शिरोभिर्मस्तकैः उह्यमाना धार्यमाणा मूर्त्तिमती विग्रहवती, राज्ञः शूद्रकस्य आज्ञेव आदेश इव इह सापह्नवोत्प्रेक्षा। शरदिव विगतवर्षासमय इव, कलहंसः कादम्ब इव धवलं स्वच्छम् अम्बरं वस्त्रं यस्याः सा, पक्षे कलहंसा एव धवलम् अम्बरम् यस्याः सा तादृशी। पूर्णोपमा। जमदग्नेर्गोत्रापत्यं पुमान् जामदग्न्यः परशुरामस्तस्य परशुः कुठारः तस्य धारा निशितांश इव, वशीकृतं स्वायत्तीकृतं पक्षे दर्शनेनाकृष्टं क्रूरत्वेन व्यामोहेन वा सकलं राज्ञां निखिलभूपतीनां मण्डलं चक्रवालं यया सा तथोक्ता। पूर्णोपमा। विन्ध्यस्य विन्ध्याचलस्य वनं काननं तस्य भूमिः पृथिवीव वेत्राणां वेतसानां लताः सरलद्रुमा यत्र सा, पक्षे वेत्रलता वेत्रयष्टिः हस्ते इति शेषः, यस्याः सा तथोक्ता। उपमा। राज्यस्य अधिदेवताऽऽधिपत्याधिष्ठात्री देवतेव विग्रहिणी मूर्त्तिमती। इह द्रव्योत्प्रेक्षा। क्षितितले भूमितले निहितौ स्थापितौ जानू तलकीलौ, अथ च करौ तावेव कमले पद्मे यया सा तथोक्ता।

किमब्रवीत्तमेव दर्शयति—देवेति। हे देव ! हे स्वामिन् ! द्वारे स्थिता वर्त्तमाना, सुराणां देवानां

---

लाली को कुछ-कुछ छोड़कर भगवान सूर्य अभी आकाश में थोड़ी ही दूर चढ़े थे कि सभा गृह में उपस्थित राजा के पास प्रतीहारी पहुँची। वह अपने वाम भाग में स्त्रियों के अनुपयुक्त तलवार धारण किए थी जिससे उसकी आकृति साँप से लिपटी हुई चन्दन की लता जैसी भयंकर भी और रमणीय भी लग रही थी। चन्दन के घने लेप से अत्यन्त उज्ज्वल किनारोंवाले उन्नत स्तनों के कारण वह ऊपर उतराये हुए ऐरावत के कुम्भस्थलों से युक्त स्वर्ग-गंगा सी प्रतीत हो रही थी। वहाँ बैठे हुए समस्त सामन्त राजाओं की चूड़ा मणियों में पड़ा हुआ उसका प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों राजा शूद्रक की मूर्तिमती आज्ञा को ही उस प्रतिबिम्ब के बहाने उन लोगों ने अपने मस्तकों पर धारण कर लिया हो। वह श्वेत कलहंस दुकूल ( वह रेशमी वस्त्र जिसके आँचल अथवा किनारों पर चोंच में चोंच डाले हंस के जोड़ों की आकृतियाँ बनी होती थीं ) पहिने हुई हंसों की शोभा से युक्त शरद-ऋतु जैसी प्रतीत हो रही थी। वह परशुराम के परशु की धार सी सभी राजाओं को आधीन बना लेनेवाली थी। बेंत की छड़ी लिए हुए वह बेतों से भरी विन्ध्य भूमि एवं शरीर धारण करके आयी हुई राज-कुल की देवी सी प्रतीत हो रही थी। उसने घुटने टेककर तथा करकमलों से पृथ्वी को छूकर

---

१. मरीचि...। २. मलयजानुलेपन...। ३. चूडामणिप्रतिबिम्ब... ४. समुपासृत्य। ५. कमलम्। ६. द्वारि स्थिता। ७. निपतिता।

लक्ष्मीर्दक्षिणापथादागता चण्डाल[1]-कन्य[2]का पञ्जरस्थं शुकमादाय देवं विज्ञापयति—'सकल-भुवनतल[3]-सर्वरत्नानाम् उदधिरिवैकभाजनं देवः, विहङ्गमश्चायमाश्चर्य्यभूतो[4] निखिल-भुवनतलरत्नमिति कृत्वा देवपादमूलमेनमादायागताऽहमिच्छामि देवदर्शनसुखमनुभवितुम्' इति । एतदाकर्ण्य देवः प्रमाणमि"त्युक्त्वा विरराम ।

उपजातकुतूहलस्तु राजा समीपवर्त्तिनां राज्ञामवलोक्य[6] मुखानि 'को दोषः, प्रवेश्यताम्' इत्यादिदेश ।

---

लोकं स्वर्गं 'स्वरव्ययं स्वर्गनाक' इत्यमरः, आरोहत आरोहणं विदधतस्त्रिशङ्कोरयाज्यस्य सूर्यवंशीयराजविशेषस्य, राज्यलक्ष्मीरिव, त्रिशङ्कोः सूर्यवंशीयस्यायाज्यस्य राजविशेषस्य देवयागात् स्वर्गे वासो न भवतीत्यतः कुपितः क्रुद्धो यः शतमखो देवराजः तस्य हुङ्कारः क्रोधेन निषेधव्यञ्जकध्वनिः तेन निपातिता अधः क्षिप्ता, दक्षिणपथाद्दक्षिणमार्गात् आगता समुपस्थिता चण्डालानां दिवाकीर्त्तीनां कन्यका कुमारी पञ्जरे पक्षिणामाधारे तिष्ठतीति तं तथोक्तम् 'सुपि स्थ' इति कः, शुकं कीरम् आदाय गृहीत्वा देवं स्वामिनं भवन्तं विज्ञापयति निवेदयति ।

पुरा किल त्रिशङ्कुर्नाम कश्चन सूर्यवंशीयो नरपतिः अनेनैव देहेन यज्ञविशेषं विधाय देवलोकं जिगमिषुः कुलगुरुमहर्षिवशिष्ठेन प्रत्याख्यातः । तदनन्तरं तदर्थमेव तत्सुतान् प्रति प्राप्तः परन्तु सर्वं तत्त्वतोऽवबुध्य तैरेवमभिशप्तः–'यतो भवान् कुलगुरुं परित्यज्यास्मान् सम्प्राप्तस्ततो भवान् चण्डालो भवतु' इति । ततो राजा विश्वामित्रं प्राप्य स्वाशयं निवेदितवान् । तदाशयं विज्ञाय विश्वामित्रो यज्ञं कारयित्वा देवलोकमारोढुं तमादिदेश । त्रिशङ्कुस्तु यज्ञं कृत्वा देवलोकमारोहन् कुलगुरुपरित्यागात्तत्पुत्राणामभिशापेन चण्डालभावापन्नत्वात् अयाज्यत्वाच्च सुराधिपेनाधः पातित इति रामायणीया कथाऽनुसन्धेया । एतच्च स्फुटमन्यत्रापि ।

प्रतीहारी चण्डालकन्यकायाः सामान्यतो विज्ञापनाविषयं दर्शयति—सकलेति । सकलभुवनतलेषु समग्रभुवनतलेपु यानि रत्नानि तेषां तथोक्तानाम्, उदधिः समुद्र इव एकभाजनम् एकमुत्कर्षस्थानम्, यथा समुद्रः सर्वरत्नानां भाजनं तथा देवो भवानपीत्याशयः । अयं विहङ्गमः विहायसा आकाशेन गच्छतीति विहङ्गमः पक्षी शुकः विहायस्–उपपदाद् गमेः खचि 'अरुर्द्विषदजन्तस्ये'ति मुमागमः, विहायसो विहादेशश्च, आश्चर्यभूतः अद्भुतावलोकनविषयः अतस्तथाविधविशेषत्वादेव निखिलानि समग्राणि यानि भुवनतलानि तेषां रत्नमुत्कृष्टम् 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति स्मरणात्, तं शुकम् आदाय गृहीत्वा देवस्य राज्ञो भवतः पादमूलं चरणमूलमहमागता संप्राप्ता देवदर्शनसुखं महाराजावलोकनानन्दम् अनुभवितुम् साक्षात्कर्त्तुम् इच्छामि अभिलषामि । एतदाकर्ण्य एतच्छ्रुत्वा 'देवः प्रमाणम्' 'य एव भवत आदेशः स एव मया कर्त्तव्यः' इत्युक्त्वा विरराम मौनमाश्रितवती ।

उपजातेति । उपजातम् उत्पन्नं कुतूहलं कौतुकं यस्य स तथोक्तः, 'कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्' इत्यमरः, समीपवर्त्तिनां निकटस्थितानां राज्ञां सामन्तनृपतीनां मन्त्रिणां च मुखानि आननानि आलोक्य निरीक्ष्य तेषामपि तद्दिदृक्षेति विज्ञायेत्यर्थः । अत्र राज्ञां मुखनिरीक्षणन्तु चण्डालत्वेनात्र तत्प्रवेशे

---

सविनय निवेदन किया—'देव, स्वर्ग लोक में सशरीर जाते समय क्रुद्ध इन्द्र के हुंकार से नीचे गिरी हुई त्रिशंकु की राज्यलक्ष्मी के समान दक्षिणापथ से आयी हुई एक चांडाल-कन्या पिंजड़े में एक सुग्गा लिये हुए द्वार पर खड़ी है और प्रार्थना कर रही है कि पृथ्वी पर सभी रत्नों को धारण करने योग्य समुद्र के समान आप ही एक मात्र उपयुक्त पात्र हैं तथा यह चमत्कारी सुग्गा भी सारी पृथ्वी का एक उत्कृष्ट रत्न ही है; इसलिए इसके साथ ही सेवा में उपस्थित होकर श्रीमान के दर्शन से सुखी होना चाहती हूँ । महाराज की क्या आज्ञा है ?' ऐसा कह कर वह चुप हो गई ।

उसकी बात सुनकर राजा अत्यन्त उत्सुक हो उठा और अपने समीप में बैठे राजाओं के मुँह को देखते हुए ( उनके मनोभावों को टटोलते हुए ) उसने प्रतीहारी को आदेश दिया—इसमें हर्ज ही क्या है ? उसे भीतर ले आओ ।

---

१. चाण्डाल'''। २. काचित् इत्यधिकः क्वापि । ३. तलरत्नानाम् । ४. आश्चर्य्यभूता निखिल'''। ५. मूलमादाय'''। ६. आलोक्य ।

अथ प्रतीहारी नरपतिकथनानन्तरमुत्थाय तां मातङ्गकुमारीं प्रावेशयत्। प्रविश्य च सा नरपतिसहस्र-मध्यवर्त्तिनमशनिभय-पुञ्जितकुलशैलमध्यगतमिव कनकशिखरिणम्, अनेक-रत्नाभरण-किरण-जालकान्तरितावयवमिन्द्रायुध-सहस्र-सञ्छादिताष्टदिग्विभागमिव जल-धर[1]दिवसम्, अव[2]लम्बितस्थूलमुक्ताकलापस्य कनकशृङ्खला-नियमितमणिदण्डिकाचतुष्टयस्य गगन-सिन्धु-फेन-पटल-पाण्डुर[3]स्य नातिमहतो दुकूलवितानस्याधस्तादिन्दुकान्तमणिपर्[4]य्य-ङ्किकानिषण्णम्, उद्धूयमान-कनक[5]दण्डचामरकलापम्, उन्मयूखमुख-कान्तिनिच[6]य-पराभव-

---

तेषां विरोधोऽस्ति न वेत्यवबोधार्थम्, सति तु विरोधे नयनेङ्गितेनापि तत्प्रतिषेधसूचनसम्भवादित्याशयः। को दोषो न काप्यापत्तिः प्रवेश्यताम् इति एवं आदिदेश आज्ञापितवान्।

अथेति। अथ राज्ञः आदेशदानानन्तरम् उत्थाय उत्थानं विधाय प्रतीहारी द्वारपालिका तां मातङ्ग कुमारीं चण्डालकन्यकां प्रावेशयत् प्रवेशमकारयत्।

प्रविश्य चेति। सा चण्डालकन्यका प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा राजानमद्राक्षीदपश्यदिति दूरस्थक्रियया सम्बन्धः। अत्र सर्वाणि द्वितीयान्तपदानि क्रियाविशेषणानीत्यवधेयानि। अशनेरिन्द्रायुधाद्वज्रात् यद्भयं पक्षच्छेदनरूपमातङ्कस्तेन पुञ्जिता एकत्र मिलिता ये कुलशैलाः क्षेत्रसीमाकारिभूधरास्तेषां मध्यगतं तदन्तर्वर्तिनं कनकशिखरिणं सुमेरुपर्वतमिव नरपतीनां नृपाणां यत्सहस्रं तन्मध्यवर्त्तिनं तदन्तःस्थित-मित्यर्थः। अत्रोपमालङ्कारः।

पुरा पक्षधारिणो भूधरा यथा पक्षिणः अन्यस्माद्देशादुड्डीय देशान्तरे निपतन्ति तथैव निपतन्त-श्चैते यं देशं सम्प्राप्तास्तं तत्क्षणमेव सञ्चूर्णयामासुः। ततः सुरेशः कुलिशेन तेषां पक्षान् कर्त्तितुं प्रवृत्तस्तदा त्रस्तास्ते स्वस्वरक्षणोपायविचारणाय एकत्र मिलिता आसन्निति रामायणीया कथा।

भूयो राजानं विशिनष्टि—अनेकेति। अनेकानि नानाविधानि रत्नाभरणानि मणिखचितालङ्काराः तेषां यानि किरणजालकानि रश्मिसमूहाः स्वार्थे कप्, तैरन्तरिता आवृता अवयवा अङ्गानि यस्य तं तथोक्तम्, अत एव इन्द्रायुधसहस्रेण शक्रधनुःसमूहेन 'इन्द्रायुधं शक्रधनुः' इत्यमरः, सञ्छादिता अन्त-रिता अष्टौ दिग्भागा दिशां प्रदेशा यस्मिंस्तत्तादृशम्, जलधरदिवसमिव मेघावृतदिनमिव ( वर्तमानम् ) अनेन राजा मेघवर्ण आसीदित्यवधार्यते। इहाप्युपमाऽलङ्कारः।

पुनस्तमेव राजानं विशेषयितुं प्रथमं वितानं विशिनष्टि—अवलम्बितेति। अवलम्बिताः शिल्पिभिर-धोलम्बितत्वेन आश्रिताः स्थूलानां स्थविष्ठानां मुक्तानां रसोद्भवानां कलापाः पङ्क्तयो यत्र तस्य तथोक्तस्य, कनकं सुवर्णं तस्य याः शृङ्खला बन्धनरज्जवस्ताभिर्नियमिताः चतुर्षु कोणेषु बद्धा मणिदण्डिका रत्नखचिता यष्टयस्तासां चतुष्टयं यस्मिंस्तस्य, गगनसिन्धोर्मन्दाकिन्याः फेनपटलवत् अब्धिकफसमूहवत् 'डिण्डीरोऽ-ब्धिकफः फेनः' इति कोशः, पाण्डुरं शुभ्रवर्णं तस्य एतानि षष्ठ्यन्तानि वितानविशेषाणि।

अथ राजानं विशिनष्टि—नातीति। नातिमहतः किञ्चिद्बृहतः स्थानोचितप्रमाणस्य दुकूलविता-नस्य क्षौमवसननिर्मितोल्लोचस्य 'उल्लोचो वितानं कदकोऽपि' इति कोशः, तस्य अधस्तात् निम्नप्रदेशे इन्दुकान्तमणिपर्यङ्किका चन्द्रकान्तमणिरचितमञ्चिका तत्र निषण्णम् उपविष्टम्। 'फेनपटलपाण्डुरे'त्यत्र लुप्तोपमा।

भूयो राजानं विशिनष्टि—उद्धूयेति। उद्धूयमानो भृत्यैः संवीज्यमानः कनकदण्डः सुवर्णाऽवल-म्बनयष्टिर्येषु तथाविधश्चामरकलापः प्रकीर्णकसमूहो यस्य तं तादृशम्।

---

राजा का आदेश सुनने के बाद वह उठ खड़ी हुई और उस चांडाल-कन्या को भीतर ले आयी।

उसने भीतर जाकर वज्राघात के भय से इकट्ठे हुए सभी पर्वतों के बीच स्थित सुमेरु पर्वत के समान सामन्त राजाओं के बीच बैठे हुए राजा शूद्रक को देखा। उसके आठों अंग अनेक रत्नों से जड़े हुए आभूषणों की किरणों से ढक गये थे जिससे वह इस प्रकार जगमगा रहा था मानो आठों दिशाओं में छाये हुए हजारों इन्द्रधनुषों को धारण करनेवाला वर्षा का दिन हो। वह आकाशरूपी समुद्र के फेन की तहों जैसे उज्ज्वल तथा

---

१. जलधरसमयदिवसम्। २. आलम्बित…। ३. पाण्डरस्य। ४. इन्दुकान्तपर्य्यङ्किका। ५. सुवर्णदण्ड…। ६. उन्मयूखमुखविजयपराभवप्रणते, उन्मयूखमुखकान्तिविजिते पराभवप्रणते।

प्रणते शशिनीव स्फटिक¹पादपीठे विन्यस्तवामपादम्, इन्द्रनीलमणि-कुट्टिम-प्रभासम्पर्क-श्यामायमानैः प्रणत-रिपु-निश्वास²मलिनीकृतैरिव चरण-नखमयूखजा³लैरुपशोभमानम्, आसनोल्लसित-पद्मराग-किरण-पाटलीकृतेनाचिरमृ⁴दितमधु-कैटभ-रुधिरारुणेन हरिमिवोरुयु-गलेन विराजमानम्, अमृतफेन-धवले गोरोचना-लिखित-हंस-मिथुन-सनाथ-पर्य्यन्ते चामर-

उन्मयूखेति—उत् ऊर्ध्वं गता मयूखा रश्मयो यस्य तथाविधस्य मुखस्य यः कान्तिनिचयो दीप्तिसमूहस्तेन यो विजयो जयः पराभवः पराजयस्तेन प्रणते चरणतलसंलग्ने शशिनि चन्द्रमसीव। इह 'शशिनीव' इति द्रव्योत्प्रेक्षा।

अथ राज्ञश्चरणकिरणं विशेषयितुमाह—इन्द्रनीलेति। इन्द्रनीलमणीनां या कुट्टिमप्रभा वेदिकाकान्तिः तस्याः सम्पर्केण मिश्रणेन श्यामायमानैः श्यामवदाचरद्भिः, अत्रोपमानादाचारे क्यङ् अत एव क्यङ्क्तोपमा। कीदृशैरिव इत्यत आह—प्रणतेति। प्रणतानां पराजयेन स्वाधीनानां रिपूणां वैरिणां ये निश्वासाश्वेतनाः तैर्मलिनीकृतैर्मालिन्यमुपगतैरिव। मूलोक्तोपमालङ्कारेण क्रियोत्प्रेक्षा सङ्कीर्यते। चरणनखानां पादपुनर्भवाणां ये मयूखा रश्मयस्तेषां जालानि समूहास्तैरुपशोभमानं विराजमानम्।

राज्ञ ऊरुयुगलं विशिनष्टि—आसनोल्लसितेति। आसन उपवेशनस्थले उल्लसिताः प्रकाशमाना ये पद्मरागकिरणाः लोहितमणिरश्मयस्तैः पाटलीकृतेन श्वेतरक्तीकृतेन 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः, अत एव अचिरमृदितयोः तत्कालमर्दितयोः सद्यः कृत्तकण्ठयोरित्यर्थः, मधुकैटभयोः तन्नामकयोरसुरविशेषयोः रुधिरेण शोणितेन अरुणं रक्तवर्णं तेन तथोक्तेन, ऊरुयुगलेन जङ्घाद्वयेन विराजमानं शोभमानं हरिं मधुसूदनमिव। उपमालङ्कारः।

पुरा क्षीरशायिनो भगवतः श्रीविष्णोः कर्णमलोत्पन्नौ मधुकैटभाख्यौ असुरविशेषौ भगवत एव नाभिकमलसम्भूतं ब्रह्माणं हन्तुं समुद्यतौ जातौ। ततः आत्मरक्षणाय व्याकुलः रक्षकं कमप्यलभमानः योगनिद्रया स्थितां जगद्धात्रीं तुष्टुवे, प्रसन्ना सा नारायणमुत्थापितवती उत्थाय च भगवान् ताभ्यां सह पञ्चवर्षसहस्राणि युद्ध्वा स्वमायया मोहितौ तौ वरं दिदिक्षू आस्ताम्। नारायणो हि तयोर्वधं याचितवान्। ततो जलमग्नां भूमिमालोक्य आहतुस्तौ 'यत्र सलिलेन परिप्लुता पृथिवी न विद्यते तत्रावां जहि' इति। भगवांस्तु पार्थिवांशसंयुक्ते निजोरौ संस्थाप्य तयोर्मूर्धनी चक्रेणाच्छिनदिति मार्कण्डेयपुराणकथा प्रायः सर्वत्र प्रसिद्धैव।

पट्टवसनद्वयं विशिनष्टि—अमृतेति। अमृतस्य पीयूषस्य यः फेनस्तद्वत् धवले श्वेतवर्णे गोरोचनया गोपित्तनामकपदार्थेन लिखितानि चित्रितानि यानि हंसमिथुनानि सितच्छदयुगलानि तैः सनाथाः सहिताः पर्यन्ताः प्रान्तप्रदेशा ययोस्ते, तथा चामराणां बालव्यजनानां 'चामरा चामरं बालव्यजनं रोमगुच्छकम्' इति रभसः, पवनेन वायुना प्रनर्त्तितौ आन्दोलितौ अन्तदेशौ प्रान्तभागौ ययोस्ते दुकूले पट्टवसने वसानं दधानम्, इह 'अमृतफेनधवले' इत्यत्र लुप्तोपमा।

मणियों से बने हुए चार डंडों पर सोने की जंजीरों से बाँध कर ताने गये न बहुत बड़े न बहुत छोटे रेशमी वस्त्र के चँदवे के नीचे चन्द्रकान्त मणि से बनी हुई चौकी पर बैठा था; जिसके ऊपर चँदवे से बड़े-बड़े दानोंवाले मोतियों के गुच्छे लटक रहे थे। उसके ऊपर सुनहरी मूँठ के चँवर डुलाए जा रहे थे। वह, मुख के कान्ति-मण्डल से फूट कर ऊपर की ओर फैलनेवाली किरणों से मानों पराजित होकर चरणों की शरण में आयी हुई चाँदनी के समान टहटही बिल्लौरी पाद-पीठिका पर (पैर रखने की छोटी चौकी) अपना बायाँ पैर रखे हुए था; जो इन्द्रनील मणियों से पिटी हुई फर्श की नीली झलक के प्रभाव से कुछ-कुछ साँवली किरणोंवाले नखों से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उस पर झुके हुए शत्रुओं की लम्बी-लम्बी साँसों की छाया पड़ गई हो। आसन के दोनों ओर जड़ी हुई पद्मराग-मणियों की लाल-लाल किरणों से उसकी दोनों जाँघे लाल-लाल हो रही थीं जिससे वह कुछ ही समय पहिले मारे गये मधु-कैटभ के रक्त से लाल जाँघों वाले भगवान विष्णु के समान प्रतीत हो रहा था। वह अमृत के फेन के समान अति उजले दो रेशमी वस्त्र धारण किये था जिसके किनारों पर गोरोचन से हंस के जोड़ों की आकृतियाँ उरेही गयी थीं तथा जिनके आँचल

१. स्फाटिके पादपीठे। २. निःश्वास…। ३. जालकैः। ४. …मृत…।

पवनप्रनर्त्तितान्तदेशे, दुकूले वसानम्, अति-सुरभि-चन्दनानुलेपन-धवलितोरःस्थलम्, उपरि-विन्यस्त-कुङ्कुम-स्थासकम्, अन्तरानिपतितबालातपच्छेदमिव कैलासशिखरिणम्, अपर-शशि-शङ्कया नक्षत्रमालयेव हारलतया कृतमुखपरिवेषम्[1], अतिचपल-राज[2]-लक्ष्मी-बन्ध[3]निगड-शङ्कामुपजनयतेन्द्रमणि[4]-केयूरयुगलेन मलयज-रस-गन्धलुब्धेन भुजङ्गद्वयेनेव वेष्टितबाहुयु[5]गलम्, ईषदालम्बि[6]-कर्णोत्पलम्, उन्नत-घोणम्, उत्फुल्लपुण्डरीक-लोच[7]नम्, अमलकलधौतपट्टा[8]यतम्, अष्टमीचन्द्र-शकलाकारम्, अशेष-भुवन-राज्याभिषेकसलिल[9]पूतम्,

अतीति। अतिसुरभिचन्दनस्य अतिसुगन्धिमलयस्य अनुलेपनेन अङ्गरागेण धवलितं शुभ्रीकृतम् उरःस्थलं वक्षःस्थलं यस्य तं तादृशम्।

उपरीति। उपरि तच्चन्दनलेपनोपरि विन्यस्ता विहिताः कुङ्कुमस्य केसरस्य स्थासका हस्तबिम्बा यस्य तम् 'स्थासकं हस्तबिम्बम्' इति कोशः, अपरे तु 'चर्चा तु चार्चिक्यं स्थासकम्' इति। अत एव अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये निपतिताः पर्यस्ता बालातपच्छेदा अभिनवोदितसूर्यमयूखखण्डा यस्य तं कैलासशिखरिणं हिमाचलमिव ( वर्तमानम् ) इहोपमा।

भूयस्तमेव प्रकारान्तरेण विशिनष्टि—अपरेति। अपरोऽन्यो यः शशी चन्द्रस्तस्य शङ्कया भ्रान्त्या प्राप्ता या नक्षत्रमाला तारापङ्क्तिस्तयेव हारलतया लतावल्लम्बमानया मुक्तास्रजा कृतो मुखस्य वदनस्य परिवेषः परिधिः परिवेष्टनमिति यावत्, यस्य स तम्, 'परिवेषस्तु परिधिः' इत्यमरः।

इह मुखे शशिभ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारः, 'नक्षत्रमालयेवे'त्युत्प्रेक्षा, अङ्गाङ्गिभावेन चानयोः सङ्करः तेन च मुखस्य चन्द्रसाम्यं हारलताया अत्यन्तनैर्मल्यं च ध्वनितमित्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

अतीति। अतिचपला अत्यन्तं चञ्चला या राजलक्ष्मीराधिपत्यश्रीः तस्या बन्धो बन्धनं नियमनमिति यावत्, तदर्थं यो निगडः शृङ्खला तस्य शङ्कां भ्रान्तिम् उपजनयता कुर्वता, एवम्भूतेन इन्द्रमणिर्नीलकान्तमणिः तेन युक्तं खचितं यत्केयूरयुग्मम् अङ्गदद्वयं तेन तथोक्तेन, अत एव मलयजश्चन्दनसक्तो यो द्रवस्तस्य गन्धेन परिमलेन लुब्ध आसक्तस्तेन तादृशेन भुजङ्गद्वयेन सर्पयुगलेनेव वर्तमानेन वेष्टितं परिक्षिप्तं बाहुयुगलं भुजद्वयं यस्य तं तादृशम्। इह राज्यलक्ष्मीस्थिरीकरणाय शृङ्खलाशङ्कामुपजनयतीति भ्रान्तिमानलङ्कारः, 'भुजङ्गद्वयेनेवे'त्युत्प्रेक्षा च, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

ईषदिति। ईषत्किञ्चित् आलम्बिनी लम्बमाने कर्णोत्पले पङ्कजाकारकर्णभूषणे यस्य तं तथोक्तम्, उन्नता उच्चा घोणा नासिका यस्य स तम्, 'घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः, उत्फुल्लं विकसितं यत्पुण्डरीकं सिताम्भोजं तद्वत् लोचने नयने यस्य स तम्, इह लुप्तोपमा। अमलं स्वच्छं यत्कलधौतं कनकं तस्य यः पट्टः फलकं तद्वत् आयतं विस्तीर्णम्, अष्टमीचन्द्रस्य अष्टमीतिथावुदितसुधांशोः यत् शकलं तदर्धभागस्तद्वदाकार आकृतिर्यस्य तम्। इह द्वे अपि लुप्तोपमे। अर्धभागत्वन्तूभयोरपि अष्टम्यामष्टावेव कला इत्यभिप्रेत्येत्यवधेयम्।

अशेषाणि समस्तानि यानि भुवनानि भूमण्डलानि तेषां राज्यम् आधिपत्यं तस्य अभिषेकसलिलं मङ्गलस्नानजलं तेन पूतं पवित्रम्, तथा ऊर्णा भ्रूयुग्ममध्यवर्ती लोमावर्त्तः तया सनाथं युक्तम्, 'ऊर्णा मेषा-

चँवर की हवा से फहरा रहे थे। उसका वक्षस्थल अति सुगन्धित चंदन के लेप से अत्यन्त उज्ज्वल हो उठा था, जिस पर बीच-बीच में कुंकुम के छापे भी मारे गए थे, जिससे वह कहीं-कहीं प्रातःकालीन सूर्य की धूप से सुशोभित कैलास की चोटी के समान प्रतीत हो रहा था। उसके कंठ में मोतियों की माला ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों तारों ने उसके मुख को दूसरा चन्द्रमा समझ कर उसके चारों ओर मण्डल बाँध लिया हो। वह मानों चन्दन की सुगन्ध के लोभ से आये हुए दो सर्पों के समान अपनी दोनों भुजाओं पर इन्द्रनील मणियों के दो केयूर ( बाजूबन्द ) पहिने था जो मतवाली राज्य लक्ष्मी को बाँधने की दो आलानों का भ्रम उत्पन्न कर रहे थे। उसके कानों के कमल कुछ-कुछ लटके हुए थे, नाक ऊँची थी, आँखें विकसित श्वेत कमलों के समान खिली हुई थीं तथा निर्मल सोने के पट्ट के समान चौड़े, अष्टमी के अर्धचन्द्र के समान आकृतिवाले एवं सभी लोकों के राज्याभिषेक जल से पवित्र ललाट पर भौंहों के बीच ऊर्णा ( बालों की भँवरी ) सुशोभित हो रही थी।

१. परिवेशम्। २. राज्य। ३. बन्धन। ४. 'नील' इत्यधिकः पाठः। ५. बाहुशिखरम्। ६. आलम्बित। ७. नेत्रम्। ८. पट्टायितम्। ९. अभिषेकपूतम्।

ऊर्णासनाथं ललाटदेशमुद्वहन्तम्, आमोदित-मालतीकुसुम-शेखरम् उषसि-शिखर-पर्य्यस्त-तारकापुञ्जमिव पश्चिमाचलम्, आभरण-प्रभापिशङ्गिताङ्गतया लग्न-हर हुताशमिव मकर-ध्वजम्, आसन्नवर्त्तिनीभिः सेवार्थमागताभिरिव दिग्वधूभिर्वारविलासिनीभिः परिवृतम्, अमल-मणिकुट्टिमसंक्रान्त-सकल-देह-प्रतिबिम्बतया पतिप्रेम्णा वसुन्धरया हृदयेनेवोह्य-मानम्, अशेषजनभोग्यतामुपनीतयाप्यसाधारणया राजलक्ष्म्या समालिङ्गितम्, अपरिमित-

---

दिलोम्नि स्यादावर्त्तस्त्वन्तरा भ्रुवोः' इत्यमरः, 'ऊर्णा भ्रूमध्यगावर्त्ते मेषादीनाञ्च लोमनि' इति हेमचन्द्रश्च, अयञ्च चक्रवर्त्यादीनामेव न त्वरिक्थस्य कस्यापि। तदुक्तम्—'भ्रूद्वयमध्ये मृणालतन्तुसूक्ष्मं शुभ्रायतमेकं प्रशस्तावर्त्तं महापुरुषलक्षणम्।' इति।

अथ पुनस्तमेव विशिनष्टि—आमोदितेति। आमोदितानि सुरभीणि यानि मालतीकुसुमानि जाती-पुष्पाणि तान्येव शेखरः शिरोभूषणं यस्य स तं तथोक्तम्, अत एव उषसि प्रातःकाले शिखरे शृङ्गे पर्यस्ताः पतित्वा समवेताः तारकाणां नक्षत्राणां पुञ्जा राशयो यत्र तं तथोक्तम्, पश्चिमाचलम् अस्ताद्रिमिव (वर्तमानम्)।

अत्र शैलशिखरराजोत्तमाङ्गयोः पुष्पपुञ्जनक्षत्रयोश्च स्फुटमेवोपमानोपमेयभावादुपमालङ्कारः।

कामदेवतुल्यत्वं प्रकटयति—आभरणेति। आभरणानाम् अलङ्काराणां या प्रभा दीप्तिस्तया पिशङ्गि-तानि पिङ्गलवर्णीकृतानि अङ्गानि अवयवा यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तथोक्तया हेतुना, लग्नः संसक्तः हरस्य महेश्वरस्य हुताशस्तृतीयनेत्रवह्निर्यत्र तं तादृशं मकरध्वजं जलजन्तुविशेषचिह्नं कामदेवमिति यावत्, इव (वर्त्तमानम्)। इहापि आभरणप्रभाहरनयनोत्पन्नानलयोर्नृपमकरध्वजयोश्चोपमानोपमेयभावा-दुपमालङ्कारः।

आसन्नेति। आसन्नवर्त्तिनीभिः समीपस्थायिनीभिः सर्वतश्चतुर्दिक्षु सेवार्थं परिचर्यार्थम् आगताभिः प्राप्ताभिः अत एव व्यापकत्वाद्दिश एव वध्वः स्त्रियो दिग्वध्वस्ताभिरिव वारविलासिनीभिर्गणिकाभिः परिवृतं परिवेष्टितम्। इह 'दिग्वधूभि' रिवेत्यत्र रूपकस्योत्प्रेक्षायाश्च सत्त्वादेकाश्रयानुप्रवेशसङ्कररूपः सङ्करालङ्कारः।

अमलेति। अमला अतिनिर्मला ये मणयश्चन्द्रकान्ताद्यास्तैर्बद्धभूमयः कुट्टिमाः तत्र सङ्क्रान्तं सञ्चरितं यत्सकलदेहप्रतिबिम्बं समस्तशरीरप्रतिच्छायस्तस्य भावस्तत्ता तया हेतुना, पतिप्रेम्णा स्वामि-प्रीत्या वसुन्धरया भूम्या हृदयेन चेतसा उह्यमानं धार्यमाणमिव वर्त्तमानम्। इह हृदयेनेवेत्युत्प्रेक्षा।

अशेषेति। अशेषजनानां समग्रलोकानां भोग्यतां दानादिना भोगयोग्यताम्। उपनीतया प्राप्त-यापि सर्वसाधारणयेति यावत्, असाधारणया असमानया इति विरोधः, अन्येषामेतादृशी राजलक्ष्मीर्न विद्यत इत्यतः सर्वोत्कृष्टयेति तत्परिहारः, राजलक्ष्म्या राज्यश्रिया समालिङ्गितम् उपगूढो देहः शरीरं यस्य तं तादृशम्। इह साधारणाऽसाधारणयोर्विरुद्धधर्मत्वेऽपि तत्परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। एवमग्रे सर्वस्मिन्नपि द्वितीयान्ते विरोधाभासोऽलङ्कारः।

अपरिमितेति। अपरिमिता अगणिताः परिवारजनाः सेवकलोका यस्य तं तथाभूतमपि अद्वितीयं द्वितीयजनरहितमिति विरोधः, स्वतुल्य-द्वितीयरहितमिति तत्परिहारः।

---

उसके सिर के बीच जूड़े में खिले हुए सुगन्धित चमेली के फूलों की माला लिपटी हुई थी मानों प्रातःकाल चोटी पर फैले हुए तारोंवाला अस्ताचल हो। आभूषणों की झलक से निखरे तामड़े (मँजे हुए ताँबे जैसे रंगवाले) अंगों के कारण वह शंकर जी की नेत्र-ज्वाला में जलते हुए कामदेव के समान प्रतीत हो रहा था। उसके चारों ओर बारांगनाओं (वेश्याओं) की मण्डली बँधी हुई थी मानों सेवा करने के लिए स्वयं दिग्वधुएँ उसके पास चली आयी हों। शुभ्र मणियों की पिटी हुई गच में उसके पूरे शरीर की छाया उगी हुई थी मानों पृथ्वी रूपी वधू ने पतिप्रेम के कारण उसे अपने हृदय में रख लिया हो। अनेक लोगों से भोगी जाने पर भी राज्यलक्ष्मी एक विशेष ढंग से उसके शरीर का आलिंगन कर रही थी। यद्यपि उसके परिवार में असंख्य लोग थे फिर भी वह

---

१. अङ्गरागतया। २. सेवासङ्गताभिरिव। ३. संक्रान्तप्रतिबिम्बतया, संक्रान्तदेहप्रतिबिम्बतया।
४. समालिङ्गितदेहम्।

परिवारजनमप्यद्वितीयम्, अनन्त-गज-तुरग-साधनमपि खड्गमात्रसहायम्, एकदेशस्थितमपि व्याप्तभुवनमण्डलम्, आसने[1] स्थितमपि धनुषि निषण्णम्, उत्सादिताशेषद्विषदिन्धनमपि[2] ज्वलत्प्रतापानलम्, आयतलोचनमपि सूक्ष्मदर्शनम्[3], महादोषमपि सकलगुणाधिष्ठानम्, कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्[4], अविरत-प्रवृत्त-दानमप्यमदम्, अत्यन्तशुद्ध[5]-स्वभावमपि कृष्णचरितम्, अकरमपि हस्तस्थित-सकल-भुवनतलं[6] राजानमद्राक्षीत्।

---

अनन्तेति। अनन्तानि अपरिमितानि गजा हस्तिनस्तुरगा अश्वास्तेषां साधनानि उपकरणानि सहाया यस्य तम् 'निर्वर्तनोपकरणानुव्रज्यासु च साधनम्' इत्यमरः, एवम्भूतमपि खड्गमात्रसहायमिति विरोधः, युद्धे सर्वविधसैन्यानपेक्षत्वेन केवलतरवारिसहायेनैव विजयिनमिति तत्परिहारः।

एकदेशेति। एकदेशः सभामण्डपादिस्तत्र एकस्मिन् जनपदे वा स्थितमपि वर्तमानमपि व्याप्तं समाक्रान्तं भुवनमण्डलं मर्त्यभुवनं येन तमिति विरोधः, व्याप्तं भुवनमण्डलं येन तमिति तत्समाधानम् 'व्याप्तं ख्याते समाक्रान्ते' इति विश्वः।

आसन इति। आसने राजसिंहासने स्थितं निषण्णमपि धनुषि चापे निषण्णं स्थितमिति विरोधः, धनुषि विजयविश्वासिनमिति यद्वा धनुःसंज्ञके स्थितमिति परिहारः 'धनुः संज्ञा प्रियालाद्रौ' इति विश्वः।

उत्सादितेति। उत्सादितानि व्यापादितानि अशेषाणि समग्राणि द्विषन्तो रिपव एव इन्धनानि काष्ठानि येन तं तथाविधमपि ज्वलन् प्रतापः प्रभाव एवानलो वह्निः यस्य तं तादृशमिति इन्धनाभावे कथं ज्वलनमिति विरोधः, ज्वलन् दीप्यमानः सर्वत्र प्रबलभावेन वर्त्तमान इति तत्समाधानम्। शत्रुषु काष्ठत्वारोपः प्रतापे अनलत्वारोपस्य कारणमिति परम्परितरूपकसङ्कीर्णो विरोधाभासः।

आयतेति। आयते विस्तीर्णे लोचने चक्षुषी यस्य तं तथाविधमपि सूक्ष्मे अविपुले दर्शने लोचने यस्य तमिति विरोधः, सूक्ष्मे अध्यात्मविषये दर्शनं ज्ञानं यस्येति परिहारः। 'सूक्ष्मं स्यात्कैतवेऽध्यात्मे पुंस्यणौ त्रिषु चाल्पके।' 'दर्शनं नयन-स्वप्न-बुद्धि-धर्मोपलब्धिषु'॥ इति विश्वः महान् बहुः दोषोऽवगुणो यस्मिन् स तं तादृशमपि सकलगुणाधिष्ठानं समस्तगुणाश्रयमिति विरोधः, महान्तौ दीर्घौ बाहू यस्य तमिति परिहारः 'दोर्दोषा च भुजो बाहु'रिति धनञ्जयः। कुत्सितो निन्दितश्चासौ पतिर्भर्त्ता चेति कुपतिरेवम्भूतमपि कलत्रवल्लभं स्त्रीजनप्रियमिति विरोधः, कुः पृथिवी तस्याः पतिः स्वामीति परिहारः 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः। अविरतं निरन्तरं प्रवृत्तं दानं मदजलं यस्य तमेवम्भूतमपि अमदं मदजलशून्यमिति विरोधः, अयञ्च विरोधो हस्तिसादृश्ये, अविरतं सन्ततं दानम् अर्थिभ्यो द्रव्यादिवितरणं यस्य तं तादृशमपि असदं गर्वशून्यमिति तत्परिहारः। 'दानं गजमदे त्यागे पालनच्छेदशुद्धिषु' इति विश्वः, 'मदे रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः' इति च मेदिनी। अत्यन्तमतिशयेन शुद्धः स्वच्छः स्वभावः प्रकृतिर्यस्य तं तथाविधमपि कृष्णं मलिनं चरितमाचारो यस्य तमिति विरोधः, कृष्णस्य वासुदेवस्य चरितमिव चरितं यस्य तमिति तत्समाधानम्। 'कृष्णः सत्यवतीपुत्रे वायसे केशवेऽर्जुने' इति विश्वमेदिन्यौ। न विद्यते करः पाणिर्यस्य तं तादृशमपि हस्ते करे स्थितं शासनेनाधीनं सकलं समग्रं भुवनतलं यस्य तमिति विरोधः, न

---

अकेला था ( उन सब में एक था )। असंख्य हाथी घोड़ों के साधनों से भरपूर होते हुए भी युद्ध में वह केवल कृपाण ही को अपना साथी चुनता था। एक ही स्थान पर स्थित होते हुए भी वह ( प्रताप द्वारा ) सभी लोकों में व्याप्त था। वह आसन रहते हुए भी ( उसके विजय का विश्वास ) धनुष पर स्थित था। शत्रुरूपी ईंधन के चुक जाने पर भी उसके प्रताप की अग्नि जलती रहती थी। बड़ी-बड़ी आँखों के होते हुए भी वह सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवाला था अर्थात् संसार को चर्मचक्षुओं से न देख कर ज्ञानचक्षुओं से देखनेवाला था, महादोषी ( १-महान अवगुणी २-लम्बी बाहोंवाला ) होते हुए भी सभी गुणों का निवास-स्थान था, कुपति ( १-बुरा पति, शठ नायक २-पृथ्वीपति ) होते हुए भी सभी रानियों का प्रिय-पात्र ( दक्षिण नायक ) था, निरन्तर दान-शील होते हुए भी ( १-दान देने में लगा हुआ २-मद गिराने वाला ) मद रहित ( निरभिमानी ) था, शिष्ट स्वभाव होते हुए भी कृष्णचरित ( १-मलिन आचरण वाला २-भगवान कृष्ण के समान साधु आचार वाला ) था और कर-हीन होते हुए भी ( १-बिना हाथ के २-बिना कर लिए ही ) सारी पृथ्वी उसके हाथों में थी।

---

१. आसनगतम्, आसनस्थितम्। २. उत्सादितद्विषदिन्धनमपि। ३. सूक्ष्मदर्शिनम्। ४. कलत्रचयवल्लभम्। ५. अतिशुद्ध। ६. हस्तस्थितभुवनतलम्।

आलोक्य च सा दूरस्थितैव प्रचलितरत्नवलयेन रक्त-कुवलयदल-कोमलेन पाणिना जर्जरितमुखभागां वेणुलतामादाय नरपतिप्रतिबोधनार्थं[1] सकृत् सभाकुट्टिममाजघान; येन सकलमेव तद् राजकम्[2] एकपदे वनकरियूथमिव तालशब्देन तेन वेणुलताध्वनिना[3] युगपदावलितवदनमवनिपालमुखादाकृष्य चक्षुस्तदभिमुखमासीत् ।

अवनिपतिस्तु 'दूरादालोकय' इत्यभिधाय प्रतीहार्य्या निर्दिश्यमानां तां वयःपरिणाम-शुभ्र-शिरसा रक्त-राजीवनेत्रा[4]पाङ्गेनानवरत-कृत-व्यायामतया यौवनापगमेऽप्यशिथिल-शरीरसन्धिना सत्यपि मातङ्गत्वे नातिनृशंसाकृतिना अनुगृहीतार्य्यवेशेन[5] शुभ्र[6]-वाससा-

---

विद्यते चक्रवर्तित्वेन नास्ति करःअन्यस्मै भागधेयः राजग्राह्यद्रव्याद्यर्पणमिति यावत् यस्य तमिति तत्समाधानम् । 'बलिः करो भागधेयः' इति कोशः । इहाशेषजनभोग्यतामित्यादिकेषु अकरमपीत्यन्तेषु द्वादशसु श्लेषेण विरोधपरिहारात् सर्वत्रैव विरोधाभासालङ्कारा बोध्याः ।

आलोक्येति । आलोक्य राजानं दृष्ट्वा सा चण्डालकन्यका दूरस्थितैव चण्डालजातित्वान्नृपसन्निधौ गमनं नोचितमिति दविष्ठप्रदेश एव वर्तमाना प्रचलितं पूर्वावस्थितिप्रदेशात् किञ्चित् प्रकम्पितं रत्नवलयं मणिखचितकटकं यस्य तेन 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, रक्तं लोहितं यत्कुवलयम् उत्पलं तद्वत् कोमलेन मृदुलेन । अनेन करस्य लक्षणोपेतत्वं व्यञ्जितम् । इह लुप्तोपमा । जर्जरितो जीर्णः मुखभागः अग्रभागो यस्याः सा तां तथोक्तां वेणुलतां वंशयष्टिम् आदाय गृहीत्वा नरपतेः राज्ञः ( शूद्रकस्य ) प्रतिबोधनार्थं स्वाभिमुखीकरणार्थं सभाकुट्टिमं परिषन्निबद्धभूमिं 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' इति कोशः, सकृद् एकवारं पाणिना करेण आजघान आहतवती । येन आघातेन सकलं समग्रमेव तद्राजकं नृपतिसमूहः एकपदे तस्मिन्नेव क्षणे 'तत्क्षणैकपदे तुल्ये' इति हलायुधः । तालः कांस्यकरतालो वाद्यविशेषस्तस्य शब्देन तदुत्थध्वनिना वनकरिणां वन्यहस्तिनां यूथं समूह इव, तेन पूर्वोक्तेन वेणुलता वंशयष्टिस्तस्य ध्वनिना शब्देन युगपत् एककालम्, आवलितं परावर्तितं मुखम् आननं येन एवम्भूतम् अवनिपालमुखात् राजमुखात् आकृष्य आकर्षणं विधाय चक्षुर्लोचनं तदभिमुखं चण्डालकन्यकायाः सम्मुखम् आसीत् अभवत् । आकस्मिकशब्दविशेषश्रवणे तदाभिमुख्यं जनानां स्वाभाविकमेव । उपमालङ्कारश्च द्वितीयवाक्ये ।

अवनीति । अवनिपतिः राजा ( शूद्रकः ) अनिमिषलोचनः निमेषोन्मेषवर्जितनेत्रः तां चण्डालकन्यकां ददर्श अवलोकयामासेति दूरेणान्वयः । दूरादालोकय 'हे चण्डालकन्ये ! त्वं दूरात् एव शुकं दर्शय' नृपतेरेकान्तसमीपगमनमज्ञातस्वरूपायास्तवानुचितमित्याशयः । इत्यभिधाय इति कथयित्वा प्रतीहार्या द्वाररक्षाकारिण्या निर्दिश्यमानाम् 'इयं सा चण्डालकन्या' इति सभायां ज्ञाप्यमानाम् । वयसः परिणामेन वार्धक्येन शुभ्रं पक्वलोमतया श्वेतं शिरो मूर्द्धा यस्य स तेन, रक्तराजीववत् लोहितकमलवत् नेत्रापाङ्गौ नयनप्रान्तौ यस्य स तेन । इह लुप्तोपमा । अनवरतं सततं कृतो विहितो व्यायामः परिश्रमः येन तस्य भावस्तत्ता तया यौवनस्य तारुण्यस्य अपगमेऽपि समाप्तावपि अशिथिला दृढाः शरीरस्य देहस्य सन्धयो धातूनामस्थ्यादीनाञ्च बन्धा यस्य स तेन । मातङ्गत्वे चण्डालत्वे सत्यपि विद्यमानत्वेऽपि नातिनृशंसा

---

वह चांडाल-कन्या राजा को देख कर दूर ही पर ठिठक गयी और सभा का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कराने के लिए उसने लालकमल के समान अपने कोमल हाथ में पड़े हुए फटे बाँस के टुकड़े को एकबार सभा की गच पर खड़खड़ाया, जिससे ताड़पत्रों की खड़खड़ाहट को सुनकर उसकी ओर आकृष्ट हो जानेवाले जंगली हाथियों के समान उस डंडे की खड़खड़ाहट से सभी सामन्त राजाओं की दृष्टि एक साथ ही राजा की ओर से उखड़ कर उस कन्या की ओर चली गयी ।

दूर ही से देखो—इस प्रकार उस कन्या को सभामंडप में और आगे बढ़ने से रोकती हुई प्रतीहारी ने वहीं से उसे राजा को दिखाया । राजा भी अत्यंत टटकी नवयुवती सर्वसुंदरी कन्या को एक टक देखने लगे । उसके आगे आर्यों ( शिष्टजनों ) के समान श्वेत वस्त्र पहिने हुए पकी उमर का एक चांडाल था, जिसके सिर के बाल उजले हो गये थे, आँखों की कोरें लाल-लाल थीं, नियमित व्यायाम के कारण बुढ़ौती में भी शरीर की

---

१. प्रबोधनार्थम् । २. राजन्यकम् । ३. 'तेन वेणुलताध्वनिना' इति पाठः क्वचिन्न विद्यते ।
४. वेक्षणापाङ्गे । ५. वेषेण । ६. धवल ।

पुरुषेणाधिष्ठितपुरोभागाम्, आकुलाकुल-काकपक्षधारिणा कनक-शलाका-निर्म्मितमप्यन्तर्गत-शुकप्रभाश्यामायमानं मरकतमयमिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानाम् असुर-गृहीतामृतापहरण-कृत-[1]कपट-पटु विलासिनीवेशस्य श्यामतया भगवतो हरेरिवानुकुर्वतीम्, सञ्चारिणीमिवेन्द्र[2]नीलमणिपुत्रिका[3]म्, आगुल्फावल[4]म्बिना नीलकञ्चुकेनाच्छन्नशरीराम्, उपरि रक्तांशुक-विरचितावगुण्ठनां नीलोत्पलस्थलीमिव निपतितसन्ध्यातपाम्, एक-कर्णावसक्त[5]-दन्तपत्रप्रभाधवलितकपोल-मण्डलाम् उद्यदिन्दु[6]किरणच्छुरित-मुखीमिव

---

नातिक्रूरा अभयङ्करा आकृतिः स्वरूपं यस्य तेन, अनुगृहीतः अङ्गीकृत आर्यवेशः सभ्यनेपथ्यं येन स तेन, शुभ्रवाससा धवलवस्त्रेण केनचित् पुरुषेण अधिष्ठित आश्रितः पुरोभागो यस्याः सा ताम्।

आकुलेति। आकुलाकुलः इतस्ततः संलग्नः यः काकपक्षः शिखण्डकः तं धारयितुं शीलं यस्य तेन, 'काकपक्षः शिखण्डकः' इत्यमरः, 'सा बालानां काकपक्षः शिखण्डकशिखाण्डकौ' इति कोशः। कनकशलाकाः सुवर्णशलाकाः ताभिः निर्मितं रचितमपि अन्तर्गतस्य मध्यस्थितस्य शुकस्य कीरपक्षिणः प्रभया कान्त्या श्यामायमानं श्यामवर्णमिवावलोक्यमानम्, अत एव मरकतमयमिव मरकतमणिजातमिव पञ्जरं पक्षिरक्षणस्थलम् उद्वहता धारयता, केनचित् चण्डालदारकेण अन्त्यजपुत्रेण। इह श्यामायमानमिति व्यङ्गतोपमा, मरकतमयमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

असुरेति। असुरैः राक्षसैः गृहीतं स्वायत्तीकृतं यद् अमृतं सुधा तस्यापहरणे अपहृतौ कृतो विहितः कपटो व्याजपूर्णः पटुः प्रकटो विलासिनीवेशो मोहिनीस्त्रीस्वरूपम् येन तस्य भगवतः।

'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥'

इत्युक्तलक्षणलक्षितस्य हरेः श्रीविष्णोः श्यामतया समानकृष्णवर्णतया अनुकुर्वतीमिव सादृश्यमनुभवन्तीमिव विद्यमानाम्। इहानुकुर्वतीमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

पुरा क्षीरसागरमन्थनान्निःसृतममृतं दैत्या देवेभ्योऽप्रदाय स्वयमेव गृहीतवन्तः, भगवान् विष्णुस्तु तन्निरीक्ष्यात्मनो मोहिनीस्वरूपं धृत्वा तान् प्रतारयन् देवेभ्यस्तदमृतं ददाविति भागवतीया कथा।

सञ्चारिणीमिति। सञ्चारिणीं गमनशीलाम् इन्द्रनीलमणिपुत्रिकां जङ्गमप्राणिरूपां नीलकान्तमणिनिर्मितपुत्तलिकामिव विद्यमानाम्। इह पुत्तलिकात्वजात्युत्प्रेक्षणात् जात्युत्प्रेक्षा।

आगुल्फेति। आगुल्फावलम्बिना घुटिकापर्यन्तपातिना नीलकञ्चुकेन नीलवर्णकूर्पासकेन आच्छन्नम् आवृतं शरीरं गात्रं यस्याः सा ताम् उपरि ऊर्ध्वप्रदेशे शिरसीत्यर्थः, रक्तांशुकेन लोहितवर्णवस्त्रेण विरचितं कृतम् अवगुण्ठनं मुखाच्छादनं यया सा ताम्, अत एव निपतितः उपरि प्राप्तः सन्ध्याकालीन आतपः सूर्यकिरणो यस्यां ताम् एतादृशीं नीलोत्पलस्थलीमिव कुवलयकृत्रिमभूमिमिव। इह पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेणोपमालङ्कारः सङ्कीर्णो भवति।

एकेति—एकस्मिन् कर्णे श्रोत्रे अवसक्तं लग्नं यत् दन्तपत्रं कर्णाभरणविशेषस्तस्य प्रभया कान्त्या धवलितं श्वेतीकृतं कपोलमण्डलं गण्डप्रदेशो यस्याः सा ताम्, अत एव उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् य इन्दुश्चन्द्र-

---

जोड़ें अभी तक कसी हुई थीं तथा चांडाल होते हुए भी उसकी आकृति में उतनी कठोरता नहीं थीं। उसके पीछे एक चांडाल बालक था जिसके उलझे हुए बालों में कहीं-कहीं कौवे के पंख लगे हुए थे। वह अपने हाथ में सोने की तीलियों से बना हुआ एक पिंजरा लिए था, जो उसके भीतर स्थित गहरे हरे रंग के सुग्गे की झलक से मरकत मणि से बना हुआ प्रतीत हो रहा था। उस कन्या का साँवला स्वरूप भगवान विष्णु के उस मायावी मोहिनी रूप से मिलता-जुलता सा प्रतीत हो रहा था जिसे उन्होंने असुरों के हाथ में पड़े हुए अमृत के घड़े को लौटाने के लिए धारण किया था। वह कन्या क्या थी नीलम की चलती-फिरती पुतली ही थी। उसका शरीर पैर की गाँठों तक नीले कंचुक ( जामा ) से और सिर लाल रेशमी ओढ़नी के घूँघट से ढका हुआ था जिससे वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों नीले कमलों की बनावटी भूमि पर डूबती हुई धूप लोट रही हो। उसके दाहिने कान में लगा हुआ हाथी दाँत का पत्ता उसके साँवले मुख के दाहिने कपोल-मंडल को अपनी श्वेत आभा से चमका रहा था जिससे वह पूर्व भाग में निकलते हुए चन्द्रमंडल को धारण करनेवाली चाँदनी रात के

---

१. कपटविलासिनी,...वेषस्य। २. सञ्चारिणीमिन्द्र। ३. ...पुत्रिकामिव। ४. गुल्फावलम्बिनील।
५. मुक्त। ६. उद्यदिन्दुबिम्बच्छुरित।

विभावरीम्, आकपिल-गोरोचना-रचित-तिलक-तृतीय-लोचनाम् ईशानुचरित-[1] किरातवेशामिव भवानीम्, उरःस्थल-निवास-संक्रान्त-नारायण-देहप्रभा-श्याममलितामिव[2] श्रियम्, कुपित-हर-हुताशन-दह्यमान-मदन-धूम-मलिनीकृतामिव रतिम्, उन्मद[3]-हलि-हलाकर्षण[4]-भय-पलायितामिव कालिन्दीम्[5], अतिबहल-पिण्डालक्तक-रस-राग-पल्लवित-

---

स्तस्य किरणैः रश्मिभिः छुरितम् अन्धकारनिवृत्त्या सप्रकाशं मुखम् आद्यभागः आननञ्च यस्याः सा तां तादृशीं विभावरीं रात्रिमिव विद्यमानामिति शेषः । एतेन रात्रिनायकयोर्दन्तपत्रचन्द्रयोश्च तुल्यत्वं प्रदर्शितम् । इहापि पूर्ववदेवालङ्कारः ।

आकपिलेति । आकपिलया ईषत्पीतरक्तया गोरोचनया गोपित्तेन रचितं निर्मितं यत्तिलकं पुण्ड्रं तदेव तृतीयं लोचनं नयनं यस्याः सा ताम्, अत एव ईशस्य शम्भोः अनुचरितः पश्चाद्गृहीतः किरातवेशो भिल्लिनेपथ्यं यया सैवम्भूतां भवानीं पार्वतीमिव ।

पुरा किल श्रीकृष्णप्रेरितः पार्थः पाशुपतास्त्रप्राप्तये तपस्तप्तुं गतः, ततः, वराहरूपेण तं हन्तुं यान्तं मूकदानवं मारयितुं भगवान् शिवः किरातवेशं गृहीतवान् तदनु तमेव वेशं धारयित्वा पार्वत्यपि शिवमनुययाविति महाभारतीया कथा । तदाधारेणेयमुपमा ।

उरःस्थलेति । उरःस्थले वक्षसि निवासेन निवसनेन संक्रान्ता प्रतिबिम्बिता या नारायणस्य विष्णोः देहप्रभा शरीरकान्तिः तया श्यामलितां श्यामत्वं प्राप्तां श्रियं लक्ष्मीमिव । इह लक्ष्मीचण्डालकन्यकयोः साम्यध्वननादुपमालङ्कारः, तथा श्रियः स्वीयगौरकान्तिपरित्यागेन भगवतो नारायणस्य श्यामलगुणादानात् तद्गुणालङ्कारः, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

कुपित इति । कुपितः धैर्यभङ्गकरणेन क्रोधं प्राप्तो यो हरः शङ्करः तस्य हुताशनेन तृतीयलोचनवह्निना दह्यमानः ज्वाल्यमानो यो मदनः कामदेवस्तस्य धूमेन दहनकेतुना मलिनीकृतां मालिन्यमुपगतां रतिं कामपत्नीमिव विद्यमानाम् । इहोक्तविधधूमेन मलिनीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिरलङ्कारः, उपमा च स्पष्टैवेत्यनयोर्मिथः अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कारः ।

पुरा किल तारकासुरवधायोद्यता देवा ब्रह्माणं ययुः । 'पार्वत्यामुद्भूतः कार्त्तिकेयोऽस्य निहन्ता नान्य इति विवाहाय शिवः प्रसादनीय' इत्यूचुश्च, ततः श्रुत्वा तत्र कस्य साफल्यम्भवेदिति वितर्कयन्तो मदनं नियुक्तवन्तः । देवगणानुरोधेन मदनोऽपि पार्वतीसमक्षं सम्मोहनास्त्रेण महेश्वरस्य धैर्यमपहरन् तदीयभाललोचनवह्निना दग्ध इति शिवपुराणकथा ।

उन्मदेति । उन्मदस्य प्रबलाहङ्कारिणो हलिनो बलभद्रस्य हलेन लाङ्गलेन यदाकर्षणमाकृष्टिस्तस्माद् भयेन त्रासेन पलायितां विलयं गतां कालिन्दीं यमुनामिव विद्यमानाम् । उपमालङ्कारः

पुरा मद्यपानगर्वितो बलभद्रो जलक्रीडानिमित्तं यमुनामाहूतवान् यदा हि नागतवती तदा हलाग्रेण तामाचकर्ष सा च तदान्तर्हितेति श्रीमद्भागवतीया कथा ।

अतिबहलेति । अतिबहलोऽतिप्रचुरो यः पिण्डालक्तकरसः पिण्डीभूतालक्तकद्रवस्तस्य रागेण लौहित्येन पल्लविते अभिनवकिसलयवदाचरितवती पादपङ्कजे चरणकमले यस्याः सा तां तादृशीम्, अत एव अचिरमृदितस्य तत्कालच्छिन्नकण्ठस्य महिषासुरस्य तन्नामकजगद्द्रोहिणो राक्षसस्य रुधिरेण शोणितेन रक्तौ रक्तवर्णौ चरणौ पादौ यस्यास्तां कात्यायनीं दुर्गामिव विद्यमानाम् । इह रुधिररक्तपदयोरर्थस्य

---

समान प्रतीत हो रही थी । उसके ललाट पर गोरोचना का पीला टीका तीसरे नेत्र की शोभा दे रहा था जिससे वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो भगवान शंकर के किरात वेश धारण करने के समय किराती का वेश धारण करने वाली भगवती पार्वती हो, अथवा अपने हृदय में स्थित भगवान नारायण के शरीर की श्यामली झलक से साँवली बनी हुई भगवती लक्ष्मी हो अथवा क्रुद्ध शंकर की नेत्र ज्वाला में जलते हुए काम के धुएँ से काली पड़ी हुई सुन्दरी रति हो अथवा नशे में चूर भगवान बलराम के हल से खींचे जाने के भय से भागी हुई कृष्णप्रिया कालिन्दी हो ! अत्यन्त गाढ़े आलते से रँगे हुए नई कोंपलों के

---

१. ईशानरञ्जनानुरचित, ईशानुरचित, ईशानाचरितानुरचित । २. श्यामलतां । ३. उन्मत्त ।
४. हलापकर्षणप्रपलायितां ५. यमुनाम् ।

पादपङ्कजाम्, अचिर-मृदित-महिषासुर-रुधिर-रक्तचरणामिव कात्यायनीम्, आलोहिताङ्गुलि-प्रभा-पाटलित-नख-मयूखाम् अतिकठिन-मणिकुट्टिम-स्पर्शमसहमानां क्षितितले पल्लवभङ्गानिव निधाय सञ्चरन्तीम्, आपिञ्जरेणोत्सर्पिणा नूपुरमणीनां प्रभाजालेन[1] रञ्जित-शरीरतया पावकेनेव भगवता रूपैक[2]-पक्षपातिना प्रजापतिमप्रमाणीकुर्वता जातिसंशोधनार्थ-मालिङ्गितदेहाम्, अनङ्ग-वारण-शिरो-नक्षत्रमालायमानेन रोमराजि-लतालवालकेन

श्रवणमात्रेणैव पुनरुक्तवदवगमाद्भिन्नाकारपदगतत्वाच्च पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः, उपमा च अनयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करालङ्कारः।

पुरा किल ब्रह्मणो लब्धवरं महिषासुरं जगदुत्पीडयन्तं भगवती दुर्गा स्वयमाविर्भूयासिना कर्त्तयामासेति मार्कण्डेयपुराणान्तर्गतसप्तशतीकथा।

आलोहितेति। आलोहिता अतिरक्तवर्णा या अङ्गुलयः करशाखाः तासां प्रभाभिः कान्तिभिः पाटलिताः श्वेतरक्तीकृताः 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः, नखमयूखाः पुनर्भवरश्मयो यस्यास्ताम्, तथा अतिकठिनस्य अतिकर्कशस्य मणिकुट्टिमस्य मणिमयबद्धभुवः स्पर्शं संश्लेषम् असहमानाम् अक्षममाणाम् अतिमृदुलचरणत्वादिति भावः, अत एव क्षितितले पृथिवीतले पल्लवभङ्गान् किसलयखण्डान् 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः, निधायेव स्थापयित्वेव सञ्चरन्तीं गच्छन्तीम्, एवं सति पादव्यथा न भवेदित्याशयः। इह निधायेवेति क्रियोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। तथा च तथाविधनखकिरणानामेव किसलयखण्डसादृश्यप्रतीतिरिति।

आपिञ्जरेणेति। आपिञ्जरेण ईषत्पीतरक्तेन 'पीतरक्तस्तु पिञ्जरः' इत्यभिधानचिन्तामणिः, उत्सर्पिणा ऊर्ध्वगामिना नूपुरमणीनां हंसकरत्नानां प्रभाजालेन कान्तिसमूहेन रञ्जितशरीरतया शोभितदेहतया हेतुना रूपैकपक्षपातिना केवलसौन्दर्यादरविधायिना, अत एव प्रजापतिं सृष्टिविधातारं ब्रह्माणम् अप्रमाणीकुर्वता 'त्वमेवंविधां रूपवतीं निर्मायापि अस्पृश्याम् अन्त्यजजातिमेव कृतवान् तदहमेनां शुद्धां करोमि' इत्थमनिश्चितकर्तृताकं विदधता, विधातृकृतस्यान्यथाकरणाकाङ्क्षितत्वादित्याशयः, भगवता माहात्म्यवता पावकेन वह्निना जातिशोधनार्थम् अन्त्यजत्वेनास्पृश्यायास्तस्याः शुद्धतासम्पादनार्थमित्यर्थः, आलिङ्गितदेहाम् आश्लेषितशरीरामिव विद्यमानाम् अपवित्रं वस्तु वह्निना पवित्रं भवतीति धर्मशास्त्रे पैठीनसिवचनम्—'सर्वमग्नौ प्रतप्तं शुध्यते' इति ऊर्ध्वप्रसारी नूपुरमणीनां मयूखसमूहः सर्वतः शरीरपरिवेष्टनाद् वह्निवत् प्रतीयमान आसीदिति तात्पर्यम्। इह नूपुरमणिप्रभावह्न्योः परस्परमुपमानोपमेयभावः प्रतीयते इत्युपमा उत्प्रेक्षालङ्कारश्च स्फुट एव तथा चानयोरङ्गाङ्गिभावात्सङ्करालङ्कारः।

अनङ्गेति। अनङ्गस्य कामस्य 'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः' इत्यमरः, यो वारणो हस्ती तस्य शिरसि मूर्ध्नि या नक्षत्रमाला सप्तविंशतिसंख्यकमुक्ताग्रथितमाला तद्वदाचरता कामसम्बन्धितया कामोद्दीपकत्वादित्याशयः। 'सैव नक्षत्रमाला स्यात्सप्तविंशतिमौक्तिकैः' इत्यमरः, रोमराजिः नाभिप्रदेशात् ऋजुभावेनोर्ध्वगामिनी या लोमपङ्क्तिः 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी लेखास्तु राजयः' इत्यमरः, सैव लतावल्ली तस्या आलवालं मूले जलदानाय आवापः स्वल्पजलाधार इति यावत् 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः, तत्स्वरूपेण रसनादाम्ना कटिमेखलाबन्धनरज्ज्वा परिगतं समन्ताद् व्याप्तं जघनस्थलं कटिपुरोभागो यस्याः

समान लाल-लाल चरणकमलों के कारण वह तत्काल ही के मारे गए महिषासुर के रक्त में सने हुए चरणोंवाली भगवती कात्यायनी के समान प्रतीत हो रही थी। अपनी लालिमा से नखों को गुलाबी रंग का बना देनेवाली उसके चरणों की अत्यन्त लाल-लाल उँगलियाँ मणियों के गच में प्रतिबिम्बित होती हुई ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों चरणों की सुकुमारता के कारण उस गच की कठोरता सहन न कर पाने से वह उस पर पल्लवों को बिछाती हुई चल रही हो। नूपुरों में जड़ी हुई मणियों की लाल-पीली किरणों ने उसके शरीर को चारों ओर से इस प्रकार लपेट लिया था मानों ब्रह्मा के विधान को मिटा कर उसके रूप मात्र पर लट्टू बने हुए अग्निदेव ने उसकी जाति को पवित्र करने के लिए उसके शरीर को अपने आलिंगन में बाँध लिया हो। उसकी कमर के अगले भाग में सत्ताईस मोतियों से गुथी हुई एकलड़ी करधनी ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो वह कामदेव के

१. प्रभाजालकेनानुरञ्जित···। २. रूप एव पक्षपातिना।

मेखलादाम्ना[1] परिगतजघनस्थलाम्, अतिस्थूल-मुक्ताफल-घटितेन शुचिना[2] हारेण गङ्गास्रोतसेव कालिन्दीशङ्कया कृतकण्ठग्रहाम्, शरदमिव विकसित-पुण्डरीक-लोचनाम्, प्रावृषमिव घनकेशजालाम्, मलयमेखलामिव चन्दनपल्लवावतंसाम्, नक्षत्रमालामिव चित्र-श्रवणा-भरण-भूषिताम्, श्रियमिव हस्तस्थित-कमलशोभाम्, मूर्च्छामिव मनोहारिणीम्[3], अरण्यभूमिमिव अक्षत[4]-रूपसम्पन्नाम्, दिव्ययोषितामिवाकुलीनाम्, निद्रामिव लोचनग्राहि-

---

सा तां तादृशीम्, 'कट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः। इह रोमराजौ लतात्वारोपः रसनादाम्नि आलवालत्वारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकमलङ्कारः व्यङ्ग्तोपमया सङ्कीर्णः।

अतिस्थूलेति। अतिस्थूलानि अतिबृहन्ति यानि मुक्ताफलानि मौक्तिकानि तैः घटितेन निष्पादितेन शुचिना श्वेतवर्णेन हारेण चतुःषष्टिलतेन 'चतुःषष्टिलतो हारः' इत्यमरः, कालिन्दीशङ्कया चण्डालकन्यकायाः श्यामत्वात् यमुनाभ्रान्त्या गङ्गास्रोतसेव जाह्नवीप्रवाहेणेव, कृतः कण्ठग्रहो गलसंश्लेषः समीपाश्रयश्च यस्यास्तां तादृशीम्। इह चण्डालकन्यायां तुल्यश्यामत्वेन कालिन्दीभ्रमाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः, हारे गङ्गाप्रवाहोत्प्रेक्षणाद् द्वयोरप्रेक्षा चोभयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कारः।

शरदमिवेति। विकसिते विस्फारिते पुण्डरीके सिताम्भोजद्वयमिव 'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्' इत्यमरः, लोचने नयने यस्यास्ताम्, अत एव शरदिव घनात्ययमिव तत्र पक्षे विकसितानि प्रस्फुटितानि पुण्डरीकाणि लोचनानि चक्षूंषीव यस्यास्तां तादृशीम्।

प्रावृषमिति। प्रावृषं वर्षासमयमिव, घनाः सान्द्राः ये केशाः शिरोरुहास्तेषां जालानि समूहा यस्यास्ताम्, प्रावृट्पक्षे तु—घना मेघाः केशजालानि यस्यां ताम्।

मलयेति। मलयस्य तदाख्यपर्वतस्य मेखलां मध्यभागमिव, चन्दनस्य पल्लवाः किसलयानि तेषामवतंसा भूषणानि यस्यास्ताम्, पक्षे–चन्दनपल्लवास्त एव अवतंसः शेखरो यस्यास्ताम्।

नक्षत्रेति। नक्षत्रमालामिव तारकापङ्क्तिमिव, चित्रैर्विविधप्रकारैः श्रवणाभरणैः कर्णभूषणैः भूषितां शोभिताम्, पक्षे—चित्रश्रवणाभरणीसंज्ञकैर्नक्षत्रविशेषैर्भूषिताम्।

श्रियमिति। श्रियं लक्ष्मीमिव हस्ते पाणितले स्थिता विद्यमाना कमलस्य पद्मस्य शोभा श्रीर्यस्याः सा ताम्, पक्षे—हस्ते करे स्थितं यत्कमलं पद्मं तेन शोभा यस्याः सा ताम्।

मूर्च्छामिति। मूर्च्छां मोहमिव, मनोहारिणीं सौन्दर्यातिशयेन हृदयाकर्षिणीम्, पक्षे—चेतनालोपकरणेन मनोवृत्तिभ्रंशिनीम्।

अरण्येति। अरण्यभूमिं काननभुवमिव 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः, अक्षतं केनाऽप्यसम्भुक्तं यद् रूपं लावण्यं तेन सम्पन्नां संयुक्ताम्, पक्षे-अक्षतरुभिः रुद्राक्षवृक्षैः यद्वा विभीतकवृक्षैः उपसम्पन्नां संयुक्ताम् 'रुद्राक्षे रावणौ सर्पे विभीतकतरावपि' इति हैमः।

दिव्येति। दिव्या स्वर्गलोकसम्बन्धिनी या योषित् स्त्री तामिव, अकुलीनाम् अन्त्यजत्वान्नीचकुलोत्प-

---

हाथी के मस्तक की नक्षत्र-माला हो अथवा नाभि से ऊपर की ओर फैली हुई रोमावली रूपी लता के चारों ओर घिरी हुई क्यारी हो। उसके गले में बड़े-बड़े मोतियों की माला इस प्रकार पड़ी हुई थी मानों उसे भ्रम-वश यमुना समझ कर गंगा ही उसके गले से लिपट गयी हो। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें श्वेत कमलों के समान प्रफुल्लित थीं जिससे वह शरदऋतु के समान प्रतीत हो रही थी। वह घने काले बालों से घिरी हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानो बादलों से घिरी हुई वर्षा ऋतु हो। वह चंदन के पल्लवों के आभूषणों से सजी हुई थी मानो चंदनों के वनों से ढकी हुई मलयाचल की मेखला ( मध्यभाग ) हो। कानों में कई रंगों के जड़ाऊ कर्णफूल पहिनने के कारण वह चित्रा, श्रवण और भरणी से युक्त नक्षत्रों की माला के समान प्रतीत हो रही थी। उसके हाथों में कमल इस प्रकार उसकी शोभा बढ़ा रहा था मानों हाथों में नीला कमल लिए हुए स्वयम् लक्ष्मी ही उपस्थित हो। उसके रूप को देख कर दर्शकों का मन मूर्छित हो जाता था, जिससे वह मूर्तिमती मूर्च्छा के समान प्रतीत हो रही थी। वह अभुक्त सौन्दर्य से भरीपूरी थी मानों बन की ऐसी भूमि हो जहाँ अभी तक कोई भी न पहुँच सका हो। जैसे देव कन्याएँ इस लोक के लिए अकुलीन ( स्वर्गीय ) होती हैं उसी प्रकार वह भी इस लोक के कुलीन

---

१. रसनादाम्ना परिगतजघनाम्। २. शुचिहारेण। ३. मनोहराम्। ४. क्वापि 'अक्षत' पदं न विद्यते। क्वचिच्च अन्याक्षतबहुशोभिरूपाम् इति पाठो विद्यते।

णीम्, अरण्यकमलिनीमिव मातङ्गकुलदूषिताम्, अमूर्त्तामिव स्पर्शवर्जिताम्, आलेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलाम्, मधुमास-कुसुम-समृद्धिमिव अजातिम्[1], अनङ्ग-कुसुम-चापलेखामिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्, यक्षाधिपलक्ष्मीमिवालकोद्भासिनीम्, अचिरोपरूढ[2]यौवनाम्, अतिशयरूपाकृतिम्, अनिमिष[3]-लोचनो ददर्श। दृष्ट्वा च[4] तां समुपजात[5]विस्मयस्याभून्मनसि

न्नाम्, पक्षे—कौ पृथिव्यां लीना स्थिता या भवति सा कुलीना एवंरूपा या न भवतीत्यकुलीना ताम्, पृथिवीतलस्पर्शाविधायिनीमित्यर्थः। देवयोनीनां पृथिवीतले स्पर्शो न भवतीति पौराणिकाः।

निद्रामिति। निद्रां प्रमीलामिव, लोचनग्राहिणीं सौन्दर्यातिशयेन कामुकानां नेत्राकर्षिणीम्, पक्षे—अक्षिसंकोचविधानेन निमेषोन्मेषावरोधिनीम्।

अरण्येति। अरण्यकमलिनीं वनपद्मिनीमिव, मातङ्गकुलेन चण्डालान्वयेन तत्कुलोत्पन्नत्वेनेत्यर्थः, दूषितां निन्दिताम्, पक्षे-मातङ्गकुलेन हस्तिसमूहेन दूषितां विमथिताम्। 'मातङ्गः श्वपचे गजे' इति मे०।

अमूर्त्तामिति। अमूर्त्ता अशरीरिणी तामिव, स्पर्शवर्जितां शरीरस्पर्शरहिताम्-

दिवाकीर्त्तिमुदक्याञ्च पतितं सूतिकां तथा। शवं तत्स्पृष्टिनञ्चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति॥

इति मनुवचनादन्त्यजस्पर्शे स्नानप्रतिपादनादित्याशयः। पक्षे तु—स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यो गुणस्तेन वर्जितां शून्याम्। यस्य शरीरं न भवति तत् कथं स्पृश्यत, इयमपि नीचजातितया न स्पृश्यत इत्याशयः।

आलेख्यगतामिति। आलेख्यगतां चित्रस्थितां पुत्रिकामिव दर्शनमात्रं चण्डालत्वेन सम्भोगाभावात् केवलावलोकनमेव फलं प्रयोजनं यस्यास्ताम्, पक्षे आकृत्यभावेन तत्संश्लेषाद्यसम्भवाद् दर्शनमात्रफलाम्।

मधुमासेति। मधुमासस्य वसन्तसमयस्य कुसुमसमृद्धिं पुष्पसम्पत्तिमिव, अजातिं न विद्यते जातिः मन्वादिपरिगणितब्राह्मणत्वादिर्यस्यां सा ताम्, तथा च—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥

इति मनुनोक्तत्वादन्त्यजादीनां जातिहीनत्वमेव प्रतीयते। पक्षे-न विद्यते जातिर्मालती यस्यां सा ताम्। 'न स्याज्जाती वसन्ते' इत्यादिसाहित्यदर्पणदिशा वसन्ते मालतीपुष्पस्य वर्णनमप्रसिद्धम्। 'जातिश्छन्दसि सामान्ये मालत्यां गोत्रजन्मनोः' इति मेदिनी।

अनङ्गकुसुमेति। अनङ्गस्य कन्दर्पस्य 'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः' इत्यमरः, कुसुमचापस्य पुष्पधनुषो या लेखा लता तामिव, मुष्टिना संपीडिताङ्गुलिना 'सम्पीडिताङ्गुलिर्मुष्टिः' इति हलायुधः, ग्राह्यो ग्रहीतुं शक्यः मध्यः कटिदेशो मध्यप्रदेशश्च यस्याः सा ताम्। अनेन कटिदेशस्यात्यन्तकार्श्यम् प्रत्याय्यते।

यक्षाधिपेति। यक्षाधिपस्य गुह्यकेश्वरस्य कुबेरस्येत्यर्थः, लक्ष्मीः सम्पत् तामिव, अलकैश्चूर्णकुन्तलैः उद्भासते शोभते इत्येवंशीला या सा ताम्, पक्षे—अलकायां तन्नामिकायां पुर्याम् उद्भासते या सा ताम्।

इह 'शरदमिव' इत्यारभ्य 'यक्षाधिपलक्ष्मीमिव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः। केचित्तु श्लेषोपमां प्रतिपादयन्ति।

अचिरेति। अचिरं शीघ्रम् उपारूढम् उपगतं यौवनं तारुण्यं यस्याः सा ताम्, सञ्जातयौवनामित्यर्थः। अतिशयरूपं लावण्यं यस्याः सा एवम्भूता आकृतिः स्वरूपं यस्याः सा ताम्।

अनिमिषेति। अनिमिषे निमेषोन्मेषवर्जिते लोचने नयने यस्यैवम्भूतो राजा ददर्श अवलोकयामास।

दृष्ट्वेति। दृष्ट्वा अवलोक्य च तां चण्डालकन्यकाम्, जातः उत्पन्नः विस्मयः आश्चर्यं यस्यैवम्भूतस्य

लोगों के अयोग्य थी। वह नींद के समान आँखों को पकड़ लेनेवाली थी। जैसे जगल में खिली हुई कमलिनी हाथियों के कुल से दूषित होती है उसी प्रकार भीलों के कुल में जन्म लेने से वह भी दूपित थी। वह अस्पृश्य थी मानों स्पर्श-रहित निराकार की मूर्ति हो। उसे केवल देखा जा सकता था इसलिए मानों वह चित्र में लिखी हुई सी प्रतीत हो रही थी। जैसे वसन्त ऋतु के फूलों की शोभा अजाति (चमेली के फूलों से रहित) होती है उसी प्रकार वह भी अजाति (हीन जाति की) थी। उसकी कमर इतनी पतली थी कि काम के पुष्प-

१. विजातिम्। २. उपारूढ···। ३. अनिमेष···। ४. क्वापि 'दृष्ट्वा च ताम्' इति पाठो नोपलभ्यते। ५. जात···।

महीपतेः—"अहो ! विधातुरस्थाने रूप[1]-निष्पादनप्रयत्नः । तथाहि, यदि नामेयमात्मरूपोपहसिताशेषरूपसम्पदुत्पादिता, किमर्थमपगत-स्पर्श-सम्भोग-सुखे कृतं कुले जन्म[2] ।

मन्ये च 'मातङ्ग-जाति-स्पर्श-दोष-भयादस्पृशतेयमुत्पादिता[3] प्रजापतिना, अन्यथा कथमियमक्लिष्टता लावण्यस्य । नहि[4] करतल-स्पर्श-क्लेशितानामवयवानामीदृशी भवति कान्तिः।

सर्वथा धिग्[5]विधातारम् असदृशसंयोगकारिणम् । अतिमनोहरा[6]कृतिरपि क्रूरजातित[7]या येनेयमसुरश्रीरिव सतत-निन्दित-सुरता रमणीयाऽप्युद्वेजयति" इति ।

---

महीपतेः शूद्रकस्य राज्ञः, मनसि चित्ते ( एवं वृत्तिः ) अभूत् उत्पन्ना । तामेव मनोवृत्तिमुपपादयति—अहो ! इति । अहो ! इति वितर्के 'आहो उताहो किमुत' इत्यमरः । विधातुर्ब्रह्मणः अस्थाने अपात्रे सौन्दर्यस्य अद्भुतरूपस्य निष्पादने निर्माणे प्रयत्न आयासः । अथ स्पष्टीकरोति—तथाहीत्यादिना । नामेति मृदुलामन्त्रणे । यदि वात्मरूपेण स्वीयसौन्दर्येण उपहसिता न्यक्कृता अशेषा समग्रा रूपसम्पत् सौन्दर्यसमृद्धिः यया सा तादृशी, इयं चण्डालकन्यका उत्पादिता निर्मिता, (तर्हि) किमर्थं किन्निमित्तम्, अपगते दूरीभूते स्पर्शसम्भोगसुखे संश्लेषसुरतसुखे यस्मात् एवम्भूते कुले अन्त्यजवंशे जन्म उत्पत्तिः कृतं विहितम् तथा च यथेयं सौन्दर्यराशिर्विधिना निर्मिता तथा उच्चकुले जन्मकरणमपि योग्यमासीद् यथेयं सुन्दरी स्प्रष्टुमुपभोक्तुं च शक्येत ।

राजा एवं विमृश्य निश्चिनोति—मन्ये इति । अत्राहमित्यध्याहार्यः मातङ्गजातेः चाण्डालगोत्रस्य 'मातङ्गः श्वपचे गज' इति मेदिनी 'जातिश्छन्दसि सामान्ये मालत्यां गोत्रजन्मनोः' इति विश्वः, 'जातिः स्त्री गोत्रजन्मनोः' इति मेदिनी च, स्पर्शेन संश्लेषेण ( जनितः यः ) दोषः अपवित्रता तस्माद् यद्भयं त्रासः तस्मात्, अस्पृशता अस्या देहस्पर्शमकुर्वता प्रजापतिना ब्रह्मणा, इयं चण्डालकन्यका, उत्पादिता मरीच्यादिसप्तर्षिवन्मनःसङ्कल्पमात्रेण निष्पादिता इति ( अहं ) मन्ये जाने इत्यर्थः । अन्यथा उक्तवैपरीत्ये स्पर्शयोग्यत्वे सतीति भावः, इयमेवम्भूता, लावण्यस्य सौन्दर्यस्य अक्लिष्टता अक्षतता कथं स्यात् ? कथमपि नेत्यर्थः । एतदेवोपपादयति—न हीत्यादिना । करतलस्पर्शक्लेशितानां पाणितलसंश्लेषमर्दितानाम् अवयवानां करादीनाम्, ईदृशी एवम्भूता, कान्तिः कमनीयता, न हि भवति न स्यात् ।

सर्वथेति । असदृशयोः व्यधिकरणत्वेन मिथो विरुद्धयोश्चण्डालत्वात्यन्तमनोहराकृत्योः संयोगम् एकत्र सम्बन्धं कर्त्तुं शीलं यस्य तं विधातारम् अस्या निर्माणकर्त्तारं ब्रह्माणं धिक् निन्दामि 'धिक् धिक्' इति पाठे अत्यधिकं निन्दामीत्यर्थः, येन असदृशसंबन्धविधानेन हेतुना इयं चण्डालकन्यका मनोहरा चित्ताकर्षिणी आकृतिः स्वरूपं यस्याः सा एवम्भूताऽपि असुरश्रीरिव दैत्यलक्ष्मीरिव सततं निरन्तरं निन्दितं धर्मशास्त्रकृद्भिर्जुगुप्सितं सुरतसम्भोगो यस्यां सा, पक्षे—सततम् अजस्रं निन्दिता तिरस्कृता

---

धनुष की लचीली डंडी के समान मुट्ठी में आने योग्य थी । वह अपनी अलकों से ऐसी शोभित हो रही थी मानों अलकापुरी के वैभव में निवास करनेवाली भगवान कुबेर की राज्यलक्ष्मी हो ।

उसे देख कर राजा चकित हो उठा और मन ही मन विचार करने लगा—कितने आश्चर्य की बात है कि ऐसे अयोग्य स्थान में विधाता ने ऐसी रूप-रचना का आखिर इतना प्रयत्न किया ही क्यों ? और यदि अपनी सुन्दरता से सम्पूर्ण सौन्दर्य की खिल्ली उड़ानेवाली इस सौन्दर्य मूर्ति कन्या की रचना ही की तो इसे ऐसी जाति में क्यों उत्पन्न कर दिया कि यह सम्भोग की तो बात ही क्या छूने योग्य भी न रह गयी !

मैं तो समझता हूँ कि चाण्डाल-जाति के स्पर्श दोष से भयभीत होकर इसके निर्माण-काल में ही विधाता स्वयम् इसके छूने में हिचक उठे और बिना हाथ लगाये ही इसकी रचना कर डाली । नहीं तो इसकी सुन्दरता कदापि इतनी अछूती न होती । हाथ के स्पर्श से दूषित अंगों में ऐसी निर्मल कान्ति कैसे संभव हो सकती है ? अर्थात् इसकी रचना में विधाता के हाथों की छाप तो है ही नहीं क्योंकि विधाता के हाथों की रचना इस प्रकार सर्वथा दोषमुक्त होती ही नहीं ( विधि प्रपंच गुण अवगुण साना ) अतः यह निश्चय ही उसकी मानसी सृष्टि है ।

---

१. सौन्दर्य···रूपनिष्पादनप्रयत्नः । २. अस्या जन्म । ३. मनसोत्पादिता । ४. तथाहि । ५. धिग्धिग् विधातारम् । ६. मनोहरा··· । ७. क्रूरजातिजा ।

एवमादि चिन्तयन्तमेव राजानमीषदवगलित-कर्णपल्लवावतंसा प्रगल्भवनितेव कन्यका प्रणनाम।

कृतप्रणामायाञ्च तस्यां मणिकुट्टिमोपविष्टायाम्, स पुरुषस्तं विहङ्गम[1]मादाय पञ्जरगत-मेव[2] किञ्चिदुपसृत्य राज्ञे न्यवेदयदब्रवीच्च—

'देव ! विदितसकलशास्त्रार्थः, राजनीतिप्रयोगकुशलः, पुराणेतिहासकथालापनिपुणः, वेदिता गीतश्रुतीनाम्, काव्य-नाटका[3]ख्यानक-प्रभृतीनामपरिमितानां सुभाषितानामध्येता

---

सुरता देवसमूहो यया सा, एवम्भूता रमणीयाऽपि सुरतयोग्याऽपि क्रूरजातितया नृशंसान्त्यजजातितया उद्वेजयति वैचित्र्यमुत्पादयति' इति 'महीपतेर्मनसि अभूत्' इति पूर्वेण सम्बन्धः। इह पूर्णोपमा।

एवमिति। ईषत् अल्पम् अवगलितौ अधःप्रसृतौ कर्णयोः श्रोत्रयोः पल्लवावतंसौ किसलयभूषणे यस्याः सा, कन्यका चण्डालदारिका प्रगल्भवनितेव सम्प्रत्यप्राप्तयौवनत्वादप्रगल्भापि धृष्टनायिकेव तथा विधराजसभायामपि त्रपाद्यभावादित्याशयः। एवमादि पूर्वोक्तप्रकारादिकम्, चिन्तयन्तमेव विचारं कुर्वन्तमेव राजानं महीपतिं प्रणनाम प्रणाममकरोत्।

कृतेति। कृतो विहितः प्रणामो नमस्कारो यया सा तथा तस्याम्, मणिकुट्टिमं रत्नबद्धभूमिस्तत्र उपविष्टायां वर्त्तमानायां तस्यां चण्डालकन्यकायाम्, स अग्रगामी पूर्वोक्तो धवलवासाः वृद्धः पुरुषः, पञ्जरगतमेव पञ्जरस्थमेव न तु ततः पृथक्कृत्वेत्यर्थः, तं विहङ्गमं पक्षिणं शुकं कीरम् आदाय गृहीत्वा किञ्चिद्विनयेन ( पुरः ) उपसृत्य आगत्य राज्ञे भूपतये न्यवेदयत् उपहृतवान् अब्रवीत् अगादीच्चेत्यर्थः।

देवेति। देव हे राजन् ! 'राजा भट्टारको देवः' इत्यमरः, 'विदितसकलशास्त्रार्थः' इत्यादीनि प्रथमान्तानि शुकविशेषणान्यवगन्तव्यानि। तत्र विदितः ज्ञातः सकलशास्त्राणां षडङ्गसहितवेदानाम् अर्थोऽभिधेयो येन सः, राजनीतिप्रयोगे कामन्दक्युक्तशिक्षायां कुशलो निपुणः, पुराणं पञ्चलक्षणम्, इतिहासः, पुरावृत्तम्, तयोः कथायां वार्तायां य आलापः सम्यग्भाषणं तदर्थप्रतिपादकवाक्यनिर्माणं वा तत्र निपुणः प्रवीणः, गीतं गानं श्रुतयः स्वरारम्भकावयवीभूताः शब्दविशेषा द्वाविंशतिविधाः तासां वेदिता बोद्धा। श्रुतीनां द्वाविंशतिविधत्वे प्रमाणम्—

'सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छाश्चैकोनविंशतिः। ताना एकोनपञ्चाशद्द्व्यधिका विंशतिः श्रुतिः॥ इति।

अन्यत्र तु—

'नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना मातङ्गी सरसामृता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी। बाला शार्ङ्गरवी कला कलरवा माला विशाला जया मात्रेति श्रुतयः पुराणकविभिर्द्वाविंशतिःकीर्त्तिताः॥'इति।

काव्यम् अदोषत्वे सति गुणालङ्कारवत्कविकर्म, नाटकम् अभिनयः, आख्यायिका वासवदत्तादिः, आख्यानकं साम्प्रतिकराजवृत्तम्, एतत्प्रभृतीनां सामुद्रिकादीनाम् ( तथा ) अपरिमितानाम् अगणितानाम्, सुभाषितानां शृङ्गारनीतिवैराग्यबोधकानां च अध्येता पाठकः, कर्त्ता स्वयमेव निर्माता च। परि-

---

इतनी बेमेल वस्तुओं को एक में मिला रखनेवाले विधाता को धिक्कार है ! चाण्डाल-कुल में उत्पन्न होने के कारण सम्भोग के सर्वथा अयोग्य यह सौन्दर्य प्रतिमा मनोहर और रमणीय होने पर भी मन को आकुलता ही प्रदान कर रही है मानों निरन्तर देव-वृत्तियों की निन्दा करनेवाली मनोहर रमणीय दैत्य-लक्ष्मी हो।

राजा अभी अपने विचारों में तल्लीन ही था कि उस कन्या ने बिना किसी हिचक के धृष्ट स्त्री के समान झुक कर उसे प्रणाम किया। उस समय उसके कानों में पल्लवों के आभूषण भी कुछ-कुछ झुक गए।

जब वह प्रणाम करके मणियों की फर्श पर बैठ गयी तो उसके साथ के उस वृद्ध पुरुष ने पिंजड़े के उस पक्षी को लेकर और कुछ आगे बढ़ कर राजा से निवेदन किया—

राजन् ! यह अत्यन्त अद्भुत सुग्गा है। इसका नाम वैशम्पायन है। यह सभी शास्त्रों के मर्म का ज्ञाता है, राजनीति के प्रयोगों में अति कुशल है, पुराण और इतिहास की कथाओं को सुनाने में बड़ा ही निपुण है, संगीत की श्रुतियों का भी इसे ज्ञान है, अनेक काव्यों, नाटकों और आख्यानों की असंख्य सूक्तियाँ इसे कण्ठ

---

१. विहङ्गमादाय, विहङ्गमं शुकमादाय। २. गतं किञ्चित्, ३. नाटकाख्यायिकाख्यानक'''।

  

स्त्रयञ्च कर्त्ता, परिहासालापपेशलः, वीणा-वेणु[1]-मुरजप्रभृतीनां वाद्यविशेषाणामसमः श्रोता, नृत्य[2]प्रयोगदर्शननिपुणः, चित्रकर्म्मणि प्रवीणः, द्यूतव्यापारे प्रगल्भः, प्रणयक[3]लह-कुपित-कामिनी-प्रसादनोपायचतुरः, गज-तुरग-पुरुष-स्त्री-लक्षणाभिज्ञः, सकलभूतल-रत्नभूतोऽयं वैशम्पायनो नाम शुकः। सर्वरत्नानाञ्च[5] उदधिरिव देवो भाजनमिति कृत्वैनमादायास्मत्स्वामिदुहिता देवपादमूलमायाता, तदयमात्मीयः[6] क्रियता'मित्युक्त्वा नरपतेः पुरो निधाय पञ्जरमसावपससार[7]।

अपसृते च तस्मिन्[8] स विहङ्गराजो राजाभिमुखो भूत्वा समुन्नमय्य[9] दक्षिणं चरणमतिस्पष्ट-वर्ण[10]-स्वर-संस्कारया गिरा कृतजयशब्दो राजानमुद्दिश्यार्य्यामिमां पपाठ—

हासोऽन्येषां प्रियवचनैर्हसनं तस्य आलापेषु रसबोधकपदप्रयोगेषु पेशलः दक्षः। वीणा, वेणुः सुषिरम्, मुरजम् आनद्धम्, आदिपदाद्वादनं कांस्यतालादि परामृश्यते, एतेषाम् असमः निरुपमः अद्वितीय इत्यर्थः, श्रोता आकर्णनेन तारतम्यगुणदोषविवेचक इत्यर्थः नृत्तंताललयाश्रितं तस्य प्रयोगदर्शने प्रयुज्यमानस्य नृत्यस्यावलोकने निपुणः पेशलः अवलोकनेनोत्कृष्टापकृष्टनिर्वाचक इत्यर्थः।

चित्रकर्मणि आलेख्यकलायां प्रवीणो निपुणः। द्यूतव्यापारे दुरोदरव्यापारे प्रगल्भः कुशलः प्रतिभायुत इत्यर्थः। प्रणयकलहेन स्नेहविषयकविवादेन कुपितानां क्रोधं प्राप्तानां कामिनीनां प्रमदानां प्रसादनोपायेषु सान्त्वनानिमित्तभूतप्रपञ्चेषु चतुरोऽभिज्ञः। गजा भद्रजातीयाः तुरगाः शालिहोत्रप्रतिपादितदेवमण्यादयः, पुरुषा धीरोदात्तादयः, स्त्रियः पद्मिन्यादयः तासां लक्षणेषु सामुद्रिकोक्तेषु अभिज्ञो निपुणः। सकलभूतले समस्तपृथिवीतले रत्नभूतः अत्युत्कृष्टमणिः। अयं पुरोऽवलोक्यमानः वैशम्पायनो नाम वैशम्पायनेतिसंज्ञकः शुकः कीरः सर्वरत्नानां सर्वोत्कृष्टवस्तूनाम् उदधिः सागर इव देवो भवान् भाजनमाश्रयः इति कृत्वा एतन्मनसि विचार्य, अस्मत्स्वामिनो वक्ष्यमाणस्य पत्युः दुहिता एषा कन्यका एनं शुकम् आदाय गृहीत्वा देवपादमूलं भवच्चरणान्तिकम् आयाता आगता, तत् तस्मात् कारणात् अयं शुकः आत्मीयो ग्रहणेन स्वीयः क्रियतां विधीयताम् इति पूर्वोक्तम् उक्त्वा अभिधाय नरपतेः राज्ञः (शूद्रकस्य) पुरः अग्रे निधाय स्थापयित्वा पञ्जरं पक्षिरक्षणस्थानम्, असौ पुरुषः अपससार दूरीभूतवान्।

अपसृत इति। तस्मिन् पुरुषे अपसृते दूरीभूते सति स पूर्वप्रतिपादितो विहङ्गराजः पक्षिराजः राज्ञः शूद्रकनृपतेः अभिमुखः सम्मुखो भूत्वा, दक्षिणम् सव्येतरं चरणं पादम् उन्नमय्य उत्तोल्य। दृश्यते हि लोके ब्राह्मणा आशीर्वादप्रदाने दक्षिणहस्तोत्तोलनं कुर्वन्ति पूर्वमयञ्च पुण्डरीकनामा ब्राह्मण आसीदिति तत्संस्कारानुसारेण जयशब्दोच्चारणे दक्षिणचरणोत्तोलनं कृतवान् चरणपदोपादानन्तु एकस्यैव करचरणोभयरूपत्वं पक्षिणामिति नासङ्गतिः। अतिस्पष्टाः सुव्यक्ताः, वर्णा अक्षराणि स्वरा उदात्तादयः तेषां संस्कारः परिपाकः व्याकरणशुद्धिरितियावत् यस्यां सा तथा तया। एतेनान्यशुकाद्यपेक्षयाऽस्य वैलक्षण्यं प्रदर्शितम्। एवम्भूतया गिरा वाचा राजानमुद्दश्य नृपं निमित्तीकृत्य कृतजयशब्दः विहित 'जय' इति

हैं और यह उनकी रचना में भी प्रवीण है। यह कुशल विदूषक भी है, वीणा, वेणु और मुरज इत्यादि बाजों के सुनने का रसिक और नृत्य-प्रयोगों के देखने में अत्यन्त चाव रखनेवाला भी है। यह चित्र भी बनाना जानता है और जूआ खेलने में तो पटु ही है। प्रेम-व्यापार में रूठी हुई मानिनियों को मना कर प्रसन्न कर देने के उपायों का ऐसा पण्डित तो मिलना ही कठिन है। कहाँ तक इसकी विशेषताएँ निवेदन करूँ, यह हाथी, घोड़ों, पुरुषों और स्त्रियों के लक्षणों का भी अद्भुत पारखी है। सचमुच यह पृथ्वी का एक विशिष्ट रत्न है और श्रीमान ही समुद्र के समान सभी रत्नों के संग्रह करनेवाले एकमात्र उचित स्थान हैं इसीलिए मेरे स्वामी की यह पुत्री इसे लेकर आपके चरणों में आयी है। इसे अपनाने की कृपा करें।' यह कह कर उसने पिंजड़ा राजा के सामने रख दिया और स्वयं हट गया।

उसके हट जाने पर उस पक्षि-राज ने अपना मुँह राजा की ओर कर लिया, दाहिने पैर को उठा लिया, अत्यन्त स्पष्ट वर्णों और स्वरों में सुलझी हुई वाणी से 'जय' शब्द का उच्चारण किया और राजा को लक्ष्य करके यह आर्या छन्द सुनाया।

१. मुरजादीनाम्। २. नृत्त। ३. प्रणयकुपित। ४. कामिनीजन। ५. सर्वरत्नानामुदधिरिव। ६. आत्मायत्तः। ७. पञ्जरमपससार। ८. तस्मिन् विहङ्गमराजः। ९. उन्नमय्य। १०. वर्णसंस्कारया।

'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्त्ति हृदयशोकाग्नेः ।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ॥'

राजा तु तां[1] श्रुत्वा सञ्जात[2]-विस्मयः सहर्षमासन्नवर्त्तिनम् अतिमहार्घहेमासनोपविष्टम्[3] अमरगुरुमिवाशेषनीतिशास्त्रपारगम् अतिवयसम[4]ग्रजन्मानमखिलमन्त्रिमण्डलप्रधान[5]ममात्यं कुमारपालितनामानमब्रवीत्—

'श्रुता भवद्भिरस्य विहङ्गमस्य स्पष्टता वर्णोच्चारणे, स्वरे च मधुरता ! प्रथमं तावदिदमेव महदाश्चर्य्यम्[6], यदयमसङ्कीर्ण[7]वर्णप्रविभागामभिव्यक्तमात्रानुस्वार-स्वर-संस्कार-

---

शब्दः, इमाम् अग्रे प्रतिपाद्यमानाम्, आर्याम् आर्यासंज्ञकछन्दोबद्धं वाक्यम्, पपाठ पठितवान् -स्तनेति । अश्रुभिर्लोचनजलैः स्नातं कृतस्नानम्, हृदये चित्ते स्वपतिवियोगजनितः शोक एव अग्निर्वह्निः तस्य, समीपवर्ति अत्यन्तसन्निहितस्थायि तथा विगतः पतिविनाशात् दूरं गतः मुक्ताहारो मौलिकमाला यस्मात्तत् भवतस्तव रिपुस्त्रीणां शत्रुवनितानां स्तनयुगं कुचयुग्मं व्रतं नियमं चरतीव अनुतिष्ठतीव । अन्योऽपि यो व्रती स कालत्रये स्नाति होमाग्निसमीपस्थायी भवति शास्त्रविहितमुपवासञ्च करोति । अत्र विमुक्ताहारमिति सभङ्गश्लेषः । हृदयशोकाग्नेरिति निरङ्गं केवलरूपकम्, तथा वाच्याभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा चेति समुदिते संसृष्टिरलङ्कारः । आर्या चात्र छन्दः ।

राजेति । राजा तु नृपोऽपि तामार्यां गाथां श्रुत्वा निशम्य सञ्जातः समुत्पन्नो विस्मयः आश्चर्यं यस्य सः, सहर्षं सानन्दं यथास्यात्तथा आसन्नवर्तिनं निकटस्थायि, अतिमहार्घम् अतिबहुमूल्यं यत् हेमासनं सुवर्णपीठं तत्र उपविष्टं वर्त्तिनम्, अमरगुरुर्बृहस्पतिस्तमिव अशेषाणि समस्तानि यानि नीतिशास्त्राणि सांसारिकृत्यबोधकानि तन्त्राणि तेषां पारगं तत्त्वज्ञातारम् । अत्यधिकं वयः अवस्था यस्य तम्, वृद्धमित्यर्थः, अग्रजन्मानं ब्राह्मणम्, सर्ववर्णेषु प्रथमो ब्राह्मणः । अखिलमन्त्रिमण्डले समस्तसचिवसमुदाये प्रधानं मुख्यम् 'कुमारपालित' इति नाम यस्यैवम्भूतम् अमात्यं सचिवम् अब्रवीत् अवोचत् ।

श्रुतेति । भवद्भिर्युष्माभिः अस्य पुरो वर्त्तमानस्य विहङ्गमस्य शुकस्य वर्णोच्चारणे कादिवक्तव्यतायां स्पष्टता स्फुटता श्रुता आकर्णिता किमिति काका व्यज्यते, तथा च श्रुता किमित्यर्थः । तथा च पुनः स्वरे उदात्तादिस्वरविषये मधुरता माधुर्यम् । प्रथमं पूर्वं तावत् इदमेव प्रत्यक्षगतमेव महदाश्चर्यम् अतिकौतूहलम्, यदयं शुकः असङ्कीर्णः मिथो वैलक्षण्येन श्रूयमाणो वर्णप्रविभागः अक्षरपार्थक्यं यस्यां सा ताम् अभिव्यक्तः स्फुटमवगम्यमानः, मात्रा ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतरूपाः अनुस्वारा अनुनासिकाः, संस्कारो व्याकरणशुद्धिश्च एतेषां योगः सम्बन्धो यस्यां सा ताम् । विशेषेण श्लेषाद्यलङ्कारेण संयुक्तां सहिताम् । अतिपरिस्फुटानि अत्यन्तस्पष्टानि अक्षराणि वर्णा यस्यां ताम्, गिरं वाणीम् उदीरयति । यद्यपि 'असङ्कीर्णप्रविभागाम्' 'अतिस्फुटाक्षराम्' इत्यनर्थान्तरमिवाभाति तथापि पूर्वेण तालव्यशकारदन्त्यसकारादीनामुच्चारणभेद उच्यते उत्तरेण तु सर्वविधाक्षराणामेव स्फुटोच्चारणमुच्यत इति स्पष्टं भेदः ।

---

'आपकी शत्रु-स्त्रियों के स्तनों के जोड़े निरन्तर आँसुओं में स्नान करते हुए हृदय की शोकाग्नि के पास स्थित होकर हार रूपी आहार का परित्याग करके किसी साधना में लगे हुए से प्रतीत होते हैं ।'

राजा इस छन्द को सुनकर आश्चर्य-पूर्ण आनन्द में मग्न हो उठा और उसने पास ही में अत्यन्त बहुमूल्य सोने के आसन पर बैठे हुए देवगुरु बृहस्पति के समान समस्त नीति-शास्त्रों में दक्ष, वृद्ध ब्राह्मण प्रधानामात्य कुमारपालित से कहा—

आपने इस पक्षी के उच्चारण में वर्णों की स्पष्टता और स्वरों की मधुरता सुनी ? पहले तो यही महान् आश्चर्य है कि यह अपने कंठ से अलग-अलग व्यक्त होनेवाले वर्णों, मात्राओं और अनुस्वारों से मधुर स्वरों में सुलझी हुई व्याकरणसिद्ध तथा अलंकारादि विशेष गुणों से भरी-पूरी अत्यन्त स्पष्ट वाणी का उच्चारण कर रहा है । उस पर यह और भी आश्चर्य की बात है कि पक्षी होने पर भी इसके कृत कार्यों में शिष्ट

---

१. तामार्यां श्रुत्वा । २. जात''' । ३. महार्हासनोपविष्टम्, अतिमहार्हहेमासनोपविष्टम् । ४. अतिपरिणतवयसम् । ५. अखिलमन्त्रिमण्डले प्रधानम् । ६. महत्तरमाश्चर्य्यम्, महाश्चर्य्यम् । ७. असङ्कीर्ण । ८''' स्वरसंयोगविशेषयुक्ताम्, स्वरसंयोगाम् ।

योगां विशेषयुक्ताम् अति[1]परिस्फुटाक्षरां गिरमुदीरयति । तत्र पुनरपर[2]म् अभिमतविषये तिरश्चोऽपि मनुजस्येव संस्कारवती[3] बुद्धिपूर्वा प्रवृत्ति[4]: । तथाहि-अनेन[5] समुत्क्षिप्तदक्षिण-चरणेनोच्चार्य्य जयशब्दमियमार्य्या मामुद्दिश्य परिस्फुट[6]ाक्षरं गीता । प्रायेण हि पक्षिणः पशवश्च भयाहार-मैथुन-निद्रा-संज्ञा[7]मात्र-वेदिनो भवन्ति । इदन्तु महच्चित्रम् !'

इत्युक्तवति भूभुजि कुमारपालितः किञ्चित्स्मितवदनो[8] नृपमवादीत्—'देव[9] ! किमत्र चित्रम् । एते हि शुकशारिकाप्रभृतयो विहङ्ग[10]-विशेषा यथाश्रुतां[11] वाचमुच्चारयन्तीत्यधिगतमेव देवेन । तत्राप्य[12]न्यजन्मोपात्त-संस्कारानुबन्धेन वा पुरुषप्रयत्नेन वा संस्कारातिशय उपजायत इति नातिचित्रम् । अन्यच्च[13], एतेषामपि पुरा पुरुषाणामिवातिप[14]रिस्फुटाक्षरा

---

तत्रेति । तत्र उच्चारणविषये पुनः अपरमन्यदाश्चर्यमित्यर्थः । किं तदित्युपपादयति—अभिमतेति । अभिमतविषये उपादेयेऽर्थे तिरश्चोऽपि तिर्यग्जातेः पक्षिणोऽपि मनुजस्येव मानवस्येव संस्कारवती तत्त-दर्थविषयानुभवजन्यः संस्कारस्तद्वती बुद्धिपूर्वा बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिः कथनप्रवर्तनम् । एवं कथं ज्ञात-मित्युपपादयति । तथाहीत्यादिना । समुत्क्षिप्त उत्थापितः दक्षिणचरणः सव्येतरपादो येन स तेन अनेन शुकेन जयशब्दं जयजयेति पदम् उच्चार्य अभिधाय इयं पूर्वप्रतिपादितार्या मामुद्दिश्य मामभिलक्ष्य परिस्फुटानि स्पष्टानि अक्षराणि वर्णा यत्र तद्यथास्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्, गीता उच्चारिता । एवञ्च आशीर्वादसमये दक्षिणहस्तोत्तोलनं ब्राह्मणाः कुर्वते तथैवायमपि प्राक्तनवासनावशेन जयशब्दाभिधान-काले दक्षिणपादमुत्थापितवान्, तथा नृपतेः पूर्वं स्तुतिरेवार्याच्छन्दसाभिहितमिति सैषा बुद्धिपूर्वाप्रवृत्ति-रित्यतः परं किमाश्चर्यमित्याशयः । प्रायेणेति । प्रायेण बाहुल्येन पक्षिणः खगाः पशवो मृगाद्याः, भयम् अनिष्टकारणबोधः आहारो भोजनं क्षुन्निवृत्त्युपाय इति यावत्, मैथुनं स्त्रीसम्भोगः, निद्रा बाह्येन्द्रियशमः, संज्ञा लोकव्यवहारजनकसङ्केतः नाम वा एतन्मात्रवेदिनो भवन्ति एतत्केवलमेवावबुद्ध्यन्ते नातिरिक्तम्, इदन्तु तद्विलक्षणज्ञातृत्वं महच्चित्रम् अत्याश्चर्यम् ।

इत्युक्तेति । इत्युक्तवति इतिकथितवति भूभुजि नृपे कुमारपालितः एतन्नामकः पूर्वोक्तसचिवः किञ्चित्स्मितवदनः ईषद्धास्यमुखः अवादीत् अवोचत् । आश्चर्यशङ्कां निराकरोति—किमत्रेति । अत्र अस्मि-न्विषये किं चित्रमाश्चर्यम्, हि यतः एते शुकाः कीरपदवाच्या विख्याताः सारिकाः पीतचरणा एतत्प्रभृतय एतदाद्याः विहङ्गविशेषाः पक्षिविशेषा यथाश्रुताम् अर्थप्रतीतिरहितां वाचं वाणीम् उच्चारयन्ति उद्गिरन्ति, इति पूर्वोक्तं देवेन स्वामिना अधिगतमेव ज्ञातमेव । तत्रापि पूर्ववक्तव्यतायाम् अन्यजन्मनि जन्मान्तरे उपात्तस्य गृहीतस्य संस्कारस्य वासनाया अनुबन्धेन अस्मिन् जन्मनि अनुवृत्त्या वा अथवा पुरुष-प्रयत्नेन परिपालकजनपाठनाद्युद्योगेन वा संस्कारे शुकादीनां वासनायाम् अतिशयेन दार्ढ्यम् उपजायते

---

मनुष्य के समान बुद्धि-पूर्ण व्यवहार की प्रवृत्ति भी है । क्योंकि अभी इसने दाहिना पैर उठाकर जय-शब्द का उच्चारण किया है और मुझे लक्ष्य करके इस आर्या छन्द का स्पष्ट अक्षरों में गान भी किया है । पशु और पक्षी प्रायः भय आहार, निद्रा और मैथुन नाम की मूल वृत्तियों के विषय मात्र का ही ज्ञान रखते हैं, उन्हें इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता किन्तु इसे तो लोक के शिष्ट-व्यवहार का भी ज्ञान है । यह तो महान आश्चर्य की बात है ।

राजा के इस प्रकार कहने पर कुमारपालित ने कुछ मुस्कराते हुए कहा—देव ! इसमें आश्चर्य ही क्या है । यह तो श्रीमान को ज्ञात ही है कि पक्षियों में तोता मैना आदि बहुत से ऐसे विशेष पक्षी हैं जो सुनी हुई बातों को ठीक ठीक वैसे ही कह भी देते हैं । पूर्वजन्म के प्राप्त संस्कारों के प्रभाव अथवा इस जन्म में किसी व्यक्ति के उद्योग से यदि उनमें और भी विशेष संस्कार आ जायँ तो इसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं । इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में मनुष्यों के समान ही इन

---

१. यदयमति''', यदयमति परिस्फुटम् । २. पुनर्यदियम् । ३. संस्कारवतः । ४. वाक्प्रवृत्तिः । ५. एतेन । ६. स्फुटाक्षरम्, परिस्फुटाक्षराम् । ७. 'निद्रामात्र' इत्येव पाठः क्वापि विद्यते । ८. वदनोऽवादीत् । ९. 'देव' इति क्वचिन्नास्ति । १०. विहङ्गम । ११. यथाश्रुतं । १२. तत्राप्यन्नान्यजन्म । १३. अन्यत् । १४. अतिपरिस्फुटाभिधाना ।

वागासीत्, अग्निशापात्त्वस्फुटालापता शुकानामुपजाता, करिणाञ्च[2] जिह्वापरिवृत्तिः।'

इत्येवमुच्चारयत्येव तस्मिन्नशिशिरकिरणमम्बरतलस्य मध्यमारूढमावेदयन्[3], नाडिकाच्छेद-प्रहत-पटु-पटह-नादानुसारी मध्याह्न-शङ्खध्वनिरुदतिष्ठत्। तमाकर्ण्य च[4] समासन्नस्नानसमयो विसर्जितराजलोकः क्षितिपतिरास्थानमण्डपादुत्तस्थौ।

अथ चलति महीपतावन्योन्यमतिरभस-सञ्चलन-चालिताङ्गद-पत्रभङ्ग-मकरकोटि-

---

उत्पद्यते ताभ्यां कारणाभ्यां वाग्व्यापारयुक्ता जायन्त इत्याशयः। इति हेतोः नातिचित्रम् अस्यैवंविधोच्चारणं नातीवाश्चर्यम् अन्यच्च हेत्वन्तरञ्चास्ति एतेषामपि शुकादीनां पुरा पूर्वं पुरुषाणां परिपालकजनानामिव अतिपरिस्फुटानि अत्यन्तस्पष्टानि अभिधानानि नामानि यस्यामेवम्भूता वाग् वचनम् आसीत्, तु किन्तु अग्निशापात् अस्फुटः अस्पष्ट आलापो वाक्यं यत्र तस्य भावः तत्ता, शुकानाम् उपजाता। करिणां गजानां च जिह्वायाः रसनायाः परिवृत्तिः वैपरीत्येनावस्थितिः उपजातेति सम्बन्धः। भाग्यवशादयं शुकस्तच्छापमतिक्रम्य स्पष्टाक्षरमुच्चारयतीति नाश्चर्यमित्याशयः।

पुरा तारकासुरपीडिताः सुराः प्रजापतिशरणं प्राप्ताः। प्रजापतिस्तु 'अग्नेः पुत्रः कार्तिकेयो भविता स एव तमसुरं नाशयिष्यति अतोऽग्निं मार्गयित्वा तत्पुत्रं प्रार्थयन्तु' इत्युवाच। अग्निं गवेषयन्तः सुराः क्वापि तमलभमानाः महान्तं हस्तिनमेकमवलोक्य क्वाग्निर्विद्यत इति पप्रच्छुः। स च गजः 'अश्वत्थवृक्षेऽन्तर्हितोऽग्नि'रित्युक्तवान्। अथाग्निस्ततो निर्गत्य 'तव जिह्वापरिवृत्तिर्भवतु' इति शप्त्वा पुनः शमीगर्भे प्रच्छन्नः, तदा च सुरैः पृष्टः शुकः 'शमीमध्येऽन्तर्हितोऽग्नि'रित्युवाच। ततस्ततोऽप्यग्निर्निष्क्रम्य 'त्वं वाग्विहीनो भव' इति तं शशाप इति महाभारतीयात्र कथाऽवगन्तव्या।

इत्येवमिति। तस्मिन् प्रधानामात्ये कुमारपालिते एवं पूर्वोक्तप्रकारेण उच्चारयत्येव भाषयत्येव, अशिशिराणि उष्णानि किरणानि रश्मयो यस्य तं सूर्यमित्यर्थः, अम्बरतलस्य आकाशस्य मध्यं मध्यभागम् आरूढं प्राप्तम् आवेदयन् संसूचयन्, तथा नाडिका सभाभङ्गघटिका तस्याः छेदे समाप्तौ तत्समय इत्यर्थः, प्रहतः करतलादिना ताडितः यो विविधयन्त्रादिरित्यर्थः, यः पटुर्महान् पटहो दुन्दुभिस्तस्य नादः शब्दस्तमनुसर्त्तुमनुगन्तुं शीलमस्येति सः, मध्याह्नशङ्खध्वनिः मध्याह्नद्योतकजलजशब्दः उदतिष्ठत् उत्पन्नोऽभूत्। तं ध्वनिम् आकर्ण्य निशम्य, समासन्नः समीपवर्ती स्नानसमयः आप्लवनकालः यस्य सः, विसर्जितः निवर्त्तितः राजलोकः परिजनजनो येन सः, क्षितिपतिः शूद्रकः आस्थानमण्डपात् सभास्थानात् उत्तस्थौ उत्थितवान्।

अथेति। अथ उत्थानानन्तरं महीपतौ राजनि शूद्रके चलति सभाभवनात्प्रस्थातुमारभमाणे सति उत्तिष्ठताम् उत्थानं विदधतां महीपतीनां सामन्तनृपाणाम् अन्योऽन्यं परस्परम् अतिमहान् अतिबहुः सम्भ्रमः सम्मर्द आसीदिति सम्बन्धः। अत्र यानि षष्ठ्यन्तपदानि तानि महीपतिविशेषणानि। अतिरभसेन अतिवेगेन यत् सञ्चलनं प्रस्थानं तेन चलितानां स्वस्थानात्प्रच्युतानाम् अङ्गदानां केयूराणां पत्रभङ्गानां भूषणविशेषाणां मकराणां मकराकृतिकर्णभूषणानां कोटिभिः अग्रप्रदेशैः पाटिताश्छिन्ना अनेकपटाः

---

पशु-पक्षियों में भी वर्णों का अत्यन्त स्पष्ट उच्चारण करनेवाली वाणी विद्यमान थी। इन तोतों की वाणी से वर्णों के उच्चारण की स्पष्टता तो अग्निदेव के शाप से नष्ट हुई है और हाथियों की जीभ उलट कर कंठ की ओर घूम गयी है।

अभी कुमारपालित की बात चल ही रही थी कि मध्याकाश में तपते हुए सूर्यदेव के आ पहुँचने की सूचना देते हुए घड़ी की समाप्ति पर बजनेवाले नगाड़ों की ध्वनि के साथ ही दोपहर का शंख बज उठा। उसे सुनकर स्नान की बेला अति निकट जान सभी सामन्त राजाओं को बिदा करके राजा स्वयं सभा-मण्डप से उठ पड़ा।

इसके पश्चात् राजा के वहाँ से चलते ही अपने-अपने आसनों से उठ खड़े होनेवाले सामन्त राजाओं में खलबली सी मच गयी। अत्यन्त झटके से चलने के कारण उन राजाओं के केयूरों ( बाजूबन्दों ) में बनी हुई मछलियों की नोकों से बहुतों के कपड़े फट गए, आपस की धक्का-धुक्की से उनके गलों के हार झूलने से लगे,

---

१. अग्निशापादपरि'''। २. शारिकाणाञ्च। ३. मध्यमध्यारूढ। ४. चासन्न।

पाटितानेक[1]पटानाम्, आक्षेप-दोलायमान-[2]कण्ठदाम्नाम्, अंसस्थलोल्ल[3]सित-कुङ्कुम-पटवास-धूलि[4]पटल-पिञ्जरीकृत-दिशाम्, आलोल-माल[5]तीकुसुम-शेखरोत्पतदलिकदम्बकानाम्, अर्द्धावलम्बिभिः कर्णोत्पलैश्चुम्ब्यमानगण्डस्थलानाम्, गमन-प्रणाम[6]-लालसानाम्, अहमहमिकया वक्षःस्थलप्रेङ्खोलित-हारलतानाम्, उत्तिष्ठतामासीदतिमहान्[7] सम्भ्रमो महीपतीनाम्।

इतश्चेतश्च निष्पतन्तीनां स्कन्धावसक्त[8]-चामराणां चामरग्राहिणीनां कमलमधु-पान[9]-मत्त-जरत्कलहंस-नाद-ज[10]र्जरितेन पदे पदे रणितमणीनां मणिनूपुराणां निनादेन, वारविलासिनीजनस्य सञ्चरतो जघनस्थ[11]लास्फालनरसित-रत्नमा[12]लिकानां मेखलानां मनोहारिणा

---

गर्भसूत्रनिर्मितवसनानि येषां तेषाम्। आक्षेपेण परस्परशरीरसञ्चलनेन दोलायमानानि चञ्चलानि कण्ठदामानि कण्ठहारा येषां तेषाम्. अंसस्थलेभ्यः स्कन्धभागेभ्यः उल्लसितानि उत्थितानि यानि कुङ्कुमानि केसराणि पटवासः सुगन्धचूर्णविशेषः तयोर्धूलिपटलं परागसमुदायः तेन पिञ्जरीकृताः पीतरक्तीकृता दिश आशाः यैस्तेषाम्, आ समन्तात् लोलाश्चञ्चलाः ये मालतीकुसुमानां जातीपुष्पाणां शेखराः शिरोभूषणानि तदुपरि उत्पतन्त उड्डयमानाः अलिकदम्बा भ्रमरयूथा येषां तेषाम्, अर्धावलम्बिभिः अर्धप्रदेशलग्नैः कर्णोत्पलैः श्रवणस्थितकमलैः चुम्ब्यमानानि मस्तकनमनात् स्पृश्यमानानि गण्डस्थलानि कपोलपरभागाः येषां तेषाम्, गमने राज्ञः प्रस्थाने प्रणामाय नमस्काराय लालसानाम् अतिस्पृहाणाम् 'अहं पूर्वमहं पूर्वम्' इत्यहमहमिका तया, 'अहमहमिका तु सा स्यात् यः परस्परं भवत्यहङ्कारः' इत्यमरः। वक्षःस्थले भुजान्तरे प्रेङ्खोलिता आन्दोलिता हारलता मुक्ताफलमाला येषां तेषाम्। अन्वयस्तूक्त एव।

इतश्चेतश्चेति। तत् आस्थानभवनं राज्ञः सभामण्डपं सर्वतः परितः तदा तस्मिन् काले क्षुभितमिव क्षोभमुपगतमिव अभवदभूदिति वक्ष्यमाणक्रियया सम्बन्धः। अत्र च तृतीयान्तं पदं क्षुभितमित्यस्य करणम्, षष्ठ्यन्तञ्च तत्तत्करणज्ञापकम्। इतश्चेतः संमर्दवशात्सर्वासु दिशासु निष्पतन्तीनां स्खलन्तीनाम्, स्कन्धेषु अंसस्थलेषु अवसक्तानि न्यस्तानि चामराणि बालव्यजनानि यासां तासां चामरग्राहिणीनां योषिताम्, कमलमधुपानेन पद्मरसास्वादेन मत्ताः क्षीबा ये जरन्तो वृद्धाः कलहंसाः कादम्बास्तेषां नादः कण्ठध्वनिस्तद्वत् जर्जरितेन सम्भिन्नेन पृथक् पृथक् श्रूयमाणेनेत्यर्थः। लुप्तोपमा। पदे पदे प्रतिपदं रणिताः शब्दायमाना मणयो वैडूर्यादयो येषु तथाविधानां मणिनूपुराणां पादकटकानां निनादेन तदुत्पन्नशब्देन 'शब्दे निनादनिनद' इत्यमरः।

वारेति। सञ्चरतो गच्छतः वारविलासिनीजनस्य गणिकाजनस्य 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः, जघनस्थलानां कटिपुरोभागानाम् आस्फालनेन नितान्तसञ्चालनेन रसिता शब्दिता रत्नमालिका मणिमाला यासामेवंविधानां मेखलानां काञ्चीनां मनोहारिणा चित्ताकर्षणेन झङ्कारेण झन झनशब्देन।

---

उनके कंधों से उड़ती हुई केशर और सुगन्धित चूर्णों की धूल से सभी दिशाएँ पीली-पीली सी हो उठीं, उनके मस्तकों पर चमेली के फूलों से बने हिलते हुए मुकुटों से भौंरों के झुण्ड बिखरने लगे, उनके कानों में आधे लटके हुए कमल हिलने के कारण उनके कपोलों को चूमने से लगे तथा प्रस्थानकालीन प्रणाम की आपसी लाग-डाँट के कारण उनके वक्षस्थलों के हार अस्त-व्यस्त से हो उठे।

उस समय वह सभा-भवन तरह-तरह की होनेवाली ध्वनियों से व्याकुल सा हो उठा—कहीं कंधे पर चँवर लिए चँवर डुलानेवाली स्त्रियाँ इधर-उधर फुदक रहीं थीं जिससे पग-पग पर उनके मणिनूपुरों की मणियाँ कमल रस पीकर मतवाले वृद्ध हंसों के मधुर कलरव के समान झनझना रही थीं, कहीं चलती हुई वेश्याओं के जघन-स्थलों पर टकरा-टकरा कर उनकी करधनियों को रत्नावलियाँ मनोहर झंकार कर रहीं थीं,

---

१. पाटितांशुकपटानाम्, पाटितांशुकानाम्। २. मालतीकण्ठदाम्नाम्। ३. स्थलोल्लासित। ४. धूलिपटलपिञ्जरितदिशाम्, धूलिपिञ्जरितदिशाम्। ५. मालतीपुष्प। ६. प्रसरणसदालालसानाम्। ७. आसीत सम्भ्रमः, अतिमहान् सरभः। ८. स्कन्धदेशावसक्त...। ९. ...मदमत्त...। १०. जर्जरेण। ११. जघनस्थल-स्थलास्फालन...। १२. मणिमेखलानां।

झङ्कारेण, नूपुररवाकृष्टानाञ्च धवलितास्थानमण्डप-सोपानफलकानां भवनदीर्घिकाकलहंसकानां कोलाहलेन, रशनारसितोत्सुकानाञ्च[1] तारतर-विराविणामुल्लिख्यमान-[2]कांस्य-केङ्कार-दीर्घेण गृहसारसानां कूजितेन, सरभसप्रचलित-सामन्तशतचरणतलाभिहतस्य चास्थान-मण्डपस्य निर्घोषग[3]म्भीरेण कम्पयतेव वसुमतीं ध्वनिना[4], प्रतीहारिणाञ्च[5] पुरः ससम्भ्रम-मुत्सारितजनानां दण्डिनां समारब्धहेलमुच्चैरुच्चार[6]यतामालोकयतालोकयतेति तारतर[7]-दीर्घेण भवनप्रासाद-कुञ्जेषूच्चरित-प्रतिशब्द[8]तया दीर्घत[9]रतामुपगतेनालोकशब्देन, राज्ञाञ्च ससम्भ्र-मावर्जित-मौलि-लोल-चूडामणीनां प्रणमताममल-मणिशलाकादन्तुराभिः किरीट-कोटि-

---

नूपुरेति। नूपुररवैः पादकटकशब्दैः आकृष्टानां तत्र प्रापितानाम् धवलितानि निजनिजदेहप्रभाभिः श्वेतवर्णीकृतानि आस्थानमण्डपस्य सभाभवनस्य सोपानफलकानि आरोहणावलयो यैस्तेषां, भवन-दीर्घिकाकलहंसकानां गृहवापीस्थकादम्बानां कोलाहलेन अव्यक्तशब्देन।

रशनेति। रशनानां कटिमेखलानां रसितैः शब्दितैः उत्सुकानाम् उत्कण्ठितानाम्, तारतरः अत्युच्चै-स्तरः विरावः शब्दोऽस्ति येषां तेषाम्, उल्लिख्यमानस्य घर्षणं प्राप्तस्य कांस्यस्य विद्युत्प्रियस्य तैजस-विशेषस्येति यावत्, केङ्कारः 'कें' 'कें' इत्यस्फुटध्वनिस्तद्वत् दीर्घेण विस्तृतेन, गृहसारसानां सदनस्थ-लक्ष्मणपक्षिणां कूजितेन अस्पष्टशब्दितेन, 'कूजितं स्याद्विहङ्गानाम्' इत्यमरः। इह 'केङ्कारदीर्घेण' इत्यत्र लुप्तोपमा।

सरभसेति। सरभसं सवेगं प्रचलिताः गन्तुमुद्यता ये सामन्ता अधिकृतराजानस्तेषां शतं तस्य चरणतलैः पादतलैः अभिहतस्य ताडितस्य आस्थानमण्डपस्य सभाभवनस्य निर्घोषोऽव्यक्तशब्दस्तद्वत् गम्भीरेण पुष्टशब्देन तदुत्थध्वनिनेत्यर्थः, वसुमतीं मेदिनीं कम्पयतेव क्षोभं जनयतेव। इह 'निर्घोषगम्भी-रेण' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'कम्पयतेव' इत्यत्र वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा चानयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

प्रतीहारीति। दण्डोऽस्त्येषां ते दण्डिनस्तेषां यष्टिग्राहिणामित्यर्थः, पुरो नृपाग्रतः ससम्भ्रमं शीघ्रं समुत्सारिता दूरीकृता जना मनुष्या यैस्तेषाम्, समारब्धा प्रवर्तिता हेला क्रीडा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा 'आलोकयत पृथ्वीपतिरयं गच्छतीति पश्यत' इत्युच्चैः उच्चारयताम् अभिभाषमाणानां, मार्गाव-रोधिजनसावधानतानिमित्तमुच्चस्वरेण भाषणमित्याशयः। प्रतीहारिणां द्वारपालकानाञ्च तारतरः शिरः-समुत्पन्नध्वनिस्तेन दीर्घेण अतिविस्तृतेन, भवनस्य साधारणगृहस्य प्रासादानां देवसद्मनां राजसद्मनाञ्च कुञ्जेषु लताद्यन्तरितस्थानेषु उच्चरित उत्थितः प्रतिशब्दो यस्य तस्य भावस्तया दीर्घतरताम् अत्यन्त-विस्तृतत्वम् उपगतेन प्राप्तेन, आलोकशब्देन जयकारनादेन।

राज्ञाञ्चेति। ससम्भ्रमं शीघ्रम् आवर्जितेषु नमस्कारायावनमितेषु मौलिषु शिरस्सु लोलाः शिरः-कम्पनेन चञ्चलाः चूडामणयः शिरोरत्नानि येषां तेषाम्, प्रणमतां शूद्रकाय नतिं विदधतां राज्ञाञ्च अमला निर्मला या मणिशलाका रत्नेषीकास्ताभिः दन्तुरा विषमास्ताभिः किरीटकोटिभिः मुकुटाग्रदेशैः उल्लिख्य-मानस्य घर्षणं कुर्वतो मणिकुट्टिमस्य रत्नमयबद्धभूमेः निःस्वनेन ध्वनिना।

---

कहीं घर की बावलियों में पले हुए हंस नुपुरों की झंकारों से अत्यन्त उत्सुक हो सभा-मण्डप की सीढ़ियों तक आकर अपनी उज्ज्वलता से उनकी फर्श को उज्ज्वल बनाते हुए कोलाहल कर रहे थे, कहीं घरों में पले हुए सारस करधनियों की मधुर ध्वनियों से चकित हो होकर उच्च स्वर से कें कें मचाये हुए थे मानों कोई कसेरा फूल के बर्तनों को खराद पर चढ़ाये हो, कहीं झटके से चलनेवाले सैकड़ों सामन्तों के पैरों की धमक से सभा-मण्डप की भूमि कँपा देनेवाली वज्र जैसी गम्भीर ध्वनि हो रही थी, कहीं दण्ड-धारी द्वारपाल अपने-अपने राजाओं के सामने से लोगों को बड़े सम्मान के साथ हटाते तथा खिलवाड़ सा करते हुए अत्यन्त ऊँचे स्वर से 'देखिए'-'देखिए' का शब्द कर रहे थे, जिससे राजमहलों की कुंजों से उठनेवाली उनकी अत्यन्त तीखी प्रतिध्वनियों द्वारा चारों ओर फैली हुई 'देखिए'-'देखिए' की ही अत्यन्त तीव्र ध्वनि सुनायी पड़ रही

---

१. उत्सुकितानाञ्च। २. ···काञ्ची। ३. निर्घातगम्भीरेण, निर्घातनिर्घोषगम्भीरेण। ४. क्वचित् 'ध्वनिना' इति पाठो न विद्यते। ५. प्रतीहाराणां, ससम्भ्रमजनानां,···जानपदानां। ६. उच्चैरुच्चरतामालोकयन्त्विति ७. तारदीर्घेण। ८. प्रतिच्छन्दतया। ९. दीर्घताम्, दीर्घतरयाताम्।

भिरुल्लिख्यमानस्य मणिकुट्टिमस्य निःस्वनेन,[1] प्रणामपर्य्यस्तानामतिकठिनमणिकुट्टिम-निपतनै[2]रणरणायितानाञ्च मणिकर्णपूराणां निनादेन, मङ्गलपाठकानाञ्च पुरोयायिनां जय-[3]जीवेति मङ्गल[4]मधुरवचनानुयातेन पठतां दिगन्त[5]व्यापिना कलकलेन, प्रचलित-जनचरणशत-संक्षोभ-भ[6]यादपहाय कुसुमप्रकरमुत्पततताञ्च मधुलिहां हुङ्कृतेन, संक्षोभादतित्वरितपद[7]प्रवृत्तै-रवनिपतिभिः केयूरकोटिताडितानां क्वणित-मुखर-रत्नदाम्नाञ्च मणिस्तम्भानां रणितेन सर्वतः क्षुभितमिव तदास्थानभवनमभवत् ।

अथ विसर्जितराजलोको 'विश्रम्यता'मिति स्वयमेवाभिधाय तां चाण्डा[8]ल-कन्यकाम्, 'वैशम्पायनः प्रवेश्यतामभ्यन्त[9]रम्' इति ताम्बूलक[10]रङ्कवाहिनीमादिश्य कतिपयाप्तराजपुत्र-परिवृतो नरपतिरभ्यन्तरं प्राविशत् ।

---

प्रणामेति । प्रणामे नतिसमये पर्यस्तानां स्खलितानाम्, अतिकठिने अतिकर्कशे मणिकुट्टिमे रत्नमयबद्धभूमौ निपतनेन पातेन रणरणायितानां 'रण-रण' इति ध्वनिं विदधतां मणिकर्णपूराणां तेषां राज्ञामेव रत्नकर्णभूषणानां निनादेन निःस्वनेन । मङ्गलेति । पुरोयायिनाम् अग्रेगामिनां पठतां यशोगानमुच्चारयतां मङ्गलपाठकानां बन्दिनाञ्च जयजीवेति यन्मङ्गलमधुरवचनं तमनुलक्षीकृत्य यातेन प्रवृत्तेन, दिगन्तव्यापिना सर्वतः प्रसारिणा कलकलेन कोलाहलेन । प्रचलितेति । प्रचलितानां गन्तुं प्रवृत्तानां जनानां मानवानां चरणशतस्य अनेकनरपादानामित्यर्थः, संक्षोभभयात् प्रहारभीतेः कुसुमप्रकरं पुष्पसमुदायं विहाय त्यक्त्वा उत्पतताम् उड्डयमानानां मधुलिहां भ्रमराणां हुंकृतेन हुंकारशब्देन । संक्षोभादिति । संक्षोभात् चक्रवर्त्तिनः प्रणामाय मनोवेगवशात् अतित्वरितपदेषु अत्यन्तशीघ्रचरणनिक्षेपेषु, प्रवृत्तैः प्रचलितैः अवनिपतिभिः भूपतिभिः ( कर्त्तृभिः ) केयूराणाम् अङ्गदानां कोटयः अग्रभागास्तैः ( करणैः ) ताडितानाम् आहतानाम्, क्वणितेन तत्ताडनोत्थशब्देन मुखराणि वाचालानि रत्नदामानि मणिरचितवेष्टनशृङ्खला येषु तेषां मणिस्तम्भानां रत्नमयस्थूणानां रणितेन क्वणितेन च, तदास्थानभवनं नृपोपवेशनमण्डपं सर्वतः परितः क्षुभितं क्षोभमुपगतमिव अभवत् अभूत् ।

अथेति । अथ अनन्तरम्, 'अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले । विकल्पानन्तरप्रश्नकार्त्स्न्यारम्भसमुच्चये ॥' इति मेदिनी । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ ।' इति चामरः । विसर्जिता मधुरशब्देन सम्भाष्य विसृष्टा राजलोका नृपतयो येन स तादृशो नरपतिः शूद्रकः, स्वयमेव आत्मनैव तां चण्डाल-कन्यकां विश्रम्यतां विश्रामं ग्राह्यताम् इत्यभिधाय इत्युक्त्वा, वैशम्पायनः स शुकः अभ्यन्तरं भवनमध्यं प्रवेश्यतां नीयतामिति ताम्बूलकरङ्कवाहिनीं पर्णवीटिकाधारिणीं स्त्रियम् आदिश्य आज्ञाप्य, कतिपयैः

---

थी, कहीं प्रणाम करने में झटके के साथ मस्तक झुकाये हुए चंचल चूड़ामणियों वाले सामन्त राजाओं के; निर्मल तथा मणि-शलाकाओं से ऊँचे-नीचे मुकुटों के किनारों की टक्करों से मणियों की गच खनक रही थी, कहीं प्रणाम करने के समय पर इधर-उधर लटके हुए मणियों के कर्णफूल मणि से पिटी हुई कठोर गच पर टकरा-टकराकर झनझना रहे थे, कहीं 'महाराज की जय हो, महाराज चिरञ्जीवी बनें, का मधुर स्वर से मंगल-पाठ करते हुए आगे-आगे चलनेवाले चारणों की कल-कल सभी दिशाओं को भरती हुई गूँज रही थी, कहीं आते जाते सैकड़ों मनुष्यों के पैरों द्वारा कुचल उठने के भय से फूलों को छोड़कर इधर-उधर बिखर जानेवाले भौंरों की हुंकार हो रही थी और कहीं आकुल होकर अत्यन्त शीघ्रता के साथ चलनेवाले राजाओं के केयूरों की कोरों की चपेट से मणिखंभों में लटकती हुइ रत्नों की लड़ियाँ झनझनाती हुई उनसे बार-बार टकरा उठती थीं जिससे वे मणिओं के खंभे भी झनक रहे थे ।

सभी सामन्तों को बिदा करने के पश्चात् राजा ने स्वयं उस चांडाल-कन्या से विश्राम करने के लिए कहा और अपनी तांबूल-करंकवाहिनी ( पान का डब्बा लेकर राजा के साथ-साथ रहनेवाली दासी ) को आदेश

---

१. स्वनेन । २. निपतित…। ३. जय जयेति । ४. मधुरवचनानुपातेन मधुरवचनानुयातेन । ५. दिगन्तर…। ६. संक्षोभाद्विहाय । ७. त्वरितपदं प्रवृत्तैः, त्वरितपदं प्रसृतैः । ८. चण्डाल…। ९. अभ्यन्तरं स्नानपानाशनादिना च सुखिनमेनं कारयेति, अभ्यन्तरमशनादिना चोपचर्य्यताम् । १०. करण्ड,

अपनीताभरणश्च[1] दिवसकर इव विगलितकिरणजालः चन्द्रतारकाशून्य इव गगनाभोगः समुपाहृत-समुचित-व्यायामोपकरणां व्यायामभूमिमयासीत्।

स तस्याञ्च समानवयोभिः सह राजपुत्रैः कृतमधुरव्यायामः, श्रमवशादुन्मिषन्तीभिः कपोलयोरीषदवदलित[2]-सिन्दुबार-कुसुम-मञ्जरी-विभ्रमाभिः, उरसि निर्दयश्रम[3]-च्छिन्न-हार-विगलित-मुक्ताफल-प्रकरानुकारिणीभिः, ललाटपट्टकेऽष्टमी-चन्द्र-शकल-तलोल्लसदमृतबिन्दु-विडम्बिनीभिः स्वेदजल-कणिकासन्ततिभिरलङ्क्रियमाणमूर्त्तिः, इतस्ततः स्नानोपकरण-

कियद्भिरल्पसङ्ख्यकैरित्यर्थः, आप्तैः विश्वस्तैः राजपुत्रैः नृपसुतैः परिवृतः परिवेष्टितः सन् अभ्यन्तरं गृह-मध्यं प्राविशत् प्रवेशं कृतवान्।

अपनीतेति। अपनीतानि शरीरात् पृथक्कृतानि आभरणानि भूषणानि येन सः, अत एव विगलितानि सायङ्काले विच्युतानि किरणजालानि रश्मिसमूहाः यस्य स दिवसकरः सूर्य इव स्वतःप्रभावित्वादित्याशयः। तथा चन्द्रो निशापतिः तारका नक्षत्राणि तेषां समूहः समुदायस्तेन शून्यो रहितः, गगनाभोग इव आकाशविस्तर इव विस्तृतगगनवद् विशालशरीरत्वादित्याशयः। समुपाहृतानि भृत्यैरेकत्रीकृतानि समुचितानि योग्यानि व्यायामे परिश्रमे उपकरणानि उपयोगिलौहमुद्गरादिद्रव्याणि यस्यां सा ताम्, व्यायामभूमिं परिश्रमविधानयोग्यपृथ्वीम् अयासीत् अगच्छत्। इह 'दिवसकर इव' 'गगनाभोग इव' इत्युभयत्रोपमालङ्कारयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। आधुनिका राजपुत्रास्तु केवलं स्वेच्छया विहरन्तः प्रचुरतरमशनं विधाय स्थूलदेहाः सन्तोऽहर्निशं निद्रयैव कालं यापयन्ति परन्त्वयं राजा तादृशो नेति स्पष्टं वर्णनया प्रतीयते।

स इति। तस्यां व्यायामभूमौ समानं तुल्यं वयः कौमारादिर्येषां तैः राजपुत्रैः राजसुतैः सह कृतो विहितो मधुरः सुदृश्यो व्यायामः परिश्रमो येन स राजा स्नानभूमिमगच्छदित्युत्तरेण सम्बन्धः। अत्र स्वेदजलकणिकासन्ततिभिरिति पदम्, अलङ्क्रियमाणमूर्त्तिरिति राजविशेषणस्य कर्त्तृ, एतद्भिन्नानि तृतीयान्तपदानि च तस्योपमानवाचकानीति वेदितव्यम्। श्रमवशात् व्यायामवशात् कपोलयोः गल्लात्परभागयोः उन्मिषन्तीभिः प्रकटं भवन्तीभिः, ईषत्किञ्चित् अवदलितं मर्दितं यत् सिन्दुवारस्य निर्गुण्ड्याः कुसुमं पुष्पं तस्य मञ्जरी वल्लरी तस्या इव विभ्रमो विलासो यासां ताभिः। उरसि वक्षःस्थले निर्दयश्रमेण क्लिष्टप्रयासेन अन्यैः कर्तुमशक्यव्यायामेनेति तात्पर्यम्, छिन्नः छेदमुपगतः यो हारो मुक्तामाला तस्माद् विगलितानां विच्युतानां मुक्ताफलानां मौक्तिकानां प्रकरं समुदायम् अनुकर्त्तुं शीलं यासां ताभिः। ललाटपट्टके भालस्थले अष्टमीचन्द्र अष्टमीतिथिसमुदितः सुधांशुरेव शकलं खण्डं तस्य तले उत्तानस्थले उल्लसन्तो द्योतयन्तो ये अमृतबिन्दवः पीयूषकणाः तान् विडम्बयितुम् अनुकर्त्तुं शीलं यासां ताभिः। अष्टमीपदप्रयोगो हि अष्टमीतिथिसमुदितचन्द्राकार इवास्य ललाट इति व्यञ्जयितुम्। स्वेदजलस्य व्यायामजनितशरीरजलस्य कणिकाः सूक्ष्मबिन्दवः तेषां सन्ततयः श्रेणयः ताभिः तथोक्ताभिः अलङ्क्रियमाणा भूष्यमाणा मूर्त्तिः शरीरं यस्य स तथोक्तः। इह······'कुसुममञ्जरीविभ्रमाभिः' इत्यत्र लुप्तोपमा।··· 'मुक्ताफलप्रकरानुकारिणीभिः' इत्यत्र······'अमृतबिन्दुबिडम्बिनीभिः' इत्यत्र चार्थोपमा बोध्या।

इतस्तत इति। इतस्ततः समन्तात् स्नानम् आप्लवस्तस्य उपकरणानां जलादीनां सम्पादने,

दिया कि वैशम्पायन को रनिवास में ले जाओ! फिर कुछ विश्वस्त राजकुमारों के साथ वह स्वयं भी महल के भीतरी भाग में चला गया।

वहाँ अपने समस्त आभूषणों को उतार कर राजा व्यायाम के सभी समुचित साधनों से सजी हुई व्यायामशाला में पहुँचा। आभूषणों के उतर जाने पर उसका शरीर किरणों से रहित सूर्य तथा चन्द्रमा और तारों से रहित विशाल आकाश के समान प्रतीत हो रहा था।

उसने अपनी ही अवस्थावाले राजकुमारों के साथ वहाँ थोड़ा सा व्यायाम किया। परिश्रम के कारण उसका सारा शरीर पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूँदों की लड़ियों से तर हो गया। उसके कपोलों पर उगी हुई पसीनों की लड़ियाँ उनपर रची गयीं कुछ-कुछ मसली हुई सिंदुवार (निर्गुण्डी) के फूलों की मंजरियों का

१. अपनीताशेषभूषणश्च। २. ···अवगलित-सितसिन्धुवार···। ३. ···रतिश्रम, रतिविभ्रम···।

सम्पादनसत्वरेण पुरःप्रधावता[1] परिजनेन[2] तत्कालं विरलजनेऽपि[3] राजकुले समुत्सारणाधिकारमुचितमाचरद्भिः[4] दण्डिभिरुपदिश्यमानमार्गः, वितत-सितवितानाम्, अनेक-चारणगण-निबध्यमानमण्डलाम्[5], गन्धोदक-पूर्ण-कनकमय-द्रोणी[6]-सनाथमध्याम्[7], उपस्थापित-स्फाटिक-स्नानपीठाम्, एकान्तनिहितैरतिसुरभि-गन्ध-सलिलपूर्णैः परिमलावकृष्ट-मधुकर-कुलान्धकारितमुखैरातपभयान्नीलकर्पटावगुण्ठितमुखैरिव स्नानकलसै[8]रुपशोभितां स्नानभूमिमगच्छत् ।

अवतीर्णस्य च[9] जलद्रोणीं वारविलासिनी-कर-मृदित-सुगन्धामलकलिप्त[10]शिरसो राज्ञः

---

निष्पादने सत्वरेण त्वरायुतेन, अत एव पुरःप्रधावता अग्रतः शीघ्रं व्रजता परिजनेन सेवकपुरुषेण, एतच्च 'उपदिश्यमाना' इत्यस्य कर्तृ । तथा तत्कालं तस्मिन् मध्याह्नकाल इत्यर्थः; विरलजनेऽपि स्वल्पलोकेऽपि तत्र समुत्सारणस्य प्रयोजनाभावेऽपीत्याशयः, राजकुले राजगृहे उचितं योग्यं समुत्सारणं लोकसम्मर्दनिवारणं तत्र यः अधिकारो नियोगः तम् आचरद्भिः सम्पादयद्भिः दण्डिभिः यष्टिधारिपुरुषैः, उपदिश्यमानः प्रदर्श्यमानः मार्गः स्नानभूमिगमनाध्वा यस्य स तादृशः एतच्च राजविशेषणं बोध्यम् ।

विततेति । अत्र द्वितीयान्तपदानि स्नानभूमेर्विशेषणानि । विततम् ऊर्ध्वं विस्तीर्णं सितं श्वेतं वितानम् उल्लोचः चन्द्रातप इति यावत् यस्यां ताम् । अनेके अगणिता ये चारणगणाः कुशीलवाः स्तुतिपाठकाः तैः निबध्यमानं निर्मीयमाणं मण्डलं मण्डलाकारेणावस्थितिः यस्यां तां तादृशीम् । गन्धोदकैः सुरभि-जलैः पूर्णा भृता या कनकमयी सुवर्णरचिता द्रोणी जलकुण्डिका बृहज्जलपात्रविशेष इति तात्पर्यम्, तया सनाथो युक्तः मध्यो मध्यभागो यस्याः ताम् । उपस्थापितं न्यस्तं स्फाटिकं स्फटिकमणिरचितं स्नानपीठम् आप्लवनचतुष्किका यस्यां सा तां तादृशीम् । एकान्ते स्नानभूमेरेकस्मिन् प्रदेशे विहितैः न्यस्तैः । इतस्तृतीयान्तानि सकलानि स्नानकलसैरित्यस्य विशेषणानि । अति अतिशयेन सुरभिः घ्राणतृप्तिजनको गन्धो येषां तादृशैः सलिलैः जलैः पूर्णा भृतास्तैस्तथोक्तैः, अत एव परिमलेन सलिलगन्धेन अवकृष्टा आकृष्टा ये मधुकरा मधुपाः तेषां कुलानि समूहाः तैः अन्धकारितानि अन्धकारीकृतानि मुखानि वदनानि येषां तैः, अत एव आतपभयात् सूर्यकिरणसन्तापत्रासात् नीलकर्पटैः श्यामवर्णवस्त्रखण्डैः अवगुण्ठितानि आच्छादितानि मुखानि येषां तैस्तथोक्तैरिव विद्यमानैः । स्नानकलसैः आप्लवकुम्भैः उपशोभितां विराजितां स्नानभूमिम् आप्लवस्थानम् अगच्छत् अयासीत् । इह च भावाभिमानिनी वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा ।

अवतीर्णेति । जलद्रोणीं जलकुण्डिकाम् अवतीर्णस्य तन्मध्ये प्रविष्टस्य, वारविलासिनीभिः वेश्याभिः करैः हस्तैः 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः, मृदितेन मृष्टेन सुगन्धेन सुरभिणा आमलकेन धात्री-

---

श्रम उत्पन्न कर रही थीं, छाती पर दिखाई पड़नेवाला बूँदें कठोर परिश्रम से टूटे हुए हार के बिखरे हुए मोतियों के दानों जैसी प्रतीत हो रही थीं और ललाट के तल पर उभरे हुए श्रम-विन्दु अष्टमी के खण्ड चन्द्र-तल पर सुशोभित अमृत-बिन्दुओं को भी मात कर रहे थे। फिर वह स्नान की सामग्री जुटाने की हड़बड़ी में इधर उधर आगे-आगे दौड़-धूप करते हुए सेवकों तथा उस समय राजमहल के भीड़-भाड़ रहित होने पर भी लोगों के हटाने के नियम का भली-भाँति पालन करनेवाले दण्डधारियों के द्वारा बताए हुए मार्ग से स्नानागार में पहुँचा। वहाँ श्वेत चँदवा तना हुआ था, चारणों की टोलियाँ मण्डल-बाँधे खड़ी थीं, बीच में सुगन्धित जल से भरी हुई द्रोणी ( जलकुंडिका. छोटा सा जल का कुंड ) बनी थी, उसके समीप ही स्नान के समय बैठने के लिए बिल्लौरी पीढ़ा रखा हुआ था जिसके एक किनारे अत्यन्त सुगन्धित जल से भरे हुए स्नान करने के कलशे रखे हुए थे, जिनके मुँह सुगन्ध के कारण आए हुए भौंरों से घिर कर काले पड़ गये थे मानो जल के गरम हो जाने के भय से उन पर काले कपड़े लपेट दिये गये हों।

जब राजा जल की कुंडिका में उतर गया तो बारबनिताओं ने अपने हाथों से मल-मल कर उसके सिर पर सुगन्धित आमलों का लेप किया। फिर उनमें से बहुत सी राजा के अगल-बगल खड़ी हो गयीं।

---

१. प्रधाविना । २. परिजनेनानुगम्यमानः । ३. विरलतरेऽपि । ४. समाचरद्भिः । ५. आवध्यमानमण्डलाम् । ६. जलद्रोणी । ७. अभिसुरभि । ८. कलशैः । ९. क्वचित् चकारो न विद्यते । १०. उपलिप्त ।

समन्तात्[1] समुपेतस्थु[2]रंशुक-[3]निविड-निबद्ध-स्तनपरिकराः, दूरसमुत्सारित-वलय-बाहुलताः, समुत्क्षिप्त[4]कर्णाभरणाः कर्णोत्सङ्गोत्सारितालकाः, गृहीतजल-कलसाः स्नानार्थमभिषेकदेवता इव वारयोषितः।

ताभिश्च समुन्नत-कुचकुम्भ-मण्डलाभिर्वारिमध्यप्रविष्टः करिणीभिरिव वनकरी परिवृतस्तत्क्षणं रराज राजा।

[5]द्रोणीसलिलादुत्थाय च स्नानपीठममलस्फटिक-धवलं वरुण इव राजहंसमारुरोह।

ततस्ताः काञ्चि[6]न्मरकतमणि-क[7]लस-प्रभाश्यामायमाना नलिन्य इव मूर्त्तिमत्यः पत्रपुटैः,

---

फलेन लिप्तं शिरो मस्तकं यस्य तस्य, राज्ञः शूद्रकस्य समन्तात् परितः। अंशुकैः निजनिजपरिहितवस्त्रैः निविडं दृढं यथा स्यात्तथा निबद्धा दृढभारलघूकरणाय आस्फालनावरोधाय वा संयताः स्तनपरिकराः कुचाभोगा याभिस्तास्तथोक्ताः। एवम्भूतानि प्रथमान्तानि 'वारयोषित' इत्यस्य विशेषणानि। दूरे ऊर्ध्वप्रदेशे समुत्सारितानि झणत्कारादिविघ्नदूरीकरणार्थम् उत्तोलितानि वलयानि कङ्कणानि यासु ताः तथोक्ता बाहुलता यासां ताः तथोक्ताः। समुत्क्षिप्तानि लोचनकपोलोपरिपतननिवारणार्थम् ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य बद्धानि कर्णाभरणानि श्रवणालङ्कारा याभिस्ताः तथोक्ताः। कर्णोत्सङ्गात् श्रोत्रान्तिकात् उत्सारिता लोचनोपरिपतननिवारणाय अपसार्य उपरि न्यस्ता अलकाः चूर्णकुन्तला याभिस्ताः। गृहीता आत्ता जलकलसाः सलिलपूर्णघटा याभिस्ताः। अभिषेकदेवताः स्नानाधिष्ठात्र्यो देव्य इव स्नानार्थं राज्ञः आप्लवविधानार्थं समुपतस्थुः सम्यक्प्रकारेण उपस्थिता आसन्। इह वाच्या जात्युत्प्रेक्षा स्वभावोक्तिश्च अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

ताभिश्चेति। वारिमध्ये जलद्रोणीमध्ये प्रविष्टः कृतप्रवेशो राजा शूद्रकः समुन्नतम् अत्यन्तोच्चं कुचकुम्भमण्डलं स्तनकलससमूहो यासां ताभिः, तादृशीभिः, ताभिः वारयोषिद्भिः, करिणीभिः हस्तिनीभिः परिवृतः परिवेष्टितः वनकरी वन्यहस्तीव तत्क्षणं तस्मिन् काले रराज शुशुभे। तथा च यथा हस्तिनीभिः समं मज्जनं कुर्वन् वनकरी शोभते तथैवायमपीत्यर्थः। एवं सति कालभेदेऽपि 'काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेशयोः' इत्यादिवदुपमागतभग्नप्रक्रमत्वदोष इत्यवधेयम्। इहालङ्कारश्चोपमा।

द्रोणीसलिलेति। ततो द्रोणीसलिलात् जलकुण्डिकास्थानात् उत्थाय बहिर्निर्गत्य अमलो मलरहितो यः स्फटिकस्तदाख्यो मणिविशेषः तद्वद् धवलं स्वच्छं स्नानपीठम् आप्लवनचतुष्किकां वरुणः प्रचेताः राजहंसं कलहंसमिव आरुरोह आरूढवान्, वरुणो यथा राजहंसमारोहति तथैवायमप्यारुरोहेत्यर्थः। एवं सति कालभेदे सत्यप्यत्र पूर्ववद्भग्नप्रक्रमतादोषः।

तत इति। ततः आरोहणानन्तरं ताः वाराङ्गना राजानम् अभिषिषिचुरित्यग्रिमेण सम्बन्धः। वाराङ्गना एव विविधप्रकारेण विशेषयति—काश्चिदित्यादिना। काश्चित् काञ्चन मरकतमणिनिर्मितो यः कलसो घटस्तस्य प्रभया दीप्त्या श्यामायमानाः अश्यामा अपि श्यामवदाचरन्त्यः, अत एव पत्रपुटैः पर्णसम्पुटैः मूर्त्तिमत्यः श्यामत्वसाम्यात्तत्स्वरूपधारिण्यो नलिन्यः पद्मिन्य इव ( दृश्यमानाः सत्यः ) राजानं

---

उन्होंने अपनी छातियों को रेशमी वस्त्रों से कस कर बाँध लिया था और कंकणों को दूर तक बाहों पर तथा कानों में लटकते आभूषणों एवं कपोलों पर झूलते हुए बालों को हटाकर कानों पर चढ़ा लिया था। वह अपने हाथों में जलकलशों को लिए हुए ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो राजा को स्नान कराने के लिए स्वयं अभिषेकदेवियाँ हीं आ गई हों।

उस समय जल में स्थित राजा कलशों के समान गोल मटोल उठे हुए स्तनोंवाली बारवनिताओं के बीच इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानों जल में घुसा हुआ हथिनियों के बीच कोई जंगली हाथी हो। इसके बाद वह जलकुंडिका के जल से निकल कर अत्यन्त निर्मल श्वेत बिल्लौरी पीढ़े पर आ बैठा मानो श्वेत राजहंस पर स्वयं वरुणदेव ही आकर बैठे हों।

इसके पश्चात् उनमें से अनेकों मरकतमणि के बने कलशों से राजा को स्नान कराने लगीं। उस समय उन घड़ों की नीली-नीली झाईं से साँवली सी दिखाई पड़नेवाली वे बनिताएँ उसे नहलाती हुई ऐसी लग रही थीं

---

१. परितः। २. समुत्तस्थुः। ३. अंशुकविनिबद्ध***। ४. ***चरणाभरणाः। ५. जलद्रोणि। ६. काञ्चन। ७. मरकतकलश***।

काश्चिद्रजतकलसहस्ता रजन्य इव पूर्णचन्द्रमण्डलविनिर्गतेन ज्योत्स्नाप्रवाहेण, काश्चित् कलसोत्क्षेप-श्रम-स्वेदार्द्र-शरीरा जलदेवता इव स्फाटिकैः कलसैस्तीर्थजलेन, काश्चिन्मलयसरित इव चन्दनरसमिश्रेण सलिलेन, काश्चिदुत्क्षिप्त-कलस-पार्श्व-विन्यस्त-हस्तपल्लवाः प्रकीर्य्यमाण-नख-मयूख-जालकाः प्रत्यङ्गुलि-विवर-विनिर्गत[1]-जलधाराः सलिलयन्त्रदेवता इव, काश्चिज्जाड्यमपनेतुमाक्षिप्त-बालातपेनेव दिवसश्रिय इव कनककलसहस्ताः कुङ्कुमजलेन वाराङ्गनाः यथायथं[2] राजानमभिषिषिचुः।

---

शूद्रकम् अभिषिषिचुः अभिषेकं कारयामासुः। इह नलिनीवाराङ्गनानां मरकतकलश पत्रपुटानाञ्च कृष्णवर्णत्वात् सादृश्यम्। वाराङ्गनासु नलिनीत्वजात्युत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा व्यङ्गतोपमा च, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

काश्चिदिति। काश्चन अन्या वारयोषितो रजतकलशः रूप्यनिर्मितघटः हस्ते करे यासां तास्तथोक्ताः, पूर्णचन्द्रमण्डलात् समस्तशशिबिम्बात् विनिर्गतेन निःसृतेन ज्योत्स्नाप्रवाहेण चन्द्रिकारयेण शोभमाना रजन्यः क्षपा इव। रजनीभिर्वाराङ्गनानाम्, पूर्णचन्द्रेण रजतकलशस्य, ज्योत्स्नाप्रवाहेण तत्स्थसलिलस्य सादृश्यमत्राभिमतं वेदितव्यम्। इह वाराङ्गनासु रजनीत्वजात्युत्प्रेक्षणाज्जात्युत्प्रेक्षा।

काश्चिदिति अन्याः काश्चन कलसस्य घटस्य उत्क्षेपणात् ऊर्ध्वमुत्थापनाद् यः श्रमः आयासस्तेन ये स्वेदा घर्मसलिलानि, तैरार्द्राणि स्विन्नानि शरीराणि वपूंषि यासां ताः, स्फाटिकैः तदाख्यमणिविशेषसम्बन्धिभिः कलशैः कुम्भैः तीर्थजलेन तीर्थपयसा च सहिताः, अत एव जलदेवता जलाधिष्ठात्र्य इव, तासामपि सलिलान्निःसरणेन सलिलबिन्दुव्याप्तदेहत्वात् सादृश्यम्। इहापि वाराङ्गनासु जलदेवतात्वजात्युत्प्रेक्षणाज्जात्युत्प्रेक्षा।

काश्चिदिति। काश्चन अन्या वाराङ्गनाः चन्दनस्य मलयजस्य रसेन द्रवेण मिश्रं संयुक्तं तेन तथोक्तेन, सलिलेन पयसा मलयसरितः मलयाचलनद्य इव ता अपि चन्दनमिश्रजलान्यादधते। तस्मिन् समये मलयसरित्सु स्नानासम्भवेन तदारोपणादुत्प्रेक्षा।

काश्चिदिति। अन्याः काश्चन उत्क्षिप्ता उत्तोल्य कक्षं नीता ये कलसाः कुम्भास्तेषां पार्श्वेषु वामदक्षिणेषु विन्यस्ता उत्तानभावेन स्थापिता हस्तपल्लवाः करकिसलयानि याभिस्ताः, 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः, प्रकीर्यमाणानि इतस्ततो विपर्यस्तानि नखानां पुनर्भवानां मयूखजालानि दीप्तिचया यासां ताः, तथा प्रत्यङ्गुलि प्रतिहस्तशाखं यानि विवराणि अन्तरालप्रदेशाः छिद्राणि इति यावत्, तेभ्यो विनिर्गता निःसृता जलधारा पानीयसम्पातो यासां ताः, अत एव सलिलयन्त्रदेवता जलयन्त्राधिष्ठातृदेव्य इव ता अप्येतादृश्यो भवन्तीत्यर्थः। इहापि तथाविधगणिकासु सलिलयन्त्रदेवतात्वजात्युत्प्रेक्षणाज्जात्युत्प्रेक्षा।

काश्चिदिति। काश्चन अन्याः कनककलसाः सुवर्णकुम्भा हस्तेषु पाणिषु यासां ताः काश्चिद्वाराङ्गनाः दिवसश्रिय इव दिनलक्ष्म्य इव जाड्यं जलीयशैत्यम् अपनेतुं पृथक्कर्त्तुम् आक्षिप्त आकर्षितो बालातपः अभिनवोदितसूर्यरश्मिः यस्मिन् तेनेव कुङ्कुमजलेन केसरमिश्रितसलिलेन यथायथं यथायोग्यं राजानं

---

मानों नीली-नीली कमलिनियाँ अपने पत्तों के पुटों से राजा को नहला रही हों। कोई-कोई चाँदी के घड़ों से जल को ढालते हुए राजा को नहलाती हुई ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों पूर्णिमा की रातें चन्द्रमण्डलों से ढुलती हुई चाँदनी की धाराओं से उसे स्नान करा रही हों। कोई कोई घड़ों को उठाने के परिश्रम से पसीने में लथ-पथ होकर बिल्लौरी कलशों से उसे स्नान कराती हुई ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों तीर्थ-जल से भरे कलशों द्वारा जल-देवियाँ स्नान करा रही हों। कोई कोई चन्दन के रस से सुगन्धित जल-धारों से उसे स्नान कराती हुई ऐसी लगती थीं मानों मलयाचल से निकली हुई तथा चन्दन के रस से भरी हुई नदियाँ अपनी धाराओं से स्नान करा रही हों। कोई कोई कलशों के दोनों ओर पल्लवों जैसी हथेलियाँ लगाए उन्हें सिर पर रक्खे हुए खड़ी थीं। उनके नखों की किरणें चारों ओर फैल रही थीं और उनकी उँगलियों के बीच से जल की धारें बह रही थीं जिससे वह ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों सिर पर घड़ा उठाए फौवारों में बनी हुई पुतलियाँ हों। कोई शीतलता दूर करने के लिए सोने के कलशों से कुंकुम मिला हुआ जल छिड़कती हुई ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों दिन की शोभा प्रातःकालीन मधुर धूप बिखेर रही हो। इस प्रकार क्रम क्रम से उन वार-बनिताओं ने राजा को स्नान कराया।

---

१. ...अवनिर्गत...। २. क्रमेण।

अनन्तरमुदपादि च स्फोटयन्निव[1] श्रुतिपथमनेक-प्रहत-पटु-पटह-झल्लरी-मृदङ्ग-वेणु-वीणा-गीत-निनादानुगम्यमानो वन्दिवृन्द-कोलाहलाकुलो[2] भुवन[3]-विवरव्यापी स्नानशङ्खानामापूर्य्यमाणानामतिमुखरो[4] ध्वनिः।

एवञ्च क्रमेण निर्वर्त्तिताभिषेको[5] विषधरनिर्म्मोक-परिलघुनी धवले परिधाय धौतवाससी[6] शरदम्बरैकदेश इव जलक्षालन[7]-निर्मलतनुः अतिधवल-जलधर-च्छेद-शुचिना दुकूलपटपल्लवेन तुहिनगिरिरिव गगनसरित्स्रोतसा कृत-शिरोवेष्टनः सम्पादित-पितृजल-क्रियो मन्त्रपूतेन तोयाञ्जलिना दिवसकरमभिप्रणम्य देवगृहमगमत्।

शूद्रकम् अभिषिषिचुः स्नानं कारयामासुः। इह 'दिवसश्रिय' इति जात्युत्प्रेक्षा, 'आक्षिप्तबालातपेनेव' इति क्रियोत्प्रेक्षा, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावात्सङ्करालङ्कारः।

अनन्तरमिति। अनन्तरं स्नानानन्तरं स्नानशङ्खानां ध्वनिः उदपादीत्यन्वयः। श्रुतिपथं कर्णविवरं स्फोटयन् द्विधा कुर्वन्निव, अनेकैः पुरुषैः प्रहता वादिताः पटवः वाद्यविधाने समर्थाः पटहाः दुन्दुभयः झल्लर्यो वाद्यविशेषाः ( भाषायां 'झाल' इति पदवाच्याः ), मृदङ्गा मुरजाः, वेणवो वंश्यः, वीणा वल्लक्यः तासां गीतानां गानानाञ्च निनादैः ध्वनिभिः अनुगम्यमानः तमनुलक्ष्यीकृत्य प्रवर्तमानः, वन्दिवृन्दस्य वैतालिकसमूहस्य कोलाहलेन कलकलेन आकुलो व्याप्तः, अत एव भुवनविवरव्यापी विष्टपान्तरालप्रसारी, अतिमुखरः अतिशयेन तारतरः, आपूर्यमाणानां मुखवायुभिः वाद्यमानानां स्नानशङ्खानाम् आप्लवकालवादनीयशङ्खानां ध्वनिः शब्द उदपादि उत्पन्नोऽभूत्, 'पद गतौ' अस्माल्लुङि रूपम्। इह भुवनविवरव्यापनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्तिरलङ्कारः, 'स्फोटयन्निवे'ति क्रियोत्प्रेक्षा च, अनयोश्च परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिरलङ्कारः। 'मिथोऽनपेक्ष्यमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति लक्षणात्।

एवञ्चेति। चो भिन्नक्रमे तस्य च किञ्चेत्यर्थः। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण क्रमेण परिपाट्या निर्वर्त्तितः कृतः अभिषेकः स्नानं येन स तादृशो राजा देवगृहमगमदिति वक्ष्यमाणक्रियया सम्बन्धः। विषधराः सर्पास्तेषां निर्मोकः कञ्चुकः तद्वत् परिलघुनी अत्यन्तसूक्ष्मे धवले स्वच्छे धौतवाससी प्रक्षालितवसने परिधाय परिधानं विधाय, देवपूजानिमित्तं वस्त्रद्वयधारणावश्यकतामाह आह्निकसूत्रावल्याम्—

'होमदेवार्चनाद्यासु क्रियासु पठने तथा। नैकवस्त्रः प्रवर्त्तेत यत्नतः सर्वथा बुधः॥'

शरदि वर्षात्यये अम्बरैकदेश इव आकाशैकभाग इव जलक्षालनेन अभिषेचनीयसलिलद्वारा प्रक्षालनेन वर्षासलिलद्वारा प्रक्षालनेन च निर्मला अपगतमला तनुः शरीरं यस्य स तादृशः, अतिधवलः अतीव स्वच्छो यो जलधरच्छेदः मेघखण्डः तद्वत् शुचिना धवलेन दुकूलपट्टस्य क्षौमवसनस्य पल्लवेन विस्तरेण अतिदीर्घक्षौमवसनेनेत्यर्थः, 'पल्लवो विस्तरे षिङ्गे किसले विटपे वने' इति त्रि० शेषः। गगनसरित् आकाशगङ्गा तस्याः स्रोतसा प्रवाहेण तुहिनगिरिः हिमाचल इव कृतः विहितः शिरोवेष्टनम् उष्णीषो येन स तादृशः। होमार्थमुष्णीषधारणमाह—

'उष्णीषेण विना राजन्! होमं चेत्कुरुते नरः। होतुश्चक्षुर्विनाशः स्याद् होता च विकलो भवेत्॥' इति।

सम्पादिता निष्पादिता पितृजलक्रिया पितृतर्पणादिर्येन स तादृशः, तथा च—'स्नात्वा सन्तर्पयेद्

उसी समय साथ ही बजाए गए अनेक नगाड़ों, झाँझों, मृदङ्गों, वेणुओं और वीणाओं की ध्वनियों तथा मंगल-गीतों के स्वरों एवं चारणों के कोलाहल से गूँजती हुई सभी लोकों में छा जानेवाली कानों को फोड़ती हुई-सी शंख की अत्यन्त तीखी ध्वनि होने लगी, जो स्नान समाप्त होने की सूचना दे रही थी।

इस रीति से स्नान कर चुकने के बाद जल से धुला हुआ उसका निर्मल शरीर शरत् कालीन स्वच्छ आकाश के एक टुकड़े के समान झलकने लगा। उसने साँप की केंचुली के समान अत्यन्त झीने तथा उजले दो वस्त्र पहिन लिये और अत्यन्त उजले बादलों की तहों के समान श्वेत रेशमी पगड़ी अपने सिर पर लपेट ली। उस समय वह ऐसा सुशोभित होने लगा मानों अपनी चोटी पर आकाश-गंगा की धाराओं को लपेटे हुए हिमालय पहाड़ हो। इसके बाद उसने पितरों को तर्पण ( जल-दान ) किया और अंजुली में जल लेकर मंत्रों से अभिमन्त्रित करके भगवान सूर्य को अर्घ्य दिया। फिर उन्हें नमस्कार करके वह मंदिर में चला गया।

१. अवस्फोटयन्निव, आस्फोटयन्निव। २. कोलाहलो। ३. भवन…। ४. मुखरः। ५. निवर्त्तिताभिषेकः। ६. धौतवाससी। ७. जलक्षालनविमलतनुः।

उपरचित-पशुपतिपूजश्च निष्क्रम्य देवगृहान्निर्वर्त्तिताग्निकार्यो विलेपनभूमौ झङ्कारिभिरलिकदम्बकैरनुबध्यमानपरिमलेन मृगमद-कर्पूर-कुङ्कुमवास-सुरभिणा चन्दनेनानुलिप्तसर्वाङ्गो विरचितामोदि-मालतीकुसुमशेखरः कृतवस्त्रपरिवर्तः रत्नकर्णपूरमात्राभरणः समुचितभोजनैः सह भूपतिभिराहारमभिमत-रसास्वाद-जातप्रीतिरवनिपो निर्वर्त्तयामास।

परिपीतधूमवर्त्ति उपस्पृश्य च गृहीतताम्बूलस्तस्मात् प्रमृष्ट-मणि कुट्टिमप्रदेशादुत्थाय

---

देवान् पितॄंश्च मानवांस्तथा' इति मन्त्रैः वेदविहितैः पूतं पवित्रं यत्तोयं जलं तस्य अञ्जलिः हस्तसम्पुटः 'अञ्जलिस्तु पुमान् हस्तसम्पुटे कुडवेऽपि च' इति मेदिनी। तेन दिवसकरं सूर्यनारायणम् अभि सम्मुखं प्रणम्य अञ्जलौ मन्त्रपूतमर्घ्यरूपं जलं सूर्यनारायणाय दत्वा नमस्कृत्येत्यर्थः। तदुक्तम्—

'अर्घ्यं दद्यात्तु प्रथमं भास्कराय महात्मने। ततो विष्णुं शिवं शान्तः शिवां चैव प्रपूजयेत् ॥' इति।

देवगृहं चैत्यम् अगमत् अगच्छत्। इह विषधरनिर्मोकेत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः। शरदम्बरैकदेश इवेत्यत्र पूर्णोपमालङ्कारः। अतिधवलजलधरे त्यत्रापि च लुप्तोपमैव। तुहिनगिरिरित्यत्र तूपमा।

उपरचितेति। उपरचिता सम्पादिता पशुपतेः महेश्वरस्य पूजा अपचितिः 'पूजा नमस्याऽपचितिः' इत्यमरः, येन स तथाभूतः, तथा च—'असंपूज्य शिवं मोहाद्ये नरा भुञ्जतेऽन्वहम्। सौख्यं नैवाप्नुवन्तीह भग्नाशाः पर्यटन्ति ते ॥' इति। निर्वर्तितं निष्पादितम् अग्निकार्यम् अग्निहोमादिर्येन सः, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इति श्रुतेरग्निहोत्रस्यापि नित्यत्वादित्याशयः। विलेपनभूमौ अङ्गरागसम्पादनस्थाने झङ्कारिभिः शब्दं कुर्वद्भिः अलिकदम्बकैः भ्रमरगणैः अनुबध्यमानः सेव्यमानः परिमलः सौरभं यस्य स तेन, मृगमदस्य कस्तूर्याः कर्पूरकुङ्कुमयोः हिमवालुककेसरयोश्च वासेन परिमलेन सुरभिणा घ्राणतर्पणेन 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः, चन्दनेन मलयजेन अनुलिप्ताङ्गः लेपितसकलशरीरावयवः, विरचितः रचनाविशेषेण विहितः आमोदिभिः परिमलवद्भिः मालतीकुसुमैः जातीपुष्पैः शेखरः शिरोभूषणं येन स तादृशः, अङ्गरागादिकं यथाकालं यथावयः कार्यमित्याह्निके स्पष्टम्। कृतो विहितो वस्त्रयोः पूर्वपरिहितवसनयोः परिवर्तः परिवर्तनं येन सः परिहितान्यवसन इत्यर्थः, पूजावाससः सर्वदा धारणानौचित्यादित्याशयः। रत्नकर्णपूरमात्रं केवलं रत्नखचितं कुण्डलमेव आभरणं तत्समयालङ्कारो यस्य सः, अशनादिसमयेऽनेकभूषणपरिधानेन कष्टसम्भवादित्याशयः। समुचितं योग्यं भोजनम् एकपङ्क्तावशनं येषां तैः तथोक्तैः, आत्मतुल्यकुलसदाचारादिसम्पन्नैरित्याशयः, भूपतिभिः अन्यैः नृपतिभिः सह अभिमता अभिलषिता ये रसा मधुरादयस्तेषाम् आस्वादेन ग्रहणेन जाता उत्पन्ना प्रीतिः सन्तुष्टिः यस्य सः, अवनिपः भूपतिः शूद्रकः आहारम् अशनं निर्वर्त्तयामास सम्पादयामास।

परिपीतेति। उपस्पृश्य आचमनं विधाय आस्थानमण्डपमयासीदिति वक्ष्यमाणक्रियया सम्बन्धः। 'उपस्पर्शस्त्वाचमनम्' इत्यमरः। भोजनानन्तरमाचमनस्यावश्यकर्त्तव्यत्वमुक्तं नारदेन—

'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतं वचः। पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत् प्रयतोऽपि सन्।' इति।

परि सामस्त्येन पीता मुखसौगन्ध्यविधानार्थं गृहीता धूमवर्त्तिः अग्निसंयोगेन धूमसंयुक्तमाल-

---

वहाँ जाकर भगवान शंकर की पूजा करके वह मन्दिर से निकला और होमादि कार्यों को पूरा कर विलेपन-भूमि में पहुँचा। फिर उसने अपने सभी अंगों में सुगन्ध के कारण भौंरों के झुंडों से ढके हुए तथा कस्तूरी, केशर और कपूर से सुवासित सुगन्धित चन्दन का लेप करके मस्तक पर विशेष ढंग से मालती के फूलों की चोटी बनायी और वस्त्रों को बदल कर कानों में केवल रत्नों से जड़ा हुआ कर्णफूल पहिन लिया। इसके बाद भोजन के समय पङ्क्ति में बैठने योग्य राजाओं के साथ उसने मनोनुकूल रसों का स्वाद लेते हुए सन्तुष्ट होकर भोजन-क्रिया समाप्त की।

भोजन कर लेने के पश्चात् उसने धूमवर्तिका (एक प्रकार की सिगरेट जैसी कपूर, अगरु, चन्दन, मुस्ता, पूति, प्रियंगु और मांसी मिला कर बनाई गई बत्ती) का पान किया और हाथ मुँह धोकर पान खाया। फिर वह धुली-मँजी मणियों की फर्श से उठकर सभा-मंडप की ओर चल पड़ा।

तत्काल ही थोड़ी दूर पर खड़ी हुई प्रतिहारी अत्यन्त शीघ्रता से दौड़ी हुई आ पहुँची। उसने राजा की

---

१. उपचरित…। २. पूजनश्च। ३. निर्वर्त्तित। ४. कृताम्बरपरीवर्त्तः। ५. निवर्त्तयामास। ६. धूपवर्त्तिः, धूपधूमवर्त्तिः। ७. कुट्टिमात्।

नातिदूरवर्त्तिन्या ससम्भ्रम-प्रधावितया प्रतीहार्य्या प्रसारितं बाहुम्[१] अवलम्ब्यानवरत[२]-वेत्रलताग्रहण-प्रसङ्गाद[३]तिजरठ-किसलयानुकारि-करतलं करेण[४] अभ्यन्तरसञ्चारसमुचितेन परिजनेनानुगम्यमानः, धवलांशुक[५]-परिगतपर्य्यन्ततया स्फटिक-मणिमय[६]-भित्ति-बद्ध[७]मिवोपलक्ष्यमाणम्, अतिसुरभिणा[८] मृगनाभिपरिमलेना[९]-मोदिना चन्दनवारिणा सिक्तशिशिर[१०]मणिभूमिम्, अविरलविप्रकीर्णेन विमल-मणिकुट्टिम-गगनतलतारागणेनेव[११] कुसुमोपहारेण निरन्तरनिचितम्, उत्कीर्णशालभञ्जिकानिवहेन सन्निहितगृहदेवतेनेव[१२] गन्धसलिल-क्षालितेन कलधौतमयेन स्तम्भसञ्चयेन विराजमानम्, अतिबहलागुरु-धूप-परिमलम्, अखिल-

कूटादिरचितद्रव्यविशेषो येन सः, गृहीतं मुखाभ्यन्तरे धृतं ताम्बूलं नागवल्लीदलं येन स तथोक्तः। प्रमृष्टः सलिलादिना संस्कृतो यो मणिकुट्टिमप्रदेशः रत्नमयबद्धस्थलं तस्मात्, उत्थाय उत्थानं विधाय, नातिदूरं वर्तते या सा तया, ससम्भ्रमं सत्रासं प्रधावितया शीघ्रं व्रजन्त्या प्रतीहार्या द्वारपालिन्या प्रसारितं विस्तारितम्, अनवरतं निरन्तरं वेत्रस्य वेतसस्य या लता मृदुयष्टिः तस्या ग्रहणं धारणं तस्य प्रसङ्गात् अभ्यासात्, अतिजरठम् अतिकठिनम् अत्यन्तपरिणतमित्यर्थः यत् किसलयं पल्लवं 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः, तदनुकर्तुं शीलं यस्य तत्तथोक्तं करतलं हस्ताधःप्रदेशो यस्य तत्तथोक्तम्, बाहुं भुजं 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः, अवलम्ब्य तदाश्रयं कृत्वेत्यर्थः, अभ्यन्तरे बाह्यजनागम्ये गृहप्रदेशे यः सञ्चारः सञ्चरणं गमनागमनमित्यर्थः, तत्र समुचितेन योग्येन परिजनेन सेवकलोकेन अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः।

धवलांशुकेति। धवलानि निर्मलानि यानि अंशुकानि वस्त्राणि तैः परिगताः परिवेष्टिताः पर्यन्ताः प्रान्तभागा यस्य तस्य भावस्तत्ता तया कारणेन, स्फटिकमणिमयी या भित्तिः कुड्यं तया निबद्धं रचितमिव उपलक्ष्यमाणम् अवलोक्यमानम्। अनेन वस्त्राणां शुभ्रत्वं सौक्ष्म्यातिशयश्च प्रतीयते। इह क्रियोत्प्रेक्षा, सा च वाच्या। इत आरभ्य द्वितीयान्तपदानि 'आस्थानमण्डपम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि।

अतिसुरभिणेति। अतिसुरभिणा अत्यन्तघ्राणतर्पणेन 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः, मृगनाभिपरिमलेन कस्तूरीगन्धेन 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' इत्यमरः, आमोदिना अत्यन्तसुगन्धिना चन्दनवारिणा मलयजमिश्रितपानीयेन, सिक्ता अत एव शिशिरा शीतला मणिभूमी रत्नबद्धा भूर्यत्र तं तथोक्तम्।

अविरलेति। अविरलं सान्द्रं यथा स्यात्तथा विप्रकीर्णेन विक्षिप्तेन, तथा विमलं निर्मलं मणिकुट्टिमं रत्नबद्धभूमिः गगनतलतारागणेन आकाशस्थितनक्षत्रमण्डलेनेव कुसुमोपहारेण पुष्पसमूहेन निरन्तरम् अनवरतं निचितं सान्द्रभावेन व्याप्तम्। इहोपमालुप्तोपमयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

उत्कीर्णेति। उत्कीर्णं उत्कीर्य विहितः शालभञ्जिकानिवहः पुत्तलिकापुञ्जो यस्मिन् तथोक्तेन, अत एव सन्निहिता निकटस्था गृहदेवताः भवनाधिष्ठात्र्यो देव्यो यस्मिन् तथोक्तेनेव स्थितेन, गन्धसलिलैः सुगन्धिवारिभिः क्षालितेन धौतेन, कलधौतमयेन सुवर्णनिर्मितेन, स्तम्भानां स्थूणानां सञ्चयेन समुदायेन विराजमानं शोभमानम्। इह सन्निहितगृहदेवतेनेवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

अतीति। अतिबहलः अत्यन्तप्रचुरो योऽगुरुः कृष्णागुरुः तस्य धूपस्य परिमलः सौरभं यस्मिंस्तत् तथोक्तम्।

ओर अपनी बाहें फैला दीं। राजा ने भी निरन्तर बेंत की छड़ी लेने के कारण घट्ठे पड़े हुए पल्लवों के समान उसकी हथेली अपने हाथ में ले ली। महल के भीतर तक आ जा सकनेवाले सेवक भी राजा के पीछे-पीछे चल पड़े उस भुक्त्वास्थान-मंडप (वह सभा-मंडप जहाँ भोजन के बाद राजा का खास दरबार लगता था) के चारों ओर उजले रेशमी पर्दे पड़े हुए थे, जिससे वह बिल्लौरी दीवारों का बना हुआ प्रतीत हो रहा था। वहाँ की मणियों से बनी हुई भूमि कस्तूरी मिले अत्यन्त सुगन्धित जल से सिंची होने के कारण बहुत ही शीतल थी, जिस पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर फूलों के गुच्छों से सजावट की गई थी, जिससे वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों मणिभूमि रूपी निर्मल आकाश में गुच्छे रूपी अत्यन्त घने तारों के झुण्ड दिखाई पड़ रहे हों। उस मंडप में अनेक सोने के खम्भे बने हुए थे जो सुगन्धित जल से पखारे गए थे। उन पर पुतलियों की प्रतिमाएँ गढ़ कर काढ़ी गई थीं

१. प्रसारितबाहुम्, प्रसारितम्। २. 'अनवरत' इति पाठः क्वचिन्नाप्युपलभ्यते। ३. प्रसङ्गानति, प्रसङ्गादनति...। ४. करतलकरेण। ५. शुकजवनिकापरिगत...। ६. स्फटिकमय। ७. निबद्ध। ८. अतिसुरभि। ९. परिगतेन। १०. शिशिरकर। ११. विमलमणिकुट्टिमं गगनतलं तारागणेनेव। १२. दैवतेनेव।

विगलितजलनिवह-धवल-जलधर-शकलानुकारिणा कुसुमामोदवासित-प्रच्छदपटेन, पट्टोपधानाध्यासितशिरोधाम्ना मणिमय-प्रतिपादुकाप्रतिष्ठितपादेन पार्श्वस्थ-रत्नपादपीठेन तुहिनगिरि-शिलातल-सदृशेन शयनेन सनाथीकृतवेदिकं भुक्त्वास्थानमण्डपमयासीत् ।

तत्र च शयने[6] निषण्णः क्षितितलोपविष्टया शनैः शनैरुत्सङ्गनिहितासिलतया खड्गवाहिन्या नव-नलिन-दल-कोमलेन करसम्पुटेन संवाह्यमानचरणस्तत्कालोचितदर्शनैरवनिपतिभिरमात्यैर्मित्रैश्च सह तास्ताः कथाः कुर्वन् मुहूर्त्तमिवासाञ्चक्रे ।

ततो नातिदूरवर्त्तिनीम् 'अन्तःपुराद्वैशम्पायनमादायागच्छ' इति समुपजाततद्वृत्तान्त-प्रश्न-कुतूहलो राजा प्रतीहारीमादिदेश ।

---

अखिलेति । अखिलः सम्पूर्णो विगलितो निर्गतो जलनिवहः सलिलसमुदायो यस्मिन् स तादृशः, अत एव धवलो निर्मलो यो जलधरो मेघः तस्य शकलं खण्डम् अनुकर्त्तुं शीलं यस्य स तेन । इत आरभ्य तृतीयान्तपदानि 'शयनेन' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि । कुसुमानां पुष्पाणाम् आमोदेन सौगन्ध्येन वासितः सुगन्धीकृतः प्रच्छदपटः आस्तरणवस्त्रं यस्य स तेन । पट्टस्य क्षौमवस्त्रस्य यदुपधानम् उच्छीर्षकं तेन अध्यासितम् आश्रितं शिरोधाम मस्तकस्थापनस्थलं यस्य स तेन । मणिमयीषु रत्नरचितासु प्रतिपादुकासु आधारपीठेषु प्रतिष्ठिताः स्थिताः पादाः पल्यङ्कपादा यस्य स तेन । पार्श्वस्थं निकटस्थं रत्नपादपीठं मणिपादासनं यस्य स तेन । तुहिनगिरेः हिमालयपर्वतस्य यत् शिलातलं हिमव्याप्ततया श्वेतः प्रस्तरः, तत्सदृशेन तन्निभेन अत्यन्तधवलवर्णेनेत्यर्थः, शयनेन शय्यया, सनाथीकृता युक्ता वेदिका परिस्कृतभूमिर्यस्य तत्तथोक्तम् आस्थानमण्डपं सभाभवनम् अयासीत् जगाम । इह 'धवलजलधरशकलानुकारिणा' इत्यत्र 'तुहिनगिरिशिलातलसदृशेन' इत्यत्र चार्थोपमा बोध्या ।

तत्रेति । शयने आस्तरणे निषण्ण उपविष्टो राजा शूद्रकः, क्षितितले पृथ्वीतले उपविष्टया निषण्णया, तथा उत्सङ्गे क्रोडे निहिता स्थापिता असिलता लतावत् लम्बमानः खड्गो यया सा तया एवं भूतया खड्गवाहिन्या कृपाणधारिण्या कयाचित् नायिकया, नवं नूतनं यन्नलिनं पद्मं तस्य दलानि पत्राणि तद्वत् कोमलेन मृदुलेन, करसम्पुटेन हस्तद्वयेन शनैः शनैः मन्दं मन्दं संवाह्यमानौ सञ्चाल्यमानौ चरणौ पादयुगलं यस्य स तेन तथोक्तेन । तत्काले शयनसमये उचितं राज्ञा स्वयमेव निश्चितत्वाद् योग्यं दर्शनं साक्षात्कारो येषां तैः तथोक्तैः । अवनिपतिभिः राजभिः अमात्यैर्मन्त्रिभिः मित्रैः सुहृद्भिश्च तास्ताः प्रस्तावोचिता नानाविधाः कथा आलापान् कुर्वन् विदधत् मुहूर्त्तं क्षणमिव आसाञ्चक्रे अवतस्थे । वाक्यालङ्कारे इवेतिपदम् । 'नवनलिनम्' इत्यत्र लुप्तोपमा ।

तत इति । ततः कथासमाप्त्यनन्तरं नातिदूरवर्त्तिनीं यत्किञ्चिद्व्यवधानेनैव स्थितामित्यर्थः, प्रतीहारीं पूर्वोक्तलक्षणाम्, समुपजातं समुत्पन्नं तस्य शुकस्य वृत्तान्तप्रश्ने प्रवृत्तिपृच्छायां 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्' इति, 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इति चामरः, कुतूहलं कौतुकम् आश्चर्यमित्यर्थः, यस्य स तादृशः, राजविशेषणमिदम् । अन्तःपुरात् अवरोधात् तं वैशम्पायनं शुकम् आदायागच्छ गृहीत्वाव्रज इति इत्येवं रूपम् आदिदेश आज्ञापयामास ।

---

जो ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों गृहदेवियाँ ही मूर्तिमान हो गयी हों। मंडप में चारों ओर अगरु और धूप की प्रचुर गंध उठ रही थी और उसके बीच में एक श्वेत पलंग पड़ा हुआ था जो समस्त जल बरस जाने के कारण उजले हो जानेवाले बादल के टुकड़े के समान स्वच्छ चद्दर से ढका हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों बर्फ से ढकी हुई हिमालय की कोई सफेद चट्टान हो। उसके सिरहाने रेशमी तकिया और पायताने की भूमि पर मणियों की खड़ाऊँ रखी हुई थी तथा उसके अगल-बगल रत्नों के दो पावदान बने हुए थे।

---

१. परिगलित···। २. अध्यवसित। ३. शिरोभागेन। ४. रत्नपीठेन, रत्नमयपीठेन। ५. तुहिनशिलातलसदृशशयनेन। ६. शयनतलनिषण्णः। ७. समुपयात।

सा क्षितितल-निहित-जानु-करतला 'यथाज्ञापयति देवः' इति शिरसि कृत्वाज्ञां यथादिष्टमकरोत् ।

अथ मुहूर्त्तादिव[1] वैशम्पायनः प्रतीहार्य्या गृहीतपञ्जरः कनकवेत्रलतावलम्बिना किञ्चिदव-नतपूर्वकायेन[2] सितकञ्चुकाच्छन्न[3]-वपुषा जराधवलितमौलिना गद्गदस्वरेण मन्दमन्दसञ्चा-रिणा[4] विहङ्गजातिप्रीत्या जरत्कलहसेनेव कञ्चुकिनानुगम्यमानो राजान्तिकमाजगाम ।

क्षितितल-निहितकरतलस्तु[5] कञ्चुकी राजानं व्यज्ञापयत[6]—'देव ! देव्यो विज्ञापयन्ति,

सेति । सा प्रतीहारी क्षितितले भूमितले विहितौ स्थापितौ जानू ऊरुपर्वणी करतले पाणितले च यया सा तथोक्ता, एतेन विनयविशेषो ध्वनितः, यथा येन प्रकारेण आज्ञापयति आदिशति देवो भवान् इत्यभिधाय शिरसि मस्तके आज्ञाम् आदेशं कृत्वा विधाय स्वमस्तके करतलं स्थापयित्वेत्याशयः, यथा येन प्रकारेण राज्ञा आदिष्टम् आज्ञापितं तथा अकरोत् विदधौ ।

अथेति । अथ अन्तःपुरप्रवेशानन्तरं मुहूर्त्तादिव क्षणविलम्बादिव । गृहीतम् आत्तं पञ्जरं लौहशलाकानिर्मितपक्षिनिलयो यस्य स तथोक्तः । कनकेन सुवर्णेन खचिता या वेत्रलता वेतसयष्टिः तामवलम्बते धारणं करोतीत्येवं शीलो यः स तेन तथोक्तेन, इतः प्रभृति तृतीयान्तपदानि कञ्चुकिनेत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि । किञ्चित् ईषत् अवनतः वार्द्धक्यवशादानम्रः पूर्वकायो नाभेरूर्ध्वभागो यस्य तेन तादृशेन, सितकञ्चुकेन शुभ्रकूर्पासकेन आच्छन्नम् आच्छादितं वपुर्देहो यस्य स तेन तादृशेन, जरया वृद्धा-वस्थया धवलितः स्वच्छीकृतः मौलिः केशसमूहो यस्य तेन तादृशेन, गद्गदः अस्फुटः स्वरः कण्ठध्वनि-र्यस्य स तेन तादृशेन, कञ्चुकिना—

'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वशास्त्रार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥'

इत्युक्तस्वरूपेण सौविदल्लकेनेत्यर्थः, मन्दं मन्दं शनैः शनैः सञ्चरितुं शीलं यस्य स तेन तादृशेन विहङ्गजातिप्रीत्या पक्षिस्नेहेन जरत्कलहंसेनेव वृद्धराजहंसेनेव अनुगम्यमानोऽनुव्रज्यमानः 'कलहंसस्तु कादम्बे राजहंसे नृपोत्तमे' इति मेदिनी, वैशम्पायनः शुकः राजान्तिकं नृपसमीपम् आजगाम आययौ । इह 'जरत्कलहंसेनेव' इत्युपमा ।

क्षितीति । क्षितितले धरणीतले 'धरा धरित्री धरणी क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः, निहितं स्थापितं करतलं हस्ततलं येन स कञ्चुकी पूर्वोक्तलक्षणः राजानं भूमिपं व्यज्ञापयत् न्यवेदयत्—

राजा वहाँ पहुँच कर पलंग पर बैठ गया । उसकी तलवार लेकर साथ-साथ चलने वाली सेविका भी तलवार को गोद में रखकर फर्श पर बैठ गयी और नये कमल की पंखुड़ियों के समान कोमल हथेलियों से धीरे धीरे राजा का पैर दबाने लगी । वहाँ मिलने के लिए आने योग्य ( विशिष्ट, जिनकी पहुँच दरबारखास तक थी ) राजाओं, मन्त्रियों और मित्रों के साथ तरह-तरह की बातें करते हुए राजा ने कुछ देर विश्राम किया ।

फिर निश्चित होकर उस सुग्गे का जीवन वृत्तान्त पूछने की उत्सुकता से उसने समीप ही में खड़ी प्रतिहारी को आदेश दिया—रनिवास से वैशम्पायन को ले आओ ?

प्रतिहारी ने भूमि पर घुटने टेक तथा हाथ से भूमि को छूकर 'श्रीमान की जैसी आज्ञा कहती हुई हाथ को मस्तक पर रख लिया मानो राजा के आदेश को माथे चढ़ा लिया और वह आज्ञा के अनुसार सुग्गे को लाने के लिए रनिवास की ओर चल पड़ी ।

एक क्षण के भीतर ही वैशम्पायन का पिंजड़ा हाथ में लिये हुए प्रतीहारी राजा के पास आ पहुँची । उसके पीछे-पीछे श्वेत कंचुक ( जामा ) से ढका हुआ तथा शरीर का ऊपरी भाग झुक जाने के कारण सोने की मूँठ लगी बेंत की छड़ी का सहारा लेकर धीरे-धीरे चलनेवाला एक वृद्ध ब्राह्मण कंचुकी भी था । बुढ़ौती के कारण उसके बाल सन हो गए थे और स्वर अत्यन्त गद्गद ( अस्पष्ट ) हो गया था । वह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो पक्षी जाति के प्रति ममत्व होने के कारण कोई बुड्ढा कलहंस वहाँ आ गया हो ।

कंचुकी ने हाथ से भूमि छूकर राजा से निवेदन किया—'देव ! देवियों ने निवेदन किया है कि श्रीमान

१. मुहूर्त्तादेव । २. आनत''' । ३. अवच्छन्न, अवच्छिन्न । ४. चारिणा । ५. विहितकरतलस्तु, निहितकरस्तु । ६. व्यजिज्ञापयत् ।

देवादेशादेष वैशम्पायनः स्नातः कृताहारश्च देवपाद[1]मूलं प्रतीहार्य्या नीतः' इत्यभिधाय गते[2] च तस्मिन् राजा वैशम्पायनमपृच्छत्—'कच्चि[3]त् अभिमतमास्वादितमभ्यन्तरे भवता किञ्चिदशनजातम् ?' इति ।

स[4] प्रत्युवाच—'देव ! किंवा नास्वादितम् ?, आमत्त-कोकिल-लोचनच्छविर्नीलपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफलरसः, हरि-न[5]खरभिन्न-मत्तमातङ्ग-कुम्भ-मुक्त-रक्तार्द्र-मुक्ताफल-त्वींषि खण्डितानि दाडिमी[6]-बीजानि, नलिनीदल-हरिन्ति द्राक्षाफल-स्वादूनि च दलि[7]तानि स्वेच्छया प्राचीनामलकीफलानि । किं वा प्रलपितेन बहुना, सर्वमेव देवीभिः स्वयं करतलोपनीयमानममृतायते' इति ।

---

'हे देव स्वामिन् ! देव्यो महिष्यः विज्ञापयन्ति सूचयन्ति, देवादेशात् भवतो नियोगात् एव पुरोऽवलोक्यमानो वैशम्पायनः शुकः स्नातः पूर्वं कृतस्नानः पश्चात् कृताहारो विहितभोजनः, देवस्य भवतः पादमूलं सन्निधिं प्रतीहार्या द्वारपालिन्या अनया नीतः प्रापितः' इत्यभिधाय इत्युक्त्वा तस्मिन् कञ्चुकिनि गते तस्मात् स्नानात् निष्क्रान्ते सति, राजा शूद्रकः वैशम्पायनं शुकम् अपृच्छत् पृष्टवान्—अभ्यन्तरे अन्तःपुरे भवता त्वया अभिमतम् इष्टं किञ्चित् अशनजातं भक्ष्यवस्तुसमूहः आस्वादितमिति काकुः भुक्तं किमित्यर्थः ? इति कच्चित् ज्ञातुमभिलषामि 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः ।

स इति । स वैशम्पायनः प्रत्युवाच उत्तरं ददौ—देव नाथ ! किं वा नास्वादितमिति काकुः ? अर्थात् मद्भक्षयोग्यं सर्वमेव भक्षितमित्यर्थः । आमत्तः मधुपानेनोन्मत्तो यः कोकिलः पिकः 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' इत्यमरः, तस्य लोचनच्छविर्नयनकान्तिः सेव छविर्यस्य स तादृशः नीलश्चासौ पाटलः श्वेतरक्तश्चेति नीलपाटलः 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः, कषायोऽम्लश्चासौ मधुरो मिष्टरसश्चेति कषायमधुरः जम्बूफलानां रसोऽन्तर्भूतद्रवः प्रकामं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा आपीतः समर्यादं पानविषयीकृतः । 'इह······कोकिललोचनच्छविः' इत्यत्र लुप्तोपमा ।

हरीति । हरेः सिंहस्य नखरैः नखैः भिन्ना विदारिता ये मत्तमातङ्गानाम् उन्मत्तगजानां कुम्भाः शिरःस्था मांसपिण्डाः तेभ्यो मुक्तानि अपगतानि यानि रक्तार्द्राणि शोणितस्विन्नानि मुक्ताफलानि मौक्तिकानि तेषां त्विष इव त्विषः कान्तयो येषां तानि तथोक्तानि, दाडिमबीजानि दाडिमफलबीजानि खण्डितानि शकलीकृतानि चञ्चुपुटेन मयेति शेषः । उक्तालङ्कारः ।

नलिनीति । नलिनी कमलिनी तस्या दलानि पत्राणि तद्वत् हरिन्ति हरिद्वर्णानि, तथा द्राक्षाफलवत् मृद्वीकासस्यवत् 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा' इत्यमरः, स्वादूनि सुमधुराणि च प्राचीनामलकीफलानि क्षीरधात्रीसस्यानि स्वेच्छया स्वाधीनतया दलितानि चञ्चुपुटेन मर्दयित्वा खादितानीत्यर्थः । इह 'नलिनीदलहरिन्ति' इत्यत्र 'द्राक्षाफलस्वादूनि' इत्यत्र च लुप्तोपमा, अनयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

किं वेति । बहुना अधिकेन प्रलपितेन कथितेन किं वा फलं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । देवीभिः राजदारैः स्वयं न त्वन्यतः करतलोपनीयमानं हस्ततलैः मह्यं दीयमानं सर्वं निखिलमेव वस्तु

---

के आदेशानुसार वैशम्पायन स्नान-भोजन से निवृत्त हो चुका है और प्रतीहारी के साथ आप की सेवा में भेज दिया गया है ।' ऐसा कह कर कंचुकी के चले जाने पर राजा ने वैशम्पायन से पूछा—क्या रनिवास में आप को अपनी इच्छा के अनुसार भोज्य पदार्थों का स्वाद चखने को मिला था ?

वैशम्पायन ने उत्तर दिया—राजन् ! मैंने क्या नहीं खाया ! मधु-रस पीकर मतवाली कोयल की आँखों के समान नीले और गुलाबी जामुन के फलों का कसैला और मीठा रस भर पेट पिया है, सिंह के नखों से विदीर्ण हाथी के मस्तक से निकले हुए रक्त में सने मोती के दानों जैसे गुलाबी अनार के दाने कुतर-कुतर कर खाए हैं और कमल के पत्तों के समान हरे-हरे तथा अंगूर जैसे मीठे पके हुए आमलों को इच्छानुसार चखा है । अधिक कहना तो व्यर्थ है, देवियों ने अपने हाथों से ला-लाकर जो कुछ भी दिया था वे सभी अमृत जैसे मीठे बन गए थे ।

---

१. पादमूले । २. अपगते । ३. कच्चित् । ४. स तु । ५. करखरनखरनिर्भिन्न । ६. दाडिमी···। ७. चूर्णितानि, वलितानि, समास्वादितानि ।

एवंवादिनो वचनमाक्षिप्य नरपतिरब्रवीत्—'आस्तां तावत् सर्वमेवेदम्[1], अपनयतु नः कुतूहलम्, आवेदयतु भवानादितः प्रभृति कात्स्न्येनात्मनः, जन्म कस्मिन् देशे? भवान् कथं जातः? केन वा नाम कृतम्? का ते माता[2]? कस्ते पिता[3]? कथं वेदानामागमः? कथं शास्त्राणां परिचयः? कुतः कलाः समासादिताः[4]? किं हेतुकं[5] जन्मान्तरानुस्मरणम्? उत वरप्रदानम्, अथवा विहगवेश-धारी[6] कश्चिच्छन्नो[7] निवससि? क्व पूर्वमुषितम्? कियद्वा वयः? कथं[8] पञ्जरबन्धनम्[9]? कथं[10] चण्डालहस्तगमनम्? इह वा कथमागमनम्?'।

वैशम्पायनस्तु स्वयमुपजातकुतूहलेन सबहुमानमवनिपतिना पृष्टो मुहूर्त्तमिव ध्यात्वा सादरमब्रवीत्—'देव! महतीयं कथा, यदि कौतुकमाकर्ण्यताम्[11]—

अमृतायते सुधावदाचरति स्वादुत्वादित्याशयः। 'अमृतायते' इत्यत्र क्यङ्प्रत्ययत्वादात्मनेपदम्। वर्त्तमानसामीप्ये 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इत्यनेनात्र वर्त्तमानत्वम्। श्यङ्गतोपमालङ्कारः। इति वाक्यसमाप्तौ 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरः।

एवमिति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण वादिनः कथयतः शुकस्य वचनं वाक्यम् आक्षिप्य असमाप्तमेव निवार्य अन्यदेव ज्ञातुं नरपती राजा अब्रवीत् उवाच—इदं पूर्वोक्तं सर्वमेव तावत् आदौ आस्तां तिष्ठतु, नः अस्माकं कुतूहलं कौतुकं पक्षिणः सर्वशास्त्रविषयकं ज्ञानं कथं जातमित्याश्चर्यमित्यर्थः 'कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्' इत्यमरः, अपनयतु दूरीकरोतु। तदेवोपपादयति—आवेदयत्विति। कात्स्न्येन साकल्येन आदितः प्रभृति जन्मसमयादारभ्य सर्वम् आत्मनः स्वस्य आवेदयतु निरूपयतु। कस्मिन् देशे कुत्र जनपदे जन्म उत्पत्तिः?। कथं केन प्रकारेण भवान् जात उत्पन्नः? केन महात्मना नाम कृतं वैशम्पायनेत्यभिधानं विहितम्? ते तव का माता जननी? ते कः पिता जन्मदः? कथं केन प्रकारेण वेदानाम् ऋग्यजुःसामाथर्वणाम् आगम उपलब्धिः प्राप्तिरिति यावत्? कथं शास्त्राणां न्यायमीमांसाप्रभृतीनां परिचयो विशेषबोधः? कुतः कस्मात्पुरुषात् कलाः चतुःषष्टिप्रकाराः नृत्यगीतादिविद्याः समासादिताः प्राप्ताः? किंहेतुकं किन्निमित्तकं जन्मान्तरस्य पूर्वजन्मोदन्तस्य अनुस्मरणं स्मृतिः? उत किं वरप्रदानं कस्यचिन्महात्मनः प्रसादात् वरदानप्राप्तिः येन जन्मान्तरानुस्मरणमित्यर्थः 'आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च' इत्यमरः। अथवा सिद्ध एव किं वा कश्चित् कश्चन विहगवेषधारी पक्षिस्वरूपधारी छन्नो गुप्तः सन् निवससि वासं विदधासि। क्व वा कस्मिन् स्थाने अत्रागमनात्पूर्वम् उषितम् अवस्थितम्? वा अथवा कियद् वयः वार्षिकावस्था केत्यर्थः? कथं केन प्रकारेण पञ्जरबन्धनं पञ्जरमध्येऽवस्थानम्? कथं चण्डालहस्तगमनम् अन्त्यजहस्तप्राप्तिः? इह अस्मिन् प्रदेशे कथं वा आगमनम् उपस्थितिः? इति प्रश्नसमाप्तिसूचनार्थः। उपरितना ये प्रश्नाः सन्ति तेषु कतिपये शुकस्नानाहारादिसमये तस्मादेवावगतराजपत्नीनां सेविकानां वा सकाशाद्राज्ञाऽवगताः केचिच्च स्वयमूहिता ज्ञातव्याः, अन्यथा जातिस्मरोऽयं शुक इति ज्ञानाभावे तद्विषयकप्रश्नानुपपत्तिः स्यादित्यवधेयम्।

वैशम्पायनस्त्विति। पुनरर्थे त्विति। तदनन्तरं वैशम्पायनः शुकः सबहुमानं सादरम् उपजातं

इस प्रकार कहते हुए वैशम्पायन को बीच ही में टोककर राजा ने कहा—अच्छा-अच्छा, यह सब तो हुआ अब आप मेरी उत्सुकता मिटाने की कृपा कीजिये! प्रारम्भ से लेकर अबतक अपना पूरा जीवनचरित सुना जाइए! आप ने किस स्थान पर और कैसे जन्म लिया? आप का नामकरण किसने किया? आप के माता-पिता कौन हैं? आप ने वेदों का ज्ञान और शास्त्रों का अभ्यास कैसे प्राप्त किया? सभी कलाएँ कहाँ से सीख लीं? आप में यह अपूर्व स्मरणशक्ति (मेधा) पूर्व जन्म के संस्कारों से आयी है या किसी से वरदान रूप में मिली है? अथवा आप पक्षी के वेश में छिपे हुए कोई महापुरुष (समधीत शास्त्र-चेतन) तो नहीं हैं? आप पहिले (इस पिंजड़े में आने के पहिले) कहाँ रहते थे? आप की अवस्था क्या होगी? आप इस पिंजड़े में कैसे फँस गए? इस चांडाल के हाथ में कैसे पड़े और यहाँ तक कैसे आए?

राजा के अत्यन्त सम्मान के साथ उत्सुक हो कर पूछने पर वैशम्पायन ने कुछ देर सोचकर सादर निवेदन किया—भगवन्! यह कथा तो बड़ी लम्बी है लेकिन यदि आप इतने उत्कण्ठित हैं तो सुनिए—

१. सर्व्वम्। २. का माता। ३. कः पिता। ४. आसादिताः। ५. किंहेतुकः। ६. विहङ्गवेष...। ७. छन्नं। ८. कथं वा। ९. वन्धकिं। १०. चाण्डाल...। ११. कौतूहलम्।

अस्ति पूर्वापर-जलनिधि-वेलावनलग्ना[1] मध्यदेशालङ्कारभूता मेखलेव भुवः, वन-करिकुल-मदजल-सेक-संवर्द्धितैरतिविकच-धवल-कुसुमनिकरमत्युच्चतया तारा-गणमिव[2] शिखरदेशलग्नमुद्वहद्भिः[3] पादपैरुपशोभिता, मदकल-कुररकुल-दश्यमान-मरीचपल्लवा, करि-कलभ-करमृदित-तमालकिसलयामोदिनी, मधुमदोपरक्त-केरली-कपोल-कोमल-च्छविना[4] सञ्चरद्वनदेवता-चरणालक्तक-रस-रञ्जितेनेव पल्लवचयेन[5] संच्छादिता,

समुत्पन्नं कुतूहलं कौतुकं यस्य तेन तथोक्तेन स्वयम् आत्मनैव अवनिपतिना भूपतिना पृष्टः कृतप्रश्नः मुहूर्त्तं क्षणं ध्यात्वा चिन्तयित्वा सादरं सबहुमानं पुनः अब्रवीत् उवाच—देव नाथ! यत्पृष्टं तद्विषयिणी महती विस्तृता इयं कथा वृत्तान्तः। यदि चेत् कौतुकं कौतूहलं तर्हि आकर्ण्यतां श्रूयताम्—

अस्तीति। अस्य दूरस्थेन विन्ध्याटवी-नामेतिकर्तृपदेन सम्बन्धः। तथा च विन्ध्याटवी विन्ध्यारण्यं नाम प्रसिद्धमस्तीत्यर्थः, 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः। इह प्रथमान्तपदानि विन्ध्याटवीविशेषणानि बोध्यानि। पूर्वश्चापरश्च पूर्वापरौ प्राच्यप्रतीच्यदिग्वर्त्तिनौ यौ जलनिधी समुद्रौ तयोः यद्वेलावनं तटविपिनं तावत्पर्यन्तम् अवलग्ना सम्बद्धा, पूर्वसमुद्रतीरतः पश्चिमसमुद्रतीरं यावत्प्रसृतेत्यर्थः। तत्समये विन्ध्यावटी एवंविधैवासीदित्यवधेयम्। मध्यदेशस्य—

'हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥'

इति मनुलक्षितदक्षिणोत्तरयोर्हिमवद्विन्ध्ययोः पूर्वपश्चिमयोश्च प्रयागकुरुक्षेत्रयोश्च मध्यवर्त्तिस्थानस्य अलङ्कारभूता अनेकप्रकारवृक्षलतासिद्धाश्रमादिपूर्णत्वेन भूषणस्वरूपा मध्यभूषणस्वरूपत्वादेव भुवो मेदिन्याः मेखला रशनादामेव 'स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा' इत्यमरः।

वनेति। वने अरण्ये ये करिणो हस्तिनः तेषां कुलानि यूथानि तेषां मदजलस्य दानवारिणः सेकेन संवर्द्धितैः वृद्धिमापादितैः, तथा अत्युच्चतया अत्युन्नततया शिखरदेशलग्नं शिरोभागसंयुक्तं तारागणं नक्षत्रमण्डलमिव अतिविकचानाम् अतिविकसितानां धवलानां शुभ्राणां कुसुमानां पुष्पाणां निकरं समुदायम् उद्वहद्भिः धारणं कुर्वद्भिः पादपैः वृक्षैः उपशोभिता भूषिता। इह 'शिखरदेशलग्नं तारागणमिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा।

मदेति। मदकलैः मदोन्मत्तैः कुरराणां मत्स्यनाशनानां कुलानि समूहाः तैः दश्यमानाः चञ्चुपुटेन संदश्य आस्वाद्यमाना मरिचानां कोलकानां पल्लवाः किसलयानि यस्यां सा 'मरिचं कोलकं कृष्णमूषणं धर्मपत्तनम्' 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः।

करीति। करिणां हस्तिनां कलभाः त्रिंशद्वर्षीयशावकाः 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः, तेषां करैः शुण्डादण्डैः मृदितानि मर्दितानि यानि तमालकिसलयानि तापिच्छपल्लवानि 'तमालस्तिलके खड्गे तापिच्छे वरुणद्रुमे' इति मेदिनी, तेषाम् आमोदः सुगन्धिः विद्यते यस्यां सा तादृशी।

मध्विति। मधु मद्यं तस्य यो मदः पानेन मत्तता तेन उपरक्ताः किञ्चिल्लोहितस्वरूपा ये केरलीनां केरलदेशोत्पन्नानां सुन्दरीणां कपोला गल्लप्रदेशाः तेषामिव कोमला मृद्वी छविः कान्तिर्यस्य तेन, सञ्चरन्तीनाम् इतस्ततो व्रजन्तीनां वनदेवतानाम् अरण्याधिष्ठातृदेवीनां चरणालक्तकरसैः पादस्थितयावकद्रवैः रञ्जितेनेव रक्तीकृतेनेव पल्लवचयेन वृक्षलतानां किसलयसमूहेन सञ्छादिता आच्छादिता। इह

समुद्र के पूर्वी किनारे से पश्चिमी किनारे तक लगी हुई मध्य प्रदेश की शोभा बढ़ानेवाली विन्ध्याटवी नाम के वनों की एक पट्टी फैली हुई है। वह पृथ्वी की करधनी के समान प्रतीत होती है। वह मानों जंगली हाथियों के मदजल से ही सींच कर बढ़ाये गये अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित थी, जिनकी चोटियों पर खिले हुए श्वेत-पुष्पों के समूह ऊँचाई के कारण तारों के समान प्रतीत होते थे। वहाँ कहीं सुन्दर बगुलों की मतवाली टोलियाँ मरिच के पत्ते नोच-नोच खाती थीं, कहीं हाथियों के बच्चों की सूड़ों से मसले गए तमाल के पत्तों से मधुर सुगन्ध निकलती थी, कहीं मदिरा के नशे से लाल हुए केरल की स्त्रियों के कपोलों के समान लाल-लाल सुकुमार पल्लव छाये थे जो वन में घूमनेवाली वनदेवियों के पैरों की महावर से रंगे हुए से प्रतीत होते

१. वेलावलग्ना। २. तारका। ३. प्रदेशसंलग्नम्। ४. 'छविना' इति पाठः क्वचिन्नास्ति।
५. पल्लवप्रचयेन।

शुककुल-दलितदाडिमीफल-द्रवार्द्रीकृत-तलैरतिचपल-कपिकुल-कम्पित[1]-कम्पिल्ल[2]-च्युतपल्लवफल-शकलै[3]: अनवरत-निपतित[4]-कुसुमरेणु पांशुलैः पथिक-जन-रचित-लवङ्गपल्लव-संस्तरै[5]: अतिकठोर नारिकेल[6]-केतकी-करीर-व[7]कुल-परिगत-प्रान्तैः ताम्बूलीलतावनद्ध-पूग-षण्ड-मण्डितैर्वनलक्ष्मी-वासभव[8]नैरिव विराजिता[9] लतामण्डपैः, उन्मद-मातङ्ग-कपोलस्थल-गलित[10]-सलिल[11]-सिक्तेनेव निरन्तरमेख[1]ला[2]लतावनेन मदगन्धिनान्धकारिता, नख-मुख-लग्नेभ-कुम्भ-मुक्ताफल-लुब्धैः शबरसेनापतिभिरभिहन्यमानकेशरिशता प्रेताधिपनगरीव सदा-

'·····कपोलकोमलच्छविना' इत्यत्र लुप्तोपमा, '·····रञ्जितेनेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

शुकेति। शुककुलेन कीरपक्षिसमुदायेन दलितानां चञ्चुपुटेन विदारितानां दाडिमीफलानां द्रवैः रसैः आर्द्रीकृतानि आर्द्रत्वमुपनीतानि तलानि अधोवर्त्तिस्थानानि येषां तैः। इत आरभ्य तृतीयान्तपदानि अग्रिमस्थ'लतामण्डपैः' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। अतिचपलैः अत्यन्तचञ्चलैः कपिकुलैः वानरसमूहैः कम्पितेभ्यः आन्दोलितेभ्यः कम्पिल्लेभ्यः कोशफलवृक्षेभ्यः च्युतानि पतितानि पल्लवफलानां किसलयफलानां शकलानि खण्डानि येषु तैः तथोक्तैः। अनवरतनिपतितानां निरन्तरप्रच्युतानां कुसुमानां पुष्पाणां रेणुभिः परागधूलिभिः पांशुलैः सरजस्कैः। पथिकजनैः पान्थपुरुषैः रचिता उपवेशनार्थं निर्मिता लवङ्गपल्लवानां लवङ्गवृक्षविशेषकिसलयानां संस्तरा आसनानि येषु तैः तथोक्तैः। अतिकठोरा अत्यन्तकठिनाः परिपक्का इत्यर्थः, ये नारिकेला लाङ्गलिवृक्षाः, केतक्यः क्रकचपर्णाः, करीराः पत्रविहीनाः कण्टकसहिता वृक्षविशेषाः, वकुलाश्च तैः परिगताः परितो व्याप्ताः प्रान्ताः पर्यन्तप्रदेशा येषां तैः तथोक्तैः, ताम्बूलीलताभिः नागवल्लीव्रततीभिः अवनद्धं संबद्धं यत् पूगखण्डं क्रमुकवनं तेन मण्डितैः अलंकृतैः, अत एव वनलक्ष्म्या विपिनश्रियः वासभवनैरिव वसतिगृहैरिव लतामण्डपैः वल्लिजनाश्रयैः विराजिता उपशोभमाना।

इह दाडिमीफलद्रवेण मध्यभागस्य आर्द्रीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः, 'वनलक्ष्मीवासभवनैरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा च, द्वयोरपि परस्परनैरपेक्ष्येण स्थितत्वात्संसृष्टिरलङ्कारः।

उन्मदेति। उन्मदानां मदोन्मत्तानां मातङ्गानां गजानां कपोलस्थलेभ्यो गण्डप्रदेशेभ्यो गलितैः च्युतैः सलिलैः मदजलैः सिक्तेनेव सता, अत एव मदगन्धिना गजदानजलगन्ध इव गन्धो यस्मिन् तेन तथोक्तेन, एलालतानां चन्द्रवालावल्लीनां वनेन विपिनेन निरन्तरं सान्द्रं यथा स्यात्तथा अन्धकारिता आच्छादितेत्यर्थः। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

नखेति। नखानां नखराणां मुखेषु अग्रेषु लग्नानि आसक्तानि यानि इभकुम्भमुक्ताफलानि सिंहविदारितगजमस्तकमांसपिण्डोद्भवानि मौक्तिकानि तेषु लुब्धैः लोलुपैः शबराणां किरातानां सेनापतिभिः सैन्याध्यक्षैः अभिहन्यमानं व्यापाद्यमानं केशरिशतं मृगेन्द्रमण्डलं यस्यां सा तथोक्ता।

प्रेतेति। प्रेताधिपस्य यमराजस्य नगरीव संयमिनीपत्तनमिव, सदा सर्वस्मिन् काले सन्निहित-

थे, कहीं स्थान-स्थान पर लताओं की अनेक कुंजें शोभित थीं, जिनमें किसी के बीच की भूमि सुग्गों द्वारा कुतर-कुतर कर गिराये गये अनार-दानों के रस से गीली सी हो गयी थी, किसी के भीतर उछल कूद मचानेवाले बन्दरों से हिलाये गए कक्कोल वृक्षों से गिरे हुए पत्ते और फलों के टुकड़े बिखरे हुए थे, किसी में निरन्तर झड़ने वाली फूलों की धूल पटी हुई थी, किसी में पथिकों ने आराम करने के लिए लवंग-लता के पत्तों की चटाइयाँ बिछा रखी थीं, किसी के किनारों पर अत्यन्त कठोर नारियल, केवड़े, करील और मौलश्री के वृक्ष घिरे थे, किसी में पानकी लताओं से लिपटी हुई सुपारी की झुरमुटें बनलक्ष्मी के महलों के समान प्रतीत होती थीं, कहीं एक में एक सटी हुई सुगन्धित लताओं का घना अन्धकार छाया था जिससे वह बनभूमि मतवाले हाथियों के कपोलों से बहे हुए मदजल से सिंची हुई सी प्रतीत होती थी, कहीं गजमोतियों की लालच से भीलों के सेनापति हाथी के बच्चों के मस्तकों से फाड़ कर निकाले गए मोतियों को नाखूनों की कोरों में भरे हुए सैकड़ों

१. कम्पित इत्यपि पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते। २. कक्कोल, कङ्कोल। ३. शबलैः। ४. धूलीलतावनद्धकुसुम। ५. स्रस्तरैः। ६. नालिकेर, करिकेसर। ७. 'करीरबकुल' इति पाठः क्वचित्पुस्तके नास्ति। ८. वासभुवनैरिव। ९. विराजितमण्डपैः। १० स्रवण, प्रस्रवण, सलिलप्रस्रवण। ११. मदसलिल। १२ निरन्तरमेखला।

सन्निहितमृत्यु-भीषणा महिषाधिष्ठिता च, समरोद्यतपताकिनीव[1] बाणासनारोपितशिलीमुखा[2] विमुक्त-सिंहनादा च, कात्यायनीव प्रचलितखड्गभीषणा रक्तचन्दनालङ्कृता च, कर्णी-सुतकथेव सन्निहित-विपुलाचला शशोपगता च, कल्पान्तप्रदोषसन्ध्येव प्रनृत्यन्नीलकण्ठा[4] पल्लवारुणा च, अमृतमथनवेलेव श्रीद्रुमोपशोभिता वारुणी[5]-परिगता च, प्रावृडिव घनश्या-

समीपवर्त्ती मृत्युः यमः तेन भीषणा भयदायिनी पक्षे—व्याघ्रादिहिंसकवर्गैराक्रमणसम्भवात् भीषणा भयकारिणी, महिषो यमस्य वाहनं तेन अधिष्ठिता सहिता, पक्षे—महिषैः वन्यसैरिभैः अधिष्ठिता व्याप्ता च 'लुलायो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभाः' इत्यमरः। इतः प्रभृति 'क्वचिद्गृहीतव्रतेव' इत्यन्तं यावत् साधारणधर्मादिसद्भावात्पूर्णोपमालङ्कारः।

समरोद्यतेति। समरे युद्धे उद्यता प्रवृत्ता या पताकिनी सेना तद्वदिव बाणासनेषु चापेषु आरोपिताः संस्थापिताः शिलीमुखा लोहखण्डाः शरा इत्यर्थः, यया सा तथोक्ता, तथा विमुक्तः परित्यक्तः सुभटैर्विहित इत्यर्थः, सिंहनादः क्ष्वेडा इव नादो यया सा, पक्षे—बाणासु नीलीझिण्टीषु असनेषु पीतशालेषु च तरुषु आरोपिताः पुष्पसौगन्ध्यात् स्थापिताः शिलीमुखा भ्रमरा यया सा तथोक्ता।

कात्यायनीति। कात्यायनी सिंहवाहिनी दुर्गेव, प्रचलितेन हननाय चञ्चलीभूतेन खड्गेन असिना भीषणा भयानका, तथा रक्तचन्दनानुलेपनेन अलङ्कृता भूषिता इयमपि प्रचलितैः इतस्ततः सेनाप्रकर्षेण सञ्चरद्भिः खड्गैः गण्डकैः भीषणा तथा रक्तचन्दनैः तत्संज्ञकतरुभिः अलङ्कृतेत्युभयोः साम्यम्।

कर्णीति। कर्णीसुतः चौर्यशास्त्रप्रवर्तकः क्षत्रियविशेषः तस्य कथा वृत्तान्तः तद्वदिव, सन्निहितौ निकटवर्त्तिनौ विपुलाचलौ तत्संज्ञकौ सखायौ यस्यां सा तादृशी तथा शशेन शशसंज्ञकेन सचिवेन उपगता विशिष्टा, तथा च बृहत्कथायाम्—

'कर्णीसुतः करटकः स्तेयशास्त्रप्रवर्तकः। तस्य ख्यातौ सखायौ द्वौ विपुलाचलसंज्ञितौ॥
शशो मन्त्रिवरस्तस्य'

पक्षे—सन्निहिताः समीपवर्त्तिनः विपुला विस्तृताः अचलाः पर्वता यस्यां सा तादृशी, तथा शशैः मृदुलोमकैः लोध्रवृक्षैर्वा उपगता सहितेत्युभयोः साम्यम्। 'शशो लोध्रे नृभेदे च पशौ' इत्यनेकार्थः।

कल्पान्तेति। कल्पान्ते युगान्ते प्रदोषो रजनीमुखं तस्य या सन्ध्या सायं समयस्तद्वदिव, प्रनृत्यन् संसारसंहारप्रमोदेन नटन् नीलकण्ठो महादेवो यस्यां सा तथोक्ता तथा पल्लवः किसलयस्तद्वत् अरुणा रक्ता, पक्षे—प्रनृत्यन्तः मदेन नटन्तो नीलकण्ठा मयूरा यस्यां सा तथा पल्लवैः अनेकविधलताकिसलयैः अरुणा उपरि रक्तरूपा।

अमृतेति। अमृताय सुधायै 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः, यन्मन्थनं क्षीरसमुद्रस्य विलोडनं तस्य वेला समय इव, श्रिया लक्ष्म्या द्रुमेण कल्पद्रुमेण नामैकदेशग्रहणेन नामग्रहणं बोध्यम्, उपशोभिता उपर-ञ्जिता, वारुणीं सुरां परिगता सहिता, तस्या अपि तत्समये ततो जातत्वात्, पक्षे—श्रीद्रुमैः बिल्ववृक्षैः उपशोभिता, वारुणीं पश्चिमां दिशं परिगता सामस्त्येन प्राप्ता भारतवर्षस्य पश्चिमप्रान्तपर्यन्तं व्याप्तत्वात्।

शेरों का शिकार करते रहते थे, कहीं सर्प व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं और भैंसों से भरी हुई वह वनभूमि भयंकर यमराज और उनके वाहन भैंसों से युक्त यमपुरी के समान प्रतीत होती थी, कहीं भौंरों से ढकी हुई बाण और असना के वृक्षों की पंक्तियाँ थीं जिनमें सिंहों की दहाड़ होती रहती थी जिससे वह वनभूमि धनुष पर बाण चढ़ाकर युद्ध के लिए तैयार गरजती हुई सेना के समान प्रतीत होती थी, कहीं लाल चन्दनों के वृक्षों में इधर उधर गैंड़े घूमा करते थे, जिससे वह रक्त चंदन और तलवार धारण करने वाली भगवती दुर्गा के समान प्रतीत होती थी, कहीं कनेरों से भरी विस्तृत पहाड़ों की श्रेणिओं में खरहे स्वच्छन्दता से विचरण किया करते थे अथवा कहीं कनेरों से पूर्ण पहाड़ों के फैले हुए अँचलों में लोध के अनेक वृक्ष झूमा करते थे जिससे वह विपुल और अचल नाम के मित्रों तथा शश नाम के प्रधान मंत्री से युक्त कर्णीसुत ( चौर्य शास्त्र के प्रणेता ) की कथा के समान प्रतीत होती थी, कहीं लाल-लाल पल्लवों की झुरमुटों में मोर थिरकते रहते थे जिससे वह भगवान् शंकर के तांडव नृत्य से युक्त लीला से भरी हुई प्रलयकालीन सन्ध्या के समान प्रतीत होती थी, कहीं इधर-उधर बेल और वारुणी वृक्ष घिरे थे जिससे वह लक्ष्मी, पारिजात और मदिरा से सुशोभित अमृत मंथन की

१.…सेनेव। २. समारोपित। ३. विविक्त। ४. प्रनृत्तनीलकण्ठा। ५. वारुण।

मला अनेकशतह्रदालङ्कृता च, चन्द्रमूर्त्तिरिव सततमृक्षसार्थानुगता हरिणाध्यासिता च, राज्यस्थितिरिव चमरमृग-बालव्यजनोपशोभिता समदगजघटा-परिपालिता च, गिरितनयेव स्थाणुसङ्गता मृगपतिसेविता च, जानकीव प्रसूतकुशलवा निशाचरपरि[1]गृहीता च, कामिनीव चन्दन-मृगमदपरिमलवाहिनी रुचिरा[2]गुरु-तिलकभूषिता च, सोत्कण्[3]ठेव विविधपल्लवा-

प्रावृडिति। प्रावृट् वर्षा समय इव, घनैर्मेघैः श्यामला कृष्णवर्णा तथा अनेकाभिः शतह्रदाभिः तडिद्भिः अलङ्कृता मण्डिता, पक्षे— घना वृक्षादिभिः सान्द्रा चासौ अत एव श्यामला अत्यन्तकृष्णा तथा अनेका भिन्नाभिन्नस्वरूपाः शतह्रदा जलवालिकाः ताभिः अलङ्कृता।

चन्द्रेति। चन्द्रस्य मूर्त्तिः शरीरमिव, सततं निरन्तरम् ऋक्षाणि ताराः तेषां सार्थः समूहः तेन अनुगता परिवेष्टिता, हरिणेन मृगचिह्नेन अध्यासिता आश्रिता। पक्षे— सततम् ऋक्षा भल्लूकाः तेषां सार्थः समुदायः तेन अनुगता व्याप्ता, हरिणैर्मृगैः अध्यासिता।

राज्येति। राज्यस्थितिः राज्यमर्यादा इव, चमरमृगाणां बालाः चामराणि व्यजनानि तालवृन्तानि च तैरुपशोभिता, तथा समदाभिः मदेन सह वर्त्तमानाभिः गजघटाभिः करिमण्डलैः परिपालिता परिरक्षिता। पक्षे— चमरमृगाणां बाला लोमान्येव व्यजनानि तैः तथोक्तैः 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः, अन्यत्पूर्ववदेव।

गिरीति। गिरितनया हिमाचलसुता पार्वती तद्वदिव, स्थाणुना रुद्रेण 'स्थाणू रुद्र उमापतिः' इत्यमरः, सङ्गता मिलिता, तथा मृगपतिना वाहनीभूतसिंहेन सेविता वाहनेन शुश्रूषिता, पक्षे—स्थाणुभिः शाखापत्रादिशून्यतरुभिः सङ्गता, तथा मृगपतिभिः सिंहैः सेविता आश्रिता।

जानकीति। जानकी मैथिलात्मजा सीता तद्वदिव, प्रसूतौ गर्भाद्विमुक्तौ कुशलवौ तन्नामकसुतौ यया सा तथोक्ता, निशाचरेण लङ्काधिपतिना रावणेन परिगृहीता पञ्चवटीतोऽपहृता, पक्षे—प्रसूता जनिताः कुशानां बर्हिषां लवा अङ्कुरा यस्यां सा तथोक्ता, निशाचरैः उलूकादिपक्षिभिः परिगृहीता आश्रिता।

कामिनीति। कामिनी शृङ्गारनायिका तद्वदिव, चन्दनानुलेपन-मृगमदानुलेपनाभ्यां परिमलं सौगन्ध्यं वहति धारयतीत्येवंशीला, तथा रुचिरागुरुणा सुन्दरकाकतुण्डसौगन्ध्येन तिलकेन भालपट्टादौ सिन्दूरादिपुण्ड्रकेण भूषिता अलङ्कृता, पक्षे— चन्दनानां वृक्षाणां मृगमदानां कस्तूरीणाञ्च सम्बन्धात् परिमलं सौगन्ध्यं वहति खनित्वादाधारत्वाच्च दधातीत्येवं शीला, तथा रुचिराभ्यां मनोहराभ्याम् अगुरुतिलकाभ्याम् आमोदितरुविशेषपुष्पतरुविशेषाभ्यां भूषिता शोभिता।

सोत्कण्ठेति। सोत्कण्ठा कान्तप्राप्तिसमुत्सुका नायिका तद्वदिव, विविधानाम् अनेकप्रकाराणां पल्लवानां किसलयानाम् अनिलैः पवनैः वीजिता सहचरीभिः मदनव्यथापनोदाय स्पर्शिता, पक्षे—स्वभावतः स्पृष्टा च, मदनेन कामेन मदनैः तदाख्यतरुविशेषैश्च सह वर्तमाना संयुक्ता।

बेला के समान प्रतीत होती थी, कहीं अत्यन्त घने वृक्षों की नीलिमा के बीच बीच निर्मल जल से भरी अनेक तलैयाँ सुशोभित थीं जिससे वह बिजलियों से युक्त काले बादलों की घटा के समान प्रतीत होती थी, कहीं रीछों का आवगमन होता रहता था और कहीं हरिन चौकड़ियाँ भरा करते थे जिससे वह नक्षत्रों से घिरी और मृग के चिह्नों से सुशोभित चन्द्रमा की मूर्ति के समान प्रतीत होती थी, कहीं पूँछ डुलाती हुई चँवरी मृगियाँ घूमती रहती थीं और कहीं मतवाले हाथियों की कतारें खड़ी रहती थीं जिससे वह ऐसी प्रतीत होती थी मानों चँवरों से सुशोभित और हाथियों से रक्षित राज्य की मर्यादा हो, कहीं ठूँठे वृक्षों के बीच सिंह घूमते रहते थे जिससे वह भगवान् शंकर के साथ-साथ घूमनेवाली सिंहवाहिनी भगवती पार्वती के समान सुशोभित होती थी, कहीं की भूमि कुशों के अंकुरों से ढकी हुई थी जिनमें उल्लुओं ने अपना बसेरा बना रखा था जिससे वह कुश-लव को जन्म देनेवाली रावण के फन्दे में पड़ी देवी जानकी के समान प्रतीत होती थी, कहीं चन्दन और कस्तूरी की गन्ध उठती रहती थी और कहीं अगरु और तिलक के अनेक वृक्ष उगे थे जिससे वह ऐसी प्रतीत होती थी मानों चन्दन और कस्तूरी का लेप किए हुए अगरु का तिलक लगाने वाली कोई सुन्दरी हो, कहीं मन्द-मन्द वायु में पल्लव हिलोरें लेते रहते थे और कहीं मदन के अनेक वृक्ष लगे थे जिससे वहाँ अत्यन्त शीतलता छायी रहती थी; इसलिए वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो किसी कामातुरा उत्कंठिता नायिका पर पल्लवों का पंखा झल

१. पतिगृहीता। २. कृष्णागुरु···। ३. सोत्कण्ठवनितेव।

निलवीजिता समदना च, बालग्रीवेव व्याघ्रनखपङ्क्ति[1]मण्डिता गण्डकाभरणा च, पा[2]नभूमिरिव प्रकटित-मधुकोशांक[3]-शता प्रकीर्णविविधकुसुमा च, क्वचित् प्रलयवेलेव महावराह-दंष्ट्रा समुत्खात-धरणिमण्डला, क्वचिद्दशमुखनगरीव चटुलवानरवृन्द-भज्यमान-तुङ्ग[4]-शालाकुला, क्वचिदचिर-निर्वृत्त-विवाहभूमिरिव हरित-कुश-समित्-कुसुम-शमी-पलाश-शोभिता, क्वचिदुन्मत्त[5]-मृगपति-नाद-भीतेव कण्टकिता, क्वचिन्मत्तेव कोकिलकुल-कल-

बालेति। बालाः स्तनन्धयाः तेषां ग्रीवा गलदेशाः तद्वदिव, व्याघ्राः शार्दूलाः तेषां नखाः पुनर्भवाः तेषां पङ्क्तिभिः श्रेणिभिः मण्डिता भूषिता 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी लेखास्तु राजयः' इत्यमरः, बालानां गलदेशेषु दैवोत्पातरक्षार्थं व्याघ्रनखपङ्क्त्यो बध्यन्त इति सम्प्रदायः; तथा च—श्रीमद्भागवते—'शार्दूलदिव्यनखभूषणभूषिताय नन्दात्मजाय' इति। गण्डकः तत्तद्देशविशेषविख्यातो गण्डस्थलपर्यन्तवर्त्तिभूषणविशेष आभरणम् अलङ्करणं यस्यां सा, पक्षे—व्याघ्रनखपङ्क्तिभिः पर्यटनसमयोत्पन्ननखचिह्नावलीभिः मण्डिता, गण्डका वार्ध्रीणसाः त एव आभरणानि भूषणानि यस्याः सा तथोक्ता।

पानेति। पानभूमिः मद्यपानार्थस्थानं तद्वदिव, प्रकटितं पानाय द्योतितं मधु मद्यं तस्य कोशकानि पानपात्राणि यस्यां सा तथोक्ता, तथा प्रकीर्णानि पर्यस्तानि विविधानि अनेकप्रकाराणि कुसुमानि पुष्पाणि यस्यां सा, पक्षे—प्रकटितं प्रकाशितं मधूनां पुष्परसानां माक्षिकाणामित्यर्थः, कोशानां तदाश्रयाणाञ्च शतं यस्यां सा, अन्यत्तुल्यमेव।

क्वचिदिति। क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे एवमग्रेऽपि। प्रलयः सर्वत्र जलमयः तस्य वेला अवसरः तद्वदिव, महावराहेण परमेश्वरतृतीयावतारेण दंष्ट्रया दन्तेन समुत्खातं जलादूर्ध्वमानीतं धरणिमण्डलं समस्तपृथ्वीमण्डलं यस्यां सा तथोक्ता, महावराहैः पृथुलशूकरैः दंष्ट्राभिः दशनैः समुत्खातं विदारितं धरणिमण्डलं भूप्रदेशो यस्याः सा 'वराहः शूकरो घृष्टिः' इत्यमरः।

प्रलयसमये परमेश्वरो हि वराहमूर्त्तिमाश्रित्य सलिलमग्नां भुवमूर्ध्वमानीतवानिति पौराणिकी वार्ता।

क्वचिदिति। दशमुखस्य रावणस्य नगरी लङ्कापुरी तद्वदिव, चटुलाः चञ्चला ये वानराः शाखामृगाः तेषां वृन्देन समूहेन भज्यमानाः त्रोट्यमानाः तुङ्गा उन्नता याः शाला भवनैकदेशाः ताभिः आकुला व्याप्ता, पक्षे—चटुलवानरवृन्देन भज्यमानास्तुङ्गा उच्चशाला भवनानि ताभिः आकुला व्याकुला। रामरावणयोः संग्रामकाले कपिवृन्देन लङ्काया भवनसमूहो नाशित आसीदिति रामायणीया कथा।

क्वचिदिति। अचिरनिर्वृत्तः तत्कालनिष्पन्नो यो विवाहः परिणयः तस्य भूमिः स्थानं तद्वदिव, हरिता नीलवर्णा ये कुशा दर्भाः, समिधो यज्ञीयकाष्ठानि, कुसुमानि पुष्पाणि, शमी शिवा, पलाशा ब्रह्मवृक्षाः तैः शोभिता भूषिता, पक्षेऽपि तुल्यमेव।

क्वचिदिति। उन्मत्तो मदमत्तो यो मृगपतिः सिंहः तस्य नादेन गर्जितेन भीतेव त्रस्ता सुन्दरीव, कण्टको रोमाञ्चः सञ्जातोऽस्या इति कण्टकिता, पक्षे—कण्टकयुक्ता च।

क्वचिदिति। मत्ता मधुपानेनोन्मत्ता-नायिकेव, कोकिलकुलवत् पिकसमूहवत् कलम् अस्फुटमधुरं

कर शीतोपचार किया जा रहा हो, कहीं बाघों के इधर-उधर घूमने से उनके नखों के चिह्न उभड़े थे, कहीं गैंड़े इधर-उधर आते जाते थे जिससे वह बघनखों और गंडों से सुशोभित बालकों के गले के समान प्रतीत होती थी, कहीं-कहीं मधु के छत्ते पड़े थे जिनमें सैकड़ों मधु से भरी जालियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानों मदिरा से भरे सैकड़ों सकोरे हों और कहीं इधर-उधर तरह-तरह के फूल बिखरे थे मानो मदिरा की बूँदें टपकी हों जिससे वह भूमि मदिरा पीने की जगह के समान प्रतीत होती थी, कहीं-कहीं जंगली सूअरों ने अपने दाढ़ों से भूमि खोद खोदकर डूहे बना दिए थे जिससे वह दाढ़ों पर पृथ्वी उठानेवाले भगवान् बराह जैसे लगते थे और उनसे सुशोभित वह भूमि प्रलय की बेला के समान प्रतीत होती थी, कहीं कुश, समिधा ( हवन की लकड़ियाँ ) फूल, शमी और पलाश के पत्ते पड़े थे जिससे वह भूमि ऐसी विवाह-वेदिका के समान प्रतीत होती थी जहाँ शीघ्र ही विवाहकार्य सम्पन्न हुआ हो, कहीं चञ्चल बन्दरों ने ऊँचे ऊँचे शाल वृक्षों को तोड़ डाला था जिससे उन वृक्षों से भरी हुई वह भूमि ऐसी प्रतीत होती थी मानों बन्दरों द्वारा तोड़ी गयी अँटारियों से भरी रावण की नगरी लंका हो। कहीं कांटो से भरी हुई झाड़ियों में भयभीत करनेवाली सिंह की दहाड़ होती रहती थी जिससे वह

१. पदपङ्क्तिमण्डिता। २. आपान। ३. कोशशता। ४.…शृङ्ग…उत्तुङ्ग। ५. उद्वृत्त…।

प्रलापिनी, क्वचिदुन्मत्तेव वायुवेग-कृत-तालशब्दा, क्वचिद्विधवेव उन्मुक्ततालपत्रा, क्वचित् समरभूमिरिव शर-शत-निचिता, क्वचिदमरपति-तनुरिव नेत्रसहस्र-सङ्कुला, क्वचिन्नारायणमूर्त्तिरिव तमालनीला, क्वचित् पार्थरथपताकेव वानराक्रान्ता, क्वचिदवनिपति-द्वारभूमिरिव वेत्रलताशतदुष्प्रवेशा, क्वचिद्विराटनगरीव कीचकशतावृता, क्वचिदम्बरश्रीरिव

प्रलपितुम् उन्मत्तवशात् अनर्थकं वक्तुं शीलं यस्याः सा, पक्षे—कोकिलकुलस्य पिकमण्डलस्य कलप्रलापोऽस्फुटमञ्जुलध्वनिरस्या अस्तीति सा तादृशी।

क्वचिदिति। उन्मत्ता उन्मादवातव्याधियुक्ता स्त्रीव, वायुवेगेन व्याधिरूपपवनबाहुल्येन कृता विहिताः तालशब्दाः करतलध्वनयो यया सा, पक्षे—वायुवेगेन पवनाधिक्येन कृताः तालानां तालतरूणां शब्दा यस्यां सा तादृशी।

क्वचिदिति। विगतो विनष्टो धवः पतिर्यस्याः सा सुन्दरीव, उन्मुक्तं स्वामिमरणात् परित्यक्तं तालपत्रं ताटङ्कः कर्णाभरणविशेषो यया सा तादृशी, पक्षे—उन्मुक्तानि युगान्तपवनाधिक्येन पातितानि तालानां तालतरूणां पत्राणि पर्णानि यस्यां सा तादृशी 'पत्रं पलाशं छदनं दलः पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः।

क्वचिदिति। समरो युद्धं तस्य भूमिः स्थानमिव, शराणां मुञ्जदण्डानां बाणानाञ्च शतेन समुदायेन निचिता व्याप्ता।

क्वचिदिति। अमराणां देवानाम् 'अमरा निर्जरा देवा' इत्यमरः, पतिः प्रभुः इन्द्रः तस्य तनुः शरीरमिव, नेत्राणां लोचनानां तरुमूलानाञ्च यद्वा—जटानां सहस्रं तेन सङ्कुला व्याप्ता। 'जटांशुकयोर्नेत्रम्' इत्यमरः, 'नेत्रं मन्थगुणे वस्त्रभेदे मूले द्रुमस्य च' इति मेदिनी।

क्वचिदिति। नारायणस्य श्रीकृष्णस्य मूर्त्तिः शरीरमिव, तमालं तापिच्छं तद्वन्नीला श्यामवर्णा, पक्षे—तन्नामकवृक्षैः नीला।

क्वचिदिति। पार्थोऽर्जुनः तस्य रथस्य पताका वैजयन्तीव 'पताका वैजयन्ती स्यात्' इत्यमरः, वानरेण हनूमता वानरैः शाखामृगैश्च आक्रान्ता अधिष्ठिता।

क्वचिदिति। अवनिः पृथ्वी तस्याः पतिः स्वामी राजेत्यर्थः, तस्य द्वारभूमिरिव, वेत्राणि वेतसा लता वल्लयश्च तासां शतं समूहस्तेन द्वारपालहस्तगतवेत्रयष्टिसमूहेनेत्यर्थः, दुष्प्रवेशा दुःखेन प्रवेष्टुं योग्या, अन्यपक्षेऽपि तुल्यम्।

क्वचिदिति। विराटस्य मत्स्याधिपतेः नगरी पुरीव, कीचकशतेन स्वप्रियबान्धवकीचकसमूहेन राजश्यालकेन, पक्षे—कीचकाः सरन्ध्रवेणवः छिद्रेषु वायुप्रवेशेन शब्दायमानवंशगणा इत्यर्थः, तैः आवृता व्याप्ताः 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः।

क्वचिदिति। अम्बरम् आकाशं तस्य श्रीर्लक्ष्मीरिव, व्याधेन व्याधरूपधारिणा शिवेन अनुगम्यमानम्

उस दहाड़ से डर कर रोमाञ्चित सी प्रतीत होती थी, कहीं मधु पी-पीकर मतवाली कोयलें मधुर कूक मचाए रहती थीं जिससे वह मदिरा पीकर बड़बड़ानेवाली मतवाली स्त्री के समान प्रतीत होती थी, कहीं वायु के थपेड़ों से ताड़ के पत्ते खड़खड़ाया करते थे जिससे वह बात-बात में तालियाँ पीट-पीट कर ठट्ठा मारने वाली पगली के समान प्रतीत होती थी, कहीं ताड़ वृक्षों के पत्ते टूट-टूटकर गिर पड़े थे जिससे वह कर्णफूल से रहित विधवा के समान प्रतीत होती थी, कहीं सैकड़ों शरपत्रों ( सरकंडा नाम का पौधा ) से भरी होने के कारण वह बाणों से भरी युद्ध भूमि के समान दिखाई पड़ती थी, कहीं हजारों नेत्र नाम के वृक्षों के कारण वह हजार नेत्रों वाले भगवान् इन्द्र के शरीर के समान प्रतीत होती थी, कहीं चारों ओर तमाल वृक्षों की घनी नीलिमा के कारण भगवान् नारायण की मूर्ति के समान प्रतीत होती थी, कहीं बन्दरों से भरी होने के कारण बन्दर की छाप लगी अर्जुन के रथ की पताका के समान प्रतीत हो रही थी, कहीं बेंतों की लताओं के कारण उसमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था जिससे वह सैकड़ों बेंतधारी द्वार-पालों से घिरी राज-महलों की देहली के समान प्रतीत होती थी, कहीं सैकड़ों बाँसों की झाड़ियाँ लगी हुई थी जिससे वह कीचकों से भरी विराट की नगरी के समान प्रतीत होती थी, कहीं घने जंगलों में बहेलिये भय से चञ्चल नेत्रोंवाले हरिनों का पीछा करते थे

१. कम्पाक्रान्ता, कप्याक्रान्ता। २. अमरपति। ३. कीचकावृता, कीचकाकुला।

व्याधानुगम्यमान-तरल-तारक-मृगा, क्वचिद्गृहीतव्रतेव दर्भ-चीर-जटा-वल्कल-धारिणी, अपरिमित-बहलपत्रसञ्चयाऽपि सप्तपर्णभूषिता, क्रूरसत्त्वाऽपि मुनिजनसेविता, पुष्पवत्यपि पवित्रा विन्ध्याटवी नाम ।

तस्याञ्च दण्डकारण्यान्तःपाति सकलभुवनविख्यातम् उत्पत्तिक्षेत्रमिव भगवतो धर्मस्य, सुरपति-प्रार्थना-पीत-सकल-सागर-सलिलस्य मेरु-मत्सरादम्बरतल-प्रसारित-शिरःसहस्रेण

---

अनुव्रज्यमानम् अत एव तरलं त्रासेन चलं तारकमृगं मृगशिरोनक्षत्रं यस्यां सा तथोक्ता, पक्षे—व्याधैः भिल्लैः अनुगम्यमानाः, अत एव तरला भयेन लोलाश्चञ्चलाः तारका लोचनकनीनिका येषां ते तथोक्ता मृगा हरिणा यस्यां सा तादृशी । पुरा प्रजापतिः परमसुन्दरीं स्वतनयां सन्ध्यां निरीक्ष्य कामान्धस्ता-मन्वधावत्, स्वधर्मं रिरक्षिषुः सा पुत्री तु हरिणीस्वरूपमाश्रित्य पलायमाना महादेवशरणं गतवती, प्रजापतिरपि हरिणस्वरूपमाश्रित्य तत्राप्यनुजगाम, महादेवस्तु तन्निरीक्ष्य प्रजापतेः शिरःकर्त्तनाय स्वध-नुषा बाणं मुक्तवान्, तदा तु प्रजापतिरत्यन्तं लज्जितस्त्रस्तश्च सन् मृगशिरोनक्षत्रे प्रविष्टवान् शिवस्य बाणोऽपि आर्द्रानक्षत्रस्वरूपेण तदन्वतिष्ठदिति शिवपुराणीया कथाऽनुसन्धेया ।

क्वचिदिति । गृहीतं स्वीकृतं व्रतं नियमो यया सैवंविधा सुन्दरीव, दर्भाः कुशाः, चीराणि जीर्णव-सनखण्डानि, जटाः संहतकेशाः 'शिफाजटे संहतौ कचौ' इत्यनेकार्थः, वल्कलानि च परिधेयानि परिधार-यितुं शीलं यस्याः सा तथोक्ता, पक्षे—दर्भाः कुशाः, चीराः तृणविशेषाः, जटाः मूलानि वल्कलानि च धार-यितुं शीलं यस्याः सा तादृशी 'मूले लग्नकचे जटा' इत्यमरः ।

अपरीति । अपरिमितानि सङ्ख्याक्रान्तानि बहलानि सघनानि पत्राणि दलानि तेषां सञ्चयः समूहो यस्यां सा तथोक्ताऽपि सप्तभिः पर्णैः भूषितेति विरोधः, सप्तपर्णसंज्ञकतरुभिर्विराजितेति तत्परिहारः । यत्र 'विरोध इव भासेत विरोधोऽसौ' इति लक्षणेन विरोधाभासोऽलङ्कारः । एवमग्रेऽपि । क्रूरसत्त्वेति । क्रूरं दुष्टं सत्त्वं हृदयं यस्याः सा तथोक्तापि मुनिजनसेवितेति विरोधः 'सत्त्वं द्रव्ये गुणे चित्ते व्यवसायस्वभा-वयोः' इत्यनेकार्थः, क्रूराः हिंस्राः सत्त्वा व्याघ्रादिप्राणिनो यस्यां सा तादृशीति तत्परिहारः । तथा पुष्प-वती रजोधर्मवत्यपि पवित्रेति विरोधः, पुष्पाणि प्रसूनानि अस्याः सन्तीति तत्परिहारः ।

तस्याञ्चेति । तस्यां विन्ध्याटव्याम् अगस्त्यस्य कुम्भयोनेः आश्रमपदं तपोभूमिः आसीदिति वक्ष्य-माणेन सम्बन्धः । इह प्रथमान्तानि पदानि आश्रमस्य विशेषणानि । दण्डकारण्यस्य दण्डकसंज्ञकवनस्य अन्तःपाति तन्मध्यवर्ति । अत्रेदमितिवृत्तम्—सूर्यवंशीयः कश्चन दण्डको नाम भूपतिः शुक्राचार्यगुरोः अरजाख्यां पुत्रीं बलात्कारेण धर्षितवान्, तच्छ्रुत्वातीव कुपितः शुक्राचार्यस्तं नृपमभिशशाप—'त्वं विन-श्यसि, अद्यारभ्य सप्तदिनाभ्यन्तरे चेदं राज्यं महावनतया परिणतं भविष्यती'ति । तच्च विन्ध्याचल-शिखरप्रदेशस्थं राज्यं दण्डकारण्यं सञ्जातमिति । रामायणे प्रसिद्धमेतत् ।

सकलेति । सकलानि समस्तानि यानि भुवनानि भूर्भुव आदीनि तेषु विख्यातं प्रसिद्धम् । भगवतो माहात्म्यवतो धर्मस्य सुकृतस्य उत्पत्तिक्षेत्रमिव जन्मभूमिरिव, तत्र सर्वप्रकारधर्मोत्पत्तेरित्याशयः । अत्र जात्युत्प्रेक्षा, सा च भावाभिमानिनी वाच्येत्यवगन्तव्या ।

सुरेति । सुरपतिः इन्द्रः तस्य प्रार्थनया याचनया पीतानि चुलुकीकृतानि सकलसागराणां समस्त-

---

जिससे वह ऐसी प्रतीत होती थी मानों व्याध-रूपधारी भगवान् शंकर से खदेड़े गए मृगशिरा से शोभित आकाश की लक्ष्मी हो, कहीं कुश, चीर ( चीड़ नाम का वृक्ष ) जटाओं और छालों के कारण वह ऐसी प्रतीत होती थी मानों कुश की लंगोटी मारे तथा वल्कलों की काछनी काछे कोई जटाधारिणी तपस्विनी हो, कहीं अत्यन्त घने पत्तोंवाले छितवन के वृक्षों से भरी होने के कारण वह असंख्य पल्लवा होते हुए भी सप्तपर्णा प्रतीत होती थी । यद्यपि उसमें दुष्ट प्राणियों के समान अनेक हिंसक जन्तु भरे थे; किन्तु उसमें अनेक मुनियों के आश्रम भी स्थित थे । यद्यपि वह फूलों से लदी होने के कारण रजस्वला स्त्री सी प्रतीत होती थी; किन्तु वह अत्यन्त पवित्र भी थी ।

उस विन्ध्याटवी में दंडक वन के बीच सभी लोकों में प्रसिद्ध भगवान धर्मराज की जन्मभूमि के समान महर्षि अगस्त्य का पवित्र आश्रम था, जिन्होंने भगवान इन्द्र की प्रार्थना पर समुद्र का सभी जल ही पी

---

१. बहुल । २. सप्तपर्णोपभूषिता । ३. भुवनख्यातम्, भुवनतलख्यातम् । ४. निपीत । ५···जलस्य । ६. मेरुशिखर । ७. गगनतल··· । ८. शिखरस्थ ।

दिवसकर-रथगमन[1]-पथमपनेतुमभ्युद्यतेन अवगणित-सकलसुर[2]-वचसा विन्ध्यगिरिणाऽप्य-नुल्लङ्घिता[3]ज्ञस्य जठरानल-जीर्ण-वातापिदानवस्य, सुरासुर-मुकुट[4]-मकरपत्र-कोटि-चुम्बित-चरण-रजसो दक्षिणाशा-वधू[5]-मुख-विशेषकस्य, सुरलोकादेकहुङ्कारनिपा[6]तित-नहुष-प्रकट[7]-

---

समुद्राणां जलानि सलिलानि येन तस्य । इत आरभ्य षष्ठ्यन्तानि पदानि ऋषेर्विशेषणानि । पुरा लोकान् पीडयितुं कालेयाख्याः केचनासुरा दिनपर्यन्तं समुद्रजलेऽन्तर्हिताः सन्तो निशि बहिरागत्य लोकद्वय-मत्यन्तमुपद्रुतञ्चक्रुः । तद्विनाशाय नितरां चेखिद्यमानो देवाधिपतिरगस्त्यशरणं ययौ । बहुधा प्रार्थितो भगवानगस्त्यो निखिलसमुद्रसलिलानि चुलुके कृत्वा पपाविति महाभारतीया कथात्रानुसन्धेया ।

मेर्विति । मेरोः सुवर्णाद्रेः मत्सरात् उन्नतिविषयकशुभद्वेषात् 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषः' इत्यमरः, अम्ब-रतले आकाशतले प्रसारितानि विस्तारितानि विकटानि बृहन्ति यानि शिरांसि मस्तकानि तेषां सहस्रं समूहो येन स तेन, दिवसकरस्य सूर्यस्य रथगमनपथं स्यन्दनगमनमार्गम् 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यच् प्रत्ययः, अपनेतुं निरसितुम् अभ्युद्यतेन प्रवृत्तेन, तथा अवगणितानि अनादृतानि सकलानां समस्तानां देवानां सुराणां वचांसि दिवसाधिपतेः गतिमार्गावरोधनिषेधकवाक्यानि येन तेन विन्ध्यगिरिणाऽपि जल-वालकाद्रिणापि अनुल्लङ्घिता अनतिक्रान्ता सम्मानिता आज्ञा आदेशो यस्य तस्य तादृशस्य ।

पुरा पर्यटन् नारदो योगी विन्ध्याचलमासादयामास, अथ तेन कृतातिथ्यो नारदस्तं गिरिं प्रत्यु-वाच—गिरिमणे ! प्रतिदिनं सूर्यो हि सुमेरुं परिभ्रमति त्वां नेति नितरां चेखिद्यते मे चेतः, अतस्तदर्थं यतस्वेत्यभिधाय निर्गते तस्मिन् तथैवात्मानं विधातुं सूर्यमनुरुन्धन् तेन प्रत्याख्यातोऽतिकोपेन तद्गमन-पथमवरोद्धुं वृद्धिमुपगच्छन् सुरैर्निवारितोऽपि नितरां ववृधे; तदैकतोऽधिकतापात् प्रज्वलन्तोऽपरत्रान्धका-रावृतत्वात्किमपि कर्तुमक्षमा लोका देवान् तुष्टुवुः, ते च द्रुतमेव काश्यामगस्त्याश्रममाजग्मुः, विन्ध्य-वृद्ध्यवरोधार्थं तमनुरुरुधुश्च, अथ तेषामनुरोधेन सभार्यके भगवत्यगस्त्ये तत्रोपस्थिते विन्ध्याद्रिः शिरोऽ-वनमय्य तस्मै प्रणाममकरोत्, ऋषिस्तु—'प्रिय वत्स ! यावदहं पुनः प्रत्यावृत्तः स्यां तावत्त्वमेवंविधमेवा-वनतो भूत्वा तिष्ठ' इत्युक्त्वा दक्षिणाशां प्रस्थितो नेदानीमपि प्रत्यावृत्तः, विन्ध्याद्रिरपि तदाज्ञयाऽधुनापि तथैव तिष्ठतीति स्कन्दपुराणान्तर्गतकाशीखण्डीयकथा ।

जठरेति । जठरानलेन उदराग्निना जीर्णः अन्तःपरिपाकं प्रापितो वातापिदानवो वातापिनामकासुरो येन यस्य तादृशस्य ।

पुरा इल्वलवातापिसंज्ञकौ भ्रातरावसुरविशेषावास्ताम् । तत्रेल्वलो विप्रस्वरूपं कृत्वा मेषस्वरूप-स्थितं वातापिं मारयित्वा तन्मांसं पक्त्वा समुपस्थितान् विप्रान् भोजयामास, भक्षितवत्सु तेषु 'वातापे ! निर्गच्छ' इतील्वलेनाकारितः सुरवरप्रतापेन वातापिस्तेषामुदराणि विदार्य निर्गतः, ततश्च तौ तेषां वित्ता-दिकं चोरितवन्तौ । ततो देवा इत्थं निरीक्ष्य भगवतोऽगस्त्यस्य शरणमाययुः, आगत्य च प्रत्यपकर्त्तुं याचितः स तेनैव रूपेण तन्मांसं भक्षयित्वा उदरे जीर्णं कृतवानिति महाभारतीया कथा ।

सुरासुरेति । सुरा देवा असुरा दानवास्तेषां मुकुटेषु किरीटेषु यानि मकरपत्राणि सुवर्णरचिता मकरा-कारपत्राः 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इत्यमरः, तेषां कोटयः अग्रभागाः तैः चुम्बितानि स्पर्शितानि चरणरजांसि पदरेणवो यस्य तस्य, देवदानवपूजितपदस्येत्यर्थः । दक्षिणा अवाची आशा दिगेव वधूः स्त्री तस्या मुखे आनने विशेषकस्य तिलकस्वरूपस्य 'दिशस्तुः ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः', 'चित्रपुण्ड्रविशेषकाः' इत्यमरः । अत्रागस्त्ये तिलकत्वारोपस्य दक्षिणदिशि वधूत्वारोपः कारणमिति परम्परितरूपकम् । तदुक्तं साहित्यदर्पणे —'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपस्य कारणम् । तत्परम्परितम् ·······॥'

सुरेति । सुरलोकात् देवनगरात् ( स्वर्गात् ) एकहुङ्कारेण हुङ्कृतिमात्रेण निपातिते प्रच्याविते नहुषे

---

लिया था । समस्त देवताओं की प्रार्थना अनसुनी करके मेरु पर्वत की ईर्ष्या के कारण अपनी हजारों चोटियों को आकाश में फैलाकर सूर्य का मार्ग रोक देनेवाला विन्ध्याचल भी जिनकी आज्ञा टालने का साहस न कर सका और पैरों पर झुका ही रह गया, जिन्होंने अपने पेट की आग में वातापि दानव को भी पचा डाला, देवता और राक्षस दोनों ही अपने मुकुटों में बने हुए मत्स्याभूषणों की पत्रलताओं से जिनके चरणों की धूल

---

१. गतिपथ । २.···सुरसमूह··· । ३. असङ्घित । ४. मुकुटतटघट्टितमरकतमयपत्रभङ्गकोटि··· ।
५. दक्षिणामुखविशेषकस्य । ६. निपतित । ७. प्रकटन ।

प्रभावस्य भगवतो महामुनेरगस्त्यस्य, भार्य्यया लोपामुद्रया[1] स्वयमुपरचितालवालकैः करपुट-सलिलसेक-संवर्द्धितैः सुतनिर्विशेषैरुपशोभितं पादपैः, तत्पुत्रेण च गृहीतव्रतेनाषाढिना[2] पवित्र-भस्म-विरचित-त्रिपुण्ड्रकाभरणेन कुश-चीवर[3]-वाससा मौञ्ज-मेखलाकलितमध्येन गृहीत-हरितपर्णपुटेन[4] प्रत्युटजमटता भिक्षां दृढदस्युनाम्ना पवित्रीकृतम्, अतिप्रभूतेध्मा-हरणाच्च यस्येध्मवाह इति पिता द्वितीयं नाम चकार, दिशि दिशि शुकहरितैश्च[5] कदलीवनैः

---

प्रकटः स्फुटः प्रभावो माहात्म्यं यस्य तस्य तादृशस्य, भगवतो माहात्म्यवतः महामुनेरुत्कृष्टमननशीलस्य।

इह त्वष्टुः पुत्रे वृत्रे दधीच्यस्थ्ना वज्रं निर्माय हते सुराधिपे ब्रह्महत्यापापयुते मानससरोवरे निलीने सति सुरैः राजविहीनं स्वर्गं दृष्ट्वा चन्द्रवंशीयो राजा नहुषो निजनिजप्रभावैर्वर्द्धयित्वा स्वर्गराज्ये नियुक्तः। इन्द्रपदं चारूढो भवानिन्द्राणीं कथं न कामयते ? इति केनचिदुपदिष्टे स कदाचित्तां प्रार्थितवान्, ततस्तया कथितम् 'राजन् ! महर्षिभिर्वाहितां शिविकामारुह्य यदि भवान् मन्दवनमागन्तुं शक्नोति तदा भवन्तमहं सेवेय' इति। राजा तु तदेवाभ्युपेत्य भृग्वादीन् देवर्षीन् वाहकत्वेन संयोज्य शिविकामारूढः इन्द्राणीं कामयमानः तां प्रति व्रजन् शीघ्रं चलितुम् अग्रे गच्छन्तं भृगुं मूर्ध्नि चरणेन 'सर्प सर्प' इति कथयन्नताडयत्, एतन्मध्ये भृगोर्जटासु प्रच्छन्नो भगवानगस्त्यः तच्चरणेन ताडितः 'त्वं सर्पो भूत्वाऽधः पत' इति शशाप, तेन च राजा सर्पो भूत्वा हिमालयकन्दरायामरतदिति महाभारतीया कथात्रानुसन्धेया।

भार्ययेति। भार्यया पत्न्या लोपामुद्रया तन्नामिकया स्वयम् आत्मना उपरचितानि निर्मितानि आलवालानि आवापा मूलसलिलाधारा येषां तैः 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः, करपुटेन निजहस्तद्वयेन यः सलिलस्य जलस्य सेकः तेन सम्बर्द्धितैः वृद्धिं प्रापितैः, सुतनिर्विशेषैः पुत्रसदृशैः पादपैर्वृक्षैरुपशोभितं भूषितं तदाश्रमपदं मुनिस्थानम्।

तत्पुत्रेणेति। तस्य अगस्त्यस्य पुत्रेण सूनुना, गृहीतम् अङ्गीकृतं व्रतं ब्रह्मचारिव्रतं येन तेन, आषाढः पलाशदण्डः अस्यास्तीति तेन 'आषाढो व्रतिनां दण्डे मासे मलयपर्वते' इति विश्वः, विप्राणां पलाशदण्डस्यैव धारणमाह मनुः—'ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ' इति, पवित्रं पूतं यद्भस्म तेन विरचितं विहितं त्रिपुण्ड्रकं रेखात्रययुतस्तिलकविशेष एव आभरणं भूषणं येन तेन, ब्राह्मणानां त्रिपुण्ड्रधारणमाह स्मृतिः—'ब्राह्मणानां त्रिपुण्ड्रकम्' इति। कुशा दर्भा एव चीवरं चीरं वासः वस्त्रं यस्य तेन, मौञ्ज्या मुञ्जविरचितया मेखलया कलितो बद्धः मध्यः कटिभागो येन तेन, तथा च मनुः—'मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला' इति। गृहीतं याचितान्नरक्षणार्थमात्तं हरितं श्यामलं पर्णपुटं पत्ररचितपुटकं येन तेन, प्रत्युटजम् उटजमुटजं प्रति प्रतिपर्णशालमित्यर्थः। 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, भिक्षाम् अटता भिक्षार्थं भ्रमणं विदधता भिक्षामित्यत्र 'अकथितञ्च' इत्यनेन कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया। दृढदस्युरिति नाम यस्य तेन तादृशेन पवित्रीकृतं तत्र स्थित्या पूतम्।

अतीति। पिता अगस्त्यः, अतिप्रभूतानि अतिप्रचुराणि यानि इध्मानि काष्ठानि तेषाम् आहरणात् आनयनात् हेतोः, इध्मं वहतीति 'इध्मवाह' इत्यन्वर्थं द्वितीयम् अपरं नाम अभिधेयं चकार विदधौ। इध्मवाह इत्यत्र 'कर्मण्यण्' इत्यण्।

---

झाड़ा करते थे जो दक्षिण दिशा रूपी वधू के मुख के तिलक थे ( अगस्त्य तारा दक्षिण दिशा में निकलता है ), तथा जिन्होंने एक ही हुंकार में नहुष को स्वर्ग से पृथ्वी पर पटक कर अपना प्रभाव प्रकट कर दिया था। वह आश्रम अनेक वृक्षों से सुशोभित था। भगवान अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने स्वयं अपने हाथों से उनमें थाँवले बना बनाकर अपनी अँजुलियों के जल से उन्हें सींचा और पाल-पोस कर बढ़ाया था। उन्हें वह पुत्र के समान ही प्यार देती थीं। उनके पुत्र ब्रह्मचारी दृढ़दस्यु की तपश्चर्या से वह आश्रम और भी पवित्र हो गया था। वह हाथों में पलाशदण्ड लिये, मस्तक पर भस्म का त्रिपुण्ड लगाये, कटि में कुश की लँगोटी

---

१. तद्भार्य्यया। २. लोपामुद्रया च। ३. आषाढिव्रतिना। ४.…चीर। ५. वल्कल, मुञ्ज…। ६. हरिणकर्ण, पत्रपुटेन। ७. शुककुल…।

श्यामलीकृत[1]-परिसरं सरिता च कलसयोनि-परिपीत-सागरमार्गानुगतयेव बद्धवेणिकया गोदावर्य्या[2] परिगतमाश्रमपदमासीत्।

यत्र च दशरथवचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदन-लक्ष्मी-विभ्रमविरामो[3] रामो महामुनिमगस्त्यमनुचरन् सह सीतया लक्ष्मणोपरचित-रुचिर-पर्णशालः पञ्चवट्यां कञ्चित् कालं सुखमुवास। चिरशून्ये[4]ऽद्यापि यत्र शाखानिलीन-निभृत-पाण्डु-कपोतपङ्क्तयो[5] लग्न-तापसाग्निहोत्र-धूमराजय इव लक्ष्यन्ते तरवः। बलिकर्म्म-कुसुमान्युद्धरन्त्याः सीतायाः

दिशीति। दिशि दिशि प्रत्येकदिशि 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम्, शुकवत् कीरदेहवत् हरितैर्नी-लवर्णैः कदलीवनैः रम्भाविपिनैः 'रम्भावृक्षेऽथ कदली' इति मेदिनी, श्यामलीकृतः कृष्णवर्णीकृतः परि-सरः प्रान्तभूमिर्यस्य तत्। शुकहरितैरित्यत्र लुप्तोपमा।

सरितेति। कलसयोनिना अगस्त्येन परिपीतस्य चुलुकीकृतस्य मृतस्येत्याशयः, सागरस्य समुद्रस्य मार्गम् अध्वानम् अनुगतयेव अनुव्रजितयेव बद्धा धृता वेणिका सलिलधारा यया तया, बद्धा संकरा-विधानायैव संयता वेणिका केशरचनाविशेषो यया तया च, गोदावर्या तन्नामिकया सरिता नद्या परिगतं परिव्याप्तम्। अगस्त्येन चुलुकीकृततया निधनमुपगतस्य समुद्रस्य अनुव्रजनं सर्वदा केशसंयमनञ्च पति-व्रतया विधेयमेवेत्याशयः। उक्तञ्च 'न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्' इति। 'अनुगतयेव' इति क्रियोत्प्रेक्षा। समासोक्तिरपि व्यञ्जनया। तदुक्तं दर्पणे—

'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥'

यत्रेति। यत्र यस्मिन्नाश्रमस्थाने दशसु दिशासु अप्रतिहतो रथो यस्य स दशरथः तस्य वचनं वन-गमनादेशम् अनुपालयन् पालनं कुर्वन् तथैवानुतिष्ठन्नित्यर्थः, उत्सृष्टं त्यक्तं राज्यं येन सः, दशवदनो लङ्का-धिपतिर्दशाननस्तस्य या लक्ष्मीः राज्यश्रीः तस्या विभ्रमस्य विलासस्य विरामोऽवसानं यस्मात् स तथोक्तो रामः, महामुनिं मुनिश्रेष्ठम् अगस्त्यम् अनुचरन् सेवमानः, लक्ष्मणेन सुमित्रानन्दनेन उपरचिता निर्मिता रुचिरा मनोज्ञा पर्णशाला उटजो यस्य सः, कञ्चित्कालं पञ्चवट्यां जनस्थाने सीतया जनकनन्दिन्या सह सु-खम् आनन्दपूर्वकं यथा स्यात्तथा उवास निव ति स्म। 'विरामो राम' इत्यत्र यमकालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—

'सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥'

चिरेति। चिरशून्ये बहोः कालात् मुनिवृन्दरहिते, यत्र यस्मिन्नाश्रमपदे अद्यापि इदानीमपि, शाखासु निलीना अवस्थिता निभृता निःशब्दाः पाण्डवः श्वेता ये कपोताः पारावताः तेषां पङ्क्तयो राजयः येषु ते, अत एव लग्नाः संलग्नाः तापसानां तपस्विनां यदग्निहोत्रं दैनिकयज्ञविशेषः तस्य धूमानाम् अग्निशिखानां राजयः पङ्क्तयो येषु ते तथोक्ता इव तरवो वृक्षा लक्ष्यन्ते अवलोक्यन्ते। इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, तथा धूमपङ्क्तीनां संलग्नत्वस्योत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्क-रालङ्कारः।

बलीति। बलिकर्मणो देवपूजनकार्यस्य कुसुमानि प्रसूनानि उद्धरन्त्याः सञ्चयं कुर्वन्त्याः सीताया

तथा मूँज की करधनी पहिने और हाथों में हरे पत्तों का दोना लिए हुए एक झोंपड़ी से दूसरी झोंपड़ी तक घूम-घूम कर भीख माँगा करते थे। वह जंगल से पिता के अग्निहोत्र के लिए समिधाओं (हवन की लकड़ियों) का इतना बड़ा गट्ठर बाँधकर लाया करते थे कि पिता ने उनका दूसरा नाम ही इध्मवाह (हवन की लकड़ियाँ ढोनेवाला) रख दिया था। उस आश्रम के चारों ओर सुग्गों के समान हरे-हरे केलों की घनी बाड़ लगी हुई थी जिसकी घनी हरियाली से वहाँ कुछ-कुछ अन्धकार सा छाया रहता था। उस आश्रम से सटी हुई एक ही प्रखर धारा में बहती हुई गोदावरी नदी ऐसी प्रतीत होती थी मानो एक चोटीवाली समुद्र की विधवा पत्नी अपने पति के पीछे-पीछे उसका समस्त जीवन पी लेनेवाले अगस्त्य के आश्रम में चली आई हो।

और जहाँ पंचवटी में दशरथ की आज्ञा का पालन करने के लिए राज्य छोड़कर महामुनि अगस्त्य की सेवा करते हुए रावण की राज्य-लक्ष्मी का वैभव मिटा देनेवाले भगवान रामचन्द्र जी ने सीता जी के साथ लक्ष्मण द्वारा बनाई गई पत्तों की सुन्दर झोपड़ी में कुछ दिनों तक सुख से निवास किया था, बहुत दिनों से मुनियों के न रहने के कारण जिस सूने प्रदेश में डालियों पर चुपचाप बैठे हुए सफेद कबूतरों की पंक्तियों

१. श्यामीकृत। २. कावेर्य्या। ३. रामो। ४. अतिचिर। ५. '''पङ्क्तयोऽमललग्न'''।

  

करतलादिव सङ्क्रान्तो यत्र रागः स्फुरति लताकिसलयेषु। यत्र च पीतोद्गीर्णजलनिधि-जलमिव मुनिना निखिलमाश्रमोपान्तवर्त्तिषु विभक्तं महाह्रदेषु। यत्र च[1] दशरथ-सुत-निशित[2]-शर-निकर-निपात-निहत-रजनीचर-बल-बहल[3]-रुधिर-सिक्त[4]-मूलमद्यापि तद्रागा[5]विद्ध-निर्गत-पलाशमिवाभाति नव-किसल[6]यमरण्यम्। अधुनापि यत्र जलधरसमये गम्भीर[7]मभिनव-जलधर-निर्वह[8]-निनादमाकर्ण्य भगवतो रामस्य त्रिभुवन-विवर-व्यापिनश्चापघोषस्य स्मरन्तो न गृह्णन्ति शष्प[9]-कवलमजस्रमश्रुजल-लुलित-दीन[10]दृष्टयो वीक्ष्य शून्या दश दिशो जरा-जर्ज-

---

वैदेह्याः करतलात् हस्ततलात् लताकिसलयेषु व्रततिपल्लवेषु संक्रान्तो लग्न इव सन् रागो लौहित्यं स्फुरति दीप्तिमान्भवति। सङ्क्रान्त इवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

यत्र चेति। यत्र च आश्रमपदे, मुनिना अगस्त्येन पूर्वं पीतं चुलुकीकृतं पश्चादुद्गीर्णम् वान्तं निखिलं समग्रं जलनिधिजलं समुद्रसलिलम् आश्रमोपान्तवर्त्तिषु आश्रमनिकटस्थायिषु महाह्रदेषु महातडागेषु विभक्तमिव विभज्य स्थापितमिव। अत्रापि विभक्तमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा, अत एव हि तडागानामगाधसलिलयुक्तत्वं ध्वन्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुव्यङ्ग्यम्।

यत्र चेति। दशरथसुतयो रामलक्ष्मणयोः निशिताः तीक्ष्णा ये शरा बाणाः तेषां यो निकरः समूहः तस्य निपातेन वर्षणेन निहतानि घातितानि यानि रजनीचरबलानि असुरसैन्यानि तत्सम्बन्धीनि बहलानि विपुलानि रुधिराणि रक्तानि तैः सिक्तानि मूलानि यस्य तत्, नवानि नूतनानि किसलयानि पल्लवानि यत्र तत् तथोक्तम् अरण्यं वनं ( कर्तृ ), अद्यापि इदानींकालपर्यन्तमपि तेषां रुधिराणां रागेण रक्तिम्ना आविद्धानि युक्तानि विद्यमानानि निर्गतानि निःसृतानि पलाशानि पत्राणि यत्र तत् तथोक्तमिव आभाति शोभते। इहापि क्रियोत्प्रेक्षा।

अधुनापीति। अधुनापि इदानीमपि यत्र आश्रमपदे जलधरसमये वर्षाकाले गम्भीरं मञ्जुलम् अभिनवा नूतना ये जलधरा मेघास्तेषां निवहस्य समूहस्य निनादं गर्जनम् आकर्ण्य श्रुत्वा भगवतः पूज्यस्य रामस्य दाशरथेः त्रिभुवनस्य विष्टपस्य विवराणि छिद्राणि तानि व्याप्नोति पूरयतीति स तस्य, चापघोषस्य धनुःशब्दस्य अत्र मातुः स्मरतीतिवत् कर्मणि षष्ठी, तेन धनुःशब्दमित्यर्थः, स्मरन्तः चिन्तयन्तः दशदिशः दशाशाः शून्याः रामलक्ष्मणसीतारहिताः, वीक्ष्य अवलोक्य, अजस्रं निरन्तरम् अश्रुजलैः तेषां शोकजनितनयनसलिलैः लुलिता विह्वलीभूताः, दीनाः कातराः दृष्टयो लोचनानि येषां ते तथोक्ताः, तथा जरया वृद्धावस्थया जर्जरिताः विशीर्णा विषाणानां शृङ्गाणां कोटयोऽग्रभागा येषां ते तथोक्ताः, जानक्या वैदेह्या सम्बर्द्धिताः शष्पसलिलादिप्रदानेन वृद्धिं प्रापिताः जीर्णमृगाः वृद्धहरिणाः शष्पं बालतृणं तस्य कवलं ग्रासं न गृह्णन्ति न स्वीकुर्वन्ति तेषां शोकेनेत्याशयः। अत्र गम्भीरजलदनिनादाकर्णनेन

---

से वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे मानो आज भी उनमें उन तपस्वियों के अग्निहोत्रों से उठे हुए धुँए की रेखायें लगी हुई हों, जहाँ लताओं की नयी-नयी सुकुमार कोपलों से फूटती हुई लाली ऐसी प्रतीत होती थी मानो पूजा के लिए फूल चुनते समय उनमें लगी हुई जानकी के करतलों की लाली ही आज भी फूट-फूट कर बिखर रही हो, जहाँ आश्रम के निकटवर्ती सरोवरों में भरा हुआ जल ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान अगस्त्य ने समुद्र का पिया हुआ समस्त जल ही उगलकर इन सरोवरों में बाँट दिया हो, जहाँ नयी-नयी कोपलों से भरा हुआ बन लाल भभूका हो उठा था मानो रामचन्द्र जी के तीखे बाणों की वर्षा से मारे गए राक्षसों के गाढ़े रक्त से सिंची हुई जड़ोंवाले वृक्षों से आज भी उसी रक्त की लाली में सने हुए लाल-लाल पल्लव फूट पड़े हों, जहाँ आज भी भगवती जानकी द्वारा पालपोस कर बढ़ाए गए बुढ़ौती से कटी-फटी सींगोंवाले आश्रमों के बूढ़े हरिण वर्षा के दिनों में नयी-नयी साँवली घटाओं की गम्भीर ध्वनि सुन कर भगवान राम के धनुष की तीनों लोकों में फैली हुई ध्वनि का स्मरण करते हुए आँसुओं से छलछलायी हुई करुण दृष्टि द्वारा अपने बन्धुओं से सूनी (जिन्हें राम के धनुष ने पहले ही मार डाला था, अथवा राम से सूनी) दसों दिशाओं को

---

१. 'च' इति क्वचिन्न। २. 'निशित'। इति पाठः क्वचिन्न। ३. बलबहुल। ४. रक्त। ५. तद्रागानुविद्ध। ६. किसलम्। ७. गम्भीररवम्। ८. 'निवह' इति पाठः क्वचिन्न। ९. सम्यक् शष्प। १०. लुलितदृष्टयः

रित-विषाणकोटयो जानकीसंवर्द्धिता जीर्णमृगाः। यस्मिन्ननवरत-मृगया-निहत-शेष[1]-वन-हरिण-प्रोत्साहित[2] इव कृतसीताविप्रलम्भः कनकमृगो राघवमतिदूरं जहार। यत्र मैथिली-वियोगदुःखदुःखितौ दशवदन[3]-विनाश-पिशुनौ चन्द्रसूर्य्याविव कबन्धग्रस्तौ समं राम-लक्ष्मणौ त्रिभुवनभयं महत्[4] चक्रतुः। अत्यायतश्च यस्मिन् दशरथसुत-शर[5]-निपातितो योजन-बाहोर्बाहुरगस्त्य-प्रसाद[6]नागतनहुषाजगर-कायशङ्कां चकार[7] ऋषिगणस्य। जनकतनया भर्त्रा[8] विरहविनोद[9]नार्थ-मुटजाभ्यन्तरे[10]लिखिता यत्र रामनिवास-दर्शनोत्सुका पुनरिव धरणीत-लादुल्लसन्तीव[11] वनचरैरद्याप्यालोक्यते[12]।

---

रामस्य चापघोषस्मृतेः स्मरणालङ्कारः, तथा शष्पग्रासग्रहणसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धप्रतिपादनादतिशयो-क्त्यलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—

'सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते'। 'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते'।

एवञ्चोभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

यस्मिन्निति। यस्मिन् विपिने अनवरतं निरन्तरं या मृगया पशुहननव्यापारः तस्यां निहतेभ्यः रामेण व्यापादितेभ्यः शेषा अवशिष्टा ये वनहरिणाः काननमृगाः तैः प्रोत्साहित इव जानकीवञ्चनापूर्वं-करामदूरनयने प्रकृष्टोत्साहं प्रापित इव कनकमृगः हाटकमयहरिणरूपधारी मारीचः, कृतो विहितः सीताया जानक्या विप्रलम्भो वञ्चना येन तथोक्तः सन् राघवं रामचन्द्रम् अतिदूरम् अनतिसमीपं जहार नीतवान्। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

यत्रेति। यत्र पञ्चवट्यां मैथिली जानकी तस्या वियोगदुःखेन विरहजनितक्लेशेन दुःखितौ क्लेशितौ, दशवदनो रावणः तस्य विनाशपिशुनौ ध्वंसबोधकौ रामलक्ष्मणौ कौशल्यानन्दनसुमित्रानन्दनौ, चन्द्र-सूर्याविव पुष्पवन्ताविव 'एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ' इत्यमरः। कबन्धः राहुः राक्षसाधिपतिः तेन दनुकबन्धेन च ग्रस्तौ कवलीकृतौ गृहीतौ च सन्तौ समम् एककालं त्रिभुवनस्य जगत्त्रयस्थितलो-कस्य महत् उत्कृष्टं भयम् आतङ्कं चक्रतुः विदधतुः। इह चन्द्रसूर्याविवेत्युपमा।

अत्यायतश्चेति। यत्र च दशरथसुतो रामः तस्य शरेण इषुणा निपातितः कर्तयित्वा पातितः अत्या-यतः अतिविस्तृतः योजनबाहोः दनुकबन्धापरनाम्नो दैत्यस्यैव बाहुर्भुजः, अगस्त्यस्य मुनेः प्रसादनाय शिविकारोहणेन इन्द्राणीं प्रति यानकाले पादप्रहारकृतक्रोधोपशान्तये आगतः प्राप्तो यो नहुषाजगरस्तस्य अजगर ( सर्प ) रूपिनहुषनृपतेः कायशङ्कां देहभ्रान्तिम् ऋषिगणस्य मुनिमण्डलस्य चकार कृतवान्। अत्र दनुकबन्धबाहौ नहुषाजगरभ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रा-न्तिमान् प्रतिभोत्थितः' इति। अत्रत्येतिवृत्तन्तु रामायणस्यारण्यककाण्डतोऽवगन्तव्यम्।

जनकेति। यत्र आश्रमपदे जनकतनया वैदेही, भर्त्रा स्वामिना रामेण, विरहविनोदनार्थं जानक्याः वियोगव्यथालघुत्वसम्पादनार्थम् उटजाभ्यन्तरे पर्णशालामध्ये 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, लिखिता चित्रीकृता सा रामस्य निवासोऽवस्थानभूमिः तस्य दर्शनाय अवलोकनाय उत्सुका उत्कण्ठिता सती पुन-र्भूयो धरणीतलात् पातालात् उल्लसन्तीव, वनचरैः किरातैः अद्यापि इदानींकालेऽपि आलोक्यते दृश्यते। अत्र उल्लसन्तीवेति क्रियोत्प्रेक्षा। अत्र 'पुनः' शब्दोपादानेन पूर्वं वैदेह्या मिथिलायां यज्ञभूमिकर्षणकाले

---

देख-देख कर मुँह में भरी हुई घास का चबाना भी भूल जाते हैं, जहाँ नित्य ही शिकार करनेवाले राम से अपने परिवार का विनाश होते देख बचे हुए जंगली हरिणों द्वारा मानो उकसाया गया कनकमृग जानकी को धोखे में डालकर राम को दूर बहका ले गया था तथा उनके वियोग का कारण बना था, जहाँ जानकी के विरह में दुखी और राहुरूपी कबन्ध से घिरे हुए सूर्य और चन्द्रमा के समान राम और लक्ष्मण ने रावण के विनाश की सूचना देते हुए उसके साथ युद्ध में तीनों लोकों को एक साथ ही अत्यन्त भयभीत कर दिया था, जहाँ राम के बाणों से कटकर गिरी हुई योजनबाहु नाम के राक्षस की अत्यन्त लम्बी बाहु देख कर वहाँ के ऋषियों को ऐसा भ्रम होता था मानो भगवान अगस्त्य को प्रसन्न करने के लिए अजगर रूपधारी नहुष ही

---

१, निःशेष, अशेष···। २. प्रोत्सारित। ३. रावणविनाशसूचकौ। ४. अतिमहत्। ५.···बाण···। ६.···प्रसादेनागत···। ७. अकरोदृषिजनस्य। ८. तनया च भर्त्रा। ९.···विनोदार्थम्। १०. अभ्यन्तरे। ११. धरणीतलादुल्लसन्ती। १२. उपलक्ष्यते।

तस्य चैवंविध[1]स्य सम्प्रत्यपि प्रकटोपलक्ष्यमाण-पूर्ववृत्तान्तस्यागस्त्याश्रमस्य नातिदूरे जलनिधि-पान-कु[2]पित-वरुणोत्साहितेन अगस्त्यमत्सरात्तदाश्रमसमीपवर्त्त्यपर इव वेधसा महाज[3]लनिधिरुत्पादितः, प्रलयकाल-विघटिता[4]ष्ट-दिग्भाग-सन्धिबन्धं[5] गगनतलमिव भुवि निपतितम्, आदिवराहसमुद्धृत-धरामण्डल-स्थानमिव सलिल[6]पूरितम्, अनवरत-मज्जदुन्मद-शबरकामिनी-कुचकलस-लुलित-जलम्, उत्फुल्ल-कुमुद-कुवलय-कह्लारम्, उन्निद्रारविन्द-

पातालादुत्थानम्, लङ्कां विजित्याग्निप्रवेशेन विशुद्धायामपि तस्यां लोकापवादभीत्या निर्वासिता रामेण पुनः परीक्षाप्रकरणे भूमितलप्रवेशः ततश्चेदमुत्थानमिति प्रतीयते ।

तस्येति । एवंविधस्य उक्तरूपस्य तस्य च अगस्त्याश्रमस्य सम्प्रत्यपि अस्मिन् समयेऽपि प्रकटं स्पष्टम् उपलक्ष्यमाणा दर्शितदिशा ज्ञायमानाः पूर्ववृत्तान्ताः पूर्वोदन्ता यस्य तस्य 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्' इत्यमरः। नातिदूरे समीप एव पम्पाभिधानं पम्पेतिसंज्ञकः पद्मसरः कमलकासारः 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः, विद्यत इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। इह प्रथमान्तपदानि पद्मसरोविशेषणानि। जलनिधयः समुद्राः तेषां पानेन चुलुकीकृतेन कुपितः जलाधिपतित्वात् क्रुद्धो यो वरुणः प्रचेताः 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः, तेन उत्साहितः अन्यं महासमुद्रं निर्मातुं दत्तोत्साहः तेन तथोक्तेन, वेधसा प्रजापतिना 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः, अगस्त्यमत्सरात् अगस्त्यं मुनिं प्रति शुभद्वेषात् 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषः' इत्यमरः, तस्य अगस्त्यस्य आश्रमसमीपवर्ती मुनिजनस्थाननिकटवर्ती, अपरोऽन्यो महाजलनिधिरिव महासागर इव उत्पादितः निर्मितः अतिविस्तृतत्वादित्याशयः। इह महाजलनिधिरिवेति द्रव्योत्प्रेक्षा।

प्रलयेति । प्रलयकाले कल्पान्तसमये विघटिता विस्खलिताः, अष्टानाम् अष्टसंख्यकानां दिशां हरितां विभागाः प्रदेशाः तत्तत्पर्वतावधिकाः तेषां सन्धयः संयोजनानि तेषां बन्धा बन्धनानि यत्र एवम्भूतम्, भुवि पृथिव्यां निपतितं गगनतलमिव नभस्तलमिव 'नभोऽन्तरिक्षं गगनम्' इत्यमरः, स्थितं तिष्ठत् अत्यन्तस्वच्छत्वादतिविस्तृतत्वाच्चेत्यभिप्रायः । अत्रापि गगनतलमिवेति द्रव्योत्प्रेक्षा ।

आदीति । आदिवराहेण विष्णोस्तृतीयावतारेण महावराहरूपेण समुद्धृतं सम्यक् प्रकारेण जलाद्बहिरानीतं यत् धरामण्डलं भूमण्डलं तस्य स्थानम् अवकाशः; सलिलपूरितमिव जलपूरितमिव स्थितम् अतिविस्तृतत्वादिति भावः । अत्र जलपूरितमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा ।

अनवरतेति । अनवरतं सन्ततं मज्जन्त्यः अवगाहमानाः या उन्मदा यौवनगर्वाधिष्ठिताः शबरकामिन्यः भिल्लनार्यः तासां कुचकलसैः स्तनघटैः लुलितानि आलोडितानि जलानि सलिलानि यस्य तत् तथोक्तम् । इह कुचा एव कलसा इति विग्रहे रूपकम्, किं वा कुचाः कलसा इवेति विग्रहे उपमेति द्वयोरपि वारयितुमशक्यत्वात् सन्देहसङ्करः ।

उत्फुल्लेति । उत्फुल्लानि प्रस्फुटितानि कुमुदानि श्वेतोत्पलानि कुवलयानि नीलोत्पलानि कह्लाराणि रक्तोत्पलानि च यत्र तत् तादृशम् । 'सिते कुमुदकैरवे', 'स्यादुत्पलं कुवलयमथ नीलाम्बुजन्म च' इत्यमरः ।

उन्निद्रेति । उन्निद्राणि विकसितानि यानि अरविन्दानि पद्मानि तेषां मधुबिन्दुभिः मकरन्दकणि-

उस आश्रम में पड़ा हो और जहाँ सीता के वियोग में मन बहलाने के लिए राम ने उनका जो चित्र कुटिया में बना रखा था उसे आज भी कोलकिरात आदि बनचर इस प्रकार देखते हैं मानो राम का निवास स्थान देखने के लिए उत्सुक जानकी पुनः पृथ्वी से बाहर निकल कर वहाँ सुशोभित हों ।

जहाँ पहले की सभी घटनाएँ आज भी स्पष्ट सी दिखाई पड़ती हैं, उस अगस्त्य के आश्रम से थोड़ी ही दूर पर अथाह, अत्यन्त विस्तृत, अद्वितीय और जल का समुद्र सा पंपा नामवाला कमलों से भरा हुआ एक सरोवर था। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो समुद्र का समस्त जल पी लेनेवाले अगस्त्य को जलाने के लिए क्रुद्ध वरुण देव से उसकाये गए ब्रह्मा ने उनके आश्रम के समीप एक दूसरा महान सागर ही उत्पन्न कर दिया हो, अथवा प्रलय काल में आठों दिशाओं की जोड़ें खुल जाने के कारण आकाश-तल ही पृथ्वी पर गिरा पड़ा हो या समुद के भीतर से आदिवराह द्वारा उठाये गये पृथ्वीमण्डल का उसके जल से भरा हुआ स्थान हो। उसका जल निरन्तर स्नान के समय खुलकर खेलनेवाली मतवाली भीलनियों के कुचकलशों ( घड़े के समान

१. 'एवंविधस्य' इति पाठः क्वचिन्नाप्युपलभ्यते । २. कुपितवरुणप्रोत्साहितेन । ३. जलनिधिं ।
४.…विघट्टिताष्टदिग्विभाग… । ५. बन्धनम् । ६. सलिलपरिपूरितम् ।

मधुबिन्दु-बद्धचन्द्रकम्, अलिकुल-पटलान्धकारितसौगन्धिकम्, सारसित-समद-सारसम्, अम्बुरुह-मधुपान-मत्त-कलहंसकामिनी-कृत-कोलाहलम्, अनेक-जलचर-पतङ्गशत-सञ्चल-नचलित-वाचाल-वीचिमालम्, अनिलोल्लासित-कल्लोल-शिशिर-शीकरारब्ध-दुर्दिनम्, अशङ्कितावतीर्णाभिरम्भःक्रीडारागिणीभिः स्नानसमये वनदेवताभिः केशपाशकुसुमैः सुरभीकृतम्, एकदेशावतीर्ण-मुनिजनापूर्यमाण-कमण्डलु-कल-जलध्वनि-मनोहरम्, उन्मिषदुत्पलवन-मध्यचारिभिः सवर्णतया रसितानुमेयैः कादम्ब-कदम्बकरासेवितम्, अभिषेका-

काभिः यद्वा सलिलोपरि बद्धा विहिताः चन्द्रकाः मयूरबर्हचन्द्राकारा यत्र तत् तादृशम्।

अलीति। अलिकुलानां भ्रमरवृन्दानां पटलेन समुदायेन अन्धकारितानि आवृतानि सौगन्धिकानि कह्लाराणि यत्र तत्। 'सौगन्धिकं तु कह्लारम्' इत्यमरः। अत्र कुलपटलयोर्मध्ये कस्याप्येकस्यैव कथनेनेष्टसिद्धावपरस्य ग्रहणं निरर्थकमेवेति कुशलाः।

सारसितेति। सारसितेन शब्देन सह वर्तमाना अत एव समदा मदोत्कटाः सारसा लक्ष्मणाप्रभृतयः यत्र तत् 'हंसस्य योषिद्वरटा सारसस्य तु लक्ष्मणा' इति कोशः। अत्र छेकानुप्रासः, तदुक्तं दर्पणे—'छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा' इति।

अम्बुरुहेति। अम्बुरुहाणि पद्मानि तेषां यन्मधु मकरन्दः तस्य पानेन मत्ताः मदोत्कटा याः कलहंसकामिन्यः वरटाः ताभिः कृतो विहितः कोलाहलः कलकलो यत्र तत् तादृशम्।

अनेकेति। अनेके सहस्रशो ये जलचरा नक्रझषादयो जलजन्तवः तेषां पतङ्गानां पक्षिणाञ्च शतस्य मण्डलस्य सञ्चलनेन गमनागमनेन चलिता क्षोभं प्राप्ता वाचाला मुखरायमाणा च वीचिमाला लहरिसन्तन्तिर्यत्र तत् तादृशम्। इह छेकानुप्रासः।

अनिलेति। अनिलेन पवनेन उल्लासिता उत्थानं प्रापिता ये कल्लोला महातरङ्गाः तेषां शिशिरशीकरैः शीतलाम्बुकणैः आरब्धं कृतं दुर्दिनं मेघाच्छन्नदिनं यत्र तत् तादृशम्, वृष्टिजलस्येव तेषामपि पतनादित्याशयः। अत्र वृत्त्यनुप्रासः, तदुक्तं दर्पणे—

'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा। एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते॥'

अशङ्कितेति। अशङ्कितं निर्जनत्वेन शङ्कारहितं यथा स्यात्तथा अवतीर्णाभिः अन्तःप्रवेशं कृतवतीभिः, अम्भःक्रीडायां जलकेल्यां रागिणीभिः अत्यधिकमनोरथयुक्ताभिः वनदेवताभिः वनाधिष्ठातृदेवीभिः स्नानसमये मज्जनकाले केशपाशानां कचसमूहानां कुसुमैः सुमनोभिः सुरभीकृतं सौगन्ध्यं नीतम्।

एकेति। एकदेशे एकभागे अवतीर्णैः अन्तःप्रवेशं कृतवद्भिः मुनिजनैः तपस्विगणैः आपूर्यमाणा जलेन भ्रियमाणा ये कमण्डलवः देवादिपूजनपात्रविशेषाः तेषां कलैः अव्यक्तमधुरैः जलध्वनिभिः सलिलपूरणशब्दैः मनोहरं मनोज्ञम्।

उन्मिषदिति। उन्मिषतः प्रस्फुटत उत्पलवनस्य श्वेतकमलविपिनस्य मध्येऽन्तः चरन्तीभिः गच्छन्तीभिः, अत एव सवर्णतया श्वेतकमलकादम्बकदम्बकयोः सादृश्येन रसितेन शब्देन अनुमेयैः अनुमातुं

गोल-मटोल बड़े बड़े स्तनों ) से टकरा-टकरा कर चंचल होता रहता था। उसमें कहीं कुमुद ( कोई ) कहीं कुवलय ( नील कमल ) और कहीं कह्लार ( श्वेतकमल ) खिले थे, कहीं फूले हुए कमलों से टपकी हुई मधु की बूँदे ( पुष्प-रस ) जल पर फैलकर मोरचन्द्रिकाओं के समान लगती थी, कहीं भौंरों के झुण्डों से ढके श्वेत कमल काले-काले दिखाई पड़ते थे, कहीं मतवाले सारस कैं कैं किया करते थे, कहीं कमलों का रस पी-पी कर मदमाती हंसियाँ कोलाहल किया करती थीं कहीं सैकड़ों की संख्या में अनेक जलपक्षियों के साथ-साथ तैरने से चंचल लहरों में कल-कल हुआ करती थी, कहीं वायु से उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरें उछलती हुई ठण्ढी ठण्ढी बूंदों की झड़ी लगाये रहती थी, कहीं निर्भय होकर सरोवर में उतरी हुई जल-क्रीडा की प्रेमी बनदेवियाँ स्नान करते समय बालों में गुथे हुए फूलों से जल को सुगन्धित बना देती थीं, कहीं एक ओर जल में उतरे हुए मुनियों

१.'''मधुद्रव, मधुबिन्दुनिष्यन्द''', मकरन्दबिन्दुबद्ध। २. आरसित'''। ३.'''पतत्रिशत'''। ४.'''चञ्चलित। ५. अनिलोच्छसित'''। ६. कल्लोलशिखरशीकरारचित। ७. रन्तः। ८. केशकुसुमैः। ९. कलध्वनि। १०. उन्मिषितः'''। ११. कादम्बैः।

वतीर्ण-पुलिन्दराज-सुन्दरी¹-कुच-चन्दनधूलि-धवलित²-तरङ्गम् , उपान्त-जात³-केतकी-रजः-पटल-बद्ध-कूल-पुलिनम् , आसन्नाश्रमागत-तापसक्षालिताद्र्र-वल्कल-कषाय-पाटल-तट-जलम् , उपतट-विटपि⁴-पल्लवानिल-वीजितम् , अविरल-तमाल-वीथिका⁵न्धकारिताभिः वालिनिर्वासितेन⁶ संचरता प्रतिदिनमृष्यमूकवासिना सुग्रीवेणावलुप्त-फल⁷-लघु-लताभिः,

योग्यैः न तु पार्थक्येन चाक्षुषप्रत्यक्षगम्यैरित्याशयः, कादम्बकदम्बकैः कलहंससमूहैः आसेवितं समन्तात्पर्युपासितम् । 'कादम्बः कलहंसः स्यात्', 'स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्' इत्यमरः । इह रसितानुमेयैरित्यनेन मीलितालङ्कारो ध्वन्यते, तथाहि दर्पणे– मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा' । एवञ्च वस्तुना अलङ्कारध्वनिरिति व्याख्यातारः ।

अभिषेकेति । अभिषेकाय मज्जनार्थम् अवतीर्णाः सलिलान्तःप्रविष्टा याः पुलिन्दराजस्य शबराधिपतेः सुन्दर्यः कामिन्यः तासां ये कुचा वक्षोजाः तेषां चन्दनधूलिभिः लिप्त–शुष्क–मलयजपांसुभिः धवलिताः शुभ्रीकृताः तरङ्गा ऊर्मयो यस्य तत् तादृशम् । इह शुभ्ररूपसम्पादनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः ।

उपान्तेति । उपान्ते पानीयनिकटे जातानाम् उत्पन्नानां केतकीनां मालतीपुष्पाणां रजःपटलैः धूलिसमूहैः बद्धं रचितं कूले तटसमीपे पुलिनं सैकतं यस्य तत् । इह पूर्वोक्तोऽलङ्कारः ।

आसन्नेति । आसन्नाः समीपवर्त्तिनो ये आश्रमाः तपस्विस्थानानि तेभ्य आगतैरायातैः तापसैः मुनिजनैः क्षालितानां धौतानाम् आर्द्राणां जलाविलानां तत्क्षणं कर्त्तयित्वा नयनेन निर्यासाविर्भावादित्यभिप्रायः, वल्कलानां परिधेयवृक्षत्वचां कषायैः तुवरैः 'तुवरस्तु कषायोऽस्त्री' इत्यमरः, पाटलं श्वेतरक्तं 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः, तटजलं तीरान्तिकसलिलं यस्य तत् तादृशम्, तटनिकट एव क्षालनादित्याशयः ।

उपेति । तटस्य समीपमुपतटम् तत्र उपतटे तीरनिकट इत्यर्थः, ये विटपिनः पादपाः तेषां पल्लवाः किसलयानि तैः यः अनिलो वायुः तेन वीजितं व्यजनेनेवाचरितम् ।

अविरलेति । अविरला सान्द्रा या तमालवीथिका तापिच्छपङ्क्तिः 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः, तया अन्धकारिताभिः कृतान्धकाराभिः । इतोऽग्रे तृतीयान्तानि बहुवचनपदानि वनराजिभिरित्यग्रिमस्य विशेषणानि ।

वालीति । वालिना इन्द्रात्मजेन वानराधिपतिना निर्वासितेन राजधानीतो निष्कासितेन, प्रतिदिनं प्रत्यहं सञ्चरता तत्रागच्छता, ऋष्यमूकाख्यो गिरिस्तत्र वासिना निवसनशीलेन, सुग्रीवेण वाल्यनुजेन अवलुप्तानि दूरीकृतानि फलानि याभ्यः ताः, अत एव लघ्व्यः फलभाररहिताः लताः व्रतत्यो यासु ताभिः तादृशीभिः ।

पुरा कश्चन मायावी नामासुरः वालिसुग्रीवाभ्यां सह रणं कुर्वाणः तयोः प्रहारेणात्यन्तखिन्नः केनचिद्बिलेनाधः प्रविष्टः । तदा वाली सुग्रीवमाह—सुग्रीव ! त्वं तावत् इहैव बिलमुखे तिष्ठ यावदहं तं निह-

के कमंडलु भरने से कुल-कुल की मनोहर ध्वनि सुनाई पड़ती थी, कहीं खिले हुए श्वेत कमलों के बीच समान रंग होने के कारण केवल मधुर ध्वनि से ही पहिचान में आनेवाले हंसों के झुण्ड तैरा करते थे, कहीं जल में उतरकर स्नान करनेवाली पुलिन्दराज ( भीलों के स्वामी ) की सुन्दरियों के स्तनों पर लगी हुई चन्दन की धूल लहरों को उजली बना देती थी, कहीं किनारों की रेतियाँ समीप ही में उगे हुए केवड़ों की धूल से पटी रहती थीं, कहीं समीप के आश्रमों से आए हुए मुनिलोग गीली-गीली छालें ( तत्काल की उतारी गई वृक्षों की छाल ) धो-धोकर किनारे के जल को कसैला और गुलाबी बना देते थे, और कहीं किनारों के वृक्ष पंखों के समान हिलते हुए पल्लवों की मन्द मन्द वायु से जल में कोमल कोमल लहरियाँ उठाया करते थे । उसके चारों किनारे वन-पंक्तियों से घिरे थे, जिनमें कहीं घने तमाल वृक्षों की झुरमुटें अन्धकार से ढकी रहती थीं, कहीं फलों से रहित हल्की फुल्की लताएँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो वालि से निकाले गए ऋष्यमूक पर घूमने वाले सुग्रीव ने उनके फलों को निर्मूल कर दिया हो, कहीं जल में खड़े होकर तपस्या करने वाले मुनि

१.'''शबरी''' २.'''धवलिततरम् । ३. 'जात' इति पाठः क्वचिन्नाप्यस्ति । ४. वृक्षपल्लवपुटानिल''' । ५. वीथ्यन्धकारिताभिः । ६ इह 'च' इत्यधिकः पाठः क्वचित । ७. परिलघु ।...

उदवासितापसानां देवतार्चनोपयुक्त-कुसुमाभिः उत्पतज्जलचर- पतङ्ग[1]-पक्षपुट-विगलित-जलबिन्दुसेक-सुकुमार-किसलयाभिः लतामण्डप-तले[2] शिखण्डि-मण्डलारब्ध-ताण्डवाभिः अनेक-कुसुम-परिमल-वाहिनीभिर्वनदेवताभिः[3] स्वश्वास-वासिताभिरिव वनराजिभिरुपरुद्ध[4]तीरम्, अपरसागरशङ्किभिः सलिलमादातुमवतीर्णैर्जलधरैरिव बहल-पङ्क-मलिनैर्वनकरिभिरनवरता-पीयमानै[5]सलिलम्, अगाधमनन्तमप्रतिमम्[6] अपां निधानं पम्पाभिधानं पद्मसरः ।

त्यागच्छामि' इति विज्ञाप्य स्वयं तं हन्तुं तद्बिलमेव प्राविशत्, परन्तु व्यतीते बहुकाले तत्प्रतीक्षया तिष्ठन्नपि सुग्रीवः किं कर्तव्यमिदानीमित्येवं विचारयत्येव बिलमुखादाविर्भूतं शोणितम्, अथ तत् निरीक्ष्य 'प्रायो मम भ्राता बाली तेन हत' इति निश्चित्य बिलमुखे बृहन्तमेकं प्रस्तरं स्थापयित्वा किष्किन्धायामागत्य बान्धवेभ्यस्तद्वृत्तान्तं निवेद्य स्वयमतिखिन्नो बालिराज्यं शशास । अथातीते कियत्समये बाली तमसुरं निहत्य तेनैव पथा प्रत्यावृत्तो बिलमुखे प्रस्तरं वीक्ष्य कुपितः पादाघातेन तं दूरीकृत्य किष्किन्धामागत्य सुग्रीवचरितमतिक्रूरमित्यवधार्य स्वराज्याद्बहिर्निष्कासयामास सोऽपि तद्दुःखदुःखितः ऋष्यमूकगिरौ निवासमकरोदिति रामायणीया किष्किन्धाकाण्डीया कथा ।

उदवासीति । उदके जले वसन्तीत्युदवासिनश्च ते तापसास्तपस्विनश्चेति तेषां तथोक्तानाम्, 'पेषंवासवाहनधिषु च' इत्यनेनोदकस्योदादेशो ज्ञेयः । देवतार्चनेषु देवपूजासु उपयुक्तानि आवश्यकानि कुसुमानि पुष्पाणि यासु ताभिः तथोक्ताभिः ।

उत्पतदिति । उत्पतन्त उड्डीय गच्छन्तो ये जलचराः नक्रझषाद्याः पतङ्गाः पक्षिणः तेषां पक्षपुटेभ्यः विगलिताः च्युता ये जलबिन्दवः सलिलकणाः तैः सेकः तेन सुकुमाराणि विशेषमृदुलानि किसलयानि पल्लवानि यासां ताभिः तथोक्ताभिः ।

लतेति । लतानां व्रततीनां ये मण्डपाः आच्छादितस्थानानि तेषां तलेषु अधःप्रदेशेषु शिखण्डि-मण्डलेन मयूरगणेन आरब्धं प्रवर्त्तितं ताण्डवं नृत्यं यासु ताभिः तथोक्ताभिः, 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने' इत्यमरः । इह वृत्त्यनुप्रासस्तल्लक्षणञ्चोक्तं प्राक् ।

अनेकेति । अनेकेषां बहुप्रकाराणां कुसुमानां पुष्पाणां परिमलान् गन्धान् वहन्तीति ताः तादृशीभिः 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' इत्यमरः, अत एव वनदेवताभिः विपिनाधिष्ठातृदेवीभिः (कर्त्रीभिः) स्वश्वासेन स्वीयश्वासवायुना वासिताभिः सुगन्धीकृताभिरिव वर्तमानाभिः, वनराजिभिः वनपङ्क्तिभिः उपरुद्धानि व्याप्तानि तीराणि तटानि यस्य तत् तथोक्तम्, सरोविशेषणमिदम् । अत्र वासिताभिरिवेति क्रियोत्प्रेक्षा ।

अपरेति । 'अयम् अपरो भिन्नः सागरः समुद्रः' इति शङ्कां भ्रमं जनयन्तीति तैः तथोक्तैः, सलिलं जलम् आदातुं ग्रहीतुम् अवतीर्णैः गगनादुत्तरितैः जलधरैः वारिदैरिव बहलपङ्कैः शरीरलग्नाधिककर्दमैः मलिनाः श्यामाः तैः तथोक्तैः, वनकरिभिः आरण्यकहस्तिभिः अनवरतं निरन्तरम् आपीयमानानि समन्तात् पानकर्मीक्रियमाणानि सलिलानि पानीयानि यस्य तत् तादृशम् । अत्र जलधरैरिवेति जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ।

अगाधमिति । अगाधम् अप्राप्ततलम् अनन्तं शेषरहितम् अतिमहदित्यर्थः । अप्रतिमं स्वसादृश्यरहितम्, अपां जलानां निधानं शेवधिस्वरूपम् अपरिमितसलिलयुक्तत्वादित्याशयः । 'पम्पा' इति अभिधानं नामधेयं यस्य तत्, पद्मानां कमलानामाकरीभूतं सरः कासारः पद्मसरः । अन्वयस्तु प्रागेवोक्तः ।

उनके फूलों को तोड़-तोड़कर देवताओं को चढ़ाया करते थे, कहीं उड़ते हुए जलपक्षियों के पंखों से झड़ी हुई बूंदों के कारण उनकी भीगी हुई कोंपलें और भी लुचलुची हो उठीं थीं, और कहीं उन लताओं की झुरमुटों में मोर मंडल बाँध कर नाचा करते थे । तरह तरह के फूलों की सुगंध से बन-पंक्तियाँ इस प्रकार महमहा उठी

१. 'पतङ्ग' इति पाठः क्वचिन्नाप्यस्ति । २. 'स्थित' इत्यधिकः पाठः क्वापि । ३. वनदेवतानिःश्वास, वनदेवताभिः श्वास । ४. रुद्ध··· । ५. पीयमान । ६. अप्रतिष्ठम् ।

यत्र च[1] विकच-कुवलय-प्रभा-श्यामायमान-पक्षपुटान्यद्यापि मूर्त्तिमद्रामशापग्रस्तानीव मध्यचारिणामालोक्यन्ते[2] चक्रवाकनाम्नां[3] पक्षिणां मिथुनानि ।

तस्यैव[4] पम्पासरसः पश्चिमे तीरे राघव-शर-प्रहार-जर्जरित-जीर्ण-तालतरु-षण्डस्य[5] च समीपे दिग्गज-करदण्डानुकारिणा जरदजगरेण सततमावेष्टितमूलतया बद्धमहालबाल इव तुङ्ग-स्कन्धावलम्बिभिरनिलवेल्लितैरहिनिर्म्मोकैर्धृतोत्तरीय इव दिक्चक्रवाल-परिमाणमिव गृह्णता भुवनान्तरालविप्रकीर्णेन शाखासंचयेन प्रलयकाल-ताण्डव-प्रसारित-भुजसहस्रमुद्ध-

---

यत्रेति । तत्र यस्मिन् पम्पासरसि, विकचानि विकसितानि यानि कुवलयानि नीलोत्पलानि 'नीलोत्पलं कुवलयम्' इत्यमरः, तेषां याः प्रभाः कान्तयः ताभिः श्यामायमानानि निकटसञ्चरणात् श्यामवदाचरन्ति पक्षपुटानि येषां तानि तथोक्तानि । मध्यचारिणां पम्पासरोवरान्तर्भ्रमणकारिणां चक्रवाकनाम्नां रथाङ्गसंज्ञकानां पक्षिणां पतत्रिणां मिथुनानि युगलानि, अद्यापि एतावत्समयपर्यन्तमपि मूर्त्तिमान् देदीप्यमानरूपो यो रामस्य दशरथतनयस्य शापः अभिसम्पातः तेन ग्रस्तानि गृहीतानीव आलोक्यन्ते दृश्यन्ते, तत्र विद्यमानैर्लोकैरिति शेषः ।

इह रामशापश्यामायमानपक्षपुटत्वेन ग्रस्तानीवेति वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा । यद्यपि 'मालिन्यं व्योम्नि पापे' इति कविसमयप्रसिद्धया पापस्यैव मलिनत्वेन वर्णनं विहितं न तु शापस्य, तथापि तत्सादृश्येन शापस्य तथा वर्णनं कृतमित्यवधेयम् । इह च 'पम्पातटे सीताविरहविह्वलं दाशरथिं वीक्ष्य चक्रवाकाः हासं विदधुः ततस्तानेवं निरीक्ष्य 'यथा मम प्रियाविश्लेषः तथैव भवतामपि क्षपायां भविष्यति' इति रामः शशापेत्यैतिहासिकी वार्त्ता ।

तस्यैवेति । तस्य पम्पाभिधेयस्यैव पद्मसरसः कमलकासारस्य, पश्चिमे तीरे प्रतीचि तटे, राघवस्य रामस्य ये शरा बाणाः तेषां प्रहारेण वेधेन जर्जरितानां विदारितानां जीर्णानां प्राचीनानां तालतरूणां तालद्रुमाणां षण्डस्य समुदायस्य समीपे महान् महीयान् जीर्णः पुरातनः शालमलीवृक्षः रोचनाख्यस्तरुरस्तीत्यग्रिमेण सम्बन्धः । अत्र प्रथमान्तानि पदानि शालमलीवृक्षविशेषणानि बोध्यानि । दिक्षु स्थितो गज ऐरावतादिः, तथा चामरः—'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥' तस्य यः करदण्डः शुण्डादण्डः तमनुकर्तुं शीलं यस्य तेन तथोक्तेन, तत्तुल्यविशालेनेत्यर्थः, जरन् वृद्धो योऽजगरस्तन्नामकः पृथुलसर्पः तेन तादृशेन, बद्धं रचितं महत् दीर्घम् आलबालम् आवापः मूले सलिलार्थखातमृत्परिवेष्टनमित्यर्थः, यस्य स तथोक्त इव । इह दिग्गजेत्यत्र समासगता आर्थी लुप्तोपमा, आलवाल इवेति वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा च, उभयोरप्यङ्गाङ्गिभावे सङ्करालङ्कारः ।

पुरा हि वालिना राज्याद्बहिर्निष्कासित ऋष्यमूकगिरिस्थः बालिवधमिच्छन् हनूमद्द्वारा कृतराममैत्रीकः सुग्रीवः बालिवधोपयोगि सामर्थ्यं भगवति रामचन्द्रेऽस्ति न वेति सन्दिहानो जातः तत्परीक्षणार्थं तेन प्रेरितो रामचन्द्रः एकेनैव बाणेन पङ्क्तिबद्धान् सप्ततालवृक्षान् विदारयामास इति रामायणीया कथा ।

तुङ्गेति । तुङ्गम् उन्नतं स्कन्धं प्रकाण्डभागम् अंशभागञ्च अवलम्बितुम् आधारं कृत्वा लम्बमानीभवितुं शीलं येषां तैः तथोक्तैः अनिलवेल्लितैः पवनचालितैः अहिनिर्मोकैः सर्पकञ्चुकैः धृतोत्तरीय इव गृहीतोपसंव्यानवस्त्र इव । क्रियोत्प्रेक्षा ।

दिक्चक्रेति । दिशां ककुभां चक्रवालं मण्डलं तस्य परिमाणम् इयत्तापरिमितं गृह्णतेव धारयता यद्वा विदधतेव, भुवनान्तराले संसारमध्यभागे विप्रकीर्ण इतस्ततो विस्तारितः तेन, शाखासञ्चयेन लता-

---

थीं मानों वनदेवियों ने उन्हें अपनी सांसों से सुवासित कर दिया हो । वहाँ फूले हुए नीले कमलों की झलक से साँवले पंखोंवाले चकवों के जोड़े बीच बीच में घूमते हुए ऐसे लगते थे मानों वे राम के मूर्तिमान शाप से ग्रस्त हों ।

उसी पद्म-सरोवर के पश्चिमी किनारे पर रामचन्द्र जी के बाणों से छिन्न-भिन्न ताड़ वृक्षों की झुरमुट के पास एक पुराना सेमल का वृक्ष था । उसकी जड़ के चारों ओर दिग्गजों की सूँड़ के समान एक बूढ़ा अजगर

---

१. 'च' इति पाठः क्वचिन्नास्त्यपि । २. मध्यचारिणालोक्यन्ते ३. चक्रनाम्नां । ४. तस्यैवंविधस्य सरसः । ५. बालतरुखण्डस्य ।

पति[1]शेखरमिव विडम्बयितुमुद्यतः, पुराणतया पतनभयादिव वायु[2]स्कन्ध-लग्नः निखिल-शरीर-व्यापिनीभिरतिदूरोन्नताभिर्जीर्णतया शिराभिरिव परिगतो व्रततिभिः, जरा-तिलक-बिन्दुभिरिव [3]कण्टकैराचिततनुः इतस्ततः परिपीतसागरसलिलै[4]-र्गगनागतैः पत्ररथैरिव शाखान्तरेषु[5] निलीयमानैः क्षणमम्बुभारालसैरार्द्रीकृतपल्लवैर्जलधरपटलैरप्यदृष्टशिखरः[6], तुङ्ग[7]तया नन्दनवनश्रियमिवावलोकयितुमभ्युद्यतः, स्वसमीप[8]वर्त्तिनामुपरि संचरतां गगनतल[9]-

---

संदोहेन 'शिखाशाखालताः समा' इत्यमरः, प्रलयकाले कल्पान्तसमये तत् ताण्डवम् उद्धतनृत्यं तत्र प्रसारितम् इतस्ततो विपर्यस्तं भुजसहस्रम् अनेकतरबाहवो येन स तं तादृशम् उडुपतिः तारापतिश्चन्द्रः शेखरो मस्तकालङ्कारो यस्य तं महादेवं विडम्बयितुम् अनुकरणं विधातुम् उद्यतः कृतप्रयत्न इव। इह गृह्णतेवेति उद्यत इवेति वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा, विडम्बयितुमित्यार्थी उपमा, तत्र परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावः सङ्करः।

पुराणेति। पुराणतया पुरातनतया पतनभयादिव स्खलनशङ्कयेव वायुः पवनः स्कन्धे प्रकाण्डे लग्नः यस्य तादृशः। एतेन प्रकाण्डेषु वायुप्रवेगेन प्रकम्पो द्योतितः। इह समासोक्तिहेतूत्प्रेक्षयोः सङ्करः।

निखिलेति। निखिलं समस्तं यत् शरीरं वपुः तद् व्याप्तुं शीलं यासां तादृशीभिः, अतिदूरोन्नताभिः अतिविप्रकृष्टमुत्थिताभिः, वृद्धत्वेनातिरिक्तमुत्पन्नाभिश्च; जीर्णतया प्राचीनतया ( वृद्धावस्थया ) शिराभिरिव अस्थिबन्धनैरिव व्रततिभिः लताभिः 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः, परिगतः परिवेष्टितः।

जरेति। जरायां वृद्धावस्थायां ये तिलकबिन्दवः समग्रशरीरेषु उत्पद्यमाना श्यामवर्णाश्चिह्नविशेषाः तैरिव कण्टकैः क्षुद्रशत्रुभिः आचिता व्याप्ता तनुः देहो यस्य स तथोक्तः। 'कण्टकः क्षुद्रशत्रौ च' इति विश्वः।

इत इति। परिपीतानि सागराणां समुद्राणां सलिलानि तोयानि यैस्तैः इतस्ततः समन्तात् गमनागतैः विहायसपथोपस्थितैः, पत्ररथैः पक्षिभिरिव 'पतत्पत्ररथाण्डजाः' इत्यमरः। शाखानां स्कन्धानाम् अन्तरेषु मध्येषु क्षणं क्षणमात्रं निलीयमानैः गुप्ततया स्थितवद्भिः, अम्बुभारेण पीतसलिलभारेण अलसैः मन्थरगामिभिः, आर्द्रीकृतानि वर्षणेन क्लिन्नानि पल्लवानि अधः किसलयानि यैस्तानि तैः, जलधरपटलैः मेघसमूहैरपि न दृष्टम् अत्युन्नततया नेक्षितं शिखरं प्रान्तप्रदेशो यस्य स तथोक्तः। अत्र पत्ररथैरिवेति वाच्योपमालङ्कारः, जलधरपटलानां शिखरावलोकनसम्बन्धसत्त्वेऽपि तदसम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारश्चेत्युभयोः सङ्करः। अतिशयाभिधानेन चात्युन्नतत्वं गम्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

तुङ्गेति। तुङ्गतया उन्नततया 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः, नन्दनवनम् इन्द्रोद्यानम् 'अथ नन्दनम्, इन्द्रोद्याने नन्दनस्तु तनये हर्षकारिणि' इति हैमः, तस्य या श्रीः शोभा ताम् अवलोकयितुमिव वीक्षितुमिव अभ्युद्यतः तत्परः। अत्र अवलोकयितुमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

स्वसमीपेति। स्वसमीपवर्त्तिनां निजान्तिकस्थायिनाम् उपरि ऊर्ध्वं सञ्चरतां गच्छताम्, गगनतले

---

लिपटा हुआ ऐसा प्रतीत होता था मानो किसी ने उसकी जड़ में थाँवला बना दिया हो। उसके ऊँचे कंधों पर लटकी हुई वायु से हिलने वाली केंचुलें ऐसी लगती थीं मानो उसका उत्तरीय वस्त्र फहरा रहा हो। दिशाओं के विस्तार की नाप के समान आकाश में फैली हुई डालियों को उठाए हुए वह ऐसा प्रतीत होता था मानो हजारों भुजाएँ उठाकर ताण्डवनृत्य करनेवाले भगवान शंकर की होड़ लगा रहा हो। वह इतना ऊँचा था मानो बहुत पुराना होने के कारण गिरने के भय से उसने अपने कंधों को आकाश में टेक दिया हो। उसके ऊपर तक चढ़ी हुई लताओं ने उसे चारों ओर से कस लिया था, मानो बुढ़ौती के कारण शरीर पर उभड़ी हुई उसकी नाड़ियाँ हो। उसके शरीर के काँटे बुढ़ौती के मस्सों के समान प्रतीत होते थे। समुद्र का जल पीकर आकाश मार्ग से आनेवाले पक्षियों के समान बादल उसकी चोटी पर न पहुँच कर बीच ही में इधर-उधर डालियों पर अटक जाते थे और पानी के बोझ से थकने के कारण वहाँ थोड़ी देर रुक कर उसके पल्लवों को गीला कर जाते थे। वह आकाश-तल तक पहुँची हुई ऊंचाई से ऐसा प्रतीत होता था मानो उचक कर नन्दन वन की शोभा देखने का प्रयत्न कर रहा हो। उसकी चोटी की डालियों को श्वेत बनाने वाली रुई की तहें बिखरी हुई थी

---

१. उडुपतिशकलशेखरमिव। २. पवनस्कन्ध…गगनस्कन्ध…। ३. निजकण्टकैः। ४. जलैः। ५. शाखान्तदेशेषु। ६. …शिखरदेशः। ७. उत्तुङ्गतया। ८. समीप। ९. अम्बरतल।

गमन-खेदायासितानां रविरथतुरङ्गमाणां सृक्कपरिस्रुतैः फेनपटलैः सन्देहित-तूलराशिभिर्धवलीकृतशिखरशाखः, वनगज-कपोलकण्डूयन-लग्नमद-निलीन-मत्तमधुकरमालेन लोहशृङ्खलाबन्धननिश्चलेनेव कल्पस्थायिना मूलेन समुपेतः, कोटराभ्यन्तरनिविष्टैः स्फुरद्भिः सजीव इव मधुकरपटलैः, दुर्योधन इवोपलक्षित-शकुनिपक्षपातः नलिननाभ इव वनमालोपगूढः, नवजलधरव्यूह इव नभसि दर्शितोन्नतिः, अखिलभुवनतलावलोकनप्रासाद

---

आकाशतले गमनेन सञ्चारेण यः खेदः परिश्रमः तेन आयासितानां खेदमुपगतानां रविरथतुरङ्गमाणां सूर्यरथनियुक्ताश्वानां सृक्कभ्याम् ओष्ठप्रान्ताभ्यां 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्कणी' इत्यमरः, परिस्रुतैः पतितैः, सन्देहितः 'अयमेतद्वृक्षोत्पन्नः तूलसमुदायो न वा' एवमात्मनि सन्देहविषयीकृतः तूलराशिः कार्पासकपिण्डो यैस्तैः फेनपटलैः श्वेतकफसमूहैः धवलीकृताः श्वेतीकृताः शिखरशाखा अग्रस्थायिन्यः शाखा यस्य सः। इहोक्तविधफेनपटलैरग्रस्थायिशाखानां श्वेतीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, अत एव चात्युन्नतत्वं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।

वनगजेति । वनगजानाम् आरण्यकहस्तिनां कपोलयोः गण्डयोः कण्डूयनेन खर्जनेन लग्नेषु सक्तेषु मदेषु दानवारिषु निलीना अवस्थिता मत्ताः मधुपानेन क्षीवा मधुकरमाला भ्रमरपङ्क्तयो यत्र तेन तादृशेन 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इत्युपसर्जनह्रस्वः, अत एव लोहशृङ्खलया लोहनिगडेन 'अथ शृङ्खला, अन्दुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः, यद्बन्धनं नियन्त्रणं तेन निश्चलं स्थिरं तेनेव विद्यमानेन, कल्पस्थायिना प्रलयसमयं यावत् तिष्ठता मूलेन समुपेतः संयुक्तः । इह काव्यलिङ्गगुणोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ।

कोटरेति । कोटराभ्यन्तरे शरीरस्थच्छिद्रमध्ये निविष्टैः निलीनैः स्फुरद्भिः दीप्यमानैः मधुकरपटलैः भ्रमरवृन्दैः सजीव इव श्वासादिप्राणयुक्त इव, कोटरे प्राणवन्मधुकराणां निरन्तरस्पन्दनादित्याशयः । इह गुणोत्प्रेक्षा ।

दुर्योधन इति । दुर्योधनो धृतराष्ट्रप्रथमसुतः तद्वत्, उपलक्षितो जनैर्लोचनविषयीकृतः शकुनीनां पक्षिणां पक्षैः छदैः पातः पतनं यस्मिन् स तादृशः, पक्षे उपलक्षितः जनैर्लोचनविषयीकृतः शकुनौ गान्धाराधिपतौ मातुले पक्षपातः प्रणयो यस्य स तथोक्तः । इह पूर्णोपमा ।

नलिनेति । नलिनं कमलं नाभौ यस्य स विष्णुरिव, वनमालया अरण्यपङ्क्त्या उपगूढ आच्छादितः, पक्षे वनमाला जानुपर्यन्तावलम्बिनी सर्वर्तुपुष्पोज्ज्वला मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या तया स्रजा उपगूढ आश्लिष्ट इहापि पूर्ववदेवालङ्कारः । वनमालालक्षणमाह—

'आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला । मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता ॥'

नवेति । नवा नूतना ये जलधरा मेघाः तेषां व्यूहो मण्डलं तद्वत्, नभसि व्योम्नि दर्शिता प्रकटिता उन्नतिः उच्चत्वं येन स तथोक्तः, पक्षे नभसि श्रावणे मासि दर्शिता प्रकटिता उन्नतिः वृद्धिर्येन स तादृशः । 'नभः खं श्रावणो नभाः' इत्यमरः । अत्रापि पूर्ववदेवालङ्कार इति केचित्, तत्त्वविदस्तु उपरितनेष्वभङ्गश्लेष एवेत्याहुः ।

अखिलेति । अखिलानि समस्तानि यानि भुवनतलानि जगन्ति तेषाम् अवलोकनं निरीक्षणं तदर्थं

---

मानो उसके समीप होकर आकाश मार्ग से जानेवाले थके हुए सूर्य के घोड़ों ने थोड़ी देर ठहर कर उन्हें अपने ओठों की कोरों से गिरते हुए झागों से भर दिया हो । जंगली हाथियों के कपोल खुजलाने से उसके तने में मद चिपका रहता था जिससे मतवाले भौंरों से घिरा हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था मानों किसी ने लोहे के सीकड़ों से बाँध कर उसके तने को कल्पान्त तक के लिए अडिग बना दिया हो । उसकी कोटरों में स्फुरित होने वाले भौंरे उसके प्राणों के समान प्रतीत होते थे । वह पक्षियों के गिरे हुए पंखों से भरा होने के कारण शकुनि का पक्षपात करने वाले दुर्योधन, वन पंक्तियों से घिरे होने के कारण वनमालाधारी भगवान् विष्णु और आकाश में ऊँचाई तक छाये रहने के कारण नवीन बादलों की घटा के समान प्रतीत होता था । वह मानों वनदेवियों का भुवनतलावलोकनप्रासाद ( वह अत्यन्त ऊँचा महल जिसकी चोटी पर बैठ कर राजा लोग समस्त पृथ्वी

---

१. मदसलिल । २. बन्धनिश्चलेनेव । ३. पतद्भिः । ४. पद्मनाभ इव । ५. कृतोन्नतिः ।

इव वनदेवतानाम्, अधिपतिरिव दण्डकारण्यस्य, नायक इव सर्ववनस्पतीनाम्, सखेव विन्ध्यस्य[1], शाखाबाहुभिरुपगुह्येव[2] विन्ध्याटवीमवस्थितो[3] महान् जीर्णः शाल्मलीवृक्षः[4]।

तत्र च शाखाग्रेषु कोटरोदरेषु पल्लवान्तरेषु स्कन्धसन्धिषु जीर्णवल्कल[5]विवरेषु च[6] महावकाशतया विश्रब्ध-विरचित-कुलायसहस्राणि दुरारोहतया विगलित[7]विनाशभयानि नाना देशसमागतानि शुक-शकुनिकुलानि प्रतिवसन्ति स्म। यैः परिणामविरलदलसंहति[8]रपि स वनस्पतिविरल-दल निचय-श्यामल[9] इवोपलक्ष्यते दिवानिशं निलीनैः।

ते च [10]तस्मिन् वनस्पतावतिवाह्यातिवाह्य [11]निशामात्म[12]नीडेषु प्रतिदिनमुत्थायोत्थाया-

---

प्रासादो राजभवनमिव अत्युन्नतत्वादित्याशयः। वनदेवतानाम् अरण्याधिष्ठात्रीणां देवीनाम्। दण्डकारण्यस्य दण्डकाभिधवनस्य अधिपतिः स्वामी इव मुख्यत्वादित्यभिप्रायः। सर्ववनस्पतीनां पुष्पं विना फलं येषामेवंविधसर्वतरूणाम् 'वनस्पतिर्वृक्षमात्रे विना पुष्पफलद्रुमे' इति विश्वः। नायकः अध्यक्ष इव, अत्रापि मुख्यत्वादित्याशयः। विन्ध्यस्य जालवालकपर्वतस्य सखा सुहृत् स इव तत्तुल्योन्नतत्वादित्याशयः। इह सर्वत्र जात्युत्प्रेक्षा। शाखा स्कन्धा एव बाहवो भुजाः तैः विन्ध्याटवीं विन्ध्यभूमिम् उपगुह्येव आश्लिष्येव अवस्थितः विद्यमानः। इह निरङ्गं केवलरूपकम्, तथा क्रियोत्प्रेक्षा च, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

तत्रेति। तत्र तस्मिन् शाल्मलीवृक्षे शाखाग्रेषु शालप्रान्तेषु कोटरोदरेषु शरीरस्थच्छिद्राभ्यन्तरेषु पल्लवान्तरेषु किसलयमध्येषु स्कन्धसन्धिषु प्रकाण्डबन्धेषु जीर्णानि प्राचीनानि यानि वल्कलानि त्वचः तेषां विवरेषु छिद्रेषु, महान् अतिदीर्घः अवकाशः अन्तर्विस्तारः येषां तेषां भावस्तया तथोक्तया विश्रब्धं सविश्वासं निःसन्देहं यथा स्यात्तथा विरचितानि निर्मितानि कुलायसहस्राणि नीडसङ्घा यैस्तानि तथोक्तानि दुःखेन अत्यन्तोन्नतत्वात् क्लेशेन आरुह्यत इति दुरारोहः तस्य भावः तत्ता तया विगलितं हृदयात् प्रच्युतं विनाशभयं रुजादिभ्यो मृत्युभयं येषां तानि, नानादेशेभ्यो भिन्नभिन्नप्रान्तेभ्यः समागतानि सम्प्राप्तानि, शुकाः कीराः शकुनयस्तदतिरिक्ताः पतत्रिणः तेषां कुलानि समूहाः प्रतिवसन्ति स्म वासं कुर्वन्ति स्म।

यैरिति। दिवानिशं रात्रिन्दिवं निलीनैः स्थितैः यैः शकुनिकुलैः, परिणामेन पुरातनतया विरला स्वल्पा दलसंहतिः पत्रसमुदायो यत्र स तथोक्तोऽपि तरुणवृक्षवदभिनवदलानां सान्द्रत्वेनोत्पन्नत्वाभावात् जीर्णदलानाञ्च यथाक्रमं ह्रासादित्याशयः, स वनस्पतिः शाल्मलीतरुः, अविरलानि सान्द्राणि यानि दलानि पर्णानि तेषां संहतिः समूहः तेन श्यामलः कृष्णवर्ण इव उपलक्ष्यते जनैरवलोक्यते, तत्र तत्र निलीनानां शुकशकुनीनां दलवत् कृष्णवर्णत्वादित्याशयः। इह श्यामलत्वं गुण इति तस्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः।

ते चेति। ते शुकशकुनयः, 'विचरन्ति स्म' इत्यग्रिमेणान्वयः। अत्र प्रथमान्तपदानि 'ते' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। तस्मिन् वनस्पतौ शाल्मलीवृक्षे आत्मनीडेषु निजनिजकुलायेषु 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः, निशां रात्रिम् अतिवाह्य अतिक्रम्य प्रतिदिनं प्रत्यहम् उत्थायोत्थाय उत्थानं विधायेत्यर्थः, आहारा-

---

का प्राकृतिक सौन्दर्य अथवा चाँदनी का आनन्द लेते थे) था, अथवा दंडकारण्य का स्वामी था, अथवा संपूर्ण वृक्षों का राजा था, अथवा विन्ध्याचल का मित्र था। उसने अपनी डाली रूपी भुजाओं को फैला कर मानों विन्ध्याटवी को अपने आलिंगन में कस लिया था।

स्थान अधिक होने के कारण विभिन्न देशों से आये हुए सुग्गों और पक्षिओं के परिवार उसकी डालियों के सिरों पर, खोंखलों में, पत्तों के बीच में, कंधों की जोड़ों पर और पुरानी छालों के छेदों में हजारों घोंसले बना कर रहते थे उस वृक्ष पर चढ़ना अत्यन्त कठिन था इसलिए वे अपने विनाश के भय से निश्चिन्त थे। यद्यपि वह वृक्ष बुढ़ौती के कारण पत्तों से कुछ खंखड़ सा हो गया था तथापि उन पक्षियों के निरन्तर रहने के कारण घने पत्तों से छतनार सा दिखाई पड़ता था।

उस वृक्ष में बनाये गए अपने घोंसलों में रात बिता कर भोजन की खोज में प्रतिदिन प्रातःकाल आकाश में उड़ती हुई कलरव करनेवाली उन सुग्गों की पंक्तियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानों बलराम के हल

---

१. विन्ध्याचलस्य। २. उपगृह्येव। ३. स्थितः। ४. शाल्मलि। ५. वल्क। ६. 'च' इति पाठः कचिन्नाप्यस्ति। ७. विगतविनाशभयानि, विगतभयानि। ८. विरलसंहतिः, विरलदलसन्ततिः। ९. श्यामः। १०. तस्मिन् वनस्पतावतिवाह्य। ११. रजनीम्। १२. आत्मनो नीडेषु।

हारान्वेषणाय नभसि विरचितपङ्क्तयो मदकल-हलधर[1]-हलमुखोत्क्षेप-विकी[2]र्णबहुस्रोतसमम्बरतले कलिन्दकन्यामिव दर्शयन्तः, सुरगजोन्मूलित-विगलदाकाशगङ्गा-कमलिनीशङ्कामुपजन[3]यन्तः, दिवस-कर-रथतुरग-प्रभानुलिप्त[4]मिव गगनतलमुपपाद[5]यन्तः, सञ्चारिणीमिव मरकतस्थलीं विडम्बयन्तः, शैवलपल्लवावलीमिवाम्बरसरसि प्रसारयन्तः, गगने[6]विततैः पक्षपुटैः कदलीदलैरिव दिनकर[7]-खर-कर-निकर-[8]परिखेदितान्याशामुखानि वीज[9]यन्तः, वियति [10]विसारिणीं शष्पवीथीमिवारचयन्तः, सेन्द्रायुधमिवान्तरिक्षमादधाना विचरन्ति स्म[11] शुकशकुनयः ।

---

न्वेषणाय भक्ष्यमार्गणाय नभसि आकाशे विरचिता कृता पङ्क्तिः श्रेणी यैस्ते तथोक्ताः । मदेन मधुपानेन कलो मत्तो यो हलधरो बलरामः तस्य हलमुखेन लाङ्गलप्रदेशेन य उत्क्षेपः ऊर्ध्वदेशे क्षेपणं तेन विकीर्णानि विक्षिप्तानि बहूनि स्रोतांसि प्रवाहा यस्याः तां तथोक्तां कलिन्दकन्यां यमुनामिव अम्बरतले गगने दर्शयन्तः दर्शनीयतां प्रापयन्तः । इह कालिन्दीद्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षणाद् द्रव्योत्प्रेक्षालङ्कारः । अत्रत्यवृत्तान्तस्तु प्रागेव प्रतिपादितः ।

सुरगजेति । सुरगजेन देवहस्तिना ऐरावतेनेत्यर्थः, उन्मूलिता उत्पाटिता अत एव विगलन्ती अधः पतन्ती या आकाशगङ्गा मन्दाकिनी 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गा' इत्यमरः, तस्याः कमलिनी पद्मिनी तस्याः शङ्काम् स्वेषु परेषां भ्रान्तिम् उपजनयन्तः उत्पादयन्तः तुल्यकृष्णवर्णत्वादित्याशयः । एवञ्चात्र भ्रान्तिमान् नामालङ्कारः स्पष्ट एव ।

दिवसेति । गगनतलम् आकाशतलम्, दिवसकरस्य आदित्यस्य ये रथतुरगाः स्यन्दनयोजितसप्ताश्वाः तेषां प्रभाभिः श्यामरूपाभिः दीप्तिभिः अनुलिप्तं लेपनविषयीकृतमिव उपपादयन्तः विदधतः निजकान्तिभिरित्याशयः । इह अनुलिप्तमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा ।

सञ्चारिणीमिति । सञ्चारिणीं पर्यटनशीलां मरकतस्थलीं नीलमणिभूमिं विडम्बयन्तः अनुकुर्वन्त इव स्वकीयानामपि नीलवर्णत्वादित्याशयः । इहाप्युक्तालङ्कारः ।

शैवलेति । अम्बरं गगनमेव सरः स्वच्छत्वाद्विपुलत्वाच्च कासारः 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः, तत्र शैवलपल्लवस्य शैवालकिसलयस्य आवलीं पंक्तिं प्रसारयन्तः विस्तारयन्तः इव स्वेषां शैवालकिसलयवत् श्यामरूपत्वात् ह्रस्वह्रस्वत्वाच्चेत्याशयः । इह अम्बरमेव सर इति निरङ्गकेवलरूपकम्, प्रसारयन्त इवेति क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

गगनेति । कदलीदलानि रम्भापत्राणि तैरिव श्यामरूपत्वादित्याशयः, गगने आकाशे विततैः विस्तृतैः पक्षपुटैः पक्षच्छदैः, दिनकरस्य आदित्यस्य खराः तीक्ष्णाः ये करनिकराः किरणसमूहाः तैः परिखेदितानि संक्लेशितानि आशामुखानि दिग्वदनानि वीजयन्तः स्वोत्पन्नपवनस्पर्शयुतं सम्पादयन्तः । इह कदलीदलैरिवेत्युपमा ।

वियतीति । वियति अम्बरे विसारिणीं विस्तारिणीं शष्पवीथीम् अभिनवतृणपङ्क्तिम् आरचयन्तः निर्माणं कुर्वन्त इव तृणपङ्क्तिवत् निजपङ्क्तेरपि श्यामरूपत्वाद्विस्तृतत्वाच्चेत्याशयः । इह आरचयन्त इवेति क्रियोत्प्रेक्षा ।

सेन्द्रेति । अन्तरिक्षम् । अम्बरं सेन्द्रायुधं शक्रधनुषा सह विद्यमानमिव 'इन्द्रायुधं शक्रधनुः'

---

की नोक से आकाश में फेंकी गई यमुना की बिखरी हुई कई धारायें हों, अथवा ऐरावत गज द्वारा आकाश-गंगा से उखाड़ कर फेंकी गई कमलिनियों की कतारें हों, अथवा सूर्य के रथ के घोड़ों की हरी-हरी कान्ति से सारा आकाश ही रंग उठा हो, अथवा आकाश में उड़ती हुई मरकतमणि से निर्मित भूमि की टुकड़ियाँ हों, अथवा आकाश रूपी तालाब में फैली हुई सेवारों की पंक्तियाँ हों । वे आकाश में उड़ते समय केले के पत्तों के समान अपने हरे हरे खुले पंखों को मारते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानों सूर्य की धूप में मुरझाये हुए दिशा रूपी कामिनियों के मुख पर पंखे झल रहे हों, अथवा आकाश में हरी-हरी घासों की पट्टियाँ बिछा रहे हों । वे

---

१. बलभद्रहलमुखाक्षेप । २. विप्रकीर्ण । ३. उत्पादयन्तः । ४. अनुलिप्तगगनतलम् । ५. प्रदर्शयन्तः । ६. गगनावततैः । ७. 'खर' इति पाठः क्वचिन्नाप्यस्ति । ८. परिखेदिताशामुखानि । ९. परिवीजयन्तः । १०. विस्तारिणीं । ११. 'विचरन्ति स्म' एतावानेव क्वाप्यन्यत्र पाठ उपलभ्यते ।

कृताहाराश्च पुनः प्रतिनिवृत्त्यात्मकुलायावस्थितेभ्यः शावकेभ्यो विविधान् फलरसान् कलममञ्जरीविकारांश्च[1] प्रहत-हरिण-रुधिरानुरक्त[2]-शार्दूलनखकोटिपाटलेन चञ्चुपुटेन दत्त्वा[3] दत्त्वा अधरीकृत-सर्वस्नेहेनासाधारणेन गुरुणाऽपत्यप्रेम्णा तस्मिन्नेव[4] क्रोडान्तर्निहिततनयाः क्षपाः[5] क्षपयन्ति स्म।

एकस्मिंश्च जीर्णकोटरे जायया सह[6] निवसतः पश्चिमे वयसि वर्त्तमानस्य कथमपि पितुरहमेवै[7]को विधिवशात् सूनुरभवम्। अतिप्रबलया[8] चाभिभूता ममैव जायमानस्य प्रसववेदनया जननी मे लोकान्तरमगमत्[9]। अभिमतजायाविनाशदुः[10]खितोऽपि खलु तातः सुतस्नेहादन्त[11]-

---

इत्यमरः, आदधानाः कुर्वाणाः, निजपङ्क्त्या विविधरूपत्वादित्याशयः। इह सेन्द्रायुधमिति गुणोत्प्रेक्षा।

कृताहारा इति। कृतो विहित आहारो भोजनं यैस्ते तथोक्ताः, पुनः स्वभोजनानन्तरं भूयः प्रतिनिवृत्य परावृत्य, आत्मीया निजा ये कुलाया नीडानि 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः, तत्र अवस्थितेभ्यः वर्तमानेभ्यः शावकेभ्यः शिशुभ्यः 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः, विविधान् अनेकप्रकारान् फलरसान् सस्यनिर्यासान्, कलमानां धान्यविशेषाणां मञ्जर्यो वल्लर्यस्तासां विकाराः परिपाकविशेषेण परिपक्वाः कणाः तांश्च, प्रहतस्य विनाशितस्य हरिणस्य कुरङ्गस्य रुधिरं शोणितं तेन अनुरक्ता रक्तवर्णीकृता या शार्दूलनखकोटिः व्याघ्रनखाग्रप्रदेशः तद्वत् पाटलेन श्वेतरक्तेन 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः। इह लुप्तोपमा। चञ्चुपुटेन पञ्चाङ्गुलसम्पुटेन 'चञ्चुः पञ्चाङ्गुले त्रोट्याम्' इति हैमः, दत्त्वा दत्त्वा मुहुर्मुहुः तेभ्य आहारं वितीर्येत्यर्थः। अधरीकृतः निम्नत्वमापादितः सर्वः स्नेहः सन्तानभिन्नवृत्तिसमस्तप्रेम येन तेन तादृशेन, अत एव असाधारणेन तन्मात्रगतेन गुरुणा महता अपत्यप्रेम्णा सन्तानस्नेहेन, तस्मिन्नेव शाल्मलीतरावेव क्रोडानाम् उत्सङ्गानाम् अन्तर्निहिता मध्येषु रक्षिताः तनया अपत्यानि यैस्ते तथोक्ताः शुकशकुनयः क्षपाः त्रियामाः 'त्रियामा क्षणदा क्षपा' इत्यमरः, क्षपयन्ति स्म अतिवाहयन्ति स्म। इह वत्सलो रसः।

एकस्मिन्निति। जीर्णकोटरे दीर्घकालीननिष्कुटे जायया भार्यया सह निवसतः वासं कुर्वतः पश्चिमे अन्तिमे वयसि अवस्थायां वार्धक्य इत्यर्थः, वर्त्तमानस्य विद्यमानस्य कथमपि महता क्लेशेन पितुर्जनकस्य विधिवशात् दैवसंयोगात् अहमित्यात्मनिर्देशः एक एव नान्यः सूनुः तनयः 'आत्मजस्तनयः सूनुः' इत्यमरः, अभवम् अजनिषि।

अतिप्रबलेति। मम जायमानस्यैव उत्पद्यमानस्यैव अतिप्रबलया अतिकठिनया प्रसववेदनया प्रसूतिपीडया अभिभूता आक्रान्ता सती मे मम जननी माता परलोकं लोकान्तरम् अगमत् अव्रजत्।

अभीति। अभिमतायाः अभीष्टाया जायायाः पत्न्याः विनाशेन लोकान्तरगमनेन दुःखितोऽपि क्लेशितोऽपि खलु निश्चयेन, तातः जनकः सुतस्नेहात् पुत्रवात्सल्यात्, पटुप्रसरमपि स्पष्टवेगमपि शोकं क्लेशम्

---

अपनी रंग विरंगी पंक्तियों से आकाश में इन्द्रधनुषों का जाल सा बिछा रहे थे।

वे चारा चुग लेने के बाद फिर लौट कर अपने अपने घोंसलों में स्थित बच्चों को, मारे गए मृग के रक्त में सने हुए बघनखों के समान लाल-लाल चोंचों से तरह-तरह के फलों का रस और धान के कण खिला खिला कर उन्हें अपनी गोद में भर लेते तथा अत्यन्त वात्सल्य के कारण पंखों में छिपाकर उन्हीं घोंसलों में रात बिताते थे।

उसी वृक्ष के एक पुराने खोखले में मेरे पिता मेरी माँ के साथ निवास करते थे। उनकी बुढ़ौती में किसी प्रकार सौभाग्य से एकलौती संतान के रूप में मेरा जन्म हुआ। मेरे जन्म के समय ही अत्यन्त तीखी प्रसव पीड़ा के कारण मेरी माँ चल बसीं। प्रिय पत्नी की मृत्यु से दुखी होते हुए भी पुत्रप्रेम के कारण मेरे पिता ने शोक के

---

१. कलमफलविकारान्। २. प्रसक्त। ३. दत्त्वा। ४. स्वस्मिन्नेव। ५. 'सुखम्' इत्यधिकः पाठः क्वाप्यन्यत्र। ६. 'तत्र' इत्यधिकः पाठः क्वचित्। ७. अहमेकः। ८. प्रबलया। ९. परलोकमगच्छत्। १०. 'शोकदुःखितोऽपि, दुःखदुःखितोऽपि। ११. अभ्यन्तरे निरुध्य।

निगृह्य पटुप्रसरमपि शोकं[1]मेकाकी मत्संवर्धनपर एवाभवत्। अतिपरिणत[2]वयाश्च कुशचीरानुकारिणीमल्पावशिष्ट-जीर्ण-पिच्छजाल-जर्जरा[3]म् अवस्रस्तां[4]सदेशशिथिलाम् अपगतोत्पतनसंस्कारां पक्षस[5]न्ततिम् उद्वहन्, उपारूढकम्पतया[6] सन्तापकारिणीमङ्गलग्नां जरामिव विधुन्वन्, अकठोर-शेफालिकाकुसुम-ना[7]ल-पिञ्जरेण कलममञ्जरी-दलन-मसृणित-क्षीणो[8]पान्तलेखेन स्फुटिताग्रकोटिना चञ्चुपुटेन, परनीडनिप[9]तिताभ्यः शालिवल्लरीभ्यस्तण्डुलकणा नादायादाय त[10]रु-मूलनिपतितानि च शुककुलावदलितानि फलशकलानि समाहृत्य परिभ्रमितुमशक्तो मह्यम[11]दात्। प्रतिदिवसमात्मना च मदुपभुक्तशेषम्[12] अकरोदशनम्।

---

अन्तर्निगृह्य हृदयमध्य एव निरुध्य एकाकी एककः मत्सम्वर्धनपर एव मम परिपोषणतत्पर एव अभवत् आसीत्।

अतिपरिणतेति। अतिपरिणतम् अत्यन्तपरिपक्वम् अतिवृद्धमित्यर्थः, वयोऽवस्था यस्य स तादृशः, कुशो बर्हिः चीरं जीर्णवसनखण्डं तदनुकरोति तत्सामान्यमाश्रयति या सा तां तादृशीम्। अत्रार्थी उपमा। अल्पं बार्धक्येन निःसरणात् स्तोकमात्रम् अवशिष्टम् उर्वरितं यत् जीर्णपिच्छजालं पुरातनबर्हसमुदायः तेन जर्जरां विशीर्णाम्। अवस्रस्ते परिणतत्वात् गलिते अंसदेशे स्कन्धस्थाने शिथिलाम् अस्थिरावयवसम्बन्धाम्। अपगतो दूरीभूत उत्पतने आकाशविहरणे संस्कारःसामर्थ्यविशेषो यस्याः सा तां तथोक्ताम्, एतादृशीं पक्षसन्ततिं पतत्रसमुदायम् उद्वहन् धारयन्।

उपारूढेति। उपारूढः परिणतवयस्कत्वेन स्वभावत एवाविर्भूतः कम्पः शरीरसञ्चलनं यत्र सा तादृशी तस्या भावस्तया, सन्तापकारिणीं दुःखदायिनीम् स्वेच्छया सञ्चालयितुमसमर्थत्वादित्याशयः; अङ्गलग्नां शरीरे विद्यमानां जरां परिणतावस्थामिव विधुन्वन् तामेव पक्षधारां कम्पयन् सञ्चालयन् किञ्चिद्व्रजन्नित्यर्थः। इह जरामिवेत्युत्प्रेक्षा।

अकठोरेति। अकठोरं मृदुलं यच्छेफालिकाकुसुमं निर्गुण्डीपुष्पं तस्य यत् नालं वृन्तं तद्वत्पिञ्जरेण पिङ्गलवर्णेन, अत्र लुप्तोपमा। कलमस्य तदाख्यधान्यविशेषस्य या मञ्जर्यः शिखाः तासां दलनेन विदारणेन मसृणिता चिक्कणा क्षीणा क्षयं प्राप्ता च उपान्तलेखा प्रान्तसमीपस्थायिनी रेखा यस्य स तेन तादृशेन। तथा चञ्चुपुटेन पञ्चाङ्गुलेन परिश्रमात् स्फुटिता क्षयं प्राप्ता अग्रकोटिःअग्रिमप्रखरदेशो यस्य तेन तादृशेन।

परेति। परेषाम् अन्येषां शकुनीनां नीडानि कुलायाः तेभ्यः निपतिताः स्रस्ताः याः शालिवल्लर्यः धान्यमञ्जर्यः ताभ्यः तथोक्ताभ्यः तण्डुलकणान् आदायादाय गृहीत्वा गृहीत्वा तरुमूलनिपतितानि वृक्षमूलच्युतानि शुकानां कीराणां कुलेन समूहेन अवदलितानि विदार्य भूमौ पातितानि फलशकलानि फलखण्डानि समाहृत्य एकीकृत्य परिभ्रमितुं दूरे सञ्चरितुम् अशक्तोऽसमर्थो मह्यं वैशम्पायनाय अदात् भक्षयितुं दत्तवान्। एवं प्रतिदिवसं प्रत्यहमुक्तविधिना, आत्मना स्वयञ्च। मया उपभुक्तस्य भक्षितस्य शेषम् अवशिष्टम् अशनं भोजनम् अकरोत् कृतवान्।

---

फैलते हुए तीव्र वेग को भीतर ही भीतर पी डाला और वह अकेले ही मेरे पालने-पोसने में तल्लीन हो गये। अत्यन्त बुढ़ौती के कारण उनके दोनों पंखों में बहुत थोड़े पुराने पखने बच गए थे जिससे वे कुश के कपड़े की तरह रूखे और छिन्न भिन्न हो गये थे तथा शिथिल कंधों से लटक जाने के कारण उड़ने की शक्ति खो चुके थे। उनका शरीर बुढ़ौती के कारण सर्वदा काँपा करता था मानो वह अपने शरीर में चिपक जानेवाली दुखदायिनी बुढ़ौती को झाड़ कर गिरा देना चाहते थे। उनकी चोंच हरसिंगार के फूल की डंडी के समान अब कुछ पीलापन लिए हुए लालरंग की हो चली थी, जिसके किनारे धान की कलियाँ कुतरते-कुतरते घिस कर चिकने हो गए थे तथा उनपर इस घिसावट की एक पतली रेखा सी पड़ गयी थी और उसका अगला नुकीला भाग टूट चुका था। वे इधर-उधर आने-जाने में असमर्थ थे इसलिए दूसरों के घोंसलों के नीचे गिरी हुई धान की बालियों से अन्न के कणों और सुग्गों द्वारा कुतर-कुतरकर वृक्ष की जड़ पर गिराये गये फलों के टुकड़े किसी प्रकार उसी चोंच से उठा उठाकर लाते और मुझे खिलाने के बाद जो बचता उसे आप भी खा लेते थे।

---

१. शोकवेगम्। २. अतिपरिणततया च। ३. जर्जरीम्। ४. स्रस्तांशदेशाम्। ५. पक्षसंहतिम्। ६. इह 'च' इत्यधिकः पाठः क्वापि। ७. कुसुमपिञ्जरेण। ८. क्षीरोपान्तलेखेन। ९."'पतिताभ्यः। १०. वृक्ष"'। ११. मह्यमाहारमदात्। १२. मदुपयुक्तशेषम्।

एकदा तु प्रभातसन्ध्यारागलोहिते गगने[1] च कमलिनी-मधुरक्त-पक्षसम्पुटे[2] वृद्धहंस इव मन्दाकिनीपुलिनादपर-जलनिधि-तटमवतरति चन्द्रमसि, परिणत-रङ्कु-रोम-पाण्डुनि व्रजति विशालतामाशाचक्रवाले, गजरुधिर-रक्त-हरिसटा-लोहिनीभिः प्रतप्त-लाक्षिक-तन्तु[3] पाटलाभि-रायामिनीभिः[4] अशिशिरकिरणदीधितिभिः पद्मरागशलाकासम्मार्जनीभिरिव[5] समुत्सार्य-माणे गगनकुट्टिमकुसुमप्रकरे तारागणे, सन्ध्यामुपासितुमुत्तराशावलम्बिनि मानससरस्तीर-[6]

एकदेति। एकदा एकस्मिन् काले स्फुटतया जाते प्रत्यूषे मृगयाकोलाहलध्वनिः उदचरदिति वक्ष्यमाणेन दूरेणान्वयः। प्रभातस्य प्रत्यूषस्य या सन्ध्या तत्सम्बन्धी यो रागो रक्तिमा तेन लोहिते रक्तवर्णे, विशेषणमिदं गगने चन्द्रमसि च, तदानीमुभयोरपि तथैव सम्भवात्। अत एव च गगने चेत्यत्र चकारोपादानं सार्थकमित्यवधेयम्। अत एव कमलिन्याः नलिन्याः मधुना लोहितवर्णपुष्परसेन अनुरक्तम् अनुरञ्जितं पक्षसम्पुटं पतत्रयुगलं यस्य तस्मिन्, वृद्धहंस इव पुरातनकलहंस इव, अलसगति-व्यञ्जनाय वृद्धपदम्। चन्द्रमसि हिमांशौ मन्दाकिनीपुलिनात् वियद्गङ्गासैकतात् अपरः पश्चिमो यो जल-निधिः समुद्रः तस्य तटं तीरम् अवतरति उत्तीर्णे सति। इह वृद्धहंस इवेत्युपमा।

परिणतेति। परिणतस्य पुरातनस्य रङ्कोर्मृगविशेषस्य रोमाणि लोमानि तद्वत् पाण्डुनि पीतशुभ्रे 'पाण्डुस्तु पीतभागार्धः केतकीधूलिसन्निभः' इति शब्दार्णवः। आशाचक्रवाले दिङ्मण्डले 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः','चक्रवालं तु मण्डलम्' इतिचामरः, विशालताम् अन्धकारापगमाद्विस्तीर्णतां व्रजति गच्छति सति। अत्र लुप्तोपमा।

गजेति। गजानां हस्तिनां यद्रुधिरं शोणितं तेन रक्ता लोहितवर्णा या हरिसटाः सिंहस्कन्धकेसराः तद्वत् लोहिनीभिः रक्तवर्णाभिः, इह रुधिररक्तपदार्थयोरापाततः पौनरुक्त्येऽपि दर्शितदिशा पार्थक्यस्य स्पष्टमुपलम्भात् भिन्नाकारशब्दगत्वाच्च पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः तदुक्तं दर्पणे—

'आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम्। पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः॥' इति।

हरिसटावदिति लुप्तोपमा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः। प्रतप्ता उष्णीकृता ये लाक्षिका जतु-विकारोत्पन्नाः तन्तवः सूत्राणि तद्वत् पाटलाभिः श्वेतरक्ताभिः। अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। आयामिनीभिः विस्तारवतीभिः, अशिशिरा उष्णाः किरणा रश्मयो यस्य तस्य सूर्यस्य दीधितिभिः प्रभाभिः, पद्मरागस्य लोहितकमणेः याः शलाकाः इषीकाः तासां सम्मार्जनीभिः गृहादिशोधिनीभिः 'सम्मार्जनी शोधिनी स्यात्' इत्यमरः, ताभिरिव विद्यमानाभिः, अत्र जात्युत्प्रेक्षा। गगनम् आकाशमेव कुट्टिमं बद्धभूमिः ( बहिर्द्वारं ) तस्य कुसुमप्रकरः पुष्पसमुदायः तस्मिन् तारागणे नक्षत्रमण्डले समुत्सार्यमाणे दूरीक्रियमाणे सति। इह नक्षत्रमण्डले कुसुमप्रकरत्वारोपस्य गगने कुट्टिमत्वारोपो निमित्तमिति परम्परितरूपकमलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे—यत्र कस्यचिदारोपः परारोपस्य कारणम्। तत्परम्परितम्……… ॥

सन्ध्यामिति। उत्तराशा उदीची दिक् तदवलम्बिनि तदवस्थिते सप्तर्षिमण्डले ताराभूते मरीच्या-दिसप्तदेवर्षिसमूहे सन्ध्यां प्रातः सन्ध्याम् उपासितुं विधातुमिव मानससरस्तीरं मानससरोवरतटं प्रति अवतरति अवरोहति सति तत्समये सप्तर्षिगणस्य उदीच्यामस्तगमनादेवमभिधानम्। इह च सन्ध्यामु-पासितुमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा। सप्तर्षिपदवाच्याश्च—

एक बार बड़े तड़के ही उस वन में शिकार का हाँका सुनायी पड़ा। उस समय प्रातःकालीन आकाश की लाली में रंगा हुआ चन्द्रमा धीरे धीरे पश्चिम की ओर ढल रहा था मानो आकाश रूपी कमलिनी के पुष्प रस से रंगा हुआ लाल पंखों वाला बूढ़ा हंस आकाश गंगा की रेती से पश्चिम समुद्र तट पर उतर रहा हो। दिशाओं के छोर तक फैला हुआ तथा बूढ़े रंकु ( एक प्रकार का मृग ) के बालों के समान हलके पीले रंग का क्षितिज क्रमशः स्पष्ट दिखायी पड़ने के कारण विस्तृत सा प्रतीत होने लगा था, हाथी के रक्त में लिपटे हुए सिंह के अयाल (गरदन का बाल ) के समान लाल तथा तपायी हुई लाख की सलाइयों के समान श्वेत और पीले रंग की अत्यन्त लम्बी लम्बी सूर्य की किरणें आकाश से तारों को समेटती हुई ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो पद्मराग मणि ( लालमणि ) की सलाइयों से बनी हुई झाड़ू लेकर सूर्य आकाश रूपी फर्श पर बिखरे हुए तारे-रूपी पुष्पों को बटोर रहा हो।

१. गगनतले, गगनतल…गगनकमलिनी। २. मधुरक्तपक्षपुटे। ३. आतप्तलाक्षिक, सन्तप्तलाक्ष, आतप्तलाक्षा…। ४. आगामिनीभिः। ५. रत्नशलाकासंमार्जिनीभिः। ६. मानससरसः।

  

मिवा[1]वतरति सप्तर्षिमण्डले, तटगत-विघटित-शुक्ति-सम्पुटविप्रकीर्णमरुणकर-प्रेरणाधोगलित-मुडुगणमिव मुक्ताफलनिकरमुद्वहति धवलितपुलिनमु[2]-दन्वति पूर्वेतरे, तुषारबिन्दुवर्षिणि विबुद्धशिखिकुले विजृम्भमाणकेशरिणि करिणी-कदम्बक-प्रबोध्यमान-समद[3]करिणि क्षपाजल-जडकेशरं कुसुमनिकरमुदयगिरिशिखरस्थितं[4] सवितारमिवोद्दिश्य पल्लवाञ्जलिभिः समुत्सृ[5]-जति कानने, रासभ-रोम-धूसरासु[6] वनदेवताप्रासादानां तरूणां शिखरेषु पारावतमालाय-मानासु धर्म्मपताका[7]स्विव समुन्मिषन्तीषु तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु, अवश्यायशीकरिणि

'मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठश्चेति सप्तैते ज्ञेयाश्चित्रशिखण्डिनः ॥' इति । तटगतेति । पूर्वं इतरो यस्मात् तस्मिन् पश्चिमे इत्यर्थः । उदन्वति समुद्रे 'इतरस्त्वन्यनीचयोः' इत्यमरः, बहुव्रीहिसमासत्वादेव नात्र सर्वादित्वप्रयुक्तकार्यमित्यवधेयम्। तटगतानि तीरस्थितानि विघट्टितानि स्फुटि-तानि यानि विस्तारितभागद्वयानि तत्र शुक्तिसम्पुटेषु समुद्रमण्डूकीपुटेषु मध्ये विकीर्णम् असंयोगभावेना-वस्थितम् , धवलितं निजकान्त्या श्वेतीकृतं पुलिनं सैकतं येन तं तथोक्तम्, अरुणकरैः दिनकरकिरणैः या प्रेरणा नोदना तया अधोगलितं भूमिपतितम् उडुगणं नक्षत्रमण्डलमिव मुक्ताफलनिकरं मौक्तिकसमूहम् उद्वहति धारणं कुर्वति सति । अत्र उडुगणमिवेति जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ।

तुषारेति । अत्र काननविशेषणानि सप्तम्यन्तपदानि । तुषारस्य रात्रिपतिततुहिनस्य बिन्दवः कणाः तान् वर्षति दलाग्रभागेभ्यः पातयतीति तस्मिन् तथोक्ते, विबुद्धं जागरितं शिखिकुलं मयूरगणो यत्र तस्मिन् तथोक्ते, विजृम्भमाणा तत्क्षणनिद्रात्यागेन जृम्भाविधायिनः केशरिणः सिंहा यत्र तस्मिन् तादृशे, करिणीनां हस्तिनीनां कदम्बकं समूहः तेन प्रबोध्यमाना स्वच्छन्दक्रीडार्थं शुण्डाकर्षणेन जागरणं कुर्वाणाः समदा दान-जलस्यन्दिनः करिणो गजा यस्मिन् तस्मिन् तादृशे, एतादृशे कानने वने 'काननं गहनं वनम्' इत्यमरः, क्षपायाः रात्रेः जलेन तत्सम्बन्धितुषारसलिलेन जडाः स्तिमिताः केशराः किञ्जल्काः यस्य तं तथोक्तं कुसुमनिकरं स्वोत्पन्नपुष्पसमूहम् , उदयगिरिः उदयाचलः तस्य शिखरे श्रृङ्गे स्थितं विद्यमानं सवितारं सूर्यम् उद्दिश्येव उद्देश्यं कृत्वेव पल्लवानि किसलयान्येव अञ्जलयः तैः समुत्सृजति प्रक्षिप्य समर्पयति सति । इह उद्दिश्येवेति क्रियोत्प्रेक्षा, 'पल्लवाञ्जलय' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम् , तथा समासोक्तिश्चेति परस्परतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कारः ।

रासभेति । रासभस्य गर्दभस्य रोमाणि लोमानि तद्वत् धूसरासु धूम्ररूपासु । वनदेवतानाम् अरण्याधिष्ठात्रीणां प्रासादा उन्नतत्वाद्विपुलत्वाच्च अट्टालिकारूपाः तरवो वृक्षाः तेषां शिखरेषु अग्रप्रान्तेषु पारावतानां कपोतानां माला पङ्क्तिः तद्वत् आचरन्तीषु संलग्नास्विति तासु तथोक्तासु, तपोवनेषु मुन्याश्र-मेषु यानि अग्निहोत्राणि 'सायं प्रातर्जुहोति, इति श्रुत्या तपस्विनाम् अग्न्याधानानि अग्निहोत्रहोमाः इत्यर्थः, तेषां धूमलेखासु धूमपङ्क्तिषु, धर्मपताकास्विव यज्ञादौ धर्मोद्घोषणाय वैजयन्तीष्विव समुन्मिष-न्तीषु समुत्सर्पन्तीषु । इह रासभरोमधूसरास्वित्यत्र लुप्तोपमा पारावतमालायमानास्वित्यत्र च व्यङ्गतो-पमा, धर्मपताकास्विवेत्यत्र जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा चेति परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कारः ।

अवश्यायेति । अवश्यायः तुषारः 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारः' इत्यमरः, तस्य शीकरा अम्बुकणाः

आकाश के उत्तरी छोर पर स्थित सप्तर्षियों का मंडल ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो मानस सरोवर के तट पर सन्ध्योपासन के लिए आया हो । सूर्य के प्रकाश में धुली हुई पश्चिम समुद्र को रेतियाँ किनारे पर आकर फूटी हुई सीपियों से बिखरे हुए मोतियों के दानों से ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो सूर्य की किरणों ने आकाश के तारों को समेट कर पश्चिम की ओर नीचे गिरा दिया हो। बन के वृक्षों से ओस की बूँदें झड़ने लगी थीं, झुरमुटों में सोने वाले मोर जाग गए थे, सिंह जम्हाइयाँ लेने लगे थे, हथिनियाँ मदमाते हाथी को जगा रही थीं और वह बन स्वयम् रात के पाले से ठिठुरी हुई केसरवाले फूलों को अपनी पल्लव रूपी अंजुलियों से उदयाचल पर स्थित सूर्यदेव को मानो अर्पित सा करने लगा था । गदहे के रोओं के समान धुमैली तपोवन के अग्निहोत्र की धूम-रेखायें वृक्षों की चोटियों पर जा जाकर टिकने लगी थीं, मानो वनदेवियों के महलों की चोटियों पर मटमैले कबूतरों की पंक्तियाँ बैठी हों, अथवा धर्म की पताकाएँ फहरा रही हों । ओस के कणों से

१. अम्बरादवतरति । २."'पुलिनतटम् , पुलिनतलम् । ३."'मानमदकरिणि स्पष्टे च जाते प्रभाते ।
४. स्थितसवितारम् । ५. उत्सृजति । ६. धूसरासु वनराजिषु । ७. पताकासु ।

लुलितकमलवने रति[1]-खिन्न-शबरसीमन्तिनी-स्वेदजल[2]कणापहारिणि वनमहिष-रोमन्थ-फेनबिन्दुवाहिनि चलितपल्लव-लतालास्योपदेश-व्यसनिनि विघटमान-कमलखण्ड[3]-मधु-शीकरासारवर्षिणि कुसुमामोदतर्पितालिजाले निशावसानजातजडिम्नि मन्दमन्दसञ्चारिणि प्रवाति प्राभातिके मातरिश्वनि, कमलवन[4]प्रबोध-मङ्गलपाठकानाम् इभगण्डडिण्डिमानां मधुलिहां[5] कुमुदोदरेषु विघटमान[6]-दलपुट-निरुद्ध[7]पक्षसंहतीनामुच्चरत्सु हुङ्कारेषु[8], प्रभातशिशिरमारुता[9]हतमुत्तप्तजतुरसोश्लिष्टं पक्ष्म[10]मालमिव सशेषनिद्राजिह्मित[11]तारं चक्षुरुन्मीलयत्सु

ते अस्य सन्तीति तस्मिन् तथोक्ते, इत आरभ्य सप्तम्यन्तपदानि 'मातरिश्वमिन' इत्यग्रिमस्य विशेषणानि बोध्यानि लुलितम् आन्दोलितं कमलवनं पद्मवनं येन तस्मिन् तथोक्ते, रतिखिन्नानां निधुवनश्रान्तानां शबरसीमन्तिनीनां किरातवधूनां यत् स्वेदजलं घर्मवारि तस्य कणा बिन्दवः तेषाम् अपहारिणि निजस्पर्शेन नाशविधायिनि तस्मिन् तादृशे, एतेन वायोस्त्रिविधगुणवत्त्वं व्यञ्जितम्। वनमहिषाणां सैरिभाणां रोमन्थः चर्वितचर्वणं तत्र ये फेनबिन्दवः कफकणाः तान् वहति धारयतीति तस्मिन् तथोक्ते। चलितानां स्ववेगेनान्दोलितानां पल्लवानां किसलयानां लतानां वल्लीनाञ्च यत् लास्यं चाञ्चल्यरूपं नृत्यं तस्य उपदेशे शिक्षणे व्यसनम् आसक्तिरस्यास्तीति तस्मिन् तथोक्ते। विघटमानानि विकाशं प्राप्यमाणानि यानि कमलखण्डानि पद्मवनानि तेषां मधु पुष्परसः तस्य शीकराणां बिन्दूनाम् आसारं धारासम्पातं 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः, वर्षति क्षिपतीति तस्मिन् तथोक्ते। कुसुमानां पुष्पाणाम् आमोदः सौरभः तेन तर्पितं प्रीणितम् अलिजालं भ्रमरसमूहो येन तस्मिन् तथोक्ते। निशावसाने रात्रिशेषे जात उत्पन्नः जडिमा जडत्वं शीतलसलिलामोदवहनादिना भारवत्त्वं यस्य तस्मिन् तथोक्ते, अत एव मन्दमन्दसञ्चारिणि शनैः शनैः प्रवहति प्राभातिके प्रातःसमयके मातरिश्वनि सदागतौ वायावित्यर्थः, प्रवाति प्रवहति सति 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः।

कमलेति। कमलवनस्य पङ्कजवनस्य प्रबोधे जागरणे विकसने मङ्गलपाठकानां स्तुतिविधायिनां कियतां मधुलिबां भ्रमराणां नृपतीनां प्रबोध इव तदीयवन्दिजनानामित्याशयः। इभगण्डेषु दानवारिसहितहस्तिकपोलेषु डिण्डिमानां तत्संज्ञकवाद्यविशेषरूपाणाम्, विषयविशेषसूचनार्थं यथा कश्चित् डिण्डिमं वादयति तथैव भ्रमरा अपि हस्तिजागरणार्थं गुञ्जन्तीत्याशयः। तथा कुमुदोदरेषु कैरवाभ्यन्तरेषु घटमानैः सूर्योदयात् संकोचं प्राप्यमाणैः दलपुटैः पत्रकोशैः निरुद्धा अवरुद्धा पक्षसंहतिः छदसमूहो येषां तथोक्तानाञ्च कियतां मधुलिहां द्विरेफाणां हुङ्कारेषु अव्यक्तशब्देषु उच्चरत्सु उत्थितेषु सत्सु। इह मधुलिट्सु मङ्गलपाठकत्वारोपः शाब्दः, पङ्कजवने नृपत्वारोपस्त्वार्थ इत्येकदेशविवर्तिरूपकम्, इभगण्डडिण्डिमेत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, तथा चानयोः परस्परमनपेक्षाभावेन संसृष्टिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—'मिथोऽनपेक्ष्यमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति।

प्रभातेति। उषरा तृणशून्या या शय्या शयनभूमिः तेन धूसरा मलिनवर्णा क्रोडरोमराजयः हृदयलोमपंक्तयो येषु तथोक्तेषु वनमृगेषु अरण्यहरिणेषु, प्रभातं प्रातःकालः तस्य यः शिशिरः शीतलो वायुः

लदी हुई प्रातःकाल की हवा धीरे धीरे चलने लगी थी—वह कहीं कमलवनों को गुदगुदा आती थी, कहीं रति में थकी हुई भीलनियों के पसीने की बूँदें ले भागती थी, कहीं जंगली भैंसों की जुगाली का फेन उड़ा लाती थी, कहीं लतारूपी नर्तकियों के पल्लव रूपी वस्त्रों को फहरा-फहरा कर उन्हें नृत्य का पाठ पढ़ा जाती थी, कहीं खिले हुए कमलों के पुष्प-रस की फुहारें बरसाने लगती थी, कहीं भौंरों के झुण्डों में फूलों की गंध बाँट आती थी और कभी प्रातःकाल की ठंढक से मानो स्वयम् सिकुड़ सी उठती थी। कहीं कमल-वनों में गूँजते हुए भौंरे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों उन्हें जगाने के लिए वन्दियों की तरह मंगल पाठ कर रहे हों, कहीं हाथियों के गंडस्थल पर भिनभिनाते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों उन्हें जगाने के लिए डिंडिभि बाजा बजा रहे हों और कहीं संकुचित कुमुदनियों के सम्पुटों में पंखों के फँस जाने के कारण वे क्रुद्ध होकर हुंकार कर रहे थे। कहीं प्रातःकालीन वायु के शीतल थपेड़ों से जंगली हरिणों की अलसायी आँखें खुलने लगी थीं—उनकी भूरी-भूरी

१. रत…। २. …स्वेदजलकणिका, स्वेदकणिका…। ३. …षण्ड। ४. 'वन' इति क्वचिन्नास्त्यपि। ५. मधुलिहां पटलेषु। ६. विघटमान, घनघटमान। ७. निबद्ध…। ८. झङ्कारिषु, टङ्कारेषु। ९. वायवाहतम्। १०. पक्ष्मजालमिव। ११. जिह्मतारम्, जिह्मिततारकम्।

शनैः शनैरूषरशय्या-धूसर-क्रोडरोमराजिषु[1] वनमृगेषु, इतस्ततः, सञ्चरत्सु वनचरेषु, विजृम्भमाणे श्रोत्रहारिणि पम्पासरःकलहंस[2]कोलाहले समुल्लसति नर्त्तितशिखण्डि[3]मण्डले मनोहरे वनगजकर्णतालशब्दे, क्रमेण च गगनतलम्[4]अवतरतो दिवसकरवारणस्यावचूड[5]-चामरकलाप इवोपलक्ष्यमाणे मञ्जिष्ठारागलोहिते किरणजाले, शनैः-शनैरुदिते भगवति सवितरि, पम्पासरःपर्य्यन्त-तरु-शिखर-सञ्चा[6]रिणि अध्यासित-गिरिशिखरे दिवसकरजन्मनि हृततारे पुनरिव कपीश्वरे वनमभिपतति बालातपे, स्पष्टे जाते प्रत्यूषसि, नचिरादिव दिव-

---

पवनः तेन आहतं ताडितं कृतस्पर्शमित्यर्थः, उत्तप्तेन अग्निना उष्णीकृतेन जतुरसेन लाक्षाद्रवेण आश्लिष्टा मिथः संयोजकभावेनाश्लेषिता पक्ष्मणां लोम्नां माला पङ्क्तिः यस्य तदिव, सशेषया किञ्चिदवशिष्टया निद्रया स्वापेन 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः' इत्यमरः, जिह्मिता वक्रीकृता तारा कनीनिका यस्य तत् तथोक्तं चक्षुर्नेत्रं, शनैः शनैः मन्दं मन्दम् उन्मीलयत्सु विकासयत्सु सत्सु । इह क्रियोत्प्रेक्षा ।

इतस्तत इति । इतस्ततः चतुर्दिक्षु वनचरेषु काननचारिषु सञ्चरत्सु भ्रमत्सु । श्रोत्रहारिणि मनोहरतया कर्णाकर्षिणि पम्पासरसः पम्पानामककासारस्य कलहंसानां कादम्बानां कोलाहले कलकले विजृम्भमाणे विस्तृते सति । नर्त्तितं नाटितं शिखण्डिनां मयूराणां मण्डलं समूहो येन तस्मिन् तथोक्ते, मनोहरे रुचिरे वनगजानाम् अरण्यकरिणां कर्णयोः श्रोत्रयोः तालवत् करतलध्वनिवत् 'तालः करतलध्वनिः, इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी, शब्दे रवे समुल्लसति तेषां प्रबोधानन्तरमुत्थिते सति । तालशब्द इत्यत्र लुप्तोपमा ।

क्रमेणेति । क्रमेण परिपाट्या गगनतलम् आकाशपथम् अवतरत आरोहतः, दिवसकर आदित्यः वारणो गज इव तस्य तथोक्तस्य, मञ्जिष्ठा हि औषधविशेषः, तस्या रागो लौहित्यं तद्वत् लोहिते रक्तवर्णे, किरणजाले मयूखगणे, अवनता अधोमुखीभूता चूडा अग्रदेशो यस्य सः अवचूडः स चासौ चामरकलापः चामरगणः तस्मिन् तथोक्त इव उपलक्ष्यमाणे अवलोक्यमाने सति । उन्नतप्रदेशारोहणं विदधतो हस्तिनः श्रोत्रान्तिकलम्बिन्यवनते चामरगण इव गगनमारोहत आदित्यस्यावनते मयूखजाले अवलोक्यमाने सतीति स्पष्टार्थः । इहोपमालुप्तोपमानां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कारः ।

शनैरिति । शनैः शनैः मन्दं मन्दम् उदिते उदयं प्राप्ते भगवति महात्म्यवति सवितरि आदित्ये ।

पम्पासर इति । पम्पासरसः पम्पानामकसरोवरस्य पर्यन्ततरूणां प्रान्तस्थायिवृक्षाणां शिखरेषु ऊर्ध्वप्रदेशेषु सञ्चारिणि व्याप्ते, अध्यासितं पूर्वमाश्रितं गिरेः उदयपर्वतस्य किष्किन्धापर्वतस्य च शिखरम् अग्रप्रदेशो येन तस्मिन् तथोक्ते, दिवसकरात् आदित्यात् जन्म उत्पत्तिः यस्य तस्मिन् तथोक्ते, हृता निजप्रभावेण लोपं प्रापिता अपहृता च तारा नक्षत्रं तदभिधेया वालिपत्नी च, बालातपे अभिनवादित्यलोके कपीश्वरे सुग्रीव इव पुनः वनम् अरण्यम् अभिपतति व्याप्नुवति अभिगच्छति च सति । इह पूर्णोपमा । आदित्याज्जन्म जातं सुग्रीवस्येति वाल्मीकीयरामायणस्योत्तरकाण्डतोऽवगम्यते ।

स्पष्ट इति । प्रत्यूषसि प्रातःकाले स्पष्टे व्यक्ते जाते समुत्पन्ने सति, भास्वति दिवसकरे, नचिरादिव

---

बरौनियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो उन्हें तपायी हुई लाख के रस में रंग दिया गया हो । नींद पूरी न होने के कारण उनकी आँखें पूरी तरह खुल नहीं पाती थीं जिससे वे कनखियों से देख रहे थे । वनचर गण इधर उधर आने जाने लगे थे । पंपासर में कानों को मधुर लगने वाला हंसों का कलरव बढ़ने लगा था। मोर अत्यन्त उल्लास के साथ मंडल बाँध कर नाच रहे थे और हाथी कान फटफटाते हुए मानो ताल सा दे रहे थे । मँजीठिया रंग की लाल लाल किरणें आकाश में धीरे-धीरे उतरने वाले सूर्य रूपी हाथी के मस्तक पर डुलते हुए चँवर के समान प्रतीत हो रही थीं । सूर्य धीरे धीरे आकाश में उदित होने लगा था, पंपासर के निकटवर्ती वृक्षों तथा पहाड़ की चोटियों पर विहार करनेवाली एवं तारों को चुरा लेनेवाली उसकी प्रातःकालीन मधुर धूप बन में फैलती हुई ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों बलि की पत्नी तारा को चुरा लेने वाला सूर्यपुत्र सुग्रीव डर से जंगल में भाग आया हो । उषा स्पष्ट हो चली थीं और दिन के आठवें भाग में ( प्रथम प्रहर ) सूर्य का प्रकाश निखर उठा

---

१. राजिषु च । २. कलहंसकुल । ३. नर्त्तितशिखण्डिनि । ४. गगनतलमार्गम् । ५. अवधूत··· ६. सञ्चारिणाम् ।

साष्टमभाग[1]भाजि स्पष्टभासि भास्वति भूते, प्रयातेषु [2]यथाभिमतानि दिगन्तराणि शुककुलेषु, कुलाय-[3]निलीननिभृत-शुक-शावकसनाथेऽपि निःशब्दतया शून्य इव तस्मिन् वनस्पतौ, स्वनीडावस्थित एव ताते, मयि च शैशवादस[4]ञ्जातबले समुद्भिद्यमानपक्षपुटे पितुः[5]-समीपवर्त्तिनि कोटरगते, सहसैव तस्मिन् महावने संत्रासितसकलवनचरः स[6]रभसमुत्पतत्पतत्रिपक्षपुट-सन्ततः भीत-करिपोत-चीत्कारपीवरः प्रचलित[7]-मत्तालिकुलक्वणितमांसलः परिभ्रमदुद्घोणवन-वराह-रव-घर्घरः[8] गिरिगुहा-सुप्त-प्रबुद्ध-सिंहनादोप[9]बृंहितः, कम्पयन्निव तरून् भगीरथा-[10]वतार्यमाण-गङ्गाप्रवाहकलकल-बहलो भीतवनदेवताकर्णितो मृगयाकोलाहलध्वनिरुदचरत्।

---

अल्पसमयेनेव दिवसस्य वासरस्य अष्टमभागं चतुर्घटिकात्मकं भजत इति तस्मिन् तथोक्ते, अत एव स्पष्टाः सर्वासु दिक्षु स्फुटा भासः कान्तयो यस्य तथोक्ते, भूते जाते सति। इह नचिरादिवेत्यस्य गुणपदार्थत्वाद् गुणोत्प्रेक्षा।

प्रयातेष्विति। शुककुलेषु कीरवृन्देषु यथाभिमतानि यथेप्सितानि दिगन्तराणि दिग्विभागान् प्रयातेषु आहारानयनाय गतेषु सत्सु। कुलायेषु नीडेषु 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः, निलीनाः प्रच्छन्नाः निभृता निश्चला निःशब्दा इत्यर्थः, ये शुकशावकाः कीरशिशवः तैः सनाथेऽपि संयुक्तेऽपि तस्मिन् वनस्पतौ शाल्मलीद्रुमे शून्य इव निखिलप्राणिवर्जित इव विद्यमाने सति। शून्य इवेति वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

स्वनीडेति। ताते मम पितरि मयि वैशम्पायने च स्वनीडावस्थित एव स्वकुलाये तिष्ठत्येव शैशवात् बाल्याद्धेतोः असञ्जातम् अनुत्पन्नं बलम् उत्पतनादिशक्तिः यस्य तस्मिन् तथोक्ते, तथा समुद्भिद्यमानं यथाक्रमं द्योतमानं पक्षपुटं पतत्रद्वयं यस्य तस्मिन् तथोक्ते मयि च, तातस्य पितुर्जनकस्य समीपवर्त्तिनि निकटस्थायिनि सति कोटरगते स्वकुलायाधारतरुमध्यस्थिते सति।

सहसैवेति। तस्मिन् पूर्वोक्ते महावने महारण्ये सहसैव अकस्मादेव मृगया आखेटकः तस्याः कोलाहलध्वनिः कलकलनिनादः उदचरत् उत्पन्नोऽभूत् इत्यन्वयः। अत्र प्रथमान्तपदानि उक्तध्वनेर्विशेषणानि। संत्रासिताः त्रासं प्रापिताः सकलाः समस्ता वनचरा अरण्यचारिणो येन स तथोक्तः सरभसं त्रासेन सवेगम् उत्पतताम् उड्डयनं विदधतां पतत्रिणां पक्षिणां पक्षपुटैः पतत्रद्वयशब्दैः सन्ततः सम्यग्विधिना विस्तीर्णः, भीतानां त्रासमुपगतानां करिपोतानां गजशिशूनां ( कलभानां ) चीत्कारैः विपुलव्यथासूचकध्वनिभिः पीवरः स्थूलः पुष्ट इत्यर्थः। प्रचलितस्य त्रासेन स्वस्थानात् प्रयातस्य मत्तस्य पुष्परसपानेनोन्मत्तस्य अलिकुलस्य भ्रमरसमूहस्य क्वणितेन अस्फुटशब्देन मांसलः पीवरः। परिभ्रमतां त्रासेन इतस्ततः सञ्चरताम् उद्घोणानाम् उन्नतनासिकासहितानां वनवराहाणाम् आरण्यकशूकराणां रवैः आर्त्तशब्दैः घर्घरः 'घर् घर्' इत्येवंरूपशब्देन कठिनः। गिरिगुहासु पर्वतकन्दरासु सुप्ताः पूर्वं निद्रिताः पश्चात् प्रबुद्धाः आखेटकोलाहलेन उत्थिताः ये सिंहाः केसरिणः तेषां नादेन ध्वनिना उपबृंहितः वृद्धिं गतः।

कम्पयन्निति। भगीरथेन तत्संज्ञकसूर्यवंशीयनृपतिना अवतार्यमाणः तुहिनाचलात् पृथिव्यां नीयमानो यो गङ्गाप्रवाहः जाह्नवीस्रोतः तस्य कलकल इव कल्लोल इव बहलः बहुलीकृतः, तथा भीताभिः त्रस्ताभिः

---

था। सभी सुग्गे अपनी अपनी मनचाही दिशाओं की ओर उड़ गये थे। यद्यपि बच्चे घोंसलों में ही रह गए थे लेकिन उनकी चुप्पी से वह वृक्ष अत्यन्त नीरव ( शब्द-हीन ) और सूना सा जान पड़ता था। मेरे पिता भी अपने घोंसले में ही थे और मैं भी उसी में उनके पंखों से चिपका हुआ पड़ा था। बचपन के कारण मुझमें अभी शक्ति नहीं आई थी और पंख तो अभी फूट ही रहे थे। सहसा ही उस हांके को सुनकर सारे बनचर भयभीत हो उठे, पक्षी व्याकुल होकर पंख फड़फड़ाने लगे, भयभीत हाथियों के बच्चे एक साथ चिग्घाड़ने लगे, उड़ते हुए मतवाले भौंरों की घनी गुंजार घनघनाने लगी, घूमते हुए बनैले सूअर थूथन उठा-उठाकर घुरघुराने लगे, पहाड़ी गुफाओं में सोये हुए सिंह जागकर दहाड़ने लगे और जंगल के सारे वृक्ष मानो काँपकर हरहराने लगे। उस समय की सभी ध्वनियाँ एक साथ मिलकर ऐसी प्रतीत होती थीं मानो भगीरथ के पीछे उतरने-

---

१. अष्टभागभाजि। २. इह च इत्यधिकः पाठः क्वापि विद्यते। ३. कुलाय निभृतशावक। ४. असञ्जातबलसमु…, ५. तातस्य। ६. सततं सरभसमुत्पतत्…। ७. प्रचलितलताकुलित, प्रचलित लताकुलमत्तालिकुल…। ८. वराहघर्घरकठोरः। ९. नादबृंहितः। १०. …आवार्यमाण…।

आकर्ण्य च[1] तमहमश्रुतपूर्वमुपजातवेपथुरर्भकतया जर्ज्जरित-कर्णविवरो भयविह्वलः समीपवर्त्तिनः पितुः प्रतीकारबुद्धया जरा[2]शिथिलपक्षपुटान्तरमविशम् ।

अनन्तरञ्च 'सरभसमितो गजयूथपति-लुलित कमलिनी-परिमलः, इतः क्रोडकुल-दश्यमान-भद्र-मुस्ता-रसामोदः, इतः करिकलभ-भज्यमान-शल्लकी-कषाय-गन्धः; इतो निपतित-शुष्क-पत्रमर्म्मरध्वनिः- इतो वनमहिष-विषाण-कोटिकुलिश-भिद्यमान-वल्मीकधूलिः, इतो मृगकदम्बकम्, इतो वनगजकुलम्, इतो[3] वनवराहयूथम्, इतो वनमहिषवृन्दम्, इतः शिखण्डि-

वनदेवताभिः अरण्याधिष्ठातृदेवीभिः आकर्णितः श्रवणविषयीकृतः। तरून् वृक्षान् कम्पयन् चालयन्निव। अन्वयस्तूक्तः। इह लुप्तोपमाक्रियोत्प्रेक्षयोः परस्परनैरपेक्ष्येण स्थितत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

आकर्ण्येति। अहं वैशम्पायनः, अश्रुतपूर्वम् अनाकर्णितपूर्वं तम् आखेटकोलाहलशब्दम् आकर्ण्य श्रुत्वा, उपजातवेपथुः त्रासेन समुत्पन्नकम्पः अर्भकतया शावकतया जर्जरितम् विदीर्णं कर्णयोः श्रोत्रयोः विवरं रन्ध्रं यस्य स तथोक्तः, भयेन त्रासेन विह्वलो व्यग्रः समीपवर्त्तिनः निकटस्थितस्य पितुः तातस्य प्रतीकारबुद्धया त्रासनिवृत्त्युपायबुद्धया, जरया परिणतवयसा शिथिलं श्लथं यत् पक्षपुटं पतत्त्रद्वन्द्वं तस्य अन्तरं मध्यम् अविशं प्रविष्टोऽभवम्।

अनन्तरञ्चेति। अनन्तरं पितुः पतत्रपुटमध्यप्रवेशानन्तरञ्च कोलाहलमशृणवमिति दूरस्थक्रियया सम्बन्धः। कोलाहलमेव विशेषयति—'सरभस'मित्यादिना। इतः अस्मिन् स्थले इत्थमग्रेऽपि। सरभसं सवेगं गजयूथपतिभिः करिकुलोत्तंसैः लुलिता मर्दिता याः कमलिन्यः पद्मिन्यः तासां परिमलः विमर्दोत्थसौरभं सञ्चरतीति शेषः, अतश्चात्र करिणो विलसन्तीति सम्भाव्यत इत्याशयः। क्रोडकुलेन अरण्यशूकरसमूहेन दश्यमाना दष्टा भक्ष्यमाणा या भद्रमुस्ता गुन्द्राः लोके 'नागरमोथा' इति प्रसिद्धाः 'गुन्द्रस्तेजनके स्त्री तु प्रियङ्गौ भद्रमुस्तके' इति मेदिनी, तासां रसस्य द्रवस्य आमोदः सौरभम्, एतेन स्पष्टमेवात्र शूकराणामवस्थितिसम्भावनेत्यभिप्रायः। करिकलभैः त्रिंशद्वर्षीयगजशिशुभिः भज्यमाना आमर्द्यमाना याः शल्लक्यः गजभक्ष्यतरुविशेषाः तासां कषायगन्धः निर्यासामोदः अत एवात्र, गजशिशूनामस्तित्वसम्भव इत्याशयः।

इत इति। निपतितानि वृक्षादधश्च्युतानि यानि शुष्कपत्राणि नीरसदलानि तेषां मर्मरध्वनिः मर्मर इत्येवं रवः 'मर्मरो वस्त्रभेदे च शुष्कपर्णध्वनौ तथा' इति कोशः, ध्रुवमत्र कोऽपि चतुष्पाद् विचरतीति ज्ञायत इत्याशयः। वनमहिषा अरण्यसैरिभाः तेषां विषाणकोटयः शृङ्गाग्राणि कुलिशानि वज्राणीव यद्वा विषाणकोटय एव कुलिशानि तैर्भिद्यमानानां छिद्यमानानां वल्मीकानाम् ऊयीकाकृतमृत्तिकास्तूपानां 'वल्मीक ऊयीकाकृतमृत्तिकास्तूपः' इति शब्दकल्पद्रुमः, धूलिः रजः दृश्यत इति शेषः, तेनेह महिषा विद्यन्त इत्याशयः। इह लुप्तोपमारूपकयोः द्वयोरपि सम्भवात् सन्देहसङ्करालङ्कारः। मृगाणां हरिणानां कदम्बकं समूहः। वनगजानाम् अरण्यहस्तिनां कुलं समूहः। वनवराहाणाम् अरण्यशूकराणां यूथं मण्डलम्। वन-

वाली गंगा के प्रवाह की भीषण और अत्यन्त घनी हरहराहट हो। उसे बन-देवता भी अत्यन्त भयभीत होकर सुन रहे थे।

उस अपूर्व ध्वनि को सुनकर मैं भी काँपने लगा, बचपन के कारण मेरे कान उस ध्वनि से बहरे हो उठे और भय से व्याकुल होकर उससे बचने की आशा से मैं समीप ही में स्थित पिता के पंखों के भीतर घुस गया जो बुढ़ौती के कारण अत्यन्त ढीले ढाले पड़ गये थे।

इसके बाद ही मुझे शिकारियों की बहुत बड़ी भीड़ का कोलाहल सुनायी पड़ा। वे आपस में बड़ी फुर्ती से इस प्रकार चिल्ला रहे थे—यह देखो, इधर हाथियों के स्वामी ने कमलिनियों को मसल फेंका है, जिससे कैसी मधुर गन्ध उठ रही है; इधर सूअरों ने नागरमोथों को खोद खोदकर कुतर डाला है, जिससे कैसी महँक आ रही है; इधर हाथियों के बच्चों ने सलई की डालियाँ तोड़ मरोड़ डाली हैं, जिनसे कैसी कसैली गंध निकल रही है; इधर गिरे हुए सूखे पत्ते मरमरा रहे हैं; इधर जंगली भैंसों ने अपनी वज्र जैसी सींगों की नोक से बांबियों को खोद गिराया है जिससे धूल ही धूल उड़ रही है; इधर हरिणों का झुण्ड है, उधर जंगली हाथियों का परिवार है, इधर जंगली सूअरों का गिरोह है, इधर जंगली भैंसों का समूह है, इधर मोरों की ध्वनि आ

१. आकर्ण्य तं। २. जरातिशिथिल। ३. इतो वराहयूथम्।

मण्डक-विरुतम्, इतः कपिञ्जल-कुल-कल-कूजितम्, इतः कुररकुल-क्वणितम्, इतो मृगपति-नखभिद्यमान-कुम्भ-कुञ्जर-रसितम्, इयमार्द्र-पङ्क-मलिना वराह[1]पद्धतिः, इयमभिनव-शष्पक-बल-रस-श्यामला हरिण-रोमन्थ-फेन-संहतिः, इयमुन्मद-गन्धगजगण्ड-कण्डूयन-परिमल-[2]निलीन-मुखर-मधुकर-विरुतिः- एषा निपतितरुधिरबिन्दुसिक्त-शुष्कपत्र-पाटलारुरुपदवी; एतद्द्विरद-चरण-मृदित-विटप-पल्लवपटलम्, एतत् खड्गिकुल[3]क्रीडितम्, एष नखकोटि-वि[4]लिखितविकट-पत्रलेखो रुधिरपाटलः करि[5]मौक्तिक-दन्तुरो मृगपतिमार्गः, एषा प्रत्यग्रप्रसूत-वनमृगीगर्भ-रुधिर-लोहिनी-भूमिः, इयमटवी वेणिकानु[6]सारिणी पक्षच[7]रस्य यूथपतेर्मदजल-

महिषाणाम् अरण्यसैरिभाणां वृन्दं कदम्बकम्। शिखण्डिनां मयूराणां मण्डलं समूहः तस्य विरुतं शब्दः। कपिञ्जलानां चातकपक्षिणां 'कपिञ्जलः चातकपक्षी' इति शब्दकल्पद्रुमः, कुलस्य समूहस्य कलकूजितं मधुरशब्दितम्। कुररकुलस्य मत्स्यनाशकसमुदायस्य क्वणितं कूजितम्। मृगपतीनां केसरिणां नखैः पुनर्भवैः भिद्यमाना विदार्यमाणाः कुम्भाः शिरस्थकुम्भाकृतिमांसपिण्डाः येषां तथोक्तानां कुञ्जराणां गजानां रसितम् आक्रन्दितम्।

इयमिति। इयं प्रत्यक्षदृश्यमाना, एवमग्रेपि। आर्द्रः क्लिन्नः अशुष्क इत्यर्थः, यः पङ्कः कर्दमः तेन वराहशरीरेभ्य एव च्युतपङ्केनेत्यर्थः, मलिना श्यामवर्णा वराहपद्धतिः वनशूकरमार्गः। अभिनवानि नूतनानि यानि शष्पाणि बालतृणानि तेषां ये कवलाः ग्रासाः तेषां तथोक्तानां चर्व्यमाणशष्पाणामित्यर्थः, रसैः निर्यासैः श्यामला कृष्णवर्णा, हरिणानां मृगाणां यो रोमन्थः चर्वितचर्वणं तस्य फेनसंहतिः कफसमूहः। उन्मदा मदमत्ता ये गन्धगजाः सुरभिमदयुक्तहस्तिनः तेषां गण्डकण्डूयनेन कपोलघर्षणेन ये परिमलाः सुगन्धाः तेषु तत्सुगन्धियुक्तभूमिष्वित्यर्थः। निलीनानां प्रच्छन्नानां मुखराणां वाचालानां मधुकराणां भ्रमराणां विरुतिः झङ्कारः। एषा अवलोक्यमाना, निपतिताः पृथिव्यामस्माकमस्त्रहननेन शरीरात्स्यन्दिताः ये रुधिरबिन्दवः शोणितपृषताः तैः सिक्तानि आर्द्रीकृतानि यानि शुष्कपत्राणि नीरसदलानि तैः पाटला श्वेतरक्ता रुरुपदवी हरिणविशेषाध्वा।

एतदिति। एतत् निकटतरस्थायि, द्विरदा गजास्तेषां चरणैः पादैः मृदितानां मर्दितानां विटपानां वृक्षस्कन्धानां पल्लवानां किसलयानाञ्च पटलं वृन्दं यत्र एवंविधं स्थलमित्यर्थः, एवञ्चानेन पथा निश्चितमनुपदमेव द्विरदा गता इत्याशयः। एतत् अवलोक्यमानं खड्गिनां गण्डकानां कुलम् समुदायः तस्य क्रीडितं विहृतं पृथिव्यां क्रीडाचिह्नमवलोक्यत इत्यर्थः, तेन खड्गिनामपीदं विहारस्थानमित्याशयः। एवं पुरो दृश्यमानः नखकोटिभिः पुनर्भवाग्रैः नखाग्रच्युतशोणितैरित्यर्थः, विलिखिताः चित्रीकृताः विकटा भयङ्कराः पत्रलेखाः पत्राकृतिलक्षणानि यत्र स तथोक्तः, रुधिरैः व्यापादितप्राणिशोणितैः पाटलः श्वेतरक्तवर्णः, तथा करिमौक्तिकैः व्यापादितहस्तिमुक्ताभिः दन्तुरः उन्नतानतः, मृगपतेः केसरिणो मार्गः सञ्चरणपथः, एवञ्च नूनमनेन मार्गेण मृगपतिर्गत इत्यभिप्रायः।

एषेति। प्रत्यग्रप्रसूता अभिनवप्रसूतवती या वनमृगी अरण्यहरिणी तस्या गर्भरुधिरेण भ्रूणशोणितेन लोहिनी रक्तवर्णा एषा भूमिः मेदिनी। वेणिकानुसारिणी केशवेणीसमा विषमेति यावत्, इयम् अटवी इदम् अरण्यम् 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः। पक्षेण निजमण्डलेन चरति भ्रमतीति तस्य तादृशस्य यूथपतेः हस्तिराजस्य मदजलेन दानवारिणा मलिना कृष्णवर्णा। तेनेह हस्तिनो भ्रमन्तीत्याशयः।

रही है, इधर पपीहों की मधुर रट लगी हुई है, इधर क्रौंच चीख रहे हैं, इधर बाघ के नखों से फटे हुए गंडस्थलोंवाला हाथी कराह रहा है, यह गीले कीचड़ में सनी हुई सूअरों के आने जाने की राह है, यह नयी नयी घास खाकर जुगाली करनेवाले हरिणों के मुंह से गिरी हुई घास के रस से हरी हरी झाग की ढेरी है, यह मतवाले हाथियों के कपोल खुजलाने से लगी हुई सुगन्ध पर चिपके हुए भौंरों की मधुर गुंजार है, यह टपकती हुई खून की बूदों में सने हुए सूखे पत्तों से भरी हुई घायल रुरु हरिणों के भागने की राह है, यह हाथियों के पैरों से रौंदे हुए पेड़ के पत्तों की ढ़ेर है, यहाँ गैंड़ों ने खिलवाड़ किया है, यह हाथी मार कर लौटे हुए सिंह की राह है, जो उसके खून से लाल लाल भयंकर पंजों की छापों से भरी हुई तथा गिरे हुए गजमोतियों से कैसी चमक

१. वराहकुलपद्धतिः। २. आलीनः। ३. शिखण्डिकुलक्रीडितम्। ४. विकटविलिखितपत्रलेखः। ५. मौक्तिकदन्तुरः। ६. वेणुकानुकारिणी। ७. एकचरस्य समीपचरस्य।

मलिना, सञ्चार-वीथी-चमरीपङ्क्तिरियमनुगम्यताम्, उच्छुष्कमृग-करीष-पांसुला त्वरिततरमध्यास्यतामियं वनस्थली, तरुशिखरमारुह्यताम्, आलोक्यतां दिगियम्, आकर्ण्यतामयं शब्दः, गृह्यतां धनुः, अवहितैः स्थीयताम्, विमुच्यन्तां श्वानः' इत्यन्योन्यमभिदधतो-[1] मृगयासक्तस्य[2] महतो जनसमूहस्य तरुगहनान्तरित-विग्रहस्य क्षोभितकाननं कोलाहलमश्रृणवम्।

अथ नातिचिरादेवानुलेपनार्द्र-मृदङ्गध्वनि[3][4]धीरेण गिरिविवर-विजृम्भित-प्रतिनाद[5]-गम्भीरेण, शबर[6]-शर-ताडितानां केशरिणां निनादेन, संत्रस्त-यूथ-मुक्तानामेकाकिनाञ्च सञ्च-

सञ्चारेति। इयं प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणा, सञ्चारवीथ्यां भ्रमणमार्गे चमरीपङ्क्तिः चमर्याख्यमृगराजिः अनुगम्यतां हननायानुव्रज्यताम्। उच्छुष्कैः अत्यन्तनीरसैः मृगकरीषैः हरिणपुरीषैः पांसुला सधूलीका इयं दृश्यमाना वनस्थली अरण्यभूमिः त्वरिततरं वेगवत्तरम् अध्यास्यतां हरिणमार्गणाय अवलम्ब्यताम् प्रविश्यतामित्यर्थः। तरोः वृक्षस्य शिखरम् ऊर्ध्वदेश आरुह्यताम् पक्षिहननाय आरोहविषयीक्रियताम्। इयम् अभिमुखी दिक् ककुप् आलोक्यतां 'पशवो विद्यन्ते न वे'ति बोधनाय परिदृश्यताम्। अयं शब्दः आकर्ण्यतां श्रूयतां यतश्चोदेति शब्दस्तद्देशे यातव्यमिति भावः। धनुश्चापः गृह्यतां झटिति पशुवधाय आदीयताम्। अवहितैः सावधानैः भवद्भिः स्थीयताम् उपविश्यताम् अन्यथा चेत् अन्तिकादेवाविद्धगात्राः पशवः पलायिता भवेयुरित्याशयः। श्वानः कौलेयकाः विमुच्यन्तां परिप्रेष्यन्तां व्यापाद्यपशुमार्गणायेति भावः। 'स्वपालितश्वानो हि पशून् मार्गयित्वा सङ्केतविशेषेण स्वामिनं बोधयन्ती'ति लोकवार्ता। इति अन्योन्यम् एवं परस्परम् अभिदधतः कथयतः, मृगयासक्तस्य आखेटलग्नस्य महतो विपुलस्य अधिकदेशव्यापिन इत्यर्थः, जनसमूहस्य मनुष्यसमुदायस्य। तरूणां वृक्षाणां गहनं वनं तेन अन्तरिता आच्छादिता विग्रहा देहा यस्य तस्य तथोक्तस्य, क्षोभितं काननं येन तं तथोक्तं संचालितवनं कोलाहलं कलकलम् अश्रृणवम्।

अथेति। अथ कोलाहलश्रवणानन्तरम् 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः, नातिचिरादेव स्वल्पसमयेनैव 'सर्वतः प्रचलितमिव तदरण्यमभवदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। इह तृतीयान्तपदानि प्रचलितमिति क्रियायाः करणानि। अनुलेपनं पार्श्वमुखद्वये द्रवद्रव्यविशेषलेपनं तेन आर्द्रः स्विन्नो यो मृदङ्गो मुरजवाद्यम् तस्य ध्वनिः शब्दः तद्वत् धीरेण गम्भीरेण। गिरिविवरेषु पर्वतकन्दरासु विजृम्भितेन विस्तीर्णेन प्रतिनादेन प्रतिशब्देन गभीरो विपुलः तेन तादृशेन। इहाद्यविशेषणे लुप्तोपमा।

शबरेति। शबराणां किरातानां शरा इषवः तैः ताडितानां व्यथितानां केसरिणां मृगपतीनां निनादेन शब्देन 'शब्दो निनादनिनदे' त्याद्यमरः।

सन्त्रस्तेति। संत्रस्तेन शबराक्रमणाच्चकितेन यूथेन स्ववर्गीयसमूहेन मुक्तानां त्यक्तानाम् अतएव एका

रहा है, यह किसी जंगली हरिणी के गर्भ के टटके खून से भरी हुई जगह है, जहाँ उसने अभी अभी बच्चा पैदा किया है, यह अपने परिवार के साथ घूमनेवाले गजपति के मद-जल से काली पड़ी हुई तथा वेणी के समान प्रतीत होने वाली बनपंक्ति है, यह हरिणों के पैरों की निशानी से भरी हुई उनके आने-जाने की राह है, इसी रास्ते से उनका पीछा करो, यह हरिणों के सूखे कंडो से भूरी भूरी दिखाई देने वाली वनभूमि है, यहाँ शीघ्रता से बैठ जाओ, वृक्ष की चोटी पर चढ़ जाओ, उधर देखो, यह शब्द सुनो, धनुष ले लो, सावधान होकर खड़े हो जाओ और कुत्तों को छोड़ दो। वह भीड़ यद्यपि घने वृक्षों में छिप सी गई थी किन्तु उसके कोलाहल से सारा जङ्गल क्षुब्ध सा हो उठा था।

थोड़ी ही देर में चारों ओर भीतर ही भीतर होनेवाली ध्वनियों से सारा जङ्गल कांप सा उठा। कहीं भीलों के बाणों से घायल सिंहों की दहाड़ पर्वतों की गुफाओं में और भी भयङ्कर रूप से गूंजती हुई ऐसी प्रतीत होने लगी मानो टटके अनुलेपन से गीले मृदङ्गों की गम्भीर ध्वनि गूंज रही हो, कहीं भयभीत झुंडों से बिछुड़

१. अभिददतः।　२. मृगयाप्रसक्तस्य, मृगयाप्रसक्तास्ते।　३. '''दिव'''।　४. '''ध्वान।
५. प्रतिनिनादगम्भीरेण।　६. 'शबर' पदं क्वचिन्न विद्यते।

रतामनवरत-करास्फोटमिश्रेण जलधर-रसितानुकारिणा गजयूथपतीनां कण्ठगर्जितेन, सरभस-सारमेय-विलुप्यमानावयवानामालोल-कातर-तरलतर-तारकाणामेणकानाञ्च करुण-कूजितेन, निहत-यूथपतीनां वियोगिनीनामनुगत-कलभानाञ्च स्थित्वा स्थित्वा समाकर्ण्य कलकलमुत्कर्णपल्लवानामितस्ततः परिभ्रमन्तीनां प्रत्यग्र-पतिविनाशशोकदीर्घेण करिणीनां चीत्कृतेन, कतिपय-दिवस-प्रसूतानाञ्च खड्गिधेनुकानां त्रास-परिभ्रष्ट-पोतकान्वेषिणीनामुन्मुक्तकण्ठमारसन्तीनामाक्रन्दितेन, तरुशिखरसमुत्पतितानामाकुलाकुलचारिणाञ्च पत्ररथानां कोलाहलेन, रूपानुसार-प्रधावितानाञ्च मृगयूणां युगपदतिरभसपाद-पाताभिहताया भुवः कम्पमिव जन-

किनां सहायरहितानां विभिन्नरूपेणावतिष्ठतामित्यर्थः, सञ्चरतां भ्रमतां गजयूथपतीनां करिवृन्दस्वामिनाम् अनवरतं निरन्तरं यः करास्फोटः शुण्डाघातः तच्छब्द इति यावत् तेन मिश्रं संवलितं तेन तादृशेन जलधररसितानुकारिणा वारिदगर्जनतुल्येन, कण्ठगर्जितेन कण्ठनिःसृतविस्तृतशब्देन। इह समासगतार्थी लुप्तोपमा।

सरभसेति। सरभसैः वेगवत्तरैः सारमेयैः श्वभिः विलुप्यमाना दन्तैस्त्रोट्यमाना अवयवा अङ्गानि येषां तेषां तादृशानाम्, अत एव आलोलाः अश्रुव्याप्ताः कातरा दीना दारुणव्यथासूचकाः, तरलतराः त्रासेनात्यन्तचञ्चलाः तारकाः कनीनिका येषां तेषां तादृशानाम्, एणकानां मृगविशेषाणां करुणकूजितेन शोकोत्पादकध्वनिना। इह वृत्त्यनुप्रासः।

निहतेति। निहताः शबरैर्हिंसिताः यूथपतयः स्ववर्गीयगणस्वामिनो गजा यासां तासां तथोक्तानाम्, अत एव वियोगिनीनां स्वामिविरहिणीनाम् अनुगता पश्चात्संसक्ताः कलभाः त्रिंशद्वर्षीयशिशवो यासां तथोक्तानाम्, स्थित्वा स्थित्वा यस्मिन् कस्मिन् स्थले अवस्थाय अवस्थाय कलकलं शबराणां कोलाहलं समाकर्ण्य निशम्य उत्कर्णपल्लवानाम्, ऊर्ध्वीकृतकिसलयाकृतिकर्णानाम् इतस्ततः समन्ततः परिभ्रमन्तीनां सञ्चरणं कुर्वतीनां करिणीनां हस्तिनीनाम्, प्रत्यग्रेण अभिनवेन पतिविनाशेन स्वामिमरणेन यः शोकः तेन दीर्घं विस्तृतं तेन तादृशेन चीत्कृतेन आर्त्तचीत्कारशब्देन।

कतिपयेति। कतिपये कियन्तो ये दिवसाः अहानि तत्र प्रसूतम् उत्पादितं याभिः तासां तादृशीनाम्। त्रासेन भयेन परिभ्रष्टान् मण्डलाद्विश्रृङ्खलितान् पोतकान् स्वस्वार्भकान् अन्वेष्टुं मार्गयितुं शीलं यासां तासां तादृशीनाम्। अत एव उन्मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथा आरसन्तीनाम् शोकव्यञ्जकशब्देनारटन्तीनां खड्गिधेनुकानां दुग्धवतीनां गण्डपत्नीनाम् आक्रन्दितेन आर्त्तशब्देन।

तरुशिखरेति। तरुशिखरेभ्यः वृक्षप्रान्तेभ्यः समुत्पतितानाम् उड्डीनानाम् आकुलाकुलं यथा स्यात्तथा चारिणां भ्रमणविधायिनां पत्ररथानां पक्षिणां कोलाहलेन कलकलध्वनिना।

रूपेति। रूपानुसारेण मृगानुगमनेन प्रधावितानां प्रचलितानां मृगयूणां शबराणाम्, युगपत् एकस्मिन् समये अतिरभसेन अतिवेगेन ये पादपाताः पादन्यासाः तैः अभिहतायाः ताडितायाः भुवो मेदिन्याः कम्पमिव चलनमिव जनयता उत्पादयता चरणशब्देन पादध्वनिना।

कर अकेले ही भटकनेवाले गजपति अपनी सूड़ पटक-पटककर बादलों की गरजन के समान गड़गड़ा रहे थे, कहीं जङ्गली कुत्ते झपट-झपटकर हरिणों को नोच रहे थे जिससे उनकी आखों की पुतलियाँ अत्यन्त चञ्चल कातर और आसुओं से भींग उठी थीं तथा वे बेचारे कराहते हुए चिल्ला रहे थे, कहीं मरे हुए गजपतियों की वियोगिनी हथिनियाँ पीछे पीछे बच्चों को लिए-दिए इधर उधर भटकती हुई तथा थोड़ी थोड़ी दूर पर रुक रुक कर उस कोलाहल को कनौतियाँ खड़ी कर करके सुनती हुई पति की मृत्यु के दुःख में विह्वल हो हो चिग्घाड़ रही थीं, कहीं कुछ ही दिनों की ब्याई हुई गैंड़ों की मादायें भयभीत होकर साथ से बिछुड़ जानेवाले बच्चों को इधर उधर खोजती हुई गला फाड़-फाड़कर विलाप कर रही थीं, कहीं वृक्षों से उड़े हुए घबराहट में इधर उधर चक्कर काटनेवाले पक्षी काँव-कचकच मचाए हुए थे, कहीं जङ्गली पशुओं और उनका पीछा करने वाले शिकारियों के एक साथ ही पड़नेवाले पैरों के आघात से पृथ्वी को कंपाती हुई सी धमक हो रही थी; कहीं कानों

१. क्वापि 'कण्ठ' इति नोपलभ्यते। २. आलोलतरलतारकाणाम्, विलोलतरल…। ३. कलभकानाम्। ४. पोतान्वेषणीनाम्। ५. …कण्ठकरुण, कण्ठं करुण, कण्ठमतिकरुण। ६. निनादेन। ७. …प्रस्थितानाञ्च। ८. मृगयूथानां। ९. पादवातात्।

यता चरणशब्देन, कर्णान्ताकृष्टज्यानाञ्च मदकल-कुररकामिनी-कण्ठकूजितकलेन[1] शरनिकर-वर्षिणां धनुषां निनादेन, पवनाहति[2]-क्वणित-धाराणामसीनाञ्च कठिन-महिष-स्कन्धपीठपाति[3]-नां रणितेन, शुनाञ्च सरभसविमुक्त-घर्घर-ध्वनीनां वनान्तरव्यापिना ध्वानेन सर्वतः प्रचलितमिव तदरण्यमभवत्[4] ।

अचिराच्च प्रशान्ते तस्मिन् मृगयाकलकले, निर्वृष्ट-मूक-जलधर-वृन्दानुकारिणि मथनावसानोपशान्तवारिणि सागर इव स्तिमिततामुपगते[5] [6]कानने, मन्दीभूतभयोऽहमुपजात[7]-कुतूहलः पितुरुत्सङ्गादीषदिव निष्क्रम्य कोटरस्थ एव शिरोधरां प्रसार्य सन्त्रास-तरल[8]-तारकः शैशवात् किमिदमिति[9] सञ्जातदिदृक्षः[10] तामेव दिशं चक्षुः प्राहिणवम् ।

---

कर्णान्तेति । कर्णान्ते श्रोत्रपर्यन्ते आकृष्टा आकर्षिता ज्या गुणो येषां तेषां तथोक्तानाम्, शरनिकरवर्षिणां बाणसमूहपातिनां धनुषां चापानाम्, मदकलानां मदोन्मत्तानां कुररकामिनीनां मत्स्यादनपक्षिणीनां कण्ठकूजितवत् गलनिनादवत् कलेन अव्यक्तमधुरेण निनादेन ध्वनिना । इह लुप्तोपमा । शब्दस्याव्यक्तमधुरत्वव्यञ्जनार्थं कुररकामिनीत्यत्र कामिनीति पदमित्यवसेयम् ।

पवनेति । पवनस्य वायोः आहत्या संघट्टनेन क्वणिताः शब्दिताः धाराः तीक्ष्णांशा येषां तेषाम्, कठिनः कठोरो यो महिषस्कन्धः सैरिभबाहुशिरः स एव पीठं स्थलं तत्र पातिनां पतनशीलानाम् असीनां खड्गानां रणितेन शब्देन ।

शुनामिति । तथा सरभसं वेगवत्तरं विमुक्ताः परित्यक्ताः विहिता घर्घरध्वनयः 'घर् घर्' इति निनादाः यैः तेषां तथोक्तानां शुनां सारमेयाणां वनान्तरव्यापिनां विपिनमध्यप्रसरणशीलेन ध्वानेन निनादेन सर्वतः समन्तात् प्रचलितमिव कम्पितमिव तदरण्यं तद्वनम् अभवत् अभूत् । इह प्रचलितमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा ।

अचिरादिति । अचिरात् अल्पकालेन प्रशान्ते शान्तिं प्राप्ते तस्मिन् मृगयाकलकले आखेटकोलाहले, निर्वृष्टं निःशेषेण सम्पादितवर्षम् अत एव मूकं निःशब्दं यत् जलधरवृन्दं वारिदसमूहः तदनुकर्त्तुं शीलं यस्य तस्मिन् तथोक्ते कानने वने 'गहनं काननं वनम्' इत्यमरः, मथनस्य सुरासुरैर्मन्थनस्य अवसाने अन्ते उपशान्तं निजस्वरूपेणावस्थितं वारि सलिलं यस्य तस्मिन् तथोक्ते सागर इव समुद्र इव स्तिमिततां निस्पन्दताम् उपगते लब्धे सति । मन्दीभूतं मन्दतां प्राप्तं भयं त्रासो यस्य स तादृशः, उपजातम् उत्पन्नं कुतूहलं कौतुकं यस्य स तादृशश्च अहं वैशम्पायनः पितुः तातस्य उत्सङ्गात् क्रोडात् ईषदिव किञ्चिदिव निष्क्रम्य उन्नमय्य कोटरो वृक्षविवरं तत्स्थ एव शिरोधरां ग्रीवां प्रसार्य बहिः विस्तार्य, सन्त्रासेन भयेन तरले चञ्चले तारके कनीनिके यस्य स तादृशः, शैशवात् बाल्यात् इदम् आश्चर्यभूतं किमिति हेतोः सञ्जाता समुत्पन्ना दिदृक्षा अवलोकनेच्छा यस्य स तादृशः, तामेव दिशम् आशां प्रति चक्षुर्लोचनं प्राहिणवम् संप्रैषयम् । इह उपमालुप्तोपमयोः परस्परनैरपेक्ष्येण स्थितत्वात् संसृष्टिः ।

---

तक खिंची हुई बाणों की वर्षा करनेवाली धनुषों की टङ्कार से मतवाली कुररियों की मधुर ध्वनि के समान कुहुक हो रही थी, कहीं हवा के झोंकों में खनखनाती हुई जङ्गली भैंसों की कड़ी पीठों पर गिरने वाली तलवारें झनझना रही थीं, और कहीं झटके के साथ छोड़े गए कुत्तों की घर-घराहट हो रही थी ।

थोड़ी ही देर बाद उस शिकार के हाँके के शान्त हो जाने पर वह जङ्गल भी सन्न हो गया मानों जल न बरसाने वाली एक दम शान्त घिरी हुई काली घटा हो, अथवा मथने के पश्चात् शान्त हो जाने वाला समुद्र हो । उस समय मेरा डर भी कम हो गया और बचपन के कारण 'यह क्या है'—इसे देखने की अभिलाषा जग पड़ी । इस लिए कुतूहल वश पिता की गोद से थोड़ा सा निकलकर खोखले में ही गरदन बढ़ाकर भयभीत आंखों से मैं उसी ओर निगाहें दौड़ाने लगा ।

---

१.···कूजितकलशवलितेन, कूजितकलशबलेन; कूजितकलकलेनेव;······कूजितकलकलशब्देन । २. पवनाहत । ३.···पीठपाटितानां । ४. तदारण्यम् । ५. उपागते । ६. इह 'तस्मिन्' इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते । ७.···साध्वसोऽहम्, साध्वसः । ८.···तरलतर··· । ९. किमिति । १०. समुपजातविस्मयो दिदृक्षुः, समुपजातदिदृक्षः, उपजातदिदृक्षः ।

अभिमुखमापतच्च[1] तस्माद्वनान्तरादर्जुनभुजदण्ड-सहस्र-विप्रकीर्णमिव नर्म्मदाप्रवाहम्, अनिलचलितमिव[2] तमालकाननम्, एकीभूतमिव कालरात्रीणां यामसङ्घातम्, अञ्जनशिला-स्तम्भ-सम्भारमिव क्षितिकम्प-विघूर्णितम्, अन्धकारपूरमिव[3] रविकिरणाकुलितम्[4], अन्तक-परिवारमिव परिभ्रमन्तम्, अवदारित-रसातलोद्धृतमिव[5] दानवलोकम्, अशुभ-कर्म्म-समूहमिवैकत्र समागतम्, अनेक[6]-दण्डकारण्यवासि[7]-मुनिजन-शाप-सार्थमिव सञ्च-रन्तम्, अनवरत-शर-निकर-वर्षि-राम-निहत[8]-खर-दूषण-बलमिव तदपध्यानात् पिशाचता-

अभिमुखमिति। तस्माद्वनान्तरात् अभिमुखमापतत् शबरसैन्यमद्राक्षमित्यग्रिमक्रियया सम्बन्धः। इह द्वितीयान्तानि शबरसैन्यविशेषणानि बोध्यानि। वनान्तरात् वनमध्यात् अभिमुखं संमुखम् आपतत् आगच्छत्। अर्जुनस्य कार्त्तवीर्यस्य राज्ञो भुजदण्डसहस्रेण सहस्रसंख्यकदण्डसदृशबाहुभिः विप्रकीर्णम् इतस्ततो विक्षिप्तं नर्मदाया मेकलाद्रिजाया नद्याः प्रवाहमिव स्रोत इव, धारावाहिकपङ्क्तिकत्वादित्याशयः। इहोपमा। अत्रायं रामायणीयेतिहासः—पुरा किल हैहयानामधिपतिः कार्त्तवीर्यः सहस्रबाहुभिः नर्मदा-प्रवाहमवरुद्ध्य जलक्रीडां सम्पादितवानिति।

अनिलेति। अनिलेन पवनेन चलितं प्रयातम् उत्पाटितं सत् स्थानान्तरप्राप्तियोग्यमित्यर्थः, तमालानां तापिच्छानां काननम् अरण्यमिव सान्द्रश्यामवर्णत्वाद्दीर्घस्वरूपत्वाच्चेत्याशयः। इहाऽप्युपमा।

एकीभूतमिति। कालरात्रीणां प्रलयक्षपाणाम् अत्यन्तान्धकारत्वेन सान्द्रश्यामानामित्याशयः, एकी-भूतम् एकत्रमिश्रीभूतं यामसङ्घातं प्रहरसमुदायम् इव। इह जात्युत्प्रेक्षा।

अञ्जनेति। क्षितिकम्पेन पृथिवीकम्पेन विघूर्णितम् आन्दोलितम् अञ्जनवत् कज्जलवत् श्यामवर्णा इत्यर्थः, ये शिलास्तम्भाः पाषाणरचितस्थूणाः तेषां सम्भारं संघातमिव। इहोपमालुप्तोपमयोः सङ्करः।

अन्धकारेति। रविकिरणैः सूर्यरश्मिभिः आकुलितं सञ्चाल्य व्याकुलीभूतम् अन्धकाराणां तमसां पूरं प्रवाहमिव। अत्रान्धकारत्वजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा। अन्धकारस्य द्रव्यत्वेनानेकत्वेन च जातित्वम्, एतच्च पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां मुक्तावल्यादौ निर्णीतम्। तथा चोक्तम्—

'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्। प्रसिद्धधर्मवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति'॥

वैशेषिकादयस्तु आवश्यकतेजोऽभावेनैव चैतस्य सिद्धिं दिशन्ति।

अन्तकेति। परिभ्रमन्तम् इतस्ततः पर्यटन्तम् अन्तकस्य वैवस्वतस्य 'वैवस्वतोऽन्तकः' इत्यमरः, परिवारं परिजनवर्गमिव निविडश्यामवर्णत्वादित्याशयः। इहापि जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा।

अवदारितेति। अवदारितेन विदीर्णेन रसायाः पृथिव्याः तलेन तन्मार्गेणेत्यर्थः उद्धृतं पातालादुद्गतं दानवलोकं दैत्यजनमिव। इहाप्युक्तालङ्कारः।

अशुभेति। एकत्र एकस्मिन् स्थाने समागतं मिलितम् अशुभकर्मणाम् अधर्मकार्याणां समूहं गण-मिव। उक्तालङ्कारः।

अनेकेति। अनेकेषां दण्डकारण्यवासिनां दण्डकवननिवासिनां मुनिजनानां तपस्विलोकानां शापसार्थम् अभिसम्पातसमूहमिव सञ्चरन्तं गच्छन्तम्। उक्तालङ्कारः। 'सार्थो वणिक्समूहे स्यादपि संघातमात्रके' इति मेदिनी।

अनवरतेति। अनवरतं सततं शरनिकरं बाणसमूहं वर्षतीत्येवंशीलो यो रामो दशरथतनयः तेन

मैंने उस वन के भीतर से अपनी ही ओर आनेवाली अत्यन्त भयदायिनी भीलों की सेना देखी जिसमें अनेकों हजार भील थे। वह सैन्य दल ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों कार्तवीर्य अर्जुन की हजारों बाहुओं से कई धाराओं में बिखरा हुआ नर्वदा नदी का प्रवाह हो, अथवा वायु के झोकों में कांपता हुआ तमाल वृक्षों का वन हो, अथवा कालरात्रि के एकत्रित पहरों का समूह हो, अथवा भूचाल में हिलते हुए काले पत्थरों के खम्भों की ढेर हो, अथवा सूर्य की किरणों से व्याकुल अंधकार का समूह हो, अथवा इधर-उधर भटकता हुआ यमराज का परिवार हो, अथवा पृथ्वीतल को फोड़ कर निकलते हुए दानवों का समूह हो, अथवा अशुभ कर्मों के समूह एकत्रित होकर आ गए हों, अथवा दण्डकारण्य में रहनेवाले अनेकों मुनियों के शापों का झुण्ड एक

१. आपतितम्, आपतन्तम्। २. अनिलबलचलितमिव, अनलवशाच्चलितमिव। ३. ...पुञ्जमिव। ४. ...आकुलम्। ५. ...तलोद्गतमिव। ६. अशेष...। ७. ...वासित...। ८. ...निहतम्, हतखरदूषणनिवहमिव।

मुपगतम्, कलिकाल-बन्धुवर्गमिव[2] सङ्गतम्, अवगाहप्रस्थितमिव[3] वनमहिषयूथम्, अचल-शिखर-स्थित-केसरि-कराकृष्टि-पतनशीर्णमिव[4] कालमेघपटलम्[5][6], अखिलरूप-विनाशाय धूमकेतुजालमिव समुद्गतम्, अन्धकारिताशेषकाननम्[7], अनेकसहस्रसंख्यम्, अतिभयजनकम्[8], उत्पात-वेतालव्रातमिव शबरसैन्यमद्राक्षम्।

मध्ये च तस्यातिमहतः[9] शबरसैन्यस्य प्रथमे वयसि वर्त्तमानम्, अतिकर्कशत्वादायसमयमिव[10], एकलव्यमिव जन्मान्तरागतम्[11], उद्भिद्यमान-श्मश्रुराजितया प्रथम-मदलेखा-मण्ड्य-

---

निहतं मारितं यत् खरदूषणयोः तन्नामकयोः पातालङ्काधिपरयोदत्ययोः बलं सैन्यं तदिव। तस्मिन् रामचन्द्रे अपध्यानं दुश्चिन्तनमशुभचिन्तोत्पन्नपापं तस्मात् पिशाचतां भूतताम् उपगतं प्राप्तं सत् आगतमित्यर्थः। उक्तालङ्कारः। अनेन साधुजनाशुभचिन्तनेन प्रत्यवायः समुदेतीत्याशयो ज्ञेयः।

कलिकालेति। एकत्र एकस्मिन्नेव स्थाने सङ्गतं सम्मिलितम्, कलिकालस्य कलियुगस्य बन्धुवर्गं मित्रमण्डलमिव। उक्तालङ्कारः।

अवगाहेति। अवगाहो मज्जनं तदर्थं प्रस्थितं प्रयातं वनमहिषयूथमिव अरण्यसैरिभसमूहमिव। उक्तालङ्कारः।

अचलेति। अचलः पर्वतः तस्य शिखरे शृङ्गे स्थितो विद्यमानो यः केसरी सिंहः तस्य कराभ्यां पाणिभ्यां या आकृष्टिः आकर्षणं तया यत् पतनं पृथिव्यां भ्रंशः तेन शीर्णम् अधिकखण्डीभूतं कालमेघपटलमिव श्याममेघमण्डलमिव। उक्तालङ्कारः।

अखिलेति। अखिलानां समग्राणां रूपाणां मृगाणां 'रूपं मृगेऽपि विज्ञेयम्' इति हलायुधः, विनाशाय व्यापादनाय समुद्गतं समुद्भूतं धूमकेतूनाम् उत्पातग्रहाणां जालं वृन्दमिव। उक्तालङ्कारः। 'धूमकेतुः स्मृतो वह्नावुत्पातग्रहभेदयोः' इति विश्वः।

अन्धेति। अन्धकारितं समुत्पन्नान्धकारम् अशेषं समग्रं काननं विपिनं येन तत् तथोक्तम्, अनेकानि बहूनि सहस्राणि संख्या यस्य तत् तादृशम्, अतिभयजनकम् अत्युत्कृष्टत्रासोत्पादकम्। उत्पाताय अशुभाय यो वेतालव्रातः भूताधिष्ठितमृतकगणः तमिव शबरसैन्यं भिल्लानीकम् अद्राक्षम् अपश्यम्। उक्तालङ्कारः।

मध्ये चेति। अतिमहतः अतिविशालस्य तस्य पूर्वोपवर्णितस्य शबरसैन्यस्य भिल्लानीकस्य मध्ये च मातङ्गनामानं शबरसेनापतिमपश्यमित्यतिदूरेण सम्बन्धः। इह यानि द्वितीयान्तपदानि तानि शबरसेनापतिविशेषणानीत्यवगन्तव्यानि। प्रथमे वार्धकापेक्षया पूर्वे वयसि अवस्थायां वर्त्तमानं स्थितं तरुणमित्यर्थः। अतिकर्कशत्वात् अत्यन्तकठिनशरीरत्वात् आयसमयमिव लौहरचितमिव 'आयसं लौहमिति' भरतः। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

एकेति। जन्मान्तरे अन्यजन्मनि आगतं प्राप्तम् एकलव्यं तन्नामकं द्रोणाचार्यशिष्यं शबरमिव धनुर्वेदे निपुणत्वादित्याशयः। इह द्रव्योत्प्रेक्षा।

अत्रेदमितिवृत्तम्—पुरा किलैकलव्यो धनुर्वेदं शिक्षितुं द्रोणाचार्यान्तिकमुपेत्याध्यापयितुं प्रार्थयामास। किन्तु स हि पार्थप्रेम्णा तन्नाङ्गीचकार, ततो निराशया तमेव हृदि ध्यायन् मृन्मयीं तन्मूर्त्तिं विधाय स्वभवने प्रतिदिनमर्चयामास। ततश्च प्राप्तमनोरथो जन्मान्तरे तच्छिष्यत्वमुपगतवानिति महाभारतम्।

उद्भिद्येति। उद्भिद्यमानानि उत्पद्यमानानि यानि श्मश्रूणि मुखलोमानि तेषां राजिः पंक्तिर्यस्य तस्य

---

साथ घूम रहा हो, अथवा निरन्तर तीखे बाणों की वर्षा करने वाले राम ने खरदूषण के जिस सैन्य दल का विनाश कर डाला था वही मानो राम का अहित सोचने के कारण पिशाचों के रूप में प्रकट हो गया हो, अथवा कलियुग के भाई-बन्धु इकट्ठा हो गए हों, अथवा जङ्गली भैंसों का झुण्ड स्नान के लिए जा रहा हो, अथवा पहाड़ की चोटी पर खड़े सिंह के पञ्जों द्वारा खींच लेने से गिरकर बिखर जानेवाले प्रलयकालीन काले बादलों का समूह हो, अथवा संपूर्ण जङ्गली पशुओं का विनाश करने के लिए धूमकेतुओं का जमावड़ा लगा हो। प्रलयकालीन पिशाचों के समान दिखाई पड़ने वाले उस सैन्य-दल ने सारे जङ्गल को अधंकारमय कर दिया था।

उस बहुत बड़ी सेना के बीच में मैंने भीलों के सेनापति को देखा। अभी उसकी आयु बिल्कुल नयी थी।

---

१. उपागतम्। २. कलिकालवर्गमिव समुद्गतम्,'''वर्गमिवैकत्र समागतम्। ३. अवगाहोत्थितप्रस्थितमिव। ४. अचलशिखरस्थसिंह'''। ५. विशीर्णमिव। ६. कालाभ्र'''। ७. अन्धकारितकाननम्। ८.'''जननम्। ९. तस्य महतः। १०. आयसमिव। ११. जन्मान्तरगतम्।

मान-गण्डभित्तिमिव गजयूथपतिकुमारम्[1], असित-कुवलय-श्यामलेन[2] देहप्रभा-प्रवाहेण कालिन्दीजलेनेव पूरयन्तमरण्यम्[3], आकुटिलाग्रेण स्कन्धावलम्बिना कुन्तल-भारेण केसरिणमिव गजमदमलिनीकृतेन केसरकलापेनोपेतम्, आयतललाटम्[4], अतितुङ्ग-घोरघोणम्[5], उपनीतस्यैककर्णाभरणतां भुजगफणामणेरापाटलैरंशुभिरालोहितीकृतेन[6] पर्णशयनाभ्यासाल्लग्न-पल्लवरागेणेव वामपार्श्वेन विराजमानम्, अचिर[7]-हत-गज-कपोल-गृहीतेन सप्तच्छद-परिमलवाहिना कृष्णागुरु-पङ्केनेव[8] सुरभिणा मदेन कृताङ्गरागम्, उपरि तत्परिमलान्धेन[9]

भावस्तया हेतुना, प्रथमया नूतनया मदलेखया श्यामलमदजलरेखया मण्ड्यमाने अलङ्क्रियमाणे गण्डभित्ती कपोलदेशौ यस्य तं तादृशम्, गजयूथपतेः हस्तिनायकस्य कुमारः त्रिंशद्वर्षीयकलभः तमिव। इहोपमा।

असितेति। असितं नीलं यत् कुवलयम् उत्पलं तद्वत् श्यामलेन कृष्णवर्णेन, देहस्य शरीरस्य प्रभा-प्रवाहेण द्युतिस्रोतसा कालिन्दी यमुना तस्या जलेन सलिलेनेव अरण्यं वनं पूरयन्तं पूर्णं विदधतम्। कालिन्दीजलं नीलं शवरशरीरकान्तिरपि तादृशी, अत उभयोः सादृश्यम्। इह यथाक्रमं लुप्तोपमा, द्रव्योत्प्रेक्षा, तथा उक्तविधशरीरकान्तिप्रवाहेण वनपूरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरित्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कारः।

आकुटिलेति। गजानां हस्तिनां व्यापादनलक्षणेन तन्मदेन दानजलेन मलिनीकृतेन कृष्णीकृतेन केसरकलापेन सटानिकरेण उपेतं सहितं केसरिणं सिंहमिव आकुटिलाग्रेण किञ्चित्कुञ्चिताग्रेण स्कन्धावलम्बिना बाहुमूलस्थितवता कुन्तलभारेण केशसमूहेन उपेतम्। इहोपमा।

आयतेति। आयतं विस्तीर्णं ललाटं भालदेशो यस्य तं तथोक्तम्, अतितुङ्गा अत्युन्नता घोरा विशालच्छिद्रतया भयङ्करी च घोणा नासिका यस्य तं तादृशम्। 'घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः।

उपनीतस्येति। एकस्य कर्णस्य श्रोत्रस्य आभरणताम् अलङ्करणताम् उपनीतस्य प्रापितस्य भूषणतया सव्यश्रोत्रे स्थापितस्येत्यर्थः, भुजगस्य उरगस्य फणामणेः फणास्थितरत्नस्य आपाटलैः किञ्चिच्छ्वेतरक्तैः अंशुभी रश्मिभिः आलोहितीकृतेन किञ्चिद्रक्तवर्णीकृतेन अत एव पर्णेषु वृक्षपत्रेषु यच्छयनं स्वापः तस्य अभ्यासात् पुनः पुनरनुष्ठानेन संस्कारातिशयात् लग्नः संसक्तः पल्लवानां किसलयानां राग आरुण्यं यत्र तेन तादृशेनेव, आस्तरणभूतपत्रेषु किसलयानामपि विद्यमानत्वादित्याशयः। वामपार्श्वेन सव्यपार्श्वेन विराजमानं द्योतमानम्। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

अचिरेति। अचिरहतस्य तत्कालमारितस्य गजस्य दन्तिनः कपोलाभ्यां गण्डाभ्यां गृहीतेन आनीतेन, सप्तच्छदस्य सप्तपर्णतरोः परिमलं सौरभमिव परिमलं वहति धारयतीत्येवंशीलेन कृष्णस्य श्यामवर्णस्य अगुरोः तत्संज्ञकसुगन्धिद्रव्यस्य पङ्केनेव द्रवेणेव सुरभिणा घ्राणतर्पणसौरभवता 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः, मदेन दानजलेन कृतो विहितः अङ्गरागः शरीरविलेपनं येन तं तादृशम्। इहोपमालुप्तोपमयोः परस्परनैरपेक्ष्येण स्थितेः संसृष्टिरलङ्कारः।

उपरीति। तस्य मदस्य यः परिमलः सौरभं तेन अन्धेन विह्वलेन, अत एव उपरि शिर ऊर्ध्वभागे

उसका शरीर इतना कठोर था मानों लोहे का बना हो। वह ऐसा प्रतीत होता था मानों दूसरा जन्म लेने वाला एकलव्य हो। अभी उसकी मसें भीन रही थीं जिससे वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पहली मद-रेखा से सुशोभित कपोलोंवाला कोई गजपति-कुमार हो। उसके शरीर का रङ्ग नीले कमल के समान साँवला था जिससे निकल कर जङ्गल में चारों ओर फैलने वाली कान्ति की धारा यमुना जल की बाढ़ के समान प्रतीत होती थी। उसके कंधों तक लटके हुए घुंघराले बाल गजमद से भींग कर काले पड़े सिंह के अयाल जैसे लगते थे। उसका माथा चौड़ा और नाक बड़ी तथा ऊंची थी। एक कान में पहिनी गयी नागमणि की लाल-लाल किरणों से उसका बायाँ अङ्ग रक्तवर्ण का हो गया था जिससे वह ऐसा प्रतीत होता था मानों पल्लवों की शय्या पर सोने से उसमें उनका लाल रङ्ग ही निचुड़ पड़ा हो। उसने अपने शरीर पर काले अगुरु के लेप के समान तत्काल ही के मारे हुए हाथी के कपोलों के सुगंधित मद का लेप किया था जिससे छितवन जैसी गंध उठ रही थी। उस गज-मद की सुगन्ध से विह्वल होकर उसके सिर पर मंडरानेवाले मोरपङ्खों के छ ते जैसे भौरों के झुण्ड ऐसे प्रतीत

१. ···कुमारकम्। २. श्यामेन। ३. पूरितारण्यम्। ४. आयतललाटभासिनम्। ५. तुङ्गघोरघोणम्। ६. भुजङ्गफणामणेः, भुजगफणामणेः। ७. अचिराहत···। ८. कृष्णागरु···। ९. पतत्···।

परिभ्रमता[1] मायूर[2]-पिच्छातपत्रानुकारिणा मधुकरकुलेन तमाल-पल्लवेनेव निवारितातपम्, आलोल[3]पल्लवव्याजेन भुजबल-निर्जितया भयप्रयुक्तसेवया विन्ध्याटव्येव करतलेनापमृज्यमान-गण्डस्थल-स्वेद[4]लेखम्, आपाटलया हरिण[5]कुल-काल-रात्रि-सन्ध्यायमानया शोणिताद्र्येव दृष्ट्या रञ्जयन्तमि[6]वाशाविभागान्, आजानुल[7]म्बिना दिक्कुञ्ज[8]र-करप्रमाणमिव गृहीत्वा निर्मितेन चण्डि[9]का-रुधिर-बलिप्र[10]दानार्थमसकृन्निशितशस्त्रोल्लेख-विषमित-शिखरेण भुजयुगलेनोपशोभितम्, अन्तरान्त[11]रा लग्नाश्यान-हरिण-रुधिरबिन्दुना स्वेदजल-कणि[12]का-चितेन गुञ्जाफल[13]मिश्रैः करिकुम्भमुक्ताफलैरिव वि[14]र[15]चिताभरणेन विन्ध्यशिलात[16]लविशालेन वक्षः-

परिभ्रमता सञ्चरता, मायूरं मयूरसम्बन्धि यत् पिच्छं बर्हं तस्य आतपत्रं तद्रचितच्छत्रम् अनुकर्त्तुं शीलमस्येति तेन तथोक्तेन मधुकरकुलेन भ्रमरगणेन तमालस्य तापिच्छस्य पल्लवेन किसलयेन इव निवारितः दूरीकृतः आतपः सूर्यरश्मिः यस्य तं तथोक्तम्। इहोपमाद्वयम्, एका आर्थी अपरा च श्रौती, अनयोश्च परस्परनैरपेक्ष्येण स्थित्या तिलतण्डुलवत् संसृष्टिरलङ्कारः।

आलोलेति। भुजबलेन शबरसेनाधिपतिबाहुबलेन निर्जितया स्वाधीनीकृतया, अत एव भयेन त्रासेन प्रयुक्ता आरब्धा सेवा शुश्रूषा यया तया तादृश्या विन्ध्याटव्या, विन्ध्यवनस्थल्या कर्त्र्या, आलोलाः पवनवेगेन सम्यक् चञ्चला ये पल्लवाः किसलयानि तेषां व्याजेन स्वीयवृक्षोत्पन्नकिसलयसञ्चालनकपटेनेत्यर्थः, करतलेन हस्तेनेव अपमृज्यमाना प्रोञ्छ्यमाना गण्डस्थलयोः कपोलस्थलयोः स्वेदलेखा घर्मबिन्दुपङ्क्तिः यस्य तं तादृशम्। इहापह्नवोत्प्रेक्षा।

आपाटलयेति। आपाटलया ईषच्छ्वेतरक्तया, अत एव हरिणकुलस्य मृगवृन्दस्य कालरात्रेः विनाशयामिन्याः सन्ध्यायमानया अरुणरश्मिलोहितीकृतसायंकालवदाचरन्त्या तथाविधदृष्टिनिक्षेपेणैव निरूप्य मृगविनाशादित्याशयः, शोणिताद्र्येव रुधिरलिप्तयेव दृष्ट्या नेत्रेण आशाविभागान् दिग्विभागान् रञ्जयन्तं रक्तवर्णोत्पादनात् शोभयन्तमिव विद्यमानम्। इह सन्ध्यायमानयेत्यत्र क्यङ्गतोपमा, शोणिताद्र्येवेत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा, रञ्जयन्तमिवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेति परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कारः।

आजान्विति। आजानुलम्बिना नलकीलपर्यन्तपातिना अतिदीर्घेण, दिक्कुञ्जरस्य ऐरावताद्यन्यतमदिग्गजस्य करप्रमाणं शुण्डापरिमाणं गृहीत्वेव आदायेव निर्मितेन प्रजापतिरचितेन दिग्गजशुण्डादण्डसदृशायितेनेत्यर्थः। चण्डिकायै कालिकायै रुधिरबलेः शोणितोपहारस्य प्रदानार्थं समर्पणार्थं पशुकर्त्तनार्थमित्याशयः, असकृत् मुहुर्मुहुः निशितानि सुधारोत्पादनाय प्रस्तरादौ तेजितानि यानि शस्त्राणि खड्गादीनि तेषाम् उल्लेखेन घर्षणेन विषमितम् उच्चावचीकृतं शिखरम् अग्रदेशो यस्य तेन तादृशेन। इह गृहीत्वेवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

अन्तरेति। अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये लग्ना संलग्ना आश्याना अशुष्का हरिणस्य मृगस्य रुधिरबिन्दवः शोणितकणा यस्मिन् तेन तथोक्तेन, स्वेदजलं घर्मजलं तस्य कणिका बिन्दवः ताभिः चितेन व्याप्तेन, अत एव गुञ्जाफलैः कृष्णलारसैः 'काकचिञ्चागुञ्जे तु कृष्णला' इत्यमरः, मिश्राणि संयुक्तानि तैः तथोक्तैः,

हो रहे थे मानों वह तमाल के पत्तों से धूप रोक रहा हो। उसके कानों में लगी हुई वायु से हिलने वाली कोपलें कपोलों पर बहते हुए पसीने को पोंछ दिया करती थीं मानो उसके बाहुबल से पराजित होकर भयवश सेवा के लिए आई हुई स्वयं विन्ध्याटवी अपने हाथों से पसीना पोंछ रही हो। उसकी खून से तर जैसी लाल-लाल दृष्टि से दिशायें भी लाल हो उठी थीं मानो हरिणों की कालरात्रि की संध्या फूल उठी हो। घुटनों तक लटकती हुई उसकी बाहें ऐसी प्रतीत होती थीं मानो दिग्गजों की सूड़ की नाप लेकर बनायी गयी हों और उसकी हथेलियाँ भगवती चंडिका को रक्त की बलि देने के लिए हथियारों पर सान चढ़ाते-चढ़ाते अत्यन्त कठोर हो गयी थीं। उसकी विन्ध्य पहाड़ की चट्टान जैसी चौड़ी छाती पर हरिणों के खून के जमे हुए गाढ़े छींटों में उलझी हुई पसीने की लड़ियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों घुँघची के लाल लाल दानों के साथ पिरोई गयी मोतियों की माला

१. भ्रमता। २. मायूरातपत्रानुकारिणा, मयूरपिच्छातपत्रानुकारिणा, मयूरपिच्छच्छत्रानुकारिणा। ३. आलोलकर्णपल्लवव्याजेन। ४. ...सलिललेखम्। ५. मृगकुलक्षयरात्रि...। ६. रञ्जयन्तमाशाविभागानाम्। ७. जानुलम्बेन। ८. वनकुञ्जर, कुञ्जर...। ९. कालिका। १०. प्रदानाय। ११. अन्तरालग्न...। १२. कण...। १३. विमिश्रैः। १४. रचिताभरणेन। १५. विन्ध्यशिलाविशालेन। १६. चक्षुःस्थलेन, कक्षस्थलेन।

स्थलेनोद्भासमानम्, अविरत-श्रमाभ्यासादुल्लिखितोदरम्[1], इभ-मद-मलिनमालान-स्तम्भ-युगलमुपहसन्तमिवोरुदण्डद्वयेन, लाक्षा-लोहित-कौशेयपरिधानम्, अकारणेऽपि क्रूरजाति[2]-तया बद्धत्रिपताको[3]दग्रभ्रुकुटीकराले ललाटपट्टे[4] प्रबलभक्त्याराधितया 'मत्परिग्रहोऽयमि'ति कात्यायन्या त्रिशूलेनेवाङ्कितम्, उपजातपरिचयैरनुगच्छद्भिः, श्रमवशाद् दूर[5]विनिर्गताभिः स्वभाव-पाटलतया शुष्काभिरपि हरिण-शोणितमिव क्षरन्तीभिर्जिह्वाभिरावेद्यमानखेदैः

---

करिकुम्भमुक्ताफलैः गजशिरःपिण्डरसोद्भवैः विरचितं निर्मितम् आभरणं भूषणं यस्य तेन तादृशेनेव विद्यमानेन। इह च हरिणरुधिरबिन्दवो गुञ्जाफलसदृशाः घर्मबिन्दवश्च करिकुम्भमुक्ताफलसदृशा इत्यवधेयम्। विन्ध्यस्य बालवायजपर्वतस्य शिलातलवत् विशालप्रस्तरतलवत् विशालेन पृथुलेन वक्षःस्थलेन उरःस्थलेन उद्भासमानं शोभमानम्। इह विरचिताभरणेनेवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, विन्ध्यशिलातलविशालेनेत्यत्र लुप्तोपमा चेत्युभयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिरलङ्कारः।

अविरतेति। अविरतो दिने निरन्तरं यः श्रमः शक्त्यतिशयार्थं परिश्रमः तस्य अभ्यासात् पुनः पुनरनुष्ठानेन संस्कारातिशयात् उल्लिखितं कृशत्वेन चिह्नितम् उदरं जठरं यस्य तं तथोक्तम्।

इभमदेति। ऊर्वोः जङ्घयोर्यद्दण्डद्वयं दण्डयुगलं तेन, इभमदेन गजदानवारिणा मलिनं श्यामवर्णम् आलानस्तम्भयुगलं गजबन्धनस्तम्भद्वन्द्वम् उपहसन्तमिव पृथुलतायां तिरस्कुर्वन्तमिव गजबन्धनस्तम्भद्वयादूरुद्वयस्य पृथुलत्वादित्याशयः। इभमदमलिनमिति विशेषणोपादानं प्राकृतिकश्यामवर्णस्य ऊरुदण्डयुगलस्य आलानस्तम्भेन सह सादृश्यत्वबोधनार्थमिति बोध्यम्। इह उपहसन्तमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा, आक्षेपेण आर्थी उपमा चेति द्वयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्कराङ्कलारः।

लाक्षेति। लाक्षया जतुना लोहितं रक्तवर्णीकृतं कौशेयं कीटकोशोत्पन्नं क्षौमवसनं परिधानम् अधोंऽशुकं यस्य तं तादृशम्।

अकारणेऽपीति। अकारणेऽपि कोपसूचकभ्रुकुटीविधानहेत्वभावेऽपि क्रूरजातितया प्रकृत्यैव दुष्टजातितया कारणेन, बद्धाः विहिताः त्रिपताकाः पताकावत् त्रिवलिर्यया तया उदग्रया उच्चतया भ्रुकुट्या भ्रुवोः वक्रिम्णा करालं भीषणं तस्मिन् तथोक्ते, ललाटपट्टे पट्टवद्विपुले भालदेशे, प्रबलभक्त्या अत्युत्कृष्टप्रेम्णा आराधितया सेवितया कात्यायन्या गौर्या 'उमा कात्यायनी गौरी' इत्यमरः, 'अयं मातङ्गः मत्परिग्रहः मदीयकृपापात्रम्' इति कृत्वा त्रिशूलेन स्वीयत्रिशूलाख्यास्त्रविशेषेण अङ्कितमिव चिह्नितमिव, एवञ्च सति भगवत्यनुग्रहपात्रत्वेन देवादयोऽप्येनं सत्कुर्युरित्याशयः। अन्यत्रापि यः कोऽपि समर्थो राजादिः स्वसेवकाय स्वीयत्वबोधनार्थं स्वाङ्कितं वस्तु प्रयच्छतीति सम्प्रदायः। इह अङ्कितमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

उपजातेति। अत्र पुंल्लिङ्गतृतीयान्तविशेषणानि श्वभिरिति वक्ष्यमाणकर्तृपदस्य, अस्य चान्वयः अनुगम्यमानमित्यग्रिमक्रिययेति ज्ञेयः। उपजातपरिचयैः समुत्पन्नसांगत्यैः एकस्मिन् स्थले बहुकालं वर्त्तनादित्याशयः। अनुगच्छद्भिः पश्चाद्गामिभिः। न चानुगम्यमानमिति वक्ष्यमाणक्रिययैवान्वये पुनरेतस्याः क्रियायाः पौनरुक्त्यमिति वाच्यम्, उक्तदिशा समाहितत्वात्।

श्रमवशादिति। श्रमवशात् मार्गव्रजनादिखेदवशात् दूरविनिर्गताभिः वदनादत्यन्तं बहिर्निसृताभिः स्वभावपाटलतया जातिस्वभावेन श्वेतरक्ततया शुष्काभिरपि निर्लेपाभिरपि हरिणशोणितं मृगरुधिरं क्षरन्ती-

---

हो। निरन्तर व्यायाम के कारण उसकी पेटी मँज उठी थी मानो खराद पर चढ़ायी गयी हो। उसकी मोटी-मोटी दोनों जांघें गजमद से काले पड़े हुए हाथी बाँधने के दो खम्भों की हँसी सी उड़ा रही थीं। वह लाक्षा-रस में रंगे हुए लाल रेशमी वस्त्र पहिने हुए था। कोई अन्य कारण न होते हुए भी केवल जातिगत क्रूरता के कारण अत्यन्त भयंकर दिखाई देने वाले उसके ललाट पर टेढ़ी भौंहों के बीच में स्थित त्रिपताका ऐसी प्रतीत होती थी मानो अत्यन्त भक्ति के साथ आराधना की गयी भगवती दुर्गा ने उसे अपना कृपापात्र समझकर त्रिशूल से दाग दिया हो। उसके साथ-साथ अनेक रंग के शिकारी कुत्ते थे जो इतने परचे हुए थे कि संकेतों पर पीछे पीछे चले आ रहे थे। उनकी लाल-लाल जिह्वायें परिश्रम के कारण पूरी की पूरी मुँह के बाहर लटक रही थीं जो

---

१. उल्लिखिताम्बरम्। २. क्रूरतया। ३. बद्धत्रिपताकाभ्रुकुटिकराले। ४. ललाटफलक। ५. दरविनिर्गताभिः।

विवृतमुखतया स्पष्ट-दृष्ट-दन्तांशून् दंष्ट्रान्तराल-लग्न-केसरिसटानिव सृक्कभागानुद्वहद्भिः, स्थूल-वराटक-मालिका-परिगत-कण्ठैर्महावराह-प्रहारजर्जरैः, अल्पकायैरपि महाशक्तित्वाद्-नुपजात-केसरैरिव केसरिकिशोरकैः, मृगवधू-वैधव्य-दीक्षादान-दक्षैरनेकवर्णैः श्वभिः, अतिप्र-माणाभिश्च केसरिणामभयप्रदान-याचनार्थमागताभिः सिंहीभिरिव कौलेयककुटुम्बिनीभिर-नुगम्यमानम् , कैश्चिद्गृहीत-चमर-बाल-गजदन्तभारैः, कैश्चिदच्छिद्र-पर्ण-बद्ध-मधुपुटैः, कैश्चि-न्मृगपतिभिरिव गर्ज-कुम्भ-मुक्ताफलनिकर-सनाथ-पाणिभिः, कैश्चिद्यातुधानैरिव गृहीत-

---

भिरिव स्रवन्तीभिरिव जिह्वाभिः रसनाभिः आवेद्यमानः परेभ्यो बोध्यमानः खेदः क्लान्तिः यैः तैः तादृशैः। चरन्तीभिरिति क्रियोत्प्रेक्षा।

विवृतेति। विवृतमुखतया विदीर्णवदनतया कारणेन, स्पष्टं स्फुटं यथा स्यात्तथा दृष्टा अवलोकिता दन्तांशवः दशनकिरणा येषु तान् तादृशान्, अत एव दंष्ट्राणां दशनानाम् अन्तरालेषु मध्येषु लग्नाः संसक्ताः केसरिणां हिंसितसिंहानां सटा स्कन्धजटा येषु तान् तादृशानिव, सृक्कभागान् ओष्ठप्रान्तान् 'दन्तवक्त्रे च तत्प्रान्तौ सृक्कणी' इति कोशः, उद्वहद्भिः धारणं कुर्वद्भिः। इहाप्युक्तालङ्कारः।

स्थूलेति। स्थूलानां पीवराणां वराटकानां कपर्दकानां मालिकाभिः स्रग्भिः परिगताः सहिताः कण्ठा गलप्रदेशा येषां तैः तादृशैः। महावराहाणां वनशूकराणां प्रहारेण दन्ताभिघातेन जर्जराः शिथिलाङ्गा येषां तैस्तादृशैः।

अल्पकायैरिति। अल्पकायैरपि क्षुद्रशरीरैरपि महाशक्तित्वात् प्रबलपराक्रमत्वात् अनुपजातकेसरैः अनुत्पन्नस्कन्धसटैः केसरिकिशोरकैः सिंहशिशुभिरिव। अत्रोपमा।

मृगवध्विति। मृगवधूनां हरिणस्त्रीणां वैधव्यदीक्षादाने विगतस्वामिकत्वव्रतविधाने दक्षाः कुशलाः तैः तादृशैः मृगविनाशेऽत्यन्तदक्षैरित्यर्थः। अनेके बहवो वर्णा रक्तपीतादयो येषु तैः तादृशैः श्वभिः सारमेयैः।

अतीति। अतिप्रमाणाभिः विस्तृतदेहाभिः, केसरिणां सिंहानां यत् अभयप्रदानं जीवरक्षणं तस्य याचनार्थं हस्तिनिकटे प्रार्थनार्थम् आगताभिः प्राप्ताभिः सिंहीभिरिव सिंहपत्नीभिरिव कौलेयककुटुम्बि-नीभिः सारमेय (कुक्कुर) भार्याभिश्च अनुगम्यमानम् अनुव्रज्यमानम्। इह सिंहीभिरिवेति जात्युत्प्रेक्षा।

कैश्चिदिति। इत आरभ्य तृतीयान्तानि शबरवृन्दैरित्यस्य विशेषणानि उक्तविशेष्यस्य च परिवृत-मित्यग्रिमक्रियायामन्वयः। गृहीता आत्ताः चमराणां चमरहरिणानां बालाः पुच्छकेशाः गजदन्तानां हस्तिदशनानां भाराः समुदायाश्च यैस्तैस्तादृशैः।

कैश्चिदिति। अच्छिद्रपर्णैः रन्ध्ररहिततरुदलैः बद्धानि मधुपुटानि मधुस्थापनार्थं सम्पुटकानि यैस्तै-स्तादृशैः तदादायिभिरित्यर्थः।

कैश्चिदिति। मृगपतिभिरिव केसरिभिरिव गजकुम्भानां हस्तिशिरःपिण्डानां मुक्ताफलानि मौक्ति-कानि तेषां निकरेण वृन्देन सनाथाः संयुक्ताः पाणयो हस्ता येषां तैः तादृशैः। इह पूर्णोपमा अभङ्गश्लेषश्च, अनयोश्चैकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः।

कैश्चिदिति। यातुधानैरिव राक्षसैरिव 'राक्षसो यातुधाने स्यात्' इति रामाश्रम्याम्। गृहीतो धृतः

---

सूखी होने पर भी मानों हरिणों के रक्त जैसी बूँदे टपका-टपका कर थकान प्रकट कर रही थीं। मुँह खुला होने के कारण स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले उनके दाँतों की किरणें उनके मुँह के दोनों कोनों पर ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो सिंह के दाढ़ों में फँसी हुई उसकी अयाल हो। उनके गलों में बड़ी-बड़ी कौड़ियों की कंठियाँ बँधी हुई थीं। उनका शरीर जंगली सूअरों के आघातों से चोटीला हो गया था। यद्यपि वे कद में छोटे थे किन्तु अत्यन्त शक्ति-शाली होने के कारण आयलरहित सिंघेलों जैसे प्रतीत होते थे और वे बेचारी हरिणियों को वैधव्य की दीक्षा देने में बड़े ही पटु थे अर्थात् हरिणों के शिकार में सधे हुए थे। उसके पीछे-पीछे ऊँचे कदवाली कुत्तियों का भी झुण्ड चल रहा था। वह ऐसी प्रतीत होती थीं मानो सिंहिनियाँ सिंहों के प्राणों की भीख माँगने आई हों। वह सेनापति अनेक ढंगों के भीलों से घिरा हुआ था। उनमें से कुछ हाथों में चमर मृग के बाल और हाथीदाँत

---

१.···दंष्ट्रांशून्। २. दन्तान्तराल···। ३.···सटामिव। ४. किशोरैः। ५.···वैधव्यदानदक्षैः। ६. कौलेय, कौलटेय। ७. आगृहीत···। ८. विभिन्नगज···।

पिशितभारैः[1], कैश्चित् प्रमथैरिव केसरिकृत्तिधारिभिः[2], कैश्चित् क्षपणकैरिव मयूरपिच्छवाहिभिः, कैश्चिच्छिशुभिरिव काकपक्षधरैः, कैश्चित् कृष्णचरितमिव दर्शयद्भिः, समुत्खात-विधृत-गज-दन्तैः, कैश्चिज्जलदागमदिवसैरिव जलधरच्छाया-मलिनाम्बरैः[3], अनेकवृत्तान्तैः शबरवृन्दैः परिवृतम्, अरण्यमिव सखड्गधेनुकम्, अभिनव-जलधरमिव मयूर-पिच्छ-चित्र-चाप-धारिणम्, बकराक्षसमिव गृहीतैकचक्रम्, अरुणानुजमिवोद्धृतानेकमहानाग-दशनम्,

पिशितस्य मांसस्य भारः समूहो यैस्तैस्तादृशैः। उक्तालङ्कारः।

कैश्चिदिति। प्रमथैरिव शिवपारिषदैरिव 'प्रमथाः स्युः पारिषदाः' इत्यमरः, केसरिणां सिंहानां कृत्तयश्चर्माणि हस्ते परिधाने च धरन्तीत्येवंशीलैः। इहाप्युक्तालङ्कारः। अत्र च 'केसरिकृत्तिधारिभिः' इत्यत्र केसरिपदस्थाने व्याघ्रपदं निवेशनीयम्, प्रमथानां व्याघ्रकृत्तिधारित्वस्यैव प्रसिद्धत्वात्, अत एव च नात्र ख्यातिविरुद्धत्वदोष इति विचारणीयम्।

कैश्चिदिति। क्षपणकैरिव दिगम्बरैः संन्यासिभिरिव, मयूराणां बर्हिणां 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः, पिच्छानि छदानि वहन्तीत्येवंशीलैः, दिगम्बराणां तद्धारणव्यवहारात् शबराणान्तु तदेकत्रीकरणग्रहिलत्वादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

कैश्चिदिति। शिशुभिरिव शावकैरिव, काकानां सकृत्प्रजानां पक्षान् छदान्, काकपक्षान् शिखण्डकांश्च धरन्तीत्येवंशीलैः 'काकपक्षः शिखण्डकः' इत्यमरः। शैशवे शिशूनां शिखण्डकधरणव्यवहारात् शबराणाञ्च तदा व्यापादितकाकपक्षस्थापनादित्युभयोः सादृश्यम्। उक्तालङ्कारः।

कैश्चिदिति। समुत्खाताः प्रथमं सम्यक्प्रकारेणोत्पाटिताः विधृताः पश्चाच्च गृहीता गजदन्ता यैस्तैः तादृशैः गजदन्तानुत्खाय धारयद्भिरित्यर्थः, अत एव कृष्णचरितं वासुदेवस्य व्यवहारं दर्शयद्भिरिव प्रकाशयद्भिरिव। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

श्रीकृष्णो हि स्वव्यापादनाय कंसाज्ञापितहस्तिपकव्यापारितं कुवलयापीडाभिधानं करिणं विजित्य तद्दन्तमुत्पाट्य च जग्राह, अनन्तरञ्च स्वयमेव तं गजं हस्तिपकञ्च निहतवानिति भागवतीया कथा।

कैश्चिदिति। जलदस्य वारिदस्य आगम उत्पत्तिर्येषु एवंभूतैः दिवसैर्दिनैरिव, जलधरच्छाया अभिनवमेघद्युतिः तद्वत् मलिनानि कश्मलानि अम्बराणि वसनानि येषां तैः तादृशैः, पक्षे तु जलधरच्छायया मलिनम् अम्बरं गगनं येषु तैः। उपमालङ्कारः।

अनेकेति। अनेके बहुप्रकारा वृत्तान्ता आचरणानि येषां तैः तादृशैः, शबरवृन्दैः भिल्लगणैः परिवृतं परिवेष्टितम्।

अरण्यमिति। अरण्यं काननं तद्वदिव खड्गधेनुका छुरिका तया सहेति तं तादृशम्, पक्षे खड्गैः गण्डकैः धेनुकाभिः अरण्यकरिणीभिश्च सहेति तत् तादृशम्। उपमालङ्कारः। 'छुरिका चासिधेनुका' 'धेनुका तु करेण्वाञ्च' इति चामरः।

अभिनवेति। अभिनवो नूतनो यो जलधरो मेघस्तमिव, मयूराणां बर्हिणां पिच्छानि छदाः तद्वत् चित्रम् अनेकविधवर्णं चापं धनुः इन्द्रधनुश्च धारयितुं शीलं यस्य तं तादृशम्। उपमालङ्कारः।

बकराक्षसमिति। बकः तत्संज्ञको यो राक्षसः असुरः तमिव, गृहीतं धृतम् एकम् अद्वितीयं चक्रम्

लटकाये हुए थे, कुछ भीलों ने शहद के छत्तों को घने पत्तों में लपेट कर हाथों में लटका लिया था, कुछ की मुट्ठियाँ सिंह के पंजों की तरह गजमोती से भरी हुई थीं, कुछ राक्षसों की तरह मांस का बोझ लादे हुए थे, कुछ शंकरजी के गणों के समान बाघम्बर लपेटे हुए थे, कुछ क्षपणकों की तरह अपने हाथों में मोरपंख लिये हुए थे, कुछ बालों में कौओं के पंख खोंसने के कारण काकपक्षधारी बालकों जैसे लग रहे थे, कुछ हाथी के दाँत उखाड़ कर हाथों में लटकाए हुए चल रहे थे मानो कुवलयापीड़ का बध करने वाले भगवान् कृष्ण का अनुकरण कर रहे हों और कुछ मटमैले कपड़ो को पहिने हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानों काले काले बादलों की छाया से मैले आकाश वाले वर्षा के धुँधले दिन हों। वह सेनापति कमर की पेटी में कटारी खोंसे था मानो गैंडों और हथिनियों से भरा साक्षात् जंगल हो, वह मोर के पंखों से सजा हुआ धनुष लिए था मानो इन्द्रधनुष से सुशोभित नवीन साँवला बादल हो, वह एक हाथ में एक चक्र लिये था मानो एक चक्र नगरी को धारण करनेवाला बकासुर हो, वह अनेक बड़े-बड़े जंगली हाथियों के दाँत उखाड़ चुका था मानो अनेक साँपों के दाँत तोड़ने

१. ···पिशिताहारैः। २. ···धारिभिः। ३. ···मलिनैरम्बरैः।

भीष्ममिव शिखण्डि-शत्रुम्, निदाघदिवसमिव सतताविर्भूत-मृगतृष्णम्, विद्याधरमिव मानसवेगम्, पराशरमिव योजनगन्धानुसारिणम्, घटोत्कचमिव भीमरूपधारिणम्, अचलराजकन्यका-केशपाशमिव नीलकण्ठ-चन्द्रकाभरणम्, हिरण्याक्ष-दानवमिव महावराह-दंष्ट्रा-

अस्त्रविशेषो येन तम्, अन्यत्र तु गृहीता निवासाय स्वाधीनीकृता एकचक्रा तत्संज्ञका पुरी येन तं तादृशम् । उपमालङ्कारः ।

पुरा किल एकचक्राख्यायां नगर्यां बकाभिधानोऽसुरः नरसंहारेणात्युपद्रवं कृतवान् । ततस्तत्रत्यो राजा प्रतिदिनमेकैकं नरं तद्भोजनाय प्रेष्य तस्मादनर्थाल्लोकान् ररक्षयामास । कस्मिंश्चित्समये दह्यमानलाक्षाभवनतः पलायितानां पाण्डवादीनामाश्रयदातुर्विप्रस्यावसरः समापन्नः पारिवारिकस्थित्यातिव्यग्रं तं समीक्ष्य कुन्ती निजमेकमात्मजं तत्र प्रेषयितुं स्वीकृत्य तद्भोजनाय भीमसेनं प्रेषितवती । स च तत्रोपेत्य तं व्यापादितवानिति महाभारतीया कथा ।

अरुणेति । अरुणानुजो गरुडः तमिव, उद्धृता उत्खाता अनेकेषां महानागानाम् अनेकपृथुलगजानां दशना दन्ता येन तं तादृशम्, पक्षे उद्धृतान् खातान्निःसारितान् अनेकान् बहून् महानागान् विशालसर्पान् दशति चञ्चुपुटेन सन्दश्य भक्षयतीति तं तादृशम् । उक्तालङ्कारः ।

भीष्ममिति । भीष्मो गाङ्गेयः तमिव, शिखण्डिनां मयूराणां शत्रुं बहोः कालेन व्यापादयितारम्, पक्षे शिखण्डिनः तत्संज्ञकपाण्डवपक्षीयद्रुपदात्मजस्य शत्रुं चिररिपुम् । उक्तालङ्कारः ।

पुरा किल अम्बालिका काशिराजसुता स्वविवाहाय भीष्मपितामहमेव वव्रे किन्तु तत्प्रत्याख्याता सती तत्प्राणनाशार्थमेव स्वप्राणान् त्यक्त्वा द्रुपदराजसुता सञ्जाता, अनन्तरञ्च गन्धर्वस्य पुंस्त्वं जग्राह ततः शिखण्डीतिसंज्ञकेन लोके प्रसिद्धा आसीदिति संक्षिप्ता महाभारतीया कथा ।

निदाघेति । निदाघो ग्रीष्मकालः तमिव, सततं निरन्तरम् आविर्भूता वनात् प्रकटीभूता मृगेषु हरिणेषु तद्वननेष्वित्यर्थः, तृष्णा अभिलाषो यस्य तं तादृशम्, पक्षे सततमाविर्भूता मृगतृष्णा मरीचिका दिनकररश्मिषु सलिलभ्रमो यस्मिन् तं तादृशम् । उक्तालङ्कारः ।

विद्येति । विद्याधरो देवयोनिविशेषः तमिव, मानेन शक्त्यहङ्कारेण मनोवद्वा सवेगं सर्वदा तीव्रगतिमन्तम्, अन्यत्र मानसे मानसाभिधाने सरसि वेगो मज्जनादिनिमित्तं वेगेन गमनं यस्य तं तादृशम् । मानसवेगाख्यो गन्धर्वः कश्चिद्भवेदिति तु न शङ्कनीयः तथा सति पदावृत्तिप्रसङ्गात् ।

पराशरमिति । पराशरो व्यासपिता तमिव, योजनं चतुष्क्रोशव्यापि 'योजनं परमात्मनि । चतुष्क्रोश्यां च योगे च' इति मेदिनी, गन्धः सौरभोऽस्यास्तीति योजनगन्धः कस्तूरीमृगः, अर्श आदित्वादच् प्रत्ययः, अन्यत्र-योजनगन्धां तन्नामिकां वृषलकन्यामनुसरतीत्येवं शीलम् । 'व्यासमातरि । कस्तूरीशीतयोश्च' इति भानुचन्द्रधृतकोशः । उक्तालङ्कारः ।

कदाचित् पराशरो हि सर्वयोगसमन्वितं पुत्रोत्पादनसमयं यावद्विचारयति तावत् काञ्चिदतिसुन्दरीं धीवरात्मजां सत्यवतीनाम्नीं ददर्श, दृष्ट्वा च जातस्मरतया रिरंसया कुहकं निर्माय मैथुनायोपचक्रमे इति महाभारतीया कथा ।

घटेति । घटोत्कचः हिडम्बायां भीमसेनादुत्पन्नोऽसुरः तमिव, भीमं भीषणम्, अन्यत्र आत्मा एव वीर्यरूपेण स्त्रीयोनौ प्रविशतीति सिद्धान्तात् भीमं भीमसेनतुल्यं रूपम् आकृतिं धारयितुं शीलं यस्य तं तादृशम् । 'सत्या भामा' इतिवत् भीमेति नामैकदेशे नामग्रहणम् । उक्तालङ्कारः ।

अचलेति । अचलराजः पर्वताधिपतिर्हिमालयः तस्य कन्यका पार्वती तस्याः केशपाशः कचसमूहः

वाला गरुड़ हो, वह मोरों का शत्रु था मानो शिखंडी का शत्रु भीष्म हो, उसमें मृगों के मारने की अभिलाषा निरन्तर उठती रहती थी मानों मृगमरीचिका से परिपूर्ण ग्रीष्म ऋतु का दिन हो, वह अहंकार के वेग में चूर था मानो मानस सरोवर की ओर वेग से जाने वाला कोई विद्याधर हो, वह योजन-गंधा का अनुसरण करने वाले पराशरमुनि के समान कोसों तक गंध मारने वाली कस्तूरी का पीछा करने वाला था, भीम रूपधारी घटोत्कच के समान उसकी आकृति अत्यन्त विशाल और भयंकर थी, भगवान् शंकर की चन्द्रकला से विभूषित भगवती पार्वती के बालों के समान वह भी मोरचंद्रिकाओं से सुशोभित था, महावराह की दाढ़ों से घायल

१. पाराशरमिव । २. हिरण्याख्य…।

विभिन्न-वक्षःस्थलम् , अतिरागिणमिव कृत-बहु-बन्दी-परिग्रहम् , पिशिताशनमिव रक्तलुब्धकम् , गीतकला-विलासमिव निषादानुगतम् , अम्बिका-त्रिशूलमिव महिष-रुधिरार्द्र-कायम् , अभिनवयौवनमपि क्षपित-बहुवयसम् , कृत-सारमेय-संग्रहमपि फलमूलाशनम् ,

तमिव, नीलकण्ठानां मयूराणां चन्द्रका मेचका एव आभरणानि अलङ्कारा यस्य तं तादृशम्, 'मेचकः श्यामले कृष्णे तिमिरे बर्हिचन्द्रके' इति हैमः, 'बर्हिकण्ठसमं वर्णं मेचकं ब्रुवते बुधाः' इति कात्यः, पक्षे—नीलकण्ठस्य शङ्करस्य चन्द्र एव चन्द्रकः भालस्थः शशी एव आभरणं भूषणं यस्य तं तादृशम्, भगवतोरर्द्धनारीस्वरूपत्वेनैकस्य मूर्ध्नः चन्द्रभूषणेनैव द्वयोरपि मूर्ध्नस्तद्भूषणकत्वमित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

हिरण्याक्षेति। हिरण्याक्षस्तदाख्यो हिरण्यकशिपुसंज्ञकभ्राता दानवो दैत्यः तमिव, महावराहैः विशालशूकरैः दंष्ट्राभिर्दशनैः करणैः विभिन्नं विहितक्षतं वक्षःस्थलं भुजान्तरं यस्य तं तादृशम्, पक्षे—महावराहेण भगवतो विष्णोर्दशावतारेषु शूकररूपतृतीयावतारेण दंष्ट्रया दन्तेन विभिन्नं विदारितं वक्षःस्थलं यस्य तं तथोक्तम्। उक्तालङ्कारः।

अत्रायमितिहासः—पुरा किल हिरण्याक्षो महासुरो लोकान् संक्षोभयन् प्रतिदिनमस्वास्थ्यं चक्रे, अत्युग्रतपःशालित्वेन भुवं सलिले मज्जयामास। अथ भगवान्नारायणस्तेषां रिरक्षयिषया शूकररूपमास्थाय सागराद्भुवमुद्धृत्य पर्वतकन्दरायां वर्तमान आसीत्, अनन्तरञ्च मृगयार्थं व्रजता हिरण्याक्षेणावलोकितं गदामादाय ताडितवान्, अथ च दंष्ट्रया तद्वक्षो विदारयित्वा निजघानेति।

अतिरागिणमिति। अतिरागिणम् अत्यन्तविषयाधीनम् अर्थपतिमिव, कृतो विहितो बहूनाम् अनेकानां वन्दीनां हठादपहृतबधूनां परिग्रहः स्त्रीत्वेन स्वीकारो येन तं तादृशम्, पक्षान्तरे तु—कृतो बहूनां वन्दिनां मङ्गलपाठकानां परिग्रह एकत्रीकरणं येन तं तादृशम्। उक्तालङ्कारः।

पिशितेति। पिशिताशनो मांसभक्षकः तमिव, रक्ता अनुरक्ता लुब्धका व्याधा यत्र तं तादृशम्, पक्षान्तरे तु—रक्ते शोणिते लुब्धकं साभिलाषम्। उक्तालङ्कारः।

गीतेति। गीतकला गानविद्या तस्या विलासं व्यापारमिव, निषादैः अन्त्यजैः अनुगतम् 'अनुसृतम्, पक्षे-निषादस्तन्त्रीकण्ठोद्भवः स्वरः 'निषादर्षभगान्धाराः' इत्यादिप्रसिद्धः, तेन अनुगतं सहितम्। उक्तालङ्कारः।

अम्बिकेति। अम्बिकायाः चण्डिकायाः 'मृडानी चण्डिकाम्बिका' इत्यमरः, त्रिशूलं शस्त्रविशेषः तमिव, महिषाणां सैरिभाणां तदाख्यासुरस्य च रुधिरेण शोणितेन आर्द्रः क्लिन्नः कायः शरीरं यस्य तं तादृशम्। उक्तालङ्कारः।

अभीति। अभिनवं नूतनं मनोहारि वा यौवनं तारुण्यं यस्य एतादृशमपि क्षपितानि व्यतीतानि बहूनि नानाविधानि वयांसि शैशवादीनि येन तं तादृशमिति विरोधः, क्षपितानि व्यापादितानि बहूनि वयांसि पक्षिणो येन तं तादृशमिति तत्समाधानम्। 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः, तथा च दर्पणे—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः। क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद्द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः॥
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ,...............।

कृतेति। कृतो विहितः साराणां धनानां मेयानां परिमातुं योग्यानां शस्यादीनाञ्च संग्रहः एकत्री-

हिरण्याक्ष राक्षस की छाती के समान उसकी भी छाती जंगली सूअरों की दाढ़ों के आघात से चोटीली हो गयी थी, जैसे यश के अत्यन्त लोभी चाटुकारों से घिरे रहते है वैसे ही वह भी अनेक वन्दियों से घिरा था, जैसे मांसभोजी राक्षस रक्त चाहने वाले होते हैं वैसे ही बहेलिए उसको चाहते थे, संगीत-कला की क्रीड़ा में जिस प्रकार गीत के पीछे-पीछे निषाद-स्वर चलता रहता है उसी प्रकार उसके पीछे पीछे चांडाल चल रहे थे और उसका शरीर जंगली भैंसों के खून से लथपथ था मानो महिषासुर के रक्त में सना हुआ भगवती दुर्गा का त्रिशूल हो। वह नौजवान होते हुए भी बहुत अधिक वयस ( अवस्था, पक्षी ) नष्ट कर चुका था, सारमेयों ( धनधान्य, कुत्तों )

१. ...बन्दि...। २. ...विन्यासमिव...कलाभिलाष। ३. बहुरक्त...। ४. क्षयित...। ५. फलमूलाशिनम् , फलाशिनम्।

कृष्णमप्यसुदर्शनम् , स्वच्छन्दप्रचारमपि दुर्गैकशरणम्, क्षितिभृत्पादानुवर्त्तिनमपि राजसेवानभिज्ञम् , अपत्यमिव विन्ध्याचलस्य, अंशावतारमिव कृतान्तस्य, सहोदरमिव पापस्य, सारथिमिव कलिकालस्य, भीषणमपि महासत्त्वतया गभीरमिवोपलक्ष्यमाणम् , अनभिभवनीयाकृतिम् , मातङ्गनामानं शबरसेनापतिमपश्यम् । अभिधानन्तु तस्य पश्चादहमश्रौषम् ।

आसीच्च मे मनसि—'अहो ! मोहप्रायमेषां जीवितम् , साधुजन-विगर्हितञ्च चरि·

करणं येन तं तादृशमपि फलमूलान्येव अशनं भक्षणं यस्य तं तादृशमिति विरोधः, कृतः सारमेयाणां शुनां संग्रहो येन तादृशमिति तत्समाधानम् । उक्तालङ्कारः ।

कृष्णमिति । कृष्णं नारायणमपि असुदर्शनं सुदर्शनचक्रेण रहितमिति विरोधः, 'चक्रं सुदर्शनम्' इत्यमरः, कृष्णं कालवर्णम् अत एव असुदर्शनं भयोत्पादकत्वेन भीमदर्शनमिति तत्समाधानम् । उक्तालङ्कारः ।

स्वच्छन्देति । स्वच्छन्देन स्वाभिप्रायेण प्रचारो भ्रमणं यस्य तं तथोक्तमपि दुर्गं दुर्गमं नगरम् एकम् अद्वितीयं शरणं गृहं यस्य तं तादृशमिति विरोधः, दुर्गा भवानी देवी एकम् अद्वितीयं शरणं रक्षिका यस्य तं तादृशमिति तत्समाधानम् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । उक्तालङ्कारः ।

क्षितीति । क्षितिभृद् राजा तस्य पादौ चरणौ तदनुवर्तिनमपि तत्सेवाविधायिनमपि राजसेवा नृपपरिचर्या तस्या अनभिज्ञम् अज्ञातारमिति विरोधः, क्षितिभृत् पर्वतः तस्य पादे प्रत्यन्तपर्वते 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः, अनुवर्तते अवतिष्ठत इति तं तादृशमिति तत्परिहारः । उक्तालङ्कारः ।

अपत्यमिति । विन्ध्याचलस्य जलबालकपर्वतस्य अपत्यं सन्तानमिव अत्यन्तकठिनशरीरत्वात् । कृतान्तस्य यमस्य 'कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यमः' इत्यमरः, अंशावतारमिव एकदेशावतारमिव जीवसंहारात् । पापस्य अधर्मस्य सहोदरमिव सोदरमिव जीवानां तीव्रयातनाविधायित्वात् । कलिकालस्य कलियुगस्य सारथिमिव यन्तारमिव निरन्तराधर्मोत्पादनेन सञ्चालकत्वात् । उक्तस्थलेषु जात्युत्प्रेक्षा । भीषणमपि भयजनकमपि तृणनिक्षेपादिनिकृष्टाचारेण निःसत्त्वजीवानां त्रासोत्पादनात् चञ्चलस्वभावमपीत्यर्थः महासत्त्वतया प्रबलोत्साहस्वभावतया गम्भीरमिव धैर्यगुणयुक्तमिव उपलक्ष्यमाणम् अन्यैः परिदृश्यमानम् । इह गाम्भीर्यं गुण इति तदुत्प्रेक्षणाद्गुणोत्प्रेक्षा ।

अनभीति । अनभिभवनीया अतिरस्करणीया आकृतिःस्वरूपं यस्य तं तादृशम्, अत्यन्तकर्कशत्वेन दुर्द्धर्षत्वादित्याशयः । मातङ्गनामानं मातङ्गेतिसंज्ञकं शबरसेनापतिं किरातसैन्यस्वामिनम् अपश्यम् अद्राक्षम् । केवलदर्शनेन नामावबोधः कथमित्याशङ्कायामाह—अभिधानन्तिति । तस्य सेनापतेः अभिधानं संज्ञाम् अहं वैशम्पायनः पश्चात् तदवलोकनानन्तरम् अश्रौषं भृत्यमुखादाकर्णयम् । एवञ्च सम्प्रति तन्नामाभिधाने न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्याशयः ।

आसीदिति । मे मम मनसि हृदये आसीद् अभूत् चिन्तेति शेषः । तदेव उपपादयति-अहो ! इत्यादिना । अहो ! इत्याश्चर्ये, 'आहो उताहो किमुत' इत्यमरः, मोहोऽविवेकः प्रायो बहुलं यत्र तथोक्तम्,

का संग्रह रखते हुए भी फल-मूल खाने का अभिलाषी था, श्यामले शरीर के कारण कृष्ण के समान होते हुए भी असुदर्शन ( सुदर्शनचक्र रहित, कुरूप ) था, स्वच्छंदचारी होने पर भी दुर्गैकशरण ( किले में रहने वाला, भगवती दुर्गा का एक मात्र था ) और क्षितिभृत् ( पर्वत-राजा ) के चरणों का अनुगमन करने पर भी राज-सेवा से अपरिचित था । वह मानो विन्ध्याचल का पुत्र था, यमराज का अंशावतार था, पाप का सगा भाई था, और कलिकाल का निचुड़ा हुआ अंश था । भयंकर होते हुए भी वह अत्यधिक पराक्रम के कारण अत्यन्त गंभीर भी था । उसकी आकृति में ऐसा प्रभाव शाली व्यक्तित्व था जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी । जैसा कि मुझे पीछे मालूम हुआ, उसका नाम मातंग था ।

उन भीलों को देख कर मैं मन ही मन सोचने लगा—अहो ! इन लोगों का जीवन कितना विवेक-हीन

१. स्वच्छन्दचारमपि । २. विन्ध्यस्य । ३. सारमिव । ४. अनभिभवाकृतिम् । ५. मातङ्गकनामानम् । ६. सर्वशबर । ७. 'तस्य' इति पदं क्वचिन्नोपलभ्यते । ··· ८. घोरप्रायम् , मोहप्राज्यम् , एतेषाम् । ९. ···निर्वाहिनम् ।

तम्। तथाहि पुरुष-पिशितोपहारे धर्म्मबुद्धिः, आहारः साधुजनविगर्हितो[1] मधुमांसादिः, श्रमो मृगया, शास्त्रं[2] शिवारुतम्, उपदेष्टारः[3] सदसतां कौशिकाः, प्रज्ञा शकुनिज्ञानम्, परिचिताः श्वानः, राज्यं शून्यांटवीषु[4], आपानकमुत्सवः, मित्राणि[5] क्रूरकर्म्मसाधनानि धनूंषि, सहाया विषदिग्ध[6]-मुखा भुजङ्गा[7] इव सायकाः, गीतमुत्सादकारि[8] मुग्धमृगाणाम्, कलत्राणि बन्दि[9]-गृहीताः परयोषितः, क्रूरात्मभिः शार्दूलैः सह संवासः, पशुरुधिरेण[10] देवतार्चनम्, मांसेन बलिकर्म्म, चौर्य्येण जीवनम्[11], भूषणानि भुजङ्गमणयः[12], वनगज[13]-मदैरङ्ग-

प्रायपदोपादाने तु दुर्गार्चनादौ सात्विकवृत्त्यापि कदाचित्प्रवृत्त्यवलोकनात् कियान् विवेकोऽस्तीति व्यञ्जनार्थम्। एषां शबराणां जीवितं प्राणितम्। च पुनः साधुजनैः शिष्टमण्डलैः गर्हितं जुगुप्सितं चरितम् आचरणम्। एतदेव विशिष्य समर्थयति—तथाहीत्यादिना। पुरुषस्य नरस्य यत् पिशितं मांसं तस्य य उपहारो भगवत्यै नैवेद्यनिवेदनं तस्मिन् धर्मबुद्धिः अयं धर्म इति ज्ञानम्। परमार्थतस्तु नरबलिदानमधर्म एवेति 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपादनादित्याशयः। आहारो भोजनं साधुजनविगर्हितः शिष्टजननिन्दितः मधुमांसादिः मद्यपिशितादिः, आदिपदेन कन्दादीनां मत्स्यादीनां वा तामसाहाराणां परिग्रहः। मनुनापि निषिद्धं मांसभक्षणादिकमुक्तं तथा च—

'यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते। मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्माद् मत्स्यान् विवर्जयेत्॥'

श्रमः स्वशक्तिसम्पादनाय व्यायामः मृगया आखेटकः। शास्त्रम् उच्चस्वरवेदपाठः, शिवारुतं श्रृगालीशब्दितं शिवारुतातिरिक्तशास्त्रपाठाभावात् तस्य चाशुभसूचकत्वान्निन्दितत्वमित्याशयः। इह शास्त्रे शिवारुतत्वारोपस्य प्रस्तुतनिन्दितव्यवहारोपचयोपयोगितया समानाधिकरणः परिणामः। तथा च दर्पणे—

'विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि। परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा॥'

सदसतां शुभाशुभानां विषयाणाम् उपदेष्टारः शिक्षकाः कौशिका उलूकपक्षिणः 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः। उलूकानां हि सुप्तवायसान् प्रत्येवाभिभवावलोकनेनैतेषामपि प्रायः सुप्तमृगादीन् प्रत्येवाभिभवादित्याशयः। प्रज्ञा विवेकबुद्धिः शकुनिज्ञानं शाकुनशास्त्रीयपक्षिच्छद्माग्नावबोधः पक्षिशब्दं निशम्य आखेटस्यैव सदसन्निरूपणमित्यर्थः, तद्भिन्नपदार्थे गत्यभावादस्या अपि निन्दितत्वमिति भावः। श्वानः सारमेयाः परिचिताः विश्वासपात्राणि। राज्यम् आधिपत्यं शून्याटवीषु मनुष्यरहितवनेषु। उत्सवः प्रमोदव्यापारः आपानकं मद्यपानगोष्ठी। मित्राणि सुहृदः क्रूरं यत्कर्म हिंसादि तत्साधनानि प्रयोजकानि धनूंषि चापानि। सहायाः अभिलषितकार्यकर्तृत्वात् साहाय्यसम्पादिनः भुजङ्गा आशीविषा इव विषेण गरलेन दिग्धं लिप्तं मुखम् अग्रभागो येषां तथाभूताः सायका बाणाः, एषामभिप्रायाः सरला एवेति स्वयमूहनीयाः। अलङ्कारश्चात्रोपमा। गीतं गानं मुग्धा मूढाः मृगा हरिणाः तेषाम् उत्सादकारि ध्वंसविधायि 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। यदा मृगा हि एतेषां गानं निशम्य निश्चलाः सन्तो विद्यन्ते तत्समय एवैते तान् हिंसन्तीति गानस्यैव तेषां ध्वंसविधायित्वान्निन्दितत्वमित्याशयः। कलत्राणि स्वस्त्रियः, बन्दिगृहीताः बन्दीभावेनाङ्गीकृताः हठादपहृताः परयोषितः अन्यस्त्रियः। क्रूरात्मभिः दुष्टस्वभावैः शार्दूलैः व्याघ्रैः सह संवासः सहावस्थानम्। पशवो महिषादयः तेषां रुधिरेण शोणितेन देवतार्चनं देवपूजनम्। मांसेन पिशितेन बलिकर्म पञ्चमहायज्ञमध्यवर्तिभूतयज्ञः। तथा च मनुः—

और कर्म कितने अशिष्ट हैं, नरमांस तक की बलि देना यह धर्म समझते हैं, शिष्टों से निन्दनीय मदिरा और मांस ही इनका भोजन है, शिकार खेलना ही इनका व्यायाम है, गीदड़ियों का अशुभसूचक रोना ही इनके लिए वेदपाठ हैं, उल्लू ही इनके भले-बुरे के उपदेशक हैं, चिड़ियों के बारे में जानना ही इनकी बुद्धिमानी है, कुत्ते ही इनके संगी साथी हैं, सूने जंगलों पर ही इनका राज्य है, एक साथ मिलकर शराब पीना ही इनका उत्सव है, क्रूर कर्मों ( हिंसा आदि ) के साधन धनुष ही इनके मित्र हैं, विषधर साँपों की तरह विष में बुझाये गये बाण ही इनके सहायक हैं, राग में बेसुध हो जानेवाले मृगों का प्राण ले लेना ही इनके गीतों की विशेषता है, बलात् पकड़ कर लायी गयीं दूसरों की स्त्रियाँ ही इनकी पत्नियाँ हैं, यह हिंसक बाघों के साथ ही रहते हैं, पशुओं के रक्त से अपने देवताओं की पूजा करते हैं, मांस की बलि चढ़ाते हैं, चोरी ही इनकी जीविका है, साँपों

१. ...निन्दितः, गर्हितः। २. शास्त्रे। ३. समुपदेष्टारः। ४. शून्यास्वटवीषु। ५. मित्राणि क्रूरकर्माणि, धनं धनूंषि। ६. ...दग्ध...। ७. भुजङ्गमा इव। ८. उत्साहकारि। ९. बन्दी...। १०. पशुरुधिरेणैव। ११. जीवितम्। १२. भुजङ्गफणामणयः। १३. वनकरिमदैः।

रागः, यस्मिन्नेव[1] कानने निवसन्ति, तदेवोत्खातमूलमशेषतः कुर्वन्ति[2]' ।

इति चिन्तयत्येव मयि स[3] शबर-सेनापति[4]रटवीपरिभ्रमण[5]-समुद्भवं श्रममपनिनीषुरागत्य तस्यैव शाल्मली[6]तरोरधश्छाया[7]मवतारित-कोदण्डस्त्वरितपरिजनोपनीत[8]-पल्लवासने समुपाविशत् ।

अन्यतम[9]स्तु शबरयुवा ससम्भ्रममवतीर्य्य तस्मात् करयुगल-परिक्षोभिताम्भसः सरसो वैदूर्य्यद्रवानुकारि प्रलय-दिवसकर-किरणोपतापादम्बरैकदेशमिव विलीनम्, इन्दुमण्डलादिव प्रस्यन्दितम्, द्रु[10]तमिव मुक्ताफल-निकरम्, अत्यच्छतया स्पर्शानुमेयं हिमजडम्, अरविन्दकोश-रजः-कषायमम्भः-कमलिनीपत्र[12]पुटेन, प्रत्यग्रोद्धृतांश्च धौतपङ्कान्निर्मला मृणालिका[13]ः समुपाहरत् ।

---

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ३।७० ॥ चौर्येण परद्रव्यापहारेण जीवनं जीविकानिर्वाहः । भूषणानि अलङ्काराः भुजङ्गमणयः सर्परत्नानि पर्वतस्थायित्वात्तेषां तेऽनायासलभ्या इत्याशयः । वनगजमदैः अरण्यहस्तिदानवारिभिः अङ्गरागः अङ्गलेपनम् ।

यस्मिन्निति । यस्मिन् अलक्षिताभिधेये कानने अरण्ये निवसन्ति निवासं कुर्वन्ति तदेव काननम् अशेषतः समस्ततः उत्खातम् उत्पाटितं मूलं मध्यदेशो यस्य तथाविधं कुर्वन्ति विदधति ।

इतीति । इति पूर्वोक्तविधिना मयि वैशम्पायने चिन्तयति सत्येव स शबरसेनापतिः किरातसैन्यस्वामी मातङ्गः, अटव्यां परिभ्रमणम् इतस्ततः पर्यटनं तस्मात् समुद्भवं सञ्जातं श्रमं परिश्रमम् अपनिनीषुः अपनेतुं दूरीकर्त्तुमिच्छुः तस्यैव शाल्मलीतरोः अधश्छायायाम् अधोऽनातपे आगत्य, अवतारितं स्कन्धान्नामितं कोदण्डं कार्मुकं येन स तथोक्तः, त्वरितेन शीघ्रतावता परिजनेन सेवकेन उपनीतम् समीपे प्रापितं यत् पल्लवासनं किसलयविष्टरः तस्मिन् तादृशे समुपाविशत् तस्थिवान् ।

अन्यतम इति । अन्यतमः बहुसैनिकमध्ये कश्चिदनिर्दिष्टनामा शबरयुवा भिल्लतरुणः ससम्भ्रमं शीघ्रम् अवतीर्य अन्तः प्रविश्य प्रथममिति शेषः । तस्मात् पम्पाख्यात् करयुगलेन पाणिद्वयेन पत्रपुटेन परिक्षोभितं तृणाद्यपनयनाय विलोडितम् अम्भः सलिलं यस्य तस्मात् तादृशात् सरसः सरोवरात् कमलिनीपत्रपुटेन नलिनीदलपुटेन अम्भो मृणालिकाश्च समुपाहरदिति सम्बन्धः । नपुंसकलिङ्गद्वितीयान्तानि पदानि अम्भसो विशेषणानि । वैदूर्यस्य बालवायजस्य मणेः द्रवं गलितांशम् अनुकरोतीति तत् तादृशम्, देदीप्यमानत्वादित्याशयः । प्रलये कल्पान्तसमये दिवसकरस्य प्रचण्डादित्यस्य किरणैः रश्मिभिः उपतापात् प्रखरसन्तापात् विलीनं द्रवीभूय क्षरितम् अम्बरैकदेशं गगनैकभागमिव । इन्दुमण्डलात् चन्द्रबिम्बात् प्रस्यन्दितं द्रवीभूय पतितमिव । द्रुतं स्यन्दित मुक्ताफलानां मौक्तिकानां निकरं वृन्दमिव सर्वतोऽत्यन्तोज्ज्वलत्वादित्याशयः । अत्यच्छतया अत्यन्तस्वच्छतया स्पर्शेन शैत्यस्पर्शेन अनुमेयं सलिलतया अनुमातुं योग्यम् आकाशसदृशतया प्रेक्षणाशक्यत्वादित्याशयः । हिमजडं तुहिनवत् शीतलम् । अरविन्दकोशस्य कमलकर्णिकाधारस्य रजसा धूलिना कषायं तुवररसयुतम् अम्भः सलिलम् । प्रत्यग्रोद्धृताः तत्क्षणमुत्पादिताः धौतपङ्काः क्षालितकर्दमाः अतएव निर्मलाः स्वच्छाः मृणालिकाः क्षुद्रबिसतन्तूनि । 'स्त्री

---

की मणियाँ ही इनके आभूषण हैं, जंगली हाथियों का मद ही इनका सुगन्धित लेप है और यह जिस किसी भी जंगल में कुछ दिनों रह जाते हैं उसी को जड़मूल से उजाड़ कर देते हैं ।

मैं अभी यह सोच ही रहा था कि जंगल में इधर-उधर भटकने की थकान मिटाने के लिए वह सेनापति उसी सेमल के पेड़ के नीचे छाया में आकर रुक गया । उसने अपना धनुष उतार कर रख दिया और अपने संगी-साथियों द्वारा जल्दी से बिछाये गये पत्तों के आसन पर बैठ गया । उनमें से एक भील नौजवान फुर्ती से सरोवर के जल में उतर पड़ा और उसे दोनों हाथों से झकोल कर कमल के चौड़े पत्ते से बने दोने में जल भर लाया । वह जल वैदूर्य मणि के रस के समान, प्रलयकालीन सूर्य की किरणों से पिघले हुए आकाश-खंड के समान, चन्द्र मण्डल से टपके हुए अमृत के समान तथा पिघले हुए मोती के समान प्रतीत होता था । वह इतना निर्मल था कि छूने ही पर पहिचाना जा सकता था । वह बर्फ के समान ठंढा और कमल के झड़े हुए

---

१. इह 'च' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते । २. कुर्वते । ३. इह 'स' इति पाठः क्वचिन्नास्ति । ४. शबरसेनापतिश्च । ५. भ्रमणसमुद्भवश्रमम् । ६. शाल्मलि । ७. छायाम् । ८. ...जनोपनीते पल्लवासने । ९. अन्यतरस्तु । १०. द्रुतमिव । ११. जलशिशिरम् । १२. ...पत्रसंपुटेन । १३. निर्मलमृणालिकाः ।

आपीत-सलिलश्च सेना[1]पतिस्ता मृणालिकाः शशिकला इव सैंहिकेयः क्रमेणादशत्। अपगतश्रमश्चोत्थाय परिपीताम्भसा सकलेन तेन शबर-सैन्येनानुगम्यमानः शनैः शनैरभिमतं दिगन्तरमयासीत्।

एकत[2]मस्तु,जरच्छबरस्तस्मात् पुलिन्द-वृन्दादनासादित हरिण-पिशितः पिशिताशन इवावि[3]कृतदर्शनः पिशितार्थी तस्मिन्नेव तरुमूले[4] मुहूर्त्तमिव व्यलम्बत। अन्तरिते च तस्मि[5]न् शबरसेनापतौ स जीर्णशबरः पिबन्निवास्माकमायूंषि रुधिरबिन्दुपाटलया कपिलभ्रू[6]लता-परिवेषभीषणया दृष्ट्या गणयन्निव शुककुल[7]-कुलायस्थानानि श्येन इव विहगामि[8]षास्वाद-लालसः सुचि[9]रमारुरुक्षुस्तं वनस्पतिमामूलादपश्यत्।

स्यात्काचिन्मृणाल्यादि विपत्त्वापचये यदि' इत्यमरात् क्षुद्रविषये स्त्रीलिङ्गप्रयोगः। समुपाहरत् शबरसेनापतये समर्पितवान्। एतेषु अम्बरैकदेशमिवेत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षा, प्रस्यन्दितमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा, मुक्ताफलनिकरमिवेत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, हिमजडमित्यत्र लुप्तोपमेति बोध्या।

आपीतेति। आपीतं सम्यक्तया पीतं सलिलम् अम्भो येन स तादृशः सेनापतिः सैन्यनायकः सैंहिकेयः सिंहिकापुत्रो राहुः शशिकलाः चन्द्रकला इव ता मृणालिकाः क्रमेण जलपानानन्तरम् अदशत् दशनैरभक्षयत्। राहुर्यथा चन्द्रकला अश्नाति तथैवायमपीत्युपमालङ्कारः। अपगतो दूरीभूतः श्रमः मृगयापरिश्रमो यस्य स तादृशः, उत्थाय उत्थानं विधाय परिपीताम्भसा कृतजलपानेन सकलेन समस्तेन तेन प्राक्प्रतिपादितेन शबरसैन्येन भिल्लानीकेन अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः शनैः शनैः मन्दं मन्दम् अभिमतम् अभिलषितं दिगन्तरम् अन्यदिशं प्रति अयासीत् अगमत्।

एकतमस्त्विति। तेषु मध्ये एकतमः कश्चिदनिर्दिष्टनामा, तु पुनरर्थे, जरच्छबरः वृद्धकिरातः तस्मात् पुलिन्दवृन्दात् शबरमण्डलात् अनासादितम् अलब्धहरिणपिशितं मृगमांसं येन स तादृशः, पिशिताशनो मांसभक्षको व्याघ्रः स इव विकृतं भीमं दर्शनम् अवलोकनं यस्य स तादृशः, पिशितार्थी मांसार्थी तस्मिन्नेव पूर्वोक्त एव तरुमूले शाल्मलीवृक्षमूले मुहूर्त्तमिव किञ्चित्कालमिव व्यलम्बत विलम्बमकरोत्। तस्मिन् शबरसेनापतौ किरातसैन्यनायके अन्तरिते वृक्षगहनत्वेन व्यवहिते सति स पूर्वोक्तो जीर्णशबरः स्थविरभिल्लः अस्माकं पक्षिणाम् आयूंषि जीवनसमयान् पिबन्निव पानेन विलुप्तं विदधदिव। रुधिरबिन्दुभिः कोपप्राप्तशोणितकणैः पाटलया श्वेतरक्तया, तथा कपिले पिङ्गले ये भ्रूलते ताभ्यां परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिः' इत्यमरः, तेन भीषणया त्रासकारिण्या, दृष्ट्या लोचनेन शुककुलस्य कीरगणस्य कुलायस्थानानि नीडाधारस्थलविशेषान् गणयन्निव इयत्तया तत्सङ्ख्यां विदधदिव। श्येन इव मांसभक्षी शशादनपक्षिविशेष इव विहगानां खगानाम् आमिषास्वादे पिशितभक्षणे लालसो लम्पटः 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि सः' इति यादवः। तं वनस्पतिं शाल्मलीतरुम् आरुरुक्षुः आरोढुमिच्छुः आमूलात् मूलप्रान्तपर्यन्तं सुचिरं चिरकालम् अपश्यत् अवलोकितवान्। एषु 'पिशिताशन इव' इत्यत्र, 'श्येन इव' इत्यत्र चोपमालङ्कारः। 'पिबन्निव' इत्यत्र 'गणयन्निव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

पराग के कारण स्वाद में कसला था। वह जल के साथ ही टटकी निकाली गयी और पानी में धोकर भली भांति साफ की गयी पवनार ( कमल की कोमल जड़ ) भी लाया था।

सेनापति जल पीकर धीरे धीरे उस कमल की जड़ को काट काटकर खाने लगा मानो राहु चन्द्रकला का भक्षण कर रहा हो। थोड़ी देर थकान मिटाकर वह उठ खड़ा हुआ और जल पीकर निश्चिंत हुई उस भील-सेना के साथ-साथ धीरे-धीरे अपनी इच्छित दिशा की ओर चल पड़ा।

उन भीलों के झुण्ड में से पिशाच की तरह भयंकर आकृति वाला एक बूढ़ा भील, जिसे हिरन का मांस नहीं मिला था, उसी पेड़ के नीचे मांस पाने की आशा में थोड़ी देर रुका रहा और सेनापति के आँखों से ओझल हो जाने पर वह उस पेड़ पर चढ़ने की अभिलाषा से बहुत देर तक उसे जड़ से ऊपर तक देखता रहा। बाज के समान पक्षिओं के मांस का लालची वह बूढ़ा अपनी भूरी भूरी भौंहों से घिरी हुई रक्त की बूँदों जैसी

१. शबरसेनापतिः। २. एकतरस्तु। ३.'''इवातिविकृतदर्शनः। ४. तरुमूले च तस्मिन्। ५. 'तस्मिन्' इति पाठः कचिन्नोपलभ्यते। ६. कपिलभ्रुवा परिवेष'''। ७. शुककुलायस्थानानि। ८. विहङ्गामिष'''विहगामिषस्वाद'''। ९. सुरुचिरम्।

उत्क्रान्तमिव तस्मिन् क्षणे तदालोकन[1]-भीतानां शुककुलानामसुभिः ।

किमिव हि दुष्करमकरुणानाम् ? यतः स तमनेक-ताल-तुङ्गमभ्रङ्कष-शाखाशिखरमपि सोपानैरिवायत्नेनैव पादपमारुह्य[2]ताननुपजातोत्पनशक्तीन्, कांश्चिदल्पदिवस-जातान् गर्भ-च्छवि-पाटलान् शाल्मली[3]-कुसुमशङ्कामुपजनयतः, कांश्चिदुद्भिद्यमानपक्षतया नलिनी[4]-संवर्त्तिकानुकारिणः, कांश्चिदर्कफलसदृशान्, कांश्चिल्लोहितायमान-चञ्चुकोटीन् ईषद्विघटित-दल-पुट-पाटलमुखानां कमलमुकुलानां श्रियमुद्वहतः[5]; कांश्चिदनवरत-शिरःकम्प-व्याजेन निवारयत इव[6] प्रतीकारासमर्थान्[7], एकैकशः फलानीव तस्य वनस्पतेः शाखासन्धिभ्यः कोटरान्तरेभ्यश्च[8] शुक-शावकानग्रहीत्, अपगतासूंश्च कृत्वा क्षितावपातयत् ।

---

उदिति । तस्मिन् क्षणे काले 'क्षणाः पर्वोत्सवेऽपि स्यात्तथा मानेऽप्यनेहसः' इति रामाश्रमी टीका, तस्य यदालोकनं वीक्षणं तेन भीतानां त्रासमुपगतानां शुककुलानां कीरगणानाम् असुभिः प्राणैः उत्क्रान्तमिव निःसृतमिव । इह उत्क्रान्तमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा ।

किमिवेति । हि यस्माद्धेतोः अकरुणानां निर्दयानां लोकानां किमिव दुष्करं कठिनं न किमपीत्यर्थः, सर्वमेव कुकृत्यं सम्पादयन्तीत्याशयः । यतः स वृद्धकिरातः अनेके बहवो ये ताला उपर्युपरिनिहिततालवृक्षाः तद्वत् उत्तुङ्गम् उन्नतम्, अभ्रं मेघं कषन्ति विलिखन्तीति अभ्रङ्कषाणि 'अभ्रं मेघो वारिवाहः' इत्यमरः शाखानां स्कन्धानां शिखराणि अग्राणि यस्य तं तादृशम्, तं पादप विटपं सोपानानि आरोहणानि तैरिव 'आरोहणं स्यात्सोपानम्' इत्यमरः, अयत्नेनैव अनायासेनैव आरुह्य आरोहणं विधाय, अनुपजाता अनुत्पन्ना उत्पतनशक्तिःगगनगमनसामर्थ्यं येषां तान् तादृशान् कांश्चित् अल्पदिवसजातान् स्वल्पदिनोत्पन्नान्, गर्भस्य तत्क्षणनिःसृतस्य भ्रूणस्य या छविः शोभा तया पाटलान् श्वेतरक्तवर्णान् अत एव शाल्मलीकुसुमस्य शाल्मलीतरुपुष्पस्य शङ्कां निजेषु भ्रान्तिम् उपजनयतः उत्पादयतः । कांश्चित्—उद्भिद्यमानौ प्रादुर्भवन्तौ पक्षौ पतत्रे येषां तेषां भावः तया, नलिनानां पङ्कजानां संवर्त्तिका नवदलानि 'संवर्त्तिका नवदलम्' इत्यमरः, अनुकर्त्तुं शीलं येषा तान् तादृशान्, एतेनातिस्वच्छत्वं व्यज्यते । अर्कफलसदृशान् सद्योजाततया मन्दारफलसमानद्युतीन् । अलोहिता लोहिताः सम्पद्यमाना भवन्तीति लोहितायमाना रक्तायमानाः चञ्चूनां त्रोटीनां कोट्यः अग्रदेशा येषां तान्, अत एव ईषद्विघटितैः किञ्चिद्विकसितैः दलपुटैः पुटकाकारपत्रैः पाटलानि श्वेतरक्तानि मुखानि अग्रभागा येषां तेषां कमलमुकुलानां पङ्कजकुड्मलानां श्रियं कान्तिम् उद्वहतः धारयतः । अनवरतं निरन्तरं यः शिरःकम्पः बालकतया त्रासेन वा उत्तमाङ्गविधूननं तस्य व्याजेन कपटेन निवारयत इव 'वयं शिशव इति कृत्वा न हन्तव्या' इत्यादिना स्वव्यापादनं प्रतिषेधत इव प्रतीकारो मारणनिवृत्त्युपायः तत्रासमर्थान् अशक्तान् शिशुत्वेन चञ्चुपुटेन दंशनं कर्त्तुमक्षमत्वात् उड्डयनं विधाय पलायितुमयोग्यत्वाच्चेत्याशयः । एकैकशः प्रत्येकं फलानि रसोद्भवानीव तस्य वनस्पतेः शाल्मलीतरोः शाखासन्धिभ्यः स्कन्धग्रन्थिभ्यः कोटरान्तरेभ्यः विवरमध्येभ्यश्च शुकशावकान् कीरशिशून् अग्रहीत्

---

लाल लाल दृष्टि से मानों हम लोगों की आयु को सोख रहा था अथवा सुग्गों के घोसले गिन रहा था । उसे इस प्रकार अपनी ओर देखते हुए देख कर भयभीत सुग्गों के प्राण तो मानों उसी समय उड़ गये ।

निर्दयी के लिए कोई भी कर्म असाध्य नहीं होता । बादलों से बात करनेवाली चोटीवाले उस अनेक ताड़ वृक्षों से भी ऊँचे पेड़ पर वह इतनी सरलता से चढ़ने लगा मानों सीढ़ियों पर चढ़ रहा हो । वह ऊपर पहुँचकर डालियों की जोड़ों और खोंखलो से सुग्गों के बच्चों को निकाल निकालकर और उन्हें मार-मारकर पृथ्वी पर गिराने लगा । उन बच्चों में अभी उड़ने की शक्ति नहीं आयी थी । कुछ तो इतने थोड़े दिनों के पैदा हुए थे कि अभी तक उनमें गर्भ की लाली बनी हुई थी, जिससे वे सेमल के फूल जैसे लग रहे थे, कुछ बच्चों के पंख फूट चुके थे जिससे वह कमल के नवीन दलों के समान प्रतीत हो रहे थे, कुछ मदार के फल जैसे मालुम पड़ते थे, कुछ की थोड़ी थोड़ी खुली हुई लाल लाल चोंचें कुछ-कुछ खिली हुई कमल की कलियों के समान सुहावनी लग रहीं थीं और कुछ के सिर निरन्तर काँप रहे थे मानों कोई उपाय न चलने के कारण विवश होकर वे सिर हिला-

---

१. तदालोकभीतानां । २. अधिरुह्य । ३. शाल्मलि''' । ४. नलिनी''' । ५. उद्वहन्तः । ६. निवरयन्त इव । ७. प्रतीकारानेकैकशः, एकैकतया । ८. शाखान्तरेभ्यश्च ।

तातस्तु तं महान्तमकाण्ड एव प्राणहरमप्रतीकारमुपप्लवमुपनतमवलोक्य द्विगुणतरोपजात-वेपथुर्मरणभयादुद्भ्रान्त-तरल-तारकां विषादशून्यामश्रुजलप्लुतां दृशमितस्ततो दिक्षु विक्षिपन्, उच्छुष्कतालुरात्मप्रतीकाराक्षमः त्रास-स्रस्त-सन्धि-शिथिलेन पक्षपुटेनाच्छाद्य मां तत्कालोचितप्रतीकारं मन्यमानः स्नेहपरवशो मद्रक्षणाकुलः किंकर्त्तव्यताविमूढः क्रोडभागेन मामवष्टभ्य तस्थौ।

असावपि पापः क्रमेण शाखान्तरैः सञ्चरमाणः कोटरद्वारमागत्य जीर्णासितभुजङ्ग-भोग-भीषणं प्रसार्य्य विविध-वन-वराह-वसा-विस्र-गन्धि-करतलम् अनवरत-कोदण्ड-गुणा-

---

आदत्त, च पुनः अपगतासून् विगतप्राणान् कृत्वा विधाय क्षितौ पृथिव्याम् अपातयत् अक्षिपत्। एषु हि 'किमिव हि दुष्करम्' इत्यत्रार्थापत्तिः 'सोपानैरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, 'शाल्मलीकुसुमशङ्कामुपजनयत इव' इत्यत्र पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गसंमिश्रो भ्रान्तिमान्, 'नलिनसंवर्त्तिकानुकारिण' इत्यत्र 'अर्कफलसदृशान्' इत्यत्र च आर्थी उपमा, 'कमलमुकुलानां श्रियमुद्वहतः' इत्यत्र निदर्शना, 'निवारयत इव' इत्यत्र सापह्नवक्रियोत्प्रेक्षा, 'फलानीव' इत्यत्रोपमा। 'किमिव हि दुष्कराणाम्' इत्यस्यैव हि 'यतः स' इत्यादिना समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः, अयमेव हि प्रधानम् एतस्यैव चार्थापत्त्यादयोऽङ्गमिति सङ्करालङ्कारः।

तात इति। तातस्तु मज्जनकस्तु क्रोडभागेन मामवष्टभ्य तस्थौ इति सम्बन्धः। महान्तं दीर्घतरम् अकाण्ड एव असमय एव प्राणहरं जीवितविनाशनम् अप्रतीकारम् अचिकित्स्यम् उपप्लवं विपदम् उपनतम् आगतम् अवलोक्य निरीक्ष्य, द्विगुणतरः पूर्वं शरीरशैथिल्येन यावान् कम्प आसीत्तद्द्विगुणतर इत्यर्थः, उपजात उत्पन्नो वेपथुः कम्पो यस्य स तादृशः, मरणभयात् मृत्युत्रासात् उद्भ्रान्ते उद्भ्रमिते तरले चञ्चले तारके कनीनिके यस्याः तां तादृशीम्, विषादेन शोकेन शून्यां लक्ष्यरहिताम्। दृशं लोचनम् इतस्ततः समन्ततो दिक्षु आशासु विक्षिपन् विस्तारयन्, उच्छुष्कम् प्राबल्येनाक्लिन्नं तालु काकुदं यस्य स तादृशः, आत्मनो निजस्य यः प्रतीकारो विपन्निवृत्त्युपायः तत्र अक्षमः अशक्तः, त्रासेन भीत्या स्रस्तैः विदीर्णैः सन्धिभिः अस्थिबन्धैः शिथिलेन श्लथेन पक्षपुटेन छदद्वयेन मां वैशम्पायनम् आच्छाद्य आवृत्य, तत्काले तत्क्षणे उचितप्रतीकारम् इदमेव योग्योपायं मन्यमानः जानन् स्नेहपरवशः प्रेम्णा पराधीनः मद्रक्षणाकुलो मत्त्राणव्यग्रः किंकर्त्तव्यताविमूढः किमिदानीं मया कर्त्तव्यं विधेयमित्यत्र विषये सन्दिग्धबुद्धिः क्रोडभागेन उत्सङ्गप्रदेशेन माम् अवष्टभ्य अवलम्बनं विधाय आवृत्येत्यर्थः, तस्थौ स्थितवान्।

असावपीति। असौ वृद्धचाण्डालोऽपि पापः पापिष्ठः अतिनृशंसः अत्यन्तक्रूरः, क्रमेण पर्यायेण शाखान्तरैः स्कन्धान्तरैः सञ्चरमाणः प्रवर्तमानः कोटरद्वारम् अस्मदीयनिष्कुहद्वारम् आगत्य प्राप्य तातं गतासुमकरोदित्यन्वयः। जीर्णस्य परिणतवयसः असितस्य श्यामवर्णस्य भुजङ्गस्य सर्पस्य 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गः' इत्यमरः, भोगः शरीरं तद्वत् भीषणं भयदम्, 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणका-

---

हिलाकर 'नहीं' 'नहीं' कर रहे हों। वह बूढ़ा उन्हें एक एक करके इस प्रकार फेंक रहा था मानों सेमल का फल तोड़ तोड़कर गिरा रहा हो।

मेरे पिता ने भली भांति समझ लिया कि यह एक बहुत बड़ी आकस्मिक प्राणनाशक विपत्ति आ गयी है। अब इससे बचने का कोई उपाय नहीं है, इसलिए भय के कारण उनके शरीर की कँपकँपी दूनी हो गयी; मृत्यु के भय से उनकी पुतलियाँ उलटने सी लगीं और वह दुःख से सूनी सूनी आँसू भरी आँखों से इधर-उधर देखने लगे। उनका तालू सूख गया, उनमें अपने को बचा पाने की कोई शक्ति न रह गयी। भय के कारण उनके सभी अङ्ग ढीले पड़ गये तथा पखने और भी लटक गये। वह मेरी रक्षा के लिये व्याकुल हो उठे। मेरे प्रेम ने उन्हें इतना विवश कर दिया कि मुझे अपने पङ्खों से ढककर छाती से चिपका लिया और हक्का बक्का होकर चुपचाप बैठ गये। उस समय उन्हें मेरी रक्षा का यही उपाय सूझ पड़ा।

वह पापी धीरे धीरे डालियों से होता हुआ मेरे खोंखले के द्वार पर आ पहुँचा। उसने अपनी काले बूढ़े

---

१. अतिमहान्तम्। २. आलोक्य। ३. ···तरलतारको···तरलतरतारकान्, ···तारकाम्। ४. पक्षसंपुटेन। ५. तत्कालोचितं प्रतिकारं। ६. मद्रक्षाकुलः। ७. ···कर्तव्यतामूढः। ८. विभागेन। ९. क्वचित् क्रमेणेति पदं न विद्यते। १०···विमिश्र···। ११. इह 'अनवरते'ति पदं क्वचिन्नास्ति।

कर्षण-व्रणाङ्कित-प्रकोष्ठम् अन्तक-दण्डानुकारिणं वामबाहुमतिनृशंसो मुहुर्मुहुर्दत्तचञ्चु-प्रहार-मुत्कूजन्तमाकृष्य[1] तातमपगतासुम[2]करोत् । मान्तु स्वल्पशरीरत्वाद्[3] भयसम्पीडिताङ्गत्वात् सावशेषत्वा[4]च्चायुषः कथमपि तत्पक्ष[5]-पुटान्तर-गतं नालक्षयत् । उपरतञ्च[6] तम[7]वनितले शिथिलशिरोधरमधोमुखममुञ्चत् ।

अहमपि तच्चरणान्तरे[8] निवेशित[9]शिरोधरो निभृतमङ्क-निलीनस्तेनैव[10] सहापतम् । आयुषोऽवशिष्ट[11]तया तु पवनवशात् पुञ्जितस्य महतः शुष्कपत्र[12]राशेरुपरि पतित[13]मात्मानमपश्यम् । अङ्गानि येन मे नाशीर्य्यन्त[14] ।

---

ग्रयोः' इत्यमरः । विविधा अनेके ये वनवराहाः अरण्यशूकराः तेषां वसाभिः तत्क्षणव्यापादनात् स्नायुभिः तत्सम्बन्धैरित्यर्थः, विस्रगन्धि आमगन्धि 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः करतलं हस्ततलं यस्य तं तादृशम् । अत्र हि 'विस्रगन्धिकरतलम्' इत्यस्य स्थाने 'विस्रकरतलम्' इत्येव पाठः साधीयान् उक्तकोशबलेन 'गन्धि' पदानुपादानेऽप्युक्तार्थक्षतेरभावात्, अन्यथाऽधिकपदत्वदोषं वारयितुं कः शक्नुयात् । अनवरतं निरन्तरं कोदण्डगुणानां धनुःप्रत्यञ्चानाम् आकर्षणेन आक्षेपेण व्रणः क्षतः तेन अङ्कितः चिह्नितः प्रकोष्ठः कूर्परादधः प्रदेशो यस्य तं तादृशम् 'कक्षान्तरे प्रकोष्ठः स्यात् प्रकोष्ठः कूर्परादधः' इति शाश्वतः, कूर्परश्च 'कफोणिस्तु कूर्परः' इत्यमराद् भुजमध्यग्रन्थिः अन्तकदण्डानुकारिणं यमदण्डतुल्यम्, वामबाहुं सव्यभुजं प्रसार्य विवरमध्ये विस्तार्य मुहुर्मुहुः वारम्वारं दत्तः चञ्चुप्रहारः त्रोटीप्रघातो येन स तं तादृशम् उत्कूजन्तम् उच्चैः स्वरेण रुवन्तम्, तातं मज्जनकम् आकृष्य कोटराद्बहिरानीय अपगतासुं विगतप्राणम् । अकरोत् कृतवान् । जीर्णासितभुजङ्गभोगभीषणमित्यत्र लुप्तोपमा, अन्तकदण्डानुकारिणमित्यत्र चार्थी लुप्तोपमा ।

मामिति । मां वैशम्पायनं तु स्वल्पशरीरत्वात् स्वल्पवपुष्ट्वात् भयेन त्रासेन संपीडितानि सङ्कुचितानि अङ्गानि अवयवा यस्य तस्य भावः तस्मात्, आयुषो जीवितव्यस्य सावशेषत्वात् अवशिष्टत्वेन सह विद्यमानत्वात्, कथमपि महता क्लेशेन तस्य तातस्य पक्षपुटान्तरे छदपुटमध्ये गतं प्राप्तं नालक्षयत् नापश्यत् स जीर्णशबर इति शेषः, एवमग्रे । उपरतं त्यक्तप्राणम्, अत एव शिथिला श्लथा शिरोधरा ग्रीवा यस्य तं तादृशम्, तं जनकम्, अधोमुखम् अवाङ्मुखम् अवनितले पृथ्वीतले अमुञ्चत् अपातयत् ।

अहमिति । तच्चरणान्तरे पितुः पादमध्ये निवेशितशिरोधरः स्थापितग्रीवः, निभृतं निःशब्दम् अङ्कनिलीनः उत्सङ्गेऽन्तर्हितः, तेनैव जनकेनैव सह साकम् अपतम् अधःपतनफलिकां चेष्टामकरवम् । आयुषः स्वजीवितसमयस्य अवशिष्टतया अवशेषत्वेन हेतुना तु पवनवशात् वायुसंयोगेन पुञ्जितस्य पिण्डितस्य ऊर्ध्वाधोभावमाश्रितस्येत्यर्थः, महतो विशालस्य शुष्कपत्रराशेः नीरसदलसमूहस्य उपरि पतितं स्रस्तम् आत्मानं स्वशरीरम् अपश्यम् अवलोकयम् । येन शुष्कपत्रराश्युपरिपातेन हेतुना, मे मम अङ्गानि अवयवाः नाशीर्यन्त विगलितानि नाभवन् ।

---

सांप जैसी बांह फैला कर पिता को खींच लिया । उसकी हथेली से जंगली सूअरों की चर्बी जैसी विसैंधी गंध निकल रही थी, उसके गट्टे पर धनुष की डोरी खींचते खींचते घाव के चिह्न से बन गये थे और उसकी बाँह यमराज के दंड के समान भयंकर लग रही थी । यद्यपि पिता ने अपने बचाव के लिये बार बार चोंच चला चलाकर उसपर प्रहार किया, किन्तु अन्त में उस हत्यारे ने टें टें चिल्लाते हुए पिता को मार ही डाला । एक तो मैं बहुत नन्हा सा था, दूसरे भय से मेरा शरीर भी सिकुड़ गया था, तीसरे अभी मेरी आयु भी शेष थी इसीलिए वह पङ्खों के बीच में छिपे हुए मुझे देख न सका । उसने झूलती हुई गरदन वाले पिता के मरे हुये शरीर को उलट कर नीचे डाल दिया । मैं भी उनके चरणों के बीच अपना सिर रखे चुपचाप छाती से चिपककर उन्हीं के साथ गिर पड़ा । कुछ आयु बची रहने के कारण मैं वायु द्वारा एकत्रित सूखे पत्तों की एक ढेरी पर गिरा था, जिससे मेरे अङ्ग टूटने से बच गये थे ।

---

१. तमाकृष्य । २. गतासुम् । ३. स्वल्पत्वात् । ४. अवशेषत्वात् । ५. पक्षसम्पुटान्तरगतम् । ६. एनम् । ७. तातम् । ८. तच्चरणान्तराले । ९. प्रवेशिताः । १०. अङ्कदेशनिलीनः, अङ्कविलीनः ११. अवशिष्टपुण्यतया तु पवनवश्येन, पवनवशपुञ्जितस्य । १२. पर्णराशेः । १३. निपतितम् । १४. नावशीर्य्यन्त ।

यावच्चासौ तस्मात्तरुशिखरान्नावतरति तावदहमवशीर्ण-पर्ण[1]-सवर्णत्वादस्फुटोपलक्ष्यमाण-मूर्त्तिः पितरमुपरतमुत्सृज्य नृशंस इव प्राणपरित्यागयोग्येऽपि काले बालतया[2] कालान्तरभुवः स्नेहरसस्यानभिज्ञो जन्मसहभुवा भयेनैव केवलमभिभूयमानः किञ्चिदुपजाताभ्यां पक्षाभ्यामीषत्कृतावष्टम्भो[3] लुठन्नितस्ततः कृतान्तमुख-कुहरादिव विनिर्गतमात्मानं मन्यमानः नातिदूरवर्त्तिनः, शबरसुन्दरी-कर्णपूर-रचनोपयुक्त-पल्लवस्य, सङ्कर्षण-पट-नील[4]-च्छाययोपहसत इव गदाधर-देह[5]च्छविम्, अच्छैः कालिन्दी-जल-च्छेदैरिव विरचितच्छदस्य, वनकरिमदोप[6]सिक्त-किसलयस्य, विन्ध्याटवी-केशपाश-श्रियमुद्वहतः[7], दिवाप्यन्धकारितशाखा-

यावदिति। यावत् यावता समयेन असौ जीर्णशबरः तस्मात् तरुशिखरात् शाल्मलीवृक्षाग्रात् नावतरति नोत्तरति तावता कालेन अहं वैशम्पायनः तमालविटपिनो मूलदेशमविशमित्यग्रेतनेन सम्बन्धः। अवशीर्णस्य तत्क्षणविगलितस्य अशुष्कस्य सरसः पर्णस्य तरुपत्रस्य सवर्णत्वात् तुल्यहरिद्वर्णत्वात् अस्फुटम् अप्रकटम् उपलक्ष्यमाणा अवलोक्यमाना मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य स तादृशः। नृशंस इव क्रूर इव तत्समये तातपरित्यागादित्याशयः। उपरतं विगतप्राणं पितरं तातम्, उत्सृज्य परित्यज्य, प्राणपरित्यागे जीवितोत्सर्गे योग्येऽपि उचितेऽपि काले समये तथाविधप्रेमविधायितातपरित्यागादित्याशयः। बालतया शिशुत्वेन कालान्तरभुवः बाल्यातिरिक्तावस्थायां जननसमर्थस्य स्नेहरसस्य शयनासनभोजनादिषु प्रेमविषयकरसस्य अनभिज्ञः अज्ञाता जन्मसहभुवा उत्पत्तिकालादारभ्य समुत्पन्नेन त्रासेनैव केवलं समन्ततः अभिभूयमानः स्वाधीनीक्रियमाणः, किञ्चित् ईषत् उपजाताभ्याम् उत्पन्नाभ्यां पक्षाभ्यां पतत्राभ्याम् ईषत्कृतः किञ्चिद्विहितः अवष्टम्भ आधारो यस्य स तादृशः पृथिव्यां स्वल्पं स्वल्पमवलम्बनं विधायेत्यर्थः, इतस्ततः पृथिव्यां लुठन् निपतन्। कृतान्तस्य यमस्य मुखमिव मुखं वदनं यस्य तथाभूतात् कुहरात् विवरात् विनिर्गतमिव विनिःसृतमिव आत्मानं निजं मन्यमानः बुध्यमानः। इह विनिर्गतमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

नातीति। नातिदूरवर्त्तिनः नातिदविष्ठस्थायिनः, शबराणां किरातानां याः सुन्दर्यो रमण्यः तासां कर्णपूराणि कर्णभूषणानि तेषां रचनायां विनिर्मितौ उपयुक्ता उपयोगिनः पल्लवाः किसलया यस्य तस्य तादृशस्य, सङ्कर्षणस्य बलभद्रस्य 'सङ्कर्षणः सीरपाणिः कालिन्दीभेदनो बलः' इत्यमरः, पटवत् वस्त्रवत् नीलच्छायया नीलकान्त्या गदाधरदेहच्छविं श्रीकृष्णशरीरद्युतिम् उपहसत इव उपहासं कुर्वत इव विद्यमानम्। अच्छैः निर्मलैः कालिन्दीजलच्छेदैः यमुनाजलखण्डैरिव विरचिता विनिर्मिताः छदाः पर्णानि यस्य तस्य तादृशस्य द्वयोरपि नीलरूपत्वादित्यभिप्रायः। वनकरिणाम् अरण्यगजानां मदा दानवारीणि तैरुपसिक्तानि कृतसेचनकानि किसलयानि पल्लवानि यस्य तस्य तथोक्तस्य। विन्ध्याटव्या दण्डकारण्यस्य केशपाश-

उस दुष्ट के पेड़ से उतरने के पहिले ही निष्ठुर हृदय के समान मैं मरे हुए पिता को छोड़कर उनकी गोद से निकल पड़ा। मेरा रंग भी उन्हीं सूखे पत्तों के समान ही था अतः मेरा शरीर उसपर स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ रहा था। यद्यपि उस समय मेरा मर जाना ही उचित था, लेकिन मुझमें बचपन के कारण बाद में होने वाले प्रेम का अनुभव नहीं था, केवल जन्म के साथ ही पैदा होनेवाली भयमात्र थी। इसलिये भयभीत होकर कुछ कुछ निकले हुए पङ्खों के सहारे इधर-उधर लोटता हुआ अपने को यमराज के मुँह के भीतर से निकला हुआ समझकर समीप ही के एक बड़े तमाल वृक्ष की जड़ में घुस गया मानों दूसरे पिता की गोद में चला गया। उसकी नयी नयी कोंपलें भीलनियों के कानों के आभूषण बनने योग्य थीं, वह बलराम के वस्त्र की तरह नीली छाया से भगवान कृष्ण के सांवले शरीर की खिल्ली सी उड़ा रहा था। उसके गहरे रंग के पत्ते ऐसे लग रहे थे मानो यमुनाजल के टुकड़ों से बने हों और उनसे निकलती हुई गन्ध के कारण वे ऐसे लग रहे थे मानो जंगली हाथियों के मदजल से सिंचे हों। वह पेड़ विन्ध्याटवी के जूड़े के समान प्रतीत हो रहा था और इतना घना था कि सूय की किरणें भी उसमें घुस नहीं सकती थीं जिससे उसके नीचे दिन में ही अन्धकार छाया रहता था।

१. '''पत्र। २. बालकतया। ३. ईषत्कृतगमनावष्टम्भः। ४. नीलच्छायम्, नीलदलच्छायया, नीलया छायया। ५. क्वचिद् 'देह' इति पाठो नास्ति। ६. '''मदसलिलैरिवोपसिक्त''', मदसलिलैरिव संसिक्त'''। ७. उद्वहन्तः।

न्तरस्य, अप्रविष्ट-सूर्य्य-किरणमतिगहनमपरस्येव पितुरुत्सङ्गमतिमहतस्तमालविटपिनो मूलदेशमविशम् ।

अवतीर्य्य च[1] स तेन समयेन क्षितितल-विप्रकीर्णान्[2] संहृत्य तान्[3] शुकशिशूननेक-लता-पाश-संयतानाबद्ध्य[4] पर्णपुटेऽतित्वरित-गमनः सेनापतिगतेनैव वर्त्मना तामेव[5] दिशमगच्छत्[6] ।

मान्तु लब्ध-जीविताशं प्रत्यग्र-पितृमरण-शोक-शुष्क-हृदयम् अतिदूरापातादायासित-[7] शरीरं सन्त्रास-जात-वेपथुं सर्वाङ्गोपतापिनी[8] बलवती पिपासा परवशमकरोत् ।

अनया च काल-कलया सुदूरमतिक्रान्तः[9] स पापकृदिति परिकलय्य किञ्चिदुन्नमित-कन्धरो भयचकितया दृशा दिशोऽवलोक्य[10] तृणेऽपि चलति पुनः प्रतिनिवृत्त इति तमेव पदे

श्रियं नीलवर्णत्वात् कुन्तलसमूहकान्तिम् उद्वहतः धारयतः । दिवाऽपि दिवसेऽपि अन्धकारितानि सूर्यकिरणप्रवेशाभावात् समुत्पन्नान्धकाराणि शाखान्तराणि स्कन्धाभ्यन्तरप्रदेशा यस्य तस्य तथोक्तस्य । अतिमहतः अत्यन्तविशालस्य तमालविटपिनः तमालतरोः अपरस्य अन्यस्य पितुः जनकस्य उत्सङ्गमिव क्रोडमिव भयनिवारकत्वात् पर्याप्तावरणकत्वाच्चेत्याशयः । अप्रविष्टा अन्तरप्राप्ताः सूर्यस्य दिनेशस्य किरणा रश्मयो यस्मिन् स तं तादृशम्, अतिगहनम् अतिशयेनापूर्णावकाशम् । मूलदेशं बुध्नभागम् अविशं प्रविष्टवान् । इह सङ्कर्षणादिछिद्यन्ते लुप्तोपमाक्रियोत्प्रेक्षयोः अच्छैरित्यादिछिदस्यान्ते जात्युत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोश्चैकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्कराल‌ङ्कारः । विन्ध्याटव्याः केशपाशश्रियमिव श्रियमिति बिम्बप्रतिबिम्बस्वभावबोधनान्निदर्शनालङ्कारः । उत्सङ्गमिवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

अवतीर्येति । अवतीर्य उत्तीर्य च स वृद्धकिरातः तेन समयेन तत्कालेन क्षितितले भूतले विप्रकीर्णान् इतस्ततो विक्षिप्तान् तान् वृक्षपातितान् शुकशिशून् कीरडिम्भान् संहृत्य एकीकृत्य अनेकैः बहुभिः लतापाशैः वल्लीरूपबन्धनरज्जुभिः संयतान् बद्धान् विधायेति शेषः । पर्णपुटे छदपुटे आबद्ध्य प्रपूर्य, अतित्वरितम् अतिशीघ्रं गमनं गतिर्यस्य स तादृशः, सेनापतिगतेनैव सैन्यनायको येन वर्त्मना पथा गतस्तेनैव पथा तामेव दिशं सेनापत्याश्रितामेवाशाम् अगच्छत् अव्रजत् ।

मामिति । मां पिपासापरवशमकरोदित्यन्वयः । लब्धा प्राप्ता जीविताशा प्राणधारणसम्भावना येन तादृशम्, तच्चाण्डालस्य गमनादित्याशयः । प्रत्यग्रः अभिनवो यः पितृमरणशोकः तातमृत्युविषादः तेन शुष्कम् अक्लिन्नं संकुचितं वा हृदयं मनो यस्य स तं तादृशम् । अतिदूरापातात् अत्युन्नतप्रान्ततः पतनात् आयासितं परिश्रमितं शरीरं वपुर्यस्य स तादृशः तम्, तथा सन्त्रासेन अतिभयेन जातः समुत्पन्नो वेपथुः कम्पो यस्य स तादृशस्तम् । सर्वाङ्गोपतापिनी समस्तहस्तपादादिव्यथादायिनी बलवती शक्तिशालिनी पिपासा तृट् परवशं पराधीनम् अकरोत् कृतवती ।

अनया चेति । अनया अमुया च कालकलया घटिकया स पापकृत् वृद्धकिरातः सुदूरं दूरदेशम् अतिक्रान्तः अतीत इति परिकलय्य मनसि विचार्य, किञ्चिदुन्नमिता दिगवलोकनायेषदूर्ध्वीकृता कन्धरा ग्रीवा येन स तादृशः । भयेन त्रासेन चकितया चञ्चलया दृशा नेत्रेण दिशोऽवलोक्य आशा निरीक्ष्य सोऽथवाऽन्यो वा तथाविध आयाति न वेति ज्ञानार्थमित्याशयः । तृणेऽपि यवसेऽपि चलति कम्पमाने

थोड़ी ही देर बाद उस पेड़ से उतरकर उस बूढ़े भील ने पृथ्वी पर फैले हुए सुग्गों के बच्चों को इकट्ठा किया और पत्तों के दोने में उन्हें रखकर लताओं से बांध दिया । फिर उन्हें लेकर वह अत्यन्त शीघ्रता से उसी ओर चल पड़ा जिधर सेनापति गया था । यद्यपि अब मुझमें जीवित बच जाने की कुछ आशा हो चली थी, किन्तु तत्काल ही के मरे हुए पिता के शोक में मेरा हृदय सूख रहा था, बहुत ऊपर से गिरने के कारण शरीर भी दुख रहा था, भय के कारण कँपकँपी लगी हुई थी और सारे शरीर को जलानेवाली जोर की प्यास ने मुझे विह्वल बना दिया था । इतनी देर में वह दुष्ट बहुत दूर तक चला गया होगा—ऐसा सोचकर मैंने अपनी गरदन थोड़ी

१. क्वचित 'च' इति पाठो नास्ति । २. विकीर्णान् । ३. क्वचित 'तान्' इति पाठो न विद्यते । ४. आविध्य । ५. 'तामेव' इत्यपि पाठः क्वचिन्नास्ति । ६. अन्वगच्छत् । ७. पातायासितशरीरं । ८. सन्त्रासजाता सर्वाङ्गोप''' । ९. आक्रान्तः । १०. विलोक्य ।

पदे पापकारिणमुत्प्रेक्षमाणो निष्क्रम्य तस्मात्तमालतरु[१]-मूलात् सलिल-समीपमुपसर्त्तुं[२] प्रयत्नमकरवम् ।

अजातपक्षतया[३] च नातिस्थिरतर-चरण[४]-सञ्चारस्य मुहुर्मुहुर्मुखेन[५] पततो मुहुस्तिर्यङ्निपतन्तमात्मानमेकया पक्षपाल्या सन्धारयतः क्षितितलसंसर्पण-श्रमातुरस्य[६] अनभ्यासवशादेकमपि दत्त्वा पदमनवरतमुन्मुखस्य, स्थूलस्थूलं[७] श्वसतो[८] धूलिधूसरस्य संसर्पतो ममाभून्मनसि[९]— 'अतिकष्टासु [१०]दशास्वपि जीवित[११]-निरपेक्षा न भवन्ति खलु जगति [१२]प्राणिनां वृत्तयः[१३] । नास्ति जीवितादन्यदभिमततरमिह जगति सर्वजन्तूनाम्[१४] । एवमुपरतेऽपि सुगृहीतनाम्नि ताते

सति पुनर्भूयः प्रतिनिवृत्तः तथोक्तदिग्दर्शनात्प्रत्यावृत्तः, तदागमनभयेनेत्याशयः । इति एवं पापकारिणं पापविधायिनं तमेव जीर्णशबरमेव पदे पदे प्रतिपदम् उत्प्रेक्षमाणः भयवशेन प्रतिस्थानम् उत्पश्यन् निष्क्रम्य बहिर्निःसृत्य तस्मात् तमालतरुमूलात् तमालवृक्षाधःस्थलात् सलिलसमीपं जलान्तिकम् उपसर्तुं गन्तुं प्रयत्नम् उद्योगम् अकरवम् कृतवान् ।

अजातेति । मम मनसि एवमभूदिति सम्बन्धः । अजातपक्षतया अनुत्पन्नच्छदतया नातिस्थिरतरः किञ्चिदस्थिर इत्यर्थः, चरणसञ्चारः पादस्थापनसामर्थ्यं यस्य स तादृशः, मुहुर्मुहुः वारम्वारं मुखेन वदनेन पततो भूतले लुण्ठनं विदधतः, मुहुः वारम्वारं तिर्यक् कुटिलं कक्षाधोऽवयवयोरित्यर्थः, निपतन्तं अश्यन्तम् आत्मानं स्वम् एकया केवलया 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा' इत्युक्तेः, 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमराच्च, पक्षपाल्या पक्षप्रदेशेन 'पालिः कर्णलतायां स्यात् प्रदेशे पङ्क्तिचिह्नयोः' इत्यजयः, सन्धारयतः पतनाद्रक्षां कुर्वतः । क्षितितले भूतले संसर्पणेन गमनेन यः श्रमः खेदः तेन आतुरस्य व्यथितस्य अनभ्यासात् भूयो भूयो विधानाभाववशात् एकमपि एकसंख्याकमपि पदं चरणं दत्त्वा निवेश्य, अनवरतं निरन्तरम् अधिकसमयमिति यावत् , उन्मुखस्य ऊर्ध्वाननस्य 'आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । स्थूलस्थूलं दीर्घदीर्घं यथा स्यात्तथा श्वसतः श्रमेण श्वासमोचनं विदधतः । धूलिभिः भूयो भूयः पतनात् लग्नैः क्षितितलपांसुभिः धूसरस्य धूम्रवर्णस्य । संसर्पतः सलिलान्तिकं व्रजतो मम मनसि हृदये अभूत् जाता एवं वृत्तिरिति शेषः ।

तां वृत्तिमेव स्पष्टयति—अतिकष्टास्विति । अतिकष्टास्वपि अत्यन्तं क्लेशजनिकास्वपि दशासु एवंविधासु अवस्थासु प्राणिनां जन्तूनां वृत्तयः प्रवर्त्तनरूपाः क्रियाः जीवितनिरपेक्षा जीवने गतस्पृहा न भवन्ति न जायन्ते, जन्तवो ह्यनेकमपि क्लेशमनुभवन्ति तथापि स्वप्राणसत्तामभिलषन्त्येवेत्याशयः। अत एव इह जगति अस्मिन् संसारे सर्वजन्तूनां सर्वप्रकारशरीरिणां 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्यशरीरिणः' इत्यमरः, जीवितात् जीवनात् अन्यत् इतरत् अभिमततरम् अभिलषिततरं वस्तु विषयो नास्ति न विद्यते। उक्तविषयं संयोजयितुमाह—एवमिति। यत् यस्मात् कारणात् सुगृहीतनाम्नि मम प्रातश्चिन्त-

ऊँची की ओर डरी हुई निगाहों से इधर-उधर देखने लगा। एक तिनके के खड़कने पर भी मुझे उस पापी के फिर लौट आने का सन्देह हो जाता था। इसलिये पग-पग पर उसी पापी की सम्भावना करता हुआ मैं उस वृक्ष की जड़ से निकल कर जल के पास पहुँचने के लिये प्रयत्न करने लगा।

अभी तक न तो मुझमें पङ्ख ही आये थे और न तो पैरों में टिक सकने की शक्ति ही थी इसलिये लड़खड़ा कर बार बार मुँह के बल गिर पड़ता था, कभी तिरछे होकर उलटते समय करवटों के बल अपने को संभाल भी लेता था। पृथ्वी पर लुढ़कते लुढ़कते तथा चलने का अभ्यास न होने के कारण मैं इतना थक गया था कि एक ही पग चलकर चोंच ऊपर उठा लेता और लम्बी-लम्बी सांसे खींचने लगता था। मेरा सारा शरीर भी धूल में सन उठा था। अपनी इस दशा पर मैं मन ही मन सोचने लगा—अत्यन्त कष्ट की दशा में भी प्राणियों की प्रवृत्तियाँ जीवन की आशा का परित्याग नहीं कर पातीं। सभी प्राणियों के लिए इस संसार में जीवन से अधिक प्रिय अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। तभी तो इतने पूज्य पिता के मरने पर भी मैं सुधबुध के

१. तमालतरुतलमूलात् । २. सर्त्तुं । ३. अनुपजातपक्षतया, अजातपक्षतया । ४. नातिस्थिरचरण··· । ५. अधोमुखेनापततः । ६.···श्रमातुरस्य । ७. मुहुर्मुहुः स्थूलस्थूलं । ८. निःश्वसतः । ९. मम समभून्मनसि । १०. अवस्थास्वपि । ११. स्वजीवित··· । १२. सर्वप्राणिनां । १३. प्रवृत्तयः । १४. सर्वजन्तूनामेव ।

यदहमविकलेन्द्रियः पुनरेव प्राणिमि। धिङ्मामकरुणमतिनिष्ठुरमकृतज्ञम्। अहो! [1]सोढपितृमरण[2]शोकदारुणं येन मया जीव्यते, उपकृतमपि ना[3]पेक्ष्यते। खलं हि खलु मे हृदयम्। अहं हि लोकान्तरमुप[4]गतायामम्बायां नियम्य शोका[6]वेगमाप्रसव दिवसात् परिणतवयसापि सता ता[7]तेन तैस्तैरुपायैः संवर्द्धनक्लेशमतिमहान्तमपि स्नेहवशादगणयता यत् परिपालितः, तत्सर्वमेकपदे विस्मृतम्। अतिकृपणाः खल्वमी [8]प्राणाः, यदुपकारिणमपि तातमद्याति-[9]गच्छन्तं नानुगच्छन्ति। सर्वथा न [10]कश्चित् न खलीकरोति जीवित-तृष्णा, यदीदृशावस्थ[11]-

नीयसंज्ञके 'स सुगृहीतनामा स्याद् यः प्रातरनुचिन्त्यते' इति त्रिकाण्डशेषः, ताते जनके एवम् उक्तविधिना उपरतेऽपि मृतेऽपि चाण्डालस्य किरातस्य प्रक्षेपेणापमृत्युं प्राप्तेऽपीत्यर्थः, अहम् अविकलेन्द्रियः विषयग्रहणे यथास्थितसमर्थेन्द्रियः पुनरेव साम्प्रतमपि श्वसिमि जीवनायाभिलषामीत्यर्थः, अतः अकरुणं निर्दयं तथाविधेऽपि समये तातं परित्यज्य स्वप्राणरिरक्षिषया निःसरणादित्याशयः। अतिनिष्ठुरम् अतिक्रूरं निष्करुणत्वादित्याशयः। अकृतज्ञं कृतम् अनेन ममैतादृश उपकारो विहित इति न जानाति यः स तं तादृशम्, तद्विहितोपकाराचिन्तनादिति भावः। मां वैशम्पायनं धिक् धिक्कारः 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इति धिग्योगे मामित्यत्र द्वितीया। अहो आश्चर्यम्। येन मया वैशम्पायनेन, सोढेन असाधारणदुःखमनुभूतेन पितृमरणशोकेन तातमरणविषादेन दारुणं भयङ्करं यथा स्यात्तथा जीव्यते जीवनानि धार्यन्ते, उपकृतमपि तातविहितोपकारोऽपि नापेक्ष्यते स्मृतिपथे नानीयते अतश्चापि मां धिगित्यन्वयः।

अहमिति। हि निश्चयेन 'हि पादपूरणे हेतौ विशेषेऽप्यवधारणे' इति मेदिनी। मे मम हृदयं मनः खलम् अधमम् उपकाराज्ञत्वादित्याशयः। 'खलः कल्के भुवि स्थाने क्रूरे कर्णेजपेऽधमे' इति हैममेदिन्यौ। हि यस्मात् कारणात् लोकान्तरं परलोकम् उपगतायां प्राप्तायाम् अम्बायां जनन्यां शोकावेगं विषादप्रवाहं नियम्य अन्तर्निरुध्य, आप्रसवदिवसात् मज्जन्मदिनावधि, परिणतवयसापि वृद्धावस्थेनापि अत एव समस्तकर्मायोग्येनेत्याशयः, एतादृशेनापि सता तैस्तैरुपायैः प्राग्दर्शितैः कीरभुक्तशेषभक्ष्यसंयोजनादिभिः संवर्द्धनक्लेशं सत्परिपालनदुःखम् अगणयता तद्गणनामविदधता तातेन पित्रा अहं यत्परिपालितः परिपोषितः, एकपदे तत्काले 'एकपदं तत्काले नपुंसकं, वर्त्मनि स्त्री स्यात्' इति रामाश्रमी टीका, 'तत्क्षणैकपदे तुल्ये' इति हलायुधश्च, तत्सर्वं विस्मृतं मानसपथान्निःसारितं मयेति शेषः, तस्य प्रतीकाराविधानादनुव्रजनाभावाच्चेत्याशयः।

अतीति। अमी एते मे प्राणा असवः अतिकृपणाः खलु अत्यन्ततुच्छा एव, यत् यस्माद्धेतोः उपकारिणमपि तातम् उपकृतिविधायिनमपि पितरम् अद्य अस्मिन्नहनि अतिगच्छन्तं मामतिक्रम्य व्रजन्तं नानुगच्छन्ति नानुव्रजन्ति। सर्वथा सर्वप्रकारेण जीविततृष्णा जीवनेच्छा कश्चित् कमपि जनं न खलीकरोति नाधमीकरोति इति न, किन्तु सर्वथैव खलीकरोति सर्वमित्यर्थः। नञ्द्वयोपादानेन प्रकृतोऽर्थो दृढीकृतः। अखलं खलं सम्पद्यमानं करोतीति खलीकरोति अभूततद्भावे च्विः। यत् यस्मात् कारणात् जलाभि-

साथ अभी तक जी रहा हूँ! मेरे जैसे अत्यन्त निर्दय, निष्ठुर और कृतघ्न को धिक्कार है! पिता की मृत्यु के भयङ्कर शोक को भी पीकर मैं अबतक जी रहा हूँ! मुझे उनके उपकारों की अब जैसे कोई आवश्यकता भी नहीं रह गयी है! सचमुच ही मेरा हृदय अत्यन्त दुष्ट है! माँ के मरने के बाद सारे शोक को पीकर पिता ने वृद्ध होते हुए भी मेरे जन्म के दिन से ही स्नेहवश बड़े बड़े दुःखों की परवाह न करके अनेक उपायों से मेरा पालन-पोषण किया था। लेकिन आज मैंने वह सब एक साथ ही भुला दिया। सचमुच मेरे प्राण अत्यन्त लोभी हैं जो इतने उपकारी पिता के चले जाने पर भी आज उन्हीं के साथ नहीं चले जाते। जीवन की तृष्णा किसे नहीं तुच्छ बना डालती! तभी तो ऐसी दुखमयी अवस्था में भी मुझे जल की प्यास सता रही है! मैं तो समझता हूँ कि पिता की मृत्यु के अनन्त शोक को भी दबा देने वाली मेरी यह जल पीने की प्रबल इच्छा केवल मेरी निष्ठुरता के

१. अकृतज्ञं विसोढपितृ···। २. मरणम्। ३. नापेक्ष्यते। ४. मया। ५. लोकन्तरगतायाम्। ६. शोकवेग। ७. 'तातेन' इति क्वचिन्नास्ति। ८. मे प्राणाः, मम प्राणाः। ९. तातं क्वापि गच्छन्तमद्यापि, मद्य क्वापि···यान्तम्। १०. सर्वथा कश्चिन्न, सर्वथा न कश्चन। ११. ईदृगवस्थं।

मपि मामायासयति[1] जलाभिलाषः। मन्ये चागणित-पितृमरण-शोकस्य निर्घृणतैव[2] केवलमियं मम सलिलपानबुद्धिः। अद्यापि दूरत[3] एव सरस्तीरम्। तथाहि जलदेवतानूपुर-रवानुकारि[4] दूरेऽद्यापि कलहंस-विरुतमेतत्[5], अस्फुटानि[6] श्रूयन्ते सारसरसितानि, [7]विप्रकर्षादाशामुख-विसर्पण-विरलः सञ्चरति नलिनी-षण्डपरिमलः। दिवसस्येयमतिकष्टा[8] दशा वर्त्तते। तथाहि रविरम्बरतलमध्यवर्त्ती स्फुरन्तमातपमनवरतमनल-धूलि-निकरमिव विकिरति करैः, अधिकामुपजनयति तृषाम्[9]। आतप-[10]सन्तप्त-पांसु-पटल-दुर्गमा भूः[11], अतिप्रबल-पिपासावसन्नानि गन्तुमल्पमपि मे नालमङ्गकानि, अप्रभु[12]रस्म्यात्मनः सीदति मे हृदयम्,

लाषः जलपानेच्छा, ईदृशावस्थमपि अत्यन्तविषादव्यग्रमपि माम् आयासयति जलपानविधानाय सम्प्रेष्य क्लेशं जनयति। एवञ्च जीवनाभिलाषयैव इयं जलाभिलाषा, सा यदि जीवनाभिलाषा नाभविष्यत्तदा यदा जलतृष्णा सञ्जाता तदैव मृतः सन् तातमन्वव्रजिष्यमिति नूनं जीवनाभिलाषैव सम्प्रति मां दुःखमुत्पादयतीत्याशयः। इह जीविततृष्णेति विशेषेण आयासासादनसामान्यसमर्थनात् विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

मन्य इति। मन्ये जाने च अगणितपितृमरणशोकस्य अज्ञाततातमरणविषादस्य मम केवलम् इयं सलिलपानबुद्धिः जलाभिलाषा निर्घृणतैव निष्करुणतैव तत्प्रयुक्तैवेत्याशयः, अन्यथा अक्लिन्नकण्ठो निष्प्राणतातमनुव्रजेयमिति तात्पर्यम्।

इह निर्घृणताजलाभिलाषयोर्हेतुहेतुमतोस्तादात्म्येन प्रतिपादनात् हेत्वलङ्कारः। तथा हि दर्पणे—

'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' इति।

अद्यापीति। अद्यापि साम्प्रतमपीत्यर्थः, दूरत एव विप्रकर्षादेव सरस्तीरं सरोवरतटम्। तदेव निरूपयति—तथाहीति। जलदेवतानां जलाधिष्ठात्रीणां देवीनां नूपुराणां पादाङ्गदानां 'पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरे स्त्रियाम्' इत्यमरः, यो रवो ध्वनिः तमनुकर्त्तुं शीलं यस्य तत् तादृशम्, दूरे विप्रकर्षे अद्यापि इदानीमपि एतत् श्रूयमाणम्, कलहंसानां कादम्बानां विरुतं कूजितम्। अस्फुटानि अव्यक्तानि सारसानां लक्ष्मणानां रसितानि कूजितानि श्रूयन्ते आकर्ण्यन्ते। विप्रकर्षात् दूरात् आशामुखेषु दिगाननेषु नानादिक्ष्वित्यर्थः, विसर्पणेन प्रसरणेन विरलः स्वल्पः नलिनीषण्डानां कमलिनीवनानां परिमलः सौरभम्।

दिवसस्येति। दिवसस्य दिनस्य इयं पुरो दृश्यमाना अतिकष्टा अत्यन्तं क्लेशदायिनी दशा अवस्था वर्त्तते अस्ति मध्याह्नसमय इत्यर्थः। एतदेव दर्शयति—तथाहीत्यादिना। अम्बरतलस्य आकाशस्य मध्यवर्त्ती मध्यगामी रविः सूर्यः, अनवरतम् अविच्छिन्नं स्फुरन्तं देदीप्यमानम् आतपं तेजः अनलधूलयो वह्निकणिकाः तेषां निकरमिव समूहमिव करैः रश्मिभिः भुजैश्च विकिरति क्षिपति। अत्रोपमालङ्कारः। अधिकाम् अत्यर्थां तृषां पिपासाम् उपजनयति सम्पादयति।

आतपेति। आतपेन रवितेजसा सन्तप्तैः उष्णैः पांसुपटलैः रजःसमूहैः दुर्गमा दुःखेन गन्तुं योग्या भूः मही। अतिप्रबलया अत्यधिकया पिपासया जलपानेच्छया अवसन्नानि खिन्नानि मे मम अङ्गकानि शरीरक्षुद्रावयवाः अल्पमपि किञ्चिदपि गन्तुं चलितुं नालं न समर्थानि। आत्मनः शरीरस्य अप्रभुः असमर्थः अस्मि भवामि स्वेच्छया सञ्चलनासमर्थोऽस्मीत्यर्थः। मे मम हृदयं सीदति सखेदं भवति। चक्षुर्नेत्रम् अन्धकारतां तिमिरताम् उपयाति प्राप्नोति। अपिशब्दः प्रश्ने, नामशब्दः सम्भावनायाम्। तथा च—

'अपिः सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये। तथा युक्तपदार्थे च कामचारक्रियासु च॥' इति विश्वः।

अतिरिक्त और कुछ नहीं। सरोवर अभी बहुत दूर है क्योंकि जलदेवता के नूपुरों के समान झंकृत होनेवाली कलहंसों की यह ध्वनि अभी दूर जान पड़ती है, सारसों का कलरव भी अभी स्पष्ट सुनायी नहीं पड़ रहा है और अधिक दूर होने के कारण दिशाओं में फैलकर अत्यन्त हलकी पड़ जानेवाली कमल-वनों की गन्ध भी नहीं आ रही है। दिन की हालत अत्यन्त सतानेवाली हो गयी है। आकाश के बीच में पहुँचे हुए सूर्य की किरणों से निकलती हुई धूप ऐसी लगती है मानो आग की चिनगारियाँ बरस रहीं हों। इससे गला और भी सूखता सा

१. मामावासयति, भामयमासयति, मामभिलाषयति। २. निघृणतयैव। ३. दूर एव सरः। ४. नूपुरानुकारि। ५. विरुतमेतत्। ६. एतानि चास्फुटानि। ७. क्वचित् 'अयञ्च' इति पाठोऽधिकः। ८. इयं कष्टा दशा, अतिकष्टा च दशा। ९. तृषम्। १०. आतपस्पर्शसन्तप्त…। ११. भूमिः। १२. अलमप्रभुर…।

अन्धकारतामुपयाति चक्षुः, अपि नाम खलो विधिरनिच्छतोऽपि मे मरणमद्यैव[1] उपपादयेत् ।'

इत्येवं[2] चिन्तयत्येव मयि तस्मात् सरसोऽदूरवर्त्तिनि[3] तपोवने जावालिर्नाम महातपा मुनिः प्रतिवसति स्म[4] । तत्तनयश्च हारीतनामा मुनिकुमारकः[5] सनत्कुमार इव सर्वविद्यावदातचेताः, समानवयोभिरपरैस्तपोधन-कुमारकैरनुगम्यमानस्तेनैव पथा द्वितीय इव भगवान् विभावसुरतितेजस्वितया दुर्निरीक्ष्यमूर्त्तिः, उद्यतो दिवसकर-मण्डलादिवोत्कीर्णः तडिद्भिरिव विरचितावयवः, तप्त-कनक-द्रवेणेव बहिरुपलिप्त-मूर्त्तिः, आपिशङ्गावदातया

'नाम कामे (कोपे)ऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च। सम्भाव्यकुत्साप्राकाश्यविकल्पेष्वपि दृश्यते॥' इति मेदिनी। खलः अमङ्गलकरणाद् दुर्जनः 'पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः, विधिः विधाता अनिच्छतोऽपि अनभिलषतोऽपि मे मम मरणं मृत्युम् अद्यैव उपपादयेत् विदध्यात् ।

इत्येवमिति । इत्येवं पूर्वोक्तविधिना मयि वैशम्पायने चिन्तयत्येव विचारयत्येव सति, तस्मात् पूर्वप्रतिपादितात् सरसः सरोवरात् अदूरवर्त्तिनि समीपस्थायिनि तपोवने तपस्विजनाधिष्ठितविपिने जावालिर्नाम जावालिसंज्ञकः महत् उग्रं तपो यस्य एतादृशो मुनिः तपोनिधिः प्रतिवसति स्म निवसति स्म ।

तत्तनय इति । तस्य तपोनिधेः तनय आत्मजः 'आत्मजस्तनयः सूनुः' इत्यमरः, हारीत इति नाम अभिधेयं यस्य तादृशो मुनिकुमारकः तापसबालकः, 'तदेव कमलसरः सिस्नासुरुपागमत्' इत्यग्रेतनेन सम्बन्धः । तमेव सम्प्रति विशेषयति —सनत्कुमार इत्यादिना । सनतो ब्रह्मणः कुमार इति सनत्कुमारः प्रजापतेः पुत्र इत्यर्थः 'सनत्कुमारो वैधात्रः' यद्वा— सनत् सर्वस्मिन् समये कुमारः कौमारव्रतावलम्बो । उक्तञ्च पुराणे–'तथोत्पन्नस्तथैवाहं कुमार इति विद्धि माम् । तस्मात् सनत्कुमारेति नामैतन्मे प्रतिष्ठितम्॥' स इव सर्वविद्यावदातचेताः निखिलविद्यानिर्मलहृदयः, इह पूर्णोपमा । समानवयोभिः सवयोभिः अपरैः तदतिरिक्तैः तपोधनकुमारकैः तापसदारकैः अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः तेनैव पथा तेनैव वर्त्मना द्वितीय एतदपरः भगवान् ज्ञानवान् धर्मवान् वा,—'भगं श्रीयोनिवीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्त्तिषु । माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षेऽथ ना रवौ' इति मेदिनी । विभावसुरिव अग्निरिव अतितेजस्वितया अत्युत्कृष्टदीप्तिमत्तया 'तेजो दीप्तौ प्रभावे च स्यात्पराक्रमरेतसोः' इति मेदिनी । दुर्निरीक्ष्या दुःखेन द्रष्टुं योग्या मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । विभावसुरग्निरिवेति द्रव्योत्प्रेक्षा । उद्यतः उदयं विदधतः दिवसकरमण्डलात् सूर्यबिम्बात् उत्कीर्ण इव टङ्केन रचयित्वा उद्धृत इव, तडिद्भिः सौदामिनीभिः विरचिता निर्मिता अवयवा अङ्गानि यस्य स इव, तप्तम् उष्णं यत् कनकं सुवर्णं तस्य द्रवेण रसेन बहिः मूर्त्तेरेव बहिः उपलिप्ता लिप्ता मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य स तादृशः । एते त्रयोऽपि क्रियोत्प्रेक्षालङ्काराः ।

आपिशङ्गेति । स्फुरन्त्या देदीप्यमानया, आपिशङ्गा किञ्चित्पिङ्गलवर्णा चासौ अवदाता धवला चेति

जा रहा है। धूप में जलती हुई धूल के कारण पृथ्वी पर चलना अत्यन्त कठिन हो रहा है, अत्यन्त तीखी प्यास के कारण मेरे सभी अंग सूने से हो गये हैं जिससे अब थोड़ी दूर भी चलने की शक्ति नहीं रह गयी है, अब मैं अपने वश में नहीं रह गया हूँ, हृदय बैठा जा रहा है, आँखों में अन्धेरा छा रहा है, क्या ही अच्छा होता कि क्रूर विधाता न चाहते हुये भी मुझे आज मृत्यु ही दे देता !

उस तालाब से थोड़ी ही दूर पर तपोवन में जावालि नाम के एक बहुत बड़े तपस्वी मुनि रहते थे। मैं अभी इस प्रकार सोच ही रहा था कि उनके पुत्र कुमार हारीत अपनी ही अवस्थावाले अन्य तपस्वी कुमारों के साथ उसी मार्ग से उसी कमलों से परिपूर्ण सरोवर में स्नान करने के लिए आ रहे थे। सनत्कुमार के समान उनका हृदय सभी विद्याओं से अत्यन्त उज्ज्वल हो गया था, अत्यधिक तेज के कारण उनकी ओर देखना भी कठिन था, मानो वह मूर्तिमान दूसरे अग्निदेव हों, उनका स्वरूप ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रातःकालीन सूर्यमंडल को गढ़कर बनाया गया हो, उनके अंग-प्रत्यंग ऐसे कान्तिमान थे मानो बिजली से बने हों और शरीर का रंग ऐसा चमक रहा था मानो उसपर तपाये हुए सोने का पानी चढ़ा दिया गया हो। वह अपनी फैलती हुई शरीर-कान्ति से ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो प्रातःकालीन सूर्य की धूप से प्रकाशित दिन हो अथवा दावाग्नि से

१. अद्य, अथ। २. एवं। ३. नातिदूरवर्त्तिनि। ४. 'स्म' इति क्वचित् पाठो नास्ति। ५. तापसकुमारकः। ६. समवयोभिः। ७. कुमारैः। ८. रचितावयवः। ९. शिङ्गावदातया।

देह-प्रभया स्फुरन्त्या सबालातपमिव दिवसं सदावानलमिव वनमुपदर्शयन्, उत्तप्त-लौह-लोहिनीनामनेक-तीर्थाभिषेकपूतानामंसस्थलावलम्बिनीनां जटानां[1] निकरेणोपेतः, स्तम्भित-शिखा-कलापः, खाण्डववन-दिधक्षया कृत-कपट-वटु-वेश[2] इव भगवान् पावकः, तपोवन-देवतानूपुरानुकारिणा धर्मशासन-कटकेनेव स्फाटिकेनाक्षवलयेन दक्षिणश्रवणावलम्बिना[3] विराजमानः, सकल-विषयोपभोग-निवृत्त्यर्थमुपपादितेन[4][5] ललाटपट्टके[6] त्रिसत्येनेव[7] भस्म-

तया 'अवदातः सितो गौरो वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः, देहप्रभया शरीरकान्त्या, दिवसं तत्काल-मित्यर्थः। सबालातपमिव अभिनवसूर्यालोकयुक्तमिव वनं तद्विपिनं सदावानलमिव अरण्याग्निना युक्तमिव उपदर्शयन् प्रकटयन्। इह सबालातपमिवेत्यत्र सदावानलमिवेत्यत्र च गुणोत्प्रेक्षा।

उत्तप्तेति। उत्तप्तम् उष्णीकृतं यल्लोहम् अश्मसारः,—'लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसा-यसी। अश्मसारः' इत्यमरः। तद्वत् लोहिनीनां रक्तवर्णानाम् अनेकानि विविधानि यानि तीर्थानि गङ्गा-दीनि तेषु अभिषेकेण स्नानेन पूतानां पवित्रीकृतानाम्, अंसस्थले भुजशिरःस्थाने अवलम्बिनीनाम् अव-लम्बमानानां जटानां सटानां 'व्रतिनस्तु जटा सटा' इत्यमरः, निकरेण समूहेन उपेतः सहितः। उत्तप्त-लोहलोहिनीनामित्यत्र लुप्तोपमा।

स्तम्भितेति। स्तम्भितो बद्धः शिखानां चूडानां कलापः समूहो येन स तथोक्तः—'शिखा शाखा बर्हिचूडालाङ्गलिक्यग्रमात्रके। चूडामात्रे शिफायां च ज्वालायां प्रपदेऽपि च॥' इति मेदिनी। खाण्डव-वनस्य विविधमहौषधिपूर्णखाण्डवाख्यविपिनस्य दिधक्षया दग्धुमिच्छया कृतो विहितः कपटेन व्याजेन वटुवेशो द्विजरूपं येन स तादृशः, भगवान् माहात्म्यवान् पावको वह्निरिव दीप्तस्वरूप इत्यर्थः। इहोपमा।

अत्रायं महाभारतीयेतिहासः—पुरा खलु श्वेतकिसंज्ञको भूपतिः द्वादशसांवत्सरिकं यज्ञमकृत। तत्र निरन्तरहविर्भक्षणेनाग्नेः मन्दोऽग्निरुत्पन्नः, ततश्च तत्प्रतिकर्तुं स स्रष्टुराज्ञया बहुविधमहौषधियुक्तं खाण्डववनं जिघत्सुर्द्विजरूपेण श्रीकृष्णस्य पार्थस्य च साहाय्यमाश्रित्य तद्विपिनं भस्मीचकारेति।

तपोवनेति। धर्मशासनस्य गुरुकृतविधिनिषेधादिरूपधर्मादेशस्य कटकं त्राणाय परिधिरूपेण वर्त्त-मानं सैन्यं तेनेव 'कटकस्त्वद्रिनितम्बे बाहुभूषणे सेनायां राजधान्यां च' इति हैमः, भूपतेस्त्राणाय दुर्गा-द्बहिः परिधिरूपेण सैन्यं यथा तिष्ठति तथा सव्येतरश्रोत्रे गुरुभिर्निरूपितस्य विधिनिषेधरूपधर्मस्य त्राणाय सैन्येनेव वलयाकारजपमालिकया विद्यमानमित्याशयः। स्फाटिकेन स्फटिकमणिरचितेन दक्षिणश्रवणाव-लम्बिना सव्येतरश्रोत्रस्थायिना, अक्षवलयेन वलयाकारजपमालिकया विराजमानः शोभमानः। इह धर्म-शासनकटकेनेवेत्यत्र आर्थी उपमा, जात्युत्प्रेक्षा च, अनयोर्हि अङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः।

सकलेति। सकलानां समस्तानां विषयाणां स्रक्चन्दनरमणीप्रभृतीनां भोग्यवस्तूनाम् उपभोगनि-वृत्त्यर्थम् उपभोगोपरमार्थम् उपपादितेन विहितेन, त्रयाणां सत्यानां शपथानां समाहार इति त्रिसत्यं तेनेव, नाहं विषयानुरक्तो भविष्यामि, नाहं विषयानुरक्तो भविष्यामि, नाहं विषयानुरक्तो भविष्यामि इति शपथत्रयलक्षणेनेत्यर्थः 'सत्यं कृते च शपथे तथ्ये च त्रिषु तद्वति' इति मेदिनी। ललाटपट्टके भाल-फलके भस्मत्रिपुण्ड्रकेण विभूतित्रितिलकेन भस्मनस्तिर्यग्रेखात्रयेणेत्यर्थः, अलङ्कृतो मण्डितः। इह त्रिसत्येनेवेति गुणोत्प्रेक्षा।

सुशोभित वन हों। तपाये हुए लोहे के समान चमकीली और अनेक तीर्थों के जल से पवित्र उनकी जटाएँ कंधों पर लटक रही थीं तथा सिर पर चोटियों का जूड़ा बना हुआ था जिससे वह ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो खांडव वन जलाने की अभिलाषा से भगवान् अग्निदेव ने ब्रह्मचारी का कपट वेश बना लिया हो। उनके दाहिने कान में तपोवन की देवी के नूपुरों के समान स्फटिक मणि से बनी हुई रुद्राक्ष की माला ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों कानों में पड़े हुए गुरु के धर्मोपदेशों की रक्षा के लिए सेना का व्यूह हो। उनके ललाट पर भस्म का त्रिपुंड इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो संपूर्ण विषयोपभोग से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने त्रिसत्य (तीन वार किये हुये शपथ) का चिह्न धारण कर लिया हो। उनके बायें

१. जटावलीनां। २. ...पट्टुवेष इव। ३. ...अनुलम्बिना, विलम्बिना। ४. निवृत्तिमुप, ५. उत्पादितेन। ६. ललटापट्टे। ७. त्रिसत्यकेन।

त्रिपुण्ड्रकेणालङ्कृतः, गगन-गमनोन्मुखबलाकानुकारिणा[1] स्वर्गमार्गमिव दर्शयता सततमुद्ग्रीवेण स्फटिक-मणि[2]-कमण्डलुनाध्यासित-वामकरतलः, स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नील[3]पाण्डुभासा तपस्तृष्णानिपीतेनान्तर्निष्पतता[4] धूम-पटलेनेव परीतमूर्त्तिः, अभिनव-बिस-सूत्र-निर्मितेनेव परिलघुतया पवनलोलेन निर्मांस-विरलपार्श्वास्थिपञ्जरमिव[5] गणयता वामांसावलम्बिना यज्ञोपवीतेनोद्भासमानः, देवतार्चनार्थमागृहीत-वनलता-कुसुम-परिपूर्ण[6]-पर्णपुट-सनाथ शिखरेणाषाढदण्डेन व्यापृत-सव्येतर-पाणिः, विषाण[7]-शिखरोत्खातामुद्वहता स्नानमृदमुपजात-परिचयेन नीवारमुष्टि-संवर्द्धितेन कुश कुसुम-लतायास्यमान[8]-लोल-दृष्टिना

गगनेति। गगनगमनाय आकाशोड्डयनाय उन्मुखी ऊर्ध्वानना या बलाका बिसकण्ठिका तामनुकर्त्तुं शीलं यस्य तेन तादृशेन 'बलाका बिसकण्ठिका' इत्यमरः, स्वर्गमार्गं दिवौकसपन्थानं दर्शयतेव प्रकटयतेव उद्ग्रीवत्वादित्याशयः। सततं निरन्तरम् उद्ग्रीवेण उन्नतकन्धरेण एवंविधेन स्फटिकमणिकमण्डलुना स्फटिकरत्नरचितकुण्ड्या 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरः, अध्यासितम् अवलम्बितं वामकरतलं सव्यहस्ततलं यस्य स तादृशः। इह गगनगमनोन्मुखबलाकानुकारिणेत्यत्रार्थी उपमा, दर्शयतेवेति क्रियोत्प्रेक्षा च, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः।

स्कन्धेति। तपस्तृष्णया तपो मे वृद्धिं प्राप्नोत्वितीच्छया निपीतेन निगीर्णेन, पुनरन्तर्निष्पतता जठरमध्यान्निसरता धूमपटलेनेव धूमसमुदायेनेव विद्यमानेन, स्कन्धदेशावलम्बिना बाहुमूलभागमाश्रितवता, नीला अश्वेता पाण्डुः श्वेता च भाः कान्तिर्यस्य तेन तादृशेन कृष्णाजिनेन कृष्णसारमृगचर्मणा परीतमूर्त्तिः व्याप्तशरीरः। धूमपटलेनेवेति जात्युत्प्रेक्षा।

अभीति। अभिनवैः प्रत्यग्रैः बिससूत्रैः मृणालतन्तुभिः 'मृणालं बिसमब्जादि इत्यमरः, निर्मितेनेव कृतेनेव अत्यन्तसूक्ष्मत्वादित्याशयः। परिलघुतया अत्यन्तभारशून्यत्वेन अणुतया पवनेन वायुना लोलेन चञ्चलेन, अतएव निर्मांसं प्रायेण व्रतादिवशात् पिशितशून्यम् सुतरां विरलम् असङ्कीर्णं पार्थक्येन दृश्यमानं यत् पार्श्वास्थिपञ्जरं पार्श्वगतास्थिनिकरः, तद्गणयतेव तत्संख्यां विदधतेव, वामे सव्ये अंसे स्कन्धे अवलम्बिना अवस्थानशीलेन यज्ञोपवीतेन यज्ञसूत्रेण उद्भासमानः देदीप्यमानः। यह 'अभिनवबिससूत्रनिर्मितेनेव' इत्यत्र 'गणयतेव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षा, तयोश्च परस्परं नैरपेक्ष्येण स्थितत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

देवतेति। देवतानां परमेश्वराणाम् अर्चनार्थं पूजनार्थम् आगृहीतैः आत्तैः वनलताकुसुमानि अरण्यवल्लीप्रसूनानि तैः परिपूर्णं भृतं यत् पर्णपुटं पत्रपुटं तेन सनाथं युक्तं शिखरम् ऊर्ध्वभागो यस्य स तेन तादृशेन, आषाढदण्डेन पलाशतरुरचितदण्डेन 'पालाशो दण्ड आषाढः' इत्यमरः, व्यापृतो व्यापारयुक्तः। सव्येतरो दक्षिणः पाणिः करो यस्य स तादृशः।

विषाणेति। विषाणशिखरेण शृङ्गाग्रेण उत्खाताम् उत्खनितां स्नानमृदं हारीतस्यैवाप्लवनमृत्तिकाम् उद्वहता विषाणशिखरेणैव धारयता, उपजातः समुत्पन्नः परिचयः अहिंसाजनकत्वेन विशेषज्ञानं यस्य तेन

हाथ में बिल्लौरी कमंडलु था जिसकी गरदन उड़ने की तैयारी में आकाश की ओर देखनेवाले बगुलों की गरदन के समान ऊपर उठी हुई थी, मानों वह स्वर्ग की ओर देख रहा हो। उनके कंधों से काले मृग का चर्म लटका हुआ था जिससे वे अपने शरीर से फूटकर फैली हुई धुमैली कान्ति से घिरे हुए थे, मानो अपनी तपस्या सफल होने के लिए उन्होंने यज्ञों में जितना धुआँ पिया था वह सभी बाहर निकल पड़ा हो और वे उसी में घिर गये हों। उनके बाँए कन्धे से बहुत ही महीन जनेऊ हवा में हिल रहा था मानों वह कमल के कोमल रेशों से बना हो और उनकी मांसरहित पसलियों की हड्डियाँ गिन रहा हो। उनके दाहिने हाथ में पलाश का डंडा सुशोभित हो रहा था, जिसके सिरे पर देवपूजा के लिए जंगली लताओं से चुने हुए फूलों से भरा हुआ दोना बँधा था। उनके पीछे-पीछे तपोवन का पालतू हिरन भी चला आ रहा था, जिसको नीवार की मूँठें खिला-खिलाकर मुनियों ने बड़े स्नेह से पाला था, जिसकी सींगों की नोकों पर उनसे खुदी हुई स्नानमृत्तिका (मुनि लोग स्नान के समय अपने शरीर में मिट्टी लगाते थे उसे स्नान-मृत्तिका कहते थे) लिपटी हुई थी और रास्ते में कुशों,

१. ...अनुकारिस्वर्गमार्गमिव। २. 'मणि' इति क्वचित् पाठो नास्ति। ३. नीलया। ४. अन्तरपगच्छता, अन्तर्निवसता। ५. पार्श्वपंजरमिव। ६. कुसुमपूर्णं। ७. विषाणोत्खाताम्। ८. ...उपास्यमान।

तपोवनमृगेणानुगम्य[1]मानः, विटप इव कोमल-वल्क[2]लावृत-शरीरः, गिरिरिव समेखलः, राहुरिवासकृदास्वादित-सोमः, पद्मनिकर इव दिवसक[3]र-मरीचिपः, नदी-तट-तरुरिव सततजल-क्षालन-विम[4]लजटः, करि-कर[5]भ इव विकच-कुमुद-दल-शकलसित-दशनः, द्रौणिरिव कृपानुगतः, नक्षत्रराशिरिव चित्रमृग-कृत्तिका[6]श्लेषोपशोभितः, घर्म्मकाल-दिवस इव क्षयित[7]दोषः, जलधरसमय इव प्रशमितरजःप्रसरः, वरुण इव कृदोदवासः, हरिरिवापनीत-

---

तादृशेन, नीवारमुष्टिभिः मुष्टिपरिमितवनव्रीहिभिः प्रतिदिनं तदर्थत्यागैरित्यर्थः, संवर्द्धितः वृद्धिं प्रापितः तेन तादृशेन, कुशकुसुमलताभिः पार्श्वद्वयस्थायिनीभिः दर्भपुष्पव्रततीभिः आयास्यमाने संस्पर्शात् खेदं प्राप्यमाणे अतएव लोले चपले दृष्टी लोचने यस्य तेन तादृशेन, तपोवनमृगेण मुन्याश्रमहरिणा अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः।

विटप इति। विटप इव तरुशाखेव, कोमलेन मृदुलत्वादेव परिधानयोग्येनेत्याशयः, अपरत्र मूलादिभागात् कोमलेन वल्कलेन त्वचा चोचेन च आवृतम् आच्छादितं शरीरं वपुर्यस्य स तादृशः। गिरिः अचलः स इव, मेखलया मुञ्जरचितकटिसूत्रेण मध्यदेशेन च सह विद्यत इति समेखलः। राहुः विधुन्तुद इव 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः, असकृत् अनेकशः आस्वादितः सोमयागसमये पीतः पूर्णिमासु ग्रस्तश्च सोमः सोमलतारसः इन्दुश्च येन स तादृशः 'सोमस्त्वोषधितद्रसेन्दुषु' इति हैमः, एतेनात्यन्तसोमयागविधायित्वं व्यञ्जितम्। पद्मानां पङ्कजानां निकरः समूह इव, दिवसकरस्य सूर्यस्य मरीचीन् किरणान् पिबति ग्रीष्मर्तौ पञ्चाग्निसाधनात् ऊर्ध्ववदनः सन् ग्रसते अपरत्र पूर्णप्रस्फुटनात् स्पृशतीति मरीचिपः। नद्याः सरितः तटं तीरं तस्मिन् तरुः वृक्षः तद्वत्, सततम् अनवरतं त्रिसन्ध्यं जले सलिले क्षालनम् अवगाहनं तेन विमला निर्मला रजोरहिता इत्यर्थः, जटा सटा यस्य स तादृशः, अन्यत्र सततं निरन्तरं जलक्षालनेन स्रोतःसलिलप्रक्षालनेन विमला मृत्तिकाहीना जटा मूलप्रदेशो यस्य स तादृशः। करिणां गजानां कलभः त्रिंशद्वर्षीयबालः तद्वत्, विकचं विकसितं यत् कुमुदं कैरवं तस्य दलशकलवत् पर्णखण्डवत् सिताः स्वच्छाः दशना दन्ता दन्तौ च यस्य स तादृशः। इदं पक्षद्वयेऽपि तुल्यम्। द्रोणस्य द्रोणाचार्यस्यापत्यं द्रौणिः अश्वत्थामा तद्वत्, कृपाम् अनुकम्पाम् अनुगतः प्राप्तः सर्वस्य दुःखत्राणे दयायुक्त इत्यर्थः। 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः, अन्यत्र कृपः कृपाचार्यः तेन अनुगतः सङ्ग्रामादौ सहितः। नक्षत्राणाम् ऋक्षाणां राशिः निकरः तद्वत्, चित्रमृगस्य विचित्रहरिणस्य कृष्णसारस्य या कृत्तिका चर्म तस्य आश्लेषेण सम्बन्धेन धारणेन उपशोभितः शोभां प्राप्तः, अपरत्र चित्रं चित्रासंज्ञकं चतुर्दशं नक्षत्रम्, मृगं मृगशिराख्यं पञ्चमं नक्षत्रम् कृत्तिका तदाख्यं तृतीयं नक्षत्रम्, आश्लेषा एतत्संज्ञकं नवमं नक्षत्रम्, तैरुपशोभितः। घर्मकालस्य ग्रीष्मसमयस्य दिवसो दिनं तद्वत्, क्षयिताः नाशं प्रापिताः दोषाः कामक्रोधादयो यस्य स तादृशः, अपरत्र क्षयिता समुत्पादितह्रासा दोषा रात्रिर्यस्य स तादृशः 'दोषा रात्रिमुखे रात्रौ' इति विश्वः। जलधराणां मेघानां

---

फूलों और लताओं के थपेड़ों से उस बेचारे की आँखें थककर व्याकुल हो गयी थीं। वे वृक्षों की कोमल छाल पहिनने के कारण वृक्ष, कमर में मूँज की करधनी पहिनने के कारण पहाड़ियों से घिरे पहाड़, यज्ञ में सर्वदा सोमरस का पान करने के कारण चन्द्रामृत पीनेवाले राहु और पञ्चाग्निसाधना ( चारों ओर आग जलाकर ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की धूप में बैठकर तपस्या करना ) के समय सूर्य की तेज धूप को सह लेने के कारण सूर्य की किरणों को पीनेवाले कमल के समान प्रतीत हो रहे थे। उनकी जटायें नदीतट के वृक्षों की जड़ों के समान निरन्तर जल में धुलने के कारण निर्मल हो गयी थीं। उनके दाँत हाथी के बच्चों के दाँतों के समान उजले थे मानो खिले हुए कुमुद की पंखुड़ियों के टुकड़े हों। वह अश्वत्थामा के समान कृपानुगामी थे ( अश्वत्थामा कृपाचार्य के अनुगामी थे, वह कृपा का अनुसरण करनेवाले अर्थात् दयालु थे ), नक्षत्र-मंडल के समान चित्रमृग-कृत्तिका श्लेष से सुशोभित थे ( नक्षत्र-मंडल चित्रा, मृगशिरा, कृत्तिका और आश्लेषा नक्षत्रों से सुशोभित होता है, वे

---

१. अनुयातः। २. वल्कावृत···। ३. दिनकर···। ४. विरल···। ५. कलम। ६. विश्लेषाः। ७. क्षपितबहुदोषः।

नरकभयः, प्रदोषारम्भ इव सन्ध्या-पिङ्गल[1]-तारकः, प्रभातकाल इव बालातप-कपिलः, रवि-रथ इव दृढ[2]नियमिताक्षचक्रः, सुराजेव निगूढ-मन्त्रसाधन-क्षपित[3]-विग्रहः, जलधि[4]रिव कराल-शङ्खमण्डलावर्त्त-नाभिगर्त्त[5]ः, भगीरथ इव[6] दृष्ट-गङ्गावतारः, भ्रमर[7] इवासकृ-

---

समयः कालः प्रावृट्काल इत्यर्थः, तद्वत् प्रशमितःचित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासेन निवारितः रजःप्रसरः प्रवर्त्तक-गुणव्यापारः कामक्रोधादिर्येन स तादृशः, अपरत्र प्रशमितः वर्षणेन निवारितः रजःप्रसरः पांशुविस्तरो येन यत्र वा स तादृशः । वरुणः प्रचेताः तद्वत् 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः, कृतो विहित उदके सलिले वासो व्रतविशेषः जलदेवतात्वेनावस्थानञ्च येन स तादृशः 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इति पा० सूत्रेणोदादेशः। हरि-र्वासुदेव इव, अपनीतं दूरीकृतं नरकभयं नरकप्राप्तिभीतिः तदाख्यासुरभीतिश्च येन स तादृशः, एकत्र निरन्तरतपोऽर्जनात् अपरत्र तन्नाशादित्याशयः । प्रदोषो रजनीमुखं तस्य आरम्भः प्राक् समयः तद्वत, 'प्रदोषो रजनीमुखम्' इत्यमरः, सन्ध्यावत् दिवसरजनिसन्धिवत् पिङ्गले पीतवर्णे तारके कनीनिके यस्य स तादृशः, एतद्धि महापुरुषस्य लक्षणम्, तदुक्तं सामुद्रिकशास्त्रे—'क्षुद्रोऽपि चक्रवर्ती स्यात् पीततारक-चक्षुषि' । अपरत्र सन्ध्यया सन्ध्यासमयवर्णेन पिङ्गलाः पीताः तारका उडूनि यस्मिन् स तादृशः । प्रभातं प्रत्यूषः तस्य कालः समयः तद्वत्, बालातपवत् अभिनवदिनकरालोकवत् कपिलः पीतरक्तवर्णः, अपरत्र बालातपेन कपिलः । रवेः दिनाधिपस्य यो रथः स्यन्दनः तद्वत्, दृढं यथा स्यात्तथा नियमितं निगृहीतम् अक्षाणाम् इन्द्रियाणां चक्रं समूहो येन स तादृशः, परत्र दृढं नियमितानि निबद्धानि अक्षो मध्यदण्डः स्यन्दनावयवश्च यस्मिन् स तादृशः । सुष्ठु सुन्दरो यो राजा स्वकर्मकुशलो भूपतिः तद्वत्, निगूढम् अतिगुप्तं यत् मन्त्रसाधनम् इष्टदेवतामन्त्राराधनं तेन क्षपितः व्रतश्रमाद्याधिक्यात् कृशीकृतः विग्रहो देहो येन स तादृशः, भूपतिपक्षे तु—निगूढेन अतिगुप्तेन मन्त्रसाधनेन रहस्यालोचनेन क्षपितः क्षयं प्रापितः विग्रहः शत्रुजनितक्लेशः संग्राम इत्यर्थः, येन स तादृशः। जलधिः समुद्रः स इव, करालो दन्तुर उच्चनीचो यः शङ्खः तस्य मण्डलावर्त्तवत् मण्डलसदृशावर्त्तवत् नाभिगर्तो यस्य स तादृशः, समुद्रपक्षे तु—कराल-शङ्खः महाशङ्खः मण्डलावर्तः मण्डलसदृशेन जलावर्तश्च नाभिगर्त इव नाभिश्वभ्र इव यस्मिन् स तादृशः 'गर्तावटौ भुवि श्वभ्रे' इत्यमरः । भगीरथः सगरप्रपौत्रः स इव, दृष्टः अवलोकितः गङ्गाया जाह्नव्या अवतारः अवतरणभूमिः सुरालयान्निष्पतनञ्च येन स तादृशः । भ्रमरो मधुकरः स इव, असकृत् बहुशः अनुभूतः

---

चितकबरे मृग का चर्म धारण करने से सुशोभित थे ), वर्षाकाल के समान उनमें रज का प्रसार शान्त हो चुका था ( वर्षाकाल में पानी पड़ने से धूल का उड़ना मिट जाता है, उनमें योगाभ्यास के द्वारा काम-क्रोधादि रजोगुण मिट गये थे ), वे वरुण के समान उदवासी थे ( वरुणदेव जल में निवास करते हैं, वह जल में स्थित होकर तपस्या करनेवाले थे ), वे हरि के समान नरक के भय को दूर कर चुके थे ( श्रीकृष्ण ने नरकासुर को मारकर उसके भय को दूर कर दिया था, उन्होंने अपनी योगसाधना से नरक के भय को दूर कर दिया था ), वे सन्ध्याकालीन तारों के समान पीलापन लिए हलके लाल रंग की पुतलियों के कारण एक ओर प्रदोषकाल के समान प्रतीत होते थे तो दूसरी ओर निकलती हुई टटकी धूप के समान लालिमा लिए श्वेत रंग के शरीर के कारण प्रातःकाल के समान प्रतीत होते थे । सूर्य के रथ के पहिये जैसे आरों से संयमित और दृढ़ होते हैं उसी प्रकार उनकी सारी इन्द्रियाँ अत्यन्त दृढता के साथ उनके वश में हो गयी थीं, जैसे कुशल राजा अपने मन्त्री आदि गुप्त राज्यसाधनों से युद्ध की सम्भावना क्षीण कर देता है उसी प्रकार उन्होंने गुप्त मन्त्र-साधना की क्रियाओं से अपने शरीर को क्षीण कर दिया था । वे कनपटियों के गड्ढों में बनी हुई भौंहों की भौंरी ( यह बहुत बड़े तपस्वी का लक्षण है ) के कारण शंख और भौंरे युक्त समुद्र, गंगावतारतीर्थ ( हरिद्वार ) देखने के कारण भूमि पर उतरती हुई गंगा को देखने वाले भगीरथ और पुष्करतीर्थ में रहकर कई बार तपस्या करने के कारण कमलवनों में निवास करने वाले भौंरे के समान प्रतीत होते थे । वे वन में इधर-उधर घूमते हुए भी ब्रह्मसमाधि

---

१. ...पिशङ्ग...। २. नियमिताक्षचक्रः, दृढसंयमिता...। ३. ...क्षयित...। ४. जलनिधिरिव । ५...आव-र्त्तगर्त्तः । ६. असकृद्दृष्ट...। ७. मधुकरः ।

दनुभूतपुष्कर-वनवासः, वनचरोऽपि कृतमहालयप्रवेशः, असंयतोऽपि मोक्षार्थी, सामप्रयोगपरोऽपि सततावलम्बितदण्डः, सुप्तोऽपि प्रबुद्धः, सन्निहितनेत्रद्वयोऽपि परित्यक्त-वामलोचनस्तदेव कमलसरः सिस्नासुरुपागमत्।

प्रायेणाकारण-मित्राण्यतिकरुणार्द्राणि च सदा खलु भवन्ति सतां चेतांसि! यतः स मां

---

तपस्यार्थम् अनुभवविषयीकृतः, पुष्करे तत्संज्ञकतीर्थे वने विपिने च वासः स्थितिः येन स तादृशः, अपरत्र मधुपानायानेकशोऽनुभूतः पुष्करवने पङ्कजवने वासो येन स तादृशः। इह 'विटप इव' इत्यारभ्य 'भ्रमर इव' इत्यन्तं यावत् श्लेषोपमेति केचित्। दर्पणकारोक्तदिशा पूर्णोपमालङ्कार इति विभावनीयम्।

वनचर इति। वने विपिने चरतीति वनचरः वनवासी एतादृशः सन्नपि कृतो विहितो महालयेषु उच्चैस्तरभवनेषु प्रवेशो येन स तादृश इति विरोधः, कृतः चित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासेन सम्पादितो महालये परमात्मनि प्रवेशः प्रत्यक्षज्ञानविषयता येन स तादृश इति तत्परिहारः 'महालयो विहारे स्यात् तीर्थे च परमात्मनि' इति मेदिनी।

असंयत इति। असंयतः धारणाध्यानसमाधिरहितोऽपि मोक्षार्थी संसारप्रपञ्चबन्धनासम्बन्धार्थी इति विरोधः, धारणाध्यानसमाधीनामभावे मोक्षासम्भवादित्याशयः। असंयतोऽपि तत्समये संयमविरतोऽपि मोक्षार्थी भविष्यत्काले संयमाश्रयणान्मोक्षाभिलाषीत्यर्थः। मोक्षप्राप्तिर्हि संयमेनैव भवतीति सिद्धान्तः। तथा च पातञ्जलयोगदर्शने—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा', 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्', 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः', 'त्रयमेकत्र संयमः' इत्युक्तम्।

सामेति। साम सान्त्वनं तत्प्रयोगपरोऽपि तदनुष्ठानपरायणोऽपि सततं निरन्तरम् अवलम्बितः आश्रितः दण्डः तुरीयोपायो येन स इति विरोधः, साम एतत्संज्ञकतृतीयवेदः तत्प्रयोगपरोऽपि सततालम्बितयष्टिक इति तत्परिहारः।

सुप्त इति। सुप्तो निद्रितोऽपि प्रबुद्धः कृतजागरण इति विरोधः, सुप्तः शयनावस्थावत् सांसारिकज्ञानरहितोऽपि प्रबुद्धः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति परमात्मविषयकोत्कृष्टतत्त्वालोचक इति तत्परिहारः। अत्र भानुचन्द्रस्तु— सुष्ठु शोभना सा=जटा यस्येति विग्रहे परिहारं प्रदर्श्य 'सा' इत्यस्य जटायां प्रयोगे प्राचीनपद्यमुदाजहार। तद्यथा शृङ्गारतिलकटीकायाम्—

> 'राजा राजार्चिताङ्घ्रेरनुपचितकलो यस्य चूडामणित्वं
> नागा नागात्मजार्धं न भसितधवलं यद्वपुर्भूषयन्ति।
> मा रामारागिणी भून्मतिरिति यमिनां येन वोऽदाहि मारः
> स सा: सप्ताश्वनुन्नारुणकिरणनिभाः पातु बिभ्रस्त्रिनेत्रः॥' इति।

सन्निहितेति। सन्निहितं सम्यग्विधिना वदने स्थापितं नेत्रद्वयं लोचनयुगलं यस्य तथोक्तः सन्नपि, परित्यक्तं दूरीकृतं वामं दक्षिणेतरं लोचनं नयनं येन स इति विरोधः, परित्यक्ता वामलोचना रमणी तत्सम्बन्ध इत्यर्थः, येन स तथोक्तः, ब्रह्मचर्याश्रयणादित्याशयः, इति तत्परिहारः। तदेव पम्पासंज्ञकं कमलसरः पङ्कजमयसरोवरं सिस्नासुः स्नातुमिच्छुः सन् उपागमत् प्राप्तवान्।

प्रायेणेति। प्रायेण बाहुल्येन अकारणमित्राणि कारणाभावेन स्नेहकारीणि अतिकरुणार्द्राणि अतिशयपरक्लेशदूरीकरणेच्छया क्लिन्नानि, खलु निश्चयेन सदा सर्वस्मिन् समये सतां साधूनां चेतांसि हृदयानि भवन्ति। यतः यस्माद्धेतोः स जाबालितनयो हारीतनामा तदवस्थं विवृतपूर्वक्लेशदशापन्नं मां वैशम्पा-

---

रूपी महल में निवास करने वाले ( ब्रह्मलीन ), असंयत ( संयमरहित, संसार के बन्धन से रहित ) होते हुए भी मोक्ष के चाहने वाले, अर्थात् मुक्त साम ( साम उपाय, सामवेद ) का प्रयोग करते हुए भी दंडधारी ( दंड, उपाय, पलाशदंड ) सोते हुए ( संसार के ज्ञान से रहित अर्थात् इन्द्रियों के बाह्य विषयों से मुक्त ) भी जागने वाले ( निरन्तर ब्रह्म के चिन्तन में लगे रहने वाले ) और दोनों आँखें रखते हुए भी बामलोचन ( बाईं आँख ) का परित्याग करनेवाले अर्थात् वामलोचनाओं ( स्त्रियों ) के प्रति उदासीन थे।

सज्जनों के हृदय प्रायः सभी प्राणियों के प्रति सर्वदा निःस्वार्थ भाव से मैत्री का व्यवहार करने वाले तथा करुणा से अत्यन्त कोमल होते हैं। क्योंकि मुझे ऐसी दशा में देखकर उस ऋषिकुमार को दया आ गयी और

तदवस्थमालोक्य समुपजातकरुणः समीपवर्त्तिनमृषिकुमारकमन्यतममब्रवीत् 'अयं कथमपि शुक-शिशुरसञ्जात-पक्षपुट एव तरुशिखरादस्मात् परिच्युतः। श्येन-मुख-परिभ्रष्टेन वाऽनेन भवितव्यम्। तथाबह्यस्यॅाल्पशेषं जीवितम्, अयमामीलित-लोचनो मुहुर्मुहुरत्युल्बणं श्वसिति, मुहुर्मुहुर्मुखेन पतति, मुहुर्मुहुश्चञ्चुपुटं विवृणोति, न शक्नोति शिरोधरां धारयितुम्। तदेहि यावदेवायमसुभिर्न विमुच्यते तावदेव गृहाणैनम् अवतारय सलिलसमीपम्' इत्यभिधाय तेन मां सरस्तीरमनाययत्।

उपसृत्य च जल-समीपमेकदेश-निहित-दण्ड-कमण्डलुरादाय स्वयं मां मुक्तप्रयत्नम् उत्तानितं-मुखम् अंगुल्या कतिचित् सलिल-बिन्दूनपाययत्। अम्भःक्षोदकृतसेकञ्च समुपजात-

---

यनम् आलोक्य दृष्ट्वा समुपजाता समुत्पन्ना करुणा दया यस्यैतादृशः समीपवर्तिनं निकटस्थायिनम् अन्यतमं बहुषु कमप्येकम् ऋषिकुमारकं मुनितनयम् अब्रवीत् अवोचत्।

अयमिति। 'अयं पुरो दृश्यमानः शुकशिशुः कीरशावकः कथमपि महता क्लेशेन असंजातपक्षपुट एव असमुत्पन्नपतत्रपुट एव अस्मात् प्रत्यक्षात् तरुशिखरात् वृक्षप्रदेशात् परिच्युतो निपतितः। वा अथवा अनेन शुकशिशुना श्येनमुखपरिभ्रष्टेन सिञ्चानकवदननिपतितेन भवितव्यम्। तदेवोपपादयति—तथाहीति। अतिदवीयः अत्यन्तदूरः तस्य भावस्तया तादृश्या अस्य कीरशावकस्य अल्पशेषं किञ्चिदवशिष्टं जीवितं जीवनम्। अयम् आमीलितलोचनः सङ्कुचितनेत्रः मुहुर्मुहुः अनेकशः अत्युल्बणं नितान्तदीर्घं यथा स्यात्तथा श्वसिति प्राणिति, मुहुर्मुहुः वारम्वारं मुखेन वदनेन पतति परिच्यवते, चञ्चुपुटं त्रोटीपुटं विवृणोति व्याददाति, शिरोधरां ग्रीवां धारयितुं सारल्येन स्थापयितुं न शक्नोति न समर्थो भवति। तत् तस्मात् कारणात् एहि आगच्छ यावदेव यावति समये अयं शुकशिशुः असुभिः प्राणैः न विमुच्यते न त्यक्तो भवति तावदेव तावति समये इमं शुकशिशुं गृहाण धारय, सलिलसमीपं जलान्तिकम् अवतारय प्रापय' इति पूर्वोक्तविधिना अभिधाय उक्त्वा तेन मुनिकुमारेण सरस्तीरं पम्पासरोवरतटम् अनाययत् प्रापयत्।

उपसृत्य इति। जलसमीपं सलिलान्तिकम् उपसृत्य प्राप्य च, एकस्मिन् देशे भागे निहतौ स्थापितौ दण्डकमण्डलू दण्डकुण्डिके येन स तादृशो हारीतः, स्वयम् आत्मना माम् आदाय गृहीत्वा, मुक्तः परित्यक्तः प्रयत्नः सलिलपाने उद्योगः वदनविकासादिव्यापार इत्यर्थः, येन तं तादृशम् अत्यन्तावसन्नत्वादित्याशयः। उत्तानितमुखम् ऊर्ध्वीकृताननम् अङ्गुल्या कराग्रेण कतिचित् कियन्तः सलिलबिन्दून् जलकणान् अपाययत् पानमकारयत्।

अम्भ इति। अम्भःक्षोदैः सलिलप्रदानसमये कुमारककराच्च्युतैः जलबिन्दुभिः सलिलकणैः कृतो विहितः सेकः सेचनं यस्य तं तादृशं च, अत एव समुपजाता समुत्पन्ना प्रज्ञा प्रकृष्टबोधो यस्य तं तादृशं

---

उन्होंने अपने पास ही में खड़े एक दूसरे मुनिकुमार से कहा—देखो, इस सुग्गे के बच्चे को अभी पंख भी नहीं आये हैं लेकिन न जाने कैसे यह इस वृक्ष की चोटी से गिर पड़ा है, अथवा यह भी हो सकता है कि किसी बाज पक्षी के मुख से छूटकर गिर पड़ा है। अब इसमें बहुत थोड़ी जीवनशक्ति बच गयी है इसीलिए यह आँखें बन्द किये हुए बारबार लंबी-लंबी उल्टी साँसें खींच रहा है, बारबार औंधे मुह लुढ़क रहा है और बारबार चोंच खोल रहा है। अब यह अपनी गरदन भी नहीं संभाल पा रहा है, इसलिए इसे मरने के पहिले ही उठाकर जल के पास पहुँचा दो। इस प्रकार कहकर वे मुझे सरोवर के किनारे लिवा ले गये।

उन्होंने जल के किनारे पहुँचकर अपना दंड और कमण्डलु एक ओर रख दिया। मैं मरणासन्न होने के कारण अत्यन्त शिथिल हो चुका था; इसलिए उन्होंने स्वयं मुझे उठा लिया और मेरा मुँख उठाकर अपनी उंगली से पानी की कुछ बूँदें पिलायीं। जल पिलाते समय कुछ बूँदें मेरे शरीर पर भी गिरी थीं जिसकी शीतलता से

---

१. ...दयः। २. समीपतरवर्तिनम्। ३. इह 'प्रायः' इत्यधिकः पाठः। ४. तथाहि अतिदवीयस्तया प्रपातस्यावशेषजीवितः। ५. निःश्वसिति। ६. वमति। ७. वियुज्यते। ८. एनम्। ९. क्वचित् 'च' इति नास्ति। १०. आमुक्तप्रयत्नम्। ११. उन्नमितमुखम्, उत्तानितमन्मुखम्। १२. उपजातनवीनप्राणम्।

प्रज्ञम् उपतट-प्ररूढ[1]-नलिनी-पलाशस्य जलशिशिरायां छायायां निधाय यथासमु[2]चितमकरोत् स्नानविधिम् । अभि[3]षेकावसाने चानेकप्राणायामपूतो[4]ऽपि जपन्नघमर्षणानि प्रत्यग्रभग्नैरुन्मुखो रक्तारविन्दैर्नलिनीपत्र-पुटेन भगवते सवित्रे दत्त्वा[5]र्घमुदतिष्ठत् । आगृहीत[6]-धौत-धवल-वल्कलश्च सज्योत्स्न[7] इव सन्ध्यातपः करतल-निर्धूत[8]-विशद-सटः प्रत्यग्र[9]स्नानार्द्र-जटेन सकलेन तेन मुनिकुमार[10]-कदम्बकेनानुगम्यमानो मां गृहीत्वा तपोवनाभिमुखं श[11]नैः शनैरगच्छत् ।

अनतिदूरमिव गत्वा दिशि दिशि सदासन्निहित-कुसुम[12]फलैः ताल-तिल[13]कतमाल-हिन्ताल-

मम्, उपतटे तीरनिकटे प्ररूढा प्रादुर्भूता या नलिनी कमलिनी तस्याः पलाशस्य पत्रस्य, जलेन सलिलसेकेन शिशिरा शीतला यस्यां तस्यां तादृश्यां छायायाम् अनातपे निधाय संस्थाप्य यथासमुचितं यथायोग्यं शरीरेषु मृत्तिकालेपनादियुक्तमित्यर्थः, स्नानविधिं मज्जनविधिम् अकरोत् कृतवान् ।

अभिषेकेति । अभिषेकस्य स्नानस्य अवसाने अन्ते च, अनेकैः बहुविधैः प्राणायामैः पूरककुम्भकरेचकाख्यैः वायुनिरोधानिरोधरूपयोगाङ्गविशेषैः पूतोऽपि पापरहितोऽपि । अघं दुष्कृतं मृष्यते प्रमार्ज्यते एभिरिति तानि तादृशानि अघमर्षणानि सूक्तानि, एतानि हि 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यारभ्य 'दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः' इत्यन्तानि वरुणदेवतास्तुतिरूपाणि बोध्यानि । अन्यत्रापि 'सर्वैनसामपध्वंसि जप्यं त्रिष्वघमर्षणम्' इति । उन्मुखः उपरिभागकृताननः दिनाधिपाभिमुखः सन्नित्यर्थः, प्रत्यग्रभग्नैः तत्कालोत्खातैः रक्तारविन्दैः रक्तवर्णकमलैः, नलिनीपत्रपुटेन रक्तकमलाधारभूतेन कमलदलपुटकेन भगवते माहात्म्यवते सवित्रे आदित्याय अर्घं पूजां दत्त्वा समर्प्य उदतिष्ठत् उत्थितोऽभूत् ।

आगृहीतेति । आगृहीतं स्नानानन्तरं सम्यक् प्रकारेण परिहितं धौतं क्षालितं धवलं स्वच्छं वल्कलं वृक्षत्वक् येन स तथोक्तः, अत एव ज्योत्स्नया, चन्द्रिकया सहेति सज्योत्स्नः, सन्ध्यातपः सायंसम्बन्धिसूर्यप्रकाश इव । करतलाभ्यां हस्ततलाभ्यां निर्धूननेन आस्फालनेन ताडनेनेत्यर्थः, विशदा नीरजाः सटा जटा यस्य स तादृशः, प्रत्यग्रेण नूतनेन तत्कालविहितेन स्नानेन मज्जनेन आर्द्रा स्विन्ना जटा यस्य स तेन तादृशेन, तेन पूर्वोक्तेन मुनिकुमारकदम्बकेन ऋषिपुत्रसमूहेन अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानो हारीतो मां वैशम्पायनं गृहीत्वा आदाय शनैः शनैः मन्दं मन्दं तपोवनाभिमुखं निजाश्रमसम्मुखम् अगच्छत् अव्रजत् ।

अनतिदूरमिति । अनतिदूरं किञ्चिद्दवीयांसं मार्गं गत्वा आश्रमं स्वस्थानमपश्यदिति सुदूरस्थायिन्या क्रियया सम्बन्धः । इव शब्दोऽत्र वाक्यालङ्कारे । इह तृतीयान्तानि यानि पदानि सन्ति तानि अग्रिमस्य 'काननै'रित्यस्य विशेषणानि बोध्यानि । दिशि दिशि प्रतिदिशम् । सदा सर्वदा सन्निहितानि अवस्थितानि समीपवर्त्तीनि कुसुमानि पुष्पाणि फलानि रसोद्भवानि च येषु तैः तादृशैः, तालाः स्वनामप्रसिद्धाः तिलकाः श्रीमद्वृक्षविशेषाः, तमालाः तापिच्छाः, हिन्तालाः फलतरुविशेषाः, बकुलाः केसराश्च बहुला अधिका येषु तैः

मैं होश में आ गया । तब उन्होंने मुझे किनारे पर उगी हुई कमलिनी के पत्ते की जल से ठंडी छाया में रख दिया, फिर स्वयम् विधिपूर्वक स्नान किया, स्नान के पश्चात् अनेक प्राणायामों से अपने को पवित्र करके भी अघमर्षण ( पापों को दूर करने वाला ) मन्त्रों का जप किया और भगवान सूर्य की ओर मुंह उठाकर टटके कमल के लाल-लाल फूलों और जल से भरे कमलिनी के पत्ते के दोने से उन्हें अर्घ्य दिया । इसके पश्चात् उन्होंने उठकर धुली हुई उजली छाल पहन ली । उस समय वह ऐसे प्रतीत होने लगे थे मानो चाँदनी से युक्त सायंकाल की धूप हो । फिर उन्होंने अपनी जटाओं को फटकार कर साफ किया और सभी मुनिकुमारों के साथ मुझे लेकर तपोवन की ओर प्रस्थान किया । पीछे-पीछे चलने वाले उन सभी मुनिकुमारों की जटायें अभी अभी स्नान करने के कारण गीली ही थीं ।

कुछ ही दूर जाने पर मैंने दूसरे ब्रह्मलोक के समान एक रमणीय आश्रम देखा । उसके चारों ओर फूलोंफ-लों से लदे हुए घने वृक्षों के जंगल स्थित थे । उन जंगलों में ताड़, तमाल, तिलक, हिंताल और मौलसिरी के

१. उपतटप्ररूढस्य यलनवनलिनीदलस्य । २. स्वोचितम् , समुपचितम् । ३. अभिमताभिषेक । ४.···पूतो जपन् पवित्राण्यघमर्षणानि । ५. अर्घ्यम् । ६. आगृहीतधवल···। ७. सहज्योत्स्न इव । ८.···विधूतविशदजटः । ९. कमण्डलुमा पूर्य्यकमलकिञ्जल्कसुरभिणा शुचिना सरोवारिणा प्रत्यग्रस्नानार्द्रजटेन । १०. कुमारक । ११. क्वचित् 'शनैः' इत्येकमेव पदमुपलभ्यते । १२. कुसुमपटलैः । १३···तिलकतालीतमाल ।

वकुल-बहुलैः, एलालताकुलित-नारिकेल[1]-कलापैः, आलोल[2]-लोध्र-लवली-लवङ्ग-पल्लवैः[3], उल्ल[4]-सत्-चूत-रेणु-पटलैः, अलिकुल-झङ्कार-मुखर-सहकारैः, उन्मद-कोकिल-कुल[5]-कलालाप-कोलाहलिभिः, उत्फुल्ल-केतकी-कुसुम[6]-मञ्जरीरजःपुञ्ज-पिञ्जरैः, पूगीलता-दोलाधिरूढ-वनदेवतैः, तारकावर्ष[7]मिवाधर्म्म-विनाश-पिशुनं कुसुम निकरमनिल-चलितमनवरतमतिधवलमुत्सृजद्भिः, संसक्तपादपैः काननै[8]रुपगूढम्, अचकित-प्रचलित-कृष्णसार[9]-शत-शबलाभिः, उत्फुल्ल-स्थल[10]-कमलिनी-लोहिनीभिः, मारीच[11]मायामृगावलून-प्ररूढ[12]-वीरुद्दलाभिः, दाशरथि-चाप-कोटि-क्षत-

---

तादृशैः। एलालताभिः चन्द्रबालावल्लीभिः आकुलिता व्याप्ता नारिकेलानां लाङ्गलीनां तरूणां कलापाः समूहा येषु तैस्तादृशैः । आलोलाः पवनवेगेन समन्ताच्चपलाः लोध्राणां गालवानां लवलीनां लताविशेषाणां लवङ्गानां श्रीसंज्ञकानां पल्लवाः किसलयानि येषु तैः तादृशैः । उल्लसन्ति पवनवेगेन प्रचलन्ति चूतानाम् आम्रपुष्पाणाम् 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' इत्यमरः, रेणुपटलानि परागसमूहा येषु तैः तादृशैः । अलिकुलस्य भ्रमरगणस्य झङ्कारैः 'झम्' इत्येवंविधशब्दैः मुखरा वाचालाः सहकारा अतिसुगन्धिरसाला येषु तैः तादृशैः 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः । उन्मदस्य मदोन्मत्तस्य कोकिलकुलस्य पिकगणस्य कलालापः अव्यक्तमधुरध्वनिरूपः कोलाहलः कलकलः एषामस्तीति तैः तादृशैः । उत्फुल्लानां प्रस्फुटितानां केतकीकुसुमानां मालतीपुष्पाणां या मञ्जर्यः वल्लर्यो 'वल्लरिर्मञ्जरी स्त्रियौ' इत्यमरः, तासां रजःपुञ्जैः परागपटलैः पिञ्जराणि पीतवर्णानि येषु तैः तादृशैः। पूगीनां क्रमुकानां या लता बल्ली तद्वत् कृशतरवः ता एव दोला अधिरोहिण्यः 'दोला प्रेङ्खः पुमान् प्रेङ्खा, निश्रेणिरधिरोहिणी' इति रत्नकोशः, स्थानविशेषे दोलावदनेकानां कुटिलीभूतत्वादित्याशयः, तत्र अधिरूढा आश्रिता वनदेवता अरण्याधिष्ठात्र्यो देवता येषु तैः तादृशैः । अधर्मस्य पापस्य विनाशो ध्वंसः तस्य पिशुनं सूचकं देवार्चनोपयोगित्वादित्याशयः, अनिलचलितं पवनान्दोलितम्, अतिधवलम् अत्यन्तशुभ्रं कुसुमनिकरं प्रसूनवृन्दम्, तारकावर्षमिव उल्कापातमिव अनवरतं निरन्तरम् उत्सृजद्भिः परित्यजद्भिः । संसक्ता मिथो मिलिताः पादपाः तरवो येषु तैः तथोक्तैः काननैः वनैः उपगूढम् आश्लिष्टम् आच्छादितमित्यर्थः, 'गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । 'पूगीलता–दोलाधिरूढ–वनदेवतैः' इत्यत्र वनदेवतानां तथाविधदोलाधिरोहणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः । 'तारकावर्षमिव' इत्यत्र पूर्णोपमालङ्कारः ।

अचकितेति । अचकितेत्यारभ्य 'गर्त्तविषे'त्यन्तानि स्त्रीलिङ्गपदानि दण्डकारण्यस्थलीभिरित्यस्य विशेषणानि । अचकितानाम् अभीतानां हिंसाभावादित्याशयः,प्रचलितानां सञ्चरतां कृष्णसाराणां तदाख्यहरिणानां शतेन आधिक्येन समुदायेनेत्यर्थः । शबलाभिर्विचित्राभिः उत्फुल्लाभिः प्रस्फुटिताभिः स्थलकमलिनीभिः स्थलपद्मिनीभिः लोहिन्यो रक्तवर्णाः ताभिः तादृशीभिः । मारीच एतन्नामाऽसुर एव मायामृगः व्याजेन मृगरूपधारी तेन अवलूनानि पूर्वं ग्रासाय छिन्नानि पश्चात् प्ररूढानि समुपजातानि वीरुधां लतानां दलानि पर्णानि यासु ताभिः तादृशीभिः 'पत्रं पलाशं छदनं दलः पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः ।

---

पेड़ों की अधिकता थी । इसके अतिरिक्त कहीं इलायची की लताओं से घिरे हुए नारियल के पेड़ थे, कहीं लोध, लवली और लवंग की लताओं के पत्ते हवा के झोंकों में लहरा रहे थे, कहीं आम की मञ्जरियों की धूल छायी थी, कहीं उन पर भौंरों की मधुर गुंजार हो रही थी, कहीं मतवाली कोयलें मधुर स्वर से कूक रही थीं, कहीं खिले हुए केवड़ों के फूलों की मंजरियों की धूल से सारा वन पीला-पीला सा हो उठा था, कहीं सुपारी लताओं के फूलों में वनदेवियाँ विराजमान थीं और कहीं वायु के झोंकों से लगातार झड़ने वाले फूलों से सारा वन उजला हो उठा था मानो अधर्म के विनाश की सूचना देने वाली उल्कायें बरस रही हों । उस आश्रम के पिछले भाग में दंडकारण्य की भूमि थी, जहाँ कहीं कहीं सैकड़ों हरिण निर्भय होकर छलाँगें मार रहे थे, कहीं कहीं स्थलकमलों के खिलने से सारी भूमि लाल हो उठी थी, कहीं कहीं आज वे लतायें फिर पत्तों से हरी भरी हो उठी थीं जिनके पत्तों को मायावी मृग का रूप धारण करने वाले मारीच ने नोच डाला था और कहीं कहीं की भूमि

---

१. नालिकेरी···। २. लोल। ३···पुष्पैः। ४. उल्लसित···। ५.···कुलकलाप···। ६.···केतकमञ्जरीरजः, केतकीरजः···। ७. तारकावृष्टिम्। ८. क्वचित् 'काननैः' इति पाठो नास्ति। ९. सारसारङ्ग। १०. क्वचित्, स्थल' इति पाठो न विद्यते। ११. मारीचि। १२. रूढ।

कन्द[1]-गर्त्तविषमित-तलाभिः, दण्डकारण्यस्थलीभिरुपशोभितप्रान्तम्, आगृहीतसमित्कुशाकुसुममृ[2]द्भिः अध्ययन-मुखर-शिष्यानु[3]गतैः सर्वतः प्रवि[4]शद्भिः मुनिभिरशून्योप[5]कण्ठम्, उ[6]त्कण्ठित-शिखण्डिमण्ड[7]ल-श्रूयमाणजल-कलशपूरणध्वानम्, अनवरताज्याहुतिप्रीतैश्चित्रभानुभिः सशरीरमेव मुनिजनममरलोकं निनीषुभिः, उद्धूयमान-धूम-लेखाच्छलेनाबद्ध्यमान-स्वर्ग-मार्ग-गमन-सोपान-सेतुमिवोपलक्ष्यमाणम्, आसन्नवर्त्तिनीभिस्तपोध[8]न-सम्पर्कादिवापगतकालुष्याभिः, तरङ्ग-परम्परा-संक्रान्त-रविबिम्ब[9]-पङ्क्तिभिः, तापसदर्शनागतसप्तर्षि-मालाविगाह्य-

---

तथा दाशरथेः रामचन्द्रस्य चापकोट्या कार्मुकाग्रेण क्षतानि उत्खातानि यानि कन्दानि वृक्षमूलानि तेषां गर्त्तैः भूविवरैः विषमितानि उच्चनीचतां प्राप्तानि तलानि ऊर्ध्वदेशा यासां ताभिः तादृशीभिः, दण्डकारण्यस्य दण्डकसंज्ञकवनस्य स्थलीभिः भूमिभिः उपशोभितः शोभां लम्भितः प्रान्तः पश्चात्प्रदेशो यस्य स तं तादृशम्।

आगृहीतेति। आगृहीताः पार्थक्येनाग्निहोत्रादिकार्यसाधनाय सम्यगात्ताः समिधः एधांसि, कुशा दर्भाः, कुसुमानि प्रसूनानि, मृदो मृत्तिकाः यैस्ते तैस्तादृशैः। अध्ययनेन गुरुमुखोच्चारणानन्तरं तथाविधवेदपारायणेन मुखराः शब्दायमाना ये शिष्या अन्तेवासिनः तैरनुगतैः युक्तैः, सर्वतः समन्तात् प्रविशद्भिः प्रवेशं विदधद्भिः मुनिभिः ऋषिभिः अशून्यः अविरहितः परिपूर्णः उपकण्ठो निकटदेशो यस्य तं तादृशम्। उत्कण्ठितेति। उत्कण्ठितेन घटपूरणध्वनौ जलदगर्जनभ्रान्त्या समुत्पन्नोत्कण्ठेन शिखण्डिमण्डलेन मयूरगणेन श्रूयमाणः निशम्यमानः जलैः सलिलैः कलशपूरणस्य घटपूरणस्य ध्वनिः शब्दो यस्मिन् तं तादृशम्।

अनवरतेति। अनवरतं निरन्तरम् आज्यानां सर्पिषां हविषाम् आहुतिभिः हवनैः प्रीताः सन्तुष्टाः तैः तादृशैः चित्रभानुभिः दक्षिणाग्निगार्हपत्याग्न्याहवनीयाग्निरूपैः त्रिभिर्वह्निभिः सशरीरमेव सविग्रहमेव मुनिजनम् ऋषिगणम् अमरलोकं देवलोकं निनीषुभिः नेतुमिच्छुभिः, उद्धूयमाना पवनेन सञ्चाल्यमाना या धूमलेखा उपरिगामिनी पारम्पर्येण वह्निकेतनश्रेणिः तस्याः छलेन कपटेन आबद्ध्यमानः विरच्यमानः स्वर्गमार्गगमनाय देवलोकमार्गगमनार्थं सोपानसेतुमिव सोपानसदृशीं लोकद्वयसंयोजकपङ्क्तिमिव उपलक्ष्यमाणम्।

इह धूमलेखां संगोप्य स्वर्गगमनसोपानसेतुत्वोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा।

आसन्नेति। आसन्नवर्त्तिनीभिः निकटस्थायिनीभिः, तपोधनानां तापसानां मुनीनां सम्पर्कादिव सम्बन्धादिव अपगतं विलीनं कालुष्यं मालिन्यं यासां ताभिः। तरङ्गपरम्परासु कल्लोलपङ्क्तिषु सङ्क्रान्ताः प्रतिफलिताः रविबिम्बपङ्क्तयः सूर्यबिम्बराजयः यासु ताभिः तादृशीभिः, अत एव तापसानां जाबाल्यादि मुनिजनानां दर्शनाय सजातिप्रेम्णा साक्षात्काराय आगतया प्राप्तया सप्तर्षिमालया मरीचिप्रभृतिदेवर्षि-

---

उन गड्ढों से आज भी ऊंची-नीची लग रही थी जहाँ राम ने अपने धनुष की नोक से कंद मूल खोदे थे। उस आश्रम के पास ही एक ओर आ आकर मुनि लोग इकट्ठे हो रहे थे, उनके पीछे-पीछे उनके शिष्य भी चले आ रहे थे, जो अपने हाथों में कुश, समिधा फूल और मिट्टी लिये हुये थे तथा उच्च स्वर से वेद का पाठ भी कर रहे थे। कहीं मोरों के झुंड कलशों के भरने के कारण जल से उठने वाली ध्वनि को बादलों की गरजन समझ कर उत्सुकता के साथ गरदन उठा-उठाकर सुन रहे थे, कहीं यज्ञकुण्डों से उठने वाली धुयें की रेखायें ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो निरन्तर घी से हवन करने के कारण प्रसन्न होकर अग्निदेव ने मुनियों को सशरीर स्वर्ग पहुँचाने के लिए मार्ग में सीढ़ियों का पुल बना दिया हो। उस आश्रम के समीप ही चारों ओर बावलियाँ बनी हुई थीं जो तपस्वियों के सम्पर्क से मानो अत्यन्त निर्मल हो गयी थीं। उनकी लहरों में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब ऐसे प्रतीत होते थे मानों वहाँ के तपस्वियों का दर्शन करने के लिये आये हुए सप्तर्षिगण उनमें स्नान कर रहे हों और उनमें खिले हुए कुमुदों के फूल ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों रात में ऋषियों की सेवा के लिए

---

१. ...कन्दर...। २. मृत्तिकैः। ३. शिष्यागतैः। ४. प्रसरद्भिः। ५. अविशून्य। ६. उत्कण्ठ...। ७...मण्डलीमण्डल... । ८. तपोवन...। ९. क्वचित् 'बिम्ब' इति पाठो नास्ति।

मानाभिरिव, अतिविकच[1]-कुमुदवनमृषिजनमुपासितुमवतीर्णं ग्रहगणमिव निशासूद्वहन्तीभिर्दीर्घिकाभिः परिवृतम्, अनिलावनमित-शिखरा[2]भिः प्रणम्यमानमिव वनलताभिः, अनवरत-मुक्त-कुसुमैरभ्यर्च्यमानमिव पादपैः, आबद्ध-पल्लवा[3]ञ्जलिभिः उपास्यमानमिव विटपैः, उटजाजिर-प्रकीर्ण-शुष्यच्छ्यामाकम्, उपसंगृहीतामलक-लवली-लवङ्ग[4]-कर्कन्धू-कदली-लकुच-चूत-पनस[5]-तालफलम्, अध्ययनमुखर-वटुजनम्, अनवरत-श्रवण-गृहीत-वषट्कार-वाचाल-शुककुलम्, अनेक-सारिकोद्घुष्यमाण-सुब्रह्मण्यम्, अरण्य-कुक्कुटोपभुज्यमान-वैश्वदेव-

पङ्क्त्या विगाह्यमानाभिः विलोड्यमानाभिरिव वर्तमानाभिः। अनेन सप्तर्षीणां रविप्रतिबिम्बतुल्यत्वं सूचितम्। तथा निशासु क्षणदासु ऋषिजनं जाबाल्यादिमुनिमण्डलम् उपासितुं सेवितुम् अवतीर्णम् उपरिष्टात्प्राप्तं ग्रहगणमिव नक्षत्रमण्डलमिव अतिविकचकुमुदवनं पूर्णविकसितकैरवविपिनम् उद्वहन्तीभिः धारयन्तीभिः दीर्घिकाभिः वापीभिः परिवृतं परिवेष्टितम्।

इह 'तपोधनसम्पर्कादिव' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षा, 'विगाह्यमानाभिः' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'ग्रहगणमिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा।

अनिलेति। अनिलेन पवनेन अवनमितानि अवनम्रीभूतानि शिखराणि अग्रभागा यासां ताभिः तादृशीभिः वनलताभिः वनव्रततिभिः प्रणम्यमानमिव नमस्क्रियमाणमिव। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

अनवरतेति। अनवरतं निरन्तरं मुक्तानि त्यक्तानि कुसुमानि पुष्पाणि यैस्तैस्तादृशैः पादपैः तरुभिः अभ्यर्च्यमानमिव पूज्यमानमिव।

अत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

आबद्धेति। आबद्धा विनिर्मिताः पल्लवा एव किसलयान्येव अञ्जलयः यैस्तैस्तादृशैः विटपैः स्कन्धैः उपास्यमानमिव सेव्यमानमिव। इह 'पल्लवा एवाञ्जलयः' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'उपास्यमानमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः।

उटजेति। उटजानां पर्णशालानां 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, अजिरेषु प्राङ्गणेषु प्रकीर्णाः प्रसारिताः; अत एव शुष्यन्तः सूर्यतेजसा शुष्कतां प्राप्नुवन्तः श्यामाका धान्यविशेषाः यत्र स तादृशम्।

उपसंगृहीतेति। उपसंगृहीतानि यत्र तत्रैकत्रीकृतानि, आमलकं धात्री, लवली लताविशेषः, लवङ्गं स्वनामप्रसिद्धम्, कर्कन्धूर्बदरी, कदली रम्भा, लकुचो डहुः, चूत आम्रम्, पनसं कण्टकी, तालं तृणराजश्च एतानि फलानि यत्र स तं तादृशम्। भक्षणार्थमेतेषामेकत्रानयनम्।

अध्ययनेति। अध्ययनेन वेदानां गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणेन मुखराः शब्दायमाना वटुजना ब्रह्मचारिवर्गाः यत्र स तं तादृशम्।

अनवरेति। अनवरतश्रवणेन निरन्तराकर्णनेन गृहीताः शिक्षां प्राप्ताः ये वषट्काराः हविःसमर्पणमन्त्राः तैः तदभ्यासैरित्यर्थः, वाचालं शब्दायमानं शुककुलं कीरगणो यस्मिन् स तं तादृशम्।

अनेकेति। अनेकाभिः बह्वीभिः सारिकाभिः पीतपदाभिः उद्घुष्यमाणम् उच्चस्वरेणाभ्यस्यमानं सुब्रह्मण्यं वेदो यत्र स तं तादृशम्। तासामपि तदाकर्णनेन शिक्षणादित्याशयः।

अरण्येति। अरण्यकुक्कुटैः वनचरणायुधैः 'कुक्कुटश्चरणायुधः' इत्यमरः, उपभुज्यमाना भक्ष्यमाणा वैश्वदेवबलिपिण्डाः पञ्चमयामार्द्धदत्तदेवयज्ञोद्देश्यकहन्तकारा यत्र तम्। एष विधिः नित्यकर्मपद्धत्यादौ स्पष्टः।

तारे उतर आये हों। कहीं लताओं की चोटियाँ हवा के झोकों से झुक झुक जाती थीं मानों सिर झुका-झुकाकर उस आश्रम को प्रणाम कर रही हों, कहीं पेड़ों से फूल उड़ रहे थे मानो वे फूल चढ़ा-चढ़ाकर उसकी पूजा कर रहे हों और कहीं लटकते हुए कोमल कोमल पत्ते ऐसे लग रहे थे मानों उनमें वे हाथ जोड़कर उसकी उपासना कर रहे हों। उस आश्रम की कुटियों के आँगन सूखने के लिए डाले गये साँवाँ नामक अन्न से भरे थे तथा झोपड़ियों के भीतर आँवला, लवली, लौंग, बेर, केला, लकुच, आम, कटहल और ताड़ के फल इकट्ठे करके रखे हुए थे। कहीं ब्राह्मणों के बालक एक स्वर से पाठ का अभ्यास कर रहे थे, कहीं सुग्गे बार बार सुनने से याद

१. विकच…। २…शिखाभिः।… ३.…पल्लवपुटाञ्जलिभिः।… ४. 'लवङ्ग' इति पाठः क्वचिन्नास्ति। ५ 'पनस' इत्यस्यापि पाठः क्वचिन्नास्ति।

वलिपिण्डम्, आसन्न-वापी-कलहंसपोत-भुज्यमान-नीवारवलिम्, एणी-जिह्वापल्लवोपलिह्यमानमुनिबालकम्, अग्निकार्यार्द्धदग्धसिमसिमायमान-कुश-समित्कुसुमम्, उपल-भग्न-नारिकेल-रसस्निग्धशिलातलम्, अचिर-क्षुण्ण-वल्कल-रस-पाटलभूतलम्, रक्तचन्दनोपलिप्तादित्यमण्डल-निहित-करवीर-कुसुमम्, इतस्ततो विक्षिप्त-भस्मलेखा-लङ्कृत-मुनिजन-भोजन-भूमिभागम्, परिचित-शाखामृग-कराकृष्टयष्टि-निष्काश्यमान-प्रवेश्यमान-जरदन्ध-तापसम्, इभ-करभकार्द्धोपभुक्तपतितैः सरस्वती-भुजलता-विगलितैः शङ्खवलयैरिव मृणाल-

आसन्नेति। आसन्नवापीनां निकटवर्त्तिदीर्घिकाणां ये कलहंसपोताः कलहंसशिशवः तैः भुज्यमाना भक्ष्यमाणा नीवाराणां मुन्यन्नानां वलय उपायनानि यस्मिन् तं तादृशम्।

एणीति। एणीभिः हरिणीभिः जिह्वापल्लवैः प्रसारिताभिः रसनाभिः उपलिह्यमाना आस्वाद्यमानाः स्पृश्यमाना इत्यर्थः मुनिबालका ऋषिकुमारा यस्मिन् स तं तादृशम्।

अग्नीति। अग्निकार्ये हवने अर्द्धदग्धानि अर्द्धभस्मीभूतानि अत एव सिमसिमायमानानि 'सिम सिम' इत्येवं शब्दं कुर्वाणानि कुशसमित्कुसुमानि दर्भैधःपुष्पाणि यत्र तं तादृशम्।

उपलेति। उपलैः प्रस्तरैः भग्नानि प्रस्तरान्तरेषु निधाय मर्दितानि यानि नारिकेलानि लाङ्गलीफलानि तेषां रसैः द्रवैः सलिलैर्वा स्निग्धानि चिक्कणानि तैलाक्तीकृतानि वा शिलातलानि शय्याभूतप्रस्तरा यत्र तत्र।

अचिरेति। अचिरक्षुण्णानां तरुभ्यः तत्कालनिःसारितानां वल्कलानां त्वचां रसैः निर्यासैः पाटलं श्वेतरक्तरूपं भूतलं पृथ्वीतलं यस्मिन् स तं तादृशम्।

रक्तेति। रक्तचन्दनेन पत्राङ्गेन उपलिप्ते आलिखिते आदित्यमण्डले रविबिम्बे निहितम् आदित्याय समर्प्य स्थापितं करवीरकुसुमं हयमारपुष्पं यस्मिन् स तं तादृशम्।

इत इति। इतस्ततः समन्तात् विक्षिप्ताभिः प्रसृताभिः भस्मनां भूतीनां 'भूतिर्भसितभस्मनि' इत्यमरः, लेखाभिः पङ्क्तिभिः अलङ्कृताः सीमाविधानात् भूषिताः मुनिजनानाम् ऋषिगणानां भोजनभूमिभागा भक्षणस्थलदेशा यस्मिन् स तं तादृशम्। पादस्पर्शादिनिवृत्तये भस्मरेखाचिह्नितत्वमित्याशयः।

परिचितेति। परिचितैः पूर्वत एव समुत्पन्नपरिचयैः शाखामृगैः कपिभिः कराकृष्टयष्ट्या हस्ताकर्षितलगुडेन निष्काश्यमानाः केचिद्वनाद् बहिः निःसार्यमाणाः प्रवेश्यमानाः केचिद्वनमध्ये नीयमानाश्च जरन्तः परिणतवयसः अन्धाः नेत्रहीनाः तापसाः तपस्विनो यस्मिन् स तं तादृशम्।

इभेति। इभकरभकैः हस्तिशावकैः अर्द्धोपभुक्तैः अर्द्धचर्वितैः पश्चात् पतितैः कथमपि तन्मुखेभ्यश्च्युतैः, सरस्वत्या भारत्या भुजलताया बाहुवल्ल्याः सकाशात् विगलितैः स्रस्तैः शङ्खवलयैरिव त्रिरेखकटकैरिव विद्यमानैः मृणालशकलैः बिसखण्डैः कल्माषितं कर्बुरितम्। 'शङ्खवलयैरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा। ततश्च सरस्वत्या अनवरतस्थितत्वं गम्यते, इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

हो जाने वाले आहुति देने के मंत्र पढ़ रहे थे, कहीं मैनायें वेद-मन्त्रों का पाठ कर रहीं थीं, कहीं जलमुर्गे वैश्वदेवों के लिए दी गयी बलि खा रहे थे, कहीं पास ही की बावलियों से आये हुए कलहंसों के बच्चे नीवार की बलि खा रहे थे, कहीं हरिणियाँ पल्लवों के समान लाल लाल कोमल जीभों से मुनियों के बच्चों को चाट रही थीं, कहीं हवनकुण्डों की आग में पड़े हुए अधजले गीले कुश, समिधा और फूल 'सिमसिम' का शब्द कर रहे थे, कहीं शिलाओं के तल पत्थरों द्वारा तोड़े गए नारियलों के जल से गीले हो गये थे, कहीं तत्काल ही के निचोड़े गये वल्कलों के जल से भूमि लाल हो उठी थी, कहीं लाल चन्दन से उरेहे गये सूर्यमण्डल पर कनेर के फूल चढाये गये थे, कहीं इधर-उधर भस्म की रेखाओं द्वारा मुनियों के भोजन करने की जगहों को घेर दिया गया था, कहीं परचे हुए बन्दर आश्रम के बूढ़े और अन्धे तपस्वियों की छड़ी पकड़कर उन्हें आश्रम से बाहर ले जाते और फिर भीतर ले आ रहे थे, कहीं हाथियों के बच्चों द्वारा आधे चवाकर छोड़े गये मृणाल के टुकड़ों से आश्रम चित्रित हो रहा था। वे ऐसे लग रहे थे मानो सरस्वती की भुजाओं से गिरे

१.⋯मिसमिसायमान⋯मिसिमिसायमान, सिमिसिमायमान। २.⋯समित्कुश। ३.⋯नारिकेर⋯ ४. मण्डलकनिहित। ५.⋯लेखाकृत⋯भोजनभूमिपरिहारम्। ६⋯कराकृष्टिनिष्काश्यमान⋯। ७. कलभक। ८.⋯बाहुलताविभूषणैः।

शकलैः कल्माषितम्, ऋषिजनार्थमेणकैर्विषाण-शिखरोत्खन्यमानविविध-कन्दमूलम्, अम्बुपूर्णपुष्कर-पुटैर्वनकरिभिरापूर्य्यमाण-विटपालवालकम्, ऋषिकुमारकाकृष्यमाणवनवराहदंष्ट्रान्तराल-लग्न-शालूकम्, उपजात-परिचयैः कलापिभिः पक्षपुटपवन-सन्धुक्ष्यमाण-मुनि-होम-हुताशनम्, आरब्धामृत-चरु-चारुगन्धम्, अर्द्धपक्व-पुरोडाश-पुण्य[1]-परिमलामोदितम्, अविच्छिन्नाज्यधारा-हुति-हुतभुग्हुङ्कार[2]-मुखरितम्, उपचर्य्यमाणातिथिवर्गम्, पूज्यमान-पितृ-दैवतम्, अर्च्यमान[3] हरि-हर-पितामहम्, उपदिश्यमान[4]-श्राद्धकल्पम्, व्याख्यायमान-

ऋषीति। ऋषिजनार्थं मुनिगणभक्षणार्थम् एणकैः हरिणैः (कर्तृभिः), विषाणशिखरैः शृङ्ग-प्रान्तैः (करणैः) उत्खन्यमानानि उत्पाट्यमानानि विविधानि अनेकानि विचित्राणीत्यर्थः, कन्दाः शालूकानि पङ्कजादीनां मूलानीत्यर्थः, मूलानि मूलकप्रभृतीनि च यस्मिन् स तं तादृशम्।

अम्बुपूर्णेति। वनकरिभिः अरण्यहस्तिभिः (कर्तृभिः) अम्बुभिः सलिलैः पूर्णानि भृतानि यानि पुष्करपुटानि शुण्डाग्राणि तैः तादृशैः (करणैः) 'शुण्डाग्रं त्वस्य पुष्करम्' इत्यमरः, आपूर्यमाणानि भ्रियमाणानि विटपानां खण्डयित्वा समादाय रोपितानां स्कन्धानाम् आलवालानि आवापस्थानानि तरुमूलसलिलधारणगर्तानीत्यर्थः, यस्मिन् स तं तादृशम्।

ऋषीति। ऋषिकुमारकैः मुनिशिशुभिः आकृष्यमाणानि आकर्षणं प्राप्यमाणानि वनवराहाणाम् अरण्यशूकराणां दंष्ट्रान्तराललग्नानि दशनमध्यसंसक्तानि शालूकानि पद्मानां कन्दा मूलानीति तात्पर्यम् यस्मिन् तं तादृशम्। 'शालूकमेषां कन्दः स्यात्' इत्यमरः।

उपजातेति। उपजातपरिचयैः पूर्वस्मादेव कालात् ऋषीणामहिंस्रस्वभावज्ञायिभिरिति यावत्। कलापिभिः मयूरैः पक्षपुटानां छदपुटानां पवनेन वातेन सन्धुक्ष्यमाणाः प्रज्वाल्यमाना ऋषीणां हवनार्थं हुताशना अग्नयो यत्र तं तादृशम्। उक्तविशेषणदानैः तपोवनस्यात्यन्तशान्तत्वं व्यञ्जितम्।

आरब्धेति। आरब्धः पचनाय प्रवर्तितः योऽमृतचरुः आज्ययुक्तयवौदनः तस्य चारुः मनोहरः गन्ध आमोदो यत्र स तं तादृशम्।

अर्द्धेति। अर्द्धपक्वः अर्द्धविक्लितिमापन्नो यः पुरोडाशः हवनीयद्रव्यविशेषः तस्य पुण्यपरिमलेन सौरभेण आमोदितं हर्षितम्।

अविच्छिन्नेति। अविच्छिन्ना अत्रुटिता या आज्यधारा सर्पिःसम्पातः तस्या आहुत्या हवनेन यो हुतभुजः अग्नेः हुङ्कारः 'हुम्' इति शब्दः तेन मुखरितं वाचालितम्। अत्र 'हुतभुग्झङ्कार' इति पाठो न निर्दुष्टः, अग्नेः झङ्कारोत्पादनाभावनात्।

उपचर्येति। उपचर्यमाणः सत्कारं प्राप्यमाणः अतिथिवर्गः अभ्यागतसमूहो यत्र तं तादृशम्।

पूज्यमानेति। पूज्यमानानि आभ्युदयिकादिश्राद्धेन षोडशोपचारादिना पञ्चोपचारादिना वा अर्च्यमानानि पितरः पितृपितामहादयः दैवतानि देवताश्च यत्र तं तादृशम्। षोडशोपचाराणां पञ्चोपचाराणाञ्च आह्निककृत्यादौ नियमा द्रष्टव्याः।

अर्च्यमानेति। अर्च्यमानाः पूज्यमानाः, हरिर्नारायणः, हरो महेश्वरः, पितामहः प्रजापतिश्च एते यस्मिन् स तं तादृशम्।

उपदिश्येति। उपदिश्यमानः पाठ्यमानः श्राद्धकल्पः आश्वलायनादिनिर्मितः श्राद्धविधिर्यत्र तं तादृशम्।

व्याख्यायेति। व्याख्यायमाना अर्थद्वारा प्रतिपाद्यमाना यज्ञविद्या दर्शपौर्णमासादियज्ञविधायकशास्त्रं यस्मिन् स तं तादृशम्।

हुए शंख के कंगन हों, कहीं हरिण अपनी सींगों से ऋषियों के लिए कई प्रकार के कन्दमूल उखाड़ रहे थे, कहीं जंगली हाथी अपनी सूड़ों में पानी लेकर आश्रम के वृक्षों को सींच रहे थे, कहीं ऋषियों के बच्चों द्वारा जंगली शूअरों की दाढ़ों के अन्दर लगे हुए कमलों के कंद खींचे जा रहे थे, कहीं परचे हुए मोर अपने पंखों की हवा से मुनियों के हवन की आग सुलगा रहे थे, कहीं चरु की मनोहर गन्ध चारों ओर फैल रही थी, कहीं आधे पके हुए पुरोडाश की पवित्र गन्ध से वह आश्रम सुगन्धित हो रहा था, कहीं हवनकुण्डों में लगातार अटूट धारा से घी की आहुति दी जा रही थी जिससे अग्नि में से 'हुँ' 'हुँ' का शब्द हो रहा था, कहीं

१. ...पुष्पपरिमल, पुरोडाशपरिमल...। २. उग्रहुङ्कार..., झङ्कार...। ३. अभ्यर्च्यमान...। ४. उद्दिश्यमान...।

यज्ञविद्यम्, आलोच्यमान-धर्मशास्त्रम्, पठ्यमान-विविध-पुस्तकम्, विचार्यमाण-सकल-शास्त्रार्थम्, आरभ्यमाण-पर्णशालम्, उपलिप्यमानाजिरम्, उपमृज्यमानोटजाभ्यन्तरम्, आबध्यमानध्यानम्, साध्यमान-मन्त्रम्, अभ्यस्यमान-योगम्, उपह्रियमाण-वनदेवतावलिम्, निर्वर्त्यमान-मौञ्जी-मेखलम्, प्रक्षाल्यमान-वल्कलम्, उपसंगृह्यमाण-समिधम्, संस्क्रियमाण-कृष्णाजिनम्, गृह्यमाण-गवेधुकम्, शोष्यमाण-पुष्कर-बीजम्, ग्रथ्यमानाक्षमालम्, गृह्यमाण-

---

आलोच्येति। आलोच्यमानानि हृदये विचार्यमाणानि धर्मशास्त्राणि मन्वादिप्रणीतसंहिता यस्मिन् स तं तादृशम्।

पठ्येति। पठ्यमानानि अधीयमानानि विविधानि अनेकप्रकाराणि पुस्तकानि शास्त्राणि यत्र स तं तादृशम्।

विचार्येति। विचार्यमाणा युक्त्या स्थाप्यमानाः सकलशास्त्रार्थाः समस्तवेदादिविषया यस्मिन् स तं तादृशम्।

आरभ्येति। आरभ्यमाणाः विरचितुं प्रवर्त्यमानाः पर्णशालाः उटजा यस्मिन् स तं तादृशम्।

उपलिप्येति। उपलिप्यमानानि गोमयादिना संस्क्रियमाणानि अजिराणि प्राङ्गणानि यत्र स तं तादृशम्। 'अजिरं चत्वरोऽङ्गणम्' इत्यमरः।

उपमृज्येति। उपमृज्यमानानि शोधन्यादिना परिष्क्रियमाणानि उटजानां पर्णशालानाम् अभ्यन्तराणि मध्यानि यस्मिन् स तं तादृशम्।

आबध्येति। आबध्यमानं विधीयमानं ध्यानम् एकप्रत्ययधारा यत्र स तं तादृशम्।

साध्येति। साध्यमानः हवनादिना सिद्धिं लभ्यमानः मन्त्रो यस्मिन् स तं तादृशम्।

अभ्यस्येति। अभ्यस्यमानः मुहुर्मुहुः क्रियमाणः योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो यस्मिन् स तं तादृशम्।

उपह्रियेति। उपह्रियमाणा समर्प्यमाणाः वनदेवताभ्यः अरण्याधिष्ठात्रीभ्यो वलयः पूजावस्तूनि यस्मिन् स तं तादृशम्।

निर्वर्त्येति। निर्वर्त्यमाना निष्पाद्यमाना मौञ्जी मुञ्जनिर्मिता मेखला यस्मिन् स तं तादृशम्।

प्रक्षाल्येति। प्रक्षाल्यमानं जलेन निर्मलीक्रियमाणं वल्कलं त्वग् यस्मिन् स तं तादृशम्।

उपेति। उपसंगृह्यमाणा उपादीयमानाः समिध एधांसि यस्मिन् स तं तादृशम्।

संस्क्रीति। संस्क्रियमाणं घर्षणादिना विशुद्धीक्रियमाणं कृष्णाजिनं कृष्णसारमृगचर्म यस्मिन् तं तादृशम्।

गृह्येति। गृह्यमाणा आदीयमाना गवेधुकाः कन्दा धान्यविशेषा यत्र तं तादृशम्।

शोष्येति। शोष्यमाणानि घर्मेण शोषं प्राप्यमाणानि पुष्कराणां कमलानां बीजानि फलानि यस्मिन् तं तादृशम्। जपमालाविरचनार्थमेतदित्यवगन्तव्यम्।

ग्रथ्येति। ग्रथ्यमाना ग्रन्थिं प्राप्यमाणा विरच्यमाना अक्षमाला रुद्राक्षमाला यत्र तं तादृशम्।

गृह्यमाणेति। गृह्यमाणं भाले धार्यमाणं त्रिपुण्ड्रकं भस्मना रेखात्रयं यस्मिन् तं तादृशम्।

---

अतिथियों की सेवा हो रही थी, कहीं पितरों की पूजा हो रही थी, कहीं विष्णु, शंकर और ब्रह्मा की पूजा हो रही थी, कहीं श्राद्ध के नियमों का उपदेश दिया जा रहा था, कहीं यज्ञविद्या की व्याख्या हो रही थी, कहीं धर्मशास्त्रों की मीमांसा हो रही थी, कहीं तरह-तरह की पुस्तकें पढ़ी जा रही थीं, कहीं शास्त्रों के अर्थों पर विचार किया जा रहा था, कहीं झोपड़ियाँ बनायी जा रही थीं, कहीं आँगन लीपे जा रहे थे, कहीं झोपड़ियों के भीतर सफ़ाई हो रही थी, कहीं इष्टदेवताओं का ध्यान किया जा रहा था, कहीं मंत्र सिद्ध किए जा रहे थे, कहीं योग का अभ्यास किया जा रहा था, कहीं वनदेवताओं को वलि दी जा रही थी, कहीं मूँज की करधनियाँ बनायी जा रही थीं, कहीं छाल के वस्त्र धोये जा रहे थे, कहीं समिधायें इकट्ठी की जा रही थीं, कहीं काले हरिन के चमड़े सिझाये जा रहे थे, कहीं गवेधुक (एक प्रकार का धान, जो पकने पर अपने आप झड़ जाता है) इकट्ठे किए जा रहे थे, कहीं कमलों के पके हुए कमलगट्टे सुखाये जा रहे थे, कहीं रुद्राक्ष की मालायें गूँथी

---

१. अवलोक्यमान। २. वाच्यमा...। ३. अपमृज्यमान...। ४. उपहूयमान...। ५. मुञ्ज...। ६. क्षाल्यमान...। ७. उपसंस्क्रियमाण...। ८. निगृह्यमाण...। ९. पोष्यमाण...।

त्रिपुण्ड्र[1]कम्, न्यस्यमान-वेत्र[2]दण्डम्, आपूर्यमाण-कमण्डलुम्, अदृष्टपूर्वं कलिकालस्य, अपरिचितमनृतस्य, अश्रुतपूर्वमनङ्गस्य, अब्जयोनिमिव त्रिभुवन-वन्दितम्, असुरारिमिव प्रकटितवराह[3]नरसिंहरूपम्, सांख्यमिव कपिलाधिष्ठितम्, मथुरोप[4]वनमिव बलावलीढ-दर्पित-धेनुकम्, उदयनमिवानन्दितवत्स-कुलम्, किम्पुरुषाधिराज्यमिव मुनिजनगृहीतक[5]लशा-

न्यस्येति। न्यस्यमानः दूरादेत्य पृथिव्यां स्थाप्यमानः वेत्रदण्डः वेतसलगुडो यस्मिन् तं तादृशम्।

आपूर्येति। आपूर्यमाणः सलिलैः भ्रियमाणः कमण्डलुः पूजनार्थं जलाधारपात्रविशेषो यत्र तं तादृशम्। एतेषु यत्र यथायोग्यं तत्र कर्तृपदं 'कैश्चित्' 'केनचित्' इत्यादिकं निवेशनीयम्।

अदृष्टेति। कलिकालस्य कलियुगस्य नास्ति दृष्टम् अवलोकनं पूर्वं यस्मिन् तं तादृशम्। एवमपरयोरपि। कलिप्रवेशानर्हमित्याशयः, अनेन सर्वथा अधर्माभाव इति प्रतीयते। अनृतस्य असत्यस्य अपरिचितम् अपरिचयः, सततं सत्याचारादित्याशयः। अनङ्गस्य कामदेवस्य, अश्रुतपूर्वम् अनाकर्णितपूर्वम्, कामजनितविकारानुपलम्भादित्याशयः।

अब्जयोनिमिति। अब्जयोनिमिव प्रजापतिमिव, त्रिभुवनवन्दितं जगत्त्रयपूजितम्, असामान्यधर्मस्थानत्वात् सृष्टिकर्तृत्वाच्चेत्याशयः।

असुरेति। असुराः राक्षसाः तेषाम् अरिः शत्रुः विष्णुः तमिव, 'रिपौ वैरिसपत्नारि' इत्यमरः, प्रकटितानि प्रकाशितानि वराहाः शूकराः, नरा मनुष्याः, सिंहा मृगेन्द्राः, रूपाणि मृगाश्च येन तं तादृशम् 'रूपं मृगेऽपि विज्ञेयम्' इति हलायुधः, पक्षे—प्रकटिते व्यक्तीकृते वराहनरसिंहयोः शूकरावतार-नृसिंहावतारयो रूपे स्वरूपे येन तं तादृशम्।

सांख्यमिति। साङ्ख्यं कपिलदर्शनम् तदिव, कपिलया कनकाकृत्या गवा, कपिलेन सांख्यशास्त्रनिर्मात्रा ऋषिविशेषेण च अधिष्ठितम् आश्रितम्।

मथुरेति। मथुराया एतन्नामप्रसिद्धाया नगर्याः उपवनमिव द्वादशवनेषु गर्भितम् अरण्यमिव, बलावलीढा शारीरिकशक्तियुक्ता अत एव दर्पिताः समुत्पन्नगर्वाः धेनवो नवप्रसवा गावो यत्र तं तादृशम्। अत्र 'शेषाद्विभाषा' इत्यनेन वैकल्पिककप्प्रत्ययः। पक्षे तु—बलावलीढः शक्तिमान् दर्पितो गर्वितश्च धेनुक एतन्नामा दैत्यो यस्मिन् तं तादृशम्।

मथुरायां धेनुकासुरं श्रीकृष्णो निहतवानिति श्रीमद्भागवतीया कथा।

उदेति। उदयनम् एतत्संज्ञकं पाण्डवकुलोत्पन्नं कौशाम्बीनृपतिमिव, आनन्दितं तृणसलिलदानादिना परितोषितं वत्सकुलं गोवत्सगणो यत्र तं तादृशम्, पक्षे—आनन्दितं सदाचरणादिना सन्तोषितं वत्सकुलं वत्सप्रान्तीयजनमण्डलं येन तं तादृशम्, तस्य वत्सप्रान्तनृपतित्वात्।

पुरा किल वत्सदेशाधिपतिरुदयनः स्वाः प्रजाः नीतिमार्गेण संरक्षन् ताः सन्तोषयामासेति कथा सोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे जिज्ञासुभिरवलोकनीया।

किम्पुरुषेति। किम्पुरुषाणां किन्नराणाम् अधिराज्यं प्रभुत्वमिव, मुनिजनैः ऋषिगणैः गृहीता आत्ताः कलशाः सलिलपूर्णघटाः तैः अभिषिच्यमाना अभिषेकं प्राप्यमाणा द्रुमा वृक्षा यत्र तं तादृशम्, पक्षे—मुनिजनगृहीतकलशैः ऋषिगणगृहीतघटैः अभिषिच्यमानः द्रुमो नामाधिपतिः यस्मिन् तत् तादृशम्।

जा रही थीं, कहीं त्रिपुण्ड धारण किया जा रहा था, कहीं बेंत के डंडे रखे जा रहे थे और कहीं कमण्डलुओं में जल भरा जा रहा था। उस आश्रम को कलियुग ने कभी देखा भी न था, झूठ ने कभी उधर झाँका भी न था और काम ने उसके विषय में कभी सुना भी न था। वह ब्रह्मा के समान तीनों लोकों द्वारा वन्दनीय था। वह भगवान विष्णु के समान नृसिंह, वराह रूप प्रकट करने वाला था (भगवान विष्णु ने नृसिंह और वराह का रूप धारण किया था, उस आश्रम में मनुष्य, सिंह, शूकर और मृग पाये जाते थे), वह सांख्य दर्शन के समान कपिलाधिष्ठित था (कपिल मुनि सांख्य दर्शन के प्रणेता थे, उस आश्रम में अनेक सीधी-सादी सफेद गायें थीं), मथुरा के उपवन के समान शक्तिशाली और अभिमानी धेनुक वाला था (मथुरा के उपवन में अत्यन्त बली और अभिमानी धेनुक नाम का राक्षस रहता था, उस आश्रम में तगड़ी और मस्तानी हथिनियाँ

१. त्रिपुण्ड्रकपूर्यमाण। २. त्रिदण्डकम्, सत्क्रियमाणपरिव्राजकम्। ३. नरहरिवराहरूपम्।
४. मधुरोपवनमिव। ५. '''जलकलशा'''।

भिषिच्यमान-द्रुमम्, निदाघसमयावसानमिव आसन्न[1]-जलप्रपातम्, जलधरसमयमिव वन-गहन-मध्य-सुख-सुप्त[2]-हरिम्, हनूमन्तम्[3]इव-शिला-शकल[4]-प्रहार-सञ्चूर्णिताक्षा-स्थिसञ्चयम्, खाण्डव-विनाशोद्यतार्जुनमिव प्रारब्धाग्निकार्य्यम्, सुरभिविलेपनधरमपि सतताविर्भूत-

किम्पुरुषाणां द्रुमो नाम राजाऽभूदित्यस्ति प्रसिद्धिः। तस्य च मुनयः किम्पुरुषराज्ये अभिषेकञ्चक्रुरिति कथा तत्रैव कथासरित्सागरे उपलभ्यते।

निदाघेति। निदाघसमयो ग्रीष्मकालः तस्यावसानं शेषमिव, आसन्नौ समीपस्थायिनौ, जलं वापीसलिलं प्रपातो निर्झरश्च तौ यस्य तं तादृशम् 'प्रपातो निर्झरेऽतटे' इति मेदिनी, पक्षे—आसन्नः समीपस्थो जलप्रपातः मेघजलपतनं यस्य तत् तादृशम्।

जलधरेति। जलधरसमयो वर्षाकालः तमिव, वने विपिने यद्गहनं गह्वरं तस्य मध्येऽन्तः सुखेन विघ्नाभावादशङ्कितेन सुप्ता निद्रामुपगताः हरयः सिंहा मृगेन्द्रा यत्र तं तादृशम्, पक्षे—वनस्य क्षीरसमुद्रजलस्य गहने गह्वर इव गम्भीरे मध्येऽन्तः सुखेन आनन्देन सुप्तो निद्रितो हरिर्विष्णुः यस्मिन् तं तादृशम्। 'वनं प्रस्रवणे गेहे प्रवासेऽम्भसि कानने' इति हैमः, 'गहनं गह्वरे दुःखे वने' इति त्रिकाण्डशेषः। आषाढश्रावणमासौ वर्षासमयौ, तत्राषाढे हरिः स्वपिति; भाद्रे च पार्श्वं परिवर्तयति; कार्त्तिके च उत्तिष्ठतीति पुराण प्रसिद्धिः।

हनूमन्तमिति। हनूमन्तमिव वायुतनयमिव, शिलाशकलस्य पाषाणखण्डस्य प्रहारेण निपातनेन सञ्चूर्णितः तैलसम्पादनार्थं पिष्टः अक्षाणां बिभीतकफलानाम् अस्थिसञ्चयो मध्यप्रदेशसमूहो यस्मिन् तं तादृशम्, पक्षे, शिलाशकलप्रहारेण सञ्चूर्णितः भञ्जितः अक्षस्य अक्षाभिधदशाननसुतस्य अस्थिसञ्चयो येन तं तादृशम्। 'अक्षो ज्ञानात्मशकटव्यवहारेषु पाशके। रुद्राक्षे रावणौ सर्पबिभीतकतरावपि॥' इति हैमः।

वायुतनयो हि लङ्कादाहानन्तरं यथेच्छया चैत्यप्रासादभञ्जने प्रवृत्तस्तदा राक्षसा रावणमुपेत्य प्रोचुः। राजन्! नायं वानररूपधारी किन्तु लङ्काविनाशाय कश्चित् काल एव, अतस्तत्प्रतीकारोऽनुपदमेव चिन्तनीयः। तन्निशम्य जातक्रोधोऽक्षनामानमात्मजं सबलं तद्धननाय प्रेषयामास। तत्रोपेत्य च स युयुधे, युध्यमानं तं हनूमान् निहतवान् इति रामायणीयलङ्काकाण्डीया कथा।

खाण्डवेति। खाण्डवस्य एतत्संज्ञकवनस्य विनाशे भस्मीकरणे उद्यतः तत्परो योऽर्जुनः पार्थः तमिव प्रारब्धम् उपक्रान्तम् अग्निकार्यं हवनं यस्मिन् तं तादृशम्, पक्षे—प्रारब्धं भस्मोपद्रवनिराकरणेनोपक्रान्तम् अग्निकार्यं वह्नितर्पणं येन तं तादृशम्। अत्रत्येतिवृत्तं प्रागेव प्रतिपादितम्।

'अब्जयोनिमिव' इत्यारभ्य 'खाण्डव-विनाशोद्यतार्जुनमिव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः। 'जलधरसमयमिव' इत्यत्र हि पूर्णोपमा, 'वनगहन' इत्यत्र पुनरुक्तवदाभासालङ्कारश्लेष्यनयोः सङ्करः।

सुरभीति। सुरभि घ्राणतृप्तिजनकं 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः, विलेपनम् अङ्गरागोचितं चन्दनादिकं धरतीति सः, तं तादृशमपि, सततं निरन्तरम् आविर्भूतः प्रकटितो धूमगन्धः वह्निकेतनसौरभो

रहती थीं), राजा उदयन के समान वत्सकुल को सुखी बनाने वाला था (राजा उदयन ने अपने वत्सकुल को आनन्दित किया था, उस आश्रम में सुख के साथ बछड़े विचरते रहते थे), किन्नरों के राज्य के समान वहाँ जल के घड़ों से ऋषि लोग द्रुमाभिषेक किया करते थे (किन्नरों के राज्य में द्रुम नामक राजा का अभिषेक हुआ था, उस आश्रम में ऋषि लोग जल के घड़ों से वृक्षों को सींचा करते थे), ग्रीष्म ऋतु के अन्त के समान वहाँ जल-प्रपात समीप ही था (गर्मी के अन्त में वर्षा होती है, उस आश्रम के समीप झरने झर रहे थे), वर्षा ऋतु के समान वहाँ घने वनों के बीच हरि सुख से सो रहे थे (वर्षा ऋतु में भगवान विष्णु गहरे जल के बीच सोते हैं, उस आश्रम में घने जंगलों के बीच सिंह सुख की नींद लिया करते थे), हनुमान के समान वहाँ पत्थरों के टुकड़ों से अक्ष की अस्थियाँ तोड़ी जाती थीं (हनुमान ने रावण के पुत्र अक्ष कुमार की हड्डियाँ तोड़ डाली थीं, उस आश्रम में बहेड़े की गुठलियाँ तोड़ी जाती थीं) और खाण्डव वन जलाने के लिये तैयार अर्जुन के समान वहाँ अग्नि के कार्य हो रहे थे (खांडव वन जलाने में अर्जुन ने अग्नि को सहायता पहुंचायी थी, उस आश्रम में मुनि लोग होम आदि अग्नि द्वारा होने वाले कार्यों के लिए आग जला रहे थे), वहाँ सुरभि

१. प्रत्यासन्न···। २. प्रसुप्त। ३. अनिलसुतमिव। ४. शिलाशकलसञ्चूर्णिताक्षास्थि···।

धूमगन्धम्, मातङ्गकुलाध्यासितमपि पवित्रम्, उल्लसित-धूमकेतुशतमपि प्रशान्तोपद्रवम्, परिपूर्णद्विजपति-मण्डल-सनाथमपि सदा-सन्निहित-तरु-गहनान्धकारम्, अतिरमणीयमपरमिव ब्रह्मलोकमाश्रममपश्यम्।

यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु, मुखरागः शुकेषु न कोपेषु, तीक्ष्णता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु, चञ्चलता कदलीदलेषु न मनःसु, चक्षूरागः कोकिलेषु न परकलत्रेषु, कण्ठग्रहः कमण्डलुषु न सुरतेषु, मेखलाबन्धो व्रतेषु नेर्ष्याकलहेषु, स्तनस्पर्शो होमधेनुषु न वनितासु,

---

यस्मात्तं तादृशं सौरभप्रकटनसम्भवे धूमगन्धप्रकटनाद्विरोधः, सुरभेः गोः 'सुरभिर्गवि च स्त्रियाम्' इत्यमरः, विलेपनं गोमयं यस्यां सा तथोक्ता धरा पृथ्वी यत्र तं तादृशमिति तत्परिहारः।

मातङ्गेति। मातङ्गकुलेन अन्त्यजगणेन अध्यासितमपि आश्रितमपि पवित्रं पूतमिति विरोधः, मातङ्गकुलेन गजयूथेन अध्यासितम् इति तत्परिहारः। 'मातङ्गः श्वपचे गजे' इति विश्वः।

उल्लसितेति। उल्लसितम् ऊर्ध्वमुत्थितं धूमकेतुशतम् उत्पातग्रहशतं यत्र तथोक्तमपि प्रशान्तोपद्रवं प्रशमितविघ्नमिति विरोधः, धूमकेतवो वह्नयस्तेषां शतं समूहो यत्रेति तत्परिहारः। 'धूमकेतुः स्मृतो वह्नावुत्पातग्रहभेदयोः' इति विश्वः।

परिपूर्णेति। परिपूर्णेन समन्ताद्भृतेन द्विजपतिमण्डलेन चन्द्रमण्डलेन सनाथः संयुतस्तं तथोक्तमपि, सदा सर्वस्मिन् काले सन्निहितः निकटस्थायी तरुगहनेषु वृक्षगह्वरेषु अन्धकारः तमो यत्र तं तादृशमिति विरोधः, परिपूर्णेन ज्ञानपूर्णेन द्विजपतिमण्डलेन उत्तमब्राह्मणसमूहेन सनाथस्तं तादृशमिति तत्परिहारः। 'द्विजराजः शशधरः' इति, 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इति चामरः।

'सुरभिविलेपनधरमपि' इत्यारभ्य 'परिपूर्ण'त्यन्तं विरोधाभासोऽलङ्कारः।

अतीति। अतिरमणीयम् अत्यन्तमनोहरम् अपरम् अतिरिक्तं ब्रह्मलोकं सुरलोकमिव आश्रमं तपोभूमिम् अपश्यम् अद्राक्षम्। इह ब्रह्मलोकमिवेति द्रव्योत्प्रेक्षा।

यत्र चेति। अपि चेति चकारस्यार्थः। यत्र यस्मिन् आश्रमे, मलिनता मालिन्यं हविर्धूमेषु हुताग्निकेतुषु न चरितेषु, लोकानां व्यवहारेषु हिंसामात्सर्यादिपापाचारस्तत्र नासीदित्यर्थः। सर्वत्रात्मभावनया स्वच्छान्तःकरणत्वादित्याशयः। मुखरागो मुखस्य रक्तिमा शुकेषु कीरेषु न कोपेषु, अत्र निमित्तसप्तमी अत एव कोपनिमित्तकं वैरूप्यं मुखे नासीदित्यर्थः। क्रोधस्यैवानुदयात्। तीक्ष्णता चर्मास्थिभेदनयोग्यः सामर्थ्यविशेषः कुशाग्रेषु दर्भमूलप्रदेशेषु, स्वभावेषु प्रकृतिषु तीक्ष्णता क्रूरता नासीत् शुद्धान्तःकरणत्वात्। चञ्चलता चाञ्चल्यं कदलीदलेषु रम्भापत्रेषु न मनःसु चित्तेषु चञ्चलता अधीरता उपद्रवाभावात्। कोकिलेषु परभृतेषु चक्षूरागः लोचनारुण्यम्, न परकलत्रेषु अन्यस्त्रीषु चक्षूरागः लोचनयोरासक्तिः तदभिलाषाभावात्। कमण्डलुषु कुण्डिकासु कण्ठग्रहो गलधारणम्, किन्तु सुरतेषु आलिङ्गनेषु न, मुनीनामूर्ध्वरेतस्त्वेन तदसत्त्वादित्याशयः। व्रतेषु उपनयनादिनियमेषु मेखलायाः काञ्च्याः बन्धो बन्धनम्, किन्तु

---

विलेपन ( गोबर का लेप, चंदन आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेप ) होने पर भी होम के धुओं से सर्वदा सुगंध निकला करती थी, मातंगों ( चांडालों, मतवाले हाथियों ) का निवास होने पर भी वह आश्रम पवित्र था, अनेकों चमकते हुए धूमकेतुओं ( पुच्छलतारों, हवन की लपटों ) के होने पर भी कोई भी उपद्रव नहीं था और वहाँ द्विजातिमंडल ( चन्द्रमण्डल श्रेष्ठ ब्राह्मणों का समूह ) होने पर भी पास के वृक्षों की झुरमुटों में सदा अन्धकार छाया रहता था।

उस आश्रम में कालिमा केवल यज्ञ के धुओं में थी, किसी के आचरण में नहीं थी; मुख पर लालिमा केवल सुग्गों की चोंच में थी, किसी के क्रोध में नहीं थी; तीखापन केवल कुशों की नोक में था, किसी के स्वभाव में नहीं था; चञ्चलता केवल केले के पत्तों में थी किसी के मन में नहीं थी, चक्षूराग ( नेत्रों की लालिमा, नेत्रों में प्रेम ) केवल कोकिलों में था; परस्त्रियों के विषय में नहीं था; कण्ठग्रह ( गरदन पकड़ना, आलिङ्गन करना ) केवल कमण्डलु उठाने में था, रतिविलास में नहीं था, मेखलाबन्ध ( मौञ्जीबन्धन, साँकल में बाँधना ) केवल व्रतधारी ब्रह्मचारियों में था, वाद-विवाद में नहीं था; स्तनों का स्पर्श होम के लिए गायों को दुहने में ही था, स्त्रियों में नहीं था; पक्षपात ( पंखों का झड़ना, पक्षपात करना ) केवल मुर्गों में था, विद्यासम्बन्धी विवादों में नहीं था; भ्रान्ति ( चक्कर काटना, भ्रम, सन्देह ) केवल

---

१. ...हव्यधूमगन्धम्। २. मातङ्गक। ३. सहस्र...। ४. कामिनीषु।

पक्षपातः कृकवाकुषु[1] न विद्याविवादेषु, भ्रान्तिरनलप्रदक्षिणेषु[2] न शास्त्रेषु[3], वसुसङ्कीर्त्तनं दिव्य-कथासु न तृष्णासु[4], गणना रुद्राक्ष-वलयेषु न शरीरेषु, मुनि-बाल-नाशः क्रतु-दीक्षया न मृत्युना, रामानुरागो रामायणेन न यौवनेन, मुखभङ्गविकारो जरया न धनाभिमानेन।

यत्र च महाभारते शकुनि-बधः, पुराणे वायु-प्रलपितम्, वयःपरिणामे[5] द्विज-पतनम्,

---

ईर्ष्याकलहेषु ईर्ष्यानिमित्तकविग्रहेषु मेखलाबन्धः खड्गमुष्टिधारणं न, मुनीनामीर्ष्याया एवानुपलम्भात् 'मेखला खड्गबन्धे स्यात् काञ्चीशैलनितम्बयोः' इति मेदिनी। होमधेनुषु होमनिमित्तकगोषु स्तनस्पर्शः दुग्धदोहनम्, किन्तु कामिनीषु वनितासु न स्तनस्पर्शः कुचमर्दनं विषयासक्त्यनुदयात्। कृकवाकुषु कुक्कुटपक्षिषु पक्षपातः छदाभ्यां पतनम्, किन्तु विद्याविवादेषु शास्त्रार्थेषु न पक्षपातः निर्णायकस्य वादिप्रतिवादिनोरन्यतरस्य साहाय्यविधानं तस्यानुचितत्वात् 'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' इत्यमरः 'विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥' इति। अत्र सर्वविधपक्षिण एव पक्षाभ्यां पतनसम्भवे ह्यत्र कृकवाकुमात्रस्यैव पक्षपतनदर्शनादविशेषे विशेषाख्यो दोषः समापतति तेनात्र 'पक्षिषु' इति पाठो विधेयः एवञ्च नोक्तशङ्कालेशः। अनलप्रदक्षिणेषु हवनाग्निप्रदक्षिणकर्मसु भ्रान्तिः चतुर्दिक्षु भ्रमणम्, किन्तु शास्त्रेषु वेदादिषु न भ्रान्तिर्भ्रमः अयथार्थज्ञानम्, तत्त्वतो निश्चयात्। दिव्यकथासु परलोकीयाख्यानप्रवचनेषु वसूनां द्युप्रभृतीनामष्टानां देवविशेषाणां सङ्कीर्तनं सम्यक्प्रकारेण कथनम्, किन्तु तृष्णासु वित्तलिप्सानिमित्तकं वसुनो वित्तस्य सङ्कीर्त्तनं न, ऋषीणां धनलिप्साया एवाभावात्। रुद्राक्षाणां वलयेषु कटकाकारमालासु 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, गणना जपादौ संख्या, किन्तु शरीरेषु देहेषु न गणना नापेक्षा, तत्र तेषामत्यन्तनिस्पृहत्वात्। क्रतुदीक्षया यज्ञप्रारम्भेण मुनीनाम् ऋषीणां बालनाशः केशकर्त्तनम्, पूर्वदिन एव संयमादिविधानायैवंविधानम्; किन्तु मृत्युना मरणेन बालनाशः बालकविध्वंसो न, तपोमाहात्म्येनासामयिकमरणाभावात्। रामायणेन रामायणे गुणगणाकर्णनेन रामे दशरथात्मजे अनुरागः प्रेम, किन्तु यौवनेन तारुण्योचितमदाविर्भावेण रामायां कामिन्याम् नानुरागः नासक्तिः, तपःप्रभावेण तेषां युवावस्थायामपि कामोद्रेकाभावात्। जरया वृद्धावस्थया मुखस्य वदनस्य भङ्गविकारः त्वगादिशैथिल्यरूपो विकारः, किन्तु धनाभिमानेन वित्तगर्वेण मुखस्य भङ्गविकारः अन्येषु भ्रुकुट्यादिविकृतिर्न, तेषां वित्तगर्वयोर्द्वयोरप्यसत्त्वात्।

इह 'मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु' इत्यारभ्य 'मुखभङ्गविकारो जरया न धनाभिमानेन' इत्यन्तं यावत् सर्वस्मिन्नपि वाक्ये प्रश्नाभावेऽपि नञा अन्यस्य निराकरणात् श्लेषसङ्कीर्णा शाब्दी परिसङ्ख्यालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—

'प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्। तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा॥
परिसङ्ख्या········ ।

यत्र चेति। इहापि चस्य अपिचेत्यर्थः। यत्र आश्रमे महाभारत एव शकुनिवधः दुर्योधनमातुलस्य सहदेवेन मारणं श्रूयते स्म, न तु यस्मिन् कस्मिन् स्थले शकुनेः खगस्य बधो मारणम् अवलोकितः, तेषां हिंसाया अभावात्। पुराणे व्यासनिर्मिताष्टादशपुराणेषु मध्ये वायुपुराणशास्त्रे एव वायोः पवनदेवतायाः

---

अग्नि की प्रदक्षिणा में थी, शास्त्र-ज्ञान के विषय में नहीं थी; वसुसंकीर्तन ( वसुनामक देवताओं का वर्णन, धन की चर्चा ) केवल देवताओं की कहानियों में थी, धन की अभिलाषा में नहीं थी; गणना केवल रुद्राक्ष की मालाओं में थी, शरीर के विषय में नहीं थी; मुनियों के बालों का नाश ( बाल कटा देना, बालकों का नाश ) केवल यज्ञ की दीक्षा लेने में ही होता था, मृत्यु के द्वारा नहीं; रामानुराग ( रामचन्द्रजी के प्रति प्रेम, स्त्री के प्रति प्रेम ) केवल रामायण में था, यौवन में नहीं था और मुख पर भंगविकार ( झुर्री पड़ना, अहंकार ) केवल बुढ़ापे में ही होता था, धन के अभिमान में नहीं होता था।

वहाँ शकुनिवध केवल महाभारत की कथा में सुना जाता था, आश्रम में पक्षियों का वध करना लोग जानते भी नहीं थे; वायु का प्रलाप (वायुदेवता का भाषण) केवल पुराणों की कथा में मिलता था, वायु-विकार के

---

१. कुक्कुटेषु। २···प्रदक्षिणासु। ३. शास्त्रार्थेषु। ४. जलतृष्णासु। ५. परिणामेन।

उपवन-चन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतश्रवण[1]व्यसनम्, शिखण्डिनां[2] नृत्य-पक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ।

( इति जाबाल्याश्रमवर्णनं समाप्तम् )

---

प्रलपितं जल्पितं श्रूयते, न त्वन्यत्र क्वापि भवने वायुना वायुविकारेणोन्मादादिना प्रलपितं कस्यापि व्यर्थवचनम् आसीत् तथाविधरुजाया अनुत्पन्नत्वात्। वयःपरिणामे वृद्धावस्थायामेव द्विजानां दन्तानां 'दन्त-विप्राण्डजा द्विजाः इत्यमरः, पतनं पातः, न तु महापातकादौ द्विजानां विप्राणां पतनं पातित्यं स्वाचार-भ्रंशो वा तेषां तदभावात्। उपवनस्य आरामस्य चन्दनेषु चन्दनवृक्षेष्वेव जाड्यं शीतलत्वम् न तु आश्रमवर्ति लोकेषु जाड्यं प्रज्ञाहीनत्वं सर्वेषामेव पूर्णशिक्षितत्वात्। अग्नीनामेव वह्नीनामेव भूतिमत्त्वं भस्मवत्त्वम्, न तु मुनिजनानां भूतिमत्त्वं वित्तसम्पद्वत्त्वम्, वित्तैकत्रीकरणविधानाभावात्। एणकानां मृगाणामेव गीतश्रवणे गानाकर्णने व्यसनम् आसक्तिः, न तु ऋषीणाम्, तेषां क्वापि व्यसनाभावात्। शिखण्डिनामेव मयूराणामेव नृत्ये नर्तनसमये पक्षस्य छदस्य पातः पतनं कस्यापि भ्रंशनमित्यर्थः, न तु ऋषीणां नृत्ये लास्यविषये पक्षपातः अभिलाषः, तेषां सर्वस्मिन्नपि विषये निरभिलाषत्वात्। भुजङ्गमानां सर्पाणामेव भोगः शरीरम्, न तु ऋषीणां भोगो माल्यगन्धचन्दनकामिन्यादिसम्भोगोत्पन्नं सुखम्, सर्व-भोगानां परित्यागात्। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। कपीनां मर्कटानामेव श्रीफलेषु बिल्वफलेषु अभिलाषः इच्छाविशेषः, न तु ऋषीणां श्रीर्लक्ष्मीः सैव फलं काम्येष्टिफलं तत्र अभिलाषः अत्युत्कटेच्छा, तेषां मोक्षाभिलाषित्वेन काम्यकर्मानुष्ठानविधानाभावात्। मूलानां वृक्ष-व्रतत्यादिकन्दानामेव मूलकानामेव वा अधोगतिः भूतलाधोदेशगमनम्, न तु ऋषीणाम् अधोगतिः नरकगमनं पापरहितत्वात्।

इहापि पूर्ववदेव 'महाभारते शकुनिवधः' इत्यारभ्य 'मूलानामधोगतिः' इत्यन्तं यावत् सर्व-स्मिन्नपि वाक्ये प्रश्नाभावेऽपि स्वाभिप्रायेणान्यस्य निराकरणात् श्लेषानुप्राणिता आर्थी परिसंख्याऽलङ्कारः। लक्षणन्तु पूर्वमेव प्रतिपादितम्। पूर्वत्र शाब्दी अत्र त्वार्थीति भेदो ज्ञेयः। अन्नत्यः सन्दर्भः कीदृशोऽति-रमणीय इति सहृदया एव प्रमाणम्।

इति 'चन्द्रकला' टीकायां जाबाल्याश्रमवर्णनं समाप्तम्।

---

कारण कोई व्यर्थ का प्रलाप नहीं करता था; द्विजपतन ( दाँतों का गिरना, ब्राह्मणों की अवनति होना ) केवल बुढ़ौती में होता था, ब्राह्मणों की अवनति नहीं होती थी; जडता ( शीतलता, बुद्धिहीनता ) केवल उपवन के चन्दनों में पायी जाती थी, वह ऋषियों की बुद्धि में नहीं थी; भूति ( भस्म, ऐश्वर्य, धन ) केवल अग्नि में मिलती थी, लोगों में धन के प्रति कोई आसक्ति नहीं थी; गीत सुनने का व्यसन केवल मृगों में था, लोगों में उसकी अभिलाषा नहीं थी, नृत्य के प्रति अनुराग केवल मोरों में था; भोग ( फन, सांसारिक सुख ) केवल सर्पों में था, वहाँ लोग भोगी नहीं थे; श्रीफल ( बेल का फल, धन से प्राप्त होने वाले सुख ) की अभिलाषा केवल बन्दरों में थी, वहाँ के लोगों में धन से मिलने वाले सुख की अभिलाषा नहीं थी, और अधोगति ( नीचे की ओर जाना, नरक में पड़ना ) केवल वृक्षों के जड़ों की होती थी, ऋषि और मुनियों की नहीं होती थी।

इस प्रकार जाबाल्याश्रमवर्णन समाप्त हुआ

---

१. इह 'श्रवण' इति पाठः क्वचिन्नास्ति। २. शिखण्डिनीनां गीतनृत्यपक्षपातः।

जाबाल्याश्रमवर्णनं

समाप्तम्

# अथ जाबालिवर्णनम्

तस्य चैवंविधस्य मध्यभाग[1]मलङ्कुर्वाणस्य, अलक्तक[2]लोहित-पल्लव[3]स्य मुनिजनाल[4]-म्बित-कृष्णाजिन-जल-करङ्क[5]-सनाथशाखस्य तापसकन्यका[6]भिर्मूलभाग-दत्त-पीत[7]-पिष्टातकानेक-पञ्चाङ्गुलस्य हरिणशिशुभिः परिपीयमाना[8]लवाल[9]-सलिलस्य मुनिकुमारकाबद्ध-कुशचीरदाम्नो हरितगोमयोपलेपन[10]-विविक्ततल[11]स्य, तत्क्षण-कृत[12]-कुसुमोपहार-रमणीयस्य नातिमहतः परिमण्डलतया विस्तीर्णावकाशस्य रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुपविष्टम्, अत्युग्रतपोभि[13]-

---

तस्येति। एवंविधस्य पूर्वोक्तदिशा वर्णितस्य तस्य आश्रमस्य मध्यभागं मध्यदेशम् अलङ्कुर्वाणस्य शोभमानस्य, रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुपविष्टं 'भगवन्तं जाबालिमपश्यम्' इति वक्ष्यमाणक्रियया सम्बन्धः। अत्र षष्ठ्यन्तानि पदानि रक्ताशोकतरोः, द्वितीयान्तानि च जाबालिमित्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। अलक्तकवद् यावकवद् आलोहितानि किञ्चिद्रक्तानि पल्लवानि किसलयानि यस्य तस्य तादृशस्य। मुनिजनैः ऋषिगणैः आलम्बिताः स्थापिताः कृष्णाजिनानि कृष्णमृगचर्माणि जलकरङ्काः नारिकेलास्थिरचिताः पात्रविशेषाश्च यद्वा जलकरङ्काः जलरक्षणार्थं कमण्डलवः तैः सनाथाः संयुताः शाखाः स्कन्धा यस्य तस्य तादृशस्य। 'करङ्को मस्तके शस्ये नारिकेलफलास्थिनि' इति विश्वः। 'करकस्तु पुमान् पक्षिविशेषे दाडिमेऽपि च। द्वयोर्मेघोपले न स्त्री करङ्के च कमण्डलौ॥' इति मेदिनी।

तापसकन्यकाभिः मुनिकुमारिकाभिः मूलभागे आलवाले मूलप्रदेशे दत्तानि निहितानि पीतपिष्टातकैः हरिद्रारूपपटवासचूर्णैः अनेकानि विविधानि पञ्चाङ्गुलानि करस्थपञ्चाङ्गुललक्ष्माणि यस्य तस्य तादृशस्य। हरिणशिशुभिः मृगबालकैः परिपीयमानं समन्तादास्वाद्यमानम् आलवालस्य मूलप्रदेशस्थावापस्य सलिलं जलं यस्य तस्य तादृशस्य। मुनिकुमारकैः ऋषिबालकैः आबद्धानि समन्ततःपरिवेष्टितानि कुशचीराणां दर्भैः विधास्यमानवस्त्राणां दामानि रज्जवो यस्मिन् तस्य तादृशस्य। हरितेन हरिद्वर्णेन सरसेन गोमयेन गोः पुरीषेण यदुपलेपनं तेन विविक्तं पूतं तलम् अधोदेशो यस्य तस्य तादृशस्य। तस्मिन्नेव क्षणे काले कृतेन विहितेन कुसुमोपहारेण पुष्पढौकनेन रमणीयस्य कमनीयस्य। नातिमहतो नातिविस्तृतस्य परिमण्डलतया गोलाकारतया कारणेन विस्तीर्णः अतिदीर्घः अवकाशः अधःस्थायी छायाप्रदेशो यस्य तस्य तादृशस्य। रक्तानां लोहितानाम् अशोकानां पुष्पाणां तरुः वृक्षः तस्य अधश्छायायां नीचस्थानातपे 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः। उपविष्टम् आसीनम्।

अत्युग्रेति। अत्युग्राणि अतितीक्ष्णानि तपांसि येषां तैस्तादृशैः महर्षिभिरित्यस्य विशेषणानि।

---

इस प्रकार उस आश्रम के बीच एक लाल अशोक का पेड़ उसकी शोभा बढ़ा रहा था। उसके पत्ते आलते के समान लाल लाल थे, उसकी डालियों पर मुनियों ने अपने काले काले मृगचर्म और जल से भरे कमण्डलुओं को लटका दिया था, उसकी जड़ पर मुनियों की कन्याओं ने पीले ऐपन (हल्दी और चावल की बुकनी मिलाकर बनाया गया लेप) के थापे (पाँचों उँगलियों सहित हथेलियों की छाप) लगा दिये थे, हरिणों के छोटे-छोटे बच्चे उसके थाँवले में भरा हुआ जल पी रहे थे, उसके चारों ओर मुनियों के बालकों ने कुश के बने हुए वस्त्रों की करधनी की तरह लपेट दिया था, उसके नीचे की भूमि हरे गोबर से लीपकर पवित्र कर दी गयी थी और उसपर टटके फूल चढ़ाये गये थे जिससे वह और भी रमणीय लग रहा था। यद्यपि वह बहुत बड़ा नहीं था किन्तु मण्डल बाँध कर फैलने के कारण उसके नीचे बहुत दूर तक छाया रहती थी। मैंने भगवान जाबालि को

---

१. मध्यभागमण्डलम्। २. अलक्तलोहित…। ३. लोलपल्लवस्य। ४.…अवलम्बित। ५…करक…। ६.…कुमारिकाभिरालबालदत्त…। ७. पीतपिष्ट…। ८. पीयमान,…आपीयमान। ९. आलबालक…। १०…उपलिप्त…। ११…भूतलस्य। १२.…रचित…। १३. उग्रतपोभिः।

भुवनमिव सागरैः कनकगिरिमिव कुलाचलैः[1] क्रतुमिव वैतानवह्निभिः[2] कल्पान्तदिवसमिव रविभिः, कालमिव कल्पैः समन्तान्महर्षिभिः परिवृतम्, उग्र-शाप-भीतयेव कम्पित-देहया[3], प्रणयिन्येव विहित-केशग्रहया, क्रुद्धयेव कृत-भ्रूभङ्गया, मत्तयेवाकुलितगमनया, प्रसाधितयेव प्रकटित-तिलकया जरया, गृहीतव्रतयेव भस्मधवलया धवलीकृत-विग्रहम्, आयामिनीभिः पलित-पाण्डुराभिः तपसा[4]विजित्य मुनिजनमखिलं धर्म्मपताकाभिरिवोच्छ्रिताभिः[5] अमरलोकमारोढुं पुण्य-रज्जुभिरिवोपसंगृहीताभिः अतिदूर-प्रवृद्धस्य तप-

---

सागरैः समुद्रैः भुवनं विष्टपमिव, कुलाचलैः कुलाद्रिभिः कनकगिरिमिव सुमेरुपर्वतमिव, वितानस्य यज्ञस्येमे इति वैताना ये वह्नयः अग्नयः दक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयाः तैः क्रतुमिव यज्ञमिव 'वितानो यज्ञविस्तारोल्लोचेषु क्रतुकर्मणि' इति विश्वः। रविभिः द्वादशसूर्यैः कल्पान्तदिवसमिव युगान्तदिनमिव तस्मिन् समये तत्पूर्वे च द्वादशसूर्योदयस्य पुराणविख्यातत्वात्। कल्पैः युगान्तैः कालमिव अखण्डं समयमिव, समन्तात् सर्वतः महर्षिभिस्तापसैः परिवृतं परिवेष्टितम्।

अत्रैकस्योपमेयस्य बहूनामुपमानानां निरूपणान्मालोपमालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—

'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते'। इति।

उग्रेति। उग्रः कठिनो यो जाबालेः शापः अभिसम्पातः तेन भीतया त्रस्तया नार्येव, कम्पितः चलितो देहो वपुर्यया, पक्षे यस्यास्तया तादृश्या। प्रणयिन्येव कामिन्येव, विहितः केशग्रहः कचावलम्बनं यया तया तादृश्या। रतिकलहे कान्तापि केशग्रहं विधत्ते इयमपि केशे लग्नेत्यर्थः। क्रुद्धया कोपाविष्टया नार्येव, कृतो विहितो भ्रूभङ्गः भ्रुवोः शैथिल्यं भ्रुकुटी च यया तया तादृश्या। यथा क्रुद्धा भ्रूभङ्गं विधत्ते तथेयमपि कृतवतीत्यर्थः, मत्तया मद्यपानोन्मत्तया नार्येव, आकुलितम् उच्चावचीकृतं गमनं गतिर्यया, पक्षे यस्यास्तया तादृश्या, मद्यपानोन्मत्तापि स्खलद्गतिका भवति इयमपि तथैव सञ्जाता। प्रसाधितया भूषितया नार्येव, प्रकटितानि अभिव्यक्तानि तिलकानि देहे श्यामवर्णचिह्नानि, भाले तिलकञ्च यया तया तादृश्या। अलङ्कृता स्त्री यथा सतिलका भवति तथेयमपि शरीरे तिलकानामुत्पन्नत्वात्। तथा गृहीतव्रतया स्वीकृतकिञ्चिन्नियमया नार्येव भस्म भूतिः तद्वद्धवलया श्वेतया भस्मना धवलया च जरया वृद्धावस्थया धवलीकृतः शुभ्रीकृतः विग्रहो वपुर्यस्य तं तादृशम्।

अत्र 'उग्रशापभीतयेव' इत्यारभ्य 'गृहीतव्रतयेव' इत्यन्तं यावत् पूर्णोपमालङ्कारः। केवलं विशेषणस्योपादानेऽपि विशेष्यस्य 'नार्या' इत्यस्याध्याहारेण सामञ्जस्यं विधेयम्। केचित्तूत्प्रेक्षां निरूपयन्ति, तन्मते 'नार्या' इत्यस्य नाध्याहार इत्यवधेयम्।

आयामीति। आयामिनीभिः विस्तीर्णाभिः, पलितेन वृद्धावस्थाप्रयुक्तश्वैत्येन पाण्डुराभिः पाण्डुरूपाभिः। तपसा तेजसा अखिलं समस्तं मुनिजनम् ऋषिगणं विजित्य अभिभूय, उच्छ्रिताभिः ऊर्ध्वीकृताभिः धर्मपताकाभिरिव धर्मद्योतकध्वजाञ्चलैरिव विद्यमानाभिः। अमरलोकं देवलोकम् आरोढुम् आरोहणं विधातुं पुण्यरज्जुभिरिव पवित्रप्रग्रहैरिव उपसंगृहीताभिः अङ्गीकृताभिः। अतिदूरप्रवृद्धस्य

---

उसी पेड़ की छाया में बैठे हुए देखा। जैसे समुद्रों से पृथ्वी, कुलपर्वतों से मेरुपर्वत, अग्नियों से यज्ञ, सूर्यों से प्रलय काल का दिन और कल्पों से काल घिरा रहता है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त तपस्वी मुनियों से घिरे हुए थे। बुढ़ापे ने उनके शरीर को श्वेत कर दिया था और उसमें कँपकँपी आ गयी थी, मानो शाप के भय से बुढ़ौती स्वयं काँप रही हो; उनके बाल सफेद हो गये थे, मानो मनस्विनी नायिका के समान वह स्वयं उनके सिर पर सवार हो गयी हो; उनकी भौंहें तनी हुई थीं, मानो उसने क्रुद्ध होकर स्वयं भौंहें चढ़ा ली हों; उनके पैर चलने में लड़खड़ाते थे, मानो वह स्वयं मतवाली की तरह लड़खड़ाती हुई चल रही हो; उनके शरीर पर काले काले मस्से निकल आये थे, मानो उसने बिन्दिओं द्वारा अपने को सजा लिया हो और उनके शरीर पर श्वेत भस्म पुता हुआ था मानो उस बुढ़ौती ने स्वयं कोई व्रत धारण कर लिया हो। उनकी लम्बी और बुढ़ापे के कारण पकी हुई उजली जटाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो तप से समस्त ऋषियों को जीत कर प्राप्त की गयी धर्म की पताकाएँ हों अथवा स्वर्ग जाने में सहायता पहुंचाने वाली इकट्ठी की हुई पुण्यकर्मों की डोरियाँ हों

---

१. कुलपर्वतैः। २. वैतानिक…। ३. उग्रशापकम्पितदेहया। ४. तपोभिः। ५. उपार्जिताभिः।

स्तरोः कुसुम-मञ्जरीभिरिवोद्गताभिर्जटाभिरुपशोभमानम्, उपरचित-भस्म-त्रिपुण्ड्रकेण तिर्य्यक्प्रवृत्त-त्रिपथगा-स्रोतस्त्रयेण हिमगिरि-शिलातलेनेव ललाटफलकेनोपेतम्, अधोमुख-चन्द्र-कलाकाराभ्यामवलम्बित-बलि-शिथिलाभ्यां भ्रूलताभ्यामवष्टभ्यमान-दृष्टिम्, अनवरत-मन्त्राभ्यास-विवृताधरपुटतया निष्पतद्भिरतिशुचिभिः सत्यप्ररोहैरिव स्वच्छेन्द्रिय-वृत्तिभिरिव विद्यागुणैरिव करुणारस-प्रवाहैरिव दशनमयूखैर्धवलित-पुरोभागम्, उद्वमदमल-

---

अत्यन्तवृद्धिमुपगतस्य तप एव तरुः वृक्षः तस्माद् उद्गताभिः उत्पन्नाभिः कुसुममञ्जरीभिरिव पुष्पवल्लरीभिरिव जटाभिः सटाभिः उपशोभमानं भूषितम्।

अत्र 'धर्मपताकाभिरिव' इत्यत्र 'पुण्यरज्जुभिरिव' इत्यत्र च जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः 'तपस्तरोः' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'कुसुममञ्जरीभिरिव' इत्यत्र हि जात्युत्प्रेक्षेत्यनयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूप-साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः।

उपरचितेति। उपरचितानि विहितानि भस्मना त्रीणि पुण्ड्रकाणि तिर्यक्रेखामयतिलकानि यत्र तेन तादृशेन। अत एव तिर्यक्प्रवृत्तं कुटिलभावेन प्रचलितं त्रिपथगाया गङ्गायाः स्रोतस्त्रयं त्रिप्रवाहो यत्र तथोक्तेन, हिमगिरेः हिमालयस्य शिलातलेनेव पाषाणफलकेनेव ललाटफलकेन भालपट्टकेन उपेतं युक्तम्।

इहोक्तविधशिलातलाप्रसिद्धेर्द्रव्योत्प्रेक्षा।

अधोमुखेति। अधोमुखी निम्नाश्रिता या चन्द्रकला सुधांशुरेखा तस्या आकारः स्वरूप इव आकारो ययोस्ताभ्यां तादृशाभ्याम्, अवलम्बिता वार्द्धक्यादाश्रिता या बलिः शिथिलं चर्म, तथा च—'बलिर्दैत्य-प्रभेदे च करचामरदण्डयोः। उपहारे पुमान् स्त्री तु जरया श्लथचर्मणि॥' इति मेदिनी। तया शिथिलाभ्यां शैथिल्यान्नेत्रोपरि च्युताभ्यामित्यर्थः, अत एव ताभ्यां भ्रूलताभ्याम् अवष्टभ्यमाना अवलम्ब्यमाना दृष्टिः अवलोकनसामर्थ्यं यस्य तं तादृशम्।

इह 'चन्द्रकलाया आकार इव आकार' इत्यत्र आर्थी समासगता लुप्तोपमा।

अनवरतेति। अनवरतं निरन्तरं यो मन्त्राभ्यासः मन्त्रजपावृत्तिः तेन विवृतं व्यात्तम् अधरपुटम् ओष्ठद्वयं यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, निष्पतद्भिः निःसरद्भिः, अतिशुचिभिः अत्यन्तस्वच्छैः, सत्यप्ररोहैरिव सत्यवचनसत्याचारयोरुद्गमैरिव, स्वच्छा अवदाताः पापरहिता या इन्द्रियवृत्तयः चित्तादीनामिन्द्रियाणां कर्माणि ताभिरिव, विद्यागुणैरिव विद्याया आन्वीक्षिक्यादेः ये गुणा विनयादयस्तैरिव, करुणारस-प्रवाहैरिव दयारसस्रोतोभिरिव सर्वस्मिन् स्थले स्वच्छत्वादित्याशयः। दशनमयूखैः दन्तरश्मिभिः धवलितः शुभ्रीकृतः पुरोभागः अग्रदेशो यस्य तं तादृशम्। अत एव उद्वमन् दक्षिणश्रोत्राद्बहिरागच्छन् अमलः स्वच्छो गङ्गाप्रवाहो भागीरथीस्रोतो यस्मात्तं तादृशं जह्नुम् एतत्संज्ञकमृषिमिव विद्यमानम्।

अत्र 'सत्यप्ररोहैरिव' इत्यारभ्य 'करुणारसप्रवाहैरिव' इत्यन्तं यावत् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गालङ्कार उपमा च तथा गुणोत्प्रेक्षेत्येतेषां मिथोऽङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः।

अत्रायमितिहासः—पुरा किल स्वपूर्वजानामुद्दिधीर्षया भगीरथो हि हिमाचलाद्बलितामथ च शङ्कर-जटायां लीनां गङ्गामवतारयितुं महेश्वरं सिषेवे, प्रसन्नो भगवान् सदाशिवः स्वशिरसस्तामवतारयामास।

---

अथवा दूर तक फैले हुए पुण्यरूपी वृक्ष के फूलों की मंजरियाँ हों। भस्म के त्रिपुण्ड्र से उनका ललाट ऐसा प्रतीत होता था मानो गंगा की तीनों धाराओं से युक्त हिमालय पहाड़ की कोई चट्टान हो। उनकी आँखों पर चन्द्रकला के समान टेढ़ी आकृति वाली तथा बुढ़ापे की झुर्रियों के कारण शिथिल भौंहें लटक रही थीं जिनसे देखने में कुछ बाधा उपस्थित हो रही थी। निरन्तर मन्त्रों का जाप करने के कारण उनका मुँह खुला रहता था और ओठों के बीच से दाँतों की उज्ज्वल किरणें फूटती थीं, जो सत्य के अंकुरों, इन्द्रियों की निर्मल वृत्तियों और करुणरस की धारा के समान लग रही थीं। उन किरणों से उनके आगे का भाग अत्यन्त उज्ज्वल हो उठा था और वे गंगा की अत्यन्त निर्मल धारा को मुँह से बाहर करते हुए जह्नु ऋषि के समान प्रतीत होते थे। यज्ञ में निरन्तर सोमरस पीने के कारण आने वाली डकारों से उनकी साँसें सुवासित हो उठी थीं जिसे खिंच कर

---

१. गङ्गा। २. '''त्रयेणेव'''तलेन। ३. '''पट्टेनोपेतम्। ४. '''मन्त्राक्षराभ्यास।
५. क्वचिदयं पाठो नास्ति। ६. करुणरस'''।

गङ्गा-प्रवाहमिव जह्नुम्, अनवरत[1]सोमोद्गारसुगन्धिनिश्वासाव[2]कृष्टैर्मूर्त्तिमद्भिरिव शापाक्ष[3]रैः सदा मुखभाग-सन्नि[4]हितैः परिस्फुरद्भिरलिभिरविरहितम्, अतिकृशतया निम्नतर-गण्ड-गर्त्तम् उन्नततर[5]-हनु-घोणम् आकराल-तारकम् अवशीर्य्यमाण-विरल-नयन-पद्ममालम् उद्गत-दीर्घरोम-रुद्ध-श्रवण-विवरम् आनाभिलम्बि[6]त-कूर्चकलापमाननमादधानम्, अतिचपलाना-मिन्द्रियाश्वानाम्[7] अन्तःसंयमन-रज्जुभिरिवाततताभिः कण्ठनाडीभिर्निरन्तरावनद्ध[8]-कन्धरम्, समुन्नत[9]-विरलास्थि-पञ्जरम्, अंसालम्बि[10]त-धवल-यज्ञोपवीतम्, अनिल-वश[11]-जनित-तनु-तरङ्ग-भङ्गम् उत्प्लवमान-नव[12]मृणालमिव मन्दाकिनीप्रवाहम् अकलुषमङ्गमुद्व-

अथ मार्गे व्रजन्ती सा जह्नोर्यज्ञभूमिं प्लावयामास, ततश्च क्रुद्धेन जह्नुना पीता सा पुनरपि भगीरथप्रार्थनया श्रोत्रविवरान्निःसारिता सती भूतलमाजगामेति। तत एव 'जाह्नवी' इति संज्ञामवाप।

अनवरतेति। इतो द्वितीयान्तानि 'आननम्' इत्यस्य विशेषणानि। अनवरतं निरन्तरं यः सोमः पीतसोमरसः तस्य उद्गारेण वायुजनितशब्देनेत्यर्थः। 'निगारोद्गारविक्षावोद्ग्राहा निगरणादिषु' इत्यमरः, सुगन्धिना सौरभवता निश्वासेन पवनेन अवकृष्टैः आकर्षितैः मूर्त्तिमद्भिः देहवद्भिः शापाक्षरैरिव अभिसम्पातवर्णैरिव, सदा सर्वदा मुखस्य वदनस्य यो भागोऽग्रिमप्रदेशः तत्र सन्निहितैः विद्यमानैः परिस्फुरद्भिः सञ्चरद्भिः अलिभिर्भ्रमरैः अविरहितम् अपरित्यक्तम्। अतिकृशतया अत्यन्तक्षीणशरीरतया निम्नतरौ अत्यन्तगम्भीरतरौ गण्डगर्त्तौ अवटीभूतौ कपोलौ यस्मिन् तत् तादृशम्। उन्नततरा अत्युच्चाः हनु चिबुकं कपोलोर्ध्वांशद्वयमिति यावत् घोणा नासिका च यत्र तत् तादृशम्, 'घोणा नासा च नासिके' इत्यमरः, अत्यन्तकृशशरीराणामेवम्भूतमाननं भवत्यवलोकनीयम्। आकराले तेजस्वित्वेन हेतुना अत्यन्तभीषणे तारके कनीनिकायुगलं यस्मिन् तत् तादृशम्। अवशीर्यमाणा नश्यन्ती विरला असान्द्रा नयनपद्ममाला नेत्ररोमपङ्क्तिः यस्मिन् तत् तादृशम्। उद्गतैः उत्पन्नैः दीर्घैः विस्तृतैः रोमभिः लोमभिः रुद्धे आच्छादिते श्रवणविवरे श्रोत्ररन्ध्रयुगलं यस्मिन् तत् तादृशम्। आनाभिलम्बितो नाभिपर्यन्तलम्बमानः कूर्चकलापः श्मश्रुसमूहः मुखलोमसमूह इत्यर्थः यस्मिन् तत् तादृशम् आननं मुखम् 'आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः, आदधानं धारयन्तम्। अत्र 'शापाक्षरैरिव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अतिचपलेति। इत आरभ्य 'अङ्गम्' इत्यस्य विशेषणानि। अतिचपलानाम् अतीवचञ्चलानाम्, इन्द्रियाणि घ्राणत्वक्श्रोत्रनेत्ररसनादीनि एव अश्वाः घोटकाः सांसारिकपदार्थान्प्रति जीवानामाकर्षणादित्याशयः। तथा च कठोपनिषदि द्वितीयवल्ल्यां नाचिकेतसं प्रति धर्मराजस्यात्मनिरूपणप्रस्तावे उक्तिः— 'इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्' इति। तेषाम् अन्तर्मध्ये संयमनरज्जुभिरिव नियन्त्रणप्रग्रहैरिव, आततताभिः अतिदीर्घाभिः कण्ठनाडीभिः गलप्रदेशस्थस्नायुभिः निरन्तरं सान्द्रं यथा स्यात्तथा अवनद्धा सम्बद्धा कन्धरा ग्रीवा यस्मिन् तत् तादृशम्। समुन्नतं शरीरस्यातिकृशत्वात् समुच्चवत् अवलोक्यमानं विरलम् अनिविडम् अस्थिपञ्जरं कङ्कालं यस्मिन् तत् तादृशम्। अंसे भुजान्तरे आलम्बितं लम्बमानं धवलं शुभ्रं यज्ञोपवीतं यज्ञसूत्रं यस्मिन् तत् तादृशम्। अतएव अनिलवशेन वायुप्रभावेण जनितः उत्पादितः तनूनां सूक्ष्माणां तरङ्गाणां कल्लोलानां भङ्गः कौटिल्यं यत्र तं तादृशम्, तथा उत्प्लवमानं

उनके मुँह के पास मँडराने वाले भौंरे ऐसे प्रतीत होते थे मानो शाप के अक्षरों ने ही शरीर धारण कर लिया हो। अत्यन्त दुर्बलता के कारण उनके गालों में गड्ढे पड़ गये थे जिससे चिबुक की हड्डी निकली हुई तथा नाक और भी ऊँची उठी हुई जान पड़ती थी, नेत्रों की पुतलियाँ अत्यन्त तीखी और बरौनियाँ झड़ जाने के कारण विरल हो गयीं थीं, कान के छेद सघन रोवों से ढके हुए थे, दाढ़ी नाभि तक लटकी हुई थी। गले की उभड़ी हुई नाड़ियाँ कन्धों तक फैली हुई ऐसी प्रतीत होतीं थीं मानो इन्द्रियरूपी घोड़ों को बाँधने की रस्सियाँ हों, शरीर की हड्डियों का ढाँचा ऊपर उठा हुआ सा दिखायी पड़ रहा था, कन्धे पर श्वेत यज्ञोपवीत लटक रहा था, जो वायु में बहुत धीरे धीरे लहरा रहा था मानो उसमें हल्की हल्की लहरें उठ रहीं हों, इससे उनका निर्मल अंग ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कमल की कोमल डंठलों को धारण करने वाला गंगा का प्रवाह हो। वे अपनी

१. अविरत, अविरल··· । २. ···निःश्वासाकृ··· । ३. मूर्त्तिमद्भिः शापाक्षरैरिव । ४. सन्निविष्टैः । ५. समुन्नत··· । ६. लम्बित । ७. इन्द्रियाणाम् । ८. ···संबद्ध··· । ९. उतन्न ··· । १०. अवलम्बित, लम्बियज्ञो··· । ११. वायु । १२. ···म्लानमृणालमिव ।

हन्तम्, अमल-स्फटिक-शकल-घटितमक्षवलय[1]मत्युज्ज्वल[2]स्थूल-मुक्ताफल-ग्रथितं सरस्वती-हारमिव चलदङ्गुलि-विवर-गतमावर्त्तयन्तम्, अनवरत भ्रमित-तारका[3]चक्रमपरमिव ध्रुवम्, उन्नसता[4] शिरा-जालकेन जरत्कल्पतरुमिव परिणतलतासञ्चयेन निरन्तर-निचितम्, अमलेन[5] चन्द्रांशुभिरिवामृतफेनैरिव गुणसन्तान-तन्तुभिरिव निर्म्मितेन मानस-सरो-जल-क्षालन[6]शुचिना दुकूलवल्कलेन द्वितीयेनेव[7] जराजालकेन संच्छादितम्, आसन्नवर्त्तिना मन्दाकिनीसलिल-पूर्णेन त्रिदण्डोपविष्टेन स्फाटिक[8]-कमण्डलुना विकच-पुण्डरीक[9] राशि-

---

सलिलोपरि विद्यमानं नवं नूतनं मृणालं विसं यत्र तं तादृशम्, मन्दाकिन्या वियद्गङ्गायाः प्रवाहं स्रोत इव अकलुषम् अनाविलं स्वच्छमित्यर्थः अङ्गं शरीरावयवम् उद्वहन्तं धारयन्तम्।

इह 'इन्द्रियाण्येव अश्वाः' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'संयमनरज्जुभिरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कारालङ्कारः। तथोक्तकुटिलकुशतरङ्गतुल्यम् अस्थिपञ्जरम्, सलिलोपरिप्लवमाननूतनबिसतन्तुश्च यज्ञसूत्रमित्युपमालङ्कारः।

अमलस्फटिकेति। अत्युज्ज्वलानि अतिविशदानि स्थूलानि पृथुलानि मुक्ताफलानि मौक्तिकानि तैर्ग्रथितं गुम्फितं सरस्वत्या भारत्या हारमिव कण्ठमालामिव, चलन्तीनाम् अक्षवलयाकर्षणेन चपलीभूतानाम् अङ्गुलीनां करावयवानां विवरगतं छिद्रस्थितम्, अमलैः विशदैः स्फटिकानां स्फटिकमणीनां शकलैः खण्डैः घटितं रचितम् अक्षवलयं रुद्राक्षमालागुटिकाम् आवर्तयन्तं संख्याविशेषपूरणात् यथाक्रमं परिभ्रमयन्तम्, अतएव अनवरतं निरन्तरं भ्रमितं प्रवहसंज्ञकवातेन पर्यटितं तारकाचक्रं नक्षत्रसमूहो यत्र तथोक्तम् अपरं द्वितीयं ध्रुवम् उत्तानपादजमिव विद्यमानम्। इह च यथा बहोः कालात् स्थिरयोः ध्रुवयोरन्तर्बद्धस्तारकासमूहः प्रवहानिलैरजस्रं पर्येति तथा आसीनेन स्थिरतरेण ऋषिणा सव्यकराग्रनिहिता स्फटिकमाला जपसंख्याविशेषावधारणायानवरतं सञ्चालितेति साम्यमवगन्तव्यम्। उक्तं च सूर्यसिद्धान्ते—

'भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः। पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षायथाक्रमम्॥'

इह उपमा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, द्रव्योत्प्रेक्षा चेत्येषां परस्परमपेक्षाभावेन विद्यमानत्वात् संसृष्टिः।

उन्नमतेति। परिणतानां पाकमुपगतानां लतानां व्रततीनां सञ्चयेन समूहेन निरन्तरनिचितं सान्द्रभावेन व्याप्तं जरत्कल्पतरुमिव प्राचीनकल्पवृक्षमिव, उन्नमता उपरि स्फुरता शिराजालकेन धमनिसमूहेन निरन्तरनिचितम्। इह 'जरत्कल्पतरुमिव' इत्युपमा।

अमलेनेति। अमलेन विशदेन, अत एव चन्द्रांशुभिरिव शशिचन्द्रिकाभिरिव अमृतफेनैरिव पीयूषडिण्डीरैरिव गुणानां कारुण्यतपश्चर्यादीनां सन्तानाः समूहा एव तन्तवः सूत्राणि तैरिव निर्मितेन रचितेन, मानससरसो मानसाख्यसरोवरस्य जलेन सलिलेन यत् चालनं मलनिराकरणं तेन शुचिना पवित्रेण, द्वितीयेन अपरेण जराजालकेनेव श्वैत्यात्परिणतावस्थासमूहेनेव, दुकूलवत् पट्टवसनवत् वल्कलं वृक्षत्वक् तेन तादृशेन, संच्छादितम् आच्छादितनाभ्यधोभागम्।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः, द्वे चोत्प्रेक्षे, परस्परपक्षेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

आसन्नेति। आसन्नवर्तिना निकटस्थायिना, मन्दाकिनी गङ्गा तस्याः सलिलं जलं तेन पूर्णेन भृतेन

---

चंचल उँगुलियों के द्वारा मोतियों से गुथी हुई सरस्वती की कंठमाला के समान अत्यन्त उज्ज्वल स्फटिक की गुरियों से गुँथी हुई रुद्राक्ष की माला घुमा रहे थे, जिससे वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो निरन्तर घूमने वाले नक्षत्र-मण्डल से युक्त दूसरे ध्रुव नक्षत्र हों। उनके शरीर पर ऊपर उभड़ी हुई धमनियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो किसी पुराने कल्पवृक्ष पर पकी हुई लतायें फैली हुई हों। वे मानस-सरोवर के जल में धुलते रहने के कारण अत्यन्त स्वच्छ छाल का वस्त्र पहिने हुए थे जो चन्द्रमा की किरणें अथवा अमृत के झागों अथवा गुणों (दया-धर्मादि) के धागों से बना हुआ सा प्रतीत हो रहा था और शरीर के ऊपर ऐसा लग रहा था मानो एक दूसरी बुढ़ौती के जाल ने उनके शरीर को ढँक लिया हो। उनके पास ही तीन लकड़ियों को बाँध कर बनाये गये आधार (त्रिपादिका) पर स्थित गंगाजल से भरा हुआ बिल्लौरी कमण्डलु फूले हुए सफेद कमलों के बीच बैठे हुए राजहंस के समान सुशोभित हो रहा था। उन्होंने अपनी ही स्थिरता में से पर्वतों, गम्भीरता में से

---

१. घटिताक्ष···। २. उज्ज्वल। ३. तारक। ४. उल्लसता। ५. अमलैः। ६. ···क्षालित···। ७. अद्वितीयेन। ८. स्फटिक···। ९. ···कमल···।

मिव राजहंसेनोपशोभमानम् , स्थैर्येणाचलानां गाम्भीर्य्येण सागराणां तेजसा सवितुः प्रशमेन तुषाररश्मेः निर्म्मलतयाऽम्बरतलस्य संविभागमिव कुर्व्वाणम् , वैनतेयमिव स्वप्रभावोपात्तसकल-द्विजाधिपत्यम् , कमलासनमिवाश्रमगुरुम् , जरच्चन्दनतरुमिव भुजङ्ग निर्म्मोक-धवलजटाकुलम् , प्रशस्त-वारणमिव प्रलम्ब-कर्णबालम् , बृहस्पतिमिवाजन्म-वर्द्धित-कचम् , दिवसमिवोद्यदर्क-बिम्ब-भास्वर-मुखम् , शरत्कालमिव क्षीणवर्षम् ,

त्रिदण्डस्त्रिपदिका तत्रोपविष्टेन तदुपरिस्थापितेन, राजहंसेन कादम्बेन 'राजहंसस्तु कादम्बे कलहंसे नृपोत्तमे' इति हैममेदिन्यौ, विकचः प्रस्फुटितः पुण्डरीकराशिः सिताम्भोजसमूहस्तमिव, स्फाटिककमण्डलुना स्फटिकमणिनिर्मितकमण्डलुना उपशोभमानं विराजमानम् । अत्रोपमा ।

स्थैर्येणेति । स्थैर्येण स्थिरतया अचलानां गिरीणाम्, गाम्भीर्येण गाम्भीर्यगुणेन सागराणां सरित्पतीनाम्, तेजसा प्रतापेन सवितुः आदित्यस्य प्रशमेन शान्त्या तुषाररश्मेश्चन्द्रमसः, निर्मलतया अतिस्वच्छतया अम्बरतलस्य आकाशस्य संविभागं स्वीयवस्तुनः परेभ्यः किञ्चिद्विभज्य प्रतिपादनं कुर्वाणं विदधानमिव स्थैर्यगाम्भीर्यप्रभृतीन् स्वगुणान् अचलादिभ्यः सम्यग्विभज्य दत्त्वेव स्थितमित्यर्थः स्वस्मिन् तथाविधस्थैर्यादिगुणयुक्तत्वादित्याशयः । तत्र अचलानां स्थैर्यं कम्पशून्यत्वम् ऋषेः स्थैर्यन्तु चित्तस्थिरता, समुद्राणां गाम्भीर्यम् अगाधत्वम्, ऋषेः गाम्भीर्यन्तु दुरवगाहप्रकृतित्वम्, आदित्यस्य तेजः तीक्ष्णरश्मित्वम्, ऋषेस्तेजस्तु तपोमाहात्म्यवत्त्वम्, चन्द्रमसः प्रशमः सौम्यस्वरूपत्वम् ऋषेः शमस्तु इन्द्रियाणामन्तर्मुखेन प्रवृत्तिकरणम् , ऋषेर्निर्मलता पापराहित्यमिति परस्परं भेदसत्त्वेऽपि श्लेषमहिम्ना अभेदाध्यवसायादतिशयोक्त्यलङ्कारः, कुर्वाणमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

वैनतेयमिति । गरुडमिव 'गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः' इत्यमरः, स्वप्रभावेण स्वतेजसा उपात्तम् अर्जितं सकलेषु समस्तेषु द्विजेषु विप्रेषु पक्षिषु च आधिपत्यं स्वामित्वं येन तं तादृशम् 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः ।

कमलेति । कमलासनो विरञ्चिः 'विरञ्चिः कमलासनः' इत्यमरः, तमिव; आश्रमस्य तत्तपोभूमेः ब्रह्मचर्यादीनां चतुर्विधानामाश्रमाणाञ्च गुरुः शिक्षयिता नियामकश्च तं तादृशम् । ब्रह्मणैव वर्णाश्रमाश्च नियमिता इति पौराणिकी वार्त्ता ।

जरदिति । जरत् पुरातनो यश्चन्दनतरुः मलयजवृक्षः तमिव, भुजङ्गानां सर्पाणां ये निर्मोकाः कञ्चुकाः तद्वत् धवलाः श्वेताः जटाः सटाः, अन्यत्र भुजङ्गनिर्मोका धवला जटा इव ताभिः आकुलं सङ्कीर्णम् । प्राचीनचन्दनवृक्षेष्वेव परिमलविशेषाधिक्यात्सर्पाधिक्यसम्भव इति प्रतिपादनार्थं जरत्तरुग्रहणमित्यवधेयम् ।

प्रशस्तेति । प्रशस्तो निखिललक्षणोपेतः वारणपतिः हस्तिनायकः तमिव प्रलम्बाः छेदनाभावादतिविस्तृताः कर्णबालाः श्रवणलोमानि यस्य तं तादृशम्, पक्षे—प्रलम्बाः लम्बमानाः कर्णौ श्रोत्रे बालाः पुच्छकेशाश्च यस्य तं तादृशम् ।

बृहस्पतीति । बृहस्पतिः सुराचार्यः तमिव, आजन्म जन्मप्रभृति क्षौराभावात् बर्द्धिता वृद्धिं प्रापिताः कचाः केशा येन तं तादृशम्, पक्षे—कचः कचाभिधः सुतो येन तं तादृशम् ।

पुरा किल बृहस्पतेः कचनामा पुत्र उत्पन्न इति पौराणिकी वार्ता ।

दिवसमिति । दिवसो वासरः तमिव, उद्यत् उद्गच्छत् यत् अर्कबिम्बं सूर्यमण्डलं तद्वत् भास्वरं

समुद्रों, तेज में से सूर्य, शान्ति में से चन्द्रमा और निर्मलता में से आकाश को थोड़ा-थोड़ा सा भाग दे रखा था । जैसे गरुड़ अपने प्रभाव से समस्त पक्षियों का स्वामी होता है उसी प्रकार वे भी अपने तपोबल से सभी ब्राह्मणों के स्वामी बन गये थे, जैसे ब्रह्मा चारों आश्रमों के गुरु हैं उसी प्रकार वे भी उस आश्रम के गुरु थे, जैसे पुराना चंदन का पेड़ साँप की केंचुलों से लिपटा रहता है उसी प्रकार वे भी सफेद जटाओं से घिरे हुए थे, जैसे हाथी के कानों पर बड़े-बड़े बाल उगे होते हैं उसी प्रकार उनके कानों पर भी बड़े बड़े बाल निकले हुए थे, जैसे बृहस्पति ने जन्मकाल से ही कच का पालन-पोषण किया था उसी प्रकार उन्होंने भी जन्म से ही बालों को रख

१. अवनेः स्थैर्य्येण सागराणां गाम्भीर्येण । २. क्वापि सकलपदं न विद्यते । ३. भुज... । ४. ...वारणपतिमिव । ५. कर्णतलम् कर्णतालम् ।

शन्तनुमिव प्रियसत्यव्रतम्, अम्बिका-करतलमिव रुद्राक्ष[1]-ग्रहण-निपुणम्, शिशिर-समय-सूर्यमिव कृतोत्तरासङ्गम्, बडवानलमिव[2] सतत[3]-पयोभक्ष्यम्[4], शून्यनगरमिव दीनानाथ-विपन्नशरणम्, पशुपतिमिव भस्म-पाण्डु-रोमाश्लिष्ट-शरीरम्, भगवन्तं जाबालिमपश्यम्।

अवलोक्य चाहमचिन्तयम्—'अहो प्रभावस्तपसाम्! इयमस्य शान्तापि मूर्त्तिरुत्तप्त-

---

दीप्तिमत् मुखम् आननं यस्य तं तादृशम्, पक्षे—उद्यदर्कबिम्बेन भास्वरमुखं प्रारम्भिकप्रकाशो यस्य तं तादृशम्।

शरदिति। शरत्कालः वर्षात्ययसमयः तमिव, क्षीणानि व्यतीतानि वर्षाणि 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादिनियमितावस्थाहायनानि यस्य तं तादृशम्, यत्किञ्चिदवशिष्टावस्थाकमित्यर्थः, पक्षे-क्षीणं स्वल्पत्वमुपगतं वर्षं वृष्टिर्यस्मिन् तं तादृशम्।

शन्तनुमिति। शन्तनुः चन्द्रवंशीयो भीष्मपितामहपिता तमिव, प्रियम् प्रेमास्पदं सत्यव्रतं सत्य-वचनसत्याचाररूपो नियमो यस्य तं तादृशम्, पक्षे—प्रियः अत्यन्तोत्कृष्टात्मजत्वात् प्रेमजनकः सत्यव्रतो यस्य तं तादृशम्।

अम्बिकेति। अम्बिकाया भवान्याः करतलं हस्तमिव, रुद्राक्षस्य रुद्राक्षमालायाः ग्रहणे उपादाने निपुणं कुशलम्, पक्षे—रुद्रस्य महेश्वरस्य अक्षिणी नयने इति रुद्राक्षे तयोर्ग्रहणे कुतूहलेन पिधाने निपुणं दक्षम्।

शिशिरेति। शिशिरसमयस्य शीतकालस्य सूर्यम् आदित्यमिव, कृतो भुजान्तरालेस्थापितः उत्तरा-सङ्ग उत्तरीयवसनं येन तं तादृशम्, पक्षे—कृतो विहित उत्तरस्या दिशः कौबेराशायाः सङ्गः यथाक्रमं सम्बन्धो येन तं तादृशम्, तत्समये सूर्यस्योत्तरदिग्गमनप्रारम्भात्।

बडवेति। बडवानलो बाडवाग्निः तमिव, सततं निरन्तरं पयो दुग्धमात्रं सलिलञ्च भक्ष्यम् अदनीयं शोषणीयञ्च यस्य तं तादृशम्।

शून्येति। शून्यं जनरहितं नगरं पुरमिव, दीनानां दुर्गतानाम् अनाथानाम् अस्वामिकानां विपन्नानां व्याधिव्यथितादीनाञ्च रक्षकं पालकम्, पक्षे—दीनानि शोभाशून्यानि, अनाथानि निवासिलोक-रहितानि, विपन्नानां नष्टानि शरणानि गृहाणि यत्र तत् तादृशम् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः।

पशुपतिमिति। पशुपतिः शङ्करः तमिव, भस्मवत् पाण्डूनि परिणतत्वात् शुभ्राणि यानि रोमाणि लोमानि, भस्मना भूत्या पाण्डुरोमाणि च तैराश्लिष्टं समन्तात् सक्तं शरीरं वपुर्यस्य तं तादृशम्, भगवन्तम् ऐश्वर्यादिमन्तं जाबालिम् एतन्नामानं मुनिराजम् अपश्यम् अद्राक्षम्।

अत्र 'वैनतेयमिव' इत्यारभ्य 'पशुपतिमिव' इत्यन्तं यावत् पूर्णोपमालङ्कारः। केवलं 'जरच्च-न्दनतरुमिव भुजङ्गनिर्मोकधवलजटाकुलम्' इत्यत्र लुप्तोपमापूर्णोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कार इति ज्ञेयम्।

अवलोक्येति। अवलोक्य प्रेक्ष्य च अहं वैशम्पायनः अचिन्तयम् व्यचारयम्—अहो इत्याश्चर्ये। तपसां स्वाध्यायादीनां प्रभाव ऐश्वर्यम्, इयं पुरो दृश्यमाना शान्तापि प्रसन्नापि अस्य मुनेः मूर्त्तिः स्वरू-

---

छोड़ा था, जैसे दिन निकलते हुये सूर्यमंडल से प्रकाशित हो उठता है उसी प्रकार वह अपने कान्तिमान मुख-मंडल से प्रकाशित हो रहे थे, जैसे शरद् ऋतु में वर्षा क्षीण हो जाती है उसी प्रकार वह भी अपनी आयु के बहुत वर्ष बिता चुके थे, जैसे राजा शान्तनु अपने पुत्र सत्यव्रत से स्नेह करने वाले थे उसी प्रकार वे भी सत्य के व्रत का पालन करने वाले थे, जैसे भगवती पार्वती के हाथ भगवान् शंकर की आँखों को मूँदने में कुशल हैं उसी प्रकार उनके हाथ भी रुद्राक्ष की माला ग्रहण करने में कुशल हैं, जैसे शीत काल में सूर्य उत्तर दिशा का साथ करने लगता है अर्थात् धीरे-धीरे उत्तरायण होने लगता है उसी प्रकार वे भी उत्तरीय वस्त्र धारण करने वाले थे, जैसे बड़वाग्नि निरन्तर जल का भोजन करती रहती है उसी प्रकार वे भी निरन्तर दूध ही का भोजन करने वाले थे, जैसे उजड़ा हुआ नगर गिरे-पड़े मनुष्यरहित मकानों को अपनी शरण में रखने वाला होता है उसी प्रकार वे भी दरिद्रों, अनाथों और असहायों को शरण देने वाले थे और जैसे शंकर जी का शरीर भस्म लगाने के कारण सफेद रोओं से भरा रहता है उसी प्रकार उनका शरीर भी पके सफेद रोओं से ढका हुआ था।

उस महर्षि जाबालि को देख कर मैंने मन हीं मन विचार किया कि तपस्या का प्रभाव भी कितना महान

---

१. रुद्राक्षवलयग्रहण…। २. और्वानलमिव। ३. सन्तत…। ४. भक्षम्।

कनकावदाता परिस्फुरन्ती सौदामिनीव चक्षुषः प्रतिहन्ति तेजांसि, सततमुदासीनापि महाप्रभावतया भयमिवोपजनयति प्रथमोपगतस्य शुष्क-नल-काश-कुसुम-निपतितानल-चटुल-वृत्ति-नित्यमसहिष्णुतपस्विनां प्रतनुतपसामपि तेजःप्रकृत्या दुःसहं भवति, किमुत सकल-भुवन-वन्दित-चरणानामनवरत-तपःसलिल-क्षालितमलानां कर-कमल-तलामलकफलवदखिलं जगदालोकयतां दिव्येन चक्षुषा भगवतामेवंविधानामघक्षयकारिणाम्। पुण्यानि हि नामग्रहणान्यपि महामुनीनाम्, किं पुनर्दर्शनानि। धन्यमिदमाश्रमपदमयमधिपतिर्यत्र। अथवा भुवनतलमेव धन्यमखिलमनेनाधिष्ठितमवनितल-कमलयोनिना।

---

पम् उत्तप्तम् अत्यन्तमुष्णीकृतं यत् कनकं काञ्चनं तद्वत् अवदाता निर्मला परिस्फुरन्ती देदीप्यमाना सौदामिनीव तडिदिव चक्षुषो लोचनस्य तेजांसि ज्योतींषि प्रतिहन्ति प्रतिघातं नयति, साम्मुख्येन व्रजन्ती लोचनरश्मीनां विद्युत्तेजसा प्रतिनिवृत्तिः सर्वानुभवसंवेद्यैवेत्याशयः। सततम् अजस्रम् उदासीनापि मध्यस्थापि परेषां भयोत्पादने फलशून्यापि इयं मूर्त्तिरित्यर्थः, महाप्रभावतया अत्युग्रप्रतापतया प्रथमम् अपूर्वम् उपगतस्य प्राप्तस्य मम भयं त्रासम् उपजनयतीव उत्पादयतीव। शुष्काणि विरसानि यानि नलकाशकुसुमानि स्वनामविख्याततृणविशेषाः तेषु निपतितो योऽनलोऽग्निः तस्येव चटुला चञ्चला आशुतरा वृत्तिः प्रसरणव्यापारो यस्य तत् तादृशम्, तथा नित्यं सततम् असहिष्णु असहनशीलम् अन्यतेज इति शेषः, तनु स्वल्पं तपो येषां तेषामपि तपस्विनां तपस्याव्रतां तेजः प्रभावः, प्रकृत्या स्वभावेन ( दुःसहम् असहनीयम् ) इत्यत्र पाठान्तरं भवति परेषामिति शेषः। सकलभुवनतलेषु समस्तसंसारतलेषु वन्दितचरणानां नमस्कृतपादानाम् अनवरतं निरन्तरं तपांस्येव सलिलानि वारीणि तैः क्षालितानि धौतानि मलानि दुष्कृतान्येव मलानि पङ्कादीनि यैस्तेषां तादृशानाम्, तथा दिव्येन परलोकीयेन चक्षुषा ज्ञाननेत्रेणेत्यर्थः करकमलतलं पाणिपद्मतलं तत्र आमलकफलवत् धात्रीफलवत्, अखिलं समग्रं जगत् संसारम् अवलोकयतां पश्यताम्, एवंविधानाम् इत्थंभूतानां जाबालिसदृशानाम् अघक्षयकारिणाम् अवलोकनमात्रेणैवान्येषां दुष्कृतध्वंसविधायिनां भगवताम् ऐश्वर्यादिमतां किमुत किमाश्चर्यम्।

अत्र 'उत्तप्तकनकावदाता' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'उपजनयतीव' इति क्रियोत्प्रेक्षा, तथा परत्र लुप्तोपमा श्लिष्टपरम्परितरूपकञ्च।

पुण्यानीति। हि निश्चितम्, महामुनीनां महातपस्विनां नामग्रहणान्यपि नामसङ्कीर्तनमात्राण्यपि पुण्यानि पुण्योत्पादकानि, दर्शनानि तेषां निरीक्षणानि किं पुनः किं वक्तव्यम्, नूनं पापापनोदकानीत्यर्थः। इदं प्रत्यक्षम् आश्रमपदम् ऋषिजनस्थानं धन्यं कृतकृत्यमित्यर्थः यतो हि, यत्र आश्रमे अयं मुनिराजः अधिपतिः नेता। अथवा यद्वा अवनितलस्य मर्त्यलोकस्य कमलयोनिः ब्रह्मा तद्रूप इत्यर्थः तेन तथोक्तेन अनेन पुरोदृश्यमानेन मुनिना अधिष्ठितम् आश्रितम् अखिलं समग्रं भुवनतलमेव जगतीतलमेव धन्यं कृतपुण्यं 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इति हैमः, तपोवनस्य तदन्तर्गतत्वादित्याशयः। खलु निश्चयेन

---

और आश्चर्य जनक है! इनकी मूर्ति कितनी शान्त है फिर भी उससे तपाये हुए सोने जैसी निकलने वाली कान्ति बिजली के समान आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करके उसे तेजरहित कर दे रही है और पहले पहल आने वाले के प्रति यद्यपि उसमें कोई भी भाव नहीं है फिर भी अपने अत्यन्त प्रभाव के कारण वह आने वाले को भयभीत सा बना दे रही है। जब सूखी हुई नल नाम की घास के फूलों पर पड़ी हुई आग के समान चञ्चल स्वभाव वाले, ईर्ष्यालु तथा छोटे-मोटे तपस्वियों का तेज भी स्वभावतः अत्यन्त दुःसह होता है तब ऐसे महान और पापों का नाश कर देने वाले तपस्वियों की बात ही क्या है जिनके चरणों की पूजा सारा संसार ही करता है, जिन्होंने तप रूपी जल से काम क्रोधादि रूपी सभी दोषों को धो डाला है और जो अपनी दिव्य दृष्टि से हाथ में रखे हुए आँवले के समान सभी लोकों को देख सकते हैं। मुनियों का नाम लेना ही बहुत बड़ा पुण्य है फिर दर्शन की तो बात ही किया है। यह आश्रम भी धन्य है जिसके ये स्वामी हैं अथवा यह पृथ्वी तल ही धन्य है जिस पर इस लोक के ब्रह्मा के समान ऐसे महर्षि स्थित हैं। ये मुनिलोग भी कितने पुण्यवान हैं जो अपने सभी कार्यों

---

१. सौदामनीव। २. निपतिता चटुल। ३. तनुतपसाम्। ४. क्वापि दुःसहमिति न विद्यते। ५. भुवनतल…। ६. …तपःक्षपितमलानाम्। ७. करतलामलकवत्। ८. …अघक्षयकारणानि पुण्यानि… नाम करणानि पुण्यानि नाम। ९. मुनीनाम्।

पुण्यभाजः खल्वमी मुनयो यदहर्निशमेनमपरमिव नलिनासनमपगतान्यव्यापारा मुखाव[1]-लोकन-निश्चलदृष्टयः पुण्याः कथाः शृण्वन्तः समु[2]पासते। सरस्वत्यपि धन्या, याऽस्यं[3] तु सततमतिप्रसन्ने करुणाजलनिस्यन्दिन्यगाधगाम्भीर्ये रुचिरद्विज[4]परिवारा मुखकमलसम्पर्क-सुख[5]मनुभवन्ती निवसति राज[6]हंसीव मानसे। चतुर्मुखमु[7]खकमलवासिभिश्चतुर्वे[8]दैः सुचिरादिव[9] द्वितीयमिदमासादितं स्थानम्। एनमासाद्य शरत्कालमिव कलिकाल[10]-जलधर-समय कलुषिताः प्रसादमुपगताः पुनरपि जगति सरित इव सर्वविद्याः। नियतमिह सर्वात्मना कृतावस्थितिना भगवता परिभूत-कलिकाल-विलसितेन धर्म्मेण न स्मर्य्यते कृत-

---

अपगता दूरीभूता अन्ये व्यापाराः कर्माणि येषां ते तादृशाः, तथा मुखावलोकने मुनिवदननिरीक्षणे निश्चला निमेषरहिता दृष्टिः अवलोकनं येषां ते तादृशाः, पुण्याः धर्मजनिकाः कथाः किंवदन्तीः शृण्वन्तः आकर्णयन्तः, अमी प्रत्यक्षोपलभ्यमाना मुनयः तपस्विनः पुण्यभाजः सुकृतभाजः यत् यस्मात् कारणात् अहर्निशं प्रतिदिनम् अपरम् अन्यं नलिनासनं कमलासनमिव विद्यमानं तं समुपासते परिचर्यां कुर्वते। तु पुनरर्थे। सततं निरन्तरम् अतिप्रसन्ने अतिशयेन प्रसादगुणयुक्ते अतिस्वच्छे च, करुणा परदुःखप्रहाणेच्छा जलमिव करुणेव च जलमिति करुणाजलं तस्य निस्यन्दिनि स्राविणि, अगाधम् इयत्ताशून्यम् अतलस्पर्शञ्च, गाम्भीर्यं दुरवगाहस्वभावत्वं गम्भीरता च यस्य तस्मिन् तादृशे अस्य महर्षेः मानसे चित्ते मानससरोवरे च हंसीव मरालीव, रुचिराः सुन्दराः द्विजाः छात्रीभूता विप्राः पक्षिणश्च 'दन्त-विप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः, परिवाराः परिजनाः यस्याः सा तादृशी या सरस्वती भारती निवसति वासं विधत्ते साऽपि धन्या श्लाघ्या, असामान्यसुकृतेनैवंविधवासस्थानस्य प्राप्यत्वात् सा सरस्वत्यपि धन्येत्याशयः।

अत्र 'अवनितलकमलयोनिना' इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकमलङ्कारः, 'नलिनासनमिवे'त्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षालङ्कारः, 'हंसीवे'त्यत्र पूर्णोपमालङ्कारः।

चतुरिति। चतुर्मुखस्य प्रजापतेः मुखकमलानि वदनपद्मानि तत्रवासिभिः स्थायिभिः चतुर्वेदैः ऋग्यजुःसामाथर्वभिः सुचिरादिव चिरसमयादिव इदम् एतत् द्वितीयम् अपरं तपोवनरूपम् स्थानम् आसादितं प्राप्तम्। अत्र सुचिरादिवेति गुणोत्प्रेक्षा, तेन हि ब्रह्मणो मुखस्य तुल्यत्वं तपोवनस्य पूतत्वं ध्वन्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

एनमिति। कलिकालः कलिसमयः जलधरसमयः वर्षाकाल इव तेन कलुषिताः निजप्रभाववशात् कुत्सितविवृत्त्यादिना अनुष्ठानशून्येन च दूषिताः, मलिनीकृताश्च सर्वविद्या अष्टादशविधा वेदादिविद्याः सरितो नद्य इव शरत्कालमिव घनात्ययमिव एनं मुनिम् ( जाबालिम ) आसाद्य प्राप्य संसारे पुनरपि द्वितीयवारमपि प्रसादं सद्वृत्त्यादिना अनुष्ठानेन च निर्दोषत्वं नैर्मल्यञ्च उपगताः प्राप्ताः। मुनिरयं निखिला अपि विद्या धारयति तत्प्रतिपादितानुष्ठानञ्च सम्पादयतीत्याशयः।

नियतमिति। इह अस्मिन् आश्रमे सर्वात्मना सर्वविधिना कृता विहिता अवस्थितिः वासो येन स तेन तादृशेन भगवता माहात्म्यवता धर्मेण सुकृतेन, परिभूतं न्यक्कृतं दूरीकृतमित्यर्थः कलिकालस्य

---

को छोड़ कर इन महर्षि के मुँह को अपलक आँखों से देखते हुए रात दिन कथायें सुना करते हैं और दूसरे ब्रह्मा के समान इनकी उपासना में लगे रहते हैं। वह सरस्वती भी धन्य है जो निर्मल जल से भरे अथाह मानस सरोवर में पक्षियों के साथ कमलों के सुख का अनुभव करने वाली राजहंसिनी के समान इन महर्षि के मुख के सम्पर्क का सुख प्राप्त करती हुई उनके अत्यन्त प्रसन्न कारुणिक एवं गंभीर हृदय में निवास करती है। ब्रह्मा के मुख कमलों में निवास करने वाले चारों वेदों को बहुत दिनों के पश्चात् यह दूसरा स्थान ( जाबालि का मुख ) प्राप्त हुआ है। जैसे वर्षा काल में कीचड़ से भरी हुई नदियाँ शरद् ऋतु पाकर फिर निर्मल हो जाती हैं उसी प्रकार कलिकाल के प्रभाव से दूषित सारी विद्यायें इन महर्षि को पाकर फिर निर्दोष हो गयी हैं। कलिकाल के सभी प्रपञ्चों को हरा कर एकाग्र भाव से इन महर्षि में निवास करने वाले भगवान धर्मदेव निश्चय

---

१. मुखकमलावलोकन···। २. पर्युपासते। ३. यदस्मिन् , याऽस्य। ४. रुचिरद्विजकुलपरिचये, द्विजपरिवारे। ५. क्वचित् 'सुख'पदं नास्ति। ६. हंसीव। ७. क्वचित् द्वितीयमुखपदं नास्ति। ८. वेदैः चतुर्भिर्वेदैः। ९. क्वचित् 'इव, द्वितीयम्' इत्युभयपदमपि नास्ति। १०. कलि-जलद-समय···।

युगस्य। धरणितलमनेनाधिष्ठितमालोक्य न वहति नूनमिदानीं सप्तर्षिमण्डल-निवासाभिमानमम्बरतलम्। अहो! महासत्त्वेयं जरा, यास्य प्रलय-रवि-कर-निकर-दुर्निरीक्ष्ये रजनिकर-किरण-पाण्डु-शिरोरुहे जटाभारे फेनपुञ्ज-धवला गङ्गेव पशुपतेः क्षीराहुतिरिव शिखाकलापे विभावसोर्निपतन्ती न भीता। बहलाज्य-धूम-पटल-मलिनीकृताश्रमस्य भगवतः प्रभावाद्भीतमिव रवि-किरणजालमपि दूरतः परिहरति तपोवनम्। एते च पवन-लोल-पुञ्जीकृत-शिखाकलापा रचिताञ्जलय इवात्र मन्त्रपूतानि हवींषि गृह्णन्ति एतत्प्रीत्या-

विलसितं चेष्टितं येन तथोक्तेन सता कृतयुगस्य सत्ययुगस्य नियतं नूनं न स्मर्यते न चिन्त्यते, सत्ययुगीयनिखिलसदाचाराद्युपलम्भादित्याशयः।

अत्र नियतपदस्य ध्रुवादिपदवत् उत्प्रेक्षाभिधायकत्वाद्वाच्याभावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा।

धरणीति। अम्बरतलम् आकाशतलं ( कर्तृ ), अनेन मुनिना अधिष्ठितम् आश्रितं धरणितलं पृथिवीतलम् आलोक्य नूनं निश्चितम् इदानीं सम्प्रति सप्तर्षिमण्डलस्य कश्यपादिसमूहस्य निवासेन आत्मन्यवस्थानेन योऽभिमानोऽहङ्कारः तं न वहति धत्ते सप्तर्षिवन्मुनेरवस्था तेन पृथिवीतलस्यापि स्वसमानत्वादित्याशयः। पूर्ववदेवालङ्कारः।

अहो इति। अहो आश्चर्यम्, इयम् अस्य देहेऽवलोक्यमाना, जरा वृद्धावस्था, महासत्त्वा महाप्राणा अत्यन्तशक्तिमती। कथमेतदवधार्यते इत्यत आह—यास्येत्यादि। फेनस्य डिण्डीरस्य यः पुञ्जः समूहः तेन धवला उज्ज्वला या जरा, प्रलये कल्पान्ते यो रविकरनिकरः सूर्यकिरणसमूहः तद्वत् दुर्निरीक्ष्ये महातेजस्वितयाऽवलोकयितुमशक्ये, तथा रजनिकरस्य चन्द्रस्य किरणवत् मयूखवत् पाण्डवः श्वेतवर्णाः शिरोरुहाः केशा यत्र तथोक्ते, अस्य मुनेः ( जाबालेः ) जटाभारे सटासमूहे पशुपतेः महेश्वरस्य जटाभारे सटासमूहोपरि निपतन्ती पतनं विदधती फेनपुञ्जवत् धवला गङ्गा भागीरथी इव, तथा विभावसोर्वह्नेः शिखाकलापे ज्वालासमूहे निपतन्ती फेनपुञ्जधवला क्षीरस्य दुग्धस्य आहुतिः प्रक्षेप इव निपतन्ती उपगन्तुं प्रवृत्ता सती न भीता न त्रस्ता अत्र यथाक्रमं प्रलयरविकर, रजनिकरकिरण, फेनपुञ्जेत्यत्र तिस्रो लुप्तोपमाः, गङ्गेव आहुतिरिवेत्यत्र चोपमे द्वे इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

बहलेति। रवेः सूर्यस्य किरणजालं मयूखसमूहः ( कर्तृ ) बहलानां प्रचुराणाम् आज्यधूमानां हविर्धूमानां पटलैः वृन्दैः मलिनीकृतः श्यामतां प्रापितः आश्रमो यस्य तादृशस्य भगवतो महात्म्यवतोजाबालेः प्रभावात् माहात्म्यात् भीतमिव त्रस्तमिव सद् दूरतो दूर एव एतत्तपोवनं परिहरति त्यजति, स्वप्रतिपक्षिणः प्रबलतमस इव धूमपटलस्योत्पादकतया मुनेरपि प्रतिपक्षिपक्षान्तर्भावात्त्रासेन तदन्तिकपरित्यागः समुचित एवेत्याशयः। अत्र भीतमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

एत इति। अत्र आश्रमे पवनेन समीरेण लोलश्चपलः पुञ्जीकृतश्च शिखाकलापो ज्वालासमूहो येषां ते तादृशाः, एते पुरोऽवलोक्यमानाः आशुशुक्षणयः दक्षिणाग्नि–गार्हपत्याहवनीयरूपा होमवह्नयश्च, रचिताञ्जलयः आहुतिस्वीकरणाय ऊर्ध्वीकृतयुक्तपाणितलद्वया इव सन्तः, एतस्य महर्षिजाबालेः प्रीत्या स्नेहेन, मन्त्रपूतानि ऋचा पवित्राणि हवींषि होतव्यानि घृतादीनि गृह्णन्ति स्वीकुर्वन्ति 'शिखावानाशुशुक्षणिः' इत्यमरः। अत्रापि क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

ही अब सत्ययुग की याद न करते होंगे और इन महात्मा को पृथ्वी तल पर स्थित देख कर अब आकाश भी सप्तर्षियों के निवास स्थान होने का अभिमान न करता होगा। यह बुढ़ापा भी कितनी साहसी है जो शङ्कर जी की जटाओं में गिरने वाली उज्ज्वल फेन से भरी गङ्गा तथा अग्नि में गिरने वाली दूध की आहुति के समान इन मुनि की प्रलयकालीन सूर्य की किरणों जैसी चमकीली एवं चन्द्रमा की किरणों जैसी उजली जटाओं पर गिरने में डरी नहीं। यज्ञ कुण्ड में निरन्तर अत्यधिक घी की आहुति पड़ते रहने के कारण उस आश्रम पर उससे उठने वाले धुओं की छाया पड़ती रहती है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो उस महर्षि के प्रभाव से सूर्य की किरणें भी उस आश्रम को दूर ही से छोड़ बैठी हैं। आश्रम के हवन-कुंडों में धधकती हुई अग्नि की

१. आलक्ष्य, अवलोक्य। २. क्वचित् 'मण्डल' पदं नास्ति। ३···रविरश्मि···। ४.···दुर्निरीक्षे। ५. रजनिकरनिकरपाण्डुरे जटाभारे। ६. निष्पतन्ती। ७.···आश्रमपदस्य। ८.···भीतभीतमिव। ९.···जालकमपि। १०.···पुञ्जितशिखाकलापाः, शिखाजटिलाः।

शुशुक्षणयः[1]। तरलित-दुकूलवल्कलोऽयञ्चाश्रमलता-कुसुम-सुरभि-परिमलो मन्द[2]मन्द-सञ्चारी सशङ्क इवास्य समीपमुपसर्पति गन्धवाहः। प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि[3]। सर्वतेजस्विनामयञ्चाग्रणीः। द्विसूर्य्यमिवाभाति जगदनेनाधिष्ठितं महात्मना। निष्कम्पेव[4] क्षितिरेतदवष्टम्भात्[5]। एष प्रवाहः[6] करुणा[7]रसस्य, सन्तरणसेतुः संसार-सिन्धोः, आधारः क्षमाम्भसाम्[8], परशुस्तृष्णालता-गहनस्य, सागरः सन्तोषामृत[9]-रसस्य, उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य, अस्तगिरिरसद्ग्रह[10]स्य मूलमुपशमतरोः, नाभिः[11] प्रज्ञाचक्रस्य, प्रासादो[12]-

---

तरलितेति। तरलितानि कम्पितानि दुकूलवत् क्षौमवसनवत् वल्कलम् ऋषिपरिहिततरुत्वक् येन स तादृशः, आश्रमलताकुसुमानाम् आश्रमलतापुष्पाणां सुरभिर्घ्राणतर्पणः परिमलो गन्धो यत्र स तादृशः, मन्दमन्दसञ्चारी शनैः शनैः सञ्चरमाणः अयञ्च गन्धवाहः पवनः, सशङ्कः भीताशय इव सन् अस्य जाबालेः समीपम् अन्तिकम् उपसर्पति उपगच्छति, परिहितवल्कलकम्पनेन स्वस्यापराधशङ्कया पवनस्य सशङ्कत्वं समुचितमेवेत्यभिप्रायः। सशङ्क इवेति गुणोत्प्रेक्षा।

प्राय इति। प्रायो बाहुल्येन महाभूतानामपि महाजन्तूनां मृगपतिगजादीनामपि तेजांसि महांसि दुरभिभवानि दुःखेनातिक्रमितुं शक्यानि भवन्ति, चोऽत्र किन्त्वर्थे। अयं मुनिः सर्वतेजस्विनां निखिल-धामवताम् अग्रणीः प्रधानः, सुतरामस्य तेजोऽतिक्रमणासम्भवात् सूर्यप्रभृतीनामुक्तविधो व्यवहारः समुचित एवेत्याशयः।

द्विसूर्यमिवेति। अनेन जाबालिना महात्मना भगवता अधिष्ठितम् आश्रितं जगत् द्विसूर्यमिव द्वौ सूर्यौ यत्र तदिव आभाति, अस्याऽप्यपरसूर्यसमानप्रभावत्वादित्याशयः। द्विसूर्यमिवेति द्रव्योत्प्रेक्षा।

निष्कम्पेति। एतस्य मुनेः अवष्टम्भात् आलम्बादिव क्षितिः पृथिवी निष्कम्पा निश्चला। इह अवष्टम्भादिवेति हेतूत्प्रेक्षा।

एष इति। एष जाबालिः, करुणा दयैव रसस्सलिलं तस्य प्रवाह ओघः, सर्वत्रैवैकरूपेण करुणाया विद्यमानत्वात्। संसारो मिथ्याज्ञानजन्या वासना स एव सिन्धुः समुद्रस्तस्य सन्तरणसेतुः उत्तरणजलपोतः 'तत्त्वमसि' इत्यादिमोक्षोपयोगिवाक्योपदेशद्वारा ज्ञानोत्पादनेन समुत्तारणात्। क्षमा परपरिभवादिषूत्पद्य-मानेषु क्रोधप्रतिबन्धः क्षमा एवाम्भांसि जलानि तेषाम् आधार आशयः सर्वत्रैव क्षमाकरणात् तृष्णा-विषयभोगलिप्सा एव लता वल्लयः तासां गहनस्य काननस्य परशुः कुठारः विनाशकारित्वात्। सन्तोषो यथाप्राप्तवस्तुनैव हृदि सन्तृप्तिः स एव अमृतरसः पीयूषद्रवः तस्य सागरः समुद्रः, विपुलाधारत्वात्। सिद्धिमार्गस्य मोक्षपथस्य उपदेष्टा उपदेशकः, तादृशजिज्ञासुजनायाध्यात्मविद्योपदेशात्। असद्ग्रहो दुरभिसन्धिरेव असद्ग्रहः शनैश्चरप्रभृतिदुष्टग्रहः तस्य अस्तगिरिः अस्ताचलः, एनं प्राप्यैव सर्वेषां दुरभि-सन्धिनाशात्। उपशमतरोः शान्तिद्रुमस्य मूलं ब्रध्नः हेतुश्च, उपदेशादिना शान्तिकरणात्। प्रज्ञामेव चक्रं

---

चंचल लपटें वायु के कारण एक में जुड़ी हुई सी ऐसी लग रही हैं मानो हवन की अग्नियाँ अंजुलियाँ बाँध कर उन महर्षि के मंत्रों से पवित्र हवन के सामानों को अत्यंत प्रेम के साथ ग्रहण कर रही हों। उन महर्षि के पास जाने वाला मन्द-मन्द सुगंधित वायु भी आश्रम की लताओं के फूलों की गंध लिए हुए वल्कल-वस्त्रों को हिलाकर मानो भयभीत-सा हो जाता है। प्रायः महान् प्राणियों का भी तेज अत्यंत अपराजेय होता है फिर इन महर्षि का तो कहना ही क्या जो सम्पूर्ण तेजस्वियों के प्रधान हैं। इस महापुरुष को धारण करके संसार दो सूर्यों को धारण करने वाला-सा बन गया है इन्हीं की स्थिति से पृथ्वी भी अचला बनी हुई है। ये करुणारूपी जल के प्रवाह हैं, संसाररूपी सागर को पार करने के लिए पुल हैं, क्षमारूपी जल के आधार स्थान हैं, विषयवासना-रूपी घनी लताओं के काटने की कुल्हाड़ी हैं, संतोषरूपी अमृत के समुद्र हैं, सिद्धिमार्ग के गुरु हैं, असत्यरूपी

---

१. प्रतिगृह्णन्त्याशुशुक्षणयः, प्रतिगृह्णन्त्येतत्प्रदत्तान्याशुशुक्षणयः। २. मन्दसञ्चारी। ३. तेजांसि, यतः। ४. निष्कण्टकेव। ५. अवष्टम्भादेव, अवष्टम्भेन। ६. प्रभवः। ७. करुणरसस्य। ८. कृपाम्भसाम्। ९. अमृतस्य। १०. असद्ग्रहचक्रस्य। ११. नेमिः। १२. प्रसादो, स्थितिवंशो।

धर्म्मध्वजस्य, तीर्थं[1] सर्वविद्यावताराणाम्, बडवानलो[2] लोभार्णवस्य, निकषोपलः शास्त्र-रत्नानाम्, दावानलो रागपल्लवस्य, महामन्त्रः[3] क्रोधभुजङ्गस्य[4], दिवसकरो मोहान्धकारस्य, अर्गलबन्धो नरक[5]-द्वाराणाम्, कुलभवनमाचाराणाम्, आयतनं मङ्गलानाम्, अभूमिर्मदविकाराणाम्, दर्शकः सत्पथानाम्, उत्पत्तिः[6] साधुतायाः, नेमिरुत्साह-चक्रस्य, आश्रयः सत्त्वस्य, विपक्षः कलिकालस्य, कोशस्तपसः, सखा सत्यस्य, क्षेत्रमार्जवस्य, प्रभवः[7] पुण्य-सञ्चयस्य, अदत्तावकाशो मत्सरस्य, अरातिर्विपत्तेः, अस्थानं परिभूतेः, अननुकूलोऽभिमानस्य, असम्मतो दैन्यस्य, अनायत्तो रोषस्य, अनभिमुखः[8] सुखानाम्।

---

तस्य नाभिः आलम्बनीभूतमध्यभागः, एनमाश्रित्यैव सर्वेषां ज्ञानविस्तारात्। धर्मः अभ्युदयनिश्रेयससिद्धिद एव ध्वजः पताका तस्य प्रासादो राजभवनम् अस्योपरि धर्मावलम्बनात्। सर्वविद्यासु आन्वीक्षिक्यादिषु ये अवताराः प्रवेशाः तेषां तीर्थं घट्टः, घट्टमवलम्ब्य सलिलेषु प्रवेशवत् एनमालम्ब्यान्तेवासिनां सर्वविद्यासु प्रवेशात्। लोभो धनाद्यागमे बहुधा जायमानेऽपि पुनः पुनर्वर्धमानोऽभिलाषः स एवार्णवः समुद्रः तस्य बडवानलः और्वः परिशोषकत्वात्। शास्त्राणि वेदादीन्येव रत्नानि मणयः तेषां निकषोपलः उत्कर्षापकर्षपरीक्षकप्रस्तरः, छात्राणां शास्त्रज्ञानपरीक्षाविधानात्। रागो विषयाभिलाष एव पल्लवः किसलयः तस्य दावानलो वनाग्निः दाहकत्वात्। क्रोधः परवशीकृतात्मनः परापकरणहेतुबुद्धिविशेषः स एव भुजङ्गः सर्पः तस्य महामन्त्रः, उपशमविधायित्वात्। मोहः कार्याकार्यविवेकाभावः अज्ञानमिति यावत् स एवान्धकारस्तिमिरः तस्य दिवसकरः उच्छेदकत्वात्। इह करुणारसस्येत्यारभ्य 'मोहान्धकारस्ये'त्यन्तं प्रायः सर्वत्रैव परम्परितरूपकमलङ्कारः, तत्र क्वचित्क्वचिच्च श्लिष्टपरम्परितरूपकम् एकदेशविवर्त्तिरूपकञ्च। किञ्चैकस्य मुनेर्विषयभेदेनानेकधोल्लेखादुल्लेखालङ्कारश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

अर्गलेति। नरकद्वाराणां दुर्गतिद्वाराणाम् अर्गलबन्धः कपाटबन्धकरणकीलकः, उपदेशादिना तत्त्वज्ञानमुत्पाद्य नरकप्रवेशनिवारणात्। आचाराणां वेदादिविहितसदाचाराणां कुलभवनं पुरातनाधारगृहम्, यावज्जीवनमेव सदाचारानुष्ठानात्। मङ्गलानां समग्रश्रेयसाम् आयतनं भवनं पवित्रभूमिरित्यर्थः, सर्वविधमङ्गलसम्पादनात्। वाक्यत्रयेऽप्यत्र प्रत्येकवृत्तिनिरङ्गकेवलरूपकालङ्कारसङ्कीर्णः प्राग्वदेवोल्लेखालङ्कारो ज्ञेयः।

अभूमिरिति। मदविकाराणाम् अहङ्काररूपमानसिकविकाराणाम् अभूमिरस्थानम्, अभिमानगन्धेनाऽपि शून्य इत्यर्थः महायोगित्वात्। सत्पथानाम् उत्कृष्टतमकर्ममार्गाणां दर्शक उपदेष्टा सर्वज्ञत्वात् सर्वहितचिन्तकत्वाच्च। पूर्वोक्तेन 'सिद्धिमार्गस्य' इत्यनेन सहास्य न पौनरुक्त्यम् उभयोः परस्परं भेदादित्यूहनीयम्। साधुतायाः सुजनताया उत्पत्तिः जन्मस्थानम् अस्मादेवानेकेषां सौजन्योपदेशप्राप्तेः। उत्साह उद्योग एव चक्रं तस्य नेमिः प्रान्तभागः, रथचक्रस्य प्रान्तदेशो यथा गन्तव्यमार्गस्य समग्रभागं स्पृशति तथायमपि उत्साहस्य पराकाष्ठाप्राप्त्या निखिलान् पदार्थान् परिमातीत्याशयः। सत्त्वस्य सत्त्वगुणमात्रस्य आश्रयः आधारः, रजस्तमसोरभिभवाभावात्। कलिकालस्य कलियुगस्य प्रतिपक्षः शत्रुः तत्कार्यपापावरोधकत्वात्। तपसः कोशो भाण्डागारम्, तपःपरिपूर्णत्वात्। सत्यस्य अनृतव्यवहारस्य सखा मित्रम्, क्षणमपि परित्यागाकरणात्। आर्जवस्य कोमलतायाः क्षेत्रं भूमिः, सर्वत्रैव सारल्यावलोकनात्। पुण्यसञ्चयस्य धर्मसमूहस्य प्रभव उत्पत्तिस्थानम्, दर्शनोपदेशादिना सर्वेषामेव पुण्योत्पादनात्। मत्सरोऽन्यशुभद्वेषस्तस्य न दत्तोऽवकाशः स्वस्मिन्नवस्थानस्थानं येन स तादृशः, क्वाप्यन्यशुभद्वेषाविधानात्। विपत्तेः आपदः अरातिः शत्रुः स्वजेजसा हननात्। परिभूतेरनादरस्य अस्थानम् अपदम्, सर्वदोषरहितत्वात्। अभिमानस्य समस्त-

---

ग्रहों के अस्ताचल हैं, शान्तिरूपी वृक्ष की जड़ हैं, ज्ञानरूपी चक्के की नाभि हैं, धर्मरूपी पताका के महल हैं, सभी विद्याओं में प्रवेश करने के किनारे हैं, लोभरूपी समुद्र को सुखाने वाले बडवाग्नि हैं, शास्त्ररूपी रत्नों के कसने की कसौटी हैं, विषयासक्तिरूपी पल्लवों की दावाग्नि हैं, क्रोधरूपी सर्प को वश में करने वाले मंत्र हैं, मोहरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए दिन हैं, नरकरूपी दरवाजों को बंद करने के लिए साँकल हैं, सदाचार के कुलीन घर हैं और मंगल के पवित्र मंदिर हैं। इनमें मद का बिकार आ ही नहीं सकता। ये

---

१. तीर्थः। २. बाडवानलः। ३. मन्त्रः। ४. क्रोधभुजङ्गमस्य। ५. नरकपुरद्वाराणाम्। ६. आदर्शः सर्वविद्यानामुत्पत्तिः। ७. प्रसवः, प्रभावः। ८. अवशो विषयाणामनभिमुखः, अनवकाशो विषयाणामनभिमुख इत्युभयविधः पाठः क्वचित् समुपलभ्यते।

अस्य भगवतः प्रभावादेवोपशान्तवैरमपगतमत्सरं तपोवनम् ।

अहो ! प्रभावो महात्मनाम् । अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तान्तरात्मानस्तिर्य्यञ्चोऽपि तपोवन-वसति-सुखमनुभवन्ति । तथा हि एष विकचोत्पलवन-रचनानुकारिणमुत्पतच्चारुचन्द्रकशतं हरिण-लोचन-द्युति-शवलमभिनव-शाद्वलमिव विशति शिखिनः कलापमातपाहतो निःशङ्कमहिः । अयमुत्सृज्य मातरमजातकेशरैः केशरि-शिशुभिः सहोपजातपरिचयः क्षरत्क्षीरधारं पिबति कुरङ्ग-शावकः सिंहीस्तनम् । एष मृणाल-

---

लोकानामेव अहङ्कारस्य अननुकूलः अनाज्ञापकः तत्त्यागोपदेशात् । रोषस्य कोपस्य अनायत्तोऽनधीनः 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः, दुराचारे प्रवर्त्तयितुमसमर्थत्वात् । सुखानामिहलोकभवानामित्यर्थः अनभिमुखः अनेनीप्सुकः, तदुपकरणपरित्यागात् । इह 'नेमिरुत्साहचक्रस्य' इत्यत्र परम्परितरूपकमलङ्कारः ।

अस्येति । अस्य भगवतो माहात्म्यवतः प्रभावादेव माहात्म्यादेव उपशान्तं विनष्टं वैरं मिथोविरोधो यत्र तत् तादृशम्, तथा अपगतो दूरीभूतो मत्सरोऽन्यशुभद्वेषो यस्मात् तत् तादृशं तपोवनं विद्यते' इति शेषः।

अहो इति । विस्मयसूचकमव्ययपदमिदम् । महात्मनां महानुभावानां प्रभावो माहात्म्यम् । एतदेव विशेषतो दर्शयति—अत्रेति हि निश्चितम् अत्र तपोवने शाश्वतिकं सदातनं विरोधं वैरम् अपहाय दूरीकृत्य उपशान्ता मिथोविरोधशून्या अन्तरात्मानः अन्तःकरणानि येषां ते तादृशाः तिर्यञ्चोऽपि पशुपक्ष्यादयोऽपि तपोवनवसतिसुखं मुनिस्थाननिवासानन्दम् अनुभवन्ति अनुभवविषयीकुर्वन्ति । उपपादयति —तथाहीति। एष पुरतोऽवलोक्यमानः अहिः सर्पः, आतपेन सूर्यकिरणेन आहतः सन्तप्तः सन् , विकचानां विकसितानाम् उत्पलानां नीलपद्मानां वनस्य विपिनस्य या रचना सृष्टिः तामनुकर्त्तुं शीलं यस्य तं तादृशम्, उत्पतत् उपरि गच्छत् चारु सुन्दरं चन्द्रकाणां मेचकानां ( चन्द्राकारचिह्नानां ) शतं समूहो यत्र तं तादृशम्, अत एव हरिणानां तत्तच्छष्पभक्षणतत्पराणां मृगाणां यानि लोचनानि नयनानि तेषां द्युतिभिः शोभाभिः शबलं कर्बुरितम् अभिनवशाद्वलमिव प्रत्यग्रशष्पबहुलदेशमिव विद्यमानं शिखिनो मयूरस्य कलापं पिच्छं निःशङ्कं निर्भयं विशति छायाप्राप्त्यर्थं प्रविशति । विरोधे सति तु सर्पोऽनादिकालशत्रोर्मयूरस्य पिच्छमात्मनैव कथमाश्रयेदित्याशयः । अत्राद्याऽर्थोपमाऽपरा च श्रौतोपमा इत्युभयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण स्थितत्वात्संसृष्टिरलङ्कारः ।

अयमिति । अयं पुरतोऽवलोक्यमानः कुरङ्गशावको मृगशिशुः मातरं निजजननीं मृगीम् उत्सृज्य परित्यज्य, अजातकेसरैः अनुत्पन्नसटैः केसरिशिशुभिः मृगपतिशावकैः सह उपजातपरिचयः उत्पन्नसंस्तवः, क्षरन्ती स्रवन्ती क्षीरधारा दुग्धधारा यस्मात्तं तादृशं सिंहीस्तनं पिबति पानं करोति ।

एष इति । आमीलितलोचनः सटाकर्षणेनानन्दोदयान्मुकुलितलोचनः, एष पुरतोऽवलोक्यमानः मृगपतिः सिंहः, मृणालकलापाशङ्किभिः सटासमूहे बिससमूहभ्रान्तिमद्भिः, द्विरदकलभैः करिशावकैः

---

सन्मार्ग के दिखाने वाले, साधुता के जन्मस्थान, उत्साहरूपी चक्के की धुरी, सतोगुण के आश्रयस्थान, कलिकाल के शत्रु, तप के कोष, सत्य के मित्र, सरलता के क्षेत्र और पुण्यों के उत्पत्तिस्थान हैं, इन्होंने अपने हृदय में ईर्ष्या-द्वेष को कभी आने ही नहीं दिया, विपत्तियों का सर्वदा विनाश किया, कभी किसी का अपमान किया ही नहीं, अभिमान को कभी बढ़ावा दिया ही नहीं, दीनता का कभी समर्थन किया ही नहीं, शेष को कभी पास फटकने ही नहीं दिया और सुखों की कभी अभिलाषा की ही नहीं ।

इन्हीं भगवान् जाबालि के प्रभाव से ही यह तपोवन ईर्ष्या द्वेष से रहित हो गया है ।

महात्माओं का प्रभाव भी कितना व्यापक होता है । यहाँ पशु-पक्षी भी अपना जातिगत बैर छोड़ कर अत्यंत शान्तभाव से तपोवन में रहने का सुख प्राप्त कर रहे हैं । देखो न धूप से व्याकुल यह साँप फैलने के कारण फूले हुए नीलकमल के समान प्रतीत होने वाले एवं ऊपर की ओर उभड़ी हुई सैकड़ों चंद्राकार आकृतियों के कारण मृगनेत्रों की शोभा से सुशोभित नवीन घास के अंकुरों जैसे लगने वाले मोरपंखों में निडर होकर प्रवेश कर रहा है । यह सिंह के अयाल रहित बच्चों से हिला मिला हुआ मृगछौना अपनी माँ को छोड़ कर दूध की दूध की धारा बहाने वाले सिंही-स्तनों को पी रहा है, ये हाथी के बच्चे चन्द्रमा को किरणों के समान

---

१. प्रसादादेवैतदप्युपशान्तवैरम् । २. उपशान्तात्मानः । ३. उत्पलिनीवनानुकारिणम् । ४. अधिवसति, आवसति । ५. कलापमाहतः । ६. अनुपजात । ७. प्रक्षरत्··· । ८. आपिबति ।

कलापा[1]शङ्किभिः शशिकर[2]-धवलं सटाभारम्[3] आमीलितलोचनो बहु मन्यते द्विरद-कलभै[4]राकृष्यमाणं मृगपतिः। इदमिह कपि-कुलमपगत-चापलमुपनयति मुनि-कुमारकेभ्यः[5] स्नातेभ्यः फलानि। एते च न निवारयन्ति मदान्धा अपि गण्डस्थलीभाञ्जि मदजल-पान-निश्चलानि मधुकर-कुलानि सञ्जात[6]दयाः कर्णतालैः करिणः। किं बहुना, तापसाग्निहोत्र-धूमलेखाभिरु[7]त्सर्पन्तीभिरनिशमुपपादितकृष्णाजिनोत्तरासङ्ग-शोभा[8]: फलमूलभृतो वल्क[9]-लिनो निश्चेतनास्तरवोऽपि सनियमा इव[10] लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः किं पुनः सचेतनाः प्राणिनः[11]।'

इत्येवं चिन्तयन्तमेव मां तस्यामेवा[12]शोकतरोरधश्छायायामेकदेशे स्थापयित्वा हारीतः पादावुपगृह्य कृताभिवादनः पितुरनतिसमीपवर्त्तिनि कुशासने समुपाविशत्। अलोक्य तु

---

आकृष्यमाणम् अवकृष्यमाणं शशिकरवत् चन्द्ररश्मिवत् धवलं स्वच्छं सटाभारं स्वजटासमूहं बहुमन्यते स्वल्पस्वल्पापकर्षणेनानन्दोदयात्समादरं करोति। अत्र जटासमूहे मृणालसमूहभ्रमाद्भ्रान्तिमानलङ्कारः, शशिकरधवलमित्यत्र च लुप्तोपमा, स्वभावोक्तिश्चेति परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

इदमिति। इह अस्मिन् तपोवने, अपगतचापलं मुनितेजसा विनष्टचाञ्चल्यम् इदं कपिकुलं वानरवृन्दं स्नातेभ्यो विहिताप्लवेभ्यः मुनिकुमारकेभ्यः तपस्विबालकेभ्यः फलानि सस्यानि उपनयति भक्षणायाहरति।

एत इति। मदान्धा मदोन्मत्ता अपि सञ्जातदयाः मधुकरवृन्देषु समुत्पन्नकरुणाः, एते च करिणो हस्तिनः, गण्डस्थलीं करटस्थलीं भजन्त इति तानि तादृशानि, मधुकरकुलानि भ्रमरसमूहान् कर्णतालैः विस्तृतकरतलस्वरूपकर्णताडनैः न निवारयन्ति न दूरीकुर्वन्ति, महर्षिप्रभावेणैतेषामपि कस्यापि सुख-हननाविधानादित्याशयः।

किमिति। बहुना अधिकेन जल्पितेन किं फलमित्यर्थः। अनिशं सन्ततम् उत्सर्पन्तीभिः उत्तिष्ठ-न्तीभिः तापसानां मुनीनां यानि अग्निहोत्राणि यागविशेषाः तेषां धूमलेखाभिः दहनकेतनपङ्क्तिभिः उपपा-दिता विहिता कृष्णाजिनोत्तरासङ्गस्य कृष्णसारमृगचर्मरचितोत्तरीयस्य शोभा कान्तिरिव शोभा येषु ते तादृशाः, फलानि सस्यानि मूलानि कन्दानि च बिभ्रतीति ते वल्कलिनो वृक्षत्वग्धारिणो निश्चेतनाः ज्ञानरहिताः, अस्य भगवतो माहात्म्यवतो महर्षेः तरवोऽपि वृक्षा अपि सनियमा व्रतिन इव लक्ष्यन्तेऽ-वलोक्यन्ते, कृष्णाजिनशोभादिधारणादित्याशयः। सचेतनाश्चेतनायुक्ता ये प्राणिनो मानवादयः तेषां किं पुनः किं वक्तव्यम्, ते त्वेवंरूपा भवन्त्येवेत्याशयः। अत्र 'कृष्णाजिनोत्तरासङ्ग शोभाः' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'सनियमा इव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा चेत्यनयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

इत्येवमिति। इत्येवं पूर्वोक्तविधिना चिन्तयन्तं मां वैशम्पायनं तस्यामेव अशोकतरोः अशोकवृक्षस्य अधश्छायायाम् एकदेशे एकस्मिन् भागे स्थापयित्वा संस्थाप्य हारीतः तन्नामा मुनिः, पादौ पितुर्जाबाले-रेव चरणौ उपगृह्य धृत्वा पादयोः पतित्वेत्यर्थः, कृताभिवादनो विहितप्रणामः, पितुर्जनकस्य अनतिसमीप-वर्त्तिनि नातिनिकटवर्त्तिनि कुशासने दर्भविष्टरे समुपाविशत् उपविष्टवान्। तुः पुनरर्थे। आलोक्य दृष्ट्वा

---

सफेद सिंह के अयालों को मृणाल समझ कर खींच रहे हैं और सिंह आँख मूँदे हुए प्रसन्न हो रहा है, ये बन्दर अपनी स्वाभाविक चंचलता छोड़ कर स्नान करके आए हुए मुनियों के बच्चों को फल दे रहे हैं और मतवाले होते हुए भी ये हाथी अपने कपोलों पर बैठ कर निश्चिन्तता के साथ मदजल पीने वाले भौंरों को दया के कारण कान हिला कर भगा नहीं रहे हैं। अधिक कहाँ तक कहें इस आश्रम के ये फल, मूल और वल्कलधारी निश्चेतन ( जड़ ) वृक्ष भी जब अग्निहोत्र की उठती हुई धूमलेखाओं के रूप में कृष्ण मृगचर्म पहिने हुए व्रतधारी तपस्वी के समान दिखाई दे रहे हैं तो सचेतन प्राणियों की बात ही क्या है।

मैं यह सोच ही रहा था कि हारीतकुमार ने उसी अशोक के नीचे छाया में मुझे एक ओर रख दिया और वे स्वयं पिता के चरणों का स्पर्श करते हुए प्रणाम करके उनसे कुछ दूर पर लगे हुए एक कुशासन

---

१. मृणालशङ्किभिः। २. शिशिरकर, शिशिरकलापकर…। ३. जटाभारम्। ४. कलभकः। ५. कुमारेभ्यः। ६. जातदयाः। ७. उत्सर्पन्तीभिरुपपादित, सर्पन्तीभिरहर्निशमुपपादित…। ८. …शोभनाः। ९. वल्कलिनस्तरवः। १०. इवास्य भगवतः समीपवर्त्तिनोऽत्र लक्ष्यन्ते; इव लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः समीपवर्त्तिनः। ११. प्राणिन एवम्। १२. तस्यैव रक्तशोकतरोश्छायायाम्।

मां सर्व[1] एव मुनयः 'कुतोऽयमासादितः शुकशिशुः' इति तमासीनमपृच्छन्। असौ तु तानब्रवीत्—'अयं मया स्नातुमितो गतेन कमलिनीसरस्तीर-तरु-नीड-पतितः[2] शुक-शिशुरातपजनित-क्लान्तिरुत्तप्तपांशुपटल-मध्यगतो दूर-[3]निपतन-विह्वल-तनुरल्पावशेषायुरासादितः, तपस्विदुरारोहतया च[4] तस्य वनस्पतेर्न शक्यते स्वनीडमारोपयितुमिति जातदयेनानीतः। तद् यावदयमप्ररूढपक्षतिरक्षमोऽन्तरी[5]क्षमुत्पतितुम्, तावदत्रैव कस्मिश्चिदाश्रमतरुकोटरे मुनिकुमारकैरस्माभिश्चोपनीतेन नीवार-कण-निकरेण विविध[6]फलरसेन च संवर्द्ध्यमानो धारयतु जीवितम्। अनाथ-परिपालनं हि धर्मोऽ[7]स्मद्विधानाम्। उद्भिन्नपक्षतिस्तु गगनतल-सञ्चरण[8]समर्थो यास्यति यत्रास्मै[9] रोचिष्यते। इहैव वोपजात-परिचयः[10] स्थास्यति।'

---

मां सर्वे निखिला एव मुनयः ऋषयः कुतः कस्मात् प्रदेशात् अयं शुकशावकः आसादित आनीत इति एवम् आसीनमुपविष्टं तं हारीतम् अपृच्छन् पृष्टवन्तः। असौ हारीतः तु पुनः तान् मुनीन् अब्रवीत् उक्तवान्—'अयं शुकशावकः इतः अस्मात्स्थानात् स्नातुम् आप्लवनार्थं गतेन प्राप्तेन मया हारीतेन कमलिनीसरसः पद्ममयसरोवरस्य पम्पायाः तीरतरोः तटस्थितवृक्षस्य नीडात् कुलायात् पतितः च्युतः। आतपेन सूर्यरश्मिना जनिता उत्पादिता क्लान्तिः देहव्यथा यस्य स तादृशः। उत्तप्तस्य उष्णीभूतस्य पांशुपटलस्य धूलिसमूहस्य मध्यगतोऽभ्यन्तरवर्त्ती, दूरात् निपतनेन अधःसंयोगफलिकया क्रियया विह्वला व्यग्रा तनुः, शरीरं यस्य स तादृशः, अत एव अल्पं किञ्चित् अवशेषम् अवशिष्टम् आयुः जीवितं यस्य स तादृशः आसादितः प्राप्तः। तपस्विभिः मुनिभिः दुरारोहतया दुःखेनारोढुं योग्यतया तस्य वनस्पतेः शाल्मलीतरोः स्वनीडं स्वकुलायम् आरोपयितुं स्थापयितुं न शक्यते न समर्थीभूयत इति हेतोः, जातदयेन उत्पन्नकरुणेन आनीतः अत्रानायि। तत्तस्माद्धेतोः यावत् यावत्समयम् अयं शुकशिशुः अप्ररूढे अनुत्पन्ने पक्षती पक्षमूलद्वयं यस्य स तादृशः अन्तरिक्षं गगनमुत्पतितुम् उड्डीय गन्तुम् अक्षमोऽसमर्थः तावत् तावत्समयम् अत्रैव अस्मिन् तपोवन एव कस्मिंश्चित् अनिर्दिष्टनामनि आश्रमतरुकोटरे मुनिवसतिवृक्षकोटरे मुनिकुमारकैः तापसबालकैः अस्माभिश्च उपनीतेन आनीतेन नीवारकणनिकरेण मुनिधान्यसस्यसमूहेन विविधफलरसेन नानासस्यद्रवेण च सम्बर्द्ध्यमानः वृद्धिं प्राप्यमाणः जीवितं जीवनं धारयतु दधातु। हि यतोऽस्मद्विधानाम् अस्मत्सदृशानां मुनीनाम नाथपरिपालनं दीनजनरक्षणं धर्म आचारः। उद्भिन्ने स्फुटे पक्षती पक्षमूले यस्य स तादृशः, तु पुनः, गगनतलसञ्चरणसमर्थः अम्बरतलगमनक्षमः, यत्र यस्मिन् देशे अस्मै शुकशावकाय रोचिष्यते अभिलाषः उत्पत्स्यते तत्र यास्यति व्रजिष्यति। 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' १।४।३३ इति पा० सूत्रेण चतुर्थी। वा अथवा इहैव अस्मिन्नेव तपोवने। अन्ययोगव्यवच्छेदार्थ एवकारः, उपजातपरिचयः उपजातः अस्माभिः सह उत्पन्नः परिचयः संस्तवो यस्य स तादृशः स्थास्यति अवस्थितिं विधास्यति।

---

पर बैठ गये। मुझे देखते ही सभी मुनि लोग उस बैठे हुए हारीतकुमार से पूँछने लगे—'यह सुग्गे का बच्चा कहाँ पा गये?' हारीत ने उनसे कहा—'मैं यहाँ से स्नान करने के लिए जा रहा था, उस समय कमल-सरोवर के किनारे एक वृक्ष के घोंसले से गिरा हुआ यह सुग्गे का बच्चा धूप की गर्मी से व्याकुल होकर जलती हुई रेत में पड़ा था। दूर से गिरने के कारण इसका शरीर अत्यंत विह्वल हो गया था और इसमें थोड़ी ही-सी जान बाकी रह गयी थी। इसे देख कर मुझे दया आ गयी किन्तु उस वृक्ष पर चढ़ना तपस्वियों के लिए अत्यंत कठिन था इसलिए इसे घोंसले में न रख कर साथ लेता आया। जब तक इसके पखने न निकल आएँ और यह आकाश में उड़ने योग्य न हो जाय तब तक इसी आश्रम के किसी वृक्ष के खोखले में मुनिबालकों और मेरे द्वारा दिए गए तिन्नी के कणों को खाकर तथा फलों का रस पीकर पलता हुआ पड़ा रहेगा। अनाथों का पालन-पोषण तो हम जैसे तपस्वियों का धर्म ही है! डैने निकल आने पर यह आकाश में उड़ने योग्य हो जायगा फिर जहाँ इसका मन होगा उड़ जायगा या हिल-मिल गया तो यहीं रह जायगा।

---

१. मां ते मुनयः सर्व एव। २. ...शिरस्तरुः सरसस्तीरतरुनीडपतितः। ३. दूरनिपतित...।
४. क्वचित् 'च' इति पाठो नास्ति। ५. अन्तरीक्षम्। ६. क्वचित् 'विविध' इति पाठो नोपलभ्यते।
७. अस्मद्यस्मद्विधानाम्। ८. सञ्चलन...। ९. यत्र चास्मै। १०. समुपजात..., उपजातविस्रम्भः।

इत्येवमादिकमस्मत्संबद्धमालापमाकर्ण्य[1] किञ्चिदुपजात-कुतूहलो[2] भगवान् जाबालिरीषदावलितकन्धरः पुण्यजलैः प्रक्षालयन्निव मामतिप्रशान्तया दृष्ट्या दृष्ट्वा[3] सुचिरमुपजात-प्रत्यभिज्ञ[4]ान इव पुनः पुनर्विलोक्य 'स्वस्यैवाविनयस्य फलमनेनानुभूयते' इत्यवोचत्।

स हि भगवान् कालत्रयदर्शी[5] तपःप्रभावाद्दिव्येन चक्षुषा सर्वमेव करतलगतमिव जगदवलोकयति[6], वेत्ति च[7] जन्मान्तराण्यतीतानि, कथयत्यागामिनमप्यर्थम्, ईक्षण गोचरगतानाञ्च प्राणिनामायुषः संख्या[8]मावेदयति।

ततः[9] सर्वैव सा तापस-परिश[10]च्छ्रुत्वा विदित-तत्प्रभावा 'कीदृशोऽनेनाविनयः कृतः, किमर्थं वा कृतः, क वा कृतः, जन्मान्तरे वा[11] कोऽयमासीत्' इति कुतूहलि[12]न्यभवत्, असकृदुपया-

---

इत्येवमिति। इत्येवम् इत्थमादिकम् अस्मत्सम्बद्धं मद्विषयकम् आलापं प्रश्नोत्तररूपम् आकर्ण्य निशम्य किञ्चित् ईषत् उपजातकुतूहलः उत्पन्नाश्चर्यः भगवान् माहात्म्यवान् जाबालिः ईषदावलितकन्धरो मद्दिशि किञ्चिदानमितग्रीवः, पुण्यान्येव सुकृतान्येव जलानि सलिलानि तैः तथोक्तैः मां वैशम्पायनं प्रक्षालयन्निव धौतीकुर्वन्निव अतिप्रशान्तया नितान्तप्रसन्नया दृष्ट्या नेत्रेण सुचिरं बहुकालं दृष्ट्वा अवलोक्य, उपजातम् उत्पन्नं प्रत्यभिज्ञानं 'स एवायम्' इत्याकारकं ज्ञानं यस्य स तादृशः इव पुनः पुनः भूयो भूय विलोक्य निरीक्ष्य स्वस्यैव आत्मन एव अविनयस्य अशिष्टव्यवहारस्य फलं भोगोऽनेन शुकशावकेन अनुभूयते साक्षात्क्रियते इति एवंविधिना तान् अवोचत् अब्रवीत्। 'पुण्यजलैः' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'प्रक्षालयन्निव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

ननु तस्मिन् समय एव प्रथमं दृष्टवतो महर्षेः प्रत्यभिज्ञा कथमुपजाता इत्यत आह—स हीति। हि यस्माद्धेतोः, सः भगवान् माहात्म्यवाञ्जाबालिः कालत्रयदर्शी अतीतानागतवर्त्तमानात्मककालत्रितयनिखिलोदन्ताभिज्ञः, तपःप्रभावात् दिव्येन ज्ञानात्मकेन चक्षुषा नेत्रेण सर्वं समस्तमेव जगत् संसारं करतलगतमिव पाणितलन्यस्तमिव अवलोकयति पश्यति। च पुनः अतीतानि गतानि जन्मान्तराणि भवान्तराणि वेत्ति जानाति। आगामिनमप्यर्थं भविष्यन्तमपि विषयं कथयति निरूपयति। ईक्षणगोचरगतानां लोचनपथप्राप्तानाञ्च प्राणिनां जीवानाम् आयुषो जीवितव्यस्य संख्याम् इयत्ताम् आवेदयति बोधयति।

तत इति। ततः तदनन्तरं सर्वैव समस्तैव सा तापसपरिषत् तपस्विसभा श्रुत्वा निशम्य पूर्वोक्तमिति शेषः। वृद्धतरुणभेदेन सम्प्रदायभेदेन वा तपस्विसभानामनेकत्वात्सर्वैवेत्यभिधानं युक्तमेव। विदितो ज्ञातः तस्य महर्षेर्जाबालेः प्रभावो माहात्म्यं यया सा तादृशी इति कुतूहलिनी अवगन्तुं चेतसि कौतुकवती अभवदित्यन्वयः। इति पदाभिधेयमाह—कीदृश इति। कीदृशः कीदृक् अनेन शुकशावकेन अविनयः अशिष्टव्यवहारः कृतो विहितः, किमर्थं किं प्रयोजनं वा कृतोऽनुष्ठितः, क्व वा कस्मिन् देशे कृतः, जन्मान्तरे भवान्तरे वा अयं कः आसीत् अभवत। तं भगवन्तं माहात्म्यवन्तम् असकृत् वारम्वारम्

---

मेरे संबंध की इन बातों को सुन कर भगवान् जाबालि को भी कुछ कुतूहल हुआ उन्होंने कुछ गर्दन घुमा कर मानो अपने पुण्य जल से मुझे नहलाते हुए अत्यंत शांत दृष्टि से मेरी ओर देर तक देखा और मानो मुझे पहचान कर बार-बार देखते हुए कहा कि यह तो अपने ही दुराचारों का फल भोग रहा है।

भूत, वर्तमान और भविष्य की सभी बातें जानने वाले वे महर्षि जाबालि तप के प्रभाव से दिव्य चक्षुओं द्वारा सारे संसार को करतलगत की भांति देखते थे, पूर्व जन्म में घटी हुई घटनाओं को भी जानते थे, भविष्य में घटने वाली घटनाओं को भी बताते थे और केवल देखने से ही प्राणियों की आयु भी बता देते थे।

उनके तपः प्रभाव को जानने वाली मुनियों की वह सारी सभा यह जानने के लिए अत्यंत उत्सुक हो उठी कि 'इसने कैसा दुराचार किया है ? क्यों किया है ? कहाँ किया है ? और पूर्व जन्म में यह कौन था ? अतः

---

१. अस्मत्सम्बद्धालापम्। २. कौतूहलः। ३. दृष्ट्या, क्वचित् नोभयरूपः पाठः समुपलभ्यते। ४. अभिजातप्रत्यभिज्ञः। ५. त्रिकालदर्शी। ६. आलोकयति। ७. वेत्तिजन्मान्तराण्यतीतानि। ८. प्रमाणम्। ९. यतः सर्वैव, सर्वैव सा तापस…। १०. सतापसपरिषत्। ११. क्वचित् 'वा' इति पदं नास्ति। १२. कौतूहलिनि।

चितवती[1] च तं भगवन्तम्—'आवेदय प्रसीद भगवन् ! कीदृशस्याविनयस्य फलमनेनानुभूयते[2], विहगजातौ वा[3] कथमस्य सम्भवः, किमभिधानो वाऽयम् , अपनयतु नः कुतूहलम् आश्चर्याणां हि सर्वेषां भगवान् प्रभवः ।'

इत्येवमुपर्याचितस्तपोधनपरिषदा स महामुनिः प्रत्यवदत्—'अतिमहदिदमाश्चर्यमाख्यातव्यम् , अल्पशेषमहः, प्रत्यासीदति च नः स्नानसमयः, भवतामप्यतिक्रामति देवार्चनविधिवेला, तदुत्तिष्ठन्तु भवन्तः, सर्व एव तावदाचरन्तु यथोचितं दिवस-व्यापारम् , अपराह्णसमये भवतां पुनः कृत-फलमूलाशनानां विस्रब्धोपविष्टानामादितः प्रभृति सर्वमावेदयिष्यामि । योऽयं यच्च[10] कृतमनेनापरस्मिन् जन्मनि, इह लोके[11] च यथास्य सम्भूतिः । अयञ्च तावदपगतक्लमः क्रियतामाहारेण । नियतमयमप्यात्मनो जन्मान्तरोदन्तं[12] स्वप्नोपलब्धमिव

---

उपयाचितवती तद्वृत्तान्तकथनाय प्रार्थितवती । हे भगवन् ! आवेदय अभिधेहि, प्रसीद प्रसन्नो भव, कीदृशस्य किंरूपस्य अविनयस्य अशिष्टव्यवहारस्य फलं भोगः अनेन शुकशिशुना अनूभूयते साक्षात्क्रियते । विहायसा आकाशमार्गेण गच्छतीति विहगः पक्षी तज्जातौ तद्वंशे अस्य कथं केन विधिना सम्भव उत्पत्तिः, वा अथवा किमभिधानः किन्नामा अयं शुकशिशुः, नोऽस्माकं कुतूहलम् आश्चर्यम् अपनयतु दूरीकरोतु, हि यतः सर्वेषां समस्तानाम् आश्चर्याणां परोक्षविषयविवरणस्वरूपाणां प्रभवो हेतुः अपूर्वार्थबोधक इत्यर्थः ।

इत्येवमिति । इत्येवम् अनेन विधिना तपोधनपरिषदा तपस्विसभया तत्रस्थजनैरित्यर्थः उपयाचितः प्रार्थितः स महामुनिः प्रत्यवदत् प्रत्यवोचत्—अतीति । इदमाश्चर्यम् अघटितघटनायुक्तम् अतिमहत् अतिदीर्घम् आख्यातव्यं निरूपणीयम्, मयेति शेषः । अहो वासरः अल्पशेषं स्वल्पावशिष्टम्, नोऽस्माकं स्नानसमयः मज्जनकालः प्रत्यासीदति सन्निधत्ते । भवतामपि युष्माकमपि देवार्चनविधिवेला देवपूजनविधिसमयः अतिक्रामति अत्युल्लङ्घिता भवति, तत्तस्मात् कारणात् भवन्तो यूयम् उत्तिष्ठन्तु उत्थानं विदधतु । सर्व एव 'तावत्' इति वाक्यालङ्कारे । यथोचितं यथायोग्यं दिवसव्यापारं दिनकृत्यम् आचरन्तु अनुतिष्ठन्तु । अपराह्णसमये प्रहरद्वयानन्तरकाले भवतां युष्माकं पुनः द्वितीयवारं कृतं विहितं फलमूलानाम् अशनं भोजनं यैस्तेषां तथोक्तानाम्, विस्रब्धोपविष्टानां सुस्थभावेनोपवेशनं कृतवताम् आदितः प्रारम्भतः प्रभृति सर्वं समस्तम् आवेदयिष्यामि कथयिष्यामि । अयं शुकशिशुः यः पूर्वजन्मनि आसीत्, परस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे यच्च कर्म अनेन कृतं विहितम्, च पुनः इह लोके अस्मिन् संसारे यथा येन प्रकारेण अस्य सम्भूतिः उत्पत्तिः । तावत् प्रथमम् अयं शुक आहारेण भोजनेन अपगतक्लमो विनष्टश्रमः क्रियतां विधीयताम् । नियतं निश्चितं मयि जाबालौ कथयति निवेदयति सति अयं शुकः अपि आत्मनः

---

सारी सभा उनसे बार बार प्रार्थना करने लगी, भगवन् कृपा करके बताइए कि यह किस प्रकार के दुराचरण का फल भोग रहा है ? यह पक्षि-योनि में कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका नाम क्या है ? आप हमलोगों की उत्सुकता दूर करें क्योंकि आप सभी आश्चर्यजनक बातों को कह सकते हैं । तपस्वियों की सभा के इस प्रकार निवेदन करने पर महर्षि जाबालि ने कहा कि 'यह वृत्तान्त बहुत ही आश्चर्यजनक और विस्तृत है जिसे मुझे पूरा सुनाना होगा किन्तु अब दिन भी थोड़ा ही रह गया है, मेरे स्नान का समय भी हो चला है और आपलोगों के देवपूजन में भी देरी हो रही है अतः इस समय आपलोग उठिए और अपने-अपने दैनिक कर्मों को पूरा कीजिए । रात के समय जब आपलोग कंद-मूल आदि खा-पीकर निश्चिंतता के साथ बैठिएगा तो 'यह जो है, इसने पूर्व जन्म में जो कुछ किया है और जैसे इस लोक में आया है आदि पूरी कथा प्रारंभ से ही सुनाऊँगा । तब तक इसे भी खिला-पिला कर आराम करने दीजिए । मैं जैसे-जैसे इसकी कथा सुनाता जाऊँगा वैसे ही वैसे इसे भी अपने पूर्व जन्म की

---

१. उपनाथितवती, इत्युपनाथितवती; उपेत्यार्थितवती । २. भुज्यते । ३. क्वचित् 'वा' पदं न विद्यते । क्वचिच्च 'च' पदं वर्त्तते । ४. उपयाच्यमानस्तु । ५. अवदत् । ६. वेला । ७. क्वचित् 'तावत्' पदं नास्ति । ८. क्वचित् 'फल' पदं नास्ति । ९. आवेदयिष्यामः । १०. यच्चानेन कृतमपर । ११. लोके च यथा लोके यथा । १२. जन्मान्तरवृत्त ।

मयि कथयति, सर्वमशेषतः स्मरिष्यति' इत्यभिदधदेवोत्थाय समं [1]तैर्मुनिभिः [2]स्नानादिक-मुचित-दिवस-व्यापारम् अकरोत्।

अनेन च[3] समयेन परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुपपादयता यः क्षितितले द[4]त्तः तमम्बर[5]-तलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनाङ्गरागं रविरुदवहत्। ऊर्ध्वमुखै-रर्कबिम्ब-विनिहित[6]-दृष्टिभिरूष्म[7]पैस्तपोधनैरिव परिपीयमान-तेजःप्रसरो विरलातप[8]-स्तनिमानमभजत्। उद्यत्सप्तर्षि[9]सार्थ-स्पर्श-परिजिहीर्षयेव संहृत-पादः पारावत-[10]पाद-

---

स्वस्य जन्मान्तरोदन्तं परजन्मवार्त्तां स्वप्नोपलब्धमिव स्वप्नदृष्टवत् सर्वं समस्तम् अशेषत आदितः स्मरिष्यति स्मृतिपथमानेष्यति, इत्यभिदधदेव इत्थं ब्रुवन्नेव उत्थाय उत्थानं विधाय मुनिभिः तपस्विभिः समं साकम् उचितं योग्यं दिवसव्यापारं दिनकृत्यं स्नानादिकम् अकरोत् विहितवान्।

अनेनेति। अनेन समयेन मध्याह्नसमयानुष्ठेयक्रियया, अत्र अपवर्गे तृतीया। परिणतः अवसानं प्राप्तः दिवसो वासरः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेन तपस्विमण्डलेन अर्घविधिं रक्तचन्दनरक्तकुसुमादिना सूर्याय पूजाविधिम् उपपादयता सम्पादयता क्षितितले भूतले दत्तोऽर्पितः यः रक्तचन्दनाङ्गराग इत्यर्थः अम्बरतलगतो गगनतलप्राप्तो रविः सूर्यः साक्षात् तं रक्तचन्दनाङ्गरागमिव रक्तचन्दनरूपमङ्गरागद्रव्य-मिव उदवहत् तनावधारयत्, तत्समये सूर्यस्यारक्तायमानत्वादित्याशयः। 'रक्तचन्दनाङ्गरागमिव' इति जात्युत्प्रेक्षा।

ऊर्ध्वेति। ऊर्ध्वमुखैः ऊर्ध्ववदनैः अर्कबिम्बे रविमण्डले विनिहिताः स्थापिता दृष्टयोऽवलोकनानि यैस्तैः, ऊष्माणम् उत्तापं पिबन्तीति तैस्तादृशैस्तत्संज्ञकैः, तप एव धनं येषां तैस्तथोक्तैः, परिपीयमानः आस्वाद्यमानः तेजःप्रसरः तेजस्समूहो यस्य स तथोक्त इव सन्, विरलः अस्तोन्मुखत्वात् स्वल्पीभूतः आतप आलोको यस्य स तादृशः सूर्यः, तनोः क्षीणत्वस्य भावस्तनिमा तम् अभजत् प्राप। तनिमानमि-त्यत्र 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति पा० सूत्रेण इमनिच् प्रत्ययः। अत्र सन्ध्यासमये मन्दातपो रविर्यत्क्षी-णत्वमुपगतस्तत्र तद्बिम्बविनिहितदृष्टिभिर्मुनिभिः समस्तं दिनं यावत् स ऊष्मा पीतः, अत एव सायं रविस्तनुतामभजदिति क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

उद्यदिति। उद्यत उदयमानस्य सप्तर्षिसार्थस्य सप्तर्षिगणस्य यः स्पर्शः पादेन संस्पर्शः, तस्य परि-जिहीर्षयेव परिहर्त्तुमिच्छयेव कारणेन, संहृतः सङ्कोचितः पादो रश्मिश्चरणश्च येन स तादृशः, संसारे प्रति-ष्ठितानां सप्तर्षीणां चरणेन स्पर्शनस्यात्यन्तमनौचित्यादित्याशयः। पारावतः कपोतः तस्य पादवत् चर-णवत् पाटलः श्वेतरक्तः रागः कान्तिः यस्य स तादृशः, रविः सूर्यः अम्बरतलात् गगनतलात् अलम्बत अवातरत्। अत्र पाद ( रश्मि ) द्वारा जगत्पूज्यानामृषीणां स्पर्शजनितोऽपराधो न भवत्विति हेतुना उप-संहृतपादः ( रश्मिः ) रविरम्बरतलादलम्बतेति हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः। रश्मिचरणयोर्भेदेऽपि पादशब्दश्लेषेणा-भेदाध्यवसायादतिशयोक्त्यलङ्कारः, 'पारावतपादपाटलराग' इत्यत्र लुप्तोपमा च, इत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गि-भावेन सङ्करालङ्कारः। यद्यपि जगद्वन्द्यस्य रवेः प्रभायां पारावतपादसाम्यकल्पनादुपमानौचित्यं प्रतीयते

---

बीती हुई सारी घटनाएँ स्वप्न के समान याद पड़ती जायँगी।' इस प्रकार कहते हुए ही महर्षि जाबालि ने सभी तपस्वियों के साथ उठकर स्नानादि सभी दैनिक कर्मों को पूरा किया।

यह सब होते जाते दिन समाप्त प्राय हो गया। सूर्यमंडल लाल हो गया मानो स्नानोपरान्त मुनियों ने सूर्य को अर्घ्य देते समय पृथ्वी पर जो लाल चन्दन गिराया था उसे ही उसने आकाश में उठा कर साक्षात् अपने शरीर में अंगराग की तरह मल लिया हो। तेजहीन सूर्य बिम्ब धीरे-धीरे छोटा पड़ने लगा मानो ऊपर की ओर मुँह उठा कर उस बिम्ब में दृष्टि लगाने वाले ऊष्मपायी ( धूम पीने वाले, तपस्या की एक साधना करने वाले ) मुनियों ने सारा तेज ही पी लिया हो। सायंकाल उदित होते हुए सप्तर्षि मंडल से कहीं पैरों का स्पर्श न हो जाय,

---

१. क्वचित् 'तैः' इति पदं नास्ति। २. स्नानादिकमुचितं दिवसव्यापारम्, स्नानादिकं दिवसव्यापारम्। ३. क्वचित् 'च' पदं नोपलभ्यते। ४. अर्घो दत्तः। ५. अम्बरतलं गतः, अस्ताचलगतः। ६. निहित...। ७. उष्मपैः। ८. विरलातपो दिवसः। ९. ...सार्थपरिजिहीर्षयैव। १०. चरण।

पाटलरागो रविरम्बरतलादलम्बत[1]। आलोहितांशु-जालं जलशयनमध्यगतस्य[2] मधु-रिपो[3]-र्विगलन्मधुधारमिव नाभि-नलिनं[4] प्रतिमागतमपरार्णवे सूर्यमण्डलमलक्ष्यत[5]। विहाय धरणि-तलम्[6] उन्मुच्य च[7] कमलिनीवनानि शकुनय इव दिवसावसाने तरु-शिखरेषु[8] पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वत। आलग्न-लोहितातप-च्छेदा[9] मुनिभिरालम्बित[10]-लोहित[11]-वल्कला इव-तरवः[12] अलक्ष्यन्त। अस्तमुपगते च भगवति सहस्रदीधितावपरार्णवतटात्[13] उल्लसन्ती[14] विद्रुम-लतेव पाटला[15] सन्ध्या समदृश्यत। यस्यामाबध्यमानध्यानम्, एकदेश-दुह्यमान-होमधेनु-दुग्धधाराध्वनितधन्यतरातिमनोहरम्[16] अग्निहोत्र-वेदि[17]-विप्रकीर्यमाण-हरित्-

तथापि सन्ध्याकाले तेजोविरहितलौहित्यसाम्येन रवेर्मन्दप्रभताऽतिशयध्वननाद्दोषाभावः, एतदर्थं पाठान्तरकल्पनमनावश्यकमेवाभातीति विभावयन्तु सुधियः।

आलोहितेति। आलोहितम् ईषद्रक्तवर्णम् अंशुजालं रश्मिपटलं यस्य तत् तादृशम्, विगलन्ती स्रवन्ती मधुधारा परागपङ्क्तिर्यस्मात् तत् तथोक्तम्, ईषद्रक्तविसारिरश्मिपटलस्य सादृश्यबोधनार्थमेतद्विशेषणमित्यवधेयम्, प्रतिमागतं प्रतिबिम्बभावेन पतितं जलशयनमध्यगतस्य सलिलशयनमध्यस्थितस्य मधुरिपोः श्रीविष्णोः नाभिनलिनं नाभिकमलमिव अपरार्णवे पश्चिमसागरे सूर्यमण्डलं सूर्यबिम्बप्रतिबिम्बम् अलक्ष्यत जनैरैक्ष्यत। अत्र 'नाभिनलिनमिव' इत्युपमा।

विहायेति। धरणितलं भूतलं विहाय परित्यज्य, कमलिनीवनानि पद्मवनानि उन्मुच्य त्यक्त्वा, तेषां परमप्रेमास्पदत्वेऽपि अस्ताचलगमनसमये समस्तस्यैव परित्याज्यत्वादित्याशयः, एवञ्च तथाविधार्थबोधनार्थमेव विशेषेणाभिधानमिदमिति भावुकाः। शकुनय इव पतत्त्रिण इव दिवसावसाने सन्ध्याकाले तरुशिखरेषु वृक्षाग्रेषु पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः सूर्यमयूखाः स्थितिम् अवस्थानम् अकुर्वत अविदधत। इहापि 'शकुनय इव' इत्यत्रोक्तालङ्कारः।

आलग्नेति। आलग्नाः संसक्ताः लोहिता रक्तवर्णा आतपानाम् आलोकानां छेदाः खण्डा येषु ते तादृशाः, अत एव मुनिभिः तपस्विभिः आलम्बितानि उपरिस्थापितानि लोहितानि लोहितवर्णानि वल्कलानि तरुत्वचः येषु ते तथोक्ता इव तरवः अलक्ष्यन्त अदृश्यन्त। इह वल्कलानामुपरिस्थापनस्योत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा।

अस्तमिति। भगवति प्रभाववति सहस्रदीधितौ दिनकरे अस्तमुपगते अदृश्यतां प्राप्ते अपरार्णवतटात् पश्चिमसमुद्रतीरात् उल्लसन्ती ऊर्ध्वमागच्छन्ती विद्रुमलतेव लतारूपेण तिर्यगवस्थिता प्रवालपङ्क्तिरिव पाटला श्वेतरक्ता सन्ध्या सायंसमयः समदृश्यत समलक्ष्यत। इह विद्रुमलतेवेति उपमा।

यस्यामिति। यस्यां सन्ध्यायाम् आबध्यमानं सायकृत्यतत्परैः ऋषिभिः विधीयमानं ध्यानं परमेश्वरे एकप्रत्ययसन्ततिर्यस्मिन् तत् तादृशम्। एकदेशे तपोवनस्य कस्मिंश्चिद्भागे दुह्यमानानां होमधेनूनां होमार्थगवां या दुग्धधाराः पयोधारास्तासां ध्वनितैः शब्दितैः धन्यतरं सत् अतिमनोहरम् अतिसुन्दरम्। अग्निहोत्राणां तत्संज्ञकयागविशेषाणां वेदिषु परिस्कृतचतुरस्रभूमिषु विप्रकीर्यमाणा हवनीयास्तरणार्थं विक्षिप्यमाणा हरितः श्यामवर्णाः कुशा दर्भा यत्र तत् तादृशम्। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति

इस भय से कबूतर के पैरों के समान लाल रंग वाला सूर्य मानो अपने किरणरूपी चरणों को समेट कर आकाश के एक ओर लटक गया और पश्चिम समुद्र में पड़ती हुई उसकी लाल-लाल परछाईं ऐसी प्रतीत होने लगी मानो जल में शयन करने वाले भगवान् विष्णु का मधुबिंदु बहाने वाला नाभि-कमल हो। सूर्य की किरणें पृथ्वी और कमल वनों को छोड़ कर सायंकाल के समय पक्षियों की तरह वृक्षों और पहाड़ियों की चोटियों पर जा बैठीं। अभी कहीं-कहीं आश्रम के वृक्षों पर लाल-लाल धूप बची हुई थी जो ऐसी प्रतीत होती थी मानों ऋषियों ने उस पर अपना लाल लाल वल्कल टांग दिया हो। सूर्य के अस्त हो जाने पर पश्चिमी समुद्र के तल से मूँगे की फूली हुई लता के समान उठती हुई सन्ध्या दिखायी देने लगी। उस समय आश्रम में कहीं मुनि लोग ध्यान

१. अवालम्बत। २. क्वचित् 'मध्ये'ति पाठो नोपलभ्यते। ३. मधुभिदः। ४. इव नलिनं। ५. आलक्ष्यत, अवैक्ष्यत, अदृश्यत। ६. धरातलम्, अम्बरतलम्। ७. क्वचित् 'च' इति पदं न विद्यते। ८. तपोवनतरुशिखरेषु। ९. रक्तातपच्छेदाः। रक्तातपगभस्तिच्छेदाः। १०. आलम्बिताः। ११. आलोहित। १२. आश्रमतरवः क्षमाम् अशोभन्त, अदृश्यन्त। १३. अपरार्णवतलात्। १४. उपसर्पन्ती। १५. आपाटला। १६. ···धाराध्वनिमनोहरम्। १७. क्वचित् 'वेदि' पदं नोपलभ्यते।

कुशम् ऋषिकुमारिकाभिरितस्ततो विक्षिप्यमाण-दिग्देवतार्चन[1]-वलि-सिक्थकम् आश्रम-पदमभवत् । क्वापि विहृत्य [2]दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्त्तमाना सन्ध्या मुदितैस्तपो[3]धनैरदृश्यत । अचिरप्रोषिते च[4] सवितरि शोक-विधुरा कमल-मुकुल-कमण्डलु-धारिणी हंस-सितदुकूल-परिधाना मृणाल-धवल-यज्ञोपवीतिनी[5] मधुकर-मण्डलाक्षवलयम्[6] उद्वहन्ती कमलिनी [7]दिनपति-समागम-व्रतमिवाचरत् । अपर-सागराम्भसि पतिते [8]दिवसकरे [9]तत्पतन-वेगोत्थितम् अम्भःशीकर-निकरमिव तारागणमम्बरम्[10]

श्रुत्या नित्यहोमसम्पादनादित्याशयः । ऋषिकुमारिकाभिः मुनिपुत्रीभिः इतस्ततः चतुर्दिक्षु विक्षिप्यमाणाः स्थाप्यमानाः, दिग्देवतानाम् इन्द्रादीनां दिक्पालानाम् अर्चनाय सपर्यायै वलिसिक्थाः उपायनरूपान्नानि यत्र तत्तथोक्तम् । आश्रमपद मुन्यावासस्थानम् ।

क्वापीति । मुदितैः ध्यानप्रसन्नैः तपोधनैः ऋषिभिः, क्वापि शष्पमयक्षेत्रादौ अज्ञातप्रदेशे च, विहृत्य पर्यटनं विधाय अवस्थानं विधाय च, दिवसावसाने दिनशेषे परिवर्त्तमाना प्रत्यागता, लोहिते रक्तवर्णे तारके कनीनिके यस्याः सा तादृशी, पक्षे लोहिताः तत्समयेऽपि रक्तसूर्यरश्मिसम्पर्काद्रक्तवर्णाः तारकाः ऋक्षाणि यत्र सा तादृशी, कपिला कनकवर्णा तपोवनधेनुः आश्रमगौरिव कपिला पिङ्गलवर्णा, सन्ध्या सायंसमयः अदृश्यत अलक्ष्यत । अत्र सन्ध्याधेन्वोरुपमानोपमेयभावः सादृश्यात्प्रतीयतेऽतः पूर्णोपमालङ्कारः।

अचिरेति । सवितरि रवौ प्रतापवति नायके च, अचिरप्रोषिते अस्तमुपगते परलोकं गते च, शोकेन विरहेण विधुरा विह्वला, कमलमुकुलमेव पद्मकुड्मलमेव कमण्डलुः, कमलमुकुलमिव कमण्डलुश्च तं धारयतीति सा तादृशी, हंसा मानसौकस एव सितदुकूलं श्वेतवसनं हंसवत् सितदुकूलञ्च परिधानम् अधोंशुकं यस्याः सा तादृशी, गतभर्तृकाया रक्तनीलादवसनपरिधाननिषेधादित्याशयः । मृणालं बिसतन्तुरेव धवलयज्ञोपवीतं श्वेतयज्ञसूत्रं मृणालवत् धवलयज्ञोपवीतञ्च अस्या अस्तीति सा तादृशी । तथा मधुकरा भ्रमराः तेषां मण्डलं समूह एव अक्षवलय जपमालिका, मधुकरमण्डलवत् अक्षवलयञ्च, तत् उद्वहन्ती धारयन्ती कमलिनी नलिनी, पद्मिनीनामको नारीविशेषश्च, दिनपतेः आदित्यस्य स्वामिनश्च समागमाय भूयः समागमनहेतोः व्रतं नियमविशेषम् आचरदिव अकरोदिव । इह 'आचरदिव' इति क्रियोत्प्रेक्षा, तथा कमलिनी–दिनपत्योः स्त्रीपुरुषव्यवहारसमारोपात् समासोक्त्यलङ्कारः, इत्युभयोः परस्परमेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करालङ्कारः । 'हंससितदुकूलपरिधाना' इति विशेषणं ददता विधवाया रक्तनीलादिवस्त्रधारणं निषिद्धमिति व्यञ्जितम् । उक्तञ्च—'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते'

अनेन हि द्विविधाः स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च, तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनादिकं भवतीत्यभिप्रेत्यैव 'मृणालधवलयज्ञोपवीतिनी' इत्युक्तमित्यवधेयम् ।

अपरेति । अपरः पश्चिमो यः सागरः समुद्रः तदम्भसि जले पतिते निपतिते दिवसकरे सूर्ये, तत्पतनवेगोत्थितं तत्पतनरभसप्रादुर्भूतम् अम्भःशीकरनिकरमिव पानीयपृषत्समूहमिव अम्बरम् अन्तरिक्षम् अधारयत् दधार । 'अम्भःशीकरनिकरमिव' इति जात्युत्प्रेक्षा ।

करने लगे, कहीं होम-धेनुओं के दूध दुहने की मनोहर ध्वनि सुनायी पड़ने लगी, कहीं अग्निहोत्र की वेदी के ऊपर हरे-हरे कुश बिछाए जाने लगे और कहीं ऋषियों की कन्याएँ दिक्पालों की पूजा के लिए इधर-उधर पके हुए अन्न की बलि बिखेरने लगीं । तपस्वी लोग दिनान्त में आई हुई लाल तारों वाली सन्ध्या को अत्यन्त प्रसन्नता के साथ इस प्रकार देखने लगे मानो दिन भर इधर-उधर घूम-घाम कर सायंकाल में लौटी हुई लाल नेत्रों वाली आश्रम की किसी गाय को देख रहे हों । सूर्य के अन्यत्र प्रवास के लिए चले जाने पर शोकमग्न कमलिनी कमलरूपी कमंडलु, हंसरूपी श्वेत वस्त्र, मृणालरूपी शुभ्र यज्ञोपवीत एवं भ्रमररूपी रुद्राक्षमाला धारण करके मानो पति-समागम की प्राप्ति के लिए तपस्या करने लगी । तारों से भरा हुआ आकाश इस प्रकार

१. क्वचिच्च 'अर्चन' पदं न विद्यते । २. दिवावसाने । ३. मुनिभिः । ४. क्वचित् 'च' इति पदं नास्ति । ५. यज्ञोपवीता । ६. '''मालावलयम् । ७. रवि''' । ८. दिनकरे, दिवाकरे । ९. दिवसकरे वेगोत्थितम् पवनवेगोत्थितम्, पतङ्गवेगोत्थितम् । १०. अम्बरतलम् ।

अधारयत् । अचिराच्च सिद्ध-कन्यका-विक्षिप्त-सन्ध्यार्च्चन-कुसुम-शबलमिव तारकितं[1] वियदराजत । क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्व-विप्रकीर्णैः प्रणामाञ्जलि-सलिलैः[2] प्रक्षाल्यमान इवागलदखिलः सन्ध्यारागः ।

क्षयमुपगतायाञ्च[3] सन्ध्यायां तद्विनाश-दुःखिता कृष्णाजिनमिव विभावरी तिमिरोद्गममभिनवमवहत् । अपहाय[4] मुनि[5]-हृदयानि सर्वमन्यदन्धकारतां तिमिरमनयत् । क्रमेण च रविरस्तं गतं[6] इत्युदन्तमुपलभ्य जातवैराग्यो धौत-दुकूल-वल्कल-धवलाम्बरः सतारान्तःपुरः, पर्य्यन्त-

अचिरादिति । अचिरात् स्वल्पसमयेन सिद्धा गुह्यकाः देवयोनिविशेषा इत्यर्थः 'पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरः, तेषां याः कन्यकाः पुत्र्यः ताभिर्विक्षिप्तानि विकीर्णानि यानि सन्ध्यार्चनकुसुमानि सायङ्कालीनपूजनप्रसूनानि तैः तादृशैः शबलं कर्बुरितम् अनेकवर्णमिव सत् तारकितम् उदिततारकासमन्वितं वियद् गगनं ( कर्त्तृ ) अराजत अशोभत । तथाविधपुष्पाणीव नक्षत्राण्यलक्ष्यन्तेत्याशयः । इह गुणोत्प्रेक्षा ।

क्षणेनेति । अत्र समुच्चयार्थकः चः । क्षणेन सद्य एव उन्मुखेन ऊर्ध्वमुखेन मुनिजनेन तपस्विजनेन ऊर्ध्वविप्रकीर्णैः ऊर्ध्वदिशि विक्षिप्तैः प्रणामाञ्जलिसलिलैः इष्टदेवताप्रणामकालीनाञ्जलिपूर्णपानीयैः प्रक्षाल्यमान इव धौत इव सन्, अखिलः समग्रः संध्यारागः सायङ्कालीनलौहित्यम् अगलत् अच्युतत्, सायं समयो व्यतीत इत्याशयः । इह 'प्रक्षाल्यमान इव' इति क्रियोत्प्रेक्षा ।

क्षयमिति । क्षयं विनाशम् उपगतायां प्राप्तायां सन्ध्यायाम्, तस्याः सन्ध्याया विनाशेन ध्वंसेन दुःखिता शोकातुरा विभावरी रजनी, कृष्णाजिनमिव श्यामवर्णचर्मवत् अभिनवं प्रत्यग्रं तिमिरोद्गमं रात्र्युदये उत्पन्नमन्धकारसमूहमित्यर्थः, उदवहत् धारणमकरोत् । कुटुम्बजनमरणे श्यामलक्ष्मधारणं जनाः कुर्वन्तीति व्यवहारः । इह नीलसाम्यात्तिमिरोद्गमस्य कृष्णाजिनसाम्यमित्युपमा सन्ध्याविनाशशोककातरेव सतीत्यवगमाद् भावाभिमानिनी प्रतीयमाना गुणोत्प्रेक्षा चेत्यनयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावात् सङ्करालङ्कारः ।

अपहायेति । तिमिरम् अन्धकारः मुनिहृदयानि तापसचेतांसि अपहाय त्यक्त्वा तेषु शश्वद्ब्रह्मालोकस्य सत्त्वादित्याशयः । अन्यत् सर्वं निखिलं वस्तु अन्धकारतां स्वाच्छादनेनाचाक्षुषताम् अनयत् प्रापयत् । एतेन तत्समये कृष्णपक्षस्य प्रतिपद्द्वितीया वा तिथिरासीदित्यवगम्यते ।

क्रमेणेति । रविः दिनकरः कश्चित् अत्यन्तप्रियसखा च, अस्तम् अस्ताचलं पञ्चत्वञ्च गतः प्राप्त इति एवम् उदन्तं वृत्तान्तम् उपलभ्य ज्ञात्वा जातमुत्पन्नं वैराग्यं समस्तविषयेषु वैतृष्ण्यं ममाधीना एवैते नाहमेतेषामधीन इत्यधीनीकरणसंज्ञा यस्य स तादृशः,अन्यत्र तु जातवैराग्यः समुत्पन्नाधिकरागः । धौतदुकूलवत् प्रक्षालितक्षौमवसनवत् वल्कलं तरुत्वगेव धवलं शुभ्रम् अम्बरं वसनं यस्य सः, पक्षे धौतदुकूलवल्कलवत् धवलं निजप्रभावेण शुभ्रम् अम्बरं गगनं यस्य स तादृशः, तथा सतारं सप्रणवम् अन्तःपुरं हृदयमध्यं तस्य सः ध्याननिष्ठ इत्यर्थः, पक्षे—तारा अश्विन्यादय एव अन्तःपुराणि अन्तःपुरस्थनार्यः तैः सहेति स तादृशः ( अमृतदीधितिः ), पर्यन्ते प्रान्तभागे स्थिता विद्यमाना तनुतिमिरवत् स्वल्पान्धकारवत् तमालवनानां तापिच्छारण्यानां लेखाः पङ्क्तयो यत्र तं तादृशम्, ( आश्रमम् ) पक्षे पर्यन्ते

प्रतीत होने लगा मानो उसमें पश्चिम समुद्र में सूर्य के गिरने से उड़े हुए जल के छींटे छा गए हों। तारों से आकाश इस प्रकार सुशोभित होने लगा मानो सिद्ध कन्याओं ने उस पर संध्याकालीन पूजन के पुष्पों को बिखेर दिया हो। थोड़ी ही देर में वह संध्याकालीन लालिमा मिट गयी मानो वह ऊपर की ओर मुँह करके तपस्वियों द्वारा फेंके गये प्रणामांजलि-जल से धुल गयी हो।

संध्या के नष्ट हो जाने पर उसके विनाश से दुखी रात्रि ने अंधकाररूपी नवीन मृगचर्म पहिन लिया। केवल मुनियों के हृदय को छोड़कर अन्य सभी स्थानों पर अंधकार ने अपना डेरा जमा लिया। रवि के अस्त होने का समाचार पाकर वैराग्यरूपी लाली में रँगा हुआ उज्ज्वल आकाशरूपी धुले वल्कल वस्त्र को धारण करने वाला चन्द्रमा तारिकाओंरूपी समस्त अन्तःपुर के साथ ध्याननिष्ठ होकर अन्धकाररूपी तमालवन-

१. सतारं । २. क्षाल्यमानः । ३. उपगतायां सन्ध्यायाम्, उपागतायां सन्ध्यायाम् । ४. शापदग्धमिव भयाद्विहायेव । ५. मुनिजनहृदयानि । ६. उपगतः, उपागतः । ७. समुपजात । ८. अन्तःपुरपर्य्यन्तस्थिततनु ।

स्थिततनु-तिमिर-तमाल-वन[1]-लेखम्, सप्तर्षिमण्डलाध्युषितम्, अरुन्धतीसञ्चरण-पवित्रम्[2], उपहिताषाढम्, आल[3]क्ष्यमाणमूलम्, एकान्तस्थितचारुतारक[4]मृगम् अमरलोकाश्रममिव गगन[5]तलम् अमृत-दीधितिरध्यतिष्ठत्। चन्द्राभरणभूतस्तारका कपाल-शकलालङ्कृतादम्बरतलात् त्र्यम्बकोत्तमाङ्गादिव गङ्गा सागर[6]म् आपूरयन्ती हंस-धवला धरण्यामपतज्ज्योत्स्ना। हिमकर-सरसि विकच-पुण्डरीक-सिते चान्द्रिका-जलपान-लोभादवतीर्णो निश्चलमूर्त्तिरमृ-

---

स्थितं तनुतिमिरं स्वोदयेन विरलमन्धकारं तमालवनलेखेव यस्मिंस्तत् तादृशम् (गगनतलम्) सप्तानाम् ऋषीणां तत्सदृशानां येषां केषाञ्चित्तपस्विनां मण्डलेन समूहेन अध्युषितम् आश्रितम्, पक्षे—सप्तर्षयो नक्षत्रात्मकमरीच्यत्रिप्रभृतयः तेषां गणेन अध्युषितम्। अरुन्धत्या वशिष्ठपत्न्याः अरुन्धतीसञ्ज्ञकताराविशेषस्य च सञ्चरणेन परिभ्रमणेन पवित्रं पूतम्। उपहिता ऋषिभिः स्थापिता आषाढाः पलाशदण्डा यत्र तं तादृशम्, 'पालाशो दण्ड आषाढः' इत्यभिधानचिन्तामणिः, पक्षे—उपहिते सन्निहिते आषाढे पूर्वाषाढोत्तराषाढे नक्षत्रे यत्र तत् तादृशम्। आलक्ष्यमाणानि समन्ताद्विलोक्यमानानि मूलानि तपस्विनां भक्ष्यभूतमूलानि यस्मिन् तं तादृशम्, पक्षे आलक्ष्यमाणं समन्ताद् दृश्यमानं मूलं मूलसंज्ञकनक्षत्रं यत्र तत्तादृशम्। तथा एकान्ते रहसि स्थिते चारु मनोहरं तारकं कनीनिकं येषां ते तादृशाः, एकान्ते एकभागे स्थिताः चारुतारका मृगा यत्र तं तादृशम्, पक्षे—एकान्ते स्थितः चारुतारकं मनोहरनक्षत्रं मृगो मृगशिरा यत्र तत् तादृशम्। अमरलोके देवलोके य आश्रमो वशिष्ठप्रभृतिमुनीनामावासस्थानं तमिव गगनतलम् आकाशतलम् अमृतदीधितिः चन्द्रः अध्यतिष्ठत् अधितस्थौ, प्राणतुल्यात्मीयजननिधनोदन्तं प्राप्यापर आत्मीयजन इवेत्याशयः, तेनेहाश्रमेण सहाकाशस्य साम्यं वाच्यं तथाविधात्मीयजनेन सहामृतदीधितेः साम्यन्तु प्रतीयमानमित्येकदेशविवर्त्तिन्युपमा श्लेषालङ्कारेण साङ्कर्यमुपैति।

चन्द्राभरणेति। सागरं समुद्रम् आपूरयन्ती निजोदयेन निजसलिलेन च परिपूर्णं विदधती, चन्द्रोदयेन सागराणां पूरणं प्रसिद्धम्, गङ्गापक्षे हि आपूरयन्तीत्यस्य आपूरयिष्यन्तीत्यर्थः, भविष्यति सामीप्ये च वर्त्तमानत्वमिहत्यवगन्तव्यम्। हंसवद्धवला हंसेन धवला शुभ्रा च ज्योत्स्ना चन्द्रिका, चन्द्र एवाभरणं भूषणं तद्बिभर्त्ति धारयतीति तस्मात्तादृशात्, तारका नक्षत्राणि कपालशकलानीव मनुष्यमस्तकास्थिखण्डानीव तैः अलङ्कृतात् भूषितात् अम्बरतलात् गगनतलात् त्र्यम्बकस्य महेश्वरस्य उत्तमाङ्गात् शिरसः गङ्गा जाह्नवी इव धरण्यां पृथिव्याम् अपतत् पपात। इह पूर्णोपमा।

हिमकरेति। विकचानि प्रस्फुटानि यानि पुण्डरीकाणि सिताम्भोजानि तद्वत् सिते शुभ्रवर्णे, तैः सिते च, हिमकरश्चन्द्र एव सरः कासारः तत्र तथोक्ते, चन्द्रिका कौमुदी एव जलं सलिलं तस्य पानलोभात् अवतीर्णः मध्यप्रविष्टः, हरिणः चन्द्राङ्कवृत्तिलक्ष्मरूपो मृगः, अमृतं चन्द्रपीयूषमेव पङ्कः कर्दमः तत्र लग्नोऽत्यन्तसंसक्त इव सन् निश्चलमूर्त्तिः निष्पन्दस्वरूपः अलक्ष्यत जनैरदृश्यत, अन्योऽपि हरिणः सरोवरजलं पातुमवतीर्णः कर्दममग्नो निष्पन्दस्तिष्ठति। इह कौमुद्याः पानसम्भवाभावात् पीयूषस्य तरलतया तत्र तथाविधलग्नत्वसम्भवाभावाच्च स्वाङ्गरूपकमलङ्कारः 'अमृतपङ्कलग्न इव' इति क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावात् सङ्करालङ्कारः।

---

पंक्ति से चित्रित, सप्ततारेरूपी सप्तर्षि-मंडल से शोभित, अरुन्धती तारारूपी वशिष्ठ-पत्नी अरुन्धती के आने जाने से पवित्र, पूर्वाषाढ़ और उत्तराषाढ़ नक्षत्ररूपी पलाश-दंडों से युक्त, मूल नक्षत्ररूपी फलमूल एवं सुन्दर तारों से भरे, मृगशिरा नक्षत्ररूपी सुन्दर नेत्रों वाले आश्रम-मृगों से विराजमान देवलोक के आश्रम जैसे आकाश में चला आया। जिस प्रकार अपने जल से समुद्र को परिपूर्ण कर देने वाली हंसों से भरी हुई उज्ज्वल गंगा चन्द्रमा से विभूषित एवं तारकासुर की खोपड़ी का भिक्षा-पात्र रखने वाले भगवान शंकर के सिर से पृथ्वी पर गिरी थी उसी प्रकार समुद्र को लहरा देने वाली हंसों जैसी उजली चाँदनी चन्द्रमा एवं तारों से सुशोभित आकाश से पृथ्वी पर गिर कर चारों ओर छिटकने लगी। चन्द्रमंडल के बीच की कालिमा, ऐसी प्रतीत होने लगी मानो

---

१. वृक्ष। २. पवित्रितम्, पूतम्। ३. उपलक्ष्यमाण। ४. तारकामृगं। ५. क्वचित् 'तल' इति पदं नास्ति। ६. सागरान्।

तपङ्क-लग्न इवालक्ष्यत[1] हरिणः। तिमिर-जलधर-समयापगमानन्तरम्[2] अभिनव-सित-सिन्धुवार[3]-कुसुम-पाण्डुरैरर्णवागतै[4]रगाह्यन्त[5] हंसैरिव कुमुद-सरांसि चन्द्रपादैः। विगलित-सकलोदयरागं रजनिकर-बिम्बमम्बरापगावगाह-धौत-सिन्दूरमैरावत-कुम्भस्थलमिव तत्-क्षणमलक्ष्यत। शनैः शनैश्च दूरोदिते भगवति हिमस्रु[6]ति सुधा-धूलि-पटलेनेव धवलीकृते[7] चन्द्रातपेन जगति, अवश्यायजलबिन्दु[8]-मन्दगतिषु विघटमान-कुमुदवन-कषाय-परिमलेषु समुपोढ-निद्रा-भरालस-तारकैरन्योन्य-ग्रथित-पक्ष्मपुटैरारब्ध-रोमन्थ-मन्थर-मुखैः सुखासीनैराश्रममृगैरभिनन्दितागमनेषु [9]प्रवहत्सु[10] निशामुख-समीरणेषु[11], अर्द्धयाममात्रावखण्डि-

तिमिरेति। अभिनवानि प्रत्यग्राणि यानि सितानि शुभ्राणि सिन्धुवारकुसुमानि निर्गुण्डीप्रसूनानि तद्वत् पाण्डुरैः शुभ्रैः, तथा अर्णवेभ्यः सागरेभ्यः आगतैः प्राप्तैः पक्षे सागरानपि प्राप्तैः, हंसैरिव चन्द्रस्य पादैः रश्मिभिः तिमिरम् अन्धकारो जलधरसमयः प्रावृट्काल इव श्यामत्वसादृश्यात् तस्य अपगमानन्तरं निवृत्यनन्तरं कुमुदसरांसि कैरवोपलक्षिततटाकानि अगाह्यन्त आलोड्यन्त अस्पृश्यन्त च। प्रावृट्काले हंसा हि समुद्रादागत्य सरोवरे विचरन्तीति प्रकृतिः। इह 'हंसैरिवे'त्युपमा, 'अभिनवसितसिन्धुवारकुसुमपाण्डुरैः' इत्यत्र लुप्तोपमा चेति सङ्कीर्णोपमा।

विगलितेति। विगलितः यथाक्रममूर्ध्वगमनाद्विलयं प्राप्त, सकलः समस्त उदयराग उदयकालीनं लौहित्यं यस्य तत्तादृशम्, रजनिकरबिम्बं चन्द्रमण्डलम् अम्बरापगा व्योमनदी मन्दाकिनी आकाशरूपापगा च तत्र अवगाहेन स्नानेन धौतं प्रक्षालितं सिन्दूरं नागजं यस्य तत्तादृशम्, ऐरावतस्य शुभ्रवर्णदेवेन्द्रगजस्य कुम्भस्थलमिव तत्क्षणं तत्कालं जनैः अलक्ष्यत अदृश्यत। शुभ्रत्वसादृश्याद्धंसचन्द्रपादयोरुपमानोपमेयभावः, अतिवर्त्तुलत्वसादृश्येन चन्द्रबिम्बस्य कुम्भस्थलोपमानत्वम्, इति स्फुटमेवोपमालङ्कारः।

शनैरिति। एतादृशसमये हारीतः कृताहारं विहितभोजनं मां वैशम्पायनम् आदाय गृहीत्वा पितरं जाबालिम् अवोचत् अब्रवीत् इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। अपि चेति चार्थः। तथा च शनैः शनैः मन्दं मन्दं भगवति माहात्म्यवति हिमस्रुति प्रालेयवर्षिणि चन्द्रे दूरोदिते दूरमुदयं प्राप्ते सति, तथा जगति संसारे सुधाया धूलिपटलेनेव पांसुसमूहेनेव चन्द्रातपेन शशिन आलोकेन धवलीकृते सति श्वेतीकृते सति, अवश्यायजलबिन्दुभिः हिमसलिलबिन्दुवहनैः मन्दा मन्थरा गतिर्गमनं येषां तेषु तादृशेषु, एवमादीनि सप्तम्यन्तानि पदानि अग्रिमस्य 'निशामुखसमीरणेषु' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। विघटमानस्य विकासं प्राप्यमाणस्य कुमुदवनस्य कैरववनस्य कषायः घ्राणतर्पणः परिमलो विमर्दगन्धो येषु तादृशेषु, तथा समुपोढेन उपस्थितेन निद्राभरेण प्रमीलातिशयेन अलसा मन्थरा निश्चेष्टा इत्यर्थः, तारका कनीनिका येषां तैः तादृशैः, अन्योन्यं परस्परं ग्रथितानि नेत्रमुद्रणेन दृढसंसक्तानि पक्ष्मपुटानि नयनलोमानि येषां तैः तादृशैः, तथा आरब्धेषु प्रथममुपक्रान्तेषु रोमन्थेषु चर्वितचर्वणेषु मन्थराणि प्रमीलावेशादलसानि मुखानि वदनानि येषां तैस्तादृशैः किञ्चित्किञ्चित्कालं विश्रम्य रोमन्थं विदधद्भिरित्यर्थः, सुखासीनैः यदृच्छयोपविष्टैः आश्रममृगैः तपोवनहरिणैः अभिनन्दितं स्पर्शसुखप्राप्त्या श्लाघितम् आगमनं येषां तेषु तादृशेषु, निशामुखसमीरणेषु प्रदोषकालीनपवनेषु, प्रवहत्सु सञ्चलत्सु सत्सु तथा विभावर्यां रजन्याम्, अर्धयाममात्रेण

विकसित श्वेत कमलों से भरे चन्द्रमारूपी सरोवर में चाँदनीरूपी जलपान के लोभ से आया हुआ मृग उसके कीचड़ में फँसकर निश्चल हो गया हो। अन्धकार दूर हो जाने के पश्चात् चन्द्रमा की श्वेत किरणें तालाब के जल में प्रतिबिम्बित होती हुई ऐसी प्रतीत होने लगीं मानो वर्षाऋतु के काले बादलों के हट जाने पर (शरदऋतु आ जाने पर) नवीन सिन्धुवार के श्वेत पुष्पों के समान उज्ज्वल हंस आकाश से उतर कर कुमुदों से भरे तालाब में क्रीड़ा कर रहे हों। उदयकालीन सारी लालिमा समाप्त हो जाने से चन्द्रमंडल ऐसा प्रतीत होने लगा मानो आकाश गंगा में स्नान करके निकले हुए ऐरावत हस्ती का कुम्भस्थल हो, जिस पर लगा हुआ सारा सिंदूर धुल चुका है। धीरे-धीरे चन्द्रमा आकाश में दूर तक पहुँच गया। चाँदनी में डूबा हुआ संसार ऐसा प्रतीत होने लगा मानों उस पर चूने की राख चढ़ा दी गयी हो। ओस के जलबिन्दुओं के भार से धीरे धीरे चलने वाली एवं कुमुदों को प्रफुल्लित करके उसकी सुगन्ध से भरी हुई सायंकालीन हवा बहने लगी और

१. अदृश्यत। २. समयानन्तरम्। ३. सिन्दुवार। ४. गगनागतैः। ५. अवागाह्यन्त, अगृह्यन्त। ६. हिमततिस्रुति, हिमदीधितौ। ७. 'धवलीकृते जगति' इत्येव पाठः। ८. बिन्दुपतनमन्दः बिन्दुपतनशीतेषुमन्द। ९. ···षण्ड···। १०. प्रवात्सु। ११. समीरेषु।

तायां विभावर्य्याम्, हारीतः कृताहारं मामादाय सर्वैस्तैः[1] सह मुनिभिः उपसृत्य चन्द्रातपोद्भासिते तपोवनैकदेशे वेत्रासने सुखोपविष्टम्[2] अनतिदूरवर्त्तिना[3] जालपादनाम्ना शिष्येण दर्भपवित्र-धवित्र[4]-पाणिना मन्दमन्दम्[5] उपवीज्यमानं पितरमवोचत्[6] 'हे तात[7] ! सकलेयमाश्चर्य्य-श्रवण-कुतूहलाकलित[8]-हृदया समुपस्थिता तापसपरिषदाबद्धमण्डला प्रतीक्षते[9] व्यपनीत-श्रमश्च कृतोऽयं पतत्रिपोतः, तदावेद्यतां यदनेन[10] कृतमन्यस्मिन् जन्मनि को वाऽयमभूद्भविष्यति वे'ति। एवमुक्तस्तु[11] स महामुनिरग्रतः स्थितं[12] मामवलोक्य तांश्च सर्वानेकाग्रान् श्रवण-परान् मुनीन् बुद्ध्वा शनैः शनैरब्रवीत्—'श्रूयतां यदि कौतूहलम्।'

इति महाकविबाणभट्टविरचितायां कादम्बर्यां कथामुखविवरणम्।

---

अर्धप्रहरमात्रेण अवखण्डितायां न्यूनत्वं प्राप्तायां सत्यां प्रहरचतुष्टयेऽतिक्रान्त इत्यर्थः, तैस्तैः सर्वैः निखिलैः मुनिभिस्तपस्विभिः सह उपसृत्य आगत्य ( हारीतः ) चन्द्रातपेन शशिज्योत्स्नया उद्भासिते विशेषेण प्रकाशिते, तपोवनैकदेशे मुनिस्थानान्यतमप्रदेशे वेत्रासने वेतसरचितविष्टरे सुखोपविष्टं सुखपूर्वकमासीनम्, अनतिदूरवर्त्तिना नातिनिकटस्थायिना, दर्भवत् कुशवत् पवित्रं पूतम्, धवित्रं मृगचर्मरचितं व्यजनं पाणौ हस्ते यस्य तेन तादृशेन, 'जालपाद' इति नाम यस्य तेन तथोक्तेन शिष्येण छात्रेण मन्दमन्दम् शनैः शनैः उपवीज्यमानम् क्रियमाणपवनं पितरमवोचत्।

तातेति। हे तात पितः! सकला समस्ता इयं प्रत्यक्षरूपेण दृश्यमाना, आश्चर्यस्य अद्भुतपदार्थस्य यच्छ्रवणकुतूहलं यदाकर्णनचित्तवृत्तिविशेषः तेन आकलितं व्याप्तं हृदयं मानसं यस्याः सा तादृशी, तथा आबद्धं विहितं मण्डलं वर्तुलरूपपङ्क्तिभावेनावस्थानं यया सा तथोक्ता, समुपस्थिता समागता तापसपरिषत् मुनिसभा प्रतीक्षते भवद्वचनारम्भमाकांक्षते भवद्विलम्बेनैव विलम्ब इत्याशयः, अयञ्च पतत्रिपोतः शुकशावकः, व्यपनीतः भोजनानुष्ठापनादिना दूरीकृतः श्रमः खेदो यस्य स तादृशः, कृतो विहितः। यदनेन शुकशावकेन कृतम् अनुष्ठितं तदावेद्यतां निवेद्यताम् 'अस्मभ्यम्' इति शेषः। अन्यस्मिञ्जन्मनि एतज्जन्मापेक्षयापरस्मिन् भवे अयं कः अभूत् आसीत् 'अग्रे च' को भविष्यति ?। एवम् इत्थम् उक्तोऽभिहितस्तु स महामुनिः जाबालिः अग्रतः पुरतः स्थितम् आसीनं मां वैशम्पायनम् अवलोक्य दृष्ट्वा एकाग्रान् एकतानान् सर्वान् निखिलान् श्रवणपरान् आकर्णनतत्परान् तान् मुनीन् ऋषीन् बुद्ध्वा अवगम्य च शनैः शनैः अतिवृद्धत्वात् कृशत्वाच्च मन्दं मन्दम् अब्रवीत् अगादीत्—'यदि चेत् कौतूहलम् आश्चर्यं तर्हि श्रूयतां निशम्यताम्।'

**इति श्रीकृष्णमोहनशास्त्रिविरचितायां 'चन्द्रकला' नामिकायां टीकायां कथामुखविवरणम्।**

---

नींद के भार से अलसायी हुई पुतलियों को पलकों में बन्द करके धीरे-धीरे जुगाली करने वाले आश्रम के मृग उस वायु का स्वागत करने लगे। अभी दो घड़ी रात बीती थी कि हारीत भोजन कर चुकने के बाद मुझे लेकर मुनियों के साथ अपने पिता जाबालि के पास पहुँचे। उस समय महर्षि जाबालि चाँदनी में चमकते हुए तपोवन के एक भाग में बेंत की चटाई पर बैठे हुए थे और जालपाद नाम का एक शिष्य उनसे थोड़ी ही दूर पर खड़ा होकर कुश का पवित्र पंखा हाथों में लिए हुए धीरे-धीरे वायु कर रहा था। हारीत ने उनसे कहा तात! मुनियों की यह सभा वह आश्चर्यपूर्ण वृत्तान्त सुनने के लिए अत्यन्त लालायित होकर मंडल बाँधकर बैठी हुई प्रतीक्षा कर रही है और यह पक्षी भी अपनी थकान दूर कर चुका है इसलिए अब बताइए कि इसने अपने पूर्वजन्म में क्या किया था और क्या था तथा अगले जन्म में यह क्या होगा? ऐसा कहने पर महर्षि जाबालि ने मुझे अपने सामने पड़ा हुआ देखकर तथा मुनियों को एकाग्रभाव से वह कथा सुनने के लिए तत्पर जानकर धीरे धीरे कहा—यदि आप लोग इतने उत्सुक हैं तो सुनिए।

---

१. तैर्महामुनिभिः। २. वेत्रासनोपविष्टम्। ३. नातिदूरवर्त्तिना…। ४. क्वचित् 'धवित्र' इति पदं नास्ति। ५. मन्दम्। ६. उवाच। ७. तात!। ८. आकुलितहृदया। ९. प्रतीक्ष्यते। १०. किमनेन कृतमपरस्मिन् जन्मनि कोऽयमभूद् भविष्यति चेति। ११. इत्येवमुक्तस्तु। १२. अग्रस्थितम्।

कथामुख-विवरण समाप्त

## अथ कथाप्रारम्भः

# उज्जयिनीवर्णना

अस्ति सकल-त्रिभुवन-ललामभूता, प्रसव-भूमिरिव कृतयुगस्य, आत्मनिवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन भुवनत्रय-सर्ग-स्थिति-संहारकारणेन प्रमथनाथेनापरेव पृथिवी समुत्पादिता, द्वितीय-पृथिवी-शङ्कया च जलनिधिनेव रसातल-गभीरेण[1] परिखा-वलयेन[2] परिवृता, पशुपति-निवास-प्रीत्या च गगनपरिसरोल्लेखि[3]शिखरमालेन कैलास-गिरिणेव सुधासितेन प्राकार-मण्डलेन परिगता, प्रकट-शङ्ख-शुक्ति-मुक्ता-प्रबाल-मरकत-मणिराशिभिश्चामीकर-चूर्ण-सिकता-निकर-निचितै[4]रायामिभिरगस्त्यपरिपीत-सलिलैः

अस्तीति। अवन्तीषु उज्जयिनी नाम नगरी अस्तीति सुदूरस्थायिना कर्तृपदेन सम्बन्धः। इह स्त्रीलिङ्गे प्रथमान्तानि पदानि उज्जयिनीत्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि। सकलत्रिभुवनललामभूता सकले समस्ते त्रिभुवने त्रिविष्टपे ललामभूता प्रधानस्वरूपा। 'प्रधानध्वजश्रृङ्गेषु पुण्ड्रवालधिलद्मसु। भूषावाजिप्रभावेषु ललामं स्याल्ललाम च॥' इति रुद्रः। कृतयुगस्य सत्ययुगस्य प्रसवभूमिरिव जन्मभूमिरिव समग्रावयवधर्मसंयुक्तत्वादित्याशयः। भुवनत्रयस्य त्रिविष्टपस्य यः सर्गः सृष्टिः, स्थितिरवस्थानम्, संहारो विनाशः तेषां कारिणा विधायिना, प्रमथाः शिवगणाः तेषां नाथेन स्वामिना महाकाल इत्यभिधानं नाम यस्य तेन तादृशेन, भगवता महेश्वरेण आत्मनिवासोचिता विस्तृतत्वात् पवित्रत्वाच्च स्वावस्थानयोग्या इति कृत्वा समुत्पादिता जनिता अपरा एतद्भूमिभिन्ना पृथिवी वसुन्धरेव। 'प्रसवभूमिरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, 'अपरा पृथिवीव' इत्यत्र च द्रव्योत्प्रेक्षा।

द्वितीयेति। द्वितीयाया एतद्भिन्नायाः पृथिव्याः शङ्कया भ्रान्त्या च जलनिधिनेव सागरेणेव, रसातलं पृथिव्या अधोभागं यावद्गभीरेण निम्नेन परिखावलयेन परिवृता परिवेष्टिता।

इह रसातलं यावद्गभीरत्वसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः, 'जलनिधिनेव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

पशुपतीति। पशुपतेः महाकालनाम्नो महेश्वरस्य निवासेन अवस्थानेन या प्रीतिः तत्रैव निवासविषये स्नेहः तेन तादृशेन, गगनपरिसरः आकाशपर्यन्तभूः तदुल्लेखिनी सङ्घर्षणेनावदारिणी शिखरमाला शृङ्गपङ्क्तिः ऊर्ध्वदेशपङ्क्तिश्च यस्य तेन तादृशेन, तथा सुधावत् गृहधवलीकरणद्रव्यवत् सितेन शुभ्रेण, सुधाभिः सितेन च, कैलासगिरिणेव रजताद्रिणेव प्राकारमण्डलेन वप्रवलयेन परिगता परिवेष्टिता। इह 'कैलासगिरिणेव' इतिद्रव्योत्प्रेक्षा।

प्रकटेति। प्रकटाः स्पष्टाः, शङ्खानां कम्बूनां, शुक्तीनां सागरमण्डूकीनां, मुक्तानां मौक्तिकानां प्रबालानां विद्रुमाणां, मरकतमणीनाम् अश्मसारगर्भाणाञ्च राशयः पुञ्जाः येषु तैः तादृशैः, चामीकरचूर्णान्येव चूर्णितसुवर्णधूलय एव सिकता बालुकाः तासां निकरेण समूहेन निचिताः सुषमाविशेषसम्पादनाय

अवन्ती ( मध्य प्रदेशान्तर्गत मालवा ) में अमर लोक की शोभा को जीतने वाली समस्त भुवनों का तिलक रूप उज्जयिनी नामकी नगरी है। वह मानो सत्ययुगकी जन्मभूमि है। तीनों भुवनोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाले महाकालनामधारी प्रमथाधिपति भगवान् महादेवने अपने निवास करने योग्य, मानो दूसरी पृथिवी का निर्माण किया हो। उसके चारों ओर रसातलके समान गहरा परिखामण्डल (जलकी खाई) ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उज्जयिनीको द्वितीय-पृथिवी समझ कर समुद्र आया हो। चारों ओर चूनेके शुभ्रवर्ण समान शहरपनाह ऐसी प्रतीत होती है कि मानो शङ्करजीको, वहाँ निवास करनेमें प्रीति देख आकाशको स्पर्श करता हुआ शिखरमालायुक्त कैलास पर्वत आया हो। बाजारकी सड़कें अगस्त्यजीसे पान किये गए जलवाले समुद्रके समान अत्यन्त विस्तृत हैं। उनमें चूर्ण की गई सोनेकी धूलियाँ बिछी हैं और शङ्ख, सीप, मोती, मूंगे तथा मरकत मणियों के पुञ्ज बिकने के

१. गम्भीरेण। २. जलपरिखा… । ३. गगनतलोल्लेखि…। ४. …रचितैः।

सागरैरिव महाविपणिपथैरुपशोभिता, सुरासुर-सिद्ध-गन्धर्व-विद्याधरोरगाध्यासिता-भिश्चित्रशालाभिरविरतोत्सवप्रमदावलोकन-कुतूहलादम्बरतलादवतीर्णाभिर्दिव्यविमानपङ्क्ति-भिरिवालङ्कृता, मथनोद्धूत-दुग्ध-धवलित-मन्दर-द्युतिभिः कनकमयामल-कलश-शिखरैरनिल-दोलायित-सित-ध्वजैरुपरि-पतदभ्रगङ्गैरिव तुषारगिरि-शिखरैरमरमन्दिरै-र्विराजित-शृङ्गाटका, सुधावेदिकोपशोभितोदपानैरनवरत-चलित-जल-घटी-यन्त्र-सिच्य-मान-हरितोपवनान्धकारैः केतकी-धूलि धूसरैरुपशल्यकैरुपशोभिता, मद-मुखर-मधुकर-

समर्पणाद्व्याप्ताः तैः तादृशैः, आयामिभिः विस्तारैः, अत एव अगस्त्येन घटोद्भवेन मुनिना परिपीतानि सलिलानि पयांसि येषां तैः तादृशैः जलरहिततया दर्शितानेकविधरत्नैरित्यर्थः, सागरैरिव समुद्रैरिव विद्यमानैः, महान्तः अतिदीर्घाः ये विपणीनां पण्यवीथिकानां पन्थानो मार्गाः तैरुपशोभिता शोभमाना।

इह 'सागरैरिव' इत्युपमा, अद्भुतसम्पत्तिवर्णनादुदात्तालङ्कारः, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

सुरेति। सुष्ठु परब्रह्मणि रमन्त इति सुरा देवाः, असुषु प्राणोपलक्षितदेहेन्द्रियादिषु रमन्त इत्यसुराः दैत्यदानवाः तैः सिद्धैः देवयोनिविशेषैः गन्धर्वैः देवगायनैः विद्याधरैः व्योमचारिभिः उरगैः सर्पैश्च, चित्र-शालापक्षे तत्तच्चित्रैः अध्यासिताभिः अवलम्बिताभिः चित्रशालाभिः आलेख्यगृहैः अविरतो निरन्तरो य उत्सवो महः'मह उद्धव उत्सवः'इत्यमरः,तत्र याः प्रमदा नार्यः तासाम् अवलोकनकुतूहलात् निरीक्षणरूप-कौतुकाद्धेतोःअम्बरतलात् गगनतलात् अवतीर्णाभिः भूतलं प्राप्ताभिःदिव्यविमानपङ्क्तिभिरिव स्वर्गीयाकाश-यानावलिभिरिव विद्यमानाभिः अलङ्कृता भूषिता। इह 'दिव्यविमानपङ्क्तिभिरिव' इति जात्युत्प्रेक्षा।

मथनेति। मथने क्षीरसागरमन्थनसमये उद्धूतैः मन्थनाघातेनोत्थितैः दुग्धैः तत्समुद्रस्थक्षीरैः धवलितः शुभ्रीकृतो यो मन्दरो मन्थनदण्डीकृतो मन्दराचलः तस्य द्युतिः कान्तिरिव द्युतिर्येषां तैः तादृशैः, कनकमयाः स्वर्णरचिता अमलाः स्वच्छाः कलशाः लघुकुम्भाः शिखरेषु ऊर्ध्वप्रदेशेषु येषां तैः तादृशैः, तथा अनिलेन पवनेन दोलायिताः सञ्चालिताः सितध्वजाः श्वेतवैजयन्त्यो येषु तैः तादृशैः अतएव पतन्ती उपरिष्टात्स्रवन्ती अभ्रगङ्गा मन्दाकिनी येषु तैः तादृशैः तुषारगिरिशिखरैः हिमाचलसानुभिरिव, अमरम-न्दिरैः ऊर्ध्वोर्ध्वदेवभवनैः विराजितानि शोभमानानि शृङ्गाटकानि चतुष्पथानि यस्यां सा तादृशी 'शृङ्गाटक-चतुष्पथे' इत्यमरः। इह 'अभ्रगङ्गैरिव' इत्युपमा, 'तुषारशिखरैरिव' इत्यत्र च लुप्तोपमा इत्यनयो-रङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

सुधेति। सुधावेदिकाभिः पानेच्छुजनोपवेशनार्थाभिः श्वेतकरणीयद्रव्योपलिप्तपरिष्कृतभूमिभिः 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः, उपशोभितानि शोभां प्रापितानि उदपानानि कूपा येषु तैः तादृशैः, 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा' इत्यमरः, अनवरतं निरन्तरं चलितैः भ्रामितैः जलघटीयन्त्रैः जलकुम्भर-चितयन्त्रैः सिच्यमानानि प्रोक्ष्यमाणानि यानि हरितानि नीलवर्णानि उपवनानि तान्येव सान्द्रश्यामत्वा-दन्धकाराः तमांसि येषु तैः तादृशैः, तथा केतकीनां कण्टकयुक्तवृक्षविशेषाणां धूलिभिः पुष्परागैः धूसराणि धूम्रवर्णानि तैः तादृशैः उपशल्यकैः ग्रामान्तैः उपशोभिता विभूषिता 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः, इह 'हरितोपवनान्धकारैः' इत्यत्र रूपकमलङ्कारः।

मदेति। मदेन मधुपानजनितमत्तत्वेन मुखरं वाचालं यत् मधुकरपटलं मधुपवृन्दः तेन अन्धकारिता

लिए रक्खे हैं। जिससे वह नगरी सजाई हुई है। वहां देव, दानव, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और नागोंसे भूषित चित्रशालाएँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो दिन-रात होते उत्सवों ( जलसों ) में एकत्रित होती स्त्रियोंको देखनेके कुतूहलसे देवताओंके विमानोंकी पङ्क्तियाँ आकाश से उतर आई हों। चौमुहानियों पर देव मन्दिर विराजित हैं। उनकी शोभा, क्षीरसागर मन्थन करने के समय दूध छलकने से शुभ्रवर्ण हुए मन्दराचल के समान है। उनके शिखरों पर सुवर्णके स्वच्छ कलश स्थापित हैं और वहाँ शुभ्रवर्ण ध्वजाएँ वायुसे फहरा रही हैं। वे आकाश-गङ्गासे संयुक्त हिमालयके शिखरके समान देखने में आ रहे हैं।

उस नगरीकी सीमाके निकटकी भूमि केवड़े की धूलिसे धूसर हो गई है। वहाँ कूएँ बने हैं और हरे हरे बगीचोंके कारण अन्धकार हो रहा है। कूपोंके चबूतरें पर चूनेकी सफेदी हो रही है। निरन्तर चलित जलघटी-यन्त्र ( रहटों ) से जल खींच कर उपवनों में सिंचाई की जा रही है। भवनों के साथ बने हुए

१. अनवरतोत्सवावलोकन···। २. मन्थनोद्धतदुग्धसिन्धुधवल···। ३···कुलान्धकारित···।

पटलान्धकारित-निष्कुटा, स्फुरदुपवन-लता-कुसुम-परिमल-सुरभि-समीरणा, रणित-सौभाग्यघण्टैरालोहितांशुक-पताकैराबद्ध-रक्तचामरैर्विद्रुममयैः प्रतिभवनम्[1] उच्छ्रितैर्मकराङ्कि[2]तैः मदन[3]-यष्टिकेतुभिः प्रकाशित-मकरध्वज-पूजा, सतत-प्रवृत्ताध्ययन-ध्वनि-धौत-कल्मषा, स्तिमित-मुरज-रवगम्भीर-गर्जितेषु सलिल-शीकरासाररचित-दुर्दिनेषु पर्यस्त[4]-रवि-किरणरचित-सुर-चाप-चारुषु धारागृहेषु मत्त-मयूर-मण्डलै[5]-र्मण्डलीकृतशिखण्डैस्ताण्डवव्यसनिभिराबध्यमान-केकारव[6]-कोलाहला, विकच-कुवलयकान्तैरुत्फुल्ल-कुमुद-धवलोदरै-

जनितान्धकारा निष्कुटा गृहान्तिकस्थोपवनानि यस्यां सा तादृशी, एतेनानेकविधप्रसूनशोभाधिक्यं ध्वनितम्। 'गृहारामास्तु निष्कुटाः' इत्यमरः।

स्फुरदिति। स्फुरन्तीनां पवनभरेण चेष्टमानानाम् उपवनलतानाम् निष्कुटव्रततीनां यानि कुसुमानि प्रसूनानि तेषां परिमलेन विमर्दगन्धेन सुरभिः घ्राणतृप्तिदः समीरणः पवनो यस्यां सा तादृशी।

रणितेति। रणिताः शब्दिताः सौभाग्यघण्टाः सौभाग्यद्योतिका घण्टा बृहत्किङ्किण्यो येषु तैः तादृशैः, आलोहिताः सम्यगरुणवर्णा अंशुकपताका वस्त्रवैजयन्त्यो येषु तैः तादृशैः, आबद्धानि सम्यग्बन्धनं विहितानि रक्तचामराणि लोहितबालव्यजनानि येषु तैः तादृशैः, विद्रुममयैः प्रबालबहुलैः, मकराङ्कितैः कन्दर्पस्य मत्स्यध्वजत्वात् मत्स्यसदृशपुत्तलकचिह्नितैः, प्रतिभवनं प्रतिमन्दिरेषु उच्छ्रितैः ऊर्ध्वीकृतैः मदनयष्टिकेतुभिः कामतरुरचितकन्दर्पध्वजैः प्रकाशिता द्योतिता मकरध्वजस्य कन्दर्पस्य पूजा नमस्या यस्यां सा तादृशी, कन्दर्पपूजायां तथाविधध्वजोच्छ्रयणस्य शास्त्रप्रतिपादितत्वादित्याशयः।

सततेति। सततम् अनवरतं प्रवृत्तैः उत्थितैः अध्ययनध्वनिभिः वेदादिपाठशब्दैः धौतं दूरीकृतं कल्मषं पातकं यस्याः सा तादृशी, एतेन सा नगरी भोगविलासादीनामेव नाश्रयः किन्तु वेदादिसच्छास्त्रपर्यालोचनस्थानमपीति ध्वनितम्।

स्तिमितेति। स्तिमितः सर्वतो भित्तिनिरोधेन निश्चलो यो मुरजस्य मृदङ्गस्य रवो ध्वनिः स एव गम्भीरं घोरं गर्जितं स्तनितमिव येषु तेषु तादृशेषु, सलिलस्य जलयन्त्रनिःसृतजलस्य शीकरा बिन्दवः तेषाम् आसारेण धारासम्पातेन रचितं विहितं दुर्दिनं मेघच्छन्नदिनं येषु तेषु तादृशेषु, तथा पर्यस्ताः काचकपाटादिषु निपतिता ये रविकिरणाः सूर्यरश्मयः तैः रचितं विहितं यत् सुरचापम् ऐन्द्रधनुः तेन चारुषु मनोहरेषु, धारागृहेषु सलिलयन्त्रालयेषु, ताण्डवव्यसनिभिः नर्त्तनासक्तैः अतएव मण्डलीकृता वर्त्तुलाकारीकृताः शिखण्डा बर्हाणि यैस्तैः तादृशैः मत्तमयूरमण्डलैः, आबध्यमानः परस्पराश्लिष्टीक्रियमाणः केकारवः मयूरवाणीशब्दः तदात्मकः कोलाहलः कलकलः यस्यां सा तादृशी, 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। इह 'स्तिमित-मुरज' इत्यादिषु लुप्तोपमा, तथा 'मण्डलैः' इत्यादिषु वृत्त्यनुप्रासः इति द्वयोः संसृष्टिः, मुरजरवादौ मेघगर्जनभ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारः प्रतीयत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः।

विकचेति। विकचानि प्रस्फुटानि यानि कुवलयानि नीलोत्पलानि तैः कान्तानि रम्याणि तैस्तादृशैः,

उपवनों में मदसे गुञ्जार करते भ्रमरों ने अन्धकारित कर दिया है। चञ्चल उपवन लताओंके फूलोंकी परिमलसे वायु सुगन्धित हो बह रहा है। प्रत्येक घर में मदन वृक्षके दण्ड पर मत्स्यके चिह्नवाली ऊंची ध्वजाएं खड़ी हैं, उनमें मूंगे लटक रहे हैं, सौभाग्यसूचक घण्टियां बज रहीं हैं, लाल रेशमी कपड़ेकी पताकाएं फहरा रहीं हैं और रक्त चामर बंध रहे हैं, इससे प्रतीत हो रहा है कि कामदेवकी पूजा की जा रही है। निरन्तर वेदाभ्यासकी ध्वनि होने से उस नगरीका समस्त पाप प्रक्षालित हो गया है ( अर्थात् वह नगरी केवल भोग-विलासका ही आश्रय नहीं है किन्तु वेदादिशास्त्रानुशीलन का भी स्थान है )। वहां सुन्दर जलयन्त्र भवनोंमें मेघगर्जनके समान मृदङ्गकी गम्भीरध्वनि हो रही है, जलकी छोटी-छोटी बूंदोंकी वृष्टि हो रही है. जिससे दुर्दिन मालूम पड़ रहा है। सूर्यकी किरणोंसे पृथिवी पर इन्द्रधनुष बन रहे हैं, और मण्डल बनाकर पंख फैलाकर नृत्यमें आसक्त मतवाले मयूरोंके शब्दसे कोलाहल हो रहा है। उस नगरीमें सहस्रों सरोवर ( तालाब ) हैं। वे विकसित नीलकमलों के कारण सुन्दर लगते हैं, और खिले हुए कुमुदों से उनका बीचका भाग शुभ्रवर्ण हो गया है, और वे

१. प्रतिगृहम्। २. मकराङ्कैः। ३. सदन। ४. पर्यन्तदिवसकरकिरणस्तवकरचित। ५. मयूरमण्डलैरामण्डलीकृत, मत्तमयूरैर्मण्ड। ६. क्वचित् 'रव' इति पदं नास्ति।

रनिमिष-दर्शन-रमणीयैराखण्डल-लोचनैरिव सहस्र-संख्यैरुद्भासिता सरोभिः, अविरल-कदली-वन-कलिताभिरमृत-फेनपुञ्जपाण्डुराभिर्दिशि दिशि दन्तवलभिकाभिर्धवलीकृता, यौवन-मदमत्तमालवी-कुच-कलश-क्षुभि[1]तसलितया भगवतो महाकालस्य शिरसि सुर-सरितमालोक्य[2] समुपजातेर्ष्ययेव सततब[3]द्ध-तरङ्ग-भ्रुकुटीलेखया खमिव क्षालयन्त्या शिप्रया परिक्षिप्ता, सकल-भुवन-ख्यात-यशसा हरजटा-चन्द्रेणेव कोटिसारेण मैनाकेनेवाविदित-

पक्षे विकचकुवलयवत् कान्तैः रमणीयैः। उत्फुल्लानि विनिद्राणि यानि कुमुदानि श्वेतोत्पलानि तैः धवलानि शुभ्राणि उदराणि मध्यस्थानानि येषां तैः तादृशैः, अन्यत्र तु उत्फुल्लकुमुदवत् विकसितश्वेतोत्पलवत् धवलोदरैः। तथा अनिमिषाणाम् अनेकविधमीनानां दर्शनेन अवलोकनेन रमणीयैः मनोहरैः, अन्यत्र अनिमिषं सुरत्वात् पक्ष्मपातरहितं यद्दर्शनं दृष्टिपातः तेन रमणीयैः। आखण्डलस्य इन्द्रस्य लोचनैः सहस्रसंख्यैर्नेत्रैरिव सहस्रसंख्यैः सरोभिः तडागैः उद्भासिता उपशोभिता। इह सर्वत्र पूर्णोपमा।

अविरलेति। अविरलं सान्द्रं यत्कदलीवनं रम्भासमूहः तेन कलिताभिः व्याप्ताभिः। अमृतस्य पीयूषस्य फेनपुञ्जवत् डिण्डीरपिण्डवत् पाण्डुराभिः श्वेताभिः, दन्तवलभिकाभिः हस्तिदन्तरचितचन्द्रशालाभिः उपरितलगतलघुभवनैरित्यर्थः, हिन्द्याम् 'अटारी' इति प्रसिद्धैः। 'शुद्धान्ते वलभी चन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेश्मनि' इति, 'कदली वैजयन्त्याञ्च रम्भायां हरिणान्तरे' इति च विश्वः। इह लुप्तोपमा।

यौवनेति। यौवनमदेन तारुण्याभिमानेन मत्तानां मालवीनां तत्स्थानस्य मालवदेशान्तःपातित्वात् मालवदेशीयसुन्दरीणां कुचकलशैः स्तनघटैः क्षुभितम् आलोडितं सलिलं वारि यस्यास्तया तादृश्या, भगवतो महाकालस्य महाकालसंज्ञकतत्रत्यपरमेश्वरस्य शिरसि मस्तके सुरसरितं गङ्गाम् आलोक्य निरीक्ष्य समुपजातेर्ष्ययेव समुत्पन्नेर्ष्ययेव सततं निरन्तरम् आबद्धाः कृताः तरङ्गाः कल्लोला एव भ्रुकुटीलेखा भ्रूभङ्गपङ्क्तिर्यया तया तादृश्या, खं गगनं क्षालयन्त्येव निर्मलं कुर्वन्त्येव विद्यमानया शिप्रया शिप्रासंज्ञिकया नद्या परिक्षिप्ता परिवेष्टिता।

इह 'समुपजातेर्ष्ययेव' 'क्षालयन्त्येव' इत्यत्र वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा, भ्रुकुटिविकाररूपकार्येण शिप्रायां सपत्नीव्यवहारसमारोपात् रूपकगर्भा समासोक्तिरिति परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

सकलेति। सकलेषु समस्तेषु भुवनेषु विश्वेषु ख्यातं प्रसिद्धं यशः कीर्त्तिः यस्य स तेन तादृशेन, इत आरभ्य तृतीयान्तानि पदानि 'अधितिष्ठता' इत्यग्रे प्रतिपाद्यमानक्रियाकर्तृभूतस्य 'विलासिजनेन' इत्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि।

हरेति। हरस्य महेश्वरस्य जटायां यश्चन्द्रो निशानाथः तेनेव, कोटिः शतलक्षं तावत्प्रमाणं सारं द्रव्यं यस्य तेन तादृशेन, पक्षे तु कोटिः अग्रभाग एव सारः स्थिरांशोऽथवा अवशिष्टभागो यस्य तेन तादृशेन।

मैनाकेनेति। मैनाकस्तन्नामको हिमाचलसुतस्तेन भूधरविशेषेणेव, अविदितः अज्ञातः पक्षपातः पक्षप्रतिपक्षिणोरेकतरपक्षोपादानं येन तेन तथोक्तेन, पक्षे तु अविदितः अननुभवाविषयीकृतः पक्षयोः पतत्रयोः पातः इन्द्रेण कर्त्तनात् पतनं येन तेन तादृशेन।

पुरा हि पर्वता यदा कदा उड्डीयमानाः सन्तः ग्रामनगरादीनां लोपमकार्षुरिति परिज्ञाय तेषां पक्षांश्छेत्तुम् इन्द्र आरब्धवान्, अथ तत्समये हिमाचलसुतो मैनाकः पलायमानः समुद्रेऽमज्जदिति पौराणिकी कथा।

इन्द्रके नेत्रोंके समान अनिमिष दर्शनसे (इन्द्रकी दृष्टि निमेष-रहित है, सरोवर में मत्स्य हैं) रमणीय प्रतीत होते हैं। उसकी प्रत्येक दिशामें गजदन्तकी चन्द्रशालाएं बनी हुई हैं। वे केलोंके घने वनसे घिरी हैं और अमृतफेनपुञ्जके समान शुभ्रवर्ण हैं। उनसे उस राजधानी की सभी दिशाएँ शुभ्रवर्ण हो गई हैं। उज्जयिनी के चारों ओर परिवेष्टित कर शिप्रा नदी प्रवाहित हो रही है। उसका जल यौवनमद से मतवाली मालवदेशकी स्त्रियोंके कुचकलशोंसे क्षुभित हुआ है और भगवान् महाकालके मस्तक पर गङ्गाको देख उसकी ईर्ष्यासे ही मानो वह निरन्तर तरङ्गरूप भ्रुकुटी चढ़ाकर आकाशको प्रक्षालन ( स्पर्श ) करती है। वहांके विलासी लोग हर-जटा-चन्द्रके समान समस्त संसारमें प्रसिद्ध कीर्त्तिवाले ( चन्द्रमाकी कीर्त्ति, लोगोंका सौन्दर्य ) और कोटिसार हैं ( चन्द्रमाके गोल

१. लुलित। २. आलोक्योपजात। ३. सततसमाबद्धभ्रुकुटि।

पक्षपातेन मन्दाकिनीप्रवाहेणेव प्रकटितकनकपद्मराशिना स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथ-कूप-प्रपाराम-सुरसदन[1]-सेतु-यन्त्रप्रवर्त्तकेन मन्दरेणेवोद्धृत[2]-समस्त-सागर-रत्नसारेण संगृहीत-गारुडेनापि भुजङ्गभीरुणा[3], खलोप[4]जीविनाऽपि प्रणयिजनोपजीव्यमानविभवेन, वीरेणापि विनयवता, प्रियंवदेनापि सत्यवादिना, अभिरूपेणापि स्वदारसन्तुष्टेन, अतिथिजनाभ्याग-

मन्देति—मन्दाकिन्याः स्वर्धुन्याः (आकाशगङ्गायाः) प्रवाहो रयस्तेनेव प्रकटितः प्रकाशितः कनकानां हेम्नां पद्मराशिः पद्मसंख्यकसमूहो येन तेन तादृशेन, एतेन तेषां प्रच्छन्नधनसंख्या अस्मादपि बहुलेति व्यञ्जितम्। पक्षे तु प्रकटितो विकसितः कनकपद्मराशिः हेममयकनकपुञ्जो यत्र तेन तादृशेन।

स्मृतीति—स्मृतिशास्त्रेण धर्मज्ञापकशास्त्रेणेव, सभा धर्मपरराष्ट्राद्युन्नतिजनिका परिषत्, आवसथो दीनजनावासः, कूपः उदपानः क्षुद्रजलस्थानमित्यर्थः, प्रपा पानीयशाला, आरामः कृत्रिमं वनम्, सुरसदनं देवभवनम्, सेतुः कृत्रिमसरित्सन्तरणमार्गः, यन्त्रं पथिकाद्यर्थं सलिलयन्त्रादिः एतेषां प्रवर्त्तकः सामान्योपकाराय रचयिता, पक्षे विधायकं तेन तथोक्तेन।

मन्दरेणेति—मन्दर एतन्नामकपर्वतः तेनेव उद्धृतं क्रयणादिना संगृहीतं समस्तसागररत्नानां सकलसमुद्रमणीनां सारः उत्कृष्टभागो येन तेन तादृशेन' पक्षे तु उद्धृतं मन्थनेन बहिर्नीतं समस्तसागर-रत्नानां सारः चतुर्दशरत्नोत्कृष्टांशो येन तेन तादृशेन।

'हरजटाचन्द्रेणेव' इत्यारभ्य 'मन्दरेणेव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः।

संगृहीतेति। संगृहीतं शिक्षितं गारुडं विषवैद्यकशास्त्रं येन तादृशेनापि भुजङ्गभीरुणा सर्पात्त्रासशीलेनेति विरोधः, संगृहीतं क्रयणादिना प्रापितं मरकतरत्नं येन तेन तादृशेन, भुजङ्गभीरुणा गणिकासक्त-जनसम्पर्कात्त्रासशीलेनेति तत्समाधानम्। 'भुजङ्गः सर्पषिङ्गयोः' इति हैमः, 'गारुडं स्यान्मरकते विषशास्त्रेऽपि गारुडम्' इति विश्वः।

खलोपेति। खला दुर्जना उपजीविनः अवलम्बिनो यस्य तादृशेनापि, प्रणयिजनैः प्रेमिपुरुषैः साधुभिरित्यर्थः, उपजीव्यमान उपभुज्यमानो विभवो धनसम्पत्तिर्यस्य तेन तादृशेन सज्जनदुर्जनयोः सामानाधिकरण्यासम्भवाद्विरोधः, खलं नूतनधान्यस्थापनस्थलं तदुपजीविना तदवलम्बेन जीविकां विदधानेनेति तत्परिहारः। 'खलः कल्के भुवि स्थाने क्रूरे कर्णेजपेऽधमे' इति हैममेदिन्यौ।

वीरेणेति। वीरेणापि सुभटेनापि विनयवता नमनशीलेनेति विरोधः, शिक्षावतेति तत्परिहारः। 'विनयः शिक्षाप्रणत्योः' इति हैमः।

प्रियमिति। प्रियमेव वदतीति प्रियंवदः तेनैतादृशेनापि सत्यवादिनेति विरोधः, सर्वस्मिन् स्थले प्रियंवदत्वेऽसत्यवादस्यावश्यकत्वादित्यभिप्रायः, वाग्मित्वाचेति तत्परिहारः।

अभिरूपेणेति। अभि अभिमतं रूपं सौन्दर्यं यस्य तेन सौन्दर्यपक्षपातिनेत्यर्थः, तथापि स्वदारसन्तुष्टेन निजस्त्रीसन्तोषिणेति सौन्दर्यपक्षपातित्वे स्वपत्न्यां कुरूपायां परकीयपत्न्यान्तु सौन्दर्ययुक्तायां तत्प्रेम्णो-

किनारे प्रसिद्ध हैं, लोग करोड़पति हैं)। मैनाक पर्वत जैसे इन्द्रद्वारा किये गए पक्षच्छेदनको किसी तरह नहीं जानता था, वहां के रहनेवाले मनुष्यगण भी वैसे वादी और प्रतिवादीका पक्षपात किस प्रकारका है यह नहीं जानते थे (सब पर्वतोंके पंख काटे गये किन्तु मैनाकके पंख नहीं काटे गये थे ऐसी कथा है)। आकाशगङ्गाके प्रवाहमें जिस प्रकार अगणित सुवर्ण (सुनहरे) पद्म प्रकाशित हो रहे हैं, उनमें (विलासि-जनमें) उसी प्रकार पद्मसंख्यक सुवर्ण की मुहरें दिखाई देती हैं। स्मृतिशास्त्र जिसप्रकार, सभा, छात्रालय, कूप, पानीयशाला, उपवन, देवालय, 'पुल, तथा यन्त्रोंका उपदेश देता है यहां के लोग उसी प्रकार इन वस्तुओंका स्थापन करते हैं। मन्दराचलसे जिसप्रकार समुद्रमन्थनके समय समुद्रके समस्त रत्नका सार अमृत और ऐरावत इत्यादि, उद्धृत किये गये थे, वहां के लोग भी उसी प्रकार समस्त समुद्रके उत्तम रत्नसमूहको धारण किये हुए हैं। विष-चिकित्सा (गरुडका मन्त्र) पास होने पर भी वहां के लोग भुजङ्ग-सङ्गसे डरते हैं, यह विरोधाभास है, परिहारपक्षमें-मणि होने पर शठोंसे डरते हैं। दुर्जनोंको अपने यहां पैदा हुए अन्नसे आश्रयदाता होने पर भी उनका धन सज्जन भोगते हैं। वीर होने पर भी वे विनीत (वीर, एवं शिक्षित) हैं। प्रियंवद होने पर भी सत्य

१. सदन। २. उद्धतसमग्र···। ३. भुजङ्गसङ्गभीषणापि। ४. सकलोपजीविनापि कलोपजीविना।

मार्थिनापि परप्रार्थनानभिज्ञेन, कामार्थपरेणापि धर्म्मप्रधानेन, महासत्त्वेनापि परलोक-भीरुणा, [1]सकलविज्ञान-विशेषविदा [2]वदान्येन, [3]दक्षेण [4]स्मितपूर्वाभिभाषिणा परिहास-पेशलेन, उज्ज्वल-वेशेन शिक्षिताशेषदेशभाषेण वक्रोक्ति-निपुणेन आख्यायिकाख्यान-परिचय चतुरेण सर्वलिपिज्ञेन महाभारत-पुराण-रामायणानुरागिणा बृहत्कथा कुशलेन द्यूतादि-

---

ऽवश्यम्भावादिति विरोधः, अभिरूपेण विदुषेति तत्समाधानम्। 'ग्रासरूपस्वरूपाभिरूपा बुधमनोज्ञयोः' इत्यमरः, 'अभिरूपो बुधे रम्ये' इति च मेदिनी।

अतिथीति। अतिथिजनानाम् अभ्यागतजनानाम् अभ्यागमार्थिनापि परप्रार्थनानभिज्ञेनेत्यभ्यागतजनानामपि परत्वाद्विरोधः, परेषु अर्थयाच्ञानभिज्ञेनेति तत्समाधानम्।

कामेति। कामः स्त्रीषु रतिः, अर्थो धनं तौ परौ उत्तमौ मुख्यौ यस्य तादृशेनापि सता, धर्मः शास्त्राद्यनुकूलेन्द्रियादीनां व्यापार एव प्रधानं यस्य तेन तथोक्तेनेति विरोधः, कामार्थसंलग्नेनापि धर्मः प्रधानं मुख्यरूपेण सेवनीयो यस्य तेन तादृशेनेति तत्परिहारः।

महेति। महासत्त्वेनापि अत्यधिकसामर्थ्ययुक्तेनापि परलोकात् वैरिपुरुषात् भीरुणा साशङ्केनेति विरोधः, भवान्तरभीरुणा भवान्तरेऽनिष्टोत्पादकैहिकदुष्कृतकरणात्साशङ्केनेति तत्समाधानम्।

'संगृहीतगारुडेनापि भुजङ्गभीषणा' इत्यारभ्य 'महासत्त्वेनापि परलोकभीरुणा' इत्यन्तं विरोधाभासोऽलङ्कारः।

सकलेति। सकलविज्ञानानि समस्तविज्ञानविषयीभूतानि शिल्पानि शास्त्राणि च विशेषेण वेत्ति जानातीति तेन तादृशेन, यद्वा—सकलानां समस्तानां विज्ञानानां शिल्पशास्त्रादिज्ञानानां विशेषम् उत्कर्षापकर्षरूपं तारतम्यं वेत्ति जानातीति तेन तादृशेन अनेकविधशिल्पशास्त्रज्ञानामुत्कृष्टापकृष्टविचारयोग्येनेत्यर्थः, अनेन तस्यापि तज्ज्ञातृत्वं व्यञ्जितम्। 'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' इत्यमरः। वदान्येन दानतत्परेण प्रियंवदेन च 'वदान्यो दानशौण्डे स्याच्चारुवादिनि वाच्यवत्' इति मेदिनी। दक्षेण समस्तकार्यचतुरेण, अदृष्टदशनं हास्यं स्मितं तत्पूर्वं यथा स्यात्तथा अभिभाषिणा जल्पिना, परिहासपेशलेन नर्मवचनदक्षेण, उज्ज्वलवेशेन, स्वच्छनेपथ्येन, शिक्षिता अभ्यस्ताः अशेषाणां समस्तानां देशानां जनपदानां भाषाः शौरसेन्यादयो येन तेन तादृशेन, वक्रोक्तिः 'अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यम्' इत्यादि दर्पणोक्तदिशा कुटिलवचनं तत्र निपुणेन दक्षेण, आख्यायिका गद्यकाव्यविशेषः आख्यानं चूर्णकं तयोः परिचये विशेषज्ञाने चतुरेण निपुणेन, सर्वाः समस्ताः या लिपयोऽक्षरविन्यासाः ता जानातीति तेन तादृशेन नानाविधाक्षरपरिचयवतेत्यर्थः महाभारतं पञ्चमो वेद इति प्रसिद्धम्, पुराणं पञ्चलक्षणम् मद्वयं भद्वयं चेत्याद्यष्टादशसंख्यकम्, रामायणं रामचरित्रम्, तत्रानुरागिणा कृतस्नेहेन, रामायणमहाभारतयोरितिहासत्वात् पार्थक्येन प्रतिपादितम्। बृहत्कथा 'भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्' इति दण्ड्याचार्यप्रतिपादितस्वरूपा तत्र कुशलेन निपुणेन। द्यूतादयो दुरोदरप्रभृतयो या याः कलाः कलाविद्याः तासां कलापस्य समूहस्य पारगेण पारदृश्वना। श्रुतरागिणा शास्त्रज्ञानानुरागिणा, सुभाषितं मधुरवचनं तत्र व्यसनिना आसक्तेन, प्रशान्तेन क्रोधशून्येन।

---

( मित ) बोलते हैं। अभिरूप (सुन्दर, पण्डित) होने पर भी वे अपनी स्त्रियोंसे सन्तुष्ट हैं। पर ( अन्य, शत्रुओंके) प्रार्थनासे अनभिज्ञ होने पर भी अतिथि जनोंसे अपने यहां आनेके लिए प्रार्थना करते हैं। कामार्थपर ( रति तथा द्रव्यमें आसक्त, अभिलषित अर्थमें अनुरक्त ) होने परभी धर्मको प्रधान समझते हैं अत्यधिक बलवान् होने परभी परलोकसे डरते हैं ( अर्थात् अपने द्वारा अनिष्टोत्पादक पापजन्य जन्मान्तरीय कष्ट से डरते हैं। अनेक प्रकारके विज्ञान और शिल्पशास्त्रका उन्हें ज्ञान है। वे दानशील एवं सर्वकार्य-कुशल हैं। मुस्कुराहटके साथ बातचीत करते हैं। परिहासमें कुशल हैं। श्वेत वस्त्र पहनते हैं। समस्त देशोंकी शौरसेन्यादि भाषाओंमें अभ्यस्त हैं। वक्रोक्तिमें निपुण हैं। कथा और कहानी कहनेमें चतुर हैं। सभी प्रकारके लिपियोंको पहचानते हैं। महाभारत, पुराण और रामायणमें उनका अनुराग है। बृहत्कथा ( भूतभाषामयी अद्भुतार्था कथा ) में निपुण हैं।

---

१. निखिलभुवनतलख्यातयशसा। २. ···विदा विद्यावदातेन, दानशीलेनादीनेन। ३. 'वदान्येन' इति पदं क्वचिन्नापि विद्यते। ४. दक्षिणेन।

कला-कलाप-पारगेण श्रुतरागिणा सुभाषितव्यसनिना प्रशान्तेन सुरभिमास-मारुतेनेव सतत-दक्षिणेन, हिमगिरि काननेनेवान्तःसरलेन, लक्ष्मणेनेव रामाराधन-निपुणेन, शत्रुघ्नेनेवाविष्कृत-भरत-परिचयेन, दिवसेनेव मित्रानुवर्त्तिना, बौद्धेनेव सर्वास्तिवाद-शूरेण,

सुरभीति। सुरभिमासयोश्चैत्रवैशाखयोर्वसन्तमासयोः मारुतेन पवनेनेव, सततं निरन्तरं दक्षिणेन उदारचरितेन, मारुतपक्षे—सर्वदा दक्षिणदिश आगामिना।

हिमेति। हिमगिरेः तुहिनाचलस्य काननं वनं तेनेव, अन्तर्मध्ये सरलेन अकुटिलहृदयेन तद्वनपक्षे तु—अन्तर्मध्ये सरलाः तत्संज्ञकतरवो यस्य तेन तादृशेन।

लक्ष्मणेनेति। लक्ष्मणेन सुमित्रातनयेनेव, रामायाः सुन्दर्याः रामस्य च आराधने चेतोऽनुवृत्त्या सन्तोषणे निपुणेन कुशलेन।

शत्रुघ्नेति। शत्रुघ्नेन लक्ष्मणानुजेनेव आविष्कृतो नाटकादिना प्रकाशितः भरते भरतमुनिनिर्मिते नाट्यशास्त्रे परिचयो विशेषबोधो येन तेन तादृशेन, पक्षे तु आविष्कृतः सेवादिना प्रकाशितो भरते केकयात्मजे परिचयः स्वप्रेमपरिचयो येन तेन तादृशेन।

दिवसेनेति। दिवसेन वासरेणेव, मित्राणां सुहृदाम् अनुवर्त्तिना तच्चित्ताराधकेनेत्यर्थः, वासरपक्षे तु—मित्रस्य सूर्यस्य अनुवर्त्तिना अनुगामिना दिवसपतिस्थितिपर्यन्तविद्यमानेनेत्यर्थः।

बौद्धेनेवेति। बौद्धेनेव बौद्धमताश्रयिणा सम्प्रदायविशेषेणेव, सर्वेषां निखिलविक्रेयपदार्थानाम् अस्तिवादे क्रयणकर्त्तुः प्रश्ने जाते अस्तित्वकथने शूरेण सर्वविधविक्रेयवस्तुपूर्णहट्टत्वादित्याशयः। पक्षे तु सर्वभूतभौतिकानां निखिलबाह्यानां चित्तचैत्तानाञ्चान्तर्गतानां वस्तूनाम् अस्तिवादे अस्तित्वकथने शूरेण तदस्तित्वस्य युक्त्यादिना व्यवस्थापनादत्यन्तकुशलेन। तथा च 'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः' २।२।४।१८ इति सूत्रव्याख्यानावसरे शारीरकभाष्ये भगत्पूज्यपादाः श्रीशङ्कराचार्याः—वैशेषिकमतं निरस्य तत्पुष्टये बौद्धमतमुपपाद्य निरसिताः। एवं हि तत्र भाष्यम्—'तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति केचित् सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्ववादिनः अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिनः' इति। तत्र ये सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमाभ्यन्तरं च मन्यन्ते ते बौद्धशिष्याः। तथाच पद्यम्—

मुख्यो माध्यमिको विवर्त्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकोऽप्यसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकाः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं जगदिदं वैभाषिको भाषते॥ इति।

तत्र सौत्रान्तिकवैभाषिकयोः बाह्यार्थानां परोक्षत्वापरोक्षत्वविवादेऽपि अस्तित्वसम्प्रतिपत्तेः तयोः सिद्धान्तमेकमेवेत्याशयेनाह—सर्वास्तित्वेति। प्रकृतग्रन्थमूले 'अस्ति' इति विद्यमानार्थेऽव्ययम्।

द्यूतादि समस्त कलाविद्याओं में पारङ्गत हैं। वेदशास्त्रसे उन्हें प्रेम है। सुभाषित ( मधुर वाक्य ) लिखने-पढ़नेका व्यसन है। एवं स्वभावमें शान्त-चित्त हैं। वसन्तकालके वायुके समान वे सर्वदा दक्षिण हैं ( वसन्त ऋतुमें दक्षिणकी हवा चलती हैं, वे लोग भी उदारता अवलम्बन किये हुए हैं)। हिमालय पर्वतके वनमें जिस प्रकार सरल (देवदारु) नामका वृक्ष है, मनुष्योंके हृदयमें भी उसी प्रकार सरलता है। लक्ष्मण जिस प्रकार रामके सन्तोषविधानमें निपुण थे, वे भी उसी प्रकार स्त्रियोंके सन्मान में निपुण हैं। शत्रुघ्न जिस प्रकार भरतके प्रति प्रेमका परिचय दिया था, वे भी उसी प्रकार भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्रमें दक्षताका परिचय देते हैं। दिन जिस प्रकार सूर्यके पीछे-पीछे चलता है, वे भी उसी प्रकार अपने मित्रोंके अनुगामी हैं। बौद्धोंके मुख्यतया (१) सर्वास्तित्ववाद, (२) केवल विज्ञानास्तित्ववाद, एवं (३) सर्वशून्यवाद ये तीन भेद हैं, उनमें से एक सर्वास्तित्ववादी जिस प्रकार सभी पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उन लोगोंके बीचमें वाणिज्यव्यवसायीगण भी उसीप्रकार किसी ग्राहकके आने पर 'ये चीजें हैं कि नहीं, ऐसी जिज्ञासा करने पर सभी वस्तुओंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। सांख्यशास्त्रमें जिसप्रकार प्रकृति और पुरुष हैं उन

१. सर्वदा नास्तिवाद'''सर्वास्तिवादशून्येन।

सांख्यागमेनेव प्रधान-पुरुषोपेतेन[1], जिनधर्म्मेणेव जीवानुकम्पिना[2], विलासिजनेनाधिष्ठिता, सशैलेव प्रासादैः, सशाखानगरेव[3] महाभवनैः, सकल्पवृत्तेव सत्पुरुषैः, दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः, सन्ध्येव पद्मरागानुरागिणी[4], अमराधिप-मूर्त्तिरिव मखशतानलधूमपूता, पशुपति-लास्यक्रीडेव सुधाधवलाट्टहासा, वृद्धेव जातरूपक्षया, गरुडमूर्त्तिरिवाच्युतस्थितिर-

सांख्येति। सांख्याः कापिलाः तेषामागमः सिद्धान्तः तच्छास्त्रमित्यर्थः, तेनेव, प्रधानपुरुषैः धनगुणादियुक्ततया उत्तमपुरुषैः उपेतेन सहितेन, पक्षे तु-प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपा प्रकृतिः, पुरुषो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः प्रकृतिविकृतिविलक्षणश्चेतनारूपः ताभ्याम् उपेतेन सहितेन। तथा च सांख्यसूत्रम्-'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते इत्यादि। सांख्यकारिकायामपि—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥' इति।

जिनेति। जिन आर्हतः तद्धर्मेण तन्न्यायेनेव जीवान् निखिलान् प्राणिनः अनुकम्पते कृपां विधत्त इति तेन तादृशेन, विशेषणमिदं पक्षद्वयेऽपि तुल्यम्, जैनानामहिंसावादित्वात्।

कवेः कीदृशं दर्शनशास्त्रगभीरपाण्डित्यमित्येतत्प्रदर्शनेनैव सुधियो विभावयन्तु।

इह 'सुरभिमाससमारुतेनेव' इत्यारभ्य 'जिनधर्मेणेव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः।

विलासीति। विलासिजनः।

'गतिः स्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। तात्कालिकं तु वैशिष्ट्यं विलासः प्रियसङ्गजम्'॥ इति॥

इति लक्षणलक्षितः पुरुषः तेन अधिष्ठिता अवलम्बिता।

सशैलेति। प्रासादैः देवभूपसदनैः सशैलेव साचलेव, तेषामत्युन्नतत्वादित्याशयः। तृतीया चेह (प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्) इत्यनेन करणे बोध्या, एवमन्यत्रापि। महाभवनैः अतिविस्तृतगृहैः शाखानगरं निकटस्थायि क्षुद्रनगरं तत्सहितेव तेषां शाखानगरवद्दीर्घत्वादित्यभिप्रायः। सत्पुरुषैः महापुरुषैः सकल्पवृक्षेव सह पारिजातेनेव तद्वत्तेषां याचकयाच्ञासाफल्यकरणादित्याशयः। चित्रभित्तिभिः आलेख्ययुक्तकुड्यैः दर्शितानि प्रकाशितानि विश्वेषां संसाराणां निखिलवस्तूनां रूपाणि आकृतयो यया सेव, जगतां निखिलपदार्थानामेव तत्रालिख्यमानत्वादित्याशयः।

इह 'सशैलेव प्रासादैः' इत्यत्र शैलसंयोगस्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः, तेन च प्रासादा एव शैला इति रूपकालङ्कारो ध्वन्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः। एवमग्रेऽपि। 'दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः' इत्यत्र विश्वरूपप्रदर्शनक्रियोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

सन्ध्येति। सन्ध्या सायं समयमिव, पद्मरागैः यत्र तत्र खचितैस्तन्नामकरत्नैः अनुरागो रक्तिमा, पद्मरागवत् अनुरागो लौहित्यं च अस्या अस्तीति सा तादृशी।

अमरेति। अमराधिपस्य इन्द्रस्य मूर्त्तिः शरीरमिव, मखशतस्य विविधमखस्य, शतसंख्यकाश्वमेधमखानाञ्च अनलस्य अग्नेः धूमेन दहनकेतनेन पूता पवित्रा।

पश्विति। पशुपतेः महेश्वरस्य लास्यक्रीडेव नृत्यखेलेव, सुधाभिः श्वेतगृहधवलीकरणद्रव्यैः धवलानां श्वेतीभूतानाम् अट्टानाम् अट्टालिकानां हासो विकासो यत्र सा तादृशी, पक्षे तु सुधावत् पीयूषवत् धवलः श्वेतः अट्टहासो महाहास्यं तत्र सा तादृशी 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इति हि कविसमयः।

वृद्धेति। वृद्धा स्थविरा नारीव, जातरूपाणां सुवर्णानां क्षया भवनानि यत्र सा तादृशी, पक्षे तु—

लोगोंके बीचमें भी उसीप्रकार प्रधान-प्रधान मनुष्य हैं, और जैनधर्मके समान वे सभी जीवों पर दया रखते हैं। उस उज्जयिनीमें पर्वतोंके समान राजमहल हैं, देवभवनोंके समान भवन हैं और कल्पवृक्षके समान सत्पुरुष हैं। वह अपनी चित्रित भित्तियोंसे मानो विश्वरूप प्रकट करती है। सन्ध्या जिसप्रकार पद्मरागमणियोंके समान रक्तवर्ण होती है, उज्जयिनी भी उसीप्रकार अधिकतर पद्मरागखचित होनेसे रक्तवर्ण है। इन्द्रकी मूर्त्ति जिसप्रकार शत अश्वमेधयज्ञके अग्निधूममें पवित्र हो गई थी, उज्जयिनी भी उसी प्रकार यज्ञीय अग्निके धूमसे पवित्र हो गई है। शङ्करकी नृत्यरूप-क्रीडा जिसप्रकार अमृतके समान धवल अट्टहास समन्वित होती है, उज्जयिनी भी उसीप्रकार चूनेसे सफेदी

१. ...पुरुषगुणोपेतेन। २. सर्वभूतानुकम्पिता। ३. सशाखेव। ४. पद्मरागारुणा।

मणीया, प्रभातवेलेव प्रबुद्धसर्वलोका, शबर-वसतिरिवावलम्बित[1]-चारु[2]-चामर-नागदन्त-धवल-गृहा, शेष-तनुरिव सदासन्न-वसुधाधरा, जलधि[3]-मथनवेलेव महाघोष-पूरित-दिगन्तरा- प्रस्तुताभिषेकभूमिरिव[4] सन्निहित[5]कनकघट[6]-सहस्रा, गौरीव महासिंहासनोचित-मूर्त्तिः, अदितिरिव देवकुल-सहस्रसेव्या, महावराह-लीलेव दर्शितहिरण्याक्षपाता,

---

जातः परिणतवयस्त्वादुत्पन्नः रूपस्य लावण्यस्य चयोऽपचयो यस्याः सा तादृशी । 'निलयापचयौ चयौ' इत्यमरः ।

गरुडेति । गरुडस्य वैनतेयस्य मूर्त्तिः शरीरमिव, अच्युता दृढरचनादस्खलिता या स्थितः अवस्थानं तया रमणीया चेतोहारिणी, पक्षे तु अच्युतस्य विष्णोः स्थित्या तदुपर्य्यवस्थानेन रमणीया चेतोहारिणी।

प्रभातेति । प्रभातं प्रत्यूषः तस्य वेला समय इव, प्रबुद्धा उत्कृष्टज्ञानिनः सुप्तोत्थिताश्च सर्वलोकाः समस्तजना यत्र सा तादृशी ।

शबरेति । शबरा भिल्लाः तेषां वसतिः निवासस्थानमिव, अवलम्बितानि रज्जुभिरालम्बितानि चारुचामराणि रमणीयबालव्यजनानि येषु तथोक्ता नागदन्ता गजदन्ताः तैः धवलानि श्वेतानि गृहाणि भवनानि यस्यां सा तादृशी । पक्षान्तरे तु–अवलम्बितैः तांस्तान् व्याघ्रादिपशून् व्यापाद्यैकत्रीकृत्य स्थापितैः चारुचामरैः चमरहरिणानां रमणीयलोमभिः नागदन्तैः गजदन्तैश्च धवलानि गृहाणि यस्यां सा तादृशी ।

शेषेति । शेषो नागाधिपः तस्य तनुः शरीरमिव, सदा आसन्ना निकटस्थिता वसुधाधरा गिरयो यस्याः सा तादृशी । पक्षान्तरे तु–सदा सर्वस्मिन्काले आसन्नाम् उपरिविद्यमानां वसुधां पृथिवीं धरतीति सा तादृशी ।

जलधीति । जलधिः समुद्रः तस्य मथनवेलेव मन्थनसमय इव, महाघोषैः विस्तृताभीरपल्लिभिः विस्तृतमन्थनशब्दैश्च पूरितानि परिपूर्णानि दिगन्तराणि यस्या यस्याश्च सा तादृशी 'घोष अभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः ।

प्रस्तुतेति । प्रस्तुतः प्रारब्धो योऽभिषेकः राज्याभिषेचनं तस्य भूमिः अवस्थानमिव, सन्निहितं संस्थापितं कनकघटसहस्रं सुवर्णनिर्मितकलशपुञ्जो यस्यां सा तादृशी, एकत्र गृहद्वारतोरणस्तम्भमूलेषु मङ्गलाय, अन्यत्र स्नानकरणीयसम्भारायेत्याशयः ।

गौरीति । गौरी दुर्गेव, महासिंहासनैः विपुलैः सिंहसदृशविष्टरैः उचिता स्वयोग्या अत्यन्तरमणीयेत्यर्थः, मूर्त्तिः शरीरं यस्याः सा तादृशी, पक्षान्तरे तु–महासिंहरूपे आसने विष्टरे उचिता स्थितियोग्या मूर्त्तिः शरीरं यस्याः सा तादृशी ।

अदितिरिति । अदितिः सुरजननीव, देवकुलसहस्रं देवभवनसमूहः सेव्यं प्रदक्षिणविधानादिना सेवनीयं यत्र सा, पक्षान्तरे तु देवकुलसहस्रेण देवान्वयवृन्देन सेव्या जन्मदात्रीत्वात्सेवनीया ।

महेति । महावराहस्य भगवतस्तृतीयावतारस्य लीला क्रीडेव, दर्शितः क्रीडासमये पुरुषैः दृग्विषयी-

---

की हुई अट्टालिकारूप हाससे समन्वित है । वृद्ध स्त्रियोंका सौन्दर्य जिसप्रकार विनष्ट होते देखा जाता है, उज्जयिनीमें भी उसीप्रकार सुवर्णमय अधिकतर गृह देखनेमें आते हैं । गरुड़की मूर्त्ति जिसप्रकार विष्णुके बैठनेसे रमणीय लगती है, उज्जयिनी भी उसीप्रकार रमणीय लगती है । प्रातःकालमें जिसप्रकार सब लोग प्रबुद्ध होते हैं, उज्जयिनीमें भी उसीप्रकार सबलोग विविध विषयोंमें चतुर दिखाई देते हैं । भीलोंकी वासभूमिमें जिसप्रकार मनोहर चामर और हस्तिदन्त लटके रहते हैं, उज्जयिनीमें भी उसीप्रकार अधिकतर शुभ्र गृह हैं जिसके बीच खूंटियों पर हस्तिदन्तके सुन्दर चामर लटक रहे हैं । शेषनागके शरीर पर जिसप्रकार पृथिवी सर्वदा रहती है, उज्जयिनीके समीपमें भी उसीप्रकार सर्वदा पर्वत रहते हैं । समुद्र-मथनके समय जिसप्रकार महाशब्द सभी दिशाओंको पूर्ण किया था, गोपगणके सभी बड़े बड़े पशुओंका गृह भी उसीप्रकार उज्जयिनीके सभी दिशाओंको पूर्ण कर रहा है । राजके अभिषेक स्थानमें जिसप्रकार अनेक सुवर्ण कलश रखे रहते हैं, उज्जयिनीमें भी उसीप्रकार प्रत्येक गृहके बहिर्द्वारमूलमें हजारों सुवर्ण कलश रखे हैं । पार्वतीकी मूर्ति जिसप्रकार निज वाहन बड़े सिंह पर बैठनेमें उपयुक्त है, उज्जयिनीमें भी उसीप्रकार बृहत् सिंहासनके योग्य मूर्त्तियाँ है । देवगण जिसप्रकार माता अदितिकी सेवा करते हैं,

---

१. आलम्बित···। २. क्वचिच्चारुपदं नास्ति । ३. जलनिधि···। ४.···भूमीरिव'वेलेव । ५. क्वचित्स-देत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते । ६.···घटक···।

आस्तीकतनुरिव[1] आनन्दित-भुजङ्गलोका, हरिवंशकथेव अनेक-बाल-क्रीडा-रमणीया, प्रकटाङ्गनोपभोगाप्यखण्डित-चरित्रा, रक्तवर्णापि सुधाधवला, अवलम्बित-मुक्ता-कलापापि विहारभूषणा, बहुप्रकृतिरपि स्थिरा, विजितामरलोक द्युतिरवन्तीषूज्जयिनी नाम नगरी।

कारितः हिरण्याक्षाणां सुवर्णरचितपाशकानां पातो निक्षेपो यत्र सा, पक्षान्तरे–दर्शितः हिरण्याक्षस्य तन्नामकदैत्यस्य हिरण्यकशिपुभ्रातुः पातो नाशो यया सा तादृशी।

पुरा किल हिरण्याक्षो महत्तपो विधाय तेन प्राप्तबलो जगति महान्तमुपद्रवं कृतवान्। ततो देवादिभिः प्रार्थितो भगवान्नारायणो वराहविग्रहं परिगृह्य भुवमुत्तोल्य, अनन्तरं पर्वतकन्दराप्राप्तं हिरण्याक्षं जघानेति श्रीमद्भागवतीया कथा।

आस्तीकेति। आस्तीकस्य तन्नामकमुनेः तनुः शरीरमिव, आनन्दितः विलासोचितबहुलतरभवनयुक्तत्वात् प्रमोदं प्रापितः भुजङ्गलोको विटजनो यया सा तादृशी, पक्षान्तरे–आनन्दितः जनमेजयस्य सर्पयज्ञावरोधनात् प्रमोदं प्रापितो भुजङ्गलोकः सर्पवृन्दो यया सा तादृशी।

पुरा किल परीक्षितपुत्रो जनमेजयः सर्पात्स्वपितुः प्राणवियोगं निशम्यातिक्रुद्धस्तत्प्रतीकाराय सर्पसत्रं प्रारब्धवान्। ततः परमदयालुर्भगवानास्तीकः समस्तसर्पवंशविनाशोद्यतं निरीक्ष्य जनमेजयप्रार्थनया तदवरोधं कृतवानिति महाभारतीया कथा।

हरीति। हरिवंशनाम्नो महाभारतस्य या कथा उपाख्यानं सेव, अनेकाभिः बह्वीभिः बालक्रीडाभिः तत्र विद्यमानानां बालकानां खेलाभिः यादवीयशिशुगणक्रीडाकथाभिश्च रमणीया मनोहरा।

इह 'सन्ध्येव पद्मरागानुरागिणी' इत्यारभ्य 'हरिवंशकथेव अनेकबालक्रीडारमणीया' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः।

प्रकटेति। प्रकटो दुर्व्यवहारेण प्रसिद्धतया त्रपासङ्कोचाद्यसत्त्वात्प्रकाशितः अङ्गनानां वनितानाम् उपभोगः सम्भोगो यस्यां सा तथोक्तापि अखण्डितचरित्रेति विरोधः, प्रकटः सुगन्धिनिःसरणादिना प्रस्फुटः अङ्गनानाम् उपभोगो वनितागणद्वारा कर्पूरताम्बूलवीटिकादिसम्भोगो यस्यामिति तत्परिहारः।

रक्तेति। रक्तवर्णापि अरुणवर्णापि सुधावत् गृहधवलीकरणद्रव्यवत् धवला शुभ्रेति विरोधः, रक्ताः सुखपूर्वकवासस्थितया अनुरक्ताः वर्णा ब्राह्मणादिजातयो यस्यामिति तत्समाधानम्। 'वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः' इत्यमरः।

अवलम्बितेति। अवलम्बितो धारितः मुक्ताकलापो मुक्तास्रक् यया तादृश्यपि विगतस्त्रुटितः सुरतादौ हारो मुक्ताकलापो येभ्यः तानि विहाराणि भूषणानि अलङ्कारा यस्याः सेति विरोधः, विहारा जैनप्रासादा भूषणानि यस्याः सेति तत्परिहारः। 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये' इति मेदिनी।

बह्विति। बह्वी अनेकप्रकारा प्रकृतिः स्वभावो यस्याः सापि स्थिरा अचञ्चलप्रकृतिकेति विरोधः, बह्वयः प्रकृतयः नागरिकजनाः स्वाम्यादिराज्याङ्गानि वा यस्यां सेति तत्समाधानम्। 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे' इति मेदिनी।

'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च। राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च' ॥ इति चामरः।

इह 'रक्तवर्णापि' इत्यारभ्य 'बहुप्रकृरपि' इत्यन्तं विरोधाभासोऽलङ्कारः।

विजितेति। विजिता अमरलोकस्य सुरसदनस्य द्युतिः कान्तिर्यया सा तादृशी, अवन्तीषु मालवाख्यदेशेषु स्वकान्त्या स्वसम्पत्या वा उत्कर्षेण जयति निखिला नगरीरुज्जयिनी।

उज्जयिनीके जनसमूह भी उसीप्रकार देवताओंकी सेवा करते हैं। नारायण वराहमूर्त्ति धारणकर जिसप्रकार हिरण्याक्ष दानवका विनाश दिखाये थे, उज्जयिनीके लोग भी उसीप्रकार क्रीडा करनेमें प्रवृत्त होकर सुवर्ण-निर्मित पाशेका निक्षेप दिखलाते हैं। आस्तीकमुनि जिसप्रकार सर्पसत्र निवारण कर सर्पगणको आनन्दित किये थे, उज्जयिनी भी उसी प्रकार भोगविलासके उपयुक्त गृह धारण कर भोगियोंको आनन्दित करती है। हरिवंशकी कथा जिस प्रकार नानाविध बालक्रीडाकी कथामें मनोहर है, उज्जयिनी भी उसीप्रकार बालकोंकी क्रीडा करनेमें मनोहर है। उज्जयिनीमें प्रत्यक्षरूपसे स्त्रियोंका उपभोग ( आँगनों का उपयोग ) होने पर भी उन सबोंका चरित्र अखण्डित है। वर्णरक्त ( लाल रंग, ब्राह्मणादिवर्ण अनुरक्त ) होने पर भी वह चूनेसे सफेद दीखती है। मुक्ताकी माला धारण करने पर भी उज्जयिनी, मुक्तामालाहीन अलङ्कार से अलङ्कृत ( बहुतर बौद्ध आश्रमसे भूषित है। उज्जयिनी बहुप्रकृति ( चञ्चलचित्त, अनेकप्रकारकी प्रजासे युक्त) होनेपर भी स्थिर रहती है, और वह अपनी शोभासे स्वर्गकी शोभाको जीत लेती है।

१. कद्रुरिव।

यस्यामुत्तुङ्ग-सौधोत्सङ्ग-सङ्गीतसङ्गिनीनामङ्गनानामतिमधुरेण गीतरवेणाकृष्यमाणा-धोमुख[2]-रथतुरङ्गः पुरः पर्य्यस्त[3]-रथपताकापटः कृतमहाकाल-प्रणाम इव प्रतिदिनं[4] लक्ष्यते गच्छन् दिवसकरः।

यस्याञ्च सन्ध्यारागारुणा इव सिन्दूरमणिकुट्टिमेषु, प्रारब्ध-नील[5]-कमलिनीपरिमण्डला इव मरकत-वेदिकासु गगनतल[6]-प्रसृता इव वैदूर्य्यमणिभूमिषु, तिमिर-पटल-विघटनोद्यता इव कृष्णागुरु-धूम[7]-मण्डलेषु, अभिभूततारकापङ्क्तय इव मुक्ता[8]-प्रालम्बेषु, विकच-कमल-चुम्बित इव नितम्बिनीमुखेषु, प्रभात-चन्द्रिकामध्यपतिता इव स्फटिकभित्ति[9]-प्रभासु,

---

यस्यामिति। उत्तुङ्गानाम् अत्युन्नतानां सौधानां राजभवनानाम् उत्सङ्गे क्रोडे ऊर्ध्वभाग इत्यर्थः सङ्गीतं 'गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते' इत्युक्तलक्षणं तत्सङ्गिनीनां तत्रासक्तानाम्, अङ्गनानां नारीणाम्, अतिमधुरेण अतिमिष्टेन गीतरवेण गानस्वरेण आकृष्यमाणा अत एव अधोमुखा अवाङ्मुखा रथतुरङ्गाः स्यन्दननियुक्ता घोटका यस्य स तादृशः, अत एव पुरोऽग्रे पर्यस्तः क्षिप्तः स्यन्दनवेगाभावात्पुरतः स्रस्त इत्यर्थः, रथपताकापटः स्यन्दनवैजयन्तीवस्त्रं यस्य स तादृशः, एतेन हि गललग्नीकृतवसना इवेति ध्वन्यते। कृतो विहितो महाकालाय तत्रस्थैतन्नामकमहेश्वराय प्रणामो नमस्कारो येन स तादृश इव प्रतिदिनं प्रत्यहं गच्छन् उदयाचलादस्ताचलं व्रजन् दिवसकरो दिनाधिपो लक्ष्यते जनैः दृश्यते। इह 'उत्तुङ्गसौधोत्सङ्गे'त्यादौ वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः, 'कृतमहाकालप्रणाम इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

यस्यामिति। यस्माम् उज्जयिन्यां रविगभस्तयः सिन्दूरमणिकुट्टिमेषु (निपतिताः सन्तः) सन्ध्या-रागारुणा इव विराजन्त इत्येवंक्रमेणोत्तरत्र सम्बन्धो ज्ञेयः। सिन्दूरमणयः प्रवालरत्नविशेषास्तेषां कुट्टिमेषु बद्धभूमिषु सन्ध्यारागेण सायङ्कालीनलौहित्येन अरुणा लोहितवर्णा इव तेषां लोहितरूपत्वात्। मरकत-वेदिकासु अश्मगर्भघटितपीठिकासु (पतिताः सन्तः) प्रारब्धम् आचरितं नीलकमलिनीषु नीलरूपनलि-नीषु परिमण्डलं मण्डलरूपेणावलुण्ठनं यैस्ते इव, मरकतवेदिकानां श्यामरूपत्वात्। वैदूर्यमणिभूमिषु बालवायजमणिबद्धस्थलीषु (पतिताः सन्तः) गगनतलप्रसृता इव अम्बरतले विस्तृता इव, वैदूर्यमणि-बद्धस्थलानामतिनिर्मलत्वात्। कृष्णागुरुधूममण्डलेषु देवार्चनादौ दह्यमानकाकतुण्डत उत्थितदहनकेतन-समूहेषु (पतिताः सन्तः), तिमिरपटलस्य अन्धकारपुञ्जस्य विघटने दूरीकरणे उद्यता इव कृतप्रयत्ना इव तद्धूमपुञ्जानां तिमिरसदृशश्यामरूपत्वात्। मुक्ताप्रालम्बेषु लम्बमानमुक्तासमूहेषु (पतिताः सन्तः) अभिभूता अवमानिता तारकापङ्क्तिः नक्षत्रावलिर्यैस्ते इव, लम्बमानमुक्ताकलापानां नक्षत्रा-वलिसदृशत्वात्। नितम्बिनीमुखेषु सुन्दरीणामाननेषु (पतिताः सन्तः) विकचानि विकसितानि पङ्कजानि कमलानि चुम्बन्ति स्पृशन्तीति ते इव, सुन्दरीवदनानां विकसितपद्मसदृशत्वात्। स्फटिकभित्ति-प्रभासु स्फटिकरचितकुड्यकान्तिषु (पतिताः सन्तः) प्रभातचन्द्रिकामध्यपतिता इव प्रत्यूषचन्द्रगो-लकान्तःपातिन इव, तत्कान्तीनां प्रत्यूषज्योत्स्नातुल्यत्वात्। सितपताकांशुकेषु श्वेतवैजयन्तीवस्त्रेषु

---

जिस उज्जयिनीमें ऊँचे-ऊँचे राजमहलोंके शिखरों पर गान करती स्त्रियोंके अत्यन्त मधुर गीत स्वरसे आकृष्ट हुए सूर्यके रथके अश्वगण अधोमुख होकर चलते हैं, वहाँ रथकी ध्वजा सामने फहरानेसे प्रतिदिन ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्य जाते-जाते महाकालेश्वरको प्रणाम करता हो।

और जिस उज्जयिनीमें सूर्यके किरणसमूह सिन्दूरमणिकी भूमियों पर गिर कर मानो सन्ध्यारागसे लाल हुई हों, मरकतमणिके चबूतरों पर गिरनेसे मानो नीलकमलिनीका स्पर्श करती हुई हों, वैदूर्यमणिकी भूमि पर गिरनेसे मानो आकाशतलमें फैली हुई हों, काले अगरुके धूमपुञ्जमें गिरनेसे मानो अंधकारोंको विनाश करनेमें उद्यत हुई हों, मुक्ताहार पर गिरनेसे मानो तारोंकी कतारको पराजित करती हुई हों, सुन्दरियोंके मुख पर गिरनेसे मानो विकसित कमलका चुम्बन करती हों, स्फटिकमय भित्तियों (दीवारों) के प्रभामध्यमें गिरनेसे मानो प्रातःकालकी चाँदनीके

---

१. उत्सङ्गीतसङ्गिनीनाम्, उत्सङ्गसङ्गिनीनाम्। २. कृष्यमाणाधोमुखतुरङ्गः। ३. पुरपर्य्यस्त। ४. प्रतिदिवसमालक्ष्यते भगवान्...। ५. प्रारब्धकमलिनी..., परिमलनी, परिमिलना, परिमला, परिमीलना। ६. गगनपर्य्यस्ता। ७. धूप। ८. मुक्ताफल...। ९. स्फटिकमणि...।

गगनसिन्धुतरङ्गावलम्बिन[1] इव सितपताकांशुकेषु, पल्लविता इव सूर्य्यकान्तोपलेषु, राहु-मुख-कुहर-प्रविष्टा इवेन्द्रनील-वातायन-विवरेषु विराजन्ते रवि-गभस्तयः ।

यस्यां[2]ञ्चानुपजात-तिमिरत्वादविघटित-चक्रवाकमिथुना व्यर्थीकृत[3]-सुरतप्रदीपाः सञ्जात-मदनानल-दिग्दाहा इव यान्ति कामिनीनां भूषण-प्रभाभिर्बालातपपिञ्जरा[4] इव रजन्यः ।

याञ्च सन्निहित-विषमलोचनामनवरतमतिमधुरो रतिप्रलाप इव प्रसर्पन्[5] मुखरी-करोति मकरकेतु दाह-हेतुभूतो भवन-कलहंस-कोलाहल[6]ः ।

---

( पतिताः सन्तः ) गगनसिन्धुतरङ्गावलम्बिन इव व्योमगङ्गावीच्याश्रिता इव, श्वेतवैजयन्तीवस्त्राणां तरङ्गवत् समीरणान्दोलितत्वात् । सूर्यकान्तोपलेषु सूर्यकान्तमणिषु ( पतिताः सन्तः ) पल्लविताः समु-त्पन्नकिसलया विपुला इवेत्यर्थः, रविकिरणस्पर्शे सूर्यकान्तोपलेभ्योऽपि तेजोनिःसरणात् । तथा इन्द्र-नीलवातायनविवरेषु नीलकान्तरत्नरचितगवाक्षरन्ध्रेषु ( पतिताः सन्तः ) राहोः सैंहिकेयस्य मुखकुहरे मुखविवरे प्रविष्टास्तदन्तर्गता इव, तेषामपि राहुवदनविवरवत् सावकाशत्वात् श्यामरूपत्वाच्च । रविग-भस्तयः सूर्यकिरणाः विराजन्ते विद्योतन्ते । इह 'सन्ध्यारागारुणा इव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा, अन्यत्र सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षेति सुधीभिराकलनीयम् ।

यस्याञ्चेति । च पुनः यस्याम् उज्जयिन्यां कामिनीनां रमणीनां भूषणप्रभाभिः आभूषणरश्मिभिः अनुपजाततिमिरत्वात् अनुत्पन्नतिमिरत्वात्कारणात् अविघटितानि विश्लेषमप्राप्तानि चक्रवाकानां कोकानां मिथुनानि द्वन्द्वानि याभिस्ताः तादृशाः । एवञ्च कोकयूनोर्हि दिवसे संयोगः रात्रौ च विश्लेषः, तत्समये तु रमणीनां भूषणरश्मिभिरन्धकाराभावाद्दिनमेवायमिति भ्रमेण ते मिलिता एव तिष्ठन्तीत्याशयः । व्यर्थी-कृता निष्फलीकृताः सुरतप्रदीपाः सम्भोगप्रदीपा याभिः ताः तथोक्ताः, तदलङ्काररश्मिभिरेव तिमिरा-पसरणादित्याशयः । रजन्यो रात्रयः । बालातपेन नूतनसूर्यालोकेन पिञ्जराः पीतवर्णा इव, तथा सञ्जाताः समुत्पन्नो मदनानलेन कामवह्निना दिग्दाहो यासु ता इव च सत्यो यान्ति अतिक्रामन्ति ।

इह कोकद्वन्द्वानां विघटनसम्बन्धसत्त्वेऽपि तदसम्बन्धप्रतिपादनादेकातिशयोक्तिः, अन्या च सुरत-प्रदीपानां निष्फलीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, वाच्यत्वाभावाद्भ्रान्तिमान-लङ्कारध्वनिश्च, एवं 'सञ्जातदिग्दाहा इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'बालातपपिञ्जरा इव' इत्यत्र च गुणोत्प्रेक्षा, इत्येतेषामलङ्काराणामेकस्मिन् वाक्ये नैरपेक्ष्येणावस्थानात्संसृष्टिरलङ्कारः ।

याञ्चेति । मकरकेतोः कन्दर्पस्य दाह एव महेश्वरतृतीयनेत्राग्निना भस्मीकरणमेव कारणभूतो यस्य स तादृशः, रतेः कन्दर्पपत्न्याः प्रलाप आर्त्तनाद इव, मकरकेतुना यो दाहो मनोभवद्वारा मानवानां सन्तापः तस्य कारणभूतः कादम्बशब्दस्योद्दीपकत्वादित्याशयः, अतिमधुरः अत्यन्तमिष्टो भवनकलहंस-कोलाहलः गृहकादम्बकलकलः, अनवरतं निरन्तरं प्रसर्पन् प्रसरन् सन्, सन्निहितो महाकालरूपेण समी-पस्थः विषमलोचनो विरूपाक्षो महेशो यस्यां तां तादृशीम्, मदनदाहसम्भवताप्रकटनायेदमित्यवधेयम्; याञ्च उज्जयिनीं मुखरीकरोति शब्दायमानां करोति । इह 'रतिप्रलाप इव' इत्युपमा ।

---

बीचमें पड़ी हों, श्वेतवर्ण पताकाके ऊपर गिरनेसे मानो आकाशगङ्गाकी तरङ्गका स्पर्श करती हों, सूर्यकान्तमणिके ऊपर गिरनेसे मानो पल्लवित हुई हों, और इन्द्रनीलमणिकी गवाक्षरन्ध्र ( जालियों ) के अन्तरालमें ऐसी शोभाय-मान प्रतीत होती हैं मानो राहुके मुखविवरमें प्रवेश की हों ।

और जिस उज्जयिनीमें कामिनियोंके आभूषणोंकी कान्तिके कारण रात्रिमें भी अन्धकार न होनेसे दिनका समय मानकर चकवा-चकवीका परस्पर वियोग नहीं होता, सुरतप्रदीप व्यर्थ होते हैं, और कामिनियोंके आभूषणों की कान्तिके कारण रात्रियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो कामाग्निका दिग्दाह हुआ हो और बाल-सूर्यका पिङ्गलप्रकाश फैल गया हो । शङ्करके-नयनाग्निसे कामदेवके दग्ध होने पर रति-विलापके समान, कामाग्निको उत्पन्न करने वाला गृहस्थित ( पालतू ) कलहंसोंका कोलाहल, अनवरत चारों दिशाओंमें विस्तृत होकर, महाकालरूपी शङ्करके आवासभूमिको मुखरित कर रहा है ।

---

१. तरङ्गसङ्गिनः । २. यस्यामनु । ३. प्रकटीकृत । ४. पिञ्जरत्वं रजन्यः । ५. प्रतिवासरं प्रसर्पन् । ६. भवनकलहंसकुलकोलाहलः, कचिद्भवनकल इत्यादि पाठः ।

यस्याञ्च निशि निशि पवनविलोलै[1]र्दुकूलपल्लवैरुल्लसद्भिर्मालवी-हरिमुखकमल-कान्ति-लज्जितस्येन्दोः कलङ्कमिवापनयन्तो दूरप्रसारित-ध्वज-भुजाः[2] प्रासादा लक्ष्यन्ते ।

यस्याञ्च सौध-शिखर-शायिनीनां[3] पश्यन् मुखानि पुरसुन्दरीणां मदन-परवश इव पतितः प्रतिमाच्छलेन लुठति बहल-चन्दन-जल-सेक-शिशिरेषु मणिकुट्टिमेषु[4] मृगलाञ्छनः ।

यस्याञ्च निशावसाने[5] प्रबुद्धस्य तारतरमपि पठतः पञ्जरभाजः शुकसारिकासमूहस्याभिभूत-गृहसारस-स्वरामृतेन[6] विस्तारिणा विलासिनीभूषणरवेणाविभाव्यमाना[7] व्यर्थीभवन्ति प्रभात-मङ्गलगीतयः ।

---

यस्यामिति । दूरे अत्युन्नते प्रसारिता विस्तारिता ( उत्तोलिताः ) ध्वजाः वैजयन्त्य एव भुजा बाहवो यैस्ते, प्रासादा नृपमन्दिराणि, पवनविलोलैः वाय्वान्दोलितैः, अत एव उल्लसद्भिः ऊर्ध्वं विद्यमानैः दुकूलपल्लवैः प्रसारितवैजयन्तीपटैः मालवीनाम् अवन्तिदेशीयसुन्दरीणां मुखकमलकान्तिभिः वदनपद्मप्रभाभिः लज्जितस्य कलङ्कयुक्तत्वात् सलज्जीकृतस्य इन्दोः चन्द्रमसः कलङ्कं त्रपानिमित्तीभूतं लाञ्छनं श्यामिमानञ्च अपनयन्तो मार्जयन्त इव लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते, मित्रेण मित्रान्तरस्य मुखश्यामिमापनयनवदित्याशयः । इह 'अपनयन्त इव' इति क्रियोत्प्रेक्षा, अनया च कार्येण राजभवनेषु मित्रव्यवहारसमारोपात् या समासोक्तिः सा सङ्कीर्यते । अनेनावन्तिरमणीनां महासौन्दर्यं राजभवनानाञ्चात्युच्चत्वं ध्वनितं भवति ।

यस्यामिति । यस्यां नगर्यां मृगलाञ्छनः शशाङ्कः ( चन्द्रः ) सौधशिखरशायिनीनां राजभवनोपरिवर्त्तमानानां पुरसुन्दरीणां नगररमणीनां मुखानि वदनानि पश्यन् अवलोकयन् मदनपरवशः कामाधीन इव सन् , बहलानाम् अधिकानां चन्दनजलानां मलयजद्रवमिश्रिताम्भसां सेकेन सेचनेन शिशिरेषु शीतलेषु मणिकुट्टिमेषु तासां नगररमणीनामाधारभूतेषु रत्नमयच्छदिःसु प्रतिमाच्छलेन प्रतिबिम्बमिषेण पतितो लुठति प्रसरति, तासामनुनयविधानायेत्याशयः । इह हि अपह्नुतिः गुणोत्प्रेक्षा च, ताभ्यां कार्येण शशाङ्के विटकामुकव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः सङ्कीर्यते ।

यस्यामिति । निशावसाने रात्रिशेषे प्रबुद्धस्य जागरितस्य तारतरमपि उच्चैस्तरमपि यथा स्यात्तथा पठतः पठनं विदधतः पञ्जरभाजः पञ्जरमध्यस्थायिनः शुकसारिकासमूहस्य कीरपीतपादसङ्घस्य प्रभातमङ्गलगीतयः प्रत्यूषमङ्गलनिमित्तकगानानि, अभिभूतम् उच्चैस्तया तिरस्कृतं गृहसारसानां भवनस्थितपक्षिविशेषाणां स्वरामृतं पीयूषवन्मधुरशब्दो येन तेन तादृशेन, विस्तारिणा विशालेन विलासिनीनां रमणीनां भूषणरवेण अलङ्कारध्वनिना, अविभाव्यमाना विशेषेणाश्रूयमाणा, एकत्रितत्वेन भिन्नतया अप्रतीयमानाः सत्यः, अत एव व्यर्थीभवन्ति निष्फलीभवन्ति । इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, अनेन हि तथाविधालङ्कारध्वनिना तद्गीतानां गोपनविधानान्मीलितमलङ्कारः सङ्कीर्यते । मीलितलक्षणन्तु दर्पणे 'मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा' । इति ।

---

और जिस उज्जयिनीमें दूर तक फैली हुई ऊँची ध्वजा-रूप भुजावाली अट्टालिकायें ( हवेलियाँ ) ऐसी प्रतीत होती हैं मानों वे रात्रिको मालव-देशीय सुन्दरियोंके मुख-कमलकी कान्ति देखनेसे लज्जित हुए चन्द्रके कलङ्कको पवनसे कम्पित होकर फहराती हुई वस्त्रकी कोरोंसे मिटाती हों ।

जिस उज्जयिनीमें महलोंके शिखरोंमें सोती हुई सुन्दरियोंका मुँह देखकर मानो कामातुर हो कर ही चन्द्रमा, अपने प्रतिबिम्बके व्याजसे गाढा चन्दन छिड़कनेसे शीतल हुई मणिभूमि पर गिर कर लोटता है ।

जिस उज्जयिनीमें पिंजरेमें बैठे हुए शुक-सारिकागण ( तोते और मैनाएँ ) रात्रि-शेषमें जाग-जाग कर अत्यन्त उच्चस्वरसे प्रातःकालके मङ्गल-गीत गाते हैं, किन्तु गृहस्थित ( पालतू ) सारसोंके शब्दको पराजित करने वाले, चारों ओर फैले विलासिनी सुन्दरियोंके आभूषणोंके शब्दमें समा जानेसे वे निरर्थकसे होते हैं ( अर्थात् वे मङ्गल-गीत पृथग्रूपमें नहीं सुने जानेसे निष्फल हो जाते हैं ) ।

---

१. पवनवशविलोलैः । २. ऊर्ध्वध्वजभुजाः । ३. सौधशिखरोत्सङ्गशायिनीनाम् । ४. शिखरेषु मृगः । ५. निशावसान… । ६. …तारतरमतिपठतः समूहस्य रवेणाभिभूता गृहसारसविटकेन । ७. अभिभाव्यमानाः ।

यस्याञ्चानिवृत्तिर्मणिदीपानाम्, तरलता हारलतानाम्, अस्थितिः सङ्गीतमुरजध्वनीनाम्, द्वन्द्ववियोगश्चक्रनाम्नाम्, वर्णपरीक्षा कनकानाम्, अस्थिरत्वं ध्वजानाम्, मित्रद्वेषः कुमुदानाम्, कोषगुप्तिरसीनाम्।

'किं बहुना, यस्यां सुरासुर-चूडा-मणि-मरीचि-चय-चुम्बित-चरणनखमयूखो निशित-त्रिशूल-दारितान्धक-महासुरः, गौरी-नूपुर-कोटि-घृष्ट-शेखर-चन्द्रशकलः, त्रिपुर-भस्म-रजः-कृताङ्गरागः, मकरध्वज-ध्वंस-विधुरया रत्या प्रसादयन्त्या प्रसारित-कर-युगल-विग-

यस्यामिति। मणिदीपानां रत्नप्रदीपानाम् अनिवृत्तिः प्रकृतितो दीप्तिमत्त्वात् अनिर्वाणता, न तु जनानामनिवृत्तिः विषयादनुपरमः सर्वेषामेव वृद्धावस्थायां तदुत्पन्नत्वात्। 'निवृत्तिः स्यादुपरमे' इति कोशः। हारलतानां मौक्तिकस्रजां तरलता चाञ्चल्यं न तु स्त्रीपुरुषाणां तरलता विशेषशिक्षितत्वेनात्यन्तगाम्भीर्यवत्त्वात्। सङ्गीतमुरजध्वनीनां सङ्गीतमृदङ्गनिनादानाम् अस्थितिः इतस्ततः प्रसरणशीलत्वं तृतीयक्षणेऽविद्यमानत्वं वा, न तु जनानाम् अस्थितिः मर्यादाराहित्यं समेषामेव तद्युक्तत्वात्। चक्रनाम्नां चक्रवाकपक्षिणां द्वन्द्ववियोगो युगलविश्लेषः रजन्यां दम्पतिविरह इति तात्पर्यम्, न तु लोकानां मध्ये दम्पतिविरहः धनराशिसम्पन्नतया परदेशगमनाभावात् तथाविधधर्मशालितया च विभिन्नसमये प्राणवियोगाभावात्। कनकानां सुवर्णानां वर्णस्य रङ्गस्य परीक्षा वह्नितापनिकषकषणादिद्वारा सदुष्टनिर्दुष्टावबोधः, न तु ब्राह्मणादीनां वर्णपरीक्षा विशिष्टजातिपरिचयः, साङ्कर्यदोषरहितत्वात्। ध्वजानां पताकानाम् अस्थिरत्वं पवनवेगेन चञ्चलता, न तु लोकानाम् अस्थिरत्वम् अधीरत्वं तथाविधोपद्रवासत्त्वात्। कुमुदानां कैरवाणां मित्रद्वेषः सङ्कोचविधायकत्वेन सूर्यं प्रति अप्रीतिः, न तु नागरिकलोकानां मित्रद्वेषः सुहृत्सु अप्रीतिः गुरुतरदुष्कृतकारणत्वात्। असीनां खड्गानां कोषेषु चर्ममयाच्छादनेषु गुप्तिः रक्षणम्, न सम्पत्तीनां कोषेषु भाण्डारेषु गोपनम् अपहारकाद्यसत्त्वात्। सर्वत्र विद्यत इति शेषः। इह आर्थी परिसंख्या। तथा चोक्तं दर्पणे—

'प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्। तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा॥'

परिसंख्या..................इति।

एषा च प्रत्येकवाक्ये यथासंभवश्लेषालङ्कारेण सङ्कीर्णेति विचारणीयम्।

किमिति। बहुना अधिकेन जल्पितेन किमित्यर्थः। यस्याम् उज्जयिन्यां सुरासुराणां देवराक्षसानां नमस्कुर्वतामित्याशयः, चूडामणिमरीचिचयैः शिरोरत्नरश्मिजालैः चुम्बिताः संस्पृष्टाः चरणनखानां पादपुनर्भूणां मयूखाः रश्मयो यस्य स तादृशः। निशितेन तीक्ष्णेन त्रिशूलेन प्रसिद्धशस्त्रविशेषेण दारितो भिन्नोऽन्धकोऽन्धकाख्यो महासुरो येन स तादृशः। गौर्याः मानवत्याः पार्वत्याः नूपुरकोट्या पदाघातसमये मञ्जीराग्रभागेन, घृष्टं विलिखितं शेखरः चूडामणिभूतं चन्द्रशकलं शशिखण्डं यस्य स तादृशः। त्रिपुरासुरस्य त्रिपुरदैत्यस्य भस्मनः स्वयं विहितस्येत्याशयः, रजसा धूलिना कृतो विहितः अङ्गरागः अङ्गलेपनं येन स

एवं जिस उज्जयिनी नगरीमें मणिमय प्रदीपों की ही अनिवृत्ति ( बुझनेका अभाव है, लोगोंको सुखका अभाव नहीं ) है। मुक्तामालामें ही चञ्चलता है किसीके मनमें चञ्चलता नहीं। सङ्गीत और मृदङ्ग ध्वनिकी ही अस्थिति ( तृतीयक्षणमें अविद्यमानता ) है, किन्तु लोगोंमें मर्यादा-हीनता नहीं है। चक्रवाक-पक्षियोंका ही द्वन्द्व-वियोग ( रात्रिमें दम्पतिविच्छेद ) है, किन्तु लोगोंके बीचमें समृद्धिशाली होनेसे परदेश-गमनाभावसे द्वन्द्ववियोग नहीं है। सुवर्णकी अग्निपाचन द्वारा रूप की परीक्षा होती है, ब्राह्मणादिवर्णोंकी नहीं, क्योंकि साङ्कर्यदोष न रहनेसे सब वर्ण शुद्ध हैं। ध्वजाओंमें ही अस्थिरता-वायुवेगसे चञ्चलता है, किन्तु लोगों में उस तरह उपद्रव नहीं होनेसे अधीरता नहीं है। कुमुद ही मित्र = सूर्यसे द्वेष करते हैं, कोई मित्रोंसे द्वेष नहीं करता। तलवारोंको ही कोषमध्यमें रखा जाता है, किन्तु लोगोंको खजाना छिपाने की जरूरत नहीं, क्योंकि वहां चोर नहीं रहते हैं।

अधिक कहनेका प्रयोजन नहीं है; नमस्कार करनेके समयमें देव-दानवोंके मुकुटमणियोंकी किरणें जिनके चरण-नख-किरणों का चुम्बन करती हैं, तीक्ष्ण धारवाले त्रिशूलसे जिन्होंने अन्धकासुरको चीर डाला था, पार्वतीके चरणनूपुर ( पायजेब ) के अग्रभाग द्वारा जिनके मस्तकालङ्कार चन्द्रमाका टुकड़ा घिस गया है, जिन्होंने त्रिपुरासुर को भस्मकर उस भस्मरेणुद्वारा शरीर पर लेप किया है, कामदेवके नाशसे शोकातुर होकर रतिने फैले हुए दोनों

१. अनिर्वृतिः। २. मणिप्रदीपानाम्। ३. अन्तस्तरलता। ४. चक्रनाम्नः, चक्रवाकनाम्नाम्। ५. यस्याञ्च। ६. मरीचिचुम्बित...। ७. चन्द्रशकलशेखरः। ८. ...करयुग...।

लित-वलय-निकरार्चित-चरणः, प्रलयानल-शिखा-कलाप-कपिल-जटाभार-भ्रान्त-सुरसिन्धुः[1], अन्धकारिः[2], भगवान्, उत्सृष्टकैलास-वास-प्रीतिर्महाकालाभिधानः स्वयं प्रतिवसति[3]।

तस्याञ्चैवंविधायां नगर्यां नल[4]-नहुष-ययाति-धुन्धुमार-भरत-भगीरथ-दशरथ[5]प्रतिमः, भुजबलार्जित[6]भूमण्डलः, फलित-शक्तित्रयः, मतिमान्, उत्साह-सम्पन्नः, नीतिशास्त्राखिन्न-बुद्धिः, अधीत-धर्मशास्त्रः, तृतीय इव तेजसा कान्त्या च सूर्य्याचन्द्रमसोः, अनेक-सप्त-

ताद्दशः। मकरध्वजध्वंसेन मदनदाहेन विधुरया तदीयशोकेन व्यग्रया रत्या कामभार्यया प्रसादयन्त्या अनुग्रहप्राप्त्याशया तमेव प्रसन्नीकुर्वन्त्या सत्या, प्रसारितात्पादोपसंग्रहाय विस्तारितात् करयुगलात् हस्तद्वन्द्वात् विगलितेन प्रच्युतेन वलयनिकरेण गोलस्वरूपभूषणपुञ्जेन अर्चितौ पूजितौ चरणौ पादौ यस्य स ताद्दशः। तथा प्रलयानलस्य प्रलयकालीनवह्नेः शिखाकलापवत् ज्वालासमूहवत् कपिले पिङ्गलवर्णे जटाभारे जटानिकरे भ्रान्ता निपत्य घूर्णिता सुरसिन्धुः गङ्गा यस्य स ताद्दशः स्वयं साक्षात् भगवान् अन्धकारिः महेश्वरः, उत्सृष्टा त्यक्ता कैलासस्य हिमाचलशिखरस्थितप्रदेशस्य प्रीतिः स्नेहो येन स ताद्दशः, तथा 'महाकाल' इति अभिधानं संज्ञा यस्य तथोक्तश्च सन्, प्रतिवसति वासं विधत्ते। अथ च कथासरित्सागरेऽपि—

'यस्यां वसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयम्।
शिथिलीकृतकैलास-निवासव्यसनो हरः॥' इत्यादिना।

स्फुटमेवाभिहितं वर्त्तते। कैलासादप्युत्तमं स्थानमुज्जयिनीति व्यञ्जितं कविना। इह 'सुरासुर' इत्याद्येकविशेषणेनैवाभिमतमाहात्म्यस्फुटप्रतीतौ सत्यामपि तदर्थ एव 'खले कपोतकान्यायात्' विशेषणान्तरोपस्थापनात्समुच्चयालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—

'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके। खलेकपोतकान्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेत्।
गुणौ क्रियेवायुगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये॥' इति।

'प्रलयानलशिखाकलाप' इत्यत्र च लुप्तोपमा। तथा चोभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

तस्यामिति। एवंविधायां पूर्वोक्तविधिना व्यावर्णितस्वरूपायां तस्यां नगर्याम् उज्जयिन्यां तारापीडो नाम राजा 'अभूत्' इति वक्ष्यमाणेन क्रियया सम्बन्धः। इह प्रथमान्तानि पदानि राज्ञो विशेषणानि बोध्यानि। नलो नैषधः, नहुषो भूपविशेषो योऽगस्तिशापादजगरः सञ्जातः, ययातिः यदुपिता, धुन्धुमारः कुवलयाश्वः, भरतो दुष्यन्तसुतः, भगीरथः सगरपौत्रः, दशरथो रामपिता, एते प्रतिमा उपमा यस्य स ताद्दशः। भुजबलेन बाहुवीर्येण अर्जितं स्वाधीनीकृतं भूमण्डलं पृथ्वीमण्डलं येन स ताद्दशः। फलितं सञ्जातफलं शक्तित्रयं प्रभावोत्साहमन्त्रजातशक्तित्रयं यस्य स ताद्दशः, कौशलात्प्रारब्धवशाच्चेत्याशयः। मतिमान् बुद्धिमान्। उत्साहसम्पन्नः उत्साहसहितः। नीतिशास्त्रेषु व्यवहारशास्त्रेषु अखिन्ना निरन्तरविचारणेनाप्यश्रान्ता बुद्धिः प्रतिभा यस्य स ताद्दशः। अधीतं पठितं धर्मशास्त्रं मन्वादिप्रणीतशास्त्रं येन स ताद्दशः। सूर्याचन्द्रमसोः शशिभास्करयोः तृतीय इव, तेजसा कान्त्या च, सूर्य इव तेजस्वी चन्द्रमा इव च कान्तिमानित्यर्थः। अनेकसप्ततन्तुभिः विविधयज्ञैः पूता पवित्रा मूर्त्तिः शरीरं यस्य स ताद्दशः, अत्र सप्ततन्तुपदस्य सप्तभिः सप्तविधच्छन्दोबद्धमन्त्रैः तन्यत इति व्युत्पत्त्या 'पृषोदरादिषु यथोपदिष्टम्' इत्यनेन साधुत्वं बोध्यम्। उपशमिताः स्वव्यापारदेवपूजनादिना निषिद्धाः सकलाः समस्ता जगतां संसाराणाम् उपप्लवा उपद्रवा येन स ताद्दशः। इह 'तृतीय इव तेजसा कान्त्या च' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षा।

हाथोंमें से गिरे कङ्कणोंसे अनुग्रह-लाभकी प्रत्याशासे जिनके चरणों की पूजा की, और प्रलयकालके अग्निज्वाला-समूहके समान पिङ्गलवर्ण जिनके जटा-समूहमें गङ्गा भ्रमण की थी; स्वयं वे ही अन्धकासुरके शत्रु भगवान् महादेव कैलासवासकी प्रीति छोड़कर जिस उज्जयिनीमें महाकाल-नाम धारण कर निवास करते हैं।

इस प्रकारकी उस नगरीमें नल, नहुष, ययाति, धुन्धुमार, भरत, भगीरथ और दशरथके समान प्रजाकी पीड़ा हरने वाला तारापीड़ नामका राजा था। उसने अपने बाहुबलसे सब भूमण्डलको जीत लिया था। उसकी तीनों शक्तियाँ फलीभूत हुई थीं। वह बुद्धिमान् और उत्साही था। नीतिशास्त्रमें निरन्तर पर्यालोचना करनेसे उसकी बुद्धि बहुत उलझी हुई नहीं थी। उसने समग्र धर्मशास्त्रका अध्ययन किया था। वह तेज और सौन्दर्यमें सूर्य-

१. अमरसिन्धुः। २. अन्धकारातिः। ३. वसति। ४. नृग-नल…। ५.…दशरथ-जनमेजयार्जुन-प्रतिमः। ६.…उपार्जित…।

तन्तु-पूत-मूर्त्तिः, उपशमित-सकल-जगदुपप्लवः, विहाय कमल-वनानि, अवगणय्य[1] नारायण-वक्षःस्थल-वसतिसुखम्, उत्फुल्लारविन्द-हस्तया शूर-समागम-व्यसनिन्या[2] निर्व्याजमालिङ्गितो लक्ष्म्या, महामुनिजन-संसेवितस्य मधुसूदन-चरण इव सुर-सरित्प्रवाहस्य प्रभवः सत्यस्य, शिशिरस्यापि रिपुजन-सन्तापकारिणः स्थिरस्याप्यविरतं[3] भ्रमतः, निर्म्मलस्यापि मलिनीकृताराति-वनिता-मुखकमल-द्युतेः, अतिधवलस्यापि सर्वजनरागकारिणः, सुधासूतेरिव जलनिधि[4]रुद्भवो यशसः, पातालवदाश्रितो[5] निजपक्षक्षतिभीतैः[6] क्षिति-

विहायेति। कमलवनानि नलिनीखण्डानि विहाय परित्यज्य, नारायणस्य विष्णोः यद्वक्षःस्थले भुजान्तरस्थले या वसतिर्निवासः तस्मात् यत्सुखम् आनन्दः तदवगणय्य अवगणनां विधाय, उत्फुल्लं प्रस्फुटम् अरविन्दं पङ्कजं हस्ते पाणौ यस्यास्तया तादृश्या, अनेन विहारोपकरणानि व्यवहारानुरागयुक्तानीति व्यञ्जयति। शूरसमागमे वीरपुरुषसम्बन्धे व्यसनिन्या आसक्तिमत्या, लक्ष्म्या राजश्रिया निर्व्याजं निश्छलम् आलिङ्गित उपगूहितः। इह हि कमलवनादपि नारायणादपि च सुखनिवासभूमिः राजेति व्यतिरेकालङ्कारो ध्वन्यते। तथा च तल्लक्षणं दर्पणे—

'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेकः।' इति।

एवं नृपतेरपि अत्यन्तविलासित्वं महाशूरत्वञ्च व्यज्यत इति वस्तुना वस्तुध्वनिश्च।

महेति। महामुनिजनैः महर्षिभिः संसेवितस्य आचारेण तथा अवगाहनेन धर्मार्जनाय निरन्तरमाश्रितस्य सुरसरित्प्रवाहस्य भागीरथीस्रोतसः मधुसूदनचरण इव नारायणपाद इव, सत्यस्य सत्याचारस्य प्रभव उत्पत्तिस्थानम्। इह पूर्णोपमा।

शिशिरस्येति। शिशिरस्यापि शीतलस्यापि, रिपुजनस्य वैरिपुरुषस्य वियोगिपुरुषस्य च सन्तापकारिणो दाहविधायिन इति विरोधः, ईर्ष्यया मदनोद्दीपनया च चित्तोद्वेगकरस्येति तत्परिहारः। स्थिरस्य अचञ्चलस्यापि अविरतं निरन्तरं भ्रमतो गच्छत इति विरोधः, सर्वस्मिन् समये राशिचक्रे भ्रमणं विधीयमानस्य चेति तत्समाधानम्। निर्मलस्यापि गतमलस्यापि मलिनीकृता कश्मलीकृतेत्यादिना विरोधः स्वच्छस्यापि विद्वेषात् कामव्यथावशाच्च मलिनीकृता अरातिवनितानां रिपुनारीणां वियोगिपत्नीनाञ्च मुखकमलद्युतिः वदनपद्मकान्तिर्येनेति तत्परिहारः। अतिधवलस्यापि नितान्तस्वच्छस्यापि सर्वजनरागकारिणो निखिललोकरक्तिमविधायिन इति विरोधः, सर्वेषां लोकानां रागकारिण आत्मन्यनुरागविधायिन इति तत्परिहारः। इत्थंभूतस्य सुधासूतेः सुधाकरस्य चन्द्रस्य जलनिधिः सागर इव, इत्थम्भूतस्य यशसः कीर्त्तेः उद्भवः उत्पत्तिस्थानम्। अत्रादितश्चतुर्षु विरोधालङ्कारः, तेन सङ्कीर्णा पूर्णोपमा।

पातालेति। निजपक्षाणां स्वीयलोकानाम् आत्मीयपतत्राणाञ्च या क्षतिः विरुद्धतारापीडात् क्षयः

चन्द्रके समान एक तीसरा था। अनेक यज्ञ अनुष्ठान करनेसे उसका शरीर पवित्र हो गया था। उसने नानाविध उपायसे संसारके समस्त उपद्रवोंको निवारण कर दिया था। वीरपुरुषोंके संसर्गमें अनुरागिणी तथा हाथमें प्रस्फुटित कमलको धारण करने वाली स्वयं राजलक्ष्मी भी कमलवन छोड़ और नारायणके वक्षःस्थलमें वास करने की सुख-गणना न करके निष्कपट होकर उससे आ लिपटी थी। जैसे विष्णुका चरण बड़े-बड़े मुनियोंद्वारा सेवन किए गए मन्दाकिनीके प्रवाहका निर्गम-स्थान है, वह भी उसी तरह मुनिजनसेवित सत्यका उत्पत्ति-स्थान था। समुद्र जैसे चन्द्रका उत्पत्ति-स्थान है उसी तरह वह यशका उत्पत्ति-स्थान था। चन्द्र जिसप्रकार शीतल होकर विरहियोंको सन्ताप ( कामोद्दीपनद्वारा चित्तमें क्षोभ ) उत्पन्न करता है उसका यश भी उसीप्रकार शीतल होकर भी शत्रुओंको सन्ताप ( ईर्ष्या-वशसे चित्तका क्षोभ ) उत्पन्न करता है। चन्द्र जिसप्रकार स्थिर होने पर भी सर्वदा भ्रमण करता है ( अर्थात् आकाशमें स्थायी होकर नक्षत्र-मालाओंके साथ-साथ भ्रमण करता है ) उसका यश उसी प्रकार स्थिर ( चिरस्थायी ) होकर भी सर्वदा लोगोंके सामने चारों ओर भ्रमण करता था। चन्द्र जिसप्रकार निर्मल होकर भी शत्रुओंकी विरहिणी स्त्रियोंके मुख-कमलकी कान्तिको कामवेदना उत्पन्न कर मलिन कर देता था, उसका यश उसीप्रकार निर्मल होकर भी शत्रुस्त्रियोंके मुख-कमलकी शोभाको विद्वेष-वशसे मलिन कर देता था। चन्द्र जिसप्रकार अत्यन्त धवल होने पर भी सभी लोगोंको रक्तिमा ( अनुराग ) करने वाला था, उसका यश उसी

१. अविगणय्य। २. एकव्यसनिन्या, शूरसमागमैर्व्यसनिन्या। ३. नित्यम् अनवरतम्। ४. सागरः। ५. पाताल इव। ६. क्षितिभीतैः।

भृतां कुलैः[1], ग्रहगण इव बुधानुगतः[2], मकरध्वज इवोत्सन्न-विग्रहः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः, पशुपतिरिव महासेनानुयातः, भुजगराज इव क्षमाभरगुरुः, नर्म्मदा-प्रवाह इव महावंशप्रभवः, अवतार इव धर्म्मस्य, प्रतिनिधिरिव पुरुषोत्तमस्य, परिहृत[3]-प्रजापीडो राजा तारापीडो नामाभूत्।

यस्तमःप्रसरमलिनवपुषा पापबहुलेन कलिकालेन चालितमामूलतो धर्म्मं दशाननेनेव कैलासमिवं[4] पशुपतिरिवावष्टभ्य पुनरपि स्थिरीचकार[5]।

---

शक्रेण च्छेदनञ्च ततो भीतैः त्रस्तैः क्षितिभृतां नृपाणां पर्वतानाञ्च कुलैः मण्डलैः पातालमिव रसातलमिवेति पातालवत् आश्रितः अवलम्बितः तारापीडः। शक्रेण स्वपक्षच्छेदमवधार्य पर्वतसमूहैर्यथा रसातलमाश्रितः तथा विपक्षितारापीडात् स्वराज्यक्षयभीतैः नृपगणैः स (भूपतिः) आश्रित इति भावः।

ग्रहेति। ग्रहाः सूर्यादयस्तेषां गणः समूह इव, बुधैः विद्वद्भिः, बुधेन चन्द्रात्मजेन च अनुगतः सहितः।

मकरेति। मकरध्वजो मदन इव, उत्सन्नो विनष्टो विग्रहः संग्रामः शरीरञ्च यस्य स तादृशः, एकत्र व्यवहारनैपुण्यादन्यत्र शम्भुतृतीयलोचनवह्निना दाहादित्याशयः।

दशेति। दशरथो रामपिता स इव, सुमित्रैः उत्तमसुहृद्भिः, सुमित्रया लक्ष्मणमात्रा च उपेतः सहितः।

पश्विति। पशुपतिः शम्भुरिव, महासेनया विपुलसैन्येन, षडाननेन च अनुयातः अनुगतः।

भुजगेति। भुजगराजः शेषनाग इव, क्षमाभरेण क्षमागुणाधिक्येन, क्षमायाः भुवो धारणजन्यभारेण च गुरुः गौरवान्वितः भारयुक्तश्च। क्षमागुणप्रशंसा च—

'क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा। क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किन्न साध्यते॥'

नर्मदेति। नर्मदाया मेकलाद्रिजायाः नद्याः प्रवाहः स्रोत इव, महावंशात् अत्युच्चकुलात् विस्तृतवेणुपुञ्जमध्याच्च प्रभवति उत्पद्यत इति स तादृशः। मेकलाद्रिस्थवेणुपुञ्जमध्यान्नर्मदायाः प्रादुर्भाव इति लौकिकाभाणिकी। इह 'पातालवत्' इत्यारभ्य 'नर्मदा प्रवाह इव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः।

अवेति। धर्मस्य धर्मराजस्य अवतार इव स्वरूपान्तरेणाविर्भूतः अंश इव, सर्वस्मिन् समये नीतिसत्यावलम्बनादित्यभिप्रायः।

नारायणस्य प्रतिनिधिरिव साम्यात् कार्यभारमुपगत इव, सर्वस्मिन् समये जगत्परिपालनतत्परत्वादित्याशयः। परिहृता परित्यक्ता प्रजानां जनानां पीडा दुःसोढकरभारदानादिजनितव्यथा येन स तादृशः। इह 'अवतार इव' 'प्रतिनिधिरिव' इत्यत्र च जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

य इति। पशुपतिः शङ्कर इव यः तारापीडः, दशाननेन लङ्काधिपतिनेव, तमसां तमोगुणानां प्रसरेण आधिक्येन मलिनं कश्मलं वपुः शरीरं यस्य तेन तादृशेन, तथा पापं कलुषमेव बहुलम् अधिकं यस्मिन् तेन तादृशेन, कलिकालेन कलियुगेन आमूलतः मूल (बुध्न) पर्यन्तं चालितं स्वकीयस्थानात्

---

प्रकार अत्यन्त धवल होकर भी सभी लोगोंको अनुरक्त करनेवाला था। क्षितिधरकुलोंने जिस प्रकार इन्द्रद्वारा अपने पक्षच्छेदके भयसे पातालका आश्रयण किया था, उसी प्रकार अन्यान्य राजगण भी अपने पक्षके नाशके भयसे तारापीडका आश्रयण किए थे।

जिस प्रकार बुध अन्यान्य ग्रहगणका अनुगमन करता है, उसी प्रकार पण्डितगण भी तारापीडका अनुगमन करते थे। जिसप्रकार कामदेवका शरीर नहीं है, उसीप्रकार तारापीडका भी युद्ध नहीं था। जिसप्रकार राजा दशरथ सुमित्रानामकी पत्नीसे युक्त थे, उसीप्रकार तारापीड भी उत्तम सुहृद्गणोंसे युक्त था। जिसप्रकार कार्त्तिकेय शङ्करका अनुगमन करते हैं, उसीप्रकार विशाल सैन्यमण्डली भी तारापीडका अनुगमन करती थी। जिसप्रकार शेषनाग पृथिवी धारण करनेमें क्षम हैं, उसीप्रकार तारापीड भी अतिशय क्षमागुणके भारसे गौरवान्वित था। जिसप्रकार नर्मदा नदीका प्रवाह विशाल वंशसमूह (बांसोंकी झाड़ी) से उत्पन्न होता है, उसीप्रकार तारापीड भी उच्चकुलसे उत्पन्न हुआ था, और वह धर्मका मानो अवतार एवं नारायणका मानो प्रतिनिधिस्वरूप था।

रावणद्वारा कैलाश पर्वतको मूलसे चलायमान किये जाने पर महादेवने चरणांगुष्ठके भारसे जिसप्रकार फिरसे उसे रोककर स्थिर किया था, उसीप्रकार अज्ञानके प्रसारसे मलिन शरीरवाले और पापसे भरे कलिकाल-

---

१. क्षितिभृत्कुटिलैः क्षितिभृत्कुलैः, क्षितिभृतः कुलैः। २. अनुगतः। ३. परिहृत···। ४. कैलासम्। ५. चक्रे।

यश्च रति-प्रलाप-जनित-दयार्द्र-हृदय-हर-निर्म्मितमपरमिव-मकरकेतुममंस्त लोकः। यश्च जलनिधि-तरङ्ग-धौत-मेखलात् पत्रान्तर-विचारि-तारागण-द्विगुणिततट-तरु-कुसुम-प्रकरात् उद्यदिन्दु-बिम्ब-विगलदमृत-बिन्द्वासारार्द्र-चन्दनात् अशिशिर-कर-रथ-तुरङ्ग-खुर-शिखरोल्लेख-खण्डितोल्लसल्लवङ्ग-पल्लवात् ऐरावत-कर-लून-शल्लकी-किसल-

प्रच्यावयितुमुपक्रान्तम्, कैलासं हिमशिखरमिव धर्मं सुकृतम्, अवष्टभ्य सर्वतः श्रौतस्मार्त्तकर्मकलाप-प्रवर्त्तनेन चरणाङ्गुष्ठनिर्भरेण च अवलम्ब्य, पुनरपि भूयोऽपि स्थिरीचकार सुस्थिरं कृतवान्।

इह 'पशुपतिरिव, दशाननेनेव, कैलासमिव' इति त्रयाणामुपमानानां परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

पुरा परमशिवभक्तेन लङ्काधिपतिना शिवपूजनाय प्रत्यहं स्वराजधानीतः कैलासागमनायासं परिहर्त्तुमिच्छुना तं पर्वतमुत्तोल्य स्वराजधान्यामेव नीयमानमवलोक्य तत्र भगवान् परमेश्वरः पादाङ्गुष्ठभरेण भूयोऽपि स्वकीयस्थानेऽतिष्ठिपदिति रामायणम्।

यमिति। च पुनः, रतेः कामपत्न्याः प्रलापेन स्वप्राणपतिविनाशोत्पन्नशोकजनितविलापेन, जनिता उत्पादिता या दया करुणा तया आर्द्रं स्विन्नं हृदयं चेतो यस्य तेन तादृशेन हरेण शङ्करेण निर्मितं रचितम् अपरम् अन्यं मकरकेतुं कन्दर्पमिव यं तारापीडम् अमंस्त मनसि कृतवान्। इह 'अपरमिव' इति द्रव्योत्प्रेक्षा तया चास्य स्वन्तः रामणीयकं रूपमिति ध्वन्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

यश्चेति। च पुनः, पूर्वदिग्वर्त्तमानादुदयाचलात् दक्षिणदिग्वर्तमानात् सेतुबन्धात् पश्चिमदिग्वर्त्तमानात् मन्दरशैलात् उत्तरदिग्वर्त्तमानाच्च गन्धमादनपर्वतादारभ्य अवनीपतयः मेदिनीपतयः यं तारापीडं प्रणेमुः नमश्चक्रुरिति दूरस्थितया क्रियया सम्बन्धः। इह पञ्चम्यन्तानि पदानि तेषां पर्वतानां विशेषणानि बोध्यानि। तत्र प्रथमसमुदयपर्वतविशेषणानि प्रतिपादयति—जलनिधीति। जलनिधेः पूर्वसमुद्रस्य तरङ्गैः कल्लोलैः धौता क्षालिता मेखला मध्यभागो यस्य तस्मात् तादृशात्। पत्राणां पर्णानाम् अन्तर्मध्ये विचारिभिः अत्युन्नततया नक्षत्रमण्डलस्पर्शित्वात् सञ्चारिभिः तारागणैः नक्षत्रमण्डलैः द्विगुणितः द्विगुणीकृतः तटतरूणां स्वोन्नतप्रदेशस्थद्रुमाणां कुसुमप्रकरः पुष्पसमूहो यस्य तस्मात् तादृशात्। उद्यत उदयं प्राप्नुवत इन्दुबिम्बात् चन्द्रमण्डलात् विगलतां स्रवताम् अमृतबिन्दूनां पीयूषविप्रुषाम् आसारेण धारासम्पातेन आर्द्राः क्लिन्नाः चन्दना मलयजवृक्षाः यत्र तस्मात् तादृशात्। अशिशिरकरस्य दिवसकरस्य ये रथतुरङ्गाः स्यन्दननियुक्ताश्वाः तेषां खुरशिखरैः शफप्रान्तैः य उल्लेखो घर्षणं तेन खण्डितानि त्रुटितानि अत एव उल्लसन्ति देदीप्यवन्ति लवङ्गपल्लवानि लवङ्गकिसलयानि यत्र तस्मात् तादृशात्। ऐरावतस्य इन्द्रहस्तिनः करेण शुण्डादण्डेन लूनानि छिन्नानि शल्लकीनां गजभक्ष्यतरुविशेषाणां किसलयानि पल्लवानि यत्र तस्मात् तादृशात्। उदयनाम्नः उदयसंज्ञकस्य शैलात् पर्वतात् आ आरभ्येत्यर्थः। इह 'पत्रान्तरविचारि' इत्यादौ 'उद्यदिन्दुबिम्ब' इत्यादौ 'अशिशिरकर' इत्यादौ च विशेषणे सम्बन्धाभावेऽपि सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, चैषां सर्वत्र परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

द्वारा धर्ममूलसे चलायमान किये जाने पर उसे रोककर राजा तारापीडने श्रुति और स्मृतिका विधान प्रवर्त्तित कर उस धर्मको फिरसे स्थापित किया था।

महादेवने रतिका प्रलाप सुनकर हृदयमें दया उत्पन्न होनेसे मानो दूसरा कामदेव उत्पन्न किया हो ऐसा उस तारापीडको सभी लोग मनमें समझते थे।

समुद्रकी तरङ्गोंसे जिसकी मेखला धुल गई है, पत्तोंके बीच-बीचमें विचरते तारोंसे जिसके तटके वृक्षोंके फूल द्विगुणित हो गये हैं, उदय होते चन्द्रबिम्बमेंसे निःसृत हुई अमृतकी बूंदोंकी वर्षासे जहाँ सभी चन्दनवृक्ष गीले रहते हैं, सूर्यके रथमें नियुक्त घोड़ोंके खुरोंकी रगड़से जहाँसे लवंग-पल्लव-खण्डित हो गये हैं और ऐरावत हाथीकी सूंड़से जहाँ शल्लकी वृक्षके पत्ते तोड़ लिए गए हैं ऐसे उदयाचल तकसे, जहाँ बन्दरोंसे तोड़े जानेके कारण लवली-फल थोड़े ही बचे हैं, समुद्रमेंसे निकली हुई जलदेवियाँ जहाँ रामचन्द्रके चरणचिह्नोंकी पूजा करती हैं, पर्वतोंके गिरनेसे चूर्णित शङ्खसमूहके टुकड़े जहाँ शिलातलोंपर नक्षत्रपुञ्जके समान प्रतीत हो रहे हैं, एवं जो वानर श्रेष्ठके हाथसे इकट्ठे किये गए सहस्रों पर्वतोंसे निर्मित हुआ है ऐसे सेतुबन्ध तकसे; निर्मल झरनोंके जलसे जहाँ नक्षत्रराशि

१...उपजनित। २. अपरं। ३. पत्रान्तः...। ४. क्वचिद् 'वि' पदन्नास्ति। ५. दुर्दिनार्द्र...। ६...तुरग...। ७...करतलं, करलूनरोध...करलूनलोधः...।

यात्[1] आ शैलादुदयनाम्नः, कपि-बल[2]-विलुप्त-विरल-लवलीलता-फलात्[3] उदधि-विनिर्गत[4]-जलदेवताभिवन्द्यमान[5]-राघवपादात् अचल-पात[6]-दलित-शङ्खकुल शकल-तारकित-शिला-तलात् नल-करतला[7]कलित-शैल-सहस्र-सम्भूतादासेतुबन्धात्, अच्छ-निर्झर-जल-धौत-तारका-सार्थात् अमृत-मथनोद्यत-वैकुण्ठ-केयूरपत्र-मकरकोटि-कर्षण-मसृणित-ग्रावण[8]: सुरासुर-हेला-वलयित-वासुकि-समाकर्षण-प्रारम्भ[9]-चलित-चरणभर-दलित-नितम्बात्[10] अमृत-सीकर-सिक्तसानोरामन्दरा[11]चलात् नर-नारायण-चरण-मुद्राङ्कित—बदरिकाश्रम-रमणीयात् कुबेर-पुर-सुन्दरी-भूषण-रवमुखर-शिखरात् सप्तर्षि-सन्ध्योपासना-पूत-प्रस्रवणाम्भसः वृकोदरोद्दलित-सौगन्धिकषण्ड[12]-सुगन्धि-मेखलात् आ गन्धमादनात्, सेवा-

---

अथ द्वितीयं सेतुबन्धं विशेषयन् प्रतिपादयति—कपिबलेति। कपिबलेन लङ्कागमनकाले वानरानीकेन विलुप्तानि भक्षयितुं लूनानि अतएव विरलानि स्वल्पीभूतानि लवलीलतानां लवलीसंज्ञकवल्लीनां फलानि सस्यानि यत्र तस्मात्। उदधेः समुद्रात् विनिर्गतया उत्थितया जलदेवतया जलाधिष्ठात्र्या अभिवन्द्यमाना अर्च्यमानाः राघवस्य दाशरथेः पादाः चरणचिह्नानि यत्र तस्मात्। अचलानां पर्वतानां पातेन निक्षेपेण सेतुबन्धनकाले शैलनिक्षेपप्रहारेणेत्यर्थः दलितानां चूर्णितानां शङ्खकुलानां शकलैः खण्डैः तारकितानि सञ्जाततारकाणि शिलातलानि पाषाणतलानि यत्र तस्मात्। नलस्य तत्संज्ञकविश्वकर्मसुतस्य कपिमुख्यस्य करतलेन पाणितलेन आकलितेन संस्थापितेन शैलसहस्रेण अचलगणेन सम्भूतात् उत्पन्नात् सेतुबन्धात समुद्रबन्धादित्यर्थः, आ आरभ्य। इह भ्रान्तिमान्।

तृतीयं मन्दराचलं विशेषयति—अच्छेत्यादिना। अच्छैः स्फीतैः निर्झरजलैः प्रस्रवणसलिलैः धौतः प्रक्षालितः तारकासार्थः नक्षत्रसमूहो यस्मात् तस्मात्, अत्युन्नततया तारकामण्डलचुम्बित्वादित्याशयः। अमृतमथने समुद्रमन्थनपूर्वकपीयूषोत्तोलन इत्यर्थः, उद्यतस्य तत्परस्य वैकुण्ठस्य नारायणस्य, केयूरपत्राणां पत्रस्वरूपभुजालङ्कारविशेषाणां या मकरकोटयो मकररूपाग्रप्रदेशाः तेषां कर्षणेन घर्षणेन मसृणिताः चिक्कणीकृता ग्रावाणः शिला यस्य तस्मात्। सुरासुरैः देवदानवैः हेलया क्रीडया वलयितो मण्डलाकारतां प्रापितो यो वासुकिः शेषनागः तस्य समाकर्षणप्रारम्भेण चलितानां स्वस्थानात्प्रस्थितानां चरणानां तेषामेव देवदानवानां पादानां भरेण दलितो मर्दितो नितम्बः कटिभागो यस्य तस्मात्। अमृतस्य उत्तिष्ठमानस्य पीयूषस्य, सीकरैः बिन्दुभिः सिक्ताः सेचिताः सानवः शिखरप्रदेशा यस्य तस्मात् मन्दराचलात् मेरुपर्वतात आ आरभ्य।

पुरा किल सुरासुरा मन्दराचलेन मन्थनदण्डेन यदा समुद्रं मथितुमारब्धवन्तस्तदाऽन्तस्तलाभावान्मन्दराचलो हि समुद्रे निममज्ज। अनन्तरं प्रार्थितो भगवान् विष्णुः कूर्मरूपेण तं धृतवान् तेनैव रूपेण च बाहुभ्यामावेष्ट्य रक्षितवान् मन्दराचलम्, ततो वासुकिं रज्जुं विधाय क्षीराब्धिं मन्थयामासुरिति पौराणिकी कथा।

तुरीयं गन्धमादनं विशेषयति—नरनारायणेत्यादिना। नरनारायणयोः तन्नामकयोस्तापसयोः चरणमुद्राभिः चरणन्यासचिह्नैः अङ्कितः चिह्नितो यो बदरिकाश्रमः तन्नामकतपोवनं तेन रमणीयात सुन्दरात। कुबेरपुरम् अलकापुरी तत्र याः सुन्दर्यः रमण्यः तासां तथोक्तानां भूषणरवैः आभरणशब्देन मुखराणि

---

(तारे) धुल जाते हैं, अमृत मन्थन करते समय नारायणके केयूर (बाजूबन्द) के मकरचिह्नके अग्रभागके घर्षणसे जिसके प्रस्तरसमूह चिकने (पालिसदार) हो गये हैं, मण्डलीकृत वासुकि नागको सहज बलसे खींचनेमें डगमगाते देव-दानवोंके चरणोंके भारसे जिसका मध्य भाग मर्दित हो गया है और ऊपर उठे अमृतके बिन्दुओंसे जिसके शिखर सींचे गये हैं ऐसे मन्दराचल तकसे, नरनारायणके चरण-चिह्नोंसे चिह्नित हुए बद्रिकाश्रमसे जो रमणीय लगता है, कुबेरकी राजधानी अलकापुरीकी सुन्दरियोंके आभूषणोंकी झनझनाहटसे जिसके शिखर शब्दायमान हो रहे हैं, सप्तर्षिगणने सन्ध्योपासन करके जिसके झरनोंका जल पवित्र किया है, और भीमसेनके द्वारा तोड़े गए सौगन्धिक फूलोंसे जिसका मध्यभाग सुगन्धित हुआ है ऐसे गन्धमादन पर्वत तकसे आकर अपनी भुजाओंके बलसे

---

१.…कवलात्। २. कपिकुल…। ३. पुष्पात्। ४. निर्गत…। ५. वन्द्यमान…। ६. निपात…। ७. तलकलित। ८. ग्रावाणः। सुरासुरावलयित…। ९.…आरम्भ वलचरण…चलात्स्खलितचरण…। १०. नितम्बकटकात्। ११. मन्दरात्। १२. खण्डमण्डलात्, मण्डलात्, मेकलात्।

ञ्जलि-कमल-मुकुलदन्तुरैः शिरोभिश्चरण-नख-मयूख-ग्रथित-मुकुट-पत्रलता-ग्रन्थयो भयचकित-तरल-तारक-दृशो भुजबल-विजिताः प्रणेमुरवनीपतयः।

येन चानेकरत्नांशुजाल-पल्लविते व्यालम्बिमुक्ताफलजालके दिग्गजेनेव कल्पतरावाक्रान्ते सिंहासने भरेण शिलीमुखव्यतिकरकम्पिता लता इव नेमुरायामिन्यः सर्वा दिशः।

यस्मै च मन्येऽनन्यसाधारणशक्तिसम्पदे सुरपतिरपि स्पृहयाञ्चकार।

---

शब्दसहितानि शिखराणि सानूनि यस्य तस्मात्। सप्तर्षीणां मरीच्यादिमुनीनां सन्ध्योपासनया सन्ध्यावन्दनेन पूतानि पवित्राणि प्रस्रवणाम्भांसि निर्झरसलिलानि यस्य तस्मात्। तथा वृकोदरेण भीमसेनेन उद्दलितं छिन्नं यत्सौगन्धिकषण्डं कह्लारमण्डलं तेन सुगन्धिः सौरभयुक्ता मेखला मध्यप्रदेशो यस्य तस्मात्। गन्धमादनात् तन्नामकपर्वतात् आ आरभ्य। 'सौगन्धिकं तु कह्लारम्' इत्यमरः।

यस्मिन् समये द्यूतनिर्जिताः सन्तः पाण्डवा द्वैतवनमवात्सुः तस्मिन् समये सौगन्धिककुसुमेषु द्रौपद्या अभिलाषः समुत्पन्नः। अथ तन्मनोरथपूर्त्तये भीमसेनः तत्र सरस्यध्यासीनं नागराजं विजित्य तत्कन्यकाञ्चोलूप्याख्यां विवाह्य सौगन्धिककुसुमानि गृहीत्वा स्वाश्रममाययाविति महाभारतीया कथा।

अथावनीपतीन् विशेषयति—सेवाञ्जलिकमलेत्यादिना। सेवाञ्जलय एव आनुगत्यप्रकाशनाय भाले पाणिद्वयसंयोगा एव कमलमुकुलानि पद्मकुड्मलानि यद्वा सेवाञ्जलयः कमलमुकुलानीव, तैर्दन्तुराणि उच्चावचानि तैः तादृशैः। शिरोभिः मस्तकैरुपलक्षिताः, चरणनखमयूखैः तारापीडनृपतेः पादपुनर्भूरश्मिभिः ग्रथिताः प्रणामसमये संस्पृष्टाः मुकुटानां राज्ञामेव किरीटानां पत्रलताग्रन्थयः पत्रलतास्वरूपाग्रभागबन्धनानि येषां ते तादृशाः। भयेन त्रासेन चकिताः चञ्चलाः तरलाः भास्वराः तारकाः कनीनिका यासां ताः तादृशाः दृशो लोचनानि येषां ते तादृशाः। भुजबलेन तारापीडस्यैव बाहुवीर्येण विजिताः स्वाधीनीकृताः। 'तरलो भास्वरे चले' इति हैमः।

'तरलं चञ्चले षिङ्गे भास्वरेऽपि त्रिलिङ्गकम्।
हारमध्यमणौ पुंसि यवागू सुरयोः स्त्रियाम्॥' इति मेदिनी च।

इह 'सेवाञ्जलि-कमल मुकुल-दन्तुरैः' इत्यत्र साधकबाधकप्रमाणानुपलम्भात् उपमारूपकयोः सन्देहसङ्करः।

येनेति। दिग्गजेन ऐरावतादिहस्तिना कल्पतराविव पारिजातवृक्ष इव येन तारापीडेन, अनेकेषां बहूनां रत्नानां स्वनिवेशितानां मणीनाम् अंशुजालैः रश्मिसमूहैः पल्लविते चतुर्दिक्षु प्रसरणाद्विस्तारिते समुत्पन्नविविधमणिकिरणसमूहात्मककिसलये च, तथा व्यालम्बि लम्बमानं मुक्ताफलजालं मौक्तिकस्रक् यत्र तथोक्ते सिंहासने राजविष्टरे आक्रान्ते आरूढे धारणे च कृते सति, भरेण तदीयभारेण, शिलीमुखानां तत्पारिजातवृक्षतः उत्पततां भ्रमराणां बाणानाञ्च व्यतिकरेण सम्बन्धेन कम्पिता धूता लता इव तत्पारिजातवृक्षनिकटस्थिता व्रतत्य इव आयामिन्यो विस्तारवत्यः समस्ता इत्यर्थः, सर्वाः समस्ताः दिशो हरितो नेमुः अधीना प्रणताश्च बभूवुः। इह 'कल्पतराविव' 'लता इव' इत्यत्र पूर्णोपमयोः परस्परं सापेक्षत्वेन सङ्करः।

---

जीते हुए तथा भयसे चकित और चञ्चल दृष्टिवाले बड़े-बड़े राजगण सेवाञ्जलिरूप कमलकी कलीसे निम्नोन्नत हुए मस्तकोंसे उस ( तारपीड ) को प्रणाम करते थे।

किसी दिग्गज द्वारा कल्पवृक्ष पर आक्रमण करने पर जिस समय उससे उड़कर भ्रमरगण निकटवर्ती लताओं पर बैठ जाते हैं, उस समय उसके भारसे कम्पित होकर वे ( लताएँ ) जिस प्रकार अवनत हो जाती हैं, उसी प्रकार अनेक रत्नोंकी किरणें जहाँ फैल रही थीं और जिसमें मोतियोंकी जालियाँ बँधी हुई थीं ऐसे सिंहासन पर महाराज तारापीडके बैठजाने पर उसके भारसे एवं बाणप्रहारके भयसे कम्पित होकर सभी दिशाएँ उसके समीप सम्पूर्ण रूपसे अवनत हो गईं।

मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि—स्वयं देवराज इन्द्र भी, तारापीडकी असाधारण शक्ति और सम्पत्तिको देखकर तदनुरूप शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करनेकी इच्छा करता था।

---

१. मुकुलैर्दन्तुरैः। २.···मयूखाग्र···। ३. ग्रथि···। ४. तार···। ५. अवनिपाः। ६. अंशुकजाल। ७. व्यलम्बि। ८.···मुक्ताजालके ९. सर्वदिशः। १० मन्ये म···

यस्माच्च धवलीकृत-भुवनतलः सकल-लोक-हृदयानन्दकारी क्रौञ्चादिव हंसनिवहो निर्जगाम गुणगणः।

यस्य चामृतामोद-सुरभिपरिमलया मन्दरोद्धत[1]-बहुल-दुग्धसिन्धु-फेन-लेखयेव धवलीकृतसुरासुरलोकया दशसु दिक्षु मुखरितभुवनमभ्रम्यत[2] कीर्त्या। यस्य चातिदुःसह-प्रताप-सन्ताप-खिद्यमानेव क्षणमपि न मुमोचातपत्रच्छायां[3] राजलक्ष्मीः। तथा च यस्य[4] दिष्टिवृद्धिमिव[5] शुश्राव, उपदेशमिव जग्राह, मङ्गलमिव[6] बहु मेने, मन्त्रमिव जजाप, आगममिव[7] न विसस्मार चरितं जनः।

यस्मै चेति। सुराणां देवानां पतिः स्वामी इन्द्र इत्यर्थः सोऽपि, अनन्यसाधारणी शक्तिसम्पत् यस्य एवम्भूताय यस्मै च तारापीडाय स्पृहयाञ्चकार उक्तरूपा ममापि शक्तिसम्पत् स्यादिति मनोरथं कृतवानित्यर्थः। इत्यहं मन्ये। इह वाचकपदस्य विद्यमानत्वाद्वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

यस्मादिति। यस्मात् तारापीडात् क्रौञ्चात् क्रौञ्चपर्वतात् हंसनिवहः सितच्छदसमूह इव, धवलीकृतं श्वेतीकृतं भुवनतलं विष्टपतलं येन स तादृशः सकललोकानां समस्तजनानां यानि हृदयानि चित्तानि तेषाम् आनन्दकारी प्रमोदकृत् गुणगणो दयादाक्षिण्यादिः निर्जगाम बहिर्निर्ययौ तमनुकर्तुमभिलषतां जनानां चेतांसि इति शेषः।

पुरा किल परशुरामो महेश्वराद्धनुर्वेदशिक्षणावसरे क्रौञ्चदारकस्य कार्त्तिकेयस्य स्पर्द्धया शरेण क्रौञ्चनामकं पर्वतं भेदितवान् यद्विवराच्च हंसा निःसृता इति पौराणिकी कथा।

यस्येति। अमृतस्य पीयूषस्य य आमोदो गन्धः तद्वत् मन्थनोत्पन्नपीयूषामोदेन च सुरभिर्घ्राणतर्पणः परिमलो गन्धो यस्याः तया तादृश्या, तथा धवलीकृताः शुभ्रीकृताः सुरासुरलोकाः संसारव्यापनात् देवदानवलोकाः मन्थनोद्यताः सुरासुराश्च यया तया तादृश्या। मन्दरेण भ्रमितमन्दरपर्वतेन उद्धता उत्तोलिताः बहुला अधिका या दुग्धसिन्धोः क्षीरसमुद्रस्य फेनलेखा अब्धिकफपङ्क्तिः तया इव, यस्य कीर्त्या यशसा; मुखरितं निजनयनशब्दैः आलोडनशब्दैश्च शब्दायमानीकृतं भुवनं विष्टपं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा दशसु दिशासु अभ्रम्यत अगम्यत। यद्यप्यत्र कीर्त्तेः परिमलासम्भवात्तद्वर्णनेन ख्यातविरुद्धो दोष आपतति तथापि 'कीर्त्या सौगन्ध्यं वर्ण्यते' इति कविसम्प्रदाय इति भानचन्द्रप्रतिपादनात् गुण एव, उक्तञ्च दर्पणे 'कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातिविरुद्धता' इति। 'फेनलेखयेवे'त्यत्र पूर्णोपमा।

यस्येति। राजलक्ष्मीः राज्यश्रीः, अतिदुःसहः अतिदुःखेन सोढुं शक्यः प्रतापः कोशदण्डजातं तेज एव प्रतापः सूर्यादितेजः तस्माद् यः सन्तापो घर्मः तेन खिद्यमानेव क्लिश्यमानेव सती क्षणमपि निमेषमात्रमपि यस्य आतपत्रच्छायां राजच्छत्रस्य अनातपस्थलं न मुमोच न तत्याज सूर्यादितापतप्तस्य छायाश्रयणस्यावश्यकत्वादित्याशयः। इहोत्प्रेक्षातिशयोक्त्योः सङ्करः।

तथा चेति। तथा च किञ्चेत्यर्थः। जनो लोकः यस्य चरितं शौर्यानुकम्पादिकं दिष्टिवृद्धिमिव ज्योतिःशास्त्रज्ञमुखात् निजभाग्योपचयमिव जनाननात् शुश्राव आकर्णितवान् लालसया कौतूहलेन च आग्रहातिशयसम्भवादित्याशयः। गुरोरुपदेशमिव गुरुनिदेशमिव जग्राह गृहीतवान् द्वयोरप्यभ्युदयसम्पादकत्वप्रत्याशयादित्यभिप्रायः। मङ्गलमिव स्वीयशुभोदयमिव बहु मेने सर्वाधिकत्वेन ज्ञातवान् उभयत्रापि सुखहेतुत्वादिति भावः। उपास्यमन्त्रमिव आराध्यमन्त्रमिव जजाप वारम्वारमुच्चरितवान् मुहुर्मुहुस्तदनुष्ठानेन तदनुकरणस्यानायासेन विधातुं शक्यत्वात् मन्त्रपक्षे चाभिलषितसम्पादकत्वादित्याशयः। आगमम्

पूर्व समयमें जिस प्रकार क्रौञ्चपर्वतसे हंसगण निकले हुए थे, उसी प्रकार दया-दाक्षिण्यादि गुणगण, समस्त संसारको शुभ्रवर्ण कर एवं सब लोगोंके हृदयमें आनन्द उत्पन्न कर उस तारापीडसे निकले हुए थे।

अमृतसुगन्धिके समान नासिकाके तृप्तिजनक सौरभसे युक्त, एवं मन्दराचलसे उछाले गये दूधवाले समुद्रकी फेनलेखाके समान शुभ्रवर्ण जिसकी कीर्त्ति, देव एवं असुरलोकको शुभ्रवर्ण कर समस्त भुवनमण्डलको अपनी आलोचनाके शब्दोंसे मुखरित करती हुई दशो-दिशाओंमें भ्रमण करती थी। एवं राजलक्ष्मी, जिसके प्रतापके दुःसह सन्तापसे मानो खिन्न हुई क्षणभर भी उसके राजच्छत्रकी छायाको परित्याग नहीं करती थी। सब लोग दैवज्ञमुखसे अपने सौभाग्यके अभ्युदयके समान उसके चरित्र सुनते थे, गुरुके उपदेशके समान उनकी शिक्षा ग्रहण करते थे, मङ्गल-कार्यके समान आदर करते थे, इष्टमन्त्रके समान जप करते थे और शास्त्र-वचनके समान अहर्निश स्मरण करते थे।

१. मन्दरोद्धृत,…। २. अभ्राम्यत। ३. आतपच्छायां। ४. अस्य। ५. दिष्टवृद्धिम्। ६. बहुमङ्गलमिव मेने। ७. आगमवचनमिव।

यस्मिंश्च राजनि गिरीणां विपक्षता, प्रत्ययानां परत्वम्, दर्पणानाम[1]भिमुखावस्थानम्, शूलपाणिप्रतिमानां दुर्गाश्लेषः, जलधराणां चापधारणम्, प्रतीहाराणामसिधारणम्[2], तैक्ष्ण्यमसिधाराणाम्, ध्वजानामुन्नतिः, धनुषामवनतिः, वंशानां शिलीमुखैः[3]क्षतिः, देवतानां[4] यात्रा,

---

अधीताम्नायमिव न विसस्मार न विस्मृतवान् वेदादिविस्मरणे मनुवचनादिना दुष्कृतोदयात्, यशस्तु स्वत एव न विस्मर्यते रमणीयत्वादित्यभिप्रायः। उपमालङ्कारः।

यस्मिंश्चेति। च पुनः यस्मिंस्तारापीडे राजनि नृपे गिरीणां पर्वतानामेव विपक्षता इन्द्रकर्तृकच्छेदनेन पक्षराहित्यम्, न तु जनानां विपक्षता मिथो वैरभावः तद्धेतोरसत्त्वात्। पृथिव्याम् 'आसीत्' इति अग्रेतनक्रियया सर्वत्र सम्बन्धः। प्रत्ययानां सुप्तिङादीनामेव परत्वं प्रकृतिपरवर्त्तित्वम्, न तु जनानां परत्वं भिन्नत्वम् अनात्मीयत्वमित्यर्थः। सर्वस्मिन् समये सदाचरणात्। दर्पणानाम् आदर्शानामेव अभिमुखावस्थानं संमुखेऽवस्थितिः, न तु जनानां जनान्तरस्य हननाय सम्मुखावस्थानं तथाविधविद्वेषासत्त्वात्, यद्वा—जनानां पुरतो न कस्याप्यवस्थानम्, सर्वेषां धनधान्यादियुक्तत्वादित्याशयः। 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। शूलपाणिः मृत्तिकादिरचितमहेश्वरः तत्प्रतिमानां प्रतिकृतीनामेव दुर्गाणां दुर्गाप्रतिमानाम् आश्लेषः संबन्धः, न तु जनानां दुर्गेषु आश्लेष आश्रयः, प्रतिपक्षयाक्रमणसन्देहस्याविद्यमानत्वात्। जलधराणां मेघानामेव चापधारणम् इन्द्रधनुर्धारणम्, न तु जनानां चापधारणं कार्मुकधारणं सङ्ग्रामाभावात्। प्रतीहाराणां द्वारपालानामेव असिधारणं खड्गधारणम्, न तु जनानां जनान्तरहननाय खड्गधारणं वैरिताया एवासत्त्वात्। असिधाराणां खड्गनिशितभागानामेव तैक्ष्ण्यं तीक्ष्णता, न तु जनानां तैक्ष्ण्यम् उग्रप्रकृतित्वं सच्छिक्षाप्रभावेण निखिलानामेव मधुरप्रकृतित्वात्। ध्वजानां वैजयन्तीनामेव उन्नतिः ऊर्ध्वमुखत्वेन स्थितिः, न तु जनानाम् उन्नतिः औद्धत्यम् अहङ्काराभावात्। धनुषां कार्मुकाणामेव अवनतिः शिक्षाकाले गुणाकर्षणेन अवनमनम्, न तु जनानाम् अवनतिः अवस्थाच्युतिः निखिलानामेव अत्यध्यवसायेन द्रव्याद्युपार्जनात्। वंशानां वेणूनामेव शिलीमुखैः भ्रमरैः क्षतिः बिलकरणेन हानिः, न तु जनानां शिलीमुखैः शरैः क्षतिः भेदनं संग्रामाभावात्। देवतानां सुराणामेव यात्रा अर्चायामुत्सवः, न तु जनानां ( सैन्यानां ) यात्रा सङ्ग्रामाय गमनं प्रतिपक्षासत्त्वात्। 'यात्रा तु यापनेऽपि स्याद्गमनोत्सवयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। कुसुमानां पुष्पाणामेव बन्धनेषु वृन्तेषु स्थितिः अवस्थानम्, न तु जनानां बन्धने बन्धनभवने ( कारागारे ) स्थितिः, सर्वेषां निरपराधत्वात्। इन्द्रियाणां मनआदिकरणानामेव निग्रहः

---

और जिसके राजा होने पर पृथिवीमें पर्वतगणकी ही विपक्षता ( पक्षहीनता ) थी, किन्तु लोगोंके बीचमें विपक्षता ( परस्पर शत्रुता ) नहीं थी। सुप् और तिङ्प्रभृति प्रत्ययोंका ही परत्व ( प्रकृति-परवर्त्तित्व ) था, किन्तु लोगोंके मध्यमें परत्व ( परस्पर-अनात्मीयता ) नहीं था। दर्पण ही सामने रहते थे, किन्तु प्रहार करनेके लिए एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके सामने नहीं ठहरते थे। शिवमूर्त्तियोंका ही दुर्गा आश्लेष (पार्वतीकी प्रतिमाका संयोग) था, किन्तु लोगोंको दुर्गाश्लेष ( दुर्ग-आश्लेष = किलेमें जानेकी आवश्यकता ) नहीं था। मेघ ही चापधारण ( इन्द्रधनुष धारण ) करते थे, किन्तु लोगोंको चापधारण ( युद्धके लिए धनुर्ग्रहण ) करनेकी आवश्यकता नहीं थी। द्वारपालोंका ही खड्गधारण था, किन्तु अन्य लोगोंका नहीं। तलवारकी धाराओंमें ही तीक्ष्णता थी, किन्तु किसी के भी स्वभावमें तीक्ष्णता नहीं थी। ध्वजा ही में उन्नति ( ऊँचा चढ़ना ) थी, किन्तु लोगोंमें उन्नति ( औद्धत्य ) नहीं थी। धनुषोंमें ही अवनति ( गुणाकर्षणके समयमें नमन ) होता था, किन्तु लोगोंकी अवस्थाकी अवनति नहीं होती थी। बाँसोंका ही शिलीमुखद्वारा ( भ्रमरद्वारा ) क्षय होता था, किन्तु लोगोंके मध्यमें किसी की भी शिलीमुखद्वारा क्षति ( बाणद्वारा विदारण ) नहीं होता था। देवताओंकी ही पूजादिके उपलक्षमें यात्रा ( उत्सव ) होती थी, किन्तु युद्धके लिए सैनिकोंकी यात्रा ( प्रस्थान ) नहीं होती थी। फूलोंके ही बन्धनमें (वृन्तमें= डण्ठीमें, अथवा मालारूपमें ) स्थिति थी, किन्तु लोगोंमें किसीका बन्धन ( कारागार ) नहीं था। इन्द्रियोंका ही

---

१. दर्पाणाम्। २. 'प्रतीहाराणामसिधारणं तैक्ष्ण्यमसिधाराणाम्' इति पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते, 'पद्मानां जलदिव्यमि'त्यधिकश्च पाठः क्वचिदुपलभ्यते। ३. शिलीमुखमुखक्षतिः। ४. देवानाम्।

कुसुमानां बन्धनस्थितिः, इन्द्रियाणां निग्रहः, वनकरिणां वारिप्रवेशः[1], व्रतिनामग्निधारणम्[2], ग्रहाणां तुलारोहणम्, अगस्त्योदये विषशुद्धिः[3], केश-नखानामायतिभङ्गः, जलधर[4]-दिवसानां मलिनाम्बरत्वम्, रत्नोपलानां भेदः, मुनीनां योगसाधनम्[5], कुमारस्तुतिषु तारको-

योगविधानेन वशीकरणम्, न तु जनानां निग्रहो दमनं दुराचाराभावात्। वनकरिणाम् अरण्यवासिगजानामेव वारौ बन्धनस्थले प्रवेशः शिक्षणाय प्रवेशनम्, न तु जनानां वारिणि सलिले प्रवेशः 'यद्यहं दुराचाररतो भवेयं तदा सलिले मग्नः स्याम्' इति शपथग्रहणेनावतरणं, दुराचाराभावात्। 'वारि ह्रीवेरनीरयोः। वारिघट्यां सरस्वत्यां गजबन्धनभुव्यपि' इति हैमः। व्रतिनाम् अग्निहोत्रादिनियमशालिनामेव अग्निधारणं हवनायाग्निपरिग्रहः न तु जनानां 'यद्यहं दुराचाररतः स्यां तदा वह्निना दग्धकरो भवेयम्' इति शपथग्रहणेन अग्निधारणम् अग्निदिव्यं, दुराचाराभावात्। ग्रहाणां सूर्यादीनामेव तुलारोहणं तुलाराशौ सङ्क्रमः, न तु जनानां 'यद्यहं दुराचाररतः स्यां तदाऽधोगामी भवेयम्' इति शपथग्रहणेन तुलादण्डारोहणं, दुराचाराभावात्। अगस्त्योदये सौरभाद्रपदमासाऽवसाने अगस्त्यर्क्षोदय एव विषाणां सलिलानां शुद्धिः स्वच्छता, न तु दुष्कृतोदयसन्देहे जनानां विषेण 'यद्यहं दुराचारी स्यां तदा गरलपानेन निश्चैतन्यो भवेयम्' इत्येवं शपथग्रहणपूर्वकविषपानेन शुद्धिः विगतकल्मषत्वप्रख्यापनं, कल्मषसन्देहाभावात्। 'विषं तु गरले तोये' इति विश्वः। केशनखानां कचपुनर्भूणामेव आयतेः विस्तृतायाः भङ्गः कर्त्तनम्, न तु जनानाम् आयतेः उत्तरकालस्य उत्तरसमयस्थायिनः आनन्दस्य भङ्गो नाशः, शुभप्रारब्धत्वात्। जलधरो मेघः तस्य ये दिवसाः तदाच्छन्नदिनानि तेषामेव मलिनाम्बरत्वं मेघावृतत्वात् मलिनगगनत्वम्, न तु जनानां मलिनाम्बरत्वं मलिनवस्त्रयुक्तत्वं धनसम्पत्प्रभूततया सर्वस्मिन् समये क्षालितवसनत्वात्। रत्नोपलानां मणीनामेव भेदो गुम्फनतन्तुप्रवेशाय विदारणं रन्ध्रकरणम्, न तु जनानां भेदो भेदनीतिप्रयोगः, वैरित्वासत्त्वेनावश्यकत्वाभावात्। मुनीनां तपस्विनामेव योगसाधनं चित्तवृत्तिनिरोधाय यमाद्यनुष्ठानम्, न तु जनानां योगसाधनम् अन्यजनमारणार्थं विश्वासघातकनिदेशनम्, तथाविधक्रूराचाराभावात्।

'योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु। वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे॥
विश्रब्धघातके द्रव्योपायसंहननेष्वपि। कार्मणेऽपि च·················' इति मेदिनी।

कुमारः कार्त्तिकेयः तस्य स्तुतिषु स्तोत्रेष्वेव तारकस्य तन्नामक-तद्वतदैत्यविशेषस्य उद्धरणम् उदाहरणम्, न तु केषाञ्चिदपि जनानां दण्डेषु तारकोद्धरणं लोचनकनीनिकोत्पाटनम्, तथाविधदोषाभावात् दण्डदातुश्चाघातुकत्वात्। उष्णरश्मेः रवेरेव ग्रहणाशङ्का उपरागशङ्का, न तु कस्यापि लोकस्य ग्रहणाशङ्का दोषवशात् राजदूतैः हठाद्धारणभयम्, दोषाभावात्। शशिनः चन्द्रमस एव ज्येष्ठातिक्रमः ज्येष्ठानक्षत्रमु-

निग्रह ( दमन ) था, किन्तु लोगोंको दण्ड नहीं दिया जाता था। ] जङ्गली हाथियोंका ही वारि ( बन्धनस्थान ) में प्रवेश था, किन्तु पापके विषयमें शपथपूर्वक किसी अपराधी को जलप्रवेशका दण्ड नहीं दिया जाता था ( प्राचीन समयमें जलप्रवेश भी एक प्रकारका दिव्य दण्ड था जिससे किसी मनुष्यका अपराधी या निरपराधी होना सिद्ध होता था )। अग्निहोत्रादि नियमवालोंका ही अग्निधारण ( अग्निग्रहण ) था, किन्तु पापके विषयमें शपथपूर्वक किसी व्यक्तिका अग्निधारण नहीं था। ग्रहोंका ही तुलारोहण ( तुलाराशिमें गमन ) था, किन्तु पापके विषयमें शपथपूर्वक किसी मनुष्यका तुलारोहण ( तराजू पर चढ़ना ) नहीं था। अगस्त्योदयमें ही विष-शुद्धि ( जलकी स्वच्छता ) होती थी, किन्तु पापके विषयमें शपथपूर्वक किसी मनुष्यकी विष-शुद्धि ( विष-पान पापराहित्यप्रकाश ) नहीं होता था। केशों और नखोंमें ही आयतिभङ्ग ( छेदन करने से वृद्धिका व्याघात ) होता था, किन्तु लोगोंका आयतिभङ्ग ( बुढ़ापेमें सुखभोगका अभाव ) नहीं होता था। मेघाच्छन्न दिनोंमें ही मलिनाम्बरत्व (आकाश मलिन) होता था, किन्तु लोगोंमें मलिनाम्बरत्व ( वस्त्र मलिन ) नहीं था। मणियोंमें ही भेद ( ग्रथनसूत्रके प्रवेशके लिए छिद्रकरण ) था, किन्तु लोगोंके मध्यमें भेद ( परस्पर भेदनीति प्रयोग = विरोध ) नहीं था। मुनियोंका ही योगसाधन ( योगाभ्यास = चित्तका निरन्तर बाह्यवृत्तिसे रोकना ) था, किन्तु किसीकी हत्याके लिए योगसाधन ( गुप्तघातक प्रेरण ) नहीं था। स्वामिकार्त्तिकेयकी स्तुतिमें ही तारकोद्धरण ( तारकासुरका उदाहरण ) दिया जाता था, किन्तु दण्डके समय किसीका भी तारकोद्धरण ( लोचन-कनीनिका = आँखकी पुतलीका उत्पाटन ) नहीं होता

१. प्रवेशाः, इतोऽग्रे च 'तैक्ष्ण्यमसिधाराणाम्' इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते। २. व्रतिनामसिधाराधारणम्। ३. विषविशुद्धिः। ४. जलद। ५. योगधारणम्।

द्धरणम्, उष्णरश्मेर्ग्रहणाशङ्का[1] शशिनो ज्येष्ठातिक्रमः, महाभारते दुःशासनापराधाकर्णनम्[2], वयपरिणामे दण्डग्रहणम्, असि-परिवारेषु[3] कलङ्कयोगः, कामिनी-कुच[4]पत्रभङ्गेषु वक्रता, करिणां दान-विच्छित्तिः, अक्षक्रीडासु शून्यगृह-दर्शनम, पृथिव्यामासीत्।

तस्य च[5] राज्ञः निखिल-शास्त्र-कला[6]वगाह-गम्भीरबुद्धिः, आ शैशवादुपारूढ-निर्भर–

---

ल्लङ्घ्य मूलनक्षत्रादौ प्रवेशः, न त्वन्यस्य कस्य चन ज्येष्ठानाम् अवस्थया वृद्धानां सोदरादीनाम् अतिक्रमः तदादेशोल्लङ्घनम्, शिष्टत्वात्। महाभारते तन्नामकपञ्चमवेद एव दुःशासनस्य दुर्योधनानुजस्य अपराधाकर्णनं द्रुपदात्मजायाः कचवस्त्राकर्षणदोषश्रवणम्, न त्वपरत्र दुःशासनेन नीतिधर्मविरुद्धतया दूषितशासनेन नीतिधर्मविरुद्धतया दूषितशासनेन अपराधाकर्णनं राजकीयजनानां दोषश्रवणम्, राजानुशासनेन सर्वस्मिन् स्थल एव तेषां नीतिधर्मपुरस्सरव्यवस्थाकरणात्। वयःपरिणामे वृद्धावस्थायामेव दण्डग्रहणम् अवलम्बनाय यष्टेर्ग्रहणम्, न तु दोषे दण्डग्रहणं द्रव्यदानादिदण्डाङ्गीकारः दोषाभावात्। परिव्रियन्ते आच्छाद्यन्ते एभिरिति व्युत्पत्त्या परिवाराः, असीनां खड्गानां परिवाराः कोषाः तेष्वेव कलङ्कयोगः परिष्करणाभावेन मालिन्याङ्कसम्बन्धः, न तु जनानां परिवारेषु दारात्मजादिपरिजनेषु कलङ्कयोगः कलङ्कसम्बन्धः दोषरहितत्वात्। कामिनीनां रमणीनां कुचयोः स्तनयोः पत्रभङ्गेषु पत्रस्वरूपरेखासु वक्रता कुटिलता, न तु जनमनस्सु वक्रता निखिलानामेव कोमलहृदयत्वात्। करिणां गजानामेव दानैः स्वीयमदसलिलैः विच्छित्तिः अङ्गरागः, न तु सम्पत्तिमतां दानविच्छित्तिः द्रव्यवितरणविरामः 'अहरहर्दद्यात्' इति श्रुत्या तेषां प्रत्यहमेव दानकरणात्। 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वमेदिन्यौ। अक्षक्रीडा द्यूतखेलाः तास्वेव शून्यगृहस्य गुटिकाशून्यकोष्ठस्य दर्शनम् अवलोकनम्, न तु नगरग्रामेषु शून्यगृहस्य जनवर्जितभवनस्य दर्शनम्, कस्यचिदप्युपद्रवानुपलम्भेन सर्वस्मिन् समय एव जनपूरितत्वात्।

इह 'गिरीणां विपक्षता' इत्यारभ्य 'अक्षक्रीडासु शून्यगृहदर्शनम्' इत्यन्तं यावत् सर्वस्मिन्नेव स्थले यथासम्भवश्लेषसङ्कीर्णा आर्थी परिसंख्यालङ्कारः।

तस्येति। अपि चेति चार्थः। शुकनासो नाम शुकनास इति संज्ञकः ब्राह्मणो विप्रः तस्य तारापीडस्य (राज्ञः) अमात्यो मन्त्री 'आसीत्' इत्यग्रिमया क्रियया सम्बन्धः। इह प्रथमान्तानि पदानि मन्त्रिणो विशेषणान्यवगन्तव्यानि। निखिलानि समस्तानि यानि शास्त्राणि आम्नायादीनि च कला नृत्यगीतादिचतुःषष्टिकलाविद्याश्च तासु अवगाहनेन तदभिप्रायाकलनेन गम्भीरा दुरवगाहा बुद्धिः मनीषा यस्य स तादृशः। आ शैशवात् आ बाल्यात् उपारूढः राजन्युत्पन्नो निर्भरः सान्द्रः प्रेमरसः स्नेहानुरागो यस्य स तादृशः।

---

था। सूर्यको ही ग्रहणाशङ्का (राहुद्वारा ग्रासकी सम्भावना) थी, किन्तु लोगोंकी ग्रहणाशङ्का (राजानुचरद्वारा बलात्कार पकड़े जानेकी आशङ्का) नहीं थी। चन्द्रका ही ज्येष्ठातिक्रम (ज्येष्ठा नक्षत्रका उल्लंघन) था, किन्तु किसीके द्वारा ज्येष्ठातिक्रम (बड़े भाई आदि बूढ़ोंकी बातका उल्लंघन) नहीं था। महाभारतमें ही दुःशासन (धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनके कनिष्ठ भ्राताका अपराध=द्रौपदीका वस्त्र खींच कर धृष्टताप्रदर्शनरूप दोष, सुना जाता था, किन्तु राज्यके मध्यमें किसी स्थान पर राजपुरुषोंके दुःशासन (अन्याय शासन) का अपराध नहीं सुना जाता था। वृद्धावस्थामें ही दण्डग्रहण (यष्टि-धारण) होता था, किन्तु अपराधके कारण किसीसे भी दण्डग्रहण (जुर्माना लेना) नहीं होता था। तलवारके कोषोंमें ही कलङ्कयोग (मलचिह्नका सम्पर्क) था, किन्तु किसीके स्त्रीपुत्रादि परिजनवर्गके मध्यमें कलङ्क योग (अपवादका सम्पर्क) नहीं था। कामिनीके स्तनोंके ऊपर पत्राकार रचनामें ही वक्रता (टेढ़ापन) थी, किन्तु लोगोंके चित्तमें वक्रता (क्रूरता) नहीं थी। हाथियोंमें ही दानविच्छित्ति (स्वकीय मद जलद्वारा अङ्गराज) होता था, किन्तु धनियोंकी दानविच्छित्ति (धनवितरणका विराम) नहीं होती थी और पाशोंके खेलमें ही शून्यगृह देखे जाते थे, किन्तु नगरमें वा ग्राममें शून्यगृह (मनुष्यशून्य भवन) देखनेमें नहीं आते थे।

शुकनास नामका एक ब्राह्मण उस राजाका मन्त्री था। वेदादि समस्त शास्त्रों एवं नृत्यगीतादि सभी कलाओंके परिशीलनसे उसकी बुद्धि गम्भीर हो गई थी। बाल्यावस्थासे ही राजाके ऊपर उसका अत्यन्त

---

१. ग्रहणशङ्का। २. दुःशासनापराधः। ३. असिपरिवारेषु कुशलयोगः, असिपरिवारेष्वकुशलयोगः, असिधारासु कोषगुप्तिः। ४. कामिनीनां कुचभङ्गेन, कामिनीकुचभङ्गेन, वक्रता कामिनीनां कुचभङ्गेषु। ५. तस्य राज्ञः। ६. कलाकलापावगाहनगभीरबुद्धिः, निखिलशास्त्रकलापावगाहनगभीरबुद्धिः।

प्रेमरसः, नीतिशास्त्र-प्रयोग-कुशलः, भुवनराज्यभार[1]नौ-कर्णधारः, महत्स्वपि कार्य्यसङ्कटे-ष्वविषण्णधीः, धाम धैर्य्यस्य, स्थानं स्थितेः, सिन्धुः[2] सत्यस्य, गुरुर्गुणानाम्, आचार्य्य आचाराणाम्, धाता धर्म्मस्य, शेषाहिरिव सकल[3]मही-भारधारणक्षमः, सलिलनिधिरिव महासत्त्वनिवासः, जरासन्ध इव घटित[4]-सन्धिविग्रहः, त्र्यम्बक इव प्रसाधितदुर्गः, युधिष्ठिर इव धर्म्मप्रभवः, सकल-वेद-वेदाङ्गवित्, अशेषराज्यमण्ड[5]लमङ्गलैकसारः, बृहस्पति-

नीतिशास्त्रं व्यवहारग्रन्थः तस्य प्रयोगः तदर्थपरीक्षणं तत्र कुशलो निपुणः। भुवनराज्यस्य विष्टपाधिपत्यस्य भारः शासनव्यापार एव नौः तरणिः तस्याः कर्णधारो नाविकः। महत्स्वपि गुरुष्वपि कार्यसङ्कटेषु विधेयकृच्छ्रेषु अविषण्णा अप्रतिहता धीः प्रज्ञा यस्य सः। इह 'भुवनराज्यभारनौकर्णधार' इत्यत्र परम्परितरूपकमलङ्कारः।

धामेति। धैर्यस्य अविचलचित्ततायाः धाम आधारः, स्थितेः मर्यादायाः स्थानम् आश्रयः, सत्यस्य अवितथस्य सिन्धुः महाधारः, गुणानां दयाविनयादीनां गुरुः हितोपदेष्टा, आचाराणां शिष्टव्यवहाराणाम् आचार्यः उपदेष्टा, धर्मस्य सुकृतस्य धाता धारकः।

शेषेति। शेषाहिः वासुकिनाग इव, सकलायाः समस्तायाः मह्याः भूमेः भारः शासनव्यापारः तस्य धारणे सञ्चालने क्षमः समर्थः अन्यत्र हि भारो गुरुत्वरूपगुणविशेषः तस्य धारणे उद्वहने क्षमः।

सलिलेति। सलिलनिधिः सागर इव, महासत्त्वस्य उत्कृष्टाध्यवसायस्य निवास आश्रयः, अन्यत्र महतां विशालानां सत्त्वानां मकरादिजन्तूनां निवास आधारः।

जरेति। जरासन्ध एतन्नाम्ना प्रसिद्धो भूपतिरिव, घटितौ प्रयोजितौ, सन्धिः सामप्रयोगपूर्वकद्रव्यादिसमर्पणेन मैत्रीस्थापनम्, विग्रहः सङ्ग्रामश्च तावुभौ येन स तादृशः, अन्यत्र हि घटितो विहितः सन्धिः खण्डद्वयस्य संयोगो यस्य स तथोक्तो विग्रहो वपुर्यस्य स तादृशः।

पुरा किल बृहद्रथाख्यो भूपतिः स्वतनयादिकमनवलोक्य चण्डकौशिकं मुनिमुपेत्य आराधयितुं प्रवृत्तः, ततस्तुष्टो मुनिः तस्मै एकमाम्रफलं पत्नीभ्यां भोक्तुं प्रददौ। अर्द्धमर्द्धं विभज्य खादितवतीभ्याञ्च ताभ्यां समयान्तरेऽर्धार्धशरीरयुक्तं बालकद्वयं प्रसूतम्, तन्निरीक्ष्य नितरां सन्तप्तो भूपतिः श्मशानभूमावादाय निचिक्षेप। अनन्तरं जरा नाम्नी काचन श्मशानवासिनी राक्षसी यावदेव तद्भागद्वयमेकत्र स्थापितवती तावदेव जीवितं तं निरीक्ष्य तस्मै भूपतये समर्पितवती तत एव जरासन्ध इति नामेति महाभारतीया कथा।

त्र्यम्बक इति। त्र्यम्बको विरूपाक्षः ( शङ्करः ) इव, प्रसाधितानि सम्पादितानि दुर्गाणि परिखादीनि येन स तादृशः, अन्यत्र प्रसादिता प्रसन्नीकृता दुर्गा पार्वती येन सः।

युधीति। धर्माणां सुकृतानां प्रभवो यागादिना उद्भवो यस्मात् स तादृशः, अन्यत्र धर्मात् प्रभवो जनिः यस्य स तादृशः। धर्मपुत्रो युधिष्ठिर इत्याख्यायिका महाभारतादावनुसन्धेया।

सकलेति। सकलानि समस्तानि यानि वेदवेदाङ्गानि ऋग्यजुःसामाथर्वछन्दःकल्पादीनि तानि वेत्ति जानातीति स तादृशः। अङ्गानि वेदस्य—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्॥' इति।

अशेषे निखिले राज्यमण्डले मङ्गलैकसारः कल्याणैकरहस्यभूतः सकलगुणानां निधिरूपस्त्वादित्याशयः।

बृहस्पतिरिति। सुनासीर इन्द्रः तस्य बृहस्पतिः सुराचार्यः तद्वत्, 'वृद्धश्रवाः सुनासीरः

प्रणयानुराग उत्पन्न हो गया था। वह नीति-शास्त्रके प्रयोगमें कुशल था; एवं संसारके राज्यशासनकार्यरूप नौकाका कर्णधार था, बड़े-बड़े सङ्कटोंमें भी उसकी बुद्धि कुण्ठित नहीं होती थी। वह धैर्यका आधार था; मर्यादाका आश्रय था; सत्यका समुद्र था; गुणोंका शिक्षक था; सदाचारका उपदेशक था; एवं धर्मका आश्रय था। शेषनाग जिसप्रकार पृथिवीका भार-वहन करनेमें समर्थ हैं, वह भी उसी प्रकार समस्त पृथिवीका शासन करनेमें अच्छी तरह समर्थ था। जिस प्रकार समुद्र मकरादि बड़े बड़े जलजन्तुओंका आश्रय है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त अध्यवसायका आश्रय था। जिस प्रकार जरा नामकी श्मशानवासिनी राक्षसीने जरासन्धके शरीरके दो हिस्सोंको सङ्घटित किया था, उसी प्रकार उसने भी यथास्थानमें सन्धि = मेल, और विग्रह = लड़ाई को सङ्घटित किया था।

१. भारैकनौ। २. सेतुः। ३. क्वचित् 'सकल' इति पदं नास्ति। ४. प्रकटित…। ५. …मण्डलैकसारः।

रिव सुनासीरस्य, कविरिव वृषपर्वणः, वशिष्ठ इव दशरथस्य, विश्वामित्र इव रामस्य, धौम्य इवाजातशत्रोः, दमनक[1] इव भीमस्य, सुमतिरिव नलस्य, सर्वकार्येष्वाहित[2]मतिः, अमात्यो ब्राह्मणः शुकनासो नामासीत् ।

यो नरकासुर-शस्त्रप्रहार[3]-भीषणे भ्रमन्मन्दर-नितम्ब[4]-निर्दय-निष्पेषकठिनांसपीठे नारायणवक्षःस्थलेऽपि स्थितामदुष्करलाभाममन्यत प्रज्ञाबलेन लक्ष्मीम् ।

यञ्च समासाद्य दर्शितानेकराज्यफला लतेव महापादपम्[5] अनेकप्रतानगहना विस्तारमुपययौ[6] प्रज्ञा ।

---

पुरुहूतः पुरन्दरः', 'बृहस्पतिः सुराचार्यः' इति चामरः । वृषपर्वणो निजनामख्यातस्य दैत्याधिपतेः, कविः शुक्राचार्यः तद्वत् 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' इत्यमरः । दशरथस्य रामपितुः वशिष्ठः अरुन्धतीपतिः तद्वत् । रामस्य दशरथात्मजस्य विश्वामित्रः कौशिकः तद्वत् । अजातशत्रोः युधिष्ठिरस्य धौम्यः तद्वत् । भीमस्य निषधराजस्य दमयन्तीतातस्य दमनक इव सुमतिः तद्वत् । सर्वकार्येषु समस्तकृत्येषु नलस्य आहिता स्थापिता मतिर्बुद्धिर्यस्य स तादृशः, शुकस्य कीरस्येव नासा नासिका यस्य स तादृशः । अन्वयस्तु प्रागेवोक्तः ।

य इति । यः शुकनासः प्रज्ञाबलेन बुद्धिसामर्थ्येन, नरकासुरस्य नरकाख्यदैत्यस्य शस्त्रप्रहारेण शस्त्राघातेन भीषणे क्षतचिह्नयुक्ततया भयानके, तथा भ्रमतः क्षीरोदमन्थनकाले घूर्णमानस्य मन्दरस्य अद्रेः यो नितम्बो मध्यभागः तस्य निर्दयनिष्पेषेण निरनुकम्पवर्षणेन कठिने कठोरे अंसपीठे पीठवद्विपुलं स्कन्धद्वयं यस्य तथोक्ते, नारायणस्य विष्णोः वक्षःस्थले स्थितां विद्यमानामपि लक्ष्मीं श्रियम् अदुष्करलाभां स्वप्रयासलभ्याम् अमन्यत ज्ञातवान् । इह नरकासुरः शस्त्रप्रहारेणापि यां प्राप्तुं न समर्थो बभूव, या च मन्दराचलनिष्पेषणेनापि न गतवती तामपि श्रियमदुष्करलाभाममन्यत इत्यर्थस्य पूर्वविशेषणद्वयेन ध्वननान्नापुष्टार्थत्वदोषस्य प्रसक्तिरिति भावुकानां भावः । भूमिसुतं नरकासुरं श्रीकृष्णो जघानेति हरिवंशीया कथेहानुसन्धेया । 'शेषाहिरिव' इत्यारभ्य 'त्र्यम्बक इव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः ।

यमिति । लता व्रततिः महापादपं विस्तृततरुमिव, प्रज्ञा मतिः 'धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः, यञ्च शुकनासं समासाद्य लब्ध्वा, दर्शितानि प्रकटितानि अनेकानि बहूनि राज्यानि अभिनवराज्यप्राप्तयः

---

जिस प्रकार महादेवजी पार्वतीको प्रसन्न करनेके लिए आभूषणादिका सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार वह भी अनेक स्थानमें दुर्गनिर्माणक्रियाका सम्पादन करता था । जिस प्रकार युधिष्ठिर धर्मप्रभव ( धर्मराजसे उत्पन्न ) थे, उसी प्रकार वह भी धर्मप्रभव ( यागादिद्वारा धर्मका उत्पादक ) था । और वह समस्त वेद-वेदाङ्गको जानता था । एवं समस्त राज्यके मध्य में अद्वितीय प्रधान व्यक्ति था । जिस प्रकार बृहस्पति इन्द्रके, शुक्राचार्य वृषपर्वाके वशिष्ठ दशरथके, विश्वामित्र रामचन्द्रके, धौम्य युधिष्ठिरके, दमनकमुनि भीमराजाके, एवं सुमति नलराजाके मन्त्री थे, उसी प्रकार शुकनास भी तारापीडका मन्त्री था और वह सभी कार्योंमें बुद्धि-प्रयोग ( विवेकपूर्ण-कार्य ) करता था ।

नरकासुरके अस्त्र प्रहारसे चिह्न-युक्त होकर जिसका वक्षःस्थल भयङ्कर हो गया था एवं समुद्रमन्थनके समय कन्धों पर भ्रमण करते हुए मन्दराचलके निर्दय वर्षणसे जिसके वक्षःस्थल के समीपवर्त्ती स्कन्धद्वय कठिन हो गये थे, नारायणके उस वक्षःस्थलमें लक्ष्मीदेवीके वास करने पर भी वह ( शुकनास ) उसे अपने बुद्धिबलसे प्राप्त करना दुर्लभ नहीं समझता था ।

एवं जिसप्रकार लता किसी एक विशाल वृक्षको पाकर उसके अवलम्बनसे अनेक फल उत्पन्नकर नये पल्लवोंसे सघन होकर क्रमसे विस्तारको पा जाती है, उसीप्रकार बुद्धि—जिस शुकनासको पाकर नये नये राज्यप्राप्तिका दर्शन कराकर एवं बहुतर विषयमें प्रवेश कर दूसरोंसे दुर्ज्ञेय होकर क्रमसे विस्तार पा गई थी ( सारार्थ यह है कि—वह अपनी बुद्धिसे राज्यमें ऐसे ऐसे कार्योंको करता था, जिनसे प्रजाको उत्तम शासनके अनेक लाभोंका अनुभव होता था, ऐसी उसकी लतारूप बुद्धि उस महावृक्षरूपी प्रधानके समागमसे अगणित प्रतानोंसे गहन होकर विस्तार पा गई थी ) ।

---

१. दमनक इव नलस्य, इत्येव पाठो न तु 'सुमतिरिव' इत्यादिः । २. अप्रतिहतमतिः । ३. क्वचित् 'प्रहार' इति पदं नास्ति । ४. क्वचिच्च 'नितम्ब' इति पदं नास्ति । ५. पादपम् । ६. उपाययौ ।

यस्य चा[1]नेक-चारपुरुष-सहस्र-सञ्चार-निचिते[2] चतुरुदधि-वलयपरिखा[3]-प्रमाणे धरणी-त[4]ले भवन इवाविदितमहरहः समुच्छ्वसितमपि राज्ञां नासीत् ।

स राजा बाल एव सुर-कुञ्जर-कर-पीवरेण, राज्य[5]लक्ष्मी-लीलोपधानेन, स[6]कल-जगदभय-प्रदान-शौण्डेन, रण-यज्ञ-दीक्षायूपेन, स्फुरदसिलतामरीचि-जाल-जटिलेन, निखिलाराति-कुल-प्रलयधूमकेतुना, बाहुद[7]ण्डेन विजित्य सप्तद्वीपवल[8]यां वसुन्धरां तस्मिन् शुकनासनाम्नि मन्त्रिणि सुहृदीव राज्यभारमारोप्य सुस्थिताः प्रजाः कृत्वा कर्त्तव्यशेषमप-रमपश्य[9]त् । प्रशमिताशेषविपक्षतया [10]विगताशङ्कः[11] शिथि[12]लीकृत-वसुन्धराव्यापारः प्रायशो[13] यौवनसुखमनुबभूव ।

---

इत्यर्थः, फलानीव यया सा तादृशी, तथा अनेकैः बहुभिः प्रतानैः किसलयैः गहना सान्द्रा, मतिपक्षे तु अनेकेषु विषयेषु प्रतानेन प्रसारेण गहना अन्यदुर्बोधा सती । इह पूर्णोपमा लुप्तोपमया सङ्कीर्यते ।

यस्येति । अनेके ये चारपुरुषा गुप्तचराः तेषां सहस्रस्य सञ्चारः परिभ्रमणं तेन निचिते व्याप्ते, चत्वारि चतुःसंख्यकानि उदधिवलयानि मण्डलीभूतसागरा एव परिखा दुर्गाणि ताभिः प्रमाणं परिमाणं यस्य तस्मिन् समग्र इत्यर्थः, धरणीतले जगतीतले भवन इव निजगृह इव राज्ञाम् अन्येषां भूपतीनाम् अहरहः प्रतिदिनं समुच्छ्वसितमपि निश्वासत्यागोऽपि यस्य च शुकनासस्य अविदितम् अज्ञातं नासीत् न बभूवेत्यर्थः । गुप्तचरैः निखिलमेवोदन्तं शुकनासो ज्ञातवानिति तात्पर्यम् । इहोपमा ।

स इति । स राजा तारापीडः कर्त्तव्यशेषम् इतः परं किं कर्त्तव्यमस्तीत्यपरं विचारविषयं कार्यम् अपश्यत् अवालोकयत् इत्युत्तरेण सम्बन्धः । बाल एव शैशव एव सुरकुञ्जरस्य ऐरावतस्य करवत् शुण्डा-दण्डवत् पीवरेण स्थूलेन, राज्यलक्ष्मीः आधिपत्यश्रीः तस्या लीलोपधानेन विलासोपबर्हस्वरूपेण, सकलानां समस्तानां जगतां संसाराणाम् अभयप्रदाने शौण्डो मत्तः 'शौण्डो मत्ते च विख्याते पिप्पल्यां च भवेत् स्त्रियाम्' इति विश्वमेदिन्यौ, रणः सङ्ग्राम एव यज्ञः क्षत्रियाणां पुण्योत्पादनादुत्सवरूपत्वाच्चेत्याशयः । तस्य दीक्षायाम् आरम्भे यूपेन पशुबन्धनदारुस्वरूपेण, स्फुरन्ती देदीप्यमाना या असिलता लतावल्लम्ब-मानखड्गः तस्या मरीचिजालेन रश्मिसमूहेन जटिलो व्याप्तः तेन तादृशेन, तथा निखिलस्य समग्रस्य अरातिकुलस्य वैरिगणस्य प्रलये विनाशे धूमकेतुना अशुभसूचकग्रहविशेषेण, यद्वा धूमकेतुरिव तेन तादृशेन, बाहुदण्डेन भुजदण्डेन सप्तद्वीपाः जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्कराख्या एव वलयं कङ्कणं यस्याः तां तादृशीं वसुन्धरां भूमिं विजित्य जयं प्राप्य तस्मिन् उक्तगुणविशिष्टे शुकनासनाम्नि शुकनास-संज्ञके मन्त्रिणि सचिवे सुहृदीव सख्याविव राज्यभारम् आरोप्य निधाय अतिविश्वासपात्रतया हानि-सन्देहाभावादित्याशयः, सुस्थिताः सुखेन स्थायिन्यः प्रजाः प्रकृतीः कृत्वा निष्पाद्य अन्वयस्तूक्त एव प्रशमिताः शान्तिं प्रापिता अशेषाः समग्रा विपक्षा वैरिणो येन तस्य भावस्तया कारणेन, विगताशङ्को निर्भयः, तथा शिथिलीकृतो मन्दीकृतो वसुन्धरायाः पृथिव्या व्यापारः शासनकार्यं येन स तादृशः । प्रायशो बाहुल्येन यौवनसुखं स्त्रीसंभोगादीनि तारुण्यसुखम् अनुबभूव अनुभवविषयीचक्रे ।

---

जिसप्रकार अपने घरमें किसी घटनाके घटनेपर लोगोंसे वह अज्ञात नहीं रहता है, उसी प्रकार परिखास्वरूप चारों समुद्रोंसे परिवेष्टित समस्त पृथिवीपर विचरण करनेवाले हजारों गुप्तचरों ( जासूसों ) के द्वारा अन्यान्य राजाओंके प्रतिदिन साँस लेनेका समाचार उस शुकनाससे अज्ञात नहीं रहता था ।

वह राजा तारापीड, बाल्यावस्थामें ही ऐरावत हाथीकी सूँडके समान स्थूल, राज्यलक्ष्मीके लीलोपधान ( क्रीड़ाके तकिये ) के स्वरूप, समस्त संसारको अभयदानमें मत्त, युद्धरूप यज्ञारम्भके यूपकाष्ठ ( स्तम्भ ) के स्वरूप, चमकते हुए खड्गकी किरणोंके जालसे व्याप्त ( ढका हुआ ) एवं धूमकेतुकी पूँछके समान सब शत्रुकुलके प्रलयका सूचक बाहुदण्डद्वारा सप्तद्वीपरूपी कङ्कणवाली पृथिवीको जीतकर अपने मित्रके समान अत्यन्त विश्वासी उस शुक-नासनामक मन्त्रीके ऊपर सब राज्यका भार सौंपकर प्रजाको स्वस्थ कर अन्य अवशिष्ट कार्यको देखने लगे । बाद

---

१. यस्यानेक। २.…परिचिते, विचिते। ३. परिधिप्रमाणे, परिक्षेपप्रमाणे। ४. धरणितले। ५. राजलक्ष्मी…। ६. सकलजगदभयदानयज्ञदीक्षायूपेन। ७.…धूमकेतुदण्डेन बाहुना। ८. सकलद्वीपवलयाम्। ९. अपश्यन्। १०. क्वचित् तथा इत्यधिकः। ११. विगलिताशङ्कः। १२. शिथिलितपृथिवी(पृथ्वी)व्यापारः। १३. प्रायो यौवनसुखान्यनुबभूव।

तथाहि कदाचिदुल्लसत्कठोर-कपोल-पुलक-जर्जरित-कर्णपल्लवानां प्रणयिनीनां चन्दन-जलच्छटाभिरिव स्मित-सुधाच्छविभिरभिषिच्यमानः, कर्णोत्पलैरिव लोचनांशुभिस्ताड्यमानः, कुङ्कुमधूलिभिरिवाभरणप्रभाभिराकुलीक्रियमाण-लोल[2] लोचनः, धवलांशुकैरिव कर-नख[3]-मयूख-जालकैराहन्यमानः, चम्पक-कुसुम-दल-मालिकाभिरिव भुजलताभिराबध्यमानः, दष्टाधर[4]-धूत-करतल-चलन्मणिवलय-कलकल[5]-रमणीयम्, अतिरभस[6]-

इह 'सुरकुञ्जरकर-पीवरेण' इत्यत्र प्रथमतृतीयान्ते लुप्तोपमा, द्वितीयतृतीयान्ते निरङ्गकेवलरूपकम्, तुरीयतृतीयान्ते श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परितरूपकम्, षष्ठतृतीयान्ते निरङ्गकेवलरूपकलुप्तोपमयोः सन्देहः। 'सुहृदीव' इत्यत्र चोपमा।

अथ तारुण्यसुखानुभवप्रकारमेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना। कदाचित् कस्मिंश्चित् समये अनङ्गपरवशः कामाधीनः सन् भूपतिः सुरतं मैथुनम् आततान विस्तारयामास इत्युत्तरेण सम्बन्धः। उल्लसद्भिः विकसद्भिः कठोरैः वेधनयोग्यत्वात् कठिनैः, कपोलयोः गण्डयोः पुलकैः रोमाञ्चैः जर्जरितानि कपोलोपरिनिपतनात् श्लथीकृतानि कर्णपल्लवानि श्रोत्रकिसलयानि यासां तादृशीनाम्, प्रणयिनीनां कामिनीनां चन्दनजलस्य मलयजसलिलस्य छटाभिः बिन्दुसमूहैरिव, स्मितम् ईषद्धसितं सुधा पीयूषमिव स्मितमेव सुधा इति वा, तस्याः छविभिः शोभाभिः अभिषिच्यमानः स्नप्यमानः तत्कान्तीनां विशदत्वादित्याशयः। इह 'चन्दनजलच्छटाभिः' इत्यत्रोपमालङ्कारः 'स्मितसुधाच्छविभिः' इत्यत्र लुप्तोपमानिरङ्गकेवलरूपकयोः सन्देहसङ्करश्च, उभयोरपि परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

कर्णोत्पलै रिति। कर्णोत्पलैरिव श्रोत्रकुवलयैरिव लोचनांशुभिः नयनकान्तिभिः ताड्यमानः प्रहारविषयीक्रियमाणः तीक्ष्णकटाक्षपातादित्याशयः।

कुङ्कुमेति। कुङ्कुमं केसरं तस्य धूलिभिः चूर्णैरिव आभरणप्रभाभिः भूषणकान्तिभिः आकुलीक्रियमाणे व्याहन्यमाने अत एव लोले चपले लोचने नयने यस्य स तादृशः।

धवलेति। धवलांशुकैरिव शुभ्रवस्त्रैरिव, करनखानां हस्तपुनर्भूणां मयूखजालकैः रश्मिमण्डलैः आहन्यमानः, ताड्यमानः अतिनिकटतया तीक्ष्णपातित्वादित्याशयः।

चम्पकेति। चम्पककुसुमानां हेमपुष्पकप्रसूनानां 'चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः, दलमालिकाभिरिव मृदुलत्वाद्दलपङ्क्तिभिरिव भुजलताभिः बाहुवल्लीभिः आबध्यमानः आलिङ्ग्यमानः। इह 'कर्णोत्पलैरिव' इत्यारभ्य 'चम्पककुसुमदलमालिकाभिः' इत्यन्तमुपमालङ्कारः।

दष्टाधरेति। दष्टेन दन्तैः खण्डितेन अधरेण रदनच्छदेन हेतुना, धूतं निषेधव्यञ्जनाय कम्पितं यत् करतलं पाणितलं तत्र चलतां चपलीभूतानां मणिवलयानां रत्नकटकानां कलकलेन मधुराव्यक्तध्वनिसमूहेन रमणीयं मनोहरम्। अग्रेतनस्य 'सुरतम्' इत्यस्यैतद्विशेषणम्, इत्थमन्यान्यपि। अतिरभसेन अतित्वरया दलितानि खण्डितानि यानि दन्तपत्राणि हस्तिदन्तरचितकर्णाभरणानि तैः दन्तुरं विषमं

पृथिवीके शासनकार्यमें विशेष लिप्त नहीं रहकर एवं सब शत्रुओंको शान्तभाव अवलम्बन कराकर निःशङ्क चित्त होकर उसने प्रायः यौवन-सुखका अनुभव किया।

जिस समय राजा, चन्दन-जलकी धाराके समान प्रिययुवतियोंके सुधामय ईषद्हास्यके शोभाजलसे अभिषिक्त होता था, उस समय उन प्रियाओंके गालोंपर अत्यधिक रोमाञ्च उत्पन्न होकर कर्णके पल्लवोंको जर्जरित करता था। कोई कोई प्रिययुवती, तीव्र कटाक्ष प्रहार करनेके समय कर्णके नीलोत्पलके समान नयन-किरणद्वारा राजाको ताड़न करती थी। केसरके धूलिसमूहके समान किसी-किसी युवतीके आभूषणोंकी प्रभासे राजाका नयनयुगल प्रतिहत होकर चञ्चलभाव धारण करता था। शुभ्रवस्त्रके समान किसी युवतीके अपने हस्तस्थित नखसमूहके किरणपुञ्जद्वारा राजा आहत होता था। कोई-कोई युवती चम्पाकी फूल पत्तोंकी मालाके समान कोमल बाहुलताद्वारा राजाको बाँध लेती थी। इस तरह कामवश होकर सुरत-क्रीड़ा करता था, जो प्रियाओंके अधरदंश होनेसे काँपते हाथोंमें हिलते हुए मणिमय कङ्कणोंके कलकलसे रमणीय लगती थी; अत्यन्त वेगमें टूटे हुए कर्णभूषणके टुकड़ोंसे शय्या ऊँची-नीची

१. कुङ्कुमपटवासधूलिभिः, कुङ्कुमवासधूलिभिः। २. क्वचित् 'लोल' इति पदं नास्ति। ३. नखर…। ४. दष्टाधराधूतकरतल, दष्टाधरकरतल…। ५. कलकलरव, कलरव। ६. रतिरभस…।

दलित-दन्त-पत्र-दन्तुर[1]-शयनम्, उत्क्षिप्त-चरण[2]-गलदलक्तकरक्तशेखरम्, सरभस-कच-ग्रह-चूर्णित-मणिकर्णपूरम्, उल्लसित-कुच-कृष्णागुरुपङ्क-पत्र-लताङ्कित-प्रच्छदपटम्, अच्छ-श्रमजल[3]-लुलित-गोरोचना[4]-तिलकपत्रभङ्गम्, अनङ्ग-परवशः सुरतमाततान।

कदाचिन्मकरकेतु-कनक-नाराच-परम्पराभिरिव कामिनी-करपुट-विनिर्गताभि[5]: कुङ्कुमजल-धाराभिः पिञ्जरीक्रियमाणकायो लाक्षाजलच्छटा-प्रहारपाटलीकृतदुकूलो मृगमद-जलबिन्दु-शबल-चन्दन-स्थासकः कनकशृङ्गकोशैश्चिरं चिक्रीड।

कदाचित् कुच-चन्दन-चूर्ण-धवलितोर्म्मिमा[6]लम्, चटुल-तुला-कोटि-वाचाल-चरणा-

---

शयनं शय्या यत्र तत्तथोक्तम्। उत्क्षिप्तौ भूपतेः मस्तकपर्यन्तम् उत्तोलितौ यौ चरणौ रमण्याः पादौ ताभ्यां गलन् स्रवन् योऽलक्तको लाक्षारसः तेन रक्तो लोहितीकृतः शेखरो भूपतेः शिखा यत्र तत्तथोक्तम्। सरभसं सवेगं यः कचग्रहः केशधारणं तेन चूर्णितं भग्नं मणिकर्णपूरं रत्नमयकर्णालङ्कारः यत्र तत्तथोक्तम्। उल्लसितयोः भूपतेः हस्तस्पर्शेन स्फुरितयोः कुचयोः स्तनयोः याः कृष्णागुरुपङ्कस्य सान्द्रकृष्णागुरुद्रवस्य पत्रलताः तत्तत्स्वरूपचिह्नानि ताभिः अङ्कितः सञ्जातचिह्नः प्रच्छदपटः शयनीयास्तरणवसनं यत्र तत्तादृशम्, कामिन्या न्युब्जशयनादित्याशयः। अच्छैः निर्मलैः श्रमजलैः रतिक्लान्तिघर्मोदकैः लुलिताः कथञ्चित् धौताः गोरोचनायाः कुङ्कुमस्य तिलकपत्रभङ्गा भालस्थतिलकपत्रभङ्गरूपचिह्नानि यत्र तत्तथोक्तम्, अन्वयस्तूक्त एव।

कदाचिदिति। कदाचित् कस्मिन्नपि समये मकरकेतोः कामदेवस्य कनकनाराचपरम्पराभिरिव हेममयविशालबाणपङ्क्तिभिरिव, कस्याश्चित् कामिन्याः रमण्याः करपुटेन हस्तसम्पुटेन तत्प्रेरणयेत्यर्थः, विनिर्गताभिः निःसृताभिः कुङ्कुमजलधाराभिः गोरोचनासलिलपङ्क्तिभिः पिञ्जरीक्रियमाणः पिङ्गलवर्णवद् विधीयमानः कायो देहो यस्य स तादृशः। लाक्षाजलस्य स्थासकसलिलस्य छटाभिः धाराभिः कस्याश्चित् रमण्याः शृङ्गकोषान्निःसृताभिरित्याशयः, प्रहारेण अभिघातेन पाटलीकृतं श्वेतरक्तीकृतं दुकूलं वस्त्रं यस्य स तादृशः। मृगमदजलबिन्दुभिः कस्याश्चिद्रमण्याः शृङ्गकोषान्निःसृताभिः कस्तूरीसलिलकणिकाभिः, शबलः कर्बुरः, चन्दनस्थासकः मलयजविहितचर्चा यस्य स तादृशः। 'चर्चा स्याच्चर्ममुण्डायां चिन्तास्थासकयोरपि' इति हेमचन्द्रः। कनकशृङ्गकोशैः लम्बमानकोषाकारहेममयसलिलयन्त्रविशेषैः चिरं बहुकालं चिक्रीड क्रीडां कृतवान् 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रके' इति मेदिनी। फाल्गुने जायमानस्य रङ्गजलक्रीडामयस्य कामदेवोत्सवस्य वर्णनमिदम्। अयमुत्सवो रत्नावल्यां 'कीर्णैः पिष्टातकौघैः' इत्यादिना वर्णितः। सातवाहनेनाऽपि गाथासप्तशत्याम्—

'तेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससि आएं वेपमाणाए। भिसिणेमिति पिअअमं हत्थे गंधोदअं जाअं॥'

इत्यादिना वर्णितः। इह 'कनकनाराचपरम्पराभिरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

कदाचिदिति। सावरोधजनः अन्तःपुरप्रणयिनीजनसहितो भूपतिः जलक्रीडया सलिलखेलया

---

हो जाती थी; ऊँचे किये हुए चरणोंमें लगे अलक्तसे मस्तक लाल-लाल हो जाता था; वेगसे बाल पकड़नेसे मणि-कर्णपूर चूर-चूर हो जाता था; राजाके करस्पर्शसे स्फुरित हो जानेके कारण जिनके स्तनोंपर काले अगरुके लेपसे रची हुई पत्र-लतासे ऊपरका वस्त्र अङ्कित हो जाता था; निर्मल पसीनेकी महीन-महीन बूंदोंसे गोरोचनके तिलक और पत्रभङ्ग बिगड़ जाते थे।

किसी-किसी समयमें राजा सुवर्णकी पिचकारियोंसे प्रिय युवतियोंके साथ बहुत देर तक क्रीडा करता था, उस समय किसी युवतीके हाथके आकर्षणमें पिचकारीसे निःसृत कामदेवके सुवर्णमय बाणोंकी कतारोंके समान केसरिये जलकी धाराओंसे राजाका शरीर पीला-पीला हो जाता था, किसी युवतीके पिचकारीसे निर्गत लाक्षा ( आल्ता ) जल की धाराके प्रहारसे राजाका वस्त्र लाल-लाल हो जाता था. एवं किसी युवतीके सोनाकी पिचकारीसे निर्गत कस्तूरी-युक्त जल की बूँदोंसे राजाका शरीरस्थित चन्दन-लेप चितकबरा हो जाता था।

किसी-किसी समयमें राजा रनिवासकी प्रियरमणियोंके साथ जलक्रीडा करनेके लिए रनिवासके गृह सरो-

---

१. दन्तुरित…। २. चरणतल …। ३. अश्रमजल…। ४. …रोचना, …गोरोचन…।
५. …विनिर्गताभिरिव। ६. धवलोर्म्मिमालम्।

लक्तक-सिक्त-हंस-मिथुनम, अलक-निपतित-कुसुमनिकर[१]-शारम्, प्लवमान-कर्णपूर[२]-कुवलयदलम्, उन्नत-नितम्ब-[३]संक्षोभ--जर्जरित-तरङ्गम्, उद्दलित-नाल-पर्यस्त-नलिननिपतित-धूलि-पटलम्, अनवरत-करास्फालनस्फुरत्-फेनबिन्दु-चन्द्रकितम्, सावरोधजनो जलक्रीडया गृहदीर्घिकाणामम्भश्चकार।

कदाचित् सङ्केत-वञ्चिताभिः प्रणयिनीभिराबद्ध-भङ्गुर-भ्रूकुटिभिराराणित-मणिपारिहार्य्य-मुखर-भुजलताभिर्बकुल-कुसुमावलीभिः संयत-चरणः नख-किरण-विमिश्रैः कुसुमदामभिः कृतापराधो दिवसमताड्यत।

---

गृहदीर्घिकाणां भवनवापीनाम् अम्भो जलम् एतादृशं चकार निर्मम इत्यग्रिमेण सम्बन्धः। इह द्वितीयान्तानि पदानि अम्भोविशेषणानि। कुचयोः स्तनयोः चन्दनचूर्णैः मलयजक्षोदैः धवलिता शुभ्रीकृता ऊर्मिमाला तरङ्गपङ्क्तिः यस्य तत्तादृशम्। चटुलाभ्यां चलिताभ्यां तुलाकोटिभ्यां नूपुराभ्यां वाचालयोः शब्दायमानयोः चरणयोः पादयोः अलक्तकैः लाक्षाद्रवैः सिक्तं सेचितं हंसमिथुनं नूपुरशब्दाकृष्टं सितच्छदद्वन्द्वं यत्र तत्तादृशम्। 'पादाङ्गं तु तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। अलकात् चूर्णकुन्तलात् निपतितैः स्रस्तैः कुसुमनिकरैः पुष्पसमूहैः शारं नानारूपम्। प्लवमानानि सलिलोपरि सन्तरन्ति कर्णपूराणाम् आकण्ठमग्नमहिलाश्रवणभूषणीभूतानां कुवलयानां नीलोत्पलानां दलानि पत्राणि यत्र तत्तादृशम्। उन्नतानाम् उच्चानां नितम्बानां स्त्रीकट्याः पश्चाद्भागानां संक्षोभेण आस्फालनेन जर्जरिताः चूर्णीकृताः तरङ्गाः कल्लोला यत्र तत्तादृशम्। उद्दलितानि उच्छिन्नानि नालानि बिसानि येषां तादृशानि, अत एव पर्यस्तानि सलिलोपरि पतितानि यानि नलिनानि कमलानि तेभ्यो निपतितं स्रस्तं धूलिपटलं रजःसमूहो यत्र तत्तादृशम्। तथा अनवरतं निरन्तरं करास्फालनेन सलिलसेचनाय तत्रैव पाणिसञ्चालनेन स्फुरद्भिः देदीप्यमानैः फेनबिन्दुभिः अब्धिकफपृषतैः सञ्जाताः चन्द्रकाः चन्द्राकारसलिलस्फोटा अस्येति तत्तादृशम्। अन्वयस्तूक्त एव।

कदाचिदिति। सङ्केते वञ्चिताभिः, 'एवंविधसमये तथाविधस्थले भवतीभिः सह विहरिष्ये' इत्येवंरूपेण निर्णये विहिते तत्र समुपस्थितासु तासु नृपतिस्तु नागत इति तेन विप्रलब्धाभिरित्यर्थः, अत एव आबद्धाः विहिताः भङ्गुराः वक्राः भ्रूकुटयो याभिस्ताभिस्तथोक्ताभिः, आरणिताः ताडनाय हस्तान्दोलनात् शब्दिताः ये मणिपारिहार्याः रत्नकटकानि 'आवापकः पारिहार्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, तैः मुखराः वाचाला भुजलता बाहुवल्ल्यो यासां ताभिः तादृशीभिः, प्रणयिनीभिः मानिनीभिः (कर्त्रीभिः) बकुलकुसुमावलीभिः केसरपुष्पमालाभिः (करणैः), संयतौ बद्धौ चरणौ पादौ यस्य स तादृशः, कृतापराधः विहितागाः सङ्केतस्थलेऽनागमनादित्याशयः, भूपतिः, नखकिरणविमिश्रैः पुनर्भवमयूखसंपृक्तैः कुसुमदामभिः अन्यपुष्पमालाभिः दिवसं समग्रं दिनम् अभिव्याप्य अताड्यत प्राहियत 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया' इत्यनेन 'दिवसम्' इत्यत्र द्वितीया।

---

घरोंके मध्यमें प्रवेश करता था, उस समय उसके जलमें किसी रमणीके स्तनोंका चन्दन धुल जानेसे उनकी तरङ्गें श्वेतवर्ण हो जाती थीं। किसी रमणीके चञ्चल नूपुर (पायजेब) के हिलनेसे झन-झनाहट करते चरणोंमें लगा अलक्तक-रस अनुसरणकारी हंस-दम्पती पर छिड़क जाता था, किसी सुन्दरीके केशकलापसे स्खलित कुसुमसमूहके गिर जानेसे दीर्घिका (गृहसरोवर) का जल विचित्र हो जाता था; किसी सुन्दरीके जल मध्यमें आकण्ठ मग्न होने पर उसके कर्णाभरण नीलोत्पलके पत्र जलके ऊपर तैरने लगते थे; किसी रमणीके ऊँचे-ऊँचे नितम्बोंके क्षोभसे तरङ्गें छिन्न-भिन्न हो जाती थीं, किसी तरुणीके द्वारा नालसे तोड़कर फेंके हुए कमलों की रज फैल जाती थी और किसी सुन्दरी द्वारा राजाके शरीर पर जलसेचन करनेके समयमें बार-बार पानीको हाथसे हिलोड़नेसे उड़ते हुए फेनबिन्दुसमूह उत्पन्न होकर जलके ऊपरमें चन्द्राकार बन जाते हैं।

किसी समय राजा संकेतकर रात्रिमें उस स्थान पर नहीं गया जिससे प्रतारित प्रियाएं दूसरे दिन भ्रुकुटि टेढ़ी करके झनझनाते मणि-कङ्कणोंसे शब्दायमान भुजलताओंके द्वारा मौलिसरीके फूलों की मालासे उस अपराधी राजाका पैर बाँधकर अपने नख-किरणोंसे मिश्रित अपर पुष्पमाला द्वारा उसे ताड़ना करती थी।

---

१ '''कुसुमसारम्, कुसुमनिकरक्षारम्। २. क्वचित् 'पूर' इति पदं नास्ति। ३.'''क्षोभं'''। ४.'''करतलास्फालन'''। ५.'''विस्फुरत्'''। '''६. भृकुटीभिः, भ्रकुटिभिः, भ्रूकुटीभिः। ७.'''आरणितपारिहार्य्य'''। ८. वकुलकुसुमावलीसंयत'''।

कदाचिद्बकुलतरुरिव कामिनी[1]-गण्डूष सीधु-धारा[2]-स्वाद-मुदितो विकासमभजत । कदाचिदशोक-पादप इव युवति-चरणतल-प्रहार-संक्रान्तालक्तकर[3]सो रागमुवाह । कदाचिन्मुषलायुध इव चन्दन-धवलः[4] कण्ठावसक्तोल्ल[5]सल्लोल-कुसुममालः पानमसेवत । कदाचिद्गन्धगज इव मदरक्त-कपोलदोलायमान-कर्णपल्लवो[6] मदकलः काननं विकच[7]-वनलता-कुसुमसुरभि-परिमलं जगाहे । कदाचित् क्वण[8]न्मणिनूपुरानिनादानन्दितमानसो हंस इव

कदाचिदिति । बकुलतरुः केसरवृक्षः स इव, कामिन्याः रमण्याः गण्डूषसीधुधाराया वदनपूर्णमद्यधारायाः स्वादेन पानचर्वणेन मुदितो हर्षितः, विकासं हर्षेण विस्फारितहृदयत्वं विकस्वरत्वञ्च अभजत बकुलतरुरिव राजा तु प्राप्तवानित्यर्थः । यदि कालभेदाद्भग्नप्रक्रमतादोष आपततीति विभाव्यते तदा 'यथा कामिनीगण्डूषसीधुधारास्वादमुदितो बकुलतरुः विकासं भजते तथा कदाचिद्विकासमभजत' इति पाठान्तरेण समाधेय इति सुधियो विभावयन्तु । न चैवमपि मद्यपानस्य शास्त्रनिषिद्धत्वादत्र राज्ञः कथं तदास्वाद इति वाच्यम्, मद्यपदेन सुरामद्यस्यैव ग्रहणं तस्यैव हि निषेधो न त्वन्यस्य, अत्र च सीधुपदस्य इक्षुविकारप्रतिपादकत्वेन दोषाभाव इति सुधीभिराकलनीयम् ।

कदाचिदिति । अशोकपादपः कङ्केलिवृक्षः तद्वत् युवतीनां तरुणीनां यः चरणतलप्रहारः पादतलाभिघातः तेन सङ्क्रान्तः तस्मात् स्वशरीरे सञ्चरितः अलक्तकरसः स्थासकद्रवो यस्य स तादृशः, रागं तास्वनुरागं रक्ततां च उवाह अवहत् । स्त्रीणां पादाघातादशोकं विकसतीति कविसमयप्रसिद्धिः, तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

'पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यैः' इति ।

कदाचिदिति । मुसलायुधो बलभद्रः तद्वत्, चन्दनेन शरीरे मलयजलेपनेन धवलः शुभ्रः, पक्षे चन्दनवद्धवलः, कण्ठे अवसक्ता लग्ना उल्लसन्ती देदीप्यमाना लोला चपला कुसुममाला पुष्पस्रक् यस्य स तादृशः, पानं सीध्वादिमद्यपानम् असेवत अभजत ।

कदाचिदिति । गन्धगजो गन्धप्रधानो हस्ती स इव, मदेन मद्यपानोत्पन्नमत्ततया रक्तौ रक्तवर्णौ अन्यत्र मदजलेन रञ्जितौ यौ कपोलौ गण्डद्वयं तयोः दोलायमानौ सञ्चाल्यमानौ कर्णपल्लवौ श्रवणभूषणीभूतपल्लवौ प्रथितकर्णौ च यस्य स तादृशः । मदेन आनन्देन कलो मधुराव्यक्तध्वनिर्यस्य स तादृशः, मदमत्तश्च । विकचैः विकस्वरैः वनलतानाम् अरण्यवल्लीनां कुसुमैः पुष्पैः सुरभिः घ्राणतर्पणः परिमलो गन्धो यत्र तत्तादृशम्, काननम् उपवनम् अरण्यञ्च जगाहे विलोडयामास ।

कदाचिदिति । क्वणन्ति शब्दायमानानि यानि मणिनूपुराणि रत्ननिर्मितानि पादभूषणानि मञ्जीर इत्यर्थः, तेषां निनादेन शब्देन आनन्दितं मुदितं चित्तं मानसं यस्य स तादृशः । हंसपक्षेऽप्येवम्, तस्यापि नूपुरशब्देन मुदितमनस्त्वस्य प्रसिद्धत्वात् । कमलवनेषु नलिनकाननेषु रेमे अरमत ।

जिस प्रकार बकुल ( मौलसिरी ) वृक्ष कामिनियोंके मुख-मद्यके संस्पर्शसे स्वकीय पुष्प-समूहको विकसित करता है उसी प्रकार राजा भी किसी समयमें कामिनियोंके मुखमें भरे मदिराके घूँटके स्वादसे आनन्दित होकर स्फूर्त्ति लाभ करता था । जिस प्रकार अशोक वृक्षमें युवतियोंके चरण-तलके प्रहारसे लगे हुए अलक्तक रससे रक्त-पुष्प निकलते हैं, उसी प्रकार राजा भी किसी समयमें युवतियोंके चरण-प्रहारसे शरीरमें लगे हुए अलक्तक रससे उन लोगोंके प्रति और भी अनुरक्त होता था । किसी समय राजा, बलरामके समान चन्दन लेपन करनेसे शुभ्रवर्ण हुए कण्ठमें मनोहर और चञ्चल कुसुममाला धारणकर प्रिय युवतियोंके साथ मद्यपान करता था । जिस प्रकार मत्त गन्धगज स्वकीय मदजलरञ्जित कपोलद्वयके ऊपर विस्तृत कर्णयुगल हिलाता हुआ खिले हुए वनलता कुसुमोंकी उत्तम सुगन्धसे युक्त वनमें भ्रमण करता है, उसी प्रकार राजा भी किसी समय मदसे मत्त हुए-स्वकीय मदसे लाल हुए कपोलद्वय पर कानमें पहने हुए पल्लवको झुलाता हुआ हर्षवश मधुरध्वनिसे युक्त होकर प्रिय युवतियोंके साथ खिले हुए वनलता-कुसुमोंकी उत्तम सुगन्धसे युक्त उद्यान ( बगीचे ) में भ्रमण करता था । किसी समय राजा सहचारिणी युवतियोंके झन-झनाते नुपूर ( पायजेब ) के शब्दसे आनन्दित चित्त होकर हंसके

१. कामिनीनां गण्डूष···। २. आस्वादन···। ३. ···अलक्तको राग···। ४. चन्दनधवलकण्ठ···। ५. कण्ठावसक्तालोल···, कण्ठावसक्तसमुल्लसल्लोल···। ६. क्वचित् 'कर्ण' इति पदं नास्ति। ७. विकस्वर। ८. क्वणित···।

कमलवनेषु रेमे। कदाचिन्मृगपतिरिव स्कन्धावलम्बित[1]केशर-मालः क्रीडापर्वतेषु विचचार। कदाचिन्मधुकर इव विजृम्भमाण-कुसुम-मुकुलदन्तुरेषु लतागृहेषु बभ्राम। कदाचित्[2] नील-पट-विरचितावगुण्ठनो बहुलपक्ष[3]-प्रदोष-दत्त-सङ्केताः सुन्दरीरभिससार। कदाचिच्च विघटितकनक-[4]कपाट-प्रकटवातायनेष्वनवरत-दह्यमान-कृष्णागुरु-धूमरक्तैरिव पारावतैः[5] अध्य[6]ासित-विटङ्केषु महा[7]प्रासाद-कुक्षिषु कतिपयाप्त-सुहृत्परिवृतो वीणा-वेणु-मुरज-मनोहरमन्तः[8]पुर-सङ्गीतकं ददर्श। किं ब[9]हुना, यद्यदतिरमणीयमभिमतमविरुद्ध[10]मायत्यां तदात्वे च तत्तदनाक्षिप्तचेताः परिसमाप्तत्वादन्येषां पृथिवीव्यापाराणां सिषेवे, न तु

कदाचिदिति। मृगपतिरिव सिंह इव, स्कन्धे अवलम्बिता धृता केसरमाला बकुलपुष्पस्रक्, सटापङ्क्तिश्च येन स तादृशः, क्रीडापर्वतेषु खेलाशैलेषु विचचार बभ्राम।

कदाचिदिति। मधुकरो भ्रमरः तद्वत्, विजृम्भमाणैः प्रस्फुटद्भिः कुसुममुकुलैः पुष्पकुड्मलैः दन्तुराणि विषमाणि तेषु तादृशेषु, लतागृहेषु वल्लीभवनेषु बभ्राम विचचार। इह 'अशोकपादप इव' इत्यारभ्य 'मधुकर इव' इत्यन्तमुपमालङ्कारः।

कदाचिदिति। नीलपटेन श्यामवस्त्रेण विरचितं सम्पादितम् अवगुण्ठनं शिरोऽवधिशरीराच्छादनं येन सः तादृशः, अन्यकर्तृकावलोकनभियेत्याशयः। बहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्य प्रदोषे रजनीमुखे दत्तः सङ्केतः 'भवतीषु तत्रोपस्थितासु अहमुपेत्य रंस्ये' इति निर्देशो यासु ताः तादृशीः, सुन्दरीः रमणीः अभिससार स्वयमभिसरणं कृतवान्।

कदाचिदिति। अपि चेति चकारस्यार्थः। विघटितैः उद्घाटितैः कनककपाटैः सुवर्णनिर्मितकपाटैः प्रकटानि प्रस्फुटानि वातायनानि गवाक्षा येषु तादृशेषु, अनवरतं निरन्तरं दह्यमानानां सौगन्ध्यार्थमित्याशयः, कृष्णागुरूणां काकतुण्डानां धूमैः दहनकेतनैः रक्ता रञ्जिताः तैरिव धूम्रवर्णत्वादित्याशयः। पारावतैः कपोतैः अध्यासितानि अवलम्बितानि विटङ्कानि कपोतपालिका येषु तादृशेषु, महाप्रासादानाम् श्रेष्ठनृपभवनानां कुक्षिषु मध्यभागेषु कतिपयैः कियद्भिः आप्तैः रागादिवशादपि नान्यथावादिभिः सुहृद्भिः मित्रैः परिवृतः सहितः, वीणा वल्लकी, वेणुर्वंशः, मुरजो मृदङ्गः, तैः तेषां वाद्यैरित्यर्थः, मनोहरम् अतिरमणीयम्, अन्तःपुरस्य अवरोधस्य सङ्गीतकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं च ददर्श अद्राक्षीत्।

'अनवरतदह्यमानकृष्णागुरुधूमरक्तैरिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

किमिति। किं बहुना बहुवक्तव्येन किमित्यर्थः, यत् यत् अनिर्दिष्टनामकं वस्तु अतिरमणीयम् अतिमनोहरम् अभिमतम् इष्टम् आयत्याम् उत्तरकाले तदात्वे तस्मिन् काले च 'तत्कालस्तु तदात्वं

समान कमल-वनमें क्रीडा करता था। किसी समय गल-प्रदेशमें बकुल ( मौलसिरी )-पुष्पोंकी माला धारणकर स्कन्धदेशमें जटासमूहधारी सिंहके समान क्रीडा पर्वतोंपर विचरता था, किसी समय खिलती हुई फूलोंकी कलियोंसे असमानता प्राप्त लता-मण्डपोंमें भ्रमरके समान भ्रमण करता था। किसी समय नीलवर्ण-वस्त्रसे सभी अङ्गोंको आच्छादित कर कृष्णपक्षकी रात्रिके प्रदोष-कालमें संकेत करनेवाली सुन्दरियोंसे मिलने जाता था। एवं किसी समय कितने ही प्रिय मित्रोंसे परिवृत होकर उत्कृष्ट महलके मध्यमें रहकर अन्तःपुरस्थ सुन्दरियोंके वीणा, वंशी और मृदङ्ग वाद्यसे मनोहर नृत्यगीतादि रूप सङ्गीत देखता था, उस समय वह सभी महलके भीतर सुवर्णके किवाड़ खोलकर खिड़कियाँ खोल देता था, एवं वहाँ दिन-रात जलते काले अगरुके धूमसे मानो रँगे हुए कबूतर अपने खोपोंके अन्दर रहते थे। अधिक कहनेसे क्या होगा ? सारांश यह है कि—जो कुछ वस्तु संसारके मध्यमें अत्यन्त रमणीय मनोरञ्जक अपना अभिमत एवं उस समयके तथा भविष्य-कालके अनुकूल था उन सभी वस्तुओंको

१. स्कन्धावलम्बिकेसर···। २. 'कदाचिद्वनलताग्रथितमौलिर्नक्तमालकुसुमस्तबकरचितशेखरः शुकपक्षरागमधरयता नलिनीदलकोमलेन हरितकञ्चुकेनावच्छिन्नशरीरावयवः कोदण्डदण्डसनाथीकृतवामेतरांसदेशः पुरः प्रधावितानेकश्वगणिवागुरिकैरुपदिश्यमानवर्त्मानेकपक्षिजातिसमालम्बनव्यग्रपाणिभिः परिहासपेशलं सवयोभिरनुगम्यमानो मृगयारसविद्धचेताः सुचिरं गिरिनदिकारण्यप्रसरेषु 'परिबभ्राम' इति पाठः क्वचित्समुपलभ्यते, किन्त्वप्राकरणिकत्वेनेह मूले न निवेशित इत्यवधेयम्। ३. बहुलनिशाप्रदोष···। ४.···कनककपाटं। ५. पारापतैः। ६. अधिष्ठित···। ७. कुत्रचित् 'महा' इति पदं नास्ति। ८. मनोहरमवरोध···, मनोहरतममन्तःपुर···। ९. किन्न बहुना। १०. अतिरमणीयमविरुद्धमायत्याम्।

ऽव्यसनितया[1]। प्रमुदितप्रजस्य हि[2] परिसमाप्त-सकल-महीप्रयोजनस्य[3] नरपतेर्विषयसम्भोग[4]-लीला-भूषणम्, इतरस्य तु विडम्बना। प्रजानुरागहेतोरन्तरान्तरा[5] दर्शनं ददौ, सिंहासनञ्च निमित्तेष्वारुरोह।

शुकनासोऽपि महान्तं[6] तं राज्यभारमनायासेनैव प्रज्ञाबलेन बभार। यथैव[7] राजा सर्व[8]-कार्य्याण्यकार्षीत् तद्वदसावपि द्विगुणीकृतं-प्रजानुरागो[9] राजकार्य्याणि[10] चक्रे। तमपि[11] "आव-

स्यादुत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः। अविरुद्धं परस्त्रीसम्भोगपुरुषगणदुर्व्यवहारादिशास्त्रप्रतिषिद्धरहितम्, तत्तत् अनाक्षिप्तम् अव्यग्रं चेतो हृदयं यस्य स तादृशः सन्, अन्येषां भोगविलासव्यतिरिक्तानां पृथिव्या भूमेः व्यापाराणां शासनादीनाम्, परिसमाप्तत्वात् भारवहनक्षमसचिवे स्थापिततया अवसितत्वात् सिषेवे सेवितवान्, तु किन्तु, व्यसनितया तत्र तत्रासामर्थ्यशालितया न, एवञ्च भोगविलासो नापत्ति-जनक इत्याशयः।

प्रमुदितेति। हि तथाहि। प्रमुदिताः शासनसंरक्षणादिना आनन्दं प्रापिताः प्रजाः प्रकृतयो येन तस्य तथोक्तस्य, परिसमाप्तानि भारवहनक्षमामात्यादौ स्थापिततया अवसितानि सकलानि समग्राणि महीप्रयोजनानि भूमावावश्यकानि शासनसंरक्षणादिकृत्यानि यस्य तादृशस्य, विषयसम्भोगलीला माल्यचन्दनरमण्यादिभोगविलासो भूषणम् आभरणस्वरूपा, तु परन्तु इतरस्य तदतिरिक्तस्य अपरिस-माप्तसमस्तपृथ्वीकृत्यस्य, सुव्यवस्थाभावादशान्तिपूर्णाधिपत्यस्य भूपतेरिति तात्पर्यम्, विषयसम्भोग-लीला माल्यचन्दनादिभोगविलासः विडम्बना आत्मवञ्चनामात्रम्, निरन्तरमेवाशान्ततया तथाविधप्रमो-दानुभवाभावादित्याशयः। इहार्थान्तरन्यासः।

प्रजेति। प्रजायाः प्रकृतेः अनुरागः स्नेहः तस्य हेतोः तदर्थम् अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये दर्शनं प्रजानां प्रसादावलोकनं ददौ दत्तवान्, अन्यथा स्वीयसुखदुःखयोस्ताटस्थ्यानुमानेन प्रकृतीनां विरक्तिर्भवेदित्या-शयः। निमित्तेषु विचारसापेक्षेषु शासनकृत्येषु पर्वोत्सवादिषु वा प्राप्तेषु सिंहासनं नृपासनम् आरुरोह आरूढवान्।

शुकनासोऽपीति। शुकनासोऽपि एतन्नामकप्रधानसचिवोऽपि महान्तं गरिष्ठमपि राज्यभारम् आधिपत्यधुरम् अनायासेनैव प्रयासं विना प्रज्ञाबलेन राजनीतिशक्त्या बभार धारयामास।

यथैवेति। यथैव येन प्रकारेणैव राजा भूपतिः कार्याणि शासनपालनादिव्यापारान् अकार्षीत् कृतवान् तद्वत् तेनैव प्रकारेण असौ शुकनासोऽपि द्विगुणीकृतः पूर्वस्माद्बहुलीकृतः प्रजायाः प्रकृतेः अनुरागः स्नेहो येन स तादृशः राजकार्याणि स्वस्वामिशासनसंरक्षणकृत्यानि चक्रे अकार्षीत्।

तमपीति। आवर्जितात् प्रणामसमये मूर्धानमनेन नमितात् कुसुमशेखरात् प्रसूनमयशिरोऽवतंसात्

को राजाने भोगा, पर उस सुखमें न तो राजाने अपने चित्तको लीन किया और न वह उसका व्यसनी हो गया; क्योंकि-सुयोग्य मन्त्रीके हाथमें समस्त राजकार्य सौंप देनेसे पृथिवीके शासन-पालनादि सभी कार्य उसके पूरे हो गए थे। महीमण्डल के सब कार्य समाप्त कर प्रजाका रञ्जन करनेवाले ऐसे राजाका भोग-विलास-भूषण-स्वरूप है; और जिसका राज्य सुशासनके अभावसे अशान्ति-परिपूर्ण है, उसके लिए तो विडम्बना मात्र है। प्रजावर्गके अनुरागके कारण बीच बीच में राजा स्वयं दर्शन देता था एवं विशेष कोई प्रयोजन होने पर सिंहासन पर भी विराजमान होता था।

शुकनास भी बड़े भारी उस राज्यका भार अपने बुद्धिबलसे अनायास ही वहन करता था। जिस भावसे राजा सब काम करता था, वह भी उसी भावसे राजासे द्विगुण प्रजाके साथ अनुराग उत्पन्न कर राजकार्य सम्पादन करता था। अधीनस्थ राजा लोग मस्तक द्वारा उसको (शुकनास को) भी जब प्रणाम करते थे, उस समय उनके (राजाओंके) चलायमान हुए चूडामणियोंकी किरणोंसे भरे हुए मुकुटोंका अग्रभाग अवनत हो जाता था,

१. अतिव्यसनितया। २. क्वचित्‘हि’ पदं नास्ति। ३. ‘‘‘महीमण्डलप्रयोजनस्य। ४. विषयोपभोग-लीला। ५. हेतोश्चान्तरा। ६. महान्तं राज्यभारं, महान्तमणितं राज्यभारम्। ७. यथैव च। ८. क्वचित् ‘सर्व’ इति पदं नास्ति। ९. द्विगुणीकृतः प्रजानुरागश्चक्रे। १०. चकार। ११. चलित‘‘‘।

लित-चूडामणि-मरीचि-मञ्जरीजालिभिर्मौलिभिरावर्जित-कुसुम-शेखर-च्युत मधु-शीकर-सिक्त-नृप-सभं[1] दूरावनतिप्रे[2]ङ्खोलित-मणि-कुण्डल-कोटि-संघट्टिताङ्गदं राजकमाननाम। तस्मिन्नपि चलति[3] चलित-चटुल-तुरंग[4]-बल-मुखर-खुर-रव-बधिरीकृतभुवनान्तराला[5]:, बल-भर[6]-प्रचल-वसुधातल-दोलायमान-गिरयः, गलन्मदान्ध-गन्धगज-दान-धारान्धकाराः, संसर्पदतिबहल[7]-धूलि-पटल-धूसरितसिन्धवः, प्रचलत्-पदातिबल[8]-कलकल-स्फोटित[9]-कर्ण[10]-विवराः सरभसोद्‌घुष्यमाण-जयशब्द-निरन्तरा[11]:, प्रोद्धूयमान-धवल-चामर-सहस्रसंच्छादिताः, पुञ्जित-नरेन्द्र-वृन्द-कनकदण्डातपत्र-संघट्ट[12]-नष्ट-दिवसाः, दश दिशो बभूवुः।

च्युतैः स्यन्दितैः मधुशीकरैः पुष्परसबिन्दुभिः सिक्ता सेचिता नृपसभा राजपरिषद् येन तत्तादृशम्। तथा दूरावनत्या दूरप्रदेशप्रणामेन प्रेङ्खोलितयोः सञ्चलितयोः मणिकुण्डलयोः रत्नमयश्रवणाभरणयोः कोटिभ्याम् अग्रभागाभ्यां सङ्घट्टिते घृष्टे अङ्गदे केयूरद्वयं बाहुवलयमित्यर्थः, यस्य तत्तादृशम्। नन्वत्र बहूनां राज्ञां शिरसोऽवनमनसमये कर्णकुण्डलानां बहुत्वेन कथं द्विवचनेन विग्रह इति चेत्! सत्यम् 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः' इति वामनसूत्रप्रामाण्यमभ्युपगम्य तथा प्रतिपादनेन दोषाभावात्। राजकं राजसमूहः, आवलितम् अवनतं चूडामणिमरीचिमञ्जरीणां मस्तकस्थितरत्नमयूखाग्राणां जालं समूहः एषामस्तीति तैः तादृशैः मौलिभिः शिरोभिः, तं शुकनासमपि आननाम नमश्चक्रे।

तस्मिन्निति। तस्मिन् शुकनासेऽपि चलति क्वापि प्रस्थिते सति, दश दिशः इत्थम्भूता बभूवुरिति सम्बन्धः। तथा हि—चलितस्य शुकनासेन साकं प्रयातस्य चटुलस्य चपलस्य तुरगबलस्य वाजिसैन्यस्य, मुखरा वाचालाः ये खुराः शफाः तेषां रवैः शब्दैः बधिरीकृतं तदन्यशब्दाविषयीकृतं भुवनान्तरालं जगन्मध्यं यासु ताः तादृश्यः। बलभरेण सहसंचलितसैनिकभारेण प्रचले कम्पिते वसुधातले पृथ्वीतले दोलायमानाः सञ्चलन्तः गिरयः शैला यासु ताः तादृश्यः। गलन्तीभिः स्रवन्तीभिः मदान्धानां मदोन्मत्तानां गन्धगजानां गन्धेभानां दानधाराभिः मदजलपङ्क्तिभिः अन्धकारस्तमो यासु ताः तादृश्यः। इह गन्धगजलक्षणमेवं दृश्यते—

'यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः। तं गन्धहस्तिनं प्राहुर्नृपतेर्विजयावहम्॥' इति।

संसर्पता ऊर्ध्वं गच्छता अतिबहलेन अत्यन्ताधिकेन धूलिपटलेन रजःसमूहेन धूसरिता धूम्रवर्णीकृताः सिन्धुसरितो यासु ताः तादृश्यः। प्रचलतां सहप्रस्थितानां पादाभ्यां चरणाभ्याम् अतन्ति गच्छन्ति ये ते पदातयः ते च ते बलानि सैन्यानि तेषां तथोक्तानां कलकलैः कोलाहलैः स्फोटितानि भिन्नानि कर्णविवराणि श्रवणरन्ध्राणि यासु ताः तादृश्यः। सरभसं सवेगम् उद्घुष्यमाणैः उच्चैरुच्चार्यमाणैः जयशब्दैः 'जयजय' इति शब्दैः निर्न विद्यते अन्तरम् अवकाशो यासां ताः तादृश्य', तैः सम्भृता इत्यर्थः, 'अन्तरमवकाशावधि' इत्याद्यमरः। प्रोद्धूयमानेन संवीज्यमानेन धवलचामराणां शुभ्रवालव्यजनानां सहस्रेण समूहेन संछादिताः आवृताः। तथा पुञ्जितस्य समुत्पन्नसङ्घभावस्य नरेन्द्रवृन्दस्य नृपसमूहस्य यानि कनकदण्डातपत्राणि कनकनिर्मिता दण्डा येषां तानि छत्राणि तेषां सङ्घट्टेन उपरि मिथोदृढसंयोगेन नष्ट

मस्तक अवनत करनेसे फूलोंके शेखरोंमें से टपकते मधुसे राजसभाका स्थान गीला हो जाता था और दूरसे ही मस्तकको अवनत करने ( झुकाने ) के कारण लटकते मणि-कुण्डलोंके अग्रदेश द्वारा उनके बाहुस्थित केयूरों ( बाजूबन्दों ) से रगड़ने लगते थे। उसके भी किसी स्थानमें प्रस्थान करनेपर मदच्युतिसे अन्धे हुए गन्धगजकी दान-धारासे दशों दिशाओंमें अँधेरा छा जाता था, मदगामी चपल घोड़ों की टापोंकी आवाजसे भुवनोंके अन्तराल बहरे हो जाते थे, सैन्यगणके पदभारसे पृथिवीतलके कम्पित होनेपर पर्वतसमूह भी डगमगाने लगते थे, उड़ती हुई धूलके ढेरसे रास्ताके समीपवर्त्ती नदियों का रङ्ग मटियाला हो जाता था, साथ-साथ चलते हुए पैदल सेनाओं की कलकलसे कानोंके परदे फटे जाते थे, बहुत जोरसे बराबर उच्चारण किया गया जय शब्द सभी दिशाओंमें व्याप्त हो जाता था, हिलते हुए अगणित श्वेत चामर पृथिवीको आच्छादित कर देते थे, और एकत्रित हुए राजाओं की सुवर्ण-दण्डवाली छतरियोंके निकट भिड़ जानेसे दिनकी शोभा नष्ट हो जाती थी।

१. सिक्तनृपसभदूरावनतिं सिक्तसभं। २.···प्रेङ्खित···। ३. चलिते। ४. चटुलतुरङ्ग। ५.···भुवनाः। ६. क्वचित् 'भर' इति पदं नास्ति। ७.···अतिबहुल···। ८. धूलिप्रबलपदातिबल। ९.···रवस्फोटित···। १०. श्रवणविवराः। ११.···निर्भराः। १२.···संघट्टन···।

एवं तस्य मन्त्रि-विनिवेशित-राज्यभारस्य[1] यौवन-सुखमनुभवतः कालो[2] जगाम। भूयसा च कालेनान्येषामपि जीवलोकसुखानां प्रायः सर्वेषामन्तं ययौ, एकन्तु सुत-मुख-[3] दर्शनसुखं न लेभे। तथा सम्भुज्यमानमपि[4] निष्फलपुष्पदर्शनं शरवणमिवान्तःपुरमभवत्[5]। यथा यथा च[6] यौवनमति-चक्राम, तथा तथा विफल-[7]मनोरथस्यानपत्यताजन्माऽवर्द्धताऽस्य[8] सन्तापः। विषयोपभोग-सुखेच्छाभिश्च मनो विजहे[9]। नरपतिसहस्र-परिवृतमप्यसहायमिव, चक्षुष्मन्तमप्यन्धमिव, भुवनालम्बनमपि[10] निरालम्बनमिव[11] आत्मानम्[12] अमन्यत।

---

आच्छादितो दिवसो वासरालोको यासु ताः तादृश्यः। इह प्रतिविशेषणं सम्बन्धाभावेऽपि सम्बन्ध-रूपातिशयोक्तिः।

एवमिति। एवं पूर्वोक्तविधिना, सचिवे विनिवेशितः सम्पूर्णभावेन स्थापितः राज्यभारः आधिपत्य-भारो येन तस्य तादृशस्य, यौवनसुखं तारुण्यसौख्यम् अनुभवतः अनुभवं कुर्वतः तस्य तारापीडस्य कालः समयो जगाम गतवान्। भूयसा भूयिष्ठेन समयेन प्रायो बाहुल्येन अन्येषामपि जीवलोकसुखानां प्रजालोकानन्दानां सर्वेषाम् अन्तं ययौ अनुभवेन पारं प्राप। तु किन्तु सुतमुखदर्शनसुखं पुत्रवदना-वलोकनानन्दं यत्तदेकं न लेभे न प्राप। तथा सम्भुज्यमानमपि तथाविधोत्कटरूपेण संभोगविषयीक्रिय-माणमपि अन्तःपुरम् अवरोधस्थयोषित्समूहः, शरवणं बाणसंज्ञकतृणसमूहमिव, निर्नास्ति फलं सुतो-त्पत्तिरूपं प्रयोजनं सस्यञ्च यस्य तत्तादृशम्, पुष्पाणां रजसां प्रसूनानाञ्च दर्शनं यत्र तत्तथोक्तम् अभवत्। शरवणे यथा प्रसूनोत्पत्तिर्भवति किन्तु फलं न जायते तथा पूर्वोक्तासु वनितासु रजःस्वलास्वपि रमण-प्रधानफलभूतः सुतो नाजायत इति स्पष्टार्थः। इह च पूर्णोपमा।

यथेति। यथा यथा येन येन प्रकारेण यौवनं तारुण्यम् अतिचक्राम अतिक्रान्तवान् तथा तथा तेन तेन प्रकारेण, विफलो निष्फलो मनोरथोऽभिलाषो यस्य तादृशस्य अस्य भूपतेः तारापीडस्य, अन-पत्यतायाः निःसन्तानतायाः सकाशात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य स तादृशः, सन्तापो मानसी व्यथा अवर्द्धत वृद्धिं प्राप। विषयाणां स्रक्चन्दनादीनां य उपभोगोऽसक्तद्भोगः तस्मादुत्पन्नं यत्सुखम् आनन्दः तस्य इच्छाभिः अभिलाषाभिः मनश्चित्तं विजहे परितत्याज।

नरपतीति। नरपतीनां राज्ञां यत् सहस्रं समूहः तेन परिवृतं परिवेष्टितमपि असहायम् द्वितीयेन सहायकेन शून्यम्, 'अपुत्रस्य गृहं शून्यम्' इति न्यायादित्यर्थः। चक्षुष्मन्तं सनेत्रमपि अन्धमिव गताक्षमिव पुन्नामनरकोद्धारणोपायानवलोकनादित्याशयः। भुवनालम्बनमपि शासकतया जगदाधारमपि निरालम्बनं निराधारमिव, पिण्डविच्छेदसम्भवेन पतनसम्भवादित्याशयः। आत्मानं स्वम् अमन्यत अज्ञासिष्ट।

इह नरपतीत्यादौ भुवनेत्यादौ चाभावाभिमानिनी 'चक्षुष्मन्तमिव' इत्यत्र भावाभिमानिनी जात्युत्प्रेक्षा, इत्यासां परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

---

इस प्रकार मन्त्रीके ऊपर समस्त राज्यका भार सौंपकर वह राजा यौवन-सुखके अनुभव में समय व्यतीत करता था। अधिक समय तक उस सुखका अनुभव करता हुआ वह अन्य सब सांसारिक सुखोंके अन्ततक पहुँच गया, किन्तु एक मात्र पुत्रमुख देखनेका सुख उसको प्राप्त नहीं हुआ। ऐसे ऐसे भोगोंके होने परभी अन्तःपुर (रनिवास) उसे निष्फल पुष्प-दर्शन युक्त बाग घासके समान लगने लगा ( बाण नामक घासमें, पुष्प तो बहुत निकलते हैं, किन्तु फल नहीं लगते; स्त्रियोंको रजोदर्शन तो होता था, किन्तु सन्तान नहीं होती थी )। जैसे जैसे यौवन व्यतीत होने लगा, वैसे-वैसे उसकी पुत्रकी आशा भी विफल होने लगी, सन्तान नहीं होनेसे मनमें सन्ताप भी खूब बढ़ता गया, क्रमशः विषय-सम्भोग-सुखकी इच्छा उसके मनसे हटने लगी। उस समय वह, अगणित राजाओंसे परिवृत होने परभी मानो असहायके समान, चक्षुष्मान् होने परभी अन्धके समान एवं समस्त भुवनोंका आधार होने परभी निराधारके समान अपनेको मानने लगा।

---

१. मन्त्रिनिवेशित। २. कश्चित्कालः। ३. तनयमुख''', तोकमुख'''। ४. उपभुज्यमानमपि। ५. अभूत्। ६. क्वचित् 'च' इति पदं नास्ति। ७. निष्फल'''। ८. महानवर्द्धतास्य। ९. विजघ्ने, विजगाहे। १०. भुवनलम्बनम्, भुवनावलम्बनम्। ११. निरालम्बमिव। १२. आत्मानमनपत्यम्।

अथ तस्य[1] चन्द्रलेखेव हरजटा-कलापस्य, कौस्तुभ-प्रभेव कैटभारि[2]-वक्षःस्थलस्य, वनमालेव मुसलायुधस्य, वेलेव सागरस्य, मदलेखेव दिग्गजस्य, लतेव पादपस्य[3], कुसुमोन्नतिरिव[4] सुरभिमासस्य, चन्द्रिकेव चन्द्रमसः, कमलिनीव सरसः, तारकापङ्क्तिरिव[5] नभसः, हंसमालेव मानसस्य, चन्दनवनराजिरिव मलयस्य, फणामणिशिखेव शेषस्य भूषणमभूत् त्रिभुवन-विस्मयजननी जननीव वनिता-विभ्रमाणां सकलान्तःपुरप्रधानभूता महिषी विलासवती नाम।

एकदा च[7] स[6] तदावासमुपगतः तां चिन्ता-स्तिमित-दीन-दृष्टिना[8] शोकमूकेन परिजनेन परिवृताम्, आरादवस्थितैश्च ध्यानानिमिषलोचनैः कञ्चुकिभिरुपास्यमानाम्, अनतिदूरवर्त्ति-

---

अथेति। विलासवती नाम महिषी पट्टराज्ञी तस्य तारापीडस्य भूषणम् अवतंसः 'अभूत्' इति सम्बन्धः। हरजटाकलापः शंभोर्जटाजूटस्तस्य चन्द्रलेखेव शशिकलेव। कैटभारेः श्रीमधुसूदनस्य वक्षःस्थलस्य भुजान्तरालस्य, कौस्तुभस्य तदाख्यकंठाभरणस्य मणेः प्रभा कान्तिरिव। मुसलायुधस्य बलभद्रस्य वनमाला सर्वर्त्तुपुष्पसमुज्ज्वलिता मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या आजानुलम्बिनी स्रक् सेव। वनमालालक्षणम्—
मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या सर्वर्त्तुकुसुमोज्ज्वला। आपादलम्बिनी माला वनमालेति कीर्तिता॥' इति।

सागरस्य समुद्रस्य वेला तीरमिव। दिग्गजस्य दिङ्नागस्य मदलेखेव दानवारिरेखेव। सुरभिमासस्य वसन्तमासस्य कुसुमोन्नतिः प्रसूनसमृद्धिरिव। चन्द्रमसः शशिनः चन्द्रिकेव ज्योत्स्नेव। सरसः कासारस्य 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः, कमलिनी नलिनीव। नभसो गगनस्य तारकापङ्क्तिः नक्षत्रश्रेणिरिव। मानसस्य तन्नामकसरोवरस्य हंसमाला चक्राङ्गपङ्क्तिरिव। मलयस्य तन्नामकशैलस्य चन्दनवनराजिः चन्दनवनपङ्क्तिरिव। शेषस्य वासुकेः, फणाया यो मणिः रत्नं तस्य शिखा दीप्तिरिव त्रिभुवनविस्मयजननी विष्टपत्रयाश्चर्यकारिणी सौन्दर्यहावभावादिनेत्याशयः। वनिताविभ्रमाणां नारीजातेः लीलानां जननी मातेव, सर्वप्रकारलीलानिधित्वादित्याशयः। सकलेषु अन्तःपुरेषु अवरोधसुन्दरीषु प्रधानभूता मुख्या।

इह 'चन्द्रलेखेव' इत्यारभ्य 'फणामणिशिखेव' इत्यन्तं मालोपमा जात्युत्प्रेक्षा चेत्युभयोः सङ्करः।

एकदेति। एकस्मिन् समये च स तारापीडः तस्या विलासवत्याः, आवासं भवनम् उपगतः प्राप्तः तां विलासवतीम् इत्थम्भूतां ददर्श अद्राक्षीत् इति सम्बन्धः। चिन्तया मानसव्यथया स्तिमिता स्थिरा दीना कातरा च दृष्टिः दृक् यस्य तेन तादृशेन, शोकेन पट्टराज्ञ्या विषादोत्पन्नेनेत्यर्थः, मूको निःशब्दः तेन तादृशेन, परिजनेन परिवारजनेन परिवृतां सहिताम्। आरात् समीपे अवस्थितैः कृतावस्थानैः ध्यानेन तत्तत्समयविधेयचिन्तनया अनिमिषे निमिषरहिते लोचने नयने येषां तैः तादृशैः, कञ्चुकिभिः 'अन्तः-

---

महादेवके जटा-कलापको जिस प्रकार चन्द्रकला, नारायणके वक्षःस्थलको जिस प्रकार कौस्तुभमणिकी प्रभा, बलदेवको जिस प्रकार वनमाला, दिग्गजको जिस प्रकार मदकी लेखा, वृक्षको जिस प्रकार लता, वसन्तको जिस प्रकार पुष्पकी समृद्धि, चन्द्रमाको जिस प्रकार चाँदनी, सरोवरको जिस प्रकार कमलिनी, आकाशको जिस प्रकार तारोंकी पङ्क्ति, मानसरोवरको जिस प्रकार हंस-माला, मलयाचलको जिस प्रकार चन्दन-वनकी पङ्क्ति, एवं शेषनागको जिस प्रकार फणास्थित मणिकी ज्योति अलङ्कार स्वरूप है, उसी प्रकार **'विलासवती'** नामकी तारापीडकी महिषी (पटरानी) थी। वह निरुपम सौन्दर्य और भावभङ्गीसे त्रिभुवनको विस्मय उत्पन्न करती थी और स्त्रियोंके समस्त विलास-भङ्गीको मानो उत्पन्न करनेवाली थी।

एक दिन महाराज तारापीड, विलासवतीके गृहमें उपस्थित होकर देखा—महाराज्ञी विलासवती बाई हथेली पर अपने मुख-कमलको रख एक छोटेसे उज्ज्वल पलङ्ग पर बैठकर रो रही है, उसके बालोंकी खुली लटें इधर-उधर फहरा रही हैं, शरीर परसे सभी आभूषण उतार दिये गये हैं, बराबर आँसू गिरनेसे उसका वस्त्र आर्द्र (गीला) हो गया है, अन्तःपुरकी वृद्धायें कुछ दूर में खड़ी होकर उसको आश्वासन दे रही हैं, कञ्चुकिगण दुश्चिन्ता

---

१. अस्य। २. कैटभाराति…। ३. कल्पपादपस्य। ४. पुष्पोद्गतिरिव। ५. तारापङ्क्तिरिव, तारकपङ्क्तिरिव। ६. तदावासगतः। ७. राजा राज्ञीमिव समुपागतः। ८.…स्तिमितदृष्टिना।

नीभिश्चान्तःपुरवृद्धाभिराश्वास्यमानाम् , अविरलाश्रुपाता[1]र्द्रीकृत-दुकूलाम् , अनलङ्कृताम् , वामकरतल-विनिहित-मुखकमलाम् , असंयताकुलालकाम् , सुनिविडपर्य्यङ्किकोपविष्टाम् , देवीं[2] ददर्श । कृताभ्युत्थाना[3]ञ्च तां तस्यामेव पर्य्यङ्किकायामुप[4]वेश्य स्वयञ्चोपविश्य अविज्ञात-बाष्प[5]कारणो भीतभीत इव करतलेन विगतबाष्पाम्भःकणौ कुर्वन् कपोलौ भूपा[6]लस्तामवादीत्—

'देवि ! किमर्थमन्तर्गत-गुरुशोकभार-मन्थरमशब्दं रुद्यते, ग्रथ्नन्ति हि मुक्ताफलजालकमिव बाष्पबिन्दुनिकरमेतास्तव[7] पद्मपङ्क्तयः । किमर्थञ्च कृशोदरि ! नालङ्कृतासि ? । बालातप इव रक्तारविन्दकोशयोः[8] किमिति न पातितश्चरणयोरलक्तकरसः[9] ? । कुसुमशर-सरः-कलहंसकौ कस्मात् पादपङ्कजस्पर्शेन नानुगृहीतौ मणिनूपुरौ ? । किंनिमित्तमयं[10] मपगत-

पुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः' इत्याद्यभिहितस्वरूपैः स्त्रीशिक्षकैः उपास्यमानां सेव्यमानाम् । अनतिदूरवर्त्तिनीभिः नातिदूरस्थायिनीभिः अन्तःपुरवृद्धाभिः अवरोधवृद्धस्त्रीभिः आश्वास्यमानां भाविफलप्रशंसया विश्वास्यमानाम् । अविरलेन सान्द्रेण अश्रुपातेन नेत्रजलपतनेन आर्द्रीकृतं क्लिन्नीकृतं दुकूलं वस्त्रं यस्याः तां तादृशीम्, अनलङ्कृताम् अविभूषिताम् । वामकरतले सव्यपाणितले विनिहितं स्थापितं मुखकमलं वदनपद्मं यया तां तादृशीम् । असंयता अबद्धा अत एव आकुला इतस्ततः पर्यस्ता अलकाः चूर्णकुन्तला यस्याः तां तादृशीम् । सुनिविडा दृढा या पर्यङ्किका उपवेशनमञ्चिका क्षुद्रखट्वेत्यर्थः, तस्याम् उपविष्टाम् आसेदुषीं रुदतीं क्रन्दन्तीम् ( देवीम् ) अन्वयस्तु पूर्वमेव निरूपितः ।

कृतेति । कृतं विहितम् अभ्युत्थानं संमाननं यया सा तां तादृशीं तां विलासवतीं तस्यामेव पूर्वप्रतिपादितायामेव पर्यङ्किकायाम् उपवेशनमञ्चिकायाम् उपवेश्य संस्थाप्य स्वयञ्च आत्मना अन्यत्रोपविश्य, अन्यस्मिन् समये स्त्रीपुंसोरेकत्र स्थितेरनुचितत्वात् । अविज्ञातम् अविदितं बाष्पस्य विलासवत्या अश्रुनिःसरणस्य कारणं हेतुर्येन स तादृशः, अत एव भीतभीत इव त्रस्तत्रस्त इव भूपालस्तारापीडः, करतलेन पाणितलेन कपोलौ विलासवत्या गण्डौ, विगता दूरीभूताः बाष्पाम्भसां नयनसलिलानां कणा पृषतो याभ्यां तौ तथोक्तौ कुर्वन् विदधत् , तां विलासवतीम् अवादीत् अवोचत् ।

देवीति । हे देवि ! किमर्थं किं प्रयोजनम् ? अन्तर्गतस्य हृदयस्थितस्य गुरोर्महतः शोकस्य विषादस्य भारेण मन्थरं मन्दं मन्दम्, अशब्दं शब्दवर्जितं यथा स्यात्तथा रुद्यते रोदनं विधीयते । एताः पुरो विद्यमानाः पद्मपङ्क्तयो नेत्ररोमश्रेणयः, मुक्ताफलजालकं मौक्तिककलापमिव पृथुलत्वादित्याशयः । बाष्पबिन्दुनिकरम् अश्रुकणजालकं ग्रथ्नन्ति ग्रथनं विदधते । हे कृशोदरि क्षीणमध्ये ! किमर्थं किंनिमित्तं नालङ्कृतासि न भूषितासि ? । रक्तारविन्दकोशयोः लोहितकमलकलिकयोः, बालातपः अभिनवसूर्यालोक इव किमिति कथं न चरणयोः पादयोः अयम् अलक्तकरसो यावकद्रवो न पातितः अर्पितः । कुसुमशरस्य मदनस्य यत् सरः कासारः तस्य कलहंसकौ चक्राङ्गस्वरूपौ उद्वेलनसाम्यादित्याशयः, मणिनूपुरौ पादकटके, पादौ चरणावेव पङ्कजे कमले तयोः स्पर्शेन कस्माद्धेतोः न अनुगृहीतौ न प्रसादपात्रीकृतौ । अयं मध्यभागो

वश एकाग्र दृष्टि करके समीपमें खड़े होकर सेवा कर रहे हैं, और 'इस समय क्या करना उचित है' इस भावनासे निश्चल और कातर-दृष्टि युक्त सब दासियाँ शोकके कारण चुपचाप होकर आस-पास खड़ी हुई हैं । रानीने राजाको देखते ही उठकर उनका सत्कार किया, उस समय राजाने उसे तुरन्त उसी पलङ्गपर फिर बैठा दिया और आपभी उसके एक भागमें बैठ गया । क़िन्तु रानीके अश्रुपातका कारण न जाननेसे वह थोड़ा घबड़ाकर अपने करतल द्वाराही उसके दोनों गालोंके आँसू पोंछते-पोंछते उससे कहने लगा—

'देवि ! हृदयमें प्रबल शोकको दाबकर तुम चुपचाप क्यों रोती हो । देखो, ये तुम्हारे आँखके पलक मोतीके हारके समान अश्रुबिन्दुओंका हार गूँथते हैं । कृशोदरि ! तुमने आज आभूषण क्यों नहीं पहने ? रक्तवर्ण कमलकी कलियोंके समान चरणों पर प्रातःकालीन सूर्यके प्रकाशके समान अलक्तकरस ( महावर ) क्यों नहीं लगाई ? मदन-सरोवरके कलहंसोंके समान मणि नूपुरों पर आज चरण-पङ्कज-स्पर्शका अनुग्रह क्यों नहीं किया ?

१. ···बिन्दुपातार्द्रीकृत··· । २. रुदतां । ३. कृतप्रत्युत्थाना, कृतप्रत्यभ्युत्थानां । ४. पर्य्यङ्किकायामुपविश्य । ५. बाष्पवेग । ६. भूमिपालः । ७. तवायतः । ८. कोशयोरयम् । ९. अयमलक्तकरसः । १०. किंनिमित्तमपगत··· ।

मेखला-कलापमूको मध्यभागः ? । किमिति च[1] हरिण इव हरिणलाञ्छनेन[2] लिखितः कृष्णा-गुरु[3]पत्रभङ्गः पयोधरभारे ? । केन कारणेन तन्वीयं हर-मुकुट[4]-चन्द्रलेखेव गङ्गास्रोतसा न विभूषिता[5] हारेण वरारोहे[6] ! शिरोधरा[7] ? । किं वृथा वहसि विलासिनि ! स्रवदश्रुजल-लव-धौत-कुङ्कुम[8]-पत्रलतं कपोलयुगलम्[9] ? इदञ्च कोमलाङ्गुलिद[10]लनिकरं रक्तोत्पलमिव करतलं किमिति कर्णपूरतामारोपितम् ? इमाञ्च केन हेतुना मानिनि ! धारयस्यनुपरचित-गोरोच-नाबिन्दु-तिलकामसंस्कृतालकिनीम[11]लिकलेखाम् ? अयञ्च ते ब[12]हुल-पक्ष-प्रदोष इव चन्द्रलेखा-

---

मध्यप्रदेशः, किं निमित्त किमर्थम् अपगतेन दूरीभूतेन मेखलाकलापेन काञ्चीदाम (चन्द्रहार) रूपभूषणेन मूकः शब्दरहितः 'कलापः संहतौ बर्हे काञ्च्यां भूषणतूणयोः' इत्यजयः । हरिणलाञ्छने चन्द्रमसि हरिण इव, पयोधरभारे विपुलकुचद्वये, कृष्णागुरुणा श्यामवर्णगन्धद्रव्यविशेषेण पत्रभङ्गः पत्ररचनासदृश-तिलकविशेषः किमिति हेतोः न लिखितो न चित्रितः । शुभ्रतया गोलाकारतया च चन्द्रकुचयोः, श्यामतया च हरिणागुरुपत्ररचनयोः साधर्म्यमवगन्तव्यम् । वरान् श्रेष्ठपुरुषान् तेषां चेतांसीत्यर्थः, आरोहति या सा तादृशी वरारोहा श्रेष्ठनारी तत्सम्बुद्धौ हे वरारोहे !, हे तन्वि क्षीणाङ्गि ! केन कारणेन इय शिरोधरा तव ग्रीवा, गङ्गास्रोतसा स्वर्धुनीप्रवाहेण हरस्य महादेवस्य यन्मुकुटं चूडामणीभूतः कपर्दः तस्य चन्द्रलेखेव चन्द्रकलेव न विभूषिता नाभरणीकृता ।

इह 'मुक्ताफलजालक इव' इत्यत्र 'बालातप इव' इत्यत्र च एवं 'हरिण इव' इत्यत्र 'हरमुकुटचन्द्रलेखेव' इत्यत्र चोपमालङ्कारः । 'कुसुमशर–' इत्यादावश्लिष्टशब्दनिबन्धनं परम्परितरूप-कम्, अपि च 'पादपङ्कज' इत्यनेन तेनैव सह समस्तवस्तुविषयं साङ्गरूपकञ्चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करालङ्कारः ।

किमिति । हे विलासिनि विभ्रमवति ! स्रवद्भिः क्षरद्भिः अश्रुजललवैः लोचनजलबिन्दुभिः धौता प्रक्षालिता कुङ्कुमस्य पत्रलता पत्रभङ्गिः यत्र एवम्भूतं यत् कपोलयुगलं गण्डद्वयं वृथा मुधा किं वहसि कथं धारयसि ।

इदमिति । कोमलानि सुकुमाराणि यानि अङ्गुलिदलानि अङ्गुलिरूपपत्राणि तेषां निकरः समूह इव यत्र तत्तादृशम्, करतलं सव्यहस्ततलं किमिति किमर्थं रक्तोत्पलमिव कोकनदमिव कर्णपूरतां वामश्रोत्रा-लङ्कारताम् आरोपितं प्रापितम् । वामहस्ततले वामभागेन वदनन्यासादित्याशयः ।

इह 'कोमलाङ्गुलिदलनिकरम्' इत्यत्र लुप्तोपमा 'रक्तोत्पलमिव' इत्यत्रोपमा सङ्कीर्यते ।

इमामिति । हे मानिनि गर्वयुक्ते ! केन हेतुना कारणेन, अनुपरचितम् अकृतं गोरोचनाबिन्दुभिः तिलकं पुण्ड्रं यत्र तां तादृशीम्, तथा असंस्कृताः तैलादिसंस्कारवर्जिता अलकाः चूर्णकुन्तला अस्याः सन्तीति तां तादृशीम्, अलिकलेखां रेखाचिह्नितललाटस्थलम् 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः ।

अयमिति । चन्द्रलेखा शशिकला तया विरहितः शून्यः अत एव अतिबहुलेन अत्यधिकेन तिमिर-पटलेन तमःसमूहेन अन्धकारो नेत्ररश्मीनां विस्तारावरोधकः, बहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्य प्रदोषो रजनी-मुखमिव, कुसुमरहितः पुष्पशून्यः अत एव अतिबहुलतिमिरपटलवत् अन्धकारः श्यामवर्णमात्रमित्यर्थः, ते तव केशपाशः कुन्तलकलापः, मे मम दृष्टिखेदं नयनक्लेशं करोति विधत्ते । 'बहुलपक्षप्रदोष इव' इत्यत्र पूर्णोपमा ।

---

प्रिये ! तुम, इस कटि प्रदेशसे काञ्ची ( करधनी ) को उतार कर उसे चुप क्यों रक्खी हो ? और तुमने चन्द्रमामें हरिण-चिह्नके समान विशाल स्तनद्वयके ऊपरमें काले अगरुकी पत्ररचना क्यों नहीं की ? सुन्दरि ! गङ्गाके स्रोतमें महादेवके मुकुटकी चन्द्रकलाके समान तुमने इस कण्ठ देशमें मुक्ताहारसे श्रृङ्गार क्यों नहीं किया ?, विलासिनि ! आज तुमने अपने नेत्रोंसे अश्रु-बिन्दुओं को डाल-डालकर कपोलद्वयके ऊपरसे कुङ्कुमकी पत्रलता चिह्नको क्यों व्यर्थ धो डाली है ? आज तुमने कमलके पत्र-समूहके समान पंखड़ीवाले कोमल अङ्गुलियोंसे युक्त इस बाएँ हथेलीको किस लिए रक्त कमलके समान कर्णभूषण बनाया है ? ललाटमें गोरोचनाका तिलक क्यों नहीं लगाया ?

---

१. किमिति हरिण । २. आलिखितः । ३. कृष्णगुरुपङ्कपत्रभङ्गः । ४. मुकुटे । ५. भूषिता । ६. वरोरु ! । ७. कन्धरा । ८. धौतपत्रतलं । ९. कपोलयुगम् । १०.…अङ्गुलिनिकरं । ११.…तिलकाम् असंयमितालकिनीं ललाटलेखाम् । १२. अयञ्च बहुल ।

विरहितः करोति मे दृष्टिखेदम्[1] अतिबहुल-तिमिर-पटलान्धकारः कुसुमैरहितः[2] केशपाशः। प्रसीद, निवेदय[3] देवि ! दुःखनिमित्तम् । एते हि पल्लवमिव सरागं मे[4] हृदयं कम्पयन्ति[5] तरलीकृतस्तनांशुकास्तवायता[6] निश्वासमारुताः[7] । कच्चित्[8] मयापराद्धम् ? अन्येन वा केनचिद्स्मदुपजीविना[9] परिजनेन ? । अतिनिपुणमपि[10] चिन्तयन् न पश्यामि खलु स्खलितमल्प[11]मप्यात्मनस्त्वद्विषये । त्वदायत्तं हि मे जीवितं राज्यञ्च । कथ्यतां सुन्दरि ! शुचः कारणम्' इत्येवमभिधीयमाना[12]पि विलासवती यदा न किञ्चित् प्रतिव[13]चनं प्रपेदे तदा विवृद्धबाष्पहेतुमस्याः परिजनमपृच्छत् ।

अथ तस्यास्ताम्बूलकरङ्क[14]वाहिनी सतत-प्रत्यासन्ना मकरिका नाम राजानमुवाच—

---

प्रसीदेति । हे देवि ! प्रसीद प्रसन्ना भव, दुःखनिमित्तं मानसिकव्यथाकारणं निवेदय प्रतिपादय । हि नूनम्, एतेऽत्रलोक्यमानाः तरलीकृतं चञ्चलीकृतं स्तनांशुकं पयोधरवस्त्रं यैस्ते तादृशाः, आयता विस्तीर्णाः । तव ते निश्वासमारुताः निश्वासपवनाः, पल्लवं किसलयमिव, रागेण प्रीत्या लौहित्येन च सह स्थितमिति सरागं मे मम हृदयं मानसं कम्पयन्ति उद्वेजयन्ति धूनयन्ति च । उक्तालङ्कारः ।

कच्चिदिति । कच्चित् इत्यभीप्सितप्रश्ने तथा चामरः—'कच्चित् कामप्रवेदने' इति । मया केनचित् अन्येन अस्मदुपजीविना मत्सेवकेन वा अथवा परिजनेन परिवारजनेन अपराद्धम् अपराधः कृतः । अतिनिपुणम् अतिचतुरं चिन्तयन्नपि विचारयन्नपि त्वद्विषये खलु निश्चयेन आत्मनः स्वस्य स्खलितम् अनुचितव्यवहारमपि न पश्यामि नावलोकयामि । हि निश्चितम्, मे मम जीवितं प्राणधारणं राज्यञ्च त्वदायत्तं त्वदधीनम् ।

कथ्यत मिति । हे सुन्दरि ! शुचः विषादस्य कारणं निमित्तं कथ्यतां प्रतिपाद्यताम् । इत्येवं पूर्वोक्तदिशा अभिधीयमानापि पृच्छ्यमानापि विलासवती राजमहिषी यदा न किञ्चित् प्रतिवचनम् उत्तरम्, प्रपेदे दत्तवतीत्यर्थः । तदा तेन विधिना अस्या विलासवत्या विवृद्धस्य वृद्धिं प्राप्तस्य बाष्पस्य नयनजलस्य हेतुं कारणं परिजनं सेवकवर्गम् अपृच्छत् पृष्टवान् । 'प्रच्छ' धातोर्द्विकर्मकत्वात् स्थलद्वयेऽपि कर्मणि द्वितीया ।

अथेति । अथ राजप्रश्नानन्तरं तस्या विलासवत्याः ताम्बूलकरङ्कवाहिनी पर्णमञ्जूषाधारिणी सततप्रत्यासन्ना निरन्तरसमीपस्थायिनी मकरिका नाम मकरिकेत्याख्यावती राजानं तारापीडम् उवाच अब्रवीत्—'देव हे स्वामिन् ! देवात् भवतः सकाशात् अल्पमपि किञ्चिदपि परिस्खलितं त्रुटिः कुतः स्यात्, एतस्याः प्रीतिविषये नितान्तं भवतः सावधानत्वादित्याशयः । देवे राजनि त्वयि अभिमुखे प्रसन्ने सति, परिजनस्य सेवकस्य अन्यस्य वा कस्यचित्तदनिरिक्तस्य अपराद्धुम् अपराधं कर्त्तुं का शक्तिः

---

और आज तुमने केशकलापको क्यों नहीं परिष्कृतकर गूँथा ? जो कि ललाटके ऊपरमें लटके हुए हैं, मानिनि ! तुम किसलिए इस प्रकारका ललाट धारणकी हो ? देवि ! चन्द्रलेखा-रहित कृष्णपक्षके प्रदोषके समान तुम्हारी अत्यन्त काली पुष्पविहीन यह चोटी मेरे नेत्रोंको दुःख उत्पन्न करती है । इसलिए, देवि ! प्रसन्न हो जाओ; दुःखका कारण बताओ; साधारण वायु जिस प्रकार रक्तवर्ण पल्लवको कँपाता है, उसी प्रकार तुम्हारे ये लम्बे लम्बे श्वास, स्तनपर पड़े वस्त्रको हिलाते हुए हमारे अनुरक्त हृदयको कँपाते हैं । शायद मुझसे या मेरे किसी परिजनसे क्या कुछ अपराध हो गया है ? मुझे खूब विचार करने परभी तुम्हारे विषयमें सचमुच अपना थोड़ाभी अपराध नहीं देखनेमें आता है, क्योंकि–मेरा जीवन और राज्य ये दोनों तुम्हारे अधीन हैं । अत एव, सुन्दरि ! मुझसे शोकका कारण कहो । राजाके इस प्रकार कहने परभी जब विलासवतीने कुछ उत्तर नहीं दिया तब राजा उसकी दासियोंसे उसके अधिकाधिक अश्रुविन्दु गिरानेका कारण पूछने लगा ।

तदनन्तर विलासवतीके ताम्बूल-करङ्कवाहिनी ( निरन्तर पानके डब्बेको रखनेवाली ) और सर्वदा समीपमें रहनेवाली मकरिका नामकी किसी परिचारिकाने राजाको उत्तर दिया—'महाराज! आपसे थोड़ाभी अपराध होनेकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? और आपके प्रसन्न रहनेपर परिजन वा अन्य किसी व्यक्तिको भी अपराध करनेकी

---

१. दृष्टिवेदनाम् । २.…अन्धकारः केशपाशः । ३. आवेदय । ४. मम । ५. आकम्पयन्ति । ६. तवाधिजाः । ७. श्वासमरुतः । ८. कच्चित । ९. अनुजीविना । १०. अतिनिपुणं चिन्तयन् । ११. स्खलितमपि । १२. अभिधीयमाना यदा । १३. प्रतिवचः प्रतिपेदे । १४. करण्डकवाहिनी मकरिका ।

'देव ! कुतो देवादल्पमपि परिस्खलितम् ? अभिमुखे च देवे का शक्तिः परिजनस्यान्यस्य वा कस्यचिदपराद्धुम् ? किन्तु 'महाग्रह[1]-ग्रस्तेव विफलनरेन्द्र[2]-समागमास्मि' इत्ययमस्या देव्याः सन्तापः, सुमहांश्च[3] कालः सन्तप्यमानायाः । प्रथममपि स्वामिनी[4] दानवश्रीरिव सततनिन्दितसुरता शयनासन-स्नान[5]-भोजन-भूषण-परिग्रहादिषु समुचितेष्वपि[6] दिवसव्यापारेषु कथं कथमपि परिजनप्रयत्नात् प्रवर्त्तमाना[7] सशोकेवासीत्, देवहृदयपीडा-परि[8]जिहीर्षया च न दर्शितवती विकारम् । अद्य[9] तु चतुर्दशीति भगवन्तं महाकालमर्चितुमितो गतया तत्र महाभारते वाच्यमाने श्रुतम्—'अपुत्राणां[10] किल न सन्ति लोकाः शुभाः, पुन्नाम्नो नरकात्त्रायत इति पुत्रः' इत्येतच्छ्रुत्वा भवनमागत्य परिजनेन सशिरःप्रणाममभ्यर्थ्यमानापि नाहारमभिनन्दति,

---

सामर्थ्यम्, न कापीत्यर्थः । महाग्रहेण पूतनादिना केनचित् उत्कटभूतेन ग्रस्ता आविष्टा नारीव, विकलः सन्तानोत्पत्त्यभावान्निष्फलः नरेन्द्रस्य भूतचिकित्सकस्य समागमः उपस्थितिर्यस्याः तादृशी भवति भूतापसारणस्याशक्यत्वात्, इति हेतो अस्या देव्या अयं सन्तापः मानसिकोद्वेगः सन्तप्यमानाया विषादं विदधत्याः सुमहान् अत्यधिकः कालः समयो व्यतीत इति शेषः । इह 'महाग्रहग्रस्तेव' इत्यत्र पूर्णोपमा ।

प्रथममिति । प्रथममपि इतः प्राक्कालेऽपि स्वामिनी इयं देवी, दानवस्य असुरस्य श्रीरिव लक्ष्मीरिव, सततं निरन्तरं निन्दितम् अपत्योत्पत्त्यभावाद्विगर्हितं सुरतं स्वीयराजसम्भोगो यया सा तादृशी, पक्षे—सततं निन्दिता प्रतिपक्षित्वाद्विगर्हिता सुरता देवत्वं यया सा तथोक्ता सती, शयनं स्वापः, स्नानम् आप्लवः, भोजनम् अशनम्, भूषणपरिग्रहः अलङ्काराङ्गीकारः, इत्यादिषु समुचितेष्वपि योग्येष्वपि दिवसव्यापारेषु दैनिककर्त्तव्येषु कथं कथमपि महता क्लेशेनेत्यर्थः, परिजनः सेवकः तस्य प्रयत्नात् आग्रहात् प्रवर्त्तमाना संलग्ना सशोकेव सविषादेव आसीत् । देवस्य भवतः हृदयपीडायाः स्वसन्तापावलोकनेन सम्भाव्यमानहृदयव्यथायाः परिजिहीर्षया परिहर्त्तुमिच्छया अजननाभिलाषयेत्यर्थः, विकारम् आधुनिकमिव शोकज्ञसिलक्षणमश्रुपातादिकं न दर्शितवती न ज्ञापितवती ।

अद्येति । चतुर्दशी तिथिरिति हेतोः शिवपूजने चतुर्दश्या अतिप्रशस्तत्वादित्याशयः । भगवन्तं महात्म्यवन्तं महाकालम् अर्चितुम् इतो भवनात् गतया प्राप्तया तत्र महाकालमन्दिरे महाभारते पञ्चमवेदशास्त्रे वाच्यमाने पठ्यमाने श्रुतम् आकर्णितम्—अपुत्राणां सुतरहितानां किल सत्यम्, शुभा लोकाः स्वर्गसंज्ञकलोका न सन्ति न विद्यन्ते, पुन्नाम्नो नरकात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या पुत्र इति । उक्तञ्च महाभारते—

'पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्त्रायते पितरं सुतः । तस्मात् 'पुत्र' इति ख्यातः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥'

इति पूर्वोक्तविधिना एतत् महाभारतं श्रुत्वा आकर्ण्य भवनं गृहम् आगत्य एत्य परिजनेन परिवारजनेन सशिरःप्रणामं मस्तकावनमनसहितं यथा स्यात्तथा, अभ्यर्थ्यमानापि आहारं प्रार्थ्यमानाऽपि भोजनं नाभिनन्दति न स्वीकरोति, भूषणपरिग्रहम् आभरणधारणं नाचरति न विधत्ते, उत्तरं न प्रतिपद्यते कथमे-

---

शक्ति क्या है ? किन्तु 'जैसे प्रबल भूताविष्ट स्त्रियोंके पक्षमें भूत-चिकित्सककी उपस्थिति विफल हो जाती है, उसी प्रकार मेरे साथ राजाका सम्भोग विफल हो जाया करता है' इस प्रकारकी चिन्ताही रानीको सन्ताप उत्पन्न करती है, एवं इस प्रकार सन्ताप करते ही अनेक समय बीत गये हैं । असुरोंकी लक्ष्मी जिस प्रकार सर्वदा देवोंकी निन्दा करती रहती है, महारानीभी उसी प्रकार सर्वदा सम्भोगकी निन्दाकर, इससे पहलेभी दासियोंके अत्यन्त प्रयत्न करनेपर अतिकष्टसे शयन, उपवेशन, स्नान, भोजन और अलङ्कार-धारणादि प्रतिदिवसीय आवश्यक कार्य करनेमें शोकके साथही प्रवृत्त होती थी, किन्तु आपके हृदयको दुःख न हो इस कारण थोड़ा-सा भी विकारका लक्षण बाहर प्रकट नहीं होने देती थीं; परन्तु आज चतुर्दशी तिथि थी, इसलिए भगवान् महाकालेश्वर का पूजन करनेके लिए इस स्थानसे गई थी, वहाँ महाभारतकी कथा होती थी । उसमें इन्होंने सुना कि—'पुत्रहीन व्यक्तियोंको मङ्गलमय लोक ( स्वर्ग ) नहीं मिलता;' 'पुन्नाम' नरकसे पिता और माताको त्राण करनेवालेका ही नाम पुत्र होता है । यह सुन घर आनेपर दासियोंके नम्रतापूर्वक प्रार्थना करने परभी यह न भोजन करती है;

---

१. महाग्राह··· । २. विफलराज··· । ३. महांश्च । ४. स्वामिनः । ५. शयनस्नान, शयनाशनस्नान··· । ६. समुचितेषु दिवस··· । ७. प्रवर्त्यमाना । ८. क्वचित् 'परि' इति पदं नास्ति । ९. अथ चतुर्दशी, अद्य चतुर्दशी, महाकालाभिधानम् । १०. अपुत्राणां न सन्ति, अपुत्राणां किल गतिर्नास्ति न वा सन्ति··· ।

न भूषणपरिग्रहमाचरति, नोत्तरं प्रतिपद्यते, केवलमविरलबाष्पदुर्दिनान्धकारितमुखी[1] रोदिति । एतदाकर्ण्य देवः[2] प्रमाणम्' इत्यभिधाय विरराम ।

विरतवचनायां[3] तस्यां भूमिपालस्तूष्णीं मुहूर्त्तमिव स्थित्वा दीर्घमुष्णञ्च निश्वस्य[4] निजगाद—'देवि ! किमत्र क्रियतां दैवायत्ते वस्तुनि, अलमतिरुदितेन,[5] न वयमनुग्राह्याः[6] प्रायो देवतानाम् ; आत्मज-परिष्वङ्गामृतास्वाद-सुखस्य नूनमभाजनमस्माकं हृदयम् , अन्यस्मिन् जन्मनि न कृतमवदातं कर्म्म, जन्मान्तरकृतं[7] हि कर्म्म फलमुपनयति पुरुषस्येह जन्मनि, न हि शक्यं दैवमन्यथा कर्त्तुमभियुक्तेनापि । यावत्तु मानुष्यके शक्यमुपपादयितुं तावत् सर्वमुपपाद्यताम् , अधिकां कुरु देवि ! गुरुषु भक्तिम् , द्विगुणामुपपादय देवतासु

---

वमाचर्यत इति जिज्ञासायां विहितायामपि प्रतिवचो न ददाति अविरलानां सान्द्राणां बाष्पाणां नयनजलानां दुर्दिनेन वृष्ट्या अन्धकारितं समुत्पन्नान्धकारं मलीमसमित्यर्थः । मुखं वदनं यस्याः सा तादृशी 'वनान्धकारे वृष्टौ च दुर्दिनं संप्रचक्षते' इति प्राञ्चः । केवलं रोदिति रोदनमेव करोति नान्यत्किमपीत्याशयः । एतन्मदुक्तं वच आकर्ण्य निशम्य देवो भवान् प्रमाणम् , विधेयनिर्वाचकः, यद्भवानाज्ञापयिष्यति तदेव सर्वैर्वेदवाक्यवदङ्गीकरिष्यत इत्यभिप्रायः । इति पूर्वोक्तदिशा अभिधाय कथयित्वा विरराम विरता बभूव ।

विरतेति । विरतवचनायां तूष्णीम्भावावलम्बनीभूतायां तस्यां मकरिकायां भूमिपालो राजा मुहूर्त्तमिव क्षणमिव तूष्णीं स्थित्वा, मौनमवलम्ब्येत्यर्थः । दीर्घं लम्बायमानम् उष्णं तप्तं निःश्वस्य श्वासं विमुच्य निजगाद उवाच—देवि ! दैवायत्ते भाग्याधीने, अत्र वस्तुनि अस्मिन् सन्तानरूपविषये, किं क्रियतां किं कर्त्तुं शक्यं मनुष्यमात्रेण त्वया मया वेति शेषः । अतिरुदितेन अत्यन्तरोदनेन अलं व्यर्थम् । प्रायो देवतानां सुराणां वयं नानुग्राह्या नानुकम्प्याः, राज्यप्राप्त्यादावनुग्रहदर्शनात् प्रायः पदम् । आत्मजस्य तनयस्य 'आत्मजस्तनयः सूनुः' इत्यमरः, परिष्वङ्गः आश्लेष एव अमृतं सुधा तस्य आस्वादेन अनुभवेन यत् सुखम् आनन्दः तस्य नूनं निश्चितम् अभाजनम् अनाधारस्थलम्, अनधिकारीत्यर्थः । एतत्कथं ज्ञातमित्यत आह—अन्यस्मिन्निति । अन्यस्मिन् जन्मनि भवान्तरे अवदातं निर्मलं कर्म तनयपरिष्वङ्गसुखजनकं पुण्यमित्यर्थः, न कृतं न विहितम् । हि निश्चयेन जन्मान्तरकृतं पूर्वजन्मार्जितं कर्म धर्माधर्मरूपं फलं शुभाशुभरूपम् उपनयति प्रापयति पुरुषस्य मनुष्यस्य इह अस्मिन् जन्मनि भवे, दैवम् अदृष्टं प्रारब्धमिति सरलार्थः । 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते' । अन्यथा कर्त्तुं वैपरीत्येन विधातुम् अभियुक्तेनापि महायोगिनापि न शक्यम् , 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् । नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादिपरःशतवचनात्, यत्र महायोगिनामीदृशी गतिः तत्र मादृशानान्तु कथैव केत्याशयः । 'आत्मजपरिष्वङ्गामृत' मित्यत्र निरङ्गकेवलं रूपकमलङ्कारः ।

यावदिति । मानुष्यके मानवलोके यावत् उपपादयितुं विधातुं शक्यं स्वकृतिसाध्यं तावत् सर्वम् उपपाद्यतां विधीयताम् । तदेव कर्त्तव्यमुपपादयति—अधिकामित्यादिना । हे देवि ! गुरुषु हिताहितप्राप्ति-

---

न किसी आभूषणको ही धारण करती है 'क्यों ऐसा व्यवहार करती है ? ऐसी जिज्ञासा करने पर भी कुछ उत्तर नहीं देती, केवल अश्रुबिन्दुओं की निरन्तर वर्षासे मुखपर अन्धकार करके रो रही है। यह सुनकर 'आपकी जैसी आज्ञा हो ( वैसी ही की जाय )' इतना कहकर मकरिका चुप हो गई ।

मकरिकाके चुप हो जानेपर राजाने मौनावलम्बनपूर्वक थोड़ी देर रहकर लम्बी लम्बी गरम साँस लेकर कहा—'देवि ! पुत्रप्राप्ति करना दैवके अधीन है, अतएव सामान्य मनुष्य होकर तुम अथवा हम इस विषयमें क्या कर सकते हैं ? अतः बहुत रोना व्यर्थ है । हमलोग प्रायः अनेक विषयोंमें ही देवताओंके अनुग्रहके पात्र नहीं हैं, और सचमुच हमलोगोंका हृदय भी, पुत्रालिङ्गनरूपी अमृत-आस्वाद-जनित सुखका अधिकारी नहीं है । क्योंकि हमने जन्मान्तरमें कोई धर्मकार्य नहीं किये हैं । पूर्वजन्ममें प्राणी जो धर्म वा अधर्म करते हैं, वे ही, उनको इस जन्ममें अनुरूप फल उत्पन्न करते रहते हैं, चाहे जितना भी उद्योग करो, महा उद्योगी पुरुष द्वारा भी दैव-नियोग नहीं बदला जा सकता, तो भी जो कुछ मनुष्य लोकमें अपने साध्य हो सके पुत्रप्राप्तिके निमित्त वह सब करना

---

१. बाष्पबिन्दु··· । २. इत्येतदभिधाय । ३. विरतवचनायाञ्च । ४. निःश्वस्य । ५. अतिमात्रमलं रुदितेन । ६. वयमननुग्राह्याः । ७. जन्मान्तरविहितम् ।

पूजाम्; ऋषिजनसपर्य्यासु[1] दर्शितादरा भव, परं हि दैवतमृषयो यत्नेनाराधिता यथासमीहितफलानामति[2]दुर्लभानामपि वराणां दातारो भवन्ति। श्रूयते[3] हि पुरा चण्डकौशिकप्रसादात्[4] मगधेषु[5] बृहद्रथो नाम राजा जनार्दनस्य[6] जेतारम् अतुलभुजबल[7]मप्रतिरथं जरासन्धं नाम तनयं लेभे। दशरथश्च राजा परिणतवयां[8] अपि विभाण्डकमहामुनिसुतस्य ऋष्यशृङ्गस्य प्रसादात् नारायणभुजानिवाप्रतिहतान् उदधीनिवाक्षोभ्यानवाप चतुरः पुत्रान्। अन्ये च राजर्षयस्तपोधनानाराध्य पुत्रदर्शनामृतस्वाद[9]-सुखभाजो बभूवुः। अमोघफला हि महामुनिसेवा[10] भवति। अहमपि खलु[11] देवि! कदा समुपारूढगर्भभरालसामापाण्डुर[12]मुखीम्

परिहारोपदेष्टृषु पूर्वावस्थातः अधिकाम् आधिक्येन भक्तिम् अनुरागं कुरु विधेहि। देवतासु विष्णुशिवादिषु द्विगुणां द्विगुणितां पूजां सपर्याम् उपपादय कुरु। ऋषिजनसपर्यासु मुनिजनपूजासु दर्शितादरा प्रकटितसत्कारा भव। ननु मुनिजनस्य मनुष्यत्वेन कथं तत्पूजासु सत्कारो दर्शनीय इत्यत आह—परं हीति। हि यस्मात् परम् उत्कृष्टं दैवतं देवतास्वरूपा ऋषयो मुनयः यत्नेन प्रयत्नेन अन्तःकरणशुद्ध्येत्यर्थः। आराधिताः सेविताः यथासमीहितफलानां यथाभिलषितफलानाम्, अतिदुर्लभानामपि अतिदुष्प्राप्याणामपि वराणां मनोरथानां दातारो दायका भवन्ति।

दर्शितमेवार्थं दृष्टान्तद्वारा स्थिरीकरोति—श्रूयत इत्यादिना। पुरा पूर्वं मगधेषु कीकटेषु चण्डकौशिको विश्वामित्रः तस्य प्रसादात् अनुग्रहात् बृहद्रथः तन्नामको राजा, जनार्दनस्य विष्णोः जेतारं जयनशीलम् अतुलं निरुपमं भुजबलं बाहुबलं यस्य तं तादृशम्, अप्रतिरथं विरोधिशून्यम्, जरासन्धं नाम तनयं जरासन्धाभिधमात्मजं लेभे प्राप्तवान्।

दशरथेति। दशसु दिशासु अप्रतिहतो रथः स्यन्दनं यस्य स दशरथः परिणतवया अपि वृद्धोऽपीत्यर्थः, विभाण्डकनामा यो महामुनिः महातपस्वी तस्य सुतस्य ऋष्यशृङ्गस्य प्रसादात् अनुग्रहात् अप्रतिहतान् अपराजितान् नारायणभुजानिव विष्णुबाहूनिव, अक्षोभ्यान् अजेयान् अनुद्वेलनीयांश्च चतुरः चतुःसंख्याकान् पुत्रान् रामचन्द्रादीन् अवाप प्राप्तवान्। इह पूर्णोपमयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात्संसृष्टिः।

अन्य इति। अन्ये च दिलीपप्रभृतयो राजर्षयः नृपोत्तमाः तपोधनान् तपस्विन आराध्य उपास्य पुत्रदर्शनं सुतविलोकनमेव अमृतं पीयूषः तस्य स्वादेन अनुभवेन सुखं भजन्ते ये ते तादृशाः, बभूवुः अभवन्। इह निरङ्गं केवलरूपकम्।

अमोघेति। हि यस्मात् अमोघम् अविफलं फलं यस्याः सा अनिष्फला इत्यर्थः। महामुनिसेवा महर्ष्याराधना भवति।

अहमिति। हे देवि! अहमपि कदा कस्मिन् समये, समुपारूढस्य उत्पन्नस्य गर्भस्य भ्रूणस्य भरेण

चाहिए। देवि! गुरुजनोंके प्रति अधिक भक्ति करो; पूर्वापेक्षा देवताओंकी दूनी पूजा करो; मुनियोंकी सेवामें विशेष रूपसे आदर दिखाओ—क्योंकि, मुनिगण प्रधान देवता स्वरूप हैं, अत एव यत्नपूर्वक उनकी आराधनाकी जाय तो वे अभिलषित-फलके अत्यन्त दुर्लभ वर भी दे देते हैं। पुराण और इतिहासमें सुना जाता है कि, पूर्व समयमें मगध देशका राजा बृहद्रथने महर्षि चण्डकौशिक (विश्वामित्र) के अनुग्रह से कृष्णविजयी अतुलनीय बाहुबल-सम्पन्न एवं शौर्यमें प्रतिद्वन्द्वीसे रहित जरासन्ध नामक पुत्रको प्राप्त किया था। और राजा दशरथ वृद्ध हो गये तो भी उन्होंने विभाण्डक महामुनिके पुत्र ऋष्यशृङ्गके अनुग्रहसे नारायणके बाहुके समान अप्रतिहत-शक्ति-सम्पन्न एवं समुद्रके समान अक्षोभणीय (अजेय एवं अनुद्वेलनीय) रामचन्द्रप्रभृति चार पुत्र प्राप्त किए थे। इसी प्रकार दिलीप प्रभृति अन्यान्य राजर्षियोंने भी तपस्वियोंकी आराधना करके पुत्र-दर्शन-रूपी अमृत-स्वादका सुखभागी हो गये हैं; क्योंकि महामुनियोंकी सेवा कभी निष्फल नहीं होती। देवि! उत्पन्न गर्भके भारसे अलस (मन्द) हुई, फीके मुखवाली, और जिसमें पूर्णचन्द्रका उदय निकटवर्त्ती हो, ऐसी पूर्णिमाकी-

१. ···परिचर्य्यासु। २. दुर्लभानामपि। ३. श्रूयन्ते। ४. कौशिकप्रभावात्, चण्डकौशिकप्रभावात्, चण्डकौशिकप्रसादप्रभावात्। ५. मगधेशो···। ६. जनार्दनप्रतिमम्। ७. अतुलबलपराक्रमम्, अमरतुल्यभुजबलम्। ८. परिणतवया विभा···। ९. ···आस्वाद···। १०. महामुनिजनसेवाः, भवन्ति। ११. अहमपि खलु कदा। १२. आपाण्डुमुखीम्।

आसन्नपूर्णचन्द्रोदयामिव[1] पौर्णमासीनिशां देवीं द्रक्ष्यामि[2]। कदा मे तनयजन्म-महोत्सवानन्द-निर्भरो हरिष्यति पूर्ण-पात्रं परिजनः । कदा हारिद्रवसनधारिणी सुत-सनाथोत्सङ्गा द्यौरिवो-दित[3]-रविमण्डला सबालातपा मामानन्दयिष्यति देवी । कदा सर्वौषधिपिञ्जर[4]-जटिलकेशो निहित-रक्षाघृतबिन्दुनि तालुनि विन्यस्त[5]-गौरसर्षपोन्मिश्र-भूतिलेखः[6] गोरोचनाचित्रित[7] कण्ठसूत्रग्रन्थिः उत्तानशयो दशनशून्य-स्मिताननः पुत्रको जनयिष्यति मे हृदयाह्लादम् ।

भारेण अलसां निखिलकृत्येषु मन्थराम्, आपाण्डुरं गर्भधारणस्वभावात् शशिन उदयाच्च ईषत् पाण्डु-वर्णं धूसरवर्णं मुखम् आननम् आद्यांशश्च यस्याः तां तादृशीम्, अतएव आसन्नो निकटवर्त्ती पूर्णचन्द्रस्य पूर्णशशिनः उदयो यस्याः तां तादृशीम्, पौर्णमासीनिशामिव राकारात्रिमिव देवीं भवतीं द्रक्ष्यामि अवलोकयिष्यामि । इहोपमा ।

कदेति । तनयजन्ममहोत्सवेन पुत्रजननलक्षणप्रमोदेन आनन्दनिर्भरम् आमोदातिशयो यस्य स तादृशः, परिजनः परिवारजनः, मे मम पूर्णपात्रं पूर्णानकं वपुर्धृतं वसनस्रगादिकमिति तात्पर्यम्, हरि-ष्यति हर्षान्नेष्यति । 'उत्सवेषु सुहृद्भिर्यद्बलादाकृष्य गृह्यते ।

वस्त्रं माल्यञ्च तत्पूर्णपात्रं पूर्णानकं च तत् ॥' इति भानुचन्द्रधृतकोशः ।

हारावल्यान्तु—

'वर्धापकं यदानन्दादलङ्कारादिकं पुनः । आकृष्य गृह्यते पूर्णपात्रं पूर्णानकञ्च तत् ॥' इति ।

कदेति । हरिद्रा काञ्चनी तया रक्तमिति हारिद्रम्, 'निशाह्वा काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः । तथाविधं वसनं वस्त्रं धारयति परिदधाति या सा तादृशी, तथा सुतेन आत्मजेन सनाथः सहितः उत्सङ्गः क्रोडो यस्याः सा तादृशी, देवी भवती, उदितम् उदयं प्राप्तं रविमण्डलं सूर्यबिम्बं यस्यां सा तादृशी, अत एव सबालातपा अभिनवादित्यालोकयुक्ता द्यौः गगनमिव ।

इह सूर्यबिम्बेन सहाभिनवोत्पन्नतया ताम्रवर्णस्य सुतस्य, अभिनवादित्यालोकेन साकं शिशुप्रभा-द्योतितहारिद्रवस्त्रस्य, दिवा च सह देव्याः साम्यं ज्ञेयम् । एवञ्च स्पष्टमेव पूर्णोपमालङ्कारः ।

कदेति । सर्वौषधिभिः—

'मुरामांसी वचाकुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् ।

शठीचम्पकमुस्तं च सर्वौषधिगणः स्मृतः ॥ इति मार्गपरिशिष्टोक्तैः ।

'कुष्ठमांसीहरिद्राभिर्वचाशैलेयचन्दनैः । सुराचन्दनकर्पूरमुस्तैः सर्वौषधिः स्मृतः ॥ इति राजनि-घण्टूक्तैर्वा द्रव्यविशेषैः, पिञ्जराः पीतरक्ताः, जटिलाः, जटावत् संयुक्ताश्च केशाः कचा यस्य स तादृशः । रक्षार्थं घृतमिति रक्षाघृतम्, एवञ्च निहितं स्थापितं यत् रक्षाघृतं तस्य बिन्दुः कणो यत्र तस्मिन् तादृशे तालुनि काकुदे विन्यस्ताः अर्पिताः गौरसर्षपेण श्वेततन्तुभेन 'सर्षपः स्यात् सरिषपः कुटस्नेहश्च तन्तुभ' इति त्रिकाण्डशेषः, उन्मिश्राः संयुता भूतिलेखा भस्मरेखा यस्य स तादृशः । गोरोचनया चित्रितः कर्बुरितः कण्ठसूत्रग्रन्थिर्ग्रीवातन्तुग्रन्थिर्यस्य स तादृशः । मूर्द्धादौ सर्वौषध्यादिस्थापनं बालरक्षार्थमिति विधिः । एतद्बीजन्त्वन्यत्र गवेषणीयम् । उत्तानः ऊर्ध्वमुखः शेत इत्युत्तानशयः, दशनैर्दन्तैः शून्यं रहितम् अथ च स्मितं विकसितम् आननं मुखं यस्य स तादृशः, पुत्रकः सुतः अनुकम्पायामत्र कप्रत्ययो ज्ञेयः, मे मम

रात्रिके समान तुमको मैं कब देखूँगा ? पुत्रजन्मके महोत्सवके आनन्दमें मग्न हुए मेरे परिजनवर्ग कब मुझसे पूर्णपात्र ले जायँगे ? ( उत्सवके समय हर्षके कारण शरीर पर जो वस्त्र, अलङ्कार आदि बलपूर्वक अपहरण किये जाते हैं, उनको **'पूर्णपात्र'** कहते हैं ), उदित सूर्यमण्डलसे युक्त एवं बालातपसे प्रकाशित आकाशके समान हरिद्रा रञ्जित ( पीले ) वस्त्र पहनकर पुत्रको अपने गोदमें लिये कब तुम मुझे आनन्दित करोगी ? सर्वौषधिके लगानेसे जिसके बाल पिङ्गलवर्ण और जटिल ( उलझ ) हो गये हों, जिसके तालु पर मन्त्रित किये हुए घृतकी बूँदें डालकर फिर उस पर श्वेत सर्षपसंयुक्त थोड़ी-सी भस्मकी रेखा डाली हो, एवं जिसके कण्ठ-सूत्रकी गाँठ गोरोचना द्वारा रंगी गई हो, इस अवस्थामें जो उत्तानशायी ( चित्त होकर सोने वाला ) हो, एवं बिना दाँतके मुँहसे मन्द-मन्द

१. आसन्नचन्द्रोदयामिव । २. प्रद्रक्ष्यामि ।··· ३. उद्यन···। ४. पिञ्जरित···। ५.···घृतमधु-बिन्दुतालुविन्यस्त···। ६ भूतिलेशः । ७.···चित्र···।

कदा गोरोचनाकपिलद्युतिरन्तःपुरिका-करतल-परम्परा-सञ्चार्यमाणमूर्तिरशेषजनाभिनन्दितः[1] मङ्गलप्रदीप इव मे शोकान्धकारमुन्मूलयिष्यति चक्षुषोः। कदा च क्षितिरेणु-[2]धूसरो मण्डयिष्यति मम हृदयेन दृष्ट्या च सह परिभ्रमन् भवनाङ्गणम्। कदा केशरि-किशोरक इव सञ्जातजानु-चङ्क्रमणारम्भः[3] सञ्चरिष्यतीतस्ततः स्फटिक-मणिमय-भित्त्यन्तरितान्[4] भवनमृगशावकान् जिघृक्षुः[5]। कदा अन्तःपुरिका-[6]नूपुर-निनादसङ्गतान् गृहकलहंसकान्[7] अनुसरन् कक्षान्तर-प्रधावितः[8] कनकमेखला-घण्टिका-रवानुसारिणीमायासयिष्यति धात्रीम्। कदा कृष्णागुरुपङ्क-

हृदयाह्लादं चित्तप्रमोदं जनयिष्यति उत्पादयिष्यति।

कदेति। गोरोचनावत् कपिला पिङ्गला द्युतिः दीप्तिः यस्य स तादृशः अन्तःपुरिकाणाम् अवरोधस्थानां योषितां करतलपरम्परया पाणितलपङ्क्त्या सञ्चार्यमाणा एकस्याः करात् अन्यस्याः करे गृह्यमाणा मूर्त्तिः शरीरं यस्य स तादृशः। अशेषैः समग्रैः जनैर्लोकैः अभिनन्दितो नृपात्मजतया स्वस्तिकतया च अभ्यर्थितः, मङ्गलप्रदीप इव स्वस्तिकदीप इव, शोकः तनयाभावनिबन्धनो विषाद एव अन्धकारः तिमिरं तं तादृशम्, उन्मूलयिष्यति मूलतोऽपनेष्यति। इह शोकान्धकारम्, इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकालङ्कारेण मंगलप्रदीप इव, इत्युपमालङ्कारः सङ्कीर्यते।

कदेति। क्षित्याः पृथिव्या रेणवो धूलयः तैः धूसरः शरीरेषु लग्नतया मलिनवर्णः मम मे हृदयेन चेतसा दृष्ट्या नेत्रेण च सह परिभ्रमन् इतस्ततः पर्यटन् भवनाङ्गणं गृहाङ्गणं मण्डयिष्यति। यस्मिन् यस्मिन् स्थले परिभ्रमिष्यति तस्मिन् तस्मिन् स्थल एव मम चित्तं दृष्टिश्च कुतूहलहर्षाभ्यां गमिष्यतीत्याशयः।

इह च सहोक्तिरलङ्कारः, तथा च दर्पणे—

'सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः। सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्॥'

कदेति। सञ्जातः समुत्पन्नः जानुभ्यां चङ्क्रमणारम्भः परिभ्रमणारम्भो यस्य स तादृशः, केशरी सिंहः तस्य किशोरकः शिशुः तद्वदिव, स्फटिकमणिमयीभिः स्फटिकरत्नमयीभिः भित्तिभिः कुड्यैः अन्तरितान् व्यवहितान् भवनमृगशावकान् भवनपालितकुरङ्गपोतान् जिघृक्षुः ग्रहीतुमिच्छुः सन् इतस्ततः सञ्चरिष्यति परिभ्रमणं विधास्यति। इहोपमा।

कदेति। अन्तःपुरिकाणाम् अवरोधवर्त्तिनीनां योषितां नूपुरनिनादेन पादकटकशब्देन सङ्गतान् उपस्थितान्, कलहंसानां पादकटकशब्दानुसारित्वस्वभावादित्याशयः, गृहकलहंसकान् भवनपालितराजहंसान्, 'कलहंसस्तु कादम्बे राजहंसे नृपोत्तमे' इति मेदिनी, अनुसरन् कुतूहलादनुव्रजन्, कक्षान्तरं प्रधावितः तस्मात् प्रकोष्ठान्तरं शीघ्रं गतः। कलहंसानामपि तस्मिंस्तस्मिन् स्थले गमनात् तदनुगमनाय राजहर्म्यप्रावरणात् तस्य धावनादिति भावः (भाषायां ड्यौढीति कथ्यते) कनकमेखलायाः तस्यैव स्वर्णमयरसनादाम्नः घण्टिकाः किङ्किण्यः तासां रवः शब्दः तमनुसर्त्तुं तं लक्ष्यीकृत्य गन्तुं शीलं यस्याः तादृशीम्, प्रकोष्ठान्तरगमनेनानवलोकनादित्याशयः, धात्रीम् उपमातरम् आयासयिष्यति तदनुगमनस्यावश्यकत्वात् परिश्रमं जनयिष्यति।

इह स्वभावोक्तिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे—

'स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्'। इति।

कदेति। कृष्णागुरुपङ्कः सान्द्रकालागुरुद्रवः तेन लिखिता चित्रिता या मदलेखावत् रेखा तया

मुसकुराता हो ऐसा पुत्र कब मेरे चित्तमें आह्लाद उत्पन्न करेगा? गोरोचनाके समान पीत-युक्त कान्तिवाला, अन्तःपुर (रनवास) में रमणियोंके मध्य एकसे दूसरी उपमाताओंके हाथमें बार बार जाता एवं सब जनोंसे वन्दित, मङ्गल-दीपके समान, पुत्र कब मेरे नेत्रोंके शोक-रूप अन्धकारको दूर करेगा? धरतीकी धूलके लग जानेसे धूसरवर्ण (मटियाला) होकर वह पुत्ररत्न कब मेरे हृदय और दृष्टिके साथ ही घूमता-घूमता महलके आँगनोंको अलङ्कृत करेगा? जानुयुगल (घुटनों) के द्वारा बल पाकर चलनेके योग्य होनेपर वह कब स्फटिक-मणिकी दीवारोंमेंसे दीखते गृहपालित हरिणके बच्चोंको पकड़नेकी इच्छासे सिंहके बच्चेके समान इतस्ततः दौड़ेगा? अन्तःपुर (रनिवास) की स्त्रियोंके नूपुरों (पायजेबों) के झन-झनाहटका अनुसरण करते गृह-पालित कलहंसोंके पीछे एक प्रकोष्ठसे दूसरे प्रकोष्ठमें वेगसे दौड़कर सुवर्णमय काञ्चीस्थित किङ्किणी (बोरों) के शब्दको लक्ष्यकर भागती अपनी

१. ···वन्दितः। २. क्षितितलरेणु···। ३. ···चङ्क्रमणावस्थः। ४. स्फटिकमणिभित्त्यन्तरितान्। ५. आजिघृक्षुः। ६. अन्तःपुर···। ७. गृहहंसकान्। ८. पक्षान्तर···, प्रधावितान्।

लिखित-मदलेखालङ्कृत-गण्डस्थलकः[1], कोमल[2]-रव-डिण्डिमध्वनि-जात-प्रीतिः ऊर्ध्वकर-विप्रकीर्ण-चन्दन-चूर्णधूलि-धूसरः, कुञ्चिताङ्गुलि-शिखराङ्कुशाकर्षण-विधूत-शिराः करिष्यति मदमत्तगजराज-लीलाम्[3] । कदा मातुश्चरणयुगलरागोपयुक्तशेषेण पिण्डालक्तकरसेन कञ्चु[5]-किनां[4] विडम्बयिष्यति मुखानि । कदा कुतूहल-चञ्चल-लोचनो[6] मणिकुट्टिमेष्वधोदत्त-दृष्टिरनुस-रिष्यति स्खलद्गतिरात्मनः प्रतिबिम्बानि[7] । कदा नरेन्द्र-सहस्र-प्रसारित-भुजयुगलाभिनन्द्यमाना-गमनो भूषण-मणिमयूख[8]-लेखाकुलीक्रियमाण-लोलदृष्टिरास्थानस्थितस्य मे[9] पुरः पर्य्यटि-

---

अलङ्कृते भूषिते गण्डस्थले कपोलद्वन्द्वं यस्य स तादृशः, अन्यत्र कृष्णागुरुपङ्कवत् लिखिता लिप्ता या मदलेखा दानवारिरेखा तया अलङ्कृतगण्डस्थलकः विभूषितकपोलप्रदेशकः । कोमलो मृदुलो यो रवः रसनायाः सञ्चालनविशेषेण 'टक् टक्' इत्येवमुपमातुः वदनशब्दः डिण्डिमध्वनिरिव मृदुलमुखशब्दवत् डिण्डिमध्वनिश्च तेन जाता समुत्पन्ना प्रीतिः हर्षो यस्य स तादृशः । ऊर्ध्वं समुत्तोलितौ यौ करौ हस्तौ ताभ्याम् उत्तोलितशुण्डया च विप्रकीर्णाभिः विक्षिप्ताभिः, चन्दनचूर्णस्य मलयजक्षोदस्य धूलयो रेणवः ताभिः चन्दनचूर्णवत् रेणुभिश्च धूसरो मलिनः। तथा कुञ्चितया कुटिलीकृतया अङ्गुल्या करशाखया धात्र्याः तर्जन्या इत्यर्थः । शिखरम् अग्रदेशः अंकुश इव सृणिरिव, कुञ्चिताङ्गुलिशिखरवदङ्कुशश्च तेन यदाकर्षणं पृष्ठे पुरतो वा चालनं तेन विधूतं प्रत्यावर्तनाननुमतिप्रकटनाय कम्पितं शिरो मस्तकं येन स तादृशः । मदमत्तस्य गजराजस्य हस्तिश्रेष्ठस्य लीलां व्यवहारं करिष्यति विधास्यति ।

इह श्लेषालङ्कारः, तेन हि लीलामिव लीलामित्यौपम्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुरूपा निदर्शना सङ्कीर्यते । निदर्शनास्वरूपं दर्पणे—

'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् । यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥'

कदेति । माता जननी तस्याः चरणयुगलस्य पादद्वन्द्वस्य यो रागो रञ्जनं तत्र उपयुक्तात् पर्याप्तात् शेषेण अवशिष्टेन, पिण्डालक्तकरसः पिण्डीकृतो यो लाक्षाद्रवः तेन तल्लेपनेनेत्यर्थः, कञ्चुकिनां निकटवर्त्ति-वृद्धब्राह्मणानां मुखानि वदनानि विडम्बयिष्यति विरूपाणि करिष्यति ।

कदेति । कुतूहलेन कौतुकेन चञ्चले चपले लोचने नयने यस्य स तादृशः, मणिमयभूमिषु निज-प्रतिमावलोकनादित्याशयः । मणिकुट्टिमेषु रत्नबद्धसभाभूमिषु स्वकीयवदनारविन्दमवलोकयितुम् अधोदत्ता नीचैःस्थापिता दृष्टिर्येन स तादृशः, तदप्राप्तिखेदात् स्खलन्ती अतिचिक्कणतया भ्रश्यन्ती गतिः गमनं यस्य स तादृशः, आत्मनः स्वकीयस्य प्रतिबिम्बानि प्रतिरूपाणि अनुसरिष्यति तद्ग्रह-णायानुगमिष्यति ।

कदेति । नरेन्द्रसहस्रेण नृपमण्डलेन ( कर्त्रा ) प्रसारितेन विस्तारितेन भुजयुगलेन बाहुद्वन्द्वेन ( करणेन ) अभिनन्द्यमानम् आदरादभ्यर्थ्यमानम् आगमनं यस्य स तादृशः, अत एव भूषणमणीनां नृपाणामलङ्कारीभूतरत्नानां मयूखलेखया रश्मिपङ्क्त्या आकुलीक्रियमाणा अवलोकनौत्कण्ठ्यात् व्यस्ती-

---

धात्रीको वह कब कष्ट देगा ? गाढ़े काले अगुरु रसके द्वारा कपोलद्वयके ऊपर मदरेखाके समान रेखा अङ्कित होनेसे मनोहर शोभा धारणकर, डिण्डिम ( डमरू ) शब्दके समान धात्रीके मनोहर मुखशब्दसे आनन्दित होकर, हस्तयुगल ऊपर उठाकर उछाले गये चन्दनके चूर्णसे धूसरवर्ण होकर, अङ्कुशके समान धात्रीके–अपनी उङ्गलियोंको मोड़कर आगे पीछे आगे पीछे चलानेपर मस्तक कम्पितकर वह कब मदमत्त गजराजका अनुकरण करेगा ? माताके चरण रंगजाने पर जो घन अलक्तक रस ( महावर ) अवशिष्ट बचेगें उसे लेकर वह कब कञ्चुकीके मुंहमें लेप देगा ? कुतूहलसे चञ्चल नेत्रोंवाला वह मणिमय-भूमिकी ओर दृष्टि-निक्षेप करके, ठोकर खाता खाता, अपने परछाहींका अनुसरण कब करेगा ? हजारों नरपति बाहुयुगल बढ़ा-बढ़ाकर जिसके आगमनका अभि-नन्दन करते हों, और उनके आभूषणोंकी मणियोंकी किरणोंसे जिसके चञ्चल नयनयुगल आकुल हो गये,

---

१. गण्डस्थलः । २. मुखडिण्डिमध्वनिजनितप्रीतिः । ३. मत्तगजराजलीलाक्रीड़ाः, मत्तगजक्रीड़ाम्, मत्तगजराजलीलाम्, मत्तगजराजलीलः क्रीड़ाम्, मत्तगजराजलीलाः । ४. चरणरागोपयुक्त … । ५. वृद्धकञ्चु-किनाम् । ६. लोल… । ७. प्रतिबिम्बितानि । ८. …मयूखाकुलीक्रियमाण… । ९. मम ।

ष्यति[1] सभान्तरेषु-। इत्येतानि चान्यानि[2] मनोरथशतानि चिन्तयतोऽन्तःसन्तप्यमानस्य प्रयान्ति[3] रजन्यः। मामपि दहत्येवायमहर्निशमनल इवानपत्यतासमुद्भवः शोकः[4]। शून्यमिव[5] मे प्रतिभाति जगत्, अफलमिव[6] पश्यामि राज्यम्। अप्रतिविधेये तु विधातरि किं करोमि, तन्मुच्यतां देवि! शोकानुबन्धः, आधीयतां धैर्य्ये धर्म्मे च धीः, धर्म्मपरायणानां हि सदा समीपसञ्चारिण्यः कल्याणसम्पदो भवन्ति' इत्येवम्[7] अभिधाय सलिलमादाय स्वयं करतलेनाभिनव-पल्लवेनेव विकचकमलतुल्यम्[8] आननमस्याः साश्रुलेखं ममार्ज। पुनः पुनश्च प्रियशतमधुराभिः शोकापनोद-[9]निपुणाभिर्धर्म्मोपदेशगर्भाभिर्वाग्भिराश्वास्य सुचिरं

---

क्रियमाणा अत एव लोला चपला दृष्टिर्यस्य स तादृशः, आस्थानस्थितस्य परिषद्यासीनस्य मे मम पुरः पुरस्तात् सभान्तरेषु राजपरिषन्मध्यभागेषु पर्यटिष्यति परिभ्रमिष्यति। इह बालस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिः।

इतीति। इत्येतानि पूर्वप्रतिपादितानि सुतचरितानि, अन्यानि चानभिहितानि मनोरथशतानि मनोविषयीक्रियमाणानि सुतस्य शिक्षाचातुर्यादिव्यवहारान् चिन्तयतो ध्यायतः अन्तःसन्तप्यमानस्य तथाविधात्मजाजननादन्तःकरण एव खेदं प्राप्नुवतः, अधैर्यप्रकाशापवादभीत्या बहिरप्रकटयत इत्याशयः। ममेति शेषः, रजन्यो रात्रयः प्रयान्ति गच्छन्ति। इह वृत्त्यनुप्रासः।

मामिति। अनपत्यतासमुद्भवः असन्तानतासमुत्पन्नः शोकोऽन्तस्तापः, अनल इव वह्निरिव अहर्निशं प्रतिदिनं मामपि न केवलं त्वामेव किन्तु मामपीत्यपेरर्थः दहत्येव परितापयत्येव। इहोपमा।

शून्यमिवेति। मे मम शून्यमिव उद्वसितमिव जगद्विश्वं प्रतिभाति, तथाविधाश्रयाभावादित्यभिप्रायः। राज्यम् आधिपत्यम् अफलमिव निरर्थकमिव पश्यामि अवलोकयामि भाविनो भोक्तुरसत्त्वादिति भावः।

नन्वेवंविधशोकापनोदाय कोऽपि यत्न आलम्ब्यतामित्यत आह—अप्रतीति। विधातरि विधेः वैपरीत्ये इत्यर्थः, अप्रतिविधेये मानुषक्रियया प्रतिकर्त्तुमयोग्ये सति किं करोमि किमनुतिष्ठामि प्रतिकूलदैवजनित एवास्माकं विषाद इत्याशयः। तत्तस्माद्धेतोः, हे देवि! अयं शोकानुबन्धः अनात्मजतानिबन्धना सन्तापपरम्परा मुच्यतां त्यज्यताम्। धैर्ये धीरतायां धर्मे सुकृते च धीर्बुद्धिः आधीयतां स्थाप्यताम्। धर्म एव परम् उत्कृष्टम् अयनमवलम्बनं येषां ते धर्मपरायणा धार्मिकाः तेषां तादृशानां हि कल्याणसम्पदः श्रेयोविभूतयः सदा सर्वकालं समीपसञ्चारिण्यो निकटवर्त्तिन्यो भवन्ति सञ्जायन्ते, इत्येवं पूर्वोक्तविधिना अभिधाय कथयित्वा, सलिलं जलम् आदाय गृहीत्वा स्वयम् आत्मनः करतलेन पाणितलेन अभिनवपल्लवेनेव नूतनकिसलयेनेव रक्तेनेत्याशयः, विकचं प्रस्फुटं यत् कमलं पद्मं तदेवोपमानं सादृश्यं यस्यैतादृशम् अस्या विलासवत्या अश्रुलेखया नयनजलपङ्क्त्या सह वर्तत इति साश्रुलेखम् आननं मुखं ममार्ज शुशोध। इहाद्ये 'शून्यमिव' इत्यत्र श्रौती, द्वितीये 'अफलमिव' इत्यत्र चार्थी उपमेत्युभयोः सङ्करः।

पुनरिति। नरेन्द्रो भूपतिः पुनः पुनः मुहुर्मुहुः प्रियशतैः चाटुबाहुल्यैः मधुरा रमणीया ताभिः तादृशीभिः, शोकस्यान्तस्तापस्य योऽपनोदो दूरीकरणं तत्र निपुणाभिः चतुराभिः, धर्मोपदेशो गर्भे

---

इस रूपमें वह पुत्ररत्न मेरे सामने सभा-मण्डपमें कब विचरण करेगा? ये सभी, और ऐसे-ऐसे अनेक आकाङ्क्षाके विषयकी चिन्ता करते-करते मेरे मनमें अत्यन्त सन्ताप उपस्थित होता रहता है—ऐसे रूपमें प्रतिदिन रात्रि व्यतीत होती है। अनपत्यता-निबन्धन यह सन्ताप मुझे भी दिन-रात अग्निके समान जलाता है। समस्त संसार मेरे निकट शून्य-सा प्रतीत होता है और यह सब राज्य निष्फल-सा देख पड़ता है। किन्तु विधाताके प्रतिकूलताचरणके सामने अपना कुछ प्रतीकार नहीं चल सकता, क्या करूँ! इसलिए, 'देवि! यह सब निरवच्छिन्न मनस्तापको परित्याग करो, धैर्य और धर्ममें बुद्धि लगाओ, क्योंकि धार्मिक मनुष्योंके पास कल्याणकी सम्पत्ति सर्वदा रहती है' इतना कहकर, जल लेकर राजा अपने ही अभिनव पल्लवके समान हाथसे नयन जलके रेखासे संयुक्त एवं खिले हुए कमलके समान रानीके मुख-मण्डलको धोया। फिर उसने सैकड़ों प्रिय और मधुर

---

१. सर्पिष्यति। २. इत्येतानि च, इत्येतिनामनो…। ३. यान्ति। ४. संतापः। ५. शून्यमेव। ६. अफलमिवाखिलं पश्यामि जीवितं राज्यञ्च। ७. इत्थम्, एवं। ८. कमलतुल्यम्। ९. शोकापनोदन।

स्थित्वा[1] नरेन्द्रो निर्जगाम ।

निर्गते च तस्मिन् मन्दीभूतशोकवेगा[2] विलासवती यथाक्रियमाणाभरणपरिग्रहादिकमुचितं[3] दिवसव्यापारमन्वतिष्ठत्[4] । ततः प्रभृति सुतरां देवताराधनेषु ब्राह्मणपूजासु गुरुजनसपर्य्यासु चादरवती[5] बभूव । यद्यच्च किञ्चित् कुतश्चित् शुश्राव व्रतं[6] तत्तदर्भकतृष्णया[7] सर्वं चकार । न महान्तमपि क्लेशमजीगणत् । अनवरत-दह्यमान-गुग्गुलु-धूमबहुलान्धकारितेषु[8] चण्डिकागृहेषु धवलाम्बरा[9] शुचि-मूर्त्तिरुपोषिता हरितकुशोपच्छदेषु[10] मुसलशयनेषु[11] सुष्वाप । पुण्यसलिलपूर्णैः[12] विविधकुसुमफलोपेतैः क्षीरतरु-पल्लव-लाञ्छनैः सकलरत्नगर्भैः शातकुम्भकुम्भै-

---

अभ्यन्तरे यासां ताभिः तादृशीभिः, वाग्भिः वचोभिः आश्वास्य आश्वासनं विधाय सुचिरं चिरकालं यावत् स्थित्वा स्थितिं विधाय निर्जगाम बहिर्निःसृतवान् ।

निर्गत इति । निर्गते बहिर्निःसृते च तस्मिन् राजनि मन्दीभूतशोकवेगा क्षीणत्वोपगतविषादप्रवाहा विलासवती राजमहिषी, यथा पूर्वविधिना क्रियमाणो विधीयमान आभरणपरिग्रहो भूषणधारणम् आदौ यस्य तं तादृशम्, उचितं योग्यं दिवसव्यापारं दिनकृत्यम्, अन्वतिष्ठत् अकरोत् ।

तत इति । ततः प्रभृति तद्दिनादारभ्य सुतराम् अत्यर्थं यथा स्यात्तथा देवताराधनेषु देवतासेवासु ब्राह्मणपूजासु विप्रार्चासु गुरुजनाः पूज्यजनास्तेषां सपर्यासु पूजासु च आदरवती अतिबहुमानवती बभूव जाता ।

यद् यच्चेति । यद्यत् अश्रुतपूर्वम् अकृतपूर्वञ्च किञ्चिद्वस्तु कुतश्चित् यस्मात्कस्माच्चानिर्दिष्टनामकात् लोकात् शुश्राव श्रुतवती व्रतम् उपोषणादिकम्, तत्तद् अर्भकतृष्णया बालकस्पृहया तनयप्राप्त्यभिलाषयेत्यर्थः, सर्वं निखिलं चकार कृतवती ।

नेति । महान्तं महीयांसमपि क्लेशं दुःखं नाजीगणत् चेतसि न गणितवती । अनवरतं निरन्तरं दह्यमानानां भस्मीभूयमानानां गुग्गुलूनां पङ्कद्रवाणां धूमबहुलैः सान्द्रदहनकेतनैः अन्धकारितेषु अन्धकारः सञ्जातो येषु तेषु तादृशेषु । तारकादित्वादितच् । चण्डिकागृहेषु चामुण्डाभवनेषु धवलाम्बरा शुभ्रवसना, शुचिमूर्त्तिः स्नानेन पूतशरीरा, उपोषिता विहितोपवासा सती । हरिताः श्यामवर्णाः अभिनवा इत्यर्थः, कुशा दर्भाः उपच्छदा आस्तरणानि येषु तथोक्तेषु मुसलशयनेषु पङ्क्तिरूपेण पातितमुसलशयनीयेषु सुष्वाप शयनं कृतवती । सन्तानप्राप्तये तत्सामयिकशिष्टव्यवहारादमी तन्त्राद्यनुष्ठानव्यवहारा अवगन्तव्याः, साम्प्रतिकसमयादित्यमहेशार्चनप्रकरणीयच्चौमाधःस्नानव्यवहारवत् ।

पुण्येति । पुण्यानि पवित्राणि यानि सलिलानि जलानि तैः पूर्णैः पूरितैः, विविधानि अनेकप्रकाराणि यानि कुसुमफलानि पुष्पसस्यानि तैरुपेतैः सहितैः । क्षीरतरवो वटचूतादयस्तेषां पल्लवाः किसलयानि एव लाञ्छनानि ऊर्ध्वस्थचिह्नानि येषां तैः तादृशैः, सकलानि समस्तानि रत्नानि मणयो गर्भे मध्यप्रदेशे येषां तैः तादृशैः, शातकुम्भकुम्भैः कनकघटैः । 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् । तपनीयं शातकुम्भम्' इत्यमरः ।

---

वचनोंसे रानीका शोक ( मनःसन्ताप ) निवारण कर बारम्बार उसे आश्वासन दिया और बहुत देरके बाद वह उस स्थानसे चला गया ।

राजाके चले जानेके बाद उसके उपदेशसे ही शोकका आवेग कम हो जानेसे रानी विलासवती, पहलेके समान आभूषण-धारणादि प्रतिदिवसीय सब कर्त्तव्य कार्य करने लगी और तबसे लेकर देवताओंकी आराधनामें, ब्राह्मणोंकी पूजा और गुरुजनोंकी सेवामें अधिक आदर दिखाने लगी और जिस किसी व्यक्तिसे जो कुछ व्रत-नियमादि सुननेमें आता, पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे वे सभी करने लगी उस समय अत्यन्त श्रमकी भी कुछ गणना नहीं की । उपवास करके श्वेत वस्त्र पहनकर शरीरसे पवित्र हो वह दिन-रात जलती गूगुलके घने धूम के अन्धकारसे परिपूर्ण चण्डिकाके मन्दिरोंमें, मूसलोंकी शय्यापर हरे कुश बिछाकर, शयन करती थीं । गायोंके बाड़ेमें वृद्ध

---

१. सुचिरं नरेन्द्रो । २. मन्दीभूतशोका । ३. यथाक्रियमाणं, आभरणपरिग्रहादिकं समुचितं, आभरणपरिग्रहादिसमुचितं । ४. वासरव्यापारमकरोत् । ५. ब्राह्मणपूजासु चादरवती गुरुजनपरिचर्य्यासु च, अधिकमादरवती । ६. कुतश्चिच्छ्रुत्वा । ७. गर्भतृष्णया । ८. ···गुग्गुलबहलधूपान्धकारितेषु । ९. धवलाम्बरेण, धवलाम्बर··· । १०. हरित्कुश,···हरित्कुशोपच्छन्नेषु । ११. भूतलशयनेषु । १२. पूरितैः, पूतैः ।

गोकुलेषु वृद्धगोपवनिताकृतमङ्गलानां[१] लक्षणसम्पन्नानां गवामधः सस्नौ। प्रतिदिवसमुत्थाय[२] सर्वरत्नोपेतानि हैमानि तिलपात्राणि ब्राह्मणेभ्यो ददौ। महानरेन्द्र-लिखित-मण्डल-मध्य-वर्त्तिनी विविध-बलिदानानन्दित-दिग्देवतानि बहुल[३]-चतुर्दशीनिशासु चतुष्पथे[४] स्नानमङ्ग-लानि[५] भेजे। सिद्धायतनानि कृत-विविध-देवतोपयाचितकानि[६] सिषेवे। दर्शितप्रत्ययानि[७] सन्निहितमातृका[८]-भवनानि जगाम। प्रसिद्धेषु नागकुलहृदेषु ममज्ज। अश्वत्थप्रभृतीनुपपा-

गोकुलेष्विति। गोकुलेषु व्रजेषु, वृद्धाभिः परिणतवयोभिः गोपवनिताभिः बल्लवस्त्रीभिः कृतानि विहितानि मङ्ग-लानि सिन्दूरचन्दनस्रगर्पणादिरूपाणि यासां तासां तादृशीनां लक्षणसम्पन्नानां समस्तश्यामवर्णादिसुल-क्षणानां गवां धेनूनाम् अधः अधोभागे सस्नौ स्नानं कृतवती।

प्रतीति। प्रतिदिवसं प्रतिदिनम् उत्थाय उत्थानं विधाय सर्वरत्नैः समस्तमणिभिः उपेतानि युक्तानि हैमानि कनकमयानि तिलपात्राणि ब्राह्मणेभ्यो विप्रेभ्यो ददौ दत्तवती।

महेति। महानरेन्द्रः प्रधानभूतः भूतोपचारकर्त्ता मान्त्रिकः तेन लिखितं चिह्नितं यत् मण्डलं वर्त्तुलरेखा तस्य मध्यवर्त्तिनी तदन्तःस्थायिनी सती, बहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्य चतुर्दशीनिशासु भूतरात्रिषु चतुर्णां पथां समाहारः सम्मेलनस्थानमिति चतुष्पथं तस्मिन् तथोक्ते, विविधानाम् अनेकप्रकाराणां बली-नाम् उपहाराणां दानेन आनन्दिताः प्रमोदं प्राप्ताः दिग्देवता दिक्पाला येषु तादृशानि, स्नानमङ्गलानि स्नानरूपाणि स्वस्तिकानि भेजे कृतवती।

सिद्धेति। कृतानि विहितानि दत्तानीत्यर्थः, विविधानि नानाप्रकाराणि देवताभ्य उपयाचितकानि 'दीयते यत्तु देवेभ्यो मनोराज्यस्य सिद्धये। उपयाचितकं दिव्यं दोहदं तद्विदुर्बुधाः॥' इत्यादिलक्षितानि अर्थात् 'यदि मे तनयप्राप्तिः स्यात्तदा पुनरप्येवमेव समर्पयेयम्' इति स्वीकारपूर्वकोपहाराः येषु तानि तादृशानि सिद्धायतनानि योगिस्थानानि सिषेवे प्रेमपूर्वकमवलम्बितवती।

दर्शितेति। दर्शितो मातृकाभिरेव संसारे प्रकटितः प्रत्ययः मनोरथफलदानेन विश्वासो येषु तानि तादृशानि, सन्निहितानि निकटवर्त्तीनि मातृकाणां

'ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्द्री वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारीत्यपि चामुण्डा चर्चिकेत्यष्टमातरः॥'

इत्युक्तपरिगणितानां भवनानि गृहाणि जगाम गतवती।

प्रसिद्धेष्विति। प्रसिद्धेषु स्नानेन वन्ध्याया अपि सुतोत्पादकतया प्रथितेषु, नागकुलस्य हृदेषु सर्पाणां निकेतनीभूतखातेषु ममज्ज सशिरः स्नानं विहितवती।

अश्वत्थेति। अश्वत्थः पिप्पलः प्रभृतिः आदौ येषां तान् तादृशान् महावृक्षान् विशालपुष्पहीनतरून् उपपादिता विहिता पूजा सपर्या येषां तान्, कृतं प्रदक्षिणं यया सा तादृशी ववन्दे नमश्चक्रे।

गोपियोंसे किए हुए सिन्दूर, चन्दन और कुङ्कुम-माल्यादि चिह्नसे भूषित सुलक्षणी गायोंके नीचे बैठकर, पवित्र जल-परिपूर्ण, नानाविध पुष्प और फलसंयुक्त, आम्र एवं वट प्रभृति क्षीरिवृक्षके पल्लवसे युक्त तथा सब रत्नोंसे परिपूर्ण सुवर्णके कलशोंके जलसे वह स्नान करती थी। प्रतिदिन शयनसे उठकर, नानाविध रत्नोंके साथ सुवर्णके तिलपात्रोंको लेकर ब्राह्मणोंको दान देती थी। कृष्णपक्षकी चतुर्दशी रात्रिमें चौराहों पर जाकर, बड़े-बड़े भूतवैद्यों (ओझाओं) द्वारा बनाये हुए जादूके घेरोंके बीचमें बैठकर, अनेक प्रकारके बलिदानसे दिक्पालोंको सन्तुष्ट करके, माङ्गलिक स्नान करती थी। 'मुझे यदि पुत्र होगा, तो फिरसे इसी प्रकार बलिदान प्रदान करूँगी' इस प्रकार मनमें करके देवताओंको नानाविध उपहार-प्रदानपूर्वक भक्तिपूर्ण चित्तसे सिद्धमन्दिरोंकी सेवा करती थी। जिन देवियोंने अपने भक्तोंको अभीष्ट फल प्रदानकर जिन्हें विश्वास उत्पन्न कर दिया था, समीपवर्त्ती उन सभी ब्राह्मीप्रभृति देवियोंके मन्दिरोंमें जाती थी। नागकुलके प्रसिद्ध सरोवरोंमें स्नान करती थी। पीपल आदि महावनस्पतियोंकी पूजा और प्रदक्षिणा करके उनको नमस्कार करती थी। स्नान करनेके बाद, अपनेसे ही चाँदीके पात्रमें, चावलके

१. ...मङ्गला। २. उत्थायोत्थाय। ३. बहुलपक्ष...। ४. चतुष्पथेषु। ५. स्नपन...। ६. कृतविचित्र..., कृतविविधदैवतोप...। ७. प्रत्यादेशानि। ८. सन्निधानमातृका..., सन्निहितमातृका...।

दितपूजान्महावनस्पतीन् कृतप्रदक्षिणो ववन्दे । दोलायमान-वलयेन[1] पाणियुगलेन स्नाता[2] स्वयमखण्डसिक्थ-सम्पादितं[3] रजतपात्र[4]-परिगृहीतं वायसेभ्यो दध्योदन-बलिमदात् । अपरिमित-कुसुम-धूपविलेपापूप-[5] पलल-पायस-लाज-[6] कलितामहरहरम्बादेवी[7]- सपर्य्यामाततान । स्वयमुपहृत-[8] पिण्डपात्रान् भक्तिप्रवणेन मनसा सिद्धादेशान्नग्नक्षपणकान् पप्रच्छ । विप्रश्निकादेशवचनानि बहु मेने । निमित्तज्ञानुपचचार । शकुनज्ञानविदामादरमदर्शयत् । अनेकवृद्धपरम्परासमागतानि[9] रहस्यानि चकार[10] । दर्शनागतद्विजगणान्[11] आत्मजदर्शनोत्सुका वेदश्रुती

---

दोलायेति । स्नाता कृतस्नाना सती, स्वयं स्वेनैव, दोलायमाने चञ्चले वलये कटके यस्य तेन तादृशेन, अखण्डैः अत्रुटितैः सिक्थैः धान्यकणैः सम्पादितं निष्पादितम् , रजतपात्रपरिगृहीतं रौप्यभाजनात्तं दध्योदनबलिं दधियुक्तान्नरूपमुपहारं वायसेभ्यः काकेभ्यः अदात् दत्तवती ।

अपरीति । अहरहः प्रत्यहम् , अपरिमितैः अगणितैः कुसुमैः पुष्पैः धूपैः गन्धपिशाचिकाभिः, विलेपैः चन्दनादिविलेपनद्रव्यैः, अपूपैः पिष्टकैः, पललैः पिष्टतिलयोजितान्नैर्मांसैर्वा, पायसैः परमान्नैः, लाजैः धानाभिश्च कलितां सम्पादिताम्, अम्बादेव्या भगवत्याः श्रीदुर्गादेवतायाः सपर्यां पूजाम् आततान विहितवती ।

स्वयमिति । भक्तिप्रवणेन प्रेमतत्परेण मनसा चित्तेन, स्वयं स्वेनैव, उपहृतानि उपढौकितानि पिण्डपात्राणि अन्नभाजनानि येभ्यस्तान् तादृशान् , सिद्धाः सत्या आदेशाः आज्ञावचनानि येषां तान् तादृशान् , नग्नक्षपणकान् दिगम्बरान् बौद्धविशेषान्, पप्रच्छ 'तनयो मे स्यान्न वा' इत्यप्राक्षीत्, 'त्वरितमेव तनयस्ते स्यात्' इति यद्यमी कथयेयुस्तदाऽमीषां सिद्धादेशतया मनोरथसिद्धिर्भवेदित्यभिप्रायेणेति भावः ।

विप्रेति । विप्रश्निकानां शुभाशुभप्रकाशिकानां योषिताम् आदेशवचनानि आज्ञावचनानि बहु मेने आदरविशेषेण स्वीचकार । 'विप्रश्निका त्वीक्षणिका दैवज्ञा' इत्यमरः ।

निमित्तेति । निमित्तानि शुभाशुभबोधकानि नेत्रस्पन्दनानि जानन्ति ये ते तादृशाः तान् , उपचचार तदन्तिके ययौ, तज्ज्ञानार्थमित्याशयः ।

शकुनेति । शकुनज्ञानं वसन्तराजीयप्रभृति पक्षिव्यापारावलोकनेन शुभाशुभनिश्चायकं शास्त्रं विदन्ति जानन्ति ये तेषां तादृशानाम् , आदरम् अधिकसत्कारम् अदर्शयत् दर्शितवती । पक्षिव्यापारावलोकनेन तेभ्योऽपि शुभाशुभावगमार्थमित्याशयः ।

अनेकेति । अनेकवृद्धानां नानाविधस्थविराणां परम्परा परिपाटी तस्यां समागतानि सम्प्राप्तानि रहस्यानि गुप्तमन्त्रसाधनादीनि चकार कृतवती ।

दर्शनेति । आत्मजदर्शनोत्सुका सुतावलोकनायोत्कण्ठिता, दर्शनाय स्वप्रत्यक्षावलोकनाय आगताः प्राप्ताः ये द्विजगणा विप्रवृन्दानि तान् तादृशान् , वेदानां श्रूयन्त इति श्रुतयः स्पष्टोच्चारणानि ता अकारयत् कारयामास ।

---

विना टूटे दानोंसे बनाये गये दधि-मिश्रित भातकी बलि रखकर कौओंको देती थी, उस समय उसके मणिमय कङ्कणवाले दोनों हाथ हिल रहे थे । प्रतिदिन अपरिमित पुष्प, धूप, अनुलेपन, अपूप ( मालपुए ), मांस, पायस ( खीर ) और जौके धान लेकर दुर्गादेवीकी पूजा करती थीं । अपने से ही भोजन भरे पात्र भेट करके सत्यवादी नङ्गे बौद्ध संन्यासियोंसे श्रद्धापूर्वक प्रश्न करती थी ( कि मुझे पुत्र होगा या नहीं ? ) । दैवज्ञस्त्रियोंके आदेशके वचनपर विशेष आस्था रखती थी । चक्षुःस्पन्दनादि शुभाशुभ लक्षण जानने वालोंके पास जाती थी । शकुनशास्त्र जाननेवालोंके प्रति आदर दिखाती थी । अनेक वृद्धोंके परम्परागत प्रचलित मन्त्रशास्त्रके रहस्योंको अंगीकार करती थी । पुत्र–प्राप्तिके लिए उत्कण्ठित होकर, दर्शनके लिये आये हुए ब्राह्मणोंके द्वारा वेदपाठ कराती थी

---

१. ···मणिवलयेन । २. कृतस्नाना । ३. अखण्डितसिक्थकुसुम··· । ४. रजतपात्रे । ५. अपरिमितधूमविलेपां । ६. पायसबलिम् , पायसबलिलाज··· । ७. ···ज्येष्ठादेवी··· । ८. उपाहित···, उपहृत··· । ९. आगमागतानि, गतानि । १०. अङ्गीचकार, अङ्गीकरोति स्म । ११. दर्शनागतं द्विजजनं ।

रकारयत्। अनवरत-[१]वाच्यमानाः पुण्यकथाः[२] शुश्राव। गोरोचना-लिखित-भूर्जपत्रगर्भान् मन्त्रकरण्डकान्[३] उवाह। रक्षाप्रतिसरोपेतानि[४] ओषधिसूत्राणि[५] बबन्ध। परिजनोऽपि चास्याः सततमुपश्रुत्यै निर्जगाम, तन्निमित्तानि च जग्राह, शिवाभ्यो मांसबलिपिण्डमनुदिनं निश्युत्ससर्ज[६], स्वप्नदर्शनाश्चर्याण्याचार्याणामाचचक्षे, चत्वरेषु शिवाबलिम्[७] उपजहार।

एवं[८] गच्छति काले कदाचिद्राजा क्षीणभूयिष्ठायां रजन्यामल्पावशेष[९]-पाण्डुतारके जरत्पारावत-पक्षधूसरे[१०] नभसि स्वप्ने सौधशिखर[११]-स्थितताया विलासवत्याः करिण्या इव बिसवलय-[१२]मानने सकलकलापूर्ण-[१३]मण्डलं शशिनं प्रविशन्तम्[१४] अद्राक्षीत्। प्रबुद्धश्चोत्थाय हर्ष-

---

अनवरतेति। अनवरतं निरन्तरं वाच्यमानाः कथ्यमानाः पुण्यकथाः पवित्रकथाः श्रीकृष्णादिजन्मवार्त्तादिका इत्यर्थः, शुश्राव श्रुतवती।

गोरोचनेति। गोरोचनया लिखितं लिपीकृतं भूर्जपत्रं गर्भे मध्ये येषां तान् तादृशान् मन्त्रकरण्डकान् नृसिंहादिमन्त्रसहितपिटकान् उवाह दध्रे।

रक्षेति। रक्षाप्रतिसरेण रक्षार्थकङ्कणेन उपेतानि सहितानि, ओषधिसूत्राणि गर्भजननौपयिकौषधिसहितसूत्राणि बबन्ध बन्धनं कृतवती करे इति शेषः। 'ना चमूजघने हस्तसूत्रे प्रतिसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, 'भवेत्प्रतिसरो मन्त्रभेदे माल्ये च कङ्कणे' इति मेदिनी।

परीति। अस्या विलासवत्याः परिजनोऽपि परिवारजनोऽपि सततं निरन्तरम् उपश्रुत्यै दैवप्रश्नाय दैवं मनुष्यादिद्वारा कीदृशं वचनं श्रावयतीति जिज्ञासायै निर्जगाम निर्ययौ। तन्निमित्तानि ज्योतिर्विदः शुभाशुभलक्षणवाक्यानि जग्राह प्रयत्नेनाग्रहीत् विलासवत्यै कथयितुमित्याशयः। अनुदिनं प्रत्यहं मांसबलिपिण्डं पललरूपमुपहारं शिवाभ्यः शृगालीभ्यः निशि रात्रौ उत्ससर्ज उत्सृष्टवती। स्वप्नदर्शनाश्चर्याणि स्वप्नालोकनकुतूहलानि आचार्याणां दैवज्ञगुरूणां ( निकटे ) आचचक्षे उक्तवती। चत्वरेषु भवनप्राङ्गणेषु, शिवाभ्यो बलिम् उपहारम् उपजहार दत्तवती। अयमुपहारस्तु दिन इति प्राक्तनेन सह पौनरुक्त्यं नेति विभावनीयम्।

एवमिति। एवं प्रवोक्तप्रकारेण काले समये गच्छति व्रजति सति, कदाचित् कस्मिंश्चित् समये स्वप्ने राजा, क्षीणभूयिष्ठायां समाप्तप्रायायां रजन्यां रात्रौ नभसि गगने अल्पावशेषपाण्डुतारके स्वल्पावशिष्टश्वेतनक्षत्रे, जरतः स्थविरस्य पारावतस्य कपोतस्य पक्षवत् वाजवत् धूसरे धूम्रवर्णे च सति। सौधशिखरस्थितायाः प्रासादोपर्युपविष्टाया विलासवत्याः आनने वदने, करिण्या गजपत्न्याः आनने बिसवलयमिव मृणालमण्डलमिव, सकलाभिः समस्ताभिः कलाभिः षोडशरूपाभिः पूर्णं पूरितं मण्डलं बिम्बं यस्य तं तादृशम्, शशिनं चन्द्रं प्रविशन्तम् अन्तर्जायमानम् अद्राक्षीत् ददर्श।

इहाद्ये 'जरत्पारावतपक्षधूसरे' इत्यत्र 'बिसवलयमिव' इत्यत्र च श्रौत्युपमा, उभयोर्मिथोऽनपेक्षतया विद्यमानत्वात्संसृष्टिः।

प्रबुद्ध इति। प्रबुद्धो विगतनिद्रः सन् उत्थाय शयनादुत्थानं विधाय हर्षेण प्रमोदेन यो विकासः

---

रात जिनका प्रचार था ऐसी श्रीकृष्णजन्मादि पवित्र कथाओंको कथावाचकोंके समीप जाकर सुनती थी। गोरोचना द्वारा लिखित भोजपत्र पर मन्त्रोंसे युक्त यन्त्र (तावीज) पहनती थी। हाथमें रक्षा-कङ्कण और औषधयुक्त सूत्र बाँधती थी। उसके परिजन भी दैवज्ञके निकट शुभाशुभ वाक्य सुननेके लिए बाहर जाते थे, एवं यत्नपूर्वक उन लोगोंके वाक्य विलासवतीको कहनेके लिए सुनते थे। वे प्रतिदिन रात्रिमें गीदड़ीको मांसके वलि-पिण्ड देते थे, स्वप्नमें देखे हुए आश्चर्यको महाचार्योंसे कहते थे और गृहप्राङ्गणमें ( अथवा चौराहों पर ) दिनमें भी गीदड़ोंके लिए वलि देते थे।

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर एकदिन, जब रात अधिकांश रूपसे बीत गई थी, आकाश भी बूढ़े कबूतरके पङ्खके समान धूसर वर्ण हो गया था, एवं नक्षत्रगण ( तारे ) भी, पाण्डुवर्ण होकर थोड़े-थोड़े और मन्द-मन्द दीखते थे तब राजाने स्वप्नमें देखा कि—हथिनीके मुखमें मृणाल-वलयके समान, महलोंके शिखरपर शयन करती हुई विलासवतीके मुखमण्डलमें समस्त कलाओंसे परिपूर्ण चन्द्रमण्डल प्रवेश कर रहा है। राजाने शीघ्र उसी

---

१. अनवरतं। २. पुण्याः कथाः। ३. मन्त्रगण्डकान्, मन्त्रदण्डकान्। ४. रक्षापरिसरोपेतानि। ५. औषधसूत्राणि, ओषधीसूत्राणि। ६. समुत्ससर्ज। ७. शिवबलिं। ८. एवञ्च। ९. अल्पशेष···। १०. जरत्पारावतपक्षधूम्रे···। ११. सितप्रासादशिखर···। १२. बिसपल्लवम्, बिसकिसलयम्। १३. ···परिपूर्ण। १४. विशन्तम्।

विकास-स्फीततरेण चक्षुषा धवलीकृतवासभवनस्तस्मिन्नेव क्षणे सबहुमानं शुकनासमाहूय तं[1] स्वप्नमकथयत्।

समुपजातहर्षः स तं प्रत्युवाच—'देव ! सम्पन्नाः सुचिरादस्माकं प्रजानाञ्च मनोरथाः। कतिपयैरेवाहोभिरसंशयमनुभविष्यति[2] स्वामी सुतमुखकमलावलोकनसुखम्। अद्य खलु मयापि निशि स्वप्ने धौतधवल[3]-वाससा शान्तमूर्त्तिना[4] दिव्याकृतिना द्विजेन विकच[5]-चन्द्र-कलावदात-दलशतम्, आलोलकेसरसहस्रजटालम्[6], मकरन्द-बिन्दु-सन्दोहवर्षि[7]-पुण्डरीकमुत्सङ्गे देव्या मनोरमाया निहितं दृष्टम्। आवेदयन्ति हि प्रत्यासन्नमानन्दमग्रजातानि[8] शुभानि निमित्तानि[9]। किञ्च[10] अन्यदानन्दकारणमतो भविष्यति[11]। अवितथफला हि[12]

उन्मीलनं तेन स्फीततरम् अत्यन्तं प्रसृतं तेन तादृशेन, चक्षुषा नयनेन धवलीकृतं शुभ्रीकृतं वासभवनं निवासगृहं येन स तादृशः, तस्मिन्नेव क्षणे समये सबहुमानं सादरं शुकनासं प्रधानसचिवम् आहूय आह्वानं कृत्वा आकारयित्वेत्यर्थः तं स्वप्नं निशादृष्टम् अकथयत् कथितवान्।

समुपेति। समुपजातः समुत्पन्नो हर्षः आनन्दो यस्य स तादृशः, स शुकनासः तं भूपतिं प्रत्युवाच प्रत्यब्रवीत्—देव राजन्! सुचिरात् अतिचिरसमयेन अस्माकं सचिवादिवर्गाणां प्रजानां जनानां च मनोरथाः अभिलषितानि सम्पन्नाः सफला जाताः। कतिपयैरेव अल्पैरेव अहोभिः वासरैः असन्देहं निःसंशयं स्वामी प्रभुर्भवान् सुतमुखकमलस्य तनयवदनपद्मस्य अवलोकनेन वीक्षणेन सुखम् आनन्दम् अनुभविष्यति अनुभवविषयीकरिष्यति। खलु निश्चयेन, अद्य निशि अस्यां रात्रावेव, धौतं क्षालितम् अतएव धवलं शुभ्रं वासो वस्त्रं यस्य तेन तादृशेन, दिव्या रमणीया आकृतिः स्वरूपं यस्य तेन तादृशेन, द्विजेन अनिर्दिष्टनाम्ना केनचिद् विप्रेण। विकचं विकसितं चन्द्रकलावत् शशिकलावत् अवदातं शुभ्रं दलानां पत्राणां शतं समूहो यस्य तत्तादृशम्, आलोलेन चपलेन केसरसहस्रेण किञ्जल्कवृन्देन जटालं जटिलं तथाविधकिञ्जल्करूपजटायुक्तमित्यर्थः। 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्' इत्यनेन मत्वर्थे लच् प्रत्ययः। मकरन्दबिन्दूनां पुष्परसकणानां सन्दोहं समूहं वर्षतीति तत्तादृशम्, पुण्डरीकं सिताम्भोजम्, देव्या मनोरमायाः तन्नामिकायाः स्वपत्न्याः उत्सङ्गे क्रोडे निहितं स्थापितम् इति मया शुकनासेनापि स्वप्ने दृष्टम् अवलोकितम् इति सम्बन्धः। इह चन्द्रकलावदातेत्यत्र लुप्तोपमा।

आवेदयन्तीति। अग्रे पूर्वं जातानि उत्पन्नानि शुभानि शिवानि निमित्तानि स्वरूपाणि प्रत्यासन्नं निकटभाविनम् आनन्दं प्रमोदम् आवेदयन्ति प्रकटयन्ति।

किञ्चेति। अतः सुताननदर्शनानन्दात् अन्यत् आनन्दकारणं प्रमोदहेतुः किं भविष्यति न किमपीत्यर्थः। ननु केवलस्वप्नावलोकनेनैव कथमेवंविधानन्दहेतुरित्यत आह—अवितथफलेति। हि यस्मात्, प्रायः आधिक्येन निशावसानसमयदृष्टाः रात्रिशेषसमयावलोकिताः स्वप्नाः अवितथं सत्यम् अवश्यम्भावि फलं येषां ते तादृशाः भवन्ति सम्पद्यन्ते।

दिन-समय जाग शय्यासे उठकर, हर्षसे प्रफुल्लित नेत्रके आलोकसे शयनागारको धवलवर्ण कर, उस समयमें ही आदरके साथ मन्त्री शुकनासको बुलवाकर उस स्वप्नका वृत्तान्त कहा।

शुकनासने भी अत्यन्त प्रसन्न होकर उत्तर दिया—'महाराज ! बहुत कालके बाद हम लोगोंका और प्रजावर्गका मनोरथ पूर्ण हुआ है, क्योंकि थोड़े दिनके मध्यमें ही आप निःसन्देह पुत्रके मुख-कमल-दर्शनका सुख अनुभव करेंगे। मैंने भी आज रातको स्वप्नमें देखा है कि—धुले हुए श्वेतवर्ण-वस्त्र पहननेवाला, शान्तिमूर्त्ति-सुन्दराकृति एक ब्राह्मणने, प्रकाशित चन्द्रकलाके समान श्वेतवर्ण, सौ पंखड़ियोंसे युक्त, जटाके समान चञ्चल केसरसमूह-समन्वित एवं प्रचुर मधुबिन्दुवर्षी खिला हुआ एक सफेद कमल, मनोरमा देवी की गोदमें रक्खा है। पहलेही दिखाई देनेवाले शुभ लक्षण निकट आनेवाली किसी विशेष आनन्दकी सूचना करते हैं। इसकी अपेक्षा

१. शुकनास समाहूय स्वप्नम्। समाहूय शुकनासाय तम्। २. असन्देहं। ३. धौतसकल…, धौतसकलधवल…। ४. प्रशान्तमूर्त्तिना। ५. विकचचन्द्र…। ६. जटालमकरन्द…, जटिलमकरन्द…। ७. बिन्दुसीकरवर्षि। ८. अग्रेजातानि, आनन्दपातीनि, अग्रेपातीनि, अग्रपातीनि। ९. शुभनिमित्तानि। १०. किं वान्यत् प्रियतरं परमानन्द, अधिकानन्द…। ११. विद्यते। १२. च।

प्रायो[1]निशावसानसमयदृष्टाः भवन्ति स्वप्नाः। सर्वथा नचिरेणैव[2] मान्धातारमिव धौरेयं राजर्षीणां[3] भुवनानन्दहेतुमात्मजं जनयिष्यति देवी। शरत्कालकमलिनीव[4] अभिनवकमलोद्गमेन गन्धगजमाह्लादयिष्यति देवम्। येनेयं दिग्गजमदलेखेवाविच्छिन्नसन्ताना क्षितिभारधारणोचिता भविष्यति कुलसन्ततिः स्वामिनः' इत्येवमभिदधानमेव तं करेण गृहीत्वा नरेन्द्रः प्रविश्याभ्यन्तरमुभाभ्यामपि ताभ्यां स्वप्नाभ्यां विलासवतीमानन्दयाञ्चकार[5]।

कतिपयदिवसापगमे च देवताप्रसादात् सरसीमिव प्रतिमाशशी विवेश गर्भो विलासवतीम्। येन च नन्दनवनराजिरिव[6] पारिजातेन, मधुसूदनवक्षःस्थलीव कौस्तुभमणिना सा

---

अत एव कथयति—सर्वथेति। सर्वथा सर्वप्रकारेण नचिरेणैव स्वल्पसमयेनैव देवी विलासवती, मान्धातारं युवनाश्वसुतं सूर्यकुलस्य नृपविशेषमिव, राजर्षीणां नृपश्रेष्ठानां मध्ये धौरेयं धुरन्धरं श्रेष्ठं भुवनानन्दहेतुं जगत्प्रमोदकारणम् आत्मजं पुत्रं जनयिष्यति प्रसविष्यति। नचिरेणेत्यत्र नञो 'नैकधा' इत्यादिवत् प्रकृतिभावेन लोपो नेति विभावनीयम्।

शरदिति। शरत्कालस्य घनात्ययसमयस्य कमलिनी पद्मिनी, अभिनवानां नूतनानां कमलानां पङ्कजानाम् उद्गमेन उत्पादनेन गन्धगजं पूर्वप्रतिपादितस्वरूपकमुत्तमकरिणमिव, देवी अभिनवाया नूतनायाः कमलायाः पद्मायाः सुतसम्पद इत्यर्थः। उद्गमेन जननेन देवं भवन्तम् आह्लादयिष्यति आनन्दयिष्यति।

येनेति। येन कारणेन, इयं जायमाना, स्वामिनो भवतः कुलस्य अन्वयस्य सन्ततिः सुतरूपः सन्तानः दिग्गजस्य ऐरावतादिप्रसिद्धहस्तिनः मदलेखा दानजलधारा इव अविच्छिन्नो विच्छेदमनुपगतः सन्तानो वंशः पुत्रपौत्रादिरूपः प्रवाहश्च यस्याः सा तथोक्ता सती, क्षितिभारस्य भूभारस्य धारणे वहने उचिता योग्या समर्था भविष्यति, इत्येवं पूर्वोक्तरूपम् अभिदधानं कथयन्तमेव तं शुकनासं करेण गृहीत्वा हस्तेनादाय नरेन्द्रो राजा अभ्यन्तरम् अन्तःपुरं प्रविश्य प्रवेशं विधाय ताभ्यामुभाभ्यामपि स्वप्नाभ्यां स्वप्नद्वयसमाचारप्रतिपादनेनेत्यर्थः। विलासवतीं राजमहिषीम् आनन्दयाञ्चकार आह्लादयाञ्चकार।

कतीति। कतिपयदिवसापगमे च कियद्दिनातिक्रमे च सति देवताप्रसादात् देवतानुग्रहात् प्रतिमाशशी प्रतिबिम्बभूतश्चन्द्रः सरसीं सरोवरमिव, गर्भो भ्रूणो विलासवतीं राजमहिष्या उदरमित्यर्थः। विवेश प्रविष्टो बभूव। यथा प्रतिमाशशी सरोवरं विशति तथा विलासवतीं गर्भो विवेश इति सरलार्थः, एवञ्च कालभेदादुपमागतो भग्नप्रक्रमतादोषो नेति विचारणीयम्।

इह 'मान्धातारमिव' 'गन्धगजमिव' 'दिग्गजमदलेखेव' 'सरसीमिव' इत्येतेषूपमालङ्कारो ज्ञेयः।

येनेति। येन च गर्भेण, पारिजातेन कल्पपादपेन नन्दनवनराजिरिव इन्द्रकाननपङ्क्तिरिव, कौस्तुभमणिना प्रसिद्धेन तदाख्यमणिना मधुसूदनस्य श्रीविष्णोः वक्षःस्थलीव भुजान्तरस्थलीव सा

---

आनन्दका विषय और क्या है ?, रात्रिशेषमें जो स्वप्न दीख पड़ता है, उसका फल प्रायः सत्य ही होकर रहता है। इसलिए महारानी विलासवती, अचिरकाल-मध्यमें ही निश्चय मान्धाताके समान राजर्षियोंके मध्यमें श्रेष्ठ संसारके आनन्दका कारण पुत्र उत्पन्न करेगी। शरद् ऋतुकी कमलिनी जिस प्रकार अभिनव कमल उत्पन्न कर गन्धगजको आह्लादित करती है, उसी प्रकार विलासवती भी अभिनव पुत्र-सम्पत्तिको उत्पन्न कर आपको आह्लादित करेगी। जिस कारणसे, दिग्गजकी मदजलरेखा जिस प्रकार धारा-प्रवाहसे बहती हुई रहती है, उसी प्रकार आपका यह पुत्र सन्तान-धारा प्रवाहसे कुलकी रक्षाकर पृथिवीका भार वहन करनेमें समर्थ होगा' इस प्रकार बोलते हुए शुकनासके हाथको राजा अपने हाथसे पकड़कर अन्तःपुर ( हवेली ) में प्रवेशकर उन दोनों स्वप्नोंका वृत्तान्त कहकर उसने विलासवतीको आनन्दित किया।

उसके बाद थोड़े ही दिन व्यतीत होनेपर देवताओंके अनुग्रहसे सरोवर-मध्यमें चन्द्रप्रतिबिम्बके समान गर्भने, विलासवतीके उदरमें प्रवेश किया। पारिजातवृक्ष द्वारा नन्दनवनश्रेणीके समान एवं कौस्तुभमणिद्वारा

---

१. समये दृष्टाः। २. नचिरेण, अचिरेण। ३. सर्वराजर्षीणां। ४. शरत्कमलिनीव। ५. विनोदयाञ्चकार। ६. येन नन्दनराजिरिव।

सुतरामराजत,[1] दर्पणश्रीरिव च[2] गर्भच्छलेन संक्रान्तमवनिपालप्रतिबिम्बमुवाह, शनैः शनैश्च[3] प्रतिदिनम्[4] उपचीयमानगर्भा[5] निर्भर-परिपीतःसागर-सलिल-भर-मन्थरेव मेघमाला मन्दं मन्दं सञ्चचार। मुहुर्मुहुरनुबद्धजृम्भिकम्[6] आजिह्मितलोचनं[7] सालसं निशश्वास[8]। तथावस्थाञ्च तामनभिनन्दितपानभोजनां[9] प्रावृषमिव श्यामायमान-पयोधरमुखीं केतकीमिव गर्भपाण्डुराम्[10] आलोक्येङ्गित-कुशलः परिजनः[11] विज्ञातवान्।

विलासवती सुतराम् अत्यन्तम् अराजत अशोभत। इहाप्युक्तभग्नप्रक्रमत्वदोषो दर्शितदिशैव निरसनीयः। एवञ्च यथा कल्पपादपेन नन्दनवनम्, कौस्तुभमणिना हरेर्वक्षःस्थलं शोभते तथैव गर्भेणेयमित्यर्थः। दर्पणश्रीः आदर्शलक्ष्मीरिव गर्भच्छलेन भ्रूणव्याजेन सङ्क्रान्तम् स्वस्मिन् पतितम् अवनिपालस्य भूपतेः तारापीडस्य प्रतिबिम्बं प्रतिरूपम् उवाह दधार, स्त्रीयोनौ वीर्यरूपेणात्मन एव प्रवेशादित्याशयः। प्रतिदिनं प्रत्यहं शनैः शनैः कालक्रमेण उपचीयमानो वर्द्धमानो गर्भो यस्याः सा तादृशी, निर्भरम् अतिशयं परिपीतानाम् आस्वादितानाम् सागरसलिलानां समुद्रजलानां भरेण भारेण मन्थरा अलसा मेघमालेव कादम्बिनीव मन्दं मन्दं शनैः शनैः सञ्चचार समचलत्।

इह 'नन्दनवनराजिरिव' 'मधुसूदनवक्षःस्थलीव' इत्यत्रोपमयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः, 'दर्पणश्रीरिव' इत्यत्रोपमा, 'गर्भच्छलेन' इत्यपह्नुतिः अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः, मेघमालेव' इत्यत्र चोपमालङ्कारः।

मुहुरिति। मुहुर्मुहुः वारंवारम् अनुबद्धा विहिता जृम्भिका जृम्भा यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, आजिह्मिते वक्रीकृते निद्रावेशात् मुकुलिते लोचने नेत्रे यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, अलसेन आलस्येन सहितमिति सालसं यथा स्यात्तथा निशश्वास निःश्वासं मुक्तवती। निपूर्वकात् श्वस् प्राणने' इत्यस्माद्धातोर्लिटि रूपम्।

तथेति। तथा पूर्वप्रतिपादिता एव अवस्था दशा यस्याः तां तादृशीम्, इङ्गितेषु अन्तर्गताभिप्रायबोधकव्यापारेषु कुशलो निपुणः परिजनः निकटस्त्रीसौविदल्लसेवकवर्गः, अनभिनन्दितम् अनादृतं पानं भोजनञ्च यया तां तादृशीम्, गर्भावस्थायां स्त्रीणामाहारेष्वरुचिसम्भवादित्याशयः। प्रावृषं वर्षासमयमिव, श्यामायमाने कृष्णतां प्राप्ते पयोधरयोः कुचयोः मुखे उपरिभागद्वयं चूचुक इत्यर्थः यस्याः तां तादृशीम्, अन्यत्र तु श्यामायमानं कृष्णतां प्राप्नुवत् पयोधरमुखं मेघसहितः प्रथमभागो यस्याः तां तादृशीम्। केतकीं तत्संज्ञकं कुसुमं पुष्पमिव, गर्भेण गर्भधारणेन पाण्डुरा शुभ्रावयवा तां तादृशीम् अन्यत्र तु गर्भे मध्यभागे पाण्डुरा प्रकृत्या शुभ्रा तां तादृशीम्, आलोक्य निरीक्ष्य विज्ञातवान् गर्भवत्तया अवबुद्धवान्, तथाविधस्वरूपयुक्तत्वाच्चेष्टितनिपुणत्वाच्च स्वस्येत्यभिप्रायः। आयुर्वेदे गर्भस्वरूपं गवेषणीयम्।

इह 'प्रावृषमिव, 'केतकीमिव' इति पूर्णोपमाद्वयम्, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्चेति समेषामेषां परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

नारायणके वक्षःस्थलके समान, जिस गर्भद्वारा विलासवती अत्यन्त शोभा पा रही थी। दर्पण जिस प्रकार प्रतिबिम्ब धारण करता है, उसी प्रकार विलासवती भी, गर्भके बहाने अन्दरमें प्रविष्ट राजाके प्रतिबिम्बको धारण करने लगी, एवं प्रतिदिन उसका गर्भ धीरे-धीरे वृद्धि पाने लगा, उस समय समुद्रका बहुतसा जल पान कर लेनेके भारसे मन्द हुई मेघमालाके समान विलासवती धीरे-धीरे चलने लगी और बार-बार जँभाइयोंके साथ आँखें जरा मीचमीचकर मन्द-मन्द साँस लेने लगी। पान और भोजनमें उसकी अभिरुचि नहीं थी, स्तनोंका अग्रभाग वर्षाकालके मेघके समान श्यामवर्ण हो गया था, एवं गर्भधारण करनेसे केतकीकुसुमके समान शरीर श्वेतवर्ण हो गया था—ऐसे स्वरूपमें उसे देखकर यह गर्भवती हो गई है—इस प्रकार इङ्गित जाननेमें निपुण दासियाँ सब समझ गईं।

१. सुतरामराजत सा, सुतरामराजत देवी। २. दर्पणश्रीरिव गर्भ। ३. सा शनैः शनैश्च। ४. प्रतिदिवसम्। ५. प्रतिदिनमुग्धा द्विप्रमाणगर्भा। ६. मुहुरनुबद्धजृम्भिकम्। ७. लोचना। ८. निःश्वास। ९. अहरहः स्वयमनेकरसवाञ्छितपानभोजनां। १०. गर्भच्छविपाण्डुराम्। ११. अन्तः पुरिकाजनः।

अथ तस्याः सर्वपरिजन-प्रधानभूता[1] सदा राजकुल-संवासचतुरा सर्वदा[2] च राजसन्निकर्ष-प्रगल्भा सर्वमङ्गलकुशला कुलवर्द्धना नाम महत्तरिका[3] प्रशस्ते दिवसे प्रदोषवेलायामभ्यन्तरास्थान-मण्डपगतं गन्धतैलावसेकेज्ज्वलितदीपिकासहस्रपरिवृतम्[5] उडुनिकर-मध्यवर्त्तिनमिव पौर्णमासीशशिनम्, उरगराज-फणा[6]-मणि-सहस्रान्तरालस्थितमिव नारायणम्, मूर्द्धावसिक्तैः[4] प्रधाननरेन्द्रैः[7] परिमितैः परिवृतम्, अनतिदूरावस्थितपरिजनम्, अनन्तरमुत्तुङ्गवेत्रासनोपविष्टेन धौतधवलाम्बरपरिधानेन नात्युल्बणवेषेण[8] जलनिधिनेवागाधगाम्भीर्य्येण समुपारूढ-विश्रम्भनिर्भरास्तास्ताः कथाः शुकनासेन सह[9] कुर्वाणम्, भूमिपालमुपसृत्य रहः कर्णमूले विदितं[10] विलासवतीगर्भवृत्तान्तमकार्षीत्।

---

अथेति। अथ कुलवर्द्धना रहो भूमिपालमुपसृत्य विलासवतीगर्भवृत्तान्तं विदितमकार्षीदिति सम्बन्धः। सदा सर्वदा राजकुले राजभवने संवासेन अवस्थानेन चतुरा समस्तविधेयानामवसराभिज्ञा, राज्ञो नृपतेः सन्निकर्षेऽपि निकटेऽपि प्रगल्भा धृष्टा, तथा सर्वमङ्गलेषु सर्वप्रकारशुभकृत्येषु कुशला दक्षा, सर्वपरिजनेषु निखिलसेवकेषु प्रधानभूता श्रेष्ठा, महत्तरिका शूद्रजातीया दासी 'शूद्रः स्यात् पादजो दासो ग्रामकूटो महत्तरः' इति त्रिकाण्डशेषः। कशलास्त 'कुलवर्द्धना नाम महत्तरिका' इत्येवं दर्शनेनेह महत्तरिकापदेन राजान्तःपुरप्रधानप्रबन्धकर्त्री इति विवृण्वते। अभ्यन्तरे मध्ये य आस्थानमण्डपः उपवेशनस्थलं तत्र गतं स्थितम्, गन्धतैलानां सुगन्धतैलानाम् अवसेकेन प्रक्षेपेण उज्ज्वलितानां दीपिकानां प्रदीपानां सहस्रेण निकरेण परिवृतं परिवेष्टितम्, अत एव उडुनिकरस्य तारकासमूहस्य मध्यवर्त्तिनं तदन्तःस्थायिनं पौर्णमासीशशिनमिव राकाचन्द्रमिव स्थितम्, उरगराजस्य दशशतशिरसः शेषनागस्य यत् फणामणीनां सहस्रं दशशतं तस्य अन्तराले मध्यप्रदेशे स्थितं विद्यमानं नारायणं विष्णुमिव। परिमितैः अल्पसंख्यकैः, मूर्धावसिक्तैः कृताभिषेकैः, प्रधाननरेन्द्रैः मुख्यैः नृपतिभिः परिवृतं परिवेष्टितम्। अनतिदूरे अवस्थिता नातिदविष्ठप्रदेशे विद्यमानाः परिजनाः सेवका यस्य तं तादृशम्। अनन्तरं भूपतेः सिंहासनाददूरं स्थानं लब्ध्वा उत्तुङ्गे अत्युच्चे वेत्रासने वेतसविष्टरे उपविष्टेन आसीनेन, धौतं प्रक्षालितं धवलं शुभ्रम् अम्बरं वसनं परिधानम् अधोंऽशुकं यस्य तेन तादृशेन, नात्युल्बणो नात्युज्ज्वलो वेषो नेपथ्यं यस्य तेन तादृशेन जलनिधिना समुद्रेणेव अगाधम् अन्यैरज्ञेयम् अतलस्पर्शञ्च गाम्भीर्यं धैर्यं गम्भीरता च यस्य तेन तादृशेन शुकनासेन मन्त्रिणा सह समुपारूढः समुत्पन्नः विश्रम्भनिर्भरो विश्वासातिशयो यासु ताः तादृश्यः ता अनिर्वचनीयाः कथाः किंवदन्तीः कुर्वाणम्, भूमिपालं राजानम् उपसृत्य समीपे गत्वा प्रशस्ते शोभने दिवसे वासरे रहो गुह्यं कर्णमूले विदितं ज्ञातं विलासवतीगर्भवृत्तान्तं देव्या गर्भोदन्तम् अकार्षीत् अकरोत्।

इह 'पौर्णमासी शशिनमिव', 'नारायणमिव', इत्यनयोरुपमयोः मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिरलङ्कारः। 'जलनिधिनेव' इत्यत्र पूर्णोपमा।

---

तदनन्तर विलासवतीके परिजनोंके बीचमें प्रधान, सर्वदा राजकुलमें रहनेसे चतुर एवं सदा राजाके समीपमें भी प्रगल्भ स्वभाववाली, और सभी मङ्गलकार्योंमें निपुण अत्यन्त बूढ़ी कुलवर्धना नामकी शूद्रजातीया एक रनिवासकी दासी, किसी प्रशस्त दिन प्रदोष-कालमें मध्यवर्त्ती सभामण्डपमें बैठे हुए राजाके पास उपस्थित होकर उसने उनके कानमें धीरे-धीरे रानी विलासवतीका गर्भवृत्तान्त निवेदन किया। उस समय राजाके आस-पास सुगन्धित तेलसे भरे हजारों प्रदीप जल रहे थे, जिनसे वह ताराओंके मध्यमें विराजमान पूर्ण चन्द्रमाके समान, तथा सहस्रमस्तकवाले शेषनागके सहस्रसंख्यक फणामणियोंके मध्यमें बैठे नारायणके समान देखनेमें प्रतीत होता था। क्षत्रियकुलके कितने ही प्रधान-प्रधान नरपति उसके चारों ओर बैठे थे, और परिजनवर्ग कुछ दूर पर खड़े थे। समीपमें ही बेंतकी कुर्सीपर, धुले हुए श्वेतवस्त्र पहने, सादे वेशसे, समुद्रके समान अगाधगाम्भीर्यशाली मन्त्रिप्रवर शुकनासके साथ राजा पूर्ण विश्वाससे नानाप्रकारकी बातचीत कर रहा था।

---

१. सर्वसेवकवर्ग… । २. सदा । ३. महान्तःपुरिका सा । ४. अभिषेक… । ५. परिवारम्। ६. …फण । ७. नरेन्द्रैः परिवृतम् । ८. अनुल्बणवेषेण । ९. शुकनासेन कुर्वाणम् । १०. विदित-विलासवती… ।

तेन तु तस्या वचनेनाश्रुतपूर्वेणासम्भाव्येनामृतरसेनेव सिक्तसर्वाङ्गस्य सद्यः-प्ररूढ-[1] रोमाञ्च-निकर-कण्टकिततनोरानन्दरसेन विह्वलीक्रियमाणस्य स्मितविकसित-कपोलस्थलस्य[2] परिपूरितहृदयातिरिक्तं हर्षमिव[3] दशनांशुवितानच्छलेन विकिरतो राज्ञः शुकनासमुखे लोलतारकमानन्दजलबिन्दुक्लिन्नपक्ष्ममालं तत्क्षणं पपात चक्षुः।

अनालोकितपूर्वं तु[4] हर्षप्रकर्षमभिसमीक्ष्य[5] भूपतेः, कुलवर्द्धनाञ्च स्मितविकसितमुखीमागतां दृष्ट्वा तस्य चार्थस्य सततं मनसि वर्त्तमानत्वात्[6] अविदितवृत्तान्तोऽपि तत्कालोचितमपरमतिमहतो हर्षस्य कारणमपश्यन् शुकनासः स्वयमुत्प्रेक्ष्य समुत्सर्पितासनः समीपतरमुपसृत्य नातिप्रकटमावभाषे[7]–'देव! किमस्ति[8] किञ्चित्तस्मिन्[9] स्वप्नदर्शने सत्यम्?

तेनेति। 'तु' पुनरर्थे। तस्याः कुलवर्द्धनायाः, अश्रुतपूर्वेण अनाकर्णितपूर्वेण असम्भाव्येन अचिन्तनीयेन तेन पूर्वोक्तप्रतिपादितेन अमृतरसेन सुधाद्रवेण वचनेन वाक्येन मनोऽभिलषितत्वात् क्लेशनिवारकत्वाच्च वचनस्यामृतसाम्यमवगन्तव्यम्। सिक्तानि सेचितानि सर्वाणि निखिलानि अङ्गानि अवयवा यस्य तथोक्तस्येव सतः, सद्यः तत्कालं प्ररूढेन उत्पन्नेन रोमाञ्चनिकरेण रोमोद्गमसमूहेन कण्टकिता सञ्जातकण्टका तनूः शरीरं यस्य तादृशस्य, आनन्दरसेन प्रमोदरसेन विह्वलीक्रियमाणस्य व्याकुलीक्रियमाणस्य. स्मितेन ईषद्धास्येन विकसित स्फीते कपोलस्थले गण्डयुगलं यस्य तादृशस्य, दशनांशूनां दन्तरश्मीनां वितानच्छलेन प्रथनच्छद्मना परिपूरितहृदयात् पूर्णीकृतमनसः अतिरिक्तम् उद्वृत्तं हर्षञ्च आनन्दं विकिरत इव निक्षिपत इव सतः, राज्ञस्तारापीडस्य। लोले चञ्चले तारके कनीनिके यस्य तत्तादृशम्, आनन्दजलबिन्दुभिः हर्षजनितनेत्रजलपृषतैः क्लिन्ना आर्द्रीकृता पक्ष्ममाला रोमपङ्क्तिर्यस्य तत्तादृशं चक्षुः लोचनद्वयं शुकनासमुखे पपात अपतत्।

'सिक्तसर्वाङ्गस्येव' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः, 'विकिरत इव' इत्यत्र सापह्नवोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अनालोकितेति। भूपतेः तारापीडस्य अनालोकितपूर्वम् अदर्शितपूर्वं हर्षप्रकर्षम् आनन्दातिशयम् अभिसमीक्ष्य निरीक्ष्य, पुनरर्थे चकारः। कुलवर्द्धनां स्मितेन ईषद्धास्येन विकसितं विकस्वरं मुखं वदनं यस्याः तां तादृशीम् आगतां प्राप्तां दृष्ट्वा अवलोक्य, तस्य विलासवत्या गर्भधारणरूपस्य, अर्थस्य विषयस्य, सततं निरन्तरं मनसि चित्ते वर्त्तमानत्वाद् विद्यमानत्वात् भूपतेः स्वप्नवृत्तान्ताकर्णनेनेत्याशयः। अविदितवृत्तान्तोऽपि अज्ञातगर्भधारणरूपसमाचारोऽपि शुकनासः तत्कालोचितं तत्समययोग्यम् अपरम् अन्यत् अतिमहतोऽत्युत्कृष्टस्य हर्षस्य आनन्दस्य कारणं नियामकम् अपश्यन् अनवलोकयन् स्वयमात्मना उत्प्रेक्ष्य 'कुलवर्द्धना विलासवत्या गर्भधारणरूपसमाचारमेवोक्तवती' इति सम्भाव्य (विचिन्त्य) समुत्सर्पितं त्यक्तम् आसनम् अवस्थितिबन्धो येन स तादृशः, समीपतरम् अतिनिकटम् उपसृत्य गत्वा नातिप्रकटम् अनतिस्फुटम् अनिश्चितत्वेन सर्वेषां श्रवणानौचित्यादित्यभिप्रायः। आबभाषे अवोचत्—

देवेति। हे देव स्वामिन् तस्मिन् पूर्वोक्तस्वरूपे स्वप्नदर्शने किञ्चित् ईषत् सत्यं तथ्यम् अस्ति?।

अश्रुतपूर्व और असम्भवयोग्य कुलवर्धनाका वह वाक्य सुनकर राजाका समस्त अङ्ग मानो अमृतरससे सिक्त हो गया, उस समय ही रोमाञ्च-समूह उत्पन्न होकर उसके समस्त शरीरको कण्टकित कर दिया और आनन्दसे वह विह्वल हो गया। मुस्कुराहटसे उसके गाल प्रफुल्लित हो गये और हृदयके ऊपर तक भर जानेसे अवशिष्ट आनन्द मानो दन्त-किरणोंके प्रकाशके बहाने बाहर निकलने लगा, नयनके दोनों तारे चञ्चल हो गये एवं आनन्दके आँसुओंसे नयनके लोग भींग गये, इस प्रकार उसके नयनयुगल उस समय ही शुकनासके मुख पर पड़े।

राजा का ऐसा अदृष्टपूर्व आनन्दातिशय देखकर, कुलवर्धनाको भी मुस्कुराती हुई आती देखकर, यही बात सर्वदा मनमें रहनेसे और प्रस्तुत वृत्तान्तको नहीं जानने पर भी, उस समयमें अत्यन्त आनन्दके उपयुक्त कारणको नहीं देख शुकनासने अपने मन ही मन तत्काल ताड़ लिया और कुर्सीको खींचकर राजाके अत्यन्त समीपमें जा अनतिस्पष्ट भावसे (धीरे धीरे) पूछा—'महाराज! वह स्वप्न देखनेके विषयमें कुछ सत्यता हुई है क्या?

१. ...प्रकट...। २. ...मूलस्य। ३. अतिरिक्तहर्षमिव। ४. अनालोचितपूर्वं तु तं। ५. अभिसंवीक्ष्य। ६. परिवर्तमानत्वात्, विपरिवर्तमानत्वात्। ७. नातिप्रकाशम्...। ८. अस्ति। ९. किञ्चित् स्वप्नदर्शनं।

अत्यन्तमुत्फुल्ललोचना[1] हि कुलवर्द्धना दृश्यते, देवस्यापीदं प्रियवचनश्रवणकुतूहलादिव श्रवणमूलमुपसर्पद्धुपरचयदिव नीलकुवलय-कर्णपूर-शोभाम्, आनन्दजल-परिप्लुतं तरलतारकं[2] विकसदावेदयति महत् प्रहर्ष[3]-कारणमीक्षणयुगलम्, उपारूढमहोत्सव-श्रवण-कुतूहलमुत्सुकोत्सुकं[4] क्लाम्यति मे मनः। तदावेदयतु देवः किमिदम्?।'

इत्युक्तवति तस्मिन् राजा विहस्याब्रवीत्-'यदि सत्यमनया यथा कथितम्, तदा[5] सर्वमवितथं स्वप्नदर्शनम्। अहन्तु न श्रद्दधे, कुतोऽस्माकमियती भाग्यसम्पत्, अभाजनं हि वयमीदृशानां प्रियवचनश्रवणानाम्। अवितथवादिनीमप्यहं कुलवर्द्धनामेवंविधानां कल्याणानामसम्भावितमात्मानं मन्यमानो विपरीतामिवाद्य पश्यामि। तदुत्तिष्ठ, स्वयमेव गत्वा किमत्र सत्यमिति देवीं पृष्ट्वा ज्ञास्यामि।'

---

हि यतः इयं कुलवर्द्धना अत्यन्तम् उत्फुल्ललोचना हर्षेण विकसितनयना दृश्यतेऽवलोक्यते, अत एव विषयान्तरं परित्यज्य स्वप्नविषय एव जिज्ञास्यत इत्याशयः। तत्रैव कारणान्तरमाह—देवस्यापीति। देवस्यापि स्वामिनोऽपि प्रियम् इष्टं यद्वचनं वचः तस्य श्रवणम् आकर्णनं तस्य कुतूहलात् कौतुकादिव श्रवणयोः कर्णयोः मूलं निकटम् उपसर्पत् गच्छत् नीलं यत् कुवलयम् उत्पलं तद्रूपस्य कर्णपूरस्य शोभां कान्तिम् उपरचयदिव निष्पादयदिव। आनन्दजलेन प्रमोदाश्रुणा परिप्लुतं क्लिन्नम्, तरले चपले तारके कनीनिकायुगलं यस्य तत्तादृशम्, विकसत् विकासं प्राप्नुवत् इदं देवस्य भवतः स्वामिनोऽपि ईक्षणयुगलं लोचनद्वयं कर्त्तृ, महद् विपुलं प्रहर्षस्य विशेषप्रमोदस्य कारणं हेतुम् आवेदयति ज्ञापयति। अथैवं सत्यपि किन्ते? इत्यत आह—उपारूढेति। उपारूढम् उत्पन्नं महोत्सवश्रवणाय विपुलप्रमोहवार्त्ताकर्णनाय कुतूहलं कौतुकं यत्र तत्तादृशम्, उत्सुकोत्सुकम् अत्यन्तोत्कण्ठितं मे मम मनश्चित्तं क्लाम्यति खेदं प्राप्नोति। तत् देवो भवान् आवेदयतु ज्ञापयतु इदं प्रमोदनियामकं किमिति।

इतीति। इति पूर्वोक्तविधिना तस्मिन् शुकनासे उक्तवति कथितवति सति राजा भूपतिः विहस्य किञ्चित् स्मितं विधाय अब्रवीत् अवोचत्—अनया कुलवर्द्धनया यथा कथितं तद् यदि चेत् सत्यम्? तदा सर्वं स्वप्नदर्शनम् स्वप्नावलोकनम् अवितथम् अमिथ्याभूतं सत्यम् 'वितथं त्वनृतं वचः' इत्यमरः। तु किन्तु अहमिति धीरोदात्तत्वेन निर्देशो ज्ञेयः। न श्रद्दधे न विश्वसिमि, अस्माकम् इयती एतावती भाग्यसम्पत् भागधेयसम्पत्तिः कुतो भवेत्। हि यस्मात्, ईदृशानां पूर्वोक्तानां प्रियवचनश्रवणानां प्रियवाक्याकर्णनानाम् अभाजनम् अपात्रम् अनधिकारिणो वयमित्यर्थः। अवितथवादिनीमपि पूर्वस्मादेव अवितथभाषिणीमपि कुलवर्द्धनाम् अहम् एवंविधानां पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणां कल्याणानां निःश्रेयसानाम् असम्भावितम् आस्पदत्वेन अनिश्चितम् आत्मानं स्वं मन्यमानः विपरीतामिव असत्यभाषिणीमिवेत्यर्थः, अद्य अस्मिन् दिने पश्यामि अवलोकयामि। तत्तस्माद्धेतोः (शुकनास!) उत्तिष्ठ

---

क्योंकि—कुलवर्धनाके नेत्र अत्यन्त प्रफुल्लित दीखते हैं। आपका भी यह नयनयुगल प्रियवाक्य सुननेके लिए कुतूहलवशसे ही मानो कानोंके पास पहुँच गये हैं, उससे मानो नीलकमलके कर्णपूरकी शोभा उत्पन्न कर रहे हैं। आपके भी आनन्दाश्रुसे सिक्त चञ्चल पुतलीवाले प्रफुल्ल नेत्र किसी बड़े आनन्दके कारणको सूचित करते हैं। इस गुरुतर महोत्सवके सुननेके लिए मुझे भी कुतूहल उत्पन्न हुआ है, एवं मन अत्यन्त उत्कण्ठित होकर क्लेश भोग रहा है; इसलिए आप कहिए—यह क्या बात है?' शुकनाससे इस प्रकार पूछनेपर राजाने हँसकर उत्तर दिया—'कुलवर्धना जो कही है वह यदि सत्य हुआ', तो वह स्वप्न वृत्तान्त सब ही सत्य, पर मुझे विश्वास नहीं होता है। क्यों कि—मेरा भाग्य ऐसा कैसे हो सकता है? जिस कारण—हम लोग ऐसे प्रिय वचन सुननेके पात्र नहीं हैं। कुलवर्धनाको पहिलेसे ही सत्यवादिनी जानता हूँ, किन्तु—मैं जो इस प्रकारके मङ्गलोंका पात्र होऊँगा—यह असम्भव मनमें कर आज इसको पहिलेसे विपरीत (मिथ्यावादिनी) समझता हूँ, अतएव उठो, अपनेसे ही जाकर, 'इस विषयमें यथार्थ घटना क्या है?' यह महारानीसे पूछकर निश्चय कर लें।'

---

१. अत्यन्तोत्फुल्ललोचना, उत्फुल्ललोचना। २. ···प्लुततरलतारकम्। ३. प्रकर्ष···। ४. उत्सुकं। ५. तथा।

इत्यभिधाय विसृज्य[1] सकलनरेन्द्रलोकम्, उन्मुच्य स्वाङ्गेभ्यो भूषणानि कुलवर्द्धनायै दत्त्वा, तया च दत्तप्रसादानन्तरमवनितलाश्लिष्टललाटरेखया शिरःप्रणामेनाभ्यर्चितः, सह शुकनासेनोत्थाय हर्षविशेषनिर्भरेण त्वर्य्यमाणः[2] मनसा, पवन-चलित-नील-कुवलय-दल-लीला-विडम्बकेन दक्षिणेनाक्ष्णा परिस्फुरताऽभिनन्द्यमानः[3] तत्काल-सेवा-समुचितेन विरल-विरलेन परिजनेनानुगम्यमानः पुरः संसर्पिणीनामनिललोलशिखानां[4] प्रदीपिकानामालोकेन समुत्सार्य्यमाणकक्षान्तरतिमिरम्[5] अन्तःपुरमयासीत्।

तत्र च सुकृत[6]-रक्षासंविधाने, नवसुधानुलेपन[7]-धवलिते, प्रज्वलितमङ्गलप्रदीपे,[8] पूर्ण-

---

उत्थितो भव, स्वयमेव आत्मनैव गत्वा अन्तःपुरमिति शेषः। अत्र अस्या उक्तिविषये किं सत्यं तथ्यम् इति देवीं विलासवतीं पृष्ट्वा आपृच्छ्य ज्ञास्यामि निर्णेष्यामि।

इतीति। इति एवम् अभिधाय उक्त्वा, सकलनरेन्द्रलोकं समस्तराजसमूहं विसृज्य 'गृहाय गम्यताम्' इत्यादिश्य, स्वाङ्गेभ्यः स्वीयहस्तपादादिभ्यो भूषणानि अलङ्कारान् उन्मुच्य अवतार्य कुलवर्द्धनायै महत्तरिकायै दत्त्वा वितीर्य, दत्ते सति प्रसीदति अनेनेति प्रसादोऽनुग्रहदानं तस्मादनन्तरं पश्चात्, अवनितलेन वसुधातलेन आश्लिष्टा प्रणामसमये स्पृष्टा ललाटरेखा भालदेशो यस्याः तया तादृश्या, तया कुलवर्द्धनया शिरःप्रणामेन उत्तमाङ्गावनमनेन अभ्यर्चितो वन्दितः, शुकनासेन सह समकालम् उत्थाय उत्थानं विधाय हर्षविशेषेण प्रमोदाधिक्येन निर्भरं परिपूर्णं तेन तादृशेन, मनसा त्वर्यमाणः अन्तःपुरप्रापणाय शीघ्रीक्रियमाणः। पवनेन वायुना चलितम् आन्दोलितं यत् नीलकुवलयं नीलकमलं यस्य लीलां शोभां विडम्बयति अनुकरोतीति तत्तादृशं तेन तादृशेन, परिस्फुरता नितरां स्पन्दता, दक्षिणेन अपसव्येन अक्ष्णा नयनेन अभिनन्द्यमानः अभिलषितप्राप्तिद्योतनेन सन्तोष्यमाणः। तथा चाहुः—

'दक्षिणाङ्गस्य स्फुरणं नराणां सर्वसौख्यदम्। तदेव कथ्यते सद्भिर्नारीणामप्रदक्षिणम्॥' इत्यादि।

तत्कालसेवायाम् अन्तःपुरजनसामयिकशुश्रूषायां समुचितेन योग्येन, विरलविरलेन अल्पाल्पेन वीप्सायां द्विर्वचनम्, यथा यथान्तःपुरगमनं भूपतेस्तथा तथा विरलविरलत्वमित्यवधेयम्। पुरः संसर्पिणीनाम्, अग्रे व्रजन्तीनाम्, अनिलेन पवनेन लोलाः चपलाः शिखा यासां तासां प्रदीपिकानां दीपानाम् आलोकेन कान्त्या समुत्सार्यमाणानि दूरीक्रियमाणानि कक्षान्तराणां पुरः पुरःस्थायिनाम् अन्येषां प्रकोष्ठानां तिमिराणि तमांसि यत्र तत्तादृशम् अन्तःपुरम् अयासीत् अगमत्।

तत्रेति। तत्र तस्मिन् अन्तःपुरे वासभवने शयनतलमधिशयानां विलासवतीं राजा ददर्श इत्यन्वयः। इह यानि सप्तम्यन्तपदानि तानि 'वासभवने' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। सुष्ठु समीचीनं कृतं मणिमन्त्रौषधादिना सम्पादितं रक्षासंविधानं पापखण्डशाकिनीडाकिन्यादिभ्यो गर्भरक्षणविधिर्यत्र तत्र तथोक्ते। नवं प्रत्यग्रं यत् सुधानुलेपनं चूर्णादिद्रव्यलेपनं तेन धवलिते श्वेतीकृते 'सुधालेपोऽमृतं स्नुही' इत्यमरः। प्रज्वलितः प्रदीप्तो मङ्गलप्रदीपो यत्र तत्र तादृशे। इह च मध्यमपदलोपी समासो ज्ञेयः,

---

यों कहकर उसने उपस्थित राजाओंको विदाकर दिया और अपने शरीरकेसब आभूषण उतारकर कुलवर्धना को दे दिये। उनका लाभ होते ही तुरन्त उसने मस्तक अवनमनपूर्वक ललाटद्वारा भूतलका स्पर्शकर राजाको नमस्कार किया। राजा शुकनासके साथ पुनः उठा। अत्यन्त आनन्दसे उसका मन परिपूर्ण हो, उसको अन्तःपुरमें जानेके लिए शीघ्र परिचालित करने लगा। वायुसे कम्पित नीले-कमलके पत्तेकी लीलाका अनुकरण करता दक्षिण नेत्र फड़क-फड़क कर उसका अभिनन्दन करने लगा। उस समयकी सेवाके योग्य पीछे-पीछे चलते कुछ परिजनोंके साथ जाने लगा। हवासे लहराती हुई स्थूल ज्योतिवाली लालटेनें जाती थीं उनके प्रकाशसे अन्यान्य प्रकोष्ठके अन्धकार दूर हो जाते थे, इस रूपसे राजा अन्तःपुरमें आ पहुंचा।

वहाँ जाकर देखा—रानी विलासवती वासगृहमें शय्याके ऊपर शयन कर रही है। मणि, मन्त्र और औषधादिद्वारा उस वासगृहका सम्पूर्ण रक्षाविधान किया हुआ था, एवं नये चूनेसे लेपकर वह वासगृह शुभ्रवर्ण भी किया हुआ था, उसके बीचमें मङ्गलप्रदीप जलाए गये थे, पार्श्वद्वारके समीपमें पूर्ण कलश रक्खे गए थे, उसकी दीवारें

---

१. विसर्ज्य। २. पूर्य्यमाणः। ३. अभिवन्द्यमानः। ४. अनिललोलोच्छलच्छिखानां। ५. प्रदीपकानाम्,...कक्षान्तरतिमिरसंहतिः। ६. तत्र वसुकृत..., तत्र बहुकृत। ७. नवसुधालेप...। ८....दीपे।

कलसाधिष्ठित[1]पक्षके, प्रत्यग्र-लिखित-मङ्गल्यालेख्योज्ज्वल[2]भित्ति-भागे-मनोहारिणि, समुपरचित-सित-वितान-पर्य्यन्तावबद्धमुक्तागुणे[3] मणिप्रदीप-प्रहत[4]-तिमिरे वासभवने,[5] भूमि[6]-लिखित-पत्रलता-कृत-रक्षा-परिक्षेपम्, शयन-शिरोभाग-विन्यस्त-धवल[7]-निद्राकलसम्, आबद्ध-विविधौषधि-मूल-यन्त्र[8]-पवित्रम्, अवस्थापित-रक्षा-शक्तिवलयम्, इतस्ततो विकीर्ण[9]-गौरसर्षपम्, अवलम्बित[10]-बाल-योक्त्र-ग्रथितलौह-पिप्पलपत्रम्[11], आसक्त-हरितारिष्टपल्लवम्, उत्तुङ्ग-पादपीठ[12]-प्रतिष्ठितम्, इन्दु-दीधिति-धवल-प्रच्छद-पटम्, अचलराज-शिलातल-विशालम्-गर्भो-

---

पूर्णकलसः सलिलपूर्णकुम्भः तेन अधिष्ठित आश्रितः पक्षको द्वारपार्श्वो यस्य तत्र तादृशे। 'पक्षकस्तु पुमान् पार्श्वद्वारे च पार्श्वमात्रके' इति मेदिनी। प्रत्यग्रम् अभिनवं यथा स्यात्तथा लिखितानि लिपीकृतानि चित्रितानीत्यर्थः, यानि मङ्गल्यानि देवतारूपत्वात्कल्याणोत्पादकानि आलेख्यानि चित्राणि तैरुज्ज्वलो दीप्तिमान् यो भित्तिभागः कुड्यप्रदेशः तेन मनोहारिणि अभिरामे समुपरचितस्य संयोजितस्य सितवितानस्य श्वेतोल्लोचस्य पर्यन्तेषु प्रान्तभागेषु अवबद्धो गुंफितो मुक्तागुणो मुक्तामाला यत्र तत्र तादृशे। तथा मणयो रत्नान्येव प्रदीपाः तैः प्रहतानि ध्वस्तानि तिमिराणि अन्धकारा यत्र तत्र तादृशे। वासभवने निवाससदने।

भूमीति। इत आरभ्यैकादश नपुंसकानि द्वितीयान्तपदानि 'शयनतलम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। भूमौ पृथिव्यां लिखितया शयनतलस्यैव परितो लिपीकृतया पत्रलतया पत्रयुतकल्पलतया कृतो विहितो रक्षापरिक्षेपो गर्भत्राणार्थपरिवेष्टनं यस्य तत्तादृशम्। शयने स्वापसमये यः शिरोभागो मस्तकप्रदेशः तत्र विन्यस्तः स्थापितः धवलो रजतमयत्वात् शुभ्रो निद्राकलसो निद्राघटो यत्र तत्तादृशम्। आबद्धानि न्यस्तानि विविधानि अनेकप्रकाराणि ओषधयो लताविशेषाः मूलानि वृक्षवल्लीमूलानि यन्त्राणि चक्रव्यूहप्रभृतीनि पवित्राणि मन्त्रपूतगोरोचनादिद्रव्याणि यत्र तत्तादृशम्। अवस्थापितानि पार्श्वे रचितानि रक्षार्थं शक्तीनां ब्राह्मीवैष्णवीकात्यायन्यादीनां वलयानि मन्त्रपूतबर्हिर्निर्मितकटकानि यत्र तत्तादृशम्। इतस्ततः समन्तात् विकीर्णा विक्षिप्ता गौरसर्षपाः सितसर्षपा यत्रतत्ता दृशम्। अवलम्बितानि न्यस्तानि बालयोक्त्रेण लघुरज्जुविशेषेण केशमुखबन्धनेन वा ग्रथितानि गुम्फितानि लौहानि-लौहखण्डानि पिप्पलपत्राणि अश्वत्थपर्णानि च यत्र तत्तादृशम्। 'बोधिद्रुमश्चलदलः पिप्पलः कुञ्जराशनः। अश्वत्थे' इत्यमरः। आसक्ता मिथोलग्ना हरिताः नवनीतत्वात् पालाशवर्णाः अरिष्टपल्लवा निम्बकिसलयानि यत्र तत्तादृशम्। 'अरिष्टः फेनिले निम्बे लशुने काककङ्कयोः' इति मेदिनी। तस्मिन् समये गर्भरक्षार्थं हि गर्भिणीशयनतले सर्वविधानां द्रव्यविशेषाणां संस्थापनं भवति स्म तत्तद्देशव्यवहारादित्यवधेयम्। उत्तुङ्गेषु अतीवोन्नतेषु पादपीठेषु पर्यङ्कपादाधारदारुविशेषु प्रतिष्ठितम् अवस्थितम्। नन्वत्र पर्यङ्कोपरिपातितशयनीयतलस्य पादपीठेषु कथं प्रतिष्ठितत्वमिति चेत्? सत्यम्, पादपीठेषु पर्यङ्कस्य प्रतिष्ठितत्वेन तात्स्थ्यात्तदुपरि शयनीयतलस्यापि तथात्वमित्यदोषात्।

इन्दुदीधितिश्चन्द्रकान्तिः तद्वत् धवलः शुभ्रः प्रच्छदपट आस्तरणवस्त्रं यत्र तत्तादृशम्। तथा अचल-

---

तत्काल काढ़े गये मङ्गलकर चित्रोंसे देखनेमें सुन्दर लगती थीं। उसके ऊपर एक श्वेतवर्ण चँदोवा बाँधकर उसकी चारों ओर कोरों पर मोतीकी झालरें लटकाई गई थीं। और मणिमय-प्रदीपोंके आलोकसे उस घरका अन्धकार दूर हो गया था। और रानी जिस शय्या पर शयन करती थी, उसके चारों ओर रक्षाके निमित्त राखकी आड़ बना दी गई थी, सिरहानेके तरफ आनन्द-पूर्वक निद्रा आनेके लिये श्वेतवर्ण मङ्गल-कलश रखे थे; नानाविध औषध, मूल (कोंहरेकी लता और उसकी मूल आदि), लाङ्गलप्रभृति यन्त्र और गोरोचना प्रभृति पवित्र द्रव्य उस शय्याके संस्पर्शमें रक्खा हुआ था; गर्भरक्षाके लिए ब्राह्मी और वैष्णवीप्रभृति देवियोंके मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर कितने वलय उस शय्याके ऊपर रखे हुए थे; इधर-उधर श्वेतवर्ण सरसों छींट (बखेर) दी गई थीं; छोटे रज्जुविशेषसे गाँथकर कितने लोहेके खण्ड और पीपलके पत्ते एवं परस्पर संलग्न हरे कितने नीमके पत्ते उस शय्याके ऊपरमें लटका दिये गये थे; चरण रखनेके लिए एक ऊँची चौकी समीपमें रक्खी थी और चन्द्रकिरणके समान शुभ्रवर्ण एक आस्तरण-

---

१. ··· अधिष्ठिते···द्वारपक्षके। २. ···मङ्गल्यलेख्य···उज्ज्वलित···भागे। ३. ··· सितविताने वितान,···पर्य्यन्तस्थितमुक्तागणे। ४. ··· प्रतिहत···। ५. वासभुवने। ६. भूति···। ७.···रलधवल···। ८. ···मन्त्र। ९. विप्रकीर्ण···। १०. अवलम्बि···। ११. बालयोद्ग्रथित···, लोल, लोहित,···दलम्। १२. पादपीठी···।

चितं शयनतलमधिशयानाम्, कनकपात्र-परिगृहीतैः अविच्छिन्नै-विरलावस्थित-दधिलवैः जल-तरङ्ग-तरल-श्वेत[2]-शालि-सिक्थ-निकरैः अग्रथितकुसुमै[3]-सनाथैः पूर्णभाजनैः, अखण्डिता-नन-मत्स्य-पटलैश्च प्रत्यग्र-पिशितपिण्ड-मिश्रैः, अविच्छिन्न-सलिलधारानुगम्यमानै[4]-मार्गैः, पटलक[5]प्रज्वलितैश्च शीतलप्रदीपैः[6], गोरोचनामिश्रगौरसर्षपैश्च सलिलाञ्जलिभिश्च, आचार[7]-कुश-

राजस्य शैलाधिपतेः ( हिमालयस्य ) शिलातलवत् विस्तृतपाषाणखण्डवत् विशालं विस्तीर्णम्। गर्भो-चितं गर्भवतीस्वापयोग्यं शयनतलम् आस्तरणोपरिभागम् अधिशयानाम् अवलम्ब्य सुप्ताम्। राज्ञ्या विशेषणमिदम्। इह 'इन्दुदीधिति-धवलं प्रच्छदपटम्' इत्यत्र 'अचलराजशिलातलविशालम्' इत्यत्र च लुप्तोपमालङ्कारः।

कनकेति। इह तृतीयान्तानि 'पूर्णभाजनैः' इत्यन्तानि 'सिक्थनिकरैः' इत्यस्य विशेषणानि। आचा-रेषु तद्देशीयकौलिकाचारेषु कुशलेन अभिज्ञेन, अन्तःपुरजरतीजनेन अवरोधस्थवृद्धयोषिद्गणेन। प्रथमं तन्मध्यवर्त्तिना केनचित् वृद्धस्त्रीवर्गेण ( कर्त्रा ), कनकपात्रे सुवर्णभाजने परिगृहीतैः आत्तैः। अवि-च्छिन्ना मिथः संलग्नाः, विरला अल्पाः अवस्थिता दधिलवा दधिखण्डा येषु तैः तादृशैः। जलतरङ्गवत् पानीयकल्लोलवत् तरलाः चपलाः, तदीयबाष्पाणां चञ्चलत्वेन तेषामपि चञ्चलवदवलोक्यमानत्वादित्या-शयः, श्वेताः धवलाः, शालिसिक्थनिकराः तत्कालपक्वौदनसमूहाः शालिलाजसमूहा वा तैः तादृशैः ( करणैः ) अग्रथितानि यानि कुसुमानि पुष्पाणि तैः सनाथाः सहिताः तैः तादृशैः। तथा पूर्णं व्याप्तं भाजनं पात्रं यैस्तैः तादृशैः।

अखण्डितेति। अन्येन केनचिद् वृद्धस्त्रीजनेनेति कर्त्तृपदमिहापि प्रथमसध्याहार्यम्। प्रत्यग्राणि अभिनवानि यानि पिशितपिण्डानि मांसखण्डानि तन्मिश्रैः तत्सम्मिलितैः अखण्डितानि अच्छिन्नानि आननानि वदनानि येषां तथोक्तानां मत्स्यानां मीनानां पटलैः समूहैश्च। 'क्रियमाणावतरणकमङ्गलाम्' इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः।

अविच्छिन्नेति। अविच्छिन्नया अखण्डितया सलिलधारया जलधारया अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः मार्गः अध्वा येषां तैः तादृशैः, केनचिद् वृद्धस्त्रीजनेन पृष्ठतः पृष्ठतो विहिताविच्छिन्नसलिलधारैरित्यर्थः। पटलकेषु क्षुद्रपिटकेषु तदन्तर्गतेष्वित्यर्थः, प्रज्वलितैः प्रदीपितैः, 'अथ पटलं पिटके च परिच्छदे' इति मेदिनी। शीतलप्रदीपैः विविधजरतीजनैरानीयमानैः कर्पूरदीपैः ( करणैः )। इहापि पूर्ववदग्रेतनेन सम्बन्धः।

गोरोचनेति। गोरोचनया मिश्रैः संयुक्तैः गौरसर्षपैः श्वेतसिद्धार्थैः, केनचिद् वृद्धस्त्रीजनेन पृष्ठतः पृष्ठतः तथाविधसर्षपविक्षेपैश्च (करणैः)। सलिलाञ्जलिभिश्च केनचिज्जरतीजनेनाञ्जलिपूर्णजलैश्च 'क्रियमा-णावतारणकमङ्गलामि'त्यत्रान्वयः।

आचारेति। क्रियमाणं प्रदर्शितविधिना अनुष्ठीयमानम् अवतारणके नीराजनरूपेण पात्रपरिभ्राम-णावतरणे भोजनीयानयनसमये भूताद्यपसारणविषय इत्यर्थः, मङ्गलं यस्यास्तां तादृशीम्। तात्कालिकत-द्देशव्यवहारादिदमाश्चर्यवर्णनम्। 'अवतारणं भूतादिग्रहे वस्त्राञ्चलेऽर्चने' इति मेदिनी।

वस्त्र ( चादर ) उसके ऊपर बिछा था और वह शय्या (पलङ्ग) हिमालयके शिलातल के समान विशाल एवं गर्भवती स्त्रीके शयन योग्य थी। किसी वृद्ध स्त्रीने, रानीके लिए सोनेकी कटोरियोंको परिपूर्ण कर शुभ्रवर्ण चावलोंके दाने रक्खी थी, उस अन्नके ऊपरमें परस्पर संलग्न और थोड़े-थोड़े दधि-बिन्दु एवं असंलग्नभावसे ( अलग २ ) कितने पुष्प बिखरे हुए थे, और उस अन्नसे जलतरङ्गके समान बाष्प उठते थे। कोई वृद्ध स्त्री, कितने अखण्डित मुखवाली मछलियोंको ले आई थी, उसमें नूतन मांसखण्ड भी मिश्रित था। कितनी वृद्धस्त्रियाँ, लाल कपड़ोंके अन्दर जलाए गए कितने कर्पूरोंके प्रदीपको लेकर आई थीं, कोई उसके पीछे-पीछे मार्गमें अविच्छिन्न जलधारा देती थी कोई गोरो-चनामें मिली हुई श्वेतसर्षपको मार्गमें विक्षेर करती थी, और दूसरी कोई अञ्जलिपूर्ण जल लेकर आई थी। इस प्रकार उस देशके और उस कुलके आचारको जाननेवाली अन्तःपुरस्थ वृद्धस्त्रियाँ रानीके निमित्त खाद्य द्रव्य लानेके

१. अविच्छन्न···। २.···सित···। ३.···कुसुमाञ्जलि···। ४.···गम्यमान···। ५. पटलप्र···। ६. शीतलप्रदीपैश्च। ७. अभिचार···।

लेनान्तःपुर-जरतीजनेन क्रियमाणावतारणक मङ्गलाम्, धवलाम्बर-विविक्त-वेषेण प्रमुदितेन प्रस्तुतमङ्गल-प्रायालापेन पौरजनेनोपास्यमानाम्, उपारूढगर्भतयाऽन्तर्गतकुलशैलामिव क्षितिम्, सलिल-निमग्नैरावतामिव मन्दाकिनीम्, गुहागतसिंहामिव गिरिराजमेखलाम्, जलधरपटलान्तरित-दिनकरामिव दिवसश्रियम्, उदयगिरि-तिरोहित-शशिमण्डलामिव विभावरीम्, अभ्यर्ण-ब्रह्म-कमल-विनिर्गमामिव नारायणनाभिम्, आसन्नागस्त्योदयामिव दक्षिणाशाम्, फेनावृतामृतकलशामिव क्षीरोदवेलाम्, गोरोचनाचित्रित-दशमनुपहतमतिधवलं दुकूलयुगलं वसानां विलासवतीं ददर्श।

ससम्भ्रम-परिजन-प्रसारित-करतलावलम्बनावष्टम्भेन वामजानु-विन्यस्तहस्तपल्लवां प्रचलित-भूषणमणि-रव-मुखरमुत्तिष्ठन्तीं विलासवतीम् 'अलमलमत्यादरेण, देवि! नोत्था-

---

धवलेति धवलं श्वेतम् अम्बरं वस्त्रं तद्रूपो विविक्तः पूतो वेषो नेपथ्यं यस्य तेन तादृशेन, प्रमुदितेन हर्षितेन, प्रस्तुत उपक्रान्तो मङ्गलप्रायः अतिशयेन मङ्गलरूपः आलापः संलापो येन तथोक्तेन परिजनेन सेवकवर्गेण उपास्यमानां पादसंवाहनादिभिः सेव्यमानाम्।

उपारूढेति। उपारूढ उत्पन्नो यो गर्भस्तस्य भावस्तया हेतुना। इतोऽग्रेऽयमर्थः सर्वत्र सम्बद्ध्यते। अन्तर्गतः कुलशैलो यस्यास्तां क्षितिं वसुधामिव, सर्वेषामाश्रयरूपत्वेन कुलशैलसुतयोः सादृश्यम्। सलिले जले निमग्नो ब्रुडित ऐरावतः तन्नामा गजो यस्याः तां तादृशीम्, मन्दाकिनीम् आकाशगङ्गामिव, गुहायां कन्दरायां गतः प्राप्तः सिंहः पञ्चाननो यस्यास्तां गिरिराजस्य हिमालयस्य मेखलां मध्यभागमिव जलधरपटलेन अभ्रसमूहेन अन्तरितो व्यवहितो दिनकरः सूर्यो यस्यां तां तादृशीं दिवसश्रियमिव उदयगिरिणा उदयाचलेन तिरोहितम् आच्छादितं शशिमण्डलं यस्यां तां विभावरीं रात्रिमिव, अभ्यर्णे निकटे ब्रह्मकमलस्य विरिञ्चिजन्मस्थानीभूतपद्मस्य विनिर्गमो बहिर्भावो यस्याः तां तादृशीं नारायणस्य विष्णोः नाभिमिव कूपिकामिव, आसन्नो निकटवर्ती अगस्त्यस्य पीतजलधेः उदय उद्गमनं यस्यां तां तादृशीं दक्षिणाशां दक्षिणदिशमिव, तथा फेनैः डिण्डीरैः आवृत आच्छादित अमृतकलसः पीयूषकुम्भो यस्यां तां तादृशीं क्षीरोदस्य समुद्रस्य वेलां जलविकृतिमिव विद्यमानाम्, तथा गोरोचनया चित्रिता पिङ्गलवर्णीकृता दशाः प्रान्तभागा यस्य तत्तादृशम्, अनुपहतं पूर्वं परिधानाभावेनापर्युषितम् अभिनवमित्यर्थः, अतिधवलम् अतिशुभ्रं दुकूलयुगलं सूक्ष्मवसनद्वयं वसानां परिदधानाम्। 'क्षौमपट्टे दुकूलेऽस्त्री इति मेदिनी। इह मालोपमालङ्कारः।

ससम्भ्रमेति। ससम्भ्रमेण भूपतिं दृष्ट्वा ससत्वरेण परिजनेन सेवकेन कयाचित् परिचारिकया प्रसारितं विस्तारितं यत् करतलं हस्ततलं तदेव आलम्बनम् आधारः तस्य अवष्टम्भेन सहायेन, वामजानुनि अपसव्यनलकीले विन्यस्तः स्थापितो हस्तपल्लवो यया तां तादृशीम्, अन्यथा गर्भभरेणोत्थानासम्भवादित्युभयत्राप्याशयः। प्रचलितानि शरीरसञ्चालनेन चलितानि भूषणानि अलङ्काराः तेषां मणिरवेण रत्नध्वनिना

---

समय भौतिक अनिष्टके निवारण करनेके लिए मङ्गलाचरण करती थीं। एवं श्वेतवस्त्रका स्वच्छ वेश धारणकर परस्पर मङ्गलमय आलाप करते-करते परिजनवर्ग आनन्दसे रानीकी सेवा करते थे। गर्भ उत्पन्न हो जानेसे अन्तर्गत कुल-पर्वतवाली पृथिवीके समान, ऐरावत हस्तीके जलमध्यमें निमग्न होने पर मन्दाकिनीके समान, कन्दरा (गुफा) में घुसे सिंहवाली हिमालयकी मेखला (मध्यदेश) के समान, मेघसमूहसे आवृत सूर्यवाली दिवस-श्रीके समान, उदयाचलसे ढके चन्द्रमण्डलवाली रात्रिके समान, आसन्न ब्रह्म-कमलके उत्पत्ति-समयकी विष्णुकी नाभिके समान, अगस्त्यका उदय समीपवर्त्ती होने पर दक्षिण दिशाके समान, एवं फेनद्वारा आवृत अभ्यन्तरमें अमृत कुंभ रहनेके समयमें क्षीरोद-सागरकी जलवृद्धिके समान विलासवतीको राजाने देखा, उस समय रानी अत्यन्त श्वेतवर्ण नये दो सूक्ष्मवस्त्र खण्ड पहनी हुई थी, जिनके प्रान्तभाग गोरोचनसे चित्रित थे।

उस समय राजाको देखकर किसी परिचारिकाने अपना हाथ फैला दिया, रानी दाहिने हाथद्वारा उसके हाथ को पकड़कर, बायें घुटने पर बायें हाथ रखकर उठने लगी, उस अङ्गसञ्चालनके समयमें हिलते हुए आभूषणोंके मणियोंकी झन-झनाहट होने लगी यह देखकर विलासवतीसे—'ठहरो ठहरो, बहुत आदर हुआ, (इस अवस्थामें

---

१. ···अवतरण··· २. ···मङ्गल्य···। ३. मेखलामिव दिनश्रियम्। ४. ···तिलकचित्रित। ५. मणिधवलं। ६. आलम्बनावष्टम्भेन। ७. प्रचल

तथ्यम्' इत्यभिधाय सह तया तस्मिन्नेव शयनीये पार्थिवः समुपाविशत्। प्रमृष्ट-चामीकर-चारुपादे[1] धवलोपच्छदे चासन्ने[2] शयनान्तरे शुकनासोऽपि न्यषीदत्।

अथ तामुपारूढगर्भामालोक्य हर्षभरमन्थरेण मनसा प्रस्तुतपरिहासो राजा-'देवि ! शुकनासः पृच्छति-'यदाह कुलवर्द्धना किमपि, तत् किं तथैव' ?' इत्युवाच। अथाव्यक्त-स्मित[3]च्छुरित-कपोलाधरलोचना लज्जया दशनांशुजालक[4]-व्याजेनांशुकेनेव मुखमाच्छादयन्ती विलासवती तत्क्षणमधोमुखी तस्थौ। पुनः पुनश्चानुबध्यमाना[5] 'किं माम[6]तिमात्रं त्रपापरवशां करोषि नाहं किञ्चिदपि वेद्मि' इत्यभिदधाना तिर्यग्वलित-तारकेण चक्षुषा अवनतमुखी राजानं साभ्यसूयमिवापश्यत्। अपरिस्फुट-हासज्योत्स्ना-विशदेन मुखशशिना

---

मुखरं सशब्दं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणमिदम्। उत्तिष्ठन्तीम् उत्थानं विदधतीं विलासवतीं पार्थिवः राजा—देवि ! अत्यादरेण अतिप्रयत्नेन अलमलं कृतं कृतम्, अनेनादरातिशयो व्यञ्जितः। नोत्थातव्यं नोत्थानं विधेयम् इत्यभिधाय इत्युक्त्वा तस्मिन्नेव शयनीये पर्यङ्के तया विलासवत्या सह समुपाविशत् उपविष्टवान्।

प्रमृष्टेति। प्रमृष्टाः उज्ज्वलीकृताः परिष्कृता इत्यर्थः, चामीकरस्य सुवर्णस्य चारुपादा मनोहरपादा यस्य तस्मिन् तादृशे, धवलः शुभ्रः उपच्छदः उत्तरपटः (आस्तरणवसनं) यत्र तथोक्ते आसन्ने समीपवर्त्तिनि, शयनान्तरे अन्यस्यां शय्यायां शुकनासोऽपि न्यसीदत् उपविष्टवान्।

अथेति। उपारूढगर्भाम् उत्पन्नगर्भां तां विलासवतीम् अवलोक्य निरीक्ष्य हर्षभरेण प्रमोदातिशयेन मन्थरं जडं तेन तादृशेन, मनसा चित्तेन, प्रस्तुतः प्रारब्धः परिहासो नर्मवचनविन्यासो येन सः तादृशः, राजा—देवि ! शुकनासः पृच्छति प्रश्नं करोति, कुलवर्धना किमपि यदाह कथितवती तत्किं तथैव इत्युवाच इत्युक्तवान्। इह प्रश्ने परिहासावगमस्तु शुकनास इत्यन्यकर्त्तृनिर्देशादिति बोध्यम्।

अथेति। अथ प्रश्नानन्तरम् अव्यक्तम् अस्पष्टं यत् स्मितं मन्दहास्यं तेन छुरितं रञ्जितं कपोलाधरलोचनं गण्डोष्ठचक्षुर्यस्याः तादृशी, इह बहुवचनविग्रहो न न्याय्यः प्राण्यङ्गत्वादिति सुधीभिराकलनीयम्। लज्जया त्रपया दशनांशुजालकस्य दन्तकिरणसमूहस्य व्याजेन छलेन अंशुकेनेव शुभ्रवस्त्रेणेव मुखं वदनम् आच्छादयन्ती आवरणं विदधती विलासवती तत्क्षणं तस्मिन् काले अधोमुखी अवाङ्मुखी तस्थौ स्थिता। इह सापह्नवोत्प्रेक्षा।

पुनरिति। पुनः पुनः मुहुर्मुहुः अनुबध्यमाना सनिर्बन्धं पृच्छ्यमाना। अतिमात्रम् अतिसङ्कटं त्रपापरवशां लज्जाधीनां करोषि विदधासि। किञ्चिदपि स्वल्पमात्रमपि अहं न वेद्मि न जानामि' इत्यभिदधाना इति ब्रुवाणा तिर्यग् वलिता वक्रभावेन चलिता तारका कनीनिका यस्य तेन तथोक्तेन। चक्षुषा नयनेन अवनतमुखी आनम्रानना राजानं भूपतिं साभ्यसूयमिव ईर्ष्यया सह विद्यमानमिव अपश्यत् अवलोकितवती। पतिव्रताया धीरानायिकाया तथाविधप्रश्नस्यानुचितत्वात्साभ्यसूयमित्याशयः।

अपरिस्फुट इति। अपरिस्फुटः अस्पष्टः यो हासः स ज्योत्स्ना चन्द्रिका इव तया विशदेन निर्मलेन, मुखं वदनं शशीव चन्द्र इव तेन तादृशेन, उपलक्षितो भूभुजां राज्ञां पतिरीश्वरः तारापीडः एनां विलासवतीं भूयः पुनरपि बभाषे उवाच—

---

अत्यन्त गौरव दिखानेका प्रयोजन नहीं है ) बस, देवि ! तुम मत उठो' यों कहकर राजा उसके साथ उसी पलङ्ग पर बैठ गया। शुकनास भी समीपवर्त्ती एक दूसरे पलङ्ग पर बैठ गया। उस शय्याके ऊपरमें भी शुभ्रवर्ण आस्तरणवस्त्र ( चादर ) था एवं उस पलङ्गके सुन्दर पाये स्वच्छ सुवर्णके बने थे।

तदनन्तर रानी विलासवतीको उत्पन्न गर्भ-सहित देखकर अत्यन्त आनन्दसे विह्वल चित्त होकर परिहास करते-करते राजा बोला—'देवि ! शुकनास पूछते हैं कि—'कुलवर्धनाने जो कुछ कहा है, वह उस रूपसे सत्य है क्या' ?'। उसके बाद मन्द-मन्द मुस्कुराहट विलासवतीके कपोल, ओष्ठ और आँखों पर चमकी, उस समय उसने लज्जासे दन्तकिरणोंके बहाने मानों वस्त्रद्वारा ही मुखको आच्छादन कर अधोमुख कर लिया। किन्तु जब राजाने बार बार आग्रहसे पूछा तब बोली कि—'मुझे अत्यन्त लज्जित क्यों करते हो ! मैं कुछ नहीं जानती'। इतना कहकर, अवनत मुख कर, आँखकी पुतलियोंको जरा तिरछी करके, उसने राजाको मानों अत्यन्त असूयाके साथ

---

१. चारुपदे। २. चासन्नशयनान्तरे। ३. क्वचित् 'स्मित' पदं नास्ति। ४. दशनांशुकजाल…। ५. अनुरुध्यमाना। ६. किं नाम माम्।

भूभुजां पतिरेनां[1] भूयो बभाषे—'सुतनु ! यदि मदीयेन वचसा[2] तव त्रपा वितन्यते, तदयमहं स्थितो निभृतम् । अस्य तु किं प्रतिविधास्यसि विघटमान-दल-कोश-विशद-चम्पक-द्युतेः सवर्णतया परिमलानुमीयमान[3]-कुङ्कुमाङ्गरागस्य पाण्डुरतां[4]मापद्यमानस्य वर्णस्य[5], अनयोश्च गर्भ-सम्भवामृता[6]वसेक-निर्वाप्यमाण[7]-शोकानलप्रभवं धूममिव वमतोः[8] आनन[9]गृहीत-नीलोत्पलयो-रिव चक्रवाकयोः तमाल-पल्लव-लाञ्छित-मुखयोरिव कनक[10]कलसयोः सकृदिवालिखित[11]-कृष्णा-

---

इह 'मुखशशिना' इत्यत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्यनेनोपमितसमास एव विधातव्यः, यतो हि चन्द्रेण सह राज्ञो वैशिष्ट्यासम्भवः । एवञ्चैतदनुसारेण 'हासज्योत्स्ना' इत्यत्राप्येष एव समासोऽङ्गीकरणीयः । तथा च सति लुप्तोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

सुतन्विति । सुष्ठु सुन्दरी तनुः शरीरं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे सुतनु ! मदीयेन मदुक्तेन वचसा वाक्येन यदि चेत् त्रपा लज्जा वितन्यते विस्तार्यते । निभृतम् अत्यर्थं तूष्णीं स्थितः ।

अस्येति । विघटमानानि भिद्यमानानि दलानि पर्णानि यस्य स तथोक्तः कोशो मुकुलं यस्य तादृशस्य विशदस्य स्वच्छस्य चम्पकस्य चम्पकपुष्पस्य द्युतिः कान्तिः तस्याः सवर्णतया तुल्यवर्णतया कारणेन परिमलेन केवलसुगन्धेन अनुमीयमानः कुङ्कुमाङ्गरागः वाह्लीकदेशोत्पन्नपाण्डुरकुङ्कुमानुलेपनं यत्र तस्य तादृशस्य कुङ्कुमाङ्गरागः देहकान्तिश्चेति द्वयमपि चम्पकवत् समानपाण्डुरमिति पार्थक्येन प्रत्यक्षासम्भवात् परिमलेन कुङ्कुमाङ्गरागोऽनुमीयत इत्याशयः । अत्रार्थे प्रमाणञ्च—

'वाह्लीकदेशसञ्जातं कुङ्कुमं पाण्डुरं भवेत्'

इति भावप्रकाशवचनमेव । पाण्डुरताम् अन्तर्वत्नीत्वात् पाण्डुत्वम् आपद्यमानस्य प्राप्नुवतः, अस्य पुरोऽवलोक्यमानस्य, वर्णस्य तव शरीरशोभायाः किं प्रतिविधास्यसि कं प्रतीकारं करिष्यसि । तव त्रपामाशङ्क्य निभृतेऽपि मयि अन्तर्वत्नीत्वेन स्वयं प्रकाशमानाया देहपाण्डुरतायाः सर्वथैव गोपनसम्भवाशक्यत्वमेवेत्याशयः । इहोन्मीलितमलङ्कारः ।

अनयोश्चेति । गर्भसम्भवः गर्भोत्पत्तिरेव अमृतं तस्य अवसेकेन सेचनेन निर्वाप्यमाणः निर्वाणं प्राप्यमाणः शोकः चिरकालीनसुतानुत्पत्तिनिमित्तको विषाद एव अनलो वह्निः तस्मात् प्रभव उत्पत्तिर्यस्य तं तादृशम्, धूमं वमतोरुद्गिरतोरिव श्याममुखत्वादित्याशयः । आननयोर्मुखयोः गृहीते आत्ते नीलोत्पले कुवलये याभ्यां तयोः चक्रवाकयोः रथाङ्गाह्वयोः पक्षिणोरिव विद्यमानयोः, तमालपल्लवाभ्यां तापिच्छकिसलयाभ्यां लाञ्छिते चिह्निते मुखे उपरिभागद्वयं ययोस्तयोः कनककलसयोरिव सुवर्णकुम्भयोरिव, सकृत् एकवारमात्रं न तु पूर्ववत् प्रत्यहमित्याशयः, आलिखिते चित्रिते कृष्णागुरुपङ्केन गाढकृष्णागुरुद्रवेण पत्रलते पत्रवल्लीयुगलं ययोस्तयोरिव विद्यमानयोः, तथा श्यामायमाने श्यामतामापद्यमाने चूचुके स्तनाग्रभागद्वयं ययोस्तथोक्तयोः 'चूचुको ना कुचाननम्' इति रत्नकोषः । अनयोश्च पयोधरयोः कुचयोः किं प्रतिविधास्यसि कं प्रतीकारं करिष्यसि । कुचाग्रश्यामता गर्भव्यतिरेकेणानुपपद्यमाना तद्भावं प्रकटयतीत्याशयः । इह 'गर्भसम्भवामृते'त्यत्र 'निर्वाप्यमाणशोकानले'त्यत्र च परम्परितरूपकमलङ्कारः, 'वमतोरिव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः । 'चक्रवाकयोरिव' इत्यत्र चोपमा । 'आलिखिते'त्यादौ क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

---

एक बार देखा । चन्द्रिकाके समान अस्फुट हास्यसे प्रकाशमान मुखचन्द्रसे राजराजेश्वर फिर बोला—'सुन्दरि ! मेरे वचनसे ही यदि तुम्हें लज्जा बढ़ती है तो, लो, यह मैं चुप हूँ, किन्तु तुम्हारे शरीरका यह वर्ण, खिलते हुए निर्म्मल चम्पककुसुम-कान्तिके समान दीख रहा है, इसका कुङ्कुम-लेप एकसा होनेके कारण सुगन्धितद्वारा ही पहचाना जाता है । एवं इस क्रमसे पाण्डुता प्राप्त हो गई है, अतएव इसका प्रतीकार तुम क्या करोगी ? और इस स्तनयुगलका अग्रभाग श्याम हो गया है, इससे प्रतीत हो रहा है कि—गर्भोत्पत्तिरूप अमृतसे सींचे जानेके कारण शान्त होती हृदयकी शोकरूपी अग्नि बुझ गई है, उसके धूमको मानो उगल रहा है । एवं नीलोत्पलधारी चकवा-चकवीके समान, एवं तमालके पत्तेसे आच्छादित मुखवाले सुवर्णके कलशके समान देखनेमें आ रहा है और काले

---

१. पतिर्भूयो । २. मदीयवचसा । ३. ···मानस्य कुङ्कुमाङ्गरागस्य, कुङ्कुमरागस्य । ४. पाण्डुतामा··· । ५. कुत्रचित् 'वर्णस्य' इति पदं न दृश्यते । ६. क्वचित् 'अमृत' इति पदं नास्ति । ७. हृदयशोका । ८. वहतोः । ९. अन्तर्गृहीत, गृहीत··· । १०. क्वचित् 'कनक' इति पदं नास्ति । ११. लिखित··· ।

गुरु-पङ्क-पत्रलतयोः श्यामायमानचूचुकयोः पयोधरयोः, अस्य च प्रतिदिनमतिगाढतामापद्य-मानेन काञ्चीकलापेन दूयमानस्य नश्यत्त्रिवलि-लेखावलयस्य कृशिमानमुज्झतो मध्यभागस्य' इत्येवं ब्रुवाणमवनिपालमन्तर्मुखं-विनिगूढहासः शुकनासः-'देव ! किमायासयसि देवीम्, इयमनया कथयाऽपि लज्जते, त्यज कुलवर्द्धना-कथित-वार्त्तासम्बद्धमालापम्' इत्यब्रवीत् । एवं विधाभिश्च-नर्म्मप्रायाभिः कथाभिः सुचिरं स्थित्वा शुकनासः स्वभवनमयासीत् । नरेन्द्रोऽपि तस्मिन्नेव वासगृहे तया सह तां निशामत्यवाहयत् ।

ततः क्रमेण यथासमीहित-गर्भदोहद-सम्पादन-प्रमुदिता पूर्णे प्रसवसमये पुण्येऽहनि

---

अस्येति प्रतिदिनं प्रत्यहम् अतिगाढताम् उदरस्य क्रमेण स्थूलतया दृढसंलग्नत्वम् आपद्यमानेन प्राप्नुवता काञ्चीकलापेन रशनादाम्ना, दूयमानस्य अत्यन्तदृढसंलग्नतया पीड्यमानस्य, नश्यत् क्रमेण विलुप्यमानम् उदरपीवरत्वेनेत्याशयः, त्रिवलिलेखानां वलित्रयरूपरेखाणां वलयं मण्डलं यत्र तस्य तथोक्तस्य, कृशस्य भावः कृशिमा कृशत्वं तम् उज्झतः क्रमेण त्यजतः, अस्य च मध्यभागस्य उदरस्य किं प्रतिविधास्यसीति सम्बन्धः । मध्यभागस्यापि गर्भव्यतिरेकेणेदृशरूपत्वमसम्भवप्रायमिति सर्वथैव गोपनासम्भव इत्याशयः ।

इत्येवमिति ! इत्येवं पूर्वोक्तविधिना ब्रुवाणं कथयन्तम् अवनिपालं तारापीडम्, अन्तर्मुखे मुखमध्ये विनिगूढो गाम्भीर्यभङ्गभीत्या संवृतो हासो येन सः तादृशः । शुकनासः-'देव स्वामिन् ! देवीं विलासवतीं किं किमर्थम् आयासयसि खेदयसि, इयं देवी अनया पूर्वप्रतिपादितया कथया वृत्तान्तेनापि लज्जते त्रपते । कुलवर्धनाकथितवार्तासम्बद्धं कुलवर्धनाप्रतिपादितकथासम्बद्धम् आलापम् आभाषणं त्यज दूरीकुरु' इति एवं प्रकारेण अब्रवीत् अवोचत् ।

एवमिति । एवं विधाभिः पूर्वकथिताभिः नर्मप्रायाभिः परिहासबाहुल्याभिः कथाभिः उदन्तैः सुचिरं चिरकालं स्थित्वा तत्रावस्थानं विधाय शुकनासः स्वभवनं निजगृहम् अयासीत् ययौ । नरेन्द्रो राजा तारापीडोऽपि तस्मिन्नेव वासगृहे वासभवने तां निशां रात्रिं तया विलासवत्या सह अत्यवाहयत् अयापयत् ।

तत इति । ततः तदनन्तरं यथासमीहितेन यथेप्सितेन शक्त्यनुसारेणेत्यर्थः, गर्भदोहदस्य गर्भकालीनमनोरथस्य सम्पादनेन परिपूर्णतापादनेन प्रमुदिता विशेषसन्तुष्टा विलासवती । गर्भकाले हि नार्यास्तत्तन्मनोरथस्य परिपूर्णतापादनं यथाशक्त्यवश्यमेव विधेयम् । तथा चाभिहितं प्राच्यैः—

'गर्भिण्यास्तत्तदिच्छाया विशेषेण प्रयुज्यते । दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ॥' इति ।

पूर्णे उपस्थिते प्रसवसमये उत्पत्तिकाले, पुण्येऽहनि शुभवासरे, अनवरतं निरन्तरं गलन्तीभि

---

अगरुसे इसके ऊपरमें केवल एक बार मानो इन पर सदाके लिए फूल-पत्ते काढ़े हुए हैं ऐसा प्रतीत हो रहा है, इसका भी तुम क्या प्रतीकार करोगी ? और तुम्हारा उदर दिन-प्रतिदिन पूर्व कृशताका परित्याग कर रहा है ( क्रमसे मोटा हो रहा है ), इससे उदरस्थ तीनों सिलवटें अदृश्य होती जा रही हैं । एवं काञ्ची ( करधनी ) के अधिक तंग होनेसे मध्यभाग पीड़ा पा रहा है, इसका भी तुम क्या उपाय करोगी ?'—इस प्रकार कहते हुए राजासे मुँहके भीतर हँसी छिपाकर शुकनासने कहा—'महाराज ! महारानीको क्यों कष्ट देते हैं ? ये ऐसी बातोंसे लज्जित होती हैं । इसलिए कुलवर्धनाने जो संवाद कहा है, उस विषयकी बातचीत छोड़ दीजिए ।' इस प्रकारके परिहास-मय कथोपकथनसे उस स्थानमें बहुत देर तक रहकर शुकनास अपने घर चला गया, राजाने भी उसी शयन-गृह में रानीके साथ उस रातको बिताया ।

इसके कुछ समय बाद रानी गर्भकालीन जिस-जिस वस्तुकी इच्छा प्रकट करती थी, राजा सामर्थ्यके अनु-

---

१. अतिगाढतरताम्, आपाद्यमानेन । २. रेषा । ३. उद्धतः । ४. अन्तर्मुखहासः, मुखनिगूढहासः । ५. अनयाऽपि कथया । ६. आलापकम्, आलापमपि । ७. वासगृहे ताम् । ८. समीहित''', समुचित''' । ९. पूर्णप्रसव ।

अनवरत-गलन्नाडिका-कलित-काल[1]-कलैः बहिरागृहीतच्छायैर्गणकैर्गृहीते लग्ने प्रशस्तायां वेलायामिरम्मदमिव मेघमाला[2] सकल-लोकहृदयानन्दकारिणं विलासवती सुतमसूत। तस्मिन् जाते सरभसमितस्ततः प्रधावितस्य परिजनस्य चरणशत-संक्षोभ-चलित-क्षितितलो भूपालाभिमुख-प्रसृत स्खलद्गति-विकल[3]कञ्चुकिसहस्रो जन-सम्मर्दनिष्पिष्यमाण-पतित-कुब्ज-वामन-किरातगणो विस्फार्यमा[4]णान्तःपुर-जनाभरण-झङ्कारमनोहरः पूर्णपात्राहरण[5]-विलुठ्यमा[6]न-वस-

जलस्राविणीभिः नाडिकाभिः समयनिरूपकयन्त्रविशेषैः घटिकाभिरित्यर्थः, कलिता निश्चिता ज्ञाताः कालकला-सूक्ष्मकालांशा यैस्तैः तादृशैः। नाडिका हि सार्द्धद्वादशपलपरिमितताम्ररचितः सार्द्धद्वादशपल परिमितसलिलपूरणीयः पञ्चरक्तिकापरिमितसुवर्णरचितशलाकाया अधश्छिद्रसयुक्तो यन्त्रविशेषः। तया च शलाकया सलिलबिन्दुपतनात्तत्सलिले च चिह्नविशेषोपगते समयनिरूपणं पूर्वमक्रियत। विष्णुपुराणादावेतद्विस्तरप्रकारोऽन्वेषणीयः।' तथा बहिः अङ्गणादौ आगृहीता पूर्वपश्चिमादिदेशविशेषेण निरूपिता छाया पादच्छाया शङ्कुच्छाया वा यैस्तैस्तादृशैः, पादच्छायाग्रहणेन पूर्वं समयनिरूपणमक्रियत। निरूपितञ्च ज्यौतिषे—

'पच्छायां द्विगुणीकृत्य चतुर्द्दशसमन्विताम्। पञ्चग्रहकराद्भागलब्धं दण्डादिकं भवेत्॥'

गणकैर्ज्योतिर्विद्भिः गृहीते निश्चिते लग्ने मेषादिके प्रशस्तायाम् उच्चस्थैर्ग्रहैर्जातकस्य सुखसौभाग्यद्योतिकायां, वेलायां लग्नान्तर्वर्तिहोरायां विलासवती मेघमाला कादम्बिनी इरम्मदमिव मेघोत्पन्न वह्निमिव 'मेघज्योतिरिरम्मदः' इत्यमरः। सकललोकहृदयानां समस्तलोकचित्तानाम् आनन्दकारिणं प्रमोदजनकं सुतं पुत्रम् असूत सुषुवे। 'षूङ्-प्राणिप्रसवे' इत्यस्य लङि रूपम्।

तस्मिन्निति। तस्मिन् राजपुत्रे जाते उत्पन्ने राजकुले राज्ञां समुदाये अतिमहान् दिष्टिवृद्धिसम्भ्रमः आनन्दवृद्धिजन्या जनानां त्वरा अभूदित्यनेन सम्बन्धः। इह प्रथमान्तानि पदानि 'सम्भ्रम' इत्यस्य विशेषणानि। सरभसं हर्षेण सवेगम् इतस्ततः समन्तात् प्रधावितस्य उच्चलितस्य परिजनस्य बाह्याभ्यन्तरसेवकजनस्य चरणशतस्य पादसमूहस्य संक्षोभेण आघातेन चलितं कम्पितं क्षितितलं यत्र स तादृशः। भूपालाभिमुखं नृपसम्मुखं सत् प्रसृतं वार्त्तां कथयितुं प्रस्थितं स्खलद्गतिं भ्रष्टगमनं विकलं प्रमोदसमाकुलञ्च कञ्चुकिसहस्रम् अन्तःपुरचरवृद्धब्राह्मणसमूहो यत्र सः तादृशः। कञ्चुकिलक्षणञ्च—

'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥' इति।

जनानां लोकानां सम्मर्द्दन सङ्घर्षेण निष्पिष्यमाणः पीड्यमानः अत एव पतितः स्रस्तः, कुब्जाः पृष्ठगुडाः 'गडुः पृष्ठगुडे कुब्जे' इति मेदिनी, वामनाः खर्वाकृतयः 'वामनो नीचि खर्वे च' इति च मेदिनी, किराताः केवलं स्वल्पतनवः 'किरातः स्यादल्पतनौ भूनिम्बे म्लेच्छभिल्लयोः' इत्यनेकार्थः, तेषाञ्च गणः समूहो यत्र सः तादृशः। विस्फार्यमाणो वृद्धिं प्राप्यमाणो यः अन्तःपुरजनानाम् अवरोधस्त्रीणाम् आभरणझङ्कारो भूषणनिनादः तेन मनोहरो हृदयहारी। उत्सवे मित्रवर्गैर्यानि हठादाकृष्य नीयन्ते तानि पूर्णपात्राणीत्युच्यन्ते, तथाहि—

'वर्द्धापकं यदानन्दादलङ्कारादिकं पुनः। आकृष्य गृह्यते पूर्णपात्रं पूर्णानकञ्च तत्॥'

इति हारावली। तेषाम् आहरणेन ग्रहणेन विलुठ्यमानानि हस्ताहस्तिकरणसम्भ्रमेण स्रस्तानि

सार उन सभी वस्तुओंको ही परिपूर्ण कर देता था, जिससे रानी अत्यन्त आनन्दित होती थी। क्रमसे प्रसवकाल उपस्थित होने पर एक शुभदिन में घटीयन्त्रसे निरन्तर जलबिन्दु टपक रहे थे, उसके द्वारा कोई-कोई ज्योतिषी सूक्ष्म समयका निरूपण कर रहे थे, और कोई-कोई ज्योतिषी बाहर ( अँगने आदि ) में जाकर अपनी छायाको नापकर लग्नका निरूपण करते थे। इस रूपमें मेघमाला जिसप्रकार मेघज्योतिको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार विलासवतीने प्रशस्त समयमें सब लोगोंके हृदयको आनन्द देनेवाले पुत्रको उत्पन्न किया।

उस राजपुत्रके उत्पन्न होने पर नगरमें धूम मचानेवाला, उत्सवकी बधाइयोंका बड़ाभारी कोलाहल राजकुलमें मच गया। परिजनवर्ग आनन्दके साथ वेगसे इधर-उधर दौड़ने लगे, उनके चरणोंके आघातसे धरातल चलायमान हो गया। कञ्चुकिगण आनन्दसे व्यग्र होकर राजाके पास संवाद कहनेके लिए गिर-गिरकर दौड़ने लगे। मनुष्योंकी भीड़में कुचल कर कुबड़े, बौने ( खर्वदेह, वामन ) और कृशशरीरके मनुष्योंके झुण्ड पृथिवी पर

१. कलेः…कले। २. लधरमाला। ३. गतिकञ्चकि, गतिशून्य…। ४. घूर्णमानान्तःपुर…। ५. पूर्णपात्रहरण…। ६. विलुप्यमान।

नभूषणः संक्षोभित-नगरो राजकुले दिष्टिवृद्धिसम्भ्रमोऽतिमहानभूत् । अनन्तरञ्च मन्दर[1]म-थ्यमानजलनिधि[2]-घोष-गम्भीर-दुन्दुभि-ध्वान-पुरःसरेण प्रहत-मृदु-मृदङ्ग-शङ्ख-काहलानक-निवह-निनाद[3]-निर्भरेण मङ्गल-पटह-पटुरवसंवर्द्धितेन अनेक-जनसहस्र-कलकल-बहुलेन त्रिभुवनमापूरयता उत्सवकोलाहलेन ससामन्ताः सान्तःपुराः[4] सप्रकृतयः सराजलोकाः सवे-श्यायुवतयः सबालवृद्धा ननृतुरागोपालमुन्मत्ता[5] इव हर्षनिर्भराः प्रजाः । प्रतिक्षण[6]म् अवर्द्धत चन्द्रोदयेनेव जलनिधि[7]: कलकलमुखरो राजसूनोर्जन्म[8]-महोत्सवः ।

पार्थिवस्तु तनयानन-दर्शन-महोत्सव[9]-हृतहृदयोऽपि दिवसवशेन मौहूर्त्तिकगणोपदिष्टे प्रशस्ते मुहूर्त्ते निवारित-निखिलपरिजनः शुकनासद्वितीयः मणिमय[10]-मङ्गलकलस-युगल[11]शून्येन

---

वसनानि वस्त्राणि भूषणानि अलङ्काराश्च यत्र स तादृशः, संक्षोभितं क्षोभं प्रापितं नगरं राजधानी येन स तादृशः।

अनन्तरमिति । मन्दरेण मेरुपर्वतेन मथ्यमानस्य विलोड्यमानस्य जलनिधेः क्षीरसमुद्रस्य घोषवत् शब्दवत् गम्भीरो दुन्दुभिध्वनिः भेरीनिनादः पुरःसरो यस्य तेन तादृशेन, प्रहता वादिता ये मृदवः कोमलशब्दविधायिनो मृदङ्गा मुरजाः, शङ्खाः कम्बवः, काहला वाद्यविशेषाः, आनकाः दुन्दुभयश्च तेषां निवहस्य समूहस्य निनादेन ध्वनिना निर्भरः पूर्णः अत्यर्थं वर्द्धित इत्यर्थः तेन तादृशेन । मङ्गलपटहानां मङ्गलार्थवादितढक्कानां ( चर्मवाद्यानां ) पटुरवैः विपुलशब्दैः संवर्द्धितो वृद्धिं प्रापितः तेन तादृशेन । अनेकेषां जनसहस्राणां लोकसमूहानां कलकलैः कोलाहलैः बहुलः अधिकीभूतस्तेन तादृशेन, त्रिभुवनं त्रिविष्टपम् आपूरयता पूर्णीकुर्वता उत्सवकोलाहलेन महकलकलेन, सामन्तैः स्वदेशपार्श्ववर्त्तिभिः नृप-तिभिः सहेति ससामन्ताः, अन्तःपुरैः अवरोधस्थजनैः सहेति सान्तःपुराः, प्रकृतिभिः पौरलोकैः सहेति सप्रकृतयः, राजलोकैः नृपसम्बन्धिजनैः सहेति सराजलोकाः, वेश्यायुवतिभिः वाराङ्गनाभिः सहेति सवेश्यायुवतयः, बालैः वृद्धैश्च सहेति सबालवृद्धाः, प्रजाः हर्षनिर्भराः प्रमोदपूर्णाः उन्मत्ता इव क्षीवा इव, गोपालान् वल्लवान् मर्यादीकृत्येति आगोपालं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्, ननृतुः नृत्यञ्चक्रुः ।

प्रतीति । चन्द्रोदयेन कुमुदबान्धवोद्गमेन जलनिधिः समुद्र इव कलकलैः कोलाहलैः मुखरः शब्दा-यमानः, राजसूनोः नृपात्मजस्य जन्ममहोत्सवः प्रतिक्षणं निरन्तरम् अवर्द्धत वृद्धिं प्राप ।

पार्थिव इति । पार्थिवो राजा तारापीडः 'सूतिकागृहम् अपश्यत्' इति दूरस्थया क्रियया सम्बन्धः । तनयाननस्य आत्मजमुखस्य दर्शनम् अवलोकनमेव महोत्सवः तेन हृतहृदयोऽपि गृहीतचित्तोऽपि दिवस-वशेन शुभकालानुरोधेन मौहूर्त्तिकगणो दैवज्ञसमूहस्तेन उपदिष्टे निवेदिते प्रशस्ते उत्कटफलसूचके मुहूर्त्ते, निवारिताः सह गन्तुं निषिद्धाः निखिलाः समस्ताः परिजनाः सेवकजना येन सः तादृशः, शुकनासः प्रधानामात्य एव द्वितीयः सहचरो यस्य सः तादृशः ।

मणिमयेति । इत आरभ्य तृतीयान्तानि पदानि अग्रिम 'द्वारदेशेन' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि।

---

गिर पड़े, रनिवासकी स्त्रियोंके आभूषणोंकी मनोहर झनझनाहट सुनी जाने लगी, लोगोंके शरीरपर दूसरे लोगोंसे बलपूर्वक ( जबरदस्ती ) वस्त्र तथा आभूषण छीन लिए गए, उससे अनेक वस्त्र और भूषण पृथिवीमें लोटने लगे । इस रूपसे राजधानी एकबारमें ही उद्वेलित हो उठी। तदनन्तर तीनों भुवनोंको परिपूर्ण कर वह महोत्सवका कोलाहल होने लगा। मन्दराचलसे मथे गए समुद्रके घोषके समान गम्भीर दुन्दुभिके शब्द, सभी शब्दके आगे-आगे चलने लगे । कोमलशब्दकारी मृदङ्ग, शङ्ख, बड़े ढोल और छोटे नगाड़े आदिके शब्दसे वह कोलाहल वृद्धि पाने लगा । एवं विजय नगाड़ेके विशाल शब्दसे और हजारों मनुष्योंके कोलाहलसे उस उत्सवका कोलाहल अत्यधिक बढ़ गया, उस समय छोटे-छोटे राजा लोग रनिवासकी सब स्त्रियाँ, नगरके रहनेवाले मनुष्य, राजपुरुषलोग, सब नौजवान वेश्याएँ, एवं बालक और वृद्धगणके साथ ग्वालबालसे लेकर समस्त प्रजावर्ग आनन्दसे परिपूर्ण होकर उन्मत्तके समान नृत्य करने लगे । राजकुमारका वह जन्म महोत्सव, कोलाहलसे परिपूर्ण होकर चन्द्रोदयसे समुद्रके समान प्रतिदिन वृद्धि पाने लगा ।

किन्तु राजा पहलेसे ही पुत्रके मुखदर्शनरूप महोत्सवसे आकृष्टचित्त होनेपर भी उसने शुभसमयके अनु-रोधसे ज्योतिषियोंके उपदेशके अनुसार प्रशस्त मुहूर्त्तमें अन्यान्य परिजनोंको साथ आनेसे रोककर केवल शुकनासके

---

१. मन्दराध्यमान··· । २. ···जलधि··· । ३. ···क्वचित् 'निनाद' इति पदं नास्ति । ४. सान्तःपुरजनः । ५. आगोपम् । ६. प्रतिदिनम् । ७. जलधिः । ८. जन्मनो··· । ९. दर्शनोत्सव । १०. कनकमय । ११. क्वचित् 'युगल' इति पदं नास्ति ।

आसक्त-बहुपुंत्रिकालङ्कृतेन विविध-नव-पल्लव-निवह-निरन्तर-निचितेन सन्निहित-कनकमय-हल-मुसलयुगेन विरल-ग्रथित-सित-कुसुम-मिश्र-दूर्वा-प्रबाल-मालाऽलङ्कृतेन आलम्बितांविकलव्याघ्रचर्मणा वन्दन-माला-ऽन्तराल-घटित-घण्टागणेन द्वारदेशेन विराजमानम्, उभयतश्च द्वारपक्षकयोर्मर्यादानिपुणेन गोमयमयीभिरुत्तान-विनिहित-वराटक-प्रकर-दन्तुराभिः अन्तरान्तराबद्ध-विविधवर्ण-राग-रुचिर-कार्पास-कुसुम-लेश-लाञ्छिताभिः कुसुम्भ-केसर-लवाश्लेष-लोहिताभिर्लेखाभिरालिखित-स्वस्तिक-भक्तिजालमुपरचयता, हारिद्र-द्रव-विच्छुरणपरि-

मणिमयेन रत्नमयेन मङ्गलकलसयुगलेन शुभसूचककुम्भद्वयेन अशून्यः सर्वदा संयुक्तः तेन तादृशेन, आसक्ताभिः सम्मिलिताभिः परस्पराश्लिष्टाभिर्वा बहुपुत्रिकाभिः बहुपुत्रशालिनीभिः नारीभिः अलङ्कृतः शोभितः तेन तादृशेन, विविधानाम् अनेकप्रकाराणां नवानां प्रत्यग्राणां पल्लवानां किसलयानां निवहेन समूहेन निरन्तरं सान्द्रं यथा स्यात्तथा निचितो व्याप्तः तेन तादृशेन, सन्निहितं वृद्धव्यवहारात् समीपवर्त्तिनं कनकमययोः सुवर्णमययोः हलमुसलयोः सीराग्रयोः युगं यस्मिन् तेन तादृशेन, विरलम् सान्द्रं यथा स्यात्तथा ग्रथितैः अन्तरान्तरा सूत्रेण गुम्फितैः सितकुसुमैः श्वेतपुष्पैः मिश्राः संयुक्ताः ये दूर्वाप्रवालाः बहुप्ररोहपल्लवाः तेषां मालया स्रजा अलङ्कृतो भूषितः तेन तादृशेन, अमङ्गलविनाशार्थमिदमलङ्करणम्। 'वीणादण्डे प्रवालोऽस्त्री विद्रुमे नवपल्लवे' इति त्रिकाण्डशेषः। आलम्बितं व्यवहारादेकपार्श्वे द्वाराच्छादनार्थमवलम्बितम् अविकलं सम्पूर्णं व्याघ्रचर्म श्वेतपिङ्गलकृत्तिर्यत्र तेन तादृशेन। तथा वन्दनमालायाः तोरणोपरि स्थापितायाः मङ्गल्यपुष्पमालायाः, अन्तराले मध्ये मध्ये घटितो गुम्फितो घण्टागणो यत्र तेन तादृशेन। 'तोरणार्थे तु मङ्गल्यं दाम वन्दनमालिका' इत्यभिधानचिन्तामणिः। एवंविधेन द्वारदेशेन विराजमानं शोभमानं सूतिकागृहमित्यस्य विशेषणम्।

उभयत इति। चकारो हि किञ्चेत्यर्थे। मर्यादानिपुणेन वंशपरम्परानियमाभिज्ञेन, इत आरभ्य तृतीयैकवचनान्तानि पुंल्लिङ्गानि पदानि अग्रिमस्थ-'पुरन्ध्रिवर्गेणे'त्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। द्वारपक्षकयोः उभयतः पार्श्वद्वययोः। अग्रेतनस्य 'स्वस्तिकभक्तिजालम्' इत्यस्याधिकरणमिदम्। गोमयमयीभिः गोमयेन विहिताभिः, उत्तानम् ऊर्ध्वमुखं यथा स्यात्तथा विनिहिताः स्थापिताः ये वराटकाः कपर्दकाः तेषां प्रकरेण समुदायेन दन्तुराभिः निम्नोन्नताभिः, अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये आबद्धैः नियमितैः विविधवर्णैः नानाप्रकारनीलपीतादिभिः यो रागो रञ्जनं तेन रुचिराणि मनोज्ञानि यानि कार्पासकुसुमानि कार्पासपुष्पाणि तेषां लेशैः किञ्चित्किञ्चित् खण्डैः लाञ्छिताभिः चिह्निताभिः। कुसुम्भानां महारजनपुष्पाणां ये केसरलवाः किञ्जल्ककणाः तेषाम् आश्लेषेण संसर्गेण लोहिताभिः रक्तवर्णाभिः, लेखाभिर्लिपिभिः, आलिखितानां चित्रीकृतानां स्वस्तिकभक्तीनां त्रिकोणरचनाविशेषाणां जालं समुदायम् उपरचयता कुर्वता।

हारिद्रेति। हरिद्राया रजन्याया अयमिति हारिद्रो यो द्रवः रसः तेन यद्विच्छुरणं प्रोक्षणं तेन परिपि-

साथ जाकर सूतिका गृहको देखा। उस सूतिका-गृहके द्वारके दोनों बगलमें मङ्गलके लिए दो मणिमय कलश रक्खे थे और बहुतसी पुतलियाँ कढ़ी हुई थीं। मणिमय कलशके ऊपर सघनरूपसे अनेक प्रकारके नए-नए पल्लव रक्खे हुए थे। अधिकपुत्रवाली सुन्दरियाँ उस स्थानमें आकर शोभा बढ़ा रही थीं। सुवर्णमय एक हल और मूसल समीपमें रक्खे हुए थे। दूबकी कोंपलके साथ दूर-दूर गुँथे हुए सफेद फूलोंकी मालाएँ उस द्वारको शोभायमान कर रही थीं। अखण्डित व्याघ्र-चर्म एक ओर लटक रहे थे। और द्वारके ऊपर एक फूलकी माला लम्बा कर लटका दी गयी थी, जिसके बीच-बीचमें छोटी-छोटी घण्टियाँ बँध रही थीं। इस प्रकारके द्वारसे वह सूतिका-गृह अधिक शोभा पा रहा था। कौलिक आचारको जाननेवाली पतिपुत्रवती सुन्दरियोंके मध्यमें कोई उस द्वारके दोनों बगलमें गोबरके बहुतसे चौक बनाकर उनके ऊपर कितने चित्तकौड़ियाँ चिपका रही थीं, उससे वे चौक ऊँचनीच हो गए थे। नानाविध गेरू आदिके सुन्दर रङ्ग द्वारा रञ्जित कर मनोहर कार्पासकुसुमके कणों द्वारा उन चौकोंको और चित्रित करती थीं, कुसुम फूलोंकी केसररेणुके संयोगसे उनको लाल-लाल करती थीं। उसी गोबरके चौकसे ही और चित्रित स्वस्तिक (त्रिको-

१. ...पुत्रिकाप्रतानेन। २. ...वन। ३. युगलेन। ४. आलम्बिताविरल, आलम्बिताविकट।
५. माला, मालिका। ६. द्वारेण। ७. ...क्वचित् 'प्रकर' इति पदंनास्ति। ८. पर्ण। ९. कूर्पास, कर्पूर...।
१०. हारिद्रद्राव..., हरिद्रद्रव...।

परिपिञ्जरांम्बर-धारिणीं भगवतीं षष्ठीदेवीं कुर्वता, विकच-पक्षपुट-विकट-शिखण्डि-पृष्ठमण्डला-धिरूढम् आलोल-लोहित-पटघटित-पताकम् उल्लसित-शक्तिदण्ड-प्रचण्डं कार्त्तिकेयं सङ्घटयता विन्यस्तालक्तक-पटल-पाटल-मध्यभागौ सूर्याचन्द्रमसावाबध्नता, कुङ्कुम-पङ्क-पिञ्जरीकृताम् ऊर्द्धप्रोत-कनकमय-यव-निकर-कण्टकिताम् अविरल-लग्न-गौर-सिद्धार्थकप्रकरतया काञ्चनरसखचितामिव मृन्मय-गुटिका-कदम्बमालां विन्यस्यता, चन्दनजलधवलितेषु भित्ति-शिखरभागेषु पञ्चराग विचित्र-चेल-चीर-कलापचिह्निताम् आपीतपिष्टातक-पङ्काङ्कितां वर्द्धमानक-परम्पराम् अन्यानि च सूतिकागृह-मण्डनमङ्गलानि सम्पादयता पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठि-

ञ्जरं समन्तात् पिङ्गलवर्णम् अम्बरं वसनं धारयति परिदधाति या सा तादृशी ताम्। षष्ठीदेवीं तन्मूर्तिं कुर्वता तण्डुलपिष्टैः रचयता।

विकचेति। विकचं प्रस्फुटं विस्तृतं यत् पक्षपुटं पक्षयुगलं तेन विकटं विपुलं यत् शिखण्डिनो मयूरस्य पृष्ठमण्डलं तत्र अधिरूढम् उपविष्टम्। आलोला चपला लोहितपटघटिता रक्तवर्णवस्त्ररचिता पताका वैजयन्ती यस्य तं तादृशम्। तथा उल्लसितेन उत्तोल्यात्तेन शक्तिदण्डेन शक्तिसंज्ञकायुधेन प्रचण्डो भीषणः तं तादृशम्, कार्त्तिकेयं कार्त्तिकेयमूर्त्तिं सङ्घटयता पिष्टतण्डुलेनैव विदधता। एतत्प्रतिमायुगलं हि जातकरक्षार्थं बोध्यम्।

विन्यस्तेति। विन्यस्तेन दत्तेन अलक्तकपटलेन लाक्षाद्रवसमूहेन पाटलौ श्वेतरक्तौ मध्यभागौ कटिप्रदेशौ ययोस्तौ तादृशौ सूर्याचन्द्रमसौ पुष्पदन्तौ तयोः मूर्त्तियुगलम् आबध्नता पिष्टतण्डुलद्वारा निर्मिमाणेन सूर्याचन्द्रमसावित्यत्र देवताद्वन्द्वत्वात् पूर्वपदस्य दीर्घत्वं बोध्यम्।

कुङ्कुमेति। कुङ्कुमपङ्केन गाढकेशरद्रवेण पिञ्जरीकृतां पिङ्गलवर्णीकृताम्। ऊर्ध्वे उपरिप्रदेशे प्रोताः स्यूताः निखाता ये कनकमयाः सुवर्णरचिता यवा धान्यानि तेषां निकरेण समुदायेन कण्टकिता समुत्पन्नकण्टका तां निम्नोन्नतीकृतामित्यर्थः। अविरलं सान्द्रं यथा स्यात्तथा लग्नः सम्बद्धः गौरसिद्धार्थकानां श्वेतसर्षपाणां प्रकरः समुदायो यत्र तस्य भावः तया कारणेन, काञ्चनरसेन तरलीकृतकनकेन खचितां लिप्तामिव विद्यमानाम्। मृन्मयगुटिकामृत्तिकारचितगुलिका एव कदम्बानि कदम्बपुष्पाणि तेषां मालां पंक्तिं विन्यस्यता पृथिव्यां स्थापयता।

इह 'काञ्चनरसखचितामिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'मृन्मयगुटिकाकदम्बमालाम्' इत्यत्र च निरङ्गकेवलरूपकम्।

चन्दनेति। चन्दनजलेन मलयजद्रवेण धवलितेषु श्वेतीकृतेषु, भित्तीनां शिखरभागेषु ऊर्ध्वदेशेषु, पञ्चभिः पञ्चप्रकारैः रज्यते एभिः इति वर्णाः तैः विचित्राणां नानारूपाणां चेलचीराणां वस्त्रखण्डानां कलापेन समुदायेन चिह्निताम् अङ्कितां तेनाच्छादितामित्यर्थः, तथा आपीतानाम्, ईषत्पीतवर्णानां पिष्टातकानां पटवासानां 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः, पङ्केन गाढरसेन अङ्कितां चिह्नितां लिखितामित्यर्थः, वर्द्धमानकपरम्परां शरावपङ्क्तिम् 'शरावो वर्द्धमानकः' इत्यमरः। सूतिकागृहस्य अरिष्टभवनस्य मण्डनम-

णाकार द्रव्य ) निर्माण करती थीं। कोई, भगवती षष्ठी देवीकी प्रतिमा निर्माण कर उसे हल्दीके रससे रंगे पीले कपड़े पहनाती थी। कोई, फैले हुए पंखसे चौड़ी मोरकी पीठ पर चढ़े हुए, चञ्चल रक्तवर्ण पताका-समन्वित एवं शक्ति अस्त्रको उठाकर रखनेसे भयङ्कर स्वरूपवाले कार्त्तिकेयकी प्रतिमाका निर्माण करती थी। कोई बीचका हिस्सा अलक्तक-रससे ( लाखसे ) लाल करके चन्द्र और सूर्यकी प्रतिमाका निर्माण करती थी। कोई-कोई, बहुतर मृत्तिकाके गोलियों को सजाकर रखती थी, वे गोलियाँ कुङ्कुमके जलसे पीली की हुई थीं, ऊपरमें अधिकतर सोनेका जौ गाड़ देनेसे ऊँच-नीच हो गए थे, एवं समीप समीप-सफेद सरसों चिपका देनेसे सुवर्ण खचित-सी प्रतीत हो रही थीं। अन्य कोई चन्दनके जलसे धोई गई दीवारोंके ऊपर भागमें, पञ्चविध रंगसे चित्र काढ़ कर, कितने कपड़ोंके टुकड़े से वेष्टित ( लपेट ) कर पीतवर्ण अबीरके लेपसे रञ्जित कर कितने मद्य ( शराव ) कतारसे सजाकर रक्खे हुए थे। कोई कोई अन्यान्य शोभासम्पादनरूप मङ्गलकार्य करती थीं। ऐसे ही—कौलिक आचारको जाननेवाली पति-

१.…पिञ्जरिताम्बर। २. शिखण्डिमण्डल…, शिखिपृष्ठमण्डल…। ३. संघट्टयता। ४. प्रकारतया। ५.…पिष्ट, पिष्टक…। ६. वर्द्धमान…। ७. प्रसवगृह…।

तम् , उपद्वार-संयत-विविध-गन्ध-कुसुम-मालाऽलङ्कृतजरच्छागम् , अखिल-व्रीहि-मध्यावस्थापित[1]ार्य वृद्धाध्यासित-शयनीय[2]-शिरोभागम् , अनवरतदह्यमानाऽऽज्यमिश्र-भुजग-निर्मोकमेष-विषाणक्षोदम् , अनल-प्लुष्यमाणारिष्टतरु[3]-पल्लवोल्लसित-रक्षाधूमगन्धम् , अध्ययन-मुखर-द्विजगण-विप्रकीर्यमाण-शान्त्युदकलवम् , अभिनव-लिखित-मातृ-पट-पूजा-व्यग्र-धात्रीजनम् , अनेकवृद्धाङ्गनाऽऽरब्धसूतिकामण्डलगीतिका-मनोहरम् , उपपाद्यमान-स्वस्त्ययनम् , क्रियमाणशिशु-रक्षा-बलि-विधानम् , आबध्यमान-धवल-कुसुम-दामशतम् , अविच्छिन्नपठ्यमान-नारायण-

---

ङ्गलानि शोभाकारिशुभकार्याणि सम्पादयता कुर्वता पुनरन्ध्रिवर्गेण भर्तृपुत्रवतीनां स्त्रीणां मण्डलेन समधिष्ठितम् आश्रितम् ।

उपद्वारेति । उपद्वारे द्वारसमीपे संयतो बद्धः, विविधानाम् अनेकविधानां गन्धकुसुमानां सौरभयुक्तपुष्पाणां मालया स्रजा अलङ्कृतो भूषितो जरच्छागो वृद्धोऽजो यस्य तत्तादृशम् ।

अखिलेति । अखिलानां समस्तविधानां व्रीहीणां सामान्यधान्यानाम् आशुधान्यानां वा मध्ये अवस्थापिता उपवेशिता या आर्यवृद्धा सद्वंशोद्भवा जरती नारी तया अध्यासितः तत्सामयिका चारोपदेशार्थमवलम्बितः शयनीयस्य पट्टराज्ञिशय्यायाः शिरोभागः मस्तकप्रदेशो यत्र तत्तादृशम् । 'व्रीहिः सामान्यधान्ये स्यादाशुधान्ये च पुंस्ययम्' इति विश्वः ।

अनवरतेति । अनवरतं निरन्तरं दह्यमाना प्लुष्यमाणा आज्यमिश्राः घृतसहिताः, भुजगनिर्मोकाणां सर्पकञ्चुकानां मेषविषाणानाम् उरणशृङ्गाणाञ्च क्षोदाः चूर्णानि यत्र तत्तादृशम् ।

अनलेति । अनलेन अग्निना प्लुष्यमाणा दह्यमाना ये अरिष्टतरुपल्लवाः निम्बवृक्षपल्लवाः तेभ्यः उल्लसिता उत्थिता रक्षार्था जातकत्राणफलकाः धूमा वह्निकेतना गन्धाः सौरभाश्च यत्र तत्तादृशम् । तत्समयप्रसिद्धस्तद्देशीयव्यवहारोऽयमित्यवधार्यते ।

अध्ययनेति । अध्ययनेन स्वाध्यायपाठेन मुखरो वाचालो यो द्विजगणो विप्रवर्गः तेन विप्रकीर्यमाणाः सुतजनन्योरुपरि निक्षिप्यमाणाः शान्त्युदकलवाः शान्त्यर्थसलिलपृषतो यत्र तत्तादृशम् ।

अभिनवेति । अभिनवं प्रत्यग्रं लिखितश्चित्रितो यो मातृपटः बालरक्षाकारिणीनां गौर्यादिदेवीनां वस्त्रं तस्य पूजायां तत्काले गौर्यादिचित्रितपटेऽर्चनायामित्यर्थः व्यग्रा व्यासक्ता धात्रीजना उपमातरो यत्र तत्तादृशम् ।

अनेकेति । अनेकाभिः बह्वीभिः वृद्धाङ्गनाभिः जरन्नारीभिः आरब्धा या सूतिकामङ्गलगीतिका प्रसूत्याः शुभजनकगानं तया मनोहरं सुन्दरम् ।

उपेति । उपपाद्यमानानि क्रियमाणानि स्वस्त्ययनानि अरिष्टनिवृत्त्यर्थं देवतापूजादीनि यत्र तत्तादृशम् ।

क्रियेति । क्रियमाणं विधीयमानं शिशोर्बालस्य रक्षायै रक्षार्थं बलीनां देवतोपहाराणां विधानं सम्पादनं यत्र तत्तादृशम् ।

आवध्येति । आबध्यमानम् आलम्ब्यमानं धवलकुसुमानां श्वेतपुष्पाणां दामशतं स्रक्समूहो यत्र तत्तादृशम् ।

अवीति । अविच्छिन्नं सन्ततं पठ्यमानं शिशुत्राणार्थमुच्चार्यमाणं नारायणस्य श्रीविष्णोः नाम्नां सहस्रं यत्र तत्तादृशम् ।

---

पुत्रवती स्त्रियाँ उस सूतिकागृहमध्यमें रहती थीं । भाँति-भाँतिके सुगन्धित फूलोंके हारसे अलंकृत कर द्वारके पास एक बूढ़े बकरेको बाँध रक्खा था । पलंगके सिरहानेके पास नानाविध शरत्पक्व अन्नके ऊपर सत्कुलोत्पन्न एक वृद्ध स्त्री बैठी हुई थी । सर्पकञ्चुकका और मेषशृङ्गका चूर्ण, घृतके साथ निरन्तर ( दिन-रात ) जला करता था । बालककी रक्षाके लिए अग्निमें जलते हुए नीमके पत्तोंमेंसे धूमकी गन्ध फैलती थी । ब्राह्मण-गण मन्त्र पाठ करते-करते शान्तिके लिए जल छिड़कते थे । धात्रीगण कपड़ों पर तत्काल चित्रित देवियोंके पूजाके आयोजनमें व्यस्त थीं । अनेक वृद्ध स्त्रियाँ प्रसूतिके मङ्गलके लिए गान आरम्भ कर सुन्दर दीख रही थीं । कोई स्वस्त्ययन कर रहा था । कोई बालककी रक्षाके लिए देवताओंको उपहार दे रहा था । कोई सफेद फूलोंकी मालाएँ बाँध रहा था ।

---

१. अवस्थितार्य्य…, आयुर्वृद्ध… । २. शयन… । ३. …निम्बतरु… ।

नामसहस्रम्, अमल-हाटक-यष्टि-प्रतिष्ठापितैरन्तःशुभशतानीव निश्चलशिखैर्ध्यायद्भिर्मङ्गल-प्रदीपैरुद्भासितम्, उत्खातासि-लता-सनाथपाणिभिः सर्वतो रक्षापुरुषैः परिवृतम्, सूतिका-गृहमपश्यत्। अम्भः पावकञ्च स्पृष्ट्वा विवेश।

प्रविश्य च प्रसवपरिक्षाम-पाण्डुर-मूर्त्तेरुत्सङ्गगतं विलासवत्याः, स्वप्रभासमुद्योपहत-गर्भगृहप्रदीप-प्रभम्, अपरित्यक्त-गर्भरागत्वादुदयपरिपाटलमण्डलमिव सवितारम्, अपरसंध्या लोहितबिम्बमिव चन्द्रमसम्, अनुपजातकाठिन्यमिव कल्पतरुपल्लवम्, उत्फुल्लमिव रक्तारवि-

---

अमलेति। अमलानि परिष्कृतानि यानि हाटकयष्टीनि सुवर्णदण्डाः तेषु प्रतिष्ठापितैः सम्यक्तया स्थापितैः निश्चलशिखैः वायोरभावात् निष्कम्पार्चिभिः अत एव अन्तर्मनस्सु शुभशतानि प्रसूतिजातकयो-र्विविधमङ्गलानि ध्यायद्भिश्चिन्तयद्भिरिव विद्यमानैः, मङ्गलप्रदीपैः शुभप्रदीपैः उद्भासितं द्योतितम्।

इह 'ध्यायद्भिरिव' इति क्रियोत्प्रेक्षा।

उत्खातेति। उत्खाता उन्मुच्य निस्सारिता या असिलता बल्लीवल्लम्बमानाः खड्गाः, ताभिः सनाथाः सहिताः पाणयो हस्ता येषां तैः तादृशैः, रक्षापुरुषैः रक्षार्थनियुक्तजनैः सर्वतः चतुर्दिक्षु परिवृतं परिवेष्टितं सूतिकागृहम् अरिष्टगृहम् अपश्यत् अदर्शत्।

अम्भ इति। अम्भः सलिलं पावकम् अग्निञ्च स्पृष्ट्वा तत्स्पर्शं विधाय विवेश प्रधानामात्यशुकना-सेन सह तद्गृहे प्रविष्टवानित्यर्थः। प्रसूतिजातकयोरागाम्यरिष्टशङ्कानिवारणार्थमम्भःपावकस्पर्शन-मिति विज्ञाः।

प्रविश्येति। प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा च पार्थिवः 'आत्मजं ददर्श' इत्यनेन सम्बन्धः। इह द्वितीयैक-वचनान्तानि पुल्लिङ्गपदानि 'आत्मजम्' इत्यस्य विशेषणानि। प्रसवेन सुतोत्पादनेन परिक्षामा अत्यन्त-तन्वी पाण्डुरा च मूर्त्तिः शरीरं यस्याः तस्या विलासवत्याः उत्सङ्गे क्रोडे गतं स्थितम्, स्वप्रभासमुदयेन स्वकीयदीप्तिजालेन उपहताः दूरे ध्वस्ता गर्भगृहस्य सूतिकागारस्य प्रदीपानां गृहमणीनां प्रभा कान्ति-र्येन स तं तादृशम्।

इह प्रदीपकान्तीनामुपहननसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

अपरित्यक्तेति। अपरित्यक्त अमुक्तो गर्भरागः गर्भावस्थानकालीनः रक्तिमा येन स तस्य भावः तस्मात्कारणात्। विरचितावयवमित्यन्तमेवेदं कारणमिति सिद्धान्तवागीशाः। उदये उद्गमकाले परिपाटलं समन्तात् श्वेतरक्तवर्णं मण्डलं बिम्बं यस्य तं तादृशं सवितारं सूर्यमिव, अपरसन्ध्या पश्चिमसायं समय-स्तया आलोहितम् ईषद्रक्तं बिम्बं यस्य तं तादृशं चन्द्रमसं निशानाथमिव, अनुपजातम् अनुत्पन्नं काठिन्यं जरठता यत्र तादृशं कल्पतरुपल्लवमिव मन्दारकिसलयमिव। इह विशेषलौहित्यव्यञ्जनाय कल्पतरुपदमित्यवधेयम्। उत्फुल्लं प्रस्फुटितं रक्तारविन्दराशिमिव कोकनदनिवाहमिव, अवनिदर्शनाय पृथिव्या अवलोकनाय अवतीर्णं स्वर्गादवरूढं लोहिताङ्गं रक्तदेहं मङ्गलग्रहमिव।

इहैकस्योपमेयस्यानेकोपमानप्रदर्शनान्मालोपमालङ्कारः, किन्तु 'लोहिताङ्गमिव' इत्यत्र तु द्रव्यो-त्प्रेक्षेति विभावनीयम्।

---

कोई विष्णुसहस्रनामका पाठ निरन्तर कर रहा था। निर्मल सुवर्णमय दण्डके ऊपर रक्खे हुए निश्चल बहुतर मङ्गलप्रदीप, मानो हृदयमें प्रसूति और बालकके सैकड़ों कल्याणोंका ध्यान करते-करते उस सूतिकागृहको प्रकाशित करते थे। एवं रक्षार्थ नियुक्त पुरुषगण नंगी तलवार हाथमें लेकर उस सूतिका-गृहके चारों ओर घेर कर घूम रहे थे। बाद राजा ने शुकनासके साथ जल और अग्नि छूकर उस सूतिका गृहके अन्दर प्रवेश किया।

शुकनासके साथ प्रवेश कर राजाने असीम आनन्दजनक उस पुत्रको देखा। प्रसव करनेसे अत्यन्त दुबली और फीकी शरदवाली विलासवतीकी गोदमें रह कर उसने अपने कान्तिसमूहसे सूतिका-गृहस्थित प्रदीपसमूहकी प्रभाको मन्द कर दिया था। उस समय भी गर्भकी रक्तिमा कम न होनेसे उदयकालीन रक्त-मण्डलवाले सूर्यके समान, सन्ध्याकालीन रक्त-बिम्ब-युक्त चन्द्रमाके समान, कठिनता उत्पन्न होनेके पहले कल्पवृक्षपल्लवके समान, खिले हुए लाल कमलोंके समूहके समान, एवं पृथिवीको देखनेके लिए स्वर्गसे उतरे मङ्गलग्रहके समान वह

---

१. उद्यतासि''' । २. अदर्शत्। ३.'''पाण्डु''' । ४.'''प्रदीपक'''। ५.'''क्वचित् 'अपर' इति पदं नास्ति।

न्दराशिम्, अवनिदर्शनावतीर्णमिव लोहिताङ्गम्, विद्रुमकिसलयदलैरिव बालातपच्छेदैरिव पद्मरागरश्मिभिरिव विरचितावयवम्[1], अनभिव्यक्त-मुखपञ्चकमिव महासेनम्, सुरवनिता-करतल[2]-परिभ्रष्ट[3]मिवामरपतिकुमारम्[4], उत्तप्त-कल्याणकार्त्तस्वरभास्वरया[5] स्वदेहप्रभया पूरयन्त-मिव वासभवनम्, उद्भासमानैः सहजभूषणैरिव महापुरुषलक्षणैरुपेतम्, आगामि[6]-कालपालन-प्रहृष्टयेव[7] श्रिया समालिङ्गितम्, आह्लादहेतुमात्मजं ददर्श। विगत-निमेष-निश्चल-पक्ष्मणा च[8] मुहुर्मुहुः प्रमृष्ट-सङ्घटितानन्द[9]-वाष्प-पटल[10]-प्लुततारकेण दूर[11]-विस्फारितेन स्निग्धेन चक्षुषा पिब-

---

विद्रुमेति। विद्रुमाणां हेमकन्दलानां प्रवालानां वा यानि किसलयदलानि विसारिकिरणाः तैः विरचितावयवमिव सृष्टिकर्त्रा निर्मिताङ्गमिव, बालातपस्य नूतनातपस्य छेदैः खण्डैः विरचितावयवमिव पद्मरागरश्मिभिः लोहितमणिकिरणैः विरचितावयवमिव।

इह त्रिष्वपि क्रियोत्प्रेक्षा, तासाञ्च परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अनभीति। अनभिव्यक्तम् अप्रकटितं मुखपञ्चकं यस्य तं तादृशं षण्णां मुखानां मध्ये प्रकटितकेव-लैकमुखमित्यर्थः महासेनं कार्त्तिकेयमिव विद्यमानम् अत्यन्तरमणीयत्वादित्याशयः।

सुरेति। सुरवनिताया रचयित्र्या देवाङ्गनायाः करतलात् हस्ततलात् परिभ्रष्टम् अनवधानतया प्रच्युतम् अमरपतिकुमारं देवाधिपतिबालात्मजंजयन्तमिव तथाविधद्युतिशालित्वादित्याशयः। इह 'जयन्तमिव' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षा।

उत्तप्तेति। उत्तप्तम् अग्निना सन्तप्तं यत् कल्याणकार्त्तस्वरम् अत्युत्तमजातीयं स्वर्णं तद्वत् भास्वरया देदीप्यमानया स्वदेहप्रभया स्वशरीरकान्त्या वासभवनं निवासनिकेतनं पूरयन्तमिव परिपूर्णीकुर्वन्तमिव।

इह 'उत्तप्ते'त्यादौ लुप्तोपमा, 'पूरयन्तमिव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

उद्भासेति। सहजभूषणैरिव प्राकृतिकालङ्कारैरिव, उद्भासमानैः स्फुटं प्रकाशमानैः महापुरुषाणां चक्रवर्त्यादीनां लक्षणैः शङ्खध्वजादिचिह्नैः उपेतं सहितम्। 'सहजभूषणैरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा।

आगामीति। आगामिनि काले भविष्यत्समये तारुण्यादौ यत् पालनं स्वस्य रक्षणं तेन प्रहृष्टया सन्तुष्टया श्रिया लक्ष्म्या समालिङ्गितमिव उपगूहितमिव अत्यन्तरमणीयत्वादित्याशयः। आह्लादहेतुं प्रमोदकारणम् आत्मजं पुत्रं ददर्श अवलोकयामास।

इह 'समालिङ्गितमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

विगतेति। विगतेन निमेषेण लवद्वयेन हेतुना 'निमेषस्तु लवद्वयम्' इति शास्त्ररीतिः। निश्चलानि स्थिराणि निष्क्रियाणीत्यर्थः पक्ष्माणि लोमानि यस्य तेन तादृशेन, मुहुर्मुहुः बारम्बारं प्रमृष्टकरेण प्रोञ्छितमपि पुनः सङ्घटितं प्रादुर्भूतं यत् आनन्दवाष्पपटलं प्रमोदाश्रुसमूहः तेन प्लुता क्लिन्ना तारका कनीनिका यस्य तेन तादृशेन, दूरविस्फारितेन अत्यन्तविस्तारितेन, स्निग्धेन प्रेमप्रकाशकेन चक्षुषा नय-नेन, पिबन्निव चुम्बन्निव, इह पानं चुम्बनमेव; आलपन्निव मनोभावं प्रकाशयन्निव, स्पृशन्निव संसजन्निव

---

मालूम होता था। प्रवालमणि (मूँगे) के विस्तृत किरणोंसे किंवा नवीन सूर्यालोकसे अथवा पद्मरागमणिकी किरणोंसे, विधाताने मानो उसके सभी अवयवोंका निर्माण किया था। पाँच मुख प्रकाश होनेके पहले एकमुख कार्त्तिकेयके समान एवं देवस्त्रीके हाथमेंसे गिरे हुए देवराजके शिशुपुत्र ( जयन्त ) के समान प्रतीत होता था। तपाए हुए स्वच्छ सुवर्णके समान देदीप्यमान स्वकीय शरीर-कान्तिसे वह उस सूतिका-गृहको मानों परिपूर्ण करता था। चमकते हुए स्वाभाविक आभूषणके समान महापुरुषके सभी लक्षण उसमें दिखाई पड़ते थे। 'भविष्यमें यह मेरा प्रतिपालन करेगा' यह मनमें जानकर सन्तुष्ट होकर ही मानो लक्ष्मीने उसका आलिङ्गन किया था। उस समय राजाके नेत्रोंमें निमेष नहीं थे, पलक निश्चल हो गए थे और बार-बार पोछनेपर भी, आनन्दाश्रु, फिर उत्पन्न होकर पुतलियोंको डुबा रहे थे—ऐसे अत्यन्त उत्फुल्ल और स्नेहव्यञ्जक नेत्रोंसे राजा मानो बालकको

---

१. रचितावयवम्। २. कर…। ३. भ्रष्ट। ४. कुमारकम्। ५. भास्वरतया। ६. आगमि। ७. प्रहृष्टया श्रिया। ८. क्वचित् 'च' इति पदं नास्ति। ९. …सङ्घट्टितानन्द…। १०. वाष्पविन्दु…। ११. दूरं।

न्निव आलपन्निव स्पृशन्निव मनोरथसहस्र-प्राप्त-दर्शनं सस्पृहमीक्षमाणः[1] तनयाननं[2] मुमुदे, कृतकृत्यश्चात्मानं मेने।

समृद्ध-मनोरथः शुकनासस्तु शनैः शनैरङ्गप्रत्यङ्गान्यस्य[3] निरूपयन् प्रीतिविस्फारित-लोचनैः[3] भूमिपालमवादीत्-'देव ! पश्य[4] पश्य, अस्य कुमारस्य गर्भसम्पीडनवशादपरि[5]स्फुटावयव-शोभस्यापि माहात्म्यमाविर्भावयन्ति[6] चक्रवर्त्तिचिह्नानि। तथाहि, अस्य सन्ध्यांशु[7]-रक्तबालशशिकलाकारे ललाटपट्टे नवं[8]-नलिन-नाल-भङ्ग-तन्तु-तन्त्रीयमूर्णा परिस्फुरति। एत-द्विकच-पुण्डरीक-धवलं कर्णान्तायतं मुहुर्मुहुरुन्मिषितैर्धवलयतीव वासभवनमरालपक्ष्म लोच-

---

सन्, मनोरथानां वाञ्छितानां सहस्रेण समूहेन प्राप्तं लब्धं दर्शनम् अवलोकनं यस्य तत्तादृशम्, तनयाननम् आत्मजमुखं सस्पृहं स्पृहासहितम् ईक्षमाण अवलोकमानः मुमुदे सन्तोषमवाप, आत्मानं च कृतकृत्यं कृतार्थं मेने मनसि कृतवान्, बहोः कालान्मनोरथपूरणादित्याशयः।

इह 'पिबन्निव, आलपन्निव, स्पृशन्निव, इति त्रयाणामपि क्रियोत्प्रेक्षालङ्काराणां परस्परं नैरपेक्ष्येण वर्तमानत्वात्संसृष्टिः।

समृद्धेति। समृद्धः सम्पूर्णः मनोरथोऽभिलाषो यस्य स तादृशः, प्रीत्या स्नेहेन विस्फारिते विस्तारिते लोचने नयने यस्य स तादृशः। शुकनासः प्रधानामात्यस्तु शनैः शनैः मन्दं मन्दम् अस्य कुमारस्य अङ्गानि करचरणादीनि प्रत्यङ्गानि अङ्गुल्यादीनि च तानि तादृशानि, भूमिपालं नृपतिम् अवादीत् अवोचत्-'देव-स्वामिन्!, पश्य पश्य विलोकय विलोकय अस्य पुरोऽवलोकमानस्य कुमारस्य बालकस्य गर्भेण गर्भाशयेन सम्पीडनवशात् ईषदवकाशतया अत्यन्तयातनाविधानात् अपरिस्फुटा समन्तादव्यक्ता अवयवानाम् अङ्गानां शोभा कान्तिर्यस्य तथोक्तस्यापि विद्यमानस्य, चक्रवर्त्तिचिह्नानि सामुद्रिकशास्त्रोक्तसार्वभौमलक्षणानि, माहात्म्यं भाविमहापुरुषत्वम् आविर्भावयन्ति प्रकटयन्ति व्यञ्जयन्ति।

चक्रवर्त्तिचिह्नान्येव दर्शयति—तथाहीत्यादिना। अस्य कुमारस्य सन्ध्यांशुभिः सायङ्कालीनरागैः रक्ता लोहिता, बाला अल्पा अर्द्धमात्रा या शशिकला चन्द्रकला तद्वत् आकार आकृतिर्यस्य तादृशे, ललाटपट्टे भालफलके, नवोऽभिनवः अशुष्को यो नलिननालभङ्गः कमलनालखण्डः तस्य तन्तुः सूत्रं तद्वत् तन्वी सूक्ष्मा इयम् अवलोक्यमाना, ऊर्णा भ्रूद्वयान्तरालवर्त्ती लोमावर्त्तः परिस्फुरति परिशोभते। 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यादावर्त्ते चान्तराभ्रुवोः' इत्यमरः। इह लुप्तोपमयोः मिथो नैरपेक्ष्येण वर्त्तमानत्वात्संसृष्टिः।

चक्रवर्त्तिलक्षणम्—

विसतन्तुवत्सूक्ष्मरूप आवर्त्तश्च शुभायतः।
यदि भ्रूद्वयमध्ये स्याच्चक्रवर्ती तदोच्यते॥

एतदिति। विकचं प्रस्फुटितं यत् पुण्डरीकं सिताम्भोजं तद्वत् धवलं शुभ्रं कर्णान्तायतं श्रोत्रनिकट-पर्यन्तप्रसारितम् अरालपक्ष्म कुटिलनेत्ररोमकम्, लोचनयुगलं नेत्रद्वन्द्वं कर्तृ, मुहुर्मुहुः वारम्वारम् उन्मिषितैः उन्मीलनैः वासभवनं निवासगृहं धवलयतीव श्वेतीकरोतीव।

इह 'विकचपुण्डरीकधवलम्' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'धवलयतीव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षेत्यनयोः परस्पर-मङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

---

चुम्बन करता हो, आलाप करता हो और आलिङ्गन करता हो इस प्रकार बहुतर मनोरथोंसे प्राप्त उसके मुख-कमलको स्पृहासे देखकर बहुत आनन्दित हुआ, और वह अपनेको धन्य समझने लगा।

पूर्ण-सफल हुए मनोरथवाले शुकनास भी प्रीतिके कारण फैले हुए नेत्रोंसे बालकके अङ्ग-प्रत्यङ्गको देखकर राजासे धीरे-धीरे कहने लगा—'देखिए, देखिए, महाराज ! गर्भमें सिकुड़नेके कारण इस कुमारके अवयवोंकी शोभा स्फुट तो नहीं हुई है तथापि चक्रवर्त्ती राजाके लक्षण, भावी महापुरुषत्वकी सूचना प्रकट करते हैं। देखिए, सन्ध्याकी किरणोंसे लाल हुए अर्धचन्द्रमाके समान ललाटदेशमें कमलमृणालसे तत्काल तोड़े हुए तन्तुके समान सूक्ष्म ये रोम शोभायमान हैं। खिले हुए सफेद कमलके समान धवलवर्ण, कानोंके छोर तक फैले, मुड़े हुए

---

१. निरीक्षमाणः। २. बालस्य। ३. प्रीतिविस्फारिताक्षः, प्रीतिविस्फारितलोचनं प्रीतिविस्तारितलोचनं। ४. पश्यास्य। ५. अस्फुटावयव...। ६. आविर्भावयन्तीव। ७. सन्ध्यांशुक...। ८. क्वचित् 'नव' इत्यधिकः पाठो नास्ति।

नयुगलम् , विजृम्भमाण-कमल[1]-कोष-परिमल-मनोहरमियमस्य सहजमाननामोदमाजिघ्रतीव दूरायता[2] कनक-लेखेव नासिका । रक्तोत्पल-कलिकाकार[3]मुद्वहतीव च[4]ास्याधर-रुचकम्[5] । रक्तोत्पल-कलिका[6]लोहित-तलौ भगवतो विष्टरश्रवस इव शङ्खचक्रचिह्नौ प्रशस्तलेखा-लाञ्छितौ करौ । अभिनव-कल्पतरु-पल्लवकोमलं लेखामयैर्ध्वज-रथ-तुरगातपत्र-कमलैरलङ्कृतम् अनेकनरेन्द्र-सहस्र-चूडामणि-चक्र-चुम्बनोचितं चरणयुगलम् । एष च दुन्दुभेरिवातिगम्भीरः स्वरयोगोऽस्य रुदतः श्रूयते ।'

---

नेत्रदीर्घस्य प्रसंशामाह सामुद्रकशास्त्रे—

भुजाक्षियुगलं कुक्षि तथा च नासिकाद्वयम् कुचयोर्मध्यभागं च पञ्चदीर्घं प्रशस्यते ।

विजृम्भमाणेति । कनकलेखेव सुवर्णलेखेव दूरायता अत्यर्थमुच्छ्रिता इयमस्य नासिका विजृम्भमाणस्य प्रस्फुटतः कमलकोषस्य पङ्कजकुड्मलस्य यत् परिमलं सौरभं तद्वत् मनोहरं रमणीयम्, सहजं स्वाभाविकम् आननामोदं मुखगन्धम् आजिघ्रतीव उपादानं कुर्वतीव ।

'कनकलेखेव' इत्यत्रोपमा, परिमलमनोहरम्' इत्यत्र लुप्तोपमा, आजिघ्रतीव, इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षेत्यासामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

रक्तोत्पलेति । रुचकं बिम्बसदृशमाङ्गलिकद्रव्यम्, अधर एव रुचकम्, अधरो रुचकमिव वेति तदधररुचकं कर्तृ, रक्तोत्पलकलिकायाः कोकनदकुड्मलस्य आकारमाकृतिम् उद्वहतीव धारणं कुर्वतीव । 'रुचकं मङ्गलद्रव्ये बीजपूरे ससैन्धवे' इत्यनेकार्थः ।

अधररुचकम्, इत्यत्र रूपकमुपमावेति सन्देहात्सन्देहसङ्करः, रक्तोत्पलकलिकाकारणम्, इत्यत्र निदर्शनालङ्कारः, उद्वहतीव, इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः । इह सामुद्रके—

'पाणिपादतलौ शोणावक्षिमध्यनखानि च । तालुर्जिह्वाऽधरश्चैव सप्त रक्तं प्रशस्यते ॥' इति ।

रक्तोत्पलेति । रक्तोत्पलं कोकनदं तस्य कलिका कुड्मलं तद्वत् लोहिते रक्तवर्णे तले ययोस्तौ तादृशौ, करौ । विष्टरे अश्वत्थे श्रूयत इति विष्टरश्रवा विष्णुः तस्यैव 'वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः' इत्यमरः । शङ्खं कम्बु चक्रं प्रसिद्धं तयोः चिह्ने रेखे ययोस्तौ, पक्षे शङ्खचक्र एव चिह्ने ययोस्तौ, प्रशस्ताभिः अङ्कुशादिभिः लेखाभिः रेखाभिः लाञ्छितौ अङ्कितौ, उभयत्रापीदं तुल्यम् । इह पूर्णोपमा ।

अभिनवेति । अभिनवो नूतनो यः कल्पतरुपल्लवः मन्दारवृक्षकिसलयः तद्वत् कोमलं मृदुलम्, लेखामयः रेखास्वरूपैः ध्वजः पताका, रथः स्यन्दनः, तुरगोऽश्वः, आतपत्रं छत्रम्, कमलं पङ्कजञ्च तैः तादृशैः अलङ्कृतं भूषितम्; अनेकेषां नरेन्द्रसहस्राणां नृपतिवृन्दानां चूडामणिचक्रैः शिरोमणिव्रातैः यच्चुम्बनं प्रणामसमये संस्पर्शः तस्य उचितं योग्यम् । ·········पल्लवकोमलम्, इत्यत्र लुप्तोपमा ।

२. एष इति । रुदतः क्रन्दतः अस्य कुमारस्य, एष समीपतरवर्ती दुन्दुभेरिव पटहस्येव अतिगम्भीरोऽतिमन्दः स्वरयोगः कण्ठसम्बन्धो ध्वनिः श्रूयते आकर्ण्यते ।'

---

पलकोंवाले नयनयुगल, बार-बार खुल कर मानो सूतिका-गृहको धवलवर्ण कर रहे हैं । कनक-लेखाके समान लंबी यह नाक, खिलती हुई कमलकी कलीके परिमलके समान मनोहर—स्वाभाविक इसके मुखकी सुगन्धको मानो सूँघती है । एवं इसका नीचेका ओठ मानो लाल कमलकी कलीके आकारको धारण कर रहा है । लाल-कमलकी कलीके समान इसके हथेलियोंमें भगवान् नारायणके समान शङ्ख और चक्रके चिह्न एवं अङ्कुशप्रभृति प्रशस्त रेखाएँ विद्यमान हैं । कल्पवृक्षके नए पत्तोंके समान कोमल एवं ध्वज, रथ, अश्व, छत्र और कमलकी रेखाओंसे अलङ्कृत इसके चरण-युगल हैं । और ये हजारों राजाओंकी चूड़ामणियोंसे चुम्बन होनेके योग्य हैं । और रोनेके समय इसके ये कण्ठ-स्वर, दुन्दुभिध्वनिके समान अत्यन्त गम्भीर सुने जा रहे हैं ।'

---

१. क्वचित् 'कमल' इति पदं नास्ति । २. दूरादायता । ३. रक्तोत्पलनिकरम्, रक्तोत्पलकलिकानुरागम् । ४. क्वचित् 'च' शब्दो नास्ति । ५. अधरपुटकम्, अधरकम् । ६. ···कलिकाकारलोहित··· ।

इत्येवं कथयत्येव तस्मिन् ससम्भ्रमापसृतेन राजलोकेन [1]द्वारिस्थितेन दत्तमार्गस्त्वरितगतिरागत्य प्रहर्षोद्गम-पुलकित-तनुः स्फारीभवल्लोचनो मङ्गलकनामा[2] प्रहृष्ट-वदनः[3] पुरुषः पादयोः प्रणम्य राजानं व्यजिज्ञपत्—'देव ! दिष्ट्या वर्द्धसे, प्रतिहतास्ते शत्रवः, चिरं जीव जय च[4] पृथिवीम्[5]। त्वत्प्रसादादत्रभवतः शुकनासस्यापि ज्येष्ठायां ब्राह्मण्यां मनोरमाभिधानायां राम इव रेणुकायां तनयो जातः। श्रुत्वा देवः प्रमाणम्' इति।

अथ नृपतिः[6] अमृतवृष्टिप्रतिममाकर्ण्य तद्वचनं प्रीति-विस्फारिताक्षः प्रत्यवदत्–'अहो! कल्याणपरम्परा। सत्योऽयं लोकप्रवादः[7] यत्, 'विपद्विपदं सम्पत् सम्पदमनुबध्नाति' इति। सर्वथा समानसुखदुःखतां दर्शयता विधिनाऽपि भवतेव वयमनुवर्त्तिताः' इत्यभिधाय प्रीति-

इत्येवमिति। इत्येवं पूर्वोक्तविधिना तस्मिन् शुकनासे कथयत्येव ब्रुवत्येव, ससम्भ्रमं शीघ्रम् अपसृतेन मार्गं परित्यज्य प्राप्तेन द्वारिस्थितेन राजलोकेन राजगणेन दत्तमार्गः दत्ताध्वा त्वरितगतिः शीघ्रगमनः सन् आगत्य एत्य, प्रहर्षोद्गमेन प्रमोदोदयेन पुलकिता रोमाञ्चिता तनुः शरीरं यस्य स तादृशः, स्फारीभवन्ती विस्तीर्णतां प्राप्यमाणे लोचने चक्षुषी यस्य स तादृशः, प्रहृष्टवदनः विकसितमुखः, मङ्गलकनामा पुरुषः, राजानं तारापीडं पादयोः चरणयोः प्रणम्य नमस्कृत्य व्यजिज्ञपत् विज्ञापयामास—

देवेति। देव स्वामिन्! दिष्ट्या भाग्येन वर्धसे एधसे, ते शत्रवो विपक्षाः प्रतिहताः क्षयं प्राप्ताः सन्त्विति शेषः। चिरं बहुकालं जीव प्राणिहि, पृथिवीं वसुन्धरां जय स्वाधीनां कुरु। त्वत्प्रसादात् भवदनुग्रहात् अत्रभवतो माननीयस्य शुकनासस्य प्रधानामात्यस्यापि ज्येष्ठायां ब्राह्मण्याम् अग्रिमायां स्वपत्न्यां मनोरमाभिधानायां मनोरमेतिसंज्ञिकायां रेणुकायां जमदग्निपत्न्यां रामः परशुराम इव तनयः सुतो जातः उत्पन्नः। श्रुत्वा एतदाकर्ण्य देवो भवान् प्रमाणम्, यदाज्ञापयति देवस्तदेव विधेयमित्याशयः। 'राम इव' इत्युपमा।

अथेति। अथ एतच्छ्रवणानन्तरम् अमृतस्य पीयूषस्य या वृष्टिर्वर्षणं तत्प्रतिमं तत्तुल्यं तद्वचनं मङ्गलकवच आकर्ण्य श्रुत्वा, प्रीत्या स्नेहेन विस्फारिते विकसिते अक्षिणी नयने येन स तादृशो नृपती राजा प्रत्यवदत् प्रत्यवोचत्—'अहो!' इत्याश्चर्ये। कल्याणपरम्परा श्रेयःसन्ततिः ममेति शेषः। अत एवाह—सत्योऽयमिति। अयं लोकप्रवादः जनानां चिरन्तनो वचनव्यापारः सत्यो यथार्थः, यत् 'विपदं विपत्, सम्पदं सम्पत् अनुबध्नाति अनुगच्छति। शुकनासं प्रति कथयति—सर्वथेति। सर्वथा सर्वप्रकारेण समानं तुल्यं सुखं दुःखं ययोस्तयोस्तादृशयोर्भावस्तां दर्शयता बोधयता विधिना दैवेनापि भवतेव त्वयेव वयम् अहमित्यर्थः अनुवर्तिताः अनुसरणं कृताः। एवञ्च तनयोत्पत्तेः पूर्वम् आवयोः तदनुत्पत्त्या तुल्यमेव दुःखमासीत्, साम्प्रतमपि च तदुत्पत्त्या तुल्यमेव सुखम्। दुःखानुभवानन्तरं यदि सुखानुभवो भवति तदातीव रमणीयत्वमिति सर्वानुभवसिद्धम्। उक्तञ्च केनापि—

'सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्' यथा चातीव सन्तोषोत्पादनेन-भवान् मामनुसरति दैवोऽपि सम्प्रति तथैवेत्याशयः। इत्यभिधाय इत्युक्त्वा प्रीतिविकसितमुखः आभ्य-

शुकनास इस प्रकार कह रहा था कि इतनेमें ही द्वारके पास खड़े राजा लोगोंने झट-पट सरक कर जिसे रास्ता दिया, एवं आनन्दसे रोमाञ्चित शरीर, विस्फारित नेत्र, और प्रफुल्ल-वदन वाला मङ्गलक नामका एक व्यक्ति, जल्दी-जल्दीसे आकर चरणमें राजाको प्रणाम कर कहने लगा—'महाराज! सौभाग्यवश आपकी उन्नति हुई है, आपके शत्रुओंका नाश हो। आप दीर्घायु हों। एवं पृथिवी की विजय करें। आपके अनुग्रहसे माननीय मन्त्रिमहाशय शुकनासके भी ज्येष्ठ पत्नी मनोरमाके गर्भमें—रेणुकाके गर्भमें परशुरामके समान—एक पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस समाचारको सुन कर जो कर्तव्य हो, वह करें।'

अनन्तर राजा अमृत-वृष्टिके समान उसके वचनको सुनकर प्रीति-प्रफुल्ल नेत्रसे बोला—'क्या आश्चर्य! आज जो अविच्छिन्न मङ्गलकी धाराको देखता हूँ। अत एव यह लोकप्रवाद सत्य है कि—'विपत्ति विपत्तिका और सम्पत्ति सम्पत्तिका अनुसरण करती रहती है।' सुख और दुःखमें समानता दिखाकर विधाताने भी सभी प्रकारसे तुम्हारे ही समान मेरे साथ वर्ताव किया है' यों कह कर-प्रीति-प्रफुल्ल-मुखसे आनन्दके साथ शुकनासको

१. द्वारस्थितेन। २. मङ्गलनामा। ३. प्रहृष्टवदनपुरुषः। ४. क्वचित् चकारो न विद्यते। ५. पृथिवीं प्रतिपालय। ६. भूपतिः। ७. जनप्रवादः।

विकसितमुखः सरभसमालिङ्ग्य विहसन् स्वयमेव शुकनासस्योत्तरीयं पूर्णपात्रं जहार। तस्मै च प्रीतमनाः प्रियवचनानुरूपं[1] पुरुषायापरिमितं पारितोषिकमादिदेश।

उत्थाय च तथैव तेन चरण-विघट्टन[2]-क्वणित[3]-नूपुर-सहस्र-मुखरित-दिगन्तरेण, सरभसोत्क्षेप-चलित[4]-मणिवलयावली-वाचालित-भुजलतेन[5], ऊर्ध्वीकृतैरुत्तानतलैः करपुटैरनिल-लुलिताम्[6] आकाशगङ्गा[7]-कमलिनीमिव दर्शयता, पर्यस्त-मृदित-कर्णपल्लवेन, परस्पराङ्गद-कोटि-सङ्घ-

---

न्तरस्नेहप्रफुल्लवदनः सरभसं सप्रमोदम् आलिङ्ग्य शुकनासमाश्लिष्य विहसन् स्मितं कुर्वन् स्वयमेव आत्मनैव शुकनासस्य मन्त्रिणः उत्तरीयम् उत्तरीयवस्त्ररूपं पूर्णपात्रं सन्तोषेण समानयनद्रव्यम्, जहार हृतवान्। इह 'भवतेव' इत्यत्रोपमालङ्कारः।

तस्मा इति। तस्मै शुभसन्देशप्रापकाय मङ्गलकाय प्रीतमनाः सन्तुष्टचित्तः प्रियवचनानुरूपम् इष्टवचनयोग्यम् अपरिमितं संख्यातीतं पारितोषिकं सन्तोषप्रयुक्तं दातुं धनाध्यक्षम् आदिदेश आज्ञापयामास।

उत्थायेति। तथैव तेनैव प्रकारेण राजा तस्मात् स्थानात् उत्थाय उत्थानं विधाय तेन अन्तःपुरिकाजनेन राजपरिजनेन प्रवृत्तनृत्येन चारणगणेन चानुगम्यमानः शुकनासभवनं गत्वा द्विगुणतरमुत्सवमकारयदिति दूरेणान्वयः। सम्प्रति अन्तःपुरिकाजनेनेत्यस्य विशेषणानि दर्शयति—चरणयोः पादयोर्विघट्टनेन निक्षेपेण क्वणितानां रणितानां नूपुराणां पादकटकानां सहस्रेण वृन्देन मुखरितानि वाचालितानि दिगन्तराणि दिङ्मध्यानि येन तेन तादृशेन।

सरभसेति। सरभसं वेगसहितम् उत्क्षेपेण नृत्यगीताद्यनुसारादूर्ध्वमुत्थापितेन चलिताभिः चपलीभूताभिः मणिवलयानां रत्नकङ्कणानाम् आवलीभिः पङ्क्तिभिः वाचालिताः मुखरायमाणीकृता भुजलता बाहुवल्लयो यस्य तेन तादृशेन।

ऊर्ध्वीकृतैरिति। उर्ध्वीकृतैः उच्चैर्विहितैः उत्तानतलैः उन्मुखतलैः करपुटैः हस्तपुटैः करणैः, अनिललुलितां पवनेन पातिताम् आकाशगङ्गायाः स्वर्धुन्याः कमलिनीं पद्मिनीं दर्शयतेव प्रकटयतेव तथाविधहस्तोर्ध्वीकरणादित्याशयः।

पर्यस्तेति। पर्यस्ता प्रथममाकाशसम्भ्रमात् पृथिव्यां पतिताः, मृदिताः अनन्तरं लोकपादैर्विदलिताः कर्णपल्लवाः श्रवणालङ्कारीभूतकिसलयानि यस्य तेन तथोक्तेन।

परस्परेति। परस्परम् अन्योन्यम् अङ्गदानां बाहुवलयानां केयूराणां कोटिभिरग्रैः सङ्घट्टनेन घर्षणेन पूर्वं दष्टानि विद्धानि ततः पाटितानि द्वैधीकृतानि उत्तरीयांशुकानि यस्य तेन तादृशेन।

---

आलिङ्गन कर हँसते २ राजाने अपनेसे ही पूर्णपात्रकी जगह उसके उत्तरीयवस्त्र ( दुपट्टा ) को खींच लिया। एवं सन्तुष्ट चित्तसे मङ्गलकके प्रियसंवाद कहनेके अनुरूप अपरिमित पारितोषिक देनेके लिए धनाध्यक्षको आदेश दिया।

फिर उसी तरह उठ कर राजाने शुकनासके महलमें जाकर ( अपनेसे ) दूना उत्सव कराया। जानेके समय उसके पीछे-पीछे अन्तःपुर ( रनवास ) की स्त्रियाँ भी जाती थीं। उनके पादक्षेपके समय झनझनाते हजारों पायजेबोंसे दिगन्तर गूँज उठा। वेगसे भुजलता ( हाथ ) उछालनेके कारण हिलते मणि-कङ्कणोंके शब्दसे भुजलताएँ भी शब्दायमान हो गईं। हथेलियाँ ऊपरकी ओर करके ऊँचे किए कर-सम्पुटोंसे वे मानों, वायुके जोरसे चलायमान हुई आकाश गङ्गाके कमलिनीको दिखाने लगीं। लोगोंके संघर्षसे उनके कर्ण-पल्लव गिर कर पददलित होने लगे। परस्पर सङ्घर्षके समय एकके केयूर ( बाजूबन्द ) के अग्रभागसे दूसरेके उत्तरीयवस्त्र विद्ध होकर फटने लगे। शरीर में लिप्त कुङ्कुमादि, पसीनेसे धुलकर सूक्ष्म वस्त्रोंको रंग देते थे। लोगोंके सङ्घर्षसे तिलक

---

१. प्रियवचनश्रवणानुरूपम्। २.…विकुट्टन…, कुट्टन। ३.…अत्रैव क्वचित् 'मणि' पदमधिकं वर्त्तते। ४. चालित…बलित…। ५. भुजवलयेन। ६.…लुण्ठिताम्। ७. क्वचिद् 'गङ्गा' इति पदं नास्ति।

दृदष्ट-पाटितोत्तरीयांशुकेन, श्रमजल-धौताङ्गराग-रञ्जित-चीनवाससा, किञ्चिदवशिष्ट-तमालपत्रेण, विलसद्वारविलासिनीहसितैरुन्निद्र-कैरव-वनानुकारं प्रथयता, सरभसवल्गन-स्खलल्लोल-हारलतास्फालित-कुचस्थलेन, सिन्दूर-तिलक-लुलितालक-लेखेन, विप्रकीर्णपिष्टातक-पांशु-पुञ्ज-पिञ्जरित-केशपाशेन, प्रणृत्य-विकल-मूक-कुब्ज-किरात-वामन-बधिर-जड-जन-पुरःसरेण, उत्तरीयांशुक-ग्रीवावबद्धावकृष्ट-विडम्बित-जरत्कञ्चुकि-कदम्बकेन, वीणा-वेणु-मुरज-कांस्यतालयानुगतेन, कल-मधुरमुद्गायता, हर्षनिर्भरतया मत्तेनेव उन्मत्तेनेव ग्रहगृहीतेनेव व्यपगत-

श्रमेति। श्रमजलैः घर्मसलिलैः धौताः क्षालिता ये अङ्गरागाः कुङ्कुमादीनि अङ्गविलेपनानि तै रञ्जितानि चीनवासांसि सूक्ष्मवस्त्राणि यस्य तेन तादृशेन। 'चीनो देशांशुकव्रीहिभेदे तन्तौ मृगान्तरे' इति मेदिनी।

किञ्चिदिति। किञ्चित् ईषत् अवशिष्टं तमालपत्रं तिलकं यस्य तेन तादृशेन, अधिकन्तु लोकविदलनादेव नष्टमित्याशयः। 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः।

विलसदिति। विलसन्त्यः सविलासं व्रजन्त्यो या वारविलासिन्यो गणिकाः तासां हसितैः हासैः उन्निद्रस्य प्रस्फुटितस्य कैरववनस्य कुमुदविपिनस्य अनुकारम् अनुकरणं प्रथयता प्रकटयता 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इति कविसमयख्यातेः हास्यस्य शुभ्रत्वादित्याशयः।

सरभसेति। सरभसं वेगसहितं यत् वल्गनम् आस्फालनं परस्परमङ्गानामामोटनं तेन स्खलन्तीभिः स्वस्थानात् च्यवन्तीभिः लोलाभिः चञ्चलाभिः हारलताभिः मुक्तालताभिः आस्फालितमाहतं कुचस्थलं स्तनप्रदेशं यस्य तेन तथोक्तेन।

सिन्दूरेति। सिन्दूरतिलकेषु नागजजनितविशेषकेषु लुलिता आकाशसम्भ्रमात् लुण्ठिता अलकरेखा चूर्णकुन्तलपङ्क्तिर्यस्य तेन तादृशेन।

विप्रेति। विप्रकीर्णाः विक्षिप्ताः पिष्टातकाः पटवासाः तेषां पांशुपुञ्जैः चूर्णसमूहैः पिञ्जरिताः पीतरक्ततां प्राप्ताः केशपाशाः कचसमूहा यस्य तेन तादृशेन।

प्रणृत्येति। प्रणृत्येन विशेषनर्त्तनेन विकला व्यग्राः, मूका अस्फुटवाचः, कुब्जाः पूर्वप्रदर्शिताः, किराताः स्वल्पतनवः, वामनाः ह्रस्वदेहाः, बधिरा अकर्णाः, जडा अत्यन्तदुर्बोधाश्च लोकाः पुरस्सरा अग्रगामिनो यस्य तेन तादृशेन।

उत्तरीयेति। उत्तरीयांशुकैः तत्तत्प्रच्छादनवस्त्रैः ग्रीवासु कन्धरासु प्रथमं बद्धं समीरणप्रेरणया यदृच्छया संयमितम्, ततश्च अवकृष्टं प्रमोदविह्वलतया तत्प्रमादेन गतिजवात् आकृष्टम्, अत एव विडम्बितं बलाद्धरणेन पृथिव्यां पातनोपक्रमेण च व्यग्रीकृतं जरतां परिणतवयसां कञ्चुकिनाम् अन्तःपुरचरब्राह्मणानां कदम्बकं समुदायो येन तादृशेन।

वीणेति। वीणा वल्लकी, वेणुर्वंशः, मुरजो मृदङ्गः, कांस्यतालं करतालं तेषां लये ध्वनिसाम्यं तदनुगतेन तदनुसारचलितेन।

कलेति। कलम् अव्यक्तं मधुरञ्च यथा स्यात्तथा उद्गायता उच्चैःस्वरेण गानं विदधता।

हर्षेति। हर्षनिर्भरतया प्रमोदातिशयतया मत्तेनेव सुरापानजनितमत्ततासहितेनेव, उन्मत्तेनेव उन्मादव्याधिग्रस्तेनेव, तथा ग्रहगृहीतेनेव भूताविष्टेन पुरुषेणेव व्यपगतो विनष्टः वाच्यावाच्ययोः प्रति-

अल्पमात्र अवशिष्ट थे। वे सविलास-गामिनी वेश्याओंके हास्यसे खिले हुए कमल-वनके अनुकरणको प्रकाश करती थीं। वेगसे आन्दोलन होनेके कारण स्वस्थानच्युत चञ्चल हार-लता द्वारा उनके स्तनमण्डल ताड़ित हो रहे थे। सिन्दूरकी बिन्दीमें उनके बालोंकी लटें चिपक गई थीं। पटवासका चूर्ण उड़ानेसे केशकलाप पीले-पीले हो गये थे। गूँगे, कुबड़े, बहरे, किरात, बौने और मूर्ख उद्धत नृत्यसे विह्वल होकर उनके आगे-आगे जाते थे। किसी-किसी स्त्रीके उत्तरीयवस्त्र (दुपट्टा) किसी-किसी वृद्ध कञ्चुकीके गर्दनमें फँस जानेपर उसके खींचनेपर वे कञ्चुकिगण अत्यन्त विडम्बना पाते थे। वे वीणा, वंशी, मृदङ्ग, काँसा और मजीरोंके लयके अनुसार पाँव फेंक कर जाती थीं। उच्चैःस्वरसे अस्पष्ट (धीमी) और मधुर गान करती थीं। आनन्दमें मग्न होनेसे किसी समय

१. स्वच्छचीन, ·चीरवाससा। २. चलन···। ३···लोलितालक···। ४. क्वचित् 'पांशु' इति पदं नास्ति। ५. प्रनृत्तकल···, प्रनृत्तविकल, प्रनृत्तकल···। ६.···विलम्बित। ७. कदम्बेन। ८.···अनुयातेन। ९ अपगतः।

वाच्यावाच्यविवेकेन[1] नृत्य-गीत[2]-क्रीडा-प्रसक्तेनान्तःपुरिकाजनेन, प्रचलित[3]-मणिकुण्डलाहत[4]-कपोलभित्तिना च विघूर्णमानकर्णोत्पलेनाधोगलित[5]-विलोल-शेखरेण दोलायमान-वैकक्ष[6]क-कुसुममालेन निर्दय-प्रहत-भेरी-मृदङ्ग-मर्दल-पटह-निनादानुगत-काहल[7]-शङ्ख-रव-जनित-रभसेन चरण-सन्निपातैर्दारयतेव[8] वसुधां[9] राजपरिजनेन, प्रवृत्तनृत्येन[10] च चारणगणेन विविधमुख-वाद्य-[11]कृतकोलाहलेन पठता गायता वल्गता[12] चानुगम्यमानः शुकनासभवनं गत्वा द्विगुणतर-मुत्सवमकारयत् ।

अतिक्रान्ते च षष्ठीजागरे, प्राप्ते दशमेऽहनि, पुण्ये मुहूर्त्ते गाः सुवर्णञ्च कोटिशो

पाद्याप्रतिपाद्ययोः विवेको विवेचनं पृथगात्मता यस्य तेन तादृशेन वाच्यमपि प्रतिपादयता अवाच्यम-श्लीलादिकमपि प्रतिपादयतेत्यर्थः। नृत्यं नर्त्तनं गीतं गानं क्रीडा विनोदः तेषु प्रसक्तेन संलग्नेन अन्तः-पुरिकाजनेन अन्तःपुरस्थसुन्दरीवृन्देन ।

प्रचलितेति। अधुना 'राजपरिजनेन' इत्यस्य विशेषणानि प्रतिपादयति—प्रचलितेत्यादिना। प्रचलितैः सञ्चलितैः मणिकुण्डलैः रत्नकर्णाभरणैः आहताः ताडिताः कपोलभित्तयो गण्डस्थलानि यस्य तेन तादृशेन । विघूर्णमानानि आन्दोलितानि कर्णोत्पलानि श्रवणपद्मानि यस्य तेन तादृशेन। अधोगलिताः पृथिव्यां प्रच्युताः विलोलाः चपलाः शेखराः शिरोऽवतंसा यस्य तेन तादृशेन। दोलायमानाः कम्पमानाः वैकक्षकाणां तिर्यग्लम्बिवक्षःस्थानां कुसुममालाः पुष्पमाला यस्य तेन तादृशेन। निर्दयम् अत्यन्तं यथा स्यात्तथा प्रहताः वादिता ये भेर्यो मृदङ्गा मर्दला वाद्यविशेषाः पटहाः ढक्काश्च तेषां निनादैः शब्दैः अनुगताः तन्मिश्रिता ये काहलानां विस्तृतढक्कानां कम्बूनाञ्च रवाः तैर्जनितो निष्पादितो रभस आनन्दो यस्य तेन तादृशेन। चरणसन्निपातैः पादविक्षेपैः वसुधां पृथिवीं दारयतेव विदीर्णां कुर्वतेव राजपरिजनेन नृपपरिवारेण।

इह 'चरणविघट्टनक्वणितनूपुरसहस्रमुखरितदिगन्तरेण' इत्यत्र दिगन्तराणां मुखरीकरण-सम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बद्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः। 'दर्शयतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।'''कैरववनानुकारम्' इत्यत्रोपमार्थी। 'उत्तरीयांशुक''''''कञ्चुकिकदम्बकेन' इत्यत्र हि स्वभावोक्तिः। 'मत्तेनेव, उन्मत्तेनेव, ग्रहगृहीतेनेव, इत्येतेषु च मालोपमा, उत्प्रेक्षा वा। 'दारयतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

प्रवृत्तेति। प्रवृत्तं जातं नृत्यं नर्त्तनं यस्य तेन तादृशेन, विविधैः नानाप्रकारैः मुखवाद्यैः मुखद्वाराऽ-व्यक्तध्वनिनिस्सारणैः कृतो विहितः कोलाहलः कलकलो येन तेन तादृशेन, पठता उच्चैः स्वरेण राजस्तुतिं कुर्वता, गायता गानं विदधता, वल्गता उल्लम्फनं प्रलम्फनञ्च विदधता चारणगणेन च कुशीलववृन्देन च अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः 'चारणास्तु कुशीलवाः' इत्यमरः। शुकनासभवनं प्रधानामात्यगृहं गत्वा द्विगुणतरं स्वस्मादतिशयेन द्विगुणम् अकारयत् कारयामास।

अतिक्रान्त इति। अतिक्रान्ते व्यतीते च षष्ठीजागरे षष्ठीरात्रिकृत्ये, जागरणे, दशमेऽहनि जन्मावधि दशमे दिने प्राप्ते उपगते सति, पुण्ये पवित्रे मुहूर्त्ते वेलायां गाः सुरभीः कोटिशः कोटिसंख्याकाः सुवर्णं

मदमत्तके समान, किसी समय उन्मत्तके समान एवं किसी समय ग्रह-ग्रस्तके समान होकर वाच्यकथा भी बोलती थीं, अवाच्य कथा भी बोलती थीं एवं नृत्य, गीत और क्रीड़ामें व्यापृत होकर चलती थीं।

राजाके परिजन वर्ग भी उनके पीछे पीछे चल रहे थे। उन लोगोंके मणिमय कुण्डल हिल-हिल कर सुन्दर गालोंपर टकराते थे; कर्णोत्पल झूल रहे थे; मस्तकके आभूषण खिसक-खिसक कर नीचे ( पृथिवीमें ) गिर जाते थे; जनेऊ की तरह छाती पर पहनी गई फूलोंकी मालाएँ दोलायमान हो रही थीं; अत्यन्त ताड़न करने ( बाजने ) से भेरी, मृदङ्ग, ढोल और नगाड़ेके शब्दके साथ बड़े-बड़े ढोलों और शङ्खोंके शब्दसे उन लोगोंको आनन्द उत्पन्न हुआ और वे अपने चरण-निक्षेपसे पृथिवीको मानो विदीर्ण करते थे। चारण-गण भी राजाके पीछे-पीछे जाते थे, उनलोगोंके मध्यमें कितने नृत्य करते थे, कितने नानाविध मुखवाद्यसे कोलाहल करते थे, कितने राजस्तुति पाठ करते थे, कितने गान करते थे एवं कितने उल्लम्फन-प्रलम्फन करते-करते जाते थे।

छठी रात्रिके कृत्य हो जानेके बाद दशवें दिन प्राप्त होने पर शुभ मुहूर्त्तमें राजा करोड़ों गाय और सुवर्ण

१. विवेकेनेव। २. क्वचित् 'गीत' इति पदं नास्ति। ३. प्रचल'''। ४, उद्घट्टित'''। ५. विगलित'''। ६. वैकक्षिक''', वैकक्ष। ७. काहला'''। ८. विदारयतेव। ९. वसुन्धराम्। १०. नृत्ते प्रवृत्त। ११. विविधवाद्य। १२. गायता चानुगम्यमानः।

ब्राह्मणसात्कृत्वा[1] 'मातुरस्य मया परिपूर्णमण्डलश्चन्द्रः स्वप्ने मुखकमलमाविशन् दृष्टः' इति स्वप्नानुरूपमेव सूनोः[2] चन्द्रापीड इति नाम चकार।

अपरेद्युः शुकनासोऽपि कृत्वा ब्राह्मणोचिताः सकलाः क्रिया राजानुमतमात्मजस्य विप्रजनोचितं वैशम्पायन इति नाम चक्रे।

क्रमेण कृतचूडाकरणादि[3] क्रिया-कलापस्य शैशवमतिचक्राम चन्द्रापीडस्य।

तारापीडः क्रीडाव्यासङ्ग[4]-विघातार्थं बहिर्नगरादनुशिप्रम्[5] अर्द्धक्रोशमात्रायामम्, अति-

---

कनकञ्च ब्राह्मणसात् ब्राह्मणाधीनं कृत्वा विधाय, मया स्वप्ने स्वप्नावस्थायां परिपूर्णमण्डलः समस्तावयवयुक्तः चन्द्रो निशापतिः अस्य शिशोः मातुर्जनन्या मुखकमलं वदनाम्भोजम् आविशन् प्रविशन् दृष्टो निरीक्षित इति स्वप्नानुरूपमेव स्वप्नतुल्यमेव राजा भूपतिः स्वसूनोः स्वतनयस्य चन्द्र आपीडः शेखरो यस्य स तादृशः चन्द्रापीड इति नाम संज्ञां चकार कृतवान्। यद्यपि—

'शुद्धयेद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः'

इति वचनाद्दशमदिने राज्ञः शुद्धयभावेन नामकरणमयुक्तम्, तथापि 'दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम कुर्यात्' इत्यादि पारस्करसूत्रादिप्रमाणमभ्युपगम्य तथोक्तिरिति विभावनीयम्।

अपरेद्युरिति। अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने जननादेकादशदिवसे 'एकादशे द्वादशे वा पिता नाम कुर्यात्' इति श्रुत्या नामकरणे एकादशाहोऽपि विहित इति ज्ञातव्यम्। ब्राह्मणोचिताः आभ्युदयिकश्राद्धादिपूर्वकशर्मान्तनामोल्लेखनयोग्याः सकलाः समस्ताः क्रियाः कृत्वा विधाय राजानुमतं भूपतिनानुमोदितं स्वामितया मित्रतया च समस्तकृत्येष्वेव तदनुमतिग्रहणौचित्यादित्याशयः, आत्मजस्य तनयस्य विप्रजनोचितं ब्राह्मणजनयोग्यं शुभसूचकमित्यर्थः। विशं लोकं पाति रक्षतीति विशम्पो विष्णुः 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इत्यनेन साधुः, स एव अयनम् आधारो यस्येति विशम्पायनः ततश्च स्वार्थे प्रज्ञादित्वादण्प्रत्यये आद्यचो वृद्धौ सत्यां वैशम्पायन इति। एतच्च नाम मङ्गलसूचकमेव। पूर्वं चन्द्रापीडनाम्ना त्रिपुरविजयिनो महेश्वरस्य प्रतिपादनात्तस्य बलान्वितत्वं प्रतीयते। तथा चाह मनुः—

'मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥'

क्रमेणेति। चूडाकरणं चौलकर्म तस्य आदिभूते निष्क्रमणान्नप्राशने च तद्रूपाः क्रिया तासां कलापः समूहो यस्य स तादृशः, तथा च कृतो विहितः चूडाकरणादिक्रियाकलापो यस्य तादृशस्य। शैशवं बाल्यम् अतिचक्राम कौमारं प्राप्तवानित्यर्थः।

इह शैशवलीलां चन्द्रापीडस्य कथं नावर्णयत् कविरिति विस्मयमापादयति—सहृदयहृदयेष्विति।

तारापीड इति। तारापीडो भूपतिः, चन्द्रापीडस्य क्रीडासु खेलासु व्यासङ्ग आसक्तिः, तस्य विघातार्थं निवारणार्थं नगरात् स्वकीयराजधानीतो बहिः, शिप्रां शिप्रातटमनु इत्यनुशिप्रं शिप्रानदीतटे विद्यामन्दिरं पाठशालाम् 'अकारयत्' इत्यन्वयः। तस्य च नपुंसकलिङ्गानि द्वितीयान्तानि पदानि विशेषणानि बोध्यानि। अर्धक्रोशमात्रम् आयामो विस्तारो यस्य तत्तादृशम्। तुहिनगिरेः हिमाचलस्य

---

ब्राह्मणों को दान देकर—'इस बालककी माताके मुखमध्यमें पूर्णमण्डल चन्द्रने प्रवेश किया है, यह मैंने पहले स्वप्न में देखा था'—यह विचार कर राजाने उस स्वप्नके अनुसार पुत्रका नाम **'चन्द्रापीड'** रक्खा।

शुकनासने भी दूसरे दिन ब्राह्मणोचित समस्त कार्य सम्पादन करके राजाकी अनुमतिसे अपने पुत्रका, ब्राह्मणके योग्य **'वैशम्पायन'** नाम रक्खा।

क्रमपूर्वक चन्द्रापीडका निष्क्रमण, अन्नप्राशन और चूडाकरणादि समस्त क्रियाएँ सम्पन्न हुईं, इस प्रकार बाल्यावस्था बीत गई।

तदनन्तर तारापीडने, चन्द्रापीडका मन खेलमें लगनेसे रोकनेके लिए, राजधानीके बाहर, शिप्रा नदीके तट पर, आधकोश लम्बा, एक देव-मन्दिर बनवाया। हिमालयके शिखरोंकी मालाके समान बड़ा ऊँचा और उस पर चूनेके लेपसे श्वेतवर्ण प्राचीर ( चहार दिवारी ) द्वारा वह विद्यालय परिवेष्टित किया हुआ था। चहारदिवारीके समीपमें बनाई हुई बड़ी परिखा (चौड़ी गोल खाँई) द्वारा भी वह वेष्टित था। अत्यन्त दृढ कपाटसे उसके अन्यान्य

---

१. कोटिशो ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा। २. स्वसूनोः। ३. ···बालक्रिया···। ४. व्यासङ्ग···।
५. अनुक्षिप्रम्, अनुसिप्रम्।

महता तुहिनगिरि-शिखर-मालानुकारिणा सुधाधवलितेन प्राकारमण्डलेन परिवृतम्, अनुप्राकारमाहितेन महता परिखावलयेन परिवेष्टितम्, अतिदृढकपाट-सम्पुटम्, उद्घाटितैकद्वार-प्रवेशम्, एकान्तोपरचित-तुरंग-बाह्याली-विभागम्, अधःकल्पित-व्यायामशालम्, अमरागाराकारम्, विद्यामन्दिरम् अकारयत्। सर्वविद्याचार्याणाञ्च संग्रहे यत्नमतिमहान्तमन्वतिष्ठत्। तत्रस्थञ्च तं केशरिकिशोरकमिव पञ्जरगतं कृत्वा प्रतिषिद्धनिर्गमम्, आचार्य-कुल-पुत्र-प्राय-परिजनम्, अपनीताशेष-शिशुजनक्रीडनं-व्यासङ्गम्, अनन्यमनसम्, अखिलविद्योपादानार्थमाचार्येभ्यश्चन्द्रापीडं शोभने दिवसे वैशम्पायनद्वितीयमर्पयाम्बभूव। प्रतिदिनञ्चोत्थायोत्थाय सह विलासवत्या विरलपरिजनस्तत्रैव गत्वैनमालोकयामास राजा।

---

शिखराणि शृङ्गाणि तेषां या मालाः पङ्क्तयः तदनुकारिणा तत्सदृशेन अतिमहता अत्युच्चेन सुधा चूर्णद्रव्यं तया धवलितेन श्वेतीकृतेन प्राकारमण्डलेन वप्रवलयेन परिवृतं परिवेष्टितम्।

अन्विति। प्राकारस्य वलयस्य समीप इत्यनुप्रकारम् आहितेन स्थापितेन महता विशालेन परिखावलयेन दुर्गादिपरितः खातमण्डलेन परिवेष्टितं परिवृतम्।

अतीति। अतिदृढैः अत्यन्तस्थूलैः कपाटैः सम्पुटं पिधानं यस्य तत् तादृशम्। उद्घाटितेन उन्मुक्तकपाटेन एकेन द्वारेण प्रवेशोऽन्तर्गमनं यत्र तत्तादृशम्। एकान्ते एकस्मिन् भागे उपरचितो निर्मितः तुरगबाह्यालीनाम् अश्वशकटपङ्क्तीनां विभागः अवस्थितिभूमिः यत्र तत्तादृशम्। अधःप्रदेशे अधोभागे कल्पिता रचिता व्यायामशाला मल्लक्रीडाभवनं यत्र तत्तादृशम्, अमरागाराकारं देवभवनसदृशम्, अन्वयस्तूक्त एव पूर्वम्।

सर्वेति। सर्वा निखिला या विद्या आन्वीक्षिक्यादयः तासां ये आचार्याः अध्यापकाः तेषां संग्रहे आनयने अतिमहान्तम् अत्युत्कृष्टं यत्नम् उद्योगम् अन्वतिष्ठत् अकरोत्।

तत्रेति। केशरी सिंहः तस्य किशोरकः शिशुः तं तादृशं पञ्जरगतमिव, तं चन्द्रापीडं तत्रस्थं तन्निवासिनं कृत्वा विधाय प्रतिषिद्धो निवारितो निर्गमो बहिर्गमनं यस्य तं तादृशम्। आचार्या अध्यापकाः कुलपुत्राः सद्वंशोत्पन्नाः कुमाराश्च प्रायाः अधिकाः परिजनाः परिवारा यस्य तं तादृशम्। अपनीतो निषेधेन दूरीकृतः अशेषेषु समग्रेषु शिशुजनक्रीडनेषु बालगणलीलासु व्यासङ्ग आसक्तिर्यस्य तं तादृशम्। नास्ति अन्यस्मिन् विषये मनश्चित्तं यस्य तं तथोक्तञ्च कृत्वा, वैशम्पायनो मन्त्रिपुत्र एव द्वितीयोऽपरः सहायो यस्यैवम्भूतं तं चन्द्रापीडम्, अखिलाः समस्ता या विद्याः आन्वीक्षिक्यादयः तासाम् उपादानार्थं शिक्षार्थं शोभने प्रशस्ते दिवसे दिने आचार्येभ्यः अध्यापकेभ्यः अर्पयाम्बभूव अर्पितवान्।

प्रतीति। अनन्तरं प्रतिदिनं प्रत्यहं च राजा उत्थाय उत्थाय प्रातः प्रातः स्वगृहादुत्थानं विधायेत्यर्थः। विलासवत्या महाराज्ञ्या सह विरलाः स्वल्पाः परिजनाः परिवारा यस्य स तादृशः, अन्यथा पाठशालायां कोलाहलो भवेदित्याशयः। तत्रैव विद्यामन्दिर एव गत्वा एनं चन्द्रापीडम् अवलोकयामास समपश्यत्।

---

द्वार बन्द थे, एकमात्र द्वार खुले रहनेसे वही केवल प्रवेश करनेका मार्ग था। एक तरफ बहुतसे घोड़े-गाड़ियोंको रखनेके लिए स्थान बनाया हुआ था, एवं नीचे की ओर व्यायामके घरकी तैयारी की हुई थी, इससे वह विद्यालय स्वर्गीय देव-भवनके समान सुन्दर लगता था। अनन्तर सभी प्रकारकी विद्याओंके आचार्योंको एकत्रित करनेके लिए राजाने विशेष यत्न किया। एवं पिंजरेमें रक्खे गए सिंहके बच्चेकी तरह चन्द्रापीड़ को उस विद्यालयमें रख कर, उससे बाहर निकलनेका निषेध कर, शिक्षकगण भी सत्कुलोत्पन्न कुमारोंको ही अधिक संख्यामें साथी बनाकर, बालकोंके मनका आकर्षण करनेवाली खेलकी सब चीजें वहाँसे हटा कर, अनन्य मनसे शिक्षाप्राप्ति करनेके लिए वैशम्पायनके साथ चन्द्रापीड़को शुभ दिनमें आचार्योंके हाथमें सुपुर्द किया। राजा विलासवतीके साथ प्रतिदिन निद्रासे उठ कर, अल्पसंख्यक परिजनोंको लेकर विद्यालयमें चन्द्रापीडको देखने जाया करता था।

---

१. शिखरानुकारिणा। २. सुधाधवलेन, प्राकारधवलेन चन्द्रशालावलयेन विलसितं प्राकार***। ३. तुरङ्ग***। ४. विद्यागृहम्। ५. क्वचित् 'जन' इति पदं नास्ति। ६. क्रीडाव्यासङ्गम्। ७. कुत्रचित् 'उत्थाय' इत्येकमेव पदं विद्यते।

चन्द्रापीडोऽप्यनन्यहृदयतया तथा नियन्त्रितो[1] राज्ञा अचिरेणैव कालेन[2] यथास्वमात्म-कौशलं प्रकटयद्भिः पात्रवशादुपजातोत्साहैराचार्यैरुपदिश्यमानैः[3] सर्वा विद्या[4] जग्राह । मणिदर्पण इवातिनिर्म्मले तस्मिन् सञ्चक्राम सकलः कलाकलापः । तथा हि पदे, वाक्ये, प्रमाणे, धर्म्मशास्त्रे, राजनीतिषु, व्यायामविद्यासु, चाप-चक्र-चर्म[5]-कृपाण-शक्ति-तोमर-परशु-गदाप्रभृतिषु सर्वेष्वायुधविशेषेषु रथचर्यासु, गजपृष्ठेषु, तुरङ्गमेषु[6], वीणा-वेणु-मुरज-कांस्यताल-दर्दुर-पुटप्रभृतिषु वाद्येषु, भरतादिप्रणीतेषु नृत्यशास्त्रेषु[7], नारदीयप्रभृतिषु गान्धर्ववेदविशेषेषु, हस्तिशिक्षायाम्, तुरगवयोज्ञाने[8], पुरुषलक्षणेषु, चित्रकर्मणि, यन्त्रच्छेद्ये[9], पुस्तकव्यापारे, लेख्यकर्मणि, सर्वासु द्यूतकलासु, गन्धशास्त्रेषु[10], शकुनिरुतज्ञाने, ग्रहगणिते, रत्नपरीक्षासु, दारु-

चन्द्रेति । राज्ञा नरपतिना तारापीडेन तथा नियन्त्रितः तेन प्रकारेण नियमितः, चन्द्रापीडोऽपि अनन्यहृदयतया विद्याध्ययन एवैकाग्रमनस्कतया अचिरेणैव कालेन स्वल्पेनैव समयेन, यथास्वं यथार्थम् आत्मकौशलं विद्याग्रहणे स्वकीयचातुर्यं प्रकटयद्भिः स्फुटीकुर्वद्भिः, पात्रवशात् आधारवशात् चन्द्रापीडस्य तीक्ष्णबुद्धिसामर्थ्यादिना उत्कर्षवशादित्यर्थः । उपजातोत्साहैः समुत्पन्नोत्साहैः आचार्यैः अध्यापकैः उप-दिश्यमानः शिष्यमाणः सर्वा निखिला विद्या आन्वीक्षिक्यादयः जग्राह गृहीतवान् ।

मणीति । सकलः समस्तः कलाकलापः नृत्यगीतादिकलाविद्यासमुदायः, मणिदर्पण इव रत्नादर्श इव अतिनिर्मले अतिस्वच्छे तस्मिन् चन्द्रापीडे सञ्चक्राम अध्यापकेभ्यः सङ्क्रान्तो बभूव । अन्यविद्याभ्यः कलानां मार्दवतया पृथगुपन्यासः ।

प्रतिपादितमेव विषयं विशेषेण निरूपयति—तथाहीत्यादिना । पदं व्याकरणशास्त्रं तस्य हि केवल-पदसाधनार्थत्वात् तत्र । वाक्यं पूर्वोत्तरमीमांसायुगलं श्रुतिवाक्योपजीवित्वात् तत्र । प्रमाणं न्यायवैशेषि-कसांख्यपातञ्जलरूपम् आत्मानात्मनोः प्रमितिकरणत्वात् तत्र । धर्मशास्त्रं धर्मनिरूपणप्रधानं मन्वादि-निर्मितं शास्त्रं तत्र । राजनीतिषु शुक्रकामन्दकीप्रभृतिनिर्मितशास्त्रेषु । व्यायामः श्रमः तदर्थं या विद्या मल्लयुद्धादिकाः तासु । चापं धनुः, चक्रं रथाङ्गम्, चर्म सन्नाहः, कृपाणः असिः, शक्तिः आयुधविशेषः, तोमरः प्रहरणविशेषः, परशुः कुठारः, गदा, एतत्प्रभृतिषु सर्वेषु निखिलेषु आयुधविशेषेषु अस्त्र-विशेषेषु रथचर्यासु रथारोहणेषु, गजपृष्ठेषु हस्तिशिरोदेशेषु, तुरङ्गमेषु अश्वेषु, वीणा वल्लकी, वेणुर्वंशः, मुरजो मृदङ्गः, कांस्यतालं करतालम्, दर्दुरपुटं मण्डूकशब्दसदृशशब्दात्मको वाद्यविशेषः एतत्प्रभृतिषु वाद्येषु आतोद्येषु । भरतादयस्तत्त्वविदः तैः प्रणीतानि निर्मितानि नृत्यशास्त्राणि ताण्डवविधाननिरूपकग्रन्थाः तेषु । हस्तिशिक्षायां गजशिक्षायाम् । तुरगवयोज्ञाने अश्वावस्थाबोधे, पुरुषाणां लोकानां लक्षणेषु माषति-लकादिचिह्नरेखाद्यवलोकनेनेष्टानिष्टबोधकसामुद्रिकशास्त्रेषु । चित्रकर्मणि आलेख्यविद्यायाम् । यन्त्रे दूरवीक्षणादियन्त्रेण छेद्ये परिच्छेत्तुं शक्ये ग्रहनक्षत्रादिनिश्चये इत्यर्थः । पुस्तकव्यापारे ग्रन्थरचनक्रियायाम् लेख्यकर्मणि अक्षरविन्यासे । सर्वासु निखिलासु द्यूतकलासु अक्षक्रीडादिरूपकलाशिक्षासु । गन्धशा-

चन्द्रापीड़ भी महाराज द्वारा इसप्रकार नियमित होकर, थोड़े समयके मध्यमें ही सभी विद्याओंको ग्रहण कर लिया, क्योंकि—आचार्यगण, चन्द्रापीड़ ऐसे सुपात्र शिष्य मिलनेके कारण अत्यन्त उत्साही होकर, अपनी-अपनी निपुणता प्रकट करते हुए शिक्षा दिये थे । मणिमय-दर्पणके समान अत्यन्त निर्मल चन्द्रापीड़के हृदयमें नृत्य-गीतादि समस्त कला-विद्याएँ भी शिक्षकगणसे सङ्क्रान्त हुई थीं । अर्थात् व्याकरणमें, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें, न्याय और वैशेषिकादि दर्शनशास्त्रमें, स्मृतिशास्त्रमें, नीतिशास्त्रमें, व्यायामविद्या ( मल्ल आदि ) में, धनुष, चक्र, चर्म ( ढाल ); तलवार, शक्ति, तोमर ( भाला ), परशु ( फरसा ), और गदा आदि अनेक प्रकारके विशेष-विशेष आयुधोंमें, रथारोहण ( रथ पर चढ़ने एवं हाँकने ) में, हाथी पर चढ़नेमें, घोड़ेपर चढ़नेमें, वीणा, वंशी, मृदङ्ग, काँसा, मंजीरे, तूती आदि बाजोंमें, भरत मुनि आदिके बनाए हुए नाट्यशास्त्रमें नारद आदिके बनाए हुए गान्धर्ववेद ( गानशास्त्र ) में, हस्तिशिक्षामें, घोड़ोंकी उम्र जाननेमें, सामुद्रिक-शास्त्रमें, चित्रकर्ममें, दूरवीक्ष-णादि यन्त्र द्वारा ग्रह-नक्षत्रादि निर्णयमें, ग्रन्थरचनामें, नानाविध अक्षर-विन्यासमें, सब द्यूत-कलाओंमें, गन्ध-द्रव्य निर्माणमें, पक्षियोंका शब्द सुनकर शुभाशुभ निर्णयमें, ज्योतिषशास्त्रमें, रत्न-परीक्षामें, काष्ठ द्वारा नानाविध

१. यन्त्रितो राज्ञा । २. क्वचित् 'कालेन' इति न विद्यते । ३. उपदिश्यमानाः । ४. सर्वविद्याः । ५.…वर्म्म… । ६. तुरङ्गेषु । ७. नृत्तशास्त्रेषु । ८.…स्थानेषु । ९. पत्रच्छेद्ये । १०. गन्धर्वशास्त्रेषु । क्वचिच्च 'सर्वासु द्यूतकलासु शकुनि' इत्येवमेव पाठः ।

कर्मणि, दन्तव्यापारे, वास्तुविद्यासु, आयुर्वेदे, मन्त्र[1]प्रयोगे, विषापहरणे, सुरङ्गोपभेदे, तरणे, लङ्घने, प्लुतिषु, आरोहणे, रतितन्त्रेषु[2], इन्द्रजाले, कथासु, नाटकेषु, आख्यायिकासु, काव्येषु, महाभारत-पुराणेतिहास-रामायणेषु, सर्वलिपिषु, सर्वदेशभाषासु, सर्वसंज्ञासु, सर्वशिल्पेषु[3], छन्दःसु, अन्येष्वपि कलाविशेषेषु परं कौशलमवाप।

सहजा चास्याजस्रम्[4] अभ्यस्यतो वृकोदरस्येव शैशवे[5] एव आविर्बभूव सर्व[6]लोक-विस्मय-जननी महाप्राणता। यदृच्छया क्रीडताऽप्यनेन करतलालम्बितै[7]-कर्णपल्लवावनताङ्गाः सिंहकि-

---

स्त्रेषु गन्धद्रव्यरचनाविद्यासु। शकुनिरुतज्ञाने पक्षिशब्दानुसारेणेष्टानिष्टनिश्चायकशास्त्रे वसन्तराजशाकुन-प्रभृतौ। ग्रहगणिते ज्योतिःशास्त्रे। रत्नपरीक्षासु मण्युपादानानुपादानकर्मसु। दारुकर्मणि काष्ठद्वारानेकवि-धवस्तुरचनायाम्। दन्तव्यापारे गजदन्तद्वारानेकप्रकारशिल्परचनायाम्। वास्तुविद्यासु भवनोपवनादि-प्रकारसूचकशास्त्रेषु। आयुर्वेदे वैद्यकशास्त्रे। मन्त्रप्रयोगे मन्त्रणाकरणे। विषापहरणे विषप्रतीकारे। 'सुरङ्ग' इति प्रसिद्धो गुप्तदीर्घमार्गः तस्य उपभेदे खननपूर्वकरचनायाम्। तरणे नद्यादौ सन्तरणे। लङ्घने वप्रादी-नाम्। प्लुतिषु व्याघ्रादिभिर्मल्लखेलायामुल्लम्फनेषु। आरोहणे तर्वादौ। रतितन्त्रेषु वात्स्यायनप्रणीतकाम-शास्त्रेषु। इन्द्रजाले मायाकूटरचनायाम्। कथासु बृहत्कथाकाव्येषु। नाटकेषु अभिनयात्मकेषु। आख्यायि-कासु वासवदत्तादिकाव्यविशेषेषु। काव्येषु महाकाव्येषु रघुवंशादिषु। महाभारतम् पञ्चमो वेदः, पुराणानि

'मद्वयं भद्वयञ्चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।'

इत्यादिलक्षिताष्टादशमार्कण्डेयादीनि, इतिहासाः पुरावृत्तानि कथासरित्सागरादीनि। रामायणं वाल्मीकीयमध्यात्मञ्च तेषु। यद्यपि काव्यान्तर्गता एव कथानाटकाख्यायिकादयः, तथेतिहासान्तर्गतावेव महाभारतरामायणे तथापि स्वाभिलषितप्राधान्यबोधनार्थं तेषु तेषां पृथगुपादानं गोबलीवर्दन्यायेनेति बोध्यम्। सर्वलिपिषु सर्वप्रकाराक्षरावगमेषु। सर्वसंज्ञासु हस्तनेत्रभङ्ग्यादिना समस्तविधप्रयोजनद्योत-नासु। छन्दःसु आम्नायेषु पिङ्गलादिप्रणीतच्छन्दःशास्त्रेषु च। सर्वदेशभाषासु सर्वदेशवचनव्यापारेषु। सर्वशिल्पेषु निखिलविज्ञानेषु। अन्येष्वपि एतद्भिन्नेष्वपि कलाविशेषेषु आकरज्ञानादिषु परम् उत्कृष्टं कौशलं दाक्ष्यम् अवाप प्राप्तवान्।

सहजेति। किञ्चेत्यर्थे चकारः। अजस्रम् अनवरतम् अभ्यस्यतः मुहुर्मुहुरध्ययनेन शिक्षां गृह्णतः अस्य चन्द्रापीडस्य वृकोदरस्येव भीमस्येव, शैशव एव बाल्य एव सहजा स्वाभाविकी सर्वलोकविस्मयज-ननी समस्तजनाश्चर्यजनिका महाप्राणता अत्यन्तशारीरिकशक्तिः आविर्बभूव प्रकटीबभूव। 'वृकोदर-स्येव' इत्यत्रोपमा।

यदृच्छयेति। यदृच्छया स्वेच्छया क्रीडताऽपि केलिं विदधताऽपि अनेन चन्द्रापीडेन करतलाभ्यां पाणि-तलाभ्याम् अवलम्बितौ आकृष्य गृहीतौ यौ कर्णपल्लवौ श्रवणकिसलयौ ताभ्याम् अवनतानि नम्राणि अङ्गानि अवयवा येषां ते तथोक्ताः, सिंहकिशोरकेण केसरिशिशुना क्रमाभ्यां चरणाभ्याम् आक्रान्ता इव

---

वस्तु निर्माणमें, हाथीके दाँतके द्वारा नानाविध वस्तु-निर्माणमें, वास्तु-विद्यामें, आयुर्वेदमें, मन्त्रणा करणमें, विष-चिकित्सा ( उतारने ) में, सुरङ्ग निर्माणमें, तैरनेमें, लाँघनेमें, उछलने-कूदनेमें, चढ़नेमें, रतिशास्त्र ( वात्स्यायना-दिसूत्र ) में, इन्द्रजाल विद्या ( जादू ) में, कथाओंमें, नाटकोंमें, कहानियोंमें, काव्योंमें, महाभारतमें, पुराणमें, इतिहासमें, रामायणमें, सभी प्रकारके अक्षर परिचयमें, सब देशोंकी भाषाओंके ज्ञानमें, सब पारिभाषिक सङ्केतोंमें, सर्वविध शिल्पकार्यमें, छन्दः शास्त्रोंमें और ऐसी-ऐसी अन्य कितनी ही कलाओंमें चन्द्रापीड़ने अत्यन्त निपुणता प्राप्त की थी।

प्रतिदिन व्यायाम करनेसे बाल्यावस्थामें ही सब लोगोंको विस्मय उत्पन्न कराती, भीमसेनके समान, प्राकृ-तिक महावीरता ( अत्यन्त दैहिक बल ) प्रकट हो गई। चन्द्रापीड अपने इच्छानुसार खेल करते २ जिस समय हाथियोंके बच्चोंके कान हाथसे पकड़ कर आसानीसे उन्हें झुका देता था उस समय वे जैसे सिंहके बच्चेकी झपटमें

---

१. यन्त्रप्रयोगे। २. क्वचित् 'आरोहणे, रतितन्त्रेषु' इति पाठो न विद्यते। ३. शिल्पेषु। ४. सहजाश्रमम्''' अस्य मम। ५. शैशवमेव। ६. क्वचित् 'सर्व' इति पदं नास्ति। ७'''आलम्बित, आकुञ्चित'''।

शोरक-क्रमाक्रान्ता इव गजकलभाश्चलितुमपि न शेकुः । एकैकेन कृपाणप्रहारेण तालतरून् मृणालदण्डानिव लुलाव । सकल-राजन्य-वंश-वन-दावानलस्य परशुरामस्येवास्य नाराचाः शिखरिशिलातलभिदो बभूवुः । दश-पुरुष-संवाहनयोग्येन चायोदण्डेन श्रममकरोत् । ऋते च महाप्राणतायाः सर्वाभिरन्याभिर्विद्याभिः अनुचकार तं वैशम्पायनः । चन्द्रापीडस्य तु सकल-कलाकलाप-परिचय-बहुमानेन शुकनास-गौरवेण सहपांशुक्रीडनया सहसंवृद्धतया च सर्वविश्रम्भस्थानं द्वितीयमिव हृदयं वैशम्पायनः परं मित्रमासीत । निमेषमपि तेन विना

---

पीडिता इव सन्तः चलितुमपि इतस्ततो गन्तुमपि न शेकुः न शक्ता बभूवुः किं पुनः प्रहर्तुमित्याशयः । इह 'आक्रान्ता इव' इति क्रियोत्प्रेक्षा ।

एकैकेनेति । कृपाणप्रहारेण खड्गस्याघातेन तालतरून् तालवृक्षान् मृणालदण्डानिव नलिनदण्डानिव लुलाव चिच्छेद । उपमा ।

सकलेति । सकलाः समस्ताः राजन्यवंशाः क्षत्रियकुलान्येव वंशाः कीचकाः तेषां वनस्य सङ्घस्य दावानलः अरण्याग्निः तस्य निखिलराजन्यविनाशकारिण इत्यर्थः, परशुरामस्येव जामदग्न्यस्येव यस्य चन्द्रापीडस्य नाराचा अयोमयबाणाः । शिखरिशिलातलभिदः पर्वतपाषाणविदारिणः बभूवुः अभूवन् ।

इह 'परशुरामस्येव' इत्युपमा सा च 'सकलराजन्यवंशवनदावानलस्य' इत्यत्र प्रतिपादित-श्लिष्ट-परम्परितरूपकेण सङ्कीर्णा ।

दशेति । दशपुरुषैः दशसंख्याकजनैः संवाहनयोग्येन उत्थापनोचितेन अयोदण्डेन लौहमुद्गरेण श्रमं व्यायामम् अकरोत् कृतवान् ।

ऋत इति । महाप्राणतया अतिशक्तिमत्त्वात् ऋते विना 'अन्यारादितरर्त्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते' इति सूत्रेण पञ्चमी । अन्याभिः अपराभिः सर्वाभिः समस्ताभिः विद्याभिः आन्वीक्षिक्यादिभिः वैशम्पायनः मन्त्रिसुतः तं कुमारम् अनुचकार । चन्द्रापीडतुल्यो ज्ञानवानभूदित्यर्थः । वैशम्पायनस्य ब्राह्मणात्मजत्वात् महाप्राणता तत्र नापेक्षितेत्याशयः ।

चन्द्रेति । सकलाः समस्ता याः कला विद्याः तासां कलापः समूहः तत्र परिचयेन विशेषज्ञान-प्राप्तेन यो बहुमानः सत्कारः तेन शुकनासगौरवेण शुकनासं प्रति पूज्यत्वभावनया, सहपांशुक्रीडनया एकस्मिन् स्थले धूलिखेलनया, सह संवृद्धतया एकत्र वृद्धिमुपगततया च निमित्तेन, वैशम्पायनः चन्द्रापीडस्य द्वितीयमपरं हृदयं चित्तमिव सर्वविस्रम्भस्थानं समस्तविश्वासपात्रम् , परमुत्कृष्टं मित्रं सुहृद् आसीत् अभूत् । इह 'द्वितीयं हृदयमिव' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षा ।

निमेषमिति । निमेषमपि लवद्वयमपि एकाकी तेन वैशम्पायनेन विना स्थातुं वर्तितुं न शशाक न समर्थो बभूव । वैशम्पायनोऽपि वासरो दिवसः उष्णकरं सूर्यमिव तं चन्द्रापीडम् अनुगच्छन् अनुव्रजन्

---

आ गये हों उसी तरह मानो थोड़ा सा भी हिल नहीं सकते थे । वह तलवारकी एक-एक चोटसे तालवृक्षों को मृणाल–दण्डके समान काट डालता था । समस्त क्षत्रिय-रूपी बाँसोंके वनको अग्निरूप–परशुरामके बाणोंके समान उसके लौहमय बाण पर्वतोंकी चट्टानोंको छेद डालते थे । [ राजा कार्त्तवीर्यके एक हजार भुजाएँ थीं । एक बार वह जमदग्निके आश्रममें गया । उस समय जमदग्नि या उसके लड़के नहीं थे इस लिए जमदग्निकी स्त्रीने उसका आतिथ्य सत्कार किया । वहाँ से चलनेके समय राजा ऋषि की गौ साथमें ले गया और अपने भुजाओंके गर्वमें उसने आश्रमके कतिपय वृक्षोंको तोड़ डाला । कुछ देरके बाद अपने आश्रममें जब जमदग्निपुत्र परशुरामजी आए तो वहाँ की छिन्न-भिन्न दशा देखकर उन्हें बहुत क्रोध आया और उन्होंने कार्त्तवीर्यकी राजधानीमें जाकर उसे मार डाला । उसके बाद कार्त्तवीर्यके पुत्रोंने प्रतिशोधकी दृष्टिसे परशुरामकी अनुपस्थितिमें आश्रम पर आक्रमण किया और उनके पिताको मार डाला । परशुरामको जब यह समाचार मिला तब उन्होंने प्रतिज्ञा की—'हम कार्त्तवीर्यके पुत्रोंके साथ क्षत्रियकुलका संहार करेंगे ।' इसीसे बादमें परशुरामने इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार किया । ] जिस मुगदरको दश पुरुष मिलकर उठा सकें ऐसे लोहेके मुगदरसे वह व्यायाम करता था । अत्यन्त शारीरिक बलके अतिरिक्त अन्य सभी विद्याओंमें वैशम्पायन उनका अनुकरण करता था । समस्त विद्याओंमें विशेष ज्ञान-प्राप्ति करनेसे अपने उस सम्मानसे, पिता शुकनाशके प्रति गौरवसे, एक साथ धूलमें खेल करनेसे एवं एक जगह रहकर वर्धित होनेसे वैशम्पायन, चन्द्रापीडका द्वितीय हृदयके समान सभी प्रकारके विश्वासका पात्र परममित्र था । चन्द्रापीड एक क्षण भी

---

१. सिंहकिशोर··· । २. क्वचित् 'बाल एव' इत्यधिकः पाठो विद्यते । ३. कलाभिः ।

स्थातुमेकाकी न शशाक। वैशम्पायनोऽपि तमुष्णकरमिव वासरोऽनुगच्छन्[1] क्षणमपि विरहयाञ्चकार।

एवं तस्य सर्वविद्यापरिचयमाचरतश्चन्द्रापीडस्य त्रिभुवनविलोभनीयोऽमृतरस इव सागरस्य, सकल-लोक-हृदय-नयनानन्द[2]-जननश्चन्द्रोदय इव प्रदोषस्य, बहुविध-राग-विकार-भङ्गुरः सुरधनुःकलाप इव जलधरसमयस्य, मकरध्वजायुधभूतः कुसुमप्रसव इव कल्पपादपस्य, अभिनवाभिव्यज्यमान-रागरमणीयः सूर्योदय इव कमलवनस्य, विविध-लास्य-विलास-योग्यः कलाप इव शिखण्डिनो यौवनारम्भः प्रादुर्भवन् रमणीयस्यापि द्विगुणां रमणीयतां पुपोष। लब्धावसरः सेवक इव[3] निकटीबभूवास्य मन्मथः। लक्ष्म्या सह वितस्तार वक्षः-

क्षणमपि त्रिंशत्कलारूपमपि अक्षिस्पन्दनमात्रमपीत्यर्थः। न विरहयाञ्चकार न तत्याज। चौरादिकाद्रहेर्लिटि रूपम्। इह 'उष्णकरमिव' इत्यनेन पूर्णोपमा।

एवमिति। एवं पूर्वोक्तविधिना सर्वविद्यापरिचयं निखिलविद्याभ्यासम् आचरतो विदधतः तस्य चन्द्रापीडस्य सागरस्य समुद्रस्य अमृतरसः सुधाद्रव इव, त्रिभुवनं त्रिलोकीं विलोभयति विशेषेण मोहयतीति स तादृशः, अग्रिमस्य 'यौवनारम्भस्य' विशेषणमेतत्। एवमग्रेऽपि। प्रदोषस्य रजनीमुखस्य चन्द्रोदयः चन्द्रोद्गम इव, सकललोकानां समस्तजनानां हृदयानन्दजननः स्वान्तप्रमोदोत्पादकः। जलधरसमयस्य वर्षाकालस्य, सुरधनुःकलाप इव शक्रचापसमूह इव बहुविधा अनेकप्रकारा रागविकाराः विषयेच्छारूपविकाराः नीलपीतादिरञ्जनवर्णसम्मेलनानि च यत्र स तादृशः, तथा भङ्गुरो विनाशशीलः। अनयोश्च कर्मधारयसमासः। कल्पपादपस्य पारिजातस्य कुसुमप्रसव इव पुष्पोद्गम इव मकरध्वजस्य कन्दर्पस्य आयुधभूतः शस्त्ररूपः स्थलद्वयेऽपि मन्मथव्यथोत्पादनादित्याशयः। कमलवनस्य पद्मकाननस्य सूर्योदय इव, अभिनवो नूतनोऽभिव्यज्यमान आविर्भवन् यो रागः सुन्दरीष्वनुरागः लौहित्यञ्च तेन रमणीयो मनोहरः। तथा शिखण्डिनो मयूरस्य कलापः पुच्छभाग इव, विविधानाम् अनेकप्रकाराणां लास्यानां नृत्यानामिव विलासानां 'धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः' इति प्रतिपादितस्वरूपाणां विभ्रमाणां योग्यो जनने समर्थः। यौवनारम्भः बाल्यात्परं वयस उदयः प्रादुर्भवन् प्रकाशीभवन् रमणीयस्यापि मनोहरस्यापि द्विगुणां पूर्वतो द्विभागाधिकां रमणीयतां पुपोष चकार। इह मालोपमा पूर्णा।

लब्धेति। मन्मथः कामदेवः सेवक इव पादसंवाहनादिकारको भृत्य इव लब्धावसरो यौवनारम्भादन्यान्यजनापसरणाच्च प्राप्तावकाशः सन् अस्य चन्द्रापीडस्य निकटीबभूव समीपवर्त्यभूत्। एतेन चन्द्रापीडस्य कामाधीनत्वं नेति व्यञ्जयति। इह च पूर्णोपमा।

लक्ष्म्येति। लक्ष्म्या शरीरकान्त्या सह वक्षःस्थलं भुजान्तरस्थलं वितस्तार विशालं बभूव।

वैशम्पायनके विना अकेला नहीं रह सकता था। एवं दिन जिस प्रकार सूर्यका अनुगमन करता है और क्षण-काल भी उससे पृथक् नहीं होता है, उसी प्रकार वैशम्पायन भी चन्द्रापीडका अनुगमन करता हुआ क्षण भर भी उससे पृथक् नहीं होता था।

जब चन्द्रापीड इस प्रकार समस्त विद्याओं का अभ्यास कर रहा था, जब उसमें यौवनारम्भ दिखाई देने लगा। वह नव यौवन, समुद्रके अमृत-रसके समान समस्त संसारका लोभजनक, प्रदोषकालके चन्द्रोदयके समान सब लोगोंके हृदय और नयनको आनन्द देनेवाला, वर्षाकालके इन्द्रधनुषके समान नानाविध विकार-समन्वित (यौवनारम्भ विषयाभिलाषरूप अनेक भावोंके विकारसे, पक्षान्तरमें-नील पीतादि अनेक प्रकारके रङ्गोंके विकारसे) अचिरस्थायी, कल्पवृक्षके पुष्प-विकासके समान कामदेवका अस्त्रस्वरूप, कमल-वनके सूर्योदयके समान अभिनव प्रकाशमान रागसे ( रमणीके प्रति अनुरागसे, पक्षान्तरमें-रक्तवर्णसे ) रमणीय एवं मयूरके पंखोंके समान नृत्यतुल्य विविध विलासके उपयोगी था। और चन्द्रापीडके स्वभावसे ही सुन्दर होने पर भी नव यौवनसे उसका सौन्दर्य दूना बढ़ गया था। ऐसे समयमें शुश्रूषाकारी सेवकके समान कामदेव, अवसर पाकर उसके समीप आने लगा। और उस समयमें चन्द्रापीडके शरीर-सौन्दर्यके साथ-साथ वक्षःस्थल ( छाती ) विस्तार पाने लगा। बन्धुजनोंके

१. गच्छन् क्षण···। २. ···हृदयानन्द···। ३. अनुसेवकः, नवसेवकः।

स्थलम् । बन्धुजनमनोरथैः सहापूर्य्यतोरुदण्डद्वयम् । अरिजनेन सह तनिमानमभजत मध्य-भागः । त्यागेन सह प्रथिमानमाततान नितम्बभागः । प्रतापेन सहारुरोह रोमराजिः । अहित-कलत्रालक-लताभिः सह प्रलम्बतामुपययौ भुजयुगलम् । चरितेन सह धवलतामभजत लोचनयुगलम् । आज्ञया सह गुरुर्बभूव भुजशिखरदेशः[1] । स्वरेण सह गम्भीरतामाजगाम हृदयम् ।

एवञ्च[2] क्रमेण समारूढयौवनारम्भं परिसमाप्त-सकल[3]-कला-विज्ञानमधीताशेषविद्यञ्चावगम्यानुमोदितमाचार्य्यैश्चन्द्रापीडमानेतुं राजा बलाधिकृतं बलाहकनामानमाहूय बहु[4]-तुरग-बल-पदाति-परिवृतमतिप्रशस्तेऽहनि प्राहिणोत् । स गत्वा विद्यागृहं द्वारपैः[5] समावेदितः

बन्धुजनानां कुटुम्बलोकानां मनोरथैः 'कदा चन्द्रापीडो युवा भविष्यति' इत्थं वाञ्छितैः सह ऊरुदण्डद्वयं सक्थियुगलम् अपूर्यत पूर्णं बभूव । मध्यभागः कटिप्रदेशः अरिजनेन शत्रुवर्गेण सह तनिमानं कृशत्वम् अभजत आश्रयत् । त्यागेन दानेन सह नितम्बभागः आरोहप्रदेशः प्रथिमानं विशालताम् आततान प्राप । नचात्र नेयार्थत्वप्रसक्तिः धातूनामनेकार्थत्वात् । प्रतापेन कोशदण्डप्रसवतेजसा सह रोमराजिः तनूरुहपङ्क्तिः आरुरोह आरूढा बभूव । अहितकलत्राणां वैरिवनितानाम् अलकलताभिः लतावल्लम्बमानचूर्णकुन्तलैः सह भुजयुगलं बाहुद्वयं प्रलम्बतां दीर्घतां लम्बितताञ्च ( भाविस्वामिविश्लेषेण असंयमनात् ) उपययौ प्राप । चरितेन आचारेण सह लोचनयुगलं नेत्रद्वयं धवलतां बाल्यचापल्यदोषशून्यत्वं स्वच्छत्वञ्च अभजत प्रापत् । आज्ञया निदेशेन सह भुजशिखरदेशः स्कन्धप्रदेशः गुरुः विशालः पक्षे गौरववाहिनी सर्वेषां शिरोधार्येत्यर्थः । स्वरेण शब्देन सह गम्भीरतां मन्द्रत्वं धीरत्वञ्च हृदयं मनः आजगाम अगमत् । इह सर्वत्र सहोक्तिरलङ्कारः ।

एवञ्चेति । एवं पूर्वोक्तविधिना । राजा तारापीडः । समारूढः समुत्पन्नः यौवनारम्भः तारुण्योदयो यस्य तं तादृशम्, परिसमाप्तं सर्वतः सम्पूर्णं सकलानां समस्तानां कलानां नृत्यगीतादीनां विज्ञानम् अध्ययनेन ज्ञानप्राप्तिर्यस्य तं तादृशम्, अधीताः शिक्षिता अशेषाः समग्रा विद्या आन्वीक्षिक्यादयः येन तं तादृशम्, आचार्यैः अध्यापकैः अनुमोदितं गन्तुमनुज्ञातं चन्द्रापीडं निजात्मजम् आनेतुम् आनयनाय बलाधिकृतं सेनाधिपतिं बलाहकनामानं बलाहकसंज्ञकम् आहूय आह्वानं कृत्वा, बहुभिः अनेकैः तुरगबलैः अश्वारोहिसैनिकैः पदातिभिश्च सैनिकैः परिवृतं परिवेष्टितम् अतिप्रशस्ते अतिशोभने दिवसे दिने प्राहिणोत् प्रेषयामास ।

स इति । स बलाहको विद्यागृहं विद्यामन्दिरं गत्वा प्राप्य द्वारपैः द्वारपालैः समावेदितः स्वनिकटे आगन्तुं राजपुत्रस्यादेशो जात इति निवेदितः सन् प्रविश्य प्रवेशं विधाय, क्षितितले वसुधापीठे विल-

मनोरथोंके साथ-साथ जंघाएँ पूर्ण होने लगीं । शत्रुओंके साथ-साथ मध्यभाग पतला होने लगा । दान-शक्तिके साथ-साथ नितम्बदेश विस्तृत होने लगा । प्रतापके साथ-साथ रोम-राजि उत्पन्न होने लगी । शत्रुओंकी स्त्रियोंके बालोंकी लटोंके साथ-साथ बाहुयुगल दीर्घता प्राप्त करने ( नीचे को लटकने ) लगे । ( अर्थात् शत्रुओंकी स्त्रियोंने अपने पतियोंके विनाशके डरसे अपनी चोटियाँ गूँथना छोड़ दी थीं, उनकी चोटियाँ नीचे की तरफ लम्बी लटका करती थीं ) । चरित्रके साथ-साथ नयनयुगल निर्मल होने लगे । आज्ञाके साथ-साथ स्कन्धदेश ( बाहुका ऊपरी भाग ) विस्तृत होने लगा, एवं कण्ठ-स्वरके साथ-साथ हृदयमें गम्भीरता आने लगी ।

चन्द्रापीडका यौवन-समय उपस्थित है, उसकी समस्त शिल्प-कलाओंकी शिक्षाएँ समाप्त हो गई हैं, एवं अन्य समस्त विद्याओंका अध्ययन करना हो गया है, और विद्यालयसे जानेके लिए, आचार्योंने अपनी-अपनी अनुमति दे दी है, क्रमसे ऐसा जानकर राजा तारापीडने–चन्द्रापीडको बुलानेके लिए, बलाहक नामक सेनापतिको बुला कर, अधिकतर घुड़सवार और पैदल-सेनाओंके साथ अतिप्रशस्त दिनमें विद्यालय भेजा । बलाहक विद्यालय जाकर उपस्थित हुआ । उसके बाद द्वारपालोंने राजपुत्रके पास जाकर वहाँ से अनुमति मिलनेके बाद लौट कर सूचित किया कि—'राजपुत्रने आपको प्रवेश करनेकी अनुमति दी है' । बाद बलाहकने अन्दर घुस कर मस्तक अवनत

१. शिखरदेशः । २. क्वचित् चकारो नास्ति । ३. समग्र । ४. बृहत्''' । ५. द्वाःस्थैः ।

प्रविश्य[1] क्षितितल-विलम्बित[2]-चूडामणिना शिरसा प्रणम्य स्वभूमिसमुचिते राजसमीप इव सविनयमासने राजपुत्रानुमतो न्यषीदत्। स्थित्वा च मुहूर्त्तमात्रं बलाहकश्चन्द्रापीडमुपसृत्य व्यजिज्ञपत्[3]-'कुमार! महाराजः समाज्ञापयति-पूर्णा नो मनोरथाः, अधीतानि शास्त्राणि, शिक्षिताः सकलाः कलाः, गतो[4]ऽसि सर्वा[5]युधविद्यासु परां प्रतिष्ठाम्, अनुमतोऽसि निर्गमाय[6] विद्यागृहात् सर्वाचार्य्यैः। उपगृहीतशिक्षं गन्धगजकुमारकमिव वारिविनिर्गतम्[7] अधिगत[8]-सकल-कला-कलापं[9] पौर्णमासीशशिनमिव नवोद्गतं[10] पश्यतु त्वां जनः। व्रजन्तु सफलतामतिचिर-दर्शनोत्कण्ठितानि लोकलोचनानि। दर्शनं प्रति ते समुत्सुकान्यतीव सर्वाण्यन्तः-

म्बितः संयुक्तः चूडामणिः शिरोरत्नं यस्य तथोक्तेन शिरसा मूर्ध्ना प्रणम्य नमस्कृत्य स्वभूमौ स्वोपयुक्तस्थले राजपुत्रस्य वामभाग इत्यर्थः। समुचिते योग्ये राजपुत्रासनात् किञ्चिन्निम्न इत्याशयः। आसने विष्टरे राजपुत्रेण नृपात्मजेन अनुमतोऽनुज्ञातो राजसमीप इव नृपनिकट इव सविनयं यथा स्यात्तथा न्यषीदत् उपविष्टवान्। इह 'राजसमीप इव' इत्युपमा।

स्थित्वेति। मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्थित्वा अवस्थानं विधाय बलाहकः चन्द्रापीडम् उपसृत्य निकटे प्राप्य दर्शितः प्रकटीकृतो विनयः सेवकार्थो येन स तादृशो व्यजिज्ञपत् विज्ञापनां कृतवान्—कुमार राजपुत्र! महाराजः तारापीडः समाज्ञापयति आदेशं ददाति—नोऽस्माकं मनोरथा वाञ्छिताः पूर्णाः सम्पन्नाः। कथमिति जिज्ञासायामाह—अधीतानीत्यादि। अधीतानि शिक्षितानि शास्त्राणि वेदादीनि, सकलाः समस्ताः कला नृत्यगीतादयः शिक्षिताः पठिताः, सर्वासु निखिलासु आयुधविद्यासु शस्त्रविद्यासु पराम् उत्तमां प्रतिष्ठां शिक्षाजनितगौरवं गतः प्राप्तोऽसि। विद्यागृहात् विद्यामन्दिरात् सर्वाचार्यैः निखिलाध्यापकैः निर्गमाय निःसरणाय अनुमतोऽसि अनुज्ञातोऽसि।

उपेति। उपगृहीताः आचार्यसकाशादात्ताः शिक्षाः शास्त्राभ्यासादिरूपा येन तादृशं त्वां वारेः गजबन्धनस्थानात् विनिर्गतं बहिरागतम्। 'वारिर्घव्यां सरस्वत्यां गजबन्धनभुव्यपि' इति रामाश्रमी। गन्धगजकुमारकमिव गन्धहस्तिबालकमिव, अधिगतः प्राप्तः सकलानां समस्तानां कलाविद्यानां षोडशांशानाञ्च कलापः समूहो येन तं तादृशम्, नवोद्गतं नूतनोदितं पौर्णमासीशशिनमिव राकाचन्द्रमिव जनो लोकः पश्यतु अवलोकयतु।

इह 'गन्धगजकुमारकमिव' इत्युपमा, 'पौर्णमासीशशिनमिव' इति पूर्णोपमा चेत्यनयोः मिथो नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात्संसृष्टिरलङ्कारः।

व्रजन्त्विति। अतिचिरेण सुबहुकालेन यद्दर्शनम् अवलोकनं तत्रोत्कण्ठितानि सोत्कलिकानि 'उत्कण्ठोत्कलिके तस्मिन्' इति शब्दार्णवः। लोकलोचनानि जननयनानि सफलतां साफल्यं व्रजन्तु गच्छन्तु।

दर्शनमिति। ते तव दर्शनम् अवलोकनं प्रति सर्वाणि निखिलानि अन्तःपुराणि अन्तःपुरस्था नार्यः अतीव समुत्सुकानि अत्यन्तसोत्कण्ठितानि सन्तीति शेषः।

(झुका) कर राजपुत्रको प्रणाम किया। उस समय उसका चूडामणि भूतलमें सट गया था। उसके बाद वह महाराज तारापीडके समीपमें जिस प्रकार बैठा करता था, उसी प्रकार राजपुत्रकी अनुमतिके अनुसार अपने पदके योग्य आसन पर विनयपूर्वक बैठ गया। फिर थोड़ी देर ठहर कर वह चन्द्रापीडके समीपमें जाकर विनय-पूर्वक कहने लगा—'कुमार! महाराज आदेश देते हैं कि—'हमारी सब अभिलाषाएँ पूर्ण हुई हैं, क्योंकि—तुम समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर चुके हो, समस्त शिल्प कलाओंकी शिक्षा पा चुके हो, समस्त अस्त्रविद्याओंमें भी अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हो, और आचार्योंने भी विद्यालयसे जानेकी अनुमति दे दी है, अत एव शिक्षा ग्रहण करके बन्धन स्थानमें से बाहर निकले गन्धगज-कुमारके समान एवं सकल-कला-परिपूर्ण नवोदित चन्द्रमाके समान इस समय तुम्हें सब लोग देखें (इस समय वहाँ से तुम बाहर निकल कर आओ)। तुम्हारे दर्शनके लिए उत्कण्ठित साधारण मनुष्योंके नेत्र इस समय सफलता प्राप्त करें। तुम्हें देखनेके लिए अन्तःपुरस्थ समस्त सुन्दरियाँ

१. प्रवेशितः। २.…अवलम्बित, चुम्बित…। ३. व्यज्ञापयत्। ४. गतः। ५. सर्वासु। ६. विनिर्गमाय। ७. वारिबन्धाद्विनिर्गतम्। ८. क्वचित् 'अधिगत' इति पदं नास्ति। ९.…कलापकम्। १०. उद्गतम्।

पुराणि। अयमत्रभवतो दशमो वत्सरः[2] विद्यागृहमधिवसतः, प्रविष्टोऽसि षष्ठमनुभवन् वर्षम्, एवं सम्पिण्डितेनाधुना[3] षोडशेन प्रवर्द्धसे, तदद्यप्रभृति निर्गत्य दर्शनोत्सुकाभ्यो दत्त्वा दर्शनमखिलाभ्यो मातृभ्यः[4], अभिवाद्य च गुरून्[5], अपगतनियन्त्रणो यथासुखमनुभव राज्यसुखानि नवयौवनललितानि च, सम्मानय राजलोकम्, पूजय द्विजातीन्, परिपालय प्रजाः, आनन्दय बन्धुवर्गम्'। अयञ्च ते[6] त्रिभुवनैकरत्नमनिल-गरुड-सम-जव इन्द्रायुधनामा तुरङ्गमः प्रेषितो महाराजेन द्वारि तिष्ठति। एष खलु देवस्य पारसीकाधिपतिना त्रिभुवनाश्चर्यमिति कृत्वा 'जलनिधि[7]जलादुत्थितमयोनिजमिदमश्वरत्नमासादितं मया -महाराजाधिरोहणयोग्यम्' इति सन्दिश्य प्रहितः[8]। दृष्ट्वा च निवेदितं[9] लक्षणविद्भिः-'यान्युच्चैः', श्रवसः श्रूयन्ते लक्षणानि

अयमत्रेति। अत्रभवतः अत्यन्तशिक्षिततया सर्वपूज्यस्य 'त्रिषु तत्रभवान् पूज्यस्तथैवात्रभवानपि' इति हैमः। विद्यामन्दिरम् अधिवसतः अधितिष्ठतः अयं दशमः संवत्सरो दशमो वर्षः 'अस्ति' इति शेषः। अथ च षष्ठं वर्षं संवत्सरम् अनुभवन् प्रविष्टोऽन्तर्गतोऽसि। एवम् अनेन प्रकारेण सम्पिण्डितेन संयोजनेन षोडशेन षडधिकदशवर्षेण त्वं प्रवर्द्धसे वृद्धिं प्राप्तोऽसि, तत्तस्मात्कारणात् कृतकृत्यत्वादित्याशयः। अद्यप्रभृति अद्यारभ्य निर्गत्य निःसृत्य दर्शनोत्सुकाभ्यो विलोकनोत्कण्ठिताभ्योऽखिलमातृभ्यः समस्तजननीभ्यो दर्शनं स्वसाक्षात्कारं दत्त्वा, अभिवाद्य प्रणम्य च गुरून् शिक्षकान्, अपगतनियन्त्रणो दूरीभूतपूर्ववन्निरोधो यस्य स तादृशः, यथासुखं सुखमनतिक्रम्य राज्यसुखानि नवयौवनस्य अभिनवतारुण्यस्य ललितानि विलासव्यापारांश्च अनुभव साक्षात्कुरु।

सम्मानयेति। राजलोकं स्वायत्तमित्रराजवर्गम्, सम्मानय सम्मानदानेन प्रसन्नीकुर्वित्यर्थः। द्विजातीन् विप्रान् 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। पूजय वस्त्रादिदानेन सत्कुरु। प्रजाः प्रकृतीः परिपालय सर्वतो रक्ष। बन्धुवर्गं स्वजनमण्डलम् आनन्दय प्रहर्षय।

अयञ्चेति। अयं पुरो दृश्यमानः त्रिभुवने लोकत्रये एकम् अद्वितीयं रत्नम्, अश्वजातिषु सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः। 'वेदाः प्रमाणम्' इतिवन्नपुंसकत्वम्। अनिलगरुडयोः वायुतार्क्ष्ययोः समस्तुल्यो जवो वेगो यस्य स तादृशः। इन्द्रायुध इति नाम यस्य सः तादृशस्तुरङ्गमोऽश्वो महाराजेन भूपतिना ते तवनिमित्तं प्रेषितः प्रहितः द्वारि विद्यामन्दिरप्रतोल्यां तिष्ठति। खलु निश्चयेन, एष इन्द्रायुधः पारसीकाधिपतिना पारसीकदेशस्वामिना मया देवस्य महाराजस्य त्रिभुवनाश्चर्यं लोकत्रयविस्मयजनकम् इति कृत्वा जलनिधिजलात् समुद्रसलिलात् उत्थितम् आविर्भूतम् अत एव अयोनिजं पुंस्त्रीसंयोगादनुत्पन्नम् अत एव च महाराजस्य तारापीडस्य अधिरोहणयोग्यम् आरोहणोचितम् इदम् अश्वरत्नं घोटकमणिः इति सन्दिश्य इति कथयित्वा प्रहितः प्रेषितः।

ननु पारसीकाधिपतिना यत्प्रशंसितं तत्सत्यमेव न मन्ये विदेशीयत्वात्। यदि चास्मद्देशीयः कश्चित् तत्त्वज्ञो वदेत् तदैव प्रशंसाया विशेषमहत्त्वमित्यत आह—दृष्ट्वा चेति। लक्षणविद्भिः इह विद्यमानैः अश्वलक्षणाभिज्ञैः दृष्ट्वा निरीक्ष्य निवेदितं विज्ञापितम्—देव! स्वामिन्! उच्चैःश्रवसः उच्चैः उन्नतौ श्रवौ कर्णौ

अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही हैं। और तुम्हें विद्यालयमें वास करते हुए यह दसवाँ वर्ष है, तुमने छठेवर्षकी अवस्थामें विद्यालयमें प्रवेश किया था। इन दोनोंको जोड़नेसे तुम सोलहवें वर्षमें प्रविष्ट होकर बढ़ रहे हो, इस लिए आज यहां से बाहर निकल कर, देखनेके लिए उत्कण्ठित सभी माताओंको दर्शन देकर, तथा गुरुजनों (बड़े-बूढ़ों) की वन्दना करके, स्वतन्त्रता-पूर्वक राज्य-सुख और नव-यौवनके भोग-विलासका यथारुचि अनुभव करो, राजाओंका सम्मान करो, ब्राह्मणोंका पूजन करो, प्रजाओंका पालन करो और आत्मीय-बन्धुओंको आनन्दित करो। त्रिभुवनके मध्यमें रत्न-स्वरूप एवं वायु और गरुड़के तुल्य वेगवान् इन्द्रायुधनामका एक अश्व आपके लिए महाराजने भेज दिया है, वह अश्व दरवाजे पर खड़ा है। 'समुद्र-जलमें से निकला हुआ अयोनि-जन्मा यह अश्व-रत्न मुझे मिला है, यह महाराजके (तारापीडके) ही चढ़ने योग्य है' इस प्रकार सन्देशा देकर एवं यह अश्व तीनों भुवनोंके मध्यमें आश्चर्यरूप है ऐसा समझ कर पारसियोंके राजाने-महाराजके (तारापीड़के) पास इसे भेज दिया था।

१. क्वचित्, 'अयम्' इत्यधिकः पाठो नास्ति। २. संवत्सरः। ३. आपीडितेनामुना। ४. अखिलमातृभ्यः। ५. गुरूणाम्। ६. कुत्रचित् 'ते' इति पदं न विद्यते। ७. जलधि। ८. प्रहितम्। ९. इह क्वचित् 'च' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते।

तैरयमुपेतः। नैवंविधो भूतो भावी वा तुरङ्गम' इति। तदयमनुगृह्यतामधिरोहणेन। इदञ्च मूर्द्धाभिषिक्त[1]-पार्थिवकुल-प्रसूतानां विनयोपपन्नानां शूराणामभिरूपाणां कलावताञ्च[2] कुलक्रमागतानां राजपुत्राणां सहस्रं परिचारार्थम्[3] अनुप्रेषितं तुरङ्गमारूढं[4] द्वारि प्रणामलालसं प्रतिपालयति।' इत्यभिधाय विरतवचसि[5] बलाहके चन्द्रापीडः पितुराज्ञां शिरसि कृत्वा नवजलधर-ध्वान-गम्भीरया गिरा 'प्रवेश्यतामिन्द्रायुध' इति निर्जिगमिषुरादिदेश।

अथ वचनानन्तरमे[6]व प्रवेशितम्, उभयतः खलीन-कनक-कँटकावलग्नाभ्यां पदे पदे

---

यस्य तस्य इन्द्राश्वस्य यानि लक्षणानि चिह्नानि श्रूयन्ते आकर्ण्यन्ते तैर्लक्षणैः अयम् इन्द्रायुध उपेतो युक्तः। एवंविध एतादृशः तुरङ्गमोऽश्वो न भूतः पूर्वमासीत् न भावी अग्रे च न भविष्यति इति सम्भावयामह इति शेषः। तस्मात्पारसीकवचनेऽपि विश्वासो विधेय एवेत्याशयः।

तदिति। तत्तस्मात्कारणात् अयम् अश्वोऽधिरोहणेन आरोहणेन अनुगृह्यताम् अनुग्रहविषयीक्रियताम्।

इदञ्चेति। यथाशास्त्रं राज्येऽभिषिक्ताः मूर्द्धाभिषिक्ता इति साम्प्रदायिकाः। ब्राह्मणेभ्यः क्षत्रियासूत्पन्ना मूर्द्धाभिषिक्ता इति धर्मशास्त्रम्। तथा च तादृशा ये पार्थिवा भूपतयः तेषां कुले वंशे प्रसूता उत्पन्नाः तेषां तथोक्तानाम्, विनयोपपन्नानां मर्यादासहितानाम्, शूराणां साहसगुणयुक्तानाम्, अभिरूपाणां मनोहराकृतीनाम्, कलावतां विज्ञानवताम्, कुलक्रमागतानां वंशपरम्परयागतानाम्, राजपुत्राणां सहस्रं नृपात्मजानां समूहः, परिचारार्थं सेवानिमित्तम्, अनुप्रेषितं महाराजेन मत्पश्चात् प्रहितम्। एषां पूर्वजा यथा भवतः पूर्वजानां सेवां विहितवन्तः, एतेऽपि तथैव भवन्तं सेवितुं समायाता इत्याशयः। तुरङ्गमम् अश्वम् आरूढं द्वारि प्रतोल्यां प्रणामलालसं भवतो नमस्कारेऽत्यन्ताभिलाषुकं सत् प्रतिपालयति भवन्तं प्रतीक्षते।' इत्यभिधाय इत्युक्त्वा बलाहके विरतवचसि तूष्णीम्भूते सति चन्द्रापीडः पितुराज्ञां जनकादेशं शिरसि कृत्वा मस्तके आरोप्य, नवो नूतनो यो जलधरो मेघो घनः तस्य यद् ध्वानं गर्जनं तद्वत् गम्भीरया मन्द्रया गिरा वाण्या ततो निर्जिगमिषुः विद्यालयान्निर्गन्तुमिच्छुः इन्द्रायुधः तन्नामाश्वः प्रवेश्यताम् आनीयताम् इत्यादिदेश आज्ञां दत्तवान्।

अथेति। अथेति नानन्तर्यार्थे 'वचनानन्तरम्' इत्यनेनैव तस्य प्रतिपादनात् किन्तु वाक्यान्तरारम्भ इत्यर्थः। वचनानन्तरमेव चन्द्रापीडस्याज्ञावाक्यानन्तरमेव, प्रवेशितं बलाहकाज्ञया आनीतम् 'इन्द्रायुधम् अद्राक्षीत्' इत्यतिदूरस्थेन सम्बन्धः। इह द्वितीयान्तानि पदानि 'इन्द्रायुधम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। उभयतो भागद्वयात् खे वदनच्छिद्रे लीनोऽन्तर्भूत इति खलीनः कविका 'कविका तु खलीनोऽस्त्री' इत्यमरः, स एव कनककटकं स्वर्णवलयम् 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, तत्र अवलग्नाभ्यां संयुक्ताभ्यां गृहीतकविकाभ्यामित्यर्थः, पदे पदे प्रतिपदं कृतो विहित आकुञ्चने आकृष्यानयने प्रयत्न

---

इसे देख कर इस देशके लक्षण पहचानने वालोंने भी कहा था कि—'उच्चैःश्रवा ( इन्द्रके घोड़े ) में जितने लक्षण सुने जाते हैं, उन समस्त लक्षणोंसे ही यह अश्व सम्पन्न है, अत एव हमारे मनमें होता है कि—इस प्रकारका अश्व पहले भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ है किं वा भविष्यत्कालमें भी उत्पन्न नहीं होगा।' इसलिए आप इस पर सवार होने की कृपा करिए। अभिषिक्त क्षत्रिय-राजकुलोंमें उत्पन्न हुए, विनय-गुण-सम्पन्न, बलवान्, सुन्दराकृति, शिल्पकलाभिज्ञ और कुलक्रमागत इन एक हजार राजपुत्रोंको आपकी सेवाके लिए महाराजने मेरे पीछे भेजा है। वे घोड़ों पर बैठे-बैठे आपको प्रणाम करनेके अभिलाषी हो कर दरवाजे पर आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' इतना कह कर बलाहकके चुप हो जाने पर चन्द्रापीडने पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर, विद्यालयसे बाहर निकलने की इच्छासे, नवीन मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर स्वरसे—'इन्द्रायुधको अन्दर प्रवेश करो' इस प्रकार की आज्ञा दी।

राजपुत्रके आदेशके बाद ही बलाहकने उस अश्वको विद्यालयमें प्रवेश कराया। दो सईस दोनों बगल खड़े होकर, दोनों तरफ लगी हुई सोनेकी जञ्जीरोंको पकड़-पकड़ कर पद-पद पर रोकनेका प्रयत्न कर उसे खींचे

---

१. मूर्द्धाभिषिक्तानाम्। २. कुलवताम्। ३. परिवारार्थम्, परिवारार्थम्। ४. अधिरूढम्। ५. अभिधाय विरराम। ६. वचनान्तम्। ७. खलीनकटक''', खलीनकथनक।

कृताकुञ्चनप्रयत्नाभ्यां पुरुषाभ्यामाकृष्यमाणम्, अतिप्रमाणम्, ऊर्ध्वकर-पुरुष-प्राप्य-पृष्ठभागम्, आपिबन्तमिव सम्मुखागतमखिलमाकाशम्, अतिनिष्ठुरेण मुहुर्मुहुः प्रकम्पितोदररन्ध्रेण हेषारवेण पूरितभुवनोदरविवरेण निर्भर्त्सयन्तमिवालीक-वेग-दुर्विदग्धं गरुत्मन्तम्, अतिदूरमवनमता प्रतिक्षणमतिदूरमुन्नमता च[1] जव-निरोध-स्फीत-रोष-घुरघुरायमाण-घोर[2]-घोणेन शिरोभागेन[3] निज-जव-दर्पवशादुल्लङ्घनार्थमाकलयन्तमिव त्रिभुवनम्, असित-पीत-हरित-पाटलाभिराखण्डल-चापानुकारिणीभिर्लेखाभिः कल्माषित[5]-शरीरम्, आस्तीर्ण-विविधवर्णकम्बल[6]मिव कुञ्जरकलभम्, कैलास-तटाघातधातु-धूलि-पाटलमिव हरवृषभम्, असुर-रुधिर-पङ्क-

उद्योगो याभ्यां तादृशाभ्यां पुरुषाभ्याम् आकृष्यमाणम् आकृष्य आनीयमानम्, प्रमाणं सामान्यमेव परिमाणमतिक्रान्तमित्यतिप्रमाणम्, अतएव ऊर्ध्वम् उन्नतः करो हस्तो यस्य तादृशेन पुरुषेण प्राप्यः स्प्रष्टुं योग्यः पृष्ठभागः पश्चात्प्रदेशो यस्य तं तादृशम् अत्यन्तोन्नतमित्यर्थः।

आपिबेति। सम्मुखागतम् अभिमुखायातम् अखिलं समस्तम् आकाशं गगनम् आपिबन्तमिव आस्वादयन्तमिव वारंवारं मुखव्यादानादित्याशयः।

अतीति। अतिनिष्ठुरेण अत्यन्तकठोरेण मुहुर्मुहुः, वारंवारं प्रकम्पितम् आन्दोलितम् उदररन्ध्रं जठरविवरं येन तादृशेन तथा पूरितं व्याप्तं भुवनोदरविवरं जगन्मध्यं येन तादृशेन हेषारवेण हेषाशब्देन 'हेषा ह्रेषा च निस्वनः' इत्यमरः। अलीकवेगेन असत्यजवेन दुर्विदग्धं दुरभिमानिनं गरुत्मन्तं वैनतेयं निर्भर्त्सयन्तं तिरस्कारं कुर्वन्तमिव, स्वस्य तदधिकवास्तविकजवशालित्वादित्याशयः।

अतिदूरमिति। प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे अतिदूरं नितान्तम् अवनमता नीचैर्गच्छता, अतिदूरं नितान्तम् उन्नमता ऊर्ध्वं गच्छता च, जवनिरोधेन रश्मिकद्वारा वेगावरोधेन स्फीतो वृद्धिमुपगतो यो रोषः क्रोधः तेन घुरघुरायमाणा 'घुर घुर' इत्येवं ध्वनिं कुर्वाणा घोरा भीषणा घोणा नासिका यस्य तेन तादृशेन, शिरोभागेन मूर्द्धदेशेन करणेन, निजः स्वकीयो जवदर्पः वेगस्य गर्वः तद्वशात् उल्लङ्घनार्थम् अतिक्रमणार्थं त्रिभुवनं लोकत्रयम् आकलयन्तमिव किंपरिमाणमिति विचारयन्तमिव।

'आपिबन्तमिव', 'निर्भर्त्सयन्तमिव', 'विचारयन्तमिव' एषु हि क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

असितेति। असिताः श्यामाः, पीताः हरिताः, पाटलाः श्वेतरक्ताश्च ताभिः तादृशीभिः अत एव आखण्डलस्य इन्द्रस्य यः चापो धनुः तदनुकारिणीभिः तत्तुल्याभिः, लेखाभिः रोमपङ्क्तिभिः कल्माषितं कर्बुरितं विचित्रीकृतमित्यर्थः, शरीरं वपुर्यस्य तं तादृशम्। अत एव आस्तीर्णं पृष्ठदेशोपरि निपातितं विविधवर्णं नानारूपं कम्बलं रल्लकं यस्य तं तादृशम्, कुञ्जरकलभमिव त्रिंशद्वर्षीयहस्तिबालकमिव। तथा असुराणां दैत्यानां रुधिरपङ्कलेखाभिः रक्तकर्दमपङ्क्तिभिः लोहिता रक्तवर्णाः सटाः केसरा यस्य तं तादृशम्, पार्वतीसिंहमिव दुर्गाकेसरिणमिव विद्यमानम्।

इह मालोपमा, सा च वाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण अर्थोपमालङ्कारेण च सङ्कीर्णा बोध्या।

लाते थे। उसकी आकृति इतनी बड़ी थी कि–कोई पुरुष दण्डायमान ( खड़े ) होकर हाथ ऊँचे फैला कर उसके पृष्ठ देशको पा सकता था। वह अश्व बार-बार मुखव्यादान करनेसे सामने आए समस्त आकाशका, मानो पान करता था। बार-बार उदरको कम्पित कर बाहर निकला हुआ, संसारके मध्य-परिपूरक और अत्यन्त कठोर हेषारवसे ( अश्वके शब्दका नाम–हेषा, ह्रेषा ) वह मानो, मिथ्या वेगका व्यर्थ दुरभिमान (घमण्ड) रखनेवाले गरुड़का तिरस्कार करता था। उसका मस्तक क्षण-क्षणमें कभी बहुत नीचा और कभी बहुत ऊँचा हो जाता था. एवं वेग रोकनेसे उत्पन्न हुए अत्यन्त क्रोधसे उसकी घोर नासिका 'घुर घुर' शब्द करती थी, उससे प्रतीत होता था कि— मानो वह अपने वेगके अहङ्कारसे समस्त त्रिभुवन उल्लङ्घन करनेके लिए 'त्रिभुवन कितना बड़ा है' यह मन ही मन विवेचना करता था। इन्द्रधनुषका अनुकरण करनेवाली, काली, पीली, हरी और श्वेत रक्त वर्णकी रेखाओंसे उसका सब शरीर चित्रित था, जिससे पीठके ऊपर नाना वर्णके कम्बलसे युक्त हाथीके बच्चेके समान, कैलास पर्वतके शरीर पर शृङ्गकी टक्कर लगनेसे निकले हुए गैरिकादि धातुकी रजसे श्वेत रक्त वर्ण महादेवके बैलके समान एवं असुरोंके

१. क्वचित् 'अतिदूरमुन्नमता च, अवनमता प्रदक्षिणमुन्नमता च। २. क्वचित् 'घोर' इति पदं नास्ति। ३. मुखेन। ४. निजदर्पवशात्, निजजवदर्पावेशात्। ५. कलिमषित, कल्मषित…। ६. आस्तीर्णकम्बलमिव, आस्तीर्णचित्रवर्णकम्बलमिव।

लेखा-लोहित-सटमिव पार्वतीसिंहम् , रहःसङ्घातमिव मूर्त्तिमन्तम् , अनवरतपरिस्फुरत्-प्रोथपुटोन्मुक्तसूत्कारेण[1] अतिजवापीतमनिलमिव नासिकाविवरेणोद्वमन्तम् , अन्तःस्खलित-मुखर-खलीन-खर-शिखर-क्षोभ-जन्मनो लालाजलभुवः फेनपल्लवान्[2] उदधि-निवास-परिपीतामृतरस-गण्डूषा[3]निवोद्गिरन्तम् , अत्यायतं निर्म्मांसतया[4] समुत्कीर्णमिव वदनमुद्वहन्तम् , आनन-मण्डल-निहितारुण-मणिसमुद्गतैरंशुकलापैरुपेतेनावसक्त-रक्त-चामरेणेव निश्चलशिखरेण कर्णयुगलेन विराजमानम्, उज्ज्वल-कनक-शृङ्खला-रचित-रश्मि-कलाप-कलितया लाक्षालोहित-लम्ब-लोल-सटा-सन्तानया जलनिधि-सञ्चरण-लग्न-विद्रुम-पल्लवयेव शिरोधरयोपशोभितम्,

रह इति । रहो वेगः तस्य सङ्घातं समूहमिव मूर्त्तिमन्तं शरीरधारिणम् । अनवरतं निरन्तरं परिस्फुरतः समन्तात्प्रसरतः प्रोथपुटात् नासिकाग्रात् उन्मुक्तो यः सूत्कारः 'सूत्' इत्येवं ध्वनिः तेन कारणेन, नासिकाविवरेण नासारन्ध्रेण करणेन अतिजवेन प्राग्विहितेनात्यन्तवेगेन आपीतं सम्यकूपानविषयीकृतम् अनिलं वायुम् उद्वमन्तमिव बहिर्निष्कासयन्तमिव ।

'रहः सङ्घातमिव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा, उद्वमन्तमिव इत्यत्र हि क्रियोत्प्रेक्षा ।

अन्तरिति । अन्तर्वदनमध्ये स्खलितः सञ्चलितः, अतएव मुखरो वाचालो यः खलीनः कविका तस्य खरशिखरेण निशिताग्रेण यः क्षोभः घर्षणं तस्मात् जन्म उत्पत्तिर्येषां तान् तादृशान्, लालाजलात् मुखस्रावसलिलात् भवन्ति उत्पद्यन्ते ये ते तान् तादृशान्, फेनपल्लवान् प्रसृतमुखकफान्, उदधिनिवासे सागरावस्थानसमये परिपीता ये अमृतरसाः पीयूषरसाः तेषां गण्डूषान् वदनपूरणपरिमितभागान् उद्गिरन्तं वमन्तमिव । क्रियोत्प्रेक्षा ।

अत्येति । अत्यायतम् अतिविस्तीर्णम्, निर्मांसतया तुरङ्गजातेः स्वभावात् शरीरोपयोगिमांसरहिततया समुत्कीर्णमिव सन्तक्ष्य दारुविशेषादुद्धृतमिव वदनं मुखम् उद्वहन्तं धारयन्तम् । उक्तालङ्कारः ।

आननेति । आननमण्डले मूर्द्धनीत्यर्थः, निहितेभ्यः मण्डनार्थं तन्तुभिर्ग्रथित्वा स्थापितेभ्यः अरुणमणिभ्यः पद्मरागरत्नेभ्यः प्रबालादिभ्यो वा समुद्गतैः निःसृतैः अंशुकलापैः किरणसमूहैः उपेतेन सहितेन अत एव अवसक्तः संलग्नः रक्तचामरः लोहितवर्णवालव्यजनं यत्र तेनेव स्थितेन, निश्चले निष्क्रिये शिखरे अग्रदेशौ यस्य तेन तादृशेन। इह रक्तचामरसम्बन्धोत्प्रेक्षणाद्गुणोत्प्रेक्षा ।

उज्ज्वलेति । उज्ज्वलया निर्मलया कनकशृङ्खलया सुवर्णनिगडेन रचितः कल्पितो यो रश्मिकलापः अश्वसंयमनाधोरज्जुसमूहः तेन कलितया बद्धया, तया लाक्षावत् जतुवत् लोहितो रक्तवर्णः लम्बो विस्तीर्णः लोलश्चपलः सटासन्तानः केसरसमूहो यस्यां तया तथोक्तया, अतएव जलनिधिसञ्चरणे पूर्वं सागरे भ्रमणसमये लग्नाः संसक्ताः विद्रुमपल्लवाः तन्नत्याः प्रसृतप्रबाला यस्यां तया तादृश्येव, शिरोधरया ग्रीवया उपशोभितं विराजितम् । उक्तालङ्कारः ।

गाढ़ रक्त संलग्न होनेसे रक्तवर्ण जटासमन्वित दुर्गाके सिंहके समान वह अश्व देखने में आता था । शरीरधारी वेग-समूहके समान वह दण्डायमान था । निरन्तर इतस्ततः सञ्चालित नासिकाके अग्रसे (फूलते नथनोंसे) सूँ सूँ शब्द निकल रहा था, इस लिए ऐसा बोध हो रहा था कि—पहले महावेगसे जो समस्त वायुका पान कर लिया था, उसे मानो, नासिकारन्ध्रद्वारा बाहर निकाल रहा है । मुँहके भीतर सञ्चलित होने से खड़ खड़ करते लगामके तीक्ष्ण अग्रभागके घर्षणसे लार द्वारा विस्तृत फेन उत्पन्न हो गया है, इससे प्रतीत हो रहा है कि—समुद्रमें निवास करने के समय जो अमृत पान किया था, उसका गण्डूष मानो बाहर फेंक रहा है । अत्यन्त दीर्घ एवं मांस नहीं रहनेसे काष्ठ वा प्रस्तरमें उत्कीर्ण ( खुदे हुए ) के समान विद्यमान मुख-मण्डल धारण किए हुए था । कानों का अग्रभाग निश्चल था, उसके ऊपर मस्तकस्थित रक्त वर्ण मणि-समूहकी किरणें आकर पड़ती थीं, उससे प्रतीत हो रहा था कि—मानो, दो रक्तवर्ण चामर कानोंके ऊपरमें संलग्न हो कर विद्यमान हैं । उज्ज्वल सुवर्णके जञ्जीरके लगामसे उसकी गर्दन बँधी हुई थी, गर्दनके ऊपर लाखके समान रक्तवर्ण लम्बे-लम्बे बहुतर सटाएँ झूल रही थीं, इससे प्रतीत होता था कि—समुद्रमध्यमें विचरण करनेसे मानो बहुतर प्रबालके पत्ते लग गये हों, इस प्रकारकी ग्रीवाद्वारा वह शोभा पा रहा था । रक्तवर्ण अलङ्कारसे वह अलङ्कृत था, उस अलङ्कारके मध्यमें पत्र और लताके

१. प्रोथोन्मुक्तफूत्कारेण, पुटोन्मुक्तफूत्कारेण । २. फेनलवानुदधीनिवास्य । ३. गण्ड । ४. अतिनिर्म्मांसतया । ५. रुचिर… ।

भितम्, अतिकुटिल-कनक-पत्रलता-प्रतान-भङ्गुरेण पदे पदे रणितरत्नमालेन स्थूलमुक्ताफलप्रायेण तारागणेनेव[1] सन्ध्यारागम्[2]। अरुणेनाश्वालङ्कारेणालङ्कृतम्, अश्वालङ्कार-निहित-मरकत-रत्नप्रभा-श्यामायमान-देहतया गगनतल-निपतित-दिवसकर-रथ-तुरग-शङ्का[3]मिवो[4]पजनयन्तम्, अतितेजस्वितया जव-निरोध-रोष-वशात् प्रतिरोमकूपात् समुद्गतानि[5] सागरपरिचय-लग्नानि[6] मुक्ताफलानीव स्वेदलव[7]जालकानि वर्षन्तम्, इन्द्रनीलमणि[8]पादपीठानुकारिभिरञ्जनशिला-घटितैरिव अनवरत-पतनोत्पतनजनितविषम-मुख-रवैः[9] पृथुभिः खुरपुटैर्जर्जरितवसुन्धरैर्मुरज-

अतीति। अतिकुटिलानाम् अत्यन्तवक्राणां कनकपत्रलतानां सुवर्णरचितपत्राकारलताकारभागविशेषाणां प्रतानम् आधिक्यं यत्र तच्च तद् भङ्गुरं समूहेनापि वक्रञ्चेति तेन तादृशेन पदे-पदे प्रतिपदन्यासे रणिता ध्वनिता रत्नमाला मणिस्रजो यत्र तेन तादृशेन, स्थूलानाम् अक्षुद्राणां मुक्ताफलानां मौक्तिकानां, प्राय आधिक्यं यत्र तेन तादृशेन, अरुणेन लोहितवर्णेन अश्वालङ्कारेण तुरङ्गभूषणेन अलङ्कृतं मण्डितम्, अत एव तारागणेन नक्षत्रमण्डलेन सन्ध्यारागमिव सायङ्कालीनलौहित्यमिव विद्यमानम्। सन्ध्यारागमिवेत्युपमा।

अश्वेति। अश्वालङ्कारेषु तुरङ्गभूषणेषु निहितानां स्थापितानां मरकतरत्नानाम् अश्मगर्भाणां प्रभाभिः द्युतिभिः श्यामायमानः श्यामवदाचरन् देहः शरीरं यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, गगनतलात् आकाशतलात् निपतितः अधोयातो यो दिवसकरो दिनकृत् तस्य रथतुरगः स्यन्दनाश्वः तस्य शङ्कां स्वस्मिन् भ्रमम् उपजनयन्तमिव उत्पादयन्तमिव विद्यमानम्। सूर्यरथाश्वानामपि हरिद्वर्णत्वादतिविपुलत्वाच्चेत्याशयः। उपजनयन्तमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

अतीति। अतितेजस्वितया नितान्तपराक्रमवत्तयेति च क्रोधजनने कारणम्। 'तेजो दीप्तौ प्रभावे च स्यात् पराक्रमरेतसोः' इति मेदिनी। जवनिरोधेन रक्षककर्तृकवेगावरोधेन यो रोषः कोपः तद्वशात् प्रतिरोमकूपं प्रतिरोमरन्ध्रं समुद्गतानि उत्थितानि स्वेदलवजालकानि घर्मबिन्दुवृन्दानि, सागरपरिचयेन समुद्रमध्ये सञ्चरणपौनःपुन्येन लग्नानि शरीररससंसक्तानि मुक्ताफलानीव रसोद्भवानीव वर्षन्तं वृष्टिं कुर्वन्तम्। मुक्ताफलानीवेति जात्युत्प्रेक्षा।

इन्द्रेति। इन्द्रनीलमणेः नीलकान्तरत्नस्य पादपीठानि पादासनानि अनुकर्तुं शीलं येषां तैः तादृशैः कृष्णवर्णत्वादित्याशयः। अञ्जनशिलया कज्जलसदृशश्यामवर्णप्रस्तरेण घटितैः रचितैरिव, अनवरतं निरन्तरं यत् पतनं पृथिव्यामवतरणम् उत्पतनं पृथिव्या उत्थानञ्च ताभ्यां जनित उत्पन्नो विषमो विकटः मुखरवः अग्रभागशब्दो येषां तैः तादृशैः, पृथुभिर्विशालैः जर्ज्जरितवसुन्धरैः भिन्नीकृतभूतलैः खुरपुटैः शफपुटैः, मुरजवाद्यं मृदङ्गवाद्यम् अभ्यस्यन्तमिव अभ्यासं कुर्वन्तमिव तथाविधध्वन्युत्पत्तेरित्याशयः। अभ्यस्यन्तमिवेति क्रियोत्प्रेक्षा, सा चार्थोपमासङ्कीर्णा।

समान आकृतिविशिष्ट अत्यन्त वक्र (टेढ़) सुवर्ण-निर्मित छोटी-छोटी रेखाएँ अधिक थीं, और वह अलङ्कार प्रायः सम्पूर्ण ही वक्र था, प्रत्येक पादक्षेपमें (पद पद पर) मणिमय मालाके शब्द हो रहे थे (रत्नोंके हार खनखनाते थे), और जिनके मध्यमें बड़े-बड़े मोती लगे थे, अत एव तारागणसे शोभित सन्ध्यारागके समान वह अश्व देखनेमें आ रहा था। उन आभूषणोंके मध्यमें स्थापित (जड़े) मरकत मणियोंके कान्तिसे उसका शरीर श्याम हो गया था, जिससे वह मानो आकाशमेंसे गिरे हुए सूर्यरथनियुक्त घोड़ेका भ्रम उत्पन्न कर रहा था। अत्यन्त तेजस्विताके कारण वेग रुक गया था, अत एव वह क्रोधवश प्रत्येक रोमकूपसे निकलते हुए पसीनेकी बूँदोंकी वर्षा करता था, इससे प्रतीत होता था कि—अनेकबार समुद्र मध्यमें विचरण करने से शरीरमें लगे हुए मोतियोंकी मानो वर्षा कर रहा है। विधाताने उसके विस्तृत खुरोंको मानो कज्जलके समान विस्तृत काले पाषाणद्वारा निर्माण किया था, अत एव वे नीलकान्ति-मणि-निर्मित पादपीठ (चौकी) के अनुकरण करते थे एवं पृथिवीको जर्जरित (विदारित) करते थे, इसलिए निरन्तर ऊँचे और नीचे उठनेके कारण उन खुरोंके अग्र भागके विकट शब्दों (विषम स्वरों) से वह मानो मृदङ्ग वाद्यका अभ्यास करता था। विधाताने उसकी जङ्घाओंको मानो काष्ठ अथवा प्रस्तरोंको उत्कीर्ण (छील) कर

१. अत्र 'च' इति पदमधिकमुपलभ्यते क्वचित् क्वचित्। २. सन्ध्यारागारुणेन, सन्ध्यारागानुरागेण। ३. तुरङ्गम…। ४. 'इव' इति पदं क्वचिन्नास्ति। ५. …कूपमुद्गतानि, कूपसमुद्गतानि। ६. …परिचयाछग्नानि। ७. स्वेदजललव…। ८. क्वचित् 'मणि' इति पदन्नास्ति। ९. …विषमस्वरमुखरवैः।

वाद्यमिवाभ्यस्यन्तम्, उत्कीर्णमिव जङ्घासु, विस्तारितमिवोरसि, श्लक्ष्णीकृतमिव मुखे, प्रसारितमिव कन्धरायाम्, उल्लिखितमिव पार्श्वयोः, द्विगुणीकृतमिव जघनभागे, जव-प्रतिपक्ष[1]मिव गरुत्मतः, त्रैलोक्यसञ्चरणसहायमिव मारुतस्य, अंशावतारमिवोच्चैःश्रवसः, वेग[2]सब्रह्मचारिणमिव मनसः, हरिचरणमिव सकलवसुन्धरोल्लङ्घनक्षमम्, वरुणहंसमिव मानसप्रचारम्, मधुमासदिवसमिव वि[3]कसिताशोकपाटलम्, व्रतिनमिव भस्म-सित-पुण्ड्राङ्कितमुखम्,

उत्कीर्णमिति। जङ्घासु प्रसृतावच्छेदेन 'जङ्घा तु प्रसृता' इत्यमरः। उत्कीर्णमिव काष्ठविशेषं प्रस्तरं वा सन्तक्ष्य निःसारितमिव तत्र शरीरोपयोगिपिशितासत्त्वेन केवलसक्थिमयतया बोध्यमानत्वादित्याशयः। सर्वत्र सृष्टिकर्त्रेति कर्तृपदमध्याहार्यम्। जङ्घाद्वयस्यात्यन्तविस्तृततया भागाधिक्याशयेनेह बहुवचनोपन्यासः। तस्य जङ्घाद्वयमुत्कीर्णमिवेति स्फुटार्थः। एवमग्रेऽप्यूहनीयम्। उरसि वक्षसि विस्तारितमिव प्रसारितमिव। मुखे वदने श्लक्ष्णीकृतमिव चिक्कणकरणेन सौन्दर्यविशेषमापादितमिव। कन्धरायां ग्रीवायां प्रसारितमिव विस्तीर्णीकृतमिव। विस्तृतकन्धरात्वादित्याशयः। पार्श्वयोः कक्षाधोऽवयवयोः उल्लिखितमिव उत्कीर्णमिव शरीरोपयोगिपिशितासत्त्वादित्याशयः। जघनभागे नितम्बदेशे द्विगुणीकृतमिव द्विगुणतामापादितमिव तयोरत्यन्तस्थूलत्वादित्याशयः।

'उत्कीर्णमिव' इत्यारभ्य 'द्विगुणीकृतमिव' इत्यन्तं यावत् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

जवेति। गरुत्मतो वैनतेयस्य जवप्रतिपक्षमिव वेगे प्रतिद्वन्द्विनमिव तत्सदृशवेगयुक्तत्वादित्याशयः। एवमपरत्रापि। मारुतस्य पवनस्य त्रैलोक्ये त्रिभुवने यत्सञ्चरणं गमनं तत्र सहायमिव सखायमिव। उच्चैःश्रवसः इन्द्रतुरङ्गमस्य अंशावतारमिव अंशेनावतरणमिव। मनसः चित्तस्य वेगस्य सब्रह्मचारिणमिव सतीर्थ्यमिव। इह सर्वत्र जात्युत्प्रेक्षा।

हरीति। हरेः वामनरूपस्य भगवतः चरणं पादमिव सकलवसुन्धरोल्लङ्घनक्षमं समस्तभूतलोल्लङ्घनसमर्थम्, बलिक्रतौ वामनभगवतः पादस्य समस्तभूतलोल्लङ्घनात् इन्द्रायुधस्यापि तत्क्षमत्वमित्याशयः।

वरुणेति। वरुणस्य प्रचेतसो यो हंसश्चक्राङ्गः तमिव 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा' इत्यमरः। मानसवत् चेतोवत् प्रचारो गतिर्यस्य तं तादृशम्, पक्षे मानसे तन्नामकसरोवरे प्रचारो भ्रमणं यस्य तं तादृशम्।

मध्विति। मधुमासस्य चैत्रमासस्य 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः' इत्यमरः। दिवसमिव दिनमिव, विकसितः प्रस्फुटितो यतः अशोको वञ्जुलो 'वञ्जुलोऽशोके' इत्यमरः, तद्वत् पाटलं श्वेतरक्तम्, पक्षे विकसितैः अशोकैः कुसुमैः पाटलम्।

व्रतिनमिति। व्रतिनं किञ्चिन्नियमयुक्तं पार्वणादिशास्त्रीयक्रियातत्परं विप्रमिव, भस्मवत् सितो धवलो यः पुण्ड्रको भाले रोमविन्यासविशेषः, पक्षे भस्मना विभूत्या यः सितपुण्ड्रकः श्वेततिलकविशेषः तेन अङ्कितं चिह्नितं मुखं वदनं यस्य तं तादृशम्।

बाहर किया था। वक्षः स्थल (छाती) को मानो विस्तृत किया था। मुख भागको मानो पालिस कर पतला करदिया था। गर्दन को मानो विस्तृत बनाया था। दोनों बगलको मानो छील कर बाहर किया था एवं जघन भागको मानो दूना कर बनाया था। और वह वेगमें गरुड़का प्रतिस्पर्धी था। त्रिभुवन विचरण करनेमें वायुका मानो सहचर था। इन्द्रके घोड़ेका मानो अंशावतार था। वेग-शिक्षामें मानो मनका सतीर्थ्य (साथी) था। वामनरूपी नारायणके चरण के समान वह, समस्त पृथिवीका उल्लङ्घन करनेमें समर्थ था। वरुणका हंस जिस प्रकार मानस सरोवरका विचरण करता है, वह भी उसीप्रकार मनके समान वेगसे विचरण करता था। चैत्र मासके दिन जिस प्रकार खिले हुए अशोक पुष्पसे पाटल ( श्वेतरक्तवर्ण ) होते हैं, वह भी उसी प्रकार खिले हुए अशोक-पुष्पके समान पाटल ( श्वेत-रक्तवर्ण ) था। श्राद्धादि वैध कर्ममें प्रवृत्त ब्राह्मणके मुख-मण्डलके समान भस्मद्वारा निर्मित शुभ्रवर्ण त्रिपुण्ड्रसे अङ्कित रहता है, उसका मुख भी उसी प्रकार भस्मके समान शुभ्रवर्ण ललाटस्थित रोमावर्त्तसे अङ्कित था। कमलवनके केशर जिस प्रकार उसके गाढ-मकरन्दसे पिङ्गल वर्ण होकर रहते हैं, उसके केसर ( स्कन्धप्रदेशकी सटा ) भी

१. जय···। २. वेगरथ। ३. विकासित।

कमलवनमिव मधु-पङ्क-पिङ्गकेशरम्, ग्रीष्मदिवसमिव महायाममुग्रतेजसञ्च, भुजङ्गमिव[1] सदागत्यभिमुखम्, उदधिपुलिनमिव शङ्खमालिकाभरणम्, भीतमिव स्तब्धकर्णम्, विद्याधरराज्यमिव चक्रवर्त्तिनरवाहनोचितम्, सूर्योदयमिव सकलभुवनार्घार्हम्[2], अश्वातिशयमिन्द्रायुधमद्राक्षीत् ।

दृष्ट्वा च तमदृष्टपूर्वममानुषलोकोचिताकारमखिल-त्रिभुवन-राज्योचितमशेषलक्षणोप-

कमलेति । कमलवनमिव पङ्कजविपिनमिव, मधुना प्रसूनरसेन युक्तः सहितो यः पङ्को वचादिचूर्णलेपः, पक्षे मधुपङ्को गाढपुष्परसः तेन पिङ्गा रक्तपीताः केशराः स्कन्धरोमाणि किञ्जल्काश्च यस्य तं तादृशम् । आह चायुर्वेदे—'अश्वस्य वातादिदोषशान्तये मधुयुक्तवचादिचूर्णस्य पङ्कस्तेन तनुलेपनम् ।'

ग्रीष्मेति । ग्रीष्मदिवसमिव निदाघवासरमिव, महान् आयामो विस्तारः यस्य तं तादृशम्, तथा उग्रं भीषणं तेजः सामर्थ्यं यस्य तं तादृशम्, पक्षे तु महान्तः अन्यान्य-ऋत्वपेक्षयातिदीर्घतमाः यामाः प्रहरा यत्र तं तादृशम्, तथा उग्रम् असह्यं तेज आतपो यत्र तं तादृशम् ।

भुजङ्गमिति । भुजङ्गं सर्पमिव, सदा सर्वस्मिन् काले गतौ गमने अभिमुखम् उन्मुखम्, अन्यत्र तु सदागतेः मातरिश्वनः वायोरित्यर्थः । 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः, अभिमुखम् अभिमुखावस्थितम् ।

उदधीति । उदधिः समुद्रः तस्य पुलिनं सैकतमिव, शङ्खमालिका कण्ठार्पिता सलिलात् स्वयमुद्गता च या कम्बुपङ्क्तिः सैव आभरणं भूषणं यस्य तं तादृशम् ।

भीतमिति । भीतम् अन्यप्रतिपाद्यमानस्वकार्याकर्णनादुद्विग्नं तस्करादिजनमिव, स्तब्धौ निश्चलौ कर्णौ श्रोत्रे यस्य तं तादृशम् ।

विद्येति । विद्याधराणां व्योमचारिणां गन्धर्वाणां राज्यम् आधिपत्यमिव, चक्रवर्त्तिनः सार्वभौमस्य नरस्य पुरुषस्य वाहने उद्वहने उचितं योग्यम्, स्वस्यापि सर्वथैवात्युत्तमत्वादित्याशयः । अन्यत्र तु—चक्रवर्त्तिनः समस्तपृथिवीपतेः नरवाहनस्य नरवाहनदत्तसंज्ञकस्य वत्सराजसुतस्य उचितं योग्यम् ।

पुरा किलोदयनाभिधानाद्वत्सराजात् वासवदत्तानाम्न्यां महिष्यां नरवाहनदत्तसंज्ञकः सुतः समुत्पन्नः, यो हि विद्याधरराज्यस्याधिपतिर्बभूवेति कथासरित्सागरीया कथा ।

सूर्योदयमिति । सकलभुवनं समस्तजगदेव अर्घो मूल्यं तस्य अर्हो योग्यः तं तादृशम्, समस्तजगद्रूपमूल्येन क्रेयमित्यर्थः, अत्यन्तोत्तमत्वादित्याशयः । अन्यत्र तु—सकलभुवनस्य समग्रजगद्वासिनो लोकस्य अर्घे अर्घदाने अर्हं योग्यम् ।

इह 'हरिचरणमिव' इत्यारभ्य 'सूर्योदयमिव' इत्यन्तं सर्वत्र पूर्णोपमालङ्कारः ।

अश्वेति । अश्वेषु तुरङ्गमेषु अतिशय उत्कर्षो यस्य तं तादृशम् अश्वकुलेष्वत्युत्तममित्यर्थः । अद्राक्षीत् अपश्यत् चन्द्रापीड इति शेषः ।

दृष्ट्वेति । अमानुषलोको देवलोकः तस्य उचितो योग्य आकार आकृतिर्यस्य तं तादृशम् । अखिलं समग्रं त्रिभुवनं लोकत्रयं राज्यम् आधिपत्यं यस्य तस्य देवाधिपस्येत्यर्थः । उचितं योग्यम् । अशेषैः

उसी प्रकार मधुमिश्रित वैद्यक शास्त्र-प्रसिद्ध वचादि चूर्ण लेपसे पिङ्गलवर्ण हो गए थे । ग्रीष्मकालके दिन जिस प्रकार अन्यान्य ऋतुकी अपेक्षा बड़े-बड़े प्रहरवाले और दारुण रौद्र-समन्वित होते हैं, उस अश्वका शरीर भी उसी प्रकार बड़ा विस्तार वाला और भयङ्कर बल-समन्वित था । सर्प जिस प्रकार वायुके अभिमुखमें रहता है, इन्द्रायुध भी उसी प्रकार सर्वदा जानेके लिए ऊपर मुंह उठाये तैयार रहता था । और वह इन्द्रायुध, समुद्र-तटके समान शङ्खमालामय आभूषणसे भूषित था, एवं भयभीत व्यक्तिके समान स्तब्धकर्ण ( कान सीधा खड़ा वाला ) था । विद्याधरका राज्य जिसप्रकार चक्रवर्त्ती ( समस्त पृथिवीके अधिपति ) नरवाहनदत्तका उपयुक्त था, इन्द्रायुध भी उसी प्रकार चक्रवर्त्ती पुरुषके वाहन ( सवारी ) के उपयुक्त था । सूर्योदय जिस प्रकार समस्त संसारके लोगोंके अर्घदान योग्य है, इन्द्रायुध भी उसीप्रकार समस्त संसार रूप मूल्यके योग्य था । चन्द्रापीड़ने अश्वजातिके मध्यमें उत्कृष्ट उस इन्द्रायुधको देखा ।

चन्द्रापीड़ अत्यन्त धीर प्रकृति होने पर भी, उस अश्वरूपी अनिर्वचनीय पदार्थको देखकर, बहुत विस्मयापन्न हो गया । क्योंकि—वह अश्व, देवलोकके उपयुक्त आकारवाला, समस्त त्रिभुवनाधिपतिके आरोहण ( सवारी )

१. उग्रतेजसा भुजगम् । २. सकलभुवनाभ्यर्हम् ।

पन्नमश्वरूपातिशयमतिधीरप्रकृतेरपि चन्द्रापीडस्य पस्पर्श विस्मयं[1] हृदयम्। आसीच्चास्य मनसि 'सरभस-परिवर्त्तन[2]-वलित[3] वासुकि-भ्रमित-मन्दरेण मथ्नता जलधि-जलम्[4] इदमश्वरत्नमनुद्धरता[5] पूर्वं किं नाम रत्नमुद्धृतं सुरासुरलोकेन[6]। अनारोहता च मेरुशिलातलविशालमस्य पृष्ठमाखण्डलेन किमासादितं त्रैलोक्यराज्यफलम्। उच्चैःश्रवसा विस्मितहृदयो वञ्चितः खलु जलनिधिना शतमखः। मन्ये च भगवतो नारायणस्य चक्षुर्गोचरमियतापि[7] कालेन नायमुपगतः, येनाद्यापि तां गरुडारोहणव्यसनितां न त्यजति[8]। अहो! खल्वतिशयितं[9]त्रिदशराज-समृद्धिरियं तातस्य राजलक्ष्मीः, यदेवंविधान्यपि सकलत्रिभुवनदुर्लभानि रत्नान्युपकर-

---

समग्रैः लक्षणैः तुरङ्गोत्कर्षलक्षणैः उपपन्नं सहितम्। अश्वरूपः तुरङ्गरूपः अतिशयः अनिर्वचनीयः कश्चिद्-तिरेको भिन्नः पदार्थ इत्यर्थः, तं तादृशम्। अदृष्टपूर्वम् अनवेक्षितपूर्वम्, तमिन्द्रायुधं दृष्ट्वा विलोक्य वर्त्तमानस्य अतिधीरप्रकृतेरपि अतिसाहसभावस्यापि चन्द्रापीडस्य हृदयं कर्तृ विस्मयम् आश्चर्यं पस्पर्श प्राप। इहाभेदे भेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः।

आसीदिति। अस्य चन्द्रापीडस्य मनसि चित्ते एवम्भूता वृत्तिरासीदित्यर्थः। सरभसं वेगसहितं यत् परिवर्त्तनं मथनं तेन वलितो वर्द्धितो यो वासुकिः शेषनागः तेन भ्रमितो घूर्णितो यो मन्दरो मेरुपर्वतः तेन करणेन, जलधिजलं समुद्रसलिलं मथ्नता आलोडयता सुरासुरलोकेन देवदानवसमूहेन, इदम् अश्वरत्नं तुरङ्गमणिम् अनुद्धरता अगृह्णता किं नाम रत्नमुद्धृतं न किमपीत्यर्थः। संसारप्रसिद्धानि उच्चैःश्रवआदीनि रत्नानि इतरस्तुच्छानीत्याशयः।

अनेति। आखण्डलेन इन्द्रेण, मेरुशिलातलवत् सुमेरुपर्वतविस्तृतप्रस्तरवत् विशालं बृहत् अस्य इन्द्रायुधस्य पृष्ठं पृष्ठप्रदेशम् अनारोहता अनधिरोहता सता, किं त्रैलोक्यराज्यस्य लोकत्रयाधिपत्यस्वकरणस्य फलम् आसादितं प्राप्तम् अपि तु, किमपि नेत्यर्थः। पृष्ठारोहणमस्यात्यन्तसौभाग्यफलमित्याशयः।

उच्चैरिति। उच्चैःश्रवसा तत्संज्ञकतुरङ्गनिरीक्षणेनेत्यर्थः, विस्मितम् साश्चर्यं हृदयं मनो यस्य स तादृशः। शतमख इन्द्रः जलनिधिना मथ्यमानेन समुद्रेण वञ्चितः प्रतारितः खलु निश्चयेन; येनेदं न दत्तमित्याशयः। इह वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

मन्य इति। इयतापि कालेन एतावतापि समयेन भगवत ऐश्वर्यादियुक्तस्य नारायणस्य श्रीविष्णोः चक्षुर्गोचरं नयनविषयम् अयम् अश्वो नोपगतो न प्राप्तः। येन हेतुना अद्यापि इदानीं पर्यन्तमपि तां पूर्वजातां गरुडारोहणे वैनतेयाधिरोहणे व्यसनिताम् आसक्तिं न त्यजति न जहाति नारायण इति शेषः; अन्यथा गरुडं परित्यज्य एनमेवारोहेदित्याशयः। अत्र 'मन्ये' इति प्रतिपादनाद्वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

अहो इति। अहो इत्याश्चर्ये। खलु निश्चयेन तातस्य मत्पितुः इयं राजलक्ष्मीः आधिपत्यश्रीः अतिशयिता अतिक्रान्ता त्रिदशराजस्य सुराधिपस्य समृद्धिर्यया सा तादृशी वर्तते। यद् यस्मात् कारणात् एवंविधान्यपि पूर्वोक्तस्वरूपाण्यपि सकलत्रिभुवनदुर्लभानि समस्तलोकत्रयदुष्प्राप्याणि रत्नानि मणयः

---

योग्य एवं सर्वोत्कृष्ट अश्वके लक्षणोंसे संयुक्त था। इस प्रकारका अश्व पहले और कभी भी उसे दृष्टि-गोचर नहीं हुआ था। उस समय उसके मनमें इस प्रकार होने लगा कि—'वेगके साथ आकर्षण ( खींचने ) से बढ़े हुए शरीर वाले वासुकिनागके द्वारा भ्रमित मन्दराचलसे समुद्र-मन्थन करते हुए देव और दानवोंने यदि इस अश्व-रत्नको नहीं निकाला तो किस रत्न को निकाला था? देवराज, सुमेरु पर्वतके शिलातल ( चट्टान ) के समान विशाल इस अश्वके पीठ पर यदि नहीं चढ़े तो उनको त्रिलोकीके राज्यसे क्या फल मिला? उच्चैःश्रवाको देखकर ही विस्मित हृदय वाले इन्द्र, समुद्रद्वारा निश्चय ही प्रतारित हुए हैं। मेरे विचारमें 'अभी तक भी यह अश्व, भगवान् नारायणको दृष्टि-गोचर नहीं हुआ है' क्योंकि वे अब तक भी उस गरुड़ पर चढ़नेकी आसक्ति नहीं छोड़ रहे हैं। कितना आश्चर्य! मेरे पिताकी यह राजलक्ष्मी तो, निश्चय ही देवराजकी समृद्धिको अतिक्रमण कर रही है, क्योंकि—समस्त त्रिभुवनके मध्यमें दुर्लभ-एतादृश रत्नोंको लाकर क्रमसे उसका भोग हो रहा है। अत्यन्त तेजस्वी और महाबलवान्

---

१. विस्मयः। २. ···विवर्त्तन···। ३. ···चलित···। ४. जलनिधि···। ५. अभ्यनुद्धरता, अभ्युद्धरता। ६. सुरलोकेन। ७. कुत्रचित् 'अपि' पदं नोपलभ्यते। ८. तं गरुडारोहणव्यसनिता न परित्यजति। ९. अतिशयः···। १०. ···राज्य··।

णतामागच्छन्ति । अतितेजस्वितया महाप्राणतया च सदैवतेवेयम्[1] अस्याकृतिः, यत्सत्यमारोहणे शङ्कामिव मे जनयति । न हि सामान्यवाजिनाममानुषलोकोचिताः सकल-त्रिभुवन-विस्मयजनन्य ईदृश्यो भवन्त्याकृतयः । दैवतान्यपि हि मुनिशापवशादुज्झितनिजशरीराणि[2] शापवचनबलोपनीतानि[3] एतानि शरीरान्तराणि[4] अध्यासत एव । श्रूयते हि पुरा किल[5] स्थूलशिरा नाम महातपा मुनिरखिल-त्रिभुवन[6]-ललामभूतामप्सरसं रम्भाभिधानां शशाप; सा सुरलोकमपहायाश्वहृदये निवेश्यात्मानमश्वहृदयेति विख्याता बडवा भूत्वा[7] मृत्तिकावत्यां[8] शतधन्वानं नाम राजानमुपसेवमाना मर्त्यलोके महान्तं कालमुवास ।

---

उपकरणतां भोगसाधनताम् आगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । एवंविधं रत्नं सुरेन्द्रस्य नास्तीत्याशयः ।

अतीति । अस्य पुरोऽवलोक्यमानस्याश्वस्य इयम् आकृतिः आकारः, अतितेजस्वितया अत्यन्तप्रभाववत्तया महाप्राणतया अत्यन्तशक्तियुक्ततया च हेतुना सदैवतेव कयाचिद्देवतयेव अधिष्ठिता, यत् सत्यम् एतद्यस्मात् आरोहणे अधिरोहणे मे मम शङ्कामिव जनयति उत्पादयति। इह यत्सत्यमित्येकमेवाव्ययपदं याथार्थ्ये ।

ननु सदैवतेवेति कथं वितर्क्यत इत्यत आह—न हीति । सामान्यवाजिनां साधारणतुरङ्गमाणाम् आकृतयः आकाराः ईदृश्यः एतादृश्यः अमानुषलोकोचिताः देवलोकयोग्याः, तथा सकलत्रिभुवनस्य समग्रलोकत्रयस्य विस्मयजनन्य आश्चर्योत्पादिका न हि भवन्ति । सुतरां सदैवतेवेति वितर्क इत्याशयः ।

देवानामपि रूपान्तरपरिग्रहणं सम्भवतीत्यभिप्रायेणाह—दैवतानीति । हि यस्मात् । दैवतान्यपि सुरा अपि । मुनिशापवशात् ऋष्यभिसम्पातवशात् उज्झितानि त्यक्तानि निजशरीराणि देवदेहाः यैरेवम्भूतानि शापवचनबलेन अभिसम्पातवाक्यबलेन उपनीतानि उपस्थापितानि एतानि शरीरान्तराणि ईदृशानि स्वशरीराद्भिन्नेन्द्रियायतनानि अध्यासत एव आश्रयन्त्येव । एवञ्च नूनमस्य स्वरूपेऽपि कस्यचिद्दैवतस्याश्रयसम्भावनेत्याशयः ।

नन्वेवंविधोदन्तः कदाचिदवलोकितः आकर्णितो वेत्यत आह—श्रूयत इति । हि निश्चये । श्रूयते आकर्ण्यते । पुरा पूर्वं स्थूलशिरा नाम महातपा अतितपस्वी मुनिः ऋषिः, अखिलस्य समग्रस्य त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य ललामभूताम् अलङ्कारस्वरूपाम् अप्सरसं स्वर्वधूम्, रम्भाभिधानां रम्भानाम्नीं शशाप शापं दत्तवान् । इह यद्यपि 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इति कोशाद्बहुवचनमेवापेक्ष्यते तथापि 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादेकत्वेऽप्सरा अपि' इति शब्दार्णवात् बहुत्वं प्रायोवादः । 'अनचि च' इति सूत्रस्थात् 'अप्सराः' इति भाष्याच्च 'अप्सरसम्' इत्येकवचनम् । सा सुरलोकं देवलोकम् अपहाय परित्यज्य अश्वहृदये तुरङ्गमोरसि आत्मानं निवेश्य संस्थाप्य तुरङ्गदेहं परिगृह्येत्यर्थः, अत एव अश्वहृदयेति विख्याता प्रसिद्धा बडवा अश्वा मृत्तिकावत्यां तन्नामिकायां राजधान्याम्, शतधन्वानं नाम राजानं भूपतिम् उपसेवमाना भजमाना मर्त्यलोके भूलोके महान्तं भूयांसं कालं समयम् उवास ऊषितवती ।

इह च महाभारतीया कथा—पुरा किल स्थूलशिरा नाम महर्षिः कुशसमिदर्थमरण्यं पर्यटन् 'आः वयं श्वभ्रान्तरे पतामः परित्रायस्वास्मान्' इत्यार्त्तशब्दं श्रुत्वा तत्प्रदेशमुपगम्य लताप्रान्तावलम्बितान्

---

होनेके कारण इसका यह शरीर, किसी देवता द्वारा मानो अधिष्ठित प्रतीत हो रहा है; अत एव इस पर चढ़नेमें मुझे मानो कुछ शङ्का उत्पन्न हो रही है, क्योंकि—साधारण अश्वकी आकृति, इसप्रकार मनुष्य लोकके अयोग्य और समस्त त्रैलोक्यमें विस्मय उत्पन्न करनेवाली नहीं होती । देवता भी मुनियोंके शापसे अपने-अपने शरीरको छोड़ कर शाप-वचनके प्रभावसे उपस्थित इसप्रकारके अन्यान्य शरीर धारण करते रहते हैं । सुना जाता है 'पहले समयमें स्थूलशिरा नामक कोई महातपस्वीने समस्त त्रिभुवनोंमें अलङ्कार-रूपिणी रम्भा अप्सराको शाप दिया था, जिससे वह देवलोक छोड़ कर अश्व-हृदयमें स्वयं प्रवेश करके **'अश्वहृदया'** नामकी कोई घोड़ी होकर मृत्तिकावती नामकी नगरीमें शतधन्वा नामके राजाकी सेवा करती हुई बहुत काल तक

---

१. सर्वदैवतेयम् । २.'''शरीरकाणि । ३.'''वचनोपनीतानि । ४. शरीराणि । ५. कुत्रचित् 'किल' इति पदं नोपलभ्यते । ६.'''भुवन''' । ७. कुत्रचित् 'भूत्वा' इति पदं न विद्यते । ८. मृत्तिकावत्याम् ।

अन्ये च महात्मानो मुनिजनशाप-परिपीतप्रभावा नानाकारा भूत्वा बभ्रमुरिमं लोकम्। असंशयमनेनापि महात्मना केनापि शापभाजा भवितव्यम्। आवेदयतीव मदन्तः-करणमस्य दिव्यताम्।'

इति विचिन्तयन्नेवारुरुक्षुरासनादुदतिष्ठत्। मनसा च तं तुरङ्गममुपसृत्य[1] 'महात्मन्। अर्वन्! योऽसि सोऽसि, नमोऽस्तु ते, सर्वथा[2] मर्षणीयोऽयमारोहणातिक्रमोऽस्माकम्, अपरिगतानि दैवतान्यप्यनुचित-परिभवभाञ्जि भवन्ति' इत्यामन्त्रयाम्बभूव। विदिताभिप्राय इव स तमिन्द्रायुधश्चटुलशिरः-केसर-सटा-हति-कूणिताकेकर-तारकेण तिर्य्यक्चक्षुषा विलोक्य

---

अतलस्पर्शगर्त्ते पतितुं प्रवृत्तान् पुरुषान् दृष्ट्वा 'के यूयम्' इत्यपृच्छत्, ते च स्थूलशिरसः पितरो वयम्, त्वया च सन्तानोत्पत्तिर्न कृता, तद्वियोगात्त्वदुपरमे पुंनाम्नि नरके पतिष्यामः' इत्यवोचन्। स्थूलशिरास्तु तच्छ्रुत्वा सन्तानोत्पत्त्यर्थं रम्भाभिधानां योषितमभिहितवान्—'त्वां कामये' इति। तया चाभिहितम्—'यथाज्ञापयसि,' किन्तु देवकार्यं कृत्वागच्छामि इत्युक्त्वा गत्वा विलम्बितवतीति 'क्रुद्धो महर्षिः 'बडवा भव' इति तां शशाप, नरनारायणविग्रहावधिश्च शापो भविष्यति' इति॥

अन्य इति। अन्येऽपरे महात्मानो गरीयांसो जनाः मुनिजनानां तपस्विनां शापेन अभिसम्पातेन परिपीतो विलयं नीतः प्रभावो महात्म्यं येषां ते तादृशाः। यथा अगस्त्यादीनामभिसम्पातेन नहुषप्रभृतयः अजगररूपादिभिः नानाकारा भूत्वा विविधप्रकाराणि शरीराण्युपगृह्य इमं लोकं संसारं बभ्रमुः भ्रमितवन्तः। असंशयं निःसन्देहम् अनेनापि केनापि महात्मना महापुरुषेण शापभाजा अभिसम्पातिना भवितव्यम्। मदन्तःकरणं मच्चित्तम् अस्य तुरङ्गमस्य दिव्यतां स्वर्गीयत्वम् आवेदयतीव बोधयतीव।

इतीति। इति एवम्प्रकारेण चिन्तयन्नेव ध्यायन्नेव आरुरुक्षुः आरोढुमिच्छुः आसनात् सिंहासनात् उदतिष्ठत् उत्थितो बभूव। तं तुरङ्गम् अश्वं मनसा चेतसा उपसृत्य समीपं गत्वा चन्द्रापीड इत्यामन्त्रयामास अभ्यर्थयामास। किन्तदामन्त्रणमित्यत आह—महात्मन्निति। हे अर्वन् हे अश्व! 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः।' इत्यमरः, योऽसि सोऽसि यत्तद्भवसि,ते तुभ्यं नमो नमस्कारोऽस्तु। सर्वथा सर्वप्रकारेण अस्माकम् आरोहणेन योऽतिक्रमः अवहेलनं स मर्षणीयः सोढव्यः। अपरिगतानि देवत्वेनाज्ञातानि, दैवतान्यपि देवा अपि अनुचितम् अयोग्यं परिभवम् अवमाननां भजन्ते लभन्त इति तानि तादृशानि भवन्ति। इत्थञ्चाज्ञाततयैव भवानपि ममैतदारोहणावमाननभाग् भवतीत्याशयः।

विदितेति। स इन्द्रायुधोऽश्वः अतिमनोरमम् अतिरमणीयं हेषारवं हेषाशब्दम् अकरोत् कृतवान् इत्यन्वयः। विदितो ज्ञातः अभिप्रायः चन्द्रापीडस्य सविनय आशयो येन स तादृशः चटुलं चञ्चलं यच्छिरः उत्तमाङ्गं तस्य याः केसरा एव सटा जटाः तासाम् आहतिः आघातः ताडनं तया कूणिता कुञ्चिता आकेकरा किञ्चित्कुटिला च तारका कनीनिका यस्य तेन तथोक्तेन चक्षुषा लोचनेन तं चन्द्रापीडं तिर्यक् तिरश्चीनं

---

मर्त्यलोकमें रही थी। अन्यान्य महात्मा भी, मुनियोंके शापसे अपने-अपने प्रभाव क्षीण हो जाने पर अनेक प्रकारकी आकृति धारण कर इस संसारमें भ्रमण कर गए हैं। इसलिए यह भी शापग्रस्त कोई महात्मा ही होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। मेरा अन्तःकरण भी इसको स्वर्गीय समझ कर मानो परिचय देता है।'

इसप्रकार चिन्ता करते-करते ही चन्द्रापीड़ सवार होनेकी इच्छासे आसनसे उठ खड़ा हुआ। एवं अश्वके समीपमें जाकर मन ही मन उससे अभ्यर्थना करने लगा कि—'हे महात्मन् अश्व! तुम चाहे जो हो सो हो, तुमको मैं नमस्कार करता हूँ। तुम मेरे सवार होनेकी अवज्ञा सर्वथा क्षमा करना, क्योंकि-अपरिचित देवता भी असङ्गत अनेक अपमानके भागी हो जाते हैं।' उसके बाद वह इन्द्रायुध चन्द्रापीड़का अभिप्राय जानकर ही मानो, चञ्चल मस्तकस्थित केसररूप जटाके ताड़नसे जरा मिची और तिरछी कनीनिका युक्त आँखोंके द्वारा तिर्यक् ( तिरछे ) रूपसे ( पुतलियोंको फेरकर ) उसे ( चन्द्रापीड़को ) देख कर, दाहिने खुरसे वारम्वार भूतल-ताडन कर उत्थित धूलियोंसे अपने छातीके रुएँको मटियाला कर, आह्वान करते-करते ( बुलाते २ ) ही मानो फूले हुए नथनोंके छिद्रसे 'घर्घर' शब्द युक्त और मधुर हुङ्कार-समन्वित सुश्रव्य और अत्यन्त मनोहर हिनहिनाहट करने लगा।

---

१. अनुपसृत्य, समुपसृत्य। २. इह 'स्थितेन' इत्यधिकः पाठः कुत्रचिदुपलभ्यते।

मुहुर्मुहुस्ताडयता क्षितितलम् उत्खात-धूलि-धूसरित-क्रोड-रोम-राजिना दक्षिणखुरेणारोहणाया[1]-ह्वयन्निव स्फुरित-घ्राण-विवर-घर्घरध्वनिमिश्रं मधुरमपरुषं[2]-हुङ्कारपरम्परानुबद्धमतिमनोहरं हेषारवम्[3] अकरोत्।

अथानेन मधुर-हेषितेन[4] दत्तारोहणाभ्यनुज्ञ इव इन्द्रायुधमारुरोह चन्द्रापीडः। समारुह्य तं प्रादेशमात्रमिव त्रैलोक्यमखिलं[5] मन्यमानो निर्गत्य, जलधर-[6] विमुक्तोपलासार-परुषेण जर्जरयतेव रसातलमतिनिष्ठुरेण खुरपुटानां रवेण, खुररजोनिरुद्ध-घ्राण-घोर-घोषेण च हेषितेन[7] बधिरीकृत-सकलभुवन[8]-विवरम्[9], अशिशिरकिरण-दीधिति-परामर्श[10] स्फुरित-विमल-

विलोक्य निरीक्ष्य मुहुर्मुहुः वारंवारं क्षितितलं पृथ्वीतलं ताडयता आस्फालयता, उत्खाताभिः आघातेनोत्थापिताभिः धूलिभिः भूरजोभिः धूसरिता धूम्रवर्णीकृता क्रोडरोमराजिः भुजान्तरालकपङ्क्तिर्येन तथोक्तेन दक्षिणखुरेण अपसव्यशफेन आरोहणाय अधिरोहणाय तं चन्द्रापीडम् आह्वयन्निव आह्वानं विदधदिव सन्। स्फुरितः स्यन्दितो यो घ्राणविवरः नासिकारन्ध्रं तस्य यो घर्घरध्वनिः अव्यक्तः शब्दः तेन मिश्रं संयुक्तम्, मधुरं सुश्रव्यं कर्णसुखदमित्यर्थः। अपरुषया अकठोरया हुङ्कारपरम्परया हुमित्येवं शब्दपङ्क्त्या अनुबद्धं सम्मिलितम् अतिमनोहरं हेषारवम् अकरोत्।

इह 'विदिताभिप्राय इव' इति 'आह्वयन्निव' इति क्रियोत्प्रेक्षायुगलेन सङ्कीर्णा स्वभावोक्तिः।

अथेति। अथेत्यानन्तर्ये। अनेन इन्द्रायुधेन कर्त्रा, मधुरहेषितेन सुश्रव्यहेषाशब्देन करणेन, दत्ता आरोहणाय अभ्यनुज्ञास्वीकृतिर्यस्य स इव चन्द्रापीडः इन्द्रायुधम् आरूरोह अधिरूढः।

'दत्तारोहणाभ्यनुज्ञ इव' इति क्रियोत्प्रेक्षा।

समारुह्येति। तम् इन्द्रायुधं समारुह्य आरोहणं कृत्वा चन्द्रापीडः अखिलं समस्तं त्रैलोक्यं त्रिभुवनम्, तर्जन्यङ्गुष्ठे प्रसारिते सति यन्मानं तत्प्रादेश इत्यभिधीयते। तदुक्तमभिधानचिन्तामणौ—

'प्रदेशिन्यादिभिः सार्द्धमङ्गुष्ठे वितते सति। प्रादेशताल-गोकर्णवितस्तयोर्यथाक्रमम् ॥' इति।

तन्मात्रमिव मन्यमानो जानन् अयमिन्द्रायुधः स्वकीयनिरतिशयवेगवशेनातित्वरितमेव लङ्घयिष्यति मार्गमित्यस्य सम्भाव्यमानत्वादित्याशयः। निर्गत्य ततो बहिरागत्य 'अश्वसैन्यम् अपश्यत्'इत्युत्तरेण सम्बन्धः। इह द्वितीयान्तानि पदानि अश्वसैन्यमित्यस्य विशेषणानि। जलधरैः मेघैः विमुक्तो वर्षणं कृतो य उपलासारः निरन्तरा पाषाणवृष्टिः तेनेव तस्य शब्दवदित्यर्थः, परुषेण दुःश्रवेण, रसायाः पृथिव्याः तलम् ऊर्ध्वभागं जर्जरयतेव प्रशिथिलावयवं विदधतेव। तथा अतिनिष्ठुरेण अतिकठिनेन, खुरपुटानां तुरङ्गखुराग्राणां रवेण ध्वनिना, तथा खुररजोभिः निजनिजखुरपुटोद्धतपांसुभिः निरुद्धानां परिपूरितप्रायाणां घ्राणानां नासिकानां घोरघोषो भीषणशब्दो यत्र तथोक्तेन हेषितेन हेषारवेण च बधिरीकृतानि अकर्णतां प्रापितानि सकलानि समस्तानि भुवनविवराणि संसारनिवासिनां जन्तूनां कर्णरन्ध्राणि येन तत्तादृशम्। इह 'प्रादेशमात्रमिव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'जर्जरयतेव' इति क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'बधिरीकृतसकलभुवनम्' इत्यत्र बधिरीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः।

अशिशिरेति। अशिशिरकिरणस्य उष्णमयूखस्य सूर्यस्य दीधितिपरामर्शेन किरणसंश्लेषेण स्फुरि-

उसके बाद चन्द्रापीड़, इन्द्रायुधके मधुर हिनहिनाहटसे सवार होनेकी अनुमति पाकर ही मानो उसके पीठ पर सवार हो गया। सवार होकर समस्त त्रिभुवनको मानो प्रादेशप्रमाण समझकर, विद्यालयसे बाहर निकल कर उसने अश्वारोही सैन्यको ( घुड़सवारों की एक फौज को ) देखा, जिसका अन्त तो देख भी नहीं पड़ता था। मेघमुक्त शिलावृष्टि ( वरसते ओले ) के शब्दके समान श्रुतिकठोर, भूतलको मानो विदारणकारी और अत्यन्त निष्ठुर खुरोंके शब्दसे एवं खुराघातसे उड़ती धूलियोंसे परिपूर्ण प्रायः नासिका-विवरके भयङ्कर शब्दसे मिश्रित हिनहिनाहटसे वह अश्वारोही सैन्य ( घुड़सवारों का एक फौज ) समस्त प्राणियोंके कर्णविवरको बहरा कर दिया था। सूर्य-किरणोंके स्पर्शसे उज्ज्वल और निर्मल फलकवाला, ऊँचे किए हुए और

१. रोहणाय। २. अपरुषं। ३. अतिमनोहरहेषारवम्। ४.···हेषितेन। ५. कुत्रचित् 'अखिलम्' इति पदन्नास्ति। ६. प्रलयजलधर···। ७. हेषितेन। ८.···त्रिभुवनम्। ९. क्वचित् 'विवरम्' इति पदं नास्ति। १०. अशिशिरदीधितिसंस्पर्श···।

फलकेन ऊर्ध्वीकृतेन[1] कुन्त-लता-वनेन उन्नाल-नीलोत्पल-कलिका-वन-गहनं सर इव गगनतल-मलङ्कुर्वाणम्, उद्दण्ड-मयूरातपत्र-सहस्रान्धकारिताष्टदिङ्मुखतया स्फुरित-शतमनु-चाप-कलाप-कल्माषमिव[2] जलधरवृन्दम्, उद्गमत्-फेनपुञ्ज-धवलित-मुखतया अनवरत-वल्गन-चटुलतया च प्रलय-सागर-जल-कल्लोलसङ्घातमिव समुद्गतम्। अदृष्ट[3]-पर्य्यन्तमश्वसैन्यम्[4] अपश्यत्। तच्च सागरजलमिव चन्द्रोदयेन[5] चन्द्रापीडनिर्गमेन सकलमेव सञ्चचालाश्वीयम्। अह-

तानि देदीप्यमानानि विमलानि स्वच्छानि फलकानि अग्रभागा यस्य तेन तादृशेन, ऊर्ध्वीकृतेन ऊर्ध्वं स्थापितेन, कुन्ताः प्रासाख्यास्त्रविशेषा एव लता वल्ल्यस्तद्वल्लम्बमानत्वादित्याशयः, तासां वनेन समूहेन करणेन, उद्गतानि उत्थितानि नालानि मृणालानि यासां तासां नीलोत्पलकलिकानां कुवलयकुड्मलानां वनेन विपिनेन गहनं नीरन्ध्रं सरः सरोवरमिव गगनतलम् आकाशतलम् अलङ्कुर्वाणं भूषयन्तम्। नीलोत्पलवनेन सरः यथाऽलङ्क्रियते तथा गगनं कुन्तसमूहेनालङ्कृतमित्यभिप्रायः।

इह 'कुन्तलते'त्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'वनगहनम्' इत्यत्र 'गहनं काननं वनम्' इत्यमरकोशादुभयोः पर्यायतया आपाततः पौनरुक्त्यप्रतीतावपि अनन्तरं गहनपदस्य नीरन्ध्रार्थकतया पर्यवसानात् पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—

'आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यवभासनम्। पौनरुक्त्यवदाभासः······इति।

'सर इव' इत्यत्र श्रौत्युपमालङ्कारस्तथा चैतेषां मिथोऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥

उद्दण्डेति। ऊर्ध्वमुत्थापिता दण्डा येषां तानि उद्दण्डानि यानि मयूरातपत्राणि मयूरबर्हरचितच्छत्राणि तेषां सहस्रेण वृन्देन करणेन, अन्धकारितानि समुत्पन्नान्धकाराणि अष्टानां दिशां ककुभां मुखानि आद्यभागा येन तत्तादृशम्, तस्य भावस्तया तादृश्या कारणेन, स्फुरितेन, उद्दीप्तेन शतमन्योरिन्द्रस्य चापकलापेन धनुःसमूहेन कल्माषं चित्रितं नानावर्णमित्यर्थः, जलदवृन्दं मेघसमूहः तमिव विद्यमानम्। इह 'मेघवृन्दमिव' इत्यत्र श्रौत्युपमालङ्कारः।

उद्गमदिति। उद्गमद्भिः बहिर्निस्सरद्भिः फेनपुञ्जैः अश्वमुखकफसमूहैः धवलितानि श्वेतीकृतानि मुखानि अश्वानामाननानि यत्र तस्य भावस्तया तादृश्या, अनवरतं निरन्तरं यद्वल्गनम् अङ्गसञ्चालनं तेन चटुलतया चञ्चलतया च कारणेन, समुद्गतं तटे समुत्थितम्, प्रलये प्रलयसमये सागरजलस्य कल्लोलसङ्घातं महातरङ्गवृन्दमिव विद्यमानम्, तस्याप्यश्वमुखकफपुञ्जधवलत्वात् अनवरतचटुलत्वाच्चेत्याशयः। अदृष्टा अत्यधिकतया लोचनागोचरत्वादनवलोकिताः पर्यन्ताः प्रान्तदेशा यस्य तत्तादृशम्। अश्वसैन्यमपश्यत्। प्रलयसागरेत्यादावुपमालङ्कारः।

तच्चेति। अपि चेति चार्थः चन्द्रोदयेन सागरजलमिव समुद्रसलिलमिव, चन्द्रापीडनिर्गमेन कारणेन तत् सकलं समस्तमेव अश्वीयम् अश्वसैन्यवृन्दं सञ्चचाल तस्य परिवेष्टनाय यानोद्योगादित्याशयः। 'वृन्देत्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः। इह 'सागरजलमिव' इति श्रौत्युपमा।

लतास्वरूप ऊँचे कुन्तसमूह ( भालों ) से वह सैन्यगण, जलके ऊपर उठे हुए नाल-समन्वित नीलकमलकी कलियोंके समूहसे भरे सरोवरके समान आकाशको शोभायमान करता था। सैनिकोंके ऊँची डंडीवाले मोर पंखोंके बने हजारों छत्रोंके कारण आठों दिशाओंके मुख अन्धकारसे व्याप्त हो गए थे जिससे वह अश्वारोही सैन्य, चमकते इन्द्रधनुषके समूहसे विचित्रीकृत मेघ समूहके समान विद्यमान था। फेनका ढेर निकलनेसे श्वेत मुखवाले और अनवरत अङ्गसञ्चालनसे सम्पूर्ण अस्थिर हुए घोड़ोंसे वह सैन्य, प्रलयकालमें तटमें उठे समुद्रजलके महातरङ्ग-समूहके समान दृष्टिगोचर होता था। चन्द्रोदयसे समुद्रजलके समान, सब अश्वारोही सैन्य चन्द्रापीडके बाहर निकलने से चञ्चल हो उठे ( अर्थात् चन्द्रापीडको निकलते देख सेनाओंमें खलबली मच गई )। एवं 'मैं पहले मैं पहले' इस प्रकार इच्छा प्रणोदित होकर, चन्द्रापीडको नमस्कार करनेके लिए इच्छुक, शीघ्रतामें छत्रोंके एकदम खिसक जानेसे खुले मस्तकवाले, एवं परस्पर सङ्घर्षवश क्रुद्ध घोड़ोंको रोक देनेसे परिश्रान्त राजपुत्रगण ठहर कर चन्द्रापीडके आस-पास ( चारों ओर ) इकट्ठे हो गए। उस समय बलाहक ( सेनापति ) से प्रत्येकका नामोच्चारण कर एक-एकका परिचय करा देने पर राजपुत्रगण अपने २ मस्तकको अवनत कर चन्द्रापीडको नमस्कार

१. ऊर्ध्वीकृत। २. कल्माषितम्। ३. पूर्वं तम्। ४. अप्रमेयमश्वसैन्यम्, अश्वीयं सैन्यम्। ५. चन्द्रोदयेनेव।

महमिकया च प्रणामलालसाः सरभसापनीतातपत्र-शून्य-शिरसः परस्परोत्पीडन-कुपित-तुरङ्गम-निवारणायस्ताः[1] राजपुत्रास्तं पर्यवारयन्त । एकैकशश्च प्रतिनाम-ग्रहणम्[2], आवेद्यमाना वलाहकेन विचलित-मुकुट-पद्मराग-किरणोद्गमच्छलेनानुरागमिवोद्गमद्भिः सङ्घटित[3]-सेवा-ञ्जलि-मुकुलतया यौवराज्याभिषेक-कलसावर्जित-सलिल-लग्न-कमलैरिव दूरावनतैः शिरोभिः प्रणेमुः।

चन्द्रापीडस्तु तान् सर्वान् मानयित्वा[4] यथोचितमनन्तरं तुरङ्गमाधिरूढेनानुगम्यमानो वैशम्पायनेन, राजलक्ष्मी-निवास-योग्य-पुण्डरीकाकृतिना[5], सकल-राजन्यकुल-कुमुद-षण्ड-चन्द्रमण्डलेनेव तुरङ्गम-सेना-स्रवन्ती-पुलिनायमानेन, क्षीरोद-फेन-धवलित-वासुकि-फणा-

अहमिति । अहं पूर्वम् अहं पूर्वम् इत्यहङ्कारोऽहमहमिका तया, तादृश्या । 'अहमहमिका तु सा स्यात् परस्परं यो भवत्यहङ्कारः' इत्यमरः । प्रणामे चन्द्रापीडस्य नमस्कारे लालसा इच्छुकाः सरभसं सजवम् अपनीतैः नमितैः आतपत्रैः छत्रैः शून्यानि रिक्तानि शिरांसि मस्तकानि येषां ते तादृशाः, तथा परस्परम् अन्योन्यं यत्पीडनं सङ्घर्षस्तेन कुपितानां कोपं प्राप्तानां तुरङ्गमाणाम् अश्वानां निवारणेन निरोधनेन आयस्ताः खिन्नाः । तं चन्द्रापीडं राजपुत्राः नृपसुताः पर्यवारयन्त परिवेष्टनमकुर्वत ।

एकैकश इति । वलाहकेन तत्संज्ञकेन सेनाध्यक्षेण, प्रतिनामग्रहणं यथा स्यात्तथा एकैकश आवेद्यमानाः 'अयममुकदेशस्य नृपतेरात्मजः एवंविधाचरणः' एवं प्रकारेण परिचाय्यमाना नृपतिसुताः, विचलितानां मस्तकावनमनेन कम्पितानां मुकुटानां कोटीराणां पद्मरागा लोहितमणयः तेषां किरणानां रश्मीनाम् उद्गमो बहिःप्रसारः तस्य छलेन व्याजेन अनुरागं चन्द्रापीडं प्रति अनुरक्तिम् उद्गमद्भिः उद्गिरद्भिरिव विद्यमानैः, सङ्घटिता भालपट्टेषु संयोजिताः सेवाञ्जलयः प्रणामव्यञ्जकपाणिसंयोगाः मुकुलानीव येषु तेषां भावस्तया कारणेन, तेषां यौवराज्ये योऽभिषेकः तत्र कलसैः स्नानकुम्भैः आवर्जितेभ्यः पातितेभ्यः सलिलेभ्यो जलेभ्यः लग्नानि भालपट्टेषु संसक्तानि कमलानि पङ्कजानि येषु तैरिव विद्यमानैः भालपट्टलग्नसेवाञ्जलीनां कमलसदृशत्वादित्याशयः । दूरावनतैः नितान्तनम्रीभूतैः शिरोभिः मस्तकैः चन्द्रापीडं प्रणेमुः नमश्चक्रुः । इह 'विचलित मुकुट-परागे'त्यादौ सापह्नवोत्प्रेक्षालङ्कारः । 'यौवराज्याभिषेके'त्यादौ लुप्तोपमागुणोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

चन्द्रेति । चन्द्रापीडो नगराभिमुखः प्रतस्थे इत्यग्रिमया क्रियया सम्बन्धः । चन्द्रापीडस्तु तान् पूर्वोक्तान् सर्वान् राजपुत्रान् यथोचितं यथायोग्यं मानयित्वा प्रत्यभिवादेन सम्मानं कृत्वा, पश्चात् तुरङ्गमाधिरूढेन वैशम्पायनेन मन्त्रिसुतेन अनुगम्यमानः समनुव्रज्यमानः इति सम्बन्धः ।

राजेति । इत आरभ्य तृतीयान्तानि पदानि 'आतपत्रेण' इत्यस्य विशेषणानि । राजलक्ष्मीः आधिपत्यश्रीः तस्या निवासयोग्यं निवासोचितं यत् पुण्डरीकं सिताम्भोजं तस्य आकृतिरिव आकृतिः स्वरूपं यस्य तेन तादृशेन, सकलं समस्तं राजन्यकुलं विद्यमानक्षत्रियमण्डलं कुमुदषण्डं कैरवसमूह इव तस्य चन्द्रमण्डलेन शशिबिम्बेनेव, चन्द्रमण्डलावलोकनेन कुमुदानामिव तच्छत्रावलोकनेन राजपुत्राणां प्रमोदेन मुखविकासादित्याशयः । तुरङ्गसेना तदश्ववाहिनी एव स्रवन्ती नदी अतिदूरप्रसृतत्वात् धारारूपेण चलनाच्चेत्यभिप्रायः तस्याः पुलिनवत् सैकतवदाचरतेति पुलिनायमानेन सैकतवत् धवलवर्णत्वात्

किए । उस समय उन लोगोंके चञ्चल मुकुटोंमेंसे निकलती पद्मराग-मणियोंकी किरणोंके बहाने मस्तक मानो चन्द्रापीड़के प्रति अनुरागका उद्गिरण करता था, और राजपुत्रद्वारा नमस्कार करनेके समयमें ललाट-देशमें पद्मकलिकाके समान अञ्जलिपुटको संस्थापन करनेसे, उन लोगोंके यौवराज्याभिषेकके समय कलशमेंसे जलके साथ गिरते हुए पद्म-समूह मानो ललाटमें चिपक गये हों ऐसा प्रतीत होता था ।

उसके बाद चन्द्रापीड़, प्रत्यभिवादन-पूर्वक उन समस्त राजपुत्रोंका यथोचित सम्मान करके नगरीकी ओर प्रस्थान किया, वैशम्पायन भी घोड़े पर चढ़कर उसके पीछे-पीछे जाने लगा । कोई सेवक चन्द्रापीड़के मस्तकके ऊपर बहुत बड़ा एक छत्रको धारण कर रौद्र ( धूप ) निवारण करने लगा । वह छत्र, राज-लक्ष्मीके रहनेके योग्य पुण्डरीक ( श्वेत कमल ) के समान था । एवं कुमुदके ऊपर चन्द्रमण्डलके समान राजपुत्रोंके समीपमें प्रकाश पाता था । अश्वसेनारूप नदीके तटके समान देखनेमें आ रहा था । एवं क्षीर-समुद्रके फेनसे

१. निवारणायायासितहस्ताः, निवारणायायासिताः । २. प्रतिनामग्रहम् । ३. सङ्घट्टित । ४. अंमानयित्वा । ५. ···निवासपुण्डरीकाकृतिना ।

मण्डल-च्छविना, स्थूलमुक्ता-कलापजालकावृतेन,[1] उपरिचिह्नीकृतं केसरिणमुद्वहता अतिमहता कार्त्तस्वरदण्डेन[2] ध्रियमाणेनातपत्रेण निवारितातपः, उभयतः समुद्धूयमान-चामर-कलाप-पवन-नर्त्तित-कर्णपल्लवः, पुरःप्रधावता तरुण-वीर-पुरुष-प्रायेण[3], अनेक-सहस्र-संख्येन पदातिपरिजनेन, 'जय जीवे'ति च मधुरवचसा मङ्गलप्रायम्[4], अनवरतमुच्चैः पठता वन्दिजनेन स्तूयमानो नगराभिमुखः[5] प्रतस्थे ।

क्रमेण च तं समासादित-विग्रहमनङ्गमिवावतीर्णं नगरमार्गमनुप्राप्तमवलोक्य सर्व एव

---

प्रसृतत्वाच्चेत्याशयः । क्षीरोदस्य दुग्धसमुद्रस्य फेनैः अब्धिकफैः धवलितं श्वेतीकृतं यद्वासुकेः शेषनागस्य फणामण्डलं तस्यच्छविरिव छविः शोभा यस्य तेन तादृशेन, शेषनागस्य श्वेतत्वं सुप्रसिद्धम्, अत एव श्वेतच्छत्रस्य वासुकि ( शेष )-फणामण्डलेन सादृश्यम्, क्षीरोदफेनैस्तस्य ततोऽप्यतिशयितश्वेतत्व-मित्यर्थः । स्थूलमुक्ताकलापानां स्थूलमुक्तासमूहानां जालकेन मालया आवृतं प्रान्तभागे आलम्बितं तेन तादृशेन । उपरि ऊर्ध्वभागे चिह्नीकृतं सूत्रादिनाङ्कीकृतं केसरिणं सिंहम् उद्वहता धारयता छत्रे सिंहाकृतिः राजचिह्नत्वेनाङ्कितेत्यर्थः । अतिमहता अत्यन्तविस्तृतेन, कार्त्तस्वरस्यायमिति कार्त्तस्वरः सुवर्णमयो दण्डो यस्य तेन तादृशेन, ध्रियमाणेन धार्यमाणेन मूर्ध्न्युपरि केनचित् भृत्येनेति शेषः । आतपत्रेण छत्रेण निवारितो दूरीकृतः आतपः सूर्यकिरणो यस्य स तादृश इति चन्द्रापीड इत्यस्य विशेषणम् ।

इह 'सकलराजन्यकुलकुमुदे'त्यत्र लुप्तोपमा, चन्द्रमण्डलेनेव' इत्यत्र चोपमा, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । 'तुरङ्गसेना' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'पुलिनायमानेन' इत्यत्र क्यङ्गतोपमा चानयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । 'वासुकिफणामण्डलच्छविने'त्यत्र हि लुप्तोपमालङ्कारः ।

उभयत इति । उभयतः उभयपार्श्वयोः समुद्धूयमानः भृत्यैरान्दोल्यमानो यश्चामरकलापो बाल-व्यजनसमूहः तस्य पवनेन वायुना नर्त्तितौ सञ्चालितौ कर्णपल्लवौ श्रोत्रकिसलयौ यस्य स तादृशः ।

पुर इति । पुरः प्रधावता अग्रतः शीघ्रं प्रचलता, तरुणवीरपुरुषाः युवसुभटनराः प्राया अधिका यत्र तेन तादृशेन, अनेकेषां सहस्राणां संख्या यत्र स तेन तादृशेन । पदातिपरिजनेन पादचारिसेवकवर्गेण संयुत इति शेषः ।

जयेति । चकारः क्रमव्यतिरेके, सम्बन्धश्चास्य स्तूयमान इत्यनेन । मधुरवचसा मिष्टवाक्येन, अनवरतं निरन्तरं 'जय जीवे'ति मङ्गलप्रायं मङ्गलात्मकं वाक्यम् उच्चैः पठता उच्चस्वरेण उच्चारयता, वन्दिजनेन वैतालिकमण्डलेन स्तूयमानश्च सन् । नगराभिमुखः राजधानीं प्रति प्रतस्थे प्रस्थानं कृतवान् ।

क्रमेणेति । अपि चेति चार्थः । सर्व एव जनः समस्त एव लोकः, समासादितो गृहीतो विग्रहः शरीरं येन तादृशम् अनङ्गं कामदेवमिव अवतीर्णम् उपस्थितम् । क्रमेण परिपाट्या नगरमार्गं राजधानी-रथ्याम् अनुप्राप्तम् उपस्थितम् अवलोक्य निरीक्ष्य, परित्यक्तसकलव्यापारः दूरीकृतसमस्तव्यापृतिः

---

श्वेतवर्ण अनन्तनागकी फणामण्डलके समान शोभा पा रहा था । उसके प्रान्त भागमें बड़े बड़े मोतियोंका झालर लग रहा था, एवं ऊपर भागमें सूत्रद्वारा एक सिंहकी आकृति बनाई हुई थी । उसका दण्ड सुवर्णमय था । चन्द्रापीड़के दोनों बगलमें सेवकगण चामरोंका सञ्चालन कर रहे थे । उसके वायुसे चन्द्रापीड़के दोनों ओर झलते कर्णपल्लव हिल रहे थे । आगे-आगे बहुसंख्यक परिजन पैदल जा रहे थे । उन लोगोंके मध्यमें अधिक संख्यक युवा और वीरपुरुष ही थे और मधुरभाषी स्तुतिपाठकगण ( बन्दीजन )—'जय हो, चिरञ्जीवी होइए' ऐसे मधुर मङ्गलमय वचनोंसे अनवरत उच्च स्वरसे उच्चारण करते हुए उसकी प्रशंसा करते जाते थे ।

क्रमसे चन्द्रापीड़ नगर-मार्ग पर उपस्थित हुआ, उस समय सब लोग, शरीर-धारी कन्दर्पके समान उसे उपस्थित देख कर अपने २ सब कार्योंको छोड़ कर, चन्द्रोदयके समय खिलते कुमुद-वनके समान, हर्षसे प्रफुल्लित

---

१. मुक्ताफलककलाप...परिवृतेन । २. कार्त्तस्वरेण दण्डेन । ३. वीरप्रायेण । ४. मङ्गलप्रायालापम् । ५. नराभिमुखं ।

परित्यक्तसकलव्यापारो रजनिकरोदय-परिबुध्यमान-कुमुदवनानुकारी[1] जनः समजनि । 'सत्यस्मिन् सम्प्रति[2] मुख-कुमुद-कदम्बक-विकृताकृतिः[3] कार्त्तिकेयो विडम्बयति कुमारशब्दम् । अहो ! वयमतिपुण्यभाजो यदि माममानुषीम्[4], अस्याकृतिमन्तःसमारूढ-प्रीतिरस-निष्पन्द[5]-विस्तारितेन कुतूहलोत्तानितेन लोचनयुगलेनानिवारिताः पश्यामः । सफला नोऽद्य जाता जन्मवत्ता । सर्वथा नमोऽस्मै रूपान्तरधारिणे भगवते चन्द्रापीडच्छद्मने पुण्डरीकेक्षणाय' इति वदन्नारचितप्रणामाञ्जलि[6]र्नगरलोकः प्रणनाम । सर्वतश्च समपावृत[7]-कपाट-पुट[8]-प्रकट-वातायन-

सन्, रजनिकरस्य चन्द्रस्य उदयेन उद्गमेन परिबुध्यमानं प्रकाशमानं कुमुदवनम् अनुकरोतीति स तादृशः समजनि जातः, चन्द्रापीडावलोकनोत्पन्नप्रमोदेन विकसितवदनो बभूवेत्यर्थः । इह 'अनङ्गमिव' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षालङ्कारः, 'कुमुदवनानुकारी' इत्यत्र चार्थोपमालङ्कारः, अनयोश्च परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । सम्प्रति चन्द्रापीडं निरीक्ष्य पौरवाणामुक्तिविकल्पान् प्रतिपादयति – सत्यस्मिन्नित्यादिना । सम्प्रति अधुना अस्मिन् चन्द्रापीडे सति विद्यमाने, मुखानि षडाननानि कुमुदानीव धवलत्वादित्याशयः, तेषां कदम्बकं समूहः तेन विकृता अस्वाभाविकत्वात् कुत्सितीकृता आकृतिः आकारो यस्य स तादृशः, कार्त्तिकेयो गुहः कुमारशब्दं विडम्बयति स्वाभिधायकत्वेन स्वीकृत्यान्वर्थरहितं करोति । तथा च अप्राकृतिकमुखबाहुल्यात् विकृतस्वरूपे कार्त्तिकेये कुमारशब्दो विडम्बनायै, अस्मिंस्तु कुत्सितो मारः कन्दर्पो यस्मात् स कुमार इति व्युत्पत्त्या कंदर्पादप्यधिकरमणीये चन्द्रापीड एव नितरामुपयुज्यत इत्यभिप्रायः । इह विडम्बनासम्बन्धाऽभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः स च 'मुखानि कुमुदानीव' इति लुप्तोपमया सङ्कीर्यते । अत एव हि कार्त्तिकेयादधिकरमणीयश्चन्द्रापीड इति व्यतिरेकालङ्कारो ध्वन्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।

अहो इति । यत् यस्मात् कारणात् अनिवारिताः केनाऽप्यनिषिद्धा अतिपुण्यभाजो गरिष्ठसुकृत—भाजो वयम्, अन्तः समारूढेन चेतसि समुत्पन्नेन प्रीतिरसेन प्रमोदधारया निष्पन्दं निश्चलं प्रसारितञ्च तेन तादृशेन, कुतूहलेन कौतुकेन उत्तानितम् ऊर्ध्वमुखीकृतं तेन, लोचनयुगलेन नेत्रद्वयेन, इमाम् अमानुषीं देवसम्बन्धिनीम् अस्य चन्द्रापीडस्य, आकृतिं स्वरूपं पश्यामोऽवलोकयाम इति सम्बन्धः ।

सफलेति । नोऽस्माकम् अद्य जन्मवत्ता जन्मधारणं सफला फलवती जाता । सर्वथा सर्वप्रकारेण अस्मै रूपान्तरधारिणे भिन्नस्वरूपग्राहिणे चन्द्रपीडच्छद्मने भगवते महाविभवशालिने पुण्डरीकेक्षणाय कमलनयनाय विष्णवे, नमः, अन्यथा नैवंविधो गुणगणः सम्भवतीत्याशयः । इति एवं वदन् ब्रुवन् आरचितो विहितः प्रणामाय नमस्काराय अञ्जलिपाणिद्वयसंयोगो येन स तादृशो नगरलोकः पुरवासिजनः प्रणनाम प्रणामं चक्रे ।

सर्वत इति । किञ्चेति चार्थः । सर्वतः चतुर्दिक्षु, समपावृतैः समुद्घाटितैः कपाटपुटैः अररसंपुटैः प्रकटं प्रकाशितं वातायनसहस्रं गवाक्षजालवृन्दो यत्र तस्य भावस्तया कारणेन, चन्द्रापीडस्य यद्दर्शन-कुतूहलम् अवलोकनकौतुकं तस्मात्, नगरमपि पुरमपि न केवलं नगरलोकः किन्तु नगरमपीत्यपेरर्थः, समुन्मीलितः प्रकाशितः लोचननिवहः नेत्रसमूहो येन तत्तथोक्तमिव अभवत् । तथाविधवाताय-

हो गए। वे लोग आपसमें इसप्रकार बोलने लगे कि—'इस राजपुत्रके विद्यमान रहने पर खिलते कुमुद वनके समान मुख-समूहोंके कारण विकृत आकारवाले कार्त्तिकेय कुमार शब्दको अन्वर्थहीन करते हैं। अहो ! हम लोगोंने कैसे पुण्य किये हैं ? क्योंकि, हृदयमें समुत्पन्न आनन्दप्रवाहसे निस्पन्द और विस्तारित एवं कुतूहलसे ऊपर उठे हुए नेत्रोंसे अनिषिद्ध रूपमें ( बेखटके ) इसकी यह स्वर्गीय आकृतिको देखते हैं। एवं आज ही हम लोगोंका जन्म सफल हुआ। भगवान् नारायण चन्द्रापीड़के बहाने रूपान्तर धारण करके आए हुए हैं, अत एव इन्हें सर्वथा नमस्कार करते हैं।' यों कहते-कहते नगर के सब लोग हाथ जोड़ कर उसको नमस्कार करने लगे। एवं सब जगह किवाड़ खोल लेनेसे हजारों खिड़कियों द्वारा प्रकाश पाने लगा, इससे वह राजधानी भी

१. पुष्पककुमुद''' । २. कुत्रचित् 'सम्प्रति' इति पदन्नास्ति । ३. मुखकलापविडम्बनः, मुखकमल । ४. यदमानुषीम्, यत् इमां''' । ५. निःस्यन्द''' । ६. प्रणामाञ्जलि । ७. समुपवृत, समुपावृत्त''' , ८. कुत्रचित् 'पुट' इति पदन्नोपलभ्यते ।

सहस्रतया चन्द्रापीड-दर्शन-कुतूहलान्नगरमपि समुन्मीलित-लोचन-निवहमिवाभवत्।

अनन्तरञ्च 'समाप्तसकलविद्यो विद्यागृहान्निर्गतोऽयमागच्छति[1] चन्द्रापीडः' इति समाकर्ण्यालोकनकुतूहलिन्यः सर्वस्मिन्नेव नगरे[2] ससम्भ्रममुत्सृष्टार्द्धपरिसमाप्तप्रसाधनव्यापाराः, काश्चिद्वाम-करतल-गत-दर्पणाः स्फुरित-सकल-रजनिकर-मण्डला इव पौर्णमासीरजन्यः, काश्चिदार्द्रालक्तक-रस-पाटलित-चरणपुटाः कमल-परिपीत-बालातपा इव नलिन्यः, काश्चित् ससम्भ्रमगति-विगलित-मेखला-कलापा-कुलित-चरण-किसलयाः शृङ्खला-सन्दान-मन्द-मन्द सञ्चारिण्य इव करिण्यः, काश्चिज्जलधर-समय-दिवसश्रिय इवेन्द्रायुध-राग-रुचिराम्बरधारिण्यः,

---

नान्येव लोचनस्थानपातीनीत्याशयः। इह 'समुन्मीलितलोचननिवहम्' इत्यत्रोन्मीलनोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अनन्तरमिति। अनन्तरं चन्द्रापीडावलोकनकौतुकेन गवाक्षकपाटोद्घाटनानन्तरं समाप्ताः पारं प्राप्ताः सकलाः समस्ता विद्या यस्य स तादृशः, अयं चन्द्रापीडः विद्यागृहात् विद्यामन्दिरात् निर्गतो निःसृत इति समाकर्ण्य श्रुत्वा आलोकनकुतूहलिन्यः विलोकनकौतुकवत्यः, ससम्भ्रमं शीघ्रतरम् उत्सृष्टाः परित्यक्ताः अर्द्धपरिसमाप्ताः अर्द्धविहिताः प्रसाधनव्यापाराः अलङ्करणक्रिया याभिस्ताः तादृश्यः, ललनाः स्त्रियः हर्म्यतलानि प्रासादतलानि समारुरुहुः आरोहणं चक्रुरित्यग्रिमेण सम्बन्धः। तदारोहणप्रकारमेव प्रकटयन्नाह—काश्चिदिति। काश्चित् तासां मध्ये काश्चिल्ललना इत्यर्थः। इत्थमन्यत्रापि। वामकरतलेषु सव्यपाणितलेषु गताः स्थिता दर्पणा आदर्शा यासां ताः तादृश्यः, अत एव स्फुरितं प्रकाशितं सकलं समस्तं रजनिकरमण्डलं चन्द्रबिम्बं या सुताः तादृश्यः पौर्णमासीरजन्यः राकात्रियामा इव। दर्पणानां वर्तुलतया स्वच्छतया च रजनिकरमण्डलसदृशत्वात् तासां च चन्द्रिकावच्छुभ्रकान्तिमत्त्वादित्याशयः। इह 'पौर्णमासीरजन्य इव' इत्युपमालङ्कारः।

काश्चिदिति। आर्द्रेण क्लिन्नेन अलक्तकरसेन यावकद्रवेण पाटलितानि आलोहितीकृतानि चरणपुटानि या भिस्ताः, अत एव कमलैः पङ्कजैः करणैः परिपीतो गृहीतः बालातपः लोहितवर्णोऽभिनवदिनकरालोको याभिस्ताः नलिन्यः कमलिन्यः पद्मलता इव। इहाऽप्युपमा। अलक्तकरसस्य बालातपेन कमलैश्चरणानाम्, कमलिनीभिः ललनानां साम्यमवगन्तव्यम्।

काश्चिदिति। ससम्भ्रमेण ससत्वरेण या गतिर्गमनं तेन विगलितैः कटिप्रदेशात् स्रस्तः मेखलाकलापैः रसनादामभिः आकुलितानि विह्वलीकृतानि प्रतिपदं प्रतिबध्यमानानि चरणकिसलयानि पादपल्लवा यासां ताः तादृश्यः, अत एव शृङ्खलया सन्दानेन पादयोर्बन्धनेन मन्दमन्दसञ्चारिण्यः मन्दमन्दगामिन्यः करिण्य इव हस्तिन्य इव। इहोपमावृत्त्यनुप्रासयोः संसृष्टिः।

काश्चिदिति। जलधरसमयस्य वर्षाकालस्य यो दिवसो दिनं तस्य श्रियः शोभा इव इन्द्रायुधस्य शक्रधनुषः राग इव रागः अनेकविधरूपसम्बन्धः तेन रुचिराणि मनोहराणि अम्बराणि वस्त्राणि धारयन्तीति ताः तादृश्यः, पक्षे इन्द्रायुधस्य रागेण रञ्जनेन रुचिरं सुन्दरम् अम्बरं गगनं धारयन्तीति ताः तादृश्यः। पूर्णोपमा।

---

मानो, चन्द्रापीड़के दर्शन करनेके कुतूहल ( चाव ) से सब नेत्रोंको खोल दी है, ऐसा प्रतीत हो रहा था।

उसके बाद 'चन्द्रापीड़ समस्त विद्याओंकी शिक्षा समाप्त कर विद्यालयमें से निकल कर अभी यहाँ आते हैं' यह समाचार सुनकर समस्त नगर ( शहर भर ) की रहनेवाली सब स्त्रियाँ उनको देखनेके लिए उत्कण्ठित हुई अलङ्कार-जारण-कार्य करती-करती अर्धपरिसमाप्त परित्याग कर ( थोड़े बहुत गहने पहन कर जैसे की तैसी ) उतावलीमें उठ, महलोंकी चोटियों पर और बीच तलेमें चढ़ गईं। उन सबोंके मध्यमें कितनी ही स्त्रियाँ बाएँ हाथमें दर्पण धारण कर, प्रकाशमान पूर्णचन्द्र-मण्डल-समन्वित पूर्णिमा-रात्रिके समान शोभा पाने लगीं। कितनी ही स्त्रियाँ अलक्तक रस ( महावर ) से चरण-युगल लाल-लाल रंग कर, पद्मके ऊपर नई धूप गिरने पर पद्मलताके समान शोभायमान थीं। कितनी ही स्त्रियाँ घबराहटमें चलनेसे मध्यभागसे उतरी हुई काञ्चीदाम ( करधन ) द्वारा चरण-युगल रुँध जानेसे, चरणमें शृङ्खलाबन्धनसे मन्द-मन्द चलनेवाली हथिनियोंके समान धीरे धीरे उठने लगीं। वर्षाकालकी दिनलक्ष्मी जिसप्रकार इन्द्रधनुषके विविधवर्णसे मनोहर आकाशको धारण करती है, उसीप्रकार कितनी युवतियाँ इन्द्रधनुषके समान विविधवर्ण मनोहर वस्त्र धारण कर चढ़ने लगीं।

---

१. क्वचित् 'आगच्छति' इति पदं न विद्यते। २. सर्वस्मिन्नगरे।

काश्चिदुल्लसित-धवल-नख-मयूख-पल्लवान् नूपुररवाकृष्ट-गृहकलहंसकानिव चरणपुटानुद्वहन्त्यः, काश्चित् करतल-स्थित-स्थूलमुक्ताहार-यष्ट्यो रतिमिव मदनविनाशशोक-गृहीत-स्फटिकाक्षवलयां विडम्बयन्त्यः, काश्चित् पयोधरान्तरालगलितमुक्तालतास्तनुविमलस्रोतोजलान्तरित-चक्रवाकमिथुना इव प्रदोषश्रियः, काश्चिन्नूपुरमणिसमुत्थितेन्द्रायुधतया परिचयानुगतगृहमयूरिका इव विराजन्त्यः काश्चिदर्द्धपीतोज्झित-मणिचषकाः स्फुरितरागैर्मधुरसमिवा-

---

काश्चिदिति । उल्लसितः उत्थितः धवलः श्वेतो नखानां पुनर्भूणां मयूखपल्लवः रश्मिजालो येभ्यस्तान् तादृशान्, अत एव नूपुररवैः पादकटकध्वनिभिः आकृष्टा आकृष्य आनीता ये गृहकलहंसकाः भवनकादम्बाः तानिव विद्यमानान् चरणपुटान् पादयुगलानि, उद्वहन्त्यो धारयन्त्यः । इह नोपमालङ्कारः किन्तु जात्युत्प्रेक्षैव नूपुररवाकृष्टपदप्रतिपादनाभिप्रायादिति मनीषिभिराकलनीयम् ।

काश्चिदिति । करतलेषु स्थिताः शीघ्रतावशात् कण्ठेष्वनर्पणेन हस्तेष्वेव विद्यमानाः स्थूलमुक्तानां स्थूलमौक्तिकानां हारयष्ट्यो हारलता यासां ताः तादृश्यः, अत एव मदनविनाशेन मन्मथप्राणवियोगेन यः शोकः तेन गृहीतं महेशप्रसन्नतार्थं धृतं स्फटिकाक्षवलयं स्फटिकमणिरचितजपमाला यया तां तादृशीं रतिं मदनस्त्रियं विडम्बयन्त्यः अनुकुर्वन्त्य इव । इह क्रियोत्प्रेक्षा ।

काश्चिदिति । पयोधरयोः कुचयोः अन्तरालेषु मध्येषु गलिता गमनजवाक्षिप्तत्यैकत्रीभूता मुक्तालता मौक्तिकहारा यासां ताः तादृश्यः, अत एव तदनु: कृशस्य विमलस्य स्वच्छस्य स्रोतसः प्रवाहस्य जलेन सलिलेन अन्तरितं व्यवधानं प्रापितं चक्रवाकयोः रथाङ्गाह्वयोः मिथुनं द्वन्द्वं यासु ताः प्रदोषश्रियो रजनीमुखशोभा इव । प्रदोषारम्भसमये चक्रवाकदम्पत्योः परस्परं वियुज्य नद्या उभयतटावस्थितिर्विख्याता । एवञ्च तथाविधचक्रवाकमिथुनैः कुचद्वयानाम्, तनुस्रोतोजलैः हारलतानाम्, प्रदोषश्रीभिश्च ललनानां साम्यमवगन्तव्यम् । अत एव चोपमालङ्कारः ।

काश्चिदिति । नूपुरमणिभ्यः पादकटकरत्नेभ्यः समुत्थितानि, इन्द्रायुधानि शक्रचापतुल्यानेकवर्णकान्तिमण्डलानि यासां तासां भावस्तया कारणेन, परिचयेन चिरसाहचर्येण अनुगताः पश्चात् पश्चादागताः गृहमयूरिकाः भवनपालितमयूर्यो यासां ता इव । मयूरीणां यथा विविधवर्णमयपक्षयुक्तत्वं तथा नूपुरमणीनामपि विविधरागकान्तिरित्याशयः । इह गृहमयूरिकाणामनुगमनोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

काश्चिदिति । अर्द्धपीतानि अनन्तरम् उज्झितानि चन्द्रापीडावलोकनशीघ्रतावशात् परित्यक्तानि मणिचषकाणि रत्नमयपानपात्राणि याभिस्ताः तादृश्यः, इह चषकाणां तत्स्थितमद्येषु लक्षणावगन्तव्या । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । अत एव स्फुरितो देदीप्यमानो रागो रक्तिमा येषां तैः तादृशैः अधरपल्लवैः किसलयसदृशदन्तच्छदैः करणैः मधुरसं मद्यद्रवं क्षरन्त्यः स्रवन्त्य इव, अधराणां क्लिन्नत्वादित्याशयः । इह क्रियोत्प्रेक्षा ।

---

कितनी ही स्त्रियाँ, अपने नखोंसे उत्थित शुभ्रवर्ण किरणोंसे समन्वित चरणयुगल वहन कर जा रही थीं । उससे प्रतीत होता था मानो, पायजेबोंकी झनझनाहट सुन कर आकृष्ट हुए पालतू कलहंसोंका चरण वहन कर ले जा रहीं हैं । कितनी ही स्त्रियाँ, बड़े बड़े मोतियोंके बनाए हुए हार हाथमें धारण कर, कामदेवकी मृत्युसे शोकातुर हुई स्फटिकमय जपमालाधारिणी रतिका मानो अनुकरण करती करती जा रही थीं । कितनी ही युवती स्त्रियोंके स्तनोंके मध्यमें मोतियोंकी मालाएँ गिरकर एकत्रित होने लगीं । अत एव जिससमय चक्रवाक और चक्रवाकी नदीके दोनों किनारे रहते हैं एवं मध्य होकर अल्प स्रोत चलते रहते हैं, ऐसे प्रदोष समयके समान वे शोभा पाने लगीं । कितनी ही युवती स्त्रियाँ मणिमय नूपुरों ( पायजेबों ) मेंसे ऊपर उठे हुए इन्द्रधनुः सदृश विविधवर्णोंके प्रभामण्डलसे शोभा पा रही थीं, इससे प्रतीत हो रहा था मानो, पालतू मोरनियाँ उन सबोंके पीछे पीछे आ रही हों । कितनी ही स्त्रियोंने मणिमय पात्रों ( प्यालों ) से मद्योंको केवल आधा ही पान कर उसे फेंक कर रख दी थीं, वे ऐसी प्रतीत होती थी मानो, फड़कते हुए रंगीन पल्लव तुल्य ओष्ठद्वारा मधुररसकी बूँदें टपकाती हों । एवं अन्यान्य

---

स्थू१.…लहार…। २. लताविमल…। ३. परिचर्यानुगत…। ४. विराजयन्त्यः । ५. दीर्घ।

धरपल्लवैः क्षरन्त्यो हर्म्यतलानि ललनाःसमारुरुहुः । अन्याश्च मरकत-वातायन-विवर-विनिर्गत-मुखमण्डला विकच-कमल-कोषपुटामम्बरतलसञ्चारिणीं[1] कमलिनीमिव दर्शयन्त्यो ददृशुः ।

उदपादि च सहसा सरभस-सञ्चलन-जन्मा, मधुर-सारणास्फालित[2]-वीणारव-कोलाहल-बहलः[3], रशना-रवाहूत-गृहसारस[4] रसितसम्भिन्नः, स्खलित चरणतल[5]-ताडित-मणि[6]-सोपान-जात-गम्भीरध्वनि-प्रहृष्टानाँ[7]मवरोधशिखण्डिनां केकारवैरनुगम्यमानः, नवजलधर-रव-भय-चकित-कलहंसकुल[8]-कोलाहलकोमलः, मकरध्वज-विजय-घोषणानुकारी परस्पर-विघट्टनारणित-तारतर-हारमणीनां[9] रमणीनां श्रोत्रहारी, हर्म्यकुक्षिषु प्रतिरव-निर्ह्रादी भूषणनिनादः ।

---

अन्या इति । अन्याश्च ललनाः, मरकतस्याश्मगर्भस्य ये वातायना गवाक्षाः तेषां विवरेभ्यः रन्ध्रेभ्यः विनिर्गतानि विनिःसृतानि मुखमण्डलानि वदनसमूहा यासां ताः तादृश्यः, अत एव विकचानि भेदं प्राप्तानि, कमलस्य पङ्कजस्य कोषपुटानि कोषपुटकाकारदलानि यस्याः ताम्, अम्बरतलसञ्चारिणीम् गगनतलस्थायिनीं कमलिनीं पद्मिनीं दर्शयन्त्यः अवलोकयन्त्य इव विद्यमानाः कचाच्छादितप्रान्तानां मुखमण्डलानां विकसितपङ्कजयुततत्पर्णसदृशत्वादित्याशयः । ददृशुः अद्राक्षुः कुमारमिति शेषः । इहापि क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

उदपादीति । किञ्चेति चार्थः । सहसा सद्यः भूषणनिनादः अलङ्कारध्वनिः उदपादि उत्पन्नोऽभूदिति सम्बन्धः । सरभसं सवेगं यत् सञ्चलनं गमनं तस्माज्जन्म उत्पत्तिर्यस्य स तादृशः । सारणया अङ्गुलीताडनेन-आस्फालिताः सञ्चालिता या वीणा वीणातन्त्र्यस्तासां रवःशब्दः स एव कोलाहलः कलकलः स बहलोऽधिको यत्र स तादृशः । रशनारवैः काञ्चीनिनादैः आहूताः तच्छ्रवणेनामन्त्रिता ये गृहसारसा भवनपालितसारसपक्षिणः तेषां रसितैः रवैः सम्भिन्नः सम्मिलितः। स्खलितैः शीघ्रतावशात् प्रभ्रष्टैः चरणतलैः पादतलैः ताडितेभ्यः आहतेभ्यः मणिसोपानेभ्यः रत्नादिकृतसौधाद्यारोहणमार्गेभ्यः जातैः उत्पन्नैः गम्भीरध्वनिभिः मन्द्रध्वनिभिः प्रहृष्टाः मेघशब्दभ्रान्त्या आनन्दिता ये अवरोधशिखण्डिनः अन्तःपुरमयूराः तेषां केकारवैः अनुगम्यमानः सम्मिश्र इत्यर्थः । नवो नूतनो यो जलधरो मेघः तस्य असामयिकमेघस्येत्यभिप्रायः रवात् गर्जनात् भयेन त्रासेन चकितस्य भीतस्य कलहंसकुलस्य कादम्बगणस्य कोलाहलवत् कोमलो मृदुलः अकठिनः । मकरध्वजस्य कामदेवस्य विजयघोषणां त्रैलोक्यं मया जितमिति जयप्रचारम् अनुकरोतीति स तादृशः । परस्परम् अन्योन्यं यद्विघट्टनं सङ्घर्षणं तेन रणिताः शब्दिताः तारतरा अतिबाहुल्यादमूल्या अतिस्थूला हारमणयः मौक्तिकदामस्थितरत्नानि यासां तासां तथोक्तानां रमणीनां सुन्दरीणां योषितां श्रोत्रहारी कर्णमनोहारी । प्रतिरवेण प्रतिध्वनिना निर्ह्रादी अधिकीभूतः । हर्म्यकुक्षिषु सौधमध्येषु । अन्वयस्तूक्त एव । इह 'वीणारवकोलाहलः' इत्यत्र रूपकम्, 'कलहंसकुलकोलाहल' इत्यत्र लुप्तोपमा, मकरध्वज-विजयघोषणानुकारी' इत्यत्रार्थी उपमा, 'हारमणीनां रमणीनाम्' इत्येकक्रमेणावृत्तेर्यमकम् ।

---

कितनी ही स्त्रियाँ मरकतमणिद्वारा बनाई हुई खिड़कियोंमेंसे मुखमण्डल बाहर निकाल-निकाल कर चन्द्रापीड़को देखने लगी, अत एव प्रतीत हो रहा था मानो खिले हुए कमल-युक्त आकाशवर्त्तिनी कमलिनियाँ दर्शन कर रही हैं।

जल्दी जल्दी चलनेके कारण सहसा (एकाएक) ही सभी महलोंके मध्यमें आभूषणों (गहनों) के शब्द होने लगे । मधुर उँगलियोंसे बजती वीणाके शब्दसे वे आभूषणोंके शब्द वर्धित हो रहे थे । मेखलाओंके शब्दको सुनकर आकर्षित हुऐ पालतू सारसपक्षियोंके शब्द उस शब्दके साथ मिल गए थे । प्रभ्रष्ट ( फिसले ) चरणोंद्वारा ताड़ित होने पर मणिमय सोपान ( सीढ़ियों ) से गम्भीर शब्द उत्पन्न हो रहा था, उसे सुन कर आनन्दित हुए अन्तःपुरस्थ ( रनिवासके ) मयूरोंके केकारव उसके साथ मिलता था । इस प्रकार वह शब्द, असामयिक मेघकी गर्जनाके भयसे चौंक उठते कलहंसोंके कोलाहलके समान कोमल ( मधुर ) सुननेमें आता था, एवं कामदेवके विजयघोषका अनुकरण करता था और उससमय आपसमें टकरानेसे झनझनाती बड़ी बड़ी मणि-संयुक्त-हार-धारण करनेवाली रमणियोंके कानोंका आकर्षण करता था, एवं महलोंके भीतर प्रतिध्वनिसे वृद्धि पाने लगा था ।

---

१. पुटाम्बरतल…। २.…साधारणास्फालित…। ३. क्वचित् 'बहल' इति पदं नास्ति । ४.…रवाहूत-सारस…। ५. क्वचित् 'तल' पदं न विद्यते । ६. क्वचित् 'मणि' पदन्नोपलभ्यते । ७. प्रहृष्टाम् । ८. क्वचित् 'कुल' इति पदं नास्ति । ९. क्वचित् 'तारहार' इत्येव पाठो दृश्यते ।

मुहूर्त्तादिव युवतिजन-निरन्तरतया नारीमया इव प्रासादाः, सालक्तक-पद-कमल-विन्यासैः पल्लवमयमिव क्षितितलम्, अङ्गनानाम्, अङ्गप्रभा[1]-प्रवाहेण लावण्यमयमिव नगरम्, आननमण्डलनिवहेन चन्द्रबिम्बमयमिव गगनतलम्, आतपनिवारणायोत्तानित-कर[2]-तल-जालकेन कमलवनमयमिव दिक्चक्रबालम्, आभरणांशु-कलापेन इन्द्रायुधमय इवातपः, लोचन[3]-मयूख-लेखा-सन्तानेन नीलोत्पलदलमय इव दिवसो बभूव। कौतुकप्रसारित-निश्चललोचनानाञ्च पश्यन्तीनां तासामादर्शमयानीव सलिलमयानीव स्फटिकमयानीव हृदयानि विवेश चन्द्रापीडाकृतिः।

---

मुहूर्त्तादिति। मुहूर्त्तानन्तरं युवतिजनैः तरुणीवर्गैः निरन्तरतया निरवकाशतया व्याप्ततया कारणेन प्रासादाः सौधाः, नारीमयाः योषिद्भिर्निष्पन्ना इव बभूवुः। सालक्तकानि यावकरसरञ्जितानि यानि पदकमलानि सुन्दरीणां पादारविन्दानि तेषां विन्यासैः स्थापनैः क्षितितलं पृथ्वीतलं पल्लवमयमिव किसलयमयमिव बभूव पदकमलानां पल्लवसदृशत्वादित्याशयः। अङ्गनानां योषिताम् अङ्गस्य शरीरावयवस्य प्रभाप्रवाहेण कान्तिनिर्झरेण नगरं सा राजधानी लावण्यमयमिव सौन्दर्यमयमिव बभूव। लावण्यलक्षणमाहोज्ज्वलनीलमणिः—

'मुक्ताफलेषु च्छायायां तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥' इति।

आननमण्डलानां वदनमण्डलानां निवहेन वृन्देन गगनतलं व्योमतलं चन्द्रबिम्बमयमिव बभूव, तेषां चन्द्रबिम्बसदृशत्वादित्याशयः। आतपस्य रश्मेः निवारणाय दूरीकरणाय उत्तानितानि शिरस उपरि उत्तानीकृत्य स्थापितानि यानि करतलानि हस्ततलानि तेषां जालकेन समूहेन दिशां ककुभानां चक्रवालं मण्डलम्, कमलवनमयमिव पद्मारण्यमिव बभूव, तत्करतलानां कमलसदृशत्वादित्याशयः। आभरणानां भूषणानां येऽशवः किरणाः तेषां कलापेन समूहेन आतपः सूर्यालोकः इन्द्रायुधमय इव शक्रधनुर्मय इव बभूव तदंशुजालस्य विविधरूपत्वादित्याशयः। 'इन्द्रायुधं शक्रधनुः' इत्यमरः। लोचनानां नयनानां या मयूखलेखा रश्मिराजयः तासां सन्तानेन प्रवाहेण, दिवसः नीलोत्पलदलमय इव नीलनलिनदलैर्निष्पन्न इव बभूव, लोचनमयूखसन्तानानां नीलोत्पलदलतुल्यत्वादित्याशयः। इह विकारार्थे मयट्प्रत्ययविधानेन विकारस्य हि अन्यथारूपत्वेन गुणत्वात् सर्वत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः।

कौतुकेति। अपि च चन्द्रापीडस्य आकृतिः स्वरूपम्, कौतुकेन अवलोकनकौतूहलेन प्रसारितानि प्रथितानि अनन्तरं निश्चलानि स्थिराणि लोचनानि नयनानि यासां तासां तादृशीनाम्, तासां पौरललनानाम्, आदर्शमयानीव दर्पणरचितानीव, स्फटिकमयानीव स्फटिकरचितानीव, एवमग्रेऽपि। हृदयानि चित्तानि विवेश प्रविष्टा प्रतिबिम्बं यथा दर्पणादौ प्रविशति तथैवेत्याशयः। इह 'आदर्शमयानीव' इत्यादित्रिष्वपि गुणोत्प्रेक्षाणां परस्परनैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात्संसृष्टिरलङ्कारः।

---

एक क्षणमें ही युवतियोंसे व्याप्त होनेके कारण अट्टालिकाएँ (महलें) मानो नारीमय हो गईं, अलक्तक (महावर) रञ्जित-चरण-कमलोंके विन्याससे सब भूतल मानो पल्लवमय हो गया; रमणियोंकी शरीर-कान्तिके प्रवाहसे सब नगर मानो लावण्य-मय हो गया; मुखमण्डलके समूहसे आकाश मानो चन्द्रबिम्ब-मय हो गया; रौद्र (धूप) निवारण करनेके लिए मस्तकके ऊपर-ऊँचे उठा कर चित्त किए हुए करतलों (हाथों) से सब दिशाएँ मानो कमल-वन-मय हो गईं; आभूषणोंके नानावर्णकी किरणोंसे सूर्यका प्रकाश मानो इन्द्रधनुष-मय हो गया और आखोंमेंसे निकलतीं किरणोंके प्रवाहसे वह दिन मानो नीलकमल-पत्र-मय हो गया। जिस समयमें नगरवासिनी रमणियाँ, कुतूहल (चाव) से नेत्र फैला कर एकाग्र दृष्टिसे चन्द्रापीड़को देखती थीं, उस समय उन लोगोंका हृदय, मानो दर्पण-मय था, सलिल-मय था एवं स्फटिक-मय था जिसमें चन्द्रापीडकी आकृति प्रवेश कर गई थी।

---

१. क्वचित् 'अङ्गनाङ्गप्रभा' इति पाठः समुपलभ्यते। २. उत्तानितेन। ३. साभ्यसूयालोचन"'।

आविर्भूत-मदनरसानाञ्चान्योन्यतः सपरिहासाः, सविश्रम्भाः, ससम्भ्रमाः, सेर्ष्याः, सोत्प्रासाः, साभ्यसूयाः, सविलासाः, समन्मथाः, सस्पृहाश्च तत्क्षणमतिरमणीयाः प्रसस्रुरालापाः।

तथा हि-'त्वरितगमने ! मामपि प्रतिपालय। दर्शनोन्मत्ते ! गृहाणोत्तरीयम्। चपले![3] उल्लासय अलकलतामाननावलम्बिनीम्। मूढे ! चन्द्रलेखामुपाहर[4]। उपहार[5]-कुसुम-स्खलित-चरणौ[6] पतसि मदनान्धे !। संयमय मदनिश्चेतने ! केशपाशम्। उत्क्षिप चन्द्रापीडदर्शन-

आविर्भूतेति। अपि च, आविर्भूतःप्रकटीभूतो मदनरसःकामानुरागो यासां तासां तादृशीनां ललनानाम् अन्योन्यं परस्परं परिहासो नर्मवचनं तेन सह वर्त्तमानाः सपरिहासाः, सविश्रम्भाः सविश्वासाः, अन्यथा तथाविधालापैः कोपवत्य अपि भवेयुरित्याशयः। ससम्भ्रमाः सशीघ्राः, अन्यथा तथाविधालापैः बहुकालमन्यमनस्कतया उत्कटनिरीक्षणं न भवेदित्याशयः। ईर्ष्यया परासहनलक्षणया सह वर्त्तमानाः सेर्ष्या, स्थानाधिक्येनान्यस्याः अधिकतरनिरीक्षणावसरादित्याशयः। सोत्प्रासाः मन्दहासेन सहिताः 'उत्प्रासः समनाक् स्मितम्' इत्यमरः। अन्यदीयगुणेषु दोषाविष्कारम् अभ्यसूया तया सह वर्त्तमानाः साभ्यसूयाः। अन्यस्याः सौन्दर्यावलोकनेन तत्समयेऽपि मात्सर्याविर्भावादित्याशयः। विलासेन हस्तलोचनादिभङ्गीविशेषेण सह वर्त्तमानाः सविलासाः, समन्मथाः सकामाः सस्पृहाः साभिलाषाः। तत्क्षणं तस्मिन् समये अतिरमणीयाः अतिमनोहराः आलापाः संलापाः प्रसस्रुः विस्तारेण बभूवुः।

तानेवालापान् प्रकटयितुमाह—तथाहीति। त्वरितं शीघ्रं गमनं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे त्वरितगमने ! मां सहचरीमपि प्रतिपालय प्रतीक्षस्व। स्वमतिक्रम्य शीघ्रं व्रजन्तीं सखीं प्रति कस्याश्चिदीर्ष्यापूर्वकवचनमिदम्।

दर्शेति। दर्शनोन्मत्ते चन्द्रापीडावलोकनेन उन्मादाभिभूते ! उत्तरीयं शाट्या उपरि आच्छादनवस्त्रं गृहाण, पततोऽपि स्वपरिच्छदस्याज्ञानवतीं प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम्।

चपल इति। हे चपले चञ्चले ! आननावलम्बिनीं चपलतयैव वदनोपरिसञ्चारिणीम् अलकलतां लतावल्लम्बमानां पतत्कचपंक्तिम् उल्लासय दूरीकुरु। एवं विधां प्रति कस्याश्चित्सविश्वासकथनमिदम्।

मूढ इति। हे मूढे चन्द्रापीडावलोकनेन गतचेतने ! स्खलितायामपि चन्द्रलेखायां तदज्ञानादित्याशयः। चन्द्रलेखां चन्द्रलेखासदृशं भालभूषणविशेषम् उपाहर उत्थापय, गृहाणेत्यर्थः। काञ्चित्स्खलितचन्द्रलेखां प्रति सविश्वासं कस्याश्चित्कथनमिदम्।

उपेति। हे मदनान्धे मन्मथोत्तेजने अन्यत्र निरीक्षणसामर्थ्यरहिते ! अनवलोकनवशात् पुष्पेषु पतितचरणतया स्खलितप्रायत्वादित्याशयः। उपहारकुसुमेषु रमणीयावलोकनाय विक्षिप्तेषु पुष्पेषु, स्खलितौ पतितौ चरणौ पादौ यस्याः सा तथोक्ता सती पतसि। तथाविधां प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम्।

संयमयेति। हे मदनिश्चेतने कामोन्मत्ततया चेतनारहिते ! विक्षिप्तेष्वपि कचेषु तदज्ञानादित्याशयः केशपाशं कचसमूहं संयमय ग्रथितं विधेहि। परितो विक्षिप्तकेशीं प्रति कस्याश्चिदिदमपि नर्मवचनम्।

उत्क्षिपेति। चन्द्रापीडदर्शने चन्द्रापीडावलोकने व्यसनिनि नितान्तासक्तमति। अन्यविषयेष्वज्ञानादित्याशयः। काञ्चीदामकं रसनागुणम् उत्क्षिप उच्चैर्नय, कटिभागात्पादयोः स्खलितेन काञ्चीदाम्नाऽवरुद्धगमनां प्रति कस्याश्चिदुत्कण्ठापूर्वकवचनमिदम्।

उसके बाद उन लोगोंको मदनानुराग उत्पन्न हुआ; उस समय उन लोगोंका आपसमें परिहास, विश्वास, त्वरा, ईर्ष्या, ईषत्-हास्य, असूया, विलास (भाव भङ्गी), कामोद्रेक और अनुरागके साथ अतिमनोहर आलाप होने लगे।

जैसे-'अरी शीघ्र चलनेवाली, मेरीभी थोड़ी प्रतीक्षा करो (अर्थात् मुझे भी संग लेती जा)। अरी, चन्द्रापीड को देखनेके लिये पगली अपनी दुपट्टा संभाल लो। अरी, चञ्चल-स्वभाववाली मुखके ऊपर लटें पड़ी हैं उन्हें सुधार लो। अरी, मूढ़ तू अपनी चन्द्रलेखा ( चन्द्रलेखाकार ललाटाभरण, चाँद ) को उठा कर लेलो। अरी, कामसे अन्धी देख, विक्षिप्त पूजाके फूलों पर पाँवसे ठोकर खाकर गिर रही हो। अरी, मदनमत्त होने से चैतन्य-रहितवाली अपनी चोटी तो बाँध। अरी चन्द्रापीडको देखनेके लिए तड़पने वाली, अपनी काञ्चीदाम ( तगड़ी ) ऊँची

१. अन्योयं। २. रमणीयाः, अभिरमणीयाः। ३. चपले ! इति पदं कचिन्न विद्यते। ४. चन्द्रलेखे मुहुरुपाहर। ५. समुपाहर। ६.…चरणे !

व्यसनिनि ! काञ्चीदामकम् । उत्सर्पय पापे ! कपोलदोलायितं कर्णपल्लवम् । अहृदये ! गृहाण निपतितं दन्तपत्रम् । यौवनोमत्ते ! विलोक्यसे जनेन, स्थगय पयोधरभारम्[1] । अपगतलज्जे ! शिथिलीभूतमाकलय दुकूलम् । अलीकमुग्धे ! द्रुततरमागम्यताम् । कुतूहलिनि ! देहि दर्शनान्तरम्[2] । असन्तुष्टे ! कियदालोकयसे । तरलहृदये ! परिजनमपेक्षस्व । पिशाचि[3] !

उत्सर्पयेति । हे पापे पापशीले ! परपुरुषावलोकनोन्मादत्वादित्याशयः । कपोलयोः गण्डयोः दोलायितं शीघ्रगत्यान्दोलितं कर्णपल्लवं श्रोत्रकिसलयम् उत्सर्पय श्रोत्रसमीपमुन्नय, अन्यथा नेत्रोपरि पतितेनावलोकनावरोधो भवेदित्याशयः । तथाविधां प्रति कस्याश्चिदभ्यसूयापूर्वकं कथनमिदम् ।

अहृदय इति । हे अहृदये चित्तशून्ये ! चन्द्रापीडं प्रति चेतोगमनेन दन्तपत्रस्खलनाज्ञानादित्याशयः। निपतितं स्रस्तं दन्तपत्रं गजदन्तरचितं पत्रसदृशकर्णभूषणविशेषं गृहाण स्वीकुरु । स्खलितदन्तपत्रां प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम् ।

यौवनेति । हे यौवनोन्मत्ते तारुण्यमदेनोन्मादशीले ! कुचयोराच्छादनाभावेऽपि तदनवबोधादित्याशयः । जनेन पौरलोकेन त्वं विलोक्यसे दृग्विषयीक्रियसे अतः पयोधरभारम् आच्छादनरहितं विस्तृतकुचद्वयम्, स्थगय वस्त्रेणाच्छादय । अनाच्छादितकुचां प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम् ।

अपगतेति । हे अपगतलज्जे दूरीभूतत्रपे ! नितम्बाऽवलोकनेऽपि वस्त्रानुत्सर्पणादित्याशयः । शिथिलीभूतं नितम्बदेशात् पतितं दुकूलं वस्त्रम् आकलय स्वस्थाने नियोजय । तथाविधां प्रति उत्कण्ठापूर्वकवचनमिदम् ।

अलीकेति । हे अलीकमुग्धे मिथ्याप्रदर्शितमुग्धभावे ! परमार्थतस्त्वं प्रगल्भैव चन्द्रापीडावलोकनोत्कण्ठया सामान्यावलोकनोचितस्थानागमनेन निर्लज्जत्वादित्याशयः । द्रुततरं शीघ्रतरम् आगम्यताम्, अन्यथावलोकनमार्गमतिक्रामेच्चन्द्रापीड इत्यभिप्रायः। कपटेन प्रदर्शितमुग्धभावां प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम् । मुग्धालक्षणं साहित्यदर्पणे यथा—

'प्रथमावतीर्णमदनविकारा रतौ वामा । कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥'

कुतूहलिनीति । हे कुतूहलिनि ! अवलोकनात्यन्तकौतुकयुक्ते ! मम सख्या अप्यनपेक्षणादित्याशयः। दर्शनान्तरं ममापि अवलोकनाय स्थानं देहि । अलब्धस्थानायाः कस्याश्चित् स्थानावरोधिनीं प्रति ईर्ष्यापूर्वकं कथनमिदम् ।

असन्तुष्ट इति । हे असन्तुष्टे बहुकालाऽवलोकनेनापि सन्तोषरहिते ! अनपसरणादित्याशयः । कियत् कियन्मात्रम् आलोकयसे वीक्षसे सम्प्रत्यपसरेत्याशयः । बहुकालमवलोकयन्तीं प्रति कस्याश्चिदीर्ष्यापूर्वकं वचनमिदम् ।

तरलेति । हे तरलहृदये चपलचित्ते ! अवलोकनोत्कण्ठया शीघ्राग्रगमनादित्याशयः, परिजनं सख्यादिकम् अपेक्षस्व प्रतीक्षां विधेहि । तदपेक्षया मन्दं मन्दं व्रजेति भावः । परिजनवर्गं परित्यज्य धावमानां प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम् ।

पिशाचीति । हे पिशाचि राक्षसि तत्सदृशे निस्त्रपत्वादित्याशयः । गलितोत्तरीया स्वस्थानात्स्रस्तसंव्याना अत एव जनेन आगन्तुकलोकेन पश्यता लोकेन च विहस्यसे । अतः स्वस्थान उत्तरीयं स्थापयेत्याशयः । तथाविधां प्रति विश्वासपूर्वककथनमिदम् ।

---

तो चढ़ो। अरी, पापिन कपोल पर हिलते उस कर्णपल्लवको तो एक तरफ कर। अरी हृदयशून्यवाली, तेरी हाथी दाँतकी कंघी गिर पड़ी है उसे तो उठा कर ले लो । अरी, यौवनमदसे मतवाली, लोग तुझे देखते हैं, अत एव विशाल अपने स्तनमण्डल को ढक तो ले । अरी, लज्जा रहितवाली तेरे पहननेका कपड़ा ढीला हो गया है उसे अपने स्थानमें कर तो ले । अरी, मिथ्याप्रकटित मुग्धभाव वाली अतिशीघ्र आओ । अरी, देखनेकी बड़ी शौकीन मुझे भी एकवार देखनेका स्थान दो। अरी, अधिक देर देखने पर भी तृप्ति रहितवाली तू कब तक देखती रहेगी । अरी, चञ्चल हृदयवाली जरा अपने नौकर-चाकरों की तो अपेक्षा करो। अरी, लज्जारहित होनेके कारण पिशाची समान लगनेवाली, तेरा दुपट्टा खिसक जानेसे उसे देखकर लोग हँस रहे हैं। अरी अनु-

---

१. ...भागम् । २. नृपदर्शनान्तरम् । ३. पिशाचिके !

गलितोत्तरीया[1] विहस्यसे[2] जनेन। रागावृतनयने! पश्यसि न सखीजनम्। अनेकभङ्गिविकारपूर्णे! दुःखमकारणायासितहृदया[3] जीवसि। मिथ्याविनीते! किं व्यपदेशवीक्षितैः, विश्रब्धमालोकय[4]। यौवनशालिनि! किं पीडयसि पयोधरभारेण। अतिकोपने! पुरतो भव। मत्सरिणि! किमेकाकिनी रुणत्सि वातायनम्। अनङ्गपरवशे! मदीयमुत्तरीयांशुकमुत्तरीयतां नयसि? रागासवमत्ते[5]! निवारयात्मानम्। उज्झितधैर्ये! किं धावसि गुरुजनसमक्षम्।

---

रागावृतेति। रागेण चन्द्रापीडप्रीत्यतिशयेन आवृते आच्छादिते अन्यावलोकनावश्यकत्वे कृते इत्यर्थः। नयने लोचने यस्याः तत्सम्बुद्धौ रूपम्। अतएव सहचरीवर्गमपि नावलोकयसीति काकुः, सहसैवेदं तवानुचितमित्याशयः। एकाग्रलोचनां प्रति नर्मवचनमिदम्।

अनेकेति। अनेका बह्वयो या भङ्गयः हस्तनेत्रादिसङ्केता एव विकाराः तैः पूर्णे भृते!, अकारणं चन्द्रापीडप्राप्त्यसम्भवान्निष्फलम् आयासितहृदया सोत्प्रासं खिन्नमानसा दुःखं क्लेशं यथा स्यात्तथा जीवसि प्राणान् धारयसे। एवञ्च प्रदर्शय अनेकभङ्गिविकारान् तथापि चन्द्रापीडप्राप्तिस्ते कदापि न भवेत् तथा सति सम्प्रति हृदयस्यायासः दुःखमयं च जीवनं निष्प्रयोजनमेवेत्याशयः। इदमपि तथाविधां प्रति नर्मवचनम्।

मिथ्येति। हे मिथ्याविनीते असत्यविनयप्रकटिनि! व्यपदेशवीक्षितैः व्याजनिरीक्षणैः किम्? अस्माभिस्तदवलोक्यमानत्वेन विनयासत्यत्वनिश्चयान्न किञ्चिदपि प्रयोजनमित्याशयः, अत एव विश्रब्धं निःसन्देहम् आलोकय पश्य। एवं सति तवाप्यवलोकनसौविध्यं स्यात् अस्माकमपि व्याजनिश्चयेन त्वयि विरागो न भवेदित्याशयः। अन्यापदेशेनावलोकयन्तीं प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम्।

यौवनेति। हे यौवनशालिनि उत्कृष्टतारुण्यसंयुते! तदुत्कर्षाभिधायककठिनपीनकुचवत्त्वादित्याशयः। पयोधरभारेण तथाविधकुचयोर्गुरुत्वेन भारवत्कुचद्वयेनेत्यर्थः, पीडयसि पृष्ठतः सङ्घर्षणेन पीडां जनयसि। अग्रगमनत्वरातः कठिनस्तनद्वयेन पृष्ठत आघातविधायिनीं प्रति कस्याश्चित् सोत्कण्ठनर्मवचनमिदम्। इह पीडनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

अतिकोपन इति। हे अतिकोपने अत्यन्तक्रुद्धप्रकृतिके! अपसर्तुं कथयत्येव भ्रकुटीविधायित्वादित्याशयः। पुरतः अग्रगामिनी भव। यतो हि तवाघातवशादग्रे वर्त्तितुं न समर्थोऽस्मीति भावः। अत्यन्तावलोकनोत्कण्ठया आघातेनाग्रे जिगमिषन्तीं प्रति कस्याश्चित्पुरःस्थायिन्या ईर्ष्यापूर्वककथनमिदम्।

मत्सेति। हे मत्सरिणि अन्यशुभद्वेषिणि! 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेष' इत्यमरः। अवलोकनविघ्नविधानादित्याशयः। एकाकिनी असहाया वातायनं गवाक्षं किं रुणत्सि रोधनं कुरुषे? मह्यमपि स्थानं देहीत्यभिप्रायः। वातायनद्वारावरुद्धां प्रति साभिनिवेशं द्रष्टुमिच्छन्त्याः तत्स्थानमप्राप्तवत्याः कस्याश्चित् ईर्ष्यापूर्वकं वचनमिदम्।

अनङ्गेति। हे अनङ्गपरवशे मदनायत्ते! कामाभिभूतेन लब्धमोहे इत्यर्थः, आत्मीयानात्मीयविचाराभावादित्याशयः। अत एवोक्तं मदीयमिति। उत्तरीयांशुकम् उत्तरीयवस्त्रम् उत्तरीयताम् उपरिवस्त्रतां नयसि प्रापयसि। आत्मीयभ्रान्त्यान्यदीयमुत्तरीयं गृह्णतीं प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम्।

रागेति। रागः चन्द्रापीडं प्रति स्नेह एव आसवो मद्यं तेन मत्ता उन्मादयुक्ता तत्सम्बुद्धौ हे रागासवमत्ते! अनेकविधकरनयनादिसङ्केतविधानादित्याशयः। आत्मानं चन्द्रापीडं प्रति सस्नेहं चित्तं निवारय वारणं विधेहि, अन्यथा एतत्प्राप्त्यभावेन बहुकालं पश्चात्तापमनुभविष्यसीत्यभिप्रायः। नानाविधभङ्गिविधायिनीं प्रति नर्मवचनमिदम्।

उज्झितेति। हे उज्झितधैर्ये चन्द्रापीडावलोकनौत्सुक्येन त्यक्तधैर्ये! गुरुजनसमक्षं वेगेन गमनादि-

---

रागाच्छन्न नेत्रवाली, क्या तू अपनी सखियोंको भी नहीं देखती है। अरी नानाविधभङ्गिविकारपूर्णवाली, तू निष्प्रयोजन खिन्नचित्त होकर दुःखसे जीवन-धारण करती है। अरी झूठा विनय दिखानेवाली, छलपूर्वक देखनेसे क्या फल? निःशङ्कभावसे ( बेखटके ) देख न। अरी उत्कृष्ट-यौवनवाली, तू अपने विशाल स्तनोंके आघातसे मुझे क्यों पीड़ा देती है। अरी अत्यन्तक्रुद्धस्वभाववाली ( गुस्सैल ), तू ही आगे हो जा। अरी अन्य-शुभद्वेषवाली, तू अकेली सब खिड़कीके द्वारको क्यों घेर लेती है। अरी कामसे पराधीन होने वाली, तू मेरे दुपट्टेको अपना दुपट्टा

---

१. वलित। २. हस्यसे। ३. दुःखकारणायासितहृदया। ४. विलोकय, ५. रागमत्ते!

उल्लसत्स्वभावे ! किमेवमाकुलीभवसि ? मुग्धे ! निगूहस्व मदनज्वर-जनित-पुलकजालकम् । असाध्वाचरणे ![1] किमेवमुत्ताम्यसि ? बहुविकारे ! विविधाङ्गवलनायासित-मध्यभागा[2] वृथा खिद्यसे । शून्यहृदये ! स्वभवनान्निर्गतमपि नात्मानमवगच्छसि । कौतुकाविष्टे ! विस्मृतासि निश्वसितुम्[3] । अन्तःसङ्कल्प-रचित-सुरत[4]-समागम-सुख-रस-निमीलित-लोचने ! समुन्मीलय लोचनयुगलम्, अतिक्रामत्ययम् । अनङ्ग-शर-प्रहार-मूर्च्छिते ! रविकिरणनिवारणाय

---

त्याशयः । गुरुजनानां श्वशुरादिपूज्यलोकानां समक्षं प्रत्यक्षं किं धावसि अतिवेगाच्चलसि । तथाविधां प्रति ईर्ष्यापूर्वकवचनमिदम् ।

उल्लसदिति । उल्लसन् आविर्भवन् स्वभावो मनोविकारो यस्याः तत्सम्बुद्धौ हे उल्लसत्स्वभावे ! व्यग्रत्वादित्याशयः । एवम् अमुना प्रकारेण किं किमर्थम् आकुलीभवसि व्याकुलतां भजसे । चन्द्रापीडसंयोगस्ते नैव स्यादतोऽयमाकुलीभावो निरर्थक एवेत्याशयः । तथाविधां प्रति कस्याश्चित् सोत्कण्ठपरिहासवचनमिदम् ।

मुग्ध इति । हे मुग्धे मृदुले ! प्रकटीभवतोऽपि रोमाञ्चसमूहस्यानवबोधादित्याशयः । मदनज्वरेण कामसन्तापेन जनितम् उत्पन्नं पुलकजालकं रोमाञ्चसमूहं निगूहस्व वस्त्राच्छादनेन संवृतं कुरु । अन्यथा जनैरुपहसिष्यस इत्यभिप्रायः । पूर्ववदेव तथाविधां प्रति वचनमिदम् ।

असाध्विति । हे असाध्वाचरणे असच्चरिते परपुरुषार्थं व्याकुलत्वादित्याशयः । एवम् अनेन प्रकारेण सातिशयमित्यर्थः । किं किमर्थम् उत्ताम्यसि व्यग्रा भवसि । पातिव्रत्यविरुद्धमेतदिति भावः । करनयनादिसङ्केतविशेषावलोकनेनानुमितव्यग्रभावां प्रति ईर्ष्यापूर्वकवचनमिदम् ।

बह्विति । बहवोऽनेके विकाराः शृङ्गारभावा यस्याः सा तत्सम्बोधने हे बहुविकारे ! गात्रविक्षेपादिमत्त्वादित्याशयः । विविधेन अनेकेन अङ्गवलनेन मध्यभागसञ्चालनकटाक्षपातादिना आयासितः खेदितः मध्यभागः कटिदेशो यया सा तथोक्ता सती वृथा व्यर्थं खिद्यसे परिश्राम्यसि, चन्द्रापीडप्राप्त्यसम्भवादित्याशयः । कटीदेशस्यैवात्यन्ततनुत्वात्केवलं तदुक्तिः सङ्गच्छते । तथाविधां प्रति नर्मवचनमिदम् ।

शून्येति । शून्यं विषयान्तरज्ञानरहितं हृदयं चित्तं यस्याः तत्सम्बुद्धौ हे शून्यहृदये ! चन्द्रापीडं प्रत्येव दत्तचित्तत्वादित्याशयः । स्वभवनात् निजगृहात् निर्गतं बहिर्निःसृतमपि आत्मानं स्वशरीरं नावगच्छसि न जानासि । स्वभवनाद्बहिर्धावन्तीं प्रति सोत्कण्ठनर्मवचनमिदम् ।

कौतुकेति । कौतुकेन चन्द्रापीडरूपावलोकनकुतूहलेन आविष्टम् आकृष्टं चित्तं यस्याः तत्सम्बुद्धौ हे कौतुकाविष्टे ! विषयान्तरानवगमादित्याशयः । अत एवोक्तम् निःश्वसितुमपि निःश्वासं ग्रहीतुमपि विस्मृतासि इति । निर्निमेषत्वेन तर्कितैकाग्रतां प्रति सोत्कण्ठनर्मवचनमिदम् ।

अन्तरिति । अन्तः सङ्कल्पेन मनोध्यवसायेन रचितं कल्पितं यत् सुरतसमागमसुखं चन्द्रापीडेन सह सम्भोगप्राप्त्यानन्दः तस्य रसेन आस्वादानुभवेन निमीलिते सङ्कुचिते लोचने नयने यया तत्सम्बुद्धौ रूपम् । तथाविधरसानुभवं विना सम्प्रति लोचनमुद्रणासम्भवादित्याशयः । लोचनयुगलं नेत्रद्वयं समुन्मीलय विकासय, अन्यथाऽयं चन्द्रापीडो लोचनपथगोचरो न भवेत् तदतीत्य गमनात् तथा सति विलक्षणावलोकनजन्यानन्दो न स्यादित्याशयः । निमीलितलोचनां प्रति कस्याश्चिन्नर्मवचनमिदम् ।

अनङ्गेति । अनङ्गस्य कामदेवस्य यः शरप्रहारो बाणाघातस्तेन मूर्च्छिता मूर्च्छापन्ना निश्चेतनेत्यर्थः ।

---

क्यों बना लेती है । अरी प्रेमसे मतवाली, जरा तो अपने मनको रोक । अरी अधीर स्वभाववाली, गुरुजनों ( बड़े बूढ़ों ) के सामने क्यों दौड़ी जाती है । अरी आविर्भूतमनोविकारवाली, इतना व्याकुल क्यों होती है ? अरी सरल स्वभाववाली, कामज्वरसे उत्पन्न हुए रोमाञ्चसमूहको वस्त्रसे ढक तो ले । अरी, दुराचारिणी इतनी उतावली क्यों होती है ? अरी, बहुत विकारवाली, तू अनेक प्रकारसे अङ्गसञ्चालन द्वारा मध्यभागको ( अपनी कमरको ) कष्ट उत्पन्न कर व्यर्थ परिश्रम करती है । अरी शून्यहृदयवाली तू अपने घरसे बाहर होकर आगई है, इसे भी नहीं समझती है । अरी, चन्द्रापीडरूपदर्शनकुतूहलचित्तवाली तू साँस लेना भी भूल गई है । अरी, अन्तःसङ्कल्परचित सुरतसमागमके सुखसे आँखें मीचनेवाली तू आँखें खोल, देख, ये जो दृष्टिपथ अतिक्रमणकर जारहे हैं । अरी कामबाणके प्रहारसे मूर्च्छावाली, धूप रोकनेके लिए मस्तकके ऊपर उत्तरीयवस्त्र ( दुपट्टा ) का पल्ला डाल । अरी

---

१. अंसावरणे ! २. विविधाङ्गभङ्गवलन…विविधाङ्गभङ्गचलचलन । ३. निःश्वसितुम् । ४.…रत…रति ।

कुरु शिरस्युत्तरीयांशुकपल्लवम् । अयि सतीव्रत-ग्रहगृहीते ! द्रष्टव्यमपश्यन्ती वञ्चयसि लोचनयुगलम् । अधन्ये ![1] हतासि परपुरुष-दर्शन-परीहार-व्रतेन[2] । प्रसीद, उत्तिष्ठ सखि ! पश्य रतिविरहितं साक्षादिव भगवन्तमगृहीत-मकरध्वजं मकरध्वजम् । अयमस्य सितातपत्रान्तरेण अलिकुलनीले शिरसि तिमिरशङ्कानिपतित इव शशिकरकलापो मालतीकुसुमशेखरोऽभिलक्ष्यते । एतदस्य कर्णाभरण-मरकत-प्रभा-श्यामायितम् उपरचित-विकच-शिरीष-कुसुम-कर्ण-पूर-

---

या सा तत्सम्बोधने हे अनङ्गशरप्रहारमूर्च्छिते ! विद्यमानक्लेशानवगमादित्याशयः। रविकिरणनिवारणाय सूर्यातपापनोदनाय उत्तरीयांशुकपल्लवम् उत्तरीयवसनविस्तारम् शिरसि मस्तके कुरु विधेहि । घर्मक्लिष्टां प्रति नर्मवचनमिदम् ।

अयीति । अयीति कोमलामन्त्रणे । सत्याः पतिव्रतायाः यद्व्रतं स्वाम्यतिरिक्तानवलोकनरूपो नियमः स ग्रहो भूतविशेषः तेन गृहीता अभिभूता या तत्सम्बुद्धौ हे सतीव्रतगृहीते ! भूतावेशमन्तरा एवंविधरूपावलोकनवैमुख्यं न भवेदित्याशयः । अतएव द्रष्टव्यम् अवलोकनीयमद्भुतरूपिणं चन्द्रापीडमित्यर्थः, अपश्यन्ती अनवलोकयन्ती लोचनयुगलं नेत्रद्वयं वञ्चयसि प्रतारयसि अन्यथैतादृशावलोकनासम्भवादित्याशयः । कस्याश्चिन्नायिकाभिः सह समेत्य परपुरुषावलोकनात्, सतीत्वव्यपगमभयेनानवलोकयन्तीं प्रति विश्वासपूर्वकं वचनमिदम् ।

अधन्य इति । हे अधन्ये अभाग्ये ! सति भाग्येऽवलोकनावश्यंभावादित्याशयः । परपुरुषदर्शनस्य स्वपतिभिन्नपुरुषावलोकनस्य परिहारः परित्यागः व्रतं नियमः तेन तादृशेन हता बहुकालं प्रतारितासि अवलोकनीयानवलोकनादित्याशयः । पूर्ववदेव कथनमिदम् ।

प्रसीदेति । प्रसीद प्रसन्ना भव, हे सखि ! उत्तिष्ठ उत्थिता भव, रत्या स्वस्त्रिया विरहितं वियुक्तम् चन्द्रापीडस्यापि स्वपत्नीरहितत्वाद्विशेषणमिदम् । न गृहीतो नात्तः मकरध्वजो मकरसंज्ञकजलजीवाङ्कितो ध्वजो येन तं तादृशम् । चन्द्रापीडस्यापि तथाविधध्वजाभावाद्विशेषणमिदम् । साक्षात् मकरध्वजं कामदेवमिव चन्द्रापीडं पश्य अवलोकय । सौन्दर्यमोहेनोपविशन्तीं प्रति कस्याश्चित् सकामवचनमिदम् ।

अयमिति । अलयो भ्रमराः तेषां कुलं समूहः तद्वत् नीले तथाविधकचाच्छादितत्वादत्यन्तश्यामवर्णे अस्य चन्द्रापीडस्य शिरसि मस्तके, तिमिरमन्धकारः तच्छङ्कया तद्भ्रमेण तिमिरभ्रमजनिततन्निराकरणधियेत्यर्थः । निपतितः शशिकरकलाप इव चन्द्ररश्मिनिकर इव अयं पुरो दृश्यमानो मालतीकुसुमानां मालतीपुष्पाणां शेखरः स्रग्रूपशिरोऽलङ्कारः सितातपत्रान्तरेण शुभ्रच्छत्राभ्यन्तरेण अभिलक्ष्यते अवलोक्यते । अभिलाषपूर्वकवचनमिदम् ।

'अलिकुलनील' इत्यत्र लुप्तोपमा, तिमिरशङ्केत्यादौ भ्रान्तिमान्, जात्युत्प्रेक्षा चेति परस्परमेतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

एतदिति । कर्णाभरणं कर्णभूषणं यन्मरकतं हरिन्मणिः तस्य या प्रभा कान्तिः तया श्यामायितं श्यामवदाचरितम् एतत् पुरोऽवलोक्यमानम् अस्य चन्द्रापीडस्य कपोलतलं गण्डयुगलोर्ध्वदेशः, उपरचितो निर्मितः विकचस्य विकसितस्य शिरीषकुसुमस्य कर्णपूरः कर्णभूषणं यत्र तत्तथोक्तमिव आभाति शोभते । शिरीषपुष्पस्य श्यामत्वात् कपोलतलप्रभापतनसम्भवाच्चेत्याशयः । साभिलाषेयमुक्तिः ।

'श्यामायितम्' इत्यत्र व्यञ्जतोपमालङ्कारः, उपरचितेत्यादौ क्रियोत्प्रेक्षा चेति द्वयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ।

---

सतीव्रतरूपी ग्रहसे पीड़ावाली, देखने योग्य वस्तु न देखकर तू अपने नेत्रोंको वञ्चित करती ( ठगती ) है । अरी अभागिनी, परपुरुषका मुँह न देखनेकी प्रतिज्ञा करके तू ठगी गई है । सखि ! प्रसन्न हो, उठ और इस रतिविहीन मकरध्वज-रहित साक्षात् कामदेवके समान कुमारको देख । भ्रमरसमूहके समान अत्यन्त कृष्णवर्ण मस्तकके ऊपर अन्धकार-भ्रमसे घुसे हुए चन्द्रमाकी किरणोंके कलापके समान इनके यह चमेलीके फूलोंका मौर, श्वेतवर्ण छत्रके भीतर देखनेमें आरहा है । इसके ये गण्डयुगल, कर्णभूषणके मरकतमणिकी प्रभासे श्यामवर्ण होकर दीप्ति पा रहे हैं, अत एव प्रतीत हो रहा है, मानो खिले हुए शिरीषके फूलका कर्णाभरण (कनफूल) बनाकर कानपर दिया हुआ है ।

---

१. अधमे । २.''' दर्शनव्रतेन, परिहारव्रतेन ।

मिव कपोलतलमाभाति। अयमस्य हारान्तर्निविष्टारुण-मणि-किरण-कलापच्छलेन हृदयं विविक्षुरभिनवयौवनराग इव बहिः परिस्फुरति। एतदनेन चामरकलापान्तरैरित इव वीक्षितम्[1] एतत् किमपि वैशम्पायनेन सह समामन्त्र्य[2] दशन-मयूख-लेखा-धवलीकृत[3]-दिक्चक्रवालं हसितम्। एषोऽस्य शुक-पक्षति-हरित-रागेणोत्तरीयांशुकप्रान्तेन बलाहकस्तुरग-खुर-चलन-जन्मानं लग्नम्[4] अग्रकेशेषु रेणुमपहरति। अयमनेन लक्ष्मीकर-कमल-कोमल-तलः समुत्क्षिप्य तिर्यक् तुरङ्गमस्कन्धे निक्षिप्तश्चरणपल्लवः। सलीलमयमनेन च ताम्बूल-याचनार्थमुत्तानिततलः[5] कोमल[6]दीर्घाङ्गुलिः आताम्र-पुष्कर-शोभी गजेनेव शैवाल-कवल-लालसः[7]

अयमिति। अयं पुरोऽवलोक्यमानः, अभिनवयौवनस्य नूतनतारुण्यस्य रागः तत्समयसम्भवोऽनुराग एव रागोरक्तिमा, हारस्य मुक्ताकलापस्य अन्तर्निविष्टाः मध्यप्रविष्टा ये अरुणमणयः पद्मरागाः तेषां किरणकलापच्छलेन रश्मिसमूहव्याजेन विद्यमान इत्यर्थः, हृदयं चित्तं विवक्षुः प्रवेष्टुमिच्छुरिव सन् बहिः परिस्फुरति सम्प्रत्यपि अन्तर्गमनाभावात् हृदयोपरि प्रसर्पति। वक्षःस्थले रक्तकान्तिः समीक्ष्यते, नासावरुणमणिकान्तिः, किन्तु तारुण्यसम्भवानुरागो हृदयं प्रविष्टुमिच्छुः सम्प्रत्यपि बहिस्तिष्ठतीति स्पष्टार्थः। इदमप्यभिलाषापूर्वकं वचनम्। इह सापह्नवोत्प्रेक्षा, अभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिश्च, अनयोर्मिथोऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

एतदिति। अनेन चन्द्रापीडेन चामरकलापस्य सञ्चाल्यमानचामरसमूहस्य अन्तरैः मध्यप्रदेशैः इत एव मां प्रत्येव एतद् वीक्षितम्। एतदिति दर्शनक्रियायाः परामर्शः। इदं च सविलासमन्मथं कस्याश्चिद्वचनम्।

एतदिति। वैशम्पायनेन सह किमपि समामन्त्र्य सम्भाषणं विधाय, दशनानां दन्तानां या मयूखलेखा रश्मिपङ्क्तिः तया धवलीकृतं शुभ्रीकृतं दिक्चक्रवालं दिङ्मण्डलं यत्र क्रियायां तद्यथा स्यात्तथा एतत् हसितम् अयमनेन हासः कृतः समन्मथेयमुक्तिः। इह दिक्चक्रवालस्य धवलीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

एष इति। एष बलाहकः तत्संज्ञकः सेनानायकः, शुकपक्षतेः कीरपतत्रिपक्षमूलस्येव हरितो नीलो रागो वर्णो यस्य तेन तादृशेन उत्तरीयांशुकप्रान्तेन संव्यानवस्त्रप्रान्तेन, तुरगाणाम् अश्वानां ये खुराः शफाः तेषां चलनात् गमनात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तं तादृशम्, अस्य राजकुमारस्य चन्द्रापीडस्य अग्रकेशेषु कचाग्रेषु लग्नं संसक्तं रेणुं धूलिम् अपहरति दूरीकरोति। साभिलाषमिदं वचनम्। इह 'शुकपक्षतिहरितरागेण' इत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः।

अयमिति। अनेन चन्द्रापीडेन, लक्ष्म्याः पद्माया यत् करकमलं पाणिसरोरुहं तद्वत् कोमलं मृदुतलं यस्य स तादृशः अयं चरणपल्लवः पादकिसलयः, तिर्यक् समुत्क्षिप्य तिर्यग्भावेनोत्थाप्य तुरङ्गमस्कन्धे सलीलं यथा स्यात्तथा निक्षिप्तः स्थापितः। प्राग्वदेव कथनमिदम्। इहापि 'लक्ष्मीकरकमलकोमलतल' इत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः।

सलीलमिति। गजेन हस्तिना आताम्रेण ईषद्रक्तवर्णेन पुष्करेण शुण्डाग्रेण शोभते इति स तादृशः, तथा शैवालकवले शैवालग्रासोपादाने लालसो लोलुभः गजस्य लोलुभत्वात् तच्छुण्डाया अपि लोलुभत्वं गौण्या

इसकी नई जवानी का अनुराग ( रंग ) मानो हृदयमें प्रवेश करनेकी इच्छा कर, मुक्तामाला ( हार ) के अन्तर्गत पद्मरागमणियोंकी किरणोंके बहाने अब भी बाहर हो प्रकाश पा रहा है। यह उसने इन चामरोंके भीतर देकर इस तरफ ही मानो दृष्टिपात किया। वैशम्पायनके साथ किसी विषयकी बातचीत कर दन्त-किरणोंसे दिशाओंको सफेद कर यह हँसा। यह बलाहक ( सेनापति ), शुक ( तोते ) के पंखके समान हरे अपने उत्तरीयवस्त्र ( दुपट्टा ) के प्रान्त-द्वारा (कोरसे) घोड़ेके खुरोंमेंसे उड़-उड़ कर इसके आगेके बालोंपर पड़ी हुई धूलको पोंछता है। यह उसने, लक्ष्मीदेवीके करकमलके समान कोमल-तल-सम्पन्न अपने चरण-पल्लवको तिर्यग्भावसे ( तिरछा कर ) ऊँचा उठाकर घोड़ेके कन्धे पर आड़ा डाला। हाथी जिस प्रकार शैवालका ग्रास ग्रहण करने के समय इच्छासे अपना सूँड़ फैलाता है, उसी प्रकार इसने ताम्बूल लेनेके लिए अपने कोमल और लम्बी उँगलीवाले, एवं कुछ-कुछ लाल कमल-कोशके

१. एतदलकचामरकलापान्तरैरितविरलवीक्षितम्, अनेकचामरकलापान्तरितमस्य वीक्षितम्। २. समामन्त्रयतः। ३.'''धवलित''' । ४. आलग्नम्, आलम्बकेशेषु। ५.'''तल, करतल। ६. क्वचित् 'कोमल' इति पदं नास्ति। ७.'''कमलग्रासलालसः, कमलग्रासवाञ्छया।

प्रसारितः करः। धन्या सा, या लक्ष्मीरिव निर्जितकमलं करतलमस्य वसुन्धरा-सपत्नी ग्रहीष्यति। धन्या च देवी विलासवती, सकलमहीमण्डल-भार[1]-धारणक्षमः ककुभा दिग्गज इव गर्भेण ययाऽयमूढः[2]।'

इत्येवंविधानि चान्यानि च वदन्तीनां तासामापीयमान इव लोचनपुटैः, आहूयमान इव भूषणरवैः, अनुगम्यमान इव हृदयैः, निबध्यमान इव[3] आभरण-रत्न-रश्मि-रज्जुभिः, उपह्रियमाण इव नवयौवनवलिभिः, शिथिल[4]-भुजलता-विगलित-धवल-वलय-

---

वृत्याऽवगन्तव्यम्। 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि सः' इति रभसः। करः शुण्डादण्ड इव, अनेन चन्द्रापीडेन, उत्तानितम् ऊर्ध्वीकृतं तलं यस्य स तादृशः, कोमला मृदुला दीर्घाश्च अङ्गुलयो हस्तावयवा यस्य स तादृशः, तथा आताम्रम् ईषद्रक्तवर्णं यत् पुष्करं कमलं तद्वत् शोभत इति सः तादृशः, करो हस्तः, ताम्बूलयाचनार्थं नागवल्लीदलयाचनार्थं सलीलं सविलासं यथा स्यात्तथा प्रसारितो विस्तारितः। इदमपि पूर्ववदेव कथनम्। इह पूर्णोपमा, यद्वा श्लेषसङ्कीर्णोपमा।

धन्येति। या ललना वसुन्धराया मेदिन्याः सपत्नी सती, अस्याश्चिरसम्पत्स्यमानवसुन्धराधिपतित्वादित्याशयः। लक्ष्मीरिव राज्यश्रीरिव निर्जितकमलं पद्मादपि अतिरमणीयमित्यर्थः अस्य चन्द्रापीडस्य करतलं पाणिं ग्रहीष्यति विवाहसमय इति शेषः, सा धन्या सैव पुण्यशीला परमसौभाग्यादित्याशयः। सकाममिदं वचनम्। इहोपमा।

ननु तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यस्य विशेष्यत्वेन पूर्वं निर्देशो नोचितः तथा सति 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इतिवत् वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषापत्तिरिति चेन्मैवम्, 'धन्या सा' इत्यस्य 'ग्रहीष्यति' इत्यस्याग्रे पाठविधानेन क्षतिविरहात्।

धन्येति। यया विलासवत्या, ककुभा आशया दिग्गजः दिग्दन्ती इव, सकलमहीमण्डलस्य समस्तभूमण्डलस्य यद्भारधारणं शासनव्यापारसञ्चालनं गुरुत्वधारणञ्च, तत्र क्षमः समर्थः, अयं चन्द्रापीडः गर्भेण उदरेण अन्तर्गतेन च ऊढः धारितः। अभिलाषपूर्वकं कथनमिदम्। पूर्णोपमा। इह हि पूर्ववन्न विधेयाविमर्शदोषः उत्तरवाक्यगतयच्छब्दस्य तच्छब्दापेक्षाभावात्।

इत्येवमिति। इति समाप्तौ 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरः। एवंविधानि पूर्वोक्तस्वरूपाणि एभ्यो भिन्नान्यनुक्तानि च वचनानि च वदन्तीनाम् अभिदधतीनां तासां पौराङ्गनानां लोचनपुटैः नेत्रयुगलैः आपीयमान इव इत्येवं सर्वत्रान्वयः। अपि च आभरणरत्नानां भूषणमणीनां रश्मयः किरणा एव रज्जवः ताभिः निबध्यमान इव। तथा नवयौवनान्येव नूतनतारुण्यान्येव वलय उपायनद्रव्याणि तैः उपह्रियमाण इव उपहारपात्रीक्रियमाण इव, आदरेण दानस्पृहत्वादित्याशयः। तथा शिथिलाभ्यः मदनाविर्भावात् स्रस्ताभ्यः भुजलताभ्यः बाहुवल्लीभ्यः विगलितः च्युतः, धवलानां रजतमयत्वाऽश्मणिमयत्वाद्वा श्वेतानां वलयानां कटकानां निकरः तद्रश्मिजालमित्यर्थः, येषु तैः तादृशैः कुसुममिश्रैः

---

समान शोभित करकमलको उत्तानित (चित्त) कर लीलाके साथ फैलाया। वह रमणी ही धन्य है, जो कि—पृथिवीकी सपत्नी होकर राजलक्ष्मीके समान इसका पद्मविजयी (कमलसे भी अधिक कोमल) हाथका ग्रहण करेगी। दिशा जिसप्रकार दिग्गजको गर्भमें धारण करती है, उसी प्रकार जिसने, समस्त पृथिवी मण्डलका भार वहन करने योग्य इस चन्द्रापीडको अपने गर्भमें रक्खा था, वह देवी विलासवती भी धन्य है।'

पुरवासिनी युवतियाँ उक्त प्रकार तथा उसी तरहके अन्यान्य वचन बोलने लगीं, उस समय उनकी आँखें मानो चन्द्रापीडका पान करती थीं; आभूषणोंके शब्द मानो उसे बुलाने लगे, मन मानो उसके पीछे-पीछे जाने लगा, अलङ्कार-स्थित-रत्नोंकी किरण-रूपी रस्सियाँ मानो उसे बाँध रही थीं, और वे नवयौवनरूप वलिदानद्वारा चन्द्रापीडको मानो पूजने लगीं। एवं विवाहकी अग्निमें जिस प्रकार लाजा (धानकी लावा) का निक्षेप होता है, उसी प्रकार अञ्जलिपूर्ण

---

१. क्वचित् 'भार' इति पाठो नोपलभ्यते। २. '''दिग्गज इव यया च व्यूढः, गर्भेण यया व्यूढः, गर्भेण यथाऽयं व्यूढः। ३. अनुबध्यमान इव। ४. शिथिलित'''।

निकरैः[1] पदे पदे विवाहानल इव कुसुममिश्रैः[2] लाजाञ्जलिभिरवकीर्य्यमाणश्चन्द्रापीडो राजकुलसमीपमाससाद।

क्रमेण च यामावस्थिताभिः अनवरत-करटस्थल-विगलित[3]-मद-मसीपङ्क-करीभिः[4] अञ्जनगिरिमालामलिनाभिः कुञ्जर-घटाभिरन्धकारितदिङ्मुखतया जलधरदिवसायमानम्, उद्दण्ड-धवलातपत्रसहस्रसङ्कटम्, अनेकद्वीपान्तरागतदूतशत-समाकुलं[5] राजद्वारमासाद्य-तुरङ्गमादवततार।

अवतीर्य्य च करतलेन करे वैशम्पायनमवलम्ब्य पुरः सविनयं प्रस्थितेन बलाहकेनो-

---

पुष्पसंपृक्तैः लाजाञ्जलिभिः अञ्जलिपूर्णधानाभिः विवाहानल इव उपयमनसामयिकवह्निरिव, पदे पदे प्रतिपदक्षेपम् अवकीर्यमाणः ताभिः पौराङ्गनाभिरभिवृष्यमाणः, चन्द्रापीडः राजकुलसमीपं राजवाट्यन्तिकम् आससाद प्राप। शास्त्रादेशानुसारेण विवाहकाले तदग्नेरुपरि लाजाक्षेपः, देशाचारानुसारेण राजागमनेऽपि लाजाक्षेपः इति द्वयोः सादृश्यम्। तथा च कालिदासोऽपि—

'अवाकिरन् बाललताप्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः।' इहोपमालङ्कारः।

क्रमेणेति। किञ्चेति चार्थः। यामेषु अवस्थिताभिः प्रतिप्रहरं भिन्नभिन्नरूपेण वर्तमानाभिः। अनवरतं निरन्तरं करटस्थलेभ्यः कपोलभागेभ्यः विगलिताः च्युताः मदा दानवारीण्येव मसीपङ्काः गाढमस्यः श्यामतासादृश्यात्, अथवा तथाविधमदाः मसीपङ्का इव तान् कुर्वन्ति विदधत इति ताभिः तादृशीभिः, अञ्जनस्य कज्जलस्य गिरिः पर्वतः तस्य माला पङ्क्तिः तद्वत् मलिनाभिः कृष्णवर्णाभिः कुञ्जरघटाभिः गजनिकरैः करणैः, अन्धकारितानि समुत्पन्नान्धकाराणि दिङ्मुखानि दिग्वदनानि यस्य तस्य भावः तया कारणेन, जलधरदिवसायमानं दुर्दिनवदाचरत्। उद्दण्डानाम् उत्थापितदण्डानां धवलातपत्राणां श्वेतच्छत्राणां सहस्रेण निकरेण सङ्कटं व्याप्तम्, तथा अनेके विविधा ये द्वीपान्तरा देशान्तराः तेभ्य आगतानां निजनिजाधिपत्यफलोपपत्तये उपस्थितानां दूतानां सन्देशहारकाणां शतेन वृन्देन, समाकुलं व्याप्तं प्रवेशादेशापेक्षया तेषां तत्र वर्तमानत्वादित्याशयः। राजद्वारम् आसाद्य प्राप्य तुरङ्गमात् अश्वात् अवततार अवतीर्णः।

इह 'अनवरते' त्यादौ प्रापकनिवारकयुक्त्यनुपलम्भात् उपमारूपकयोः, सन्देहसङ्करः। 'अञ्जनगिरिमाले' त्यादौ व्यङ्ग्यतोपमालङ्कारः।

अवतीर्येति। अपि चेति चार्थः। चन्द्रापीडः अवतीर्य तुरङ्गमादुत्तीर्य. करतलेन हस्ततलेन करे वैशम्पायनम् अवलम्ब्य मन्त्रिसुतस्य करं धृत्वेत्यर्थः, सविनयं विनयसहितं यथा स्यात्तथा पुरः प्रस्थितेन अग्रे गन्तुं प्रवृत्तेन बलाहकेन तत्संज्ञकेन सेनानायकेन उपदिश्यमानमार्गः प्रदर्श्यमानप्रवेशपथः सन्, पुञ्जीभूतम् अत्यन्तविस्तृतत्वात् सर्वविधवस्त्वाश्रयत्वाच्च एकत्र समवेतं त्रिभुवनमिव त्रिजगदिव विद्यमानं राजकुलं विवेशेति सुदूरस्थायिन्या क्रियया सम्बन्धः। इह 'त्रिजगदिव' इति जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

---

कर फूलोंसे मिली हुई लाजाओंको पद-पद पर चन्द्रापीडके शरीरके ऊपर निक्षेप करती ( विखेरती ) थीं, उस समय उनके शिथिल भुजलताओंमेंसे गिरे सफेद कङ्कणकी किरणें उस लाजाके साथ मिलती थीं; इस रूपसे चन्द्रापीड राजभवनके पास आपहुँचा।

चन्द्रापीड क्रमसे राजद्वार पर पहुँच कर घोड़े परसे उतरा। वहाँ प्रत्येक प्रहरमें परिवर्त्तित होकर ( बदल कर ) बहुत हाथी रहते थे; उनके गण्डस्थलमेंसे बराबर गाढ़ मसीपङ्कके समान मदजल विगलित होते थे, एवं वे कज्जलमय पर्वतके समान काले ( मलीन ) थे, जिसके द्वारा समीपवर्त्ती दिशाओंके मुख पर अँधेरा हो जानेसे वह राजद्वार, मेघाच्छन्न दिनके समान दिखाई देता था, एवं ऊँचे उठे दण्डवाले बहुतर श्वेत छत्रोंसे परिपूर्ण था और अन्यान्य अनेक द्वीपोंसे आए सैकड़ों खड़े राजदूतोंसे व्याप्त था।

चन्द्रापीड, घोड़े परसे उतर कर अपने हाथसे वैशम्पायनका हाथ पकड़कर राजभवनमें प्रवेश किया, उस समय बलाहक ( सेनापति ), विनयके साथ आगे-आगे जाकर मार्ग बतलाता जाता था। वह राज-भवन एकत्रित

---

१. ···निकरै। २. मिश्र। ३. क्वचित् 'वि' इत्यधिकः पाठो न विद्यते। ४. मषीकरीभिः, मसीपङ्कधाराभिः। ५. क्वचित् 'समाकुलम्' इत्यस्य स्थाने 'सङ्कुलम्' इति पाठो विद्यते।

पदिश्यमान-मार्गः त्रिभुवनमिव पुञ्जीभूतम्, आगृहीत-कनक-वेत्रलतैः सित-वारबाणैः[1] सिताङ्गरागैः[2] सितकुसुमशेखरैः सितोष्णीषैः सितवेषपरिग्रहतया श्वेतद्वीपसम्भवैरिव कृतयुगपुरुषैरिव महाप्रमाणैर्दिवानिशमालिखितैरिव उत्कीर्णैरिव तोरणस्तम्भनिषण्णैर्द्वारपालैरनुज्झितद्वारदेशम्, अनेक-सञ्जवनै[3]-चन्द्रशाला[4]-विटङ्क-वेदिका-सङ्कट-शिखरैरभ्रङ्कषैरुपहसित-कैलास-शैल-शोभैः[5] अमलसुधावदातैः सप्रालेयशैलमिव[6] महाप्रासादैः, अनेक-वातायन-विवर-विनिर्गत-युवति-भूषण-किरण[7]-सहस्रतया कनकशृङ्खलाजालकेनेवोपरिविस्तीर्णेन[8] विराजमानम्,

---

आगृहीतेति। इत आरभ्य यानि तृतीयान्तानि पदानि तानि अग्रेतनस्य 'द्वारपालैः' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। आगृहीता आत्ताः कनकवेत्रलताः सुवर्णवेष्टितवेतसयष्टयो यैस्तैस्तादृशैः। सिताः श्वेताः वारबाणाः कञ्चुका येषां तैस्तादृशैः। सिताङ्गरागैः शुभ्रानुलेपनैः सितकुसुमशेखरैः शुभ्रपुष्पमुकुटैः सितोष्णीषैः श्वेतमूर्धवेष्टनैः। सितवेषपरिग्रहतया श्वेतनेपथ्याङ्गीकारतया श्वेतद्वीपसम्भवैरिव श्वेतद्वीपोत्पन्नैरिव तेषां सर्वशुभ्रत्वादित्याशयः। कृतयुगपुरुषैः सत्ययुगीयलोकैरिव महाप्रमाणैः अत्युच्चस्वरूपिभिः, आलिखितैरिव चित्रितैरिव निरन्तरसावधानतया निष्क्रियत्वादित्याशयः। उत्कीर्णैरिव बहिर्द्वारस्तम्भेषु क्षोदितैरिव गाढसंसक्तत्वादित्याशयः। तोरणस्य बहिर्द्वारस्य स्तम्भेषु निषण्णैः तदाधारत्वेनावस्थितैः द्वारपालैः दौवारिकैः दिवानिशं रात्रिन्दिवम् अनुज्झितः अपरित्यक्तः द्वारदेशो यस्य तत्तादृशम्।

अनेकेति। अनेका अधिकतराः, संजवनानि चतुःशालानि, चन्द्रशाला ऊर्ध्ववर्त्तिभवनानि, विटङ्कानि कपोतपालिकाः, वेदिका उपवेशनाद्यर्थं बद्धभूमयश्च ताभिः सङ्कटानि व्याप्तानि शिखराणि ऊर्ध्वप्रदेशा येषां तैस्तादृशैः। 'सञ्जवनन्त्विदम्। चतुःशालम्।' इति, 'कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुन्नपुंसकम्' इति चामरः। 'शुद्धान्ते बलभीचन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेश्मनि' इति रभसः। अभ्रं गगनं कषतीति तैः व्योमव्यापिभिः, उपहसिता आपेक्षिकाधिकधवलत्वादुपहासास्पदीकृता कैलासशैलस्य हिमालयपर्वतस्य शोभा यैस्तैः तादृशैः। अमलाभिः निर्मलाभिः सुधाभिः चूर्णलेपैः अवदाताः शुभ्राः तैस्तादृशैः। महाप्रासादैः विशालाट्टालिकाभिः करणैः प्रालेयशैलैः हिमालयपर्वतैः सहेति सप्रालेयशैलं तदिव विद्यमानम् इति राजकुलस्य विशेषणम्। तथाविधाट्टालिकानां कैलासाचलसदृशत्वादित्याशयः। इह 'सप्रालेयशैलमिवे'ति गुणोत्प्रेक्षा।

अनेकेति। अनेकेभ्यो बहुतरेभ्यः वातायनविवरेभ्यः गवाक्षच्छिद्रेभ्यो विनिर्गतं विनिःसृतं युवतिभूषणकिरणानां तरुण्यलङ्काररश्मीनां सहस्रं समूहो यत्र तस्य भावस्तया कारणेन, उपरिविस्तीर्णेन प्रसारितेन कनकानां सुवर्णानां याः शृङ्खला निगडाः तासां जालकेन समूहेनेव विराजमानं शोभमानम्, तद्रश्मीनां कनकशृङ्खलावदवगम्यमानत्वादित्याशयः।

---

त्रिभुवनके समान बहुत बड़ा देखनेमें आता था। उसके स्तम्भके पास द्वारपालगण सर्वदा रहते थे, उन लोगोंके हाथमें सुवर्णखचित वेत्रयष्टि (बेंतकी छड़ी), शरीरमें श्वेतवर्ण कवच, और श्वेतवर्ण अङ्गराग एवं मस्तक पर श्वेतवर्ण फूलोंकी माला और श्वेतवर्ण उष्णीष (पगड़ी) थे। अतएव श्वेतवर्ण सब परिच्छदों (पोशाकों) को धारण करनेसे मानों श्वेतद्वीपमें उत्पन्न हुए हैं ऐसा प्रतीत होता था। सत्ययुगके मनुष्योंके समान उन लोगोंकी अत्यन्त दीर्घ आकृति थी। निश्चलभावसे रहनेके कारण वे लोग चित्रितके समान एवं दिन-रात तोरणस्तम्भोंमें गाढ़ संलग्न होनेसे क्षोदितके समान प्रतीत होते थे। उस राजभवनमें कैलासकी शोभाको भी तिरस्कार करनेवाली एवं ऊँचाईमें आकाश तक पहुँचनेवाली तथा निर्मल चूनेसे सफेदी की हुई बड़ी २ अट्टालिकाएँ (महलें) थीं। उसकी चोटियों पर अधिकतर चतुःशालाएं (चौकोन कमरे), चन्द्रशालाएँ, कबूतरोंकी दड़बें बनी थी और बैठनेके लिए ऊँचे चबूतरे बने थे। अतएव प्रतीत होता था मानो वह राजभवन हिमालय से संयुक्त हो कर विद्यमान है। अधिकतर खिड़कियों के छिद्रसे युवतियों के आभूषणोंकी हजारों किरणोंके फैलनेसे ऐसा प्रतीत होता था मानो ऊपर के भागोंमें सोनेकी शृङ्खलाओंका जाल बिछा दिया गया है। उससे राजभवन शोभित हो रहा था। उसके

---

१. सितवारबाणधारिभिः। २. 'सिताङ्गराग' इति पाठ एव क्वचिन्नोपलभ्यते। ३. "'संयमन, संयवन"'। ४. शालिका। ५. अपहसितकैलासशोभैः, अत्रैव क्वचित् 'शैल' इति पदं नोपलभ्यते। ६. शैलेयमिव। ७. क्वचित् 'भूषण' इति पदं नास्ति। ८. वितानेन, विततेन।

अन्तर्गतायुधनिवहाभिराशीविष कुल-सङ्कुलाभिः पातालगुहाभिरिवातिगम्भीराभिरायुधशालाभिरुपेतम् , अबलाचरणालक्तक-रस-रक्त-मणि-शकलैः शिखर-निलीनशिखि-कुलकृतकेकारव-कलकलैः क्रीडापर्वतकैरुपशोभितम् , उज्ज्वलवर्णकम्बलावगुण्ठितकनकपर्य्याणाभिः प्रलम्बै[1]-चामर-कलाप चुम्बित चल[2]कर्णपल्लवाभिः कुलयुवतिभिरिवोपरूढै[3]-शिक्षाविनय-निभृताभिः[4] याम[5]-करेणुकाभिरशून्यकक्षान्तरम् , आलान स्तम्भनिषण्णेन च नवजलधरघोष[6]-गम्भीरम् , अनुगत[7]-वीणा-वेणु-रव-रम्यम् , आस्फालित-घर्घरिका-घर्घरम , अनवरत-मृदुमृदङ्गध्वनिम्[8] , आमीलित-

अन्तरिति। अन्तर्गता मध्यगता आयुधनिवहाः शस्त्रसमूहा यासां ताभिः तादृशीभिः, अत एव आशीविषकुलेन सर्पनिवहेन सङ्कुलाभिः व्याप्ताभिः, पातालगुहाभिः बलिवेश्मकन्दराभिरिव विद्यमानाभिः, अतिगम्भीराभिः अलब्धमध्याभिः आयुधशालाभिः शस्त्रभवनैः उपेतं सहितम् । इह 'पातालगुहाभिरिवे'त्युपमा।

अबलेति । अबलानाम् उपरिभ्रमणविधायिनीनां सुन्दरीणां ये चरणालक्तकरसाः पादयावकद्रवाः तैः रक्तानि रक्तवर्णानि मणिशकलानि रत्नखण्डानि येषां तैः तादृशैः, तथा शिखरेषु तेषामेव सानुषु निलीनानां शिखिनां मयूराणां कुलेन वृन्देन कृता विहिता केकारवा निजवाण्य एव कलकलाः कोलाहला येषु तैः तादृशैः, क्रीडापर्वतकैः विहारार्थरचितक्षुद्राचलैः उपशोभितं विराजमानम्, राजकुलम् ।

उज्ज्वलेति । उज्ज्वलवर्णैः कम्बलैः अवगुण्ठितानि आवृतानि कनकपर्याणानि सुवर्णरचितपल्ययनानि यासां ताभिः तादृशीभिः, प्रलम्बैः आयतैः चामरकलापैः वालव्यजनसमूहैः चुम्बितौ स्पृष्टौ चलौ चञ्चलौ कर्णपल्लवौ यासां ताभिः, तादृशीभिः, शिक्षासङ्केतबोधः गार्हस्थ्यपरिचालनचातुर्यलाभश्च, विनय औद्धत्यराहित्यं नम्रता च, एवञ्च उपारूढाभ्यां सञ्जाताभ्यां शिक्षाविनयाभ्यां निभृता अनुग्राः अधृष्टाश्च ताभिः कुलयुवतिभिरिव विद्यमानाभिः यामकरेणुकाभिः प्रतिप्रहरं भिन्नभिन्नत्वेन बन्धनीयाभिः गजस्त्रीभिः अशून्यानि पूर्णानीत्यर्थः, कक्षान्तराणि प्रकोष्ठमध्यप्रदेशा यस्य तत्तादृशं राजकुलम् । उपमा ।

आलानेति । किञ्चेति चार्थः । इत आरभ्य तृतीयान्तानि यानि पदानि तानि अग्रेतनस्य गन्धहस्तिनेत्यस्य विशेषणानि । आलानस्तम्भे गजबन्धनस्तम्भे निषण्णो विद्यमानः तदवलम्बनेन विद्यमान इत्यर्थः, तेन तादृशेन, नवो नूतनो यो जलधरो मेघस्तस्य घोषवत् गर्जनवत् गम्भीरं मन्दध्वानम्, अनुगतैः अनुसृतैः वीणायास्तन्त्र्या वेणुरवैः वेणुशब्दैः रम्यं सुन्दरम्, आस्फालिताः वादिता या घर्घरिकाः क्षुद्रघण्टिकाः तासां घर्घरो ध्वनिनादो यत्र तं तादृशं तन्निनादसम्मिलितमित्यर्थः, अनवरतो निरन्तरं मृदुः मसृणो यो मृदङ्गस्य मुरजस्य ध्वनिः शब्दः तं तादृशम् 'आकर्णयता' इत्येतस्यैतत्कर्मपदम् । आकर्णनविधिं दर्शयति–आमीलितेत्यादिना । आमीलितः किञ्चिन्मुद्रितो लोचनयोर्नेत्रयोः त्रिभागस्तृतीयोंऽशः येन तेन तादृशेन, वामस्य सव्येतरस्य दशनस्य दन्तस्य कोटौ अग्रे निषण्णो विद्यमानो हस्तः शुण्डा यस्य तेन तादृशेन, तथा कर्णौ श्रोत्रे ताले तालदले इव इति कर्णताले तथा च निश्चले स्थिरे कर्णताले तालदलवद्विस्तृतकर्णौ यस्य तेन तथोक्तेन च विद्यमानेन आकर्णयता तादृशमुरजध्वनिं शृण्वता। एवंविधा एव गजानां गीतादिश्रवणप्रकृतयः। 'नवजलधरगम्भीरम्' इत्यत्र लुप्तोपमा, अन्ते च स्वभावोक्तिरलङ्कारः।

अन्दर, सर्पकुलसे भरी हुई पातालकी गुफाके समान अत्यन्त भयङ्कर, एवं विविध अस्त्रों से परिपूर्ण अधिकतर आयुधशालाएँ बनी हुई थीं। वहाँ बहुत से कृत्रिम क्रीडापर्वत शोभायमान थे, उनमें अबलाओंके चरणों पर लगी हुई महावरके समान रक्तवर्ण पद्मराग-मणिके टुकड़े चमकते थे, और शिखरोंपर भरे हुए मयूरगण केका-रवसे कलकल किया करते थे। शिक्षा और विनयसे युक्त कुलीन स्त्रियोंके समान शान्त-स्वभाववाली एवं प्रतिप्रहर में परिवर्त्तन होने वाली कितनी ही हथिनियाँ दरवाजेके पास सज्जित हो खड़ी थीं, उज्ज्वलवर्णके कम्बलद्वारा जिनके सोनेके जीन आच्छादित थे, एवं लटकते हुए चामरसमूह जिनके चञ्चल एवं विस्तृत कर्ण-पल्लवको चूमते थे। एक भागमें गन्धमादन नामका एक गन्धगज बन्धनस्तम्भ (खूँटे) में बँधा था; उस समय नवीन बादल की गर्जनाके समान गम्भीर, साथ-साथ वीणा और वेणुके स्वरसे रमणीय एवं घूँघरियोंके शब्दसे घर्घर करती, सङ्गीत और मृदङ्गकी कोमल ध्वनि बराबर होती थी। गन्धमादन आँखोंके तीसरे हिस्सेको थोड़ा मीच कर और

१. प्रचल, लम्ब। २. कलापचल। ३. उपारूढ, उपगूढ। ४. विनयेन निभृताभिः। ५. यामक। ६. कलधरगर्जितघोष। ७. अतनु। ८. अनवरतसङ्गीतकमृदङ्गध्वनिम्। अनवरत…आमीलित, अनवरतसङ्गीतमृदुमृदङ्गध्वनिमतिमनोहरं किञ्चिदामीलित।

लोचन-त्रिभागेण वाम-दशन-कोटि-निषण-हस्तेन निश्चलकर्णतालेनाकर्णयता, सलीलमुभय-पार्श्वावलम्बि[1]-वर्णकम्बलतया विन्ध्यगिरिणेवाविष्कृतधातु-विचित्र[2]-पक्षसम्पुटेन, आधोरण-गीतानन्द-कृत-मन्द्र-कण्ठ-गर्जितेन, मदजल-शबल-शङ्ख-शोभित-श्रवणपुटेन रजनिकर-बिम्ब-चुम्बि-संवर्त्तकाम्बुद[3]-वृन्द[4]-विडम्बकेन, कर्णान्तलम्बिना[5] काञ्चनमयेन कृतकर्णपूरमिवाङ्कुशेन मुखमुद्वहता, मदजलमलिनेन द्वितीयेनेव कर्णचामरेण कपोलतलदोलायमानेन मधुकरकुलेनालङ्क्रियमाणेन, अत्युदग्रतया पूर्वकायस्य अतिवामनतया[6] च जघनभागस्य पातालादिव[7]

---

सलीलमिति । सलीलं सखेलं यथा स्यात्तथा उभयपार्श्वे अवलम्बते पततीति तत्तथोक्तं वर्णकम्बलं विचित्रपृष्ठास्तरणं यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः' इत्यमरः। आविष्कृतं प्रकाशितं धातुभिः 'सुवर्णरूप्यताम्राणि हरितालं मनःशिला। गैरिकाञ्जनकासीस-सीसलोहाः सहिङ्गुलाः॥ गन्धकोऽभ्रकमित्याद्याः धातवो गिरिसम्भवाः।

इति रामाश्रमीधृतसुवर्णादिभिः। विचित्रं नानाविधं पक्षयोः सम्पुटं द्वयं येन तेन तथोक्तेन विन्ध्यगिरिणेव जलबालकेनेव विद्यमानेन। इह द्रव्योत्प्रेक्षा।

आधोरणेति। आधोरणस्य हस्तिपकस्य गीतेन गानाकर्णनेन य आनन्दस्तेन कृतं मन्द्रं गम्भीरं कंठगर्जितं येन तेन तादृशेन। 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः।' इत्यमरः।

मदेति। मदजलेन दानवारिणा विचित्रो नानाविधो यः शङ्खः ललाटास्थि तेन शोभितं राजितं श्रवणपुटं श्रोत्रद्वयं यस्य तेन तादृशेन, 'शङ्खः कम्बौ न योषित्ना भालास्थिन निधिभिन्नखे।' इति मेदिनी। अत एव रजनिकरबिम्बं चन्द्रमण्डलं चुम्बति स्पृशतीति तत्तथोक्तं यत् संवर्त्तकाम्बुदवृन्दं लोकविनाशकालिकमेघसमूहः तद्विडम्बयति अनुकरोति यः स तादृशः तेन 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः। मृगाङ्कितरजनिकरबिम्बेन सह तथाविधशङ्खस्य तत्संवर्त्तकाम्बुदवृन्देन च सह हस्तिनः साम्यमवगन्तव्यम्। इह पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण आर्थोपमायाः सङ्करः।

कर्णेति। कर्णान्तलम्बिना श्रोत्रपर्यन्तलम्बिना काञ्चनमयेन सुवर्णनिष्पन्नेन अङ्कुशेन श्रृणिना कृतकर्णपूरमिव सम्पादितकर्णाभरणमिव मुखम् आननम् उद्वहता धारयता। 'कृतकर्णपूरमिव' इतिक्रियोत्प्रेक्षा।

मदजलेति। मदजलेन दानवारिणा तत्संलग्नतयेत्यर्थः मलिनं गाढश्यामं तेन तथोक्तेन, तथा द्वितीयेन, अन्येन कर्णचामरेणेव विद्यमानेन, कपोलतले गण्डद्वयोपरि दोलायमानेन इतस्ततो भ्रमता मधुकरकुलेन भ्रमरवृन्देन, अलङ्क्रियमाणो मण्ड्यमानस्तेन तादृशेन। इह 'कर्णचामरेणेवे'ति द्रव्योत्प्रेक्षा।

अत्युदग्रेति। पूर्वकायस्य देहपूर्वार्द्धस्य अत्युदग्रतया अत्यन्तोच्चतया, तथा जघनभागस्य देहपश्चा-

---

सूँड़को चाँप दाँतकी नोक पर रखकर, एवं विस्तृत कर्णयुगल को निश्चल रख, लीला-सहित उस सङ्गीत और मृदङ्गके शब्दको सुनता था। गन्धमादनके पृष्ठके ऊपर एक विचित्र (अनेक रंगोंका) कम्बल बिछा हुआ था, वह दोनों तरफ लटक कर झूल रहा था; अत एव धातुओंसे रँगे हुए पक्षों (पंखों) को फैलाकर रहनेवाले विन्ध्य पर्वतके समान वह देखनेमें आ रहा था। महावतके गीतसे आनन्दित होकर वह गम्भीर कण्ठसे गर्जना करता था। मदजलसे उसका ललाटास्थि रँगा हुआ था, उससे कर्णयुगल शोभित हो रहे थे, अत एव वह चन्द्रबिम्बसे चुम्बन किए गए प्रलय-कालीन मेघका अनुकरण करता था। सुवर्णमय एक अङ्कुश उसके कान पर लटक रहा था। उससे प्रतीत होता था मानो उसके कान पर आभूषण (कर्णफूल) पहनाया हुआ हो, इस प्रकारके मुखभागको वह धारण किया था। मदजलसे मलीन होकर गण्डस्थलके आस-पास घूमता हुआ भौंरों का समूह द्वितीय कर्ण चामरके समान उसको शोभित कर रहा था। उसके शरीर का पहला-भाग बहुत ऊँचा था और जघन-भाग अत्यधिक छोटा था, जिससे मानो वह पातालमेंसे निकलता हो ऐसा प्रतीत होता था। रात्रिमें जिसप्रकार अर्धचन्द्र

---

१. प्रलम्बित…। २. …विचित्रित…। ३. चुम्बितावर्त्तक, चुम्बिनावर्त्तक चुम्बितसंवर्त्तक। ४. क्वचित् 'वृन्द' इति पदन्नास्ति। ५. कर्णावलम्बिना। ६. वानतया। ७. पातालतलादिव।

उत्तिष्ठता, निशासमयेनेव परिस्फुरत्सार्द्धचन्द्रनक्षत्रमालेन, शरदारम्भेणेव प्रकटितारुण-चारु-पुष्करेण, वामनरूपेणेव कृतत्रिपदीविलासेन, स्फटिकगिरितटेनेव लग्न-सिंहमुखप्रतिमेन, प्रसाधितेनेव[1]आलोल[2]-कर्णपल्लवाहतमुखेन, गन्धमादननाम्ना गन्धहस्तिना सनाथीकृतैकदेशम्,

---

दंशस्य च अतिवामनतया अतिह्रस्वतया कारणेन, 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः। पातालात् रसातलात् उत्तिष्ठतेव ऊर्ध्वं प्रादुर्भवतेव, अन्यस्यापि नीचादुन्नतप्रदेशोत्थानसमये एवंविधावस्थावलोकनादित्याशयः। इह 'उत्तिष्ठतेवे'ति क्रियोत्प्रेक्षा।

निशेति। निशासमयेन विभावरीकालेनेव, परिस्फुरन्ती समन्ताद्दीप्यमाना सार्द्धचन्द्रा अर्द्धचन्द्रसदृशभालभूषणसहिता नक्षत्रमाला सप्तविंशतिसंख्यकमुक्ताग्रथितदाम यस्य तेन तादृशेन। 'सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः' इत्यमरः। अन्यत्र परिस्फुरन्ती सार्द्धचन्द्रा अष्टमीचन्द्रसहिता नक्षत्रमाला तारकापङ्क्तिर्यत्र तेन तादृशेन।

शरदिति। शरदारम्भेणेव घनात्ययप्रारम्भेणेव, प्रकटितं प्रकाशितम् अरुणं लोहितवर्णं चारु मनोहरञ्च पुष्करं शुण्डाग्रं यस्य तेन, अन्यत्र प्रकटितानि विकसितानि अरुणानि चारूणि च पुष्कराणि कमलानि यत्र तेन तादृशेन।

'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले।
व्योम्नि खड्गफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोः॥ इत्यमरः।'

वामनेति। वामनरूपेण विष्णोर्वामनावतारेणेव, कृतो विहितः त्रिपद्या पादबन्धनशृङ्खलया विलासः खेला येन तेन तादृशेन, 'त्रिपदी पादबन्धनम्' इति यादवः। अन्यत्र त्रयाणां पदानां समाहारः इति त्रिपदी 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासः। कृतो विहितः त्रिपद्या त्रिभुवनेषु पादत्रयस्थापनेन विलासो लीला येन तेन तादृशेन।

स्फटिकेति। स्फटिकगिरिः स्फटिकमयपर्वतः तस्य तटेनेव भित्त्येव, लग्ना दशनोपरि संसक्ता सिंहमुखा सिंहाननसदृशाग्रभागा प्रतिमा दन्तबन्धनशृङ्खला यस्य तेन तादृशेन। 'प्रतिमा प्रतिरूपके। गजस्य दन्तबन्धे च' इत्यनेकार्थः। अन्यत्र लग्ना सांमुख्येन केशरिणः स्थितत्वात् पतिता सिंहमुखस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बं यत्र तेन तादृशेन।

प्रसाधितेनेति। प्रसाधितेनेव अनेकविभूषणैर्भूषितेन लोकेनेव, आलोलाभ्यां नितान्तचपलाभ्यां कर्णपल्लवाभ्यां विस्तृतश्रोत्राभ्याम् आहतं भ्रमरापनयनाय ताडितं मुखं वदनं येन तेन तादृशेन। अन्यत्र आलोलाभ्यां कर्णपल्लवाभ्यां श्रोत्रकिसलयाभ्याम् आहतं मुखं यस्य तेन तादृशेन।

'निशासमयेनेव' इत्यारभ्य 'प्रसाधितेनेव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः।

गन्धमादनेति। गन्धमादननाम्ना गन्धमादनसंज्ञकेन गन्धहस्तिना प्राक्प्रदर्शितस्वरूपेण गन्धगजेन सनाथीकृतः स्वसंयुक्तीकृतः अवस्थित इत्यर्थः, एकदेश एकभागो यस्य तत्तादृशम्, 'राजकुलम्' इत्यस्य विशेषणम्।

---

के साथ ताराओंकी पङ्क्ति दीप्ति पाती रहती है, उसकी भी उसी प्रकार अर्धचन्द्राकृति ललाटाभरणके साथ मोतियोंकी माला दीप्ति पा रही थी। शरत्कालके आरम्भमें जिसप्रकार लाल और सुन्दर कमल प्रकट होते हैं, उसका भी उसीप्रकार सुन्दर और लाल शुण्डाग्र प्रकाश पा रहा था। वामनावतार नारायणने जिसप्रकार बलिके यज्ञमें तीनों भुवनों ( स्वर्ग-मर्त्य-पाताल ) को अपने तीन पैरों से लीला खेल किया ( नापा ) था, वह भी उसी प्रकार पाँवमें बँधी हुई जञ्जीरोंसे क्रीड़ा करता था। स्फटिकमय पर्वतभित्तिमें जिस प्रकार सिंहका प्रतिबिम्ब उसके फिरते रहने से पड़ता है, उसका भी उसी प्रकार दन्तके ऊपरमें एक सिंहमुखके समान अग्रदेशयुक्त दन्तबन्धन शृङ्खला ( जञ्जीर ) लगी हुई थी। विविध आभूषणोंसे भूषित व्यक्तिका मुख जिस प्रकार चञ्चल कर्णपल्लव द्वारा आहत होता रहता है, उसका मुख भी उसी प्रकार विस्तृत कानोंसे आहत होता था। इस प्रकार गन्धमादन नामक गन्ध-गज द्वारा राजभवनका एक देश संयुक्त था। एवं वह राजभवन अश्वशालामें रहनेवाले अधिकतर घोड़ोंसे

---

१. प्रसाधितेन। २. लोभ···।

उज्ज्वल-पट्टकम्बल-पट्ट[1]-प्रावारित[2]-पृष्ठैश्च रसित-मधुर-घण्टिका-रव-मुखर-कण्ठैः, मञ्जिष्ठालोहित-स्कन्ध-केसर-बालैः, [3]निहत-वन[4]-गज-रुधिर-पाटल-सटैरिव केसरिभिः, पुरो-निहित-यवस-राशि-शिखरोपविष्ट-मन्दुरापालैः, आसन्न-मङ्गल-गीत-ध्वनि-दत्तकर्णैः, अन्तःकपोल-धृत-मधुर-सरस[5]-लुलित-लाज[6]-कबलैः, भूपालवल्लभैर्मन्दुरागतैस्तुरङ्गमैरुद्भासितम्, अधिक-रण-मण्डपगतैश्चार्य्यवेशैरत्युच्चवेत्रासनोपविष्टैर्धर्म्ममयैरिव धर्म्माधिकारिभिर्महापुरुषैरधिष्ठितम्, अधिगत-सकल-ग्राम-नगर[7]-नामभिरेकभवनमिव जगदखिलमालोकयद्भिरालिखित-सकल-भुवन-व्यापा-

---

उज्ज्वलेति। इत आरभ्य तृतीयान्तानि यानि पदानि तानि 'तुरङ्गमैः' इत्यग्रेतनस्य विशेषणानि बोध्यानि। उज्ज्वला दीप्तिमन्तो ये पट्टकम्बलाः कृमिकोशोद्भवसूत्ररचितकम्बलाः तैः पट्टु साधु प्रावारितानि आच्छादितानि पृष्ठानि येषां तैः तादृशैः। रसिताः गलसञ्चालनेन शब्दायमानाः मधुराः सुन्दरा या घण्टिकाः क्षुद्रघण्टाः तासां रवैः निनादैः मुखराः वाचालाः कण्ठा ग्रीवा येषां तैः तादृशैः। मञ्जिष्ठा रञ्जनद्रव्यविशेषः तद्वत् लोहिताः रक्तवर्णाः स्कन्धेषु केसरसंज्ञकरोमाणि येषां तैः तथोक्तैः, अत एव निहतानां मारितानां वनगजानाम् अरण्यहस्तिनां रुधिरैः शोणितैः पाटलाः श्वेतरक्ताः सटा जटा येषां तैस्तादृशैः केसरिभिः मृगेन्द्रैरिव विद्यमानैः, 'व्रतिनस्तु सटाजटा' इत्यमरः। पुरोऽग्रतो निहिताः स्थापिता ये यवसराशयः घासपुञ्जाः तेषां शिखरेषु ऊर्ध्वदेशेषु उपविष्टा मन्दुरापाला वाजिशालापालका येषां तैस्तादृशैः। 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः। आसन्ना निकटवर्त्तिनो ये मङ्गलगीतध्वनयः माङ्गलिकगानशब्दाः तेषु दत्तौ न्यस्तौ कर्णौ श्रोत्रे यैस्तैस्तादृशैः, तेषामपि गीताकर्णनौत्कण्ठ्यस्य विद्यमानत्वादित्याशयः। अन्तः कपोलेषु कपोलाभ्यन्तरेषु धृताः स्थापिता मधुराः सुस्वादाः सरसा गुडेन आर्द्रीकृताः अत एव लुलिता उभयतो गलद्गुडाः लाजकवला धानाग्रासाः यैस्तैस्तादृशैः, गुडमिश्रिता लाजग्रासाः चापल्यवशान्मा निपातयन्त्विति भृत्यैर्मुखे ध्रियन्त इत्यश्वप्रकृतिः। भूपालवल्लभैः राजप्रियैः मन्दुरागतैः वाजिशालाप्राप्तैः तुरङ्गमैः अश्वैः उद्भासितं राजितम् अग्रेतनस्य राजकुलमित्यस्य विशेषणमेतत्।

अधिकेति। अधिक्रियन्ते लोका अस्मिन्नित्यधिकरणं विचारालयः तन्मण्डपगतैः आर्यवेशैः शिष्टजनयोग्यवेशैः सुपरिष्कृतवस्त्राच्छादनैरित्यर्थः, अत्युच्चानि अत्युन्नतानि यानि वेत्रासनानि वेतसविष्टराणि तेषु उपविष्टैः कृतोपवेशनैः धर्ममयैः धर्मनिष्पन्नैरिव, धर्माधिकारिभिः आचारदर्शिभिः प्राड्विवाकैः महापुरुषैः शिक्षान्यायतत्परतादिसद्गुणसहितैर्लोकैः अधिष्ठितम् आश्रितं राजकुलम्। इह 'धर्ममयैरिव' इति गुणोत्प्रेक्षा।

अधिगतेति। अधिगतानि ज्ञातानि सकलग्रामनगराणां समस्तग्रामनगराणां नामानि अभिधेयानि यैस्तैस्तादृशैः। ग्रामलक्षणमुक्तं श्री रघुनाथेन—

'तथा शूद्रजनप्राया सुसमृद्धकृषीवला। क्षेत्रोपयोगिभूमध्ये वसतिर्ग्रामसंज्ञिका॥'

मार्कण्डेयपुराणे च नगरलक्षणञ्चोक्तम्—

'देवतायतनैश्चित्रैः प्रासादापणवेश्मभिः। नगरं दर्शयेद्विद्वान् राजमार्गैश्च शोभनैः॥'

---

शोभा पा रहा था, उनका सम्पूर्ण पृष्ठ भाग उज्ज्वल रेशमी कम्बलोंसे ढँका हुआ था, मधुर घण्टियोंके बजनेसे उनके कण्ठदेश मुखर हो रहे थे, उनके कन्धोंके ऊपर मजीठ से रँगे हुए के समान लाल लाल सटाएँ थीं, अतएव निहत जंगली हाथीके रक्तसे रक्तवर्ण जटा-युक्त सिंहके समान वे घोड़े देखनेमें आ रहे थे। उनके आगे रखे हुए घासोंकी गठरियोंके ऊपर अश्वशालाके रक्षकगण (जमादार) बैठे थे। वे घोड़े समीपसे आती हुई मङ्गल गीतकी ध्वनिको कान लगाकर सुनते थे। गालके अन्दर गुड़ ( मधुररस ) में साने गये सुस्वाद दानेके ग्रास लिए हुए थे, अत एव गालके दोनों तरफसे उसका रस बाहर निकल रहा था, इस प्रकारके वे अश्व राजाके प्रिय थे। न्यायालय (कचहरी) में साक्षात् धर्मके ही समान बड़े गुणवान् न्यायाधीशगण ( जज आदि ) सभ्यजनोचित वेशभूषाओंसे सुसज्जित होकर अत्यन्त ऊँची बेंतकी कुर्सियों पर बैठकर विद्यमान थे। न्यायालयके लेखकगण ( पेशकार नाजिर आदि ) न्यायाधीशोंके आदेशों (परवाने) को खिलते थे, उससे समस्त ग्राम एवं नगरादिकोंका नाम जानते थे, एवं सर्वदा आलोचना करनेसे सब जगतको मानो एक ही घरके समान देखते थे और समस्त भुवनोंका व्यापार लिखनेसे

---

१. पट…। २. प्रावृत, प्रावरित…। ३. बालपल्लवैः। ४. क्वचित् 'वन' इति पदं नास्ति। ५. मधु रसलव लुलित…। ६. जम्बाल…। ७. ग्रामकर्वटनगर, ग्रामखेर्वटनाम्, सकलनगरखेटखर्वट…।

रतया धर्म्मराजनगर-व्यतिकरमिव दर्शयद्भिरधिकरण[1]-लेखकैरालिख्यमान-शासन-सहस्रम्, अभ्यन्तरावस्थित-नरपति-निर्गम[2]-प्रतीक्षण-परेण च स्थान-स्थानेषु[3] बद्धमण्डलेन, कनकमयार्द्ध-चन्द्र-तारागणशवलैः[4] चर्म्मफलकैर्निशासमयमिव दर्शयता, स्फुरित निशित-करवालकर-प्ररोह-करालितातपेन, एकश्रवणपुटघटित धवलदन्तपत्रेण[5] ऊर्ध्व-बद्ध-मौलि-कलापेन, धवल-चन्दन-स्थासक-खचित-भुजोरुदण्डेन, बद्धासिधेनुकेन, अन्ध्र-द्रविड-सिंहलप्रायेण सेवकजनेन, आस्थानमण्डपगतेन च यथोचितासनोपविष्टेन प्रसारयता दुरोदरक्रीडाम्, अभ्यस्यताऽष्टापद-

---

एकभवनमिव एकगृहमिव अखिलं समस्त जगत् संसारम् आलोकयद्भिः बहुकालं समालोचनावशात् एकभवनस्येव समस्तसंसारस्य स्थानजनोदन्तं जानद्भिरित्यर्थः आलिखिताः शासनसौविध्याय पत्रेषु अङ्किताः सकलभुवनस्य समस्तसंसारस्य व्यापाराः व्यवहारा राजकार्यप्रयोजनीयस्थानजनादिघटनावली इत्यर्थः यैः तैस्तेषां भावस्तया कारणेन, धर्मराजनगरस्य यमस्य संयमिनीति ख्यातपुरस्य व्यतिकरं सम्बन्धं दर्शयद्भिः प्रकटयद्भिरिव विद्यमानैः, संयमिनीपुरेऽपि चित्रगुप्तादिभिः समस्तसंसारव्यवहारलिखनादित्याशयः। अधिकरणस्य व्यवहारदर्शनसभायाः लेखकैः पुरुषैः, आलिख्यमानं पत्रेषु लिपीक्रियमाणं शासनसहस्रं नृपतेः धर्माधिकारिणाञ्च आज्ञानिकरो यत्र तत् तादृशं राजकुलम्। इह 'एकभवनमिव' इत्युपमा, दर्शयद्भिरिवेति क्रियोत्प्रेक्षा।

अभ्यन्तरेति। इत आरभ्य तृतीयान्तानि यानि पदानि तानि अग्रेतस्य 'सेवकजनेन' इत्यस्य विशेषणानि। अभ्यन्तरे अवस्थिता महाराजतारापीडनिकटे निजनिजकार्यहेतवे विद्यमानाः ये नरपतयः निजा निजा राजानः तेषां निर्गमो बहिरागमनं तस्य प्रतीक्षणं प्रतीक्षा तत्परेण तत्परायणेन, आयातेषु तेषु तैः सह गमनाशयादित्याशयः। बद्धं विहितं मण्डलं वर्त्तुलाकारेणावस्थानं येन तेत तादृशेन। कनकमया काञ्चनरचिता ये अर्द्धचन्द्राः अर्धचन्द्रसदृशलक्षणानि तारागणा तारकागणसदृशलक्षणसमूहाश्च तैः शबलानि कर्बुराणि तैस्तादृशैः, चर्मफलकैः करणैः निशासमयं विभावरीसमयं दर्शयतेव प्रकटयतेव सता, निशीथेऽप्यर्द्धचन्द्रनक्षत्रगणोदयादित्याशयः। स्फुरिता देदीप्यमाना निशिताः तीक्ष्णा ये करवालाः खड्गाः तेषां करप्ररोहैः किरणाङ्कुरैः करालितो भयङ्करीकृत आतपा दिनकरालोको येन तेन तादृशेन। एकश्रवणपुटे एककर्णपुटे घटितं योजितं दन्तपत्रं गजदशनरचितपत्रसदृशभूषणं येन तेन तादृशेन। देशव्यवहारात्तेषामेकश्रवणे दन्तपत्रधारणमित्यवधेयम्। ऊर्ध्वम् उपरि बद्धो नद्धः मौलिकलापः केशसमूहो येन तेन तादृशेन। धवलैः शुभ्रैः चन्दनस्थासकैः चन्दनलिप्तहस्तप्रतिच्छन्दैः खचितौ अङ्कितौ भुजौ बाहू ऊरुदण्डौ च यस्य तेन तादृशेन। ऊरौ चन्दनस्थासकैश्चापि देशव्यवहारात्। बद्धा कटीभागेषु संयताः असिधेनुकाछुरिकाः येन तेन तादृशेन। 'छुरिका चासिधेनुका' इत्यमरः। अन्ध्रस्त्रिलिङ्गः, द्रविडो द्राविडदेशः, सिंहलः सिंहलद्वीपस्, एतद्देशीयाः प्राया अधिका यत्र तेन तादृशेन। सेवकजनेन नानादेशीयनृपमण्डलशरीररक्षकजनेन अधिष्ठितम् आश्रितमिति अग्रेतनक्रियापदस्य कर्त्तृपदमेतत्। इह 'दर्शयतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

आस्थानेति। इत आरभ्य तृतीयान्तानि यानि पदानि तानि 'सामन्तलोकेन' इत्यग्रेतनस्य विशेषणानि। आस्थानमण्डपः सभागृहं तत्र गतेन स्थितेन यथोचितानि यथायोग्यानि यानि आसनानि विष्टराः तेषु उपविष्टेन आसेदुषा, दुरोदरं द्यूतं तस्य क्रीडां खेलाकोष्ठं प्रसारयता विस्तारयता। अष्टापदव्यापारं

---

उस राजभवनके साथ धर्मराज नगर ( यमपुरी ) का कोई सम्बन्ध है, इस प्रकार मानो दिखा रहे थे। भवनके अन्दर महाराज तारापीड़के पासमें बैठे अपने अपने राजाके बाहर आनेकी प्रतीक्षाके लिए भिन्न-भिन्न देशीय राजाओंके शरीररक्षक सैन्यगण वहाँ स्थान स्थान पर झुण्ड बाँधे खड़े थे। वे सोनेके अर्धचन्द्राकार और नक्षत्राकार चिह्नसमूहसे विचित्र दीखती हुई चमड़ेकी ढालोंको धारणकर उस समयको मानो रात्रि कहकर दिखा रहे थे। चमकती हुई तीक्ष्ण तलवारोंमेंसे निकलती किरणोंको धूपमें मिलाकर उसे भयङ्कर करते थे। एक कानमें उन्होंने हाथीके दाँतसे बनाये हुए पत्राकार आभूषणोंको पहन लिया था। मस्तकके ऊपर चूल बाँध रखा था। भुजाओं एवं जङ्घोंको सफेद चन्दनके लेपसे चिह्नित कर दिया था, और कमरमें छुरेको बाँध रखा था, तथा उन लोगोंके बीचमें अधिक संख्यक ही आन्ध्र, द्रविड़ एवं सिंहलदेशीय व्यक्ति थे। सभामण्डपमें अनेकसहस्र संख्यक राज्याभिषिक्त अधीनदेशस्थराजगण समुचित आसनों पर बैठे थे। उनलोगोंके बीचमें कोई कोई जुआ खेल रहे थे,

---

१. अधिकार…। २. …निर्गमन…। ३. स्थाने स्थाने। ४. …शतशबलैः। ५. घटितानेकदन्तपत्रेण।

व्यापारम्, आस्फालयता परिवादिनीम्, आलिखता चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्, आबध्नता काव्यगोष्ठीम्, आतन्वता परिहासकथाम्, विन्दताबिन्दुमतीम्, चिन्तयता प्रहेलिकाम्, भावयता नरपतिकृतकाव्यसुभाषितानि, पठता द्विपदीम्[1], गृह्णता कविगुणान्, उत्किरता[2] पत्रभङ्गान्, आलपता वारविलासिनीजनम्, आकर्णयता वैतालिकगीतम्[3], अनेकसहस्रसंख्येन, धवलोष्णीषपटाश्लिष्टविकट-किरीट-सङ्कट-शिरसा, सनिर्झर-शिखर-लग्न[4]-बालातपमण्डलेनेव कुलपर्वतचक्रवालेन, मूर्द्धाभिषिक्तेन, सामन्तलोकेनाधिष्ठितम्, आस्थानोत्थित-भूमिपाल-संवर्त्तितानाञ्च कुथानां रत्नासनानाञ्च राशिभिरनेकवर्णैरिन्द्रायुधपुञ्जैरिव विराजित-सभा-

---

शारिफलनिक्षेपकार्यम् अभ्यस्यता वारंवारमभ्यासं विदधता 'अष्टापदं शारिफलम्' इत्यमरः। परिवादिनीं सप्ततन्त्रीविशिष्टां वीणां वल्लकीम् आस्फालयता वादनेन स्पन्दनं विदधता।

..................................वीणा तु वल्लकी।
विपञ्ची, सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी ॥ इत्यमरः।

भूमिपालस्य महाराजतारापीडस्य प्रतिबिम्बं प्रतिरूपं चित्रफलके आलेख्यपट्टके आलिखता भक्तिसूचनार्थं चित्रीकुर्वता। काव्यगोष्ठीं काव्यालापम् आबध्नता विदधता। 'गोष्ठी सभासंलापयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। परिहासकथाम् उपहासकारिवचनरचनाम् आतन्वता आधिक्येन विदधता। बिन्दुमतीं विन्दता प्राप्नुवता अन्येन पृच्छ्यमानामाकर्णयतेत्यर्थः। प्रहेलिकां चिन्तयता ध्यायता। नरपतिः महाराजतारापीडः तेन कृतानि रचितानि यानि काव्यरूपाणि सुभाषितानि मनोहरवचनानि तानि भावयता भावनां विदधता। द्विपदीं पदद्वयात्मिकां गाथां पठता पाठं कुर्वता। कवेः काव्यरचयितुः गुणान् तत्काव्यवृत्तिप्रसादमाधुर्यभावालङ्कारादिधर्मान् गृह्णता आकर्ण्यैव जानता। पत्राणि केतकी सम्बन्धीनि तेषां भङ्गान् वेश्याजनानां कुचगण्डादौ तिलकविशेषान् उत्किरता ददता। वारविलासिनीजनं वाराङ्गनालोकम् आलपता सम्भाषयता। वैतालिका वन्दिनः तेषां गीतं स्तुतिपाठम् आकर्णयता शृण्वता। अनेकानि बहूनि सहस्राणि संख्या परिमाणं यस्य तेन तादृशेन। धवलैः श्वेतैः उष्णीषपट्टैः मूर्द्धवेष्टनवस्त्रैः आश्लिष्टानि संयुक्तानि विकटानि महान्ति यानि किरीटानि कोटीराणि तैः सङ्कटानि सङ्कुलानि शिरांसि यस्य तेन तथोक्तेन। अत एव सनिर्झराणि सप्रस्रवणानि यानि शिखराणि शृङ्गानि तेषु लग्नं संसक्तं बालातपमण्डलं नूतनरविरश्मिजालं यस्य तेन तथोक्तेन, कुलपर्वताः महेन्द्रमलयादयः तेषां चक्रवालेन मण्डलेनेव विद्यमानेन। मूर्द्धाभिषिक्तेन राज्याभिषिक्तेन सामन्तलोकेन आयत्तदेशस्थराजमण्डलेन अधिष्ठितम् आश्रितं राजकुलम्। इह 'सनिर्झर-शिखर-लग्ने'त्यादौ निर्झरैः सह धवलोष्णीषपटानां बालातपैः किरीटानां कुलपर्वतैश्च सामन्तानां साम्यमिति उपमालङ्कारः।

आस्थानेति। आस्थानात् उपवेशनस्थलात् उत्थितेषु उत्थाय चलितेषु भूमिपालेषु सदस्यभूपतिषु संवर्त्तितानां सेवकैरुत्तोल्य एकस्मिन्नूस्थले सङ्कोचितानां कुथानां विचित्रकम्बलानां रत्नासनानाञ्च अनेकवर्णैः राशिभिः समूहैः इन्द्रायुधपुञ्जैः इन्द्रधनुःसमूहैरिव विद्यमानैः, विराजितः अलङ्कृतः सभायाः परिषद्

---

कोई कोई बार बार शतरञ्ज खेल रहे थे कोई वीणा बजाते थे कोई चित्रफलक पर महाराज तारापीड़का चित्र खींचते थे कोई कोई काव्यालाप कर रहे थे कोई कोई परिहासको विस्तार कर रहे थे कोई बिन्दुमती ( काव्यविशेष ) सुनते थे कोई प्रहेलिका ( बुझौअल ) की चिन्ता करते थे कोई महाराज तारापीड़के बनाए हुए काव्यमय मनोहर वाक्योंकी भावना करते थे कोई द्विपदी नामक प्राकृत छन्दका पाठ करते थे कोई कवियोंके गुणोंका ग्रहण करते थे कोई वाराङ्गनाओंके कण्ठकपोलमें तिलक लगाते थे कोई वारवनिताओंके साथ बातचीत करते थे और वैतालिकों ( स्तुतिपाठकों ) के गीत सुनते थे उनलोगोंका शिर, सफेद पगड़ीकी तह से लपेटे हुए बड़े बड़े मणिमय मुकुटोंसे ढका हुआ था, अत एव निर्झर जलसंयुक्त शिखर पर पड़े हुए बालातपवाले कुल-पर्वतोंके समान शोभायमान होता था। राजाओंके राजसभामेंसे उठ जानेपर नौकरोंने सभाके विचित्र कम्बल एवं रत्नमय आसनों ( अथवा बहुतसे गलीचे एवं जड़ाऊ कुर्सियों ) को एक भागमें रख दिया, उससे एकत्रीभूत इन्द्रधनुः समूहके समान

---

१. द्विपदीः। २. उत्कीर्य्यता। ३.…गीतिम्। ४.…आलग्न…।

पर्य्यन्तम्, अमल-मणि[1]-भूमि-संक्रान्त-मुख-निवह-प्रतिबिम्बतया विकच-कमलपुष्प-प्रकरमिव सम्पादयता, गतिवश-रणित-नूपुर-पारिहार्य्य[2]-रशना-स्वनं[3]-मुखरेण, स्कन्धावसक्त[4]-कनकदण्ड-चामरेण, निर्गच्छता प्रविशता चानवरतं वारविलासिनीजनेनाकुलितम्[5], एकदेशनिषण्ण-चामीकर-शृङ्खला-संयत-श्वगणम्[6], इतस्ततः प्रचलित-परिचितामितकस्तूरिका[7]कुरङ्ग-परिमल-वासित-दिङ्मुखम्, अनेक-कुब्जकिरात-वर्षवर[8]-बधिर-वामनं[9]-मूक-सङ्कुलम्, उपाहृत-किन्नर-मिथुनम्, आनीतवनमानुषम्, आबद्ध-मेष-कुक्कुट-कुरर-कपिञ्जल-लावक-वर्त्तिका-युद्धम्,

---

पर्यन्तः प्रान्तदेशो यत्र तत्तादृशं राजकुलम्। इह इन्द्रायुधानामेकत्रीभूतत्वाभावाज्जात्युत्प्रेक्षा।

अमलेति। अमलाः स्वच्छा या मणिभूमयः रत्नभूमयः तासु सङ्क्रान्तानि सञ्चारितानि मुखनिवहस्य वदनसमूहस्य प्रतिबिम्बानि यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, विकचानि विकसितानि यानि कमलपुष्पाणि पङ्कजानि तेषां प्रकरं समूहं सम्पादयतेव प्रवर्त्तयतेव, तद्वदनानां कमलसदृशत्वादित्याशयः। गतिवशेन गमनवशेन कारणेन रणितानि शब्दितानि यानि नूपुराणि पादकटकानि पारिहार्याणि कङ्कणानि, रशना काञ्चीदामानश्च तेषां स्वनैः शब्दैः मुखरः शब्दायमानः तेन तादृशेन। स्कन्धेषु अवसक्तानि स्थापितानि कनकदण्डानि चामराणि यस्य तेन तादृशेन। तथा अनवरतं निरन्तरं निर्गच्छता निःसरता प्रविशता च वारविलासिनीजनेन गणिकामण्डलेन आकुलितं व्याप्तं राजकुलम्। इह 'सम्पादयतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

एकदेशेति। एकदेशे एकभागे निषण्ण आसीनः चामीकरशृङ्खलाभिः सुवर्णशृङ्खलाभिः संयता बद्धा ये श्वानः कुक्कुराः तेषां गणः समूहो यत्र तत्तादृशम्।

इतस्तत इति। इतस्ततः समन्तात् प्रचलिताः, परिचिताः विश्वस्तहृदयाः, अमिताः असंख्या ये कस्तूरिकाः कस्तूरीविशिष्टाः कुरङ्गा हरिणा तेषां परिमलेन शरीरसुगन्धेन वासितानि आमोदितानि दिङ्मुखानि दिग्वदनानि यस्य तत्तादृशम्।

अनेकेति। अनेके ये कुब्जाः, किराताः कृशशरीराः 'किरातो म्लेच्छभेदे स्यात् भूनिम्बेऽल्पतनावपि' इति मेदिनी। वर्षम् अवरोधपुरं विवृण्वन्तीति वर्षवरा नपुंसकाः बधिराः श्रोत्रेन्द्रियविकलाः, वामनाः ह्रस्वशरीराः, मूकाः वाक्सामर्थ्यरहिताश्च तैः सङ्कुलं व्याप्तं राजकुलम्।

उपाहृतेति। उपाहृतानि एकत्रीकृत्य आनीतानि किन्नरमिथुनानि अश्वमुखदम्पत्यो यस्मिंस्तत्तादृशम्। आनीता उपाहृताः वनमानुषा अरण्यमनुष्यरूपवनचरा यस्मिंस्तत्तादृशम्। आबद्धानि सङ्घटितानि मेषः एडकैः मेषवृष्णय एडके' इत्यमरः, कुक्कुटैश्चरणायुधैः, कुररैः मत्स्यादनैः पक्षिविशेषैः, कपिञ्जललावकवर्त्तिकाभिश्च सह युद्धानि सङ्ग्रामा यस्मिंस्तत्तादृशम्। उत्कूजिताः तारस्वरेण शब्दायमानाः चकोराः विषसूचकाः कादम्बाः कलहंसाः, हारीताः पक्षिविशेषाः, कोकिलाः पिकाश्च यस्मिंस्तत्तादृशम्। लालप्यमानाः भूयो भूयः सम्भाषन्त्यः शुकसारिका यस्मिंस्तत्तादृशम्।

---

विविध रंगके उन कम्बल और रत्नासनों (अथवा गलीचे एवं जड़ाउ कुर्सियों) से सभामण्डपका प्रान्तभाग सुशोभित होता था। वाराङ्गनाएँ कन्धे पर सोनेकी डंडोके चामर रखकर बारंबार जाती आती थीं, उस समय निर्मल मणिमय भूमिमें उन लोगोंके मुखोंका प्रतिबिम्ब पड़ जानेसे मानो खिले हुये कमल समूहको उत्पन्न करती थीं, और चलनेसे उन लोगोंके नूपुर ( पायजेब ), कङ्कण और चन्द्रहार ( रसना ) के शब्दसे शरीर भी शब्दित होता था। उसके एक भागमें सोनेके जञ्जीरसे बँधे कुत्ते बैठे थे। विश्वस्तचित्त होकर हजारों पालतू कस्तूरी-मृग इधर-उधर विचरण करते थे, उनके देहकी सुगन्धिसे सब दिशाएँ सुगन्ध-मय हो गई थीं उस राजभवनमें अनेक कुब्ज (कुबड़े) किरात ( कृश-शरीरवाले ), नपुंसक, बधिर, वामन और मूकजन ( गूँगे ) व्याप्त थे। वहाँ किन्नरोंके जोड़े और वन-मानुष लाकर रखे गए थे। जगह जगह पर भेड़, वनकुक्कुट ( जंगली मुर्गे ) कुरर, चातक, लवा और वत्तककी लड़ाई कर रहे

---

१. क्वचित् 'मणि' पदं नास्ति। २. परिहार्य्य। ३. रव। ४. स्कन्धसक्त। ५. वारविलासिनीनां जनेन। ६. अश्वगणम्। ७. अपरिमितसितकस्तूरिक। ८. ···वर्षधर, बर्बरवर्षवर···। ९. वामनक।

उत्-कूजित-चकोर-कादम्ब-हारीत-कोकिलम्, लालप्यमान[1]-शुकसारिकम्, इभ[2]पतिमद[3]-परिमलामर्ष-जृम्भितैश्च निष्कूजद्भिः शिखरिणां जीवितैरिव गिरिगुहानिवासिभिर्गृहीतैः पञ्जरकेसरिभिरुद्भास्यमानम्, उत्त्रस्यमानैः काञ्चनभवन-प्रभा-जनित-दावानल-शङ्कैर्लोलतारकैर्भ्रमद्भिर्वन[4]-हरिण-कदम्बकैर्लोचनप्रभया शबलीकृतदिगन्तरम्, उद्दाम-केकारवानुमीयमान-मरकत-कुट्टिम स्थितशिखण्डि-मण्डलम्, अतिशिशिर-चन्दन-विटपि-च्छाया-निषण्ण-निद्रायमाणगृह-सारसम्, अन्तःपुरेण च बालिकाजन-प्रस्तुत-कन्दुक-पञ्चालिकाक्रीडेन,

---

इभपतीति। इभपतयो गजेन्द्राः तेषां मदपरिमलैः दानवारिसुगन्धैः ये अमर्षाः कोपाः तैः जृम्भिताः पञ्जराभ्यन्तरेष्वेव घूर्णिताः तैस्तादृशैः, निष्कूजद्भिः शब्दायमानैः, शिखरिणां पर्वतानां जीवितैरिव प्राणैरिव, तद्गुहानिवासिभिः पर्वतकन्दरावस्थायिभिः गृहीतैः पर्वतकन्दरात् आदाय आनीतैः पञ्जरकेसरिभिः पञ्जरप्राप्तमृगेन्द्रैः उद्भास्यमानम् उत्कर्षेण विराज्यमानम्, राजकुलम्। इह सिंहविषये 'निष्कूजद्भिः' इत्यसम्बद्धमेव ख्यातविरुद्धतादोषसद्भावात् तस्मात् 'गर्जद्भिः' इति पाठं विधाय परिहर्त्तव्यम्।

उत्त्रास्येति। काञ्चनभवनानि सुवर्णरचितगृहाणि तेषां प्रभाभिः कान्तिभिः जनिता उत्पादिता दावानलशङ्का वनवह्निसन्देहो येषां तैः तादृशैः, अत एव उत्त्रास्यमानैः तयैव शङ्कया विशेषेण त्रासं प्राप्यमाणैः, अत एव च लोलतारकैः चञ्चलकनीनिकाभिः वर्त्तमानैः भ्रमद्भिः इतस्ततः पर्यटद्भिः, वनहरिणानां काननमृगाणां कदम्बकैः समूहैः, लोचनप्रभया नेत्रकान्त्या शबलीकृतानि विचित्रीकृतानि दिगन्तराणि यस्य तत्तादृशम्। तेषां लोचनानामपि शबलत्वादित्याशयः।

इह काञ्चनभवनप्रभासु मृगाणां वनवह्निभ्रमाद्भ्रान्तिमानलङ्कारः। तथा नेत्रकान्त्या दिगन्तराणां विचित्रीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बद्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः। अनयोश्च परस्परनैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात्तिलतण्डुलवत्संसृष्टिरलङ्कारः।

उद्दामेति। उद्दामैः विस्तृतैः केकारवैः मयूरवाणीध्वनिभिः अनुमीयमानम् अनुमानविषयीक्रियमाणं मरकतकुट्टिमेषु अश्मगर्भबद्धभूमिषु स्थितम् उपविष्टं शिखण्डिमण्डलं मयूरसमूहो यत्र तत्तादृशम्। मरकतकुट्टिमानां शिखण्डिनाञ्च समानवर्णतया तत्रोपविष्टानां लोचनगोचराभावात् केवलकेकारवैरेवानुमानमित्याशयः।

अतिशिशिरेति। अतिशिशिराः अत्यन्तशीतलाः चन्दनविटपिनां चन्दनतरूणां छाया आतपाः तासु निषण्णा उपविष्टाः सन्तो निद्रायमाणाः प्रमीलां विदधतः गृहसारसाः भवनपोषितसारसपक्षिणो यस्मिंस्तत्तादृशम्।

अन्तःपुरेणेति। किञ्चेति चार्थः। 'अन्तः पुरेणे'ति 'समुपेताभ्यन्तरम्' इत्यग्रेतनपदान्तःपतितायाः 'समुपेत' इति क्रियायाः कर्त्तृपदम्। तथेह तृतीयाया एकवचनान्तानि पदानि 'अन्तःपुरेण' इत्यस्य विशेषणानि। बालिकाजनैः कन्यकावर्गैः प्रस्तुता आरब्धा कन्दुकैः गेन्दुकैः पञ्चालिकाभिः वसनरचितपुत्रिकाभिश्च क्रीडा खेला यत्र तेन तादृशेन।

'पञ्चालिका पुत्रिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृता' इत्यमरः।

---

थे किसी किसी जगह चकोर, कलहंस, हारीत और कोकिल ऊँचे स्वरसे शब्द (गान) कर रहे थे किसी जगह शुक और सारिका (तोता मैना) का आलाप हो रहा था। जो सिंहगण पहले पर्वतोंकी गुहाओंमें रहनेसे उनके जीवनके समान थे, वे सिंह इस राजभवनके अन्दर पकड़कर पिंजरोंमें बन्द कर दिए गए थे वे हाथियोंके मदजलकी सुगन्ध पाकर क्रोधसे पिंजरेके अन्दर ही घूमते हुए बड़ी गर्जना करते थे। पालतू हरिणगण, सुवर्णकी गृहदीवारोंकी प्रभा (चमक) को दावानल समझकर भीत होकर चञ्चलनयनसे इधर उधर विचरण करते हुए नेत्रोंकी प्रभासे वहाँकी सब दिशाओंको चित्रित करते थे। वहाँ मरकत मणि-मय भूमि पर रहनेवाले मयूरोंका अपनी केकारवसे ही पहचान होता था। अत्यन्त शीतल चन्दनवृक्षोंकी छायामें बैठे पालतू सारस (मैने) ऊँघने लगते थे। राजभवनके अन्दर अन्तःपुर (रनिवास) संलग्न था, वहाँ लड़कियाँ गेंद और कपड़ेके बने हुए

---

१. आलप्यमान…। २. क्वचित् 'इभ' इति पदं नास्ति। ३. क्वचित् 'मद' इति पदं नास्ति। ४. भवन।

अविरत-वाह्यमान[1]-दोला[2]-शिखर-क्वणित-घण्टा-टङ्कार-पूरिताशामुखेन, भुजग-निर्म्मोक-शङ्कित-मयूर-ह्रियमाणहारेण, सौध-शिखरावतीर्णप्रचलित-पारावत-कुलतया स्थलोत्पलिनीवनशोभितेनेव[3], अन्तःपुरिकाजन-प्रस्तुत-नरपति-चरित-विडम्बनक्रीडेन, अश्वमन्दुरा-परिभ्रष्टागतैरवलुप्तभवन-दाडिमीफलैराखण्डिताङ्गन-सहकार-पल्लवैरभिभूत-कुब्ज-वामन-किरात-करतलाच्छिन्नानि भूषणानि विकिरद्भिः कपिभिराकुलीकृतेन[4], शुक-सारिका-प्रकाशित-सुरत-विश्रम्भालाप-लज्जितावरोधजनेन, प्रासाद-सोपान-समारोहणचलितैरबलानां

अविरतेति। अविरतं निरन्तरं वाह्यमानानां दोलनानन्दप्राप्तये तरुणीभिरारुह्य आन्दोल्यमानानां दोलानां दोलनयन्त्राणां शिखरेषु ऊर्ध्वप्रदेशेषु क्वणितानां सञ्चलनजवेषु शब्दितानां घण्टानां टङ्कारैः 'टं टम्' इति ध्वनिभिः पूरितानि भृतानि आशामुखानि दिग्वदनानि यस्मिंस्तेन तादृशेन।

भुजगेति। भुजगनिर्म्मोकस्य अहिकञ्चुकस्य शङ्कितेन समुत्पन्नसन्देहेन हारं निरीक्ष्य भुजगनिर्म्मोकोऽयमिति भ्रान्तिमतेत्यर्थः, मयूरेण शिखण्डिना ह्रियमाणः गृह्यमाणः हारो मौक्तिकदाम यस्मिंस्तेन तादृशेन। इह हारे शिखण्डिनः भुजगनिर्म्मोकभ्रमाद्भ्रान्तिमानलङ्कारः।

सौधेति। सौधशिखरात् अट्टालिकोर्ध्वदेशात् अवतीर्णं सत्प्रचलितं पारावतकुलं कपोतगणो यत्र तस्य भावस्तया कारणेन, स्थलोत्पलिनीनां सलिलशून्यस्थानगतसदलकमललतानां वनेन समूहेन शोभितं राजितं तेनेव, तेषां पारावतानां कमलदलवत् ज्ञायमानत्वादित्याशयः। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

अन्तरिति। अन्तःपुरिकाजनैः अवरोधपुरस्थनारीलोकैः प्रस्तुता प्रारब्धा नरपतेः महाराजतारापीडस्य यच्चरितं नेपथ्यरचनाचारावलोकनक्रियाः तस्य विडम्बनम् अनुकरणमेव क्रीडा खेला यस्मिंस्तेन तादृशेन।

अश्वेति। अश्वमन्दुराया वाजिशालातः परिभ्रष्टाः बन्धनाद्विमुक्ताः सन्त आगताः प्राप्ताः तैस्तादृशैः। अश्वानां दृष्टिदोषप्रतिबन्धनार्थं वाजिशालायां वानराः स्थाप्यन्त इति भूपतीनां व्यवहारः। अवलुप्तानि भिन्नानि, भवनदाडिमीफलानि गृहाङ्गनस्थदाडिमफलानि यैस्तैस्तादृशैः। आखण्डितानि भिन्नानि अङ्गनसहकाराणां चत्वरवर्त्तिरसालतरूणां पल्लवानि किसलया यैस्तैस्तादृशैः। अभिभूताः तैरेव वानरैः आक्रम्य विजिता ये कुब्जवामनकिराताः तेषां करतलेभ्यः हस्ततलेभ्यः आच्छिन्नानि हठादाकृष्य गृहीतानि भूषणानि कटकाद्यलङ्कारान् विकिरद्भिः समन्ताद्विक्षिपद्भिः कपिभिः वानरैः आकुलीकृतेन व्यग्रीकृतेन। एवमेव हि कपिप्रकृतयः, तेनेह स्वभावोक्तिरलङ्कारः।

शुकेति। शुकसारिकाभिः कीरपीतपादादिभिः शयनभवनायाताभिरिति भावः, प्रकाशिता अन्यजनसमीपे स्फुटमुच्चारिताः ये सुरतविश्रम्भालापाः सम्भोगसामयिकस्वच्छन्दवचनानुकरणवचनानि तैः लज्जिताः सञ्जातत्रपा अवरोधजना अन्तःपुरसुन्दर्यो यस्मिंस्तेन तादृशेन।

प्रासादेति। प्रासादानां सौधानां सोपानेषु आरोहणेषु समारोहणेन उपरिष्टाद्गमनेन चलितैः स्पन्दितैः, अबलानां स्त्रीणां चरणेषु पादेषु अवसक्तैः विद्यमानैः मणिमयैः रत्नविकारैः, पदे पदे प्रतिपदक्षेपं रणद्भिः शब्दायमानैः तुलाकोटिवलयैः पादाङ्गदमण्डलैः 'पादाङ्गदं तुलाकोटिः' इत्यमरः, द्विगुणीकृतं निजशब्दैर्वर्द्धितं

गुड़ियोंसे खेलती थीं। युवतियाँ दिन-रात हिलते झूलों पर झूलती थीं, उन झूलोंके ऊपर भागमें घण्टियोंके 'टं टं' शब्दसे सभी दिशायें परिपूर्ण होती थीं। कोई मयूर एक हारको सर्पकी कंचुकी जानकर उसे खींच ले जाता था। महलोंके शिखरोंसे उतरकर नीचे चलते रहते कबूतरोंसे अन्दरका वह भाग ऐसा प्रतीत होता था मानो स्थलस्थित शोभायमान कमलिनीका वन हो। अन्तःपुर ( रनिवास ) की सुन्दरियाँ महाराज तारापीडके चरित्रका अनुकरण करनेकी क्रीड़ामें लगी रहती थीं। बन्दरोंके झुण्ड अश्वशाला (अस्तबल) में से वहाँ आकर, घरके आंगनमें विद्यमान अनारोंके फलोंको कुतर कर, चत्वरस्थित आमोंके पल्लवोंको तोड़कर कुब्ज, वामन और किरातको परास्त कर उन लोगोंके हाथोंसे बलपूर्वक ( जबरदस्ती ) आभूषणोंको छीनकर उन्हें इधर-उधर बिखेर ( फेंक ) कर अन्तःपुरको व्याकुल करते थे। शयनगृहमें रहनेवाले शुक और सारिकागण ( तोते और मैने ) सम्भोगसमयके विश्रम्भालापको दूसरे लोगोंके सामने प्रकाशित कर अन्तःपुरकी सुन्दरियोंको लज्जित करते थे। पालतू कलहंसोंकी पङ्क्तियोंसे वहाँका आँगन सफेद प्रतीत होता था, इस तरह महलकी सीढ़ियों पर चढ़ती हुई सुन्दरियोंके पैरोंमें पहने हुए

१. अनवरतसंवाह्यमान…। २. …तोली…। ३. स्थलोत्पलिनीवनेनेव। ४. …आकुलीभूतेन।

चरणावसक्तैर्मणिमयैः पदे पदे[1] रणद्भिस्तुलाकोटि-वलयैर्द्विगुणीकृत-कूजित-रुताभिः[2] भवन-कलहंसमालाभिर्धवलिताङ्गनेन,[4] धृत-धौत-धवल-दुकूलोत्तरीयैः कलधौत-दण्डावलम्बिभिः पलित-पाण्डुर-मौलिभिराचारमयैरिव विनयमयैरिव मर्य्यादामयैरिव मङ्गलमयैरिव गम्भीराकृतिभिः स्वभावधीरैरुष्णीषिभिर्वयःपरिणामेऽपि जरत्सिंहैरिवापरित्यक्तसत्त्वावष्टम्भैः कञ्चुकिभिरधिष्ठितेन समुपेताभ्यन्तरम्, जलधरै-सनाथमिव कृष्णागुरुधूमपटलैः, सनीहारमिव यामकुञ्जरघटा-कर शीकरैः, सनिशमिव तमालवीथिकान्धकारैः, सबालातपमिव रक्ताशोकैः,[11] सतारागणमिव मुक्ताकलापैः, सवर्षासमयमिव धारागृहैः, सतडिल्लतमिव हेममयीभि-

कूजितरुतम् अव्यक्तशब्दो यासां ताभिः तादृशीभिः, भवनकलहंसमालाभिः भवनपोषितकादम्बपङ्क्तिभिः धवलितं निजनिजस्थित्या श्वेतीकृतम् अङ्गनम् अजिरं यस्य तेन तादृशेन। 'अङ्गनं चत्वराजिरम्' इत्यमरः।

धृतेति। धृतानि धारितानि धौतानि रजकक्षालितानि अत एव धवलानि शुभ्राणि दुकूलोत्तरीयाणि पट्टोत्तरीयवस्त्राणि यैस्तैस्तादृशैः। कलधौतदण्डान् सुवर्णयष्टीः अवलम्बन्ते धारयन्तीति तैस्तादृशैः। पलितेन जराजनितश्वेततया पाण्डुराः धवलाः मौलयः कचाः येषां तैस्तादृशैः। आचारमयैरिव साधुव्यवहारनिष्पन्नैरिव सर्वस्मिन् समये तदनुसरणात्तदुपदेशाच्चेत्याशयः। विनयमयैरिव सर्वस्मिन् समये नम्राचरणात्। मर्यादा नीतिपथवर्त्तनं तन्मयैरिव सर्वस्मिन् स्थले न्याय्यव्यवहरणात्। मङ्गलमयैरिव समस्तानामेव प्राणिनां सर्वस्मिन् समये मङ्गलानुध्यानात्। गम्भीरा दुरवगाहा अचपला अचञ्चला आकृतयः स्वरूपाणि येषां तैस्तादृशैः। स्वभावाः चित्तवृत्तयोऽपि धीरा धैर्यवन्तो येषां तैस्तादृशैः। उष्णीषाणि मूर्द्धवेष्टनानि एषां सन्तीति तैः। वयःपरिणामेऽपि जरावस्थायामपि विद्यमानेऽपि जरत्सिंहैरिव वृद्धहर्यक्षैरिव, अपरित्यक्तः अनुज्झितः सत्त्वावष्टम्भः साहसावलम्बनं यैस्तैस्तादृशैः। कञ्चुकिभिः प्रतिपादितस्वरूपैः वृद्धब्राह्मणैः, अधिष्ठितेन आश्रितेन प्रदर्शितविधिनाऽन्तःपुरेण, समुपेतं सहितम् अभ्यन्तरं मध्यभागो यस्य तत्तादृशं 'राजकुलम्' इत्यस्य विशेषणम्।

आचारमयैरिव, विनयमयैरिव, मङ्गलमयैरिव, इत्यत्र विकारार्थे मयट्प्रत्ययविधानात् विकारस्य चान्यथारूपत्वेन गुणत्वात्तस्य चोत्प्रेक्षणाद् गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः।

जलधरेति। कृष्णागुरूणां काकतुण्डानां दह्यमानानां धूमपटलैः धूमसमूहैः, जलधरसनाथमिव मेघसहितमिव धूमसमूहानां जलधरसदृशत्वादित्याशयः। यामकुञ्जरघटायाः प्रतिप्रहरपरिवर्त्तितगजनिकरस्य करशीकरैः शुण्डातो निःसृतसलिलकणः सनीहारमिव तुहिनसहितमिव, तुहिनवत् तेषां पतनात्। तमालवीथिकाभिः तमालवृक्षपङ्क्तिभिः ये अन्धकाराः तमांसि तैः सनिशमिव रात्रिसहितमिव, उभयतमसामपि सदृशत्वात्। रक्ताशोकैः कुसुमैः सबालातपमिव अभिनवदिनकरालोकयुक्तमिव, बालातपवत् तदशोकानां लोहितत्वात्। मुक्ताकलापैः मुक्ताप्रालम्बैः सतारागणमिव सनक्षत्रसमूहमिव विद्यमानम्, मुक्ताकलापानां तारागणवद्विस्तृतत्वाद्देदीप्यमानत्वाच्च। धारागृहैः अनवरतसलिलवर्षियन्त्रसहितभवनैः

पद-पद पर शब्द करते हुए—मणिमय नूपुरों ( बिछुओं ) और कङ्कणोंसे उन ( कलहंसों ) का स्वर द्विगुणित हो गया था। कञ्चुकिगण ( वृद्ध ब्राह्मणगण ), धुले हुए सफेद रेशमी कपड़ेका उत्तरीय ( दुपट्टा ) धारण कर, सोनेकी छड़ी हाथमें लेकर उस अन्तःपुरमें फिरते रहते थे। वे मानो सदाचारमय, विनयमय, मर्यादामय और मङ्गलमय थे। उनकी आकृति गम्भीर थी, स्वभाव धीर था, एवं मस्तकके ऊपर पगड़ी बँधी हुई थी। और वृद्ध होनेपर भी वृद्धसिंह जिस प्रकार पशुओंका अवलम्बन नहीं छोड़ता, उसी प्रकार उन्होंने भी उत्साह नहीं छोड़ा था। और वह राजभवन, जलते हुए काले अगरुके धूपराशिसे मानो मेघसंयुक्त था, प्रतिप्रहरमें परिवर्त्तित हाथियोंकी सूँड़मेंसे निकलते हुए जलबिन्दु-समूहसे मानो वहाँ हिमकण बरस रहे थे; तमालवृक्षोंकी कुञ्जोंके अन्धकारसे मानो वहाँ रात्रि थी, ऐसा प्रतीत होता था, लाल अशोकपुष्पसे मानो बाल-सूर्यका उदय हुआ था, मुक्ताकलापसे मानो तारेगण आगए हों ऐसी प्रतीति होती थी; जलयन्त्र ( फुहारों ) के गृह रहनेसे मानो वर्षा समय आगया हो ऐसा

१. मणिमयैर्विभूषणैः पदे पदे। २. ···रुताभिः। ३. क्वचित् 'कल' इति पदं नास्ति। ४. धवलीकृताजिरेण। ५. क्वचित् धृतपदं नोपलभ्यते। ६. क्वचित् 'पाक' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते। ७. आधारमयैरिव। ८. क्वचित् 'विनयमयैरिव' इति पाठ एव नोपलभ्यते। ९. जरीजरत्। १०. सजलजलधर। ११. आरक्ताशोकैः। ····

मयूरयष्टिभिः, सगृहदैवतमिव शालभञ्जिकाभिः, शिवभवनमिव द्वारावस्थित-दण्डपाणि-प्रतीहारगणम्, उत्कृष्टकविगद्यमिव[1] विविधवर्णश्रेणि[2]-प्रतिपाद्यमानानेका[3]भिनवार्थ-सञ्चयम्, अप्सरोगणमिव प्रकटमनोरमारम्भम्[4], दिवसकरोदयमिव उल्लसत्पद्माकर-कमलामोदम्, उष्णकिरणमिव निजलक्ष्मीकृतकमलोपकारम्, नाटकमिव पताकाङ्क[5]-शोभितम्, शोणितपुर-

---

सवर्षासमयमिव प्रावृट्कालसहितमिव। हेममयीभिः सुवर्णनिर्मितैः मयूरयष्टिभिः कलापिवृन्दोपवेशनदण्डैः सतडिल्लतमिव विद्युल्लतासहितमिव तद्दण्डानां तडिद्वत्प्रतीयमानत्वात्। शालभञ्जिकाभिः दारुपुत्रिकाभिः सगृहदैवतमिव, तासां भवनदेवतावद्भवनमध्येऽवस्थानात्। इह 'जलधरसनाथमिव' इत्यारभ्य 'सगृहदैवतमिव' इत्यन्तेषु सप्तसु वाक्येषु साहित्यस्य संयोगरूपतया गुणत्वात्तस्य चोत्प्रेक्षणात् गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः।

शिवेति। शिवभवनमिव काशीस्थविश्वनाथमन्दिरमिव, द्वारावस्थितः द्वारि विद्यमानः दण्डपाणिः यष्टिहस्तः प्रतीहारगणः द्वारपालनिकरः यस्य तत्तादृशम्। अन्यत्र तु द्वारावस्थिताः दण्डपाणिः तत्संज्ञको भैरवविशेषः, प्रतीहाररूपा गणाः प्रमथाश्च यस्य तत्तादृशम्।

उत्कृष्टेति। उत्कृष्टकवेः अलङ्कारप्रसादमाधुर्यगुणोपेतकाव्यरचयितुः गद्यं छन्दोरहितं गद्यात्मकं वासवदत्तादिकं काव्यमिव, कादम्बरीकाव्यमिवेत्यपि व्यज्यते। विविधा अनेकप्रकाराः वर्णाः ब्राह्मणादयः तेषां श्रेण्या समूहेन प्रतिपाद्यमानः उपायनभावेन समर्प्यमाणः अनेको विविधः अभिनवो नूतनः अर्थसञ्चयः धनराशिर्यस्मिन् तत्तादृशम्। अन्यत्र तु विविधा नानाप्रकाराः वर्णाः अक्षराणि तेषां श्रेण्या पङ्क्त्या प्रतिपाद्यमानः निरूप्यमाणः अनेकेषां विविधानाम् अभिनवानां नूतनानाम् अश्रुतपूर्वाणामित्यर्थः, अर्थानां विषयाणां सञ्चयो राशिर्यत्र तत्तादृशम्।

अप्सर इति। अप्सरोगणमिव, प्रकटा गोपनरहिताः सर्वविदिता इत्यर्थः, मनोरमाः सुन्दराश्च आरम्भाः कार्योपक्रमा यत्र तत्तादृशम्। पक्षे तु प्रकटमनोरमा अत्यन्तसुन्दरी रम्भा तत्संज्ञका वेश्या यत्र तं तादृशम्।

दिवसेति। दिवसकरः सूर्यः तस्य उदयमिव उद्गमनमिव, उल्लसन् परिस्फुरन् पद्माकरकमलानां सरसीतटगतमृगविशेषाणाम् आमोदः कस्तूरिकासुगन्धिः यत्र तत्तादृशम्। पक्षे उल्लसन् विकसिततया समन्तात् प्रसरन् पद्माकरकमलानां सरसीस्थितपङ्कजानाम् आमोदः सुगन्धिः यस्मात्तं तादृशम्।

'पङ्कजे सलिले ताम्रे कमलस्तु मृगान्तरे।' इति हैमः।

उष्णेति। उष्णकिरणः उष्णरश्मिः सूर्यस्तमिव, निजलक्ष्म्या स्वीयकान्त्या कृतो विहितः कमलायाः राज्यश्रियः उपकारः वर्द्धनरूपसाहाय्यं येन तत्तादृशम्। पक्षे निजलक्ष्म्या स्वीयप्रकाशरूपश्रिया कृतः कमलानां पङ्कजानाम् उपकारः प्रस्फुटनरूपोपकृतिर्येन तं तादृशम्।

नाटकमिति। नाटकं तत्संज्ञकम् अभिनेयविशेषमिव, पताकाभिः वैजयन्तीभिः अङ्कैः अनेकप्रकार-

---

बोध हो रहा था; मयूरोंके बैठनेके लिए सुवर्ण-मय डंडोंसे मानो विद्युल्लता-युक्त और अधिकतर कठपुतलियोंके रहनेसे मानो गृह-देवतागण ही उपस्थित हों ऐसी प्रतीति होती थी। विश्वेश्वर (महादेव) मन्दिरके दरवाजेके पास जिसप्रकार दण्डपाणि, भैरव और प्रमथगण द्वारपालरूपमें रहते हैं, उसी प्रकार उस राजभवनके दरवाजेके पास भी हाथोंमें छड़ी लिए द्वारपालगण रहते थे। उत्कृष्ट कविके बनाए हुए गद्यकाव्यमें जिसप्रकार विविध अक्षरोंकी श्रेणीसे नया-नया अभिप्राय प्रकट होता रहता है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार ब्राह्मणादि नाना-जातीय व्यक्तियोंको नये-नये अनेक प्रकारके द्रव्योंको उपहाररूपमें दिया जाता था। अप्सराओंके बीचमें जिस प्रकार अत्यन्त सुन्दरी रम्भा नामकी अप्सरा है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार प्रकाश्य भावसे सुन्दर-सुन्दर कार्यारम्भ होते थे (अथवा मनोरञ्जक खेल होते थे)। सूर्यके उदयसे जिसप्रकार सरोवरमें रहनेवाले कमलोंकी सुगन्धि बाहर निकलती है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार सरोवर-तीरमें रहनेवाले कस्तूरीमृगोंके शरीरकी सुगन्धि बाहर होती थी। सूर्य जिस प्रकार अपने प्रकाशरूप शोभाद्वारा कमलोंका प्रकाशरूप उपकार करते हैं, वह राजभवन भी उसी प्रकार अपनी शोभा द्वारा राजलक्ष्मीकी वृद्धिरूप उपकार करता था। नाटकग्रन्थ जिसप्रकार पताका (नाटकका अङ्क) और अङ्क द्वारा शोभित होता है, वह राजभवन भी उसी प्रकार ध्वज, पताका और बहुतसे

---

१. कविकाव्यमिव। २. श्रेणी। ३. क्वचित् 'अनेक' इति पदं न विद्यते। ४. रम्भाभोगम्।
५. प्रकटपताकाङ्क।

मिव बाणयोग्यावासोपेतम्, पुराणमिव विभागावस्थापित[1]-सकलभुवनकोशम्, सम्पूर्ण[2]-चन्द्रोदयमिव मृदुकरसहस्रसंवर्द्धितरत्नालयम्, दिग्गजमिवाविच्छिन्न-महादान-सन्तानम्, ब्रह्माण्डमिव सकलजीवलोकव्यवहार-कारणोत्पन्नहिरण्यगर्भम्, ईशानबाहुवनमिव महाभोगि-

चिह्नैश्च शोभितं राजितम्। पक्षे पताकया 'व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते' इत्युक्तस्वरूपेण अर्थप्रकृतिविशेषेण, अङ्कैः 'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः' इत्यादिस्वरूपकैः परिच्छेदैश्च शोभितं राजितम्।

शोणितेति। शोणितपुरं तत्संज्ञकं बाणनाम्नो दैत्यस्य नगरं तदिव, बाणानाम् इषूणाम् इष्वाद्यायुधानामित्यर्थः, बाणस्य बाणनृपतेश्च योग्यैः समुचितैः आवासैः भवनैः उपेतं सहितम्।

पुराणमिति। पुराणं व्यासप्रणीतमत्स्यपुराणादिशास्त्रमिव, पुराणलक्षणञ्चोक्तममरकोशटीकायाम्—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। भूम्यादेश्चैव संस्थानं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥'

अष्टादशपुराणानाञ्च संक्षेपेण नामानि चोक्तमन्यत्र—

'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि जगुर्बुधाः॥'

विभागेन पङ्क्तिक्रमरूपेण अवस्थापितः रचितः सकलभुवनकोशः समस्तसंसारे यावान् अर्थसञ्चयः सम्भवति तावान् अर्थसञ्चय इत्यर्थः, यत्र तत्तादृशम्। पक्षे विभागे अंसविशेषे अवस्थापितः कथनेन ज्ञापितः सकलानां समस्तानां चतुर्दशानां भुवनानां मण्डलं यत्र तत्तादृशम्, निखिलेष्वपि पुराणेषु समस्तसंसाराणां निरूपणोपलम्भादित्याशयः।

'कोशोऽस्त्री कुड्मले पात्रे दिव्ये खड्गपिधानके।
जातिकोशेऽर्थसङ्घाते पेश्यां शब्दादिसङ्ग्रहे॥' इति मेदिनी।

सम्पूर्णेति। सम्पूर्णचन्द्रोदयमिव समस्तचन्द्रोद्गमनमिव राकापत्युदयमिवेत्यर्थः, मृदवः कोमलाः प्रजाभिरनायासेन समर्पिताः ये कराः राजदेयद्रव्याणि तेषां सहस्रेण समूहेन सम्वर्द्धिता वृद्धिं प्रापिता रत्नालयाः धनागाराणि यस्य तत्तादृशम्। पक्षे मृदुकरसहस्रेण कोमलरश्मिजालेन संवर्द्धिता वृद्धिं प्रापिताः रत्नालयाः सागरा येन तं तादृशम्।

दिगिति। दिग्गजो दिग्हस्ती तमिव, अविच्छिन्नः विराममप्राप्तः धाराप्रवाहेण संयुक्त इत्यर्थः, महादानानाम् अत्यधिकद्रव्यवितरणानां सन्तानः परम्परा यत्र तत्तादृशम्। पक्षे अविच्छिन्नः महादानसन्तानः सातिशयमदसलिलधारा यस्य तं तादृशम्।

ब्रह्माण्डमिति। ब्रह्माण्डं भुवनकोशमिव, सकलजीवलोकानां समस्तप्राणिवर्गाणां व्यवहारः विवादादिनिश्चय एव कारणं हेतुः तस्मादुत्पन्नानि सञ्जातानि विवादनिश्चयसमये जनैः समर्पितानीत्यर्थः, हिरण्यानि द्रव्याणि गर्भे मध्ये यस्य तत्तादृशम्। पक्षे सकलजीवलोकानां व्यवहारः आचार एव कारणं तस्मादुत्पन्नः जनव्यवहारनिश्चयाय उत्पन्न इत्यर्थः, हिरण्यगर्भो ब्रह्मा यत्र तत्तादृशम्। जनानां सर्जनाय तद्व्यवहारनिश्चयाय च तस्योत्पन्नत्वादित्याशयः।

ईशानेति। ईशानस्य शङ्करस्य बाहूनां भुजानां वनं समुदायमिव, बाहूनां वृक्षसदृशविस्तृतत्वाद्वनशब्दप्रयोगः। महाभोगिनः सातिशयसुखिनो जनाः तेषां मण्डलानां समूहानां सहस्रेण अधिष्ठिता

चिह्नद्वारा शोभित था। शोणितपुर जिस प्रकार बाण राजाके योग्य भवनोंसे युक्त था, वह राजभवन भी उसीप्रकार बाण आदि अस्त्रोंके रखने योग्य-भवनोंसे युक्त था। पुराणशास्त्रमें जिसप्रकार चतुर्दश भुवनोंका वृत्तान्त वर्णित है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार समस्त संसारकी धनराशि अलग-अलग रूपमें कतार लगाकर रखी थी। सम्पूर्ण चन्द्रका उदय जिस प्रकार कोमल किरणोंसे समुद्रोंको बढ़ाता है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार प्रजाओं द्वारा विना परिश्रमसे दिए हुए छोटे-छोटे करों ( महसूलोंसे धनागार खजाने ) की वृद्धि होती थी। दिग्गजकी विशाल मद-जलधारा जिसप्रकार अविच्छिन्नरूपसे बहती रहती है, उस राजभवनमें भी उसीप्रकार अत्यन्त धनवितरण अविच्छिन्नरूपसे ( विना रुकावटसे ) होता रहता था। ब्रह्माण्डमध्यमें जिस प्रकार प्राणियोंके व्यवहार निरूपण करनेके लिए हिरण्यगर्भ ( ब्रह्मा ) उत्पन्न हुए थे, उस राजभवनके मध्यमें भी उसी प्रकार सभी लोगोंके विवाद-मीमांसा होनेसे उसमें लोगों द्वारा दिया गया अधिकतर धन उत्पन्न हो गया था ( अर्थात् लोगोंके अभियोग मुकदमों ) का निर्णय ( फैसला ) होनेसे फीसका बहुतसा धन एकत्रित हो गया था )। शङ्करकी भुजाओंके

१. यथाविभागावस्थापितः, अवस्थित…। २. पूर्ण…।

मण्डलसहस्राधिष्ठित-प्रकोष्ठम्, महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनानन्दितनरम्, यदुवंशमिव कुलक्रमागत-शूर-भीमपुरुषोत्तमबल-परिपालितम्, व्याकरणमिव प्रथम-मध्यमोत्तम-पुरुष-विभक्तिस्थितानेकादेश-कारकाख्यात-सम्प्रदानक्रिया-व्यय-प्रपञ्च-सुस्थितम्, उदधिमिव भया-

आश्रिताः प्रकोष्ठा भवनैकभागा यस्य तत्तादृशम्। पक्षे महाभोगिनो महासर्पाः तेषां मण्डलानां मण्डलीभूय विद्यमानानां सहस्रेण अधिष्ठिता आश्रिताः प्रकोष्ठा मणिबन्धदेशा यस्य तत्तादृशम्।

महेति। महाभारतं पञ्चमो वेदः इतिहास इति स्पष्टार्थः तमिव, अनन्ताः गणनातीता गीता गीता-पाठाः तेषां यत् आकर्णनं श्रवणं तेन आनन्दिताः हर्षिता नरा मानवा यस्मिन् तत्तादृशम्। पक्षे—अनन्तः श्रीकृष्णः तस्य या गीता अष्टादशाध्यायात्मिका श्रीकृष्णप्रतिपादिता गीतेत्यर्थः, तस्या यदाकर्णनं तेन आनन्दितो नरः नरसंज्ञकर्षेरंशावतारोऽर्जुनो यस्मिंस्तत्तादृशम्।

यदिति। यदुस्तन्नामा भूपतिः तस्य वंशः सन्तानपरम्परा तमिव, कुलक्रमेण परम्परया आगता आयाताः शूराः शौर्यगुणयुक्ताः, भीमाः भीषणाश्च ये पुरुषोत्तमाः पुरुषश्रेष्ठाः तेषां बलेन शक्त्या परिपालितं रक्षितम्। पक्षे—कुलक्रमेण तद्वंशीयरीत्या आगतौ उत्पन्नौ शूरौ वीरौ भीमौ विपक्षिणां भीषणौ यौ पुरुषोत्तमबलौ श्रीकृष्णबलरामौ ताभ्यां परिपालितं संरक्षितम्।

व्याकरणमिति। व्याकरणं पाणिन्यादिप्रणीतशब्दशास्त्रमिव, प्रथममध्यमोत्तमतया या पुरुषविभक्तिः'अयं सर्वगुणसम्पन्नतया प्रथमो दानयोग्यः, अयं ततो न्यूनगुणयुक्ततया मध्यमो दानयोग्यः, अयञ्चोत्तमगुणसम्पन्नतया मध्यमत उत्तमो दानयोग्यः' इत्येवंक्रमेण याचकजनविभागः, तस्मिन् विषये स्थिता नियुक्ता ये अनेके बहव आदेशकारकाः 'अस्मै इदं प्रयच्छ' एवमादेशकर्त्तारः पुरुषाः तैः आख्याताः प्रतिपादिताः याः सम्प्रदानक्रियाः सम्यक्प्रकारेण वितरणकर्माणि ताभिर्यो व्ययप्रपञ्चः द्रव्यापगमाधिक्यं तेन सुस्थितं कीर्तिमत्त्वेन विद्यमानम्। पक्षे—प्रथमपुरुषो मध्यमपुरुषः उत्तमपुरुषश्चेति आख्यातानां प्रत्येकत्रिकस्य एकैकसंज्ञा, विभक्तयः सुप्तिङ्रूपाः, तासु स्थिता विद्यमाना ये अनेके आदेशाः त्रिचतुर्-शब्दयोः स्त्रीलिङ्गे तिसृ-चतसृ इत्यादयः, अजेर्वी इत्यादयश्च, कारकाणि कर्त्रादीनि-तानि च—

'कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च। अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट्॥'

आख्यातं तिङन्तं पदम्, सम्प्रदानं चतुर्थीकारकः, क्रियाः क्रियाबोधकभ्वादयः शब्दाः, अव्ययानि—

'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

इत्युक्तस्वरूपाणि स्वर्प्रभृतयः, तेषां प्रपञ्चेन विस्तारेण सुस्थितं सुविख्यातम्।'

यद्यपि कारकपदेनैव सम्प्रदानस्य गतार्थत्वं भवति तथापि श्लेषयोजनाभिप्रायेण पृथक्कृत्योपादानं बोध्यम्।

उदधिमिति। उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्नित्युदधिः समुद्रः तमिव, भयेन शत्रुभूपतित्रासेन अन्तःप्रविष्टा अभ्यन्तरगताः सपक्षाः सहायसहिता ये भूमिभृतो नृपतयः तेषां सहस्रेण आधिक्येन सङ्कुलं व्याप्तम्। पक्षे भयेन सुरराजद्वारा पक्षच्छेदनत्रासेन अन्तःप्रविष्टाः सपक्षाः पतत्रसहिता ये भूभृतो मैनाकादिगिरयः तेषां सहस्रेण सङ्कुलम्।

मणिबन्धदेशमें (कलाई पर) जिस प्रकार मण्डलीभूत बड़े-बड़े साँप लिपटे रहते हैं, उस राजभवनका एक भाग भी उसीप्रकार बड़े-बड़े सुखी लोगोंसे अधिष्ठित था। महाभारतमें जिसप्रकार अर्जुन श्रीकृष्णकी गीता सुनकर आनन्दित हुआ था, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार बहुतसे लोग गीता (अथवा गान) को सुनकर आनन्दित होते थे। यदुवंश जिस प्रकार कुलक्रमके अनुसार बड़े वीर और भयङ्कर होकर उत्पन्न श्रीकृष्ण और बलरामद्वारा परिरक्षित हुआ था, वह राजभवन भी उसीप्रकार कुलक्रमागत शूर और भयङ्कर उत्तम पुरुषोंके सामर्थ्यसे परिरक्षित था। व्याकरणशास्त्र जिसप्रकार प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष, उत्तमपुरुष, सुप् और तिङ् विभक्ति, प्रकृतिस्थित अनेक गम्, अद् प्रभृतिके स्थानमें गच्छ्, घस् आदि आदेश, एवं प्रत्ययस्थित ळे, लट् प्रभृतिके स्थानमें य-तिबाद्यादेश, षड्-विध कर्त्ता आदि कारक, भवति-गच्छति प्रभृति आख्यात, सम्प्रदान (चतुर्थी) कारक, भू प्रभृति धातु, एवं अव्यय 'उच्चैः नीचैः' आदि पदोंके विस्तारसे प्रसिद्ध है, वह राजभवन भी उसी प्रकार 'यह पहले दानके योग्य है, यह मध्यम दानके योग्य है एवं यह उत्तम दानके योग्य है?' इस प्रकार याचक लोगोंके वितरण कार्यमें नियुक्त अनेक आज्ञा माननेवाले (नाजिर आदि) लोगोंने बता दिया जिसे जो दान देना है, इसमें व्ययके आधिक्य

१. अध्यासितप्रकोष्ठमिव। २. क्वचित् 'परि' इति पदं नास्ति। ३. सम्प्रदानापादन।

न्तःप्रविष्ट-सपक्षभूमिभृत्[2]-सहस्रसङ्कुलम् , ऊषानिरुद्धसमागममिव चित्रलेखा[3]दर्शित-विचित्र-सकल त्रिभुवनाकारम् , बलियज्ञमिव पुराणपुरुष-वामनाधिष्ठिताभ्यन्तरम् , शुक्लपक्षप्रदोषमिव वितत-शशि-किरण-कलाप-धवलाम्बर[4]-वितानम् , नरवाहनदत्त-चरितमिव[5] अन्तः

---

पुरा किल पर्वताः पक्षवन्तः सन्त उड्डीय यत्र तत्र नगर्यां पतन्तिस्म, तदा प्रजाविनाशमभिलक्ष्येन्द्रः पर्वतानां पक्षांश्चिच्छेद । तत्र मैनाकादयो हि तद्भयेन समुद्रमध्ये प्रविष्टा इति रामायणीया वार्त्ता ।

ऊषेति । ऊषा बाणाख्यभूपतिदुहिता, अनिरुद्धः श्रीकृष्णपौत्रः तयोः समागमं सम्बन्धस्तमिव, चित्रलेखाभिः तत्तदालेख्यनिर्माणैः दर्शिताः प्रकटिता विचित्रा नानाप्रकाराः, सकलत्रिभुवनस्य समस्तलोकत्रयस्य तद्वर्त्तिनः पदार्थस्य आकाराः आकृतयो यत्र तत्तादृशम् । पक्षे —चित्रलेखया तन्नाम्न्या ऊषासहचर्या दर्शिता आलिख्य ऊषायै प्रदर्शिताः विचित्राः विशिष्टचित्रस्वरूपाः, सकलत्रिभुवनस्य समस्तलोकत्रयनिवासिनस्तरुणगणस्य आकाराः स्वरूपाणि यत्र तं तादृशम् ।

पुरा ऊषानाम्नी बाणतनया स्वप्नेऽतिरमणीयं कमपि तरुणं निरीक्ष्य तत्प्राप्तयेऽत्यन्तोत्सुका सञ्जाता । स हि क्व वर्त्तत इत्यूषया प्रतिपादयितुमशक्यतया तस्याः सहचरी चित्रलेखाभिधा सकलत्रिभुवनस्य समस्तानां तरुणानां स्वरूपाणि आलिख्य समानीय तस्यै दर्शयामास। ततस्तत्र हि अनिरुद्धस्वरूपं निरीक्ष्य स एवायमिति कथितवत्यां तस्यामूषायां चित्रलेखा मायया सुतं तमनिरुद्धमानीय ऊषया सह सम्मेलितवतीति हरिवंशकथा ।

बलीति । बलेः बलिनामकभूपतेः यज्ञमिव, पुराणपुरुषैः वृद्धमानवैः वामनैः ह्रस्वस्वरूपिभिः पुरुषैः, पक्षे—पुराणपुरुषेण आदिपुरुषेण वामनेन गृहीतवामनावतारेण भगवता नारायणेन, अधिष्ठितम् आश्रितम् अभ्यन्तरं मध्यभागो यस्य तत् तादृशम् ।

पुरा भगवान् वामनो बलेः प्रतारणाय तदीयमखं प्रति गतवानासीदिति भागवतीया कथा ।

शुक्लेति । शुक्लपक्षस्य सितदलस्य प्रदोषं रजनीमुखमिव, विततानि ऊर्ध्वं विस्तीर्णानि शशिकिरणकलापवत् चन्द्ररश्मिसमूहवत् धवलानि शुभ्राणि अम्बरवितानानि वस्त्ररचितचन्द्रातपा यत्र तत्तादृशम् । पक्षे—विततैः विस्तृतैः शशिकिरणकलापैः धवलम् अम्बरं गगनमेव वितानं यत्र तं तादृशम् ।

नरेति । नरवाहनदत्तस्य तत्संज्ञकस्य वत्सराजोदयनसुतस्य चरितं चरित्रमिव, अन्तः अवरोधपुरे सम्वर्द्धिताः वृद्धिं प्रापिताः प्रियदर्शनाः परमरमण्यः या राजदारिकाः प्राप्तान्यान्यराजपुत्र्यः ताभिः गन्धर्वेभ्यो देवगायकेभ्यः दत्ता अत्यन्तरमणीयत्वाद्‌र्पिता उत्कण्ठा सम्मिलनौत्सुक्यं यत्र तत्तादृशम् । पक्षे—अन्तः सम्वर्द्धिता प्रियदर्शना नितान्तरमणीया, राज्ञः सागरदत्तस्य दारिका पुत्री या गन्धर्वदत्ता तदाख्या तस्या उत्कण्ठा नरवाहनदत्तस्य कृते ह्यौत्सुक्यं यत्र तत्तादृशम् । इहेतिहासश्च कथासरित्सागरे ह्येवम्—

'राजा सागरदत्ताख्यो गन्धर्वाणामिहास्ति यः । तस्य गन्धर्वदत्ताख्या सुतास्ति न्यक्कृताप्सराः ॥'

सा हि गन्धर्वदत्ता दूतवन्दिब्राह्मणादिभ्यो नरवाहनदत्तगुणातिशयं निशम्य तन्निमित्तं नितान्तोत्सुका जातेति ।

---

होनेसे वे लोग यशस्वी कहलाकर प्रसिद्ध थे। समुद्र जिस प्रकार इन्द्र द्वारा पंख कटने के भयसे अन्दरमें घुसे हुए पंखोंसे युक्त मैनाकादि पर्वतोंसे व्याप्त हो गया था, वह राजभवन भी उसी प्रकार शत्रुओंके भयसे अन्दरमें घुसे हुए सहायक-युक्त ( मित्र भाव-सम्पन्न ) राजाओंसे व्याप्त था। ऊषा-अनिरुद्धके समागममें जिसप्रकार उसकी सखी चित्रलेखाने समस्त त्रिभुवनके युवकपुरुषोंकी आकृतिका चित्र खींच कर ऊषाको दिखाया था, उस राजभवनमें भी उसीप्रकार चित्रकारों द्वारा समस्त त्रिभुवनका सभी पदार्थोंके अनेक प्रकारकी आकृति का चित्र दीवार पर खींच कर लोगोंको दिखाया गया था। बलि राजाका यज्ञस्थल जिस प्रकार आदिपुरुष ( विष्णु ) वामनद्वारा अधिष्ठित था, वह राजभवन भी उसीप्रकार वृद्ध और खर्वाकृति ( बौने ) मनुष्योंद्वारा अधिष्ठित था। शुक्लपक्षका प्रदोषसमय जिसप्रकार चन्द्रके विस्तृत किरणोंसे ( खिली हुई चाँदनीसे ) धवलवर्ण आकाशरूप चन्द्रातपसे युक्त होता है, वह राजभवन भी उसीप्रकार चन्द्रकी किरणों के ( खिली हुई चाँदनीके ) समान धवलवर्ण वस्त्रसे बनाए हुए एवं ऊपरमें विस्तृत चन्द्रातप ( तने शामियाने ) से युक्त था। नरवाहनदत्त राजाकी कथामें जिसप्रकार अन्तःपुरमें संवर्धित हुई परमसुन्दरी राजा सागरदत्तकी पुत्री गन्धर्वदत्ताको नरवाहनदत्तके विरहके कारण उससे समा-

---

१. भयात्प्रविष्ट । २. भूभृद् । ३. विचित्रलेखा । ४. ···धवलितं··· । ५. नरवाहनदत्तकथेव ।

संवर्द्धित-प्रियदर्शन-राजदारिका-गन्धर्वदत्तोत्कण्ठम्, महातीर्थमिव सद्योऽनेकपुरुषप्राप्ताभिषेक-फलम्, प्राग्वंशमिव नानासवपात्र-सङ्कुलम्, निशासमयमिवानेकनक्षत्रमालालङ्कृतम्, प्रभातसमयमिव पूर्वदिग्भाग-रागानुमेय-मित्रोदयम्, गान्धिक[1]-भवनमिव स्नान-धूप-विलेपन[2]-वर्णकोज्ज्वलम्, ताम्बूलिकभवनमिव कृत-लवली-लवङ्गैला-कक्कोल[3]-पत्रसञ्चयम्, प्रथम[4]-वेश्या-

---

महेति । महातीर्थं भागीरथ्यादिकं तद्वदिव, सद्यः तारापीडादेशसमयमेव अनेके विविधा ये पुरुषाः विभिन्नदेशीयनृपात्मजाः तैः प्राप्तानि लब्धानि अभिषेकाः स्वस्वराज्याभिषेका एव फलानि यस्मात्तत्तादृशम् । अर्थात् यस्माद्राजभवनात् बहुभिः राजत्वं प्राप्तम् । पक्षे—सद्यः स्नानकाल एव अनेकपुरुषैः स्नानकर्त्तुः पूर्वलोकैः प्राप्तं लब्धम् अभिषेकात् सुतानामेव स्नानात् फलं स्वर्गादिप्राप्तिरूपं यस्मात्तत् तादृशम् ।

प्रागिति । यस्मिन् भवने होमसम्पादनाय हविः स्थाप्यते तस्मात् प्राग्दिक्स्थायि यजमानादिवासार्थं भवनं प्राग्वंश इत्युच्यते तथा चामरः—'प्राग्वंशः प्राग्घविर्गेहा' दित्यमरः, तमिव, नाना बहुभिः आसवपात्रैः शीधु ( मद्य ) भाजनैः 'मैरेयमासवः शीधुः' इत्यमरः । पक्षे—नानासवस्य यज्ञस्य पात्रैः स्रुक्स्रुवादिभिः यज्ञीयपात्रैः सङ्कुलं व्याप्तम् । "पात्रं तु भाजने योग्ये पात्रं तीरद्वयान्तरे । पात्रं स्रुवादौ पर्णे च राजमन्त्रिणि चेष्यते ॥" इति विश्वः । 'यज्ञः सवोऽध्वरो याग' इत्यमरः ।

निशेति । निशासमयं रात्रिसमयमिव, अनेका नानाविधाः नक्षत्रमालाः सप्तविंशतिसंख्यकमुक्ताफलगुम्फितस्रजः तारकापङ्क्तयश्च ताभिः अलङ्कृतं शोभितम् ।

'सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिसंख्यकैः ।' इत्यमरः ।

प्रभातेति । प्रभातसमयमिव प्रत्यूषावसरमिव, पूर्वदिग्भागे प्रागवस्थायां रागेण महाराजतारापीडस्यानुरागावलोकनेन अनुमेयाः अनुमातुं योग्याः मित्राणां सुहृदाम् उदया अभ्युदया यत्र तत्तादृशम्; तथा च जनैः यं यं मित्रं प्रति प्राक् राज्ञोरागोऽवलोकितः तस्य तस्यैव शीघ्रेण तदर्पितद्रव्यादिभिरभ्युदयो भविष्यतीत्यनुमितमिति स्पष्टार्थः । पक्षे—पूर्वदिग्भागे प्राच्यां दिशि रागेण लौहित्यदर्शनेन अनुमेयः मित्रस्य दिनकरस्य उदयो यत्र तत्तादृशम् ।

गान्धिकेति । गन्धद्रव्याणि विक्रीणीते यः स गान्धिकः तस्य भवनं निकेतनमिव, स्नानं स्नानीयद्रव्यं सुगन्धितैलादि, धूपः विलेपनं श्रीखण्डचन्दनादिकम्, वर्णकम् अङ्गरागद्रव्यं कुङ्कुमादिकवर्तिविशेषश्च तैरुज्ज्वलं दीप्तिमत्तत्तादृशम् ।

'गात्रानुलेपनी वर्त्तिर्विगन्ध्यथ विलेपनम् । वर्णकं चाथ विच्छित्तिः स्त्री कषायोऽङ्गरागके ॥' इति रभसः ।

ताम्बूलिकेति । ताम्बूलिकस्य नागवल्लीदलविक्रयविधायिनः भवनं गृहमिव, कृतो भोक्तुं विक्रेतुं च विहितः लवलीनां लवङ्गानां एलानां चन्द्रवालानां पत्राणां दलानां ताम्बूलानाञ्चेति तात्पर्यम्, सञ्चयः एकत्रीकरणं यत्र तत्तादृशम् ।

प्रथमेति । प्रथम आद्यो यो वेश्यासमागमः गणिकासम्मिलनं तमिव, अविदितः अनन्तगाम्भीर्य-

---

गम करनेकी उत्कण्ठा सुननेमें आती है, उस राजभवनमें भी उसीप्रकार अन्तःपुर ( रनिवास ) में संवर्धिता परमसुन्दरी राजपुत्रियाँ गन्धर्वोंको भी उत्कण्ठा उत्पन्न करती थीं ऐसा सुननेमें आता है । गङ्गादिक महातीर्थमें स्नान करने पर जिसप्रकार तत्काल ही स्नान करनेवालोंके पूर्व पुरुषोंको स्वर्गादिक फल प्राप्त होते हैं, उस राजभवनमें भी उसीप्रकार महाराज तारापीडकी अनुमति होने पर उस समयमें ही विभिन्नदेशीय राजपुत्रोंको अपने-अपने राज्यमें अभिषेक-रूप फल प्राप्त होते हैं । होमघरके पूर्वदिशामें यजमानादिकोंके रहनेके लिए विद्यमान घर जिसप्रकार स्रुक् और स्रुवादि अनेक प्रकारके यज्ञीय पात्रोंसे व्याप्त रहता है, वह राजभवन भी उसीप्रकार अनेक प्रकारके मद्यपात्रों ( शराबके प्यालों ) से व्याप्त था । रात्रिसमय जिसप्रकार अनेक नक्षत्रमालाओंसे शोभित होता है, वह राजभवन भी उसीप्रकार अनेक मुक्तामालाओंसे शोभित था । प्रातःकालमें जिसप्रकार पूर्वदिशामें लालिमा देखकर सूर्योदयका अनुमान किया जाता है, उस राजभवनमें भी उसीप्रकार मित्रोंके प्रति आरम्भमें ही महाराजका अनुराग देखकर उनलोगोंकी उन्नतिका अनुमान किया जाता था । गन्धद्रव्य बेचनेवालेके गृहके समान वह राजभवन, सुगन्धितैलादि स्नानकरने योग्य द्रव्य, धूप, चन्दनादि अनुलेपन द्रव्य एवं कुङ्कुमादि अङ्गलेप द्रव्यसे उज्ज्वल दीखता था । पानबेचनेवाले ( तमोली ) के घरके समान उस राजभवनमें भी लवली-लवंग

---

१. गन्धिक… । २. …लेपन । ३. …कक्कोलि, कक्कोल… । ४. प्रधान…

समागममिव अविदित-हृदयाभिप्राय-चेष्टाविकारम्, कामुकजनमिव बहु-चाटु-संलाप-सुभाषित-रसास्वाद-दत्त-तालशब्दम्, धूर्त्तमण्डलमिव दीयमान-मणि-शत-सहस्रालङ्करण-कृत-लेख्यपत्रसञ्चयम्, धर्म्मारम्भमिवाशेषजन-मनः-प्रह्लादनम्, महावनमिव विविध[1]श्वापद-द्विजोपघुष्टम्, रामायणमिव कपि[2]-कथासमाकुलम्, माद्रीकुलमिव नकुलालङ्कृतम्, सङ्गीतभवन-

त्वात् केनाप्यनधिगतः हृदयाभिप्रायः चित्ताशयो याभ्यः तथोक्ताः चेष्टाः क्रियाः, विकाराः वदनलोचनादिभङ्ग्यश्च यत्र तत्तादृशम्। पक्षे—अविदितः अपरिचितत्वात् केनाऽप्यबुद्धः हृदयाभिप्रायो यासु तथोक्ताः चेष्टाः शृङ्गारचेष्टा विकारा भ्रूकटाक्षादयश्च यत्र तं तादृशम्।

कामुकेति। कामुकजनमिव, बहूनि नानाविधानि चाटूनि नर्मवाक्यानि येषु तथोक्तैः संलापैः परस्परोक्तिभिः सुभाषितैः एकैकस्य रमणीयवचनैश्च यो रसास्वादः रसावगमः तेन दत्तः सम्मतिबोधनाय विहितः तालशब्दः करतलध्वनिः यत्र तत्तादृशम्, पक्षे—येन तं तादृशम्।

धूर्त्तेति। धूर्त्तो द्यूतकारः तस्य मण्डलं समूहमिव, दीयमानानि तत्तत्प्रान्तीयराजभिरुपायनरूपेण वितीर्यमाणानि यानि मणीनां रत्नानां शतसहस्राणि तत्संख्याकानि अलङ्करणानि आभूषणानि च तेषां कृतः नियुक्तलिपिकर्तृभिर्विहितः लेख्यपत्रसञ्चयः तानि भूयो भूयो लिपीकृत्य तत्पत्रसंग्रहो यत्र तत्तादृशम्। पक्षे—दीयमानाय द्यूते स्वाविजयत्वेन दातव्याय मणिशतसहस्राय अलङ्करणाय च कृतः निजहस्ताक्षरैर्विहितः लेख्यपत्रसञ्चयः 'एतावत् काले दास्यामि' इति ऋणलेख्यपत्रसंग्रहो येन तत्तादृशम्।

धर्मेति। धर्मो यागादिकः तस्य आरम्भः कार्योपक्रमः तमिव, अशेषाः समस्ता ये जना लोकाः तेषां मनःप्रह्लादनं हृदयानन्दोत्पादकम्, अत्यद्भुतत्वादित्याशयः। पक्षेऽपि तुल्यमेव।

महेति। महावनमिव, विविधैः नानाप्रकारैः श्वापदैः पोषितहिंस्रप्राणिभिः आरण्यकहिंस्रप्राणिभिश्च शार्दूलादिभिः, द्विजैः पोषितपतत्रिभिः विप्रैर्वा, पक्षे आरण्यकपतत्रिभिश्च उपघुष्टं शब्दितम्। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः।

रामेति। रामायणं रामचरितं महाकाव्यमिव, कपिभिः पोषितवानरैः कथाभिः विविधोपाख्यानैश्च, पक्षे—सुग्रीवहनुमत्प्रभृतीनां कथया उपाख्यानेन समाकुलं व्याप्तम्।

इतिहासो महाभारतादिरेव न तु रामायणं तस्य महाकाव्यत्वेन सर्वत्र व्यवह्रियमाणत्वात्।

माद्रीति। माद्री पाण्डोः कनिष्ठा पत्नी तस्याः कुलं सन्तानमिव, नकुलैः पोषितभुजङ्गारिभिः, नकुलेन तत्संज्ञकचतुर्थपाण्डवेन च अलङ्कृतं भूषितम्।

सङ्गीतेति। सङ्गीतस्य 'गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते' इत्युक्तदिशा गीतनृत्य-

( लवंग ), इलायची, कक्कोल, एवं ताम्बूल इकट्ठे थे। वेश्याके प्रथम समागममें जिसप्रकार उसके मनका अभिप्राय व्यवहार और मुखचेष्टादिके भाव समझमें नहीं आते हैं, उस राजभवनमें भी उसीप्रकार लोगोंके मनका अभिप्राय, व्यवहार और मुखचेष्टादिके भाव समझमें नहीं आते थे। कामुक व्यक्तिके समान उस राजभवनके लोग भी अनेक प्रिय वाक्योंके द्वारा आपसमें आलापका एवं एक दूसरेके मनोहर वाक्योंका रसास्वादन कर करतलध्वनि ( तालियाँ बजाया ) करते थे। द्यूतकारगण ( जुआरी लोग ) जिसप्रकार जुएमें पराजित होकर बाजीमें शत-सहस्र रत्न एवं आभूषणोंके लिए लेख्यपत्र ( बयान ) लिख देते हैं, उस राजभवनमें भी उसीप्रकार छोटे-छोटे अधीन राजे लोग उपहारभावसे जो शत-सहस्र मणि और आभूषण देते थे, लेखकगण उनलोगोंके उन सभी चीजोंका लेख्यपत्र ( तालिका ) लिखकर देते थे ( अथवा रानियोंके पहननेके लिए दिये गए मणिमय-आभूषणोंको लेखकगण ( दीवान ) कागज पर लिखते थे )। यागादि धर्मकार्यारम्भके समान वह राजभवन भी सब लोगोंके चित्तका आनन्द देनेवाला था। महावनके समान वह राजभवन व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं और पक्षियोंके शब्दसे शब्दायमान था। रामायण जिसप्रकार वालि-सुग्रीव और हनुमान् आदि वानरोंकी कथाओंसे परिपूर्ण है, वह राजभवन भी उसीप्रकार पालित वानर और अनेक स्थानोंमें प्रारम्भ की हुई कथाओंसे परिपूर्ण था। माद्रीका कुल जिसप्रकार नकुल ( चतुर्थ पाण्डव ) द्वारा भूषित था, वह राजभवन भी उसीप्रकार नकुल ( नेवला-मिथिलाभाषामें विज्जी ) द्वारा शोभित था। सङ्गीतशालामें जिसप्रकार स्थान-स्थान पर मृदङ्ग रक्खा रहता है, उस राज-

१. क्वचित् 'विविध' इति पदं नोपलभ्यते। २. कवि…।

मिवानेकस्थानावस्थापितमृदङ्गम्, रघुकुलमिव भरतगुणानन्दितम्[1], ज्यौतिषमिव ग्रह-मोक्ष-कला-भाग-निपुणम्, नारदीयमिव, वर्ण्यमान[2]-राजधर्म्मम्, यन्त्रमिव विविध-शब्द-रस-लब्धास्वादम्, मृदुकाव्यमिवान्य[3]-चिन्तित-स्वभावाभिप्रायावेदकम्[4], महानदी-प्रवाहमिव सर्वदुरि-

---

वाद्यत्रयस्य भवनं गृहमिव, अनेकेषु विविधेषु स्थानेषु अवस्थापिता न्यस्ताः, मृदः अङ्गानि करचरणाद्यवयवा यासां ता मृदङ्गा मृत्पुत्तलिकाः मुरजाश्च यत्र तत्तादृशम्।

रघुकुलमिति। रघुकुलमिव, भरता नटाः तेषां गुणैः अभिनयकौशलैः, भरतस्य केकयीसुतस्य गुणैः दयादाक्षिण्यादिभिश्च आनन्दितं प्रमोदितम्।

ज्यौतिषमिति। ज्यौतिषं ग्रहनक्षत्रादिबोधकं शास्त्रं तदिव, ग्रहो ग्रहणं प्रतिकूलाचरणानामाबद्धीकरणम्, मोक्षो निश्चितकालव्यतीते दण्डितानां तेषां कारागृहान्मोचनम्, कला नृत्यगीतादिचतुःषष्टिविद्याः, भागः शास्त्रमनतिक्रम्य धनविभक्तकरणं तेषु निपुणा दक्षा जना इत्यर्थः यत्र तत्तादृशम्। पक्षे-ग्रहः सैंहिकेयेन चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहणम्, मोक्षः तयोस्तस्मान्मुक्तिः, कला पञ्चपलात्मकः समयः, भागश्च पञ्चदण्डात्मकः समयः तेषु तत्प्रतिपादनेषु इत्यर्थः निपुणं दक्षम्।

नारेति। नारदीयं नारमज्ञानं द्यति खण्डयतीति नारदः सुरर्षिः तेन प्रोक्तं पुराणं नारदीयं तदिव, वर्ण्यमाना निरूप्यमाणाः राजधर्मा यत्र तत्तादृशम्। नारदीयपुराणेऽपि राजधर्मनिरूपणोपलम्भात्।

यन्त्रमिति। यन्त्रं वीणादिकमिव, विविधा नानाप्रकारा ये शब्दाः योजितवाक्यानि तेषां ये रसाः शृङ्गारादयः तेषां लब्धःकाव्यकौशलैःप्राप्तः आस्वादश्चर्वणं यत्र तत्तादृशम्। पक्षे विविधा ये शब्दाः वीणोत्थितध्वनयः तेषां रसस्य माधुर्यस्य लब्धः श्रवणकर्तृभिः प्राप्तः आस्वादश्चर्वणं यस्मात्तत्तादृशम्।

मृद्विति। मृदु सुकुमारं प्रसादगुणयुक्तमित्यर्थः काव्यं कविकर्म तद्वदिव, अन्यैः अन्यस्थानस्थायिपुरुषैः चिन्तितः चिन्तामात्रविषयीकृतः न तु प्राप्त इत्याशयः, यः स्वभावः प्रकृतिः, अभिप्रायः तत्र स्थितपुरुषाणामाशयश्च तयोः आवेदकं बोधकम्, पक्षे-अन्यैः प्रतिपादकातिरिक्तैः पुरुषैः चिन्तितः केवलश्रवणेन ज्ञातः यः स्वभावः स्वार्थाभिप्रायः प्रतिपादकस्याशयः तात्पर्यविषयीभूतार्थाशय इति भावः, तयोरावेदकं द्योतकम्। प्रसादगुणविशिष्टं काव्यमन्ये श्रवणमात्रेण आशयतोऽवबुध्यन्त इत्यर्थः।

महेति। महानद्या बृहत्तटिन्याः गङ्गादेः प्रवाह ओघः तमिव, सर्वेषां समस्तानां दुरितानां दुष्टलोकदुर्व्यवहाराणाम् अपहरं तत्रत्यविदुषां सदुपदेशात् विनाशकम्। पक्षे-सर्वाणि यानि दुरितानि पापानि तेषाम् अपहरं स्नानकरणेन नाशजनकम्।

---

भवनमें भी उसीप्रकार स्थान-स्थान पर मृत्तिकाकी पुत्तलिका रक्खी थी। रघुकुल जिसप्रकार भरतके गुण ( दया-दाक्षिण्यादि ) से आनन्दित हुआ था, वह राजभवन भी उसीप्रकार नटोंके गुण ( अभिनयादि नैपुण्य ) से आनन्दित था। ज्यौतिषशास्त्र जिसप्रकार चन्द्र और सूर्यके ग्रहण और मुक्ति, कला ( पञ्चपलात्मक समय ), एवं भागके ( पञ्चदण्डात्मक समयके ) प्रतिपादनमें समर्थ है, उस राजभवनमें अनेक व्यक्ति ( मन्त्री आदि ) भी उसी प्रकार दुर्जनोंको बँधवानेमें, निर्दिष्ट समय बीत जाने पर उसे कारागार ( जेल ) से छुड़वानेमें, नृत्यगीतादि कलाविद्याओंका शास्त्रानुसार द्रव्यों का विभाजन करानेमें समर्थ थे। नारदीय पुराणमें जिस प्रकार समस्त राजधर्मों का वर्णन है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार सब राजधर्म रक्षित थे। वीणादिक वाद्ययन्त्रों से सुननेवाले जिस प्रकार अनेक प्रकार शब्दमाधुर्योंके रसका आस्वादन पाते रहते हैं, उस राजभवनमें काव्योंको जानने वाले भी उसी प्रकार अनेक प्रकारके काव्य-रसोंका आस्वाद पाते थे। प्रसाद गुणसे युक्त काव्य जिस प्रकार श्रवणमात्रसे ही साधारण मनुष्य चिन्तन कर सकें ऐसे अभिप्रायों और प्रकृतियोंके वर्णन को व्यक्त करता है, वह राजभवन भी उसी प्रकार दूसरेके केवल चिन्ताविषयीभूत अपनी असाधारण चमत्कारिता, और तत्रत्य जनोंका सदभिप्राय को व्यक्त करता है। गङ्गादि महानदियों का प्रवाह जिस प्रकार समस्त पापोंको दूर करता है, वह राजभवन भी उसी प्रकार ज्ञानियोंके उपदेश द्वारा सब लोगोंके दुराचरणों को दूर करता है।

---

१. भरतकुलानन्दितम्। २. आवर्ण्यमान…। ३. अनन्य…। ४. वेदकम्।

तापहरम्[1], धनमिव न कस्यचिन्नाकाङ्क्षणीयम्[2], सन्ध्यासमयमिव दृश्यमानचन्द्रापीडोदयम्, नारायणवक्षःस्थलमिव श्री-रत्न-प्रभा-भासित-दिगन्तम्, बलभद्रमिव कादम्बरी-रस-विशेष-वर्णनाकुलमति[3], ब्रह्माणमिव[4] पद्मासनोपदेश-दर्शित-भूमण्डलम्, स्कन्दमिव शिखिक्रीडारम्भचञ्चलम्, कुलाङ्गनाप्रचारमिव सर्वदोपजातशङ्कम्, वेश्याजनमिवोपचारचतुरम्,

धनमिति। धनं द्रव्यं तद्वदिव, कस्यचिन्नाकाङ्क्षणीयं नाभिलषणीयमिति किन्तु सर्वस्यैवाकाङ्क्षणीयमित्यर्थः।

सन्ध्येति। सन्ध्यायाः सायङ्कालस्य यः समयो वेला तमिव, दृश्यमानः प्रेक्ष्यमाणः चन्द्रापीडस्य तत्संज्ञकस्य नृपात्मजस्य उदय उपस्थितिर्यत्र तत्तादृशम्। पक्षे-दृश्यमानः अवलोक्यमानः चन्द्रः शशी एव सन्ध्याया एव आपीडः शिरोऽलङ्कारः तस्य उदय आविर्भावो यत्र तं तादृशम्। यद्वा-चन्द्रापीडो महेश्वरः तस्योदयो यत्र तं तादृशम्, सर्वदा सन्ध्यायां नृत्यविधानादित्याशयः।

नारायणेति। नारायणो विष्णुः तस्य वक्षःस्थलं भुजान्तरं तद्वदिव, श्रीसहितानि रत्नानि श्रीरत्नानि द्युतिविशिष्टमणयः तेषां प्रभाभिः कान्तिभिः भासिता दीपिता दिशां ककुभाम् अन्ताः शेषसीमा यस्य तत्तादृशम्। पक्षे-श्रिया लक्ष्म्या रत्नस्य कौस्तुभस्य च प्रभाभिः भासिता दिगन्ता यस्य तत्तादृशम्।

बलेति। बलभद्रो बलरामः तमिव, कादम्बर्याः मद्यस्य रसविशेषवर्णने आकुला व्यग्रा मतिः लोकानां बुद्धिः यत्र तत्, यस्य च तं तादृशम्। राजकुलपक्षे—'आकुलमति' इति लिङ्गव्यत्ययो विधेयः।

ब्रह्माणमिति। ब्रह्माणं ब्रह्मचारिणमिव, पद्मा राज्यश्रीः तस्याः आसनाय बहुकालपर्यन्तं स्थितये य उपदेश आचार्यैः तारापीडाय नीतिज्ञानदानं तेन दर्शितं प्रकटितं भुवः पृथिव्या मण्डलं व्यवहारो यत्र तत्तादृशम्। पक्षे-पद्मासनम्—

'ऊरुमूले वामपादं पुनस्तु दक्षिणं पदम्। वामोरौ स्थापयित्वा तु पद्मासनमिति स्मृतम्'।

इत्यभिहितस्वरूपम् आसनविशेषः तस्य उपदेशः तज्ज्ञानप्रदानं दर्शितं तत्त्वज्ञानाय बोधितं भूमण्डलञ्च यस्मै तं तादृशम्। ब्राह्मणमिति पाठे ब्राह्मणं द्विजमिव, पद्मासनोपदेशेन दर्शितभूमण्डलम्, पक्षे-पद्मासनो ब्रह्मा तस्योपदेशो वेदः तेन दर्शितं परेभ्यः प्रकाशितं भूमण्डलं येन स तं तादृशम्।

स्कन्दमिति। स्कन्दः कार्तिकेयः तमिव, शिखिनः पोषितमयूराः तेषां क्रीडारम्भेण उद्धतनृत्यक्रीडोपक्रमेण चञ्चलं चटुलप्रायम्। पक्षे—शिखिनो वाहनीभूतमयूरस्य क्रीडारम्भेण नृत्यक्रीडोपक्रमेण चञ्चलः तदुपरि वर्तमानत्वेन स्पन्दितशरीरस्तम्।

कुलेति। कुलाङ्गना कुलवधूः तस्याः प्रचारो बहिर्मार्गादौ गमनं तमिव, सर्वदा सर्वस्मिन् समये उपजाता सामान्यानां कुलाङ्गनायाश्च उत्पन्ना शङ्का भीतिः यत्र तत्, तच्च तादृशम्।

वेश्येति। वेश्याजनो वाराङ्गनाजनः तमिव, उपचारे विद्यमानलोकानामादरप्रार्थनायां चतुरं

धनके समान वह राजभवन भी सभी को अभीप्सित था। सन्ध्याकालमें जिस प्रकार सन्ध्याके शिरोभूषण चन्द्र का उदय देखनेमें आता है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार उस समय चन्द्रापीड़का उदय देखनेमें आता था। नारायणका वक्षःस्थल जिस प्रकार लक्ष्मी और कौस्तुभ मणिकी प्रभाद्वारा दिशाओंको प्रकाशित करता है, वह राजभवन भी उसी प्रकार दीप्ति संयुक्त मणियों की प्रभाद्वारा दिशाओंको प्रकाशित करता था। बलभद्र की बुद्धि जिस प्रकार मद्यके रसमाधुर्य वर्णन करनेके लिए व्यस्त रहती थी, उस राजभवनके अनेक लोगों की बुद्धि भी उसी प्रकार मद्यके रसमाधुर्य वर्णन करनेके लिए व्यस्त रहती थी। ब्रह्मचारी को जिस प्रकार आचार्य तत्त्वज्ञानके लिए पद्मासनका उपदेश और जगतीतलके समस्त पदार्थों को समझा देते हैं, उस राजधानीमें उसी प्रकार राजगुरुओंने राजलक्ष्मी को चिरस्थायिनी बनानेके लिए महाराज तारापीडको नीतिशास्त्रका उपदेश और भूमण्डलके आचार-व्यवहारों को समझा दिया था। स्वामिकार्त्तिकेय जिस प्रकार अपने वाहन मयूरके नृत्यारम्भमें चञ्चल होते हैं, वह राजभवन भी उसी प्रकार पालतू मयूरों के नृत्यारम्भसे चञ्चलप्राय होता था। कुलीन स्त्रियोंको जिस प्रकार प्रकाश्य-मार्ग (आम रास्ते) में चलने के समयमें हर समय सन्देह उत्पन्न होता है, उस राजभवनमें भी उसी प्रकार साधारण मनुष्योंके हर समय सावधानता उत्पन्न कराई जाती थी। वेश्याके

१. दुरिततापहरम्। २. काङ्क्षणीयम्। काङ्क्षणीयं फलम्। ३. मतिम्। ४. ब्राह्मणमिव।

दुर्जनमिवापगतपरलोकभयम्, अन्त्य[१]-जनमिव अगम्यविषयाभिलाषम्, अगम्यविषयासक्तमपि प्रशंसनीयम्, अन्तक-भटगणमिव कृताकृतसुकृतविचारनिपुणम्, सुकृतमिवादिमध्यावसान-कल्याणकरम्, वासरारम्भमिव परिस्फुरत्[२]पद्मरागारुणी-क्रियमाण-निशान्तम्, दिव्यमुनिगण-

कुशलम्, तत्स्थलोकानां कौशलत्वात्तस्यापि कौशलत्वमौपचारिकं बोध्यम्। पक्षेऽप्येवमेव।

दुर्जनमिति। दुर्जनः खलः तमिव, अपगतं साधुतया रक्षितत्वेन दूरीभूतं परलोकात् वैरिजनात् भयं भीतिः यस्य तत्तादृशम्। पक्षे-अपगतम् अज्ञानावरणत्वात् दूरीभूतं परलोकात् इह जन्मकृतदुरित-जन्यजन्मान्तरक्लेशात् भयं त्रासो यस्य तं तादृशम्।

अन्त्येति। अन्त्यजनः चण्डालादिनीचजनः तमिव, अगम्याः परैर्दुर्बोध्याः विषयाणां परराज्यानाम् अभिलाषा नरपतेः मनोरथा यत्र तत्तादृशम्, तस्य मन्त्रगुप्तिश्चानेनोक्ता। पक्षे—अगम्ये सज्जनैः गन्तुम-शक्ये विषये देशे महाविपिनभूधरादौ अभिलाषः वसतेः स्पृहा यस्य तं तादृशम्। इह यद्यपि 'वेश्याजन-मिव' इत्यारभ्य वाक्यत्रये उपमानस्य जुगुप्सितत्वेनानुचितार्थदोषः समापतति तथापि श्लेषोपमायामुप-मानान्तरप्रयोगे एवं विधविच्छित्तिविशेषस्यासम्भवत्वेन 'चण्डाल इव राजाऽसौ सङ्ग्रामेऽधिकसाहसः' इति दर्पणोदाहरणवन्न दोष इति समालोचनकुशलाः समालोचयन्ति।

अगम्येति। अगम्ये अभोग्ये विषये गणिकासुरापानादौ आसक्तमपि प्रशंसनीयमिति विरोधः, अगम्ये परैर्गन्तुमप्यशक्ये विषये अन्यदीयराज्ये आसक्तं स्वोत्कर्षाय विहिताभिनिवेशमिति तत्परिहारः। अत एवेह विरोधाभासोऽलङ्कारः।

अन्तकेति। अन्तको यमः तस्य भटगणमिव दूतसमूहमिव, कृताकृतयोः प्रजागणेन विहिताविहि-तयोः कर्मणोः सुकृतेन धर्मानुसारेण विचारे मीमांसायां निपुणं गुप्तचरेभ्यः समस्तज्ञानात् स्वाभाविकतेजः शक्तेश्च कुशलम्। पक्षे—कृतयोः प्राणिवर्गेण सम्पादितयोः अकृतसुकृतयोः धर्म्माधर्मयोः विचारे मीमां-सायां निपुणम्।

सुकृतमिति। सुकृतं धर्ममिव, आदिमध्यावसानेषु बहिर्देश-मध्यदेश-अवशिष्टदशेषु कल्याणकरं निवासिनाम् आनन्दपूर्वकभ्रमणत्वेन शुभसम्पादकम्। पक्षे—आदिमध्यावसानेषु त्रिष्वप्यवस्थासु कल्याणकरम्। तदुक्तम्—

'धर्मेण हन्यते व्याधिः धर्मेण हन्यते ग्रहः। धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः॥'

वासरेति। वासरारम्भः प्रत्यूषसमयः तमिव, परिस्फुरन्तो देदीप्यमानाः ये पद्मरागाः तत्संज्ञक-रक्तमणयः तैः अरुणीक्रियमाणानि रक्तीक्रियमाणानि निशान्तानि भवनानि यत्र तत्तादृशम्। पक्षे—परि-स्फुरन्ति विकसन्ति यानि पद्मानि कमलानि तेषां रागैः रक्तिमभिः अरुणीक्रियमाणः निशान्तः रजनी-शेषो येन तं तादृशम्।

दिव्येति। दिव्यमुनिगणः महर्षिवसिष्ठादिसमूहः तमिव, कलापिसनाथैः मयूरपुत्रिकायुक्तैः श्वेत-

समान वह राजभवन भी अभ्यागत लोगोंका आदर-अभ्यर्थना करनेमें समर्थ था। दुर्जनको जिस प्रकार जन्मान्तर-भय नहीं रहता है, उस राजभवनको भी उसी प्रकार शत्रुओंसे भय नहीं था। चाण्डालादि नीचजनों को जिस प्रकार साधुओंके अगम्य महापर्वतादि स्थानमें रहनेके लिए इच्छा होती है, उस राजभवन में भी उसी प्रकार दुर्गम पर-राज्योंका अपने अधीनमें करनेके लिए राजा की इच्छा होती थी। वह राजभवन, भोगके अयोग्य वेश्या और मद्यमें आसक्त होने पर भी प्रशंसनीय था (दूसरे लोगोंसे जानेमें दुर्लभ पर-राज्यमें विजय पाने के लिए उद्योग करता था, एवं प्रशंसनीय था)। यमदूत, जिस प्रकार जीवोंके सुकृत-दुष्कृत विचारनेमें प्रवीण हैं, वह राजभवन भी उसी प्रकार प्रजाएँ जो काम करती हैं अथवा नहीं करती हैं उनके विचार करनेमें प्रवीण था। धर्म जिस प्रकार आदि, मध्य और अन्त सभी अवस्थामें ही लोगोंका कल्याण करता है, वह राजभवन भी उसी प्रकार बाहर, बीच और अन्दर सभी स्थानों में ही रहनेवालों का कल्याण करनेवाला था। प्रातःकाल जिस प्रकार चमकते कमलोंके रंगसे रात्रिके शेष भागको लाल लाल करता है, वह राजभवन भी उसी प्रकार देदीप्यमान पद्मराग-मणियों से भवनों को लाल करता था। दिव्य मुनिगण जिस प्रकार कलापिनामक मुनिके साथ

१. अन्त्यज···। २. क्वचित् 'परिस्फुरत्' इति पदं नोपलभ्यते।

मिव कलापि[1]-सनाथ-श्वेतकेतु-शोभितम्[2], भारतसमरमिव कृतवर्म्मबाण[3]-चक्र-सम्भार-भीषणम्, पातालमिव महाकञ्चुकिसहस्राध्यासितम्[4], वर्ष-पर्वतसमूहमिवान्तःस्थितापरिमित-श्रृङ्गि-हेमकूटम्[5], महाद्वारमपि दुष्प्रवेशम्, अवन्तिविषयगतमपि मागधजनाधिष्ठितम्, स्फीतमपि भ्रमन्नग्नलोकं राजकुलं विवेश।

---

केतुभिः धवलपताकाभिः शोभितं राजितम्। पक्षे—कलापी वैशम्पायनान्तेवासी ऋषिविशेषः तत्सनाथः तत्सहितः श्वेतकेतुः तदाख्य ऋषिः तेन शोभितम्।

भारतेति। भारतसमरं कौरवपाण्डवसङ्ग्राममिव, कृतो विहितो यो वर्मणां शराणां चक्राणाञ्च सम्भार एकत्रीकरणं तेन भीषणं भयङ्करम्। पक्षे—कृतवर्मणः तत्संज्ञकयदुकुलीयमहावीरस्य बाणचक्रस्य इषुनिकरस्य सम्भारेण प्रयोगेण भीषणम्।

पातालमिति। पातालमिव, महान्तश्च ये कञ्चुकिनः अन्तःपुरचरवृद्धब्राह्मणाः तेषां निर्म्मोकवतां भुजङ्गानाञ्च सहस्रेण अध्यासितम् अधिष्ठितम्।

वर्षेति। सप्तद्वीपा वसुमती, तत्र जम्बुद्वीपे भरतादयो नवसङ्ख्यकाः खण्डाः तेषां सीमाकारिणः पर्वताः वर्षपर्वता इत्युच्यन्ते। तथा चोक्तम्—

'हिमवान् हेमकूटश्च निषधो मेरुरेव च। चैत्रः कर्णी च श्रृङ्गी च सप्तैते वर्षपर्वताः॥'

तेषां समूहो गणस्तमिव, अन्तर्मध्ये स्थितो विद्यमानः अपरिमितानाम् असङ्ख्येयानां श्रृङ्गिणां गवादिश्रृङ्गवत्पशूनां हेम्नां काञ्चनानाञ्च कूटः समूहो यस्य तत्तादृशम्। पक्षे—अन्तः स्थितौ मध्ये वर्त्तमानौ अपरिमितौ असङ्ख्येयौ श्रृङ्गिहेमकूटौ तत्संज्ञकाचलौ यस्य तं तादृशम्।

महेति। महान्ति विशालानि द्वाराणि अन्तःप्रवेशमार्गा यस्य तत्तादृशमपि दुष्प्रवेशमिति विरोधः, राज्ञः प्रतापात् साधारणैः प्रवेष्टुमशक्यमिति तत्परिहारः।

अवन्तीति। अवन्तिविषयो मालवदेशः तत्र गतं स्थितमपि मागधजनैः मगधदेशीयपुरुषैः अधिष्ठितम् आश्रितमिति विरोधः, मागधजनैः स्तुतिपाठकपुरुषैः अधिष्ठितमिति तत्परिहारः।

'मागधो मगधोद्भूते शुक्लजीरकवन्दिनोः'। इति हैमः।

स्फीतमिति। स्फीतं सम्पत्तिसमृद्ध्या पीनं पूर्णमपि, भ्रमन्तः भ्रमणं कुर्वाणाः नग्नलोका निर्धनत्वेन वसनाभावाद्विवसनपुरुषा यत्र तदिति विरोधः, भ्रमन्तः इतस्ततो विचरन्तः नग्नलोकाः बौद्धभिक्षुका यत्र तदिति तत्परिहारः। 'नग्नो वन्दिक्षपणयोः पुंसि त्रिषु विवाससि।' इति विश्वः। राजकुलं राजभवनम्, विवेश प्रवेशमकुर्वत।

'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च। भवने च······॥ इति मेदिनी।

---

श्वेतकेतु नामक मुनिसे शोभित हुए थे, वह राजभवन भी चित्रित मयूरसंयुक्त सफेद पताकाओं से शोभित था। कौरव-पाण्डवका युद्ध जिस प्रकार कृतवर्माके बाणों और चक्रके प्रहारसे भीषण हुआ था, वह राजभवन भी उसी प्रकार कवच, बाण और चक्रों का संग्रह करनेसे भीषण था। पाताल जिस प्रकार महासर्पों द्वारा अधिष्ठित है, वह राजभवन भी उसी प्रकार अन्तःपुर ( रनिवास ) में भ्रमण करने वाले अतिवृद्ध ब्राह्मणोंसे अधिष्ठित था। हिमालयादि वर्ष-पर्वतोंके बीचमें जिस प्रकार बहुत बड़े श्रृङ्गी और हेमकूट नामके दो पर्वत विद्यमान हैं, उस राजभवनके बीचमें भी उसी प्रकार श्रृङ्गयुक्त अगणित गो आदि पशु एवं सुवर्ण समूह थे। इस प्रकार वह राजभवन बड़े-बड़े दरवाजोंसे युक्त होने पर भी प्रवेश करनेमें कठिन था परिहारपक्षमें—( दूसरे को सहसा प्रवेश करने में कठिन था )। उस राजभवनको अवन्ति ( उज्जैन ) देशमें रहने पर भी उसमें मगधदेशीय लोग रहते थे, परिहारपक्षमें:—( अनेक स्तुतिपाठक लोग रहते थे )। और वह राजभवन धन-समृद्धिसे परिपूर्ण होनेपर भी अर्थाभावके कारण सब लोग वस्त्र-रहित होकर भ्रमण करते थे, परिहार पक्षमें—( बौद्ध सन्न्यासी लोग भ्रमण करते थे।

---

१. क्वचित् 'चित्र' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते। २.···उपशोभितम्···। ३.···शिलीमुख···। ४. महाकञ्चुक्याध्यासितम्। ५.···अपरिमाण···श्रृङ्ग, श्रृङ्ग···।

ससम्भ्रमोपगतैश्च कृतप्रणामैः[1] प्रतीहारमण्डलैरुपदिश्यमानमार्गः, सर्वतः प्रचलितेन च पूर्वकृतावस्थानेन दूर-पर्य्यस्त-मौलि-शिथिलित[2]-चूडामणिमरीचि-चुम्बित-वसुधातलेन राजलोकेन प्रत्येकशः प्रतीहार-निवेद्यमानेन[3] सादरं प्रणम्यमानः, पदे पदे चाभ्यन्तर-विनिर्गताभिराचारकुशलाभिरन्तःपुरवृद्धाभिः क्रियमाणावतरण[4]मङ्गलः, भुवनान्तराणीव विविध-प्राणि-सहस्रसङ्कुलानि सप्तकक्षान्तराण्यतिक्रम्य, अभ्यन्तरावस्थितम्, अनवरत-शस्त्रग्रहण[5]-श्यामिकालीढकरतलैः कर-चरण-लोचन[6]-वर्जमसितलोहजालकावृतं[7]शरीरैः, आलानस्तम्भैरिव गज-

ससम्भ्रमेति। अपि चेति चार्थः। ससम्भ्रमं सत्वरम् उपगतैः निकटं प्राप्तैः प्रतिहारमण्डलैः द्वारपालवृन्दैः कृतप्रणामैः विहितनमस्कारैः सद्भिः उपदिश्यमानमार्गः उपदर्श्यमानपथः चन्द्रापीडः पितरम् अपश्यत् इत्यग्रिमेण सम्बन्धः। बहुभिर्हायनैः विद्याभ्यासं विधाय राजभवनागतत्वेन तथाविधभवनज्ञानाभावात्प्रतीहारमण्डलैः मार्गः प्रदर्श्यते इत्याशयः। अथवा पितुराह्वानजनितानन्दातिशयेन विस्मृतान्यव्यापारत्वात्तत्प्रदर्शनं युक्तमेवेति व्याख्याकर्त्तारः आशयं वर्णयन्ति।

सर्वत इति। सर्वतः समन्तात् प्रचलितेन प्राप्तेन पूर्वं कृतं चन्द्रापीडागमनप्रतीक्षया विहितम् अवस्थानम् अवस्थितिर्येन तेन तादृशेन, दूरादेव पर्यस्तैः नम्रैः मौलिभिः शिरोभिः शिथिलिताः शिथिलीकृता ये चूडामणयः शिरोरत्नानि तेषां मरीचिभिः रश्मिभिः चुम्बितं संस्पृष्टं वसुधातलं पृथ्वीतलं यस्य तेन तादृशेन, तथा प्रत्येकशः प्रतीहारनिवेद्यमानेन द्वारपालैर्दत्तपरिचयेन राजलोकेन भिन्नभिन्नदेशीयसामन्तनृपमण्डलेन सादरम् आदरपूर्वकं यथा स्यात्तथा प्रणम्यमानः नमस्क्रियमाणः।

पद इति। किञ्चेति चार्थः। अभ्यन्तरात् मध्यप्रदेशात् अन्तःपुरादित्यर्थः विनिर्गताभिः विनिःसृताभिः, आचारकुशलाभिः देशकुलाचारनिपुणाभिः अन्तःपुरस्य वृद्धाभिः महत्तरिकाभिः नारीभिः पदे पदे प्रतिपदक्षेपं क्रियमाणानि विधीयमानानि अवतरणमङ्गलानि अभिनवागतस्य रथादवतरणसामयिकमङ्गलव्यवहाराः धान्यदूर्वानिक्षेपप्रभृतयो यस्य स तादृशः।

भुवनेति। भुवनान्तराणीव, अतिविस्तृततरत्वादित्याशयः, विविधा नानाप्रकारा ये प्राणिनो व्याघ्रादयो जन्तवः तेषां सहस्रेण समूहेन सङ्कुलानि व्याप्तानि, कक्षान्तराणि प्रकोष्ठान्तराणि अतिक्रम्य अतिक्रमणं विधाय। पूर्णोपमा।

अभ्यन्तरेति। अभ्यन्तरे मध्यभवने अवस्थितं कृतावस्थानं पितरमिति अग्रेतनस्य विशेषणम्। अनवरतं निरन्तरं यच्छस्त्रग्रहणम् आयुधोपादानं तेन याः श्यामिकाः कृष्णचिह्नानि किणा इत्यर्थः, तैः आलीढानि आश्लिष्टानि करतलानि हस्ततलानि येषां तैस्तादृशैः। इत आरभ्य यानि तृतीयान्तानि पदानि तानि'शरीररक्षाधिकारनियुक्तैः पुरुषैः' इत्यस्य विशेषणानि। करचरणलोचनानि हस्तपादनेत्राणि वर्जयित्वा एतानि परित्यज्येत्यर्थः तत्तादृशम्, ग्रहणगमनावलोकनार्थमित्याशयः, असितलोहजातकैः श्यामवर्णलौहकवचैः आवृतानि आच्छादितानि शरीराणि देहा येषां तैः तादृशैः, अत एव गजमदस्य इभदानस्य परि-

चन्द्रापीडके प्रवेश करने पर द्वारपाल गण शीघ्रतासे समीपमें आकर प्रणाम कर अन्दरमें प्रवेश करनेके लिए मार्ग बताने लगे। अनेक देशके छोटे-छोटे राजा लोग, चन्द्रापीडकी आगमन-प्रतीक्षा करनेके लिए पहलेसे ही उस स्थान पर खड़े थे, अत एव उस समय वे सब दिशाओंसे एकत्रित होकर एक-एक करके आदर-सहित चन्द्रापीड को प्रणाम करने लगे। उस समय दूरसे ही मस्तक अवनत होनेके कारण उनलोगोंके ढीले चूडामणिकी किरणें धरतीका चुम्बन करने लगीं। एवं कोई द्वारपाल (दरबान) उन लोगोंके प्रत्येक का नाम और ग्राम को बताकर चन्द्रापीडके समीपमें परिचय कराने लगा। एवं अन्दरसे बाहर आ-आकर देशाचार और कुलाचारको जानने वाली अन्तःपुरकी बूढ़ी स्त्रियाँ चन्द्रापीडके पद-पद पर सवारी से उतरने का माङ्गलिक अनुष्ठान करने लगीं। इस रीति से चन्द्रापीड अपर सप्त भुवनान्तरके समान विविध प्राणियोंसे परिपूर्ण सात बड़ी ड्यौढ़ियोंको पार कर, अभ्यन्तरमें स्थित-हंसके समान सफेद पलंग पर बैठे हुए पिता को देखा। शरीर रक्षा कार्यमें नियुक्त अनेकों अधिकारी पुरुष उन्हें चारों ओर घेरकर खड़े थे। दिन-रात अस्त्र धारण करनेसे उनकी हथेलियाँ काली पड़ गई थीं, एवं हाथ-पैर और नेत्रोंके अतिरिक्त उनका पूरा शरीर श्याम कवचसे ढँका हुआ

१. कृतप्रणामः। २. ...चलित...। ३. ...निवेद्यमाननाम्ना। ४. अवतारण; अवतरणक। ५. ...शस्त्रग्रह...। ६. ...विलोचन। ७. जालावृत।

मद-परिमल-लोभ-निरन्तर-निलीन-मधुकर-पटल-जटिलैः कुलक्रमागतैरुदात्तान्वयैरनुरक्तैर्महाप्राणतया अतिकर्कशतया च दानवैरिव अतिशयाकारैः सम्भाव्यमानपराक्रमैः सर्वतः शरीररक्षाधिकारनियुक्तैः पुरुषैः परिवृतम्, उभयतो वारविलासिनीभिरनवरतमुद्धूयमानधवलचामरम्, अमलपुलिनतलशोभिनी सुरकुञ्जरमिव मन्दाकिनीवारिणि हंसधवले-शयनतले निषण्णं पितरमपश्यत्।

'आलोकये'ति च प्रतीहारवचनानन्तरम्, अतिदूरावनतेन चलित-चूडामणिना शिरसा कृतप्रणामम्, 'एह्येहि' इत्यभिदधानैः दूरादेव प्रसारितभुजयुगलः, शयनतलादीषदुच्छ्वसित-मूर्त्तिः, आनन्दजल-पूर्यमाण-लोचनः समुद्गतपुलकतया सीव्यन्निव, एकीकुर्वन्निव

---

मदलोभेन सुगन्धतृष्णया निरन्तरनिलीनं निरवकाशोपविष्टं यन्मधुकरपटलं भ्रमरसमूहः तेन जटिलैः व्याप्तैः आलानस्तम्भैः हस्तिबन्धनस्तम्भैरिव विद्यमानैः। अनुरक्तैः कुलक्रमागतैः परम्परायातैः उदात्तान्वयैः उच्चवंशैः महाप्राणतया नितान्तशक्तिशालितया अतिकर्कशतया अत्यन्तकठिनशरीरतया च कारणेन, दानवैरिव दनुजैरिव अवलोक्यमानैः। अतिशयाकारैः अत्यन्तविशालस्वरूपिभिः, अत एव सम्भाव्यमानपराक्रमैः सम्भाव्यमानसाहसैः एतादृशैः सर्वतः चतुर्दिक्षु शरीररक्षाधिकारनियुक्तैः आत्मरक्षकैः पुरुषैः परिवृतं परिवेष्टितम्। इह 'आलानस्तम्भैरिव, दानवैरिव' इत्युभयत्राऽप्युपमालङ्कारः।

उभेति। उभयतः पार्श्वद्वये वारविलासिनीभिः गणिकाभिः अनवरतं निरन्तरम् उद्धूयमानानि वीज्यमानानि धवलानि निर्मलानि चामराणि यस्य तं तादृशम्, अत एव अमलाभ्यां स्वच्छाभ्यां पुलिनतलाभ्यां पार्श्वद्वयवर्तिसिकतामयभागाभ्यां शोभते विराजते इति तस्मिन् तादृशे, मन्दाकिनीवारिणि वियद्गङ्गासलिले सुरकुञ्जरम् ऐरावतगजमिव, हंसवद्धवलं यत् शयनतलं शय्योर्ध्वदेशः तत्र निषण्णम् उपविष्टम्। इह पार्श्वद्वये सिकतामयभागाभ्यां सह वीज्यमानचामराणाम्, वियद्गङ्गासलिलेन सह धवलशयनतलस्य ऐरावतगजेन च भूपतेरौपम्यमिति लुप्तोपमयोः अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

आलोकयेति। आलोकय 'कुमार! तातं निरीक्षस्व' इति प्रतीहारवचनानन्तरं सहायातद्वारपालकथनात्परम्, अतिदूरात् अतिदविष्ठदेशात् अवनतेन नम्रेण, अत एव चलितः कम्पितः चूडामणिः शिरोरत्नं यस्य तेन तथोक्तेन शिरसा मस्तकेन, कृतो विहितः प्रणामो नतिर्येन तं तादृशं कुमारम्, एह्येहि आगच्छ आगच्छ इति वीप्सायां द्विर्वचनम्। अभिदधानः ब्रुवाणः, दूरादेव प्रसारितं विस्तारितं भुजयुगलं बाहुद्वयं येन स तादृशः। शयनतलात् शय्यातः, ईषच्छ्वसितमूर्त्तिः किञ्चिदूर्ध्वीकृतशरीरः, आनन्दजलैः प्रमोदबाष्पैः पूर्यमाणे भ्रियमाणे लोचने नयने यस्य स तादृशः पिता तारापीडः, विनयावनतं विनयगुणेन नम्रीभूतं तं चन्द्रापीडम्, समुद्गतपुलकतया स्वशरीरेषूत्पन्नरोमाञ्चतया सीव्यन्निव स्वशरीरेण

---

था, अत एव हाथीके मदजलकी सुगन्धके लोभसे निरन्तर बैठे ( चिपटे ) हुए भौंरोंसे परिव्याप्त हाथी बाँधनेके स्तम्भके समान वे विराजमान थे और महाराजका वंशपरम्परागत शरीर-रक्षा कार्य करते आरहे थे, एवं उच्चकुलमें उत्पन्न हुए महाराजके प्रति विशेष अनुरक्त थे। तथा महावीरता और अतिकर्कशताके कारण दानवगणके समान वे देखनेमें आ रहे थे, आकृति बहुत बड़ी होनेके कारण ही उनमें अत्यधिक पराक्रम है ऐसा समझ लिया जाता था। एवं वेश्याएँ महाराजके दोनों भागमें निरन्तर श्वेत चामर डुलाती थीं, उससे निर्मल पुलिन ( बालुकामय तट ) से परिशोभित आकाश-गङ्गाके जलमें ऐरावत हाथीके समान राजा देखनेमें आता था।

'कुमार! अपने पिताजी को देखिए'—इस प्रकार [ साथ आए ] द्वारपालके वचन सुननेके बादही चन्द्रापीडने माथा झुकाकर पिताको प्रणाम किया, उस समय उसका चूडामणि चलायमान हो गया। इतनेमें—'आओ आओ'—यों कहते-कहते पिता तारापीडने, दूरसे ही भुजाओंको फैला कर, पलंग परसे शरीरको कुछ ऊँचा उठाकर, विनयसे नम्र हुए पुत्र चन्द्रापीड का आलिङ्गन किया। उस समय महाराजकी आँखें आनन्दके आँसुओंसे भरी थीं, एवं समस्त शरीरमें रोमाञ्च उत्पन्न ( रोम खड़े ) हो जानेके कारण राजा मानो अपने शरीरके

---

१. क्वचित् 'निरन्तर' इति पदं नास्ति। २. महाप्रमाणतया। ३. अतिशयाकाम, आशयाकारसम्भाव्यमान···, अतिशयाकारसम्भाव्यमान···। ४. हंसधवले। ५. आदरेणाभिदधानः। ६. उच्छ्वसित···। ७.···आपूर्य्यमाण···। ८.···पुलककण्टकतया। ९. एकीकुर्वन्निव तम्।

पिबन्निव तं पिता विनयावनतमालिलिङ्ग। आलिङ्गितोन्मुक्तश्च पितुश्चरणपीठसमीपे पिण्डीकृतमुत्तरीयमात्मीयं[1] ताम्बूलकरङ्क[2]-वाहिन्या सत्वरमासनीकृतम् 'अपनये'ति शनैर्वदन्नग्रचरणेन समुत्सार्य्य चन्द्रापीडः क्षितितल एव[3] निषसाद । अनन्तरं निहिते[4] चास्यासने राज्ञा सुतनिर्विशेषमुपगूढो वैशम्पायनो न्यषीदत् । मुहूर्त्तमिव विस्मृतचामरोत्क्षेपनिश्चलानां वारविलासिनीनां साभिलाषैरनिल-चलित-कुवलय-दल[5]-दाम-दीर्घैरजिह्म[6]-तरलतरै-तारशारैरवलुप्यमान इव दृष्टिपातैः स्थित्वा 'गच्छ, वत्स ! पुत्रवत्सलां मातरमभिवाद्य दर्शनलालसाः[7] यथाक्रमं सर्वा जननीर्दर्शनेनानन्दय' इति विसर्जितः पित्रा, सविनयमुत्थाय निवारितपरिजनो

---

सह स्यूतं विदधदिव, एकीकुर्वन्निव अभिन्नं विदधदिव गाढाश्लेषणादित्यभिप्रायः, पिबन्निव सप्रेमावलोकनविधानादित्याशयः आलिलिङ्ग परिषस्वजे। इह 'सीव्यन्निव' इत्यादि तिसृणां क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परनैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः ।

आलिङ्गितेति । प्रथमम् आलिङ्गितः आश्लिष्टः पश्चान्मुक्तस्त्यक्तश्च राजकुमारः, ताम्बूलकरङ्कवाहिन्या नागवल्लीदलपेटिकाधारिण्या पितुरित्यर्थः, सत्वरं शीघ्रम् आत्मीयं स्वीयम्, पिण्डीकृतं सङ्कोचनेन स्तूपीकृत्य राजकुमारस्य विष्टरीकृतमित्यर्थः उत्तरीयं वस्त्रम्, अपनय एतद्दूरीकुरु गुरोः समीपे विष्टरोपवेशनस्यायुक्तत्वादित्याशयः । शनैः मन्दं ब्रुवन् अग्रचरणेन पादाग्रेण तदुत्तरीयं समुत्सार्य दूरीकृत्य पितुश्चरणपीठसमीपे तातपादासननिकटे क्षितितल एव भूमावेव निषसाद उपविवेश। अनेन विनयाधिक्यं व्यज्यते।

अनन्तरमिति । वैशम्पायनश्च राज्ञा तारापीडेन सुतनिर्विशेषम् आत्मजसदृशम् उपगूढ आश्लिष्टः सन् अस्य राजकुमारस्य चन्द्रापीडस्य अनन्तरं पश्चात् निहिते स्थापिते आसने विष्टरे न्यसीदत् उपाविशत् । वैशम्पायनस्य सचिवात्मजत्वेऽपि विप्रत्वाद्विष्टरे समुपवेशनं नायुक्तमित्यवधेयम् ।

मुहूर्त्तमिति । विस्मृताः राजपुत्रस्य अत्यधिकसौन्दर्यावलोकनोत्पन्नविस्मयवशाद्विस्मरणमुपगता ये चामराणाम् उत्क्षेपा बीजनानि तैर्निश्चलानां निस्पन्दानां वारविलासिनीनां वाराङ्गनानाम्, साभिलाषैः सस्पृहैः, अनिलचलितानां पवनान्दोलितानां कुवलयदलानां नीलोत्पलपत्राणां दाम माला तद्वत् दीर्घैः आयतैः, अजिह्मा नितान्तकुटिलाः तरलतरा अत्यन्तचपलाश्च यास्ताराः कनीनिकाः ताभिः शाराः चित्रिताः तैस्तादृशैः, दृष्टिपातैः नेत्रप्रान्तैः अवलुप्यमानः पीयमान इव राजकुमारः । मुहूर्त्तमिव कियत्समयं स्थित्वा तत्र राजनिकटे स्थानं विधाय, हे वत्स, पुत्र ! गच्छ व्रज; पुत्रवत्सलां पुत्रहितां दर्शनलालसां त्वदवलोकनोत्कण्ठितां मातरं जननीम् अभिवाद्य पादग्रहणं विधाय यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः सर्वा निखिला जननीः उपमातृः दर्शनेन अवलोकनेन आनन्दय प्रमोदय इति पित्रा तारापीडेन विसर्जितो विसृष्टः सविनयं सनम्रं यथा स्यात्तथा उत्थाय उत्थानं विधाय निवारितपरिजनः तत्रैव परित्यक्तसेवकवर्गः

---

साथ चन्द्रापीडकी सिलाई करता था, गाढ़ आलिङ्गनसे मानो एककर लेता था, एवं स्निग्ध दृष्टिसे मानो पान करता था । महाराजने चन्द्रापीडको आलिङ्गन कर छोड़ दिया । बादमें महाराजकी ताम्बूल-करङ्कवाहिनी ( पानके डब्बेको धारण करने वाली ) ने शीघ्रतासे अपने उत्तरीय वस्त्र ( दुपट्टा ) को चौपेत कर चन्द्रापीड को बैठनेके लिए आसन कर दिया । उस समय चन्द्रापीडने धीरेसे कहा—'इसे हटाओ' इस प्रकार कहते-कहते उसे अपने ही पैरके अँगूठेसे एक तरफ सरका ( खिसका ) कर, पिताके चरणोंके पास पृथिवी पर ही बैठ गया । महाराजने पुत्रके समान वैशम्पायनका भी आलिङ्गन किया, उस समय वैशम्पायन चन्द्रापीडके पीछे रक्खे हुए आसन पर बैठ गया । इधर जब वेश्याएँ चामर झुलाना भूलकर निश्चल भावसे खड़ी रहकर अभिलाषा युक्त कटाक्षसे चन्द्रापीडको मानो पान करने लगीं, उस समय आँखें, पवनसे हिलते नीलकमलपत्रपङ्क्तियोंके समान दीर्घ और टेढ़ी फिरती अत्यन्त चञ्चल पुतलियोंसे विचित्र हो गई थीं । चन्द्रापीडको थोड़ी देर उस स्थानमें बैठनेके बाद राजाने कहा—'जाओ, वत्स ! पुत्रवत्सला अपनी माताका अभिवादन कर एवं तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा रखने वाली सब माताओं को यथाक्रम दर्शन देकर आनन्दित करो' यों कहकर उसे विदा किया ।

---

१. आत्मताम्बूल··· । २. करण्ड··· । ३. समुत्सार्य क्षितितले । ४. अनन्तरनिहिते, अनन्तरविनिहिते । ५.···कुवलयदाम··· । ६.···जिह्मित । ७.···लालसास् ।

वैशम्पायनद्वितीयोऽन्तःपुरप्रवेशयोग्येन राजपरिजनेन[1] उपदिश्यमानवर्त्मा अन्तःपुरमाययौ।

तत्र धवलकञ्चुकावच्छन्नशरीरैरनेक[2]-शतसंख्यैः श्रियमिव क्षीरोदकल्लोलैः[3] समन्तात् परिवृतां शुद्धान्तर्वंशिकैः[4] अतिप्रशान्ताकाराभिश्च कषायरक्ताम्बरधारिणीभिः सन्ध्याभिरिव सकललोकवन्द्याभिः प्रलम्बश्रवणपाशाभिर्विदितानेककथालापवृत्तान्ताभिः[5] भूतपूर्वाः[6] कथाः कथयन्तीभिः इतिहासान् वाचयन्तीभिः पुस्तकानि दधतीभिः धर्म्मोपदेशान् निवेदयन्तीभि-र्जरत्प्रव्रजिताभिर्विनोद्यमानाम्, उपरचितस्त्रीवेशभारेण[9] गृहीतविकटप्रसाधनेन वर्षवरजनेन

---

वैशम्पायनद्वितीयः अन्तःपुरप्रवेशयोग्येन अवरोधप्रवेशोचितेन राजपरिजनेन राजसेवकवर्गेण उपदिश्यमानवर्त्मा उपदर्श्यमानमार्गः अन्तःपुरम् आययौ समागमत्। इह 'अवलुप्यमान इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

तत्रेति। तत्र अन्तःपुरे चन्द्रापीडः, धवलाः श्वेता ये कञ्चुकाः वारबाणाः तैः अवच्छन्नानि आच्छादितानि शरीराणि देहा येषां तैः तादृशैः, अनेके ये शतसंख्याः तैः, वंशस्य भवनस्यान्तर्नियुक्ताः इत्यन्तर्वंशिकाः शुद्धा निर्दुष्टाश्च ते अन्तर्वंशिकाश्चेति तैः कञ्चुक्यादिभिरित्यर्थः 'अन्तःपुरे त्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जनः' इत्यमरः, क्षीरोदकल्लोलैः क्षीरसमुद्रमहातरङ्गैः श्रियं लक्ष्मीमिव, समन्तात् सर्वतः परिवृतां परिवेष्टितां 'मातरं प्रणनाम' इत्युत्तरेण सम्बन्धः। इह 'श्रियमिव' इत्युपमा।

अतीति। किञ्चेति चार्थः। अतिप्रशान्तोऽतीव सौम्य आकारो मूर्त्तिर्यासां ताभिस्तादृशीभिः, कषायेण निर्यासेन रक्तानि रञ्जितानि अम्बराणि वस्त्राणि धारयन्तीति ताभिः, पक्षे कषायेण रक्तं रञ्जितमिव अम्बरं गगनं धारयन्तीति ताभिः। 'कषायो रसभेदे स्यादङ्गरागे विलेपने।
निर्यासे च कषायोऽथ सुरभौ लोहितेऽन्यवत्॥' इति विश्वः।

सकलैः समस्तैः लोकैः जनैः वन्द्याभिः वन्दनीयाभिः, सन्ध्याभिः सायंसमयैरिव विद्यमानाभिः। प्रलम्बाः लम्बायमानाः श्रवणपाशाः शोभनकर्णा यासां ताभिः।······पाशस्तु मृगपक्ष्यादिबन्धने। कर्णान्ते शोभनार्थः स्यात् कचान्ते निकरार्थकः॥ छात्राद्यन्ते च निन्दार्थः,········इति हैमः।

सामुद्रिकशास्त्रे लम्बकर्णत्वमभिज्ञताबोधकमित्यवधेयम्। विदिता ज्ञाता अनेका बहवः कथाः उपाख्यानानि आलापाः परस्परोक्तिप्रत्युक्तयः वृत्तान्ता लौकिकवार्ताश्च याभिस्ताभिः। पूर्वं भूता इति भूतपूर्वाः कथा वत्सराजचरितप्रभृतीनि पुरातनोपाख्यानानि कथयन्तीभिः प्रतिपादयन्तीभिः, इतिहासान् महाभारतप्रभृतीन् वाचयन्तीभिः व्याख्यापयन्तीभिः, पुस्तकानि दधतीभिः धारयन्तीभिः अनन्तरव्याख्यापनायेत्याशयः। धर्मोपदेशान् निवेदयन्तीभिः बोधयन्तीभिः जरत्प्रव्रजिताभिः वृद्धसंन्यासिनीभिः, विनोद्यमानां तैस्तैः यत्नैः सन्तोष्यमाणाम्।

उपरचितेति। उपरचितो विहितः स्त्रीवेशभारः योषित्तुल्यवस्त्रकेशपाशधारणादिवेशनिकरः येन

---

तब चन्द्रापीड विनयके साथ उठ कर, परिजनादिकों को साथ आनेसे रोक कर, केवल वैशम्पायनके साथ अन्तःपुरमें प्रवेश करने योग्य राज-परिजनके बताये हुए मार्गसे रनिवासमें आ गया।

चन्द्रापीडने रनिवासमें उपस्थित होकर माता विलासवती को प्रणाम किया। पहले क्षीरसागरकी महातरङ्गोंने जिस प्रकार लक्ष्मी देवीको परिवेष्टित किया था, उसी प्रकार सफेद कञ्चुक ( अङ्गरखाओं ) से आच्छादित शरीरवाले एवं निर्दुष्ट स्वभाववाले कतिपय कञ्चुकीगण, महारानी विलासवतीको घेर कर खड़े थे। अत्यन्त शान्त आकृति वाली, जोगिये वस्त्र धारण करनेवाली एवं सन्ध्या के समान सब लोगोंके प्रणाम करने योग्य अधिकतर वृद्ध परिव्राजिकाएँ वहाँ उपस्थित थीं। उनके सुन्दर कान लम्बे थे। वे अनेक कथा—लौकिक वृत्तान्त और परस्पर आलाप करना जानतीं थीं। उन सबोंके बीचमें कोई-कोई प्राचीन समयकी पवित्र कथा कह कर, कोई-कोई महाभारतादि इतिहास ग्रन्थकी व्याख्या कर, कोई-कोई पुस्तकें लेकर, और कोई-कोई धर्मोपदेश सुना कर महारानी का मन बहला रही थीं। स्त्रियोंके वेष धारण कर एवं अत्युज्ज्वल आभूषणों से भूषित होकर नपुंसक

---

१. परिजनेन। २. नैक···। ३.···जलकल्लोलैः। ४. शुद्धान्तान्तर्वंशिकैः। ५.···कथावृत्तान्ताभिः। ६. श्रुतपूर्वाः। ७. क्वचित् 'पुण्याः' इत्यधिकः पाठो विद्यते। ८. वाचयन्तीभिरितिहासान् पुस्तकानि, ददतीभिर्धर्म्योपदेशान्, निवेदयन्तीभिः पुण्याः कथाः। ९.···भाषेण।

संसेव्यमानाम्[1], अनवरत-विधूयमान[2]-वालव्यजनकलापाम्, अङ्गनाजनेन च वसनाभरण-कुसुमपटवासताम्बूल-ताल[3]वृन्ताङ्गराग-भृङ्गार-धारिणा मण्डलोपविष्टेनोपास्यमानाम्, पयोध-रान्तरावलम्बित[4]-मुक्तागुणाम्, अचल-द्वय-मध्य-प्रवृत्तगङ्गा[5]-प्रवाहामिव मेदिनीम्, आसन्न-दर्पण-पतित-मुख-प्रतिबिम्बाम्, अर्क-बिम्बप्रविष्टशशिमण्डलामिव दिवं[6] समुपसृत्य मातरं प्रणनाम[7]।

सा तु तं ससम्भ्रममुत्थाप्य[8] सत्यप्याज्ञासम्पादनदक्षे पार्श्वपरिवर्त्तिनि परिजने स्वयमेव

---

तेन तादृशेन, तथा गृहीतं स्वीकृतं विकटम् अतिस्वच्छं प्रसाधनम् अलङ्करणक्रिया येन तेन, वर्षवरजनेन नपुंसकमण्डलेन संसेव्यमानां समुपास्यमानाम्। वर्षवरलक्षणं यथा कामन्दकीनीतिसारे—

'ये स्वल्पसत्त्वाः प्रथमाः क्लीबाश्च स्त्रीस्वभाविनः। जात्या न दुष्टाः कार्येषु ते वै वर्षवराः स्मृताः॥'

अनवरतेति—अनवरतं निरन्तरं विधूयमानः सेवकवर्गैः संवीज्यमानः वालव्यजनकलापः चामर-निकरो यस्याः तां तादृशीम्।

अङ्गनेति। वसनानि वस्त्राणि आभरणानि भूषणानि कुसुमानि पुष्पाणि, पटवासान् रक्तचूर्णविशे-षान्, उक्तञ्चैतल्लक्षणं वराहेण—

'त्वगुशीरपत्रभागैः सूक्ष्मैलार्द्धेन संयुतश्चूर्णः पटवासः प्रवरोऽयं मृगकर्पूरप्रबोधेन॥'

ताम्बूलानि नागवल्लीदलानि तालवृन्तानि व्यजनानि 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः, अङ्गरागान् कुङ्कुमश्रीखण्डादीन्, भृङ्गारान् सुवर्णकृतजलपात्रविशेषान् 'भृङ्गारः कनकालुका' इत्यमरः, एतांश्च धार-यतीति तेन तादृशेन, मण्डलोपविष्टेन सर्वतो वर्त्तुलरूपेणासेदुषा, अङ्गनाजनेन परिचारिकावर्गेण उपास्य-मानां सेव्यमानाम्।

पयोधरेति। पयोधरयोः कुचयोः अन्तरे मध्ये अवलम्बितो लम्बायमानः मुक्तागुणः मौक्तिकदाम यस्यास्तां तादृशीम्, अत एव अचलद्वयमध्ये पर्वतद्वयान्तराले प्रवृत्तः प्रसृतः गङ्गाप्रवाहः भागीरथी-धारा यस्यास्तां तथोक्तां मेदिनीं वसुन्धरामिव विद्यमानाम्।

इह पर्वतयुगलेन सह अत्युच्चवक्षोजस्य, भागीरथीप्रवाहेण मौक्तिकदाम्नः, वसुन्धरया च विलास-वत्या औपम्यमित्युपमालङ्कारः पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण सङ्कीर्यते।

आसन्नेति। आसन्नः समीपाभिमुखस्थः दर्पणो मुकुरः तत्र पतितं मुखप्रतिबिम्बं यस्याः तां तादृ-शीम्, अत एव अर्कबिम्बे रविमण्डले प्रविष्टं समसूत्रपातन्यायेनाधो वर्त्तमानं शशिमण्डलं चन्द्रमण्डलं यस्यां तां दिवं गगनमिव विद्यमानाम्। अमावस्यायां नक्षत्रमण्डले समसूत्रपातन्यायेन रविमण्डलादधः शशिमण्डलं तिष्ठति। मातरं समुपसृत्य पार्श्वे समागत्य प्रणनाम नमश्चक्रे। इह आदर्शस्य सूर्यबिम्बौप-म्यम्, मुखस्य शशिमण्डलौपम्यम्, विलासवत्या अमावास्यौपम्यमिति पूर्ववदुपमालङ्कार एव ज्ञेयः।

सेति। तुः पुनरर्थे। सा विलासवती ससम्भ्रमं शीघ्रम्, पादपतितं तं चन्द्रापीडम् उत्थाप्य, पार्श्वपरि-वर्त्तिनि समीपस्थायिनि परिजने परिचारिकागणे आज्ञासंपादनदक्षे नियोगकरणाभिज्ञे सत्यपि विद्यमानेऽपि

---

(हिजड़े), महारानी की सेवा करते थे। कुछ परिचारिकाएँ बराबर चामर डुला रही थीं। अन्यान्य परिचारिकायें कपड़े, गहने, फूल, पटवास (अबीर, अथवा जिससे वस्त्र सुगन्धित किया जाय), पान, तालपत्रके पंखे, अङ्गलेपनके द्रव्य और झारियाँ लेकर, चारों ओर मंडलाकारसे बैठ कर सेवा करती थीं। स्तनोंके बीचमें मुक्ताहार लटक रहा था, अत एव दो पर्वतोंके बीचमें बहते गङ्गाप्रवाहसे युक्त पृथिवीके समान वह देखने में आ रही थी। संमुखवर्त्ती एक दर्पण (ऐनक) में उसके मुखका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, जिससे सूर्यमण्डलमें चन्द्रमण्डलके प्रवेश करने पर आकाशके समान वह विराजमान थी।

महारानी विलासवतीने झट चन्द्रापीडको उठा कर आज्ञापालन करनेमें निपुण परिजनोंके पासमें रहने

---

१. उपसेव्यमानाम्। २. '''अभिधूयमान'''। ३. क्वचित् 'ताल' इति पदं नास्ति। ४. पयोधर-विलम्बि'''पयोधरविलम्बित'''। ५. अचलमध्यस्रवद्गङ्गा''', अचलद्वयप्रवृत्तगङ्गा'''। ६. दिवसमुपसृत्य, दिवसश्रियं। ७. ननाम। ८. तु ससम्भ्रममुत्थाय।

कृतावतरणमङ्गला[1], प्रस्तुत[2]-पयोधर-क्षरत्पयोबिन्दुच्छलेन द्रवीभूय स्नेहाकुलेन निर्गच्छतेव[3] हृदयेनान्तःशुभशतान्यभिध्यायन्ती[4] मूर्द्धन्युपाघ्राय तं सुचिरमाशिश्लेष।

अनन्तरञ्च तथैव कृतयथोचितसमुपचारमाश्लिष्ट[5]-वैशम्पायना स्वयमुपविश्य विनयाद्-वनितले समुपविशन्तम्[6], आकृष्य बलादनिच्छन्तमपि चन्द्रापीडमुत्सङ्गमारोपितवती।

ससम्भ्रमं[7]-परिजनोपनीतायामासन्द्यामुपविष्टे च वैशम्पायने चन्द्रापीडं पुनः पुनरालिङ्ग्य ललाटदेशे वक्षसि भुजशिखरयोश्च मुहुर्मुहुः करतलेन परामृशन्ती विलासवती तमवादीत्-'वत्स! कठिनहृदयस्ते पिता, येनेयमाकृतिरीदृशी[8] त्रिभुवनलालनीया क्लेशमतिमहान्तमियन्तं कालं लम्भिता! कथमसि[9] सोढवानतिदीर्घामिमां गुरुयन्त्रणाम्?[10] अहो!

---

स्वयमेव आत्मनैव कृतं विहितम् अवतरणमङ्गलं यानावतरणसामयिकं धान्यदूर्वादिनिक्षेपरूपं मङ्गलाचरणं यया सा तादृशी सती, प्रस्तुतौ सुतावलोकनेन क्षीरस्यन्दिनौ यौ पयोधरौ वक्षोजौ ताभ्यां क्षरतां निःसरतां पयोबिन्दूनां दुग्धकणानां छलेन व्याजेन द्रवीभूय तरलीभूय निर्गच्छतेव निर्यातेव, स्नेहाकुलेन प्रेमपूर्णेन हृदयेन चेतसा करणेन, अन्तर्मध्ये शुभशतानि राजपुत्रस्य क्षेमाधिक्यम् अभिध्यायन्ती अभिचिन्तयन्ती, मूर्द्धनि मस्तके आघ्राय आघ्राणं (चुम्बनं) विधाय सुचिरं चिरसमयं तम् आशिश्लेष आलिलिङ्ग। इह 'निर्गच्छतेवे'ति अपह्नवसहितोत्प्रेक्षा।

अनन्तरमिति। अनन्तरम् आश्लेषानन्तरम्, तथैव चन्द्रापीडवदेव कृतो विहितो यथोचितं यथायोग्यं समुपचारः अवतरणमङ्गलं यत्र क्रियायां तद्यथा स्यात्तथा आश्लिष्ट आलिङ्गितो वैशम्पायनो यया सा तादृशी विलासवती स्वयम् उपविश्य विनयात् नम्रात् अवनितले भूतले समुपविशन्तम् आसेदिवांसम् अनिच्छन्तमपि अतिशैशवेन बालकवत्क्रोडमारोढुमनभिलषन्तमपि चन्द्रापीडं बलात् हठात् आकृष्य आकर्षणं कृत्वा उत्सङ्गं क्रोडम् आरोपितवती आरोपयामास, जननी वात्सल्यस्यालौकिकत्वादित्याशयः।

ससम्भ्रमेति। ससम्भ्रमेण शीघ्रतापरेण परिजनेन परिचारिकावर्गेण उपनीतायाम् उपस्थापितायाम्। आसन्द्यां वेत्रासने—

'वेत्रासनमासन्दी स्त्री वृषी च व्रतिकासनम्।'

इति रामाश्रमी। वैशम्पायने च उपविष्टे निषण्णे सति चन्द्रापीडं पुनः पुनः भूयो भूयः आलिङ्ग्य आश्लिष्य ललाटदेशे भालप्रदेशे वक्षसि भुजान्तरे भुजशिखरयोः स्कन्धयोः मुहुर्मुहुः वारंवारं करतलेन स्वहस्ततलेन परामृशन्ती आमर्शनं विदधती सती विलासवती तम् अवादीत् अवोचत्।

वत्सेति। वत्स हे पुत्र!, ते तव पिता कठिनहृदयः कठोरचित्तः येन हेतुना ईदृशीयम् आकृतिः आकारः त्रिभुवनलालनीया त्रिविष्टपनिवासिभिरेव लोकैः प्रेम्णैव समीपे पालनीया, अत्यन्तमृदुलललितत्वादित्याशयः। अतिमहान्तम् अतिदीर्घम् इयन्तं कालम् एतावत्प्रमाणसमयं क्लेशं खेदं लम्भिता प्रापिता। अतिदीर्घाम् अतिमहासमयव्यापिनीम् इमां गुरुयन्त्रणां पाठशालायां पाठकगणकर्तृकावरोधक्लेशम्, कथं

---

पर भी अपनेसे ही उसके नवागमनका मङ्गलाचार (उतारा) किया। उस समय स्तनों में से रिसती दूधकी बूँदोंके बहानेसे महारानीका हृदय मानो तरल होकर बाहर निकल रहा था, महारानीने उस हृदयसे चन्द्रापीडका सैकड़ों मङ्गलोंका चिन्तन करती हुई, उसके मस्तकको सूँघ कर बहुत देर तक उसका आलिङ्गन किया।

उसके बाद उसी भावसे ही यथोचित मङ्गलाचारपूर्वक वैशम्पायनका भी आलिङ्गन कर स्वयं बैठी। चन्द्रापीड भी विनयवश पृथिवी पर ही बैठना चाहता था, किन्तु बैठनेकी इच्छा न होने पर भी महारानीने बलपूर्वक उसे खींच कर अपनी गोदमें बैठा लिया।

इधर दासियोंने शीघ्रतासे एक बेंत की कुरसी ला दी, उस पर वैशम्पायन बैठ गया। बाद में महारानी विलासवती चन्द्रापीडको बार बार छाती से लगा कर, ललाट, छाती और कन्धों पर बारम्बार हाथ फेरती हुई कहने लगी—'वत्स! तुम्हारे पिताका हृदय कठोर है; क्यों कि उन्होंने ऐसी त्रिभुवन लालनीय आकृति एवं रूपको इतने समय तक ऐसा बड़ा क्लेश सहन कराया। तुम कैसे इतने अधिक समय तक गुरुओं (शिक्षकों) का

---

१. कृतावतारणका। २. '''प्रस्तुत''', अपस्नुत'''। ३. निर्गतेव। ४. शतानीव ध्यायन्ती, शतानीवाभिध्यायन्ती। ५. समुपचाराश्लिष्ट'''। ६. समुपाविशन्तमाकृष्य। ७. ससम्भ्रमं। ८. ईदृश'''। ९. कथमपि। १० गुरुजनयन्त्रणाम्।

बालस्यापि सतः कठोरस्येव ते महद्धैर्य्यम्। अहो! विगत[1]-शिशुजन-क्रीडा-कौतुक-लाघव-मर्भकस्यापि[2] ते हृदयम्। अहो! गुरुजनस्योपरि भक्तिरसाधारणी[3] सर्वथा[4]। यथा पितुः प्रसादात् समस्ताभिरुपेतो विद्याभिरालोकि[5]तोऽसि, एवमचिरेणै[6]व कालेनानुरूपाभिर्वधूभिरुपेतमालोकयिष्यामि' इत्येवमभिधाय लज्जास्मितावनतमात्ममुखप्रतिबिम्बगर्भे विकच-कमलकृत-कर्णपल्लवावतंस इव कपोले पर्य्यचुम्बदेनम्। एवञ्च तत्रापि नातिचिरमेवँ स्थित्वा क्रमेण सर्वान्तःपुराणि दर्शनेन नन्दयामासँ[7]। निर्गत्य च राजकुलद्वारावस्थितम्[8] इन्द्रायुधमारुह्य तथैव तेन राजपुत्रलोकेनानुगम्यमानः शुकनासं द्रष्टुमयासीत्।

---

केन प्रकारेण सोढवानसि मर्षणशीलो जातः?। आश्चर्ये चेह अहोशब्दत्रयम्। बालस्यापि शिशोरपि ते तव कठोरस्येव परिपक्वावस्थायुक्तलोकस्येव महद्धैर्य्यम्। अर्भकस्यापि बालकस्यापि ते तव हृदयं चित्तम्, विगतं दूरीभूतं शिशुजना बालकवर्गाः तेषां क्रीडाकौतुकं समुचितखेलाकुतूहलं तेन लाघवं लघुत्वं चापल्यं यस्मात्तत्तथोक्तम्। गुरुजनस्य शिक्षकवर्गस्य पूज्यवर्गस्य वा उपरि सर्वथा असाधारणी असामान्या सर्वाधिकेत्यर्थः भक्तिः आदरपूर्वकावलोकनम्। अन्यथेयन्तं कालं यावत् विद्यालये गुरुयन्त्रणां न सहेथाः अनेन प्रकारेण विनयप्रणामादिकञ्च न कुर्य्या इत्याशयः। यथा पितुर्जनकस्य प्रसादात् माहात्म्यात् समस्ताभिः सकलाभिः विद्याभिः आन्वीक्षिकीप्रभृतिभिः उपेतः सहित आलोकितोऽसि वीक्षितोऽसि, एवं तथा पितुः प्रसादेनैव अचिरेण कालेन अल्पेन समयेन अनुरूपाभिः योग्याभिः वधूभिः स्नुषाभिः उपेतं सहितम् आलोकयिष्यामि निरीक्षिष्ये।

इतीति। इत्येवम् अनेन प्रकारेण अभिधाय उक्त्वा, लज्जास्मितेन त्रपेषद्धासेन अवनतं शिशुचाञ्चल्येन वधूनामाकर्णनात् स्मितं विधाय त्रपया नम्रवदनमित्यर्थः, एनं चन्द्रापीडम्, आत्मनो निजस्य मुखस्य वदनस्य प्रतिबिम्बं गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन् तादृशे, चन्द्रापीडस्य निर्मलगण्डस्य निकटे निजमुखनयनादित्याशयः, अतएव विकचकमलेन विकसितपङ्कजेन कृतो विहितः कर्णपल्लवः श्रवणकिसलयानामेव अवतंसः कर्णभूषणं यत्र तथोक्त इव कर्णभूषणीकृतकमलसहिते इव विद्यमाने इत्यर्थः कपोले गण्डे पर्यचुम्बत् चुम्बनं विहितवती विलासवतीति शेषः।

इह प्रस्फुटितपद्मेन कर्णभूषणकरणस्योत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा सा च पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण सङ्कीर्यते। अतएव हि विलासवतीवदनस्य विकचकमलसदृशत्वं ध्वन्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

एवञ्चेति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण तत्रापि मातुरन्तिकेऽपि नातिचिरमेव किञ्चित्कालमेवेत्यर्थः, स्थित्वा अवस्थानं विधाय क्रमेण आनुपूर्व्येण सर्वान्तःपुराणि समस्ता अवरोधस्थाः स्त्रियः दर्शनेन अवलोकनेन नन्दयामास प्रमोदयामास। निर्गत्य निःसृत्य च राजकुलद्वारावस्थितं राजभवनप्रतोलीमार्गस्थितम् इन्द्रायुधम् अश्वम् आरुह्य तत्रोपविश्येत्यर्थः, तथैव पूर्ववदेव तेन पूर्वोक्तेन राजपुत्रलोकेन नृपात्मजवर्गेण अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः शुकनासं प्रधानामात्यं द्रष्टुम् अवलोकयितुम् अयासीत् अगच्छत्।

---

नियन्त्रण सहन किये हो? कितना आश्चर्य? बालक होने पर भी पूर्णवयस्क व्यक्तिके समान तुम्हारे गुरुतर कार्यको देखती हूँ। विशेष आश्चर्य तो यह है कि—बालक होने पर भी-तुम्हारे हृदयसे शिशुजनोचित क्रीडा-कौतुककी चपलता दूर हो गई है। और भी आश्चर्यका विषय यह है कि—गुरुजनों पर सब प्रकारसे तुम्हारी असाधारण भक्ति देखती हूँ। तुम्हारे पिताके प्रसादसे सर्वथा आज मैं तुमको जिस प्रकार समस्त विद्यासे परिपूर्ण देख सकी हूँ, इसी प्रकार थोड़े समयके मध्यमें ही अनुरूप बहुओं-सहित देखूँगी।' विलासवतीके इतना कहने पर चन्द्रापीडने लज्जा और मुस्कुराहटके साथ (कारण) अपने मुखको नीचे झुका लिया, उस समय विलासवतीने उसके गाल पर चुम्बन किया, तब विलासवतीके मुखका प्रतिबिम्ब चन्द्रापीड़के गाल पर गिरनेसे इस प्रकार प्रतीत होने लगा मानो, खिले कमलके द्वारा ऊपर कानका आभूषण बनाया गया हो। इस प्रकार वहाँ पर भी अधिक समय तक न रह कर चन्द्रापीडने अन्तःपुरमें रहनेवाली समस्त स्त्रियोंको क्रमशः दर्शन देकर आनन्दित किया। फिर वहाँ से बाहर आकर, राजभवनके दरवाजेके समीप खड़े इन्द्रायुध पर बैठ, पहलेके अनुसार ही, वह समस्त राजपुत्रोंके साथ, शुकनाससे मिलनेके लिए गया।

---

१. विगलित'''। २ अर्भकत्वे त्वयि, अर्भकत्वेऽपि ते, अर्भके ते। ३. असाधारणा। ४. सर्वा। ५. अवलोकसे। ६. अत्र क्वचित्पुस्तके 'एव' कारो न दृश्यते। ७. दर्शनेनानन्दयामास। ८. राजकुलद्वारा बहिः स्थितम्।

यामावस्थित-विविध-गज-घटा[1]-सङ्कटम्, अनेक-तुरङ्ग-सहस्र-सम्बाधम्, अपरिमित-जन-समूह-सम्मर्द[2]-सङ्कुलम्, एकदेशोपविष्टैः सहस्रशो निबद्धचक्रबालैरनेककार्य्यागतैर्दर्शनोत्सुकैः समन्ततो विविधशास्त्राञ्जनोन्मीलितबुद्धिलोचनैः[3] चीवरच्छद्मनां विनयानुरागिभिर्धर्म्मपटैरिवावगुण्ठितैः शाक्यमुनिशासनपथधौरेयैः, रक्तपटैः[5] पाशुपतैर्द्विजैश्च दिवानिशमासेव्यमानम्, अभ्यन्तरप्रविष्टानाञ्च सामन्तानां जघनोपविष्ट-पुरुषोत्सङ्ग-स्थितद्विगुणित-कुथाभिः अतिचिरावस्थान-निर्वेद-प्रसुप्ताधोरणाभिरपर्य्याणाभिः सपर्य्याणाभिश्च निश्चलाव-

यामेति। यामावस्थिताः प्रतिप्रहरं परिवृत्य परिवृत्य स्थिता ये गजा हस्तिनः तेषां घटया समूहेन संकटम् आकुलम्। इत आरभ्य नपुंसकलिङ्गानि द्वितीयान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'शुकनासगृहद्वारम्' इत्यस्य विशेषणानि। अनेकैः बहुभिः तुरङ्गसहस्रैः घोटकनिकरैः सम्बाधं सङ्कीर्णम्।

'सङ्कटं ना तु संबाधः कलिलं गहनं समे।
सङ्कीर्णे सङ्कुलाकीर्णे..................

इत्यमरः। अपरिमिताः असंख्येया ये जना लोकाः तेषां समूहस्य रुङ्घस्य सम्मर्देन परस्पराघातेन सङ्कुलं व्याप्तम्।

एकदेशेति। एकदेशे एकस्मिन् भागे उपविष्टैः निषण्णैः सहस्रशो बहूनि निबद्धानि कृतानि चक्रवालानि मण्डलानि वर्त्तुलरूपेणावस्थानानि यैस्तैः तादृशैः, अनेककार्यागतैः पृथक् पृथक् उद्देशेनोपस्थितैः दर्शनोत्सुकैः अवलोकनायोत्कण्ठितैः शुकनाससाक्षात्कारेच्छुकैरित्यर्थः समन्ततः चतुर्दिक्षु सर्वविषयेष्वित्यर्थः, विविधानि अनेकप्रकाराणि शास्त्राण्येव अञ्जनानि कज्जलानि तैरुन्मीलितानि विकासं प्रापितानि बुद्धयो-मतय एव लोचनानि नयनानि येषां तैस्तादृशैः। चीवराणि बौद्धभिक्षुप्रावरणानि छद्मना कपटेन, विनये धर्मशिक्षायाम् अनुराग एव अनुरागः रञ्जनद्रव्यं विद्यते येषां तैस्तथोक्तैः धर्मानुरागरूपेण रङ्गेण रञ्जितैः धर्मपटैरिव बौद्धव्यवहारसिद्धवस्त्रविशेषैरिव, धर्मपटाश्च येषु पटेषु धर्मशासनान्युल्लिख्य अन्तेवासिभ्यः प्रदर्श्यन्ते ते बोध्याः। अवगुण्ठितैरिव आच्छादितशरीरैरिव विद्यमानैः। शाक्यमुनेः शाक्यसिंहस्य अर्कबान्धवतपस्विनः शासनपथे उपदिष्टधर्मविषये धौरेयाः धुरन्धराः अग्रगण्याः तैस्तादृशैः, रक्तपटैः रक्तवस्त्रधारिभिः, पाशुपतैः महेश्वराराधकैः द्विजैर्विप्रैश्च दिवानिशम् अहोरात्रम् आसेव्यमानं शुकनासप्रेष्णोपास्यमानम्।

इह 'विविधशास्त्राञ्जनेत्यादौ शास्त्रेष्वञ्जनत्वारोपस्य बुद्धिषु नेत्रत्वारोपं प्रति कारणत्वात् परम्परितरूपकमलङ्कारः। 'धर्मपटैरिव' इत्यत्र हि बौद्धभिक्षुभिर्यानि चीवराण्यङ्गेषु धारितानि तेषु धर्मपटत्वमुत्प्रेक्ष्यते। अर्थात् चीवराणां तु व्याजो वर्तते, वस्तुतस्तु धर्मपटैरेव ते आवृताः। अनुराग इति श्लिष्टम्, ततश्च श्लेषोत्थापिता सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः।

अभ्यन्तरेति। किञ्चेति चार्थः। अभ्यन्तरप्रविष्टानां निजनिजकार्यसम्पादनाय अभ्यन्तरे शुकनासान्तिकं प्राप्तानां सामन्तानां स्वदेशपार्श्ववर्त्तिभूपतीनां शतसहस्रशः 'करिणीभिः' इति वक्ष्यमाणेनान्वयः। जघनेषु तासां हस्तिनीनां कट्या अग्रिमप्रदेशेषु उपविष्टानां निषण्णानां पुरुषाणां तत्तत्सामन्तपरिचारकजनानाम् उत्सङ्गेषु क्रोडेषु विद्यमाना द्विगुणिताः आरोहिसामन्तानामवतरणानन्तरमेव अपसार्य द्विगुणभागे सङ्कोचिताः कुथाः पृष्ठास्तरणानि यासां ताभिः तादृशीभिः। अतिचिरं सामन्तानां विलम्बमधिक-

क्रमसे शुकनासके भवनके दरवाजे पर जाकर उपस्थित हुआ। वह दरवाजा प्रत्येक प्रहरमें परिवर्त्तित अनेक प्रकारके हाथियोंसे व्याप्त था, एवं अधिकतर घोड़ोंसे परिपूर्ण और अगणित मनुष्योंके सङ्घर्षसे दुर्गम था। उसके एक भागमें शाक्यसिंहके उपदेश मार्गमें अग्रगण्य अधिकतर बौद्ध संन्यासी एवं रक्तवस्त्रधारी शिवोपासक ब्राह्मण, चारों ओर हजारों मण्डल बनाकर दिन-रात बैठे रहते थे। वे अपने भिन्न भिन्न कामोंके लिए आए हुए थे, एवं सब लोग शुकनासका दर्शन करनेके लिये उत्सुक थे। विविध शास्त्ररूप कज्जलने, सभी विषयोंमें ही उन लोगोंके ज्ञान-नेत्रको उन्मीलित किया था। और बौद्ध संन्यासीगण कौपीन ( लगोंटी ) धारण करनेके बहाने, धर्मशिक्षाद्वारा धर्ममें अनुरागरूप रञ्जन द्रव्यसे रंगे हुए धर्मपटसे मानो, शरीरको आच्छादित

१. ···न्धगज···। २. ···समूहसहस्रसम्मर्द···। ३. उन्मीलितप्रतिभैः। ४. रक्ताम्बरच्छद्मना गुरुविनयानुरागिभिः। ५. रक्तपादैः। ६. स्थानोपविष्टपुरुषावस्थित। ७. संगस्थितद्विगुणकुथाभिः। ८. धोरणाभिः सपर्याणाभिः।

स्थानप्रचलायिताभिः शतसहस्रशः करिणीभिराकीर्णम्, शुकनास-गृहद्वारमासाद्य, सत्वर-प्रधावितैर्द्वारदेशावस्थितैः प्रतीहारपुरुषैरनिवार्य्यमाणोऽपि राजकुल इव राजपुत्रो बाह्याङ्गण[1] एव तुरङ्गात्[2] अवततार।

द्वारदेशावस्थापित[3]-तुरङ्गश्च वैशम्पायनमवलम्ब्य पुरः प्रधावितैः समुत्सारित-परिजनै-स्तत्प्रतीहार[4]-मण्डलैरुपदिश्यमानमार्गः, तथैव चलितमुकुटकोटिभिर्नरेन्द्रवृन्दैः सेवासमुपस्थि, तैरुत्थाय प्रणम्यमानः तथैव च[5] प्रचण्ड-प्रतीहार-हुङ्कार-भय-मूकीभवत्परिजनानि प्रचलित-

---

समयम् अवस्थानेन अवस्थित्या यो निर्वेदः खेदः तेन प्रसुप्ता निद्रां प्राप्ता आधोरणा हस्त्यारोहा यासां ताभिस्ताद्दशीभिः।

'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः'। इत्यमरः।

अपर्याणाभिः पृथक्कृतपल्ययनाभिः, सपर्यणाभिः प्राग्वदेव पल्ययनसहिताभिश्च निश्चलावस्थानेन निष्क्रियरूपेणावस्थित्या प्रचलायिताभिः निद्रावेशेन घूर्णिताभिः 'घूर्णितं प्रचलायितम्' इत्यमरः, करिणीभिः हस्तिनीभिः आकीर्णं सङ्कुलम्।

सत्वरेति। सत्वरप्रधावितैः सम्मुखस्थितजनदूरीकरणाय शीघ्रं पुरोगतैः, द्वारदेशावस्थितैः प्रतोली-देशे विद्यमानैः प्रतीहारपुरुषैः द्वारपालजनैः अनिवार्यमाणोऽपि राजपुत्रः चन्द्रापीडः राजकुल इव राज-भवन इव बाह्याङ्गण एव भवनाद्बहिश्चत्वर एव, कस्यापि भवने सवाहनप्रवेशस्यानुचितत्वादित्याशयः।

द्वारेति। अपि च द्वारदेशे प्रतोल्याम् अवस्थापितः रक्षितः तुरङ्गः अश्वो येन स ताद्दशो राजपुत्रः, वैशम्पायनं शुकनासात्मजम् अवलम्ब्य आलम्ब्य पुरः प्रधावितैः अग्रतो द्रुतप्रचलितैः समुत्सारितपरि-जनैः सम्मुखमार्गाद् दूरीकृतसमन्तादागतपरिचारकैः तत्प्रतीहारमण्डलैः तद्द्वारपालगणैः उपदिश्यमान-मार्गः प्रदर्श्यमानपथः।

तथैवेति। तथैव यथा राजभवने तथैवेत्यर्थः। चलिताः शिरोऽवनमनसमये कम्पिताः मुकुटानां शिरोभूषणानां कोटयः अग्रभागा येषां तैस्ताद्दशैः, सेवासमुपस्थितैः शुकनाससन्तोषाय प्राप्तैः, नरेन्द्रवृन्दैः राजमण्डलैः उत्थाय उत्थाय पुनःपुनरुत्थानं विधायेत्यर्थः प्रणम्यमानः नमस्क्रियमाणः।

तथैवेति। प्रचण्डो भीषणो यः प्रतीहारहुङ्कारः द्वारपालापसारणसूचकशब्दः तेन यद्भयं कोलाहलेन राजपुत्रत्रासः तेन मूकीभवन्तः मौनतां समाश्रयन्तः परिजनाः परिचारका येषु तानि ताद्दशानि। तथा प्रचलिताः प्रतीहारगणैः धृता या वेत्रलता वेतसयष्टयः ताभिः चकितं शङ्कितं यत्सामन्तचक्रं स्वायत्त-राजमण्डलं तस्य चरणशतेन पादन्याससमूहेन चलिता कम्पिता वसुन्धरा पृथ्वी येषु तानि ताद्दशानि· कक्षान्तराणि भिन्नान् भिन्नान् प्रकोष्ठान् निरीक्षमाणः समवलोकयन्।

---

किये थे। छोटे-छोटे अधीन राजा लोग शुकनासका दर्शन करनेके लिये अन्दरमें प्रवेश किये थे, उनका वह दरवाजा लाखों हथनियोंसे भरा हुआ था। वे बहुत देर तक निश्चलभावसे खड़े रहनेके कारण निद्राके आवेशमें घूमती रहती थीं। उन सबोंके बीचमें अनेक हथिनियोंको ऊपर से पल्ययन (जीन) समेट कर रख लिया गया था, एवं कितने के ऊपर पल्ययन (जीन) पहलेकी तरह फैलाया हुआ ही रखा हुआ था। और उन राजाओंके परिचारक गण उन हथिनियोंके जघन पर बैठकर, उनके पीठपर बिछाये हुए दोहरी लपेटी झूलको गोंदमें रख लिये थे। एवं बहुत देर तक राह देखनेसे थक कर उनके महावत निद्रावश हो गये थे। चन्द्रापीडको वहाँ उपस्थित होने पर दरवाजेके पास खड़े द्वारपालगण आगे आगे शीघ्रतासे जाने लगे, किन्तु किसीके द्वारा चन्द्रापीड को घोड़ेके साथ प्रवेश करनेमें निषेध (रुकावट) न करने पर भी वह राजभवनके समान बाहरके आँगनमें ही घोड़े से उतर पड़ा।

बाद में दरवाजे के पास घोड़ेको खड़ा कर वैशम्पायनका हाथ पकड़ कर प्रवेश करने लगा। उस समय भवन के द्वारपालगण, चारों ओरसे आये हुए लोगोंको सामनेसे हटाते आगे आगे मार्ग बता कर जाने लगे। शुकनासके सन्तोषके लिए आये हुए नानादेशीय राजा लोग पहलेके अनुसार ही उठ उठ कर प्रणाम करने लगे, उस समय उन लोगोंके मुकुटका अग्रभाग कम्पित होता था। चन्द्रापीड देखते देखते पहलेके अनुसार ही एक एक चौकसे अन्यान्य चौकोंमें जाने लगा। उन सभी जगहोंमें द्वारपालोंके प्रचण्ड हुङ्कारके भयसे परिजनवर्ग चुप

---

१. बाह्याङ्गे। २. तुरगात्। ३. अवस्थित…। ४. तथैव च प्रतीहार…तथैव प्रतीहार। ५. क्वचित् पुस्तके 'च' इत्यधिकः पाठो नोपलभ्यते।

वेत्रलता-चकित[1]-सामन्त-चक्र-चरण-शत-चलित-वसुन्धराणि कक्षान्तराणि निरीक्षमाणः, तथैव च[2] नव-नव-सुधावदात-प्रासाद-सहस्र[3]-निरन्तरं द्वितीयमिव राजकुलं शुकनासभवनं विवेश। प्रविश्य चानेक-नरेन्द्र-सहस्रमध्योपविष्टम्[4] अपरमिव पितरमुपदर्शितविनयो दूरावनतेन मौलिना शुकनासं ववन्दे।

शुकनासस्तं ससम्भ्रममुत्थाय[5] आनुपूर्व्येण[6] उत्थित-राजलोकः[7] सादरमभिमुखदत्ताविरलपदः प्रहर्ष[8]-विस्फारितलोचनागतानन्द[9]-जलकणः सह[10] वैशम्पायनेन प्रेम्णा गाढमालिलिङ्ग। आलिङ्गितोन्मुक्तश्च सादरोपनीतमपहाय रत्नासनमवनावेव राजपुत्रः समुपाविशत्, तदनु

---

तथैवेति। नवनवा नूतनाः सुधावदाताः चूर्णादिलेपैरुज्ज्वलाः प्रासादाः अट्टालिकाः तेषां सहस्रेण समूहेन निरन्तरं निरवकाशं व्याप्तम्, अत एव द्वितीयं राजकुलं राजभवनमिव विद्यमानं शुकनासभवनं विवेश प्रविष्टवान्। इह 'राजकुलमिव' इति द्रव्योत्प्रेक्षा।

प्रविश्येति। उपदर्शितः प्रकटितो विनयो नम्रता येन स तादृशः, अनेके बहवो ये नरेन्द्राः सामन्ताः तेषां सहस्राणि समूहाः तेषां मध्ये उपविष्टं संनिषण्णम् अत एव अपरम् अन्यं पितरं तारापीडमिव विद्यमानम्, तथापि तथैव नरेन्द्रसहस्रमध्योपवेशनादित्याशयः। दूराद्विदूरादेव अवनतेन नम्रीभूतेन मौलिना शिरसा शुकनासं ववन्दे नमश्चक्रे। इहाप्युक्तालङ्कारः।

शुकनास इति। ससम्भ्रमं शीघ्रं तं चन्द्रापीडम् उत्थाय आनुपूर्व्येण यथाक्रमानुसारेण उत्थितः राजलोको भूपमण्डलं यस्मात् स तादृशः, अभिमुखे चन्द्रापीडसम्मुखे दत्तानि विहितानि अविरलानि सान्द्राणि पदानि पादक्षेपा येन स तादृशः, दूरादेव तेन कृतप्रणामत्वादित्याशयः, तथा प्रहर्षेण अतिप्रमोदेन विस्फारितयोः विस्तारितयोः लोचनयोर्नयनयोः आगता आयाता आनन्दजलकणाः प्रमोदाश्रुबिन्दवो यस्य स तादृशः शुकनासः, प्रेम्णा स्नेहातिशयेन वैशम्पायनेन निजात्मजेन सह तं चन्द्रापीडं सादरम् आदरेण सहितं यथा स्यात्तथा गाढं सान्द्रम् आलिलिङ्ग उपगूहनं चक्रे।

आलिङ्गितेति। प्रथमम् आलिङ्गितः आश्लिष्टः पश्चात् उन्मुक्तः परित्यक्तश्चेति स तादृशो राजपुत्रो नृपात्मजः सादरोपनीतम् आदरेण आनीतं रत्नासनं मणिविष्टरम् अवनौ भूमावेव अपहाय परित्यज्य समुपाविशत् समुपविष्टवान्। तदनु तत्पश्चाद्भागे वैशम्पायनश्च समुपाविशदिति सम्बन्धः। शुकनासस्य प्रधानामात्यत्वे सत्यपि विप्रत्वेन पितृवयस्यत्वेन पितृस्थानीयत्वेन च तत्समीपे चन्द्रापीडस्य विष्टरोपवेशनमनुचितम्, वैशम्पायनस्य तु जनकत्वेन तत्समीपे विष्टरोपादानस्य नितान्तमेवानुचितत्वादवनावुपवेशनमित्याशयः।

---

होकर रहने लगे, एवं बेंतकी छड़ियोंके सञ्चालन होते रहनेसे सामन्तराजगण चकित होकर सरकने लगे, उन लोगोंके सैकड़ों चरण पड़नेसे वह स्थान कम्पित होने लगा। क्रमसे चन्द्रापीड ने पहलेकी भाँति ही दूसरे राजभवनके समान शुकनासके भवनमें प्रवेश किया; वह भवन, नई सफेदी किए जानेके कारण श्वेतवर्ण महलोंसे परिपूर्ण था। प्रवेश करके अनेक सहस्र राजाओंके बीचमें बैठे हुए द्वितीय पिताके समान, शुकनासको उसने विनयप्रदर्शनपूर्वक दूरसे ही मस्तक नवाकर प्रणाम किया।

उस समय शुकनास शीघ्रतासे उठ खड़े हुए, बाद सब राजा रोग यथाक्रम खड़े हो गये। उस समय शुकनासने चन्द्रापीडके सम्मुख आदरसे कितने ही कदम आगे आकर आनन्दसे प्रफुल्लित लोचनोंमें भरे आनन्दाश्रुसहित चन्द्रापीडका और वैशम्पायनका स्नेहयुक्त गाढ़ आलिङ्गन किया। मिलकर पृथक् होने पर किसी सेवक ने आदरके साथ एक रत्नासन ला दिया, चन्द्रापीड उसको छोड़कर भूमि पर ही बैठा, और वैशम्पायन भी उसके पीछे वैसे ही बैठा। चन्द्रापीड पृथिवीमें बैठने पर, शुकनासके अतिरिक्त अन्य सब नरेन्द्र भी अपने-अपने

---

१. त्रासनचकित। २. क्वचित् 'तथैव नव…इत्येव पाठो दृश्यते। ३. क्वचित् 'सहस्र' इति पदं न विद्यते। ४. …उपस्थितम्। ५. समुत्थाय। ६. …पूर्वेण। ७. …लोकैः। ८. संहर्ष…। ९. …विलोचन…। १०. समम्।

च वैशम्पायनः । उपविष्टे[1] च राजपुत्रे शुकनासवर्जमन्यदखिलमवनिपालचक्रमुज्झितनिजासनमवनितलमभजत । स्थित्वा च तूष्णीं क्षणमिव[2] शुकनासः समुद्गतप्रीतिपुलकैरङ्गैरावेद्यमान-हृदय-हर्ष[3]-प्रकर्षस्तमब्रवीत्—

'तात ! चन्द्रापीड ! [4]अद्य खलु देवस्य तारापीडस्य समाप्तविद्यमुपारूढयौवनमालोक्य भवन्तं सुचिराद्भुवनराज्यफलप्राप्तिरुपजाता । अद्य समृद्धाः सर्वा गुरुजनाशिषः, अद्य फलितमनेकजन्मान्तरोपात्तमवदातं कर्म्म, अद्य प्रसन्नाः कुलदेवताः, न ह्यपुण्यभाजां[5] भवादृशास्त्रिभुवन[6]-विस्मयजनकाः[7] पुत्रतां प्रतिपद्यन्ते । क्वेदं वयः, क्वेयममानुषी शक्तिः क्व

---

उपविष्ट इति। उपविष्टे उपवेशनं कृतवति राजपुत्रे चन्द्रापीडे शुकनासवर्जं केवलं शुकनासं परित्यज्य अन्यत् अखिलं समस्तम् अवनिपालचक्रं नरेन्द्रमण्डलम् उज्झितनिजासनं परित्यक्तस्वस्वविष्टरं सत्, अवनितलम् अभजत भूमावेव प्रोपाविशदित्यर्थः। शुकनासस्य सचिवत्वेऽपि विप्रतया पितृसखत्वेन पितृस्थानीयतया च चन्द्रापीडेन भूमावुपवेशने कृतेऽप्यासनोपवेशनमेव युक्तम्, अवनिपालचक्राणां तु चक्रवर्त्तिसुते भूतलोपविष्टे विष्टरोपवेशनस्य नितान्तमेवानुचितत्वाद् भूतल एवोपवेशनमुचितमित्याशयः।

स्थित्वेति। क्षणमिव क्षणमात्रं तूष्णीं मौनं स्थित्वा समुद्गताः प्रादुर्भूताः प्रीत्या आनन्देन पुलका रोमाञ्चा येषु तैस्तादृशैः अङ्गैः आवेद्यमानः प्रत्याय्यमानः हृदयस्य चित्तस्य हर्षप्रकर्षः प्रमोदातिरेको यस्य स तादृशः, शुकनासः, तं राजपुत्रम् अब्रवीत् अवोचत्—

तातेति। हे तात पुत्र ! सुतस्थानीय ! 'पूज्ये पितरि पुत्रे च तातशब्दः स्मृतो बुधैः' इति केशवः। अद्य अस्मिन् दिने समाप्तविद्यं परिपूर्णीकृतविद्यम् उपारूढयौवनम् उत्पन्नतारुण्यं भवन्तं त्वाम् आलोक्य निरीक्ष्य देवस्य तारापीडस्य सुचिरात् चिरकालेन भुवनराज्यस्य समस्तभूमण्डलराजत्वस्य यत्फलं निःसीमप्रेम तस्य प्राप्तिर्लाभः उपजाता प्रादुर्भूता, भवत उत्पत्तेः पूर्वं सन्तानाभावजनित उत्पन्ने च त्वयि परिपूर्णविद्यायाः पूर्वं गुणवत्सन्तानाभावजनितः क्लेश आसीदित्याशयः।

अद्येति। अद्य गुरुजनानां पूज्यमहानुभावानां सर्वा निखिला आशिषः आशीर्वादाः समृद्धाः सम्पूर्णाः सार्थका इत्यर्थः। अनेकजन्मान्तरोपात्तम् अनेकभवार्जितम् अवदातं स्वच्छं कर्म पुण्यकार्यमित्यर्थः। कुलदेवताः कुलाधिष्ठात्र्यः प्रसन्नाः प्रसादवत्यः। नन्वेवंविधस्य ममोत्पन्नत्वेनैव जन्मान्तरीयम् अवदातं कर्म कथं फलितम् ! इत्याकाङ्क्षायामाह—नहीति। हि यतः अपुण्यभाजां पापवतां ( कुले ) भवादृशाः भवत्सदृशाः त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य विस्मयजनकाः आश्चर्योत्पादकाः पुत्रताम् आत्मजत्वं न प्रतिपद्यन्ते भजन्ते। इह वैधर्म्येण हेतुना कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

क्वेति। इदम् अभिनवतारुण्यरूपम् अत्यल्पमित्यर्थः वयोऽवस्था क्व, इयं पुरो दृश्यमाना अमानुषी मनुष्यलोकेऽसम्भवा शक्तिः शारीरिकसामर्थ्यं क्व, इदम् अशेषविद्याग्रहणसामर्थ्यं समस्तविद्याधारणशक्तिश्च क्व। मनुष्यलोके एवंविधायाम् अत्यल्पावस्थायां न खल्वन्यस्य कस्यापि एवंविधासामान्यशारीरिकशक्तिः सकलविद्याभ्यासशक्तिश्च भवेदित्याशयः।

---

आसन छोड़ पृथिवी पर ही बैठे। उस समय अत्यन्त आनन्दवश शुकनासके समस्त शरीरमें रोमाञ्च उत्पन्न हो गया, उससे उसके मनमें भी जो अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हुआ था, वह प्रकाश होने लगा। इस प्रकार शुकनास थोड़ी देर चुप रह कर राजपुत्रसे कहने लगा—

'वत्स चन्द्रापीड ! तुम्हारी सब विद्याओंकी शिक्षा समाप्त हो गई है एवं यौवनकाल उपस्थित हो गया है—इस रूपमें तुझे देख कर, आज महाराज तारापीडको बहुत कालके बाद भुवन-राज्यका फल प्राप्त हुआ है। आज गुरुजनोंके सब आशीर्वाद सफल हुए, आज अनेक जन्मान्तरमें किए हुए अच्छे कर्मोंका फल मिला है और कुलदेवता प्रसन्न हो गए हैं; क्योंकि—तुम्हारे समान त्रिभुवनको विस्मय उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति अपुण्यवान् व्यक्तियोंका पुत्रत्व स्वीकार नहीं करते हैं। यह नवीन अवस्था ही कहाँ ? और यह अमानुषी दैहिक शक्ति ही कहाँ ? एवं

---

१. समुपविष्टे। २. क्षणमपि। ३. आवेद्यमानहर्ष···। ४. क्वचित् 'तात ! अद्य' इत्येव पाठो दृश्यते। ५. तत्पुण्यभाजां। ६. सकलत्रिभुवन···। ७. विस्मयहेतवः।

चेदमशेष-विद्याग्रहणसामर्थ्यम् ? अहो ! धन्याः प्रजाः, यासां भरतभगीरथप्रतिमो भवानुत्पन्नः पालयिता । किं खलु कृतमवदातं कर्म्म वसुन्धरया, ययासि भर्त्ता समासादितः । हरिवक्षःस्थलनिवासासद्ग्रहव्यसनिनी[1] हता खलु लक्ष्मीः, या विग्रहवती भवन्तं नोपसर्पति । सर्वथा कल्पकोटीर्महावराह इव दंष्ट्रावलयेन[2] वह बाहुना वसुन्धराभारं सह पित्रा' इत्यभिधाय[3] स्वयमाभरण-वसन-कुसुमाङ्गरागादिभिरभ्यर्च्य विसर्जयाञ्चकार ।

विसर्जितश्चोत्थायान्तःपुरं प्रविश्य दृष्ट्वा[4] वैशम्पायनमातरं मनोरमाभिधानां निर्गत्य समारुह्येन्द्रायुधं पित्रा पूर्वकल्पितं प्रतिच्छन्दकमिव राजकुलस्य, द्वारावस्थित-सित-पूर्ण-कल-

---

अहो इति । अहो इत्याश्चर्ये । प्रजाः प्रकृतयो धन्या भाग्यवत्यः, यासां प्रजानां भरतः शकुन्तलापुत्रः, भगीरथः सगरपौत्रः ताभ्यां प्रतिमः सदृशः भवांस्त्वं पालयिता रक्षक उत्पन्नो जातः । किमिति प्रश्ने । खलु निश्चयेन वसुन्धरया पृथिव्या अवदातं निर्मलं विशुद्धमित्यर्थः कर्म कार्यं सुकृतमित्यर्थः कृतं विहितम्, यया त्वं भर्त्ता प्रभुः समासादितो लब्धः असि ।

हरीति । हरेः विष्णोः वक्षःस्थले भुजान्तरे निवासे अवस्थितौ यः असद्ग्रहो दुष्टबुद्धिः तत्र व्यसनिनी आसक्तिमती लक्ष्मीः श्रीः हता प्रतारिता खलु निश्चयेन, या लक्ष्मीः त्वां भवन्तं विग्रहवती शरीरधारिणी सती नोपसर्पति नाभ्युपैति, यद्यपि अमूर्त्तरूपेण ह्यनुसरति तथापि मूर्त्तशरीररूपेण नोपसर्पतीत्यर्थः ।

इह हतत्वसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः, तेन हि भगवतोऽपि राजपुत्रस्योत्कर्षबोधनाद् व्यतिरेकालङ्कारः प्रतीयत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।

सर्वेति । दंष्ट्रावलयेन दन्तमण्डलेन महावराहः शूकरावतारो विष्णुरिव, पित्रा तारापीडेन सह त्वं बाहुना भुजेन कल्पकोटीः कोटिसंख्यकान् कल्पान् यावत् वसुन्धरायाः भूमेः भारं व्यवस्थापनव्यापारं गुरुत्वञ्च सर्वथा सर्वप्रकारेण वह धारय । इति पूर्वोक्तप्रकारेण अभिधाय निगद्य स्वयम् आत्मनैव आभरणानि भूषणानि, वसनानि वस्त्राणि कुसुमानि पुष्पाणि अङ्गरागा विलेपनानि इत्यादिभिः वस्तुभिः अभ्यर्च्य संपूज्य विसर्जयाञ्चकार विसर्जितवान् । इहोपमालङ्कारः ।

पुरा किल भगवान् विष्णुः सागरमग्नं पृथ्वीमण्डलमुद्धर्त्तुमिच्छया वराहावतारं परिगृह्य दन्तमण्डलेन तदुद्धारेति पौराणिकी वार्त्ता ।

विसर्जित इति । विसर्जितो गृहाय अनुज्ञात उत्थाय अन्तःपुरम् अवरोधं प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा मनोरमाभिख्यां मनोरमाख्यां वैशम्पायनमातरं दृष्ट्वा अवलोक्य तदनन्तरं बहिर्निर्गत्य निःसृत्य इन्द्रायुधमश्वं समारुह्य आरोहणं विधाय कुमारो भवनं जगाम यथावित्यन्वयः । भवनं विशेषयति–पूर्वेति । पित्रा तारापीडेन पूर्वकल्पितं प्रागेव निर्मितम्, राजकुलस्य राजभवनस्य प्रतिच्छन्दकं प्रतिरूपमिव सर्वथा सुसाम्यादित्याशयः । 'प्रतिरूपं प्रतिच्छन्दः' इति त्रिकाण्डशेषः । द्वारे अवस्थितौ स्थापितौ सितौ श्वेतौ पूर्णकलसौ पूर्णकुम्भौ यस्य तत्तादृशम् । आबद्धाः संदानिता बहिर्द्वारेषु योजिता इत्यर्थः हरिताः पलाशवर्णाः वन्दनमाला माङ्गल्यानि कुसुममाल्यानि यत्र तत्तादृशम् ।

'तोरणार्द्धे च माङ्गल्यं दाम वन्दनमालिका ।'

---

यह समस्त विद्या-ग्रहण करनेका सामर्थ्य कहाँ ? अहो ! धन्य वे प्रजा हैं जिनके तुम भरत, भगीरथके समान परिपालक होकर उत्पन्न हुए हो । पृथिवीने ऐसा कौन पवित्र-कर्म किया, जिससे तुम्हें पतिरूपमें पाया है । लक्ष्मी देवी नारायणके वक्षःस्थलमें वास करनेके दुराग्रहमें फंसकर विधाताद्वारा वञ्चित हुई है, जो शरीर धारण कर अब भी तुम्हारे निकट नहीं आती है । आदिवराहने जिसप्रकार दन्त-वलयसे पृथिवीका भार वहन किया था, तुम भी उसी प्रकार पिताके साथ कोटि-संख्यक कल्प ( देवताओं का एक हजार युग एक कल्प कहलाता है ) समय तक बाहुद्वारा पृथिवीका वहन करो' इतना कह कर आभूषण, वस्त्र, पुष्प और अङ्गराग द्रव्य आदिसे अपनेसे ही सत्कार करके कुमारको विदा किया ।

तब कुमार चन्द्रापीड शुकनासके पाससे विदा होकर उठ, अन्तःपुर ( रनिवास ) में जा, वैशम्पायनकी माता मनोरमाको देख, उसी मार्गसे बाहर आकर इन्द्रायुध पर सवार होकर, पिताके द्वारा पहलेसे ही निश्चित किए गए अपने भवन ( महल ) में चला गया, वह भवन ( महल ), राजभवनका मानो प्रतिमूर्त्तिस्वरूप था ।

---

१.···व्यसनितया । २. दंष्ट्रावलेन । ३. अभिधाय च । ४. दृष्ट्वा च ।

सम्, आबद्ध-हरित-वन्दनमालम्[1], उल्लसित-पताकासहस्रम्, अभ्याहतमङ्गल-तूर्य्य-रव-परिपूरित-दिगन्तरम्, उपरचित-विकच-कमलकुसुम-प्रकरम्, अचिरकृताग्निकार्य्यम्, उज्ज्वल-विविक्त-परिजनम्, उपपादिताशेष-गृहप्रवेशमङ्गलम्, कुमारो भवनं जगाम। गत्वा च श्रीमण्डपावस्थिते शयने मुहूर्त्तमुपविश्य सह तेन राजपुत्रलोकेन अभिषेकादिकम्[2] अशनावसानमकरोद्दिवसविधिम्। अभ्यन्तरे च शयनीय[3]-गृह एवेन्द्रायुधस्यावस्थानमकल्पयत्।

एवं प्रायेण चास्योदन्तेन तदहः परिणतिमुपययौ। गगनतलादवतरन्त्या दिवसश्रियः पद्मरागनूपुरमिव स्वप्रभापिहितरन्ध्रं रविमण्डलमुन्मुक्तपादं पपात। जलप्रवाह इव[4] रथचक्र-

---

इत्यभिधानचिन्तामणिः। उल्लसितम् उच्छ्रितम् उड्डीनं वा पताकानां वैजयन्तीनां सहस्रं समूहो यत्र तत्तादृशम्। अभ्याहतानि वादितानि यानि मङ्गलतूर्याणि माङ्गलिकवाद्यविशेषाः तेषां रवैः शब्दैः परिपूरितानि व्याप्तानि दिगन्तराणि यस्य तत्तादृशम्। उपरचितो विहितः विकचानां विकसितानां कमलकुसुमानां कमलपुष्पाणां प्रकरो विक्षेपो यत्र तत्तादृशम्। अचिरं शीघ्रं कृतं विहितम् अग्निकार्यं शान्तिहोमो यत्र तत्तादृशम्। उज्ज्वला उज्ज्वलवेशाः विविक्ताः भिन्नभिन्नस्वरूपाः परिजनाः परिचारका यत्र तत्तादृशम्। तथा उपपादितानि भूपतिनैव सम्पादितानि अशेषाणि समग्राणि गृहप्रवेशमङ्गलानि वास्तुपूजाभ्युदयिकश्राद्धप्रभृतीनि यस्य तत्तादृशं भवनम्।

गत्वेति। श्रीमण्डपे शोभाशालिनि सभाभवने अवस्थितं स्थापितं यच्छयनं शय्या तस्मिन् मुहूर्त्तम् उपविश्य अवस्थानं कृत्वा तेन राजपुत्रलोकेन सह अभिषेकादिकं स्नानादिकम् अशनावसानं भक्षणपर्यन्तं दिवसविधिं दिनचर्याम् अकरोत् अकार्षीत्।

अभ्यन्तर इति। अभ्यन्तरे मध्ये यच्छयनीयगृहं सुषुप्तिभवनं तत्र एव इन्द्रायुधस्य अश्वस्य अवस्थानं स्थितिम् अकल्पयत् अन्वतिष्ठत् अत्यन्तादरयोग्यत्वादित्याशयः।

एवमिति। अपि चेति चार्थः। एवंप्रायेण इत्थम्भूतेन अस्य चन्द्रापीडस्य उदन्तेन समाचारेण व्यापारेण तदहः तद्दिवसं परिणतिम् अवसानम् उपययौ अगमत्।

गगनेति। रविमण्डलं सूर्यबिम्बं कर्त्तृ, उन्मुक्ता ऊर्ध्वं त्यक्ताः पादा रश्मयो येन तथोक्तं सत्, गगनतलात् आकाशतलात् अवतरन्त्याः, आगच्छन्त्याः, दिवसश्रियो दिनलक्ष्म्याः, स्वप्रभया स्वीयरश्मिपंक्त्या पिहितम् आच्छादितं रन्ध्रं छिद्रदेशो यस्य तत्तथोक्तं पद्मरागनूपुरमिव लोहितकपादकटकमिव, पपात स्रस्तम् आकाशादिति शेषः। सूर्यबिम्बं छिद्ररहितान्तरालम्, सुतरां तत्सादृश्यनिरूपणाय 'स्वप्रभापिहितम्' इति नूपुरविशेषणम्। इह स्वपदेन नूपुरस्य ग्रहणम्। जात्युत्प्रेक्षा।

जलेति। वासरालोको दिनरश्मिः, जलप्रवाह इव सलिलपूर इव, दिवसकरस्य सूर्यस्य रथचक्रमार्गानुसारेण रथचक्रमार्गक्रमेण रथचक्रमार्गवदित्यर्थः, प्रतीचीं पश्चिमां ककुभं दिशम् अगात् प्रययौ। जलप्रवाहपक्षे तु रथचक्रक्षुण्णमार्गक्रमेणेत्यर्थः, तस्याधोगामित्वात्। उपमा।

---

वहाँ दरवाजे के समीप दो शुभ्रवर्ण जलपूर्ण कलश रक्खे थे। बहिर्द्वारके साथ पलाशवर्ण मांगलिक पुष्पमालायें (बन्दनवारें) बँधी थीं। हजारों पताकायें फहरा रही थीं। बजाए गए माङ्गलिक तूर्य (तुरही) ध्वनिसे दिगन्तर व्याप्त हो गए थे। अन्दरमें कमलके खिले हुए फूलोंके ढेर लग रहे थे। थोड़े ही समय पहले होमकार्य समाप्त हो गया था। भिन्न भिन्न आकारके परिजनगण उज्ज्वलवेषमें भ्रमण करते थे। एवं उस भवनमें गृह-प्रवेशके योग्य सब मङ्गल-क्रियाएँ सम्पादित हुई थीं। राजकुमार उस भवनमें जाकर, सुन्दर सभामण्डपस्थित पलंग पर कुछ देर बैठ कर, उन्हीं राजपुत्रोंके साथ स्नान से लेकर भोजन पर्यन्त नित्य क्रियाओंका सम्पादन किया और भवनके अन्दर अपने शयन करनेके घरमें ही इन्द्रायुधको रहनेके लिए स्थानका निर्देश किया।

इस प्रकार व्यापार करते २ चन्द्रापीड का वह दिन शेष हो गया। उस समय रवि-मण्डल ऊपरकी ओर किरणें फैला कर आकाशसे नीचे गिरने लगा, इससे प्रतीत हुआ कि—दिवसश्री आकाशसे उतर कर जा रही है। उसके पैरमेंसे पद्मरागमणि-मय एक नूपुर (पायजेब) गिर रहा है, उस नूपुरके मध्यका रन्ध्रभाग (छेदवाला

---

१. हरिचन्दन, हरितचन्दन...। २. अभिषेकादिम्। ३. स्वशयनीय...। ४. सलिलप्रवाह इव।

मार्गानुसारेण दिवसकरस्य वासरालोकः प्रतीचीं ककुभमगात्[1]। अभिनवपल्लवलोहिततलेन[2] करेणेवाधोमुखप्रसृतेन रविबिम्बेन[3] वासरः कमलरागमशेषं ममार्ज। कमलिनीपरिमलपरिचयागतालिमालाकुलित-कण्ठं कालपाशैरिव चक्रवाकमिथुनमाकृष्यमाणं विजघटे। करपुटैरादिवसान्तम्[4] आपीतमरविन्दमधुरसमिव रक्तातपच्छलेन गगनगमनखेदादिव दिवसकरबिम्बं ववाम। क्रमेण च प्रतीचीं कर्णपूररक्तोत्पले लोकान्तरमुपगते भगवति गभस्तिमालिनि, समुल्लसितायामम्बर[5]-तडाग[6]-विकच-कमलिन्यां सन्ध्यायाम्, कृष्णागुरुपङ्क-पत्रलता-

अभिनवेति। वासरो दिवसः, करेणेव हस्तेनेव, अभिनवस्य नूतनस्य पल्लवस्य किसलयस्येव लोहितं रक्तं तलम् ऊर्ध्वदेशो यस्य तेन तादृशेन, अधोमुखेन निम्नमुखेन सता प्रसृतेन प्रचलितेन रविबिम्बेन सूर्यमण्डलेन, अशेषं समग्रं कमलरागं पङ्कजस्य रक्तिमानं ममार्ज प्रोञ्छितवानिव। अन्योऽपि तथाविधपाणिना वस्तुविशेषस्य वर्णं परिमार्जति। रवेरस्तगमनेन कमलस्य मुद्रणाद् रक्तिमापगमः सञ्जात इति तात्पर्यम्।

इह जात्युत्प्रेक्षा प्रतीयमानक्रियोत्प्रेक्षा च, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

कमलिनीति। कमलिन्या नलिन्या यः परिमलः सौरभम् तस्य परिचयेन लोभातिशयेन आगतया प्राप्तया तस्या मुद्रणेन तत्परिमलप्राप्त्यभावादुड्डीय तद्गलदेश एवोपविष्टयेत्यर्थः, अलिमालया भ्रमरपंक्त्या आकुलितो व्याप्तः कण्ठो गलदेशो यस्य तत् तादृशम् अत एव कालपाशैः कण्ठबद्धश्यामवर्णरशनाभिः आकृष्यमाणमिव सत्, केनाऽपीति शेषः, चक्रवाकमिथुनं रथाङ्गपक्षिदम्पती विजघटे वियुक्तं बभूव। रात्रिप्राप्त्या प्राकृतिकेऽपि रथाङ्गदम्पतीवियोगे अलीनां तद्गलदेशोपवेशनात् श्यामवर्णगलबद्धरज्जुभिराकर्षणहेतुकवियुक्तत्वमुत्प्रेक्षितमित्यवगन्तव्यम्।

इह पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण 'आकृष्यमाणमिव' इति क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः सङ्कीर्यते।

करपुटैरिति। दिवसकरबिम्बं सूर्यमण्डलं कर्तृ, आदिवसान्तं दिवसावसानपर्यन्तं करपुटैः रश्मिजालैरेव करपुटैः अञ्जलिभिः आपीतं सम्यक् पीतम् अरविन्दानां कमलानां मधुरसं पुष्परसद्रवम्, गगनगमनखेदादिव आकाशभ्रमणपरिश्रमादिव कारणात्, रक्तातपच्छलेन लोहितवर्णविस्तृतप्रकाशमिषेण ववाम उज्जगारेत्यर्थः। मार्गगमनपरिश्रमातिशयाद् यथा श्रान्तस्य पीतजलादेर्वमनं भवति तथाऽत्र सूर्यस्य वमनमित्यभिप्रायः।

इह किरणहस्तयोर्भिन्नत्वेपि श्लेषेणाभिन्नाध्यवसायादतिशयोक्त्यलङ्कारः, गगनगमनखेदादिवेति हेतूत्प्रेक्षा, ववामेवेति सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

क्रमेणेति। प्रतीची पश्चिमा दिक् तस्याः कर्णपूरं कर्णालङ्करणीभूतं यत् रक्तोत्पलं कुवलयं तद्रूपे, भगवति माहात्म्यवति, गभस्तिमाला रश्मिश्रेणिरस्यास्तीति तस्मिन् दिवसाधिपे, लोकान्तरम् अन्यद् भुवनम् अस्ताचलमित्यर्थः उपगते प्राप्ते सति।

इह 'मुखं तव कुरङ्गाक्षि! सरोजमिति नान्यथा' इति दर्पणोदाहृतवत् शाब्दो दिवसाधिपे रक्तोत्पलत्वारोपः आर्थो हि प्रतीच्यां स्त्रीत्वारोप इत्यसमासेऽप्येकदेशविवर्त्तिरूपकमलङ्कारः।

समुल्लसितायामिति। अम्बरं गगनमेव तडागः निर्मलत्वसादृश्यात् सरोवरः तस्य विकचकमलिन्यां

स्थान ) मानो अपनी ही प्रभासे पूर्ण हो गया है। जलका प्रवाह जिस प्रकार रथचक्रद्वारा खुदे जाने के मार्ग में नीचे होकर जाता रहता है, उसी प्रकार दिनका आलोक ( धूप ) भी सूर्यके रथचक्र-मार्गानुसारसे पश्चिम दिशामें जाने लगा। दिवसने अभिनवपल्लवसदृश लाल हथेलीवाले हाथके समान नीचे लटकते रविमण्डलसे पद्मकी समस्त रक्तिमाको मानो पोंछ दिया। कमलिनीके सुगन्धलोभसे भ्रमरगण आकृष्ट हो गये, किन्तु कमलिनीके मुद्रित होनेसे चक्रवाकदम्पतीके कण्ठको जाकर घेर लिया, अतएव उस समय वह चक्रवाक-दम्पती गलबद्ध कालपाशसे खींचे गये होकर ही मानो एक दूसरेसे अलग हो गए और रवि बिम्बने दिनके शेषपर्यन्त कर-सम्पुटसे कमलके जो समस्त मधु-रसका पान किया था, उसे मानो आकाशके मध्यमें चलनेकी थकावटके कारण लाल धूपके आकारके बहाने उगलने लगा। क्रमसे जब पश्चिम दिशाके कर्णालङ्कार-रक्तोत्पलस्वरूप भगवान् सूर्यनारायण अस्तमित हुए, गगन-सरोवरकी सन्ध्यारूप कमलिनी दीखने लगी, गाढ़े काले अगरुके रससे निर्मित पत्रलता

१. दिशमगमत्। २. पल्लवदललोहितकरेण। ३. दिवसकरबिम्बेन। ४. करपुटैर्दिवसान्तम्। ५. अम्बरतल… ।६. तटाक।

स्विव तिमिरलेखासु स्फुरन्तीषु दिशां[1] मुखेषु[2], अलिकुलमलिनेन कुवलयवनेनेव रक्तकमलाकरे तिमिरनिकरेण[3] उत्सार्य्यमाणे सन्ध्यारागे, कमलिनी-निपीतमातपमुन्मूलयितुमन्धकारकरपल्लवेष्विव[4] प्रविशत्सु[5] रक्तकमलोदराणि मधुकरकुलेषु, शनैः शनैश्च निशाविलासिनीमुखावतंस-पल्लवे गलिते सन्ध्यारागे, दिक्षु[6] विक्षिप्तेषु सन्ध्यादेवतार्चनं[7]-बलिपिण्डेषु, शिखर-देशलग्नतिमिरास्वनारूढमयूरास्वपि मयूराधिष्ठितास्विव मयूरयष्टिषु, गवाक्षविवरनिलीनेषु प्रासादलक्ष्मीकर्णोत्पलेष्विव[8] पारावतेषु, विगतविलासिनीसंवाहन-निश्चलं[9]-काञ्चन-पीठासु[10] मूकीभूत-

---

लोहितत्वात् विकसितकमलिनीस्वरूपायां सन्ध्यायां समुल्लसितायां प्रकाशं प्राप्तायां सत्याम् ।

इहाम्बरे तडागत्वारोपः सन्ध्यायां विकचकमलिनीत्वारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकमलङ्कारः ।

कृष्णागुर्विति । कृष्णागुरुपङ्कः गाढकाकतुण्डद्रवः तस्य पत्रलतासु पत्ररचनाचिह्नविशेषेष्विव तिमिरलेखासु अन्धकारपरम्परासु दिशां ककुभानां मुखेषु भागेषु आननेषु च, स्फुरन्तीषु प्रसरन्तीषु सतीषु ।

इहान्धकारपरम्पराणां पत्रलतासादृश्यं शाब्दम्, दिशां स्त्रीसादृश्यन्तु प्रतीयमानमित्येकदेशविवर्त्तिरूपकमलङ्कारः ।

अलिकुलेति । अलिकुलमलिनेन भ्रमरसमूहाच्छादिततया मलिनेन कुवलयवनेन नीलोत्पलसमूहेन रक्तकमलाकरे रक्तकमलसरोवरे इव, अलिकुलवन्मलिनेन तिमिरनिकरेण अन्धकारजालेन सन्ध्यारागे उत्सार्यमाणे पूर्यमाणे दूरीक्रियमाणे च सति । इहोपमा ।

कमलिनीति । कमलिनीभिः नलिनीभिः निपीतं दिवसे निगीर्णम् आतपं सूर्यरश्मिम् उन्मूलयितुं स्ववैरित्वादुत्पाटयितुम् अन्धकाराणां तिमिराणां करपल्लवेष्विव नीलत्वसादृश्यात् विस्तारितहस्तेष्विव मधुकरकुलेषु भ्रमरसमूहेषु, रक्तकमलानां रक्तपद्मानाम् उदराणि अभ्यन्तराणि प्रविशत्सु प्रवेशं कुर्वत्सु सत्सु, निगीर्णद्रव्याणामुदरेष्वेव विद्यमानत्वादित्याशयः । इह जात्युत्प्रेक्षा ।

शनैरिति । निशा रात्रिरेव विलासिनी भूषणप्रिया रमणी तस्या मुखस्य आद्यभागस्य आननस्य च अवतंसपल्लवे लोहितत्वसादृश्यात् भूषणीभूतकिसलयस्वरूपे सन्ध्यारागे शनैः शनैः मन्दं मन्दं गलिते दूरीभूते च सति । इह परम्परितरूपकम् ।

दिक्ष्विति । सन्ध्यायां सायंसमये यानि देवतार्चनानि वास्त्वादिपूजाः तेषां बलिपिण्डेषु उपायनीभूतान्नादिद्रव्येषु दिक्षु पूर्वादिषु विक्षिप्तेषु साधकैर्विकीर्णेषु सत्सु ।

शिखरेति । शिखरदेशे ऊर्ध्वप्रदेशे लग्नं तिमिरम् अन्धकारो यासां तासु, अत एव अनारूढः अनाश्रितो मयूरो नीलकण्ठो यासु तास्वपि मयूरयष्टिषु, मयूरावस्थानदण्डेषु मयूराधिष्ठितास्विव सतीषु । अग्रलग्नान्धकारस्यैव नीलकण्ठवत् प्रतीतेरित्याशयः ।

इह पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः सङ्कीर्यते ।

गवाक्षेति । प्रासादलक्ष्मीः अट्टालिकाश्रीः तस्याः कर्णोत्पलेष्विव कर्णभूषणीभूतनीलोत्पलेष्विव, गवाक्षाणां कर्णतुल्यदेशस्थायित्वात् कपोतानाञ्च तदुत्पलतुल्यनीलत्वादित्याशयः, पारावतेषु गृहकपोतेषु गवाक्षविवरेषु वातायनच्छिद्रेषु निलीनेषु तूष्णींभूय विद्यमानेषु सत्सु । जात्युत्प्रेक्षा ।

विगतेति । विगतेन दूरीभूतेन विलासिनीनां दोलनप्रियाणां सुन्दरीणां संवाहनेन दोलनेन करणेन, निश्चलानि निष्क्रियाणि काञ्चनपीठानि सुवर्णरचितोपवेशपीठानि यासां तासु तथोक्तासु, अन्तःपुरस्य

---

चिह्नके समान अन्धकारकी पङ्क्तियाँ दिशाओंके मुखमें फैलने लगीं, भ्रमरगणके बैठनेसे मलिनवर्ण नीलोत्पलसमूह जिसप्रकार लालकमलके सरोवरको आच्छादित करते ( ढँक लेते ) हैं, उसी प्रकार अन्धकारसमूह सन्ध्याके रागको दूर करने लगे; कमलिनियाँ सायङ्काल तक सूर्यकी किरणों का जो पान किया था, उसे निकालनेके लिए अन्धकारके फैलाए हुए हस्तके समान भ्रमरोंके झुण्ड, लाल कमलके उदरमें प्रवेश करने लगे; निशारूप विलासिनीके मुखका अलङ्कारपल्लवस्वरूप सन्ध्याकी लालिमा धीरे-धीरे दूर होने लगी; साधकगण, सन्ध्याकालीन देवपूजाके उपहारद्रव्य ( बलिपिण्ड ) प्रत्येक दिशामें रखने लगे; मयूरोंके बैठनेकी दंडोंकी चोटियों पर अन्धकार व्याप्त हो जानेसे उस स्थानमें मयूरोंके नहीं बैठने पर भी मानो, वे उन पर बैठे हुए हों ऐसा प्रतीत होने लगा; प्रासादलक्ष्मीके कर्णके नीलोत्पलके समान कबूतर घोसलोंमें निःशब्दसे रहने लगे; विलासिनियोंके उस समय बैठ कर नहीं झूलते रहनेसे

---

१. दिशामुखेषु । २. अलिकुलेन मलिनेषु । ३. तिमिरेण । ४. अन्धकारपल्लवेष्विव । ५. विशत्सु । ६. दिक्षु दिक्षु । ७.…अर्चना… । ८. कर्णोत्पलेषु । ९.…निश्चलासु । १०. काञ्चनपीठिकासु ।

घण्टासु[1] अन्तःपुरदोलासु, भवनसहकार-शाखावलम्बित[2]-पञ्जरेषु शुकसारिकानिवहेषु, सङ्गीत[3]-विराम-विश्रान्तरवासूत्सार्य्यमाणासु वीणासु, युवति-नूपुर-शब्दोपशमनिभृतेषु भवनकलहंसेषु, अपनीयमान-कर्ण-शङ्ख-चामर-नक्षत्रमाला-मण्डनेषु[4] मधुकर शून्य-कपोलभित्तिषु मत्तवारणेषु, प्रदीप्यमानेषु राजवल्लभ-तुरङ्गम[5]-मन्दुराप्रदीपेषु प्रविशन्तीषु प्रथमयाम-कुञ्जरघटासु, कृत-स्वस्त्ययनेषु[6] निष्क्रामत्सु पुरोहितेषु, विसर्जित-राजलोक-विरलपरिजनेषु विस्तारितेष्विव राजकु-

दोलासु अवरोधप्रेङ्खासु अन्तःपुरदोलनयन्त्रेष्वित्यर्थः, मूकीभूताः शब्दरहिता घण्टा यासां तासु तथोक्तासु सतीषु। दोलनकुतूहलं परित्यज्य सुन्दरीणां भवनान्तर्गमनादित्याशयः।

भवनेति। भवनसहकारा राजकुलस्थितचूततरवः तेषां शाखासु स्कन्धेषु अवलम्बितानि स्थापितानि पञ्जराणि येषां तेषु तादृशेषु, शुकसारिकानिवहेषु कीरपीतपादसमूहेषु विगतालापेषु उक्तिप्रत्युक्तिरहितेषु सत्सु, निद्रावेशादित्याशयः।

सङ्गीतेति। सङ्गीतस्य 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते' इत्युक्तलक्षणस्य विरामेणावसानेन विश्रान्तः तिरोहितः रवः शब्दो यासां तासु तादृशीषु वीणासु वल्लकीषु उत्सार्यमाणासु भृत्यैः संगीतस्थानात् दूरीक्रियमाणासु सतीषु।

युवतीति। भवनकलहंसेषु गृहपालितराजहंसेषु, युवतीनां तरुणीनां ये नूपुरशब्दाः पादकटकरवाः तेषामुपशमेन तासां तिरोहिततया विरामेण, निभृतेषु निःशब्देषु सत्सु। तरुणीनां पादकटकरवेषु प्रवृत्तेषु राजहंसानां शब्दविधानात् निवृत्तेषु च तेषु तेषामपि तदविधानादित्याशयः।

अपनीयेति। मधुकरशून्या निद्रावेशेन दानच्युतेरभावात् भ्रमररहिताः कपोलभित्तयो गण्डदेशा येषां तेषु तादृशेषु, मत्तवारणेषु मत्तगजेषु अपनीयमानानि तत्समये सज्जताया अनावश्यकत्वेन हस्तिपकैः परित्यज्यमानानि कर्णयोः शङ्खस्य ललाटास्थनश्च चामराणि वालव्यजनानि, नक्षत्रमाला सप्तविंशतिमुक्ताग्रथितस्रजः तदितराणि च मण्डनानि अलङ्काराः येषां तेषु तादृशेषु सत्सु।

'शङ्खो निधौ ललाटास्थि कम्बौ न स्त्री','सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः'। इति चामरः।

प्रदीप्यमानेष्विति। राज्ञो वल्लभा नृपस्य प्रियाः ये तुरङ्गमा अश्वाः तेषां मन्दुरायाः शालायाः प्रदीपेषु स्नेहप्रियेषु प्रदीप्यमानेषु प्रज्ज्वाल्यमानेषु सत्सु। यद्यपीह मन्दुरापदेन 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरोक्तदिशा अश्वशालाप्रतीतिर्भवति पुनः तुरङ्गमपदं पुनरुक्तमिवाभाति तथापि तत्समयेऽश्वस्थितिद्योतनार्थं तत्पदमिति धनुर्ज्यादिशब्दवन्नोक्तदोष इति विभावनीयम्।

प्रविशन्तीष्विति। प्रथमयामे रात्रेः प्रथमप्रहरे याः कुञ्जरघटा हस्तिसमूहाः तासु प्रविशन्तीषु प्रवेशं कुर्वतीषु सतीषु।

कृतेति। स्वस्त्ययनं विघ्नोपशमनार्थं देवपूजादि, कृतानि विहितानि स्वस्त्ययनानि यैः तथोक्तेषु पुरोहितेषु पुरोधस्सु निष्क्रामत्सु बहिर्गच्छत्सु सत्सु।

विसर्जितेति। विसर्जितः विश्रामाय निजनिजभवनं गन्तुं महाराजेनादिष्टः राजलोकः सामन्तवर्गः तेन कारणेन विरलाः स्वल्पीभूताः परिजनाः सेवकवर्गा येषु तेषु तादृशेषु, राजकुलकक्षान्तरेषु राजभवन-

अन्तःपुर (रनिवास) के झूलोंकी पटलियाँ निश्चल और घंटियोंकी आवाज बन्द हो गई, घरके पास लगे हुए आम्रवृक्षकी डालियों पर लटकाए हुए पिंजरोंके अन्दर शुक और सारिकाओं (तोता और मैनाओं) के झुण्डका बोलना बन्द हो गया; सङ्गीतके अन्तके स्वर बन्द करनेसे वीणाओंकी आवाजके भी बन्द हो जाने पर नौकरों द्वारा वे हटा ली गईं; युवतियोंके नूपुरों (पायजेबों) की झनझनाहट बन्द हो जानेके कारण गृहपालित राजहंस निश्चल हो गये; निद्राके आवेशमें मत्त हाथियोंके मदजल नहीं चूनेसे गण्डस्थल भौंरोंके उड़ जानेसे खाली हो गए एवं महावतों द्वारा उन (हाथियों) के कानोंके और ललाटके चामर, मुक्ताकी माला एवं अन्यान्य आभूषण उतार लिए गए; अश्वरक्षकों (साईसों) द्वारा राजप्रिय अश्वशालाओं (अस्तबलों) में प्रदीप जला दिए गए; पहले प्रहरके द्वाररक्षक हस्तिगण प्रवेश करने लगे; स्वस्त्ययन (देवपूजन) करके पुरोहितगण बाहर निकलने लगे; सामन्त राजाओंके विदा होकर अपने-अपने घर चले जानेके कारण थोड़े परिजन रह जानेसे राज-भवनके बड़े-बड़े कमरे अधिक विस्तृत

१. घण्टास्वरासु, घण्टारवासु। २. अवलम्बि···। ३. सङ्गीतक···। ४. मण्डलपिण्डेषु, मण्डलेषु। ५तु: 'रङ्ग'···। ६. कृतराजस्वस्त्ययनेषु।

लकक्षान्तरेषु, प्रज्वलित-दीपिका-सहस्रप्रतिबिम्ब-चुम्बितेषु कृत¹-विकच-चम्पकदलोपहारेष्विव मणिभूमि-कुट्टिमेषु, निपतित-दीपालोकासु रवि-विरहार्त्त-नलिनी-विनोदनागत-बालातपास्विव भवनदीर्घिकासु, निद्रालसेषु पञ्जरकेशरिषु, समारोपितकार्म्मुके गृहीतसायके यामिक इवान्तः-पुरप्रविष्टे मकरकेतौ, अवतंसपल्लवेष्विव सरागेषु कर्णे क्रियमाणेषु सुरतदूतीवचनेषु, सूर्यकान्त²मणिभ्य इव संक्रान्तानलेषु ज्वलत्सु³ मानिनीनां शोकविधुरेषु हृदयेषु, प्रवृत्ते प्रदोषसमये चन्द्रापीडः प्रज्वलित-दीपिका-चक्रवाल-परिवारश्चरणाभ्यामेव राजकुलं गत्वा पितुः समीपे

प्रकोष्ठाभ्यन्तरेषु, विस्तारितेष्विव विस्तारं प्राप्तेष्विव सत्सु अत्यल्पपरिजनत्वादेव पूर्वकालादेव विस्तारितवदवगम्यमानेष्वित्यर्थः।

इह 'विस्तारितेष्विव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, सा च पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण सङ्कीर्णा।

प्रज्ज्वलितेति। प्रज्ज्वलितानि दीपिकासहस्राणि प्रदीपसमूहाः तेषां प्रतिबिम्बैः प्रतिच्छायैः चुम्बितेषु संसृष्टेषु, मणिभूमिकुट्टिमेषु मणिमयबद्धभूमिषु, कृतो विहितः विकचचम्पकदलानां विकसितचम्पकपुष्पपत्राणाम् उपहारो निक्षेपो येषु तेष्विव सत्सु, तत्र तत्र पथि प्रदीपप्रतिच्छायानां निक्षिप्तविकसितचम्पकपत्रवदवगम्यमानत्वादित्याशयः। इहापि पूर्ववदेवालङ्कारः।

निपातितेति। निपातिता दीपानां दीपकानाम् आलोकप्रकाशा यासु तासु, भवनदीर्घिकासु वाटीचतुःसीमाभ्यन्तरवापीषु, रविविरहेण सूर्यवियोगेन आर्त्तानां व्यथितानां नलिनीनां कमलिनीनां विनोदनाय आश्वासनाय आगता आयाता बालातपा नवोदितरवेः रक्तरश्मयः यासु तादृशीष्विव सतीषु, प्रतिबिम्बितदीपकप्रकाशानां बालातपवदवलोक्यमानत्वादित्याशयः।

इहापि क्रियोत्प्रेक्षा, समासोक्तिः, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गश्चालङ्कार इत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

निद्रेति। पञ्जरकेशरिषु पञ्जरस्थसिंहेषु निद्रया प्रमीलया अलसेषु मन्थरेषु सत्सु।

समारोपितेति। समारोपितं सज्जीकृतं गृहीतश्च, कार्मुकं धनुः सायकं च येन तस्मिंस्तादृशे, कामिलक्ष्येषु सायकक्षेपस्य तस्यैव प्रथमकालत्वादित्याशयः, मकरकेतौ कामदेवे, यामिके प्राहरिके जन इव अन्तःपुरे अवरोधे प्रविष्टे सति। उपमा।

अवतंसेति। अवतंसपल्लवेष्विव कर्णाभरणीभूतकिसलयेष्विव, सरागेषु, उत्पादकतया नायकं प्रत्यनुरागविशिष्टेषु नायकं प्रत्यनुरागोत्पादकेष्वित्यर्थः, पक्षे आरुण्यविशिष्टेषु, सुरतदूत्या मैथुनसंदेशहारिण्या वचनेषु वाक्येषु क्रियमाणेषु आकर्ण्यमानेषु अर्प्यमाणेषु चेत्यर्थः। पूर्णोपमा।

सूर्यकान्तेति। सूर्यकान्ता ये मणयो रत्नानि तेभ्यो दिवसे रविकिरणस्पर्शादग्निं वमद्भ्य इत्यर्थः, संक्रान्तः सञ्चरितः अनलोऽग्निः येषु तेषु तादृशेष्विव, शोकविधुरेषु मानेन स्वजनितवियोगात्तत्समये दुःखविह्वलेषु, मानिनीनां चित्तेषु ज्वलत्सु कामाग्निना जाज्वल्यमानेषु सत्स्वित्यर्थः। क्रियोत्प्रेक्षा।

प्रवृत्त इति। प्रदोषसमये यामिनीमुखसमये 'प्रदोषो रजनीमुखम्' इत्यमरः, अस्तसमयादूर्ध्वं घटिकाद्वय इत्यर्थः, प्रवृत्ते सञ्जाते सति चन्द्रापीडः राजपुत्रः, प्रज्वालितम् उद्दीपितं यद्दीपिकाचक्रवालं प्रदीपसमूहः तदेव परिवारः परिवेशनकारी यस्य तादृशः चरणाभ्यां पादाभ्यामेव राजकुलं राजभवनं गत्वा पितुः तारापीडस्य समीपे निकटे मुहूर्त्तं किञ्चित्कालं स्थित्वा अवस्थाय विलासवतीं निजजननीं च दृष्ट्वाऽवलोक्य

हुए-से दीखने लगे; हजारों जलते हुए प्रदीपके प्रतिबिम्बोंसे युक्त मणिमय भूमि पर मानो, प्रस्फुटित चम्पक पुष्पके उपहार रक्खे हों ऐसा प्रतीत होने लगा; राजभवनके चतुःसीमान्तर्गत सरोवरमें प्रदीपोंका प्रकाश पड़नेसे सूर्यके विरहसे दुःखित कमलिनीका मन बहलानेके लिए मानो बाल-सूर्य आया हो ऐसा प्रतीत होने लगा पिंजरेमें बन्द सिंह निद्राके आवेशमें अलस हो गए; धनुष चढ़ाकर बाण ले पहरेदार ( चौकीदार ) के समान कामदेवने अन्तःपुर ( रनिवास ) में प्रवेश किया; स्त्रियाँ नायकके प्रति अनुरागजनक रतिदूतियोंके वचनको रक्तवर्ण कर्ण-पल्लवके समान सुनने लगीं; विरहवेदनासे विह्वल मानिनियोंके हृदय सूर्यकान्तमणियोंसे ही मानो अग्नि संक्रान्त हो जानेके कारण जलने लगे; इसप्रकार प्रदोष समय हो गया तब राजपुत्र चन्द्रापीड, प्रज्वलित प्रदीपोंसे परिवेष्टित हो, टहलता ही राजभवनमें जाकर, पिताके समीप थोड़ी देर बैठ कर, विलासवतीसे मिल, अपने

१. क्वचित् 'कृत' इति पदं नास्ति। २. क्वचित् 'कान्त' इति पदं नास्ति। ३. प्रज्वलत्सु।

मुहूर्त्तं[1] स्थित्वा दृष्ट्वा च विलासवतीमागत्य स्वभवनमनेकरत्नप्रभाशबलमुरगराजफणामण्डलमिव हृषीकेशः शयनतलमधिशिश्ये।

प्रभातायाञ्च निशीथिन्यां समुत्थाय समभ्यनुज्ञातः[2] पित्रा अभिनवमृगयाकौतुकाकृष्यमाण[3]-हृदयो भगवत्यनुदित एव सहस्ररश्मावारुह्येन्द्रायुधम्, अग्रतो बालेयप्रमाणानाकर्षद्भिः[4] चामीकरशृङ्खलाभिः कौलेयकान्, जरद्व्याघ्रचर्म्म-शबल-वसन-कञ्चुक[5]-धारिभिरनेकवर्ण-पट्ट-चीरिकोद्बद्ध[6]-मौलिभिरुपचितश्मश्रु-गहनमुखैरेककर्णावसक्त-हेमतालीपुटैराबद्ध-निबिडकक्षैरनवरतश्रमोपचितोरुपिण्डकैः[7] कोदण्डपाणिभिः[8] श्वपोषकैरनवरत-कृत-कोलाहलैः प्रधावद्भिर्द्विगुणीक्रियमाणगमनोत्साहो[9] बहु-गज-तुरग-पदाति[10]-परिवृतो वनं[11] ययौ।

---

स्वभवनं निजगृहम् आगत्य अनेकेषाम् अनेकप्रकाराणां बहूनां च रत्नानां मणीनां प्रभाभिः कान्तिभिः शबलं चित्रम्, द्वयोरपि विशेषणञ्चेदम्। उरगराजस्य शेषनागस्य फणामण्डलम्, हृषीकाणाम् इन्द्रियाणाम् ईशो नियन्तेति हृषीकेशो नारायण इव शयनतलं शयनीयोपरिभागम् अधिशिश्ये स्थित्वा शयितवान्। शयनतलमित्यत्र 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यधिकरणे द्वितीया। उपमालङ्कारः।

प्रभातायामिति। किञ्चेति चार्थः। प्रभातायां प्रातःकाले निशीथिन्यां रजन्यां च समुत्थाय उत्थानं विधाय पित्रा तातेन समभ्यनुज्ञातः प्राप्तानुज्ञः आखेटेऽनुमत इत्यर्थः, अभिनवेन प्रत्यग्रेण मृगयाकौतुकेन आखेटकुतूहलेन आकृष्यमाणं हृदयं चित्तं यस्य स तथोक्तः, चन्द्रापीडो वनं ययाविति सम्बन्धः। भगवति ऐश्वर्यवति अनुदिते उदयमप्राप्त एव सहस्ररश्मौ सूर्ये इन्द्रायुधम् अश्वमारुह्य चामीकरस्य सुवर्णस्य श्रृङ्खलाभिः करणैः, बालेया गर्दभाः तत्प्रमाणान् गर्दभसदृशविशालान् इत्यर्थः, कौलेयकान् सारमेयान् 'चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः।' 'कौलेयकः सारमेयः, कुक्कुरो मृगदंशकः॥' इति चामरः।

अग्रतः पुरतः आकर्षद्भिः आकर्षणं कुर्वद्भिः। इत आरभ्य तृतीयान्तानि यानि पदानि तानि अग्रेतनस्य स्वपोषकैरित्यस्य विशेषणानि। जरन् वृद्धो यो व्याघ्रो द्वीपी तस्य चर्म त्वक्। तद्वत् शबलं चित्रं वसनं वस्त्रं तस्य कञ्चुकधारिभिः तद्रचितवारबाणग्राहिभिः, अनेकवर्णानि नानारूपाणि यानि पट्टानि क्षौमवस्त्राणि तेषां चीरिकाभिः क्षुद्रक्षुद्रखण्डैः उद्बद्धाः उन्नमय्य संयताः मौलयः संयुक्तकेशा जटीभूता इति यावत् यैस्तैः तादृशैः, उपचितैः वपनाभावाद् वर्धितैः श्मश्रुभिः वदनरोमभिः गहनानि सङ्कीर्णानि मुखानि वदनानि येषां तैः तादृशैः, एकस्मिन् कर्णे श्रोत्रे अवसक्तं लग्नं हेम्नः सुवर्णस्य तालीपुटम् आभूषणविशेषो येषां तैः तादृशैः, आबद्धाः वस्त्रेण संयताः निबिडकक्षा दृढमध्यप्रदेशा यैः तैः तादृशैः, अनवरतश्रमेण निरन्तरपरिश्रमेण उपचितौ वृद्धिमुपगतौ ऊरुपिण्डौ जङ्घामांसानि येषां तैः तादृशैः, कोदण्डा धनूंषि पाणिषु हस्तेषु येषां तैः तादृशैः, अनवरतं निरन्तरं कृतो विहितः कोलाहलो यैः तैः तादृशैः, तथा प्रधावद्भिः शीघ्रं गच्छद्भिः, स्वपोषकैः कुक्कुरपालकैः लुब्धकविशेषैः द्विगुणीक्रियमाणो

---

भवनमें आया। बादमें नारायणने जिस प्रकार अनेक रत्नोंकी प्रभासे विचित्र शेषनागके फणमण्डल पर शयन किया था, उसी प्रकार अनेक रत्नोंकी प्रभासे चित्रित पलंग पर, सो गया।

प्रातःकाल होने पर उठ कर पिताकी अनुमति लेकर, नूतन मृगया ( शिकार ) के औत्यसुक्यसे आकर्षित हृदयवाला राजकुमार, भगवान् सूर्यनारायणके उदित नहीं होने पर ही; इन्द्रायुध पर सवार हो, अधिकतर हाथी घोड़े और पैदल सैनिकोंसे परिवेष्टित होकर वनकी तरफ चला। आगे आगे दौड़कर कितने कुत्तेको पालन करनेवाले, निरन्तर-कोलाहल करते-करते चन्द्रापीड की मृगया-गमनके उत्साहको दूना बढ़ाने लगे। वे गधोंके समान बड़े बड़े कुत्तोंको सोने की जंजीरोंसे बाँध कर खैंचते हुए ले जाते थे। वे वृद्ध व्याघ्रके चर्मद्वारा निर्मित विचित्र वस्तुके कञ्चुक पहने हुए थे, और विविध-वर्णके रेशमी कपड़ेके खण्डद्वारा (टुकड़ेके साफेसे) केशकलापको ऊँचे उठाकर बाँधे हुए थे, दाढ़ी बढ़ जानेसे उनके मुखमण्डल भर गये थे, एक-एक कानमें सोनेके बनाए हुए **'तालीपुट'** नामक आभूषण पहने हुए थे, कमर दृढ़रूप ( मजबूत ) से बाँध ली थी, अहर्निश परिश्रम करनेसे उनकी जाँघें मोटी हो गई थीं और उन्होंने हाथमें धनुष ले रक्खे थे।

---

१. मुहूर्त्तकम्। २. अभ्यनुज्ञातः। ३...अवकृष्यमाण...। ४. बालेयद्वीपिप्रमाणान्, आकर्षयद्भिः। ५...शबलकञ्चुक...। ६ अवबद्ध, ऊर्ध्वबद्ध...। ७...पिण्डिकैः। ८. दण्डपाणिभिः। ९...क्रियमाणोत्साहः, मनोत्साहः। १०. पादातिभिः। ११. घनं वनं।

तत्र च कर्णान्ताकृष्ट-मुक्तैर्विकच-कुवलय-पलाश-कान्तिभिर्भल्लैः, मदकलकलभ-कुम्भ-भित्ति-भिदुरैश्च नाराचैः, चाप-टङ्कार-भय-चकित-वनदेवताद्धाक्षवीक्षितो वनवराहान् केसरिणः शरभांश्चामराननेककुरङ्गांश्च सहस्रशो जघान। अन्यांश्च जीवत एव महाप्राणतया स्फुरतो जग्राह।

समारूढे च मध्यमह्नः सवितरि वनात्, स्नानोत्थितेनेव श्रमसलिलबिन्दुवर्षमनवरतमुज्झता मुहुर्मुहुर्दशनविघट्टनैः खणखणायित-खर-खलीनेन श्रम-शिथिल-मुख-विगलित-फेनिल रुधिर-लवेन पर्य्याण-पट्टकानुसरणोत्थित फेनराजिना कर्णावतंसीकृतमुत्फुल्लकुसुमशबलम-

गमनोत्साहो यस्य स तादृशः, तथा बहुभिरनेकैः गजैः हस्तिभिः तुरगैरश्वैः पदातिभिः स्थलयायिसेनाभिश्च परिवेष्टितः।

तत्रेति। किञ्चेति चार्थः। तत्र तस्मिन् वने चापस्य धनुषो यः टङ्कारः शब्दः तस्मात् यद्भयं त्रासः तेन चकिताभिः त्रस्ताभिः वनदेवताभिः वनाधिष्ठात्रीभिः अर्द्धाक्षेण भयवशादेवार्द्धसङ्कुचितेन नेत्रेण नयनेन वीक्षितोऽवलोकितः चन्द्रापीडः कर्णान्ते श्रवणपर्यन्तम् आकृष्टा आकर्षिताः पश्चात् मुक्ताः त्यक्ताः तैः तादृशैः, तथा विकचानि विकसितानि यानि कुवलयानि नीलोत्पलानि तेषां यानि पलाशानि पर्णानि तेषामिव कान्तिः द्युतिः येषां तैः तादृशैः भल्लैरर्द्धचन्द्रसदृशशिलीमुखैः, मदकला मदमत्ता ये कलभाः त्रिंशद्वर्षीयकरिशावकाः तेषां याः कुम्भभित्तयो भित्तिवद्विस्तृता दृढाश्च कुम्भदेशाः तासां भिदुराः विदारकाः तैः तादृशैः नाराचैः लौहमयैः शिलीमुखैश्च वनवराहान् अरण्यक्रोडान्, केशरिणः सिंहान्, शरभान् अष्टापदान् चामरान् चामरीविशिष्टान्, अनेककुरङ्गान् अगणितमृगांश्च सहस्रशः जघान हतवान्।

इह 'विकचकुवलये'त्यादौ लुप्तोपमा, तथा अर्द्धाक्षेण वनदेवताकर्त्तृकावलोकनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः। अनयोश्च परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अन्यांश्चेति। महाप्राणतया अत्यधिकसाहसतया अत्यधिकबलतया वा जीवतः प्राणान् दधत एव स्फुरतः स्पन्दमानान् अन्यान् एतद्भिन्नान् पशून् जग्राह गृहीतवान्।

समेति। सवितरि सूर्ये अह्नो दिनस्य मध्यं कालं समारूढे प्राप्ते सति कुमारश्चन्द्रापीडः वनात् स्वभवनमाजगामेति सम्बन्धः। स्नानोत्थितेनेव स्नानं विधायानन्तरमुत्थितेनेव सतेत्यर्थः, अनवरतं निरन्तरं श्रमसलिलबिन्दुवर्षं घर्मबिन्दुवृष्टिम् उज्झता मुञ्चता, इत आरभ्य तृतीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'इन्द्रायुधेन' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। मुहुर्मुहुः वारं वारं दशनैः दन्तैः यानि विघट्टनानि घर्षणानि तैः तादृशैः। खणखणायितः खणखणेतिशब्दायमानीकृतः खरो निशितः खलीनः मुखयन्त्रणं येन तेन तादृशेन। श्रमेण खेदेन शिथिलात् विवृतादित्यर्थः मुखात् वदनात् विगलितः स्रुतः फेनिलो लालाफेनवान् रुधिरलवो शोणितबिन्दुर्यस्य तेन तादृशेन। पर्याणं पल्ययनं तस्य यः पट्टकः स्थितिपीठं तत्रानुसरणं तत्पर्यन्तगमनं यस्याः सा तथोक्ता सती उत्थिता फेनराजिः कफपङ्क्तिर्यस्य तेन तादृशेन। कर्णावतंसीकृतं श्रवणाभरणीकृतम्, उत्फुल्लानि विकसितानि यानि कुसुमानि पुष्पाणि तैः शबलं

उस वनमें प्रवेश कर कान तक धनुषको खींच कर छोड़े गए, खिले हुए नील-कमलकी पंखड़ियोंके समान लगते हुए भालोंसे एवं मदमत्त बालगजकी कुम्भ-भित्तियोंको विदारण करनेमें समर्थ लोहमय बाणोंसे चन्द्रापीडने हजारों जङ्गली शूकर, सिंह, शरभ ( भीषण पशुविशेष जिसको आठ टाँगें होती हैं), चमरयुक्त हरिण और अन्यान्य विविध हरिणों को मार डाला। उसके धनुषकी टङ्कारसे भयभीत वनदेवियाँ कटाक्षसे उसे देखने लगीं और अत्यन्त शारीरिक बल होने के कारण काँपते हुए अन्यान्य पशुओंको तो उसने बिना मारे ही (जीवित अवस्थामें ही) जाते-जाते पकड़ लिया।

सूर्यके दिनके मध्यसमयमें ( दोपहरमें ) आजाने पर राजपुत्र इन्द्रायुध पर सवार होकर उस वनसे अपने भवनमें आ गया। उस समय इन्द्रायुध परिश्रमवश शरीर से पसीनेकी बूँदोंका अनवरत मेह बरसाता था, उससे प्रतीत होता था कि मानो, वह स्नान कर उठा हो। बार बार दाँतके घर्षण (किड़ किड़ करने), से इन्द्रायुधके मुखका तीक्ष्ण लगाम खड़खड़ाहट करता था, उस ( इन्द्रायुध ) की थकावट से शिथिल हुए मुखमें से फेनके साथ रुधिरकी बूँदें टपकती थीं, पर्याण-पटके किनारे पर फेन की रेखा उठी थीं और-खिले हुए नानाविध फूलों से विचित्र

१. अवकृष्ट। २. चापटङ्काररव···। ३. वनवराहकेशरिणः। ४. चमराननेकविध···। ५. स्नानोत्थितेन। ६. खररवाभीतेन। ७···गलित···। ८···अनुसारोत्थित···।

लिपटल-झङ्कार[1]-मुखरं वनगमनचिह्नं पल्लव-स्तबकमुद्वहतेन्द्रायुधेनोह्यमानः, समुद्गतस्वेदतयाऽन्तरार्द्रीकृत[2]-मण्डलेन मृग-रुधिर-लव-शत-शबलेन वारबाणेन द्विगुणतरमुपजनितकान्तिः,[3] अनेकरूपानुसरण[4]-सम्भ्रम-परिभ्रष्ट-छत्रधरतया[5] छत्रीकृतेन नवपल्लवेन[6] निवार्य्यमाणातपः, विविध-वन-लताकुसुम-रेणु-धूसरो वसन्त इव विग्रहवान् , अश्व-खुर-रजो-मलिन-ललाटाभिव्यक्तावदात-स्वेदलेखः, दूरविच्छिन्नेन[7] पदातिजनेन शून्यीकृतपुरोमार्गः, प्रजवि-तुरङ्गमाधिरूढैरल्पावशिष्टैः सह राजपुत्रैः 'एवं मृगपतिः, एवं वराहः, एवं महिषः,[8] एवं शरभः, एवं हरिणः' इति तमेव मृगयावृत्तान्तमुच्चारयन् स्वभवनमाजगाम ।

---

चित्रम्, अलिपटलानि तत्सुगन्धिलोभेन प्राप्ता भ्रमरसमूहाः तेषां झङ्कारेण झंझमितिरवेण मुखरं शब्दायमानम्, वनेऽरण्ये यद्गमनं तस्य चिह्नं लक्ष्म तादृशं पल्लवस्तबकं किसलयगुच्छकम् उद्वहता धारयता इन्द्रायुधेन उह्यमानः पृष्ठे स्थाप्यमानः कुमारः ।

समुद्गतेति । समुद्गतस्वेदतया प्रादुर्भूतघर्मतया कारणेन, अन्तरभ्यन्तरे आर्द्रीकृतानि क्लिन्नीकृतानि मण्डलानि वर्त्तुलाकारभागा यस्य तेन तादृशेन, मृगरुधिराणां हरिणशोणितानां लवशतेन बिन्दुसमूहेन शबलः कर्बुरितः तेन तादृशेन, वारबाणेन कञ्चुकेन द्विगुणतरं यथा स्यात्तथा उपजनिता उत्पादिता कान्तिः शोभा यस्य सः तादृशः कुमारः ।

अनेकेति । अनेकेषां नानाविधानां रूपाणां मृगाणां 'रूपं मृगेऽपि विज्ञेयम्' इति हलायुधः । अनुसरणे पश्चात् पश्चाद् गमने यः सम्भ्रमः शीघ्रता तेन परिभ्रष्टः विच्युतः छत्रधारणस्थानादपगतः छत्रधरः आतपत्रधारकः भृत्यः सेवको यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, छत्रीकृतेन आतपवारणीकृतेन नवपल्लवेन नूतनकिसलयेन निवार्यमाणो दूरीक्रियमाणः आतपः सूर्यरश्मिः यस्य सः तादृशः, कुमारः ।

विविधेति । विविधानि नानाप्रकाराणि यानि वनलताकुसुमानि तेषां रेणुभिः परागैः धूसरः किञ्चित् पाण्डुवर्णः, अतएव विग्रहवान् सशरीरो वसन्तः कुसुमाकरऋतुरिव, तस्यापि तथाविधपरागैः पाण्डुवर्णत्वादित्याशयः ।

इह द्रव्योत्प्रेक्षा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारश्च, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

अश्वेति । अश्वानां तुरगाणां ये खुराः शफानि 'शफं मूले तरूणां स्याद्गवादीनां खुरेऽपि च' इति मेदिनी । तेषां रजोभिर्धूलिभिः मलिने कश्मले ललाटे भाले अभिव्यक्ता आविर्भूता अवदाता निर्मला स्वेदलेखा घर्मबिन्दुपङ्क्तिर्यस्य स तादृशः ।

दूरेति । पदातिजनेन पत्तिपरिच्छदेन दूरविच्छिन्नेन दूरान्तरितेन सता शून्यीकृतः पुरोभागः अग्रभागो यस्य स तादृशः ।

प्रजवीति । प्रजविनो वेगवन्तो ये तुरङ्गमा अश्वाः तेषु अधिरूढैः, अल्पावशिष्टैः स्तोकैः राजपुत्रैः सह बहूनामग्रतो गमनादित्याशयः । एवम् अनेन प्रकारेण, मृगपतिः पशुराजो मृगेन्द्रः एवं वराहो वनशूकरः, एवं महिषो रक्ताक्षः, एवं शरभोऽष्टापदः, एवं हरिणो मृगो मया मारित इति शेषः । अत्रैवंशब्देऽनवीकृतत्वदोषस्तु न शङ्क्यः वैचित्र्यविशेषस्य द्योतिततया रसापकर्षकत्वाभावात् ।

---

और गूँजते भ्रमरोंके झुण्डोंसे शब्दायमान एवं वनगमनके चिह्नरूप दो पल्लवस्तबक को वह कर्णाभरणके स्थान में धारण करता था । चन्द्रापीडके शरीरसे घर्मजल ( पसीना ) उत्पन्न होकर कवचके अन्दरके वर्त्तुलाकार अंशको आर्द्र कर दिया था, एवं मृग-रुधिरके सैकड़ों बूदों से उसके ऊपर का भाग विचित्र हो गया था, अत एव वह कवच उसके द्विगुण सौन्दर्य को उत्पन्न करता था । अनेक हरिणोंके अनुसरण ( पीछा ) करनेके समयमें दौड़नेकी गड़बड़ीमें उसके छत्रधारी नौकर स्थानभ्रष्ट ( अलग ) हो गए थे, अत एव अनेक अभिनवपल्लव ही छत्रके आकारमें हो गए थे, वे पल्लव ही उसके रौद्र ( धूप ) को निवारण करते थे । अनेक प्रकारकी वन-लताओंके फूलोंकी रजसे चन्द्रापीड का शरीर धूसरवर्ण हो गया था, उससे वह शरीरधारी वसन्तके समान-शोभित हो रहा था । एवं चन्द्रापीडका ललाट घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी धूलसे मलिन हो गया था और उसमें निर्मल पसीने की बूँदें आविर्भूत हुई थीं । पैदल सैनिकों के आगे आगे दूर चले जानेसे उसका सम्मुख भाग शून्य था । 'मैं यों सिंह मारा, एवं यों शूकर, यों महिष, यों शरभ, और यों हरिणों का संहार किया' इस प्रकार चन्द्रापीड, जानेके

---

१. ...झङ्काररव... । २. अन्तरान्तरार्द्रीकृत... । ३. उपजातकान्तिः । ४. ...अनुसार... । ५. छत्रधारतया । ६. वनपल्लवेन । ७. ...परिजनेन । ८. वनमहिषः ।

अवतीर्य्य[1] च तुरङ्गमात् ससम्भ्रम-प्रधावित-परिजनोपनीते समुपविश्य[2] आसने वारबाणमवतार्य्य, अपनीय चाशेषं तुरङ्गा[3]धिरोहणोचितंवेशपरिग्रहम्, इतस्ततः प्रचलित-तालवृन्त-पवनापनीयमानश्रमो मुहूर्त्तं विशश्राम। विश्रम्य च मणि-रजत-कनक-कलश-शत-सनाथामन्तर्विन्यस्त-काञ्चनपीठां स्नानभूमिमगात्। निर्वर्त्तितां[4]भिषेकव्यापारस्य च विविक्त-वसन-परिमृष्टवपुषः स्वच्छदुकूल-पल्लवाकलितं[5]-मौलेर्गृहीतवाससः[6] कृतदेवतार्चनस्य[7] अङ्गरागभूमौ समुपविष्टस्य राज्ञा विसर्जिता महाप्रतीहाराधिष्ठिता राजकुलपरिचारिका[8]:, कुलवर्द्धनासनाथाश्च विलासवती-दास्यः, सर्वान्तःपुरप्रेषिताश्चान्तःपुर-परिचारिकाः पटलक-विनिहितानि विविधान्याभरणानि माल्यान्यङ्गरागान्[9] वासांसि चादाय पुरतस्तस्योपतस्थुः, उपनि-

अवतीर्येति। तुरङ्गमात् अश्वात् अवतीर्य अवरोहं कृत्वा ससम्भ्रमं सजवं प्रधावितः शीघ्रगत्या गतः यः परिजनः सेवकः तेन उपनीते उपस्थापिते, आसने विष्टरे उपविश्य, वारबाणं कञ्चकं कवचमित्यर्थः, अवतार्य देहादुन्मुच्य, तुरङ्गाधिरोहणोचितम् अश्वारोहणयोग्यम् अशेषं समग्रं वेशपरिग्रहं वेशपरिच्छदम् अपनीय दूरीकृत्य, इतस्ततः प्रचलितानि परिजनान्दोलनेन स्पन्दितानि यानि तालवृन्तानि व्यजनानि तेषां पवनैः वातै अपनीयमानो दूरीक्रियमाणः श्रमः क्लमो यस्य स तादृशः, मुहूर्त्तं किञ्चित्कालं विशश्राम विश्रामं कृतवान्।

विश्रम्येति। विश्रम्य विश्रामं कृत्वा, मणयः चन्द्रकान्ताद्याः, रजतं रौप्यम्, कनकं सुवर्णम्, एतेषां ये कलशाः कुम्भाः तेषां शतेन समूहेन सनाथाः सहिताः ताम्, तथा अन्तर्मध्ये विन्यस्तं स्थापितं काञ्चनपीठं स्वर्णपीठं यस्यास्तां तादृशीम्, स्नानभूमिम् आप्लवनस्थानम् अगात् जगाम।

निर्वर्त्तितेति। निर्वर्त्तितो निष्पादितः अभिषेकव्यापारः स्नानक्रिया येन तस्य तादृशस्य, विविक्तं पवित्रं यद् वसनं वस्त्रं तेन देहमार्जन्येत्यर्थः परिमृष्टं सेवकेन जलरहितीकृतं वपुः शरीरं यस्य तस्य तादृशस्य, स्वच्छेन विशदेन दुकूलपल्लवेन विस्तृतक्षौमवस्त्रखण्डेन आकलितो बद्धो मौलिः संसृष्टकेशसमूहो येन तस्य तादृशस्य, गृहीतवाससः परिहितवसनस्य, कृतं विहितं देवतार्चनं नैत्यिकदेवतापूजा येन तस्य तादृशस्य अङ्गरागभूमौ विलेपनभूमौ समुपविष्टस्य कृतोपवेशनस्य तस्य चन्द्रापीडस्य, अग्रत इति सम्बन्धः, राज्ञा भूपतिना विसर्जिताः प्रेषिताः, महाप्रतीहारेण द्वारपालाध्यक्षेण अधिष्ठिता पाल्यत्वेनाश्रिताः राजकुलपरिचारिकाः नृपकुलसेवाकारिण्यः कुलवर्द्धनया पूर्वप्रतिपादितपरिचारिकाविशेषेण सनाथा युक्ताः, विलासवतीदास्यः कुमारजननीकूटहारिकाः। सर्वैरन्तःपुरैः निखिलान्तःपुरस्थाङ्गनाभिः प्रेषिताः प्रेरिताः, पटलके पेटिकामध्ये विनिहितानि स्थापितानि विविधानि नानाप्रकाराणि आभरणानि भूषणानि माल्यानि पुष्पदामानि अङ्गरागान् विलेपनानि, वासांसि वस्त्राणि आदाय गृहीत्वा उपतस्थुःस्थिता बभूवुः, उपनिन्युः तानि तानि चन्द्रापीडाय ददुश्च।

समयमें, तेज घोड़े पर बैठे, थोड़े अवशिष्ट ( बचे हुए ) राजपुत्रोंके साथ उस शिकारकी ही आलोचना करता था।

चन्द्रापीड़ भवनमें आकर घोड़ेसे उतर गया। बादमें किसी सेवकने जल्दीसे दौड़ कर एक आसन (कुर्सी) ला दी। वह उस पर बैठ कर, शरीरसे कवच उतार कर, घुड़सवारीके योग्य सब वेश-भूषाओंको उतार दिया। तदनन्तर सेवकगण चारों ओर पंखा हिलाकर, उसको हवा करने लगे। उनकी हवासे चन्द्रापीड़ की थकावट दूर हो गई और उसने क्षण भर विश्राम ( आराम ) किया। विश्रामके बाद वह स्नानगृहमें गया। उस स्थानमें रत्नमय, रौप्यमय और सुवर्णमय बहुसंख्यक कलश रखे हुए थे एवं उसके बीचमें सुवर्णकी एक चौकी रखी थी। वहाँ जाकर चन्द्रापीड़ने विधिवत् स्नान किया। उसके बाद किसी भृत्यने परिष्कृत ( स्वच्छ ) अङ्गपोछे ( तौलिया आदि ) से उसका शरीर पोंछ दिया। बादमें उसने निर्मल और विस्तृत रेशमी कपड़ेसे शिरमें साफ़ा बाँधकर अन्य वस्त्रोंको पहन लिया। जब वह ठाकुरजी की पूजा कर अंगरागशालामें जा बैठा तब, वहाँ प्रधान द्वारपालको आगे कर, महाराज (तारापीड़) के भेजे हुए राजकुलके सेवक, कुलवर्धनासहित विलासवती महारानी की दासियाँ एवं अन्यान्य रानियों द्वारा भेजी हुई अन्तःपुर ( रनिवास ) की दासियाँ, पेटियोंके अन्दर रखे हुए अनेक आभूषण, माल्य, अंगरागद्रव्य और वस्त्र लेकर चन्द्रापीड़के समक्ष उपस्थित हुईं और उन वस्तुओंसे उसकी

१. उत्तीर्य्य। २. उपविश्य। ३. तुरङ्गम। ४. निवर्त्तित···। ५.···आकुलित···। ६. गृहीतधौतवाससः। ७. कृतदेवार्चनस्य। ८.···प्रतिचारिकाः। ९. माल्याङ्गरागान्।

न्युश्च[१]। यथाक्रममादाय च ताभ्यः प्रथमं स्वयमुपलिप्य वैशम्पायनमुपचिताङ्गरागो[२] दत्त्वा च समीपवर्त्तिभ्यो यथार्हमाभरण-वसनाङ्गराग-कुसुमानि विविध-मणिभाजन-सहस्रशारं[३] शारदमम्बरतलमिव स्फुरिततारागणमाहारमण्डपमगच्छत्। तत्र च द्विगुणीकृत[४]-कुथासनोपविष्टः समीपोपविष्टेन तद्गुणोपवर्णन[५]परेण वैशम्पायनेन[६] यथार्ह[७]-भूमिभागोपवेशितेन राजपुत्रलोकेन[८] 'इदमस्मै दीयताम् इदमस्मै दीयताम्'[९] इति प्रसाद[१०]-विशेष-दर्शन-संवर्द्धित-सेवारसेन च सहाहार-विधिमकरोत्। उपस्पृश्य च गृहीतताम्बूलस्तस्मिन् मुहूर्त्तमिव स्थित्वा इन्द्रायुधसमीपमगमत्[११]। तत्र चानुपविष्ट एव तद्गुणोपवर्णनप्रायालापाः कथाः कृत्वा सत्यप्याज्ञाप्रती-

यथेति। प्रथमम् अङ्गरागद्रव्याणि पश्चात् पुष्पमाल्यानीत्येवं क्रममनतिक्रम्येति यथाक्रमम्। ताभ्यः सर्वदासीभ्यः, आदाय तानि तानि गृहीत्वा, स्वयम् आत्मनैव प्रथमं पूर्वं वैशम्पायनं शुकनासात्मजम् उपलिप्य अङ्गरागद्रव्येणेति शेषः। एतेन प्रेमातिशयस्तस्मिन्निति प्रत्याय्यते। पश्चात् स्वयम् उपचितः कृतः अङ्गरागो विलेपनं येन स तादृशः, समीपवर्त्तिभ्यो निकटवर्त्तिभ्यो राजपुत्रेभ्य इति शेषः, यथार्हं यथायोग्यम् आभरणवसनाङ्गरागकुसुमानि भूषणवस्त्रविलेपनपुष्पाणि च दत्त्वा वितीर्य, विविधानां नानारूपाणां मणिभाजनानां रत्नमयभोजनपात्राणां सहस्रेण समूहेन शारं विचित्रम् अतएव स्फुरित उद्दीप्तः तारागणोनक्षत्रमण्डलं यत्र तत्तादृशम्, शारदं शरत्सामयिकम् अम्बरतलम् आकाशमिव विद्यमानम्, आहारमण्डपं भोजनगृहम् अगच्छत् अगमत्। उपमा।

तत्रेति। किञ्चेति चार्थः। तत्र आहारमण्डपे, द्विगुणीकृते द्विरावर्त्य संस्थापिते कुथासने कम्बलासने 'कुथः स्त्रीपुंसयोर्वर्णकम्बले' इति मेदिनी, उपविष्टः उपवेशनं कृतवान् राजपुत्रः तस्य चन्द्रापीडस्य समीपोपविष्टेन निकटमुपविशता, तद्गुणोपवर्णनपरेण चन्द्रापीडप्रशंसासक्तेन वैशम्पायनेन अग्रेतनसहशब्दयोगे 'सह युक्तेऽप्रधाने' इत्यनेन तृतीया। तथा यथार्हे यथायोग्ये भूमिभागे उपवेशितेन स्थापितेन 'अस्मा इदं दीयताम्' 'अस्मा इदं दीयताम्' इति पूर्वोक्तप्रकारेण दीयतामिति परिवेषकं प्रत्यनुज्ञा प्रसादः अनुग्रहः तस्य विशेष आधिक्यं तस्य दर्शनेन प्रकटनेन संवर्धितः वृद्धिं प्रापितः सेवारसः स्वानुगत्येऽनुरागो यस्य तेन तादृशेन, राजपुत्रलोकेन नृपात्मजवर्गेण च सह, आहारविधिं भोजनकार्यम् अकरोत् कृतवान्।

उपेति। उपस्पृश्य आचमनं विधाय 'उपस्पर्शस्त्वाचमनम्' इत्यमरः। भोजनानन्तरमाचमनविधानं च नारदेन स्पष्टमुक्तम्—

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतं वचः। पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत् प्रयतोऽपि सन्॥'

गृहीतम् आत्तं ताम्बूलं नागवल्लीदलं येन स तादृशः, तस्मिन् आहारमण्डपे मुहूर्त्तमिव क्षणमिव स्थित्वा इन्द्रायुधसमीपम् इन्द्रायुधनामाश्वनिकटम् अगमत् ययौ। इहेवशब्दो वाक्यालङ्कारे।

तत्रेति। किञ्चेति चार्थः। तत्र इन्द्रायुधनिकटे, अनुपविष्ट एव उत्थित एव, तस्य इन्द्रायुधस्य ये गुणाः वेगातिरेकादयः मनोभावानुसारं स्थित्यादिकाः मुखमण्डलेनिर्मांसत्वादयश्च तेषामुपवर्णनं तस्यैव

भेंट की। चन्द्रापीड़, उन सबोंके समीपमें उन समस्त वस्तुओंमें से एक-एक वस्तु लेकर, पहले अपनेसे ही वैशम्पायनके शरीरमें अङ्गराग द्रव्य लेप कर, फिर अपना अंगराग कर, समीपमें बैठे हुए राजपुत्रोंको यथोचित आभूषण, वस्त्र, अङ्गलेप, और पुष्प देकर, आहार-मंडप ( भोजन-गृह ) में चला गया। उस गृहमें नानाविध रत्नमय भोजनके पात्र रखे रहनेसे वह बहुत ही विचित्र हो गया था, अतएव चमकते तारागणवाले शरत्कालीन आकाशके समान वह गृह दृष्टिगोचर हो रहा था। चन्द्रापीड़ वहाँ जाकर, दुगुने करके बिछाये हुए कम्बलासन पर बैठ गया। वैशम्पायन पासमें बैठ कर उसके गुणोंका वर्णन करने लगा। उस समय चन्द्रापीड़, वैशम्पायन द्वारा राजपुत्रोंको यथोचित स्थान पर बैठा कर, परोसने वालोंसे कहने लगा कि—'यह वस्तु इनको दो और यह वस्तु उनको दो' इस प्रकार वह विशेष अनुग्रह दिखाने लगा, जिससे उसके प्रति राजपुत्रोंकी भी सेवा करनेकी इच्छा बढ़ने लगी। इस रूपसे चन्द्रापीड़ने उन लोगोंके साथ भोजन कार्य सम्पन्न किया। भोजनके बाद आचमन कर, पान ले, उस घरमें ही कुछ देर बैठ, इन्द्रायुधके पास गया। वहाँ जाकर खड़े-खड़े ही राजपुत्रोंके साथ अनेक प्रकार की बात-चीत करने लगा, उसके बीचमें इन्द्रायुधके गुणोंका वर्णन ही अधिक

१. उपनिन्युश्चोपनीतानि च। २. उपरचिताङ्गरागः। ३. ...सारं, शाराम्बर... । ४. द्विगुणित...। ५. ...वर्णन...। ६. सह। ७. यथार्ह। ८. सह राज...। ९. क्वचित् द्विवारं नोपलभ्यते। प्रदीयताम्। १०. क्वचित् 'प्रसाद' इति पदं नास्ति...। ११. अगात।

क्षणोन्मुखे[1] पार्श्वपरिवर्त्तिनि परिजने तद्गुणहृत[2]-हृदयः स्वयमेवेन्द्रायुधस्य पुरो यवसमाकीर्य्य निर्गत्य राजकुलमयासीत्। तेनैव च क्रमेणावलोक्य राजानमागत्य निशामनैषीत्।

अपरेद्युश्च[3] प्रभातसमय एव सर्वान्तःपुराधिकृतम्[4], अवनिपतेः परमसम्मतम्, अनुमार्गागतया च[5], प्रथमे वयसि वर्त्तमानया, राजकुल-संवासप्रगल्भयाप्यनुज्झितविनयया, किञ्चिदुपारूढयौवनया, शक्रगोपकालोहित[6]-रागेणांशुकेन रचितावगुण्ठनया सबालातपयेव पूर्वया ककुभा, प्रत्यग्र-दलित-मनःशिला-चूर्णवर्णेन[7] अङ्गलावण्य-प्रभा-प्रवाहेणामृतरस-नदीपूर-

प्रायेण वाहुल्येन आलाप आलोचना यासु ताः तादृशीः, कथाः मिथोभाषणानि कृत्वा नृपात्मजैः सह विधाय, आज्ञाया निदेशस्य प्रतीक्षणं समयावेक्षणं तत्रोन्मुखे उद्यते पार्श्वपरिवर्त्तिनि समीपस्थायिनि परिजने भृत्ये सत्यपि विद्यमानेऽपि तस्य इन्द्रायुधस्य गुणैः वेगातिरेकादिभिः हृतम् आकर्षितं हृदयं चेतो यस्य स तादृशः। स्वयमेव आत्मनैव इन्द्रायुधस्य अश्वस्य पुरोऽग्रतः यवसं घासम् आकीर्य विक्षिप्य तदनन्तरं निर्गत्य निःसृत्य राजकुलं राजवाटीम् अयासीत् अगच्छत्।

तेनेति। किञ्चेति चार्थः। तेनैव क्रमेण प्राग्दर्शितदिशा, सविनयप्रणामादिपूर्वकमित्यर्थः। राजानं तारापीडम् अवलोक्य निरीक्ष्य आगत्य एत्य स्वभवनमिति शेषः। निशां रात्रिम् अनैषीत् अतिवाहितवान्।

अपरेद्युरिति। किञ्चेति चार्थः। अपरेद्युः अपरस्मिन् दिने प्रभातसमय एव प्रातःकाल एव सर्वेषु अन्तःपुरेषु अधिकृतम् अधिकारवन्तम् अध्यक्षमित्यर्थः, अवनिपतेः भूपालस्य परमसम्मतम् अत्यन्तविश्वसिततयाऽभिलषितम्, कन्यकया अनुगम्यमानं कैलासनामानं कञ्चुकिनम् अपश्यदिति दूरेण सम्बन्धः।

अन्विति। अनुमार्गागतया कैलासमार्गानुसरणेन प्राप्तया। इत आरभ्य तृतीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य कन्यकयेत्यस्य विशेषणानि। प्रथमे कौमारे वयसि अवस्थायां वर्त्तमानया विद्यमानया।

राजकुलेति। राजकुले नृपकुले यः संवासः वसनं तेन प्रगल्भयाऽपि धृष्टया सत्यापि, अनुज्झितः अपरित्यक्तो विनयो नम्रता यया तादृश्या। राजकुले विशेषतस्तु राजभवने संवासेन नानाविधजनैरालोचनाव्यवहारात्तदवलोकनाच्च वाहुल्येनैव कन्यका धृष्टा भवन्ति, किन्तु सत्कुलोत्पन्ना विनयं न परित्यजन्तीत्याशयः।

किञ्चिदिति। किञ्चित् ईषत् उपारूढम् उत्पन्नं यौवनं तारुण्यं यस्यास्तया तादृश्या।

शक्रेति। शक्रगोप एव शक्रगोपक इन्द्रगोपापरनामा रक्तवर्णकीटविशेषः, तद्वत् आलोहितः किञ्चिद्रक्तो रागो वर्णो यस्य तेन तादृशेन, अंशुकेन वस्त्रेण रचितं विहितम् अवगुण्ठनम् उत्तमाङ्गाच्छादनं यथा स्यात्तथा, अतएव बालातपेन प्रत्यग्रोदितसूर्यप्रकाशेन सह वर्तते इति तया तादृश्या, पूर्वया प्राच्या ककुभा दिशेवावलोक्यमानया। इह लुप्तोपमा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, श्रौत्युपमा चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

प्रत्यग्रेति। प्रत्यग्रदलिता तत्कालमर्दिता या मनःशिला 'मैनशिल' इति प्रसिद्धो धातुविशेषः तस्य यच्चूर्णं तस्येव वर्णो यस्य तेन तादृशेन, अङ्गानाम् अवयवानां या लावण्यप्रभा सौन्दर्यं कान्तिः तस्याः

परिमाणमें होने लगा। उस समय उसके आदेशकी प्रतीक्षामें राह देखते सेवकोंके निकटमें रहने पर भी, इन्द्रायुधके गुणों पर मोहित होकर अपने आप ही उसके आगे जाकर घास डाल दिया तथा पहले की तरह नमस्कारादि कर वहाँसे निकल कर राज-भवनकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँच कर महाराजके साथ पहलेके अनुसार ही दर्शनादि कर फिर उसने अपने महलमें आकर रात बिताई।

चन्द्रापीडने दूसरे दिन प्रातःकाल ही समस्त अन्तःपुरके अध्यक्ष और राजा तारापीडके अत्यन्त विश्वस्त कैलास नामक कञ्चुकी को आते हुए देखा। उसके पीछे-पीछे एक कन्या भी चली आ रही थी। उसने नवयौवनमें केवल पदार्पण ही किया था। और वह, राजभवनमें वास करनेसे प्रगल्भ होने पर भी विनय का परित्याग नहीं कर सकी थी। उसका यौवन कुछ-कुछ प्रकाशमें आ गया था। इन्द्रगोप ( मखमली ) कीट, ( वीर-वधूटी ) के समान ईषद् रक्तवर्ण वस्त्रका दुपट्टा उसने मस्तक पर ओढ़ रखा था जिससे वह, नूतन रौद्र समन्वित पूर्वदिशाके समान देखने में आती थी। तत्कालके टूटे मनःशिला ( मैनसिल ) के चूर्णके समान रंगवाली शरीरकी लावण्य-कान्तिके

१. चाज्ञां प्रतीक्षमाणोन्मुखे। २. अपहृत, अपहृत'''। ३. परेद्युश्च। ४. अधिकृततया। ५. क्वचित् 'च' कारो न विद्यते। ६.'''लोहित'''। ७.'''मनःशिलावर्णेन।

णेव भवनमापूरयन्त्या, ज्योत्स्नयेव राहुग्रास[1]-भयादपहाय रजनीकरमण्डलं गाम्[2] अवतीर्णया, राजकुल-देवतयेव[3] मूर्त्तिमत्या, क्वणितमणिनूपुराकलित[4]-चरणयुगलया[5] कूजत्कलहंसाकुलित-कमलयेव कमलिन्या, महार्ह-हेम-मेखला-कलाप-कलित[6]-जघनस्थलया, नातिनिर्भरोद्भिन्न-पयोधरया, मन्द-मन्द[7]-भुजलता-विक्षेप-प्रेङ्खित-नख-मयूखच्छलेन धाराभिरिव लावण्यरसमनवरतं क्षरन्त्या, दिङ्मुखविसर्पिणि हारलतानां रश्मिजाले निमग्नशरीरतया क्षीरसागरोन्मग्नवदनयेव लक्ष्म्या, बहल-ताम्बूल-कृष्णिमान्ध[8]-कारिताधर-लेखया, सम-सुवृत्त[9]-तुङ्गनासि-

---

प्रवाहेण परम्परया, अमृतरसस्य अत्यन्ततृप्तिविधायित्वात् सुधाद्रवस्य नदीपूरेणेव सरित्प्रवाहेणेव भवनं गृहम् आपूरयन्त्या परिपूर्णं कुर्वत्या, अतएव राहुग्रासभयात् सैंहिकेयभक्षणत्रासात् रजनीकरमण्डलं चन्द्रबिम्बम् अपहाय त्यक्त्वा, गां पृथिवीम् अवतीर्णया आगतया ज्योत्स्नया कौमुद्येव विद्यमानया।

इह लुप्तोपमा, जात्युत्प्रेक्षा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, द्रव्योत्प्रेक्षा चेति परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

राजेति। मूर्त्तिमत्या शरीरधारिण्या राज्ञो नरपतेः तारापीडस्य कुलदेवतया कुलाधिष्ठाभ्येव विराजितया शोभितया, सौन्दर्यप्रभावादित्याशयः। इह राजकुलदेवतयेवेति द्रव्योत्प्रेक्षा।

क्वणितेति। क्वणिताभ्यां रणिताभ्यां मणिनूपुराभ्यां रत्नपादकटकाभ्याम् आकलितं सम्बद्धं चरणयुगलं पादद्वितयं यस्याः सा तया तादृश्या, अतएव कूजद्भ्याम् अव्यक्तशब्दं कुर्वद्भ्यां कलहंसाभ्यां कादम्बाभ्याम् आकुलिते संसृष्टे कमले पङ्कजद्वयं यस्यास्तया कमलिन्या नलिन्येव विद्यमानया।

इह कमलिन्येवेति श्रौत्युपमा सा च पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गेनानुप्राणिता बोध्या।

महार्हेति। महार्हेण बहुमूल्येन हेममेखलाकलापेन कनकरचितकाञ्चीदाम्ना कलितं वेष्टितं जघनस्थलं नितम्बभागो यस्याः तया तादृश्या।

नातीति। नातिनिर्भरम् अनतिशयं यथा स्यात्तथा उद्भिन्नौ प्रकाशं प्राप्तौ पयोधरौ कुचौ यस्याः तया तादृश्या तारुण्यस्य केवलप्रकटनादित्याशयः।

मन्देति। मन्दमन्दः किञ्चित्किञ्चित् यो भुजलतयोः बाहुवल्ल्योः विक्षेपः आगमनसामयिकान्दोलनं तेन प्रेङ्खिताः प्रसृता ये नखमयूखाः हस्तनखररश्मयः तेषां छलेन व्याजेन, अनवरतं निरन्तरं धाराभिः प्रवाहैः लावण्यरसं तारुण्यरसं क्षरन्त्या स्रावयन्त्येव विद्यमानया। सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा।

दिङ्मुखेति। दिङ्मुखविसर्पिणि समन्तात् प्रसारिणि, हारलतानां रश्मिजाले किरणसमूहे निमग्नशरीरतया त्रुडितदेहतया कारणेन, क्षीरसागरात् दुग्धाम्भोधेः शुभ्रपयसः उन्मग्नं सलिलोपरि समुत्थितं वदनं मुखं यस्याः तया तादृश्या, लक्ष्म्येव रमादेव्येवावलोक्यमानया। उपमा।

बहलेति। बहलः अधिको यः ताम्बूलस्य नागवल्लीदलस्य कृष्णिमा अधिकनागवल्लीदलचर्वणो-

---

प्रवाहसे, मानो वह अमृत-रसकी नदीके प्रवाह द्वारा सब महलको भर देती थी, अत एव राहु-ग्रासके भयसे चन्द्रमण्डल छोड़ कर पृथिवी पर आई हुई ज्योत्स्ना ( चाँदनी ) के समान वह देखनेमें आती थी। और वह राजा की शरीर धारिणी कुलदेवताके समान शोभायमान थी। झन झन करते मणिमय नूपुरसे उसके चरण अलङ्कृत थे, अत एव कमलद्वयके समीपमें गुञ्जार करते दो-दो कलहंसोंसे अकुलाई हुई कमलिनीके समान वह देख पड़ती थी। बहुमूल्य सुवर्णमय चन्द्रहार ( डरकस, तागड़ी ), उसके नितम्ब देश ( कमर ) में पड़ा था। स्तन कुछ घने और उठे हुए थे। बाहु-लताके मन्द-मन्द हिलनेसे निकलती नख-किरणोंके आकारमें वह अपने लावण्य-रसकी धारा को मानो दिन-रात बरसाती थी। मुक्तामय हारावलीकी किरणें दिशाओंके मुखमें फैल रही थीं, उसके बीचमें ही उसका शरीर डूब जानेसे क्षीरसागरमें से ऊँचा वदन करके निकलती लक्ष्मी देवीके समान देख पड़ती थी। ताम्बूलके अतिरिक्त चर्वण जनित काले चिह्नसे उसके ओष्ठयुगल मलिन हो गए थे। उसकी

---

१. राहुग्रह, राहुग्रसन। २. भूमण्डलम्। ३. राजकुलगृहदेवतयेव। ४.…आकुल, आकुलित…। ५.…चरणयारुचिररेणुचर्चितचञ्चरीक चक्रवालवाचालित रक्तकमलयुगलयेव स्थलकमलिन्या। ६.…आकलित…। ७. मन्दं मन्दं। ८. कृष्णिकान्ध…। ९. समुपवृत्त…।

कया, विकसित-पुण्डरीक-धवल[1]-लोचनया, मणिकुण्डलमकरपत्र[2]-भङ्ग-कोटिकिरणातपाहत-कपोलतया[3] सकर्णपल्लवमिव मुखमुद्वहन्त्या, पर्य्युषितधूसर-चन्दन-रस-तिलकालङ्कृत-ललाट-पट्टया, मुक्ताफलप्रायालङ्कारया, राधेयराजलक्ष्म्येव उपपादिताङ्गरागया, नववन[4]लेखयेव कोमल-तनु-लतया, त्रय्येव सुप्रतिष्ठितचरणया, मखशालयेव वेदिमध्यया, मेरुवनलतयेव

---

त्पन्नश्यामचिह्नं तेन अन्धकारिता समुत्पन्नान्धकारा मलिनेत्यर्थः अधरलेखा रदनच्छदरेखा यस्याः तया तादृश्या।

समेति। समा अनुच्चनीचोर्ध्वदेशा, सुवृत्ता सुगोलोर्ध्वभागा, तुङ्गा उन्नता च नासिका नासा यस्याः तया तादृश्या।

विकसितेति। विकसितं प्रस्फुटितं यत् पुण्डरीकं श्वेतकमलं तद्वत् धवले शुभ्रे लोचने नयने यस्याः तया तादृश्या। लुप्तोपमा।

मणीति। मणिकुण्डलयोः रत्नभूषणयोः यौ मकरपत्रभङ्गौ मकरसदृश-पत्रखण्ड-सदृशभूषणे तयोः कोट्योः पुरोभागयोर्ये किरणातपा रश्मिप्रकाशाः तैः आहतौ ताडितौ संस्पृष्टावित्यर्थः कपोलौ गण्डौ यस्याः तस्या भावः तया कारणेन, कर्णपल्लवाभ्यां श्रवणकिसलयाभ्यां सहेति सकर्णपल्लवं तदिव, तद्रश्मीनामेव किसलयवदवभासमानत्वादित्याशयः गुणोत्प्रेक्षा।

पर्युषितेति। पर्युषितं पूर्वदिवसविहितम् अत एव धूसरं किञ्चित् पाण्डुवर्णं यच्चन्दनरसस्य मलयजद्रवस्य 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, तिलकं विशेषकः तेन अलङ्कृतो भूषितो ललाटपट्टः भालस्थलं यस्याः तया तादृश्या।

'तिलको द्रुमरागाश्वभेदेषु तिलकालके। क्लीबं सौवर्चलक्लोम्नोर्न स्त्रियां तु विशेषके॥' इति विश्वमेदिन्यौ।

मुक्तेति। मुक्ताफलानि मौक्तिकानि प्रायेण बाहुल्येन येषु ते तादृशा अलङ्कारा भूषणानि यस्याः तया तादृश्या।

राधेयेति। राधेयस्य कर्णस्य या राज्यलक्ष्मीः आधिपत्यश्रीः तयेव, उपपादितो विहितः अङ्गरागः कुङ्कुमादिभिरङ्गलेपनं यया तादृश्याः पक्षे-उपपादितो विहितः अङ्गेषु तत्संज्ञकदेशविशेषेषु रागः निवासप्रेम यया तया तादृश्या, राधेयस्य अङ्गदेशस्वामित्वादित्याशयः।

नवेति। नवा अभिनवा या वनलेखा वनपङ्क्तिः तयेव, कोमला मृदुला तनुः लतावत् कृशं वपुः यस्याः तया तादृश्या, पक्षे-कोमला अभिनवोत्पन्नत्वादेव मृदुला तन्वी कृशा चलता वल्ली यस्यां तया तादृश्या।

त्रय्येवेति। त्रयी वेदत्रयी तयेव, सुप्रतिष्ठितौ साधुतया न्यस्तौ चरणौ पादौ यया तया तादृश्या, पक्षे-सुप्रतिष्ठिता अत्यन्तविख्याताः चरणाः शाखा यस्याः तया तादृश्या।

मखेति। मखशाला यज्ञभवनं तयेव, वेदिवत् कीटविशेषवत् मध्यः कटिदेशो यस्याः तया तनुमध्येत्यर्थः, वेदिः परिष्कृता भूमिः मध्ये यस्याः तया तादृश्या। 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः।

मेरुवनेति। मेरुः सुमेरुपर्वतः तत्र यद्वनं काननं तस्य लता व्रततिः तयेव, कनकपत्राणि सुवर्णरचित पत्रसदृशभूषणानि, पक्षान्तरे—सुवर्णमयानि नागकेशरमयानि चम्पकमयानि वा पर्णानि पत्राणि तैः अलङ्कृतया भूषितया।

---

उच्च नासिका का ऊपर भाग समान और सुगोल था। उसकी आँखें खिले हुए पुण्डरीकके समान सफेद थीं। मणिमय कुण्डलके साथमें संलग्न मकराकार और पत्रखण्डाकार अलङ्कारके अग्रभागकी किरणोंका प्रकाश उसके गाल पर पड़नेसे उसका मुख मानो कर्ण-पल्लव सहित हो ऐसा प्रतीत होता था। पूर्वदिनके धूसर वर्ण चन्दन-रसके तिलकसे उसका ललाट देश शोभित था। आभूषणोंके बीचमें प्रायः उसने मोतीके ही आभूषण पहने थे। कर्णकी राजलक्ष्मी जिस प्रकार अङ्गदेशमें रहने के लिए प्रेम करती थी, उस कन्याने भी उसी प्रकार कुङ्कुम और चन्दनादि द्वारा अङ्गलेपन किया था। अभिनव वनपङ्क्तिके बीचमें जिस प्रकार कोमल और कृश लता रहती है, उस कन्या का शरीर भी उसी प्रकार लताके समान कृश और कोमल था। वेदकी शाखाएँ जिस प्रकार संसार में प्रसिद्ध हैं, उस कन्याका चरण युगल भी उसी प्रकार पृथिवीमें सुन्दर चालसे युक्त थे। यज्ञ शालाके बीचमें जिस प्रकार वेदी रहती है, उसका कटिदेश भी उसी प्रकार वेदी (कीट-विशेष) के समान कृश था। सुमेरु

---

१. क्वचित् 'धवल' इति पदं नास्ति। २. मरकतमकरपत्र। ३. कपोलतलतया। ४. नवनव'''।

कनकपत्रालङ्कृतया, महानुभावाकारया, अनुगम्यमानं कन्यकया[1] कैलासनामानं कञ्चुकिनमायान्तमपश्यत् ।

स कृतप्रणामः समुपसृत्य क्षितितल-निहित-दक्षिणकरो विज्ञापयामास-'कुमार ! महादेवी विलासवती समाज्ञापयति-'इयं खलु कन्यका[2] महाराजेन पूर्वं कुलूतं[3]-राजधानीमवजित्य कुलूतेश्वर[4]-दुहिता पत्रलेखाभिधाना बालिका सती वन्दीजनेन सहानीयान्तःपुरपरिचारिकामध्यमुपनीता । सा मया विगतनाथा राजदुहितेति च[5] समुपजातस्नेहया दुहितृनिर्विशेषमियन्तं कालमुपलालिता संवर्द्धिता च । तदियमिदानीमुचिता भवतस्ताम्बूलकरङ्कवाहिनी[6] इति कृत्वा[7] मया प्रेषिता' । न चास्यामायुष्मता परिजनसामान्यदृष्टिना भवितव्यम् , बालेव

'..............कनको नागकेसरे । धत्तूरे चम्पके काञ्चनारकिंशुकयोरपि ॥' इत्यनेकार्थः ।

इह 'राधेयराजलक्ष्म्येव' इत्यारभ्य 'मेरुवनलतयेव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः ।

महानुभावेति । महानुभावो विशेषप्रतिभावान् आकारः स्वरूपं यस्याः तया तादृश्या । कन्यकया कयाचित् दारिकया अनुगम्यमानम् अनुव्रज्यमानं कैलासनामानं कैलाससंज्ञकं कञ्चुकिनम् आयान्तम् आगच्छन्तम् अपश्यत् अवालोकयत् । चन्द्रापीड इत्यन्वयः ।

'अन्तः पुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वशास्त्रार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥'

स इति । स कञ्चुकी । कृतो विहितः प्रणामो नमस्कारो येन स तादृशः । यद्यपि चन्द्रापीडस्य प्रणामोऽनुचितमिवाभाति कञ्चुकिनो विप्रत्वात् , तथापि स्वप्रभुत्वादनभिवादनरूपः केवलो वामनमात्रद्योतकः प्रणाम इत्यवधेयम् । क्षितितले भूतले निहितः स्थापितो दक्षिणः सव्यः करः पाणिर्येन स तादृशः। अयमाचारोऽपि विनयद्योतक इति बोध्यम् ।

कुमारेति । हे कुमार ! महादेवी पट्टराज्ञी विलासवती तव जननी समाज्ञापयति समादिशति— 'खलु निश्चयेन इयं पुरोऽवलोक्यमाना कन्यका महाराजेन त्वत्पित्रा पूर्वं प्राक् कुलूतं हिमालयसमीपे साम्प्रतं 'कुल्लू' इति विख्यातो देशविशेषःतस्य राजधानीं राज्यस्थानम् अवजित्य आत्मसात्कृत्य कुलूतेश्वरदुहिता कुलूताधिपतिपुत्री, पत्रलेखेत्यभिधानं यस्याः सा तादृशी बालिका कन्यका सती वन्दीजनेन स्तुतिपाठकेन सह आनीय अन्तःपुरचारिकाः अवरोधसेवाकारिण्यः तासां मध्यम् उपनीता प्रापिता ।

सेति । विगतो विनष्टो नाथो रक्षको यस्याः सा तादृशी, तथा राजदुहिता नृपात्मजा इति च हेतोः सा पत्रलेखा समुपजातः समुत्पन्नः स्नेहः प्रेम यस्याः तया तादृश्या मया विलासवत्या, दुहितुः कन्यायाः निः = न विद्यते विशेषो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, इत्यन्तम् एतावत् पर्यन्तं कालं समयम् उपलालिता सप्रेम पालिता संवर्द्धिता च वृद्धिं प्रापिता च ।

तदिति । तत् तस्मात् कारणात् इदानीं साम्प्रतं भवतो समात्मजस्य ताम्बूलकरङ्कवाहिनी नागवल्लीदलपात्रधारिणी उचिता भवितुं युक्तेत्यर्थः, इति कृत्वा मया प्रेषिता प्रापिता ।

नचेति । आयुष्मता चिरञ्जीविना त्वया भवता, अस्यां पत्रलेखायां परिजनसामान्या सेवकसदृशी

पर्वतकी वन-लता जिस प्रकार सुवर्णमय पत्रोंसे शोभित होती है, वह कन्या भी उसी प्रकार सुवर्ण निर्मित पत्राकार आभूषणसे शोभित थी, और उसकी आकृति अत्यन्त प्रभाव-द्योतक थी ।

कञ्चुकीने राजपुत्रको प्रणाम कर, आगे आ, अपना दाहिना हाथ भूमि पर टेक कर कहा—"कुमार ! महारानी विलासवतीने आदेश दिया है कि, पहले महाराजने, कुलूतेश्वरकी राजधानीको जीत कर, **पत्रलेखा** नामकी उसकी लड़कीको, बाल्यावस्थामेंही, अन्यायी वन्दियोंके साथ लाकर रनिवासकी परिचारिकाओं (टहलनियों) के बीचमें रखा था। इसका कोई रक्षक नहीं था; विशेषतः इसे राजकन्या होनेके कारण इसके प्रति मुझे स्नेह उत्पन्न हो गया था। इस लिए मैंने अब तक पुत्रीके समान इसे लालन-पालन एवं संवर्धन किया है। अब यह तुम्हारी ताम्बूलकरङ्कवाहिनी (पानके डब्बेको धारण करनेवाली) होने के योग्य है, यह जान कर मैं इसे तुम्हारे समीप भेजती हूँ। इस लिए, चिरञ्जीव ! तुम इसे साधारण परिजनोंके समान नहीं समझना, बालिकाके समान इसका रक्षण

१. कन्यया । २. कन्या । ३. कलूत, कुन्तल··· । ४. कलूतेश्वर, कुन्तलेश्वर··· । ५. क्वचित् 'च' कारो न विद्यते । ६. करण्डकवाहिनी । ७. क्वचित् 'कृत्वा' इति पदन्नोपलभ्यते ।

लालनीया, स्वचित्तवृत्तिरिव चापलेभ्यो निवारणीया, शिष्येव द्रष्टव्या,[1] सुहृदिव सर्वविश्रम्भेष्वभ्यन्तरीकरणीया। दीर्घकाल-संवर्द्धित-स्नेहतया स्वसुतायामिव हृदयमस्यामस्ति मे, बलवानस्यां पक्षपातः[2]। महाभिजन-राज-वंश-प्रसूता चार्हतीयमेवंविधानि कर्म्माणि[3] नियतञ्च[4] स्वयमेवेयमति[5]-विनीततया कतिपयैरेव दिवसैः कुमारमाराधयिष्यति। केवलमतिचिरकालोपचिता बलवती मे प्रेमप्रवृत्तिरस्याम्, अविदितशीलश्चास्याः कुमार इति सन्दिश्यते। सर्वथा तथा कल्याणिना प्रयतितव्यम्, यथेयमतिचिरमुचिता परिचारिका ते भवतीति'[6]। इत्यभिधाय

सेवकेष्विवावज्ञाबोधिकेत्यर्थः दृष्टिरवलोकनं यस्य तेन तादृशेन न भवितव्यम्, नृपात्मजात्वेनावज्ञायोग्यत्वादित्याशयः। बालेव तरुणी सत्यपि बालिकेव, लालनीया सस्नेहं पालनीया, न तु वयस्थतया स्वेनैव सर्वं विचारयितुं योग्येति बुद्ध्या पालने उदासीनेन भाव्यमित्याशयः। स्वचित्तवृत्तिरिव स्वमनोवृत्तिरिव चापलेभ्यः अविचार्यकारिताभ्यो निवारणीया वर्जनीया। शिष्या शासनीया यथा छात्रा सेव द्रष्टव्या विलोकनीया। सर्वविश्रम्भेषु समस्तविश्वसनीयविषयेष्वित्यर्थः सुहृदिव मित्रमिव अभ्यन्तरीकरणीया मध्यवर्त्तिनी विधातव्या, अभिज्ञाततया रहस्योद्घाटनासम्भवात् सर्वं गोप्यमनया सह निःसन्देहं समाचरणीयमित्याशयः। इह 'बालेव' इत्यारभ्य 'सुहृदिव' इत्यन्तमुपमालङ्कारः।

दीर्घेति। दीर्घकालं बहुसमयं यावत् संवर्द्धितः वृद्धिं प्रापितः स्नेहः प्रेम यस्याः तया भावः तया कारणेन स्वसुतायामिव निजात्मजायामिव अस्यां पत्रलेखायां मे मम हृदयं चित्तम् अस्ति विद्यते, अस्यां बलवान् पक्षपातः अत्यन्तानुकूल्यञ्च विद्यत इति शेषः।

महाभिजनेति। महाभिजनः अत्यन्तप्रसिद्धो यो राजवंशः नृपकुलं तत्र प्रसूता उत्पन्ना, अत एव एवंविधानि एवंप्रकाराणि अनीचजातानि ताम्बूलकरङ्कवाहनादीनि कर्माणि अर्हति विधातुं समर्था भवति, न पुनरन्यसेविकावन्नीचकर्माणीत्याशयः। 'अभिजनः कुले ख्यातौ' इति विश्वः। इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्।

नियतमिति। अतिविनीततया अत्यन्तनम्रवृत्तया च स्वयम् आत्मनैव इयं पत्रलेखा कतिपयैः कियद्भिरेव दिवसैः दिनैः कुमारं त्वां नियतम् अवश्यम् आराधयिष्यति सन्तोषयिष्यति।

केवलमिति। केवलं परम् अतिचिरकालोपचिता अधिकसमयात् वृद्धिमुपगता मे मम बलवती सातिशया अस्यां पत्रलेखायां प्रेमप्रवृत्तिः स्नेहाभिनिवेशः। कुमारश्च त्वम् अस्याः पत्रलेखाया अविदितशीलः अज्ञातस्वभावः, इति अस्मात् कारणात् सन्दिश्यते कथ्यते, अन्यथैनां प्रति तव नीचसेविकावद् व्यवहारसम्भवान्मे चेतसि क्लेशो भवेदित्याशयः।

सर्वथेति। सर्वथा सर्वप्रकारेण कल्याणिना श्रेयस्विना त्वया भवता तथा तेन प्रकारेण प्रयतितव्यं प्रयत्नो विधेयः यथा येन प्रकारेण इयं पत्रलेखा अतिचिरं बहुसमयं यावत् ते तव उचिता योग्या परिचारिका सेविका भवति' इति।

इतीति। इति एवं प्रकारेण अभिधाय उक्त्वा कैलासे तन्नामके कञ्चुकिनि विरतवचसि अपास्तवचने सति, कृतो विहितः अभिजातो न्याय्यो भूतलस्पृष्टमूर्द्धा इत्यर्थः प्रणामो नमस्कारो यथा तां तादृशीम्।

'अभिजातः कुलीने स्यान्नाय्यपण्डितयोस्त्रिषु।'

---

अवेक्षण एवं ( देखभाल ) करना, अपनी चित्तवृत्तिके समान चपलता करनेसे रोकना, शिष्यके समान देखना और मित्रके समान समस्त विश्वसनीय कार्यके मध्यमें इसे रखना। बहुत समयसे मेरा प्रेम इस पर बढ़ गया है, इसलिये मेरा मन इसको कन्याके समान मानता है एवं मेरा इस पर अत्यन्त पक्षपात उत्पन्न हो गया है। अत्यन्तप्रसिद्ध राजकुल में उत्पन्न हुई है इसलिए यह ऐसे सब कामोंके उपयुक्त है। और यह अपने अत्यन्त विनीत आचरणसे थोड़े ही दिनके मध्यमें तुमको निश्चय सन्तुष्ट करेगी। इस पर मेरा प्रेम बहुत कालसे बढ़ता बढ़ता दृढ़ हो गया है, और तुमको इसका स्वभाव विदित नहीं है, इसीलिए केवल इतना संदेशा भेज रही हूँ। कल्याणभाजन! तुम सर्वथा पहले के अनुसार ही उद्योग करना, जिससे यह, बहुत काल तक तुम्हारी उपयुक्त परिचारिका

---

१. उपदेष्टव्या। २. 'बलवानस्यां पक्षपातः' इति पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते। ३. क्वचित् 'कर्माणि' इति पदन्नास्ति। ४. नियतं स्वयं…। ५. अभि…। ६. …भवतीत्यभिधाय।

विरतवचसि कैलासे कृताभिजात[1]-प्रणामां पत्रलेखामनिमिषलोचनं[2] सुचिरमालोक्य चन्द्रापीडः 'यथाज्ञापयत्यम्बा' इत्येवमुक्त्वा[3] कञ्चुकिनं प्रेषयामास।

पत्रलेखा तु ततः प्रभृति दर्शनेनैव समुपजातसेवारसा न दिवा, न रात्रौ, न सुप्तस्य, नासीनस्य, नोत्थितस्य, न भ्रमतः, न राजकुलगतस्य छायेव राजसूनोः पार्श्वं मुमोच। चन्द्रापीडस्यापि तस्यां दर्शनादारभ्य प्रतिक्षणमुपचीयमाना महती प्रीतिरासीत्। अभ्यधिकञ्च प्रतिदिवसम्[4] अस्याः प्रसादमकरोत्, आत्महृदयादव्यतिरिक्तामिव चैनां सर्वविश्रम्भेष्वमन्यत।

एवं समतिक्रामत्सु केषुचित्[5] दिवसेषु राजा चन्द्रापीडस्य यौवराज्याभिषेकं चिकीर्षुः

---

इति मेदिनी। सुचिरं दीर्घकालम् अनिमिषलोचनं निमेषरहितनेत्रं यथा स्यात्तथा पत्रलेखाम् आलोक्य निरीक्ष्य चन्द्रापीडः राजकुमारः, अम्बा जननी यथाज्ञापयति यथादेशं दत्ते इति एवम् अनेन प्रकारेण उक्त्वा अभिधाय कञ्चुकिनं कैलासनामानं प्रेषयामास प्रस्थापयामास।

पत्रेति। ततः प्रभृति तद्दिनादारभ्य दर्शनेनैव कुमारस्य केवलनिरीक्षणेनैव समुपजातः समुत्पन्नः सेवारसः सेवारसः कुमारपरिचर्यानुरागो यस्याः सा तादृशी, पत्रलेखा तन्नाम्नी ताम्बूलकरङ्कवाहिनी, छायेव स्वप्रतिबिम्बमिव, राजसूनोश्चन्द्रापीडस्य पार्श्वं न मुमोच न तत्याज। एवं न दिवा दिवसे, न रात्रौ क्षपायाम्, न सुप्तस्य निद्रितस्य, न आसीनस्य उपविष्टस्य, न उत्थितस्य उत्थाय स्थितस्य, न भ्रमतः इतस्ततो गच्छतः, न राजकुलगतस्य नृपवंशगतस्य, पार्श्वं मुमोचेति सर्वत्रान्वयः। उपमालङ्कारः।

चन्द्रेति। चन्द्रापीडस्यापि राजसूनोरपि तस्यां पत्रलेखायां दर्शनादारभ्य अवलोकनात्प्रभृति प्रतिक्षणं क्षणं क्षणं प्रति उपचीयमाना वर्द्धमाना महती सातिशया प्रीतिः स्नेह आसीत् अभूत्।

अभ्येति। किञ्चेति चार्थः। अभ्यधिकम् अधिकाधिकं प्रतिदिवसं प्रतिदिनम् अस्याः पत्रलेखायाः प्रसादम् अनुग्रहम् अकरोत् कृतवान्। सर्वविश्रम्भेषु समस्तविश्वसनीयवस्तुषु एनां पत्रलेखाम् आत्महृदयात् स्वस्वान्तात् अव्यतिरिक्ताम् अभिन्नामिव अमन्यत ज्ञातवान्। स्वहृदयादेव तस्यै निखिलमेव विश्वसनीयविषयं व्याख्यातवानित्यर्थः। ऐक्यस्वरूपोत्प्रेक्षा।

अत्र विवाहात्पूर्वं चन्द्रापीडस्य तारुण्यप्रकृतिसुलभोच्छृंखलत्वदूरीकरणाय चातुर्यविशेषेणानुमन्यमानपितृमातृप्रेषिततया स्वयोग्यवयोरूपकुलशीलवत्तया निरन्तरसाहचर्येणात्यन्तसम्भवपरतया च कुलूतेश्वरदुहिता राजकुमारस्य रमणीयैवासीदिति सुधियः प्रतिपादयन्ति।

एवमिति। एवं पूर्वोक्तविधिना समतिक्रामत्सु गच्छत्सु दिवसेषु दिनेषु राजा तारापीडः चन्द्रापीडस्य आत्मजस्य यौवराज्याभिषेकं युवराजपदप्रतिष्ठां चिकीर्षुः कर्त्तुमिच्छुः उपकरणम् अभिषेकसामग्री तस्य यः सम्भारः समूहः तस्य सङ्ग्रहार्थम् आनयनार्थं प्रतीहारान् द्वारपालान् आदिदेश आज्ञां दत्तवान्।

---

बनी रहे।' इतना कह कर कैलास के चुप हो जाने पर, पत्रलेखाने चन्द्रापीड़को सम्मान-पूर्वक प्रणाम किया। उस समय चन्द्रापीड़ने बहुत काल तक एकाग्रदृष्टिसे पत्रलेखाको देख कर 'माँ ने जैसी आज्ञा दी है ( वह की जाएगी )' यों कह, कञ्चुकीको विदा कर दिया।

किन्तु उस दिनसे राजपुत्रके दर्शनसे ही उसकी परिचर्या करनेके लिए पत्रलेखाको प्रीति उत्पन्न हो गई। अत एव दिन-रात, सोते अथवा बैठते चलते अथवा राज-भवनमें गए हुए, किसी समयके लिए भी पत्रलेखा, छायाके समान चन्द्रापीड़के समीपसे अलग नहीं होती थी। एवं उसे देखनेके समयसे ही लेकर चन्द्रापीड़को भी पत्रलेखाके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई और वह प्रत्येक क्षण बढ़ती गई। और वह दिन दिन पत्रलेखाके प्रति अधिकाधिक अनुग्रह करते हुए सभी प्रकारके विश्वासकार्योंमें पत्रलेखाको अपने हृदयसे अभिन्नके समान मानने लगा।

इस प्रकार कुछ दिन बीत जानेके बाद राजाने, चन्द्रापीड़को यौवराज्याभिषेक करनेकी इच्छा कर, उसकी-

---

१. अभिज्ञातः। २. लोचनः। ३. एवम्। ४. प्रतिदिनम्। ५. क्वचित् केषुचिदिति पदं न विद्यते।

प्रतीहारानुपकरणसम्भार[1]-संग्रहार्थमादिदेश। समुपस्थितयौवराज्याभिषेकञ्च तं कदाचिद्दर्शनार्थमागतमारूढविनयमपि विनीततरमिच्छन् कर्त्तुं[2] शुकनासः सविस्तरमुवाच।

'तात! चन्द्रापीड! विदितवेदितव्यस्य[3] अधीतसर्वशास्त्रस्य ते नाल्पमप्युपदेष्टव्यमस्ति। केवलञ्च[4] निसर्गत एव अभानुभेद्यमरत्नालोकच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्। अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः। कष्टमनञ्जनवर्त्तिसाध्यमपरम्[5] ऐश्व-

समुपेति। किञ्चेति चार्थः। समुपस्थितो विद्यमानः यौवराज्याभिषेकः युवराजपदप्रतिष्ठा यस्य तं तादृशम्, तं चन्द्रापीडम्, कदाचित् कस्मिंश्चित्समये दर्शनार्थम् अवलोकनार्थम् आगतं प्राप्तम् आरूढविनयमपि सञ्जातविनयमपि विनीततरम् अतिशयेन विनयिनम् इच्छन् अभिलषन् शुकनासः प्रधानराजमन्त्री सविस्तरं सव्यासम् उवाच अब्रवीत्।

तातेति। तात पुत्र! चन्द्रापीड! 'तातशब्दं प्रयुञ्जन्ति पूज्ये पितरि चात्मजे' इति नारदः। विदितं ज्ञातं वेदितव्यं समस्तो ज्ञातव्यविषयो येन तस्य तादृशस्य, तथा अधीतानि पठितानि सर्वाणि समस्तानि शास्त्राणि वेदादीनि येन तस्य तादृशस्य। ते तव अल्पमपि स्तोकमपि उपदेष्टव्यं वक्तव्यं नास्ति न विद्यते। इह पूर्वविशेषणद्वयार्थः उपदेष्टव्यत्वाभावं प्रति कारणमिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्।

ननु यद्येवं तर्हि किमर्थमयमुपदेशारम्भ इत्यत आह—केवलञ्चेति। किञ्चेति चार्थः। निसर्गतः स्वभावत एव केवलं यौवनात् तारुण्यात् प्रभवतीति समुत्पद्यत इति यौवनप्रभवम्, तमः तमोगुणोत्पन्नमज्ञानमेव तमोऽन्धकारः अतिदुर्दमनीय इत्यर्थः न भानुना सूर्येण भेद्यम् उच्छेद्यम्, न रत्नानां मणीनाम् आलोकेन कान्त्या छेद्यं विनाशयितुं शक्यम्, तथा न प्रदीपप्रभया गृहप्रदीपालोकेन अपनेयं दूरीकर्त्तुं शक्यम्, अत एव अतिगहनम् अत्यन्तदुर्द्धर्षं भवतीति अग्रेतनेन सम्बन्धः। जनानामिति शेषः। इत्यतो विस्तरेणाभिधीयसे एवमन्यत्रापि सम्बन्धः। तमसस्तु भान्वादिभेद्यत्वादनेन सहेत्याशयः।

इह अतिशयोक्तिः, समुच्चयः, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

अपरीति। लक्ष्म्या धनसम्पत्तेः मदः तदुत्पन्नमत्तता, न विद्यते परिणामे अन्तिमावस्थायाम् उपयुक्तसमयव्यतीते वा उपशमो निवृत्तिर्यस्य स तादृशः, अत एव दारुणो भीषणः। तथा च तारुण्यमदस्य वयःपरिणामेऽपगमात्, सुरापानोत्पन्नमदस्य चान्यसमये स्वेनैव निवृत्तेः, धनसम्पत्तिमदस्य तु जीवनपर्यन्तमेव विद्यमानत्वादितरमदेरस्य महदन्तरमित्याशयः। पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्।

कष्टमिति। अपरं प्रसिद्धात् अन्धत्वरोगादतिरिक्तम्, ऐश्वर्यं धनसम्पत्तिरेव तिमिरं तिमिरसंज्ञकनयनव्याधिः तेन अन्धत्वम् अवलोकनशून्यत्वम्, न अञ्जनवर्त्तिः विडालादिवसाकज्जलदशा तया साध्यते प्रतिक्रियते इति तत्तादृशम्, अचिकित्स्यं भवतीत्यर्थः, अत एव कष्टं नितान्तक्लेशकरं भवति। तिमिरव्याध्युत्पन्नं दृष्टिराहित्यम् अञ्जनवर्त्यादिना प्रतिकर्तुं योग्यम् सदसद्विवेकशून्यत्वरूपधनसम्पत्तितिमिरान्धत्वं तु केनापि प्रकारेण प्रतिकर्तुं न योग्यमिति द्वयोर्महद्वैषम्यमित्याशयः। तिमिराख्यो व्याधिरस्तीति माधवनिदाने स्पष्टम्, तन्निवारणप्रकारश्च तत्रान्यत्रापि वैद्यकेऽन्वेषणीयः।

सामग्री एकत्र करनेके लिए प्रतिहारोंको आदेश दिया। क्रमसे युवराजगद्दी पर बैठानेका समय जब उपस्थित हुआ तब एक दिन चन्द्रापीड दर्शन करनेके लिए शुकनासके समीपमें उपस्थित हुआ, उस समय विनीत होने पर भी अधिकतर विनीत करनेकी इच्छासे शुकनासने विस्तारपूर्वक कहा—

वत्स! चन्द्रापीड! जो कुछ जानना चाहिए वह सब तुम जानते ही हो। एवं समस्त शास्त्रोंका अध्ययन किये हो। इसलिए तुमको उपदेश देनेकी थोड़ी भी आवश्यकता नहीं है। केवल यह कहना है कि, युवावस्था में स्वभावसे ही जो अन्धकार उत्पन्न होता है, वह सूर्य द्वारा भगाया नहीं जा सकता, किसी मणिके आलोकसे भी उसका उच्छेद नहीं किया जा सकता, एवं प्रदीपकी प्रभासे नष्ट नहीं किया जा सकता, अत एव वह अन्धकार अत्यन्तदुर्द्धर्ष होकर रहता है। धन सम्पत्तिसे मद ऐसा भयङ्कर होता है कि अवस्था क्षीण होने पर भी शान्त नहीं होता धनसम्पत्तिरूप नेत्ररोगसे जो अन्धता उत्पन्न होती है; वह वास्तविक अन्धतासे पूर्ण भिन्न है, अञ्जनकी शलाकासे भी नहीं मिटता, अत एव वह अन्धता अत्यन्त कष्ट देनेवाली है। धनका अभिमान-रूप जो दाह-

१. उपसम्भारः। २. क्वचित् कर्त्तुमिति पदं नोपलभ्यते। ३. वेद्यस्य। ४. केवलन्तु। ५. अपटलम्।

र्य्यतिमिरान्धत्वम् । अशिशिरोपचारहार्य्योऽतितीव्रः दर्पदाहज्वरोष्मा । सततममूलमन्त्रशम्यः विषमो विषयविषास्वादमोहः । नित्यमस्नानशौचबाध्यः बलवान् रागमलावलेपः । अजस्रमक्षपावसानप्रबोधा घोरा च राज्यसुखसन्निपातनिद्रा भवति, इत्यतः विस्तरेणाभिधीयसे । गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वञ्चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा । सर्वाविनयानामेषामायतनम् , किमुत समवायः । यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजल-

अशिशिरेति । अतितीव्रः अतितीक्ष्णः दर्पः सम्पत्त्यहङ्कार एव दाहज्वरः तीव्रतापः तस्य उष्मा उष्णत्वं न शिशिरोपचारेण स्रक्चन्दनादिशैत्यव्यापारेण हार्यः परिहर्तुं योग्य इति तादृशः । अन्योष्णत्वं तु शैत्योपचारहार्यो भवतीत्यस्यातितीव्रत्वमित्याशयः ।

सततमिति । विषमः कठिनः, विषिण्वन्ति बध्नन्तीति विषयाः स्रक्चन्दनवनितादय एव विषाणि अनर्थकारणत्वाद् गरलानि तेषाम् आस्वादेन सम्भोगेन यो मोहो मूर्च्छा अज्ञानमिति तात्पर्यम्, सततं निरन्तरं न मूलैः ओषधिमूलैः मन्त्रैः विषनिवारकमन्त्रैश्च शम्यो निवर्त्तयितुं शक्य इति स तादृशः । अत एवास्य कठिनत्वमित्याशयः ।

नित्यमिति । बलवान् नितान्तः, रागो विषयासक्तिरेव मलं कर्दमादि, तस्य अवलेपो लेपनम्, नित्यं प्रतिदिनं न स्नानशौचेन निमज्जनशुद्ध्या बाध्यः प्रक्षालनीयः अपनेय इत्यर्थः अत एवास्य अन्यावलेपाद्बलवत्त्वमित्याशयः ।

अजस्रमिति । अपि च घोरा केनापि प्रकारेण ज्ञानानुदयात् विषमा राज्यसुखसन्निपातः आधिपत्यसुखानुभव एव निद्रा प्रमीला सुषुप्तिरित्यर्थः सा तादृशी, अजस्रं नित्यम्, न क्षपावसाने रात्र्यन्ते प्रबोधश्चैतन्योदयो यस्यां सा तादृशी भवति, अत एवास्या अन्यनिद्राया अपेक्षया घोरत्वमित्याशयः । इति हेतोः विस्तरेणाभिधीयसे त्वयि सम्भाव्यमानानां तारुण्योत्पन्नाज्ञानादीनां निवृत्त्यर्थमित्याशयः ।

अञ्जनवर्त्तीत्यारभ्य राज्यसुखसन्निपातेत्यन्तम् अधिकारूढवैशिष्ट्यमलङ्कारः ।

गर्भेति । गर्भात् आशैशवात् ईश्वरत्वं धनशालित्वम्, अभिनवं नूतनं यौवनं तारुण्यं यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्, अप्रतिमं निरुपमं रूपं सौन्दर्यं यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्, अमानुषी अलौकिकी शक्तिः शारीरिकसामर्थ्यं यस्य तस्य भावः तत्त्वञ्च, इति इयं महती गरीयसी अनर्थपरम्परा विपत्तिपङ्क्तिः खलु निश्चयेन अनर्थोत्पादकहेतुपङ्क्तिरेवेत्यर्थः । हेतुमानलङ्कारः ।

गर्भेश्वरत्वादीनां कथमनर्थहेतुत्वमित्यपेक्षायामाह—सर्वेति । एषां गर्भेश्वरत्वादीनां मध्ये एकैकमपि सर्वेषां निखिलानाम् अविनयानां दुर्व्यवहाराणाम् आयतनम् उत्पादकतया आधारः । समवायः समूहः किमुत किं वक्तव्यमित्यर्थः । उक्तञ्च विष्णुशर्मणाऽपि—

'यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता । एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥'

एवञ्च चतुर्णामप्यनर्थहेतूनां गर्भेश्वरत्वादीनां त्वयि स्थिततया तदुत्पन्ना विनयनिवृत्तये मामायमुपदेशोद्योग इत्याशयः ।

अंशत उक्तमेव विषयं यथाक्रमं व्याचष्टे—यौवनारम्भे चेति । प्राय आधिक्येन यौवनारम्भे तारुण्यप्रारम्भे कस्यचित् पुण्यशालिनो यूनो बुद्धिः समलत्वं न प्राप्नोतीत्याशयः । शास्त्रमेव जलं सलिलं स्वच्छ-

ज्वरकी गरमी उत्पन्न होती है, वह चन्दनलेपनादि शीतलोपचारसे भी दूर नहीं हो सकती, अतएव वह गरमी अत्यन्त तीव्र होती है । स्रक्चन्दन-वनिताप्रभृति विषय रूपी विषके सम्भोगसे उत्पन्न हुआ मोह ऐसा विषम होता है कि वह जड़ी-बूटी और मन्त्रोंसे नहीं उतरता, अत एव वह मोह सर्वदा ही कठिन है । विषयासक्तिरूपी मलका लेप ऐसा प्रबल होता है कि वह नित्य स्नान और शुद्धतासे भी नहीं विनष्ट होता । एवं राज्यसुखानुभवस्वरूपसन्निपात-निद्रा ऐसी भयङ्कर होती है कि रात्रिका शेष होने पर भी उससे कभी चेतनता नहीं होती, इन सब कारणोंसे मैं तुमसे थोड़ा विस्तारपूर्वक कहता हूँ;—

बाल्यकालावधि धनसम्पत्ति, नव यौवन, निरुपम सौन्दर्य एवं अमानुषी शारीरिक शक्ति-ये सब निश्चय ही विपत्तिके गुरुतर कारणसमूह हैं । इन सबोंके बीचमें एक एक अलग-अलग भी सभी प्रकारके दोषोंका स्थान है, और यदि समष्टिरूपसे ये सब एकत्र हो जायँ तो कहना ही क्या है ? यौवनके आरम्भमें मनुष्योंकी बुद्धि-

१. अत्यन्ततीव्रः । २. ...मूलमन्त्रगम्यः । ३. ...वध्यः, बाध्यः, बलवानिति पदं क्वचिन्नोपलभ्यते । ४. भवतीति विस्तरेणाभिधीयते । ५. महती ।

प्रक्षालननिर्म्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि[1] सरागैव[2] भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव शुष्कपत्रं समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरम्[3] आत्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः। इन्द्रियहरिणहारिणी च सततमतिदुरन्तेयम्[4] उपभोगमृगतृष्णिका नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनसः।

---

हेतुत्वात्, तेन प्रक्षालनेन निर्मलापि स्वच्छाऽपि बुद्धिः प्रज्ञा कालुष्यं समलत्वम् उपयाति प्राप्नोति इति विरोधः रागद्वेषादिषु संकुलमुपयातीति तत्परिहारः। तवाऽप्येवं सम्भवादयमुपदेश इत्यभिप्रायः। एवमग्रेऽप्यनुसन्धेयम्।

शास्त्रमेव जलमित्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, निर्मलापि कालुष्यमुपयातीत्यत्र विरोधाभासः, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

अनुज्झितेति। अनुज्झिता अपरित्यक्ता धवलता श्वेतता यया सा तादृशी सत्यपि यूनां दृष्टिः तरुणानामवलोकनम्, सरागैव रक्तमान्वितैव भवतीति विरोधः सुन्दर्यादावनुरागसहिता भवतीति तत्समाधानम्। विरोधाभासः।

अपहरतीति। किञ्चेति चार्थः। यौवनसमये तारुण्यकाले, समुद्भूता समुत्पन्ना रजसा रजोगुणेन भ्रान्तिः भ्रमः अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति तात्पर्यम् यस्यां सा तादृशी, पक्षे—समुद्भूता रजसां रेणूनां भ्रान्तिः भ्रमिः घूर्णनमिति यावत् यया सा तादृशी, प्रकृतिः स्वभावः, वात्या वातकलिका वातसमूह इत्यर्थः शुष्कपत्रमिव नीरसदलमिव पुरुषं नरम्, आत्मेच्छया स्वेच्छया निर्बाधमित्यर्थः, अतिदूरं बुद्धेरगोचरम् अगम्यानिकटादिकमित्यर्थः, पक्षे—अतिविप्रकृष्टदेशम् अपहरति नयति। अयं खलु तारुण्यप्रकृतिरित्याशयः। उपमा।

इन्द्रियेति। किञ्चेति चार्थः। अतिदुरन्ता अत्यन्तदुर्निवारा, इयम् सततं निरन्तरम् उपभोगः रमण्यादिसम्भोगाभिलाषैव मृगतृष्णिका मरीचिका, इन्द्रियाणि करणान्येव हरिणान् मृगान् हरतीति सा तादृशी। यथा मरुस्थले मध्याह्ने सूर्यरश्मिषु सलिलभ्रान्त्यात्मकं मृगतृष्णिकां पातुमिच्छून् मृगान् आकृष्यानन्तरं तत्प्राणान् विनाशयति, तथा रमण्यादिसम्भोगाभिलाषापि तरुणानामिन्द्रियाणीत्याशयः। परम्परितरूपकमलङ्कारः।

नवयौवनेति। नवयौवनेन प्रत्यग्रतारुण्येन कषायितो रागद्वेषाद्यन्वितिकृतः कषायरसयुक्तीकृतश्च आत्मा स्वरूपञ्च यस्य तथोक्तस्य मनसः तरुणपुंसो हृदयस्य, सलिलानीव तान्येव प्रख्यातानि विषयस्वरूपाणि भोग्यवस्तूनि आस्वाद्यमानानि अनुभूयमानानि विद्यन्ते, मधुरतराणि अतिसुरसानि आपतन्ति आपाततोऽवगम्यन्ते। एवञ्च यथा हरीतक्यादिकषायितायां जिह्वायामसमधुराण्यपि सलिलान्यतिसुरसानि सम्पद्यन्ते, तथा तारुण्यकषायिते तरुणस्य चेतसि असमधुरा अपि सुन्दर्यादिभोग्यविषया आपाततोऽतिमधुरा भवन्तीत्याशयः।

---

शास्त्र-रूपी जलसे धुल जानेके कारण निर्मल होने पर भी प्रायशः कलुषता ( मालिन्य ) प्राप्त होकर ही रहती है। युवकोंकी दृष्टि, धवलता त्याग नहीं करने पर भी रागान्वित ही ( रक्तवर्ण ही, सानुराग ही ) होकर रहती है। यौवन समय में रजोगुणवश मनुष्यके स्वभावमें भ्रम उत्पन्न हो जाता है, उस समय प्रबल वायु ( आँधी ) जिस प्रकार धूल उड़ा-उड़ाकर रूखे पत्तोंको बहुत दूर ले जाता है उसीप्रकार वह स्वभाव मनुष्यको इच्छानुसारसे बहुत दूर ( अगम्य स्थानमें ) खींच ले जाता है। और सर्वदा अत्यन्त दुःखदायिनी यह सम्भोगेच्छारूप मृगतृष्णिका, मनुष्यके इन्द्रिय-रूपी हरिणोंका आकर्षण ( हरण ) कर लेती है। कषायरस युक्त जिह्वासे जल वैसा मधुर नहीं होने पर भी जिस प्रकार आपाततः अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है, उसी प्रकार नवयौवनवश कामक्रोधादियुक्त चित्तमें, कामिनी-काञ्चनादि प्रसिद्ध सब भोग्य वस्तु अनुभूयमान होने पर आपाततः बहुत ही मधुर प्रतीत होते हैं ( अर्थात्–जैसे हरीतक्यादि खा लेनेसे जिह्वाके कसैले हो जाने पर जल विशेष मधुर नहीं होने पर भी अधिक मधुर मालूम होता है, वैसे जवानीसे विकारयुक्त युवकोंके चित्तमें कामिनी आदि भोग्यपदार्थ विशेष मधुर नहीं होने पर भी अधिक मधुर लगते हैं ) दिग्भ्रम जिसप्रकार मनुष्यको कुमार्गमें लेजाकर विनष्ट कर देता है,

---

१. धवलापि। २. सरागेव। ३. अदूरम्, दूरम्। ४. इन्द्रियहरिणं हरतीव। सततदुरन्तेयम् सततमतिदुरन्तेयमुपभोगः, सततमतिदुरन्ते इयं दूरं नयत्युपभोगः।

नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवर्त्तकः पुरुषमत्यासङ्गो विषयेषु। भवादृशा एव भवन्ति भाजनानि[1] उपदेशानाम्! अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखेन[2] उपदेशगुणाः। गुरुवचनमलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य। इतरस्य तु[3] करिण इव शङ्खाभरणमाननशोभासमुदयमधिकतरमुपजनयति। हरति च सकलं[4] अतिमलिनमप्यन्धकारमिवं[5] दोषजातं प्रदोषसमयनिशाकर इव। गुरूपदेशः प्रशमहेतुर्वयः[6] परिणाम इव पलितरूपेण शिरसिजजालममलीकुर्वन् गुणरूपेण तदेव परिण-

ननु तथा मधुरतराणि मनसः आपतन्तु नाम तेन का हानिरित्यत आह —नाशयतीति। दिङ्मोहो दिग्भ्रान्तिरिव, उन्मार्गप्रवर्त्तकः कुपथपरिचालकः, विषयेषु भोग्यवस्तुषु अत्यासङ्गः अत्यन्तासक्तिः पुरुषम् आत्मानं नाशयति अधः पातयति। एवञ्च माधुर्यानुभवाद्भोग्यवस्तुष्वत्यासङ्गो जायते, स च नाशयतीत्याशयः। उपमा।

भवादृशा इति। भवादृशाः भवत्सदृशा एव उपदेशानां शिक्षाणां भाजनानि पात्राणि विषया इत्यर्थः भवन्ति नान्य इत्याशयः। हि यतः अपगतमले शास्त्रोपदेशेन कामक्रोधादिशून्ये अनाविले च मनसि चेतसि, स्फटिकमणौ स्फटिकरत्ने रजनिकरगभस्तयः चन्द्ररश्मय इव उपदेशस्य शिक्षाया गुणाः फलानि सुखेन अनायासेन विशन्ति प्रवेशं कुर्वन्ति।

गुरुवचनमिति। गुरोः हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेष्टुः वचनम् उपदेशवाक्यम् अलमपि कल्याणकरमपि 'अलं शक्तौ च निर्दिष्टं कल्याणे च सुखेऽपि च' इति विश्वः, सलिलमिव, अभव्यस्य अशिष्टजनस्य, श्रवणस्थितं श्रोत्रगतं सत्, महत् शूलम् अतिशयवेदनाम् उपजनयति उत्पादयति, अशिष्टतापगमकारणत्वेन प्रतीपत्वादित्याशयः।

इतरस्येति। इतरस्य अभव्येतरस्य शिष्टजनस्य तु गुरुवचनमित्यन्वयः करिणो दन्तिनः शङ्खाभरणं शङ्खभूषणमिव, गजस्य दृष्टिदोषशान्त्यै श्रोत्रे शङ्खभूषणं बध्यत इत्याचारः। अधिकतरम् आननशोभासमुदयं वदनसौन्दर्योत्पत्तिम् उपजनयति विदधाति। रुचिपूर्वकहर्षविकसिताननेन तदाकर्णनाद् ग्रहणाच्चेत्याशयः।

हरतीति। किञ्चेति चार्थः। गुरुवचनं गुरुवाक्यम्, प्रदोषसमयनिशाकरः सूर्यास्तानन्तरकालिकचन्द्रः, प्रदोषकाले हि तारकादर्शनस्याप्यभावात् तमसोऽतिमालिन्यसम्भवताप्रकटनार्थं प्रदोषसमयेत्यस्योपादानं बोध्यम्। अतिमलिनमपि गाढश्याममपि अन्धकारमिव तिमिरमिव, अतिमलिनमपि अत्यन्ताविलमपि सकलं समस्तं दोषजातं कामक्रोधादिदोषनिकरं हरति दूरीकरोति।

गुरूपदेश इति। प्रशमहेतुः अन्तरिन्द्रियनिग्रहकारणं गुरूपदेशः, पलितरूपेण वार्धक्यनिबन्धनशुक्लत्वरूपेण शिरसिजजालं शिरोरुहकलापम् अमलीकुर्वन् विषयविशेषे प्रवर्त्तनया स्वच्छीकुर्वन् वयःपरिणाम इव अवस्थापरिणतिरिव तदेव दोषजातं कामक्रोधादिकं गुणरूपेण परिणमयतीति सम्बन्धः। एवञ्चान्तरिन्द्रियनिग्रहहेतुभूतो वयःपरिणामो यथा शिरसिजजालममलीकुर्वन् तदेव शिरसिजजालं पलितरूपेण

कामिनीकाञ्चनादि-भोग्य पदार्थमें अत्यन्त आसक्ति भी उसी प्रकार मनुष्यको कुमार्गमें ले जाकर विनष्ट कर देता है। केवल तुम्हारे समान मनुष्य ही उपदेशोंके पात्र होते हैं, क्योंकि स्वच्छ स्फटिक-मणिमें जिसप्रकार चन्द्रकी किरणें अनायास प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार स्वच्छ हृदयमें ही उपदेशगुण सुखपूर्वक प्रवेश कर सकते हैं। गुरुका उपदेश-वचन मङ्गलकर होने पर भी, असाधु पुरुषके कानमें उपस्थित होने पर, वे जलके समान, गुरुतर शूल उत्पन्न करते हैं। परन्तु वे ही सज्जन पुरुषके कानमें उपस्थित होने पर, हाथीके शङ्खमय कर्णाभरणके समान मुखकी अत्यन्त शोभा उत्पन्न करते हैं। प्रदोषकालका चन्द्रमा जिस प्रकार, अन्धकारके अत्यन्त कृष्णवर्ण होने पर भी उसको दूर कर देता है, उसी प्रकार गुरुका उपदेश, अत्यन्त कलुषित होने पर भी, काम-क्रोधादि समस्त दोषोंको विनष्ट कर देता है। वृद्धावस्था जिस प्रकार केशोंको निर्मल करती हुई क्रमसे शुक्ल-रूपमें परिणत कर देती है, उसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय दमनके कारण गुरुका उपदेश भी, उन दोषोंको निर्मल करता

१. भाजनम्। २. सुखम्। ३. च। ४. अपहरति च सकलम्, इत्यति"'। ५. अतिमलिनमन्धकारमिव। ६. क्वचित् वयः पदं नोपलभ्यते।

मयति। अयमेव चानास्वादित-विषयरसस्य ते काल उपदेशस्य। कुसुमशर-शर[1]-प्रहार[2]जर्जरिते हि[3] हृदये[4] जलमिव गलत्युपदिष्टम्। अकारणञ्च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं वा विनयस्य[5]। चन्दनप्रभवो[6] न दहति किमनलः, किंवा प्रशमहेतुनापि न प्रचण्डतरीभवति वडवानलो वारिणा। गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिलमलप्रक्षालनक्षममजलस्नानम्,[7] अनुपजा-

---

परिणमयति, तथा प्रशमहेतुर्गुरूपदेशोऽपि तदेव दोषजातममलीकुर्वन् गुणरूपेण परिणमयतीत्यर्थः। तथा हि गुरूपदेशो नाम जनानां धर्मार्जने कामम्, दण्डेषु क्रोधम्, स्वर्गादौ लोभम्, दुष्कृताचरणे मोहम्, दानदयादौ मदम्, स्वदुर्णये च मात्सर्यं प्रवर्त्तयन् उक्तानवगुणानेव गुणतामुपजनयतीति धीधनाः प्रतिपादयन्ति।

ननु राज्याभिषेकसमय एव कथमुपदिश्यते समयान्तरेऽप्येतत्सम्भवादित्यत आह—अयमिति। आस्वादितः अनुभवविषयीकृतः विषयरसः सुन्दरीसुवर्णादिभोग्यवस्तुगुणो येन तस्य तादृशस्य, ते तव अयमेव उपदेशस्य शिक्षायाः कालः समयः।

नन्वनुभूतविषयरसस्य शिक्षणे को दोष इत्यत आह—कुसुमशरेति। हि यतः, कुसुमशरस्य कामदेवस्य शरप्रहारेण बाणाभिघातेन जर्जरिते उपप्लुते अनेकशो विवरीकृते च हृदये चेतसि जलमिव सलिलमिव उपदिष्टं गुरूपदेशो गलति क्षरति चालनीन्यायादिति। एवञ्च सातिशया कामोद्दीपना वचनमात्रेण गुरुशिक्षणं प्रवेशमात्रेव दूरीकरोतीत्याशयः। इह नवयौवनेत्यारभ्यैतावत्सन्दर्भे चोपमालङ्कारः।

नन्वेवमपि सत्कुलप्रसूतस्य शास्त्रज्ञानयुक्तस्य च विनयप्रभावेण न ते दोषाः प्रवेष्टुं शक्नुवन्तीत्यत आह—अकारणञ्चेति। किञ्चेति चार्थः। दुष्प्रकृतेः असच्चरित्रस्य पुंसः अन्वयः सद्वंशः, वा अथवा श्रुतं शास्त्रज्ञानं च विनयस्य सन्मार्गप्रवृत्तेः अकारणं भवति हेतुर्न भवतीत्यर्थः, 'स्वभावो दुरतिक्रमः' 'अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते' इति न्यायादित्याशयः। इह 'अकारणम्' इत्यत्र नञः प्रधानत्वेन तस्य च समासेन गुणीभूतत्वेन 'असूर्यं पश्या राजदारा' इतिवद्विधेयाविमर्शदोषोऽस्त्येव तस्य च निराकरणं 'कारणं न भवति' इति पाठकरणेनैव समाधेयम्। प्रतिपादितविषयं समर्थयति-चन्दनेत्यादिना। चन्दनात् मलयजतरोः प्रभवति सङ्घर्षेणोत्पद्यत इति चन्दनप्रभवः अनलोऽग्निः किं न दहति भस्मीकरोति अपि तु दहत्येवेत्यर्थः। तथा च नान्वयो विनयस्य हेतुरित्याशयः। तथा प्रशमहेतुनापि शैत्यकारणेनापि वारिणा सागरजलेन वडवानलः वाडवाग्निः किंवा न प्रचण्डतरो भवति समुद्दीप्तो भवति अपि तु भवत्येवेत्यर्थः। अतश्च शैत्यकारणं शास्त्रज्ञानं न विनयस्य हेतुरित्याशयः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

अन्यस्वरूपेण प्रस्तुतं गुरूपदेशं प्रशंसति—गुरूपदेशश्चेत्यादिना। किञ्चेति चार्थः। गुरूपदेशो नाम पुरुषाणां जनानाम् अखिलमलानां समस्तकामक्रोधप्रभृतीनां कर्दमादीनाञ्च प्रक्षालनक्षमं शोधनसमर्थम्, अजलस्नानं सलिलरहितस्नानस्वरूपः। स्नानान्तरं तु सलिलसहितमित्यवगच्छ। न उपजातम् उत्पन्नं पलितादि वार्द्धक्यप्रयुक्तश्वेतादि वैरूप्यं विकृतिर्यत्र तत्तादृशम्, तथा न विद्यते जरा जीर्णत्वं यत्र तत्तादृशम्, वृद्धत्वं वार्धक्यस्वरूपम्, प्रशमत्वसदसद्विवेकाद्युत्पादनादित्याशयः। वृद्धत्वान्तरं तु उपजातपलितादिवैरूप्यं सजरत्वञ्चेत्यस्याधिक्यम्। न आरोपितः उत्पादितः मेदोदोषः पृथुलत्वोत्पादकमेदोनामकधातुवृद्धिदोषो येन तत्तादृशम्, गुरुकरणं गौरवहेतुस्वरूपः, बहुदर्शितोत्पादकतया समस्तगौरवप्रयोजकत्वा-

---

हुआ क्रमसे गुण-रूपमें परिणत कर देता है। तुमने अभीतक किन्हीं भोग्य पदार्थोंके रसका स्वाद नहीं चखा है इसीलिए तुम्हें उपदेश ग्रहण करनेका उचित समय यही है। क्योंकि, कामदेवके बाणप्रहारसे जो हृदय जर्जरित हो गया है, उस हृदयसे उपदेश-वाक्य जलके समान बाहर निकल जाता है। दुश्चरित्र लोगोंकी अच्छे कुलमें उत्पत्ति किंवा शास्त्रज्ञान, सन्मार्गप्रवृत्तिका कारण नहीं होता। देखो-सङ्घर्षवश चन्दन-वृक्षसे जो अग्नि उत्पन्न होती है, वह क्या जलाती नहीं है? शान्ति-कारक समुद्रजलसे भी क्या वड़वानल अत्यन्त प्रचण्ड होकर उठता नहीं है? गुरुका उपदेश, मनुष्यके समस्त मलप्रक्षालन करने योग्य जलहीन स्नान-स्वरूप है (अर्थात् जैसे जलसे स्नान करने पर सब बाहरका मैल धुल जाता है उसी प्रकार गुरुके उपदेशसे सब आभ्यन्तरिक दोष दूर हो जाते हैं)। और गुरुका उपदेश, मनुष्योंका वार्धक्य स्वरूप है, इस वार्धक्यमें केशकी पकता और अङ्गशै-

---

१. क्वचित् 'शर' इति पदन्नास्ति। २. संप्रहार। ३. क्वचित् हि पदं न विद्यते। ४. हृदि। ५. श्रुतञ्च विनयस्य। ६. चन्दनप्रभवोऽपि। ७. अजलं स्नानम्।

तपालितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्, अनारोपितमेदोदोषं[1] गुरूकरणम्, असुवर्णविरचनमग्राम्यं[2] कर्णाभरणम्, अतीतं[3]ज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः, विशेषेण[4] राज्ञाम्, विरला हि तेषामुपदेष्टारः। प्रतिशब्दक इव[5] राजवचनमनुगच्छति जनो भयात्। उद्दाम-दर्प-श्वयथु-स्थगित[6]-श्रवणविवराश्चोपदिश्यमानम[7]पि ते न शृण्वन्ति। शृण्वन्तोऽपि च गजनिमीलितेना-

---

दित्याशयः। गुरूकरणान्तरं तु मेदोदोषोत्पादकमित्यस्याधिक्यम्। न सुवर्णेन कनकेन विरचना निर्मितिः यस्य तत्तादृशम् अग्राम्यं ग्राम्यत्वदोषशून्यं भण्डादिवाक्यातिरिक्तभूतम् अतिरमणीयमित्यर्थः। कर्णाभरणं श्रोत्रभूषणस्वरूपः केवलमर्पणेनैव चित्तशोभोत्पादनादित्याशयः। कर्णाभरणान्तरं तु सुवर्णरचितं ग्राम्यञ्चेत्यस्याधिक्यम्। अतीतज्योतिः तेजःशून्यः आलोकः प्रकाशस्वरूपः परीक्षार्थमालोकादित्याशयः। आलोकान्तरं तु तेजस्वीत्यस्याधिक्यम्। नोद्वेगकरः अक्लेशोत्पादक इत्यर्थः प्रजागरः जागरस्वरूपः समस्तवस्तुषु सावधानतोत्पादनादित्याशयः, जागरणान्तरं तु क्लेशोत्पादकमित्यस्याधिक्यम्। अत्र सर्वत्र अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकमलङ्कारः।

विशेषेणेति। एते अजलस्नानप्रभृतयो गुणाः राज्ञां नृपतीनां विशेषेण आधिक्येन उपकारिण इत्यर्थः, एवञ्च विद्यमानेषु खल्वेतेषु प्रभुतया कल्याणाधिक्यसम्भवात्, अविद्यमानेषु अनर्थाधिक्यसम्भवाच्चेत्याशयः। ननु प्रभूणामुपदेष्टारोऽप्यनेके एव सम्भवन्तीत्यत आह—विरला इति। हि यतः विरला अल्पा एव तेषां राज्ञाम् उपदेष्टार उपदेशदातार।

ननु कथं खलु तेषामुपदेष्टारो विरला इत्यत आह—प्रतिशब्दक इति। प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिरिव प्रतिशब्दकः स्वार्थे कप्रत्ययः, जनो लोकः, भयात् त्रासात् राजवचनं नृपवचः अनुगच्छति अनुसरति, नतु सम्भवे सति प्रतिवक्त्यपि, अतएव विरला इत्याशयः। उपमा।

अथ यदि केऽपि भयं परित्यज्य उपदेशं दातुमपि शक्नुवन्तीत्यत आह—उद्दामेति। उद्दामा विस्तृता दर्पा गर्वाः एव श्वयथवः शोथाः तैः स्थगितानि आच्छादितानि श्रवणविवराणि श्रोत्रच्छिद्राणि येषां ते तादृशाः, ते राजानः उपदिश्यमानमपि कथ्यमानमपि न शृण्वन्ति नाकर्णयन्ति। शोथेन कर्णविवररोधे श्रवणाभावो यथा भवति तथा गर्वेण तेषामुपदेशवचनानि श्रवणे न गच्छन्तीत्यभिप्रायः। इह निरङ्ग केवलरूपकमलङ्कारः।

ननूपदेशसमये हि राजानस्तत्रैव तिष्ठन्ति नान्यत्र गच्छन्ति नवा तान् वारयन्तीति ततः कथं न शृण्वन्तीत्यत आह—शृण्वन्तोऽपीति आकर्णयन्तोऽपि गजो हस्ती तद्वत् यत् निमीलितं नेत्रसंकोचमात्रं तेन अवधीरयन्तः उपदेशमवहेलयन्तः हितोपदेशदायिनः शिक्षाकथकान् गुरून् खेदयन्ति क्लेशयन्ति सयत्नोपदेशस्यावज्ञानादित्याशयः। लुप्तोपमा।

---

धित्यादि विकृति उत्पन्न नहीं होती है, एवं शरीर भी जीर्ण-शीर्ण नहीं होता है ( अर्थात् बाल सफेद हुए विना-वृद्धावस्था आए विना ही वृद्धोंमें गणना हो जाती है )। और गुरुका उपदेश स्थूलताका साधक है और मेद दोष को उत्पन्न नहीं करनेवाला है ( अर्थात् मेदमें विकार हो जानेसे मनुष्य मोटा हो जाता है, किन्तु गुरुके उपदेशसे विना किसी दोषसे मनुष्य गौरवान्वित हो जाता है )। गुरुका उपदेश, कानका सुन्दर आभूषण है किन्तु सुवर्ण निर्मित नहीं है; तेज नहीं है किन्तु आलोकस्वरूप है, ( अर्थात् उससे मनुष्योंकी आँखें खुल जाती हैं )। एवं जागरणस्वरूप है किन्तु सब विषयोंमें सावधानता करानेसे वह किसी प्रकारका कष्ट नहीं उत्पन्न करता है, ये सब गुण राजाओंके पक्षमें विशेष उपकारी हैं, क्योंकि उनको उपदेश देनेवाले कम ही होते हैं ऐसे उपदेष्टाओंकी कमी होनेका कारण यह है कि प्रायः सभी लोग भयवश प्रतिध्वनिके समान राजाओंके वचनोंका केवल अनुसरण ही करते रहते हैं। गुरुतर अहंकार-रूप-शोथ-रोग ( सूजन ) से राजाओंके कानके छेद बन्द हो जाते हैं, इसलिए किसी के उपदेश देने लगने पर भी, वे उसे सुन नहीं पाते हैं। और कदाचित् सुनने पर भी हाथीके

---

१. मददोषम्। २. विरचना ग्राह्यम्। ३. अपनीत…। ४. अत्र 'तु' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते। ५. एव। ६. उद्दामदर्पाश्च पृथुस्थगितदर्पाश्चर्यसंस्थगित। ७. उपदिश्यमपि।

वधीरयन्त[१]ः खेदयन्ति हितोपदेशदायिनो गुरून् । अहङ्कार-दाहज्वर-मूर्च्छान्धकारिता विह्वला हि राजप्रकृतिः, अलीकाभिमानोन्मादकारीणि धनानि, राज्य-विष-विकार-तन्द्रीप्रदा[२] राजलक्ष्मीः[३] ।

आलोकयतु तावत् कल्याणाभिनिवेशो लक्ष्मीमेव प्रथमम् । इयं हि सुभट[४]-खड्गमण्डलोत्पल-वन-विभ्रम[५]-भ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात् पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादेकान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेरतिनैष्ठुर्यम्[६], इत्येतानि सहवास परिचयवशाद्विरहविनोदचिह्नानि गृहीत्वेवोद्गता[७] ।

अहो राजानो ह्येवं कथं कुर्वन्तीत्यत आह—अहङ्कारेणेति । हि यतः राजप्रकृतिः भूपतीनां स्वभावः, अहङ्कारोऽभिमान एव दाहज्वरः तीव्रतापः तेन या मूर्च्छा मोहः तया अन्धकारिता समुत्पन्नान्धकारा सदसद्विचाररहितेत्यर्थः, अत एव विह्वला व्याकुला चञ्चला। विशेषतश्च, धनानि सम्पत्तयः अलीकाभिमानेन धनानां विनाशशालित्वान्मिथ्यागर्वेण उन्मादं मत्ततां कर्तुं शीलं येषां तानि तथोक्तानि, अन्यतश्च राज्यलक्ष्मीः आधिपत्यश्रीः, राज्यम् आधिपत्यमेव विषं विकृतिकारणत्वात्, तेन योः विकारः तेन तन्त्रीं तन्द्राम् आलस्यं प्रददातीति सा तादृशी। एभ्य एव हेतुभ्यो राजान उक्तरूपं विदधत इत्याशयः। निरङ्गकेवलरूपकम् ।

राज्यविषेत्यादिकथितविषयं समर्थयितुमाधिक्येन लक्ष्मीस्वभावमेव दर्शयति—आलोकयत्वित्यादिना। कल्याणे मङ्गले अभिनिवेशी आग्रहान्वितो भवान्, प्रथमम् आदौ लक्ष्मीं श्रियमेव तावत् आलोकयतु वस्तुतो विचारयतु। हि तथाहि सुभटा निपुणयोद्धारः तेषां खड्गमण्डलम् असिसमूह एव उत्पलवनं कमलकाननं तत्र विभ्रमे विचरणे भ्रमरी मधुकरस्त्रीस्वभावा, इयं पुरोदृश्यमाना लक्ष्मीः। पारिजातपल्लवेभ्यः क्षीरसमुद्रादेवोत्पद्यमानमन्दारतरुकिसलयेभ्यः रागं रक्तिमानमेव रागम् आत्मनि लोकानुरागं गृहीत्वेव आदायेव क्षीरसागरात् दुग्धाम्बुधेः उद्गता तन्मन्थनसमय उत्थिता । एवमन्यत्रापि सम्बन्धः। इन्दुशकलात् शशिखण्डात् एकान्तवक्रतां नितान्तकुटिलतामेव एकान्तवक्रतां नितान्तदुर्व्यवहारम् । उच्चैः श्रवस इन्द्राश्वात् चञ्चलतां स्पन्दितशरीरत्वमेव चञ्चलतां लघुकालस्थायित्वम् । कालकूटात् कालकूटसंज्ञकविषात् मोहनशक्तिं मूर्च्छोत्पादनसामर्थ्यमेव मोहनशक्तिम् अन्यवशीकरणसामर्थ्यम् । मदिराया मद्यतः मदं मत्ततोत्पादनसामर्थ्यमेव मदम् औद्धत्यम् । तथा कौस्तुभमणेः भगवतो विष्णोः कण्ठरत्नस्य सकाशात् अतिनैष्ठुर्यम् अत्यन्तकठोरत्वमेव अतिनैष्ठुर्यं नितान्तनिर्दयत्वम् । इत्येतानि रागप्रभृतीनि, सहवासपरिचयवशात् एकत्रावस्थानप्रणयवशात्, विरहस्य मन्दारादिभिर्विश्लेषस्य विनोदचिह्नानि अपनोदनचिह्नभूतानि गृहीत्वेव आदायेव क्षीरसागरात् दुग्धाम्बुधेः उद्गता उत्थिता, तत्तद्गुणवत्त्वादित्याशयः। अपरोऽपि सहचरैर्विश्लेषसम्भावनायां तदीयचिह्नीभूतं छत्रपादुकादिकमादाय परदेशं यातीत्यवगन्तव्यम् । इह 'सुभटखड्गमण्डलोत्पलवने'त्यादौ परम्परितरूपकमलङ्कारः । रक्तिमानुरागप्रभृतीनां

समान आँखें बन्द कर उस उपदेशकी अवहेलना ( बे परवाही ) करते हुए उन हितोपदेश दाता गुरुओंको दुःखित करते रहते हैं, क्योंकि—राजाओंका स्वभाव, अहङ्काररूप दाहज्वर-जनित मूर्च्छासे विवेकहीन होकर एकबार ही विह्वल हो जाता है । विशेषतः धनसम्पत्ति, मिथ्या अभिमानसे उन्मत्त कर देती है और राजलक्ष्मी, राज्य-रूप विषके विकारसे तन्द्रा ( सुस्ती ) उत्पन्न कर देती है ।

तुम मङ्गल प्राप्तिके लिए यत्नवान् हो, इसलिए पहले लक्ष्मीको ही विचार कर देखो—यह लक्ष्मी, निपुण योद्धाओंके खड्गसमूहस्वरूप कमल-वनमें विचरण करनेवाली भ्रमरी-स्वरूपा है । एवं यह क्षीर-सागरमेंसे निकलने के समयमें पारिजातादिकोंके साथ एक जगह रहनेसे पहलेसे ही प्रेम उत्पन्न हो गया था, उसे उन लोगोंके विरह दुःख दूर करनेके चिह्नस्वरूप, पारिजातपल्लवके समीपसे राग ( रक्तिमा, अनुराग ), चन्द्रखण्डसे अत्यन्त वक्रता ( कुटिलता, प्रतिकूलता ) उच्चैःश्रवाके समीपसे चञ्चलता ( चपलता अस्थिरता ) कालकूट विषके समीपसे मोहनशक्ति ( मूर्च्छित करनेकी शक्ति, वशीकरण करनेकी शक्ति ), मद्यके समीपसे मादकता ( उन्मादकपना ) एवं कौस्तुभमणिके समीपसे अत्यन्त निष्ठुरता ये सब, साथ लेकर ही मानो बाहर आई है । अधिकसमय परिचयवश

१. अवधारयन्तः। २. ···तन्द्राप्रदा विषतन्द्रीः। ३. राज्यलक्ष्मीः। ४. क्वचित् सुभटपदंनोपलभ्यते। ५. विभ्रम। ६. नैष्ठुर्य्यम्। ७. गृहीत्वेवोद्गता।

न ह्येवंविधमपरम्[1] अपरिचितमिह जगति किञ्चिदस्ति[2], यथेयमनार्य्या[3]। लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते। दृढगुणपाश[4]-सन्दान-निष्पन्दीकृतापि नश्यति। उद्दाम-दर्प-भटसहस्रोल्ला-सितासिलता[5]-पञ्जर-विधृताप्यपक्रामति। मदजल-दुर्दिनान्धकारगज[6]-घन-घटा-परिपालितापि प्रपलायते, न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते[7], न कुलक्रममनुवर्त्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुतमाकर्णयति, न धर्म्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रि-

---

भेदेऽपि श्लेषेणाभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः, प्रदर्शितरूपं रूपकम्, क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

नहीति। इह जगति अस्मिन् संसारे एवं विधम् एतादृशम् अपरिचितं परिचयनिबन्धनप्रेमनिर-पेक्षम् अपरम् अन्यत् किञ्चित् वस्तु नास्ति न विद्यते यथा येन प्रकारेण इयम् अनार्या नीचस्वभावा।

वाक्यातिशयेन लक्ष्म्या अपरिचितत्वं समुपपादयति—लब्धापीत्यादिना। लब्धापि महता क्लेशेन प्राप्तापि प्रायेण न लभ्यते इत्यपेरर्थः। दुःखेन क्लेशेन खलु निश्चयेन परिपाल्यते परिपालनविषयीक्रियते, अन्यस्तु परिचितो नैतादृशं करोतीत्याशयः।

दृढेति। दृढा यथायथप्रयोगेणानन्यथाविधातव्याः गुणाः सन्धिविग्रहयानद्वैधीभावा एव पाशो रज्जुः तेन यत् सन्दानं बन्धनं तेन निस्पन्दीकृतापि निश्चलीकृतापि लक्ष्मीः, नश्यति परपक्षाश्रयाद्दर्शना-भावं याति, अन्ये पाशबद्धा गोप्रभृतयोऽपि नैतादृशमित्याशयः।

इह केचित् विरोधाभासनिरङ्गकेवलरूपकयोः सङ्कर इति वदन्ति। परे तु विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहात् सन्देहसङ्करालङ्कारो निरङ्गकेवलरूपकेण सङ्कीर्यते इत्याचक्षते।

उद्दामेति। उद्दामो विपुलो दर्पोऽहङ्कारो यस्य तेन तादृशेन भटसहस्रेण योद्धृवृन्देन उल्लासिता ऊर्ध्वीकृता असिलता लम्बिततरवारय एव पञ्जरं पक्ष्यादिबन्धनगृहं तत्र विधृतापि आबद्धापि लक्ष्मीः, अपक्रामति अपसरति पक्षान्तरमाश्रयतीत्यर्थः। पञ्जरविधृता मृगेन्द्रप्रभृतयः पशवोऽपि नैतादृशमित्याशयः।

इहापि विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसङ्करः, स च निरङ्गकेवलरूपकेण सङ्कीर्यते। मतान्तरे तु विरोधाभासतथाविधरूपकयोः सङ्कर इत्यवधेयम्।

मदजलेति। मदजलानि दानवारीण्येव दुर्द्दिनानि श्यामत्वसाधर्म्यात् मेघच्छन्नाहानि तैः अन्धकारः तमो येभ्यः तथोक्ताः गजा हस्तिन एव घना मेघाः तेषां घटया समूहेन परिपालितापि रक्षितापि लक्ष्मीः प्रपलायते पक्षान्तरे पलायनं करोति। मार्जारोऽपि नैतादृशं शक्नोतीत्याशयः।

इह गजेषु मेघत्वारोपे मदजलेषु दुर्द्दिनत्वारोपो निमित्तमिति परम्परितरूपकमलङ्कारः। तथा गजेषु मेघत्वारोपे मदजलेषु दुर्द्दिनत्वारोपाभावेऽपितदुत्पत्तेः किं विभावना आहोस्वित् दुर्दिनत्वारोपकरणरूपे मेघत्वारोपकारणे सत्यपि तदनुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरित्यनयोः सन्देहसङ्करश्च, इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

नेत्यादि। परिचयं संस्तवं न रक्षति न पालयति, चिरालम्बनस्यापि परित्यागात्, श्वाऽपि नैतादृ-शमित्यभिप्रायः। अभिजनं सत्कुलं न ईक्षते नावलोकयति तत्परित्यागेन नीचकुलाश्रयणात्, सेवकोऽपि नैतादृशं करोतीत्याशयः। रूपं सौन्दर्यं नालोकयते न वीक्षते, सुन्दरपरित्यागेन दुश्चरित्रावलम्बनात्, गणिकापि नैतादृशमाचरतीत्यभिप्रायः। कुलक्रमं नानुवर्त्तते वंशपरिपाट्या सुरक्षिताहं कथमकस्मादन्यत्र व्रजामीति न गणयतीत्यर्थः, झटित्येव तत्परित्यागात्, गजोऽपि नैतादृशमिति भावः। शीलं सच्चरित्रं न

---

जो स्नेह उत्पन्न हो जाता है, उसकी कुछ गणना नहीं करती है, इसके सिवा अन्य कोई इस संसारमें नहीं है जैसी यह नीच प्रकृतिवाली है। इसको पा लेने पर भी महाकष्टसे ही परिपालन करना होता है। दृढ़ भावसे प्रयुक्त सन्धि-विग्रहादि गुणरूप रज्जुद्वारा (फंदेसे) मजबूत बाँध कर निश्चल कर रख लेने पर भी चली जाती है। अत्यन्त दर्प-समन्वित योद्धाओंसे घुमाई गई खड्गलतारूप पिंजरेमें फँसाकर रखी जाने पर भी दूसरी तरफ चली जाती है। मद-जलरूप वृष्टिद्वारा अन्धकार करनेवाले हस्तिरूप बादलोंसे घेर कर रखी जाने पर भी भाग जाती है। और यह लक्ष्मी, न स्नेहकी परवाह रखती है, न कुलके प्रति दृष्टि पात करती है, न

---

१. क्वचित् अपरमिति नावलोक्यते। २. क्वचित् किञ्चिदिति नास्ति। ३. अनार्या दुःखेन लभ्यते। ४. क्वचित् 'पाश' इतिपदन्नास्ति। ५.'''उल्लसितासिलता'''। ६.'''गजघटितघनघटाटोप'''। ७. आलोकयति।

यते, न विशेषज्ञतां विचारयति, नाचारं पालयति, न सत्यमवबुध्यते,[1] न लक्षणं प्रमाणीकरोति । गन्धर्वनगर[2]लेखेव पश्यत एव नश्यति । अद्याप्यारूढ-मन्दर-परिवर्त्तावर्त्त-भ्रान्ति-जनित-संस्कारेव परिभ्रमति[3] । कमलिनी-सञ्चरण[4]व्यतिकर-लग्न-नलिन-नाल-कण्टक-क्षतेव[5] न क्वचिदपि[6] निर्भरमाबध्नाति पदम् । अतिप्रयत्नविधृतापि परमेश्वरगृहेषु विविध-गन्धगज-गण्ड-

---

पश्यति नावलोकयति, कुत्सितस्याऽप्याश्रयणात्, सेविकाऽपि नैतादृशमिति भावः । वैदग्ध्यं कौशलं न गणयति न विचारयति, जडस्याऽप्यवलम्बनात्, पथिकोऽपि नैतादृशमित्याशयः । श्रुतं शास्त्रज्ञानं नाकर्णयति न शृणोति, विद्वांसं परित्यज्य मूर्खाऽवलम्बनात्, सेविकाऽपि नैतादृशमाचरतीति भावः । धर्मं सुकृतं न अनुरुध्यते धर्मानुरोधेन धार्मिकं नावलम्बत इत्यर्थः, प्रायेण पापिन एवावलम्बनात्, कपोतोऽपि नैतादृशमित्यभिप्रायः । त्यागं दानं न आद्रियते दानसामर्थ्यादरेण दातारं नावलम्बत इत्यर्थः । दातृपरित्यागेन कृपणावलम्बनात्, मार्जारोऽपि नैतादृशमित्याशयः । विशेषज्ञतां विशेषेण सर्वार्थवेदितां न विचारयति नाश्रयतीत्यर्थः, प्रायेण व्यापारिणामवलम्बनात्, धूर्त्तोऽपि नैतादृशमित्याशयः । आचारं शिष्टानुचरितं मार्गं न पालयति न रक्षति, चण्डालभवनेऽपि गमनात्, शूद्राऽपि नैतादृशं करोतीत्याशयः । सत्यम् अवितथं नानुबुध्यते न जानाति, प्रायेण वञ्चकावलम्बनात्, जडापि नैतादृशमाचरतीत्याशयः । लक्षणं मषीतिलकध्वजवज्रादिसामुद्रिकशास्त्रप्रतिपादितं न प्रमाणीकरोति, तथाविधं पुरुषं नावलम्बत इत्यर्थः, तथोक्तं परित्यज्य लक्षणरहिताश्रयणात् पान्थोऽपि नैतादृशं करोतीत्याशयः ।

गन्धर्वेति । गन्धर्वनगरलेखा भूतयोनिविशेषाणां रात्रावेवावलोक्यमानं यन्नगरं तत्पङ्क्तिः, यद्वा—दृष्टिभ्रमेण गगने नगरवदवलोक्यमाना कापि रेखा, सेव इयं लक्ष्मीः पश्यत एव अवलोकयन्तं जनमनादृत्यैव नश्यति विलयं व्रजति, इदमत्यन्तमाश्चर्यमित्याशयः । उपमा ।

बृहत्संहितायां गन्धर्वनगरावलोकनफलमभिहितम्—

'गन्धर्वनगरमुत्थितमापाण्डुरशनिपातवातकरम् । दीप्ते नरेन्द्रमृत्युर्वामेऽरिभयं जयः सव्ये ॥' इत्यादि ।

अद्यापीति । आरूढ उत्पन्नो यो मन्दरपरिवर्त्तेन क्षीरोदधिमथनसमये मेरुपर्वतघूर्णनेन आवर्त्तः अम्भसां भ्रमिः तत्र या भ्रान्तिः तत्र स्थिताया लक्ष्म्या अपि घूर्णनं तया जनितः चिरकालेनोत्पादितः संस्कारः घूर्णनोत्पादकवेगाभिधसंस्कारो यस्याः सा तथोक्ता सतीव अद्यापि अधुनापि परिभ्रमति भवनादन्यभवनं गच्छतीत्यर्थः । अन्योऽपि पूर्वभ्रमिसंस्कारवशात् कालान्तरेऽपि भ्रमति । क्रियोत्प्रेक्षा ।

कमलिनीति । कमलिनीषु पङ्कजलतासु सञ्चरव्यतिरेकेण लक्ष्म्याः पङ्कजवनविद्यमानत्वप्रसिद्धेः भ्रमणसम्पर्केण लग्नानि पादौ संसक्तानि यानि नलिनानां पङ्कजानां नालकण्टकानि तैः क्षता विदीर्णपादेव लक्ष्मीः, क्वचिदपि कुत्रापि पदं प्रतिष्ठामेव पदं चरणं निर्भरं निश्चलं न आबध्नाति न विधत्ते । अपरोऽपि कण्टकक्षतचरणः निश्चलं पदं स्थापयितुं नार्हति । इहातिशयोक्तिक्रियोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

अतिप्रयत्नेति । परमेश्वरगृहेषु महाराजभवनेषु अतिप्रयत्नेन अतिप्रयासेन विधृता स्थिरीकृतापि इयं लक्ष्मीः, विविधा अनेकप्रकारा ये गन्धगजा गन्धेभाः तेषां गण्डयोः कपोलयोः यानि मधूनि दानवारीण्येव मधूनि मद्यानि तेषां पानेन आस्वादेन मत्ता क्षीवेव सती परिस्खलति भ्रश्यति नृपान्तरं व्रजतीत्यर्थः । अन्यापि मधुपानमत्ता प्रयासेन विधृतापि अवलोकयत एव भ्रश्यति । इहाऽप्युक्तालङ्कारः ।

---

सौन्दर्यको देखती है, न कुल-परम्पराका अनुसरण करती है, न स्वभावके प्रति लक्ष्य करती है, न दक्षता (चातुर्य) का आदर करती है, न विशेष ज्ञानका विचार करती है, न आचारका पालन करती है, न सत्यको समझती है एवं न पुरुषोंके ध्वज-वज्रादिचिह्नोंको देखकर उनका अनुसरण करती है । आकाशमें गन्धर्व-नगर-रेखाके समान देखते-देखते ही नष्ट हो जाती है । समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलके भ्रमणसे उसमें जो भँवर उत्पन्न हुई थी, यह उसमें घूमकर, उस संस्कारवश ही मानो अब भी घूमा करती है । कमल-वनमें विचरण करनेके समयमें कमल-दण्डके काँटे लग जानेसे चरण ( पैर ) क्षत-विक्षत हो गया है, इसीसे मानो यह किसी स्थान में भी जमकर पैर नहीं रखती है । बड़े-बड़े राजाओंके महलोंमें बड़े-बड़े उद्योग करके रखी जाने पर भी अनेक गन्ध-गजोंके गण्डस्थलका मधुपान से मत्त होकर ही मानो स्खलन कर जाती (दूसरे राजाओंके पास चली जाती)

---

१. अनुबुध्यते । २. क्वचित् 'नगर' इति पदन्नोपलभ्यते । ३. भ्रमति । ४."'सञ्चार"' । ५."'नालकण्टकेव, नालकण्टकेत्येव । ६. क्वचित् 'अपि' इति पदं नोपलभ्यते ।

मधुपानमत्तेव परिस्खलति। पारुष्यमिवोपशिक्षितुमसिधारासु निवसति। विश्वरूपत्वमिव-ग्रहीतुमाश्रिता नारायणमूर्त्तिम्। अप्रत्ययबहुला च दिवसान्त[१] कमलमिव समुपचित[२]-मूल-दण्ड-कोष-मण्डलमपि मुञ्चति भूभुजम्। लतेव विटपकानध्यारोहति। गङ्गेव वसुजनन्यपि तरङ्गबुद्बुदचञ्चला दिवसकरगतिरिव प्रकटित-विविध-संक्रातिः। पातालगुहेव तमोबहुला।

---

ननु महाराजभवने गन्धगजास्तिष्ठन्तीति कृत्वा तन्मधुपानमत्तायाः स्खलनं जायतां किन्तु सज्जन-भवनेष्वपरिस्खलिता कुतो न तिष्ठतीत्याकांक्षायामाह —पारुष्य मिति। पारुष्यं कर्कशतामेव पारुष्यं निर्दयत्वम् उपशिक्षितुमिव अभ्यसितुमिव असिधारासु खड्गधारासु निवसति निवासं करोति। ययासिधारासु पारुष्यशिक्षणं कृता सा कथं सज्जनभवने स्थास्यतीत्याशयः। यद्वा—येनासिधारा यस्य गले पातयितुं शक्यते परुषतया चिरावलम्बनमपि तं परित्यज्य[ झटित्येव तं पातयितारमवलम्बत इत्याशयः। अत्रापि पूर्ववदेवालङ्कारः।

विश्वरूपत्वमिति। विश्वं ब्रह्माडं तस्य रूपाणि यत्र तथोक्तं यद्रूपं तद्विश्वरूपं तत्त्वं ग्रहीतुमादातुमिव नारायणमूर्त्तिं विष्णोः शरीरम् आश्रिता अवलम्बिता, तन्मूर्त्तेर्विश्वरूपत्ववत्त्वात्। येन हि कदाचिद् व्यापारिणां गृहे वाणिज्यलक्ष्मीरूपेण, कदाचिद् वीराणां राज्ञां गृहे राजलक्ष्मीरूपेण इत्यादिनानारूप धारणेन दीप्यत इत्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षा।

अप्रत्ययेति। अपि च अप्रत्ययोऽविश्वासो बहुलः अधिको यस्यां सा तादृशी, दिवसान्तकमलमिव दिनावसानपङ्कजमिव, समुपचितानि साधुतया वृद्धिमुपगतानि मूलं विजयनिमित्तीभूतं सैन्यं ब्रध्नदेशश्च, दण्ड उपायविशेषः नालञ्च, कोशो धनं मध्यभागश्च, मण्डलं राष्ट्रं परमण्डलञ्च, एतानि यस्य तं तादृशं च भूभुजं नृपतिं मुञ्चति परित्यजति नृपान्तरमवलम्बत इत्यर्थः। अतएवाविश्वासाधिक्यमित्याशयः।

इह विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसङ्करः पूर्णोपमा च, उभयोरप्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

लतेति। लता व्रततिरिव लक्ष्मीः, विटपकान् निन्दितकामुकान् वृक्षशाखाश्च अध्यारोहति आश्रयणं करोति। 'विटपः पल्लवे षिङ्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः' इति विश्वः।

गङ्गेति। गङ्गा भागीरथी सेव लक्ष्मीः, वसूनां धनानां प्रसिद्धानामष्टदेवविशेषाणां च जनन्यपि, तरङ्गबुद्बुदभङ्गस्थासकवत् चञ्चला चपला, पक्षे—तरङ्गबुद्बुदैः भङ्गस्थासकैः चञ्चला।

पुरा किल गङ्गा वशिष्ठशापान्नरत्वमुपगतानष्टौ वसून् जनयामासेति महाभारतीया कथा।

दिवसेति। दिवसकरः सूर्यः तस्य गतिर्गमनं सेव लक्ष्मीः, प्रकटिता आविष्कृता विविधेषु नाना-प्रकारेषु लोकेषु सङ्क्रान्तिः सञ्चारो यया सा तादृशी, पक्षे प्रकटिता विविधा महाविषुवप्रभृतय द्वादश-विधाः संक्रान्तयो राश्यन्तरसंक्रमणानि यया सा तादृशी।

पातालेति। पातालगुहा पातालकन्दरा सेव लक्ष्मीः, तमः तमोगुणोत्पन्नाज्ञानम् अन्धकारश्च बहुलोऽधिको यस्यां सा तादृशी।

---

है। निष्ठुरता सीखनेके लिए ही मानो तलवारकी धाराओंमें निवास करती है। नारायणके समीपसे विश्वरूप ( अनेक प्रकारके रूप ) ग्रहण करनेके लिए ही मानो उनके शरीरका आश्रय लिया है। इसके प्रति अविश्वास ही अधिक परिमाणमें करना होता है, क्योंकि कमलके मूल, नाल, कोश ( कली ) एवं विस्तार इन सबों से विशेष वृद्धि पाते रहने पर भी दिनके शेष भागमें शोभा जिस प्रकार उस कमलको त्याग कर देती है, उसी प्रकार राजा का सैन्य ( मूलधन ), दण्डशक्ति ( उपाय भेद ), कोश ( खजाना ) और राज्य इन सबों से विशेष वृद्धि पाते रहने पर भी लक्ष्मी उस राजाका परित्याग कर देती है। लता जिस प्रकार वृक्षकी शाखाओं का आश्रय करती है, लक्ष्मी भी उसी प्रकार कुत्सित कामुक व्यक्तियों का आश्रय करती है। गङ्गा जिस प्रकार वसुओं ( तन्नामक आठ पुत्रों ) की जननी होने पर भी तरङ्गों और बुद्बुदोंसे चञ्चल है, यह भी उसी प्रकार धनको उत्पन्न करने वाली होने पर भी तरङ्गों और बुद्बुदोंके समान चञ्चल है। सूर्य की गति जिस प्रकार महाविषुवादि नानाविध संक्रान्तियों का ( एकसे दूसरे राशि पर जाने का ) प्रकाश करती है, यह भी उसी प्रकार व्यक्तियोंके गृहमें ( एकसे दूसरेके पास ) सञ्चरण करती है। पाताल की गुफा में जिस प्रकार अधिक परिमाणमें ही अन्धकार रहता है, इसके

---

१. दिवसान···। २. समुचि···।

हिडिम्बेव[1] भीमसाहसैकहार्य्यहृदया। प्रावृडिवाचिरद्युतिकारिणी। दुष्टपिशाचीव दर्शितानेकपुरुषोच्छ्राया स्वल्पसत्त्वमुन्मत्तीकरोति सरस्वतीपरिगृहीतमीर्ष्ययेव नालिङ्गति जनम्, गुणवन्तमपवित्रमिव न स्पृशति, उदारसत्त्वममङ्गलमिव न बहु मन्यते, सुजनमनिमित्तमिव न[2] पश्यति, अभिजातमहिमिव लङ्घयति, शूरं कण्टकमिव परिहरति, दातारं दुःस्वप्नमिव[3] न स्मरति, विनीतं पातकिनमिव नोपसर्पति,[4] मनस्विनमुन्मत्तमिवोपहसति[5]। परस्पर-

---

हिडिम्बेति। हिडिम्बा घटोत्कचजननी राक्षसी सेव लक्ष्मीः, भीमसाहसैकेन परराज्याक्रमणप्रभृतिकेवलभीषणहठकारितया हार्यं हर्त्तुं शक्यं हृदयं चेतो यस्याः सा तादृशी, पक्षे भीमो वृकोदरः तस्य साहसैकेन हिडिम्बमारणादिकेवलोत्साहक्रियया हार्यं हृदयं यस्याः सा तादृशी।

प्रावृडिति। प्रावृट् वर्षासमयः सेव, अचिरद्युतिं स्वल्पसमयवर्त्तिनीं पुरगृहादिशोभां कर्त्तुं शीलं यस्याः सा तादृशी, पक्षे अचिरद्युतिं तडितं कर्त्तुं शीलं यस्याः सा।

दुष्टेति। दुष्टा त्रासप्रदर्शनेच्छादूषितान्तःकरणा पिशाची राक्षसीव, दर्शितः प्रकटीकृतः अनेकेषां बहूनां पुरुषाणाम् उच्छ्रायः अभ्युदयो यया सा तथोक्ता सती, स्वल्पसत्त्वम् अल्पज्ञं जनम् उन्मत्तीकरोति तदुच्छ्रायप्रकटनेन तदाशया उल्वणं विदधाति, पक्षे—ऊर्ध्वीकृतपाणिनरमानं पुरुषः एवञ्च दर्शितः निजदेहे प्रकाशितः अनेकेषां बहूनां पुरुषाणाम् उच्छ्राय उन्नतता यया सा नितान्तदीर्घेत्यर्थः, तथोक्ता सती अल्पसत्त्वं दुर्बलं मानुषम् उन्मत्तीकरोति त्रासेनेत्याशयः।

'लतेव' इत्यारभ्य 'दुष्टपिशाचीव' इत्यन्तं यावत् पूर्णोपमालङ्कारः।

सरस्वतीति। सरस्वती भारती तया परिगृहीतं स्वीकृतं विद्यावन्तमित्यर्थः जनं पुरुष ईर्ष्ययेव मत्सरेणेव नालिङ्गति नावलम्बते, सपत्न्यन्तरालिङ्गितं स्वामिनं सपत्न्यन्तरवदित्याशयः। इह गुणोत्प्रेक्षालङ्कारेण समासोक्तिः सङ्कीर्यते।

गुणेति। गुणवन्तं शौर्यादिगुणोपयुक्तम् अपवित्रं चण्डालादिं जनं पुरुषमिव न स्पृशति न स्पर्शं करोति। उदारसत्त्वं महाशयं जनम् अमङ्गलमिव अकल्याणमिव न बहु मन्यते नाधिकमाद्रियते। सुजनं सुपुरुषम् अनिमित्तमिव उल्कापातादिदुर्लक्षणमिव न पश्यति नावलोकयति। अभिजातं सत्कुलीनं जनम् अहिमिव सर्पमिव लङ्घयति अतिक्रम्य गच्छति। शूरं शौर्यगुणोपेतं कण्टकमिव परिहरति परित्यजति। दातारं बहुप्रदं दुःस्वप्नमिव अशुभस्वप्नमिव न स्मरति न चिन्तयति। विनीतं विनयगुणसंयुक्तं पातकिनं पापकारिणमिव नोपसर्पति न पार्श्वं प्रयाति। मनस्विनं प्रशस्तचित्तम् उन्मत्तमिव ग्रंथिलमिव उपहसति उपहास्यं करोति।

इह 'गुणवन्तम्' इत्यादिद्वितीयान्तपदानां जनमितिप्रकृतविशेष्यपदानुषङ्गात् 'मनस्विनमुन्मत्तमिव हसति' इत्यन्तं यावत् प्रतिवाक्ये उपमालङ्कारः।

परस्परेति। किञ्चेति चार्थः। इन्द्रजालं कुहकं दर्शयन्ती प्रकाशयन्तीव जगति संसारे परस्परविरुद्धं

---

आने पर लोगोंको भी उसी प्रकार अधिक परिमाणमें ही मोह हो जाया करता है। भीमसेनका साहस जिस प्रकार हिडम्बा राक्षसी (भीम की स्त्री घटोत्कच की माता) का मन अपहरण किया था, उसी प्रकार केवल भयङ्कर साहस ही इसका मन अपहरण कर लेता है। वर्षाकाल जिस प्रकार क्षण भङ्गुर विद्युत् का प्रकाश करता है, यह भी उसी प्रकार लोगों की अति अल्पकाल रहने वाली ही गृह-नगर की शोभा का प्रदर्शन करती है। कोई दुष्टा पिशाचिनी जिस प्रकार अपने शरीरमें बहुपुरुष-परिमित उच्चता (ऊँचाई) दिखा कर दुर्बल व्यक्तियोंको भयसे उन्मत्त करती है, यह भी उसी प्रकार अनेक पुरुषोंकी उन्नति दिखा कर अल्पबुद्धि वाले पुरुषोंको उसकी आशामें उन्मत्त कर देती है। सरस्वती द्वारा परिगृहीत व्यक्ति (विद्वान्) को ईर्ष्यावश से ही मानो आलिङ्गन नहीं करती है। गुणवान् व्यक्तिको अपवित्र समान स्पर्श नहीं करती है। महाशय (उदार) व्यक्तिको अमङ्गलके समान बहुत आदर नहीं करती है। सज्जनको कुलक्षणके समान नहीं देखती है। सत्कुलोत्पन्न (कुलीन) व्यक्तिको सर्पके समान लाँघ कर चली जाती है। वीरको कण्टकके समान छोड़ देती है। दाताको दुःस्वप्न के समान स्मरण भी नहीं करती है। पातकीके समान विनयी के पास में भी नहीं फटकती है, और मनस्वी व्यक्तिको उन्मत्तके समान उपहास करती है। यह लक्ष्मी, इन्द्रजाल दिखाते-दिखाते ही मानो इस संसारमें परस्पर-विरुद्ध-

---

१. हिडम्बेव। २. क्वचित् 'न' कारो नोपलभ्यते। ३. दुःखस्वप्नं। ४. नापसर्पति। ५. हसति।

विरुद्धश्चेन्द्रजालमिव दर्शयन्ती प्रकटयति जगति[1] निजं चरितम्। तथाहि, सततम्[2] उष्माणमारोपयन्त्यपि[3] जाड्यमुपजनयति। उन्नतिमादधानापि नीचस्वभावतामाविष्करोति। तोयराशिंस[4]म्भवापि तृष्णां सवर्द्धयति। ईश्वरतां दधानापि अशिवप्रकृतित्वमातनोति। बलोपचयमाहरन्त्यपि लघिमानमापादयति। अमृतसहोदरापि कटु[5]-विपाका। विग्रहवत्यपि अप्रत्यक्षदर्शना। पुरुषो-

---

मिथोऽसंबद्धधर्मयुक्तमित्यर्थः, निजम् आत्मीयं चरितं वृत्तं प्रकटयति आविष्करोतीति सम्बन्धः। क्रियोत्प्रेक्षा।

लक्ष्मीचरिते मिथोऽसंबद्धधर्मवत्त्वं प्रकटयति—तथाहीति। इयं लक्ष्मीः, सततं निरन्तरम् उष्माणं तापम् आरोपयन्त्यपि प्रवर्त्तयन्त्यपि जाड्य शैत्यम् उपजनयति करोतीति विरोधः, उष्माणं धनगर्वं जाड्यं जडत्वं सदसद्विवेकशून्यत्वमिति तत्परिहारः।

उन्न मिति। उन्नतिम् ऊर्ध्वगतिम् आदधानापि कुर्वाणापि नीचस्वभावतां नीचवृत्तित्वम् आविष्करोति प्रकटयतीति विरोधः, उन्नतिम् अवस्थोत्कर्षम्, नीचस्वभावता औद्धत्योत्पादनेन निन्दितचरित्रत्वमिति तत्समाधानम्।

तोयराशीति। तोयराशेः जलनिधेः सकाशात् सम्भवति समुत्पद्यत इति तथाविधापि, तृष्णां पिपासां संवर्धयतीति विरोधः, तृष्णां धनाकांक्षामिति तत्परिहारः।

ईश्वरतामिति। ईश्वरतां शिवत्वं दधानापि धारयन्त्यपि अशिवप्रकृतित्वं शिवभिन्नस्वभावत्वम् आतनोति विस्तारयतीति विरोधः, ईश्वरतां प्रभुतां दधानापि आपादयन्त्यपि अशिवप्रकृतित्वम् अन्योत्पीडनकारणत्वेन अमङ्गलस्वभावत्वमातनोतीति तत्समाधानम्।

बलोपचयमिति। बलोपचयं शारीरिकसामर्थ्यवृद्धिम् आहरन्त्यपि कुर्वत्यपि लघिमानं भारहीनत्वम् आपादयति जनयतीति शारीरिकसामर्थ्यवृद्धौ शरीरेऽवश्यम्भावाद्विरोधः, बलोपचयं सैन्यवृद्धिं लघिमानं कार्पण्यमिति तत्परिहारः।

अमृतेति। अमृतसहोदरापि पीयूषेन समसुत्पन्नापि एकसमुद्राज्जायमानत्वादित्याशयः। कटुविपाका जिह्वायां कटुरसेति अमृतसहोदराया मधुररसत्वसम्भवे कटुरसत्वाद्विरोधः, कटुः अन्येषां सन्तापकत्वेन क्लेशकरः विपाकः परिणामो यस्याः सा तादृशीति तत्समाधानम्।

विग्रहेति। विग्रहवत्यपि मूर्तिमत्यपि, अप्रत्यक्षं चक्षुषागम्यं दर्शनं ज्ञानं यस्याः सा तादृशी चाक्षुषप्रत्यक्षागम्येत्यर्थः इति विरोधः, विग्रहवत्यपि प्रेरकतया युद्धवत्यपि मिथः सङ्ग्रामविधायिन्यपि देवत्वादेवाप्रत्यक्षदर्शनेति तत्परिहारः।

पुरुषेति। पुरुषोत्तमे उत्कृष्टपुरुषे रतापि आसक्तापि खलजनप्रियेति विरोधः, पुरुषोत्तमरतापि भगवद्विष्णवासक्तापि खलजनप्रिया बाहुल्येन दुष्टजनावलम्बनादिति तत्समाधानम्।

'उष्माणमारोपयन्त्यपि' इत्यारभ्य 'पुरुषोत्तमरतापि' इत्यन्तं यावत् सर्वत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः।

---

धर्म-समन्वित अपना चरित्र प्रकट करती है। क्योंकि सर्वदा उष्णता उत्पन्न करती हुई भी शीतलता उत्पन्न करती है ( धनका अहङ्कार उत्पन्न कर, एवं मनुष्यको सदसद्विवेचनाशून्य कर देती है )। ऊपर उठा करके भी नीचेमें रखती है (अवस्थाकी उन्नतिको उत्पन्न कर अथ च मनुष्यको कुत्सित स्वभाववाला कर देती है)। समुद्र (जलराशि) से उत्पन्न होकर भी पिपासा बढ़ाती है ( धनकी अभिलाषा की वृद्धि करती है )। शिव होकर भी अशिव स्वभावका विस्तार करती है ( लोगोंको प्रभुत्व उत्पन्न करके दूसरेको पीड़ा देनेके कारण अमङ्गल स्वभाव को विस्तार करती है। ) शरीरमें बल-वृद्धि करके भी लघुताको उत्पन्न करती है ( सैन्यवृद्धि करती है और स्वभावको कृपण करती है )। अमृतकी सहोदरा होने पर भी जिह्वामें कटुरस ( कड़वी ) अनुभूत होती है ( परिणाममें दुःखदायिनी होती है )। मूर्त्तिमती होकर भी चाक्षुष प्रत्यक्षके योग्य नहीं है ( धनियोंके बीचमें परस्पर कलह उत्पन्न कर दृष्टिगोचर नहीं होती है )। उत्कृष्ट पुरुषमें आसक्त होने पर भी खल पुरुषोंसे प्रीति

---

१. क्वचित् 'जगति' इति पदं नावलोक्यते। २. सन्ततम्। ३. उपजनयन्त्यपि। ४. राशिरिव। ५. कटुक…।

त्तमरतापि खलजनप्रिया। रेणुमयीव स्वच्छमपि कलुषीकरोति। यथा यथा चेयं चपला दीप्यते तथा तथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म्म केवलमुद्वमति। तथाहि, इयं संवर्द्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्, व्याधगीतिरिन्द्रियमृगाणाम्, परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम्, विभ्रमशय्या मोहदीर्घनिद्राणाम्, निवासजीर्णबलभी धनमदपिशाचिकानाम्, तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम्, पुरः पताका[1] सर्वाविनयानाम्, उत्पत्तिनिम्नगा क्रोधावेगग्राहाणाम्, आपानभूमिः[2] विषयमधूनाम्, सङ्गीतशाला भ्रूविकारनाट्यानाम्, आवासदरी दोषाशी

---

रेण्विति। रेणुमयीव रजोनिष्पन्नेव स्वच्छं विशदमपि कलुषीकरोति मलिनं विदधातीति विरोधः, स्वच्छमपि रागाहङ्काररहितमपि जनं कलुषीकरोति रागाहङ्कारादियुक्तं विदधातीति तत्परिहारः।

इह रजोनिष्पत्त्युत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा विरोधाभासश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

यथेति—किञ्चेति चार्थः। चपला चञ्चला तडिदिवेति च व्यज्यते, यथा यथा येन येन प्रकारेण इयं लक्ष्मीः दीप्यते प्रकाशते आविर्भवति, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण दीपशिखेव प्रदीपज्वालेव कज्जलवन्मलिनमेव परहिंसापरगोहरणादिकं दुष्कृतमेव न तु प्रायेण शोभनमित्येव पदार्थः कर्म केवलम् उद्वमति आविष्करोति। पक्षे—कज्जलमेव मलिनं कर्म। पूर्णोपमा।

मलिनकर्मोद्वमनं प्रदर्शयति—तथाहीति। इयं लक्ष्मीः, तृष्णा विषयेच्छा एव विषवल्ल्यः अनर्थजनकत्वाद्विषलताः तासां संवर्धनवारिधारा वृद्धिकारणीभूतनिरन्तरसलिलसेकः, विद्यमानायामस्यां तृष्णावृद्ध्यवलोकनादित्याशयः। इन्द्रियाणि अक्षाण्येव मृगा हरिणाः तेषां व्याधिगीतिः मृगवधजीविगानम्, आकृष्य नष्टीकरणात्। व्याधा हि गानेन मृगानाकृष्य गतासून् कुर्वन्तीति प्रख्यातं सर्वत्र। सच्चरितानि सदाचरणानि तान्येव चित्राणि आलेख्यानि तेषां परामर्शधूमलेखा आवरणधूमपङ्क्तिः, विद्यमानायामस्यां बाहुल्येन जनानां सच्चरितावरणात्। मोहाः विधेयाविधेयविवेकाभावा एव दीर्घनिद्राः दीर्घस्वापाः तासां विभ्रमशय्या विलासशय्या, विद्यमानायामस्यां मोहवृद्धिदर्शनात्। धनमदा द्रव्याहङ्कारा एव पिशाचिका राक्षस्यः तासां निवासाय अवस्थानाय जीर्णवलभी प्राचीनचन्द्रशाला पिशाचानां जीर्णभवन इव धनमदानां लक्ष्म्यामेवावस्थानात्। शास्त्राणि वेदादीनि एव दृष्टयो लोचनानि तासां तिमिरोद्गतिः नयनरोगविशेषस्योत्पत्तिः अनयैव शास्त्रदृष्टिनिरोधात्। सर्वाविनयानां सर्वविधदुश्चरित्राणां पुरःपताका अग्रवैजयन्ती, पताकावलोकनेन रथागमनानुवत् लक्ष्म्या अवलोकनेन सर्वविधदुश्चरित्रानुमानात्। क्रोधावेगाः कोपसंभ्रमा एव ग्राहा जलजन्तवः तेषाम् उत्पत्तिनिम्नगा उद्भवनदी, विद्यमानायामेवास्यामाधिक्येन कोपसम्भ्रमोद्भवदर्शनात्। विषयाः स्रक्चन्दनादिसम्भोगवस्तून्येव मधूनि अनर्थजनकत्वेन मद्यानि तेषाम् आपानभूमिः पानगोष्ठिकास्थानम्, विद्यमानायामेवास्यामाधिक्येन भोगदर्शनात्। भ्रूविकारा भ्रूकुट्य एव नाट्यानि अभिनयाः तेषां सङ्गीतशाला रङ्गशाला, अस्यामेवाधिक्येन भ्रूकुटीविधानात्। दोषाः कामादय एव आशीविषाः जीवनघातकत्वात् विषधराः तेषाम् आवासदरी निवाकन्दरा, अस्यामेव कामाद्यवस्थानात्।

---

करती है ( नारायणमें आसक्त रहती है, एवं प्रायशः दुर्जनोंको ही प्रीति करती है )। धूलिमयी होकर ही मानों निर्मल वस्तुओंको भी मलिन कर देती है ( अहङ्कारादि दोष-रहित व्यक्तियों को अहङ्कारादि दोष से दोषी बना देती है )। और जैसे-जैसे यह चञ्चला लक्ष्मी आविर्भूत होती है, वैसे-वैसे ही दीपशिखाके समान कज्जलवत् मलिन पापकार्य ही केवल प्रकट करती रहती है। क्योंकि यह लक्ष्मी, विषय लालसारूप विषलतासमूह की वृद्धि करनेवाली जलधारा है, ( अर्थात्, जैसे जलधारा विष-लताओं की वृद्धि करती है, वैसे यह मृगतृष्णा की वृद्धि करती है), इन्द्रिय-रूप हरिणोंके पक्षमें व्याधोंका गान है ( अर्थात्, जैसे व्याधका गीत हरिणोंको आकर्षित करता है, वैसे यह इन्द्रियोंको आकर्षित करती है ), सच्चरित्ररूप चित्र समूहका आवरण करनेवाली धूम पंक्ति है ( अर्थात्, जैसे धुएँ से चित्र मिट जाते हैं, वैसे यह सच्चरित्रको बिगाड़ देती है ); मोहरूप दीर्घनिद्राके पक्षमें कोमल शय्या है ( जैसे कोमल शय्या पर बेखटके खूब नींद आती है, वैसे यह मोहकी विलास-भूमि है ), धनाभिमानरूप पिशाचिनियोंके रहनेके लिए टूटी फूटी अटारी है, शास्त्र रूप-नेत्रके पक्षमें तिमिर-नामक नेत्ररोग है, सब दुराचारोंके आगे उड़नेवाली पताका है, क्रोधवेगरूपी जलजन्तुओं ( मगरों ) को उत्पन्न करने वाली नदी है, स्रक्-चन्दन-वनिता प्रभृति भोग्य पदार्थरूपी मदकी पान-भूमि है, भ्रूविकार-रूपी अभिनयकी

---

१. पुरःसरपताका। २. आवासभूमिः।

विषाणाम्, उत्सारणवेत्रलता सत्पुरुषव्यवहाराणाम्[1], अकालप्रावृट् गुणकलहंसकानाम्, विसर्पणभूमिर्लोकापवादविस्फोटकानाम्,[2] प्रस्तावना कपटनाटकस्य, कदलिका कामकरिणः, वध्यशाला साधुभावस्य, राहुजिह्वा धर्म्मेन्दुमण्डलस्य। न हि तं पश्यामि, यो ह्यपरिचित-यानया[3] न निर्भरमुपगूढः, यो वा न विप्रलब्धः। नियतमियमालेख्यगतापि चलति, पुस्तम-य्यपि[4] इन्द्रजालमाचरति, उत्कीर्णापि विप्रलभते, श्रुताप्यभिसन्धत्ते, चिन्तितापि वञ्चयति।

सत्पुरुषाः शिष्टाः तेषां व्यवहाराः सानुकम्पाचरणानि तेषाम् उत्सारणाय दूरीकरणाय वेत्रलता वेतसयष्टिः, उद्भूतायामस्यां शिष्टानामपि प्राक्सानुकम्पव्यवहारविलोपात्। गुणा दयादाक्षिण्यप्रभृतय एव कलहंसका कादम्बाः तेषाम् अकालप्रावृट् असमयप्राप्तवर्षासमयः, वर्षासमये कादम्बानामिव विद्यमानायामस्यां गुणानामदर्शनात्। कपटं छलाचरणमेव नाटकम् अभिनयः तस्य प्रस्तावना आमुखम्, विद्यमानायामेवा स्यां कूटव्यवहारारम्भात्। कामो मदन एव करी दन्ती तस्य कदलिका रम्भा, सत्यामेवास्यां स्वच्छन्दव्य-वहरणात्। साधुभावस्य सौजन्यस्य वध्यशाला हननभवनम्, सत्यामेवास्यां सौजन्यस्य विलोपात्। तथा धर्मो धर्मव्यवहरणमेव इन्दुमण्डलं स्वच्छतया चन्द्रबिम्बं तस्य राहुजिह्वा सैंहिकेयरसना, अनयैव धर्मव्यवहरणग्रासात्।

इह 'इयं संवर्द्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्' इत्यारभ्य 'राहुजिह्वा धर्मेन्दुमण्डलस्य' इत्यन्तं यावत् प्रायेण परम्परितरूपकमलङ्कारः। केवलं 'पुरःपताका सर्वाविनयानाम्' इत्यत्र, 'उत्सारणवेत्रलता सत्पुरुषव्यवहाराणाम्' इत्यत्र च निरङ्गं केवलरूपकमलङ्कारः।

नहीति। हि निश्चितं तं जनं न पश्यामि नावलोकयामि, यो हि जनःअपरिचितया परस्परपरिज्ञान शून्यया अनया लक्ष्म्या निर्भरं गाढं नोपगूढो नालिङ्गितः सम्पत्तिलिप्सया निरतिशयव्यापारानन्तरं तया न संश्लिष्ट इत्यर्थः। यो वा न विप्रलब्धः त्यक्त्वा न प्रतारितः।

इह लक्ष्म्यां कार्यद्वारा कुलटाया गणिकाया वा व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिर्बोध्या। अपि चात्र 'नहि तं पश्यामि' इति वाक्यस्योत्तरत्र पाठ एव समुचितः अन्यथा यदच्छब्दान्वितवाक्ययोरुत्तरत्र पाठेन वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषः 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादिवत्समापतेदेवेति बोध्यम्।

सर्वविधिनैव लक्ष्म्या वञ्चनामुपपादयति —नियतमित्यादिना। नियतं निश्चितम् इयं लक्ष्मीः आले-ख्यगतापि चित्रलिखितापि चलति भवनान्तरं गच्छति। पुस्तमय्यपि मृत्काष्ठादिरचितपुत्तलिकारूपापि इन्द्रजालं कुहकम् आचरति प्रदर्शयति, अकस्मात् लक्ष्म्या विलोपात्। 'पुस्तस्त्री हस्तनिर्यत्०' इत्यादि वाग्भटः। 'पुस्तं लेप्यादिकर्मणि' इत्यमरस्य—

'मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा। लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते॥'

इति रामाश्रमी टीकाऽत्रानुसन्धेया। उत्कीर्णापि प्रस्तरं निस्तक्ष्य, रचितापि विप्रलभते झटिति परित्यज्य वञ्चयति। श्रुतमस्यास्तीति श्रुता अर्श आदित्वादच् प्रत्ययः, दुराचारनिषेधकशास्त्रज्ञानयुक्ता-पीत्यर्थः अभिसन्धत्ते छलव्यवहारं करोति अविश्वासव्यवहारात्। चिन्तितापि स्मृतापि वञ्चयति प्रता-रयति। विरोधाभासोऽलङ्कारः।

सङ्गीत-शाला है, कामादि दोषरूपी विषधरसर्पोंके रहनेकी गुफा है, सत्पुरुषोंके सद्व्यवहारोंको दूर भगानेवाली बेंतकी छड़ी है, दयादाक्षिण्यादि गुण रूपी कलहंसों की असामयिकोपस्थित वर्षा ऋतु है, लोकनिन्दारूपी विस्फोटकका विस्तार करनेवाली भूमि है, कपटाचरणरूपी नाटककी प्रस्तावना है, कन्दर्प-रूपी हाथी का कदलीवन है, साधुभावकी वध-शाला (हत्यागृह) है, और धर्माचरणरूपी चन्द्रमण्डलके लिए राहु जिह्वा है। मैं ऐसा कोई पुरुष नहीं देखता कि इस अपरिचिता लक्ष्मी द्वारा गाढ़ आलिङ्गित होकर बादमें प्रतारित नहीं हुआ है। यह लक्ष्मी, चित्र पट पर चित्रित होने पर भी निःसन्देह चली जाती है। मृत्तिका अथवा काष्ठादिद्वारा पुत्तलिका बनाकर रखने पर भी इन्द्रजालके समान व्यवहार करती है। पत्थरमें खुदवाकर रखने पर भी धोखा देती है। शास्त्राभिज्ञ होने पर भी दुर्व्यवहार करती है, प्राप्तिकी आशासे भक्तिके द्वारा ध्यान करने पर भी ठगती है।

१. ...व्यवहाराणाम्। २. विस्फोटानाम्। ३. क्वचित् अनयेति इति पदं नावलोक्यते। ४. पुस्त-कमय्यपि।

एवंविधयापि चानया दुराचारया कथमपि दैववशेन परिगृहीताः[1] विक्लवा भवन्ति[2] राजानः, सर्वाविनयाधिष्ठानताञ्च गच्छन्ति। तथाहि, अभिषेकसमय एव चैषां[3] मङ्गलकलसजलैरिव प्रक्षाल्यते दाक्षिण्यम्, अग्निकार्य्यधूमेनेव मलिनीक्रियते[4] हृदयम्, पुरोहित-कुशाग्र-सम्मार्जनीभिरिवापनीयते[5] क्षान्तिः, उष्णीषपट्ट[6]-बन्धेनेवावच्छाद्यते[7] जरागमनस्मरणम्, आतपत्रमण्डलेनेवापवार्य्यते[8] परलोकदर्शनम्, चामरपवनैरिवापह्रियते सत्यवादिता, वेत्रदण्डैरिवोत्सार्य्यन्ते गुणाः, जयशब्दकलकलैरिव[9] तिरस्क्रियन्ते साधुवादाः, ध्वजपटपल्लवैरिव परामृश्यते यशः। केचित्[10] श्रम-वश-शिथिल[11]-शकुनि-गल-पुट[12]-चपलाभिः खद्योतोन्मेष-

---

एवमिति। एवंविधयापि पूर्वोक्तलक्षणलक्षितयापि दुराचारया दुष्टाचरणया अनया लक्ष्म्या कथमपि महता क्लेशेन दैववशेन भाग्यवशेन परिगृहीता आश्रिता राजानो नृपतयो विक्लवाः समाकुला भवन्ति। सर्वेषां समस्तानाम् अविनयानां दुर्व्यवहाराणाम् अधिष्ठानताम् आस्पदत्वं च गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति।

इह लक्ष्म्यां कार्यद्वारा पिशाचीव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः।

वैक्लव्यं दुर्व्यवहारास्पदत्वञ्च समुपपादयति -तथाहीति। अभिषेकसमय एव राज्याभिषेकक्षण एव एषां नृपतीनां मङ्गलकलशजलैरिव कल्याणकुम्भाम्भोभिरिव दाक्षिण्यम् औदार्यं प्रक्षाल्यते प्रक्षालनविषयीक्रियते। अग्निकार्यम् अभिषेकाङ्गहोमः तस्य धूमेन हृदयं स्वान्तं मलिनीक्रियते राज्ञामिति शेषः। पुरोहितः पुरोधाः तेषां कुशाग्राण्येव दर्भाग्राण्येव सम्मार्जन्यः ताभिः क्षान्तिः क्षमागुणः अपनीयते रेण्वादिवत् दूरीक्रियत इव, बाहुल्येन सहिष्णुताशून्यत्वात्। उष्णीष मूर्धवेष्टनं तदेव पट्टबन्धः क्षौमवसनबन्धनं तेन जरागमनस्मरणं 'वार्द्धक्यं मे भविष्यतीति' चिन्ता अवच्छाद्यते शिरोवत् आव्रियत इव, बाहुल्येन वृद्धानामुपहासात्। आतपत्रमण्डलं मण्डलीकृतच्छत्रं तेन परलोकदर्शनं जन्मान्तरदृष्टिः अपवार्यते अन्यपुरुषावलोकनवत् निवार्यते, आधिक्येन परलोकभाविक्लेशबोधाभावेनाधर्मव्यवहरणात्। चामरा वालव्यजनाः तेषां पवनैः वातैः सत्यवादिता अवितथवादिता अपह्रियते रेणुवत् अपनीयत इव बाहुल्येनासत्यसंभाषित्वात्। वेत्रदण्डाः वेतसयष्टयः तैः गुणा दयादाक्षिण्यादयः उत्सार्यन्ते अन्यजनवत् दूरीक्रियन्त इव, बाहुल्येन तेषां गुणरहितत्वात्। साधुवादाः सौजन्यप्रशंसावचनानि जयशब्दकलैःजयशब्दकोलाहलैः तिरस्क्रियन्ते सामान्यवाक्यवत् आच्छाद्यन्त इव, बाहुल्येन तत् साधुवादविमुखत्वात्। ध्वजपटपल्लवैः ऊर्ध्वीकृतकेतुदण्डसंसक्तप्रथितपताकाभिः, यशः श्लोकः परामृश्यते क्लिन्नविशदवर्णवत् प्रोञ्छ्यत इव, तत्पर्यन्तं विविधदुर्व्यवहारवशात् बाहुल्येन तेषां यशोविलोपात्।

इह 'अभिषेकसमय एव' इत्याद्यारभ्य 'ध्वजपटपल्लवैरिव परामृश्यते यशः' इत्यन्तं यावत् प्रतिवाक्ये क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। केवलं 'पुरोहितकुशाग्रे' त्यादौ निरङ्गकेवलरूपकसंकीर्णा क्रियोत्प्रेक्षालङ्कार इत्यवधेयम्।

केचिदिति। केचित् राजानः, विह्वलतामुपयान्तीत्यग्रिमेणास्य सम्बन्धः। श्रमवशेन दूरोड्डयनादिप्रयासाधिक्येन शिथिलं श्लथं यत् शकुनेः मयूरादिपक्षिणः गलपुटं कण्ठदेशः तद्वत् चपलाभिः चञ्चलाभिः,

---

ऐसी यह दुराचारिणी, अदृष्टवश किसी प्रकार से राजाओं का परिग्रह कर भी ले तो वे व्याकुल होकर किसी कामके नहीं रहते और सब दुराचार परायण हो जाते हैं। क्योंकि अभिषेक के समय ही उनकी सब चतुरता मानो माङ्गलिक कलशों के जलसे धुल जाती है। अभिषेकाङ्ग होमके धुएँसे मानो उनके हृदय मलिन हो जाते हैं। पुरोहितोंकी कुशाग्ररूप मार्जनी ( झाड़ू ) से मानो उनके क्षमागुण दूर फेंक दिये जाते हैं। रेशमी कपड़े की पगड़ीके बाँधनेसे मानो 'मैं भी वृद्ध होऊँगा' इस प्रकारकी चिन्ताको ढँक देती है। प्रसारित छत्रसे ही मानो जन्मान्तरके प्रति दृष्टिपातकी रोक लगा देती है। चामरके वायुसे ही मानो सत्यवादिता को उड़ा देती है। बेंतकी छड़ियोंसे ही मानो दयादाक्षिण्यादि सब गुण बाहर निकाल दिये जाते हैं। जयध्वनिके कोलाहलसे ही मानो, उनके सौजन्यकी प्रशंसा नीचे फेंक दी जाती है। एवं ध्वजालग्न विरतृत पताकासे ही मानो यश पोंछ दिया जाता है। परिश्रमवश शिथिल हुए पक्षीके गलदेश ( गर्दन ) के समान एवं खद्योत ( जुगनू ) के प्रकाशके

---

१. दैवपरिगृहीताः। २. विक्लवीभवन्ति। ३. एवैषाम् एव चैतेषाम्। ४. मलिनीभवति। ५. अपह्रियते। ६. ...पट...। ७. अवाच्छाद्यते। ८. अपसार्य्यते, अपवर्य्यते। ९. ...कलकलरवैः। १०. क्वचित्। ११. श्रमशिथिल...। १२. ...पक्षपुट...।

मुहूर्त्त-मनोहराभिर्मनस्विजनगर्हिताभिः सम्पद्भिः प्रलोभ्यमानाः, धन-लवलाभावलेपविस्मृत-जन्मानोऽनेकदोषोपचितेन दुष्टासृजेव[1] रागावेशेन बाध्यमानाः, विविधविषय-ग्रास[2]-लालसैः पञ्चभिरप्यनेक-सहस्रसंख्यैरिवेन्द्रियैरायास्यमानाः, प्रकृतिचञ्चलतया लब्धप्रसरेण[3] एकेनापि सहस्रतामिवोपगतेन मनसा आकुलीक्रियमाणा विह्वलतामुपयान्ति। ग्रहैरिव गृह्यन्ते, भूतैरिवाभिभूयन्ते, मन्त्रैरिवावेश्यन्ते, सत्त्वैरिवावष्टभ्यन्ते, वायुनेव विडम्ब्यन्ते, पिशाचैरिव ग्रस्यन्ते, मदनशरैर्मर्माहता इव[4] मुखभङ्गसहस्राणि कुर्वते, धनोष्मणा पच्यमाना इव विचे-

---

खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः तस्य उन्मेषवत् प्रकाशवत् मुहूर्त्तं क्षणं मनोहराभिः, विनश्वरत्वात् किञ्चित् समयमात्रचित्तहारिणीभिः, अत एव मनस्विजनाः ज्ञानिलोकाः तैः गर्हिताभिः निन्दिताभिः सम्पद्भिः धनादिसमृद्धिभिः, प्रलोभ्यमानाः लोभं प्राप्यमाणाः।

इह द्वे लुप्तोपमे पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गञ्चेत्येतेषां मिथोनैरपेक्ष्येण तिलतण्डुलवत्संसृष्टिः।

धनलवेति। धनलवस्य अत्यल्पद्रव्यस्यापि लाभावलेपेन प्राप्तिगर्वेण विस्मृतानि विस्मरणं प्राप्तानि जन्मानि जनूंषि यैस्ते तादृशाः, अत्यल्पस्यापि द्रव्यस्य प्राप्तिगर्वेण 'के वयम्, केषामात्मजाः, कीदृगवस्था अभूम' इति स्मरणरहिता इत्यर्थः। एतद्धि दत्तकसुतपरम्। अनेकैर्नानाविधैः दोषैः वातपित्तकफविकारैः उपचितेन वृद्धिं गतेन दुष्टेन दूषितेन असृजा रक्तेन यथा पीड्यमाना भवन्ति तथा दोषैः कामक्रोधादिभिः प्रवृद्धेन रागावेशेन विषयासक्तिरूपाभिनिवेशेन बाध्यमानाः अधरीक्रियमाणाः। पूर्णोपमा।

विविधेति। विविधा अनेके ये विषयाः शब्दस्पर्शादयः तेषां ग्रासेषु ग्रहणेषु लालसैः लोलुपैः 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि सः' इति रभसः। पञ्चभिः यथार्थतः पञ्चसङ्ख्यकैरपि विषयाधिक्यात् अनेकसहस्रसंख्यैरिव विद्यमानैः, इन्द्रियैः श्रोत्रत्वगादिज्ञानकरणैः वाक्पाण्यादिकर्मकरणैश्च आयास्यमानाः निजनिजशब्दस्पर्शादिविषयेषु निरन्तरगाढप्रवर्त्तनया परिखिद्यमानाः। गुणोत्प्रेक्षा।

प्रकृतीति। तथा प्रकृत्या स्वभावेनैव चञ्चलतया चपलतया कारणेन, लब्धप्रसरेण प्राप्तावकाशेन विविधविषयव्याप्तेन, अतएव एकेनापि विद्यमानेन सहस्रतां सहस्रसंख्यकत्वम् उपगतेन विषयाधिक्यात् प्राप्तेनेव मनसा चित्तेन आकुलीक्रियमाणाः व्यग्रीक्रियमाणाः सन्तः विह्वलतां चञ्चलताम् उपयान्ति उपगच्छन्ति। क्रियोत्प्रेक्षा।

तस्मिन् समये च तेषां स्थितिं प्रदर्शयति—ग्रहैरित्यादिना। ग्रहैः शनैश्चरादिभिः गृह्यन्ते ध्रियन्त इव, प्रतिक्षणमनेकविधभावभङ्गीविधानादित्याशयः। एवमग्रेऽपि भावोऽवगन्तव्यः। भूतैः देवयोनिविशेषैः 'भूतोऽमी देवयोनय' इत्यमरः, अभिभूयन्ते आक्रम्यन्त इव। मन्त्रैः आथर्वणिकैः तान्त्रिकैर्वा आवेश्यन्ते कैश्चित्पुरुषैः स्वायत्ततायां प्रवेश्यन्त इव वशीक्रियन्त इवेत्यर्थः। सत्त्वैः शार्दूलादिहिंसकप्राणिभिः अवष्टभ्यन्ते हठादवलम्ब्यन्त इव, कस्मिंश्चित्समये यातनाऽवगमादित्याशयः। वायुना वातव्याधिना विडम्ब्यन्ते विचाल्यन्त इव। तथा पिशाचैः राक्षसैः ग्रस्यन्ते भक्ष्यन्त इव। अत्र सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

स्थित्यन्तराणि दर्शयति—मदनेत्यादिना। मदनशरैः कामबाणैः मर्माहता मर्मस्थलं ताडिताः मुखभङ्गसहस्राणि विविधप्रकारा मुखभङ्गीरित्यर्थः कुर्वते विदधते। धनोष्मणा धनाभिमानोत्पन्नसन्तापेन

---

समान क्षणभरके लिए देखनेमें सुन्दर, अतएव ज्ञानियों द्वारा निन्दा की गई सम्पत्तिसे कोई कोई राजा लुब्ध हो जाते हैं। वे सामान्य धन-लाभ के अहङ्कार से अपने-अपने जन्म समय के वृत्तान्तको भूल जाते हैं; वात-पित्त-कफसे दूषित रक्तके समान कामक्रोधादि दोषोंसे वृद्धि प्राप्त विषयासक्ति में यातना भोग करते रहते हैं। शब्द-स्पर्शादि अनेक प्रकार के विषयों के रसका आस्वादन करने के अभिलाषी एवं पञ्चसङ्ख्यक होने पर भी विषय बाहुल्यसे मानो अनेक सहस्रसंख्या प्राप्त किए हुए इन्द्रियोंसे दुःख भोग करते रहते हैं और मन, स्वभावतः चञ्चल होनेके कारण अवकाश मिलनेसे अनेक विषय में दौड़ता रहता है। अतएव एक होने पर भी मानो सहस्र संख्या प्राप्त हुए उस मनसे राजा लोग अकुला कर एक ही बारमें विह्वल हो जाते हैं। उस समय पूतनाप्रभृति कोई कोई ग्रह आकर मानो उन लोगोंको घेर लेते हैं। भूत मानो उन पर प्रभाव डालते हैं। किसी किसी मन्त्र-शक्तिसे ही मानो उन लोगों को वश कर लेते हैं। विकराल प्राणी ( हिंसक जन्तु ) मानो हठसे उनको पकड़ लेते हैं। वायुरोग से ही मानो वे विचलित किए जाते हैं। पिशाच मानो उनका ग्रास करते हैं और कामकेबाणोंसे मर्माहत होकर ही मानो वे हजारों मुख-विकार करते रहते हैं। धनके अहङ्काराग्निमें पच्यमान होकर ही मानो

---

१. दोषासृजेव। २. विषयरसग्रास…। ३.…प्रसारेण। ४.…अभिहता इव।

ष्टन्ते, गाढप्रहाराहता इव[1] अङ्गानि न धारयन्ति, कुलीरा इव तिर्य्यक् परिभ्रमन्ति, अधर्म्म-भग्नगतयः पङ्गव इव परेण सञ्चार्य्यन्ते, मृषावाद-विष-विपाक[2]-सञ्जात-मुखरोगा इवातिकृच्छ्रेण जल्पन्ति, सप्तच्छद-तरव इव कुसुम-रजोविकारैरासन्नवर्त्तिनां[3] शिरः शूलमुत्पादयन्ति, आसन्नमृत्यव इव बन्धुजनम्[4] अपि नाभिजानन्ति, उत्कुपित[5]-लोचना इव तेजस्विनो नेक्षन्ते,

---

पच्यमानाः पाकविषयीक्रियमाणाः विचेष्टन्ते निस्पन्दविस्पन्दनादीननेकव्यापारान् कुर्वते इव भर्जनपात्र-, गतधानावदित्याशयः। गाढप्रहारेण यष्ट्यादेस्तीव्राघातेन आहता इव ताडिता इव अङ्गानि हस्तपादादीनि न धारयन्ति स्वयं न वहन्ति। इहापि प्रतिवाक्ये पूर्वोक्त एवालङ्कारः।

कुलीरा इति। कुलीराः कर्कटा इव तिर्यक् कुटिलं परिभ्रमन्ति विचरन्ति सर्वैः सह कौटिल्यं व्यवहरन्तीत्यर्थः। पूर्णोपमा।

अधर्मेति। अधर्मेण दुष्कृतेन भग्ना विनष्टा गतिः विधेयमार्गे गमनं येषां ते तादृशाः, अन्यत्र तु पापेन विनष्टगमनसामर्थ्याः, अत एव पद्भ्यां न गच्छन्ति व्रजन्तीति पङ्गवः त इव, परेण सचिवादिना सञ्चार्यन्ते उपदेशादिना विधेयमार्गे नीयन्ते, अन्यत्र तु परेण बन्धुवर्गेण सञ्चार्यन्ते करग्रहणादिना गमनं कार्यन्ते।

इह पूर्णोपमा, सा च पदार्थहेतुकेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण सङ्कीर्णा।

मृषेति। मृषावादा असत्यभाषणानि एव विषाणि गरलाः तेषां विपाकेन विकारेण सञ्जातः समुत्पन्नो मुखरोगो वदनव्याधिः येषां ते तथोक्ता इव सन्तः, अतिकृच्छ्रेण महता क्लेशेन जल्पन्ति प्रलपन्ति। प्रायेण गर्ववशान्मौनमेव तिष्ठन्ति यदि कस्मिंश्चित्समये निर्बन्धातिशयेन जल्पन्ति तदपि प्रलापप्रायमेवेत्याशयः।

इह 'मृषापवादे'त्यत्र निरङ्गकेवलरूपकमलङ्कारः तेन च सङ्कीर्णा क्रियोत्प्रेक्षा।

सप्तच्छदेति। सप्तच्छदतरवः सप्तपर्णद्रुमा इव, कुसुमानि नेत्ररोगाः अवहेलनाद्योतकनयनभङ्गीविशेषा एव रजोविकाराः रजोगुणपरिणामाः तैः तादृशैः, आसन्नवर्त्तिनो निकटस्थायिनो जनाः तेषां शिरश्शूलं तज्जन्यक्लेशमिव क्लेशम् उत्पादयन्ति जनयन्ति, अन्यत्र तु कुसुमरजसां पुष्पपरागाणां विकारैः तत्सम्पर्कोत्पन्नपवनप्रकोपैरित्यर्थः शिरःशूलं शिरोवेदनाम् उत्पादयन्ति जनयन्ति। सप्तच्छदपुष्परजःस्पर्शाधिक्येन मस्तकवेदना समुत्पद्यत इति वैद्यके विख्यातम्। 'कुसुमं स्त्रीरजोनेत्ररोगयोः फलपुष्पयोः' इति मेदिनी।

आसन्नेति। आसन्नः समीपवर्ती मृत्युः प्राणवियोगो येषां ते तादृशा जना इव, बन्धुजनमपि स्वजनमपि नाभिजानन्ति न परिचिन्वन्ति, एकत्राहङ्कारात् अन्यत्र बुद्धिलोपादित्याशयः।

उत्कुपितेति। उत्कुपिते रुग्णे लोचने नयने येषां ते तादृशा जना इव, तेजस्विनः प्रतापवतो जनान् नेक्षन्ते ईर्ष्यया न पश्यन्ति, अन्यत्र तु तेजस्विनो दिवसाधिपप्रभृतीन् नेक्षन्ते लोचनप्रतिघातान्न निरीक्षितुं शक्नुवन्ति।

कालेति। कालेन महाविषभुजङ्गेन दष्टा विचेता लोका इव, महामन्त्रैरपि षाड्गुण्यविषयकोत्तमविचारणाभिरपि न प्रतिबुध्यन्ते बुद्धिवैगुण्यान्न विधेयमनुजानन्ति, अन्यत्र तु महामन्त्रैरपि गारुडमन्त्रैरपि विषवैद्यानामित्यर्थः, प्रतिबुध्यन्ते ज्ञानं प्राप्नुवन्ति।

जातुषेति। जतुषा लाक्षया रचितानीति जातुषाणि आभरणानि आभूषणानीव, सोष्माणं प्रतापवन्तं

---

अनेक प्रकार भाव-भङ्गी प्रकाश करते हैं, कर्कट (केकड़े) के समान सबोंके साथ कुटिलरूपसे चलते रहते हैं; अधर्मके कारण कर्त्तव्य पथमें चलने की शक्ति नष्ट हो जाती है, अत एव पङ्गुके समान अन्य पुरुषके सहारेसे चलते रहते हैं; असत्यवादिता रूप विषके विकारसे मुख-रोग उत्पन्न होकर ही मानो वे अत्यन्त कष्टसे बोलते रहते हैं; सप्तपर्ण वृक्ष जिस प्रकार फूलोंके परागसे समीपवर्त्ती लोगोंको शिरोरोग ( माथेमें दर्द ) उत्पन्न करता है, वे लोग भी उसी प्रकार रजोगुणसे उत्पन्न अवज्ञासूचक नेत्रभङ्गी द्वारा ( आँखके इशारेसे ) समीपमें बैठने वाले लोगोंको दुःख उत्पन्न करते हैं; मुमूर्षु व्यक्ति ( निकटतम मृत्यु पाने वाले ) के समान वे लोग बन्धुजनोंको भी नहीं पहचानते हैं, आँख उठने पर लोग जिस प्रकार किसी तेजस्वी ( चमकीले ) पदार्थके प्रति दृष्टिपात करनेमें समर्थ

---

१. अभिहता इव। २. मृषावादविपाक··· । ३. पार्श्ववर्त्तिनां। ४. पुरःस्थितं बन्धुजनम्। ५. उत्कम्पित··· ।

कालदष्टा इव महामन्त्रैरपि न प्रतिबुध्यन्ते, जातुषाभरणानीव[1] सोष्माणं न सहन्ते, दुष्टवारणा इव महामानस्तम्भनिश्चलीकृता[2]: न गृह्णन्त्युपदेशम्, तृष्णाविषमूर्च्छिता[3]: कनकमयमिव सर्वं पश्यन्ति, इषव इवं पानवर्द्धिततैक्ष्ण्या[4]: परप्रेरिता विनाशयन्ति, दूरस्थितान्यपि फलानीव दण्डविक्षेपैर्महाकुलानि शातयन्ति, अकालकुसुमप्रसवा इव मनोहराकृतयोऽपि लोकविनाशहेतवः, श्मशानाग्नयः इवातिरौद्रभूमयः, तैमिरिका इवादूरदर्शिनः, उपसृष्टा इव क्षुद्राधिष्ठित-

जनम् अग्निञ्च न सहन्ते न स्पृष्यन्ति । एकत्रेर्ष्यावशादन्यत्र संस्रवादित्याशयः ।

दुष्टेति । दुष्टा अशिक्षिता ये वारणा हस्तिनः त इव, महता उत्कृष्टेन मानेन अभिमानेन यः स्तम्भः स्तब्धता तेन निश्चलीकृताः स्थिरीकृताः सन्तः, अन्यत्र तु महत् दीर्घं मानं प्रमाणं यस्य तथोक्तो यः स्तम्भः आलानस्तम्भः तेन तद्बन्धनेन निश्चलीकृताः स्थिरीकृताः सन्तः, उपदेशं शिक्षां हस्तिपकवाक्यं च न गृह्णन्ति नाददते अवगणयन्तीत्यर्थः ।

तृष्णेति । तृष्णा धनलिप्सा सैव विषं गरलं तेन मूर्च्छिताः मोहं प्राप्ताः सन्तः, सर्वं पदार्थं कनकमयमिव द्रव्यमयमिव पश्यन्ति अवलोकयन्ति, सततं तच्चिन्तावशादित्याशयः ।

इषव इति । इषवो बाणा इव, पानेन सुरासेवनेन वर्द्धितं तैक्ष्ण्यम् उग्रता येषां ते तादृशाः, परेणान्येन प्रेरिताः उत्साहं प्रापिताः सन्तः, विनाशयन्ति प्रजादीन्, अन्यत्र तु पानेन निशातप्रस्तरघर्षणेन वर्द्धितं तैक्ष्ण्यं प्रहारशक्तिः सुधारत्वमित्यर्थः, येषां ते तादृशाः, तथा परेण धनुषा कार्मुकेण प्रेरिताः सन्तो विनाशयन्ति लक्ष्याणीति शेषः ।

दूरेति । दण्डविक्षेपैः यष्टिनिक्षेपैः दूरस्थितान्यपि दविष्ठदेशस्थायीन्यपि फलानि आम्रादीनीव, दण्डविक्षेपैः सामदामदण्डभेदा इति तृतीयोपायप्रयोगैः दूरस्थितान्यपि महाकुलानि प्रशस्तवंशान् शातयन्ति नाशयन्ति पातयन्ति च । उपायान्तरस्य विद्यमानत्वे दण्डप्रयोगस्यानुचितत्वमित्याशयः ।

अकालेति । अकाले असमये कुसुमप्रसवाः पुष्पोद्गमा इव, सुन्दरस्वरूपाः सन्तोऽपि, लोकविनाशस्य जनक्षयस्य हेतवो दण्डप्रयोगात् कारणानि, अन्यत्र तु लोकविनाशद्योतककारणानि । तथा च प्रमाणम्—

'द्रुमौषधिविशेषाणामकाले कुसुमोद्गमः । फलप्रसवयोर्बन्धं महोत्पातं विदुर्बुधाः ।

श्मशानेति । श्मशानाग्नयः प्रेतवनवह्नय इव, अतिरौद्राः अन्येषामत्यन्तभीषणा भूतयः सम्पदो भस्मानि च येषां ते तादृशाः । 'भूतिर्भस्मनि सम्पत्तिहस्तिशृङ्गारयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी ।

तैमीति । तिमिरेण तत्संज्ञकेन नेत्ररोगेण संसृष्टा इति तैमिरिकाः त इव, अदूरदर्शिनः भाविदोषानवलोकिनः दूरस्थितवस्त्ववलोकनासमर्थाश्च ।

उपेति । उपसृष्टा रतिसंलग्ना गणिका इव, क्षुद्रैः नीचजनैः अधिष्ठितम् आश्रितं भवनं गृहं येषां ते

नहीं होते हैं, वे लोग भी उसी प्रकार ईर्ष्यावश तेजस्वी लोगोंके प्रति दृष्टिपात नहीं करते हैं; कालसर्पसे काट लिए जानेपर लोग जिस प्रकार विषवैद्य ( ओझा ) के उत्कृष्ट मन्त्रोंसे भी चेतनता प्राप्त नहीं करते हैं, वे लोग भी उसी प्रकार उत्कृष्ट मन्त्रणाओं ( सलाह ) से भी अपने कर्त्तव्यको समझनेमें समर्थ नहीं होते हैं; लाक्षानिर्मित आभूषणके समान दूसरेके प्रताप ( पक्षान्तरमें–अग्निके उत्ताप ) को सहन करनेमें समर्थ नहीं होते हैं; अशिक्षित हाथी जिस प्रकार बड़े परिमाणके बन्धनस्तम्भसे निश्चल किए जानेपर भी हस्तिपक ( महावत ) की शिक्षाको ग्रहण नहीं करता है, वे लोग भी उसी प्रकार अत्यन्त अहङ्कारसे स्तब्धतावश निस्पन्द रहकर किसीका भी उपदेश ग्रहण नहीं करते हैं; धनलालसारूप विषवेगसे विभ्रान्त होकर संसारके सब वस्तुओंको ही मानो धनमय देखते हैं, शान चढ़ानेवाले प्रस्तरके घर्षणसे सुधार ( तीखे ) बाण जिस प्रकार धनुष द्वारा छोड़े जानेपर लक्ष्य पदार्थको विनष्ट करता है, वे लोग भी उसी प्रकार मद्यपानसे उग्रस्वरूप बढ़ जानेके कारण एवं दूसरेको खुश करनेके लिए प्रजाओंको विनष्ट करते हैं; मनुष्य जिस प्रकार डंडेको फेंककर दूर रहने पर भी बड़े-बड़े फलोंको तोड़ डालते हैं, वे लोग भी उसी प्रकार दण्डप्रयोग ( जुरमाना ) कर दूर स्थित होनेपर भी सत्कुलोत्पन्न लोगोंको विनष्ट करते हैं, असामयिक पुष्पका विकास जिस प्रकार सुन्दर होनेपर भी लोगोंके विनाशका सूचक होते हैं, वे लोग भी उसी प्रकार मनोहर आकारवाले होनेपर भी लोगोंके विनाशका कारण बने रहते हैं; श्मशानस्थ

१. जातुषा इव । २. महालान, महालान...कृता अपि न । ३. अतितृष्णाविषवेगमूर्च्छिता । ४. असयः, अग्नयः, असवः । ५. ...पारुष्याः ।

भवनाः, श्रूयमाणा अपि प्रेतपटहा इवोद्वेजयन्ति, चिन्त्यमाना अपि महापातकाध्यवसाया इवोपद्रवमुपजनयन्ति, अनुदिवसमापूर्य्यमाणाः पापेनेवाध्मातमूर्त्तयो भवन्ति, तदवस्थाश्च व्यसनशतशरव्यतामुपगता[1]: वल्मीकतृणाग्रावस्थिता[2]: जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं नावगच्छन्ति।

अपरे तु स्वार्थनिष्पादनपरैर्धन-पिशित-ग्रास-गृध्रैरास्थाननलिनीबकैः,[3] द्यूतं विनोद

---

तादृशाः, अन्यत्र तु क्षुद्रैः विटैः अधिष्ठितं भवनं यासां ताः तादृश्यः। 'उपसृष्टं मैथुनं स्यात्' इति त्रिकाण्डशेषः।

श्रूयेति। श्रूयमाणा आकर्ण्यमानसंज्ञका अपि, अवलोकनादौ का कथा, इति भावः। प्रेतपटहा इव मृतशरीरसामयिकढक्काशब्दा इव उद्वेजयन्ति उद्वेगं जनयन्ति। मृतशरीराणां पुरस्तात् पटहा वाद्यन्त इति देशविशेषव्यवहारः।

चिन्त्येति। संयोगादौ का कथा चिन्त्यमाना अपि चेतसि स्मर्यमाणा अपीत्यर्थः, महापातकादीनां ब्रह्मस्त्रीहत्यादीनाम् अध्यवसाया उद्योगा इव, उपद्रवं चित्तस्याशान्तिम् उपजनयन्ति निष्पादयन्ति। न केवलं महापातकानि कृतान्येव चित्ताशान्तिं जनयन्ति अपि तु तदुद्योगा अपीति 'चिन्त्यमाना अपि' इत्यस्य सादृश्यद्योतनार्थमध्यवसायपदमिति कुशला विभावयन्ति। मनुना च महापातकलक्षणमेवमुक्तम्—

'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥'

इह 'सप्तच्छदतरव इव' इत्यारभ्य 'चिन्त्यमाना अपि महापातकाध्यवसाया इव' इत्यन्तं यावत् सर्वत्र पूर्णोपमालङ्कारः। केवलं 'तृष्णाविषमूर्च्छिताः कनकमयमिव' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, गुणोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

अन्विति। अनुदिवसं प्रतिदिनं पापेन अधर्मेण आपूर्यमाणा क्रियमाणा इव आध्मातमूर्त्तयः स्फीतशरीरा भवन्ति भूपतयः। क्रियोत्प्रेक्षा।

एवं च सति किं भवेदित्यत आह -तदीति। किञ्चेति चार्थः। ताः पूर्वोक्तरूपा अवस्था येषां ते तादृशाः, व्यसनशतस्य कामक्रोधोत्पन्नदोषजालस्य शरव्यं लक्ष्यं तस्य भावः तत्त्वम् आश्रयत्वञ्च उपगताः प्राप्ताः सन्तः, वल्मीकं कीटविशेषेण निस्सारितमृत्तिकाराशिः तत्र, तृणाग्रावस्थिता उत्पन्ननडादिप्रान्तविद्यमानाः जलबिन्दव इव, पतितं स्वधर्मच्युतं पृथिव्यां परिभ्रष्टं चापि आत्मानं स्वं नावगच्छन्ति पातित्येन युक्ततया नावबुध्यन्ते, एकत्र मोहादन्यत्र शुष्कत्वादित्याशयः। उपमा। व्यसनान्युक्तानि मनुना—

'मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजञ्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥'

अपर इति। अपरे अन्ये तु राजानोऽग्रेतनरूपेण दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिर्धूर्तैः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्तीति दूरेण सम्बन्धः। धूर्त्तविशेषणानि प्रथमं प्रदर्शयति— स्वार्थेति। स्वस्यात्मनो योऽर्थः प्रयोजनं तस्य निष्पादनं करणं तत्परैः, तदर्थमेव वञ्चनोद्योगादित्याशयः। धनानि द्रव्याण्येव पिशितानि मांसानि तेषां ग्रासे ग्रहणे गृध्रैः दूरदृग्भिः पक्षिविशेषैः। आस्थानं नृपोपवेशनस्थलमेव नलिनी मनोहरत्वान्नानावर्णत्वाच्च कमलिनी तस्या बकैः पक्षिविशेषैः। धूर्त्तबकपक्षिणो

---

अग्निका भस्म जिस प्रकार अत्यन्त भयङ्कर होता है, उन लोगोंकी सम्पत्ति भी उसी प्रकार अत्यन्त भयङ्कर होती है; नेत्ररोग उत्पन्न होनेपर लोग जिस प्रकार दूरकी चीजको नहीं देख पाते हैं, वे लोग भी उसी प्रकार परिणामकी नहीं देख पाते हैं; वेश्याओंके गृह जिस प्रकार कामुक लोगोंसे युक्त होते हैं। उन लोगोंके गृह भी उसी प्रकार नीच जनोंसे युक्त होते हैं; मृतव्यक्तिके दाहकालीन ढक्काशब्दके समान उनके नाम सुन लिए जाँय तो उद्वेग उत्पन्न करते हैं; ब्रह्महत्यादि महापातकोंका अनुष्ठान करनेके उद्योगके समान उनका ध्यान करनेसे भी मनमें अशान्ति उत्पन्न होती है; वे प्रतिदिन पापसे परिपूर्ण रहकर ही मानो स्फीतदेह हो (फूल) जाते हैं; और ऐसी दशामें वे, काम और क्रोध जनित अनेकविध दोषोंके आश्रय होकर वल्मीकके ऊपरके तृणके अग्रभाग पर पड़ी हुई जलकी बूँदोंके समान पतित (भूमिच्युत) होनेपर भी अपनेको पतित (स्वधर्मच्युत) नहीं समझ पाते हैं।

दूसरे ऐसे अनेक राजा हैं, जिनकी सभामें, स्वार्थसम्पादन-रत, धनरूपी मांसका ग्रास करनेमें गृध्रस्वरूप

---

१.…सख्यतां…। २.…स्थिताः। ३.…धूर्तबकैः।

इति, परदाराभिगमनं वैदग्ध्यमिति, मृगया[1] श्रम इति, पानं विलास इति, प्रमत्तता[2] शौर्य्यमिति, स्वदारपरित्याग:[3] अव्यसनितेति, गुरुवचनावधीरणमपरप्रणेयत्वमिति, अजितभृत्यता[4] सुखोपसेव्यत्वमिति, नृत्य[5]-गीत-वाद्य-वेश्याभिसक्ति:[6] रसिकतेति,[7] महापराधानाकर्णनं[8] महानुभावतेति, परिभवसहत्व[9] क्षमेति, स्वच्छन्दता[10] प्रभुत्वमिति, देवावमाननं महासत्त्वतेति, वन्दिजनख्याति:[11] यश इति, तरलता[12] उत्साह इति, अविशेषज्ञता[13] अपक्षपातित्वमिति,

---

यथा नलिनीमवलम्ब्य तत्पत्राच्छादितशरीरा मीनान् वञ्चयन्तः झटिति चञ्चुपुटेन गृह्णन्ति, तथा धूर्त्तलोका अपि भूपतिमवलम्ब्य परान् वञ्चयन्तः तदीयद्रव्यं गृह्णन्तीत्याशयः। इहोभयत्रापि परम्परितरूपकमलङ्कारः।

दोषाणां गुणपक्षेऽध्यारोपणं प्रदर्शयति—द्यूतमित्यादि। द्यूतं दुरोदरं क्रीडादि, विनोदकरणव्यापारः इति प्रतिपादनेन। परमार्थतस्तु द्यूतं दोष एवेत्याशयः। परदाराः परस्त्रियः तेषाम् अभिगमनं सम्भोगो वैदग्ध्यं चातुर्यम्। परमार्थतस्तु परस्त्रीसेवनं पापोत्पादकमायुःक्षयकरञ्चेत्याशयः। मृगया आखेटः श्रमो व्यायामः। हिंसात्मकत्वात् प्राणघातसम्भवाच्चाखेटो महान् दोष इत्यभिप्रायः। पानं मद्यसेवनं विलासो भोगविशेषः। परमार्थतस्तु मद्यसेवनं महापातकमित्याशयः। प्रमत्तता अनवधानता सचिवादीनां विरुद्धव्यापारेऽपि तदनवलोकितेत्यर्थः, शौर्यम् उद्वेगाभावात् सुभटकृत्यम्। परमार्थतस्तु सा स्वविनाशविधायको महान् दोष इति भावः। स्वदारपरित्यागो निजस्त्रीत्यजनम् अव्यसनिता अनासक्तिः, वस्तुतस्तु स महापापप्रदायक एवेति भावः। गुरुवचनस्य गुरुवाक्यस्य अवधीरणम् अवहेलनयातिक्रमणम्, अपरप्रणेयत्वं स्वायत्तताप्रकटनादनन्यवश्यत्वम्। वस्तुतस्तु हितावधीरणामहान् दोषः। अजितभृत्यता सेवकानां स्वाधीनता सुखोपसेव्यत्वं यदृच्छया व्यवहरणसम्भवादनायाससेवायोग्यत्वम्, परमार्थतस्तु सा विशेषक्षत्युत्पादिकैव। नृत्यं नाट्यम्, गीतं गानम्, वाद्यमातोद्यम्, वेश्या गणिकाः तासु अभिसक्तिः बुद्ध्यासक्तचित्तता रसिकता तत्तद्रसग्राहित्वं गुण एवेति तेषामाशयः। वस्तुतस्तु कामजदोष एव।

महतो विशालस्य अपराधस्य अनाकर्णनम् अश्रवणं महानुभावता 'अकिञ्चित्करमिदम्' इत्युपेक्षावशान्महाप्रभावशालित्वपरिचयः। वस्तुतस्त्वयमविचारो दोष एव। परिभवसहत्वम् अन्यकृततिरस्कारसहनशीलत्वं क्षमा तितिक्षा गुणः। वस्तुतस्तु जडत्वमेव। स्वच्छन्दता निरवग्रहता स्वेच्छाभ्रमणकारित्वम्, प्रभुत्वं स्वतन्त्रत्वम्। वस्तुतस्तु सा निष्कारणान्यानर्थोत्पादकतया महान् दोष एव। देवानां विष्ण्वादीनाम् अवमाननम् अवहेलनम्, महासत्त्वता तेषामपि तुच्छत्वज्ञानान्महाशक्तिमत्ता। वस्तुतस्तु बुद्धिरहितता। वन्दिजनख्यातिः स्तुतिपाठकविहितप्रशंसैव यशः कीर्त्तिः। परमार्थतस्तु सा केवलं वेतनदानफलमित्याशयः। तरलता समस्तकर्त्तव्येषु चाञ्चल्यम्, उत्साहः। वस्तुतस्तु कार्यविनाशकरमगाधत्वं दोष एव। अविशेषज्ञता असूक्ष्मविचारणम् अपक्षपातित्वम् अपराधिनोऽपि दोषापर्यालोचनात्तुल्यवृत्तित्वं गुणः। वस्तुतस्तु अपराधिनोऽपि अवमानासम्भवात् गुणिनोऽपि च पारितोषिकासम्भवादज्ञतैव सेत्याशयः।

---

एवं सभा-मण्डप-रूप कमलिनीमें बक ( बगुला ) पक्षिस्वरूप और ठगनेमें कुशल कितने ही धूर्त्तगण रहते हैं जो राजाओंको इस प्रकार समझाया करते हैं कि—'जुआ खेलना विनोद है, परस्त्रीका गमन चतुरता है, शिकार खेलना व्यायाम ( कसरत ) है, मद्य-पान करना विलासिता है, किसी विषयमें ही सावधानताका अवलम्बन नहीं करना वीरता है, अपनी धर्मपत्नीको छोड़ देना अनासक्ति है, गुरुके उपदेशको ग्रहण नहीं करना स्वाधीनता है, सेवक जनोंको जो स्वाधीनरूपसे ( मनमाने ) चलते हैं उनको दण्ड न देना सुख-पूर्वक शुश्रूषा ( सेवा ) है, नाचना, गाना, बजाना और वेश्याओंमें आसक्त रहना रसिकता है, बड़े-बड़े अपराधोंको नहीं सुनना ( अर्थात उन पर ध्यान नहीं देना ) महानुभावताका परिचय है, दूसरेका अपमान सहन करना क्षमा है, स्वेच्छाचारिता प्रभुत्व है, देवताओंका तिरस्कार करना ( कुछ न गिनना ) महाबलशालिताका परिचय है, बन्दीजनोंसे की गई प्रशंसा ही यश है, मनकी चञ्चलता उत्साह है, एवं सूक्ष्मरूपसे कार्योंकी पर्यालोचना न करना ( भले बुरेमें भेद

---

१. मृगयां। २. प्रमत्ततां। ३. परित्यागं, परित्यागेषु। ४. ...भृत्यताम्। ५. नृत्त...। ६. अभिसक्तिं। ७. रसिकतामिति। ८. महापराधावकर्णनं, महापराधानवकर्णनम्। ९. पराभवसहत्वं, परभवसत्त्वं। १०. स्वच्छन्दतां। ११. ख्यातिं। १२. तरलताम्। १३. अविशेषज्ञताम्।

दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिरन्तः स्वयमपि विहसद्भिः प्रतारणकुशलैर्धूर्त्तैरमानुषोचिताभिः[1] स्तुतिभिः प्रतार्य्यमाणा वित्तमदमत्तचित्ता निश्चेतनतया[2] तथैवेत्यनयारोपितालीकाभिमाना[3] मर्त्यधर्म्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुषम्[4] आत्मानमुत्प्रेक्षमाणाः प्रारब्ध-दिव्योचित-चेष्टानुभावाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्ति । आत्मविडम्बनाञ्चानुजीविना जनेन क्रियमाणामभिनन्दन्ति । मनसा देवताध्यारोपणप्रतारणा[5] सम्भूत[6]-सम्भावनोपहता-श्चान्तःप्रविष्टापरभुजद्वयमिवात्मबाहुयुगलं सम्भावयन्ति । त्वगन्तरिततृतीयलोचनं स्वललाट-

दोषानिति । दोषान् अपराधानपि गुणपक्षं गुणपंक्तावन्तर्भावम् आरोपयद्भिः प्रशंसद्भिरित्यर्थः । अन्तः अन्तःकरणेषु स्वयमपि आत्मनापि विहसद्भिः हास्यं कुर्वद्भिः तान् राज्ञ इति शेषः, अप्रतिहतेन अयुक्तार्थमताङ्गीकरणादत्यन्ताज्ञत्वबोधेनेत्याशयः । प्रतारणकुशलैः वञ्चनाचतुरैः धूर्त्तैः विप्रतारकैः पुरुषैः, अमानुषोचिताभिः देवतायोग्याभिः स्तुतिभिः प्रशंसाभिः प्रतार्यमाणा वञ्च्यमानाः । वित्तमदेन धनाभिमानेन मत्तानि चित्तानि हृदयानि येषां ते तादृशाः, निश्चेतनतया निर्ज्ञानतया कारणेन, तथैव 'एते यथा यैस्ते तादृशाः, मर्त्यस्य मरणशीलस्य मनुष्यस्यैव धर्मा व्याधिजरामरणप्रभृतयो येषां ते तथोक्ताः सन्तोऽपि, आत्मानं स्वीयम्, दिव्यस्य अलौकिकस्य देवस्य अंशेन भागेन अवतीर्णमिव उत्पन्नमिव, अत एव सदैवतमिव देवाश्रितमिव । अतिमानुषं मानवमतिक्रान्तम् , उत्प्रेक्षमाणाः सम्भावयन्तः, अतः एव प्रारब्धा अवलोकयितुमुपक्रान्ताः दिव्योचिताः स्वर्गीययोग्याः चेष्टाः सङ्कल्पमात्रेण सागरलङ्घनादिव्यापाराः अनुभावाः शापमात्रेण रिपुमरणादिप्रभावाः यैः ते तादृशाः, अत एव सर्वजनस्य समस्तलोकस्य उपहास्यताम् उपहासयोग्यताम् उपयान्ति प्राप्नुवन्ति ।

इह 'अवतीर्णमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'सदैवतमिव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

आत्मेति । किञ्चेति चार्थः । अनुजीविना जनेन सेवकपुरुषेण क्रियमाणां विधीयमानाम् आत्मविडम्बनां स्वस्मिन्नविद्यमानगुणारोपणरूपां वञ्चनाम् अभिनन्दन्ति साधुवादेन सादरं प्रशंसन्ति ।

मनसेति । देवताध्यारोपणं धूर्त्तैः स्वस्मिन् हरिहराद्यारोपणमेव प्रतारणा वञ्चना तया सम्भूता सञ्जाता या सम्भावना स्वस्मिन् हरिहरत्वादिमननं तया उपहता विनाशितमतयः सन्तः, मनसा चेतसा आत्मबाहुयुगलं स्वकीयभुजयुगम्, अन्तःप्रविष्टम् अभ्यन्तरगतत्वेनालक्ष्यम् अपरम् अन्यं भुजद्वयं बाहुयुगलं यस्य तस्य तत्तथोक्तमिव सम्भावयन्ति मन्यन्ते ।

इह बाहुयुगलस्यान्तः प्रवेशोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा, तेन च स्वस्य विष्णुत्वं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । किञ्चात्र 'भुजद्वयम्' इति 'बाहुयुगलम्' इति समानार्थकपर्यायशब्दप्रयोगबाद् भग्नप्रक्रमत्वं दोषः समापतति, स च 'आत्मबाहुयुगलमन्तःप्रविष्टद्वयमिव' इति पाठं विधाय समुद्धरणीयः ।

त्वगिति । स्वललाटं निजभालं त्वचा चर्मणा अन्तरितम् आच्छादितं तृतीयं विषमं लोचनं नयनं

न जानना ) निष्पक्षपात है' इस प्रकार प्रतारणानिपुण धूर्त्तलोग दोषोंको भी गुणके श्रेणीमें आरोप करते हैं, किन्तु मनमें अपनेसे भी उपहास करते हैं और देवताके उपयुक्त स्तुति ( मनुष्योंके अयोग्य खुशामद ) करके राजाओंको प्रतारणा करते ( ठगते ) रहते हैं । एक ही धनके अहङ्कारसे उन्मत्त होकर उन लोगोंकी इस प्रकारकी स्तुतिसे चैतन्यविहीन हो जाते हैं, अत एव 'ये लोग जैसे बोलते हैं, ठीक मैं उसी प्रकारका हूँ' इसतरह वे, इन सबोंको यथार्थ समझकर मिथ्या अभिमानका आरोप करते हैं, मनुष्य होनेपर भी अपनेको मानो देवताके अंशसे अवतीर्ण अथवा किसी देवता द्वारा अधिष्ठित, अत एव देवता मानकर दिव्य पुरुषोंके उपयुक्त काम करके अपना माहात्म्य दिखाते हैं, जिससे सब लोगोंके उपहासास्पद बन जाते हैं और अनुचरगण उनकी बिडम्बना करें तो उसका भी वे अभिनन्दन करते हैं । अपने मनमें देवतात्वसंस्थापनरूप मिथ्या विचारसे ठगाये जानेके कारण जो धारणा उत्पन्न होती है, उसीसे ही बुद्धि विनष्ट हो जाती है अतएव 'मेरे दो भुजाओंके अन्दरमें दो भुजाएँ और छिपकर घुसे हुए हैं' ऐसा समझकर वे, मानो अपनेको विष्णुके समान मानते रहते हैं । एवं 'अपने ललाटमें और एक तीसरा नेत्र त्वचासे ढका हुआ है' ऐसी शङ्का करके शिवके समान समझते रहते हैं । वे अपना दर्शन

१. अमानुषलोकोचिताभिः । २. मत्तनिश्चयेन । ३. तथेति, यथेति, आत्मारोपित… । ४. अतिमानुष्यकम् । ५. विप्रतारणा । ६. असद्भूत…समुद्भूत ।

माशङ्कन्ते । दर्शनप्रदानमपि[1] अनुग्रहं गणयन्ति, दृष्टिपातमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति, सम्भाषणमपि संविभागमध्ये कुर्वन्ति, आज्ञामपि वरप्रदानं मन्यन्ते, स्पर्शमपि[2] पावनमाकलयन्ति। मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, न पूजयन्ति द्विजातीन्,[3] न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्त्यर्चनीयान्, नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून्। अनर्थकायासान्तरितविषयोपभोग[4]-सुखमित्युपहसन्ति विद्वज्जनम्,[5] जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धजनोपदेशम्,[6] आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्त सचिवोपदेशाय, कुप्यन्ति हितवादिने। सर्वथा तमभिनन्दन्ति, तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्द्धयन्ति, तेन सह

---

यत्र तथोक्तम्, आशङ्कन्ते मन्यन्ते । अनेन स्वस्य महेशत्वं प्रत्याय्यते । इत्थञ्च वस्तुना वस्तुध्वनिः ।

दर्शनेति । दर्शनप्रदानं लोकानां स्वात्मप्रकटनम् अनुग्रहं प्रसादं गणयन्ति मन्यन्ते । दृष्टिपातमपि चक्षुषाऽवलोकनमपि उपकारपक्षे उपकृतिपक्षे स्थापयन्ति निक्षिपन्ति। सम्भाषणम् आलापमपि संविभागमध्ये विभजनपूर्वकदातव्यद्रव्यदानमध्ये, कुर्वन्ति अर्पयन्ति दातव्यद्रव्यदानजनितसन्तोषः सम्भाषणेनैवोत्पन्न इति मन्यन्त इवेत्यर्थः। आज्ञां निदेशमपि वरप्रदानं समीहितप्रदानं मन्यन्ते जानन्ति । स्पर्शं संश्लेषमपि पावनं पवित्रोत्पादकम् आकलयन्ति भावयन्ति । इह प्रतिवाक्ये प्रायः प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।

मिथ्येति। मिथ्यामाहात्म्येन असत्यात्ममहिम्ना यो गर्वोऽभिमानः तेन निर्भराः परिपूर्णाः देवताभ्यो हरिहरादिदेवेभ्यो न प्रणमन्ति नमस्कारं न कुर्वन्ति । द्विजातीन् ब्राह्मणान् न पूजयन्ति प्रणामपूर्वकवस्त्रादिप्रदानेन न तर्पयन्ति । मान्यान् माननीयान् श्वशुरादीन् मानयन्ति न सम्मानं ददते। अर्चनीयान् पूजनीयानुपाध्यायादीन् नार्चयन्ति न पूजयन्ति, अभिवादनार्हान् उपसंग्रहयोग्यान् पुरोहितादीन् नाभिवादयन्ति चरणपतनादिकं न कुर्वन्तीत्यर्थः। गुरून् हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेष्टॄन् न अभ्युत्तिष्ठन्ति नाभ्युत्थाय सत्कुर्वन्ति ।

अनर्थकेति । अनर्थकेन निष्प्रयोजनेन आयासेन विद्यार्जनपरिश्रमेण होमाद्यनुष्ठानपरिश्रमेण वा अन्तरितं व्यवहितं दूरीकृतं विषयोपभोगसुखं कामिन्यादिसुरतिसुखं येन तं तादृशम्, इति अस्मादेव कारणात्, विद्वज्जनं विबुधजनम् उपहसन्ति उपहासं कुर्वन्ति, जडत्वबोधेनेत्याशयः। जरया परिणतवयसा यत् वैक्लव्यं बुद्धेश्चाञ्चल्यम्, तेन प्रलपितं जल्पितम् इति कृत्वा वृद्धजनोपदेशं स्थविरजनशिक्षां पश्यन्ति निस्तत्त्वं मन्यन्ते। आत्मप्रज्ञायाः निजमतेः परिभवोऽवमानोऽयमिति कृत्वा सचिवोपदेशाय प्रधानशिक्षायै असूयन्ति दोषाविर्भावपूर्वकं कुप्यन्ति । 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इति सूत्रेण चतुर्थी; तथा हितवादिने कल्याणवादिने कुप्यन्ति क्रुध्यन्ति ।

सर्वथेति । तं पुरुषं सर्वथा सर्वप्रकारेण अभिनन्दन्ति प्रशंसन्ति । तम् आलपन्ति सम्भाषन्ते । तं पार्श्वे समीपे कुर्वन्ति रक्षन्तीत्यर्थः। तं संवर्द्धयन्ति विविधसाहाय्येन उन्नमयन्ति । तेन पुरुषेण सह सुखं यथा स्यात्तथा अवतिष्ठन्ते अवस्थानं कुर्वन्ति । तस्मै पुरुषाय ददति प्रयच्छन्ति । तं मित्रताम् उपनयन्ति तं सुहृदं कुर्वन्तीत्यर्थः। 'नी' धातुर्हि 'दुह्याच् पच्' इत्यादिना द्विकर्मकः। तस्य वचनं वाक्यं शृण्वन्ति आकर्णयन्ति। तत्र वर्षन्ति तस्मै सततं धनानि वितरन्ति। तं बहु अधिकं मन्यन्ते आद्रियन्ते। तम् आप्ततां विश्वस्ततताम् आपादयन्ति प्रापयन्ति ।

---

देना भी मानो बड़ा अनुग्रह करनेकी गणना करते हैं, दृष्टिपात करना भी मानो उपकारपक्षमें रखते हैं, आलाप ( बात-चीत ) करना भी विभागपूर्वक देयद्रव्यदानमध्यमें मानते हैं ( अर्थात् देनेके स्थानमें बात-चीतसे ही पूर्ण कर देते हैं ), आज्ञाको भी मानो वरप्रदानरूपमें समझते हैं, स्पर्श करना भी मानो पवित्रताका कारण समझते हैं। और मिथ्या माहात्म्यके अहङ्कारसे भरे हुए वे देवताओंको प्रणाम नहीं करते, ब्राह्मणोंका पूजन नहीं करते, मान्य व्यक्तियोंका सम्मान नहीं करते, पूजनीय लोगोंकी पूजा नहीं करते, नमस्कार करनेके योग्य व्यक्तियोंको नमस्कार नहीं करते एवं गुरुओंको देखकर भी उठ खड़े नहीं होते हैं। और 'ये विद्योपार्जनादि निरर्थक परिश्रम कर विषय-सम्भोगजनित सुखको दूर किये हैं' इस प्रकार समझ कर विद्वानोंका उपहास करते रहते हैं 'ये वार्धक्यवश बुद्धिकी अस्थिरता द्वारा कितने प्रलाप करते हैं' ऐसी भावना कर वृद्धोंके उपदेशको असार समझते हैं, 'इनसे मेरी बुद्धि तिरस्कृत हो रही है' ऐसा मनमें समझ कर मन्त्रियोंके उपदेशसे द्वेष प्रकट करते हैं

---

१. प्रदानेऽपि । २. संस्पर्शमपि । ३. द्विजान् । ४.'''अन्तरितोपभोग''' । ५. विद्वज्जनशीलम् । ६. न पश्यन्ति वृद्धोपदेशम् ।

सुखमवतिष्ठन्ते, तस्मै ददति, तं मित्रतामुपनयन्ति[1], तस्य वचनं शृण्वन्ति, तत्र वर्षन्ति, तं बहु मन्यन्ते, तमाप्ततामापादयन्ति[2], योऽहर्निशमनवरतमुपरचिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्त्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्भावयति। किंवा तेषां साम्प्रतम्[3], येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्, अभिचारक्रियाक्रूरैकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, पराभिसन्धानपरामन्त्रिण उपदेष्टारः, नरपतिसहस्रभुक्तोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः, मारणात्मकेषु शास्त्रेषु[4] अभियोगः, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः।

तदेवं प्रायातिकुटिल-कष्ट चेष्टा-सहस्रदारुणे[5] राज्यतन्त्रे, अस्मिन् महामोहान्धकारिणि[6]

य इति। जनः, विगतं दूरीभूतम् अन्यत् कर्त्तव्यं विधेयं यस्य स तथोक्तः सन्, अहर्निशम् अहोरात्रम् अनवरतं निरन्तरम्, उपरचिताञ्जलिः संयोजितकरपुटः, अधिदैवतमिव आराध्यदेवतामिव स्तौति। यो वा जनः माहात्म्यं हरिहराद्यवतारस्वरूपं महिमानम् उद्भावयति साधनेन प्रकटीकरोति। इह वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषपरिहाराय यच्छब्दान्वितवाक्ययोः पूर्वं पाठोऽवश्यं विधेयः।

तथाविधानाञ्च भूपतीनां सर्वमेवानुचितमिति दर्शयति—किंवेति। तेषां राज्ञां किंवा विधेयं साम्प्रतं युक्तं न्यायोपेतं भवितुं शक्नोतीति शेषः। न किमपीत्यर्थः। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः।

असाम्प्रतत्वे कारणं प्रदर्शयति—येषामिति। अतिनृशंसप्रायेण अत्यन्तनिष्ठुरातिशयेन उपदेशेन शिक्षया निर्घृणं निष्करुणम्, कौटिल्यशास्त्रं चाणक्यनिर्मितनीतिशास्त्रमेव येषां भूपतीनां प्रमाणम्। अभिचारक्रियया श्येनयागादिरूपान्यवधोत्पादकक्रूरकृत्येन क्रूरा नृशंसा एका मुख्याः प्रकृतयः स्वभावा येषां ते तथोक्ताः, पुरोधसः पुरोहिताः गुरवो धर्मोपदेशकाः। पराभिसन्धानपरा अन्यवञ्चनातत्पराः मन्त्रिणः उपदेष्टारः शिक्षयितारः। नरपतिसहस्रेण भूपतिसमूहेन प्रथमं भुक्ता भक्षिता पश्चात् उज्झिता त्यक्ता तस्यां तादृश्याम्, लक्ष्यां श्रियाम् आसक्तिः प्रेमातिशयम्। मारणात्मकेषु मारणोपदेशरूपेषु शास्त्रेषु योगिनीतन्त्रादिषु अभियोगः अभिनिवेशः। सहजं प्राकृतिकं यत् प्रेम स्नेहः तेन आर्द्रं सदयं यत् हृदयं चेतः तेन अनुरक्ताः, भ्रातरः सहोदरा उच्छेद्या मूलतो विनाशनीयाः।

इह तथाविधराज्ञां सर्वकार्यायौक्तिकत्वनिरूपणकार्यं प्रति अनेकतरहेतूपन्यासात् समुच्चयः।

तदिति। तत्तस्मात्कारणात्, एवं प्रायेण बाहुल्यात्पूर्वोक्तस्वरूपेण, अतिकुटिलेन अत्यन्तवक्रेण नितान्तदुर्बोधेनेत्यर्थः, कष्टेन क्लेशकरेण चेष्टासहस्रेण व्यापाराधिक्येन दारुणे भीषणे, राज्यतन्त्रे राज्यशासनेतिकर्त्तव्यतायाम्, अस्मिन्ननुभूयमाने महामोहेन महाविवेकेन अन्धं विचाररहितं कर्त्तुं शीलं यस्य तस्मिन् तादृशे यौवने तारुण्ये च समये, हे कुमार चन्द्रापीड! तथा तेन प्रकारेण प्रयतेथाः वर्त्तितुं प्रयत्नं विदध्याः

एवं जो हितवचन बोलते हैं उन पर क्रोध करते हैं। एवं सभी प्रकारसे उसका ही वे प्रशंसा करते हैं, उसके साथ ही बातचीत करते हैं, उसको ही पास रखते हैं, सहायता कर उसकी ही उन्नति करते हैं, उसके साथ ही सुखसे रहते हैं, उसको ही दान देते हैं, उससे ही मित्रता करते हैं, उसका ही वचन सुनते हैं, उसको ही सर्वदा धन-वितरण करते हैं, उसका ही बहुत आदर करते हैं और उसीको ही सर्वप्रकारसे विश्वासपात्र बना लेते हैं, जो व्यक्ति,-दिन-रात हर समयके लिए, अन्य सब काम छोड़, हाथ जोड़ कर उपास्य देवताओंके समान उनकी स्तुति करता है अथवा जो व्यक्ति हरिहरादिकोंका अवतार कह कर उनका माहात्म्य प्रकाश करता है। जिनके समीपमें, अत्यन्त नृशंस उपदेशसे परिपूर्ण एवं नितान्त निर्दय चाणक्यप्रणीत नीति-शास्त्र ही प्रमाण माननेवाले अभिचारक्रियाका अनुष्ठान करने (मारणप्रयोग) से नितान्त क्रूरस्वभाववाले पुरोहितगण जिनके शिक्षक हैं, पर-प्रतारणापरायण मन्त्रिगण जिनके सलाहकार हैं, हजारों राजाओंने जिसे भोग कर छोड़-छोड़ दिया है उस लक्ष्मी के प्रति जिसकी आसक्ति है, मारणोपदेशसे परिपूर्ण तन्त्रशास्त्रमें जिनका आग्रह है एवं स्वाभाविक स्नेहके कारण सदय-चित्त और अनुराग करनेवाले भ्रातृगण जिनकी जड़ काटते हैं उन राजाओंके योग्य न्यायसङ्गत कार्य क्या हो सकता है?

इस लिए राजकुमार! चन्द्रापीड! ऐसी हजारों अत्यन्त जटिल और कष्ट-प्रद कार्यबाहुल्यसे भयङ्कर राज्य-शासनके व्यवहारमें एवं ऐसे महामोहवश विवेकशून्यकारी इस यौवनकालमें तुम ऐसा कार्य करनेमें प्रयत्न करो

१. तस्य मन्त्रिताम्, तं मित्रतामुपजनयन्ति। २. तमात्मनापादयन्ति, तस्माद्बिभ्यति। ३. असाम्प्रतम्। ४. शस्त्रेषु। ५. एवंप्राये…कुटिलकुचेष्टा, कुटिलचेष्टा…। ६. महामोहकारिणि।

च यौवने, कुमार ! तथा प्रयतेथाः यथा नोपहस्यसे जनैः,[3] न निन्द्यसे साधुभिः, न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे[4] सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः । यथा च न प्रकाश्यसे[5] विटैः, न प्रहस्यसे[6] कुशलैः, नास्वाद्यसे भुजङ्गैः, नावलुप्यसे सेवकवृकैः, न वञ्च्यसे धूर्तैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः, न विडम्ब्यसे लक्ष्म्या, न नर्त्यसे, मदेन नोन्मत्तीक्रियसे मदनेन, नाक्षिप्यसे विषयैः, नावकृष्यसे[8], रागेण, नापह्रियसे[10] सुखेन । कामं भवान् प्रकृत्यैव धीरः, पित्रा च महता प्रयत्नेन[11] समारोपितसंस्कारः, तरलहृदयमप्रतिबुद्धञ्च मदयन्ति धनानि, तथापि भवद्गुणसन्तोषो मामेवं[12] मुखरीकृतवान् । इदमेव च

---

यथा येन प्रकारेण जनैः लोकैः नोपहस्यसे नोपहासं क्रियसे । साधुभिः सज्जनैः न निन्द्यसे निन्दां क्रियसे । गुरुभिर्धर्माचार्यैः न धिक् क्रियसे धिग्जीवितमित्यादिवाक्यविषयीक्रियसे । सुहृद्भिः मित्रैः नोपालभ्यसे न तिरस्क्रियसे । विद्वद्भिः पण्डितैः न शोच्यसे शोकगोचरीक्रियसे ।

यथेति । किञ्चेति चार्थः । विटैः कामिजनैः न प्रकाश्यसे जनसङ्घे स्वसमानतया न प्रकटीक्रियसे । कामिजनैः सार्द्धं मिलित्वा तत्पन्नान्तः पतितो मा भवेति निर्देशः । कुशलैः कार्यनिपुणैः न प्रहस्यसे, रहस्यविषयसन्निवेशाभावादज्ञत्वबोधनेनेत्याशयः। भुजङ्गैः धूर्तैः न आस्वाद्यसे नोपभुज्यसे, परिचारकरूपेण प्रविश्य गूढवञ्चनया द्रव्यापहरणद्वारेणेत्याशयः । सेवकाः परिचारका एव वृका हिंस्रकप्राणिविशेषाः तैः नावलुप्यसे राज्यान्नावलुण्ठ्यसे, यथा वृका गूढं प्रविश्य सारमेयान् प्रहरन्ति, तथा विटा परिचायकरूपेण प्रविश्य तव निखिलं वस्तु नापहरेयुरित्याशयः । वनिताभिः स्त्रीभिः न प्रलोभ्यसे न सञ्चाल्यसे । लक्ष्म्या राज्यश्रिया न विडम्ब्यसे न परित्यज्यसे इत्यर्थः । अयथाचरणात् परित्यागेनेत्याशयः । मदेन अभिमानेन न नर्त्यसे न नृत्यं कार्यसे । मदनेन कामेन न उन्मत्तीक्रियसे चित्तविप्लवतामापाद्यसे । विषयैः इन्द्रियार्थैः नाक्षिप्यसे नैकान्तमाकृष्यसे । रागेण कस्यापि वस्तुनः उत्कटभोगेच्छया नावकृष्यसे नाकृष्यसे । सुखेन आनन्देन नापह्रियसे न परित्यज्यसे ।

काममिति । यद्यपीत्यादौ पठनीयम् । कामं पर्याप्तं भवान् त्वं प्रकृत्या स्वभावेनैव धीरो धैर्यवान् असि । पित्रा तारापीडेन महता प्रयत्नेन अत्यन्तप्रयासेन समारोपितः शिक्षार्पणैः संस्थापितः संस्कारः सर्वविषयज्ञानं यत्र स तादृशः । तथा धनानि सम्पत्तयः तरलहृदयं तारुण्याच्चपलचित्तम् अप्रतिबुद्धं राज्यशासनरिपुविजयादिदुःखानभिज्ञञ्च जनं मदयन्ति उन्मादं जनयन्ति स्वत एव तत्तत्कार्येषु प्रोत्साहयन्तीत्यर्थः । तथापि भवद्गुणसन्तोषः तव विद्याविनयशौर्यादिभिर्गुणैर्जनिता मे तुष्टिः, एवमुक्तविधिना मां वैशम्पायनं मुखरीकृतवान् वादितवान् । अथवा तथापीति तरलेत्यादेः पूर्वं सम्बन्धनीयम् । एवञ्च धनानि, तारुण्याच्चपलचित्तम्, अप्रतिबुद्धं शिक्षाभावात् साध्वसाधुविचाररहितञ्च जनं मदयन्ति साभिमानं कुर्वन्ति, इत्यतो भवद्गुणसन्तोषो मामेवं मुखरीकृतवान् तन्निराकरणाय वादितवान्, अतो न मे प्रगल्भता माननीयेत्याशयः ।

---

कि जिसमें मनुष्य तुम्हारी हँसी न करें, साधुगण निन्दा न करें, गुरुजन धिक्कार न दें, मित्रगण उलाहना न दें एवं विद्वद्गण शोक न करें । एवं कामीजन तुम्हारी बुराई न करें, कार्यदक्ष लोग तुम्हारा उपहास न करें, लंपटगण तुम्हारी सम्पत्तिका भोग न करें, भृत्यरूपी वृकसे तुम्हारी सम्पत्ति लूटी न जाय, धूर्त्तगण धोखा न दें, स्त्रियाँ ललचावें नहीं, लक्ष्मी तुम्हें विडम्बित न करें, अहङ्कार तुम्हें नचावे नहीं, कामदेव उन्मत्त न करे, विषय बुरे मार्ग में न ले जायँ, किसी विषयकी उत्कष्ट अभिलाषासे ( मन ) आकृष्ट न होवे और सुख अपने अधीन न कर ले । तुम स्वभाव से अत्यन्त धैर्यवान् हो और पिताने बड़े बड़े उद्योग करके तुमको सर्वविषयक ज्ञान कराए हैं, एवं धनसम्पत्ति भी, चञ्चलचित्तवाले और अभुक्तभोगी मनुष्योंको स्वभावसे ही उन-उन दुरूह कार्योंमें प्रवृत्त कराती है, तथापि तुम्हारे विद्याविनयादिगुणजनित सन्तोष ही मुझे इस रूपमें कहने के लिए प्रेरित किया है । और यह मैं फिर तुमको बार

---

१. तथा तथा । २. यथा यथा । ३. जनेन । ४. उपलभ्यसे । ५. प्रतार्य्यसे । ६. प्रतार्य्यसे । ७. सर्ववनिताभिः । ८. विकृष्यसे रज्यसे, आकृष्यसे । ९. रागैः । १०. उपह्रियसे । ११. महता प्रयत्नेन इति क्वचिन्न विद्यते । १२. एव ।

पुनः पुनरभिधीयसे-विद्वांसमपि सचेतनमपि महासत्त्वमप्यभिजातमपि धीरमपि प्रयत्नवन्तमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मीरिति। सर्वथा कल्याणैः पित्रा क्रियमाणमनुभवतु भवान् नवयौवराज्याभिषेकमङ्गलम्[2], कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषैरूढां धुरम्, अवनमय द्विषतां शिरांसि, उन्नमय बन्धुवर्गम्[3] अभिषेकानन्तरञ्च प्रारब्धदिग्विजयः परिभ्रमन् विजितामपि तव[4] पित्रा सप्तद्वीपभूषणां[5] पुनर्विजयस्व वसुन्धराम्। अयञ्च ते कालः प्रतापमारोपयितुम्, आरूढप्रतापो हि[6] राजा त्रैलोक्यदर्शीव सिद्धादेशो भवति' इत्येतावदभिधायोपशशाम।

उपशान्तवचसि[7] शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिरमलाभिः[8] उपदेशवाग्भिः प्रक्षालित

---

इदमिति। इदं पूर्वोक्तं पुनः पुनः वारं वारम् अभिधीयसे कथ्यसे—विद्वांसं पण्डितमपि सचेतनं साध्वसाधुविचारिणमपीत्यर्थः। महासत्त्वं नितान्तशक्तिमन्तमपि। अभिजातं सद्वंशजातमपि धीरं धैर्यवन्तमपि। प्रयत्नवन्तम् उद्योगयुक्तमपि पुरुषं जनं दुर्विनीता दुश्चरित्रा इयं लक्ष्मीः श्रीः खलीकरोति सन्मार्गात् स्खलनां प्रापयति। अतस्त्वां यथेयं तथाविधं विधातुं न शक्नुयात् तथा प्रयत्नं कुरुष्वेत्याशयः।

सर्वथेति। सर्वथा सर्वप्रकारेण कल्याणैः मङ्गलैः पित्रा तातेन क्रियमाणं विधीयमानम्। नवो नूतनो यो यौवराज्ये अभिषेकः स एव मङ्गलं श्रेयः तत्तादृशम् अनुभवतु अनुभवविषयीकरोतु। पूर्वपुरुषैः प्राग्भवैः ऊढां कुलक्रमागतां परम्परायातां धुरं राज्यशासनभारम् उद्वह उद्वहनं कुरु। द्विषतां शत्रूणां शिरांसि उत्तमाङ्गानि अवनमय विनम्राणि कुरु। बन्धुवर्गं स्वजनसमुदायम् उन्नमय उन्नतं कुरु सत्कारादरादिभिरित्याशयः।

अभिषेकेति। अभिषेकानन्तरं यौवराज्याभिषेकानन्तरं प्रारब्धदिग्विजयः प्रस्तुतदिग्विजयः परिभ्रमन् पर्यटन्, सप्तद्वीपभूषणां जम्बूप्रभृतिद्वीपालङ्कारां सर्वामित्यर्थः तव पित्रा तारापीडेन विजितामपि स्वाधीनीकृतामपि वसुन्धरां पृथिवीं पुनर्द्वितीयवारं विजयस्व स्वाधीनीकुरु।

ननु सत्तातेनैव स्वाधीनीकृतायाः पृथिव्याः पुनः स्वायत्तीकरणे किं फलमित्यत आह—अयञ्चेति। प्रतापं कोशदण्डजं तेजः आरोपयितुं रिपुषु प्रवर्त्तयितुम् अयमेव एष एव कालः समयः। स्वस्य सर्वविधोन्नतिसत्त्वात् जनकस्य च सहायतासम्भवादित्याशयः। हि यतः आरूढप्रतापः शत्रुषूत्पन्नतेजा राजा भूपतिः त्रैलोक्यदर्शीव सर्वज्ञयोगीश्वर इव, सिद्धः अप्रतिहतः आदेश आज्ञा यस्य स तादृशो भवति। इति परिसमाप्तौ एतावत् एतत् पर्यन्तम् अभिधाय उक्त्वा उपशशाम शुकनासो विरतवाग्व्यापारो बभूव।

अहो! अद्भुतं लक्ष्मीविलसितम्, स्वामिजनदुर्जनतां प्रकटीकुर्वन्नयमुपदेशः अत्यन्तं जनशिक्षादक्षः महामधुरायमाणश्च भाववैभवैरिति न तिरोहितं केषाञ्चिदपि सहृदयानाम्।

उपशान्तेति। उपशान्तवचसि विरतवाग्व्यापारे तस्मिन् शुकनासे चन्द्रापीडः, ताभिः पूर्वोक्ताभिः अमलाभिः निर्मलाभिः उपदेशवाग्भिः शिक्षावचनैः प्रक्षालितो धौत इव, उन्मीलितो विकसीकृत इव

---

बार कहता हूँ कि–मनुष्य चाहे जैसा विद्वान्, विवेचक, बलवान्, कुलीन, धीरप्रकृति एवं उद्योगी हो उसे भी यह दुराचारिणी लक्ष्मी दुर्जन बना देती है। पितासे किए गए माङ्गलिक नवयौवराज्याभिषेकका तुम सब कल्याणोंके साथ सर्वथा सुखका अनुभव करो, तुम्हारे पूर्वपुरुषोंसे जो भार वहन किया गया है, तुम भी उस कुल-क्रमागत पृथिवीशासनका भार वहन करो। शत्रुओंका मस्तक अवनत (नीचा) करो एवं बन्धुवर्गको उन्नत करो। एवं सप्तद्वीप-रूपी भूषणवाली पृथिवी तुम्हारे पितासे जीत कर रखी रहने पर भी इसे अभिषेक हो जानेके अनन्तर दिग्विजय आरम्भ कर, सर्वत्र भ्रमण करते हुए तुम भी फिरसे जीतो। यह तुम्हारे प्रताप-विस्तार करनेका समय है, क्योंकि–'राजाका प्रताप उत्पन्न होनेपर सर्वज्ञ महायोगीके समान उसका आदेश सर्वत्र ही सफल होकर रहता है' इतना कह कर शुकनास चुप हो गया।

शुकनासके चुप हो जानेके बाद उन समस्त निर्मल उपदेशवचनोंसे चन्द्रापीड मानो धुल गया हो, प्रफुल्ल

---

१. नवयौवन···। २. अनेकमङ्गलम्। ३. स्वबन्धुवर्गम्। ४. भवत्। सप्तद्वीपसमुद्रभूषणां। ६. क्वचित् 'हि' इति पदं न विद्यते। ७. वचने। ८. क्वचित् अमलाभिरिति न विद्यते।

इव, उन्मीलित इव, स्वच्छीकृत इव[1], निर्मृष्ट इव, अभिषिक्त इव, अभिलिप्त इव, अलङ्कृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव, प्रीतहृदयो मुहूर्त्तं स्थित्वा स्वभवनमाजगाम।

ततः कतिपयदिवसापगमे च राजा स्वयमुत्क्षिप्तमङ्गलकलसः सह शुकनासेन पुण्येऽहनि पुरोधसा सम्पादिताशेष-राज्याभिषेकमङ्गलम्, अनेकनरपतिसहस्रपरिवृतः, सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यः सर्वाभ्यो नदीभ्यः सर्वेभ्यश्च सागरेभ्यः समाहृतेन सर्वौषधिभिः[2] सर्वफलैः सर्वमृद्भिः सर्वरत्नैश्च परिगृहीतेन आनन्दवाष्पजलमिश्रेण मन्त्रपूतेन वारिणा सुतमभिषिषेच। अभिषेकसलिलार्द्रदेहञ्च तं लतेव पादपान्तरं[3] निजपादपममुञ्चन्त्यपि तारापीडं तत्क्षणमेव सञ्चक्राम राजलक्ष्मीः[4]।

---

निर्मृष्टो मसृणीकृत इव, अभिषिक्तः स्नपित इव, अभिलिप्त इव, अलङ्कृतो भूषित इव, पवित्रीकृतः पूतीकृत इव, उद्भासित उज्ज्वलीकृत इव, सर्वत्र चित्तप्रसादेनातिशयमनोज्ञत्वादित्याशयः। प्रीतहृदयः सन्तुष्टचेताः मुहूर्तं क्षणं स्थित्वा अवस्थानं विधाय स्वभवनं निजगृहम् आजगाम आययौ।

इह 'प्रक्षालित इव' इत्यादिनवानां क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

तत इति। ततः तदनन्तरं कतिपयदिवसापगमे कियद्दिनातिक्रमे च राजा तारापीडः, स्वयम् आत्मनैव उत्क्षिप्तः अभिषेकाय ऊर्ध्वं कृतः मङ्गलकलसः मङ्गलाभिधानघटो येन स तादृशः, शुकनासेन प्रधानामात्येन सह पुण्येऽहनि पवित्रे वासरे, पुरोधसा पुरोहितेन सम्पादितानि विहितानि अशेषाणि समस्तानि राज्याभिषेकस्य मङ्गलानि मङ्गलव्यवहरणानि देवतार्चनादीनि यस्य तं तादृशम्, सुतमित्यस्य विशेषणमिदम्। अनेकनरपतिसहस्रैः नानादेशागतराजसमूहैः परिवृतः परिवेष्टितः। सर्वेभ्यः समस्तेभ्यः तीर्थेभ्यः प्रयागादिभ्यः, सर्वाभ्यो नदीभ्यः गङ्गादिभ्यस्तटिनीभ्यः सर्वेभ्यः सागरेभ्यः समग्रेभ्यः समुद्रेभ्यः समाहृतेन आनीतेन, सर्वौषधिभिः—

'मुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम्। शटी चम्पकमुस्तं च सर्वौषधिगणः स्मृतः॥'

इति परिगणितैः द्रव्यैः सर्वफलैः समस्तसस्यैः सर्वमृद्भिः समस्ततीर्थोत्पन्नमृत्तिकाभिः सर्वरत्नैः समस्तमणिभिः परिगृहीतेन मिलितेनेत्यर्थः। आनन्दबाष्पजलमिश्रेण प्रमोदजनितबाष्पजलसंपृक्तेन, मन्त्रपूतेन मन्त्रपवित्रेण वारिणा जलेन सुतं पुत्रं चन्द्रापीडम् अभिषिषेच स्नपयाञ्चकार।

अभिषेकेति। राजलक्ष्मीः आधिपत्यश्रीः, लता व्रततिः, निजपादपम् आश्रयतरुम् अमुञ्चन्त्यपि अत्यजन्त्यपि सती पादपान्तरम् अपरतरुमिव, तारापीडं भूपतिम् अमुञ्चन्त्यपि, अभिषेकसलिलेन यौवराज्याभिषेकजलेन आर्द्रदेहं स्विन्नशरीरं तं चन्द्रापीडं तत्क्षणं तत्समयमेव सञ्चक्राम प्रविष्टा बभूव। तत्क्षणमेव चन्द्रापीडः अंशतो राजसामर्थ्यं प्राप्तवानित्याशयः। उपमा।

---

हुआ हो, निर्मल हुआ हो, मसृण ( चिक्कण, झलक ) हो गया हो, अभिषिक्त हुआ हो, भूषित हुआ हो, अभिलिप्त हुआ हो, पवित्र हुआ हो और प्रकाशित हुआ हो, इस प्रकार सन्तुष्ट-चित्तसे वहाँ कुछ देर ठहर कर अपने महल में आ गया।

उसके बाद कुछ दिन बीत जाने पर, किसी शुभ दिनमें पुरोहितने, राज्याभिषेककी सब मङ्गलसामग्री सम्पन्न कर दी तब अनेक सहस्र सामन्त राजाओंसे परिवेष्टित होकर शुकनासके साथ महाराज तारापीड़ने अपनेसे ही मङ्गल कलश उठा कर सब तीर्थोंसे, सब नदियोंसे और सब समुद्रोंसे लाए हुए-एवं सर्वौषधियोंसे, सब फलोंसे, सब मृत्तिकाओंसे और सब रत्नोंसे मिश्रित-एवं आनन्दाश्रुजल-संयुक्त मन्त्रोंसे पवित्र हुए जलसे पुत्र चन्द्रापीड़का अभिषेक किया। उस समय लता जिस प्रकार आश्रित मूल वृक्षको छोड़े बिना भी दूसरे वृक्षका अवलम्बन कर लेती है, उसी प्रकार राजलक्ष्मी भी महाराज तारापीड़ को बिना छोड़े ही अभिषेकके जलसे आर्द्र शरीरवाले चन्द्रापीड़के पास पहुँच गई।

---

१. स्वस्थीकृत इव। २. सर्वौषधीभिः। ३. निजपादपं पादपान्तरम्, लतेव पादपान्तरम्। ४. राज्यलक्ष्मीः।

अनन्तरमखिलान्तःपुरपरिवृतया च प्रेमार्द्रहृदयया विलासवत्या स्वयमापादतलादामोदिना चन्द्रातपधवलेन चन्दनेनानुलिप्तमूर्तिः, अभिनव-विकसित-सित[1]-कुसुम-कृत-शेखरः, गोरोचना[2]-च्छुरितदेहः, दूर्वाप्रबालरचितकर्णपूरः, दीर्घदशमनुपहतमिन्दुधवलं दुकूलयुगलं वसानः, पुरोहित-प्रतिबद्ध-प्रतिसरप्रसाधितपाणिः, अभिनव[3]-राजलक्ष्मी-कमलिनी-मृणालेन अभिषेकदर्शनार्थमागतेन सप्तर्षिमण्डलेनेव हारेणालिङ्गितवक्षःस्थलः, सित-कुसुम-ग्रथिताभिराजानुलम्बिनीभिरिन्दुकर-कलाप-कोमलाभिः[4] वैकक्षकस्रग्भिः[5] नि-

---

अनन्तरमिति । अनन्तरं यौवराज्याभिषेकस्य पश्चाच्च चन्द्रापीडः सिंहासनम् आरुरोह इति सम्बन्धः । इह प्रथमान्तानि यानि पदानि तानि अग्रेतनस्य 'चन्द्रापीड' इत्यस्य विशेषणानि । अखिलान्तःपुरैः समस्तावरोधस्थवनिताभिः परिवृतया सहितया, प्रेमार्द्रहृदयया स्नेहस्विन्नस्वान्तया च विलासवत्या स्वकीयजनन्या स्वयम् आत्मना, आमोदिना नितान्तसुगन्धवता, चन्द्रातपधवलेन शशिकिरणपङ्क्तिशुभ्रेण चन्दनेन मलयजेन आपादतलात् पादतलपर्यन्तम् अनुलिप्तमूर्तिः कृताङ्गरागस्वरूपः । अभिनवैः नूतनैः विकसितैः प्रस्फुटितैः सितैः श्वेतैः कुसुमैः प्रसूनैः कृतो विहितः शेखरः शिरोभूषणं यस्य स तादृशः । गोरोचनया कुङ्कुमेन छुरितो रञ्जितो देहः शरीरं यस्य स तादृशः । दूर्वाप्रवालैः शतपर्विकाकिसलयैः रचितौ कृतौ कर्णपूरौ कर्णभूषणौ यस्य स तादृशः । दूर्वाभिः कर्णभूषणं तु विष्णुधर्मोत्तरवचनात् । तथा च तत्रत्यवचनम्—

'दूर्वा दहति पापानि धात्री हरति पातकम् । हरीतकी हरेद्रोगं तुलसी हरते त्रयम् ॥'

दीर्घेति । दीर्घा आयता दशा प्रान्चलवर्त्तिन्यः सूत्रवर्त्तिका यस्य तत्तादृशम्, अनुपहतं प्राक्परिधानेनापर्युषितम्, इन्दुधवलं चन्द्रवत् शुभ्रं दुकूलयुगलं सूक्ष्मवस्त्रयुग्मं वसानः परिदधानः । तथा च संस्कारमयूखे—'ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् । अहतं तद्विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम् ॥'

पुरोहितेति । पुरोहितेन पुरोधसा प्रतिबद्धो यः प्रतिसरो हस्तसूत्रं तेन प्रसाधितोऽलङ्कृतः पाणिः करो यस्य स तादृशः ।

'भवेत् प्रतिसरो मन्त्रभेदे माल्ये च कङ्कणे । व्रणशुद्धौ चमूपृष्ठे पुंसि न स्त्री तु मण्डले ॥
आरक्षे करसूत्रे च नियोज्ये त्वन्यलिङ्गकः ।' इति मेदिनी ।

अभिनवेति । अभिनवा प्रत्यग्रा राज्यलक्ष्मीः आधिपत्यश्रीरेव कमलिनी अतीव सौन्दर्यात् नलिनी तस्या मृणालेन श्वेतत्वात् बिसस्वरूपेण । अभिषेकदर्शनार्थं यौवराज्याभिषेकावलोकनार्थम् आगतेन प्राप्तेन सप्तर्षिमण्डलेन मरीच्यादिदेवर्षिमण्डलेनेव विद्यमानेन, तेषामपि जराशुक्लत्वादिरयाशयः । हारेण मुक्ताप्रालम्बेन, आलिङ्गितम् आश्लिष्टं वक्षःस्थलं भुजान्तरं यस्य स तादृशः ।

इह 'अभिनवराजलक्ष्मीकमलिनी' इत्यत्र परम्परितरूपकम्, 'सप्तर्षिमण्डलेनेव' इत्यत्र च जात्युत्प्रेक्षा । अनयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

सितकुसुमेति । सितकुसुमग्रथिताभिः श्वेतपुष्पगुम्फिताभिः, आजानुलम्बिनीभिः अनलकीललम्बिनीभिः इन्दुकरकलापवत् चन्द्ररश्मिसमूहवत् कोमलाभिर्मृदुलाभिः । विशेषेण कक्षे लम्बत् इति वैकक्षं ततः स्वार्थिककप्रत्यये वैकक्षिकम्, वक्षःस्थले तिर्यक् यज्ञोपवीतवत् कण्ठात् क्षिप्तम् 'वैकक्षकं तु तत् ।

---

तदनन्तर अन्तःपुर ( रनिवास ) की समस्त स्त्रियोंसे परिवेष्टित होकर स्नेह-पूर्ण-हृदया महारानी विलासवतीने अपनेसे ही, चन्द्ररश्मि ( चाँदनी ) के समान शुभ्रवर्ण एवं सुगन्ध-मय चन्दनद्वारा चन्द्रापीड़के शरीर पर पैरों तक लेप कर दिया, अभिनव खिले हुए शुभ्रवर्ण-पुष्प-मालाद्वारा मस्तक परिवेष्टित कर दिया ( फूलोंका मुकुट पहनाया ), शरीर पर कहीं कहीं गोरोचन लगा दिया एवं दूर्वा-पल्लवका कर्णभूषण पहना दिया, चन्द्रापीड़ ने चन्द्रमाके समान शुभ्रवर्ण के दो नये वस्त्रोंको पहन लिया, उसकी किनारी दश अङ्गुल चौड़ी थी । पुरोहितने मङ्गल-सूत्र बाँध कर चन्द्रापीड़के हाथको अलङ्कृत किया । नवीन राज्य-लक्ष्मी-रूपी कमलिनीके मृणालके समान और अभिषेक देखनेके लिए आए सप्तऋषियोंके मण्डलके समान एक मुक्ताहारको उसने वक्षःस्थल पर धारण किया । श्वेतवर्ण फूलोंकी गुँथी हुई जाँघ तक लटकती और चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल एवं यज्ञोपवीतके

---

१. क्वचित् 'सित' इति पदन्नास्ति । २. गोरचना । ३. नव··· । ४. इन्दुकरकलाभिः ।
५. वैकक्षस्रग्भिः ।

रन्तरनिचितशरीरतया धवलवेशपरिग्रहतया च नरसिंह इव विधृत[1]-केसरनिकरः, कैलास इव स्रवत्स्रोतस्विनी-स्रोतोराशिः, ऐरावत इव मन्दाकिनी-मृणाल-जालजटिलः, क्षीरोद इव स्फुरित-फेनलताकुलः,[2] तत्काल-प्रतिपन्न-वेत्रदण्डेन पित्रा स्वयं पुरःप्रारब्धसमुत्सारणः सभामण्डपमुपगम्य[3] काञ्चनमयं शशीव मेरुशृङ्गं चन्द्रापीडः सिंहासनमारुरोह ।

आरूढस्य चास्य कृतयथोचितसकलराजलोकसम्मानस्य[4] मुहूर्त्तं स्थित्वा दिग्विजयप्रयाणशंसी प्रलय-घन-घटा-घोष-घर्घरध्वनिः, उदधिरिव मन्दरघातैः,[5] वसुन्धरापीठमिव[6] युगान्तनिर्घातैः, उत्पातजलधर इव तडिद्दण्डपातैः,[7] पातालकुक्षिरिव महावराह-घोणाभिघातैः, कन-

यत्तिर्यक् च्छिसमुरसि' इत्यमरः, तद्रूपाभिः स्रग्भिः मालाभिः, निरन्तरम् अंशतो निरवकाशं निचितो व्याप्तो देहः शरीरं यस्य तस्य भावस्तया तथा धवलवेशं शुभ्रनेपथ्यं परिगृह्णाति स्वीकरोतीति तस्य भावः तया च कारणेन, विधृतो गृहीतः केसरनिकरः स्वच्छजटासमूहो येन तथोक्तो नरसिंहो नारायणस्य नृसिंहावतार इव । स्रवन् निस्स्रवन् स्रोतस्विनीनां नदीनां राशिः समूहो यस्मात्तथोक्तः कैलासो हिमालय इव । मन्दाकिन्या आकाशगङ्गाया मृणालजालेन बिससमूहेन जटिलो व्याप्तः ऐरावत इन्द्रगज इव । तथा स्फुरिताभिः प्रकटिताभिः फेनानां डिण्डिराणां लताभिः परम्पराभिः आकुलो व्याप्तः क्षीरोदः समुद्र इव । इह नरसिंहकैलासैरावतसागरैः सह चन्द्रापीडस्य, केसरनिकरस्रोतोराशिबिससमूहफेनपरम्पराभिश्च सह तदीयस्रजामौपम्यम् । अत एवेह मालोपमा । तदुक्तं दर्पणे —

'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।'

तत्कालेति । तत्काले तस्मिन् समये प्रतिपन्नो गृहीतो वेत्रदण्डो वेतसयष्टिर्येन तेन तादृशेन, पित्रा तारापीडेन, स्वयम् आत्मनैव पुरोऽग्रतः प्रारब्धाः प्रमोदेन अत्यन्तसत्कारप्रदर्शनोद्देशेन च उपक्रान्ताः समुत्सारणा जनानां निवारणानि यस्य स तादृशः चन्द्रापीडः, सभामण्डपं आस्थानमण्डपम् । उपगम्य तत्समीपं प्राप्य काञ्चनमयं स्वर्णाद्रिशिखरमयं मेरुशृङ्गशशीव काञ्चनमयं सिंहासनं नृपासनम् आरुरोह आरूढवान् । उपमा ।

चन्द्रापीडस्य दिग्विजययात्रां निरूपयितुमुपक्रमं दर्शयति—आरूढस्य चेति । अपि चेति चार्थः । कृतो विहितो यथोचितं यथायोग्यं सकलराजलोकस्य उपस्थितनरेन्द्रमण्डलस्य सम्मानः सत्कारो येन स तस्य मुहूर्त्तं क्षणं स्थित्वा विद्यमानस्येत्यर्थः अस्य चन्द्रापीडस्य, दिग्विजयस्य यत्प्रयाणं गमनं तस्य आशंसी कथकः, प्रलये तत्समये या घनघटा मेघसमूहः तस्याः घोषवत् गर्जितवत् घर्घरो 'घर घर' इत्येवं रूपो ध्वनिः शब्दो यस्य स तादृशः, प्रस्थानदुन्दुभिः यात्रापटहः कनककोणैः सुवर्णरचितवादनदण्डैः 'कोणो वीणादिवादनम्' इत्यमरः, अभिहन्यमानो वाद्यमानः सन्, मन्दरघातैः अन्तर्भ्रमप्राणमन्दरताडनैः उदधिः दुग्धाम्भोधिः इव, युगान्ते प्रलयसमये निर्घातैः उत्पातसमये आकाशादभिपतितैः वायुविशेषैः अभिहन्यमानं ताड्यमानं वसुन्धरापीठं भूमिपृष्ठमिव । निर्घातलक्षणमभिहितं नारदसंहितायाम्—

'वायुनाभिहतो वायुर्गगनात् पतितः क्षितौ । यदा दीप्तः खगरुतः स निर्घातोऽतिदोषकृत् ॥' इति ।

तडित् विद्युत् तस्य दण्डा यष्टय इव लम्बमानत्वात् तेषां पातैः पतनैः उत्पातजलधर इव उत्पात-

समान पहनी गई—मालाओंसे समस्त शरीर व्याप्त हो जाने और वेश ( पोशाक ) श्वेतवर्ण होनेके कारण चन्द्रापीड़, शुभ्रवर्ण फैली हुई सटावाले भगवान् नरसिंहके समान, नदियोंके प्रवाहवाले कैलासपर्वतके समान आकाशगङ्गाके मृणाल-जालसे व्याप्तशरीरवाले ऐरावतके समान और आविर्भूत ( उछलती ) फेनपङ्क्तियोंसे व्याप्त क्षीरसागरके समान शोभायमान हुआ । उस समय महाराज तारापीड़, अपनेसे ही बेंतकी छड़ी लेकर चन्द्रापीड़के आगेसे लोगोंको हटाने लगे । इस प्रकार चन्द्र जिस प्रकार सुवर्णमय सुमेरु शिखर पर आरोहण करता है उसी प्रकार कुमार चन्द्रापीड़ सभामण्डपमें जाकर काञ्चनमय सिंहासन पर बैठा ।

वह सिंहासन पर बैठकर उपस्थित सामन्त राजाओंका यथायोग्य सम्मान कर कुछ देर ठहरा । बाद दिग्विजयके लिए प्रस्थान करनेके समयका सूचक, प्रलयकालकी मेघघटाके घोषके समान 'घर घर' शब्द करता, सुवर्णके दण्डोंसे बजाये जाने पर वह प्रस्थान दुन्दुभी, मन्दराचलके आघातसे क्षीरसागरके समान प्रलयकालीन निर्घातवायुके आघात ( महाभूतोंके आपसमें टकराने ) से भूतलके समान विद्युतके आघातसे उत्पात

१. विधुत, विधूत… । २. …लवाकुलः, फेनतला । ३. आगम्य । ४. सन्धानस्य । ५. घातैः । ६. पीठः । ७. तडिच्चण्डपातैः ।

ककोणैः[1] अभिहन्यमानः प्रस्थानदुन्दुभिरामन्थरं दध्वान। येन ध्वनता समाध्मातानीव उन्मीलितानीव मुखरीकृतानीव[2] पृथक्कृतानीव विस्तारितानीव गर्भीकृतानीव प्रदक्षिणीकृतानीव वधिरीकृतानीव रवेण भुवनान्तराणि, विश्लेषिता इव दिशामन्योन्यबन्धसन्धयः। यस्य च भयवशविषमचलितोत्तान[3]-फणासहस्रेणालिङ्ग्यमान इव रसातले शेषेण, मुहुर्मुहुरभिमुख-दत्त-दन्तोद्ध्र्वघातैः[4] आहूयमान इव दिक्षु दिक्कुञ्जरैः, सन्त्रास-रचित-रेचित[5]-मण्डलैः प्रदक्षिणीक्रियमाणइव नभसि दिवसकर-रथतुरगैः,[6] अपूर्व-शर्वाट्टहास-शङ्का-हर्ष-हुङ्कृतेन[7] आभाष्यमाण

---

सामयिकमेघ इव, तथा महावराहः श्रीविष्णोस्तृतीयावतारः तस्य घोणा नासिका तस्याः अभिघातैः प्रहारैः पातालस्य वलिसद्मनः कुक्षिर्मध्यभाग इव, आमन्थरं नितान्तविस्तृतं दध्वान शब्दं चकार। इहाप्युक्तालङ्कारः।

'मन्थरः कोशफलयोर्बाधमन्थानयोः पुमान्। कुसुम्भ्यां न द्वयोर्मन्दे पृथौ वक्रेऽभिधेयवत्॥'

इति मेदिनी।

येनेति। ध्वनता शब्दं कुर्वता येन दुन्दुभिना रवेण शब्देन भुवनान्तराणि विश्वमध्यदेशः, समाध्मातानीव आपूरितानीव, उन्मीलितानीव जागरितानीव, मुखरीकृतानीव शब्दायमानीकृतानीव, पृथक्कृतानीव भिन्नीकृतानीव, विस्तारितानीव विपुलीकृतानीव, गर्भीकृतानीव अन्तर्हितानीव, प्रदक्षिणीकृतानीव आवर्त्तीकृतानीव, बधिरीकृतानीव अकर्णीकृतानीव, जातानीति सर्वत्र शेषः। तथा दिशां ककुभाम् अन्योन्यसन्धयः मिथोवन्धनजनितसंश्लेषाः विश्लेषिता विघटिता इव जाताः। सप्तसु समाध्मातादिषु क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

यस्येति। किञ्चेति चार्थः। यस्य दुन्दुभेः निनादः शब्दः त्रिभुवनं त्रिविष्टपं बभ्राम भ्रमणं चकारेति सम्बन्धः। रसातले पाताले भयवशेन त्रासवशेन विषमम् अतुल्यम् इतस्तत इत्यर्थः चलितं कम्पितम् उत्तानम् ऊर्ध्वमुखं फणानां सहस्रं यस्य तेन तथोक्तेन सता, शेषेण वासुकिना आलिङ्ग्यमानः समन्तात् प्राप्यमाण इव सन्। उक्तालङ्कारः।

मुहुरिति। दिक्षु आशासु मुहुर्मुहुः वारंवारम् अभिमुखे गिरिभित्यादौ दत्ता निहिता दन्ताभ्यां दशनाभ्याम् ऊर्ध्वघाताः ऊर्ध्वप्रहाराः यैः तैः तादृशैः, दिक्कुञ्जरैः दिग्हस्तिभिः आहूयमानः आमन्त्र्यमाण इव, प्रतिगजगर्जनशङ्कयेत्याशयः। इहाप्युक्तालङ्कारः, तेन दुन्दुभिशब्दे प्रतिगजगर्जनशङ्कनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारो ध्वन्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः।

सन्त्रासेति। नभसि गगने, सन्त्रासेन भयेन रचितं कृतं रेचितमण्डलं मध्यमवेगानुसारेण परिभ्रमणं यैः तैः तादृशैः, सन्त्रासवशादेवातिजवशालिनामपि मध्यमजवेन परिभ्रमणमित्याशयः। 'उत्तेजितं रेचितं स्यान्मध्यवेगेन या गतिः' इति हैमनाममाला। दिवसकररथतुरगैः सूर्यस्यन्दनवाहितुरङ्गमैः प्रदक्षिणीक्रियमाण इव आवर्त्तीक्रियमाण इव। क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अपूर्वेति। कैलासशिखरिणि रजताद्रिसानुनि त्र्यम्बकवृषभेण महेश्वरबलीवर्द्दन कर्त्रा, अपूर्वः अना-

---

मेघके समान एवं नारायण के तृतीय अवतार महावराह की नासिका के प्रहारसे पाताल-मध्यदेशके समान अत्यन्त गर्जना ( विशाल शब्द ) करने लगा। शब्दायमान जिस दुन्दुभीके शब्दसे समस्त त्रिभुवनका मध्यमाग, मानो परिपूरित, जागरित, शब्दित, विदारित, विस्तारित, अभ्यन्तरगत, प्रदक्षिणीकृत और बधिरीकृत हो गया था, एवं समस्त दिशाओंके आपसके सन्धिबन्ध मानो विभक्त हो गया था। उसके शब्दको पातालमें, भयवश हज़ारों फन निकाल, उन्हें उलटा सीधा फेन और ऊँचा करके शेषनाग मानो आलिङ्गन करता हो सम्मुखवर्त्ती पर्वतभित्तिमें बारम्बार दाँत को ऊपर उठाकर विपक्ष हाथी का गर्जन समझ कर दिग्गजगण मानो समस्त दिशाओं में आह्वान करते ( बुलाते ) हों, अत्यन्त भयवश मध्यमगति से मण्डलाकार भ्रमण करते सूर्यरथ के घोड़े मानो आकाशमें प्रदक्षिणा करते हों, महादेव के अपूर्व उच्च हास्यरव की शङ्कासे आनन्दपूर्वक हुङ्कार करता शिवका

---

१. कनककर्णैः, कणकर्णैः। २. क्वचिदयं पाठो न विद्यते। ३. बलितोत्तान…। ४. …दन्तघातैः। ५. …रेचक…। ६. …तुरङ्गमैः। ७. क्वचित् 'अश्रुतपूर्वं' इत्यधिकः पाठोऽवलोक्यते।

इव कैलासशिखरिणि त्र्यम्बकवृषभेण, कृत-गम्भीर-कण्ठगर्जितेन प्रत्युद्गम्यमान इव मेरौ[1] ऐरावतेन, अश्रुतपूर्व-रव-रोषावेश[2]-तिर्यगवनमितविषाणमण्डलेन प्रणम्यमान इव यमसद्मनि[3] कृतान्तमहिषेण, सन्त्रस्त-सकललोकपालाकर्णितो बभ्राम त्रिभुवनमखिलं[4] निनादः।

ततो दुन्दुभिरवमाकर्ण्य जय जयेति च सर्वतः समुद्घुष्यमाण-जयशब्दः सिंहासनात् सह द्विषतां श्रिया सञ्चचाल चन्द्रापीडः।

समन्तात् ससम्भ्रमोत्थितैश्च परस्पर-सङ्घट्ट-विघटित[5]-हारसूत्रविगलितान् अनवरतमाशाविजयप्रस्थानमङ्गललाजानिव[6] मुक्ताफल-प्रकरान् क्षरद्भिः, पारिजात इव सित-कुसुममुकुल-

---

कर्णितपूर्वो यः शर्वस्य महेश्वरस्य अट्टहासः उच्चहास्यं तस्य शङ्कया आकर्णिते तस्मिन् दुन्दुभिशब्दे महेश्वराट्टहासभ्रमेणेत्यर्थः, यो हर्षःप्रमोदः तेन यत् हुङ्कतं स्वस्य हुङ्कारः तेन करणेन आभाष्यमाण आलप्यमान इव। इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः तथा भ्रान्तिमांश्च अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

कृतेति। मेरौ सुमेरुगिरौ, कृतं विहितं गम्भीरम् अत्युच्चं कण्ठगर्जितं गलघोषो येन तेन तादृशेन, ऐरावतेन अभ्रमुप्रियेण (हस्तिना) प्रत्युद्गम्यमान इव गौरवद्योतनार्थम् अभिमुखं व्रज्यमान इव। क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अश्रुतेति। यमसद्मनि धर्मराजभवने, अश्रुतपूर्वेण प्रागनाकर्णितेन रवेण शब्देन यो रोषावेशः क्रोधरूपापस्मारः तेन तिर्यगवनमितं कुटिलेन नम्रीभूतं विषाणमण्डलं शृङ्गमण्डलं यस्य तेन तादृशेन, कृतान्तमहिषेण धर्मराजमहिषेण प्रणम्यमान इव नमस्क्रियमाण इव। क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

सन्त्रस्तेति। सन्त्रस्तैः किमिदमिति भयान्वितैः सकलैः समस्तैः लोकपालैः इन्द्रादिभिः आकर्णितः श्रुतः, अखिलं समस्तं त्रिभुवनं बभ्राम भ्रमणं चकार।

इह तेषां तथाविधश्रवणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

तत इति। ततस्तदनन्तरं दुन्दुभिरवं पटहध्वनिं जयजयेति शब्दं च आकर्ण्य श्रुत्वा सर्वतः चतुर्दिक्षु समुद्घुष्यमाणः उद्घोषं विधाय कथ्यमानः जयशब्दो यस्य स तादृशः, चन्द्रापीडः द्विषतां वैरिणां श्रिया लक्ष्म्या सह सिंहासनात् नरेन्द्रासनात् सञ्चचाल चलितो बभूव। दिग्विजयाय चन्द्रापीडस्य चलनेन द्विषतां श्रीरपि बहुकालनिवासासम्भवत्वप्रतीत्या चपला जातेत्याशयः। इह सहोक्तिः।

समन्तादिति। किञ्चेति चार्थः। समन्तात् सर्वदिग्भ्यः, ससम्भ्रमं शीघ्रम् उत्थितैः कृतोत्थानैः, परस्परसङ्घट्टेन मिथःसङ्घर्षेण विघटितानि भिन्नानि यानि हारसूत्राणि तेभ्यो विगलितान् च्युतान्, आशाविजयाय दिग्विजयाय प्रस्थाने गमने मङ्गललाजान् माङ्गलिकधाना इव मुक्ताफलप्रकरान् मौक्तिकजालान्, अनवरतं निरन्तरं क्षरद्भिः पातयद्भिः, नरपतिसहस्रैः राजमण्डलैः, अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमान इत्यन्वयः, सितकुसुमानां शुभ्रवर्णपुष्पाणां यानि मुकुलानि कुड्मलानि तानि पातयन्ति वर्षयन्तीत्येवं

---

वृषभ (नन्दी) कैलाशकी चोटी पर आलाप करता हो, गम्भीर कण्ठसे गर्जना करके ऐरावत हस्ती देवलोकमें मानो उसका सत्कार करता हो, ऐसे अश्रुत-पूर्व शब्द सुनकर क्रोधवश सींग टेढ़े कर यम के घरमें यममहिष मानो नमस्कार करता हो और अत्यन्त भीत समस्त दिक्पालगणद्वारा सुने जाने से उस दुन्दुभीका वह शब्द मानो तीनो भुवनोंमें परिभ्रमण करता था।

तदनन्तर चन्द्रापीड़ दुन्दुभी का शब्द सुनकर विपक्षी राजाओं की राजलक्ष्मीके साथ सिंहासन पर से उठ गया। इधर समस्त सैन्य एवं सामान्तगण समस्त दिशाओं में 'चन्द्रापीड़की जय हो, चन्द्रापीड़की जय हो' इस प्रकार जय-जय शब्द करने लगे।

सिंहासन पर से चन्द्रापीड़ के उठते ही चारों ओर से सामन्त राजगण (छोटे-छोटे अधीन राजा लोग) शीघ्रतासे उठ गए, उस समय आपस में टकराने से उन लोगों के गलेके हारोंके ताग टूटने लगे, जिनसे दिग्विजय के लिए प्रस्थान के समयके माङ्गलिक लाजों के समान मोतियाँ निरन्तर गिरने लगीं, उस समय शुभ्रवर्ण फूलोंकी

---

१. क्वचित् 'मेरौ' इति न विद्यते। २. ...रवजनितरोष, रव इव। ३. विबुधसद्मनि। ४. क्वचिद् अखिलमिति पदं नोपलभ्यते ५. ...विघट्टित...। ६. ...मङ्गललीलालाजानिव, मङ्गललाजानिव।

पातिभिः कल्पपादपैः, ऐरावत इव विमुक्तकरशीकरैराशागजैः, गगनाभोग इव तारागणवर्षिभिर्दिगन्तरैः, जलदकाल इव स्थूल-जललवासार-स्यन्दिभिर्जलधरैः, अनुगम्यमानो नरपतिसहस्रास्थानमण्डपान्निरगात् ।

निर्गत्य च पूर्वारूढया पत्रलेखया अध्यासितान्तरासनाम्, उपपादितप्रस्थानसमुचितमङ्गल्यालङ्कारां ससम्भ्रमाधोरणोपनीतां करेणुकामारुह्य[2] अचलरेचक-चक्रीकृत[3]-क्षीरोदावर्त्त-पाण्डुरेण दशवदन-बाहुदण्डावस्थित-कैलासकान्तिना मुक्ताफलजालिना शतशलाकेनातपत्रेण निवार्य्यमाणातपो निर्गन्तुमारेभे ।

निर्गच्छंश्च अभ्यन्तरावस्थित एव प्राकारान्तरित[4]-दर्शनानां द्वारावस्थितानां प्रतिपाल-

---

शीलैः कल्पपादपैः देववृक्षैः पारिजात इव मन्दार इव, विमुक्ता विक्षिप्ताः करेभ्यः शुण्डादण्डेभ्यः शीकराः जलकणा यैः तैः तादृशैः आशागजैः दिग्दन्तिभिः, ऐरावतो गज इव तारागणवर्षिभिः नक्षत्रसमूहपातिभिः दिगन्तरैः विभिन्नदिग्भिः गगनाभोगो प्रसारितव्योमदेश इव, तथा स्थूलाः स्थविष्ठा ये जललवाः सलिलबिन्दवः तेषाम् आसारस्यन्दिभिः धारावर्षिभिः जलधरैः मेघैः जलदकालो वर्षासमय इव, अनुगम्यमानः चन्द्रापीडः, आस्थानमण्डपात् सभाभवनात् निरगात् निर्गतो बभूव ।

इह 'कल्पपादपैः पारिजात इव' इत्यारभ्य 'जलधरैः जलदकाल इव, इत्यन्तं यावत् मालोपमालङ्कारः ।....'प्रस्थानमङ्गललाजानिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा । अनया च मालोपमा सङ्कीर्यते ।

निर्गत्येति । किञ्चेति चार्थः । निर्गत्य बहिरागत्य पूर्वं प्रथमम् आरूढया उपरिस्थितया पत्रलेखया ताम्बूलकरङ्कवाहिन्या अध्यासितम् अधिष्ठितम् अन्तरासनं मध्यस्थितासनं यस्याः तां तादृशीम् । उपपादिताः सेवकैः यथास्थानं योजिताः प्रस्थानसमुचिता सङ्ग्रामयात्रायोग्या मङ्गल्यालङ्कारा माङ्गलिकभूषणानि यस्याः तां तादृशीम् । ससम्भ्रमेण शीघ्रेण आधोरणेन हस्तिपकेन उपनीताम् उपस्थापितां करेणुकां काञ्चित् गजपत्नीम् आरुह्य आरोहणं कृत्वा चन्द्रापीडः, अचलरेचकेण मन्दरभ्रमणेन चक्रीकृतो भ्रामितो यः क्षीरोदस्य दुग्धाम्बुधेः आवर्त्तः अम्भसां भ्रमिः तद्वत् पाण्डुरेण शुभ्रेण, दशवदनस्य लङ्काधिपतेः रावणस्य बाहुदण्डे भुजदण्डे अवस्थितः कृतावस्थानो यः कैलासो हिमालयः तस्य कान्तिः प्रभेव कान्तिर्यस्य तेन तादृशेन । आतपत्रस्यापि परिचारकहस्तावस्थितत्वात् समतानिरूपणाय 'दशवदनबाहुदण्डावस्थित' इतिकैलाशविशेषणमवगन्तव्यम् । मुक्ताफलजालं मौक्तिकसमूहोऽस्यास्तीति तेन तादृशेन, तथा शतं शतसंख्याकाः शलाका यस्य तेन तादृशेन, आतपत्रेण छत्रेण निवार्यमाणो दूरीक्रियमाण आतपः सूर्यालोको यस्य स तथोक्तः सन्, निर्गन्तुं निःसरितुम् आरेभे आरम्भं चकार ।

इह 'अचलरेचके' त्यादौ द्वे लुप्तोपमे अनयोश्च परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

निर्गच्छन्निति । किञ्चेति चार्थः । वाटीतो निर्गच्छन् व्रजन् चन्द्रापीडः, अभ्यन्तरावस्थित एव अन्त-

---

कलियाँ गिराते कल्पवृक्षगण जिस प्रकार पारिजात वृक्षके, सूँड़मेंसे जलकी बूँदें गिराते दिग्गजगण जिस प्रकार ऐरावत के, तारागण बरसाते दिक्समूह जिस प्रकार आकाशके, एवं स्थूल जल-बिन्दु बरसाते मेघसमूह जिस प्रकार वर्षाकाल के पीछे रहते हैं, उसी प्रकार सामन्त नरपतिगण चन्द्रापीड़के पीछे-पीछे होकर जाने लगे; इस प्रकार चन्द्रापीड़ सभामण्डपमें से बाहर निकला ।

चन्द्रापीड़के बाहर निकलने पर, महावतने शीघ्र एक हथिनी लाकर उपस्थित की पत्रलेखा पहलेसे ही जिसपर चढ़कर मध्यवर्त्ती आसन पर जा बैठी थी, भृत्यगण युद्धयात्राके उपयोगी सर्व माङ्गलिक अलङ्कार जिसे पहनाये थे, चन्द्रापीड़ने उस हथिनी पर चढ़ कर राजभवनसे चलना आरम्भ किया; उस समय मन्दराचलके भ्रमणसे चक्राकार घूर्णित क्षीरसागर के आवर्त्तके समान श्वेतवर्ण, रावणके बाहुदण्ड पर स्थित कैलासपर्वतके समान कान्तिसम्पन्न, मोतीकी झालसे युक्त एवं शतशलाका निर्मित ( सौ तानवाले ) एक छत्र धारण कर कोई भृत्य चन्द्रापीड़का रौद्र ( धूप ) निवारण करता था ।

सामन्त-नरपतिगण चन्द्रापीड़ की प्रतीक्षा करते हुए दरवाजे के समीप खड़े हैं, किन्तु प्राचीर ( परकोट )

---

१. कुलूतेश्वरपुत्र्या । २. अधिरुह्य । ३. चक्रीकृत । ४. धवलप्राकारान्तरित... । ५. क्वचित् अयं पाठो न विद्यते ।

यतां राज्ञामुन्मयूखानां चूडामणीनामलक्तकद्रव[1]द्युतिमुषा बहलेनालोकबालातपेन राज्याभिषेकानन्तरप्रसृतेन स्वप्रतापवह्निनेवात्यर्थं पिञ्जरीक्रियमाणा दश दिशः[2] यौवराज्याभिषेकजन्मना निजानुरागेणेव रज्यमानमवनितलम्, आसन्नरिपुविनाशपिशुनेन दिग्दाहेनेव पाटलीक्रियमाणमम्बरतलम्, अभिमुखागतभुवनतललक्ष्मीचरणालक्तकरसेनेव लोहितायमानातपं दिवसं ददर्श।

विनिर्गतश्च ससम्भ्रम-प्रचलित-गजघटा[3]-सहस्रैरन्योन्यसङ्घट्ट-जर्जरितातपत्रमण्डलैरादरावनत-मौलि-शिथिल[4]मणिमुकुटपङ्क्तिभिरावर्जितरत्नकर्णपूरैः[5] कपोलस्थल-स्खलितरत्न-

विद्यमान एव वाच्या इति शेषः। प्राकारेण वप्रेण अन्तरितं व्यवहितं दर्शनम् अवलोकनं येषां तेषां तादृशानाम्। द्वारावस्थितानाम् द्वारोपविष्टानाम्, प्रतिपालयताम् आत्मानं प्रतीक्षमाणानां राज्ञां सामन्तभूपतीनाम्। उद्गता ऊर्ध्वं प्राप्ता मयूखा रश्मयो येषां तेषाम्। अलक्तकद्रवो लाक्षारसः तस्य द्युतिं शोभां मुष्णाति हरतीति तेन तादृशेन। बहुलेन प्रचुरेण, आलोकः कान्तिः बालातपः प्रत्यग्रोदितसूर्यरश्मिरिव तेन तादृशेन। राज्याभिषेकानन्तरं यौवराज्याभिषेकस्य पश्चात् प्रसृतेन विस्तृतेन, स्वप्रतापःस्वकीयकोशदण्डजं तेजः स एव वह्निः अग्निः तेनेव विद्यमानेन। अत्यर्थं पिञ्जरीक्रियमाणाः पिङ्गलवर्णा विधीयमाना दश दिशः सर्वककुभः कर्म, यौवराज्याभिषेकात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तेन तादृशेन, निजानुरागेणेव आत्मीयस्नेहेनेव चूडामणीनामालोकबालातपेनेत्यन्वयः रज्यमानं रक्तीक्रियमाणम् अवनितलं पृथिवीतलं ददर्श। आसन्नानां शीघ्रभाविनां रिपुविनाशानां शत्रुक्षयाणां पिशुनेन सूचकेन दिग्दाहेनेव, चूडामणीनामालोकबालातपेनेत्यन्वयः, पाटलीक्रियमाणंश्वेतरक्तीक्रियमाणम् अम्बरतलं व्योमतलं ददर्श। तथा अभिमुखागताया जगज्जयेन आगामिन्याः भुवनतललक्ष्म्याः जगच्छ्रियः चरणालक्तकरसेनेव पादयावकद्रवेणेव, चूडामणीनामालोकबालातपेन, लोहितायमानः रक्तवदाचरन् आतपः आलोको यत्र तथोक्तं दिवसं ददर्श अवलोकयामास।

इह 'अलक्तकद्रवद्युतिमुषा' इत्यत्र निदर्शना। आलोकबालातपेन' इत्यत्र लुप्तोपमा। 'अत्यर्थं पिञ्जरीक्रियमाणा दश दिशः' इत्यत्र पिङ्गलीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः। 'निजानुरागेणेव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा। 'दिग्दाहेनेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा। 'चरणालक्तकरसेनेव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

विनिर्गत इति। विनिर्गतो वहिरागतश्चन्द्रापीडः प्रथममेव शातक्रतवीमाशामभिप्रतस्थ इति सम्बन्धः। प्रथमतः तृतीयाबहुवचनान्तानि पदानि 'अवनिभुजां चक्रवालैः' इत्यग्रेतनस्य विशेषणानि बोध्यानि। ससम्भ्रमं शीघ्रं प्रचलितं प्रस्थितं गजघटानां हस्तिवृन्दानां सहस्रं येषां तैः तादृशैः। अन्योन्यं परस्परं यः सङ्घट्टः सङ्घर्षः तेन जर्जरितं बहुधा भग्नम् आतपत्रमण्डलं छत्रसमूहो येषां तैः तादृशैः। आदरेण गौरवेण अवनता नम्रा ये मौलयः शिरांसि तेभ्यः शिथिला श्लथीभूता मणिमुकुटानां रत्नकिरीटानां पङ्क्तिः श्रेणिः

के व्यवधान हो जाने से वे लोग अन्दर से देख नहीं पड़ते थे; उन लोगों के मुकुटमणिके किरणजाल आलता ( महावर ) के रसके सौन्दर्य को अपहरण करता ( चुराता ) था एवं नवोदित सूर्यकिरणके समान दीप्ति पा रहा था, उस समय चन्द्रापीड़ निकलते निकलते अन्दर रहकर ही देखने लगा कि—राज्याभिषेक के बाद विस्तृत स्वकीय प्रतापानलके समान मानो वे मुकुटमणिके प्रचुर किरणजाल दसों दिशाओंको अत्यन्त पिङ्गलवर्ण ( लाल-पीले ) कर दिये हैं, राज्याभिषेकसे उत्पन्न हुए अपने अनुरागके समान ही मानो उनसे भूतल लाल हो गया है, शीघ्र होने वाले रिपु विनाशसूचक दिग्दाहके समान ही मानो वे ( किरणजाल ) आकाश को रक्तवर्ण ( गुलाबी रङ्ग ) कर दिये हैं और सामने आई हुई भुवन-लक्ष्मीके चरणोंके अलक्तक रस ( महावर ) के समान ही मानो वे दिन की धूपको लोहित वर्ण कर दिये हैं।

बाहर निकलते ही सब ओर से सामन्त-नरपतिगण आकर उसको ( चन्द्रापीड़को ) प्रणाम करने लगे, उस समय उनके बहुसंख्यक हस्तिगण शीघ्रता ( तेजी ) से चल रहे थे, उनके छत्रमण्डल एक दूसरे से टकरानेसे जर्जरित हो गये थे, आदर-पूर्वक माथा नीचा करनेसे उनकी मणिमुकुटोंकी कतार शिथिल हो गई थी, रत्नमय कर्णपूर टेढ़े झुक गये थे, मणिमय कुण्डल खिसक खिसक कर गालों पर आकर झूलने लग गए थे और चन्द्रापीड़-

१. अलक्तक इव। २. क्रियमाणादशदिश। ३. गन्धगजघटा ४. आदरादनवरतप्रणामशिथिलित···। ५. आवर्जितकर्णपूरैः।

कुण्डलैराज्ञप्त[1] सेनापति-निर्दिश्यमान-नामभिरवनिभुजां[2] चक्रबालैः प्रणम्यमानः, बहलसिन्दूररेणुपाटलेन क्षितितल-दोलायमान-स्थूल[3]मुक्ताकलापावचूलेन सित-कुसुम-माला-जाल-शबल-शिरसा संलग्नसन्ध्यातपेन तिर्य्यगावर्ज्जित-श्वेतगङ्गाप्रवाहेण तारागण-दन्तुरित-शिखर[4]-शिलातलेन मेरुगिरिणेव गन्धमादनेनानुगम्यमानः, कनकालङ्कारप्रभा-प्रतान[5]-कल्माषितावयवेन च दत्तकुङ्कुमस्थासकेनेवाकृष्यमाणेनेन्द्रायुधेन सनाथीकृतपुरोभागः शनैः शनैः प्रथममेव शातक्रतवीमाशामभिप्रतस्थे ।

अथ[6] चलित-गजघटा-कम्पित-धवलातपत्र[7]-वनम् , अनेककल्लोल-परम्परापतित-चन्द्र-

---

येषां तैः तादृशैः । आवर्जिता आनमिता रत्नकर्णपूरा मणिमयकर्णभूषणानि येषां तैः तादृशैः । कपोलस्थलयोः गण्डभागयोः उपरि स्खलिते मस्तकनमनाद् गते रत्नकुण्डले मणिमयश्रवणकुण्डलयुगलं येषां तैः तादृशैः । तथा आज्ञप्तेन तेषां नामानि कथयितुमादिष्टेन सेनापतिना सैन्याध्यक्षेण निर्दिश्यमानानि निवेद्यमानानि नामानि संज्ञा येषां तैः तादृशैः, अवनिभुजां राज्ञां चक्रवालैः मण्डलैः प्रणम्यमानः नमस्क्रियमाणः चन्द्रापीडः ।

बहलेति । इतः आरभ्य तृतीयैकवचनान्तानि पदानि 'गन्धमादनेन' इत्यग्रेतनस्य विशेषणानि । बहलैः अधिकैः सिन्दूररेणुभिः शृङ्गारभूषणकुङ्कुमधूलिभिः पाटलेन श्वेतरक्तीकृतकुम्भदेशेन । क्षितितले पृथिवीतले दोलायमानः कम्पमानः स्थूलमुक्ताकलापः स्थूलमौक्तिकप्रकरो यस्य तथोक्तः अवचूलः पताकाग्रबद्धाधोमुखवसनं यस्य तेन तादृशेन । 'अवचूलः ( पुं० ) ध्वजाग्रबद्धाधोमुखवस्त्रम्' इति शब्दकल्पद्रुमः । तथा सितं यत् कुसुममालाजालं पुष्पस्रक्समूहः तेन शबलं विचित्रं शिरो मस्तकं यस्य तेन तादृशेन । अतएव संलग्नः संश्लिष्टः सन्ध्याया आतपो रागो यत्र तेन तादृशेन, इति सिन्दूरभूषितकलशौपम्यम् । तिर्यक् आवर्जितः पतितः श्वेतः शुभ्रो गङ्गाप्रवाहः भागीरथीधारा यस्मात्तेन तादृशेन । एतेन पृष्ठबद्धध्वजगतपताकौपम्यम् । तथा तारागणेन ऋक्षमण्डलेन दन्तुरितं विषमीकृतं शिखरशिलातलं शृङ्गस्थप्रस्तरो यस्य तेन तादृशेन । एतेन श्वेतपुष्पपङ्क्तिसाम्यम् । एवंविधेन मेरुगिरिणेव सुमेरुपर्वतेनेव गन्धमादनेन तत्संज्ञकेन प्रागलक्षितेन गन्धहस्तिना अनुगम्यमानोऽनुव्रज्यमानश्चन्द्रापीडः । इह श्रौत्युपमा पदार्थहेतुकेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण सङ्कीर्यते ।

कनकेति । कनकस्य सुवर्णस्य योऽलङ्कारो भूषणं तस्य याः प्रभाः कान्तयः तासां प्रतानेन आधिक्येन कल्माषिताः कर्बुरीकृताः अवयवा अङ्गानि यस्य तेन तादृशेन, अत एव दत्ताः शरीरेषु अर्पिताः कुङ्कुमस्थासकाः कुङ्कुमद्रवकृतपाणिबिम्बचित्राणि यत्र तेनेव सता । आकृष्यमाणेन केनाप्याकृष्य नीयमानेन इन्द्रायुधेन प्राङ्निरूपितेन तत्संज्ञकाश्वेन सनाथीकृतः स्वसंयुक्तीकृतः पुरोभागः सम्मुखदेशो यस्य स तादृशः चन्द्रापीडः । शतक्रतोरिन्द्रस्येयमिति शातक्रतवी तामाशां पूर्वां दिशम् अभिप्रतस्थे अभिमुखं चचाल ।

अथेति । अथ चन्द्रापीडप्रस्थानानन्तरम्, चलिता गन्तुं प्रवृत्ता या गजघटा हस्तिसमूहाः तासु

---

द्वारा उनके नामोंको कहनेके लिए आदेश किये जाने पर सेनापति उनके नामको बतलाता जाता था । गन्धमादन नामक हाथी चन्द्रापीड के पीछे-पीछे चलता था, उसका कुम्भमण्डल खूब सिन्दूर लगानेसे लाल हो गया था, पीठ के ऊपरमें जो ध्वजा थी, उसमें लटकती हुई झूलकी मोतियोंकी झालर भूतल पर दोलायमान हो रही थी, श्वेतवर्ण फूलोंकी मालाओंके जालसे उसका मस्तक विचित्र दीखता था, अतएव सन्ध्यासमयकी रक्तिमासे युक्त, टेढ़े बहते श्वेतवर्ण गङ्गाप्रवाहवाले और नक्षत्रसमूहोंसे छाए शिखरवाले सुमेरुपर्वतके समान वह गन्धमादन शोभायमान लगता था । कोई नौकर चन्द्रापीडके आगे-आगे उस इन्द्रायुधको खींच कर ले जाता था, सुवर्णमय अलङ्कारके प्रभाराशिसे उसका समस्त अवयव विचित्र हो गया था । इससे प्रतीत होता था मानो कुङ्कुमरस द्वारा उसके अङ्गमें हाथ का पञ्जा चित्रित कर दिया गया है । इस प्रकार चन्द्रापीड धीरे-धीरे पहले ही पूर्व दिशाकी ओर प्रस्थान किया ।

चन्द्रापीडके प्रस्थान करने पर समस्त सैन्यगण अद्भुत कोलाहल करते-करते महीतलको प्लावितकर

---

१. रज्ञात । २. निर्दिश्यमानानामवनि । ३. क्वचित् 'स्थूल' इति पदं न विद्यते । ४. दन्तुरितशिलातलेन । ५.…प्रभाकल्माषित…। ६. क्वचित् 'अथ' इति पदं नास्ति । ७.…कम्पितातपत्र…।

मण्डल-प्रतिबिम्ब-सहस्रम् , महाप्रलय-जलधि-जलमिव प्लावितमहीतलम् , अद्भुतोद्भूतकलकलम्, अखिलं[1] सञ्चचाल बलम् ।

उच्चलितस्य चास्य स्वभवनादुपपादितप्रस्थानमङ्गलो दुकूल[2]-वासाः सितकुसुमाङ्गरागो महता बलसमूहेन नरेन्द्रवृन्दैश्चानुगम्यमानः[3] धृतधवलातपत्रो द्वितीय इव युवराजस्त्वरितपदसञ्चारिण्या करिण्या वैशम्पायनः समीपमाजगाम[4] । आगत्य च रजनिकर इव[5] रवेरासन्नवर्त्ती बभूव ।

अनन्तरमितश्चेतश्च 'निर्गतो युवराजः' इति समाकर्ण्य प्रधावतां बलानां भरेण चलित-कुलशैल-कीलित-जलधि-जल-तरङ्ग[6]-गतेव तत्क्षणमाचकम्पे मेदिनी। सम्मुखागतैरन्यैश्चा-

---

कम्पितं धूतं धवलातपत्राणाम् आरोहिगणसितच्छत्राणां वनं समूहो यत्र तत्तादृशम्, अत एव अनेका विविधा याः कल्लोलपरम्पराः महातरङ्गश्रेणयः तासु पतितं चन्द्रमण्डलप्रतिबिम्बानां शशिमण्डलप्रतिच्छायानां सहस्रं समूहो यस्य तत्तादृशम्, महाप्रलयकालीनजलधिजलमिव महाकल्पसामयिकसमुद्रमिव प्लावितमहीतलं प्रलयनीतपृथ्वीतलम्, अद्भुत आश्चर्यकारी उद्भूत उत्पन्नः कलकलः कोलाहलो यस्मिन् तत्तादृशम् अखिलं समस्तं बलं चन्द्रापीडसैन्यं सञ्चचाल सम्यक्प्रकारेण चलितं बभूवेत्यर्थः । तत्पश्चादिति शेषः । उपमा ।

उच्चलितस्येति । किञ्चेति चार्थः । उच्चलितस्य प्रस्थितस्य अस्य चन्द्रापीडस्य वैशम्पायनः समीपमाजगामेत्यन्वयः । स्वभवनात् निजगृहात् उपपादितं वैजयिकहोमादिना ऋत्विग्भिर्विहितं प्रस्थानमङ्गलं यस्य स तादृशः, दुकूलवासाः परिहितसूक्ष्मवसनः सितकुसुमैः श्वेतपुष्पैः अङ्गरागः शरीरशोभा यस्य स तादृशः । महता महीयसा बलसमूहेन सैन्यसङ्घातेन नरेन्द्रवृन्दैः राजसमूहैश्च अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः । धृतं केनचित्सेवकेन उत्तमाङ्गोपरि गृहीतं धवलातपत्रं श्वेतच्छत्रं यस्य स तादृशः, त्वरितपदसञ्चारिण्या शीघ्रचरणगामिन्या करिण्या हस्तिन्या करणभूतयेत्यर्थः । वैशम्पायनः, द्वितीयो युवराज इव समीपं पार्श्वम् आजगाम आययौ तथाविधाडम्बरयुक्तत्वादित्याशयः । इह 'द्वितीयो युवराज इव' इति द्रव्योत्प्रेक्षा ।

आगत्येति । आगत्य अभ्येत्य च वैशम्पायनः, रवेः सूर्यस्य रजनिकरः निशापतिरिव आसन्नवर्त्ती चन्द्रापीडस्य समीपवर्त्ती बभूव संजज्ञे । शुक्लपक्षप्रथमभागे दिनान्ते गगने चन्द्रः सूर्यस्य समीपवर्त्ती भवतीति ज्यौतिषम् । उपमा ।

अनन्तरमिति । इतश्चेतश्च इतस्तत इत्यर्थः, युवराजो निर्गतो निःसृत इति वाक्यं समाकर्ण्य श्रुत्वा प्रधावतां शीघ्रेण चलतां तत्पश्चादिति शेषः, बलानां सैन्यानां भरेण भारेण, मेदिनी पृथिवी, चलितैः पक्षवत्तया गमनशीलैः कुलपर्वतैः पूर्वप्रतिपादितैः महेन्द्रप्रभृतिभिः कीलितो बिद्धो यो जलधिः समुद्रः तस्य जलतरङ्गगतेव सलिलकल्लोलप्राप्तेव सती तत्क्षणं तत्कालम् आचकम्पे चचाल । चलितहस्तिसमूहसादृश्यसूचनार्थं चलितकुलशैलकीलितेति विशेषणम् । इह 'जलतरङ्गगतेव' इति क्रियोत्प्रेक्षा ।

सम्मुखेति । परस्परं सम्मुखागतैः अभिमुखायातैः अन्यैश्च अन्यैश्च भिन्नभिन्नैः प्रणमद्भिः नमस्कारं

---

उसके पीछे-पीछे जाने लगे, हाथियोंके चलने पर महावतके श्वेतवर्ण छत्रसमूह कम्पित होने लगे, उससे असंख्य तरंगों पर हजारों चन्द्रप्रतिबिम्ब पतित होने पर प्रलयकालीन समुद्र-जलप्रवाहके समान सैन्यगण देखे जाने लगे।

वैशम्पायन द्वितीय युवराजके समान एक शीघ्रतासे चलनेवाली हथिनी पर बैठकर अपने महलसे प्रस्थित चन्द्रापीडके समीपमें आ गया । पुरोहितगण उसकी यात्राकालीन-माङ्गलिक क्रिया सम्पादन कर रहे थे, उसके पहननेका कपड़ा सूक्ष्म था और श्वेतवर्ण पुष्पसे शरीरकी शोभा की हुई थी, एवं कोई नौकर मस्तकके ऊपर श्वेतवर्ण छत्रको पकड़कर चल रहा था, बड़ी सेना और भूपसमुदाय उसके पीछे-पीछे आ रहे थे । चन्द्र जिस प्रकार सूर्यका आसन्नवर्त्ती होता है, उसी प्रकार वैशम्पायन आकर चन्द्रापीडका आसन्नवर्त्ती हो गया ।

उसके बाद 'युवराज भवनसे निकले हुए हैं' इधर-उधरसे यह सुनकर सेनाएँ उनके पीछे पीछे दौड़ने लगीं, उस समय उनके पदभारसे पृथिवी, मानो चलायमान हुए कुलपर्वतोंसे पीड़ित समुद्रकी तरङ्गोंमें प्रविष्ट हुई (घुसी) हो इस प्रकार काँपने लगी । सामन्तराजगण, परस्पर सामने उपस्थित होकर राजपुत्रको प्रणाम करने

---

१. सकलं । २. धवलदुकूल··· । ३.···अनुरज्यमानः । ४. समाजगाम । ५. शशिकर इव । ६.···शैलकैलासजलधितरङ्ग ।

न्यैश्च प्रणमद्भिर्भूमिपालैः, अंशुलता-जाल-जटिल-चूलिकानां मणिमुकुटानामालोकेनोन्मिषितबहुलरोचिषाञ्च पत्रभङ्गिनीनां[1] केयूरमण्डलीनां प्रभासन्तानेन क्वचिद्विकीर्य्यमाण-चाषपक्ष-क्षोदा इव, क्वचिदुत्पतित-शिखि-कुलचलचन्द्रक-शत-शारा इव, क्वचिदकाल-जलधर-तडित्तरला इव, क्वचित् सकल्पतरुपल्लवा इव, क्वचित् सशतक्रतुचापा इव[2], क्वचित् सबालातपा इवाक्रियन्त[3] दश दिशः। धवलान्यपि विविध-मणि-निकर-कल्माषैरुत्सर्पिभिश्चूडामणिमरीचिभिर्मायूराणीवाराजन्त[4] राज्ञामातपत्राणि।

क्षणेन च तुरगमयमिव महीतलम्, कुञ्जरमयमिव दिक्चक्रबालम्, आतपत्रमण्डलमयमिवान्तरिक्षम्, ध्वजवनमयमिवाम्बरतलम्, इभमदगन्धमय इव समीरणः, भूपालमयीव प्रजासृष्टिः, आभरणांशुमयीव दृष्टिः[5], किरीटमय इवातपः, चामरमय इव

---

कुर्वद्भिः भूमिपालैः पृथिवीपतिभिर्हेतुभिः, अंशुलता रश्मिपंक्तयः तासां जालेन समूहेन जटिला विषमाः चूलिकाः चूडाः प्रान्तभागा येषां तेषां तादृशानां मणिमुकुटानां रत्नकिरीटानाम् आलोकेन प्रकाशेन, तथा उन्मिषितानि उद्गतानि बहुलानि सातिशयानि रोचींषि कान्तयो यासां तासां तादृशीनां पत्रभङ्गिनीनां पत्रलताविशिष्टानां केयूरमण्डलीनाम् अङ्गदश्रेणीनां प्रभासन्तानेन कान्तिप्रवाहेण च कर्त्रा, क्वचिद्देशे कस्मिंश्चित्प्रदेशे विकीर्यमाणा विक्षिप्यमाणाः चापाणां किकीदिवीनां पक्षक्षोदाः पत्रचूर्णानि यासु ता इव, दश दिशः अक्रियन्त इति सम्बन्धः। इत्थमुत्तरत्र। क्वचित् उत्पतितस्य उड्डीनस्य शिखिकुलस्य मयूरगणस्य चलता दीप्यमानेन चन्द्रकशतेन मेचकगणेन पुच्छगतकर्बुरितचिह्नगणेनेति तात्पर्यम् शारा विचित्रा इव। क्वचित् अकाले असमये यो जलधरो मेघः तस्य तडिता विद्युता तरलाश्चञ्चला इव। क्वचित् कल्पतरुपल्लवैः देववृक्षकिसलयैः सह विद्यमाना इति सकल्पतरुपल्लवा इव। क्वचित् शतक्रतुचापैः इन्द्रधनुभिः सह इति सशतक्रतुचापा इव। क्वचिच्च बालातपः प्रभाकालीनोदितसूर्यरश्मिः तेन सहेति सबालातपा इव दश दिशः दशककुभः अक्रियन्त।

इह 'विकीर्यमाणे' त्यादौ क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'उत्पतिते' त्यारभ्य 'सबालातपा इव' इत्यन्तं यावत् सर्वत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः।

धवलानीति। धवलानि श्वेतान्यपि राज्ञां सामन्तनृपतीनाम् आतपत्राणि छत्राणि, विविधानामनेकरूपाणां मणीनां रत्नानां तद्रश्मीनामित्यर्थः, निकरेण समूहेन कल्माषैः कर्बुरितैः नानावर्णैः, उत्सर्पिभिः ऊर्ध्वप्रसारिभिः चूडामणिमरीचिभिः शिरोरत्नरश्मिभिः करणैः, मायूराणि मयूरपिच्छरचितानीव। अराजन्त अशोभन्त। क्रियोत्प्रेक्षा।

क्षणेनेति। क्षणेन क्षणमात्रेण च महीतलं पृथिवीतलं तुरगमयमिव अश्वमयमिव, दिक्चक्रवालं दिङ्मण्डलं कुञ्जरमयमिव हस्तिमयमिव, अन्तरिक्षम् आकाशम् आतपत्रमण्डलमयमिव छत्रमण्डलमयमिव, अम्बरतलं गगनतलं ध्वजवनमयमिव पताकासमूहमयमिव, समीरणो वायुः इभमदगन्धमयमिव गजदानवारिसुगन्धमयमिव, प्रजासृष्टिः प्रकृतिसर्गः भूपालमयीव राजमयीव, दृष्टिर्दर्शनम् आभरणांशुमयीव

---

लगे। उस समय उनके-किरणजालसे चमकती कलँगीवाले—मणिमय मुकुटोंके प्रकाशसे एवं अत्यन्त-दीप्तिशाली नानाविध पत्र-भङ्ग-युक्त केयूरसमूह ( बाजूबन्दों ) के प्रभाओंसे दशों दिशाएँ ऐसी प्रतीत होने लगीं मानो किसी स्थानमें नीलकण्ठके पंखों का चूर्ण विक्षिप्त ( बिखरा ) हुआ हो, किसी स्थानमें उड़ते मयूरोंके हिलते हुए चन्द्रकोंसे विचित्र की हुई हों, किसी स्थानमें असामयिक मेघकी बिजलीसे चमकने लगी हों, किसी स्थानमें कल्पवृक्षके पल्लवोंसे, किसी स्थान में इन्द्र-धनुषोंसे और किसी स्थानमें नवोदित सूर्य के प्रकाश से समन्वित हों। राजाओं के छत्र श्वेतवर्ण होने पर भी, नानाविध मणियोंके किरणसमूहसे विचित्र होनेसे एवं ऊपर की ओर फैलाती हुई चूडामणिके किरणोंसे मानो मयूर-पुच्छ-निर्मित के समान शोभायमान होने लगे।

क्षणभरमें पृथिवीतल मानो तुरङ्गमय हो, दिङ्मण्डल मानो हस्तिमय हो, अन्तरिक्ष मानो छत्र-मय हो, आकाश मानो केतु-मय हो, वायु मानो हस्तीके मदजल-गन्धमय हो, सब लोग मानो राजमय हो, दृष्टिपात मानो अलङ्कार-किरण-मय हो, आतप मानो मुकुटमय हो, दिन मानो चामरमय हो एवं त्रिभुवन मानो जय-जय

---

१. पत्रभङ्गीनां। २. सशतयज्ञचापा इव। ३. क्रियन्ते। ४. राजन्ते, अरज्यन्त। ५. वृष्टिः।

दिवसः, जयशब्दमयमिव त्रिभुवनमभवत्। सर्वतश्च कुलपर्वताकारैः प्रचलद्भिर्मत्तवारणैः उत्पातचन्द्रमण्डलनिभैश्च प्रेङ्खद्भिरातपत्रैः संवर्त्तकाम्भोदगम्भीरभीमनादेन च ध्वनता दुन्दुभिना, तारकावर्ष-सदृशेन विसर्पता गजशीकरनिकरेण, धूमकेतुधूसरैश्चोल्लसद्भिरवनिरजोदण्डकैः, निर्घात-पात-परुषगम्भीरघोषैश्च करिकण्ठगर्जितैः, क्षतज-कण-वर्ष-बभ्रुणा च भ्रमता मतङ्गजकुम्भसिन्दूररेणुना, संक्षुभित-जलधि-जल-कल्लोल-चञ्चलाभिश्च विसर्पन्तीभिः तुरङ्ग मालाभिः, अन्धकारितदिगन्तरेण चानवरतं क्षरता गज-मदजल-धारादुर्दिनेन, कलकलेन च भुवनान्तरव्यापिना महाप्रलयकाल इव सञ्जज्ञे।

सामन्तनृपतीनां भूषणरश्मिमयीव, आतपः आलोकः किरीटमयमिव मुकुटमयमिव, दिवसो वासरः चामरमय इव बालव्यजनमय इव, त्रिभुवनं त्रिविष्टपं जयशब्दमयमिव मागधानां शुभसूचकरवमयमिव अभवत् अजायत।

इह सर्वत्र विकारार्थे मयट्प्रत्ययविधानात् विकारस्य च अन्यथारूपत्वेन गुणत्वात् गुणोत्प्रेक्षा।

सर्वत इति। किञ्चेति चार्थः। कुलपर्वताकारैः महेन्द्रादिसप्तकुलाचलाकृतिभिः, सर्वतः समन्तात् प्रचलद्भिः गच्छद्भिः मत्तवारणैः मत्तहस्तिभिः। अत्युच्चत्वसाम्यात् प्रलये कुलपर्वतानामपि चलनसद्भावाच्च समस्तसादृश्यमित्याशयः। उत्पातकाले उत्पातसमये यानि चन्द्रमण्डलानि शशिचक्रवालानि तन्निभैः तत्सदृशैः प्रेङ्खद्भिः प्रचलद्भिः आतपत्रैः छत्रैः प्रलयसमये जगतामुत्पातद्योतनायैव चन्द्रमण्डलसञ्चलनमिति सूचनार्थमुत्पातग्रहणम्। संवर्त्तकाम्भोदवत् प्रलयकालीनमहामेघवत् गम्भीरो भीषणः भयानकश्च नादो ध्वनिर्यस्य स तेन तादृशेन। ध्वनता शब्दायमानेन दुन्दुभिना पटहेन। तारकावर्षसदृशेन नक्षत्रवृष्ट्यनुकारिणा, विसर्पता समन्तात् प्रसरता गजशीकरनिकरेण हस्तिशुण्डनिःसृतसलिलबिन्दुसमूहेन। धूमकेतुर्ग्रहविशेषः तद्वत् धूसरैर्धूम्रैः, उल्लसद्भिः उत्तिष्ठद्भिः अवनिरजोदण्डकैः दण्डवल्लम्बमानवसुन्धरारेणुपंक्तिभिः। निर्घातः पूर्वप्रतिपादितस्वरूपः पवनः तस्य पातवत् परुषाः कठिनाः गम्भीराश्च घोषा निनादा येषां तैः तादृशैः, करिणो हस्तिनो यः कण्ठो गलः तद्वत् गर्जितैः रसितैः। क्षतजकणः शोणितबिन्दुः तस्य वर्षवत् वृष्टिवत् बभ्रुणा पिङ्गलवर्णेन मतङ्गजकुम्भसिन्दूररेणुना गजकुम्भस्थितसिन्दूरबिन्दुना। संक्षुभिता उद्वेलिता ये जलधिकल्लोलाः समुद्रतरङ्गाः तद्वत् चञ्चलाभिः चपलाभिः, विसर्पन्तीभिः प्रसरन्तीभिः तुरङ्गमालाभिः अश्वपंक्तिभिः। अन्धकारितानि समुत्पन्नान्धकाराणि दिगन्तराणि येन तेन तादृशेन, अनवरतं निरन्तरं क्षरता स्रवता गजमदजलधारादुर्दिनेन हस्तिमदसलिलधारावर्षणेन। तथा भुवनान्तरव्यापिना विष्टपविवरप्रसरशीलेन कलकलेन सैनिकानां कोलाहलेन च करणेन, महाप्रलयकालः कल्पान्तसमयः सञ्जज्ञे सञ्जात इव, तत्रापि पूर्वप्रतिपादितकुलपर्वतसञ्चलनाद्यवश्यम्भावादित्याशयः।

इह 'कुलपर्वताकारैः', इत्यत्र 'उत्पातचन्द्रमण्डलनिभैश्च' इत्यत्र चार्थोपमा। 'संवर्त्तकाम्भोदगम्भीरे' त्यत्र लुप्तोपमा। 'तारकावर्षसदृशेन' इत्यत्रार्थोपमा। 'धूमकेतुधूसरैः', 'क्षतजकणबभ्रुणा', 'संक्षुभितजलधि-

शब्दमय हो ऐसा दीखने लगा। एवं कुलपर्वत के समान बड़े-बड़े मत्तहस्तिगण सब दिशाओं में व्याप्त होकर जाने लगे, प्रलयकालके चन्द्रबिम्बके समान छत्रसमूह चलने लगे, ताड्यमान दुन्दुभी, प्रलयकालके मेघके समान गम्भीर और भयङ्कर शब्द करने लगी एवं कुलपर्वतके समान बड़े-बड़े स्वरूपवाले मत्तहस्तिगण सब दिशाओंमें व्याप्त होकर जाने लगे, औत्पत्तिक चन्द्रमण्डल के समान छत्र समूह चलने लगे; ताड्यमान दुन्दुभी, प्रलयकालके मेघ के समान गम्भीर और भयङ्कर शब्द करने लगी, हाथियोंकी सूड़ोंमें से जलबिन्दुसमूह गिरने लगे, पृथिवीमें से धूमकेतु के समान धूसरवर्ण धूलके गुब्बारे उठने लगे, हाथियाँ निर्घात–वायुपतन ( वज्रपात ) के समान कठोर और गम्भीर शब्द से गर्जना करने लगीं, हाथियोंके कुम्भस्थल से रुधिरकणकी वर्षा के समान सिन्दूर की धूलियाँ उड़ने लगीं, क्षुभित हुए समुद्रजलकी महातरङ्गों के समान तुरङ्ग–पङ्क्तियाँ चलने लगीं, हाथियों की मद–जल धारा, सब दिशाओंमें अन्धकार कर दिन–रात क्षरित होने लगी, एवं सैनिकोंके कोलाहल से जगत् व्याप्त हो गया, इन सब कारणों से उस समयमें मानो महाप्रलयकाल उपस्थित हुआ हो—ऐसा दीखने लगा।

१. किरीटमय इव दिवसः, जय··· । २. शतसितातपत्रैः। ३···प्रविसर्पन्तीभिः। ४. तुरङ्गम··· । ५. अनवरतक्षरता। ६. क्वचित् गजपदं न विद्यते।

बल-बहल[1]-कोलाहलभीता इव धवल-ध्वज-निवह-निरन्तरावृता ययुः क्वापि दश दिशः । मलिनावनिरजः[2]संस्पर्शशङ्कितमिव समद-गज-घटावचूल-सहस्र-संरुद्धमतिदूरमम्बरम्[3] अपससार । प्रबल-वेत्रिवेत्रलता[4]समुत्सार्यमाणा इव तुरग-खुररजोधूसरम्[5] अर्ककिरणा मुमुचुः पुरोभागम् । इभ-कर-शीकर[6]-निर्वापण-त्रस्त इवातपत्र-संच्छादितातपो दिवसो ननाश । बल-भर[7]-जर्जरीकृता मद-कल-करि-चरण-शत-ताडिता[8] द्वितीयेव प्रयाणभेरी भैरवं

---

जलकल्लोलचञ्चलाभिश्च' इत्येतेषु लुप्तोपमा । 'सज्ज इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः । अनेन हि वैरिणां विनाशः सूच्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।

बलेति । धवलेन शुभ्रेण ध्वजनिवहेन पताकागणेन निरन्तरं निरवकाशं यथा स्यात्तथा आवृता आच्छादिताः दश दिशः, बलानां सैन्यानां बहलेन अधिकेन कोलाहलेन कलकलेन भीताः त्रस्ता इव सत्यः क्वापि अनिर्दिष्टस्थाने ययुः अलक्ष्यतां गता इत्यर्थः ।

इह क्रियोत्प्रेक्षा, ध्वजनिवहनिरन्तराच्छादनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, तथा दिशासु कार्यद्वारा कोलाहलभयापगतकुलवधूव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिश्च इत्येतेषां परम्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

मलिनेति । समदा मदेन सह वर्त्तमाना या गजघटा हस्तिसमूहाः तासाम् अवचूलसहस्रेण पृष्ठस्थपताकागणेन संरुद्धम् आच्छन्नम् अम्बरं गगनं कर्त्तृ, मलिनानि कश्मलानि यानि अवनिरजांसि धूलयः तेषां संस्पर्शात् संश्लेषात् शङ्कितमिव सत् अतिदूरम् अतिदविष्ठम् अपससार अपसृतं बभूव तत्सैन्यानां दूर एव दृश्यतां गतवानित्याशयः । इहापि पूर्ववदेव सर्वालङ्काराणां सङ्करः ।

प्रबलेति—अर्ककिरणाः सूर्यरश्मयः प्रबलस्य राजनियोगात् पूर्णप्रभावस्य वेत्रिणो वेतसदण्डधारिणो रक्षकपुरुषस्य वेत्रलतया वेतसयष्ट्या समुत्सार्यमाणा दूरीक्रियमाणा इव सन्तः, तुरगखुररजोधूसरम् अश्वशफधूलिपाण्डुरं पुरोभागम् अग्रभागं मुमुचुः तत्यजुः, राजाग्रगामिसामान्यपुरुषवदित्याशयः ।

इह अर्ककिरणेषु अपसार्यमाणत्वरूपक्रियाया उत्प्रेक्षा । अपि च परित्यागे अश्वशफधूलिधूसरपदस्यार्थो हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं च । कार्यद्वारा अर्ककिरणेषु राजपुरोभागपरित्यागरूपसामान्यजनव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरिति त्रयाणामेतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

इभेति । आतपत्रैः छत्रैः संछादितः आवृत आतपः सूर्यरश्मिः यत्र तथोक्तः स दिवसः, इभानां गजानां करशीकरैः शुण्डानिर्गतसलिलकणैः यन्निर्वापणं स्वस्य विलयः तेन त्रस्तो भीत इव सन्, ननाश अलक्ष्यतां प्राप्तः, छत्रैराच्छादनाद्दिवसातपो नासीदित्याशयः ।

इह जलबिन्दुभिर्यथा वह्नेर्निर्वापणं तथा दिवसेऽपि सम्भावनमित्युत्प्रेक्षा । तथा दिवसनाशे आतपत्रावरणं पदार्थो हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, दिवसनाशसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरिति त्रयाणामेतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

बलेति । भूमिः वसुन्धरा बलानां सैन्यानां भरेण भारेण जर्जरीकृता क्षुण्णा तथा मदकलानां मदमत्तानां करिणां गजानां चरणशतेन अङ्घ्रिसमूहेन ताडिता च सती, द्वितीया अपरा प्रयाणभेरीव भैरवं भयानकं यथा स्यात्तथा ररास शब्दं चकार ।

---

श्वेतवर्ण ध्वजाओंके समूह से निरन्तर आच्छादित दशो दिशाएँ सैन्यगणके बड़े भारी कोलाहलसे भयभीत होकर ही मानो कहीं चली गईं, गगनतल, मदमत्त हाथियोंके पृष्ठवर्त्ती पताकाओं से आच्छन्न होकर, मलिन पृथिवी की धूलि-स्पर्श करनेकी आशङ्कासे मानो बहुत दूर सरक ( खिसक ) गया, सूर्यकी किरणें, वेत्रयष्टिधारी प्रबल प्रतीहारोंकी बेंतकी छड़ियोंसे दूर की गई हों इस प्रकार-मानो अश्वगणके खुरोंमेंसे उड़ती धूलसे धूसरवर्ण आगेके हिस्सेको-छोड़ गईं, छत्रसमूहसे ढँके हुए आलोकवाला दिन,-हाथियोंके सूँड़ोंमेंसे निकलते जलकी बूँदोंसे अपने नष्ट हो जानेके भयसे ही मानो भाग गया, सेनाओंके पद-भारसे अत्यन्त जर्जरित हुई और मद-मत्त हाथियोंके सैकड़ों चरणों से ताडित हुई पृथिवी मानो द्वितीय प्रयाण-दुन्दुभी के समान भयङ्कर नाद

---

१. बहुलबल··· । २. मलिनीकृतमिव । ३. अम्बरतलम् । ४. प्रचलितवेत्रलता, प्रचुरवेत्रलता··· । ५···धूसरताभीता इवार्क···, धूसरताभीतार्क··· । ६. सीकरनिकर । ७. बहलबलभर··· । ८···सञ्चरणशतसन्ताडिता, चरणशतखण्डिता ।

भूमौ ररास। गुल्फद्वयसे च तुरङ्ग-मुख-विनिःसृत-सितफेन-पल्लविते[1] मदपयसि मदस्रुतां करिणां प्रचस्खलुः पदे पदे पदातयः। हरिताल-परिमलनिभेन चातिपटुना गजमदामोदेनानुलिप्तस्य सामजस्य वाऽयं ययौ[2] निखिलान्यगन्धग्रहणसामर्थ्यं घ्राणेन्द्रियस्य।

क्रमेण च प्रसर्पतो बलस्य पुरः प्रधावतां जन-कदम्बकानां कोलाहलेन, तारतरदीर्घेण च काहलानां निनादेन, खुर-रव-मिश्रितेन च वाजिनां ह्रेषारवेण[3], अनवरत-कर्णताल-स्वन[4]-सम्पृक्तेन च दन्तिनामाडम्बररवेण, ग्रैवेयककिङ्किणीक्वणितानुसृतेन[5] च गतिवशाद्विषम[6]-विराविणीनां घण्टानां टङ्कृतेन, मङ्गलशङ्ख-शब्द-संवर्द्धित-ध्वनीनाञ्च प्रयाणपटहानां निनादेन, मुहुर्मुहुरितस्ततस्ताड्यमानानाञ्च डिण्डिमानां[7] निःस्वनेन, जर्जरीकृतश्रवणपुटस्य मूर्च्छेवाभव-

---

इह भूमौ भेरीस्वरूपस्य द्रवस्योत्प्रेक्षा तथा शब्दकरणे 'बलभर० मदक०' इत्यादिविशेषणद्वयार्थो हेतुरिति काव्यलिङ्गश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

गुल्फेति। पदातयः सैन्याः पदे पदे प्रतिपादक्षेपम्, गुल्फद्वयसे चरणग्रन्थिपरिमिते, इह प्रमाणे द्वयसच्प्रत्ययः। तुरङ्गाणां घोटकानां मुखेभ्यो वदनेभ्यो विनिःसृतैः बहिरागतैः सितैः धवलैः फेनैः कफैः पल्लविते विस्तारिते, मदस्रुतां दानवारिस्राविणां करिणां हस्तिनां मदपयसि दानसलिले प्रचस्खलुः प्रस्खलनं प्रापुः।

इह गुल्फद्वयसत्वादिसम्बन्धाभावेऽपि तत्संबन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

हरितालेति। हरितालस्य स्वनामप्रसिद्धधातुर्विशेषस्य परिमलनिभेन सुगन्धितुल्येन, अतिपटुना अतीवतीव्रेण च गजमदामोदेन हस्तिदानसलिलपरिमलेन अनुलिप्तस्य संयुक्तस्य अञ्चितस्य च, समाजस्य तत्तन्मतङ्गजस्य इव घ्राणेन्द्रियस्य नरवृन्दनासिकायाः, निखिलानि समस्तानि अगन्धग्रहणसामर्थ्यम् अयं ययौ विननाश, गजमदामोदेन स्वस्वमदपरिमलेन च परिपूर्णत्वात्। प्रबलगन्धाकृष्टस्य घ्राणस्य तदपेक्षया दुर्बलगन्धानां ग्रहणं न भवतीत्यभिप्रायः। 'सामजस्तु गजे पुंसि सामोत्थे पुनरन्यवत्।' इति मेदिनी

इह यथाक्रमं लुप्तोपमा, श्रौतोपमा च, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

क्रमेणेति। क्रमेण परिपाट्या प्रसर्पतो गच्छतो बलस्य सैन्यस्य पुरःप्रधावताम् अग्रे शीघ्रं प्रचलतां जनकदम्बानां लोकवृन्दानां कोलाहलेन कलकलेन, तारतरदीर्घेण नितान्तोच्चैस्तरेण काहलानां बृहड्ढक्कानां निदानेन शब्देन। तथा खुररवैः शफस्वनैः विमिश्रेण संपृक्तेन वाजिनाम् अश्वानां हर्षहेषारवेण प्रमोदहेषाशब्देन। अनवरतो निरन्तरो यः कर्णतालयोः अखण्डतालपत्रवद्विस्तृतयोः श्रोत्रयोः स्वनः शब्दः तेन संपृक्तः सम्मिलितः तेन तादृशेन, दन्तिनां हस्तिनाम् आडम्बररवेण विशालेन बृंहितध्वनिना। ग्रैवेयकाणि कण्ठभूषणानि तेषु याः किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकाः तासां क्वणितैः शब्दैः अनुसृतेन अनुगतेन, गतिवशेन गमनवशेन विषमविराविणीनां भीषणध्वनिविधायिनीनां घण्टानां गललम्बितानामित्यर्थः टङ्कृतेन 'टं टं' रवेण। मङ्गलशङ्खशब्दैः संवर्धिता वृद्धिं प्राप्ताः ध्वनयो येषां तेषां तादृशानाम्, प्रयाणपटहानां प्रस्थानढक्कानां निनादेन शब्देन। मुहुर्मुहुः वारंवारम् इतस्ततः ताड्यमानानां हन्यमानानां डिण्डिमानां

---

करने लगी; मदस्रावी हाथियोंके घुटने तक आते—अश्वगणके मुखमेंसे निकले श्वेतवर्ण फेनपुञ्जसे विस्तृत हुए-मदजलमें पैदल सैनिकगण पद पद पर फिसलने लगे, हरतालकी गन्धके समान अतितीव्र मद-सुगंधके भर जानेसे, हस्तिगणकी नासिकाके समान सैन्यगणकी नासिकाओं के अन्य गन्ध ग्रहण करने की सब शक्ति लुप्त हो चली।

क्रमसे चली जाती सेनाके आगे दौड़ते जन-समूहोंके कोलाहलसे, नगाड़ोंकी अतितीव्र और ऊँची आवाजसे, खुरोंके शब्दसे मिले हुए घोड़ों के हिनहिनाहटसे, हाथियोंके अविश्रान्त सञ्चालित बृहत् कर्णतालके शब्दसे मिली हुई उनकी तेज और विशाल गर्जना से, गलोंमें डाली हुई किङ्किणियों (घुंघरियों) के आवाजके साथ सुनाई देती-चलनेके कारण कभी-कभी बजती घंटालियोंके 'टन्, टन्' शब्दसे, माङ्गलिक शङ्खकी ध्वनिसे परिवर्द्धित हुई आवाजवाले प्रस्थान दुन्दुभी (ढक्का) के नादसे और बार-बार चारों ओर बजते डिण्डिम (डमरू) के

---

१.···पल्लवे। २. उपययौ, समुपययौ, समाययौ। ३. हेषारवेण। ४.···स्वररव। ५.···अनुगृहीतेन। ६. गतिवशविषम्। ७. द्विरदडिण्डिमानाम्।

जनस्य ।

शनैः शनैश्च बलसंक्षोभजन्मा क्षितेरनेकवर्णतया क्वचिज्जीर्ण-शफर-क्रोड-धूम्रः[1], क्वचित् क्रमेलक-सटा-सन्निभः, क्वचित् परिणत-रल्लकरोम-पल्लवमलिनः, क्वचित् पत्रोर्ण[2]-तन्तुपाण्डुरः, क्वचिज्जरठ-मृणालदण्डधवलः, क्वचिज्जरत्कपि-केशर[3]-कपिलः, क्वचिद्धर[4]-वृषभ-रोमन्थ-फेन-पिण्ड-पाण्डुरः, त्रिपथगाप्रवाह इव हरिचरणप्रभवः, कुपित इव मुञ्चन् क्षमाम्, आरब्ध-परिहास इव रुन्धन्नयनानि, तृषित इव पिबन् करि-कर-शीकर-जलानि, पक्षवानिवोत्पतन्

---

पटहविशेषाणां निःस्वनेन ध्वनिना, जर्जरीकृतं प्रव्यथितं श्रवणपुटं श्रोत्रपुटं यस्य तस्य तादृशस्य लोकस्य मूर्च्छा मोहः अभवदिव अजायत इव । क्रियोत्प्रेक्षा ।

शनैरिति । शनैः शनैः मन्दं मन्दं बलसंक्षोभात् सैन्यस्य सवेगचलनात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य स तादृशो रेणुः धूलिः उत्पपात ऊर्ध्वं जगाम इति वक्ष्यमाणक्रियया सम्बन्धः। क्षितेः चलनालम्बनभूतभूतलस्य अनेकवर्णतया नानारूपतया कारणेन । क्वचित् पाण्डुरमृन्मयभूमौ जीर्णशफरस्य परिणतप्रोष्ठीमीनविशेषस्य क्रोडवत् उपरिभागवत् धूम्रो धूमवर्णः । क्वचित् पिङ्गलमृन्मयभूतले, क्रमेलकस्य उष्ट्रस्य सटासन्निभः जटासदृशः । क्वचित् श्याममृन्मयभूमौ, परिणतस्य जीर्णवयसो रल्लकस्य मृगविशेषस्य रोम्णां तनूरुहां पल्लववत् स्तबकवत् मलिनः श्यामवर्णः । 'रल्लकः कम्बले स्मृतः । तथैव कम्बलमृगे' इति हैमः । क्वचित् । पाण्डुमृत्तिकामयभूमौ वटलकुचादिबहलेषु कृमिभिः ऊर्णाया विहितत्वात् पत्रसम्बन्धिनी ऊर्णा अत्रेति पत्रोर्णम्, धौतकौशेयवसनं तस्य तन्तुवत् पाण्डुरः श्वेतरक्तः, 'पत्रोर्णं धौतकौशेयम्' इत्यमरः । क्वचित् विशदमृन्मयस्थले, जरठो दीर्घकालीनो यो मृणालदण्डो विसदण्डः तद्वत् धवलः शुभ्रवर्णः । क्वचित् पिङ्गलवर्णमृन्मयान्यभूमौ, जरतो वृद्धस्य कपेर्वानरस्य केशरवत् कपिलः पिङ्गलवर्णः । क्वचित् पाण्डुवर्णमृन्मयस्थले, हरवृषभस्य महेशवृषस्य रोमन्थेन चर्वितचर्वणेन यः फेनपिण्डः कफपुञ्जः तद्वत् पाण्डुरः । इह सर्वत्र लुप्तोमालङ्कारः ।

त्रिपथेति । त्रिपथगा त्रिस्रोता गङ्गा तस्याः प्रवाहो धारा इव, हरीणां घोटकानां चरणेभ्यः पादेभ्यः पक्षे हरेः श्रीविष्णोः चरणात् प्रभवतीति सः तादृशः ।

कुपित इति । कुपितः क्रुद्धो जन इव, क्षमां पृथिवीं सहिष्णुताञ्च मुञ्चन् परित्यजन् । एकत्र उड्डयनादपरत्र अधीरत्वादित्याशयः ।

आरब्धे इति । आरब्धः प्रस्तुतः परिहासः कैश्चित् सार्द्धं नर्म, येन स तथोक्तो लोक इव, नयनानि जनानां लोचनानि परिहास्यलोकानां चक्षूंषि च रुन्धन् आवृण्वन् । पाणिना लोचनाच्छादनं लौकिकपरिहासे प्रवर्त्तितम् ।

तृषित इति । तृषितः पिपासया व्यथितो लोक इव, करिकरशीकरजलानि गजशुण्डानिर्गतसलिलकणान् पिबन् कर्दमीभूय शोषयन्, पीतानि विदधच्च ।

पक्षेति । पक्षवान् गरुत्मान् इव, गगनतलम् आकाशम् उत्पतन् उड्डीयमानः ।

---

ध्वनिसे लोगोंके कर्णयुगल सन्न हो जाते थे और उनसे ही मानो उनको मूर्च्छा आ जाती थी ।

धीरे धीरे सैन्यगणके क्षोभसे उत्पन्न हुई धूल उड़ने लगी । वह भूतलके अनेक वर्ण होनेके कारण, किसी स्थानमें बूढ़े प्रोष्ठीमत्स्य ( पोठी मछली ) की छातीके समान धूसर वर्ण ( धुँधली ), किसी स्थानमें ऊंटके बालके समान पिङ्गलवर्ण, किसी स्थानमें बूढ़े हरिणविशेषके लोमगुच्छके समान कृष्णवर्ण, किसी स्थानमें धुले हुए रेशमी वस्त्रके सूतके समान पाण्डुवर्ण, किसी स्थानमें पके हुए मृणालकी डन्डीके समान शुभ्रवर्ण, किसी स्थानमें बूढ़े वानरके केशके समान पिङ्गल वर्ण और किसी स्थानमें शङ्करके वृषभके चर्वितचर्वण (जुगाली) करनेके समय अत्यन्त फेनपुञ्ज के समान पाण्डुवर्ण थी । नारायणके चरणकमलसे गङ्गाप्रवाहके समान अश्वगणके खुरमेंसे वह धूल निकलती थी; क्रोधितव्यक्ति जिस प्रकार सहिष्णुता त्याग करता है वह धूल भी उसी प्रकार पृथिवीका त्याग करती थी; हँसीमें पीछेसे आकर कोई व्यक्ति जिस प्रकार हस्तद्वारा दूसरे व्यक्तिके नेत्रोंको बन्द करता है, वह धूल भी उसी प्रकार लोगोंके नेत्रोंको बन्द करती थी; पिपासातुर व्यक्त जिस प्रकार जल-पान करता है, वह धूल भी उसी प्रकार हाथियोंकी सूड़मेंसे निकलती हुई जलकी बूँदोंको पान ( शोषण ) करती थीं; वह पक्षीके समान आकाशमें उड़ती थी; भ्रमरोंके

---

१. सदृशा । २. उत्पत्रोर्णा··· । ३.···केश··· । ४. वर··· ।

गगनतलम् , अलिनिवह इव चुम्बन् मदलेखाम् , मृगपतिरिव रचयन् करिकुम्भस्थलीषु पदम् , उपात्त-विजय इव गृह्णन् पताकाः[१] जरागम इव पाण्डुरीकुर्वन्[२] शिरांसि, मुद्रयन्निव पक्ष्माग्रसंस्थितो दृष्टिम् , आजिघ्रन्निव मकरन्द-मधु-बिन्दुपङ्कलग्नः[३] कर्णोत्पलानि, मद-कल-करि-कर्ण-ताल ताडन-त्रस्त इव विशन्[४] कर्ण[५]-शङ्खोदर-विवराणि, पीयमान इवोन्मुखीभिरव-निपति-मुकुटमणि-भङ्ग[६]-मकरिकाभिः, अभ्यर्च्यमान इव तुरग-मुख-विक्षेप विप्लुतैः फेन-पल्लव-कुसुम-स्तबकैः- अनुगम्यमान इव मत्त-गज-घटा-कुम्भ-भित्ति-सम्भवेन धातुधूलिवलयेन,

---

अलीति । अलिनिवहो भ्रमरगण इव, मदलेखां करिणां दानवारिपङ्क्तिं चुम्बन् स्पृशन् मुख संयोगं दिवधच्च ।

मृगेति । मृगपति सिंह इव, करिकुम्भस्थलीषु गजशिरसः पिण्डस्थलीषु पदं प्रतिष्ठां चरणनिक्षेपञ्च रचयन् कुर्वन् एकत्र पतनादन्यत्राक्रमणादित्याशयः ।

उपात्तेति । उपात्तः संग्रामे प्राप्तो विजयो जयो येन स तादृशः राजेव, पताका ध्वजान् गृह्णन् स्पृशन् अपहरंश्च । विजयी हि विजितविपक्षिणां ध्वजान् हरतीति प्रथितमेतत् ।

जरेति । जरागमो वृद्धावस्थेव, जनानां शिरांसि मस्तकानि पाण्डुरीकुर्वन् , एकत्र कचव्यापनादन्यत्र कचपाकादित्याशयः । इह 'त्रिपथगाप्रवाह इव' इत्यारभ्य 'जरागम इव' इत्यन्तं यावत् पूर्णोपमालङ्कारः ।

मुद्रयन्निति । पक्ष्मणां लोचनरोम्णाम् अग्रेषु संस्थितः पुरोवर्ती सन् दृष्टिं मुद्रयन् सङ्कोचयन्निव, तत्पतनशङ्कया जनानां लोचनोन्मीलनसम्भवादित्याशयः । क्रियोत्प्रेक्षा ।

आजीति । मकरन्देषु श्रवणोत्पलानामेव किञ्जल्केषु ये मधुबिन्दुपङ्काः गाढद्रवकणाः तेषु लग्नः संसक्तः सन् , जनानां कर्णोत्पलानि श्रवणोत्पलानि आजिघ्रन् तत्सौरभं गृह्णन्निव । 'मकरन्दः ( पुं )··· किञ्जल्के क्लीवम्' इति शब्दकल्पद्रुमः ।

इह 'आजिघ्रन्निव' इति क्रियोत्प्रेक्षा, अनया च पुनरुक्तवदाभासः लक्ष्यते । मकरन्दमधुपदयोः पर्यायतया श्रवणमात्रेण पुनरुक्तावगमेऽपि अनन्तरं मकरन्दपदस्य किञ्जल्कार्थे पर्यवसितार्थत्वात् पुन-रुक्तवदाभासो ज्ञेयः ।

मदेति । मदकला मदमत्ता ये करिणो हस्तिनः तेषां कर्णतालाभ्यां तालपत्रवद्विस्तृतश्रवणाभ्यां यत्ताडनं प्रहारः तस्मात् त्रस्तो भीत इव सन् , कर्णयोः श्रवणयोः शङ्खानां भालास्थ्नाञ्च उदरविवराणि अभ्यन्तरच्छिद्राणि विशन् प्रविशन् ।

पीयमान इति । उन्मुखीभिः ऊर्ध्वाननाभिः, अवनिपतीनां नृपाणां मुकुटेषु याः मणिभङ्गमकरिकाः रत्नखण्डरचिता मकरसदृशांशाः ताभिः पीयमान इव, तदन्तर्गतत्वादित्याशयः ।

अभ्यर्च्येति । तुरगाणाम् अश्वानां मुखविक्षेपेण वदनप्रसारणक्रियाविशेषेण विप्लुतैः विक्षिप्तैः फेनपल्लवा मुखकफपरम्परा एव कुसुमस्तबकाः पुष्पगुच्छाः तैः अभ्यर्च्यमानः पूज्यमान इव तदुपरि पतनादित्याशयः ।

अन्विति । मत्ता मदयुक्ता या गजघटा हस्तिसमूहाः तासां कुम्भाः शिरसां पिण्डाः ते एव भित्तयः

---

समान हाथियोंकी मद-रेखाका चुम्बन करती थी; सिंहके समान हाथियोंके कुम्भस्थल पर पद धरती (जम जाती) थी; विजयी राजा जिस प्रकार संग्राममें विजित शत्रुकी पताकाओंको ग्रहण करते हैं, वह धूल भी उसी प्रकार रथकी पताकाओंका ग्रहण ( स्पर्श ) करती थी; बुढ़ापेके समान लोगोंका मस्तक सफेद करती थी; लोगोंके पलकों के आगे रहकर मानो उनलोगोंकी दृष्टिको सङ्कुचित करती थी; कर्णोत्पलके मधुकी बूँदोंसे चिपट कर मानो उस कर्णोत्पलको सूँघती थी; मद-मत्त हाथियोंके हिलते कानोंसे ताड़ना किए जानेके भयसे ही मानो उनके कान और कनपट्टीके अन्दर भर जाती थी; समक्ष आई हुई, राजाओंके मुकुट-मणियोंमें बनी हुई मछलियोंसे उन्मुख होकर मानो पान की गई थी; अश्वगणके मुँहमेंसे इतस्ततः गिर कर फैले फेन-पल्लव-रूपी फूलोंके गुच्छों से मानो पूजित हुई थी; मदमत्त हस्तिगणके कुम्भस्थलमेंसे निकला हुआ गैरिकादि धातुका रेणु ( सिन्दूर ) मानो उसका अनुगमन करता था; हस्तिगणके कुम्भस्थलका पटवास ( रेणु ), चामरोंके झूलनेसे उड़ कर मानो उसका

---

१. पताकाम् । २. पाण्डरी । ३. बिन्दुलग्नः । ४. आविशन् । ५. करिकर्ण··· । ६···मणिपतयभङ्ग··· ।

आलिङ्ग्यमान इव चलच्चामर-कलापविधुतेन[1] पटवासपांशुना, प्रोत्साह्यमान इव[2] नरपति-शेखर-सहस्र-परिच्युतैः कुसुमकेशररजोभिः, उत्पातराहुरिव दिवसकरमण्डलमकाण्ड एव पिबन्, नृप-प्रस्थाने-मङ्गल[3]-प्रतिसर-वलय-मालिकासु[4] गोरोचनाचूर्णायमानः, क्रकच-कृत-चन्दन-क्षोद-धूसरो रेणुरुत्पपात। अपरिमाण-बल-संघट्ट-समुपचीयमानश्च शनैः शनैः संहरन्निव विश्वमशेषम्, अकाल-काल-मेघ-पटल-मेदुरो विस्तारमुपगन्तुमारेभे।

तेन च क्रमेणोपचीयमानबहलमूर्त्तिना दिग्विजयमङ्गलध्वजेन, रिपु-कुल-कमल-प्रलय-

---

कुड्यानि तेभ्यः सम्भवति प्रसरति इति तेन तादृशेन, धातुधूलिवलयेन गैरिकादिरजोमण्डलेन, अनुगम्यमान इव अनुव्रज्यमान इव, तस्यापि रेण्वनुसरणादित्याशयः।

आलिङ्ग्येति। चलतां स्पन्दमानानां नृपाणां निकटे सेवकैः संवीजितानामित्यर्थः, चामराणां बालव्यजनानां कलापेन समूहेन विधुतः सञ्चालितः तेन तादृशेन, पटवासपांशुना पिष्टातकधूल्या आलिङ्ग्यमान इव आश्लिष्यमाण इव, अन्योन्यसंश्लेषादित्यभिप्रायः।

प्रोत्साह्येति। नरपतीनां राज्ञां शेखरसहस्रात् शिरोवेष्टनस्रङ्निवहात् परिच्युतैः स्रस्तैः कुसुमकेशररजोभिः पुष्पकिञ्जल्कधूलिभिः प्रोत्साह्यमानः प्रसर्तुं प्रकृष्टमुद्योगं नीयमान इव, तेषामपि प्रसरणेन पश्चात्स्थायित्वादित्याशयः।

इह 'मुद्रयन्निव'इत्यारभ्य 'प्रोत्साह्यमान इव' इत्यन्तं यावत् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'अभ्यर्च्यमान इव, तुरगमुखे'-त्यादौ तु निरङ्गरूपकसंकीर्णा क्रियोत्प्रेक्षेति बोध्यम्।

उत्पातेति। उत्पातराहुः अकालोदयात् जनानामुत्पातद्योतकः सैंहिकेय इव, अकाण्डे एव अकाल एव दिवसकरमण्डलं सूर्यबिम्बं पिबन् आच्छादयन् ग्रसंश्च। इह पूर्णोपमा।

नृपेति। नृपाणां राज्ञां प्रस्थाने प्रयाणसमये ये मङ्गलप्रतिसराः माङ्गलिककरसूत्राणि त एव वलयानि कटकाः तेषां मालिकासु पङ्क्तिषु, गोरोचनाचूर्णायमानः गोरोचनाधूलिवद्व्यवहरन् अवलोक्यमान इत्यर्थः।

इह 'गोरोचनाचूर्णायमान इव' इत्यत्र व्यङ्ग्योपमा।

क्रकचेति—क्रकचेन करपत्रेण कृतः छेदनसमये विहितो यः चन्दनक्षोदः मलयजवृक्षकणः तद्वत् धूसरः, रेणुः भूमिरजः। अन्वयस्तूक्त एव। लुप्तोपमा।

अपरिमाणेति। अपि च अपरिमाणम् अगणितं यद् बलं सैन्यं तस्य सङ्घट्टेन पदसम्मर्द्देन समुपचीयमानो वर्द्धमानः, अत एव अशेषं समग्रं विश्वं संसारं शनैः शनैः मन्दं मन्दम्, संहरन्निव व्यापनेन सङ्कोचयन्निव, अकाले असमये यत् कालं श्यामवर्णं मेघपटलम् अभ्रवृन्दं तद्वत् मेदुरो निविडः, स रेणुरिति शेषः, विस्तारं विशालम् उपगन्तुं प्राप्तुम् आरेभे प्रारम्भं चकार।

इह 'संहरन्निव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'अकालकालमेघपटलमेदुर' इत्यत्र लुप्तोपमा, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

तेनेति। अपि चेति चार्थः। तेन रजसा 'त्रिभुवनमलङ्घयत' इति सम्बन्धः। अग्रेतनस्य 'रजसा' इत्यस्य तृतीयैकवचनान्तानि पदानि विशेषणानि बोध्यानि। उपचीयमाना वर्द्धमाना बहला पृथुला मूर्त्तिः शरीरं यस्य तेन तादृशेन। अत एव दिग्विजयस्य दिगात्मसात्करणस्य मङ्गलध्वजेन माङ्गलिकपताकादण्डस्वरूपेण, तद्वदुत्थानादित्याशयः। रिपुकुलान्येव शत्रुगोत्राण्येव कमलानि पङ्कजानि तेषां प्रलये

---

आलिङ्गन करता था और राजाओंके हजारों मुकुटों में से गिरी फूलों की रज फैलकर मानो उसे उड़ने के लिए उत्साहित करती थी; अशुभ-सूचक राहु के समान असमय में ही सूर्यमण्डल को ग्रास करती थी; वह राजाओं के यात्रा करने के समय हाथ में बाँधे गए मङ्गल सूत्रों और हारों पर गोरोचन के चूरे के समान दीखती थी और वह आरी से काटे गए चन्दन के वृक्ष में से नीचे गिरे हुए ( बुरादे ) के समान धूसरवर्ण होकर उड़ने लगी। अकालोत्पन्न कृष्णवर्ण मेघसमूह के समान घनीभूत हो वह असंख्य सेनाओं के पद-संघर्ष से वृद्धि पाकर, धीरे धीरे समग्र भूमण्डल को ही मानो संहार करती हुई क्रम से फैलने लगी।

इस प्रकार उस धूल का समूह जो क्रमशः बढ़कर बहुत विशाल हो गया था, वह दिग्विजयका माङ्गलिक

---

१…विधूतेन। २. प्रसार्य्यमाणः, प्रोत्सार्य्यमाणः। ३. मङ्गलवलय। ४…प्रतिसरमालिकासु।

नीहारेण, राजलक्ष्मी-विलास-पटवासचूर्णेन, अहितातपत्र-पुण्डरीक-षण्ड तुषारेण[1], सेनाभर[2]-पीडित-महीतल-मूर्च्छान्धकारेण, चलद्बल[3]-जलद-काल-कदम्ब कुसुमोद्गमेन, दिवसकर-कर[4]-कमल-वनोद्दलन-द्विपयूथेन, गगन-महीतल-प्लावन-प्रलय-पयोधिपूरेण, त्रिभुवन-लक्ष्मी-शिरोऽवगुण्ठन-पटेन, महावराह-केशर-निकर-कर्बुरेण, प्रलयानल-धूम-राजि-मांसलेन, पातालतलादिवोत्तिष्ठता, चरणेभ्य इव निर्गच्छता, लोचनेभ्य इव निष्पतता, दिग्भ्य इवागच्छता,

विनाशे नीहारेण हिमस्वरूपेण, हिमपातेन पङ्कजानामिव तद्रजःपातेन शत्रुगोत्राणां विनाशद्योतनादित्याशयः। राजलक्ष्म्या नृपश्रिया विलासस्य वेशविन्यासस्य पटवासचूर्णं पिष्टातकरजः फल्गुरिति तात्पर्यम्, तेन तादृशेन। वीरभोग्या हि राज्यश्रीर्वीरभारोत्थितेनैव रजसात्मानं भूषयतीत्याशयः। अहितानां वैरिणाम् आतपत्राणि छत्राण्येव पुण्डरीकाणि सिताम्भोजानि तेषां षण्डस्य समूहस्य तुषारस्तुहिनं तेन तादृशेन। सेनायाः सैन्यस्य भरेण भारेण पीडितस्य व्यथितस्य महीतलस्य मूर्च्छा मोहः तस्या अन्धकारः तमः तेन तादृशेन। चलद् गच्छद् बलं सैन्यमेव जलदकालः वर्षासमयः तस्य कदम्बकुसुमोद्गमेन नीपपुष्पोद्गमेन विषमत्वात्। दिवसकरस्य रवेः करा रश्मय एव कमलवनानि नलिनखण्डानि तेषाम् उद्दलने विनाशने द्वीपियूथः हस्तिगणः तेन तादृशेन। हस्तिसमूहो यथा पङ्कजवनानि विनाशयति तथासौ धूलिगणोऽपि रविरश्मीन् अलक्ष्यतानयनेन विनाशयति स्मेत्याशयः। गगनमेव आकाशमेव महीतलं तस्य प्लावने जलद्वारा तिरोधापने प्रलयपयोधिपूरः कल्पान्तसमुद्रप्लवः तेन तादृशेन। त्रिभुवनलक्ष्म्याः त्रैलोक्यश्रियः शिरोऽवगुण्ठनपटः उत्तमाङ्गावरणवसनं तेन तादृशेन।

इह 'दिग्विजयमङ्गलध्वजेन' इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकमलङ्कारः। 'रिपुकुलकमलप्रलयनीहारेण' इत्यत्र परम्परितरूपकमलङ्कारः। 'राजलक्ष्मीविलासपटवासचूर्णेन' इत्यत्रैकदेशविवर्त्तिरूपकं निरङ्गरूपकं वालङ्कारः। 'अहितातपत्रपुण्डरीकषण्डतुषारेण' इत्यत्र परम्परितरूपकम्। 'सेनाभरे' त्यादौ निरङ्गकेवलरूपकम्। 'चलद्बल०' दिवसकरकर० 'गगनमहीतल०' इत्येतेषु हि परम्परितरूपकमलङ्कारः। 'त्रिभुवनलक्ष्म्या' इत्यादौ च निरङ्गं रूपकम्, एकदेशविवर्त्तिरूपकं वाऽलङ्कार इत्यवधेयम्।

महावराहेति। महावराहो नारायणस्य तृतीयावतारः तस्य केशरनिकरवत् सटासमूहवत् कर्बुरेण विचित्रवर्णेन। प्रलयानलः कल्पान्तवह्निः तस्य धूमराजिवत् दहनकेतनपङ्क्तिवत् मांसलेन परिपुष्टेन। उभयत्र लुप्तोपमा।

पातालेति। पातालतलात् अधोभुवनात् उत्तिष्ठतेव उत्थानं कुर्वतेव मूलादर्शनात्, सैन्यानां चरणेभ्यः पादेभ्यो निर्गच्छतेव निःसरतेव प्रत्येकपादलग्नत्वात्, सैनिकानां लोचनेभ्यो नयनेभ्यो निष्पततेव तत्रापि संसक्तत्वात्, दिग्भ्यः हरिद्भ्य आगच्छतेव आयातेनेव तासु समस्तास्वेव दर्शनात्, नभस्तलात् व्योमतलात् पततेव पतनं विदधतेव तत्र दृष्टिपथं यावदवलोकनात्, पवनात् समीरणात् उल्लसता प्रादुर्भवतेव सर्वपवनसञ्चरणात्, तथा रविकिरणेभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः सम्भवतेव प्रादुर्भवतेव तत्रापि सर्वत्र दर्शनात्।

इह 'उत्तिष्ठतेव' इत्यारभ्य 'सम्भवतेव' इत्यन्तं यावत् सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। अत एव च सर्वतो विसारित्वं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

ध्वजस्वरूप था, शत्रु कुल रूपी कमल-वनका नाश करनेके लिए तुषार ( पाला ) था, राजलक्ष्मीके वेशविन्यासका पटवास चूर्ण ( अबीर ) था, शत्रुओंके छत्ररूपी श्वेतकमलका तुहिन ( पाला ) था, सेनाओंके पदभारसे परिपीड़ित हुई पृथिवीकी मूर्च्छाका अन्धकार था, चलती हुई सेनारूप वर्षाकालमें हुआ कदम्ब-कुसुमोद्गम था, सूर्य-किरणरूपी कमल-वनको नष्ट करनेवाला हस्तिसमूह था, आकाश और महीतलके मध्य-भूमिको डुबानेवाला प्रलयकालीन समुद्रका प्रवाह था, त्रिभुवन-लक्ष्मीके मस्तकको ढकनेवाला वस्त्र-स्वरूप था, आदिवराहके केशरसमूहके समान विचित्रवर्ण था और प्रलयाग्निके धूमसमूहके समान परिपुष्ट ( स्थूल ) था। और वह मानो पातालमेंसे उठता था, सैनिकोंके चरणोंमेंसे निकलता था, उनके नेत्रोंमेंसे बाहर आता था, दिशाओंमेंसे आता था, आकाशमेंसे गिरता था, वायुमेंसे उड़ता था एवं सूर्यके किरणोंमेंसे उत्पन्न होता था। एवं वह धूलका समूह सब लोगोंका ही निद्रास्वरूप

१ '''खण्डनतुषारेण। २. सैन्यभर'''। ३. चलद्बद्दलबल'''। ४. दिवसकरकमल, दिवसकरकिरणकमल।

नभस्तलादिव पतता, पवनादिवोल्लसता, रविकिरणेभ्य इव सम्भवता, अनपहृतचेतनेन निद्रागमेन, अनवगणितसूर्य्येण[1] अन्धकारेण, अधर्म्मकालोपस्थितेन भूमिगृहेण, अनुदितताराग‌णनिवहेन बहुलनिशाप्रदोषेण, अपतित-सलिलेन[2] जलधरसमयेन, अभ्रान्तभुजङ्गेन[3] रसातलेन, हरिचरणेनेव संवर्द्धमानेन त्रिभुवनमलङ्घ्यत रजसा।

विकचकुवलयवनमिव नवोदकेन गगनतलमवष्टभ्यमानमलक्ष्यत क्षीरोदफेन-

---

अनपहृतेति। अनपहृता न विलोपिता चेतना चैतन्यं येन तेन तादृशेन, निद्रागमेन प्रमीलासमागमनस्वरूपेण। निद्रा चेतनामपहरति, किन्तु इदं रजश्चेतनां न हरतीति ततो वैशिष्ट्यमित्याशयः। न अवगणितः अस्तगमनादवबुद्धः सूर्यो रविर्यन तेन तादृशेन, अन्धकारेण तमोरूपेण। अन्धकारेण हि सर्वपदार्थावरणं क्रियते, सूर्यसत्त्वे तु नायं तथेति भवति ततो वैशिष्ट्यमित्याशयः। अधर्मकाले अग्रीष्मसमये उपस्थितेन विद्यमानेन भूमिगृहेण भूगर्भान्तर्वर्त्तिभवनस्वरूपेण। ग्रीष्मसमये हि जनैः सूर्यरश्मिसन्तापनिवारणाय भूगर्भभवनमवलम्ब्यते। भूगर्भगृहेण रविकिरणनिवारणं भवति, ग्रीष्मकाले च स्थितिर्भवति अस्य त्वग्रीष्मकाल इति भवति ततो वैशिष्ट्यमित्याशयः। न उदितः उदयं न प्राप्तः तारागणानां नक्षत्रगणानां निवहः समूहो यत्र तेन तादृशेन, बहुलनिशाप्रदोषेण कृष्णपक्षरात्रिमुखस्वरूपेण। बहुलनिशाप्रदोषे हि तारागणानामुदयः अत्र तु न तथेति वैशिष्ट्यम्। यद्यपि 'तारागणनिवहे' इत्यत्र गणनिवहेति पर्याययोर्मध्येऽन्यतरस्यैव प्रयोगेणार्थलाभः सिद्ध्यति तथापि अतिप्राचुर्यसूचनाय तद्द्वयोपादानमित्यवधेयम्। न पतितं च्युतं सलिलं प्रावृड्जलं यत्र तेन तादृशेन, जलधरसमयेन प्रावृट्कालेन। वर्षाकाले सूर्यावरणपूर्वकं वृष्टिर्भवति अत्र तु वृष्टिजलाभाव इति ततो वैशिष्ट्यम्। न भ्रान्ता विचरिता भुजङ्गाः सर्पा यत्र तेन तादृशेन, रसातलेन पातालस्वरूपेण। पाताले हि गाढान्धकारप्रादुर्भावात् सर्पविचरणाभावः, इह तु गाढान्धकारप्रादुर्भावेऽपि सर्पविचरणं भवत्येवेति भवति ततो वैशिष्ट्यम्।

इह 'अनपहृतचेतनेन निद्रागमेन' इत्यारभ्य 'अभ्रान्तभुजङ्गेन रसातलेन' इत्यन्तं यावत् सर्वत्राधिकाभेदरूपकम्। प्राचां मते—अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकम्। प्राचीनतराणां (वामनादीनां) मते तु—एकगुणहानिकल्पनायां समस्तगुणदार्ढ्यं विशेषोक्तिरिति सुधीभिर्विचारणीयम्।

संवर्धमानेन वृद्धिं प्राप्नुवता हरिचरणेनेव वामनपादेनेव, यथा नारायणचरणो बलिविनाशाय यथाक्रमं वृद्धिं प्राप्तस्तथाऽयमपीत्याशयः। एतादृशेन रजसा धूलिना त्रिभुवनं त्रैलोक्यम् अलङ्घ्यत व्याप्यत।

इह पूर्णोपमा, त्रिभुवनलङ्घनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः। उभयोश्चैकाश्रयानुप्रवेशसङ्करः।

विकचेति। क्षीरोदस्य क्षीरसमुद्रस्य फेनः अब्धिकफः तद्वत् पाण्डुनाश्वेतेन, नवोदकेन नूतनवृष्टिसलिलेन, विकचं विकसितं यत् कुवलयवनं नीलोत्पलवनं तदिव, क्षीरोदफेनपाण्डुना क्षितिक्षोदेन भूरजसा, गगनतलम् आकाशतलम् अवष्टभ्यमानम् आश्रीयमाणं व्याप्यमानम्, अलक्ष्यत अदृश्यत जनैरिति शेषः।

इह 'विकचकुवलयवनमिव' इत्यत्र श्रौतोपमा। 'क्षीरोदफेनपाण्डुना' इत्यत्र च लुप्तोपमा। अनयोश्च मिथः सङ्करः।

---

होकर था, किन्तु किसीकी भी चेतनाका हरण करनेवाला नहीं था; अन्धकारस्वरूप प्रादुर्भूत होकर था, किन्तु सूर्यास्तके बाद प्रादुर्भूत नहीं होता था; पृथिवीके अभ्यन्तरस्थित गृहस्वरूप (तैखाना) होकर था, किन्तु ग्रीष्मकालमें उपस्थित नहीं होता था; कृष्णपक्षके प्रदोषकालस्वरूप देखनेमें आता था, किन्तु उसमें तारे उदित नहीं हुए थे; वर्षाकालस्वरूप होकर था, किन्तु वृष्टिसे रहित था; पातालस्वरूप प्रतीत होता था, किन्तु फिरते हुए सर्पोंसे रहित था; इस प्रकार वह वामनदेवके चरणोंके समान वृद्धि प्राप्त कर तीनों भुवनोंमें भर गया था।

नवीन वृष्टिके जलसे जिसप्रकार प्रफुल्लित कुवलय-वन देखने में आता है, उसी प्रकार क्षीरसागरके फेनके समान शुभ्रवर्ण पृथिवीके धूलिसमूहसे आकाशतल आच्छन्न (घिरा) है इस प्रकार लोग देखने लगे। उस धूलिसमूहसे धूसर हुआ सूर्य-बिम्ब हाथीके कानमें पड़ने चमरके समान प्रभाशून्य (फीका) हो गया। सूक्ष्मवस्त्रके

---

१. अनपहृतलोचनेनानवगणितसूर्य्येण। २. पतितसलिलेन। ३. ...भुजङ्गमेन।

पाण्डुना[१] क्षितिक्षोदेन । बहुलरजोधूसरितमशिशिरकिरणबिम्बमवचूलचामरमिव निष्प्रभमभवत् । दुकूलपट[२]-धवला कदलिकेव कलुषतामाजगाम गगनापगा । नरपाल-बलभरमतिगुरुमसहमाना[३] पुनरिव भारावतारणार्थममरलोकमारुरोह रजोमिषेण[४] मही । निःशेषनिपीतातपम्[५], अन्तर्दह्यमानमिव जलधिजलेषु धूसरित-रवि-रथ-ध्वज-पटमपतदवनिरजः । मुहूर्त्तेन च गर्भवासमिव, संहारसागरजलमिव, कृतान्तजठरमिव, महाकालमुखमिव, नारायणोदरमिव ब्रह्माण्डमिव विवेश पृथिवी । मृन्मय इव बभूव दिवसः, पुस्तमय्य इव[६] चकाशिरे ककुभः[७], रेणुरूपेणेव परिणतमम्बरतलम्[८], एकमहाभूतमयमिव[९] त्रैलोक्यमासीत् ।

---

बहुलेति । बहुलैः सातिशयैः रजोभिः पांसुभिः धूसरितं धूम्रवर्णीकृतम्, अशिशिरकिरणबिम्बं रविमण्डलम्, अवचूलचामरमिव पताकाग्रलम्बितवसनबद्ध बालव्यजनमिव । उपमा ।

दुकूलेति । दुकूलं पटः सूक्ष्मवस्त्रं तद्वत् धवला शुभ्रा, गगनापगा वियन्नदी मन्दाकिनी, कदलिका रम्भापताकेव, कलुषताम् आविलताम् आजगाम प्राप्तवती, तद्रेणुसम्पातादित्याशयः ।

इह 'दुकूलपटधवला' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'कदलिकेव' इत्यत्र च श्रौतोपमा । आभ्यां च मन्दाकिन्याः कालुष्यप्राप्तिसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः सङ्कीर्यते ।

नरपालेति । अतिगुरुं नितान्तविस्तृतं नरपालबलभरं राजसैन्यभारम् असहमाना वोढुमसमर्था मही वसुन्धरा, भारावतारणार्थं रजोमिषेण रेणुव्याजेन, पुनर्भूयः अमरलोकं स्वर्गम् आरुरोहेव अवरोहणं चकारेव । दशाननकंसप्रभृतिभारावतारणाय प्रथमारोहणवदित्याशयः । सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा ।

निःशेषेति । धूसरितो धूम्रवर्णीकृतः रविरथस्य सूर्यस्यन्दनस्य ध्वजपटः पताका येन तत्तादृशम्, तथा निःशेषेण सामस्त्येन निपीतो ग्रस्त आतपः रविप्रकाशो येन तत्तादृशम्, अत एव आतपग्रसनात् अन्तरभ्यन्तरे दह्यमानमिव सन्तप्यमानमिव सत्, अवनिरजः भूरेणुः, जलधिजलेषु समुद्रसलिलेषु अपतत् पपात, दह्यमानस्य शीतोपचारस्य शान्तिदायित्वादित्याशयः ।

इह अतिशयोक्ति-पदार्थहेतुककाव्यलिङ्ग-क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

मुहूर्त्तेनेति । किञ्चेति चार्थः । पृथिवी मही मुहूर्त्तेन क्षणेनैव गर्भवासं जनन्या गर्भाशयं विवेशेव सर्वत्र प्रविष्टवतीव । एवमग्रेऽपि सम्बन्धः । तद्वद्ध्यान्धकारितत्वादित्याशयः । संहारे प्रलयकाले यः सागरः समुद्रः तस्य जलं सलिलमिव, कृतान्तजठरमिव यमोदरमिव, महाकालमुखमिव अखण्डदण्डायमानमहाकालवदनमिव, नारायणोदरमिव श्रीविष्णोर्जठरमिव, ब्रह्माण्डं ब्रह्मकोषं विवेशेव । सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

मृन्मय इति । दिवसो वासरो मृन्मयो मृत्तिकाविकार इव बभूव जातः, ककुभो दिशः पुस्तमय्यो रजोलेपविकारा इव सत्यः चकाशिरे शुशुभिरे ।

'मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।
लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥'

इति रामाश्रमी टीका । अम्बरतलं गगनतलं कर्तृ, रेणुरूपेण धूलिस्वरूपेण परिणतमिव तन्मयतां गतमिव । तथा त्रैलोक्यं त्रिभुवनं कर्तृ, एकमहाभूतमयमिव केवलभूतमयमिव आसीत्, अन्येषाम् अगगनादीनां रेणुभिराच्छादितत्वादित्याशयः ।

---

समान शुभ्रवर्ण मन्दाकिनीका जल, उस सैन्यगणकी पताकाके समान धूलिसमूहसे मलिन हो गया । राजाओंकी सेनाका गुरुतर भार सहन करनेमें असमर्थ होकर पृथिवी मानो उस भारको उतारनेके लिये इस धूलिके बहाने फिरसे स्वर्गमें चढ़ी । सूर्यरथकी पताकाको धूसर-वर्ण ( मटियाला ) करके सूर्यके समस्त किरणोंका पान करनेसे भीतर मानो जलता हो, ऐसा वह धूलिसमूह समुद्रके जलमें जाकर पड़ा । एवं एक क्षणकालमध्यमें ही पृथिवी मानो माताके गर्भमें, प्रलयकालीन समुद्रके जलमें, मृत्युके उदरमें, महाकालके मुखमें, नारायणके उदरमें एवं ब्रह्मकोषके अन्दरमें घुस गई । एवं सब दिन मानो मृत्तिकामय हो गया । दिशाएँ ऐसी दीप्ति पाने लगीं मानो उन पर कुछ लिप्त कर दिया गया हो । आकाशने मानो धूल रूप ही धारण कर लिया और सब त्रिभुवनमें मानो एक ही महाभूत व्याप्त हो गया ।

---

१. क्षीरोदपाण्डुना क्षणात् क्षीरोदपाण्डुना । २. दुकूलपट्ट''' । ३'''भरमसहमाना । ४. रजोनिभेन । ५'''पीतातपम् । ६. प्रस्थमय्य इव । ७. दिशः । ८. अम्बरम् । ९. महाभूतमिव ।

अथ निजमदोष्मसन्तप्तानां दन्तिनां[1] दिशि दिशि करविवरविनिःसृतैः[2] क्षरद्भिः क्षीरोद-क्षोद-धवलैः[3] शीकरासारैः कर्णपल्लव-प्रहति-विसृतेन[4] च विसर्पता दानजलबिन्दुदुर्दिनेन, ह्रेषारवविप्रकीर्णैश्च वाजिनां लालाजल-लवजालकैरुपशमिते रजसि, पुनरपि जातालोकासु[5] दिक्षु, सागरसलिलादिव[6] उन्मग्नमालोक्य तदपरिमाणं बलमुपजातविस्मयः सर्वतो दत्तदृष्टिर्वैशम्पायनश्चन्द्रापीडमाबभाषे—

'युवराज! किं न जितं[7] देवेन महाराजाधिराजेन तारापीडेन यज्जेष्यसि; का दिशो न वशीकृताः या वशीकरिष्यसि; कानि दुर्गाणि न प्रसाधितानि यानि प्रसाधयिष्यसि; कानि द्वीपान्तराणि नात्मीकृतानि यान्यात्मीकरिष्यसि; कानि रत्नानि नोपार्जितानि

---

इह 'मृन्मय इव' 'पुस्तमय्य इव' 'एकमहाभूतमयमिव' एषु हि गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'अम्बरतलं रेणुरूपेण परिणतमिव' इत्यत्र तु क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अथेति। निजमदोष्मणा स्वीयतेजस्तापेन सन्तप्तानां प्रज्वलितानां दन्तिनां गजानाम्, दिशि दिशि प्रतिदिशं करविवरविनिःसृतैः शुण्डादण्डच्छिद्रबहिरागतैः, क्षरद्भिर्गलद्भिः, क्षीरोदक्षोदधवलैः क्षीरसमुद्रसलिलकणवत् शुभ्रैः शीकरासारैः अम्बुकणवृष्टिभिः, तथा कर्णपल्लवाभ्यां विस्तृतश्रवणाभ्यां प्रहत्या ताडनेन विसृतं विशालं तेन तादृशेन, विसर्पता प्रसरता, दानजलबिन्दूनां मदवारिपृषतां दुर्दिनेन मेघजनिततमसा, तथा ह्रेषारवैः ह्रेषाशब्दैः विप्रकीर्णानि विक्षिप्तानि तैः तादृशैः वाजिनां घोटकानां ये लालाजललवाः वदननिःसृतसलिलबिन्दवः तेषां जालकैः समूहैश्च, रजसि तस्मिन् रेणुपुञ्जे उपशमिते निवारिते सति, तथा दिक्षु आशासु पुनरपि भूयोऽपि जात उत्पन्न आलोकः प्रकाशो यासु तासु सतीषु, तत् अपरिमाणम् अगणितं बलं सैन्यम्, सागरसलिलात् समुद्रजलात् उन्मग्नम् उत्थितमिव आलोक्य निरीक्ष्य उपजातविस्मयः समुत्पन्नाश्चर्यो वैशम्पायनः, सर्वतः समन्तात् दत्तदृष्टिः प्रेरितदृष्टिः सन् चन्द्रापीडम् आबभाषे अभिदधौ इति सम्बन्धः।

इह 'रजसि उपशमिते' इत्यत्र तैस्तथाविधरजसामुपशमनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः। 'उन्मग्नमिव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षा।

युवेति। हे युवराज! देवेन पूज्येन महाराजाधिराजेन नृपेन्द्रेण तारापीडेन किं न जितं वशीकृतम्? सर्वमेव जितमित्यर्थः, यत् जेष्यसि वशीकरिष्यसि त्वमिति शेषः। का दिशः ककुभो न वशीकृता नात्मसात्कृता यास्त्वं वशीकरिष्यसि स्वायत्तीकरिष्यसि। कानि दुर्गाणि परिखादीनि न प्रसाधितानि जयसाधनेन स्वाधीनीकृतानि यानि त्वं प्रसाधयिष्यसि। जयसाधनेन स्वाधीनीकरिष्यसि। तथा कानि द्वीपान्तराणि नात्मीकृतानि जयेनाङ्गीकृतानि स्वस्वत्वास्पदीकृतानीत्यर्थः 'सप्त वित्तागमा धर्मा दायोलाभः क्रयोजयः' इत्यादि मनुवचनादिति भावः। कानि अनिर्दिष्टनामधेयानि रत्नानि मणयो नोपार्जितानि नोपार्जनाविषयीकृतानि यानि त्वम् उपार्जयिष्यसि उपार्जनां विधास्यसि।

---

तदनन्तर अपने मदकी उत्ताप (गरमी) से संतप्त हुए हाथियोंके सूँडके छेदोंमेंसे क्षीरसागरके जलबिन्दुके समान शुभ्रवर्ण जलबिन्दुसमूह निकल कर सब दिशाओंमें गिरने लगा, विशाल कर्णयुगलके टकरानेसे गलकर बहते मद-जलकी बूँदोंकी वर्षा सब दिशाओंमें होने लगी और घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे टपकती लारकी बूँदें निकलने लगीं उससे उस धूलिराशिके दब जानेपर दिशाएँ फिर दीखने लगीं और समुद्र-जलमेंसे उठकर मानों बाहर आई हो ऐसी उस अगणित सेनाओंको देख, विस्मयसे सब दिशाओंमें दृष्टिपात कर, वैशम्पायन चन्द्रापीडसे कहने लगाः—

'युवराज! महाराजाधिराज तारापीडने क्या नहीं जीता है जिसे आप जीतेंगे?, किन दिशाओंको उन्होंने अधिकारमें नहीं किया जिन्हें तुम अधिकारमें करोगे? कौन से दुर्ग (किले) नहीं लिये जिन्हें तुम लोगे? कौन कौनसे द्वीप अपने अधीन नहीं किये जिन्हें तुम अपने अधीन करोगे? कौन कौनसे रत्न उपार्जन (इकट्ठे) नहीं किये जिन्हें तुम उपार्जन (इकट्ठे) करोगे; एवं [ उनके प्रतापसे ] कौन कौनसे राजा उनके समक्ष अवनत (नम्र)

---

१. क्वचित् दन्तिनामिति पाठो न विद्यते। २...निःसृतैः। ३. क्षीरोदधवलैः। ४...विप्लुतेन। ५. पुनरुपजातालोकासु। ६. सागरादिव। ७. किमजितं किं किमजितम्।

यान्युपार्जयिष्यसि; के वा न प्रणता राजानः, कैर्न विरचितः शिरसि बाल-कमल-कुड्मल-कोमलः सेवाञ्जलिः कैर्न[1] मसृणीकृताः प्रतिबद्धहेमपट्टैर्ललाटैः सभाभुवः, कैर्न घृष्टाः पाद-पीठे चूडामणयः, कैर्न प्रतिपन्ना वेत्रयष्टयः[2] कैर्नोद्धूतानि[3] चामराणि, कैर्नोच्चारिता जयशब्दाः, केषां न पीताः किरीटपत्रमकरैः सलिलधारा इव निर्मलास्तच्चरण[4]-नख-मयूख-राजयः। एते हि[5] चतुरुदधिजलावगाहदुर्ललित-बल[6]-मदावलिप्ता दशरथ-भगीरथ-भरत-दिलीपालर्क-मान्धा-तृप्रतिमाः कुलाभिमानशालिनः सोमपायिनो मूर्द्धाभिषिक्ताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवा रक्षाभूति-

---

क इति। वा अथवा के राजानो नृपा न प्रणताः नमस्कृतवन्तः-देवतारापीडप्रतापादित्याशयः। अपि तु सर्व एव नमस्कृतवन्त इत्यर्थः। कैः राजभिः शिरसिः मस्तके बालम् अभिनवं यत् कमलकुड्मलं पङ्कजमुकुलं तद्वत् कोमलः मृदुलः, सेवा उपासना तत्सूचकोऽञ्जलिः पाणियोजनं न विरचितः विहितः, अपितु सर्वैरेव विरचित इत्यर्थः। तथा कैः राजभिः प्रतिबद्धो भूषणाय योजितो हेमपट्टः कनकफलकं येषु तथोक्तैः ललाटैर्भालैः सभाभुवः परिषत्स्थलानि, न मसृणीकृताः न श्लक्ष्णीकृताः, अपि तु सर्वैरेव मसृणी-कृता इत्यर्थः, इत्थमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। कैः राजभिः पादपीठे पादासने चूडामणयः शिरोरत्नानि न घृष्टानिः घर्षणं प्रापिताः। कैः राजभिः वेत्रयष्टयः वेतसदण्डा न प्रतिपन्नाः प्रतिहारिभावेन गृहीताः। कैः चामराणि बालव्यजनानि नोद्धृतानि नान्दोलितानि। कैः जयशब्दा मङ्गलशब्दा नोच्चारिता नोदीरिताः। केषां भूपतीनां किरीटेषु मुकुटेषु यानि पत्राणि पर्णसदृशांशाः तानि मकराः स्वनामविख्याता जलजन्तुविशेषा इव तैः तादृशैः, सलिलधारा इव जलसम्पाता इव, निर्मलाः स्वच्छाः, तस्य तारापीडस्य चरणनखानां पादपुनर्भूणां मयूखराजयः रश्मिपङ्क्तयः, न पीताः प्रणामसमये न ग्रस्ताः, अपि तु सर्वेषामेवेत्यर्थः।

इह 'के वा न प्रणता राजानः' इत्यारभ्य प्रतिवाक्ये अर्थापत्तिरलङ्कारः। 'किरीटपत्रमकरैः' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'सलिलधारा इव' इत्यत्र श्रौतोपमा, 'केषां न पीताः' इत्यत्रार्थापत्तिश्चेति परस्परमेषामङ्गाङ्गि-भावसङ्करः।

महाराजतारापीडेन विजिता भूपतयस्त्वामपि प्रणिपतन्तीत्याह—एत इति। हि तथाहि। चत्वार-श्चतुःसंख्याका ये उदधयः समुद्राः तेषां जलेषु सलिलेषु यः अवगाहः अन्यद्वीपविजयगमनायावतरणं, तदेव दुर्ललितं दुष्कारिता येषां तेषां तादृशानां बलानां सैन्यानां मदेन गर्वेण अवलिप्ता गर्विताः। दशरथो रामपिता, भगीरथः सगरपौत्रः, भरत आर्षभिः, दिलीपा रघुपिता, अलर्को दानगर्वितः कश्चित् राजर्षिः, अस्येतिवृत्तम् अश्वमेधपर्वणि महाभारते प्रसिद्धम्; मान्धाता युवनाश्वतनयः तत्प्रतिमाः तैः सदृशाः। कुलाभिमानशालिनो महाकुलप्रसूतत्वेन गर्वयुक्ताः। सोमपायिनः सोमयागं कृत्वा सोमरसपायिनो नियतयज्ञविधायिन इत्यर्थः। मूर्द्धसु शिरस्सु अभिषिक्ताः राज्यप्राप्तिसमये कृताभिषेकाः, पृथिव्यां भूतले सर्वपार्थिवाः समस्तराजानः, अभिषेकपयः अभिषेकीयसलिलं तस्य पातेन सम्पर्केण पूतैः पवित्रैः, चूडामणिपल्लवैः विस्तृतशिरोरत्नैः, रक्षाभूतिमिव रक्षार्थकयागीयभस्मेव, मङ्गल्यां श्रेयस्करीम्, भवतः तव चरणयोः पादयोः रजः संहतिं रेणुनिकरम् उद्वहन्ति प्रणामसमये धारयन्ति।

---

नहीं हुए ! कौन कौन राजाने अपने मस्तक पर अभिनव कमलके समान कोमल सेवाञ्जलि नहीं बनाई ? कनककिरीटधारी अपने अपने ललाटसे ( प्रणाम कर-करके ) किसने सभामण्डपकी भूमिको चिकना नहीं किया ? किसने नमस्कार करनेके समय महाराज तारापीडके पादपीठ ( चरणासन ) पर अपनी चूडामणि नहीं रगड़ी ? किसने [ प्रतीहारीके समान ] छड़ियाँ नहीं पकड़ीं ? किसने चमर नहीं डुलाया ? किसने जयशब्द उच्चारण नहीं किया ? एवं मकर जिस प्रकार समुद्र-जलधारा पान करता है, उसी प्रकार किसने मुकुटके स्वर्णपत्रनिर्मित मकराकार चिह्नसे, महाराज तारापीडके निर्मल चरणनख-किरणोंकी राशिका पान नहीं किया ?। जो सैन्यगण अन्यान्य द्वीपकी जय करनेके लिये चारों समुद्रोंके जलमें स्नानकर अत्यन्त साहसिकता प्रकट किये हैं उन सेनाओंके गर्वसे मदमत्त हुए एवं दशरथ, भगीरथ, भरत, दिलीप, अलर्क और मान्धाताके तुल्य गुणवान्, कुलगौ-रवसम्पन्न, सोमरस पीनेवाले राज्यमें अभिषिक्त पृथिवीके ये सब अधिपति, अभिषेक जलके संस्पर्शसे पवित्र अपने अपने चूडामणि द्वारा, यज्ञीय रक्षा भस्मके समान मङ्गलकारक तुम्हारे चरणधूलिसमूहको वहन करते ( रखते )

---

१. केन। २. वेत्रलताः। ३. उद्धृतानि। ४. त्वच्चरण…। ५. एते हि ते। ६. दुर्ललितमद।

मिवाभिषेक-पयः-पात-पूतैश्चूडामणिपल्लवैरुद्वहन्ति मङ्गल्यां[1] भवच्चरणरजःसंहतिम् । एभिरियमादिपर्वतैरिवापरैर्धृता धरित्री, एतानि चाप्यमीषामाप्लावितदशदिगन्तरालानि सैन्यानि भवन्तमुपासते । तथाहि पश्य[2]-'यस्यां यस्यां दिशि विक्षिप्यते चक्षुः, तस्यां तस्यां रसातलमिवोद्गिरति, वसुधेव सूते, ककुभ इव वमन्ति, गगनमिव[3] वर्षति, दिवस इव सृजति बलानि । अपरिमितबलभराक्रान्ता मन्ये स्मरति महाभारत-समर-संक्षोभस्य[4] अद्य क्षितिः । एष शिखरदेशेषु[5] परिस्खलित[6]-मण्डलो ध्वजान् गणयन्निव कुतूहलाद्भ्रमति कदलिकावनान्तरेषु मयूखमाली । सर्वतश्च मदजलमुचां करिणामेलापरिमल-सुरभिणि वेणिकावाहिनि मद-

इह तेषां भूपतीनां मुख्यप्रतिपादनकार्यं प्रति अनेकतरहेतुनिदर्शनात् समुच्चयालङ्कारः, 'रक्षाभूतिमिव' इत्यत्र श्रौतोपमा च । उभयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

एभिरिति । अपरैः अप्राकृतिकैः आदिपर्वतैः महेन्द्रप्रभृतिभिः कुलपर्वतैरिव एभिः पूर्वोक्तन्यायवर्णितस्वरूपैः भूपतिभिः, इयं धरित्री भूमिः धृता धारिता रक्षिता च । आप्लावितानि व्याप्तानि दशानां दिशाम् आशानाम् अन्तरालानि मध्यप्रदेशा यैस्तानि तादृशानि, एतानि अवलोक्यमानानि अमीषां नृपाणां बलानि च भवन्तं त्वाम् उपासते दिग्विजयसहायताविधानाय सहानुसरणेन सेवन्ते । एतदपि महाराजतारापीडस्यैव प्रतापादित्याशयः । कुलपर्वतैरिवेत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा ।

तदेवोपपादयति—तथाहीति । पश्य विलोकय यस्यां यस्यां दिशि आशायां चक्षुः विक्षिप्यते प्रेर्यते-तस्यां तस्यां दिशि रसातलं पातालं कर्तृ, बलादि सैन्यानि उद्गिरतीव, सीमानवलोकनादित्याशयः । वसुधा पृथिवी बलानि सूते प्रसवतीव । ककुभ आशाः बलानि वमन्तीव उद्गिरन्तीव । गगनं कर्तृ, बलानि वर्षतीव वृष्टिं करोतीव । दिवसो वासरो बलानि सृजति उत्पादयतीव ।

इह 'उद्गिरतीव' सृजतीव' इत्यन्तं यावत् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

अपरिमितेति । अपरिमितम् असंख्यं यद् बलं सैन्यं तस्य भरेण भारेण आक्रान्ता व्याप्ता क्षितिः, अद्य अस्मिन्नहनि महाभारते एतन्नामके प्रसिद्धेतिहासग्रन्थे व्याख्यातो यः समरः कुरुपाण्डवसंग्रामः स महाभारतसमरः शाकप्रियः पार्थिवः-शाकपार्थिवः इतिवत् मध्यमपदलोपिसमासः, तस्य संक्षोभः सम्मर्दः तस्य स्मरति स्मरणं करोति, इत्यहं मन्ये जाने, तत्सदृशभाराभिभूतत्वादित्याशयः । 'संक्षोभस्य' इत्यत्र कर्मणि षष्ठी ।

इह 'मन्ये' इत्युपादानात् 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः' इत्युक्तिदिशा वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा ।

एष इति । शिखरदेशेषु केतूनामेवोर्ध्वप्रदेशेषु परिस्खलितं प्रतिबिम्बितत्वात् पतितं मण्डलं बिम्बं यस्य स तादृशः, एष मयूखमाली दिनकरः, कुतूहलात् कौतुकात् गणयन्निव ध्वजानामेव गणनां विदधदिव, कदलिकावनान्तरेषु पताकासमूहमध्येषु ध्वजान् सुवर्णवेष्टितोर्ध्वप्रदेशान् केतून् वमति उद्गिरतीव । प्रतिध्वजस्योर्ध्वप्रदेशे सूर्यबिम्बस्य प्रतिबिम्बितत्वात् ते ध्वजाः सूर्येणोद्गम्यमाना इव दीप्यन्ति इति स्पष्टार्थः । 'कदली हरिणान्तरे रम्भायां वैजयन्त्यां च ।' इति हैमः ।

इह 'गणयन्निव' इति वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा, 'वमतीव' इत्यत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । उभयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

सर्वत इति । अपि चेति चार्थः । सर्वतश्चतुर्दिक्षु, मदजलमुचां दानवारिस्राविणां करिणां हस्तिनाम्,

हैं । अपर कुलपर्वतके समान ये नरपति ही इस पृथिवीकी रक्षा करते हैं एवं दसों दिशाओंमें फैली हुई इनकी यह सेना भी आज तुम्हारी सेवामें है । यह देखो—जिस दिशामें दृष्टिपात करते हैं उसमें ही ऐसा प्रतीत होता है कि 'मानो सेना पातालमेंसे निकलती चली आती है, पृथिवीमेंसे मानों उत्पन्न होती है, दिशाएँ मानो उसको उगलती हैं, आकाशमेंसे मानो उसकी वर्षा होती है और दिवस मानो उसे उत्पन्न करता है ।'

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि—आज पृथिवी, तुम्हारी ऐसी असंख्य सेनाके भारसे आक्रान्त होकर ( दब कर ) महाभारत वर्णित उस कुरुपाण्डवके युद्धसङ्घर्षके क्षोभका स्मरण करती है । ध्वजाओंके चोटियोंमें प्रतिबिम्बित हुआ यह सूर्य मानो कौतुकवश उनको गिनता हो इस प्रकार पताकाओंके अभ्यन्तर में घूमता है । मदजल टपकाते हाथियोंके-इलायचीके सुगन्धिके समान सुगन्धित और महावेगसे वहते-मदजलमें सब दिशाओंमें

१. माङ्गल्याम्, मङ्गलदाम् । २. पश्य पश्य । ३. गगनतलमिव । ४. महाभारतसंक्षोभस्य, महाभारतबलसमरसंक्षोभस्य । ५. मत्तेभकरटशिखरदेशेषु । ६. स्खलित''' ।

वारिणि निरन्तरमग्ना[1] निपतित[2]-मधुकर-कुल-कलकलकलिता[3]-कालिन्दी-जल-कल्लोल-कलितेव[4] भाति भूतधात्री। सैन्यभरसंक्षोभभयात्[5] सरित इव गगनतलम्[6] उत्पतिता आच्छादयन्ति[7] एता दिक्चक्रवालमिन्दुधवला ध्वज-पङ्क्तयः[8]। सर्वथा चित्रम्, यन्नाद्यविघटित-सकल-कुल-शैल-सन्धि-बन्धा[9] सहस्रशः शकलीभवति बलभरेण धरित्री, यद्वा बलभर-पीडित-वसुधा-धारण-विधुरा न चलन्ति[10] फणिनां पत्युः फणाभित्तयः'।

इत्येवं वदत एव तस्य युवराजः समुच्छ्रितानेकतोरणां तृणमय-प्राकार-मन्दिरसहस्र-सम्बाधाम्,[11] उल्लासित-धवल-पट-मण्डप-शोभिनीम्[12] आवासभूमिमवाप। तस्याश्चावतीर्य्य-

---

एलायाः चन्द्रबालायाः परिमलवत् सुगन्धवत् सुरभिणि सुगन्धवति वेणिकावाहिनि धारया सञ्चारिणि-दानवारिणि, निरन्तरमग्ना निरवकाशं क्लिन्नेत्यर्थः, तथा निपतितस्य तद्दानवार्य्युपरि प्राप्तस्य मधुकर-कुलस्य भ्रमरगणस्य कलकलैः कोलाहलैः कलिला गहना दुष्प्रवेशा, भूतधात्री धारिणी, कालिन्दीजलस्य यमुनासलिलस्य कल्लोलैः बृहत्तरङ्गैः कलिता व्याप्तेव सति भाति शोभते। हस्तिनां दानवारिधारायाः यमुनासलिलसदृशश्यामवर्णत्वादित्याशयः। 'कलिलं गहनं समे' इत्यमरः।

इह 'एलापरिमलसुरभिणि' इत्यत्र लुप्तोपमा, मदजले निरवकाशमग्नत्वसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, 'कलितेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

सैन्येति। सैन्यभरसंक्षोभभयात् बलभारजनितक्षुब्धतालक्षणभासात् गगनतलम् आकाशतलम् उत्पतिता उड्डीनाः सरितो नद्य एव एता इन्दुधवलाः शशिशुभ्राः ध्वजपङ्क्तयः केतुश्रेण्यः दिक्चक्रवालं दिङ्मण्डलम् आच्छादयन्ति आवृण्वन्ति।

इह 'सरित इव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, सा च 'इन्दुधवले' त्यत्र लुप्तोपमया सङ्कीर्यते।

सर्वथेति। सर्वथा सर्वप्रकारेण चित्रं महदाश्चर्यम्, यदद्य धरित्री वसुन्धरा, बलभरेण सैन्यभारेण विघटिता विश्लेषिताः सकलानां समस्तानां कुलशैलानां महेन्द्रप्रभृतिकुलपर्वतानां सन्धिबन्धाः संयोग-बन्धनानि यस्याः सा तथोक्ता सती, सहस्रशः सहस्रधा न शकलीभवति न खण्डखण्डतां प्राप्नोति। एतच्छङ्कापाकरणाय पक्षान्तरमाह—यद्वेति। बलभरेण सैन्यभारेण पीडिताया वसुधायाः पृथिव्या धारणेन विधुरा विह्वलाः, फणिनां सर्पाणां पत्युः स्वामिनः शेषनागस्य फणाभित्तयः प्रस्तृतफणामण्डलानि न चलन्ति न स्खलन्ति, तदपि महदाश्चर्यमित्यर्थः।

इह पूर्वत्र शकलीभवनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनात्, उत्तरत्र सर्पराजस्य विस्तृत-फणामण्डलानां कदाचिच्चलनेऽपि तदप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः।

इत्येवमिति। इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण वदतो गदत एव तस्य वैशम्पायनस्य अनादरे षष्ठी, दिग्विजयतः परावर्त्तने तद्वाक्यमुल्लङ्घ्येत्यर्थः, युवराजश्चन्द्रापीडः, समुच्छ्रितानि अत्युन्नतानि अनेकानि विविधानि तोरणानि बहिर्द्वाराणि यस्याः तां तादृशीम्, तृणमये यवसमये प्राकारे वप्रे तदन्तराल इत्यर्थः, मन्दिरसहस्रेण भवनसमूहेन सम्बाधा व्याप्ता तां तादृशीम्, उल्लासितेन उत्थापितेन धवलेन शुभ्रेण पटमण्डपशतेन

---

निरन्तर डूबी हुई पृथिवी, गिरे हुए भ्रमरोंके कलकलसे ऐसा शब्द करती है मानो यमुना-जलकी तरंगोंसे व्याप्त हो गई हो। सैन्यगणके पदभारसे उत्पन्न हुए क्षोभके भयके कारण आकाशमें चढ़ी हुई नदियोंके समान, यह चन्द्र-धवल ध्वजाओंकी पंक्तियाँ सब दिशाओंको आच्छादनकर (ढक) लेती है। सर्वथा महा आश्चर्यका विषय यह है कि—सैन्यगणके पदभारसे समस्त कुलपर्वतगणका सन्धिबन्धन विश्लेषित हो (टूट) जानेके कारण पृथिवी आज हजारों टुकड़ों से विभक्त नहीं हो जाती है, अथवा सैन्यगणके पदभारसे पीड़ित हुई पृथिवीको धारण करनेमें असमर्थ होकर शेषनागके फन-रूपी दीवारें स्थानच्युत नहीं हो जाती हैं।

वैशम्पायनके इस प्रकार कह चुकते ही युवराज (चन्द्रापीड) पूर्वनिर्दिष्ट वासस्थान (डेरे) में आ पहुंचे, जिस स्थानमें अनेक तोरण लटकाए गए थे, घासके अहाते बनाकर हजारों भवन बनाए गए थे; उत्तोलित शुभ्रवस्त्रके सैकड़ों पटमण्डप शोभायमान थे। चन्द्रापीडने उस स्थानमें हस्तिनीके पृष्ठपरसे उतरकर राजाके समान सब

---

१. मदवारिणि मग्ना। २. निरन्तरनिपतित…। ३…कलिता, कलङ्ककालिका, ललिता। ४. कलिलेव, कवलितेव। ५. सैन्यसंक्षोभभयात्, धरणिमपहाय। ६. गगनम्। ७. संच्छादयन्ति। ८. द्विजपङ्क्तयः। ९. शैलबन्धा। १० दलन्ति। ११…मन्दिरसम्बाधाम्। १२…संशोभिनीम्।

राजवत् सर्वाः क्रियाश्चकार । सर्वैश्च तैः समेत्य नरपतिभिरमात्यैश्च विविधाभिः कथाभिर्विनोद्यमानस्तं दिवसमशेषमभिनवपितृवियोगजन्मना शोकावेगेनास्यमानहृदयो दुःखेनात्यवाहयत् । अतिवाहितदिवसश्च यामिनीमपि स्वशयनीयस्य नातिदूरे निहितशयननिषण्णेन[1] वैशम्पायनेन, अन्यतश्च समीपे[2] क्षितितल-विन्यस्त[3]-कुथप्रसुप्तया पत्रलेखया सह, अन्तरा पितृसक्तम्, अन्तरा मातृसम्बद्धम्, अन्तरा शुकनासमयं कुर्वन्नालापं नातिजातनिद्रः[4] प्रायेण जाग्रदेव निन्ये । प्रत्यूषे[5] चोत्थाय तेनैव क्रमेणानवरतप्रयाणकैः प्रतिप्रयाणकमुपचीयमानेन सेनासमुदायेन जर्जरयन् वसुन्धराम्, आकम्पयन् गिरीन्, उत्सिञ्चन्[6] सरितः, रिक्तीकुर्वन् सरांसि, चूर्णयन् काननानि, समीकुर्वन् विषमाणि, दलयन् दुर्गाणि, पूरयन्निम्नानि, निम्नयन् स्थलानि प्रातिष्ठत[7] ।

---

वस्त्रमयभवनसमूहेन शोभते चकास्ति इति तां तादृशीम्, आवासभूमिं प्राग्रचितनिवासस्थलम् अवाप प्राप।

तस्यामिति । तस्याम् आवासभूमौ अवतीर्य अवतरणं विधाय राजवत् तारापीडवत् सर्वाः क्रियाः बलपर्यवेक्षणसेनापतिसम्भाषणनियोगप्रभृतीनि समग्रकृत्यानि चकार कृतवान् । तैः पूर्वोक्तैः सर्वैः समस्तैः नरपतिभिः राजभिः सचिवैश्च सह समेत्य मिलित्वा विविधाभिः अनेकप्रकाराभिः कथाभिर्वार्ताभिः विनोद्यमानः प्रसाद्यमानः अभिनवपितृवियोगात् प्रत्यग्रानुभूतजनकविश्लेषात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तेन तादृशेन शोकावेगेन विषादभरेण आयास्यमानहृदयः सन्तप्यमानचित्तः चन्द्रापीडः, अशेषं समस्तं तं दिवसं दिनं दुःखेन महता क्लेशेन अत्यवाहयत् व्यत्ययगमयत् ।

अतिवाहितेति । अपिचेति चार्थः । अतिवाहितोऽतिक्रमितो दिवसो वासरो येन तादृशश्चन्द्रापीडः, स्वशयनीयस्य स्वकीयशय्यायाः, नातिदूरे नातिदवीयसि प्रदेशे निहितं स्थापितं यत् शयनं शयनीयं तत्र निषण्णेन स्थितेन वैशम्पायनेन । अन्यतो निजशयनीयस्य अन्यस्मिन् पार्श्वे समीपे निकटे, क्षितितले पृथिव्यां विन्यस्तं स्थापितं यत् कुथं विचित्रकम्बलं तत्र प्रसुप्ता कृतशयना तया तादृश्या च पत्रलेखया तन्नामप्रसिद्धया ताम्बूलकरङ्कवाहिन्या च सह । अन्तरा मध्ये मध्ये पितृसक्तं तारापीडसम्बद्धम्, अन्तरा शुकनासमयं वैशम्पायनपितृविषयकम् आलापं परस्परं प्रीतिभाषणं कुर्वन् विदधत् नातिजाता बाहुल्येन उपयाता निद्रा प्रमीला यस्य सः तादृश, अत एव प्रायेण आधिक्येन जाग्रदेव निद्राभाववानेव सन् यामिनीमपि तां त्रियामामपि निन्ये यापयामास ।

प्रत्यूष इति । प्रत्यूषे प्रातःकाले च उत्थाय उत्थानं विधाय तेनैव क्रमेण पूर्वोक्तपरिपाट्या अनवरतप्रयाणकैः अविश्रान्तप्रस्थानैः । प्रतिप्रयाणकः प्रतिवासरिकयात्राकाल इत्यर्थः । अज्ञातेऽर्थे कप्रत्ययो ह्युभयत्र ज्ञेयः । उपचीयमानेन वृद्धिं प्राप्यमाणेन, तत्तत्सामन्तराजगणसैन्यसम्मेलनादित्याशयः । सेनासमुदायेन वाहिनीगणेन । वसुन्धरां पृथिवीं जर्जरयन् शिथिलतामापादयन् भारेण पीडयन्नित्यर्थः । गिरीन् पर्वतान् आकम्पयन् तरलतां नयन्, सरितो नदीः उत्सिञ्चन् सलिलोत्तोलनेन स्तोकसलिलानि विदधत् । सरांसि तटाकानि रिक्तीकुर्वन् पानाद्यर्थसलिलानयनादिना सलिलरहितीकुर्वन् । काननानि वनानि चूर्णयन् क्षोदीकुर्वन् । विषमाणि उन्नतावनतानि स्थानानि समीकुर्वन् सरलीकुर्वन् । दुर्गाणि दुर्गमाणि मार्गस्थायिपर्वतादिस्थानानि दलयन् विनाशयन् । निम्नानि मार्गस्थायिह्रदादीनि पूरयन् मृत्तिकादिभिः समीकुर्वन् ।

---

क्रियायें सम्पादन कीं, एवं समस्त राजगण प्रधानमन्त्रियोंके साथ इकट्ठे होकर नाना प्रकारके कथोपकथन (बातचीत) से उसका मनोरञ्जन करने लगे, किन्तु वह सब दिन पिताके नए वियोगके कारण उत्पन्न हुए शोकावेगसे हृदयमें खिन्न होकर उसने कठिनता से बिताया । दिनके बिता लेनेपर रात्रि भी—अपने शय्याके पासमें ही एक पलंग पर बैठे हुए-वैशम्पायनके साथ और-दूसरी ओर निकटमें ही पृथिवीपर बिछे हुए एक विचित्र कम्बल (गलीचे) पर सोती हुई—पत्रलेखाके साथ बीच-बीचमें पिता-माता एवं शुकनासके सम्बन्धमें कथोपकथन (बातचीत) करते, उसने निद्रा न आनेसे प्रायः जागरणमें ही बिताई । पुनः प्रातःकालमें उठकर पहले की भाँति ही कहीं ठहरे बिना गमन ( कूच ) करने लगा प्रत्येक दिन प्रस्थान करनेके समयमें नए नए आकर योग देने लगे इससे अपनी सेना अत्यधिक बढ़ गई, इस प्रकार मंजिल-मंजिल पर बढ़ती सेनासे वह पृथिवीको जर्जरित करता हुआ, पर्वतोंको

---

१. नातिदूरनिषण्णेन । २. शयनीयसमीपे । ३. क्षितितले विन्यस्त··· । ४. नात्युपजातनिद्रः । ५. प्रत्यूषसि । ६. उपसिञ्चन् । ७. न्यायवर्त्मनि प्रजाः प्रतिष्ठापयन् ।

शनैः शनैश्च स्वेच्छया परिभ्रमन् ; नमयन्नुन्नतान् , उन्नमयन्नतान्[1], आश्वासयन् भीतान् , रक्षन्[2] शरणागतान् , उन्मूलयन् विटपकान् , उत्सादयन् कण्टकान् , अभिषिञ्चन् स्थानस्थानेषु राजपुत्रान् , समजयन् रत्नानि, प्रतीच्छन्नुपायनानि, गृह्णन् करान् , आदिशन् देशव्यवस्थाः,[3] स्थापयन् स्वचिह्नानि, कुर्वन् कीर्त्तनानि, लेखयन् शासनानि[4], पूजयन्नग्रजन्मनः, प्रणमन्[5] मुनीन् , पालयन्नाश्रमान् , जनयन्[6] जनानुरागम् , प्रकाशयन् विक्रमम् , आरोपयन् प्रतापम् , उपचिन्वन् यशः, विस्तारयन् गुणान् , प्रख्यापयन्[7] सच्चरितम्[8], आमृद्नंश्च[9] वेलावनानि, बलरेणुभिराधूसरीकृत-सकलसागरसलिलः पृथिवीं विचचार।

स्थलानि मृन्मयपुरस्तादीनि निम्नयन् समीकरणायावश्यकनिम्नानि कुर्वन् अश्वगजादीनां सौकर्येण गन्तुमिति सर्वत्राशयः। प्रातिष्ठत अचलत्। इह 'समवप्रविभ्यः स्थः' इति सूत्रेणात्मनेपदम्।

विजयविधिं दर्शयति—शनैरिति। किञ्चेति चार्थः। शनैः शनैः मन्दं मन्दं स्वेच्छया स्वातन्त्र्येण परिभ्रमन् पर्यटन्। उन्नतान् बलकोशाभिमानेनोद्दृप्तान् भूपतीन् , नमयन् स्वायत्तीकरणेनावनम्रीकुर्वन् अवनतान् स्वयमेवाज्ञसाधीनीभूतान् भूपतीन् , उन्नमयन् दानसत्कारादिनोच्चतां प्रापयन्। भीतान् त्रस्तान् आश्वासयन् आश्वासनं विदधत्। शरणागतान् त्राणार्थं प्राप्तान् रक्षन् पालयन्। विटपकान् वञ्चकाधिपान् उन्मूलयन् मूलतः उच्छेदयन्। कण्टकान् क्षुद्ररिपून् उत्सादयन् दूरीकुर्वन् 'कण्टको न स्त्रियां क्षुद्रशत्रौ मत्स्यादिकीकसे' इति मेदिनी। उपायनानि स्वायत्तीभूतराजार्पितोपहारधनानि, प्रतीच्छन् अङ्गीकुर्वन्। करान् राज्यदेयद्रव्याणि गृह्णन्। देशव्यवस्थाः देशशासननियमान् आदिशन् आज्ञापयन् स्वाधीनीभूतनृपेष्विस्यर्थः। स्वचिह्नानि निजविजयसूचकानि स्तम्भप्रभृतीनि स्थापयन् स्थापनं विदधत्। कीर्त्तनानि स्वस्य विजयघोषणाः कुर्वन् विदधत्। शासनानि स्वायत्तताद्योतकलेख्यपत्राणि, लेखयन् लिपीकारयन् स्वाधीनराजभिरिति शेषः। अग्रजन्मनो विप्रान् पूजयन् अर्चयन्। मुनीन् ऋषीन् प्रणमन् नमस्कुर्वन्। आश्रमान् ब्रह्मचर्यप्रभृतीन् पालयन् रक्षन्। जनानुरागं लोकस्नेहं जनयन् उत्पादयन्। विक्रमं पराक्रमं प्रकाशयन् प्रकटयन्। प्रतापं कोशदण्डजं तेजः आरोपयन् प्रवर्त्तयन्। यशः कीर्त्तिम् उपचिन्वन् सदाचरणादिना प्रवर्द्धयन्। गुणान् दयादाक्षिण्यादीन् विस्तारयन् प्रथयन्। सच्चरितं शोभनवृत्तं प्रख्यापयन् प्रसिद्धीकुर्वन्। वेलावनानि समुद्रतटस्थायीनि विपिनानि आमृद्नन् साधुतया भञ्जन्। 'वेला काले च सीमायामब्धेः कूलविकारयोः' इति मेदिनी। बलरेणुभिः सैन्योत्तोलितरजोभिः आधूसरीकृतानि तटभ्रमणसमये साधुतया धूम्रवर्णीकृतानि सकलानां समस्तानां सागराणां समुद्राणां सलिलानि तोयानि येन स तादृशश्चन्द्रापीडः पृथिवीं भूमिं विचचार बभ्राम।

कंपाता हुआ, नदियोंको छलकाता हुआ, तालावोंको खाली करता हुआ वनोंको तोड़ता हुआ, ऊँचे-नीचे स्थानोंको एकसा करता हुआ, दुर्गम पर्वतों ( किलों ) को ध्वंस करता हुआ, गड्ढेको भरता हुआ, मृत्तिकास्तूपों ( टीलों ) को नीचा करता हुआ प्रस्थान करने लगा।

इस प्रकार चन्द्रापीड धीरे-धीरे अपने इच्छानुसार परिभ्रमण करता, उन्नतों (बलगर्वसे गर्वितों) को नीचा करता, नम्रों ( अपनेसे ही अवनतों ) को दान-मानादिद्वारा उन्नत करता, भयभीतोंका आश्वासन करता, शरणागतोंकी रक्षा करता, लम्पटों ( धूर्त्तों ) को निर्मूल करता, क्षुद्रशत्रुओंका नाश करता, जगह-जगह राजपुत्रों का अभिषेक करता, रत्नोंका उपार्जन करता, वशीभूत राजाओंके समीपसे उपहार ( भेंट ) ग्रहण करता, करों ( प्रजाद्वारा राजदेय द्रव्यों ) को लेता, विजित देश-समूहमें शासन की नियमपद्धतिका आदेश देता, जगह-जगह में अपने विजय-चिह्नोंको स्थापित करता, सब देशमें अपनी जय घोषणा कराता, ( अर्थात् स्मृति-चिह्न बनाता ), विजित राजाओंद्वारा अधीनता-सूचक शासन-पत्र लिखता, ब्राह्मणोंका सम्मान करता, मुनियोंको प्रणाम करता, आश्रमोंकी रक्षा-व्यवस्था करता, अपने प्रति लोगोंमें अनुराग ( प्रेम ) उत्पन्न कराता, सभी देशमें पराक्रमका प्रकाश करता, प्रतापको फैलाता, यशको बढ़ाता, गुणोंका विस्तार करता, सच्चरित्रको प्रख्यात करता, समुद्रतीर-

१. क्वचित् 'उन्नतान्' इत्येव पाठः समुपलभ्यते। २. रक्षयन्। ३. ···व्यवस्थाम्। ४. पूर्वाः प्रशस्तीः। ५. प्रीणयन्। ६. क्वचित् 'जनयन्' इति पाठः। ७. ख्यापयन्। ८. 'उद्योतयन् पौरुषम्' इति क्वचिदधिकः पाठो न विद्यते। ९. आमृद्नन् वेला, आमर्दयंश्च वेला···।

प्रथमं प्राचीम्, ततस्त्रिशङ्कुतिलकाम्, ततो वरुणलाञ्छनाम्, अनन्तरञ्च सप्तर्षिताराशबलां दिशं विजिग्ये[1]। एवं[2] वर्षत्रयेण चात्मीकृता[3]शेषद्वीपान्तरं सकलमेव चतुरम्भोधि[4]-खात-वलय-परिखा-प्रमाणं बभ्राम महीमण्डलम्। ततः क्रमेणावर्जितं[5] सकल-भुवन-तलः प्रदक्षिणी-कृत्य वसुधां[6] परिभ्रमन्, कदाचित् कैलाससमीपचारिणां हेमकूटधाम्नां[7] किरातानां सुवर्ण-पुरं नाम निवासस्थानं नातिविप्रकृष्टं[8] पूर्वजलनिधेर्जित्वा जग्राह। तत्र च निखिलधरणि-तल[9]-पर्य्यटनखिन्नस्य निजबलस्य विश्रामहेतोः कतिपयान् दिवसानतिष्ठत्।

एकदा तु तत्रस्थ एवेन्द्रायुधमारुह्य मृगयानिर्गतः[10] विचरन्[11] काननं शैलशिखरादव-तीर्णं[12] यदृच्छया किन्नरमिथुनमद्राक्षीत्। अपूर्वदर्शनतया तु[13] समुपजातकुतूहलः कृतग्रहणाभि-

---

प्रथममिति। प्रथमम् आदौ प्राचीं पूर्वां दिशं विजिग्ये विजितवान्। त्रिशङ्कुः तत्संज्ञको भूपतिः तिलक इव यस्यां तां तादृशीम्, दक्षिणां दिशम्। वरुणः प्रचेता लाञ्छनं स्वामितया चिह्नं यस्यां तां तादृशीम्, पश्चिमां दिशम्। सप्तर्षिताराभिः नक्षत्ररूपमरीच्यत्रिप्रभृतिसप्तर्षिभिः शबलां कर्बुरिताम् उत्तरां दिशम्।

एवमिति। वर्षत्रयेण अब्दत्रयेण, आत्मीकृतानि स्वायत्तीकृतानि अशेषाणि समग्राणि द्वीपान्तराणि अन्तरीपान्तराणि येन तत्तादृशम्, तथा चतुर्णाम् अम्भोधीनां सागराणां खातवलयं खातांशमण्डलमेव परिखा प्रमाणं परिमाणं यस्य तत्तादृशम्, सकलं समस्तमेव महीमण्डलं वसुधावलयं बभ्राम विचचार। इह सकलपदेनाधिकपदत्वं न दोषः तस्य अन्तर्गतभूमिविशेषपरित्यागशङ्कापनोदार्थत्वात्।

तत इति। ततः तज्जयानन्तरं क्रमेण क्रमशः, अवर्जितं स्वाधीनीकृतं सकलभुवनतलं समस्तवसु-धातलं येन स तादृशः, वसुधां धरित्रीं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणां विधाय परिभ्रमन् इतस्ततः पर्यटन्, कदाचित् कस्मिंश्चित्काले कैलाससमीपचारिणां रजताद्रिनिकटगामिनां हेमकूटधाम्नां हिमालयादुत्तरस्थित-पर्वतविशेषनिवासानां किरातानां म्लेच्छविशेषाणां सुवर्णपुरम् एतत्संज्ञकं नगरं नाम निवासस्थानं वसतिभूमिं पूर्वजलधेः पूर्वसमुद्रात् नातिविप्रकृष्टं नातिदूरं जित्वा विजित्य जग्राह गृहीतवान्।

तत्रेति। किञ्चेति चार्थः। तत्र सुवर्णपुरे, निखिलधरणितलपर्य्यटनेन समस्तभूतलपरिभ्रमणेन खिन्नस्य परिश्रान्तस्य निजबलस्य स्वीयसैन्यस्य विश्रामहेतोः खेदापनोदाय कतिपयान् दिवसान् कियतो वासरान् अतिष्ठत् अवस्थानमकरोत्।

एकदेति। एकदा एकस्मिन् समये तत्रस्थ एव तस्मिन् स्थाने स्थित एव इन्द्रायुधम् अश्वम् आरुह्य आरोहणं कृत्वा मृगयानिर्गतः आखेटाय निष्क्रान्तः काननं वनं विचरन् भ्रमन् शैलशिखरादवतीर्णं गिरि-शृङ्गादुत्तीर्णं यदृच्छया स्वाधीनभावेन स्वेच्छया विचरदिति शेषः। किन्नरमिथुनं तुरङ्गमुखदम्पती अद्राक्षीत् अपश्यत् 'युवराज' इत्यस्यापकर्षः।

अपूर्वेति। अपूर्वं प्रागविहितं दर्शनम् अवलोकनं यस्य तस्य भावस्तया हेतुना। समुपजातकुतूहलः

---

वर्त्ती वनों को मर्दित ( नष्ट ) करता, सैन्यगणके पदमारसे उत्थित धूलियों द्वारा समस्त समुद्रके जलको मलिन करता, समग्र पृथिवीमें विचरण किया। पहले उसने पूर्व दिशा को जीता, उसके बाद त्रिशङ्कुरूपी तिलकवाली दक्षिण दिशाको जीता, फिर पीछे वरुणचिह्नित पश्चिम दिशामें और सबसे पीछे सप्तऋषियोंके तारोंसे शोभित उत्तर दिशामें उसने दिग्विजय किया। इस प्रकार तीन वर्षमें सब द्वीपान्तरको अधीनमें करके वह चार समुद्र-रूपी गोल खाईके प्रमाणवाली पृथ्वीमें भ्रमण करता रहा। उसके बाद यथाक्रम समग्र भुवनमण्डल जीत कर, पृथ्वीकी प्रदक्षिणा कर परिभ्रमण करते-करते उसने एक समय कैलासके निकट घूमते और हेमकूटपर्वतमें रहने वाले म्लेच्छगणों ( किरातों ) का-पूर्व समुद्रके समीप विद्यमान-सुवर्णपुर नामका निवास स्थान जीत लिया। वहाँ समग्र पृथिवी-मण्डलमें पर्यटन करनेसे परिश्रान्त हुई अपनी सेनाको विश्रान्ति देनेके लिए वह ( चन्द्रापीड ) कितने ही दिन तक ठहरा।

उस सुवर्णपुरमें रहनेके समयमें ही एक दिन चन्द्रापीड इन्द्रायुध पर आरोहण ( चढ़ ) कर शिकार

---

१. जिग्ये। २. क्वचित् एवमिति न विद्यते। ३. वर्षत्रयेणात्मीकृत। ४. चतुरुदधि…। ५. निर्जित, आवर्जित…। ६. वसुन्धरां। ७. हेमज-कूटनाम्नां, हेमजटानाम्नां। ८. विप्रकृतं। ९. धरणीतल…। १०. …विनिर्गतः। ११. कानने। १२. शैलशिखरावतीर्णं। १३. अपूर्वतया तु।

लाषस्तत्समीपमादरादुपसर्पिततुरगः[1] समुपसर्पन्[2], अदृष्टपूर्वपुरुषदर्शनत्रासप्रधावितञ्च तत् पलायमानमनुसरन्, अनवरतपार्ष्णिप्रहारद्विगुणीकृतजवेनेन्द्रायुधेन एकाकी निर्गत्य निज-बल[3]-समूहात् सुदूरमनुससार[4]। 'अत्र गृह्यते अत्र गृह्यते[5]', इदं गृहीतम् इदं गृहीतम्' इत्यतिर-भसाकृष्टचेता महाजवतया तुरङ्गमस्य मुहूर्त्तमात्रेणैकपदमिवासहायस्तस्मात् प्रदेशात् पञ्चद-शयोजनमात्रमध्वानं जगाम। तच्चानुबध्यमानं किन्नरमिथुनमालोकयत एवास्य सम्मुखाप-तितमचलतुङ्गशिखरमारुरोह। आरूढे च तस्मिन् शनैः शनैस्तदनुसारिणीं निवर्त्य दृष्टिम् अचल-शिखर-प्रस्तर-प्रतिहत[6]-गतिप्रसरो विधृततुरङ्गः[7] चन्द्रापीडस्तस्मिन् काले समारूढ[8]-श्रम-

---

समुत्पन्नकौतुकः कृतग्रहणाभिलाषः विहितस्वीकारेच्छाविशेषः सन्, तत्समीपं तन्निकटम् आदरात् बहु-मानात् उपसर्पितः सञ्चालितः तुरगोऽश्वो येन स तादृशः, समुपसर्पन् समीपे गच्छन्, अदृष्टपूर्वस्य प्राग-नवलोकितस्य पुरुषस्य मनुष्यस्य चन्द्रापीडस्य दर्शनेन अवलोकनेन यः त्रासो भयं तेन प्रधावितं वेगेन चलितम्, तत् किन्नरमिथुनम्, पलायमानं पलायनं कुर्वाणम् अनुसरन् अनुगच्छन्, अनवरतं निरन्तरं यः पार्ष्णिप्रहारः चरणमूलाभ्यां ताडनं तेन द्विगुणीकृतो जवो वेगो यस्य तेन तादृशेन इन्द्रायुधेन अश्वेन एकाकी असहायो निर्गत्य निःसृत्य निजबलसमूहात् स्वसैन्यवृन्दात् सुदूरम् अतिविप्रकृष्टम् अनुससार पश्चाद्ययौ। 'पार्ष्णिः स्त्रीपुंसयोः पादमूले स्याद् ध्वजिनीकटौ' इति रामाश्रमी टीका।

अत्रेति। अत्र द्वित्रिपदान्तरभूमौ, गृह्यते आदीयते मया इदं किन्नरमिथुनमिति शेषः। इति अनेन विचारेण अतिरभसेन अत्यन्तजवेन अतिप्रमोदेन वा आकृष्टम् आकर्षितं चेतश्चित्तं यस्य स तादृशः। तथा तुरङ्गमस्य अश्वस्य महाजवतया महावेगतया मुहूर्त्तमात्रेण क्षणमात्रेण एकपदमिव एकपदपरिमितस्थल-मिवेत्यर्थः, असहाय एकाकी तस्मात् प्रदेशात् स्थानात् पञ्चदशभिः पञ्चदशसंख्याकैः योजनैः क्रोशचतुष्टयैः प्रमितमिति पञ्चदशयोजनमात्रम्, प्रमाणे मात्रच्प्रत्ययः षष्टिक्रोशप्रमितमध्वानमित्यर्थः, अध्वानं पन्थानं जगाम ययौ। 'योजनं परमात्मनि। चतुष्क्रोश्यां च योगे च' इति मेदिनी। लीलावत्यामपि 'स्याद्योजनं क्रोशचतुष्टयेन' इति वर्त्तते।

तच्चेति। किञ्चेति चार्थः। अनुबध्यमानम् अनुस्त्रियमाणं किन्नरमिथुनं तुरङ्गवदनदम्पती, आलोक-यतः पश्यत एव अस्य आलोकयन्तमिमं चन्द्रापीडमादृत्येत्यर्थः, 'षष्ठी चानादरे' इत्यनेनानादरे षष्ठी बोध्या। सम्मुखे अभिमुखे आपतितम् उपस्थितम् अचलतुरङ्गशिखरं पर्वतोच्चसानुम् आरुरोह आरोहणं चकार।

आरूढ इति। किञ्च, तस्मिन् किन्नरमिथुने आरूढे सति, शनैः शनैः मन्दं मन्दं तदनुसारिणीं तद-नुगामिनीं दृष्टिं चक्षुः निवर्त्य परावर्त्य, अचलशिखरस्य पर्वतशृङ्गस्य प्रस्तरैः पाषाणैः प्रतिहतः प्रतिबद्धो गतिप्रसरः गमनप्रचारो यस्य स तादृशः, अत एव विधृततुरङ्गगमनात्प्रतिषिद्धाश्वः। समारूढेन सञ्जातेन

---

खेलनेके लिए निकला तब वनमध्यमें विचरण करते-करते पहाड़की चोटी पर से उतरा हुआ एक किन्नरोंका जोड़ा उसे अचानक देख पड़ा। इस अपूर्व दर्शनसे उसको बड़ा कौतुक उत्पन्न हुआ और पकड़नेकी इच्छासे वह अपना घोड़ा आगे बढ़ा कर उन किन्नर-दम्पतिके निकट जाने लगा। इधर वे दोनों भी अदृष्टपूर्व पुरुषके दर्शन से भयभीत होकर भागने लगे। चन्द्रापीड भी निरन्तर एड़ मारकर इन्द्रायुधको दूने वेगसे दौड़ाते-दौड़ाते और अकेला ही उनके पीछे जाते-जाते अपनी सेनासे बहुत दूर निकल गया। 'यह पकड़ा यह पकड़ा, यहाँ पकड़ लेता हूँ, यहाँ पकड़ लेता हूँ' इस भाँति चित्तमें बहुत प्रसन्न होता गया, परन्तु घोड़ेके अत्यधिक वेगसे वह अकेला ही मुहूर्त्तमात्रमें उस ( सुवर्णपुर ) प्रदेशसे एक पद परिमित स्थानके समान पन्द्रह योजन ( ६० कोश ) मार्ग दूर चला गया और जिन किन्नरोंके जोड़ेके पीछे वह शीघ्रतासे दौड़ा था वह तो उसके देखते-देखते ही उच्च सम्मु-खवर्त्ती किसी पर्वतकी चोटी पर चढ़ गया। उनके पर्वतकी चोटी पर चढ़ जाने पर चन्द्रापीडने धीरे-धीरे अपनी दृष्टिको उनकी ओर से फेरा, एवं पर्वतकी चोटी पर जो पत्थर थे उनसे आगेका मार्ग रुका हुआ था इसलिए घोड़ेको खड़ा कर दिया, उस समय घोड़ेके और अपने शरीरको परिश्रमवश ( थकावटसे ) निकले पसीने में आर्द्र

---

१. '''तुरङ्गः। २. समुपससर्प। ३. वनसमूहात्। ४. उपससार। ५. 'अत्र गृह्यते' इत्यस्य पौनरुक्त्यं क्वचिन्नोपलभ्यते। ६. '''प्रस्तरशकलप्रतिहत'''। ७. '''तुरङ्गमः। ८. समुपारूढ'''।

स्वेदार्द्र-शरीरमिन्द्रायुधमात्मानञ्चावलोक्य[1]क्षणमिव विचार्य्य स्वयमेव विहस्याचिन्तयत्[2],- किमिति निरर्थकमयमात्मा मया शिशुनेवायासितः। किमनेन गृहीतेनागृहीतेन वा किन्नरयुगलेन प्रयोजनम्। यदि[3] गृहीतमिदं ततः किम्, अथ न गृहीतं ततोऽपि किम्? अहो! मे मूर्खतायाः प्रकारः, अहो! यत् किञ्चनकारितायामादरः, अहो! निरर्थकव्यापारेष्वभिनिवेशः, अहो! बालिशचरितेष्वासक्तिः। साधुफलं कर्म्म क्रियमाणं वृथा जातम्। अवश्यकर्त्तव्या क्रिया[4] प्रस्तुता विफलीभूता। सुहृत्कार्य्यमुपपाद्यमानं नोपपन्नम्। राजधर्म्मः प्रवर्त्तितो न निष्पन्नः। गुर्वर्थः प्रारब्धो न परिसमाप्तः। विजिगीषुव्यापार[5]-प्रयत्नो न सिद्धः। कस्मादहमाविष्ट इवोत्सृष्टनिजपरिवार एतावतीं[6] भूमिमायातः कस्माच्च मया निष्प्रयोजनमिदमनुसृतमश्व-

---

श्रमस्वेदेन परिश्रमजनितघर्मेण आर्द्रं स्विन्नं शरीरं वपुर्यस्य तं तादृशम्, इन्द्रायुधम् अश्वम् आत्मानं निजशरीरञ्च अवलोक्य निरीक्ष्य क्षणमिव क्षणसदृशं स्वयमेव आत्मनैव विचार्य चिन्तयित्वा विहस्य हास्यं विधाय अचिन्तयत् चिन्तितवान्—

किमितीति। किमिति हेतोः अयम् आत्मा देहः मया अज्ञेन शिशुनेव बालकेनेव आयासित एतावन्मार्गागमनेन खेदं प्रापितः। अनेन पुरो दृश्यमानेन किन्नरयुगलेन किन्नरमिथुनेन गृहीतेन स्वाधीनीकृतेन अगृहीतेन अस्वाधीनीकृतेन वा किं प्रयोजनं किं फलम्?। यदि चेत् इदं किन्नरयुगलं गृहीतं ततः किं न किमपीत्यर्थः। अथ अथवा न गृहीतं ततस्तस्मादपि किं न किमपीत्यर्थः। 'अहो' इति शब्द आश्चर्ये। मे मम मूर्खताया अज्ञतायाः प्रकारो विशेषः। यत्किञ्चन कर्म करोति निष्पादयतीति तस्य भावस्तत्ता तस्यां तादृश्याम् आदरो बहुमानः। निरर्थका निष्प्रयोजना ये व्यापाराः क्रियाः तेषु अभिनिवेश आग्रहः। बालिशचरितेषु मूढजनकर्त्तव्येषु आसक्तिरेकाग्रता तन्मयत्वमित्यर्थः। साधु उत्कृष्टं फलं यस्य तत्तथोक्तं क्रियमाणं कर्म विधीयमानं दिग्विजयरूपं वृथा जातम् व्यर्थमभूत्, इतः परावर्त्तनाभावेन तत्फलभोगासम्भवादित्याशयः। अवश्यकर्त्तव्या अवश्यकरणयोग्या क्रिया दुष्टनिग्रहण-शिष्टानुग्रहणरूपा प्रस्तुता आरब्धा, विफलीभूता निष्फलीभूता, इतः परावर्त्तनासम्भवात्। सुहृदो मित्रभूपतयः तेषां कार्यं राज्येषु सुशासनव्यवस्थापनरूपम्, उपपद्यमानं मयैव विधीयमानं सत् न उपपन्नं न समाप्तम् इतः प्रतिनिवृत्त्यसम्भवात्। राजधर्मो दिग्विजयस्वरूपः प्रवर्त्तितः प्रस्तुतो न निष्पन्नः न समाप्तः स्वदेशं प्रति निवृत्त्यसम्भवात्। गुर्वर्थस्तातकार्यं तद्यशःप्रसारणम्, प्रारब्धः प्रवर्त्तितो न परिसमाप्तः नोपपन्नः इहैव मे विलयेनानन्तरं पराजयघोषणाभावात्। विजिगीषुव्यापाराय दिग्विजयस्वरूपाय प्रयत्न उद्योगो न सिद्धो न सफलः, भूयो भवनप्रतिनिवृत्त्यसम्भवात्।

कस्मादिति। कस्मात् कुतो हेतोः अहं चन्द्रापीडः आविष्ट इव भूतग्रस्त इव सन्, उत्सृष्टः उज्झितो निजपरिवारः स्वीयपरिच्छदो येन तादृशः, एतावतीम् इयत्परिमाणां भूमिं पृथिवीम् आयातः प्राप्तः।

कस्मादिति। किञ्चेति चार्थः। मया चन्द्रापीडेन निष्प्रयोजनं निरर्थकम् इदं पुरो दृश्यमानम् अश्व-

---

(तर) देखकर थोड़ी देर मन ही मन वितर्ककर आप ही आप हँस कर सोचने लगा—'मैंने क्यों बालकके समान व्यर्थ अपने शरीरको श्रम दिया? इन किन्नरोंके जोड़ेको पकड़ने वा न पकड़नेसे मुझे क्या फल था? और यदि नहीं पकड़ लिया तो क्या अनिष्ट हो गया है? यदि इन्हें पकड़ ही लिया होता तो क्या हो जाता? कितना आश्चर्य! यह मैंने क्या मूर्खता की? कैसा मैंने अविचारका कार्य किया, कैसे निरर्थक कार्यमें मेरा आग्रह! एवं मूर्खके व्यवहारमें मेरी आसक्ति जिसका फल उत्कृष्ट होता वह व्यर्थ हो गया। अवश्य करने योग्य जिसे आरम्भ किया था वह आज विफल हो गया। जो मित्रोंका कार्य करना था वह भी सम्पन्न नहीं हुआ। राजकर्म आरम्भ करके उसे फलीभूत (सम्पूर्ण) नहीं किया। पिताजी की कीर्त्ति फैलानेका कार्य आरम्भ किया था वह समाप्त नहीं हुआ। विजिगीषुके कार्यसाधनमें यत्न किया था वह सिद्ध नहीं हुआ। पिशाचादिसे ग्रस्तके समान क्यों मैं अपने परिजनोंको छोड़कर इतनी दूर आ गया? और क्यों मैंने इस किन्नर-मिथुनके पीछे व्यर्थ अनुसरण

---

१. आलोक्य। २. अन्वचिन्तयत्। ३. क्वचित् यदीति पदं न विद्यते। ४. कर्त्तव्यक्रिया।
५. ···व्यापारः। ६. उत्सृज्य निजपरिवारम्, उत्सृष्टपरिवार एव एतावतीम्।

मुखद्वयमिति विचार्य्यमाणे सत्ययम्[1] आत्मैव मे पर इव हासमुपजनयति।न जाने कियताऽध्वना विच्छिन्नमितो बलमनुयायि[2] मे। महाजवो हीन्द्रायुधो निमेष[3]-मात्रेणातिदूरमतिक्रामति[4]। न चागच्छता मया तुरगवेगवशात् किन्नरमिथुने बद्धदृष्टिना[5] अस्मिन्[6]नविरल-तरु-शत-शाखागुल्म-लता-सन्तान-गहने निरन्तर-निपतित[7]-शुष्क-पर्णावकीर्ण-तले महावने पन्था निरूपितः, येन प्रतिनिवृत्य यास्यामि। नचास्मिन् प्रदेशे प्रयत्नेनापि परिभ्रमता मया मर्त्यधर्म्मा कश्चिदासाद्यते, यः सुवर्णपुरगामिनं पन्थानमुपदेक्ष्यति। श्रुतं हि मया[8] बहुशः कथ्यमानम्, 'उत्तरेण सुवर्णपुरं सीमान्तलेखा पृथिव्याः सर्वजनपदानाम्, ततः

---

मुखद्वयं किन्नरमिथुनम् अनुसृतम् आश्रितमिति विचार्यमाणे विचिन्त्यमाने सति अयं विद्यमान आत्मैव स्वचैतन्यम् एव मे मम पर इव अन्य इव हासम् उपजनयति हास्यं निष्पादयति।

ननु किमर्थं निर्वेदमापन्नः? परित्यज्यैनं गत्वा स्वजनैः साकं त्वरितं संयोगो विधीयतामित्यत आह—न जाने इति। न जाने नाकलयामि कियताऽध्वना कियन्मार्गेण विच्छिन्नं विश्लेषं प्राप्तम् इतो मत्सकाशात् मे बलं सैन्यम् अनुयायि अनुव्रजनशीलमित्यर्थः।

ननु साम्प्रतमेवायातोऽसीति नातिदूरं तव सैन्यमित्यत आह—महाजव इति। हि यस्मात्कारणात् महाजवो महावेगः इन्द्रायुधस्तन्नामाश्वः निमेषमात्रेण लोचनस्य निमीलनमात्रेण अतिदूरम् अतिविप्रकृष्टम् अतिक्रामति अतिक्रमणं करोति।

नन्वेवमपि मार्गमवलोकयन्नेवेह प्राप्तोऽसीति तेनैव परिचितेन मार्गेण प्रतिनिवर्त्ततामित्यत आह—नचेति। अविरलानि सान्द्राणि अन्योन्यसंबद्धानीत्यर्थः, यानि तरुशतानि वृक्षसमूहाः तेषां, शाखानां स्कन्धशाखानां गुल्मानां स्तम्भानां लतानां व्रततीनाञ्च सन्तानेन परम्परया गहने घने, तथा निरन्तरं निरवकाशं यथा स्यात्तथा निपतितैः स्रस्तैः शुष्कपर्णैः शुष्कपत्रैः अवकीर्णम् आच्छन्नं तलम् अधोभागो यस्य तस्मिन् तादृशे अस्मिन् महावने महारण्ये अनेन हि घोटकपदचिह्नानवलोकनेन परावर्त्तनमप्यसम्भवमिति ध्वनितम्। आगच्छता आगमनं कुर्वता मया पन्था मार्गो न च निरूपितः, नैव सम्यगवलोकितः, येन यथा प्रतिनिवृत्य परावर्त्य यास्यामि गमिष्यामि।

इह सम्यगवलोकनाभावं प्रति किन्नरयुगले बद्धदृष्टित्वं तुरगजवः अविरलेत्यादि विशेषणद्वयार्थश्च हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

ननु यद्येवं तर्हि कमपि पुरुषं मार्गं पृष्ट्वा व्रज इत्यत आह—नचेति। अस्मिन् प्रदेशे परिभ्रमता भ्रमणं विदधता मया कश्चित् मर्त्यधर्मा मानवः प्रयत्नेनापि उद्योगेनापि नासाद्यते न प्राप्तुं शक्यते। यः पुरुषः सुवर्णपुरगामिनं सुवर्णनगरयायिनं पन्थानं मार्गम् उपदेक्ष्यति उपदेशं करिष्यति, सुतरां कमपि पृष्ट्वापि निरूपणासम्भव इत्याशयः।

ननु कथं न मर्त्यधर्मा कश्चिल्लभ्यत इत्याह—श्रुतमिति। हि यस्मात् मया बहुशः अनेकवारं कथ्यमानं प्रतिपाद्यमानं वृद्धैरिति शेषः। श्रुतम् आकर्णितं सुवर्णपुरम् उत्तरेण सुवर्णपुरादुत्तरदिशि 'एनपा द्वितीया' इत्येनप्योगे द्वितीया। पृथिव्याः वसुधायाः सर्वजनपदानां लोकस्थानानाम्, सीमान्तलेखा अवधिशेषरेखा। ततः परतोऽग्रतो निर्मानुषं मनुष्यरहितम् अरण्यं विपिनम्। तदरण्यम् अतिक्रम्य उल्ल-

---

किया? यों जब सोचता हूँ तब तो मेरी अन्तरात्मा ही मुझ पर—अन्य पुरुषके समान हँसती है। न मालूम मेरे अनुगामी सैन्यगण इस स्थानसे विभक्त होकर कितने दूर होंगे? क्योंकि—महावेगवान् इन्द्रायुध निमेष मात्रमें ही बहुत दूर चला जाता है। आनेके समय घोड़ेके वेगसे एवं किन्नर-युगलके प्रति निश्चल-दृष्टि रखने से—सैकड़ों वृक्षों की निरन्तर उलझी हुई डालियोंसे भरे और लगातार गिरते सूखे पत्तोंसे आच्छादित हुई पृथिवीवाले महावनमें मैं मार्ग-निरूपण नहीं कर सकता हूँ कि जिसमें पीछे लौट जाऊँ। इस प्रदेशमें विशेष यत्नसे भटकनेपर भी कोई मनुष्य नहीं दीखता जो मुझे सुवर्णपुर जानेवाला मार्ग बतलावे। क्योंकि मैंने बहुतसे लोगोंको कहते सुना है कि—'सुवर्णपुर पृथिवी के समस्त देशोंकी उत्तर दिशाकी अन्तिम सीमाकी रेखा है, उसके

---

१. यत् सत्यम्। २. अन्वयायि। ३. निमिष…। ४. अपचक्राम। ५. निबद्धदृष्टिना। ६. तस्मिन्। ७. …पतित…। ८. क्वचित् मयेति पदं न विद्यते।

परतो निर्मानुषमरण्यम्, तच्चातिक्रम्य कैलासगिरि'रिति। अयञ्च कैलासः। तदिदानीं प्रतिनिवृत्यैकाकिना स्वयमुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य दक्षिणामाशां केवलमङ्गीकृत्य गन्तव्यम्। आत्मकृतानां हि दोषाणां नियतमनुभवितव्यं फलमात्मनैव इत्यवधार्य्य वामकरतल-वलित[1]-रश्मिपाशस्तुरङ्गमं व्यावर्त्तयामास।

व्यावर्त्तिततुरङ्गमश्च[2] पुनश्चिन्तितवान्-'अयमुद्भासित-प्रभा-भास्वरो भगवान् भानुरधुना दिवसश्रियो रशनामणिरिव नभस्तलमध्यम्[3] अलङ्करोति। परिश्रान्तश्चायमिन्द्रायुधः तदेनं तावदागृहीत-कतिपय-दूर्वाप्रवाल-कवलं कस्मिंश्चित् सरसि शिलाप्रस्रवणे वा सरिदम्भसि वा स्नातपीतोदकमपनीतश्रमं कृत्वा स्वयञ्च सलिलं पीत्वा कस्यचित्तरोरधश्छायायां मुहूर्त्तमात्रं विश्रम्य ततो गमिष्यामि' इति चिन्तयित्वा सलिलमन्विष्यन्[4] मुहुर्मुहुरितस्ततो दत्तदृष्टिः

---

क्रम्य कैलासगिरिः हिमाचल इव तत इति शेषः, इति कथ्यमानमिति सम्बन्धः। अयञ्च निकटेऽवलोक्यमानः स कैलासः। सुतरामिह मनुष्यप्राप्तिमनोरथ एव न विद्यत इत्याशयः।

तदिति। तत्तस्मात् कारणात् इदानीम् अधुना प्रतिनिवृत्य परावृत्य एकाकिना असहायेन मया स्वयम् उत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य आत्मनैव सम्भाव्य सम्भाव्य दक्षिणां याम्याम् आशां दिशम् अङ्गीकृत्य गन्तव्यत्वेन स्वीकृत्य आश्रित्येत्यर्थः, केवलं गन्तव्यं यातव्यम्। एवञ्च यदि स्वकीयः कोऽपि लभ्यते इत्याशयः।

आत्मेति। हि यतः आत्मकृतानां स्वयमाचरितानां दोषाणां दुष्कर्मणां नियतं निश्चितं फलम् आत्मनैव स्वयमेव अनुभवितव्यम् अनुभवविषयीकर्त्तव्यम्, इत्यवधार्य इति निश्चित्य वामकरतलेन सव्यपाणितलेन वलितः परावर्तनार्थं कुटिलीकृत्य धृत इत्यर्थः, रश्मिपाशः प्रग्रहरज्जुर्येन स तादृशः, तुरङ्गमम् इन्द्रायुधं व्यावर्त्तयामास निवर्त्तयामास।

व्यावर्त्तितेति। व्यावर्त्तितः पश्चात्तिर्यक्कृतः तुरङ्गम इन्द्रायुधो येन तादृशः, पुनस्तदनन्तरं चिन्तितवान् ध्यातवान्। तदेवोपपादयति—अयमिति। उद्भासिताः संदीप्ता याः प्रभाः द्युतयः ताभिः भास्वरो विशेषेण दीप्तिमान् भगवान् ऐश्वर्यवान् भानुः सूर्यः, दिवसश्रियः वासरलक्ष्म्याः रशनामणिरिव काञ्चीदामरत्नमिव नभस्तलस्य गगनतलस्य मध्यं मध्यभागम् अलङ्करोति भूषयति, मध्याह्नः सञ्जात इत्यर्थः। इह जात्युत्प्रेक्षा।

परीति। परिश्रान्तः खिन्नश्च अयमिन्द्रायुधः अयमश्वः। तत्तावत् एनम् इन्द्रायुधम्, आगृहीता मुखेन धृता भक्षिता इत्यर्थः, कतिपये कियन्तो दूर्वाप्रवालानां शतपर्वपल्लवानां कवला ग्रासा येन तं तादृशम्, कस्मिंश्चित् अनिर्दिष्टनाम्नि सरसि कासारे शिलाप्रस्रवणे पर्वतनिर्झरे सरिदम्भसि नदीजले वा, आदौ स्नातम्, अवगाहनीकृतं पश्चात् पीतम् उदकं जलं येन तं तादृशम् अतएव अपनीतः दूरीभूतः श्रमः क्लमो यस्य तं तादृशम्।

इतीति। चिन्तयित्वा विचार्य सलिलं जलम् अन्विष्यन् मार्गयिष्यन् मुहुर्मुहुः वारंवारम् इतस्ततः

---

पीछे मनुष्य-रहित वन एवं उसके उस पार ही कैलास पर्वत है, यह वही कैलास पर्वत देखने में आ रहा है। अत एव इस समय मुझे अकेला ही इधरसे लौट कर, अपने से ही सम्भावना (विवेचना) कर-करके केवल दक्षिण दिशा का अवलम्बन कर उसकी ओर चलना चाहिए। 'अपने से किये हुए दोषोंका फल निश्चय अपने आप ही भोगना पड़ता है' इस प्रकार मन ही मन स्थिर करके बायें हाथसे लगाम खींचकर उसने घोड़ेको लौटाया (मोड़ा)।

घोड़ेको मोड़कर पुनः सोचने लगा कि—'प्रखर किरणसमूहसे अत्यन्त दीप्तिमान् यह सूर्यदेव, इस समय दिन-लक्ष्मीके काञ्चीदाम (मेखलामणि) के समान-आकाशके मध्यभागको अलङ्कृत करता है। यह इन्द्रायुध भी अधिक परिश्रान्त हो (थक) गया है, अत एव इसको थोड़ा सा दूर्वापल्लवकी घास खिला कर, किसी सरोवर (तालाब) में किंवा पत्थरके झरनेमें, अथवा नदीके जलमें स्नान करा, पानी पिला, इसकी थकावट दूर कर और स्वयं भी जलपान कर किसी वृक्षके नीचे छायामें कुछ देर विश्राम (आराम) कर उसके बाद जाऊँगा'। इस प्रकार विचार कर जलके अन्वेषणमें बारम्बार इधर-उधर दृष्टिपात कर वह विचरण करता हुआ आगे बढ़ा।

---

१. ···चलित···। २. ···तुरङ्गश्च, तुरगश्च। ३. क्वचित् नभस्तलेति पदं न विद्यते। ४. अन्विषमाणः, अन्वेषमाणः, अन्वेषयन्।

पर्य्यटन् नलिनीजलावगाहोत्थितस्याचिरादपक्रान्तस्य[1] च महतो गिरिचरस्य वनगजयूथस्य चरणोत्थापितैः[2] पङ्कपटलैरार्द्रीकृतम्, करावकृष्टैश्च समृणालमूलनालैः[3] कमलकलापैः कल्माषितम्, आर्द्रार्द्रैश्च शैवालप्रवालैः श्यामलितोद्देशम्, उद्दलितैश्च कुमुद[4]-कुवलय-कह्लार-कुड्मलैरन्तरान्तरा विच्छुरितम्, उत्खातैश्च सकर्दमैः शालूककन्दैराकीर्णम्, खण्डितैश्च[5] कुसुमस्तबकशारै[6]र्घनपल्लवैराच्छादितम्, आलूनाभिश्च कुसुमोपविष्टोल्लसत्[7] षट्पदाभिर्वनलताभिराकुलितम्, अभिनवकुसुम[8]-परिमलवाहिना च तमालपल्लवरस[9]श्यामेन मदजलेन सर्वतः सिक्तं मार्गमद्राक्षीत्।

---

समन्तात् दत्तदृष्टिः पर्यटन् परिभ्रमन् चन्द्रापीडः मार्गमद्राक्षीदित्युत्तरेण सम्बन्धः। कमलयुक्तसरोवरस्य जले सलिले अवगाहनात् विलोडनात् परम् उत्थितस्य निःसृतस्य।

'नलिनी पद्मिनी पद्म-व्योम सिन्धु-सरोवरे। नलिकायां च नलिनी' इति विश्वः॥

अचिरात् स्वल्पकालात् अपक्रान्तस्य अपसृतस्य महतो महीयसो गिरिचरस्य पर्वतचारिणो वनगजयूथस्य हस्तिसमूहस्य चरणद्वारा उत्थापितैः ऊर्ध्वं नीतैः पङ्कपटलैः कर्दमसमूहैः आर्द्रीकृतं क्लिन्नीकृतम् इत आरभ्य द्वितीयैकवचनान्तपदानि मार्गमित्यग्रेतनस्य विशेषणानि। करावकृष्टैः शुण्डाभिराकृष्यानीतैः मृणालमूलानि बिसमूलानि च नालानि च तैः सह वर्त्तमानैः कमलकलापैः पद्मसमूहैः कल्माषितं कर्बुरितं विचित्रीकृतमित्यर्थः। सर्वत्र चकाराणाम् अपि चेत्यर्थो ज्ञेयः। आर्द्रार्द्रैः तरङ्गणोत्तोलनादतिशयेन सलिलक्लिन्नैः, शैवालप्रवालैः शैवालकिसलयैः श्यामलिताः कृष्णवर्णीकृताः उद्देशाः स्थानानि यस्य तं तादृशम्। उद्दलितैः अवमृद्योर्ध्वं नीतैः, कुमुदानि श्वेतोत्पलानि, कुवलयानि नीलोत्पलानि, कह्लाराणि सौगन्धिकानि तेषां कुड्मलैः मुकुलैः, अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये विच्छुरितं रञ्जितम्। 'नीलोत्पलं कुवलयम्', 'सौगन्धिकं तु कह्लारम्', 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्, इति चामरः। उत्खातैः उत्पाटितैः सकर्दमैः पङ्कसहितैः, शालूककन्दैः उत्पलानां मूलैः आकीर्णं व्याप्तम्। 'शालूकमेषां कन्दः स्यात्' इत्यमरः। इहाधिकपदत्वदोषनिरासाय कन्दपदं न देयम्। खण्डितैः त्रोटितैः कुसुमस्तबकशारैः पुष्पगुच्छविचित्रैः वनपल्लवैः अरण्यकिसलयैः आच्छादितम् आवृतम्। आलूनाभिश्छिन्नाभिः कुसुमेषु पुष्पेषु उपविष्टा मध्यवर्त्तिनः सन्तः उल्लसन्तः स्फुरन्तः षट्पदा भ्रमरा यासु ताभिस्तादृशीभिः वनलताभिः अरण्यव्रततिभिः आकुलितम् आकीर्णम्। तथा अभिनवं सद्यः प्रस्फुटितं यत् कुसुमं पुष्पं तस्य परिमलं सौरभं तत्सदृशगन्धमित्यर्थः, वहतीति तेन तादृशेन, तमालपल्लवस्य तापिच्छकिसलयस्य रसवत् श्यामेन कृष्णवर्णेन मदजलेन दानवारिणा सर्वतो विष्वक् सिक्तं सेचितम्। अन्वयस्तु प्रागुक्त एव।

इह 'अभिनवकुसुमपरिमलवाहिना' इत्यत्रासम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना। तथा 'तमालपल्लवरसश्यामेन' इत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः।

---

इतनेमें सरोवरके जलमें स्नान कर थोड़े ही समय पहले गये हुए बड़े बड़े पहाड़ी हाथियोंके चरणोंसे चिह्नित और कर्दम-समूह (कीचड़) से आर्द्र मार्ग उसे देख पड़ा। वह सूँड़ से तोड़े गये मृणाल, मूल और नालदण्ड के साथ कमलोंसे चितकबरा हो रहा था; अत्यन्त जलक्लिन्न (गीले) शैवाल-पल्लवसे उसका कुछ भाग श्यामवर्ण हो गया था; तोड़ कर डाली हुई श्वेतकमल, कुमुद, नीलोत्पल और कह्लारके पुष्पोंकी कलियाँ मध्य मध्यमें फैली हुई थीं; खोद कर डाले हुए कमल-कन्द कीचड़ सहित व्याप्त होकर पड़े थे; तोड़ कर डाले हुए पुष्पोंके गुच्छों से युक्त जंगलके पत्तोंसे अच्छादित था; काट कर गिरायी हुई वनलताओंके पुष्पों पर भ्रमरगण बैठ कर विलास कर रहे थे एवं अभिनव पुष्पके समान सौरभग्राही और तमाल-पल्लवके रसके समान श्यामवर्ण हस्तिगणके मदजलसे उस मार्ग का सब स्थान सिक्त था।

---

१. अपक्रान्तस्य, अतिमहतः, गिरिचरस्य, २. चरणोत्तारितैः उत्सारितैः। ३. करिकलभकृष्टैः मृणालनालैः। ४. कमलकुमुद···। ५. आखण्डितैश्च। ६. सारैः। ७. ···कुसुमोपविष्टनिष्पिष्टोच्छ्वसत्, कुसुमोपविष्टनिष्पिष्टोच्छ्वसित, कुसुमोपविष्टनिष्पिष्टो भ्रमत्। ८. वकुल कुसुम···। ९. ···सरस···।

उपजातजलाशयशङ्कश्च[1] तं प्रतीपमनुसरन्, उद्ग्रीवं[2]दृश्यैरुपरिच्छत्रमण्डलाकारैः सरल-साल-सल्लकी-प्रायैरविरलैरपि निःशाखतया विरलैरिवोपलक्ष्यमाणैः पादपैरुपेतेन, स्थूल-कपिल-वालुकेन, शिलाबहुलतया[3] विरलतृणोलपेन, वन-द्विप-दशन-दलित-मनःशिला-धूलि-कपिलेन, आभङ्गिनीभिरुत्कीर्णाभिरिव पत्रभङ्गकुटिलाभिः पाषाणभेदन[4]मञ्जरीभिर्जटिलीकृतशिलातलेन[5], अनवरत-गलद्गुग्गुलु-द्रुम-द्रवार्द्रीकृतदृषदा, शिखर-स्रुत-शिलाजतु-रसपिच्छिलोपलेन, टङ्कन-हय-खुर-ख[6]ण्डित-हरिताल-क्षोद-पांशुलेन, आखुनखरोत्खात-

उपजातेति। उपजाता जलादिचिह्नावलोकनादुत्पन्ना जलाशयस्य जलाधारस्य शङ्का सम्भावना यस्य स तादृशः चन्द्रापीडः, तं मार्गं प्रतीपं प्रतिकूलं यथा स्यात्तथा अनुसरन् तदाभिमुख्येन गच्छन्, 'कैलासतलेन रजताद्र्यधोभागेन कञ्चित् अध्वानं गत्वा तरुषण्डं ददर्शेत्यग्रिमेण सम्बन्धः। तमेव विशेषयितुमाह—उद्ग्रीवेति। उद्ग्रीवम् उन्नतकन्धरं यथा स्यात्तथैव दृश्यैर्द्रष्टुं योग्यैरत्युच्चैरित्यर्थः, उपरि उपरिभागे छत्रमण्डलस्य आतपत्रावरणवलयस्य आकार इव आकारो येषां तैस्तादृशैः सरलसालसल्लक्यः स्वनामप्रसिद्धपर्वतीयवृक्षविशेषाः प्राया बहुला येषु तैस्तादृशैः, अविरलैः सान्द्रैरपि निःशाखतया शिखरपर्यन्तशाखारहिततया कारणेन, विरलैः असान्द्रैरिव उपलक्ष्यमाणैः अवलोक्यमानैः पादपैः वृक्षैः उपेतेन युक्तेन।

इह 'उपरिच्छत्रमण्डलाकारैः' इत्यत्र लुप्तोपमाऽलङ्कारः। 'विरलैरिव' इत्यत्र च गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः।

स्थूलेति। स्थूलाः पृथुलाः कपिलाः पिङ्गलवर्णाश्च बालुकाः सिकता यत्र तेन तादृशेन।

शिलेति। शिलाबहुलतया पाषाणाधिकतया कारणेन, विरला अल्पाः, तृणानि उलपा विस्तीर्णा लताश्च यत्र तेन तादृशेन। 'लता प्रतानिनी वीरुद् गुल्मिन्युलप इत्यपि' इत्यमरः।

वनेति। वनद्विपाः वन्यहस्तिनः तेषां दशनैर्दन्तैः दलिता मर्दिता या मनःशिलाः पर्वतीयधातुविशेषास्तासां धूलिभिः रेणुभिः कपिलेन पिङ्गलवर्णेन।

आभङ्गीति। आ समन्तात् भङ्गो विविधभङ्गिरासामस्तीति ताभिस्तादृशीभिः,'अत एव उत्कीर्णाभिरिव प्रस्तरं सन्तक्ष्य रचिताभिरिव विद्यमानाभिः, पत्रभङ्गवत् गण्डस्थलादौ पत्रलतादिचिह्नवत् कुटिलाभिर्वक्राभिः, पाषाणभेदनानां तन्नामकवृक्षविशेषाणां मञ्जरीभिः वल्लरीभिः जटिलीकृतानि विषमितानि शिलातलानि प्रस्तरयोरन्तराणि यस्य तेन तादृशेन। 'पाषाणभेदनः ( पुं ) वृक्षविशेषः' इति शब्दकल्पद्रुमः।

इह 'उत्कीर्णाभिरिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'पत्रभङ्गकुटिलाभिः' इत्यत्र लुप्तोपमा, अनयोश्च परस्परं नैरपेक्ष्येण स्थितत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

अनवरतेति। अनवरतं निरन्तरं गलद्भिः स्रवद्भिः गुग्गुलुद्रुमाणां पलङ्कषवृक्षाणां द्रवा निर्यासाः तैः आर्द्रीकृताः क्लिन्नीकृता दृषदः प्रस्तरा यत्र तेन तादृशेन।

शिखरेति। शिखरात् सानोः स्रुतेन च्युतेन शिलाजतुरसेन तत्संज्ञकगिरिजधातुद्रवेण पिच्छिला विजिला उपलाः पाषाणा यत्र तेन तादृशेन।

टङ्कनेति। टङ्कनानि प्रस्तरदारकास्त्राणीव ये हयानां तुरगाणां खुराः शफाः तैः खण्डितानां शकलीकृतानां चूर्णितानामित्यर्थः, हरितालानां लोकायतानां क्षोदैश्चूर्णैः पांशुलं रेणुमयं तेन तादृशेन। 'टङ्कः पाषाणदारणः', 'लोकायतं हरितालम्' इति चामरः।

आखिवति। आखूनां मूषकाणां नखरैर्नखैः उत्खातेभ्यः उत्खनितेभ्यो बिलेभ्यो विवरेभ्यो विप्रकी-

उस मार्गको देखकर समीपमें जलाशयका अनुमान करके वह सामने ही जाने लगा और कैलास पर्वतके नीचे होकर तलहटीमें पहुँच गया। उस स्थानमें देखता है कि—सरल, साल और सल्लकीके वृक्ष अधिक परिमाणमें लगे हुए हैं। वे इतने ऊँचे हैं कि गर्दन ऊपर उठानेसे ही देख पडते हैं। एवं ऊपरके भागमें छत्रके समान मण्डलाकार और सघन होनेपर भी शाखायें ( टहनियाँ ) न होनेसे, वे विरल रूपसे दीख पड़ते हैं। उस स्थान का बालुकामय प्रदेश ( रेती ) मोटा और पिङ्गलवर्ण है। अधिक प्रस्तर होनेके कारण उस स्थानमें थोड़े ही घास और तृण आविर्भूत होते हैं। वन्य हस्तिगणके दन्त द्वारा चूर्णित ( टूटी हुई ) मैनसिलकी धूलसे वह स्थान पिङ्गल वर्ण ( धूसर ? ) हो गया है। चारों ओर मुड़ी हुई—और उत्कीर्ण-सी प्रतीत होतीं—पत्रलतादि चिह्नके समान, कुछ टेढ़े, पाषाण-भेदन वृक्षकी मञ्जरियाँ उसकी शिलाओंके मध्यके छेदोंमें एकत्रित पड़ी हैं। निरन्तर ( रात्रि-

१. ···जलाशय उपजातजलाशङ्कश्च। २. उद्ग्रैव। ३. शिलातलबहुलतया। ४. पाषाणभङ्ग···। ५. शिलान्तरेण। ६. टङ्कनखरखुर···।

विल-विप्रकीर्ण[1]-काञ्चनचूर्णेन, सिकता-निमग्न-चमर[2]-कस्तूरिका-मृगी-खुर-पङ्क्तिना, संशीर्ण-रङ्कु[3]-रल्लक-रोम-प्रकर-निचितेन, विषम-शिलाच्छेदोपविष्ट-जीवञ्जीवक-युगलेन, वनमानुष-मिथुनाध्यासिततटगुहामुखेन, गन्धपाषाण-परिमलामोदिना, वेत्रलताप्रतानप्ररूढवेणुना[4] कैलासतलेन, कञ्चिदध्वानं गत्वा तस्यैव कैलासशिखरिणः पूर्वोत्तरे दिग्भागे जलभारालसं[5] जल-धर-व्यूहमिव बहुल-पक्ष[6]क्षपान्धकारमिव पुञ्जीकृतमत्यायतं तरुषण्डं[7] ददर्श। तच्च[8] सम्मुखा-दागतेन[9] कुसुम[10]-रजः-कषायामोदिना जलसंसर्गशिशिरेण शीकरिणा[11] चन्दनरस-स्पर्शेन[12] आलि-

र्णानि विक्षिप्तानि काञ्चनचूर्णानि सुवर्णधूलयो यत्र तेन तादृशेन।

सिकतेति। सिकतासु बालुकासु निमग्ना त्रुडिता चमराणां मृगविशेषाणां कस्तूरिकाहरिणीनाञ्च खुरपङ्क्तिः खुरलक्ष्मपङ्क्तिर्यत्र तेन तादृशेन। 'चमरं चामरे स्त्री तु मञ्जरीमृगभेदयोः' इति मेदिनी।

संशीर्णेति। संशीर्णेन शरीरात् पतितेन रङ्कूणां रल्लकानाञ्च मृगविशेषाणां रोमप्रकरेण लोमजालेन निचितं व्याप्तं तेन तादृशेन। रमते रज्यत इति वा रङ्कुः मृगय्वादित्वात् ( उ० १।३७ ) साधुः।

'कृष्णसाररुरुन्यङ्कुरङ्कुशंबररौहिषाः। गोकर्णपृषतैणर्श्यरोहिताश्चमरो मृगाः॥' इत्यमरः।

केचित्तु रङ्कति गच्छतीति रङ्कुरित्याहुः, तन्न रङ्किधातोर्धातुपाठेऽदर्शनात्।

विषमेति। विषमेषु नीचोच्चेषु शिलाच्छेदेषु पाषाणखण्डेषु उपविष्टानि आसीनानि जीवञ्जीवक-युगलानि चकोरपक्षिद्वन्द्वानि यत्र तेन तादृशेन, जीवं प्राणिनं जीवयति विषनाशनेनेति जीवञ्जीवकः, कर्त्तरि ण्वुल्। 'जीवञ्जीवकश्चकोरकः' इत्यमरः, 'जीवञ्जीवः खगान्तरे। द्रुमभेदे चकोरे च' इति च हैमः।

वनेति। वनमानुषाणां मनुष्याकृतिसदृशाकारवनचारिविशेषाणां मिथुनैर्दम्पतिभिः अध्यासितानि आश्रितानि तटगुहामुखानि पर्वतीयगह्वरद्वाराणि यत्र तेन तादृशेन।

गन्धपाषाणेति। गन्धपाषाणानां गन्धकानां परिमलेन सौगन्ध्येन आमोदिना आह्लादविधायिना 'गन्धाश्मनि तु गन्धकः' इत्यमरः। वेत्रलतानां वेत्रवल्लीनां प्रतानेषु समूहेषु प्ररूढा उत्पन्ना वेणवो वंशा यत्र तेन तादृशेन कैलासतलेन रजताद्र्यधोभागेन।

कञ्चिदिति। कञ्चिदध्वानं कियन्तं मार्गं गत्वा तस्यैव पूर्वोक्तस्यैव कैलासशिखरिणः रजताद्रेः पूर्वोत्तरे दिग्भागे ऐशान्यां जलधरव्यूहं मेघसमूहमिव, तथा बहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्य क्षपायाः त्रियामायाः पुञ्जीकृतं राशीकृतम् अन्धकारं तामिस्रमिव, सान्द्रतया गाढश्यामरूपमित्याशयः। अत्यायतम् अधिकस्थान-व्यापि, तरुषण्डं वृक्षसमूहं ददर्श अवलोकयामास।

इह श्रौतोपमयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

तच्चेति। सम्मुखागतेन अभिमुखायातेन कुसुमरजसां पुष्पपरागाणां कषायैः सुगन्धिभिः आमोदिना आनन्दविधायिना, जलसंसर्गेण सलिलसम्बन्धेन शिशिरः शीतलः तेन तथोक्तेन, शीकरिणा सलिलबिन्दु-मता, तथा चन्दनरसस्य मलयजद्रवस्य स्पर्श इव स्पर्शो यस्य तेन तादृशेन, जलतरङ्गमारुतेन जलतरङ्ग-

न्दिव ) पिघलते गुग्गुलवृक्षके रससे उसके प्रस्तर आर्द्र हो गये हैं। चोटीमेंसे गिरते शिलाजीतके रससे उसकी शिलाएँ चिक्कण हो गई हैं। पाषाण-विदारक अस्त्रके समान कठिन घोड़ोंके टापोंसे विदीर्ण हरितालके रेणुसे वह धूलिमय ( मलिन ) हो गई है। मूषकोंके नखोंसे खोदे विलोंके अन्दर वहाँ सुवर्ण-रज विक्षिप्त है। उसकी बालुका-राशि ( रेती ) के ऊपरमें चमर और कस्तूरी मृगोंके पैरोंके निशान हो रहे हैं। रङ्कुमृग और रल्लक ( कस्तूरी मृग ) के गिरे रोमोंके गिरनेसे वह स्थान व्याप्त हुआ है। उसकी ऊँची-नीची प्रस्तरखण्डों ( चट्टानों ) पर बहुतेरे चकोर पक्षियोंके जोड़े बैठे हैं। पर्वत-गुफाओंके द्वारमें बहुसंख्यक बन-मानुषके जोड़े रहते हैं। सुगंधि-पाषाणका सौरभ आता है और वेंतकी वेलोंके प्रतानमें बाँस उगे हैं। चन्द्रापीड उस कैलासपर्वतकी तलहटी होकर कुछ मार्ग अतिक्रमण कर उस कैलासपर्वतके ही पूर्वोत्तर कोणमें जलके भारसे मन्थर मेघसमूहके समान एवं कृष्णपक्षकी रात्रियोंकी एकत्रित हुई अन्धकारसमूहके समान कृष्णवर्ण, बहुस्थानव्यापी और पुञ्जीकृत वृक्षोंका मण्डप देखा। फूलोंके परागसे सुगन्धित जलसंस्पर्शसे शीतलबिन्दुवाही एवं चन्दनरसके समान शीतलस्पर्शी सम्मुखसे

१. अवकीर्ण···। २. चमरक···। ३. संकीर्णजीर्णरङ्कु, सङ्कीर्णशङ्कु, सङ्कीर्णरल्लक···। ४···प्रता-नवताप्ररूढ···। ५. जलभारालसजल···। ६. बहुलक्षपा···। ७. विविधतरुषण्डम्। ८. तच्च। ९. सम्मुखा-गतेन। २०. कुमुद···। ११. शिशिरशीकरिणा। १२.···रससमस्पर्शेन।

ङ्ग्यमान इव जलतरङ्गमारुतेन, कमलमधुपानमत्तानाञ्च श्रोत्रहारिभिः कलहंसानां कोलाहलैराहूयमान इव प्रविवेश[1]।

प्रविश्य च तस्य तरुषण्डस्य मध्यभागे मणिदर्पणमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्याः, स्फटिकभूमिगृहमिव वसुन्धरादेव्याः[2], निर्गमनमार्गमिव[3] सागराणाम्, निस्यन्दमिव दिशाम्, अवतारमिव जलाकारं[4] गगनतलस्य, कैलासमिव द्रवतामापन्नम्, तुषारगिरिमिव विलीनम्, चन्द्रातपमिव रसतामुपेतम्, हराट्टहासमिव जलीभूतम्, त्रिभुवन-पुण्यराशिमिव सरोरूपेणावस्थितम्, वैदूर्य्यगिरिजालमिव सलिलाकारेण परिणतम्, शरदभ्रवृन्दमिव द्रवीभूयैकत्र निस्य-

---

वायुना आलिङ्ग्यमान इव, कमलस्य पद्मस्य यन्मधु रसः तस्य पानेन आस्वादनेन मत्तानाम् उत्कटानां कलहंसानां कादम्बानां श्रोत्रहारिभिः मधुरतया कर्णाकर्षकैः कोलाहलैः कलकलैः आहूयमान इव आह्वानविषयीक्रियमाण इव च सन् तत् तरुषण्डं प्रविवेश प्रवेशं कृतवान्।

इह 'आलिङ्ग्यमान इव' इत्यत्र 'आहूयमान इव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

प्रविश्येति। किञ्चेति चार्थः। प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा तस्य तरुषण्डस्य मध्यभागे अन्तरालप्रदेशे 'अच्छोदं' नाम सरो दृष्टवानीति वक्ष्यमाणया दूरस्थायिन्या क्रियया सम्बन्धः। इह द्वितीयान्तानि पदानि 'अच्छोदं नाम सरः' इत्यस्य विशेषणानि। त्रैलोक्यलक्ष्म्याः त्रिभुवनश्रियः मणिदर्पणमिव रत्नादर्शमिव निर्मलतया समस्तप्रतिबिम्बग्रहणात्। वसुन्धरादेव्याः रत्नगर्भादेव्याः स्फटिकभूमिगृहमिव भूगर्भगतं स्फटिकमयं भवनमिव स्वच्छत्वात्। सागराणां समुद्राणां निर्गमनमार्गमिव पातालाद् भूतले निःसरणमार्गमिव विपुलत्वादतलस्पर्शत्वाच्च। दिशां हरितां निस्यन्दमिव द्रवीभूय प्रस्रवणमिव विशदत्वात्। गगनतलस्य नभस्तलस्य जलाकारं सलिलरूपम् अवतारमिव अवतीर्णमिव स्वच्छत्वादेव। द्रवतां रसताम् आपन्नं प्राप्तं कैलासं तन्नामक-रजताद्रिशिखरमिव निर्मलत्वात्। विलीनं द्रवीभूतं तुषारगिरिं हिमाचलमिव शीतलत्वात्। रसतां सलिलताम् उपेतं प्राप्तं चन्द्रस्य आतपं कान्तिमिव विशदशीतलश्वेतत्वात्। जलीभूतं हरस्य महेश्वरस्य अट्टहासं विपुलहास्यमिव श्वेतत्वात्। अत्यधिकशुभ्रत्वसूचनाय हरपदम्। सरोरूपेण कासाररूपेण अवस्थितं कृतावस्थानं त्रिभुवनस्य त्रैलोक्यस्य पुण्यराशिमिव श्रेयःपुञ्जमिव पवित्रत्वात्। सलिलाकारेण जलस्वरूपेण परिणतं तद्रूपतामापन्नं वैदूर्यगिरिजालमिव वैदूर्यरत्नपर्वतसमूहमिव स्वच्छत्वात्। नूतनजलदगर्जनाद् विदूरभूमौ कानिचिद् रत्नानि जायन्ते तान्येव हि वैदूर्याणीत्यभिधीयन्ते। महाकविकालिदासास्तु कुमारसंभवे—

'विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव'

इत्याहुः। तथा द्रवीभूय रसीभूय एकत्र एकस्मिन् स्थले निस्यन्दितं निर्गलितं शरदभ्रवृन्दं शरत्सामयिकजलदसमूहमिव निर्मलत्वात्। शरत्समय एव हि मेघानां नैर्मल्यं भवतीत्येतद्ध्वननाय शरत्पदम्। प्रचेतसो वरुणस्य आदर्शभवनमिव दर्पणमयनिकेतनमिव प्रतिबिम्बपतनात् 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः।

---

आगत, जलतरङ्गोंका वायु मानो उसका आलिङ्गन करने लगा हो, और कमल-मधु पान कर मत्त हुआ कलहंसों का सुमधुर (श्रोत्रहारी) कोलाहल मानो उसको आह्वान करता हो—इस प्रकार चन्द्रापीडने उस वृक्ष-मण्डपमें प्रवेश किया।

प्रवेश करते ही मण्डपके मध्यमें एक अत्यन्त मनोहर लोचनोंको प्रफुल्लित करनेवाला—'अच्छोद' नामका सरोवर देखा। वह त्रैलोक्यलक्ष्मीके मणिमय दर्पणके समान, पृथिवीदेवीके भूतलान्तर्गत स्फटिकमय गृह (तैखाने) के समान, पातालसे सब समुद्रोंके भूतलमें निर्गमन मार्गके समान, दिशाओंका जलरूपमें होकर झरनोंके समान, आकाशके जलाकारमें अवतारग्रहण करनेके समान, तरलता प्राप्त (गले हुए) कैलास पर्वतके समान, द्रवीभूत हिमालयके समान, जलताको प्राप्त हुए चन्द्रमाके प्रकाशके समान, शङ्करके जलीभूत अट्टहास्यके समान, सरोवरके रूपमें त्रैलोक्यके पुण्यसमूहके समान, जलाकारके रूपमें परिणत वैदूर्यमणिके पर्वतसमूहके समान, द्रवीभूत होकर

---

१. विवेश। २. वसुधादेव्याः। ३. जलनिर्गमन…। ४. अंशावतारमिव गगनतलस्य, अवतारमिव चलाकारम्, अंशावतारं जलाकारम्…।

न्दितम्, आदर्शभवनमिव[1] प्रचेतसः, स्वच्छतया मुनिमनोवृत्तिभिरिव सज्जनगुणैरिव हरिणलोचनप्रभाभिरिव मुक्ताफलांशुभिरिव निर्म्मितम्, आपूर्णपर्य्यन्तमप्यन्तःस्पष्टदृष्टसकलवृत्तान्ततया रिक्तमिवोपलक्ष्यमाणम्, अनिलोद्धूतजलतरङ्ग-शीकर-धूलि-जन्मभिः सर्वतः संस्थितैः[2] रक्ष्यमाणमिवेन्द्रचापसहस्रैः, प्रतिमानिभेनान्तःप्रविष्ट[3] सकानन[4]-शैल-नक्षत्र-ग्रहचक्रवालं त्रिभुवनमुद्भिन्नपङ्कजेनोदरेण नारायणमिव बिभ्राणम्, आसन्नकैलासावतीर्णस्य च शतशो भगवतः खण्डपरशोर्मज्जनोन्मज्जन-क्षोभ-चलित-चूडामणि-चन्द्रखण्डच्युतेनामृतरसेन जल-

---

इह 'निस्यन्दमिव दिशाम्' इत्यत्र 'अवतारमिव जलाकारं गगनस्य' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'तुषारगिरिमिव विलीनम्' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षालङ्कारः। अवशिष्टेषु च जात्युत्प्रेक्षालङ्कारो ज्ञेयः।

स्वच्छेति। स्वच्छतया निर्मलत्वेन हेतुना, मुनिमनोवृत्तिभिः ऋषिचित्तवृत्तिभिः निर्मितमिव रचितमिव तासामप्यतिनिर्मलत्वादित्याशयः। सज्जनानाम् आप्तानां गुणैः सत्यदयार्जवादिभिः, हरिणलोचनप्रभाभिरिव मृगनेत्रकान्तिभिरिव, मुक्ताफलांशुभिः मौक्तिककिरणैः निर्मितमिवेति सम्बन्धः। इत्थं चतसृणामपि क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

आपूर्णेति। आपूर्णः सलिलैः सम्पूर्णः पर्यन्त उपर्यवशिष्टसीमा यस्य तत्तथोक्तं सदपि, अन्तरभ्यन्तरे स्पष्टं स्फुटं यथा स्यात्तथा दृष्टा अवलोकिताः सकलवृत्तान्ताः प्रतिबिम्बभावेन वृक्षवल्लीस्पन्दनादिक्रियाः, यद्वा अधःस्थशुक्तिसैकतादिपदार्था यत्र तत्तादृशं तस्य भावस्तत्ता तया कारणेन, रिक्तं जलशून्यमिव उपलक्ष्यमाणम् अवलोक्यमानम्। इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अनिलेति। अनिलेन वायुना उद्धूतानाम् उत्पादितानां जलतरङ्गाणां सलिलकल्लोलानां शीकरधूलिभ्योऽम्बुकणेभ्यो जन्म उत्पत्तिः येषां तैः तादृशैः, सर्वतः समन्तात् संस्थितैः विद्यमानैः इन्द्रचापसहस्रैः इन्द्रधनुःसमूहैः रक्ष्यमाणमिव त्रायमाणमिव। इहापि क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। तज्जलबिन्दुषु सूर्यरश्मिपातेन तेषामिन्द्रधनुर्वद्विविधवर्णतयाऽवलोक्यमानत्वादियमुत्प्रेक्षेत्यवधेयम्।

प्रतिमेति। नारायणं विष्णुमिव, उद्भिन्नानि प्रस्फुटितानि पङ्कजानि कमलानि यत्र तेन तथोक्तेन उदरेण अभ्यन्तरप्रदेशेन, नारायणपक्षे तु उद्भिन्नम् उत्पन्नं पङ्कजं ब्रह्मकमलं यस्मात्तेन तथोक्तेन उदरेण कुक्षिणा करणेन, प्रतिमानिभेन प्रतिबिम्बव्याजेन अन्तःप्रविष्टम् अन्तर्लीनम्, काननानां वनानां शैलानाम् अचलानां नक्षत्राणां तारकाणां ग्रहाणां सूर्यप्रभृतीनाञ्च चक्रवालेन मण्डलेन सहेति सकाननशैलनक्षत्रग्रहचक्रवालं त्रिभुवनं त्रिलोकं बिभ्राणं धारयदिव पक्षे धारयन्तम्। सोऽपीत्थं त्रिभुवनं बिभर्त्ति।

इह 'नारायणमिव' इति श्रौतोपमा, सकाननेत्यादि...बिभ्राणमिवेति सापह्नवा प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

आसन्नेति। अपि च, जलेन सलिलेन क्षालितस्य धौतस्य वामार्द्धस्य गिरिजारूपशरीरवामांशस्य कपोलात् गण्डात् गलितं च्युतं लावण्यप्रवाहं सौन्दर्यधाराम् अनुकरोतीति तेन तादृशेन, आसन्नात् समीपवर्त्तिनः कैलासात् अवतीर्णस्य उत्तरितस्य भगवतो माहात्म्यवतः खण्डपरशोः शङ्करस्य शतशोऽनेकवारं मज्ज-

---

एक स्थानमें गिरे हुए शरत्कालीन मेघसमूहके समान एवं वरुणके दर्पणमय गृहके समान देखनेमें आरहा था। अत्यन्त स्वच्छ होनेके कारण वह सरोवर ऐसा प्रतीत होता था मानो तपस्वियोंके मनका, सज्जनोंके सद्गुणोंका, हरिणोंकी नयन-कान्तिका और मोतियोंकी किरणोंका ही निर्माण किया हुआ हो। जलसे परिपूर्ण होनेपर भी उसके अभ्यन्तरकी सब वस्तु स्पष्ट दिखलाई देती थी जिससे वह जलशून्य सा प्रतीत होता था। वायुसे उछलती हुई जलतरङ्गके बिन्दुओंमें सूर्यके किरण पतित होनेसे सब दिशाओंमें से एकत्रित हुए मानो हजारों इन्द्र-धनुष उसकी रक्षा करते थे। उस सरोवरके भीतरमें बहुतेरे कमल खिले हुए थे एवं वन, पर्वत, नक्षत्र और ग्रहोंसे युक्त समस्त त्रिभुवन प्रतिबिम्बके बहानेसे उसके भीतरमें प्रवेश किये थे, अतएव नारायण ( विष्णु ) जिस प्रकार उत्पन्न-पद्म-समन्वित उदर द्वारा वन, पर्वत, नक्षत्र और ग्रहणोंसे युक्त त्रिभुवन धारण करते हैं उसी प्रकार अच्छोद सरोवर ने भी मानो त्रिभुवन धारण किया था। भगवान् शङ्कर, निकटवर्त्ती कैलासपर्वतमेंसे उतरकर बार-

---

१. आदर्शमिव, आदर्शभुवनमिव। २. समुपस्थितैः, समुत्थितैः। ३.…प्रविष्ट। ४.…सजलचरकानन…, सकलकानन…।

क्षालित-वामार्द्ध-कपोल-गलित-लावण्य-प्रवाहानुकारिणा सम्मिश्रितजलम्[1], उपकूल-तमालवन-प्रतिबिम्बान्धकारिताभ्यन्तरैर्दृश्यमान-रसातल-द्वारैरिव सलिलप्रदेशैर्गम्भीरतरम्[2], दिवाप्युपजातनिशाशङ्कैश्चक्रवाकमिथुनैः परिह्नियमाण-नीलोत्पल-वन-गहनम्, असकृत् पितामह-परिपूरित-कमण्डलु-परिपूत[3]जलम्, अनेकशो बालखिल्य-कदम्बक-कृत-सन्ध्योपासनम्, बहुशः सलिलावतीर्ण-सावित्रीभग्न-देवतार्चन-कमलम्[4], सहस्रशः सप्तर्षिमण्डलस्नानपवित्रीकृतम्,

नोन्मज्जनाभ्यां यः क्षोभः सञ्चलनं ( चन्द्रखण्डस्य ) तेन चलितात् कम्पितात् चूडामणिरूपात् चन्द्रखण्डात् शशिखण्डात् च्युतेन गलितेन अमृतरसेन पीयूषद्रवेण संमिश्रितानि संमिलितानि जलानि यस्य तत्तादृशम् ।

इह तथाविधामृतरसेन तज्जलानां मिश्रणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः ।

उपकूलेति । उपकूलं कूलनिकटवर्त्तिनां तमालवनानां तापिच्छारण्यानां प्रतिबिम्बैः प्रतिच्छायैः अन्धकारितानि समुत्पन्नान्धकाराणि अभ्यन्तराणि मध्यप्रदेशा येषां तैः तादृशैः, अत एव दृश्यमानम् अवलोक्यमानं रसातलस्य द्वारं येषु तैः तादृशैरिव विद्यमानैः सलिलप्रदेशैः जलस्थलैः गम्भीरतरम् अत्यन्तगभीरम् अन्धकारमाहात्म्यादस्य सलिलप्रदेशा अतीव निम्नतरा अत एव रसातलस्य द्वारमपि ( यद्धि अतीव निम्नम् ) अवलोक्यत इत्यभिप्रायः ।

इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, रसातलद्वारावलोकनोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

दिवापीति । दिवाऽपि दिवसेऽपि उपजातनिशाशङ्कैः उत्पन्नरात्रिविभ्रमैः, तमालवनप्रतिबिम्बनादन्धकारितमध्यदेशत्वादित्याशयः, चक्रवाकानां कोकानां मिथुनैर्द्वन्द्वैः परिह्नियमाणं परित्यज्यमानं नीलोत्पलवनम् इन्दीवरखण्डमेव गहनं सान्द्रप्रदेशो यस्मिन् तत्तादृशम् ।

इह दिने रात्रिभ्रमाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः, नीलोत्पलवनपरित्यागसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, तथा वनगहनशब्दयोः प्रतिशब्दतया आपाततः पुनरुक्तताऽवगमात् अनन्तरञ्च गहनशब्दस्य सान्द्रार्थे पर्यवसानात् पुनरुक्तवदाभासश्च इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

असकृदिति । असकृद् बहुवारं पितामहेन ब्रह्मणा परिपूरितः भृतो यः कमण्डलुः कुण्डिका तेन परिपूतानि पवित्रीकृतानि जलानि सलिलानि यस्य तत्तादृशम् । तत्कमण्डलोस्तीर्थरूपत्वेन पूतस्पर्शत्वादित्याशयः ।

अनेकश इति । बाल एव कुन्तल एव खिल्यः प्रतिबन्धको येषां ते बालखिल्याः अङ्गुष्ठपर्वपरिमितशरीराः षष्टिसहस्र ६०००० मुनिविशेषाः, तेषां कदम्बकेन समूहेन कृता विहिता सन्ध्योपासना यस्मिन् तत्तादृशम् ।

बहुश इति । बहुशः अनेकशः सलिले जले अवतीर्णया उत्तीर्णया सावित्र्या ब्रह्मपत्न्या भग्नानि ( उन्मूलितानि ) त्रोटितानि देवतार्चनस्य सुरपूजनस्य कमलानि पङ्कजानि यत्र तत्तादृशम् ।

सहेति । सहस्रशः सहस्रवारं सप्तर्षीणां मरीचिप्रभृतीनां मण्डलं समूहः तस्य स्नानेन अवगाहनेन पवित्रीकृतं पावनीकृतम् ।

म्बार यहाँ डुबकी मारनेके क्षोभसे चलायमान हुए मस्तकस्थित चन्द्र-खण्डसे निकलता अमृतरस, जल प्रक्षालित पार्वतीके कपोलोंसे निःसृत लावण्य-प्रवाहका अनुकरण करता हुआ उसके जलके साथ मिश्रित था। तीर के निकटवर्त्ती तमाल-वनका प्रतिबिम्ब गम्भीर जलके भीतर पड़कर अन्धकार से व्याप्त कर दिया था, उससे प्रतीत होता था कि मानो पातालके द्वारों को दिखा रहा है। इस प्रकार का अन्धकार होनेसे दिनके समयमें भी चक्रवाकदम्पतिगण को रात्रि का भ्रम उत्पन्न करता था, अत एव वे उसके नील-कमलके गहन वन को परित्याग करते थे। ब्रह्माने बारम्बार अपना कमण्डल भर कर उसके जलको पवित्र किया था। बालखिल्य मुनियोंके झुण्डने अनेकबार उसके जलमें सन्ध्योपासन किया था। सावित्रीदेवीने जलमें उतर कर अनेकों बार देवताओं की पूजाके लिए कमल तोड़े थे। सप्तर्षिगणने हजारोंबार स्नान कर उसका जल पवित्र किया था। सिद्धगणकी स्त्रियोंने भी सदा कल्प-

१. लावण्यानुकारिणा, मिश्रितजलम्। २. गभीरतरम्। ३. परिपूरितजलम्। ४.···देवार्चनकमलसहस्रम्।

सर्वदा सिद्ध-वधू-धौत-कल्पलता-वल्कल-पुण्यीकृतोदकम्[1], उदकक्रीडादोहदागतानाञ्च गुह्यकेश्वरान्तःपुरकामिनीनां मकरकेतु-चापचक्राकृतिभिरतिविकटैरावर्त्तिभिर्नाभिमण्डलैरापीतसलिलम्, क्वचिद्वरुण-हंसोपात्तकमलवनमकरन्दम्[2], क्वचिद्दिग्गजमज्जन-जर्जरित-जरन्मृणालदण्डम्[3], क्वचित्त्र्यम्बक-वृषभ-विषाण-कोटि[4]-खण्डित-तट-शिलाखण्डम्, क्वचिद्यममहिष-शृङ्ग-शिखर-विक्षिप्त-फेन-पिण्डम्, क्वचिदैरावत-दशन-मुषल[5]-खण्डित-कुमुद-षण्डम्, यौवनमिवोत्कलिकाबहुलम्, उत्कण्ठितमिव मृणालवलयालङ्कृतम्, महापुरुषमिव प्रकट-मीन-मकर-कूर्म्म-

सर्वदेति। सर्वदा सर्वकालं सिद्धानां देवयोनिविशेषाणां वधूभिः अङ्गनाभिः धौतैः क्षालितैः कल्पलतावल्कलैः मन्दारव्रततिचोचैः पुण्यीकृतानि पवित्रीकृतानि उदकानि सलिलानि यस्य तत्तादृशम्।

उदकेति। उदकक्रीडादोहदेन जलक्रीडाभिलाषेण आगतानां प्राप्तानां गुह्यकेश्वरस्य कुबेरस्य अन्तःपुरकामिनीनाम् अवरोधस्त्रीणां मकरकेतोः कामस्य चापचक्रस्य मण्डलीकृत (आरोपित) धनुषः आकृतिराकारो येषां तैः तादृशैः, अतिविकटैरत्यन्तगभीरैः आवर्त्तो वर्त्तुलस्वरूप एषामस्तीति तैः तादृशैः, नाभिमण्डलैः तुन्दकूपिकासमूहैः आपीतानि अन्तर्गतीकृतानि सलिलानि जलानि यस्य तत्तादृशम्। इहार्थोपमालङ्कारः।

क्वचिदिति। क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे वरुणस्य प्रचेतसः हंसैस्तद्वाहनमरालैः उपात्ता गृहीताः कमलवनस्य पद्मविपिनस्य मकरन्दा मधूनि यत्र तत्तादृशम्।

क्वचिदिति। क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे दिग्गजानां दिग्दन्तिनां मज्जनेन अवगाहनेन जर्जरिताः छिन्नभिन्नाः जरन्तः बहुकालावस्थानेन स्वयं जीर्णाः मृणालदण्डा बिसदण्डा यत्र तत्तादृशम्।

क्वचिदिति। त्र्यम्बकवृषभेण महेश्वरोक्षणा विषाणकोटिभ्यां शृङ्गाग्रभागाभ्यां खण्डिताः त्रुटिताः तटशिलाखण्डाः तीरप्रस्तरखण्डा यस्य तत्तादृशम्।

क्वचिदिति। यममहिषेण कृतान्तकासरेण शृङ्गयोः विषाणयोः शिखराभ्याम् अग्रभागाभ्यां विक्षिप्ता मज्जनसमये विकीर्णाः फेनपिण्डाः डिण्डीरपुञ्जाः यत्र तत्तादृशम्।

क्वचिदिति। ऐरावतेन इन्द्रगजेन, दशनौ दन्तौ मुसलौ इव दशनावेव मुसलौ वेति ताभ्यां खण्डितं त्रोटितं कुमुदषण्डं कैरववनं यत्र तत्तादृशम्। इहोपमारूपकयोः सन्देहसङ्करः। अच्छोदसरोवरस्योक्तविशेषणैः सुराणां विहारस्थानत्वमिति द्योतितम्।

यौवनमिति। यौवनं तारुण्यसमयमिव उत्कलिका सञ्जातकुड्मला अनुरागोत्कण्ठाश्च यत्र तत्तादृशम्। 'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्यमरः।

उदिति। उत्कण्ठितं प्रियजनवियोगेनोन्मनस्कं लोकमिव, मृणालवलयेन बिससमूहेन अलङ्कृतं भूषितम्, एकत्र कामतापादन्यत्र स्वभावादित्याशयः।

महेति। महापुरुषं भाग्यशालिनं नृपादिमिव, प्रकटाः स्फुटमवलोक्यमानाः, मीना मत्स्याः, मकरा

लताके वल्कल धोकर उसके जलको पवित्र किया था। जलक्रीडा की अभिलाषासे आई कुबेरके अन्तःपुरकी सुन्दरियोंके-कामदेवके मण्डलीकृत-धनुषके समान वर्त्तुलाकार अतिगभीर और भँवर के समान स्वरूपवाले-नाभि मण्डलों ने उसका जल पिया था। उस सरोवरके किसी-किसी स्थानमें वरुणके हंसगण कमलवनका मधुपान कर रहे थे। किसी-किसी भागमें दिग्गजोंके स्नान करने के समयमें पके मृणालदण्ड छिन्न-भिन्न हो गए थे। किसी किसी स्थलमें महादेवके बैलके सींगों के अग्रद्वारा तटकी शिलाएँ टूट गई थीं। कहीं-कहीं यम-महिषने स्नान करनेके समयमें सींग के अग्रभागद्वारा फेन इतस्ततः फैला दिये थे। कहीं-कहीं ऐरावतके दन्त-रूपी मूसलसे कुमुद-खण्ड टुकड़े-टुकड़े हो गए थे। यौवनकाल जिस प्रकार उत्कण्ठासे परिपूर्ण रहता है, वह सरोवर भी उसी प्रकार उत्पन्न कलिकासे परिपूर्ण था। प्रिय विरहसे उत्कण्ठित व्यक्तिके समान वह सरोवर भी मृणाल-वलय (मृणालके वलय; मृणाल-रूपी वलय) से अलङ्कृत था। महापुरुषके हाथ और पाँव में जिसप्रकार मत्स्य, मकर (मगर), कछुए और चक्रके चिह्न स्पष्ट देखनेमें आता है उस सरोवरमें भी उसी प्रकार मत्स्य, मकर, कछुए, चक्रवाक और सारस-पक्षिणी स्पष्टरूपमें प्रकट थे। कार्त्तिकेयके चरित्रमें जिसप्रकार क्रौञ्च दैत्यके भार्याओंके विलाप

१. पुण्योदकम्। २. हंसाक्रान्तविकचकमलवनषण्डम्, हंसाक्रान्तकमलमकरन्दम्, हंसाघ्रातकमलवनमकरन्दम्। ३. ...मृणालजालदण्डम्। ४. ...धवलवृषभविषाणकोदण्ड...। ५. ...मुसल...।

चक्र-लक्षणम्[1], षण्मुखचरितमिव श्रूयमाणक्रौञ्चवनिताप्रलापम्, भारतमिव पाण्डु-धार्त्तराष्ट्रकुल-पक्ष-कृत-क्षोभम्, अमृतमथनसमयमिव तीरावस्थित[2]-शितिकण्ठ-पीयमानविषम्, कृष्ण-बाल[3]-चरितमिव तट-कदम्ब-शाखाधिरूढ[4] हरिकृत-जल-प्रपात-क्रीडम्, मदनध्वजमिव मकराधिष्ठितम्, दिव्यमिवानिमिषलोचनरमणीयम्, अरण्यमिव विजृम्भमाणपुण्डरीकम्,

---

जलचरविशेषाः, कूर्माः कच्छपाः चक्राः चक्रवाकाः, लक्षणाः सारस्यश्च यत्र तत्तादृशम्। पक्षे तु प्रकटानि स्फुटानि मीनमकरकूर्मचक्रस्वरूपाणि लक्षणानि पाणिपादयोः रेखात्मकचिह्नानि यस्य तं तादृशम्।

'लक्षणं नाम्नि चिह्ने च सारस्यां लक्षणा क्वचित्'। इति मे०। 'ज्योतिष्मत्यां च सारस्यां स्त्री, क्लीबे नामचिह्नयोः। स्यादृक्षे लक्षणः पुंसि सौमित्रौ, श्रीमति त्रिषु॥' इति रभ०

षण्मुखेति। षण्मुखचरितं कार्त्तिकेयचरित्रमिव, श्रूयमाणः आकर्ण्यमानः क्रौञ्चवनितानां बकपक्षिणीनां प्रलापः कलरवो यत्र तत्तादृशम्, अन्यत्र तु श्रूयमाणः क्रौञ्चवनितानां क्रौञ्चसंज्ञकदैत्यस्त्रीणां प्रलापो रोदनं यत्र तत्तादृशम्। मयदैत्यसुतः क्रौञ्चदैत्यः कार्त्तिकेयेन मारित इति हरिवंशीया कथा।

भारतमिति। भारतं महाभारतमितिहासमिव, पाण्डूनां पाण्डुवर्णानां धार्त्तराष्ट्रानां श्यामवर्णचञ्चुचरणयुक्तानां हंसानां यत् कुलं समूहः तस्य पक्षैः पतत्रैः कृतो विहितः क्षोभः सञ्चालनं यस्य तत्तादृशम्। पक्षे तु पाण्डुकुलं पाण्डुराजवंशो धर्मराजादिः तथा धृतराष्ट्रस्येदमिति धार्त्तराष्ट्रं कुलं दुर्योधनादि तयोः पक्षाभ्यां सहायभूताभ्यां संग्रामकारिभ्यां कृतः क्षोभः संग्रामो यत्र तत्तादृशम्।

'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहिताः सिताः। मलिनैर्मल्लिकाक्षास्ते धार्त्तराष्ट्राः सितेतरैः॥' इत्यमरः।

अमृतेति। अमृतमथनसमयमिव समुद्रमथनसमयमिव, तीरावस्थितैः तटावस्थानैः शितिकण्ठैः मयूरैः पीयमानानि आस्वाद्यमानानि विषाणि जलानि यस्य तत्तादृशम्। पक्षे तु तीरावस्थितेन शितिकण्ठेन शङ्करेण पीयमानं विषं सागरोत्थितं गरलं यत्र तं तादृशम्। 'विषं तु गरले तोये' इति मेदिनी।

पुरा मन्दराचलेन समुद्रमथनादाविर्भूतं गरलं महादेवः पपाविति महाभारतीया कथा।

कृष्णेति। कृष्णस्य देवकीनन्दनस्य बालचरितं शैशवक्रीडितमिव, तटे तीरे ये कदम्बाः नीपाः तेषां शाखासु अधिरूढैः हरिभिः कपिभिः हरिणा तेनैव देवकीनन्दनेन च कृता जले प्रपात एव क्रीडा यत्र तत्तादृशम्।

मदनेति। मदनः कामः तस्य ध्वजं पताकामिव, मकरैः तत्संज्ञकैर्जलचरविशेषैः मकरेण मकरसदृशपुत्तलिकया च अधिष्ठितम् आश्रितम्।

दिव्येति। दिवि भवं दिव्यं स्वर्गीयं कञ्चिद्देवमिव, नास्ति निमिषः निमेषो ययोस्तथोक्ते लोचने नयने येषां तैः तथोक्तैर्मत्स्यैर्मीनैः रमणीयं मनोहरम्। पक्षे तु अनिमिषे ये लोचने ताभ्यां रमणीयम्। देवमीनयोर्द्वयोरेव निमेषाभावात्।

अरण्येति। अरण्यं महाविपिनमिव, विजृम्भमाणानि प्रस्फुटं भजमानानि पुण्डरीकाणि सिताम्भोजानि यत्र तत्तादृशम्। पक्षे तु विजृम्भमाणा निद्राभङ्गानन्तरं निजाङ्गान्यायच्छमाना पुण्डरीका व्याघ्रा यत्र तत्तादृशम्।

---

की कथा सुननेमें आती है, उस सरोवरमें भी उसी प्रकार बक-पक्षिणियों का कलरव सुनाई देता था। महाभारत में जिसप्रकार पाण्डुवंश और धृतराष्ट्रवंश इन दोनों पक्षोंसे किये हुए युद्धों का वृत्तान्त है, उस सरोवरमें भी उसीप्रकार श्वेत-हंसगणके पङ्खोंकी वायुसे जलका उद्वेलन होता था। समुद्रमन्थनके समय जिसप्रकार शङ्करजी तीरमें रहकर कालकूट-विष पान किया था, उस सरोवर में भी उसी प्रकार मयूरगण तीरमें रहकर जल पान करते थे। श्रीकृष्ण शैशवचरितमें जिसप्रकार यमुनातीर-स्थित कदम्बवृक्षकी शाखा पर चढ़कर ऊपरसे ही जल-प्रपातरूप क्रीडा करते थे, उस सरोवरमें भी उसी प्रकार तीर स्थित कदम्ब वृक्षके शाखा पर चढ़कर पुनः वहीं से जलमें कूद कर वानरगण क्रीडा करते थे। कामदेव की ध्वजामें जिसप्रकार मकराकृति पुत्तलिका है, उस सरोवरमें भी उसीप्रकार मकर नामका जलजन्तु रहता है। स्वर्गीय देवता जिसप्रकार निमेषरहित लोचनद्वारा शोभा पाते हैं, वह सरोवरभी उसीप्रकार मत्स्यद्वारा शोभा पाता था। महावनमें जिसप्रकार व्याघ्र निद्राभङ्गके अनन्तर जृम्भा (हाफी) कर मुख-विकास करते हैं, वह सरोवर भी उसी प्रकार श्वेतकमलसे विकसित होता था। सर्पोंका कुल

---

१. मीन⋯प्रकटलक्षणम्। २. तीरकासारावस्थित⋯। ३. बालकृष्ण⋯। ४. आरूढ⋯।

उरगः कुलमिवानन्त-शतपत्र-पद्मोद्भासितम् , कंसबलमिव मधुकरकुलोपगीयमान[1]-कुवलया-पीडम् , कद्रू[2]-स्तनयुगलमिव नागसहस्रपीतपयोगण्डूषम् , मलयमिव चन्दन-शिशिरवनम् , असत्साधनमिवादृष्टान्तम् , अतिमनोहरमाह्लादनं दृष्टेः, अच्छोदं नाम सरो दृष्टवान् ।

---

'पुण्डरीकः सिताम्भोजे सितच्छत्रे च भेषजे। पुंसि व्याघ्राग्निदिङ्नागे कोशकारान्तरेऽपि च ॥' इति मे०

उरगेति । उरगकुलं नागवंशमिव, अनन्तैः अगणितैः शतपत्रपद्मैः शतदलकमलैः उद्भासितं शोभितम् । पक्षे तु अनन्तेन नागाधिपेन वासुकिनेत्यर्थः, शतपत्रेण पद्मेन च नागविशेषेण उद्भासितम् ।

कंसेति । कंसस्य उग्रसेनसुतस्य बलं सैन्यमिव, मधुकरकुलेन भ्रमरवृन्देन उपगीयमानानि स्वगानविषयीक्रियमाणानि कुवलयानि इन्दीवराण्येव आपीडः शेखरो यस्य तत्तादृशम् । पक्षे तु मधुकरकुलेन भ्रमरसमूहेन उपगीयमानः दानवारिपरिमललोभेनागत्य स्वगीतश्रवणविषयीक्रियमाणः कुवलयापीडः तन्नामको गजेन्द्रो यस्मिन् तत् तादृशम् , अथवा मधौ मधुवने करः नृपग्राह्यभागो येषां ते मधुकराः कंसप्रभृतयः तेषां कुलेन समूहेन उपगीयमानः प्रशस्यमानः कुवलयापीडसंज्ञको गजो यस्मिंस्तत्तादृशम् ।

कद्र्विति । कद्रूः नागमाता तस्याः कश्यपस्त्रीविशेषस्य स्तनयुगलं कुचद्वयमिव, नागानां गजानां सर्पाणाञ्च सहस्रेण समूहेन पीतः पानविषयीकृतः पयसां सलिलानां दुग्धानाञ्च गण्डूषश्चुलुको यस्मात्तत्तादृशम् ।

मलयमिति । मलयो मलयाचलस्तमिव, चन्दनवत् मलयजवत् शिशिराणि शीतलानि वनानि सलिलानि यस्मिंस्तत् । पक्षे तु चन्दनानां वृक्षाणां शिशिरवनं शीतलकाननं यस्मिंस्तं तादृशम् । 'वनं नपुंसके नीरे निवासालयकानने' इति रामाश्रमी ।

इह 'यौवनमिवोत्कलिकाबहुलम्' इत्यारभ्य 'मलयमिव चन्दनशिशिरवनम्' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः । 'उरगकुलमिवानन्त-शतपत्र-पद्मोद्भासितम्' इत्यत्र तु शतपत्र-पद्मशब्दयोः प्रतिशब्दतया आपाततः पुनरुक्तताऽवगमादनन्तरञ्च शतदलान्वितपद्मार्थे पर्यवसानात् पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः पूर्णोपमा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

असदिति । असत्साधनमिव हेत्वाभासदुष्टहेतुमिव अश्वत्ववान् मनुष्यादित्यादिसाध्याभाववत्पक्षवृत्तिहेतुमिवेत्यर्थः, न दृष्टो न केनाऽपि वीक्षितः अन्तो विरामो यस्य तत्तादृशम् अतिविस्तृतमित्यर्थः । पक्षे तु नास्ति दृष्टान्तो निश्चितसाध्यवान् दृष्टान्तसंज्ञको न्यायावयवविशेषो यत्र तत्, अश्वत्ववान् मनुष्यत्वादित्यादौ असद्धेतौ निश्चितसाध्य-(गोत्व) वत्स्थलं (दृष्टान्तः) नास्तीत्यर्थः, अत एवासत्साधनत्वमित्यभिप्रायः ।

इह तत्सरोवरस्यान्तावलोकनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः पूर्णोपमा चेत्युभयोः सङ्करः ।

अतीति । अतिमनोहरम् अतिसुन्दरं दृष्टेर्नेत्रस्य आह्लादनं प्रमोदजनकम् , अच्छानि निर्मलानि उदकानि तोयानि यस्य तदच्छोदं नाम सरः कासारं दृष्टवान् अवलोकितवान् ।

---

जिस प्रकार अनन्त, शतपत्र और पद्मनामक सर्पद्वारा शोभित है, वह सरोवर भी उसी प्रकार असंख्य शतदल ( सैकड़ों पंखड़ी वाले ) कमलद्वारा शोभित था । कंसकी सेनाओंके मध्यमें जिस प्रकार भ्रमरगण—गुञ्जन—श्रवण-परायण कुवलयापीड नामक एक हाथी था, उस सरोवरमें भी उसी प्रकार नीलोत्पलरूप उसके शिरोभूषणमें भ्रमर-गण गान ( गुञ्जार ) करते थे । कश्यपपत्नी कद्रूके स्तनयुगलसे जिस प्रकार सर्पगण दुग्ध पान करते थे, उस सरोवर से भी उसी प्रकार हस्तिगण जल-पान करते थे । मलयपर्वतमें जिसप्रकार शीतल चन्दनवन है, उस सरोवरमें भी उसी प्रकार शीतल जल था । असद्धेतु ( हेत्वाभास ) का जिस प्रकार दृष्टान्त नहीं है, उस सरोवर का भी उसी प्रकार शेषसीमा ( अन्त ) दृष्टिगोचर नहीं होता था । इस प्रकार वह अच्छोदसरोवर अत्यन्त सुंदर और नेत्र का आह्लादजनक था ।

---

१. '''उपनीयमान''' । २. कद्रू''' ।

आलोक[1]-मात्रेणैवापगतश्रमो दृष्ट्वा मनस्येवमकरोत्[2]-'अहो! निष्फलमपि मे तुरग[3]-मुखमिथुनानुसरणम् एतदालोकयतः सरः सफलतामुपगतम्। अद्य परिसमाप्तमीक्षणयुगलस्य द्रष्टव्यदर्शनफलम्, आलोकितः खलु रमणीयानामन्तः, दृष्ट आह्लादनीयानामवधिः, वीक्षिता मनोहराणां सीमान्तलेखा, प्रत्यक्षीकृता प्रीतिजनानां परिसमाप्तिः, विलोकिता[4] दर्शनीयानामवसानभूमिः। इदमुत्पाद्य सरः सलिलम् अमृतरसमुत्पादयता वेधसा पुनरुक्ततामिव नीता स्वसृष्टिः। इदमपि खल्वमृतमिव सर्वेन्द्रियाह्लादनसमर्थमतिविमलतया चक्षुषः प्रीतिमुपजनयति, शिशिरतया स्पर्शसुखमुपहरति[5], कमलसुगन्धितया घ्राणमाप्याययति, हंसमुखरतया

---

आलोकेति। आलोकमात्रेणैव निरीक्षणमात्रेणैव अपगतश्रमः दूरीभूतक्लान्तिः चित्तप्रसन्नत्वादित्याशयः। दृष्ट्वा भूयो विशेषेणावलोक्य मनसि चित्त एवम् इत्थम् अकरोत् अघटयत्—अहो इत्याश्चर्ये निष्फलं निरर्थकमपि एतत्सरः कासारम् आलोकयतो दृष्टवतो मे मम तुरगमुखमिथुनानुसरणं किन्नरयुगलानुगमनं सफलताम् उपगतं प्राप्तम्। अद्य अस्मिन् दिने परिसमाप्तं परिपूर्णम् ईक्षणयुगलस्य लोचनद्वयस्य द्रष्टव्यफलं दर्शनीयफलम्, खलु निश्चयेन रमणीयानां मनोहराणाम् अन्तोऽवसानम् आलोकितो वीक्षितः, एतदपरं रमणीयं न विद्यत इत्यर्थः। आह्लादनीयानां प्रमोदविधायिनाम् अवधिः शेषसीमा दृष्टोऽवलोकितः। मनोहराणां चित्तहारिणां सीमान्तलेखा अवधिरेखा वीक्षिता लोचनगोचरीकृता अतः परं हृदयाकर्षकं किमपि नास्तीत्याशयः। प्रीतिजनानां प्रीत्युत्पादकानां परिसमाप्तिः संपूर्णसमापनं प्रत्यक्षीकृता इन्द्रियगोचरीकृता। दर्शनीयानां द्रष्टुं योग्यानाम् अवसानभूमिश्चरमकथा विलोकिता दृष्टा नाधिकमितः परं द्रष्टव्यमस्तीत्याशयः। इहैकार्थस्यापि पुनः पुनरुक्तया दोषमापतति किन्तु चन्द्रापीडस्यानन्दमग्नतया विस्मयेन च तथा कथनान्नोक्तदोषो विवादादौ कथितपदतावदित्यवधेयम्। तथा च दर्पणे—'..................................................कथितं च पदं पुनः।

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि। दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने॥
अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे॥' इति।

इदमिति। इदं सरःसलिलं कासारजलम् उत्पाद्य निर्माय पुनः अमृतरसं पीयूषद्रवम् उत्पादयता सृजता वेधसा ब्रह्मणा, स्वसृष्टिः स्वकीयनिर्मितिः पुनरुक्ततामिव नीता प्रापिता एकमेव वस्तु नामान्तरेण विहितमित्याशयः। एतेनास्यामृतसाम्यं प्रत्याय्यते।

ननु कथं पुनरुक्ततां प्रापितेत्यत आह—इदमपीति। इदमपि सरःसलिलं कर्तृ। खलु निश्चितम्। अमृतं पीयूषमिव, सर्वेषां समग्राणाम् इन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां ज्ञानेन्द्रियाणाञ्च आह्लादनं प्रीणनं तत्र समर्थम्, अतिविमलतया अतिस्वच्छतया चक्षुषो लोचनस्य प्रीतिं स्नेहम् उपजनयति उत्पादयति, तथा शिशिरतया शीतलतया स्पर्शसुखं स्पर्शजनितानन्दम् उपहरति जनयति। कमलस्येव शोभनो गन्धः सौरभोऽस्यास्तीति कमलसुगन्धि, मत्वर्थीय 'अत इनिठनौ' इति पा० सूत्रेण इनिप्रत्ययः ततः 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति पा० सूत्रेण तलप्रत्ययः, तया हेतुना। प्रशंसायामत्रेनिः। घ्राणं नासिकाम् आप्या-

---

उस सरोवरको केवल देखनेसे ही चन्द्रापीडकी थकावट दूर हो गई, उस समय वह विशेषरूपसे देखकर इस प्रकार मनमें विचार करने लगा—'अहो! मेरा किन्नरयुगलका अनुसरण निष्फल होनेपर भी इस सरोवरके देखनेसे सफल हुआ। आज ही मेरे नेत्रोंको द्रष्टव्य (वस्तु) देखनेका पूरा फल मिला। यह तो सचमुच मैंने सुन्दर पदार्थोंका अन्त देखा। आह्लाद-जनक वस्तुओंकी सीमा देखी। मनोहर पदार्थोंकी अन्तिम-सीमा-रेखाको दृष्टिगोचर किया। आनन्ददायक पदार्थोंकी परिसमाप्तिका साक्षात्कार किया एवं दर्शनीयोंकी अवसान-भूमि देखी। इस सरोवरका जल उत्पन्न करके अमृत उत्पन्न करनेवाले विधाताने मानो अपनी सृष्टिको पुनरुक्त दोष-ग्रस्त कर दिया है, क्योंकि—इस सरोवरका जल भी अमृतके समान सब इन्द्रियोंका आह्लाद उत्पन्न करनेके लिए समर्थ है। अत्यधिक स्वच्छताके कारण आँखोंको आनन्द उत्पन्न करता है। शीतलताके कारण स्पर्श-सुख देता है। कमलकी सुगन्धसे नासिकाको तृप्त करता है। हंसके स्वरसे कानोंको आनन्दित करता है एवं

---

१. आलोकन...। २. मनस्यकरोत्। ३. तुरङ्ग...। ४. अवलोकिता। ५. उपाहरति।

श्रुतिमानन्दयति, स्वादुतया रसनामाह्लादयति। नियतञ्चास्यैव दर्शनतृष्णया न परित्यजति भगवान् कैलासनिवासव्यसनमुमापतिः। न खलु साम्प्रतमाचरति जलशयनदोहदं[1] देवः रथाङ्गपाणिः, यदिदममृतरस-सुरभि-सलिलमपहाय लवण-रस-परुषपयस्युदन्वति स्वपिति। नूनञ्चेदं न प्रथममासीत् सरः, येन प्रलयवराहघोणाभिघात-भीता[2] भूतधात्री कलसयोनि-पान-परिकलित-सकल-सलिलं सागरमवतीर्णा, अन्यथा यद्यत्रागाधपाताल[3]-गम्भीराम्भसि निमग्ना भवेन्महासरसि, किमेकेन, महावराह-सहस्रैरपि नासादिता भवेत्। नूनञ्चास्मादेव सलिललेशमादायादायँ महाप्रलयेषु प्रलयपयोदाः प्रलयदुर्दिनान्धकारितदशदिशः प्लावयन्ति भुव-

यति प्रीणयति। हंसमुखरतया हंसशब्दैः शब्दायमानतया, श्रुतिं कर्णम् आनन्दयति प्रमोदयति तथा स्वादुतया मिष्टतया रसनां जिह्वाम् आह्लादयति आनन्दयति। अत एव सर्वथैवामृतसदृशतया पुनः पीयूषनिर्माणं पुनरुक्तत्वमेव प्रापितमित्यभिप्रायः।

नियतमिति। उमापतिर्भगवान् महेशः अस्य सरस एव दर्शनतृष्णयावलोकनलोभेन कैलासनिवासे रजताद्रयवस्थाने व्यसनमासक्तिं न परित्यजति न जहातीति नियतं निश्चितम् अन्यथाऽन्यत्र निवसेदित्याशयः। इह वाच्या अभावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा ध्रुवपर्यायनियतशब्दोपादानात्।

नेति। देवो रथाङ्गपाणिश्चक्रपाणिर्भगवान् विष्णुः, जलशयनस्य सलिलस्वापस्य दोहदम् अभिलाषं न खलु साम्प्रतं युक्तम् आचरति विदधाति 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। यद् यस्मात्, अमृतस्य पीयूषस्येव रसो यस्य तदमृतरसं सुरभि सुगन्धि च सलिलं पानीयं यस्य तदिदं सरः, अपहाय परित्यज्य लवणरसेन परुषाणि रूक्षाणि पयांसि सलिलानि यस्य तस्मिंस्तादृशे उदन्वति समुद्रे स्वपिति शयनं करोति। यदि जलशयनाभिलाषमुचितमेवाकरिष्यत्तदा लवणसमुद्रं विहायास्मिन्नेवामृतोपमसलिले नूनमस्वप्स्यदित्यभिप्रायः।

नूनमिति। प्रलये कल्पान्तसमये वराहस्य अवताररूपयज्ञशूकरस्य घोणाया नासिकाया अभिघातात् प्रहाराद् भीता त्रस्ता दंष्ट्राग्रेणोत्थापनसमये नासिकाघातः सम्भवत्येवेत्यवलोकनीयम्। भूतधात्री पृथिवी, कलसयोनिना अगस्त्येन पानाय पानार्थं परिकलितं सम्भावितं सकलं समग्रं सलिलं जलं यस्य तं तादृशम्, एतेनास्यातिन्यूनत्वं ध्वनितम्; सागरं समुद्रम् अवतीर्णा पलायनाय प्रविष्टा। अन्यथा यदीदं सरः प्रथममासीदित्यर्थः, यदि च अगाधपातालवत् गम्भीरम् अतलस्पर्शि अम्भः सलिलं यस्मिंस्तस्मिंस्तथोक्ते अत्र महासरसि निमग्ना भवेत् सा भूतधात्रीति शेषः, तदा एकेन असहायेन तेन वराहेण किम्, महावराहसहस्रैरपि आसादिता प्राप्ता न भवेत् अत एव नूनं निश्चितम् इदं सरः प्रथमं पूर्वं नासीदित्याशयः।

इह नूनमित्यादिवाक्ये अभावाभिमानिनी वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा, तावता वाक्येन च व्यतिरेको ध्वन्यते इति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः।

नूनमिति। नूनं निश्चितं महाप्रलयेषु कल्पान्तेषु अस्मादेव सरसः सलिललेशं जलबिन्दुम् आदायादाय गृहीत्वा गृहीत्वा प्रलयपयोदाः कल्पान्तमेघाः, प्रलये यद्दुर्दिनं मेघजं गाढतमस्तेन अन्धकारिताः समुत्पादितान्धकाराः दश दिशो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः, भुवनान्तराणि जगन्मध्यदेशान् प्लावयन्ति जलमयी-

सुस्वादु होनेसे रसनाको तृप्ति करता रहता है। भगवान् शङ्कर इस सरोवरके दर्शनकी अभिलाषासे ही निश्चय कैलासपर्वतमें वास करनेकी आसक्तिको नहीं छोड़ते हैं। भगवान् नारायणको अब जल-शयनकी उत्कट अभिलाषा नहीं रही, क्योंकि—वे अमृतके समान सुस्वादु और सुगन्धि जलसे परिपूर्ण इस सरोवरको त्याग कर लवण-रससे कर्कश (खार) जलवाले समुद्रमें शयन करते हैं। यथार्थ में यह सरोवर पहले नहीं था, क्योंकि—प्रलयकालमें यज्ञवराहकी नासिकाके आघातसे भयभीत होकर पृथिवी,—महर्षि अगस्त्यके पान करनेसे जिसके जलकी थाह मिल गई थी—ऐसे समुद्र मध्यमें उतर (प्रवेश कर) गई थी, नहीं तो जो वह कभी इस सरोवरके अगाध एवं अनेक पातालोंके समान गम्भीर जलमें निमग्न होती तो एक क्या हजारों महावराह भी उसका पता नहीं लगा सकते। एवं निश्चय ही महा-प्रलय-कालमें प्रलय-मेघ-समूह इस सरोवरमेंसे ही थोड़ा-थोड़ा जल-ग्रहण कर प्रलयकी वर्षासे दशो दिशाओंमें घोर अन्धकार करके सब भुवनोंको प्लावित कर देते हैं और मेरा विचार है

१…दोहदमितः। २…अभिभूता। ३. अगाधानेकपाताल…। ४. क्वचित् द्विरुक्तिर्नास्ति।

नान्तराणि। मन्ये च यत्[1] सृष्टेरर्वाक् सलिलमयं ब्रह्माण्डरूपमादौ भुवनमभूत्, तदिदं पिण्डीभूय[2] सरोव्यपदेशेनावस्थितम्।

इति विचारयन्नेव तस्य शिला-शकल-कर्कश-बालुकाप्रायं विद्याधरोद्धृत-सनालकुमुद-कलापार्चितानेक[3]-चारु-सैकत-लिङ्गम्, अरुन्धती-दत्त-दिनकरार्घ्य[4]-पयः पर्यस्त-रक्त[5]-कमलशोभितम्[6], उपकूल-शिलातलोपविष्टजलमानुषनिषेव्यमाणातपम्, अभ्यर्णतया च कैलासस्य स्नानागतमातृमण्डल-पद-पङ्क्तिमुद्राङ्कितम्[7], अवकीर्ण[8]-भस्म-सूचित-मग्नोत्थित-गण-वृन्दोद्धूलनम्, अ[9]वगाहावतीर्ण[10]-गणपति-गण्डस्थल-गलित-मद[11]-प्रस्रवणसिक्तम्, अतिप्रमाणपादानुमीयमान[12] तृषित-कात्यायनी-सिंहावतरण[13]-मार्गम, दक्षिण[14]-तीरमासाद्य तुरगादवततार।

---

कुर्वन्ति। इह भावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा।

मन्य इति। किञ्चेति चार्थः। सृष्टेः विश्वनिर्मितेः अर्वाक् पूर्वम्, आदौ प्रथमं सलिलमयं जलमयं ब्रह्माण्डरूपं भुवनं त्रिविष्टपम् अभूत् आसीत्। तत्सलिलं पिण्डीभूय एकत्र समवेतीभूय सरोव्यपदेशेन सरोवरव्याजेन इदमवस्थितमित्यहं मन्ये जानामि। इहाधिकपदतादोषनिवारणाय 'आदौ' इत्यस्य परित्यागो विधेयः। इहाऽपि भावाभिमानिनी वाच्या सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा बोध्या। विश्वनिर्मितेः पूर्वं भुवनस्य जलमयत्वे प्रमाणम्–'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' इति मनुवचनम्।

इतीति। इति एवं विचारयन् चिन्तयन्नेव चन्द्रापीडः तस्य सरोवरस्य दक्षिणं तीरं दक्षिणदिग्वर्तितटम् आसाद्य प्राप्य तुरगात् अश्वात् अवततार अवतीर्णवानिति सम्बन्धः। इह नपुंसके द्वितीयान्तपदानि 'तीरम्' इत्यस्य विशेषणानि। शिलाशकलवत् पाषाणखण्डवत् कर्कशाः कठिनाः बालुकाः सिकतास्ताः प्रायो बाहुल्येन यत्र तत्तादृशम्। विद्याधरैर्व्योमचारिभिर्देवयोनिविशेषैः उद्धृतेन गृहीतेन सनालानां कुमुदानां कैरवाणां कलापेन समूहेन अर्चितानि पूजितानि अनेकानि असंख्यानि चारूणि मनोहराणि सैकतलिङ्गानि बालुकामयशिवलिङ्गानि यत्र तत्तादृशम्। अरुन्धत्या वशिष्ठपत्न्या दत्तं समर्पितं दिनकराय सूर्याय यदर्घ्यं पादार्थमुदकं तस्य पयसो जलात् पर्यस्तैः प्रपतितैः रक्तकमलैः रक्तपद्मैः शोभितं विराजितम्। उपकूले तीर-निकटे शिलातलेषु प्रस्तरतलेषु उपविष्टैः स्थितैः जलमानुषैः जलमानुषाकृतिजीवविशेषैः निषेव्यमाणः आतपः सूर्यरश्मिः यस्मिंस्तत्तादृशम्। कैलासस्य रजताद्रेश्च अभ्यर्णतया समीपवर्त्तितया कारणेन स्नानाय मज्ज-
नाय आगतस्य आयातस्य मातृमण्डलस्य ब्राह्म्यादिमातृगणस्य पदपङ्क्तेश्चरणश्रेण्याः मुद्राभिर्भूमौ तत्प्र-
तिकृतिरूपाभिः अङ्कितं चिह्नितम्। अवकीर्णैः इतस्ततो विक्षिप्तैः भस्मभिः भूतिभिः सूचितानि अनुमा-
पितानि मग्नोत्थितानां स्नानानन्तरोत्तीर्णानां गणानां प्रमथानां वृन्दस्य समुदायस्य उद्धूलनानि
रेणुवन्मर्दनानि त्रिपुण्ड्रादिकरणाय रेणुवत् सूक्ष्मविधानार्थं भस्मनां पेषणानि यत्र तत्तादृशम्। अवगा-
हार्थं जलक्रीडनार्थम् अवतीर्णस्य अवतरितुं प्रस्थितस्य गणपतेर्विनायकस्य (गजवदनस्य) गण्डस्थलात्

---

कि सृष्टिके पहले जो यह जगत् ब्रह्माण्ड-रूपसे जल-मय भुवन था वह जल-राशि ही एकत्र समवेत होकर इस
सरोवरके स्वरूपमें स्थित है।

चन्द्रापीड इस प्रकार मन ही मन वितर्क करते करते उस अच्छोदसरोवरके दक्षिण-तट पर जाकर घोड़ेसे
उतरा। वहाँ (दक्षिण तीरमें) पाषाण-खण्डके समान अत्यन्त कठिन बहुतर बालुका थी–(अर्थात् उसकी रेती
पथरीली थी)। वहाँ विद्याधरों ने नाल सहित कुमुदके फूल तोड़कर बालुकाके सुन्दर शिवलिङ्गों पर पूजा किये थे।
अरुन्धती देवीने सूर्यनारायणको जो अर्घ दिया था, उसके ही जलमें से गिरे रक्तकमल वहाँ शोभायमान थे। कितने
जल-मानुष तीरके निकटमें ही एक चट्टान पर बैठ कर रौद्र (धूप) सेवन कर रहे थे। कैलासपर्वतके निकट
होनेसे स्नान करनेके लिए आईं ब्राह्मी आदि माताओंके चरणोंकी पंक्तिके चिह्न बने हुए थे। वहाँ इतस्ततः भस्म
बिखरी हुई थी, जिससे प्रतीत होता था कि स्नान करनेके अनन्तर भस्मके तिलक धारण करनेके लिए प्रमथ गण
कितने भस्म धूलिके समान मर्दित किये थे। स्नान करने के लिए उतरे गणेशजीके गण्डस्थलमें से मद-जल निःसृत
हो कर उस स्थान को सिक्त किया था और वहाँ चरणोंके बड़े बड़े चिह्नों को देखकर अनुमान होता था कि–पार्वती

---

१. यत्तत् सलिलमयम्। २. पिण्डीभूतं। ३.…अर्चितम्। ४.…दत्तार्घ…दत्तदिनकरार्घ…, हस्तदत्त-दिनकरार्घ…। ५.…आरक्त…। ६. कमलोपशोभितम्। ७.…मण्डलमुद्राङ्कितम्। ८. अवतीर्ण…। ९.…कद-म्बक…। १०. अवगाहनावतीर्ण…। ११.…गण्डस्थलमद…। १२.…पद…। १३…अवतार…। १४. दक्षिणं।

अवतीर्य्य[१] च व्यपनीतपर्य्याणमिन्द्रायुधमकरोत्। क्षितितल-लुठितोत्थितञ्च गृहीत-कतिपय-यवसग्रासं सरोऽवतार्य्य पीत-सलिलमिच्छया स्नातं चोत्थाप्यान्यतमस्य समीपवर्त्ति-नस्तरोर्मूलशाखायामपगत[२]खलीनं हस्तपाशशृङ्खलया कनकमय्या चरणौ[३] बद्ध्वा कृपाणिकावलू-नान् क्षिप्त्वा चाग्रतः कतिचित् सरस्तीरप्ररूढदूर्वा[४]-प्रबालकवलान्, स्वयमपि[५] सलिलमवततार। ततश्च प्रक्षालितकरयुगलः[६] चातक इव कृत्वा जलमयमाहारम्[७], चक्राह्वयः[८] इवास्वाद्य मृणाल-शकलानि, शिशिरांशुरिव कराग्रैः स्पृष्ट्वा कुमुदानि, फणीवाभिनन्द्य[९] जलतरङ्गवातान्, अनङ्ग-

---

कपोलप्रदेशात् गलितस्य च्युतस्य मदस्य दानवारिणः प्रस्रवणेन क्षरणेन (धारया) सिक्तं सेचितम्। तथा अतिप्रमाणैः अतिदीर्घैः पादैः पदचिह्नैः अनुमीयमानः अनुमानविषयीक्रियमाणस्तृषितस्य पिपासितस्य कात्यायनीसिंहस्य श्रीमद्दुर्गावाहनभूतकेसरिणः अवतरणमार्गः सरसि गमनागमनपथः यत्र तत्तादृशम्।

अवेति। अवतीर्य अश्वादवतरणं विधाय इन्द्रायुधं तन्नामकवाहनीभूतमश्वरत्नं व्यपनीतम् अपसारितं दूरीकृतमित्यर्थः, पर्याणं पल्ययनं यस्य तं तथोक्तम् अकरोत् कृतवान्।

क्षितीति। अपि च पूर्वं क्षितितले पृथिवीतले लुठितः पल्ययनापसरणानन्तरमेव लुठितः पश्चात् उत्थितः कृतोत्थानः तं तादृशम्, इयमश्वप्रकृतिः। गृहीताः आत्ताः कतिपये कियन्तो यवसानां घासानां ग्रासाः कवला येन तं तादृशम् इन्द्रायुधम्, सरोऽवतार्य सरोमध्ये नीत्वा, इच्छया स्वेच्छया पीतसलिलं पीतजलं च = पुनः इच्छया स्नातं विहितस्नानं च उत्थाप्य उत्थापनं विधाय पश्चात्तटमानीय अन्यतमस्य कस्यचित् समीपवर्त्तिनो निकटस्थायिनः तरोर्वृक्षस्य मूलशाखायां स्कन्धशाखायाम् अपगतखलीनम् अपसृतमुखयन्त्रणम्, कनकमय्या सुवर्णनिर्मितया हस्तपाशशृङ्खलया हस्तबन्धनरज्जुरूपनिगडेन चरणौ पादौ बद्ध्वा नियम्य, कृपाणिकया छुरिकया अवलूनान् कर्त्तितान् सरस्तीरे सरोवरतटे प्ररूढा उत्पन्ना या दूर्वाः शतपर्विकाः तासां प्रवालकवलान् किसलयग्रासान्, अग्रतः क्षिप्त्वा इन्द्रायुधस्य सम्मुखे निधाय च, स्वयमपि चन्द्रापीडः सलिलं जलम् अवततार उत्तीर्णवान्।

तत इति। ततस्तदनन्तरं प्रक्षालितचरणयुगलः धौतपादद्वयः चातक इव शारङ्ग इव जलमयं पानीयमयम् आहारं कृत्वा उदरं परिपूर्य जलं पीत्वेत्यर्थः। 'अथ शारङ्गस्तोककश्चातकः समाः' इत्यमरः। चातको लोके 'पपीहा' इति ख्यातः। चक्राह्वयश्चक्रवाक इव मृणालानां बिसानां सकलानि खण्डानि आस्वाद्य चर्वयित्वा, शिशिरांशुश्चन्द्र इव कराग्रैः अङ्गुलिभिः किरणाग्रैश्च कुमुदानि कैरवाणि स्पृष्ट्वा स्पर्शं विधाय, फणी सर्प इव जलतरङ्गवातान् अम्भःकल्लोलसमीरान् अभिनन्द्य संस्तुत्य सुखदत्वेन निषेव्येत्यर्थः, अनङ्गशरप्रहारातुर इव कामबाणप्रहारव्यथितजन इव नलिनीदलरूपं कमलिनीपत्ररूपम् उत्तरीयम्

---

का सिंह उस मार्गसे जल पीने को उतरा था।

चन्द्रापीड घोड़े परसे उतर कर फिर इन्द्रायुधका जीन उतार ली। उस समय इन्द्रायुध पहले भूमि पर जरा लोट कर बाद उठकर कुछ हरे घासों का ग्रास मुखमें लिया; उसके बाद चन्द्रापीड उसे सरोवरमें ले जाकर इच्छानुसार जल-पान कराकर और स्नान करा कर उसको बाहर लाया। बाद लगाम निकाल कर अपने हस्तस्थित बाँधने की सुवर्णमय शृङ्खलाद्वारा समीपवर्त्ती किसी वृक्षके मूलके निकटकी शाखासे उसके चरणद्वय बाँध कर छुरिका (छूरी) से सरोवर के तीर जात दूर्वाके पल्लवों (दूर्वाङ्कुरों) को काटकर उसे इन्द्रायुधके सम्मुखमें रख कर स्वयं भी जलमें उतरा। उसके बाद उसमें हस्त प्रक्षालन कर, चातकके समान जल-मय आहार कर, चक्रवाकके समान मृणालके टुकड़ों का स्वाद चख, चन्द्रमाके समान कराग्र (किरण, हाथ) द्वारा कुमुदों का स्पर्श कर, सर्पके समान जल-तरङ्गके वायु का सुखजनक समझ सेवन कर, कामदेवके बाणोंके प्रहारसे पीड़ित हुए

---

१. अवतीर्य। २. ...गताखलीनम्। ३. चरणे। ४. सरस्तीरदूर्वा...। ५. पुनरपि। ६...कर-चरणयुगलः। ७. जलमाहारम्। ८. चक्राह्वः। ९. आनन्द्य।

शरप्रहारातुर इवोरसि निधाय[1] नलिनीदलोत्तरीयम्, अरण्यगज इव शीकरार्द्रपुष्करोपशोभितकरः सरः[2] सलिलादुदगात्। प्रत्यग्रभग्नशिशिरैश्च[3] समृणालकैर्जल-कणिकाचितैः कमलिनीपलाशैर्लतामण्डपपरिक्षिप्ते[4] शिलातले स्रस्तरम्[5] आस्तीर्य्य, निधाय शिरसि पिण्डीकृतमुत्तरीयं निषसाद।

मुहूर्त्तं विश्रान्तश्च तस्य सरस उत्तरे तीरप्रदेशे समुच्चरन्तम्, उन्मुक्तकवलेन निश्चलश्रवणपुटेन तन्मुखीभूतेनोद्ग्रीवेणेन्द्रायुधेन प्रथममाकर्णितं श्रुतिसुभगं वीणातन्त्रीझङ्कारमिश्रममानुषं गीतशब्दम्[6] अशृणोत्। श्रुत्वा च[7] 'कुतोऽत्र विगतमर्त्त्यसम्पाते प्रदेशे गीतध्वनेः सम्भूतिः' इति समुपजातकौतुकः[8] कमलिनीदलस्रस्तरात्[9] उत्थाय तामेव गीतसम्पातसूचितां दिशं चक्षुः प्राहिणोत्। अतिदवीयस्तया तु तस्य प्रदेशस्य प्रयत्नव्यापृतलोचनोऽपि विलोक-

---

उपरिवस्त्रम् उरसि वक्षःस्थले निधाय संस्थाप्य, अरण्यगज इव वन्यहस्तीव शीकरैः अम्बुकणैः आर्द्रं क्लिन्नं यत् पुष्करं कमलं तेन उपशोभितः करः पाणिः शुण्डा च यस्य स तादृशो युवराजश्चन्द्रापीडः, सरः सलिलात् कासारजलात् उदगात् उदतिष्ठत्। इह सर्ववाक्य एव पूर्णोपमालङ्कारः।

प्रत्यग्रेति। किञ्चेति चार्थः। प्रत्यग्रम् अभिनवम् अचिरं यथा स्यात्तथा भग्नानि खण्डितानि च तानि, अत एव शिशिराणि शीतलानि च तैस्तादृशैः, समृणालकैः सबिसैः जलकणिकाभिः सलिलबिन्दुभिः चितैर्व्याप्तैः, कमलिनीपलाशैः नलिनीपत्रैः लतामण्डपपरिक्षिप्ते मण्डपाकारं प्राप्ताभिर्लताभिः परिवेष्टिते शिलातले कस्मिंश्चिद्दीर्घप्रस्तरोर्ध्वप्रदेशे स्रस्तरम् आस्तरणम् आस्तीर्य प्रसार्य पातयित्वा, पिण्डीकृतं स्तूपीकृतं पिण्डतां प्रापितमित्यर्थः, उत्तरीयम् उपरितनवस्त्रं शिरसि निधाय मस्तकाधःप्रदेशे दत्त्वा निषसाद सुप्तवान्।

मुहूर्त्तमिति। मुहूर्त्तं क्षणं विश्रान्तः विहितविश्रामः सन्, तस्य सरसः पम्पासरोवरस्य उत्तरे उत्तरदिक्सम्बन्धिनि तीरप्रदेशे तटप्रदेशे समुच्चरन्तम् उत्तिष्ठन्तम्, उन्मुक्तकवलेन परित्यक्तघासग्रासेन, निश्चले स्थिरे श्रवणपुटे कर्णयुगलं यस्य तेन तादृशेन गीतमाधुर्यादित्याशयः। तन्मुखीभूतेन तदभिमुखीभूतेन उद्ग्रीवेण ऊर्ध्वकन्धरेण इन्द्रायुधेन, प्रथमं पूर्वम् आकर्णितं श्रुतं श्रुतिसुभगं कर्णमनोहरं वीणातन्त्रीझङ्कारमिश्रं वल्लकीतन्त्र्यभिव्यक्तशब्दसंपृक्तम् अमानुषं दिव्यं गीतशब्दं गेयध्वनिम् अशृणोत् आकर्णयत्।

श्रुत्वेति। श्रुत्वा निशम्य। विगतो मर्त्यानां मानवानां संपातः सञ्चारो यतस्तस्मिंस्तादृशे प्रदेशेऽभिजने गीतध्वनेः गीतशब्दस्य सम्भूतिरुत्पत्तिः। इति विभाव्य समुपजातकौतुकः समुत्पन्नकुतूहलः चन्द्रापीडः, कमलिनीदलस्रस्तरात् नलिनीपत्रशयनीयात् उत्थाय, गीतसंपातेन गेयोत्पत्त्या सूचितां ज्ञापितां तामेव दिशं ककुभं प्रति चक्षुर्नेत्रं प्राहिणोत् प्रेरयामास।

अतीति। तु किन्तु तस्य प्रदेशस्य पूर्वोक्तगीतस्थलस्य अतिदवीयस्तया अतिदूरतया प्रयत्नेन उद्यो-

---

मनुष्यके समान वक्षःस्थल (छाती) पर कमल-पत्ररूपी वस्त्र रख कर एवं वन्य-हस्तीके समान जलबिन्दुसे आर्द्र पुष्कर (शुण्डाग्र, कमल) से शोभित कर (शुण्ड, हाथ) सहित सरोवरके जलमेंसे बाहर निकला। उसी क्षण तोड़े जानेके कारण शीतल, मृणालसंयुक्त और जलकणिकासे व्याप्त कमल-पत्रोंका आस्तरण (बिछौना) मण्डपाकारमें लतासे वेष्टित किसी वृहत् पाषाणके ऊपरमें विछाकर, उसके ऊपरमें, मस्तकके नीचे अपने उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) को लपेटकर रखकर वहाँ शयन किया।

इस प्रकार मुहूर्त्त भर विश्राम करनेके बाद उसने उस सरोवरके उत्तर तीरसे उत्थित, वीणातन्त्रीके झङ्कारसे मिश्रित एवं श्रवण करनेमें कानोंको मधुर लगनेवाली अलौकिक गीतध्वनि सुनी। इधर इन्द्रायुधने घास चरना छोड़कर, कर्णयुगल निश्चलभावसे (खड़े करके) रखकर, उत्तर दिशाकी ओर मुँह फेर, ऊँची गर्दन कर उस गीतध्वनिको पहले सुना था। उस गीतध्वनिको सुनकर मन ही मन सोचने लगा कि—'यहाँ मनुष्योंके यातायात नहीं हैं तथापि कहाँ से इस गीतध्वनिकी उत्पत्ति हुई है?' इस प्रकार उसे कौतूहल उत्पन्न हुआ। उस समय वह उस कमल-पत्रकी शय्यासे उठकर, जिस दिशासे गीतध्वनि आती थी, उसीकी ओर देखने लगा। किन्तु वह स्थान अत्यधिक दूर था इसलिए विशेष यत्नपूर्वक आँख फेर-फेरकर देखनेसे भी उसे कुछ दिखलाई नहीं

---

१. पिधाय। २. क्वचित् सरःपदं न विद्यते। ३···भग्नशिरैश्च। ४. मण्डलपरिक्षिप्तशिलातले। ५. संस्तरम्, प्रस्तरम्। ६. गीतम्। ७. 'श्रुत्वा च' इति पदं क्वचिन्न विद्यते। ८. उपजातकौतुकः। ९.···दलसंस्तरात, पत्रस्रस्तरात्।

यन्न किञ्चिद्ददर्श, तमेव केवलमनवरतं गीत[1]शब्दं शुश्राव। कूतूहलवशाच्च[2] गीतध्वनि-[3]प्रभवजिज्ञासया कृतगमनबुद्धिर्दत्तपर्य्याणमिन्द्रायुधमारुह्य प्रियगीतैः प्रथमप्रस्थितैरप्रार्थितैरपि वनहरिणैरुपदिश्यमानवर्त्मा, सप्तच्छद[4]-वकुलैला-लवङ्ग-लवली-लोल-कुसुम-सुरभि-परिमलया अलिकुल-विरुति-मुखरितया तमालनीलं या दिङ्नागमदवीथ्येव पश्चिमया सरस्तीर[5]-वनलेखया निमित्तीकृत्य तं गीतध्वनिमभिप्रतस्थे।

क्रमेण च सम्मुखागतैः, अच्छ-निर्झरजल[6]-कणजाल-जनित-जडिमभिः, जर्जरितभूर्ज-वल्कलैः, धूर्जटि-वृषभ[7]-रोमन्थ-फेन-बिन्दुवाहिभिः, षण्मुख-शिखण्डि-शिखा-चुम्बिभिः,

---

गेन व्यापृते निश्चेतुं प्रवृत्ते लोचने नयने यस्य स तथोक्तः सन्नपि विलोकयन् पश्यन् न किञ्चित् किमपि ददर्श अवलोकयामास केवलम् अनवरतं निरन्तरं तमेव शब्दं गीतध्वनिं शुश्राव आकर्णयामास।

कुतूहलेति। कुतूहलवशात् कौतुकवशात्, प्रभवति अस्मादिति प्रभव उत्पत्तिस्थानम्, गीतध्वनिः गेयशब्दः तस्य प्रभवस्य जिज्ञासया ज्ञातुमिच्छया कृतगमनबुद्धिः विहितगमनमतिश्चन्द्रापीडः, दत्तपर्याणम् आरोपितपल्ययनम् इन्द्रायुधम्, आरुह्य आरोहणं कृत्वा, प्रियं मनोहरं गीतं येषां तैस्तादृशैः, प्रथमप्रस्थितैः अग्रे प्रयातैः, अप्रार्थितैरपि मार्गोपदेष्टुमयाचितैरपि वनहरिणैः वन्यमृगैः उपदिश्यमानं कथ्यमानं वर्त्म मार्गो यस्य स तथोक्तः सन्, सप्तच्छदानां विशालत्वचां वकुलानां केसराणाम् एलानां चन्द्रवालानां लवङ्गानां देवकुसुमानां लवलीनां तत्संज्ञकवल्लीविशेषाणाञ्च लोलः पवनेन चलितः कुसुमानां पुष्पाणां सुरभिपरिमलो घ्राणतर्पणगन्धो यस्यां तया, अन्यत्र तु तत्कुसुमानामिव सुरभिपरिमलो यस्यास्तया तादृश्या अलिकुलस्य भ्रमरसमूहस्य विरुत्या रवेण मुखरितया शब्दितया, तमालैस्तापिच्छतरुभिर्नीला श्यामवर्णा च तया दिङ्नागस्य दिग्गजस्य मदवीथ्या दानवारिपंक्त्या तत्प्रवाहेणेव विद्यमानया, पश्चिमया प्रतीच्या वनलेखया काननपंक्त्या करणेन, तं गीतध्वनिं निमित्तीकृत्य उद्दिश्य अभिप्रतस्थे तदभिमुखं ययौ। 'पृथ्वीका चन्द्रवालैला निष्कुटिर्बहुला' इत्यमरः। पूर्णोपमा।

क्रमेणेति। किञ्चेति चार्थः। क्रमेण परिपाट्या संमुखागतैः अभिमुखायातैः कैलासमारुतैरभिनन्द्यमानश्चन्द्रापीडस्तं प्रदेशं गत्वा पादपैः परिवृतं वृत्तैः परिवेष्टितं शूलपाणेर्महेश्वरस्य शून्यं सिद्धायतनं सिद्धपीठम् अपश्यदित्यतिदूरेण सम्बन्धः। तत्रादितृतीयाबहुवचनान्तपदानि 'कैलासमारुतैः' इत्यस्य विशेषणानि। अच्छानां विशदानां निर्झरजलानां प्रस्रवणसलिलानां कणजालेन बिन्दुनिकरेण जनित उत्पादितः जडिमा शीतलत्वं येषां तैः तादृशैः। जर्जरितानि शिथिलीकृतानि भूर्जानां मृदुत्वचां वृक्षाणां वल्कलानि चोचानि यैस्तैस्तादृशैः। धूर्जटिवृषभस्य महेशवलीवर्दस्य रोमन्थे चर्वितचर्वणकाले ये फेनाः डिण्डीरास्तेषां बिन्दुवाहिभिः कणवहनशीलैः। षण्मुखस्य षडाननस्य कार्त्तिकेयस्येत्यर्थः, यः शिखण्डी वाहनीभूतमयूरः तस्य शिखाचुम्बिभिः चूडास्पर्शकारिभिः। अम्बिकायाः पार्वत्याः कर्णपूरयोः कर्णावतंसभूतयोः पल्लवयोः किसलययोः उल्लासनेन सञ्चालनेन दुर्ल्ललिताः हठविधायिनः तैस्तादृशैः। उत्तरकुरुसंज्ञको हिमालयोत्तर-

---

दिया। केवल अविश्रान्त वह गीतध्वनि ही सुनाई पड़ता था। उसके बाद कौतुकवशसे गीतध्वनिका उत्पत्तिस्थान जाननेकी अभिलाषा कर, जानेका कृतसङ्कल्प होकर इन्द्रायुध पर पलयन ( जीन ) रख और स्वयं उसके ऊपर चढ़कर गीत पर प्रीतिके कारण आगे-आगे दौड़ते वन-हरिणोंके बिना पूछे बताये हुए—मार्ग पर वह, गीतध्वनि, को लक्ष्य कर उस सरोवरके पश्चिम तीरकी वन-पङ्क्तिमें होकर आगे बढ़ा। उस वनके भीतर सप्तपर्ण, बकुल इलायची, लवङ्ग और लवली पुष्पके मनोहर सौरभ वायुके भारसे परिचालित होता था, भ्रमरोंके झङ्कारसे वह बन मुखरित हो गया था एवं तमाल वृक्षोंसे काली पड़नेके कारण दिग्गजोंके मदजल प्रवाहके समान नील वर्ण था।

क्रमसे सामने आती आनन्दजनक और पवित्र कैलास पर्वतकी पवनोंसे सन्तुष्ट होकर चन्द्रापीड उस प्रदेशके समीप आ पहुंचा। कैलास पर्वतकी हवा निर्मल जलकी बूँदोंसे शीतल थी, भोजपत्रकी छालको उसने जर्जरित कर दिया था, शङ्करके वृषभके चर्वित चर्वण ( जुगाली ) के समयमें उत्पन्न हुए फेन-बिन्दुको लाती थी,

---

१. क्वचित् 'गीत' पदं न विद्यते। २.…प्रभवाच्च। ३.…ध्वनित। ४. क्वचित् सप्तच्छदपदं नोपलभ्यते।
५. क्वचित् 'सरस्तीर' इति पदं नोपलभ्यते। ६. अनिर्जरजल…। ७.…वृष…।

अम्बिका-कर्ण-पूर-पल्लवोल्लासन[1]-दुर्ललितैः, उत्तर-कुरु-कामिनी-कर्णोत्पल-प्रेङ्खोलन-दोहदिभिः, आकम्पितकक्कोलैः[2] नमेरु-कुसुम-पांशुपातिभिः, पशुपति-जटा-बन्धा[3]र्त्त-वासुकि-परिपीत-शेषैः, आह्लादिभिः पुण्यैः कैलासमारुतैरभिनन्द्यमानो गत्वा च तं प्रदेशम्, सर्वतो मरकतहरितैः, हारि हारीत-रुति-रमणीयैः, भ्रमद्भृङ्गराज-नखर जर्जरित-जठर[4]-कुड्मलैः, उन्मद-कोकिल-कुल-कवलीकृत-सहकार-कोमलाग्रपल्लवै[5]ः, उन्मदषट्-चरण-चक्रवाल-वाचालित-विकच-चूत-कलिकैः, अचकित-चकोर-चञ्चु[6]-चुम्बित-मरिचाङ्कुरैः, चम्पक-पराग-पुञ्ज-पिञ्जर-कपिञ्जल-जग्ध-पिप्पली-

---

वर्ती देशविशेषः तस्य कामिनीनां वनितानां यानि कर्णोत्पलानि श्रवणकुवलयानि तेषां प्रेङ्खोलने आन्दोलने दोहदिभिः अभिलाषकारिभिः। आकम्पितानि आधूनितानि कक्कोलानि कोशफलानि यैस्तैः तादृशैः। नमेरुकुसुमानां रुद्राक्षपुष्पाणां पांशवः परागास्तान् पातयन्तीति तैः तादृशैः। पशुपतेर्महेशस्य जटाबन्धेन जटानियन्त्रणेन आर्त्तः पीडितो यो वासुकिर्नागराजस्तेन परिपीतेभ्यः भुजङ्गानां पवनभोजित्वात् मुक्तेभ्यः शेषैः अवशिष्टैः। आह्लादिभिः प्रमोदकारिभिः। तथा पुण्यैः देवस्पर्शित्वात् पूतैः कैलासमारुतैः कैलासाचलस्पर्शिपवनैः अभिनन्द्यमानः सेव्यमानश्चन्द्रापीडः तं प्रदेशं गीतोत्पत्तिभूमिम् गत्वा प्राप्य।

सर्वत इति। सर्वतश्चतुर्दिक्षु मरकतवत् तन्नामकरत्नवत् हरितैः श्यामवर्णैः। इतः प्रभृति तृतीया-बहुवचनान्तपदानि अग्रेतनस्य 'पादपै' रित्यस्य विशेषणानि। इह लुप्तोपमा।

हारीति। हारिणो मनोहरा हारि मनोहरम् इतं गमनं येषां ते हारीता 'हरियाल' इति ख्यातनामानः पक्षिविशेषाः तेषां रुतिभिः कलरवैः रमणीयाश्चेतोहरास्तैः।

भ्रमदिति। भ्रमतां पर्यटतां भृङ्गराजानां पक्षिविशेषाणां नखरैर्नखैः जर्जरितानि क्षतानि जरठानि परिणतानि कुड्मलानि कोरकाणि येषां तैस्तादृशैः। 'अथ भृङ्गराज उक्तः पक्षिविशेषे च मार्कवे भ्रमरे' इति मेदिनी।

उन्मदेति। उन्मदेन उन्मत्तेन कोकिलकुलेन पिकसमूहेन कवलीकृतानि ग्रासीकृतानि (भक्षितानि) सहकाराणाम् आम्रवृक्षाणां कोमलानि मृदुलानि अग्रपल्लवानि प्रान्तकिसलयानि येषु तैः तादृशैः।

उन्मदेति। उन्मदेन मदमत्तेन षट्चरणचक्रवालेन मधुकरसमूहेन वाचालिता मुखरीकृताः विकचा विकसिताः चूतकलिकाः सहकारकोरका येषु तैः तादृशैः।

अचकितेति। अचकिता अत्रस्ता ये चकोरा जीवञ्जीवाः पक्षिणः तैः कर्तृभिः, चञ्चुभिस्त्रोटिभिः करणैः चुम्बिता भक्षणाय स्पृष्टा मरिचाङ्कुरा श्वेतशोभाञ्जनप्ररोहा येषु तैः तादृशैः।

चम्पकेति। चम्पकानां हेमपुष्पाणां परागपुञ्जेन पुष्परजःसमूहेन अङ्गेषु तत्पतने नेत्यर्थः, पिञ्जराः पिङ्गलवर्णाः ये कपिञ्जलास्तित्तिरिपक्षिणस्तैर्जग्धानि खादितानि पिप्पलफलानि अश्वत्थफलानि येषु तैः तादृशैः। 'पिप्पलो बोधिरश्वत्थः' इति रत्नकोषः।

---

कार्त्तिकेयके मयूरकी शिखा का चुम्बन करती थी, पार्वतीके कर्ण-पल्लव को आन्दोलित करनेसे साहसिनी हुई थी, उत्तर कुरुदेशों की सुन्दरियोंके धारण किये हुए कर्ण-कमलको आन्दोलित करने की अभिलाषिणी थी, कोशफल वृक्षों को हिलाती थी, रुद्राक्षपुष्पोंमें से धूलियों को गिराती थी, और शङ्कर की जटामें बँधनेसे व्यथित अनन्त-नागके पीनेसे बची हुई थी। वहाँ उस सरोवरके पश्चिमके तटपर, चन्द्रापीडने चन्द्रिकाके समान श्वेत प्रभासे समस्त प्रदेशको धवलित करती 'चन्द्रप्रभा' नामके-कैलासपर्वतके एक भागके अधोदेशमें बना हुआ भगवान् शङ्कर का एक शून्य (जनरहित) सिद्ध-मन्दिर देखा। उसके चारों तरफ मरकतमणि के समान हरे वृक्ष लगे थे। वे मनोहर हारीत पक्षियों की गुञ्जारसे रमणीय लगते थे। उनकी पकी कलियाँ उड़ते भृङ्गराज पक्षी के नखोंसे जर्जरित हो गई थीं। वहाँ आमोंके कोमल अग्रपल्लवों को उन्मत्त कोकिल गण खा जाते थे और खिली हुई आमकी कलियों पर मदमत्त भ्रमरोंके झुण्ड गुञ्जार करते थे। निर्भय चित्तसे चकोर पक्षिगण चञ्चुद्वारा मरिच (मिर्च) के अङ्कुर भक्षण करते थे। चम्पक-पुष्पके परागोंसे पीले पड़े कपिञ्जल-(चातक तित्तिरपक्षिगण) पीपलके

---

१. ···उल्लसन। २. आकम्पितकमलैर्नवकुसुममालापांशुवाहिभिः, आकम्पित···कक्कोलैः। ३. बन्धन-वासुकि···। ४. नखजर्जरितजरठकुड्मलैः। ५. सहकारकोरकैः। ६. ···चकोरचुम्बित···।

फलैः, फल-भर-निकर-निपीडित[1]-दाडिम[2]-नीड-प्रसूत-कलविङ्कैः, प्रक्रीडित कपिकुल[3]-करतल-ताडन-तरलित-ताडीपु[4]पुटैः, अन्योन्य-कलह[5]कुपित-कपोत-पोत-पक्ष[6]-पाली-पातित-कुसुमैः, कुसुम-रजोराशिशार-सारिकाश्रित-शिख[7]रैः, शुक-शत-मुख-नख-शिखर-शकलित-फलस्फीतैः, जल-धर-जल-लुब्ध[8] विप्रलब्ध-मुग्ध-चातक-ध्वान-मुखरित-तमालषण्डैः, इभ-कलभकोल्लून-पल्लववेल्लित लवली-वलयैः, आलीयमान[9]-नव-यौवन-मद-मत्त[10]-पारावत-पक्ष-क्षेप-पर्य्यस्त कुसुमस्त[11]बकैः, तनुपवन-कम्पित-कोमल-कदली-दल-वीजितैः, अविरल फल-निकरावनत नारिकेरवनैः;

---

फलेति। फलानां भरनिकरेण भारसमूहेन निपीडितानां पीडां प्रापितानां दाडिमानां करकवृक्षाणां नीडेषु तद्वृक्षस्थकुलायेषु प्रसूनाः चटकीभिरुत्पादिताः कलविङ्काश्चटका येषु तैः तादृशैः। 'चटकः कलविङ्कः स्यात्, इत्यमरः।

प्रक्रीडितेति। प्रक्रीडितं खेलया प्रवृत्तं यत् कपिकुलं वानरसमूहः तस्य करतलताडनैः पाणितलाघातैः तरलितानि कम्पितानि ताडीपुटानि तालीदलानि येषु तैः तादृशैः।

अन्योन्येति। अन्योन्यं मिथः कलहकुपिताः कलहक्रुद्धा ये कपोतपोताः पारावतशिशवः तेषां पक्षपालीभिः पतत्त्रपङ्क्तिभिः पातितानि स्रंसितानि कुसुमानि पुष्पाणि येषां तैः तादृशैः।

कुसुमेति। कुसुमानां पुष्पाणां रजोराशिना परागसमूहेन शाराभिः कर्बुरिताभिः रञ्जिताभिरित्यर्थः, सारिकाभिः शुकयोषिद्भिः आश्रितानि अवलम्बितानि शिखराणि ऊर्ध्वप्रदेशा येषां तैः तादृशैः।

शुकेति। शुकशतस्य कीरपक्षिगणस्य मुखैराननैः नखशिखरैः पुनर्भवाग्रैश्च शकलितानि खण्डीकृतानि यानि फलानि दाडिमादीनि तैः स्फीताः पूर्णाः तैः तादृशैः।

जलधरेति। जलधरजलानि मेघसलिलानि तेषु लुब्धा इच्छुकाः नीलत्वसादृश्यात् तमालतरुष्वेव तापिच्छवृक्षेष्वेव जलधरभ्रान्त्या पूर्वं तदीयजललुब्धा इत्यर्थः, पश्चाच्च विप्रलब्धा जलप्राप्त्यभावेन प्रतारिता ये मुग्धचातकाः तेषां ध्वानेन कलरवेण मुखरितं वाचालितं तमालषण्डं तापिच्छवृक्षसमूहो येषु तैः।

इभेति। इभकलभका हस्तित्रिंशद्वर्षीयशिशवः तैः उल्लूनानि खण्डितानि पल्लवानि किसलयानि यस्य तत्तादृशम्, अत एव वेल्लितं कम्पितं लवलीवलयं लवलीवृक्षमण्डलं येषु तैः तादृशैः।

आलीयेति। आलीयमाना तूष्णीम्भावेन विद्यमाना नवयौवनमदमत्ताः प्रत्यग्रतारुण्यमदोन्मत्ता ये पारावताः कपोताः तेषां पक्षक्षेपैः गरुद्विक्षेपैः पर्यस्ता विक्षिप्ताः कुसुमस्तबकाः पुष्पगुच्छा येषु तैः।

तन्विति। तनुपवनेन मन्दवायुना कम्पितैः वेल्लितैः कोमलैर्मृदुलैः कदलीदलैः रम्भापत्रैः वीजिताः कृतव्यजनाः तैः तादृशैः।

अविरलेति। अविरलं सान्द्रं फलनिकरेण फलसमूहेन अवनतानाम् अवनम्रीभूतानां नारिकेराणां नारिकेलवृक्षाणां वनमरण्यं येषु तैः।

---

फल खाते थे। फलके भारसे अवनत ( लचे ) घने अनारोंके वृक्षोंके घोसलोंमें चटक पक्षीगण चटक शावक प्रसव की थीं। खेलते-कूदते वन्दरोंके कर-प्रहारसे ताल-पत्र हिलने लगते थे। परस्पर कलह होनेसे कुपित हुए कबूतरके बच्चोंके पंखोंसे ताडित होकर उनके फूल झर जाते थे। पुष्पके परागोंसे रञ्जित होकर शुक-स्त्रियाँ ( मैना ) उनकी चोटी पर बैठी थीं। सैकड़ों शुकपक्षिगण ( तोते ) अपने मुख और नखसे उनके फलोंको टुकड़े टुकड़े कर डालते थे ( जिससे वह वन परिपूर्ण हो गया था )। तमाल वृक्षों को मेघ-जल समझकर लोभसे आये हुए-किन्तु पीछे धोखा खाये हुए-मुग्ध चातकपक्षिगण उच्चैः स्वरसे तमाल बनको मुखरित करते थे। हाथीके बच्चोंके द्वारा (खानेके समय) पत्ते तोड़े जानेसे लवलीके वृक्ष कम्पित हो जाते थे। नव-यौवनसे मत्त हुए कबूतरके फरफरा कर, चुपचाप बैठने से फूलोंके गुच्छे गिर जाते थे। थोड़ी थोड़ी हवासे सञ्चालित कोमल केलेके पत्ते पंखेका काम कर रहे थे। फलोंके अधिक भारसे नारियलके वन अवनत हो गये थे। उनके आस-पास कोमल पत्तेवाले सुपारीके वृक्ष

---

१.···पीडित···। २.···विडदाडिमी···। ३.···चपलकपिकुल···। ४. नाडिपुटैः। ५. क्वचित् 'कलह' इति पदं नास्ति। ६.···पोतसंहतिलोलपक्ष···। ७.···सारिकामिश्रशिशरैः। ८.···जललवलुब्ध···। ९. कृतालीकमान···। १०.···यौवनमत्त···। ११.···पर्यस्तस्तबकैः।

अकठोर-पत्र-पुट पूग[1]-विटपि-परिवृतैः, अनिवारितविहङ्ग-तुण्ड-खण्डित-पिण्डखर्जूर-जालकैः, मदमुखर-मधुर-रव-विरावितान्तरै[2]:, अकलित-कलिका-कलाप-दन्तुरै[3]:, अन्तरान्तरा कैलास-तरङ्गिणीतरङ्गित-सिकतिल-तल-भूमिभागैः, वनदेवता-करतल-निवह निभमलक्तक-जल-लव-सिक्तमिव किसलयनिकरमतिसुकुमारमुद्वहद्भिः, ग्रन्थिपर्ण-ग्रास-मुदित[4]-चमरीकुल-निषेवित-मूलैः, कर्पूरागुरुप्रायैः, इन्द्रायुधैरिव घनावस्थानै[5]:, कुमुदैरिवादत्त-दिनकर-कर-प्रवेश[6]-शिशिराभ्यन्तरैः,

अकठोरेति। अकठोराणि मृदुलानि पत्रपुटानि पर्णपुटानि येषां तथोक्तैः पूगविटपिभिः क्रमुकवृक्षैः परिवृताः च परिवेष्टिताः तैः।

अनिवारितेति। अनिवारितैः केनाऽप्यप्रतिरुद्धैः विहङ्गैः आकाशगामिभिः पक्षिभिः कर्तृभिः, तुण्डैश्चञ्चुभिः करणैः खण्डितं खण्डखण्डीकृत्य भक्षितं पिण्डखर्जूराणां पिण्डीभूतखर्जूरफलानां जालकं समूहो येषु तैः।

मदेति। मदेन मत्ततया मुखराणां शब्दायमानानां मयूरीणां नीलकण्ठीनां मधुररवैर्मनोहरकलरवैः विरावितानि समुत्पन्नशब्दानि अन्तराणि मध्यदेशा येषां तैः।

अकलितेति। अकलिता अविकसिता याः कलिकाः कुड्मलाः तासां कलापेन समूहेन दन्तुरा उच्चोन्नताः तैः।

इह 'अचकितचकोरचञ्चु' इत्याद्यारभ्य 'अकलितकलिकाकलापदन्तुरैः' इत्यन्तं वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। केवलं 'जलधरजले' त्यादौ भ्रान्तिमानलङ्कारोऽप्यभिव्यज्यते इत्यधिकम्।

अन्तरेति। अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये कैलासतरङ्गिणीनां कैलासाद्रिस्थनदीनां तरङ्गिताः समुत्पन्नतरङ्गा अतएव सिकतिला वालुकायुताः तलभूमिभागा अधःप्रदेशा येषां तैः। इह छेकानुप्रासः। सिकता इत्यत्र तद्धितेलच् प्रत्ययः।

वनदेवतेति। वनदेवतानाम् अरण्याधिष्ठात्रीणां करतलनिवहनिभं रक्तत्वसादृश्यात् पाणितलसमूहसदृशम् अत एवालक्तकजलानां यावकसलिलानां लवैर्विन्दुभिः सिक्तमिव सेचितमिव विद्यमानम्, अतिसुकुमारम् अत्यन्तमृदुलं किसलयनिकरं किसलयपुञ्जम्, उद्वहद्भिर्धारणं कुर्वद्भिः।

इह आर्थोपमा क्रियोत्प्रेक्षा च, अनयोश्च द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

ग्रन्थीति। ग्रन्थिपर्णानां शुकनामकतरुविशेषाणां ग्रासेन अशनेन मुदितं हर्षितं यच्चमरीकुलं हरिणविशेषसमूहस्तेन निषेवितानि आश्रितानि मूलानि बुध्नानि येषां तैः। 'ग्रन्थिपर्णं शुकं बर्हम्' इत्यमरः।

कर्पूरेति। कर्पूरा अन्तर्गर्भितघनसारवृक्षाः, अगुरवो राजार्हा वृक्षाश्च प्रायेण बाहुल्येन येषु तैः। 'अगुर्वगुरु राजार्हम्' इति हैमः।

इन्द्रेति। इन्द्रायुधैः इन्द्रधनुर्भिरिव, घनं सान्द्रम् अवस्थानं स्थितिर्येषां तैः, अन्यत्र तु घनेषु मेघेषु अवस्थानं येषां तैः।

कुमुदैरिति। कुमुदैः कैरवैरिव, अदत्तेन दिनकरकरप्रवेशेन सूर्यरश्मिपातेन कारणेन शिशिरं शीतलम् अभ्यन्तरं मध्यभागो येषां तैः, पादपपक्षे—घनावस्थानेन पर्णकिसलयैरूर्ध्वप्रदेशावरणात्, कुमुदपक्षे तु—सङ्कोचेन प्रवेशासम्भवादित्याशयः।

लगे थे। कोई निवारण नहीं करता था इसलिए पक्षीगण चोंचोंसे पिंडखजूर समूहको कुतर डालते थे। उनके मध्य भागमें से मदसे शब्द करते मयूरी गणके मधुर स्वर निकलते थे। अविकसित कलिकासमूहसे वे विस्मित थे (अर्थात् उनमें अन्धाधुन्ध कलियाँ लग रही थीं) वहां के वालुकामय भूमि पर मध्यमें कैलास-पर्वतस्थ नदियों की तरङ्गोंके झकोरे लगते थे। वन-देवताओंके पाणितल समूह (हथेली) के समान अलक्तकके रसकी बूंदोंसे मानो गीली हुई हो ऐसे-अत्यन्त कोमल पल्लवसमूह धारण किये (आ रहे) थे। शुक-नामक वृक्ष विशेष का पर्ण भक्षण कर चमरी हरिणगणके झुण्ड उनकी जड़ के आगे प्रसन्न-चित्तसे बैठे थे, और उन वृक्षोंके बीचमें कर्पूर और अगरु वृक्ष ही अधिकसंख्यक थे। इन्द्रधनुष जिस प्रकार मेघके ऊपरमें रहता है वे वृक्ष भी उसी प्रकार सघन भावसे स्थित थे; सङ्कुचित होनेसे सूर्यरश्मियोंके प्रवेश नहीं होनेके कारण कैरव समूहके अभ्यन्तरमें जिस प्रकार शीतलता रहती है, उसी प्रकार पत्रोंके ऊपर भागसे आवृत होनेसे सूर्यरश्मियोंका प्रवेश नहीं होनेके कारण उन

१···पूत, पूर्णः···। २···विराजितान्तरः ·चित। ३. आकलित···दन्तुरितैः। ४. ग्रन्थिपर्णकग्राससमुदित···। ५. घनावलीस्थानैः। ६···दिनकरप्रवेश···।

दाशरथिबलैरिवाञ्जन-नील-नल[1]-परिगतप्रान्तैः, प्रासादैरिव सपारावतैः, भवनतापसैरिव सन्निहितवेत्रासनैः, रुद्रैरिव नागलताबद्धपरिकरैः, उदधि-कूल-पुलिनैरिव निरन्तरोद्भिन्न-प्रबाल-लताङ्कुर-जालकैः, अभिषेकसलिलैरिव सर्वौषधिकुसुम-फल-किसलय-सनाथैः, आलेख्यगृहैरिव

---

दाशेति। दाशरथेः रामचन्द्रस्य बलानि सैन्यानि तैरिव, अञ्जनवत् कज्जलवत् नीलाः कृष्णवर्णा ये नलाः तत्संज्ञकतृणविशेषाः तैः परिगताः परिवेष्टिताः प्रान्ता अवशिष्टप्रदेशा येषां तैः, अन्यत्र तु—आञ्जनः अञ्जनात्मजो हनूमान् नीलो नलश्च वानरविशेषौ तैः परिगतः परिगृहीतः प्रान्तः अग्रप्रदेशो येषां तैः।

प्रासादैरिति। प्रासादैः अट्टालिकाभिरिव, पारावतैः कपिभिः कपोतैश्च सह स्थिताः तैः। 'पारावतः कलरवे शले मर्कटतिन्दुके' इति विश्वः।

भवनेति। भवनतापसैरिव गृहस्थतपस्विभिरिव, सन्निहिताः समीपवर्त्तिनः वेत्राणि वेतसलता असनाः प्रियसालकद्रुमाश्च येषां तैः, अन्यत्र तु सन्निहितानि समीपवर्त्तीनि वेत्रासनानि वेतसरचितविष्टराणि येषां तैः।

रुद्रैरिति। रुद्रैः एकादशरुद्रैरिव, नागलताभिः ताम्बूलीभिः बद्धः पूर्णः परिकरो मध्यदेशो येषां तैः, अन्यत्र तु नागलताभिर्वल्लीवल्लम्बमानः भुजङ्गैर्बद्धाः परिकराः कटिभागा येषां तैः। 'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागवल्ल्यपि' इत्यमरः।

उदधीति। उदधिकूलपुलिनैरिव समुद्रतटजलोज्झितप्रदेशैरिव, निरन्तरं घनम् उद्भिन्नं प्रकाशितं प्रवालानां किसलयानां वल्लीप्ररोहाणाञ्च जालकं समूहो येषु तैः, अन्यत्र तु निरन्तरं सततम् उद्भिन्नं तरङ्गाघातेन उत्थितं प्रवाललतानां विद्रुममणिपङ्क्तीनाम् अङ्कुरजालकं क्षुद्रक्षुद्रखण्डसमूहो येषु तैः 'प्रवालोऽस्त्री किसलये वीणादण्डे च विद्रुमे' इति विश्वमेदिन्यौ।

अभिषेकेति। अभिषेकसलिलैर्देवादिस्नानीयजलैरिव, सर्वौषधीनां सर्वविधफलपाकान्तव्रततीनां कुसुमैः पुष्पैः फलैः किसलयैः पल्लवैश्च सनाथा युक्तास्तैः, अन्यत्र तु—

'मुरामांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम्। शटी चम्पकमुस्तञ्च सर्वौषधिगणः स्मृतः॥

इति परिगणितद्रव्यसमूहात्मकसर्वौषधिभिः कुसुमैः फलैः किसलयैश्च तत्तच्छास्त्रसूचितैः सनाथानि युक्तानि तैः।

आलेख्येति। आलेख्यगृहैश्चित्रभवनैरिव, बहुवर्णैः शुक्लनीलादिभिः चित्राणि आश्चर्याणि पत्राणि पक्षा येषां तथोक्तानां शकुनीनां पक्षिणां शतेन समुदायेन शोभिताः भूषितास्तैः, अन्यत्र तु—बहुभिर्वर्णैरनेकैरङ्गैः चित्रेषु आलेख्येषु यानि पत्राणि वाहनानि हस्त्यश्वादीनि शकुनयः पक्षिणश्च तेषां शतेन समुदायेन शोभितैर्भूषितैः। 'पत्रं तु वाहने पर्णे पक्षे च शरपक्षिणोः' इति विश्वः।

---

वृक्षों का अभ्यन्तर भाग शीतल था; रामचन्द्रजीके सैन्यगण का अग्रभाग जिस प्रकार हनुमान, नल और नीलद्वारा अधिष्ठित था; उसी प्रकार उन वृक्षोंका प्रान्त भाग भी अञ्जन ( कज्जल ) के समान नीलवर्ण श्याम तृणसे परिवेष्टित था; अट्टालिकामें जिस प्रकार कपोतगण रहते हैं, उन वृक्षसमूहोंमें भी उसीप्रकार वानरगण थे; गृहस्थ तपस्विगणके समीपमें जिस प्रकार वेत्रासन रहते हैं, उन वृक्षोंके समीपमें भी उसी प्रकार वेतस-वेंत, और असन-प्रियसालक वृक्ष थे; रुद्रगणका कटिदेश ( कमर ) जिसप्रकार लताके समान लम्बमान सर्पद्वारा बद्ध रहता है उन वृक्षोंका मध्यस्थान भी उसी प्रकार ताम्बूललतासे बद्ध ( परिपूर्ण ) था; समुद्र-तीरके समीपवर्त्ती पुलिनमें जिस प्रकार तरङ्गके आघातसे निरन्तर ही श्रेणीबद्ध भावसे प्रवाल-मणिके खण्डसमूह आकर निकलते हैं, उन वृक्षोंके मध्यमें भी उसी प्रकार पल्लव और लताके अङ्कुर ( नवीन पत्ते और कोंपल ) सघन भावसे निकलते थे; देवता और राजगणके स्नानीय जल जिसप्रकार सर्वौषधि ( मुरा मांसी-प्रभृति ) पुष्प, फल और पल्लव-संयुक्त रहता है वे वृक्ष भी उसीप्रकार सर्वौषधिके ( फल पक जाने पर जो जो लतायें मुरझा जाती हैं, उन सब लताके ) पुष्प, फल और पल्लवसे संयुक्त थे; चित्रशाला जिसप्रकार नानाविध वर्णद्वारा चित्रित हस्ति-अश्वप्रभृति वाहनके एवं पक्षीके चित्र-

---

१. नीलनलाञ्जन।

बहु-वर्ण-चित्र-पत्र-शकुनि-शतशोभितैः,[1] कुरुभिरिव भारद्वाजोपसेवितैः,[2] महासमरमुखैरिव पुन्नाग-समाकृष्ट-शिलीमुखैः, महाकरिभिरिव प्रलम्ब-बाल-पल्लव-स्पृष्ट-भूतलैः, अप्रमत्तपार्थिवैरिव पर्य्यन्तावस्थित-बहुगुल्मकैः, दंशितैरिव भ्रमर-सङ्घात[3]-कवचावृतकायैः, प्रमाणाभिमुखैरिव[4] वानर-कराङ्गुलि-स्पृष्ट-गुञ्जैः, अवनिपालशयनैरिव सिंहपादाङ्कितलैः,[5] आरब्धपञ्चतपः-

कुरुभिरिव । कुरवो दुर्योधनादयस्तैरिव, भारद्वाजेन व्याघ्राटपक्षिणा द्रोणाचार्येण च उपसेवितैः अधिष्ठितैः । 'भारद्वाजो गुरोः पुत्रे व्याघ्राटाख्यविहङ्गमे' इति मेदिनी ।

महेति । महासमरो महासंग्रामः तस्य मुखैः प्रारम्भैरिव, पुन्नागैर्नागकेशरकुसुमैः समाकृष्टाः स्वमधुलोभेनानीताः शिलीमुखा मधुपा येषु तैः, अन्यत्र पुन्नागैः पुंगजैः समाकृष्टाः समाकृष्य प्रापिताः, शिलीमुखा बाणा येषु तैः । तत्र शराणामत्यधिकत्वादेव पुन्नागैर्नयनम् । अतएव 'महासमरे' त्यभिहितमित्याशयः । 'मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेणिनिःसारणास्ययोः' इत्यनेकार्थः । 'नागकेसरपुन्नागनागदन्तकमस्तके' इति मेदिनी । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः ।

महेति । महाकरिभिर्गजश्रेष्ठैरिव, प्रलम्बैर्लम्बमानैः बालपल्लवैः प्रत्यग्रकिसलयैः स्पृष्टानि सङ्घट्टितानि भूतलानि अधःप्रदेशा येषां तैः, अन्यत्र तु—प्रलम्बैरायतैः बालपल्लवैः विस्तृतलाङ्गूलैः स्पृष्टानि भूतलानि येषां तैः । 'बालः कचे शिशौ मूर्खे ह्रीवेरेऽश्वेभपुच्छयोः इति विश्वः ।

अप्रमत्तेति । अप्रमत्ताः सावधाना ये पार्थिवा भूपतयस्तैरिव, पर्यन्ते प्रान्तदेशे राज्यसीमान्ते च अवस्थिता विद्यमाना बहवोऽनेके गुल्माः स्तम्बाः प्रकाण्डा इत्यर्थः सेनानिवेशाश्च येषां तैः । 'गुल्मः स्तम्बे प्लीह्नि घट्टसैन्ययोः सैन्यरक्षणे' इति विश्वः ।

दंशितैरिति । दंशितैः सङ्ग्रामसज्जैर्लोकैरिव, भ्रमरसङ्घाताः पुष्परसलोभेनोपविष्टभ्रमरवृन्दाः कवचानीव वर्माणीव तैः आवृतकाया आच्छादितदेहास्तैः, अन्यत्र तु—भ्रमरसङ्घातवत् भ्रमरगणवत् कवचैः तद्वच्छ्यामवर्णैर्वर्मभिरित्यर्थः, आवृतकाया येषां तैः । 'सन्नद्धो वर्मितः सज्जो दंशितो व्यूढकङ्कटः' इत्यमरः ।

प्रमाणेति । प्रमाणाभिमुखैः सुवर्णादितोलनप्रवृत्तैर्लोकैरिव, वानरैः कपिभिः कर्तृभिः कराङ्गुलिभिः करशाखाभिः करणैः स्पृष्टा आश्लिष्टा गुञ्जाः कृष्णला यैस्तैः सुवर्णादितोलनकाले सर्वैरेव गुञ्जा उपादत्त ।

अवनीति । अवनिपालशयनैरिव नरपतितल्पैरिव, सिंहानां मृगेन्द्राणां पादैश्चरणचिह्नैः अङ्कितानि चिह्नितानि तलानि तरुतलानि येषां तैः, अन्यत्र तु—सिंहानां पादैरिव पादैः पल्यङ्कपादकैः अङ्कितानि चिह्नितानि तलानि निम्नवर्त्तिशयनतलानि येषां तैः ।

आरब्धेति । आरब्धा पञ्चतपःक्रिया पञ्चाग्निसाधनकर्म यैस्तैः तपस्विभिस्तापसैरिव, ग्रीष्मर्त्तौ स्वविष्टराणां चतुष्कोणेषु चत्वारः प्रज्वलिताग्नय ऊर्ध्वे च सूर्य एवं कृत्वा ये तपस्यां कुर्वन्ति ते पञ्चतपस

समूहसे शोभित रहती है, वे वृक्ष भी उसीप्रकार अनेकविध वर्णसे चित्रित-पक्ष-समन्वित पक्षियोंसे शोभित थे; दुर्योधन प्रभृति कुरुवंशीयगण जिसप्रकार द्रोणाचार्यद्वारा सेवित थे, वे वृक्ष भी उसीप्रकार भारद्वाज पक्षीद्वारा सेवित थे; महायुद्धके प्रारम्भमें जिसप्रकार हाथियोंकी तरफ बाण फेंके जाते हैं, वे वृक्ष भी उसीप्रकार नागकेसर ( मौलसरी ) फूलके गन्धसे भ्रमरोंका आकर्षण करते थे; बड़े बड़े हाथियोंके बड़े पूँछकी बालोंकी नोक जिसप्रकार भूतल-स्पर्श करती थीं, उन वृक्षोंके नये नये पल्लव उसीप्रकार झुक झुककर भूतलस्पर्श करते थे; अप्रमत्त राजाओंके राज्यके सीमान्तमें जिसप्रकार बहुतर सेनानिवेश रहता है, उस वृक्षसमूहके प्रान्तभागमें भी उसीप्रकार बहुतर शाखा-पत्रविहीन वृक्ष थे; सङ्ग्राममें सज्जित वीरगणका शरीर जिसप्रकार भ्रमरसमूहके समान कृष्णवर्ण कवचद्वारा आवृत ( ढका हुआ ) रहता है, उस वृक्षसमूहके सब स्थान भी उसीप्रकार कवचके समान भ्रमरसमूहद्वारा आवृत थे; सुवर्ण तौलनेमें लोग जिसप्रकार वानरके समान हस्तके अङ्गुलीद्वारा गुञ्जा स्पर्श करते ( चिरमिटी उठाते ) हैं, उसीप्रकार उस वृक्षसमूहके मध्यमें भी वानरगण हस्तके अङ्गुलीद्वारा गुञ्जा स्पर्श करते ( चिरमिटी उठाते ) थे; राजाओंकी शय्याकी नीचेका पर्यङ्क जिसप्रकार सिंहके पादके समान पावेसे संयुक्त रहता है, उस वृक्षसमूहके नीचेका स्थान भी उसीप्रकार सिंहके पादचिह्नसे चिह्नित था; जहाँ पञ्चाग्निसाधनरूप तपस्या आरम्भ होती है, वहाँ जिसप्रकार पञ्चाग्नि-साधन करनेवाले अग्निसमूहसे परिवेष्टित रहते हैं, वे वृक्षसमूह भी उसीप्रकार

१.…संशोभितैः । २. भारद्वाजद्विजोपसेवितैः । ३.…सम्पात… । ४. प्रयाणाभिमुखैरिव । ५.…अङ्कितवरुतलैः ।

क्रियैरिवोच्छिखशिखिमण्डलपरिवृतैः, दीक्षितैरिव कृतकृष्णसारविषाणकण्डूयनैः, जरद्गृहमुनिभिरिव जटालबालकमण्डलधरैः,[1] इन्द्रजालिकैरिव दृष्टिहारिभिः, पादपैः परिवृतं चन्द्रप्रभनाम्नस्तस्य सरसः पश्चिमे तीरे कैलासपादस्य ज्योत्स्नावदातया प्रभया धवलयतस्तं प्रदेशं तल[2]भागसन्निविष्टं भगवतः शूलपाणेः शून्यं[3] सिद्धायतनमपश्यत् ।

तच्च पवनोद्धूतैः[4] इतस्ततः समापतद्भिः केतकीगर्भधूलिपटलैः[5] धवलीक्रियमाणकायः पशुपतिदर्शनहेतोर्बलादिव प्रतिपाद्यमानो भस्मव्रतम्, आयतनप्रवेशपुण्यैरिव परिगृह्यमाणः

---

इत्यभिधीयन्ते तैरिवेत्यर्थः, उद्गताः शिखाश्चूडा ज्वालाश्च यस्य तेन शिखिमण्डलेन मयूरसमूहेन वह्निगणेन च परिवृताः परिवेष्टितास्तैः ।

दीक्षितैरिति । दीक्षितैः यज्ञे गृहीतव्रतैर्यजमानैरिव, कृतं विहितं कृष्णसारैर्मृगविशेषैः कर्तृभिः, विषाणैः शृङ्गैः करणैः कण्डूयनं येषां तैः, अन्यत्र तु—कृतं कृष्णसारविषाणैर्मृगविशेषशृङ्गैः कण्डूयनं शरीरखर्जनं यैस्तैः । यज्ञे सञ्जातदीक्षाणां कृष्णसारविषाणेर्गात्रखर्जनप्रतिपादनादित्याशयः । तथा च श्रुतिः—'कृष्णविषाणया कण्डूयते' इति । 'कण्डूः कण्डूयनं खर्जूः कण्डूया' इत्यभिधानचिन्तामणिः ।

जरदिति । जरन्तो वृद्धा ये गृहमुनयो गृहस्थतपस्विनः तैरिव, जटासु मूलेषु आलवालानां सलिलाधाराणां मण्डलं समुदायं धरन्तीति तैः, अन्यत्र तु—जटालं जटायुक्तं बालकमण्डलं बालकगणं धरन्ति परिरक्षयन्तीति तैः । तेषां दारयुक्ततया सुतजननसम्भव इत्यवधेयम् । 'मूले लग्नकचे जटा' इत्यमरः ।

इन्द्रेति । इन्द्रजालिकैर्मायिकैर्लोकैरिव, दृष्टिहारिभिः मनोज्ञत्वाल्लोचनाकर्षिभिः अन्यत्र तु प्रकृत्या जनानां यथायथदृष्टिसामर्थ्यहारिभिः । इह 'इन्द्रायुधैरिव' इत्यारभ्य 'इन्द्रजालिकैरिव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः ।

पादपैरिति । पादपैः उक्तविशेषणयुक्तैर्वृक्षैः परिवृतं परिवेष्टितम् । तस्य सरसः पश्चिमे तीरे प्रतीच्यां तटे ज्योत्स्नावदातया चन्द्रिकावच्छुभ्रतया प्रभया स्वकान्त्या तं प्रदेशं तत्पार्श्ववर्त्तिभूभागं धवलयतः शुभ्रं विदधतः, चन्द्रप्रभनाम्नश्चन्द्रप्रभाभिधानस्य कैलासपादस्य कैलासप्रत्यन्तपर्वतस्य तलभागसन्निविष्टम् अधोभागसंस्थितं भगवतः सर्वसमर्थस्य शूलपाणेः महेश्वरस्य, शून्यं जनवर्जितं सिद्धायतनं लोकसिद्धिप्राप्तिभवनम् अपश्यत् दृष्टवान् ।

तच्चेति । तदायतनं प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा च त्र्यम्बकम् अद्राक्षीदिति सम्बन्धः । पवनेन वायुना उद्धूतैः परिचालितैः इतस्ततः समापतद्भिः यत्र तत्र निपतद्भिः केतकीगर्भधूलिपटलैः केतकीपुष्पमध्यवर्त्तिपरागसमूहैः धवलीक्रियमाणः श्वेतीक्रियमाणः कायः शरीरं यस्य सः तादृशः, अत एव पशुपतिदर्शनहेतोः महेश्वरावलोकनार्थं केतकीगर्भधूलिपटलैरिव बलात् हठात् भस्मव्रतम् अवयवेषु विभूतिधारणनियमं प्रतिपाद्यमान अङ्गीक्रियमाण इव सन् । पशुपतिपूजने भस्मधारणस्यावश्यकतामाह कात्यायनः—

श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने । धृतत्रिपुण्ड्रः पूतात्मा मृत्युं जयति मानवः ॥
विना भस्मत्रिपुण्ड्रेण विना रुद्राक्षमालया । पूजितोऽपि महादेवो न स्यात्तस्य फलप्रदः ॥'

तथा तदायतनप्रवेशपुण्यैः सिद्धायतनप्रवेशसुकृतैः परिगृह्यमाण आश्लिष्यमाण इव च सन् । इह 'प्रतिपाद्यमान इव' 'परिगृह्यमाण इव' इत्युभयत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

---

ऊँची शिखावाले मयूरगणसे परिवेष्टित थे; यज्ञमें दीक्षित होकर यजमानगण जिसप्रकार शरीर-खुजलाने पर कृष्णसार (मृग) के सींगसे शरीर खुजलाते हैं, वे वृक्ष भी उसीप्रकार कृष्णसारगणके सींगोंसे खुजलाये जाते थे; वृद्ध गृहस्थ मुनिगण जिसप्रकार जटाधारी बालकोंका परिपालन करते हैं, उन वृक्षोंने भी उसीप्रकार आलबालोंको धारण किये हैं—अर्थात् जड़के पास जटायें हैं और थाले बने हुए हैं; ऐन्द्रजालिकगण जैसे अपनी क्षमतावलसे लोगोंके देखनेकी शक्ति हर लेते हैं, वे वृक्ष भी उसी प्रकार सुन्दर होने से दृष्टिका आकर्षण करते थे ।

चन्द्रापीडने जाकर उस मन्दिरके अन्दर प्रवेश किया, उस समय वायुसे उड़कर इधर उधरसे आए हुए केतकीकुसुमके अभ्यन्तरके परागसे चन्द्रापीडका शरीर धवलवर्ण हो जानेके कारण ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उससे मानो महादेवके दर्शनके लिए बलात्कार अपने शरीर पर भस्मको लगा लिया हो और मन्दिरमें प्रवेश करनेके पुण्य ही ने

---

१. दीर्घजटा,...कमण्डलुधरैः । २. भूतल... । ३. क्वचित् शून्यमिति पदं नोपलभ्यते । ४. पवनोद्धूतैः पवनोद्धतैः । ५. ...धूलिभिः, धूलिधवलैः ।

प्रविश्याद्राक्षीत् चतुःस्तम्भस्फटिकमण्डपिकातलप्रतिष्ठितम्, अचिरोद्धृतैरार्द्रार्द्रदलशिखरगलज्जलबिन्दुभिः ऊर्ध्वविपाटित-चन्द्रबिम्बदलैरिव निजाट्टहासावयवैरिव शेषफणाशकलैरिव पाञ्चजन्यसहोदरैरिव क्षीरोदहृदयाकारैरुपपादितमौक्तिकमुकुटविभ्रमैः शुचिभिर्मन्दाकिनी-पुण्डरीकैः कृतार्चनम्, अमलमुक्ताशिलाघटितलिङ्गम्, अशेषत्रिभुवनवन्दितचरणम्, चराचरगुरुं चतुर्मुखं भगवन्तं त्र्यम्बकम्।

तस्य च दक्षिणां मूर्तिमाश्रित्याभिमुखीमासीनाम्[3], उपरचितब्रह्मासनाम्, अतिविस्ता-

चतुरिति। चत्वारश्चतुःसंख्याकाः स्तम्भाः स्थूणा यस्याः सा चतुःस्तम्भा या स्फटिकमण्डपिका चन्द्रकान्तमयलघुमण्डपः तस्याः तलेऽधःप्रदेशे प्रतिष्ठितम् अवस्थितम्। त्र्यम्बकमित्यस्य विशेषणमेतत्। अचिरोद्धृतैः स्वल्पकालोत्खातैः अत एव च ऊर्ध्वे ऊर्ध्वप्रदेशे विपाटितस्य विदारितस्य चन्द्रबिम्बस्य शशिमण्डलस्य दलैः खण्डैरिव विद्यमानैः तेभ्योऽपि पीयूषबिन्दुनिःसरणादित्याशयः। निजस्य स्वकीयस्य शिवसम्बन्धिन इत्यर्थः। अट्टहासस्य महतो हासस्य अवयवैरिव। शेषस्य नागाधिपतेः फणानां फटानां शकलैः खण्डैरिव, तेषामपि स्वच्छत्वाद्गोलसदृशत्वाच्चेत्याशयः। पाञ्चजन्यः पातालोत्पन्नो लक्ष्मीपतेः शङ्खः तस्य सहोदरैः एकोदरसमुत्पन्नभ्रातृभिरिव स्वच्छत्ववर्त्तुलाकारत्वादित्याशयः। इह ...... 'चन्द्रबिम्बदलैरिव' 'निजाट्टहासावयवैरिव' 'शेषफणाशकलैरिव' 'पाञ्चजन्यसहोदरैरिव' सर्वत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः। क्षीरोदस्य दुग्धसिन्धोः हृदयाकारैः हृत्पुण्डरीकसदृशैः तुल्यश्वेतत्वादित्यभिप्रायः। इहार्थोपमा। तथा उपपादितो निरीक्षकाणां विहितो मौक्तिकमुकुटविभ्रमः स्वेषु रसोद्भवमयकिरीटभ्रान्तिर्यैस्तैः। इह भ्रान्तिमानलङ्कारः। शुचिभिः पूतैः मन्दाकिनीपुण्डरीकैः आकाशगङ्गासमुत्पन्नशुभ्रकमलैः, कृता विहिता अर्चना पूजा यस्य तं तादृशम्। अमलया स्वच्छया मुक्ताशिलया रसोद्भवतुल्यशुभ्रपाषाणेन घटितं रचितं लिङ्गं स्वरूपं यस्य तं तादृशम्, चत्वारि मुखानि यस्य स तं चतुर्मुखं भगवन्तं माहात्म्यवन्तं त्र्यम्बकं शिवम्। ननु भगवतो महेश्वरस्य पञ्चवक्त्रत्वेनैव लोके प्रसिद्धिस्तत्कथमत्र चतुर्मुखत्वोपपादनमिति चेत्? अत्राहुः—

'तदूर्ध्वभागः सञ्जातश्चतुर्वक्त्रश्चतुर्भुजः। पद्मकेशरगौराङ्गकायो ब्रह्मा महेश्वरः॥'

इति कालिकापुराण-(द्वादशाध्याय) वचनाच्चतुर्मुखी अपि शिवस्य मूर्त्तिरिति प्रतिपादनेनोक्तशङ्कानिरवकाशात्।

तस्येति। किञ्चेति चार्थः। तस्य त्र्यम्बकस्य दक्षिणां याम्याभिमुखीं मूर्तिं प्रतिमाम् आश्रित्य अवलम्ब्य अभिमुखीम् आसीनां तत्समक्षे उत्तरमुखीं सतीं निषण्णाम्, 'प्रतिपन्नपाशुपतव्रतां कन्यकां ददर्श'-इत्यतिदूरस्थायिन्या क्रियया सम्बन्धः। इह द्वितीयैकवचनान्तानि पदानि कन्यकामित्यस्य विशेषणानि।

उपरचितेति। उपरचितं विहितं ब्रह्मणः प्रजापतेः आसनमिव आसनं यथा तां तादृशीं कमलासनोपविष्टामित्यर्थः।

अतीति। अतिविस्तारिणा अतिशयप्रसरणशीलेन सर्वदिङ्मुखानां प्लावकेन आच्छादकेन, प्रलय-

मानो उसे आलिङ्गन कर (घेर) लिया हो। वहाँ उसने चराचरके गुरु, समस्त त्रिभुवनवन्दित-चरण भगवान् चतुर्मुखी महादेवको देखा। उनका लिङ्ग निर्मल मुक्ताके समान श्वेतवर्ण प्रस्तरद्वारा निर्माण किया हुआ था। उसे चार स्तम्भवाले छोटेसे स्फटिकमय मण्डपमें स्थापित किया गया था और आकाशगङ्गासे तत्काल तोड़े हुए, अत्यधिक आर्द्र, दलाग्रसे जलकी बूँदें टपकते पवित्र श्वेतकमलोंसे उसकी पूजा की गई थी। वे श्वेतकमलके ऊपर भागसे विदारित होने पर चन्द्रमण्डलके खण्डसमूह (टुकड़ों) के समान, अपने (महादेवके) अट्टहासके (ठहाकेकी हँसीके) अवयवोंके समान, शेषनागकी फणाके टुकड़ोंके समान, पाञ्चजन्य शङ्खके सहोदरोंके समान एवं क्षीरसमुद्रके हृत्पद्मके समान थे तथा उन्हें देखकर मोतीके मुकुटों की भ्रान्ति होती थी।

चन्द्रापीडने उनकी दक्षिणामूर्त्तिके सामने ब्रह्मासन और पाशुपत-व्रत धारण करके बैठी हुई एक कन्याको

१. अचिरोद्धतैः। २. आर्द्रार्द्रदल..., आर्द्रार्द्रशेखर...। ३. अभिमुखमासीनाम्।

रिणा सर्वदिङ्मुखप्लावकेन प्रलय-परिप्लुत¹-क्षीरपयोधि-पूर-पाण्डुरेण² अतिदीर्घकालसञ्चितेन तपोराशिनेव सर्वतो विसर्पता³ पादपान्तरैस्त्रिस्रोतोजलनिभेन पिण्डीभूय वहतेव देहप्रभावितानेन सगिरिकाननं चन्द्रमयमिव⁴ तं प्रदेशं कुर्वतीम्, अन्यथैव धवलयन्तीं कैलासगिरिम्, अन्तर्द्रष्टुरपि लोचनपथप्रविष्टेन⁵ श्वेतिमानमिव मनो नयन्तीम्, अतिधवल⁶प्रभापरिगतदेहतया स्फटिकगृहगतामिव दुग्धसलिलमग्नामिव विमलचीनांशुकान्तरितामिव⁷ आदर्शतलसंक्रान्तामिव शरदभ्रपटलतिरस्कृतामिव अपरिस्फुट⁸-विभाव्यमानावयवाम्, पञ्चमहाभूतमय

---

काले कल्पान्तसमये परिप्लुतस्य उद्वेलितस्य क्षीरपयोधेः दुग्धसमुद्रस्य पूरवत् प्रवाहवत् पाण्डुरेण श्वेतवर्णेन। सर्वतो विसर्पता परितः प्रसरता, अतिदीर्घकालसञ्चितेन अतिविस्तृतसमयैकत्रीकृतेन तपोराशिना तपःसमूहेनेव विद्यमानेन। त्रिस्रोतसो वियद्गङ्गाया जलनिभेन सलिलसदृशेन। पादपान्तरैः तरूणामन्तरालदेशैः पिण्डीभूय समूहीभूय प्रसरणे तरुभिः प्रतिबन्धकताचरणात् मिथः समूहीभूय वहतेव, देहप्रभावितानेन शरीरकान्तिपरम्परया सगिरिकाननं सपर्वतवनं तं प्रदेशं चन्द्रमयमिव कुर्वतीं विदधतीम्, तत्कान्तेर्धवलत्वादित्यभिप्रायः।

इह......'क्षीरपयोधेः पूरवत् शुभ्रवर्णेन' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'तपोराशिनेव' इत्यत्र तपसः शास्त्रीयक्लेशरूपत्वेन गुणत्वाद्गुणोत्प्रेक्षा, 'त्रिस्रोतोजलनिभेन' इत्यत्र आर्थोपमा।...'पिण्डीभूय वहतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा। 'चन्द्रमयमिव तं प्रदेशं कुर्वतीम्' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा गुणोत्प्रेक्षयोः सङ्करः।

अन्यथेति। अन्यथा भिन्नप्रकारेणैव देहप्रभयैव कैलासगिरिं रजताद्रिं धवलयन्तीं स्वतः शुभ्रमपि पुनः कृत्रिमश्वेतिमानमापादयन्तीमिव विद्यमानाम्। प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा।

अन्तरिति। द्रष्टुरपि विलोकयितुरपि जनस्य अन्तःशरीराभ्यन्तरे लोचनपथप्रविष्टेन नेत्रमध्यमार्गगतेन देहप्रभावितानेन मनश्चित्तं श्वेतिमानं धवलिमानं नयन्तीं प्रापयन्तीमिव विद्यमानाम्। केवलावलोकनेनैव विलोकयितुश्चित्तस्य सन्तोषेण प्रसन्नत्वादित्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षा।

अतिधवलेति। अतिधवलया अत्यन्तशुभ्रया प्रभया कान्त्या परिगतो व्याप्तो देहः शरीरं यस्यास्तस्या भावस्तया कारणेन, स्फटिकगृहगतामिव स्फटिकमणिभवनप्राप्तामिव, दुग्धसलिलमग्नामिव क्षीरोदब्रुडितामिव, विमलचीनांशुकान्तरितामिव निर्मलसूक्ष्मवस्त्रविशेषावृतामिव, आदर्शतले दर्पणे संक्रान्तां प्रतिबिम्बितामिव, तथा शरदभ्रपटलेन शरत्कालीनस्वच्छमेघसमूहेन तिरस्कृतामन्तर्हितामिव, अत एव प्रभावरणात् अपरिस्फुटम् अस्पष्टं यथा स्यात्तथा विभाव्यमाना ज्ञायमाना अवयवा अङ्गप्रत्यङ्गानि यस्यास्ताम्। इह पञ्चक्रियोत्प्रेक्षाणां मिथो नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात्संसृष्टिः।

पञ्चेति। पञ्चमहाभूतमयं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशस्वरूपं द्रव्यात्मकम् अङ्गनिष्पादनोपकरणकलापं देहरचनासामग्रीसमुदायम् अपहाय परित्यज्य प्रजापतिना केवलेन एकेन धवलगुणेन शुभ्रगुणेन उत्पा-

---

देखा। उसके शरीरका कान्तिप्रवाह अतिविस्तृतरूपसे निकलकर सभी दिशाओंको प्लावित करता (डुबाता) था, प्रलयकालीन उद्वेलित (उमड़े) क्षीरसमुद्रके प्रवाहके समान शुभ्रवर्ण था, सर्वदिग्व्यापी दीर्घकाल सञ्चित तपस्या-राशिके समान विराजमान था एवं आकाशगङ्गाके जलप्रवाहके समान वृक्षोंके बीच-बीचमें एकत्र संमिलित होकर वह रहा था, इस प्रकार शरीरकी प्रभाद्वारा वह मानो पर्वत और वनके सहित उस प्रदेशको सम्पूर्ण चन्द्ररश्मिमय करती (पाठान्तरसे हाथी दाँतका बना हो ऐसा कर देती) थी, कैलाश पर्वतको अन्य प्रकारसे ही मानो धवलित करती थी, उस कन्याको केवल देखनेसे ही उसके शरीरका कान्तिप्रवाह देखनेवालेके नयनमार्गके भीतरसे प्रवेश करके ही मानो मन पर्यन्त शुभ्रवर्ण कर देती थी। अत्यन्त धवलवर्ण प्रभापुञ्जसे उसका शरीर परिवेष्टित होनेके कारण अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्पष्टरूपसे देखनेमें नहीं आते थे, अतएव वह, मानो स्फटिक-मय गृहके अभ्यन्तरमें बैठी हो, दुग्धमिश्रित जलमें निमग्न हो, निर्मल चीनदेशीय महीन वस्त्रसे आच्छादित हो, दर्पणके अभ्यन्तरमें प्रतिबिम्बित हो एवं शरत्कालीन मेघसमूहसे आवृत हो ऐसी प्रतीति होती थी। विधाताने पञ्चमहाभूतस्वरूप द्रव्यात्मक शरीर-

---

१. ...विप्लुत...। २. ...पयःपूरपाण्डरेण। ३. तपोराशिनैव विसर्पता। ४. दन्तमयमिव, इतमयमिव। ५. लोचनपथं प्रविश्य, ...प्रविष्टेव। ६. अतिबहल...। ७...चेलांशुकान्तरितामिव। ८. परिस्फुट...।

मपहाय द्रव्यात्मकमङ्ग[1]-निष्पादनोपकरणकलापं धवलगुणेनैव केवलेनोत्पादिताम्, दक्षाध्वर[2]-क्रियामिवोद्धत[3]-गण-कच-ग्रह-भयोपसेवितत्र्यम्बकाम्, निरन्तरभस्मोल्लुण्ठनसिताङ्गीं[4] रतिमिव मदनदेहनिमित्तं हरप्रसादनार्थमागृहीतहराराधनाम्, क्षीरोदधि[5]-देवतामिव सहवास-परिचित-हर-चन्द्रलेखोत्कण्ठाकृष्टाम्[6], इन्दुमूर्त्तिमिव स्वर्भानु-भयकृत-त्रिनयन-शरण-गमनाम्[7], ऐरावतदेहच्छविमिव गजाजिनावगुण्ठनोत्कण्ठित-शितिकण्ठचिन्तितोपनताम्, पशुपति-दक्षिण-मुख-हासच्छविमिव बहिरागत्य[8] कृतावस्थानाम, शरीरिणीमिव रुद्रोद्धूलनभूतिम्[9]

दितां निर्मितामिव पृथिव्यादिसामग्र्युत्पन्ने तु तद्गुणानां नीलपीतादीनामप्यत्र सम्मेलनेन एवंविधशौक्ल्यासम्भवादित्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षा।

दक्षेति। उद्धतैर्बलगर्वितैः गणैः प्रमथादिभिर्यः कचग्रहः केशाकर्षणं तस्माद् भयेन त्रासेन उपसेवितः रक्षणार्थमवलम्बितः त्र्यम्बको महेश्वरो यया तां तादृशीम्, दक्षस्य प्रजापतेः अध्वरक्रिया यज्ञकर्म तामिव विद्यमानाम्, तस्या अप्यत्युत्कटधर्मरूपत्वेन शुभ्रत्वादित्यभिप्रायः। क्रियोत्प्रेक्षा।

पुरा किल दक्षप्रजापतिना शङ्करापमानार्थमेवाध्वरः समारब्धस्तत्र महेशोऽनाहूत इति विज्ञाय तद्गणाः समेत्य तमध्वरं विनाशयामासुरिति पौराणिकी कथा।

निरन्तरेति। मदनदेहनिमित्तं भूयोऽपि स्वामिनः कामस्य शरीरप्राप्त्यर्थं यद् हरस्य शम्भोः प्रसादनं तदर्थं तन्निमित्ताय आगृहीतहराराधनां प्रारब्धमहेशोपासनाम् अत एवानवरतविभूतिधारणेन शुभ्रशरीरां रतिं कामपत्नीमिव विद्यमानाम्। यश्चात्र 'हर' पदस्य द्विवारमुपादानेन पुनरुक्ततादोषः समापतति स चागृहीततदाराधनामिति पाठविधानेन परिहार्यः।

क्षीरोदेति। सहवासेन एकस्मिन् क्षीरसमुद्रे मन्थनात्प्रागवस्थानेन परिचिता ज्ञाता या हरललाटस्था महेशभालस्था चन्द्रलेखा शशिकला तस्या उत्कण्ठया आकृष्टाम् आकर्षितां क्षीरोदस्य दुग्धाम्बुधेः अधिदेवतामिव अधिष्ठात्रीं देवीमिव, अत्यधिकश्वेतक्षीरसमुद्राधिष्ठातृत्वात्तस्या अपि अत्यधिकश्वेतसम्भवादित्याशयः।

इन्द्विति। स्वर्भानो राहोर्यो भयस्त्रासस्तेन कृतं विहितं त्रिनयनस्य शङ्करस्य शरणागमनं गृहगमनं यया ताम् इन्दोश्चन्द्रस्य मूर्त्तिः शरीरमिव। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः द्रव्योत्प्रेक्षा।

ऐरावतेति। गजाजिनं हस्तिचर्म तस्य अवगुण्ठने परिधाने उत्कण्ठितो हस्तिचर्मप्रियत्वादुत्सुको यः शितिकण्ठो महादेवस्तेन चिन्तिता समीहिता अनन्तरमेव उपनता उपस्थिता ताम्, ऐरावतस्य सुराधिपश्वेतगजस्य देहच्छविं वपुःप्रभामिव विद्यमानाम्। गुणोत्प्रेक्षा।

पश्विति। स्वस्थानान्मुखाच्च बहिरागत्य कृतं विहितम् अवस्थानं स्थितिर्यया ताम्, पशुपतेः महेश्वरस्य दक्षिणमुखे तन्नत्यपशुपतेश्चतुर्मुखत्वाद्दक्षिणदिक्स्थायिवदने यो हासो हास्यं तस्य छविं शोभामिव पूर्वोत्प्रेक्षा।

शरीति। शरीरिणीं नारीदेहधारिणीं सतीम् आविर्भूतां प्रकटीभूतां रुद्रस्य शङ्करस्य उद्धूलभूतिमिव शरीरमर्दनसमये रजोभूय प्रसृतशरीरभस्मेव। जात्युत्प्रेक्षा।

निर्माणोपयोगी सामग्रीसमूह परित्याग कर श्वेतगुणद्वारा ही मानों उसका निर्माण किया था। उद्धत प्रकृतिवाले प्रमथगणके द्वारा केश खींचे जानेके भयसे दक्षकी यज्ञक्रिया ही मानो आत्मरक्षाके लिए महादेवकी सेवा करने आई हो; फिरसे कामदेवके शरीरके निमित्त शिवको प्रसन्न करनेके लिये रति देवी (कामपत्नी) मानो उनके आराधनमें प्रवृत्त होकर निरन्तर भस्मलुण्ठन करनेसे श्वेताङ्गी होकर वहाँ रहती हो; पहले एकत्र वास करनेसे परिचित शङ्करके ललाटस्थ चन्द्रकलाके साथ मिलनेकी उत्कण्ठासे आकृष्ट होकर ही मानो क्षीरसमुद्रकी अधिष्ठात्री देवी आई हो; राहुके भयसे चन्द्रकी मूर्त्ति मानो महादेवके शरणापन्न हुई हो; गज-चर्म ओढ़नेके लिए उत्कण्ठित होकर महादेवकी चिन्ता करते ही उपस्थित हुई ऐरावतहस्तीके देहप्रभाके समान हो; महादेवके दक्षिण मुखकी हास्य-शोभा मानो बाहर निकलकर बैठी हो; अङ्गमर्दन करनेके समयमें शङ्करके अङ्गकी भस्म-धूलियाँ मानो स्त्री-मूर्त्ति

१. ...मङ्गल...। २. अध्वर...। ३. उद्धृत...। ४. क्वचित् 'निरन्तरभस्मोल्लुण्ठनसिताङ्गीं' इति पाठो न विद्यते। ५. क्षीरोदधिः...। ६. ...लेखोत्कण्ठोत्कृष्टाम्। ७. ...शरणागमनाम। ८. बहिर्निर्गत्य, इव निर्गत्य। ९. हरोद्धूलनविभूतिम्।

आविर्भूताम्, ज्योत्स्नामिव हरकण्ठान्धकारविघट्टनोद्यमप्राप्ताम्, गौरीमनःशुद्धिमिव[1] कृतदेहपरिग्रहाम्, कार्त्तिकेयकौमारव्रतक्रियामिव मूर्त्तिमतीम्, गिरीश[2]-वृषभ, देहद्युतिमिव पृथगवस्थिताम्, आयतन-तरु-कुसुम-समृद्धिमिव शङ्कराभ्यर्चनाय स्वयमुद्यताम्, पितामहतपःसिद्धिमिव महीतलमवतीर्णाम्, आदियुगप्रजापतिकीर्त्तिमिव सप्तलोकभ्रमणखेदविश्रान्ताम्, त्रयीमिव कलियुग-ध्वस्त-धर्म्मशोक-गृहीत-वनवासाम्, आगामि-कृतयुगबीजकलामिव प्रमदा-रूपेणावस्थिताम्, देहवतीमिव मुनिजन-ध्यानसम्पदम्, अमर-गज-वीथिमिवाभ्रगङ्गाभ्यागम-वेगपतिताम्, कैलासश्रियमिव दशमुखोन्मूलनक्षोभनिपतिताम्, श्वेतद्वीप-लक्ष्मीमिवान्य-

ज्योत्स्नामिति। हरस्य महादेवस्य कण्ठे योऽन्धकारः अन्धकारसदृशकृष्णवर्णः तस्य विघट्टनोद्यमनेन स्वयं दूरीकरणप्रयत्नेन प्राप्तां तत्कण्ठत एवोपगतां ज्योत्स्नां प्रभामिव। गुणोत्प्रेक्षा।

गौरीति। कृतदेहपरिग्रहां विहितशरीरस्वीकारां गौर्याः सतीमूर्द्धन्यायाः पार्वत्याः मनःशुद्धिं चित्तपवित्रतामिव। पूर्वोत्प्रेक्षा।

कीर्त्तीति। मूर्त्तिमतीं सशरीरां कार्त्तिकेयस्य षडाननस्य कौमारव्रतक्रियां ब्रह्मचर्यनियमानुष्ठानमिव। क्रियोत्प्रेक्षा। दुष्कृतस्य मलिनतया निरूपणीयत्वात्तद्विरुद्धस्य सुकृतस्य तु श्वेततस्यैव निरूपणौचित्यादेवमभिधानमित्यवधेयम्।

गिरीशेति। पृथगवस्थितां शरीराद्बहिर्निर्गत्य पृथग्विद्यमानां गिरीशवृषभस्य महेशवृषस्य देहद्युतिः शरीरकान्तिरिव। गुणोत्प्रेक्षा।

आयतनेति। शङ्करस्य शिवस्य अभ्यर्चनाय पूजनाय स्वयमुद्यतां स्वेनैवोद्योगयुक्ताम्, आयतनस्य तस्यैव सिद्धभवनस्य तरुकुसुमानां वृक्षपुष्पाणां समृद्धिं संपदमिव। जात्युत्प्रेक्षा।

पितेति। महीतलमवतीर्णां पृथिवीतलं कृतावतारां पितामहस्य ब्रह्मणः तपःसिद्धिमिव। गुणोत्प्रेक्षा।

आदीति। सप्तसु लोकेषु भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यलोकेषु भ्रमणेन पर्यटनेन यः खेदः परिश्रमस्तेन विश्रान्तां तत्र विहितविश्रामाम्, आदियुगे कृतयुगे प्रजापतेर्विधातुः या कीर्त्तिः प्रजानिर्माणप्रशंसा तामिव। पूर्वोत्प्रेक्षा।

आगामीति। प्रमदारूपेण नारीरूपेण अवस्थितां कृतोपविष्टाम्, आगामिनो भविष्यतः कृतयुगस्य सत्ययुगस्य बीजकलामिव आदिकारणमात्रामिव, कृतयुगस्य पुण्यमयत्वेन श्वेतत्वात्तदादिहेतोरपि श्वेतत्वमित्याशयः। जात्युत्प्रेक्षा।

देहेति। देहवतीं शरीरधारिणीं मुनिजनानां तपस्विनां ध्यानसम्पदमिव प्राणायामसमृद्धिमिव। गुणोत्प्रेक्षा॥

अमरेति। अभ्रगङ्गायाः आकाशगङ्गाया अभ्यागमस्य तत्रोपस्थितेः वेगेन त्वरया पतितां स्वर्गाद्विमुच्यताम्, अमरगजानां देवहस्तिनाम् ऐरावतप्रभृतीनामित्यर्थः। वीथिं पङ्क्तिमिव, तस्यात्यन्तश्वेतत्वादित्याशयः। परमार्थतस्तु समुदायसमुदायिनोः परस्परं भेदाभावेऽपि योषिद्रूपभेदमादायेदमुक्तमित्यवधेयम्। जात्युत्प्रेक्षा।

कैलासेति। दशमुखो रावणः तस्य उन्मूलनम् उत्पाटनं तेन यः क्षोभः सञ्चलनं तेन निपतितां स्रस्ताम्, कैलासस्य रजताद्रेः श्रियं शोभामिव।

श्वेतेति। अन्यद्वीपानां द्वीपान्तराणां यदवलोकनकुतूहलं वीक्षणकौतुकं तेन आगतां प्राप्तां श्वेतद्वीपलक्ष्मीमिव श्वेतद्वीपशोभामिव।

धारण कर आविर्भूत हुई हो; महादेवके कण्ठदेशकी नीलिमा दूर करनेके लिए उसकी कण्ठकी प्रभा प्रत्यक्ष बाहर होकर आई हो; पार्वतीकी मनकी पवित्रता मानो शरीर धारण करके आई हुई हो; कार्त्तिकेयकी मानो मूर्त्तिमती कुमारावस्थाकी तपश्चर्या हो; शङ्करके वृषभके शरीरकी प्रभा मानो पृथक् होकर स्थित हो; उस सिद्धायतन (मन्दिर) के वृक्षोंकी पुष्प-समृद्धि मानो शङ्करकी पूजा करनेके लिए अपने आप ही उद्यत हुई हो; ब्रह्माकी तपःसिद्धि मानो पृथिवीतल पर उतरी हुई हो; सत्ययुगमें ब्रह्माकी जो कीर्ति उत्पन्न हुई थी, वह मानो सप्त भुवनोंमें भ्रमण करनेसे थककर विश्राम करने आई हो; कलियुगके प्रभावसे धर्म विनष्ट हो जानेसे शोकातुर होकर मानो ऋक्, यजु और साम वेदोंकी त्रयी वनवास अवलम्बन कर उस स्थानमें आई हो; आगामी सत्ययुगके बीजकी कला मानो स्त्री-रूपमें स्थित हो; मुनिगणकी ध्यानसम्पत्ति मानो मूर्तिमती होकर रहती हो; देव-गज-पङ्क्ति मानो आकाशगङ्गाके आगमनके वेगमें पड़कर गिरी हो; कैलाश-पर्वतकी शोभा मानो रावणद्वारा उन्मूलनके वेगसे नीचे गिरी हुई हो; श्वेतद्वीपकी

१. गौरीतपःसिद्धिमिव। २. गिरिश॰॰॰।

द्वीपावलोकन[1]-कुतूहलागताम्, काशकुसुमविकासकान्तिमिव शरत्समयमुदीक्षमाणाम्, शेषशरीरच्छायामिव रसातलमपहाय निर्गताम्, मुसलायुधदेहप्रभामिव मधुमदविघूर्णनायासविगलिताम्, शुक्लपक्षपरम्परामिव पुञ्जीकृताम्, सर्वहंसैरिव धवलतया कृतसंविभागाम्, धर्म्महृदयादिव विनिर्गताम्[2], शङ्खादिवोत्कीर्णाम्, मुक्ताफलादिवाकृष्टाम्, मृणालैरिव विरचितावयवाम्, दन्तदलैरिव घटिताम्, इन्दुकरकूर्चकैरिव प्रक्षालिताम्[3], वर्णसुधाच्छटाभिरिव च्छुरिताम्[4], अमृतफेनपिण्डैरिव पाण्डुरीकृताम्, पारदरसधाराभिरिव धौताम्, रज-

---

काशेति। शरत्समयं घनात्ययकालम् उदीक्षमाणां प्रतीक्षमाणां काशकुसुमानां 'काँस' इति लोकप्रसिद्धपुष्पाणां विकासकान्तिमिव विकसत्प्रभामिव।

शेषेति। रसातलं पातालम् अपहाय त्यक्त्वा निर्गतां बहिर्निःसृताम्, शेषस्य नागराजस्य शरीरच्छायां वपुःकान्तिमिव, नागराजस्यापि श्वेतत्वादित्याशयः। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः' इत्यमरः।

मुसलेति। मधुमदेन कादम्बरीपानजनितमत्ततया यद् विघूर्णनं पर्यन्ततो भ्रमणं तदायासेन तत्परिश्रमेण विगलितां शरीराद्विच्युतां मुसलायुधस्य बलभद्रस्य देहप्रभामिव वपुःकान्तिमिव, तस्या अपि श्वेतत्वात्।

इह 'कैलासश्रियमिव दशमुखोन्मूलनक्षोभनिपतिताम्' इत्यारभ्य 'मुसलायुधदेहप्रभामिव मधुमदविघूर्णमानायासविगलिताम्' इत्यन्तं सर्वत्र गुणोत्प्रेक्षा।

शुक्लेति। पुञ्जीकृतां प्रजापतिना एकत्रीकृतां शुक्लपक्षाणां मासीयोत्तरार्द्धपञ्चदशदिनात्मकानां समयानां परम्परां सन्ततिमिव, पक्षाणां समयत्वेन द्रव्यत्वादिह जात्युत्प्रेक्षा।

सर्वेति। सर्वैः समस्तैः हंसैः सितच्छदैः धवलतया स्वस्वश्वेततागुणेन करणेन कृतो विहितः संविभागः विभज्य अर्पणं यस्यै तां प्रदत्तस्वस्वश्वेततामिवेत्यर्थः। इह विभागकरणोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

धर्मेति। धर्मस्य सुकृतस्य हृदयान्मानसात् विनिर्गतां विनिःसृतामिव, शङ्खादुत्कीर्णामिव शङ्खं निस्तक्ष्य बहिर्निर्मितामिव, मुक्ताफलात् मौक्तिकाद् आकृष्टाम् आविर्भावितामिव, मृणालैः बिसैः विरचितावयवां विरचिताङ्गीमिव, दन्तदलैः गजदन्तखण्डैः घटितां रचितामिव, इन्दुकराश्चन्द्रकिरणा एव कूर्चकाः तूलिकाः तैः प्रक्षालितां परिष्कृत्य धौतामिव।

इह निरङ्गकेवलरूपकं क्रियोत्प्रेक्षा च, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

वर्णसुधानां धवलिमसम्पादकसुधासंज्ञकलेपनद्रव्याणां छटाभिः समूहैः छुरितां लिप्तामिव, पारदरसस्य रसेन्द्रद्रव्यस्य धाराभिः सन्ततिभिः धौतां प्रक्षालितामिव इह—'रसेन्द्रः पारदः प्रोक्तः पारतोऽपि निगद्यते। इति नारपालः। 'पारतस्तु मानक् पाण्डुः सूतस्तु रहितो मलात्। पारदस्तु मनाक् शीतः सर्वे तुल्यगुणाः स्मृताः॥' इति शब्दार्णवः। बलात्पारदरसशब्दयोः पर्यायतया पौनरुक्त्यप्रतीतेः, अनन्तरञ्च रसशब्दस्य द्रवार्थे पर्यवसानात् पुनरुक्तवदाभासः क्रियोत्प्रेक्षा चानयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

---

कान्ति अन्यान्य द्वीप देखनेके कुतूहलसे आई हो; काश-कुसुमोंकी विकास-कान्ति मानो शरत्कालकी प्रतीक्षा करती हो; शेषनागके शरीरकी शोभा मानो पाताल छोड़कर बाहर निकल आई हुई हो; बलरामकी शरीर-कान्ति मानो मद्यपानकी मत्ततावश ( नशा चढ़नेसे ) घूमकर गिरी हो; शुक्लपक्षकी परम्परा मानो इकट्ठी होकर रखी हो; ऐसी शोभायमान प्रतीत होती थी। धवल होनेके कारण हंसोंने मानो अपनी-अपनी धवलता विभक्त कर उसे देदी थी; धर्मके हृदयसे मानो वह निकली हुई थी; विधाता द्वारा वह शङ्खको छीलकर बाहर की गई थी; मोतियोंमेंसे ही मानो निकाली गई थी; मृणालद्वारा ही मानो उसके अवयव निर्माण किये गये थे; गज-दन्त-खण्ड द्वारा ही मानो गढ़ी गई थी; चन्द्रकिरणरूपी कूँची द्वारा ही मानो वह प्रक्षालित कर परिष्कृत कर दी गई थी; चूर्णलेप ( चूनेकी सफेदी ) द्वारा ही मानो लिप्त कर दी गई थी; अमृतके फेनपुञ्जद्वारा ही मानो शुभ्रवर्ण की गई थी; पारद रस ( पारे ) की धारासे ही मानो धोई गई थी; चाँदीके रससे ही मानो उस पर मार्जन ( वार्निश ) की

---

१. अन्यदीपान्तरावलोकन···। २. निर्गताम्, उद्गताम्। ३. आक्षालिताम्। ४. आच्छुरिताम्।

तद्रवेणेव निर्मृष्टाम् , चन्द्रमण्डलादिवोत्कीर्णाम् , कुटज-कुन्द-सिन्धुवार[1]-कुसुमच्छविभिरिवोल्लासिताम् , इयत्तामिव धवलिम्नः, स्कन्धावलम्बिनीभिरुदयतटगतादर्क[3]-बिम्बादुद्धृत्य बाल-रश्मि-प्रभाभिरिव निर्मिताभिरुन्मिषत्तडित्तरल[4]-तेजस्ताम्राभिरचिरस्नानावस्थित-विरल-वारि-कणतया प्रणाम-लग्न-पशुपति-चरण-भस्म-चूर्णाभिरिव जटाभिरुद्भासितशिरोभागाम् , जटापाश-ग्रथित-मुत्तमाङ्गेन मणिमयं नामाङ्कमीश्वर-चरणद्वयमुद्वहन्तीम् , रवि-रथ-तुरग-खुर-मुख-क्षुण्ण[5]-नक्षत्र-क्षोद-विशदेन भस्मनालङ्कृत[6]-ललाटपट्टिकाम् , शिखर-शिलाश्लिष्ट-शशाङ्ककलामिव शैलराजमेखलाम् , अतुलभक्तिप्रसाधितया लक्ष्यीकृत[7]लिङ्गया द्वितीययेव[8] पुण्डरीकमालया दृष्ट्या

रजतद्रवेण रौप्यरसेन निर्मृष्टामिव, चन्द्रमण्डलादिव शशिबिम्बादिव उत्कीर्णाम् उत्कीर्य कर्षिताम्, कुटजो गिरिमल्लिका, कुन्दो माध्यम्, सिन्धुवारो निर्गुण्डी, एतेषां कुसुमच्छवयः पुष्पकान्तयस्ताभिः उल्लसितामिव परिशोभितामिव । क्रियोत्प्रेक्षा ।

इयत्तामिवेति । धवलिम्नः श्वेततायाः इयत्ताम् अन्तिमसीमामिव । गुणोत्प्रेक्षा ।

स्कन्धेति । स्कन्धावलम्बिनीभिः भुजान्तरप्रलम्बिनीभिः उदयतटगतात् उदयगिरिप्रदेशविद्यमानात् अर्कबिम्बात् सूर्यमण्डलात् उद्धृत्य बालरश्मिप्रभा एव निष्कास्य ताभिर्बालरश्मिप्रभाभिरभिनवमयूख-कान्तिभिः करणैः स्रष्ट्रा निर्मिताभिः रचिताभिरिव विद्यमानाभिः, उन्मिषन्ती द्योतमाना या तडित् विद्युत् तस्या यत्तरलं चञ्चलं तेजः तद्वत्ताम्राभिः ताम्रवर्णाभिः, तथा अचिरस्नानेन त्वरितमज्जनेन अवस्थिताः अभ्यन्तरे लग्ना विरला अल्पाल्पा वारिकणा जलबिन्दवो यासु तासां भावस्तया कारणेन प्रणामे प्रणाम-काले लग्नानि संसक्तानि पशुपतेर्महेशस्य चरणभस्मचूर्णानि पादविभूतिक्षोदा यासु ताभिरिव विद्यमानाभिः जटाभिर्लम्बकचाभिः उद्भासितो द्योतितः शिरोभागः उत्तमाङ्गप्रदेशो यस्यास्ताम् ।

इह 'उदयतटः···' इत्यादौ 'प्रणामे'त्यादौ च क्रियोत्प्रेक्षा, 'उन्मिषद्' इत्यादौ लुप्तोपमा, आसां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

जटेति । उत्तमाङ्गेन शिरसा, जटापाशग्रथितं जटाजूटगुम्फितं मणिमयं रत्ननिर्मितं नाम्नः महेशनाम्नः अङ्कश्चिह्नं यत्र तथोक्तम्, ईश्वरस्य महेशस्य चरणद्वयं पदद्वयप्रतिमाम् उद्वहन्तीं भक्त्यातिशयेन धारयन्तीम् ।

रवीति । रविरथस्य सूर्यस्यन्दनस्य तुरगाणां घोटकानां खुरमुखैःखुराग्रभागैः क्षुण्णानां विदारितानां नक्षत्राणां तारकाणां क्षोदश्चूर्णं तद्वत् विशदेन श्वेतेन भस्मना विभूतिकृततिलकेन अलङ्कृतो भूषितः ललाटपट्टो भालस्थलं यस्यास्ताम्, अत एव शिखरशिलया मध्यदेशश्रृङ्गस्थपाषाणेन आश्लिष्टा धृता शशाङ्ककला चन्द्ररेखा यस्याः तां शैलराजस्य हिमाचलस्य मेखलां नितम्बं मध्यभागमिव विद्यमानाम् ।

इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, तथा चन्द्रकलया विभूतितिलकस्य, विशदपाषाणेन सह ललाटपट्टस्य, मेखलया च सह कन्यायाः सादृश्यमिति द्वयोत्प्रेक्षा चोभयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

अतुलेति । अतुलया निरुपमया भक्त्या आराधनया प्रसाधिता अलङ्कृतरूपेण सज्जितया, लक्ष्यी-कृतं ध्यानालम्बनीकृतं लिङ्गं शिवमूर्तिर्यया तया, द्वितीयया अपरया पुण्डरीकमालयेव सिताम्भोजपङ्क्त्येव

गई थी; चन्द्रमण्डलमेंसे ही मानो वह काटकर निकाली गई थी एवं कुटज, कुन्द और सिन्धुवारके फूलोंकी कान्तिसे ही मानो वह परिशोभित की गई ( चमकाई गई ) थी; तथा धवलता की वह मानो चरमसीमा प्रतीत हो रही थी। देदीप्यमान विद्युत्के चञ्चल तेजके समान ताम्रवर्ण एवं स्कन्ध-पर्यन्त लटकती जटा द्वारा उसका मस्तक शोभाय-मान था, विधाताने उदयाचल पर आये सूर्यबिम्बमेंसे बाहर निकाली गईं बाल-किरणोंकी प्रभाद्वारा ही मानो उन जटाओं का निर्माण किया था; एवं थोड़ी ही देर पहले स्नान करनेसे उस समय भी जटाओंके ऊपरमें थोड़े थोड़े जलबिन्दु थे, अतएव प्रतीत होता था कि मानो, प्रणाम करनेके समयमें शङ्करके चरणोंकी भस्म-धूलियाँ जटाके ऊपरमें लगी हों। मस्तकमें जटा-कलापके संग गुथे हुए शिवनामाङ्कित शङ्करके दोनों चरणोंके मणिमय चिह्न उसने धारण किये थे; सूर्यके रथमें नियुक्त घोड़ोंके खुराग्रके आघातसे चूर्णीकृत ( खुदे हुए ) नक्षत्रोंके चूर्णके समान शुभ्रवर्ण भस्मके तिलकसे उसका ललाटदेश भूषित था, अतएव वह चोटीके प्रस्तरमें जड़ी हुई चन्द्रमाकी कलावाली हिमालयकी मेखलाके समान देखनेमें आती थी; अतुलनीय भक्तिसे परिशोभित हुई वह शिवलिंगको लक्ष्य करके—द्वितीय श्वेत-कमल-मालाके समान निर्मल दृष्टिद्वारा आदरके साथ भूतनाथको देखती थी; अनवरत गान करनेसे उस

१. ···सिन्दुवार । २. उत्थिताभ्र··· । ३. ···गतार्क··· । ४. ···तडित्तन्तुतरल··· । ५. ···तुरङ्गखुरक्षुण्ण··· । ६. कृत··· । ७. लक्ष्यीकृत । ८. अपरयेव ।

सम्भावयन्तीं भूतनाथम्, अनवरत-गीत परिस्फुरिताधरपुटवशात् अतिशुचिभिः शुद्धहृदय-मयूखैरिव गीतगुणैरिव[2] स्वरैरिव स्तुतिवर्णैरिव मूर्त्तिमद्भिर्मुखान्निष्पतद्भिर्दशनांशुभिः पुनरिव स्नपयन्तीं गौरीपतिम्[3], अतिविमलैश्च वेदार्थैरिव साक्षात् पितामहमुखादाकृष्टैः, गायत्रीवर्णैरिव ग्रथितताम्[4] उपगतैः, नारायणनाभिपुण्डरीक-बीजैरिवोद्धृतैः, सप्तर्षिभिरिव करै-स्पर्शपूतमात्मानमिच्छद्भिस्तारकारूपेणागतैः, आमलकीफलस्थूलैर्मुक्ताफलैरुपरचितेनाक्षवलयेनाधिष्ठितकण्ठभागाम्, परिवेश[6]-परिगत-चन्द्रमण्डलामिव पौर्णमासीनिशाम्[7], अधोमुख-हर-शिरः-

विद्यमानया, दृष्टेरपि विशदत्वादित्याशयः, दृष्ट्या निरीक्षणेन भूतनाथं महेशं सम्भावयन्तीं सभक्तिदर्शनेनाद्रियमाणाम्। जात्युत्प्रेक्षा।

अनेति। अनवरतं निरन्तरं गीतेन गानेन परिस्फुरितं परिस्पन्दितं यदधरपुटम् ओष्ठद्वयं तद्वशात्, मुखाद्वदनात् निष्पतद्भिः निःसरद्भिः, अतिशुचिभिः अत्यन्तश्वेतैः, शुद्धहृदयस्य पवित्रमनसः मयूखैः किरणैरिव, मूर्त्तिमद्भिः शरीरवद्भिः गीतगुणैः गानमाधुर्यैरिव, स्वरैः षड्जर्षभादिसप्तध्वनिभिरिव, स्तुतिवर्णैः महेशस्तवाक्षरैरिव विद्यमानैः, दशनांशुभिर्दन्तकिरणैः गौरीपतिं महेशं पुनर्भूयः स्नपयन्तीमिव स्नपनं विदधतीमिव विद्यमानाम्। गीतगुणैरित्यादित्रयाणामेव 'मूर्त्तिमद्भिः' इति विशेषणम्। पूजादावेकवारं स्नपनाच्च 'पुनः' पदमित्यवधेयम्।

इह आदितश्चतस्रो गुणोत्प्रेक्षाः अवशिष्टाश्च क्रियोत्प्रेक्षाः, आसां परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अतीति। अतिविमलैरिति मुक्ताफलैरित्यग्रिमस्य विशेषणम्। पितामहस्य विधातुः मुखात् वदनात् आकृष्टैः आकृष्य प्रापितैः साक्षादव्यवधानात् वेदार्थैरिव ऋग्वेदप्रभृत्यभिधेयैरिव, निरतिशययथार्थतया तेषामप्यतिविशदत्वादित्याशयः। ग्रथिततां संयुक्तताम् उपगतैः प्राप्तैः गायत्र्याः स्वनामप्रसिद्धस्य वैदिकमन्त्रविशेषस्य वर्णैरक्षरैरिव, तेषामपि ब्रह्माभिन्नतयातिविमलत्वादित्यभिप्रायः। उद्धृतैः उत्तोलितैः नारायणस्य विष्णोः नाभिपुण्डरीकबीजैरिव नाभिकमलबीजैरिव ('कमलगट्टा' इति ख्यातैरिव)। तथा आत्मानं स्वकीयस्वकीयशरीरं करस्पर्शेन जपसमये तस्याः कन्यकायाः हस्तस्पर्शेन पूतं पवित्रं कर्त्तुमिच्छद्भिः अभिलषद्भिः तारकारूपेण नक्षत्ररूपेण आगतैः प्राप्तैः सप्तर्षिभिर्मरीचिप्रभृतितपस्विभिरिव विद्यमानैः, तथा आमलकीफलवत् धात्रीफलवत् स्थूलैः स्थविष्ठैः मुक्ताफलैः मौक्तिकैः उपरचितेन कृतेन अक्षवलयेन जपमालिकया अधिष्ठित आश्रितः कण्ठभागो निषेणरणप्रदेशो यस्यास्ताम्, अत एव परिवेशेन परिधिना परिगतं परिवेष्टितं चन्द्रमण्डलं शशिबिम्बं यस्यां तां पौर्णमासीनिशामिव राकारात्रिमिव विद्यमानाम्। 'परिवेषस्तु परिधिः'। 'पूर्णे राका निशाकरे' इति चामरः।

इह 'वेदार्थैरिव' 'गायत्रीवर्णैरिव' 'नाभिपुण्डरीकबीजैरिव' 'सप्तर्षिभिरिव' इति चतसृषु जात्युत्प्रेक्षा 'आमलकीफलस्थूलैः' इत्यत्र लुप्तोपमा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, तथा मुक्तामालायाः परिवेषेण सह, तन्मुखस्य चन्द्रमण्डलेन सह, तन्मूर्त्तेः पौर्णमासीनिशया च साम्यमिति श्रौत्युपमा चेत्यासां परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अध इति। अधोमुखं हरस्य महेशस्य शिरसि उत्तमाङ्गे यत् कपालं मनुष्यमस्तकास्थि तद्वन्मण्डलाकारेण वर्त्तुलाकृतिना, तथा मोक्षस्य कैवल्यस्य यत् पुरं नगरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः तस्य द्वारकलसवत्

कन्या का ओष्ठ-युगल हिल रहा था, अत एव मुखमें से निकलतीं, अत्यन्त निर्मल दन्त-रश्मियोंसे वह मानों फिर से शङ्करको स्नान करा रही है ऐसा प्रतीत होता था; वे दन्तरश्मियाँ उसके पवित्र हृदयकी किरणोंके समान एवं मूर्त्तिमान् गानके माधुर्यके समान मूर्त्तिमती स्वरलहरीके समान और मूर्त्तिमान् स्तुतिके अक्षरके समान देखनेमें आती थी। आमलकी फलके समान बड़े बड़े और अत्यन्त निर्मल मोतियोंके दानोंसे ग्रथित एक जपकी माला (हार) उसके कण्ठदेशमें लम्बित थी, वह (माला) प्रजापतिके मुखमेंसे निकालकर लाये गये साक्षात् वेदार्थके समान, गुँथे हुए गायत्री-वर्णोंके समान, नारायणके नाभिस्थित श्वेतकमलोंमेंसे निकाले हुए बीजोंके समान, एवं उस कन्याके कर-स्पर्शसे अपनेको पवित्र होनेकी इच्छासे नक्षत्ररूपमें आए सप्तर्षियोंके समान देखनेमें आ रहा था, इसप्रकारकी मुक्तामालासे वह परिवेष सहित चन्द्रमण्डलसे युक्त पूर्णिमाकी रात्रिके समान शोभायमान प्रतीत होती थी। महादेवके

१. ···गीतस्फुरित···। २. गुणैरिव; स्तुतिवर्णैरिव। ३. पुनरपि···गौरीनाथम्। ४. ग्रथनताम्, ग्रन्थनाम्, ग्रथनस्फीतताम्। ५. करतल···। ६. परिवेश···। ७. पौर्णमासीम्।

कपाल-मण्डलाकारेण मोक्ष-पुर-द्वार-कलस[1]-कान्तिना स्तनयुगलेन, एक-हंस-मिथुन[2]-सनाथामिव गङ्गाम्[3], गौरीसिंहसटामयेनेव चामर-रुचिराकृतिना[4] स्तनयुगलमध्यनिबद्धग्रन्थिना कल्पतरु-लतावल्कलेन कृतोत्तरीयकृत्याम्, अयुग्मलोचनसकाशात् प्रसादलब्धेन चूडामणिचन्द्र-मयूख-जालेनेव मण्डलीकृतेन ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्[5], आप्रपदीनेन च स्वभावसितेनापि ब्रह्मासनबन्धोत्तान-चरणतल-प्रभा-परिष्वङ्गाल्लोहितायमानेन दुकूलपटेन प्रावृतनितम्बाम्-

द्वारस्थापितघटवत् कान्तिः शोभा यस्य तेन तथोक्तेन स्तनयुगलेन कुचद्वयेनोपलक्षितामित्यर्थः, अत एव एकेन अन्यरहितेन हंसयोश्चक्राङ्गयोर्मिथुनेन द्वयेन सनाथा सहिता तां गङ्गां भागीरथीमिव विद्यमानाम्।

इह 'अधो…कपालमण्डलाकारेण' इत्यत्र 'मोक्षपुरद्वारकलसकान्तिना' इत्यत्र च लुप्तोपमा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, तथा हंसयुगलेन कुचद्वयस्य गङ्गया च कन्यकायाः साम्यमिति श्रौत्युपमा चेत्यासां परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

एवं कपालस्याधोमुखत्वप्रतिपादनञ्च दृष्टगोचरतत्पृष्ठभागस्य मण्डलाकारत्वप्रतिपादनाय, अन्यथा कपालस्योन्मुखत्वे मण्डलाकारत्वं न स्यात् तदूर्ध्वदेशस्योन्नतावनतत्वादित्यवधेयम्।

गौरीति। गौरीसिंहस्य भवान्या वाहनीभूतकेसरिणः सटामयेनेव जटाविरचितेनेव, चामरवत् बालव्यजनवत् रुचिरा मनोहरा आकृतिः स्वरूपं यस्य तेन, तथा स्तनयुगलस्य कुचद्वयस्य मध्येऽन्तराले निबद्धः ग्रन्थिर्यस्य तेन कल्पतरुलतावल्कलेन मन्दारवृक्षवल्लीत्वचा कृतं सम्पादितम् उत्तरीयस्य उपसंव्यानस्य कृत्यं कार्यं यस्याः ताम्।

इह…'सटामयेनेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'चामररुचिरकृतिना' इत्यत्र लुप्तोपमा च, अनयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अयुग्मेति। अयुग्मलोचनस्य त्र्यम्बकस्य महेशस्य सकाशात् प्रसादलब्धेन अनुग्रहात्प्राप्तेन, चूडामणेः महेशस्यैव मुकुटमणीभूतस्य चन्द्रस्य शशिनः मयूखजालेनेव रश्मिसमूहेनेव विद्यमानेन, श्वेतत्वादित्यभिप्रायः, मण्डलीकृतेन वर्तुलीकृतेन ब्रह्मसूत्रेण यज्ञोपवीतेन पवित्रीकृतः पावनीकृतः कायः शरीरं यस्यास्ताम्। इह…'मयूखजालेनेव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा।

पुराकाले स्त्रिया ब्रह्मचर्यावस्थायां ब्रह्मसूत्रधारणं शास्त्रसम्मतमेव। तथा च वचनम्—'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। उपदेशं च तासां हि सावित्रीवचनं तथा॥'

आप्रपदीति। किञ्चेति चार्थः आप्रपदं प्राप्नोतीति आप्रपदीनः चरणतलपर्यन्तव्यापकः तेन, स्वभावेन प्रकृत्या सितः शुभ्रः तेनापि विद्यमानेन, ब्रह्मासनबन्धेन कमलासनविधानेन उत्ताने ऊर्ध्वमुखे ये चरणतले पादतले तयोः प्रभाया अर्थाद्रक्तवर्णायाः परिष्वङ्गात् सम्बन्धात् लोहितायमानेन अरुणायमानेन दुकूलपटेन सूक्ष्मवस्त्रेण प्रावृतौ आच्छादितौ नितम्बौ आरोहौ यस्यास्ताम्। 'स्यात्त्रिष्वाप्रपदीनं तत् प्राप्नोत्याप्रपदं हि यत्' इत्यमरः। इह शुभ्रवस्त्रस्यारुणगुणग्रहणात्तद्गुणः।

मस्तकस्थित अधोमुख किए हुए नरमुण्डके समान वर्तुलाकार एवं ब्रह्मभवनके द्वारस्थित कलश-द्वयके समान कान्तिसम्पन्न स्तनयुगल, उस कन्याके वक्षःस्थलमें शोभायमान थे, अत एव हंसोंके एक-जोड़े सहित गङ्गाके समान वह दीखती थी। चामरके समान सुन्दर आकृतिवाला एक कल्पतरु-वल्कल, उसके स्तनोंके बीचमें बद्ध रहकर उत्तरीय वस्त्रका कार्य करता था, वह पार्वतीके सिंहकी जटाद्वारा मानो निर्मित हुआ हो ऐसा प्रतीत होता था। कण्ठदेशमें मण्डलीकृत एक यज्ञसूत्रसे उसका शरीर पवित्र हुआ था, वह (यज्ञसूत्र) महादेवसे प्रसन्न होकर दिए गए चूडामणिरूप चन्द्रके किरणसमूहके समान शोभायमान था। चरणके अग्रपर्यन्त लटके हुए सूक्ष्म (रेशमी) वस्त्रसे उसका नितम्ब-देश (कमर) आच्छादित था, वह वस्त्र स्वभावसे श्वेतवर्ण होने पर भी पद्मासनकी रचना कर बैठे रहने में ऊर्ध्व मुख करके रखे हुए चरण-तलकी प्रभाओंको उसके ऊपर गिरनेके कारण वस्त्रका वह अंश

१. मोक्षद्वारकलश, मोक्षद्वारनियुक्तकलश…। २. एकगतहंस…। ३. श्वेतगङ्गाम्। ४. चीराकृतिना। ५. पवित्रतरीकृतकायाम्।

यौवनेनापि स्वकालोपसर्पिणा[1] निर्विकार-विनीतेन[2] शिष्येणेवोपास्यमानाम्, लावण्येनापि कृतपुण्येनेव स्वच्छात्मना परिगृहीताम्, रूपेणापि रुचिरलोचनेन विगतचापलेन आयतनमृगेणेव निषेविताम्[3], उत्सङ्गगताञ्च स्वसुतामिव सूक्ष्म-शङ्ख-खण्डिकाङ्गुरीयक-पूरिताङ्गुलिना[4] त्रिपुण्ड्रकावशिष्ट-भस्म-पाण्डुरेण[5] प्रकोष्ठ-बद्ध-शङ्खखण्डकेन नख-मयूख-दन्तुरतया गृहीतदन्तकोणेनेव दन्तमयीं दक्षिणकरेण वीणामास्फालयन्तीम्, प्रत्यक्षामिव गन्धर्वविद्याम्, मणिमण्डपिकास्तम्भलग्नाभिरात्मानुरूपाभिः सहचरीभिरिव सवीणाभिर्विलासवतीभिः[6] प्रतिमाभिरुपेताम्, स्नपनार्द्र-लिङ्ग-संक्रान्त-प्रतिबिम्बतया अतिप्रबलभक्त्याराधितस्य हृदयमिव

यौवनेनेति। समुच्चयार्थको ह्यत्रापिः। स्वकाले उपयुक्तावस्थायां स्वीयसेवावसरे च उपसर्पति आयातीति तेन, तथा निर्विकारं कामविकारशून्यं क्रोधादिविकारशून्यं च यथा स्यात्तथा विनीतेन शिक्षाजनितविनम्रतावाहिना यौवनेन तारुण्येन, शिष्येणेव छात्रेणेव उपास्यमानाम् आश्रीयमाणां सेव्यमानाञ्च। पूर्णोपमा।

लावण्येनेति। कृतपुण्येन सुकृतिनेव विद्यमानेन स्वच्छात्मना निर्मलेन काममलरहितस्वरूपेण च लावण्येन परिगृहीताम् आश्रिताम्। इह 'कृतपुण्येनेव' इति पुण्यकरणोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

रूपेणेति। रुचिरे मनोहरे लोचने नयने यस्य यत्र च तेन, तथा विगतं दूरीभूतं चापलं प्राकृतिकचाञ्चल्यं कामोद्वेगश्च यस्य यत्र च तेन, आयतनमृगेणेव तत्सिद्धायतनसारङ्गेणेव रूपेण सौन्दर्येण निषेविताम् आश्रिताम्। पूर्णोपमा।

उत्सङ्गेति। सूक्ष्माणाम् अस्थूलानां शङ्खखण्डिकानां कम्बुशकलानाम् अङ्गुलीयकैः अङ्गुलीभूषणैः पूरिता व्याप्ता अङ्गुलयः करशाखा यस्य तेन, त्रिपुण्ड्रकात् तन्नामकतिलकविधानात् अवशिष्टेन शेषेण भस्मना विभूतिना पाण्डुरेण श्वेतेन, तथा प्रकोष्ठे मणिबन्धदेशे बद्धो धृतः शङ्खखण्ड कम्बुकटको यस्य तेन, नखानां कररुहाणां मयूखैः किरणैः दन्तुरतया उन्नतया प्रसारितनखमयूखतयेत्यर्थः, कारणेन, गृहीत आत्तः दन्तकोणः गजदन्तरचितवीणावादनसाधनं येन तथोक्तेनेव अवगम्यमानेन दक्षिणकरेण अपसव्यहस्तेन, उत्सङ्गगतां क्रोडस्थिताम्, दन्तमयीं गजदन्तालङ्कारबहुलां वीणां वल्लकीं स्वसुतां निजात्मजामिव आस्फालयन्तीं वादयन्तीं सप्रेम उत्थाप्योत्थाप्य लालयन्तीं च अत एव प्रत्यक्षाम् इन्द्रियगोचरां गन्धर्वविद्यां गानशास्त्रविद्यामिव स्थिताम्। 'कोणो वीणादिवादनम्' इत्यमरः।

इह पूर्णोपमा—पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गक्रियोत्प्रेक्षागुणोत्प्रेक्षाणां परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः। कम्बुमयाङ्गुरीयककटकाभ्याञ्चावैधव्यं प्रतीयत इति वस्तुना वस्तुध्वनिः।

म०ीति। मणिमण्डपिकारत्ननिर्मिता चतुष्किका तस्याः स्तम्भेषु लग्नाभिः प्रतिबिम्बिताभिः, विलासवतीभिर्विभ्रमशोभायुक्ताभिः सहचरीभिः सपर्याविधायिनीभिरिव विद्यमानाभिः सवीणाभिः सवल्लकीभिः प्रतिमाभिः आत्मप्रतिबिम्बैः उपेतां सहिताम्। श्रौतोपमा।

स्नपनेति। स्नपनेन अभिषेकेण आर्द्रे क्लिन्ने लिङ्गे महेशप्रतिमायां सङ्क्रान्तं प्रविष्टं प्रतिबिम्बं प्रति-

रक्तवर्ण हो गया था। अपने समय पर उपस्थित और क्रोधादि-विकार-विहीन विनीत शिष्यके समान, उपयुक्त अवस्थामें उपस्थित और काम-विकार-विहीन वश्य यौवनकाल आश्रयण किया था। लावण्य भी, मानो पुण्योपार्जन करके ही उसका परिग्रह किया था। उस मन्दिरके हरिणके समान सुन्दर-नयन-सम्पन्न और चाञ्चल्यविहीन रूप भी, उसकी सेवा करता था। और वह अपनी पुत्रीके समान हस्तिदन्तभूषित एक वीणा उत्सङ्ग (क्रोड) में रखकर दक्षिणहस्तद्वारा बजा रही थी। उसके उस दक्षिणहस्तकी अँगलियोंमें सूक्ष्म शंख के टुकड़ों से बनी हुई अंगूठियाँ पहनी थी, त्रिपुण्ड्र धारण करनेसे अवशिष्ट भस्मसे वह दक्षिणहस्त शुभ्रवर्ण हो गया था। जिसके मणिबन्धदेश (कलाई) पर शङ्खाभरण परिवेष्टित था, और जो नख-किरण फैलनेसे मानो हरित-दन्त-निर्मित वीणा बजानेके साधन (मिजराब) से समन्वित दीखता था, जिससे वह प्रत्यक्ष गन्धर्व-विद्याके समान विद्यमान थी। मण्डपके मणिमय स्तम्भोंमें लीलाविलाससंयुक्त वीणाके साथ उसके शरीरके अनुरूप प्रतिबिम्ब पड़े हुए थे, वे उसके सहचारियोंके समान देखनेमें आरहे थे। स्नान करा देनेके कारण आर्द्र शिवलिङ्गमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ गया था, अत एव प्रतीत होता था कि मानो वह अति प्रबल-भक्तिसे आराधित शिवके हृदयमें प्रविष्ट हो

१. यौवनेनादिष्टेनोपसर्पिणा। २. निर्विकारेण विनीतेन, स्वकालोपसर्पिनिर्विकारविनीतेन। ३. सेविताम्। ४. सूक्ष्मदण्डखण्डिकाङ्गुलीयकापूरिताङ्गुलिना। ५. …पाण्डरेण। ६. सवीणाभिः प्रतिमाभिः।

प्रविष्टां हरस्य, हारलतयेव[1] प्राप्तकण्ठयोगया ग्रहपङ्क्त्येव ध्रुवप्रतिबद्धया क्रुद्धयेव रक्त-[2]मुखवर्णया मत्तयेव घूर्णित-मन्द-[3]तारया उन्मत्तयेव अनेक[4]कृततालया मीमांसयेव अनेकभावनानुविद्धया गीत्या देवं विरूपाक्षमुपवीणयन्तीम्[5], अतिमधुरगीतावकृष्टैर्ध्यानमिवाभ्यस्यद्भिर्निश्चलकर्णपुटैर्मृग-वराह-वानर-वारण-शरभ-सिंहप्रभृतिभिर्वनचरैराबद्धमण्डलैराकर्ण्यमानगीतानुविद्धविपञ्चीघोषाम्, अमरापगामिव नभसोऽवतीर्णाम्, दीक्षितवाचमिवाप्राकृताम्,

---

च्छायं यस्यास्तस्या भावस्तया कारणेन, अतिप्रबलभक्त्या अत्युत्कृष्टाराधनेन आराधितस्य सेवितस्य हरस्य महेशस्य हृदयं चित्तं प्रविष्टां प्रवेशं कृतवतीमिव विद्यमानाम्। क्रियोत्प्रेक्षा।

हरेति। हारलतयेव मुक्तामालयेव प्राप्तकण्ठयोगया लब्धगलसम्बन्धया, पक्षद्वयेऽपि तुल्यमिदम्। ग्रहाणां सूर्यादीनां पङ्क्त्या वीथ्येव, ध्रुवेण गानाङ्गविशेषेण प्रतिबद्धया नियमितया, पक्षे तु ध्रुवाभ्यां तत्संज्ञकतारकाभ्यां प्रतिबद्धया संयतया। गानाङ्गध्रुवस्वरूपमभिहितं सङ्गीतनारायणे—'उत्तमः षट्पदः प्रोक्तो मध्यमः पञ्चमः स्मृतः। कनिष्ठश्च चतुर्भिः स्याद् ध्रुवकोऽयं मयोदितः॥' ग्रहमण्डलस्य ध्रुवनक्षत्रयोर्बन्धनमभिहितं ज्यौतिषे—'भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः। पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम्॥'

क्रुद्धया कुपितया स्त्रिया योषितेव, रक्ताः श्रीरागादिसहिता मुखवर्णा वदनोच्चारिताक्षराणि यस्यां तया, पक्षे तु रक्तस्ताम्रो मुखवर्णो यस्यास्तया। मत्तया सुरादिपानाज्जातमदया स्त्रियेव, घूर्णितः मण्डपिकायां समन्तात्प्रसृतः मन्दो मृदुः तारो दीर्घश्च स्वरो यस्यास्तया, पक्षे तु घूर्णिते मदोद्रेकाच्चञ्चले मन्दे अलसे तारे कनीनिकायुगलं यस्यास्तया। उन्मत्तया उन्मादवायुग्रस्तया स्त्रियेव, अनेके बहवः कृताः विहिताः तालाः कालक्रियामानरूपाः करतलध्वनयश्च यस्यां यया च तया। मीमांसया जैमिनिकृतपूर्वमीमांसा (विचार) शास्त्रेणेव, अनेकाभिः अनेकप्रकाराभिः भावनाभिर्मूर्च्छनाभिः अनुविद्धया युक्तया, पक्षे—अनेकया द्विप्रकारया भावनया भावयितुर्व्यापारेण तत्प्रतिपादनेनेत्यर्थः, अनुविद्धया स्यूतया। श्रीरागादिलक्षणन्तूक्तं सङ्गीतरत्नाकरे। मीमांसाप्रसिद्धा भावना द्विविधा—शाब्दी आर्थी चात्र ज्ञेया। तथा च एवंभूतया गीत्या गानेन, विरूपाणि अग्निसूर्यचन्द्ररूपया वैषम्याणि अक्षीणि नयनानि यस्य तं तादृशं देवं महादेवम् उपवीणयन्तीं वल्लक्या उपगायन्तीम्। पूर्णा मालोपमा।

अतिमधुरेति। अतिमधुरेण कर्णसुखदेन गीतेन गानेन अवकृष्टैराकृष्य प्रापितैः, निश्चलकर्णपुटैः स्तिमितकर्णयुगलैः, अत एव ध्यानं चित्तवृत्तिनिरोधम् अभ्यस्यद्भिः शिक्षमाणैरिव विद्यमानैः, आबद्धं रचितं मण्डलं वलयाकारेणावस्थानं यैस्तैः, मृगा हरिणाः वराहाः शूकराः वानरा गोलाङ्गूलाः कपयश्च वारणा हस्तिनः शरभाः सिंहघातिनोऽष्टपदा जन्तुविशेषाः, एते प्रभृतय आद्या येषां तैः, वनचरैः अरण्यचारिभिः आकर्ण्यमानः श्रूयमाणः गीतानुविद्धः गानसंयुक्तः विपञ्चीघोषः सप्ततन्त्रीयुक्तवीणानिनादो यस्यास्ताम्। क्रियोत्प्रेक्षा।

अमरेति। नभसः आकाशात् अवतीर्णाम् आगताम् अमरापगां मन्दाकिनीमिव विद्यमानाम्। द्रव्योत्प्रेक्षा।

दीक्षितेति। दीक्षितस्य यागादौ नियमिनः वाचं वाक्यमिव, अप्राकृताम् अमर्त्यां दिव्याम्, पक्षे तु-

---

गई थी। वीणाध्वनिके साथ-साथ वह शङ्करकी स्तुतिका गान करती थी, वह गान मुक्तामय हारके समान उसके कण्ठमें संलग्न था, ग्रहपंक्ति जिसप्रकार ध्रुव नक्षत्र (तारा) संयुक्त रहती है, वह गान भी उसीप्रकार गानाङ्गध्रुवलक्षणसे युक्त था एवं कुपित सुन्दरीके मुखका रङ्ग जिसप्रकार रक्तवर्ण होता है, उस गानमें भी उसी प्रकार मुखसे नानाविध राग-रागिणीयुक्त अक्षर उच्चारित होते थे; मदसे उन्मत्त सुन्दरी की जिसप्रकार नयनकी तारा अलस होकर घूमती रहती है, उस गानके स्वर भी उसीप्रकार कभी मन्द कभी तार होकर मण्डपिका मध्यमें विचरण करते रहते थे; उन्मत्त सुन्दरी जिसप्रकार बहुतर करतल-ध्वनि करती है, उस गानमें भी उसीप्रकार बहुतर ताल किये जाते थे; एवं जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन जिसप्रकार शाब्दी और आर्थी नामकी द्विविध भावनासे युक्त है, वह गान भी उसीप्रकार बहुतर मूर्च्छना-युक्त था। अत्यन्त मधुर गानसे आकृष्ट होकर हरिण, शूकर, वानर, हाथी, शरभ, सिंह आदि वनचर पशुगण निश्चल कर्णपुटसे मण्डल बाँधकर उसके गानके साथ-साथ वीणाकी ध्वनि सुनते थे, इससे प्रतीत होता था कि मानो वे भी ध्यानका अभ्यास कर रहे हैं। और वह कन्या आकाशमेंसे उतरी मन्दाकिनीके समान देखनेमें आती थी; यज्ञमें दीक्षित व्यक्ति जिसप्रकार प्राकृतभाषा नहीं

---

१. हारलेखयेव। २. रागरक्तः… । ३. …पूर्णितमन्द्र… । ४. उन्मत्तयानेक… । ५. उपवर्णयन्तीम्।

त्रिपुरारिशिरशलाकामिव तेजोमयीम्[1], पीतामृतामिव विगततृष्णाम्, ईशानशिरःशशिकलामिवानुपजातरागाम्, अमथितोदधिजलसम्पदमिवान्तःप्रसन्नाम्[2], असमस्तपदवृत्तिमिवाद्वन्द्वाम्; बौद्धबुद्धिमिव निरालम्बनाम्, वैदेहीमिव प्राप्तज्योतिःप्रवेशाम्, द्यूतकलाकुशलामिव वशी-

प्राकृतादिभाषातिरिक्तां संस्कृतात्मिकामित्यर्थः। तथा चात्र 'नापभाषितवै न म्लेच्छितवै, म्लेच्छो ह्येष यदपशब्द' इत्यादिशास्त्रेण दीक्षितस्यापभ्रंशभाषाव्यवहारनिषेधादित्याशयः।

त्रिपुरेति। त्रिपुरारेर्महादेवस्य शरशलाकां त्रिपुरासुरहननसमये नारायणरूपां बाणशलाकामिव तेजोमयीं तेजोबहुलाम्।

पीतेति। पीतमास्वादितम् अमृतं पीयूषं यया तां स्त्रियमिव, विगता नष्टा तृष्णा विषयलोभः सलिलपानेच्छा च यस्यास्ताम्।

ईशानेति। ईशानस्य महेश्वरस्य शिरसः उत्तमाङ्गस्य शशिकलां चन्द्रकलामिव, अनुपजातः अनुत्पन्नः रागः कामानुरागो लौहित्यं च यस्यास्ताम्। तच्चन्द्रकलायाः प्रतिदिनमुदयास्तमनयोरभावादेव रक्तिमा नोत्पद्यत इत्यवधेयम्।

अमथितेति। अमथितस्य अविलोडितस्य उदधेः सागरस्य जलसम्पदमिव सलिलसम्पत्तिमिव, अन्तःप्रसन्नां हृदये शुद्धां कामादिविकारशून्यहृदयामित्यर्थः, अन्यत्र तु अभ्यन्तराकलुषिताम्, मन्थने सति तस्मिन्नाविलता सम्पद्यत इत्याशयः।

असमस्तेति। असमस्तानि समासवर्जितानि यानि पदानि सुबन्तरूपाणि तेषां वृत्तिमवस्थितिमिव, अद्वन्द्वां शीतोष्णसुख-दुःखादिद्वन्द्वानुभववर्जितामित्यर्थः, अन्यत्र तु द्वन्द्वसंज्ञकसमासवर्जितां युगलसंयुक्तवर्जितां वा।

बौद्धेति। बौद्धानां माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकसाम्प्रदायिकानामित्यर्थः, बुद्धिं ज्ञानमिव, निरालम्बनां सर्वत्रैवासक्तिवर्जिताम्, अन्यत्र तु निराश्रयाम्। माध्यमिकादयश्चत्वारो बौद्धाः तेषु योगाचारः विज्ञानातिरिक्तं पदार्थं न मन्यते, प्रतिपादयति च तत्तज्ज्ञानमेव घटादिरूपेण भासते, भेदस्तु भ्रान्तिवशादेवेति। तथा चोक्तं तैः—

'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
अन्यच्चेत् संविदो नीलं न तद्भासेत संविदि॥
भासते चेत् कुतः सर्वं न भासेतैकसंविदि।
नियामकं न संबन्धं पश्यामो नीलतद्धियोः॥' इत्यादि।

वैदेहीति। वैदेहीं मैथिलीमिव, प्राप्त आसादितो ज्योतिषि परमात्मनि प्रवेशो ध्यानगोचरता यया ताम् अन्यत्र तु प्राप्तो ज्योतिषि सतीत्वनिर्णयार्थं प्रदीप्ताग्नौ प्रवेशो यया ताम्।

द्यूतेति। द्यूतकलायां दुरोदरक्रीडायां कुशलां दक्षां स्त्रियमिव, वशीकृतानि स्वायत्तीकृतानि अक्षाणि इन्द्रियाणि हृदयं मनश्च यया ताम्, अन्यत्र तु वशीकृतम् अक्षहृदयं दुरोदरविद्यामर्म यया ताम्।

बोलते हैं, वह कन्या भी उसीप्रकार प्राकृत मनुष्य (अदिव्य) नहीं थी, त्रिपुरासुरवधके समयमें शङ्कर के बाणशलाकाके समान वह भी तेजोमयी थी; अमृत-पान करनेवालीको जिसप्रकार पिपासा नहीं रहती है, उसको भी उसीप्रकार विषय-लालसा नहीं थी; शङ्करके मस्तकस्थित चन्द्रकलामें जिसप्रकार राग (रक्तिमा) उत्पन्न नहीं होती है, उसमें भी उसीप्रकार राग (काम आदिका अनुराग) उत्पन्न नहीं हुआ था; अमथित समुद्रजलके अन्दर निर्मलता रहती है, उसके अन्तःकरणमें भी उसीप्रकार मन्मथ-विकार न होनेसे निर्मलता (प्रसन्नता) विद्यमान थी; समास-विहीन पदसमूहका जिसप्रकार परस्पर मिलन नहीं रहता है, उसमें भी उसीप्रकार शीतोष्णादिद्वन्द्व दुःख नहीं थे; बौद्धों (माध्यमिक-योगाचारादि साम्प्रदायिकों) के मतमें ज्ञानका जिसप्रकार विषय नहीं है (अर्थात् विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थ वे नहीं मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान ही घटादिरूपसे भासित होता है भेद-प्रतीति भ्रान्ति है) उसीप्रकार उसमें भी आसक्ति नहीं थी; जानकीजीने जिसप्रकार अग्निमें प्रवेश किया था, उसने भी उसीप्रकार परब्रह्ममें प्रवेश किया था; द्यूतक्रीडामें निपुण स्त्रियाँ जिसप्रकार पाशकविद्या-रहस्यको स्वाधीन

१. तपोमयीम्। २. …दधिसम्पदम्।

कृताक्षहृदयाम्, महीमिव जलभृतदेहाम्, हिमसमयदिवस[1]-मुखलक्ष्मीमिव परिगृहीत[2]-भास्करातपाम्, आर्य्यामिव समुपात्त[3]-यतिगणोचितमात्राम्, आलिखितामिवाचलावस्थानाम्, अंशुमयीमिव तच्छायानुलिप्तभूतलाम्, निर्म्ममाम्[4], निरहङ्काराम्, निर्म्मत्सराम्, अमानुषाकृतिम्, दिव्यत्वादपरिज्ञायमान-वयः-परिमाणाम्[5] अप्यष्टादशवर्षदेशीयामिवोपलक्ष्यमाणाम्, प्रतिपन्नपाशुपतव्रतां[6] कन्यकां ददर्श।

ततोऽवतीर्य्य तरुशाखायां बद्ध्वा तुरङ्गम्[7] उपसृत्य भगवते भक्त्या[8] प्रणम्य त्रिलोच-

महीमिति। महीं भूमिमिव, जलेन केवलसलिलपानेन धृतः भृतः देहः शरीरं यया ताम्, पक्षे तु जलेन भृतो वेष्टितो देहो यस्यास्ताम्।

हिमेति। हिमसमयो माघफाल्गुनात्मकतुहिनपतनकालः तस्य दिवसमुखलक्ष्मीमिव प्रभातश्रियमिव, परिगृहीतः पञ्चाग्निसाधनात् देहेऽङ्गीकृतः भास्करातपः सूर्यालोको यया ताम्, पक्षे—परिगृहीतः हिमैर्निरुद्धः भास्करातपो यया ताम्।

आर्यामिति। आर्या स्वनाम्ना प्रख्यातं छन्दोविशेष इव, समुपात्ता स्वीकृता यतिगणस्य वश्येन्द्रियपुरुषवर्गस्य तपस्विगणस्येत्यर्थः, उचिता योग्या मात्रा दण्डकमण्डल्वादिसामग्री यया ताम्, पक्षे—समुपात्ता स्वीकृता यतिर्जिह्वाविश्रामस्थानम्, गणा मगणनगणभगणप्रभृतयः, उचिता योग्या तत्तत्स्वरूपप्रतिपादिता मात्रा उच्चारणसमयश्च यया ताम्। आर्यालक्षणन्तु श्रुतबोधे—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्या॥'

आलीति। आलिखितां चित्रितामिव, अचले शैले अवस्थानं स्थितिः यस्यास्ताम्, पक्षे—अचलं निश्चलम् अवस्थानं यस्यास्ताम्।

अंश्विति। अंशुमयीं तेजोमयीं देवीमिव, तनुच्छायया शरीरस्य प्रतिबिम्बेन दीप्त्या च अनुलिप्तम् आच्छादितं भूतलं पृथिवीतलं यया ताम्।

इह 'दीक्षितवाचमिव' इत्यारभ्य 'अंशुमयीमिव' इत्यन्तं सर्वत्र पूर्णोपमालङ्कारः।

निर्ममामिति। ममत्वार्थे 'मम' पदमिदमव्ययः, निर्ममां ममत्ववर्जिताम्, निरहङ्कारां निरभिमानाम्, निर्मत्सराम् अन्यशुभद्वेषरहिताम्, अमानुषाकृतिं दिव्यस्वरूपाम्, दिव्यत्वात् गन्धर्वपुत्रीत्वेन निर्जरामित्यर्थः, अपरिज्ञायमानं मनुष्यवत्स्वरूपावलोकनमात्रेणानिश्चीयमानं वयसः अवस्थायाः परिमाणं मानं यस्यास्तामपि, अष्टादशवर्षदेशीयामिव अष्टादशवयस ईषन्न्यूनवर्षीयामिव, 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इति पा० सूत्रेण 'अष्टादशवर्ष' शब्दाद्देशीयरप्रत्ययः। प्रतिपन्नं गृहीतं पशुपतिः महेशो देवता अस्येति पाशुपतं व्रतं महेशार्चनारूपो नियमो यया ताम्।

तत इति। ततः कन्यकादर्शनानन्तरम् अवतीर्य अश्वादवतरणं विधाय तरुशाखायां वृक्षशाखायां तुरङ्गमम् इन्द्रायुधमश्वं बद्ध्वा बन्धनं कृत्वा उपसृत्य समीपमेत्य भक्त्या श्रद्धया भगवते ऐश्वर्यशालिने

करके रहती हैं, उसने भी उसीप्रकार इन्द्रियसमूह और चित्तको वशमें कर रखा था, पृथिवी जिसप्रकार जलसे परिवेष्टित शरीरवाली है, वह भी उसीप्रकार केवल जल-पानसे शरीर-धारण की थी; शीतकालके प्रभातकालकी शोभा जिसप्रकार हिमद्वारा सूर्यके आलोकको आच्छादित करती है ( जाड़ेके दिनोंमें प्रातःकाल हिमावृत होनेसे धूप नहीं दीखती है ), उसने भी उसीप्रकार पञ्चाग्निसाधनसे शरीरमें सूर्यालोकको धारण किया था; आर्याच्छन्दमें जिसप्रकार यति ( विश्राम ) और गण उपयुक्त मात्राके अनुसार होते हैं, उसके भी उसी प्रकार मुनिगण के उपयुक्त दण्ड और कमण्डलु-प्रभृति उपकरण थे; चित्रित प्रतिमूर्त्ति जिसप्रकार निश्चल-भावसे स्थित रहती है, वह भी उसीप्रकार पर्वतपर स्थित रहती थी; तेजोमयी देवी जिसप्रकार शरीरकी कान्तिद्वारा भूतलको लिप्त ( रंग ) करती है, वह भी उसीप्रकार शरीरके प्रतिबिम्बद्वारा भूतलको लिप्त करती थी; वह ममत्व, अहङ्कार और मत्सर ( अन्यशुभद्वेष ) रहित थी; उसका आकार अलौकिक था और दिव्य स्वरूपके कारण उसके वयका अनुमान यथार्थरूपमें नहीं हो सकता था तो भी वह मानो अठारह वर्षसे कुछ न्यूनवयस्कवाली प्रतीत होती थी।

तदनन्तर चन्द्रापीडने घोड़ेसे उतरकर किसी वृक्षकी शाखा ( डाली ) में घोड़े को बाँध, भगवान् महादेवके

१. …दिन…। २. परिपीत…। ३. उपात्त…। ४. निर्म्मलाम्। ५. …प्रमाणाम्। ६. व्रतां च। ७. तुरगम्। ८. महाभक्त्या।

नाय[1], तामेव दिव्ययोषितमनिमिष-पक्ष्मणा[2] निश्चल-निबद्धलक्ष्येण चक्षुषा पुनर्निरूपयामास। उदपादि चास्य तस्या रूपसम्पदा कान्त्या प्रशान्त्या चाविर्भूतविस्मयस्य मनसि[3]-'अहो ! जगति जन्तूनामसमर्थितोपनतान्यापतन्ति वृत्तान्तराणि । तथाहि, मया मृगयायां यदृच्छया निरर्थकमनुबध्नता तुरङ्गमुखं-मिथुनम्[4], अयमतिमनोहरो मानवानामगम्यो दिव्यजनसञ्चरणोचितः प्रदेशो वीक्षितः[5] । अत्र च सलिलमन्वेषमाणेन हृदयहारि सिद्धजनोपस्पृष्टजलं[6] सरो दृष्टम् । तत्तीरलेखाविश्रान्तेन चामानुषं गीतमाकर्णितम् । तच्चानुसरता मानुषदुर्लभदर्शना दिव्यकन्यकेयमालोकिता । नहि मे संशीतिरस्या दिव्यतां प्रति, आकृतिरेवानुमापयत्यमानुषताम्, कुतश्च मर्त्यलोके सम्भूतिरेवंविधानां गन्धर्व-ध्वनिविशेषाणाम्[7] । 'तद् यदि मे सहसा दर्शन-

---

त्रिलोचनाय महेशाय प्रणम्य नमस्कृत्य, तामेव पूर्वव्यावर्णितस्वरूपामेव दिव्ययोषितं स्वर्गीयस्त्रियम्, अनिमिषपक्ष्मणा निस्पन्दलोम्ना निश्चलं स्थिरं यथा स्यात्तथा निबद्धं विहितं लक्ष्यं दृष्टिर्येन तेन चक्षुषा लोचनेन पुनर्मण्डपिकाप्रवेशानन्तरं निरूपयामास साकल्येन ददर्शेत्यर्थः ।

उदपादीति । किञ्चेति चार्थः । रूपसम्पदा सौन्दर्याधिक्येन, कान्त्या शरीरदीप्त्या, प्रशान्त्या प्रशमेन च करणेन, आविर्भूतः प्रकटीभूतः विस्मय आश्चर्यं यस्य तस्य, अस्य चन्द्रापीडस्य मनसि चित्ते उदपादि इयं वृत्तिः सञ्जाता ।

ननु सा वृत्तिः केत्यत आह—'अहो' इति । जगति संसारे जन्तूनां जीवानाम्, वृत्तान्तान्तराणि व्यापारविशेषाः असमर्थतोपनतानि अतर्कितप्राप्तानि सन्ति आपतन्ति चित्ते आयान्ति अनुभवविषयीभवन्तीत्यर्थः ।

प्रतिपादितविषयं समर्थयति—तथाहीत्यादिना । मया चन्द्रापीडेन मृगयायाम् आखेटकवृत्तौ यदृच्छया स्वेच्छया अनुबध्नता अनुगच्छता तुरङ्गमुखमिथुनं किन्नरयुग्मम्, अतिमनोहरः अतिसुन्दरः मानवानां मनुष्याणाम् अगम्यः अगोचरः दिव्यजनानां विद्याधरादीनां सञ्चरणं विचरणं तत्रोचितो योग्यः अयं पुरोऽवलोक्यमानः प्रदेशो भूभागो वीक्षितः अवलोकितः ।

अत्रेति । अत्र अस्मिन् प्रदेशे सलिलं जलम् अन्वेषमाणेन मृगयता मया हृदयहारि मनोहरम्. सिद्धजनैः देवयोनिविशेषैः उपस्पृष्टं सेवितं जलं यस्य तत्, सरः अच्छोदसरोवरः दृष्टम् अवलोकितम् । तस्य सरसः तीरलेखायां तटपङ्क्त्यां विश्रान्तेन कृतविश्रामेण मयेत्यन्वयः, अमानुषं दिव्यं गीतं गानम् आकर्णितं श्रुतम् । तद् गीतम् अनुसरता अनुव्रजता मानुषाणां मानवानां दुर्लभदर्शना दुष्प्रापावलोकना इयं दृश्यमाना दिव्यकन्यका स्वर्गीयपुत्री आलोकिता वीक्षिता ।

ननु दिव्यकन्यकेयमिति कथं निर्णीयत इत्यत आह—नहीति । अस्या अवलोक्यमानायाः कन्यकाया दिव्यतां प्रति स्वर्गीयताविषये मे मम नहि संशीतिः नास्ति सन्देहः, आकृतिः आकार एव अमानुषतां देवरूपताम् अनुमापयति अनुमितिं जनयति, न खलु मानुषीणामेवमाकारो भवतीत्याशयः । कारणान्तरमाह—कुत इति । एवंविधानाम् एतादृशानां गन्धर्वाणां देवगायकानां ध्वनेर्नादस्य विशेषाणां

---

निकट जाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और उस दिव्य तरुणीको टकटकी बाँधकर निश्चल दृष्टिसे वह पुनः देखने लगा । उसका शारीरिक अलौकिक सौन्दर्य, कान्ति और शान्तिसे चन्द्रापीडको विस्मय उत्पन्न हुआ एवं मनसे वह विचारने लगा—अहो ! संसारमें प्राणियोंके समक्ष विशेष घटना अतर्कित रूपसे ( बिना विचारे ) ही उपस्थित हो जाती है, क्योंकि—मैंने अपनी इच्छाके अनुसार मृगया ( शिकार ) में आया, निरर्थक किन्नर-मिथुनका अनुसरण किया और यह अत्यन्त मनोहर, मनुष्योंके पहुँचनेसे बाहर, दिव्य-पुरुषोंके भ्रमण करने योग्य प्रदेश देखा । फिर यहाँ जलका अन्वेषण करते-करते सिद्धपुरुष जिसके जलका उपयोग करते हैं ऐसा मनोहर सरोवर देखा । उसके तीर पर विश्राम करते-करते दिव्य गान सुना और उसका अनुसरण करनेसे मनुष्योंको दुर्लभ दर्शनवाली इस दिव्य कन्याको देखा । इसकी दिव्यताके विषयमें मुझे थोड़ा भी किसीप्रकारका संशय नहीं है, क्योंकि—इसकी आकृति ही दिव्यता प्रकट करती है । विशेषतः मर्त्यलोकमें इस प्रकार गन्धर्वगीत-ध्वनिका सम्भव कैसे हो सकता है ? अत एव यदि यह सहसा ही मेरे दृष्टिपथसे अन्तर्धान न हो जाय,

---

१. पार्वतीपतये । २. अनिमेष··· । ३. विस्मयमनसि, मनसि वितर्कः । ४. तुरगमुख··· । ५. वीक्षितः क्षितेः । ६. ···उपसृष्टजलं । ७. विधानां गान्धर्वध्वनिविशेषाणां च ।

पथान्नापयाति, नारोहति वा कैलासशिखरम् , नोत्पतति वा गगनतलम् , ततः 'का त्वम् , किमभिधाना वा, किमर्थं वा प्रथमे वयसि प्रतिपन्ना व्रतम्[1]' इति सर्वमेवैतत्[2] एनामुपसृत्य पृच्छामि, अतिमहानयमवकाश आश्चर्य्याणाम्' इत्यवधार्य्य तस्यामेव स्फटिकमण्डपिकाया-मन्यतमं स्तम्भमाश्रित्य समुपविष्टो गीत[3]समाप्त्यवसरं प्रतीक्षमाणस्तस्थौ ।

अथ गीतावसाने मूकीभूतवीणा प्रशान्तमधुकररुतेव कुमुदिनी सा कन्यका समुत्थाय प्रदक्षिणीकृत्य कृतहरप्रणामा परिवृत्य स्वभावधवलया तपःप्रभावप्रगल्भया दृष्ट्या समाश्वा-सयन्तीव, पुण्यैरिव स्पृशन्ती, तीर्थजलैरिव प्रक्षालयन्ती, तपोभिरिव पावयन्ती, शुद्धिमिव कुर्वाणा, वरदानम्[4] इवोपपादयन्ती, पवित्रतामिव[5] नयन्ती, चन्द्रापीडमाबभाषे-'स्वागतमतिथये,

---

मन्द्रमध्यताराणां मर्त्यलोके मनुष्यभूमौ कुतः कस्मात् सम्भूतिरुत्पत्तिः, अत एवास्या दिव्यतां प्रति नहि संशीतिरित्याशयः। सम् पूर्वकात् स्वप्नार्थक 'शीङ्' धातोः स्त्रियां क्तिनि सति संशीतिरिति ।

तदिति । तत्तस्मात्कारणात् यदि यावत् मे मम सहसा अकस्मात् दर्शनपथाद् विलोकनमार्गात् नापयाति नापसरति, वा अथवा कैलासशिखरं रजताद्रिशृङ्गं नारोहति नारोहणं विधत्ते, गगनतलम् आकाशतलं वा नोत्पतति नोद्व्रजति ततस्तावत् , 'का त्वम्? किमभिधाना किं नाम्नी किमर्थं किं प्रयोजनं प्रथमे वयसि बाल्यावस्थायां पाशुपतं महेशसम्बन्धिनं व्रतं नियमं प्रतिपन्ना आरब्धवती' इत्येतत्सर्व-मेव एनां कन्यकाम् उपसृत्य समीपमेत्य पृच्छामि प्रश्नं करोमि, आश्चर्याणाम् आकर्णनेन विस्मयानु-भवानाम्, अतिमहान् अतिबृहत् अयम् अवकाशः समयः। इति पूर्वोक्तम् अवधार्य निश्चित्य तस्यां पूर्वोक्तायामेव स्फटिकमण्डपिकायाम् अन्यतमम् एकतमं स्तम्भं स्थूणाम् आश्रित्य अवलम्ब्य समुपविष्टः समासीनः गीतसमाप्त्यवसरं गानसमाप्तिसमयं प्रतीक्षमाणः प्रतीक्षां कुर्वाणः तस्थौ स्थितवान् ।

अथेति । गीतावसाने गानसमाप्तौ मूकीभूता निःशब्दा जाता वीणा वल्लकी यस्याः सा, अत एव प्रशान्तं शान्तिमुपगतं मधुकररुतं भ्रमरशब्दो यस्यां सा, कुमुदिनी कैरविणीव स्थिता सा कन्यका, समु-त्थाय उत्थानं विधाय प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणां विधाय शिवलिङ्गमिति शेषः। कृतः विहितः हराय महेशाय प्रणामः नमस्कारः यया सा, परिवृत्य परावर्त्तनं विधाय स्वभावधवलया प्राकृतिकश्वेतया, तपःप्रभावेण तपोमाहात्म्येन प्रगल्भा धृष्टा आशयनिर्णयदक्षेत्यर्थः, तया दृष्ट्या लोचनेन समाश्वासयन्तीव सान्त्वनां विदधतीव अभयं प्रयच्छतीवेत्यर्थः, पुण्यैः सुकृतैः स्पृशन्तीव स्पर्शं कुर्वन्तीव, तीर्थजलैः प्रयागादितीर्थ-सलिलैः प्रक्षालयन्तीव धौतं विदधतीव, तपोभिः तपस्याभिः पावयन्तीव पूततां कुर्वन्तीव, शुद्धिं पाप-क्षयं कुर्वाणेव विदधतीव, वरप्रदानं मनोरथदानम् उपपादयन्तीव सम्पादयन्तीव, पवित्रतां पूततां नय-न्तीव प्रापयन्तीव, चन्द्रापीडम् आबभाषे आभाषितवती ।

इह 'कुमुदिनीव' इत्यत्रोपमालङ्कारः। 'समाश्वासयन्तीव' इत्यारभ्य 'नयन्तीव' इत्येतेषु सप्तसु क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानतया संसृष्टिः।

स्वागतमिति। अतिथये अभ्यागताय स्वागतं शुभागमनम्, महान् भागो भाग्यं यस्य सः। यद्वा—

---

किंवा कैलास-पर्वतके शिखर पर चढ़ न जाय, अथवा आकाशमें उड़ न जाय, तो मैं—'तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? और क्यों तुमने इस नवीन अवस्था ( युवावस्था ) में तपस्या आरम्भ किया है? इस रूपसे ये सब विषय इसके समीपमें जाकर इससे पूछ लूँगा, क्योंकि यहाँ आश्चर्योंके लिए अत्यन्त उपयुक्त अवसर है'। चन्द्रापीड इस प्रकार मन ही मन निश्चय कर उसी स्फटिक-मण्डपके अभ्यन्तरमें किसी एक स्तम्भके सहारेसे बैठकर गान-समाप्तिका अवसर प्रतीक्षा करने लगा।

उसके बाद गान समाप्त होने पर वीणाका शब्द बन्द हो गया, उस समय बन्द हुए मधुकरोंके मधुर-गुंजारवाली कुमुदिनीके समान वह शोभायमान हुई। बाद उस कन्या ने उठकर, प्रदक्षिणा कर महादेवको प्रणाम किया। पश्चात् पुनः स्वभावसे ही श्वेतवर्ण एवं तपस्याके प्रभावसे सर्वविषय-निर्णय-निपुण-दृष्टिद्वारा चन्द्रापीडको मानो आश्वस्त करती हो, पुण्यद्वारा ही मानो स्पर्श करती हो, तीर्थजलोंसे ही मानो स्नान करती हो, तपस्यासे ही

---

१. पाशुपतव्रतम् । २. सर्वमेतत् । ३. परिसमाप्ति । ४. वरप्रदानम् , वरप्रदानमेव । ५. पवित्रिताम् ।

कथमिमां भूमिमनुप्राप्तो महाभाग[1], तदुत्तिष्ठ, आगम्यताम्[2], अनुभूयतामतिथिसत्कारः' इति[3]। एवमुक्तस्तु तया सम्भाषण[4]-मात्रेणैवानुगृहीतमात्मानं मन्यमान उत्थाय[5] भक्त्या कृतप्रणामो 'भगवति ! यथाज्ञापयसि' इत्यभिधाय दर्शितविनयः शिष्य इव तां व्रजन्तीमनुवव्राज।

व्रजंश्च समर्थयामास-'हन्त ! तावन्नेयं मां दृष्ट्वा तिरोभूता[6]। कृतं हि मे कुतूहलेन प्रश्नाशया हृदि पदम्, यथा चेयमस्यास्तपस्विजनदुर्लभदिव्यरूपाया अपि दाक्षिण्यातिशयाँ[7] प्रतिपत्तिरभिजाता विभाव्यते, तथा सम्भावयामि नियतमियमखिलमात्मोदन्तम्[8] अभ्यर्थ्यमाना कथयिष्यतीति। एवञ्च कृतमतिः पदशतमात्रमिव गत्वा, निरन्तरैर्दिवापि रजनीस-

---

'जन्मप्रभृतिचारभ्य कलङ्को यस्य नो भवेत्। स्याच्चैवानुपमा कीर्त्तिर्महाभागः स उच्यते॥

इत्युक्तलक्षणयुक्तो भवान्, इमाम् एतत्पर्यन्तां भूमिं स्थानं कथं केन प्रकारेण अनुप्राप्तः तत्तस्माद्धेतोः उत्तिष्ठ उत्थानं विधेहि, आगम्यतां मत्पार्श्वे इति शेषः, अतिथिसत्कारः आतिथ्यम् अनुभूयतां प्रत्यक्षीक्रियताम्। इति समाप्तौ। 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरः।

एवमिति। एवं पूर्वप्रतिपादितक्रमेण तया कन्यकया उक्तोऽभिहितस्तु चन्द्रापीड इत्यन्वयः, सम्भाषणमात्रेणैव केवलसंलापेनैव अनुगृहीतं प्रसादपात्रीकृतम् आत्मानं स्वं मन्यमानः अवबुध्यमानः उत्थाय तस्मात्प्रदेशादुत्थानं विधाय भक्त्या श्रद्धया कृतप्रणामः विहितनमस्कारः 'भगवति तपस्विनि! यथाऽऽज्ञापयसि येन प्रकारेणादेशं करोषि तत्तथा' इत्यभिधाय इत्युक्त्वा शिष्यश्छात्र इव दर्शितविनयः प्रकाशितनम्रः सन्, व्रजन्तीं गच्छन्तीं तां कन्यकाम् अनुवव्राज पश्चाज्जगाम। पूर्णोपमा।

व्रजन्निति। किञ्चेति चार्थः। व्रजन् तां कन्यकां पश्चाद्गच्छन् चन्द्रापीडः समर्थयामास हृदये निर्धारयामास। किं समर्थयामासेति जिज्ञासायामाह-हन्तेति। हन्त हर्षे 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। तावत् इयं कन्या मां दृष्ट्वा निरीक्ष्य न तिरोभूता नादृश्यतां गता। हि तस्मादेव मे मम हृदि चित्ते कुतूहलेन कौतुकेन प्रश्नाशया पूर्वप्रतिपादितरूपपृच्छाभिलाषया पदं स्थानं कृतं विहितम्। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः।

तपस्विजनानां मुनिजनानां दुर्लभं दुष्प्रापं दिव्यं मनोहरं रूपं सौन्दर्यं यस्याः तस्याः अपि, अस्याः प्रत्यक्षगतायाः कन्यकायाः यथा येन प्रकारेण इयम्, दाक्षिण्यस्य औदार्यस्य अतिशय आधिक्यं यस्यां सा तथोक्ता, प्रतिपत्तिः 'स्वागतमतिथये' इत्याद्याचारः, अभिजाता उत्पन्ना विभाव्यते लक्ष्यते। तथा तेन प्रकारेण अभ्यर्थ्यमाना मयाऽभिधातुमनुरुध्यमाना सती, नियतं नूनम् अखिलं समग्रम् आत्मोदन्तं स्वीयसमाचारं कथयिष्यति प्रतिपादयिष्यति इति, एवं सम्भावयामि तर्कयामि।

एवमिति। किञ्चेति चार्थः। एवम् उक्तप्रकारेण कृतमतिः कृतनिश्चयश्चन्द्रापीडः, पदशतमात्रमिव

---

मानो पवित्र करती हो, पापनाश करती हो, वरदान देती हो और पवित्रता उत्पन्न करती हो, इस प्रकार चन्द्रापीडसे कहने लगी—'अभ्यागत ! मैं आपका स्वागत करती हूँ, महाभाग्यशाली ! आप इस भूमिमें कैसे आये !, अतएव उठिये, आइये, मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिये। इस प्रकार उसके वचन सुनकर केवल संभाषणसे ही अपनेको अनुगृहीत मानकर चन्द्रापीड उठा और भक्ति-पूर्वक उसे प्रणाम कर 'देवि ! आप जिस प्रकार आदेश देती हैं वैसा ही करूँगा' इस प्रकार उत्तर देकर उसके आगे चलने पर शिष्यके समान वह भी विनय-प्रदर्शन-पूर्वक उसके पीछे-पीछे चला।

चन्द्रापीडने जाते-जाते मनमें इस प्रकार निश्चय किया—'हर्षका विषय है कि यह मुझे देखकर अन्तर्हित नहीं हुई, अतएव इस समय मेरे चित्तमें कुतूहल सहित प्रश्न करनेकी आशा ने प्रतिष्ठा प्राप्त की (स्थिर हुई)। इसका यह दिव्यरूप, तपस्वियोंको दुर्लभ है, तथापि मेरे प्रति इसका जब इस प्रकार अत्यन्त-औदार्य-सम्पन्न व्यवहार उत्पन्न हुआ है, तब मेरा ऐसा विचार है कि—मैं इसे कहनेके लिए प्रार्थना करूँगा तो निश्चय ही यह अपना सब वृत्तान्त कह देगी'। इस प्रकार विचारते-विचारते लगभग सौ कदम चलने पर ही उसने एक गुफा

---

१. महाभाग !। २. अनुगम्यताम्। ३. क्वचित् 'इति' इति पदं न विद्यते। ४. सम्भाषित…। ५. समुत्थाय। ६. अद्भुताकृतिस्तिरोभूता। ७. अतिशय। ८. इयमात्मोदन्तम्।

मयमिव दर्शयद्भिस्तमालतरुभिरन्धकारितपुरोभागाम्, उत्फुल्लकुसुमेषु लतानिकुञ्जेषु कूजतां मन्दं मन्दं मदमत्त-मधुलिहां विरुतिभिर्मुखरीकृतपर्य्यन्ताम्, अतिदूरपातिनीनाञ्च धवल-शिलातल-प्रतिघातोत्पतनफेनिलानामपां प्रस्रवणैरुत्कोटि-ग्राव-विटङ्क-विपाट्यमानैरुच्चरद्ध्वनिभिरवशीर्य्यमाण-तुषार-शिशिर-शीकरासारैराबध्यमाननीहाराम्, हिम-हार-हर-हास-धवलैश्चोभयतः क्षरद्भिर्निर्झरैर्द्वारावलम्बित-चलच्चामर-कलापामिवोपलक्ष्यमाणाम्, अन्तःस्थापित-मणि-कमण्डलु-मण्डलाम्, एकान्तावलम्बित-योग-पट्टिकाम्, विशाखिका-शिखर-निबद्ध-ना-

किञ्चिदध्वानमतिक्रम्येव गत्वा व्रजित्वा 'गुहामद्राक्षीत्' इत्यग्रिमक्रियया सम्बन्धः। इह स्त्रीलिङ्गे द्वितीयैकवचनान्तानि पदानि 'गुहाम्' इत्यग्रेतनस्य विशेषणानि। निरन्तरैः सान्द्रैः अत एव दिवाऽपि दिनेऽपि रजनीसमयं रात्रिकालं दर्शयद्भिरवलोकयद्भिरिव विद्यमानैः, तमालतरुभिः तापिच्छवृक्षैः करणैः, अन्धकारितः समुत्पादितान्धकारः पुरोभागः संमुखदेशो यस्यास्ताम्। इह 'दर्शयद्भिरिव' इति क्रियोत्प्रेक्षा।

उत्फुल्लेति। उत्फुल्लानि प्रस्फुटितानि कुसुमानि पुष्पाणि येषु तेषु, लतानिकुञ्जेषु वल्लीकुञ्जेषु मन्दं मन्दं शनैः शनैः कूजतां शब्दं कुर्वतां मदमत्तमधुलिहां मधुमत्तभ्रमराणां विरुतिभिः झङ्कारैः मुखरीकृतः वाचालीकृतः पर्यन्तः प्रान्तदेशो यस्यास्ताम्।

अतिदूरेति। किञ्चेति चार्थः। अतिदूरात् दविष्ठात् पतितुं शीलं यासां तासाम्, धवलेषु विशदेषु शिलातलेषु पाषाणतलेषु प्रतिघातेन प्रतिस्खलनेन यत् उत्पतनम् ऊर्ध्वगमनं तेन फेनिलानां फेनवतीनाम् अपां जलानाम्, उत्कोटयः उन्नताग्रा ये ग्रावाणः प्रस्तराः तेषां विटङ्कैः ऊर्ध्वप्रदेशैः विपाट्यमानानि विदार्यमाणानि तैः, उच्चरन्तः स्खलनप्रतिस्खलनैर्जायमाना ध्वनयः शब्दा येषु तैः, तथा अवशीर्यमाणाः प्रस्तरेषु पतनात् जर्जरीभवन्तः तुषारवत् तुहिनवत् शिशिराः शीतलाः शीकरासाराः सलिलकणधारा येषां तैः प्रस्रवणैः गिरिनिर्झरैः, आबध्यमानाः सञ्जायमाना नीहाराः सलिलकणा यस्यां ताम्।

इह स्वभावोक्तिः, तुषारशिशिरपदयोः तुल्यार्थकतया श्रवणमात्रेण पौनरुक्त्यप्रतीतेरनन्तरञ्च तुषारवत् शिशिरा इति भेदप्रतीत्या पुनरुक्तवदाभासश्च, अनयोर्द्वयोर्मिथोऽङ्गाङ्गिभावसङ्करः। अपुष्टार्थत्वदोषनिराकरणाय धवलपदपरित्याग एव समुचित इत्यवधेयम्।

हिमेति। किञ्चेति चार्थः हिमं तुहिनं हारो मुक्तामाला हरहासो महेशहास्यं तद्वत् धवलाः श्वेताः तैः, उभयतो द्वारपार्श्वयुगले क्षरद्भिः स्रवद्भिः निर्झरैः प्रस्रवणैः हेतुभिः, द्वारे प्रतीहारे अवलम्बितः सन् चलन् प्रोच्छलन् चामराणां वालव्यजनानां कलापः समूहो यस्यास्तामिव उपलक्ष्यमाणां वीक्ष्यमाणाम्। 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः। इह चलच्चामरसमूहोत्प्रेक्षणाज्जात्युत्प्रेक्षा।

अन्तरिति। अन्तरभ्यन्तरे स्थापितं न्यस्तं मणिमयकमण्डलूनां मणिनिर्मितकुण्डिकानां मण्डलं समूहो यस्यास्ताम्।

एकान्तेति। एकान्ते एकभागे अवलम्बिता स्थापिता योगपट्टिका योगसाधनसमयपरिधानाय क्षुद्रक्षौमवसनं यस्यास्ताम्।

विशाखिकेति। विशाखिकायाः शिक्यायाः शिखरे ऊर्ध्वभागे निबद्धं संयतं नारिकेलीफलस्य लाङ्गली-

देखी। उसके सम्मुख भागमें लगातार लगे हुए होनेके कारण दिनमें भी मानो रात्रि प्रकट करते तमाल वृक्षोंने अन्धकार कर रक्खा था; लताकुञ्जों (बेलोंकी कुञ्जों) में नानाविध फूल खिले हुए थे, उनमें मन्द-मन्द गुञ्जार करते हुए मदमत्त मधुकरोंके झङ्कारसे उस गुहाका प्रान्तभाग मुखरित हो रहा था; श्वेतवर्ण शिलाखण्ड (चट्टान) से टक्कर खाकर उछलनेसे फेनमय हुए, अत्यधिक दूरसे गिरते जलके प्रस्रवणों (झरनों) से एवं ऊँची उठी कोरवाले प्रस्तरोंकी नोकोंसे जर्जरित बहुतर शब्द करते टुकड़े-टुकड़े हुए हिमके समान शीतल कणोंकी वर्षासे नीहार (ओस) भर रही थी। उस गुहाद्वारके उभय पार्श्व (दोनों बगल) में झरे हुए हिम, मुक्ताकी माला और शङ्करके हास्यके समान धवलवर्ण झरनोंसे उसके द्वार पर मानो चञ्चल चमर लटकाये हों ऐसा प्रतीत होता था। उसके अभ्यन्तरमें कितने मणिमय कमण्डलु रक्खे थे। योगसाधन करनेके समयमें पहननेके उपयुक्त छोटे एक पट्टवस्त्र एक स्थानमें

१. रजनीमयम्। २. गुञ्जतां मन्दं, मधुमत्त…। ३. पातिनीं। ४. धारा। ५.…चारुचलच्चामर…। ६. विशाखिकानिबद्ध…।

रिकेली[1]-फल-वल्कलमय-धौतोपानद्युगलोपेताम्[2], अवशीर्णाङ्ग-भस्म-धूसर-वल्कलशयनीय-सनाथैकदेशाम्, इन्दुमण्डलेनेव टङ्कोत्कीर्णेन शङ्खमयेन भिक्षाकपालेनाधिष्ठिताम्, सन्निहित भस्मालाबुकां गुहामद्राक्षीत्।

तस्याश्च द्वारि शिलातले समुपविष्टो वल्कल-शयन-शिरोभाग-विन्यस्तवीणां ततः पर्ण-पुटेन निर्झराद् गृहीतमर्घ्यसलिलम्[3] आदाय तां कन्यकां समुपस्थिताम् 'अलमलमतियन्त्र-णया[4], कृतमतिप्रसादेन, भगवति! प्रसीद, विमुच्यतामयमत्यादरः, त्वदीयमालोकनमपि[5] सर्वपापप्रशमनमघमर्षणमिव पवित्रीकरणायालम्, आस्यताम्' इत्यब्रवीत्। अनुरुध्यमानश्च[6] तया तां सर्वामतिथिसपर्यामतिदूरावनतेन शिरसा सप्रश्रयं प्रतिजग्राह।

---

फलस्य वल्कलमयं त्वङ्निर्मितं धौतं क्षालितम् उपानद्युगलं पादुकाद्वयं तेन उपेतां युक्ताम्। 'नारिके-लस्तु लाङ्गली' इत्यमरः।

अवशीर्णेति। अवशीर्णं पार्श्वपरिवर्त्तनादौ च्युतं यत् अङ्गभस्म देहविभूतिः तेन धूसरं बकुलच्छवि यत् वल्कलशयनीयं तरुत्वङ्निर्मितशय्या तेन सनाथः संयुक्तः एकदेश एकभागो यस्यास्ताम्। 'धूमरस्तु सितः पीतलेशवान् बकुलच्छविः' इति शब्दार्णवः।

इन्द्विति। इन्दुमण्डलेनेव शशिबिम्बेनेव विद्यमानेन, टङ्केन प्रस्तरविदारणास्त्रेण उत्कीर्णं सन्तक्षय रचितं तेन, शङ्खमयेन कम्बुदलनिर्मितेन भिक्षाकपालेन भिक्षायाः पात्रेण अधिष्ठिताम् आश्रिताम्। उपमा।

सन्निहितेति। सन्निहिता समीपे स्थापिता भस्मनः विभूतिरक्षणार्था अलाबुः शून्यमध्या तुम्बी यस्यां ताम्, गुहां कन्दराम् अद्राक्षीत् दृष्टवान्।

तस्या इति। किञ्चेति चार्थः। तस्या गुहायाः द्वारि प्रतीहारदेशे शिलातले पाषाणतले समुपविष्टः समासीनश्चन्द्रापीडः तां कन्यकाम् अब्रवीदित्यन्वयः। वल्कलशयनस्य तरुत्वङ्निर्मितशय्यायाः शिरोभागे उत्तमाङ्गप्रदेशे विन्यस्ता स्थापिता वीणा वल्लकी यया ताम्, ततो वीणास्थापनानन्तरं पर्णपुटेन निर्झरात् प्रस्रवणात् आगृहीतम् आत्तम् अर्घ्यसलिलम् अर्घजलम् आदाय गृहीत्वा समुपस्थितां समागतां तां कन्यकां प्रति—अतियन्त्रणया मत्कृते अत्यन्तं क्लेशानुभवेन अलं कृतम्, अतिप्रसादेन अत्यन्तानुग्रहेण कृतम् अलम्, भगवति देवि! प्रसीद प्रसन्ना भव, अयमत्यादरः अत्याग्रहः विमुच्यतां परित्यज्यताम्, त्वदीया-लोकनमपि त्वद्दर्शनमपि सर्वपापप्रशमनं सर्वैनसां प्रशान्तिकृत्, अघमर्षणमिव पापविनाशकम् 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धा' दित्यादिसूक्तमिव पवित्रीकरणाय पावनीकरणाय अलं समर्थम्, अत आस्यताम् उपविश्य-ताम्। भवत्या दर्शनेनैव मम जन्मसाफल्यं ततः किमातिथ्येनेत्याशयः।

अन्विति। अपि च, तया कन्यकया अनुरुध्यमानः कृतानुरोधः प्रार्थ्यमानश्चन्द्रापीडः, अतिदूरावनतेन दविष्ठानमितेन, शिरसा उत्तमाङ्गेन अतिथिसपर्याम् अभ्यागतपूजां सप्रश्रयं सविनयं प्रतिजग्राह गृहीतवान्।

---

लटका था। नारिकेलफलके वल्कल (छिलके) द्वारा बने हुए दो परिष्कृत पादुकाएँ (जूते) एक शिकके ऊपर रक्खे थे। एक ओर शरीर परसे गिरकर लगी हुई भस्मसे धूसरवर्ण हुई वल्कल की शय्या बिछी थी। पाषाण-भेदक अस्त्रसे खोदे गए चन्द्रमण्डलके समान एक शङ्खमय भिक्षापात्र रक्खा था और भस्म रखनेके लिए एक अलाबूपात्र (तूँबी) उसके समीपमें ही रक्खा था।

चन्द्रापीड उस गुफाके द्वारदेशके समीप एक शिलातलके ऊपर बैठा। इधर वह कन्या वल्कलमय शय्याके सिरहानेमें वीणा रखकर पत्तोंके दानेमें उस झरनेमेंसे अर्घ्य जल लेकर उपस्थित हुई। उसे उपस्थित देख चन्द्रापीड कहने लगा—रहने दीजिए, रहने दीजिए, मेरे लिए अधिक कष्ट मत कीजिए, अत्यन्त अनुग्रह करनेका कोई प्रयोजन नहीं, देवि। आप प्रसन्न हो जाइए, इस अधिक आदरको छोड़ दीजिए, समस्त पाप विनष्ट करनेवाला आपका दर्शन ही, 'अघमर्षण' सूक्तके समान पवित्र करनेके लिए पर्याप्त है, अतएव आप बैठिये। उसके बाद उसके बहुत आग्रह करने पर चन्द्रापीडने अत्यन्त अवनत मस्तकसे समस्त अतिथि-सत्कारको प्रणय (विनय) के साथ स्वीकार किया।

---

१. ···नारिकेरी···। २. ···युगोपेताम्। ३. अर्घजलम्, आगृहीतार्घसलिलम्। ४. अलमतियन्त्रणया। ५. त्वदीयालोकनमप्यत्र खलु। ६. अनुबध्यमानश्च।

कृतातिथ्यया च तया द्वितीयशिलातलोपविष्टया क्षणमिव तूष्णीं स्थित्वा क्रमेण परिपृष्टो दिग्विजयादारभ्य किन्नरमिथुनानुसरणप्रसङ्गेनागमनमात्मनः सर्वमाचचक्षे। विदितसकलवृत्तान्ता चोत्थाय सा कन्यका भिक्षाकपालमादाय तेषामायतनतरूणां तलेषु विचचार। अचिरेण च[१] तस्याः स्वयं पतितैः फलैरपूर्यत भिक्षाभाजनम्। आगत्य च तेषां फलानामुपयोगाय नियुक्तवती चन्द्रापीडम्।

आसीच्च तस्य चेतसि-'नास्ति खल्वसाध्यं नाम तपसाम्। किमतः परमाश्चर्यम्, यदत्र[२] व्यपगतचेतना अपि[३] सचेतना इवास्यै भगवत्यै समतिसृजन्तः फलान्यात्मानुग्रहमुपपादयन्ति वनस्पतयः। चित्रमिदमालोकितमस्माभिरदृष्टपूर्वम्' इत्यधिकतरोपजातविस्मयश्चोत्थाय तमेव प्रदेशमिन्द्रायुधमानीय व्यपनीतपर्य्याणं[४] नातिदूरे संयम्य निर्झरजलनिर्वर्त्तित[५]-

कृतेति। अपि च कृतं विहितम् आतिथ्यम् अतिथिसत्कारो यया तया, द्वितीयशिलातलोपविष्टया अपरपाषाणतलासीनया तया, कन्यकया क्षणमिव क्षणकालमिव तूष्णीं मौनं स्थित्वा अवस्थाय क्रमेण परिपाट्या परिपृष्टः कृतप्रश्नश्चन्द्रापीडः दिग्विजयादारभ्य किन्नरमिथुनानुसरणप्रसङ्गेन किन्नरयुग्मानुगमनवशेन आत्मनः स्वस्य सर्वं निखिलम् आगमनम् आचचक्षे आख्यातवान्।

विदितेति। अपि चेति चार्थः। विदितो ज्ञातः सकलवृत्तान्तः समग्रोदन्तो यया सा तादृशी, सा कन्यका उत्थाय तत्स्थानादुत्थानं विधाय भिक्षाकपालं भिक्षापात्रम् आदाय गृहीत्वा तेषाम् आयतनतरूणां गुहासमीपवर्त्तिसिद्धायतनवृक्षाणां तलेषु अधःप्रदेशेषु विचचार पर्यटितवती। आगत्य तत एत्य तेषां फलानाम् उपभोगाय भक्षणाय चन्द्रापीडं नियुक्तवती प्रेरितवती।

आसीदिति। तस्य चन्द्रापीडस्य चेतसि मनसि आसीत् अभूत्। तपसां तपश्चर्याणां खलु निश्चयेन असाध्यम् अशक्यं नाम नास्ति न विद्यते। तथा च वचनम्—

'निश्चितं समवाप्नोति तपोभिः स्वमनोरथम्। तपस्यतो हि नासाध्यं किञ्चिज्जगति विद्यते॥
वृथा दौर्भाग्यमाप्नोति लोको हि सति साधने॥' इति।

नामेति कोमलामन्त्रणे। तथाप्यतः परम् एतदन्यत् किमाश्चर्यं किं चित्रम्, यद्यस्मात् कारणात् अत्र अस्मिन् प्रदेशे व्यपगता दूरीभूता चेतना चैतन्यं येषां तादृशा अपि सचेतना इव सचैतन्या इव अस्यै भगवत्यै देव्यै फलानि समतिसृजन्त्यः समर्पयन्तः वनस्पतयो वृक्षाः आत्मानुग्रहं निजसाफल्यम् उपपादयन्ति निष्पादयन्ति। एतत्खलु तपस एव फलमित्याशयः। अत एवेहार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः स च विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपो बोध्यः।

चित्रमिति। अदृष्टपूर्वम् अवीक्षितपूर्वमिदं चित्रमाश्चर्यम् आलोकितं वीक्षितम् इति अधिकतरोऽतिभूयान् उपजातः समुत्पन्नो विस्मय आश्चर्यं यस्य स चन्द्रापीडः उत्थाय उत्थानं विधाय तमेव प्रदेशं पूर्वोक्तमेव स्थानम् इन्द्रायुधमश्वम् आनीय व्यपनीतपर्याणम् अपसारितपल्ययनं नातिदूरे निकटे संयम्य बद्ध्वा निर्झरजलेन प्रस्रवणसलिलेन निर्वर्त्तितो निष्पादितः स्नानविधिः आप्लवनविधिर्येन स तादृश-

उस समय अतिथि-सत्कार सम्पन्न करके, एक द्वितीय शिलातल पर बैठ, थोड़ी देर चुप रह कर उस देवकन्याने जब राजकुमारसे उसका सब वृत्तान्त क्रमसे पूछा तब उसने दिग्विजयसे आरम्भ कर, किन्नर-मिथुनके अनुसरण-प्रसङ्गसे यहाँ तक अपने आनेका समस्त वृत्तान्त उससे कहा। बाद समस्त वृत्तान्तसे अवगत होकर वह कन्या उठी और अपना भिक्षा-पात्र लेकर, आश्रमके वृक्षोंके नीचे विचरण करने लगी। वहाँ थोड़े समयमें ही अपने आप गिरे फलोंसे उसका पात्र परिपूर्ण हो गया। उसके बाद लौटकर उसने राजकुमारसे उन फलोंका भक्षण करनेके लिए अनुरोध किया।

उस समय राजपुत्र विचारने लगा कि—'इस संसारमें वास्तवमें तपस्यासे कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। जब चैतन्यरहित वृक्षसमूह भी आज सचेतनके समान इस देवी को फल समर्पण कर अपना अनुग्रह प्रकट करते हैं, तब इससे अधिक आश्चर्य क्या हो सकता है? आज यह तो मैंने अदृष्टपूर्व आश्चर्य वृत्तान्त देखा। इस प्रकार अत्यन्त विस्मित होकर वह उठा और बाहर जाकर इन्द्रायुधको वहीं ले आया। उसका पल्ययन (जीन)

१. क्वचित् 'च' कारो नास्ति। २. यत्र च। ३. विगतचेतना अपि। ४...पर्याणे च। ५...निवर्त्तित...।

स्नानविधिस्तान्यमृतस्वादूनि[1] उपयुज्य[2] फलानि, पीत्वा च तुषारशिशिरं प्रस्रवणजलमुपस्पृश्य चैकान्ते[3] तावदवतस्थे[4], यावत्तयापि कन्यकया[5] कृतो जल-फल-मूलमयेष्वाहारेषु प्रणयः।

इति परिसमापिताहारां निर्वर्त्तितसन्ध्योचिताचारां शिलातले विश्रब्धमुपविष्टां निभृतमुपसृत्य नातिदूरे समुपविश्य मुहूर्त्तमिव स्थित्वा चन्द्रापीडः सविनयमवादीत्—'भगवति! त्वत्प्रसाद-प्राप्ति-प्रोत्साहितेन कुतूहलेनाकुलीक्रियमाणो मानुषतासुलभो लघिमा बलादनिच्छन्तमपि मां प्रश्नकर्म्मणि नियोजयति। जनयति[6] हि[7] प्रभुप्रसादलवोऽपि प्रागल्भ्यमधीरप्रकृतेः। स्वल्पाप्येकदेशावस्थाने कालकला[8] परिचयमुत्पादयति। अणुरप्युपचारपरिग्रहः प्रण-

श्चन्द्रापीडः, अमृतवत् पीयूषवत् स्वादूनि सुरसानि, तानि फलानि उपयुज्य भुक्त्वा, तुषारः तुहिनं तद्वत् शिशिरं शीतलं प्रस्रवणजलं निर्झरपानीयं पीत्वा च, च पुनः उपस्पृश्य आचम्य एकान्ते रहसि तावत् तावत्कालम् अवतस्थे आसेदिवान् यावत् यावत्कालं तयापि कन्यकया (महाश्वेतया) जलफल-मूलमयेषु आहारेषु भोजनेषु प्रणय आदरः कृतो विहितः।

इतीति। इति पूर्वोक्तप्रकारेण परिसमापितः पर्याप्तिं नीतः आहारो भोजनं यया ताम्। निर्वर्त्तितः निष्पादितः सन्ध्योचिताचारः सायंसमययोग्यो विधिः सन्ध्यावन्दनादिर्यया ताम्। शिलातले पाषाणतले विश्रब्धं सविश्वासं निश्चिन्तं यथा स्यात्तथा उपविष्टाम् आसीनाम्। निभृतं निःशब्दं यथा स्यात्तथा उपसृत्य समीपमेत्य नातिदूरे निकटे समुपविश्य आस्थाय मुहूर्त्तमिव क्षणमात्रमिव स्थित्वा विलम्ब्य चन्द्रापीडः सविनयं विनयसहितं यथा स्यात्तथा अवादीत् अगदत्—

भगवतीति। 'हे भगवति देवि! त्वत्प्रसादप्राप्त्या तवानुग्रहलाभेन प्रोत्साहितं प्रगुणीकृतं तेन, कुतूहलेन कौतुकेन आकुलीक्रियमाणः अधरीक्रियमाणः, मानुषतासुलभः मद्विधेषु मनुष्येषु नितान्तसम्भवपर इत्यर्थः, लघिमा लघुत्वं चपलस्वभाव इत्यभिप्रायः। अनिच्छन्तमपि अनभिलषन्तमपि मां चन्द्रापीडं बलवत् हठात् प्रश्नकर्मणि पृच्छाक्रियायां नियोजयति व्यापारयति।

नन्वज्ञातस्य सहसा प्रश्ने धृष्टताप्रतीतिरिति चेत्तत्राह —जनयतीति। हि तथाहि प्रभुप्रसादलवोऽपि स्वामिप्रसन्नतालेशोऽपि, अधीरप्रकृतेश्चञ्चलस्वभावस्य जनस्य प्रागल्भ्यं धाष्टर्यम् उपजनयति उत्पादयति एवञ्च तपस्वितया स्वामिरूपाया भवत्याः अतिथिसत्कारादेव प्रसादप्राप्तिर्ममैनद् धाष्टर्यं जनयतीत्यङ्गीक्रियत एवेत्यभिप्रायः। अत एवेहाप्रकृतात् सामान्यात् प्रकृतस्य विशेषस्यावगमादप्रस्तुतप्रशंसा।

नन्वेवमप्यज्ञातस्य प्रश्नो नोपपद्यत इत्यत आह—स्वल्पाऽपीति। एकावस्थाने एकावस्थितौ स्वल्पाऽपि स्तोकाऽपि कालकला समयांशः परिचयं संस्तवम् उत्पादयति जनयति। एवञ्चैतावत्समयमेकत्रावस्थानात्त्वं मे परिचितैव जातासीत्याशयः।

अथैवमपि सौहार्दाभावेन हिताहितसम्बन्धाभावात् जिज्ञासैव कथमित्यत आह—अणुरिति। अणुः स्वल्पोऽपि उपचारपरिग्रहः सदाचाराङ्गीकारः प्रणयं सौहार्दम् आरोपयति उपस्थापयति। एवञ्च भवत्या अभ्यागतसम्मानाङ्गीकार एव प्रणयोपस्थापनादित्यभिप्रायः। अत एवेह पूर्ववदप्रस्तुतप्रशंसा।

उतार, जरा दूर बाँध कर उसने झरनेके जलमें स्नानकार्य-सम्पादन किया और अमृतरसके समान सुस्वादु उन फलोंका भक्षण कर, हिमके समान शीतल उस झरनेका जल पीकर, एवं आचमन कर वह एकान्तमें तबतक बैठा रहा जबतक उस कन्याने भी फल, मूल और जलका आहार किया।

इस प्रकार आहार कर जब वह कन्या सन्ध्याकालके उपयुक्त सब क्रिया सम्पादन कर चुकी और एक शिलातलपर निश्चिन्तरूपसे बैठी तब निःशब्द हो (धीरे-धीरे) उसके समीप उपस्थित होकर, थोड़ी दूरपर बैठकर, थोड़ी देरके बाद चन्द्रापीड उससे विनय-पूर्वक कहने लगा—'देवि! आपके अनुग्रह प्राप्त करनेसे ही मुझे कौतुक उत्पन्न हो गया है, उस कुतूहलने ही मनुष्योचित चञ्चल स्वभावको आकुल कर, मेरी इच्छा न होनेपर भी मुझे बलात्कारसे प्रश्न करनेकी प्रेरणा करता है, क्योंकि—स्वामीकी कृपाका लेश भी चञ्चल-प्रकृतिके पुरुषोंको धृष्ट बना देता है। एवं एक स्थानमें थोड़ासा सहवास होनेसे भी परस्पर परिचय उत्पन्न हो जाता है, विशेषतः परस्परका व्यवहार (सत्कार) थोड़ा होनेपर भी वह सौहार्द (प्रेम) उत्पन्न कर देता है। इसलिए यदि आपको

१. अमृतरसस्वादूनि। २. उपभुज्य। ३. उपस्पृश्यैकान्ते। ४. उपतस्थे। ५. कन्यया।
६. उपजनयति। ७. हि न। ८. एकावस्थाने कालकला, एकदेशावस्थानकालकक्षा।

यमारोपयति। तद्यदि नातिखेदकरमिव ततः कथनेनात्मानमनुग्राह्यम्[1], इच्छामि। अतिमहत्खलु भवद्दर्शनात् प्रभृति मे कौतुकमस्मिन् विषये। कतरन्मरुतामृषीणां गन्धर्वाणां गुह्यकानामप्सरसां वा कुलमनुगृहीतं भगवत्या जन्मना ?। किमर्थं वास्मिन् कुसुमसुकुमारे नवे वयसि व्रतग्रहणम् ?। क्वेदं वयः, क्वेदं तपः[2], क्वेयमाकृतिः, क्व चायं लावण्यातिशयः, क्वेयमिन्द्रियाणामुपशान्तिः। तदद्भुतमिव मे प्रतिभाति। किं निमित्तं वा[3] अनेक-सिद्ध-साध्य-संबाधानि[4] सुरलोकसुभगानि[5] अपहाय दिव्याश्रमपदानि एकाकिनी वनमिदममानुषमधिवससि ?। कश्चायं प्रकार, यत्तैरेव पञ्चभिर्महाभूतैरारब्धमीदृशीं[6] धवलतां धत्ते शरीरम् ? नेदमस्मा-

तदिति। ततस्मात् कारणात् यदि नातिखेदकरमिव न विशेषक्लेशजनकं चेत्, ततस्तदा कथनेन मज्जिज्ञास्यविषयनिरूपणेन आत्मानं स्वम् अनुग्राह्यम् अभ्युपपत्तिविषयम् इच्छामि अभिलषामि।

अतीति। भवत्या दर्शनं भवद्दर्शनं 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति वार्त्तिकेनेह पुंवद्भावः। तस्मात्प्रभृति तवावलोकनादारभ्य मे मम अस्मिन् विषये प्रश्नविषये खलु निश्चयेन अतिमहत्कौतुकम् अत्याश्चर्यम्।

अथ तव प्रश्नविषयः क इत्यत आह—कतरदिति। मरुतां देवानाम्, ऋषीणां मुनीनाम्, गन्धर्वाणां देवगायकानाम्, गुह्यकानां यक्षाणाम्, अप्सरसां तिलोत्तमाप्रभृतीनां मध्ये, जन्मना उत्पत्त्या भगवत्या स्वामिन्या कतरत् कतमत् कुलमन्ववायः अनुगृहीतं प्रसादीकृतम्। मरुतामित्यादौ निर्धारणे षष्ठी। बहूनामर्थेऽपि दुर्गाद्युक्त्या डतरच्प्रत्ययस्तेन कतरदिति रूपं भवतीति कुशला ब्रूवते।

किमर्थमिति। वा अथवा कुसुमसुकुमारे पुष्पवत्कोमले नवे नूतने अस्मिन् वयसि अवस्थायां नवयौवन इत्यर्थः, किमर्थं किं प्रयोजनं व्रतग्रहणं नियमस्वीकारः।

क्वेति। इदं वयः नवयौवनमित्यर्थः क्व, इदं तपः कष्टसाध्यं नियमस्वीकारः क्व, वृद्धावस्थायामेव तदाचरणयोग्यत्वादित्याशयः। द्वौ क्वौ महदन्तरं सूचयतः। इयम् प्रत्यक्षोपलभ्यमाना आकृतिः स्वरूपविशेषः क्व, अयञ्च लावण्यातिशयः असाधारणसौन्दर्याधिक्यं क्व, तथा इयम् इन्द्रियाणां करणानाम् उपशान्तिः स्वस्वभोगनिवृत्तिः क्व। अद्भुतलावण्यवत्तारुण्यात्मकप्रवृत्तिसमये वार्धकात्मकनिवृत्तिसमयाश्रयणीयव्रताश्रयणावलोकनमेव मे जिज्ञासाहेतुरित्यभिप्रायः। इहोभयभागेऽपि विरुद्धयोः संयोजनया विषमः।

तदिति। मे मम तत्सर्वं पूर्वप्रतिपादितम् अद्भुतमिव आश्चर्यमिव प्रतिभाति प्रतीतिविषयीभवति। अनेके बहवो ये सिद्धाः साध्याश्च देवयोनिविशेषास्तैः संबाधानि सङ्कुलानि व्याप्तानि, सुरलोका अमरादिदेववृन्दास्तैः तेषां परिभ्रमणैरित्यर्थः सुभगानि मनोहराणि दिव्याश्रमपदानि स्वर्गीयाश्रमस्थानानि अपहाय परित्यज्य एकाकिनी असहाया अमानुषं मनुष्यरहितम्, इदं वनं काननं किं निमित्तं कथं वा स्वम् अधिवससि निवासं करोषि। वनमित्यत्र 'उपान्वध्याङ्वसः' इत्यनेन वसतेराधारस्य कर्मसंज्ञा बोध्या।

कश्चेति। कश्च अनिर्दिष्टस्वरूपः अयं प्रकारो विशेषः, यत्तैरेव यैरेव समस्तप्राणिनां शरीराण्यारब्धानि तैरेवेत्यर्थः, पञ्चभिर्महाभूतैः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपैः, आरब्धम् उत्पादितं शरीरं तवेदं वपुः, ईदृशीम् एवंविधां धवलतां श्वेततां धत्ते धारयति। इदं वैलक्षण्यम् अस्माभिराधुनिकैः अन्यत्र अन्यस्मिन् स्थले न दृष्टश्रुतपूर्वं नावलोकिताकर्णितपूर्वं वा, अत एव महच्चित्रमिदमित्याशयः।

विशेष-क्लेशजनक न हो तो अपना वृत्तान्त कहिये, जिसे सुन कर मैं अपनी आत्माको अनुगृहीत करने की इच्छा करता हूँ, आपके दर्शनसे लेकर इस विषयमें मुझे अत्यधिक कौतुक उत्पन्न हो गया है—देवि ! अपना जन्म ग्रहण कर, देवता, ऋषि, गन्धर्व, गुह्यक और अप्सराओंमेंसे किसके कुलको अनुगृहीत किया है। किस कारणसे कुसुमके समान कोमल इस नवीन अवस्थामें आपने तपस्या आरम्भ की है। कहाँ यह वय ? कहाँ यह आकृति? कहाँ यह असाधारण लावण्य ? और कहाँ यह इन्द्रियोंकी भोगनिवृत्ति ? अतएव यह सब मेरे समीप अद्भुतसा प्रतीत हो रहा है। किसलिए आप बहुतर सिद्ध-साध्योंसे परिपूर्ण एवं देवगणके विचरण करनेमें मनोहर दिव्य आश्रमोंको छोड़कर एकाकिनी ( अकेली ) इस मानुषविहीन बनमें रहती हो ? और यह क्या बात है कि प्रसिद्ध पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतोंका बना आपका शरीर इस प्रकार धवलता धारण करता ( गोरा ) है ? ऐसा तो मैंने

१. अनुगृह्यमाणम्। २. क्वचित् 'क्वेदं तपः' इति पाठो न विद्यते। ३. किंवा। ४.…संबन्धानि। ५.…सुलभानि। ६. कश्चायं प्रजापतेः प्रकारो यत्तैरेव महाभूतैः पञ्चभिरीदृशम्।

भिरन्यत्र दृष्टश्रुतपूर्वं वा[1]। अपनयतु नः कौतुकम्, आवेदयतु[2] भवती सर्वमिदम्। इत्येवमभिहिता सा किमप्यन्तर्ध्यायन्ती तूष्णीं मुहूर्त्तमिव स्थित्वा निःश्वस्य स्थूलस्थूलैरन्तर्गतां हृदयशुद्धिमिवादाय निर्गच्छद्भिः, इन्द्रियप्रसादमिव वर्षद्भिः, तपोरसनिस्यन्दमिव स्रवद्भिः लोचनविषयं धवलिमानमिव द्रवीकृत्य पातयद्भिः, अच्छाच्छैः, अमलकपोलस्थलस्खलितैः, अवशीर्ण-हार-मुक्त-मुक्ताफल-तरलपातैः[3], अनुबद्धबिन्दुभिः, वल्कलावृत-कुच-शिखर-जर्जरितशीकरैः, अश्रुभिरामीलितलोचना निःशब्दं रोदितुमारेभे।

ताञ्च प्ररुदितां दृष्ट्वा चन्द्रापीडस्तत्क्षणमचिन्तयत्-'अहो! दुर्निवारता व्यसनोपनिपातानाम्, यदीदृशीमप्याकृतिमनभिभवनीयामात्मीयां कुर्वन्ति। सर्वथा न न कञ्चन स्पृशन्ति-

अपनयत्विति। नोऽस्माकं कौतुकं कुतूहलं महदाश्चर्यम् अपनयतु दूरीकरोतु, भवती स्वामिनी इदं सर्वं पूर्वोक्तम् आवेदयतु कथयतु।

इतीति। इति एवं प्रकारेण अभिहिता उक्ता सा कन्यका किमपि अनिर्वचनीयम् अन्तश्चित्ते ध्यायन्ती चिन्तयन्ती तूष्णीं मौनं मुहूर्त्तमिव क्षणमिव स्थित्वा आस्थाय निःश्वस्य श्वासं विमुच्य च, स्थूलस्थूलैः पृथुलपृथुलैः 'अनुबद्धबिन्दुभिः अश्रुभिः' इत्यस्य विशेषणम्। अन्तर्गतां मध्यप्राप्तां हृदयशुद्धिं मनःपवित्रताम् आदाय गृहीत्वेव निर्गच्छद्भिर्निःसरद्भिः सर्वत्र नयनजलानां निर्मलत्वादित्याशयः। इन्द्रियाणां नयनादीनां करणानां प्रसादं स्वच्छतां सकामदृष्ट्यादिदोषवर्जितां वर्षद्भिर्वृष्टिं कुर्वद्भिरिव, तपांस्येव रसा द्रवाः तेषां निष्यन्दं धारां स्रवद्भिः क्षरद्भिरिव, लोचनविषयम् अवलोक्यमानं धवलिमानं श्वेतत्वं द्रवीकृत्य रसीकृत्य पातयद्भिः स्रावयद्भिरिव, अच्छाच्छैः अत्यन्तस्वच्छैः अमलकपोलस्खलितैः निर्मलगण्डस्थलमुक्तैः, अवशीर्णात् त्रुटितात् हारात् मुक्ताप्रालम्बात् मुक्तानां स्खलितानां मुक्ताफलानां रसोद्भवानामिव तरलपातः चञ्चलभावेन पतनं येषां तैः, अनुबद्धा धाराप्रवाहेणोत्पादिता बिन्दवो विप्रुषो यैस्तैः, वल्कलावृतयोः तरुत्वगाच्छादितयोः कुचयोः स्तनयोः शिखराभ्याम् उन्नताग्राभ्यां जर्जरिताश्चूर्णीकृताः शीकराः कणा येषां तैः, एतेन कुचयोरत्यौन्नत्यं काठिन्यञ्च ध्वन्यते। अश्रुभिः नेत्रजलैरुपलक्षिताः, आमीलिते सङ्कुचिते लोचने नयने यस्याः तादृशी सती, निःशब्दं ध्वनिवर्जितं यथा स्यात्तथा रोदितुम् आक्रन्दितुम् आरेभे आरब्धवती।

इह 'निर्गच्छद्भिरिव' इत्यारभ्य 'पातयद्भिरिव' इत्यन्तं क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। '...मुक्ताफलतरलपातैः' इत्यत्र च लुप्तोपमालङ्कारः।

तामिति। अपि चेति चार्थः। प्ररुदिताम् अत्यन्तरुदतीम्, तां कन्यकां दृष्ट्वा निरीक्ष्य, चन्द्रापीडः तत्क्षणम् अचिन्तयत् चिन्तितवान्—अहो इत्याश्चर्ये। व्यसनोपनिपातानां दुःखोपस्थितीनाम्, दुर्निवारता अभिभवितुमशक्यता? अर्थात् दैवोपस्थापितानि दुःखानि न केनचिन्निवारयितुं शक्यानीत्याशयः। यद् यस्माद्धेतोः अनभिभवनीयां तपस्वितया अभिभवितुमशक्याम्, ईदृशीमेवंविधाम् आकृतिमपि आकारमपि आत्मीयां स्वाधीनां कुर्वन्ति विदधते, ते व्यसनोपनिपाता इति शेषः। कयाऽप्यापत्त्या उत्पादितात्क्लेशादियं रोदितीत्याशयः।

ननु सर्वथा विषयाभिलाषं परित्यजन्तमेवंविधं तपस्विजनं कथं नाम व्यसनमभिभवितुं शक्नोतीत्यत आह—सर्वथेति। उपतापाः सांसारिकक्लेशाः, कञ्चन कञ्चिदपि, शरीरधर्माणं देहिनं सर्वथा सर्वप्रकारेण

न 'कहीं देखा, न सुना।' इसलिए कृपाकर समस्त वृत्तान्त विदित कर मेरा कुतूहल निवृत्त कीजिए। इस प्रकार चन्द्रापीड़के वचन सुनकर वह कन्या, मन ही मन किसी विषयकी चिन्ता करती हुई, थोड़ी देर चुप रह कर लंबी साँस लेकर अन्तर्गत चित्त-शुद्धिको लेकर मानो बाहर निकलते, इन्द्रियोंकी निर्मलताको मानो वर्षण करते, तपस्या रूपी रसकी धाराको वृष्टि करते एवं दृष्टिगोचर धवलताको मानो पिघलाकर गिराते, अत्यन्त निर्मल कपोलस्थलपर टपकते, टूटे हारसे विगलित मोतियोंके समान चञ्चलभावसे गिरते, अविच्छिन्नरूपसे बिन्दुके रूपमें निकलते, वल्कलसे ढँके हुए स्तन-शिखरपर जर्जरित होनेसे कणरूपमें परिणत होते, बड़े-बड़े अश्रुबिन्दुसमूह टपका कर, आँख मीच चुपचाप रोने लगी।

उसके रोते देख चन्द्रापीड़ उस समय चिन्ता करने लगा—अहो! विपत्तियोंका आक्रमण भी दुर्निवारणीय होता है, क्योंकि—ऐसे दुर्धर्ष (दुःखके अयोग्य) आकृतिको भी वे अधीनमें कर लेते हैं। शरीरधारीको

१. क्वचित् वाशब्दो नास्ति। २. आवेदयतु सर्वम्। ३. '''हारमुक्ता'''।

शरीरधर्म्माणमुपतापाः। बलवती हि द्वन्द्वानां प्रवृत्तिः। इदमपरमधिकतरमुपजनितम्[1]। अतिमहन्मनसि मे कौतुकम्[2]अस्या बाष्पसलिलपातेन। न ह्यल्पीयसा शोककारणेन चेत्रीक्रियन्त एवंविधा मूर्त्तयः। नहि क्षुद्रनिर्घातपाताभिहता चलति वसुधे'ति। संवर्द्धितकुतूहलश्च[3] शोकस्मरणहेतुतामुपगतमपराधिनमिवात्मानमवगच्छन्नुत्थाय प्रस्रवणादञ्जलिना मुखप्रक्षालनोदकमुपनिन्ये। सा तु तदनुरोधादविच्छिन्न[4]-बाष्पजलधारासन्तानापि किञ्चित्कषायितोदरे प्रक्षाल्य लोचने वल्कलोपान्तेन वदनमपमृज्य दीर्घमुष्णञ्च निःश्वस्य शनैःशनैः[5] प्रत्यवादीत्-

'राजपुत्र ! किमनेनातिनिर्घृण[6]-हृदयाया मम मन्दभाग्यायाः पापाया जन्मनः[7] प्रभृति

---

न स्पृशन्ति नापद्यन्ते इति न, किन्तु सर्वमेव शरीरिणमुपतापाः स्पृशन्तीत्यर्थः। अत एव तपस्विजनस्यापि सांसारिकक्लेशसम्भव इत्यभिप्रायः।

ननु तपस्वी स्वतपःप्रभावेण दुःखं कथं नाम न निवारयतीत्यत आह बलेति। हि यस्मात्, द्वन्द्वानां सुखदुःखशीतोष्णादीनां प्रवृतिः देहिषूपस्थितिः बलवती बलिष्ठा। तपस्वित्वेऽपि देहिधर्मत्वादेव तत्र द्वन्द्वानां बलिष्ठा प्रवृत्तिः निवारयितुमशक्येत्याशयः।

इदमिति। मे मम मनसि चित्ते इदम् अपरमन्यत् अधिकतरं पूर्वस्मात्कुतूहलादतिरिक्तम् अतिमहत् कौतुकं कुतूहलमाश्चर्यमित्यर्थः अस्याः कन्यकाया बाष्पसलिलपातेन अश्रुजलपतनेन उपजनितमुत्पादितम्। इहोक्त्युत्पत्त्या नार्थगतपौनरुक्त्यम्।

ननु स्वल्पेनापि शुष्कशोकेन योषितामश्रुजलसम्भवात् कथं तवातिमहदाश्चर्यमित्यत आह—नहीति। हि यतः अल्पीयसा स्तोकेन शोककारणेन दुःखनिमित्तेन एवंविधा अनिर्वचनीय-स्वरूपा मूर्त्तयः शरीराणि न चेत्रीक्रियन्ते आश्रयीक्रियन्ते अवलम्बितुं शक्यन्त इत्यर्थः। हि तथाहि, क्षुद्रेण स्वल्पेन निर्घातपातेन निर्घातपवनस्पर्शेन अभिहता ताडिता वसुधा पृथिवी न चलति न कम्पते इति। इह साधर्म्येण दृष्टान्तः।

संवर्धितेति। संवर्धितं वृद्धिमुपगतं कुतूहलम् आश्चर्यं यस्य तादृशश्चन्द्रापीडः, शोकस्मरणस्य दुःखस्मृतेः हेतुतां निमित्तत्वम् उपगतं प्राप्तम्, अत एव अपराधिनं सागसमिव आत्मानं स्वम् अवगच्छन् जानन् उत्थाय प्रस्रवणात् निर्झरात् मुखप्रक्षालनाय वदनशुद्ध्यर्थम् उदकं जलम् अञ्जलिना पाणिपुटेन उपनिन्ये उपस्थापितवान्।

सेति। सा कन्यका ( महाश्वेता ) तु तदनुरोधात् चन्द्रापीडाग्रहात् अविच्छिन्नः विच्छेदमलभमानः बाष्पजलधाराया अश्रुजलासारायाः सन्तानः समूहो यस्याः सापि किञ्चित् कषायिते अश्रुपातेनेषद्विलीकृते रक्ते वा उदरे अभ्यन्तरयुगलं ययोस्ते लोचने नयने प्रक्षाल्य वल्कलोपान्तेन परिहिततरुत्वगग्रेण वदनं मुखम् अपमृज्य मार्जनं विधाय दीर्घम् आयतम् उष्णं तप्तं निःश्वस्य निःश्वासं विधाय च शनैः शनैः मन्दं मन्दं प्रत्यवादीत् प्रत्यवोचत्—

राजेति। हे राजपुत्र! अतिनिर्घृणं नितान्तनिर्दयं हृदयं चेतो यस्यास्तस्या मन्दभाग्यायाः क्षीणभागधेयायाः पापायाः पापिष्ठाया मम जन्मनः प्रभृति उत्पत्तेरारभ्य अश्रवणीयेन नितान्तनिष्ठुरतया श्रवणा·

---

सन्तापकारी दुःख अवश्य होते हैं—क्योंकि सुखदुःखादि द्वन्द्वकी प्रवृत्ति ( उपस्थिति ) अत्यन्त प्रबल है। इसके अश्रुवर्षण ( रोने ) से मेरे चित्तमें पहलेसे भी अधिक गुरुतर कौतुक उत्पन्न हो गया है; क्योंकि—अल्पमात्र शोकके कारणोंसे ऐसी मूर्ति अधीन नहीं हो सकती, अल्पमात्र निर्घात वायुके ( वज्र ) आघातसे आहत ओकर पृथिवी कम्पित नहीं होती। इस क्रमसे चन्द्रापीड़का कुतूहल बढ़ गया और अपनेको ही उन कन्याके शोक स्मरणका कारण होनेसे अपराधी समझ, अतएव उठकर, उसके मुख-प्रक्षालनके लिए झरनेमेंसे अञ्जलि भरकर जल ले आया। उस कन्याके अपने अश्रुजलके धारासमूह अविच्छिन्न भावसे बह रहे थे तो भी राजकुमारके अनुरोधसे, वह भन्दरसे थोड़े लाल हुए अपने नयनोंको प्रक्षालन ( धो ) कर, वल्कल प्रान्तद्वारा अपना मुँह पोंछकर, लंबे और गरम साँस ले धीरे बोली—

राजपुत्र ! मेरे समान अत्यन्तक्रूर-हृदया मन्दभागिनी पापिनी नारीके जन्मसे वैराग्यग्रहण करनेके

---

१. जनितम्। २. महन्मम मनसि कौतुकम्। ३. कुतूहलश्चास्या। ४.…अवच्छिन्न। ५. क्वचि 'शनैः' इत्येकमेवास्ति पदम्। ६. अतिनिष्ठुर…। ७. जन्मतः।

वैराग्यवृत्तान्तेनाश्रवणीयेन श्रुतेन। तथापि यदि महत् कुतूहलम्, तत् कथयामि, श्रूयताम्।

एतत् प्रायेण कल्याणाभिनिवेशिनः श्रुतिविषयमापतितमेव, यथा विबुधसद्मनि अप्सरसोनाम कन्यकाः सन्तीति। तासां चतुर्दश कुलानि, एकं भगवतः कमलयोनेर्मनसः समुत्पन्नम्, अन्यद्वेदेभ्यः सम्भूतम्, अन्यदग्नेरुद्भूतम्, अन्यत्पवनात् प्रसूतम्, अन्यदमृतान्मथ्यमानादुत्थितम्, अन्यज्जलाज्जातम्, अन्यदर्ककिरणेभ्यो निर्गतम्, अन्यत्सोमरश्मिभ्यो निष्पतितम्, अन्यद्भूमेरुद्भूतम्, अन्यत् सौदामिनीभ्यः प्रवृत्तम्, अन्यन्मृत्युना निर्म्मितम्, अपरं मकरकेतुना समुत्पादितम्, अन्यत्तु दक्षस्य प्रजापतेरतिप्रभूतानां सुतानां मध्ये द्वे सुते मुनिररिष्टा च बभूवतुस्ताभ्यां गन्धर्वैः सह कुलद्वयं जातम्। एवमेतान्येकत्र चतुर्दश कुलानि। गन्धर्वाणान्तु दक्षात्मजाद्वितयसम्भवं तदेव कुलद्वयं जातम्, तत्र मुनेस्तनयश्चित्रसेनादीनां

योग्येन, वैराग्यवृत्तान्तेन विरक्तोदन्तेन, अनेन श्रुतेन आकर्णितेन किं फलमिति शेषः।

तथापीति। तथापि एवं सत्यपि फलाभावे विद्यमानेऽपि यदि महत्कुतूहलं महदाश्चर्यं चेत्, तत् तदा कथयामि प्रतिपादयामि। इह तदेत्यर्थे तदित्यवाचकमित्यवाचकत्वं दोष आपतति स हि तदेत्यनेनैव समाधेयः इति शिष्टाः। श्रूयताम् आकर्ण्यताम्।

एतदिति। कल्याणे मङ्गले अभिनिवेश आग्रहोऽस्यास्तीति तस्य भवतः, एतत् प्रायेण आधिक्येन श्रुतिविषयं कर्णगोचरताम् आपतितमेव गतमेव, नातोऽधिकं किमपि यदा वाच्यमित्याशयः। विशेषेण बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति विबुधा देवास्तेषां सद्मनि भवने स्वर्गे अप्सरसो नाम कन्यकाः अपरिणीताः स्त्रियः सन्ति विद्यन्ते इति। नामेति कोमलामन्त्रणे। तासां कन्यकानां चतुर्दश दशाधिकचतुःसंख्याकानि कुलानि अन्ववायाः। तत्रैकं भगवतः कमलयोनेः स्रष्टुर्ब्रह्मणः मनसः स्वान्तात् समुत्पन्नं सञ्जातम्। अन्यद् द्वितीयं वेदेभ्यः श्रुतिभ्यः सम्भूतं समुत्पन्नम्। अन्यत्तृतीयम् अग्नेर्वह्नेः उद्भूतं प्रकटितम्। अन्यच्चतुर्थं पवनाद्वायोः प्रसूतम् उत्पन्नम्। अन्यत्पञ्चमं मथ्यमानात् अमृतात् मथ्यमानावस्थायां पीयूषात् उत्थितं जातम्। अन्यत् सप्तमम् अर्ककिरणेभ्यः। सूर्यरश्मिभ्यो निर्गतं निःसृतम्। अन्यत् अष्टमं सोमरश्मिभ्यः चन्द्रकिरणेभ्यो निष्पतितं निर्गतम्। अन्यन्नवमं भूमेः पृथिव्याः उद्भूतं प्रकटितम्। अन्यद्दशमं सौदामनीभ्यो विद्युद्भ्यः प्रवृत्तम् उत्पन्नम्। अन्यदेकादशं मृत्युना यमेन निर्मितं रचितम्। अपरम् अन्यद्द्वादशं मकरकेतुना कामेन समुत्पादितं सञ्जनितम्। अन्यदपरं तु दक्षस्य प्रजापतेः अतिप्रभूतानाम् अत्यधिकानां कन्यकानाम् आत्मजानां मध्ये द्वे सुते मुन्यरिष्टा च बभूवतुर्जज्ञाते। गन्धर्वैर्देवगायकैः सह सङ्गमात् ताभ्यां मुन्यरिष्टाभ्यां सकाशात् कुलद्वयं वंशयुगलं जातमुत्पन्नम् मुनेरेकम् अरिष्टायाश्चैकं जातमित्यर्थः। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकत्र प्रकरणे सङ्कलनेन एतानि चतुर्दश कुलानि सञ्जातानीति शेषः।

गन्धर्वाणां त्विति। गन्धर्वाणां देवगायकानां तु दक्षात्मजाद्वितयात् मुन्यरिष्टानामकात् दक्षकन्याद्वयात् सम्भवं समुत्पन्नं तदेव कुलद्वयं जातम्, सन्ततेः मातापितृद्वयकारणकत्वादित्याशयः। अत्र कुलद्वयमध्ये मुनेर्दक्षजात्मजायाः चित्रसेनादीनां पञ्चदशानां भ्रातॄणां सोदराणां मध्ये गुणैः शौर्यादिभिः अधिको

अनाकर्णनीय समाचारके सुननेसे आपको क्या फल होगा ? तथापि यदि आपको गुरुतर कुतूहल उत्पन्न हुआ है तो कहती हूँ, सुनिये।

यह तो आप-मङ्गलाभिलाषीने प्रायः श्रवण किया ही होगा कि-देवलोकमें अप्सरानामकी कन्याएँ रहती हैं। उनके चौदह कुल हैं। उनमें एक भगवान् ब्रह्माके मनसे उत्पन्न हुआ है, दूसरा वेदोंसे, तीसरा अग्निसे, चौथा पवनसे, पाँचवाँ मथ्यमान अमृतसे, छठाँ जलसे, सातवाँ सूर्य-रश्मियोंसे, आठवाँ चन्द्र-रश्मियोंसे, नवाँ पृथिवीसे, दशवाँ विद्युत्से, ग्यारहवाँ मृत्युसे, बारहवाँ कामदेवसे, अवशिष्ट दो दक्षप्रजापतिकी बहुतर कन्याओंमेंसे मुनि और अरिष्टा नामकी कन्याओंके गन्धर्वोंके साथ समागमसे उत्पन्न हुए हैं। इस क्रमसे एकत्र करनेपर ये चौदह कुल हुए। मुनि और अरिष्टा-नामक दक्षकन्याद्वयसे गन्धर्वोंके भी वे ही दो कुल उत्पन्न हुए हैं। मुनिका, चित्र-

१. अप्सरसेना। २. क्वचित् इतिशब्दो नास्ति। ३. '''वह्ने'''। ४. निपतितम्। ५. कन्यकानां। ६. द्वौ सुतौ। ७. अत्र। ८. सेनादीनां।

पञ्चदशानां भ्रातॄणामधिको गुणैः षोडशश्चित्ररथो नाम समुत्पन्नः। स किल त्रिभुवन[1]-प्रख्यातपराक्रमो भगवता समस्तसुर-मौलि-माला-लालित-चरण-नलिनेनाखण्डलेन[2] सुहृच्छब्देनोपबृंहितप्रभावः सर्वेषां गन्धर्वाणामाधिपत्यमसिलता-मरीचि-निचय-मेचकितेन बाहुना समुपार्जितं शैशव एवाप्तवान्। इतश्च नातिदूरे तस्यास्माद्भारतवर्षादुत्तरेणानन्तरे किम्पुरुषनाम्नि वर्षे वर्षपर्वतो हेमकूटो नाम निवासः। तत्र च तद्भुजयुगल[3]-परिपालितान्यनेकानि गन्धर्वशतसहस्राणि प्रतिवसन्ति। तेनैव चेदं चैत्ररथं नामातिमनोहरं काननं निर्म्मितम्, इदञ्चाच्छोदाभिधानमतिमहत् सरः खानितम्[4], अयञ्च भवानीपतिरुपरचितो भगवान्। अरिष्टायास्तु[5] पुत्रस्तुम्बुरुप्रभृतीनां सोदर्य्याणां षण्णां ज्येष्ठो हंसो नाम जगद्विदितो गन्धर्वः तस्मिन्

---

गरीयान् षोडशः चित्ररथो नाम तनयः सुतः समुत्पन्नः सञ्जातः।

स इति। किलेति पुराणवार्त्तायाम्। शैशव एव बाल्य एव, त्रिभुवनप्रख्यातपराक्रमः त्रिविष्टपप्रसिद्धशौर्यवृत्तिः, समस्तानां समग्राणां सुराणां देवानां मौलिमालया मुकुटपङ्क्त्या लालितं प्रणामसमये सादरं स्पृष्टं चरणनलिनं पादकमलं यस्य तेन तादृशेन, भगवता माहात्म्यवता आखण्डलेन इन्द्रेण, सुहृच्छब्देन मित्रशब्दप्रयोगेण उपबृंहितः परिवर्धितः प्रभावः प्रतापो यस्य सः, स चित्ररथः, असिलतायाः खड्गलतायाः मरीचिनिचयेन रश्मिसमूहेन मेचकितः श्यामलीकृतः तेन तादृशेन बाहुना भुजेन समुपार्जितम्, सर्वेषां निखिलानां गन्धर्वाणां देवगायकानाम् आधिपत्यं प्रभुत्वम् आप्तवान् लब्धवान्।

इत इति। किञ्चेति चार्थः। इतो नातिदूरे अस्मात् स्थानान्नातिविप्रकृष्टे अस्माद्भारतवर्षात् भरतक्षेत्रात् उत्तरेणानन्तरे अव्यवहितोत्तरे किंपुरुषनाम्नि किंपुरुषाभिधाने वर्षे क्षेत्रे हेमकूटो नाम हेमकूटाभिधानः वर्षपर्वतः क्षेत्रसीमाकृन्नगः, तस्य राज्ञश्चित्ररथस्य निवसत्यस्मिन्निति निवासः आश्रयस्थानं विद्यत इति शेषः।

तत्रेति। अपि चेति चार्थः। तत्र हेमकूटे, तस्य चित्ररथस्य भुजयुगलेन बाहुद्वयेन परिपालितानि परिरक्षितानि अनेकानि बहूनि गन्धर्वशतसहस्राणि देवगायकसमूहाः प्रतिवसन्ति निवासं कुर्वन्ति। तेनैव राज्ञा चित्ररथेन, चित्ररथस्येदं चैत्ररथं नाम अतिमनोहरम् अतिरमणीयम् इदं पुरोऽवलोक्यमानं काननं वनं निर्मितं रचितम्। इदञ्च अच्छोदाभिधानम् अच्छोदसंज्ञकम् अतिमहत् सरः अतिबृहत् कासारः खानितं निर्मापितं भृत्यैरिति शेषः। अयं पुरो दृश्यमानो भगवान्।

'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

इति लक्षणेन उत्पत्तिप्रलयादिज्ञानवान् भवानीपतिः गौरीपतिः शिवमूर्त्तिरित्यर्थः उपरचितो निर्माय प्रतिष्ठापितः। इह भवस्य स्त्री इति विग्रहे 'इन्द्रवरुण' इति सूत्रेण ङीषि आनुगागमे भवानीति। तत्र भवान्याः पतिरित्युक्तौ पत्यन्तरप्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृद्दोषः, स हि गौरीपतिरिति पाठकरणेन प्रतिविधेयः।

शेषमरिष्टाया अन्ववायमवबोधयति—अरिष्टाया इति। पुनरर्थकस्त्विति। अरिष्टाया अपराया दक्षसुतायाः तुम्बुरुप्रभृतीनां तुम्बुर्वादीनां समाने एके उदरे जठरे शयिता इति सोदर्याः सहोदरास्तेषां षण्णां मध्ये जगद्विदितः संसारप्रसिद्धो हंसो नाम हंसाभिधेयो गन्धर्वःज्येष्ठःसर्वप्रथमः तस्मिन् द्वितीये गन्धर्वकुले

---

चित्रसेन प्रभृति पन्द्रह भाइयोंके मध्यमें गुणोंसे श्रेष्ठ, चित्ररथ नामक सोलहवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। भुवनत्रयके प्रसिद्ध पराक्रमवाले, समस्त देवताओंके किरीट-समूहद्वारा जिनके चरण-कमल सादर पूजित होते हैं ऐसे इन्द्रने उनको अपना मित्र बना लिया, जिससे उनका (चित्ररथका) प्रभाव अधिक बढ़ गया और बाल्यकालमें ही उन्होंने खड्गकी किरणोंसे श्याम-वर्ण हुए स्वकीय बाहुद्वारा उपार्जित करके समस्त गन्धर्वोंका आधिपत्य प्राप्त किया। यहाँसे थोड़ी दूर भारतवर्षके अव्यवहित उत्तरदिग्वर्त्ती किंपुरुष देशमें हेमकूट नामक एक वर्षपर्वत है, वही चित्ररथका वासस्थान है। उनके बाहुयुगलद्वारा परिरक्षित होकर लाखों गन्धर्व भी वहाँ निवास करते हैं। उन्होंने ही यह चैत्ररथ-नामका मनोहर उद्यान निर्माण किया है एवं अच्छोद-नामका यह अतिविशाल सरोवर भी खुदवाया है और यह भगवान् महादेवकी प्रतिमूर्त्ति भी निर्माण कराकर स्थापित किया है। इधर, उस द्वितीय गन्धर्व-कुलमें अरिष्टाके पुत्र-तुम्बरू-प्रभृति छः सहोदरोंके मध्यमें ज्येष्ठ-हंसनामके जगद्विख्यात गन्धर्व हुए। उन्हें

---

१. सकलत्रिभुवन…। २. अरविन्दजेन। ३. तद्भुजयुग…। ४. सरः निखानितम्। ५. अरिष्टायास्तु पुनस्तस्मिन् द्वितीये…।

द्वितीये[1] गन्धर्वकुले गन्धर्वराजेन चित्ररथेनैवाभिषिक्तो बाल एव राज्यपदमासादितवान् । अपरिमितगन्धर्वबलपरिवारस्य[2] तस्यापि स एव गिरिरधिवासः । यत्तु तत् सोममयूखसम्भवमप्सरसां कुलम्, तस्मात् किरणजालानुसार[3]-गलितेन सकलेनेव रजनिकर-कला-कलाप-लावण्येन निर्म्मिता त्रिभुवननयनाभिरामा भगवती द्वितीयेव गौरी, गौरीति नाम्ना[4] हिमकर[5]-किरणावदातवर्णा कन्यका प्रसूता। ताञ्च द्वितीयगन्धर्वकुलाधिपति[6]: हंसो मन्दाकिनीमिव क्षीरसागरः प्रणयिनीमकरोत् । सा तु भगवता मकरकेतनेनेव[7] रतिः, शरत्समयेनेव कमलिनी, हंसेन संयोजिता सदृशसमागमोपजनितामतिमहतीं मुदमुपगतवती निखिलान्तःपुरस्वामिनी च तस्याभवत् । तयोश्च तादृशयोर्महात्मनोरहमीदृशी[8] विगतलक्षणा शोकाय केवलमनेकदुःख-

---

देवगायकान्ववाये गन्धर्वराजेन देवगायकाधिपतिना चित्ररथेनैव अभिषिक्तः अभिषेकविषयीकृतः, अत एव बाल एव शिशुरेव राज्यपदं राजत्वम् आसादितवान् प्राप्तवान् ।

अपरीति । अपरिमितम् अगणितं गन्धर्वबलं गन्धर्वसेना परिवारः परिजनो यस्य तस्य, तस्यापि हंसस्यापि स एव पूर्वोक्त एव गिरिः हेमकूटाभिधानः पर्वतः, अधिवसत्यस्मिन्नित्यधिवासो निवासस्थलम् ।

यदिति । तत् पूर्वप्रतिपादितम्, सोममयूखसम्भवं चन्द्रकिरणेभ्यः समुत्पन्नम् अप्सरसां गणिकानां कुलं वंशः । तस्मात् कुलात् किरणजालस्य रश्मिसमूहस्य अनुसारेण अनुसरणक्रमेण गलितं चरितं तेन, सकलेन समग्रेण, रजनिकरस्य चन्द्रस्य यः कलानां भागानां कलापः समूहः तस्य लावण्येन अन्तर्गतसारेण निर्मिता रचितेव, अतीवनिर्मलधवलत्वादित्याशयः । त्रिभुवनस्य त्रिविष्टपनिवासिनो लोकस्य नयनाभिरामा लोचनाह्लादकरी, द्वितीया अपरा भगवती सर्वैश्वर्यवती गौरी पार्वतीव । हिमकरश्चन्द्रः तस्य किरणवत् रश्मिवत् अवदातो गौरो वर्णो यस्याः सा गौरीति नाम्ना कन्यका सुता प्रसूता जाता ।

इह '···लावण्येन निर्मितेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा । 'द्वितीया गौरीव' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षा । 'हिमकरकिरणावदातवर्णा' इत्यत्र च लुप्तोपमा बोध्या ।

तामिति । किञ्चेति चार्थः । द्वितीयगन्धर्वकुलाधिपतिः अपरगन्धर्वकुलराजो हंसः क्षीरसागरो दुग्धसमुद्रो मन्दाकिनीमिव वियद्गङ्गामिव तां गौरीं प्रणयिनीं पत्नीम् अकारोत् कृतवान् । श्रौत्युपमा ।

सेति । भगवता मकरकेतनेन शक्तिशालिना कन्दर्पेण रतिरिव, शरत्समयेन घनात्ययकालेन कमलिनी पद्मिनीव, हंसेन सह संयोजिता सृष्टिकर्त्रा सङ्गमिता तु सा गौरी, सदृशेनानुरूपेण समागमेन संमेलनेन उपजनिताम् उत्पादिताम् अतिमहतीं गरीयसीं मुदम् आनन्दम् उपगतवती प्राप्तवती, तस्य हंसस्य निखिलानां समस्तानाम् अन्तःपुराणां तत्स्थसुन्दरीणामित्यर्थः स्वामिनी मुख्या च अभवत् जाता । इह श्रौतोपमयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानतया संसृष्टिः ।

तयोरिति । अपि चेति चार्थः । तादृशयोस्तथाविधयोः महात्मनोर्विशालहृदययोः तयोर्हंसगौर्योः अहम्, ईदृशी एवम्भूता विगतलक्षणा करतलादिगतमत्सीध्वजवज्रतिलकाशुभादिचिह्नरहिता, एकैवात्मजा

---

गन्धर्वराज चित्ररथने अभिषिक्त करके बाल्यावस्थामें ही राजा बनाया । उनका भी अगणित गन्धर्वसैन्यके साथ उसी हेमकूट-पर्वत पर वासस्थान है । इधर, चन्द्र-रश्मियों से जो अप्सराओंका कुल उत्पन्न हुआ था, उसमें द्वितीय भगवती पार्वतीके समान एक कन्या उत्पन्न हुई, रश्मियोंके साथ ही गले हुए चन्द्रकलासमूहके समस्त लावण्यद्वारा ही मानो विधाताने उस कन्याकी सृष्टि की थी, एवं वह कन्या भुवनत्रयस्थ लोगोंके नेत्रोंको आनंद देती थी और वह चन्द्रकिरणके समान ही श्वेत-वर्ण थी । क्षीरसागर ने जिसप्रकार गङ्गाको प्रणयिनी बनाया है द्वितीय गन्धर्वकुलाधिपति महाराज हंसने भी उसीप्रकार उस गौरीको प्रणयिनी बनाया था । भगवान् कामदेवके साथ रतिके समान एवं शरत्कालके साथ पद्मिनीके समान, महाराज हंसके साथ सम्मिलित होकर वह गौरी, अनुरूपसम्मेलनजनित अत्यन्त आनन्दको अनुभव करने लगी एवं महाराज हंसकी अन्तःपुरवासिनी रमणियोंकी स्वामिनी हो गई । तदनन्तर उन दोनों ( हंस और हंसीदेवी ) महात्माओंको केवल शोकातुर करनेके लिए ही,

---

१. तस्मिन् कुले द्वितीयेऽस्मिन् । २.···परिचारकस्यास्यापि । ३. सोमपीयूषसम्भूतानामप्सरसां कुलम् , तस्मात् किरणजलानुसार··· । ४. गौरीपतिनाम्ना । ५. हिमकिरण···, रजनीकर··· । ६. द्वितीयकुलाधिपतिः । ७. मकरकेतुना । ८. महात्मनोर्महताक्लेशेनाभिलाषेण कालेन च केवलम् ।

सहस्रभाजनमेकैवात्मजा समुत्पन्ना। तातस्त्वनपत्यतया सुतजन्मातिरिक्तेन महोत्सवेन मम जन्माभिनन्दितवान्। अवाप्ते च दशमेऽहनि कृतयथोचितसमाचारो महाश्वेतेति यथार्थमेव नाम कृतवान्। साहं पितृभवने बालतया कलमधुरप्रलापिनी वीणेव गन्धर्वाणामङ्कादङ्कं सञ्चरन्ती अविदित-स्नेह-शोकायासमनोहरं[2] शैशवमतीतवती[3]। क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन, नवयौवनेन पदम्।

अथ विजृम्भमाणे[4] नव-नलिन-वनेषु, अकठोर[5]-चूतकलिका-कलापकृत-कामुकोत्कलिकेषु[6]

---

एकमात्रपुत्री अहम् अनेकं बहुविधं यद् दुःखसहस्रं क्लेशसमूहः तस्य भाजनं पात्रं केवलं शोकाय शोकहेतवे समुत्पन्ना सञ्जाता।

तात इति। अनपत्यतया मदतिरिक्तसन्तानरहिततया सुतजन्मातिरिक्तेन पुत्रोत्पत्त्यतिरिक्तेन महोत्सवेन मम जन्म अभिनन्दितवान् प्रशंसितवान्। अवाप्ते प्राप्ते च दशमेऽहनि दिने कृतो विहितो यथोचितो यथायोग्यः समाचारः आभ्युदयिकश्राद्धादिव्यवहारो येन सः तात इत्यन्वयः, यथार्थमेव सत्यमेव 'महाश्वेता' इति नाम संज्ञां कृतवान् विहितवान् मत्स्वरूपस्य नितान्तशुभ्ररूपत्वादित्याशयः।

सेति। साहं महाश्वेता पितृभवने तातगृहे बालतया शिशुत्वेन, वीणेव वल्लकीव कलमव्यक्तं मधुरं च प्रलपितुं भाषितुं शीलं यस्याः सा, गन्धर्वाणां देवगायकानाम् अङ्कादङ्कं क्रोडात्क्रोडं सञ्चरन्ती गच्छन्ती, अविदितैः विशेषज्ञानानुदयादनवगतैः स्नेहशोकायासैः प्रतिशोकपरिश्रमैः कारणैः मनोहरं तत्तत्कृद्व्यग्रताभावात् रमणीयं शैशवं बाल्यम् अतीतवती अतिक्रान्तवती।

क्रमेणेति। किञ्चेति चार्थः। क्रमेण परिपाट्या वसन्ते पुष्पकाले इव मधुमासेन चैत्रमासेन, मधुमासे इव नवपल्लवेन नूतनकिसलयेन, नवपल्लवे इव कुसुमेन पुष्पेण, कुसुम इव मधुकरेण भ्रमरेण, मधुकरे तत्कालिकभ्रमरे इव मदेन, मे मम वपुषि शरीरे नवयौवनेन प्रत्यग्रतारुण्येन पदं स्थानं कृतं विहितम्। इह सरस्वतीकण्ठाभरणमते- उत्तरोत्तरमुपमेयानामुपमानत्वकल्पनात् रशनोपमा, दर्पणकारमते तु मालोपमा बोध्या।

अथेति। अथ अनन्तरम् अहं मधुमासदिवसेषु एकदा समये अम्बया सह इदम् अच्छोदं सरः स्नातुम् अभ्यागममिति सुदूरवर्त्तिन्या क्रियया सम्बन्धः। इह सप्तमीबहुवचनान्तानि पदानि मधुमासदिवसेष्वित्यग्रेतनस्य विशेषणानि। विजृम्भमाणानि विकसन्ति नवानि नूतनानि नलिनानां कमलानां वनानि अरण्यानि येषु तेषु।

अकठोरेति। अकठोरः नूतनोत्पन्नत्वात् कोमलैः चूतकलिकानाम् आम्रकुड्मलानां कलापैः समूहैः कृता विहिता कामुकानां कामिजनानाम् उत्कलिका उत्कण्ठा येषु तेषु। उद्दीपकत्वादित्याशयः।

---

शुभलक्षणहीन और नानाविध दुःखसमूहकी पात्र मैं केवल एकमात्र पुत्री उत्पन्न हुई। अन्य सन्तान नहीं होनेके कारण पिताने पुत्रजन्मसे भी अधिक महोत्सवका अनुष्ठान कर मेरे जन्मको अभिनन्दित किया। एवं दशम दिन उपस्थित होने पर यथोचित आचार-सम्पादन-पूर्वक उन्होंने मेरा नाम 'महाश्वेता' यह यथार्थ नाम-करण किया वह मैं शिशुत्व-निबन्धन वीणाके समान अस्पष्ट और मधुरभाषिणी होकर, गन्धर्वोंके मध्यमें एक की गोदमेंसे दूसरेकी गोदमें विचरण करती थी, एवं स्नेह, शोक और दुःखका ज्ञान न होनेसे मनोहर अपनी शैशवावस्थाको मैंने पिताके भवनमें ही बिताया। उसके बाद वसन्त कालमें जिसप्रकार चैत्रमास, चैत्रमासमें जिसप्रकार नवपल्लव, नवपल्लवमें जिसप्रकार पुष्प, पुष्पमें जिसप्रकार भ्रमर एवं भ्रमर में जिसप्रकार मद आकर आविर्भूत होता है, उसी प्रकार नवयौवन आकर मेरे शरीरमें आविर्भूत हुआ।

तदनन्तर, एक समय मैं अपनी माताके साथ वसन्तके कारण अत्यन्त शोभायमान, विकसित नूतन कमल कुमुद, कुवलय और कह्लारयुक्त इस अच्छोदसरोवरमें स्नान करनेके लिए आई। उस समय समस्त जीवलोकके

---

१. निप्रलब्धा केवलम्…। २. …स्नेहशोकायासं। ३. अतिनीतवती। ४. जृम्भमाण। ५. अनेक। ६. काम्युत्कलिकेषु।

कोमल-मलय-मारुतावतार-तरङ्गितानङ्ग-ध्वजांशुकेषु, मद-कलित-कामिनी-गण्डूष-सीधु-सेक-पुलकित-वकुलेषु, मधुकर-कुल-कलङ्क-कालीकृत-कालेयक-कुसुम-कुड्मलेषु[1], अशोकतरु-ताडना-रणित-रमणी-मणि[2]-नूपुर-झङ्कार-सहस्र-मुखरेषु, विकसन्मुकुल-परिमल-पुञ्जितालिजाल-मञ्जु-शिञ्जित-सुभग-सहकारेषु, अविरल-कुसुम-धूलि-बालुका-पुलिन-धवलित-धरातलेषु, मधु[3]-मद-विडम्बित-मधुकरी[4]-कदम्बक-संवाह्यमान-लता-दोलेषु, उत्फुल्ल-पल्लव-लवली[5]-लीयमान-मत्त-

कोमलेति । कोमलो मन्दमन्दसञ्चारी यो मलयमारुतो मलयानिलः तस्य अवतारेण उपस्थित्या तरङ्गितानि तरङ्गवत्प्रस्फुरितानि अनङ्गध्वजांशुकानि मदनध्वजस्थपताका येषु तेषु । वसन्तसमये महोत्सवाय प्रायेणानङ्गपताकोत्थापनादित्याशयः ।

मदेति । मदकलिताः मद्यपानजनितमत्तताव्याप्ता याः कामिन्यः स्त्रियः तासां गण्डसीधूनां वदनपूरितमद्यानां सेकेन सिञ्चनेन पुलकिताः रोमाञ्चवत् समुत्पन्नकोरका वकुला वृक्षा येषु तेषु । तथा च कविसमयख्यातिः—

'पादाघातादशोकं विकसित वकुलं योषितामास्यमद्यैः' इति ।

मधुकरेति । मधुकरकुलं भ्रमरसमूह एव कलङ्को लाञ्छनं मधुकरकुलं कलङ्क इव वा, तेन कालीकृतानि श्यामवर्णीकृतानि कालेयकानां दारुहरिद्रावृक्षाणां कालीयचन्दनानां वा कुसुमानि पुष्पाणि कुड्मलानि कोरकाणि च येषु तेषु । इह 'मधुकरकुलकलङ्क' इत्यत्र किं रूपकं वा उपमेति सन्देहसङ्करः, वृत्त्यनुप्रासश्चेत्युभयोर्भूयः संसृष्टिः ।

अशोकेति । अशोकतरुषु कङ्केलिवृक्षेषु ताडनाभिः कुसुमप्रस्फुटनाय चरणप्रहारैः रणिताः शब्दिता ये रमणीनां सुन्दरीणां मणिनूपुरा रत्नपादकटकाः तेषां झङ्कारसहस्रेण 'झं झं' इति शब्दसमूहेन मुखरा शब्दायमानाः तेषु ।

विकसदिति । विकसन्तः प्रस्फुटन्तो ये मुकुलाः कोरकाः तेषां परिमलेन आमोदेन पुञ्जितस्य एकत्रीकृतस्य अलिजालस्य भ्रमरगणस्य मञ्जुशिञ्जितैः मनोहरशब्दैः सुभगा रमणीया सहकाराः आम्रतरवो येषु तेषु 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः । वृत्त्यनुप्रासः ।

अविरलेति । अविरला निबिडाः कुसुमानां पुष्पाणां धूलयः परागा एव बालुकापुलिनानि सैकतानि अविरलकुसुमधूलयो वालुकापुलिनानीव वा, तैः धवलितं श्वेतीकृतं धरातलं पृथ्वीतलं येषु तेषु ।

इह 'अविरलकुसुमधूलिबालुकापुलिने' त्यत्र रूपकमुपमा वेति सन्देहसङ्करः ।

मध्विति । मधुमदेन कुसुमरसपानजनितमत्ततया विडम्बितं विह्वलीकृतं यत् मधुकरीकदम्बकं भ्रमरीसमूहः तेन संवाह्यमाना इतस्ततः सञ्चाल्यमानाः लता वल्लय एव दोला प्रेङ्खा येषु तेषु । इह 'लता एव' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, तदनुप्राणिता समासोक्तिश्चेति मद्यपानमत्तयुवतीदोलासञ्चालनकार्यप्रतीते ।

उत्फुल्लेति । उत्फुल्लानि स्फुटानि पल्लवानि किसलया यासां तासु, लवलीषु लताविशेषेषु लीयमाना गुप्तमवतिष्ठमाना ये मत्तकोकिला मदोन्मत्तपिकाः तैः उल्लासितम् आलोड्य बहिरानीतं यन्मधु

हृदयको आनन्द-दायक चैत्रमासके दिनोंमें नये कमल-वन प्रस्फुटित हो रहे थे, आमकी कोमल कलियोंका कलाप कामुकोंको उत्कण्ठित कर रहा था; मृदुमन्द मलय-समीरणके आगमनसे कामदेवकी पताका सञ्चालित हो ( फहरा ) रही थी, मदसे माँती हुई कामिनियोंके मुखमद्यसेचनसे वकुल पुलकित हो रहे थे; कलङ्कके समान भ्रमरोंके बैठ जानेसे दारुहरिद्रापुष्प ( चमेली ) की कलियाँ काली हो गई थीं; अशोकवृक्षोंको चरणप्रहार करनेमें शब्दायमान रमणियोंके मणिमय नूपुर ( पायजेब ) के झङ्कार ( झनझनाहट ) से दिशाएँ मुखरित हो रही थीं; विकसित कलियोंके सौरभसे समवेत ( एकत्रित हुए ) भ्रमरोंके मनोहर गुञ्जारसे आम्रके वृक्ष मनोहर लग रहे थे; बालुकामय पुलिन ( रेती ) के समान अविरल पुष्प-रेणुसे भूतल धवलवर्ण दिखलाई देता था; पुष्पके मधुपानसे मत्त हुई मधुकरीगण लतारूपी झूलोंपर झूल रही थीं; मत्त कोकिल गण पल्लवोंसे छाई हुई लवली-लताओंमें गुप्त-रूपसे

१. कालेयककुट्मलेषु । २. ...ताडनरणितरमणीयमणि... । ३. असकृन्मधु... ? ४. ...मधुकर । ५. वल्ली... ।

कोकिलोल्लासित-मधु-शीकरोद्दाम[1]-दुर्दिनेषु, प्रोषित-जनजाया-जीवोपहार-हृष्ट-मन्मथास्फालित[2]-चाप-रव-भय-स्फुटित-पथिक-हृदय-रुधिरार्द्रीकृतमार्गेषु[3],अविरत-पतत्कुसुमशर-पतत्रि-पत्र-सूत्कारबधिरीकृत[4]-दिङ्मुखेषु दिवापि प्रवृत्तान्तर्मदन[5]-रागान्धाभिसारिका-सार्थ-सङ्कुलेषु, उद्वेल-रति-रस-सागर-पूर-प्लावितेषु, सकल-जीवलोक-हृदयानन्ददायकेषु[6], मधुमासदिवसेषु एकदाहमम्बया सह मधुमास-विस्तारित-शोभं प्रोत्फुल्ल-नव-नलिन-कुमुद-कुवलय-कह्लारमिदमच्छोदं सरः स्नातुमभ्यागमम्[7]। अत्र च स्नानार्थमागतया भगवत्या पार्वत्या तटशिलातलेषु विलिखितानि सभृङ्गरिटीनि[8] पांशु-निमग्न-कृश-पदमण्डलानुमित-मुनिजन-प्रणाम-प्रदक्षिणानि त्र्यम्ब-

पुष्परसः तस्य शीकरैः बिन्दुभिः उद्दामं नितान्तं दुर्दिनं वृष्टिर्येषु तेषु।

प्रोषितेति। प्रोषिता विदेशस्था ये जना लोकाः तेषां या जाया वियोगशिथिलाः स्त्रियः तासां जीवस्य जीवनस्य उपहारेण कामपीडया मरणात् तदीयप्राणरूपोपायनप्राप्त्येत्यर्थः, हृष्टः सन्तुष्टो यो मन्मथः कामः तेन आस्फालितस्य कामिलक्ष्येषु बाणप्रक्षेपणाय भूयो भूय आकर्षितस्य, चापस्य धनुषो रवात् शब्दात् भयेन त्रासेन स्फुटितानां विभिन्नानां पथिकहृदयानां वियोगिजनोरसां रुधिरैः शोणितैः आर्द्रीकृताः क्लिन्नीकृता मार्गा अध्वानो येषु तेषु। इह तथाविधशोणितैर्मार्गाणामार्द्रीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

अविरतेति। अविरतं निरन्तरं पतन्तः कामिलक्ष्यं प्रति धावतो ये कुसुमशरपतत्रिणः कामदेवबाणा तेषां यानि पत्राणि पक्षाः ( पुंखाः ) तेषां सूत्कारेण वेगगमनसामयिक 'सूत्' इत्यव्यक्तध्वनिना बधिरीकृतानि दिङ्मुखानि तत्तद्दिक्स्थायिजनश्रोत्राणि येषु तेषु। इहापि बधरीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनात्पूर्वालङ्कारः।

दिवेति। दिवाऽपि दिवसेऽपि, प्रवृत्तः समुत्पन्नः अन्तश्चित्ते यो मदनरागः कामासक्तिः तेन अन्धानां व्यग्राणाम् अभिसारिकाणां सुरताय सङ्केतस्थानं व्रजन्तीनां कामिनीनां सुन्दरीणां सार्थेन समूहेन सङ्कुलेषु व्याप्तेषु।

उद्वेलेति। उद्वेलो वेलामुल्लङ्घ्य गच्छन् ( उन्मर्यादः ) रतिरसः सुरतानुराग एव सागरः अगाधत्वात् समुद्रः तस्य पूरेण प्लवेन प्लावितेषु आच्छादितेषु। इह निरङ्गं केवलरूपकम्।

सकलेति। सकलाः समग्रा ये जीवलोकाः तेषां हृदयानन्दं चित्तप्रमोदं ददतीति तेषु, मधुमासदिवसेषु वसन्तवासरेषु।

एकदेति। एकदा एकस्मिन् समये अम्बया जनन्या सह, मधुमासेन चैत्रेण विस्तारिता अतिशयमुत्पादिता शोभा द्युतिः यस्य तत्, तथा प्रोत्फुल्लानि विकसितानि नवानि नूतनानि कुमुदानि श्वेतोत्पलानि, कुवलयानि नीलोत्पलानि कह्लाराणि रक्तोत्पलानि च यत्र तत्, इदं पुरोऽवलोक्यमानम् अच्छोदं सरः अच्छोदाभिधानं कासारः स्नातुं स्नानाय अभ्यागमम्।

अत्रेति। अत्र अस्मिन् स्थले स्नानार्थम् आप्लवार्थम् आगतया प्राप्तया भगवत्या ऐश्वर्यादिशक्तिमत्या पार्वत्या गौर्या तटशिलातलेषु तीरस्थप्रस्तरोर्ध्वप्रदेशेषु विलिखितानि रेखया रचितानि, भृङ्गरिटिना तत्संज्ञकशिवद्वारपालमूर्त्या सह विद्यमानानीति सभृङ्गरीटीनि 'भृङ्गरिटिः ( पुं० ) शिवद्वारपालः'

रहकर उसके फूलोंके मधुकणोंको उड़ा-उड़ाकर उत्कट दुर्दिन ( अत्यन्त वृष्टि ) कर रहे थे; प्रोषित भर्तृकाओंके जीवन उपहार पाकर सन्तुष्ट चित्तसे कामदेव अपने धनुषका बारंबार आस्फालन ( टङ्कार ) करता था, जिसके शब्दसे त्रस्त होकर विदीर्ण प्रवासियोंके हृदयोंमेंसे बहते रुधिरसे समस्त मार्ग आर्द्र ( तर ) हो रहे थे; अनवरत ( लगातार ) गिरते कामदेवके बाणोंके पंखोंकी सूत्कारध्वनि ( सनसनाहट ) से समस्त-दिशाएँ बधिर हो रही थीं; हृदयमें उत्पन्न कामावेशसे विह्वल होकर कामिनियाँ दिनमें भी सङ्केतस्थानमें जा रही थीं; रमणानुरागरूप उच्छलित ( उमड़ते ) समुद्रके प्रवाहमें सब प्लावित हो ( डूब ) रहे थे। इस अच्छोदसरोवरमें स्नान करनेके लिए आई हुई भगवती पार्वतीसे तीरवर्त्ती बहुतर प्रस्तर खण्डके ऊपर काढ़ी हुई भृङ्गि और रिटी सहित शङ्करकी मूर्त्तियोंको जिनके आप-पास बालुका ( रेती ) में बने हुए चरणोंके चिह्नोंको देखकर ऐसा अनुमान होता था कि वहाँ

१.···उद्गम। २.···हृष्टमन्मथेषु, मन्मथास्फालित···। ३.···रुधिरार्द्रमार्गेषु किंशुकसमाकीर्णेषु, रुधिरार्द्रमार्गेष्विव किंशुकसमाकीर्णमार्गेषु। ४.···पत्रबधिरीकृत···, पत्रफूत्कारबधिरीकृत···। ५. प्रवृत्तमदन···। ६. आनन्दकेषु। ७. अभ्युपापतम्, अभ्युपागमम्। ८. सभृङ्गरीटीनि।

कप्रतिबिम्बकानि वन्दमाना, भ्रमर-भर-भुग्न[1]-गर्भ-केसर-जर्जरकुसुमोपहार-रम्योऽयं लतामण्डपः, परभृत-नख[2]-कोटि-पाटित-कुड्मल-नाल-विवर[3]-विगलितमधुधार[4]: सुपुष्पितोऽयं सहकारतरुः, उन्मद-मयूर-कुल-कलकल[5]-भीत-भुजङ्ग-मुक्ततला शिशिरेयं चन्दनवीथिका[6], विकच-कुसुम-पुञ्ज-पात-सूचित-वनदेवता-प्रेङ्खोलन-शोभनेयं लतादोला, बहलकुसुमरजः-पटल-मग्न-कलहंस-पद-रेखमतिरमणीयमिदं तीरतरुतलम्, इति स्निग्ध-मनोहरतरोद्देश-दर्शन-लोभाक्षिप्तहृदया सह सखीजनेन व्यचरम् ।

एकस्मिंश्च[7] प्रदेशे झटिति वनानिलेनोपनीतम्, निर्भरविकसितेऽपि कानने अभि-

---

शब्दकल्पद्रुमः । तथा पांशुषु रजःसु निमग्नैः त्रुडितैः अत एव कृशैः अस्थूलतयाऽवगम्यमानैः पदमण्डलैः चरणचिह्नसमूहैः अनुमितानि अनुमानविषयीकृतानि मुनिजनानां तपस्विवर्गाणां प्रणामप्रदक्षिणानि नमस्कृतिपरिभ्रमणक्रिया येषां तानि । त्र्यम्बकस्य महेश्वरस्य प्रतिबिम्बकानि प्रतिमूर्त्तीः, वन्दमाना प्रणश्यमाना, अहं व्यचरमित्युत्तरेण सम्बन्धः ।

भ्रमरेति । भ्रमराणां मधुकराणां भरेण भारेण भुग्नाः कुटिलीकृताः गर्भकेसरा मध्यस्थायिकिञ्जल्काः येषां तानि, अत एव जर्जराणि शतच्छिद्राणि यानि कुसुमानि पुष्पाणि तेषाम् उपहारेण वृक्षैर्व्रततीभिश्च पातनेन रम्यो मनोहरः ।

परभृतेति । परभृताः कोकिलाः तेषां नखकोटिभिः नखराग्रैः पाटितानां विभिन्नानां कुड्मलानां कोरकप्रसवबन्धनानां विवरेभ्यः छिद्रेभ्यो विगलिताः विद्रुता मधूनां रसानां धारा आसारो यस्मिन् सः, सुपुष्पितः सम्यक्समुत्पन्नपुष्पः अयं सहकारतरुः आम्रवृक्षः ।

उन्मदेति । उन्मदो मदमत्तो यो मयूरः केकी तस्य कुलं वंशः तस्य कलकलेन कोलाहलेन भीतैः त्रस्तैः भुजङ्गैः सर्पैः मुक्तं परित्यक्तं तलं निम्नभागो यस्याः सा, शिशिरा शीतला, इयं दृश्यमाना चन्दनवीथिका मलयजखण्डश्रेणिः ।

विकचेति । विकचस्य विकसितस्य कुसुमपुञ्जस्य पुष्पनिकरस्य पातेन पतनेन सूचितम् अनुमापितं यत् वनदेवतायाः अरण्याधिष्ठात्र्याः प्रेङ्खोलनम् आन्दोलनं तेन शोभना मनोज्ञा, इयं दृश्यमाना लतादोला लतारूपदोलनयन्त्रम् ।

बहलेति । बहले अधिके पुञ्जीभूत इत्यर्थः कुसुमरजःपटले पुष्पपरागनिकरे मग्ना लीनाः कलहंसानां कादम्बानां पदरेखाः पादचिह्नानि यस्मिंस्तत्, अत एव अतिरमणीयम् अतिमनोहरम् इदं दृश्यमानं तीरतरुतलं तटवृक्षाधःप्रदेशः ।

इतीति । इति एवं प्रकारेण स्निग्धानां नूतनकिसलयादिभिश्चिक्कणानाम् अत एव मनोहरतराणाम् अतिशयेन चित्तहारिणाम्, उद्देशानां वनैकप्रदेशानां दर्शनलोभेन अवलोकनतृष्णया आक्षिप्तम् आकृष्टं हृदयं चेतो यस्याः सा तादृशी अहम्, सखीजनेन वयस्याभिः समं व्यचरम् अभ्रमम् ।

एकस्मिन्निति । किञ्चेति चार्थः । एकस्मिन् प्रदेशे एकस्मिन् भागे झटिति शीघ्रं वनानिलेन अरण्यपवनेन उपनीतम् आहृतम्, निर्भरम् अतिमात्रं यथा स्यात्तथा विकसितेऽपि प्रस्फुटितेऽपि कानने

---

तपस्वियोंने प्रणाम करके प्रदक्षिणा की थी—नमस्कार करती, यहाँ मधुकरोंके भारसे वक्र ( लचके ) हुए गर्भ-तन्तुवाले जर्जरित पुष्पोंसे सुन्दर लता-मण्डप है, यहाँ सुपुष्पित आम्र-वृक्ष हैं, इसकी विकसित हुई कलीकी डंडीको कोकिलोंने नखाग्रसे विदीर्ण ( छिद्र ) कर दिये हैं और उनमेंसे मधुधारा निःसृत हो रही है, यहाँ मदमत्त मयूरोंके कोलाहलसे डरे हुए सर्पोंसे परित्यक्त हुए शीतल चन्दन-वृक्षोंका वन है, यहाँ प्रस्फुटित पुष्पोंके गिरनेसे वनदेवताओंसे झुलाया जाना सूचित करती, रमणीय लताओंकी दोला ( हिंडोला ) है, यहाँ प्रचुर पुष्प-परागके ऊपर पड़े कलहंसके चरण-चिह्नवाला अतिरमणीय, तीरवर्ती वृक्षोंका तल है—यों कहती कहती सुशोभित और अत्यन्त मनोहर स्थानोंको देखनेकी अभिलाषासे आकृष्ट चित्त होकर मैं सखियोंके साथ इतस्ततः भ्रमण करती रही । उसी समय किसी एक स्थानमें लाई गई, समस्त वनके अत्यन्त विकसित होनेपर भी अन्य सब पुष्पोंके

---

१. पतत्रमयभरभुग्न,'''भग्न''' । २. शाखान्तरनर्त्तकजर्जरकुसुमोपहार''' । ३.'''कुड्मलविवर''' । ४.'''मधुनिकरधारः । ५. मयूरकलकल''', सकलमयूरकलकल''' । ६. चन्दनवनवीथिका । ७. अथैकस्मिंश्च ।

भूतान्यकुसुमपरिमलम्, विसर्पन्तम्, अतिसुरभितया अनुलिम्पन्तमिव पूरयन्तमिव तर्पयन्तमिव घ्राणेन्द्रियम्, अहमहमिकया मधुकरकुलैरनुबध्यमानम् अनाघ्रातपूर्वम्, अमानुषलोकोचितम्, कुसुमगन्धमभ्यजिघ्रम्। कुतोऽयमित्युपारूढकुतूहला चाहं मुकुलितलोचना तेन कुसुमगन्धेन मधुकरीवाकृष्यमाणा[1] कौतुकतरलाभ्यधिकतरोपजात-नूपुरमणि[2]-झङ्काराकृष्ट-सरः-कलहंसानि कतिचित् पदानि गत्वा, हर-नयन[3]-हुताशनेन्धनीकृत-मदन-शोकविधुरं वसन्तमिव तपस्यन्तम्, अखिल-मण्डल-प्राप्त्यर्थमीशान-शिरःशशाङ्कमिव धृत-

---

अरण्यकुसुमे इत्यर्थः, अभिभूताः तिरस्कृताः अन्येषां विजातीयानां कुसुमानां प्रसूनानां परिमलाः सौरभाणि येन तम् एतस्मादुत्कृष्टः कोऽपि परिमलो नास्तीत्याशयः। विसर्पन्तं सर्वतः प्रसरन्तम्। अतिसुरभितया अत्यन्तसौगन्ध्यवत्तया घ्राणेन्द्रियं नासिकाम् अनुलिम्पन्तमिव द्रवपदार्थवत् सर्वावयवेषु व्याप्नुवन्तमिव, पूरयन्तमिव परिपूर्णं कुर्वन्तमिव, तर्पयन्तमिव तृप्तिं जनयन्तमिव, अहमहमिकया 'अहमग्रे अहमग्रे' इत्यहङ्कारेण मधुकरकुलैः भ्रमरसमूहैः अनुबध्यमानम् अनुगम्यमानम्, अनाघ्रातपूर्वम् अनाजिघ्रितपूर्वम् अमानुषलोकोचितं देवलोकयोग्यं कुसुमगन्धं पुष्पसौरभं जनमनोहारिणमित्यर्थः अजिघ्रम् घ्राणविषयतामनयम्।

इह 'अनुलिम्पन्तमिव, पूरयन्तमिव, तर्पयन्तमिव' इति तिसृणामेव क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

कुत इति। कुतः कस्मात् प्रदेशात् अयं गन्ध आयातीति शेषः, इत्येवम् उपारूढम् उत्पन्नं कुतूहलं यस्याः सा तादृशी चाहम्, तेन कुसुमगन्धेन पुष्पोमादेन मुकुलिते कोरकवदीषदुन्मीलिते लोचने नयने यस्याः सा मधुकरी भ्रमरीव आकृष्यमाणा बलात्कारेण नीयमाना च सती, कौतुकेन कुतूहलेन तरलः द्रुतपदक्षेपात् कम्प्रः, अत्यधिकतरं पूर्वस्मादतिमात्रं यथा स्यात्तथा उपजात उत्पन्नो यो नूपुरमणीनां पादकटकखचितरत्नानां झङ्कारः 'झं झं' इति शब्दविशेषः तेन आकृष्टाः नूपुरखचितरत्नश्रवणेन कलहंसानामुपस्थितेःप्राकृतिकत्वात् चरणान्तिकमानीताः सरः कलहंसाः कासारकादम्बा यैस्तानि, कतिचित् कियन्ति पदानि गत्वा, 'अतिमनोहरं स्नानार्थमागतं मुनिकुमारकमपश्यम्' इति दूरेण सम्बन्धः। इह द्वितीयैकवचनान्तपदानि अग्रेतनस्य 'मुनिकुमारकम्' इत्यस्य विशेषणानि।

हरेति। हरनयनस्य महेशतृतीयनेत्रस्य यो हुताशनो वह्निः तेन इन्धनीकृतः भस्मीकृत इत्यर्थः यो मदनः कामः तस्य शोकेन खेदेन विधुरं विह्वलम् अत एव तपस्यन्तं वैराग्यात्तपश्चरन्तं वसन्तं सुरभिसमयमिव, पुष्पसौरभवत्त्वात्तस्य कामसखत्वाच्चेत्याशयः। इह पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गेन द्रव्योत्प्रेक्षा सङ्कीर्यते।

अखिलेति। अखिलमण्डलप्राप्त्यर्थं तत्स्वरूपस्य कलामात्रत्वात् समस्तमण्डललाभार्थं धृतव्रतं स्वीकृततपोनियमम्, ईशानशिरःशशाङ्कं महेशभालस्थचन्द्रमिव, तत्सदृशधवलरूपत्वादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

---

सौरभको परास्त करता, सब स्थानोंमें फैलता, अत्यधिक सुगन्धि होनेसे घ्राणेन्द्रियको मानो लिप्त करता, तृप्त करता, पूर्ण करता, उतावलीमें द्रुततर-पदक्षेप करते ( दौड़ते ) भ्रमरोंके झुण्डोंसे अनुगत, अनाघ्रातपूर्व, मनुष्य-लोकके अयोग्य पुष्प-सौरभ आया। 'यह कहाँसे आया है ?' ऐसा कौतूहल उत्पन्न होनेसे मैं, थोड़ा-थोड़ा नयन उन्मीलित ( आँखें मीच ) कर, भ्रमरीके समान उस कुसुम-सौरभसे आकृष्ट हो, जिज्ञासासे चञ्चल होकर, कितने ही पद ( कदम ) आगे गई। मेरे पदक्षेप करनेसे अधिक हिलते नूपुर-मणिके झङ्कारसे अच्छोदसरोवरमेंसे कलहंसगण आकृष्ट होकर दौड़ने लगे। उसके बाद स्नान करनेके लिए आए हुए एक अत्यन्त सुन्दर मुनिकुमारको मैंने देखा। उसे देखकर प्रतीत होता था कि—महादेवके नयनमेंसे निकली अग्निसे भस्मसात् किये ( जलाये ) गये कामदेवके शोकसे विह्वल होकर वसन्त मानो तपस्या करता था, महादेवके मस्तकस्थित क्षुद्र-चन्द्र मानो अपने संपूर्ण

---

१. मधुकरावकृष्यमाणा, मधुकरीवावकृष्यमाणा। २. मणिनूपुर। ३. क्वचित् 'नयन' इति पदं न विद्यते।

  

व्रतम्, अयुग्मलोचनं वशीकर्त्तुकामं काममिव सनियमम् अतितेजस्वितया प्रचलतडिल्लता-पञ्जर-मध्यगतमिव ग्रीष्म-दिवस-दिवसकर-मण्डलोदर-प्रविष्टमिव ज्वलन-ज्वाला-कलाप-मध्य-स्थितमिव[1] विभाव्यमानम्, उन्मिषन्त्या बहुलबहुलया दीपिकालोकपिङ्गलया देहप्रभया कपिलीकृतकाननं कनकमयमिव तं प्रदेशं कुर्वाणम्, रोचना-रस-लुलित-प्रतिसर-समान-सुकुमार-पिङ्गल-जटम्[2], पुण्यपताकायमानया सरस्वतीसमागमोत्कण्ठा-कृत-चन्दनरेखयेव[3] भस्मललाटिकया बालपुलिनलेखयेव[4] गङ्गाप्रवाहमुद्भासमानम्[5], अनेक-शाप भ्रूकुटि[6]-भवनतोरणेन भ्रूलता-

अयुग्मेति। अयुग्मे विषमे लोचने नयने यस्य तं त्रिलोचनं महेशम्, वशीकर्त्तुं स्वापराधेन प्रतिकूलीभूतत्वात् पुनः प्रसादीकर्त्तुं कामः स्पृहाऽस्येति तम्, अत एव सनियमं महेशोपासनारूपव्रतसहितं कामं मन्मथमिव, तद्वदत्यन्तरमणीयत्वादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

अतीति। अतितेजस्वितया नितान्तप्रतापवत्तया कारणेन, प्रचलाः स्पन्दमाना याः तडिल्लता विद्युल्लताः तासां पञ्जरमध्यगतमिव समूहाभ्यन्तरस्थितमिव ग्रीष्मदिवसस्य तत्समये सूर्यस्यातितेजस्वित्वादित्याशयः, यत् दिवसकरमण्डलं सूर्यबिम्बं तस्य उदरे अन्तः प्रविष्टमिव, तथा ज्वलनस्य वह्नेर्यो ज्वालाकलापः शिखासमूहः तस्य मध्यस्थितमिव अभ्यन्तरगतमिव, विभाव्यमानं प्रतीयमानम्।

इह '...मध्यगतमिव' '...प्रविष्टमिव' '...मध्यस्थितमिव' इति तिसृणां क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानतया संसृष्टिः। एवं दिवसपदस्य पुनरुक्त्या पुनरुक्तत्वं दोषः समापतति स च हि ग्रीष्मसमयेति पाठेन समाधातुं शक्यः।

उन्मिषन्त्येति। उन्मिषन्त्या शरीरादेव विकसन्त्या, बहुलबहुलया अत्यधिकया, दीपकालोकवत् प्रदीपप्रभावत् पिङ्गलया पिञ्जरया, देहप्रभया शरीरकान्त्या, कपिलीकृतं पिङ्गलवर्णीकृतं काननमरण्यं येन तम्, अत एव तं प्रदेशं स्थानं कनकमयमिव सुवर्णविकारमिव कुर्वाणं विदधतम्।

इह 'दीपालोकपिङ्गलया' इत्यत्र लुप्तोपमा, काननस्य पिङ्गलीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, गुणोत्प्रेक्षा चेत्येतासामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

रोचनेति। रोचनारसेन गोरोचनाद्रवेण लुलितो रक्तो यः प्रतिसरः परिणयादिधारणीयहस्तसूत्रं तत्समानाः तत्तुल्याः सुकुमाराः सुकोमलाः पिङ्गलाः पिञ्जराश्च जटाः सटा यस्य तम्। इह लुप्तोपमा।

पुण्येति। पुण्यपताकायमानया धर्मवैजयन्तीवदाचरमाणया, तस्या अपि श्वेतत्वादित्याशयः। सरस्वत्या भारत्याः समागमाय सङ्गमाय या उत्कण्ठा उत्कलिका तया कृता विहिता या चन्दनरेखा मलयजरेखा तयेव विद्यमानया, भस्मनो विभूतेः ललाटिकया पुण्ड्रकविशेषेण बालपुलिनलेखया सूक्ष्मजलोज्झिततीरलेखया गङ्गाप्रवाहमिव, उद्भासमानं दीप्यमानम्।

इह 'पुण्यपताकायमानया' इत्यत्र व्यङ्ग्यगतोपमा, '...चन्दनरेखयेव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, 'गङ्गाप्रवाहमिव' इत्यत्र श्रौतोपमा चेति परस्परमेतासामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अनेकेति। अनेके अगणिता ये शापा अभिसम्पाताः तेभ्यो भ्रूकुटिः भ्रूसङ्कोच एव भवनं सद्म तस्य तोरणेन द्वारस्थायिधनुराकृतिदारुविशेषरूपेण भ्रूलताद्वयेन भ्रूवल्लीयुगलेन करणेन विराजितं शोभितम्।

मण्डलकी प्राप्तिके लिए व्रतालम्बन किया था, कामदेव मानो फिरसे महादेवको प्रसन्न करनेकी इच्छा कर उसके उपासना-रूप व्रतका अवलम्बन किया था, और वह मुनिकुमार अत्यन्त तेजस्वी था, इससे प्रतीत होता था कि मानो चमकती हुई बिजलियोंके पिंजरेमें हो, ग्रीष्मकालके सूर्यमण्डलके उदरमें प्रविष्ट हुआ हो, या अग्निकी लपेटोंके मध्यमें खड़ा हो। शरीरमेंसे निकलती दीपप्रकाशके समान पीली, चारों ओर अत्यन्त झलकती प्रभासे उस वनको पीला करके, उस स्थानको मानो वह सुवर्णमय (सुनहरा) बना रहा था। उसके मस्तकमें जटा गोरोचनके रसमें डुबाये हुए विवाहादिमें धारणीय मङ्गल-हस्त-सूत्रके समान सुकुमार और पीली थी। उसके ललाटमें धर्मपताकाके समान एवं सरस्वतीके साथ समागमकी उत्कण्ठासे की हुई चन्दन रेखाके समान भस्मका तिलक था, उससे वह क्षुद्र बालुकामय पुलिन-रेखाद्वारा गङ्गाप्रवाहके समान शोभायमान प्रतीत होता था। उसकी दोनों भ्रू-लताएँ बहुतर अभिसम्पात (शाप) कालकी भ्रुकुटियोंके भवन-तोरणके समान लगती थी। लोचनोंके

१. प्रचलित..., ग्रीष्मदिवसं दिवस... ज्वलनं ज्वाला... ज्वलदनल, ज्वलज्ज्वलन। २. सुकुमारजटम्। ३. ...चन्दनलेखयेव। ४. ...रेखयेव। ५. उद्भाव्यमानम्। ६. भ्रकुटि, भ्रकुटिः।

द्वयेन विराजितम्, अत्यायततया लोचनमयीं मालामिव ग्रथितामुद्वहन्तम्, सर्वहरिणै-रिव दत्त-लोचन-शोभा-संविभागम्, आयतोत्तुङ्ग-घ्राणवंशम्, अप्राप्त-हृदय-प्रवेशेन नवयौवन-रागेणेव सर्वात्मना पाटलीकृताधररुचकम्, अनुद्भिन्नश्मश्रुत्वात्[1] अनासादित-मधुकरावली-वलय-परिक्षेप-विलासमिव बालकमलमाननं दधानम्, अनङ्गकार्म्मुकगुणेनेव[2] कुण्डलीकृतेन तपस्तडाग-कमलिनी-मृणालेनेव यज्ञोपवीतेनालङ्कृतम् एकेन सनाल-वकुल-फलाकारं कम-ण्डलुम्, अपरेण मकरकेतु-विनाश-शोकरुदिताया रतेरिव बाष्पजलबिन्दुभिरारचितां स्फटि-

इह परम्परितरूपकम्।

अत्येति। अत्यायततया नयनयोरतिविस्तीर्णतया कारणेन लोचनमयीं नेत्रमयीं ग्रथितां गुम्फितां मालामिव विसारित्वात् स्रजमिव उद्वहन्तं धारयन्तम्। जात्युत्प्रेक्षा।

सर्वेति। सर्वहरिणैः समग्रमृगैः दत्तः अर्पितो लोचनशोभाया निजनिजनयनद्युतेः संविभागो विभक्तांशो यस्मै तमिव मृगवन्नयनशोभावत्त्वादित्याशयः। इह तथाविधदानोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

आयतेति। आयतो विस्तीर्ण उत्तुङ्ग अत्युच्चश्च घ्राणवंशो नासिकादण्डो यस्य तम्।

अप्राप्तेति। अप्राप्तः वशेन्द्रियत्वादलब्धो हृदये चित्ते प्रवेशो येन तेन, नवयौवनस्य प्रत्यग्रतारुण्यस्य रागः सुन्दरीष्वनुराग एव रागो लौहित्यं तेन, सर्वात्मना सर्वप्रकारप्रयत्नेन, पाटलीकृतं श्वेतरक्तीकृतम् अधरो रुचकं बीजपूर इव यस्य तम्। 'रुचको बीजपूरे च निष्के दन्तकपोतयोः' इति मेदिनी।

इह अनुरागलौहित्योर्भेदेऽपि रागशब्दश्लेषेणाभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः, प्राकृतिकश्वेतरक्ताधरे-प्रत्यग्रतारुण्यरागकर्तृकपाटलीकरणोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा, '...अधररुचकम्' इत्यत्र लुप्तोपमा चेति परस्पर-मासामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अनुद्भिन्नेति। न उद्भिन्नानि प्रकटितानि श्मश्रूणि मुखलोमानि यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्कार-णात्, न आसादितो लब्धः, मधुकरावलीवलयेन भ्रमरपङ्क्तिमण्डलेन परिक्षेपविलासः परिवेष्टनशोभा येन तत्तथोक्तम्, बालकमलम् अभिनवपङ्कजमिव आननं मुखं दधानं धारयन्तम्। इह 'बालकमलमिव' इत्यत्र श्रौतोपमा।

अनङ्गेति। अनङ्गस्य कामस्य कार्मुकगुणेनेव धनुर्ज्यैव, सुन्दरीणां कामोद्दीपनादित्याशयः, कुण्डली-कृतेन वलयीकृतेन, तथा तप एव तडागः सरोवरः तस्य या कमलिनी नलिनी तस्या मृणालेन बिसेनेव, श्वेतत्वादित्यभिप्रायः, यज्ञोपवीतिना यज्ञसूत्रेण अलङ्कृतं विभूषितम्।

इह 'कार्मुकगुणेनेव' इत्यत्र श्रौतोपमा, 'तपतडागे' त्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, '...कमलिनी मृणा-लेनेव' इत्यत्र च पुनः श्रौतोपमा, आसामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

एकेनेति। एकेन करेण वामहस्तेनेत्यर्थः, सनालं सवृन्तं यद् वकुलफलं केसरफलं तद्वत् आकार आकृतिर्यस्य तं तथोक्तं कमण्डलुं कलयन्तमिति सम्बन्धः। कमण्डलोरपि नालसत्त्वात् सनालेति विशेष-णम्। अपरेण च दक्षिणेन हस्तेन मकरकेतोः कामस्य विनाशशोकेन हरतृतीयलोचनभस्मजनितशोकेन रुदितायाः कृताश्रुपाताया रतेः कामपत्न्याः बाष्पजलबिन्दुभिः नेत्रवारिपृषद्भिः आरचितां निर्मितामिव, श्वेतत्वादित्यभिप्रायः, स्फटिकस्य श्वेतमणेः अक्षमालिकां जपमालिकां कलयन्तं धारयन्तम्। तत्तपस्विकुमा-रस्य समस्तसामग्रीणामेव कामोद्दीपनत्वं प्रत्याययितुं मकरकेतुसम्बन्धिविशेषणमित्यवधेयम्। इह प्रथम-विशेषणे आर्थोपमा, द्वितीयविशेषणे च क्रियोत्प्रेक्षेति परस्परमनयोर्नैरपेक्ष्येण विद्यमानतया संसृष्टिः।

अत्यन्त विस्तृत होनेके कारण उसने मानो लोचनों की ही गुँथी माला धारण किया था। समस्त हरिणोंने मानो उसके लोचनोंकी शोभाको समानतासे विभक्तकर दिया था। उसका नासिका-दण्ड लम्बा और ऊँचा था। नवयौवनका अनुराग उसके हृदयमें प्रवेश नहीं कर सका था इसलिए ही मानो बीजपूरक फलके समान उसका ओष्ठयुगल श्वेतरक्त था। दाढ़ी न निकलनेके कारण उसका मुखमण्डल, भ्रमरपंक्तियोंके द्वारा मण्डलक्रमसे परिवेष्टनरूप शोभाविहीन बाल-कमलके समान दिखलाई देता था। कामदेव-धनुषके मण्डलाकार किये हुए गुण ( डोरे ) के समान एवं तपस्यारूपी सरोवरकी कमलिनीके मृणालके समान शुभ्रवर्ण यज्ञोपवीत उसने धारण किया था। एक हाथमें उसने, वृन्तसमन्वित ( डंडी सहित ) वकुलफलाकृति एक कमण्डलु धारण किया था और दूसरे हाथमें कामदेवके विनाशसे शोकातुर हो रुदन करती रतिके मानो अश्रुबिन्दुओंके द्वारा ही निर्मित हुई एक

१. अनुद्भूत,...श्मश्रुराजित्वात। २. कार्म्मुकगुणेन।

काक्षमालिकां करेण कलयन्तम्, अनेक-विद्यापगा-सङ्गमावर्त्तनिभया नाभिमुद्रयोपशोभमानम्, अन्तर्ज्ञाननिराकृतस्य मोहान्धकारस्यापयान-पदवीमिवाञ्जनरजोलेखाश्यामलां रोमराजिमुदरेण तनीयसीं[3] बिभ्राणम्, आत्मतेजसा विजित्य सवितारं परिगृहीतेन[4] परिवेषमण्डलेनेव मौञ्जमेखलागुणेन परिक्षिप्तजघनभागम्, अभ्रगङ्गास्रोतोजलप्रक्षालितेन जरच्चकोर-लोचनपुट-पाटल-कान्तिना मन्दारवल्कलेनोपपादिताम्बरप्रयोजनम्, अलङ्कारमिव ब्रह्मचर्य्यस्य, यौवनमिव[5] धर्म्मस्य, विलासमिव सरस्वत्याः, स्वयंवरपतिमिव सर्वविद्यानाम्, सङ्केत-

अनेकेति। अनेका नानाप्रकारा विद्या आन्वीक्षिक्याद्या एव आपगा नद्यः तासां सङ्गमे सम्मेलने य आवर्त्त अम्भसां भ्रमिः तन्निभया तत्सदृशया नाभिमुद्रया तुन्दकूपिकया उपशोभमानं विराजमानम्।

इह '···विद्यापगा' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, '···आवर्त्तनिभया' इत्यत्र आर्थोपमेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अन्तरिति। उदरेण जठरेण करणेन, अन्तर्ज्ञानेन आन्तरिकतत्त्वबोधेन निराकृतस्य दूरीकृतस्य, मोहोऽज्ञानमेव अन्धकारस्तिमिरः तस्य अपयानपदवीमिव निःसरणमार्गमिव, अञ्जनरजसां कज्जलधूलीनां लेखेव रेखेव श्यामला कृष्णा ताम्, तनीयसीं केवलोत्पत्त्यारम्भात् कृशतरां रोमराजिं तनूरुहश्रेणीं बिभ्राणं दधानम्।

इह मोहे तिमिरत्वारोपः शाब्दः, अन्तर्ज्ञाने प्रकाशत्वारोपस्त्वार्थः इत्येकदेशविवर्त्तिरूपकम्, 'अपयानपदवीमिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, 'अञ्जनरजोलेखाश्यामलाम्' इत्यत्र लुप्तोपमा चेत्यासामङ्गाङ्गिभावसङ्करः। अपुष्टार्थत्वदोषस्तु न, तरलाञ्जनरेखावत् लोमावल्याः सर्वथा सादृश्यराहित्यव्यञ्जनार्थं रजःपदोपादानात्।

आत्मेति। आत्मतेजसा स्वकीयतपःप्रभावेन सवितारं सूर्यं विजित्य पराभूय परिगृहीतेन हठादानीतेन, परिवेषमण्डलेनेव परिधिवलयेनेव विद्यमानेन, मौञ्जमेखलागुणेन मुञ्जनिर्मितरशनादरवकेण परिक्षिप्तः परिवेष्टितः जघनभागः अग्रप्रदेशो यस्य तम्। जात्युत्प्रेक्षा।

अभ्रेति। अभ्रगङ्गायां व्योमनद्याः स्रोतोजलेन प्रवाहसलिलेन प्रक्षालितं धौतं तेन, जरतो वृद्धस्य चकोरस्य जीवञ्जीवस्य पक्षिविशेषस्य लोचनपुटवत् पाटला श्वेतरक्ता कान्तिः शोभा यस्य तेन मन्दारस्य देववृक्षविशेषस्य वल्कलेन त्वचा करणेन, उपपादितं सम्पादितम् अम्बरप्रयोजनं परिधेयवसनकृत्यं येन तम्, तथोक्तमेकं मन्दारत्वचं परिदधानमित्यर्थः। 'इह जरच्चकोरलोचनपुटपाटले' त्यत्र लुप्तोपमा। इहापुष्टार्थत्वदोषस्तु न भवति, वृद्धचकोरस्यैव नयनपुटद्युतिरधिकश्वेतरक्तो भवतीति ध्वननार्थं जरत्पदोपादानात्।

अलमिति। ब्रह्मचर्यस्य स्त्रीसम्बन्धपरिवर्जनरूपस्य अलङ्कारं भूषणमिव, एनं प्राप्य पूर्णावयवतया तस्य कान्त्यतिशयादित्याशयः ब्रह्मचर्यलक्षणमाह्निकसूत्रावल्याम्—

'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपर्ययं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥'

धर्मस्य सुकृतस्य यौवनं तारुण्यमिव, इह पूर्णत्वादित्यभिप्रायः। सरस्वत्या भारत्या विकासं विभ्रममिव, एनं प्राप्य तस्या अपि अत्यधिककान्तिप्रापणादिति भावः। सर्वविद्यानाम् आन्वीक्षिक्यादिचतुर्दश-

स्फटिकमय अक्षमालिका ( जपमाला ) धारण की थी। उसकी नाभिमुद्रा बहुविध विद्यारूपी नदियोंके संगमसे उत्पन्न हुए आवर्त्तके समान शोभायमान थी। आन्तरिक तत्त्वज्ञानरूपी प्रकाशसे निकाले गए मोहान्धकारके बाहर निकलनेके मार्गके समान एवं कज्जल-रेणु-रेखाके समान कुछ-कुछ श्यामवर्ण महीन रोमराजि उसके उदरपर निकल रही थी। अपने तेजसे सूर्यको पराजित कर बलपूर्वक लाए हुए परिवेष-मण्डलके समान एक मुञ्जमेखला ( मूँजकी तागड़ीकी डोरी ) से उसका जघनदेश परिवेष्टित था और आकाशगङ्गाके प्रस्रोत-जलमें प्रक्षालित, एवं वृद्ध चकोरपक्षीके लोचनके समान श्वेतरक्त-कान्ति-सम्पन्न एक मन्दार वृक्षके वल्कलसे उसके वस्त्रका प्रयोजन-सम्पादन होता था ( अर्थात् उस प्रकारका एक वल्कल पहनता था )। और ब्रह्मचर्यका मानो वह अलङ्कार था, धर्मका मानो यौवनकाल था, सरस्वतीका मानो विलास था, सब विद्याओंका मानो स्वयंवर-पति था और सब

१. स्फटिकगुलिकाक्षमालिकां। २. अपनयन। ३.···तनीयसा तनीयसीं। ४. आगृहीतेन। ४. आपणमिव।

स्थानमिव सर्वश्रुतीनाम्,[1] निदाघकालमिव साषाढम्, हिमसमयकाननमिव स्फुटितप्रियङ्गु-मञ्जरीगौरम्, मधुमासमिव कुसुम-धवल-तिलक-भूति-भूषित[2]-मुखम्, आत्मानुरूपेण सवयसा अपरेण देवतार्चनकुसुमान्युच्चिन्वता तापसकुमारेणानुगतम्, अतिमनोहरम्, स्नानार्थमागतम्, मुनिकुमारकमपश्यम्।

तेन च कर्णावतंसीकृतां वसन्तदर्शनानन्दितायाः स्मितप्रभामिव वनश्रियः, मलय-मारुतागमनार्थ[3]-लाजाञ्जलिमिव मधुमासस्य, यौवनलीलामिव कुसुमलक्ष्म्याः, सुरत-परिश्रम-

---

विद्यानामित्यर्थः, स्वयं व्रियत इति स्वयंवरस्तथोक्तः पतिः स्वामी तमिव, विद्याभिः स्वयमेवास्याङ्गीकरणात् अनेन च तदर्थं प्रयत्नाकरणादित्याशयः। सर्वश्रुतीनां समस्तवेदानां सङ्केतस्थानमिव संयोगाय मिथो निर्दिष्टभूमिमिव, स्वेनैव तासां तत्रागमनादित्यभिप्रायः। यद्यपि सर्वविद्यासु श्रुतीनामप्यन्तर्भावो भवत्येव तथापि प्राधान्यबोधनाय पृथगुपन्यासः गोबलीवर्दन्यायात्।

इह 'अलङ्कारमिव' इत्यारभ्य 'सङ्केतस्थानमिव' इत्यन्तं यावत् सर्वत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

निदाघेति। निदाघकालं ग्रीष्मसमयमिव, आषाढेन आषाढदण्डेन शुचिमासेन च सहेति साषाढम्। 'आषाढो व्रतिनां दण्डे मासे मलयपर्वते' इति 'शुचिर्ग्रीष्माग्निश्रृङ्गारेष्वाषाढे शुद्धमन्त्रिणि, इति च मेदिनी।

हिमेति। हिमसमयः शीतकालः तस्य काननं वनमिव, स्फुटिता प्रफुल्ला या प्रियङ्गुमञ्जरी फलिनी-वल्लरी तद्वद् गौरं शुभ्रवर्णं प्रियङ्गुमञ्जर्या च गौरम्। शीतसमय एव तत्प्रस्फुटनात् हिमसमयेति विशेषणम्।

मध्विति। मधुमासश्चैत्रमासः तमिव, कुसुमवत् पुष्पवत् धवला शुभ्रा या तिलकभूतिः त्रिपुण्ड्रात्मकं भस्म तया भूषितम् अलङ्कृतं मुखम् आननमण्डलं यस्य तम्, अन्यत्र तु कुसुमैः पुष्पैः धवला ये तिलकाः तिलकसंज्ञकवृक्षविशेषाः तेषां भूत्या समृद्ध्या भूषितं मुखम् अग्रभागो यस्य तम्, वसन्तप्रथमकाल एव तिलकतरूणां प्रसूनोत्पत्तेः। 'तिलकोऽश्वद्रुमभिदोः पुण्ड्रके तिलकालके। तिलकं रुचके क्लोम्नि' इति हैमः। भूतिर्भस्मनि सम्पत्तिहस्तिश्रृङ्गारयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी।

इह 'निदाघ कालमिव' इत्यारभ्य 'मधुमासमिव' इत्यन्तं पूर्णोपमालङ्कारः।

आत्मेति। आत्मानुरूपेण आत्मसदृशेन समानं तुल्यं वयोऽवस्था यस्य तेन सवयसा मित्रेण अपरेण द्वितीयेन देवतार्चनकुसुमानि देवपूजनपुष्पाणि उच्चिन्वता अवचयनं कुर्वता तापसकुमारेण मुनिबालकेन अनुगतं सहितम्, अतिमनोहरम् अतिरुचिरं स्नानार्थम् आप्लवार्थम् आगतम् आयातम्, मुनिकुमारकं तापसबालकम् अपश्यम् अवलोकयम्। 'मुनिकुमारकम्' इत्यत्रानुकम्पार्थे कः।

तेनेति। किञ्चेति चार्थः। तेन मुनिकुमारकेण कर्णावतंसीकृतां श्रवणविभूषणीकृतां कुसुममञ्जरी-मद्राक्षमित्यन्वयः। वसन्तस्य ऋतुराजस्य दर्शनेन अवलोकनेन आनन्दितायाः प्रहर्षितायाः वनश्रियः काननलक्ष्म्याः, स्मितप्रभां मन्दहास्यच्छविमिव, श्वेतत्वसादृश्यादित्याशयः। मधुमासस्य चैत्रमासस्य, मलयमारुतस्य मलयानिलस्य आगमनार्थम् आगमनाभिनन्दननिमित्तं यो लाजाञ्जलिः अञ्जलिपूर्णा धानाः तमिव, श्वेतत्वसादृश्यादित्याशयः। अन्योऽपि सम्माननीयपुरुषागमने तदभिनन्दनाय लाजानादत्त इति। कुसुमलक्ष्म्याः पुष्पश्रियो यौवनलीलामिव तारुण्यक्रीडामिव, कामाभिव्यक्तिकत्वादित्याशयः। रतेः काम-

---

वेदोंका मानो सम्मिलित होनेका सङ्केतस्थान था। ग्रीष्मकालमें जिसप्रकार आषाढ़मास रहता है, उसके हाथमें भी उसी प्रकार एक दण्ड था; शीत-कालका वन जिसप्रकार प्रस्फुटित प्रियङ्गुमञ्जरी द्वारा गौरवर्ण होता है, वह भी उसी प्रकार प्रस्फुटित प्रियङ्गुमञ्जरीके समान गौरवर्ण था; चैत्रमासके प्रथम भाग (वसन्तके आरंभ) में जिसप्रकार तिलक-वृक्ष श्वेतवर्ण पुष्पोंसे भूषित होता है, उसका मुखमण्डल भी उसी प्रकार पुष्पके समान श्वेतवर्ण भस्मके तिलकसे भूषित था; और अपने अनुरूप और समान वयसक एक दूसरा मुनिकुमार देवपूजन करनेके लिए पुष्पचयन करता करता उसके पीछे-पीछे था।

पूर्ववर्णित उस ऋषिकुमारके कानमें उरसी, अमृतबिन्दु टपकाती एक अदृष्टपूर्व कुसुममञ्जरीको मैंने देखा। वह मानो—वसन्तकाल दर्शनसे आनन्दित हुई वनलक्ष्मीकी ईषद्हास्यप्रभाके समान, मलय-पवनके स्वागताभि-नन्दनके लिए चैत्रमास (वसंत) की लाजाञ्जलीके समान, कुसुम श्रीकी यौवन-लीलाके समान, रतिदेवीके

---

१. सर्वश्रुतानाम्। २.…विभूषित…कुपित…। ३.…आगमनार्थं।

स्वेद-जल-कण-जालकावलीमिव रतेः, ध्वजचिह्न-चामर-पिच्छिकामिव मनोभवगजस्य, मधुकर-कामुकाभिसारिकाम्, कृत्तिकातारास्तवकानुकारिणीम्, अमृतबिन्दुनिस्यन्दिनीम्, अदृष्टपूर्वां कुसुममञ्जरीमद्राक्षम्।

'अस्याः परिभूतान्यकुसुमामोदो नन्वयं परिमलः' इति मनसा निश्चित्य तं तपोधनयुवानमीक्षमाणाहमचिन्तयम्-'अहो! रूपातिशय-निष्पादनोपकरणकोशस्य अक्षीणता[2] विधातुः, यत्त्रिभुवनाद्भुतरूपसम्भारं भगवन्तं कुसुमायुधमुत्पाद्य तदाकारातिरिक्तरूप[3]राशिः अयमपरो

---

पत्न्याः सुरतपरिश्रमेण आश्लेषजनितखेदेन यानि स्वेदजलानि शरीरनिःसृतघर्मसलिलानि तेषां कणजालकावलीमिव बिन्दुसमूहपङ्क्तिमिव, तद्वत् निर्मलश्वेतत्वादित्यभिप्रायः। मनोभवः काम एव गजो हस्ती तस्य, ध्वजस्य पताकायाः चिह्नरूपा लक्ष्मरूपा या चामरपिच्छिका निम्नगुम्फिता चामररूपा पिच्छिका बर्हचूडा तामिव, तत्पिच्छिकावलोकनेन गजप्राकट्यज्ञानवत् तन्मञ्जर्यवलोकनेन कामाविष्कारप्रतीतेरित्याशयः।

'पिच्छा पूगच्छटाकोषमोचाशाल्मलिवेष्टके। भक्तसम्भूतमण्डे च पङ्क्तावश्वपदामये।
स्त्रियां, पुंसि तु लाङ्गूले न द्वयोर्बर्हिचूडयोः॥'

इति मेदिनी। मधुकरो भ्रमर एव कामुकः कामाभिलाषी तस्य अभिसारिकाम् 'अभिसारयते कान्तं या स्वयं वाऽप्यभिसरत्यपि' इत्यादिलक्षणेन कामिजनानयनकारिणीं स्वयं वा सङ्केतस्थलगामिनीं नायिकामिव, तदुद्देशेन द्रुतगमनादित्याशयः। कृत्तिकातारा: कृत्तिकासंज्ञकानि षट् नक्षत्राणि तेषां स्तवकं गुच्छम् अनुकर्तुं शीलं यस्याः ताम्, अत्यधिकश्वेतत्वादित्याशयः। अमृतबिन्दुनिस्यन्दनीं मधुकणस्राविणीम्, अदृष्टपूर्वाम् अनवलोकितपूर्वां कुसुममञ्जरीं पुष्पमञ्जरीम् अद्राक्षम् अपश्यम्।

इह 'स्मितप्रभामिव,......लाजाञ्जलिमिव' इत्युभयत्र जात्युत्प्रेक्षा। 'यौवनलीलामिव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा।......जालकावलीम्' इत्यत्र-जात्युत्प्रेक्षा।......चामरपिच्छिकामिव' इत्यत्रापि जात्युत्प्रेक्षा, 'मनोभवगजस्ये' त्यत्र तु निरङ्गकेवलरूपकम्, इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। 'मधुकरकामुके'त्यत्र मधुकरे कामुकत्वारोपो मञ्जर्यामभिसारिकारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकम्। 'कृत्तिकातारास्तवकानुकारिणीम्' इत्यत्र तु आर्थोपमा।

अस्या इति। अस्याः कुसुममञ्जर्याः, अयं परिमलो गन्धः, परिभूतोऽभिभूतः तिरस्कृत इत्यर्थः, अन्येषां स्वेतरपुष्पाणाम् आमोदः परिमलो येन स तथोक्तो ननु तथाविध एव, अत एवेममेव गन्धमहं पूर्वमभ्यजिघ्रमित्याशयः। इति एवं मनसा हृदयेन निश्चित्य निर्णीय तं तपोधनयुवानं मुनिकुमारकम् ईक्षमाणा पश्यन्ती अहं महाश्वेता अचिन्तयम् चिन्तामकरवम्।

अहो इति। अहो इत्याश्चर्ये। विधातुः सृष्टिकर्तुः, रूपातिशयस्य सौन्दर्याधिक्यस्य निष्पादने निर्माणविषये यानि उपकरणानि साधनानि तेषां कोशस्य भाण्डागारस्य अक्षीणता अक्षयत्वं चिरपूर्णमित्यर्थः।

कथमेतदवगम्यत इत्यत आह—यदिति। यद् यस्मात् कारणात्, त्रिभुवने त्रिविष्टपे अद्भुतः अतिशायी रूपसम्भारः सौन्दर्यसमूहो यत्र सः। भगवन्तं कुसुमायुधं मदनम् उत्पाद्य निर्माय तदाकारात् कुसुमायुधाकृतेः अतिरिक्तः अधिकः रूपराशिः सौन्दर्यसमूहः, मुनिमायामयः तापसव्याजमयः, तपस्वि-

---

संभोगपरिश्रमके घर्मजल (पसीने) की बिन्दुराशिके हारके समान, मदन-रूपी हाथीकी पूर्ववर्ती ध्वजाके चिह्नरूप चामर के समान, भ्रमण-रूपी कामुककी अभिसारिकाके समान, और कृत्तिका नामक नक्षत्रके तारोंके गुच्छोंके समान प्रतीत होती थी।

'इस कुसुममञ्जरी' का सुगन्ध ही अन्य सब पुष्पोंकी सुगन्धको आच्छादित कर देती है' इस प्रकार मनमें निश्चय कर उस तपस्वी युवकको देखती-देखती मैं विचार करने लगी—अहो! (क्या आश्चर्य!) विधाताके असाधारण सौन्दर्यनिर्माणके उपयोगी साधनोंके भण्डारमें कभी कमी नहीं होती! क्योंकि—उस (विधाता) ने त्रिभुवनके मध्यमें आश्चर्य-रूपराशिविशिष्ट भगवान् कामदेवको उत्पन्न करके भी उससे बढ़ कर मनोहर

---

१. रूपराशिः। २....उपकरणकौशलस्याक्षीणता। ३. रूपातिशयराशिः।

मुनिमायामयो मकरकेतुरुत्पादितः। मन्ये च सकलजगन्नयनानन्दकरं शशिम्बिवं विरचयता लक्ष्मी-लीला वासभवनानि कमलानि सृजता प्रजापतिना² एतदाननाकार-करणकौशलाभ्यास एव कृतः, अन्यथा किमिव हि सदृशवस्तुविरचनायाः³ कारणम्। अलीकञ्चेदं यथा किल सकलाः कलाः कलावतो बहुलपक्षे क्षीयमाणस्य सुषुम्ननाम्ना रश्मिना रविरापिबतीति, ताः खल्वस्य गभस्तयः समस्ता वपुरिदमाविशन्तीति, कुतोऽन्यथा रूपापहारिणी क्लेशबहुले तपसि वर्तमानस्येदं लावण्यम्'। इति चिन्तयन्तीमेवं मामविचारितगुणदोषविशेषो रूपैकपक्ष-

वेषधारीत्यर्थः, अयं पुरोऽवलोक्यमानः कुमारः, अपरो मकरकेतुः द्वितीयः कामः कृत्वा उत्पादितो जनितः विधात्रेति शेषः। सृष्टिकर्तुः तत्साधनभाण्डागारस्य क्षयिष्णुत्वे तदेकमकरकेतुनिष्पादनेनैव तत्क्षयात्पुनरस्य तथाविधभावेन निष्पादनासम्भव इत्याशयः। मुनिमायामय इत्यत्र प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनादपह्नुतिः।

मन्य इति। किञ्चेति चार्थः। प्रथमं सकलजगतः समग्रसंसारस्य नयनानन्दकरं प्रमोदजनकं शशिबिम्बं चन्द्रमण्डलं विरचयता निर्माणं कुर्वता, तथा लक्ष्म्याः पद्मायाः लीलया क्रीडया वासस्य वसतेः भवनानि आधाररूपाणि कमलानि पङ्कजानि सृजता सृष्टिं विदधता प्रजापतिना ब्रह्मणा, एतस्य मुनिकुमारकस्य आननाकारस्य मुखाकृतेः करणकौशलस्य रचनोपयोगिनैपुण्यस्य अभ्यासः पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरेव ( शिक्षैव ) कृतो विहितः, इति मन्य इत्यर्थः। अन्योऽपि रमणीयं वस्तुविशेषं रचयितुं प्रथमं तद्रूपान्यवस्तुरचनया तत्कौशलं शिक्षते! इह 'मन्ये' शब्दप्रयोगाद्वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा, तेन च शशिनः पद्माच्च मुनिकुमारमुखस्यात्यन्तरमणीयबोधनेन व्यतिरेकोऽवगम्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः।

नन्विदं कथं प्रतीयत इत्यत आह—अन्यथेति। अन्यथा उक्तवैपरीत्ये, सदृशवस्तुविरचनायाः समानपदार्थनिर्माणस्य, किमिव कारणं नियामकम्।

अलीकमिति। अपि चेति चार्थः। रविः सूर्यः सुषुम्ननाम्ना सुषुम्नासंज्ञकेन रश्मिना निजकिरणविशेषेण, बहुलपक्षे कृष्णपक्षे क्षीयमाणस्य कृशतां प्राप्यमाणस्य कलावतश्चन्द्रस्य सकलाः समग्राः कलाः षोडशांशाः आपिबति पानं करोति इति इदं पुराणवचनम् अलीकम् असत्यम्। तथा च विष्णुपुराणम्—

'सूर्यरश्मिः सुषुम्नो यस्तर्पितस्तेन चन्द्रमाः। कृष्णपक्षेऽमरैः सार्धं पीयते वै सुधामयः॥'

इहालीकत्वसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

अथैवं परमार्थतः किं नाम सत्यमित्यत आह—ता इति। अस्य चन्द्रस्य खलु निश्चयेन ताः कलाः समस्ता गभस्तयो रश्मयश्च इदम् अवलोक्यमानं वपुः मुनिकुमारकशरीरम् आविशन्ति प्रजापतेरिच्छया प्रविशन्ति, इत्येवं सत्यमित्याशयः।

इहापि शशिकलारश्मीनां तच्छरीरे प्रवेशसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः।

नन्वेवं कथमवगम्यत इत्यत आह—कुत इति। अन्यथा शशिनः कलानां रश्मीनाञ्चाप्रवेशे रूपापहारिणि क्लेशातिशयात् सौन्दर्यविघातके तपसि तपस्यायां वर्तमानस्य स्थितस्य इदं लावण्यं सर्वोत्कृष्टसौन्दर्यं कुतः स्यात् कुतोऽपि नेत्यर्थः, कारणव्यतिरेकेण कार्यानुदयादित्याशयः।

इतीति। इति चिन्तयन्तीमिव इति ध्यायन्तीमेव मां महाश्वेतां न विचारितो नालोचितो गुणदोषयोः विशेषो वैषम्यं येन सः, अनेनास्मिन् ममासक्तौ दोष एवासीदित्यवगम्यते। रूपैकपक्षपाती सौन्दर्य-

( सौन्दर्यशाली ) मुनिवेषधारी यह एक दूसरा कामदेव बनाया! मुझे प्रतीत होता है कि ब्रह्माने समस्त जगत्के नयनोंको आनन्द देनेवाले चन्द्रमण्डलको, एवं लक्ष्मीके लीलागृह कमलोंको उत्पन्न करके इस कुमारकी मुखाकृति निर्माण करनेमें दक्ष होनेके लिए पहले अभ्यास किया था; नहीं तो एक तरहकी अनेक वस्तुके निर्माण करनेका क्या कारण? फिर यह पौराणिक प्रवाद भी मिथ्या है कि—'सूर्यदेव स्वकीय सुषुम्ननामक रश्मिद्वारा कृष्णपक्षके क्षीयमाण चन्द्रकी समस्त कलाओंका पान करता है;' चन्द्रकी वे कलाएँ और किरणसमूह तो सचमुच इसके ही शरीरमें प्रवेश करते हैं; नहीं तो सौन्दर्यका हरण करते—क्लेशसे परिपूर्ण-तप करनेवालेका इस प्रकारका लावण्य कैसे हो सकता है? यों मैं चिन्तन करती थी कि, इतनेमें गुण-दोषका वैषम्य न देख, केवल सौन्दर्यका ही

१. मुनिर्मायामयः। २. ब्रह्मणा, प्रथममेव। ३. विरचनायां। ४. अमुष्य। ५. सुषुम्ना। ६. विचिन्तयन्तीमेव।

पाती नवयौवनसुलभः कुसुमायुधः कुसुमासव-मद इव[1] मधुकरीं परवशामकरोत् ।

उच्छ्वसितैः सह विस्मृतनिमेषेण किञ्चिदामुकुलितपक्ष्मणा जिह्मित-तरल-तर-तार-शारोदरेण दक्षिणेन चक्षुषा सस्पृहमापिबन्तीव, किमपि[2] याचमानेव, 'त्वदायत्तास्मि' इति वदन्तीव, अभिमुखं हृदयमर्पयन्तीव, सर्वात्मनानुप्रविशन्तीव, तन्मयतामिव गन्तुमीहमाना, 'मनोभवाभिभूतां त्रायस्व' इति शरणमिवोपयान्ती, 'देहि मे हृदयेऽवकाशम्' इत्यर्थितामिव दर्शयन्ती, 'हाहा किमिदमसाम्प्रतमतिह्रेपणमकुलकुमारीजनोचितमिदं मया प्रस्तुतम्' इति जानानाप्यप्रभवन्ती करणानाम्, स्तम्भितेव, लिखितेव, उत्कीर्णेव, संयतेव, मूर्च्छितेव, केनापि[3]

---

पक्षमात्रावलम्बी नवयौवनसुलभः प्रत्यग्रतारुण्यसुप्रापः कुसुमायुधः कामः, कुसुमासवमदः पुष्परसपान-जनितमदमत्तता मधुकरीं भ्रमरीमिव, परवशां पराधीनाम् अकरोत् व्यदधात् । इहोपमा । तथा कुसुमासवमदो भ्रमरीं पराधीनां करोति, इत्यत्र हि कालभेदाद्भग्नप्रक्रमतादोषः समापतति, स च कुसुमासवमदो मधुकरीं यथा करोति, तथा परवशां मामकरोदिति पाठेन समाधेय इति कुशला वदन्ति ।

उच्छ्वसितैरिति । उच्छ्वसितैः निश्वासमारुतैः सह विस्मृतो विस्मरणं प्राप्तो निमेषो निमीलनं येन तेन, कामवेगाधिक्यवशादवरुद्धश्वासप्रश्वासाहं निर्निमेषेणेत्यर्थः, किञ्चिदामुकुलितानि ईषत्प्रस्फुटितानि पक्ष्माणि रोमाणि यस्य तेन, आजिह्मिते किञ्चित्कुटिलीकृते तरलतरे नितान्तचपले तारे कनीनिके यस्य तच्च तत् शारोदरं विचित्रमध्यभागञ्चेति तत्तेन तादृशेन, दक्षिणेन अपसव्येन चक्षुषा नयनेन सस्पृहं साभिलाषं यथा स्यात्तथा आपिबन्तीव अत्यादरेणावलोकयन्तीव, किमपि अनिर्वचनीयस्वरूपं याचमानेव प्रार्थयमानेव, 'त्वदायत्ता त्वदधीना अस्मि' इति वदन्तीव, ब्रुवन्तीव, अभिमुखं तत्सम्मुखं हृदयं चित्तम् अर्पयन्तीव निक्षिपन्तीव, सर्वात्मना सर्वप्रयत्नेन अनुप्रविशन्तीव तच्चित्तं प्रविशन्तीव, तन्मयतां तत्सादृश्यं गन्तुं प्राप्तुम् ईहमाना चेष्टमानेव, 'मनोभवेन कामेन अभिभूतां पराभूतां त्रायस्व पाहि' इति हेतोः शरणं त्राणम् उपयान्तीव गच्छन्तीव, 'हृदये स्वस्य चित्ते मे मम अवकाशं स्थानं देहि' इति अर्थितां याचकत्वं दर्शयन्तीव प्रकाशयन्तीव, 'हा इति खेदे किमिदम् असाम्प्रतं झटित्येव सम्मेलनोद्योगादयुक्तम्, अतिह्रेपणं झटित्येव तथाभावादत्यन्तलज्जाकरम्, कुलकुमारीजनस्य वंशोद्भवकन्यकावर्गस्य उचितं योग्यं न भवतीति अकुलकुमारीजनोचितं कुलवत्यास्तु सर्वथा नोचितमित्याशयः, इदम् एतादृशं कर्म मया महाश्वेतया प्रस्तुतम् आरब्धम्' इति एवं जानानापि बुध्यमानापि करणानां लोचनादीनामिन्द्रियाणाम् अप्रभवन्ती असमर्था सती लोचनादीन्द्रियाणि निरोद्धुमसमर्थवती सतीत्यर्थः, तमतिचिरं व्यलोकयमिति सम्बन्धः । इह प्रतिवाक्ये एव वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा ।

अथान्यान्यपि तत्समयोत्पन्नानि स्वविशेषणानि प्रतिपादयति—स्तम्भितेवेति । स्तम्भितेव जडीकृतेव, लिखितेव चित्रितेव, उत्कीर्णेव काष्ठं प्रस्तरं वा सन्तक्ष्य प्रकटितेव संयतेव बद्धेव, मूर्च्छितेव मूर्च्छया चेतनारहितेव, तथा केनापि अनिर्वचनीयपुरुषेण विधृतेव गृहीतेव सती, निष्पन्दा निश्चेष्टाः

---

पक्षपात कर, नवयौवन-सुलभ उस कामने, वसन्त-समयका मधुपानजनित मद जिस प्रकार भ्रमरीको पराधीन कर देता है उसी प्रकार मुझे अपने अधीन कर दिया ।

उस समय मेरे श्वास-प्रश्वास नहीं चलते थे, एवं मैं निमेष रहित कुछ कुछ मीची हुई, टेढ़ी और अतिचंचल पुतली से मध्यदेश विचित्र हुई दाईं आँखके द्वारा अभिलाषा के साथ ( उमंगसे ) उसका मानो पान करती थी । इस रूपमें—मैं मानो, कुछ प्रार्थना करती ( मांगती ) थी, 'मैं तेरे अधीन हूँ' इस प्रकार मानो कहती थी, उसके सामने मानो हृदय-समर्पण करती थी, सर्वयत्नसे उसके हृदयमें मानो प्रवेश करती थी, तन्मयता लाभ करनेके लिए मानो चेष्टा करती थी, 'कामपीडिता सुन्दरी की रक्षा करो' इस प्रकार कहकर मानो रक्षाके निमित्त शरणागत होती थी, 'तुम अपने हृदयमें मुझे एक स्थान दो' इस प्रकार कहकर मानो याचकभाव जनाती थी । हाय ! हाय ! मैंने क्या अन्याय आचरण आरम्भ कर, यह अत्यन्त लज्जाजनक, कुलीनकुमारियोंके पक्षमें विशेषतः अनुचित किया ?' ऐसा समझती भी मैं इन्द्रियोंको दमन करनेमें समर्थ नहीं हो सकी । उस समय मैं मानो स्तम्भित ( स्तब्ध ) के समान, चित्रितके समान, क्षोदित ( उत्कीर्ण ) के समान, बाँधी गईके समान, मूर्च्छितके समान एवं

---

१. कसुमजमयमद इव । २. किमयम् । ३. क्वचित् केनापि' इति पाठो नास्ति ।

विधृतेव, निष्पन्दसकलावयवा तत्कालाविर्भूतेनावष्टम्भेन, अकथितशिक्षितेन अनाख्येयेन स्वसंवेद्येन केवलम्, न विभाव्यते, किं तद्रूपसम्पदा[1], किं मनसा, किं मनसिजेन, किमभिनवयौवनेन, किमनुरागेण वा[2] उपदिश्यमाना[3] किमन्येनैव वा केनापि प्रकारेण, अहमपि न[4] जानामि कथं कथमिति तमतिचिरं व्यलोकयम्।

उत्क्षिप्य नीयमानेव तत्समीपमिन्द्रियैः पुरस्तादाकृष्यमाणेव हृदयेन, पृष्ठतः प्रेर्यमाणेव पुष्पधन्वना, कथमपि मुक्तप्रयत्नमप्यात्मानम्[5] अधारयम्। अनन्तरञ्च मेऽन्तर्मदनेन[6]

सकलाः समग्रा अवयवा अङ्गानि यस्याः सा तादृशी अहम्, अकथितोऽपि लोचनं विघूर्णयितुमनुपदिष्टोऽपि शिक्षितस्तत्र निपुणः तेन, अनाख्येयेन आकस्मिकोपस्थित्या कीदृश इति कथयितुं वक्तुमसमर्थेन, अत एव स्वसंवेद्येन स्वकीयकेवलमनोगम्येन, तत्काले तदात्वे आविर्भूतेन प्रकटितेन, अवष्टम्भेन निश्चेष्टताप्रयोजकसात्त्विकविकारविशेषाश्रयणेन, केवलं तमतिचिरं व्यलोकयमिति सम्बन्धः। इहापि प्रतिविशेषण एव वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

नेति। न विभाव्यते निरूपयिष्यमाणानां मध्ये केन उपदिश्यमाना सती तमतिचिरं व्यलोकयमिति न निर्णेतुं शक्यत इत्यर्थः। किं तस्य तापसकुमारस्य रूपसम्पदा सौन्दर्यसमृद्ध्या उपदिश्यमाना सती तमतिचिरं व्यलोकयम् एवं सर्वत्र सम्बन्धः। किं मनसा चित्तेन, किं मनसिजेन कामेन, किम् अभिनवयौवनेन प्रत्यग्रतारुण्येन, किंवा अनुरागेण अन्तर्गतप्रेम्णा वा अथवा किम् अन्येनैव उक्तातिरिक्तेनैव व्यक्तिविशेषेण केनापि प्रकारेण अनिर्वचनीयभावेन उपदिश्यमाना उपदेशविषयीक्रियमाणा सती, कथं केनाप्यनिर्वचनीयस्वरूपेण, अतिचिरम् अत्यधिकतरकालं यावत् तं तापसकुमारं व्यलोकयम् अपश्यम्, किन्तु कथं तं तथा व्यलोकयमित्यहमपि न जानामि नावगच्छामीत्यर्थः।

इह विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य वितर्कसंज्ञको भावोऽङ्गमिति प्रेयोनामालङ्कारः। इह गर्भितत्वं दोषो न किन्तु 'गर्भितत्वं गुणः क्वापि' इति साहित्यदर्पणदिशा विच्छित्त्यतिशयप्रकाशनाद् गुण एवेत्यवधेयम्।

उत्क्षिप्येति। इन्द्रियैर्लोचनादिभिः करणैः उत्क्षिप्य उत्तोल्य तस्य तापसकुमारस्य समीपम् अन्तिकं नीयमानेव प्राप्यमाणेव। एतेनोत्कण्ठा निरूपिता। हृदयेन चेतसा पुरस्तात् अग्रे आकृष्यमाणेव, पुष्पधन्वना कामेन पृष्ठतः पश्चात्तः प्रेर्यमाणेव चाल्यमानेव सती, मुक्तस्त्यक्तः प्रयत्नः तदन्तिकप्राप्तिनिवारणव्यापारो येन तं तादृशमपि आत्मानं शरीरं कथमपि महता क्लेशेनेत्यर्थः, अधारयं निजस्थान एवापालयम्। अनेन धृतिः प्रतिपादिता। इह 'नीयमानेव' 'आकृष्यमाणेव' 'प्रेर्यमाणेव' इति तिसृणामेव क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात्संसृष्टिः।

अनेति। किञ्चेति चार्थः। अनन्तरं मे मम अन्तः हृदयाभ्यन्तरे अवकाशं तस्य तापसकुमारस्य निवासस्थानं दातुमर्पितुमिव मदनेन कामेन आहित उत्पादितः सन्तानो विस्तारो येषां ते तादृशाः

किसी व्यक्तिके द्वारा पकड़ी गईके समान हो गई। उस समय सब अवयव निश्चल हो गए; इस प्रकार तत्काल एक प्रकारका निष्पन्दता (निश्चलता) प्रयोजक सात्त्विकविकार-विशेष उपस्थित हुआ मुनिकुमारके प्रति दृष्टिपात करानेके लिए उस विकार विशेषको उपदेश नहीं देनेपर भी वह उस विषयमें पूर्ण शिक्षित था, एवं उस विकार का स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता था, केवल मनसे ही ज्ञात हो सकता था, मैं उस विकार विशेषके प्रभावसे ही केवल उसे देखने लगी। मैं निश्चय करके कह नहीं सकती हूँ कि—उसे देखनेके लिए-क्या उसकी सौन्दर्य-समृद्धि, या मेरा मन, अथवा कामदेव, या मेरा नवयौवन, अथवा अनुराग, या एतदतिरिक्त अन्य कोई अनिर्वचनीय भावद्वारा न मालूम किससे मुझे उपदेश दिया गया। इस तरह मैंने किस अनिर्वचनीय भावसे अधिक देर तक उसे देखा—यह मेरी समझ में नहीं आया।

[ उसके बाद ] मेरी अक्षि-प्रभृति इन्द्रियाँ मानो मुझे उठाकर उसके समीप ले जाने लगीं, आगेसे हृदय मानो आकर्षण करने लगा एवं पीछेसे कामदेव मानो प्रेरणा करने लगा। इस अवस्थामें मैंने उसके समीप जानेमें निवारण करनेकी चेष्टा-परित्याग कर रहनेपर भी अतिकष्टसे अपनेको अपने पूर्वस्थानमें ही रक्खा।

१. कान्त्या। २. अनुरागेणेव। ३. उपदिश्यमानं। ४. अहं न। ५. मुक्तप्रयत्नमात्मानम् आत्मानमपि। ६. तन्मदनेन ह्यन्तर्मदनेन।

अवकाशमिव दातुमाहितसन्ताना निरीयुः श्वासमरुतः। साभिलाषं हृदयमाख्यातुकाममिव स्फुरितमुखमभूत् कुचयुगलम्। स्वेद-लव-लेखा-क्षालितेवागलल्लज्जा[1]। मकरध्वज-निशित-शर-निकर-निपात[2]-त्रस्तेवाकम्पत गात्रयष्टिः। तद्रूपातिशयं द्रष्टुमिव कुतूहलादालिङ्गन-लालसेभ्योऽङ्गेभ्यो निरगाद्रोमाञ्चजालकम्। अशेषतः स्वेदाम्भसा धौतश्चरणयुगलादिव हृदयमविशद्रागः।

आसीच्च मम मनसि-'शान्तात्मनि दूरीकृतसुरतव्यतिकरेऽस्मिन् जने मां निक्षिपता किमिदमनार्य्येणासदृशमारब्धं मनसिजेन। एवञ्च नामातिमूढं हृदयमङ्गनाजनस्य, यदनु-

श्वासमरुतो निश्वसितवायवो निरीयुर्निःसृताः, श्वासनिस्सरणेनैव हृदयेऽवकाशजननादित्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षा।

साभीति। कुचयुगलं स्तनद्वयं कर्तृ, साभिलाषं सस्पृहं तत्तपस्विकुमारलाभेच्छापरिपूर्णमित्यर्थः, हृदयं मनः कर्म, आख्यातुकाममिव 'नूनं त्वमेनं लप्स्यसे' इति प्रियोदन्तं कथयितुम् इच्छु इव सत्, स्फुरितं स्पन्दितं मुखम् अग्रप्रदेश एवाननं यस्य तत्तादृशम् अभूत् बभूव। अन्योऽपि किञ्चिद्विवक्षुः स्फुरितवदनो भवति। एतेनाभिलाषः प्रतिपादितः। इह गुणोत्प्रेक्षानुप्राणिता अग्रदेशमुखयोर्व्यतिरेकेऽपि श्लेषेण तदव्यतिरेकाध्यवसायादतिशयोक्तिः।

स्वेदेति। लज्जा त्रपा, स्वेदलवलेखया घर्मबिन्दुपंक्त्या क्षालिता धौतेव सती अगलत् अस्रवत्, रजोवदित्याशयः। अनेन स्वेदो निरूपितः। क्रियोत्प्रेक्षा।

मकरेति। गात्रयष्टिः शरीरयष्टिः, मकरध्वजस्य कन्दर्पस्य ये निशिताः तीक्ष्णाः शरा बाणाः तेषां निकरस्य समूहस्य निपातात् आघातात् त्रस्ता भीतेव सती अकम्पत कम्पयामास। एतेन कम्प उक्तः। उक्तालङ्कारः।

तदिति। रोमाञ्चानां पुलकानां जालकं समूहः, तस्य तापसकुमारस्य यो रूपातिशयः सौन्दर्योत्कर्षः तं द्रष्टुं वीक्षितुमिव आलिङ्गनलालसेभ्यः उपगूहनलोलुपेभ्यः अङ्गेभ्यो हस्तपादादिभ्योऽवयवेभ्यः कुतूहलात् कौतुकात् निरगात् निःसृतो बभूव, ऐन्द्रजालिकक्रियादिकमवलोकयितुं भवनात् कुलवधूमुखवदित्याशयः। एतेन रोमाञ्चोऽभिहितः। इहापि 'द्रष्टुमिव' इति दर्शनक्रियारूपफलोत्प्रेक्षा।

अशेषत इति। स्वेदाम्भसा श्रमोत्थघर्मवारिणा अशेषतः सामस्त्येन धौतः प्रक्षालितः रागोऽलक्तकारुण्यमिव रागोऽनुरागः, चरणयुगलात् अङ्घ्रियुग्मात् हृदयम् अविशदिव प्रवेशमकरोदिव। एतेन रतिर्नाम स्थायिभावोऽभिहितः। इह क्रियोत्प्रेक्षानुप्राणिता आरुण्यानुरागयोर्व्यतिरेकेऽपि रागपदश्लेषेणाव्यतिरेकाध्यवसायरूपातिशयोक्तिः। स्थायिभावस्वरूपं तु दर्पणे—

'अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः। आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥' इति।

आसीदिति। किञ्चेति चार्थः। तत्समये मम मनसि चेतसि एषा धारणा जातेत्यर्थः। शान्तः सत्त्वगुणसंयुतः आत्मा मनो यस्य तस्मिंस्तादृशे, तथा दूरीकृतः दूरोज्झितः सुरतव्यतिकरः सम्भोगसम्बन्धो येन तस्मिन्, अस्मिन् जने मां विक्षिपता प्रहरता अनार्येण असभ्येन मनसिजेन कामेन किमिदम् असदृशम् असाधुजनोचितम् आरब्धं प्रारब्धम्।

एवमिति। किञ्चेति चार्थः। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण नामेति कोमलामन्त्रणे। अङ्गनाजनस्य स्त्रीलोकस्य हृदयं चित्तम् अतिमूढम् अतिमुग्धम्, यद् यस्मात् कारणात् अनुरागविषययोग्यतामपि 'अस्मिन् स्थलेऽ-

तदनन्तर कामदेवको मानो मेरे हृदयमें वास करनेका स्थान देनेके लिए ही मेरे शरीरमेंसे श्वासवायु विस्तृत होकर बराबर बाहर निकलने लगा। उसके प्रति अभिलाषी मेरे मनके प्रियसम्वादको कहनेके लिए ही मानो मेरे स्तनयुगलके मुख स्फुरित होने ( काँपने ) लगे। घर्म-जल-बिन्दुओं ( पसीनेकी बूँदों ) से प्रक्षालित होकर ही मानो मेरी लज्जा [ धूलिकी तरह ] गलने लगी। कामदेवके तीक्ष्णबाणसमूह ( पैने शरों ) के प्रहारसे डर कर ही मानो मेरा शरीर काँपने लगा। उसके असाधारण सौन्दर्यको देखनेके लिए ही मानो कौतुकवशसे आलिङ्गन करनेके लिए तड़पते हुए अवयवोंसे रोमाञ्चसमूह निकलने लगे। एवं घर्मजल ( पसीने ) से सम्पूर्ण प्रक्षालित होकर ही मानो राग ( लौहित्य, अनुराग ) ने चरणोंमेंसे मेरे हृदयमें प्रवेश किया।

उस समय मेरे मनमें होने लगा कि—जिसने स्त्री-सम्भोग छोड़ दिया है ऐसे शान्तचित्त जनपर मुझे मोहित कर असभ्य कामदेवने कैसा अन्याय आचरण आरम्भ किया है? स्त्रियोंका हृदय, निःसन्देह ऐसा

१. स्वेदसलिलव…। २…पात…।

रागविषययोग्यतामपि विचारयितुं नालम्। केदमतिभास्वरं धाम तेजसां तपसाञ्च, क च प्राकृतजनाभिनन्दितानि मन्मथपरिष्पन्दितानि[1]। नियतमयं मामेवं मकरलाञ्छनेन विडम्ब्यमानामुपहसति मनसा। चित्रञ्चेदं यदहमेवं गच्छन्त्यपि न शक्नोम्यात्मनो विकारमुपसंहर्त्तुम्। अन्या अपि कन्यकास्त्रपां विहाय[2] स्वयमुपयाताः पतीन्, अन्या अप्यनेन दुर्विनीतेन मन्मथेनोन्मत्ततां नीता नार्य्यः, न पुनरहमेका यथा। कथमनेन क्षणेनाकारमात्रालोकनाकुलीभूतामेवमस्वतन्त्रतामुपैत्यन्तःकरणम्। कालो हि गुणाश्च दुर्निवारतामारोपयन्ति मदनस्य सर्वथा। यावदेव सचेतनास्मि, यावदेव च न परिस्फुटमनेन विभाव्यते मे मदनदुश्चेष्टितलाघ-

---

नुरागो युक्तः, अस्मिन् स्थले न युक्तः' इति विषयविभागोचितामपि विचारयितुं नालं न समर्थम्। इहाप्रकृतात् स्त्रीहृदयसामान्यात् प्रकृतस्यास्मद्हृदयरूपविशेषस्यावगमादप्रस्तुतप्रशंसा।

ननु स्त्रीलोकस्य हृदयं कथं नामातिमुग्धमित्यत आह—केदमिति। तेजसां तपसां च अतिभास्वरम् अत्यन्तदीप्तस्वभावम् इदं तापसकुमारस्वरूपं धाम आश्रयः क, तथा प्राकृतजनैः साधारणपुरुषैः अभिनन्दितानि अनुमोदितानि मन्मथपरिस्पन्दितानि कन्दर्पचेष्टितानि च क, द्वौ कौ महदन्तरं सूचयतः; एवंविधमुनिजने मन्मथचेष्टायाः सर्वथैव निष्प्रयोजनत्वात्तन्निमित्तश्चोद्योगान्मम हृदयमतिमुग्धमित्याशयः। इह विसदृशयोः संयोजनया विषमः।

नियतमिति। अयं कुमारः, मकरलाञ्छनेन कामेन एवम् अनेन प्रकारेण विडम्ब्यमानां प्रतार्यमाणां मां महाश्वेतां नियतं निश्चितमेव मनसा चेतसा उपहसति उपहासं करोति, असम्भवनीयविषयप्रवृत्तेरित्याशयः।

चित्रमिति। अपि चेति चार्थः। इदं प्रत्यक्षतो वर्त्तमानं चित्रम् आश्चर्यम्, यद् यस्मात्कारणात् अहम् एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कामद्वारा विडम्बनां तपस्विकुमारद्वारोपहासञ्च अवगच्छन्त्यपि जानन्त्यपि आत्मनः स्वस्य विकारं विकृतिम् उपसंहर्त्तुं दूरीकर्त्तुं न शक्नोमि न समर्था भवामि।

अन्या इति। अन्या मद्व्यतिरिक्ता अपि कन्यका दारिकाः त्रपां लज्जां विहाय परित्यज्य स्वयम् आत्मना पतीन् स्वामिन उपयाता उपगता, अन्या अपि याः कान्यकातिकामुका नोपयातास्ता अपि दुर्विनीतेन दुराचारेण अनेन मन्मथेन कन्दर्पेण उन्मत्ततां सविकारतां नीताः प्रापिताः, न पुनरहमेका यथा, अत एव नात्मधिक्कारो विद्यत इत्याशयः।

कथमिति। अनेन क्षणेन समयेन आकारमात्रस्य अस्य तापसकुमारस्य केवलाकृतेः आलोकनेनैव निरीक्षणेनैव आकुलीभूतं व्यग्रीभूतम् अन्तःकरणं मम हृदयम्, एवम् अनेन प्रकारेण अस्वतन्त्रताम् इत्थं मदायत्तां कथम् उपैति प्राप्नोति।

तत्र हेतुं प्रदर्शयति—काल इति। हि यस्मात्, कालो वसन्तादिः, गुणाः सौन्दर्यप्रभृतयश्च, मदनस्य कामस्य सर्वथा सर्वप्रकारेण दुर्निवारताम् आरोपयन्ति व्यवस्थापयन्ति, तस्मादनेन वसन्तसमयेन अस्य गुणेन च दुःशक्यकामारोपणान्मम हृदयमेवं पराधीनतां प्राप्नोतीत्याशयः। अत एवेहाप्रकृतात् सामान्यात् प्रकृतस्य विशेषस्यावगमादप्रस्तुतप्रशंसा।

यावदिति। यावदेव यावत्कालं सचेतनाऽस्मि अस्य रूपावलोकनेन अत्यधिकमदनावेशवशात् विधेयाविधेयज्ञानरहिता न भवामीत्यर्थः। यावदेव यावत्कालम् अनेन कुमारेण मे मम एतत्, मदनदुश्चे-

---

नितान्त मूढ़ होता है कि वह अनुरागके विषयकी भी विवेचना नहीं कर सकता। क्योंकि, यह देदीप्यमान तेज और तपस्याका आधार ही कहाँ, और प्राकृत जनोंकी आदरणीय (प्रिय) कामचेष्टा ही कहाँ! निःसन्देह यह कुमार मुझे इस प्रकार कामदेव द्वारा वञ्चित देखकर अपने मनमें हँसता होगा। और यह भी एक आश्चर्य ही है कि मैं इतना समझनेपर भी अपने मनका विकार दूर नहीं कर सकती। अन्यान्य कन्याएँ भी लज्जा परित्याग कर अपने आप पतिकी प्राप्ति की हैं। अन्य बहुत-सी सुन्दरियाँ भी इस अविनीत कामदेवके प्रभावसे उन्मत्त हुई हैं, किन्तु मेरे समान एक भी नहीं हुई है। केवल आकृति ही देखनेसे व्यग्र हो (घबड़ा) कर मेरा अन्तःकरण इस प्रकार क्यों पर-वश हो गया है? काल और गुण ये दोनों ही सर्वथा कामदेवको दुर्निवारणीय कर देते हैं। अतएव जब तक मैं सचेतन हूँ एवं जब तक मेरी कामविकारजनित-लघुता स्पष्टरूपसे समझनेमें नहीं आती तब

---

१. ...परस्पन्दितानि। २. अपहाय।

वमेतत्, तावदेवास्मात् प्रदेशादपसर्पणं श्रेयः, कदाचिदनभिमत-स्मर-विकार-दर्शन-कुपितोऽयं शापाभिज्ञां करोति माम्। अदूरकोपा हि मुनिजनप्रकृतिः।' इत्यवधार्य्यापसर्पणाभिलाषिण्यहमभवम्। अशेषजनपूजनीया चेयं जातिरिति कृत्वा तद्वदनाकृष्टदृष्टिप्रसरम्, अचलित-पक्ष्ममालम्, अदृष्टभूतलम्, ईषदुल्लसित[1] कर्णपल्लवोन्मुक्त-कपोलमण्डलम्, आलोलक-लतालसत्कुसुमावतंसम्, अंसदेश-दोलायित-मणिकुण्डलम्, अस्मै प्रणाममकरवम्।

अथ कृतप्रणामायां मयि[2] दुर्लङ्घ्यशासनतया भगवतः[3] मनोभुवः, मदजननतया च मधुमासस्य, अतिरमणीयतया च तस्य प्रदेशस्य, अविनयबहुलतया चाभिनवयौवनस्य, चञ्चलप्रकृतितया चेन्द्रियाणाम्, दुर्निवारतया चाभिलाषाणाम्, चपलतया च मनोवृत्तेः, तथा भवि-

---

ष्टितलाघवं कामविकारजनितलघुत्वं परिस्फुटं स्पष्टं न विभाव्यते ज्ञायते, तावदेव तावत्कालम् अस्मात् प्रदेशात् स्थानात् अपसर्पणं दूरीभवनं श्रेयः कल्याणकृत्।

नन्वेवमपीहावस्थितौ को दोष इत्यत आह—कदाचिदिति। अयं कुमारः, अनभिमतस्य स्वानभीष्टस्य स्मरविकारस्य मदीयमनोभवविकृतेः दर्शनेन अवलोकनेन कुपितः क्रुद्धः सन्, मां महाश्वेतां शापाभिज्ञाम् अभिसम्पातक्लेशभोगिनीं करोति कुर्यादित्यर्थः। यद्ययं क्रुद्धः स्यात्तदा शापः कीदृशो भवति इति मां स्फुटमनुभावयेदित्याशयः। ननु विशेषापराधाभावे कथं क्रोध इत्यत आह—अदूरेति। हि यतः, मुनिजनप्रकृतिः तपस्विलोकस्वभावः अदूरकोपा निरन्तरसमीपक्रोधा, अत एव शापाय विशेषापराधं नाकाङ्क्षत इत्याशयः। इति एवम् अवधार्य निश्चित्य अहम् अपसर्पणाभिलाषिणी दूरीभवनेच्छुका अभवं जाता। इह कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

अशेषेति। किञ्चेति चार्थः। इयं जातिः तापसजातिः, अशेषजनपूजनीया समस्तलोकार्चनीया, इति मनसि हृदये कृत्वा विधाय तस्य कुमारस्य वदनात् मुखात् अकृष्टः तन्मदनावेशादेवासङ्कुचितः दृष्टिप्रसरोऽवलोकनसन्तानः यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणम्, एवमग्रेऽपि। अचलिता निश्चेष्टा पक्ष्ममाला लोचनरोमपङ्क्तिर्यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, न दृष्टम् अवलोकितं भूतलं यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, ईषदुल्लसिताभ्यां किञ्चिदुत्क्षिप्ताभ्यां कर्णपल्लवाभ्यां श्रवणकिसलयाभ्याम् उन्मुक्ते परित्यक्ते कपोलमण्डले गण्डबिम्बयुगलं यत्र तत्, आलोलायां किञ्चिच्चपलायाम् अलकलतायां लतावल्लम्बमानविक्षिप्तकेशसमूहे लसन् शोभमानः कुसुमावतंसः पुष्पभूषणं यत्र तत्, तथा अंसदेशयोः स्कन्धप्रदेशयोः दोलायिते चलिते मणिकुण्डले रत्नकुण्डले यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, अस्मै तापसकुमाराय प्रणामं नमस्कारम् अकरवम्। स्वभावोक्तिः।

अथेति। कृतप्रणामायां विहितनमस्कारायां मयि महाश्वेतायां भगवत ऐश्वर्यादिमाहात्म्यवतो मनोभुवः कामस्य दुर्लङ्घ्यशासनतया अनतिक्रमणीयादेशतया कारणेन, एवमन्यत्रापि हेतौ तृतीया। मधुमासस्य वसन्तस्य मदजननतया मत्ततोत्पादकतया, तस्य पूर्वोक्तस्य प्रदेशस्य स्थानस्य अतिरमणीयतया अतिमनोहरतया, अभिनवयौवनस्य प्रत्यग्रतारुण्यस्य अविनयबहुलतया अशिष्टाचाराधिक्येन, इन्द्रियाणां चक्षुरादिकरणानां चञ्चलप्रकृतितया चपलस्वभावतया, अभिलाषाणां मनोरथानां दुर्निवारतया दुःखेन

---

तक ही इस प्रदेशमेंसे मुझे खिसक जाना उचित है। क्योंकि कहीं अप्रिय कामविकार मुझमें देखनेसे क्रुद्ध होकर किसी समय यह श्राप न दे बैठे। क्योंकि मुनियोंके स्वभावमें सर्वदा ही क्रोध उपस्थित रहता है। इस प्रकार मन ही मन निश्चय कर मैं लौटना चाहा और—'इस जातिकी तो सब लोग पूजा करते हैं' यों विचार उसके मुखकी ओर दृष्टि रख, एकाग्रतासे (टकटकी बाँधकर) कपोलस्थल परसे कुछ ऊँचे कर्णपल्लव सहित केशकलापकी चञ्चल लटोंमें शोभायमान पुष्पाभरण-सहित, और स्कन्धपर लटकते मणिमय-कुण्डल सहित, पृथिवीकी ओर देखे विना ही, मैंने उसको प्रणाम किया।

मेरे प्रणाम कर लेनेके बाद ही, भगवान् कामदेवके अनुल्लङ्घनीय शासनसे, चैत्रमासकी मत्ततोत्पादक शक्तिसे, उस स्थानकी अत्यन्त-मनोहरतासे, नवयौवनके अधिक अविनय-पूर्ण होनेसे, इन्द्रियोंकी स्वभावतः चपलतासे, विषयाकांक्षाकी दुर्निवारतासे, मनोवृत्तिकी चञ्चलतासे, और ऐसी-ऐसी (सुख-दुःखादि) घटनाओंकी

---

१. उल्लसित···। २. अपि। ३. क्वचित् 'भगवतः' इति पदं न विद्यते।

तव्यतया च तस्य तस्य वस्तुनः, किं बहुना मम मन्दभाग्यदौरात्म्यादस्य चेदृशस्य क्लेशस्य विहितत्वात्तमपि मद्विकारदर्शनापहृतधैर्यं[1] प्रदीपमिव पवनस्तरलतामनयदनङ्गः।

तदा तस्याप्यभिनवागतं मदनं[2] प्रत्युद्गच्छन्निव[3] रोमोद्गमः प्रादुरभवत्। मत्सकाशमभिप्रस्थितस्य मनसो मार्गमिवोपदिशद्भिः पुरः प्रवृत्तं श्वासैः। वेपथुगृहीता[4] व्रतभङ्गभीतेवाकम्पत करतलगताक्षमाला[5]। द्वितीयेव कर्णावसक्तकुसुममञ्जरी कपोलतलासङ्गिनी समदृश्यत स्वेदसलिलशीकरजालिका। मद्दर्शनप्रीतिविस्तारितस्य चोत्तानतारकस्य पुण्डरीकमयमिव तमुद्देशमुपदर्शयतो लोचनयुगलस्य विसर्पिभिरंशुसन्तानैर्यदृच्छयाच्छोदसलिलमपहाय विकच-

दूरीकर्तुं शक्यतया, मनोवृत्तेश्चित्तवृत्तेः चपलतया चञ्चलतया, तस्य तस्य वस्तुनः सुखदुःखादेः तथा भवितव्यतया तथा तथा भावितया भाग्यवशादित्यभिप्रायः। किं बहुना बहूक्तेन मन्दभाग्यस्य दुरदृष्टस्य दौरात्म्याद् दुष्टत्वेन हेतोः, ईदृशस्य एवंविधस्य क्लेशस्य मम तपश्चरणात्मकदुःखस्य विहितत्वात् कृतत्वात्, पवनो वायुः प्रदीपमिव, अनङ्गः कामः, मम विकारदर्शनेन अपहृतं दूरीभूतं धैर्यं धृतिर्यस्य तम्, तमपि मुनिकुमारम्, तरलतां चञ्चलताम् अनयत् प्रापितवान्। इहोपमा। पाठभेदेन भग्नप्रक्रमतादोषो वारणीयः।

तदेति। तस्य तापसकुमारस्यापि अभिनवागतं नूतनायातं मदनं कामं प्रत्युद्गच्छन्निव आदरं कर्तुं सम्मुखं व्रजन्निव, रोमोद्गमो रोमाञ्चः प्रादुरभवत् प्रकटीबभूव। अन्योऽपि नवीनागतं स्वामिनं समादरणाय सम्मुखं व्रजति। इह प्रत्युद्गमनक्रियारूपफलोत्प्रेक्षा।

मदिति। मत्सकाशं मत्सविधम् अभिप्रस्थितस्य सम्मुखं चलितस्य मनसो हृदयस्य मार्गं पन्थानम् उपदिशद्भिरिव आदेशं ददद्भिरिव श्वासैः निःश्वासपवनैः पुरोऽग्रतः प्रवृत्तं प्रस्थितम्। अन्योऽप्यपरिचितस्य पन्थानमादिशन्नग्रतो गच्छति। तस्यापि निःश्वासो निःसृत इत्यर्थः। उक्तालङ्कारः।

वेपथ्विति। वेपथुगृहीता शरीरोत्पन्नकम्पाभिभूते सात्त्विकभावसङ्क्रान्ता, करतलगता पाणिस्थिता अक्षमाला जपमाला, व्रतभङ्गभीतेव ब्रह्मचारिणोऽपि मदनावेशाद्ब्रह्मचर्यनाशत्रस्तेव सती अकम्पत अचलत्। इह त्रासात्मकहेतूत्प्रेक्षा।

द्वितीयेति। द्वितीया कस्याश्चित् पारिजातमञ्जर्याः प्रागेव श्रवणे विद्यमानत्वात्तदन्या, कर्णावसक्तकुसुममञ्जरीव श्रवणसंलग्नपुष्पवल्लरीव, कपोलतलासङ्गिनी गल्लात्परप्रदेशाश्लेषिणी स्वेदसलिलस्य घर्मजलस्य शीकरजालिका बिन्दुश्रेणीः समदृश्यत समालोक्यत। इह द्रव्योत्प्रेक्षा।

मदिति। अपि च, मम दर्शनप्रीत्या वीक्षणजनितहर्षेण विस्तारितस्य प्रसारितस्य, उत्ताने ऊर्ध्वंगते तारके कनीनिके यस्य तस्य, तमुद्देशं तं प्रदेशं पुण्डरीकमयमिव नयनयोः शुभ्रत्वात् सिताम्भोजव्याप्तमिव, उपदर्शयतः अन्येभ्यो ज्ञापयतः लोचनयुगलस्य नेत्रद्वयस्य विसर्पिभिः प्रसारिभिः अंशुसन्तानैः रश्मि-

भवितव्यतासे—अधिक कहाँ तक कहूँ, मेरे दुरदृष्टकी कुटिलतासे और उस कुमारको विधाताद्वारा इतना क्लेश-विहित होनेसे—मेरा कामविकार देखकर उस कुमारका भी धैर्य विनष्ट हो गया। उस समय वायु जिस प्रकार प्रदीपको चञ्चल करता है उसी प्रकार कामदेवने उसको भी चञ्चल कर दिया।

उस समय नवागत कामदेवके प्रत्युद्गमन ( सम्मान ) करनेके लिए ही मानो उसके शरीरमें भी रोमाञ्च आविर्भूत हो गया। उसका मन भी मेरे निकट आ गया था, अतएव उसके मार्ग दिखलानेके लिए मानो उसका भी निश्वास आगे आगे चलने लगा। प्रकम्पमान हस्तस्थित उसकी अक्ष ( जप ) माला, मानो ब्रह्मचर्यके लोपके भयसे ही काँपने लगी। उसके गण्डस्थल ( गाल ) पर लगे घर्म-जल बिन्दुसमूह ( स्वेदजलकण की माला ) कर्णमें पहनी हुई दूसरी कुसुममञ्जरीके समान दीखने लगे। उसके नयनयुगल मेरे दर्शनकी प्रीतिसे विस्फारित ( विस्तृत ) हो गये, दोनों कनीनिकाएँ ऊपर हो उठीं, अतएव वह नयनयुगल उस प्रदेशको मानो श्वेतपद्ममय होकर प्रतीति उत्पन्न करने लगा, एवं उस नयनयुगलसे किरण-जाल निकाल कर दशों दिशाओंको व्याप्त कर दिया। उस समय

१. मद्विकारापहृतधैर्यं। २.***आगतमदनं। ३. प्रत्युद्गतवानिव। ४. वेपथुना। ५. अवकम्पत गात्रयष्टिरक्षमाला च। ६. मदन।

कुवलयवनैरिव गगनतलमुत्पतितैररुध्यन्त दशदिशः ।

तया तु तस्यातिप्रकटया विकृत्या द्विगुणीकृतमदनावेशा तत्क्षणमहमवर्णनयोग्यां कामप्यवस्थामन्वभवम्। इदञ्च मनस्यकरवम्-'अनेक-सुरत-समागम-लास्य-लीलोपदेशोपाध्यायो मकरकेतुरेव विलासानुपदिशति, अन्यथा विविध-रसासङ्ग-ललितेष्वीदृशेषु व्यतिकरेष्वप्रविष्टबुद्धेरस्य जनस्य कुत इवेयम्[2] अनभ्यस्ताकृती[3] रतिरसनिष्यन्दमिव[4] क्षरन्ती, अमृतमिव वर्षन्ती[5], मदमुकुलितेव, खेदालसेव, निद्राजडेव, आनन्द-भर-मन्थर-तरत्तार[6]-सञ्चारिणी, अनि-

---

प्रवाहैः, यदृच्छया स्वेच्छया अच्छोदस्य तत्संज्ञकसरसः सलिलं जलम् अपहाय त्यक्त्वा गगनतलम् आकाशतलम् उत्पतितैः उद्गतैः, विकचकुवलयवनैरिव प्रस्फुटितनीलोत्पलारण्यैरिव त्रियमानैः, तेषां रश्मीनां तु नीलकनीनिकाजनितत्वेन नीलत्वादित्याशयः, दशदिशः अरुध्यन्त आच्छाद्यन्त ।

इह 'पुण्डरीकमयमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'विकचकुवलयवनैरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, तथा दशदिशामाच्छादनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिश्चेति परस्परमेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

तयेति । तस्य मुनिकुमारस्य अतिप्रकटया बाहुल्येन प्रकाशितया, विकृत्या मदनविकारेण द्विगुणीकृतमदनावेशा द्विगुणतां नीतकामावेशा अहं तत्क्षणं तत्समयं वर्णनस्य ( कथनस्य ) योग्या न भवतीत्यवर्णनयोग्या ताम्, कामपि अनिर्वचनीयां दशाम् अवस्थाम् अन्वभवम् अनुभूतवती ।

इदमिति । किञ्चेति चार्थः । मनसि चित्ते इदम् अकरवम् इदमचिन्तयमित्यर्थः । अनेके बहुविधा ये सुरतसमागमाः सम्भोगसंसर्गाः त एव लास्यलीला नृत्यव्यापाराः तासाम् उपदेशे शिक्षणे उपाध्याय आचार्यः, मकरकेतुः काम एव विलासान् जनानां लीलाकटाक्षपातादिविभ्रमान् उपदिशति शिक्षयति । अन्यथा कामद्वारा शिक्षणाभावे, रस्यन्ते आस्वाद्यन्ते साक्षादनुभवविषयीक्रियन्ते ये ते रसाः शब्दस्पर्शप्रभृतयो भोग्यविषयाः, विविधानाम् अनेकानां रसानां शब्दस्पर्शादिविषयाणाम् आसङ्गेन रतिसंसर्गेण तदुत्पन्नवैचक्षण्येनेत्यर्थः । ललितेषु सुन्दरेषु ईदृशेषु, एवंविधेषु व्यतिकरेषु विलासयुक्तदृष्टिपातसंयोगेषु अप्रविष्टा मुनिभावतया तदनवबोधत्वादप्राप्तप्रवेशा बुद्धिर्मनीषा यस्य तस्य, अस्य जनस्य तपस्विकुमारस्य कुत इवेयं दृष्टिः स्यादित्यर्थः । दृष्टिविशेषणानि प्रदर्शयति—अनभ्यस्तेत्यादि । अनभ्यस्ता मुहुर्मुहुरपाठिता आकृतिः स्वरूपं यया सा । रतिरसस्य सम्भोगाद्यनुरागस्य निष्यन्दं निर्याससन्ततिं क्षरन्तीव स्रवन्तीव, अमृतं पीयूषं वर्षन्तीव वृष्टिं कुर्वन्तीव, मद्विधानां कामिनीनां नितान्ततृप्तिदायकत्वादित्याशयः । मदेन अनङ्गमत्ततया मुकुलितेव किञ्चित् प्रकाशितेव, खेदालसेव परिश्रममन्थरेव, निद्रया प्रमीलया जडेव कुण्ठितेव, आनन्दभरेण हर्षातिशयेन मन्थरं मन्दं यथा स्यात्तथा, तरन्ती विस्तारं प्राप्नुवन्ती तारा कनीनिका यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा सञ्चरितुं भ्रमितुं शीलं स्वभावो यस्याः सा । तथा अनिभृतं स्फुटं भ्रूलते लम्बमानभ्रूद्वयम् उल्लासयितुं नर्त्तयितुं शीलं यस्याः सा ।

इह 'क्षरन्तीव, वर्षन्तीव, मुकुलितेव' एतेषु क्रियोत्प्रेक्षा । खेदालसेव, निद्राजडेव' इत्यनयोस्तु

---

प्रतीत होने लगा-मानो विकसित-नीलोत्पलवन, अकस्मात् अच्छोद सरोवर के जलको छोड़कर आकाशकी ओर उड़ रहा है ।

किन्तु उसके इस प्रकार कामविकार अत्यन्त प्रकाशित देखकर मुझमें कामबिकार द्विगुणित हो गया और उस क्षण मेरी अवस्था वर्णन करनेके योग्य नहीं रही (अर्थात् वह अवस्था अनिर्वचनीयताका अनुभव करने लगी) फिर मैंने इस प्रकार विचार किया कि—'नानाविध सम्भोग समागम रूपी नृत्यशिक्षाका अध्यापक कामदेव ही लोगोंकी कटाक्षपातप्रभृति विलासिताकी शिक्षा देता है; ऐसा न होने पर तो, नानाप्रकार विषयसंभोगजनित रसोंके संसर्गसे मनोहर प्रतीत होते ऐसे कटाक्षपातादि व्यापारोंमें जिसका मन किसी समय भी प्रविष्ट नहीं हुआ ऐसे इस व्यक्तिकी अपरिचित शृङ्गारानुकूल आकृति वाली ( कटाक्षादि युक्त ) दृष्टि-मानो अनुरागका रस निःसारण करती ( छलकाती ), अमृतवृष्टि करती, मत्ततावश आधी मिर्ची, खेदसे मन्द ( अलस ) हुई, निद्रासे जड़ हुई, अत्यन्त आनन्दके वशसे धीमी और चञ्चल पुतली-सहित सञ्चारित होती ( फिरती ) भ्रूलताको स्पष्टरूपसे

---

१. तत्क्षणमहमवर्णनयोग्यां । २. कुत इयम् । ३. अनभ्यस्ता जाता । ४. '''निःस्यन्दमिव । ५. वर्षन्ती, क्षरन्ती अमृतमिव । ६. '''तरलतार'''

भूत-भ्रूलतोल्लासिनी[1] दृष्टिः। कुतश्चेदमतिनैपुण्यम्, यच्चक्षुषैवानक्षरमेवमन्तर्गतो हृदयाभिलाषः कथ्यते'।

प्राप्तप्रसरा[2] चोपसृत्य तं द्वितीयमस्य सहचरं मुनिबालकं प्रणामपूर्वकमपृच्छम्-'भगवन्! किमभिधानः[3], कस्य वायं तपोधनस्य युवा?[4] किन्नाम्नश्च तयोरियमनेनावतंसीकृता[5] कुसुम-मञ्जरी? जनयति हि मे मनसि महत् कौतुकमस्याः समुत्सर्पन्नसाधारणसौरभोऽयमनाघ्रातपूर्वो गन्धः' इति।

स तु मामीषद्विहस्याब्रवीत्-'बाले! किमनेन पृष्टेन प्रयोजनम्, अथ कौतुकमावेदयामि, श्रूयताम्—

अस्ति खलु सकलत्रिभुवन-प्रख्यातकीर्त्तिरत्युदारतपाः[6] सुरासुरसिद्धवृन्दवन्दित[7]-चरणयुगलो महामुनिर्दिव्यलोकनिवासी श्वेतकेतुर्नाम। तस्य च भगवतः[8] सुरासुरलोकसुन्दरी[9]-हृद-

---

कुत इति। किञ्च, चक्षुषैव निरीक्षणविशेषेणैव, एवम् अनेन प्रकारेण अन्तर्गतो हृदयाभिलाषः चित्ताभिप्रायः अनक्षरं वचनरहितं यथा स्यात्तथा यत् कथ्यते उक्तिवत् स्फुटं ज्ञाप्यते, इदं प्रत्यक्षतो विद्यमानम् अतिनैपुण्यम् अत्यधिकदक्षत्वं कुतः स्यादित्यर्थः, अत एव मदनोपदेशादेवैवंविधा दृष्टिः इदञ्च नैपुण्यमित्यभिप्रायः।

प्राप्तेति। किञ्च, प्राप्तप्रसरा स्वस्य तथाविधदृष्टिविषयत्वाल्लब्धावकाशा अहम् उपसृत्य समीपमेत्य अस्य तपस्विकुमारस्य तं द्वितीयम् अपरं सहचरं सखायं मुनिबालकं तपस्विकुमारं प्रणामपूर्वकं नमस्कारपूर्वकम् अपृच्छं पृष्टवती। भगवन् महाभाग! किमभिधानः किंनामा कस्य किंनाम्नो वा तपोधनस्य मुनेः अयं युवा तरुण आत्मज इत्यर्थः। किंनाम्नः किमभिधानस्य तरोर्वृक्षस्य इयं दृश्यमाना कुसुममञ्जरी पुष्पवल्लरी अवतंसीकृता कर्णभूषणीकृता?, हि यतोऽस्याः कुसुममञ्जर्याः समुत्सर्पन् प्रसरन् असाधारणसौरभः असामान्यघ्राणतृप्तिकारिसुगन्धिः अनाघ्रातपूर्वो नासिकयाऽगृहीतपूर्वोऽयं गन्धो मे मम मनसि चित्ते महत्कौतुकं महदाश्चर्यं जनयति उत्पादयति।

स इति। स मुनिबालको मां प्रति ईषद्विहस्य किञ्चित् स्मितं कृत्वा अब्रवीत् अवोचत्—बाले कुमारिके! अनेन पृष्टेन पृच्छया किं प्रयोजनं कोऽर्थः?, अथ यदि तव कौतुकं कुतूहलं विद्यते तदा आवेदयामि कथयामि, श्रूयताम् आकर्ण्यताम्—

अस्तीति। सकलत्रिभुवने त्रैलोक्यस्य निखिलस्थानेष्वित्यर्थः प्रख्याता प्रसिद्धा कीर्त्तिर्यशो यस्य सः, अत्युदारम् अत्युत्कृष्टं तपो यस्य सः, सुरासुराणां देवदानवानां सिद्धानां तत्संज्ञकदेवयोनिविशेषाणाञ्च वृन्देन समूहेन वन्दितं नमस्कृतं चरणयुगलं पादद्वयं यस्य सः, दिव्यलोकनिवासी स्वर्गलोकवसनशीलः महामुनिः महातपस्वी श्वेतकेतुर्नाम श्वेतकेतुसंज्ञकः अस्ति विद्यते।

तस्येति। तस्य भगवतः श्वेतकेतोः, सुरासुरलोकयोः देवदानवलोकयोः याः सुन्दर्यः कामिन्यः तासां

---

नाचती-ऐसी क्यों होती है? और इस प्रकारकी अत्यधिक निपुणता इसमें कहाँसे आई कि एक अक्षरके उच्चारण नहीं करने पर भी केवल नयन द्वारा ही यह अभ्यन्तरस्थित मनकी अभिलाषा इस प्रकार व्यक्त है।

उसके बाद अवसर पाकर उसके सहचारी द्वितीय मुनिबालकके निकट जाकर प्रणाम-पूर्वक मैंने पूछा—'भगवन्! इन (युवक मुनि) का नाम क्या है? ये किस तपस्वीके पुत्र हैं? किस वृक्षकी यह कुसुममञ्जरी इन्होंने कानमें उरसी (रक्खी) है? इसकी असाधारण घ्राणतृप्ति करनेवाली, अनाघ्रातपूर्व विस्तृत हुई सुगन्धिसे मेरे मनमें महान् कौतुक उत्पन्न हुआ है!'

उस समय वह कुछ मुसकुरा कर मुझसे कहने लगा—'बालिके! इस विषयमें पूछनेसे तेरा क्या प्रयोजन? तथापि यदि कौतुक उत्पन्न हुआ है तो कहता हूँ; सुनोः—

जिनका यश समस्त त्रिभुवनमें प्रसिद्ध है, तपस्या जिनकी अनिर्वृत्त है, और देव-दानवों और सिद्धोंके समूह जिनके चरणों की सेवा करते हैं ऐसे श्वेतकेतु नामके एक महर्षि स्वर्गलोकमें निवास करते हैं। उन भगवान् महर्षिका रूप भी समस्त त्रिभुवनके मध्यमें परम सुन्दर था; वह रूप, देवलोक और दानवलोकोंके

---

१. लतालासिनी। २. लब्धप्रसरा। ३. भगवान् किमभिधानः। ४. कस्य चायं तपोधनयुवा। ५. इयमवतंसीकृता। ६. अस्ति त्रिभुवनप्रख्यातकीर्त्तिरत्युदारतया। ७. सुरसिद्धवृन्द, सिद्धवृन्दमौलिलालित…। ८. तस्य भगवतः। ९. सुरलोकसुन्दरी, सकललोकसुन्दरी…।

योनन्दकरम्, अशेषत्रिभुवनसुन्दरम्, अतिशयितनलकूबरं रूपमासीत्। स कदाचिद्देवतार्चनकमलान्युद्धर्त्तुमैरावत-मदजल-बिन्दु-बद्ध-चन्द्रक-शत-खचित-जलाम्, हर-हसित-सितस्रोतसम्[1], मन्दाकिनीमवततार। अवतरन्तञ्च तं तदा कमलवनेषु सततसन्निहिता विकच[2]सहस्रपत्र-पुण्डरीकोपविष्टा देवी[3] लक्ष्मीर्ददर्श। तस्यास्तु तमवलोकयन्त्याः प्रेममन्द[4]-मुकुलितेनानन्द-बाष्प-भर-तरङ्ग-तरलतारेण लोचनयुगलेन रूपमास्वादयन्त्या जृम्भिकारम्भ-मन्थर-मुख-विन्यस्त-हस्तपल्लवाया मन्मथविकृतं मन आसीत्। आलोकनमात्रेण च समासादित-सुरत-समागम-सुखायास्तस्मिन्नेवासनीकृते पुण्डरीके कृतार्थतासीत् तस्माच्च कुमारः समुद-

हृदयानन्दकरं चित्तप्रमोदोत्पादकम्, अशेषे त्रिभुवने त्रिविष्टपस्य समस्तस्थाने सुन्दरं सर्वेभ्यो हृद्यमित्यर्थः। तथा अतिशयितः अतिक्रान्तः नलकूबरः तत्संज्ञको धनपतिपुत्रः तदीयरूपं तत्सौन्दर्यं येन तत्तथोक्तम्। 'आसीत्' इति भूतकालनिरूपणेन वार्धक्यात् सम्प्रति तथाविधं सौन्दर्यं न विद्यत इति ध्वनितम्।

स इति। स श्वेतकेतुः कदाचित् कस्मिंश्चित्समये देवतानां सुराणाम् अर्चनाय पूजनार्य कमलानि पङ्कजानि उद्धर्तुम् उत्तोलयितुम्, ऐरावतस्य सलिले अवगाहमानस्य सुराधिपगजस्य मदजलबिन्दुभिः दानवारिकणैः बद्धम् उत्पादितं यत् चन्द्रकशतम् अनेकरूपं देदीप्यमानं वर्तुलाकारं चिह्नवृन्दं तेन खचितं व्याप्तं जलं सलिलं यस्याः ताम्; तथा हरहसितवत् महेशहास्यवत् सितं श्वेतं स्रोतः प्रवाहो यस्याः ताम्, मन्दाकिनीम् स्वर्धुनीम् अवततार अवतीर्णवान्। इह हरेत्यादौ लुप्तोपमाच्छेकानुप्रासयोरेकाश्रयानुप्रवेशसङ्करः।

अवेति। किञ्च, तदा तस्मिन् समये अवतरन्तम् आकाशादागच्छन्तं तं श्वेतकेतुं मुनिं कमलवनेषु नलिनखण्डेषु सततं निरन्तरं सन्निहिता निकटवर्त्तिनी, विकचं प्रस्फुटितं सहस्रपत्रं सहस्रदलात्मकं यत् पुण्डरीकं सितकमलं तत्र उपविष्टा आसीना लक्ष्मीर्देवी ददर्श अवलोकितवती।

तस्या इति। तं मुनिम् अवलोकयन्त्याः पश्यन्त्याः तस्याः लक्ष्म्याः, प्रेम्णा कामानुरागेण मन्दमुकुलितेन किञ्चित्कुड्मलितेन आनन्दबाष्पभरस्य हर्षनेत्राम्बुसमूहस्य तरङ्गेन कल्लोलेन तरला चपला तारा कनीनिका यस्य तेन, लोचनयुगलेन नेत्रद्वयेन रूपं सौन्दर्यम् आस्वादयन्त्याः सादरमवलोकयन्त्याः, जृम्भिकायाः कामावेशजनितशरीरभङ्गस्य आरम्भेण आरम्भणेन मन्थरम् अलसं यत् मुखं वदनं तत्र विन्यस्तः स्थापितो हस्तपल्लवः करकिसलयो यया तस्याः मनश्चित्तं मथ्नाति आलोडयतीति मन्मथः कामः तेन विकृतं विह्वलीकृतं मनश्चित्तम् आसीत् अभूत्।

आलोकनेति। किञ्च, आलोकनमात्रेण केवलं निरीक्षणेनैव समासादितं लब्धं सुरतसमागमसुखं सम्भोगात्मकसंयोगानन्दो यया तस्याः, तस्मिन्नेव आसनीकृते विष्टरीकृते पुण्डरीके श्वेतपद्मे कृतार्थता सम्भोगस्य सफलता बीजपात इत्यर्थः, आसीत् अभूत् किञ्चेति चार्थः। तस्मात् पुण्डरीकात् कुमारः अर्यं युवा समुपादि उत्पन्नः।

अहो! प्रजापतिसहोदरा कविकल्पना विलक्षणं विष्टपान्तरमपि रचयितुं शक्नोति यस्याश्च अद्भुतेयं कुमारसृष्टिः कविकल्पनया सञ्जाता। अत एवाहुः—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥

शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव वीतरागश्चेत् सर्वं तन्नीरसं भवेत्॥' इति॥

सुन्दरियोंके हृदयमें आनन्द उत्पन्न करता था, कुबेरनन्दन नलकूबरके रूपको भी परास्त किया था। वे किसी समयमें देवपूजाके निमित्त कमल तोड़नेके लिए, आकाशगङ्गाके जलमें उतरे। उस समय वह जल ऐरावत हस्तीके मदजल-बिन्दुनिर्मित सैकड़ों चन्द्राकारसे व्याप्त था एवं उसका प्रवाह, महादेवके हास्यके समान शुभ्रवर्ण था। जब वे जलमें उतर रहे थे उस समय उनको, सर्वदा कमलवननिवासिनी विकसित सहस्र-पत्रवाले श्वेतकमलमें बैठी लक्ष्मीने देखा। उनको देखते हा मदनानुरागसे ईषत् उन्मीलित (आधे मिचे) और आनन्दाश्रुजलकी तरङ्गसे चञ्चल हुई कनीनिका (पुतली) वाले नयनोंसे उन महर्षिके रूपका आस्वादन करते-करते और जँभाई आनेके कारण अलस हुए मुखमण्डल पर हस्तपल्लव स्थापन करते-करते उसके मनमें काम-विकार उत्पन्न हो गया। किन्तु दर्शनमात्रसे ही उस (लक्ष्मी) को सम्भोगसमागमका आनन्द प्राप्त हुआ और जिस पुण्डरीकमें वह बैठी थी

१. हरहसितस्रोतसम्, हरहसिततोयाम्। २'''सन्निहितविकच'''। ३. देवी कमलवदना लक्ष्मीः। ४. प्रेममद...।

पादि । ततस्तमुत्सङ्गेनादाय[1] 'भगवन् ! गृहाण तवायमात्मजः' इत्युक्त्वा तस्मै श्वेतकेतवे ददौ । असावपि बालजनोचिताः सर्वाः क्रियाः कृत्वा तस्य पुण्डरीकसम्भवतया तदेव पुण्डरीक इति नाम चक्रे । प्रतिपादितव्रतञ्च तमागृहीतसकलविद्याकलापमकार्षीत् । सोऽयम् ।

इयञ्च सुरासुरैर्मथ्यमानात् क्षीरसागरादुद्गतः पारिजातनामा पादपस्तस्य मञ्जरी । यथा चैषा व्रतविरुद्धमस्य श्रवणसंसर्गमासादितवती, तदपि कथयामि । अद्य चतुर्दशीति भगवन्तमम्बिकापतिं कैलासगतमुपासितुममरलोकान्मया सह नन्दनवनसमीपेनायमनुसरन्नि-

---

तत इति । ततः कुमारोत्पत्तेरनन्तरम् उत्सङ्गेन क्रोडेन तं कुमारम् आदाय गृहीत्वा लक्ष्मीरिति शेषः । भगवन् स्वामिन् !, गृहाण स्वीकुरु अयं ममोत्सङ्गे विद्यमानः कुमारः तवात्मजः तव सुतः त्वदवलोकनेनैव संक्षुभितान्मदङ्गीजाज्जायमानत्वादित्याशयः । इत्युक्त्वा इत्यभिधाय तस्मै श्वेतकेतवे मुनये तं कुमारकं ददौ दत्तवती ।

असाविति । असौ श्वेतकेतुरपि गृहीत्वेति शेषः । बालजनोचिताः शिशुजनयोग्याः सर्वाः समस्ताः क्रियाः जातकर्मादिकाः कृत्वा विधाय तस्य कुमारस्य पुण्डरीकसम्भवतया सितकमलोत्पन्नतया 'पुण्डरीक' इति नाम इत्यन्वर्थाभिधानं चक्रे कृतवान् । पुण्डं सुन्दरेषु तिलकभावं मुख्यत्वं रिणाति व्रजति लभत इति पुण्डरी ततः स्वार्थिकः कप्रत्ययः ।

प्रतीति । किञ्च, प्रतिपादितं सम्पादितं व्रतं यज्ञोपवीतं यस्य तम्, तथा आगृहीतः पाठितः सकलविद्याकलापः समस्तविद्यासमूहो येन तम्, तं पुण्डरीकम् अकार्षीत् कृतवान् श्वेतकेतुरिति सम्बन्धः । अयं युवा सः पुण्डरीकः ।

इयमिति । इयमित्यस्य 'तस्य च मञ्जरी' इत्यत्रान्वयः । सुरासुरैः देवराक्षसैः मथ्यमानात् विलोड्यमानात् क्षीरसागरात् दुग्धाम्बुधेः पारिजातनामा मन्दारसंज्ञकः [पादपो वृक्ष उद्गतो निःसृतः तस्य वृक्षस्य इयं कर्णावतंसीकृता मञ्जरी वल्लरी एषा कुसुममञ्जरी च व्रतविरुद्धं विलाससामग्रीत्वेन ब्रह्मचर्यप्रतीपं यथा स्यात्तथा अस्य पुण्डरीकस्य श्रवणसंसर्गं कर्णसंयोगं यथा येन प्रकारेण आसादितवती प्राप्तवती तदपि वृत्तं कथयामि निवेदयामि ।

अद्येति । अद्य अस्मिन्नहनि चतुर्दशी तिथिः इति हेतोः,

उपासना हरेरुक्ता चैकादश्यां महामुने ! । चतुर्दश्यां शिवस्येति महापुण्यफलप्रदा ॥

इत्युक्त्या शिवोपासनायां चतुर्दशीतिथेरधिकमाहात्म्यादित्यभिप्रायः । कैलासगतं रजताद्रिस्थं भगवन्तं माहात्म्यवन्तम् अम्बिकापतिं महेशम् उपासितुं सेवितुम्, अयं पुण्डरीकः, मया ( कपिञ्जलेन ) सह अमरलोकात् स्वर्गात् नन्दनवनसमीपेन इन्द्रोद्याननिकटेन अनुसरन् कैलासपर्वतमागच्छन् , निर्गत्य इन्द्रोद्यानाद्बहिर्निःसृत्य साक्षान्नन्दनवनदेवतया प्रत्यक्षीभूतया इन्द्रोद्यानाधिष्ठात्र्या देव्या प्रणम्य नमस्कृत्य अभिहित उक्त इति सम्बन्धः । तृतीयाया एकवचनान्तानि पदानि 'नन्दनवनदेवतया' इत्यस्य विशेष-

---

उसीमें उसका मनोरथ पूर्ण हुआ एवं उस श्वेतपद्मसे एक बालकका जन्म हुआ । उसके बाद उसको गोदमें लेकर महर्षिके समीपमें जाकर लक्ष्मीने—'भगवन् ! अपने इस पुत्रको ग्रहण करो'—यों कह कर श्वेतकेतुके हाथमें दे दिया । उन्होंने भी उसे ग्रहण कर बालकके उपयुक्त जातकर्मप्रभृति समस्त क्रियाएँ सम्पादन करके पुण्डरीक में उत्पत्ति होने के कारण उसका नाम **'पुण्डरीक'** रक्खा । बाद उसका उपनयन संस्कार कराके उसे सब विद्याएँ पढ़ाईं । यही है वह पुण्डरीक ।

देव-दानवोंके क्षीरसमुद्रको मन्थन करनेसे जो पारिजात-नामक एक वृक्ष उत्पन्न हुआ था उसकी यह मञ्जरी है । इस मञ्जरीका धारण करना ब्रह्मचर्यके विरुद्ध होने पर भी जैसे इनके ( पुण्डरीकके ) कानमें आई वह भी कहता हूँ । आज चतुर्दशी तिथि होनेके कारण, कैलासवासी भगवान् महादेवकी पूजा करनेके लिए ये मेरे साथ स्वर्गलोकसे नन्दन-वनके समीप होकर इस कैलासमें आरहे थे, इतनेमें नन्दन-वनकी साक्षात् अधिष्ठात्री

---

१. उत्सङ्ग आदाय ।

गत्य साक्षान्मधुमासलक्ष्मीदत्तललित-हस्तावलम्बया, वकुलमालिकामेखलया, पारिजातं कुसुमपल्लव-ग्रथिताभिराजानुलम्बिनीभिः कण्ठमालिकाभिर्निरन्तराच्छादितविग्रहया, नवचूताङ्कुरकर्णपूरया, पुष्पासव-पान-मत्तया, नन्दनवन-देवतया, पारिजातकुसुममञ्जरीमिमामादाय प्रणम्याभिहितः-'भगवन्! सकलत्रिभुवनदर्शनाभिरामायास्तवाकृतेरस्याः सुसदृशोऽयम् अलङ्कारः, प्रसादीक्रियताम्, इयमवतंस-विलास-दुर्ललिता समारोप्यतां श्रवणशिखरम्, व्रजतु सफलतां जन्म पारिजातस्य' इत्येवमभिदधानाञ्चायमात्मरूप-स्तुतिवादं त्रपावनमित-लोचनः तामनादृत्यैव गन्तुं प्रवृत्तः। मया तु तामनुयान्तीमालोक्य 'को दोषः, सखे! क्रियतामस्याः प्रणयपरिग्रहः' इत्यभिधाय बलादियमनिच्छतोऽप्यस्य कर्णपूरीकृता। तदेतत् कात्स्न्र्येन

णानि। मधुमासलक्ष्म्या वसन्तमासश्रिया दत्तोऽर्पितः ललितहस्तस्य स्वस्य सुन्दरकरस्य अवलम्ब आश्रयो यस्याः तया, वसन्तलक्ष्म्या ललितहस्तधारिण्येत्यर्थः। वकुलमालिका केसरस्रक् मेखला काञ्ची यस्याः तया, पारिजातकुसुमैः मन्दारपुष्पैः पल्लवैः किसलयैश्च ग्रथिताभिर्गुम्फिताभिः आजानुलम्बिनीभिः आनलकीललम्बमानाभिः कण्ठमालिकाभिः गलदत्तस्रग्भिः निरन्तरं सान्द्रम् आच्छादित आवृतो विग्रहः शरीरं यस्याः तया, नवा नूतनाः चूताङ्कुरा आम्रमुकुलाः कर्णपूराः कर्णावतंसा यस्याः तया, पुष्पासवस्य प्रसूनमधुरूपमद्यस्य पानेन मत्ता क्षीबा तया।

किमुक्त इत्यत आह—भगवन्निति। भगवन् स्वामिन्! सकलत्रिभुवनस्य जगत्त्रयनिवासिनः समस्तलोकस्य दर्शने अवलोकने अभिरामायाः सर्वतो मनोरमायाः, अस्या अवलोक्यमानायाः तवाकृतेः तव स्वरूपस्य सुसदृशोऽनुरूपः अयम् अलङ्कारो भूषणम्, प्रसादीक्रियतां प्रसादपात्रीक्रियताम् अनुग्रहेण स्वीक्रियतामित्यर्थः। नन्वनया मया किं विधेयमिति जिज्ञासायामाह—इयमिति। अवतंसे भूषणस्थाने कर्णे यो विलासः अनया द्युतिसंपादनं तत्र विषये, दुर्ललिता अन्येन दुर्लभ्यतया क्लेशेन लिप्सिता दुष्प्रापेत्यर्थः, इयं पारिजातकुसुममञ्जरी श्रवणशिखरं श्रोत्रोर्ध्वदेशं समारोप्यतां संस्थाप्यताम्, पारिजातस्य मन्दारस्य जन्म उत्पत्तिः सफलतां सार्थकतां व्रजतु गच्छतु, तव तन्मञ्जरीधारणादित्यभिप्रायः।

इतीति। किञ्च, इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण अभिदधानां कथयन्तीम् अयं पुण्डरीकः, आत्मरूपस्य स्वसौन्दर्यस्य स्तुतिवादेन प्रशंसनेन या त्रपा ह्रीः तया अवनमिते नम्रीकृते लोचने नयने येन स तथोक्तः सन्, तां नन्दनवनदेवताम् अनादृत्यैव तिरस्कृत्यैव गन्तुं चलितुं प्रवृत्तः उद्यतोऽभूत्।

मयेति। तां नन्दनवनदेवताम् अनुयान्तीं पुण्डरीकमनुव्रजन्तीम् आलोक्य दृष्ट्वा, 'हे सखे मित्र! को दोषः अस्या वनदेवताया अनुरोधस्वीकारे (मञ्जरीग्रहणे) को दोष इत्यर्थः, प्रणयपरिग्रहः प्रीतिदानग्रहणं क्रियतां विधीयताम्' इत्यभिधाय इत्युक्त्वा इयं कुसुममञ्जरी अनिच्छतोऽपि श्रवणोपरिस्थापनमनभिलषितस्यापि अस्य पुण्डरीकस्य, बलात् हठात् कर्णपूरीकृता श्रवणाभरणीकृता। तत्तस्मात् कारणात्

देवीने, इस पारिजात-पुष्पकी मञ्जरीको लेकर वसन्तलक्ष्मीके हस्त-धारणपूर्वक नन्दन-वनसे निकल कर इन्हें प्रणाम किया। उस समयमें उसने बकुल-पुष्प-मालाकी मेखला (चन्द्रहार) धारण की थी। पारिजातके पुष्प और पल्लवद्वारा गुँथी हुई और जांघों तक लटकती कण्ठमालाओंसे उसका समस्त शरीर आच्छादित हो गया था और आमके नूतन अङ्कुरका उसने कर्णपूर धारण किया था, एवं पुष्पोंका मद्य पीनेसे मत्त हुई थी। उसके बाद उसने इनसे कहा—'भगवन्! आपकी यह आकृति, त्रिभुवननिवासी समस्त लोगोंकी दृष्टिसे ही अत्यन्त सुन्दर है, अत एव इसके सुयोग्य इस आभूषणको अनुग्रहपूर्वक ग्रहण कीजिए। कानमें रखकर शोभा सम्पादन करनेमें दूसरेको दुष्प्राप्य इस मञ्जरीको अपने कानके ऊपर धारण कीजिए और आज पारिजातवृक्षका जन्म सफल कीजिए।' वनदेवता इसप्रकार कह रही थी उस समय ये (पुण्डरीक) अपने सौन्दर्यकी प्रशंसा सुन कर लज्जासे नयनयुगल अवनत कर उनका अनादर करके ही चलने लगे। इधर उनको भी इनके पीछे-पीछे आती देख इनसे मैंने कहा कि 'मित्र! इसमें क्या दोष है? जो यह प्रेमसे देती है उसे स्वीकार करो' इतना कह कर इनकी इच्छा नहीं रहने पर भी मैंने बलपूर्वक यह मञ्जरी इनके कानमें उरस (पहना) दी। अत एव यह जो हैं जिनके

१. क्वचित् पारिजातेति पदं न विद्यते। २. क्वचित् 'नन्दन' इति पदं न विद्यते। ३. सदृशोऽयम् तु सदृशः। ४. प्रसीद, क्रियताम्। ५. आरोप्यताम्। ६. शिखरे। ७. आत्मस्तुतिवाद…। ८…विलोचनः।

योऽयम्, यस्य चायम्, या चेयम्, यथा चास्य श्रवणशिखरं समारूढा तत्सर्वमावेदितम्'।

इत्युक्तवति तस्मिन् स तपोधनयुवा किञ्चिदुपदर्शितस्मितो मामवादीत्-'अयि कूतूहलिनि ! किमनेन प्रश्नायासेन। यदि रुचितसुरभिपरिमला तदा गृह्यतामियम्' इत्युक्त्वा समुपसृत्यात्मीयात् श्रवणादपनीय कलैरलिकुलकणितैः प्रारब्धरतिसमागम-प्रार्थनामिव मदीये श्रवणपुटे तामकरोत्। मम तु तत्करतलस्पर्शलोभेन तत्क्षणमपरमिव पारिजातकुसुमावतंसस्थाने पुलकम् आसीत्। स च मत्कपोलस्पर्शसुखेन तरलीकृताङ्गुलिजालकात् करतलादक्षमालां लज्जया सह गलितामपि नाज्ञासीत्। अथाहं तामसम्प्राप्तामेव भूतलमक्षमालां

---

एतत् जिज्ञासाविषयीभूतं कात्स्न्र्येन साकल्येन, यश्चायं तपोधनयुवा, यस्य चायं पुत्रः, या चेयं कुसुममञ्जरी यदुत्पन्नेत्यर्थः। अपि चेयं कुसुममञ्जरी यथा येन विधिना, अस्य कुमारस्य श्रवणशिखरं कर्णोर्ध्वभागं समारूढा प्राप्ता तत्सर्वं तत्समस्तम् आवेदितं कथितम्।' इह 'कात्स्न्र्येन' इत्यस्य स्थाने साकल्येनेति पाठो विधेयः, तथा सत्येव न दुःश्रवत्वदोष इत्यवधेयम्।

इतीति। तस्मिन् सहचरे इत्युक्तवति सति स तपोधनयुवा पुण्डरीकः, किञ्चित् ईषत् उपदर्शितं प्रकटितं स्मितम् अदष्टरदं हास्यं येन स तथोक्तः सन् मां महाश्वेताम् अवादीत् प्रत्यवोचत्-'अयि कुतूहलिनि कौतुकवति ! अनेन प्रश्नायासेन पृच्छापरिश्रमेण किं किं प्रयोजनमित्यर्थः। यदि रुचितो जिज्ञासितः सुरभिर्घ्राणतृप्तिकरः परिमलः सौरभो यस्याः सा इयं मञ्जरी तदा तर्हि गृह्यतां स्वीक्रियताम्' इत्युक्त्वा इत्यभिधाय समुपसृत्य समीपमेत्य आत्मीयात् स्वकीयात् श्रवणात् श्रोत्रात् अपनीय उन्मुच्य, तां कुसुममञ्जरीम्, कलैः अव्यक्तमधुरैः अलिकुलकणितैः सौरभलोभेन तदन्तिकागतमधुकरगणशब्दितैः करणैः प्रारब्धा प्रस्तुता रतिसमागमस्य सम्भोगसंसर्गस्य प्रार्थना याच्ञा यया तामिव सतीम् अकरोत् अर्पितवान्। इह सुरतसमागमयाचनोपक्रमेणोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

ममेति। मम महाश्वेतायास्तु तत्करतलस्पर्शलोभेन पुण्डरीकपाणितलस्पर्शतृष्णया तत्क्षणं तत्काले अवतंसस्थाने तत्कर्णे, अपरं द्वितीयं पारिजातकुसुममिव मन्दारपुष्पमिव उन्नतावनतमुखसादृश्यादित्याशयः, पुलकं ( पुलकः ) रोमाञ्चः आसीत् अभवत्। इह द्रव्योत्प्रेक्षा। अत्र 'पुलकम्' इति रोमाञ्चार्थे नपुंसको न युक्तः किन्तु पुल्लिङ्ग एव पाठः साधीयान् अन्यथा च्युतसंस्कृतेर्दोषस्य वारयितुं कः शक्नुयात्। 'हृदयम्' इति पाठपरिवर्त्तने तु साम्याभावादनुचितार्थदोषापत्तिरित्यवधेयम्।

स इति। स च सोऽपि युवा, मत्कपोलस्पर्शसुखेन मद्गण्डस्थलस्पर्शानन्देन, तरलीकृतं कम्पितम् अङ्गुलीनां हस्तावयवानां जालकं समूहो यस्य तस्मात् करतलात् पाणितलात् तज्जया त्रपया सह गलितामपि पतितामपि अक्षमालां जपमालां नाज्ञासीत् न ज्ञातवान्। इह सहोक्तिः।

अथेति। अथ अनन्तरम् अहं भूतलं पृथ्वीतलम् असम्प्राप्तामेव अपतितामेव ताम् अक्षमालां

---

पुत्र हैं, और यह मञ्जरी जिस वृक्षसे उत्पन्न हुई है एवं जिस रूपसे इनके कान पर आरूढ़ हुई यह आनुपूर्विक सब वृत्तान्त मैंने कह दिया है।'

उसके यों कह चुकने पर वह तपस्वी युवक कुछ मन्द-मन्द हँस कर स्वयं ही मुझसे कहा—'अयि कौतुकवति ! इस प्रश्न करनेके परिश्रमसे क्या प्रयोजन ? यदि इस मञ्जरीके घ्राणतृप्तिकर सौरभमें तुम्हारी अभिलाषा है तो तूँ इसे ले ले'— इतना कह मेरे समीप आकर, भ्रमरगणके अस्पष्ट और मधुर झङ्कार ( गुञ्जार ) से मानों सम्भोग सम्मिलनकी प्रार्थना करते हुए उस मञ्जरीको, अपने कानमेंसे निकाल कर, मेरे कानमें पहना दिया। उसके करस्पर्शकी आशासे, उसी समय, एक दूसरे पारिजात-कुसुमके समान कर्णाभरण-स्थानमें मुझे रोमाञ्च हो आया। मेरे कपोलस्थल ( गाल ) के स्पर्श सुखसे उसके भी हाथके अङ्गुलिसमूह काँपने लगे और हाथमेंसे लज्जाके साथ गिरती अपनी जप-मालाको भी वह जाननेमें समर्थ न हुआ। उस जपकी मालाको पृथिवीपर गिरते-गिरते

---

१. योऽयं या चेयम्। २. श्रवणशिखरे। ३. क्वचित् 'माम्' इति पदं न विद्यते ४. प्रश्नाशयेन। ५. क्वचित् 'रुचिते'ति पदं न विद्यते। ६. क्वचित् 'तदे'त्यपि न दृश्यते। ७. क्वचित् 'इयम्' इति पदं नास्ति। ८. हृदयम्।

गृहीत्वा सलीलं तद्भुज-पाश-सन्दानितकण्ठग्रहसुखमिवानुभवन्ती दर्शितापूर्व-हारलता-लीलां कण्ठाभरणतामनयम् ।

इत्थम्भूते च व्यतिकरे छत्रग्राहिणी मामवोचत्-'भर्तृदारिके ! स्नाता देवी, प्रत्यासीदति गृहगमनकालः, तत्क्रियतां मज्जनविधिः' इति । अहन्तु तेन तस्या वचनेन नवग्रहा करिणीव प्रथमाङ्कुशपातेनानिच्छया[1] कथं कथमपि समाकृष्यमाणा[2] तन्मुखाल्लावण्यपङ्कमग्नामिव कपोल-पुलक-कण्टक-जालक-लग्नामिव, मदन-शर-शलाका-कीलितामिव, सौभाग्यगुण-स्यूतामिव अतिकृच्छ्रेण दृष्टिमाकृष्य स्नातुमुदचलम् । उच्चलितायाञ्च मयि द्वितीयो मुनिदारकस्तथाविधं[3] तस्य धैर्य्यस्खलितमालोक्य किञ्चित्प्रकटितप्रणयकोप इवावादीत्—

गृहीत्वा आदाय, तस्य तरुणस्य भुजपाशाभ्यां बाहुपाशाभ्यां सन्दानितः परिवेष्ट्य संयतो यः कण्ठस्तत्र ग्रहसुखं तदाश्लेषणसुखम् अनुभवन्तीव साक्षात्कुर्वन्तीव, दर्शिता प्रकटिता अपूर्वा या आश्चर्यरूपाः हारलताया मुक्तालताया लीला शोभा यया तां तादृशीं सतीम्, सलीलं यथा स्यात्तथा कण्ठाभरणतां कण्ठभूषणताम् अनयम् आनीतवती ।

इह 'अनुभवन्तीव' इति क्रियोत्प्रेक्षा, हारलताया लीलेव लीलेति औपम्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना चेत्यनयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

इत्थमिति । इत्थम्भूते एतादृशे, व्यतिकरे अन्योन्यासक्तिनिबन्धनाचारे छत्रग्राहिणी मदातपत्रधारिणी माम् अवोचत् अब्रवीत्—'भर्तृदारिके राजपुत्रि ! स्नाता कृतमज्जना देवी त्वन्माता वर्त्तते अथ च गृहगमनकालः भवनव्रजनसमयः प्रत्यासीदति निकटगतो भवति उपस्थितो भवतीत्यर्थः, तत्तस्मात् मज्जनविधिः स्नानकार्यं क्रियतां विधीयताम्' इति ।

अहमिति । तु किन्तु अहं प्रथमाङ्कुशपातेन आद्यसृणिप्रहारेण, नवो नूतनो ग्रहो धारणं यस्याः सा तथोक्ता करिणी हस्तिनीव, तस्याः छत्रग्राहिण्याः तेन वचनेन वाक्येन, अनिच्छया अनीहया कथं कथमपि महता कष्टेन समाकृष्यमाणा सती, लावण्यं तस्य सौन्दर्यमेव पङ्कः कर्दमः तत्र मग्नां लीनामिव, क्लेशेनाकर्षणादित्याशयः । कपोलयोः तदीयगण्डयोः पुलका रोमाञ्चा एव कण्टकाः क्षुद्रशत्रवः तेषां जालके जाले लग्नां संसक्तामिव कष्टेनाकर्षणादित्याशयः । 'कण्टकः क्षुद्रशत्रौ च' इति विश्वः । मदनस्य कामस्य शरशलाकाभिः बाणेषिकाभिः कीलितां विद्धामिव, सौभाग्यमेव गुणः तन्तुः तेन स्यूतां कृतसीवनामिव क्लेशेनाकर्षणादिति प्राग्वदिवाशयः । तन्मुखात् तदाननात् अतिकृच्छ्रेण अतिक्लेशेन दृष्टिं चक्षुः समाकृष्य परावर्त्य स्नातुं मज्जितुम् उदचलम् उदव्रजम् ।

इह 'नवग्रहा करिणी' इत्यत्रोपमा, 'लावण्यपङ्कमग्नामिव' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकक्रियोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः, एवं 'कपोलपुलके' त्यत्र, 'सौभाग्यगुणस्यूतामिव' इत्यत्र चोक्तालङ्कार एव । 'मदनशरशलाकाकीलितामिव' इत्यत्र तु क्रियोत्प्रेक्षा ।

उच्चलीति । किञ्च, उच्चलितायाम् उद्व्रजितायां मयि द्वितीयो मुनिदारकः अपरस्तपस्विबालकः तस्य पुण्डरीकस्य धैर्यस्खलितं मदनविकारेण धृतिभङ्गम् आलोक्य निरीक्ष्य किञ्चित् प्रकटितः ईषदावि-

रोक कर मैंने ले लिया और उस कुमारके भुज-पाशको मानो अपने कण्ठमें वेष्टन कर आलिङ्गन करनेका सुख मान कर अपूर्व हार-लताकी शोभा दिखाती उस मालाको मैंने लीलाके साथ अपने कण्ठका आभरण कर लिया ।

आसक्तिवश परस्पर इस प्रकारका व्यवहार हो जानेपर, मेरी छत्रधारिणी परिचारिकाने मुझसे कहा—'राजकन्ये ! महारानी स्नान कर चुकीं और घर चलनेका समय उपस्थित हो गया है अत एव आप भी स्नान कर लें' अंकुशके प्रथम ही प्रहार ( चोट ) से पकड़ी हुई अभिनवा हस्तिनीके समान मैं उस परिचारिकाके वचनसे अनिच्छापूर्वक ही बड़े बड़े प्रयत्नसे पीछे हटी; उस समय मेरी दृष्टि, उसके लावण्यरूपी पङ्कमें मानो फँस गई थी, उसके गण्डस्थल ( गाल ) पर उत्पन्न हुए रोमाञ्च-रूपी कण्टक जालमें मानो प्रविष्ट कर गई थी; कामदेवकी शर-शलाका ( बाण-रूपी सलाई ) से मानो विद्ध हो गई थी; एवं सौभाग्य-रूपी सूत्रसे मानो सिल गई थी; अत एव मैं अतिकष्टसे उसके मुखमण्डलसे उस दृष्टिको हटाकर स्नान करनेको चली । मेरे स्नान करनेके लिए चले जाने पर, वह द्वितीय मुनिकुमार पुण्डरीकका इस प्रकार कामविकारसे धैर्यस्खलन देखकर मानो कुछ प्रणय-कोप प्रकाश करके ही कहने लगा—

१. क्वचित् 'अपि' इत्यधिकं पदमत्र दृश्यते । २. समाकृष्य । ३. तथाविधः ।

'सखे ! पुण्डरीक ! नैतदनुरूपं भवतः । क्षुद्रजनक्षुण्ण एष मार्गः[1] । धैर्य्यधना हि साधवः । किं यः कश्चित्[2] प्राकृत इव विक्लवीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि । कुतस्तवापूर्वोऽयमद्येन्द्रियोपप्लवः[3] ? येनास्येवं कृतः । क्व ते तद्धैर्य्यम्, क्वासाविन्द्रियजयः, क्व तद्वशित्वं चेतसः, क्व सा प्रशान्तिः, क्व तत् कुलक्रमागतं ब्रह्मचर्य्यम् , क्व सा सर्वविषयनिरुत्सुकता, क्व ते गुरूपदेशाः, क्व तानि श्रुतानि, क्व ता वैराग्यबुद्धयः, क्व तदुपभोगविद्वेषित्वम् , क्व सा सुखपराङ्मुखता, क्वासौ तपस्यभिनिवेशः, क्व सा संयमिता[4], क्व सा भोगानामुपर्य्यरुचिः क्व तद् यौवनानुशासनम् । सर्वथा निष्फला प्रज्ञा, निर्गुणो धर्म्मशास्त्राभ्यासः, निरर्थकः संस्कारः, निरुपकारको गुरूपदेशविवेकः, निष्प्रयोजना प्रबुद्धता, निष्कारणं ज्ञानम्[5], यदत्र[6]

---

ष्कृतः प्रणयकोपः स्नेहक्रोधो येन सः तथोक्त इव सन् अवादीत् अवोचत्—

सख इति । सखे पुण्डरीक मित्र पुण्डरीक ! एतद् विधीयमानं भवतस्तव नानुरूपं नोचितम् । एष मार्गः सुन्दरीदर्शने कामभाव इत्यर्थः, क्षुद्रजनक्षुण्णः नीचजनैराचरितो न तु भवद्विधैरित्यभिप्रायः, हि यतः साधवो मुनयो धैर्यधना धृतिधनाः, हेतुविशेषेणाधैर्यतासम्भवेऽपीत्यभिप्रायः । यः कश्चित् अनिर्दिष्टनामा प्राकृत इव साधारणपुरुष इव, विक्लवीभवन्तं कामावेशेन व्यग्रीभवन्तम् आत्मानं मनः किं न रुणत्सि निरुद्धं करोषि ? तव भवतः अयम् अपूर्वः अनुत्पन्नपूर्वः कुतः कस्मात् इन्द्रियाणां करणानाम् उपप्लवः क्षोभः उद्वेलनम् ? येन इन्द्रियोपप्लवेन एवं कृतः अधीरीकृतः ।

क्वेति । ते तव तद्धैर्यं क्व, तथा इन्द्रियाणां करणानाम् असौ जयो निरोधः क्वः, तथा चेतसो मनसस्तद्वशित्वं निवृत्तिमार्गे तत्स्वातन्त्र्यं क्व, सा अनिर्वचनीयस्वरूपा प्रशान्तिः शमगुणाश्रयणं (सात्त्विकता) क्व, तथा कुलक्रमेण वंशपरिपाट्या आगतम् आयातं ब्रह्मचर्यं कामविरतिः क्व, तथा सर्वविषयेषु समस्तेन्द्रियार्थेषु निरुत्सुकता निरुत्कण्ठता क्व, तथा गुरूणां हिताहितोपदेष्टॄणां ते उपदेशाः शिक्षावचनानि क्व, तथा तानि पूर्वोक्तानि श्रुतानि ज्ञानानि क्व, ताः सर्वाधिका वैराग्यबुद्धयः विरक्तिमतयः क्व, तासाम् अङ्गनानां कामिनीनाम् उपभोगः पुनःपुनरासेवनं तस्मिन् विद्वेषित्वं वैरित्वं क्व, सुखात् सौख्यात् पराङ्मुखता व्यावृत्तता क्व, तपसि व्रतविशेष एव अभिनिवेश आग्रहः क्व, सा प्रसिद्धा संयमिता संयतभावः स्रक्चन्दनवनितादिभिरनाकर्षणमित्यर्थः क्व, भोगानां विषयाणाम् उपरि सा अरुचिः अस्पृहा क्व, तद् यौवनानुशासनं यौवनविकारनिग्रहः क्व ।

सर्वथेति । सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रज्ञा प्रतिभा निष्फला निष्प्रयोजना, निर्गुणः सदसज्ज्ञानोत्पत्तिरूपगुणरहितः धर्मशास्त्राभ्यासः मन्वादिस्मृतीनां भूयो भूयः पठनम्, संस्कारः शिक्षाजनितचित्तशुद्धिः निरर्थको निष्प्रयोजनः, गुरूपदेशात् आचार्योपदेशात् यो विवेको बोधः स निरुपकारकः उपकाराकरणान्निरर्थक इत्यर्थः । प्रबुद्धता विषयेषु प्रकृष्टज्ञानवत्ता भोग्यानां साररहितत्वमिति ज्ञानमित्यर्थः, निष्प्रयोजना निष्फला, ज्ञानं तत्त्वावबोधः निष्कारणं निर्हेतुकम्,यद् यस्मात् कारणात् भवादृशाः त्वद्विधा अपि.रज्यन्ते

---

'मित्र पुण्डरीक ! इस प्रकारका आचरण करना आपके योग्य नहीं है, क्योंकि यह तुच्छ मनुष्योंके ही व्यवहार करनेका मार्ग है, साधुओंका तो धैर्य ही धन है । क्यों एक साधारण मनुष्यके समान अधीरचित्त होकर आप अपनेको नहीं रोकते ? आज कैसे आपमें यह अपूर्व इन्द्रियोंका उपद्रव उपस्थित हो गया कि जिससे आपकी यह दशा कर दी गई ? आपका वह धैर्य कहाँ गया ? आपकी वह जितेन्द्रियता कहाँ गई ? चित्तकी वह स्वाधीनता कहाँ गई ? वह प्रशान्ति कहाँ गई ? वह वंश-परम्परागत ब्रह्मचर्य कहाँ गया ? समस्त विषयोंके प्रति वह निरुत्सुकता कहाँ गई ? वे गुरुके उपदेश कहाँ गए ? वे सब शास्त्रज्ञान कहाँ गए ? वह वैराग्य-बुद्धि कहाँ गई ? उपभोगके प्रति वह विद्वेष कहाँ गया ? वह सुखपराङ्मुखता कहाँ गई ? तपस्याके प्रति वह आग्रह कहाँ गया ? वह संयतभाव कहाँ गया ? भोगों के ऊपर वह अरुचि कहाँ गई ? एवं यौवनविकारका वह अनुशासन कहाँ गया ? आज प्रतिभा, सब प्रकारसे निष्फल हुई । धर्मशास्त्रोंका अभ्यास सदसद्विवेकजननरूपगुणहीन निकला । शिक्षाजनित चित्तशुद्धि निरर्थक हुई ! गुरूपदेशजनित-विवेक किसी प्रकारका उपकारक नहीं हुआ ! विषयों का असारताज्ञान, प्रयोजन-विहीन हुआ ! एवं तत्त्वज्ञान निष्फल ( निरुपयोगी ) हुआ ! क्योंकि आपके समान लोग भी

---

१. क एष मार्गः । २. कश्चन । ३. आद्येन्द्रियोपप्लवः । ४. क्वचित् 'क्व सा संयमिता' इति पाठो नास्ति । ५. सज्ज्ञानम् । ६. यत्र ।

भवादृशा अपि रागाभिषङ्गैः कलुषीक्रियन्ते प्रमादै[1]श्चाभिभूयन्ते। कथं करतलाद्गलिताम-पहृतामक्षमालामपि न लक्षयसि। अहो! विगतचेतनत्वम्। अपहृता नामेयम्[2], इदमपि तावदपह्रियमाणम्[3] अनया अनार्य्यया निवार्य्यतां हृदयम्'।

इत्येवम्[4] अभिधीयमानश्च तेन किञ्चिदुपजातलज्ज इव प्रत्यवादीत्—'सखे' कपिञ्जल! किं मामन्यथा सम्भावयसि। नाहमेवमस्या दुर्विनीतकन्यकाया मर्षयाम्यक्षमालाग्रहणापराध-मिमम्' इत्यभिधाय अलीक-कोप-कान्तेन प्रयत्नविरचित-भीषण-भ्रुकुटिभूषणेन चुम्बनाभिला-षस्फुरिताधरेण मुखेन्दुना मामवदत्-चपले[5]! प्रदेशादस्मादिमामक्षमालामदत्त्वा पदात् पद-

---

एभिरिति रागाः स्रक्चन्दनकामिनीप्रभृतयो विषयाः तेषु अभिषङ्गैः आसक्तिभिः कलुषीक्रियन्ते मलिनी-क्रियन्ते आकर्षणं विधाय दुष्टत्वं विधीयन्त इत्यर्थः, प्रमादैः निजकर्त्तव्यात् स्खलनरूपैः अभिभूयन्ते स्वाधीनीक्रियन्ते, तद्भवता सम्प्रति प्रस्तुतमहेशोपासनां विहाय सुन्दर्यामभिषङ्गो विधीयत इत्यभिप्रायः।

कथमिति। करतलात् हस्ततलात् गलिता च्युता तया अपहृतां गृहीताम् अक्षमालां जपमालामपि कथं कस्माद्धेतोः न लक्षयसि जानासि। अहो आश्चर्यम्, विगतचेतनत्वं संज्ञारहितत्वम्, पतिताया अक्ष-मालाया अप्यज्ञानादित्याशयः।

अपेति। अनया अनार्यया पुरोऽवलोक्यमानया धृष्टया नायिकया, इयम् अक्षमाला जपमाला अपहृता बलाल्लुण्ठिता नाम, सम्प्रति इदं तावत् अपह्रियमाणं समाकृष्यमाणं हृदयं चित्तमपि निवार्यतां त्वया निषिध्यताम्, एकस्य अपहरणे जाते सम्प्रति अपह्रियमाणस्य रक्षणावश्यकत्वादित्याशयः।

इतीति। इत्येवं पूर्वोक्त प्रकारेण, तेन कपिञ्जलेन अभिधीयमानः कथ्यमानः पुण्डरीकः, किञ्चिदुप-जाता ईषत्प्रादुर्भूता लज्जा त्रपा यस्य स तादृश इव प्रत्यवादीत् प्रत्यवोचत्—'सखे कपिञ्जल वयस्य कपि-ञ्जल! अन्यथा तया नायिकया हृतचित्तं मां किं कथं सम्भावयसि नाहं तथेत्याशयः।

तर्हि कथमेवं तवाधैर्यमित्यत आह—नाहमिति। अहम् एवमस्या दुर्विनीतकन्यकाया इमम् अक्ष-मालाग्रहणापराधं जपमालास्वीकरणागसं न मर्षयामि क्षमे, न खलु मदनविकारजनिता ममेयमधीरता अपि तु कोपजनितैवेत्यभिप्रायः।

इह द्योतिताया अपि मदनविकारजनिताया अधीरतायाः कोपजनितत्वव्याजेन गोपनाद् व्याजोक्तिः।

इतीति। इत्यभिधाय इत्युक्त्वा अलीककोपेन असत्यक्रोधेन कान्तः ताम्ररूपतया पूर्वतोऽपि सुन्दरः तेन, प्रयत्नेन कोपाभावेन स्वयंजन्माभावाच्चेष्टया विरचिता विहिता भीषणा भयङ्करा भ्रुकुटिरेव भूषणम् अलङ्कारो यस्य तेन तादृशेन, तथा चुम्बनाभिलाषेण चुम्बनेच्छया स्फुरितः स्पन्दितः अधरः ओष्ठो यस्य तेन, मुखमाननम् इन्दुरिव तेन, माम् अवदत् अवोचत्—चपले चञ्चले! इमाम् अक्षमालां जपमालाम् अदत्त्वा असमर्प्य अस्मात् प्रदेशात् स्थानात् पदात् पदमपि एकपादमपि न गन्तव्यं यातव्यम्।

इह त्रासकारणीभूतभ्रुकुटितोऽलङ्कारगुणशोभाजननाद् विषमालङ्कारः, 'मुखेन्दुना' इत्यत्र लुप्तोपमा चेत्युभयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण स्थितत्वात् संसृष्टिः।

---

स्रक्चन्दनवनितादिरूप विषयासक्तिसे कलुषित और प्रमादसे अभिभूत होने लगे। क्या आपने अपने हाथमेंसे गिरी हुई और किसीके द्वारा अपहरण कर ले ली गई जप-मालाको भी नहीं जानते? कितनी आश्चर्यदायिनी आपकी संज्ञाहीनता!। यह प्रगल्भा कन्या जपकी-मालाका अपहरण करके तो ले गई पर आपके हृदयको भी जो अपहरण कर ले जारही है उसे तो निवारण कीजिए।'

इसप्रकार कपिञ्जलसे कहे जाने पर, मानो कुछ लज्जित होकर, पुण्डरीकने प्रत्युत्तर दिया—'मित्र कपिञ्जल! क्यों मेरे विषयमें तुम अन्यथा सम्भावना करते हो? मैं इस दुर्विनीत कन्याका जपमाला ग्रहण करनेका अपराध क्षमा नहीं करूँगा।' इतना कह कर, मिथ्या क्रोधसे और भी मनोहर लगते, यत्नपूर्वक रचे हुए भयङ्कर भ्रुकुटिरूपी आभूषणसे अलङ्कृत और चुम्बन करनेकी अभिलाषासे काँपते होठवाले मुख-चन्द्रसे उसने मुझसे कहा—'चञ्चले! मेरी इस जप-मालाको दिये बिना इस स्थानसे एक कदम भी नहीं गमन कर सकती हो।'

---

१. प्रमोदैः। २. विगतचेतनत्वमपहृतानामेवम्। ३. भ्रियमाणम्। ४. एवम्। ५. चञ्चले!।

मपि न गन्तव्यम्' इति। तच्च श्रुत्वाहमात्मकण्ठादुन्मुच्य मकरध्वज-लास्यारम्भ-लीला-पुष्पाञ्जलिमेकावलीं 'भगवन्! गृह्यतामक्षमाला' इति सन्मुखासक्तदृष्टेः शून्यहृदयस्यास्य प्रसारिते पाणौ निधाय स्वेदसलिलस्नातापि पुनः स्नातुमवातरम्। उत्थाय च कथमपि प्रयत्नेन निम्नगेव प्रतीपं नीयमाना सखीजनेन बलादम्बया सह तमेव चिन्तयन्ती स्वभवनमयासिषम्। गत्वा च प्रविश्य कन्यान्तःपुरं ततः प्रभृति तद्विरहविधुरा किमागतास्मि, किं तत्रैव स्थितास्मि, किमेकाकिन्यस्मि, किं परिवृतास्मि, किं तूष्णीमस्मि, किं प्रस्तुतालापास्मि, किं जागर्मि, किं सुप्तास्मि, किं रोदिमि, किं न रोदिमि, किं दुःखमिदम्, किं सुखमिदम्, किमुत्कण्ठेयम्, किं व्याधिरयम्, किं व्यसनमिदम्, किमुत्सवोऽयम्, किं दिवस एषः, किं निशेयम्, कानि रम्याणि, कान्यरम्याणीति सर्वं नावागच्छम्। अविज्ञातमदनवृत्तान्ता च क गच्छामि, किं करोमि, किं पश्यामि, किमालपामि, कस्य कथयामि, कोऽस्य प्रतीकार इति

तदिति। तत्पूर्वोक्तं श्रुत्वा निशम्य आत्मकण्ठात् स्वकीयगलात् अहम् उन्मुच्य, मकरध्वजेन कामेन यो लास्यारम्भः देहसञ्चालनात्मकनृत्यारम्भः तत्र लीलापुष्पाञ्जलिं क्रीडाप्रसूनाञ्जलिं तद्रूपाम्, नृत्यारम्भे पुष्पाञ्जलिप्रक्षेपस्य लोकव्यवहारसिद्धत्वात् अक्षमालायाश्च तद्वदवलोक्यमानत्वादित्याशयः। एकावलीं मदीयमेकपङ्क्तिकं हारम्, 'भगवन् तपोनिधे! गृह्यताम् उपादीयताम् अक्षमाला स्फटिकाक्षमाला' इति एवं सन्मुखे मदानने आसक्ता आबद्धा दृष्टिरवलोकनं यस्य तस्य, शून्यं विषयान्तरज्ञानवर्जितं हृदयं चेतो यस्य तस्य, अत एव मन्मुक्तमालामपि निजस्फटिकमालात्वेनैवासौ निःशङ्कं जग्राहेत्याशयः। अस्य पुण्डरीकस्य प्रसारिते विस्तारिते पाणौ हस्ते तां निधाय स्थापयित्वा स्वेदसलिलेन घर्मजलेन स्नातापि कृतमज्जनापि पुनर्भूयः स्नातुं मज्जितुम् अवातरम् अवतीर्णवती।

उत्थायेति। किञ्चेति चार्थः। अहम् उत्थाय सरोवरादुत्थानं विधाय सखीजनेन सहचरीवर्गेण कर्त्रा, प्रयत्नेन बलाच्च निम्नगा सरिदिव कथमपि कष्टेन, प्रतीपं प्रतिकूलं चेतसः तपस्विकुमारदिग्यायित्वेऽपि तत्प्रतिकूलदिशमित्यर्थः नीयमाना प्राप्यमाणा, तमेव मुनिकुमारं चिन्तयन्ती ध्यायती सती, अम्बया जनन्या सह साकं स्वभवनं निजगृहम् अयासिषम् आगतवती। 'निम्नगेव' इत्युपमा।

गत्वेति। गत्वैव स्वभवनं कन्यान्तःपुरं कन्यावरोधं प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा ततः प्रभृति तद्दिनादारभ्य तस्य पुण्डरीकस्य विरहेण वियोगेन विधुरा विह्वला सती, किम् आगता गृहम् आयातास्मि? किं तत्रैव अच्छोदसरस्तीरे स्थितास्मि विद्यमानास्मि, किम् एकाकिनी असहाया अस्मि, किं परिवृता लोकैः परिवेष्टिता अस्मि, किं तूष्णीं मौनमस्मि, किं प्रस्तुतालापा सहचरीभिरारब्धकथोपकथनास्मि, किं जागर्मि प्रबुद्धोऽस्मि, किं सुप्ता निद्रिताऽस्मि, किं रोदिमि विलपामि, किं न रोदिमि न विलपामि, किं दुःखं क्लेशमिदम्, किं सुखम् सातमिदम्; किम् उत्कण्ठा उत्सुका इयम्, किं व्याधिरामयः अयम्, किं व्यसनं विपदिदम्; किम् उत्सवः समारोहोऽयम्, किम् एष दिवसो वासरः, किम् इयं निशा रात्रिः, कानि वस्तूनि रम्याणि मनोहराणि, कानि चारम्याणि अमनोहराणि, इति सर्वं नावागच्छम् न ज्ञातवती।

अविज्ञातेति। अविज्ञातः पूर्वमनवगतः मदनवृत्तान्तः अनङ्गप्रभावो यया सा, क गच्छामि व्रजामि,

उसका यह वचन सुन कर, कामदेवके नृत्यारम्भके समय विलासपुष्पाञ्जलि-स्वरूप एक लड़की मुक्तामालाको अपने कंठमेंसे उतार कर—'भगवन्! लीजिए जपकी माला'—यों कह कर, मेरे ही सामने देखते शून्य-हृदय कुमारके माला ग्रहण करनेके लिए प्रसारित हाथमें रख, घर्मजल (पसीने) से स्नान की हुई भी मैं पुनः स्नान करनेके लिए सरोवरमें चली। स्नान कर लेनेके बाद प्रबल प्रयत्नसे मेरी सखियाँ आकर मुझे, नदीके समान लौटा लाईं और माताके साथ मैं उस तपोधन युवा (कुमार) का चिन्तन करती-करती बलात्कार अपने घर आई। वहाँ आकर कन्यान्तःपुरमें प्रविष्ट हो गई उस समयसे उसके वियोगसे शोकातुर रहनेके कारण—क्या मैं आ गई हूँ, या वहीं खड़ी हूँ? क्या एकाकिनी हूँ या सखियोंसे परिवेष्टित (घिरी हुई) हूँ? क्या चुप हूँ या आलाप आरम्भ किये हूँ? क्या जागती हूँ या सोती हूँ? क्या रोती हूँ या नहीं रोती? क्या यह दुःख है या सुख है? क्या यह उत्कण्ठा है या व्याधि है? क्या यह विपत्ति है या उत्सव है? क्या यह दिन है या रात्रि है; क्या सुन्दर है और क्या कुत्सित है, वे समस्त विषय ही मुझे अवगत नहीं हुए। पहले और किसी समयमें भी मदनवृत्तान्तसे अनभिज्ञ

१. क्वचित् 'उन्मुच्य' इति पदं न दृश्यते। २. प्रणत। ३. सातमिदम्।

सर्वञ्च नाज्ञासिषम् । केवलमारुह्य कुमारीपुरप्रासादं विसर्ज्य च सखीजनं द्वारि निवारिताशेषपरिजनप्रवेशा सर्वव्यापारानुत्सृज्यैकाकिनी मणिजालगवाक्षनिक्षिप्तमुखी, तामेव दिशं तत्सनाथतया प्रसाधितामिव कुसुमितामिव[1] महारत्ननिधानाधिष्ठितामिव अमृतरससागर-पूरप्लावितामिव पूर्णचन्द्रोदयालङ्कृतामिव दर्शनसुभगामीक्षमाणा, तस्माद्दिगन्तरादागच्छन्तमनिलमपि वनकुसुमपरिमलमपि शकुनिध्वनिमपि तद्वार्त्तां प्रष्टुमीहमाना, तद्वल्लभतया तपःक्लेशायापि स्पृहयन्ती, तत्प्रीत्येव गृहीतमौनव्रता, स्मरजनित-पक्षपाता च, तत्परिग्रहान्मुनि-

किं करोमि अनुतिष्ठामि, किं शृणोमि आकर्णयामि, किं पश्यामि अवलोकयामि, किम् आलपामि वदामि, किं कथयामि निवेदयामि, अस्य कः प्रतीकारः प्रतिक्रिया इति सर्वं निखिलं च नाज्ञासिषम् न ज्ञातवती ।

केवलमिति । केवलम् अन्यनिरपेक्षं कुमारीपुरप्रासादं कन्यकावरोधगृहम् आरुह्य आरोहणं विधाय च पुनः सखीजनं सहचरीवर्गं विसर्ज्य स्वस्थानं व्रजेत्यभिधाय द्वारि प्रतोल्यां निवारितो निषिद्धः अशेषाणां समस्तानां परिजनानां सेवकानां प्रवेश अभ्यन्तरागमनं यया सा, सर्वव्यापारान् समस्तकृत्यान् उत्सृज्य विमुच्य एकाकिनी अद्वितीया, मणीनां रत्नानां जालं समूहो यत्र तथोक्ते गवाक्षे वातायने निक्षिप्तं स्थापितं मुखं वदनं यया सा । तेन तपस्विकुमारेण सनाथतया संयुक्ततया कारणेन, प्रसाधितां भूषितामिव, कुसुमितां समुत्पन्नपुष्पामिव, महान्ति बहुमूल्यवन्ति रत्नानि मणयो यत्र तथोक्तेन निधानेन निधिना अधिष्ठिता आश्रिता तामिव, अमृतरसस्य पीयूषद्रवस्य यः सागरः समुद्रः तस्य पूरेण प्लवेन प्लावितामिव पूरितामिव, पूर्णचन्द्रोदयेन समग्रचन्द्रोद्गमेन अलङ्कृतां भूषितामिव, दर्शनसुभगाम् अवलोकनेन मनोहराम्, तामेव तपस्विकुमारकाधिष्ठितामेव दिशं ककुभं केवलम् ईक्षमाणा अवलोक्यमाना सती, निष्पन्दं निश्चेष्टम् अतिष्ठमित्युत्तरेण सम्बन्धः । एवमन्येषामपि प्रथमान्तपदानां सम्बन्धो ज्ञेयः ।

इह 'प्रसाधितामिव' इत्यारभ्य 'पूर्णचन्द्रोदयालङ्कृतामिव' इत्यन्तानां पञ्चानामेव क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

तस्मादिति । तस्मात् दिगन्तरात् तेन तपस्विकुमारकेणाश्रिताद्दिग्विशेषात्, आगच्छन्तम् आयान्तम् अनिलं वायुमपि, वनकुसुमपरिमलमपि अरण्यपुष्पसौरभमपि तस्माद्दिगन्तरादागच्छन्तमित्यन्वीयते, शकुनिध्वनिमपि तादृशं पक्षिनिनादमपि, तस्य तपस्विकुमारस्य वार्त्ताम् उदन्तं प्रष्टुं प्रश्नविषयीकर्त्तुम् ईहमाना अभिलषन्ती सती, 'कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' इति न्यायादित्याशयः । पृच्छधातोर्द्विकर्मकत्वात् 'अनिलम्' इत्यादिषु त्रिषु 'तद्वार्त्ताम्' इत्यत्र च द्वितीया बोध्या ।

तदिति । तस्य तपस्विकुमारस्य वल्लभतया प्रियतया तपः क्लेशस्येत्यभिप्रायः, तपःक्लेशायापि तपश्चरणकष्टमपि स्पृहयन्ती अभिलषन्ती, तस्य तपस्विकुमारस्य प्रीत्येव मौनव्रते प्रेम्णेव कारणेन, गृहीतमौनव्रता अर्थात् तूष्णीमवस्थिता प्रियजनस्य प्रियविषये स्वस्यापि प्रेम्णः सर्वत्र सिद्धत्वादिति स्थलद्वयेऽपीत्यभिप्रायः । इह हेतूत्प्रेक्षा ।

स्मरेति । स्मरेण कामेन जनित उत्पादितः पक्षपातः अङ्गीकारः तादृशे कुमारे प्रेम यस्याः

होनेसे—कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, क्या देखूँ, क्या बोलूँ, किसके निकट कहूँ और इसका क्या प्रतीकार करना—ये सब कुछ भी मैं न समझ सकी । बाद कुमारियोंके निवास करनेके महल पर चढ़ कर, सब सखियोंको विदाकर, द्वार पर सब परिजनोंको भी प्रवेश करनेका निषेध कर, समस्त कार्य परित्याग कर, मणिमय जाली-युक्त गवाक्ष-( खिड़की ) में मुखमण्डल संस्थापन कर, निरीक्षण करनेमें मनोहर लगती केवल उसी दिशाकी ओर अवलोकन करती मैं अकेली ( निश्चलभावसे ) सीधी खड़ी रही । कुमारके उस दिशामें रहनेसे मुझे वह ( दिक् ) मानो अलङ्कृत हो, पुष्पसे ही मानो शोभित हो, बहुमूल्य-रत्नोंके भण्डारसे मानो परिपूर्ण हो, अमृत-रस-सागरके तरङ्गमें मानो डूबी हो और पूर्णचन्द्रके उदयसे मानो अलङ्कृत हो—ऐसी दीखने लगी । उस दिशासे आती पवनसे भी, वन्यपुष्पके सौरभसे भी, पक्षियोंके स्वरसे भी मैं उसका समाचार पूछनेकी चेष्टा करती थी । तपस्या उसे प्रिय होनेके कारण उस ( तपस्या ) का कष्ट उठानेकी भी मैं इच्छा करती थी । उसमें अपनी प्रीति होनेके कारण ही मानो मैंने मौनव्रत अवलम्बन किया था । कामदेवका उसके प्रति मेरा अत्यन्त पक्षपात उत्पन्न करनेसे

१. क्वचित् 'कुसुमितामिव' इति पाठो न दृश्यते । २. क्वचित् 'सार' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

वेशस्य[1] अग्राम्यतां तदास्पदतया यौवनस्य चारुतां तच्छ्रवणसम्पर्कात् पारिजातकुसुमस्य मनोहरतां तन्निवासात् सुरलोकस्य रम्यतां तद्रूपसम्पदा कुसुमायुधस्य दुर्जयताम् अध्यारोपयन्ती दूरस्थस्यापि[2] कमलिनीव सवितुः सागरवेलेव चन्द्रमसः मयूरीव जलधरस्य तस्यैवाभिमुखी, तथैव तां तद्विरहातुर-जीवितोद्गम-रक्षावलीमिवाक्षावलीं कण्ठेनोद्वहन्ती, तथैव च तया प्रस्तुतरहस्यालापयेव कर्णलग्नया पारिजातमञ्जर्या, तथैव च तेन तत्करतलस्पर्शसुखजन्मना कदम्बमुकुलकर्णपूरायमाणेन रोमाञ्चजालेन कण्टकितैककपोलफलका निष्पन्दमतिष्ठम् ।

---

सा चाहम्, तेन तपस्विकुमारेण परिग्रहात् आश्रणादेव मुनिवेशस्य तापसनेपथ्यस्य अग्राम्यतां निर्दोषताम्, अध्यारोपयन्ती प्रतिपादयन्ती, स तपस्विकुमारः आस्पदम् अवलम्बनं यस्य तस्य भावस्तत्ता तयैव कारणेन, यौवनस्य तारुण्यस्य चारुतां रमणीयत्वम् अध्यारोपयन्ती, तस्य तपस्विकुमारस्य श्रवणसंपर्कात् श्रोत्रसंसर्गादेव कारणात्, पारिजातकुसुमस्य कल्पतरुपुष्पस्य मनोहरतां चारुताम् अध्यारोपयन्ती, तस्य तपस्विकुमारस्य निवासात् अधिष्ठानादेव सुरलोकस्य देवालयस्य रम्यतां मनोहरताम् अध्यारोपयन्ती, तथा तस्य तपस्विकुमारस्य रूपसम्पदा सौन्दर्यसमृद्धया कारणेन, कुसुमायुधस्य कामस्य दुर्जयतां मया जेतुमशक्यतां च अध्यारोपयन्ती सती, सर्वत्र मदनविहितपक्षपातादित्याशयः । इह 'अध्यारोपयन्ती' इत्येकया क्रियया अग्राम्यताप्रभृतीनामनेकेषां कर्मत्वेनाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता ।

दूरेति । दूरस्थस्यापि दविष्ठस्यापि सवितुः सूर्यस्य कमलिनीव पद्मिनीव, दूरस्थस्यापि चन्द्रमसः सुधांशोः सागरवेलेव समुद्रजलोच्छ्वास इव, तथा दूरस्थस्यापि जलधरस्य मेघस्य मयूरीव नीलकण्ठपत्नीव, दूरस्थस्यापि तस्यैव तपस्विकुमारस्य अभिमुखी संमुखी सती । इह मालोपमा ।

तथैवेति । तस्य तपस्विकुमारस्य विरहेण वियोगेन आतुरं पीडितं यत् जीवितं मम जीवनं तस्य उद्गमे शरीरान्निष्क्रमणविषये रक्षावलीं निर्गच्छतो जीवस्य रक्षणार्थम् अभिमन्त्रितां मालामिव, वियोगे प्रियजनस्य यत्किञ्चिद्वस्तुनोऽपि आश्वासनसाधनत्वादित्याशयः । ताम् अक्षावलीं जपमालां तथैव पूर्ववदेव कण्ठेन गलेन उद्वहन्ती धारयन्ती सती । इह जात्युत्प्रेक्षा । सर्वथा निपुणतरा महाश्वेता तत्समये निजवदनावद्धदृष्टेश्चेतोरहितस्य पुण्डरीकस्य करे 'अक्षमालां गृह्यताम्' इत्यभिधाय निजामेव मौक्तिकस्रजं दत्तवती, सा स्फटिकमयाक्षमाला तु तस्या गले एवावलम्बमानासीदिति कदापि न विस्मर्तव्यमिति कुशलाः ।

तथैवेति । प्रस्तुतः प्रक्रान्तः तस्य तपस्विकुमारस्य सम्बन्धे रहस्यालापः गोपनीयवार्ता यया तयेव, तथैव तपस्विकुमारदत्तक्रमेणैव कर्णलग्नया श्रवणप्राप्तया अन्योऽपि गोपनीयं वक्तुं श्रवणे लगति पारिजातमञ्जर्या कल्पवृक्षवल्लर्या उपलक्षिता । इह गोपनीयकथनप्रक्रान्तोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा ।

तथैवेति । तस्य तपस्विकुमारस्य करतलस्पर्शसुखात् पाणितलस्पर्शानन्दात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तेन, कदम्बमुकुलस्य नीपकुड्मलस्य यः कर्णपूरः कर्णावतंसः तद्वदाचरता, तेन तत्स्मरणोत्पन्नेन रोमाञ्चजालेन च पुलकसमूहेन च, तथैव प्राग्वदेव कण्टकितं समुत्पन्नकण्टकम् एकम् अद्वितीयम् कपोलफलकं गण्डस्थलं यस्याः सा तथोक्ता च सती निष्पन्दं निश्चलम् अतिष्ठम् स्थितवती । इह 'कदम्बमुकुलकर्णपूरायमाणेन' इत्यत्र व्यक्तोपमा ।

---

मैं मुनिवेषको उसके धारण करनेके कारण अग्राम्य ( निर्दोष ) कहने लगी । उसके अङ्गमें यौवन था इसलिए ही यौवनका सौन्दर्य निश्चय करने लगी । पारिजातपुष्पने उसके कर्णका सम्पर्क पाया था इसलिए ही उसको रमणीय स्थिर करने लगी । सुरलोकमें उसका वास होनेके कारण ही मैं सुरलोककी मनोहरता मानने लगी एवं उसकी रूपसमृद्धिका साधन होनेका कारण ही मेरे लिए कामदेव अजेय है ऐसा स्थिर करने लगी । उसके दूरवर्त्ती होने पर भी, सूर्यके प्रति पद्मिनीके समान, चन्द्रके प्रति समुद्रजलके समान एवं मेघके प्रति मयूरीके समान मैं भी उसके ही अभिमुखी होकर देखा करती थी । उसके विरह क्लेशसे घबरा कर बहिर्गमनोन्मुख मेरे जीवनकी रक्षामालाके समान वह स्फटिकमय जपमाला वैसी की वैसी मेरे कण्ठमें धारण की हुई थी । उसके सम्बन्धमें मानो गोपनीय अलाप करती हो इस भावसे वह पारिजातकुसुममञ्जरी भी मेरे कानमें वैसी की वैसी संलग्न थी; और उसके करतल-स्पर्शसुखसे उत्थित हुए—कदम्ब कलिकाके कर्णपूरके समान शोभित—रोमाञ्चसमूहसे मेरे एक भागका गण्डस्थल ( गाल ) वैसाका वैसा ही कण्टकित हो रहा था ।

---

१. मुनिवेषस्य । २. दूरस्थापि, दूरतः स्थितस्यापि ।

अथ ताम्बूलकरङ्कवाहिनी मदीया तरलिका नाम मयैव सह गता स्नातुमासीत् । सा च पश्चाच्चिरादिवागत्य तथावस्थितां शनैः शनैः[1] मामवादीत्—'भर्तृदारिके ! यौ तौ तापस-कुमारकौ दिव्याकारावस्माभिरच्छोदसरस्तीरे दृष्टौ, तयोरेको येन भर्तृदुहितुरियमवतंसीकृता[2] सुर-तरु-कुसुम-मञ्जरी[3], स तस्माद्वितीयादात्मनो रक्षन् दर्शनमतिनिभृतपदः कुसुमित-लता-सन्तान-गहनान्तरेणागत्य मामागच्छन्तीं पृष्ठतो भर्तृदारिकामुद्दिश्याप्राक्षीत्-'बालिके ! केयं कन्यका, कस्य वापत्यम्, किमभिधाना, क्व वा गच्छति' इति । मयोक्तम्-एषा खलु भगवतः श्वेतभानोरंशुसम्भूतायाम्[4] अप्सरसि गौर्य्यां समुत्पन्ना, देवस्य सकल-गन्धर्व-मुकुट-मणिश-लाका-शिखरोल्लेख-मसृणित-चरण-नख[5]-चक्रस्य प्रणय-प्रसुप्त-गन्धर्व-कामिनी-कपोल-पत्रलता-लाञ्छित-भुज-तरु-शिखरस्य पादपीठीकृत-लक्ष्मी-करकमलस्य गन्धर्वाधिपतेर्हंसस्य दुहिता

अथेति । ताम्बूलकरङ्कवाहिनी नागवल्लीपात्रधारिणी मदीया तरलिका, मयैव सह स्नातुं मज्जितुं गता याता आसीत् । सा ताम्बूलकरङ्कवाहिनी तरलिका च पश्चात् मद्गृहागमनानन्तरं चिरादिव बहुसमयादिव आगत्य एत्य तथावस्थितां विरहातुरामित्यर्थः माम् शनैः शनैः मन्दं मन्दम् अवादीत् अवोचत्—'भर्तृदारिके राजपुत्रि ! यौ तौ तापसकुमारकौ मुनिबालकौ कपिञ्जलपुण्डरीकनामानौ दिव्याकारौ अत्यन्तमनोहराकृती अस्माभिः अच्छोदसरस्तीरे अच्छोदाभिधसरोवरतटे दृष्टौ अवलोकितौ, तयो-र्द्वयोर्मध्ये एकः पुण्डरीक इत्यर्थः, येन भर्तृदुहितुः भवत्याः इयं पुरोदृश्यमाना सुरतरोः पारिजातस्य कुसुममञ्जरी पुष्पवल्लरी अवतंसीकृता कर्णभूषणीकृता, स तपस्वी पुण्डरीकः तस्माद् द्वितीयात् कपिञ्ज-लादित्यर्थः, आत्मनः स्वस्य दर्शनं वीक्षणं रक्षन् निवारयन् कपिञ्जलो यथात्मानं नावलोकयति तथेत्यर्थः, अति निभृतपदः अत्यन्तनिश्चलचरणसञ्चारः, कुसुमितः पुष्पितः लतासन्तानः वल्लीसमूहो यत्र तथोक्तस्य गहनस्य सान्द्रवनस्य अन्तरेण मध्येन, आगच्छन्तीम् आयान्तीं मां पृष्ठतः पश्चाद्भागत आगत्य एत्य भर्तृ-दारिकां भवतीम् उद्दिश्य आश्रित्य अप्राक्षीत् पृष्टवान्—

बालिक इति । 'बालिके कन्यके ! का इयं कन्यका बालिका ?, कस्य महात्मनः अपत्यं पुत्री ? किमभिधाना किं नामिका ? क्व वा गच्छति व्रजति' इति । मया तरलिकया उक्तं कथितम्—भगवतो माहात्म्यवतः श्वेतभानोः शुभ्रांशोश्चन्द्रमसः, अंशुसम्भूतायां रश्मिभ्यः समुत्पन्नायां गौर्यां गौर्यभिधानायाम् अप्सरसि दिव्ययोषिति समुत्पन्ना सञ्जाता एषा कन्यका, सकलानां समस्तानां गन्धर्वाणां देवगायकानां मुकुटेषु शिरोभूषणेषु या मणिशलाका रत्नशलाकाः तासां शिखरैः अग्रैः उल्लेखेन प्रणामसमये घर्षणेन मसृणितं चिक्कणीकृतं चरणयोः पादयोः नखानां पुनर्भवाणां चक्रं समूहो यस्य तस्य । एतेन महा-साम्राज्यं व्यञ्जितम् । प्रणयेन प्रेम्णा प्रसुप्ताः सह शयिता या गन्धर्वकामिन्यः देवगायकसुन्दर्यः तासां कपोलेषु गण्डेषु या पत्रलताः पत्राकाराश्चित्रविशेषाः ताभिर्लाञ्छिते चित्रिते सम्भोगकाले आवेष्टनक्रमेण तासामुत्तमाङ्गग्रहणेन भुजयोर्गण्डसंसक्तत्वादित्यभिप्रायः, भुजौ बाहू तरू इव लम्बमानत्वात् स्थूलत्वाच्च वृक्षाविव तयोः शिखरे ऊर्ध्वदेशयुगले यस्य तस्य । अनेन कलाकौशलं ध्वनितम् । पादपीठीकृतं

उसके बाद तरलिका नामकी मेरी ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ( पानदान रखनेवाली ), जो मेरे साथ ही स्नान करनेके लिए गई थी, पीछेसे मानो वह बहुत कालके बाद आकर, मुझसे धीरे धीरे कहने लगी—'राजकन्ये! हमने अच्छोदसरोवरके तीर पर, जो मनोहराकृति उन दो मुनिकुमारोंको देखी थी, उनमेंसे एक, जिसने आपके कानमें इस परिजात कुसुम-मञ्जरीको पहनाया था, वे उस द्वितीय मुनिकुमारसे अपनेको छिपाकर, पुष्पित-लता परिपूर्ण सघन वनके अभ्यन्तरसे मेरे समीप अत्यन्त निःशब्द पदसञ्चारसे आकर, मैं आती थी तब पीछेसे मुझसे आपके विषयमें पूछने लगा—'बालिके ! यह कन्या कौन है ? किसका सन्तान है ? इसका नाम क्या है ? और कहाँ गई है ?' तदन्तर मैंने उत्तर दिया—'भगवन् ! नमस्कार करनेके समयमें समस्त गन्धर्वोंके मुकुटस्थित मणिशलाकाके अग्रभागके सङ्घर्षसे जिनके चरण-नखसमूह चिकने हो गए हैं, प्रेमसे सोती हुई गन्धर्व-सुन्दरियोंके गण्डस्थल ( गाल ) पर पत्र-लता-चिह्नसे जिनके वृक्षतुल्य विशाल बाहुयुगलका ऊर्ध्वभाग चिह्नित है, और जिन्होंने लक्ष्मीके कर-कमलका आसन बनाया है ( अर्थात् जो लक्ष्मीको अपने निकटसे नहीं सरकने देते हैं ); ऐसे

१. क्वचित् 'शनैः' इत्येकमेव पदमुपलभ्यते । २. कर्णावतंसीकृता । ३. सुरतरुमञ्जरी । ४. अंशभूतायाम्, अंशभूतायाम् । ५. नखचरण··· ।

महाश्वेता नाम, गन्धर्वाधिवासं हेमकूटाचलम्[1], अभिप्रस्थिता' इति कथिते च मया, किमपि चिन्तयन् मुहूर्त्तमिव तूष्णीं स्थित्वा विगतनिमेषेण चक्षुषा चिरमभिवीक्षमाणो मां सानुनयमर्थितामिव दर्शयन् पुनराह—'बालिके ! कल्याणिनी तवाविसंवादिनी अचपला बालभावेऽप्याकृतिरियम् । तत् करोषि मे वचनमेकमभ्यर्थ्यमाना ?' इति । ततो मया सविनयमुपरचिताञ्जलिपुटया दर्शितादरमभिहितः—'भगवन् ! कस्मादेवमभिधत्से, काऽहम् ? महात्मनः सकलत्रिभुवनपूजनीयास्त्वादृशाः[2] पुण्यैर्विना निखिलकल्मषापहारिणीमस्मद्विधेषु दृष्टिमपि न पातयन्ति[3], किं पुनराज्ञाम्; तद्विश्रब्धमादिश्यतां कर्त्तव्यम्, अनुगृह्यतामयं जन' इति । एवमुक्तश्च मया सस्नेहया सखीमिवोपकारिणीमिव प्राणप्रदामिव दृष्ट्या मामभिनन्द्य निकट-

---

चरणपीठवत्तुच्छीकृतं लक्ष्म्याः पद्मायाः अपि करकमलं हस्तपङ्कजं येन तस्य । अनेन समृद्धेः पराकाष्ठा सूचिता । देवस्य पूज्यस्य गन्धर्वाधिपतेः देवगायकस्वामिनः हंसस्य तन्नामकस्य दुहिता पुत्री महाश्वेता नाम, गन्धर्वाणाम् अधिवासं निवासस्थानं हेमकूटाचलं हेमकूटगिरिम् अभिप्रस्थिता तदभिमुखं चलिता ।

इह हंसस्य मुख्यप्रतिपादनकार्यं प्रति हेतुत्रयप्रदर्शनात् समुच्चयः ।

इतीति । इति एवं प्रकारेण मया कथिते अभिहिते सति, किमपि अनाकलनीयं चिन्तयन् ध्यायन् मुहूर्त्तमिव क्षणमिव तूष्णीं मौनं स्थित्वा अवस्थाय विगतनिमेषेण मेषोन्मेषरहितेन चक्षुषा लोचनेन चिरं बहुकालम् अभिवीक्षमाणः संमुखमवलोकमानः मां प्रति सानुनयं सस्नेहम् अर्थितां याचकत्वं दर्शयन् प्रकटयन्निव पुनर्भूय आह उवाच—'बालिके ! कल्याणिनी शुभलक्षणवती, अविसंवादिनी 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इति न्यायाद्गुणवत्त्वे अव्यभिचारिणी निःसन्देहेन तर्कितसमस्तगुणयुक्तेत्यर्थः, बालभावेऽपि अप्रौढत्वेऽपि अचपला अचञ्चला, तव भवत्या इयं दृश्यमाना आकृतिः स्वरूपमवलोक्यत इति शेषः । तत्तस्मात् कारणात् । अभ्यर्थ्यमाना मया प्रार्थ्यमाना त्वम्, एकं वचनं वाक्यपालनं करोषि विधास्यसि किमिति काकुः । इह भविष्यदर्थे लट् ।

तत इति । ततस्तदनन्तरं सविनयं सप्रश्रयम् उपरचितं बद्धम् अञ्जलिपुटं यया तया, मया तरलिकया दर्शित आदरो यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा अभिहितः उक्त —'भगवन् तपोनिधे ! कस्मात् केन हेतुना एवं पूर्वोक्तप्रकारेण अभिधत्से ब्रवीषि अहं का तुच्छेत्यर्थः । सकलत्रिभुवनपूजनीयाः समस्तविश्वार्चनीया महात्मानो महाशयाः त्वादृशा भवद्विधाः,पुण्यैर्विना पूर्वार्जितसुकृतैर्विना अस्मद्विधेषु अस्मत्सदृशेषु निखिलकल्मषापहारिणीं समस्तपापविनाशिनीं दृष्टिं न पातयन्ति चक्षुषा नावलोकयन्ति, किं पुनः आज्ञाम् आदेशप्रदानम्; दूरापास्तमित्यभिप्रायः । तत्तस्मात्, विश्रब्धं विश्वस्तं यथा स्यात्तथा कर्त्तव्यं मया विधातव्यम् आदिश्यताम् आज्ञाप्यताम्, अयं मल्लक्षणो जनः अनुगृह्यताम् अनुग्रहविषयीक्रियतां तेनादेशेनेत्याशयः ।'

एवमिति । किञ्चेति चार्थः । मया एवमुक्तः पूर्वोक्तप्रकारेणाभिहितः स तपस्विकुमारः 'पत्रिकाम्

---

गन्धर्वाधिपति महाराज हंसकी यह कन्या है, भगवान् चन्द्रके किरणसे उत्पन्न हुई गौरी नाम की अप्सराके गर्भसे उत्पन्न हुई है; इसका नाम **'महाश्वेता'** है और यह गन्धर्वोंके वासस्थान हेमकूट नामक पर्वत पर गई है ।' इस प्रकार मेरे द्वारा कहे जाने पर वह मुनिकुमार, किसी विषयका चिन्तन करता हुआ कुछ देर तक निःशब्द ( चुप ) रह कर, निर्निमेषनयन ( एकाग्र-दृष्टि ) से बहुत देर तक मेरे प्रति अवलोकन कर, मुझसे मानो प्रार्थना करता हो इस प्रकार विनय-पूर्वक पुनः कहने लगा—बालिके ! तुम्हारी यह आकृति शुभलक्षण-सम्पन्न है, अतः निश्चय ही तुम गुणवती हो, एवं शैशवावस्था होने पर भी तेरेमें चञ्चलता प्रतीत नहीं होती है, अत एव मैं प्रार्थना करता हूँ कि क्या तूम मेरे एक वचन स्वीकार करोगी ? इसके बाद मैंने सविनय अञ्जलि-बाँध आदरपूर्वक कहा—'भगवन् ! आप इसप्रकार क्यों कहते हैं ? मैं कौन ! ( बहुत ही तुच्छ हूँ ! ), समस्त त्रिभुवनोंका पूजनीय आपके समान—महात्माका, पुण्य-रहित मेरे समान लोगोंके प्रति, समस्त पाप-हरण करनेवाली दृष्टि भी नहीं पड़ती है, फिर आदेशके विषयमें तो कहना ही क्या है ? अत एव आप निशङ्कचित्तसे मेरे प्रति कर्त्तव्यका आदेश देकर इस व्यक्तिको अनुगृहीत कीजिए ।' मेरे इस प्रकार कहने पर, उन्होंने स्नेहयुक्त दृष्टिपातसे मुझे मानो सखीके

---

१. हेमकूटमचलवरम् । २. सकलत्रिभुवनाभिपूजितास्त्वादृशाः । ३. निपातयन्ति ।

वर्त्तिनस्तमालपादपात् पल्लवमादाय निष्पीड्य तटशिलातले तेन गन्धगजमदसुरभिपरिमलेन रसेन उत्तरीयवल्कलैकदेशाद्विपाट्य पट्टिकां स्वहस्तकमल-कनिष्ठिका-नख-शिखरेणाभिलिख्य 'इयं पत्रिका त्वया तस्यै कन्यकायै प्रच्छन्नमेकाकिन्यै देया' इत्यभिधायार्पितवान्' इत्युक्त्वा च सा ताम्बूलभाजनादाकृष्य तामदर्शयत्। अहन्तु तेन तत्सम्बन्धिनालापेन शब्दमयेनापि स्पर्शसुखमिवान्तर्जनयता, श्रोत्रविषयेणापि रोमोद्गमानुमितसर्वाङ्गानुप्रवेशेन, मदनावेशमन्त्रेणेवावेश्यमाना तस्याः करतलादादाय तां वल्कलपत्रिकां तस्यामिमामभिलिखितामार्य्यामपश्यम्—

दूरं मुक्तालतया बिससितया विप्रलोभ्यमानो मे।
हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीतः॥

---

अर्पितवान्' इति सम्बन्धः। सस्नेहया प्रेमयुक्तया दृष्ट्या वीक्षणेन, सखीमिव वयस्यामिव उपकारिणीमिव उपकृतिकर्त्रीमिव प्राणप्रदामिव जीवितदात्रीमिव च माम् अभिनन्द्य प्रमोदमुत्पाद्य निकटवर्त्तिनः समीपस्थायिनः तमालपादपात् तापिच्छवृक्षात् पल्लवं किसलयम् आदाय गृहीत्वा, तटशिलातले तीरस्थप्रस्तरोपरि निष्पीड्य संमर्द्य, गन्धगजस्य गन्धहस्तिनः मदवत् दानवारिवत् सुरभिर्घ्राणतर्पणः परिमलो गन्धो यस्य तेन, रसेन निर्यासेन, उत्तरीयं यद् वल्कलं तरुत्वक् तस्य एकदेशात् एकभागात् पट्टिकाम् एकपत्रं विपाट्य उद्धृत्य, तत्र स्वहस्तकमलस्य निजकरकमलस्य कनिष्ठिकायास्तन्नामधेयाया अङ्गुल्याः नखस्य पुनर्भुवः शिखरेण अग्रेण अभिलिख्य लिपीकृत्य, 'इयं पत्रिका त्वया भवत्या एकाकिन्यै अद्वितीयायै तस्यै कन्यकायै महाश्वेतायै प्रच्छन्नं नितान्तगुप्तं यथा स्यात्तथा देया अर्पणीया' इत्यभिधाय इत्युक्त्वा अर्पितवान् दत्तवान्' इत्युक्त्वा च सा तरलिकाताम्बूलभाजनात् नागवल्लीपात्रात् तां पत्रिकाम् आकृष्य निष्कास्य अदर्शयत् दर्शितवती।

इह 'सखीमिवे'त्यादितिसृणामेव जात्युत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अहमिति। शब्दमयेनापि शब्दात्मकेनापि तेन पत्रेण अन्तरन्तः करणे स्पर्शसुखं स्पर्शजनितानन्दं जनयता उत्पादयतेव, श्रोत्रविषयेणापि शब्दात्मकत्वात् केवलकर्णग्राह्येणापि, रोमोद्गमैः निखिलावयवेषु रोमाञ्चैः, अनुमितः अनुमितिविषयीकृतः सर्वाङ्गेषु समस्तावयवेषु अनुप्रवेशो यस्य तथोक्तेनेव, सर्वावयवेषु प्रवेशाभावे समस्तेष्ववयवेषु रोमोद्गमासम्भवादित्याशयः। मदनावेशमन्त्रेणेव कामाधिष्ठानोत्पादकीभूतमन्त्रेण, तस्य पुण्डरीकस्य सम्बन्धिना सम्बद्धेन आलापेन संलापेन, आवेश्यमाना अधिष्ठीयमाना सती, तस्याः तरलिकायाः तां वल्कलपत्रिकाम् आदाय गृहीत्वा, तस्यां पत्रिकायाम् अभिलिखिताम् अभिलिपीकृताम् इमाम् आर्याम् आर्याच्छन्दोबद्धामक्षरपङ्क्तिम् अपश्यम् अद्राक्षम्।

इह 'जनयतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'रोमोद्गमानुमितसर्वाङ्गानुप्रवेशेन' इत्यत्र प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा, 'मदनावेशमन्त्रेणेव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा।

दूरमिति। हे सुन्दरी! त्वया भवत्या बिसं मृणालं 'मृणालं बिसमब्जादि' इत्यमरः, तद्वत् सिततया शुभ्ररूपतया मुक्तालतया 'गृह्यतामियमक्षमाला' इत्यभिधाय मम हस्ते स्थापितेन स्वीयमुक्तामयहारेण करणेन, विप्रलोभ्यमानः अधिकप्रकर्षेण निजसङ्गमलोभं प्राप्यमाणः, मां लक्ष्यीकृत्यास्मन्यपि कामावेशेनैव तथाविधचातुरीविधानादित्याशयः, अत एव च दर्शिता द्योतिता आशा मनोरथपूर्त्तेराशंसा यस्य सः, मे

---

समान, उपकारिणीके समान और प्राणदायिनीके समान अभिनन्दित कर, समीपवर्त्ती तमालवृक्षमेंसे एक पल्लव लाकर, तीरवर्त्ती प्रस्तर-खण्डके ऊपर मर्द्दन कर गन्धहस्तीके मदजलके समान मनोहर सौरभसम्पन्न निकले हुए उसके रससे, अपने उत्तरीय वल्कलमेंसे एक पट्टी फाड़ कर उस पर, स्वकीय करकमलकी कनिष्ठिका ऊँगलीके नखाग्रद्वारा लिखकर 'अकेली रहनेके समयमें उस कन्याके पास तुम यह पत्रिका अत्यन्त गुप्तरीतिसे ( छिपाकर ) दे देना' यों कह कर उस पत्रिकाको मुझे दे दिया।' इतना कह तरलिकाने ताम्बूलके डिब्बे से बाहर निकाल कर वह पत्रिका मुझे दिखाई। शब्दमय होने पर भी अन्तःकरणमें मानो स्पर्श-सुख उत्पन्न करती और केवल कर्णके विषय होने पर भी रोमाञ्च उत्पन्न होनेसे मानो मेरे समस्त अङ्गमें प्रवेश करनेका अनुमान कराती, उसके विषयका यह आलाप सुनते ही—कामावेशके मन्त्रने मानो अन्दर प्रवेश किया हो उस प्रकार उस समय तरलिकाके हाथमेंसे उस वल्कलकी पत्रिकाको लेकर देखा तो उसमें यह आर्या लिखी थी—'( हे सुन्दरी! ) कोई व्यक्ति जिस प्रकार मुक्तामय ( मोतियोंके ) हारके समान शुभ्रवर्ण मृणाल-द्वारा अत्यन्त-लोभ उत्पन्न कराकर अपने अभिमत

अनया च मे दृष्टया दिङ्मोहभ्रान्त्येव प्रनष्टवर्त्मनः, बहुलनिशयेवान्धस्य, जिह्वोच्छित्त्येव मूकस्य, इन्द्रजालिकपिच्छिकयेवातत्त्वदर्शिनः, ज्वरप्रलापप्रवृत्त्येवासम्बद्धभाषिणः, दुष्टनिद्रयेव विषविह्वलस्य, लोकायतिकविद्ययेवाधर्म्मरुचेः, मदिरयेवोन्मत्तस्य, दुष्टावेश-क्रिययेव

---

मम मानसात् चित्तात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य स एवंविधः मानसजन्मा मनसिजः कामः, हंस इव त्वया दूरं नीतः कामुकेषु कामिनीद्वाराप्रलोभनस्यात्यन्तोद्दीपकत्वादतीव वर्धितः, सुतरां त्वरितमधुना तन्निवृत्तेरुद्योगस्त्वया करणीय इत्याशयः। हंसपक्षे तु—बिससितया मुक्तानां लतया लतावल्लम्बाकारया पङ्क्त्या विप्रलोभ्यमानःकेनचिज्जनेन विशेषप्रकर्षेण भक्षणलोभं प्राप्यमाणः, तयादर्शिता आशा स्वेन सह नयनार्थमभीष्टा दिक् ( दिशा ) यस्मै सः, मानसे तत्संज्ञकसरोवरे जन्म यस्य सः तथोक्तः, दूरं नीतः स्वनिवासाद्विप्रकर्षं प्रापितः, भक्षणलोभेन हंसस्य नीयमानमृणालानुसरणादित्याशयः। इह पूर्णोपमा। आर्या जातिः। स्वल्पं बिससितमिति बिससिता अत्र स्त्रीत्वं तु 'स्त्री स्यात् काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षापचये यदि' इत्यमरोक्तदिशेत्यवधेयम्। हंसपक्षे सितपदस्य परनिपातस्तु अग्निस्तोकादिवदिति कुशलाः समाचक्षते।

अनयेति। किञ्चेति चार्थः।मयेत्यर्थे 'मे' इत्यव्ययम्।अनया पुरोऽवलोक्यमानया पत्रिकया आर्यया वा मे मया दृष्टया सत्या, स्मरातुरस्य कामातुरस्य मे मम मनसश्चित्तस्य सुतरां बाहुल्येन दोषविकारोपचयः कामविकारवृद्धिः अक्रियत व्यधीयत इति सम्बन्धः। केन कस्य वेति जिज्ञासायामुपमानवचनानि सङ्गमनीयानि। दिङ्मोहभ्रान्त्या दिग्भ्रमात्मकभ्रमेण, प्रनष्टं विलुप्तम् इदन्तया प्रत्येतुमशक्यं वर्त्म लक्ष्यीभूतो मार्गो यस्य तस्य पुरुषस्येव, पन्थानमतिक्रम्योत्पथं गन्तुर्यथा पुनर्दिग्भ्रान्त्या किं कर्त्तव्यताविमूढत्वरूपदोषविकारोपचयो विधीयते तद्वद् व्यधीयतेति निष्कर्षः। इहाधिकपदत्वदोषनिराकरणाय 'दिङ्मोहेनेव' इत्येव पाठो विधेयःतावतैवार्थसिद्धेः। बहुलनिशया कृष्णपक्षराज्या अन्धस्येव विगतलोचनस्येव, इहापि किं कर्त्तव्यताविमूढत्वरूपकामविकारवृद्धिः। जिह्वाया रसनाया उच्छित्त्या कर्त्तनेन मूकस्य वाणीरहितस्येव, इह उच्चारणनितान्तासामर्थ्यरूपो दोषविकारोपचयः।इन्द्रजालिकस्य मायिकस्य पुंसः पिच्छिकया जनानां दृग्बन्धरूपया अतत्त्वदर्शिनः प्रकृत्या भ्रान्तस्येव, इह वास्तविकस्यैकान्तानिश्चयरूपो दोषविकारोपचयः। ज्वरप्रलापस्य प्रवृत्त्या प्रारम्भेण असम्बद्धभाषिणः प्रकृत्यैव असङ्गतवादिन इव, इहानवरतप्रलापरूपो दोषविकारोपचयः। दुष्टनिद्रया विषवेगेन चेतनाहीनरूपप्रमीलया विषविह्वलस्येव विषव्यग्रस्येव, इह पुनः चेतनाप्राप्त्यभावरूपो दोषविकारोपचयः। लोकायतेन निखिलेष्वेव लोकेषु निश्चितेन प्रत्यक्षप्रमाणवादेन संसृष्ट इति लोकायतिको नास्तिकमूर्द्धन्यश्चार्वाकः, तस्य प्रत्यक्षप्रमाणमात्रस्यैवाभ्युपगन्तृत्वात्। तस्य विद्या तन्निर्मितशास्त्रं 'यावज्जीवं सुखं जीवेत्' इत्यादिका तया, अधर्मरुचेः प्रकृत्यैवाधर्ममतेर्लोकस्येव, एह सर्वथा नास्तिक्यरूपा दोषविकारवृद्धिः। अत्र प्रसङ्गाच्चार्वाकसिद्धान्तं निरूप्यते—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥
अत्र चत्वारि भूतानि भूमिर्वार्य्यनलानिलाः। चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्। अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः। मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी॥

---

दिशाको दिखलाकर मानसरोवरमें उत्पन्न किसी हंसको दूरतक ले जाता है, उसी प्रकार तुम मृणालके समान शुभ्रवर्ण मोतियोंकी मालासे अत्यन्त लोभ उत्पन्न कराकर, आशा दिखला कर मेरे कामवेगको अत्यधिक ( चरम, सीमामें ) बढ़ा दिया है ( इसलिए इस समय शीघ्र उसकी निवृत्तिका उपाय तुम्हें करना चाहिए )।'

दिग्भ्रमवश उत्पथ-गामी ( दिग्भ्रान्तिसे मार्ग भूले हुए ) व्यक्तिके समान, कृष्णपक्षकी रात्रिसे चक्षुविहीन ( अन्धे ) व्यक्तिके समान, जिह्वाच्छेदन करनेसे मूक ( गूँगे ) व्यक्तिके समान, ऐन्द्रजालिक ( जादूगर ) के मोरपंखोंके मोर छलसे स्वभावतः भ्रान्तव्यक्तिके समान, ज्वरकालीन प्रलापके आरम्भमें स्वभावसे ही असम्बद्ध-वक्ताके समान, दूषित-निद्राद्वारा विष-वेगसे विह्वल व्यक्तिके समान, नास्तिकोंके विद्याभ्यास करनेसे स्वभावतः अधार्मिक लोगोंके समान, मद्यपान करनेसे उन्मत्तके समान एवं जन्मनक्षत्रादिसे पापग्रहका सञ्चार होनेसे भूताविष्ट

---

१. दूरावेष्ट...।

पिशाचग्रहस्य, दोषविकारोपचयः सुतरामक्रियत[1] स्मरातुरस्य[2] मे मनसः, येनाकुलीक्रियमाणा सरिदिव पूरेण विह्वलतामभ्यगमम्[3]। ताञ्च द्वितीयदर्शनेन कृतमहापुण्यामिव अनुभूतसुरलोकवासामिव देवताधिष्ठितामिव लब्धवरामिव पीतामृतामिव समासादित-त्रैलोक्य-राज्याभिषेकामिव मन्यमाना, सततसन्निहितामपि दुर्लभदर्शनामिव अतिपरिचितामप्यपूर्वामिव

---

अङ्गनालिङ्गनाजन्यं सुखमेव पुमर्थता। कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते॥
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः। देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः। केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्। गच्छतामिह जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम्॥
स्वर्गस्थिता यदि तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः। प्रासादस्योपरिस्थानामिह कस्मान्न दीयते॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः। कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः। जर्फरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥ इत्यादि।

मदिरया मद्यपानेन उन्मत्तस्येव मत्ततायुक्तस्येव, इह मत्ततातिशयरूपो दोषविकारोपचयः। तथा दुष्टा विशेषक्लेशोत्पादकत्वेन दूषिता या आवेशक्रिया जन्मसम्बन्धिनाडीनक्षत्रेषु दुष्टग्रहाणां प्रवेशकार्यम् अभ्यन्तरागमनकार्यं तथा पिशाचेन ग्रहो ग्रहणं यस्य तस्य पिशाचाभिभूतस्य पुरुषस्येव, इत्यधिकक्लेशभोगो दोषविकारोपचयः। अयमाशयः—पूर्वमेव पिशाचेन ग्रहणं तदुपरि यदि जन्मर्क्षेषु पापग्रहाणां प्रवेशः स्यात्तर्हि भूयान् दोषोपचयः स्यात्।

इह मालोपमा। भग्नप्रक्रमतादोषस्त्विह पाठपरिवर्तनेन समाधेयः।

येनेति। येन दोषविकारोपचयेन आकुलीक्रियमाणा व्यग्रीक्रियमाणाहं पूरेण सलिलवृद्ध्या सरिन्नदीव विह्वलताम् व्याकुलताम् अभ्यगमं सर्वतोभावेन प्रापम्। इह श्रौत्युपमा।

तामिति। किञ्चेति चार्थः। द्वितीयदर्शनेन द्वितीयवारं मुनेरवलोकनेन कारणेन, तां तरलिकां कृतमहापुण्यामिव विहितातिशयसुकृतामिव, अनुभूतोऽनुभवविषयीकृतः सुरलोके स्वर्गे वासो वसतिर्यया तामिव, कयाचित् देवतया अधिष्ठिताम् आश्रितामिव, लब्ध आसादितो वरो देवप्रसादो यया तामिव, पीतम् आस्वादितम् अमृतं पीयूषं यया तामिव, तथा समासादितो लब्धः त्रैलोक्यराज्ये त्रिभुवनाधिपत्ये अभिषेकोऽभिषिञ्चनं यया तामिव च मन्यमाना मनसि ज्ञायमानाहं पुनः पुनः भूयो भूयः पर्यपृच्छम् अप्राक्षम् इत्युत्तरेण सम्बन्धः।

इह महापुण्यविहिताद्युत्प्रेक्षणात् षण्णामेव क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। एवञ्च स्वस्याऽप्यतिशया पुनस्तन्निरीक्षणाभिलाषा प्रतीयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

सततेति। सततं निरन्तरं सन्निहितामपि पार्श्ववर्तिनीमपि दुर्लभं दुष्प्रापं दर्शनम् अवलोकनं यस्याः तामिव, पुण्डरीकस्य द्वितीयवारावलोकनेन कारणेनेत्याशयः। अतिपरिचितामपि अतिसंस्तवगोचरीकृतामपि अपूर्वामिव अभिनवायातामिव सादरम् आदरेण सहितम् आभाषमाणा आलपन्ती।

इहापि क्रियोत्प्रेक्षयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

---

( पिशाच ग्रसित ) व्यक्तिके समान मेरे कामातुर चित्तमें इस आर्याके देखनेसे दोष-विकारकी अत्यधिक वृद्धि हुई और बाढ़के जलसे नदीके समान, मैं इससे आकुल हो विह्वल हो गई। तरलिकाने उस मुनिकुमारको दूसरी बार देखा था इससे वह मानो महापुण्यशालिनी हो, स्वर्गलोकमें ही मानो निवास कर आई हो, देवताओं से मानो अधिष्ठित हो, वरदान पा गई हो, अमृत पान कर आई हो, त्रिभुवनका राज्याभिषेक प्राप्त किया हो इस प्रकार मैं उसे मनमें समझने लगी ) सर्वदा मेरे समीपमें रहने पर भी मानो उसका दर्शन दुर्लभ हो और अत्यन्त परिचित होने पर भी मानो नई आई हो, इस प्रकार मनमें समझकर उससे आदरके साथ आलाप करने लगी,

---

१. अजायत। २. स्मरानुरक्तस्य। ३. अभ्यागमम्, अगमम्।

सादरमाभाषमाणा, पार्श्वावस्थितामपि[1] सर्वलोकस्योपर्य्यवस्थितामिव पश्यन्ती, कपोलयोरलकलताभङ्गेषु[2] च सोपग्रहं स्पृशन्ती, विपरीतमिव परिजनस्वामिसम्बन्धमुपदर्शयन्ती, 'तरलिके! कथय[3] कथं स त्वया दृष्टः, किमभिहितासि तेन, कियन्तं कालमत्रस्थितासि तत्र, कियदनुसरन्नस्मानसावागतः' इति पुनः पुनः पर्य्यपृच्छम्। अनयैव च कथया तया सह तस्मिन्नेव प्रासादे तथैव प्रतिसिद्धाशेषपरिजनप्रवेशा दिवसमत्यवाहयम्।

अथ मदीयेनेव हृदयेन कृतरागसंविभागे लोहितायति गगनतलोपान्तावलम्बिनि[4] रविबिम्बे, सरागदिवसकरानुरक्तायां कृतकमलशयनायामनङ्गातुरायामिव पाण्डुतां व्रजन्त्या-

पार्श्वेति। पार्श्वे स्वस्यापरस्मिन् भागे अवस्थितामपि आसीनामपि सर्वलोकस्य समस्तविश्वस्य उपरि उर्ध्वे अवस्थितामिव निषण्णामिव पश्यन्ती अवलोकमाना, इहापि पुण्डरीकस्य द्वितीयवारावलोकनेन कारणेनेत्याशयः। इह 'अवस्थितामिव' इति क्रियोत्प्रेक्षा।

कपोलयोरिति। कपोलयोर्गण्डयोः अलकलता भङ्गेषु वल्लीवल्लम्बमानस्खलितकुञ्चितकचसमूहेषु सोपग्रहं सानुकूल्यम् आदरयुक्तमित्यर्थः, यथा स्यात्तथा स्पृशन्ती स्पर्शं विदधती। 'उपग्रहः पुमान् वन्द्यामुपयोगेऽनुकूलने' इति मेदिनी। 'भवने व्रजति' इत्यत्र कर्मणोऽधिकरणत्वविवक्षया सप्तमी यथा भवति तथैव 'अलकलताभङ्गेषु' इत्यत्रापि सप्तमीत्यवगन्तव्यम्।

विपरीतमिति। परिजनस्वामिसम्बन्धं सेव्यसेवकभावं विपरीतमिव विरुद्धमिव उपदर्शयन्ती अहं सेविका सा तु सेव्या एवं रूपेण बहिर्वृत्त्या प्रकाशयन्तीत्यर्थः, पुण्डरीकस्य द्वितीयवारावलोकनेन मयैव तस्या निरतिशयगौरवसत्कारविधानादित्याशयः।

तरेति। तरलिके वयस्ये! कथय निवेदय स पुण्डरीकः कथं केन प्रकारेण त्वया भवत्या दृष्टोऽवलोकितः, किम् अभिहितासि कथितासि तेन पुण्डरीकेण, तत्र तस्मिन् वने कियन्तं कालं कियत्समयम् अवस्थितासि तिष्ठमानासि। अस्मान् स्वभवने आयान्तीरिति शेषः, असौ कुमारः, अनुसरन् पृष्ठेऽनुव्रजन् कियत्पन्थानम् आगत आयातः।

अनयेति। अनयैव पूर्वोक्तयैव कथया वार्त्तया तया तरलिकया सह तस्मिन्नेव प्रासादे पूर्वनिर्दिष्ट एव सौधे, प्रतिषिद्धो निवारितः अशेषाणां समस्तानां परिजनानां सेवकवर्गाणां प्रवेशोऽभ्यन्तरागमनं यया तादृशी सती दिवसं वासरम् अत्यवाहयम् अगमयम्।

अथेति। रविबिम्बे सूर्यमण्डले, मदीयेन हृदयेन चेतसा कृतो विहितः रागसंविभागः रागोऽनुराग एव रागो लौहित्यं तस्य संविभागो विभज्य समर्पणं यस्मै तस्मिन्निव सति, लोहितायति ईषद्रक्तीभवति, गगनतलस्य व्योमतलस्य उपान्तात् प्रान्तप्रायभागात् अवलम्बिनि पतनोन्मुखे च सति।

इहानुरागलौहित्ययोर्व्यतिरेकेऽपि रागपदश्लेषेणाव्यतिरेकाध्यवसायादतिशयोक्तिरलङ्कारः। रागसंविभागकरणोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशसङ्करालङ्कारः।

सरागेति। आतपलक्ष्म्यां सूर्यप्रकाशश्रियाम्, रागो लौहित्यमेव रागोऽनुरागः तेन सहेति सरागो यो दिवसकरो रविः तत्र अनुरक्तायां लोहितायाम् अनुरागवत्याञ्च सत्याम्, अत एव कृतं विहितं कमले पङ्कजे कमलमयास्तरणे च शयनं स्थितिः स्वापश्च यया तस्याम्, अत एव अनङ्गातुरायां मदनविह्वलितायामिव विद्यमानायां पाण्डुतां श्वेततां व्रजन्त्यां गच्छन्त्यां सत्याम्।

बगलमें बैठने पर भी मानो वह सब लोकके ऊपर हो इस प्रकार मैं उसे देखने लगी। उसके कपोलका और उसके कुञ्चित केशकलाप ( घूँघराली लटों ) का आदरके साथ स्पर्श करने लगी। इस प्रकार सेव्य-सेवकके सम्बन्धका मानो व्यतिक्रम दिखाती—'तरलिके! कह, तूने उसे किस भावसे देखा? उन्होंने तुझसे क्या-क्या कहा? कितनी देर तू उसके पास खड़ी रही, वे मेरे अनुसरण करते-करते ( पीछे-पीछे ) कितने दूर तक आए' यह बात मैं बार-बार उससे पूछने लगी। समस्त परिजनोंको प्रवेश करनेका निषेध कर उस अट्टालिका ( महल ) के अभ्यन्तरमें तरलिकाके साथ इसी बातचीतमें ही मैंने वह दिन बिताया।

उसके बाद मेरा हृदय ही मानो सूर्यमण्डलके राग ( अनुराग, रक्तिमा ) को विभक्त कर दिया, उससे सूर्यमण्डल रक्तवर्ण होकर गगन-तलके किनारे पर जब लटकने लगा, दिवस-लक्ष्मी, रागान्वित सूर्यके प्रति अनुरक्त

१. पार्श्वस्थामपि। २. अलककलाभङ्गेषु; अलककलतासङ्गेषु। ३. कथय कथय। ४. गगनतलावलम्बिनि।

मातपलदम्याम्, गैरिकगिरिसलिलप्रपातपाटलेषु कमलवनेभ्यः समुत्थाय[1] वनगजयूथेष्विव पुञ्जीभवत्सु भास्करकिरणेषु, गगनावतारविश्रामलालसानां रविरथवाजिनां हर्षहेषारवप्रतिशब्देन सह विशति मेरुगिरिगह्वरं वासरे, मुकुलित-रक्त-पङ्कज-पुट-प्रविष्टमधुकरावलीषु[2] रवि[3]-विरह-मूर्च्छान्धकारितहृदयास्विव प्रारब्धनिमीलनासु पद्मिनीषु, ग्रासीकृत-सामान्य-मृणाललता-विवरसंक्रामितानीव परस्परहृदयान्यादाय विघटमानेषु रथाङ्गनाम्नां युगलेषु,

इह विभिन्नलिङ्गाभ्यां श्लिष्टविशेषणसादृश्याच्च प्रकाशश्रीसूर्ययोः स्त्रीपुरुषव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः पदार्थहेतुके काव्यलिङ्गे गुणोत्प्रेक्षा चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

गैरिकेति। गैरिकस्तदाख्यो यो धातुविशेषः तस्य गिरिर्गैरिकगिरिः तस्य सलिलेषु जलेषु प्रपातेन पतनेन पाटलेषु श्वेतरक्तेषु, तज्जलस्यापि गैरिकसम्पर्केण पाटलत्वादित्याशयः, भास्करकिरणेषु सूर्यरश्मिषु वनगजयूथेष्विव अरण्यहस्तिसमूहेष्विव कमलवनेभ्यः पद्मकाननेभ्यः समुत्थाय समुत्थानं विधाय पुञ्जीभवत्सु एकत्रीभवत्सु सत्सु, तत्समयेऽरण्यहस्तिसमूहानामप्येकत्रपुञ्जीभवनादित्याशयः। वनगजा अपि गैरिकसलिलप्रपातेन श्वेतरक्ताः सन्तः सायङ्काले ह्येकत्र पुञ्जीभवन्ति, सूर्यरश्मय अपि श्वेतरक्ताः सन्तः सायं सङ्कुचितावस्थयापुञ्जीभवन्तीति द्वयोरौपम्यादुपमालङ्कारः।

गगनेति। वासरे दिवसे, गगनावतारात् नभोमार्गे परिभ्रमणात् यो विश्रामो विश्रान्तिः तत्र लालसानां लोलुपानां 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि सः' इति रभसः, रविरथवाजिनां सूर्यस्यन्दननियुक्ताश्वानां हर्षेण अधिकपरिश्रमादनन्तरं विश्रामप्राप्तिसम्भवादानन्देन यो हेषारवः 'हीं हीं' इति शब्दः तस्य प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना सह, मेरुगिरिगह्वरं सुमेरुपर्वतकन्दरां विशति अभ्यन्तरमागच्छतीव सति, विविधमहारत्नरश्मिभिः तद्गह्वरस्य निशायामपि वासरवदालोकमयीविहितत्वात् निकटसूर्याश्वप्रतिध्वनीनां च तत्राभ्यन्तरागमनसम्भवादित्याशयः। इह प्रतीयमानक्रियोत्प्रेक्षासहोक्त्योरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

मुकुलितेति। मुकुलितानि रवेरस्तङ्गतत्वान्मुद्रितानि यानि रक्तपङ्कजपुटानि कोकनदपुटानि तेषु प्रविष्टा कृतप्रवेशा मधुकरावली भ्रमरपङ्क्तिः यासां तासु तथोक्तासु पद्मिनीषु कमलिनीषु, रविविरहेण सूर्यवियोगेन या मूर्च्छा तया अन्धकारितानि समुत्पन्नान्धकाराणि हृदयानि चेतांसि यासां तासु तादृशीष्विव विद्यमानासु, सूर्यस्य कमलिनीप्रियत्वात् मधुकराणाञ्चान्धकारवत् श्यामरूपत्वादित्याशयः, अत एव प्रारब्धं निमीलनं मुकुलभावं जडताप्राप्तिश्च याभिस्तासु तादृशीषु सतीषु, सूर्यास्ते कमलिनीनिमीलनस्य मूर्च्छारम्भे च जडतोपलब्धेः स्वभावसिद्धत्वादित्यभिप्रायः।

इह कार्येण लिङ्गेन च सूर्यकमलिन्योः स्त्रीपुरुषव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः, मनसि तिमिरोत्पत्तेरुत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा, पदार्थहेतुके काव्यलिङ्गे चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

ग्रासीति। रथाङ्गनाम्नां चक्रवाकसंज्ञकानां युगलेषु द्वन्द्वेषु सस्त्रीकेषु तेष्वित्यर्थः, ग्रासीकृतया कवलीकृतया (अर्थात् एकैव मृणाललता द्वाभ्यामपि चञ्चुपुटेन प्रान्तद्वये धृतयेत्यर्थः) सामान्यया साधारणया एकैकया मृणाललतया बिसवल्या कर्या, विवरेण स्वीयच्छिद्रमार्गेण करणेन सङ्क्रामितानीव अन्योन्ययोः सञ्चारितानीव परस्परहृदयानि अन्योन्यचेतांसि आदाय गृहीत्वा विघटमानेषु वियोगं प्राप्यमाणेषु सत्सु, चक्रवाकमिथुनानामपि रात्रिप्राप्तौ विश्लेषस्य स्वाभाविकत्वात् प्रीत्यतिशयाच्चान्योन्य-

होकर कमलके ऊपर शयन करती कामार्त्त होकर ही मानो क्रमसे पाण्डुवर्ण हो गई; गैरिक (गेरूसे) संयुक्त पर्वतके झरनेके जलके ऊपर गिरनेसे श्वेतरक्तवर्ण होकर सूर्यका किरणसमूह कमलवनमेंसे निकलकर वनगजोंके झुण्डके समान एकत्र पुञ्जीभूत (इकट्ठे) होने लगे; समस्त आकाशमें पर्यटनकर विश्राम करनेके अभिलाषी सूर्य-रथ-नियुक्त अश्वगणके आनन्दसे किए हुए हेषारव (हिनहिनाहट) की प्रतिध्वनिके साथ, दिन मानो सुमेरुपर्वतकी गुफाओंमें प्रवेश करने लगा; मुद्रितप्राय रक्तकमलके अभ्यन्तरमें भ्रमर पङ्क्तियाँ प्रवेशकर गई थीं इससे प्रतीत होता था कि मानो सूर्यके वियोगसे मूर्च्छा आनेके कारण जिनके हृदय अन्धकारसे व्याप्त हो गये हैं—ऐसी कमलिनियाँ मुद्रित (बन्द) होने लगीं; चक्रवाक और चक्रवाकी दोनोंकी चञ्चुपुटद्वारा पकड़ी हुई एक ही मृणाल-लताके विवरमें होकर आए हुए, एक दूसरेके हृदयको मानो लेकर, उनके जोड़े परस्पर वियुक्त होने लगे—तब मेरी वह

१. उत्थाय। २. मधुकर्यावलीषु। ३. क्वचित् 'रवि' इति पदन्नोपलभ्यते।

सा छत्रग्राहिणी समागत्य अकथयत्—'भर्त्तृदारिके ! तयोर्मुनिकुमारयोरन्यतरो द्वारि तिष्ठति, कथयति चाक्षमालामुपयाचितुमागतोऽस्मि' इति ।

अहन्तु मुनिकुमारनामग्रहणादेव स्थानस्थितापि गतेव द्वारदेशं समुपजाततदागमनाशङ्का समाहूयान्यतमं कञ्चुकिनं 'गच्छ, प्रवेश्यताम्' इत्यादिश्य प्राहिणवम् ।

अथ मुहूर्त्तादिव तं तस्य, रूपस्येव यौवनम्, यौवनस्येव मकरकेतनम्, मकरकेतनस्येव वसन्तसमयम्, वसन्तसमयस्येव दक्षिणानिलम्, अनुरूपं सखायं मुनि-[2]कुमारकं कपिञ्जलनामानंजराधवलितस्य[3] कञ्चुकिनोऽनुमार्गेण चन्द्रातपस्येव बालातपमागच्छन्तम्[4] अपश्यम् । अन्तिकमुपागतस्य[5] चास्य पर्य्याकुलमिव सविषादमिव शून्यमिव अर्थिनमिव अन्तर्ग-

हृदययोरन्योन्यं प्रति निशायां विद्यमानत्वादित्यभिप्रायः । इह 'संक्रामितानीव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

सेति । सा छत्रग्राहिणी आतपत्रधारिणी समागत्य समेत्य अकथयत् अब्रवीत्—'भर्त्तृदारिके राजकन्यके ! तयोः पूर्वमवलोकितयोः मुनिकुमारकयोः तपस्विबालकयोः अन्यतरः एकः कश्चित् द्वारि तिष्ठति स्थितो वर्त्तते, कथयति वक्ति च अक्षमालां स्फटिकमयजपमालाम् उपयाचितुं प्रार्थितुम् आगत आयातोऽस्मि महाश्वेतया निजमुक्तामालां समर्प्य तदीयाक्षमालामादायागतत्वादित्याशयः ।

अहमिति । मुनिकुमारनामग्रहणादेव तपस्विकुमाराभिधेयोपादानादेव स्थानस्थिताऽपि स्वस्थानस्थाऽपि द्वारदेशं गतेव द्वारभूमिं प्राप्तेव, औत्सुक्याधिक्यादित्याशयः । समुपजाता समुत्पन्ना तस्य प्रेयसः पुण्डरीकस्य आगमनाशङ्का उपस्थितिसम्भावना यस्या सा अहं महाश्वेता, अन्यतमं कञ्चुकिनं सौविदल्लं समाहूय आह्वानं विधाय 'गच्छ व्रज प्रवेश्यताम् अभ्यन्तरे प्रवेशं विधीयताम्' इति एवम् आदिश्य आज्ञाप्य प्राहिणवं प्रेषितवती । इह 'द्वारदेशं गतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

अथेति । अथ तत्प्रेषणानन्तरं मुहूर्त्तादिव क्षणादिव, रूपस्य सौन्दर्यस्य अनुरूपं सखि यौवनं तारुण्यमिव, यौवनस्य अनुरूपं सखायं मकरकेतनं काममिव, मकरकेतनस्य अनुरूपं सखायं वसन्तसमयं सुरभिकालमिव, वसन्तसमयस्य अनुरूपं सखायं दक्षिणानिलं मलयपवनमिव, तस्य पुण्डरीकस्य अनुरूपं निजतुल्यं सखायम्, चन्द्रातपस्य प्रातःकालीनशीतांशुप्रकाशस्य अनुमार्गेण पश्चात् पथा आगच्छन्तम् आयान्तं बालातपं नूतनसूर्यालोकमिव, जराधवलितस्य वृद्धावस्थया शुभ्रीकृतशरीरस्य कञ्चुकिनः सौविदल्लस्य अनुमार्गेण आगच्छन्तम्, कपिञ्जलनामानं कपिञ्जलसंज्ञकं तं मुनिकुमारकं तापसबालकम् अपश्यम् अवलोकयम् ।

इह 'रूपस्य यौवनमिव' इत्यारभ्य 'वसन्तसमयस्य दक्षिणानिलमिव' इत्यन्तं रशनोपमालङ्कारः, 'बालातपमिव' इत्यत्र श्रौत्युपमालङ्कारः; अनयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । 'मुनिकुमारकम्' इत्यत्रानुकम्पायां कः ।

अन्तिकमिति । किञ्चेति चार्थः । अन्तिकं समीपम् उपागतस्य प्राप्तस्य अस्य कपिञ्जलस्य, पर्याकुलमिव नितान्तव्यग्रमिव सविषादमिव सखेदमिव शून्यमिव निखिलोद्योगवर्जितमिव अर्थिनमिव याचकमिव, अन्तर्गतम् अभ्यन्तरे स्थितम् आकूतम् अभिप्रायविशेषो यस्य तम्, अर्थात् तस्याकार एवंविधोऽ-

छत्रधारिणी परिचारिका आकर मुझसे कहने लगी—'राजकन्ये ! उन मुनिकुमारोंमें से एक आकर द्वारपर खड़ा है और कहता है कि 'मैं जपमाला लेने आया हूँ ।'

मुनिकुमारका नामोच्चारण करनेसे ही मुझे उस स्थान पर बैठी रहने पर भी मानो द्वारदेशके निकट गई ऐसा प्रतीत हुआ और उसके ही आनेकी धारणासे, एक कञ्चुकीको बुलाकर—'तुम जाओ, उस मुनिकुमारको अन्दर प्रवेश कराओ' ऐसा आदेश देकर उसे भेज दिया ।

उसके बाद थोड़ी देरके बीचमें ही सौन्दर्यका जिस प्रकार यौवन, यौवनका जिस प्रकार कन्दर्प, कन्दर्पका जिस प्रकार वसन्त-काल एवं वसन्त-कालका, जिस प्रकार दक्षिण-वायु, उसी प्रकार उस प्रियतम मुनिकुमारका अनुरूप मित्र कपिञ्जल-नामक द्वितीय मुनिकुमारको, प्रभातकालीन चन्द्रालोकके पीछे पीछे नवीन सूर्यालोकके समान वृद्धावस्थासे धवल हुए कञ्चुकीके पीछे पीछे आते देखा । वे आकर समीपमें उपस्थित हुए, उस समय उसकी आकृति मानो अत्यन्त व्याकुलके समान, खिन्नके समान, शून्यके समान एवं याचकके समान लक्षित हुई एवं

१, आगत्य । २, ऋषि···। ३. जराधवलस्य । ४, अनुयायिनम् । ५. उपगतस्य ।

ताकूतम्[1] आकारमलक्षयम् । उत्थाय च कृतप्रणामा सादरं स्वयमासनमुपाहरम् । उपविष्टस्य च बलादनिच्छतोऽपि प्रक्षाल्य चरणावुपमृज्य[2] चोत्तरीयांशुकपल्लवेनाव्यवधानायां भूमावेव तस्यान्तिके समुपाविशम् । अथ मुहूर्त्तमिव किमपि विवक्षुरिव स तस्यां मत्[3]समीपोपविष्टायां तरलिकायां चक्षुरपातयत् । अहन्तु विदिताभिप्राया दृष्ट्यैव 'भगवन् ! अव्यतिरिक्तेयमस्मच्छरीरात् , अशङ्कितमभिधीयताम्' इत्यवोचम् ।

एवमुक्तश्च मया कपिञ्जलः प्रत्यवादीत्—'राजपुत्रि ! किं ब्रवीमि, वागेव मे नाभिधेयविषयमवतरति त्रपया । क कन्दमूलफलाशी[4] शान्तो वनवासनिरतः[5] मुनिजनः, क वायमशान्त[6]-जनोचितो विषयोपभोगाभिलाषकलुषो मन्मथविविधविलाससङ्कटो रागप्रायः प्रपञ्चः ।

---

वलोक्यते स्म यथा कश्चिदभिप्रायोऽस्य प्रकाशनीयो वर्त्तते किन्तु न तं स बहिः प्रकटयतीति । आकारं स्वरूपम् अलक्षयम् आकलयम् ।

उत्थायेति । अपि चेति चार्थः । उत्थाय, कृतो विहितः प्रणामो नमस्कारो यया तादृशी अहम् । सादरं सबहुमानं स्वयं निजेनैव आसनं विष्टरम् उपाहरम् उपवेशनायार्पितवती ।

उपविष्टेति । उपविष्टस्य आसीनस्य, अनिच्छतो मद्द्वारा पादप्रक्षालनमार्जने अवाञ्छतोऽपि तस्य कपिञ्जलस्य चरणौ पादौ बलात् हठात् प्रक्षाल्य प्रक्षालनं विधाय उत्तरीयांशुकपल्लवेन स्वोत्तरीयवस्त्रप्रान्तेन उपमृज्य प्रोञ्छ्य च अहम्, अन्तिके तस्यैव निकटे, अव्यवधानायां विष्टरकृतव्यवधानवर्जितायां केवलायामेवेत्यर्थः, भूमौ पृथिव्यां समुपाविशम् अतिष्ठम् ।

अथेति । अथ अनन्तरं किमपि विवक्षुरिव वक्तुमिच्छुरिव सन् स कपिञ्जलः मुहूर्त्तमिव क्षणमिव स्थित्वा मत्समीपोपविष्टायां सन्निकटासीनायां तस्यां तरलिकायां चक्षुर्नेत्रम् अपातयत् पातितवान् तस्या अपसारणायेत्याशयः ।

अहमिति । दृष्ट्यैव तरलिकां प्रति तस्य तथाविधनिरीक्षणभङ्ग्यैव विदितो ज्ञातः अभिप्रायः तरलिकाया अपसरणविषयक आशयो यया सा तथोक्ता सती 'भगवन् स्वामिन् ! अस्मच्छरीरात् मदीयदेहात् अव्यतिरिक्ता अभिन्ना इयम्, अशङ्कितं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा अभिधीयतां कथ्यताम्, इत्यवोचम् इत्यकथयम् ।

एवमिति । मया महाश्वेतया एवं पूर्वोक्तप्रकारेण उक्त अभिहितश्च कपिञ्जलः प्रत्यवादीत् प्रत्यवोचत्—'राजपुत्रि भर्तृदारिके ! किं ब्रवीमि किं कथयामि, मे मम त्रपया लज्जया वागेव वचनमेव अभिधेयविषयं वाच्यविषयं नावतरति न प्रवर्त्तते ।

क्वेति । कन्दं शालूकम्, मूलञ्च तद्भिन्नम्, फलञ्च अश्नाति भुङ्क्ते इति सः, शान्तः शमगुणसंयुतः जितेन्द्रिय इति तात्पर्यम् । अनेन स्वेनैव दोषादिनिवृत्तिर्ध्वनिता । वनवासनिरतः अरण्यनिवासासक्तो मुनिजनः तपस्विजनः क्व, 'वनवासनिरत' इत्यनेन भोग्यविषयाणाम् अवलोकनादिजनितमाकर्षणमपि न सम्भवतीति व्यञ्जितम् । अशान्तस्य अन्तरिन्द्रियनिग्रहशालिपुरुषस्य उचितो योग्यः, विषयाणां माल्यचन्दनयोषितादिभोग्यवस्तूनाम् उपभोगाभिलाषेण भूयो भूयस्तदासेवनस्पृहया कलुषो मलिनः,

---

उनके अन्तर्गतमें मानो कोई विशेष अभिप्राय हो इस प्रकार मुझे प्रतीति हुई, उठकर आदर-सहित प्रणाम कर मैं स्वयं उनके लिए आसन लाई । उस पर उन्हें बैठ जाने पर उनकी इच्छा नहीं रहने पर भी हठसे मैंने उनके चरणयुगल धोए, एवं अपने उत्तरीयवस्त्र प्रान्त ( पल्ले ) द्वारा पोंछकर, मैं उनके निकट बिना किसी आसनके बिछाए हुए भूमि पर ही बैठ गई । उसके बाद वे किसी विषयको बोलनेकी इच्छासे ही मानो, मेरे समीपमें बैठी हुई तरलिकाके प्रति कुछ देर दृष्टिपात किए । किन्तु उस दृष्टिपातसे ही उनका अभिप्राय समझ कर मैंने कहा—'भगवन् ! मेरे शरीरसे यह व्यक्ति भिन्न नहीं है, इसलिए आप जो कुछ कहना चाहते हों उसे निःशङ्क चित्तसे कहिए ।'

मेरे इसप्रकार कहने पर कपिञ्जलने प्रत्युत्तर दिया—'राजकन्ये ! मैं क्या कहूँ ? लज्जाके कारण मेरी वाणी ही वक्तव्य विषय कहनेमें प्रवृत्त नहीं होती । कहाँ कन्द-मूल-फल खानेवाले जितेन्द्रिय वनवासी मुनिजन, और कहाँ अजितेन्द्रिय लोगोंके योग्य, भोग्यपदार्थकी अभिलाषासे कलुषित, नानाविध कामचेष्टासे परिपूर्ण एवं राग-बहुल

---

१. अनुपरताभिप्रेतम् । २. अपमृज्य । ३. क्वचित् मदिति पदं न दृश्यते । ४. कन्दमूलाशी, मूलफलाशी । ५...वननिरतः । ६. अनुपशान्त... ।

सर्वमेवानुपपन्नमालोकय, किमारब्धं दैवेन। अयत्नेनैव खलूपहासास्पदतामीश्वरो नयति जनम्। न जाने किमिदं वल्कलानां सदृशम्, उताहो जटानां समुचितम्, किं तपसोऽनुरूपम्, आहोस्विद्धर्मोपदेशाङ्गमिदम्। अपूर्वेयं विडम्बना केवलम्। अवश्यकथनीयमिदम्। अपर उपायो न दृश्यते, अन्या प्रतिक्रिया नोपलभ्यते, अन्यच्छरणं नालोक्यते, अन्या गतिर्नास्ति। अकथ्यमाने च महाननर्थोपनिपातो जायते। प्राणपरित्यागेनापि रक्षणीयाः सुहृदसव इति कथयामि। अस्ति भवत्याः समक्षमेव स मया तथा निष्ठुरमुपदर्शितकोपेनाभिहितः। तथा चाभिधाय परित्यज्य तम्, तस्मात् प्रदेशादुपजातमन्युरुत्सृष्टकुसुमावचयोऽन्यप्रदेश-

---

मन्मथस्य कन्दर्पस्य विविधविलासैः नानाविधव्यापारैः सङ्कटः सङ्कीर्णः पूर्णः, तथा रागः सुखानुशयिता सांसारिकसुखलिप्सैव प्रायेण आधिक्येन यत्र सः, अयं प्रपञ्चः संसारो वा क्व कुत्र। एवं विधसंसारे तपस्विन आसक्तिः कथङ्कारमपि न सम्भाव्यत इत्याशयः।

इह विरूपयोः संयोजनया विषमः, अत एव च कश्चित्तपस्वी ह्येवंविधसंसारे समासक्त इत्यवगम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिरिति कुशलाः समाचक्षते।

सर्वमिति। दैवेन विधिना, किम् अनिर्वचनीयस्वरूपम्, सर्वमेव एतत्समस्तमेव अनुपपन्नं नितान्तप्रतिकूलत्वादनुचितम् आरब्धं प्रारब्धम् इति त्वम् आलोकय पश्येति सम्बन्धः। त्रपावशेन सन्देहवशेन च स्फुटं न वक्तीत्यवधेयम्।

अयत्नेनेति। अयत्नेनैव उपहासप्राप्तौ निजोद्योगाभावेनैव खलु निश्चयेन ईश्वरो भगवान् जनम् उपहासास्पदतां परिहासस्थानतां नयति प्रापयति। इदं वक्ष्यमाणं पुण्डरीककर्म किं वल्कलानां तरुत्वग्धारणस्येत्यर्थः सदृशम् उचितम्, इति न जाने इत्यर्थः, कथमपि नोचितमित्याशयः। उताहो किं वा जटानां सटानां समुचितं योग्यम्, न कथमपि समुचितमित्याशयः। इत्थमग्रेऽपि। किं तपसो नियमविशेषस्य अनुरूपं सदृशम्, आहोस्वित् अथवा धर्मोपदेशस्य आदिष्टसुकृतार्जनस्य अङ्गं प्रयोजकमिदम्।

अपूर्वेति। इयम् अभिधीयमाना पुण्डरीकस्य कामचेष्टा, केवलम् अपूर्वा विडम्बना समस्ताभिनवा दैवद्वारा वञ्चना। इदं वृत्तम् अवश्यं निश्चयेन कथनीयं प्रतिपादनीयम्। अपरो भवत्याः सङ्गमाद् व्यतिरिक्तः, इत्थमग्रेऽपि, उपायः कारणं न दृश्यते नावलोक्यते। अन्या भवत्याः सम्मेलनाद् द्वितीया प्रतिक्रिया चिकित्सा नोपलभ्यते न ज्ञायते। अन्यत् शरणं रक्षकं नालोक्यते न दृश्यते। अन्या गतिः प्रतीकारोपायान्तरं नास्ति न विद्यते। अकथ्यमाने तस्मिन्नप्रतिपाद्यमाने महान् बहुः अनर्थोपनिपातो विपदुपस्थितिः जायत उत्पद्यते मित्रप्राणविनाशसम्भवादित्याशयः। प्राणपरित्यागेनाऽपि जीवितव्यावरोपणेनापि सुहृदसवः मित्रस्य प्राणाः रक्षणीयाः रक्ष्या इति अस्माद्धेतोः कथयामि प्रतिपादयामि।

इह यद्यपि 'अन्या गतिर्नास्ति' इत्यत्र गतिशब्दस्योपायार्थकत्वमेव व्याख्यानं समुचितम्, तथासति 'अपर उपायो नास्ति' इत्यस्य पूर्वमभिहितत्वेनार्थगतपुनरुक्ततादोषः समापतति, तथापि वक्तुर्विषादमग्नत्वेन न दोषत्वमापादयति किन्तु गुणतामेवासादयतीति न शङ्काकलङ्कपङ्कावकाशः। तथा च दर्पणे—
'............कथितं च पदं पुनः। विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ॥' इति।

अस्तीति। उपदर्शितकोपेन प्रकटितमन्युना मया भवत्याः तव समक्षम् प्रत्यक्षमेव स पुण्डरीकः तथा निष्ठुरं रूक्षम् अभिहित उक्तः अस्तीति सम्बन्धः। आसीदिति तदर्थः। वर्त्तमानसामीप्येलटा प्रयोगः। तथा तेन प्रकारेण अभिधाय कथयित्वा तं पुण्डरीकं परित्यज्य त्यक्त्वा, उपजातमन्युः उत्पन्नक्रोधः उत्सृष्ट-

---

यह संसार? देखो, विधाताने यह कैसा अनिर्वचनीय असङ्गत कार्य आरम्भ किया है? स्वयं उपहासके योग्य किसी कार्यको न करने पर भी ईश्वर वैसे मनुष्यको उपहासास्पद बना देता है। मेरी समझमें नहीं आता है कि यह वल्कलधारणके उपयुक्त है या जटाधारणके योग्य है, किंवा तपस्याके अनुरूप है अथवा गुरूपदिष्ट धर्मोपार्जनका अङ्ग है। यह तो केवल अपूर्व विडम्बना हुई है। किन्तु मुझे तो इस वृत्तान्तको अवश्य कहना है, क्योंकि—इसका दूसरा कोई उपाय नहीं है, अन्य कोई प्रतीकार समझमें नहीं आता है, अन्य कोई रक्षक नहीं है, अन्य कोई उपाय नहीं है, जिसे नहीं कहता हूँ तो महाविपत्ति उपस्थित होती है। अपने प्राण-परित्याग करके भी मित्रके प्राणोंकी रक्षा करनी चाहिये—इसीलिए कहता हूँ। तुम्हारे सामने ही मैंने उससे कुपित होकर निष्ठुर वचन कहा था ( उसे तुम जानती हो ) इसके बाद उसे वहीं पर छोड़ कर और क्रोधके कारण पुष्पचयन भी करना छोड़

---

१. समस्तम्।

मगमम् । अपयातायाञ्च भवत्यां मुहूर्त्तमिव स्थित्वा एकाकी किमयमिदानीमाचरतीति सञ्जातवितर्कः प्रतिनिवृत्त्य विटपान्तरितविग्रहस्तं प्रदेशं व्यलोकयम् । यावत्तत्र तं नाद्राक्षम् , आसीच्च मे मनस्येवम्–'किन्तु मदनपरायत्तचित्तवृत्तिस्तामेवानुसरन् गतो भवेत् , गतायाञ्च तस्यां लब्धचेतनो लज्जया[1] न शक्नोति मे दर्शनपथमुपगन्तुम् ; आहोस्वित् कुपितः परित्यज्य मां गतः, उतान्वेषमाणो मामेव प्रदेशमन्यमितः समाश्रितः स्यात्' इत्येवं विकल्पयन् कञ्चित्कालमतिष्ठम् । तेन तु जन्मनः[2] प्रभृत्यनभ्यस्तेन तस्य क्षणमप्यदर्शनेन दूयमानः पुनरचिन्तयम्—'स कदाचिद्धैर्यस्खलनविलक्षः किञ्चिदनिष्टमपि समाचरेत् । नहि किञ्चिन्न[3] क्रियते ह्रिया । तन्न युक्तमेनमेकाकिनं कर्त्तुम्' इत्यवधार्यान्वेष्टुमादरमकरवम् । अन्वेषमाणश्च यथा

---

कुसुमावचयः अहं मन्युनैव त्यक्तपुष्पचयनः तस्मात् प्रदेशात् स्थानात् अन्यप्रदेशं तदितरवनभागम् अगमम् अव्रजम् । भवत्यां त्वयि अपयातायां गतायां मुहूर्त्तमिव क्षणमिव स्थित्वा अवस्थाय, इदानीं साम्प्रतम् एकाकी अद्वितीय अयं पुण्डरीकः किमाचरति किं विधत्ते इति सञ्जातवितर्कः उत्पन्नसन्देहः प्रतिनिवृत्त्य परावर्त्य विटपान्तरितविग्रहः शाखाच्छादितशरीरोऽहं तं प्रदेशं स्थानं व्यलोकयम् अपश्यम्।

यावदिति । यावत् यावत्समयं तत्र तस्मिन् स्थाने तं पुण्डरीकं नाद्राक्षं न व्यलोकयम्, मे मम मनसि चित्ते एवं वक्ष्यमाणम् आसीत् तावदासीदित्यर्थः । 'मदनस्य कामस्य परायत्ता आतीवाधीना चित्तवृत्तिः मनोव्यापारः यस्य स तथोक्तः पुण्डरीकः तां कन्यकामेव अनुसरन् अनुव्रजन् किं गतः प्रयातो भवेत् , तस्यां कन्यकायां गतायां प्रयातायां सत्यां च, लब्धचेतनः प्राप्तचैतन्यः लज्जया त्रपया मे मम दर्शनपथम् आलोकनमार्गम् उपगन्तुं प्राप्तुं न शक्नोति न समर्थो भवति; आहोस्वित् अथवा कुपितो मम भर्त्सनेन क्रुद्धः सन् मां सखायं परित्यज्य विहाय गतः प्रस्थितः, उत अथवा मामेव अन्वेषमाणः वीक्षमाणः इतः अस्मात् अन्यम् अपरं प्रदेशं स्थानं समाश्रितः अवलम्बितः स्यात् भवेत्' इत्येवं विकल्पयन् नानाप्रकारां कल्पनां विदधत् कञ्चित्कालं कञ्चित्समयम् अतिष्ठं स्थितवान् ।

तेनेति । जन्मनः प्रभृति उत्पत्तिदिनमारभ्य अनभ्यस्तेन अपरिचितेन क्षणमपि क्षणकालमपि तस्य पुण्डरीकस्य तेन अदर्शनेन अनवलोकनेन दूयमानः सन्तप्यमानः पुनर्भूयः अहम् अचिन्तयं चिन्तितवान्- 'स पुण्डरीकः, धैर्यस्य धृतेः स्खलनेन विलोपेन विलक्षो लज्जितः सन् , कदाचित् कस्मिंश्चित्समये किञ्चित् अनिष्टमपि उद्बन्धनादिकमवाञ्छितममङ्गलमपि समाचरेत् व्यवहरेत् । ननु तथाविधो मनस्वी कथमवाञ्छितं व्यवहरेदित्यत आह—नहीति । ह्रिया लज्जया न क्रियते विधीयते एवं किञ्चित् किमपि नहि विद्यत इत्यर्थः, अपि तु सर्वं विधीयत एवेत्यभिप्रायः । इह सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

तत्तस्मात् कारणात् एकाकिनम् अद्वितीयं कर्त्तुं विधातुं न युक्तमुचितम्' इत्यवधार्य एवं पूर्वोक्तप्रकारेण निश्चित्य अन्वेष्टुं मार्गयितुम् आदरम् उद्योगम् अकरवं व्यदधम् ।

अन्वेषेति । अन्वेषमाणो मृग्यमाणश्चाहं यथा यथा तं पुण्डरीकं नापश्यं न व्यलोकयं तथा तथा

---

मैं उस स्थानसे दूसरे स्थानमें चला गया । तुम्हारे चले आनेके अनन्तर थोड़ी देर ठहर कर मेरे मनमें इसप्रकार सन्देह उत्पन्न हुआ कि—'इस समय पुण्डरीक अकेला क्या करता होगा ?' यह जाननेके अभिप्रायसे मैं फिर लौट कर एक वृक्षके अन्तरालमें छिप कर उस स्थानकी ओर दृष्टिपात करने लगा । किन्तु जिस समय उस स्थानमें मैंने उसको नहीं देखा, उस समय मुझे इसप्रकार मनमें होने लगा कि—'सम्भवतः, अत्यन्त कामाधीन-चित्त होकर वह कहीं उस कन्याके पीछे पीछे तो नहीं गया होगा ? अथवा उस कन्याके अपने घर चले जानेके बाद चेतना आनेसे लज्जाके कारण मेरे सामने उपस्थित होनेमें समर्थ नहीं हो सकता है, या कुपित होकर मुझे छोड़कर चला तो नहीं गया होगा, किंवा मुझे ही अन्वेषण करता करता इस स्थानसे किसी दूसरे स्थानमें तो नहीं चला गया होगा' इस प्रकार मन ही मन नानाविध कल्पना करता करता मैं उस स्थानमें ही थोड़ी देर खड़ा रहा । जन्मकालसे ही एक क्षण भी उसके साथ वियोग नहीं होनेका अभ्यास था, इसलिए तत्काल उसे न देखनेसे सन्तप्त होकर मैं फिरसे चिन्ता करने लगा—'कहीं धैर्य-स्खलनसे लज्जित हो वह कुछ अनिष्ट आचरण भी न कर डाले ! क्योंकि—लज्जाके कारण मनुष्य चाहे जो कुछ भी कर डालता है, इसलिये इसे अकेला रखना उचित नहीं है' इसप्रकार मैं मन ही मन स्थिर कर उसे अन्वेषण करनेके लिए चेष्टा करने लगा । ज्यों ज्यों अन्वेषण करने पर भी वह देखनेमें नहीं आया

---

१. लज्जमानः । २. जन्मतः । ३. न हि यन्न ।

यथा नापश्यं तम्, तथा तथा सुहृत्स्नेहकातरेण मनसा तत्तदशोभनमाशङ्कमानस्तरुलतागहनानि, चन्दनवीथिकाः, लतामण्डपान्[1], सरःकूलानि च[2] वीक्षमाणो निपुणमितस्ततो दत्तदृष्टिः सुचिरं व्यचरम्।

अथैकस्मिन् सरः समीपवर्त्तिनि निरन्तरतया कुसुममय इव मधुकरमय इव परभृतमय इव मयूरमय इवातिमनोहरे वसन्तजन्मभूमिभूते लतागहने कृतावस्थानम्, उत्सृष्टसकलव्यापारतया लिखितमिवोत्कीर्णमिव स्तम्भितमिवोपरतमिव प्रसुप्तमिव योगसमाधिस्थमिव, निश्चलमपि स्ववृत्ताच्चलितम्[3], एकाकिनमपि मन्मथाधिष्ठितम्, सानुरागमपि

---

सुहृत्स्नेहकातरेण मित्रप्रीतिदैन्येन मनसा चित्तेन तत्तदशोभनम् उद्बन्धनादिकममङ्गलम् आशङ्कमानः सन्दिह्यमानः तरुलतानां वृक्षवल्लीनां गहनानि वनानि, चन्दनवीथिकाः चन्दनवृक्षपङ्क्तिः लतामण्डपान् सरसः सरोवरस्य कूलानि तीराणि च निपुणम् एकतानं यथा स्यात्तथा वीक्षमाणो विलोक्यमानः इतस्ततः समन्तात् दत्तदृष्टिः दत्ताऽवलोकनोऽहं सुचिरं बहुसमयं व्यचरम् अभ्रमम्।

अथेति। अथ अनन्तरं सरः समीपवर्त्तिनि सरोवरनिकटस्थायिनि निरन्तरतया कुसुमैः सान्द्रतया कारणेन कुसुममये प्रसूनैः रचिते इव, मधुकरैर्निरन्तरतया मधुकरमय इव भ्रमरमय इव, परभृतैर्निरन्तरतया परभृतमय इव कोकिलैः रचित इव, तथा मयूरैर्निरन्तरतया मयूरमय इव कलापिमय इव, अतिमनोहरे नितान्तरमणीये वसन्तस्य मधुसमयस्य जन्मभूमिभूते उत्पत्तिस्थानस्वरूपे एकस्मिन् लतागहने लतामयविपिने कृतावस्थानं विहितावस्थितिं तमहमद्राक्षमित्युत्तरेण सम्बन्धः।

इह प्रकृतविषये मयट्प्रत्ययविधानात् 'कुसुममय इव' इत्यादिचतसृणामेव क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

उत्सृष्टेति। उत्सृष्टाः त्वदधीनत्वात् परित्यक्ताः सकलाः समस्ता व्यापारा अङ्गप्रत्यङ्गचेष्टादयो येन तस्य भावस्तया कारणेन, लिखितं चित्रितमिव, उत्कीर्णं प्रस्तरादिकं निस्तक्ष्य रचितमिव, स्तम्भितमिव केनचित् जडीकृतमिव, उपरतमिव मृतमिव, प्रसुप्तं शयितमिव, तथा योगस्य चित्तवृत्तिनिरोधस्य यः समाधिः अन्तिमाङ्गं केवलमर्थनिर्भासनरूपं तत्र तिष्ठतीति तमिव।

इहापि 'लिखितमिव' इत्यारभ्य 'योगसमाधिस्थमिव' इत्यन्तं षण्णामेव क्रियोत्प्रेक्षाणां मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

निश्चलमिति। निश्चलं स्थिरमपि स्ववृत्तात् निजकर्त्तव्यात् चलितमिति विरोधः, प्रभ्रष्टमिति तत्परिहारः। एकाकिनमसहायमपि मन्मथेन कन्दर्पेण सहायकेन अधिष्ठितमाश्रितमिति विरोधः, मन्मथस्य केवलं मनोवृत्तित्वात्तत्परिहारः। अनुरागेण रक्तिम्ना सह विद्यत इति सानुरागस्तमपि पाण्डुतां श्वेतताम् आवहन्तम् आदधानमिति विरोधः, सानुरागं प्रियतमायामासक्तमपीति तत्परिहारः। शून्यान्तःकरणमपि

---

त्यों त्यों सुहृत्स्नेहसे मेरा मन विह्वल हो गया, और उसके विषयमें नानाविध अमङ्गलकी आशङ्का होने लगी। वृक्षों और लताओंकी कुञ्जमें, चन्दनवृक्षकी पङ्क्तियोंमें. लतामण्डपों और सरोवरके तीर पर देखते देखते, पुङ्खानुपङ्खरूपसे इतस्ततः भलीभाँति दृष्टिपात करता करता मैंने बहुत समय तक विचरण किया।

उसके बाद सरोवरके निकटवर्ती एक अत्यन्त मनोहर—वसन्त-कालकी जन्मभूमिके समान लताकुञ्ज (लतामय वन) के मध्य में, जो सघन पुष्प होनेके कारण उसलतामय वनके पुष्पनिर्मितके समान, सघन भ्रमरोंके कारण भ्रमरनिर्मितके समान, असंख्य कोकिलोंके रहनेके कारण कोकिल-निर्मितके समान एवं बहुतर मयूरोंके रहनेके कारण मयूरनिर्मितके समान प्रतीत होता था, मैंने उसे बैठे देखा। अङ्गप्रत्यङ्गके स्पन्दनादि समस्त व्यापारोंको भी परित्याग कर दिया था, इसलिए वह विचित्रके समान, क्षोदितके समान, स्तम्भित (स्तब्ध) के समान, मरे हुएके समान, निद्रितके समान एवं योग-समाधिस्थितके समान हो, ऐसा दीखता था। निश्चल होनेपर भी वह अपने कर्त्तव्यसे चलायमान (परिभ्रष्ट) हो गया था, सहायशून्य होने पर भी कामदेव उसके साथ लगा

---

१. चन्दनवीथिकालतामण्डपान्'''मण्डपिकाः। २. सरस्तीराणि च। ३. सुवृत्तात्।

पाण्डुतामावहन्तम्, शून्यान्तः करणमपि हृदयनिवासिदयितम्, तूष्णीकमपि कथितमदनवेदनातिशयम्, शिलातलोपविष्टमपि मरणे व्यवस्थितम्, शापप्रदानभयादिवादत्तदर्शनेन कुसुमायुधेन सन्ताप्यमानम्, अतिनिष्पन्दतया¹ हृदयनिवासिनीं प्रियां द्रष्टुमन्तःप्रविष्टैरिवासह्यसन्तापसन्त्रासप्रलीनैरिव मनःक्षोभप्रकुपितैरिव उन्मुच्य गतैरिन्द्रियैः शून्यीकृतशरीरम्, निष्पन्दनिमीलितेनान्तर्ज्वलन्मदनदहनधूमाकुलिताभ्यन्तरेणेव पक्ष्मान्तर²-विवरवान्तानेकधारमनवरतमीक्षणयुगलेन बाष्पजलदुर्दिनमुत्सृजन्तम्, आलोहिनीमधरप्रभा-

हृदयनिवासिदयितं मनोनिवासिवल्लभमिति विरोधः, हृदये दयितानिवासस्य सत्त्वे तस्य शून्यत्वस्य विरुद्धत्वादित्यभिप्रायः, शून्यं विषयान्तरविचारवर्जितम् अन्तःकरणं हृदयं यस्य तमिति तत्परिहारः। तूष्णीं शीलमस्येति तूष्णीकः तं मौनालम्बिनमपि कथितो निरूपितो मदनवेदनायाः कामपीडाया अतिशय आधिक्यं येनेति मौनकथनयोरेकत्रसम्भवाभावाद्विरोधः, कथितः शरीरस्तम्भादिना बोधित इति तत्परिहारः। शिलातले प्रस्तरतले उपविष्टमासीनमपि मरणे व्यवस्थितं विशेषेणावस्थितमित्येकस्य युगपदधिष्ठानद्वयवृत्तित्वे विरोधः, व्यवस्थितं कृतनिश्चयमिति तत्परिहारः। इह प्रत्येकविशेषण एव विरोधाभासः।

शापेति। शापप्रदानस्य अभिसम्पातदानस्य भयात्त्रासादिव अदत्तदर्शनेन अदृश्यशरीरेणेत्यर्थः, कुसुमायुधेन मदनेन सन्तप्यमानं पीड्यमानम्। इह हेतूत्प्रेक्षा।

अतीति। अतिनिष्पन्दतया अतिनिष्क्रियतया हृदयनिवासिनीं मनःस्थायिनीं प्रियां दयितां द्रष्टुम् अवलोकयितुम् अन्तःप्रविष्टैरिव अन्तर्गतैरिव, असह्यसन्तापात् असोढव्यसंज्वरात् यः सन्त्रासो भयं तेन प्रलीनैः लुक्कायितैरिव, तथा मनसो हृदयस्य क्षोभेण सञ्चलनेन असन्मार्गप्रापणेनेत्यर्थः प्रकुपितैः क्रुद्धैरिव, स्वेषां बहुकालादेव नितान्तशिष्टत्वादित्याशयः, अत एव उन्मुच्य निजनिजस्थानं परित्यज्य गतैः प्रस्थितैः इन्द्रियैः करचरणादिभिः शून्यीकृतं परित्यक्तं शरीरं वपुर्यस्य तमिव विद्यमानम्, अन्यथैवंविधा निष्क्रियता न स्यादित्याशयः।

इह 'अन्तःप्रविष्टैरिव' इत्यादयस्तिस्रो वाच्याः क्रियोत्प्रेक्षाः, 'शून्यीकृतम्' इत्यत्र च शरीरशून्यीकरणोत्प्रेक्षणादिवादिप्रयोगासत्त्वाच्च प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा, इत्यासामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

निष्पन्देति। निष्पन्दं निष्क्रियं च तत् निमीलितं मुद्रितञ्चेति तेन तादृशेन, अत एव अन्तरभ्यन्तरे ज्वलतः सन्दीप्तस्य मदनदहनस्य कामाग्नेः धूमैः आकुलितं व्याप्तम् अभ्यन्तरम् अन्तर्यस्य तेनेव विद्यमानेन, अन्तर्धूमव्याप्तौ लोचनमुद्रणस्य प्राकृतिकत्वादित्याशयः ईक्षणयुगलेन लोचनद्वयेन करणेन, पक्ष्मान्तरविवरेभ्यः चक्षुर्लोममध्यभागेभ्यो वान्ता उद्गीर्णा अनेका विविधा धाराः प्रवाहा यस्य तत्, बाष्पजलदुर्दिनम् अश्रुसलिलवृष्टिम् उत्सृजन्तं वर्षन्तम्।

इह 'मदन एव दहनः' इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकम्, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, क्रियोत्प्रेक्षा चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

आलोहिनीति। हृदयं मानसं प्रदहतः प्रज्वलतः अनङ्गाग्नेः मदनानलस्य ऊर्ध्वसंसर्पिणीम् उपरि-

था (कामार्त्त था), रक्तवर्ण होने पर भी पाण्डुवर्ण धारण किया था (तुम्हारे प्रति अनुरक्त हुआ था, एवं तुम्हारे ही विरहसे पाण्डुवर्ण धारण किया था), उसका अन्तःकरण शून्य होने पर भी हृदयमें कोई प्रियजन वास करता था (अन्तःकरणमें अन्य विषयकी चिन्ता नहीं थी, केवल तुम्हारी ही चिन्ता रहती थी), मौनावलम्बन करते रहने पर भी अत्यधिक कामवेदना प्रकट करता था (नानाविध भङ्गीद्वारा कामवेदना सूचित करता था, प्रस्तरखण्डके ऊपर बैठे रहने पर भी वह मृत्युकी शरणमें था (निश्चय कर लिया था)। शापप्रदानके भयसे ही मानो अदृष्ट रह कर कामदेव उसको सन्तप्त करता था, अत्यन्त निश्चल होनेके कारण उसकी इन्द्रियाँ मानो हृदयनिवासिनी प्रियाको देखनेके लिए अन्दर प्रवेश कर गई हों, असह्य सन्तापके भयसे ही मानो छिप गई हों अथवा मनका असत्पथमें जानेके कारण क्रोधित होकर अपने अपने स्थानका परित्याग कर गई हों इस प्रकार उसका शरीर मानो इन्द्रियोंसे शून्य दीखता था। निश्चल और मुद्रित (मिचे हुए)—अन्तःप्रज्वलित कामाग्निके धूमसे अभ्यन्तरमें मानो व्याकुल हुए—उसके नेत्रोंमेंसे नयनलोमके अन्तराल (बरौनीके बीच) में होकर असंख्य

१. अतिनिःस्पन्दतया। २. अक्षिपक्ष्मान्तर॰॰॰।

मनङ्गाग्नेः प्रदहतो हृदयम्[1] ऊर्ध्वसंसर्पिणीं शिखामिवादाय निष्पतद्भिरुच्छ्वासैस्तरलीकृतास-न्नलताकुसुमकेशरम्, वामकपोलशयनीकृत-करतलतया समुत्सर्पद्भिरमलैर्नखांशुभिर्विमली-कृतमच्छाच्छचन्दन-रस-रचित-ललाटिकमिव ललाटदेशमुद्वहन्तम्, अचिरापनीत-पारि-जात-कुसुम-मञ्जरी-कर्णपूरतया[2] सशेषं[3] परिमलामोद-लोभोपसर्पिणा कलविरुतच्छलेन मदन-सम्मोहनमन्त्रमिव जपता मधुकरकुलेन सनीलोत्पलमिव सतमालपल्लवमिव श्रवणदेशं दधा-नम्, उत्कण्ठा-ज्वर-रोमाञ्चव्याजेन प्रतिरोम-कूप-निपतितानां मदनशराणां कुसुमशर-शल्यं[4]

---

गामिनीं शिखां ज्वालामिव, आलोहिनीम् आरक्ताम् अधरप्रभाम् ओष्ठशोभाम् आदाय गृहीत्वा निष्प-तद्भिर्निःसरद्भिः उच्छ्वासैर्निश्वासैः करणैः, तरलीकृता आन्दोलिता आसन्नलतानां समीपवल्लीनां कुसुम-केशराः पुष्पकिञ्जल्का येन तम्।

इह 'अनङ्गाग्नेः' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'शिखामिव' इत्यत्र श्रौत्युपमा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभाव-सङ्करः। केचित्तु—'शिखामिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षामिति वदन्ति। 'आलोहिनीम्' इत्यत्र 'वर्णादनुदात्तात्तो-पधात्' इत्यनेन ङीष् तत्सन्नियोगेन तस्य नकारादेशश्च ज्ञेयः।

वामेति। वामकपोलस्य सव्यगण्डस्य शयनीकृतं तल्पीकृतम् आश्रयीकृतमित्यर्थः करतलं वाम-पाणितलं येन तस्य भावस्तया कारणेन, विस्तारितवामकरतले वामकपोलस्थापनेन वामकरनखरश्मीनां भाले सञ्चरणादित्यर्थः, समुत्सर्पद्भिर्भाले समुद्गच्छद्भिः नखांशुभिः पुनर्भवरश्मिभिः, विमलीकृतं धवली-कृतम्, अत एव अच्छाच्छेन अत्यन्तविशदेन चन्दनरसेन मलयजद्रवेण रचिता निर्मिता ललाटिका तिलकविशेषो यस्मिन् तमिव विद्यमानं ललाटदेशं भालप्रदेशम् उद्वहन्तं धारयन्तम्। इह तिलकविशेष-निर्माणोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा। 'पत्रपाश्या ललाटिका' इत्यमरः।

अचिरेति। अचिरं सद्यः अपनीतः महाश्वेतायै समर्पणाय अपसारितः पारिजातकुसुममञ्जरीरूपः मन्दारपुष्पवल्लरीरूपः कर्णपूरः श्रवणभूषणं यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, सशेषः तत्कालेऽप्यवशिष्टो यः परिमलः सौरभं तस्य य आमोदः तदनुभवजप्रहर्षः तस्य लोभेन लिप्सया उपसर्पिणा निकटस्थायिना, कलविरुतच्छलेन स्वीयमधुराव्यक्तशब्दव्याजेन, मदनस्य कामस्य संमोहनमन्त्रं वशीकरणमन्त्रं जपता जापं विदधतेव विद्यमानेन, मधुकरकुलेन भ्रमरसमूहेन करणेन, सनीलोत्पलमिव सेन्दीवरमिव, सतमाल-पल्लवमिव सतापिच्छकिसलयमिव विद्यमानम्, भ्रमरगणस्य नीलोत्पलतमालपल्लवसदृशतयाऽवगम्यमा-नत्वादित्याशयः। श्रवणदेशं कर्णप्रदेशं दधानं धारयन्तम्।

इह 'कलविरुतच्छलेन मदनसंमोहनमन्त्रमिव' इत्यत्र सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा, 'सनीलोत्पलमिव' 'सतमालपल्लवमिव' इत्युभयत्र च गुणोत्प्रेक्षेत्येतासां मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

उत्कण्ठेति। उत्कण्ठया मदनौत्सुक्येन यो ज्वरः अन्तर्दाहः तेन ये रोमाञ्चाः पुलकाः तेषां व्याजेन कपटेन, अङ्गलग्नं शरीरसंसक्तम्, प्रतिरोमकूपनिपतितानां प्रत्येकरोमकूपलग्नानां मदनशराणां काम-बाणानां मध्ये ये कुसुमशराः प्रसूनलक्षणा बाणाः तेषां शल्यशकलनिकरम् अग्रखण्डजालम्, बिभ्राणं दधानमिव, रोमाञ्चो नास्ति, मन्ये प्रतिरोमकूपं निपतितास्ते बाणा निर्गताः किन्तु निमग्नः अग्रखण्डस्तु रोमकूपेषु लग्न इत्यभिप्रायः।

---

धाराओंसे अविश्रान्त अश्रु-जलकी वर्षा हो रही थी, हृदयको दग्ध करती मदनाग्निकी ऊर्ध्वगामिनी ज्वालाके समान आरक्तवर्ण अधरकी कान्तिको लेकर बाहर निकलते उच्छ्वासोंसे समीपवर्त्ती लताओंके पुष्प-केशर कम्पित हो रहे थे; बाएँ हाथके ऊपर बायाँ कपोल रखने के कारण ऊर्ध्वगामी निर्मल नख-किरणोंसे निर्मल ललाटदेश मानो अतिस्वच्छ चन्दन-रसके तिलकसे शोभित था; थोड़ी ही देर पहले कानमेंसे पारिजात-पुष्पकी मञ्जरी हटाये जानेसे उसकी बची हुई सुगन्धिके लोभसे आकृष्ट हुए भ्रमरगण उपस्थित होकर अस्पष्ट मधुरध्वनिके व्याजसे मानो काम-देवका सम्मोहन मन्त्र जप करते थे, इससे प्रतीत होता था कि मानो उसने कानमें नील-कमल अथवा तमाल-पल्लव धारण किया हो; उत्कण्ठाके सन्तापमें हुए रोमाञ्चके व्याजसे मानो प्रत्येक रोमकूपमें निपतित कामदेवके

---

१. हृदयात्। २. कुसुमकर्णपूरतया। ३. अशेष…। ४. कुसुमशरकेशरशल्य…।

शकल-निकरमिवाङ्गलग्नं बिभ्राणम्, दक्षिणकरेण च स्फुरित-किरणनिकरां[1] करतल-स्पर्श-सुख-कण्टकितामिव-मुक्तावलीमविनयपताकामुरसि धारयन्तम्, मदनवशीकरणचूर्णेनेव कुसुम-रेणुना तरुभिराहन्यमानम्, आत्मरागमिव संक्रामयद्भिरासन्नैरनिलचलितैः[2] अशोकपल्लवैः स्पृश्यमानम्, सुरताभिषेकसलिलैरिवाभिनवपुष्पस्तवकमधुशीकरैर्वनश्रियाभिषिच्यमानम्, अलिनिवह-निपीयमान-परिमलैरुपरि पतद्भिश्चम्पककुड्मलैस्तप्तशरशल्यकैरिव[3] स धूमैः कुसुम-

इहापि सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा । ननु कामदेवस्य पुष्पबाणत्वेनैव प्रसिद्धिः, तदतिरिक्तशराणामश्रुतत्वात्; तथा च सति 'मदनशराणाम्' इत्यत्र शरपदेन प्रसिद्धकुसुमशराणामेव ग्रहणोपपत्तौ पुनः 'कुसुमशरे'त्यस्योपादानेनाधिकपदत्वदोषप्रसक्तिरिति चेत्? सत्यम्, तद्वारणाय तत्पदपरित्यागस्यैवौचित्यादिति सुधीभिराकलनीयम् ।

दक्षिणेति । किञ्चेति चार्थः । दक्षिणकरेण अपसव्यहस्तेन, उरसि वक्षसि, स्फुरितः प्रदीप्तः किरणनिकरः रश्मिसमूहो यस्याः ताम्, अत एव करतलस्य पाणितलस्य स्पर्शेन संयोगेन यत् सुखम् आनन्दः तेन कण्टकितां सञ्जातपुलकामिव विद्यमानाम्, रश्मिसमूहस्य रोमाञ्चवदवगतेरित्याशयः, तथा अविनयस्य मदनावेशरूपदुर्व्यवहारस्य पताकां वैजयन्तीमिव विद्यमानां मुक्तावलीं भवदीयं हारं धारयन्तं दधानम् ।

इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, तथा 'करतलस्पर्श-सुखकण्टकितामिव' इत्यत्र वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा, 'अविनयपताकाम्' इत्यत्र प्रतीयमाना जात्युत्प्रेक्षेत्येतासामङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

मदनेति । तरुभिः वृक्षैः कर्तृभिः, मदनस्य कामदेवस्य वशीकरणचूर्णेनेव लोकसंमोहनकारकचूर्णेनेव कुसुमरेणुना पुष्पधूलिना करणेन आहन्यमानं शरीरोपरि निक्षेपात्ताड्यमानमिव ।

इह 'वशीकरणचूर्णेनेव' इत्यत्र वाच्या जात्युत्प्रेक्षा, 'आहन्यमानम्' इत्यत्र प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

आत्मेति । आसन्नैः समीपस्थायिभिः, अनिलचलितैः पवनान्दोलितैः आत्मरागं स्वकीयलौहित्यमेव रागमनुरागं संक्रामयद्भिः पुण्डरीके सञ्चारयद्भिरिव विद्यमानैः अशोकपल्लवैः वञ्जुलकिसलयैः स्पृश्यमानं सङ्घट्यमानम् ।

इह लौहित्यरागयोर्व्यतिरेकेऽपि श्लेषेणाभेदारोपादतिशयोक्तिः, 'संक्रामयद्भिरिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

सुरतेति । वनश्रिया अरण्यलक्ष्म्या कर्त्र्या सुरताभिषेकसलिलैरिव सम्भोगराज्याभिषेकजलैरिव, अभिनवा नूतना ये पुष्पस्तवकाः प्रसूनगुच्छाः तेषां मधुशीकरैः मकरन्दकणैः करणैः, अभिषिच्यमानम् अभिषेकविषयीक्रियमाणमिव ।

इहाद्या वाच्या जात्युत्प्रेक्षा, अन्या तु प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

अलिनिवहेति । कुसुमशरेण पुष्पबाणेन कामेनेत्यर्थः कर्त्रा, सधूमैः अग्निसंयुतत्वाद्धूमयुतैः कुड्मलोपरिस्थमधुकरसादृश्यावगमायैतद्विशेषणम्, तप्तशरशल्यकैरिव अग्निसमेतस्वीयबाणाग्रैरिव विद्यमानैः, चम्पककोरकपीतत्वसादृश्यावगमाय तप्तेतिपदम्, अलिनिवहेन मधुकरगणेन निपीयमानाः सबहुमानमनुभूयमानाः परिमलाः सौरभाणि येषां तैः, पुण्डरीकस्यैवोपरि पतद्भिः निपतद्भिः चम्पककुड्मलैः हेम-

कुसुम-बाणोंका उग्रभाग ( नोक ) वह अङ्ग पर धारण कर रहा था; उसने दक्षिण हाथसे छाती पर मुक्तावलीको रख लिया था, चतुर्दिक् उसकी किरणें फैल जानेसे प्रतीत होता था कि मानो कर-तल-स्पर्शके सुखसे वह रोमाञ्चित हो गई हो, एवं अन्याय आचरणकी पताका के समान देखनेमें आ रही हो; वृक्षसमूह, कामदेवके वशीकरण चूर्णके समान अपने पुष्प-रेणु द्वारा मानो उस पर आघात करते थे; समीपवर्त्ती वायुकम्पित अशोक-पल्लव मानो ( उसके शरीर पर ) अपना राग सञ्चारित करते करते ही उसका स्पर्श करते थे; वनलक्ष्मी रतिराज्यमें अभिषेक करनेके जलके समान अभिनव पुष्पके गुच्छोंके मधुकणसे मानो उसको अभिषिक्त करती ( स्नान कराती ) थी। सौरभके लोभसे भ्रमरगण जिस पर बैठे थे ऐसी चम्पा-फूल की कलियाँ उसके शरीर पर पड़ती थीं, जिनसे ऐसा प्रतीत होता था कि मानो कामदेव तप्त की हुई धूम संयुक्त अग्निमय अपने बाणों की नोकों से उसे प्रहार

१. स्फुरितनखकिरणनिकरम् । २...वलितैः । ३. तप्तशल्यस्तैरिव ।

शरेण ताड्यमानम्, अतिबहल-वनामोद-मत्त-मधुकर-निकर-झङ्कार-निस्वनैः[1] हुङ्कारैरिव दक्षिणानिलेन निर्भर्त्स्यमानम्, मदकल-कोकिल-कुल-कोलाहलैर्वसन्त-जय-शब्द-कलकलैरिव मधुमासेनाकुलीक्रियमाणम्, प्रभातचन्द्रमिव पाण्डुतया परिगृहीतम्, निदाघगङ्गाप्रवाहमिव कृशिमानमागतम्[2], अन्तर्गतानलं चन्दनविटपमिव म्लायन्तम्, अन्यमिव, अदृष्टपूर्वमिव, अपरिचितमिव, जन्मान्तरमिवोपगतम्[3], रूपान्तरेणेव परिणतम्, आविष्टमिव महाभूताधिष्ठितमिव ग्रहगृहीतमिवोन्मत्तमिव छलितमिवान्धमिव बधिरमिव मूकमिव विलासमयमिव मदनमयमिव, परायत्तचित्तवृत्तिम्, परां कोटिमधिरूढं मन्मथावेशस्य[4], अनभिज्ञेय-

---

पुष्पकमुकुलः ताड्यमानमिव आहन्यमानमिव। उक्तालङ्कारः।

अतिबहलेति। दक्षिणानिलेन मलयमारुतेन कर्त्रा, हुङ्कारैरिव भर्त्सनबोधकस्त्रीयहुंशब्दैरिव, अतिबहलेन अत्यधिकेन वनामोदेन काननसौरभेण मत्तस्य मदविह्वलितस्य मधुकरनिकरस्य भ्रमरसमूहस्य झङ्कारनिस्वनैः झङ्कारलक्षणशब्दैः करणैः, निर्भर्त्स्यमानमिव तिरस्कारपूर्वकं भाष्यमाणमिव।

इह हुङ्काराणां शब्दत्वेन गुणत्वादाद्या वाच्या गुणोत्प्रेक्षा द्वितीया तु प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

मदकलेति। मधुमासेन चैत्रमासेन कर्त्रा, वसन्तस्य समयस्य जयशब्दकलकलैरिव मदकलस्य मदमत्तस्य कोकिलकुलस्य परभृद्गणस्य कोलाहलैः कलकलैः करणैः, आकुलीक्रियमाणम् अधीरीक्रियमाणम्। इह गुणोत्प्रेक्षा।

प्रभातेति। प्रभातचन्द्रः प्रातःकालीनशशी तमिव पाण्डुरतया परिगृहीतं शरीरे अवलम्बितम्। निदाघे ग्रीष्मसमये यो गङ्गायाः प्रवाहः तमिव, कृशिमानं कृशत्वम् आगतं प्राप्तम्। अन्तर्गतः अभ्यन्तरे प्राप्तः अनलोऽग्निः मदनानलश्च यस्य तम्, चन्दनविटपमिव मलयजशाखामिव म्लायन्तं म्लानतां व्रजन्तम्। इह प्रतिविशेषण एव पूर्णोपमा।

अन्यमिति। अन्यमिव पूर्वस्माद्भिन्नमिव, अदृष्टपूर्वमिव अनवलोकितपूर्वमिव, अपरिचितमिव असंस्तुतमिव, जन्मान्तरं भवान्तरम् उपगतमिव प्राप्तमिव, तथा रूपान्तरेण परिणतमिव।

इहाद्यास्तिस्रो जात्युत्प्रेक्षाः। अन्त्ययोस्तु प्रत्येकं क्रियोत्प्रेक्षा।

आविष्टमिति। आविष्टं डाकिनीप्रभृतिभिरभिभूतमिव, महाभूतैर्वेतालैः अधिष्ठितम् आश्रितमिव, ग्रहैः पूतनाप्रभृतिभिर्दुष्टग्रहैः गृहीतं धृतमिव। उन्मत्तम् उन्मादरोगविकारयुक्तमिव। छलितं केनचित् वञ्चितमिव। अन्धं गताक्षमिव, बधिरं श्रवणेन्द्रियरहितमिव, मूकम् अस्पष्टवाचमिव, विलासमयं विभ्रमव्याप्तमिव, तथा मदनमयम् अनङ्गव्याप्तमिव।

इह 'उन्मत्तमिव' इत्यत्र 'अन्धमिव' इत्यादिषु त्रिषु च प्रत्येकं गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः, अशिष्टेषु प्रत्येकं क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारो ज्ञेयः।

परेति। परस्य जनस्य महाश्वेताया इत्यर्थः आयत्ता अधीना चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो यस्य तम्,

---

करता था, दक्षिण वायु अपने हुङ्कारके समान वनमेंसे निकलते प्रचुर सौरभसे मत्त हुए मधुकरोंकी गुञ्जारसे मानो भर्त्सना करते (फटकारते) थे; वसन्तकालके जयध्वनिके कोलाहलके समान, मदमत्त कोकिलगणके कोलाहलसे चैत्रमास, उसको विह्वल कर रहा था; उस समय वह प्रभात-कालीन चन्द्ररेखाके समान पाण्डुवर्ण (फीका) दीखता था; ग्रीष्म-कालीन गङ्गा-प्रवाहके समान वह कृश हो गया था; अन्तःप्रविष्ट अग्निसे युक्त चन्दनवृक्षकी शाखाके समान म्लान हो (कुम्हला) गया था; उसे देखने पर दूसरेके समान, पहले जिसे कभी नहीं देखा है ऐसे व्यक्तिके समान एवं अपरिचितके समान प्रतीत होता था, और वह मानो प्राप्त किया था, रूपान्तरमें परिणत हुआ था, डाकिनी आदि उसके अन्दर प्रवेश कर गई थी, महाभूतोंसे अधिष्ठित हो गया था, पूतनाप्रभृति किन्हीं दुष्ट ग्रहोंसे ग्रसित हो गया था, और वह उस समय उन्मत्तके समान, प्रतारितके समान, अन्धके समान, बधिरके समान, मूकके समान एवं विलासितामय और काममयके समान प्रतीत हो रहा था; उसकी चित्तवृत्ति पराधीन हो गई थी, एवं

---

१. निःस्वनैः। २. कृशिमागतम्। ३. उपनतम्। ४. मदनावेशस्य।

पूर्वाकारं तमहमद्राक्षम्।

अपगतनिमेषेण चक्षुषा तदवस्थं चिरमुद्वीक्ष्य समुपजातविषादो वेपमानेन हृदयेनाचिन्तयम्-'एवं नामायमतिदुर्विषहवेगः[1] मकरकेतुः, येनानेन क्षणेनायमीदृशमवस्थान्तरम्[2] अप्रतीकारमुपनीतः। कथमेवमेकपदे व्यर्थीभवेदेवंविधो ज्ञानराशिः। अहोबत महच्चित्रम्, तथा नामायमाशैशवाद्धीरप्रकृतिरस्खलितवृत्तिर्[3]मम चान्येषाञ्च मुनिकुमारकाणां स्पृहणीयचरित आसीत्। अद्य तु[4] इतर इव परिभूय ज्ञानम्, अवगणय्य तपःप्रभावम्, उन्मूल्य गाम्भीर्य्यम्, मन्मथेन जडीकृतः। सर्वथा दुर्लभं यौवनमस्खलित'मिति।

उपसृत्य च तस्मिन्नेव शिलातलैकपार्श्वे समुपविश्य अंसदेशावसक्तपाणिः[5] तमनु-

---

मन्मथावेशस्य मदनावेशस्य परां कोटिम् अन्तिमामवस्थाम् अधिरूढम् आरूढम्, अनभिज्ञेय इदन्तया अभिबोद्धुमशक्यः पूर्वाकार आद्याकृतिर्यस्य तम्, तं पुण्डरीकम् अहम् अद्राक्षम् अपश्यम्।

अपगतेति। अपगतनिमेषेण निर्निमेषेण चक्षुषा नेत्रेण, सा तथोक्ता प्रतिपादितरूपा अवस्था यस्य तम्, चिरं बहुकालम् उद्वीक्ष्य विलोक्य समुपजातः समुत्पन्नो विषादः खेदो यस्य सः वेपमानेन त्रासात् कम्पमानेन हृदयेन चेतसा अचिन्तयम् चिन्तामकरवम्-'एवं नाम इत्थम्भूतः, अतिदुर्विषहो नितान्तदुःसहो वेगो यस्य तादृशः अयं मकरकेतुः कामः, येन कारणेन अनेन मकरकेतुना, क्षणेनैव क्षणकालेनैव अयं पुण्डरीकः ईदृशम् एवंविधम् अवस्थान्तरं दशान्तरम् उपनीतः प्रापितः।

उक्तविपर्यये असम्भव दर्शयति—कथमिति। एवंविधः एतादृशः ज्ञानराशिः ज्ञानसमूहः एकपदे सहसा एवम् अनेन प्रकारेण कथं व्यर्थीभवेत् निरर्थकीभवेत्। इह सम्भावनायां लिङ्। अहोबतेत्येकमेव पदं विस्मयविषादसूचकमव्ययम्। महच्चित्रं महदाश्चर्यम्। तथा नाम तेन प्रकारेण, अयं पुण्डरीकः आशैशवात् आबाल्यात् धीरप्रकृतिः स्थिरस्वभावः, अस्खलितवृत्तिः सन्मार्गादपरिभ्रष्टचरित्रः, मम कपिञ्जलस्य अन्येषां मुनिकुमारकाणां तपस्विबालकानां स्पृहणीयचरितम् अभिलषणीयचरित्रम् आसीत् अभूत्।

अद्येति। तु किन्तु, अद्य मन्मथेन कामेन ज्ञानं बोधं परिभूय विजित्य विलोप्येत्यर्थः, तपःप्रभावं तपोमाहात्म्यम् अवगणय्य अवज्ञाय, तथा गाम्भीर्यम् अनन्यथाविधेयप्रकृतिम् उन्मूल्य उच्छेद्य, इतरः साधारणलोक इव जडीकृतः मूढतां नीतः, येन हि सर्वथा सर्वप्रकारेण अस्खलितं सन्मार्गादपरिभ्रष्ट यौवनं तारुण्यं संसारे दुर्लभं दुष्प्रापम्, सुतरां मन्मथेनैवं विधातुं शक्यत इत्याशयः। इतिपदस्य 'अचिन्तयम्' इत्यनेन पूर्वेण सम्बन्धः। इह सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

उपेति। अपि चेति चार्थः। उपसृत्य समीपमागत्य तस्मिन्नेव पूर्वनिर्दिष्ट एव शिलातलैकपार्श्वे प्रस्तरतलभागे समुपविश्य समवस्थाय अंसदेशे पुण्डरीकस्य स्कन्धभागे अवसक्तः संलग्नः पाणिः करो यस्य स

---

वह कामवेशकी चरम सीमा पर पहुँच गया था और उसकी पहलेकी आकृति थोड़ी भी पहचानमें नहीं आती थी।

ऐसी दशामें उसको निर्निमेष नयनसे ( एकटक ) बहुत देर तक देख कर मुझे बहुत विषाद हुआ; एवं मेरा हृदय काँपने लगा; उस समय मैं चिन्ता करने लगा—'इस प्रकारका स्वरूप वास्तवमें अत्यन्त-असह्य-वेगशाली कामदेवका है; क्योंकि—उस ( काम ) ने एक क्षणमें ही इसकी ऐसी दुर्दशा कर डाली है कि उससे बचनेका उपाय नहीं! नहीं तो, इस प्रकारकी ज्ञान-राशि एक साथ क्यों व्यर्थ हो गई! आह! बड़ा ही आश्चर्य है! बाल्यकालसे ही इसकी धीर-प्रकृति और अस्खलित ( अखण्डित ) चरित्र था कि मेरे और अन्यान्य मुनिकुमारोंको इसके चरित्र वाञ्छनीय था। किन्तु उसे ही आज कामदेवने ज्ञानका पराभव कर, तपः प्रभावकी अवहेलना कर और गाम्भीर्यका नाश कर साधारण मनुष्योंके समान इसे मोहाच्छन्न कर ( जड़ बना ) दिया है! क्योंकि—सभी प्रकारसे ही सन्मार्गसे परिभ्रष्ट न हुआ हो, इस प्रकारका यौवन संसारमें दुर्लभ है।'

उसके बाद मैं समीपमें जाकर उसी प्रस्तरखण्ड ( शिलातल ) के किनारे पर बैठ, उसके स्कन्धदेशमें

---

१. अतिदुर्विषयवेगः। २. अवस्थान्तरप्रकारम्। ३. ...चित्तवृत्तिः। ४. अत्र तु। ५. अंसावसक्तपाणितलम्।

न्मीलित-लोचनमेव 'सखे! पुण्डरीक! कथय किमिदम्' इत्यपृच्छम्। अथ सुचिरसम्मीलनाल्लग्नमिव कथमपि प्रयत्नेन अनवरतरोदनवशात् समुपजातारुणभावमश्रुजलपूर-प्लावितम् उत्कुपितमिव सवेदनमिव स्वच्छांशुकान्तरितरक्तकमलवनच्छायं चक्षुरुन्मील्य मन्थरमन्थरया दृष्ट्या सुचिरं विलोक्य माम् आयततरं निश्वस्य लज्जाविशीर्य्यमाणविरलाक्षरं 'सखे! कपिञ्जल! विदितवृत्तान्तोऽपि किं मां पृच्छसि' इति कृच्छ्रेण शनैः शनैः अवदत्। अहन्तु तदाकर्ण्य तदवस्थयैवाप्रतीकारविकारोऽयम्, तथापि सुहृदा सुहृदसन्मार्गप्रवृत्तो यावच्छक्तितः सर्वात्मना निवारणीय इति मनसावधार्य्याब्रवम्—'सखे पुण्डरीक! सुविदित-

---

तथोक्तः सन्, अनुन्मीलिते मुद्रिते लोचने नयने यस्य तमेव, तं पुण्डरीकं 'सखे पुंण्डरीक' मित्र पुण्डरीक! इदं तव दृश्यमानस्वरूपम् किम्? कथय निवेदय' इति एवम् अपृच्छं प्रश्नमकरम्।

अथेति। सुचिरसंमेलनात् बहुकालं यावन्मुद्रणात् लग्नमिव मिथः संसक्तावरणयुगलमिव, कृच्छ्रेणोन्मीलनादित्याशयः। अनवरतं निरन्तरं यद्रोदनमश्रुपातस्तद्वशात् समुपजातः समुत्पन्नः अरुणभावो लौहित्यं यस्य तत्तादृशम्, अश्रुजलस्य रोदनजनितनयनाम्बुनः पूरेण ओघेन प्लावितम्, उत्कुपितमिव उत्कोपो नेत्ररोगविशेषस्तद्युक्तमिव, लौहित्यादित्याशयः। सवेदनमिव सव्यथमिव, कृच्छ्रेणोन्मीलनादित्याशयः। स्वच्छांशुकेन निर्मलसूक्ष्मवस्त्रेण अन्तरितम् आच्छादितं यत् रक्तकमलवनं रक्तपङ्कजारण्यं तस्य छाया इव छाया कान्तिर्यस्य तत्तादृशम्, 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः' इत्यमरः। चक्षुर्नेत्रं कथमपि प्रयत्नेन महतोद्योगेन उन्मील्य विमुद्र्य, मन्थरमन्थरया नितान्तालसया दृष्ट्या वीक्षणेन सुचिरं बहुकालं मां विलोक्य दृष्ट्वा, निश्वस्य दीर्घोच्छ्वासं विधाय, आयततरं नितान्तदीर्घं यथा स्यात्तथा लज्जया त्रपया विशीर्यमाणानि अस्फुटमुदीर्यमाणानि विरलानि अल्पानि च अक्षराणि वर्णा यत्र क्रियायां तद् यथास्यात्तथा, सखे कपिञ्जल वयस्य कपिञ्जल! विदितवृत्तान्तोऽपि ज्ञातोदन्तोऽपि मां किं पृच्छसि किं प्रश्नं करोषि' इति एवं शनैः शनैः मन्दं मन्दं कृच्छ्रेण कष्टेन अवदत् अवोचत्।

इह 'लग्नमिव' 'उत्कुपितमिव' इत्युभयत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'सव्यथमिव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा। 'स्वच्छांशुकान्तरितरक्तकमलवनच्छायम्' इत्यत्र लुप्तोपमा। अश्रुजलपूरप्लावनसादृश्यनिरूपणाय 'स्वच्छांशुकान्तरिते'ति विशेषणमिदम्। अनुचितार्थत्वदोषपरिहाराय वनपदस्यानिवेश एव युक्त इत्यालोचकाः।

अहमिति। तदवस्थयैवेत्यतः पूर्वं यद्यपीतिपदं निवेशनीयम्। तु किन्तु अहं कपिञ्जलः तदाकर्ण्य तच्छ्रुत्वा, अयं पुण्डरीको यद्यपि तदवस्थयैव ममोपदेशमात्रेणैव अभिलषितां दयितां विनेत्यर्थः, नास्ति प्रतीकारः प्रतिक्रिया उपशम इत्यर्थः यस्य स तथोक्तो विकारो यस्य स तादृशः सञ्जातः। तथापि सुहृदा मित्रेण असन्मार्गप्रवृत्तः असाधुपथानुगः सुहृत् यावच्छक्तितः यथाशक्ति, सर्वात्मना सर्वप्रयत्नेन निवारणीयः प्रतिनिषेधनीय इति एवं मनसा हृदयेन अवधार्य निश्चित्य अब्रवम् अवोचम्—

आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च पर्य्यावर्त्तनेऽपि च॥' इति धरणिः।

सख इति। एतन्मम सुविदितं सुज्ञातम्। इदं वक्ष्यमाणमेव पृच्छामि जिज्ञासां करोमीत्यर्थः।

---

करतल रख कर मुद्रित नयनावस्था (आँख मिचो) होने पर भी उससे मैंने पूछा— मित्र पुण्डरीक! कहो तो सही आपको यह क्या हुआ है?' उसके बाद वे बहुत देर तक मुद्रित (बन्द) रखनेके कारण ऊपरके दोनों चर्मावरण मानो परस्पर संलग्न (चिपक) हो गई हों, ऐसी अविश्रान्त रुदन करनेसे रक्तवर्ण, अश्रु-जलके प्रवाहमें डूबी हुई, अत एव प्रतीत होती थीं कि सूजी हों अथवा व्यथा पाती हों, ऐसी निर्म्मल सूक्ष्मवस्त्रसे आच्छादित रक्त-कमल-वनके समान सौन्दर्य-सम्पन्न, किसी प्रकारसे यत्नपूर्वक अपनी आँखें खोल कर, अत्यधिक लम्बी साँस लेकर अत्यन्त मन्थर (अलसयुक्त) दृष्टिसे बहुत देर तक मुझे देख कर, लज्जाके कारण टूटे फूटे अल्प अक्षरोंसे धीरे धीरे क्लेशपूर्वक अस्फुट कहने लगे—,मित्र कपिञ्जल! तुम सब समाचार जान कर भी मुझसे क्या पूछते हो?' यह सुनते ही उसकी अवस्था देख कर मुझे प्रतीत हुआ कि यद्यपि केवल मेरे उपदेश से ही इसके असाध्य मदन विकारका उपशम हो नहीं सकता, तथापि एक मित्र को असत्पथमें गमन करते देख कर, दूसरे मित्रको चाहिए कि उसे यथाशक्ति प्रयत्न करके रोके। यह स्थिर विचारकर मैंने कहा—'मित्र पुण्डरीक! यह समाचार मैं भली भाँति

---

१. अहमनुन्मीलित··· । २. आलग्नमिव । ३. उपजातारुणभावम्। ४···पटल··· । ५. उत्कुपितम्। ६. क्वचिद्द्विरुक्तिर्नास्ति। ७. निःश्वस्य। ८. क्वचित् 'विरल इति पदं नोपलभ्यते। ९. क्वचित् द्विरुक्तिर्नास्ति।

मेतत्[1] मम, केवलमिदमेव पृच्छामि—यदेतदारब्धं भवता, किमिदं गुरुभिरुपदिष्टम् , उत धर्म्मशास्त्रेषु पठितम् , उत् धर्म्मार्जनोपायोऽयम् , उतापरस्तपसां प्रकारः, उत स्वर्गगमनमार्गोऽयम् , उत व्रतरहस्यमिदम् , उत मोक्षप्राप्तियुक्तिरियम्[2], आहोस्विदन्यो नियमप्रकारः । कथमेतदयुक्तं भवतो मनसापि चिन्तयितुम् , किं पुनराख्यातुमीक्षितुं वा ? । कथय किम्[3] अप्रबुद्ध इवानेन मन्मथहतकेनोपहासास्पदतां नीयमानमात्मानं नावबुध्यसे ? मूढो हि मदनेनायास्यते । का वा सुखाशा साधुजननिन्दितेष्वेवंविधेषु प्राकृतजनबहुमतेषु विषयेषु भवतः ? । स खलु धर्म्मबुद्ध्या विषलतावनं[4] सिञ्चति, कुवलयमालेति निस्त्रिंशलतामालिङ्गति, कृष्णागुरुधूमलेखेति कृष्णसर्पमवगूहते,[5] रत्नमिति[6] ज्वलन्तमङ्गारमभिस्पृशति , मृणालमिति

---

भवता त्वया । आरब्धं प्रस्तुतम् । गुरुभिः हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेशकैः उपदिष्टं पाठितमित्यर्थः । धर्मशास्त्रेषु मन्वादिस्मृतिषु पठितम् अधीतम् । धर्मार्जनोपायः पुण्योपार्जनप्रकारः । तपसां तपश्चर्याणाम् अपरो भिन्नः प्रकारो भेदः स्वर्गगमनमार्गः देवलोकप्राप्तिपन्थाः । व्रतरहस्यम् आरब्धव्रतविषयेऽप्रकाशनीयो नियमविशेषः । मोक्षप्राप्तौ मुक्तिलाभे युक्तिर्योगविशेषः । अन्यः अस्माभिरज्ञातो नियमप्रकारो व्रतानुष्ठानभेदः । प्रागपि कपिञ्जलेनैवं प्रायमेव कथितम् ।

कथमिति । एतत् कामिनीसम्बन्धरूपमाचरणं मनसापि हृदयेनापि चिन्तयितुं भवतस्तव कथं युक्तम् उचितम् अपि तु कथमपि नेत्यर्थः । आख्यातुं स्वच्छन्देन कामिनीं तद्विषयं वा आलपितुम्, ईक्षितुं स्वच्छन्देन कामिनीम् अवलोकितुं किं पुनर्वक्तव्यम् अपि तु किमपि नेत्यर्थः, सर्वस्मिंस्थले ब्रह्मचर्यव्रतपालनत्वादित्याशयः ।

कथयेति । अप्रबुद्ध इव अज्ञानीव । मन्मथहतकेन पापकारिणा कामेन उपहासास्पदतां परिहासस्थानतां नीयमानं प्राप्यमाणं नावबुध्यसे न जानासि ? ननु मन्मथव्यथया प्रज्ञालोपात् नाहमवजानामीति चेत्तमाह— मूढ इति । हि निश्चितम्, मूढो मन्दबुद्धिः मदनेन कामेन आयास्यते पीड्यते, न पुनस्त्वत्सदृशः प्रबुद्ध इत्यभिप्रायः ।

केति । प्राकृतजनैः अज्ञलोकैः बहुमतेषु आदृतेषु, विषयेषु स्रक्चन्दनवनितादिभोग्येषु, भवतस्तव का वा सुखाशा आनन्दतृष्णा अपि तु कापि नेत्यर्थः, तत्सुखस्यापातरमणीयत्वेन परमपुरुषार्थत्वासम्भवादित्यभिप्रायः ।

स इति । यो मूढो हिताहितज्ञानरहितो लोकः, अनिष्टानुबन्धिषु अधर्मक्लेशाद्यनर्थोत्पादकेषु विषयोपभोगेषु स्रक्चन्दनकामिन्यादिसम्भोगेषु सुखबुद्धिम्-आनन्दोत्पादकत्वज्ञानम् आरोपयति करोति, स खलु लोकः धर्मबुद्ध्या इदं पुण्यकृत्यमिति धिया विषलतावनं विषवल्लीविपिनं सिञ्चति सलिलेनेति शेषः । कुवलयमाला इन्दीवरस्रक् इति धिया, निर्गतो निःसृतः त्रिंशतः अङ्गुलीभ्यः त्रिंशदङ्गुलीभ्योऽधिकपरिमाण इति निस्त्रिंशः खड्गः स लता वल्लीव लम्बमानत्वात्ताम् आलिङ्गति आश्लिष्यति, कृष्णागुरोः काकतुण्डस्य धूमलेखा दहनकेतनपङ्क्तिरिति बुद्ध्या कृष्णसर्पं दुर्धर्षभुजङ्गविशेषम् अवगूहते परिष्वजते ( आलिङ्गति ) ।

---

जानता हूँ, परन्तु मैं केवल इतना ही पूछता हूँ कि यह जो घटना आपने आरम्भ किया है उसे क्या गुरुने उपदेश दिया है ? या धर्मशास्त्रमें पढ़ा है ? अथवा यह धर्म एकत्रित करनेका साधन है ? किंवा किसी प्रकारकी तपस्या है ? या यह स्वर्गमें जानेका मार्ग है ? अथवा यह आरब्ध व्रत का कोई गोपनीय नियम है ? किंवा मुक्ति-प्राप्ति करनेके लिए यह एक प्रकारका योग है ? अथवा व्रताचरणका कोई अवान्तर भेद है ? आपको इस विषयकी मनमें चिन्ता करना भी क्या उचित है ? स्त्रियोंके साथ आलाप करने किंवा उन्हें देखनेके विषयमें तो कहना ही क्या है ? क्या अज्ञानीके समान, आप यह नहीं जानते कि यह दुराचारी कामदेवने आपको उपहासास्पद बना दिया है ? काम मूर्ख लोगोंको ही कष्ट देता है साधुजनोंसे निन्दित साधारण मनुष्योंके प्रिय इस प्रकारके विषयोंमें आपको सुखकी आशा क्या है ? जो मूढ़ जन परिणाममें दुःखदायी विषयोपभोगमें सुखकी अभिलाषा करते हैं वे, निश्चय ही धर्म समझकर, विष-लताके वनको सींचते हैं, नीलोत्पलकी माला समझ कर खड्गलता ( तलवार ) का आलिङ्गन करते हैं, काले गुरुकी धूम-लेखा समझ कर भयङ्कर सर्पको पालते हैं, रत्न समझ कर जलते अङ्गार

---

१. सुविदितं सत्यमेतन्मम । २. क्वचित् 'इयम्' इति पदं न विद्यते । ३. क्वचित् 'कथयकि'मित्यपि नावलोक्यते । ४. विषलतां । ५. अवगूहति । ६. महारत्नमिति ।

दुष्टवारणदन्तमुसलम्[1] उन्मूलयति, मूढो विषयोपभोगेष्वनिष्टानुबन्धिषु[2] यः[3] सुखबुद्धिमारोपयति। अधिगतविषमतत्त्वोऽपि कस्मात् खद्योत इव ज्योतिर्निर्वीर्य्यमिदं ज्ञानमुद्वहसि, यतो न निवारयसि प्रबलरजःप्रसरकलुषितानि स्रोतांसीवोन्मार्गप्रस्थितानीन्द्रियाणि, न नियमयसि वा क्षुभितं मनः। कोऽयमनङ्गो नाम, धैर्य्यमवलम्ब्य निर्भर्त्स्यतामयं दुराचारः' इत्येवं वदत एव मे वचनमाक्षिप्य प्रतिपक्ष्मान्तरालप्रवृत्तबाष्पवेणिकं प्रमृज्य चक्षुः करतलेन पाणौ[5] मामवलम्ब्यावोचत्—

रत्नं मणिरिति धिया ज्वलन्तमङ्गारम् अग्निसहितं काष्ठम् अभिस्पृशति गृह्णातीत्यर्थः। तथा मृणालं कमलकन्दमिति धिया दुष्टवारणस्य अशिक्षितकुपितगजस्य दन्तमुसलं दशनाग्रम् 'अयोग्रो मुसलोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः। उन्मूलयति उत्पाटयितुं प्रवर्त्तते। परमार्थतोऽनिष्टापादकेषु स्रक्चन्दनवनितादिसम्भोगेषु आनन्दोत्पादकतया ज्ञानाध्यासः पुण्यभ्रान्त्या विषलतावनसेचनमिव परिणामे भीषणक्लेशोत्पादक इत्थं सर्वत्राभिप्रायः।

इह उक्तविधं बिम्बप्रतिबिम्बभावारोपणं विना वाक्यार्थसमन्वयासम्भवान्मालारूपा निदर्शना। तथा यच्छब्दान्वितवाक्यस्य पूर्वमेव पाठो ज्यायान् अन्यथा विधेयाविमर्शदोषस्य निवारयितुं सर्वथाऽसम्भवात्।

अधीति। अधिगतं ज्ञातं विषयतत्त्वं भोग्यवस्तुस्वभावो येन स तथोक्तः सन्नपि त्वम्, कस्मात्कारणात् खद्योतो ज्योतिरिङ्गणो ज्योतिः तदीयं तेज इव निर्वीर्यम् अहितनिवारणाभावात् शक्तिरहितम् इदं ज्ञानम् उद्वहसि धारयसि। तथा च खद्योतो यथा निर्वीर्यं ज्योतिर्धारयति तथा त्वं निर्वीर्यं ज्ञानं धारयसीति स्पष्टमन्वयः, अत एव न भग्नप्रक्रमत्वम्। इह श्रौत्युपमा।

अथ कथं शक्तिरहितमिदमिति ज्ञानमित्यत आह—यत इति। प्रबलः शक्तिशाली यो रजसः रजोगुणसम्भूतस्य कामस्य प्रसरो वेगः तेन कलुषितानि दूषितानि। तथा चोक्तं गीतायाम्—

'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।' इति।

पक्षान्तरे तु प्रबलस्य रजसो रेणोः प्रसरेण विस्तारेण कलुषितानि मलिनीकृतानि, स्वतोऽम्भःप्रसरणानि स्रोतांसि तानीव उन्मार्गप्रस्थितानि उत्पथप्रवृत्तानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि न निवारयसि निवारयितुं समर्थो न भवसि क्षुभितं कामोद्वेलितं मनश्चित्तं वा न नियमसि नियमयितुं निरोद्धुं समर्थो न भवसि, सुतरां तव शक्तिरहितमिदं ज्ञानमित्यभिप्रायः। इह पूर्ववाक्ये पूर्णोपमा।

कोऽयमिति। कोऽयमनङ्गो नाम नितान्ततुच्छ इत्याशयः। धैर्यं धीरताम् अवलम्ब्य आश्रित्य अयं पुरोदृश्यमानो दुराचारो दुर्व्यवहारो निर्भर्त्स्यतां तिरस्क्रियताम्, इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण वदतः कथयत एव मे मम वचनं वाक्यम् आक्षिप्य समाप्तेः पूर्वमेव स्ववचनेन विच्छिद्य, प्रतिपक्ष्मान्तराले प्रत्येकलोममध्ये प्रवृत्ता प्रस्यन्दिता बाष्पवेणिका नयनाम्बुप्रवाहो यस्य तथोक्तं चक्षुर्नेत्रं प्रमृज्य प्रोञ्छ्य करतलेन पाणितलेन पाणौ मामवलम्ब्य मम हस्तौ धृत्वेत्यर्थः अवोचत् अब्रवीत्।

( वह्नियुक्त काष्ठ ) का स्पर्श करते हैं, और मृणाल जानकर दुष्ट हाथीके दन्तरूपी मूसलका उत्पाटन करनेमें प्रवृत्त होते हैं। समस्त विषयोंका तत्त्व जानकर भी खद्योत ( जुगुनू ) के प्रकाशके समान निर्वीर्य ज्ञानको धारण करते हैं, क्योंकि—प्रबल रजोगुणजनित कामवेगसे दूषित एवं धूलके विस्तारसे कलुषित नदियोंके समान उत्पथगामी अपने इन्द्रियोंको आप दमन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, और क्षुभित ( कामोद्वेलित ) चित्तको भी निरुद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ? यह कामदेव भी भला कुछ चीज है ! इसलिये धैर्य अवलम्बन कर इस दुराचारीकी भर्त्सना कीजिये। मैं इस प्रकार कह ही रहा था कि इतनेमें ( पुण्डरीक ) अपने वचनसे मेरे वचनमें बाधा देकर आँखोंमेंसे प्रत्येक रोमोंके अन्तरालमें होकर गिरते अश्रुप्रवाहको अपने हाथसे पोंछकर और मेरा हाथ

१···मुसलम्। २. अनुवन्धेपु। ३. परिणतिविरसेपु। ४. निवार्यमिदं। ५. क्वचित् 'पाणौ' इति पदं न दृश्यते।

'सखे ! किं बहुनोक्तेन[1], सर्वथा सुस्थोऽसि[2]। आशीविषविषवेगविषमाणामेतेषां कुसुमचापसायकानां पतितोऽसि न गोचरे, सुखमुपदिश्यते परस्य। यस्य चेन्द्रियाणि सन्ति मनो वा वर्त्तते,[3] यः पश्यति वा शृणोति वा श्रुतमवधारयति वा, यो वा शुभमिदं न शुभमिदमिति विवेक्तुमलम्, स खलूपदेशमर्हति। मम तु सर्वमेवेदमतिदूरापेतम्। अवष्टम्भो ज्ञानं धैर्यं प्रतिसंख्यानमित्यस्तमितैषा कथा, कथमप्येवमेवायत्नविधृतास्तिष्ठन्त्यसवः, दूरातीतः खलूपदेशकालः, समतिक्रान्तो धैर्यावसरः, गता प्रतिसंख्यानवेला, अतीतो ज्ञानावष्टम्भ-

---

सखे इति। सखे मित्र ! किं बहुनोक्तेन किं बहुभाषितेन, सर्वथा सर्वप्रकारेण सुस्थोऽसि उत्पातशून्योऽसि, अत एव धन्यस्त्वमित्यभिप्रायः। तथा येन हि आश्यां तालुगतदंष्ट्रायां विषं गरलमस्येति आशीविषो विजातीयो भीषणो भुजङ्गः 'आशीस्तालुगता दंष्ट्रा तया विद्धो न जीवति' इति रामाश्रमीटीका। तस्य विषवेगवत् गरलरयवत् विषमाणां दुःसहानां कुसुमचापस्य पुष्पधनुषः कामस्येत्यर्थः सायकानां बाणानां गोचरे विषये न पतितोऽसि, तेन त्वया परस्य पुरुषस्य सम्बन्धे सुखम् अनायासं यथा स्यात्तथा उपदिश्यते उपदेशं दातुं शक्यते, अन्यथा ममेव दशा भवेदित्यभिप्रायः।

इह वृत्त्यनुप्रासः, वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्चेत्युभयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

इह हि चतुष्प्रकारा दशाः सम्भवन्ति जनानाम्। तत्र केचित् समर्थसकलेन्द्रियशालिनः, केचित् जगद्भाववैपरीत्येन रोगादिना वा किञ्चिद्विकलेन्द्रियः, केचित् संशयाकुलाः, केचिच्च जगद्भावातिवैपरीत्यात् रोगादेर्वा नितान्ताकर्मण्येन्द्रियः। तत्रादितस्त्रिषु उपदेशौचित्यम्, चरमे तु सर्वथैवोपदेशानर्हत्वमिति विभागं प्रदर्श्य निरूपयितुमाह—यस्येति। इन्द्रियाणि चक्षुरादिनिजनिजपदार्थग्रहणयोग्यानि करणानि, मनो वा सर्वथोत्पातरहितमित्याशयः।- अनेकयोग्यसमस्तेन्द्रियशालित्वमाद्यमभिहितम्। यो वा जनः पश्यति, उद्वेगेन पित्तदोषादियुक्तेन वा नयने किञ्चिद्विकले जातेऽपि येन केनापि प्रकारेणावलोकयितुं समर्थो भवति, शृणोति वा उद्वेगेन मलादिना वा श्रवणे किञ्चिद्विकले जातेऽपि केनापि प्रकारेण श्रोतुं समर्थो भवति, श्रुतमवधारयति वा उद्वेगेन अन्यचेष्टया वा चित्ते किञ्चिद्विकले जातेऽपि श्रुतं विषयम् अवधारयितुं समर्थो भवति। अनेन किञ्चिविकलेन्द्रियशालित्वमभिहितम्। यो वा जनः, इदं कृत्यं शुभं मङ्गलम् अथवा न शुभम् इति इति विवेक्तुं विवेचनं विधातुम् अलं समर्थः, संशयानन्तरं कस्यचिदुपदेशे जाते इत्याशयः। अनेन संशयाकुलत्वमभिहितम्। स खलु प्रदर्शितरूपस्त्रिप्रकारक एव जन उपदेशयोग्यो वर्त्तते तत्फलस्य तत्रैव सम्भवादित्याशयः। तु किन्तु मम पुण्डरीकस्य इदम् इन्द्रियोपलम्भादिकं विवेचनपर्यन्तं सर्वमेव, अतिदूरपतितम्। अतिदूरं गतम्, मदनावेशाज्जितान्ताकर्मण्येन्द्रियतया तद् विद्यमानादिफलासत्त्वादित्याशयः। अनेन स्वस्य तुरीयरूपत्वं प्रतिपादितम्।

तत्प्रयोजनं दर्शयति—अवेति। अवष्टम्भः सदाचरणालम्बनम्, ज्ञानं प्रबोधः, धैर्यं बाह्येन्द्रियनिरोधः, प्रतिसंख्यानं साध्वसाधुविवेचनम्, इत्येषा कथा वार्त्ता अस्तमिता अस्तमुपगता। एवम् अयत्नविधृता रक्षणप्रवृत्त्यभावेऽपि स्वयमवस्थिताः, असवः प्राणाः कथमति तिष्ठन्ति मम शरीरे वर्त्तन्ते। अनेन सम्प्रति प्राणप्रयाणेऽपि न हानिरिति ध्वनितम्। धैर्यस्य अवसरः अवलम्बनसमयः समतिक्रान्तो व्यतीतः। प्रतिसंख्यानवेला साध्वसाधुविवेचनकालः गता दूरीभूता। ज्ञानस्य प्रबोधस्य अवष्टम्भसमयः

---

पकड़ कर वह मुझसे कहने लगा—'मित्र ! बहुत कहने से क्या लाभ ? तुम सब तरहसे स्वस्थ हो, क्योंकि-भयङ्कर सर्पके विषवेगके समान असह्य कामदेवके विषम बाणके लक्ष्य नहीं हुए हो, इसलिए ही अनायाससे दूसरोंको उपदेश देनेमें समर्थ हो। जिसकी इन्द्रियाँ जागृत हों, चित्त ठिकाने हो, जो अवलोकन कर सकता हो, श्रवण कर सकता हो अथवा सुनकर विचार कर सकता हो, किंवा जो 'यह विषय अच्छा है, यह विषय बुरा है' इस प्रकार उपदेश पाकर विवेचना करनेमें समर्थ हो, वह व्यक्ति ही उपदेश देनेके योग्य है, परन्तु मेरे समीप से तो ये सबके सबही अधिक दूर चले गए हैं। अत एव सत्पथ अवलम्बन करना, ज्ञान, धैर्य और सदसद्विवेक करना—ये सब अस्त हो गए, प्राण नहीं रखनेका प्रयत्न करता हूँ, किन्तु न जाने वे कैसे इस रूपसे ही अवस्थित हैं; उपदेशका समय तो अब बहुत दूर चला गया, धैर्य अवलम्बन करनेका समय भी अब बीत गया; सदसद्विवेचना

---

१. बहूक्तेन। २. स्वस्थोऽसि। ३. क्वचित् 'मनो वा' इति मात्रपाठो विद्यत इति।

समयः। केन वाऽन्येनास्मिन् समये भवन्तमपहायोपदेष्टव्यम्, उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं वा करणीयम्, कस्यान्यस्य वचसि मया स्थातव्यम्, को वाऽपरस्त्वत्समो मे जगति बन्धुः। किं करोमि यन्न शक्नोमि निवारयितुमात्मानम्, इयमनेनैव क्षणेन भवता दृष्टा दुष्टावस्था, तद्गत इदानीमुपदेशकालः। यावत् प्राणिमि तावदस्य कल्पान्तोदित-द्वादश दिनकर-किरणातप-तीव्रस्य मदनसन्तापस्य प्रतिक्रियां क्रियमाणामिच्छामि। पच्यन्त इव मेऽङ्गानि, उत्क्वथ्यत इव हृदयम्, प्लुष्यत इव दृष्टिः, ज्वलतीव शरीरम्। अत्र यत् प्राप्तकालं तत् करोतु भवान्' इत्यभिधाय तूष्णीमभवत्।

एवमुक्तोऽपि अहमेनं प्राबोधयं पुनः पुनः। तदा शास्त्रोपदेशविशदैः सनिदर्शनैः

---

अवलम्बनवेला अतीतः अतिक्रान्तः।

केनेति। अस्मिन् समये इदानीं भवन्तं त्वाम् अपहाय परित्यज्य केन लोकहितैषिणा उपदेष्टव्यम् शिक्षयितव्यम् न केनाऽपीत्यर्थः। उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणीयम् असत्पथप्रतिषेधो वा (केन) करणीयं विधेयम्। अन्यस्य त्वद्व्यतिरिक्तस्य कस्य वचसि स्थातव्यं कस्य वाक्यानुसारेण प्रवर्तितव्यम्। तत्र कारणमाह—क इति अपरोऽन्यः कः त्वत्समो भवत्सदृशो मे मम जगति संसारे बन्धुर्भ्राता।

किमिति। किं करोमि किं कुर्वे, यत् यस्मात्कारणात्, आत्मानं स्वं निवारयितुं दुष्टप्रवृत्तेर्निरोद्धुं न शक्नोमि समर्थो न भवामि। अनेनैव क्षणेन समयेन भवता त्वया इयं दुष्टावस्था क्लेशदायिनीदशा दृष्टा अवलोकिता। अधुना कामावेशवशादचेतनवन्निष्पन्दरूपेण यदहमासं तत्सर्वं भवता दृष्टमेवेत्यर्थः। तत्तस्मात् कारणात् इदानीं सम्प्रति गतो व्यतीतः उपदेशकालः शिक्षाप्रदानसमयः।

यावदिति। यावत् यावत्कालपर्यन्तम् अहं प्राणिमि जीवामि तावत् तावत्कालपर्यन्तम्, कल्पान्ते प्रलयसमये उदिता उदयं प्राप्ता ये द्वादशदिनकरा द्वादशसंख्याकाः सूर्याः तेषां किरणातपवत् रश्मिसन्तापवत् तीव्रस्य, कठोरस्य, अस्य विद्यमानस्य मदनसन्तापस्य कामज्वरस्य प्रतिक्रियाम् उपशमं क्रियमाणां भवतैव विधियमानाम् इच्छामि अभिलषामि, विवेकादिप्रतिक्रियाया असत्त्वे तया सह सङ्गमरूपाप्राकृतप्रतिक्रियैव भवता विधेय अन्यथा न प्राणिमीत्यभिप्रायः।

इह……'किरणातपतीव्रस्ये'त्यत्र लुप्तोपमा।

तीव्रतापसम्पर्के पदार्थानां पाकक्वाथदाहज्वलनसंज्ञकाश्चतस्रो दशाः सम्भवन्ति, कन्दर्पतीव्रसन्तापेन यथाक्रमं स्वस्य ताः सर्वा निरूपयितुमाह -पच्यन्त इत्यादि। मे मम अङ्गानि करचरणादीनि पच्यन्त इव पाकविषयीक्रियन्त इव, मदनसन्तापेनेति शेषः। एवमग्रेऽपि सर्वत्र। हृदयं मनः उत्क्वथ्यत इव क्वाथं प्राप्यत इव, दृष्टिर्लोचनं प्लुष्यत इव दह्यत इव, शरीरं देहं ज्वलतीव भस्मीभवतीव।

अत्रेति। प्राप्तः उपस्थितः कालः समयो यस्य तत् प्राप्तकालम् एतत्समयोचितं यत् तया सह सङ्गमरूपमित्यर्थः, भवान् तत्करोतु तद्विदधातु इतिपूर्वोक्तम् अभिधाय उक्त्वा तूष्णीं मौनम् अभवत्।

एवमिति। एवम् अनेन विधिना उक्तेऽपि कथितेऽपि अहम् एनं पुण्डरीकं प्राबोधयं ज्ञानमकारयम्। पुनः पुनर्भूयो भूयः शास्त्रोपदेशेन धर्मप्रतिपादकग्रन्थशिक्षया विशदैः स्वच्छैः, सनिदर्शनैः दृष्टान्त-

---

का काल भी अब जाता रहा एवं ज्ञानसे चित्तके धारण करनेका समय भी हो चुका। इस समय तुम्हारे अतिरिक्त न कोई मुझे उपदेश दे सकता है, न असत्पथमें जानेसे कोई निवारण कर सकता है, मैं ही अन्य किसके वचनके अधीन रह सकता हूँ? इस संसारमें तुम्हारे समान मेरा अन्य बन्धु कौन हो सकता है? क्या करूँ? किसीसे भी मनको निवारण करने (रोकने) में समर्थ नहीं हो रहा हुँ। मेरी जैसी दुरवस्था हो गई है उसे इस समय तुम देखते ही हो; इसलिए उपदेश देनेका समय तो अब जाता रहा। मैं केवल यही चाहता हूँ कि जितनी देर तक मैं जीवित हूँ उतनी देर तक—प्रलयकालमें उदय होते द्वादश सूर्योंकी किरणोंके तापके समान अत्यन्त तीव्र इस मदन-सन्तापको दूर करनेके लिए तुम कुछ उद्योग करो। मेरे अंग मानो रँधे (पके) जाते हैं, हृदय मानो उबला जाता है; नेत्रोंमें मानो दाह हो रहा है; शरीर मानो जला जाता है; इसलिए इस समय जो कुछ उचित हो तुम वही करो' इतना कहकर वह चुप हो गया।

उसके इस प्रकार कहने पर भी मैं उसको बराबर समझाने लगा, परन्तु जब शास्त्रीय उपदेशसे निर्मल,

---

१. दुष्टावस्था, अवस्था दृष्टा। २. उक्तेऽपि।

सेतिहासैश्चवचोभिः सानुनयं सोपग्रहञ्चाभिधीयमानोऽपि नाकरोत् कर्णे, तदाहमचिन्तयम्—'अतिभूमिमयं गतो न शक्यते निवर्त्तयितुमिति[1] इदानीं निरर्थकाः खलूपदेशाः, तत्प्राणपरिरक्षणेऽपि तावदस्य यत्नमाचरामि' इति कृतमतिरुत्थाय गत्वा तस्मात् सरसः सरसा मृणालिकाः समुद्धृत्य, कमलिनीपलाशानि जल-लव[2]-लाञ्छितान्यादाय[3], गर्भ-धूलि-कषाय-परिमल-मनोहराणि च कुमुद-कुवलय कमलानि गृहीत्वागत्य तस्मिन्नेव लतागृह-शिलातले शयनमस्याकल्पयम्। तत्र च सुखनिषण्णस्य प्रत्यासन्नवर्त्तिनां चन्दनविटपिनां[4] मृदूनि किसलयानि निष्पीड्य तेन स्वभावसुरभिणा तुषारशिशिरेण रसेन ललाटिकामकल्पयम्, आचरणादङ्गचर्चाञ्चारचयम्। अभ्यर्ण-पादप-स्फुटित-वल्कल-विवर-शीर्णेन च करसञ्चूर्णितेन[5] कर्पूररेणुना

सहितैः, सेतिहासैः पुरावृत्तसहितैः वचोभिर्वाक्यैः, सानुनयं सप्रणयं सोपग्रहं सानुकूल्यञ्च यथा स्यात्तथा 'उपग्रहः पुमान् वन्द्यामुपयोगेऽनुकूलने' इति मेदिनी। अभिधीयमानः कथ्यमानोऽपि कर्णे श्रवणे नाकरोत् अनाकर्णितमिव मदुक्तमकार्षीदित्यर्थः। तथा तस्मिन् समये अहम् अचिन्तयम् अध्यायम्—'अतिभूमिं मदनस्य चरमां दशां गतः प्राप्तः, अत एव केवलम् उपदेशेन निवर्त्तयितुं ततो व्यावर्त्तयितुं न शक्यते न पार्यते, इति हेतोः, इदानीं सम्प्रति खलु निश्चयेन उपदेशाः शिक्षावचनानि निरर्थकाः निष्फलाः। तावत् प्रथमम् अस्य पुण्डरीकस्य प्राणपरिरक्षणेऽपि जीवितपरित्राणेऽपि यत्नम् उपायम् आचरामि विदधे इति एवं कृतमतिः कृतबुद्धिरहम् उत्थाय गत्वा व्रजित्वा च अच्छोदाभिधं सर इति शेषः। तस्मात्सरसः अच्छोदसरोवरात् सरसा अभिनवत्वादाभ्यन्तरिकद्रवसंयुताः मृणालिकाः कमलिनीः समुद्धृत्य उत्पाट्य, ताभ्यो जलस्य सलिलस्य लवैः कणैः लाञ्छितानि चिह्नितानि व्याप्तानि, अत एवाधिकशीतलानीत्याशयः, कमलिनीपलाशानि नलिनीपत्राणि आदाय गृहीत्वा। गर्भे अभ्यन्तरे या धूलयः परागाः तासां कषायपरिमलैः सुरभिगन्धैः मनोहराणि सुन्दराणि, कुमुदानि श्वेतकमलानि कुवलयानि नीलकमलानि कमलानि पङ्कजानि च तानि गृहीत्वा आदाय आगत्य समेत्य तस्मिन्नेव लतागृहशिलातले लताभवनप्रस्तरतले अस्य पुण्डरीकस्य शयनं तल्पम् अकल्पयम् अकरवम्।

तत्रेति। किञ्च, आसन्नवर्त्तिनां निकटस्थायिनां चन्दनविटपिनां मलयजवृक्षाणां मृदूनि सुकुमाराणि किसलयानि पल्लवा निष्पीड्य संमर्द्य, तेन अनिर्वचनीयेन स्वभावेनैव स्वारसिकेनैव सुरभिणा सौरभवता, तुषारो हिमं तद्वत् शिशिरेण शीतलेन रसेन निर्यासेन करणेन, तत्र मत्कल्पितशयने सुखनिषण्णस्य सुस्थभावेनोपविष्टस्य पुण्डरीकस्य ललाटिकां तिलकविशेषम् अकल्पयम् अकरवम्, आचरणात् पादादारभ्य अङ्गचर्चां शरीरलेपनञ्च अरचयम् अकरवम्, शैत्यायेत्याशयः।

इह तुषारशिशिरपदयोस्तुल्यतया श्रवणमात्रेण पौनरुक्त्यप्रतीतिः, अनन्तरञ्च तुषारवत् शिशिर इत्यर्थकरणात् पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः।

अभ्यर्णेति। अभ्यर्णस्य समीपस्थायिनः पादपस्य कर्पूरतरोः स्फुटितानि स्वयं भिन्नानि यानि वल्कलानि तरुत्वचः तेषां विवरेभ्यः छिद्रेभ्यः शीर्णेन निर्गतेन कराभ्यां हस्ताभ्यां सञ्चूर्णितेन निष्पिष्टेन कर्पूर-

दृष्टान्त-समन्वित और इतिहास-संयुक्त वाक्यों द्वारा अनुनय और आग्रहके साथ समझाने पर भी उसने कानमें रेंगने तक ( ध्यान ) नहीं दिया, तब मैंने विचार किया कि—'यह काम की अन्तिम दशा पर उपस्थित हो गया है इसलिए उपदेशसे इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, अब सब उपदेश निरर्थक हैं। अत एव मैं इसकी प्राण-रक्षाका प्रयत्न करता हूँ।' इस प्रकार निश्चय करके मैंने उठकर प्रस्थान किया और उस सरोवरमेंसे सरस ( हरी ) मृणाल तोड़कर जल-बिन्दु-सहित कमलके पत्ते, एवं अभ्यन्तरस्थ-रेणुके तृप्तिकर सौरभसे मनोहर लगते कितने कुमुद, नीलोत्पल और कमल लाकर मैंने लतामण्डपस्थित-प्रस्तरखण्ड ( शिलातल ) पर उसके लिए शय्या निर्माण कर ( बिछौना बिछा ) दिया। उसके ऊपर जब वह आनन्दसे बैठा तब समीपवर्त्ती चन्दन-वृक्षोंके कोमल पल्लव निष्पीड़ित ( पीस ) कर, मैंने उनका स्वभावसे ही सुगन्धित और हिमके समान शीतल रस उसके ललाट पर तिलक विशेष कर दिया ( चुपड़ा ) और चरणोंके तलुओं तक सर्वाङ्ग शरीरमें लेप किया। एवं निकटवर्त्ती वृक्षोंमेंसे कर्त्तित छालके छिद्रों ( दारों ) मेंसे निर्गत ( रिसते ) कपूरकी हाथसे बुकनी करके उससे प्रस्वेद-

१. क्वचित् 'इति' पदं न विद्यते। २. क्वचिच्च 'जल-लव' इत्यादि पदं न दृश्यते। ३. चादाय। ४. चन्दनविटपादीनां। ५. करसम्पुटचूर्णितेन।

स्वेदप्रतीकारम्[1] अकरवम्। उरोनिहितचन्दनद्रवार्द्रवल्कलस्य स्वच्छसलिलशीकरस्राविणा[2] कदलीदलेन व्यजनक्रियामन्वतिष्ठम्। एवञ्च मुहुर्मुहुरन्यदन्यन्नलिनी[3]-दलशयनमुपकल्पयतः, मुहुर्मुहुश्चन्दनचर्चामारचयतः मुहुर्मुहुश्च स्वेदप्रतिक्रियां कुर्वतः, कदलीदलेन चानवरतं[5] वीजयतः समुदभून्मे मनसिचिन्ता–'नास्ति खल्वसाध्यं नाम भगवतो मनोभुवः। कायं हरिण इव वनवासनिरतः स्वभावमुग्धो[6] जनः, क्व च विविध-विलास-रस-राशिर्गन्धर्वराजपुत्री महाश्वेता। सर्वथा नहि किञ्चिदस्य दुर्घटं दुष्करमनायत्तमकर्त्तव्यं वा जगति। दुरुपपादेष्वप्यर्थेषु[7] अयमवज्ञया विचरति। न चायं[8] केनापि[9] प्रतिकूलयितुं शक्यते। का वा गणना सचेतनेषु, अपगतचेतनान्यपि सङ्घटयितुमलम्[10], यद्यस्मै रोचते; कुमुदिन्यपि[11] दिनकरकरानुरागिणी भवति,

रेणुना कर्पूरधूलिना स्वेदप्रतीकारं घर्मशोषणञ्च अकरवम् अरचयम्।

उर इति। उरसि वक्षःस्थले निहितेन दत्तेन चन्दनद्रवेण मलयजरसेन आर्द्रं क्लिन्नम् उत्तरीयवल्कलं यस्य तस्य तथोक्तस्य पुण्डरीकस्य करचरणादिष्वित्यर्थः, स्वच्छा निर्मलाः सलिलशीकराः जलबिन्दवः तत्स्राविणा वर्षकेण कदलीदलेन रम्भापत्रेण व्यजनक्रियां वायुसञ्चालनम् अन्वतिष्ठम् अकरवम्।

एवमिति। किञ्चेति चार्थः। एवम् अनेन विधिना मुहुर्मुहुः वारंवारम् अन्यदन्यत्, गात्रसन्तापेन पूर्वपूर्वस्य म्लानत्वादित्याशयः। नलिनीदलशयनं कमलिनीपत्रशय्याम् उपकल्पयतो विदधतः। चन्दनचर्चां मलयजमण्डनम् आरचयतः कुर्वतः गात्रसन्तापेन पूर्वपूर्वस्याः शुष्कत्वादित्याशयः। स्वेदप्रतिक्रियां घर्मजलप्रतीकारं तच्छोषणमिति तात्पर्यम्। कुर्वतो विदधतः। कदलीदलेन रम्भापत्रेण च अनवरतं निरन्तरं वीजयतः पवनं सञ्चालयतः मे मम मनसि चिन्ता समुदभूत प्रादुरभूत्—

नास्तीति। भगवतो मनोभुवः कामदेवस्य असाध्यम् अनिष्पाद्यं नास्ति न विद्यते। हरिणो मृग इव वनवासनिरतः अरण्यावस्थानतत्परः, अयं जनः पुण्डरीकः, स्वभावेन प्रकृत्यैव मुग्धः सरलहृदयः। विविधा नानाप्रकारा ये विलासरसा विभ्रमभावाः तेषां राशिः समूहो यत्र सा तथोक्ता महाश्वेता च क्व। नितान्तविरुद्धस्वभावयोरनयोरन्योन्यभावावेशोत्पादनान्मनोभुवः किमपि दुष्करं नास्तीत्याशयः।

इह विषमयोः सङ्घटनया विषमालङ्कारः श्रौतोपमा चेत्युभयोः सङ्करः।

सर्वथेति। अस्य मनोभुवः, जगति संसारे, सर्वथा सर्वप्रकारेण दुर्घटं दुःसाध्यं दुष्करं कठिनम् अनायत्तम् अनधीनम् अकर्त्तव्यम् अकरणीयं वा किञ्चित् नास्ति स्वल्पं न विद्यते। अस्य सर्वं सुसाध्यमित्यर्थः। अयं मनोभूः, दुरुपपादेष्वपि अन्यैर्दुष्करेष्वपि अर्थेषु विषयेषु अवज्ञया नितान्तानायासविधेयत्वज्ञानादवहेलया विचरति प्रवृत्तो भवति। केनापि बुद्धिमता पुरुषेण अयं मनोभूः प्रतिकूलयितुं प्रतिरोद्धुं न च शक्यते पार्यते।

का वेति। सचेतनेषु मानवादिषु का गणना? अपगतचेतनान्यपि जडादीन्यपि सङ्घटयितुं संयोजयितुम् अलं समर्थः 'अयं मनोभूरि'ति शेषः। यदि चेत् अस्मै मनोभुवे रोचते संयोजयितुमभिलाषा भवति, तदा कुमुदिन्यपि कैरविण्यपि दिनकरकरानुरागिणी सूर्यरश्म्यनुरक्ता भवतीत्यादि सङ्गमनीयम्।

जल ( पसीना ) दूर किया। वक्षःस्थल ( छाती ) पर चन्दन-रसमें आर्द्र किया हुआ वल्कल रखकर निर्मल जल-बिन्दु टपकाते हुए कदली-पत्रद्वारा उसका पंखा किया। यों बारबार कमलपत्रोंकी शय्याको एकके पीछे दूसरा बदलते बदलते, बारबार चन्दन लेप करते करते, बारबार पसीना पोंछते पोंछते और कदली-दल-द्वारा अनवरत पवन करते करते, मेरे मनमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि—'इस संसारमें वास्तवमें भगवान् कामदेवसे असाध्य कुछ नहीं है। कहाँ हरिणके समान वनवासमें निरत एवं स्वभावसे ही सरल चित्त पुण्डरीक और कहाँ नानाविध विलास और हावभावसम्पन्ना गन्धर्वराजपुत्री महाश्वेता !! इस ( संसार ) में कामदेवसे सर्वथा दुर्घट, दुष्कर अस्वाधीन या अकर्त्तव्य कुछ भी नहीं है! दुष्कर कार्योंको भी वह ( कामदेव ) अवहेलनापूर्वक करता है और किसी व्यक्तिमें उसके प्रतिरोध करने का सामर्थ्य नहीं है। सचेतन पदार्थोंका तो क्या अचेतन पदार्थोंको भी वह परस्पर संयोजन करनेमें समर्थ है। यदि इसका अभिप्राय हो तो कुमुदिनी भी रवि-किरणोंमें अनुरागिणी

१. स्वेदप्रतिक्रियाम्। २. क्वचित् 'स्वच्छसलिलसीकरनिकरस्राविण' इति पाठो दृश्यते। ३. नलिनदल। ४. क्वचिद्विरुक्तिर्नास्ति। ५. कदलीदलेनानवरतम्। ६. स्वभावविषयविमुखः। ७. दुरुपपादेष्वर्थेषु। ८. नायम्। ९. केनचित्। १०. सङ्घट्टयितुमलम्। ११. तत्कुमुदिन्यपि, यत्तत्कुमुदिन्यपि।

कमलिन्यपि शशिकरद्वेषमुज्झति, निशापि वासरेण सह मिश्रतामेति, ज्योत्स्नाप्यन्धकारमनुवर्त्तते, छायापि प्रदीपाभिमुखमवतिष्ठते, तडिदपि जलदे स्थिरतां व्रजति, जरापि यौवनेन सञ्चारिणी भवति। किंवा तस्य दुःसाध्यमपरम्, एवंविधो येनायमगाधगाम्भीर्य्यसागरस्तृणवल्लघुताम्[1] उपनीतः। क तत्तपः केयमवस्था। सर्वथा निष्प्रतीकारेयमापदुपस्थिता। किमिदानीं कर्त्तव्यम्, किंवा चेष्टितव्यम्[2], कां दिशं[3] गन्तव्यम्, किं शरणम्, को वा[4] उपायः, कःसहायः, कः प्रकारः, का युक्तिः, कः समाश्रयः, येनास्यासवः सन्धार्य्यन्ते[5]। केन वा कौशलेन, कतमया वा युक्त्या, कतरेण वा प्रकारेण, केन वावष्टम्भेन, कया प्रज्ञया, कतमेन वा समाश्वासनेनायं जीवेत्' इत्येते चान्ये च मे विषण्णहृदयस्य सङ्कल्पाः प्रादुरासन्। पुनश्चाचिन्तयम्—'किमनया अत्यन्तायतया[6] निष्प्रयोजनया चिन्तया। प्राणास्तावदस्य येन केनचिदुपायेन शुभे-

---

कमलिन्यपि नलिन्यपि शशिकरद्वेषं चन्द्रद्वेषम् उज्झति त्यजति, निशापि रात्रिरपि वासरेण दिवसेन सह मिश्रताम् ऐक्यताम् एति प्राप्नोति, ज्योत्स्नापि चन्द्रिकापि अन्धकारं तमः अनुवर्त्तते तद्रूपतां भजतीत्यर्थः। छायापि सूर्यप्रियापि प्रदीपाभिमुखं दीपसांमुख्यम् अवतिष्ठते, तडिदपि विद्युदपि जलदे मेघे स्थिरतां स्थैर्यं व्रजति गच्छति, जरापि वार्द्धक्यमपि यौवनेन तारुण्येन सह सञ्चरणशीला भवतीत्यर्थः। एवञ्च एतान्यस्मै न रोचन्ते अत एव कुमुदनीप्रभृतयः सूर्यकिरणानुरक्तादिरूपा न भवन्तीत्याशयः।

किमिति। येन मनोभुवा, एवंविधः एवंरूपः अगाधगाम्भीर्यसागरः अयं पुण्डरीकः तृणवत् लघुतां निःसारताम् उपनीतः प्रापितः, तस्य मनोभुवः अपरम् अस्मादन्यत् किंवा दुःसाध्यं दुष्करमस्तीति सम्बन्धः, अपि तु किमपि नास्तीत्यर्थः। इहार्थापत्तिः।

केति। इयम् अवलोक्यमाना अवस्था नितान्तव्यग्रा दशा क, तत् अनिर्वचनीयस्वरूपं तपः क, द्वौ कौ महदन्तरं सूचयतः। सर्वथा सर्वप्रकारेण निष्प्रतीकारा असाध्या इयं दृश्यमाना आपत् विपत् उपस्थिता प्राप्ता। इदानीं सम्प्रति किं कर्त्तव्यं विधेयम्। किं वा चेष्टितव्यम् आचरितव्यम्। गन्तव्यमित्यत्र भावे तव्यप्रत्ययः। शरणं रक्षकम् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। सहायः साहाय्यकृत् प्रकार एतद्विपत्प्रतिक्रियाया मार्गः। युक्तिः एतत्प्रतीकारसाधनाय उपपत्तिः। समाश्रयः अवलम्बनम्। येन कृत्वा अस्य पुण्डरीकस्य असवः प्राणाः सन्धार्यन्ते अवस्थाप्यन्ते मया (कपिञ्जलेन) संरक्ष्यन्त इत्यर्थः।

केनेति। कौशलेन चातुर्येण। युक्त्या उपपत्त्या। प्रकारेण मार्गेण। अवष्टम्भेन उपायाश्रयणेन। प्रज्ञया उद्भावितया बुद्ध्या। समाश्वासनेन सान्त्वनेन, जीवेत् प्राणं रक्षेत्। विषण्णहृदयस्य खिन्नमानसस्य सङ्कल्पा वितर्काः प्रादुरासन् प्रकटीबभूवुः।

पुनरिति। पुनर्भूयः, अचिन्तयं चिन्तितवान्—अनया प्रत्यक्षविद्यमानया अत्यन्तायतया अपारत्वादतिविस्तीर्णया निष्प्रयोजनया निरर्थकया चिन्तया ध्यातया। नन्वेवं तर्हि विश्रम्यतामित्यत आह—प्राणा इति। शुभेनाशुभेन मङ्गलेनामङ्गलेन वा येन केनचित् उपायेन उद्योगेन, अस्य पुण्डरीकस्य प्राणा

---

हो जाती है; कमलिनी भी चन्द्र-किरणोंके प्रति विद्वेष छोड़ देती है; रात्रि भी दिनके साथ मिश्रित हो जाती है; ज्योत्स्ना (चाँदनी) भी अन्धकारका अनुकरण करती है; छाया भी प्रदीपके सामने रहती है; विद्युत भी मेघमें स्थायित्व प्राप्त कर लेती है; वृद्धावस्था भी तारुण्यके साथ सञ्चार करती है। जब उसने इस प्रकारका अगाध गाम्भीर्यके सागर पुण्डरीकको तृणके समान लघु (तुच्छ) कर डाला, तब उसे और क्या दुष्कर रहा? कहाँ वह तपस्या और कहाँ यह अवस्था? इस विपत्तिसे मुक्त होने (छुटकारा पाने) का सर्वथा कोई उपाय नहीं है। इस समय क्या करना? कैसी चेष्टा करना? किस दिशाको जाना? किसकी शरण लेना? क्या उपाय करना? किससे सहायता लेना? किस मार्गसे चलना? किस युक्तिका अवलम्बन करना? किसका आश्रय लेना कि जिससे इसकी प्राणरक्षा कर सकें? किस चतुरतासे? किस युक्तिसे? किस मार्गसे? किस उपायके अवलम्बनसे? किस बुद्धिसे? किस समाश्वासनसे यह जीवित रह सकता है?' इस प्रकारके और अन्यान्य प्रकारके सङ्कल्प मेरे विषण्ण (खिन्न) चित्तमें उपस्थित होने लगे। एवं फिरसे चिन्ता करने लगा कि—अत्यन्त दीर्घ एवं प्रयोजनरहित ऐसी चिन्ता करनेसे क्या लाभ? उचित या अनुचित चाहे जिन किन्हीं उपायोंसे इसके प्राणोंकी रक्षा तो करनी ही

---

१. तृणलवलघुताम्। २. किमाचेष्टितव्यम्। ३. देशं। ४. कश्च। ५. धार्य्यन्ते। ६. ध्यातया अनयात्यायतया, अनयात्यन्तया।

नाशुभेन वा रक्षणीयाः। तेषाञ्च तत्समागममेकमपहाय नास्त्यपरः संरक्षणोपायः। बालभावादप्रगल्भतया च तपोविरुद्धमनुचितमुपहासमिव[2] आत्मनो मदनव्यतिकरं मन्यमानो नियतमेकोच्छ्वासावशेषजीवितोऽपि नायं तस्याः स्वयमभिगमनेन पूरयति मनोरथम्। अकालान्तरक्षमश्चायमस्य मदनविकारः। सततमतिगर्हितेनाकृत्येनापि[3] रक्षणीयान्[4] मन्यन्ते सुहृदसून् साधवः। तदतिक्षेपणमकर्त्तव्यमप्येतदस्माकमवश्यकर्त्तव्यतामापतितम्। किञ्चान्यत् क्रियते, का चान्या गतिः, सर्वथा प्रयामि तस्याः सकाशम्, आवेदयाम्येतामवस्थाम्' इति चिन्तयित्वा च[5] 'कदाचिदनुचितप्रवृत्तं मां विज्ञाय सञ्जातलज्जो निवारयेदित्यनिवेद्यैव तस्मै तत्प्र-

असवो रक्षणीयाः पालनीयाः मयेति शेषः। अत एव तदयमुद्योगोऽवश्यं विधातव्य इत्याशयः।

अथैवं भवता कः खलूपायः मनसि सन्धार्यते इत्यत आह—तेषामिति। अपि चेति चार्थः। तस्या महाश्वेतायाः समागमं संमिलनरूपम् एकम् उपायम् उद्योगम् अपहाय त्यक्त्वा, अपरोऽन्यः, तेषां प्राणानां संरक्षणोपायो नास्तीति सम्बन्धः।

एवं सति पुण्डरीकः स्वयमेव तत्रोपेत्य महाश्वेतया समागमं विदधात्वित्यत आह—बालेति। एक एव उच्छ्वासो निश्वासोऽवशेषोऽवशिष्टो यस्य एवंविधं जीवितं प्राणितं यस्य सः गमनोद्यतप्राणोऽपीत्यर्थः, अयं पुण्डरीकः, तपोविरुद्धं व्रतविरोधि अनुचितम् अयोग्यम् अत एव च उपहासमिव आत्मनः स्वस्य मदनव्यतिकरम् इदं कामावेशं मन्यमानं ज्ञायमानः सन् ह्रीजनकत्वादित्याशयः, बालभावात् बालकत्वेन पूर्वाभ्यस्तकौशलाभावात्, अप्रगल्भतया प्रत्युत्पन्नधार्ष्ट्यभावेन च तापसत्वादभिनवकामिनीसुरतोपयोगिकौशलाभावेन च कारणेनेत्यर्थः, स्वयं निजेनैव गत्वा तस्या महाश्वेताया अभिगमनेन संमिलनेन मनोरथम् अभिलाषं न पूरयति न पूरयितुं शक्नोति इति नियतं ध्रुवम्; अत एवास्य प्राणसन्देह एव सञ्जात इत्याशयः।

ननु प्राप्तकाले समस्तस्यैव विनाशदर्शनात् कञ्चित्समयं प्रतीक्षतां स्वयमेवेयं कामपीडा विनाशमेष्यतीत्यत आह—अकालेति। अकालान्तरक्षमः समयविलम्बासहः। अतः शीघ्रमेवास्य प्रतीकाराय मयोद्योगो विधातव्य इत्यभिप्रायः।

सम्प्रति प्रतीकाराय स्वस्यैव प्रवर्त्तनमुचितमिति प्रतिपादयितुं तत्र शिष्टसंमतिं दर्शयति—सततमिति। सततं निरन्तरम् अतिगर्हितेन अतिनिन्दितेन अकृत्येन अतिनिन्दितत्वादेवाकार्येण विधातुमशक्येनाप्युद्योगेन साधवः सन्तः सुहृदसून् मित्रप्राणान् रक्षणीयान् पालनीयान् मन्यन्ते जानन्ति। तत्तस्मात् कारणात्, अतिक्षेपणं नितान्तलज्जाकरम् अकर्त्तव्यम् अविधेयमपि तापसत्वादित्याशयः, एतत् महाश्वेतया सह पुण्डरीकस्य समागमम् अस्माकं पुण्डरीकमार्गानुवर्त्तिनाम् अवश्यकर्त्तव्यतां नियतविधेयताम् आपतितम् उपस्थितम्।

किञ्चेति। अन्यत् एतद्व्यतिरिक्तं किं क्रियते विधीयते। अन्या एतद्व्यतिरिक्ता गतिः उपायः। तस्या महाश्वेतायाः सकाशम् अन्तिकम्, एतां दृश्यमानाम् अवस्थां दशाम् आवेदयामि कथयामि। चिन्तयित्वा विचिन्त्य। अनुचिते अयोग्ये कर्मणि प्रवृत्तस्तत्परो यस्तम्। सञ्जातलज्जः समुत्पन्नत्रपः पुण्डरीक इति शेषः, निवारयेत् त्वत्समीपमायातुं निषेधेत्, इति अस्मात्कारणात्, तस्मै पुण्डरीकाय

चाहिए। किन्तु एकमात्र महाश्वेताका समागम छोड़ कर इसकी प्राणरक्षाका कोई दूसरा उपाय नहीं है। एक निश्वास परित्यागमात्र इसके जीवनका अवशिष्ट रह गया है, तथापि यह, बाल भावसे चतुरता न होनेके कारण, काम-विकारको तपस्याके विरुद्ध अनुचित और अपने उपहासके समान मानता हुआ, अपने आप तो वहाँ जाकर, उस कन्या की अभिलाषा निश्चय ही पूर्ण नहीं करेगा। अब यह मदन-विकार विलम्ब सहन नहीं कर सकता। सज्जन पुरुष, अत्यन्त गर्हित एवं अकर्त्तव्य कर्मोंसे (जिस किसी उपायसे) भी सर्वदा मित्रके प्राणोंकी रक्षा करना उचित समझते हैं। अत एव अब यह अत्यन्त लज्जाजनक एवं अकर्त्तव्य होनेपर भी मुझे अवश्य करना पड़ेगा। और दूसरा क्या किया जा सकता, अन्य उपाय ही क्या है? निश्चय ही महाश्वेताके निकट जाकर इसकी यह अवस्था सूचित कर दूँ। इस प्रकार विचारकर—यदि मुझे अनुचित कार्यमें प्रवृत्त होते समझ कर लज्जासे पुण्डरीक

१. त्वत्समागम। २. उपनतमुपहासमिव। ३. कृत्येनापि। ४. परिरक्षणीयान्। ५. क्वचित् चकारो न विद्यते।

देशात् सव्याजमुत्थायागतोऽहम्। तदेवमवस्थिते यदत्रावसरप्राप्तम् ईदृशस्य चानुरागस्य सदृशम्, अस्मदागमनस्य चानुरूपम्, आत्मनो वा समुचितम्, तत्र प्रभवति भवती इत्यभिधाय किमयं वक्ष्यतीति मन्मुखासक्तदृष्टिस्तूष्णीमासीत्।

अहन्तु तदाकर्ण्य सुखामृतमये ह्रद इव निमग्ना, रतिरसमयमुदधिमिवावतीर्णा, सर्वानन्दानामुपरि वर्त्तमाना, सर्वमनोरथानामग्रमिवाधिरूढा, सर्वोत्सवानामतिभूमिमिवाधिशयाना, तत्कालोपजातया लज्जया किञ्चिदवनम्यमानवदनत्वादस्पृष्टकपोलोदरैः, ग्रथितैरिवोपर्य्युपरि पतनानुबन्धदर्शितमालाक्रमैः, अप्राप्तपक्ष्मसंश्लेषतया उपजातप्रथिमभरैरमलैरानन्दबाष्पजलबिन्दुभिः स्रवद्भिरावेद्यमानप्रहर्षप्रसरा, तत्क्षणमचिन्तयम्—'दिष्ट्या तावदयमनङ्गो-

अनिवेद्यैव अकथयित्वैव तत्प्रदेशात् तत्स्थानात् सव्याजं कुसुमाहरणादिकपटसहितं यथा स्यात्तथा। अहं कपिञ्जल आगतः उपस्थितः।

तदिति। तत्तस्माद्धेतोः एवमवस्थिते इत्थम्भूतोदन्ते। अवसरप्राप्तम् एतत्समययोग्यम्, ईदृशस्य परां काष्ठां प्राप्तस्येत्यर्थः। अनुरागस्य स्नेहस्य सदृशं योग्यम्, अस्मदागमनस्य मदीयागमनस्य अनुरूपम् अनुकूलम् आत्मनः स्वस्य वा समुचितं योग्यम्, तत्र कार्ये भवती त्वं प्रभवतिसमर्था भवति, स्पृहा चेत् तद् विधातुं शक्नोतीत्यर्थः। अनेन त्वयैव तत्रोपेत्य पुण्डरीकेण सह समागमो विधेय इति प्रतीयत इति वस्तुना वस्तुध्वनिः। इत्यभिधाय इत्युक्त्वा इयं महाश्वेता किं वक्ष्यति अभिधास्यति इति कृत्वा मन्मुखे मद्वदने आसक्ता लग्ना दृष्टिर्यस्य स कपिञ्जलः तूष्णीमासीत् मौनमभवत्।

अहमिति। अहं तत्पूर्वोक्तम् आकर्ण्य श्रुत्वा सुखम् आनन्द एव अमृतं पीयूषं तन्मये ह्रदे अगाधजले निमग्ना ब्रुडितेव 'तत्रागाधजलो ह्रदः' इत्यमरः। रतिः अनुराग एव रसः सलिलं तन्मयम् उदधिं समुद्रम् अवतीर्णा मध्यप्रविष्टेव, तस्यापि तथाविधानुरागाकर्णनेन ममानुरागस्य शतधा वृद्धिप्राप्तेरित्याशयः। सर्वानन्दानां समग्रप्रमोदानाम् उपरि वर्त्तमाना विद्यमानेव सर्वमनोरथानां समस्ताभिलाषाणाम् अग्रं धुरम् अधिरूढेव उपर्याश्रितेव, सर्वोत्सवानां समस्तोद्धवानाम् अतिभूमिं सर्वोपरिस्थानम् अधिशयाना अधितिष्ठन्तीव, तत्कालोपजातया तत्समयोत्पन्नया लज्जया त्रपया किञ्चित् ईषत् अवनम्यमानं प्रह्वीभूयमानं वदनम् आननं यस्याः तस्या भावः तत्त्वं तस्माद्धेतोः न स्पृष्टे कपोलयोर्गण्डयोः उदरे मध्यभागौ यैस्तैः, पतनानुबन्धेन पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरस्थायिनः अविच्छिन्नपतनानुसरणेन दर्शिता प्रकटिता मालायाः स्रजः क्रमः अन्योन्यसंलग्नतारूपा परिपाटी यैस्तैः, अत एव उपर्युपरि ऊर्ध्वोर्ध्वं ग्रथितैः गुम्फितैरिव विद्यमानैः, न प्राप्तो वदनस्य नम्रतया सरलाधःपतनात् नोपगतः पक्ष्मसु नयनरोमसु संश्लेषः सम्बन्धो यैस्तेषां भावस्तया कारणेन, उपजात उत्पन्नः प्रथिमभरः स्थौल्यातिशयो येषां तैः, पक्षान्तरे तु बाष्पजलबिन्दूनां नेत्रलोमभिर्विभक्ततया क्षुद्रत्वं स्यादित्याशयः। अमलैः अञ्जनाभावात् स्रवद्भिः क्षरद्भिः आनन्दबाष्पजलबिन्दुभिः प्रमोदाश्रुबिन्दुभिः आवेद्यमानो व्यज्यमानः प्रहर्षप्रसरः प्रकृष्टानन्दातिशयो यस्याः सा। इह 'सुखामृतमये' इत्यत्र 'रतिरसमयम्' इत्यत्र च निरङ्गकेवलरूपकम्, 'निमग्नेव' एवम् 'अवतीर्णेव' इत्यत्र च वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा अनयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। 'वर्त्तमाना' इत्यत्र प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा। ततः 'अधिरूढेव' 'अधिशयानेव' 'ग्रथितैरिव' इत्येतेषु वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

दिष्ट्येति। दिष्ट्या भाग्येन, तावत् प्रथमम् अयम् अनङ्गः कामो मामिव, तं पुण्डरीकमपि अनु-

कहीं मुझे निषेध कर (रोक) न दे—इससे उसे बिना निवेदन किये ही वहाँसे मैं बहाना करके यहाँ चला आया हूँ। इसलिए इस प्रकारकी अवस्थामें जैसा अनुकूल हो, अनुरागके योग्य हो, मेरे आगमनके अनुरूप हो, एवं आपको भी जो उचित हो, उसे ही कीजिए।' इस प्रकार कह कर कपिञ्जल, 'यह क्या कहेगी' उसे सुननेकी उत्कण्ठासे मेरे मुखकी तरफ दृष्टि संलग्न कर मौन हो गया।

किन्तु मैं तो यह सब कथा सुनकर, सुख-रूपी अमृतके सरोवरमें ही मानो निमग्न (डूब) हो गई होऊँ, सब अनुराग-रूपी जलके समुद्रमें मानो अवगाहन किये होऊँ, सब प्रकारके आनन्दके ऊपर ही मानो बैठी होऊँ, सब मनोरथोंके आगे ही मानो चढ़ी होऊँ, एवं समस्त उत्सवोंकी चरमसीमाको ही मानो पहुँची होऊँ, ऐसी हो गई और उस समय लज्जा उत्पन्न हो जानेके कारण मेरा मुखमण्डल कुछ अवनत हो जानेसे कपोलयुगलके मध्यभागको बिना स्पर्श किये ही, मानो गुँथे हुएके समान एकके ऊपर एक बराबर गिरनेसे मालाकी परिपाटी दिखलातीं एवं

१. ···प्रसक्ता।

मामिव तमप्यनुबध्नाति, यत्सत्यमनेन[1] मे सन्तापयताप्यंशेन[2] दर्शितानुकूलता। यदि च सत्यमेव तस्येदृशी दशा वर्त्तते,[3] ततः किमिव नोपकृतमनेन, किंवा नोपपादितम्, को वानेनापरः समानो बन्धुः। कथं वा कपिञ्जलस्य स्वप्नेऽपि वितथा भारती प्रशान्ताकृतेरस्माद्वदनान्निष्क्रामति। इत्थम्भूते किं मयापि प्रतिपत्तव्यम्[4]? तस्य वा पुरः किमभिधातव्यम्?' इत्येवं विचारयन्त्यामेव प्रविश्यससम्भ्रमा प्रतीहारी मामकथयत्—'भर्त्तृदारिके! त्वमसुस्थशरीरेति[5] परिजनादुपलभ्य महादेवी प्राप्ता' इति। तच्च श्रुत्वा कपिञ्जलो महाजनसम्मर्द्दभीरुः सत्वरमुत्थाय 'राजपुत्रि! महानयमुपस्थितः कालातिपातः। भगवांश्च भुवनत्रयचूडा

---

बध्नाति अनुगच्छति, तदुपर्यपि निजावेशं स्थापयतीति भावः। अत एव मां सन्तापयतापि संज्वरयतापि अनेन कामेन मे मम अंशेन यत्सत्यम् अनुकूलता आनुकूल्यं दर्शिता प्रकटिता, न तु सामस्त्येन, अद्यापि समागमाभावादित्यभिप्रायः। 'यत्सत्यम्' इत्येकमेव पदं दर्शितेति क्रियाया विशेषणमित्यवगन्तव्यम्।

यदीति। यदि चेत्, तस्य पुण्डरीकस्य सत्यमेव परमार्थत एव ईदृशी एवंविधा दशा अवस्था वर्त्तते विद्यते, ततस्तदा अनेन कामेन किमिव नोपकृतं किमुपकारो न कृतः, किंवा न उपपादितं सम्पादितम्, अनेन कामेन समानस्तुल्यः अपरोऽन्यः को वा मम बन्धुः, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः, अनेनैव ममाभिलाषायाः पूरितप्रायत्वादित्याशयः।

ननु कपिञ्जलवाक्यस्य परमार्थत्वे का युक्तिरित्यत आह—कथमिति। प्रशान्ता अप्रतारणाद्योतकभव्या आकृतिः मूर्त्तिः यस्य तस्य कपिञ्जलस्य अस्माद् वदनान्मुखात् स्वप्नेऽपि कथं वितथा असत्या भारती वाणी निष्क्रामति निःसरति कथमपि नेत्यर्थः। अस्य प्रशान्तस्वरूपमेव वचनस्य यथार्थत्वे
भारती वाणी निष्क्रामति निःसरति कथमपि नेत्यर्थः। अस्य प्रशान्तस्वरूपमेव वचनस्य यथार्थत्वे
प्रमाणम्, एवंविधस्वरूपस्य कदाचिदपि असत्यभाषणाश्रवणादित्यभिप्रायः।

इत्थमिति। इत्थम्भूते एवंविधे समाचारे इति शेषः। प्रतिपत्तव्यं स्वीकर्त्तव्यम्। तस्य पुरो वा पुण्डरीकस्य निकटे वा किम् अभिधातव्यं गत्वा वक्तव्यम्, अथवा सन्देशवाक्यं प्रेषयितव्यम् इत्येवं विचारयन्त्यां चिन्तयन्त्यामेव 'मयि' इति शेषः। इह 'विचारयन्त्या' इति पाठस्तु चिन्त्यः।

ससम्भ्रमा सभया सती प्रतीहारी प्रविश्य गृहाभ्यन्तरे प्रवेशं कृत्वा माम् अकथयत् अवोचत्—'भर्तृदारिके राजपुत्रि! असुस्थशरीरा अप्रकृतिस्था, परिजनात् अनुयायिवर्गात् उपलभ्य ज्ञात्वा महादेवी गन्धर्वराजमहिषी भवत्या जननी प्राप्ता उपगता।

तच्चेति। महतोऽतिबृहतो जनसंमर्दात् महादेव्या सार्धं प्राप्तानां लोकानाम् अत्यन्तात् सङ्घर्षात् भीरुः भीतियुक्तः, अरण्येषु प्रायेणैकाकिन एव निवासादित्याशयः। उपस्थितः प्राप्तः कालातिपातः समयविलम्बः, भवत्यास्तत्र जिगमिषायां विद्यमानायामपि महादेव्यामग्रयातायां तदसम्भवादित्याशयः।

---

नेत्रोंके लोमसंयुक्त न होनेसे अत्यन्त स्थूल दीखतीं निर्मल आनन्दाश्रुकी बूँदोंके गिरनेसे अत्यन्त आनन्दकी सूचना करती, उस क्षण विचार करने लगी—'सौभाग्यवश ही यह कामदेव, मेरे समान उनका भी निरन्तर अनुसरण करता है! यह सत्य है कि—मुझे सन्तप्त करता हुआ भी उसने कुछ अंशमें मेरी अनुकूलता दिखला दी है। यदि यथार्थमें उसकी ऐसी ही अवस्था हो तो फिर उसने मेरा कौनसा उपकार नहीं किया? अथवा किस-किस कार्यका ही सम्पादन नहीं किया? एवं इसके समान अन्य बन्धु ही मेरा कौन है? शान्ताकृति कपिञ्जलके इस मुखमेंसे स्वप्नमें भी मिथ्या वाणी कैसे निकल सकती है? ऐसी स्थितिमें मुझे भी क्या स्वीकार करना चाहिए? अथवा उसके समीप ही वाचिक सन्देश क्या भेज देना चाहिए?' मैं मन ही मन इस प्रकार विचार कर रही थी कि—इतनेमें शङ्काके साथ प्रतीहारी मेरे घरके बीचसे प्रवेश कर मुझसे कहने लगी—'राजकन्ये! परिजनोंसे आपके शरीरका अस्वास्थ्य समझ कर (आपको देखनेके लिए) महारानी उपस्थित हुई हैं।' यह सुनकर परिजनादिकोंके अत्यन्त सङ्घर्षके भयसे कपिञ्जल शीघ्रतासे ही उठा और मुझसे कहने लगा—'राजकन्ये! यह गुरुतर कालविलम्ब

---

१: एतेन। २. कियताप्यंशेन, अपि कियताप्यंशेन। ३. क्वचित् 'वर्त्तते' इति पदं न विद्यते। ४. प्रतिकर्त्तव्यम्। ५. अस्वस्थशरीरेति।

मणिरस्तमुपगच्छति दिवसकरः, तद्गच्छामि। सर्वथाभिमतसुहृत्प्राण-रक्षा-दक्षिणार्थमयमुपरचितोऽञ्जलिः, एष मे परमो विभवः' इत्यभिधाय प्रतिवचनकालमप्रतीक्ष्यैव पुरोयायिना अम्बायाः प्रविशता कनकवेत्रलताकरेण प्रतीहारीजनेन कञ्चुकिलोकेन गृहीत[1]-ताम्बूल-कुसुम-पटवासाङ्गरागेण चामरव्यग्रपाणिना कुब्ज-किरात-बधिर-वामन-वर्षवर[2]-विकलमूकानुगतेन[3] परिजनेनसर्वतः संरुद्धे कथमप्यवाप्तनिर्गमः प्रययौ। अम्बा तु मत्समीपमागत्य सुचिरं स्थित्वा स्वभवनमयासीत्। तया तु तत्रागत्य किं कृतं किमभिहितं किमाचेष्टितमिति शून्य-हृदया सर्वं नालक्षयम्।

गतायाञ्च तस्याम्,[4] अस्तमुपगते भगवति-हारीतहरित-वाजिनि सरोजिनीजीवितेश्वरे

भुवनत्रयचूडामणिः विष्टपत्रयशिरोरत्नं भगवान् दिवसकरः श्रीसूर्यनारायणः अस्तम् अस्तमनम् उपगच्छति प्रयाति। सर्वथैव अभिमतस्य चेतोमतस्य सुहृदः मित्रस्य प्राणरक्षाया असुत्राणस्य दक्षिणार्थम् अयम् अञ्जलिः पाणिसंयोजनरूप उपरचितो विहितः, एष अञ्जलिरचनारूप एव मे मम परमो विभवः सम्पत्तिः, तपस्विनि! नेतः परमुत्कृष्टं मे धनमस्ति यत्तुभ्यमर्पणीयमित्यभिप्रायः। प्रतिवचनकालं प्रत्युत्तरसमयम् अप्रतीक्ष्य प्रतीक्षामविधायैव, अम्बाया जनन्याः पुरोनुयायिना अग्रगामिना सता अभ्यन्तरमागच्छतेत्यर्थः, कनकवेत्रलता सुवर्णखचिता वेतसयष्टिः करे पाणौ यस्य तेन, प्रतीहारीजनेन द्वारिनियुक्तस्त्रीजनेन कञ्चुकिलोकेन सौविदल्लेन, गृहीता आत्ताः ताम्बूलं नागवल्ली, कुसुमं पुष्पं, पटवासः पिष्टातकः, अङ्गरागः अङ्गविलेपनद्रव्यञ्च ते येन तेन, चामरेण बालव्यजनेन व्यग्रो व्यासक्तः पाणिर्यस्य तेन, कुब्जा वक्रशरीराः, किराताः कृशशरीराः, बधिराः श्रवणसामर्थ्यरहिताः, वामनाः खर्वाकृतयः, वर्षवरा नपुंसकाः, विकला विकृतावयवाः, मूका वचनसामर्थ्यशून्याश्च जनास्तैः अनुगतेन अनुयातेन। संरुद्धे आक्रान्ते। कथमपि कष्टेन अवाप्तो लब्धः निर्गमनमार्गो निस्सरणपन्था येन स तथोक्तः कपिञ्जलः प्रययौ प्रजगाम। अनेन जनसंमर्दाधिक्यान्निस्सरन्तमपि कपिञ्जलं न कोऽपि बुबुध इति ध्वनितम्।

अम्बेति। मत्समीपं मदन्तिकम्। अयासीत् अगात्। तया अम्बया। किमाचेष्टितं किमथ कउद्योगो विहितः। शून्यहृदया विषयान्तरबोधरहितमानसा। नालक्षयं न ज्ञातवती, केवलं पुण्डरीकविषय एवात्यधिकचिन्तनादित्याशयः।

गतायामिति। तस्याम् अम्बायां गतायां यातायाम्, हारीतो मृदङ्कुर 'हारिल' इति लोकप्रसिद्धो हरिद्वर्णपक्षिविशेषः, तद्वत् हरिता नीला वाजिनोऽश्वा यस्य तस्मिन्, सरोजिनी कमलिनी तस्या जीवितेश्वरः प्राणनाथः तस्मिन् चक्रवाकस्य रथाङ्गस्य पक्षिणः सुहृदि बन्धौ, सूर्यस्य विद्यमानत्व एव चक्रवाकदम्पत्योः संमिलनादविद्यमानत्वे च विश्लेषादित्याशयः सवितरि सूर्ये अस्तम् अस्ताचलम् उपगते प्राप्ते सति।

इह छेकानुप्रासवृत्त्यनुप्रासयोः संसृष्टिः। तथा सूर्यनारायणस्य यानि त्रीणि विशेषणानि च तानि प्रस्तुतार्थस्य किञ्चिदनुपकारिणीति हेयान्येव अन्यथापुष्टार्थतादोषस्य वज्रलेपायित्वादित्यवधेयम्।

उपस्थित हो गया है, इधर त्रिभुवनके चूड़ामणि भगवान् सूर्य भी अस्त होने जा रहे हैं; इसलिए मैं तो जाता हूँ, पर सब प्रकारसे अभिमत मेरे-प्रिय-मित्र की प्राण-रक्षारूपी दक्षिणाके लिये मैं यह हाथ जोड़ कर आपसे विनय करता हूँ, यही मेरा परम धन है।' इतना कह कर, प्रत्युत्तर की प्रतीक्षाका समय न देख कर ही वह, स्वर्णखचित वेत्रयष्टियोंको धारण करने वाली मातृदेवीके आगे आगे प्रवेश करती प्रतीहारियोंसे, ताम्बूल, पुष्प, पटवास (अबीर) और अङ्गलेपनद्रव्य लेकर चलते कञ्चुकियोंसे और कुब्ज, कृशशरीर, बधिर, वामन, नपुंसक, विकलाङ्ग और मूकजनोंके आगे हाथमें चमर लेकर चलते परिजनोंसे सब तरफसे ही अवरुद्ध द्वारदेशमेंसे किसी प्रकार निकल कर चला गया। माता मेरे समीप आकर बहुत काल तक बैठ अपने भवनमें लौट गई। परन्तु उन्होंने वहाँ आकर क्या किया, क्या कहा, और किस लिए कौनसा उद्योग किया?—यह सब कुछ ही शून्य-हृदय होनेसे मैं लक्षित नहीं कर सकी।

उसके चले जानेके बाद जिस समय हारीतपक्षीके समान हरिद्वर्ण अश्ववाले एवं कमलिनीके प्राणनाथ और

१. आगृहीतः···। २···वर्वरकलमूक, वर्वरविकलमूक। ३···कलमूकानुवीतेन। ४. सत्याम्।

चक्रवाकसुहृदि सवितरि, लोहितायमाने पश्चिमाशामुखे, हरितायमानेषु कमलवनेषु नीलायमाने पूर्वदिग्विभागे, पातालपङ्ककलुषेण महाप्रलय-जलधिपयःपूरेणेव तिमिरेणावष्टभ्यमाने जीवलोके, किंकर्त्तव्यतामूढा तामेव तरलिकामपृच्छम्—'अयि तरलिके! कथं न पश्यसि दृढमाकुलं मे हृदयम्, अप्रतिपत्तिविह्वलानि[1] चेन्द्रियाणि। न स्वयमण्वपि कर्त्तव्यमलमस्मि[2] ज्ञातुम्, उपदिशतु मे भवती यदत्र साम्प्रतम्। अयमेवं त्वत्समक्षमेवाभिधाय गतः कपिञ्जलः। यदि तावदितरकन्यकेव विहाय लज्जाम्, उत्सृज्य धैर्य्यम्, उन्मुच्य[3] विनयम्, अचिन्तयित्वा जनापवादम्, अतिक्रम्य सदाचारम्, उल्लङ्घ्य शीलम्, अवगणय्य कुलम्, अङ्गीकृत्यायशः, रागान्धवृत्तिः, अननुज्ञाता पित्रा, अननुमोदिता मात्रा, स्वयमुपगम्य ग्राहयामि पाणिम्, एवं गुरुजनातिक्रमादधर्म्मो महान्। अथ धर्म्मानुरोधादितरपक्षावलम्बनद्वारेण मृत्युमङ्गी-

लोहितेति। पश्चिमाशामुखे प्रतीचीमुखे लोहितायमाने रक्तायमाने सति सन्ध्यारागादित्याशयः। कमलवनेषु पङ्कजकाननेषु हरितायमानेषु नीलायमानेषु सत्सु कमलानां सङ्कुचिततया केवलपत्रप्रभाप्रकाशादित्याशयः। पूर्वदिग्विभागे प्राचीदिग्विभागे नीलायमाने हरितायमाने सति, अन्धकारोद्गमादित्याशयः। पातालस्य वडवामुखस्य यः पङ्कः कर्दमः तद्वत् कलुषम् आविलं मलिनं तेन। पङ्कस्य मालिन्यातिशयसूचनार्थं पातालपदप्रयोगः। महाप्रलये यो जलधिः समुद्रः तस्य यः पयःपूरो जलौघः तेनैव सर्वाच्छादकेनेत्यर्थः, तिमिरेण अन्धकारेण, जीवलोके संसारे अवष्टभ्यमाने आश्रीयमाणे सति।

इह 'पातालपङ्ककलुषेण' इत्यत्र लुप्तोपमा। 'महाप्रलयजलधिपयःपूरेणेव' इत्यत्र चोपमा।

अयीति। न पश्यसि नावलोकयसि, दृढं नितान्तम् आकुलं विह्वलम्, उद्वेगाद्यनेकभावावेशादित्याशयः। अप्रतिपत्त्या कर्त्तव्यनिर्णयाभावेन विह्वलानि व्यग्राणि च इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि करणानि, अत एव स्वयम् आत्मना अण्वपि अल्पमपि कर्त्तव्यं विधेयं ज्ञातुं निर्णेतुं नालमस्मि न सोढास्मि, सुतरामेव अत्र विषये यत् साम्प्रतं युक्तम्, तद् भवती त्वं मे उपदिशतु शिक्षयतु। 'युक्ते द्वे साम्प्रतम्' इत्यमरः।

अयमिति। अयं कपिञ्जलः, त्वत्समक्षमेव त्वत्प्रत्यक्षमेव एवम् अमुना प्रकारेण अभिधाय कथयित्वा गत इति सम्बन्धः। इतरकन्यकेव नीचकुलोत्पन्नकन्येव लज्जां त्रपां विहाय त्यक्त्वा, उत्सृज्य दूरीकृत्य। उन्मुच्य परित्यज्य, विनयम् उपदेशम् उपदेशजनितेन्द्रियवेगरोधनमित्यर्थः। जनापवादं लोककृतां निन्दाम् अचिन्तयित्वा अध्यात्वा, सदाचारं शोभनानुष्ठानम् अतिक्रम्य उल्लङ्घ्य, शीलं परपुरुषेष्वनभिरतिस्वभावम् उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य, कुलं वंशम् अविगणय्य अवहेलयित्वा, अयशोऽपकीर्त्तिम् अङ्गीकृत्य स्वीकृत्य, रागेण कामासक्त्या अन्धा साध्वसाधुविवेकरहिता वृत्तिः अध्यवसायो यस्याः सा, पित्रा तातेन अननुज्ञाता अदत्ताऽनुशासना, मात्रा अम्बया च अननुमोदिता असमर्थिता, स्वयम् आत्मना उपगम्य अन्तिकमुपेत्य पाणिं हस्तग्रहणं ग्राहयामि करोमि। एवम् इत्थं तदेत्यर्थः, गुरुजनानां तातमात्रादीनाम् अतिक्रमात् आज्ञाया अनपेक्षणात् महान् अधर्मः अत्यधिकप्रत्यवायः स्यात् स त्वनुचित इति शेषः।

अथैवं तत्रागत्य प्राग्वदेव निजभवने संतिष्ठतामित्यत आह—अथेति। धर्मानुरोधात् इतरपक्षस्य

चक्रवाकके मित्र, भगवान् सूर्यनारायण अस्तमित हुए; पश्चिम दिशाका मुख रक्तवर्ण होने लगा; कमल-वन, पुष्प-मुकुलित होनेसे हरिद्वर्ण होने लगा; पूर्व दिशाका भाग नीलवर्ण होने लगा और समस्त संसारमें—पातल-पङ्कके समान मलिनवर्ण सर्वव्यापी—अन्धकार, महाप्रलयकालीन समुद्रजलके प्रवाहके समान, विस्तार होने लगा उस समयमें—किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर ( कुछ न सूझ पड़नेसे ) उस तरलिकासे ही मैंने पूछा—'अरी तरलिके! तुम क्या नहीं देखतीं कि मेरा मन अत्यधिक व्याकुल हो गया है एवं इन्द्रियाँ अपने अपने कर्त्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ होनेके कारण विह्वल हो गई हैं? मुझे अपना कर्त्तव्य थोड़ा भी नहीं समझ पड़ता इसलिए इस विषयमें जो युक्तिसङ्गत हो तुम उसे ही मुझे उपदेश दो। इस प्रकार कपिञ्जल सब बातें तुम्हारे समक्षमें ही कह कर चला गया है। इस समय यदि मैं नीचकुलोत्पन्न कन्याके समान लज्जा, धैर्य और विनयको छोड़ कर लोकापवादकी चिन्ता न कर, सदाचारका अतिक्रमण कर, स्वभावका उलङ्घन कर, वंशकी अवज्ञा कर एवं लोकनिन्दा स्वीकार कर, अनुरागसे सदसद्विवेचनाविहीन होकर, पिताकी अनुमति न लेकर एवं माताका अनुमोदन न पाकर, अपने आप जाकर पाणिग्रहण कराऊँ तो गुरुजनका अतिक्रम होनेसे इसमें बड़ा अधर्म होगा; और यदि मैं

१. शून्यानि। २. अस्मिन्। ३. अवमुच्य।

करोमि, एवमपि प्रथमं तावत् स्वयमागतस्य[1] प्रथमप्रणयिनस्तत्रभवतः कपिञ्जलस्य प्रणयप्रसर-भङ्गः। पुनरपरं यदि कदाचित्तस्य जनस्य मत्कृतादाशाभङ्गात् प्राणविपत्तिरुपजायते, तदपि-मुनिजनबधजनितं महदेनो भवेत्'। इत्येवमुच्चारयन्त्यामेव मयि, आसन्न[2]-चन्द्रोदयजन्मना विरलविरलेनालोकेन वसन्तवनराजिरिव कुसुमरजसा धूसरतां वासवी दिगयासीत्।

ततः शशि-केशरि-कर-नखर-विदार्य्यमाण[3]-तमः-करि-कुम्भ-सम्भवेन मुक्ताफलक्षोदेनेव धवलतामुपनीयमानम्, उदयगिरि-सिद्ध-सुन्दरी-कुचच्युतेन चन्दनचूर्णराशिनेव पाण्डुरी-क्रियमाणम्, चलित-जलधि-जल-कल्लोलानिलोल्लासितेन वेलापुलिन-सिकतोद्गमेनेव पाण्डु-

---

अननुसरणेन निजभवनावस्थानपक्षस्य अवलम्बनद्वारेण आश्रयद्वारेण मृत्युं प्राणवियोगम् अङ्गीकरोमि स्वीकुर्वे। अनेन तदननुसरणात्पाणिग्रहणाभावे मम प्राणवियोगोऽवश्यम्भावीति ध्वनितम्। एवमपि प्राणविमोचनेऽपि प्रथमं तावत् दूषणमिति शेषः। स्वयमागतस्य स्वयमायातस्य प्रथमप्रणयिन आद्यस्नेह-वतः तत्रभवतः पूज्यस्य कपिञ्जलस्य तपस्विबालकस्य प्रणयप्रसरस्य प्रार्थनातिशयस्य भङ्गो निष्फलता-सम्पादनं स्यात्।

ननु भवतु नाम तत्प्रार्थनातिशयनिष्फलसम्पादनं न तेन काऽपि हानिः धर्माद्यपेक्षया तस्याकि-ञ्चित्करत्वादित्यत आह—पुनरिति। धर्मानुरोधात्पाणिग्रहाभावपक्षाश्रयणद्वारेण पुनरपरमिदं दूषण-मित्यर्थः। तस्य जनस्य पुण्डरीकस्य चेतसा स्वामित्वेन वरणात् पुण्डरीकनामाग्रहणमित्यवधेयम्। प्राणा-नाम् असूनां विपत्तिर्विनाशः उपजायते भवेत्, तदपि तदापि मुनिजनवधजनितं तापसजनहननोत्पन्नं महदेनो महापातकं भवेत् 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः' इत्यादिमनुवचनात् स्वस्य च तत्र कारणत्वादित्याशयः।

इतीति। उच्चारयन्त्यां वदन्त्यामेव, वासवस्य इन्द्रस्येयमिति वासवी प्राची दिक्, कुसुमरजसा पुष्परागेण वसन्तवनराजिरिव काननपङ्क्तिरिव, आसन्नात् अव्यवहितोत्तरसमयभाविनः चन्द्रोदयात् शशाङ्कोद्गमात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तेन विरलविरलेन अल्पाल्पेन आलोकेन प्रकाशेन धूसरताम् ईषत्पाण्डु-ताम् अयासीत् प्रापत। उपमा।

तत इति। शशिचन्द्र एव केशरी सिंह भेदनकर्तृत्वसादृश्यात् तस्य करा रश्मय एव नखराः पुनर्भवस्तैः भेदनकरणत्वसादृश्यात् विदार्यमाणो भिद्यमानः तमोऽन्धकार एव करिकुम्भो हस्तिशिरः पिण्डः कृष्णत्वसादृश्यात् तस्मात् सम्भवेन सञ्जातेन, मुक्ताफलक्षोदेनेव मौक्तिककणेनेव इन्दुधाम्ना चन्द्र-किरणेन, धवलतां श्वेतताम् उपनीयमानं प्राप्यमाणम्, 'पश्चिमेतरद्दिगन्तरम्' इत्यस्याग्रेतनस्य विशेषण-मिदम् इह समस्तुवस्तुविषयसाङ्गरूपकजात्युत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

उदयेति। उदयगिरौ उदयाचले याः सिद्धसुन्दर्यः देवयोनिविशेषकामिन्यः तासां कुचेभ्यः वक्षो-जेभ्यः च्युतेन गलितेन, चन्दनचूर्णराशिनेव मलयजक्षोदसमूहेनेव इन्दुधाम्ना, पाण्डुरीक्रियमाणं शुभ्रता-मापद्यमानं दिगन्तरम्। जात्युत्प्रेक्षा।

चलतेति। चलितं कम्पितं यज्जलधिजलं समुद्रतोयः तस्य कल्लोलानां महातरङ्गाणाम् अनिलैः पवनैः उल्लासितः उत्थानं प्रापितः तेन वेलापुलिनस्य तटसमीपस्थतोयोत्थितदेशस्य सिकतानां बालु-

---

धर्मके अनुरोधसे दूसरे पक्षका अवलम्बन कर प्राण-त्याग स्वीकार करूँ तो ऐसा होने पर उसमें भी पहले तो दोष यह है कि अपने आपसे उपस्थित हुए एवं पहली ही प्रार्थना करने वाले माननीय कपिञ्जलकी प्रार्थना भङ्ग होती है, और द्वितीय दोष यह है कि कदाचित् मेरी दी हुई आशाके भङ्ग होनेसे उस पुरुषके प्राण पर कुछ विपत्ति उत्पन्न हो जाय तो मुझे मुनिजनके वधका महापातक लगेगा।' मेरे इस प्रकार कहते कहते; पुष्प-रेणुसे वसन्तकालकी वनपङ्क्तिके समान, सन्निहित चन्द्रोदयसे उत्पन्न थोड़े थोड़े प्रकाशसे पूर्वदिशा धूसरवर्ण होने लगी।

उसके बाद, चन्द्र-किरणसे पूर्वदिगन्तर, चन्द्र रूप सिंहके किरण-रूप नखद्वारा विदीर्ण (छेदे गये) अन्धकार-रूपी हस्तीके कुम्भसे उत्पन्न मुक्ताचूर्णके समान मानो धवलवर्ण हुआ, उदयाचलस्थित सिद्धसुन्दरियोंके स्तनोंके छूटे हुए चन्दन-चूर्ण-राशिके समान मानो पाण्डुवर्ण हुआ, एवं वेगशाली पूर्वसमुद्रकी महातरङ्गोंको कँपाती हुई पवनसे उत्तोलित (उड़ाई हुई) तीरके निकटवर्त्ती तोयोत्थित देशसे आकाशमें उठे हुए बालुकाराशिके समान

---

१. आगत्य। २. क्वचित् आसन्नेति पदं न दृश्यते। ३. शशिकेसरावदार्यमाण, शशिकेसरिकर-विदार्य्यमाणः…।

तामापाद्यमानम् पश्चिमेतरदिन्दुधाम्ना दिगन्तरमदृश्यत। शनैः शनैश्चन्द्रदर्शनान्मन्दमन्दस्मिताया दशनप्रभेव ज्योत्स्ना निष्पतन्ती निशाया मुखशोभामकरोत्। तदनु रसातलादवनीमवदार्य्य[1] उद्गच्छता शेषफणामण्डलेनेव[2] रजनीकरबिम्बेन[3] अराजत रजनी। क्रमेण च सकलजीवलोकानन्दकेन कामिनीजनवल्लभेन किञ्चिदुन्मुक्तबालभावेन मकरध्वजबन्धुभूतेन समुपारूढरागेण सुरतोत्सवोपभोगैकयोग्येन अमृतमयेन यौवनेनेवारोहता शशिना रमणीयतामनीयत यामिनी।

अथ तं प्रत्यासन्न-समुद्र-विद्रुम-प्रभा-पाटलितमिव उदय-गिरि-सिंह करतलाहत-निर्ज[4]-

कानाम् उद्गमेन ऊर्ध्वगमनेन शुभ्रत्वसादृश्यनिरूपणाय गगनोद्गतसिकतेनेवेत्यर्थः इन्दुधाम्ना चन्द्रकिरणेन, पाण्डुताम् आपद्यमानं प्राप्यमाणम्, पश्चिमेतरत् प्रतीच्या दिशः समस्तविपरीतं पूर्वमित्यर्थः दिगन्तरं पौर्वं दिग्विभागम् अदृश्यत आलोक्यत जनैरिति शेषः।

इह तरङ्गवायुभिः पुलिनस्थः सिकतासमूह एव उड्डीय उपरिगतो भवेत्तेनेवेति जात्युत्प्रेक्षा। तथैकार्थ एव प्रयुक्तेन विशेषणत्रयेण नेहाधिकदोषः, तेषामलङ्कारप्रथनसामर्थ्यप्रकटनार्थत्वात्।

शनैरिति। चन्द्रदर्शनात् निजप्राणनाथावलोकनाद्धेतोः मन्दमन्दं स्मितं प्रकाशो हास्यञ्च यस्याः तस्या निशाया रात्रेः, दशनप्रभेव दन्तकान्तिरिव शनैः शनैः मन्दं मन्दं निष्पतन्ती ज्योत्स्ना चन्द्रिका, मुखशोभां तस्या निशाया एव पूर्वभागसौन्दर्यं च अकरोत् व्यदधत्।

इहेन्दुरात्र्योः पुल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गाभ्यां स्मितकार्येण च स्त्रीपुरुषव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः। सा च 'दशनप्रभेवे'ति जात्युत्प्रेक्षया सङ्कीर्यते।

तदन्विति। रजनी रात्रिः अवनीं पृथिवीम् अवदार्य भित्वा रसातलात् नागलोकात् उद्गच्छता उत्तिष्ठता, शेषस्य श्वेतरूपस्य अनन्तनागस्य फणामण्डलेन फणासमूहेनेव शुभ्रेण गोलाकारेण चेत्याशयः, रजनिकरबिम्बेन चन्द्रमण्डलेन अराजत अशोभत। द्रव्योत्प्रेक्षा।

क्रमेणेति। सकलजीवलोकानन्दकेन समस्तमनुष्यलोकप्रमोदोत्पादकेन कामिनीजनवल्लभेन सुन्दरीजनप्रियेण। किञ्चिदुन्मुक्त ईषत्परित्यक्तो बालभावः शावकभावः प्रथमोदितभावश्च येन तेन। मकरध्वजः कामः तस्य बन्धुभूतेन स्वजनभूतेन स्थानद्वयेऽप्युद्दीपकत्वादित्याशयः। समुपारूढः सञ्जातः रागोऽनुरागो लौहित्यं च यत्र तेन। सुरतोत्सवः सम्भोगानन्दः तस्य उपभोगे एकयोग्यः सर्वथा समर्थस्तेन प्रकाशाधिक्यादुद्दीपकत्वाच्चेत्याशयः। तथा अमृतमयेन आनन्दाधिक्येन पीयूषात्मकेन च। यौवनेनेव तारुण्येनेव आरोहता देहम् आकाशञ्च अधिरोहता शशिना चन्द्रेण कर्त्रा, यामिनी रात्रिः रमणीयतां शोभनीयताम् अनीयत प्राप्यत, एकत्र निजाविर्भावेन निखिलावयवपूरणात् परत्र चन्द्रिकया प्रकाशादित्याशयः।

इह चन्द्रस्य यौवनौपम्यं शाब्दं यामिन्याः सुन्दर्यौपम्यन्त्वार्थमिति श्लेषानुप्राणिता एकदेशविवर्तिन्युपमेति कुशलाः।

अथेति। अथ आरोहणानन्तरम्, अभिनवोदयरागलोहितं नूतनोद्गमरागरक्तम्, अत एव प्रत्यासन्नस्य द्वयोरप्युदयगिरिसामीप्यात् निजसमीपस्य, समुद्रस्य पूर्वोदधेः विद्रुमाणां प्रवालानां प्रभाभिः कान्तिभिः पाटलितम् आरक्तीकृतमिव, उदयगिरिः उदयाचलः तत्रः यः सिंहः तस्य करतलेन हस्ततलेन

मानो शुभ्रवर्ण हुआ देख पड़ा। चंद्रका दर्शन होनेसे मन्दमन्दहास्य करती रजनीकी दन्त-प्रभाके समान चन्द्रिका धीरे धीरे भूतलमें गिरती उसकी मुखशोभाका सम्पादन करने लगी। उसके पश्चात, भूतल विदारण कर पातालसे उत्थित ( बाहर आए ) अनन्तनाग के फणामण्डलके समान, चन्द्रमण्डलद्वारा रात्रि शोभा पाने लगी। क्रमसे समस्त जीवलोकके आनन्द दायक कामिनी-जनवल्लभ, कामदेव-बन्धु, राग-समन्वित ( अनुरागयुक्त, रक्तवर्ण ) सुरतोत्सवके एकमात्र उपभोगके ही योग्य और अमृतमय ( आमोदमय, सुधामय ) एवं अल्प-परिमाणमें बालभाव ( शिशुत्व, रक्तिमा ) परित्यागकारी, शरीरारोही यौवनके समान गगनारोही चन्द्रमण्डल रात्रिको मनोहर करने लगा।

उसके बाद समीपवर्ती पूर्व-समुद्रमेंसे प्रवाल-मणिके किरणसे मानो रक्तवर्णके समान, उदयाचलस्थित

१. अवदीर्य्य। २. शेषफणमण्डलेनेव। ३. रजनिकरबिम्बेन। ४. क्वचित् निजपदं न विद्यते।

हरिण-शोणित-शोणीकृतमिव रति-कलह-कुपित-रोहिणी-चरणालक्तक-रस-लाञ्छितमिव अभिनवोदय-रागलोहितं[1] रजनीकरम्[2], उदितं विलोक्य अन्तर्ज्वलितमदनानलाप्यन्धकारितहृदया, तरलिकोत्सङ्गविधृतशरीरापि मन्मथहस्तवर्त्तिनी, चन्द्रगतनयनापि मृत्युमालोकयन्ती तत्क्षणमचिन्तयम्–'एकत्र खलु मधुमास[3]-मलयमारुतप्रभृतयः समस्ताः, एकत्र चायं पापकारी[4] चन्द्रहतको न शक्यते सोढुम् इदमतिदुर्विषहमदनवेदनातुरञ्च मे हृदयम्। अस्य चोद्गमनमिदं सदाहज्वरस्यं अङ्गारवर्षः, शीतार्त्तस्य तुषारपातः, विषस्फोटँ-मूर्च्छितस्य कृष्णसर्पदंशः' इत्येवं चिन्तयन्तीमेवं चन्द्रोदयोपनीता कमलवनम्लानिनिद्रेवं मूर्च्छा मां निमीलितलोचनामका-

आहतः प्रहतो यो निजहरिणः स्वीयोत्सङ्गस्थायी मृगः तस्य शोणितेन रुधिरेण शोणीकृतमिव रक्तवर्णीकृतमिव, तथा रतिकलहे सुरतविवादे कुपिता क्रुद्धा या रोहिणी तन्नामिका स्वस्त्री तस्याः चरणयोः पादयोः अलक्तकरसेन लाक्षाद्रवेण लाञ्छितमिव पादप्रहारात् चिह्नितमिव, उदितं तं रजनीकरं शशिनं विलोक्य निरीक्ष्याहम्, अन्तः अभ्यन्तरे ज्वलितः प्रदीप्तो मदनानलः कामवह्निः यस्यां साऽपि अन्धकारितहृदयेति विरोधः, तद्विरहात्प्रमोदशून्यमानसेति परिहारः। तरलिकया उत्सङ्गे निजक्रोडे विधृतं स्थापितं शरीरं वपुर्यस्याः सा तथोक्ता सत्यपि मन्मथहस्तवर्त्तिनी कामदेवकरस्थायिनीति विरोधः, मन्मथवशीभूतेति तत्परिहारः। तथा चन्द्रगतनयनापि शशिप्राप्तलोचनापि मृत्युं मरणम् आलोकयन्ती पश्यन्तीति विरोधः, प्रियसमागमाभावे कामतापात् संमुखस्थं मरणं सम्भावयन्तीति तत्परिहारः। एवंविधा सती तत्क्षणं तत्कालम् अचिन्तयं चिन्तितवती।

इह 'प्रत्यासन्ने' त्यादयस्तिस्रः क्रियोत्प्रेक्षाः पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गेन सङ्कीर्णाः, उत्तरे च त्रयो विरोधाभासा इत्येतेषां मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

एकत्रेति, एकस्मिन् पक्षे पापकारी पापिष्ठः चन्द्रः शशी एव हतको घातकः, उद्दीपनकार्ये मलयमारुतादीनामनेकानां प्रातिद्वन्द्वे अयमेक एव चन्द्रतुल्य इत्यभिप्रायः। अत एव सोढुं न शक्यते न पार्यते। तेन च इदं मे मम हृदयं मनः अतिदुर्विषहया अतिदुःसहया मदनवेदनया कामपीडया आतुरं विह्वलं जातमिति शेषः। अस्य चन्द्रहतकस्य च इदम् उद्गमनम् उदयः, दाहज्वरो दहनसन्तापः तेन सह स्थितः तस्य सदाहज्वरस्य लोकस्य सम्बन्धे अङ्गारवर्षः ज्वलद्दारुवृष्टिस्वरूपम् शीतार्त्तस्य शीतपीडितस्य लोकस्य सम्बन्धे तुषारपातः हिमपतनस्वरूपम्, तथा विषस्फोटेन विषवत्पीडोत्पादकव्रणविशेषेण मूर्च्छितस्य मूर्च्छां प्राप्तस्य लोकस्य सम्बन्धे कृष्णसर्पदंशः विजातीयविषधरदंशनस्वरूपम्, कामपीडाव्यथितस्य लोकस्य सम्बन्धे पुनर्नितान्तपीडोत्पादकमित्याशयः।

इह निरङ्गं मालारूपकं दर्पणोदाहृत 'निर्माणकौशलं धातुः' इति वदिति कुशलाः।

इत्येवमिति। चिन्तयन्तीं ध्यायन्तीमेव, चन्द्रोदयेन शशाङ्कोद्गमेन उपनीता उपस्थापिता, कमलवनस्य पङ्कजारण्यस्य म्लानिः सङ्कोच एव निद्रा प्रमीला सेव, मूर्च्छा मां महाश्वेतां निमीलितलोचनां

सिंहके कर-प्रहारसे आहत हुए अपने क्रोड़स्थित हरिणके रुधिरसे, मानो रक्तवर्ण किए हुएके समान और सम्भोग-कलहमें कुपित हुई रोहिणीदेवीके चरणोंकी महावरसे मानो रञ्जित हुएके समान नूतन उदय-रागसे रक्त चन्द्र-मण्डलको उदित हुआ देख, मैं अपने अभ्यन्तरमें कामाग्निके ज्वलित रहने पर भी अन्धकार (जहाँ क्या करूँ क्या न करूँ इस प्रकार सूझ न हो ऐसेसे ) युक्त हृदयवाली, तरलिकाकी गोदमें मेरा शरीर रहनेपर भी कामदेवके हाथोंमें पड़ी, चन्द्रके ऊपर दृष्टि रखने पर भी मृत्युको देखती, उस समय विचार करने लगी—एक ओर तो चैत्रमास और मलय-मारुतप्रभृति सकल उद्दीपक-पदार्थ, और दूसरी ओर यह पापाचारी खलस्वभाव चन्द्र असहनीय हो रहा है। मेरा हृदय भी अत्यन्त दुःसह मदन-वेदनासे व्याकुल हो रहा है। हाय ! इसका उदय मुझे, दाहज्वरसे पीड़ित पर जलते हुए काष्ठ ( अङ्गारों ) की वर्षा, शीतमें कम्पायमानके ऊपर हिमपात, विषैले व्रणसे मूर्छितको भयङ्कर सर्पके काटनेके समान है। मैं इस प्रकार चिन्ता करती ही थी कि उस समयमें चन्द्रोदय होनेसे कमल-वनके सङ्कोचनिद्राके समान, मुझे मूर्च्छा आ गई मेरी आँखें मुद्रित हो ( मिच ) गईं किन्तु थोड़ी ही देरमें शीघ्रतासे

१···उदयलोहितं। २. रजनिकरम्। ३. मदनमधुमास···। ४. एकत्र चापकारी। ५. अतिदुर्विषहं मदनातुरञ्च, अतिदुर्निरहमदनातुरञ्च। ६. सदाहज्वरग्रस्तस्य। ७. विषविस्फोट···। ८. विचिन्तयन्तीमेव। ९. ग्लानिनिद्रेव।

र्षीत् । अचिरेण च सम्भ्रान्ततरलिकोपनीताभिश्चन्दनचर्चाभिस्तालवृन्तानिलैश्चोपलब्धसंज्ञा तामेवाकुलाकुलां मूर्त्तेनेवाधिष्ठितां विषादेन, मल्ललाटविधृत-स्रवच्चन्द्रकान्तमणिशलाकाम्, अविच्छिन्न-बाष्पजलधारान्धकारितमुखीं रुदतीं तरलिकामपश्यम् । उन्मीलितलोचनाञ्च मां सा कृतपादप्रणामाचन्दनपङ्कार्द्रेण करयुगलेन बद्धाञ्जलिरवादीत्—'भर्तृदारिके ! किं लज्जया गुरुजनापेक्षया वा । प्रसीद, प्रेषय माम्, आनयामि ते हृदयदयितं जनम्, उत्तिष्ठ स्वयं वा तत्र गम्यताम्, अतः परमसमर्थास्मि सोढमिमं प्रबल-चन्द्रोदय-विजृम्भमाणोत्कलिकाशतमुदधिमिव मकरचिह्नम्' इत्येवं वादिनीं तामहमवोचम्[१]-'उन्मत्ते ![२] किं मन्मथेन । नन्वयं सर्वविकल्पानपहरन्[३], सर्वोपायदर्शनान्युत्सारयन्, सर्वानन्तरायान् अन्तरयन्, सर्वशङ्कास्तिरस्कुर्वन्,

मुद्रितनेत्राम् अकार्षीत् अकरोत् । उपमा ।

अचिरेणेति । किञ्चेति चार्थः । सम्भ्रान्तया सत्वरया तरलिकया उपनीताभिः दत्ताभिः चन्दनस्य मलयजस्य चर्चाभिः लेपनैः, तरलिकासञ्चालितैः तालवृन्तानिलैः व्यजनपवनैश्च, अचिरेण अल्पसमयेनाहम् उपलब्धसंज्ञा प्राप्तचेतना सती, आकुलाकुलां मम दशावलोकनेनात्यन्तव्यग्राम्, मूर्त्तेनेव शरीरधारिणेव विषादेन अधिष्ठिताम् आश्रिताम् मम ललाटे भाले विधृता शान्त्यर्थं निहिता स्रवन्ती चन्द्रकिरणस्पर्शात् सलिलं क्षरन्ती चन्द्रकान्तमणिशलाका यया ताम्, तथा अविच्छिन्नया अत्रुटितया बाष्पजलधारया नयनाम्बुप्रवाहेण अन्धकारितं समुत्पन्नतिमिरं मलिनमित्यर्थः मुखं वदनं यस्याः ताम् । रुदतीम् आक्रन्दतीम् ।

इह 'मूर्त्तेनेव' इति मूर्त्तिसम्बन्धित्वोत्प्रेक्षणाद् गुणोत्प्रेक्षा ।

उन्मीलितेति, किञ्च, उन्मीलितलोचनां, विकसितनयनां मां, कृतो विहितः पादयोर्मम चरणयोः प्रणामो नमस्कारो यया सा, तरलिका, चन्दनस्य मलयजस्य पङ्केन मदङ्गलेपनसमयसंसक्तेन गाढद्रवेण आर्द्रं क्लिन्नं तेन, करयुगलेन हस्तद्वयेन बद्धाञ्जलिः अन्योन्यसंयुक्तपाणिः अवादीत् अवोचत्—'भर्तृदारिके राजपुत्रि ! गुरुजनापेक्षया मातृपित्राद्यपेक्षया लज्जया त्रपया वा किं न किमपीत्यर्थः । हृदयदयितं प्राणप्रियम् । प्रबलः प्रकृष्टो यः चन्द्रोदयः शशाङ्कोद्गमः तेन विजृम्भमाणं वर्द्धमानम् उत्कलिकाशतम् उत्कण्ठावृन्दं तरङ्गसमुदायश्च यत्र तं तथोक्तम्, उदधिं सागरमिव मकरचिह्नं पताकारूपलक्षणं यस्य तं तादृशं मकरकेतुं भवत्यां समुत्पन्नं कामम्, अतः परं सोढुं सहनं विधातुम् असमर्थास्मि अक्षमास्मि, अत एव स्वयं वा तत्र व्रज्यतामित्याशयः । पूर्णोपमा ।

उन्मत्त इति । उन्मत्ते उन्मादवति ! बहुविधप्रलापात् अथ च यथार्थापरिज्ञानादित्याशयः । मन्मथेन किम् एकेन कामदेवेन किं कृतमित्यर्थः । नन्वित्यामन्त्रणे, 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । येन हि, मृत्योः सकाशं तत्राप्राप्तौ कामदेवाख्याचारात् मृत्योर्निकटम्, वा अथवा सति सम्भवे तस्य कुमारस्यैव सकाशं नेता मां गमयिता अयं दृश्यमानं कुमुदानां बान्धवः स्वजनश्चन्द्रः, सर्वान् समस्तान् विकल्पान् पूर्वप्रतिपादितरूपान् वितर्कान् अपहरन् दूरीकुर्वन् यथाक्रमासहनताप्रतिपादनेन अवसराप्रदानादित्याशयः, सर्वेषां समस्तानाम् उपायानां कामपीडाविनाशकारणीभूतानां मलयजद्रवलेपनादीनां दर्शनानि तत्पीडापनोदकत्वेन ज्ञानानि उत्सारयन् विनाशयन् स्वमाहात्म्येन तैस्तद्विनाशा-

तरलिकाद्वारा की हुई चन्दनचर्चा ( लेपन ) और तालव्यजन ( पङ्खों ) की हवासे मुझे चेतना प्राप्त हुई और मैंने देखा तो तरलिका, मानो मूर्त्तिमान् साक्षात् विषाद ही हो ऐसी, अत्यन्त विह्वल होकर बैठी थी । मेरे ललाटके ऊपर जलस्रावी एक चन्द्रकान्त-मणिकी शलाका रख वह रो रही थी और निरन्तर अश्रुजलकी धारासे उसका मुखमण्डल मलिन हो गया था । मेरी आँखें खुली देख उसने मेरे चरणोंमें प्रणाम किया और चन्दन-रससे आर्द्र अपने दोनों हाथ जोड़ कर कहा—राजकन्ये ! अब लज्जा किंवा गुरुजनोंके भयसे क्या है ? प्रसन्न होकरके मुझे भेजिए मैं आपके प्राणनाथको ले आऊँ, अथवा आप ही स्वयं उठ कर वहाँ जाइये । स्फुट चन्द्रोदयसे समुद्र-तरङ्गके समान आपकी भी उत्कण्ठा शतगुणित वृद्धि पा रही है, इसलिए अब आप इस कामदेवको अधिक देर तक सहन नहीं कर सकती हैं । तब इस प्रकार कहती हुई तरलिकाको मैंने प्रत्युत्तर दिया—'अरी उन्मत्ते ! अकेले कामदेव क्या है ? देखो,—समस्त वितर्कोंको हरनेवाला, समस्त उपायोंके दर्शन दूर करनेवाला, समस्त प्रतिबन्धकोंको छिपानेवाला,

१. तामवोचम् । २. उन्मत्तिके । ३. अपाहरत् । ४. क्वचित् 'सर्वान्' इति पदं न विद्यते ।

लज्जामुन्मूलयन्, स्वयमभिगमनलाघवदोषमावृण्वन्, कालातिपातं परिहरन्, आगत एव मृत्योस्तस्यैव वा सकाशं नेता कुमुदबान्धवः। तदुत्तिष्ठ यथाकथञ्चिदनुगमनेन जीविता[1] सम्भावयामि हृदयदयितमायासकारिणं जनम्' इत्यभिदधाना मदनमूर्च्छास्वेदविह्वलैरङ्गैः कथञ्चिदवलम्ब्य तामेवोदतिष्ठम्। उच्चलितायाश्च मे दुर्निमित्तनिवेदकमस्पन्दत दक्षिणं लोचनम्। उपजातशङ्का चाचिन्तयम्—'इदमपरं किमप्युपक्षिप्तं दैवेन' इति।

अथ नातिदूरोद्गतेन त्रिभुवनप्रासादमहाप्रणालानुकारिणा सुधासलिलप्लवानिव[3] वहता चन्दनरसनिर्झरनिकरानिव क्षरता अमृतसागरपूरानिवोद्गिरता श्वेतगङ्गाप्रवाहसहस्राणीव

---

सम्भवात्, सर्वान् अन्तरायान् जनसाक्षात्कारप्रभृतीन् विघ्नान् अन्तरयन् व्यवधानं कुर्वन् निजोत्पन्नौत्सुक्यस्य प्रकृष्टत्वात् सर्वशङ्काः पितृमात्राद्यननुमति निबन्धनातङ्कान् तिरस्कुर्वन् न्यक्कुर्वन् साम्प्रतिकौत्सुक्यतस्तथाविधातङ्कानां सर्वथा दुर्बलत्वात्, लज्जां त्रपाम् उन्मूलयन् उत्पाटयन् एतदौत्सुक्यसमीपे त्रपायास्तुच्छत्वात्, स्वयम् आत्मना अभिगमनेन अनुसरणेन यः स्वस्य लाघवं लघुत्वरूपो दोषस्तम् आवृण्वन् आच्छादयन् साम्प्रतिकौत्सुक्यस्य सर्वोपरिस्थायित्वात्, कालातिपातं समयविलम्बं परिहरन् परित्यजन् कामपीडायाः सर्वथा असोढव्यत्वात्, आगत एव मां तत्र नेतुं प्राप्त एव, अतएव न विद्यते नानाकल्पप्रकाशप्रयोजनमित्यभिप्रायः।

तदिति। तत्तस्मात् कारणात् उत्तिष्ठ उत्थानं विधेहि अतिशीघ्रेणेति शेषः। यथाकथञ्चित् क्लेशेनापीत्यर्थः, भीषणकामपीडावशान्निःसारदेहतयेत्याशयः, अनु तं कुमारमुद्दिश्य गमनेन जीविता श्वसिता अहम्, आयासकारिणं तन्नुदयेनैव तावत्क्लेशोत्पत्तेः कष्टदायिनं हृदयदयितं प्राणप्रियं तं जनं सम्भावयामि उच्छ्वासयामि। अनेन समागमाभावे स चाहञ्च प्राणत्यागं करिष्याव इति द्योतितम्। मदनमूर्च्छया मन्मथाधिक्येन यः स्वेदो घर्मः तेन विह्वलैः आकुलैः अङ्गैः करचरणाद्यवयवैरुपलक्षिता, तां तरलिकामेव कथञ्चित् क्लेशेन अवलम्ब्य विधृत्य उदतिष्ठम् उत्थितवती।

उच्चलीति। अपि च उच्चलितायाः तं प्रति प्रस्थितायाः मे मम दक्षिणम् अपसव्यं लोचनं नयनं दुर्निमित्तनिवेदकम् अमङ्गलसूचकं यथा स्यात्तथा अस्पन्दत अस्फुरत्। उपजातशङ्का समुत्पन्नातङ्का। दैवेन विधिना किमपि अमङ्गलमित्यर्थः, उपक्षिप्तम् उपस्थापितम्, नारीणां दक्षिणाक्षिस्फुरणस्य स्वजनविनाशद्योतकत्वादित्यभिप्रायः।

अथेति। अथ दुर्निमित्तप्राप्त्यनन्तरं प्रदोषसमय एव 'तस्मात् प्रासादशिखरादवातरम्' इत्यग्रिमेण सम्बन्धः। त्रिभुवनं त्रिविष्टपमेव प्रासादः सौधः तस्य महाप्रणालं विपुलसलिलनिस्सरणमार्गम् अनुकरोतीति तेन। जलसदृशशीतलमयूखनिःसारणात् गोलाकारत्वाच्च प्रासादोपरिप्रान्तस्थायि गोलाकारजलनिर्गमनमार्गानुकारित्वं चन्द्रस्येत्यवधेयम्। सुधा प्रासादलेपनद्रव्यं तद्युक्तं सलिलं जलमिति सुधासलिलं तस्य प्लवान् ओघान् वहता दधतेव, तथाविधशुभ्रमयूखत्वादित्याशयः, एवमग्रेऽपि। चन्दनरसस्य मलयजद्रवस्य निर्झरनिकरान् धारासमूहान् क्षरता स्रवतेव। अमृतसागरस्य सुधासमुद्रस्य पूरान् ओघान् उद्गिरता वमतेव। तथा श्वेतगङ्गायाः श्वेतजाह्नव्याः प्रवाहाणां धाराणां सहस्राणि समूहा वमता उद्गिरतेव। नाति-

---

समस्त संशयोंको टालनेवाला, समस्त शङ्काओंको मिटानेवाला, लज्जाका विनाश करनेवाला, अपने आप ही उसके समीप जानेकी लघुताके दोषका आच्छादन करनेवाला, विलम्बका दूर करनेवाला, मृत्युके अथवा उस कुमारके ही निकट ले जानेवाला, यह चन्द्रमा उपस्थित हो ही गया है। अत एव उठो; जितनी देर तक मैं जीवित हूँ उतनी देर तक किसी प्रकारसे उसके पास चल क्लेशदायक उस प्राणवल्लभको जीवित रक्खें' यों कहती कहती मैं कामवृद्धिजनित स्वेदसे विह्वल हुए अङ्गोंसे उस ( तरलिका ) का ही सहारा लेकर जिस किसी प्रकार उठी, उठ कर उसी दिशा की ओर चलते ही, अमङ्गल परिणाम सूचक दक्षिण-नयन स्पन्दित होने ( फड़कने ) लगा, उससे मुझे आशङ्का उत्पन्न हुई और विचार हुआ कि 'विधाताने कोई एक दूसरा विघ्न उपस्थापित किया।'

तदनन्तर त्रिभुवन-रूपी अट्टालिकाके ऊपर भागमें महाप्रणाल (विशाल पनाला) का अनुकरण करते सुधासलिलकी धाराको मानो नीचे बहाते, चन्दन-रसके प्रवाहसमूह ( झरनों ) को मानो निःसारण कराते ( झराते. )

---

१. अनुद्गतजीविता, अनु-गमनजीवना। २. खेद। ३'''पूरानिव।

वमता चन्द्रमण्डलेन प्लाव्यमाने[1] ज्योत्स्नया भुवनान्तराले, श्वेतद्वीपनिवासमिव सोमलोकदर्शनसुखमिवानुभवति जने, महावराह-दंष्ट्रामण्डलनिभेन शशिना क्षीरसागरोदरादिवोद्ध्रियमाणे महीमण्डले, प्रतिभवनमङ्गनाजनेन विकचमुकुदगन्धैश्चन्दनोदकैरुपह्रियमाणेषु चन्द्रोदयार्घेषु, कामिनी-प्रहित-सुरत-दूती-सहस्र-सङ्कुलेषु राजमार्गेषु, नीलांशुकावगुण्ठनासु चन्द्रालोकभयचकितासु कमलवनलक्ष्मीष्विव नीलोत्पलप्रभापिहितासु[2] इतस्ततः पलायमानास्वभिसारिकासु, प्रतिकुसुदमाबद्धमधुकरमण्डलासु प्रबुध्यमानासु भवनदीर्घिकाकुमुदिनीषु,

दूरोद्गतेन अतिविप्रकृष्टोदितेन चन्द्रमण्डलेन शशिबिम्बेन कर्त्रा, ज्योत्स्नया चन्द्रिकया करणेन, भुवनान्तराले विष्टपमध्ये प्लाव्यमाने पूर्यमाणे सति।

इह 'त्रिभुवनप्रासादमहाप्रणालानुकारिणा' इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकम् आर्थोपमा च अनयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः। 'वहतेव' इत्यादयश्चतस्रः क्रियोत्प्रेक्षाः, आसामुक्तसङ्करस्य च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। 'श्वेतगङ्गा' इत्यत्र श्वेतपदं च कालिन्दीजलाऽसंपृक्तांशबोधनेन शुभ्रतामात्रावगमायेति सुधीभिराकलनीयमिति कुशलाः।

श्वेतेति। जने लोके, श्वेतद्वीपे निवासं वसतिमिव तथा सोमलोकस्य चन्द्रलोकस्य दर्शनसुखमिव अवलोकनानन्दमिव अनुभवति साक्षात्कुर्वति सति, समस्तश्वेतसाक्षात्कारादित्याशयः।

इह क्रियोत्प्रेक्षागुणोत्प्रेक्षयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

महावराहेति महीमण्डले क्षोणीमण्डले, महावराहस्य विष्णोस्तृतीयावतारस्य दंष्ट्रामण्डलनिभेन दन्तसमूहसदृशेन श्वेतत्वादित्याशयः। शशिना चन्द्रेण क्षीरसागरस्य दुग्धाम्बुधेः उदरात् अभ्यन्तरात् उद्ध्रियमाण इव बहिर्निष्कास्यमान इव सति, दुग्धक्षरणवत् समन्तात् शुभ्ररश्मिप्रसरणादित्याशयः।

इह दंष्ट्रामण्डलनिभेन' इत्यत्रार्थोपमा,'उद्ध्रियमाण इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

प्रतीति। प्रतिभवनं प्रतिगृहम् अङ्गनाजनेन स्त्रीवर्गेण कर्त्रा, विकचा विकसिता ये कुमुदाः कैरवाः तेषां गन्धः परिमलो येषु तैः तथोक्तैः चन्दनोदकैः मलयजसलिलैः करणैः, चन्द्रोदयार्घेषु शशाङ्कोद्गमनपूजासु उपह्रियमाणासु दीयमानासु सत्सु।

कामिनीति। राजमार्गेषु राजपथेषु, कामिनीभिः रमणीभिः प्रहिताः प्रियवल्लभसमीपेषु प्रेरिता याः सुरतदूत्यः रमणसञ्चारिकाः तासां सहस्रेण समूहेन सङ्कुलेषु व्याप्तेषु सत्सु।

नीलांशुकेति। नीलांशुकैः श्यामवर्णवस्त्रैः अवगुण्ठनम् अन्धकारसादृश्येन तत्र जनानामनिरीक्षणाय देहवेष्टनं यासां तासु, अतएव नीलोत्पलानाम् इन्दीवराणां प्रभाभिः कान्तिभिः पिहितासु आवृतासु कमलवनलक्ष्मीष्विव पङ्कजवनश्रीष्विव अभिसारिकासु सङ्केतस्थानादिगामिनीषु नायिकाविशेषेषु चन्द्रस्य शशिनः आलोकेन प्रकाशेन यद्भयं जनावलोकनात्रासः तेन चकितासु उद्विग्नासु विद्यमानासु, इतस्ततः पलायमानासु धावमानासु विद्यमानासु। इह श्रौतोपमा, सा च पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गेन सङ्कीर्णा। साहित्यदर्पणकृता अभिसारिकास्वरूपमेवमभिहितम्—

'अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा। स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका॥'

प्रतिकुमुदमिति। कुमुदं कुमुदं प्रति प्रतिकुमुदम् आबद्धं धृतं मधुकरमण्डलं द्विरेफगणो याभिस्तासु, भवनदीर्घिकाया गृहवापिकायाः कुमुदिनीषु कैरविणीषु, प्रबुध्यमानासु स्फुटमानासु सतीषु।

अमृतसमुद्रके जलराशिको मानो उद्गिरण करते, श्वेतगङ्गाके असंख्य प्रवाहोंको मानो वमन करते ( उगलते ), चन्द्रमण्डलका थोड़ा-थोड़ा उदय होनेसे आकाश जब ज्योत्स्ना ( चाँदनी ) में डूब गया था, सब लोग मानो श्वेतद्वीपमें निवासका या चन्द्र-लोकके दर्शनका सुख अनुभव करते थे, पृथिवीमण्डलको-आदि वराहके दन्तमण्डलके समान-चन्द्रमण्डल मानो क्षीरसागरके अभ्यन्तरमेंसे बाहर निकलता था, प्रत्येक घरमें सुन्दरियाँ प्रस्फुटित कुमुदसे सुगन्धित किए हुए चन्दन-जलद्वारा चन्द्रोदयके उद्देश्यसे अर्घ देती थीं, राजमार्ग कामिनियोंद्वारा प्रेरित हजारों रति-दूतियोंसे व्याप्त हुआ था, नील-वस्त्रसे समस्त शरीरको आच्छादित कर चन्द्र-प्रकाश मध्य-लोगोंके देखनेके भयसे उद्विग्न होकर—नीलोत्पलकी प्रभासे आच्छादित हुई कमल-वन शोभाके समान अभिसारिकाएँ जब इधर उधर भाग रही थीं, प्रत्येक कुमुदके ऊपर भ्रमरोंके झुण्ड आकर बैठे हुए थे ऐसी भवनस्थित

१. आप्लाव्यमाने। २. सनीलोत्पलप्रभासु।

स्फुटितकुमुदवन-बहल-धूलि-धवलितोदरे निशा-नदी-पुलिनायमाने अन्तरीक्षे[1], चन्द्रोदयानन्दनिर्भरे महोदधाविव रतिरसमय इव उत्सवमय इव विलासमय[2] इव प्रीतिमय इव जीवलोके, शशिमणिप्रणालनिर्झरे प्रमोद-मुखर-मयूर-रवरम्ये प्रदोषसमये, गृहीत-विविध-कुसुम-ताम्बूलाङ्गराग-पटवास-चूर्णया तरलिकयानुगम्यमाना, तेनैव मूर्च्छानिहितेन किञ्चिदाश्यान-चन्दन-ललाटिका-लग्न-धूसरा-कुलालकेन चन्दनरसचर्चाङ्गरागवेशेनार्द्रेण[3], तथैव च तया कण्ठस्थितयाक्षमालया श्रवणशिखरचुम्बिन्या च पारिजातमञ्जर्या, पद्मरागरत्नरश्मिनिर्म्मि-

---

स्फुटितेति । अन्तरीक्षे गगने, स्फुटितस्य विकसितस्य कुमुदवनस्य कैरवारण्यस्य बहलधूलिभिः प्रचुरपरागैः धवलितं श्वेतीकृतम् उदरम् अभ्यन्तरं यस्य तस्मिन् तथोक्ते सति, अत एव निशा रात्रिरेव नदी श्यामत्वसादृश्यादित्याशयः, तस्याः पुलिनायमाने तोयोत्थितसैकतमयदेशवदाचरति सति धूलीनां सैकतवच्छ्वेतत्वादित्याशयः ।

इह निरङ्गकेवलरूपकव्यङ्ग्यतोपमयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः, तथा पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, इत्युभयोः पुनरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

चन्द्रोदयेति । चन्द्रोदयेन शशाङ्कोद्गमेन आनन्दनिर्भरः प्रहर्षातिशयो यत्र तथोक्ते, अतएव महोदधौ समुद्राविव स्फीत इति शेषः, जीवलोके प्राणिवर्गे, रतिसमय इव शृङ्गारमय इव, विलासमय इव लीलामय इव, प्रीतमय इव स्नेहमय इव च सति ।

इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं श्रौतोपमा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः, 'रतिसमय' इत्यादयश्चतस्रो गुणोत्प्रेक्षाश्चेत्येतासां परस्परं नैरपेक्ष्येण पुनः संसृष्टिः । तथा 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणौ तथा' इत्युक्तदिशा स्थायिभावस्य रसस्य चेह 'रतिरसे'त्यनेनाभिधानाद्दोषः समापतति स च 'औत्सुक्यमय इव' इति पाठेन परिहार्यः ।

शशीति । शशिमणयः चन्द्ररश्मिसम्पर्केण सलिलस्राविणश्चन्द्रकान्ता एव प्रणालाः सलिलनिःसरणनालानि तेषां निर्झरो वारिप्रवाहो यत्र तथोक्ते, तथा प्रमोदेन वर्षाभ्रमाज्जातानन्देन मुखराणां शब्दायमानानां मयूराणां बर्हिणां रवैः केकाशब्दैः रम्ये मनोहरे प्रदोषसमये रजनीमुखकाले जाते सति ।

इह निरङ्गं केवलरूपकम्, भ्रान्तिमांश्चापीति केचित् ।

गृहीतेति । गृहीतानि आत्तानि विविधानि नानारूपाणि ताम्बूलानि नागवल्लीदलानि अङ्गरागो अनुलेपनं पटवासचूर्णानि पिष्टातकचूर्णानि च यया तया, तरलिकया पूर्वोक्तया दास्या अनुगम्यमाना अनुव्रज्यमाना । मूर्च्छानिहितेन मूर्च्छासमये तरलिकया स्थापितेन, किञ्चिदाश्याना समयेन शुष्कतया ईषद्घनीभूता या चन्दनस्य मलयजस्य ललाटिका भाले तिलकविशेषः तत्र लग्नाः संसक्ता अतएव धूसराः किञ्चित्पाण्डुराः आकुला विक्षिप्ता अलकाः स्खलितकुन्तला यत्र तेन । आर्द्रेण तत्कालेऽपि किञ्चित्क्लिन्नेन चन्दनरसस्य मलयजद्रवस्य चर्च्चा लेपनमेव अङ्गरागः स एव च वेशो नेपथ्यं तेन उपलक्षिता । अपि च, तथैव तत्काले स्थापनरूपेणैव, कण्ठस्थितया निगरणनिहितया अक्षमालया जपमालया चोपलक्षिता । तथा श्रवणशिखरचुम्बिन्या कर्णोपरिस्थायिन्या, तथा पारिजातमञ्जर्या मन्दारवल्लर्या चोपलक्षिता इह प्रियसम्बन्धि तदिदं मण्डनमिति शरीरात्पृथक्कर्त्तुं नाशाकीति न विस्मर्त्तव्यम् । तथा पद्मरागरत्नस्य लोहित

---

सरोवरकी कुमुदिनी प्रस्फुटित होने ( खिलने ) लगी थीं, प्रस्फुटित कुमुद-वनकी अतिशय रजसे मध्यभाग श्वेतवर्ण हो जानेके कारण आकाश रात्रिरूप नदीके पुलिन ( तोयोत्थित बालुकामय देश ) के समान दिखलाई देता था, समस्त जीवलोक महासमुद्रके समान, चन्द्रोदयसे आनन्दमें मग्न होकर, मानो शृङ्गाररसमय, उत्सवमय, विलासमय एवं प्रीतिमय हो गया था, चन्द्रकान्तमणिरूपी प्रणालों ( पनालों ) मेंसे जलनिस्सरण होने लगा था, ऐसे—आमोदसे गान करते मयूरोंके स्वरसे मनोहर-प्रदोषकाल उपस्थित होने पर, नानाविध पुष्प, ताम्बूल, अंगलेपनद्रव्य और अबीर-चूर्ण लेकर पीछे-पीछे आती तरलिकाके साथ—मूर्च्छाके समय ललाट पर लगाए, थोड़े-थोड़े शुष्क, चन्दन-रसमें संलग्न हो ( चिपक ) जानेसे धूसरवर्ण हुई और बिखरी लटों सहित, चन्दन-रसके लेपन-रूपी अंगरागसे अत्यन्त आर्द्र हुए वेश विन्यास-सहित, वैसीकी वैसी गलेमें धारण की हुई जपमाला-सहित

---

१. अन्तरिक्षे । २. प्रीतिमय इव, मदनमय इव विलासमय इव । ३. आर्द्रार्द्रेण ।

तेनेव[1] रक्तांशुकेन कृतशिरोऽवगुण्ठना केनचिदात्मीयेनापि परिजनेनानुपलक्ष्यमाणा तस्मात् प्रासादशिखरादवातरम् ।

अवतीर्य्य च पारिजातकुसुम-मञ्जरी-परिमलाकृष्टेन रिक्तीकृतोपवनेन कुमुदवनान्यपहाय धावता मधुकरजालेन नीलपटावगुण्ठनविभ्रममिव[2] सम्पादयतानुबध्यमाना प्रमदवनपक्षद्वारेण निर्गत्य तत्समीपमुदचलम् ।

प्रयान्ती च तरलिकाद्वितीयमपरिजनम्[3] आत्मानमालोक्य[4] अचिन्तयम्—'प्रियतमाभिसरणप्रवृत्तस्य जनस्य किमिव कृत्यं बाह्येन परिजनेन । नन्वेत एव परिजनलीलामुपदर्शयन्ति । तथाहि, समारोपितशरासनासक्तसायकोऽनुसरति कुसुमायुधः, दूरप्रसारितकरः

---

कमणेः रश्मिभिः कान्तिभिः निर्मितेन रचितेनेव, रक्तत्वसादृश्यादित्याशयः, रक्तांशुकेन लोहितवस्त्रेण कृतं विहितं शिरसो मस्तकस्य अवगुण्ठनं यया सा । केनचित् आत्मीयेनापि स्वकीयेनापि परिजनेन सेवकेन अनुपलक्ष्यमाणा अज्ञायमाना । तस्मात् पूर्वोक्तात् प्रासादशिखरात् सौधप्रान्तात् अवातरम् उत्तीर्णा ।

इह 'निर्मितेनेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

अवेति । पारिजातस्य मन्दारस्य या कुसुममञ्जरी पुष्पवल्लरी तस्याः परिमलेन सौरभेण आकृष्टम् आकर्षितं तेन । रिक्तीकृतं समस्तानामेव मधुकराणां तत्रैवागमनात् शून्यीकृतम् उपवनं प्रमदवनं येन तेन । नीलपटेन कृष्णांशुकेन यत् अवगुण्ठनं शिरोवेष्टनं तस्य विभ्रमं विलासं शोभां सम्पादयता निष्पादयतेव, शिरस उपरि भ्रमणादित्याशयः, कुमुदवनानि कैरवारण्यानि अपहाय परित्यज्य धावता शीघ्रेण गच्छता मधुकरजालेन भ्रमरगणेन, अनुबध्यमाना अनुव्रज्यमाना अहम्, प्रमदवनस्य स्त्रीयोपवनस्य पक्षद्वारेण पार्श्वद्वारेण निर्गत्य निःसृत्य, तस्य कुमारस्य समीपं निकटम् उदचलम् उदगच्छम् । इह 'सम्पादयतेवे'ति क्रियोत्प्रेक्षा ।

प्रयान्तीति । प्रयान्ती गच्छन्ती, तरलिकैव द्वितीया अपरा यस्य तम्, अतएव अपरिजनं द्वितीयपरिजनवर्जितम् आत्मानं स्वम् अवलोक्य निरीक्ष्य अचिन्तयं चिन्तितवती—'प्रियतमस्य हृदयवल्लभस्य प्रियतमाया हृदयवल्लभाया वा अभिसरणे अनुगमने प्रवृत्तस्य उद्यतस्य जनस्य लोकस्य नायिकाया नायकस्य वा, बाह्येन बहिर्भूतेन परिजनेन किं नाम कृत्यं विधेयं प्रयोजनं विद्यते, अपि तु न किमपीत्यर्थः ।

इह पूर्वं यथा 'प्रासादशिखरादवातरम्, इत्यभिधाय 'अवतीर्य च' इत्युक्तं तथा 'तत्समीपमुदचलम्' इत्यभिधाय 'उच्चलन्ती' इत्येव वक्तुं युक्तम्, अन्यथा 'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यभाषत' इति दर्पणोदाहृतवद्भग्नप्रक्रमतादोषस्य निवारयितुमशक्यत्वादिति समालोचनीयम् ।

अथैवं केन विधेयं रक्षणावेक्षणादिकं सेवनकृत्यमित्यत आह—नन्विति । अवधारणार्थको ननु शब्दः । तथा चामरः—'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इति । एते अग्रे प्रतिपाद्यमानाः कुसुमायुधप्रभृतयः परिजनस्य लीलां व्यवहारम् उपदर्शयन्ति प्रकटीकुर्वन्ति । समारोपितं सज्जीकृतं यत् शरासनं धनुः तत्र आसक्तः आयुक्तः सायको बाणो यस्य स तथोक्तः कुसुमायुधो मदनः अनुसरति अनुगच्छति । अनेनास्य

---

और कानपर विद्यमान पारिजात-मञ्जरी सहित, पद्मरागमणिकी किरणसे निर्मितके समान एक रक्तवर्ण वस्त्रसे मस्तक अवगुण्ठन ( ओढ़ ) कर, कोई अपने परिजन भी देख न पावें ऐसे ढङ्गसे, प्रासाद-शिखर परसे मैं उतरी ।

वहाँसे नीचे उतर कर, जिस समय मैं प्रमद-वनके एक ओरके द्वारमेंसे बाहर आकर उसके समीप जानेको निकली, उस समय पारिजातपुष्प-मञ्जरीके सौरभसे आकृष्ट हुए, समस्त उपवन शून्य कर और कुमुद-वन छोड़ कर दौड़ आते, मानो नीलवर्ण वस्त्रके अवगुण्ठन ( बुरके ) की शोभा ही उत्पन्न करते, भ्रमरोंके झुण्ड मेरे पीछे पीछे आने लगे ।

मैं जाने के समय अपने साथ केवल तरलिका ही को—अन्य किसी परिजनके बिना देख विचार करने लगी—'जो व्यक्ति प्रियतमके निकट अभिसार करने (जाने) के लिए प्रवृत्त है, उसको बाहरी परिजनोंका क्या प्रयोजन है ? क्योंकि-ये ही सब परिजनोंका कार्य सम्पादन-जैसे कामदेव धनुष चढ़ा कर और उस पर बाण रख कर

---

१. निर्मितेन । २. ...विभ्रमानिव । ३. तरलिकाद्वितीयपरिजनम् । ४. अवलोक्य ।

करमिव कर्षति[1] शशी, प्रस्खलनभयात् पदे पदेऽवलम्बते रागः, लज्जां पृष्ठतः कृत्वा पुरः सहेन्द्रियैर्धावति हृदयम्, निश्चयमारोप्य नयत्युत्कण्ठा' इति। प्रकाशञ्चावदम्—'अयि तरलिके! अपि नाम मामिवायमिन्दुहतकस्तमपि करेण[3] कचग्रहाकृष्टमभिमुखमानयेत्' इत्येवंवादिनीञ्च मामसौ[4] विहस्याब्रवीत्-'भर्त्तृदारिके! मुग्धासि, किमस्य तेन जनेन। अयमात्मनैव तावन्मदनातुर इव भर्त्तृदारिकायां[5] तास्ताश्चेष्टाः करोति। तथाहि, प्रतिबिम्बच्छलेन स्वेदसलिलकणिकाचितं[6] चुम्बति कपोलयुगलम्, लावण्यवति पयोधरभारे निपतति, प्रस्फुरितकरः स्पृशति रसनावलिमणीन्, निर्म्मल-नख-लग्नमूर्त्तिः पादयोः पतति।

---

पृष्ठरञ्जित्वं ध्वनितम्। दूरे प्रसारितो विस्तारितः करो रश्मिः पाणिश्च येन स तथोक्तः शशी चन्द्रः करं मम हस्तं कर्षतीव आकृष्य नयतीव। रागः अनुरागः प्रस्खलनभयात् प्रच्युतित्रासात् पदे पदे प्रतिपदक्षेपम् अवलम्बते धारयति। अनयोः पचरञ्जित्वं सूचितम्। हृदयं मनः कर्त्तृ, लज्जां त्रपां पृष्ठतः कृत्वा पृष्ठे समादाय अपसार्य च इन्द्रियैः चक्षुरादिभिः सह पुरः अग्रतो धावति शीघ्रं व्रजति, तथा उत्कण्ठा औत्सुक्यं निश्चयमारोप्य नूनं तव हृदयवल्लभसङ्गमो भविष्यतीति स्थिरमतिमुत्पाद्य नयति प्रापयति। अनयोः सम्मुखरञ्जित्वं निरूपितम्। इह 'कर्षतीव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

प्रकाशमिति। अपि नामेति प्रश्नेऽर्थे। 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः। अयं पुरो दृश्यमानः इन्दुहतकः दुष्टप्रकृतिश्चन्द्रः मामिव तमपि कुमारं करेण रश्मिनैव हस्तेन, कचेषु केशेषु यो ग्रहो ग्रहणं तेन आकृष्टं सक्तं सन्तं मम अभिमुखं सम्मुखं आनयेत् प्रापयेत। एवं च सति शीघ्रप्राप्त्या कल्याणं स्यादित्याशयः।

इह रश्मिकरयोर्भेदेऽपि श्लिष्टेनाभेदारोपादतिशयोक्तिः।

इतीति। एवं वादिनीम् एवं ब्रुवाणां च मां महाश्वेताम् असौ तरलिका। मुग्धा कोमलमतिरसि, अत एवं कथयसीत्यभिप्रायः। अस्य चन्द्रस्य तेन जनेन कुमारेण किं प्रयोजनम्। अयं चन्द्रः, आत्मना स्वेनैव, मदनातुर इव कामपीडित इव। तास्ताः कामपीडासम्बन्धिनीः सर्वाः समस्ताः, चेष्टा व्यवहारान् करोति विदधाति। स्वेदसलिलस्य घर्मजलस्य कणिका विन्दवः ताभिः आचितं व्याप्तं तव कपोलयुगलं गण्डद्वयं प्रतिबिम्बच्छलेन प्रतिच्छायाव्याजेन चुम्बतीव स्पृशतीव। लावण्यवति सौन्दर्यवति पयोधरभारे तव विस्तृतकुचद्वये निपतति प्रतिबिम्बच्छलेन लगतीव, उरसा कामुकवदित्याशयः प्रस्फुरितः प्रज्वलितः सात्त्विकभावोद्गमात्प्रकम्पितश्च करो रश्मिः हस्तश्च यस्य स तथोक्तः सन्, रसनावलेः काञ्चीदाम्नः मणीन् रत्नानि स्पृशति, नीवीमोचणकाले कामुकवदित्याशयः। तथा निर्मलेषु स्वच्छेषु नखेषु तव चरणनखेषु लग्ना संक्रान्ता मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य स तथोक्तः सन् तव पादयोश्चरणयोः पततीव, कृतागसकामुकवदित्याशयः।

इह 'चुम्बतीव' 'निपततीव' इत्युभयत्र सापह्नवा प्रतीमाना क्रियोत्प्रेक्षा। न च कामुकसम्बन्धिकार्यद्वारा कामुकव्यवहारसमासोक्तिरपि स्यादिति वाच्यम्, अप्रस्तुतेन प्रस्तुतपरिस्फुर्त्तौ तदङ्गीकारात्,

---

अनुसरण करता है, चन्द्रमा अपनी किरणें दूर तक फैलाकर हाथ पकड़कर ही मानो ले जाता है; गिरनेके डरसे अनुराग मानो प्रत्येक पदक्षेपमें (पद पद पर) अवलम्बन देता है; मन लज्जाको पीछे रख कर अन्यान्य इन्द्रियोंके साथ आगे आगे दौड़ता है, एवं 'निश्चय ही प्रियतमके साथ सम्मिलन होगा' इस प्रकार निश्चय धारणा उत्पन्न कर उत्कण्ठा लिए ही जाती है। फिर मैं प्रकट कहने लगी—'अरी तरलिके! यह खलस्वभाव चन्द्र मेरे समान उसको भी कर (किरण) द्वारा केश-धारणपूर्वक खींचकर कहीं सामने न ले आवे! उस समय इसप्रकार कहती हुई मुझसे तरलिकाने हँस कर उत्तर दिया—'राजकन्ये! आप सरल बुद्धिवाली हैं इसलिए ऐसा कहती हैं'—यह चन्द्र तो अपनेसे ही कामातुरके समान आपके साथ विविध-व्यापार करता है। इसलिए उसे कुमारसे क्या प्रयोजन?' देखिए—स्वेदजलकणिकासमूहसे व्याप्त आपके कपोलों (गालों) के प्रतिबिम्बके बहानेसे मानो चुम्बन करता है! लावण्य-युक्त आपके भारी पयोधर पर मानो [प्रतिबिम्बच्छलसे कलेजेसे नायकके समान] लगता है, प्रस्फुरित (कंपित) कर (किरण) से आपके काञ्चीदाम (करधनी) के मणियोंका स्पर्श करता है, एवं निर्मल नखोंमें पड़ी हुई मूर्तिसे मानो वह आपके पैरों पर ही गिरता है, विशेषतः कामातुरके समान

---

१. दूरं करः कर्षति। २. क्वचित् 'अयम्' इति पाठो न विद्यते। ३. किरण॰॰॰। ४. क्वचित् 'असौ' इत्यस्य स्थाने 'सा' इति पाठ उपलभ्यते। ५. भर्त्तृदारिकायाः। ६॰॰॰अञ्चितं।

किञ्चास्य मदनातुरस्येव वपुस्तापाच्छुष्कचन्दनानुलेप[1]पाण्डुतां वहति[2], मृणालवलयधवलान् धत्ते, करान् प्रतिमाव्याजेन स्फटिकमणिकुट्टिमेषु निपतति, केतकी[3]-गर्भ-केसर धूसर-पादः कुमुदसरांस्यवगाहते, सलिलशीकरार्द्रान् शशिमणीन् करैरामृशति, द्वेष्टि विघटितचक्रवाक-मिथुनानि कमलवनानि ।' एतैश्चान्यैश्च तत्कालोचितैरालापैस्तया सह तमुद्देशमभ्युपागमम् ।

तत्र च मार्ग-लता-कुसुम-रजोधूसरं चरणयुगलं कैलासतटाच्चन्द्रोदयप्रस्रुत[4]-चन्द्रकान्त-मणिप्रस्रवणे[5] प्रक्षालयन्ती[6], यस्मिन् प्रदेशे स आस्ते तस्मिन्नेव चास्य सरसः पश्चिमे तटे

---

प्रकृते तु 'अयमात्मनैव तावत्' इत्यादिना चन्द्रस्यापि प्रस्तुतत्ववर्णनात् । एवं 'प्रस्फुरितकरे'त्यत्र रश्मि-हस्तयोर्भेदेऽपि श्लिष्टत्वेनाभेदारोपादतिशयोक्तिः । 'पततीव' इत्यत्र तु प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षेति समालो-चयन्ति कुशलाः ।

किञ्चेति । अपि चेति किञ्चार्थः । मदनातुरस्येव कामपीडितस्येव अस्य चन्द्रस्य वपुः शरीरं कर्तृ, तापात् कामसंज्वरादिव, शुष्को यः चन्दनस्य मलयजस्य अनुलेपः प्रलेपः पाण्डुतां शुभ्रतां वहति धार-यति । 'मदनातुरस्येव' इत्यत्रोपमा, 'तापात्' इत्यत्र प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा, एष चोत्प्रेक्षोपमया सङ्कीर्यते । मृणालवलयवत् विसकटकवत् धवलान् शुभ्रान् मृणालवलयेन धवलांश्च, करान् रश्मीनेव हस्तान् धत्ते धारयति, कामज्वरितलोकवदित्यभिप्रायः । इह रश्मिहस्तयोर्भेदेऽपि श्लिष्टेनाभेदाध्यवसायादतिश-योक्तिः । प्रतिमाव्याजेन प्रतिबिम्बच्छलेन, स्फटिकमणीनां स्फटिकरत्नानां कुट्टिमेषु बद्धभूमिषु निपतति लुठति, कामव्यथितवत् तापापनोदनार्थमित्यभिप्रायः । इहापह्नुतिः । केतक्याः प्रख्यातायाः पुष्पस्य गर्भकेसरवत् अन्तःस्थकिञ्जल्कवत् धूसर ईषत्पाण्डुः पादो रश्मिरेव चरणो यस्य स तथोक्तः, प्रतिबिम्ब-च्छलेन कुमुदसरांसि कैरवपूर्णतडागान् अवगाहते विलोडते ।

इहापह्नुतिः प्राग्वदतिशयोक्तिश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः । तथा केतकीत्यादिविशेषणदानेनापुष्टा-र्थत्वदोषस्तु न शङ्क्यः, कामज्वरेण पादस्यापि श्वेतता समुत्पन्नेति प्रदर्शनार्थत्वात् ।

सलिलशीकरैः निजस्पर्शेन निर्गतैः जलकणैः आर्द्राः क्लिन्नाः तान् शशिमणीन् चन्द्रकान्तान् करैः रश्मिभिरेव हस्तैः आमृशति स्पृशति, कामज्वरविनाशायेत्यभिप्रायः। इहाभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिः । तथा विघटितानि रजनीविरहस्य स्वाभाविकत्वाद्विश्लेषितानि चक्रवाकानां रथाङ्गानां पक्षिणां मिथुनानि द्वन्द्वानि येभ्यः तानि तथोक्तानि कमलवनानि पङ्कजारण्यानि, द्वेष्टि, एभिरेव पङ्कजारण्यैः रथाङ्गयुग-लानि वियुक्तानीति बुध्यमानः सङ्कोचयन् तेषु विद्वेषं विदधतीव, ये खलु दम्पत्योः सङ्गमं न सोढुं समर्थाः तान् प्रति सङ्गमाभिलाषिणः मदनातुरस्य विद्वेष उचित एवेत्याशयः । प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा ।' एतैः पूर्वोक्तैः अन्यैस्तद्भिन्नैश्च तत्कालोचितैः तत्समययोग्यैः आलापैः संभाषणैः । तमुद्देशं तेन कुमारेणाधिष्ठित-पूर्वं स्थानम् अभिलक्ष्यीकृत्य उपागमम् प्रापम् ।

तत्रेति । किञ्चेति चार्थः । कैलासतटात् शशिमणिमयादित्यर्थः, चन्द्रोदयेन शशाङ्कोद्गमेन प्रस्रुतं गलितं यत् चन्द्रकान्तमणीनां शशिरत्नानां प्रस्रवणं निर्झरः ( वारिप्रवाहः ) तस्मिन्, मार्गे अध्वनि यानि लताकुसुमानि वल्लीप्रसूनानि तेषां रजोभिः परागैः धूसरम् ईषत्पाण्डुरं स्वीयं चरणयुगलं पादद्वयं प्रक्षालयन्ती धौतं विदधती अहम्, यस्मिन्प्रदेशे यत्र स्थाने स कपिञ्जल आस्ते तिष्ठति तस्मिन्नेव स्थाने

---

उसका शरीर ऐसा पाण्डुवर्ण हो ( फीका पड़ ) गया है मानो काम-सन्तापवश ही उसपर शुष्क चन्दनका लेप किया गया हो । वह मृणालवलयके समान शुभ्रवर्ण कर ( किरण ) धारण करता है । प्रतिबिम्बके बहानेसे वह स्फटिकमणिकी भूमि पर पड़ता है, केतकी पुष्पके अभ्यन्तरस्थ केसर ( रज ) के समान पादों ( किरणों ) से प्रति-बिम्बके बहाने कुमुदपूर्ण सरोवरोंमें स्नान करता है, जल-कणोंसे आर्द्र ( गीले ) चन्द्रकान्त-मणियोंके ऊपर अपने करों ( किरणों ) से स्पर्श करता है, एवं रात्रि उपस्थित हो जानेसे चक्रवाकदम्पतिगण जिन कमल-वनोंके निकटसे चले गये हैं उन कमल-वनोंसे मानो विद्वेष करता है ।' इस प्रकार एवं ऐसी कितनी ही उस समयके उपयुक्त बातें करते करते उसके साथ मैं उस प्रदेशमें पहुँच गई ।

वहाँ कैलासपर्वतके शिखरमेंसे चन्द्रके उदयसे निःसृत ( रिसते ) चन्द्रकान्तमणिके झरनेमें, मार्गमें चलनेसे लगे लता-पुष्प और धूलसे धूसर हुए अपने चरणोंको प्रक्षालन करते करते ( धोते धोते ), जिस प्रदेशमें वह

---

१. चन्दनालेप । २. उद्वहति । ३. केतकि । ४'''प्रस्रुत'''स्नुत । ५. प्रस्रवणेन । ६. क्षालयन्ती ।

पुरुषस्येव रुदितध्वनिं विप्रकर्षान्नातिव्यक्तमुपालक्षयम् । दक्षिणेक्षणस्फुरणेन च प्रथममेव मनस्याहितशङ्का, तेन सुतरामवदीर्ण[1]-हृदयेव किमप्यनिष्टमन्तः कथयतेव विषण्णेनान्तरात्मना 'तरलिके ! किमिदम्' इति सभयमभिदधाना वेपमानगात्रयष्टिस्तद[2]भिमुखम् अतित्वरित-मगच्छम् ।

अथ[3] निशीथप्रभावाद्दूरादेव विभाव्यमानस्वरमुन्मुक्तार्त्तनादम्—'हा हतोऽस्मि, हा दग्धोऽस्मि, हा वञ्चितोऽस्मि, हा किमिदमापतितम्, किं वृत्तम्, उत्सन्नोऽ[4]स्मि । दुरात्मन् ! मदनपिशाच ! पाप ! निर्घृण ! किमिदमकृत्यमनुष्ठितम् ? आः पापे ! दुष्कृतकारिणि ! दुर्विनीते ! महाश्वेते ! किमनेन तेऽपकृतम् ? आः पाप ! दुश्चरित ! चन्द्र ! चाण्डाल ![5] कृतार्थोऽसि ? इदानीमपगतदाक्षिण्य ! दक्षिणानिलहतक ! पूर्णास्ते मनोरथाः कृतं यत्[6]-कर्त्तव्यम् ? वहे-

---

अस्य सरसः अच्छोदसरोवरस्य पश्चिमे तटे प्रतीचीदिग्वर्त्तितीरे पुरुषस्येव पुरुषसदृशस्य विप्रकर्षात् दूरत्वात् नातिव्यक्तम् अनतिस्पष्टं रुदितध्वनिं क्रन्दनशब्दम्, उपालक्षयम् अशृणवम् ।

दक्षिणेति । किञ्च, दक्षिणेक्षणस्य दक्षिणलोचनस्य स्फुरणेन स्पन्दनेन, आहिता उत्पादिता शङ्का सन्देहो यस्याः सा अहम्, तेन रोदनशब्देन सुतराम् अत्यन्तम् अवदीर्णहृदयेव विशीर्णस्वान्तेव सती, किमपि अनिर्वचनीयम् अनिष्टम् अशुभम् अन्तः अन्तकरणे कथयतेव ब्रुवतेव, विषण्णेन खिन्नेन एवंविधेन अन्तरात्मना अन्तःकरणेन करणेन सभयं सत्रासं यथा स्यात्तथा अभिदधाना ब्रुवाणा, वेपमाना कम्पमाना गात्रयष्टिः कृशं वपुर्यस्याः सा, तदभिमुखं तत्संमुखम् अतित्वरितम् अतिशीघ्रम् अगच्छम् अव्रजम् ।

अथेति । अथ आगमनानन्तरम्, निशीथप्रभावात् रात्रिमाहात्म्येन समेषामापेक्षिकनिश्चलत्वादित्यर्थः । इह निशीथशब्दस्य रात्रिमात्रमर्थो न त्वर्धरात्रोऽर्थः, प्रदोषकाल एव निःसृताया महाश्वेतायाः किञ्चिन्मार्गातिक्रम एवार्धरात्रासम्भवात् । न च 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरेणार्धरात्रोऽर्थ एव युक्त इति वाच्यम्, 'निशीथस्तु पुमानर्धरात्रे स्याद्रात्रिमात्रके' इति मेदिनीकोषेणोक्तार्थस्यापि न्याय्यत्वादिति सुधीभिराकलनीयम् ।

दूरादेव विप्रकृष्टादेव विभाव्यमानः अयं कपिञ्जलस्य स्वर इति ज्ञायमानः स्वरो यस्य तं तादृशम्, उन्मुक्तार्त्तनादम् उन्मुक्तकण्ठेन व्यथितशब्दम्, इत्येतानि चान्यानि च विलपन्तं विलापं विदधतं कपिञ्जलमश्रौषमित्युत्तरेण सम्बन्धः । 'हा' इति खेदे हतोऽस्मि ताडितोऽस्मि दैवेन । दग्धोऽस्मि भस्मीभूतोऽस्मि शोकाग्निना । वञ्चितोऽस्मि प्रतारितोऽस्मि विधात्रा । किमिदम् अतर्कितम् आपतितम् उपस्थितम् । वृत्तं निष्पन्नम् । उत्सन्नोऽस्मि विधिना मूलादुत्पाटितोऽस्मि । निर्घृण निर्दय ! अकृत्यम् अकार्यम् अनुष्ठितम् आचरितम् । अनेन पुण्डरीकेण ते तव किम् अपकृतं अनुपकारं विहितम्, यत्त्वमेवं कारणीभूय एनं घातितवतीति भावः । चाण्डाल चाण्डालसदृशनितान्तक्रूर ! कृतार्थोऽसि कृतकृत्योऽसि ? पुण्डरीकस्य प्राणापहरणादित्याशयः । इदानीं न त्वितः प्रागित्याशयः, अपगतं दूरीभूतं दाक्षिण्यम् औदार्यं यस्य

---

मुनिकुमार था उसी प्रदेशमें इस अच्छोदसरोवरके पश्चिम तट पर, दूर होनेसे कुछ अस्फुट सुनाई देता, किसी पुरुषके मानो रोनेका शब्द मुझे सुनाई पड़ा । [ प्रस्थानके समय ] दक्षिण-नेत्रके स्पन्दन होने ( फड़कने ) से पहले ही मेरे मनमें आशङ्का उत्पन्न हो गई थी, इसलिए उस रोने का शब्द सुन कर मेरा हृदय मानो बिलकुल विदीर्ण हो (फट) गया, एवं अन्तरात्मा खिन्न होकर मनके समीप मानो किसी विपत्तिका संवाद कहने लगा और— 'ओ तरलिका ! यह क्या ?' यों भयभीत होकर पूछती पूछती कम्पायमान शरीरसे मैं बहुत शीघ्र उस ओर चली ।

तदनन्तर, चलते चलते मैंने अर्ध-रात्रि होनेके कारण दूरसे ही स्वर सुनकर पहचान लिया और गला फाड़ कर विलाप करते करते कपिञ्जलका आर्त्तनाद सुना—'हाय मैं मारा गया; हाय ! मैं जल गया; हाय ! ठगा गया, अरे रे ! यह क्या उपस्थित हुआ ? क्या हो गया ? मैं दैवद्वारा जड़से उखाड़ लिया गया ! अरे दुरात्मा पापी निर्दय पिशाच मदन ! तूने यह क्या कुकर्म किया ? ओ पापिनी दुराचारिणी दुर्विनीत महाश्वेते ! इसने तेरा क्या अपकार किया था ? अरे पापी दुश्चरित्र चन्द्र-चाण्डाल, अब तू कृतार्थ हुआ ! अरे दाक्षिण्य-रहित दुष्ट दक्षिण पवन, अब तेरी अभिलाषा पूर्ण हुई—जो तुझे करना था वह किया, अब जहाँ तुझे जाना हो वहाँ

---

१. विदीर्ण । २. क्वचित् तदिति न विद्यते । ३. अति । ४. उच्छिन्नोऽस्मि । ५. चण्डाल ! । ६. क्वचित् यदिति नोपलभ्यते ।

दानीं यथेष्टम्, हा भगवन् ! श्वेतकेतो ! पुत्रवत्सल ! न वेत्सि मुषितमात्मानम्, हा धर्म्म ! निष्परिग्रहोऽसि, हा तपः ! निराश्रयमसि, हा सरस्वति ! विधवासि, हा सत्य[1] ! अनाथमसि, हा सुरलोक ! शून्योऽसि; सखे ! प्रतिपालय माम्, अहमपि भवन्तमनुयास्यामि, न शक्नोमि भवन्तं[2] विना क्षणमप्यवस्थातुमेकाकी। कथमपरिचित इवादृष्टपूर्व इवाद्य मामेकपदे उत्सृज्य प्रयासि, कुतस्तवेयमतिनिष्ठुरता, कथय त्वदृते क गच्छामि, कं याचे, कं शरणमुपैमि। अन्धोऽस्मि संवृत्तः, शून्या मे दिशो जाताः, निरर्थकं जीवितम्, अप्रयोजनं तपः, निःसुखाश्च लोकाः। केन सह परिभ्रमामि, कमालपामि[3]। उत्तिष्ठ, देहि मे[4] प्रतिवचनम्, क तन्ममोपरि सुहृत्प्रेम, क सा स्मित[5]पूर्वाभिभाषिता च' इत्येतानि चान्यानि च विलपन्तं कपिञ्जलमश्रौषम्।

---

तत्सम्बोधनम्, दक्षिणानलहतक दुष्टप्रकृतिकदक्षिणपवन !, ते तव मनोरथा अभिलाषाः पूर्णाः परिपूर्णीभूताः। यत्कर्त्तव्यं यद्विधेयं तत्कृतं तद्विहितम्। इदानीं सम्प्रति यथेष्टं यथेच्छया वह सञ्चर। इह दाक्षिण्यपदस्य दक्षिणदिग्वर्त्तित्वार्थकत्वे विरोधः उक्तार्थत्वे च तत्परिहार इति विरोधाभासः।

हेति। पुत्रवत्सल सुतहितकारक !' मुषितम् अपहृतसर्वस्वम् आत्मानं स्वं न वेत्सि न जानासि। निर्नास्ति परिग्रहोऽङ्गीकारो यस्य स तथोक्तोऽसि, त्वमितः परं कस्य स्वीकारं विदध्या इत्याशयः। निराश्रयं निरवलम्बनम् असि। विधवासि मृतभर्त्तृकासि भर्त्तुः पुण्डरीकस्य प्राणवियोगादित्याशयः। अनेनास्य गीष्पतित्वं व्यञ्जितम्। सुरलोक स्वर्ग ! शून्योऽसि।

सख इति। प्रतिपालय प्रतीक्षस्व। अनुयास्यामि अनुगमिष्यामि। एकाकी असहायः अवस्थातुं वर्त्तितुम्। एकपदे सहसा 'तत्क्षणैकपदे तुल्ये' इति हलायुधः। उत्सृज्य परित्यज्य। अतिनिष्ठुरता अतिकठोरता। त्वदृते त्वद् व्यतिरेकेण। शरणं रक्षकं 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः' उपैमि प्राप्नोमि, अन्धोऽस्मि चक्षुर्विकलोऽस्मि त्वच्छोकोत्पन्नाविवेकेनावलोकनसामर्थ्यलोपादित्याशयः। शून्या इत्यादौ सर्वत्र तवानुपलम्भादित्याशयः। लोकाः भुवनत्रयाणि, निर्नास्ति सुखम् आनन्दो येषु ते तथोक्तः समुत्पन्ना इति शेषः। परिभ्रमामि पर्यटामि। प्रतिवचनं प्रत्युत्तरम्। स्मितपूर्वं ईषद् हास्यपूर्वकम् अभिभाषते तच्छीलः स्मितपूर्वाभिभाषी तस्य भावस्तत्ता। अश्रौषम् निजपरिचयादनुमानेनाज्ञासिषमित्यर्थः।

न च श्रवणार्थकस्य धातोरेवमर्थः कथमिति वाच्यम्, धातूनामनेकार्थत्वात्। यथा परिपूर्वकस्य भूधातोः 'अनादरः परिभवः परिभावस्तिरस्क्रिया' इति कोशबलेन तिरस्कारार्थकत्वेऽपि 'परौ भुवोऽवज्ञाने' इति पा० सूत्रेण विचारणार्थकत्वं तद्वत् नैयायिकास्तु उक्तधातोः शाब्दबोधे शक्तिं ब्रुवते, तथा च तन्मते परिचितस्वरेणोच्चरमानैः 'हा हतोऽस्मि' इत्यादिपदैः कपिञ्जलविषयकं बोधमकार्षमित्यर्थः। मीमांसकास्तु श्रवणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षे शक्तिं ब्रुवते, तथा च तन्मते तथोक्तशाब्दबोध एव लक्षणेति समालोचनकुशलाः धीधनाः समालोचयन्ति।

---

इच्छानुसार जा ! हाय भगवन् श्वेतकेतो, पुत्रवत्सल, आपको यह मालूम नहीं कि आपका सर्वस्व हरण हो गया ! हाय धर्म, तुम इस समय किसको स्वीकार करोगे [ क्योंकि तेरा अब कोई ग्रहण नहीं करेगा ] हाय तपस्ये ! अब तू निराश्रय हुई ! हा सरस्वति, तू तो आज विधवा हो गई ! हा सत्य, तू अनाथ हो गया ! हा स्वर्गलोक, तू [ भी ] आज शून्य हो गया। प्रिय मित्र ! मेरी प्रतीक्षा करो, मैं भी तेरा अनुगामी होऊँगा; क्योंकि तुझे छोड़कर मैं अकेला क्षण भर भी रह नहीं सकता। अरे जिसके साथ परिचय नहीं एवं जिसे साथमें कभी देखा नहीं हो ऐसे व्यक्तिके समान तुम क्यों मुझे आज एकदम छोड़कर चले जाते हो ? तुझमें यह अत्यन्त निष्ठुरता आज कहाँसे आई ? कहो तो सही, तुम्हारे बिना मैं कहाँ जाऊँ ? किसके समीप प्रार्थना करूँ ? किसकी शरण जाऊँ ? अरे रे, मैं तो अन्धा हो गया ! मेरी समस्त दिशाएँ शून्य प्रतीत हो रही हैं ! जीवन निरर्थक हो गया ! तपस्या प्रयोजन रहित हुई ! त्रिभुवनके किसी भी स्थानमें सुख नहीं ! हाय, हाय, मैं किसके साथ विचरण करूँ ? एवं किसके साथ आलाप ( बातचीत ) करूँ ? अरे भैया ! जरा उठो तो सही ? मेरे कहनेका जरा उत्तर तो दो ? मेरे ऊपर जो तुम्हारा स्नेह था वह कहाँ गया ? एवं ईषद्हास्यपूर्वक ( मुसकुराहटसे ) तुम्हारी बातचीत करनेकी रीति, आज कहाँ गई ?

---

१. सत्यत्वम्। २. भवता। ३. 'केन वार्त्तां करोमि' इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते। ४. मे विलपतः। ५. क्वचित् 'स्मित' इति पदं न दृश्यते।

तच्च[1] श्रुत्वा पतितैरिव प्राणैर्दूरादेव मुक्तैकताराक्रन्दा सरस्तीरलतासंक्ति[2]त्रुट्यमानांशुकोत्तरीया यथाशक्तित्वरितैरज्ञात-सम विषम-भूमि[3]भाग-विन्यस्तैः पादप्रक्षेपैः प्रस्खलन्ती पदे पदे, केनाप्युत्क्षिप्य नीयमानेव तं प्रदेशं गत्वा, सरस्तीरसमीपवर्त्तिनि शिशिरशीकरासारस्राविणि[4] शशिमणिशिलातले विरचितं कुमुद-कुवलय-कमल[5]-विविध-वनकुसुम-सुकुमारं[6] मृणालमयं कुसुमशरसायकमयमिव शयनमधिशयानम्, अतिनिष्पन्दतया मत्पदशब्दमिवाकर्णयन्तम्, अन्तःकोप-शमित[7]-मदन-सन्तापतया तत्[8]क्षण-लब्ध-सुखप्रसुप्तमिव, मनःक्षोभ[9]-प्रायश्चित्त-

तच्चेति। पतितैरिव बहिः प्राप्तैरिव बहिर्निर्यातुं सन्नद्धैरिवेत्यर्थः, प्राणैः असुभिः उपलक्षिता, दूरादेव विप्रकृष्टादेव मुक्तस्त्यक्तः एकतार अत्युच्च आक्रन्दो रोदनध्वनिर्यया सा तादृशी, सरस अच्छोदसरोवरस्य तीरेषु तटेषु या लता वल्लयः तासु आसक्त्या लङ्घयितुमनवकाशात् संलग्नतया त्रुट्यमानं छिद्यमानम् अंशुकं परिहितवसनम् उत्तरीयवसनञ्च यस्याः सा तादृशी, यथाशक्तित्वरितैः शक्त्यनतिक्रमेणाशुविहितैः, अज्ञातेषु अविदितेषु समविषमेषु समतलविषमतलेषु भूमिभागेषु भूप्रदेशेषु विन्यस्तैः स्थापितैः पादप्रक्षेपैः अङ्घ्रिन्यासैः पदे पदे प्रतिपदं प्रस्खलन्ती स्खलनां प्राप्नुवन्ती, केनापि अनिर्दिष्टनाम्ना जनेन उत्क्षिप्य उत्तोल्य नीयमानेव प्राप्यमाणेवाहम्, तं कुमाराधिष्ठितं प्रदेशं स्थानं गत्वा तं महाभागम् अद्राक्षमित्युत्तरेण सम्बन्धः। इत आरभ्य पुंल्लिङ्गद्वितीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'महाभागम्' इत्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि। इह 'नीयमानेव' इत्यत्र वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

सर इति। सरसः अच्छोदनाम्नः तीरं तटं तस्य समीपवर्त्तिनि निकटस्थायिनि, शिशिरं शीतलं शीकरासारं सलिलकणाधारां स्रवति क्षरतीति तस्मिन्, शशिमणिशिलातले चन्द्रकान्तमणिप्रस्तरोपरि, विरचितं निर्मितम्, कुमुदैः श्वेतकमलैः उत्पलैः नीलकमलैः कमलैः पङ्कजैः विविधैः नानाप्रकारैः वनकुसुमैः अरण्यपुष्पैश्च सुकुमारं मृदुलम्, तथा मृणालमयं बिसनिष्पन्नम्, अतएव कुसुमशरस्य कामस्य सायकमयमिव बाणनिष्पन्नमिव विद्यमानं शयनं तल्पम् अधिशयानं शयनं कुर्वाणम्। इह 'सायकमयमिवे'ति क्रियोत्प्रेक्षा।

अतीति। अतिनिष्पन्दतया अतिनिश्चलतया कारणेन, मम पदशब्दं चरणध्वनिम् आकर्णयन्तमिव शृण्वन्तमिव। प्रायेणैव कामुका औत्सुक्यवशात् कामुकानामागमनसम्बन्धिकपदशब्दं शृण्वन्ति। 'इह आकर्णयन्तमिव' इति क्रियोत्प्रेक्षा।

अन्तरिति। अन्तःकोपेन समाप्रापणाद्धार्द्दिकक्रोधेन शमितः प्रशमभावमुपगतो मदनसन्तापः कामज्वरो यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, तस्मिन् क्षणे लब्धं प्राप्तं यत् सुखम् आनन्दः तेन प्रसुप्तमिव निद्रितमिव। उक्तालङ्कारः।

मन इति। मनसो ब्रह्मचर्यविरोधिनः कामवेगोत्पन्नचित्तस्य यः क्षोभ उद्वेलनं तस्य तत्प्रयुक्तदुष्कृत-

यह सुनते ही मेरे प्राण तो मानो बाहर जानेके लिए उद्यत हो गए, और दूरसे ही मुक्तकण्ठ हो उच्चैः स्वरसे मैं रोने लगी। सरोवरके तीरवर्त्ती लताओंमें संलग्न हो (उलझ) कर मेरे पहने हुए एवं उत्तरीय-वस्त्र फटने लगे, अपरिचित समतल और विषमतल (ऊँची नीची) भूमि पर यथाशक्ति शीघ्रताके कारण पैर पड़नेसे पद पद पर ठोकर खाती,—कोई मानो मुझे उठाकर ले जाता हो—इस प्रकार मैं उस स्थानमें जा पहुँची और सरोवरके तीरके निकट शीतल-जल-बिन्दुवर्षी बृहत् एक चन्द्रकान्तमणिके शिलातल पर बिछाए हुए श्वेतोत्पल, नीलोत्पल, कमल और नानाविधि वन-कुसुमोंकी कोमल मालाओंसे बने हुए, मृणालमय,—कामदेवके बाणोंसे ही मानो निर्मित हुए—बिछौने पर शयन करते, तत्काल प्राण-वियोग हुए उस महाभाग मुनिकुमारको मुझ पापिनी-मन्दभागिनीने देखा। अत्यन्त निश्चलरूपसे वे मानो मेरे पैरोंके शब्द सुनते थे; अन्तःकोपसे समस्त मदन-सन्ताप शान्त हो जानेके कारण उस समय मानो वे सुखसे सो रहे थे; ब्रह्मचर्य विरोधी

१. तच्च। २"'लतानुषज्यमान"'। ३. क्वचित् 'भूमि' इति पदं नोप लभ्यते। ४. क्वचित् 'शीकरस्राविणि' इत्येव पाठ उपलभ्यते। ५. क्वचित् 'कमल' इति पदन्नास्ति। ६. सुकुमारमालामयमिव मालामयं। ७. अन्तःकृतान्तोपशमित"', अन्तःक्षोभशमित"'अन्तः-क्रोधशमित। ८. क्वचित् 'तत्' इति पदं न विद्यते। ९. मुनिक्षोभ"'।

प्राणायामावस्थितमिव, अतिप्रस्फुरितप्रभेण 'त्वत्कृते ममेयमवस्थे'ति कथयन्तमिवाधरेण, इन्दुद्वेष-परिवर्त्तितदेहतया पृष्ठभाग-निपतितैर्मदन-दहन-विह्वल-हृदय-न्यस्त-हस्त-नख-मयूखच्छलेन च्छिद्रितमिव शशिकिरणैः, उच्छुष्क-पाण्डुरया[1] स्वविनाशोत्पन्नया[2] मदनचन्द्रकलयेव चन्दन-लेखिकया रचितललाटिकम्[3], 'मत्तः प्रियतरः[4] तवापरो जनो जातः' इति कुपितेनेव जीवितेन परित्यक्तम्, मन्मथव्यथया सहैतानसून्[5] स्वयमिवोत्सृज्य निश्चेतनतासुखम्[6] अनुभवन्तम्,

स्येत्यर्थः प्रायश्चित्तरूपो यः प्राणायामः कुम्भात्मकप्राणायामः तत्र अवस्थितमिव कृतावस्थानमिव निश्चलत्वादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

अतीति। अतिप्रस्फुरिता नितान्तप्रदीप्ता प्रभा कान्तिर्यस्य तथोक्तेन अधरेण रदनच्छदेन करणेन, त्वत्कृते तव निमित्ते मम पुण्डरीकस्य इयं प्रत्यक्षोपलभ्यमाना मृत्युरूपा अवस्था दशा 'समुत्पन्ना' इति शेषः, इति कथयन्तमिव प्रतिपादयन्तमिव। उक्तालङ्कारः।

इन्दिति। इन्दुद्वेषेण अतिशयसन्तापकतया चन्द्रं प्रति विद्वेषेण परिवर्त्तितो न्युब्जीकृतो यो देहं शरीरं तस्य भावस्तया कारणेन, पृष्ठभागनिपतितैः पश्चाद्भागपतितैः शशिकिरणैः चन्द्रालोकैः मदनदहनेन कामाग्निना विह्वलम् आकुलं यत् हृदयं चित्तं तत्र न्यस्तस्य स्थापितस्य हस्तस्य पाणेः नखमयूखानां पुनर्भवकिरणानां छलेन व्याजेन छिद्रितमिव समुत्पन्नविवरमिव वक्षसि स्थापितस्य हस्तस्य नखकिरणास्तथा प्रसरन्ति यथा चन्द्रं प्रति पृष्ठं कृत्वा सुप्तस्यास्य पृष्ठं भित्वा चन्द्रकिरणा एव वक्षःस्थलाद्बहिर्निर्गता इत्यभिप्रायः। उक्तालङ्कारः।

उच्छुष्केति। उच्छुष्का नीरसा चासौ पाण्डुरा चेति तया, स्वस्य आत्मनो विनाशाय उत्पाताय उत्पन्नया उद्गतया, असमये अस्थाने च ग्रहनक्षत्राणामुद्गमस्य उत्पातद्योतकत्वादित्याशयः; मदनो मन्मथः तत्सम्बन्धिनी चन्द्रकला तयेव विद्यमानया, चन्दनस्य मलयजस्य लेखिकया अर्धचन्द्रतुल्यया रेखया रचिता कपिञ्जलेन निर्मिता ललाटिका भाले तिलकविशेषो यस्य तम्। चन्द्रकलाकारा चन्दनरेखा तथा प्रतीयते यथा स्वस्य (पुण्डरीकस्य) विनाशकारकोत्पाताय मदनसम्बन्धिनी चन्द्रकलैव उदिता भवेदित्याशयः। इह 'मदनचन्द्रकलयेव' इति द्रव्योत्प्रेक्षा।

मत्त इति। मत्तः कपिञ्जलतः प्रियतरो बल्लभः। अपरो महाश्वेतालक्षणः। इति अस्माद्धेतोः, कुपितेन क्रुद्धेन जीवितेन प्राणेन परित्यक्तमिव उज्झितमिव। क्रियोत्प्रेक्षा।

मन्मथेति। स्वयम् आत्मनैव, मन्मथव्यथया मदनपीडया सह एतान् असून् प्राणान् उत्सृज्येव परित्यज्येव निश्चेतनतया यत् सुखम् आनन्दः तत् अनुभवन्तम् अनुभवविषयीकुर्वन्तम् चेतनायां जातायां नानाविधानि सांसारिकदुःखान्युपतिष्ठन्त इत्यभिप्रायः।

इह सहोक्तिः क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

मदनवेगजनित चित्तमें उत्पन्न हुए क्षोभ (पाप) के प्रायश्चित्तके लिए वे मानो कुम्भकनामक प्राणायाम कर रहे थे; देदीप्यमान प्रभासे समन्वित अपने अधरसे—'तुम्हारे लिए ही मेरी यह अवस्था हुई है'—यों मानो मुझसे कह रहे थे। चन्द्रके प्रति विद्वेषके कारण देह परिवर्त्तित (उलटे फिर) कर शयन करनेसे उनकी पीठ पर गिरती चन्द्रमाकी रश्मियोंने कामानलसे विह्वल-हृदय पर संस्थापित (रक्खे) हाथकी नख-रश्मियोंके आकारमें, मानो शरीर भेद कर दिए थे-ऐसा प्रतीत होता था; शुष्क हुई पाण्डुवर्ण (श्वेतरंग) की, अपने विनाशके लिए उत्पातके समान उत्पन्न हुई, मदन-बन्धु-चन्द्रकी एक कलाके समान, कपिञ्जलद्वारा की हुई चन्दन-रेखा उनके ललाटमें शोभित थी। 'मुझसे भी तुझे अधिक प्रिय अन्य जन हुए हैं'—यों मनमें समझ क्रुद्ध होकर ही मानो प्राणोंने छोड़ दिया था; कामवेदनाके साथ प्राणोंको भी मानो अपने आप छोड़कर वे निश्चेतनताका सुखानुभव कर रहे

१. पाण्डुतया २. स्वदेहविनाशोत्पन्नया, स्वविनाशोत्पातोत्पन्नया। ३. 'ईषदालक्ष्यपरिवृत्ततारकेण अनवरतरोदनाताम्रेण प्राणोत्सर्गोपजाताश्रुक्षयतया रुधिरमिव क्षरता मदनशरशल्यवेदनाकूणितत्रिभागेन नातिनिमीलितेन लोचनयुगलेन।' इत्यधिकः पाठो निर्णयसागर मुद्रितपुस्तक उपलभ्यते। तत्र च 'लोचनयुगलेन' इत्यतोऽग्रे 'मामसूययेव विलोकयन्तम्' इत्यधिकः पाठो दृश्यते पुस्तकान्तरे। ४. अतिप्रियतरः। ५. मन्मथव्यथा सहानसून्। ६. निश्चेतासुखम्।

अनङ्गयोगविद्यामिव ध्यायन्तम्, अपूर्वप्राणायाममिवाभ्यस्यन्तम्, उपपादितास्मदागमनेन प्रणयादिवापहृत-प्राणपूर्णपात्रमनङ्गेन, रचितचन्दन[1]ललाटिकात्रिपुण्ड्रकम्, धृत-सरस-विससूत्र-यज्ञोपवीतम्, अंसावसक्त-कदलीगर्भपत्र-चारु-चीरम्, एकावलीविशालाक्षमालम्, अविरलामल-कर्पूर-क्षोद-भस्म-धवलम्, आबद्ध-मृणाल-वलय[3]-रक्षा-प्रतिसर-मनोहरम्, मनोभव-

अनङ्गेति । अनङ्गः कामः तत्सम्बन्धिनी या योगविद्या तां ध्यायन्तमिव ध्यानविषयीकुर्वन्तमिव, निष्क्रियत्वादित्याशयः । क्रियोत्प्रेक्षा ।

अपूर्वेति । अपूर्वः अद्भुतः, पूरण-रेचनयोरभावः केवलं कुम्भकमेवेति प्रसिद्धप्राणायामापेक्षयाऽपूर्वत्वमित्याशयः; यः प्राणायामः प्राणनियमनं तम् अभ्यस्यन्तमिव वारंवारं शिक्षमाणमिव, निष्क्रियत्वात् । उक्तालङ्कारः ।

उपेति । उपपादितं निष्पादितम् अस्माकं समेत्यर्थः, आगमनं प्रापणं येन तेन, अनङ्गेन कामेन, प्रणयादिव तुल्यलावण्येन स्नेहादिव, अपहृतम् आकर्षितं प्राणा असव एव पूर्णपात्रं पारितोषिकद्रव्यं यस्मात्तम्, अन्योऽपि अतीवसन्तोषदं कार्यं सम्पाद्य स्नेहात् पूर्णपात्रं हरति । तथा चाहुर्वृद्धाः—'उत्सवेषु सुहृद्भिर्यत्स्नेहादाकृष्य गृह्यते । तत्पूर्णपात्रम्' इति । अपि च हारावल्याम्—

'वर्धापकं यदानन्दादलङ्कारादिकं पुनः । आकृष्य गृह्यते पूर्णपात्रं पूर्णानकञ्च तत् ॥' इति ।

कामेन मम ( महाश्वेतायाः ) आगमनरूपं प्रियकार्यं विधाय प्राणरूपं पूर्णपात्रं पुण्डरीकेण सह स्नेहवशादपहृतम् । काम—पुण्डरीकयोः प्रणयस्तु समानसौन्दर्येणेत्यभिप्रायः ।

इह हेतूत्प्रेक्षा निरङ्गकेवलरूपकयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

रचितेति । रचितं कपिञ्जलेन निर्मितं चन्दनललाटिकाया मलयजभालतिलकविशेषकस्य उपरि-त्रिपुण्ड्रकं यस्य तम् ।

धृतेति । धृतं कामज्वरशान्तये गृहीतं सरसम् आर्द्रं विससूत्रं मृणालतन्तुरेव यज्ञोपवीतं यज्ञसूत्रं येन तम् । इह निरङ्गकेवलरूपकम् ।

अंसेति । अंसे स्कन्धे अवसक्तं स्थापितं कदलीगर्भपत्रमेव रम्भान्तर्दलमेव चारु मनोहरं चीरं कौपीनं यस्य तम् । उक्तालङ्कारः ।

एकेति । एकावली मम स एकपङ्क्तिको हार एव विशाला विस्तीर्णा अक्षमाला जपमाला यस्य तम् । उक्तालङ्कारः ।

अविरलेति । अविरलाः सान्द्राः अमलाः स्वच्छाश्च कर्पूरस्य घनसारस्य क्षोदाः कपिञ्जलसमर्पित धूलय एव भस्मानि विभूतयः तैः धवलं स्वच्छम् । उक्तालङ्कारः ।

आबद्धेति । आबद्धो धृतः मृणालवलयमेव विसकटकमेव रक्षाप्रतिसरो मदनपीडातो रक्षणार्थं हस्तसूत्रं तेन मनोहरं सुन्दरम् । उक्तालङ्कारः ।

'भवेत् प्रतिसरो मन्त्रभेदे माल्ये च कङ्कणे । व्रणशुद्धौ चमूपृष्ठे पुंसि न स्त्री तु मण्डले ।
आरक्षे करसूत्रे च नियोज्ये त्वन्यलिङ्गकः ॥' इति मेदिनी ।

मनोभवेति । मनोभवस्य कामस्य व्रतवेशं चन्दनकर्पूरचूर्णधारणरूपं व्रतचरणोपयोगिवेशम्

थे; कामदेवके योगविद्याका मानो वे ध्यान करते थे; अपूर्व प्राणायामका मानो अभ्यास करते थे; कामदेवने वहाँ मेरा आगमन सम्पादन कर प्रेमपूर्वक ही मानो उनसे प्राणरूपी पूर्णपात्र ( पारितोषिक ) में लिया था । कपिञ्जलने उनके ललाटस्थ चन्दन-तिलकके ऊपर एक त्रिपुण्ड्र अङ्कित कर दिया था; आर्द्र मृणाल-सूत्ररूप यज्ञोपवीत उन्होंने धारण किया था; उनके स्कन्ध देश पर कदली-गर्भ पत्र रूपी एक मनोहर कौपीन संलग्न ( चिपटा हुआ ) था; मेरी वह एकावली-रूपी मुक्ताकी माला ही बड़ी जपमाला बनाकर उन्होंने पहन रक्खी थी; उनका शरीर निर्मल कपूरके रेणु-रूप ( चूरेकी ) भस्मसे शुभ्रवर्ण ( गौर ) हो गया था; हाथमें मृणाल-वलयरूपी रक्षासूत्र बाँध लेनेसे

१. क्वचित् 'चन्दन' इति पदं न दृश्यते । २. विलास । ३. क्वचित् 'वलय' इति पदं नोपलभ्यते ।

व्रत-वेशमास्थाय[1] मत्समागममन्त्रमिव साधयन्तम्,[2] अविरत[3]-रोदनाताम्रेण अश्रुक्षयात्[4] आगतरुधिरेणेव मदन-शर-शल्य-वेदना-कूणित-त्रिभागेण[5] 'कठिनहृदये![6] दर्शनमात्रकेणापि न पुनरनुगृहीतोऽयमनुगतो जनः' इति सप्रणयं मामुपलभमानमिव चक्षुषा, किञ्चिद्विवृताधरतया जीवितमपहर्तुमन्तःप्रविष्टैरिवेन्दुकिरणैर्निर्गच्छद्भिर्दशनांशुभिर्धवलितपुरोभागम्, मन्मथव्यथया विघटमान[7]-हृदयनिहितेन वामपाणिना 'प्रसीद, प्राणैः समं प्राणसमे! न गन्तव्यम्' इति हृदयस्थितां मामिव धारयन्तम्, इतरेण च नखमयूखदन्तुरतया चन्दनमिव स्रव-

---

आस्थाय परिगृह्य मम (महाश्वेतायाः) समागममन्त्रं सङ्गमसाधनमन्त्रं साधयन्तमिव आराधयन्तमिव, अन्यसम्भाषणवर्जनान्निष्क्रियत्वाच्चेत्याशयः। इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अविरतेति। अविरतरोदनात् निरन्तराक्रन्दनात् आताम्रेण सम्यक्ताम्रवर्णेन अत एव अश्रुक्षयात् अधिककालपर्यन्तं निर्गमनेन नयनाम्बूनां समाप्तिलाभाद्धेतोः अपगतरुधिरेणेव दूरीभूतशोणितेनेव विद्यमानेन, मदनशराणां कामबाणानां यानि शल्यानि लौहमयाग्राणि तैस्तदाघातैरित्यर्थः। या वेदना पीडा तया आकूणितः किञ्चित्सङ्कुचितः त्रिभागः तृतीयः भागो यस्य तेन तथोक्तेन चक्षुषा नयनभङ्ग्येत्यर्थः। कठिनं कठोरं हृदयं चित्तं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ 'हे कठिनहृदये महाश्वेते! दर्शनमात्रकेणाऽपि केवलमवलोकनेनापि अयं मल्लक्षणः अनुगतोऽनुरक्तो जनः न पुनः अनुगृहीतः न स्वीकृतः' इति एवं सप्रणयं सस्नेहं माम् उपलभमानं निन्दन्तमिव विद्यमानम्।

इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, द्वे क्रियोत्प्रेक्षे च, तथा चैतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

किञ्चिदिति। किञ्चिद्विवृतः ईषद्व्यादत्तः अधरः ओष्ठो यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, जीवितं प्राणम् अपहर्तुं दूरीकर्तुम् अन्तःप्रविष्टैः अभ्यन्तरगतैः इन्दुकिरणैरिव चन्द्ररश्मिभिरिव अवलोकमानैः, निर्गच्छद्भिः निःसरद्भिः दशनांशुभिः दन्तकिरणैः धवलितपुरोभागं श्वेतीकृतसन्मुखदेशम्। जात्युत्प्रेक्षा।

मन्मथेति, मन्मथस्य कामस्य या व्यथा पीडा तया विघटमाने भिद्यमाने हृदये निहितः स्थापितः तेन वामपाणिना सव्यहस्तेन करणेन। प्राणसमे प्राणतुल्ये हे महाश्वेते! प्राणैः समं निःसरद्भिर्ममासुभिः सह, त्वया हृदयान्न प्रस्थातव्यं प्राणसहतयैव स्नेहात्तैः सह तवापि प्रस्थानसम्भवादित्याशयः। इति अनेनाशयेन, हृदयस्थितां चिन्तावशाच्चित्तस्थायिनीं मां धारयन्तमिव अवरुन्धन्तमिव स्थितम्। क्रियोत्प्रेक्षा।

इतरेणेति। किञ्चेति चार्थः। नखमयूखैः नखकिरणैः दन्तुरतया उच्चावचतया कारणेन चन्दनं मलयजं स्रवतेव क्षरतेव विद्यमानेन, उत्तानीकृतेन ऊर्ध्वीकृतेन दक्षिणेनअपसव्येन पाणिना हस्तेन चन्द्रस्य शशिनः आतपं नितान्तव्यथोत्पादकमालोकं निवारयन्तमिव निषेधयन्तमिव विद्यमानम्। इह द्वयोः क्रियोत्प्रेक्षयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

---

वे देखनेमें रमणीय लगते थे; कामदेवके व्रताचरणके उपयोगी वेश धारण कर मेरे साथ सम्मिलन के मन्त्रकी ही मानो वे साधना करते थे; निरन्तर रोनेसे उनके नेत्र रक्तवर्ण (लाल) हो गए थे, उससे प्रतीत होता था कि मानो अश्रु शेष हो जानेके कारण रक्त आकर एकत्रित हो गया है, एवं कामदेवके बाणोंकी लौहमय नोक (अग्रभाग) की वेदनासे उस (नेत्र) का तृतीय भाग ईषत् सङ्कुचित हो (जरा मिच) गया है, उसके भङ्गीद्वारा वे मानो इस अभिप्रायसे मुझे प्रेमके साथ तिरस्कार करते (उलाहना देते) थे कि—'अरे कठिन हृदयवाली! इस अनुरक्त जन पर पुनः केवल दर्शन देकर भी अनुग्रह नहीं किया?' अधरोंके जरा खुले होने से, जीवन अपहरण करनेके लिए ही मानो अभ्यन्तर प्रविष्ट चन्द्रकिरणके समान बाहर निकलती हों ऐसी दन्तकिरणोंसे उनका सम्मुखभाग (आगेका हिस्सा) शुभ्रवर्ण हो गया था; कामवेदनासे विदीर्ण होते (फटते) हृदय पर रक्खे हुए वामपाणिकमलसे वे हृदयमें स्थित-मुझे इस अभिप्रायसे ही मानो रोकते थे कि—'प्राणोपमे, प्रसन्न हो, प्राणोंके साथ तू तो मत चली जाओ।' नखकिरणोंसे असमान होनेके कारण मानो चन्दनका रस निःसारित करते (झराते) दूसरे, उत्तानभावसे स्थित (चित्त रक्खे हुए), हाथसे वे मानो चन्द्रकिरणोंको अपने ऊपर आनेसे निवारण करते थे।

---

१ ... रक्षाप्रतिसरमनोभवव्रतवेशमास्थाय। २. ईषदालक्ष्यपरिवृत्तताम्रण इति क्वचिदधिकः पाठो विद्यते तथा क्वचित् 'साधयन्तं मदनशरशल्यवेदनाकूणितत्रिभागेन कठिन' इति पाठः समुपलभ्यते। ३. अनवरत ...। ४. प्राणोत्सर्गोपजाताश्रुक्षयतया। ५. अतिनिमीलितेन, नातिनिमीलितेन। ६. भोः कठिनहृदये!। ७. मन्मथव्यथाविघटमान ...।

तोत्तानीकृतेन चन्द्रातपमिव निवारयन्तम्, अन्तिकस्थितेन च अचिरोद्गतजीवितमार्गमिवोद्ग्रीवेण विलोकयता तपःसुहृदा कमण्डलुना समुपेतम्, कण्ठाभरणीकृतेन च मृणालवलयेन [1]रजनीकर-किरणपाशेनेव संयम्य लोकान्तरमुपनीयमानम्[2], कपिञ्जलेन मद्दर्शनात्, 'अब्रह्मण्यम्' इत्यूद्ध्वर्वहस्तेन[3] द्विगुणीभूतबाष्पोद्गमेनाक्रोशता कण्ठे परिष्वक्तम्, [4]तत्क्षणविगतजीवितं तमहं पापकारिणी मन्दभाग्या महाभागमद्राक्षम्।

उद्भूतमूर्च्छान्धकारा च [5]पातालतलमिवावतीर्णा तदा क्वाहमगमम्, किमकरवम्, किं व्यलपम्, इति सर्वमेव नाज्ञासिषम्। असवश्च मे तस्मिन् क्षणे किमतिकठिनतया अस्य मूढहृदयस्य, किमनेकदुःखसहस्रसहिष्णुतया हतशरीरकस्य, किं विहिततया दीर्घशोकस्य, किं

---

अन्तिकेति। किञ्च, उद्ग्रीवेण उन्नतकन्धरेण अत एव अचिरोद्गतस्य तत्कालयातस्य जीवितस्य प्राणेशस्य मार्गं पन्थानं विलोकयतेव पश्यतेव सती अन्तिकस्थितेन समीपवर्त्तिना तपःसुहृदा तपस्यामित्रेण कमण्डलुना कुण्डिकया समुपेतं सहितम्।

इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

कण्ठेति। किञ्च, कण्ठाभरणीकृतेन गलविभूषणीभूतेन मृणालवलयेन बिसकटकेन उपलक्षितम्, अत एव रजनीकरस्य शशिनः किरणो रश्मिरेव पाशो बन्धनग्रन्थिः तेन संयम्येव बद्ध्वेव यमेन लोकान्तरम् अन्यलोकम् उपनीयमानं प्राप्यमाणम्।

इह निरङ्गकेवलरूपकम्, क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

कपिञ्जलेनेति। मद्दर्शनात् तदानीं मामवलोकनेन द्विगुणशोकोद्गमादित्यर्थः, अब्रह्मण्यं प्रस्तुतकालानुपस्थितेर्दैवात् सम्प्रत्येवावध्यः पुण्डरीक इत्यर्थः, 'अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ' इत्यमरः। 'वधं प्राप्तुं नार्हं शक्नोतीति कथने' इति हि अवध्योक्तावित्यस्यार्थः। ऊर्ध्वहस्तेन उत्थितपाणिना, द्विगुणीभूतः पूर्वस्मादधिकीभूतो बाष्पोद्गमः अश्रुजलाविर्भावो यस्य तेन आक्रोशता आक्षेपं विदधता मनस्तापं स्पष्टयता कपिञ्जलेन, कण्ठे गले परिष्वक्तम् आलिङ्गितम्। दुष्कृतकारिणी मदर्थमेव प्राणत्यागात्, मन्दभाग्या वादय एव वैधव्यादिति चाभिप्रायः। महाभागं तथाविधसौन्दर्यानुपमकीर्त्यादिगुणयुक्तत्वादत्यन्तभाग्यवन्तम् अद्राक्षम् अपश्यम्।

उद्भूतेति। किञ्च, उद्भूतः उत्पन्नो मूर्च्छान्धकारो मोहवैधुर्यं यस्याः साहम्, पातालतलं रसातलम् अवतीर्णेव सती, तदा तस्मिन् समये। अगमम् अव्रजम्। अकरवम् अघटयम्। व्यलपम् अवोचम्। नाज्ञासिषं नाबोधिषम्। 'अवतीर्णेव' इति क्रियोत्प्रेक्षा।

अथैवम्भूते शोकवेगे कथं तेऽसवो न बहिर्भूता इत्यत आह—असव इति। किञ्च, मे मम असवः प्राणाः, तस्मिन् क्षणे तत्काले अस्य मूढहृदयस्य अज्ञचेतसः अतिकठिनतया अतिकाठिन्येन किं नोद्गच्छन्ति स्म न बहिः प्रयान्ति स्म तदपि न ज्ञातवती बुद्धा, एवं सर्वत्रान्वयो ज्ञेयः। हतशरीरकस्य निष्प्रयोजनदेहस्य, कुत्सायां कप्रत्ययः; अनेकदुःखसहस्रसहिष्णुतया विविधक्लेशसमूहसहनतया। दीर्घशोकस्य

---

ऊँची गर्दन कर, थोड़ी देर पहले गए हुए उनके प्राणोंका मार्ग मानो देखता हो, ऐसा तपश्चर्या समयका मित्र, एक कमण्डलु उनके समीपमें ही रखा था। कपिञ्जलद्वारा कण्ठमें आभूषित किए हुए मृणाल-वलयसे, उनको मानो चन्द्रकिरणकी पाश (रज्जु) से बाँधकर यमराज परलोकमें ले जाता हो ऐसा प्रतीत होता था, और मुझे देखकर ऊँचा हाथ कर—'इस समय ही यह मृत्युके योग्य नहीं है इस प्रकार आक्षेप करते करते पूर्वापेक्षा द्विगुणित अश्रुजल बहाते बहाते कपिञ्जलने उठके कण्ठमें उनका आलिङ्गन किया था।

तदनन्तर वैसी स्थितिको देखते ही मुझे मूर्च्छासे अन्धकार आकर उपस्थित हो गया और मानो पातालमें धँसी जाती हूँ इस प्रकार उस समय मैं कहाँ गई, मैंने क्या किया और मैंने किस प्रकार विलाप किया? ये सभी मैं कुछ भी नहीं समझ सकी। उस क्षणमें क्या जाने मेरे मूढ़ हृदयके अत्यन्त कठिन होनेसे, या इस निन्दित शरीरके बहुतर दुःखसमूह सहन करनेसे, या विधाता द्वारा मेरे कपालमें दीर्घकालीन शोकके विधानसे किंवा

---

१. रजनिकर···। २. नीयमानम्। ३. व्यस्तहृदयेन। ४. अपक्रान्त। ५. पातालमिव।

भाजनतया जन्मान्तरोपात्तस्य दुष्कृतस्य, किं दुःखदाननिपुणतया दग्धदैवस्य, किमेकान्तवाम तया दुरात्मनो मन्मथहतकस्य, केन हेतुना नोद्गच्छन्ति स्म तदपि न ज्ञातवती। केवलमतिचिराल्लब्धचेतना दुःखभागिनी वह्नाविव पतितमसह्यशोकदह्यमानमात्मानमवनौ विचेष्टमानमपश्यम्। अश्रद्दधाना च[1] असम्भावनीयं तत्तस्य [2]मरणमात्मनश्च जीवितम्, उत्थाय 'हा हा[3] किमिदमुपनतम्' इति मुक्तार्त्तनादा 'हा अम्ब! हा [4]तात! हा सख्यः!' इति व्याहरन्ती, 'हा नाथ! जीवितनिबन्धन! [5]आचक्ष्व, क्व[6] मामेकाकिनीमशरणामकरुण[7]! विमुच्य यासि?। पृच्छ तरलिकाम्, त्वत्कृते मया यानुभूतावस्था[8]। युगसहस्रायमाणः कृच्छ्रेण नीतो दिवसः। प्रसीद, सकृदप्यालप, दर्शय भक्तवत्सलताम्[9], ईषदपि विलोकय, पूरय मे मनोरथम्, आर्त्तास्मि, भक्तास्मि, अनुरक्तास्मि, अनाथास्मि, बालास्मि, अगतिकास्मि, दुःखितास्मि, अन-

---

चिरकालीनशुचः विहिततया विधिना निर्दिष्टतया। जन्मान्तरोपात्तस्य अन्यभवार्जितस्य दुष्कृतस्य पापस्य भाजनतया पात्रतया। दग्धदैवस्य ज्वलितभाग्यस्य दुःखदाननिपुणतया क्लेशप्रदानदक्षतया। दुरात्मनः पापिष्ठस्य मन्मथहतकस्य दुष्टमदनस्य एकान्तवामतया अत्यन्तप्रतिकूलतया। एषां मध्ये केन हेतुनेत्यर्थः। आकाशवाण्यनन्तरमेवालङ्कारमर्मज्ञैः करुणविप्रलम्भस्य स्वीकारादिह करुण एव रसः। अस्य च वितर्काख्यभावोऽङ्गमिति प्रेयो नामालङ्कारः।

केवलमिति। दुःखभागिनी क्लेशभागिनी अहम्, अतिचिरात् अधिकसमयात् अनन्तरं लब्धचेतना प्राप्तचेतना सती असह्यशोकेन सोढुमशक्येन शुचा दह्यमानं ज्वलन्तम् अत एव वह्नौ अनले पतितमिव विद्यमानम्, अवनौ भूमौ विचेष्टमानं शोकवेगेन स्पन्दमानम् आत्मानं स्वं केवलम् अपश्यम् व्यलोकयम्। क्रियोत्प्रेक्षा।

अश्रद्दधानेति। किञ्च, असम्भावनीयं हेतोरभावात् सम्भावनं विधातुमप्यशक्यम्, तस्य कुमारस्य तन्मरणं तत्प्राणवियोगः, तन्मरणे च आत्मनः स्वस्य जीवितं प्राणितम् अश्रद्दधाना अविश्वसती। उपनतम् उपस्थितम्। मुक्तार्त्तनादा त्यक्तार्त्तस्वरा। व्याहरन्ती कथयन्ती। निबध्यते साध्यतेऽनेनेति निबन्धनं कारणम्, करणे ल्युट्। जीवितनिबन्धन जीवनधारणकारण! कामात्यन्तदुर्व्यवहारेण गमनसम्भवेऽपि त्वत्समागमाभिप्रायेणैव प्राणधारणात्त्वमेव प्राणधारणकारणमित्याशयः। आचक्ष्व कथय। हे अकरुण निर्दय! एकाकिनीम् असहायाम्, अशरणां रक्षकरहिताम् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। विमुच्य परित्यज्य। अवस्था दशा अनुभूता अनुभवविषयीकृता। युगसहस्रायमाणः युगसहस्रवदाचरमाणः। कृच्छ्रेण क्लेशेन नीतः प्रापितः। दर्शय प्रकाशय। मनोरथम् अभिलषितम्। आर्त्ता व्यथिता।

---

पूर्वजन्मार्जित पापोंकी भागिनी होनेसे, अथवा जले दैवकी दुःख देनेकी निपुणतासे, या खलप्रकृति दुरात्मा मदनके अत्यन्त प्रतिकूल होनेसे, अथवा किसी दूसरे कारणसे मेरे प्राण न निकले–यह भी मैं किसी प्रकार जान न सकी। किन्तु बहुत देरके बाद जब मुझे चेतनता प्राप्त हुई तब मैंने केवल यही देखा कि मेरा शरीर असह्य शोकसे जलता हुआ मानो अग्निमें गिरनेके समान हो गया है जिससे चिरदुःखिनी मैं भूमि पर छटपट कर (तड़फड़ा) रही थी। उनका यह आकस्मिक मरण और अपना जीवन धारण असङ्गत समझ उठकर मैं मुक्त कण्ठद्वारा आर्त्तस्वरसे–'हाय' हाय, यह क्या उपस्थित हो गया! हाय माता! हाय पिता! अरी सखियों!'—यों पुकारती पुकारती—'अरे' नाथ! अरे जीवनधारणके कारण! कहो तो सही, इस प्रकार निर्दय होकर, मुझ रक्षकहीनाको अकेली छोड़ कर कहाँ जाते हो? तरलिकासे पूछो तो, मैंने तुम्हारे लिये कितने क्लेशोंका अनुभव किया है। सहस्रयुगके समान लम्बा दिन, कैसे कष्टसे अतिवाहित किया (काटा) है? प्रसन्न हो (कृपा) करके एक बार तो मुझसे बोलो! भक्तवत्सलता दिखाओ। जरा भी मेरे सम्मुख तो देखो! मेरे मन की अभिलाषा पूर्ण करो। मैं पीड़ित हूँ तुम्हारा भक्ता हूँ, एवं तुम्हारे प्रति अनुरक्ता हूँ, अनाथा हूँ, बाला हूँ, निराश्रया हूँ, दुःखिता हूँ, तेरेसे अतिरिक्त

---

१. अश्रद्दधानञ्च, अश्रद्दधानाम्। २. मरणकारणम्। ३. क्वचित् द्विरुक्तिर्न विद्यते। ४. मातः। ५. निबन्धनमाचक्ष्व। ६. किं। ७. अकरुणं। ८. यानुभूता व्यथा। ९. कृतज्ञजनवत्सलताम्, प्रकटय परमां कृपालुताम्।

न्यशरणास्मि, मदनपरिभूतास्मि, किमिति न करोषि दयाम् ?। कथय[1], किमपराद्धम्, किंवा नानुष्ठितं मया, कस्यां वा नाज्ञायामादृतम्, कस्मिन् वा त्वदनुकूले नाभिरतम्, येन कुपितोऽसि[2]। दासीजनम्[3] अकारणात् परित्यज्य व्रजन् न विभेषी कौलीनात्?। अलीकानुरागप्रतारण[4]कुशलया किंवा मया वामया पापया। आः,[5] अहमद्यापि प्राणिमि, हा हतास्मि मन्दभागिनी। कथं मे न त्वम्[6] न तातः, न विनयः, न बन्धुवर्गः, न परलोकः, धिङ् मां दुष्कृतकारिणीम्, यस्याः कृते तवेयमीदृशी दशा वर्त्तते। नास्ति मत्सदृशी नृशंसहृदया, याहमेवं विधं भवन्तमुत्सृज्य गृहं गतवती। किं मे गृहेण, किमम्बया, किंवा तातेन किं बन्धुभिः, किं परिजनेन। हा कमुपयामि शरणम्? अयि दैव! दर्शय दयाम्[7], विज्ञापयामि त्वां देहि

अगतिका निराश्रया। न विद्यते अन्यत् त्वद्भिन्नं शरणं रक्षकं यस्याः सैवंविधाऽस्मि। मदनेन कामेन परिभूता पराजिता।

कथयेति। किमपराद्धं कोऽयमपराधः कृतो मयेति शेषः। अज्ञायां तवादेशे नादृतं नादरः कृतः। त्वदनुकूले कर्मणि, नाभिरतं मया नासक्तम् अकारणात् निमित्तमन्तरेण दासीजनं मल्लक्षणं भृत्यलोकमित्यर्थः। कौलीनात् शरणागतपरित्यागोत्पन्नाज्जनापवादात् न विभेषि भयं न प्राप्नोषि। 'कौलीनं पशुभिर्युद्धे कुलीनत्वापवादयोः' इति धरणिः।

अलीकेति। अलीकः संमिलनात्मकप्रयोजनोत्पादनासामर्थ्यादसत्यवदवगम्यमानः, योऽनुरागः तेन यत् प्रतारणं कुमारस्य वञ्चनं तत्र कुशलया दक्षया, वामया समस्तानामेव प्रतिकूलतया दुःखकारणत्वादित्याशयः, पापया दुष्कृतविधायिन्या ब्रह्महत्याहेतुत्वादिति भावः, मया महाश्वेतया किं वा प्रयोजनं भवेदिति शेषः।

आ इति। आ इति पीडार्थकमव्ययम्। 'आस्तु स्यात्कोपपीडयोः' इत्यमरः। अद्यापि एतत्कालमपि प्राणिमि जीवामि। मे मम त्वं न जातः प्राणत्यागात्। तातोऽपि पिताऽपि न पक्षे विद्यत इति शेषः, आदेशाभावेऽपि एवंविधव्यवहारेण चिरविरागादित्याशयः। विनयः कुलकन्याया उपदेशगुणः सदाचारोऽपि न विद्यते, इहागमनादिति भावः। बन्धुवर्गः स्वजनलोकोऽपि पूर्ववत् स्नेहेन पक्षपाती भवेत्, इहागमनेनैव तेषामपि चिरविरागादित्याशयः। परलोकः प्रेत्यभावोऽपि न विद्यते, ब्रह्महत्याजनितमहापातकित्वादित्याभिप्रायः। इह 'जात' इत्यादीनां पदानामनुपादानेन न्यूनपदत्वदोषः समापतति किन्तु विषादमग्नत्वाच्च दोषः प्रत्युतगुण एव। तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

'उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः।' इति।

नास्तीति। मत्सदृशी मत्समा नृशंसहृदया क्रूरचित्ता। उत्सृज्य त्यक्त्वा। बन्धुभिः स्वजनैः। शरणं रक्षकम् उपयामि गच्छामि। विज्ञापयामि निवेदयामि, दयितो वल्लभः कुमार एव दक्षिणा अवश्यमर्प-

कोई मेरा रक्षक नहीं है एवं कामदेवसे पराजित (हारी) हुई हूँ, तो भी क्यों मुझ पर दया नहीं करते? कहो तो सही मैंने क्या अपराध किया है? तुम्हारे किस कार्यको मैंने नहीं किया है? तुम्हारे किस आदेशका पालन नहीं किया है? तुम्हारे अनुकूल किस कार्यमें मैं आसक्त नहीं थी कि जिससे कुपित होकर दासजनको अकारण छोड़कर चले जाते हो और लोकापवादका भय नहीं करते? मिथ्या अनुराग दिखाकर प्रतारणा करनेमें निपुण, सभी प्रकारसे प्रतिकूल एवं पापिनी मुझसे—अहो! जो मैं अब तक भी जीती हूँ—आपको क्या? अरे, मैं हतभागिनी विनष्ट हुई। यह कैसे हुआ कि तुम मेरे नहीं हुए, पिता भी मेरे नहीं हुए, कुलकन्याका आचार भी नहीं रहा, बन्धुवर्ग भी नहीं रहे और परलोक भी नहीं रहा (अर्थात् कुछ भी मेरा नहीं रहा)? मुझ पापिनीको धिक्कार है, क्योंकि—जिसके लिए आपकी ऐसी अवस्था हुई! हाय, हाय, मेरे समान निष्ठुरचित्त (क्रूरहृदय) वाली कौन होगी जो मैं आपको ऐसी दशामें छोड़कर घर चली गई! अरे! मुझे घरसे क्या प्रयोजन? मातासे क्या प्रयोजन? पितासे क्या प्रयोजन? बन्धुओंसे क्या प्रयोजन? परिजनोंसे भी क्या प्रयोजन? हाय! अब मैं किसकी शरण लूँ? अरे दैव! [ अपनी ] दया दिखाकर, तुझसे निवेदन करती हूँ कि मेरे प्राणवल्लभको फिरसे

१. क्वचित् 'कथय' इति पदं नास्ति। २. क्वचित् 'असि' इति क्रियापदं न विद्यते। ३. दासजनम्। ४. विप्रतारण…। ५. याहम…। ६. कथं न त्वं जातः। ७. क्वचित् 'न तात' इति न विद्यते। ८. मयि। ९. मयि दैव! दर्शय दयाम्, अयि दैव! निर्घृण!…।

दयितं[1]दक्षिणाम् । भगवति ! भवितव्ये कुरु कृपाम्, पाहि वनितामनाथाम् । भगवत्यो वनदेवताः ! प्रसीदत, प्रयच्छतास्य प्राणान् । अम्ब ![2] वसुन्धरे ! सकललोकानुग्रहजननि ![3] किमर्थं[4] नानुकम्पसे ! तात ! कैलासेश ![5] शरणागतास्मि ते दर्शय दयालुताम्' इत्येतानि चान्यानि च व्याक्रोशन्ती कियद्वा स्मरामि ग्रहगृहीतेव आविष्टेव उन्मत्तेव भूतोपहतेव व्यलपम् । उपर्य्युपरि पतित[6]नयनजलधारानिकरच्छलेन विलीयमानेव द्रवतामिव नीयमाना जलाकारेणात्मीक्रियमाणा, प्रलापाक्षरैरपि दशनमयूखशिखा[7]नुगततया साश्रुधारैरिव निष्पतद्भिः शिरोरुहैरप्यविरलविगलितकुसुमतया[8]मुक्तबाष्पजलबिन्दुभिरिवाभरणैरपि प्रसृत[9]-विमल-मणि-

---

णीयं द्रव्यं तां देहि प्रयच्छ । भवितव्यते अदृष्ट ! अनाथां वनितां नारीं पाहि रक्ष, तदीयप्राणवल्लभप्रदानेनेत्यभिप्रायः । वनदेवता अरण्याधिष्ठात्र्यो देव्यः । सकलेषु समस्तेषु लोकेषु जनेषु अनुग्रहं जनयति उत्पादयतीति सा तत्सम्बुद्धौ रूपम् । कैलासेश शम्भो ! दर्शय प्रकटय दयालुतां कृपालुतां दयितस्य जीवनप्रदानेनेत्याशयः । व्याक्रोशन्ती तारस्वरेण रुदन्ती । कियद्वा स्मरामि, यत्तानि सम्प्रति कथयामीत्याशयः । ग्रहगृहीतेव दुष्टग्रहैराश्रितेव, आविष्टेव विकाराधिष्ठितेव, उन्मत्तेव उन्मत्तवायुग्रथितेव, भूतैः वेतालैः उपहतेव विकृतिकृतेव व्यलपं विलापमकरवम् ।

इह 'ग्रहगृहीतेव' इत्यादि 'भूतोपहतेव' इत्यन्तं चतसृणामेव वाच्यक्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । तथा 'कियद्वा स्मरामि' इति वाक्यस्यान्यवाक्यान्तः पातित्वेन गर्भितत्वदोषस्तु न शङ्क्यः, 'गर्भितत्वं गुणः क्वापि' इति दर्पणोक्तदिशा अत्यधिकावेगद्योतनेन विच्छित्त्यतिशयात् प्रत्युत-गुणत्वस्यैवाङ्गीकारादिति कुशला वदन्ति ।

उपरीति । उपर्युपरि ऊर्ध्वोर्ध्वं पतितानां च्युतानां नयनजलानाम् अश्रूणां धारानिकरच्छलेन प्रवाहसमूहव्याजेन विलीयमानेव भूतले लयं प्राप्नुवतीव, द्रवतां तरलतां नीयमानेव दैवेन प्राप्यमाणेव, तथा जलाकारेण सलिलस्वरूपेण आत्मीक्रियमाणेव निजरूपतां प्राप्यमाणेव अहं मुहुर्मुहुरेनमन्वनयम्' इत्युत्तरक्रियाभिः सम्बन्धः ।

इह तिस्र एव सापह्नवा वाच्यक्रियोत्प्रेक्षाः, तासां च परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

प्रलापेति । प्रलापाक्षरैरपि अचेतनैर्हाहेत्यादिपरिदेवकरणैरपि, दशनानां दन्तानां ये मयूखाः किरणा तेषां शिखाभिः अग्रैः अनुगततया उच्चारणसमये तेषामेवानुसृततया कारणेन, साश्रुधारैरिव सनयनाम्बुप्रवाहैरिव दन्तकिरणाग्राणामेवाश्रुप्रवाहवदवगतेरित्याशयः, निष्पतद्भिः वदनान्निःसरद्भिः सद्भिः उपेता-शिरोरुहैः केशैरपि अविरलं सान्द्रं यथा स्यात्तथा विगलितानि च्यरितानि कुसुमानि पुष्पाणि येभ्यः तेषां, भावस्तत्ता तया कारणेन, मुक्ताः शोकात्यक्ता बाष्पजलबिन्दवो नयनाम्बुकणा यैस्तथोक्तैरिव सद्भिरुपेता, तथा आभरणैरपि ममाभूषणैरपि प्रसृतानि निःसृतानि विमलमणिकिरणाः स्वच्छरत्नरश्मय एव अश्रूणि नयनाम्बूनि येभ्यः तेषां भावस्तया, कारणेन, प्ररुदितैरिव, कुमारशोकेन कृताश्रुपातैरिव सद्भिः उपेता अन्विता अहम् ।

---

दान दे । हे महात्म्यशालि अदृष्ट ! कृपाकर मुझ अनाथ अबला की रक्षा कर । अरे माहात्म्यशालि वनदेवतागण ! प्रसन्न होकर [ मुझ पर उपकार कर ] इनको जीवन दो । हे सकललोकानुग्रहकारिणि, जननि, वसुन्धरे ! दया क्यों नहीं करती हो ? तात, कैलासनाथ ! अब मैं आपकी शरणमें आई हूँ, मेरे प्रति [ अपनी ] दयालुता दिखलाइए— इस प्रकार एवं अन्यान्य अनेक प्रकारसे विलाप करती मैं कहां तक स्मरण करूँ—दुष्टग्रहसे पकड़ी हुईके समान, विकारग्रस्तके समान, उन्मत्तके समान एवं भूताविष्ट ( भूतपीड़ित ) के समान केवल विलाप ही करने लगी । उस क्षण नयनसे निरन्तर निःसृत ( गिरते ) अश्रुधारासमूहके बहाने भूमिमें ही मानो मैं लीन हो जाती थी, उस बहाने मानो द्रवीभूत हो (पिघली) जाती थी एवं उस बहाने मानो जलाकारमें परिणत होती ( पानी पानी हुई ) जाती थी । मेरे प्रलापके अक्षर भी दन्त-रश्मियोंके पीछे पीछे आते थे इससे मुझे यह प्रतीत होता था कि मानो वे अश्रुधारा-सहित बाहर निकलते है । मस्तकके केशकलाप भी बहुतसे पुष्प लगातार गिराते थे इससे यह प्रतीत होता था कि मानो वे भी आँसूकी बूँदें टपकाते हैं, आभूषण भी निर्मलमणिकिरण-रूपी आँसू गिराते थे, इससे

---

१. क्वचित् दयित' इति पदं न विद्यते । २. अव । ३···जननिरतासि । ४. रजनि ! नानुकम्पसे । ५. कैलास ! ६. निपतित··· । ७. दशनशिखा··· । ८···विगलत्कुसुमतया । ९. प्रसूत··· ।

किरणाश्रुतया प्ररुदितैरिवोपेता, तज्जीवितायेवात्ममरणाय स्पृहयन्ती, मृतस्यापि सर्वात्मना हृदयं प्रवेष्टुमिवेच्छन्ती, करतलेन कपोलयोराश्यानचन्दन-श्वेतजटामूले च ललाटे निहितसरस-बिसयोश्चांसयोर्मलयज-रस-लव-लुलित-कमलिनी-पलाशावगुण्ठिते च हृदयेपरामृशन्ती, 'पुण्डरीक ! निष्ठुरोऽसि, एवमप्यार्त्तां न गणयसि माम्' इत्युपालभमाना मुहुर्मुहुरेनमन्वनयम्, मुहुर्मुहुः पर्यचुम्ब, मुहुर्मुहुः कण्ठे गृहीत्वा व्याक्रोशम् । 'आः पापे ! त्वयापि मत्प्रत्यागमनकालं यावदस्यासवो न रक्षिताः' इति तामेकावलीमगर्हयम् । 'अयि भगवन् ! प्रसीद, प्रत्युज्जीवयैनम्' इति मुहुर्मुहुः कपिञ्जलस्य पादयोरपतम् । मुहुर्मुहुश्च तरलिकां कण्ठे गृहीत्वा प्रारुदम् ।

---

इह 'साश्रुधरैरिव' इत्यत्राश्रुधारासाहित्योत्प्रेक्षणाद् गुणोत्प्रेक्षा, 'मुक्तबाष्पजलबिन्दुभिरिव' इत्यत्र बाष्पजलबिन्दुमोचनोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा,.........किरणाश्रुतयेत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'प्ररुदितैरिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः । एतेन चेतनशून्यानामपि प्रलापाचरप्रभृतीनां शोकसूचनेन सचेतनयाः स्वीयायाः शोकाधिक्यं सूचितमिति कुशलाः ।

तदिति । तस्य कुमारस्य जीविताय जीवनलाभाय इव आत्ममरणाय स्वनिधनाय स्पृहयन्ती अभिलषन्ती प्रजापतिनिकटे विनिमयरूपेणेत्याशयः । क्रियोत्प्रेक्षा ।

मृतस्येति । सर्वात्मना निखिलोद्योगेन, मृतस्यापि उपरतस्यापि कुमारस्य हृदयं मानसं प्रवेष्टुं प्रवेशं कर्त्तुम् इच्छन्ती अभिलषन्तीव । उक्तालङ्कारः ।

करेति । करतलेन स्वहस्तेन, कपोलयोः कुमारस्य गण्डयोः आश्यानचन्दनेन शुष्कमलयजेन श्वेतानि शुभ्राणि जटानां मूलानि यत्र तथोक्ते, कुमारस्य ललाटे भाले च, तथा निहितानि मदनज्वरप्रशमनाय कपिञ्जलेन स्थापितानि सरसानि सजलानि मृणालानि बिसानि ययोस्तयोः, अंसयोः कुमारस्य स्कन्धयोश्च, तथा मलयजरसस्य चन्दनद्रवस्य लवैः कणैः लुलितं चिह्नितं यत् कमलिनीपलाशं नलिनीदलं तेन अवगुण्ठिते आच्छादिते, हृदये कुमारस्य उरसि च, परामृशन्ती स्पर्शं कुर्वन्ती अहम् ।

पुण्डरीकेति । निष्ठुरः क्रूरोऽसि, एवमपि पूर्वोक्तप्रकारेणापि आर्त्तां व्यथितां मां महाश्वेतां न गणयसि गणनां विधत्से' इति एवम् उपालभमाना तिरस्कुर्वाणा, मुहुर्मुहुः वारंवारम् एनं पुण्डरीकम् अन्वनयम् अनुनीतवती । पर्यचुम्बं चुम्बितवती । व्याक्रोशं तारस्वरेण व्यलपम् ।

आ इति । पापे एकावलि ! त्वया भवत्यापि मत्प्रत्यागमनकालं मदीयागमनसमयम् । अस्य पुण्डरीकस्य असवः प्राणा न रक्षिताः त्राताः मदीयागमनसूचनात्मकसमाश्वसनेनेत्याशयः । ताम् एकावलीं प्रत्यावर्त्तितं मदीयं तं हारम् अगर्हयं गर्हितवती । एनं पुण्डरीकं प्रत्युज्जीवय पुनर्जीवितं कुरु । पादयोश्चरणयोः अपतं पतितवती । प्रारुदं रोदनमकार्षम् ।

---

यह प्रतीत होता था कि वे भी मानो रुदन करते हैं। इन सबके साथ मैं उनके जीवनलाभके लिए ही, मानो अपने मरनेकी अभिलाषा करती थी। उनके मर जाने पर भी सब प्रकारसे ही मानो उनके हृदयमें प्रवेश करनेकी इच्छा करती थी। उनके गाल पर, सूखे चन्दन-लेपसे शुभ्रवर्ण जटामूलवाले ललाट पर सरस मृणालसे आच्छादित स्कन्ध पर और चन्दन बिन्दुलाञ्छित एक कमल-पत्र जहाँ रखा था—ऐसे हृदय पर हाथ फेरती फेरती—'पुण्डरीक ! तुम बड़े निठुर हो, क्योंकि—तुम्हारे शोकसे मैं इस प्रकारकी यातनाका भोग करती हूँ, तथापि तुम मेरी गणना ही नहीं करते हो' इस प्रकार उलाहना देती मैं बारंबार उन्हें अनुनय करने लगी, बारंबार चुम्बन करने लगी एवं बारंबार उनके कण्ठमें लिपट कर ऊँचे स्वरसे रुदन करने लगी। 'अरे ! पापिनी ! मेरे लौट आनेके समय तक तूने भी इनके प्राणकी रक्षा न की ?' इस प्रकार कहकर उस एकलरी मुक्तावलीकी निन्दा करने लगी। अरे भगवन् ! तुम प्रसन्न होकर इनको पुनः जीवित करो—यों कहकर बारंबार कपिञ्जलके पैरोंमें गिरने लगी और बारंबार तरलिकाके गले पकड़ ( लिपट ) कर रुदन करने लगी। आज विचार करने पर भी मुझे स्मरण नहीं आता कि

---

१. तज्जीवितायैव, तज्जीविताय च । २. स्पृशन्ती । ३. क्वचित् द्विरुक्तिर्नास्ति, क्वचित्तु शेषे द्विरुक्तिर्विद्यते । ४. मुहुः । ५. मुहुः ।

अद्यापि चिन्तयन्ती न जानामि तस्मिन् काले कुतस्तान्यचिन्तितान्यशिक्षितान्यनुपदिष्टान्यदृष्टपूर्वाणि मे हतपुण्यायाः कृपणानि चाटुसहस्राणि प्रादुरभवन्। कुतस्ते संलापाः, कुतस्तान्यतिकरुणानि वैक्लव्यरुदितानि, अन्य एव स प्रकारः। प्रलयोर्म्मय इवोदतिष्ठन्नन्तर्बाष्पवेगानाम्, जलयन्त्राणीवामुच्यन्ताश्रुप्रवाहाणाम्, प्ररोहा इव निरगच्छन् प्रलापानाम्, शिखरशतानीवावर्द्धन्त दुःखानाम्, प्रसूतय इवोदपद्यन्त मूर्च्छानाम्।

इत्येवमात्मवृत्तान्तमावेदयन्त्या एवं तस्याः समतिक्रान्तं कथमप्यतिकष्टमवस्थान्तरमनुभवन्त्या इव चेतनां जहार मूर्च्छा। वेगान्निष्पतन्तीञ्च शिलातले तां ससम्भ्रमं[2] प्रसारितपरिजन इव जातपीडश्चन्द्रापीडो विधृतवान्। अश्रुजलार्द्रेण च तदीयेनैवोत्तरीयवल्कलप्रान्तेन

---

अद्येति। तस्मिन् काले रोदनसमये अचिन्तितानि अविचारितानि अशिक्षितानि अपठितानि अनुपदिष्टानि केनापि नोपदेशीकृतानि अदृष्टपूर्वाणि मयापि पूर्वमविदितानि, हतपुण्याया नष्टसुकृताया मे मम कृपणानि दैन्यबोधकानि चाटुसहस्राणि प्रियप्रायवचनसमूहाः कुतः प्रादुरभवन् कुतो मद्वदनात्प्रकटीभूतानि इति अद्य चिन्तयन्त्यपि ध्यायन्त्यपि तन्न जानामि स्मरामीत्यर्थः।

कुत इति। संलापा विलापवचनानि। अतिकरुणानि अतिदैन्यसूचकानि वैक्लव्यरुदितानि शोकव्यग्रताप्रयुक्तरोदनानि। स प्रकारः सा शोकप्रकाशदशा, अन्य एव समस्तविजातीय एव, तत्सम्प्रति तमुदाहर्त्तुमसमर्थेत्याशयः।

प्रलयेति। बाष्पवेगानां वेगवन्नयनाम्बूनामित्यर्थः, प्रलयोर्म्मयः कल्पान्तसामयिकतरङ्गा इव अन्तर्नेत्रद्वयाभ्यन्तरात् उदतिष्ठन् उत्पन्नाः, अनेन नयनाम्बुधाराणां नितान्तस्थूलत्वं ध्वनितम्। अश्रुप्रवाहाणां बाष्पधाराणां जलयन्त्राणि सलिलोद्गारयन्त्राणीव अमुच्यन्त मुक्ता नयनाभ्यामिति शेषः। अनेन पतनसमये बाष्पाणां शतधारत्वं सूचितम्। प्रलापानां विलापानां प्ररोहा अङ्कुरा नूतननूतनप्रकारा इत्यर्थः, निरगच्छन् वदनान्निर्गता बभूवुः। दुःखानां क्लेशानां शिखरशतानीव शृङ्गसमूहा इव अवर्धन्त ऐधन्त, अनेन क्लेशानां भूधरवद्विस्तृतत्वं बोधितम्। मूर्च्छानां मोहानां प्रसूतयः सन्ताना अविच्छिन्नप्रसवा इव उदपद्यन्त अजायन्त, अनेन वारंवारं मूर्च्छाभूदिति प्रत्यायितम्। इह सर्वत्र जात्युत्प्रेक्षा।

इतीति। इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण आत्मवृत्तान्तं स्वकीयोदन्तम् आवेदयन्त्याः कथयन्त्या एव समतिक्रान्तं व्यतीतं कथमपि अनिर्वचनीयम् अतिकष्टं नितान्तक्लेशकरम् अवस्थान्तरं कुमारोपरतलक्षणम् अनुभवन्त्या इव तत्काल एवानुभवविषयीकुर्वन्त्या इव तस्या महाश्वेतायाः, मूर्च्छा मोहः चेतना चैतन्यं जहार अपहृतवती, सा मूर्च्छिता जातेत्यर्थः।

वेगादिति। वेगात् मूर्च्छारंहसः शिलातले प्रस्तरतले निष्पतन्तीम् अधःसंयोगफलिकां क्रियां विदधतीं तां महाश्वेतां ससम्भ्रमं शीघ्रं प्रसारितकरो विस्तारितहस्तः, परिजन इव सेवकजन इव जातपीडः तस्या वृत्तान्तश्रवणेनावस्थावलोकनेन च उत्पन्नक्लेशः, विधृतवान् धारितवान्। अश्रुजलार्द्रेण नयनाम्बुक्लिन्नेन च तदीयेनैव महाश्वेताधारितेनैवेत्यर्थः। उत्तरीयवल्कलप्रान्तेन वीजयन् पवनं सञ्चालयन् संज्ञां चेतनां ग्राहितवान् प्रापितवान्।

---

उस समय ऐसे अचिन्तित, अनभ्यस्त, दूसरे द्वारा अनुपदिष्ट, अदृष्ट-पूर्वप्रायः हजारों दुःखसूचक करुण वाक्य मुझ पापिनीके मुखद्वारा कहाँसे निकले, सब संलाप कहाँसे आये और अतिकरुण और दीन रुदन कैसे हुआ, वह तो कोई दूसरा प्रकार ही था। उस समय वेगवान् अश्रुजलका प्रबल-तरङ्ग ही मानो नेत्रके अभ्यन्तरसे उठने लगे. अश्रु-प्रवाहके जलयन्त्र (फुहारे) ही मानो छूटने लगे, विलाप के नये नये अङ्कुर ही मानो निकलने (फूटने) लगे, दुःखोंके सैकड़ों शिखर ही मानो बढ़ने लगे एवं मूर्च्छाके अविच्छिन्न सन्तान ( एकके पीछे दूसरी कतार ) ही मानो उत्पन्न होने लगे।

इस प्रकार अपना वृत्तान्त कहते कहते भूतकालकी अनिर्वचनीय और दारुण-कष्टजनक उस अवस्थाको ही मानो उस समय किसी प्रकारसे अनुभव करती महाश्वेताको मूर्च्छा आ गई, जिससे चेतना रहित हो गई और वेगसे शिलातलके ऊपर गिरनेको ही थी कि इतनेमें दुःखित चित्त चन्द्रापीडने घबराहटमें शीघ्रतासे, सेवकके समान हाथ फैलाकर, उसे पकड़ लिया एवं उसके ही अश्रु-जलसे सिक्त ( तर ) हुए उत्तरीय वल्कलप्रान्तद्वारा

---

१. आवेदयन्त्यः विवेदयन्त्या एव,...एव च। २. ससम्भ्रमप्रसारितकरः।

शनैः शनैर्वीजयन् संज्ञां ग्राहितवान् । उपजातकारुण्यश्च बाष्पसलिलोत्पीडेन[1] प्रक्षाल्यमानकपोलयुगलः[2] लब्धचेतामवादीत्—'भगवति ! मया पापेन तवायं पुनरभिनवतामुपनीतः[3] शोकः, येनेदृशीं दशामुपनीतासि । तदलमनया कथया, संह्रियतामियम्, अहमप्यसमर्थः श्रोतुम् । अतिक्रान्तान्यपि हि सङ्कीर्त्यमानानि[4] अनुभवसमां वेदनामुपजनयन्ति सुहृज्जनस्य दुःखानि । तन्नार्हसि कथमपि विधृतानिमानसुलभानसून् पुनः पुनः[5] स्मरणशोकानलेन्धनतामुपनेतुम्' इति ।

एवमुक्ता दीर्घमुष्णञ्च निश्वस्य[6] बाष्पायमानलोचना सनिर्वेदमवादीत्—'राजपुत्र ! या[7] तस्यामतिदारुणायां हतनिशायामेभिरतिनृशंसैरसुभिर्न परित्यक्ता, सेदानीं परित्यज्यत इति दूरापेतम्[8] । नूनमपुण्योपहतायाः पापाया मम भगवानन्तकोऽपि परिहरति दर्शनम् ।

उपजातेति । किञ्चेति चार्थः । उपजातम् उत्पन्नं कारुण्यं शोको यस्य स तथोक्तश्चन्द्रापीडः, बाष्पसलिलानां नयनाम्बूनाम् उत्पीडेन स्थूलधारया, प्रक्षाल्यमानं धौतं विधीयमानं कपोलयुगलं गण्डद्वयं यस्य स तथोक्तः सन्, लब्धचेतनां प्राप्तचैतन्यां महाश्वेताम् अवादीत् अवोचत्—भगवति महाश्वेते ! पापेन पापात्मना मया वक्तुमनुरुन्धतेत्याशयः । अभिनवतां नूतनताम् उपनीतः प्रापितः । येन कारणेन ईदृशीम् एवंविधां दशाम् अवस्थाम् उपनीतासि प्रापितासि । अलं व्यर्थम् । इयं कथा संह्रियतां समाप्यताम् । अहं चन्द्रापीडोऽपि श्रोतुम् आकर्णितुम् असमर्थः अक्षमः शोकोदयादित्याशयः । हि यतः, अतिक्रान्तान्यपि अतीतान्यपि दुःखानि क्लेशाः सङ्कीर्त्यमानानि वाच्यमानानि सन्ति, सुहृज्जनस्य मित्रलोकस्य अनुभवसमां स्वयमनुभूयमानवेदनासदृशीमित्यर्थः, वेदनां व्यथाम् उपजनयन्ति निष्पादयन्ति । कथमपि महता कष्टेन, विधृतान् एतावत्समयपर्यन्तं रक्षितान्, असुलभान् अस्मिन् जन्मनि दुष्प्रापान्, इमान् असून् प्राणान्, स्मरणेन तदुदन्तस्मृत्या यः शोकानलः शुग्वह्निः तस्य इन्धनतां काष्ठत्वम् उपनेतुं प्रापयितुं नार्हसि न योग्यासि, प्रयोजनाभावादित्याशयः ।

इह प्राणेषु काष्ठत्वारोपस्य शोकेऽनलत्वारोपः कारणमिति परम्परितरूपकम् ।

एवमिति । एवं पूर्वोक्तदिशा उक्ताऽभिहिता चन्द्रापीडेनेति शेषः । दीर्घम् आयतम् । बाष्पं नयनाम्बु उद्वमत इति बाष्पायमाने लोचने नयने यस्याः सा तथोक्ता महाश्वेता । निर्वेदेन स्वावमाननया सहेति सनिर्वेदं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्, अवादीत् अवोचत् या मल्लक्षणा व्यक्तिः । अतिदारुणायाम् अतिभीषणायां हतनिशायाम् अशुभरजन्याम् । अतिनृशंसैः अतिक्रूरैः असुभिः प्राणैः न परित्यक्ता नोज्झिता । इति एतत् सम्भावनम्, दूरापेतं दूरे स्थितम् ।

नूनमिति । अपुण्यं पुण्यविरोधि भवान्तरीयदुष्कृतं तेन उपहतायाः प्रतिबद्धसमस्तानन्दायाः पापायाः पुण्डरीकमरणे निमित्तत्वादैहिकब्रह्महत्यापापयुक्तायाः मम महाश्वेतायाः, अन्तकोऽपि यमोऽपि

(कोरसे) धीरे धीरे वायुका सञ्चार करके [थोड़ी देरमें] उसने चेतनता प्राप्त करायी । इस घटनाद्वारा उत्पन्न शोकसे चन्द्रापीडके भी कपोलस्थल (गालों) पर अश्रु-जलका प्रवाह बहने लगा और जब महाश्वेताको चेतनता आई तब उससे वह कहने लगा—'भगवति ! मुझ पापीने आपके इस अतीत शोकको फिरसे नूतन कर दिया, जिससे आपकी ऐसी अवस्था उपस्थित हो गई, बस इस वृत्तान्तको कहनेका कोई प्रयोजन नहीं है, यहीं ही इसका उपसंहार हो, मैं भी अब इसे सुननेके लिए समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि—बीते हुए भी मित्रोंके दुःख का सङ्कीर्तन आरम्भ करने पर आत्मीय लोगोंके अनुभूयमान वेदनाके समान वे वेदना उत्पन्न करते हैं । इसलिए किसी प्रकार धारण किए गए इन असुलभ प्राणोंको अब बारंबार स्मरण-रूपी शोकाग्निका इन्धन (लकड़ी) बनाना उचित नहीं है ।'

चन्द्रापीडके इस प्रकार कहने पर, महाश्वेता, लम्बे और गरम निश्वास लेकर, नेत्रोंसे अश्रुवर्षण करती (आँसू डबडबाती) हुई निर्वेदके साथ बोलने लगी—'राजपुत्र ! अत्यन्त भयङ्कर अशुभ उस रात्रिमें भी ये नृशंस (अतिक्रूर) प्राण जब मुझे नहीं छोड़ दिये, तो अब उनके छोड़ देनेकी धारणा तो बहुत दूरकी बात है । जन्मान्तरीय महाप्रत्यवायके कारण समस्त सांसारिक सुखके अभागिनी, इस जन्ममें भी पापिनी होनेके कारण मुझे

१. उत्पीडनेन । २. ···कपोलयुगलं···कपोलः, । ३. पुनरपि । ४. नीतः । ५. अत्र 'प्रियजनविश्वासवचनानि' इति क्वचिदधिकः पाठः । ६. पुनः शोकानल इन्धन··· । ७. निःश्वस्य । ८. या तदा । ९. परित्यक्तास्मि···ते मामिदानीं परित्यजन्तीति दूरापेतमेतत् ।

कुतश्च मे कठिनहृदयायाः शोकः, सर्वमिदमलीकमस्य दुरात्मनः[1] शठहृदयस्य, सर्वथाहमनेन त्यक्तत्रपेण निरपत्रप्राणानामग्रेसरीकृता। यया चाधिगतमदनवेदनया[2] वज्र मय्येवेदमनुभूतम्, तस्याः[3] का गणना कथनं प्रति ? किं वा परमतः। कष्टतरमाख्येयमन्यद्भविष्यति, यन्न शक्यते श्रोतुमाख्यातुं वा। केवलमस्य वज्रपातस्यानन्तरमाश्चर्यं यद्भूत्तदावेदयामि, आत्मनश्च प्राणधारणकारणलव इव[4] अव्यक्तो यः समुत्पन्नः, तच्च कथयामि। यया दुराशामृगतृष्णिकया गृहीताहमिदमुपरतकल्पं परकीयमिव भारभूतमप्रयोजनमकृतज्ञञ्च हतशरीरं[6] वहामि तदलं श्रूयताम्'।

---

दर्शनं साक्षात्कारं परिहरति परित्यजतीति नूनं निश्चितम्, अन्यथा साक्षात्कारं प्रदाय तथाविधावसरे मां ध्रुवमेव नयेदित्यभिप्रायः।

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।' 'उत्प्रेक्षा वाचका.........' इति दर्पणदिशा वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा।

नन्वेवमपि भूयः शोकाविर्भावात् समाप्यतामियं कथेत्यत आह—कुत इति। विदीर्णतारूपशोकफलानवलोकनात्। कठिनहृदयाया कठोरस्वान्तायाः, काठिन्यं हृदयस्य हि शोकाभावः। इदं पुण्डरीकोपरतादिकम्, अलीकम् असत्यम् असत्यवत्प्रतीतिरित्यर्थः। अन्यथा विदीर्येतेत्याशयः। दुरात्मनः दुष्टरूपस्य। त्यक्ता शठत्वादेव मुक्ता त्रपा लज्जा येन तेन, अहं निरपत्राणां निर्लज्जानाम् अग्रेसरी पुरोगामिनी कृता विहिता, कथमन्यथा यथायथं कथयितुं योग्याऽस्मीत्याशयः।

अथैवमपि प्रतिपादने कथञ्चिन्मनोव्यथा स्यादेवेत्यत आह—ययेति। किञ्च अधिगता साक्षादनुभूता मदनवेदना दारुणकामपीडा यया तया, यया वज्रमय्येव वज्ररचितयेव विद्यमानया मया, इदं पूर्वोक्तं घटनाजालम् अनुभूतम् अनुभवविषयीकृतम्, तस्या मम कथनं प्रति का गणना, अपि तु न कापीत्यर्थः। अनुभवोत्पन्नपीडापेक्षया प्रतिपादनजन्यपीडाया अतीवलघुत्वादित्याशयः।

इह क्रियोत्प्रेक्षा, अर्थापत्तिश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

इत ऊर्ध्वं क्लेशतरमपि न विद्यत इत्यत आह—किं वेति। आख्येयं कथनीयम्। श्रोतुम् आकर्णयितुम् आख्यातुं कथयितुं वा। वज्रपातस्य वज्रपातसदृशस्य कष्टकरस्य अस्य समाचारस्य अनन्तरं पश्चात् यत् आश्चर्यं चित्रम् अभूत् तत् आवेदयामि कथयामि। आत्मनः स्वस्य च प्राणधारणकारणस्य असुधारणहेतोः लवो लेश इव अव्यक्त अस्फुटो यः समाचारः समुत्पन्नः सञ्जातः तं च कथयामि निरूपयामि। दुराशामृगतृष्णिकया दुराशामृगमरीचिकया गृहीता स्वीकृता अहम्। उपरतकल्पं मृतप्रायम्, परकीयमिव अन्यदीयमिव। हतशरीरं दुष्टदेहं वहामि धारयामि, तद् आशाप्रयोजकंमहापुरुषवाक्यम् अलं व्यर्थमपि श्रूयताम् तव तदाकर्णने न किमपि प्रयोजनं तथापि मदनुरोधादाकर्ण्यतामित्याशयः।

---

निश्चय भगवान् यम भी [ वैसे अवसरमें ] दर्शन देना छोड़ दिया। मुझ कठिन हृदयाको शोक कहाँसे आवे ? यह तो सब इस दुरात्मा और धूर्तस्वभाव हृदयकी झूठी चाल है, इस निर्लज्जने मुझे सब प्रकारसे निर्लज्ज स्त्रियोंकी अग्रगण्य कर दी है और फिर दारुण कामवेदना अनुभवकर वज्रमयके समान इन समस्त घटनाओंका प्रत्यक्ष किया है, उसको केवल ऐसी घटनाको कहनेसे क्या हो सकता है, और इससे अधिक क्लेशदायक और कहनेको ही क्या होगा, जो न कहा जाय न श्रवण ही किया जाय। इस वज्रपातके बाद जो एक आश्चर्य घटना हुई अब केवल उसे ही मैं आपसे निवेदन करती हूँ और अपने प्राणधारण करनेके कारण कणाके समान अस्पष्ट ( गुप्त ) जो वृत्तान्त हुआ उसका भी वर्णन करती हूँ, जिस दुराशा-रूपी मृगतृष्णिकासे वशीभूत होकर मैं इस मृतप्राय एवं परकीयके समान भारभूत, प्रयोजनविहीन और अकृतज्ञ, दुष्ट शरीरको धारण कर रही हूँ। प्रयोजन न रहने पर भी उसे आप सुनिए।'

---

१. क्वचित् 'दूरात्मन' इति पाठो न विद्यते। २. आविष्कृतमन्दवेदनया, आविष्कृतमनया। ३. क्वचित् 'तस्याः' इति पदं नोपलभ्यते। ४. दुःखगणना कथं प्रीतिः। ५. कारणभूत इव। ६. हतशरीरकम्।

ततश्च तथाभूते तस्मिन्नवस्थान्तरे मरणैकनिश्चया[1] बहु विलप्य तरलिकामब्रवम्[2]—'अयि उत्तिष्ठ निष्ठुरहृदये ! कियद्रोदिषि[3] ? काष्ठान्याहृत्य विरचय चिताम्, अनुसरामि जीवितेश्वरम्' इति ।

अत्रान्तरे झटिति चन्द्रमण्डलविनिर्गतः[4] गगनादवतीर्य[5] केयूरकोटिलग्नममृतफेन-पिण्डपाण्डुरं पवनतरलमंशुकोत्तरीयमाकर्षन्, उभयकर्णान्दोलित-कुण्डल-मणि-प्रभा-रक्त-गण्ड-स्थलः, स्थूलमुक्ताफलतया तारागणमिव ग्रथितम् अतितारं हारम्[6] उरसा दधानः, धवल-दुकूल-पल्लवकल्पितोष्णीषग्रन्थिः, अलि-कुल-नील-कुटिल-कुन्तल-निकर-विकटमौलिः, उत्फुल्ल-कुमुदकर्णपूरः, कामिनी-कुच-कुङ्कुमपत्रलता-लाञ्छितांसदेशः, कुमुद-धवल देहः, महाप्रमाणः, पुरुषो महापुरुषलक्षणोपेतो दिव्याकृतिः, स्वच्छ-वारि-धवलेन देहप्रभावितानेन क्षालयन्निव

तत इति । तथाभूते तादृशे तस्मिन् पूर्वप्रतिपादिते अवस्थान्तरे मरणस्य मृत्योः एकनिश्चया एकनिर्णया सती । निष्ठुरहृदये कठोरचित्ते ! तादृशशोकेनापि हृदयस्याविदीर्णत्वान्निष्ठुरहृदयत्वं तरलिकाया इत्यभिप्रायः । आहृत्य आनीय विरचय निष्पादय । जीवितेश्वरं प्राणनाथम् अनुसरामि सहमरणं गच्छामि मृते भर्त्तरि मरणं ब्रह्मचर्यं वा पालनीयमिति धर्मशास्त्रनिर्णयादित्याशयः ।

अत्रेति । चन्द्रमण्डलविनिर्गतः शशिबिम्बाद्विनिःसृतः गगनात् आकाशात् अवतीर्य उत्तीर्य केयूरस्य बाहुमध्यस्थितभूषणस्य कोटौ अग्रदेशे लग्नम्, अमृतस्य पीयूषस्य फेनपिण्डवत् डिण्डीरचयवत् पाण्डुरं श्वेतम्, पवनतरलं वायुना कम्पितम्, अंशुकोत्तरीयं क्षौमवस्त्रोत्तरीयम् आकर्षन् आकर्षणं कुर्वन्। लुप्तोपमा।

उभयेति । उभयकर्णान्दोलितयोः श्रोत्रद्वयवेल्लितयोः कुण्डलयोः कर्णभूषणयोः मणिप्रभाभिः रत्नकान्तिभिः रक्ते लोहिते गण्डस्थले कपोलद्वयं यस्य सः । वृत्तिविषये उभशब्दस्योभयादेशः ।

स्थूलेति । उरसा वक्षःस्थलेन, स्थूलानि पीवराणि मुक्ताफलानि मौक्तिकानि यत्र तस्य भावस्तया कारणेन, ग्रथितं गुम्फितं तारागणमिव नक्षत्रसमूहमिव, अतितारं नितान्तस्वच्छं हारं मुक्ताप्रालम्बं दधानः बिभ्राणः । तारागणमिवेति जात्युत्प्रेक्षा । 'मुक्ताशुद्धौ च तारः स्यात्' इत्यमरः ।

धवलेति धवलेन श्वेतेन दुकूलपल्लवेन विस्तृतसूक्ष्मवस्त्रेण कल्पितो रचित उष्णीषग्रन्थिः मूर्धवेष्टनग्रन्थिर्येन सः ।

अलीति । अलीनां भ्रमराणां कुलं समूहस्तद्वत् नीलेन श्यामेन कुटिलेन वक्रेण च कुन्तलनिकरेण केशसमूहेन विकटो विस्तृतो मौलिश्चूडा यस्य सः । लुप्तोपमा ।

उत्फुल्लेति । उत्फुल्ले प्रस्फुटिते कुमुदे श्वेतोत्पलद्वयमेव कर्णपूरौ कर्णभूषणौ यस्य सः । कामिन्या योषितः कुचयोः स्तनयोः कुङ्कुमपत्रलताभिः कुङ्कुमद्रवनिर्मितपत्रावलिभिः लाञ्छितौ गाढालिङ्गनपूर्वकं पार्श्वशयनावस्थायाम् अङ्कितौ अंशदेशौ स्कन्धप्रदेशौ यस्य सः । कुमुदवत् श्वेतोत्पलवत् धवलः शुभ्रो देहः शरीरं यस्य सः । महत् प्रमाणं परिमाणं दैर्घ्यं यस्य सः । महापुरुषलक्षणैः हस्तपादादौ सामुद्रिकशास्त्रोक्तध्वजवज्रांकुशादिचिह्नैः उपेतो युक्तः। दिव्याकृतिः स्वर्गीयमूर्त्तिः। इह 'कुमुदधवले'त्यत्र लुप्तोपमा।

स्वच्छेति । स्वच्छं निर्मलं यद्वारि जलं तद्वत् धवलेन शुभ्रेण, देहस्य शरीरस्य प्रभाया वितानेन

तदनन्तर ऐसी दशा उपस्थित होने पर, केवल मरनेका ही निश्चय करके और अनेक प्रकारका विलाप कर मैंने तरलिकासे कहा—अरी कठिनहृदये ! उठो, अब इस प्रकार कितनी देर तक रोया करेगी ? लकड़ी लाकर चिता निर्माण कर, जिसमें अपने प्राणेश्वरका अनुगमन करूँ !

इस बीचमें झट चन्द्रमण्डलमेंसे निकलकर, कुमुद-तुल्य शुभ्रवर्ण, बड़े परिमाणका, महापुरुषके लक्षणोंसे युक्त दिव्य-स्वरूपवाला एक पुरुष आकाशसे उतरा। वह अपने केयूरके अग्रभाग ( बाजूबन्दके किनारें ) से अटके, अमृत-फेनपिण्डके समान शुभ्रवर्ण, वायुभारसे कम्पित, एक क्षौम उत्तरीय वस्त्रको खींचता था; दोनों कानोंमें लटकते दो कुण्डलके मणि-प्रभासे उसके गण्डस्थल रक्त दीखते थे; बड़ी बड़ी मुक्ताओंके द्वारा निर्मित होनेके कारण, गुँथे हुए नक्षत्र-गणके समान अत्यन्त मनोहर हार उसके वक्षःस्थल ( छाती ) पर धारण किया हुआ था; धवल और विस्तृत रेशमी-वस्त्रका उसने उष्णीष ( पगड़ी-साफा ) बाँधा था; सुन्दरियोंके स्तनोंकी कुङ्कुम पत्रलतासे उसका स्कन्ध ( कंधा ) चिह्नित था; निर्मल जलके समान श्वेतवर्ण चारों तरफ फैले हुए देहप्रभासे वह

१. अवस्थान्ते मरणैकनिश्चयाचतः । २. अब्रुवम् । ३. रोदिमि । ४…निर्गतः । ५. अवतीर्य च । ६. अतितारहारम् । ७. कम्पित । ८. निचित ।

दिगन्तराणि, आमोदिना च शरीरतः क्षरता शिशिरेण शीतज्वरमिव जनयता अमृतशीकर-निकरवर्षेण[1] तुषारपटलेनेवानुलिम्पन्, [2]गोशीर्ष-चन्दनरस-च्छटाभिरिवासिञ्चन्, ऐरावतकर-पीवराभ्यां बाहुभ्यां मृणाल-धवलाङ्गुलिभ्यामतिशीतलस्पर्शाभ्यां[3] तमुपरतमुत्क्षिपन्[4], दुन्दु-भिनादगम्भीरेण[5] स्वरेण 'वत्से, महाश्वेते ! न परित्याज्याः[6] त्वया प्राणाः, पुनरपि तवानेन सह भविष्यति समागमः' इत्येवमादृतः[7] पितेवाभिधाय सहैवानेन गगनतलमुदपतत्।

अहन्तु तेन व्यतिकरेण सभया सविस्मया सकौतुका चोन्मुखी किमिदमिति कपिञ्ज-लमपृच्छम्। असौ तु ससम्भ्रममदत्त्वैवोत्तरमुदतिष्ठत्—'दुरात्मन्[8] ! क्व मे वयस्यमपहृत्य गच्छसि' इत्यभिधायोन्मुखः सञ्जातकोपो बध्नन् सवेगम्[9] उत्तरीयवल्कलेन परिकरम्, उत्प-

---

समन्तात् विस्तृतकान्त्येत्यर्थः दिशां ककुभानाम् अन्तराणि विवराणि क्षालयन्निव निर्मलानि कुर्वन्निव।

इह 'स्वच्छवारिधवलेन' इत्यत्र लुप्तोपमा, अनया च 'क्षालयन्निवे'ति क्रियोत्प्रेक्षा शङ्कीर्यते।

आमोदिनेति। किञ्च, आमोदिना परिमलवता, शरीरतो देहतः क्षरता प्रस्रवता, तुषारपटलेनेव तुहिनवर्षणेनेव, शिशिरेण शीतलेन, अत एव शीतज्वरं जनयता उत्पादयतेव कम्परोमाञ्चविधायित्वा-दित्याशयः, अमृतशीकराः पीयूषबिन्दवः तेषां निकरः समूहस्तस्य वर्षणेन वृष्ट्या, अनुलिम्पन् विलेपयन् दिगन्तराणीत्यन्वयः।

इह श्रौतोपमाक्रियोत्प्रेक्षयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

गोशीर्षेति। गोशीर्षाकारे मलयाचलैकभागे उत्पन्नत्वाद् गोशीर्षं तत्संज्ञकम् अतिसुरभि यच्चन्दनं तस्य रसच्छटाभिः द्रवच्छुरणैः आसिञ्चन्निव आसेकं कुर्वन्निव दिगन्तराणीत्यन्वयः, सर्वतो दीप्तिप्रसरणा-दित्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षा।

ऐरावतेति। ऐरावतस्य गजस्य करवत् शुण्डावत् पीवराभ्यां स्थूलाभ्याम्, मृणालं बिसं तद्वत् धवलाः शुभ्रा अङ्गुलयः करशाखा ययोस्ताभ्याम्, तथा अतिशीतलस्पर्शाभ्यां नितान्तशिशिरस्पर्शाभ्यां बाहुभ्यां भुजाभ्याम्, उपरतं मृतं तं पुण्डरीकम् उत्क्षिपन् उत्तोलयन्।

इह द्वे लुप्तोपमे, अनयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

दुन्दुभीति। दुन्दुभिनादवत् पटहध्वनिवत् गम्भीरेण, स्वरेण कण्ठध्वनिना। न परित्याज्या न परि-हेया। अनेन मृतपुण्डरीकेण। समागमः सङ्गमः। पितेव जनक इव उदपतत् उत्पपात। इह लुप्तोपमा, श्रौतोपमा च, अनयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अहमिति। तेन व्यतिकरेण लोचनयोस्तद्व्यापारसम्पर्केण सभया सातङ्का अद्भुताकृतिव्यापाराव-लोकनादित्याशयः। एवमन्यत्राप्याशयो बोध्यः। सविस्मया साश्चर्या, सकौतुका सकुतूहला, उन्मुखी ऊर्ध्ववदना। अपृच्छम् अप्राक्षम्।

असाविति। असौ कपिञ्जलः। ससम्भ्रमं शीघ्रम्। उत्तरं प्रतिवचः अदत्त्वैव अप्रदायैव उदतिष्ठत् उत्थितो बभूव। सञ्जातकोपः समुत्पन्नक्रोधः। सवेगं सजवम् उत्तरीयवल्कलेन उत्तरीयतरुत्वचा परि-

---

दिगन्तरोंका मानो प्रक्षालन करता था; तुषारवृष्टिके समान शीतल और सुगन्ध शरीरमेंसे निकलते अमृतबिन्दु-वर्षणसे शीतज्वर उत्पन्न करके ही मानो समस्त दिशाओंका लेप करता था और गोशीर्ष-नामक अत्यन्त सुगन्ध चन्दनरसके निक्षेप ( छिड़कने ) से ही मानो समस्त दिशाओंको सिक्त करता था। उसने ऐरावत हाथीकी शुण्ड ( सूँड़ ) के समान स्थूल ( मोटी ) मृणालके समान गोरी उँगलियोंवाली और अत्यन्त शीतल-स्पर्शवाली अपनी बाहुओंसे उस मृतकको उठाकर, दुन्दुभिके नादके समान गम्भीर स्वरसे, पिताके समान आदरपूर्वक कहा—'पुत्रि, महाश्वेते ! तुम प्राणका परित्याग नहीं करना, फिर इसके साथ तुम्हारा सम्मिलन होगा' और वह उस कुमारके शरीरके साथ ही आकाशमें उड़ गया।

मैं तो इस व्यापारसे भय-भीत और विस्मित हो गई, और कौतुकसे ऊपर देखती देखती कपिञ्जलसे पूछने लगी कि यह क्या हुआ ? किन्तु वह तो घबड़ाकर उत्तर दिये बिना ही खड़ा हो गया और कहा—'अरे दुष्ट !

---

१. अमृतशीकरवर्षेण। २. गोशीर्षक…। ३. शीतलस्पर्शाभ्यां। ४. उत्क्षिप्य। ५ क्वचित् 'नाद' इति पदं नोपलभ्यते। ६. त्याज्याः। ७. क्वचित् 'आदृत' इति पाठो न विद्यते। ८. दुरात्मन् ! अन्तक !। ९. सावेगम्।

तन्तं[1] तमेवानुसरन्नन्तरिक्षमुदगात् । पश्यन्त्या एव च मे सर्व एव ते तारागणमध्यम्[2] अविशन् ।

मम तु तेन द्वितीयेनेव प्रियतममरणेन कपिञ्जलगमनेन द्विगुणीकृतशोकायाः सुतरामदीर्य्यत हृदयम् । किंकर्त्तव्यतामूढा च तरलिकामब्रवम्[3]—'अयि ! जानासि ?[4] कथय[5] किमेतदि'ति । सा तु तदवलोक्य स्त्रीस्वभावकातरतया तस्मिन् क्षणे शोकाभिभाविना भयेनाभिभूता वेपमानाङ्गयष्टिर्मम मरणशङ्कया च वराकी विषण्णहृदया सकरुणमवादीत्—भर्तृदारिके ! न जानामि पापकारिणी, किन्तु महदिदमाश्चर्य्यम्, अमानुषाकृतिरेष पुरुषः, समाश्वासिता चानेन गच्छता सानुकम्पं पित्रेव भर्तृदारिका। प्रायेण चैवंविधा[6] दिव्याः स्वप्नेऽप्यविसंवादिन्यो भवन्त्याकृतयः किमुत साक्षात्[7] । न चाल्पमपि, विचारयन्ती कारणमस्य मिथ्याभिधाने पश्यामि, अतो युक्तं विचार्य्यात्मानं[8] मस्मात् प्राणपरित्याग-व्यवसायान्निवर्त्तयितुम्,

---

करं कटिदेशं बध्नन् बन्धनं कुर्वन् । तमेव शशिमण्डलविनिर्गतपुरुषमेव अनुसरन् अनुगच्छन् अन्तरिक्षम् आकाशम् । पश्यन्त्या अवलोकयन्त्या एव मे अवलोकयन्तीमेव मामनादृत्येत्यर्थः । इहानादरे षष्ठी । ते पुरुषपुण्डरीककपिञ्जलाः तारागणमध्यं नक्षत्रवृन्दमध्यम् अविशन् प्रवेशं चक्रुः ।

ममेति । तेन कपिञ्जलगमनेन द्वितीयेन अपरेण प्रियतममरणेन वल्लभोपरतेनेव, सर्वथा नैराश्यादित्याशयः । सुतरां नितान्तम् । अदीर्यत विदीर्णं बभूव । जानासि अवबुध्यसे इति काकुः, जानासि किमित्यर्थः । कथय निवेदय ।

सेति । वराकी दीना, सा तरलिका, तत् तेषां गमनम् । स्त्रीस्वभावकातरतया नारीप्रकृतिभीरुतया शोकाभिभाविना शोकविजयिना शोकात् प्रबलेनेत्यर्थः, भयेन त्रासेन अभिभूता पराजिता वेपमाना कम्पमाना अङ्गयष्टिः । विषण्णहृदया खेदखिन्नचित्ता ।

भर्त्रिति । अमानुषाकृतिः दिव्याकृतिः । सानुकम्पं सदयम् । समाश्वासिता परितोषमुत्पादिता । एवंविधा दिव्याः स्वर्गीया आकृतयो मूर्त्तयः स्वप्नेऽपि स्वप्नावस्थायामपि प्रायेण बाहुल्येन अविसंवादिन्य अव्यभिचारिण्यो भवन्ति नासत्यं ब्रुवत इत्याशयः ।

ननु यद्यसत्यं ब्रुवीत तदा किमित्यत आह—नचेति । विचारयन्ती विमर्शं कुर्वन्ती सती, अस्य पुरुषस्य मिथ्याभिधाने असत्यभाषणे अल्पं स्तोकमपि कारणं हेतुं न पश्यामि नावलोकयामि । प्राणपरित्यागस्य असुपरिमुञ्चनरूपस्य व्यवसाय उद्योगस्तस्मात्, आत्मानं मनः निवर्त्तयितुं युक्तं न्याय्यम् । इदं 'न परित्याज्यास्त्वया प्राणा' इत्यादिकम् अस्य वचनम्, आश्वासस्य स्थानं हेतुरित्यर्थः ।

---

मेरे मित्रको लेकर तुम कहां भागे जा रहे हो ?' इस प्रकार कह कर क्रुद्ध हो ऊंचा मुखकर, वेगसे अपने उत्तरीय-वल्कलद्वारा कटिदेशमें बन्धन ( कमरमें फेंटा ) बांध, उस उड़ते हुए पुरुषका अनुसरण करते करते आकाशमें उड़ गया, और मेरे देखते देखते ही वे सभी तारागणोंके मध्यमें प्रवेश कर गये ।

परन्तु द्वितीय प्रियतमके मृत्युके समान उस कपिञ्जलके जानेसे मेरा शोक द्विगुणित बढ़ गया और उससे मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण हो ( फट ) गया । उस समय किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर मैंने तरलिकासे कहा—'अरी, तू नहीं जानती है,—कहो यह क्या हुआ ? परन्तु वह इस घटनाको देखकर, स्त्री-स्वभावसे कातर—उस समय शोकसे भी अधिक हुए भयसे अभिभूत हुई-कंपमान शरीर-यष्टिवाली, मेरे मर जानेकी आशङ्कासे खिन्न हृदय हुई, शोकके साथ बोली—'राजकन्ये ! मैं पापिनी इस घटनाके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानती, किन्तु यह बहुत ही आश्चर्य हो गया ! उस व्यक्तिकी आकृति अलौकिक थी और उस समय वह जाते जाते पिताके समान दयाके साथ आपका आश्वासन किया था । प्रायः इसप्रकारके दिव्य पुरुष स्वप्नमें भी मिथ्या नहीं कहते हैं यदि साक्षात कहें तो कहना ही क्या है ? मैं विचार कर इसके मिथ्या कहनेमें थोड़ासा भी कारण नहीं देखती हूँ, इसलिए विचार कर आपको भी इस प्राण-परित्यागके उद्यमसे मनको निवृत्त करना ही उचित है, विशेषतः इस अवस्थामें उसका

---

१. उत्पत्यात्पतन्तम् । २. तारागणाधिपमध्यम् । ३. अब्रुवम् । ४. न जानासि । ५. क्वचित 'कथय' इति पदं नोपलभ्यते । ६. अत्र 'भारत्यः' इत्यधिकः पाठः क्वचित् समुपलभ्यते । ७. साक्षात्कृताः । ८. युक्तमिवात्मानम् ।

अतिमहत् खल्विद[1]माश्वासस्थानमस्यामवस्थायाम्। अपि च तमनुसरन् गत एव कपिञ्जलः, तस्माच्च[2] 'कुतोऽयम्, को वायम्, किमर्थञ्च[3] अनेनायमपगतासुरुत्क्षिप्य नीतः, क्व वा नीतः कस्माच्चासम्भावनीयेनामुना पुनः समागमाशाप्रदानेन भर्तृदारिका समाश्वासिता' इति सर्व-मुपलभ्य[4] जीवितं वा मरणं वा समाचरिष्यसि। अदुर्लभं[5] हि मरणमध्यवसितम्[6], पश्चाद-प्येतद्भविष्यति। न च जीवन् कपिञ्जलो भर्तृदारिकामदृष्ट्वा स्थास्यति, तेन तत्प्रत्यागमनका-लावधयोऽपि तावद्ध्रियन्ताममी प्राणा' इत्यभिदधाना पादयोर्मे[7] न्यपतत्। अहन्तु सकललो-कदुर्लङ्घ्यतया जीविततृष्णायाः, क्षुद्रतया च स्त्रीस्वभावस्य[8], तया च तद्वचनोपनीतया दुराशा-[9]मृगतृष्णिकया, कपिञ्जलस्य प्रत्यागमनकाङ्क्षया च, तस्मिन् काले तदेव युक्तं मन्यमाना नो-त्सृष्टवती जीवितम्। आशया हि किमिव न क्रियते। ताञ्च[10] पापकारिणी कालरात्रिप्रतिमां

---

अपीति। तस्माच्च कपिञ्जलात् इत्येतत्सर्वमुपलभ्येति सम्बन्धः। अयं दृश्यमानः पुरुषः कुतः कस्मात् स्थानात् आगत इति शेषः। अनेन पुरुषेण, अपगतासुः निःसृतप्राणः, अयं पुण्डरीकः, किमर्थं कस्मै प्रयो-जनाय च उत्क्षिप्य उत्तोल्य नीतः प्रापितः। असंभावनीयेन अचिन्तनीयेन, अमुना पुरुषेण। इति एतत् सर्वम् उपलभ्य ज्ञात्वा। समाचरिष्यसि विधास्यसि। हि यतः, अध्यवसितुं कर्तुमभिलषितं मरणं मृत्युः, अदुर्लभं न दुष्प्रापम्, अत एव एतन्मरणं पश्चादपि वृत्तान्तोपलब्ध्यनन्तरमपि भविष्यति, अग्निप्रवेशाद्य-नेकोद्योगविघसानत्वादित्याशयः। अदुर्लभमित्यत्र नञः पार्थक्येनैव पाठो विधेयः तस्यैव प्राधान्यात्, यथाश्रुते समासे गुणीभावाद्विधेयाविमर्शः स्पष्ट एवेति कुशलाः।

अथ यदि कपिञ्जलो नागच्छेत्तदा कुतोऽवबोधो भविष्यतीत्यत आह—न चेति। भर्तृदारिकां राजपुत्रीम् अदृष्ट्वा अनिरीक्ष्य, न स्थास्यति, मित्रपत्न्याः सर्वथैव मित्रसदृशत्वेन तेन भवत्या अवश्यसमा-श्वासनीयत्वादित्याशयः। तेन कारणेन, तस्य कपिञ्जलस्य प्रत्यागमनकालः परावर्त्तनसमय एव अवधि-र्येषां ते। न्यपतत् पपात तरलिकेति शेषः।

अहमिति। जीविततृष्णायाः प्राणधारणगर्धायाः सकलजनदुर्लङ्घ्यतया समग्रजनदुरतिक्रम्यतया, स्त्रीस्वभावस्य योषित्प्रकृतेः क्षुद्रतया तुच्छतया। तस्याः तरलिकाया वचनेन उक्तवाक्येन उपनीता उपस्थापिता तया दुराशा विषयसम्भवाभावेऽपि विहितत्वात् दुष्टा पुण्डरीकस्य भूयः प्राप्तिपृष्टैव मृगतृ-ष्णिका मृगमरीचिका तया। प्रत्यागमनकाङ्क्षया परावर्त्तनशङ्कया। मन्यमाना ज्ञायमाना। उत्सृष्टवती त्यक्तवती। हि यतः, आशया किमिव न क्रियते विधीयते जनैरिति शेषः, अपि त्वाशया सर्वमेव क्रियते इत्यर्थः।

इह 'दुराशामृगतृष्णिका' इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकम्। तेन भ्रममूलैवेयं दुराशेति व्यज्यत इत्यल-ङ्कारेण वस्तुध्वनिः। अर्थापत्तिश्च। तथा चोक्तरूपकार्थापत्तिभ्यामर्थान्तरन्यासः सङ्कीर्यते।

तामिति। किञ्च, उत्सन्ननिद्रा विगतनिद्रा। विचेष्टमाना विशेषेण स्पन्दमाना, रेणुकणैः धूलिकणैः धूसरा ईषत्पाण्डुराः तैः तथोक्तैः, अश्रुजलैः नयनाम्बुभिः आर्द्रयोः क्लिन्नयोः कपोलयोर्गण्डयोः सन्दानितैः

---

यह वाक्य ही बड़े आश्वासनका स्थान है। और भी देखो—कपिञ्जल तो उस व्यक्तिके पीछे पीछे गया ही है, उससे सब वृत्तान्त आप जानोगी कि वह व्यक्ति कहांसे आया था, कौन था, किसलिए वह मृतकको उठाकर ले गया, कहांले गया, और किसकारणसे उसने पुनः सम्मिलनकी असम्भावनीय आशा प्रदान कर आपका आश्वासन किया। इसके अनन्तर प्राण-धारण या प्राण-परित्याग इनमें जो हो सकेगा वह निश्चय करना। क्योंकि मरने के लिए आप उद्यत हुई हैं, पर निश्चय हो जाने पर वह कुछ भी दुर्लभ नहीं है,—यह तो बादमें भी होगा। कपिञ्जल जीवित रह कर आपको देखे विना नहीं रह सकेगा, इसलिये वह लौटे तब तक आप इन प्राणोंको धारण करें।' इस प्रकार कहती कहती वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी—किन्तु जीवनकी आशा छोड़ना सब लोगोंको ही अलङ्घनीय होनेसे स्वभावतः ही स्त्रियोंकी हृदयक्षुद्रतासे, तरलिकाके द्वारा उपस्थित कराए हुए उस व्यक्तिके वचनसे उत्पन्न हुई दुराशारूपी मृगतृष्णासे और कपिञ्जलके फिरसे आनेकी आकाङ्क्षासे मुझे भी उस समयमें प्राणधारण करना ही युक्तिसङ्गत प्रतीत हुआ और मैंने प्राण-परित्याग नहीं किया। क्योंकि—आशासे लोग क्या नहीं करते?

---

१. आश्वासनस्थानम्। २. स्तमात्। ३. किमर्थं वा। ४. सर्वमिदमुपलभ्य। ५. न दुर्लभम्। ६. अध्यासितम्। ७. पादयोरपतत्। ८. स्त्रीस्वभावतायाः। ९. दुराशया। १०. पापकारिणीं।

वर्षसहस्रायमाणां यातनामयीमिव दुःखमयीमिव नरकमयीमिव अग्निमयीमिव उत्सन्ननिद्रा[1] तथैव क्षितितले विचेष्टमाना रेणुकणधूसरैरश्रुजलार्द्रकपोलसन्दानितैर्विमुक्तव्याकुलैः[2] शिरोरुहैरुपरुद्धमुखी[3] निर्दयाक्रन्दजर्जर-स्वर-क्षय-क्षामेण[4] कण्ठेन तस्मिन्नेव सरस्तीरे तरलिकाद्वितीयाक्षपां क्षपितवती[5] ।

प्रत्यूषसि तूत्थाय तस्मिन्नेव[6] सरसि स्नात्वा, कृतनिश्चया, तत्प्रीत्या तमेव कमण्डलुमादाय तान्येव च वल्कलानि तामेवाक्षमालां गृहीत्वा, बुद्ध्वा निःसारतां संसारस्य, ज्ञात्वा च मन्दपुण्यतामात्मनः[7], निरूप्य चाप्रतीकारदारुणतां व्यसनोपनिपातानाम्[8], आकलय्य दुर्निवारतां शोकस्य, दृष्ट्वा च निष्ठुरतां दैवस्य, चिन्तयित्वा चातिबहुलदुःखतां[9] स्नेहस्य भावयित्वाचानित्यतां सर्वभावानाम्, अवधार्य्य चाकाण्डभङ्गुरतां सर्वसुखानाम्, अविगणय्य तातमम्बाञ्च, परित्यज्य सह परिजनेन[10] सकलबन्धुवर्गम्, निवर्त्य विषयसुखेभ्यो मनः, संयम्येन्द्रियाणि,

---

संलग्नैः, विमुक्ताः स्खलिता अत एव व्याकुला विक्षिप्ताः तैः तथोक्तैः, शिरोरुहैः केशैः, उपरुद्धमुखी आच्छादितानना। निर्दयो निष्करुणः अत्युन्नतो य आक्रन्दो रोदनं तेन जर्जरो जीर्णो यः स्वरो ध्वनिः तस्य क्षयेण क्रमिकाह्रासेन क्षामः क्षीणः तेन कण्ठेनोपलक्षिता अहम् कालरात्रिप्रतिमां कल्पक्षयकालीनरात्रिसदृशीम्, सर्वाशादूरीकरणादित्याशयः। वर्षाणां सम्वत्सराणां सहस्रं समूहः तद्वदाचरणाम्, क्लेशस्य दुःसहत्वादिति भावः। यातनामयीमिव तीव्रवेदनामयीमिव नितान्तक्लेशोत्पादकत्वादिति भावः। दुःखमयीमिव समन्तात् क्लेशानुभवात्। नरकमयीमिव दुर्गतिमयीमिव जुगुप्सितात्यन्तक्लेशजनकत्वादित्याशयः। अग्निमयीमिव समन्तात्सन्तापोत्पादकत्वात् क्षपां रात्रिम्, क्षपितवती नीतवती।

इहाद्यार्थीपमा, द्वितीया च क्यङन्तोपमा। चतुर्षु व्याप्त्यर्थे मयट्प्रत्ययविधानाच्च क्रियोत्प्रेक्षाः, आसां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

प्रत्यूषसीति। प्रत्यूषसि प्रभाते। तस्मिन्नेव अच्छोदाभिध एव। कृतनिश्चया विहितनिर्णया महेश्वराराधनायामिति शेषः। तत्प्रीत्या पुण्डरीकस्नेहेन कारणेन, तमेव कमण्डलुं तत्करकुण्डिकामेव। तान्येव तद्देहलग्नान्येव वल्कलानि तरुत्वचः। तामेव तदीयामेव। संसारस्य जगतो निःसारताम् अतात्त्विकतां बुध्वा अवगम्य। व्यसनोपनिपातानां विपदुपस्थितीनाम्, अप्रतिकारदारुणतां प्रतिविधानासामर्थ्यभीषणतां निरूप्य निश्चित्य। दुर्निवारतां दुष्प्रतिषेध्यताम् आकलय्य विविच्य। अतिबहुलान्येव अत्यधिकान्येव दुःखानि क्लेशाः यत्र तस्य भावस्ताम्। सर्वभावानाम् आत्मातिरिक्तनिखिलवस्तूनाम् अनित्यतां विनश्वरतां भावयित्वा भावनाविषयीकृत्य। अकाण्डे अकाले भङ्गुरतां विनाशित्वम् अवधार्य निश्चित्य। निवर्त्य पराङ्मुखीकृत्य। इन्द्रियाणि लोचनादीनि करणानि संयम्य स्वस्वविषयेभ्यो निरुध्य। अनाथानां

---

तरलिकाके साथ सरोवरके उसी किनारे पर ही कालरात्रिके तुल्य और सहस्रों वर्षोंके समान लम्बी, मानो यातनामयी, दुःखमयी, नरक मयी और अग्निमयी हो ऐसी, उस रात्रिको मैं पापकारिणीने निद्राके बिना ही, उसी प्रकार पृथ्वी पर लोटते लोटते ( छटपट करते ) बिताई। धूलसे धूसर एवं अश्रु-जलसे आर्द्रकपोल पर संलग्न ( चिपटे हुए ) छूटे छूटे इधर उधर बिखरे केशकलापों ( बालों ) से मेरा मुख आच्छादित हो गया था, बड़े बड़े चीत्कार ( चीखें मार ) करके रोनेसे कण्ठका स्वर जीर्ण, शीर्ण और क्षीण हो गया था।

फिर प्रातःकाल उठकर उसी सरोवरमें स्नान कर, शङ्करकी आराधनाके लिये दृढ़ निश्चय कर, उनके ( पुण्डरीकके ) प्रति प्रेम होनेसे उसी कमण्डलु, उसी वल्कल और उसी जपमालाको लेकर, संसारकी असारता समझ समझ, अपनी अल्प-पुण्यता जान, उपस्थित [अचिन्तित] विपत्तियोंको प्रतीकार-रहित और भयङ्कर निश्चय समझ कर, शोककी दुर्निवारता विचारकर, विधाताकी निष्ठुरता देखकर, स्नेहको आभ्यन्तरिक अधिक परिमाणमें ही दुःखोंसे व्याप्त विचार कर, समस्त पदार्थोंकी अनित्यता मानकर, सब सुख ही असमयमें विनष्ट हो जाते हैं ऐसा स्थिर जानकर, पिता और माताका सङ्कोच छोड़कर, परिजनादिकोंके साथ समस्त बन्धुओंका परित्याग कर,

---

१. उत्पन्ननिशाम्। २. विमुक्तैर्व्याकुलैः। ३. मुखा। ४...क्षामक्षामेण। ५. क्षयितवती। ६. अस्मिन्। ७. मनसः। ८. उपतापानाम्। ९. दुःखबहुलतां। १०. परिजनेन मनसा सकल...।

गृहीतब्रह्मचर्य्या[1] देवं त्रैलोक्यनाथमनाथशरणम्[2] इमं शरणार्थिनी स्थाणुमाश्रिता[3]।

अपरेद्युश्च कुतोऽपि समुपलब्धवृत्तान्तस्तातः सहाम्बया सह बन्धुवर्गेणागत्य सुचिरं कृताक्रन्दस्तैस्तैरुपायैः, अभ्यर्थनाभिश्च बह्वीभिः[4], उपदेशैश्चानेकप्रकारैः, सान्त्वनैश्च[5] नानाविधैः, गृहगमनाय[6] मे महान्तं यत्नमकरोत्। यदा च नेयमस्माद्व्यवसायात् कथञ्चिदपि शक्यते व्यावर्त्तयितुमिति[7] निश्चयमधिगतवान्, तदा निराशोऽपि दुस्त्यजतया[8] दुहितृस्नेहस्य, पुनः पुनर्मया विसृज्यमानोऽपि बहून् दिवसान् स्थित्वा, सशोक एवान्तर्दह्यमानहृदयो गृहानयासीत्।

गते च ताते ततः प्रभृति तस्य जनस्याश्रुमोक्षमात्रेण[10] कृतज्ञतां दर्शयन्ती, तदनुराग-कृशमिदमपुण्यबहुलमस्तमित-लज्जममङ्गल-भूतमनेक-क्लेशायास-सहस्र-निवासं दग्धशरीरकं बहुविधै[11]र्नियमशतैः शोषयन्ती[12], वन्यैश्च फल[13]मूलवारिभिर्वर्त्तमाना, जपव्याजेन तद्गुणगणानिव

---

दीनानां शरणं रक्षकम् इमं पुरोऽवलोक्यमानं स्थाणुं महेशं शरणार्थिनी रक्षकार्थिनी। आश्रिता अवलम्बिता।

अपरेद्युरिति। अपरेद्युः अन्येद्युः, कुतोऽपि कस्मादपि लोकात्, समुपलब्धः प्राप्तः वृत्तान्तो मदीयोदन्तो येन सः तादृशः। कृताक्रन्दो विहितविलापः, तैस्तैरुपायैः करणग्रहणाद्युद्योगैः, अभ्यर्थनाभिः अनुनयैः। उपदेशैः हितवाक्यैः। सान्त्वनैः सामभिः इयं महाश्वेता अस्माद् व्यवसायात् व्रताश्रयणाध्यवसायात् कथञ्चिदपि केनापि विधिना व्यावर्त्तयितुं निवर्त्तयितुं न शक्यते न पार्यते इति एवं निश्चयं निर्णयम् अधिगतवान् ज्ञातवान्। निराशोऽपि व्यावर्त्तने आशारहितोऽपि दुहितृस्नेहस्य आत्मजप्रेम्णः दुस्त्यजतया दुर्निवारतया। विसृज्यमानोऽपि गृहे गम्यतामित्यभिधीयमानोऽपि। अन्तर्दह्यमानहृदयः अभ्यन्तरप्रज्वलमानचेतः। अयासीत् अगमत्।

गत इति। ततः प्रभृति तद्दिनादारभ्य। अश्रुमोक्षण मात्रेण केवलनयनाम्बुत्यागेन, तस्य जनस्य पुण्डरीकस्य सम्बन्धे। दर्शयन्ती प्रकाशयन्ती। तस्य पुण्डरीकस्य अनुरागेण अनुरागोत्पन्नचिन्तया कृशं सूक्ष्मम्, अपुण्यानि पुण्यविरोधीनि पापानि बहुलानि अधिकानि यत्र तत्, क्लेशातिशयादित्याशयः, अस्तमिता विनाशमुपगता लज्जा त्रपा यस्य तत् विकृतवेशधारणादित्यभिप्रायः, अमङ्गलभूतं समस्तानामशिवस्वरूपं वैधव्यविधानादित्याशयः, अनेकेषां बहूनां क्लेशायासानां कष्टपरिश्रमाणां सहस्रस्य निरकस्य निवासम् आधारम्, दग्धशरीरकं ज्वलितदेहम्, कुत्सायां कः। बहुविधैर्नानाप्रकारैः नियमशतैः उपोषणादिव्रतसमूहैः शोषयन्ती कृशतां प्रापयन्ती। वन्यैः अरण्योत्पन्नैः, फलानि, सस्यानि, मूलानि बुध्नाः, वारीणि सलिलानि तैः, वर्त्तमाना वृत्तिं प्राणधारणं विदधाना, जपव्याजेन जापमिषेण

---

विषय-सुखोंसे मनको निवृत्त कर, एवं इन्द्रियोंका निग्रह कर ब्रह्मचर्यग्रहणपूर्वक शरणार्थिनी होकर, त्रिभुवनके अधीश्वर और अनाथप्रतिपालक इस भगवान् श्री महादेवजी का आश्रयण ( आसरा ) लिया।

दूसरे दिन किसी व्यक्तिसे मेरा समाचार सुनकर मेरे पिता-माता बन्धुवर्गके साथ आकर बहुत काल तक विलाप किये; बाद हस्तधारणादि नानाविध उपायोंसे, अनेकप्रकारके अनुनयसे, अनेक उपदेशोंसे और नानाप्रकारके आश्वासन वाक्यसे मुझे घर जानेके लिए बड़े बड़े उद्योग किए। उसके बाद जब उनको यह निश्चय समझमें आ गया कि,—इस उद्योगसे इसे किसी प्रकार भी लौटाना सम्भव नहीं है, तब वे निराश हो गये एवं मुझसे बार बार घर लौट जानेके लिए कहने पर भी, कन्याका स्नेह सहजमें परित्याग कठिन होनेसे, वे कितने ही दिन यहाँ रहकर शोकके साथ ही अन्तर्दह्यमान हृदयसे घर चले गये।

पिताजीके चले जाने पर उस दिनसे लेकर केवल अश्रुजल ( आँसू ) गिराकर उस व्यक्तिके प्रति अपनी कृतज्ञता दिखाती, उसके प्रति प्रेमवश चिन्ता करनेसे दिन दिन क्षीण हुए, इस पाप से परिपूर्ण ( भरे ), लज्जाविहीन, सबोंका अमङ्गल-स्वरूप एवं अनेक-सहस्र क्लेश और प्रिश्रमोंको सहते, इस जले शरीरको, उपवास-प्रभृति नानाविध नियमसे शोषण करती ( सुखाती ), वनमें उत्पन्न हुए फल-मूल और जलसे निर्वाह करती,

---

१. निगृह्य। २. ...नाथ शरणम्। ३. आश्रितवत्यस्मि। ४. बहुभिः। ५. परिसान्त्वनैश्च। ६. गृहागमनाय। ७. यदा तु न कथञ्चिदप्यस्मादध्यवसायाद्व्यावर्त्तयितुं शक्यत इति। ८. दुरछेदतया। ९. गृहम्। १०. जनस्याश्रुमोक्षणमात्रेण किल; देवस्य कृते अश्रमोक्षमात्रकेण ११. बहुलमपि। १२. क्षपयन्ती। १३. कन्द।

गणयन्ती, त्रिसन्ध्यमत्र सरसि स्नानमुपस्पृशन्ती[1], प्रतिदिनमर्चयन्ती देवं त्र्यम्बकम्, अस्यामेव गुहायां[2] तरलिकया सह दीर्घं शोकमिममनुभवन्ती सुचिरं न्यवसम्[3]।

साहमेवंविधा पापकारिणी निर्लक्षणा निर्लज्जा क्रूरा च निःस्नेहा च नृशंसा च[4] गर्हणीया निष्प्रयोजनोत्पन्ना निष्फलजीविता निर्नाथा[5] निरवलम्बना निःसुखा च । किं मया दृष्टया पृष्टया वा[6] कृतब्राह्मणवधमहापातकया करोति महाभागः' इत्युक्त्वा पाण्डुना वल्कलोपान्तेन शशिनमिव शरन्मेघशकलेनाच्छाद्य वदनं दुर्निवारबाष्पवेगमपारयन्ती निवारयितुमुन्मुक्तकण्ठमतिचिरमुच्चैः[7] साऽरोदीत्[8]।

चन्द्रापीडस्तु प्रथममेव तस्या रूपेण विनयेन दाक्षिण्येन च मधुरालापतया च निःस-

---

तस्य पुण्डरीकस्य गुणगणान् सौन्दर्यादिसमूहान् गणयन्तीव गणनां कुर्वन्तीव, त्रिसन्ध्यं त्रिसायम्। उपस्पृशन्ती कुर्वन्ती, धातूनामनेकार्थत्वादेवमर्थो ज्ञेयः। त्र्यम्बकं त्रिनेत्रं महेशम् अर्चयन्ती पूजयन्ती। अनुभवन्ती साक्षादनुभवविषयीकुर्वन्ती, न्यवसं निवासमकरवम्।

इह 'जपव्याजेन' इति विशेषेण 'गणयन्तीव' इत्यत्र सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा।

साहमिति। पापकारिणी दुष्कृतविधायिनी कठिनयातनोपलम्भात्। निर्लक्षणा शुभलक्षणवर्जिता बालसमय एव वैधव्ययोगात्। निर्लज्जा निरपत्रपा झटित्येवागमनात्। क्रूरा कठोरा एवंविधोऽपि जीवनात्यागात्। निःस्नेहा निष्प्रेमा पुण्डरीकानुप्राणत्यागाभावात्। नृशंसा घातुका पित्रोरपि क्लेशनिमित्तत्वात्। गर्हणीया निन्दनीया दुर्भाग्याधिक्यात्। निष्प्रयोजनोत्पन्ना निरर्थकं प्रादुर्भूता कस्याप्युत्पत्तिफलस्य निष्पादनाभावात्। निष्फलजीविका निरर्थकप्राणिता सुखभोगासम्भवात्। निर्नाथा निःस्वामिका स्वाम्यभावात्। निरवलम्बना निराधारा स्वाम्यभावे पित्रोरपि निराकरणाच्च। निःसुखा निरानन्दा च अस्य दारुणशोकस्य बहुकालीनत्वादिति चाशयः। इहाशयविशेषैरेव प्रत्येकविशेषणानामभिहितत्वात् परिकरालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—

'उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।' इति।

किमिति। महाभागः जन्मप्रभृतिकलङ्कपङ्करहितानुपमकीर्त्तिसंयुतविशेषभाग्यशाली भवान्, कृतं कारणविधया संपादितं ब्राह्मणवध एव महापातकं यया तया, मया महाश्वेतया दृष्टया अवलोकितया पृष्टया पृच्छाविषयीकृतया वा किं करोति करिष्यति, अपि तु किमपि नैवेत्यर्थः। भविष्यदर्थे वर्त्तमानता। पाण्डुना श्वेतेन वल्कलोपान्तेन तरुत्वगञ्चलेन शरन्मेघस्य शरत्कालीनघनस्य शकलेन खण्डेन शशिनं चन्द्रमिव वदनं मुखम् आच्छाद्य आवृत्य, दुर्निवारबाष्पवेगं दुष्प्रतिषेध्यनयनाम्बुप्रवाहं निवारयितुं निषेधयितुम् अपारयन्ती अशक्नुवन्ती। उच्चैः तारस्वरेण प्रारोदीत् आक्रन्दत। उपमा।

चन्द्रेति। रूपेण सौन्दर्येण विनयेन प्रणिपातादिना, दाक्षिण्येन सारल्येन, मधुरो मिष्ट आलापः सम्भाषणं यस्याः तस्या भावस्तया। निःसङ्गतया समस्तसंसर्गरहिततया। प्रशान्तत्वेन शान्तिपथा-

---

जपके व्याज ( बहाने ) से उसके गुण-समूहोंको मानो गणना करती (गिनती) एवं तीनों सन्ध्या सरोवरमें स्नान करती, प्रतिदिन भगवान् शङ्करकी अर्चना करती, तरलिकाके साथ दीर्घकालव्यापी इस शोकका अनुभव करती, इसी गुफामें बहुत दिनसे रहती हूँ।

'मैं इस प्रकारकी पापिनी, शुभलक्षणरहित, निर्लज्ज, कठिनप्रकृति, स्नेह-रहित, नृशंस, निन्दनीय, प्रयोजन-रहित उत्पन्न हुई, निष्फल जीवन-धारण करती, अनाथ, निराधार और दुःखिनी हूँ। ब्रह्महत्यारूप महापातक करनेवाली, मुझे देखकर अथवा पूछकर आप महाभाग क्या करेंगे' ? ( अर्थात् आपको क्या लाभ होगा ? ) इस प्रकार कहकर, शरत्कालीन मेघखण्डके द्वारा चन्द्रमण्डलके समान, शुभ्रवर्ण वल्कलके किनारेसे मुख-मण्डल को आच्छादित ( ढक ) कर, दुर्निवार अश्रुवेग रोकनेमें असमर्थ होनेके कारण, उसने मुक्तकण्ठ होकर ऊँचे स्वर ( अर्त्तनाद ) से बहुत देर तक रुदन किया।

चन्द्रापीडकी आदर-बुद्धि तो पहले ही महाश्वेताके प्रति रूप, विनय, सरलता, मधुर वाणी, समस्त संसर्गका

---

१. स्नात्वा। २. क्वचिदत्र 'तया' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते। ३. दीर्घशोकं शोकमनुभवन्त्यवसम्। ४. क्वचित् चकारत्रयं न दृश्यते, क्वचिच्च अतिनृशंसा च कृतघ्ना च इत्यधिकः पाठः। ५. क्वचित् 'निर्नाथा' इत्यपि नावलोक्यते। ६. वामया। ७. अतिकण्ठम्। ८. प्रारोदीत्।

ज्ञतया चातितपस्वितया[1] च प्रशान्तत्वेन च निरभिमानतया च महानुभावत्वेन च शुचितया चोपरूढगौरवोऽभूत्[2], तदानीन्तु तेनापरेण[3] दर्शितसद्भावेन स्ववृत्तान्तकथनेन तया च कृतज्ञतया हृतहृदयः सुतरामा[4]रोपितप्रीतिरभवत्। आर्द्रीकृतहृदयश्च शनैः शनैरेनामभाषत—'भगवति! क्लेशभीरुरकृतज्ञः सुखासङ्गलुब्धो लोकः स्नेहसदृशं कर्म्मानुष्ठातुमशक्तो निष्फलेनाश्रुपातमात्रेण स्नेहमुपदर्शयन् रोदिति। त्वया तु कर्म्मणैव सर्वमाचरन्त्या किमिव न प्रेमोचितमाचेष्टितम्, येन रोदिषि। तदर्थमाजन्मनः[5] प्रभृति समुपचितपरिचयः प्रेयानप्यसंस्तुत इव[6] परित्यक्तो बान्धवजनः, सन्निहिता अपि तृणावज्ञयावधीरिता विषयाः, मुक्तानि[7] अतिशयित-सुनासीरसमृद्धीन्यैश्वर्य्यसुखानि, मृणालिनीवातितनीयस्यपि नितरां तनिमानमनुचितैः[8]

---

श्रयणेन, निरभिमानतया निरहङ्कारतया, महानुभावत्वेन महाप्रभावत्वेन, शुचितया पवित्रतया च कारणेन। उपारूढम् उत्पन्नं गौरवं महाश्वेतां प्रति गुरुत्वज्ञानं यस्य स तथोक्तः। दर्शितः प्रकटितः सद्भावः साधुत्वं येन तेन स्ववृत्तान्तकथनेन निजोदन्तनिवेदनेन। कृतज्ञतया उपरतस्यापि स्वामिन उपकाराय व्रतानुष्ठानेनेत्यर्थः। सुतरां नितान्तं यथा स्यात्तथा आरोपिता उपस्थापिता प्रीतिः स्नेहो यत्र सः, अभवत् आसीत्।

आर्द्रीति। तया प्रीत्या आर्द्रीकृतहृदयः क्लिन्नीकृतचेतश्च चन्द्रापीडः। एनां महाश्वेताम् अभाषत अवोचत। क्लेशभीरुः दुःखत्रस्त उपरतस्नेहिजनोपकाराय व्रताद्यननुष्ठानादित्याशयः, अत एव च अकृतज्ञः सुखासङ्गलुब्धः सुखभोगमात्रेच्छुको लोको जनः स्नेहसदृशं वात्सल्ययोग्यम्, कर्म आमुष्मिकोपकाराय संयमोपोषणवृषोत्सर्गादिकं कृत्यम् अनुष्ठातुम् आचरितुम् अशक्तोऽसमर्थः, क्लेशभीरुत्वादिति कारणादित्याशयः। निष्फलेन निष्प्रयोजनेन अश्रुपातमात्रेण केवलनयनाम्बुनिपातनेन स्नेहं प्रीतिम् उपदर्शयन् बाह्यवृत्त्या प्रकाशयन् लोकेभ्य इति शेषः रोदिति आक्रन्दति। कर्मणैव कर्त्तव्यरूपेणैव, आचरन्त्या व्यवहरन्त्या प्रेमोचितं स्नेहयोग्यं किमिव नाचेष्टितम्, अपि तु सर्वमेव विहितमित्यर्थः। अत एव तदुपकारस्य पर्याप्तत्वान्न विद्यते रोदनापेक्षेत्याशयः।

तथाविधं कर्मोपपादयितुमाह—तदर्थमिति। तदर्थं पुण्डरीकार्थं नियमानुष्ठानेन पुण्डरीकस्यामुष्मिकोपकारायेत्यर्थः। समुपचितः लालनपालनादिना वर्धितः परिचयः स्नेहो यस्य स तथोक्तः, अतएव प्रेयान् अतिशयेन प्रियोऽपि बान्धवजनः पित्रादिस्वजनवर्गः, असंस्तुतः अपरिचितो जनो लोक इव परित्यक्तः उज्झितः, अन्यथा जनसमागमेन नियमानुष्ठानं व्याहन्येतेत्याशयः। सन्निहिता अपि सामीप्यादनायासेन भोग्या अपीत्यर्थः, विसिनोति बध्नातीति विषयाः स्रक्चन्दनवनितादयः, तृणावज्ञया तृणेष्विव अवहेलया, अवधीरिता उज्झिताः। अतिशयिताः तिरस्कृताः सुनासीरस्य सुराधिपस्य समृद्धयः सम्पत्तिनिबन्धनानन्दा यैस्तानि ऐश्वर्यसुखानि सम्पत्तिभोगानन्दाः, मुक्तानि त्यक्तानि। मृणालिनीव कमलिनीव अतितनीयस्यापि स्वभावत एवात्यन्तकृशापि, तनुः इदं शरीरम्, अनुचितैः नृपपुत्रीत्वेन स्वस्यानुपयुक्तैः संक्लेशैः तपोदुःखैः, नितरां नितान्तम्, तनोर्भावः तनिमा पृथ्वादित्वादिमनिच् तं तादृशं

---

परित्याग, अतितपस्विता, शान्ति-पथावलम्बन, निरहङ्कारिता, महानुभावता और पवित्रतासे अधिक उत्पन्न हो गई थी। किन्तु उस समय तो साधुता प्रकाश कर अपना सब समाचार कहनेसे एवं कृतज्ञतासे उस (चन्द्रापीड)का हृदय मोहित (आकृष्ट) हो गया और अधिक प्रीति आविर्भूत हुई। हृदय आर्द्र हो जानेसे वह उस (महाश्वेता) से धीरे धीरे कहने लगा—'भगवति! क्लेशसे त्रस्त होनेवाले, अकृतज्ञ एवं केवल सुखाभिलाषी व्यक्ति सच्चे स्नेहसे उपयुक्त कार्य नहीं कर सकते; केवल निरर्थक अश्रुपात करके ही लोक-समाजमें अपना स्नेह दिखानेके लिए रोया करते हैं। किन्तु आपने तो कार्य द्वारा ही सब कुछ करके क्या स्नेहके उपयुक्त नहीं किया, जिससे रुदन करती हो। जन्मसे ही जिनके प्रति आपकी स्नेह-वृद्धि होती गई ऐसे अत्यन्त प्रिय बान्धव-जनोंको आप उनके लिए ही अपरिचितके समान छोड़ दी हैं। अनायासलभ्य होने पर भी भोग्य-विषयोंको तृणके समान अवहेलना कर त्याग दी हैं। इन्द्रकी समृद्धि-सुखसे भी उत्कृष्ट समृद्धि सुखको त्याग दी हैं। मृणालके समान स्वभावतः कृश

---

१. तपस्वितया। २. आसीत्। ३. तेनानेनापरेण। ४. सुतिरामतिदूरम्। ५. आजन्मतः। ६. प्रेयानसंस्तुत इव। ७. विमुक्तानि। ८. उचितैः।

संक्लेशैरुपनीता तनुः, गृहीतं ब्रह्मचर्य्यम्, आयोजितस्तपसि महत्यात्मा, वनिताजनदुष्कर-मप्यङ्गीकृतम्[१] अरण्यावस्थानम्। अपि च, अनायासेनैवात्मा दुःखाभिभूतैः[२] परित्यज्यते, महीयसा तु यत्नेन गरीयसि क्लेशे निक्षिप्यते केवलम्। यदेतदनुमरणं नाम तद[३]तिनिष्फलम्, अविद्वज्जनाचरित एष मार्गः, मोहविलसितमेतत्, अज्ञानपद्धतिरियम्, रभसाचरितमिदम्, क्षु[४]द्रदृष्टिरेषा, अतिप्रमादोऽयम्, [५]मौर्ख्यस्खलितमिदम्, यदुपरते पितरि भ्रातरि सुहृदि भर्त्तरि वा प्राणाः परित्यज्यन्ते, स्वयञ्चेन्न जहति न परित्याज्याः। अत्र[६] हि विचार्य्यमाणे स्वार्थ एव प्राणपरित्यागोऽयम्, [७]असह्यशोकवेदनाप्रतीकारत्वादात्मनः। उपरतस्य तु न कमपि

---

कृशत्वम्, उपनीता प्रापिता। गृहीतब्रह्मचर्यं स्वीकृतब्रह्मव्रतम्, महति तपसि आत्मा वपुश्चेतश्च, आयो-जितः स्थापितः। 'मृगालानीव' इत्यत्रोपमालङ्कारः। तथा तदुपकारकरणनिरूपणकर्म प्रति अधिकतर-हेतोरुपस्थापनात्समुच्चयालङ्कारः, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अपि चेति। दुःखाभिभूतैः क्लेशपराजितैः लोकैः, अनायासेनैव परिश्रममन्तरेणैव आत्मा जीवनं परित्यज्यते उज्झितुं शक्यते, उद्बन्धनाद्यपरिश्रमसाध्यविविधोपायविद्यमानत्वादित्याशयः, तु किन्तु केवलं परं महीयसा गरिष्ठेन यत्नेन प्रयासेन गरीयसि क्लेशे तपस्याऽनुष्ठानादौ निक्षिप्यते आत्मा आयो-ज्यते, अत एव प्राणत्यागात्तपोऽनुष्ठानं सर्वथा श्रेष्ठ इति तदेव त्वया विदधत्या पुण्डरीकस्य महानुपकार एव विधीयते इत्याशयः।

ननु 'मृतौ म्रियेत या पत्युः सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इत्यादिपरःशतवचनेनानुमरणमरणमेव विधीयते, तथा च तद्विधाय किं नामोपकृतमित्यत आह—यदेतदिति। यदेतत् अनुमरणम् अन्वारोहणं नाम कामिनीभिर्विधीयत इति शेषः, तत् अतिनिष्फलं निरर्थकम्। एष अन्वारोहणलक्षणो मार्गः पन्थाः अविद्वज्जनाचरितः अपण्डितलोकानुष्ठितः। एतत् अनुमरणं मोहविलसितम् अज्ञानविजृम्भितम्। अज्ञान-पद्धतिः अज्ञानमार्गः। रभसाचरितं हठकारित्वम् अविमर्शकारित्वमिति तात्पर्यम्। एषा अनुमरणविषया प्रवृत्तिः क्षुद्रदृष्टिः तुच्छबुद्धीनां ज्ञानम्। अतिप्रमादः नितान्तानवधानता। मौर्ख्येण मूर्खतया स्खलितं विधेयत्रुटिः। पितरि ताते, भ्रातरि सहोदरे, सुहृदि मित्रे, भर्त्तरि प्राणनाथे वा उपरते मृते सति, प्राणा असवः परित्यज्यन्ते परिमुच्यन्ते, कर्मणि प्रयोगोऽयं न तु कर्मकर्त्तरि 'अनायासेन परित्यज्यते' इत्या-दिना दुःखिजनकर्त्तृकत्यागस्यैवोपक्रान्तत्वेन प्राणानां स्वयं कर्त्तृत्वात्। प्राणाः स्वयम् आत्मनैव चेद्यदि न जहति मुञ्चन्ति तदा ते न परित्याज्या हठान्न निष्कासनीया इत्यर्थः। भग्नप्रक्रमत्वदोषनिराकरणाय 'जहति' इत्यस्य स्थाने 'परित्यजन्ति' इति पाठो विधेयः। एवञ्च 'मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यमेव मुख्यपक्षः शास्त्रव्यवस्थयावधार्यते, तदशक्तावेव तु तदनुमरणं विधेयमिति सिद्धान्तः पन्थाः।

अत्रेति। हि तथाहि। अत्र अनुमरणे विचार्यमाणे विमर्शविषयीक्रियमाणे सति, अयं प्राणपरित्यागः स्वार्थ एव स्वनिमित्त एव निर्णीयत इति शेषः। कथमित्यत आह—असह्येति। आत्मनः स्वस्य असह्य-शोकवेदनाया सोढुमशक्यशुग्व्यथायाः प्रतिक्रियत अनेनेति प्रतीकारः तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् निवृ-त्त्युपायहेतुत्वात्, अविद्यमानेषु प्राणेषु तद्व्यथानुभवासम्भवादित्याशयः। तु किन्तु, उपरतस्य मृतस्य

---

होने पर भी इस शरीरको, अपने अयोग्य तपस्याके क्लेशसे और भी कृश कर (सुखा) डाला है। ब्रह्मचर्यका अवलम्बन किया है, बड़ी भारी तपस्यामें आत्माको नियुक्त किया है और अन्य स्त्रियोंको दुष्कर होने पर भी आपने वनवास स्वीकार किया है। और भी यह देखिए कि–संसारमें दुःखसे अभिभूत व्यक्ति जीवनका त्याग तो अनायास ही कर सकते हैं, किन्तु गुरुतर (बड़े बड़े) उद्योग करनेसे उसका त्याग न कर वे केवल उसको भारी क्लेशमें ही नियुक्त करते (डालते) हैं। मरे हुए पतिके पीछे प्राण–परित्याग करना अत्यन्त निष्फल है, यह अज्ञानियोंसे अवलम्बित मार्ग है, भ्रमका व्यवहार है, अज्ञानकी रीति है, अविवेकता (विना विचारे काम) है, असारबुद्धिकी विवेचना है, अत्यन्त अनवधानता है, एवं मूर्खताजनित कर्त्तव्यकी त्रुटि है कि पिता, भ्राता, मित्र अथवा पतिके मरनेके पीछे अपना भी प्राण–परित्याग करे; प्राण यदि अपने आप ही न जाँय तो उनका परित्याग करना उचित नहीं। इस विषयमें विचार कर देखनेसे प्रतीत होता है कि प्राण–परित्याग करना केवल स्वार्थ है, क्योंकि यह अपनी असह्य–शोक–वेदना का प्रतीकार (मिटानेका उपाय) है, इससे मरे हुए व्यक्तिका कोई भी उपकार नहीं

---

१. दुष्करमतिकष्टमङ्गीकृतम्…दुष्करमपि कृतम्। २. दुःखाभिहतः परित्यज्यते लघीयसा, दुःखाभिहतैः परित्यज्यन्ते महीयसा न. तु। ३. अपि निष्फलम्। ४. कुदृष्टिः… ! ५. प्रेम। ६. ते। ७. असह्यवेदना।

गुणमावहति[१]। न[२] तावत्तस्यायं प्रत्युज्जीवनोपायः[३], न[४] धर्म्मोपचयकारणम्, न शुभलोकोपार्जनहेतुः, न [५]निरयपातप्रतीकारः, न दर्शनोपायः, न परस्परसमागमनिमित्तम्। अन्यामेव स्वकर्म्मफलपरिपाकोपचितामसाववशः[६] नीयते[७] भूमिम्, असावप्यात्मघातिनः[८] केवलमेनसा संयुज्यते। जीवंस्तु जलाञ्जलिदानादिना बहूपकरोत्युपरतस्यात्मनश्च, मृतस्तु नोभयस्यापि। स्मर तावत् प्रियामेकपत्नीं रतिं भगवति भर्त्तरि मकरकेतौ[९] सकलाबलाजनहृदय-

लोकस्य, कमपि गुणमुपकारं नावहति नोत्पादयति, अयं प्राणपरित्याग इत्यन्वयः।

उक्तं स्पष्टीकरोति—न तावदिति। अयं प्राणपरित्यागः, तस्य उपरतस्य न तावत् प्रत्युज्जीवनोपायः पुनः प्राणधारणप्रतिक्रिया, एवं सर्वत्र सम्बन्धः। धर्मोपचयकारणं पुण्यवृद्धिहेतुः। शुभलोकस्य ब्रह्मलोकादेः अर्जनहेतुः प्राप्तिनिदानम्। निरयपातप्रतीकारः दुर्गतिपतनप्रतिक्रिया। दर्शनोपायः प्राणेश्वरावलोकनोद्योगः। परस्परसमागमनिमित्तम् अन्योन्यसङ्गमकारणम् अतएव न कमपि गुणमुत्पादयतीत्याशयः।

प्राणपरित्यागस्य वैपरीत्यमेव फलं प्रदर्शयति—अन्यामिति। असौ अवशः उपरतत्वात्परतन्त्रो जीवः, स्वकर्मणः स्वकृतपापपुण्यलक्षणस्य फलपरिपाकेण फलतया परिणामेन उपचिताम् उपस्थापितां भूमिं कर्मक्षेत्रं स्वर्गं नरकं वा नीयते प्राप्यते, तेन स्वकर्मणैवेति शेषः। इह च असावप्युपरतो जीवः, आत्मघातिनः आत्महत्याकर्त्तुः एनसा तज्जनितपापेन केवलं संयुज्यते संयुक्तो भवति इत्येव केवलं प्राणपरित्यागस्य परिणाम इत्याशयः।

ननु प्राणधारण एव किं प्रयोजनमित्यत आह—जीवन्निति। उपरतस्य मृतस्य, आत्मनः स्वस्य च बहूपकरोति अधिकतरमुपकारं विदधाति, उपरतस्य क्षयाहे भूरिब्राह्मणभोजनादिना तृप्त्युत्पादनात्, स्वस्य च नानाविधधर्मार्जनसम्भवात् 'जीवन्नरो भद्रशतानि भुङ्क्ते' इति नयाच्चेत्याशयः। नोभयस्यापि न चोपरतस्य न वा स्वस्येत्यर्थः।

स्वमतं पुराणेतिहासोक्तदृष्टान्तैः समर्थयति—स्मरेति। सकलानां समस्तानाम् अबलाजनानां स्त्रीलोकानां हृदयहारिणि सौन्दर्येण हृदयाकर्षके, अन्यस्त्रीणामपि चित्ताकर्षकत्वे निजहृदयाकर्षकत्वं सुतरामेवेत्याशयः, भगवति माहात्म्यवति, न पुनः क्षुद्रे इत्याशयः, भर्त्तरि स्वामिनि मकरकेतौ कामदेवे, हरनयनहुतभुजा महेश्वरतृतीयनेत्रवह्निना दग्धेऽपि भस्मीभूतेऽपि असुभिः प्राणैः अविरहिताम् अत्यक्ताम्, प्रियां मदने स्नेहवतीम्, न पुनरप्रियां येन तद्द्वेषादेव शोकाभावेन असून् रक्षेदित्यभिप्रायः, तथा एक एव पतिर्भर्त्ता यस्यास्ताम् एकपत्नीं सतीम् 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इत्यनेन ङीप् नकारादेशश्च ज्ञेयः, न पुनरसतीं येनान्यपतिस्वीकरणादानन्दप्राप्त्या असून् रक्षेदित्याशयः, रतिं मन्मथपत्नीं स्मर स्मृतिगोचरीकुरु।

इहोपपादिताशयविशेषैरेव विशेषणानामभिहितत्वात्परिकरालङ्कारः।

होता। यह प्राणत्याग मृतव्यक्तिको फिरसे जीवित करने का उपाय नहीं है, उसकी धर्मवृद्धिका कारण नहीं है, कोई उत्कृष्ट लोकप्राप्ति करनेका हेतु नहीं है, नरकमें जानेका निवारक नहीं है, मृत-व्यक्तिके साथ साक्षात्कार करनेका उपाय नहीं है एवं परस्पर मिलनेका कारण भी नहीं है। पराधीन जीव अपने कर्मफलके अनुसारसे अन्य किसी स्थानमें ले जाया जाता है, किन्तु उस जगह वह (पीछे से मरनेवाला व्यक्ति) आत्मघातीके पापसे केवल लिप्त होता है (प्राण-परित्याग करने का यही केवल फल है) यदि मनुष्य जीता रहे तो वह जलाञ्जलिदानादि देकर मृत-व्यक्तिका और अपना भी अधिकतर उपकार कर सकता है, किन्तु प्राण-त्याग करनेसे दोनोंमेंसे एकको भी कुछ लाभ नहीं होता। आप स्मरण कर देखिए कि—सौन्दर्यमें समस्त सुन्दरियोंका हृदया-

१. आपतितः। २. न तस्यायम्। ३. योगः। ४. न च। ५. नरकपतन। ६…फलपाकोपचितां…अवशी, फलपाकोपनीताम्। ७. क्वचित् 'कर्म' इत्यधिकः पाठो दृश्यते। ८. आत्मघाती। ९. मकरध्वजे।

हारिणि हरनयनहुतभुजा[1] दग्धेऽप्यविरहितामसुभिः । पृथाञ्च[2] वार्ष्णेयीं शूरसेनसुतामभिरूपे सावज्ञविजित[3]-सकल-राजक-मौलि-कुसुमवासितपादपीठे[4] पत्यावखिल भुवन-बलि-भागभुजि[5] पाण्डौ किमिन्दममुनि[6]-शापानलेन्धनतामुपगते[7]ऽप्यपरित्यक्तजीवितामु । उत्तराञ्च विराटदुहि[9]-तरं बालां बालशशिनीव नयनानन्दहेतौ[8] विनयवति विक्रान्ते च पञ्चत्वमभिमन्यावुपगतेऽपि[9] धृतदेहाम् । दुःशलाञ्च[10] धृतराष्ट्रदुहितरं भ्रातृशतोत्सङ्गलालितामतिमनोहरे हर-वर-प्रदान-

ननु 'न देवचरितं चरेत्' इति निषेधेन न स दृष्टान्तो भवितुमर्हति अतो लौकिकं कञ्चन दृष्टान्तमुपस्थापयेत्यत आह —पृथाञ्चेति । अभिरूपे रमणीये, अतएव प्रियतमे इत्याशयः, सावज्ञं सहेलं विजितं स्वाधीनीकृतं यत् सकलं समस्तं राजकं नृपसमूहः तस्य मौलिकुसुमैः शिरःपुष्पैः वासितं नमस्कारकालीनसम्पर्केण सुगन्धीकृतं पादपीठं समग्रपदासनं यस्य तस्मिन् , अतएव अखिलभुवनस्य समग्रविश्वस्य बलिभागं राजग्राह्यं करं भुनक्तीति तस्मिन् , महावीरे चक्रवर्त्तिनि च न पुनः क्षुद्रे इत्याशयः, पत्यौ पाण्डौ, किमिन्दमाभिधमुनेः शापानलस्य अभिसम्पातवह्नेः इन्धनतां काष्ठत्वम् उपगते प्राप्तेऽपि अपरित्यक्तजीविताम् अनुज्झितप्राणाम् , वृष्णेः अपत्यं स्त्रीति वार्ष्णेयी तां वृष्णिकुलसम्भूताम् , न पुनर्नीचकुलसम्भूतां येनाविनीततया प्राणं रक्षेदिति भावः, शूरसेनस्य राजर्षेः सुतां दुहिताम् , न पुनर्यस्य कस्यचित्क्षुद्रस्य दुहितां येन पितृवदशिष्टतया प्राणं रक्षेदिति भावः, पृथां कुन्तीं च स्मर । इह पूर्ववत्परिकरः,तथा शापेऽनलत्वारोपः पाण्डौ काष्ठत्वारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकमित्युभयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अत्रायमितिहासः—पुरा किल मृगरूपं धृत्वा मृगीभिर्विपिने रममाणः किमिन्दमो नाम मुनिः मृगयार्थिना पाण्डुना मृगबुद्ध्या निहितस्तदा स मुनिस्तं शशाप—'रममाणं मां यत्त्वं निहतवान् , अतस्त्वमपि रममाण एव शरीरं त्यक्ष्यसि' इति । ततः कदाचिद्वसन्तप्रभावादुद्दीप्तकामः पाण्डुर्माद्रीं रमयन्नेव तच्छापमाहात्म्यान्ममार, माद्री तु तमनुमृतवती, अनुमृतायामपि तस्यां जीवन्ती कुन्ती युधिष्ठिरप्रभृतीनुत्पाद्य पालयामासेति । स्पष्टश्चायं महाभारतादिपर्वे ।

ननु ते रतिकुन्त्यौ प्रौढे अहं तु बालातस्ताभ्यां सह मे तुलना नोपयुज्यत इत्यत आह—उत्तराञ्चेति। बालशशिनीव नवोदितचन्द्र इव, नयनानन्दहेतौ नेत्राह्लादकारणेन, अतएव प्रियतम इति भावः, विनयवति शिष्टशालिनि, न पुनरुद्धतस्वभावे येन विरागात् शरीरं रक्षेदित्याशयः, तथा विक्रान्ते पराक्रमवति, न पुनः शक्तिहीने येनावहेलया शरीरं रक्षेदित्यभिप्रायः, अभिमन्यौ पत्यौ, पञ्चत्वं निधनत्वम् उपगते प्राप्तेऽपि धृतदेहां गृहीतशरीराम् , बालां भवद्विधामसमाप्तकामपिपासामित्याशयः, विराटस्य राजर्षेः दुहितरम् आत्मजाम् , न पुनरशिष्टस्य दुहितरं येनाशिष्टत्वाच्छरीरं रक्षेदिति भावः, उत्तराञ्च स्मर । इह 'बालशशिनीव' इत्यत्र पूर्णोपमा पूर्ववत्परिकरश्च, तथा चानयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

अथैवमपि मद्विधा स्वजनादरिणी सती एवंविधा भाग्यहीना काचिदन्याऽवलोकिताऽऽकर्णिता वा किमित्यत आह —दुःशलामिति । हरस्य महेशस्य वरप्रदानेन वर्धितो वृद्धिं प्राप्तो महीमा माहात्म्यं यस्य तस्मिन् , अत एव विशेषप्रीतिपात्रे न तु क्षुद्रे येनावहेलया जीवनधारणं स्यादित्याशयः, अतिमनोहरे सिन्धुराजे सिन्धुदेशनाथे, अत्यभिरामे, न तु कुरूपे येन विरागात् , प्राणधारणं कुर्यादित्यभिप्रायः,

कर्षणकारी और माहात्म्यशाली भर्त्ता कामदेवके, महादेवके तृतीय नयनसे उत्पन्न हुई अग्निसे दग्ध होने पर भी
उनकी एकमात्र प्रियतमा परमसती रतिदेवीने प्राणका परित्याग नहीं किया । और अवहेलनासे जीते हुए समस्त
राजाओंके नमस्कार करनेके समयमें मस्तकसे गिरे हुए पुष्पोंसे जिनका चरणासन सुगन्धित हुआ था और समस्त
भुवनोंमेंसे जिन्होंने राजभाग ( कर ) ग्रहण किया था और परम-सुन्दर थे, ऐसे अपने पति महाराज 'पाण्डु'के,
'किमिन्दम'-मुनिके शापाग्निसे दग्ध होने पर भी, वृष्णिकुलोत्पन्ना शूरसेनकी कन्या कुन्ती-देवीने अपना प्राण
परित्याग नहीं किया था । एवं नवोदित चन्द्रके समान नयनानन्द-दायक, विनीतस्वभाव और पराक्रमशाली
अभिमन्युके युद्धमें मरनेपर भी विराटराजाकी पुत्री बाला उत्तराने भी शरीर धारण ही किया था । और दुर्योधन
प्रभृति सौ भाइयोंकी गोदमें खिलाई गई, धृतराष्ट्रकी कन्या दुःशला सिन्धुराज जयद्रथ नामके परम सुन्दर

१. हरहुतभुग्दग्धे, हरहुंकारहुतभुजा दग्धे । २. तथा । ३. सावज्ञावजित । ४. वासिताशेषपादपीठे । ५. वलयभुजि । ६. किन्दममुनि··· । ७. उपागतेऽपरियुक्त । ८. जननयनानन्दहेतौ । ९. आगतेऽपि । १०. दुःशल्याञ्च, दुःशीलां च ।

वर्द्धितमहिम्नि सिन्धुराजे [१]जयद्रथे अर्जुनेन लोकान्तरमुपनीतेऽप्यकृतप्राणपरित्यागाम् । अन्याश्च [२]रक्षः-सुरासुर-मुनि-मनुज-सिद्ध-गन्धर्व-कन्यका भर्तृरहिताः श्रूयन्ते सहस्रशो विधृत[३]जीविताः। प्रोन्मुच्येतापि जीवितं सन्दिग्धोऽप्यस्य समागमो यदि [४]स्यात् । भगवत्या तु ततः पुनः स्वयमेव समागमसरस्वती [५]समाकर्णिता, अनुभवे च को विकल्पः । कथञ्च तादृशानामप्राकृताकृतीनां महात्मनामवितथगिरां गरीयसापि कारणेन गिरि वैतथ्यमास्पदं कुर्य्यात् ।

---

न तु साधारणमनुष्ये येन क्षुद्रताप्रतीतेः जीवनधारणमुपयुज्यत इत्याशयः, जयद्रथे एतन्नामके पत्यौ, अर्जुनेन पार्थेन लोकान्तरं भवान्तरम् उपनीते प्रापितेऽपि अकृतप्राणपरित्यागाम् अविहितजीवनपरिमोक्षणाम्, भ्रातृशतस्य दुर्योधनप्रभृतेः उत्सङ्गेषु क्रोडेषु लालितां पालिताम्, त्वद्विधामेव स्वजनादरिणीमित्याशयः, धृतराष्ट्रस्य दुहितरम् आत्मजाम्, न तु यस्य कस्यचित् क्षुद्रस्यात्मजां येनाविनीततया प्राणधारणं कुर्यादित्यभिप्रायः, दुःशलां तन्नाम्नीमबलाञ्च स्मर । इहापि पूर्ववत् परिकरः ।

एतावता प्रमाणपूर्णप्रबन्धेनानुसरणादिकमिदानीमिव तदानीं कवेरपि नाभिलषितमासीदित्यवगम्यत इति सिद्धान्तवागीशमहाशया आशयं वर्णयन्ति ।

अन्या इति । रक्षांसि राक्षसाः, सुरा देवाः, असुरा दैत्याः, मुनयस्तापसाः, मनुजा मानवाः, सिद्धा विद्याधरादयः; गन्धर्वा देवगायकाः, एतेषां कन्यकाः पुत्र्यः भर्तृरहिता विधृतजीविता अविहितप्राणपरित्यागा अन्याः पूर्वोक्तव्यतिरिक्ताः सहस्रशः श्रूयन्ते आकर्ण्यन्ते पुराणवृद्धमुखादिभ्य इति शेषः ।

प्रोन्मुच्येतापीति । तदापि जीवितं प्राणितं प्रोन्मुच्येत परित्यज्येत, यदि चेद् अस्य उपरतस्य समागमः सङ्गमः सन्दिग्धोऽपि स्यात् भविष्यति न भविष्यति वेति सन्दिहानोऽपि स्यात्, परन्तु स सङ्गमो न संशयितः, अपि तु सर्वथैवासम्भावनीयः, अत एव तन्निमित्तं प्राणत्यागः कथङ्कारमपि नोपयुज्यत इत्याशयः । तु किन्तु भगवत्या त्वया स्वयम् आत्मनैव ततो महापुरुषात् पुनर्भूयः समागमसरस्वती 'भूयोऽपि भवत्या अनेन सह भविष्यति सङ्गमः' इति समागमविषया वाक् समाकर्णिता श्रुता, अतएव अनुभवे च स्वस्यैव प्रत्यक्षे च को विकल्पः सन्देहः, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । अतः सम्मिलनावश्यम्भावात्तन्निमित्तं भवत्यावश्यं प्राणधारणं विधेयमित्याशयः ।

अथ सा यदि मिथ्या भवेदित्याह—कथमिति । न विद्यते प्राकृता इतरजनसाधारणा लौकिका आकृतिः आकारो येषां तेषाम्, अतएव महात्मनां महापुरुषाणाम्, सुतरामेव अवितथगिराम् असत्यवाचाम्, गरीयसापि कारणेन उत्कृष्टेनापि हेतुना, गिरि वचने वैतथ्यम् असत्यत्वं कर्तृ, कथम् आस्पदं

---

पतिके,—जिसकी महिमा महादेवके वरदानसे बढ़ गई थी [ यहाँका कथा प्रसङ्ग ऐसा है कि–द्यूत पराजित पाण्डव द्रौपदीके साथ वनमें वास कर रहे थे । किसी समय सिन्धुराज जयद्रथने शिकार खेलनेके लिए वन में प्रवेश किया । उसने अत्यन्त सुन्दरी द्रौपदीको देखा । बाद उस पर मोहित होकर वह उसे अपहरण कर ले गया । पाण्डव उस समय वहाँ नहीं थे । जब वे लौटे तब जयद्रथ का कृत्य देखकर उसके पीछे छौड़ कर द्रौपदीको छुड़ा लाये । भीमसेनने तो जयद्रथको अधिक तङ्ग किया पर बादमें दौपदीके कहनेसे छोड़ दिया । उसके बाद जयद्रथने कठिन तपस्या करके सदाशिव भगवान् आशुतोषको प्रसन्न किया और उनसे पाँचों पाण्डवोंको मारनेका वरदान माँगा । शङ्करने कहा—यह सम्भव नहीं पर तुम. पार्थ ( अर्जुन ) के अतिरिक्त, अन्य पाण्डवोंको संग्राम-क्षेत्रमें पराजित कर सकोगे ] अर्जुनके हाथसे मारे जाने पर भी उसके पीछे प्राण–परित्याग नहीं किया था । इसी प्रकार अन्य भी राक्षस, देव, दानव, मुनि, मनुष्य और सिद्ध गन्धर्वोंके मध्यमें हजारों कन्याओंके विषयमें सुना जाता है कि—उन्होंने भर्तृ–रहित ( विधवा ) होने पर भी जीवन धारण किये थे ।

मृत–व्यक्तिके साथ फिरसे मिलन 'हो सकता है, नहीं भी हो सकता है' इस प्रकारका संशय भी यदि रहे, तो ऐसा होने पर भी प्राण–परित्याग किया जा सकता है । किन्तु आपने तो अपनेसे ही, उस महापुरुषके मुखसे पुनर्मिलन होनेकी वाणी अच्छी तरहसे श्रवण किया है, इसलिए अपने प्रत्यक्षीकृत विषयमें (अनुभव हो जाने पर) उसमें क्या शङ्का हो सकती है । विशेषतः, गुरुतर कारण रहने पर भी उस प्रकारकी अलौकिक आकृति और सत्यवादी महापुरुषोंके वाक्यमें, मिथ्याभाव आकर किस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है ? ( अर्थात् उन लोगों

---

१. क्वचित् 'जयद्रथे' इति पाठो नावलोक्यते । २. बहव । ३. विधुर । ४. सन्दिग्धो यदि समागमः स्यात् । ५. स्वयमेव तत्पुनः समागमवचः श्रुतम् ।

उपरतेन च सह जीवन्त्याः कीदृशी समागतिः, अतो निःसंशयमसावुपजातकारुण्यो महात्मा पुनः प्रत्युज्जीवनार्थमेवैनमुत्क्षिप्य सुरलोकं नीतवान्। अचिन्त्यो हि महात्मनां प्रभावः, बहुप्रकाराश्च संसारवृत्तयः[2], चित्रञ्च दैवम्, आश्चर्यातिशययुक्ताश्च तपःसिद्धयः, अनेकविधाश्च कर्म्मणां शक्तयः। अपि च सुनिपुणमपि विमृशद्भिः किमिवान्यत्तदपहरणे कारणमाशङ्क्येत जीवित[3]प्रदानादृते। न चासम्भाव्यमिदमवगन्तव्यं भगवत्या,[4] चिरप्रवृत्त एष पन्थाः। तथाहि, विश्वावसुना गन्धर्वराजेन मेनकायामुत्पन्नां प्रमद्वरां नाम कन्यकामाशीविषविलुप्तजीवितां स्थूलकेशाश्रमे भार्गवस्य च्यवनस्य[5] नप्ता प्रमतितनयो मुनिकुमारको रुरुर्नाम स्वायु-

---

प्रतिष्ठां कुर्यात् विदध्यात्, अपि तु न कथमपीत्यर्थः। अतो नूनमेव सम्मिलनं भविष्यतीत्यभिप्रायः।

ननूपरतजीवितयोश्च सङ्गमः सर्वथैवासम्भव इत्यत आह—उपरतेति। उपरतेन मृतेन। जीवन्त्याः प्राणधारणं कुर्वन्त्यास्तव। समागतिः सङ्गतिः, अतोऽस्माद्धेतोः निःसंशयं निःसन्दिग्धम्। उपजातकारुण्यः उत्पन्नदयः। प्रत्युज्जीवनार्थमेव पुनः प्राणाऽऽधानार्थमेव, एनं पुण्डरीकम्। नीतवान् प्रापितवानित्यनुमीयत इत्याशयः।

ननु पुनः प्राणाऽऽधाने तस्य किं नाम सामर्थ्यमित्यत आह—अचिन्त्य इति। महात्मनां महानुभावानां प्रभावो महिमा अचिन्त्यः अनाकलनीयः, सुतरां स महानुभाव स्वमाहात्म्येनैवैनं प्रत्युज्जीवयेदिति भावः। संसारप्रवृत्तयः जगद्व्यापाराश्च बहुप्रकारा अनेकभेदभिन्नाः, तस्मादप्यस्य प्राणधारणसम्भावनेत्याशयः। दैवं भागधेयं च चित्रम् आश्चर्यसामर्थ्यकम्, अस्मादप्यस्य जीवनसम्भावनेत्याशयः। तपः सिद्धयश्च आश्चर्यातिशययुक्ताः अद्भुताधिक्यसहिताः, स्वस्यैव तस्य तद्विद्यमानत्वात्प्राणधारणसम्भावनेति भावः। कर्मणां पूर्वोपार्जितशुभाशुभानां शक्तयः सामर्थ्यानि अनेकविधा नानाप्रकाराः, तस्मादप्यस्य जीवनप्राप्त्याशेत्यभिप्रायः।

अथान्यप्रयोजनमपेक्ष्यैव तदपहरणं सञ्जातं भवेदिति चेत्तत्राह—अपि चेति। सुनिपुणम् अत्यन्तसूक्ष्मं यथा स्यात्तथा विमृशद्भिरपि चेतसा वितर्कयद्भिरपि अस्माभिः तदपहरणे मृतकुमारापहरणे जीवितप्रदानादृते प्राणदानं विना, कारणं निमित्तं किमिव आशङ्क्येत सन्देहविषयीक्रियेत।

ननु मृतस्य प्रत्युज्जीवनं सर्वथासम्भवमेवेत्यत आह—नचेति। भगवत्या त्वया इदं प्रत्युज्जीवनम् असम्भाव्यमानम् अघटमानमिति न चावगन्तव्यं न ज्ञातव्यम्। एष प्रत्युज्जीवनलक्षणः पन्थाः पद्धतिः चिरप्रवृत्तः बहुकालादेव प्रचलितः, अतो नासम्भाव्यमित्याशयः।

अथ तदवलोकितं समाकर्णितं वा चेद्दर्शयेत्यत आह—तथाहीति। विश्वावसुना एतन्नामकेन गन्धर्वराजेन मेनकायां तदाख्यायां योषिति उत्पन्नां प्रादुर्भूतां प्रमद्वरामिति नाम्नीं कन्यकां पुत्रीम् आशीविषेण सर्पेण विलुप्तं विनाशितं जीवितं श्वसितं यस्यास्ताम् 'आशीस्तालुगता जिह्वा तया विद्धो न जीवति' इति रामाश्रमी। स्थूलकेशस्य तन्नामकमुनेः आश्रमे, भार्गवस्य भृगुवंशोत्पन्नस्य च्यवनस्य तदाख्यमुनेः नप्ता पौत्रः प्रमितेः तत्संज्ञकस्य मुनेः तनय आत्मजो रुरुस्तन्नामा मुनिकुमारकः स्वायुषोऽर्धेन योजितवान् स्वकीयायुषोऽर्धं संयोज्य जीवितवानित्यर्थः। इदमितिवृत्तं महाभारतादिपर्वण्येवम्—

---

की वाणी झूठ नहीं हो सकती)। मरे हुए व्यक्तिके साथ जीते हुए व्यक्तिका मिलन किस प्रकार हो सकता है? इसलिए इस विषयमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है कि—आपके दुःखको देखकर उस महापुरुषको दया उत्पन्न हो गई इसलिए वे महात्मा फिरसे उनको जीवित करनेके लिए ही उठा कर सुरलोकमें ले गए हैं। क्योंकि महात्माओंका प्रभाव अचिन्त्य (विचारनेका अविषय) होता है, संसारकी वृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं दैवकी शक्ति भी विचित्र है; तपस्याकी सिद्धि भी अत्यन्त आश्चर्यकारिणी है एवं धर्म और अधर्मकी शक्ति भी नाना प्रकार की होती है। फिर अत्यन्त सूक्ष्म विचार करने पर भी उनको उठा ले जानेके विषयमें जीवन-दानसे अतिरिक्त अन्य किस कारण की आशङ्काकी जा सकती है? इस (मृत व्यक्तिको फिरसे जीवनदान कराने) में आपको असम्भव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि—यह पद्धति तो चिरकालसे ही चली आ रही है। देखिए—गन्धर्वराज विश्वावसुसे मेनकामें उत्पन्न हुई प्रमद्वरा नामकी कन्या जब सर्पके काटनेसे मर गई तब स्थूलकेशके आश्रममें भृगुनन्दन च्यवन के पौत्र और प्रमतिके पुत्र रुरु-नामक मुनिकुमारने अपने अपने आयुका आधा भाग देकर उसको बचा दिया था। महावीर अर्जुन, जब अश्वमेधीय अश्वके पीछे जाते मणिपुरमें उपस्थित हुए थे और संग्राममें

---

१. तम्। २. ...प्रवृत्तयः प्रकृतयः। ३. तज्जीवित। ४. अत्र 'सर्वथा' इति क्वचिदधिकः पाठः।
५. क्वचित् च्यवनस्येति पदं न विद्यते।

षोऽर्द्धेन योजितवान् । अर्जुनश्चाश्वमेधतुरगानुसारिणम्[1] आत्मजेन बभ्रुवाहननाम्ना समरशिरसि शरापहृतप्राणाम्[2], उलूपी[3] नाम नागकन्यका सोच्छ्वासमकरोत् । अभिमन्युतनयञ्च परीक्षितम्[4] अश्वत्थामास्त्रपावकपरिप्लुष्टम्, उदरादुपरतमेव विनिर्गतम्[5], उत्तराप्रलापोपजनितकृपो भगवान् वासुदेवो दुर्लभानसून् प्रापितवान्[6], उज्जयिन्याञ्च सान्दीपनि[7]-द्विज-तनयम-

स्थूलकेशाश्रमस्य नदीतीरे विश्वावसुना मेनकायामुत्पादिता काचित्कन्या। स्वाश्रमे तामादाय पालयामास सो हि मुनिः। अथ तारुण्ये वयसि विद्यमानां भृगोः प्रपौत्रो रुरुस्तां दृष्ट्वा भृशं मुमोह। अहर्निशं तमेव विचिन्त्यमानं सर्वदा सर्वकार्येषूदासीनं स्वपुत्रं निरीक्ष्य प्रमतिः स्थूलकेशं तां दातुं ययाचे। सोऽपि सुमुहूर्त्ते करिष्याम्यवश्यं परिणयमिति प्रतिश्रुतवान्। ततश्च तदर्थं सामग्रीमेकत्रीकरणाय कृतः सुमहानुद्योगः। अथ कोऽपि सर्पः प्राङ्गणे क्रीडन्तीं तां प्रसद्वरां दष्टवान्। तच्छ्रुत्वा तन्निवासिनो मुनयः पर्यनुशुशुचुः। रुरुस्तद्वियोगे प्राणमपि त्यक्तुमचेष्टत। ततो देवदूताः समागत्योचुः—कथमेवं करोषि यदि तज्जीवनं कामयसे तदा स्वायुषोऽर्द्धं तस्यै प्रयच्छ। अथ विश्वावसुसहिता देवदूता धर्मराजमुपेत्य प्रणिपत्य च निवेदयामासुस्तद्वृत्तान्तम्। ततो धर्मराजेन स्वायुषोऽर्धदानेनाज्ञप्तो रुरुस्तां जीवयित्वा विधिनोपयेमे।

अर्जुनमिति। अश्वमेधस्य यः तुरगोऽश्वः तदनुगामिनं तदनुयायिनं बभ्रुवाहननाम्ना एतदभिधेयेन आत्मजेन पुत्रेण, समरसिरसि सङ्ग्राममूर्धनि शरेण शरताडनेन अपहृता विनाशिताः प्राणा जीवनानि यस्य तं तादृशम्, उलूपी एतन्नामिका अर्जुनविवाहिता नागकन्या बभ्रुवाहनविमाता। सोच्छ्वासं सञ्जीवनमणिस्पर्शनेन सजीवनम् अकरोत् कृतवती। इदमितिवृत्तमश्वमेधपर्वण्येवम्—

तथाहि—राज्ञा युधिष्ठिरेणाश्वमेधयज्ञनिमित्तं सर्वतो विजयाय चाश्वं मुमोच, रक्षंश्च ससैन्योऽर्जुनस्तमनुजगाम। सर्वत्रकृतविजयोऽर्जुनो मणिपुरराज्यशासकं सकलगुणवरिष्ठं चित्राङ्गदायामुत्पन्नं बभ्रुवाहनं पुत्रं प्राप्तवान्। पितुः समागमनं श्रुत्वा बहुशोऽभ्यर्थितः सम्मानितश्च बहुभिरुपहारैर्बभ्रुवाहनः पित्रा भर्त्सितः विमात्रा नागकन्यया तत्क्षणं भुवं विदार्य समागतया च सोत्साहितो युद्धाय समुद्युक्तो बभूव। ततश्च तत्र विषाक्तैर्बाणैर्गतासुनिवाकरोत्पितरम्। स्वयमपि तत्प्रहितनिशितशरैर्जर्जरीकृतः शरीरो मुमूर्च्छ च। अथ चित्राङ्गदस्तन्माता बहुशो विलप्योलूपीं जुगुप्सितं कर्मैतत्त्वया विहितमिति ब्रुवन्ती तामधोमुखं नयन्ती स्वामिजीवनाय पन्थानमन्वेषयन्ती मूर्च्छितपुत्रमप्यगणयन्ती अनशनेन प्राणोत्सर्गमपि कर्त्तुं यतन्ती आसीत्। तस्मिन्नेव काले बभ्रुवाहनः संज्ञामवाप, अवाप्य च गतासुं तातं निरीक्ष्य पर्य्यनुशुशोच। तज्जीवनायोलूपीं बहुशोऽभ्यर्थ्यमाणस्तद्विरहे स्वयमप्यनशनेन मर्तुमियेष। ततश्चोलूपी सञ्जीवनमणिं स्मरणेनोपस्थितमादाय बभ्रुवाहनाय दत्तवती। तेन हृदये विन्यस्तः सुप्तोत्थित इवार्जुनः उत्थायात्मजं हृदयेन परिष्वज्य प्रशंसयामासेति।

अभीति। अश्वत्थामा द्रोणाचार्यसुतः तस्य अस्त्रपावकेन शस्त्राग्निना परिप्लुष्टं सर्वतो भस्मीभूतम्, उदरात् गर्भाशयात् उपरतं मृतमेव विनिर्गतं निःसृतम्, एवंविधम् अभिमन्युतनयम् अर्जुनपौत्रं परीक्षितम्, उत्तरायाः प्रलापेन विलापेन जनिता उत्पादिता कृपा करुणा यस्य तादृशो भगवान् वासुदेवो नारायणः दुर्लभान् दुष्प्रापान् असून् प्राणान् प्रापितवान् प्रदत्तवान्। अश्वस्येव स्थाम और्जित्यमस्येति अश्वत्थामा, पृषोदरादित्वात्साधु।

इदमपीतिवृत्तमश्वमेधपर्वण्येवम्—अर्जुनेन द्रोणाचार्येण पितरि हतेऽतीवक्रुद्धोऽश्वत्थामा उत्तरागर्भस्थं परीक्षितं ब्रह्मास्त्रेण गतासुमकरोत्। जन्म समये मृत एव पुत्रो जात इति श्रुत्वा शोकविह्वलाः कुन्त्यादयः समभवन्। तत्र कुन्ती करुणाभिर्वचोभिर्भगवन्तं वासुदेवमभ्यर्थयामास जीवनदानायेति। जातदयो भगवान् सूतिकागृहं प्रविश्य तत्राप्युत्तरयाऽभिमन्युपत्न्या बहुशोऽभ्यर्थितः पूर्वप्रतिज्ञातक्रमेण तं जीवयामासेति।

उज्जयिन्यामिति। उज्जयिन्यां विशालायाम्। स एव भगवान् वासुदेव एव, सन्दीपयति प्रज्वाल-

उनके ही पुत्र बभ्रुवाहनने शरप्रहार करके उनके प्राण हर लिए थे तब नागकन्या अर्जुनभार्या **उलूपीने** सञ्जीवनी-मणिका स्पर्श कराकर उसे जीवित किया था। अभिमन्युके पुत्र परीक्षित जब अश्वत्थामाके आग्नेयास्त्र द्वारा सर्वतोभावसे दग्ध हो (जल) कर मृत अवस्थामें ही गर्भसे निकले थे तब उत्तराके विलापसे दयालु होकर भगवान् श्रीकृष्णने फिरसे उन्हें दुर्लभ प्राण-दान किया था और उज्जयिनीमें त्रिभुवन-वन्दितचरण वही भगवान् सान्दीपनि-

१···तुरगानुगामिनम्। २. शरेण हृतप्राणम्। ३. उलूपा। ४. परिक्षितम्। ५. निर्गतम्। ६. भगवांश्चराचरगुरुर्वासुदेवो दुर्लभैरसुभिर्योजितवान्। ७. सन्दीपनि।

न्तकपुरादपहृत्य त्रिभुवनवन्दितचरणः स एवानीतवान्[1] । अत्रापि[2] कथञ्चिदेवमेव[3] भविष्यति। तथापि[4] किं क्रियते, क उपालभ्यते[5] । प्रभवति हि भगवान् विधिः, बलवती च नियतिः, आत्मेच्छया न शक्यमुच्छ्वसितुमपि, अतिपिशुनानि चास्यैकान्तनिष्ठुरस्य दैवहतकस्य विलसितानि[5] न क्षमन्ते[6] दीर्घकालमव्याजरमणीयं प्रेम। प्रायेण च निसर्गत एवानायत[7]-स्वभावभङ्गुराणि-सुखानि, आयर्त-स्वभावानि च दुःखानि। तथाहि कथमप्येकस्मिन् जन्मनि समागमः, जन्मान्तरसहस्राणि च विरहः[8] प्राणिनाम्। अतो नार्हस्यनिन्द्यमात्मानं निन्दितुम्, आपतन्ति हि संसारपथमतिगहनमवतीर्णानामेते वृत्तान्ताः, धीरा हि तरन्त्यापदम्' इत्येवंविधैरन्यैश्च मृदु-

यति यज्ञाग्निमिति सन्दीपनः तस्यापत्यं पुमान् सान्दीपनिः तन्नामा कश्चिद्ब्राह्मणः तस्य तनयं पुत्रम् अन्तकपुरात् यमपुरात् अपहृत्य आनीतवान् प्रापितवान् ।

पुरा किल उपात्तविद्ययो रामकृष्णयोरनुरोधेन गुरुः सान्दीपनिः पञ्चजनदैत्यापहृतं निजपुत्रं गुरुदक्षिणारूपेण कामयाञ्चक्रे। भगवान् वासुदेवस्तु सागरं प्रविश्य पञ्चजनं विनाश्य, तत्राप्राप्तं गुरुतनयं यमपुरादानीय गुरुदक्षिणीचकारेति हरिवंशपुराणीयकथा ।

अत्रापीति । अत्रापि अस्मिन् पुण्डरीकोदन्तेऽपि, कथञ्चित् केनापि प्रकारेण एवमेव प्रत्युज्जीवनवत्पुनर्जीवनम् । क उपालभ्यते निन्द्यते । विधिः स्रष्टा, प्रभवति सर्वं विधातुं शक्नोति, बलवती वीर्यवती नियतिर्भाग्यं च प्रभवति । उच्छ्वसितुं श्वासप्रश्वासौ विधातुमपि । अतिनिष्ठुरस्य अत्यन्तनिर्दयस्य अस्य दैवहतकस्य दुर्भाग्यस्य अतिपिशुनानि अत्यन्तखलानि विलसितानि चरित्राणि कर्तॄणि, अव्याजं निष्कपटम् अत एव रमणीयं मनोहरं प्रेम दीर्घकालं बहुसमयं न क्षमन्ते न सहन्ते ।

प्रायेणेति । प्रायेण बाहुल्येन निसर्गतः स्वभावत एव अनायतस्वभावानि अदीर्घाणि संक्षिप्तानीत्यर्थः, च तानि भङ्गुराणि नश्वराणि चेति तानि सुखानि आनन्दाः, आयतस्वभावानि दीर्घाणि असंक्षिप्तानीत्यर्थः स्थायीनि च दुःखानि क्लेशाः । अस्य विषयस्य स्फोरणाय वाचस्पतिकृतो भामतीग्रन्थोऽवलोकनीयः ।

तथाहीति । प्राणिनां संसारिणां कथमपि महता क्लेशेन । समागमः सम्मेलनम् , जन्मान्तरसहस्राणि भवान्तरसहस्राणि च यावत् विरहो वियोगः ।

प्रकृतम् आश्वासवचनमुपसंहरति—अत इति । अनिन्द्यम् अगर्ह्यम् आत्मानं स्वम्, निन्दितुं गर्हितुं नार्हसि न योग्याऽसि, हि यतः, एते वृत्तान्ता एतादृशा आपद्रूपा व्यापाराः, अतिगहनम् अत्यन्तभीषणं संसारपथं संसृतिमार्गम् अवतीर्णानाम् आयातानां सांसारिकजनानां समीप इत्यर्थः आपतन्ति उपस्थिता भवन्ति, तत्र तु धीरा हि धैर्यशालिन एव आपदं कष्टं तरन्ति तत्पारं प्राप्नुवन्ति, न पुनरधीरा इत्यर्थः, अत एव धैर्यमाश्रित्य समयं प्रतीक्षस्वेत्याशयः । इह सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ।

इत्येवमिति । एवंविधैः एतादृशैरुक्तरूपैः अन्यैश्च मृदुभिः सुकुमारैः उपसान्त्वनैः आश्वासवचनैः

नामक एक ब्राह्मणके पुत्रको यम-गृहसे निकाल कर लाए थे । इसलिए इस घटनामें भी इस रूपका ही कुछ होगा। ऐसा होने पर भी क्या किया जाय ? किसकी निन्दा करें ? भगवान् विधाता ही सब कर सकते हैं, भाग्य प्रबल है, किन्तु कोई भी अपनी इच्छासे श्वास-प्रश्वास भी नहीं ले सकता, विशेषतः—अत्यन्त निष्ठुर 'दुष्ट दैवके चरित्र भी अति क्रूर हैं, इसलिए वह अकृत्रिम मनोहर प्रेमको दीर्घकाल तक सहन नहीं कर सकता। प्रायः करके देखनेमें आता है कि—सुख, स्वभावसे ही अल्पकालस्थायी, किन्तु दुःख, विस्तृत और चिरस्थायी होता है। देखिए—प्राणियोंका किसी एक जन्ममें किसी प्रकारसे मिलन हो जाता है, किन्तु विरह, सहस्र जन्मान्तर तक रहता है । इसलिए अपनी अनिन्दनीय आत्माकी निन्दा करना समुचित नहीं है, क्योंकि-अत्यन्त भयङ्कर संसारके मार्गमें अवतीर्ण होकर चलते हुए मनुष्योंको ऐसी ऐसी विपत्तिकी घटनाएँ अवश्य ही उपस्थित होती रहती हैं । तब उसके मध्यमें धीरप्रकृतिके ही व्यक्ति उस विपत्तिका पार पाते हैं' ऐसे ऐसे अनेक प्रकारके कोमल सान्त्वनावाक्योंसे

१. पुरात्त्रिभुवनवन्दितचरणः स एवापहृतवान् । २. क्वचित् 'अत्रापि' इति पाठो न विद्यते । ३. क्वचित् 'तथापि' इत्यधिकः पाठः । ४. किमुपालभ्यते । ५. विलासितानि । ६. क्षमते । ७. अनामुक्त··· । ८. अनामुक्त··· । ९. एकजन्मसमागमो बहूनि जन्मान्तरसहस्राणि तु विरहः ।

भिरुपसान्त्वनैः संस्थाप्य तां पुनरपि निर्झरजलेनाञ्जलिपुटोपनीतेनानिच्छन्तीमपि बलात् प्रक्षालितमुखीमकारयत् ।

अत्रान्तरे च श्रुत[1]महाश्वेतावृत्तान्तोपजातशोक इव समुत्सृष्टदिवसव्यापारो रविरपि भगवानधोमुखतामयासीत् । अथ क्षीणे दिवसे, परिणत-प्रियङ्गु-मञ्जरी-रजोनिभेन[2] पिञ्जरिम्णा-रज्यमाने[3] विलम्बिनि ब्रध्नमण्डले, अविरल-कुसुम्भ[4]-कुसुम-रस-रक्त-दुकूल-कोमलेन चास्तात-पेन मुच्यमानेषु[5] दिङ्मुखेषु, चकोर-नयन-तारका-कान्तिना च[6] पिङ्गलिम्ना विलिप्यमाने तिरो-हितनीलिम्नि व्योम्नि, कोकिल-विलोचन-च्छवि-बभ्रूणि चारुणयति[7] सान्ध्ये भुवनमर्चिषि, यथाप्रधानमुन्मिषत्सु ग्रहग्रामेषु[8], वनमहिषमलीमसवपुषि[9] च लोचनमुषि[10] मुषित-तारकापथ-

---

संस्थाप्य प्रकृतिस्थां विधाय, चन्द्रापीडः अञ्जलिपुटोपनीतेन निर्झरजलेन प्रस्रवणसलिलेन, अनिच्छन्तीमपि वक्त्रप्रक्षालनमनभिलषन्तीमपि तां महाश्वेतां बलात् हठात् पुनरपि भूयोऽपि प्रक्षालितमुखीं धौताननाम् अकारयत् व्यधापयत् ।

अत्रेति । किञ्चेति चार्थः, अत्रान्तरे अस्मिन्नवसरे, श्रुतेन आकर्णितेन महाश्वेताया वृत्तान्तेन उदन्तेन उपजातः उत्पन्नः शोको यस्य स तथोक्त इव सन्, समुत्सृष्टः उज्झितो दिवसव्यापारो दिनकृत्यम् प्रकाशदानरूपं गृहकृत्यञ्च येन सः, अन्योऽप्युत्पन्नशोकः गृहकृत्यं परित्यज्य अधोमुखतां गच्छति ।

अतएवेह कार्येण सूर्ये शोकव्यथितनायकव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः, शोकोत्पत्त्युत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

अथेति । दिवसे वासरे । परिणता पक्वा या प्रियङ्गुमञ्जरी फलिनीवल्लरी तस्या रजोनिभेन परागसदृशेन, पिञ्जरस्य भाव इति पिञ्जरिमा पृथ्वादित्वादिमनिच् प्रत्ययः, तेन पिङ्गलवर्णेन रज्यमाने पिञ्जरतां नीयमाने, ब्रध्नमण्डले सूर्यबिम्बे विलम्बिनि गगनावरोहिणि सति । आर्थोपमा ।

अविरलेति । किञ्च, दिङ्मुखेषु, अविरलं सान्द्रं यत् कुसुम्भकुसुमानां महारजनपुष्पाणां रसेन निर्यासेन रक्तं रूषितं दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रं तद्वत् कोमलेन मृदुलेन सुखस्पर्शेनेत्यर्थः 'कुसुम्भं हेमनि महारजने ना कमण्डलौ' इति मेदिनी, अस्ततापेन अस्तसामयिकसूर्यालोकेन, मुच्यमानेषु यथाक्रमं परित्यज्यमानेषु सत्सु । लुप्तोपमा ।

चकोरेति । अपि च, तिरोहितः सायङ्कालीनातपप्रसरादाच्छादितो नीलिमा यस्य तस्मिन् व्योम्नि गगने, चकोरस्य विषसूचकस्य पक्षिणो नयनयोर्लोचनयोः तारकावत् कनीनिकावत् कान्तिः शोभा यस्य तथोक्तेन, पिङ्गलिम्ना पिङ्गलवर्णेन विलिप्यमाने विलेपनविषयीक्रियमाणे सति । उक्तालङ्कारः ।

कोकिलेति । अपि च, कोकिलस्य पिकस्य विलोचनच्छविरिव नेत्रकान्तिरिव, बभ्रु पिङ्गलं तस्मिन् सान्ध्ये सायङ्कालीने अर्चिषि तेजसि, भुवनं संसारम् अरुणमति आरक्तं विदधति सति । उक्तालङ्कारः ।

यथेति । ग्रहग्रामेषु नक्षत्ररूपशुक्रादिग्रहसमूहेषु, यथाप्रधानं मुख्यानामुदयानुसारेणेत्यर्थः, उन्मिषत्सु उदयेन द्योतमानेषु सत्सु ।

वनेति । वनमहिषस्येव अरण्यरक्षाचस्येव मलीमसं मलिनं वपुः स्वरूपं यस्य तस्मिन्, लोचनं नयनं

---

उस ( महाश्वेता ) को प्रकृतिस्थ करके चन्द्रापीडने फिर अञ्जलिपुटमें झरनेका जल लाकर, इच्छा नहीं रहने पर भी बलपूर्वक ( हठसे ) उसका मुखप्रक्षालन कराया ( मुँह धुलाया ) ।

उसी समय भगवान् सूर्य भी महाश्वेताका वृत्तान्त श्रवण करनेसे मानो शोक-खिन्न होकर दिवसव्यापार परित्याग कर अधोमुख हो गये । उसके बाद जब दिन क्षीण हो ( शेष रह ) गया; आकाशमें लटकता हुआ सूर्य मण्डल पकी हुई प्रियङ्गुलताकी मञ्जरीके रेणुके समान पिङ्गल वर्ण रंगसे रञ्जित हो ( रँग ) गया; कुसुमके फूलके रससे रँगे हुए और घन सूक्ष्म-वस्त्रके समान कोमल अस्तकालीन सूर्यालोक ( धूप ) ने क्रमशः समस्त दिशाओंके मुखोको छोड़ दिया; आकाशका नीला रंग दूर हो गया, क्रमशः चकोर पक्षीके नयनकी कनीनिकाके समान कान्ति सम्पन्न पिङ्गलवर्णसे समस्त आकाश लिप्त हो गया; कोकिलके नेत्रोंके समान पिङ्गलवर्ण सन्ध्याके आलोकसे जगत् लाल हो गया; नक्षत्रसमूह प्रधानोंके अनुक्रमसे उदयपाने लगे; वन-महिषके समान मलिन ( श्याम ) वर्णवाला,

---

१. अत्रान्तरेमहा । २. ···रजोनिभे । ३. विरज्यमानेऽपि । ४. क्वचित् 'कुसुम्भ' इति पदं नोपलभ्यते । ५. विमुच्यमानेषु । ६. ···तारकाकारकान्तिना । ७. अरुणायति । ८. ग्रहग्रामणीषु । ९. वनमलीमसवपुषि । १०. 'लोचनमुषि' इति पाठो हि क्वचिन्न दृश्यते ।

प्रथिम्नि कालिमानमातन्वति शार्वरे तमसि, अतनु-तिमिर-तिरोहित-हरितभासु[1] ग्रहनतां यान्तीषु तरुराजिषु[2], रजनि-जल-बिन्दु-जाल-जनित-जडिम्नि बहल-वन-कुसुम-परिमलानुमित-गमने चलित-लता-विटप-गहने[3] प्रवृत्ते च पवने, निद्रा-निभृत-पतत्त्रिणि त्रियामामुखे, महाश्वेता मन्दं मन्दमुत्थाय भगवतीमुपास्य पश्चिमां सन्ध्याम्, कमण्डलुजलेन प्रक्षालितचरणा वल्कलशयनीये सखेदमुष्णञ्च निःश्वस्य[4] निषसाद। चन्द्रापीडोऽप्युत्थाय सकुसुमं प्रस्रवणजलाञ्जलिमवकीर्य्य[5] कृतसन्ध्याप्रणामस्तस्मिन्, द्वितीये शिलातले मृदुभिर्लतापल्लवैः शय्यामकल्पयत्। उपविष्टश्च तस्यां पुनःपुनः[6] तमेव मनसा महाश्वेतावृत्तान्तमन्वभावयत्। आसी-

मुष्णाति अवलोकनसामर्थ्यमपहरतीति तस्मिन्। अनेन गाढत्वमुपपादितम्। मुषितः अपहृतो व्याप्त्याऽवलोकननिरोधेनाऽपवत् बोधितः तारकापथस्य आकाशस्य प्रथिमा विस्तारो येन तस्मिन्, अनेन सर्वव्यापित्वं द्योतितम्। शवर्या रात्रेरिदमिति शार्वरं तस्मिन् 'तस्येदम्' इत्यण्, तमसि अन्धकारे, कालिमानं संसारस्य श्यामलिमानम् आतन्वति विस्तारयति सति।

इह लुप्तोपमा वृत्त्यनुप्रासश्च अनयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अतन्विति। अतनुभिर्निबिडैः तिमिरैः अन्धकारैः तिरोहिता आच्छादिता हरिता हरिद्वर्णा भाः कान्तयो यासां तासु, तरुराजिषु वृक्षपङ्क्तिषु गहनताम् अन्तरालानवलोकनेन सान्द्रतां यान्तीषु गच्छन्तीषु सत्सु। वृत्त्यनुप्रासः।

रजनीति। रजनिबिन्दुजालं तुषारकणसमूहः तेन जनिता उत्पादिता जडिमा शीतलता यस्य तस्मिन्, बहलैः अत्यधिकैः वनकुसुमानाम् अरण्यपुष्पाणां परिमलैः सुगन्धिभिः अनुमितं ज्ञापितं गमनं यस्य तस्मिन्, तथा चलितं कम्पितं लताविटपानां वल्लरीकिसलयानां गहनं (वनं) समूहो येन तस्मिन्, पवने समीरे च प्रवृत्ते वहति सति। त्रयाणां विशेषणानां यथाक्रममुपादानेन शीतत्वमन्दत्वसुगन्धत्वानि गुणत्रयाण्युक्तानीत्यभिधेयम्।

इह वृत्त्यनुप्रासच्छेकानुप्रासान्त्यानुप्रासा यथोचितमूहनीयाः।

निद्रेति। निद्रया प्रमीलया निभृता निःशब्दाः पतत्त्रिणः पक्षिणो यत्र तस्मिन्, त्रियामामुखे प्रदोषसमये प्रवृत्ते सति।

महेति। मन्दं मन्दं शनैः शनैः उत्थाय, भगवतीं माहात्म्यवतीं पश्चिमां सन्ध्यां सायङ्कालीनसन्ध्याम् उपास्य उपासनां कृत्वा, कमण्डलुजलेन कुण्डिकानीरेण प्रक्षालितचरणा धौतपादा वल्कलशयनीये तरुत्वक्शय्यायां सखेदं सखिन्नम् उष्णं च निःश्वस्य निःश्वासं प्रमुच्य निषसाद उपविवेश।

चन्द्रेति। सकुसुमं सपुष्पं प्रस्रवणजलाञ्जलिं निर्झरसलिलाञ्जलिम् अवकीर्य सूर्यं लक्ष्यीकृत्यार्घत्वेन निक्षिप्य, कृतौ विहितौ सन्ध्याप्रणामौ सन्ध्येष्टदेवतानमस्कारौ येन सः, तस्मिन् मण्डपिकास्थले द्वितीये तत्स्वीकृतादन्यस्मिन् शिलातले प्रस्तरतले मृदुभिः सुकुमारैः लतापल्लवैः वल्लीकिसलयैः शय्यां शयनीयम् अकल्पयत् अकरोत्।

उपेति। तस्यां शय्यायाम्। महाश्वेतावृत्तान्तं महाश्वेतोदन्तम् अन्वभावयत् अचिन्तयत्। अयं कुसु-

उत्तरोत्तर सर्वत्र अधिक कालिमाको विस्तार करने लगा; अपना हरा रंग गाढ़े (घने) अन्धकारमें तिरोहित हो (ढक) जानेसे वृक्षोंकी झाड़ियाँ और भी गहन होने लगीं; रात्रिके शिशिरबिन्दुओंसे शीतलता उत्पन्न करती—वन्य पुष्पोंके प्रचुर सौरभसे जिसके चलनेकी सूचना होती थी ऐसी—लता और वृक्षोंकी कुञ्जोंको कँपाती हवा बहने लगी; और प्रदोषकाल उपस्थित होनेसे पक्षीगण निद्राके कारण निःशब्द हो गए, तब महाश्वेता धीरे धीरे उठ कर माहात्म्यशालिनी सायं सन्ध्याकी उपासना कर, कमण्डलुके जलसे अपने पैर धोकर, विषादके साथ उष्ण निःश्वास (गरम साँस) लेकर अपने वल्कलमय शय्या (बिछौने) के ऊपर जा बैठी। इतनेमें चन्द्रापीडने भी उठ कर कुसुमोंके सहित अञ्जलिपुटसे झरनेका जल लेकर सूर्यके उद्देश्यसे अर्घ दिया, बाद सन्ध्या और इष्टदेवताको नमस्कार कर कोमल लता-पल्लव-द्वारा उस द्वितीय शिलातल पर शय्या निर्माण किया (बिछौना बिछाया)। उसके बाद उस

लोगोंकी दृष्टि-शक्तिको लोप करता, आकाशके विस्तारको ह्रास करता, रात्रिका अन्धकार

१...हरिततासु हरितासु। २. वनराजिषु, तारवीषु; राजिषु। ३. वने प्रवृत्ते निद्रा। ४. उष्णं निःश्वस्य। ५. अवकीर्य सन्ध्यां प्रणनाम। कृत......। ६. क्वचित् द्विरुक्तिर्न दृश्यते।

श्चास्य मनसि—'एवं नामायम्[1] अप्रतीकारदारुणो दुर्विषहवेगः कष्टः कुसुमायुधः, यदनेनाभिभूता महान्तोऽप्येवमनपेक्षितकालक्रमाः समुत्सारितधैर्य्याः[2] सद्यो जीवितं जहति[3]। सर्वथा नमो भगवते[4] त्रिभुवनाभ्यर्च्चितशासनाय मकरकेतनाये'ति।

( समाप्तो महाश्वेतावृत्तान्तः )

पुनः पप्रच्छ चैनाम्—'भगवति ! सा तव[5] परिचारिका वनवासव्यसनमित्रं दुःखसब्रह्मचारिणी तरलिका क्व गता' इति।

अथ साऽकथयत्—'महाभाग! यत्तन्मया कथितममृतसम्भवमप्सरसां कुलम्, तस्मान्मदिरेति नाम्ना मदिरायतेक्षणा[6] कन्यकाभूत्। तस्याश्चासौ सकल-गन्धर्व-कुल-मुकुट-कुड्मल-

---

मायुधो मदनः एवं नाम इत्थं किल अप्रतीकारः प्रतिक्रियारहितः अत एव दारुणो भीषणः दुर्विषहो दुःखेन सोढुं शक्यो वेगो जवो यस्य सः, कष्टः क्लेशकरः। यद् यस्मात्, अनेन कुसुमायुधेन अभिभूता आक्रान्ता महान्तोऽपि जनाः, अनपेक्षितकालक्रमा असोढकालक्षेपाः तथा समुत्सारितं कामेनैव दूरीकृतं धैर्यं येषां ते तादृशाः सन्तः, सद्यस्तत्कालं जीवितं प्राणितं जहति परित्यजन्ति। त्रिभुवनेन त्रिविष्टपवासिना लोकेन अभ्यर्च्चितं पूजितं शासनमादेशो यस्य तस्मै, मकरकेतनाय मदनाय नमोऽस्तु।

( समाप्तश्चायं महाश्वेतावृत्तान्तः )

'व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते' इति दर्पणोक्तदिशा कादम्बर्यां महाश्वेतावृत्तान्त एव पताकास्थानपातीत्यवधेयम्।

अथ कादम्बरीवृत्तान्तोपक्रमः—

कादम्बरीवृत्तान्तं निरूपयितुं पुनः प्रश्नं कारयति—पुनरिति। एनां महाश्वेताम्। वनवासः अरण्यवसतिरेव व्यसनं विपत्तिः तत्र मित्रं सहायकीभूता तथा दुःखे सब्रह्मचारिणी समानतीर्थवासिनी समानक्लेशभोगिनीत्यर्थः।

अथेति। अमृतसम्भवं पीयूषोत्पन्नम् अप्सरसां कुलमन्ववायः, यन्मया कथितं प्रायभिहितम्, तस्मात् कुलात्, मदिरा मद्यं तद्वन्मनोन्मादकत्वान्मदिरेति संज्ञा, मदिरावत् मत्तखञ्जनवत् आयते विस्तृते ईक्षणे नयने यस्याः सा। 'मदिरा ( स्त्री ) मत्तखञ्जनः'''मद्यम्' इति शब्दकल्पद्रुमः।

तस्या इति। अपि च, असौ ख्यातनामा, सकलस्य समग्रस्य गन्धर्वकुलस्य देवगायकवंशस्य मुकुटकुड्मलं किरीटाग्रमेव पीठं पदासनं तत्र प्रतिष्ठितौ स्थापितौ चरणौ पादौ यस्य सः, समस्तगन्धर्वराजचक्र

---

शय्याके ऊपर बैठ कर वह महाश्वेताके वृत्तान्तके विषयमें बारम्बार मन ही मन विचार करने लगा। इसके मनमें यह हुआ कि—'यथार्थमें इस क्लेशदायक कामदेवका वेग असहनीय है और प्रतीकार रहित होनेसे बड़ा भयङ्कर है। क्योंकि इसके आक्रमण करने पर प्रधान व्यक्ति भी कालविलम्ब सहन करनेमें समर्थ नहीं होते; उनके भी धैर्य नष्ट हो जाते हैं, तत्काल ही वे जीवनका त्याग कर देते हैं, अतएव त्रिभुवनके लोग जिसके आदेशकी पूजा करते हैं, उस भगवान् कामदेवको सब प्रकारसे नमस्कार है।'

[ यहाँ महाश्वेताका वृत्तान्त समाप्त हुआ ]

फिर उस ( चन्द्रापीड ) ने महाश्वेतासे पूछा—'माहात्म्यशालिनि ! वनवासरूपी विपत्तिके समय की सहायें और दुःखभोगकी सहचरी आपकी वह परिचारिका तरलिका कहाँ गई ?

तदनन्तर महाश्वेता बोली—'महाभाग, मैं आपसे पहले कह चुकी हूँ कि, अमृतसे एक अप्सराओंका वंश उत्पन्न हुआ है, उस वंशमें मत्त-खञ्जनके समान नेत्रवाली मदिरा नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। समस्त गन्धर्व-

---

१. एवमयम्। २. समवधारितधैर्य्याः। ३. जहाति। ४. सकलत्रिभुवन। ५. त्वत्परि। ६. मदिरायत्तेक्षणा।

पीठप्रतिष्ठित-चरणो देवश्चित्ररथः पाणिमग्रहीत्। अपरिमितगुणाकृष्टहृदयश्चान्यवनितादुर्लभेन[1][2] अधःकृताशेषान्तःपुरेण हेमपट्टलाञ्छनेन छत्र-वेत्र-चामर- चिह्नेन महादेवीशब्देन परं प्रीतः प्रसादमकरोत्। अन्योन्यप्रेमसंवर्द्धनपरयोश्च तयोर्यौवनसुखानि सेवमानयोः[3] कालेनाश्चर्य्यभूतमेकजीवितमिव पित्रोः, अथवा सर्वस्यैव[4] गन्धर्वकुलस्य वा जीवलोकस्य, दुहितृरत्नमुदपादि कादम्बरीति नाम्ना। सा च मे[5] जन्मतः प्रभृत्येकासन-शयन[6]-पानाशना परं प्रेमस्थानमखिलविश्रम्भधाम द्वितीयमिव हृदयं बालमित्रम्। एकत्र तया मया च नृत्यगीतादिकलासु[7] कृताः परिचयाः, शिशुजनोचिताभिश्च क्रीडाभिरनियन्त्रणनिर्भरमपनीतो बालभावः।

---

वर्त्तीत्यर्थः, देवश्चित्ररथः, तस्या मदिरायाः पाणिं हस्तम् अग्रहीत् पाणिग्रहणमकरोदित्यर्थः।

अपरीति। अपि च, अपरिमिता असंख्याता ये गुणा मदिरायाः सौन्दर्यविनयादयः तैः आकृष्टम् आकर्षितं हृदयं चेतो यस्य स तथोक्तश्चित्ररथः परं प्रीतः सन्, अन्यवनितादुर्लभेन अन्यस्त्रीदुष्प्रापेण, अधःकृतं न्यूनीकृतम् अशेषं समग्रम् अन्तःपुरस्थनारीजनो येन तेन, हेमपट्टः सुवर्णफलकम् उपवेशनाय तत्समर्पणमित्यर्थः लाञ्छनं चिह्नं यस्य तेन, छत्रम् आतपत्रम्, वेत्रं यष्टिः चामरं बालव्यजनम्, च परिचर्यार्थं भृत्यसहितमेतत्समर्पणमित्यर्थः, चिह्नं लाञ्छनं यस्य तेन, महादेवीशब्देन पट्टराज्ञीबोधकमहादेवीत्युपाधिप्रदानेन प्रसादम् अनुग्रहम् अकरोत्।

अन्योन्येति। अन्योन्यं परस्परं यत् प्रेम्णः संवर्धनं प्रणयस्य आनुकूल्याचरणं तत्र परयो यत्नवतोः तयोः सतोः, तयोर्मदिराचित्ररथयोः यौवनसुखानि तारुण्यानन्दाः सेवमानयोर्भुञ्जानयोः। पित्रोः मातृजनकयोः, अथवा सर्वस्यैव समस्तस्यैव गन्धर्वकुलस्य देवगायकवंशस्य, वा अथवा सर्वस्यैव जीवलोकस्य मनुष्यलोकस्य, एकजीवितमिव अद्वितीयं जीवनमिव अद्भुतसौन्दर्यादिसमस्तगुणनिधित्वादित्याशयः। कादम्बरी मद्यम्, सौन्दर्येण तद्वच्चित्तोन्मादकत्वात् कादम्बरीति नाम। 'गन्धोत्तमा प्रसन्नेराकादम्बर्यः परिस्रुता। मदिरा कश्यमद्येऽपि' इत्यमरः। क्रियोत्प्रेक्षा।

सेति। जन्मनः प्रभृति उत्पत्तिदिनादारभ्य एकम् अभिन्नस्थानोत्पन्नम् आसनम् उपवेशनम्, शयनम्, पानम् अशनं भोजनञ्च यस्याः सा, परं प्रेमस्थानं नितान्तप्रणयपात्रम्, अखिलविश्रम्भधाम निखिलविश्वासभाजनं द्वितीयम् अपरं हृदयं स्वान्तमिव बालमित्रं शैशवसुहृत्। द्रव्योत्प्रेक्षा।

एकत्रेति। परिचया अभ्यासाः। शिशुजनोचिताभिः बालजनयोग्याभिः क्रीडाभिः खेलाभिः, नियन्त्रणस्य बाधाया अभावः अनियन्त्रणं तस्य निर्भरः आधिक्यं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा नितान्तबाधारहितमित्यर्थः। बालभावः शैशवम्, अपनीत अतिक्रान्तः।

---

कुलके मुकुटाग्ररूपी पाद-पीठ पर चरणयुगल रखनेवाले सुप्रसिद्ध देव चित्ररथने उससे पाणिग्रहण (विवाह) कर लिया और उस (मदिरा) के अनन्त गुण-गणसे आकृष्ट-चित्त होकर महाराजने उसको, अन्य स्त्रियोंको दुर्लभ सब अन्तःपुरमें उच्चता दिखानेवाला हेमपट्ट (बैठनेके लिए सुवर्णफलक) से चिह्नित और छत्र, वेत्र, चामर-रूपी चिह्न प्राप्त करनेवाले भृत्योंसे युक्त, **'महादेवी'** की उपाधि (पद) को परम-प्रीतिपूर्वक देकर अनुग्रह किया। अब उन दोनोंमें परस्पर प्रेम बढ़ रहा था और वे यौवनका समस्त सुख भोग करने लगे तब कुछ कालमें उनको, माता-पिताके अथवा समस्त गन्धर्वकुलके किंवा समस्त जीव-लोकके ही मानो एकमात्र जीवनके समान, आश्चर्य करनेवाला एक कादम्बरी नामका कन्या-रत्न उत्पन्न हुआ। वह और मैं जन्मकालसे ही एक साथ बैठती, एक साथ शयन करती (सोतीं), एक साथ ही पान और भोजन करती थीं, इससे उसके साथ मेरा अत्यन्त प्रेम हो गया, वह मेरा पूर्ण विश्वासपात्र हुई और द्वितीय हृदयके समान वह मेरी बाल्यावस्थासे ही सखी हुई। हम दोनोंने नृत्य-गीतादि कलाविद्याओं का साथ ही अभ्यास किया और बाल्योचित नानाविध क्रीड़ा करते करते हमारा अबोध बाल्यकाल पूर्ण स्वतन्त्रतामें आनन्दसे बीता। बाद उसने मेरे शोक-वृत्तान्तको सुन कर, उत्पन्न शोकसे

---

१. क्वचित् 'अपरिमित' इति पाठो नोपलभ्यते। २. वनितादुर्लभेन। ३. अनुभवतोः। ४. सकलस्यैव। ५. जन्मनः, मज्जन्मनः। ६. क्वचित् 'शयन' इति पदं नास्ति। ७. गीतनृत्यकलासु गीतनृत्यादिकासु कलासु।

सा चामुनैव मदीयेन हतवृत्तान्तेन समुपजात[1]शोका निश्चयमकार्षीत्—'नाहं कथञ्चिदपि सशोकायां महाश्वेतायामात्मनः पाणिं ग्राहयिष्यामि' इति। सखीजनस्य पुरतः सशपथमभिहितवती च—'यदि कथमपि मामनिच्छन्तीमपि बलात्तातः कदाचित् कस्मैचिद्दातुमिच्छति[2], [3]तदाहमनशनेन वा हुताशनेन वा रज्ज्वा वा विषेण वा नियतमात्मानमुत्स्रक्ष्यामि' इति। सर्वञ्च तदात्मदुहितुः कृतनिश्चयं [4]निश्चलभाषितं कर्णपरम्परया परिजनसकाशाद्गन्धर्वराजश्चित्ररथः स्वयमशृणोत्। [5]गच्छति काले समुपारूढनिर्भरयौवनामालोक्य सुतां[6] बलवदुपता[7]पपरवशः क्षणमपि न [8]धृतिमलभत। एकापत्यतया चातिप्रियतया च न [9]शक्तः किञ्चिदपि तामभिधातुम्। अपश्यंश्चान्यदुपायान्तरम्, इदमत्र प्राप्तकालमिति मत्वा, तया महादेव्या मदिरया सहावधार्य्य क्षीरोदनामानं [10]कञ्चुकिनं 'वत्से! महाश्वेते! [11]त्वद्व्यतिकरेणैव दग्धहृदयानामिदमपरमस्माकमुपस्थितम्, [12]इदानीन्तु [13]कादम्बरीमनुनेतुं त्वं शरणम्' इति

सेति। हतवृत्तान्तेन दुष्टोदन्तेन, समुपजातशोका समुत्पन्नशोका। कथञ्चिदपि केनचित्प्रकारेणापि। आत्मनः स्वस्य पाणिं नाहं ग्राहयिष्यामि, महाश्वेतायाः शोकनिवृत्तौ तद्ग्राहं करिष्यामीत्याशयः। अनिच्छन्तीमपि अनभिलषन्तीमपि। दातुमिच्छति दित्सति। अनशनेन भोजनपरित्यागेन, हुताशनेन [तत्र प्रवेशेन, रज्ज्वा उद्बन्धनेन, विषेण विषभक्षणेन वा, नियतं निश्चितम् आत्मानं निजशरीरम्, उत्स्रक्ष्यामि परित्यक्ष्यामि।

सर्वमिति। आत्मदुहितुः निजसुतायाः। निश्चलभाषितं शपथवचनम्, कर्णपरम्परया श्रोत्रप्रणालिकया। सुतां पुत्रीं कादम्बरीम्, समुपारूढं समुत्पन्नं निर्भरम् अतिशायि यौवनं तारुण्यं यस्याः ताम्, बलवतो महतः उपतापस्य सन्तापस्य परवश अधीनः। धृतिं धैर्यम् न अलभत न प्राप्तवान्। एकापत्यतया एकसन्ततितया, न शक्तः समर्थः।

अपश्यन्निति। अन्यदुपायान्तरम् अन्यप्रकारमुपायमित्यर्थः, अतएव नार्थगतपुनरुक्ततादोष इत्यर्थः। प्राप्तकालम् उचितसमयम्। अवधार्य विमर्शेन निश्चित्य। कञ्चुकिनमिति प्रेषितवानित्युत्तरक्रियायाः कर्म। त्वद्व्यतिकरेणैव तवोदन्तेनैव दग्धं शोकानलेन ज्वलितं हृदयं मनो येषां तेषाम्, अस्माकम्, इदमपरं क्लेशम् उपस्थितं प्राप्तम्, कादम्बर्या निजपाणिग्राहणे अननुमत्युत्पादितमित्याशयः। अनुनेतुम् अनुनयेन पाणिग्राहणे सम्मतीविधातुं त्वमेव शरणम् अस्माकमवलम्बनम्, त्वदर्थमेवैवंविधशपथविधानात् त्वद्वाक्याधीनत्वाच्चेत्याशयः।

विह्वल हो, निश्चय किया कि—'महाश्वेताके शोकातुर रहने पर मैं किसी प्रकारसे भी अपना पाणिग्रहण ( विवाह ) नहीं करूंगी'। और सखियोंके समक्ष उसने शपथ-पूर्वक कहा कि—'मेरी इच्छा न रहने पर भी पिता यदि बलपूर्वक किसी समय किसीके भी हाथमें मुझे देना चाहेंगे तो मैं अनशन अथवा अग्निप्रवेश किंवा उद्बन्धन ( फाँसी लगा ) अथवा विषभक्षण कर निश्चय ही प्राण त्याग कर दूंगी। अपनी पुत्रीके किए हुए इस निश्चय और शपथ वचनको किसी परिजनके द्वारा स्वयं गन्धर्वराज चित्ररथने कर्ण-परम्परासे श्रवण किया। फिर कुछ समय व्यतीत होने पर उस ( कादम्बरी ) का पूर्ण यौवनकाल उपस्थित देख कर उनको अत्यधिक सन्ताप हुआ, और क्षण भरके लिए भी धैर्य नहीं मिला। केवल एक ही सन्तानके और उस पर अत्यधिक स्नेह होनेके कारण वे उससे कुछ भी कहनेके लिए समर्थ न हुए। दूसरे किसी उपायको नहीं देख कर 'इस समय यही उचित है' इस प्रकार मनमें मानकर उस महादेवी मदिराके साथ आलोचनापूर्वक स्थिर कर, आज ही प्रातःकाल मेरे समीप 'क्षीरोद' नामक कञ्चुकीको यह सन्देश कह कर भेजा कि—'पुत्रि महाश्वेते! केवल तुम्हारे वृत्तान्तसे ही शोकानलमें हृदय दग्ध हो गया है; उस पर एक और दुःख उपस्थित हो गया है, इस लिए इस समय कादम्बरीको अनुनय वचनोंसे

१. समुत्पन्न…। २. इच्छेत्। ३. ततः। ४. कृतनिश्चलभाषितम्, कृतनिश्चयनिश्चलभाषितम्। ५. इह 'अतिप्रेमतया' इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते। ६. स तां। ७ बलवद्दूयमानः। ८. ससन्तापेन बलवद्दूयत न क्षणमपि धृतिमलभत। ९. शक्नोति। १०. क्वचित् 'ब्रूहि गत्वा वधः' इत्यधिकः पाठः। ११. तद्व्यतिरेकेणैव। १२. क्वचित् 'तु' पदं न विद्यते। १३. कादम्बरीव्यतिकरे।

सन्दिश्य[1] मत्समीपमद्यैवं प्रत्यूषसि[3] प्रेषितवान् । ततो[4] मया गुरुवचनगौरवेण सखीप्रेम्णा च क्षीरोदेन सार्द्धं सा तरलिका—'सखि ! कादम्बरि ! किं दुःखितमपि जनमतितरां दुःखयसि । जीवन्तीमिच्छसि चेन्मां तत्कुरु गुरुवचनमवितथम्' इति सन्दिश्य विसर्जिता । नातिचिरं गतायाञ्च तस्यामनन्तरमेवेमां भूमिमनुप्राप्तो महाभागः' इत्यभिधाय तूष्णीमभवत् ।

अत्रान्तरे[5] लाञ्छनच्छलेन विडम्बयन्निव शोकानलदग्धमध्यं महाश्वेताहृदयम्, उद्वहन्निव मुनिकुमारवधमहापातकम्, दर्शयन्निव चिरकाललग्नं दक्षशापानलदाहचिह्नम्, अविरलभस्माङ्गरागधवलः कृष्ण[6]मृगाजिन-प्रावृतार्द्धो वामस्तन इवाम्बिकायाः, धूर्जटिजटामण्डल-

तत इति । गुरुवचनगौरवेण पूज्यवाक्यानुल्लङ्घ्यतया । सा तरलिका 'विसर्जिता' इत्युत्तरेण सम्बन्धः । दुःखितमपि पीडितमपि जनं मामित्यर्थः, अतितराम् अतिशयेन दुःखयसि पीडयसि निजपाणिग्राहणे शपथपूर्वकासम्मत्येत्याशयः । तत्तदा, गुरुवचनं पितुराज्ञावाक्यम् अवितथं कुरु निजपाणिग्राहणेऽनुमतिदानेन सत्यं विधेहि, अन्यथाहं प्राणत्यागं करिष्यामीत्याशयः । 'तत्' इत्यस्य स्थाने 'तदा' इत्येव पाठो विधेयः, अन्यथावाचकत्वदोषस्य वारयितुमशक्यत्वात् ।

नातीति । तस्यां तरलिकायां नातिचिरं नातिपूर्वं गतायां प्रस्थितायां महाभागो भवान् इमां भूमिं स्थानमिमम् अनुप्राप्त अन्वागतः ।

अत्रेति । अत्रान्तरे अस्मिन् समये । धूरिव जटास्येति धूर्भारभूता जटा यस्य वेति धूर्जटिः महेश्वरः तस्य जटामण्डलरूपायाः चूडायाः मणिः रत्नम् । अनेनास्य महात्म्यवत्त्वं द्योतितम् । भगवान् तारकाराजश्चन्द्रः, लाञ्छनच्छलेन क्रोडस्थमृगाङ्कपटेन, शोकानलेन शुग्वह्निना दग्धं ज्वलितं मध्यम् अभ्यन्तरं यस्य तत्तथोक्तं महाश्वेताया हृदयं मानसं विडम्बयन्निव अनुकुर्वन्निव, लाञ्छनच्छलेन मुनिकुमारस्य पुण्डरीकस्य वधः कामसाहाय्येन हत्यैव महापातकं महापापं तत् उद्वहन्निव हृदये धारयन्निव, महापातकस्य मालिन्येन-वर्णना कविसमयप्रसिद्ध्या बोध्यम् । तथा च दर्पणे—'मालिन्यं व्योम्नि पापे' इति । तथा लाञ्छनच्छलेन चिरकाललग्नं दक्षशापानलेन दक्षप्रजापत्यभिसम्पातवह्निना यो दाहः तस्य चिह्नं लाञ्छनं दर्शयन्निव प्रकटयन्निव जनानिति शेषः, अविरलेन सान्द्रेण भस्मना विभूत्यैव अङ्गरागेण धवलः श्वेतः तथा कृष्णमृगस्य कृष्णसारस्य अजिनेन चर्मणा प्रावृतम् आच्छादितम् अर्धं यस्य स तथोक्तः । चन्द्रस्यैकभागे धवलत्वात् अन्यभागे च कलङ्कमालिन्यात् तत्साहश्यनिरूपणायेदं विशेषणद्वयोपादानमित्यवधेयम् । अम्बिकायाः पार्वत्याः वामस्तन इव दक्षिणेतरकुच इव उदगात् उदितवान् । अर्धनारीश्वरसमयेऽम्बिकाया वामेतरस्तनस्य महेश्वरशरीरान्तर्भावेनानवलोकनात् । 'वामस्तन' इति स्वरूपमात्रमभिहितम् ।

इहाद्यास्तिस्रः सापह्नवाः क्रियोत्प्रेक्षाः अनन्तरा च श्रौतोपमा इत्यासां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । पद्मपुराणीयोऽयमितिहासः—'पुरा किल चन्द्रः दक्षप्रजापतेः अश्विन्यादिसप्तविंसतिकन्यका विधिनोपयम्य तासु रोहिण्यामेव नितरामासक्तो बभूव । ततः पितरं समेत्योचुस्ताः स्वस्त्रावहेलनाम्, अनन्तरं तासा-

अनुकूल करनेमें एकमात्र तुम ही हम लोगोंका आश्रय हो ।' इस पर मैंने गुरुजनके आदेशके प्रति गौरव और सखी के प्रति प्रेमके कारण क्षीरोदके साथ तरलिकाको भेजा है, और यह सन्देश भेजा है कि—'सखि, कादम्बरि ! तू दुःखिनी व्यक्तिको और भी दुःखिनी क्यों करती हो ? तू यदि मुझे जीवित देखनेकी अभिलाषा करती हो तो माता-पिताका वचन सत्य करो ।' उसके जानेके थोड़ी देर पीछे ही आप इस स्थानमें उपस्थित हुए हैं । इतना कह कर वह चुप हो गई ।

इस बीचमें कलङ्कके व्याज ( बहाने ) से मानो शोकानलसे दग्ध ( जले ) हुए मध्यवाले महाश्वेताके हृदयका अनुकरण करता, मुनिकुमारकी हत्याके महापातकको ही मानो धारण करता, चिरकालसे संलग्न दक्ष मुनिके शापाग्निके दाहका चिह्न ही मानो दिखाता [ चन्द्रमाने अश्विनी-प्रभृति २७ दक्षकी पुत्रियोंसे परिणय किया था, किन्तु वह विशेषतः रोहिणीमें ही अनुरक्त रहा । जब दक्षको यह समाचार मिला तब उसने उसे ( चन्द्रको ) शाप दिया कि—'तू यक्ष्मारोगसे अभिभूत हो जाओगे' ] एवं अधिक भस्म लगानेसे शुभ्रवर्ण हुए और कृष्णसार ( मृग ) के चर्मसे अर्ध-आच्छादित (आधे ढके) पार्वतीके वाम-स्तनके समान शोभायमान होता, महादेवके जटा-मण्डलके

१. इह 'तदनुनयार्थं' इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते । २. क्वचित् 'अद्यैव' इति पाठो नास्ति । ३. प्रत्यूषसि । ४. अतः । ५. अस्मिंश्चान्तरे । ६. क्वचित् 'कृष्ण' इति पदं न विद्यते ।

चूडामणिर्भगवानुदगात्तारकाराजः।

क्रमेण चोद्गते गगनमहापयोधिपुलिने सप्तलोकनिद्रामङ्गलकलसे कुमुदबान्धवे विघटितकुमुदवने धवलितदशदिशि शङ्खश्वेते श्वेतातपत्रायमाणे[2] मानिनीमानशत्रौ[3] शुचिशोचिषि[4] शशाङ्कमण्डले, शशिकरकलाप[5]कलितासु[6] व्रजन्तीषु[7] कृशिमानमौडवीषु प्रभासु, प्रस्रवत्सु च कैलासशशिमणिशिलानां सर्वतः स्रोतःस्राविषु प्रस्रवणेषु, मृणालकन्दलिनि चावस्कन्द[9]पतितचन्द्रकर इव विलुप्तकमलवनशोभे भात्यच्छोदसरःपयसि, स[10]मुपोढमोहनिद्रे च द्राघीयो-

मनुरोधात् दक्षेण निखिलास्वेव तुल्यरागो भवत्विति बोधितोऽपि चन्द्रस्तथा विधातुं नाचेष्टत। तथैव तमवलोक्य दक्षः 'त्वं यक्ष्मरोगी भव' इति शशाप' इति।

क्रमेणेति। किञ्च, गगनम् आकाश एव महापयोधिः अपरिमितनिर्मलनीलत्वसादृश्यात् समुद्रः तस्य पुलिनं श्वेतत्वसादृश्यात्तोयोत्थितबालुकामयभूमिः तस्मिन्, सप्तानां लोकानां भूप्रभृतीनां निद्रानिमित्तं मङ्गलकलसो निद्रामङ्गलकलसः तत्स्वरूपे, निद्राकालीनावस्थानात् श्वेतत्वाद् गोलाकारत्वाच्चेत्याशयः। कुमुदानां कैरवाणां बान्धवे प्रस्फुटनकरणाद् बन्धुभूते। विघटितं प्रस्फोटितं कुमुदवनं कैरवारण्यं येन तस्मिन्। धवलिता चन्द्रिकया श्वेतीकृता दश दिशो येन तस्मिन्, शङ्खवत् श्वेते धवले। श्वेतातपत्रवदाचरतीति श्वेतातपत्रायमाणं तस्मिन्। मानिनीनां सुन्दरीणां मानशत्रौ नितान्तोद्दीपकत्वान्मानभङ्गविधायिनी। तथा शुचीनि श्वेतानि शोचींषि कान्तयो यस्य तस्मिन्, एवंविधे शशाङ्कमण्डले चन्द्रबिम्बे, क्रमेण उद्गते ऊर्ध्वमुत्थिते सति।

इह 'परम्परितरूपकम्, निरङ्गं केवलरूपकम्, लुप्तोपमा, व्यङ्गतोपमा, छेकानुप्रासः' इति यथाक्रममलङ्कारा बोध्याः। तथा 'कुमुदबान्धव' इत्यत्र 'विघटितकुमुदवन' इत्यत्र च कुमुदशब्दस्योपादानात् पुनरुक्तताद़ोषः समापतति तद्वारणाय' 'विघटितद्वन' इति पाठो विधेयः।

शशीति। शशिकरैश्चन्द्ररश्मिभिः कलितासु आवृतासु, उडूनां तारकाणामिमा इत्यौडव्यस्तासु प्रभासु दीप्तिषु, कृशस्य अल्पस्य भावः कृशिमा तं तादृशम्, पृथ्वादित्वादिमनिच्। व्रजन्तीषु प्राप्नुवन्तीषु सतीषु।

इह कृशत्वप्राप्तिं प्रति चन्द्ररश्मिनाच्छादितत्वं निमित्तमिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्।

प्रस्रेति। किञ्च, सर्वतश्चतुर्दिक्षु स्रोतांसि स्रावयन्ति चन्द्ररश्मिसम्पर्केण निष्कासयन्तीति तेषु, कैलासस्य रजताद्रेः शशिमणिशिलानां चन्द्रकान्तमणीनां प्रस्रवणेषु निर्झरेषु, प्रस्रवत्सु क्षरत्सु सत्सु। वृत्त्यनुप्रासः। तथा…'प्रस्रवत्सु' इत्यस्यार्थगतपुनरुक्तदोषवारणाय परित्याग एव साधीयान्;…'प्रस्रवणेषु सर्वतः स्राविषु' इत्यनेनैव गतार्थत्वात्।

मृणालेति। अपि च, मृणालानां बिसानां कन्दलानि अभिनवप्ररोहा अस्य सन्तीति तस्मिन्, अवस्कन्दाय पङ्कजानामेवाक्रमणाय पतितः चन्द्रस्य करो रश्मिः पाणिश्च यत्र तस्मिन् तथोक्त इव, अतएव विलुप्ता सङ्कोचाद्विनाशमुपगता कमलवनशोभा पङ्कजारण्यश्रीः यस्य तस्मिन्, अच्छोदसरसः अच्छोदाभिधानसरोवरस्य पयसि जले, भाति राजति सति। इहाक्रमणाय चन्द्ररश्मिपतनोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा। 'कन्दलस्तु कपाले स्यादुपरागे नवाङ्कुरे' इति विश्वः।

समुपोढेति। अपि च, विरहिणि वियोगिनि रात्र्यागमे चक्रवाकदम्पत्योर्वियोगस्य प्राकृतिकत्वा-

चूडामणि और महात्म्यशाली चन्द्रमाका उदय हुआ।

क्रमशः जब आकाश-रूपी महासमुद्रका पुलिनस्वरूप, भू-प्रभृति सप्तलोकका माङ्गलिक निद्रा-कलसस्वरूप, कुमुद-बांधव, कुमुद-वनको प्रस्फुटित करनेवाला, दशों दिशाओंको शुभ्रवर्ण करनेवाला, शङ्खके समान शुभ्रवर्ण और मानिनियोंका मान-भङ्ग करने ( उतारने ), वाला, श्वेतच्छत्रके समान शोभित, शुभ्रकिरण चन्द्रमण्डल उदय होता गया; चन्द्रकिरणोंसे आच्छादित ( ढँक ) जानेके कारण नक्षत्रोंका आलोक ( तारोंकी प्रभा ) जब क्षीण होता गया; कैलासपर्वतस्थ स्रोतो निःसारणकारी चन्द्रकान्त-मणिकी शिलाओंके झरनोंमेंसे सब दिशाओंमें जलकी धारा बहने लगी; अभिनव मृणालके अङ्कुरसे भरे आच्छोदसरोवरके जलमें कमलोंकी शोभा विलुप्त हो जानेसे चन्द्रमाकी किरणें मानो आक्रमण करनेके लिए ही जल पर गिरी हुई दीखने लगीं; रात्रि उपस्थित हो जानेके

१. समस्त। २. श्वेतिमानमातन्वति, शङ्खश्वेतायमाने। ३…मानदस्यौ। ४. क्वचित् 'शुचिशोचिषि' इति पदं नोपलभ्यते। ५. शशाङ्के। ६. क्वचिदिह 'कलाप' इति पदन्नास्ति। ७. कवलितासु। ८. आतन्वतीषु। ९. अवस्याय। १०. इह 'पवनवशात्' इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते।

वीचिविचलितवपुषि विरुवति विरहिणि चक्रवाकचक्रवाले, निर्वृत्ते[1] च चन्द्रोदये विद्रुते हर्ष-नयनजलकण-नीहारिणि वियद्विहारिणि मनोहारिणि विद्याधराभिसारिकाजने, चन्द्रापीडः सुप्तामालोक्य महाश्वेतां पल्लवशयने शनैः शनैः[2] समुपाविशत्। अस्यां वेलायां किं नु खलु मामन्तरेण चिन्तयति वैशम्पायनः, किं वा वराकी पत्रलेखा, किं वा राजपुत्रलोकः, इति चिन्तयन्नेव निद्रां ययौ।

अथ क्षीणायां क्षपायामुषसि सन्ध्यामुपास्य शिलातलोपविष्टायां पवित्राण्यघमर्षणानि जपन्त्यां महाश्वेतायाम्, निर्वर्त्तितप्राभातिकविधौ चन्द्रापीडे, तरलिका षोडशवर्षवयसा, सावष्टम्भाकृतिना, मद-खेदालस-गजराज-गमनगुरूणि[3] पदानि निक्षिपता, पर्य्युषितचन्दना-

---

दित्याशयः, अतएव समुपोढा सञ्जाता मोहनिद्रा क्लेशान्मूर्च्छारूपा निद्रा प्रमीला यस्य तस्मिन्, तथा द्राघीयसीभिः नितान्तदीर्घाभिः वीचिभिः अच्छोदसरस्तरङ्गैः विचलितम् आन्दोलितं वपुः शरीरं यस्य तस्मिन्, चक्रवाकानां रथाङ्गपक्षिणां चक्रवाले मण्डले ( समूहे ), विरुवति रवं विदधति सति। इहच्छेकानुप्रासः।

निर्वृत्त इति। अपि च, चन्द्रोदये निर्वृत्ते निष्पन्ने चन्द्रोदयेनान्धकारनाश इत्याशयः, हर्षनयनजलकणाः प्रमोदाश्रुबिन्दव एव नीहाराः तुहिनानि अस्य सन्तीति तस्मिन्, वियद्विहारिणि गगनचारिणि, मनोहारिणि अत्यन्तरमणीये, विद्याधराभिसारिकाजने व्योमचारिसंकेतितस्त्रीजने विद्रुते सर्वतश्चन्द्रोदयेन तिमिरापगमाल्लोकानामवलोकनभयात्पलायिते सति, इह हर्षेत्यादिपदे निरङ्गं केवलरूपकम्, तथैकक्रमेण हारिणीत्यस्यावृत्तेर्यमकम्, उभयोश्च परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

चन्द्रेति। सुप्तां निद्रिताम्। पल्लवशयने किसलयतल्पे। समुपाविशत् अधितस्थौ। मामन्तरेण मद्व्यतिरेकेण। वराकी क्षुद्रा। निद्रां ययौ प्रमीलां प्राप्तवान्।

अथेति। क्षपायां निशायां क्षीणायां क्षयमुपगतायाम् उषसि। प्रातःकाले। शिलातलोपविष्टायां प्रस्तरतलासीनायां पवित्राणि पूतानि अघमर्षणानि 'ऋतञ्च सत्यञ्चे' त्यादिमन्त्रान्। चन्द्रापीडे च निर्वर्त्तितो निष्पादितो प्राभातिकविधिः प्रातःकालिकानुष्ठानं येन तस्मिन् सति।

तरेति। प्रत्यूषस्येव केयूरकनाम्ना गन्धर्वदारकेणानुगम्यमाना तरलिका प्रादुरासीदित्युत्तरेण सम्बन्धः। इह तृतीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'गन्धर्वदारकेणे'त्यस्य विशेषणानि। षोडशवर्षाणि षडधिकदशहायनानि वयोऽवस्था यस्य तेन, सावष्टम्भा सबला आकृतिः स्वरूपं यस्य तेन, मदखेदेन दानवारिधारणपरिश्रमेण अलसो मन्दगामी यो गजराजो हस्तिश्रेष्ठः तस्येव गमने चलने गुरूणि मन्थराणि, पदानि चरणन्यासान्, निक्षिपता विदधता। लुप्तोपमा।

पर्युषितेति। पर्युषितेन गतदिनविहितत्वान्निःसृतरसेन शुष्केण चन्दनाङ्गरागेण मलयजाङ्गावलेपनेन

---

कारण मोह-निद्रासे अभिभूत हुए, अच्छोद सरोवरकी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंकी छलकसे काँपते, परस्पर विच्छिन्न ( विरही ) चक्रवाकके झुण्ड जब चीखें मारने लगे; चन्द्रोदय जब पूर्ण हो गया; और नेत्रमेंसे शिशिर ( ओस ) के समान आनन्दाश्रु-बिन्दु विसर्जन करती, आकाशमें विहार करनेवाली चन्द्रके उदयसे अन्धकार मिट जानेके कारण इधर उधर भागती, मनोहर ( परम सुन्दर ) विद्याधरोंकी रमणियाँ जब अभिसारमें जाने लगीं; तब चन्द्रापीड, महाश्वेताको निद्रित देख धीरे-धीरे अपने पल्लवमय शय्याके ऊपर ( पत्तोंके बिछौने पर ) बैठ गया और—'इस समय मुझे न देखकर वैशम्पायन अथवा बालिका पत्रलेखा ही, किंवा राजपुत्रगण ही क्या मनमें विचारते होंगे?' इस प्रकारकी चिन्ता करते-करते निद्रित हो ( सो ) गया।

तदनन्तर रात्रिके व्यतीत होनेपर प्रातःकाल सन्ध्यावन्दन करके एक शिलातलपर बैठकर महाश्वेता पवित्र 'अघमर्षण'—मन्त्रोंका जप कर रही थी और चन्द्रपीड भी प्रातःकालिक कृत्य समाप्त कर चुका था कि इतनेमें ही उस जगह तरलिका उपस्थित हो गई ( आ पहुँची )। उसके पीछे एक सोलह वर्षकी अवस्थाका, सबल आकृतिवाला, राजकुल-सम्पर्कसे चतुर 'केयूरक' नामका गन्धर्वपुत्र—मदपरिश्रमसे मन्दगामी गजराजके समान

---

१. निवृत्ते। २. क्वचित् द्विरुक्तिर्न विद्यते। ३. मन्दखेदालस…, …गजगमनगुरूणि।

ङ्गराग-धूसरोरुदण्डद्वयेन, कुङ्कुमराग-पिञ्जरारुणेन, चामीकर-शृङ्खला कलाप-निबिड-नियमितं कक्षाबन्धातिरिक्त प्रेङ्खत्पल्लवमधरवास एव केवलं वसानेन, [१]निरुदरतया विभक्तमध्येन, विपुलवक्षसा, दीर्घानुवृत्तपीनबाहुना, वामप्रकोष्ठदोलायमानमाणिक्यवलयेन, कर्णाभरणमणे-[२]र्विप्रकीर्यमाणमधोमुखकिरणेन्द्रायुधजालं वर्णांशुकोत्तरीयमिवैकस्कन्धक्षिप्तमुद्वहता, चूतपल्लव-कोमलमनवरतताम्बूल-बद्ध-रागान्धकारमधरं दधता, कर्णान्तायतस्य स्वभावधवलस्य धव-लिम्ना लोचनयुगलस्य धवलयतेव दिगन्तराणि कुमुदवनानीव वर्षता पुण्डरीकमयमिव दिवसं

---

धूसरम् ईषत्पाण्डुरम् ऊरुदण्डद्वयं सक्थिदन्डयुगलं यस्य तेन, कुङ्कुमरागेण कुङ्कुमद्रवकृताङ्गरागेण पिञ्जरः कस्मिंश्चिद्भागे नीरसत्वात् पिङ्गलवर्णश्चासौ कस्मिंश्चिद्भागे अरुणः तत्समयेऽपि सरसत्वात् रक्तवर्णश्चेति तेन, चामीकरस्य सुवर्णस्य शृङ्खलानां निगडानां कलापेन पङ्क्त्या निबिडं दृढं यथा स्यात्तथा नियमितं बद्धम्, तथा कक्षाबन्धात् कटिबन्धात् अतिरिक्तं प्रचुरभूतम् अतएव प्रेङ्खत् पवनेन चलत् पल्लवम् अञ्चलं यस्य तत्, केवलम् अधरवास एव अधोंऽशुकमेव वसानेन परिदधता, न पुनरुत्तरीयवस्त्रं धारयतेत्याशयः।

निरुदरेति। निरुदरतया कृशोदरतया 'अनुदरा कन्या' इतिवदीषदर्थे निःशब्दः। विभक्तमध्येन क्षीणमध्यभागेन, विपुलं बृहत् वक्षो भुजान्तरं यस्य तेन, दीर्घौ विस्तृतौ, अनुवृत्तौ सुवर्तुलौ, पीनौ, स्थूलौ च बाहू भुजौ यस्य तेन।

वामेति। वामे दक्षिणेतरे प्रकोष्ठे मणिबन्धादुपरिभागे दोलायमानं भुजान्दोलनाच्चपलं माणिक्य-वलयं रत्नकटकं यस्य तेन, कर्णाभरणे श्रोत्रभूषणे यो मणिः रत्नं तस्मात्, विप्रकीर्यमाणं श्रवणालङ्कारे-णाधोविक्षिप्यमाणम्, अधोमुखाः किरणा रश्मय इन्द्रायुधानि अनेकरूपत्वादिन्द्रधनूंषीव तेषां जालं समूहम्, एकस्मिन् स्कन्धे अंसे क्षिप्तम् अर्पितम्, वर्णो लोहितवर्णस्तेन रञ्जितम् अंशुकं वसनं वर्णांशुकं तद्रूपमुत्तरीयमिव उद्वहता धारयता। इह लुप्तोपमा जात्युत्प्रेक्षा चानयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

चूतेति। चूतस्य रसालस्य पल्लववत् किसलयवत् कोमलं सुकुमारम्, तथा अनवरतेन निरन्तरेण ताम्बूलेन नागवल्लीदलचर्वणेन बद्धो धृतो रागो रक्तिमा अन्धकारः कस्मिंश्चिदंशे मालिन्यञ्च यस्मिन् तम्, प्रचुरताम्बूलदलचर्वणेनौष्ठे मालिन्यमपि जायत इत्यनुभवसिद्धम्। अधरम् ओष्ठं दधता उद्वहता। लुप्तोपमा।

कर्णेति। कर्णान्तायतस्य श्रोत्रपर्यन्तविस्तृतस्य स्वभावधवलस्य प्रकृत्या श्वेतस्य लोचनयुगलस्य नेत्रद्वयस्य धवलिम्ना श्वेततया दिगन्तराणि धवलयतेव श्वेतं कुर्वतेव, अतएव कुमुदवनानि कैरवारण्यानि वर्षतेव वृष्टिं विदधतेव, दिवसं दिनं पुण्डरीकमयं सिताम्भोजव्याप्तं कुर्वतेव सृजतेव, नेत्रद्वयस्य शुभ्रकान्ति-प्रसरणात् कुमुदपुण्डरीकयोश्च श्वेतत्वादित्याशयः।

इहाद्यास्तिस्र एव क्रियोत्प्रेक्षा वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्चेति समेषामेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः। तथा धवलपदस्य मुहुर्मुहुरभिधानादनवीकृतत्वं दोषः समापतति तद्वारणाय 'स्वभावधवलस्य लोचनयुगलस्य कान्त्या दिगन्तराणि लिम्पतेव' इति पाठो विधेय इति कुशलाः समाचक्षते।

---

धीरे-धीरे पैर रखता हुआ—आया। पर्युषित ( वासी ) चन्दनके अङ्गराग ( लेप ) से उसके दोनों ऊरुयुगल धूसर-वर्ण ( मटियाले ) हो रहे थे, और कुङ्कुमके रङ्गसे किसी स्थानमें पीला और किसी स्थानमें लाल दीखता था, वह केवल परिधेय-वस्त्र ( धोती ) ही पहना था जो सुवर्णकी शृङ्खलावलीसे दृढ़ बँधी हुई थी, और जिसका अञ्चल ( कोर- ) कटिबन्धनके अतिरिक्त स्थानमें वायुके भारसे हिल रहा था। उसका उदर बहुत कृश होनेके कारण कटिदेश ( मध्यभाग ) भी कृश होकर विभक्त हो गया था; वक्षःस्थल विस्तृत था; एवं बाहुयुगल लम्बे, सुगोल और स्थूल ( मोटे ) थे; वामहस्तके कलाई पर एक रत्नका कङ्कण झूल रहा था; कर्णालङ्कारके मणिमेंसे इन्द्रधनुषके समान नानावर्णके किरणसमूह नीचेकी ओर फैलते थे, उससे प्रतीत होता था कि वह मानों एक स्कन्ध पर एक रक्तवर्ण उत्तरीयवस्त्र ( दुपट्टा ) धारण किया है। उसका ओष्ठयुगल आम्रपल्लवके समान कोमल और सर्वदा ताम्बूल-चर्वण ( पान खाने ) से लगे हुए रङ्गसे मलिनवर्ण ( श्याम ) दीखता था; आकर्णविस्तृत ( कानों तक ) पहुँचते ) एवं स्वभावसे ही धवलवर्ण नयनयुगलकी धवलप्रभाद्वारा वह दिशाओंको मानो श्वेतवर्ण कर डालता था,

---

१. क्वचित् 'निरुदरतया' इति पदं न दृश्यते। २. 'कर्णाभरणमणिविप्रकीर्य।

कुर्वता, कनकपट्ट-पृथु-ललाटेन, अलि-कुल-नील-सरल[1]-शिरसिजेन, अग्राम्याकृतिना, राज-कुल-सम्पर्क-चतुरेण, गन्धर्वदारकेण केयूरकनाम्नानुगम्यमाना प्रत्यूषस्येव प्रादुरासीत्। आगत्य च कोऽयमित्युपजातकुतूहला चन्द्रापीडं सुचिरमालोक्य[2] महाश्वेतायाः समीपमुपसृत्य कृतप्रणामा सविनयमुपाविशत्।

अनन्तरञ्चातिदूरानतेनोत्तमाङ्गेन प्रणम्य केयूरकोऽपि महाश्वेतादृष्टिनिसृष्टं नातिसमीपवर्तिशिलातलं भेजे। समुपविष्टश्च[3] तमदृष्टपूर्वमधःकृतकुसुमायुधमुपहसितसुरासुरगन्धर्वविद्याधररूपं रूपातिशयं चन्द्रापीडस्य दृष्ट्वा विस्मयमापेदे।

परिसमाप्तजपा तु महाश्वेता पप्रच्छ तरलिकाम्—'किं त्वया दृष्टा प्रियसखी कादम्बरी कुशलिनी? करिष्यति वा तदस्मद्वचनम्?' इति।

अथ सा तरलिका विनयावनतमौलिरीषदालम्बित[4]-कर्णपाशमतिमधुरया गिरा व्य-

---

कनकेति। कनकपट्टवत् सुवर्णफलकवत् पृथु विशालं ललाटं भालं यस्य तेन अलिकुलवत् द्विरेफसमूहवत् नीलाः श्यामाः शिरसिजाः केशा यस्य तेन। लुप्तोपमा। अग्राम्या नागरीया शिष्टयोग्या आकृतिराकारो यस्य तेन, तथा राजकुले गन्धर्वराजवाट्यां सम्पर्केण सर्वस्मिन् काले स्थितिसम्बन्धेन चतुरो दक्षः तेन, नानाविधजनैरनेकप्रकारसम्भाषणकार्यविधानादित्यभिप्रायः। प्रादुरासीत् उपस्थिताऽभवत्।

आगत्येति। अयम् अपरिचितः पुरुषः क इति उपजातम् उत्पन्नं कुतूहलं कौतुकं यस्याः सा तरलिकेति शेषः। उपसृत्य आगत्य, कृतो विहितः प्रणामो नतिर्यया सा तादृशी। उपाविशत् उपविष्टा।

अनन्तरमिति। अनन्तरं तरलिकोपवेशनानन्तरमित्यर्थः, अतिदूरानतेन अत्यन्तावनतेन उत्तमाङ्गेन शिरसा, प्रणम्य नमस्कृत्य महाश्वेतामित्यर्थः। महाश्वेतया दृष्ट्या दृष्टिभङ्ग्या निसृष्टं दत्तं दर्शितमित्यर्थः नातिसमीपवर्त्ति नातिनिकटस्थायि शिलातलं भेजे आश्रितवान् तत्रोपविवेशेत्यर्थः।

समुपेति। समुपविष्टः समासीनश्च केयूरकः अधःकृतः। पराजितः कुसुमायुधः कामो येन तम्, तथा उपहसितं निजापेक्षया। न्यूनत्वादुपहास्यतां प्रापितं सुरासुरगन्धर्वविद्याधराणां रूपं सौन्दर्यं येन तम्, रूपातिशयं सौन्दर्याधिक्यम्। विस्मयम् आश्चर्यम् आपेदे प्राप्तवान्।

परीति। परिसमाप्तजपा पूर्णीभूतजापा। पप्रच्छ अप्राक्षीत्। कुशलिनी कल्याणवती। तत् पूर्वोक्तम् अस्मद्वचनं मम वाक्यानुरूपं कार्यं निजपाणिग्राहणमित्यर्थः, करिष्यति विधास्यति?।

अथेति। विनयेन अवनतो नम्रीभूतो मौलिश्चूडा यस्याः सा, ईषदालम्बितौ शिरोनमनेन किञ्चिन्नम्रीभूतौ कर्णपाशौ मनोहरश्रवणद्वयं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा। व्यजिज्ञपत् विज्ञापितवती।

---

इससे प्रतीत होता था कि, वह मानो श्वेतोत्पलसमूहकी वर्षा करता है और दिवसको मानो श्वेतपद्ममय करता है। उसका ललाटदेश, स्वर्णफलकके समान विस्तृत था, और उसके केशकलाप भ्रमरसमूहके समान कृष्णवर्ण (काले) और सरल थे, एवं आकृति भी भद्रलोगोंके समान ही थी। आते ही चन्द्रापीडको देखकर तरलिकाको 'यह कौन है?—इस प्रकारका कौतुक उत्पन्न हुआ, उससे ही वह बहुत देर तक उसे देख कर महाश्वेताके समीपमें जाकर, उसे सविनय प्रणाम कर बैठ गई।

उसके बाद केयूरक भी अत्यन्त अवनत मस्तकसे महाश्वेताको प्रणाम किया, बाद उसके नयनभङ्गीद्वारा (दृष्टिसे) बताए हुए एक समीपवर्त्ती शिलातल पर बैठ गया। वहाँ बैठे बैठे चन्द्रापीड उस अलौकिक सौन्दर्यको देखकर बहुत विस्मयापन्न हुआ, क्योंकि—वह रूपसौन्दर्य इससे पहले कभी उसने देखा नहीं था, एवं वह सौन्दर्य कामदेवके सौन्दर्यको भी परास्त कर दिया था, तथा देवता, दानव, गन्धर्व और विद्याधरोंके सौन्दर्यका भी उपहास करता था।

इधर जप समाप्त कर महाश्वेताने तरलिकासे पूछा—'तरलिके! क्या तूने मेरी प्रियसखी कादम्बरीको सकुशल तो देखा? क्या वह मेरे वचनके अनुसार कार्य करेगी?।'

इसके बाद तरलिकाने जरा नीचे झुके कर्ण-पाश-सहित, विनयपूर्वक, मस्तक अवनत करके अतिमधुर

---

१. कुटिल। २. अवलोक्य। ३. उपविष्टश्च तत्र। ४. अवलम्बित"।

जिज्ञपत्—'भर्तृदारिके ! दृष्टा खलु मया भर्तृदारिका कादम्बरी सर्वतः कुशलिनी। विज्ञापिता च निखिलं भर्तृदुहितुः सन्देशम्। आकर्ण्य च यत्तया 'सन्तत-मुक्त-मुक्ता-स्थूलाश्रु-बिन्दुवर्षं[1] रुदित्वा प्रतिसन्दिष्टम्, तदेष तथैव विसर्जितस्तस्या एव वीणावाहकः[2] केयूरकः कथयिष्यति' इत्युक्त्वा विरराम।

विरतवचसि तस्यां केयूरकोऽब्रवीत्—'भर्तृदारिके ! महाश्वेते ! देवी कादम्बरी दृढदत्तकण्ठग्रहा त्वां विज्ञापयति—'यदियमागत्य मामवदत्तरलिका, तत् कथय किमयं गुरुजनानुरोधः[3] ? किमिदं मच्चित्तपरीक्षणम् ? किं गृहनिवासापराधनिपुणोपालम्भः ? किं प्रेमविच्छेदाभिलापः[4] ? किं भक्तजनपरित्यागोपायः ? किं वा प्रकोपः ?। जानास्येव मे सहज-प्रेम-निस्यन्द[5]-निर्भरं हृदयम्, एवमतिनिष्ठुरं सन्दिशन्ती कथमसि न लज्जिता ? तथा मधुरभाषिणी केनासि शिक्षिता वक्तुमप्रियं परुषमभिधातुं वा ? स्वस्थोऽपि तावत् क

---

भर्तृदुहितुः भवत्याः। तया कादम्बर्या, सन्ततम् अत्रुटितप्रवाहं यथा स्यात्तथा मुक्तानि त्यक्तानि मुक्तावत् स्थूलानां पृथुलानाम् अश्रुबिन्दूनां नयनाम्बुकणानां वर्षाणि यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा रुदित्वा यत् प्रतिसन्दिष्टं प्रयुत्तरं दत्तम्, तदेष वीणावाहकः केयूरकः कथयिष्यति निवेदयिष्यतीत्यन्वयः। विरराम तूष्णीं बभूव।

विरतेति। दृढं दत्तः अर्पितः कण्ठग्रह आश्लेषो यया सा। गुरुजनानुरोधः गुरुजनपारवश्यम्। गृहे भवने निवासः स्थितिरेव अपराधः आगः तस्मिन् निपुणोपालम्भः उपयुक्ततिरस्कारः, त्वयि विपिने स्थितवत्यामहं यद्भवने स्थिताऽस्मि तस्यागस उचितोपालम्भः किमित्यर्थः। प्रेमविच्छेदाय आवयोः स्नेहविश्लेषाय अभिलाष उक्तिः। भक्तजनस्य सेवकस्य अनुरक्ताया ममेत्यर्थः परित्यागोपायः परित्यागोद्योगः किम् ?

जानासीति सहजं प्राकृतिकं यत् प्रेम स्नेहः तस्य निस्यन्देन रसेन निर्भरं परिपूर्णं मे मम हृदयं स्वान्तं त्वं जानास्येव वेत्स्येव, तथापि एवम् अतिनिष्ठुरम् अतिपरुषम् उपयमनोपदेशरूपं सन्दिशन्ती सन्देशं प्रेषयन्ती। परुषं कठिनम् अभिधातुं कथयितुं केन शिक्षितासि उपदिष्टासि।

ननु पाणिग्राहणे का नाम आपत्तिः येनैवं सूचयसीत्यत आह—स्वस्थ इति। स्वस्थोऽपि सुखशान्त्यादिना सर्वप्रकारेण सुस्थमानसोऽपि क इव सुहृदयः इष्टानिष्टविवेचनशक्तो जनः, ईदृशे एवंविधे कनीयसि अत्यल्पे क्षुद्रे, अवसानविरसे परिणामक्लेशप्रदे, तवेव वियोगादिनेत्याशयः, कर्मणि पाणिग्रहणरूपक्रियायां मतिं बुद्धिम् उपसर्पयेत् दद्यात्, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः। एवञ्च सति नितान्तास्वस्थानां मद्विधानां तु

---

वाणीसे सूचित किया—'राजकन्ये ! आपकी प्रियसखी राजकन्या कादम्बरीको मैं सब प्रकारसे स्वस्थ देख कर आई हूँ, और आपका सब सन्देश उनसे कह दिया है, किन्तु उन्होंने सुन कर अविच्छिन्न धारासे मुक्ताके समान स्थूल अश्रुबिन्दुवर्षणपूर्वक रोकर जो प्रत्युत्तर दिया है उसे उनका ही भेजा हुआ यह केयूरक नामक उन्हींका वीणा-वाहक आपसे कहेगा।' इतना कह कर वह विरत ( चुप ) हो गई।

उसके चुप हो जाने पर केयूरक कहने लगा—'राजकन्ये, महाश्वेते ! देवी कादम्बरी आपको दृढ़ कण्ठालिङ्गन करके विज्ञापन करती हैं कि—'इस तरलिकाने आकर जो मुझसे कहा—उस विषयमें तुम ही कहो—कि यह क्या गुरुजनोंका अनुरोध है ? या मेरे चित्तकी परीक्षा की जा रही है ? किंवा—मैं जो घरमें निवास करती हूँ—इस अपराधका उपयुक्त उलाहना है ? अथवा प्रेम-भङ्ग करनेके लिए एक कथामात्र है, या स्नेही व्यक्तिके परित्याग करने ( छोड़ने ) का उपाय है, या किसी कारणसे प्रकोप है ? तुम तो जानती ही हो कि मेरा हृदय तुम्हारे ही अकृत्रिम ( सहज ) प्रेमके प्रवाहसे परिपूर्ण है, उस पर भी तुम्हें, ऐसा अत्यन्त निष्ठुर सन्देश भेजते क्यों लज्जा भी नहीं आई ? तुम तो उस प्रकार की मधुरभाषिणी थी, किन्तु इस समय ऐसा अप्रिय और निष्ठुर भाषण करनेके लिए तुम्हें किसने शिक्षा दी ? देखो—स्वस्थचित्त होकर भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो ऐसे तुच्छ और परिणाममें दुःखजनक इसप्रकारके कार्यमें मन लगावे, तब फिर मेरे समान-अत्यन्त

---

१. सन्ततमुक्तस्थूलाश्रु…। २. वीणावादकः। ३ गुरुवचनानुरोधः ४. अभिलाषः। ५…निष्पन्द।

इव सहृदयः कनीयस्यवसानविरसे कर्मणीदृशे मतिमुपसर्पयेत् ? किमुतातिदुःखाभिहतहृदयोऽस्मद्विधो जनः । सुहृद्दुःखखेदिते हि मनसि कैव सुखाशा ? कैव निर्वृतिः ? कीदृशाः सम्भोगाः ? कानि वा हसितानि ? । येनेदृशीं दशामुपनीता प्रियसखी कथमतिदारुणं तमहं विषमिवाप्रियकारिणं कामं सकामं कुर्याम्[1] ? दिवसकरास्तमयविधुरासुनलिनीषु सहवासपरिचयाच्चक्रवाकयुवतिरपि [2]पतिसमागमसुखानि परित्यजति[3], किमुत नार्यः । अपि च[4] यत्र भर्तृविरहविधुरा परिहृतपरपुरुषदर्शना दिवानिशं निवसति प्रियसखी, कथमिव तन्मम हृदयमपरः प्रविशेज्जनः ? । यत्र च भर्तृविरहविधुरा तीव्र[5]-व्रत-कर्शिताङ्गी प्रियसखी, महत्कृच्छ्रमनुभवति, तत्राहमविगणय्यैतद् कथमात्मसुखार्थिनी पाणिं ग्राहयिष्यामि ? कथं वा मम

---

कथैव केत्यत आह—किमुतेति । अतिदुःखाभिहतहृदयो नितान्तक्लेशाभिहतचित्तः अस्मद्विधो जनः किमुत कथ्यते, भवत्या असह्यक्लेशजनितातिक्लेशेनैव मे हृदयमभिहतमित्याशयः ।

ननु सत्यपि परिणामक्लेशदायिनि पाणिग्राहणे कर्मणि सुखादिकमप्यवलोक्यत इत्यत आह—सुहृदिति । सुहृद्दुःखखेदिते बन्धुजनजनितक्लेशभाराक्रान्ते । निर्वृतिः शान्तिः । दुःखखेदिते हि मनसि सुखादीनां प्रवेशावसर एव न विद्यत इत्याशयः ।

अथैवमपि तारुण्यकामः सर्वप्रकारेणैव सकामो विधातव्य इत्यत आह—येनेति । येन कामेन प्रियसखी त्वम् ईदृशीम् एवंविधां दशाम् अत्यन्तकठिनशोकातुरावस्थाम् उपनीता प्रापिता, विषमिव गरलमिव अप्रियकारिणम् अनिष्टविधायिनम् अतिदारुणम् अत्यन्तभीषणं तं कामं कथं केन प्रकारेण सकामं स्वामिसङ्गमेन पूर्णमनोरथं कुर्यां विधातुं शक्नुयाम् , अपि तु कथमपि न, भवत्या प्रबलवैरित्वेन ममापि वैरित्वादित्याशयः । तथा च नलिनीषु कमलिनीषु दिवसकरस्य रवेः अस्तमयेन परद्वीपान्तरगमनेन विधारासु विलिष्टासु सतीषु, सहवासपरिचयात् एकसरोवरवासस्नेहात् चक्रवाकयुवतिरपि रथाङ्गवनितापि पतिसमागमसुखानि स्वामिसङ्गमसौख्यानि परित्यजति जहाति, यत्र तिर्यग्जातिरपीदृशमनुतिष्ठति तत्र किमुत नार्य इत्यर्थः, अतएव त्वयि भर्तृवियोगदुःखितायां सत्यां मयापि स्वामिसङ्गमसौख्यं परित्याज्यमेवेत्यभिप्रायः । दृष्टान्तः ।

अपिचेति । यत्र हृदये । परिहृतपरपुरुषदर्शना परित्यक्तान्यपुरुषवीक्षणा । प्रियसखी त्वमित्यर्थः, निवसति अधितिष्ठति निरन्तरचिन्तावशादित्याशयः । अपरो जनः स्वामीत्यर्थः, कथं प्रविशेत् प्रवेशंकुर्यात् कथमपि नेत्यभिप्रायः, तत्रत्याया भवत्याः परपुरुषावलोकनाशङ्कया मयैव निवारणादिति तात्पर्यम् ।

यत्रेति । यत्र यदा । तीव्रव्रतेन उग्रनियमेन कर्शितानि शोषितानि अङ्गानि शरीराणि यस्या सा, प्रियसखी त्वमित्यर्थः । तत्र तदा । एतत्तव कृच्छ्रम् अविगणय्य अवहेल्य, आत्मसुखार्थिनी निजसौख्याभिलाषिणी सती, कथं पाणिं करं ग्राहयिष्यामि कथमपि नेत्यर्थः, सदृशसुखदुःखयोः सख्योर्वैपरीत्यप्रसक्तेरित्याशयः । कथं वा सुखं सौख्यं भविष्यति कथमपि नेति भावः, क्लेशपूर्णहृदयत्वादिति तात्पर्यम् ।

---

दुःखित चित्त लोगों—की तो बात ही क्या है ? और जो चित्त, सर्वदा ही मित्रके दुःखसे दुःखित है, उसको सुखकी आशा कैसी ? या शान्ति ही कैसी ? अथवा सम्भोग ही कैसा ? एवं हास-परिहास ही कैसा ? विशेषतः, जिसने मेरी प्रियसखीकी ऐसी दशा ला दी है उस अतिदारुण और विषके समान अप्रियकारी—कन्दर्पकी अभिलाषाको क्या मैं पूर्ण करनेमें समर्थ होऊँगी ? देखो—सूर्यके अस्त हो जानेसे कमलिनी जब उसके विरहमें विह्वल हो जाती हैं, तब उसके साथ एक जगह वास करनेके स्नेहसे युवती चक्रवाकपक्षिणी भी पतिके साथ सम्मिलन सुखका परित्याग करती है, ऐसी स्त्रियोंका तो कहना ही क्या है ? विशेषतः, भर्तृ-विरहसे व्याकुल होकर परपुरुषका दर्शन पर्यन्त परित्याग करके जो प्रियसखी मेरे हृदयमें रात-दिन वास करती है, उस मेरे हृदयमें अन्यपुरुष किस प्रकार प्रवेश कर सकता है ? और तुम प्रियसखी जब स्वामीके विरहसे विह्वल होकर गुरुतर व्रतालम्बनसे शरीरका शोषण करती गुरुतर कष्टका अनुभव करती हो, तब मैं इन सबोंको न गिनकर अपने ही सुखाभिलाषिणी होकर पाणि-ग्रहण कराऊँगी, उससे मुझे कैसे सुख मिलेगा ? तुम्हारे प्रेमके कारण ही मैंने

---

१. अस्तमन । २. क्वचित् 'पति' इति पदं नावलोक्यते । ३. त्यजति । ४. क्वचित् 'अपि च' इति पदं नास्ति । ५. क्वचित् 'तीव्र' पदं न दृश्यते ।

सुखं भविष्यति ?। त्वत्प्रेम्णा चास्मिन् वस्तुनि मया[1] कुमारिकाजनविरुद्धं स्वातन्त्र्यामालम्ब्याङ्गीकृतमयशः[2], समवधीरितो विनयः, गुरुवचनमतिक्रान्तम्, न गणितो लोकापवादः, वनिताजनस्य सहजमाभरणमुत्सृष्टा लज्जा, सा कथय कथमिव पुनरत्र प्रवर्त्तते ? तदयमञ्जलिरुपरचितः, प्रणामोऽयम्, इदञ्च पादग्रहणम्, अनुगृहाण माम्, वनमितो गतासि मे जीवितेन सहेति मा कृथाः स्वप्नेऽपि पुनरिममर्थं मनसि' इत्यभिधाय तूष्णीमभूत्।

महाश्वेता तु तच्छ्रुत्वा सुचिरं विचार्य 'गच्छ, स्वयमेवाहमागत्य यथार्हमाचरिष्यामि' इत्युक्त्वा केयूरकं प्राहिणोत्। गते च केयूरके चन्द्रापीडमुवाच—'राजपुत्र ! रमणीयो हेमकूटः, चित्रा च चित्ररथराजधानी, बहुकुतूहलः किम्पुरुषविषयः, पेशलो गन्धर्वलोकः, सरलहृदया महानुभावा च कादम्बरी, यदि नातिखेदकरमिव गमनं कलयसि, नावसीदति वा गुरुप्रयोजनम्, अदृष्टचरविषयकुतूहलि वा चेतः, मद्वचनमनुरुध्यते[3] वा भवान् सुखदायि[4]

त्वदिति। त्वत्प्रेम्णा त्वत्स्नेहेन, अस्मिन् वस्तुनि पाणिग्रहणविषये। स्वातन्त्र्यं स्वेच्छाचारित्वम् अवलम्ब्य आश्रित्य अयशोऽकीर्तिः अङ्गीकृतम् स्वीकृतम्। विनयः उपदेशगुणः समवधीरितः अवज्ञातः, गुरुवचनं पितृवाक्यम् अतिक्रान्तम् उल्लङ्घितम्, तथा लोकापवादो जनापवादो न गणितो न विचारितः। सहजमाभरणं स्वाभाविकभूषणरूपा लज्जा त्रपा समुत्सृष्टा परित्यक्ता। सा कादम्बरी। अत्र पाणिग्राहणे। सङ्कीर्णतादोषनिवारणाय 'कथये' त्यस्य पृथक् पाठो विधातव्यः।

तदिति। तत्तस्मात् कारणात्। उपरचितो निबद्धः। पादग्रहणम् अभिवादनम्। इति हेतोः। स्वप्नेऽपि मनसि इममर्थं मत्पाणिग्राहणशिक्षारूपं विषयं पुनर्भूयो मा कृथाः न विदध्याः। तूष्णीमभूत् केयूरक इति शेषः।

महेति। तच्छ्रुत्वा पूर्वोक्तमाकर्ण्य। विचार्य विमृश्य। आगत्य गत्वा यथार्हं यथायोग्यम् आचरिष्यामि करिष्यामि। प्राहिणोत् प्रेषितवती। आङ्पूर्वो गम्धातुरिह नमनार्थेऽवाचक इत्यवाचकत्वदोषवारणाय 'गत्वा' इत्येव पाठो विधेयः।

गत इति। रमणीयो मनोहरः। चित्रा विविधाश्चर्ययुक्ता। किंपुरुषविषयः किन्नरदेशः, बहूनि नानाविधानि कुतूहलानि कौतुकोद्दीपकवस्तूनि यत्र सः। पेशलः सुन्दरः, 'चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः। सरलहृदया अकुटिलचित्ता, यदि चेत् गमनम् अतिखेदकरमिव अधिकायासजनकमिव न कलयसि नावबुध्यसे, गुरुप्रयोजनम् आवश्यकं कार्यं नावसीदति न व्याहतं भवति। अदृष्टो भूतपूर्व इत्यदृष्टचरः भूतपूर्वेऽर्थे अदृष्टशब्दाच्चरट्प्रत्ययः। अदृष्टचरः अनिरीक्षितपूर्वो यो विषयो देशस्तस्मिन् तन्निरीक्षण इत्यर्थः कुतूहलं कौतुकमस्यास्तीति तत् तादृशम्। अनुरुध्यते रक्षितुमभिलषति, दैवादिकोऽनुपूर्वो रुध्धातुरभिला-

इस विषयमें कुमारियोंके विरुद्ध स्वाधीनताका अवलम्बन कर निन्दा स्वीकार किया; विनयकी अवहेलना की गुरु-वचनोंका उल्लङ्घन किया, लोकापवाद की गणना नहीं किया, और-स्त्रियोंके सहज भूषण लज्जा का भी परित्याग कर दिया, इसलिए कहो कि—वह कादम्बरी किस प्रकार ऐसे विषयमें प्रवृत्त हो' ? अतएव मैं यह हाथ जोड़ती हूँ, प्रणाम करती हूँ, पाँव पकड़ती हूँ कि तुम मुझ पर अनुग्रह करो; तुम इस स्थानसे मेरे जीवनके साथ ही वनमें चली गई हो, इसलिए स्वप्नमें भी इस विषयको फिर मनमें मत लाना' इतना कहकर केयूरक चुप हो गया।

किन्तु महाश्वेताने उसका सन्देश सुनकर बहुत देर तक विचार कर कहा—'तुम जाओ, मैं स्वयं ही वहाँ आकर जैसा उपयुक्त होगा करूँगी'—यों कहकर केयूरकको विदा कर दिया। उसके चले जाने पर वह (महाश्वेता) चन्द्रापीडसे कहने लगी—'राजपुत्र ! हेमकूटपर्वत अत्यन्त मनोहर है, गन्धर्वराज चित्ररथकी राजधानी बहुत ही आश्चर्य है, किम्पुरुष देशमें भी बहुतर कौतूहलोद्दीपक वस्तुएँ हैं, गन्धर्वलोक भी बहुत सुन्दर है और कादम्बरी भी सरलहृदया और अत्यन्त उदारप्रकृति है, इसलिए यदि आप वहाँ चलनेमें अत्यन्त परिश्रमकी विवेचना न करें, अथवा किसी गुरुतर कार्यकी हानि नहीं होती हो, या पहले जो देश नहीं देखे हैं उसे देखनेके लिए आपके मनमें कौतूहल हो, या यदि मेरे अनुरोध की रक्षा करनेकी अभिलाषा करते हों, अथवा किसी आश्चर्य-वस्तुका

१. क्वचित् 'मया' इति पदं नोपलभ्यते। २. अपयशः। ३. अस्मद्वचनम्। ४. भवन्मतिरतिसुखदायि, भवन्मतिः सुखदायि।

वा आश्चर्यदर्शनम्[1], अर्हामि वा प्रणयम्[2], इममप्रत्याख्यानयोग्यं वा[3] जनं मन्यसे, समारूढो वा परिचयलेशः, अनुग्राह्यो वाऽयं जनः, ततो नार्हसि निष्फलां कर्त्तुमभ्यर्थनामिमाम्। मयैव[4] सह गत्वा हेमकूटमतिरमणीयतानिधानम्, तत्र दृष्ट्वा च मन्निर्विशेषां कादम्बरीम्, अपनीय तस्याः कुमतिं[5] मनोमोहविलसितम्, एकमहो विश्रम्य श्वोभूते प्रत्यागमिष्यसि। मम हि निष्कारणबान्धवं भवन्तमालोक्यैव दुःखान्धकारभाराक्रान्तेन महतः कालादुच्छ्वसितमिव चेतसा, श्रावयित्वा स्ववृत्तान्तमिमं सह्यतामिव गतः शोकः। दुःखितमपि जनं रमयन्ति सज्जनसमागमाः। परसुखोपपादनपराधीनश्च भवादृशां गुणोदयः' इत्युक्तवतीञ्चैनां

षार्थकः। वा अथवा आश्चर्यदर्शनं कुतूहलावलोकनम् अतिसुखदायि अतिशयसौख्यप्रदम्। प्रणयं वा अर्हामि तव स्नेहयोग्या वा भवामि। इमं मद्विधं जनम् अप्रत्याख्यानयोग्यम् अनिराकरणोचितं मन्यसे कलयसि। समारूढः उत्पन्नः परिचयलेशः संस्तवलवः। अभ्यर्थनां तत्र गमनप्रार्थनां निष्फलां निष्प्रयोजनाम्।

मयेति। अतिरमणीयताया नितान्तसुन्दरताया निधानम् आश्रयम्। मन्निर्विशेषां सर्वप्रकारेणैव मम सदृशीम्। कुमत्या कुत्सितविमर्शेन यो मनोमोहः 'त्वयि सशोकायां नाहं पाणिं ग्राहयिष्यामि' इत्येवंरूपा चित्तभ्रान्तिः तस्य विलसितम् अनुष्ठितम् अपनीय शिक्षया दूरीकृत्य एकम् अहो दिवसं विश्रम्य विश्रामं कृत्वा श्वोभूते परदिने प्रत्यागमिष्यसि आयास्यसि।

ममेति। हि निश्चितम्। निष्कारणबान्धवं निमित्तव्यतिरेकेण स्वजनं मद्दुःखाकर्णनेन दुःखितहृदयत्वादुपदेशपरिश्रमस्वीकाराच्चेत्याशयः, भवन्तं त्वाम् आलोक्यैव निरीक्ष्यैव विद्यमानया मम दुःखान्धकारभाराक्रान्तेन दुःखतिमिरभारखेदितेन चेतसा हृदयेन, महतो दीर्घात् कालात् समयात् परम् उच्छ्वसितमिव प्राणितमिव, एतावत्समयपर्यन्तं चित्तं मृतमिवासीत्, सम्प्रति तेन उच्छ्वासो गृहीत इति तात्पर्यम्। तथा इमं स्ववृत्तान्तं स्वकीयोदन्तं श्रावयित्वा कथयित्वा विद्यमानया मम शोकः सह्यतां सहनशीलतां गतः प्राप्त इव, 'प्रलापैरेव हृदयं धार्यते शोकक्षोभयोः' इति न्यायादित्याशयः। ननु कस्मादेतदित्यत आह—दुःखितमिति। सज्जनसमागमाः सत्पुरुषसङ्गमाः दुःखितमपि क्लेशितमपि जनं रमयन्ति आनन्दयन्ति, अवलोकनेनैव प्रत्यग्रसुखजननद्वारा चिरन्तनक्लेशविनाशनादित्याशयः। इह सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः।

विशेषेण च प्रतिपादयति—परेति। भवादृशां त्वद्विधानां गुणोदयः दयादाक्षिण्यप्रभृतीनां गुणानामभ्युदयः परेषाम् अन्येषां सुखोपपादने सौख्योत्पादने पराधीनः परायण इत्यर्थः, अतएव मया सह तत्र गत्वा ध्रुवमेव मामानन्दयिष्यसीत्याशयः। चन्द्रापीडस्य सौन्दर्यादिगुणनिकरं दृष्ट्वा नूनं परिमुह्यन्ती कादम्बरी कृतमपि शपथं परित्यक्ष्यतीति बुद्ध्वा चन्द्रापीडं तत्र प्रापयितुं महाश्वेताया एतावानुद्योग इत्यवधेयम्।

इतीति। इति पूर्वोक्तप्रकारेण उक्तवतीं कथितवतीम्। एनां महाश्वेताम् दर्शनाद्प्रभृति अवलोकन-

अवलोकन करना यदि आपको सुखदायी हो, अथवा मैं यदि आपके प्रणयके योग्य होऊँ, किंवा इस व्यक्तिका प्रत्याख्यान करना ( प्रार्थना न मानना ) अनुचित समझते हों अथवा आपके साथ मेरा यदि परिचयका लेश भी उत्पन्न हुआ हो, किंवा यह व्यक्ति यदि आपके अनुग्रहके योग्य हो तो ऐसा होने पर आप मेरी इस प्रार्थनाको निष्फल करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। अत्यन्त सौन्दर्यकी आवास-भूमि उस हेमकूट पर्वतपर मेरे ही साथ चलकर, वहाँ मुझसे अभिन्न कादम्बरीको देख, उसके कुसंस्कारजनित चित्तभ्रमका आवरण दूर कर, केवल एक दिन वहाँ विश्राम लेकर दूसरे दिन आप लौट आइएगा। आप बिना कारणके ही मेरे बन्धु हो गए हैं, इसलिए आपको देख कर ही मेरा चित्त दुःखान्धकारके भारके नीचे दबे रहने पर भी बहुत काल के बाद आज मानो जीवित होकर हलका हुआ, और आपको अपना समाचार सुना कर वह शोक मानो सह्य हो गया है, ऐसा प्रतीत हो रहा है, क्योंकि—सज्जनके साथ संसर्ग दुःखित व्यक्तिको भी आनन्दित कर देता है। विशेषतः, आपके समान महापुरुषोंका गुणसमूह, केवल दूसरेके सुख-सम्पादनमें ही प्रवृत्त रहता है।' [ अतएव मेरे साथ आप वहाँ जाकर मुझे अवश्य

१. अस्मच्चिरदर्शनम्। २. अर्हसि वा प्रणयम्……प्रणयमिमम्। ३. योग्यां वा मन्यसे माम्। ४. क्वचित् 'इत' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते। ५. कुमतिमिमाम्।

चन्द्रापीडोऽब्रवीत्—'भगवति ! दर्शनात्प्रभृति परवानयं जनः कर्त्तव्येषु यथेष्टमशङ्किततया नियुज्यताम्' इत्यभिधाय तया सहैवोदचलत् ।

क्रमेण च गत्वा हेमकूटमासाद्य गन्धर्वराजकुलम्, समतीत्य काञ्चनतोरणानि सप्तकक्षान्तराणि कन्यान्तःपुरद्वारमवाप । महाश्वेतादर्शनप्रधावितेन दूरादेव कृतप्रणामेन कनकवेत्रलताहस्तेन प्रतीहारजनेनोपदिश्यमानमार्गः प्रविश्य असंख्येयनारीशतसहस्रसम्बाधम्[२], स्त्रीमयमपरमिव जीवलोकम्, इयत्तां ग्रहीतुमेकत्र त्रैलोक्यस्त्रैणमिव संगृहीतम्[३], अपुरुषमिव सर्गान्तरम्, अङ्गनाद्वीपमिवापूर्वमुत्पन्नम्, पञ्चममिव नारीयुगावतारम्, अपरमिव पुरुष-

---

दिनादारभ्य परवान् पराधीनः सौजन्याधिक्यात्त्वदायत्त इत्यर्थः । अशङ्किततया शङ्कारहिततया नियुज्यतां प्रेर्यताम् । उदचलत् प्रस्थानमकरोत् ।

क्रमेणेति । अपि चेति चार्थः । चन्द्रापीडो गत्वा, गन्धर्वराजस्य चित्ररथस्य कुलं वाटी यत्र तथोक्तं हेमकूटं तन्नामकपर्वतम् आसाद्य प्राप्य काञ्चनानां सुवर्णानां तोरणानि बहिर्द्वाराणि येषु तथोक्तानि सप्तकक्षान्तःपुराणि समतीत्य व्यतिक्रम्य । अवाप प्राप्तवान् ।

महेति । महाश्वेताया दर्शनेन अवलोकनेन प्रधावितः शीघ्रमागतः तेन । कृतप्रणामेन विहितनमस्कारेण, कनकवेत्रलताः सुवर्णखचितवेतसयष्टयो हस्तेषु करेषु यस्य तेन, प्रतीहारजनेन दौवारिकवृन्देन उपदिश्यमानः वचनव्यक्त्या प्रोच्यमानो मार्गः पन्था यस्य सः, कुमारश्चन्द्रापीडः, कुमारीपुराभ्यन्तरं ददर्शेत्युत्तरेण सम्बन्धः । महाश्वेताविश्वासाच्चन्द्रापीडं न कोऽपि निवारितवानित्यवधेयम् । इह नपुंसकलिङ्गद्वितीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'कुमारीपुराभ्यन्तरम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि ।

असङ्ख्येयेति । असङ्ख्येयानि गणयितुमशक्यानि नारीणां योषितां शतसहस्राणि लक्षाणि तैः सम्बाधं सङ्कीर्णं व्याप्तमित्यर्थः । इदञ्च 'अङ्गनाकोषम्' इत्येतत्पर्यन्तं प्रत्येकविशेषणं प्रत्येव कारणमित्यवधेयम् । एवञ्च अतएव स्त्रीमयं नारीमयम् अपरम् अतिरिक्तं जीवलोकमिव । जात्युत्प्रेक्षा ।

इयत्तामिति । इयत्तां ग्रहीतुम् एतावत्योऽङ्गना इति गणनां ज्ञातुं प्रजापतिना एकत्र एकस्मिंस्थले सङ्गृहीतम् आनीतं त्रैलोक्यस्य त्रिविष्टपस्य स्त्रैणं स्त्रीसमूहमिव । उक्तालङ्कारः ।

अपुरुषमिति । अपुरुषं सर्गान्तरमिव पुरुषरहितामपरां प्रजापतेः सृष्टिमिव । क्रियोत्प्रेक्षा ।

अङ्गनेति । अपूर्वम् अभिनवम् उत्पन्नं सञ्जातम् अङ्गनानां नारीणां द्वीपम् अन्तरीपमिव । जात्युत्प्रेक्षा ।

पञ्चममिति । पञ्चमं नारीयुगावतारमिव । सत्यादीनि चत्वारि युगानि तु विद्यन्त एव येषामवतारः (प्रवर्त्तनम्) सुपरिचितः, किन्तु नूतनः सोऽयं पञ्चमो नारीयुगावतार इत्यभिप्रायः । क्रियोत्प्रेक्षा ।

अपरमिति । अपरम् अन्यत् पुरुषद्वेषिणः प्रजापतेः सृष्टिकर्त्तुः निर्माणं सृष्टिमिव । पुरुषद्वेषिपदेन नारीनिर्माणमात्रमेव द्योतितम् । उक्तालङ्कारः ।

---

ही सुखी बनायेंगे यह अभिप्राय है, चन्द्रापीडके सौन्दर्यादि गुणोंको देखकर निश्चय ही मोहित होकर मेरी सखी कादम्बरी किए हुए भी शपथको छोड़ देगी, यही समझ कर चन्द्रापीडको वहाँ लेजानेमें महाश्वेताका इतना बड़ा उद्योग था ऐसा यहाँ भावुकोंको समझना चाहिए ]

इसप्रकार महाश्वेताके कहने पर उत्तर देते हुए उससे चन्द्रापीडने कहा—'भगवति, जबसे आपका दर्शन हुआ तबसे ही यह व्यक्ति अपनेको पराधीन समझता है, इसलिए आप निःशङ्कचित्तसे इच्छानुसार इस व्यक्तिको कर्त्तव्य कार्यमें नियुक्त कीजिए' यों कहकर, वह महाश्वेताके साथ ही चल दिया ।

क्रमसे जाकर, गन्धर्वराजकी राजधानी हेमकूटपर्वत पर उपस्थित होकर, सुवर्ण-तोरण जहाँ बँधे थे ऐसी सात ड्योढ़ी लाँघकर चन्द्रापीडने महाश्वेताको देखते ही दौड़कर आते, दूरसे प्रणाम करते, हाथमें सुवर्ण-खचित-वेत्र-यष्टि ( बेंत की छड़ी ) धारण करते दौवारिकगण ( प्रतीहारों ) के आगे आगे बताए हुए मार्गसे, कन्याओंके अन्तःपुरके द्वारमें प्रवेश किया, और प्रवेश करते ही उसने लाखों स्त्रियोंसे परिपूर्ण एक दूसरा मानो नारीमय जीवलोकके समान हो, त्रिभुवनमें कितनी स्त्रियाँ हैं इसकी संख्या जाननेके लिए विधाताने मानों त्रैलोक्यके समस्त स्त्रियोंको एकत्र संग्रह किया हो, पुरुष-रहित मानो एक दूसरी सृष्टि हो, स्त्रीलोकमय नूतन और एक द्वीप मानो

---

१. द्वारपालप्रतीहारी । १···सम्बाधः । ३. संहृतम् ।

द्वेषिप्रजापतिनिर्माणम्, अनेक-कल्प-कल्पनार्थमुत्पाद्य स्थापितमिवाङ्गनाकोषम्[1], अतिविस्तारिणा युवतिजनलावण्यप्रभापूरेण प्लावितदिगन्तरेण सिञ्चतेवामृतरसविसरेण दिवसमार्द्रीकुर्वतेव भुवनान्तरालं बहुल[2]-प्रभावर्षिणा मरकतमणिमयेन सर्वतः[3] परिगततया तेजोमयमिव, चन्द्रमण्डलसहस्रैरिव निर्मितसंस्थानम्, ज्योत्स्नयेव घटितसन्निवेशम्, आभरणप्रभाभिरिव निष्पादितदिगन्तरम्, विभ्रमैरिव कृतसर्वोपकरणम्, यौवनविलासैरिवोत्पादितावयवम्, रतिविलसितैरिव रचित[4]-सञ्चयम्, मन्मथाचरितैरिव कल्पितावकाशम्, अनुरागेणेवानुलिप्तस-

अनेकेति। अनेककल्पेषु विविधयुगान्तेषु कल्पनार्थं नारीजातिनिर्माणार्थम् उत्पाद्य प्रजापतिना विरचय्य स्थापितं रचितम् अङ्गनाकोषं नारीभाण्डागारमिव। जात्युत्प्रेक्षा।

अतीति। अतिविस्तारिणा अतिप्रसारिणा, प्लावितानि व्याप्तानि दिगन्तराणि येन, तेन अतएव अमृतरसविसरेण सुधाद्रवप्रवाहेण करणेन, दिवसं वासरं सिञ्चतेव सिञ्चनं विदधतेव, तथा अमृतरसविसरेणैव भुवनान्तरालं विष्टपान्तरालम् आर्द्रीकुर्वतेव क्लिन्नीविदधतेव विद्यमानेन, युवतिजनानां तरुणीगणानां लावण्यस्य सौन्दर्यातिशयस्य यः प्रभापूरः कान्तिप्रवाहः तेन कर्त्रा, तथा बहुलप्रभावर्षिणा मरकतमणिमयेन अश्मगर्भरत्नप्रचुरेण भूषणेन आभरणेन च कर्त्रा, सर्वतः चतुर्दिक्षु परिगतं व्याप्तं तस्य भावस्तया-कारणेन, तेजोमयमिव केवलतेजसा रचितमिव, कन्यान्तःपुरम् अतिविस्तार्यादिविशेषणविशिष्टेन युवतिजनलावण्यप्रभापूरेण व्याप्तं तथा मरकतमयभूषणेन च व्याप्तमित्याशयः। चन्द्रमण्डलसहस्रैः निर्मितं रचितं संस्थानम् आकारो यस्य तदिव, तथा ज्योत्स्नया चन्द्रिकया घटितो रचितः सन्निवेश आकारो यस्य तदिव, लावण्यप्रभाचन्द्रमण्डलज्योत्स्नानां पाण्डुत्वसादृश्यादित्याशयः। तथा आभरणप्रभाभिः भूषणकान्तिभिः निष्पादितानि संपादितानि दिगन्तराणि दिगवकाशानि यस्य तदिव, अलङ्कारस्य प्रचुरप्रभावर्षणादित्याशयः।

इह 'सिञ्चतेव' 'आर्द्रीकुर्वतेव' इति द्वे क्रियोत्प्रेक्षे, तथा 'तेजोमयम्' इत्यत्र निष्पादनक्रियार्थे मयट्प्रत्ययविधानात्तस्याश्चोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा, एवं निर्माणघटननिष्पादनानामपि क्रियाणामेवोत्प्रेक्षणात्ता अपि तिस्रः क्रियोत्प्रेक्षाः, एतासाञ्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

विभ्रमैरिति। विभ्रमैर्विलासैः कृतानि विहितानि सर्वाणि निखिलानि उपकरणानि सामग्र्यो यस्य तदिव। क्रियोत्प्रेक्षा।

यौवनेति। यौवनविलासैः तारुण्यविभ्रमैः उत्पादिता जनिता अवयवाः प्रदेशा यस्य तदिव। उक्तालङ्कारः पूर्वविलासाः कृत्रिमाः, इह तु प्राकृतिका इति भेदः।

रतीति। रतेः कामपत्न्याः विलसितैर्विभ्रमैः रचितो निर्मितः सञ्चयो व्यापारगणो यस्य तदिव। उक्तालङ्कारः।

मन्मथेति। मन्मथाचरितैः कामदेवाचरणैः कल्पितावकाशं रचितप्रदेशमिव। उक्तालङ्कारः।

अन्विति। अनुरागेण प्रीत्या अनुलिप्तसकलप्रदेशमिव। उक्तालङ्कारः।

उत्पन्न हुआ हो, पञ्चम नीरायुग मानो अवतीर्ण हुआ हो, पुरुषद्वेषसे विधाताने मानो दूसरे संसारका निर्माण किया हो, अनेक कल्पोंमें निर्माण करनेके लिए उत्पन्न कर तैयार रखा हुआ स्त्रियोंका मानों भाण्डार हो—ऐसा उस अन्तःपुर ( रनिवास ) के अभ्यन्तरका भाग देखा। अमृतरसके धारासे ही दिशाओंको प्लावित करता ( डुबाता ) दिनको मानों सींचता, संसारके समस्त मध्यस्थानको मानों आर्द्र करता, प्रचुर मरकतमणिमय प्रभाको बरसाता, अत्यन्त विस्तृत होता ( फैलता ) हुआ युवतियोंकी लावण्यकान्तिका प्रवाह वहाँ सर्वतः व्याप्त था जिससे वह मानों आलोकमय हो, हजारों चन्द्रमण्डलोंसे मानों निर्माण किया गया हो, चन्द्रिकासे मानों प्रस्तुत किया हो, अलङ्कारके आलोक ही से मानों उसकी दिशाओंका अवकाश बनाया गया हो, कृत्रिम हावभावसे ही मानों समस्त सामग्री सम्पादित किए हों, स्वाभाविक यौवन विलाससे ही मानों उसके समस्त अवयव निर्मित हुए हों, रतिदेवीके विभ्रमद्वारा ही मानों कार्यकलाप की सृष्टि की हुई हो, कामदेवके आचरणसे ही मानों अभ्यन्तर निर्माण कराया हो, अनुराग-

१. ···कोशम्। २. बहल···। ३. क्वचिदिह 'भूषणेनेव' इत्यधिकः पाठः उपलभ्यते। ४. विरचित···।

कलप्रदेशम्[1], शृङ्गारमयमिव, सौन्दर्यमयमिव, सुरताधिदैवतमयमिव, कुसुमशरमयमिव, कुतूहलमयमिव, आश्चर्यमयमिव, सौकुमार्यमयमिव[2], कुमारः कुमारीपुराभ्यन्तरं ददर्श।

अतिबहलतया च तस्य कन्यकाजनस्य समन्तादाननद्युतिभिरिन्दुबिम्बवृष्टिमिव पतन्तीम्, अपाङ्गविक्षेपैश्चलितकुवलयवनमयीमिव क्रियमाणामवनीम्, अनिभृतं[3]-भ्रूलताविभ्रमैः काम-कार्मुक-विलास-शतानीव[4] प्रचलितानि, शिरसिज[5]कलापान्धकारैर्बहुलपक्ष-प्रदोष-सार्थानिव सम्बध्नतः, स्मितप्रभाभिरुत्फुल्लकुसुमधवलानिव वसन्तदिवसान् सञ्चरतः, श्वसितानिल-परिमलैर्मलयमारुतानिव परिभ्रमतः, कपोलमण्डलालोकैर्माणिक्यदर्पणसहस्राणीव स्फुरितानि,

---

शृङ्गारेति। शृङ्गारमयमिव सम्भोगमयमिव, सौन्दर्यमयमिव रूपातिशयमिव, सुरताधिदैवतमयमिव मैथुनाधिष्ठात्रीमयमिव, कुसुमशरमयमिव कामबाणमयमिव, कुतूहलमयमिव कौतुकमयमिव, सौकुमार्यमयमिव, मार्दवमयमिव ददर्श अवलोकयामास। एषु सर्वेषु व्याप्तौ मयट्प्रत्ययविधानात्तस्याश्च क्रियारूपत्वेनोक्तालङ्कारः।

अतिबहलेति। किञ्च, चन्द्रापीडः, तस्य कन्यकाजनस्य अतिबहलतया अत्यन्ताधिकतया कारणेन, आननद्युतिभिः तस्यैव कन्यकाजनस्य मुखकान्तिभिः करणैः, समन्तात् सर्वतः इन्दुबिम्बवृष्टिमिव चन्द्रमण्डलवर्षणमिव 'अद्राक्षीत्' इत्युत्तरेण सम्बन्धः। इत्थमन्यत्रापि।

इहाननद्युतिप्रसरणेषु इन्दुबिम्बवर्षणोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा, तेन च वदनानामिन्दुमण्डलसादृश्यं प्रतीयत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिरुन्नेयः। इत्थमन्यत्राऽप्यूहनीयम्।

अपाङ्गेति। अपाङ्गविक्षेपैः कटाक्षपातैः, अवनिं पृथिवीम्, चलितं कम्पितं कुवलयवनं नीलोत्पलसमूहः तन्मयीं क्रियमाणां विधीयमानामिव। क्रियोत्प्रेक्षा।

अनिभृतेति। अनिभृताः स्फुटा ये भ्रूलतयोर्विभ्रमा नर्त्तनानि तैः प्रचलितानि शरप्रक्षेपणाय स्पन्दनरूपाणि कामकार्मुकस्य मन्मथचापस्य विलासशतानिव विभ्रमसमूहानिव। इह जात्युत्प्रेक्षा। तथा वक्रत्वसाम्यादुपमानोपमेयभावः।

शिरसीति। शिरसिजकलापाः केशसमूहा एव श्यामत्वसादृश्यादन्धकाराः तैः सम्बध्नतः सम्मिलतः, बहुलपक्षाणां कृष्णपक्षाणां प्रदोषसार्थान् रजनीमुखसमयसमूहानिव। इह निरङ्गं केवलरूपकम्, जात्युत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। 'सङ्घसङ्घातपुञ्जौघसार्थयूथकदम्बकाः' इति भागुरिः।

स्मितेति। स्मितप्रभाभिः ईषद्धास्यकान्तिभिः, सञ्चरतः व्रजतः उत्फुल्लकुसुमधवलान् विकसितपुष्पश्वेतान् वसन्तदिवसान् सुरभिवासरानिव। जात्युत्प्रेक्षा।

श्वसितेति श्वसितानिलस्य निश्वासवायोः परिमलैः सौरभैः परिभ्रमतः सञ्चरतः मलयमारुतानिव दक्षिणानिलानिव। उक्तालङ्कारः।

कपोलेति। कपोलमण्डलानां गण्डसमूहानाम् आलोकैः दीप्तिभिः स्फुरितानि प्रसरितानि माणिक्यदर्पणसहस्राणीव रत्नादर्शदशशतानीव। उक्तालङ्कारः।

---

द्वारा ही मानों समस्त प्रदेश लीपा हो, एवं मानों वह शृङ्गार-मय हो, सौन्दर्य-मय हो, सम्भोग-देवता-मय हो, मदन-बाण-मय हो, कौतुक-मय हो, आश्चर्य-मय हो, सौकुमार्य-मय एवं [ प्रेम-मय ] हो—ऐसा वह प्रतीत होता था। उसने और भी वहाँ—कन्याओंके अगणित संख्या होने के कारण समस्त दिशाओंमें ही उनके मुखकी शोभासे मानों चन्द्रमण्डलोंकी वर्षा होती हो; उनके कटाक्ष-पातसे भूमि मानों चलित-नीलोत्पल वनमय होती हो; स्पष्टरूपमें भ्रूलताओंके नर्त्तनसे बहुतर कामधनुष ही मानो भ्रमित होता हो; केशकलाप-रूप अन्धकारके रहनेसे कृष्णपक्षके असंख्य प्रदोष-काल ही मानों सम्मिलित हुए हों, ईषद् हास्यके प्रभा-प्रकाशसे कितने वसन्तकालके दिन ही मानों विकसित पुष्पसे धवलवर्ण होकर विचरण करते हों, निःश्वास वायुके परिमलसे मलयाचलकी वायु ही मानों परिभ्रमण करती हो; कपोलमण्डलोंके प्रभा-प्रकाशित होनेसे मानों असंख्य मणिमय दर्पण ही दीप्त होते ( जगमगाते ) हों; पाणितलकी रक्तिमा ( हथेलियोंके लाल रंग ) से जीवलोक मानों रक्त-

---

१…प्रवेशम्। २. प्रेममयमिव। ३. अभिनिभृत…। ४. कामकार्मुकबलानीव, … शतानि, विलासता। ५. केशनि।

करतलरागेण रक्तकमलवनवर्षिणमिव जीवलोकम्, कररुहकिरणस्फुरणेन[1] कुसुमायुधशरसहस्रैरिव संच्छादितानि दिगन्तराणि[2], आभरणकिरणे[3]न्द्रायुधजालकैरुड्डीयमानानीव [4]भवनमयूरवृन्दानि, यौवनविकारैरुत्पाद्यमानानीव मन्मथसहस्राण्यद्राक्षीत्।

उचितव्यापारव्यपदेशेन कुमारिकाणां सखीहस्तावलम्बेषु पाणिग्रहणानि, वेणुवाद्येषु चुम्बनव्यतिकरान्, वीणासु कररुहव्यापारान्, कन्दुकक्रीडासु करतलप्रहारान्[5] भवन-लता-सेक-कलस-कण्ठेषु भुजलतापरिष्वङ्गान्, लीलादोलासु नितम्ब-स्तन-प्रेङ्खितानि, [6]ताम्बूलवीटिकावखण्डनेषु दशनोपचारान्, वकुलविटपेषु मधुगण्डूषप्रचारान्[7], अशोकतरुताडनेषु चरणाभिघातान्, उपहारकुसुमस्खलनेषु सीत्कारान्[8], अतिरिक्तं सुरतमिवाभ्यस्यन्तीनामपश्यत्।

---

करेति। करतलानां हस्ततलानां रागेण रक्तिम्ना, जीवलोकं रक्तकमलवनवर्षिणमिव कोकनदसमूहवृष्टिकारिणमिव। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

कररुहेति। कररुहा नखाः तेषां किरणस्फुरणेन प्रभाप्रसरणेन, दिगन्तराणि कुसुमायुधस्य कामस्य शरसहस्रैः बाणसमूहैः संच्छादितानि समावृतानीव। उक्तालङ्कारः।

आभरणेति। आभरणकिरणा भूषणरश्मयः इन्द्रायुधानीव शक्रधनूंषीव यद्वा आभरणकिरणा एव इन्द्रायुधानि तेषां जालकैः उत्पतितैः समूहैः, उड्डीयमानानि व्योम्नि उड्डयनं विधीयमानानि भवनमयूरवृन्दानीव गृहकलापिमण्डलानीव, तद्वद्विविधवर्णविचित्रत्वादित्याशयः। इह किमुपमा किंवा रूपकमिति सन्देहसङ्करेण व्याप्ता जात्युत्प्रेक्षा।

यौवनेति। यौवनविकारैः तारुण्यविकृतिभिः कन्यकाजनेन उत्पाद्यमानानि जायमानानि मन्मथसहस्राणीव मदनसमूहानीव। जात्युत्प्रेक्षा।

उचितेति। चन्द्रापीडः, उचितव्यापारव्यपदेशेन विधेयकृत्यसम्पादनव्याजेन अतिरिक्तं भिन्नमद्भुतमित्यर्थः सुरतं सम्भोगम् अभ्यस्यन्तीनाम् अभ्यासं विदधतीनामिव तासां कुमारिकाणाम् एतान्याचरणान्यपश्यदित्यग्रिमेण सम्बन्धः। तान्येव सम्भोगकालीनाचरणानि प्रकटयति—सखीत्यादिना। सखीहस्तावलम्बेषु सहचरीद्वारा-हस्तधारणेषु, पाणिग्रहणानि सम्भोगकालीनप्रियतमद्वारा-हस्तावलम्बनानि। वेणुवाद्येषु वंशीवादनेषु चुम्बनव्यतिकरान् मुखसंयोगव्यापारान्। वीणासु वल्लकीवादनेषु, कररुहव्यापारान् नखक्षतानि। कन्दुकक्रीडासु गेन्दुकखेलासु करतलप्रहारान् हस्ततलाघातान्। भवनलतानां गृहव्रततीनां ये सेककलसाः सेचनघटाः तेषां कण्ठेषु निगरणेषु, भुजलताभ्यां बाहुवल्लीभ्यां परिष्वङ्गान् आलिङ्गनानि। लीलादोलासु क्रीडाप्रेङ्खासु तत्र दोलनेष्वित्यर्थः नितम्बयोः स्तनयोः कुचयोश्च प्रेङ्खितानि आस्फालनानि। ताम्बूलवीटिकानां नागवल्लीदलवीटिकानाम् अवखण्डनेषु चर्वणेषु, दशनोपचारान् दन्तसञ्चालनानि। बकुलविटपेषु केसरतरुषु, मधुगण्डूषप्रचारान् तत्पुष्पप्रस्फुटनाय वदनपूर्णमद्यप्रक्षेपान्। उपहाराय कुसुमानि उपहारकुसुमानि शोभासम्पादनाय यानि रचनारूपेण भूमिस्थापितानि प्रसूनानि तेषु स्खलनेषु पतनेषु, सीत्कारान् दृढतरदशनाघातादिषु व्यथासूचकान् 'सीत्' इत्येवं सूक्ष्मध्वनिविशेषान्

---

कमलोंकी वर्षा करता हो; नखोंके किरण प्रसारित होने ( फैलने ) से आठों दिशाएँ मानों हजारों कामबाणोंसे आच्छादित हो ( छा ) गई हों; इन्द्रधनुषके समान आभूषणोंके किरणसमूहके ऊपर उठते रहने से गृहपालित ( पालतू ) मयूरगण ही मानो उड़ते हों; एवं तत्रत्य कन्याओंके यौवनविकारसे ही मानो हजारों कामदेव उत्पन्न होते हों—इस प्रकार देखा।

उन कुमारियोंके, कर्त्तव्यकार्य करनेके बहानेसे सखियोंके द्वारा हाथ पकड़नेमें पाणि-ग्रहण, वंशी बजानेमें मुखसंयोग व्यापार. वीणा बजानेमें नख-व्यापार, गेंद खेलनेमें करतल ( हथेली ) प्रहार, भवनस्थित लताओंका सिञ्चन करनेके लिए कलश कन्धेपर रखनेमें भुजालिङ्गन, हिंडोले पर झूलनेमें नितम्बस्थलका आस्फालन ( सञ्चलन ), ताम्बूलवीटिकाओंके चर्वण ( पान की बीड़ी चबाने ) में दन्तव्यापार, बकुल ( मौलसरी ) वृक्षोंमें पुष्प खिलनेके लिए मुखपूर्ण-मद्यका प्रक्षेप, अशोक वृक्षोंको ताड़न करनेमें चरणाघात, शोभा-सम्पादनके लिए भूतल-

---

१. कररुहस्फुरणेन। २. संच्छादितदिगन्तराणि, संच्छादितमष्टदिगन्तम्। ३. किरणनिकर। ४. भुवन। ५. भुवन…। ६…स्थल…। ७. क्वचित् 'ताम्बूल'-पदं न दृश्यते। ८. वकुलकुसुमदोहदेषु सीधुगण्डूषप्रदानानि। ९ शीत्कारान्।

यत्र च[1] कन्यकाजनस्य कपोलतलालोक एव मुखप्रक्षालनम्, लोचनान्येव कर्णोत्पलानि, हसितच्छवय एवाङ्गरागाः, निश्वासाः[2] एवाधिवासगन्धप्रयुक्तयः, अधरद्युतिरेव कुङ्कुमानुलेपनम्[3], आलापा पव तन्त्रीनिनादाः, भुजलता एव चम्पकमालाः,[4] करतलान्येव लीलाकमलानि, स्तना एव दर्पणाः, निजदेहप्रभैवांशुकावगुण्ठनम्, जघनस्थलान्येव विलासमणिशिलातलानि कोमलाङ्गुलिराग एव चरणालक्तकरसः, नखमणिमरीचय एव कुट्टिमोपहारकुसुमप्रकराः।

यत्र चालक्तकरसोऽपि[5] चरणातिभारः, वकुलमालिकामेखलाकलनमपि गमनविघ्नक-

शब्दान्। पुष्पमध्ये चरणस्खलनेन नार्यो भूतलपातसम्भावनाभयात् 'सीत्कारान्' कुर्वन्तीति तासां सौन्दर्यातिशयो ध्वन्यत इत्यवधेयम्। इह सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा।

यत्रेति। यत्र कन्यान्तःपुरे कन्यकाजनस्य कुमारिकावर्गस्य कपोलतलालोक एव गण्डस्थलदीप्तिरेव, मुखं प्रक्षाल्यते अनेनेति मुखप्रक्षालनं तदुपयोगिसलिलस्वरूपम्। अनेन गण्डस्थलानां सौन्दर्यातिशयो ध्वन्यते। लोचनानि नयनान्येव कर्णोत्पलानि श्रवणभूषणानि, अनेन नयनानां नीलत्वं विस्तृतत्वञ्च प्रत्याय्यते। हसितच्छवय एव हास्यकान्तय एव अङ्गरागा विलेपनानि, अनेन हास्यद्युतीनां नितान्तवैशद्यं सूच्यते। निश्वासाः श्वासमरुत एव अधिवासगन्धप्रयुक्तयः देहसंस्काराय गन्धमाल्यादिप्रयोगाः, अनेन निश्वासानाम् अत्यन्तसौगन्ध्यं द्योत्यते। 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः। एषु सर्वत्र यथासम्भवम् 'आसीत्, आसन्' वा क्रियापदं योजनीयम्। इत्थमग्रेऽपि। अधरद्युतिरेव ओष्ठच्छविरेव कुङ्कुमानुलेपनं कुङ्कुमाङ्गरागः, एतेन तयोरत्यन्तरक्तत्वं व्यज्यते। आलापा एव सम्भाषणान्येव तन्त्रीनिनादाः वीणाध्वनयः, अनेन तेषां परममधुरस्वरत्वमवगम्यते। भुजलता एव बाहुवल्लय एव चम्पकमाला हेमपुष्पस्रजः, अनेन तासामत्यन्तमृदुलगौरवं बोध्यते। करतलान्येव हस्ततलान्येव लीलाकमलानि क्रीडार्थपङ्कजानि, अनेन करतलानामालोहितत्वं प्रतीयते। स्तना वक्षोजा एव दर्पणा मुकुराः, एतेन निर्मलत्वं गम्यते। निजदेहप्रभैव स्वशरीरद्युतिरेव अंशुकावगुण्ठनं वस्त्रावरणम्, अनेन शरीरप्रभाबाहुल्यं द्योत्यते। जघनस्थलान्येव कटिपुरोभागप्रदेशा एव विलासमणिशिलातलानि विभ्रमरत्नप्रस्तरतलानि, अनेन तेषां विस्तीर्णता उज्ज्वलता स्वच्छता च व्यज्यते। कोमलाङ्गुलिराग एव मृदुलचरणाङ्गुलिस्वाभाविकरक्तिमैव चरणालक्तकरसः पादयावकरसः, अनेन रागाधिक्यं सूच्यते। नखमणीनां चरणनखपरिहिताभरणरत्नानां मरीचयः किरणा एव कुट्टिमेषु बद्धभूमिषु उपहारकुसुमप्रकराः शोभासम्पादनाय विक्षिप्तप्रसूनसमूहाः, अनेन नखरत्नकिरणानां प्रतिपदं पुञ्जीभावो व्यज्यते।

इह प्रत्येकवाक्ये निरङ्गकेवलरूपकमलङ्कारः 'मुखं तव कुरङ्गाक्षि! सरोजमिति नान्यथा' इति साहित्यदर्पणोदाहृतवदित्यवधेयम्।

यत्रेति। किञ्च, यत्र कन्यकासमुदाये अलक्तकरसोऽपि पादयोर्यावकरसलेपोऽपि चरणातिभारः पादयोर्भारायितः, आसीदिति शेषः। एवमग्रेऽपि सौकुमार्यातिशयात् पादरागोऽपि भारायित इत्यभिप्रायः।

न्यस्त पुष्पोंके पतन होनेमें पीड़ाव्यञ्जक शब्द सीत्कार, यह सब उस (चन्द्रापीड), ने, अतिरिक्त सम्भोग-व्यापारको मानो ये स्त्रियाँ अभ्यास करती हों इस प्रकार, उनको देखा।

एवं जिस स्थानमें कन्याओंके गण्डस्थल (कपोल) का लावण्य ही मुखप्रक्षालन [जल] था; नयनयुगल ही कर्णोत्पल थे; हास्यकी शोभा ही अङ्गलेप था; निश्वासवायु ही शरीरसंस्कारके लिए सुगन्धित द्रव्यके प्रयोग थे; और अधर-प्रभा ही कुङ्कुमलेप था। परस्पर उनका आलाप ही तन्त्रीका झङ्कार (वीणाका शब्द) था, भुजलता ही चम्पकपुष्पकी माला थी; करतल ही लीला-कमल थे; कुच-मण्डल ही दर्पण थे; अपने शरीरकी कान्ति ही आवरण-वस्त्र था; जघनस्थल ही विलास करनेके मणिशिलातल थे; कोमल अङ्गुलियोंकी रक्तिमा (रंग) ही चरणोंका अलक्तक (महावर) था; एवं नखके ऊपर प्रदत्त रत्नोंकी किरणें ही बद्ध-भूमि (चबूतरे) पर शोभासम्पादनके लिए विक्षिप्त (बिखरे) पुष्पसमूह थे।

और जहाँ पर, अलक्तक (महावर) का रस भी चरणोंको अत्यन्त भार मालुम होता था; बकुल-पुष्पकी

१. यस्य च। २. निःश्वासाः। ३. कुङ्कुममुखानुलेपनम्। ४. चम्पकवैकक्ष्यमालाः। ५. यत्र चालक्तरसोऽपि।

रम्, अङ्गरागगौरवमप्यधिकश्वासनिमित्तम्, अंशुकभारोऽपि ग्लानिकारणम्, मङ्गलप्रतिसरवलयविधृतिरपि करतलविधुतिहेतुः, अवतंसकुसुमधारणमपि श्रमः, कर्णपूर-कमल-मधुकर-पक्ष-पवनो[1]ऽप्यायासकरः ।

तथा च यत्र सखीदर्शनेष्व[2]कृतहस्तावलम्बनमुत्थान[3]मतिसाहसम्, प्रसाधनेषु हारभार-सहिष्णुता स्तनकार्कश्यप्रभावः, कुसुमावचयेषु द्वितीयकुसुम[4]-ग्रहणमप्ययुवतिजनोचितम्, कन्यकाविज्ञानेषु माल्यग्रथनम्[5] असुकुमारजनव्यापारः, देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकरः ।

---

वकुलमालिका केसरपुष्पस्रगेव मेखला काञ्ची तस्याः कलनमपि जघनपुरोभागे धारणमपि गमनविघ्नकरं गतिप्रतिबन्धकम्, अत्यन्तभारप्रत्यायनादित्याशयः। अङ्गरागगौरवमपि देहलिप्ताङ्गरागद्रव्यभारोऽपि अधिकश्वासनिमित्तम् अतिशयनिःश्वासकारणम्, परिश्रमोत्पादकत्वादित्यभिप्रायः। सर्वत्र सौकुमार्यातिशयद्योतनायैवमुक्तिर्ज्ञेया। अंशुकभारोऽपि परिधृतसूक्ष्मवस्त्रगुरुत्वमपि ग्लानिकारणम्। मङ्गलप्रतिसरः आभ्युदयिकहस्तसूत्रमेव वलयं कटकं तस्य विधृतिर्धारणमपि करतलविधुतिहेतुः हस्तकम्पननिमित्तम्, भाराधिक्यानुभवादिति भावः। अवतंसकुसुमधारणमपि कर्णभूषणपुष्पविधृतिरपि श्रमः परिश्रमोत्पादकम्, भारावगमादित्यभिप्रायः। कर्णपूरकमलेषु श्रोत्रावतंसीभूतपङ्कजेषु ये मधुकरा भ्रमराः तेषां पक्षपवनोऽपि पक्षकम्पनोत्पन्नवायुरपि आयासकरः खेदकरः, प्राचुर्यबोधादिति भावः।

इह प्रत्येकवाक्य एवासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः, तेन च तासां कन्यकानां नितान्तसौकुमार्यं ध्वन्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

अथ विभिन्नप्रकारैरपि तासामतीव सौकुमार्यं निरूपयितुमाह—तथा चेति। अपि चेति तदर्थः। सखीदर्शनेषु अभिनवायातासु सहचरीषु अवलोकितास्वित्यर्थः, न कृतं शीघ्रत्वेनावसराभावान्न विहितं हस्तावलम्बनं सेविकाया हस्तधारणं यत्र तत्तथोक्तं यत् उत्थानम् अभ्यर्थनाय शरीरोत्थानं तदपि अतिसाहसं हठकारित्वम्, अनेन निरतिशयदाक्षिण्यं निरतिशयसौकुमार्यं च प्रतीयते। प्रसाधनानि अलङ्करणानि तेषु या हारस्य मुक्तामालाया भारसहिष्णुता भारसहनशीलता सा स्तनकार्कश्यप्रभावः केवलकुचकाठिन्यमाहात्म्यम्, न पुनरन्यावयवानामित्याशयः, अनेनान्यावयवानां निरतिशयकोमलत्वं कुचयोर्निरतिशयकाठिन्यं च ध्वन्यते। कुसुमावचयेषु पुष्पचयनक्रियासु द्वितीयकुसुमग्रहणम् एकस्मात्परमपरं कुसुमावचयमपि अयुवतिजनोचितम् अतरुणीजनयोग्यम्, अपि तु कर्कशपुरुषयोग्यमित्यर्थः, एकपुष्पग्रहणमेव तस्याः पर्याप्तम्, द्वितीयस्य पुष्पस्य ग्रहणं तु कठिनत्वात्पुरुषस्यैवोचितमिति सरलार्थः, अनेन कोमलतातिशयो व्यज्यते। कन्यकाविज्ञानेषु तन्नत्यकुमारीजनयोग्यशिल्पकलासु मध्ये यन्माल्यग्रथनं केवलपुष्पस्रग्गुम्फनं तदपि असुकुमारजनव्यापारः कर्कशपुरुषकृत्यम्, अनेनापि निरतिशयसौकुमार्यं प्रतीयते। देवताप्रणामेषु देवेभ्यो नमस्कारसमयेषु मध्यभागभङ्गः कटिभागस्य द्वैधीभावो यत्र जातः स द्वैधीभावाभावः अतिविस्मयकरः अत्यन्ताश्चर्यंकरः, तासां मध्यभागा एवंविधकृशा आसन्, यत्प्रणामसमये शिरोऽवनमने तद्भङ्गसम्भावनैवासीत्, अत एव यत्तद्भङ्गो न जातः तदत्यन्ताश्चर्यकरमित्याशयः। यद्वा–मध्यभागभङ्गो जघनपुरःप्रदेश ( कटि ) द्वैधीभावः, नात्यन्ताश्चर्योत्पादकः, अत्यन्तक्षीणत्वेन सम्भवपरत्वात्, केवलनमनेन गात्र-

---

मालाके कमरमें चन्द्रहार ( डरकस ) धारण करना भी चलनेमे विघ्न करता था; अङ्गरागका भार भी परिश्रमजनक होनेसे अत्यन्त श्वासका कारण था; पहने सूक्ष्म-वस्त्रका भार भी ग्लानिका कारण होता था, माङ्गलिक हस्तसूत्रका कङ्कण धारण भी हस्त-कम्पनका कारण था; मस्तकमें पुष्पधारण भी परिश्रम उत्पन्न करता था; एव कानमें पहने हुए कमल पर बैठे भ्रमरोंके पंखोंका पवन भी क्लेश उत्पन्न करता था।

एवं जिस अन्तःपुरमें मिलनेके लिए नवागत सखियोंको देख कर परिचारिकाओंके सहारा दिए विना जो कोई कुमारिका खड़ी हो जाती थी उसे देख अन्यान्य कुमारिकाएँ—यह अत्यन्त साहस कार्य किया है—ऐसी विवेचना करती थीं; शृङ्गार करनेमें पहने हारका भार सहन करना [उनके] स्तनकी कठिनता का ही प्रभाव था; पुष्प तोड़ने के समय में एकसे दूसरा पुष्प तोड़ना भी उन युवतियोंके लिए असम्भव था; कन्याओंके शिल्पकार्यके मध्यमें, केवल जो माला गूँथती थी, उसे भी कठिन लोगोंका कार्य गिना जाता था; और देवताओंको नमस्कार करनेके समयमें ( सूक्ष्मताके कारण ) इनके मध्यभाग कहीं दो टुकड़े न हो जाँय यह अधिक

---

१. वातोऽपि। २. दर्शनेऽपि। ३. अभ्युत्थानम्। ४. ...पुष्प...। ५. माल्यग्रन्थनम्।

तस्य चैवं विधस्य [1]किञ्चिदभ्यन्तरमतिक्रम्य इतश्चेतश्च परिभ्रमतः कादम्बरीप्रत्यासन्नस्य परिजनस्य शुश्राव तांस्तानतिमनोहरानालापान्। तथाहि—'लवलिके! कल्पय केतकीधूलिभिर्लवलीलतालवालमण्डलानि। [2]सागरिके! गन्धोदक-कनक-दीर्घिकासु[3] विकिर रत्नबालुकाम् मृणालिके! कृत्रिमकमलिनीषु कुङ्कुमरेणु[4]मुष्टिभिश्छुरय [5]यन्त्रचक्रवाकमिथु[6]नानि। [7]मकरिके! कर्पूरपल्लवरसेनाधिवासय गन्धपात्राणि। रजनिके! [8]तमाल-वीथिकान्धकारेषु निधेहि [9]मणिप्रदीपान्। कुमुदिके! स्थगय [10]शकुनिकुलरक्षणाय मुक्ताजालैर्दाडिमीफलानि। निपुणिके! [11]लिख [12]मणिशालभञ्जिकास्तनेषु कुङ्कुमरसपत्रभङ्गान्। उत्पलिके! परा-

---

स्यैव भङ्ग इति कियदाश्चर्यकरस्त्वभवदेवेत्याशयः, अतएव 'अति'पदप्रयुक्तिरपि सङ्गता भवतीत्यवधेयम्। अनेन मध्यभागानामत्यन्तकृशत्वं सूच्यते। इहापि प्रत्येकवाक्य एव असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्ज्ञेया।

तस्येति। तस्य कुमारीपुरस्य। परिभ्रमतः पर्यटतः कादम्बर्या गन्धर्वराजपुत्र्याः प्रत्यासन्नस्य सर्वदा समीपवर्त्तिनः। शुश्राव आकर्णयामास चन्द्रापीड इति शेषः।

तथाहीति। 'लवलिके!' इति कस्याश्चित् सम्बोधनम्। एवमग्रेऽपि यथायोगं समुन्नेयम्। केतकीधूलिभिः केतकीपुष्परजोभिः, लवलीलतानां लवलीवल्लीनां यानि आलवालानि आवापाः तेषां मण्डलानि उपरि वेष्टनानि कल्पय रचय 'आवापो भाण्डपचने परिक्षेपालवालयोः' इति रामाश्रमी।

सागेति। गन्धोदकं सुरभिजलं तेन पूर्णेषु कनकदीर्घिकासु सुवर्णपट्टवेष्टितखातवापीषु रत्नबालुकां मणिसिकतां विकिर विक्षिप।

मृणेति। कृत्रिमकमलिनीषु कृत्रिमपङ्कजमयदीर्घिकासु कुङ्कुमरेणुमुष्टिभिः यन्त्रचक्रवाकमिथुनानि कृत्रिमयन्त्रात्मकरथाङ्गपक्षिद्वन्द्ववृन्दान् छुरय रञ्जय।

मकेति। कर्पूरपल्लवयोः घनसारकिसलययोः रसेन द्रवेण, अधिवासय अधिकसुगन्धीनि विधेहि।

रजेति। तमालवीथिकानां तापिच्छवृक्षपङ्क्तीनाम् अन्धकारेषु तिमिरेषु देशेषु मणिप्रदीपान् रत्नप्रदीपान् निधेहि स्थापय।

कुमुदीति। शकुनिकुलरक्षणाय पक्षिसमूहनिवारणाय मुक्ताजालैः मुक्तासमूहैः दाडिमीफलानि स्थगय आच्छादय।

निपुणीति। मणिशालभञ्जिकाः रत्नरचितस्त्रीपुत्तलिकाः तासां स्तनेषु कुचेषु कुङ्कुमरसैः कुङ्कुमद्रवैः पत्रभङ्गान् पत्रावलीः लिख चित्रीकुरु।

उत्पेति। कनकसमार्जनीभिः सुवर्णबहुरीभिः कदलीगृहस्य उद्यानस्थरम्भामण्डपस्य मरकतवेदि-

---

आश्चर्य-जनक नहीं था।

इस प्रकारके कन्यान्तःपुरके थोड़ा भीतर जाने पर उसने कादम्बरीके समीप रहनेवाली— इतस्ततः विचरण करती—परिचारिकाओंके विविध प्रकारके मनोहर आलाप श्रवण किया। जैसे—'अरी लवलिके! केतकी-पुष्पके परागसे लवली-लताओंके आस पास आलवाल (क्यारी) के ऊपर मण्डल (गोलाकार भित्ति) निर्माण कर; सागरिके! सुगन्धिजलसे परिपूर्ण सुवर्णमय रत्नकी रेती बिछा; अरी मृणालिके! कृत्रिम-पद्ममय सरोवरमें जो समस्त यन्त्रमय (कलके) चक्रवाक और चक्रवाकी हैं, उनपर कुङ्कुमकी बुकनी मुट्ठी भर भर कर रञ्जित कर; मकरिके! कर्पूरके जल और पल्लवके रस डालकर गन्धद्रव्यके पात्रोंको सुवासित (सुगन्धित) कर; रजनिके! तमाल-वृक्षोंकी अँधेरी पंक्ति (कुञ्ज) में मणिमय प्रदीपोंको रख; अरी कुमुदिके! पक्षियोंसे रक्षा करने (बचाने) के लिए दाड़िमफलों (अनारों) को मोतियोंकी जालियोंसे आच्छादित कर दे; अरी निपुणिके! मणि-मय पुत्तलिकाओं (पुतलियों) के कुचमण्डल पर कुङ्कुमरससे फूलपत्ते चित्रित कर दे; उत्पलिके! स्वर्ण-सम्मार्जनी

---

१. …अन्तरमवक्रम्य। २. सारसिके। ३. गन्धोदकदीर्घिकासु, कनकनदिकासु। ४. क्षोद। ५. क्वचित् 'यन्त्र'पदं नास्ति। ६. युगलानि। ७. मन्दारिके…। ८. भवनतमाल…भवनदीर्घिकातमाल। ९. मणिदीपान्। १०. रक्षणार्थम्। ११. लेखय। १२. मणिस्तम्भा…।

मृश कनकसम्मार्जनीभिः[1] कदलीगृहमरकतवेदिकाम्[2]। केसरिके[3]! सिञ्च मदिरारसेन वकुलकुसुममालागृहाणि। मालतिके! पाटलय सिन्दूररेणुना कामदेवगृहदन्तबलभिकाम्। नलिनिके! पायय कमलमधुरसं भवनकलहंसान्। कदलिके! नय धारागृहं गृहमयूरान्। कमलिनिके! प्रयच्छ चक्रवाकशावकेभ्यो[4] मृणालक्षीररसम्। चूतलतिके[5]! देहि पञ्जरपुस्कोकिलेभ्यश्चूतकलिकाङ्कुराहारम्। पल्लविके! भोजय मरिचाग्रपल्लवदलानि भवनहारीतान्। लवङ्गिके! विक्षिप[6] चकोरपञ्जरेषु पिप्पलीतण्डुल[7]-शकलानि। मधुकरिके! विरचय कुसुमाभरणकानि। मयूरिके! सङ्गीतशालायां विसर्जय किन्नरमिथुनानि। कन्दलिके! समारोहय क्रीडापर्वतशिखरं जीवञ्जीवमिथुनानि। हरिणिके! देहि पञ्जरशुकसारिकाणामुपदेशम्[8] इत्येतानि[9] अन्यानि च परिहासजल्पितान्यश्रोषीत्।

---

काम्, परामृश संमार्जय।

केसेति। मदिरारसेन सुराद्रवेण वकुलकुसुममालागृहाणि केसरपुष्पस्रग्विभूषितभवनानि सिञ्च सेचनं विधेहि।

मालेति। सिन्दूररेणुना नागभूषणरजसा कामदेवगृहस्य मदनभवनस्य दन्तवलभिकां गजदन्तरचितचूडां पाटलय श्वेतरक्तीकुरु।

नलीति। भवनकलहंसान् गृहकादम्बान् कमलमधुरसं पङ्कजमकरन्दद्रवं पायय पानं कारय।

कदेति। गृहमयूरान् भननकलापिनः धारागृहं सलिलोद्गारयन्त्रसंयुतं भवनं नय प्रापय।

कमेति। चक्रवाकशावकेभ्यः रथाङ्गशिशुभ्यः मृणालक्षीररसं कमलबिसनिर्यासं प्रयच्छ प्रदेहि।

चूतेति। पुमांसः पुरुषाश्च ते कोकिलाः परभृतश्चेति पुंस्कोकिलाः, पञ्जरस्थायिनश्च ते पुंस्कोकिला पञ्जरपुंस्कोकिलाः तेभ्यः चूतकलिकाङ्कुराहारम् आम्रकोरकप्ररोहमयमशनम् देहि प्रयच्छ।

पल्लविक इति। भवनहारीतान् गृहपालितमृदङ्कुरपक्षिविशेषान् मरिचाग्रपल्लवदलानि श्वेतशोभाञ्जनाग्रकिसलयपर्णानि भोजय प्राशय।

लवङ्गिक इति। चकोरपञ्जरेषु विषसूचकवंशदलेषु पिप्पलीनां मागधीनां तण्डुलशकलानि अभ्यन्तरस्थबीजखण्डानि निक्षिप।

मधुकेति। कुसुमाभरणकानि पुष्पमयानि भूषणानि, अनुकम्पायां कः। विरचय कल्पय।

मयूरेति। सङ्गीतशालायां गीतवाद्यनृत्यशालायां किन्नरमिथुनानि तुरगवदनद्वन्द्वानि विसर्जय गानादिसम्पादनार्थं प्रेरय।

कन्देति। जीवञ्जीवमिथुनानि चकोरपक्षिद्वन्द्वानि 'जीवञ्जीवश्चकोरकः' इत्यमरः। क्रीडापर्वतशिखरं खेलाशिखरिसानुं समारोहय आरोहणं कारय।

हरिणिक इति। पञ्जरशुकसारिकाणां बन्धनगृहस्थितकीरसारिकाणाम् उपदेशं हितशिक्षां देहि प्रयच्छ। एतानि आदेशवचनानि अन्यानि अपराणि च परिहासजल्पितानि नर्मभाषितानि अश्रौषीत्

---

(झाड़ू) द्वारा कदली-गृहके मरकतमय वेदिका (चबूतरे) को परिष्कृत (साफ़) कर; केसरिके! मदिरारस लेकर बकुल-पुष्पोंके माला-गृहको सिक्तकर (छिड़क); अरी मालतिके! सिन्दूरकी रेणुद्वारा, कामदेव-गृहकी—हाथीदाँतकी-अटारीको रञ्जित (गुलाबी) कर दे; अरी नलिनिके! गृह-पालित कलहंसोंको कमल-मधुका रस पान कराओ; कदलिके! गृह-पालित-मयूरोंको धारा-गृहमें ले जाओ; अरी कमलिनिके। चक्रवाकके बच्चोंको मृणाल-क्षीर-रस दो; चूतलतिके! पिंजरेमें बैठे कोकिलोंको आम्रकोरकाङ्कुर (आमके बौर) का आहार दो; पल्लविके! गृह-पालित हारीत-पक्षियोंको मरिचपल्लवके दलाग्र (मिर्चके कोमल-पत्तोंके टुकड़े) भोजन कराओ; अरी लवङ्गिके! चकोर-पक्षीके पिंजरमें पिप्पलीके अभ्यन्तरस्थ बीजखण्डों (तण्डुलके टुकड़ों) को निक्षेप कर (डाल); मधुकरिके! पुष्पोंका आभूषण निर्माण कर; मयूरिके! किन्नर-दम्पतियोंको सङ्गीतशालामें गानकरनेके लिए भेज दे; अरी कन्दलिके! चकोर और चकोरीको क्रीड़ा-पर्वतके शिखर पर आरोहण करा (चढ़ा) दे; अरी हरिणिके! पिंजरेमें बैठे शुक-सारिकाओं (तोते मैंने) को उपदेश दे।' ये सब वाक्य एवं इसके अतिरिक्त अन्यान्य

---

१. कमलसम्मार्जनीभिः, संमार्जनीभिः। २. वेदिकाः। ३. कुसुमिके!। ४. चक्रवाकेभ्यः। ५. चूतकलिके!। ६. निचिक्षिप। ७. दल। ८. '''सारिकोपदेशम्। ९. एतानि।

तथाहि—'चामरिके ! मिथ्यामुग्धतां[1] प्रकटयन्ती कमभिसन्धातुमिच्छसि ? अयि यौवनविलासैरुन्मत्तीकृते ! विज्ञातासि[2], या त्वं स्तन-कलस-भारावनम्यमानमूर्त्तिर्मणिस्तम्भ-मयूरानालम्बसे[3]। परिहासकाङ्क्षिणि ! रत्नभित्तिपतितमात्मप्रतिबिम्बमालपसि[4]। पवनहृतोत्तरीयांशुके ! हारप्रभायासितकरतला सङ्कलयसि[5]। मणिकुट्टिमेषूपहारकमलस्खलनभीते ! निजमुखप्रतिबिम्बकानि परिहरसि। निजसौकुमार्य्य-गर्व-खर्वित-बिसप्रसून-सौभाग्ये ! जाल[6]-

आकर्णितवान्। एतद्धि कुमारीपुराध्यक्षा निखिलाः परिचारिकाः सम्बोध्य सम्बोध्य निजनिजव्यापारे नियोजयन्तीत्यवधेयम्। प्रायेणान्वर्थनामिका इमाः। अनेन कादम्बर्याः सुविशाला खलु विलासोपकरण-सम्पत्तिर्व्यञ्जिता भवति।

परिहासभाषितानि प्रकटयति—तथाहीति। मिथ्यामुग्धताम् असत्यमार्द्दवतां प्रकटयन्ती प्रदर्शयन्ती। अभिसन्धातुं भावप्रकटनेन वञ्चयितुम् इच्छसि अभिलषसि। अनेन क्वापि भ्रूविक्षेपादिकं बोधयित्वा परिहसितम्।

अयीति। अयीति कोमलामन्त्रणे। यौवनविलासैः तारुण्यविभ्रमैः उन्मत्तीकृते मदमत्तीकृते ! विज्ञातासि सत्यरूपेण त्वं मया विदितासि। स्तनकलसयोः कुचकलसयोः भारेण गुरुत्वेन अवनम्यमाना मूर्तिः स्वरूपं यस्याः तथोक्ता त्वं मणिस्तम्भेषु रत्नस्थूणासु ते मयूराः रत्नरचिता एव कलापिनः तान् आलम्बसे आलिङ्गसि। अनेन कुचकण्डूयनापनोदनाय त्वं मणिमयूरानाश्लिष्यसीति परिहसितम्।

परीति। परिहासकांक्षिणी परिहासाभिलाषिणि ! रत्नभित्तिपतितं मणिकुड्यसंक्रान्तम्, आत्मप्रतिबिम्बं निजप्रतिरूपम् आलपसि परिभाषसे परिभ्रमेणेत्याशयः। अनेन कस्यचिच्चिन्तया त्वं बाह्यबोधशून्यासीति परिहसितम्। इह निजप्रतिबिम्बे अपरतरुणिभ्रमाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः प्रतीयत इति कुशलाः।

पवनेति। पवनेन समीरणेन हृतं नीतम् उत्तरीयांशुकम् उपरिस्थवस्त्रं यस्यास्तत्सम्बोधनम्। आयासितकरतला पुनःपुनस्तद्ग्रहणप्रयासेन परिश्रमितहस्ता, उत्तरीयांशुकं परिहितवस्त्रोपरिस्थितवस्त्रम् आदातुं ग्रहीतुं वारंवारं प्रसारणादित्याशयः, हारप्रभां हारद्युतिं सङ्कलयसि उत्तरीयवस्त्रम् मन्यसे। अनेन हारप्रभायामुत्तरीयवसनं संसूच्य परिहसितम्, अत एवेहापि उक्तालङ्कारः प्रतीयते।

मणिकुट्टीति। उपहारकमलानि शोभासम्पादनाय भूमौ विक्षिप्तानि पङ्कजानि तेषु स्खलनभीता पतनत्रस्ता या तत्सम्बुद्धौ रूपम्। मणिकुट्टिमेषु रत्नबद्धभूमिषु निजमुखप्रतिबिम्बकानि स्ववदनप्रतिच्छायानि परिहरसि त्यक्त्वा व्रजसि, तदुपहारपद्मभ्रान्त्येत्याशयः। अनेन निजवदनप्रतिच्छायेषु उपहारपद्मभ्रान्तिबोधनेन शून्यहृदयत्वं बोधयित्वा परिहसितम्। इहापि पूर्ववदलङ्कारः प्रतीयते।

निजेति। निजसौकुमार्यगर्वेण स्वमार्दवाहङ्कारेण खर्वितं न्यूनीकृतं बिसप्रसूनस्य पङ्कजस्य सौभाग्यं मार्दवं यया सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, अतएव सौकुमार्याधिक्यान्नवोदितसूर्यालोकभ्रान्त्यापि छत्रीकरणफल-

परिहास-वाक्यको भी उसने सुना।

जैसे—'अरी चामरिके ! तू यों मिथ्या मुग्धता प्रकाश कर किसकी वञ्चना करनेकी इच्छा करती हो ! अरी यौवनविलासोन्मत्ते ! यह हमने जान लिया कि—कलशतुल्य स्तनयुगलके भारके कारण शरीरके अवनत हो ( झुक ) जानेसे तू मणिस्तम्भके मयूरोंका आलिङ्गन करती है; अरी परिहासाकांक्षिणि ; तू तो मणि-मय भित्तिमें पड़े हुए अपने ही प्रतिबिम्बके साथ आलाप ( बातचीत ) करती है; -हे शून्यहृदये ! वायु तुम्हारे उत्तरीय वस्त्रको उड़ा ले गया है, उसको समेटनेके बदले तू तो हाथको परिश्रान्त कर अपने हारकी प्रभाको उत्तरीयवस्त्र ( दुपट्टा ) समझती हो; अरी बाह्यज्ञानशून्ये ! तू तो मणिबद्ध भूतल पर शोभासम्पादनके लिए रखे कमलों पर गिरनेके भयसे अपने मुखप्रतिबिम्बोंको ही छोड़कर जाती है; अरी कोमलाङ्गि ! तू अपने कोमलताके अभिमानमें कमलकी

१. वृथा। २. ज्ञाता। ३."'स्तम्भमयूखानवलम्बसे। ४."'प्रतिमामालपयसि। ५. आकलयसि। ६. क्वचित् 'निजसौकुमार्य"'इत्यारभ्य 'जाल' पर्यन्तं न विद्यते। क्वचिच्च सम्पूर्णसम्बोधनान्तमेव पदं न दृश्यते।

वातायनपतितपद्मरागालोकं[1] प्रति बालातपशङ्कया[2] करतलमातपत्रीकरोषि[3]। खेद-स्रस्त[4]-हस्त-गलित-चामरे[5]! नखमणिमयूख[6]कलापमाधुनोषि' इत्येतान्यन्यानि च शृण्वन्नेव कादम्बरी-भवनसमीपम् उपययौ[7]।

पुलिनायमानमुपवनलता-गलित-कुसुम-रेणु-पटलैः, दुर्दिनायमाननिभृत-परभृत-नख-क्षताङ्ग[8]-सहकारफल-रस-वर्षैः, नीहारायमाणमलिन-विप्रकीर्णवकुल-सेक-सीधु-धारा-धूलिभिः,

---

मुपस्थितमित्याशयः। 'बिसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च' इत्यमरः। जालवातायने जालरूपे गवाक्षे पतितः सम्पृक्तः पद्मरागस्य लोहितमणेः आलोकः प्रकाशः तं प्रति तद्विषये, बालातपशङ्कया प्रत्यग्रोदित-सूर्यप्रकाशभ्रान्त्या करतलं स्वहस्तमेव आतपत्रीकरोषि तत्प्रतिषेधेच्छया छत्रीकरोषि।

इह लोहितकमणिप्रकाशे बालातपभ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारः। बिसप्रसूनादपि तेऽधिकं सौकुमार्यं येन हि नवोदितसूर्यालोकभ्रान्त्यापि आतपत्रकरणस्यापेक्षेति परिहासः।

खेदेति। खेदेन सञ्चालनपरिश्रमेण स्रस्तात् शिथिलात् हस्तात् करात् गलितं प्रच्युतं चामरं बाल-व्यजनं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ रूपम्, अतएव बालव्यजनभ्रान्त्या नखमणिरश्मिसमूहान्दोलनमित्याशयः। नखमणीनां नखरस्थापिताभरणरत्नानां मयूखकलापं रश्मिसमूहम् आधुनोषि बालव्यजनभ्रान्त्यान्दोल-यसि। इह हि वाचकशब्दाभावादुक्तालङ्कारः प्रतीयते। तथाविधभ्रान्तिवशाच्चोपहासप्रतीतिः। इत्येतानि पूर्वोक्तानि अन्यानि एतदतिरिक्तानि च वाक्यानि शृण्वन्नेव आकर्णयन्नेव कादम्बरीभवनं गन्धर्वराजपुत्री-गृहम् उपययौ जगाम चन्द्रापीड इति शेषः।

पुलिनेति। उपवनं पार्श्ववर्त्युद्यानं तस्य लताभ्यो वल्लीभ्यो गलितानि पतितानि यानि कुसुमरेणु-पटलानि पुष्पपरागपुञ्जानि तैः पुलिनायमानं श्वेतत्वसादृश्यात् बालुकामयवदाचरन्तम्। इत आरभ्य द्वितीयान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'मार्गमद्राक्षीत्' इत्यत्र मार्गमित्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि।

दुर्दिनेति। अनिभृताश्चञ्चला ये परभृताः कोकिला' तेषां नखैः नखरैः क्षतानि विदीर्णानि अङ्गानि अवयवा येषां तथोक्तानां सहकारफलानां पार्श्वस्थानामाम्रफलानां रसवर्षैः रसवर्षणैः, दुर्दिनायमानं वृष्टि-वासरवदाचरन्तम्।

नीहारेति। अनिलविप्रकीर्णैः पवनविक्षेपैः वकुलानां केसराणां वृक्षाणां सेके कुसुमप्रस्फुटनाय सिञ्चनकाले सीधुधाराणां सुन्दरीवदनमद्यप्रवाहाणां धूलिभिः कणैः, नीहारायमाणं श्वेतत्वसादृश्यात् तुहिनपुञ्जवदाचरन्तम्।

ननु 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः' इत्यमरेण धूलिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वेन कथमिह पुल्लिङ्गतेति चेत्? सत्यम् 'द्विरदघटाकुम्भभित्तिसम्भवेन धातुधूलिनेति प्रयोगात् धूलिः पुंस्यपि' इत्यमरटीकायां रघुनाथोक्त्या उक्ताक्षेपनिरासात्।

---

कोमलताको भी न्यून करती हो, अतएव गवाक्ष जाल ( खिड़कियों की जाली ) में पड़े पद्मरागमणिके प्रकाशको ही नवोदित सूर्यालोक समझ कर उसे निवारण करनेके लिए छत्र करती ( छतरी का काम लेती ) हो; अरी अवशे ! आन्दोलन-जनित परिश्रमसे तेरे हाथमेंसे चामर गिर पड़ा है—उसे तू जानती नहीं है और केवल नखमणिको ही चामर समझकर आन्दोलन किया ( हिलाया ) करती है—इस प्रकारके और अन्यान्य अनेक प्रकारके आलापको सुनते सुनते ही चन्द्रापीड जाकर कादम्बरीके भवनके समीप उपस्थित हुआ ( आया )।

वहाँ उपस्थित होकर उसने एक मार्गको देखा; वह मार्ग पार्श्ववर्त्ती उद्यानकी लताओंके फूलोंमेंसे पराग गिरनेसे पुलिन ( बालुकामय ) के समान लगता था; चञ्चल ( गुञ्जार करती ) कोकिलोंके नखसे क्षत-विक्षत ( कुतरे ) हुए आमोंके फलका रस वर्षण होने ( टपकने ) से वहाँ वृष्टिके दिनके समान दीखता था; पवनसे इतस्ततः विक्षिप्त किए ( विखरे ) हुए—पुष्पविकासके लिए वकुलवृक्षके ऊपर सुन्दरी-मुखमद्यधाराके—कणोंसे वह

---

१. अवलोकम्। २. आशङ्किनी। ३. आतपत्रं। ४. खेदग्रस्त···। ५. कलितचामरा, कलितचामरैः। ६. किरण···। ७···भवनमुपसृत्य ययौ, भवनमुपययौ। ८···क्षताङ्गन···।

काञ्चनद्वीपायमानं चम्पकदलोपहारैः[1], नीलाशोक[2]-वनायमानं कुसुम-प्रकर-पतित-मधुकर-वृन्दान्धकारैः, तथा च सञ्चरतः[3] स्त्रीजनस्य रागसागरायमाणं चरणालक्तकरसविसरैः, अमृतोत्पत्तिदिवसायमानमङ्गरागामोदैः, चन्द्रलोकायमानं दन्तपत्रप्रभामण्डलैः[4], प्रियङ्गुवनायमानं कृष्णागुरुपत्रभङ्गैः[5], लोहितायमानं कर्णपूराशोकपल्लवैः[6], धवलायमानं चन्दनरसविलेपनैः, हरितायमानं शिरीषकुसुमाभरणैः, अथ सेवार्थमागतेनोभयत ऊर्द्ध्वस्थितेन स्त्रीजनेन प्राकारेणेव लावण्यमयेन कृतदीर्घरथ्यामुखाकारं मार्गमद्राक्षीत्। तेन चान्तर्निपतन्तम्[7] आभरण-

काञ्चनेति। चम्पकानां हेमकुसुमानां यानि दलानि पर्णानि तेषाम् उपहारैः शोभासम्पादनाय प्रक्षेपैः, काञ्चनद्वीपायमानं पीतत्वसादृश्यात् सुवर्णद्वीपवदाचरन्तम्।

नीलेति। कुसुमप्रकरेषु पुष्पसमूहेषु पतितानि उपविष्टानि मधुकरवृन्दान्येव भ्रमरपुञ्जान्येव अन्धकाराः तिमिराणि तैः नीलाशोकवनायमानं श्यामाशोकारण्यायमानम्।

तथेति। तथा च किञ्चेत्यर्थः। सञ्चरतो गच्छतः स्त्रीजनस्य वनितावर्गस्य चरणालक्तकरसानां पादरक्षनार्थयावकरसानां विसरैः प्रसरणैः, रागसागरायमाणं रक्तिम्नः पयोधिवदाचरन्तम्।

अमृतेति। अङ्गरागाणां विलेपनानाम् आमोदैः परिमलैः, अमृतोत्पत्तिदिवसवत् पीयूषोत्पत्तिदिनवदाचरन्तम्।

चन्द्रेति दन्तपत्राणि गजदन्तरचितपत्राकारश्रवणभूषणानि येषां प्रभामण्डलैः कान्तिसमूहैः चन्द्रलोकायमानं शुभ्रप्रकाशप्रसरणसादृश्याच्चन्द्रलोकवदाचरन्तम्।

प्रियङ्ग्विति। कृष्णागुरोः काकतुण्डस्य पत्रभङ्गैः पत्राकारतिलकविशेषैः, प्रियङ्गुवनायमानं श्यामत्वसादृश्यात् फलिनीलताविपिनवदाचरन्तम्।

लोहितेति। कर्णपूरभूताः श्रवणालङ्कारीभूता ये अशोकपल्लवाः कङ्केलिकिसलयाः तैः लोहितायमानं रक्तवदाचरन्तम्।

धवलेति। चन्दनरसस्य मलयजद्रवस्य विलेपनैः अङ्गरागैः, धवलायमानं श्वेतवदाचरन्तम्।

हरितेति। शिरीषस्य कपीतनस्य कुसुमाभरणैः पुष्पालङ्कारैः, हरितायमानं हरिद्वर्णयुक्तवदाचरन्तम्।

अथेति। अथ अनन्तरम्। उभयतः पार्श्वद्वययोः, लावण्यमयेन सौन्दर्यमयेन सेवार्थं परिचर्यार्थम् आगतेन आयातेन प्राकारेणेव प्राचीरेणेव ऊर्ध्वस्थितेन उपरि विद्यमानेन दण्डायमानेनेत्यर्थः स्त्रीजनेन योषिद्वर्गेण, कृतो विहितः दीर्घरथ्यामुखवत् विस्तृतप्रतोलीमुखवत् आकारो यस्य तम्। ग्राम्यदीर्घरथ्याया मुखभागे उभयतो वृत्तिः मध्ये च स्वल्पायामो दीर्घो मार्गोऽवलोक्यत इत्यभिप्रायः। मार्गं पन्थानम् अद्राक्षीत् आलोकितवान् महाश्वेतया सह गच्छंश्चन्द्रापीड इति शेषः। जात्युत्प्रेक्षा।

तेनेति। वहन्तं प्रसरन्तम्, नद्याः सरितो वेणिकावत् कचकलापवेणीवत् ( अर्थात् सरलः ) यो जलप्रवाहः सलिलधारा तमिव, तेन मार्गेण च आन्तर्निपतन्तम् अभ्यन्तरादायान्तं संपिण्डितम्

मार्ग मानो तुषार-राशिके समान दीखता था; शोभा सम्पादनके लिय एकत्रित चम्पकपुष्पके पत्रके ढेरसे वह मानो सुवर्णमय एक द्वीपके समान प्रतीत होता था; विविध स्थानमें विक्षिप्त ( बिखेरे ) अन्यान्य पुष्पसमूहके ऊपर बैठे हुए भ्रमरोंके अन्धकारसे वह मानो नीलवर्ण अशोक-वनके समान शोभायमान था। वहाँ सुन्दरियाँ सर्वदा ही इतस्ततः विचरण करती थीं, अत एव उनके चरणोंके अलक्तक ( महावर ) रससे वह मानो रक्तिमाके समुद्रके समान देखनेमें आता था; अङ्गलेपके सौरभसे वह मानो अमृतोत्पत्ति-दिनके समान हो; हस्ति-दन्त-निर्मित कर्णभूषणके आलोकसे वह मानो चन्द्रलोकके समान हो; स्तन-कपोलादि स्थानमें गोरोचनकी पत्राकार तिल-रेखाओंसे अङ्कित रहनेके कारण मानो प्रियङ्गुलताओंके वनके समान हो; अशोकपल्लवके कर्णभूषणसे मानो रक्तवर्ण हो गया हो; शरीरमें लगाए चन्दनमय अङ्गलेपसे मानो धवलवर्णके समान बन गया हो; और शिरीष-पुष्पके आभूषणोंसे मानो हरिद्वर्णके समान प्रतीत हो-ऐसा दीखता था। कादम्बरीकी सेवा करनेके लिए आई हुई, दोनों बगल खड़ी हुई स्त्रियोंसे मानो लावण्यमयके समान हो ऐसा—दीर्घरथ्याके सम्मुखभाग ( चौड़ी सड़कके मुख ) के आकारवाला मार्ग उसने देखा। और भी उसने देखा कि—केशपाशवेणीके समान सरल नदीका स्रोत

१. चम्पकोपहारैः। २. लीलाशोक…। ३. सञ्चरन्। ४. पत्रमण्डलैः। ५. प्रियङ्गुवनायमानं रोचनातिलकभक्तिभिः, नीलायमानं कृष्णगुरुपत्रभङ्गैः। ६. कर्णाशोकपल्लवैः। ७. निपतितम्।

किरणालोकं सम्पिण्डितं नदीवेणिकाजलप्रवाहमिव वहन्तमपश्यत्। तन्मध्ये च प्रतिस्रोत इव गत्वा प्रतीहारीमण्डलाधिष्ठितपुरोभागं श्रीमण्डपं ददर्श।

तत्र च मध्यभागे पर्यन्तरचितमण्डलेनाध उपविष्टेन[1] चानेकसहस्रसंख्येन परिस्फुरदाभरणसमूहेन कल्पलतानिवहेनेव कन्यकाजनेन परिवृताम्, नीलांशुकप्रच्छदपटप्रावृतस्य नातिमहतः[2] पर्य्यङ्कस्योपाश्रये[3] धवलोपधानन्यस्त-द्विगुण-भुजलतावष्टम्भेनावस्थिताम्, महावराहदंष्ट्रावलम्बिनीमिव महीम्, विस्तारिणि देहप्रभाजालजले भुजलताविक्षेपपरिश्रमैः प्रतरन्तीभिरिव चामरग्राहिणीभिरुपवीज्यमानाम्, निपतितप्रतिबिम्बतयाधस्तान्मणिकुट्टिमेषु

एकत्रीभूतम् आभरणकिरणालोकं नानाभूषणप्रभाप्रकाशम् अपश्यत् दृष्टवान्। इहोपमालङ्कारः।

तदिति। किञ्च, तस्य आभरणकिरणालोकस्य मध्ये प्रतिस्रोत इव गत्वा स्रोतसि तत्सांमुख्येन स्रोतोऽन्तरमिव व्रजित्वा चन्द्रापीडः, प्रतीहारीमण्डलेन द्वारपालिकासमूहेन अधिष्ठित आश्रितः पुरोभागः संमुखदेशो यस्य तं तथोक्तम्, श्रीयुक्तो मण्डपः तम् अनेकविधाद्भुतकान्तिशोभितम् एकं भवनमित्यर्थः ददर्श अवलोकितवान्। इह श्रौतोपमालङ्कारः।

तत्रेति। अपि च, चन्द्रापीडः, तत्र श्रीमण्डपे मध्यभागे 'कादम्बरीं ददर्श' इत्यतिदविष्ठया क्रियया सम्बन्धः। इह स्त्रीलिङ्गद्वितीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'कादम्बरीम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि। पर्यन्तेषु पल्यङ्कप्रान्तदेशेषु रचितं विहितं मण्डलं मण्डलरूपेणावस्थानं येन तेन, अधः पल्यङ्काधोभागे उपविष्टेन आसीनेन, अनेकानि बहूनि सहस्राणि दशशतानि संख्या गणना यस्य तेन, परिस्फुरन् दीप्यमान आभरणसमूहः भूषणपुञ्जो यस्य तेन, तथा कल्पलतानां मन्दारवल्लीनां निवहेन समूहेनेव विद्यमानेन च कन्यकाजनेन कुमारीगणेन परिवृतां परिवेष्टिताम्। कल्पलता अपि अर्थिजनमनोरथपूरणायानेकविधाभूषणयुक्ता इत्युभयोः सादृश्यम्, अतश्चोक्तालङ्कारः।

नीलेति। नीलांशुकमेव नीलवसनमेव प्रच्छदपट आस्तरणवस्त्रं तेन प्रावृतस्य उपर्याच्छादितस्य नातिमहतः अनतिविस्तृतस्य पर्यङ्कस्य पल्यङ्कस्य उपाश्रये ऊर्ध्वदेशे, धवलं शुभ्रं यत् उपधानम् उच्छीर्षकं तत्र न्यस्ता स्थापिता द्विगुणा भुजमध्यग्रन्थिभुग्नतया द्विरावृत्ता या भुजलता वामबाहुवल्ली तस्या अवष्टम्भेन आश्रयणेन अवस्थिताम्।

अत एव महावराहस्य नारायणस्य शूकराख्यतृतीयावतारस्य दंष्ट्रावलम्बिनीं दाढाश्रितां महीं वसुधामिव विद्यमानाम्। तथा च धवलोपधानन्यस्तभुजलता कादम्बरी महीव इत्युपमा, भुजलतावष्टम्भस्य वराहदंष्ट्रासाम्यादिति।

विस्तारिणीति। विस्तारिणा परितः प्रसारिणि, कादम्बर्या देहप्रभाजालमेव शरीरकान्तिसमूहमेव जलं सलिलं तस्मिन्, भुजलताः चामरग्राहिणीनां परिचारिकाणां बाहुलता एव विक्षेपाः क्षेपणीयदण्डाः तेषां परिश्रमैः आन्दोलनैः प्रतरन्तीभिः भ्रमन्तीभिरिव विद्यमानाभिः, चामरग्राहिणीभिः बालव्यजनधारिणीभिः परिचारिकाभिः उपवीज्यमानां सञ्चाल्यमानाम्। इह परम्परितरूपकं क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। चामरचारचालनार्थं हस्तौ न कम्प्येते अपि तु जले हस्तक्षेपेण तास्तरन्ति इत्यभिप्रायः।

निपतितेति। अधस्तात् अधः मणिकुट्टिमेषु रत्नबद्धभूमिषु निपतितप्रतिबिम्बतया सङ्क्रान्तप्रति-

जिसप्रकार प्रवाहित होता है, उसीप्रकार अभ्यन्तरस्थित एकत्रित आभूषणोंका किरण, उस उस मार्गसे निकलता था। वह (चन्द्रापीड) प्रतिस्रोतके समान उस किरणपुञ्जके मध्य होकर जब आगे गया तब उसने नानाविध अलौकिक-शोभा-शोभित एक श्रीमण्डप (गृह) देखा जिसके आगे प्रतिहारियोंका मण्डल बैठा था।

उस श्रीमण्डपके मध्यभाग (बीच) में, पलङ्गके चारों ओर नीचे कल्पलतासमूहके समान मण्डलाकारसे बैठीं, और देदीप्यमान आभूषणोंसे शोभित होतीं—अनेक सहस्र कन्याओंसे परिवृत, ऊपरमें नीलवर्णके एक आस्तरणवस्त्र (चादर) से आच्छादित ढके हुए जो बहुत विशाल न था ऐसे—एक पर्यङ्क (पलङ्ग) के मध्यमें श्वेतवर्ण उपधान (तकिए) पर वक्र करके रखी वाम-बाहु-लताके अवलम्बन (सहारे) से बैठी हुई, अतएव महावराहकी दंष्ट्रामें लम्बित लटकती पृथिवीके समान देखनेमें शोभायमान, कादम्बरीको उस (चन्द्रापीड) ने देखा। उसकी शरीरकान्तिके विस्तीर्ण जलमें, अपने अपने भुजलतारूप क्षेपणीदण्ड सञ्चालन-पूर्वक मानो

१. ···मण्डलोपविष्टेन, मण्डलेनोर्ध्वेणोपविष्टेन। २. क्वचित् 'नाति' इति पदं न दृश्यते, क्वचित् 'अतिमतः' इत्येव दृश्यते। ३. आश्रये, अपाश्रये।

नागैरिवापह्रियमाणाम्, उपान्ते च रत्नभित्तिषु दिक्पालैरिव पृथक्पृथक्[1] नीयमानाम् उपरि मणिमण्डपेष्वमरैरिवोत्क्षिप्यमाणाम्, हृदयमिव प्रवेशितां महामणिस्तम्भैः, आपीतामिव भवनदर्पणैः, अधोमुखेन श्रीमण्डपमध्योत्कीर्णेन विद्याधरलोकेन गगनतलमिवारोप्यमाणाम्, चित्रकर्म्मच्छलेनावलोकनकुतूहलसम्पुञ्जितेन त्रिभुवनेनेव परिवृताम्, भूषण-रव-प्रनृत्त-शिखि-शत[2]-चित्र-चन्द्रकेण भवनेनापि कौतुकोत्पादितलोचनसहस्रेणेव दृश्यमानाम्, आत्म-परिजनेनापि दर्शनलोभादुपार्जितदिव्यचक्षुषेवानिमिषनयनेन निर्वर्ण्यमानाम्, लक्षणैरपि

च्छायतया कारणेन, नागैः पातालतलवासिभिः सर्पैः अधस्तात् अपह्रियमाणामिव अन्यत्र नीयमानामिव। अनेन लावण्यातिशयादस्यां सर्पाणामप्यनुरागो व्यञ्जितः। अपि च, उपान्ते निकटे रत्नभित्तिषु मणिकुड्येषु निपतितप्रतिबिम्बतया कारणेन, दिक्पालैः इन्द्रप्रभृतिभिर्दशभिर्दिक्पतिभिः पृथक् पृथक् नीयमानामिव प्राप्यमाणामिव, परित एव प्रतिबिम्बपतनादित्यभिप्रायः। अनेनास्यां दिगीश्वराणामप्यासक्तिः सूचिता। उपरि मणिमण्डपेषु ऊर्ध्वस्थरत्नमयच्छदिःषु निपतितप्रतिबिम्बतया कारणेन, अमरैर्देवैः उत्क्षिप्यमाणामिव उत्तोल्य नीयमानामिव। अनेनास्यां देवानां भावावेशः प्रकाशितः। इह प्रत्येकविशेषण एव क्रियोत्प्रेक्षा।

हृदयमिति। महामणिस्तम्भैः महारत्नस्थूणाभिः हृदयं प्रवेशितामिव चित्तान्तर्गतामिव तेष्वपि प्रतिबिम्बपतनादित्यभिप्रायः। भवनदर्पणैः भित्तिलग्नादर्शैः, आपीतामिव कण्ठाधःकृतामिव, तेष्वपि प्रतिबिम्बपतनादित्याशयः। तथा अधोमुखेन, श्रीमण्डपस्य मध्ये छदिषि उत्कीर्णेन रत्नप्रस्तरं निस्तक्ष्य रचितेन, विद्याधरलोकेन विद्याधरपुत्तलिकाभिः गगनतलम् आकाशतलम् आरोप्यमाणामिव स्थाप्यमाना-मिव, तेष्वपि प्रतिच्छायपतनादिति भावः। अनेन चैतन्यरहितानामपि भावावेशप्रकाशनादस्या निर-तिशयं सौन्दर्यं द्योतितम्। इहाऽप्युक्तरूपेणैवालङ्काराः।

चित्रेति। चित्रकर्मच्छलेन आलेख्यमूर्त्तिव्याजेन, अवलोकनकुतूहलात् कादम्बर्या एव वीक्षणकौतु-कात् सम्पुञ्जितेन सञ्जातपिण्डीभावेन, त्रिभुवनेन त्रिविष्टपस्थितसमस्तवस्तुना, परिवृतामिव आच्छादि-तामिव। इह सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा। अनेन तत्रानेकविधमालेख्यं तस्याश्च निरतिशयं सौन्दर्यं ध्वन्यते।

भूषणेति। भूषणानाम् आभरणानां रवेण शब्देन प्रनृत्तं नर्त्तनाय प्रवृत्तं यत् शिखिशतं कलापिसमूहः तस्य चित्रचन्द्रिका विविधवर्णमेचका यत्र तेन, भवनेनापि तेन श्रीमण्डपेनापि कौतुकेन कादम्बरीवीक्षणकु-तूहलेन उत्पादितं जनितं लोचनसहस्रं नयनसमूहं येन तथोक्तेनेव सता मेचकानां नयनतुल्यत्वादित्याशयः, दृश्यमानमिव प्रेक्ष्यमाणमिव। क्रियोत्प्रेक्षा। अनेन तस्याः कलापिसम्पत्तिः सौन्दर्यातिशयश्च प्रतीयते।

आत्मेति। आत्मनः स्वस्य परिजनेनापि परिचारिकावर्गेणापि, दर्शनलोभात् कादम्बर्या एवावलो-कनतृष्णातः उपार्जितानि तपसा प्राप्तानि दिव्यानि निमेषरहितत्वात् स्वर्गीयाणि चक्षूंषि लोचनानि येन तथोक्तेनेव, अनिमिषनयनेन सता, निर्वर्ण्यमानाम् अवलोक्यमानाम्। उपार्जनक्रियोत्प्रेक्षणादुक्तालङ्कारः। अस्या निरतिशयसौन्दर्यं च ध्वन्यते।

लक्षणैरिति। लक्षणैरपि ध्वजवज्रप्रभृतिभिः सर्वसुलक्षणचिह्नैरपि रागाविष्टैरिव कादम्बर्यामासक्ति-

विचरण करती रहती ही चामरधारिणी परिचारिकाएँ चामर-आन्दोलन ( हवा ) करती थीं; नीचेकी मणि-मय-भूमिमें कादम्बरीके प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण, पातालवासी नागगण ही मानो उसे नीचे लिए जाते थे; एवं समीपवर्त्ती मणिमय भित्ति ( दीवारों ) में प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण, इन्द्रादिदिक्पालगण ही मानो उसको पृथक्-पृथक् रूपमें लिए जाते थे; और ऊपरके मणिमय तलेमें, प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण, अन्यान्य देवगण ही मानो उसे उठाकर लिए जाते थे। बड़े-बड़े मणिमय स्तम्भोंने मानो उसको अपने हृदयके भीतर प्रवेश कराया था; भवन-दर्पणोंने मानो उसका पान किया था; और श्रीमण्डपमें अधोमुखसे उत्कीर्ण ( खोदे ) हुए विद्याधरमूर्त्तियाँ मानो उसको आकासमें उठाकर लेजाती थीं—चित्रित प्रतिमूर्त्तिके व्याज ( बहाने ) से त्रिभुवन ही मानो उसके दर्शन करनेके कुतूहलसे आस-पासमें एकत्रित होकर परिवेष्टन किए ( घेर लिए ) थे। श्रीमण्डप भी मानो उसको देखनेके कौतुकसे आभूषणोंका शब्द सुनकर नाचते सैकड़ों मयूरोंके विचित्र चन्द्रक-रूपी हजारों नेत्रोंसे देखता था; उसके परिजनवर्ग भी, दर्शन करनेके लोभसे ही मानो दिव्य-नेत्र प्राप्त किए हों इस प्रकार निर्निमेष दृष्टि

१. क्वचित् पृथक् पृथगिति नास्ति। २. क्वचिदिह'···वितत' इति पदमधिकं विद्यते।

रागाविष्टैरिवाधिष्ठितसर्वाङ्गीम्[1], अकृतपुण्यमिव मुञ्चन्तीं बालभावम्, अदत्तामपि मन्मथावेश-परवशेनेव गृह्यमाणां यौवनेन, अविचलित-चरणराग-दीधितिभिरिव निर्गताभिः अलक्तकरसपाटलित-लावण्यजल-वेणिकाभिरिव गलिताभिः[2], निवसित[3]-रक्तांशुक-दशा-शिखाभिरिव[4] अवलम्बिताभिः, पादाभरण-रक्तांशुलेखा-सन्देहदायिनीभिः, अतिकोमलतया नखविवरेण वमन्तीभिरिव[5] रुधिरधारावर्षमङ्गुलीभि[6]रुपेताभ्यां क्षितितलतारागणमिव नखमणिमण्डलमुद्वहद्भ्यां विद्रुमरसनदीमिव चरणाभ्यां प्रवर्त्तयन्तीम्, नूपुर-मणि-किरण-चक्रवालेन गुरु-

गृहीतैरिव विद्यमानैः, अधिष्ठितानि आश्रितानि सर्वाणि समस्तानि अङ्गानि अवयवा यस्याः ताम्। ध्वजवज्रादिचिह्नानि यानि तस्यास्तत्तदङ्गेषु विद्यन्ते, तान्यपि कादम्बर्यामासक्तिवसादाश्रितानीति क्रियोत्प्रेक्षा। अनेन सर्वशुभलक्षणसम्पत्तिर्व्यञ्जिता।

अकृतेति। न कृतं विहितं पुण्यं सुकृतं येन तमिव, बालभावं शैशवं मुञ्चन्तीं त्यजन्तीम्। इह भावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा। सुकृतं विना कादम्बर्याः कायस्पर्शोऽपि न भवतीति सूचितम्।

अदत्तामिति। अदत्तामपि जनकादिभिरसमर्पितामपि मन्मथावेशपरवशेनेव कामावेगपराधीनेन सता यौवनेन तारुण्येन स्वयमेव गृह्यमाणां स्वीक्रियमाणाम्, कामावेशपरवसो हि पित्रादिसमर्पणस्य प्रतीक्षां न विदधते। परमार्थतस्तु यौवनं कामावेशपरवशं भवत्येव स्वाभाव्यात्। गुणोत्प्रेक्षा। तारुण्योद्गमश्च व्यञ्जितः।

अविचलितेति। इह तृतीयाबहुवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'अङ्गुलीभिः' इत्यस्य विशेषणानि। निर्गताभिः पादरागादेव प्रकटिताभिः अविचलिता निश्चलाः चरणयोः पादयोः रागस्य लौहित्यस्य या दीधितयः किरणाः ताभिरिव विद्यमानाभिः, सर्वत्र लौहित्यसादृश्यादित्याशयः। जात्युत्प्रेक्षा। गलिताभिः चरणद्वयादेव स्यन्दिताभिः, अलक्तकरसेन यावकद्रवेण पाटलितम् आरक्तीकृतं यत् लावण्यमेव निरतिशयसौन्दर्यमेव जलं तस्य वेणिकाभिः धाराभिरिव विद्यमानाभिः। इह जात्युत्प्रेक्षा सा च निरङ्गकेवलरूपकेण सङ्कीर्णा। अवलम्बिताभिः, लम्बमानाभिः, निवसितं परिधानीकृतं यत् रक्तांशुकं लोहितवसनं तस्य दशाशिखाभिः वर्तिकाग्रैरिव। जात्युत्प्रेक्षा। पादाभरणानां चरणपरिहितभूषणानां या रक्तांशुलेखा लोहितदीधितश्रेणी तस्याः सन्देहं भ्रमं ददातीति ताभिः। इह भ्रान्तिमान्। अतिकोमलतया अत्यन्तमृदुलतया कारणेन नखविवरेण नखान्तरेण करणेन रुधिरधारावर्षं रक्तप्रवाहवृष्टिं वमन्तीभिः उद्गिरन्तीभिः क्षितिविद्यमानाभिः। क्रियोत्प्रेक्षा। एवं विधाभिः अङ्गुलीभिः पादशाखाभिः उपेताभ्यां युक्ताभ्याम्, तलस्य पृथिवीतलस्य तारागणमिव नक्षत्रमण्डलमिव वर्त्तुलोज्ज्वलत्वसादृश्यादित्याशयः, नखमणिमण्डलं नखालङ्कारीभूतरत्ननिकरम्, उद्वहद्भ्यां धारयद्भ्याम्, चरणाभ्यां पादाभ्यां करणाभ्याम्, विद्रुमरसस्य प्रवालनिर्यासस्य नदीं सरितं प्रवर्त्तयन्तीम् अवतारयन्तीमिव विद्यमानां कादम्बरीम्। तथा च 'चरणाभ्यां विद्रुमरसनदीमिव प्रवर्त्तयन्तीम्' इति विशेषणवाक्यस्यायं निर्गलितोऽर्थः—कोमलरक्तयोश्चरणयोः अरुणा प्रभा समन्तात् प्रसरति अत एव विद्रुमरसनदीप्रवर्त्तनस्योत्प्रेक्षा। पादौ च अङ्गुलीभिरुपेतौ, अङ्गुलयश्च पादरागकिरणा इव, लावण्यजलवेणिका इव इत्यादिभिरुत्प्रेक्षाभिर्वर्णित इत्यहो कवयितुश्चातुर्यम्।

नूपुरेति। गुर्वोः बृहतोः नितम्बयोः कटिपश्चाद्भागयोः भरेण भारेण खिन्नं क्लान्तं यत् ऊरुयुगलं

(एकटक) से उसको देखा करते थे; समस्त शुभलक्षण भी उसमें आसक्ति रखकर ही मानो उसके समस्त अवयवोंमें अधिष्ठित (व्याप्त) हुए थे, शैशवावस्था पुण्य नहीं किया है इसलिए ही मानो वह उसको परित्याग कर (छोड़) दी थी; पिता-माताके द्वारा दान नहीं किए जाने पर भी, यौवनकाल कामावेश से ही मानो पराधीन होकर मानो अपने से ही उसका ग्रहण किया था; चरणोंकी स्थिर रक्तिमा (रंग) की किरणें मानो बाहर निकलती हों, अलक्तक-रस-रञ्जित (आल्ता, महावर के रस से युक्त हुए) लावण्यजलकी धारा बहती हो, एवं परिहित (पहने हुए) रक्तवस्त्रका वर्तिकाग्रभाग (पल्लोंकी कोरें) मानो लम्बित हुआ हो, ऐसे चरणालङ्कारोंमेंसे निःसृत होती—रक्तवर्ण किरणकी मालाओंका भ्रम उत्पन्न कराती और अत्यधिककोमल होनेके कारण नखरन्ध्रद्वारा मानो रुधिरधारा वमन करती (उगलती) अङ्गुलियोंवाले भूतलके नक्षत्रसमूहके समान नख-मणि-मण्डलसे समन्वित चरणोंसे वह मानो प्रवालमणिके रसकी एक नदीकी सृष्टि करती थी; उसके नूपुरोंके मणियोंमेंसे निकलती किरणें-

१. ...सर्वाङ्गाम्, सर्वावयवाम्। २. गालिताभिः, विनतचरण...। ३. निर्वसित...। ४. दशाभिरिव। ५. वर्षन्तीभिरिव। ६. अङ्गुलिभिः।

नितम्ब-भर-खिन्नोरुयुगल[1]-सहायतामिव कर्तुमुद्गच्छता स्पृश्यमानजघनभागाम्, प्रजापति-कर-दृढ-निपीडित[2]-मध्यभाग-गलितं जघन-शिलातल-प्रतिघाताल्लावण्यस्रोत[3] इव द्विधागत-मूरुद्वयं दधानाम्, सर्वतः प्रसारित-दीर्घ-मयूख-मण्डलेनेर्ष्यया परपुरुषदर्शनमिव निरुन्धता[4] कुतूहलेन विस्तारमिव तन्वता स्पर्शसुखेन रोमाञ्चमिव मुञ्चता काञ्चीदाम्ना नितम्बबिम्बस्य विरचित-परिवेषाम्, निपतित-सकल-लोक-हृदय-भरेणेवातिगुरुनितम्बाम्, उन्नतकुचान्तरित-मुख-दर्शन-दुःखेनेव क्षीयमाण-मध्यभागाम्, प्रजापतेः स्पृशतोऽतिसौकुमार्यात्[5] अङ्गुली-

---

सक्थिद्वन्द्वं तस्य सहायताम् ऐकदेशिकनितम्बभारवहनेन साहाय्यम्, कर्तुं विधातुमिव उद्गच्छता ऊर्ध्वं व्रजता, नूपुरयोः पादकटकयोः मणिकिरणानां रत्नरश्मीनां चक्रवालेन मण्डलेन स्पृश्यमानौ स्पर्शविषयीक्रियमाणौ जघनभागौ जघनदेशौ यस्यास्ताम्। इह क्रियारूपफलोत्प्रेक्षा।

प्रजापतीति। प्रजापतेः सृष्टिकर्त्तुः कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढनिपीडितः रचनासमये नितान्तकृशत्वसम्पादनाय अत्यन्तनिर्यातितो यो मध्यभागः कटिदेशः तस्माद् गलितं प्रच्युतम्, अथ च जघनमेव उरुमेव शिलातलं प्रस्तरतलं गुरुत्वात् कर्कशत्वाच्चेत्याशयः, तेन प्रतिघातात् कारणात् द्विधागतं द्विधाविभक्तं लावण्यस्रोत इव सौन्दर्यप्रवाह इव, उरुद्वयं जघनयुगलं दधानां धारयन्तीम्।

इह जात्युत्प्रेक्षा, सा च निरङ्गकेवलरूपकेण सङ्कीर्णा। अनेन च मध्यभागस्यातीव कृशत्वम्। जघनभागस्य गुरुत्वं कर्कशत्वञ्च, उरुद्वयस्य च लावण्यमयत्वं प्रतीयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

सर्वत इति। सर्वतः प्रसारितं परितो विस्तारितं मयूखमण्डलं किरणसमूहो येन तेन, अतएव ईर्ष्यया परपुरुषदर्शनम् अन्यपुरुषावलोकनं निरुन्धतेव अवरोधं विदधतेव निजावरणादित्याशयः, कुतूहलेन कौतुकेन विस्तीर्णस्यापि विस्तारं विशालं तन्वतेव विदधतेव निजरश्मिभिरित्याशयः, तथा स्पर्शसुखेन संश्लेषानन्देन रोमाञ्चं पुलकं मुञ्चता त्यजतेव निजरश्मिषु पुलकभ्रममुत्पादयतेत्यर्थः, काञ्चीदाम्नां रशनागुणेन नितम्बबिम्बस्य विरचितो विहितः परिवेषः परिवेष्टनं यस्यास्ताम्।

इह 'निरुन्धतेव' 'तन्वतेव' 'त्यजतेव' इति त्रिष्वेव क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, 'रोमाञ्चम्' इत्यादौ वृत्यनुप्रासच्छेकानुप्रासावलङ्काराविव्येतेषां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

निपतितेति। निपतितानि अत्यन्तरमणीयत्वादारूढानि सकलानां समस्तानां लोकानां जनानाम् यानि हृदयानि चेतांसि तेषां भरेण भरेणेव अतिगुरू अत्यन्तविशालौ नितम्बौ यस्यास्ताम्। इह हेतूत्प्रेक्षा।

उन्नतेति। उन्नताभ्याम् उच्चाभ्यां कुचाभ्यां स्तनाभ्याम् अन्तरितं निजोच्चत्वाद्व्यवहितं यत् मुखदर्शनं वदनावलोकनं तस्य दुःखेनेव कृच्छ्रेणेव कारणेन क्षीयमाणः कृशत्वं प्राप्यमाणो मध्यभागः कटिदेशो यस्यास्ताम्। इहाप्युक्तालङ्कारः।

प्रजेति। अतिसौकुमार्यात् कादम्बरीवपुषोऽतीवमार्दवत्वाद्धेतोः स्पृशतो सर्जनसमये दधतः प्रजापतेः

---

विशाल नितम्बयुगलके भारसे खिन्न हुई जङ्घाओंकी मानो सहायता करनेके लिए ही—ऊँचे उठकर जघनस्थलका स्पर्श करती थीं; उसके निर्माण करनेके समयमें विधाताके हाथसे अत्यन्त दबाए गए मध्यभाग ( कमर ) में से विगलित होकर ( गल कर ) गिरा, जघनरूपी शिलातलके प्रतिघात ( टक्कर ) से दो भाग में विभक्त हुआ लावण्य-स्रोतके समान हो ऐसे ऊरु-युगलको वह धारण की थी; चारों ओर दूर तक किरणें फैलाकर, ईर्ष्यावश मानो; पर-पुरुषके अवलोकनका निवारण करते, कौतुकसे मानो और भी अधिक विस्तार उत्पन्न करते, और स्पर्शसुखद्वारा अपने किरणोंमें रोमाञ्च भ्रमको मानो उत्पादन करते चन्द्रहारने उसके नितम्ब-बिम्बका परिवेष्टन कर रखा था। आकृष्ट होकर गिरे हुए सब लोगोंके हृदयके भारसे ही मानो उसके नितम्बमण्डल अत्यन्त भारी हो गए थे; उन्नत स्तनमण्डलसे व्यवहित हो जानेके कारण, मुखका दर्शन न मिलनेके दुःखसे ही मानो उसका मध्यभाग ( कमर ) क्षीण हो गया था; शरीर अत्यन्त कोमल होनेके कारण, निर्माण करनेके समयमें स्पर्श करते हुए

---

१. सहायम्, सहायिताम्। २. प्रजापतिदृढनिष्पीडित। ३. क्वचिदिह 'जल' इत्यधिकः पाठः। ४. रुन्धता। ५. सौकुमार्याद।

मुद्रामिव निमग्नां नाभिमण्डलीम्[1] आवर्त्तिनीमुद्वहन्तीम्, त्रिभुवन-विजय-प्रशस्ति-वर्णावलीमिव लिखितां मन्मथेन रोमराजिमञ्जरीं[2] बिभ्राणाम्, अन्तःप्रविष्ट-कर्ण-पल्लव-प्रतिबिम्बेनातिभर[3]-खिद्यमानहृदय-करतल-प्रेर्य्यमाणेनेव निष्पतता मकरकेतुपादपीठेन स्तनभरेण भूषिताम्, अधोमुख-कर्णाभरण-मयूखाभ्यामिव प्रसृताभ्याममल-लावण्य-जल-मृणाल-काण्डाभ्यां[4] बाहुभ्यां नख-किरण-विसर-वर्षिणा च माणिक्यवलयगौरवश्रमवशात्[5] स्वेदजल-धाराजालकमिव मुञ्चताकरयुगलेन समुद्भासिताम्, स्तनभारावनम्यमानमाननमिवोन्नमयता हारेणोच्चैः[6] करैर्गृहीत-

---

स्रष्टुः निमग्नां देहे प्रविष्टाम् अङ्गुल्या अङ्गुष्ठस्य मुद्रां चिह्नमिव आवर्त्तिनीम् आवर्त्तवत् अम्भसां भ्रमिवत् मध्यगर्तो यस्यास्तादृशीं नाभिमण्डलीम् उद्वहन्तीं धारयन्तीम्। जात्युत्प्रेक्षा।

त्रिभुवनेति। मन्मथेन कामेन लिखितां 'सौन्दर्येणानया त्रिभुवनं विजितम्' इति कामदेवसदृशेन (निर्णायकेन) लिपीकृतामित्यर्थः स्वस्य त्रिभुवनविजयस्य प्रशस्तिवर्णावलीम् आत्मप्रशंसाबोधकाक्षरपङ्क्तिमिव रोमराजिमञ्जरीं तनूरुहसमूहवल्लरीं बिभ्राणां दधानाम्। उक्तालङ्कारः।

अन्तरिति। अन्तःप्रविष्टं निर्मलत्वादन्तर्गतं कर्णपल्लवप्रतिबिम्बं श्रवणकिसलयप्रतिच्छायं यस्य तेन अतिभरेण कुचयोरत्यन्तभारेण खिद्यमानं पीड्यमानं हृदयं वक्षस्तेन कर्त्रा करतलेन (हृदयपतितमेतद्बिम्बमेव हृदयस्य करतलं तेन) 'करणेन, प्रेर्यमाणेन नोद्यमानेन, अतएव च निष्पतता निःसरता, मकरकेतोः कामस्य पादपीठेनेव पदासनेनेव विद्यमानेन स्तनभरेण भारवत् कुचमण्डलेन भूषितां मण्डिताम्। अयमाशयः—मृदु हृदयं कामपीठायितस्तनभारेण नितान्तं खिन्नम्, अतएव कर्णपल्लवप्रतिबिम्बरूपेण आत्मनः (हृदयस्य) करतलेन तत् (स्तनरूपं कामपदासनम्) खेदभरासहनतया बहिर्निस्सार्यमाणमस्ति, अतएव तु क्रमेण बहिर्निस्सरतीति। उक्तालङ्कारः अतएव हि कुचयोर्निर्मलत्वं कामोद्दीपकत्वं विशालत्वञ्च ध्वन्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

अधोमुखेति। प्रसृताभ्यां सुदूरपर्यन्तं विस्तृताभ्याम्, अधोमुखयोः अवाङ्मुखयोः कर्णाभरणयोः सुवर्णरचितश्रवणालङ्कारयोः मयूखाभ्यां स्थूलरश्मिभ्यामिव विद्यमानाभ्याम्। उक्तालङ्कारः, अतएव च भुजयोर्निर्मलत्वं ध्वन्यते। तथा अमलं स्वच्छं यत् लावण्यमेव जलं तस्य मृणालकाण्डाभ्यां बिसदण्डरूपाभ्यां बाहुभ्यां भुजाभ्यां समुद्भासितां शोभितामिति सम्बन्धः। इह परम्परितरूपकम्, अतएव च भुजयोर्मार्दवत्वं प्रतीयते। तथा नखकिरणानां करशाखारश्मीनां विसरं समूहं वर्षति वृष्टिं करोतीति तेन, अतएव माणिक्यवलययोः रत्नमयकटकयोः गौरवेण उद्वहनभारेण यः श्रमः तद्वशात्, अनेन नितान्तकोमलत्वं ध्वन्यते, स्वेदजलधाराणां प्रस्वेदसलिलप्रवाहाणां जालकं समूहमिव मुञ्चता त्यजता करयुगलेन हस्तद्वयेन च समुद्भासितम्।

इह नखकिरणसमूहे स्वेदसलिलप्रवाहसमूहत्वमुत्प्रेक्षितमिति जात्युत्प्रेक्षा।

स्तनेति। स्तनयोर्वक्षोजयोः भारेण अवनम्यमानं नम्रत्वं नीयमानम् आननं मुखम् उन्नमयतेव ऊच्चैः कुर्वतेव विद्यमानेन, हारेण मुक्ताकलापेन कर्त्रा, उच्चैः उत्तोलितैः करैः रश्मिभिरेव हस्तैः करणैः, गृहीत चिबुकदेशः अधराधोभागो यस्यास्ताम्।

---

विधाताके मानो अङ्गुष्ठ का चिह्न जिसके भीतर निमग्न हो गया हो ऐसे-नदीके जलावर्त्त के समान-गोल नाभि-
मण्डलको उसने धारण किया था; कामदेवने मानो अपने त्रिभुवन-विजयकी कीर्तिसूचक वर्णमाला लिखकर रखा
हो इस प्रकार की रोमपंक्तिको वह धारण करती थी; कामदेवके पादपीठके समान भारी उसका स्तन-युग—इस
प्रकार बाहर निकल पड़ा था मानो कर्णपल्लवके प्रतिबिम्बका अन्तःप्रवेश हो जानेके कारण हृदय, अत्यन्त भारसे
परिश्रान्त हो (थक) कर नीचे दब जानेसे, हस्तद्वारा उसको ठेल देता (सरकता) हो; उसके बाहु, मानो कर्णा-
भरणके अधोमुख फैलती किरणोंके समान एवं निर्मल लावण्य-जलमें उगे मृणालदण्डके समान प्रतीत होते थे;
नखोंमेंसे बरसते किरणोंके मेहसे उसके दोनों हाथ ऐसे दीखते थे मानो मणिमय-वलय (कङ्कण) पहननेके भारसे
श्रान्त होकर घर्मजल (पसीने) की धारा गिराते हों; स्तनके भारसे अवनत हुए (नीचे झुके) मुखमण्डलको
मानो फिरसे उन्नत (ऊँचा) करनेके लिए किरणमय हस्त उठा करके हार उसके चिबुकदेश (अधराधो भाग),

---

१. नाभिमण्डलम्, नाभिस्थलीम्। २. रोमराजी। ३...भर...। ४...मृणालकाभ्यामिव, मृणालाभ्यां।
५. वहनश्रमात्। ६. ऊर्ध्वैः।

चिबुकदेशाम् , अभिनवयौवनपवनक्षोभितस्य रागसागरस्य तरङ्गाभ्यामिवोद्गताभ्यां विद्रुमलतालोहिताभ्यामधराभ्यां रक्तावदातस्वच्छकान्तिना च मदिरारसपूर्णमाणिक्यशुक्तिसम्पुटच्छविना कपोलयुगलेन रति-परिवादिनी-रत्नकोण-चारुणा नासावंशेन च विराजमानाम् , गतिप्रसरनिरोधिश्रवणकोपादिव किञ्चिदारक्तापाङ्गेन निजमुखलक्ष्मीनिवासदुग्धोदधिना लोचनयुगलेन लोचनमयमिव[1] जीवलोकं कर्त्तुमुद्यताम् , उन्मदयौवनकुञ्जरमदराजिभ्यां मनः-

---

इह 'उन्नामयता इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, करशब्दश्लेषमूलकेन चिबुककर्मकस्पर्श-ग्रहणयोरभेदाध्यवसायेनातिशयोक्तिश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

अभिनवेति । अभिनवं नूतनं यौवनं तारुण्यमेव पवनः चापल्यकारणत्वाद्वायुः तेन क्षोभितस्य उद्वेलितस्य रागोऽनुराग एव सागरः समुद्रः तस्य, उद्गताभ्याम् उत्थिताभ्यां तरङ्गाभ्यां वीचिभ्यामिव, तथा विद्रुमलतावत् प्रबालव्रततिवत् लोहिताभ्यां रक्ताभ्याम् अधराभ्यां दन्तच्छदाभ्यां विराजमानां शोभमानामिति सम्बन्धः । तथा रक्ता लोहिता च अवदाता धवला च स्वच्छा निर्मला च कान्तिर्द्युतिर्यस्य तेन, अतएव मदिरारसेन मद्यद्रवेण पूर्णं यत् माणिक्यशुक्तिसम्पुटं रत्नमयशुक्तिपुटं तद्वत् छविर्द्युतिर्यस्य तेन, कपोलयुगलेन गण्डद्वयेन च विराजमानाम् । तथा रतेः कामपत्न्याः या परिवादिनी सप्ततन्त्रीयुता वीणा तस्या रत्नकोणवत् मणिमयवादनदण्डवत् चारुणा रमणीयेन,कामोद्दीपनसूचनाय 'रतिपरिवादिनी' इत्यभिहितम् । नासावंशेन नासिकादण्डेन च विराजमानाम् ।

इह'……यौवनपवने'त्यत्र 'रागसागर' इत्यत्र च परम्परितरूपकम् , 'तरङ्गाभ्याम्' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, '……लतालोहिताभ्याम्' इत्यत्र लुप्तोपमा चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः । '……सम्पुटच्छविना' इत्यत्र '……रत्नकोणचारुणा' इत्यत्र च लुप्तोपमालङ्कारः । तथा 'तरङ्गाभ्याम्' इत्यत्र रक्तविशेषणानुपादनेन न्यूनपदत्वदोषस्तु न शङ्क्यः, रक्तौ च क्रोधरागौ' इति कविसमयानुसारात् अनुरागसागरस्य रक्तत्वेन तत्तरङ्गयोरपि रक्तत्वावगमादिति कुशलाः । 'विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी' इत्यमरः ।

गतीति । गतिप्रसरनिरोधिनोः श्रवणयोः कोपादिव स्वस्य गतिवेगनिरोधोत्पन्नो यः श्रोत्रद्वयं प्रति क्रोधस्तस्मादिवेत्यर्थः, किञ्चिदारक्तौ ईषदालोहितौ अपाङ्गौ प्रान्तदेशौ यस्य तेन, अनेन नेत्रद्वयस्य श्रोत्रान्तविस्तृतत्वं प्रतीयते । निजम् आत्मसम्बन्धि यन्मुखं वदनं तस्य लक्ष्मीः शोभैव श्रीः तस्या निवासे वसतौ दुग्धोदधिना क्षीरसमुद्रेण, अनेन नयनयोरेव मुखशोभोत्पादकत्वं ध्वन्यते । एवंविधेन लोचनयुगलेन नेत्रद्वयेन जीवलोकं लोचनमयमिव निजावलोकनाय केवलनेत्रव्याप्तमिव कर्त्तुमुद्यतां विधातुं तत्पराम् , अनेन नेत्रद्वयस्यानुपमसौन्दर्यं ध्वन्यते ।

इह 'गति………कोपादिव' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः,'……लक्ष्मीनिवासे'त्यादौ श्लिष्टपरम्परितरूपकम् । 'लोचनमयमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा । तथा 'लोचनयुगलेन लोचनमयमिव'इत्यत्र लोचनपदस्य द्विरुपादानात् पुनरुक्ततादोषः समापतति, तेन 'तन्मयमिव' इति पाठविधानेनादोषात् ।

उन्मदेति । यौवनं तारुण्यमेव कुञ्जरो दुष्प्रतिषेध्यवेगत्वाद्धस्ती इति यौवनकुञ्जरः, उन्मद उन्मत्तो

---

दाढ़ी को धारण करता था; उसके प्रवालके समान रक्तवर्ण ओष्ठयुगल, नवयौवन-रूप वायु-वेगसे उद्वेलित ( क्षोभ पाए हुए ) अनुराग सागरमेंसे उठती तरङ्गोंके समान दीखते थे; उसके गण्डयुगल ( गाल ) की शोभा, निर्मल और श्वेतरक्त-मिश्रित ( स्वच्छ गुलाबी ) थी, अत एव वे गण्डयुगल, मद्य-रससे परिपूर्ण मणिमय शुक्तिकाके सम्पुटके समान दीप्ति पाते थे; उसकी नासिका, रति-देवीके वीणा के रत्नमयमयवादनदण्ड (मिजराव) के समान विशेष सुन्दर लगती थी; उसका नयन युगल, अपने मुख-लक्ष्मीके वसने का क्षीरसागर-स्वरूप था, जिसके प्रान्तभाग कोने और भी दीर्घ होनेके लिए अपने गतिके मार्गमें विघ्न डालते कानों पर मानो क्रुद्ध होकर ही ईषद् आरक्तवर्ण ( जरा-सा लाल ) हो गए थे; उससे समस्त जीवलोकको मानो वह लोचनमय करनेको उद्यत हुई थी; मदमत्त यौवन-हस्तीकी दो मद-जल-रेखाके समान दोनों भौएँ और अनुरक्त कामदेवके

---

१. नयनमयमिव ।

शिलापङ्कलिखितेन च रागाविष्टेन[1] मन्मथहृदयेनेव वदनलग्नेन तिलकबिन्दुना विद्योतितललाटपट्टाम्, उत्कृष्टहेमतालीपट्टाभरणमयं[2]मासुक्तकर्णोत्पलच्युतमधुधारासन्देहकारिणं कर्णपाशं दोलायमानपत्र-मकर[3]-माणिक्यकुण्डलं दधतीम्, पाटलीकृतललाटेन सीमन्तचुम्बिन्चूडामणिः[4] क्षरतांशुजालेन मदिरारसेनेव प्रक्षाल्यमानदीर्घकेशकलापाम्, देहार्द्धप्रविष्टहर-गर्वित-गौरी-विजिगीषयेव सर्वाङ्गानुप्रविष्ट-मन्मथदर्शितसौभाग्यविशेषाम्, उरःसमारोपितैकलक्ष्मी[6]-मुदितनारायणावलेप-हरणाय प्रतिबिम्बकैर्निजरूपतो[7] लक्ष्मीशतानीव सृजन्तीम्,

---

यो यौवनकुञ्जरः तस्य मदराजिभ्यां दानवारिरेखारूपाभ्यां भ्रूलताभ्याम्, मनःशिलाया 'मैनशिला' इति निजाभिधेयप्रख्यातस्य धातुविशेषस्य पङ्केन निर्यासेन लिखितश्चित्रितः तेन, रागाविष्टेन अनुरागसंयुतेन मन्मथस्य कामदेवस्य हृदयेनेव, हृदयस्यापि दार्शनिकदिशा बिन्दुरूपत्वादित्याशयः, वदनलग्नेन आननसंसक्तेन तिलकबिन्दुना विद्योतित उद्भासितः ललाटपट्टो भालफलकं यस्यास्ताम्।

इह 'उन्मदयौवनकुञ्जरे'त्यत्र परम्परितरूपकम्, मन्मथहृदयेनेव' इत्यत्र च जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

उत्कृष्टेति। उत्कृष्टम् अत्यन्तसुन्दरं यत् हेम्नः सुवर्णस्य तालीपट्टवत् तालीपत्रवत् आभरणम् आभूषणं तन्मयं तद्व्याप्तम् आसुक्तात् परिधानीकृतात् कर्णोत्पलात् श्रवणकुवलयात् च्युता गलिता या मधुधारा मकरन्दप्रवाहः तस्याः सन्देहं भ्रमं कर्त्तुं शीलं यस्य तम्, तन्मधुप्रवाहस्यापि पीतत्वादित्याशयः, तथा दोलायमानं दोलावदाचरन्तं पत्रं स्वर्णपत्रं यत्रैवंविधं मरकतमाणिक्याभ्यां निर्मितं कुण्डलं यत्रेति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः, कर्णे कुण्डलं कुण्डले च तदवयवभूतं स्वर्णपत्रमिति तदर्थः, एतादृशं कर्णपाशं प्रशस्तकर्णं दधतीं धारयतीम्। इह भ्रान्तिमानलङ्कारः।

पाटलीति। सीमन्तः केशवेशः तं चुम्बति स्पृशतीति सीमन्तचुम्बी तस्मात् तादृशात् चूडामणेः शिरोमणेः क्षरता स्रवता, तथा पाटलीकृतं श्वेतरक्तीकृतं ललाटं भालं येन तेन, मदिरारसेनेव मद्यद्रवेणेव विद्यमानेन लौहित्यसादृश्यादित्याशयः, अंशुजालेन किरणसमूहेन, प्रक्षाल्यमानः स्पृश्यमानः दीर्घो विस्तृतः केशकलापः कचसमूहो यस्यास्ताम्। उपमा।

देहार्द्धेति देहार्द्धे शरीरार्द्धमात्रे प्रविष्टेन हरेण महेशेन गर्विता अहङ्कारयुता या गौरी पार्वती तस्या विजिगीषयेव विजेतुमिच्छयेव, सर्वेषु समस्तेषु अङ्गेषु अवयवेषु अनुप्रविष्टेन शिवद्वेषिणा मन्मथेन मदनेन दर्शितः प्रकाशितः सौभाग्यविशेषः शैलात्मजातः शुभादृष्टातिशयं यस्यास्ताम्, शरीरार्द्धमात्रप्रविष्टापेक्षया निखिलावयवप्रविष्टदेवतायाः सर्वतोऽपि सौभाग्यविशेषः सम्भवितुमर्हतीत्याशयः। हेतूत्प्रेक्षा।

उर इति। उरसि वक्षःस्थले समारोपिता स्थापिता या एका केवला लक्ष्मीः श्रीः तया मुदितस्य प्रसन्नस्य नारायणस्य विष्णोर्यः अवलेपः 'मत्सदृशः कोऽपि नास्ति यान्येषां लक्ष्मीः सा बहिरेव संयोग-वियोगमात्रेण न शरीरान्तर्गता' इत्येवं तल्लक्ष्मीसमारोपणजनितोऽहङ्कारः तस्य हरणाय दूरीकरणाय, प्रतिबिम्बकैः कुड्यादिषु स्वस्य प्रतिच्छायाभिः, निरूपतः स्वाकारात् लक्ष्मीणां श्रीणां शतानि समूहान् सृजन्तीमिव कुर्वन्तीमिव, एकैकप्रतिच्छायस्यैवैकैकश्रीसदृशत्वादित्याशयः।

इह 'सृजन्तीमिव' इति क्रियोत्प्रेक्षा। अनेनास्या लक्ष्मीसदृशसौन्दर्यं प्रतीयते।

---

हृदयके समान मानों वदन पर चित्रित हो ऐसा तरल मनःशिलाके लेपका तिलक-बिन्दु उसके ललाटदेशमें विशेष शोभा पाता था; सुन्दर कर्णमें उसने उत्कृष्ट सुवर्णके ताली-पट्ट-भूषणमय कर्णपाश पहने थी, जिनमें सुवर्णके पत्ते हिलते थे ऐसे मरकत और माणिक्यके कुण्डल पहने थी,—उनसे मानो कमलमें से मधुधारा छूटती हो ऐसा भ्रम उत्पन्न होता था; ललाटदेशको श्वेतरक्त (गुलाबी) कर देती, सीमन्त पर पहनी चूड़ामणिमेंसे मदिराके समान श्वेतरक्तवर्ण निकलती किरणें दीर्घकेशकलापको प्रक्षालित करती थीं; महादेवने शरीरके केवल अर्धांशमें पार्वतीको प्रविष्ट कर लिया था, उससे पार्वतीको जो गर्व उत्पन्न हुआ, उसको हटानेकी अभिलाषासे ही मानो कामदेव उस (कादम्बरी) के समस्त अङ्गमें प्रवेश कर पार्वतीके अतिरिक्त इसके सौभाग्यको अधिक प्रकाशित करता था; एकमात्र लक्ष्मीको वक्षःस्थल पर स्थापित करनेसे ही आनन्दित-चित्त नारायणको जो अहङ्कार उत्पन्न हुआ था, उसे दूर करनेके लिए ही मानो वह अपनी आकृतिमें से प्रतिबिम्बद्वारा सैकड़ों लक्ष्मियोंको उत्पन्न करती थी;

---

१. रागाविष्ट···। २. एकमाश्लिष्टहेमताटीपुराभरणमपरम्। ३.···मरकत···। ४.···चुम्बितचूडामणेः। ५. रागेण। ६. उरःसमारोपितलक्ष्मी···। ७. एकलक्ष्मी···।

उत्तमाङ्गनिहितैकचन्द्रविस्मितहराभिमाननाशाय विलासस्मितैश्चन्द्रसहस्राणीव दिक्षु विक्षिपन्तीम्, निर्दयदग्धैकमन्मथप्रमथनाथरोषेणेव प्रतिहृदयं मन्मथायुतान्युत्पादयन्तीम्, रजनी-जागरखिन्नस्य[१] परिचितचक्रवाकमिथुनस्य स्वप्तुं क्रीडानदिकासु कमलधूलिबालुकाभिर्बालपुलिनानि कारयन्तीम्, परिजननूपुररवप्रस्थितं वल्लभञ्च[२] हंसमिथुनं[३] मृणालनिगडेन बद्ध्वानय' इति हंसपालीमादिशन्तीम्, आभरणमरकतमयूखान् लिहते[४] भवनहरिण-शावकाय[५] सखीश्रवणादपनीय यवाङ्कुरप्रसरं[६] प्रयच्छन्तीम्, आत्मसंवर्द्धित[७]-लता-प्रथम-कुसुम-

---

उत्तमेति। उत्तमाङ्गे मस्तके निहितेन स्थापितेन एकेनैव अद्वितीयेनैव चन्द्रेण शशिना विस्मितस्य स्वस्य तत्स्थाने आश्चर्ययुक्तस्य हरस्य महेशस्य यः अभिमानः चन्द्रस्थापनजनितो गर्वः तस्य नाशाय दूरीकरणाय विलासस्मितैः सविभ्रमेषद्धासैः दिक्षु आशासु चन्द्राणां सहस्राणि समूहान् विक्षिपन्तीमिव विकिरन्तीमिव, एकैकस्यैव स्मितस्य एकैकचन्द्रसदृशत्वादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

निर्दयेति। निर्दयं निष्करुणं यथा स्यात्तथा दग्धो भस्मीकृत एकोऽद्वितीयो मन्मथः कामदेवो येन तथोक्ते प्रमथनाथे महेशे यो रोषः कोपः तेनेव कारणेन, तरुणानां प्रतिहृदयं प्रतिचित्तं मन्मथानाम् अयुतानि दशसहस्राणि समूहानित्यर्थः उत्पादयन्तीं जनयन्तीम्, कटाक्षादिनेति शेषः।

इह हेतूत्प्रेक्षा। अनेन चास्या निखिलानामेव मदनोद्दीपकत्वं व्यञ्जितम्।

रजनीति। रजन्यां रात्रौ जागरणेन अन्योन्यवियोगक्लेशाज्जागरेण खिन्नस्य क्लान्तस्य, परिचितं यत् चक्रवाकमिथुनं रथाङ्गयुगलं तस्य इह सम्बन्धविवक्षया कर्त्तरि षष्ठी, तुमुन् योगे 'न लोकाव्यये'ति षष्ठीनिषेधात्। स्वप्तुं निद्रातुं क्रीडानदिकासु खेलातटिनीषु कमलधूलयः पङ्कजपरागा एव बालुकाः सिकताः ताभिः, बालपुलिनानि लघुसैकतानि, कारयन्तीं परिजनवर्गैरिति शेषः। अनेन तस्याः परिचितेषु निरतिशयवात्सल्यं पङ्कजसम्पच्च प्रतीयते।

परिजनेति। 'परिजनस्य प्रचलितायाः कस्याश्चित्परिचारिकायाः, नूपुररवेण पादकटकशब्देन तदनुसरणेनेत्यर्थः, प्रस्थितम् इतो यातम्, वल्लभं मम प्रियं च हंसमिथुनं चक्राङ्गयुगलं मृणालनिगडेन बिसस्वरूपशृङ्खलया बद्ध्वा नियम्य आनय मदन्तिकं प्रापय' इति एवं हंसपालीं स्वस्य चक्राङ्गरक्षिकां काञ्चित् परिचारिकां सेविकाम् आदिशन्तीम् आज्ञापयन्तीम्। अनेनास्याः हंसयुगलप्रियत्वं ध्वनितम्।

आभरणेति। आभरणभूता भूषणभूता ये मरकतमणयः अश्मगर्भाणि तेषां मयूखान् श्यामरश्मीन् लिहते तृणभ्रान्त्या जिह्वया आस्वादयते भवनहरिणशावकाय गृहमृगशिशवे सखीश्रवणात् सहचरी श्रोत्रात् अपनीय दूरीकृत्य यवाङ्कुरप्रसरं विस्तृतयवकिसलयं प्रयच्छन्तीं ददतीम्।

इह मरकतमणिमयूखानां श्यामत्वाद्धरितघासबुद्ध्या भवनहरिणशावकैरास्वादनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः प्रतीयते।

आत्मेति। आत्मना स्वयमेव संवर्द्धिताया जलसेकादिना वृद्धिं प्रापिताया लताया वल्लया प्रथम

---

एकमात्र चन्द्रको मस्तकमें धारण करनेमें ही विस्मित हुए महादेवको जो अभिमान हुआ था, उसे विनष्ट करनेके लिए अपने विलासमय ईषद् हास्य से वह मानो प्रत्येक दिशामें हजारों चन्द्रका निक्षेप करती ( चन्द्र फेंकती ) थी; महादेवने निर्दयतासे एकमात्र कामदेवको दग्ध कर ( जला ) दिया था, उससे मानो कुपित होकर ही वह प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें लाखों काम उत्पन्न करती थी; परस्पर वियोगजनित रात्रिमें जागरण करनेसे खिन्न हुए परिचित ( पालतू ) चक्रवाक-दम्पतिके निद्राके लिए, क्रीडानदियोंके अभ्यन्तरमें कमल-धूलि-रूप बालुका (रेती) के द्वारा वह छोटे-छोटे पुलिन बनवाती थी; 'मेरे प्रीति-भाजन हंस-मिथुन' किसी परिचारिकाके नूपुर शब्दका अनुसरण कर इस स्थानसे चला गया है, इसलिए तुम उसे-मृणालकी रस्सीसे बाँध कर ले आओ—इस प्रकार वह हंस-रक्षिणी परिचरिकाको आज्ञा दे रही थी; आभूषणोंमें जड़े हुए मरकतमणिकी किरणोंको तृण मानकर चाटते हुए गृहपालित हरिणके बच्चों को वह किसीके कानमें से एक विस्तृत यवाङ्कुरको निकालकर देती थी; अपनेसे

---

१. खिन्नस्य। २. दुर्लभञ्च। ३. प्रस्थितं च वल्लभहंसमिथुनं। ४. लिहते च, लिहते हरिततृणसूचीलोभेन। ५. क्वचित् 'भवन' पदं न दृश्यते। ६. प्रसवं। ७. आत्मवर्द्धित।

निर्गम-निवेदनागतामुद्यानपालीमशेषाभरणदानेन सम्मानयन्तीम्, उपनीत-विविध-वन-कुसुम फल-पूर्ण-पत्रपुटामविज्ञायमानालापतया हासहेतुं पुनः पुनः क्रीडापर्वत[1]-पातृ-शवरीमालापयन्तीम्[2], करतलविनिहतैः[3] मुहुर्मुहुरुत्पतद्भिश्च[4] मुखपरिमलान्धैर्नीलकन्दुकैरिव[5] मधुकरैः क्रीडन्तीम्, पञ्जरहारीतकँ[6]-रुत-श्रवण-कृत-दुष्ट-स्मितां चामरग्राहिणीं विहस्य लीलाकमलेन शिरसि विघट्टयन्तीम्, मुक्ताफल-खचित-चन्द्रलेखिका-संक्रान्तप्रतिमां[7] स्वेदजल-बिन्दुजाल[8]-चित-नख-पदाभिप्रायेण ताम्बूलकरङ्कवाहिनीं पयोधरे[9] पटवासमुष्टिना ताडयन्तीम्,

आद्यो यः कुसुमनिर्गमः प्रसूननिस्सरणं तस्य निवेदनाय कथनाय आगतां प्राप्ताम्, उद्यानपालीम् उपवनरक्षाकारिणीम् अशेषाभरणदानेन समस्तालङ्कारप्रदानेन संमानयन्तीं संमानं कुर्वन्तीम्।

उपनीतेति। उपनीतम् आनीतं विविधैः नानाप्रकारैः वनकुसुमफलैः अरण्यप्रसूनसस्यैः पूर्णं पत्रपुटं यया ताम्, अविज्ञायमाना अत्यन्तविरूपशब्दप्रचुरत्वाद्विशेषेणाप्रतीयमानार्थका आलापा भाषा यस्याः तस्या भावः तया कारणेन, हासहेतुं कुतूहलेन हास्यनिमित्तीभूताम्, क्रीडापर्वतं खेलागिरिं पाति रक्षतीति क्रीडापर्वतपात्री सा चासौ शबरी किरातपत्नी चेति ताम्, पुनः पुनर्भूयोभूयः आलपन्तीं कुतूहलविधानाय निजभाषां भाषयन्तीम्। अनेन कादम्बर्या निरतिशयकुतूहलप्रियत्वं प्रतीयते। प्राकृतपर्वते निवसन्ती शबरी मानवीं भाषां न जानाति, किन्तु कृत्रिमक्रीडापर्वतपालिकाऽपि निजभर्त्तुर्भाषां न ज्ञायत इति कल्पनातिशयमेव महाकवेरिति विभावयन्तु सुधियः।

करतलेति। नीलकन्दुकैरिव श्यामवर्णगेण्डुकैरिव करतलाभ्यां हस्तलताभ्यां विनिहतैः दूरीकरणाय उत्तोलनाय च ताडितैः, अतएव मुहुर्मुहुः वारंवारम् उड्डयनं कुर्वद्भिः, मुखस्य वदनस्य परिमलेन आमोदेन अन्धैः मत्तैः, मधुकरैर्भ्रमरैः क्रीडन्तीं खेलन्तीम्।

इह 'नीलकन्दुकैरिव' इत्युपमा, अनया च तथाविधभ्रमरैः क्रीडनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः सङ्कीर्यते। तया च तद्वदनस्य निरतिशयामोदवत्त्वं प्रतीयते।

पञ्जरेति। पञ्जरे पक्षिबन्धनगृहे विद्यमानो हारीतको मृदङ्कुरः 'हरियाल' इति लोकप्रसिद्धः पक्षिविशेषः तस्य रुतश्रवणेन कूजनाकर्णनेन कृतं विहितं दुष्टं निन्दासूचकं स्मितं यया ताम्, चामरग्राहिणीं बालव्यजनधारिणीं विहस्य हास्यं विधाय शिरसि मस्तके लीलाकमलेन लीलापद्मेन विघट्टयन्तीं ताडयन्तीम्। अनेन तस्या अन्यनिन्दया विरक्तिर्ध्वनिता।

मुक्ताफलेति। मुक्ताफलैः रसोद्भवैः खचिता उपरि सम्बद्धा या चन्द्रलेखिका लघुचन्द्राकृतिःआभूषणविशेषः तस्याः सकाशात् सङ्क्रान्ता स्तनमण्डले एव पतिता प्रतिमा प्रतिच्छाया यस्यास्ताम्, ताम्बूलकरङ्कवाहिनीं नागवल्लीदलपिटिकाधारिणीम्, स्वेदजलबिन्दुजालेन घर्मसलिलकणसमूहेन चितं व्याप्तं यत् नखपदं कामुककृतनखक्षतं तदभिप्रायेण तदाशयेन तत्सम्भावनां व्यञ्जयित्वेत्यर्थः, पटवासमुष्टिना मुष्टिपरिमितरक्तपिष्टातकचूर्णप्रक्षेपेणेत्यर्थः पयोधरे कुचमण्डले ताडयन्तीं विघट्टयन्तीम्, तच्चिह्नाच्छादनाभिप्रायेणेत्याशयः। लघुचन्द्रलेखा प्रतिच्छाया नखचिह्नसदृशी लघुमुक्ताप्रतिबिम्बानि च स्वेदसलिलकण-

ही जिस लताको परिवर्धित की थी उसमें निकले हुए प्रथम-पुष्पको निवेदन करनेके लिए आई हुई उद्यानपालिका ( मालिन ) को वह नानाविध आभूषणोंको देकर सन्तुष्ट करती थी; क्रीड़ापर्वतकी रक्षा करनेके लिए जिसको नियुक्त किया था वह शबरी ( भीलनी, म्लेच्छविशेष ), नानाविध वन्यपुष्प और फलसे परिपूर्ण एक पत्रपुटक ( पत्तोंकी दोनी ) को लेकर उपस्थित हो निवेदन करती थी, किन्तु उसके कहनेके अभिप्रायको अच्छी तरहसे नहीं समझनेके कारण हँस-हँस कर वह उससे बार-बार बातें करती थी; हाथसे नीचे झटकार देने पर भी बारम्बार उड़कर ऊपर आते, मुख-सौरभसे अँधे बने भ्रमरके साथ कन्दुक ( काली गेंद ) के समान क्रीड़ा करती थी; पञ्जरस्थित हारीतका शब्द सुनकर निन्दासूचक हास्य करती अपनी किसी चामरधारिणीके मस्तक पर हँसती-हँसती लीलापद्मद्वारा ताड़न करती थी; ताम्बूलकरङ्कवाहिनीके कुचमण्डल पर उसकी ही मुक्ताखचित चन्द्रलेखाका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वहाँ घर्मबिन्दुसे परिपूर्ण नख-चिह्न जान कर मुष्टिपरिमित लोहितपिष्टातक ( अबीर ) चूर्ण लेकर वह उस

१. '''पत्र'''पर्वतकशबरीम्, पर्वतकपातृ''' । २. आलापन्तीम् । ३. विनिहितैः । ४. अभिहतैर्मुहुरुपसर्पद्भिरुपसर्पद्भिश्च । ५. नीलकञ्चुकैरिव । ६. हारीतकलरुत ! ७. लेखिकाप्रतिम । ८. '''जालाच्छित । ९. स्तनतटे ।

रत्नकुण्डल[1]प्रतिबिम्ब-सान्द्र-दत्त-नव-नखपद-मण्डलाशङ्कया चामरग्राहिणीं विहस्य कपोले प्रसादव्याजेन दत्तेन[2] आत्मकर्णपूरपल्लवेनाच्छादयन्तीम्, पृथिवीमिव समुत्सारित-महाकुलभू[3]भृद्वर-व्यतिकर-शेषभोगनिषण्णाम्[4], मधुमासलक्ष्मीमिव षट्पद-पटलापह्रियमाण कुसुम-रजोधूसर-पादपरागाम्, शरदमिवोत्पादितमानसजन्मपक्षिरवापनीतनीलकण्ठमदाम्,

समूहाकाराणीति कवेरभिप्रायः। अनेनापि नितान्तकुतूहलप्रियत्वमस्या ध्वन्यते।

रत्नकुण्डलेति। रत्नकुण्डलस्य प्रतिबिम्बे बालव्यजनधारिण्या एव गण्डपतिते तदीयरक्तमणिमय-श्रवणकुण्डलप्रतिच्छाय इत्यर्थः, सान्द्रं गाढं यथा स्यात्तथा दत्तं रतिकाले कामुकेन अर्पितं नवं नूतनं यत् नखपदमण्डलं गोलाकारनखरचिह्नं तस्य आशङ्कया तत्सन्देहं व्यञ्जयित्वेत्यर्थः, विहस्य हास्यं विधाय, प्रसादव्याजेन अनुग्रहच्छद्मना, दत्तेन आत्मनैवार्पितेन, आत्मनः स्वकीयस्य कर्णपूरपल्लवेन श्रवणाभरण-किसलयेन, कपोले चामरग्राहिणीम् आच्छादयन्तीं बालव्यजनधारिण्याः कपोलदेशम् आवृण्वतीमित्यर्थः, अन्येषां बोधभयेन तदाच्छादनाशयेनेत्याशयः। यथार्थतो भ्रान्तेरभावान्नायं भ्रान्तिमानलङ्कारः। ननु कपोलदेशे नखक्षतस्याप्रसिद्धत्वात् 'अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः' इति दर्पणोदाहृतवद्विद्याविरुद्धत्वदोषः कथन्नेति चेत्? मैवम्,—

'कक्षस्थले च कर्णान्ते कपोले बाहुमूलके। ग्रीवायां कण्ठदेशे च नखाघातं समाचरेत्॥'

इति कामशास्त्रप्रख्यातत्वेनोक्तदोषाभावादिति समादधते विलक्षणचातुरीसमुल्लसितान्तःकरणाः सारवेदिनः।

पृथिवीमिति। पृथिवीं महीमिव, समुत्सारितो 'महाश्वेतायां सशोकायां नाहं कथञ्चिदपि पाणिं ग्राहयिष्यामि' इति पूर्वाभिहितप्रतिज्ञानुसारं दूरीकृतः, महाकुलानाम् उच्चवंशोत्पन्नानां भूभृद्वराणां नृपतिश्रेष्ठानां मध्ये यः कश्चिन्नृपतिरूपो भर्त्ता तस्य यो व्यतिकरः सङ्गमसुखं तस्मात् शेषेषु अवशिष्टेषु भोगेषु स्रक्चन्दनसखीविनोदादिषु निषण्णाम् उपविष्टाम्, पूर्वोक्तप्रतिज्ञानुसारेण स्वामिसङ्गमसुखाति-रिक्तसुखभोगिनीमिति तात्पर्यम्। पक्षान्तरे तु—समुत्सारितः स्वसमीपं प्रापितः महद्भिः प्रशस्तैः कुलभू-भृद्वरैः महेन्द्रप्रभृतिकुलपर्वतश्रेष्ठैः व्यतिकरः सम्बन्धो यया सा तादृशी चासौ शेषभोगेषु नागाधिप-फणासु निषण्णा उपविष्टा चेति सा तादृशी ताम्। ननु 'समुत्सारित' पदस्य प्रापणार्थे प्रयोगाभावाद-प्रयुक्तता दोषः समापततीति चेत्? श्लेषादावुक्तदोषप्रसक्तेरभावात्। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—

'स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते' इति।

मधुमासेति। मधुमासः चैत्रमासः तस्य लक्ष्मीमिव श्रियमिव, षट्पदपटलेन मधुकरसमूहेन अपह्रि-यमाणानि स्वीयमालादिभ्यो नीयमानानि यानि कुसुमरजांसि प्रसूनधूलयः तैस्तत्पतनैरित्यर्थः, धूसरः ईषत्पाण्डुः पादयोश्चरणयोः पराग उपरागो यस्यास्ताम्। पक्षान्तरे तु तथाविधधूलिभिर्धूसराः पादपानां तरूणां रागा वर्णा यस्यास्ताम्।

'परागः कौसुमे रेणौ धूलिस्नानीययोरपि। गिरिप्रभेदे विख्यातावुपरागे च चन्दने॥' इति मेदिनी।

शरदमिति। शरद् घनात्ययसमयः तामिव, उत्पादितस्य निजसौन्दर्येणैव पुनर्जनितस्य मानसं चेतः तस्मात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्य कामस्येत्यर्थः, पक्षिणां कङ्कपक्षयुक्तानां बाणानां शराणां रवेण शब्देन अपनीतः दूरीकृतो नीलकण्ठस्य महेशस्य मदः मदनभस्मजनितगर्वो यया ताम्। (महेशेन तु

(कुचमण्डल) पर ताड़न करती थी; मणिमय कुण्डलका प्रतिबिम्ब चामरधारिणीके गण्डस्थल (गाल) पर पड़नेसे वहाँ नायकदत्त गोलाकार आर्द्र-नखचिह्न जानकर, अनुग्रहके बहाने दिया हुआ कर्ण-पल्लव रख कर हँसती-हँसती, उसको वह आच्छादित कर देती थी। पृथिवी जिस प्रकार बड़े-बड़े कुल-पर्वतोंके साथ शेष-नागके फणाओं पर स्थित है, वह भी उसी प्रकार उच्चकुलके राजाओंके साथ विवाह करना अस्वीकार कर पतिसंसर्गसुखके अतिरिक्त अन्यान्य सुखभोग पर स्थित थी; चैत्रमासमें भ्रमरगण वृक्षस्थ पुष्पोंकी रजका अपहरण कर उस पर ही अन्यत्र गिर कर जिस प्रकार उन्हें धूसरवर्ण कर देते हैं, वहाँ भी उसी प्रकार वे उस (कादम्बरी) की मालाओंसे पुष्परेणुका अपहरण कर उसके चरणों पर गिराकर उन (चरणों) में लगे हुए सुगन्धित रंगोंको धूसरवर्ण कर देते थे; शरत्काल, जिसप्रकार हंसों (मानस-सरोवरमें उत्पन्न हुए पक्षियों) के शब्दसे मयूरोंके स्वरमाधुर्यके अभिमान

१. प्रतिबिम्बमार्द्रदन्तव्रणमण्डल। २. व्याजदत्तेन। ३. ...भूभृद्व्यतिकरां। ४. शेषभोगेषु निषण्णां च। ५. सखीमिव।

गौरीमिव श्वेतांशुकरचितोत्तमाङ्गाभरणाम्, उदधि-वेलावन-लेखामिव मधुकरकुलनीलतमाल-काननाम्, इन्दुमूर्त्तिमिवोद्दाम-मन्मथ-विलास-गृहीत-गुरु-कलत्राम्, वनराजिमिव पांडुश्यामल-वलीलतालंकृतमध्याम्, दिनमुखलक्ष्मीमिव भास्वन्मुक्तांशु-भिन्न-पद्मरागप्रसाधनाम्, आकाश-

स्वशक्त्या कामो दग्धः, कादम्बर्या तु स्वसामर्थ्येनोत्पादित इत्याशयो बोध्यः, अतएव तद्गर्वापहरणमिति हृदयम्)। पक्षान्तरे तु—उत्पादितैः शरदैव जनितैः, मानसे तदाख्यसरोवरे जन्म उत्पत्तिः स्थितिरित्यर्थः येषां पक्षिणां तेषां हंसानां रवैः अपनीतो दूरीकृतो नीलकण्ठानां मयूराणां मदः स्वरमाधुर्यगर्वो यया ताम्। 'शरदमिव' इत्याद्यनुरूपभावः श्लोको यथा शिशुपालवधे—

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवैः परुषीकृताः स्वरमयूरमयूरमणीयताम्॥'

गौरीमिति। गौरी पार्वती तामिव, श्वेतं शुभ्रम् अंशुकं वस्त्रं यस्याः सा चासौ रचितं धृतम् उत्तमाङ्गाभरणं शिरोभूषणं यया चेति ताम्। पक्षान्तरे तु—श्वेतांशोः महेशमस्तकस्थितशशिनः करैः रश्मिभिः चितम् अर्द्धनारीश्वरत्वेन एकगात्रत्वात् व्याप्तम् उत्तमाङ्गाभरणं शिरोभूषणं यस्यास्ताम्।

उदधीति। उदधिः समुद्रः तस्य वेलावनलेखा तटवर्तिविपिनपङ्क्तिः तामिव, मधुकरकुलवत् षट्पदसमूहवत् नीलतमा नितान्तश्यामा अलकाश्चूर्णकुन्तला यत्र तत्तथोक्तम् आननं मुखं यस्याः ताम्। पक्षान्तरे तु-मधुकरकुलवत् नीलं श्यामं तमालवनं तापिच्छकाननं यस्याः ताम्।

इन्दुमूर्त्तिमिति। इन्दोश्चन्द्रस्य मूर्त्तिः शरीरं तामिव, उद्दाममन्मथविलासैः अत्यन्तमदनविभ्रमैः गृहीतम् अवलम्बितं गुरु विस्तृतं कलत्रं श्रोणि (नितम्ब) मण्डलं यया ताम्। इन्दुमूर्त्तिपक्षे तु—उद्दाममन्मथविलासेन उत्कटमदनचेष्टितेन गृहीतम् अपहृतं गुरोः बृहस्पतेः कलत्रं भार्या यया ताम्। 'दुर्गस्थाने नृपादीनां कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इति रभसः।

अत्रायमितिहासः— चन्द्रो हि राजसूयक्रतुमनुष्ठाय ततोऽद्भुतसामर्थ्यञ्च प्राप्य तारानामिकां गुरुपत्नीमपहृतवानिति। स्पष्टश्चायं देविभागवते हरिवंशे चेति विशेषजिज्ञासुभिस्तत्रैवावलोकनीयम्। विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते।

वनराजिमिति। वनराजिः अरण्यपङ्क्तिः तामिव, पाण्डुः ऊर्ध्वदेशे पाण्डुवर्णा श्यामला गर्त्तभागे च कृष्णवर्णा तथैवावलोक्यमानत्वादित्याशयः, या वलीलता त्रिवलीलता तया अलङ्कृतो भूषितो मध्यः देहमध्यदेशो यस्याः ताम्। पक्षान्तरे तु—पाण्डुः श्यामा च लवलीलता तया अलङ्कृतो मध्यो देशो यस्याः ताम्।

दिनमुखेति। दिनमुखस्य प्रभातस्य या लक्ष्मीः श्रीः तामिव, भास्वत्यो दीप्तमत्यो या मुक्ता मौक्तिकाः तासाम् अंशुभिः रश्मिभिः भिन्नानि संमिश्राणि पद्मरागप्रसाधनानि पद्मरागरत्नरचिताभूषणानि यस्याः ताम्। पक्षान्तरे तु-भाः दीप्तिरस्ति अस्येति भास्वान् तेन सूर्येणेत्यर्थः मुक्तैः विक्षिप्तैः अंशुभिः रश्मिभिः भिन्नानि प्रस्फुटितानि यानि पद्मानि कमलानि तेषां रागो लौहित्यमेव प्रसाधनम् आभरणं यस्याः ताम्।

आकाशेति। आकाशकमलिनीमिव वियद्गङ्गास्थनलिनीमिव, स्वच्छाम्बरेण निर्मलवस्त्राभ्यन्तरेण

(घमण्ड) को दूर कर देता है, वह भी उसीप्रकार पुनरुज्जावित कामदेवके बाणोंके शब्दसे महादेवके अभिमानको दूर करती थी; पार्वतीके मस्तकका आभूषण जिस प्रकार अर्धनारीश्वर-शिवके मस्तकस्थित चन्द्रकी किरणोंसे व्याप्त था, उसके भी उसी प्रकार पहने हुए वस्त्र स्वच्छ थे एवं मस्तकका आभूषण सज्जित था; समुद्रतीरस्थ वनश्रेणीके अभ्यन्तरमें जिस प्रकार भ्रमरगणके समान श्यामवर्ण तमाल-वन रहता है, उसका भी उसी प्रकार भ्रमरगणके समान अत्यन्त श्यामावर्ण केशकलापसे शोभित मुख-मण्डल था; चन्द्रने जिस प्रकार कामावेशवश बृहस्पतिकी भार्या (तारा) का ग्रहण किया था, मदन-विभ्रमने भी उसी प्रकार उसके नितम्बदेशका ग्रहण किया था (अर्थात् कादम्बरीके स्थूल-नितम्बको देखकर काम प्रदीप्त होता था); वनश्रेणीका अभ्यन्तर जिस प्रकार श्वेत और श्यामवर्ण लवलीलतासे शोभित रहता है; उसके शरीरका मध्यभाग भी उसी प्रकार पाण्डु और श्यामवर्ण त्रिवलीसे शोभित था; सूर्य-किरणसे प्रस्फुटित कमलकी रक्तिमा ही जिस प्रकार प्रभातकालीन शोभाका अलङ्कार है, उसका भी उसी प्रकार देदीप्यमान मुक्ता (मोतियों) की किरणोंसे मिश्रित पद्मरागमणि-निर्मित ही अलङ्कार था; आकाश-

१. विरचित। २."'घन"'। ३. दिनमुखमिव।

कमलिनीमिव स्वच्छाम्बरदृश्यमान-मृणाल-कोमलोरुमूलाम्, मयूरावलीमिव नितम्ब-चुम्बि-शिखण्डभार-विस्फुरच्चन्द्रकान्ताम्, कल्पतरुलतामिव कामफलप्रदाम्, [1]शयनसमीपे सम्मुखोपविष्टम् 'कोऽसौ, कस्य वापत्यम्, किमभिधानो वा, कीदृशमस्य रूपम्, कियद्वा वयः, किमभिधत्ते, [2]भवता [3]किमभिहितः, कियच्चिरं दृष्टस्त्वया, कथञ्चास्य महाश्वेतया सह परिचय उपजातः, किमयमत्रागमिष्यति' इति मुहुर्मुहुश्चन्द्रापीडसम्बद्धमेवालापं[4] तद्रूपवर्णनामुखरं केयूरकं पृच्छन्तीं कादम्बरीं ददर्श।

तस्य तु [5]दृष्टकादम्बरीवदनचन्द्रलेखालक्ष्मीकस्य सागरस्येवामृतमुल्ललास हृदयम्।

---

दृश्यमानम् अवलोक्यमानं मृणालवत् कोमलं मृदुलम् ऊरुमूलं सक्थिमूलं यस्याः ताम् पक्षान्तरे तु—स्वच्छाम्बरे निर्मलगगने दृश्यमानं मृणालस्य बिसस्य कोमलम् ऊरु विस्तृतञ्च मूलं व्रध्नदेशो यस्याः ताम्।

मयूरेति। मयूरावलीमिव कलापिश्रेणीमिव, नितम्बचुम्बी नितम्बस्पर्शी शिखण्डभारः कचकलापो यस्याः सा चासौ विस्फुरन् शोभमानः चन्द्र इव कान्ता कमनीया चेति ताम्। पक्षान्तरे तु—नितम्बचुम्बिनि शिखण्डभारे पिच्छनिकरे विस्फुरन्तः प्रकाशमानाः चन्द्रकाणां मेचकानाम् अन्ताः प्रान्तभागा यस्याः ताम्।

कल्पतर्विति। कल्पतरुः मन्दारवृक्षः तस्य लतां वल्लीमिव, कामफलं मन्मथविकारफलं वाञ्छितपदार्थश्च प्रददातीति सा तादृशी ताम्।

इह 'पृथिवीमिव' इत्यारभ्य 'कल्पतरुलतामिव' इत्यन्तं सर्वत्र पूर्णोपमालङ्कारः।

शयनेति। शयनस्य तल्पस्य समीपे निकटे, सम्मुखम् अभिमुखं यथा स्यात्तथा उपविष्टम् आसीनम्, अग्रेतनस्य 'केयूरकम्' इत्यस्य विशेषणमेतत्। असौ तरुणः। अपत्यं प्रजाः। किमभिधानः किन्नामा। रूपं सौन्दर्यम्। कियद्वयः कियत्प्रमाणमवस्थाविशेषः। कियच्चिरं कियत्समयम्। अस्य पुरोवर्त्तमानस्य यूनः। परिचयः संस्तवः। चन्द्रापीडसम्बद्धं चन्द्रापीडविषयकम् आलापं भाषणम्, तस्य चन्द्रापीडस्य रूपवर्णनायां सौन्दर्यवर्णनायां मुखरम् अश्रान्तवक्तारम्। पृच्छन्तीं प्रश्नविषयं कुर्वन्तीम्। ददर्श अवलोकयामास।

तस्येति। कादम्बर्या गन्धर्वराजपुत्र्या वदनं मुखं चन्द्रलेखा शशिरेखेवेत्युपमितसमासः स च 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रेण बोध्यः, सागरस्येवेत्युपमासाहचर्यात्। दृष्टा अवलोकिता कादम्बरीवदनचन्द्रलेखाया लक्ष्मीः शोभा येन तस्य, तस्य चन्द्रापीडस्य हृदयं चेतः कर्तृ, दृष्टचन्द्रलेखालक्ष्मीकस्य सागरस्य समुद्रस्य, अमृतं जलमिव उल्ललास उच्छ्वसितं बभूव।

इह 'कादम्बरीवदनचन्द्रलेखेव' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'अमृतमिव' इत्यत्र श्रौतोपमा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। तथा केवलम् 'उल्ललास' इति भूतकालिकप्रयोगे भग्नप्रक्रमत्वदोषः समापतति तद्वारणाय 'सागरस्य हृदयं यथोल्लसति तथा तस्य हृदयमुल्ललास' इति पाठो विधेय इति मान्याः।

---

गङ्गासे उत्पन्न पद्मिनीमृणालका कोमल और विस्तृत मूलदेश, जिस प्रकार निर्मल आकाशमें दीखता है, उसका भी उसी प्रकार मृणालके समान कोमल ऊरु-युगलका मूलदेश, निर्मल वस्त्रके अभ्यन्तरमें दीखता था; मयूरगणके नितम्बस्पर्शी पुच्छदेशमें जिसप्रकार चन्द्राकृति चिह्नका प्रान्तभाग मनोहर प्रतीत होता है, उसकी मनोहर आकृति भी उसी प्रकार चन्द्रके समान मनोहर थी, एवं केशकलाप नितम्ब-पर्यन्त लम्बित थे; कल्पतरुकी लता जिस प्रकार अभिलषित फलप्रदान करती है, वह भी उसी प्रकार कामफल देती थी। और वह शय्याके समीपमें ही सम्मुख बैठे, मुख्यतया चन्द्रापीडके सौन्दर्यका ही वर्णन करते, केयूरकसे—'वे कौन हैं? किसके पुत्र हैं? उनका नाम क्या है? उनका रूप कैसा है? उनकी अवस्था कितनी है? वे क्या कहते थे? तूने क्या कहा? कहाँ तक उनको तूने देखा? महाश्वेताके साथ उनका परिचय किस प्रकारसे हुआ? एवं वे क्या यहाँ आवेंगे? यों बारम्बार चन्द्रापीडसम्बन्धी बातें ही पूछ रही थी।

चन्द्रमाको देखकर समुद्रका जल जिस प्रकार उच्छ्वसित होने (उछलने) लगता है, कादम्बरी वदन-रूप चन्द्र-रेखाकी शोभा देखते ही चन्द्रापीडका हृदय भी उसी प्रकार आनन्दसे उच्छ्वसित होने (उछलने)

---

१. पुरःसमीपे। २. भवता च। ३. अभिहितम्। ४. ...सम्बद्धालापम्, सम्बद्धालापरूप।
५. क्वचित् 'दृष्ट' इति पदं न दृश्यते।

आसीच्चास्य मनसि—'शेषेन्द्रियाण्यपि मे वेधसा किमिति लोचनमयान्येव न कृतानि। किं वानेन कृतमवदातं कर्म चक्षुषा, यदनिवारितमेनां पश्यति। अहो! चित्रमेतदुत्पादितं वेधसा सर्वरमणीयानामेकं धाम। कुत एते रूपातिशयपरमाणवः समासादिताः। तन्नूनमेनामुत्पादयतो विधेः करतलपरामर्शक्लेशेन ये विगलिता लोचनयुगलादश्रुबिन्दवस्तेभ्य एतानि जगति कुमुद-कमल-कुवलय-सौगन्धिकवनान्युत्पन्नानि' इत्येवं चिन्तयत एवास्य तस्या नयनयुगले[1] निपपात चक्षुः। तदा तस्या अपि 'नूनमयं स केयूरकेणावेदित' इति चिन्तयन्त्या रूपातिशयविलोकनविस्मयस्मेरं निश्चलनिबद्धलक्ष्यं[2] चक्षुस्[3]तस्मिन् सुचिरं पपात। लोचनप्रभाधवलितस्तु कादम्बरीदर्शनविह्वलो बल इव[4] तत्क्षणमराजत चन्द्रापीडः। दृष्ट्वा च

आसीदिति। अस्य चन्द्रापीडस्य मनसि चित्ते (एवम्) आसीद्बभूव। वेधसा ब्रह्मणा मे मम शेषेन्द्रियाण्यपि चक्षुर्व्यतिरिक्तकरणान्यपि किमिति हेतोः लोचनमयान्येव न कृतानि विहितानि तथा सति विचक्षणस्य पूर्णता स्यादित्याशयः। अनेन मम चक्षुषा, अवदातं शुद्धं कर्म कृत्यं पुण्यमित्यर्थः। यद्यस्मात् अनिवारितम् अप्रतिषिद्धं यथा स्यात्तथा एनां कादम्बरीं पश्यति अवलोकयति। अनेनास्यानुपमं सौन्दर्यं प्रतीयते।

अहो इति। चित्रम् आश्चर्यम्। वेधसा विधात्रा सर्वरमणीयानां समस्तसौन्दर्याणाम् एकमद्वितीयं धाम स्थानम् उत्पादितं निर्मितम्। रूपातिशयस्य असामान्यभव्याकृतेः परमाणव उपादानकारणीभूताणुद्रव्याणि समासादिताः प्राप्ताः। परमाणुलक्षणञ्चाह—

'जालान्तर्गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठितमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

न्यायवैशेषिके हि उक्तपरमाणुतो द्व्यणुकादिक्रमेण स्थूलोत्पत्तिरिति तन्मतमाश्रित्येदमभिहितमित्यवधेयम्।

तदिति। एनां कादम्बरीम् उत्पादयतो जनयतो विधेर्ब्रह्मणः करतलपरामर्शक्लेशेन रचनाकालीनपाणितलामर्शनकष्टेन लोचनयुगलात् नेत्रद्वयात् विगलिताः च्युता ये अश्रुबिन्दवः कादम्बर्या एव नयनाम्बुकणाः तेभ्यो जगति संसारे एतानि पुरो दृश्यमानानि, कुमुदानि कैरवाणि, कमलानि नलिनानि कुवलयानि उत्पलानि सौगन्धिकानि कह्लाराणि उत्पन्नानि समुद्भूतानि। अस्य चन्द्रापीडस्य चक्षुः, तस्याः कादम्बर्या नयनयुगले नेत्रद्वये निपतात दृढसंलग्नं बभूव।

तदेति। रूपातिशयविलोकनेन अत्यधिकसौन्दर्यवीक्षणेन यो विस्मय आश्चर्यं तेन स्मेरं विकसितम्, तथा निश्चलं स्थिरं यथा स्यात्तथा निबद्धं गृहीतं लक्ष्यं येन तत्तथोक्तम्। तस्मिंश्चन्द्रापीडे। इह नूनमित्युपादानाद्वाच्या भावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा, तया चास्या निरतिशयसौकुमार्यं ध्वन्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

लोचनेति। लोचनप्रभया कादम्बर्या आत्मनश्च नयनालोकेन धवलितः श्वेतीकृतश्चन्द्रापीडः तत्क्षणं तस्मिन् समये बलो बलराम इव, कादम्बर्या गन्धर्वराजपुत्र्याः सुरायाश्च दर्शनेन अवलोकनेन विह्वलः कामाकुलः पानाय धैर्यरहितश्च सन् अराजत अशोभत। बलरामः सुरापानतत्पर आसीदिति पौराणिकी वार्ता। पूर्णोपमा।

दृष्ट्वेति। अपि च, तं चन्द्रापीडं दृष्ट्वा विलोक्य स्थितायाः कादम्बर्याः प्रथमम् आदौ रोमोद्गमः

लगा। उस समय उसके मनमें होने लगा कि—'विधाताने मेरी अवशिष्ट इन्द्रियोंको भी नयनमय क्यों नहीं बनाया? अथवा मेरे ये नेत्र ही पुण्यकार्य किये हैं जो कि इसको अबाधगति (बे रोकटोक) से देखते हैं। विधाताने समस्त सौन्दर्यका एक ही कैसा विचित्र भण्डार उत्पन्न किया है? ऐसे अतिशय सौन्दर्यनिर्माण करनेके परमाणुका आनयन कहाँसे किया है? अत एव मुझे प्रतीत होता है कि इसके निर्माण करनेमें विधाता के हाथ घर्षण क्लेशसे, इसके नेत्रोंमेंसे जो अश्रुबिन्दु (आँसूकी बूँदें) टपके उनसे ही संसारमें ये समस्त श्वेतोत्पल, पद्म, नीलोत्पल और रक्तोत्पल उत्पन्न हुए हैं! इस प्रकार चिन्ता करते ही उसकी दृष्टि कादम्बरीके नेत्रोंपर जा पड़ी और उसी क्षण वह भी भावना करती थी कि—'केयूरक जिसका वर्णन किया है, निश्चय ही ये वही युवा पुरुष हैं' तब चन्द्रापीडका अत्यन्त सौन्दर्य देखकर विस्मयवश विस्तृत हो उसकी दृष्टि चन्द्रापीड पर पड़ी और निश्चल भावसे बहुत देर तक अपने लक्ष्य पर स्थिर रही। स्वकीय-नयन-प्रभासे शुभ्रवर्ण बलराम जिस प्रकार मदिरा देखकर विह्वल हो गये, उस समय चन्द्रापीड भी उसी प्रकार कादम्बरी की नयन-प्रभासे शुभ्रवर्ण होकर

१. आनने। २...लक्ष्यं। ३. नयनम्। ४. अचल इव। ५. क्वचित् 'तत्' इति पदं न दृश्यते।

तं[1] प्रथमं रोमोद्गमः, ततो भूषणरवः, तदनु कादम्बरी समुत्तस्थौ ।

अथ तस्याः कुसुमायुध एव स्वेदमजनयत्, ससम्भ्रमोत्थानश्रमो व्यपदेशो[2]ऽभवत् । ऊरुकम्प एव[3] गतिं रुरोध, नूपुररवाकृष्टहंसमण्डलमयशो[4] लेभे । निश्वासप्रवृत्तिरेव[5] अंशुकं चलं चकार, चामरानिलो निमित्ततां ययौ । अन्तःप्रविष्ट-चन्द्रापीड[6]-स्पर्श-लोभेनैव निपपात हृदये हस्तः, स एव[7] स्तनावरण[8]व्याजो बभूव । आनन्द एवाश्रुजलमपातयत्, चलितकर्णावतंसकुसुमरजो व्याज आसीत्[9] । लज्जैव वक्तुं न ददौ, मुखकमलपरिमलागतालिवृन्दं द्वार-

रोमाञ्चः समुत्तस्थौ उत्थितवान्, मदनविकारोदयादित्याशयः, ततो भूषणरवः आभरणशिञ्जितं समुत्तस्थौ उत्थानवेगादित्याशयः, तदनु तत्पश्चाच्च कादम्बरी समुत्तस्थौ, अतिथेः सत्कारप्रदर्शनार्थमित्याशयः ।

इह 'समुत्तस्थौ' इत्येकक्रियाया अनेककर्त्रा सहाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता । तथा च साहित्यदर्पणे—

पदर्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥'

अथेति । अथ समुत्थानानन्तरम् । कुसुमायुधः काम एव स्वेदं घर्मवारि अजनयत् उत्पादितवान् । ससम्भ्रमं सत्वरं यद् उत्थानम् उत्थितिः तस्मात् श्रमः खेदः स एव व्यपदेशश्छलम् । अयमाशयः-मदनविकारवशादेव तस्याः स्वेदोऽभवत्, किन्तु सा समुत्थानपरिश्रमादेवायं मम स्वेदः सञ्जात इति व्याजेन सहचरीणां पुरतो हेतुगोपनं विहितवतीति । अत एवेह व्याजोक्तिः तल्लक्षणञ्च साहित्यदर्पणे—

'व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।' इति ।

उरुकम्प इति । उरुकम्प एव गतिं गमनं रुरोध रुन्धितवान् । नूपुरे पादकटके तयोः रवो रञ्जितं तेन आकृष्टम् आकर्षितं यत् हंसमण्डलं चक्राङ्गसमूहः तत् अपयशः अकीर्त्तिं लेभे प्राप । ममायं गतिरोधो नोरुकम्पात् किन्तु पादकटकरवाकृष्टेन हंसमण्डलेन पादनिरोधादित्याशयः ।

इह कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्यादसङ्गतिः, प्राग्वद्व्याजोक्तिश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

निश्वासेति । निश्वासप्रवृत्तिरेव प्रमाणाधिकश्वासप्रवर्त्तनमेव अंशुकं कुचवस्त्रम्, चलं चपलं चकार कृतवती, चामरानिलो बालव्यजनपवनो निमित्ततां कारणतां ययौ प्राप, बालव्यजनपवन एवेदं वस्त्रं चालयति न पुनः श्वासारम्भ इति कृत्वा प्रस्तुतहेतुगोपनं विहितवतीत्याशयः । व्याजोक्तिरलङ्कारः ।

अन्तःप्रविष्टेति । अन्तःप्रविष्टः अनुपमसौन्दर्यात्तत्कालादेव हृदयं गतो यश्चन्द्रापीडः तस्य स्पर्शलोभेनैव स्पर्शतृष्णयैव हृदये हस्तः करो निपपात निपतितो बभूव । स एव हस्त एव, स्तनावरणव्याजः कुचाच्छादनकपटो बभूव जातः । एवञ्च अकस्मादुत्थानेन कुचयोराच्छादनापसरणात् पुनस्तयोराच्छादनार्थमेव हृदये करः समर्पितः, न पुनरस्यान्तःप्रविष्टस्य स्पर्शतृष्णयेति व्याजेन सहचरीणां पुरतः प्रस्तुतहेतुगोपनं कृतवतीत्यभिप्रायः । उक्तालङ्कारः ।

आनन्द इति । आनन्दः प्रमोद एव अश्रुजलं नयनसलिलम् अपातयत् पातितवान्, चलितस्य बालव्यजनपवनेन उत्थानरभसा वा कम्पितस्य कर्णावतंसकुसुमस्य श्रवणालङ्कारीभूतपुष्पस्य रजः परागः व्याजः कपटः । कुसुमपराग एव मम नयनजलमपातयत् न तु प्रमोद इत्याशयः । उक्तालङ्कारः ।

लज्जेति । लज्जा त्रपा सैव वक्तुम् अभिधातुं न दादौ दत्तवती, मुखकमलस्य वदनपङ्कजस्य परिमलेन

उसे देख विह्वल हो गये । इधर चन्द्रापीडको देखकर पहले कादम्बरी को रोमाञ्च उत्पन्न हुआ; उसके बाद आभूषण का शब्द हुआ और उसके पीछे ( अन्तमें ) कादम्बरी स्वयं उठ खड़ी हुई ।

तदनन्तर कामदेवने ही कादम्बरीमें स्वेद ( पसीना ) उत्पन्न किया, किन्तु सखियोंके समीपमें उतावलीसे उठनेका परिश्रम उसका बहाना हुआ । उरुकम्पन ही उसके गतिरोध करनेवाला था, किन्तु उसका अपयश, नूपुरस्वर सुनकर दौड़ आए, हंस-मण्डलको मिला । निःश्वास चलने से ही स्तनका वस्त्र कम्पित होने लगा; किन्तु समीपमें डोलते चमर का पवन उसका कारण समझा गया । हृदयमें प्रविष्ट चन्द्रापीडका स्पर्श करनेकी अभिलाषा से ही उसका हाथ तत्काल वक्षःस्थल ( छाती ) पर पड़ा, किन्तु स्तनोंके आवरणापसारण करनेके बहानेसे रखा प्रतीत हुआ । आनन्दसे ही वास्तविक उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये, किन्तु बाहरमें कम्पित (हिले हुए) कर्णपूरकी

१. क्वचित् 'तम्' इति पदं न विद्यते । व्यपदेशेन । ३. ऊरुस्तम्भ एव । ४...अपयशो । ५. निश्वासप्रवृद्धिरेव निश्वास एव । ६...चन्द्रापीडस्य । ७. हस्तपल्लवः, स एव करः । ८. स्तनावरणम् । ९. व्याजमासीत्, व्यपदेशतामयासीत् ।

तामगात्[1]। मदनशरप्रथमप्रहारवेदनैव सीत्कारम्[2] अकरोत्, कुसुमप्रकरकेतकीकण्टकक्षतिः साधारणतामवाप। वेपथुरेव करतलमकम्पयत्, निवेदनोद्यतप्रतीहारीनिवारणं कपटमभूत्।

तदा च कादम्बरीं विशतो मन्मथस्यापि मन्मथ इवाभूद्द्वितीयः, तया सह यो विवेश चन्द्रापीडहृदयम्। तथाहि, असावपि तस्या रत्नाभरणद्युतिमपि तिरोधानममंस्त, हृदयप्रवेशमपि परिग्रहमगणयत्, भूषणरवमपि सम्भाषणममन्यत, सर्वेन्द्रियाहरणमपि प्रसादमचिन्त-

---

आमोदेन आगतम् आयातञ्च तत् अलिवृन्दं मधुकरसमूहश्चेति तत्, द्वारतां गोपनसाधनताम् अगात् अगमत्। मधुकरसमूह एव वक्तुं प्रतिबध्नाति न पुनस्त्रपेत्याशयः। उक्तालङ्कारः।

मदनेति। मदनशरस्य कामबाणस्य यः प्रथमप्रहारः आद्याभिघातः तस्य वेदनैव व्यथैव सीत्कारं 'सी सी' इति शब्दविशेषम् अकरोत् अजनयत्, कुसुमप्रकरेषु उपहारपुष्पपुञ्जेषु मध्ये या केतकी केतकी-कुसुमं तस्याः कण्टकक्षतिः कण्टकेन पादभेदनं साधारणतां सीत्कारसाधारणनिमित्तताम् अवाप प्राप। केतकीकण्टकक्षतिरेव मे सीत्कारमेनमकरोत्, न तु कामबाणव्यथयेति छलं विधाय प्रस्तुतगोपनं कृतवती-त्याशयः। उक्तालङ्कारः।

वेपथुरिति। वेपथुरेव मदनावेशोत्पन्नकम्प एव करतलं हस्ततलम् अकम्पयत् कम्पितवान्, निवेद-नाय वस्तुविशेषबोधनाय उद्यता या प्रतीहारी द्वारपालिका तस्या निवारणं हस्तविधूननेन निषेधनं कपटं छलम् अभूत्। प्रतीहारीनिषेधेन कैतवेन प्रादुर्भूतस्यापि गात्रकम्पनस्य गोपनं कृतवतीत्याशयः। उक्ता-लङ्कारः। एतेन कादम्बर्याश्चन्द्रापीडविषयको भावावेशः स्पष्टीकृतः।

अथ चन्द्रापीडस्यापि तद्विषयकं भावावेशं निरूपयति—तदेति। कादम्बरीं विशतः प्रवेशं कुर्वतः मन्मथस्यापि कन्दर्पस्यापि द्वितीयः स्वसदृशोऽपरः मन्मथ इवाभूत्, यः तया कादम्बर्या सह चन्द्रापीड-हृदयं विवेश प्रविष्टवानिति सम्बन्धः। अन्यथैकस्यैवैकसमये स्थानद्वये प्रवेशासम्भवादित्याशयः। एवञ्च यथा चन्द्रापीडावलोकनानन्तरमेव तेन सह कामदेवः कादम्बरीहृदयं प्रविष्टवान्, तथैव कादम्बरीवीक्षणा-नन्तरमपि तया सह कामदेवः चन्द्रापीडहृदयमपि प्रविष्टवानिति निष्कर्षः।

इह द्रव्योत्प्रेक्षा। तथा 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध' इति न्यायादुत्तरवाक्ये यच्छब्दोपादानेऽपि पूर्ववाक्ये तदनुपादानाद्विधेयाविमर्शदोषस्तु न शङ्क्यः, 'आत्मा जानाति यत्पापम्' इतिवत् यच्छब्दस्य तच्छब्दान-पेक्षणात्।

तदेतत्समर्थयति—तथाहीति। असौ चन्द्रापीडोऽपि तस्याः कादम्बर्याः, रत्नाभरणद्युतिमपि मणि-खचितभूषणकान्तिमपि तिरोधानं व्यवधानं समग्रेणावलोकनप्रतिबन्धकमित्यर्थः अमंस्त ज्ञातवान्। इह प्रकाशरूपया कान्त्या तिरोधानासम्भवाद्विरोधः, लोचनाच्छादकत्वेन च तत्सम्भवात्परिहार इति विरोधा-भासोऽलङ्कारः। हृदयप्रवेशमपि चित्तप्रवेशमपि परिग्रहं 'पतित्वेन ममानया परिग्रहः कृतः' इति कामुक-स्वभावानुकूलम् अगणयत् 'कामः स्वतां पश्यति' इति न्यायादित्याशयः। इह निरङ्गकेवलरूपकम्। भूष-णरवम् अलङ्कारझणत्कारमपि सम्भाषणम् अभ्यर्थनालापरूपम् अमन्यत अबुध्यत। इहाप्युक्तालङ्कारः।

---

पुष्प-रेणु उसका बहाना हो गई! लज्जा ही वास्तविकमें बोलने नहीं दिया, किन्तु मुखपद्मके सौरभसे आए भ्रमर उसको रोकते प्रतीत हुए! काम-बाणके प्रथम प्रहारकी वेदनासे ही वस्तुतः उसको सीत्कार होने लगा, किन्तु भूतलमें विक्षिप्त पुष्पोंके पुञ्जमेंसे केतकी (केवड़े) के काँटेसे आघात होने (छिदने) के कारण उत्पन्न हुआ दीखा! कामकम्पसे ही उसका हाथ कम्पित होने लगा, किन्तु किसी विषयको निवेदन करनेके लिए उद्यत प्रती-हारीको निवारण करना उसका बहाना हुआ।

उस समय कादम्बरीके सहित जो कामदेव चन्द्रपीडके हृदयमें प्रवेश किया था वही मानो कादम्बरीमें प्रवेश करते हुए कामदेवका भी एक द्वितीय कामदेव उत्पन्न हुआ, क्योंकि चन्द्रापीड भी, गन्धर्वराजकुमारी-कादम्बरीके रत्नालङ्कारकी प्रभाको तिरोधान (दृष्टिको रोकनेवाली, विवाहके समय वर-वधूके मध्यमें लगाये गए वस्त्र) समझने लगा; कादम्बरी जो अपने हृदयमें प्रवेश की थी उसे ही पतित्वेन वरणका स्वरूप, (स्वीकार, कर-ग्रहण) गणना करने लगा; उसके आभूषणोंके शब्दको भी सम्भाषण कह कर मानने लगा; अपने सब

---

१. द्वारपालताम्। २. शीत्कारम्।

यत् , देहप्रभासम्पर्कमपि सुरतसमागमसुखमकल्पयत् ।

कादम्बरी तु कृच्छ्रादिव दत्तकतिपयपदा महाश्वेतां स्नेहनिर्भरं चिरदर्शनजातोत्कण्ठा[1] सोत्कण्ठं कण्ठे जग्राह । महाश्वेतापि दृढतरदत्तकण्ठग्रहा तामवादीत्-'सखि ! कादम्बरि ! भारते वर्षे राजा अनेक-वर-तुरग-खुर-मुखोल्लेखदत्त-चतुः-समुद्र-मुद्रो रक्षितप्रजापीडस्तारापीडो नाम, तस्यायं निज-भुज-शिलास्तम्भ-विश्रान्त-विश्व-विश्वम्भरापीडः[2] चन्द्रापीडो नाम सूनुर्दिग्विजयप्रसङ्गेनागतः भूमिमिमाम् । एष च दर्शनात् प्रभृति प्रकृत्या मे निष्कारणबन्धुतां गतः, परित्यक्तसकलासङ्गनिष्ठुरामपि मे[4] सविशेषस्वभावसरलैर्गुणैराकृष्य[5]

अचिन्तयत् । इह निजवस्तुहरणस्यानभिलषितत्वेनानुग्रहत्वासम्भवाद्विरोधः, भावाभिव्यक्तिपूर्वकमनोनयनादिहरणाच्च नितान्तेष्टत्वेन तत्सम्भवात् परिहार इति प्राग्वद्विरोधाभास एवालङ्कारः । देहप्रभासम्पर्कमपि शरीरकान्तिसम्बन्धमपि सुरतसमागमसुखं सम्भोगाय सङ्गमोत्पन्नसुखरूपम् अकल्पयत् अगणयत् । इहापि प्राग्वद्रूपकमलङ्कारः ।

कादम्बरीति । कृच्छ्रादिव कष्टादिव दत्तानि अर्पितानि कतिपयानि कियन्ति पदानि पादानि यया सा तादृशी, चिरदर्शनात् अधिकसमयादनन्तरं साक्षात्कारात् जाता उत्पन्ना उत्कण्ठा औत्सुक्यं यस्याः सा तादृशी, सोत्कण्ठं सोत्सुक्यम्, स्नेहनिर्भरं प्रेम्णा गाढं यथा स्यात्तथा कण्ठे जग्राह आश्लेषं चकारेत्यर्थः ।

इह हेतूत्प्रेक्षा वृत्त्यनुप्रासश्चेत्युभयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । तथा 'सोत्कण्ठम्' इत्यस्य परित्याग एवोचितम्, अन्यथैतत्पदस्य द्विरुपादानेन पुनरुक्तत्वापत्तेरित्यवधेयम् ।

महाश्वेतेति । दृढतरं बलवत्तरं यथा स्यात्तथा दत्तः कण्ठग्रहः अश्लेषो यया सा तादृशी । अनेके नानाविधाः, वराः श्रेष्ठाः, ये तुरगा अश्वाः तेषां खुरमुखैः शफाग्रैः उल्लेखेन भूमिभेदनेन दत्ताः चतुर्षु समुद्रेषु चतुःसंख्येषु सागरेषु मुद्रा जयचिह्नानि येन सः । रक्षिता सुशासनादिव्यवहारैर्निवारिता प्रजानां जनानां पीडा व्यथा येन सः तादृशः । छेकानुप्रासः ।

तस्येति । अयं तस्य सूनुरित्यन्वयः । निजौ स्वीयौ भुजौ बाहू एव दृढत्वसादृश्यात् शिलास्तम्भौ प्रस्तरस्थूणे तत्र विश्रान्ता सुखेनावस्थिता विश्वा निखिला विश्वम्भरा पृथिवी सैव पीडा अनायासधार्यत्वसादृश्यादुत्तंस आभरणविशेषो यस्य सः । दिग्विजयप्रसङ्गेन इमाम् एनां भूमिं पृथिवीम् आगतः प्राप्तः । 'पीडार्त्तिमर्द्दनोत्तंसकृपासु सरलद्रुमे' इति हैमः ।

इह निरङ्गकेवलरूपकद्वयं छेकानुप्रासश्चेत्युभयोर्मिथो निरपेक्षतया संसृष्टिः ।

एष इति । एष चन्द्रापीडः दर्शनात्प्रभृति अवलोकनादारभ्य प्रकृत्या स्वभावेन, निष्कारणबन्धुतां निर्हेतुकस्वजनत्वं गतः प्राप्तः । सविशेषाः सातिरेका अलौकिका इत्यर्थः ते च ते स्वभावसरलाश्च स्वारसिकऋजव इति तैः गुणैः दयादाक्षिण्यादिभिः करणैः, परित्यक्तैः उज्झितैः सकलासङ्गैः समस्तसंसर्गैः निष्ठुरा कठिना तां तादृशीमपि मे मम चित्तवृत्तिं मनोवृत्तिम् आकृष्य आकर्षणं विधाय वर्त्तते । हि यतः, दाक्षिण्यपरवशः निखिलानामेवानुकूलाचरण इत्यर्थः, निर्निमित्तमित्रम् अहेतुकबन्धुः, अकृत्रिमहृदयः ।

इन्द्रियोंके हरणको भी अनुग्रह मानने लगा और उसकी शरीर–कान्तिके संपर्कसे भी सुरतसमागमके सुखकी मन ही मन कल्पना करने लगा ।

कादम्बरी मानो बड़े क्लेशसे कितने ही कदम आगे आकर, बहुत कालके बाद दर्शन होनेसे उत्कण्ठित हुई महाश्वेताके कण्ठसे स्नेह और उत्कण्ठा–पूर्वक गाढ़ आलिङ्गन किया ( लिपट गई ) । महाश्वेताने भी उसको गाढ़तर कण्ठालिङ्गन देकर कहा—सखि, कादम्बरि ! भारत वर्षमें सुशासनके गुणसे प्रजाओंके समस्त कष्टों का निवारण करनेवाले तारापीड नामक एक राजा हैं, उन्होंने बहुतर उत्तम घोड़ोंके खुराग्र ( टापों ) से भूमिविदारण कर चारों समुद्रों तक अपना विजय–चिह्न स्थापन किया है, ये उनके पुत्र हैं, इनका नाम चन्द्रापीड है, इनके निज–बाहु–युगलरूपी शिलास्तम्भों पर समग्र पृथिवीरूप भूषण सुखसे स्थित है, ये दिग्विजयके प्रसङ्गसे इस प्रदेश तक आये हैं । जब से इनका साक्षात्कार हुआ है तबसे ही ये स्वभावतः मेरे अकारण–बन्धु हो गए हैं, एवं समस्त आसक्ति परित्याग करनेसे मेरी चित्तवृत्ति निष्ठुर होने पर भी इन्होंने लोकातीत और स्वभाव–सरल गुणोंसे उस

१. ···जातोत्कण्ठं । २. ···विश्रान्तविश्वम्भरापीडः, विश्वबन्धः । ३. अनुगतः । ४. सविशेषैः । ५. आक्रम्य ।

चित्तवृत्तिं वर्त्तते, दुर्ल्लभो हि दाक्षिण्यपरवशो निर्निमित्तमित्रमकृत्रिमहृदयो विदग्धजनः[1]। यतो दृष्ट्वैवेमम् अहमिव त्वमपि निर्माणकौशलं प्रजापतेः, निःसपत्नताञ्च रूपस्य, स्थानाभिनिवेशित्वञ्च लक्ष्म्याः, सद्भर्त्तृतासुखञ्च पृथिव्याः, सुरलोकातिरिक्तताञ्च मर्त्त्यलोकस्य, सफलताञ्च मानुषीलोचनानाम्, एकस्थानसमागमञ्च सर्वकलानाम्, ऐश्वर्य्यञ्च सौभाग्यस्य, अग्राम्यताञ्च मनुष्याणां ज्ञास्यसीति बलादानीतोऽयम्। कथिता चास्य मया बहुप्रकारं[2] प्रियसखी। तदपूर्वदर्शनोऽयमिति विमुच्य लज्जाम्, अनुपजातपरिचय इत्युत्सृज्य अविश्रम्भताम्, अविज्ञातशील इत्यपहाय शङ्काम्, यथा मयि तथात्रापि वर्त्तितव्यम्[3]। एष ते मित्रञ्च

---

सर्वेषां समस्तानाम् इन्द्रियाणां मनोलोचनादीनां करणानाम् आहरणम् आकर्षणमपि प्रसादम् अनुग्रहम् वञ्चनारहितचित्तः, विदग्धजनो विचक्षणपुरुषो दुर्लभो दुष्प्रापः, अत एवैष विचक्षणो मम मनोवृत्तिमाकृष्य विद्यत इत्याशयः।

इह सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

यत इति। 'यतस्त्वमपि ज्ञास्यसि' इत्यन्वयः। प्रजापतेर्ब्रह्मणो निर्माणकौशलं रचनाचातुर्यम्। रूपस्य सौन्दर्यस्य निःसपत्नतां प्रतिस्पर्द्धिशून्यत्वम् सौन्दर्ये कोऽपि प्रतिद्वन्द्वी नास्तीत्यर्थः। लक्ष्म्या राज्यश्रियः स्थानाभिनिवेशित्वं यथास्थले स्थातुमाग्रहवत्त्वम्। पृथिव्या भूमेः सद्भर्त्तृतया अत्युत्तमस्वामितया सुखम् आनन्दः। मर्त्यलोकस्य मृत्युभुवनस्य सुरलोकात् देवालयात् (स्वर्गात्) अतिरिक्तताम् उत्कृष्टत्वम् एतस्याधिपतित्वेन विद्यमानत्वादित्याशयः। अनेन सुरेशादपि चन्द्रापीडस्योत्कर्षो ध्वन्यते। मानुष्यो मानवजातीया नार्यः तासां लोचनानां नयनानां सफलतां साफल्यम्, निरन्तरमेतस्य निरीक्षणादित्याशयः। सर्वकलानां समस्तनृत्यगीतादिकलाविद्यानाम्, एकस्थाने एकत्र समागमं संयोगम्। अनेन समस्तकलाविद्यावत्त्वं प्रतीयते। सौभाग्यस्य भाग्यवत्तायाः, ऐश्वर्यं महासमृद्धिम्, अस्य प्राप्तेरित्याशयः। अनेनायं सकलस्यैव दुष्प्राप इत्यवगम्यते। मनुष्याणां मानवानाम्, अग्राम्यतां नागरिकताम्। अनेनैतस्य सुरादिभ्योऽपि वैदग्ध्यं सूच्यते।

इह तुल्ययोगितालङ्कारः, निर्माणकौशलमित्यादीनां सर्वेषां ज्ञास्यसि' इत्येकक्रियायां कर्मत्वेनाभिसम्बन्धात्।

कथितेति। अस्य कुमारस्य निकटे, प्रियसखी त्वम्, बहवोऽनेके प्रकारा भेदा यत्र क्रियायां तद् यथास्यात्तथा कथिता निरूपिता। अयं कुमारः, अपूर्वम् अभिनवं दर्शनम् अवलोकनं यस्य स तथोक्तः, एवंरूपेण सर्वत्रान्वयः। अनुपजात अनुत्पन्नः परिचयः संस्तवो यस्य स तादृशः, नास्ति विश्रम्भो विश्वासो यत्र सः तस्य भावस्ताम्, उत्सृज्य त्यक्त्वा। अविज्ञातम् अविदितं शीलं स्वभावो यस्य सः, शङ्कां सन्देहम् अपहाय दूरीकृत्य, यथा मयि महाश्वेतायां तथा अत्रापि अस्मिन् कुमारेऽपि वर्त्तितव्यं त्वया आचरणीयम्, सकलगुणनिधित्वान्न तत्र दोष आशङ्कनीय इत्याशयः।

एष इति। मित्रं सुहृत्, बान्धवः स्वजनः, परिजनः परिचारकश्च, अनेन सर्वथैवायमेव स्वामित्वेन

---

(चित्तवृत्ति) का आकर्षण कर लिया है; क्योंकि—सबके ही आनुकूल्यमें अकारण–बन्धु और प्रतारणा–हीन–चित्त इस प्रकारके विदग्धजनों का मिलन संसारमें दुर्लभ है। इस लिए मेरे समान, तुम भी इनको देखकर ही विधाताका निर्माण–नैपुण्य, सौन्दर्य की अतुलनीयता, राजलक्ष्मीका योग्यस्थानमें रहनेका आग्रह, उत्कृष्ट पति–प्राप्ति होनेसे पृथिवीको सुख, देवलोककी अपेक्षा मर्त्यलोकका उत्कर्ष, मनुष्य–रमणियोंके लोचनोंकी सार्थकता, एक स्थानमें समस्त कलाओंका सम्मेलन, सौभाग्यकी सम्पत्ति एवं मनुष्योंकी भद्रता, इन सबोंको ही समझोगी, इस लिए इनको मैं यहाँ बलपूर्वक ले आई हूँ, और तुम्हारे विषयमें इनके समक्ष मैंने अनेक प्रकारसे परिचय दिया है अत एव—'इनके साथ यह पहली भेंट है'—इस धारणासे जो लज्जा हो उसे छोड़कर, 'इनका मुझसे कुछ परिचय नहीं है'—इस प्रकार समझनेसे जो अविश्वास हो उसे भी छोड़, एवं 'इनके स्वभावसे मैं अज्ञात हूँ'—इस प्रकार समझकर जो कुछ आशङ्का उत्पन्न हो उसे भी दूर कर, जिस प्रकार तुम्हारा व्यवहार मेरे साथ

---

१. विदग्धो जनः। २. बहुवारं। ३. प्रवर्त्तितव्यम्।

बान्धवश्च परिजनश्च' इत्यावेदिते तया, चन्द्रापीडः प्रणाममकरोत् ।

कृतप्रणामञ्च तं तदा कादम्बर्यास्तिर्यग्विलोकयन्त्याः सस्नेहमतिदीर्घलोचनापाङ्गभागं गच्छतस्तारकस्य[1] श्रम-सलिल लव-विसर इवानन्दबाष्पजलबिन्दुनिकरो निपपात । त्वरितमभिप्रस्थितस्य धूलिरिव सुधाधवला स्मितज्योत्स्ना विससार। सम्मान्यतामयं हृदयरुचिरो जनः प्रतिप्रणामेनेति शिरो वक्तुमिवैका भ्रूलता समुन्ननाम । अङ्गुलिविवरविनिःसृतमरकताङ्गुलीयकमयूखलेखो [2]विभ्रम-गृहीतताम्बूलवीटिक इव करो जृम्भारम्भमन्थरं मुखमु-

---

वरणीय इति ध्वन्यते। तया महाश्वेतया इति पूर्वप्रतिपादिते विषये आवेदिते निवेदिते सति, चन्द्रापीडः प्रणामं नमस्कारम् अकरोत् कृतवान् । इह युवराजस्य चन्द्रापीडस्य कादम्बर्याः प्रणामो नोचित इति नाशङ्कनीयः, गन्धर्वाणां देवयोनित्वेन तत्कन्यकायास्तस्यास्तत्करणस्य न्याय्यत्वात् ।

कृतेति । तदा तस्मिन् समये कृतप्रणामं विहितनमस्कारं तं चन्द्रापीडं सस्नेहं सानुरागं यथा स्यात्तथा तिर्यक् विलोकयन्त्याः पश्यन्त्याः कादम्बर्याः, अतिदीर्घलोचनस्य अतिविस्तृतनयनस्य अपाङ्गभागं प्रान्तदेशं गच्छतो व्रजतः तारकस्य कनीनिकायाः श्रमः तावद्गमनेनापि यः खेदः तस्य ये सलिललवाः तत्प्रभवा घर्मबिन्दवः तेषां विसरः पुञ्ज इव निपपात अपतत् । तिर्यग्विलोकनसमये लोचनकनीनिका विस्तृतस्य नयनस्य पर्यन्तभागे गता, पर्यन्तभागश्च दूरवर्ती, यतो हि सुविस्तृतं नेत्रम् , अतएव आयतनयनमध्ये दूरगमनात् तारकस्य श्रमो जातः। अतएव श्रमस्वेदवत् अश्रु पपातेत्यभिप्रायः। विशाललोचनतया नायकस्य निरतिशयसौन्दर्यं प्रतीयते। इहोपमा 'कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकेति च' इति विश्वः

त्वरितमिति । त्वरितं शीघ्रम् अभिप्रस्थितस्य प्रधानमार्गेण चन्द्रापीडं प्रति चलितस्य कादम्बर्याश्चेतसः, धूलिश्चरणरज इव, सुधाधवला स्मितज्योत्स्ना मन्दहास्यद्युतिः, विससार विस्तृता जाता । कादम्बरी भावावेशवशेन मन्दहास्यं कृतवतीत्याशयः ।

इह 'सुधाधवला' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'धूलिरिव' इत्यत्र च जात्युत्प्रेक्षेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

सम्मान्यतामिति । रुचिं प्रीतिं राति ददातीति रुचिरः, हृदयरुचिरः अनुपमसौन्दर्याच्चेतसो रुचिजनकः सर्वथैव मनोऽभिलषित इत्यर्थः, अयं मल्लक्षणो जनो लोकः प्रतिप्रणामेन अनुनमस्करणेन सम्मान्यतां सत्क्रियताम् इति एवं शिरो वक्तुमिव शिरसे निवेदयितुमिव एका भ्रूलता भ्रूवल्ली समुन्ननाम उच्चीबभूव । इह फलोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

अङ्गुलिविवरेति। अङ्गुलयः करशाखाः तासां विवरेभ्यश्छिद्रेभ्यो विनिःसृता विनिर्गता मरकताङ्गुलीयकानाम् अश्मगर्भरचिताङ्गुरीयकाणां मयूखलेखा रश्मिपङ्क्तिर्यस्य सः, अतएव विभ्रमेण विलासेन गृहीता आत्ता ताम्बूलवीटिका नागवल्लीदलवीटिका येन सः, मरकतमणिरचिताङ्गुलीयकानां रश्मिपङ्क्यास्ताम्बूलवीटिकावत् कृष्णवर्णत्वादित्याशयः । करो हस्तः । जृम्भाया आरम्भेण मन्थरं स्तब्धं मुखं वदनम् उत्ससर्प उज्जगाम ।

इह पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, तद्रश्मिपङ्क्तेस्ताम्बूलवीटिकात्वेनोत्प्रेक्षणाज्जात्युत्प्रेक्षालङ्कारश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

---

है, उसी प्रकार इनके साथ भी करो। ये तुम्हारे मित्र बान्धव और परिजन हैं । इस प्रकार महाश्वेताके समझाने पर, चन्द्रपीडने [ गन्धर्वोंको देवयोनिमें होनेके कारण ] कादम्बरीको प्रणाम किया ।

उस समय कादम्बरी कटाक्ष-पात करके स्नेहके साथ चन्द्रापीडको देखने लगी, उसके नेत्रकी तारा ( पुतली ) बड़े बड़े नेत्रोंके प्रान्तभागमें उपस्थित हो गई, एवं उधर जानेके परिश्रमसे घर्मबिन्दुसमूहके समान आनन्दाश्रुबिन्दुसमूह टपकने लगे। उसका हृदय चन्द्रापीडके प्रति शीघ्रतासे आगे दौड़ गया, अतएव उसके हृदयमें चरण-धूलिके समान अमृततुल्य शुभ्रवर्ण ईषद्-हास्यकी प्रभा फैलने लगी। 'प्रतिप्रणाम कर इस हृदय-रुचिर व्यक्तिको सम्मानित करो' इस बातको मस्तकसे कहनेके लिए ही मानो उसकी एक भ्रूलता ऊपरकी ओर चढ़ी। [ दक्षिण हस्तके ] अङ्गुलियोंके मध्यमें होकर मरकतमणिके अङ्गुरीयकों ( अंगूठियों ) की किरणें निकलनेके कारण प्रतीत होता था कि मानो, वह ( हाथ ) लीलासहित ताम्बूल-वीटिका ( पानकी बीड़ी ) धारणकर जँभाईके

---

१. अतिदीर्घलोचनाया अपाङ्गभागं गच्छतस्तारकस्य लोचनस्य अतिदीर्घलोचनयोरपाङ्गभागम् ।
२···लेखाविभ्रम···अङ्गुलीयकलेखः··· ।

त्ससर्प। स्रवत्स्वेदजलधौतलावण्यनिर्म्मलेषु चास्याः संक्रान्त[1]-प्रतिबिम्बतया सञ्चरन्मूर्त्तिर्मकरकेतुरिवावयवेष्वदृश्यत चन्द्रापीडः। तथाहि, शिञ्जन्मणिनूपुर[2]पुटेन भुवम्[3] आलिखताऽङ्गुष्ठेनाहूत इव चरणनखेषु निपपात। दर्शनातिरभसप्रधावितेन गत्वा हृदयेनानीत इव स्तनाभ्यन्तरे समदृश्यत। विकचकुवलयदामदीर्घया दृष्ट्या च निपीत इव कपोलतले समलक्ष्यत। सर्वासामेव च तदा तासां कन्यकानां तिर्य्यक् पश्यन्तीनां तं कुतूहलादपाङ्गचुम्बिन्यो निर्गन्तुकामा[4] इव कर्णपूरमधुकरैः समं बभ्रमुस्तरलास्तारकाः।

कादम्बरी तु सविभ्रम-कृत-प्रति-प्रणामा[5] महाश्वेतया सह पर्य्यङ्के निषसाद।

---

स्रवत्स्वेदेति। किञ्च, स्रवता भावोद्गमाच्च्यवता स्वेदजलेन घर्मवारिणा धौतं क्षालितं यल्लावण्यं तेन निर्मलेषु स्वच्छेषु। अनेन प्रतिबिम्बपतनयोग्यत्वं ध्वनितम्। अस्याः कादम्बर्याः अवयवेषु अङ्गेषु, चन्द्रापीडः संक्रान्तप्रतिबिम्बतया आत्मन एव सञ्चरितप्रतिच्छायतया कारणेन, सञ्चरन्मूर्त्तिः संक्रान्तस्वरूपो मकरकेतुः काम इव अदृश्यत अवालोक्यत सहचरीभिरिति शेषः।

इह द्रव्योत्प्रेक्षा, अतएव च कादम्बर्या मदनविह्वलत्वं तस्य च कामसदृशसौन्दर्यं प्रतीयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

अभिहितमेव विषयं विवृणोति—तथाहि ति। भुवं पृथिवीम् आलिखता ( कर्षता, किञ्चित्खनता ) अतएव शिञ्जत् अस्फुटशब्दं विदधत् मणिनूपुरपुटं रत्नखचितपादकटकपुटं यत्र तथोक्तेन अङ्गुष्ठेन आहूत इव पादकटकशब्देनामन्त्रित इव चन्द्रापीडः, चरणनखेषु कादम्बर्याः पादपुनर्भवेषु निपपात निपतितवान्, तेषु तत्प्रतिबिम्बं पपात इति तात्पर्यम्। 'आहूत इव' इति क्रियोत्प्रेक्षा।

दर्शनेति। दर्शनाय चन्द्रापीडस्यैवावलोकनार्थम् अतिरभसम् अतिशीघ्रं प्रधावितेन अत्यन्तवेगोच्चलितेन हृदयेन चेतसा गत्वा व्रजित्वा आनीत इव प्रापित इव चन्द्रापीडः कादम्बर्याः स्तनाभ्यन्तरे कुचयोर्मध्ये समदृश्यत समवालोक्यत सहचरीभिरिति शेषः। उक्तालङ्कारः।

विकचेति। विकचानि विकसितानि यानि कुवलयानि नीलोत्पलानि तेषां दाममाला तद्वत् दीर्घया विस्तृतया, निरन्तरकटाक्षपातादित्याशयः, दृष्ट्या अवलोकनेन निपीत इव निगीर्ण इव चन्द्रापीडः कपोलतले कादम्बर्या गण्डतले समलक्ष्यत अदृश्यत। उक्तालङ्कारः।

सर्वासामिति। कुतूहलात् कौतुकात् तं चन्द्रापीडं तिर्यक् पश्यन्तीनां कुटिलेनावलोकयन्तीनां सर्वसां समस्तानामेव तासां कन्यकानां कुमारीणाम् अपाङ्गचुम्बिन्यो लोचनप्रान्तस्थायिन्यः, तरलाश्चपलाः तारका नेत्रकनीनिकाः, निर्गन्तुकामा इव बहिर्गमनोत्सुका इव सत्यः, कर्णपूरमधुकरैः समं श्रवणालङ्कारीभूतकुसुमगतभ्रमरैः साकं बभ्रमुः भ्रमणं चक्रुः, यथा मधुकराश्चञ्चलास्तथा तारका अपि चाञ्चल्यमभजन्नित्यर्थः।

इह गुणोत्प्रेक्षा सहोक्तिश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

कादम्बरीति। सविभ्रमं सविलासं कृतो विहितः प्रतिप्रणामः चन्द्रापीडाय नमस्कारो यया सा तादृशी। पर्य्यङ्के पल्यङ्के निषसाद उपविवेश।

---

आरम्भ होनेसे मन्थर मुखकी ओर गया; गिरते हुए घर्मजल ( पसीने ) से उसके समस्त अङ्गलावण्य घुल जानेके कारण अधिक स्वच्छ हुए उसके अवयवोंमें उस ( चन्द्रापीड ) का प्रतिबिम्ब पड़नेसे मानो वह विचरण करता हुआ ( फिरता ) कामदेव ही है ऐसा दीखने लगा—क्योंकि मणि-भूमि पर कुछ लिखते हुए उसके चरणाङ्गुष्ठने मानो मणिनूपुरोंकी झंकारसे उसका आह्वान किया हो यों वह चरण-नखमें आ पड़ा था; चन्द्रापीडको देखनेके लिए तत्काल उसका हृदय मानो अतिशीघ्र जाकर उसे ले आया हो, इस प्रकार वह उसके स्तनाभ्यन्तरमें दीखता था; और प्रस्फुटित नीलोत्पलमालाके समान अपने सुदीर्घ दृष्टिसे उसका मानो पान किया हो, इस प्रकार उसके कपोलमण्डल ( गाल ) पर दृष्टिगोचर होता था। फिर उस समय बैठी समस्त कन्याओंकी, जो उसे कौतुकसे वक्रदृष्टि ( कटाक्ष ) डाल-डालकर देखती थीं, प्रान्तभाग (कोने) तक गई हुई चञ्चल नयनताराएँ ( पुतलियाँ ) बाहर जानेकी अभिलाषासे ही मानो, कर्णाभरण-कुसुमके भ्रमरोंके साथ फिरने लगीं।

कादम्बरी भी नानाविध विलास-सहित चन्द्रापीडको प्रणाम करके महाश्वेताके साथ पलङ्ग पर जाकर

---

१. स्तम्भसंक्रान्त''' । २.'''माणिक्यनूपुर । ३. मणिभवम् । ४. अपाङ्गचुम्बिन्या दृष्ट्या निर्गन्तुकामा इव । ५.'''कृतप्रणामा ।

ससम्भ्रमं [1]परिजनोपनीतायाञ्च शयनशिरोभागनिवेशितायां धवलांशुकप्रच्छदपटायां हेम-[2]पादाङ्कितायां पीठिकायां चन्द्रापीडः समुपाविशत्। महाश्वेतानुरोधेन च विदितकादम्बरीचित्ताभिप्रायाः संवृत-मुख-न्यस्त-दत्तशब्द-निवारण-संज्ञाः प्रतीहार्य्यो वेणुरवान् वीणाघोषान् गीतध्वनीन् मागधीजयशब्दांश्च सर्वतो निवारयाञ्चक्रुः। त्वरितपरिजनोपनीतेन च सलिलेन कादम्बरी स्वयमुत्थाय महाश्वेतायाश्चरणौ प्रक्षाल्योत्तरीयांशुकेनापमृज्य पुनः पर्य्यङ्कमारुरोह। चन्द्रापीडस्यापि कादम्बर्य्याः सखी रूपानुरूपा जीवितनिर्विशेषा सर्वविश्रम्भभूमिर्मदलेखेति नाम्ना बलादनिच्छतोऽपि प्रक्षालितवती चरणौ। महाश्वेता तु कर्णाभरणप्रभा-[3]वर्षिण्यंसदेशे सप्रेम-पाणिना स्पृशन्ती, मधुकरभर-पर्य्यस्तञ्च कर्णावतंसमुत्क्षिपन्ती, चामरपवनविधुति[4]-पर्य्यस्ताञ्च[5] अलकवल्लरीमनुष्वजमाना कादम्बरीमनामयं पप्रच्छ।

ससम्भ्रममिति। अपि च, चन्द्रापीडः ससम्भ्रमं शीघ्रं परिजनेन परिचारकेण उपनीतायाम् उपस्थापितायाम्, शयनस्य तल्पस्य शिरोभागे मस्तकदेशे निवेशितायां स्थापितायाम्, धवलांशुकमेव स्वच्छवसनमेव प्रच्छदपटः आस्तरणवस्त्रं यस्यास्तस्याम्, हेमपादैः सुवर्णरचितपादैः अङ्कितायां चिह्नितायां पीठिकायां लघुपीठे समुपाविशत् आसेदिवान्।

महाश्वेतेति। विदितो ज्ञातः कादम्बर्याः चित्ताभिप्रायः स्वान्ताशयो याभिस्तास्तादृश्यः प्रतिहार्यो द्वाररक्षाविधायिन्यः महाश्वेतया अनुरोधेन प्रनिबन्धेन, संवृतेषु पिहितेषु मुखेषु न्यस्तैः स्थापितैः हस्तैः, दत्ता ज्ञापिता शब्दकरणनिवारणसंज्ञा ध्वनिकरणनिवृत्तिसङ्केतो याभिस्तास्तादृश्यः सत्यः, वेणुरवान् वंशशब्दान् वीणाघोषान् वल्लकीनादान् गीतध्वनीन् गेयनिनादान्, मागधीनां स्तुतिपाठिकानां ये जयशब्दा जयजयेति रवास्तांश्च सर्वतः समन्तात् निवारयाञ्चक्रुः निषेधितवत्यः।

त्वरितेति। त्वरितपरिजनोपनीतेन सत्वरपरिचारिजनानीतेन सलिलेन जलेन। उत्तरीयांशुकेन ऊर्ध्ववस्त्रेण अङ्गप्रोञ्छणेनेत्यर्थः अपमृज्य जलं शोषयित्वेत्यर्थः। आरुरोह उपविष्टवती। रूपेण सौन्दर्येण अनुरूपा स्वसमाना, जीवितनिर्विशेषा नितान्तप्रेमभाजनमित्यर्थः, सर्वविश्रम्भभूमिः सर्वविधविश्वासपात्रम्, मदेन निजसौन्दर्योद्दुन्मत्तत्वेन लिखति चिह्नयति तरुणानां चित्तमिति मदलेखा। लिखतेः पचाद्यच्प्रत्ययः। अनिच्छतोऽपि अनभिलषतोऽपि बलात् हठात् चन्द्रापीडस्यापि चरणौ पादौ प्रक्षालितवती प्रक्षोलनं कृतवती।

महेति। कर्णाभरणप्रभायाः श्रवणभूषणकान्तेः वर्षं वृष्टिरस्यास्तीति तस्मिंस्तादृशे अंशदेशे कादम्बर्याः स्कन्धदेशे सप्रेम स्नेहसहितं यथा स्यात्तथा पाणिना हस्तेन स्पृशन्ती स्पर्शं कुर्वन्ती, मधुकराणां भ्रमराणां भरेण भारेण पर्यस्तं स्खलितं कर्णावतंसं कादम्बर्याः श्रवणभूषणीभूतं कुसुमम् उत्क्षिपन्ती पुनः स्वस्थानमुत्तोलयन्ती, तथा चामरपवनेन बालव्यजनवायुना या विधुतिः सञ्चालनं तेन पर्यस्ताम् इतस्ततो विक्षिप्ताम् अलकवल्लरीं कादम्बर्याः कुन्तलसमूहाग्रभागमित्यर्थः अनुष्वजमाना पाणिनामर्शन्ती। अनामयम् आरोग्यं पप्रच्छ पृष्टवती। 'दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छि चिञ्ब्रूशासुजिमन्थमुषाम्' इत्यादिना प्रच्छधातुर्द्विकर्मकः परिगणितः।

बैठे। इधर शीघ्रतासे किसी परिचारिका द्वारा सुवर्णके पायोंसे चिह्नित एक छोटी चौकी लाकर कादम्बरीकी शय्याके सिरानेके निकट रखी गई, उसके ऊपरमें शुभ्रवर्ण एक आस्तरण-वस्त्र बिछा दिया गया, चन्द्रापीड उस पर बैठ गये। कादम्बरीके चित्तका अभिप्राय समझकर एवं महाश्वेताके अनुरोधसे प्रतिहारियोंने मुद्रित (बंद) मुख मण्डलके ऊपर हाथ रख, शब्द करनेके निषेधका सङ्केत सूचित करके, सभी ओरसे वंशीका स्वर, वीणाका झङ्कार (घोष), गीतकी ध्वनि और स्तुतिपाठक मागधियोंके जय शब्द बन्द करा दिया। फिर किसी एक परिचारिकाने शीघ्रतासे जल ले आई। उससे कादम्बरीने अपने से ही उठकर महाश्वेताके चरण धोई और अपने उत्तरीय-वस्त्र (दुपट्टे) से उनको पोंछकर फिर वह पलङ्ग पर जा बैठी। इधर चन्द्रापीडके चरण भी सौन्दर्यमें कादम्बरीके अनुरूप, उसकी अत्यन्त-स्नेह-भाजन एवं सकल प्रकारसे विश्वास-पात्र मदलेखा नामक सखीने उस (चन्द्रापीड) की अभिलाषा न करने पर भी बलपूर्वक प्रक्षालन किये (धोये)। फिर कर्णाभूषणकी प्रभासे छाये हुए उस (कादम्बरी) के कन्धे पर स्नेहसे हाथ फेरती, भ्रमरके भारसे अवनत (लचे) हुए कर्णपल्लवको उछालती,

१. ससम्भ्रमपरिजनोपनीतायाञ्च। २. अत्र 'विविधरत्नप्रभाभासितायाम्' इति क्वचित् पाठो दृश्यते। ३. ...अपाङ्गदेशे। ४. ...विधूति...। ५. ...पर्य्यस्तालक...।

सा तु सखीप्रेम्णा गृहनिवासेन कृतापराधेवानामयेनैव लज्जमाना कृच्छ्रादिव कुशलमाचचक्षे । समुपजात शोकापि च तस्मिन् काले[1] महाश्वेतामुखनिरीक्षणतत्परापि मुहुर्मुहुरपाङ्ग-विक्षेप-प्रचलित-तरल-तर-तारशारोदरं[2] चक्षुर्मण्डलितचापेन भगवता कुसुमधन्वना बलान्नीयमानं चन्द्रापीडपीडनायेव[3] न शशाक निवारयितुम् । तेनैव क्षणेन तेनासन्नसखीकपोलसंक्रान्तेनेर्ष्याम्[4], रोमाञ्च-भिद्यमान-कुचतट[5]-नश्यत्-प्रतिबिम्बेन विरहव्यथाम्, स्वेदार्द्र[6] वक्षःस्थल-घटित-

सेति । सा कादम्बरी, सखीप्रेम्णा सहचरीस्नेहेन । अनामयेनैव आरोग्यावस्थानेनैव लज्जमाना त्रपमाणा, सहचरीत्वेन तुल्यसुखदुःखभोगयोग्यत्वादित्याशयः । कृच्छ्रादिव कष्टादिव कुशलं क्षेम आचचक्षे आख्यातवती ।

समुपजातेति । किञ्च, कादम्बरी समुपजातशोकाऽपि समुत्पन्नदुःखाऽपि महाश्वेताया अवलोकनेन तच्छोकस्मरणादित्याशयः, तस्मिन् काले तत्समये महाश्वेतामुखनिरीक्षणतत्परापि महाश्वेतावदनावलोकनासक्तापि मुहुर्मुहुः वारंवारम्, अपाङ्गो नेत्रप्रान्तस्तस्य विक्षेपेण चन्द्रापीडं प्रति कटाक्षपातसमये सञ्चालनेन प्रचलिता अतएव तरलतरा नितान्तचपला तारा कनीनिका यस्य तत्तादृशञ्च तत्, तत एव च शारं विचित्रम् उदरम् अभ्यन्तरं यस्य तत्तादृशञ्चेति तत्तथोक्तम् । मण्डलितचापेन आकृष्टधनुषा भगवता माहात्म्यवता कुसुमधन्वना कामेन चन्द्रापीडपीडनायेव चन्द्रापीडव्यथार्थमिव बलाद्धठात् तं प्रति नीयमानं प्राप्यमाणं चक्षुर्नयनम्, निवारयितुं निषेद्धुं न शशाक न समर्था बभूव । कामेन चन्द्रापीडपीडनायेव कादम्बरी चक्षुः चन्द्रापीडाभिमुखं नीतं नायकस्य अभिलाषातिशये नायिकाकटाक्षैः पीडोदयात्, कादम्बरी तु न तन्निवारयितुमशकदिति सरलार्थः। 'चन्द्रापीडपीडनायेव' इत्यत्र फलोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

तेनैवेति । सा कादम्बरी, तेन चन्द्रापीडेन, आसन्नाया निकटवर्त्तिन्याः सख्या वयस्यायाः कपोले गण्डे संक्रान्तेन प्रतिबिम्बितेन कारणेन ईर्ष्याम् अभजत, निजप्राणेशस्यान्यनायिकागामित्वादित्याशयः । रोमाञ्चैः पुलकैः भिद्यमाने उज्जृम्भमाणे कुचतटे स्वस्य स्तनमण्डले नश्यत् पुलकैरुन्नतावनततयैव लोपं गच्छत् प्रतिबिम्बं प्रतिच्छायं यस्य तेन तथोक्तेन चन्द्रापीडेन करणेन, विरहव्यथां वियोगपीडाम् अभजत प्रतिच्छायासत्त्वादित्याशयः । स्वेदार्द्रे घर्मक्लिन्ने वक्षःस्थले उरःस्थले घटिता घर्मैरेव निर्मिता या शालभञ्जिका पुत्तलिका तस्यां प्रतिमा प्रतिबिम्बं यस्य तथोक्तेन चन्द्रापीडेन कारणेन, सपत्नीरोषं सपत्नीक्रोधम् अभजत, चन्द्रापीडप्रतिच्छायाग्राहिण्याः पुत्तलिकाया अपि नायिकात्वादित्याशयः । निमिषता स्वावलोकने लोचनयोरुन्मीलननिमीलने विदधता चन्द्रापी-

चामरके वायुसे विखरे केशकलापकी लटोंको सँवारती महाश्वेता कादम्बरीसे कुशल पूछने लगी—किन्तु कादम्बरी तो सखीका ऐसा स्नेह देख, अपना घरमें रहना महाश्वेताके समीप मानो एक बड़ा अपराध समझ, अपने कुशल होने से ही मानो लज्जित होती उसके प्रति प्रणय-वश कष्टसे ही मानो अपना कुशल-सम्वाद कहने लगी । महाश्वेताको देखकर कादम्बरीको भी शोक उपस्थित हुआ, एवं वह महाश्वेताके मुखकी ओर ही निरीक्षण कर ( देख ) रही थी; तथापि प्रान्तभागमें प्रेरणा करने (कटाक्ष फेंकने) से हिलती अत्यन्त चञ्चल पुतलीसे मध्यभाग विचित्र हो गया था, ऐसे नेत्रोंको, धनुष चढ़ाकर खड़ा, भगवान् कामदेव, बार बार बलात्कारसे चन्द्रापीडको मानो पीड़ा देनेके लिए ही उसकी ओर ले जाता था, और कादम्बरी उन नेत्रोंको निवारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकती थी । उसी समयमें ही अपने समीपवर्त्तिनी किसी सखीके कपोल-मण्डल पर चन्द्रापीडकी प्रतिमूर्त्ति ( प्रतिबिम्ब ) देखकर कादम्बरीको ईर्ष्या होने लगी, रोमाञ्च उत्पन्न हो जानेके कारण उसके स्तनमण्डलमें पड़ा चन्द्रापीडका प्रतिबिम्ब लुप्त ( नष्ट ) होनेसे ही वह विरहवेदनाको भोगने लगी; उसके वक्षःस्थल पर घर्मजल उत्पन्न होकर एक पुत्तलिकाके आकारमें परिणत हो गया, उसके ऊपर चन्द्रापीडका प्रतिबिम्ब पड़ गया, उससे कादम्बरीको सपत्नी-विद्वेष उत्पन्न होने लगा; उस ( कादम्बरी ) के देखनेके समयमें चन्द्रापीडकी पलक गिर

१. इह 'तस्मिन् काले' इति क्वचित्पुस्तके नावलोक्यते । २…सारोदरं । ३…पीडनयेव, चन्द्रापीडपीडनादेव, चन्द्रापीडं प्रति । ४. ईर्ष्यया ईर्ष्या । ५. क्वचित् 'तट' इति पदं नोपलभ्यते । ५. विरहव्यथास्वेदार्द्र… ।

शालभञ्जिकाप्रतिमेन सपत्नीरोषं[1] निमिषता दौर्भाग्यशोकम्, आनन्दजलतिरोहितेनान्धतादुःखमभजत सा।

मुहूर्त्तापगमे च ताम्बूलदानोद्यतां महाश्वेता ताममभाषत[2]—'सखि! कादम्बरि! सम्प्रतिपन्नमेव[3] सर्वाभिरेवास्माभिः[4] अयमभिनवागतश्चन्द्रापीड आराधनीयः, तदस्मै तावद्दीयतां ताम्बूलम्[5]' इत्युक्ता च किञ्चिद्विवर्त्तिताननमितमुखी[6] शनैरव्यक्तमिव 'प्रियसखि! लज्जेऽहमनुपजातपरिचया प्रागल्भ्येनानेन, गृहाण, त्वमेवास्मै प्रयच्छ' इत्युवाच[7]। पुनः पुनरभिधीयमाना च तया कथमपि ग्राम्येव चिराद्[9] दानाभिमुखं मनश्चक्रे। महाश्वेतामुखादनाकृष्टदृष्टिरेव[10] वेपमानाङ्गयष्टिराकुललोचना[11] स्थूलस्थूलं निश्वसती[12] निजशरप्रहारमूर्च्छिता मन्मथेन स्नपि

---

डेन कारणेन, दौर्भाग्यशोकं स्वस्य दुर्भाग्यताक्लेशम् अभजत, निमेषकरणेन निजावलोकने तथाविधोत्कण्ठाभावप्रत्यायनादित्यभिप्रायः। तथा च आनन्दजलेन निजलोचनत एवानन्दाश्रुपातेन तिरोहितो लोचनाच्छादनादेवाच्छादितस्तेन चन्द्रापीडेन कारणेन, अन्धतादुःखं दृष्टिराहित्यक्लेशम् अभजत, दर्शनव्याघातादित्याशयः। अनेन निरतिशयानुरागो ध्वन्यते।

इह ईर्ष्यादीनामनेकेषां कर्मणाम् 'अभजत' इत्येकस्यां क्रियायामभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितालङ्कारः।

मुहूर्तेति। मुहूर्त्तापगमे किञ्चित्क्षणं व्यतीते ताम्बूलदानोद्यतां महाश्वेतायै नागवल्लीदलार्पणाय तत्परां तां कादम्बरीम् अभाषत अवोचत्। अभिनवागतः प्रत्यग्रायातः। सम्प्रतिपन्नमेव युक्तियुक्तमेव यथा स्यात्तथा आराधनीयः पूजनीयः 'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः' इतिस्मरणादित्याशयः। इत्युक्ता महाश्वेतया एवं कथिता च कादम्बरी, किञ्चिद्विवर्त्तितम् ईषत्परावर्तितम् अवनमितञ्च मुखं वदनं यया सा तथोक्ता सती, अव्यक्तमिव अस्पष्टमिव। 'अनुपजातपरिचया अनुत्पन्नसंस्तवा, अनेन प्रागल्भ्येन ताम्बूलदानरूपधाष्टर्येन लज्जे त्रपे। प्रयच्छ देहि' इत्युवाच इत्युक्तवती।

पुनः पुनरिति। किञ्च, तया महाश्वेतया, पुनः पुनरभिधीयमाना चन्द्रापीडाय ताम्बूलमर्पितुं भूयो भूयः कथ्यमाना कादम्बरी, ग्राम्येव ग्रामभवा सुन्दरीव ग्रामीणा रमणी हि नागरिकवदुचितमनुचितं नाववुध्यते। चिरात् चिरकालेन दानाभिमुखम् अर्पणसांमुख्यं मनश्चित्तं चक्रे विदधे। इहोपमा। वेपमानाङ्गयष्टिः कम्पमानाङ्गयष्टिः, आकुले धैर्यरहिते लोचने नयने यस्याः सा तादृशी। मन्मथेन कामेन कर्त्रा स्वेदजलविसरैः घर्मसलिलपुञ्जैः करणैः, निजशराणां स्वबाणानां प्रहारेण अभिघातेन मूर्छिता मोहं प्राप्ता अतएव स्नापितेव, स्नानं कारितेव, मूर्च्छितो हि जनः स्वीयैर्जनैरम्बुना स्नाप्यते मूर्च्छापनोदनाये-

---

जाती थी, उससे कादम्बरी दौर्भाग्यका शोक करने लगी और अपने नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर जानेसे जब उसे देख न सकी तब कादम्बरीको अन्धताका दुःख अनुभव होने लगा।

इस प्रकारसे कुछ देर बीत जाने पर [ जब ] कादम्बरी महाश्वेताको ताम्बूल देने लगी तब महाश्वेताने उससे कहा—'सखि, कादम्बरि! चन्द्रापीड नवीन अभ्यागत उपस्थित हुए हैं, इसलिए हम सब लोगोंको इनका सत्कार करना उचित है, अत एव तुम इन्हें ही ताम्बूल दो'। उसके इस प्रकार कहने पर, कादम्बरीने जरा मुँह फेरकर और नीचे अवनत ( झुका ) कर धीरे धीरे कुछ अव्यक्तरूपसे उत्तर दिया—'प्रियसखि! इनके साथ मेरा परिचय नहीं है इसलिए मैं इतनी प्रगल्भता ( धृष्टता ) करनेमें लज्जित होती हूँ, अत एव लो, तुम ही उनको दे दो।' फिर महाश्वेताके बार-बार समझाने पर भी कादम्बरी ग्राम्य रमणीके समान बहुत देरके बाद किसी प्रकारसे ताम्बूल देनेमें मनको अभिलाषी किया—( अर्थात् वह जैसे तैसे पान देनेको राजी हुई ); उसके बाद कादम्बरी महाश्वेताके मुखकी ओरसे दृष्टि आकर्षण न करके ही ताम्बूल सहित अपना कोमल हाथ आगे बढ़ाया। उस समय उसका शरीर काँप रहा था, नयनयुगल अधीर हो गए थे, एवं दीर्घनिश्वास छूट रहे थे ( अर्थात् वह अत्यन्त हाँफ रही थी ) और अपने शरप्रहारसे ही वह मूर्च्छित हो गई थी—इस लिए ही

---

१. सपत्नीरोषात्। २. तां महाश्वेतां समभाषत। ३. क्वचिदेव पाठो नास्ति। ४. सर्वाभिरस्माभिः, सर्वाभिरेवास्माभिरभिनव...। ५. क्वचित् 'ताम्बूलम्' इति पदं न दृश्यते। ६...आनमितमुखी। ७. सा ताम्। ८. कादम्बरी तु। ९. चिरेण। १०. अनाकर्षितदृष्टिरेव। ११. आमुकुलितलोचना, आकुलितलोचना। १२. निःश्वसन्ती।

तेव स्वेदजलविसरैः, स्वेदजलविसरनिमज्जनभयेन च हस्तावलम्बनमिव याचमाना, साध्वसपरवसा पतामीति लगितुमिवं[1] कृतप्रयत्ना प्रसारयामास ताम्बूलगर्भं हस्तपल्लवम्। चन्द्रापीडस्तु जयकुञ्जरकुम्भस्थलास्फालन-संक्रान्त-सिंदूरमिव स्वभाव-पाटलम्, धनुर्गुणाकर्षणकृतकिणश्यामलम्, कचग्रहाकृष्टि-रुदितारिलक्ष्मी-लोचन-परामर्श-लग्नाञ्जनबिन्दुमिव, विसर्पन्नखकिरण-तया अतिरभसेन प्रधाविताभिरिव[2] विवर्धिताभिरिव प्रहसिताभिरिवाङ्गुलीभिरुपेतम्, स्पर्श-लोभाच्च तत्कालकृत-सन्निवेशाः सरागाः पञ्चापीन्द्रियवृत्तीरपरा इवाङ्गुलीरु[3]द्वहन्तम्, प्रसारि-

त्याशयः। अपि च तस्मिन्नेव स्वेदजलविसरे घर्मवारिपुञ्जे निमज्जनभयेन ब्रुडनत्रासेन हस्तावलम्बनं करावलम्बनं याचमानेव प्रार्थ्यमानेव, भयेन करं विस्तारयन् कस्यचित् करावलम्बनं प्रार्थयते तथा साध्वसपरवशा भयाधीनाहं पतामि इति हेतोः लगितुं चन्द्रापीडशरीरे संसक्तुं कृतप्रयत्नेव विहितोद्योगेव। पतितो हि लोको हस्तं प्रसार्य क्वापि संसक्तो भवति। ताम्बूलगर्भं नागवल्लीदलाभ्यन्तरं हस्तपल्लवं करकिसलयं प्रसारयामास विस्तारितवती कादम्बरीत्यन्वयः।

इह 'स्नपितेव' 'याचमानेव' 'कृतप्रयत्नेव' त्रिष्वपि क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

चन्द्रेति। चन्द्रापीडस्तु पाणिं प्रसारितवानिति सम्बन्धः। इह द्वितीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'पाणिम्' इत्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि। स्वभावेन प्रकृत्यैव पाटलं श्वेतरक्तम्, अतएव जयकुञ्जरो विजयसाधनगजः तस्य कुम्भस्थले मूर्धांशस्थले आस्फालनेन प्रोत्साहनार्थं संमर्दनेन सङ्क्रान्तं संसक्तं सिन्दूरं नागजं यत्र तमिव। इह सिन्दूरसंलग्नोत्प्रेक्षणादुक्तालङ्कारः।

धनुरिति। धनुर्गुणाकर्षणेन। चापप्रत्यञ्चाकृष्टया कृतो विहितो यः किणश्चिह्नं तेन श्यामलं कृष्णवर्णम्, अतएव कचग्रहाकृष्टया केशग्रहणपूर्वकाकर्षणेन रुदिता आक्रन्दिता या अरिलक्ष्मीः रिपुश्रीः तस्या लोचनयोर्नयनयोः परामर्शेन करुणया नयनाम्बुं मार्जयितुं पुनरामर्शनेन लग्नाः सक्ता अञ्जनबिन्दवः कज्जलकणा यस्मिंस्तमिव। इहाऽप्युक्तदिशा उक्तालङ्कारः।

विसर्पदिति। विसर्पन्तः प्रसरन्तो नखकिरणाः करपुनर्भवरश्मयो यस्य तस्य भावस्तेन कारणेन। अतिरभसेन अत्यन्तजवेन प्रधाविताभिरिव नखकिरणैरेव उच्चलिताभिरिव, विवर्द्धिताभिरिव वृद्धिं प्राप्ताभिरिव, प्रहसिताभिरिव हास्यं कुर्वतीभिरिव, विसर्पितनखरश्मीनां हासस्य च तुल्यश्वेतत्वादित्याशयः। इह तिस्र एव क्रियोत्प्रेक्षाः, तासां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

स्पर्शलोभादिति। अपि च, कादम्बर्याः स्पर्शलोभात्, तस्मिन् काले तत्समये कृतो विहितः संनिवेशः उपस्थितिः याभिस्ताः, सरागाः सानुरागाः सरक्ताश्च, अपरा अन्याः पञ्च अङ्गुलीरिव करशाखा इव, पञ्चापि इन्द्रियवृत्तीः तदवलोकनतद्वार्त्ताश्रवणतदाननघ्राण-तदधरपान-तदङ्गस्पर्शस्वरूपान् लोचनादीनां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां व्यापारान् तासामभिलाषान् इत्यर्थः, उद्वहन्तम् उत्पादकत्वसम्बन्धेन धारयन्तम् उत्पादयन्तमित्यभिप्रायः। पाणिहस्तं प्रसारितवान् विस्तारितवान् इह जात्युत्प्रेक्षा।

कामदेव मानो उसे स्वेद-जलके प्रवाहमें स्नान करा रहा था, एवं कादम्बरी स्वेद-जलमें निमग्न होनेके भयसे ही मानो हाथ फैलाकर किसीको हाथ पकड़नेके लिए प्रार्थना करती थी; और 'मैं भयवश गिर रही हूँ' इसलिए ही मानो हाथ फैलाकर चन्द्रापीडके शरीरमें संलग्न होनेके लिए प्रयत्न करती थी। इधर चन्द्रापीडने भी उस ताम्बूलको ग्रहण करनेके लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया। उसका वह हाथ स्वभावसे ही आरक्तवर्ण (गुलाबी) था, अतएव प्रतीत होता था कि—विजयहस्तीके कुम्भस्थल पर आमर्दन करने (थपकाने) से उसका सिन्दूर मानो उसमें लग रहा हो, धनुषकी डोरी खींचनेके चिह्नोंसे वह हाथ कुछ श्यामवर्ण हो गया था, उससे प्रतीत होता था कि—केशधारणपूर्वक आकर्षण करने (केश पकड़कर खींचने) से शत्रुपक्षीय लक्ष्मी रोदन कर रही है, उस पर दया कर उसके आँसू पोंछनेके लिए नेत्रमें हस्तामर्शन करनेसे मानो अञ्जन-बिन्दु लग गये हैं। नख-किरणोंके फैल जानेसे प्रतीत होता था कि अँगुलियाँ मानो हँस रही हों, अत्यन्त वेगसे आगे दौड़ रही हों, और उनसे ही उन्हें मानो वर्द्धित कर रही हों। और चन्द्रापीड का वह हाथ कादम्बरीके हाथके स्पर्श करनेके लोभसे, अन्य पाँच अङ्गुलियोंके समान अनुरागके साथ उस समयमें उपस्थित पाँचों इन्द्रियोंके वृत्तिको ही धारण करता था।

१. विलगितुमिव, लपितुमिव तापितुमिव। २. प्रभाविताभिः, प्रसारिताभिः। ३. अपराङ्गुलीः,···वृत्तीरिव ङ्गुलीः···।

तवान् पाणिम् । तत्र च सा तत्काल सुलभ[1]-विलास-दर्शन-कुतूहलिभिरिव कुतोऽप्यागत्य सर्वरसैरधिष्ठिता[2] । तेनानिबद्धलक्ष्यतया शून्यप्रसारितेन, चन्द्रापीडहस्तान्वेषणायेव पुरःप्रवर्त्तित-नखांशुनिवहेन, वेपथुचलितवलयावलीवाचालेन सम्भाषणमिव कुर्वता हस्तेन, स्वेदसलिल पातपूर्वकं 'गृह्यतामयं मन्मथेन दत्तो दासजनः' इत्यात्मानमिव प्रतिग्राहयन्ती, 'अद्य प्रभृति भवतो हस्ते वर्त्तते' इति जीवितमिव स्थापयन्ती, ताम्बूलमदात् । आकर्षन्ती[3] च करकिशलयं भुजलतानुसारेण स्पर्शतृष्णागतमनङ्गशरभिन्नमध्यं हृदयमिव पतितमपि रत्नवलयं नाज्ञासीत् । गृहीत्वा चापरं ताम्बूलं महाश्वेतायै प्रायच्छत् ।

---

तत्रेति । अपि च, तत्र ताम्बूलार्पणकाले, तस्मिन् समये सुलभा अनायासलभ्या ये विलासाः कादम्बर्या विभ्रमाः तेषां दर्शने अवलोकने कुतूहलं कौतुकम् एषामस्तीति तैरिव सर्वरसैः सर्वविधैरनुरागैः कुतोऽपि अनिर्दिष्टस्थानात् आगत्य एत्य, सा कादम्बरी अधिष्ठिता आश्रिता तत्समये न केवलं स्पर्शविषयक एवानन्दः, किन्त्वन्येऽप्यनुरागा आनन्दजनका आसन्नित्यभिप्रायः ।

'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥'

इति विश्वः । सर्वरसैरित्यस्य शृङ्गारादिभिरिति व्याख्यानं तु न युक्तम् 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि' इत्यादिसाहित्यदर्पणदिशा स्वशब्दवाच्यत्वदोषप्रसङ्गात्, तत्काले कादम्बर्यां वीरबीभत्सादिरसानां सर्वथैवाश्रयणाच्चेति विभावनीयम् ।

तेनेति । अनिबद्धलक्ष्यतया अकृतस्थाननिश्चयतया कारणेन, शून्ये चन्द्रापीडहस्तव्यतिरिक्तस्थाने प्रसारितेन विस्तारितेन, अतएव चन्द्रापीडहस्तस्य अन्वेषणायेव मार्गणायेव पुरःप्रवर्त्तितः अग्रतः प्रेरितो नखांशुनिवहो नखरश्मिजालं येन तेन । वेपथुना कम्पेन चलितया स्फुरितया वलयानां कङ्कणानाम् आवल्या पङ्क्त्या वाचालेन मुखरायमाणेन, अतएव सम्भाषणम् आलापं कुर्वतेव विदधतेव विद्यमानेन तेन हस्तेन । स्वेदसलिलं घर्मजलं तस्य पातः पतनं तत्पूर्वकं यथा स्यात्तथा सम्प्रदानसमये सलिलपातस्य शास्त्रसंमतत्वादित्याशयः । 'मन्मथेन कामेन दत्तः अर्पितः अयं मल्लक्षणो दासजनः परिचारकलोकः त्वया गृह्यताम् अङ्गीक्रियताम्' इत्येवम् आत्मानं निजं प्रतिग्राहयन्तीव प्रतिग्रहणं कारयन्तीव । तथा अद्यप्रभृति अद्यदिनादारभ्य मम जीवितं भवतस्तव हस्ते वर्त्तते विद्यते इत्येवं जीवितं प्राणितं स्थापयन्तीव कादम्बरी ताम्बूलं नागवल्लीदलम् अदात् दत्तवती ।

इह 'अन्वेषणायेव' 'कुर्वतेव' 'प्रतिग्राहयन्तीव' 'स्थापयन्तीव' इत्येतेषु क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

आकर्षन्तीति । अपि च, करकिशलयं पाणिपल्लवम् आकर्षन्ती प्रत्यानयन्ती कादम्बरी, भुजलतानुसारेण विस्तारितां निजबाहुवल्लीमनुसृत्य तया साकमित्यर्थः, चन्द्रापीडस्य स्पर्शतृष्णया स्पर्शलोभेन गतं प्रयातम्, अनङ्गशरेण कामबाणेन भिन्नं विदीर्णं मध्यमभ्यन्तरं यस्य तत्तथोक्तम् आत्मनो हृदयमिव पतितमपि करात्प्रच्युतमपि रत्नवलयं मणिखचितकङ्कणं नाज्ञासीत् न ज्ञातवती अनेन तन्मयता व्यज्यिता । जात्युत्प्रेक्षा । अपरं तद्व्यतिरिक्तं ताम्बूलं नागवल्लीदलं महाश्वेतायै सख्यै प्रायच्छत् अदात् ।

---

एवं उस समय सभी प्रकारका अनुराग, तत्काल अनायास लभ्य कादम्बरीके विलासको देखनेके लिए कौतुकी होकर ही मानो किसी निर्दिष्ट स्थानसे आकर उसके हृदयमें बस गए । ऐसी अवस्थामें कादम्बरीने हाथ फैला कर चन्द्रापीडके हाथमें पानकी बीड़ीको रखा । उस समय वह लक्ष्य न दीखनेसे शून्यस्थानमें हाथको फैलाया, इससे प्रतीत होता था कि वह हाथ चन्द्रापीडके हाथका अन्वेषण करनेके लिए ही मानो सम्मुख नखके किरणोंको प्रेरणा कर रहा था । कम्प उपस्थित हो जानेसे हिलते कङ्कणके शब्द होने लगे, उससे प्रतीत होता था कि वह हाथ मानो चन्द्रापीडसे सम्भाषण करता था । कामदेवने दान कर दिया है, इसलिए आप इस दासीको ग्रहण कीजिए, इस भावसे कादम्बरी मानो स्वेद-जल-पात-पूर्वक अपनेको अपनेसे ही प्रतिग्रह कराती थी, एवं 'आजसे लेकर आपके हाथमें मेरा जीवन है' इस भावसे चन्द्रापीडके हाथमें अपना जीवन ही मानो स्थापित करती थी । कादम्बरी पानकी बीड़ी देकर अपने कोमल हाथोंको खींचकर ले आई, किन्तु पहलेसे ही उसका हृदय, चन्द्रापीडके स्पर्श करनेके लोभसे भुजलताका अनुसरण कर गया था, मदन-शर-विदीर्ण वह अपने हृदयके समान एक रत्नवलय खींचनेके समयमें जो हाथसे निकल पड़ा, उसे यह समझनेमें समर्थ न हो सकी । उसके बाद कादम्बरीने और एक दूसरी पानकी बीड़ी लेकर महाश्वेताको दी ।

---

१. क्वचित् 'सुलभ' इति पदं नास्ति । २. '''अधिष्ठितेनान्यनिबद्धलक्ष्यशून्य''' । ३. आकर्षयन्ती ।

अथ सहसैव त्वरितगतिः, त्रिवर्णरागमिन्द्रायुधमिव कुण्डलीकृतं कण्ठेन वहता विद्रुमाङ्कुरानुकारिचञ्चुपुटेन[1] मरकतद्युतिपक्षतिना मन्थरगतेन शुकेनानुबध्यमाना,[2] कुमुद-केसरपिञ्जरतया चरणयुगलस्य, चम्पककलिकारतया च मुखस्य, कुवलयदलनीलतया च पक्षद्युतीनाम्, कुसुममयीवागत्य सारिका सक्रोधमवादीत्—'भर्तृदारिके ! कादम्बरि ! कस्मान्न निवारयस्येनमलीकसुभगाभिमानिनमतिदुर्विनीतं[3] मामनुबध्नन्तं विहङ्गापसदम्[4]। यदि मामनेन परिभूयमानामुपेक्षसे ततोऽहं नियतमात्मानमुत्सृजामि । सत्यं शपामि ते पादपङ्कजस्पर्शेन' इत्येवमभिहिता च तया कादम्बरी स्मितमकरोत्। अविदितवृत्तान्ता तु महाश्वेता 'किमियं वदति' इति मदलेखां पप्रच्छ। सा च[5] अकथयत्—'एषा भर्तृदुहितुः सखी[6] कादम्बर्याः

अथेति। ताम्बूलदानानन्तरं त्वरिता शीघ्रा गतिर्गमनं यस्याः सा सारिका पीतपादा सहसैव अकस्मादेव आगत्य समेत्य 'सक्रोधमवादीत्' इत्यत्र सम्बन्धः। कण्ठेन गलदेशेन इन्द्रायुधं शक्रचाप इव कुण्डलीकृतं वर्तुलीकृतम्, त्रयाणां वर्णानां नीलपीतरक्तानां रागं रञ्जनं रेखामिति तात्पर्यम् वहता धारयता। विद्रुमाङ्कुरं प्रवालखण्डं तदनुकारि तत्सदृशं रक्तमित्यर्थः चञ्चुपुटं चोचसंपुटं यस्य तेन। मरकतस्य अश्मगर्भस्य द्युतिः कान्तिरिव द्युतिर्ययोस्तथोक्ते पक्षती पक्षयोर्मूलयुगले यस्य तेन। मन्थरं मन्दं गतं गमनं यस्य तेन, शुकेन कीरेण पक्षिणा अनुरुध्यमाना अनुव्रज्यमाना सारिका। तथा चरणयुगलस्य पादद्वयस्य कुमुदकेसरवत् श्वेतकमलकिञ्जल्कवत् पिञ्जरतया पीतवर्णतया, मुखस्य वदनस्य च चम्पककलिकाकारतया हेमपुष्पकोरकसदृशतया, पक्षद्युतीनां छदकान्तीनाञ्च कुवलयदलवत् नीलोत्पलपत्रवत् नीलतया श्यामवर्णतया कारणेन, कुसुममयीव पुष्परचितेव सारिका, सक्रोधं सकोपम् अवादीत् अवोचत्।

इह 'इन्द्रायुधमिव' इत्यत्र श्रौतोपमा, 'विद्रुमाङ्कुरानुकारि' इत्यत्र आर्थोपमा, 'कुवलयदलनीलतया' इत्यत्र लुप्तोपमा, आसां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। 'कुसुममयीव' इत्यत्रोक्तोपमाभिः संकीर्णा क्रियोत्प्रेक्षा।

भर्तृ ति। भर्तृदारिके कादम्बरि ! अलीकं मिथ्या सुभगं भार्याप्रियम् आत्मानम् अभिमन्यते बुध्यत इति तम्, अनेन स्वस्य तत्र प्रियत्वं नास्तीति ध्वनितम्। अतिदुर्विनीतं नितान्ताविनयशालिनम्, माम् अनुबध्नन्तम् अनुसरन्तं विहङ्गापसदं विहगाधमम् एनं पुरो विद्यमानं शुकं कीरं कस्माद्धेतोः न निवारयसि प्रतिषेधयसि। परिभूयमानां सम्भोगाय हठादाक्रम्यमाणाम् उपेक्षसे उपेक्षाम् (अवहेलनां) करोषि। नियतं नूनम् आत्मानं जीवितम् उत्सृजामि परित्यक्ष्यामि। भविष्यति वर्तमानता। ते पादपङ्कजस्पर्शेन तवाङ्घ्रिसरोरुहस्पर्शेन, सत्यम् अनृतं शपामि। तया सारिकया, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण अभिहिता उक्ता।

अविदितेति। अविदितवृत्तान्ता अज्ञातसमाचारा। इयं सारिका। भर्तृदुहितुः कादम्बर्याः सखीति

तदनन्तर सहसा ही शीघ्रतासे एक सारिका ( मैना ) आकर उपस्थित हुई। उसके पीछे-पीछे अपेक्षाकृत मन्दगतिसे एक शुक ( तोता ) भी उपस्थित हुआ; उस शुकके कण्ठदेश ( गले ) में इन्द्र धनुषके समान मण्डलाकारमें नील, पीत और लोहित ( रक्त ) वर्ण की तीन रेखाएँ थीं। चञ्चुपुट ( चोंच ) प्रवालखण्ड का अनुकरण करता था, एवं मरकत-मणिके समान पक्षयुगल ( पंखों ) की प्रभा प्रकाश पा रही थी; और उस सारिका का भी चरण-युगल श्वेतोत्पलके केसरके समान पिङ्गलवर्ण थे, मुखभाग चम्पकपुष्पकी कलिकाके समान पीतवर्ण था, एवं पक्ष की प्रभा नीलोत्पल-पत्रके समान नीलवर्ण थी, इसप्रकार उसे मानो विधाताने पुष्पद्वारा निर्माण किया था [ऐसा प्रतीत होता था ]। वह सारिका ( मैना ) क्रोधके साथ बोली—'राजकन्ये कादम्बरि ! पक्षियोंके मध्यमें यह शुक अधम, अपनेसे ही अपने को भाग्यवान् कह कर मिथ्याभिमान करने वाला तथा अत्यन्त दुर्विनीतस्वभाव वाला है, यह हमारे पीछे-पीछे आता है, आप इसका निवारण क्यों नहीं करती हैं ! इसके मेरे ऊपर आक्रमण करने पर आप यदि उपेक्षा करेंगी, तो ऐसा होने पर मैं निश्चय ही अपना प्राण त्याग दूँगी। मैं आपके पाद-पङ्कजके स्पर्शकी शपथ खाकर सत्य ही कहती हूँ। उस सारिकासे इस प्रकार कहने पर कादम्बरी तो मन्द-मन्द हँसने लगी। किन्तु महाश्वेता इस वृत्तान्तको नहीं जानती थी इस लिए उसने मदलेखासे पूछा कि—'यह मैना क्या कहती है ?' तब

१. अनुकारिणा चञ्चुपुटेन। २. मन्थरगमनेन शुकेनानुगम्यमाना। ३. दुर्विनीतं। ४. विहङ्गमापसदम्। ५. त्वकः। ६. क्वचित् सखीति पदं न दृश्यते।

कालिन्दीति नाम्ना सारिका, एतस्य[1] परिहासनाम्नः शुकस्य भर्तृदारिकयैव पाणिग्रहण-पूर्वकं जायापदं ग्राहिता। अद्य चायमनया प्रत्यूषसि कादम्बर्यास्ताम्बूलकरङ्कवाहिनीमिमां तमालिकामेकाकिनीं किमपि पाठयन् दृष्टो यतः, ततः प्रभृति सञ्जातेर्ष्या कोपपराङ्मुखी नैनमुपसर्पति, नालपति, न स्पृशति, न विलोकयति, सर्वाभिरस्माभिः प्रसाद्यमानापि न प्रसीदती'ति[3]।

एतदाकर्ण्य स्फुरितकपोलोदरश्चन्द्रापीडो मन्दं मन्दं विहस्याब्रवीत्—'अस्त्येषा कथा, श्रूयत एवैतद्राजकुले कर्णपरम्परया, परिजनोऽप्येवं मन्त्रयते,[4] बहिरपि जनाः कथयन्ति, एवं दिगन्तरेष्वप्ययमालापो वर्त्तत एव[5], अस्माभिरप्येतदाकर्णितमेव, 'यथा किल देव्याः कादम्बर्यास्ताम्बूलदायिनीं[6] तमालिकां[7] कामयमानः परिहासनामा शुको मदनपरवशो गतान्यपि दिनानि न वेत्ती'ति। तदयमास्तां तावद्वामाचारः, परित्यक्तनिजकलत्रो निस्त्रपो[8] अनया सह, देव्यास्तु कादम्बर्याः कथमेतद् युक्तं यन्न निवारयतीमां चपलां दुष्टदासीम्। अथवा देव्यापि

सम्बन्धः। पाणिग्रहणं हस्तग्रहणं पूर्वं यत्र क्रियायां तद् यथा स्यात्तथा, जायापदं पत्नीस्थानं पत्नीत्वमिति तात्पर्यम्, ग्राहिता प्रापिता। अद्य यतः प्रभृति यतः समयादारभ्येत्यर्थः। अनया सारिकया प्रत्यूषसि प्रभाते। एकाकिनीम् अद्वितीयाम् तमालिकां तमालिकाभिधेयाम्। पाठयन् मन्त्रयन्, दृष्टोऽवलोकितः। ततःप्रभृति तद्दिनादारभ्य सञ्जातेर्ष्या समुत्पन्नेर्ष्या कोपपराङ्मुखी क्रोधावाङ्मुखी। नोपसर्पति न निकटे गच्छति, नालपति न संभाषते। प्रसाद्यमानापि प्रसन्नीक्रियमाणापि न प्रसीदति न प्रसन्ना भवति।

एतदिति। स्फुटं स्पष्टं स्फुरितं हास्योदयाच्चलितं कपोलयोर्गण्डयोः उदरम् अभ्यन्तरं यस्य सः। कर्णपरम्परया श्रवणपरम्परया। मन्त्रयते विचारयति। आकर्णितमेव श्रुतमेव। कामयमानः अभिलषमाणः। मदनपरवशः कामपराधीनः। गतानि अतीतानि। न वेत्ति न जानाति तन्मयत्वादित्याशयः। अयं शुकः। वामो निजपत्नीं प्रति प्रतिकूलः आचारो व्यवहारो यस्य सः। परित्यक्तनिजकलत्रः उज्झितस्वभार्यः, निस्त्रपया निर्लज्जया पक्षिणं प्रत्यपि मदनावेशादित्याशयः। अनया पुरो विद्यमानया तमालिकया। चपलां चञ्चलाम् इमां दुष्टदासीं तमालिकां न निवारयति निषेधयति। कथमेतद् युक्तम्, अपि तु नोचितमेवेत्यर्थः। इह यच्छब्दसम्बन्धितवाक्यस्योत्तरत्र पाठाद्वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषस्तु तस्य पूर्वपाठविधानेन वारणीयः।

अथवेति। ईदृशाय एवंविधाय दुर्विनीताय दुर्विनेयाय विहङ्गाय पक्षिणे इमां वराकीं शोच्यां

मदलेखाने कहा—'यह राजकन्या कादम्बरी की सखी कालिन्दी नाम की सारिका है। इसको इस परिहास नामके तोतेके साथ इन्होंने ही पाणिग्रहण करा (व्याह) दिया है। किन्तु आज प्रातःकालमें इस मैनाने कादम्बरी की ताम्बूल-करङ्कवाहिनी इस तमालिकासे अकेलेमें इस शुकको कुछ कहते देखा। इस कालिन्दीने जिस समयसे यह देखा है उस समयसे इसे ईर्ष्या उत्पन्न हो गई है, एवं मान करके परिहासके प्रति विमुख हो गई है, इससे उसके समीपमें अब नहीं जाती है, न इसके साथ आलाप करती है, न इसका स्पर्श करती है, यह क्या, इसके प्रति दृष्टिपात भी नहीं करती है; हम लोगोंने इसको प्रसन्न करनेके लिए अनेक प्रकारसे चेष्टा की है, फिर भी यह प्रसन्न नहीं होती।'

यह सुनकर चन्द्रापीडके हास्य उपस्थित होनेके लिए कपोल-युगल का मध्यस्थान (गालोंके बीचका भाग) स्पष्टतः स्पन्दित हो उठा (फड़कने लगा), तब वह मन्द-मन्द हँस कर बोला—'यह बात सत्य है, क्यों कि—इस राजभवनमें ही कर्ण-परम्परासे यह बात सुनी जाती है, परिजनवर्ग भी ऐसी ही बातें करते हैं, बाहरके लोग भी ऐसा ही कहते हैं, एवं दिग्दिगन्तरमें भी इसकी ही आलोचना होती रहती है, और हमने भी इस प्रकार सुना है कि, 'परिहास-नामक शुक, कादम्बरीदेवीकी ताम्बूलकरङ्कवाहिनी तमालिका की इच्छा करता हुआ कामार्त्त होकर उसमें आसक्त (फँसा) है इस प्रकार वह यह भी नहीं जानता कि दिन किस तरह व्यतीत होते (बीते) जा रहे हैं।' अतएव प्रतिकूल स्वभावशाली यह परिहास, अपनी भार्या का परित्याग कर इस निर्लज्जा तमालिकाके साथ रहता है तो, रहे, किन्तु देवी कादम्बरी को क्या यह उचित है कि ऐसी चञ्चला दुष्ट दासी को निवारण नहीं

१. इदमस्य च। २. तरलिका…। ३. क्वचित् 'इति' इति पदं नावलोक्यते। ४. आमन्त्रयते, अप्येवं मन्त्रयति एवम्, अपि मन्त्रयते। ५. एवम्। ६. वाहिनीं। ७. तरलिकां। ८. निस्त्रपः।

कथितैव निःस्नेहता[1] प्रथममेव वराकीमिमां कालिन्दीमीदृशाय दुर्विनीताय विहङ्गाय प्रयच्छन्त्या। किमिदानीमियं[2] करोतु, यदेतत् सापत्न्यकरणं नारीणां प्रधानं कोपकारणम्, अग्रणीर्विरागहेतुः, परं परिभवस्थानम्। इयमेव केवलमतिधीरा, यदनयानेन दौर्भाग्यगरिम्णा जातवैराग्यया विषं वा नास्वादितम्, अनलो वा नासादितः अनशनं वा नाङ्गीकृतम्। न ह्येवंविधम्[3] अपरमस्ति योषितां लघिम्नः कारणम्। यदि चेयमीदृशेऽप्यपराधे अनुनीयमाना [4]अनेन प्रत्यासत्तिमेष्यति, तदा धिगिमाम्, अलमनया, दूरतो वर्जनीयेयम्, अभिभवनिरास्या[5], । क एनां पुनरालापयिष्यति, को वावलोकयिष्यति, को वास्या नाम ग्रहीष्यति' इत्येवमभिहितवति तस्मिन् सर्वास्ताः सह कादम्बर्या क्रीडालापभाविता[6]: जहसुरङ्गनाः।

परिहासस्तु तस्य नर्म्मभाषितमाकर्ण्य जगाद—'धूर्त्त! राजपुत्र! निपुणेयम्, न

---

कालिन्दीं तन्नामिकां प्रयच्छन्त्या प्रददत्या देव्या कादम्बर्यापि, प्रथममेव निःस्नेहता कालिन्दीं प्रति वात्सल्यशून्यता कथितैव, व्यञ्जितैव, अन्यथैनामेवंविधाय न प्रददेदित्याशयः।

किमिति। इयं कालिन्दी, इदानीं सम्प्रति किं करोतु परिहासं प्रति दोषं विना किं किं विदध्यादित्यर्थः। एतदेव समर्थयति—यदेतदिति। यद् यस्माद्धेतोः एतत् सापत्न्यकरणं तदिति शेषः, नारीणां योषितां प्रधानं मुख्यं कोपकारणं क्रोधहेतुः, अग्रणीः श्रेयान् विरागहेतुः विरक्ततायाः कारणम्, परम् अत्यन्तं परिभवस्थानं पराभवपदम्।

इयमिति। अनया कालिन्द्या, अनेन स्वयमनुभूयमानेन, स्वामिना अवहेलिता स्त्री दुर्भगा तस्य भावो दौर्भाग्यं तस्य गरिम्णा गुरुतया अतिरेकेण कारणेन, जातवैराग्यया उत्पन्ननिर्वेदया अनया कालिन्द्या, विषं गरलं नास्वादितं न भक्षितम्, वा अथवा अनलोऽग्निः नासादितः न प्राप्तः तत्र न प्रविष्ट इत्यर्थः। अनशनम् अनशनेन मरणं वा नाङ्गीकृतं न स्वीकृतम्। योषितां नारीणां लघिम्नः लघुतायाः कारणं हेतुः एवंविधम् एतादृशम् अपरम् अन्यं नास्ति न विद्यते।

यदीति। अनुनीयमाना प्रसन्नीक्रियमाणा, अनेन शुकेन सह, प्रत्यासत्तिं पुनः सङ्गमम्, एष्यति प्राप्स्यति। इमां कालिन्दीम्। वर्जनीया त्याज्या। अभिभवेन तिरस्कारेण निरास्या दूरीकरणीया।

क इति। एतां कालिन्दीम् आलापयिष्यति सम्भाषयिष्यति। अवलोकयिष्यति दर्शयिष्यति। क्रीडालापेन नर्मभाषणेन भाविताः सञ्जाततदनुकूलगुणभावोदया इत्यर्थः, अङ्गना नार्यो जहसुः हसितवत्यः।

परिहास इति। परिहासः परिहाससंज्ञकः शुकः नर्मभाषितं क्रीडालापम्। निपुणा अभिज्ञेयम्।

---

करती (रोकती नहीं) है? अथवा देवी कादम्बरीने भी इस भाग्यहीना कालिन्दी को ऐसे दुर्विनीतस्वभावशाली तोतेके हाथमें देकर इसके प्रति अपनी निःस्नेहता (वात्सल्यहीनता) पहले से ही सूचित कर दी है। अब यह विचारी क्या करे? क्योंकि—यह जो सपत्नी कर लिया है वह स्त्रियोंके पक्षमें क्रोध का प्रधान कारण है, गुरुतर वैराग्य उत्पन्न होने का मुख्य हेतु है, और अत्यन्त अवज्ञा का बड़ा स्थान है। यह कालिन्दी ही अत्यन्त धीरप्रकृति है, क्यों कि—इसने इतने गुरुतर (बड़े) दुर्भाग्यसे वैराग्य हो जाने पर विष-पान नहीं कर लिया, किंवा अग्निमें ही प्रवेश नहीं किया, अथवा अनशनसे आत्महत्या नहीं कर लिया। स्त्रियोंके पक्षमें लघुता का कारण इसके समान अन्य कोई नहीं है। इस प्रकारके बड़े अपराध रहने पर भी, केवल अनुनय करनेसे ही कालिन्दी यदि फिरसे इस परिहासके साथ सम्मिलित हो जाय तो इसको धिक्कार है और इसका कोई प्रयोजन नहीं है, हम सबों को दूरसे ही इसे तिरस्कारपूर्वक परित्याग कर देना उचित है। एवं उसके रहने पर कालिन्दीके साथ कौन आलाप करेगा, अथवा कौन इसके प्रति दृष्टिपात करेगा? या कौन व्यक्ति ही इसका नाम भी लेगा? चन्द्रापीडके इस प्रकार कहने पर कादम्बरीके सहित सब कन्याएँ, जो इस परिहासवाक्य को समझ गई थीं, वे सब आनन्दसे खिलखिला कर हँसने लगीं।

परन्तु परिहास (शुक), चन्द्रापीडके परिहास-वाक्य (कोमल वचन) सुन कहने लगा—'धूर्त्त, राज॰

---

१. निस्नेहता। २. क्वचिदिह 'तपस्विनी इत्यधिक पाठः समुपलभ्यते। ३. न ह्येकम्। ४. तेन सह। ५. अभिभवनिरास्याम्, अभिभवनिरस्या। ६''' भाषिताः।

त्वयान्येन वा लोलापि प्रतारयितुं शक्यते। एषापि बुध्यत एवैतावतीर्वक्रोक्तीः, इयमपि जानात्येव परिहासजल्पितानि, अस्या अपि राजकुलसम्पर्कचतुरा मतिः। विरम्यताम्, अभूमिरेषा भुजङ्ग-भङ्गि-भाषितानाम्, इयमेव हि वेत्ति मञ्जुभाषिणी कालञ्च कारणञ्च प्रमाणञ्च विषयञ्च प्रस्तावञ्च कोपप्रसादयोः इति।

अत्रान्तरे चागत्य कञ्चुकी महाश्वेतामवोचत्—'आयुष्मति! देवश्चित्ररथो देवी च मदिरा त्वां द्रष्टुमाह्वयते'। एवमभिहिता च गन्तुकामा 'सखि! चन्द्रापीडः क्वास्ताम्' इति कादम्बरीमपृच्छत्। असौ तु 'न पर्य्याप्तमनेकस्त्रीहृदयसहस्रावस्थानेन[1]?' इति मनसा विहस्य प्रकाशमवदत्—'सखि! महाश्वेते! किं त्वमेवमभिदधासि, दर्शनादारभ्य शरीरस्याप्ययमेव प्रभुः, किमुत भवनस्य विभवस्य परिजनस्य वा, यत्रास्मै रोचते[2] प्रियसखीहृदयाय वा, तत्रायमास्ताम्' इति। तच्छ्रुत्वा महाश्वेतावदत्—'अत्रैव[3] त्वत्प्रासादसमीपवर्त्तिनि प्रमदवने

अन्येन त्वद्व्यतिरिक्तपुंसा, लोलापि चञ्चलापि नारीत्वेन अगभीरबुद्धिरपि प्रतारयितुं वञ्चयितुं न शक्यते न पार्यते। वक्रोक्तीः कूटकथाः वञ्चनवचनानि। परिहासजल्पितानि परिहासभाषितानि। राजकुले राजवंशे यः सम्पर्कः सम्बन्धः तेन चतुरा विदग्धा। एषा सारिका, भुजङ्गा अग्राम्याः तेषां भङ्गिभाषितानि प्रतारणवचनानि तेषाम्, अभूमिः अपात्रम्। मञ्जुभाषिणी मनोज्ञालापिनी इयमेव हि कोपप्रसादयोः क्रोधप्रसन्नतयोः कालं समयम्, कारणं हेतुम्, प्रमाणम् इयत्ताम्, विषयं देशम्, प्रस्तावम् अवसरञ्च वेत्ति जानाति।

अत्रेति। अत्रान्तरे अस्मिन् समये। देवः पूज्यः चित्ररथः तत्संज्ञको राजा। आह्वयते आकारयति। एवमभिहिता अनेन प्रकारेणोक्ता च महाश्वेतेति शेषः। क्वास्तां क्व तिष्ठतु। असौ कादम्बरी। अनेकम् अधिकतरं यत् स्त्रीहृदयसहस्रं नारीचित्तसमूहः तदेव अवस्थानम् अवस्थित्यर्हं स्थानं तेन किं न पर्याप्तम्? अर्थात् हृदयसहस्ररूपं स्थानमस्य किं न यथेष्टं जातमिति काकुः, येन स्थित्यर्थमन्यस्थानान्वेषणं विधीयत इत्याशयः। अभिदधासि कथयसि। अयं राजपुत्र एव प्रभुः स्वामी, सौजन्येन स्वाधीनविधानादिति बाह्याभिप्रायः, चिरकालेन प्राणेश्वरविधानादित्यान्तरिकाभिप्रायः। अनेन स्वेनापि निरतिशयसौजन्यं ध्वनितम्। विभवस्य वित्तसम्पत्तेः। यत्र यस्मिन् स्थाने अवस्थानं कर्त्तुं, अस्मै राजपुत्राय रोचते अभिप्रैति, प्रियसख्यास्तव हृदयाय चेतसे वा रोचते, तत्र तस्मिन् स्थाने अयं राजपुत्रः आस्ताम् तिष्ठतु।

तच्छ्रुत्वेति। त्वत्प्रासादसमीपवर्त्तिनि भवत्सौधनिकटस्थायिनि प्रमदवने अन्तः पुरोपवने क्रीडापर्व-

पुत्र! यह बहुत चतुर है। अतएव चञ्चल होने पर भी; तुम अथवा अन्य कोई व्यक्ति इसकी प्रतारणा करने (धोखा देने) में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि—यह भी इन समस्त व्यङ्ग्योक्तियों (चतुर भाषणों) को अवश्य ही समझती है, यह भी परिहास भाषण करना जानती ही है, एवं राजकुलमें सम्पर्क रहनेसे इसकी बुद्धि भी समस्त विषयोंमें निपुण है, इसलिए अब तुम चुप रहो, यह नागरिकोंके व्यङ्ग्योक्तियों का पात्र नहीं (अर्थात् इसपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा) और मधुर भाषिणी यह सारिका भी किससे क्रोध होता है, अथवा किससे प्रसन्नता उत्पन्न होती है—इसका अवसर, कारण, परिमाण, स्थान और प्रसङ्ग—इन सबों को ही जानती है।'

इस बीचमें कञ्चुकीने आकर महाश्वेतासे कहा—'आयुष्मति! महाराज चित्ररथ एवं महारानी मदिरा आपको देखनेके लिए बुलाती हैं' यह समाचार कहने पर वहाँ जानेकी अभिलाषासे उसने कादम्बरीसे पूछा—'सखि! चन्द्रापीड कहाँ ठहरेंगे?' तब कादम्बरी हँस कर मन ही मन कहने लगी—'असंख्य स्त्रियोंके हृदयरूपी स्थान उनके रहने के लिए पर्याप्त नहीं है?' उसके बाद कादम्बरीने प्रकट रूपसे कहा—'सखि महाश्वेते! तुम इस प्रकार क्यों कहती हो? जबसे दर्शन हुए तबसे ये अपने सौजन्य गुणसे मेरे शरीरके भी प्रभु हो गए हैं, तो फिर गृह (भवन), सम्पत्ति और परिजन की तो बात ही क्या है अतएव जिस स्थानमें इनकी अभिरुचि हो अथवा तुम्हें जिस स्थानमें अभिमत हो वहाँ ही ये सुखसे रहें।' यह सुन कर महाश्वेताने कहा—'तब तो तुम्हारी अट्टालिका

१. ननु पर्य्याप्तमेवानेकस्त्रीहृदयसहस्रावस्थानमनेन। २…शरीरस्याप्यहं न विभुः किमुत भवनस्य परिजनस्य वा। यत्रासौ रोचते…। ३. महाश्वेता तदत्रैव च।

क्रीडापर्वतकमणिवेश्मन्यास्ताम्' इत्यभिधाय गन्धर्वराजं द्रष्टुं ययौ । चन्द्रापीडोऽपि तयैव सह[1] निर्गत्य विनोदनार्थं[2] वीणावादिनीभिश्च वेणुवाद्यनिपुणाभिश्च गीतकलाकुशलाभिश्च दुरोदरक्रीडारागिणीभिश्च अष्टापदपरिचयचतुराभिश्च चित्रकर्म्मकृतश्रमाभिश्च सुभाषितपाठिकाभिश्च[3] कादम्बरीसमादिष्ट-प्रतीहारी-प्रेषिताभिः कन्याभिरनुगम्यमानः पूर्वदृष्टेन केयूरकेणोपदिश्यमानमार्गः क्रीडापर्वतमणिमन्दिरं[4] मगात् ।

गते च तस्मिन् गन्धर्वराजपुत्री विसर्ज्य सकलं सखीजनं परिजनञ्च[5] परिमित-परिचारिकाभिरनुगम्यमाना प्रासादमारुरोह । तत्र[6] च शयनीये निपत्य दूरं[7]-स्थिताभिर्विनयनिभृताभिः[8] परिचारिकाभिर्विनोद्यमानः कुतोऽपि प्रत्यागतचेतना चैकाकिनी तस्मिन् काले 'चपले ! किमिदमारब्धम्' इति निगृहीतेव लज्जया, 'गन्धर्वराजपुत्रि ! कथमेतद्युक्तम् ?' इत्युपालब्धेव विनयेन, 'अयमसावव्युत्पन्नो बालभावः क्व गतः' इत्युपहसितेव मुग्धतया,

तकस्य खेलार्थगिरेः मणिवेश्मनि रत्ननिर्मितगृहे आस्ताम् । ययौ गतवती । तयैव महाश्वेतयैव सह निर्गत्य बहिरेत्य । वीणावादिन्यो वल्लकीवादिन्यः ताभिः वेणुवादिन्यः वंशीवादिन्यः ताभिश्च एवं गीतकलाकुशलाभिः गानविज्ञानदक्षाभिः, दुष्टम् आसमन्तात् उदरम् अभ्यन्तरं यस्य तद्दुरोदरं द्यूतं तत्क्रीडायां तत्खेलायां रागिणीभिः अभिरुचियुक्ताभिः अष्टौ अष्टौ पदान्यस्येति अष्टापदं शारिफलम् 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६।३।१२५) इति सूत्रेण दीर्घः । तस्य परिचये विज्ञाने चतुराभिर्दक्षाभिः । अष्टापदोऽस्त्री कनके शारीणां फलकेऽपि च' इति मेदिनी । चित्रकर्मसु आलेख्यक्रियासु कृतो विहितः श्रमः शिक्षायै आयासो याभिस्ताभिः। सुभाषितपाठिकाभिश्च सूक्तपाठविधायिनीभिश्च, कादम्बर्या समादिष्टा आज्ञप्ता या प्रतीहारी द्वारपालिका तया प्रेषिताभिः प्रेरिताभिः कन्याभिः अनूढाभिः अनुव्रज्यमानश्चन्द्रापीडः । उपदिश्यमानमार्गः प्रदर्श्यमानपथः । अगात् गतवान् ।

गत इति । गन्धर्वराजपुत्री कादम्बरी, सकलं समस्तं सखीजनं सहचरीवर्गं परिजनं परिचारिकावर्गं च विसर्ज्य स्वस्थानं गम्यतामित्यादिश्य परिमितपरिचारिकाभिः अत्यल्पपरिजनैः अनुगम्यमाना अनुव्रज्यमाना । आरुरोह आरूढवती । शयनीये शय्यायां निपत्य स्रस्तशरीरा सती स्थित्वा, दूरस्थिताभिः दविष्ठदेशावस्थायिनीभिः विनयेन शिष्टव्यवहारेण निभृताभिः तूष्णीम्भूताभिः परिचारिकाभिः परिजनैः विनोद्यमानः विनोदविषयीक्रियमाणः। प्रत्यागता पुनरुपस्थिता चेतना चैतन्यं यस्याः सा, चन्द्रापीडावलोकनसमये मोह एवासीदित्याशयः । चपले चञ्चले कादम्बरि ! इदं किमारब्धं प्रस्तुतमिति लज्जया त्रपया निगृहीतेव निर्यातितेव । एतत् पूर्वोक्तं कथं न्याय्यं युक्तमिति विनयेन शिष्टाचारेण उपालब्धेव तिरस्कृतेव । अयमसौ सोऽयमित्यर्थः, अव्युत्पन्नः अबोधः, यौवनकालिकशृङ्गारविषयकभावानभिज्ञः, बालभावः शिशुप्रकृतिस्तव क्व गता इति मुग्धतया अभिनवायातेन मुग्धाभिधनायिकाविशेषभावेन उपहसितेव हास्यविषयीकृतेव बालस्वभावस्य मुग्धाभावेन निरासादित्याशयः। मुग्धास्वरूपं साहित्यदर्पणे-

( महल ) के समीपवर्त्ती इस प्रमद-वनमें क्रीडा-पर्वतके मणि-मन्दिर पर ये ठहरें । यों कह कर गन्धर्वराजको देखनेके लिए ( अर्थात् उनसे मिलनेके लिए ) चली गई । चन्द्रापीड भी उसके ही साथ बाहर निकला और उसके चित्तके विनोदके लिए कादम्बरीके आदेशसे प्रतीहारीद्वारा भेजी गई—वीणा बजाने वाली, वंशी बजानेमें निपुण, सङ्गीत-कला ( गानविद्या ) में दक्ष, द्यूतक्रीडा करनेमें अनुरक्त, शतरञ्जमें सुचतुर, चित्रकार्यमें श्रम करने वाली, एवं सुन्दर प्रबन्ध ( सुभाषित ) पाठ करनेमें निपुण कितनी ही कन्याओंके साथ, पूर्वपरिचित तथा केयूरकके द्वारा बताए हुए मार्गसे क्रीड़ापर्वतस्थ मणि-मन्दिरमें गया ।

चन्द्रापीडके चले जाने पर ( तत्काल ही ) कादम्बरी सब सखीजन और परिजनको विदाकर केवल थोड़ी सी दासियों को लेकर अट्टालिका ( महल ) पर चढ़ी । वहाँ जाकर पलङ्ग पर लेट गई और विनयवती परिचारिकाएँ निःशब्द दूर खड़ी होकर उसका कुछ कुछ चित्त-विनोदन करने लगीं । किन्तु वह अकेली, उस समयमें—'चञ्चले ! यह तुम क्या आरम्भ की हो ? यों कहकर लज्जा मानो उसको यातना देती हो-गन्धर्वराजकन्ये ! ऐसा कार्य क्या तेरे योग्य है ?' यों कह कर विनय मानो उसका तिरस्कार करता हो—'तुम्हारा वह शृङ्गाररसानभिज्ञ

१. तथा सहैव । २. विनोदार्थं । ३. दुरोदरेत्यारभ्य पाठिकाभिश्चेत्यन्तं यावत् पाठः क्वचिन्न दृश्यते । ४. गृहम् । ५. सकलसखीजनञ्च । ६. ततः । ७. अदूर'''। ८. विधूताभिः । ९, परिचयचतुराभिरुपास्यमानापि ।

'स्वैरिणि ! मा कुरु यथेष्टमेकाकिन्यविनयम्' इत्यामन्त्रितेव कुमारभावेन, 'भीरु ! नायं कुलकन्यकानां क्रमः' इति गर्हितेव महत्त्वेन, 'दुर्विनीते ! रक्षाविनयम्' इति तर्जितेवाचारेण, 'मूढे ! मदनेन लघुतां नीतासि' इत्यनुशासितेवाभिजात्येन, 'कुतस्तवेयं तरलहृदयता' इति धिक्कृतेव धैर्य्येण, 'स्वच्छन्दचारिणि ! अप्रमाणीकृताहं त्वया' इति निन्दितेव कुलस्थित्या, अतिगुर्वी लज्जामुवाह ।

समचिन्तयच्चैवम्—'अगणितसर्वशङ्कया तरलहृदयतां दर्शयन्त्या अद्य मया किं कृतमिदं मोहान्धया तथाहि, अदृष्टपूर्वोऽयमिति साहसिकया मया न शङ्कितम् । लघुहृदयां मां लोकः कलयिष्यतीति निर्ह्रीकया नाकलितम् । कास्य चित्तवृत्तिरिति मूढया न परीक्षितम् । दर्शनानुकूलाहमस्य नेति वा तरलया न कृतो विचारक्रमः । प्रत्याख्यानवैलक्ष्यान्न भीतम् , गुरुज-

'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा । कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥' इति।

हे स्वैरिणि स्वच्छन्दविहारिणि ! अविनयम् अशिष्टाचरणम् , नायकेन साकमशिष्टाचारं विधातुं शक्नोषि न तत्र क्षतिरिति सूचयितुम् 'एकाकिनी' इति पदमुपात्तमित्यवधेयम् । कुमारभावेन कन्यकादशया आमन्त्रितेव आमन्त्रणपूर्वकं शिक्षितेव । कुलकन्यकानां कुलकुमारिकाणां क्रमो रीतिः, महत्त्वेन औदार्येण गर्हितेव निन्दितेव । अविनयम् अशिष्टाचरणं रक्ष अवरोधय इति आचारेण साधुव्यवहारेण तर्जितेव ताडितेव । मूढे हिताहितप्रज्ञाशून्ये ! लघुतां तुच्छतां नीतासि प्रापितासि । अभिजात्येन कौलीन्येन अनुशासितेव पाठितेव । तरलहृदयता चपलचित्तता । अहं कुलमर्यादा अप्रमाणीकृता अवहेलिता । कुलस्थित्या कुलमर्यादया निन्दितेव गर्हितेव, अतिगुर्वीम् अतिमहतीं लज्जां त्रपाम् उवाह धारयामास ।

समेति । समचिन्तयत् अदध्यायत् । न गणिता संख्याकृता सर्वेभ्यो जनकादिभ्यः शङ्का सन्देहो यया तया । दर्शयन्त्या प्रकटयन्त्या । मोहान्धया अज्ञानान्धया ।

उपपादयति—तथाहीति । साहसिकया हठकारिण्या अविचार्यविधायिन्येत्यर्थः । अयं कुमारः अदृष्टपूर्वः अनवलोकितपूर्वः इति न शङ्कितम् अनवलोकितपूर्वत्वेन प्रकृतिपरिचयाभावात् वञ्चयितुमपि समर्थो भविष्यतीति न चिन्तितमित्यर्थः' लघुहृदयां तुच्छचित्तां कलयिष्यति प्रतिपादयिष्यति इति निर्ह्रीकया निस्त्रपया मया नाकलितं न विभावितम् । का किंस्वरूपा अस्य कुमारस्य चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारः । दर्शनानुकूला अवलोकनसुभगा । तरलया चञ्चलया । विचारस्य विवेचनस्य क्रमः परम्परा न कृतो विहितः ।

प्रत्येति । प्रत्याख्यानेन कुमारद्वारा मत्प्रणयप्रतिषेधेन यद्वैलक्ष्यं विह्वलीभावस्तस्मात् गुरुजनात्

बाल-भाव कहाँ गया ?' यों कहकर मुग्धता मानो उसको हँसी करती हो—'हे स्वेच्छाचारिणि ! तुम केवल अपनी इच्छाके अनुसार अशिष्ट व्यवहार मत कर' यों सम्बोधनपूर्वक कहकर कन्यावस्था मानो उसे उपदेश देती हो—'अरे भीरु ! यह कुलीनकन्याओंकी रीति नहीं' यों कहकर औदार्य मानो निन्दा करता हो—'दुर्विनीते ! अपने अशिष्ट व्यवहारका निवारण करो' यों कहकर आचार मानो भर्त्सना करता ( फटकारता ) हो—'अरी मूढे ! कामदेवने तुझमें लघुता ( हलकापना ) लाकर तुच्छ कर दिया है' यों कहकर मानो कुलीनता शासन करती हो—तुम्हारी यह चपलता कहाँसे आई' यों कहकर धैर्य मानो धिक्कार देता हो—हे स्वच्छन्दचारिणि ! मैंने मुझे अवहेलना की' यों कहकर मानो वंशमर्यादा निन्दा करती हो—यों न समझमें आता कि कहाँसे इस प्रकारकी चेतना आनेसे अत्यधिक लज्जानुभव करने लगी ।

उसके बाद वह इस प्रकार चिन्ता करने लगी कि—'मैंने आज हताश और मोहान्ध होकर, समस्त आशङ्काओंकी गणना न कर, मनकी चञ्चलता प्रकट कर यह क्या किया ? मेरी और उनकी यह पहली ही भेंट थी—इसकी भी मैंने हृदयार्पण-रूप साहस करनेमें कुछ शङ्का नहीं की; 'लोग मेरे मनको चञ्चल बतलावेंगे' यह भी मैं निर्लज्जताके कारण विवेचना नहीं कर सकी; 'इनकी चित्तवृत्ति कैसी है' उसकी भी मूढता होनेके कारण परीक्षा नहीं कर सकी; 'मैं इनके दर्शन योग्य हूँ या नहीं, चञ्चलतावश इसकी भी मैं विवेचना नहीं कर सकी; उनके अस्वीकार कर देने पर एक बार जो आकुलता होगी उसका भी भय नहीं किया, गुरुजनसे भी

१. मूढे ! निगृह्यतां मदनेन । २. लघुतां नीतासि मदनेनेति शापितेव । ३. तरलता । ४. अगणितसर्वशङ्कां । ५. मोहान्धया हताशया । ६. साहसिकतया । ७. अयं । ८. मया ।

नाम्न त्रस्तम् , लोकापवादान्नोद्विग्नम् , तथा च महाश्वेतातिदुःखिते[1]ति निर्दाक्षिण्यया[2]नापेक्षितम् , आसन्नवर्त्तिसखीजनोऽप्युपलक्षयतीति मन्दया न लक्षितम्, पार्श्वस्थितः परिजनः पश्यतीति नष्टचेतनया न दृष्टम्। स्थूलबुद्धयोऽपि तादृशीं विनयच्युतिं विभावयेयुः, किमुतानुभूतमदनवृत्तान्ता महाश्वेता सकलकलाकुशलाः सख्यो वा राजकुलसञ्चारचतुरो वा नित्यमिङ्गितज्ञः परिजनः। ईदृशेष्वतिनिपुणतरदृष्टयो[3]ऽन्तःपुरदास्यः। सर्वथा हतास्मि मन्दपुण्या, मरणं मेऽद्य श्रेयो न लज्जाकरं जीवितम्। श्रुत्वैतं[4] वृत्तान्तं किं वदयत्यम्बा, तातो वा, गन्धर्वलोको वा। कि करोमि, कोऽत्र प्रतीकारः, केनोपायेन स्खलितमिदं प्रच्छादयामि, कस्य वा चापलमिदमेतेषां दुर्विनीतानामिन्द्रियाणां कथयामि, क वानेन दग्धहृदयेन पञ्चबाणेन न खलु जानामि गृहीता गच्छामि[5]। तथा महाश्वेताव्यतिकरेण प्रतिज्ञा कृता, तथा प्रियसखीनां पुरो

पूज्यवर्गात् न त्रस्तं न भीतम्। लोकापवादाज्जनप्रवादात् नोद्विग्नं नोद्वेगः प्राप्तः। तथा च अपि च। अतिदुःखिता नितान्तक्लेशिता पतिवियोगादित्याशयः। निर्गतं निःसृतं दाक्षिण्यम् औदार्यं यस्यां सा तयैवंभूतया मया। 'सशोकायां महाश्वेतायां नाहं स्वस्य पाणिं ग्राहयिष्यामि' इति पूर्वप्रतिश्रुतेन यदौदार्यं समुत्पन्नं सम्प्रति पाणिग्राहिणे तु तल्लुप्यत इत्याशयः। आसन्नवर्त्तिसखीजनोऽपि निकटस्थायिसहचरीगणोऽपि उपलक्षयति ज्ञास्यति भविष्यति वर्त्तमानता। मन्दया मूढया मया। लक्षितं ज्ञातम्। नष्टचेतनया विलुप्तविवेकयेत्यर्थः।

स्थूलेति। स्थूलबुद्धयोऽपि मन्दमतयोऽपि। विनयच्युतिं मम धैर्यस्खलनमित्यर्थः विभावयेयुः जानीयेयुः। अनुभूतमदनवृत्तान्ता अनुभवविषयीकृतकामोदन्ता। राजकुलसञ्चारचतुरः राजकुलसञ्चरणनिपुणः, इङ्गितं हृदयाभिप्रायद्योतककटाक्षादिशरीरव्यापारं जानातीति सः। परिजनः परिचारकगणः। इहार्थापत्तिरलङ्कारः।

ईदृशेष्विति। अन्तःपुरदास्यः अवरोधपुरसेवाकारिण्यः, ईदृशेषु एवंविधेषु प्रणयव्यापारेषु, अतिनिपुणतरा प्रकृतभावं प्रत्याययितुं नितान्तकुशला दृष्टिर्यासां ताः। अतएव ता अपि तं ममाभिप्रायं ज्ञाता एवेत्याशयः।

सर्वथेति। मन्दपुण्या पापिनीत्यर्थः। गन्धर्वलोकः स्वजनवर्गो वक्ष्यति कथयिष्यति। स्खलितं धैर्यच्युतिम् , प्रच्छादयामि गोपयामीत्यर्थः। दुर्विनीतानाम् अनुचिताचरणविधायिनाम् इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां करणानाम्। दग्धं हृदयं येन तेन अनेन पञ्चबाणेन कामेन गृहीता आविष्टा, क गच्छामि कुत्र व्रजामि, इति न खलु जानामीति सम्बन्धः। इह विषादभावस्य वितर्कनामा भावोऽङ्गमिति प्रेयोनामालङ्कारः। न च 'न खलु जानामि'इति वाक्यस्य वाक्यान्तरे प्रवेशेन गर्भितत्वदोषः आपद्यत इति वाच्यम्, विच्छित्तिविशेषस्य प्रकाशनत्वेन 'गर्भितत्वं गुणः क्वापि' इति दर्पणोक्तदिशा गुणत्वस्यैव जायमानत्वात्।

तथेति। महाश्वेताया व्यतिकरः सहचरीत्वसम्बन्धस्तेन, तथा 'महाश्वेतायां सशोकायां नाहं स्वस्य पाणिं ग्राहयिष्यामि' इत्येवं रूपा प्रतिज्ञा कृता विहिता। प्रियसखीनां प्रियसहचरीणां पुर अग्रतोऽपि तथा

भय न हुआ एवं लोकापवादकी भी आशङ्का न किया। और महाश्वेता अत्यन्त दुःखी होकर समय व्यतीत करती है औदार्य-रहित होनेसे उसकी भी अपेक्षा नहीं की, एवं समीपवर्त्ती सखियाँ भी देखती होंगी मूढ़तावश मैं इसको भी समझ न सकी; एवं पार्श्ववर्त्ती परिजन जो देखते होंगे, चैतन्यलोप हो जानेके कारण मैं उसको भी देख न सकी; जिनकी बुद्धि स्थूल है वे भी मेरी इस धैर्यच्युतिको जब समझ लेंगे तब फिर अपने मदन-वृत्तान्तका अनुभव करनेवाली महाश्वेता, समस्त कला-विद्याओंमें निपुण सखियाँ एवं सर्वदा राजकुलमें विचरण करनेके कारण समस्त विषयोंमें सुचतुर दासियोंकी तो बात ही क्या है? विशेषतः अन्तःपुरस्थ दासियोंकी दृष्टि, ऐसी घटनाओंमें और भी निपुण होती है। मुझमें पुण्य थोड़े हैं जिससे मैं सब प्रकारसे ही मारी गई हूँ। ऐसे लज्जाकर जीवन-धारणकी अपेक्षा आज मरना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि—इस वृत्तान्तको सुनकर पिता माता और गन्धर्व लोग क्या कहेंगे? इस समय मैं क्या करूँ? इसका क्या प्रतीकार है? किस उपायसे अपने इस दोषका गोपन करूँ, अथवा किसके समीप अपनी इस दुर्विनीत इन्द्रियोंकी चपलता कहूँ? हृदय दाहकारी इस कन्दर्पद्वारा वशीभूत हुई मैं कहाँ जाऊँ यह समझमें नहीं आता। महाश्वेताके साथ सम्पर्क रहनेसे मैं उस प्रकारकी प्रतिज्ञा की थी, प्रिय सखियोंके

१. दुःखितेति। २. दाक्षिण्यया। ३. निपुणदृष्टय। ४. श्रुत्वैतद्वृत्तान्तं। ५···दग्धहृदयेन गृहीता गच्छामि, दग्धहृदया पञ्चबाणेन गच्छामि।

मन्त्रितम् , तथा च केयूरकस्य हस्ते[1] सन्दिष्टम्। न खलु जानामि मन्दभागिनी शठविधिना वा, उत्सन्नमन्मथेन वा, पूर्वकृतापुण्यसञ्चयेन वा, मृत्युहतकेन वा, अन्येन वा केनाप्ययमानीतो मम विप्रलम्भकश्चन्द्रापीडः। कोऽपि वा न कदाचिद्दृष्टो नानुभूतो न श्रुतो न चिन्तितो नोत्प्रेक्षितो मां विडम्बयितुमुपागतः[2], यस्य दर्शनमात्रेणैव[3] संयम्य दत्तेवेन्द्रियैः, शरपञ्जरे निक्षिप्य समर्पितेव मन्मथेन, दासीकृत्योपनीतेवानुरागेण, गृहीतगुणपणेन[4] विक्रीतेव हृदयेन, उपकरणीभूतास्मि[5]। न मे कार्यं तेन चपलेनेति क्षणमिव सङ्कल्पमकरोत्। कृतसङ्कल्पा च, अन्तर्गतेन 'मिथ्याविनीते ! यदि मया न कृत्यम्, एष गच्छामि' इति हृदयोत्कम्पचलितेन परिहसितेव चन्द्रापीडेन, तत्परित्यागसङ्कल्पसमकालप्रस्थितेन कण्ठलग्नेन पृष्टेव जीवितेन,

---

तत्प्रतिज्ञावत् मन्त्रितम् अभिहितम्। अपि च केयूरकस्य हस्ते पाणौ तथा सन्दिष्टं महाश्वेतासमीपे प्रतिज्ञानुरूपं सन्देशवचनं प्रेषितम्। सम्प्रति पाणिग्राहणे तु सर्वत्रालीकभाषित्वप्रसङ्गः त्रपातिशयश्चेत्याशयः।

न खल्विति। जानामि आकलयामि। उत्सन्नमन्मथेन मदनहतकेनेत्यर्थः। पूर्वकृतः प्राग्विहितो यः अपुण्यसञ्चयः दुष्कृतसमूहः तेन। मृत्युहतकेन दुष्टप्रकृतिना यमेन, येनैतदवलोकनेन यथा मम प्राणत्याग एव सम्भावयिष्यत इत्याशयः। विप्रलम्भको वञ्चकश्चन्द्रापीड आनीतः प्रापितः।

कोऽपीति। चिन्तितो ध्यातः, नोत्प्रेक्षितः प्रागसम्भावितः। कोऽपि वा अनिर्वचनीयः पुरुषः। विडम्बयितुं कदर्थनां प्रापयितुम्, उपागतः प्राप्तः। इन्द्रियैश्चित्तादिभिः संयम्य बद्ध्वा दत्तेव चन्द्रापीडाय अर्पितेव। अनुरागेण प्रेम्णा दासीकृत्य परिजनीकृत्य उपनीतेव प्रापितेव। गृहीता आत्ता गुणाः चन्द्रापीडस्य सौन्दर्यादय एव पणा मूल्यानि येन तेन हृदयेन चित्तेन विक्रीतेव विक्रयीकृतेव अतएव यस्य उपकरणीभूतास्मि विक्रेयद्रव्यीभूतास्मि।

इह दत्तेव, समर्पितेव उपनीतेव, इत्येतेषु सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। तथा 'विक्रीतेव' इत्यत्र परिवृत्तिः क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

न मे इति। चपलेन चञ्चलेन तेन कुमारेण मे मम कार्यं प्रयोजनं न विद्यते, इति सङ्कल्पं मनोरथं क्षणमिव क्षणसदृशम् अकरोत् व्यदधात्। कृतसङ्कल्पा विहितमनोरथा। अन्तर्गतेन भावनावद्धृदयवर्तिना, हृदयस्य गन्धर्वराजपुत्र्या एव चित्तस्य य उत्कम्पः चन्द्रापीडगमनभयान्नितान्तकम्पनं तेन चलितः चित्तात् प्रस्थितः। वृक्षकम्पनेन यथा तत्रत्यः पक्षी सन्तिष्ठते तद्वदित्याशयः, तेन तादृशेन चन्द्रापीडेन हे मिथ्याविनीते अलीकशिष्टाचारवति कादम्बरि ! यदि चेत् मया चन्द्रापीडेन तव कृत्यं प्रयोजनं न विद्यते, तदा ( तर्हि ) एषः अहं गच्छामि व्रजामि' इत्यभिधाय परिहसितेव कृतहास्येव। चित्ते मां गाढं स्थापयसि अथ च सङ्कल्पयसि 'तेन चञ्चलेन न मे प्रयोजनम्' इति परिहासः सम्भवत्ये-

---

समीपमें भी उस प्रकार कह दी थी, और केयूरक द्वारा भी मैंने उस प्रकारका सन्देश भेज दिया था; किन्तु मुझ मन्दभागिनीके समझमें नहीं आता कि मुझे प्रतारक (छलनेवाले) चन्द्रापीडको मेरे निकट धूर्त्त विधाता ले आया, या मदन अथवा पूर्वजन्मकृत पापसमूह, किंवा मेरी मृत्यु अथवा अन्य कोई दूसरा ले आया ! जिनको मैंने पहले कभी नहीं देखा था, जिनका मुझे अनुभव नहीं था, जिनका नाम भी मैंने नहीं सुना था, जिनका चिन्तन भी नहीं किया था, किंवा जिनकी सम्भावना भी नहीं की थी, ऐसे कोई अनिर्वचनीय व्यक्ति मुझे प्रतारणा करनेके लिए आया है, जिनके केवल देखनेसे ही मेरी इन्द्रियोंने मानो मुझे बाँधकर उनको दान कर दिया है, अपने शरमय पिंजरेमें डालकर कामदेवने मानों मुझे समर्पण कर दिया है; दासी बनाकरके अनुराग मानो मुझे उपहार दे दिया है; और हृदयने उनके गुण-रूप मूल्य-ग्रहण करके मानो मुझे बेंच दिया है; इस प्रकार मैं उन्हीं की उपहार-व्यवहारकी सामग्री हो गई हूँ; जो हो अब मुझे उन चपल-स्वभाव कुमारसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है' ऐसा मनही मन संकल्प उसने कुछ देर तक किया तत्काल ही—मिथ्या विनीते ! 'यदि मुझसे तेरा कोई प्रयोजन नहीं है तो ले यह मैं चला' इस प्रकार, हृदय काँपनेसे चलायमान हुए हृदयस्थित चन्द्रापीडने मानो उसका उपहास किया हो। उनके परित्यागके सङ्कल्पके समयमें ही बाहर प्रस्थान करनेके लिए

---

१. केयूरकहस्ते। २. उपन्यस्तः, उपनतः। ३. दर्शनमात्रकेणैव। ४. गृहीतमूल्येन गुणगणेन, गुणपणेन। ५. अशरणीभूतास्मि।

'अविशेषज्ञे ! पुनरपि प्रक्षालितलोचनया दृश्यतामसौ जनः प्रत्याख्यानयोग्यो न वे'ति तत्कालागतेनाभिहितेव बाष्पेण, अपनयामि ते सहासुभिर्धैर्यावलेप'मिति निर्भर्त्सितेव मनोभुवा, पुनरपि तथैव चन्द्रापीडाभिमुखहृदया बभूव।

तदेवमस्तमितप्रतिसमाधानबलाबलात्[1] प्रेमावेशेनास्वतन्त्रीकृता परवशेवोत्थाय जालवातायनेन तमेव क्रीडापर्वतम्[2] अवलोकयन्त्यतिष्ठत्। तत्रस्था च सा तमानन्दजलव्यवधानोद्विग्नेव स्मृत्या ददर्श, न चक्षुषा। अङ्गुलीगलितस्वेदपरामर्शभीतेव चिन्तया लिलेख, न चित्रतूलिकया। रोमाञ्चतिरोधानशङ्कितेव हृदयेनालिलिङ्ग, न वक्षसा।

वेत्याशयः। इह क्रियोत्प्रेक्षा। तस्य चन्द्रापीडस्य परित्यागसङ्कल्पसमकाले प्रस्थितेन शरीरं परित्यज्य चलितेन, अतएव कण्ठलग्नेन गललग्नेन जीवितेन जीवनेन, पृष्टेव 'अहमपि व्रजामि' इत्यामन्त्रितेव। अपरोऽपि गमनाभिलाषी दयितः कण्ठमाश्लिष्य निजप्रयाणं पृच्छति। इहाप्युक्तालङ्कारः, तेन च चन्द्रापीडपरित्यागे जीवितमपि उज्झितं स्यादित्यनुरागस्य चरमावस्था प्रतीयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः। तत्काले चन्द्रापीडपरित्यागसङ्कल्पविधानक्षणे आगतेन शोकोद्गमात्प्रकटीभूतेन बाष्पेण नयनाम्बुना 'हे अविशेषज्ञे तारतम्यापरिचिते गन्धर्वराजपुत्रि! त्वया मद्द्वारा प्रक्षालितलोचनया धौतनेत्रया सत्या पुनरपि भूयोऽपि दृश्यताम् अवलोक्यतां यत् असौ जनश्चन्द्रापीडस्तव प्रत्याख्यानयोग्यो निराकरणोचितो न वा' इति अभिहितेव कथितेव। उक्तालङ्कारः, तेन च निराकरणायोग्य इति व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः। तथा मनोभुवा कामेन 'ते तव असुभिः प्राणैः सह धैर्यावलेपं, न मे प्रयोजनं तेन चञ्चलेन, इति धैर्यगर्वम् अपनयामि दूरीकरोमि' इति निर्भर्त्सितेव अधिक्षिप्तेव। उक्तालङ्कारः, तेन च तत्काले धैर्यलोपः जीवनगमनोपक्रमश्च समुत्पन्न इति ध्वन्यत इति प्राग्वदेव ध्वनिः। अतएव तथैव प्राग्वदेव पुनरपि भूयोऽपि चन्द्रापीडाभिमुखं तदाकाङ्क्षि हृदयं चेतो यस्याः सा तथोक्ता बभूव जाता।

तदेवमिति। एवम् अनेन विधिना अस्तमितं विलुप्तं प्रतिसमाधानं धैर्यावलम्बनं तद्रूपं बलं सामर्थ्यं यस्याः सा तथोक्ता कादम्बरी, प्रेमावेशेन प्रीत्यतिशयेन बलात् हठात् अस्वतन्त्रीकृता अस्वाधीनीकृता, अतएव परवशेव पराधीनेव। जालवातायनेन जालगवाक्षेण तमेव क्रीडापर्वतकं चन्द्रापीडविश्रामस्थानम् अवलोकयन्ती पश्यन्ती अतिष्ठत् आसीत्। इह 'परवशेव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः।

तत्रस्थेति। आनन्दजलेन नयनेनावलोकने प्रमोदाश्रुपातेन यद् व्यवधानं तिरोधानं तस्मात् उद्विग्नेव उद्वेगं प्राप्तेव सती, स्मृत्या स्मरणेन तं चन्द्रापीडं ददर्श बुबोध, न तु चक्षुषा नयनेन।

इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः शाब्दी परिसंख्यालङ्कारश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अङ्गुलीति। पाणिगृहीतया चित्रतूलिकया चित्रणे, अङ्गुलिभ्यः करशाखाभ्यो गलितैः स्यन्दितैः स्वेदैर्घर्मैः यः परामर्शः संम्बन्धस्तेनान्यथाभाव इति तात्पर्यम् तस्माद् भीतेव त्रस्तेव सती, चिन्तया ध्यानेन लिलेख हृदये चन्द्रापीडं चित्रयामास, चित्रतूलिकया। उक्तालङ्कारः।

रोमाञ्चेति। उरःस्थलेन वक्षःस्थलेन आलिङ्गने, रोमाञ्चः पुलकैर्यत् तिरोधानं व्यवधानं तस्मात् शङ्कितेव सञ्जातशङ्केव सती; हृदयेन चेतसा चन्द्रापीडम् आलिलिङ्ग आश्लेषं कृतवती, न तु वक्षसा उरसा। प्राग्वदलङ्कारः।

उसके प्राणने कण्ठ पर आकर मानो आज्ञा माँगी हो; 'हे तारतम्यानभिज्ञे ! तुम आँखे धोकर फिर देखो कि यह व्यक्ति तुम्हारे प्रत्याख्यान करनेके योग्य है कि नहीं—इस प्रकार उस समय आविर्भूत होकर अश्रु-जल (बाष्प) ने मानो उससे कहा हो।' 'कादम्बरी ! तुम्हारे प्राणके साथ धैर्यका अहङ्कार मैं दूर कर दूँगा-इस प्रकार मानो कामदेवने उसे तिरस्कार किया ( फटकारा ) हो--यों फिर पहलेके ही समान उसका हृदय चन्द्रापीडके अभिमुखन हुआ।

इस प्रकार उसकी धैर्यावलम्बन करनेकी शक्ति विनष्ट होनेके कारण प्रेमावेशसे स्वतन्त्रता खोकर, पराधीनके समान उठ कर, गवाक्षके द्वार ( खिड़की की जाली ) मेंसे क्रीडा-पर्वतकी ओर देखती देखती वह खड़ी रही। वहाँ खड़ी खड़ी आनन्दाश्रु-जलके व्यवधानसे मानो उद्विग्न होकर, नयनोंसे देखनेके बदले वह उसे स्मृतिसे देखने लगी। अङ्गुलियोंमेंसे घर्मजल ( पसीने ) की बूँदे टपकनेके कारण विगड़ जानेके भयसे मानो चित्रतूलिकासे चित्र काढ़नेके बदले, केवल भावना से ही उसका चित्र खींचने लगी, रोमाञ्च व्यवधान कर देगा, इस आशङ्कासे ही मानो वक्षःस्थलसे लिपटनेके बदले वह मन ही मन आलिङ्गन करने लगी; और उसके

[1] "'बलात्प्रेमावेशेन। [2]. क्रीडापर्वतकम्।

तत्सङ्गमकालातिपातासहेव मनो गमागमाय[1] नियुक्तवती, न परिजनम् ।

चन्द्रापीडोऽपि प्रविश्य स्वच्छन्दं[2] कादम्बरीहृदयमिव द्वितीयं मणिगृहम्, शिलातलास्तीर्णायामुभयत उपर्य्युपरि निवेशित-बहूपधानायां कुथायां निपत्य केयूरकेणोत्सङ्गे[3] गृहीतचरणयुगलस्ताभिर्यथादिष्टेषु भूमिभागेषूपविष्टाभिः कन्यकाभिः परिवृतो दोलायमानेन चेतसा चिन्तां विवेश । किं तावदस्या गन्धर्वराजदुहितुः कादम्बर्य्याः सहभुव एते विलासा एवेदृशाः सकललोकहृदयहारिणः, आहोस्विदनाराधितप्रसन्नेन भगवता मकरकेतुना मयि नियुक्ताः, येन मां सास्रेण सरागेणाकूणित[4]त्रिभागेण हृदयान्तःपतत्स्मर-शर कुसुम-रजो-

---

तत्सङ्गमेति । यातायाताय परिचारिकानियोगे, तस्य चन्द्रापीडस्य सङ्गमे समागमे यः कालातिपातः समयातिक्रमं विलम्बमिति यावत् तं न सहत इति सा तथोक्ता सतीव, गमागमाय चन्द्रापीडसमीपे यातायाताय मनो हृदयं नियुक्तवती नियुयोज, न तु कञ्चित् परिजनं परिच्छदम्, सर्वापेक्षया चेतसो शीघ्रगामित्वादित्याशयः । प्राग्वदलङ्कारः । परमार्थतस्तु रत्नगृहकुड्यतिरोधानेन साक्षादवलोकयितुमसमर्था सती केवलं चन्द्रापीडमेव चिन्तयामासेति सारः ।

हन्त ! कविचक्रचूडामणेर्बाणस्यातिशयचमत्कारविधायिनी खल्वियं रचनाचातुरीति सहृदया एव प्रमाणम् ।

इत्थं कादम्बरीगतभावानुक्त्वा चन्द्रापीडगतानपि तान् कथयितुमाह—चन्द्रापीड इति । मनोहरत्वसादृश्यात् प्रवेशस्य हर्षोत्पादकत्वसादृश्याद्वा द्वितीयम् अपरं कादम्बरीहृदयमिव मणिगृहं रत्नमन्दिरम्, स्वच्छन्दं बाधरहितं यथा स्यात्तथा प्रविश्येति सम्बन्धः । उभयतः पार्श्वयोः उपर्युपरि ऊर्ध्वोर्ध्वं निवेशितानि स्थापितानि बहूनि नानाविधानि उपधानानि उच्छीर्षकाणि यस्यां तादृश्याम्, कुथायां चित्रकम्बले निपत्य विसृतावयवः सन्नवस्थाय । उत्सङ्गे क्रोडे, गृहीतम् आत्तं चरणयुगलं पादद्वयं यस्य सः । यथादिष्टेषु यथायोग्यम् आज्ञप्तेषु भूमिभागेषु भूतलप्रदेशेषु उपविष्टाभिः आसीनाभिः ताभिः कन्यकाभिः कुमारिकाभिः परिवृतः परिवेष्टितः दोलायमानेन संशयविचलितेन चेतसा हृदयेन चिन्तां विवेश चिन्तामग्नो बभूवेत्यर्थः ।

इह 'कादम्बरीहृदयमिव' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षालङ्कारः ।

किमिति । कादम्बर्याः सह भुवः सहजा एते विलासा विभ्रमाः सकललोकहृदयहारिणः, आहोस्वित् अथवा मकरकेतुना कामेन नियुक्ता नियोजिता इत्यन्वयः । तेन मन्मथनियोगेन मां चन्द्रापीडं सास्रेण सरुधिरेण सरागेण सानुरागेण, आकूणित ईषत् सङ्कोचितः त्रिभागस्तृतीयो भागो यस्य तेन तादृशेन, सङ्ख्याशब्दानां वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमित्यभिहितमेव प्राक् । हृदयस्य चेतसः अन्तर्मध्ये पततां स्मरस्य कामस्य शरकुसुमानां बाणीभूतप्रसूनानां रजोभिः परागैः रूषितं विच्छुरितं तेनेव चक्षुषा नयनेन तिर्यक् कुटिलं विलोकयति पश्यति । विलोकयतीति अतीतसामीप्ये वर्त्तमानत्वम्, प्राक् प्रत्यक्षावलोकनसमये ये ये भावाः 'समुत्पन्नास्तानधिकृत्येदानीमुक्तत्वादिति । एवं परवाक्येष्वप्यवगन्तव्यम्,।·········'रूषितेनेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

---

समागममें जो विलम्ब हो रहा था उसे सहन करनेमें मानो समर्थ न हो करके ही यातायातके लिए किसी दासीको नियुक्त करनेके बदले अपने मनको ही नियुक्त किया ।

चन्द्रापीड भी और एक कादम्बरी-हृदयके समान उस मणिमय घरमें प्रवेश करके मणिमय शिलातलके ऊपर बिछे एक विचित्र-कम्बल ( गलीचे ) पर लेट गया । उसके दोनों ओर एक दूसरे पर बहुतसे तकिए रखे थे । वहाँ केयूरकने उसके चरण-युगल क्रोड़ (गोद) में रख कर संवाहन करने (दबाने) लगा और वे कन्याएँ निर्दिष्ट स्थान पर उसके आस-पास आ बैठीं । तब वह सन्देहाकुल-चित्तसे चिन्ता करने लगा कि—इस गन्धर्वराजकन्या कादम्बरीके ये समस्त हावभाव स्वभावसे ही इस प्रकार सब लोगोंके हृदयाकर्षी हैं, या आराधना नहीं करने पर भी भगवान कामदेवने अपने आप ही प्रसन्न होकर मेरे लिए करवाए हैं ? जिससे कि वह मुझे आनन्दाश्रुसे भरी अनुरागकी सूचना करती और हृदयके अभ्यन्तर लगे कामबाणके पुष्पकी रज पड़ी हो इस प्रकार जरा मिची

---

१. गमाय, गमनागमने । २. स्वच्छं । ३. उत्सङ्गेन । ४. कूणित ।

रूषितेनेव चक्षुषा तिर्य्यग्विलोकयति। मद्विलोकिता च धवलेन स्मितालोकेन दुकूलेनेव लज्जयात्मानमावृणोति । मल्लज्जाविवर्त्तमानवदना च प्रतिबिम्बप्रवेशलोभेनेव कपोलदर्पणमर्पयति । मदवकाशदायिनो हृदयस्य प्रथमाविनयलेखामिव कररुहेण शयनाङ्के लिखति । मत्ताम्बूलवीटिकोपनयनखेद-विधूतेन[1] रक्तोत्पल-भ्रम-भ्रमद्भ्रमरवृन्देन[2] करतलेन स्विन्नं[3] मुखमिवं[4] गृहीततमालपल्लवेनेव वीजयति'।

पुनश्चाचिन्तयत्—'प्रायेण मानुष्यकसुलभा लघुता मिथ्यासङ्कल्पसहस्रैरेवमायास्य मां[5] विप्रलभते, लुप्तविवेको यौवनमदो मदयति मदनो वा । यतस्तिमिरोपहतेव यूनां दृष्टिरल्पमपि

मद्विलोकितेति । अपि च, मया चन्द्रापीडेन विलोकिता दृष्टा सती, लज्जया त्रपया, दुकूलेन 'वस्त्रेणेव धवलेन शुभ्रेण स्मितालोकेन निजमन्दहास्यप्रभया आत्मानं निजशरीरम् आवृणोति आच्छादयति । 'दुकूलेनेव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः ।

मल्लज्जेति । अपि च, मल्लज्जया विवर्त्तमानं परावर्त्तमानं वदनं मुखं यस्माः सा, प्रतिबिम्बप्रवेशलोभेनेवमम प्रतिच्छायपतनाभिलाषयेव, कपोलो गण्ड एव दर्पणो मुकुरस्तम् अर्पयति अभिमुखीकरोतीत्यर्थः । वदनविवर्त्तनेन कपोलसांमुख्यस्य प्रत्यक्षत्वादित्याशयः ।

इह 'प्रतिबिम्बप्रवेशलोभेन' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः, तथा 'कपोलदर्पणम्' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकालङ्कार इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

मदवकाशेति । कररुहेण नखेन, शयनाङ्के शय्याया मध्यभागे, मदवकाशदायिनः ममावस्थितिस्थानदायिनः आत्मनो हृदयस्य चेतसः प्रथमा आद्या या अविनयलेखा अशिष्टव्यवहाररेखा तां लिखतीव अङ्कयतीव । क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः । शयनाङ्के कामाकूतवशाद्यो नखैरुल्लेखस्तत्रैवं कल्पना कृतेत्यवधेया ।

मत्ताम्बूलेति । मह्यं ताम्बूलवीटिकाया नागवल्लीदलवीटिकाया उपनयने अर्पणायोपस्थापने यः खेदः परिश्रमः तेन विधूतेन कम्पितेन, तत्पाणौ रक्तोत्पलभ्रमेण कोकनदभ्रान्त्या भ्रमत् पर्यटत् भ्रमरवृन्दं मधुकरपटलं यत्र तेन, अत एव गृहीततमालपल्लवेनेव आत्ततापिच्छकिसलयेनेव विद्यमानेन मधुकरपटलस्य तमालपल्लववत् श्यामवर्णत्वादित्याशयः, करतलेन हस्तेन, स्विन्न घर्माक्तं मुखं वदनं वीजयतीव आन्दोलयतीव । इह श्रमवशाद्विधुते हस्ते मुखवीजनस्य, भ्रमरपाते तमालपल्लवस्य चेत्युत्प्रेक्षाद्वयम् । करे रक्तोत्पलभ्रम इति भ्रान्तिमान् इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः । 'भ्रमद्भ्रमरे'त्यादौ वृत्त्यनुप्रासेन सो हि सङ्कर पुनः संसृज्यते ।

पुनरिति । प्रायेण बाहुल्येन मानुष्यकेण मानवतया सुलभा अनायासप्राप्या लघुता अगाम्भीर्यम्, मिथ्यासङ्कल्पशतैः अलीकमनोरथजालैः, एवम् अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण, आयास्य खेदयित्वा, मां विप्रलभते प्रतारयति । लुप्तो विनष्टो विवेको विधेयाविधेयविचारो यत्र स तथोक्तो यौवनमदः तारुण्याहङ्कारः कामो वा मदयति मत्तं करोति ।

तदेतत्समर्थयति—यत इत्यादिना । यतो यस्मात्कारणात् । यूनां तरुणानां दृष्टिर्मनोवृत्तिरेव लोच-

हुई नेत्रोंसे कटाक्ष करके देखती है । और मैं जब उसकी ओर दृष्टिपात करता हूँ तब वह लज्जावश सूक्ष्मवस्त्रके समान शुभ्रवर्ण-मन्द-हास्यकी प्रभासे अपने शरीरका आच्छादन कर लेती है । मुझसे लज्जित होकर मेरी ओरसे मुँह फेर, मेरे प्रतिबिम्बको प्रवेश करानेकी इच्छासे ही मानो, अपने कपोल ( गाल ) रूप दर्पणको मेरी ओर समर्पण कर देती है । मुझे अवकाश देनेवाले हृदयके प्रथम अविनयको मानो रेखा ही को वह अपने नखसे शय्याके ऊपर अङ्कित करती ( लिखती ) है । जब उसने मुझे देनेके लिए उस पान-बीड़ीको उपस्थित किया, तब उसके परिश्रमसे उसका हाथ काँपने लगा था—जिसको रक्तोत्पल मान कर भ्रमरोंके झुण्ड उसके ऊपर इधर उधर घूमा करते थे—इससे प्रतीत होता था कि-मानो वह तमाल-पल्लव लेकर घर्माक्त ( पसीनेसे तर ) अपने मुखमण्डल पर वायु सञ्चालन करती है ।

वह पुनः चिन्ता करने लगा कि—,प्रायशः यह मनुष्य जाति-सुलभ लघुता ही इस प्रकारके हजारों मिथ्या-भावनाओंका सङ्कल्प करा-कराकर परिश्रान्त कर शेषमें मेरी प्रतारणा करती है, अथवा यौवन-मद किंवा कन्दर्प

१. विधुतेन । २. रक्तोत्पलभ्रमद्भ्रमरवृन्देन । ३. खिन्नं । ४. मुखमिवं । ५. एवं मां ।

कालुष्यं[1] महत् पश्यति। स्नेहलवोऽपि वारिणेव यौवनमदेन दूरं विस्तार्य्यते[2]। स्वयमुत्पादितानेकचिन्ताशताकुला कविमतिरिव तरलता न किञ्चिन्नोत्प्रेक्षते। निपुणमन्मथ[3]-गृहीता चित्रवर्तिकेव तरुणचित्तवृत्तिर्न किञ्चिन्नालिखति। सञ्जातरूपाभिमाना कुलटेवात्मसम्भावना न कचिन्नात्मानमर्पयति। स्वप्न इवाननुभूतमपि[4] मनोरथो दर्शयति। इन्द्रजालपिच्छिकेवासम्भा-

नम् तिमिरेण नेत्ररोगविशेषेण उपहता क्षीणसामर्थ्येव सती, अल्पमपि स्तोकमपि कालुष्यम् आधारीभूतकामिनीचित्तविकारं वस्तूनामाविलत्वञ्च, महत् अधिकं पश्यति उत्प्रेक्षते अवलोकते च।

इह मनोवृत्तिलोचनयोर्भेदेऽपि श्लेषद्वाराभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः, 'तिमिरोपहतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

स्नेहलव इति। वारिणा सलिलेनेव यूनां यौवनमदेन तारुण्याहङ्कारेण, स्नेहलवोऽपि कामिन्या अनुरागलेशोऽपि पक्षे तैलादिस्नेहपदार्थकणोऽपि, दूरं विस्तार्यते नितान्तविस्तृतत्वेन बोध्यते पक्षे अत्यन्तं प्रसार्यते।

स्वयमिति। कविमतिः कविबुद्धिः सेव, तरलता तरुणानां चित्तचापल्यम्, स्वयमात्मनैव उत्पादितैः जनितैः अनेकचिन्ताशतैः विविधवाञ्छित-(वर्णनीय) वस्तुविषयकमनोवृत्तिसमूहैः आकुला व्यग्रा (व्याप्ता) सती, किञ्चिन्न उत्प्रेक्षते न सम्भावयति इति न अपि तु सर्वमेवोत्प्रेक्षत इत्यर्थः। कवीनां शेमुषी यथा वर्णनीयविषयकानेकविधचिन्ताभिर्व्याप्ता सती समस्तमेव काव्यमुत्प्रेक्षालङ्कारेण भूषयति, तथा तरुणानां चपला मनोवृत्तिरपि कामिनीविषयकानेकविधचिन्ताभिर्व्यग्रा सती, समस्तमेव समागमादिकं सम्भावयतीति निष्कर्षः।

निपुणेति। चित्रसम्पादनदक्षजनगृहीता चित्रवर्तिकेव आलेख्यतूलिकेव यूनां चित्तवृत्तिः मनोव्यापारः, निपुणेन उत्तेजनाकुशलेन मन्मथेन कामेन गृहीता आविष्टा सती, किञ्चिन्नालिखति नाङ्कयति इति न, अपि तु विश्वस्यालेख्यवत् समस्तमेव कामिनीसम्मिलनादिकं हृदये अङ्कयतीति तात्पर्यम्।

सञ्जातेति। कुलमटति अतिक्रामति या सा कुलटा स्वैरिणी सेव आत्मसम्भावना आत्मप्रशंसा, सञ्जात उत्पन्नः रूपाभिमानः सौन्दर्याहङ्कारो यस्यां सा तथोक्ता सती, क्वापि कामिन्यां कामुके च, आत्मानं हृदयं निजशरीरं च नार्पयति इति न, किन्तु सर्वस्मिन् स्थले आत्मानमर्पयतीति तात्पर्यम्।

स्वप्न इति। स्वप्न इव तरुणानां मनोरथः मनोऽभिलाषः, समस्तम् अननुभूतमपि कामिनीस्नेहादिकं द्रव्यादिकं च दर्शयति सम्भावयति दृग्विषयीकरोति च।

इन्द्रजालेति। इन्द्रजालस्य पिच्छिकेव मेचकेव तरुणानां प्रत्याशा दुराशा, असम्भाव्यमपि अनुत्प्रेक्ष्यमपि कामिनीसम्मिलनादिकम् अद्भुतपदार्थञ्च, पुरोऽग्रे स्थापयति प्रतिष्ठितं करोति 'वारिणेव' इत्यारभ्य 'पिच्छिकेव' इत्यन्तेषु पूर्णोपमालङ्कारः।

मुझे उन्मत्त करनेमें तुला है। क्योंकि—युवकोंकी दृष्टि तिमिर रोगसे आक्रान्त होकर ही मानो नायिकाओंके मनमें अल्पविकार होने पर भी उसे गुरुतरभावमें देखती रहती है। जलमें थोड़े तैलबिन्दु पड़नेसे भी जिस प्रकार वह अत्यन्त विस्तृत हो जाता है, उसी प्रकार युवकोंका यौवन-मद नायिकाओंके अनुरागकी कणाको भी अत्यधिक समझा देता है। कवियोंकी बुद्धि जिस प्रकार अपनेसे ही उत्पादित अनेकविध वर्णनीय वस्तुओंकी चिन्तासे आकुल होकर किस-किसको उत्प्रेक्षालङ्कारसे अलङ्कृत नहीं करती—अर्थात् सबको ही उत्प्रेक्षा करती है, युवकोंके मनकी चञ्चलता भी उसी प्रकार अपने आपसे उत्पन्न को हुई नानाविध इष्ट वस्तुओंकी चिन्तासे आकुल होकर नायिकाके विषय में सबकी ही सम्भावना करती है। उत्कृष्ट चित्रकारके हस्तधृत चित्रतूलिका (कूची) जिस प्रकार सबका ही चित्र काढ़ती है, युवकोंकी चित्तवृत्ति भी उसी प्रकार उत्तेजना-निपुण कामदेवके द्वारा आक्रान्त (वशी) होकर सब कुछ अङ्कित करती (काढ़ लेती) है। सौन्दर्याभिमानिनी कुलटा जिस प्रकार सब पुरुषोंको ही अपना शरीर अर्पण करती है, सौन्दर्याभिमानी युवकोंकी आत्म-सम्भावना (आत्मश्लाघा, अपनेको श्रेष्ठ समझना) भी उसी प्रकार समस्त नायिकाओंमें ही मन समर्पण करती है। स्वप्नके समान युवकोंका मनोरथ, अननुभूत पदार्थका भी दर्शन करा देता है। एवं इन्द्रजाल (जादूगर) की पिच्छिका (मोरछल) के समान

१. कलुषं। २. विसार्यते। ३…मदन…। ४. अनुभूतमपि।

ठ्यमपि प्रत्याशा पुरः स्थापयति । भूयश्च चिन्तितवान्—'किमनेन वृथैव मनसा खेदितेन, यदि सत्यमेवेयं धवलेक्षणा मय्येवंजातचित्तवृत्तिः[1] तदा न चिरात् स एवैनामप्रार्थितानुकूलो मन्मथः प्रकटीकरिष्यति, स एवास्य संशयस्य च्छेत्ता भविष्यति' इत्यवधार्योत्थायोपविश्य च ताभिः कन्यकाभिः सहाक्षैर्गेयैश्च[2] विपञ्चीवाद्यैश्च पाणविकैश्च स्वरसन्देहविवादैश्च सुभाषितगोष्ठीभिश्चान्यैश्च[3] तैस्तैरालापैः सुकुमारैः कलाविलासैः क्रीडन्नासाञ्चक्रे । मुहूर्त्तञ्च स्थित्वा निर्गम्योपवनालोकनकुतूहलक्षिप्तचित्तः क्रीडापर्वतक[4]शिखरमारुरोह ।

कादम्बरी तु तं[5] दृष्ट्वा चिरयतीति महाश्वेतायाः किल वर्त्मावलोकयितुं[6] विमुच्य तं गवाक्षम्[7] अनङ्गक्षिप्तचित्ता सौधस्योपरितनं शिखर[8]मारुरोह । तत्र च विरलपरिजना सकलं[9]

भूय इति । भूयः पुनरपि चिन्तितवान् अचिन्तयत्-अनेन पूर्वोदन्तेन वृथैव मुधैव मनसा चेतसा खेदितेन किम् ? । एवं जातचित्तवृत्तिः उत्पन्नमनोव्यापारः अनुरक्तेति यावत् । अप्रार्थितानुकूलः अयाचितदाक्षिण्यवान् । प्रकटीकरिष्यति प्रकाशयिष्यति । संशयस्य सन्देहस्य च्छेत्ता दूरीकर्त्ता भविष्यति । अवधार्य निश्चित्य । ताभिः पूर्वोक्ताभिः अक्षैर्द्यूतक्रीडाभिः गेयैर्गानैश्च, विपञ्ची वीणा तस्या वाद्यैर्वादनैः, पणवा वाद्ययन्त्रविशेषास्तत्संयुक्तानि वाद्यानि पाणविकानि तैश्च, स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः तेषां सन्देहे संशये विवादैर्नानाविधतर्कैश्च,सुभाषितानि विविधमधुरसूक्तानि तेषां गोष्ठीभिः 'गावोऽनेका वाचस्तिष्ठन्त्यास्विति' गोष्ठ्यः ताभिर्गोष्ठीभिः संलापैश्च घञर्थे कः 'अम्बाम्ब' (८।३।९७) इति षत्वम्, गौरादित्वात् ङीष् प्रत्ययश्च 'गोष्ठी सभासंलापयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी । सुकुमारैः कोमलैः कलाविलासैः स्रग्गुम्फनादिकलाविद्याचेष्टाभिः । आसाञ्चक्रे अधितस्थौ । यत्तु 'विपञ्ची सप्ततन्त्रीविशिष्टा वीणा' इति व्याख्यातं तन्न रोचते सप्ततन्त्रीयुतायाः पृथगेवामरकोशेन परिवादिनीति नामकरणात् तस्मात्सामान्यवीणापरकमेव व्याख्यातव्यमिति समालोचकाः

मुहूर्त्तेति । मुहूर्त्तं किञ्चित्क्षणम् । निर्गम्य बहिरागत्य उपवनालोकनस्य उद्याननिरीक्षणस्य कुतूहलेन कौतुकेन क्षिप्तमुद्वेलितं चित्तं मनो यस्य सः । आरुरोह आरूढवान् ।

कादम्बरीति । तं क्रीडापर्वतशिखरवर्त्तिनं चन्द्रापीडम् । चिरयति महाश्वेता विलम्बते इति अस्मात्कारणात् । किलेत्यसत्ये । महाश्वेतायाः किल वर्त्मावलोकयितुम् असत्यं महाश्वेतायाः परावर्त्तनमार्गं वीक्षितुम्, वस्तुतश्चन्द्रापीडं वीक्षितुमित्याशयः । तं गवाक्षम् अधिष्ठितं वातायनं, त्यक्त्वा अनङ्गेन मदनेन क्षिप्तम् उद्वेलितं चित्तं मानसं यस्याः सा तथोक्ता सती आरुरोह आरूढवती ।

तत्रेति । विरलाः स्तोकाः परिजनाः परिचारिका यस्याः सा । कलाभिः षोडशभागैः सहेति सकलं

युवकोंकी आशा, असम्भावनीय वस्तुओंको भी लाकर रख देती है । पुनः चिन्ता करने लगा कि—'निरर्थक इस प्रकार चिन्ता करके मनको परिश्रान्त करनेसे क्या लाभ ? यदि सत्य ही धवलनयना कादम्बरीकी चित्तवृत्ति मेरे प्रति इस प्रकार अनुरक्त ही हो गई है, तो ऐसा होने पर, थोड़ी देरमें अयाचित अवस्थामें अनुकूल हो कर वह कामदेव ही उसे व्यक्त कर देगा और वही यह सँशय दूर करेगा' मन ही मन ऐसा निश्चय कर चन्द्रापीड उठकर बैठ गया; और उन कन्याओंके साथ पासोंसे, गानेसे, वीणा बजानेसे, पणव (ढोलक) बजानेसे, निषादादि किसी स्वरके कोमल मन्द्रादि सँशयके विषयमें नानाविध वितर्कसे, मधुरवाक्यमें कथोपकथनसे, और इस प्रकारके ही अन्यान्य आलाप और मालाग्रथनादि कोमल कला-विद्याके व्यवहारसे चित्तविनोद करने लगा । इस प्रकार उस मणि-मन्दिरमें कुछ देर उसी भावसे रह कर, वैसे ही बाहर निकल कर उद्यानदर्शनके कौतुकसे आकृष्ट-चित्त होकर वह उस क्रीड़ा पर्वतके शिखर ( चोटी ) पर चढ़ा ।

कादम्बरी तो वहाँ उसे देख कर ही 'महाश्वेता विलम्ब करती है' [यों विचार] उसके लौटनेके मार्गको देखनेके बहाने, कामातुर-चित्त हो उस गवाक्ष ( खिड़की ) को छोड़, अपने महलकी सबसे ऊपर की अटारी पर चढ़ गई । वहाँ उसके साथ थोड़ी ही दासियाँ थीं, षोडशकलासे परिपूर्ण चन्द्रमण्डलके समान श्वेतवर्ण स्वर्णदण्ड-

१. जातवृत्तिः । २. लयैश्च । ३. क्वचित् 'सुभाषितगोष्ठीभिश्चान्यैश्च' इति पाठो नास्ति । ४. पर्वत । ५. तातं । ६. क्वचिदिह 'उद्यता' इत्यधिकः पाठः । ७. विमुच्यतां गवाक्षमित्युक्त्वा । ८. तलं कैलासशिखरमिव गौर्यारुरोह । ९. क्वचित् 'सकल' पदं न दृश्यते ।

शशिमण्डलपाण्डुरेणातपत्रेण हेमदण्डेन¹ निवार्यमाणातपा, चतुर्भिर्बालव्यजनैश्च फेनशुचिभिरुद्धूयमानैरुपवीज्यमाना, शिरसि कुसुमगन्धलुब्धेन भ्रमता भ्रमरकुलेन दिवापि नीलावगुण्ठनेनेव² चन्द्रापीडाभिसरणवेशाभ्यासमिव कुर्वती³, मुहुश्चामरशिखां समासज्य, मुहुश्छत्रदण्डमवलम्ब्य, मुहुस्तमालिकास्कन्धे करौ विन्यस्य, मुहुर्मदलेखां परिष्वज्य⁴, मुहुः परिजनान्तरितसकलदेहा नेत्रत्रिभागेण⁵, मुहुरावलितत्रिबलीवलया परिवृत्य, मुहुः प्रतीहारीवेत्रलताशिखरे कपोलं निधाय, मुहुर्निश्चलकरविधृतामधरपल्लवे वीटिकां विनिवेश्य⁶, मुहुरुद्गीर्णोत्पल⁷प्रहार-पलायमान-परिजनानुसरण-दत्त-कतिपयपदा विहस्य, तं विलोकयन्ती तेन च विलोक्यमाना, महान्तमपि कालमतिक्रान्तं नाज्ञासीत्। आरुह्य च प्रतीहार्या निवेदितमहाश्वेता-

---

षोडशकलापरिपूर्णमित्यर्थः, यत् शशिमण्डलं चन्द्रबिम्बं तद्वत् पाण्डुरेण शुभ्रेण। इह लुप्तोपमा। हेम्नः सुवर्णस्य दण्डो यस्य तेन तथोक्तेन आतपत्रेण छत्रेण निवार्यमाणो दूरीक्रियमाण आतप आलोको यस्याः सा। उद्धूयमानैः परित्रनैः सञ्चाल्यमानैः, फेनो डिण्डीरस्तद्वत् शुचिभिः श्वेतैः। इहाप्युक्तालङ्कारः। चतुर्भिश्चतुःसंख्याकैः बालव्यजनैश्चामरैः उपवीज्यमाना वातं कुर्वाणा। कुसुमगन्धलुब्धेन पुष्पसौरभतृष्णया सता शिरसि मस्तके भ्रमता पर्यटता, अतएव नीलावगुण्ठनेनेव श्यामशिरोवेष्टनेनेव भ्रमरकुलेन मधुकरगणेन। इह श्रौतोपमा। चन्द्रापीडस्य अभिसरणवेशाभ्यासं कुर्वतीव विदधतीव, अन्येषामवलोकनभीत्या तत्र नीलावगुण्ठनस्यावश्यकत्वादित्याशयः। इह क्रियोत्प्रेक्षा। चामरशिखां बालव्यजनपुरोभागं समासज्य आश्रित्य। अवलम्ब्य समासज्य। विन्यस्य संस्थाप्य। परिष्वज्य आलिङ्ग्य। परिजनेन परिचारकेण अन्तरितो व्यवहितः सकलः समग्रः देहः शरीरं यस्याः सा तथोक्ता सती, नेत्रस्य लोचनस्य त्रिभागेण एककोणेन विलोकयन्ती पश्यन्तीत्युत्तरेण सम्बन्धः। आवलितं परिवर्त्तनसमये वस्त्रापहरणेन प्रकटितं त्रिवलीवलयम् उदरोर्ध्ववर्त्तिवलित्रयमण्डलं यया सा, परिवृत्य परावर्त्तनं विधाय। प्रतीहारीवेत्रलताशिखरे द्वारपालिकावेतसवल्ल्यग्रदेशे। निधाय स्थापयित्वा। निश्चलकरविधृतां स्थिरहस्तगृहीतां वीटिकां ताम्बूलस्येति शेषः, अधरपल्लवे ओष्ठकिसलये विनिवेश्य प्रवेशयित्वा। उद्गीर्णं श्रोत्रात्प्रभ्रंशितं यद् उत्पलं कमलं तस्य प्रहारेण ताडनेन पलायमानो यः परिजनः परिचारकः तस्य अनुसरणे अनुगमने दत्तानि स्थापितानि कतिपयानि कियन्ति पदानि पदक्षेपा यया सा तादृशी सती विहस्य हास्यं विधाय। तं चन्द्रापीडम्। तेन चन्द्रापीडेन। महान्तम् अतिदीर्घमपि कालं समयं नाज्ञासीत् न ज्ञातवती।

आरुह्येति। आरुह्य आरोहणं विधाय तत्प्रासादशृङ्गमिति शेषः। निवेदितं ज्ञापितं महाश्वेतायाः

---

सयुक्त एक छत्र, उस पर रौद्र निवारण करने के लिए लगाया था—चार परिचारिकाएं (दासियाँ) समुद्रफेनके समान श्वेतवर्ण चार छोटे छोटे पंखे हिलाकर उसको पवन करती थीं; और नलीवर्ण अवगुण्ठन (बुरका) के समान भ्रमरोंका झुण्ड, पुष्पोंके सुगन्धके लोभसे उसके मस्तकके ऊपर भ्रमण करते थे, उससे मानो चन्द्रापीडके प्रति दिनमें भी अभिसारिका होनेके वेशका अभ्यास करती थी। इस अवस्थामें वह बारम्बार चामरका अग्रदेश धारण कर, बारम्बार छत्रदण्डग्रहण कर, बारंबार तमालिकाके कन्धे पर हाथ धर कर, बारंबार मदलेखाका आलिङ्गन कर, बारंबार किसी परिचारिकाके शरीरसे ढक जानेके कारण केवल आँखकी कोरसे देखकर, बारम्बार उदरोपरिस्थ वलित्रयमण्डल (तीन सिलवटों) से फिर फिर कर बारम्बार प्रतीहारी की छड़ी की मूठ पर गाल रख कर बारम्बार निश्चल हाथमें ली हुई ताम्बूल-वीटिका (पानकी बीड़ी) ओष्ठ-पल्लवके आगे धरकर, एवं कानसे एक कमल फेंक कर उसका प्रहार करनेसे दौड़ती किसी परिचारिकाके पीछे-पीछे कितने ही कदम चल कर, हँसती वह चन्द्रापीडको देखने लगी और चन्द्रापीड भी उसे देखने लगा। इस प्रकार करते करते बहुत समय बीत गया, पर उसका ज्ञान नहीं हुआ। उसके बाद जब प्रतीहारीने उस अट्टालिकाके ऊपर आकर महाश्वेताके प्रत्यागमन (लौट आने) की सूचना दी तब वह महल परसे उतरी और

---

१. विरचितहेमदण्डेन। २. नीलावगुण्ठनेव। ३…वेषाभ्यस्यन्ती,…वेशाभ्यासं कुर्वती, कैलासशिखरं इव गौरी इत्यपि क्वचिदधिकः पाठः। ४…सखीं परिष्वज्य। ५…नेत्रत्रिभागेणावलोक्य। ६. निवेश्य। ७. उद्धूर्णकर्णोत्पल…उद्गीर्णकर्णोत्पल।

प्रत्यागमना तस्मादवततार। स्नानादिषु मन्दादरापि महाश्वेतानुरोधेन दिवसव्यापारम-करोत्। चन्द्रापीडोऽपि तस्मादवतीर्य प्रथमविसर्जितेनैव कादम्बरीपरिजनेन निर्वर्त्तित[1]-स्नानविधिर्निरुपहत-शिला[2]तलार्चिताभिमतदैवतः क्रीडापर्वतक एव सर्वमाहारादिकमहः-कर्म चक्रे।

क्रमेण च कृताहारः क्रीडापर्वतकप्राग्भागभाजि, मनोहारिणि, हारीतहरिते, हरिणी[3]-रोमन्थफेनशीकरासारे, सीरायुध-हल-भय-निश्चलकालिन्दी-जलत्विषि, तरुणी-चरणालक्तक-रस-शोण-शोचिषि, कुसुमरजः-सिकतिल-तले, लतामण्डपोपगूढे, शिखण्डि-ताण्डव-सङ्गीत-गृहे, मरकत-शिलातले समुपविष्टः[4] दृष्टवान् सहसैवातिबहलधाम्ना धवलेनालोकेन जलेनेव निर्वाप्यमाणं दिवसम्, मृणालवलयेनेव[5] पीयमानमातपम्, क्षीरोदेनेव प्लाव्यमानां महीम्,

प्रत्यागमनं परावर्त्तनं यया सा तादृशी, तस्मात् प्रासादश्रृङ्गात् अवततार अवतीर्णा।

स्नानेति। स्नानादिषु मज्जनादिषु मन्दादरापि चन्द्रापीडौत्सुक्यवशात्स्वल्पाग्रहापि। दिवसव्या-पारं दिनकृत्यम् अकरोत् व्यदधात्।

चन्द्रेति। तस्मात् क्रीडापर्वतशिखरात्। प्रथमविसर्जितेनैव प्राग्व्यापारितेनैव कादम्बरीपरिजनेन कादम्बरीपरिचारिकया निर्वर्त्तितो निष्पादितः स्नानविधिः मज्जनव्यापारो येन सः, निरुपहते छेदादिभि-रदूषिते, शिलातले प्रस्तरोपरि अर्चितं पूजितम् अभिमतदैवतम् इष्टदेवता येन सः। आहारादिकम् अशनादिकं सर्वम् अहःकर्म दिनकृत्यं चक्रे कृतवान्।

क्रमेणेति। किञ्च, कृताहारो विहितभोजनश्चन्द्रापीडः, क्रीडापर्वतकस्य प्राग्भागम् आद्यंशं भजत इति तस्मिन् तथोक्ते, मनोहारिणि चित्ताकर्षके, हारीतो 'हरियाल' इति प्रसिद्धः पक्षिविशेषः तद्वत् हरिते नील वर्णे। लुप्तोपमालङ्कारः। हरिणीनां मृगीणां रोमन्थश्चर्वितचर्वणं तेन ये फेनाः कफाः तेषां शीकरा-सारः कणवृष्टिर्यत्र तत्र। सीरायुधो बलरामः तस्य हलभयेन लाङ्गलत्रासेन निश्चलं निष्पन्दं यत् कालि-न्दीजलं यमुनानीरं तस्य त्विट् कान्तिरिव त्विट् यस्य तस्मिन् तादृशे। इहाप्युक्तालङ्कारः। तरुणीनां युवतीनां चरणयोः पादयोः अलक्तकरसेन यावकद्रवेण शोणं रक्तवर्णं शोचिर्द्युतिर्यस्य तस्मिंस्तादृशे। कुसुमानां पुष्पाणां रजोभिः परागैः सिकतिलं बालुकामयं तलम् ऊर्ध्वदेशो यस्य तस्मिंस्तादृशे। लता-मण्डपैः उपगूढे संश्लिष्टे परिवृत इति यावत्। शिखण्डिनां मयूराणां यत् ताण्डवं लास्यं यत्र तत्तथोक्तं सङ्गीतगृहं गीतनृत्यवादित्रभवनं यस्मिंस्तत्र। एतादृशे मरकतशिलातले अश्मगर्भप्रस्तरतले समुपविष्टः समासीनः सन्, अग्रेऽभिधीयमानानि दृष्टवान् अवलोकितवान्।

सहसेति। दिवसं दिनम्, अतिबहलं निरतिशयं धाम तेजो यस्य तेन, धवलेन शुभ्रेण आलोकेन आतपेन जलेन सलिलेनेव विद्यमानेन सता, निर्वाप्यमाणम् अदृश्यमानमिव दृष्टवान्। आतपं सूर्यालोकं मृणालवलयेन बिसकङ्कणेन पीयमानम् अभ्यन्तरीक्रियमाणमिव दृष्टवान्। महीं क्षोणीं क्षीरोदेन दुग्धसमुद्रेण

स्नानादि कार्य करनेका थोड़ा आग्रह रहने पर भी उसने महाश्वेताके अनुरोधसे (मन रखनेके लिए) वे सब ही सम्पादन किया। इधर चन्द्रापीड भी क्रीड़ापर्वतके शिखरसे नीचे उतरा और पहलेसे ही कादम्बरीकी भेजी हुई परिजनोंके साहाय्यसे स्नानकार्य सम्पादन करनेके बाद एक अखण्डित शिलातल पर इष्टदेवताकी पूजा करके, उसी क्रीडा-पर्वतमें ही उसने आहारादिक दिनका समस्त कृत्य सम्पादन किया।

उस क्रीड़ापर्वतके पूर्व-भागमें पड़ी हारीत पक्षीके समान मनोहर एक मरकत-मणिकी शिला थी, चर्वित-चर्वण (जुगाली) करनेके समयमें हरिणियोंके मुखसे फेनबिन्दुसमूह उसके ऊपर पड़े थे, बलरामके लाङ्गल (हल) के भयसे निश्चल हुए यमुना-जल के समान उसकी प्रभा प्रकाश पा रही थी; युवतियोंके चरणोंके आल्ता-रस (महावर) से उसकी दीप्ति रक्तवर्ण हो गई थी; पुष्पकी रेणुसे उसका ऊपरी भाग बालुकामय हो गया था; लता-मण्डपसे उसकी चारो दिशाएँ वेष्टित (ढक गई) थीं; और उसके बीचमें मयूरोंके नृत्य करनेकी सङ्गीत-शाला थी; चन्द्रापीड भोजन करके उस शिलाके ऊपर बैठकर क्रमसे देखने लगा कि—सहसा (एकाएक) ही अत्यन्त तेजस्वी और जलके समान शुभ्रवर्ण आलोकमालासे वह दिनका मानो निर्वाण कर (धो) देता है, मृणालमण्डल

१. निर्वत्तित…। २…शिलार्चित…। ३. हरिण…। ४. उपविष्टः। ५. मृणालधवलेनेव मृणालवनेनेव।

चन्दनरसवर्षेणेव सिच्यमानान् दिगन्तान्[1] सुधयेव विलिप्यमानमम्बरतलम्। आसीच्चास्य मनसि—'किमु खलु भगवानोषधिपतिर[2]काण्ड एव शीतांशुरुदितो भवेत्, उत यन्त्रविक्षेप-विशीर्यमाण-पाण्डुर-जल-धारा-सहस्राणि[3] धारागृहाणि मुक्तानि, आहोस्विदनिल-विकीर्यमाण-शीकर-धवलित-भुवनाम्बरसिन्धुर्धरातलमवतीर्णे'ति[4]।

कुतूहलाच्च[5] आलोकानुसारप्रहितचक्षुरद्राक्षीत्। अनल्पकन्यकाकदम्बपरिवृतां ध्रियमाणधवलातपत्रामुद्धूयमानचामरद्वयां कादम्बरीप्रतीहार्या[6] वामपाणिना वेत्रलतागर्भेणार्द्रव-

---

प्लाव्यमानामिव पूर्यमाणामिव दृष्टवान्। दिगन्तान् चन्दनरसवर्षेण मलयजद्रववृष्ट्या सिच्यमानानिव अभिषेकविषयीक्रियमाणानिव दृष्टवान्। तथा अम्बरतलं गगनं सुधया गृहधवलीकरणद्रव्येण विलिप्यमानमिव विलेपनविषयीक्रियमाणमिव दृष्टवान्। मरकतमणिशिलातले समासीनश्चन्द्रापीडः अकस्मात् गगनधरण्यादिषु समन्ताद् व्याप्तमद्भुतं श्वेतिमानमपश्यत् येन हि अकाण्डे चन्द्रोदयादेः सन्देहोऽस्य समजनीति प्रघट्टकस्य निष्कर्षः। कादम्बर्या प्रेषितस्य तरलिकयानीयमानस्य हारस्यायं प्रकाश इति कविना विहितो भूमिकातिशय इति हृदयम्।

इह 'जलेनेव' इत्यत्र श्रौतोपमा, 'विलुप्यमानमिव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। 'पीयमानमिव, प्लाव्यमानमिव, सिच्यमानानिव' विलिप्यमानमिव' इत्येतेषु सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

आसीदिति। अस्य चन्द्रापीडस्य। खलु निश्चयेन। अकाण्ड एव असमय एव, शीतांशुश्चन्द्रः। इह 'ओषधिपति' पदं न किमपि मुख्यमुपकरोतीति परित्याज्यमेव, अन्यथापुष्टार्थत्वदोषस्य वारयितुमशक्यत्वात्। उदितो भवेत् उद्गतः स्यात्। उत अथवा यन्त्राणां जलयन्त्राणां विक्षेपेण भ्रामणेन विशीर्यमाणानि परितो विकीर्यमाणानि पाण्डराणि श्वेतानि जलधाराणां सलिलासाराणां सहस्राणि समूहा येषां तानि धारागृहाणि जलयन्त्रभवनानि मुक्तानि त्यक्तानि। आहोस्वित् किं वा, अनिलेन पवनेन विकीर्यमाणैः समन्ताद्विशीर्यमाणैः शीकरैः सलिलकणाभिः, धवलितं श्वेतीकृतं भुवनं यया सा तादृशी, अमरसिन्धुः आकाशगङ्गा धरातलं भूतलम् अवतीर्णा आगतेत्यर्थः, कथमन्यथा समन्तादेवैवंविधा श्वेतता प्रसरतीत्याशयः। इह शुद्धसन्देहोऽलङ्कारः।

कुतूहलादिति। किञ्च, कुतूहलात् कौतुकात् आलोकानुसारेण तं प्रकाशमुद्दिश्येत्यर्थः प्रहितं प्रेरितं चक्षुर्लोचनं येन स तथोक्तश्चन्द्रापीडः आगच्छन्तीं मदलेखाम्, तस्याश्च समीपे तरलिकाम्, तया च गृहीतं हारमद्राक्षीदिति सम्बन्धः।

**आदौ मदलेखां विशिनष्टि=अनल्पेति। अनल्पै अधिकैः कन्यकानां कुमारीणां कदम्बैः समूहैः परिवृतां परिवेष्टिताम्, ध्रियमाणम् उद्वहमानं धवलं शुभ्रम् आतपत्रं छत्रं यस्यास्ताम्, उद्धूयमानं वीज्यमानं चामरद्वयं बालव्यजनयुगलं यस्यास्ताम्, कादम्बरीप्रतीहार्या गन्धर्वराजपुत्रीद्वारपालिकया वेत्रलतागर्भेण वेतसयष्टिधारिणा वामपाणिना सव्यहस्तेन, आर्द्रवस्त्रशकलेन क्लिन्नवसनखण्डेन अवच्छन्नम् आच्छादितं**

---

मानो रौद्रका पान करता है, क्षीरोदसागर मानो पृथिवीको प्लावित कर (डुबा) रहा है, चन्दन-जलकी वृष्टि मानो दिशाओंको सिक्त करती (भिगोती) है, और अमृत मानो आकाशको लिप्त करता है। यह देखते ही उसके मनमें यह हुआ कि—'क्या ओषधिपति भगवान चन्द्र, असमयमें ही उदित हुए हैं, क्या धारागृह (फुहारेके यन्त्र) को खोल दिया गया है, जिससे उसके चारों ओर भ्रमण करते रहनेसे शुभ्रवर्ण हजारों जलधाराएँ निकली हुई हैं ? अथवा आकाश-गङ्गा भूतलमें उतरी है, जिसके जलबिन्दुसमूह वायुके वेगसे फैलकर भुवनमण्डलको शुभ्रवर्ण कर दिया है ?'

जिस दिशामें से वह आलोक (प्रकाश) आता था उस ओर कौतुकसे दृष्टिपात किये (नेत्र फेंके) तो बहुतर कन्याओंके बीचमें आती हुई मदलेखा को देखा। उसके मस्तकके ऊपर कोई परिचारिका श्वेतच्छत्र धारण की हुई थी, और दोनों ओर दो परिचारिकाएँ चमर डुला रही थीं। कादम्बरीकी प्रतीहारीने अपने बाएँ हाथमें

---

१. दिगन्तरान्। २. भगवानौषधपतिः, केतकीगर्भपत्रपाण्डुरो भग…। ३. पाण्डुरधारासहस्राणि पारदरसधाराः, जलधाराः। ४. कुतूहलाद्धरातलम्। ५. क्वचित् 'कुतूहलात्' इति नास्ति। ६. कादम्बरीं प्रतीहार्या।

स्त्रशकलावच्छन्नमुखं चन्दनानुलेपनसनाथं नारिकेलं¹-समुद्गकमुद्वहन्त्या दक्षिणकरेण दत्त-हस्तावलम्बाम्, केयूरकेण च निश्वासहार्ये² निर्मोकशुचिनी धौते कल्पलतादुकूले दधता निवेद्यमानमार्गाम्, मालतीकुसुमदामाधिष्ठित-करतलया च तमालिकयानुगम्यमानामागच्छन्तीं मदलेखां तस्याश्च समीपे तरलिकाम्, तया च सितांशुकोपच्छदे पटलके गृहीतं धवलताकारणमिव क्षीरोदस्य, सहभुवमिव चन्द्रमसः, मृणालदण्डमिव नारायणनाभिपुण्डरीकस्य, मन्दरक्षोभविक्षिप्तमिवामृतफेनपिण्डनिकरम्, वासुकिनिर्म्मोकमिव मन्थनश्रमोज्झितम्, हासमिव श्रियः³ कुलगृहवियोगगलितम्, मन्दर मथन-विखण्डिताशेष-शशिकला-खण्ड-सञ्चयमिव संहृतम्, प्रतिमागततारागणमिव⁴ जलधि⁵-जलादुद्धृतम्, दिग्गज-कर-शीकरा-

---

मुखं वदनं यस्य तत्तथोक्तम्, तथा चन्दनानुलेपनेन मलयजविलेपनेन सनाथं सहितं नारिकेलस्य श्रीफलस्य समुद्गकं मध्यवर्त्तिगोलकम्, उद्वहन्त्या धारयन्त्या सख्या, दक्षिणकरेण अपसव्यहस्तेन दत्तः अर्पितो हस्तावलम्बो यस्यास्ताम्। निःश्वासेन श्वासवायुना हार्ये हर्त्तुं शक्ये अत्यन्तक्षुद्रे इत्यर्थः, निर्मोकवत् भुजगकञ्चुकवत् शुचिनी श्वेते, धौते प्रक्षालिते कल्पलताया मन्दारवल्ल्या दुकूले सूक्ष्मवस्त्रद्वयम्, दधता धारयता केयूरकेण निवेद्यमानो ज्ञाप्यमानो मार्गः पन्था यस्यास्ताम्। तथा मालतीकुसुमानां जातीपुष्पाणां दाम्ना मालया अधिष्ठितम् आश्रितं करतलं हस्ततलं यस्यास्तया तादृश्या तमालिकया अनुगम्यमानाम् अनुव्रज्यमानाम् आगच्छन्तीम् आयान्तीं मदलेखाम्, तस्याश्च समीपे निकटे तरलिकाम् अद्राक्षीत् अपश्यत्।

हारं वर्णयति—तयेति। किञ्च, तया तरलिकया, सितांशुकं श्वेतवस्त्रम् उपच्छद आवरणं यस्य तस्मिन्, पटलके मञ्जूषायां गृहीतं धृतम्। क्षीरोदस्य दुग्धाम्बुधेः धवलतायाः श्वेततायाः कारणं हेतुरिव, तत्र विद्यमानत्वादित्याशयः। चन्द्रमसः शशिनः सहभुवं सहोदरमिव। नारायणनाभिपुण्डरीकस्य विष्णुतुन्दकूपिकासिताम्भोजस्य मृणालदण्डमिव। मन्दरस्य मन्दराचलस्य क्षोभेण क्षीरसागरमन्थनसमये सुरासुरैराकर्षणात् सञ्चलनेन विक्षिप्तं विकीर्णम् अमृतफेनपिण्डस्य पीयूषडिण्डीरपिण्डस्य निकरं समूहमिव। मन्थनश्रमेण क्षीरोदमथनायासेन उज्झितं त्यक्तम्, वासुकेः रज्ज्वात्मना परिणतस्य शेषनागस्य निर्मोकं कञ्चुकमिव। कुलगृहस्य पितृमन्दिरस्य क्षीरोदवसतेः वियोगेन विश्लेषक्लेशेन गलितं वदनात्पतितं श्रियो लक्ष्म्याः हासं हास्यमिव। संहृतं काप्येकत्रीकृतं मन्दरस्य तदाख्यपर्वतस्य मथनेन मन्थनेन विखण्डिताश्चूर्णीकृता अशेषाः समस्ताः शशिकलाश्चन्द्रकलास्तासां खण्डसञ्चयम् अंशनिकरमिव। जलधिजलात् समुद्रसलिलात् प्रतिमागततारागणमिव तत्रैव प्रतिसङ्क्रान्ततारकासमूहमिव। पुञ्जीभूतम् एकत्रीभूतं दिग्गजानाम् ऐरावतादीनां दिग्दन्तिनां ये कराः शुण्डाः तेषां शीकरासारम् अम्बुकणधारासम्पातमिव।

---

बेंतकी छड़ी और आर्द्रवस्त्र ( गीले रुमाल ) से आच्छादित, चन्दनानुलेपनसे संयुक्त एक नारियलका सम्पुटले रखा था और दक्षिण हाथसे मदलेखाके हाथको सहारा दिया था। निःश्वास-वायु ( फूँक मारने ) से भी उड़ जायँ ऐसे, सर्पके कञ्चुक ( काँचली, 'केंचुआ' मिथिला भाषामें ) के समान स्वच्छ, कल्पलताके दो धुले वस्त्र पहने केयूरक उसे मार्ग-प्रदर्शन करता जाता था। हाथमें मालती (चमेली) पुष्पों के गजरे धारण किये तमालिका उसके पीछे पीछे आ रही थी, उसके साथ ही तरलिका भी आ रही थी, जिसके हाथमें श्वेतवर्ण वस्त्रसे आच्छादित एक छोटी सी पेटी ( टोकरी ) के अभ्यन्तरमें मानो क्षीरोदसागरकी धवलताके कारण, चन्द्रके सहोदरके समान दीप्ति बरसाता अत्यन्त शुद्ध एक हार था। वह नारायणके नाभि-कमलके मृणाल-दण्डके समान, मन्दराचलके द्वारा उत्पन्न हुए भ्रमि ( क्षोभ ) से उठे अमृत-फेन-पिण्डसमूहके समान, समुद्र-मन्थनमें परिश्रम होनेसे शरीरसे परित्यक्त ( छोड़े हुए ) अनन्त-नागके कञ्चुक ( काँचुली ) के समान, पितृ-गृहके साथ विच्छेद होनेके कारण मुख-मण्डलसे परिस्रवित होकर गिरे लक्ष्मी-देवीके हास्यके समान, मन्दराचलके द्वारा मथन करनेसे चूर्ण-विचूर्ण हुई चन्द्रमाकी समस्त कलाओंके खण्डोंके मानो सञ्चयके समान, समुद्र-जलमेंसे उठाए प्रतिविम्बित तारागणके ही समान, दिग्गजोंकी सूँडमेंसे निःसृत जलबिन्दुसमूहके समान, कामदेवके हस्तीके सप्तविंशतिसंख्यक-मुक्ता-

---

१. नारिकेर…। २. निश्वासहार्ये। ३. क्वचित् 'श्रिय' इति पदं न दृश्यते। ४. प्रतिमातारागणमिव, तारागणमिव। ५. जलनिधि…।

**सारमिव पुञ्जीभूतम्[1], नक्षत्रमालाभरणमिव मदनद्विपस्य, शरन्मेघशकलैरिव[2] कल्पितम्, कादम्बरी-रूप-वशीकृत-मुनिजन-हृदयैरिव निर्मितम्, गुरुमिव सर्वरत्नानाम्, यशोराशिमिवैकत्र घटितं सर्वसागराणाम्[3], प्रतिपक्षमिव चन्द्रमसः, जीवितमिव ज्योत्स्नायाः[4], लक्ष्मीहृदयमिव नलिनी-दल-गलज्जलबिन्दु-विलासतरलम्, उत्कण्ठितमिव मृणालवलयधवलकरम्, शरच्छशिनमिव घन-मुक्तांशु-निवह-धवलित-दिङ्मुखम्, मन्दाकिनीप्रवाहमिव[5] सुरयुवतिकुचपरिमलवाहिनम्, प्रभावर्षिणमतितारं हारम्।**

---

मदनस्य कामस्य यो द्विपो हस्ती तस्य नक्षत्रमालाभरणमिव सप्तसंख्यकमुक्तामालारूपाभूषणमिव। शरन्मेघानां घनात्ययजलदानां शकलैः खण्डैः कल्पितं निर्मितमिव। कादम्बर्या गन्धर्वराजपुत्र्या रूपेण सौन्दर्येण वशीकृतानि स्वाधीनीकृतानि यानि मुनिजनानां तापसानां हृदयानि चेतांसि तैः निर्मितमिव रचितमिव, तेषामपि तपस्ययात्यन्तशुचित्वादित्याशयः। सर्वरत्नानां समस्तमणीनां गुरुं श्रेष्ठमिव। एकत्र एकस्मिन् स्थले घटितं समवेतीकृतं सर्वसागराणां निखिलसमुद्राणां यशोराशिमिव कीर्तिसमूहमिव, अस्य हारस्य समुद्रोत्पन्नत्वात् 'सर्वसागराणाम्' इत्यभिहितम्। चन्द्रमसः शशिनः प्रतिस्पर्द्धिनमिव प्रतिसङ्घर्षकारिणमिव। ज्योत्स्नायाश्चन्द्रिकायाः जीवितं जीवनमिव, सर्वत्रात्यन्तस्वच्छशुभ्रत्वादित्याशयः।

इह 'हासमिव, शीकरासारमिव, कल्पितमिव, निर्मितमिव' इत्येतेषु सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। तथा 'गुरुमिव, यशोराशिमिव' इत्युभयत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः। शेषेषु सर्वत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कार इत्यूहनीयम्।

लक्ष्मीति। लक्ष्म्याः श्रियः हृदयं चित्तमिव, नलिनीदलात् कमलिनीपत्राद् गलतः पततः जलबिन्दोः सलिलकणाया विलास इव विलासो द्युतिर्यस्य स तथोक्तः तरलो मध्यमणिर्यस्य तम्, पक्षे तु—नलिनीदलाद्गलज्जलबिन्दुरिव विलासेन क्षणावस्थितिव्यापारेण तरलं चपलम्। इह पूर्णोपमालङ्कारः, स च लुप्तोपमया सङ्कीर्णः।

'तरलं चञ्चले पिङ्गे भास्करेऽपि त्रिलिङ्गकम्। हारमध्यमणौ पुंसि यवागूसुरयोः स्त्रियाम्॥'

इति विश्वमेदिन्यौ।

उत्कण्ठितमिति। उत्कण्ठितं मदनोद्वेगेन प्रियजनाय उत्सुकं पुरुषमिव, मृणालवलयस्येव मृणालकङ्कणस्येव धवलाः शुभ्राः करा रश्मयो यस्य तम्, पक्षे—मृणालवलयेन कामज्वरप्रशमनाय तद्धारणेनेति यावत् धवलौ करौ हस्तौ यस्य तम्। पूर्णोपमालङ्कारः।

शरदिति। शरच्छशिनमिव घनात्ययचन्द्रमिव, घनः सान्द्रो यो मुक्तानां रसोद्भवानाम् अंशुनिवहः घनैर्वारिदैः मुक्तः परित्यक्तो य अंशुनिवहः किरणसमूहश्च तेन धवलितानि शुभ्रीकृतानि दिङ्मुखानि येन तम्। उक्तालङ्कारः।

मन्देति। मन्दाकिन्या आकाशगङ्गायाः प्रवाहमिव स्रोत इव, सुरयुवतीनां देवतरुणीनां कुचयोः स्तनयोः परिमलं सौरभं वहतीति तम्, एकत्र तत्र धारणात् अपरत्र तत्र स्नानादित्याशयः। प्रभावर्षिणं कान्तिवृष्टिकारिणम् अतितारम् अत्यन्तविशुद्धम्। उक्तालङ्कारः। 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके' इति विश्वः।

---

मालारूप आभूषणके समान, शरत्कालीन मेघखण्डद्वारा ही मानो प्रस्तुत किया गया, कादम्बरीके सौन्दर्यसे वशीभूत हुए तपस्वियोंके हृदयोंद्वारा ही मानो निर्माण किया गया, समस्त रत्नोंके मध्यमें मानो श्रेष्ठ (शिरोमणि), समस्त समुद्रोंका मानो एकत्र किया हुआ यशःसमूह, चन्द्रमाका मानो प्रतिद्वन्द्वी और चन्द्रिकाके जीवनके समान था। लक्ष्मीका चित्त जिस प्रकार कमल-पत्रमेंसे निपतित ( गिरे हुए ) जलबिन्दुके समान चञ्चल है, उस हारके मध्यका मणि भी उसी प्रकार कमल-पत्रमेंसे निपतित जलबिन्दुके समान दीप्तिमान् था; उत्कण्ठित व्यक्तिका दोनों हाथ जिसप्रकार मृणाल-वलयके सदृश धवल होते हैं, उस हारकी किरणें भी उसीप्रकार मृणालवलयके समान धवल थीं; शरत्कालीन चन्द्र जिसप्रकार मेघयुक्त किरणोंके समूहसे दिशाओंको शुभ्रवर्ण करता है, वह हार भी उसी प्रकार घने मोतियोंकी किरणोंसे दिशाओंको शुभ्रवर्ण कर देता था; मन्दाकिनीका प्रवाह जिस प्रकार देवाङ्गनाओंके स्तनोंके लेपका सौरभ धारण करता है, उसी प्रकार वह हार भी देवाङ्गनाओंके स्तनोंके लेपका सौरभ धारण करता था।

---

१. दिग्गजसीकरासारपुञ्जीभूतम्। २. शरच्छकलैरिव, शरन्मेघशकलैः। ३. क्वचित् 'सर्वसागराणाम्', इति नावलोक्यते। ४. ज्योत्स्निकायाः। ५. मन्दाकिनीमिव।

दृष्ट्वा चायमस्य चन्द्रापीडश्चन्द्रातपद्युतिमुषः[1] धवलिम्नः कारणमिति मनसा निश्चित्य दूरादेव प्रत्युत्थानादिना समुचितोपचारक्रमेण[2] मदलेखामापतन्तीं[3] प्रतिजग्राह[4]। सा तु तस्मिन्नेव मरकतग्रावणि मुहूर्त्तमुपविश्य स्वयमुत्थाय तेन चन्दनाङ्गरागेणानुलिप्य ते च द्वे दुकूले परिधाप्य तैश्च मालतीकुसुमदामभिरारचितशेखरं कृत्वा तं हारमादाय चन्द्रापीडमुवाच—'कुमार! तवेयमपहस्तिताहङ्कारकान्ता[5] पेशलता प्रीतिपरवशं[6] जनं कमिव न कारयति? प्रश्रय एव ते ददात्यवकाशमेवंविधानाम्। अनया चाकृत्या कस्यासि न जीवितस्वामी? अनेन चाकारणाविष्कृतवात्सल्येन चरितेन कस्य न बन्धुत्वमध्यारोपयसि? एषा च ते प्रकृतिमधुरा व्यवहृतिः कस्य न वयस्यतामुत्पादयति? कं[7] वा न समाश्वासयन्त्यमी[8] स्वभाव-

---

दृष्ट्वेति। अपि च, तं हारं मौक्तिकं दृष्ट्वा निरीक्ष्य चन्द्रापीडः, अयं हार एव, चन्द्रातपस्य चन्द्रालोकस्य द्युतिं दीप्तिं मुष्णाति अपहरतीति तस्य, अस्य ऊहितपूर्वस्य धवलिम्नः श्वेततायाः कारणं हेतुरिति मनसा चेतसा निश्चित्य निर्णीयेति सम्बन्धः। समुचितोपचारक्रमेण उपयुक्ताचरणानुपूर्व्या। आपतन्तीम् आयान्तीम्, प्रतिजग्राह अभ्यर्थितवान्।

सेति। सा मदलेखा। मरकतग्रावणि अश्मगर्भात्मकशिलायां। तेन नारिकेलसमुद्गकसमानीतेन चन्दनाङ्गरागेण मलयजविलेपनेन अनुलिप्य परिधाप्य चन्द्रापीडमित्यन्वयः। मालतीकुसुमदामभिः जातीपुष्पस्रग्भिः, आरचितो विहितः शेखरः शिरोऽलङ्कारो यस्य तम्।

कुमारेति। अपहस्तितो दूरीकृतः अहङ्कारः समस्तानामेव रूपवर्गो यया सा चासौ कान्ता समस्तानामेव स्पृहणीया चेति तादृशी। पेशलता चारुता (सौन्दर्यम्), कमिव जनं न प्रीतिपरवशं स्नेहपराधीनं न कारयति? अपि तु समस्तमेव जनं प्रीतिपरवशं कारयतीत्यर्थः, अतएवास्मानपि स्नेहपराधीनाः कारितवतीत्याशयः। अर्थापत्तिरलङ्कारः, अनेन च सामान्येनाप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्य विशेषस्यावगमादप्रस्तुत प्रशंसालङ्कारः सङ्कीर्यते। 'चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः। ते तव प्रश्रयो विनय एव एवंविधानां स्नेहपराधीनानां लोकानाम् अवकाशम् उपसर्पणावसरं ददाति। आकृत्या आकारविशेषेण जीवितस्वामी प्राणाधीश्वरः कस्य नासि, अपि तु सर्वस्यैवासीत्यर्थः। इहाऽप्युक्तभावः उक्तालङ्कारश्च ज्ञेयः। अकारणम् अनिमित्तम् आविष्कृतं प्रकटीकृतं वात्सल्यं स्नेहो येन तेन, चरितेन चरित्रेण, बन्धुत्वं स्वजनत्वम्। इहाऽप्युक्तभावः उक्तालङ्कारश्च। प्रकृतिमधुरा स्वभावमनोहरा व्यवहृतिर्व्यवहारः। वयस्यतां मित्रत्वम् उत्पादयति जनयति। इहाऽप्युक्तभाव उक्तालङ्कारश्च। स्वभावेन प्रकृत्या सुकुमारा मृदुला वृत्तयो व्यवहारो येभ्यस्ते अमी भवद्गुणा त्वदुत्कर्षाः कं वा लोकं न समाश्वासयन्ति समाश्वासनं विदधते अपि तु सर्वमेवेत्यर्थः। इहाऽप्युक्तभाव उक्तालङ्कारश्चेत्यवधेयम्।

---

चन्द्रापीड उस हारको देख कर मन ही मन निश्चय किया कि—'यह हार ही, इस चन्द्र-किरणके सौन्दर्यको मात करनेवाली इस धवलताका कारण है।' उसके बाद दूरसे उसने अभ्युत्थानादि समुचित आचरणद्वारा आती हुई मदलेखाका स्वागत किया। आकर वह उसी मरकत-मणिके शिलातल पर ही कुछ समय तक बैठी किन्तु अपनेसे ही उठकर, उस चन्दनाङ्गरागसे चन्द्रापीडको लिप्त किया, दोनों सूक्ष्म-वस्त्र पहनाये, मालतीके पुष्पोंकी मालाओंसे मस्तक अलंकृत की और उस हारको लेकर कहने लगी—'राजकुमार! आपका यह सौन्दर्य सभी सौन्दर्योंके अहङ्कारको दूर करता है और सबका अभिलषणीय होनेसे किस व्यक्तिको आनन्दित नहीं करता है? आपका विनय ही प्रीतिपरवश जनोंको आपके सम्मुख उपस्थित होनेका अवसर देता है। इस आकृतिद्वारा आप किसके जीवनके अधीश्वर नहीं हैं। निष्कारण वात्सल्यप्रकाशकारी इस चरित्रद्वारा आप किसमें बन्धुता उत्पन्न नहीं करते हैं? आपका यह स्वभाव-सुन्दर व्यवहार किसके साथ मैत्री उत्पादन नहीं करता है? स्वभावसे ही सुकुमारवृत्तिवाले आपके ये गुण किसका समाश्वासन नहीं करते? इस विषयमें आपकी यह प्रकृति ही तिरस्कार करने योग्य है जो कि वह प्रथम दर्शनमें ही ऐसा विश्वास उत्पन्न कर देती है; नहीं तो

---

१ ...मुखः। २. समुचितेन...। ३. आयान्तीम्। ४. जग्राह। ५. अपहसिताहङ्कारकान्ता। ६. परवशं किमिव। ७. कस्य। ८. समाश्वासयन्त्यमी।

सुकुमारवृत्तयो भवद्गुणाः ? त्वन्मूर्त्तिरेवात्रोपालम्भमर्हति, या प्रथमदर्शन एव विश्रम्भमुपजनयति। इतरथा हि त्वद्विधे सकलभुवनप्रथितमहिम्नि प्रयुज्यमानं सर्वमेवानुचितमिवाभाति। तथाहि, सम्भाषणमप्यधःकरणमिवापतति, आदरोऽपि प्रभुताभिमानमिवानुमापयति, स्तुतिरप्यात्मोत्सेकमिव सूचयति, उपचारोऽपि चपलतामिव प्रकाशयति, प्रीतिरप्यनात्मज्ञतामिव ज्ञापयति, विज्ञापनापि प्रागल्भ्यमिव जायते[2], सेवापि चापलमिव दृश्यते, दानमपि परिभव इति भवति। अपि च स्वयं गृहीतहृदयाय किं दीयते, जवितेश्वराय[3] किं प्रतिपाद्यते,

---

ननु मद्याज्ञाभावेऽपि लोकाः कथमेवं स्नेहपराधीनतादिकं स्वीकुर्वन्तीत्यत आह—त्वदिति। अत्र स्नेहपराधीनतादौ। त्वन्मूर्त्तिः भवदाकृतिरेव उपालम्भं प्रतिक्षेपवचनम् अर्हति योग्यं भवति, या प्रथमदर्शने एव प्रथमावलोकने एव विश्रम्भं समस्तविषयेषु विश्वासम् उपजनयति उत्पादयति, अत्यन्तशान्तरूपत्वादित्याशयः। इह निन्दया स्तुतेरवगमाद् व्याजस्तुतिः।

इतरथेति। इतरथा विश्वासोत्पादनाभावे हि, सकलेषु समस्तेषु भुवनेषु विष्टपेषु प्रथितो विख्यातो महिमा महात्म्यं यस्य तस्मिन् त्वद्विधे लोके प्रयुज्यमानं विधीयमानं सर्वमेव मधुरालापादिकम् अनुचितमिव अयोग्यमिव आभाति प्रकाशते सर्वैरवगम्यत इत्यर्थः, विश्वासोत्पादनाभावेऽपि अनुपममहिम्नस्त्वद्विधस्य मधुरालापादिकरणे धाष्ट्र्योद्गमादित्याशयः। अनेनात्मनान्तु विश्वासोत्पादनेन मधुरालापादौ नास्त्यनौचित्यमिति व्यञ्जितम्।

निखिलानामेवानौचित्यमुपपादयति—तथाहीत्यादिना। सम्भाषणं मधुरालापोऽपि अधःकरणम् अधिक्षेप इव, आपतति उपस्थितो भवति, मधुरालापस्य यथायथं विधातुमसमर्थत्वादित्याशयः। आदरोऽपि संमानोऽपि प्रभुताया ऐश्वर्यस्य अभिमानम् अहङ्कारमिव अनुमापयति अनुमितिविषयं कारयति, तुल्यैनैव तुल्यस्य संमाननीयत्वेन स्वामिनस्तव संमाने संमानयितुरपि स्वामित्वाभिमानोऽन्यैरनुमातव्य एवेत्यभिप्रायः। स्तुतिः प्रशंसावादोऽपि आत्मनः प्रशंसाकर्त्तुः उत्सेकं स्तुतिकरणे शक्तिगर्वं सूचयतीव द्योतयतीव, अतिमहतः पुरुषस्य प्रशंसायाम् असामर्थ्यवतः प्रवृत्त्यसम्भवादिति भावः। उपचारोऽपि अभ्युत्थानादिव्यवहारोऽपि चपलतां चञ्चलतां प्रकाशं व्यञ्जयतीव, तथाविधव्यवहारेऽपि स्वस्यायोग्यत्वादित्याशयः। प्रीतिः स्नेहोऽपि अनात्मज्ञतां स्वस्य परिणामापरिचिततां ज्ञापयतीव बोधयतीव, सदृशेष्वेव स्नेहौचित्यादिति भावः। विज्ञापनापि विषयविशेषविज्ञप्तिरपि प्रागल्भ्यं वाचालतेव जायते, तत्रापि साहसादित्याशयः। सेवापि शुश्रूषापि चापलं चाञ्चल्यम् दृश्यते अवलोक्यते, तत्राप्यनधिकारादित्याशयः। दानमपि अर्पणमपि परिभव इव त्वद्विधपात्रस्य विभवस्यावमाननेव भवति, प्रायेणैव दानेन पात्रस्य दारिद्र्यद्योतनादित्यभिप्रायः।

इह 'प्रागल्भ्यमिव' 'चापलमिव' इत्युभयत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः, शेषेषु सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अन्यप्रियवचनमुत्थापयितुमाह—अपि चेति। स्वयं स्वेनैव गृहीतम् आत्तं हृदयं चेतो येन तस्मै भवते किं दीयते अर्पितुं शक्यते, अपि तु न किमपीत्यर्थः, दातव्यस्य हृदयपर्यन्तत्वात्तस्याऽप्यात्मनैवोपादाने नान्यदातव्याभावादित्याशयः। जीवितेश्वराय सदाचरणादिना जीवनस्वामिने भवते, किं प्रतिपाद्यते समर्प्येश्वरीकर्त्तुं शक्यते, अपि तु न किमपीत्यर्थः। दीयमानपदार्थानामपि जीवनावधित्वादिति प्राग्व-

---

आपके समान समस्त संसारमें विख्यात महिमावाले पुरुषोंके साथ जो कुछ ( चाहे जैसा व्यवहार ) किया जाय वे सब ही मानो अनुचित सा प्रतीत होता है। देखिए—सम्भाषण करना भी मानो तिरस्कारके समान प्रतीत होता है, आदर करना भी मानो आधिपत्यका अभिमान सूचित होता है, प्रशंसा करना भी मानो स्वाभिमानका सूचन होता है, अभ्युत्थानादि योग्य आचरण भी मानो चञ्चलता प्रकाश करता है, सौहार्द भी मानो अपनी योग्यताकी अनभिज्ञता ज्ञापन करता है, किसी विषयका निवेदन करना भी मानो प्रगल्भताके समान हो जाता है, परिचर्या करना भी मानो चपलताके समान दीखता है और दान करना भी मानो तिरस्कार करनेके समान होता है। और भी देखिये—आपने स्वयं ही हम लोगोंके हृदयको ग्रहण कर लिया है, अत एव आपको क्या दिया जाय ? आप जीवनके ही अधीश्वर हो गये हैं, अत एव आपको क्या देकर उसका अधीश्वर बनाया जाय ?

---

१. उपलम्भम्। २. ज्ञायते। ३. आयत्तजीवितार्थाय।

प्रथमकृतागमनमहोपकारस्य का ते प्रत्युपक्रिया, दर्शनदत्तजीवितफलस्य सफलमागमनं केन ते क्रियते । प्रणयिताञ्चानेन व्यपदेशेन दर्शयति कादम्बरी, न विभवम् । अप्रतिपाद्या हि परस्वता सज्जनविभवानाम् । आस्तां तावद्विभवः, भवादृशस्य दास्यमप्यङ्गीकुर्वाणा नाकार्यकारिणीति नियुज्यते[1], दत्त्वात्मानमपि वञ्चिता न भवति, जीवनमप्यर्पयित्वा न पश्चात्तप्यते । प्रणयिजनप्रत्याख्यानपराङ्मुखी च दाक्षिण्यपरवती[2] महत्ता सताम्[3] । न च तादृशी भवति याचमानानाम्, यादृशी ददतां लज्जा, यत् सत्यम्[4] अमुना व्यतिकरेण कृतापराधमिव त्वय्या-

दाशयः । प्रथमम् आदौ कृतं विहितम् आगमनमेव महोपकारो निरतिशयोपकृतिर्येन तस्य ते तव आगमनं केन करणेन सफलंक्रियते विधातुं शक्यते, अपि तु न केनापीत्यर्थः, समस्तफलापेक्षयैव जीवनफलं श्रेष्ठं तत्तु भवताऽवलोकनेनैवार्पितम् अतएव तत्सदृशमस्माभिः किं फलं देयमस्ति येन तवागमनं तत्सदृशफलवद्भवेदित्याशयः ।

इह सर्ववाक्येष्वेवार्थापत्तिरलङ्कार इति सुधीभिराकलनीयम् ।

अथैवं कस्मै प्रयोजनायेदं भवत्या उपायनानयनमित्यत आह—प्रणयितामिति । कादम्बरी गन्धर्वराजपुत्री अनेन व्यपदेशेन उपायनार्पणव्याजेन प्रणयितां भवन्तं प्रति सौहार्दं दर्शयति प्रकटयति, न विभवं न तु वित्तसम्पदम् । हि यतः, सज्जनविभवानां सत्पुरुषधनसम्पत्तीनां परस्वता अन्यदीयता अप्रतिपाद्या अर्पणादिना न सम्पादनीया, अपि तु परोपकारफलकत्वेन स्वतःसिद्धैवेत्याशयः । अनेन कादम्बर्या धनसम्पदि भवतोऽपि स्वत्वमस्तीति केवलसौहार्दप्रकटनमेव फलं दानस्येति ध्वनितम् । इह शाब्दी परिसंख्यालङ्कारः सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽलङ्कारश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः । तथा 'अप्रतिपाद्या' इत्यत्र नञर्थस्य प्राधान्येनैवोपादानं युक्तम्, अन्यथा समासे तस्य गुणीभावत्वेन विधेयाविमर्शस्य वारयितुमशक्यत्वादिति कुशलाः ।

आस्तामिति । विभवो हारादिरूपः स्वोत्कर्षहेतुः तावत् आस्तां तिष्ठतु दूर इति शेषः । भवादृशस्य त्वद्विधस्य । अङ्गीकुर्वाणा स्वीकुर्वाणा नाकार्यकारिणी नाकृत्यविधायिनी नियुज्यते व्यपदिश्यते कादम्बरीति शेषः । दत्त्वा त्वदधीनं कृत्वा वञ्चिता प्रतारिता न भवति । जीवनं जीवितमपि अर्पयित्वा दत्त्वा न पश्चात्तप्यते नानुतप्यते । इह चन्द्रापीडस्य मुख्यनिरूपणकार्यं प्रति अधिकहेतोरुपस्थापनात् समुच्चयोऽलङ्कारः ।

ननु कादम्बर्या अर्पितमप्युपायनं मया कथं स्वीकरणीयमित्यत आह—प्रणयीति । सतां सज्जनानां महत्ता महिमा मनसः सद्व्यवहारप्रसार इत्यर्थः, प्रणयिजनानां स्नेहिलोकानां द्रव्योपायनदानस्य प्रत्याख्याने निराकरणे पराङ्मुखी तत्प्रत्याख्यानं न कदाचित्कुर्वन्तीत्यर्थः, यतो हि दाक्षिण्यपराधीना औदार्याधीना सा महत्ता, अतएवावश्यमेवेदमुपायनं भवता स्वीकरणीयमित्याशयः ।

ननूदासीनत्वादिदमुपायनं स्वीकर्त्तुं मयि लज्जा सञ्जायत इत्यतआह—न चेति । तादृशी यादृशी ददतां वितरणं कुर्वतां लज्जा त्रपा याचमानानाम् अभ्यर्थ्यमाणानां पात्राणामित्यर्थः । यत्सत्यमित्येकमेवेति पदं निश्चयार्थे । अतएव कादम्बरी, अमुना हारसमर्पणव्यतिकरेण आत्मानं त्वयि कृतापराधमिव विहितागसमिव अवगच्छति जानाति यत्वत्स्वरूपोचितदानाभावेऽपि दातृत्वं स्वीकृतमित्याशयः ।

आपने पहले ही यहाँ पधार कर जो गुरुतर उपकार किया है, उसके उपयुक्त प्रत्युपकार क्या हो सकता है ? दर्शनद्वारा ही आपने हम लोगोंका जीवन सफल किया, अत एव आपके आगमनको हमलोग सफल किस प्रकार कर सकती हैं ? तब कादम्बरी इस उपहारप्रदानके बहानेसे आपके साथ केवल स्नेह दिखाती है, किन्तु ऐश्वर्य नहीं, क्योंकि—सज्जनोंकी धनसम्पत्तिमें स्वभावतः दूसरोंका अधिकार होता ही है, अत एव उससे और सत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता (यह कुछ सिद्ध करनेका विषय नहीं है) । तब तक धनसम्पत्ति तो दूर रहे अर्थात्–उसकी बात तो यहाँ है ही नहीं । आपके समान व्यक्तिके दासत्व स्वीकार कर रहनेसे भी वह कुछ अकार्यकारिणी नहीं कही जायगी । अपनी आत्मा आपको वह समर्पित करे तो भी वह वञ्चित हुई नहीं कही जायगी, अथवा जीवनका समर्पण करे तो भी उसको कभी अनुताप नहीं होगा । सज्जनोंकी चित्तवृत्ति, प्रणयिजनका प्रत्याख्यान करनेके पराङ्मुख ( अनिच्छुक ) और विशेषतः उदारताके अधीन रहती है । दाताओंको जिस प्रकार लज्जा होती है, याचकोंको उस प्रकार नहीं होती ( अर्थात् कुछ देते हुए हमको जितनी लज्जा आती है, उतनी तो माँगते हुए भी नहीं आती ) इसलिए इस उपहारदानसम्पर्कसे निश्चय ही कादम्बरी मानो आपके समीप अपनेको अपराधिनी

१. गृह्यते ! २. परवशा । ३. महताम् । ४. यत्त सत्यम् ।

त्मानमवगच्छति कादम्बरी। तदयममृतमथनसमुद्भूतानां[1] सर्वरत्नानामेकः शेष[2] इति[3] शेषनामा हारोऽमुनैव हेतुना बहुमतो भगवता अम्भसाम्पत्या गृहमुपगताय प्रचेतसे दत्तः, पाशभृतापि गन्धर्वराजाय, गन्धर्वराजेनापि कादम्बर्यै, तयापि त्वद्वपुरस्यानुरूपमाभरणस्येति विभावयन्त्या नभस्तलमेवोचितं सुधासूतेर्धाम[4] न धरेत्यवधार्य्यानुप्रेषितः। यद्यपि निजगुण[5]गणाभरणभूषिताङ्गयष्टयो भवादृशाः क्लेशहेतुमितरजनबहुमतमाभरणभारमङ्गेषु नारोपयन्ति, तथापि कादम्बरीप्रीतिरत्र कारणम्। किं न कृतमुरसि शिलाशकलं कौस्तुभाभिधानं लक्ष्म्याः सहजमिति बहुमानमाविष्कुर्वता भगवता शार्ङ्गपाणिना[6]? न च[7] नारायणोऽत्रभवन्तमतिरि-

इह वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। तथा यत्पदयुक्तवाक्यस्य वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषवारणाय पूर्वत्र पाठ एव न्याय्य इति मन्तव्यम्।

तदयमिति। अमृतमथनात् क्षीरसागरमन्थनात् समुद्भूतानां प्रकटितानां सर्वरत्नानाम् एकः शेष अवशिष्ट इति अस्मात्कारणादेव शेषनामा अयं हारः, अमुनैव हेतुना शेषत्वेन भगवता माहात्म्यवता अम्भसाम्पत्या सागरेण बहुमतः तदतिरिक्ताभावादुत्कर्षाच्चादृतः। उपागताय ताह्राय प्रचेतसे वरुणाय दत्तः अर्पितः, पाशभृताऽपि वरुणेनापि गन्धर्वराजाय चित्ररथाय। 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः। इह 'प्रचेतसे' इत्युपक्रमस्य 'प्रचेतसेनापि' इत्यग्रे वक्तुमुचितं भग्नप्रक्रमत्वदोषवारणायेत्यवगन्तव्यम्। तयापि कादम्बर्या, अस्य आभरणस्य अलङ्कारस्य त्वद्वपुस्त्वदीयं शरीरम् अनुरूपं रूपस्य योग्यमिति विभावयन्त्या चिन्तयन्त्या तथा सुधासूतश्चन्द्रस्तस्य तादृशस्य, नभस्तलं गगनतलमेव उचितं निर्मलत्वादुन्नतत्वाच्च स्वयोग्यं धाम स्थानम्, न धरा पृथिवी इत्यवधार्य हृदयेन निर्णीय चन्द्रापीड एव अस्य हारस्य समुचित आश्रयो न तु कादम्बरीत्यभिप्रायः। अनुप्रेषितः अनुप्रहितः त्वत्समीपं प्रेरित इत्यर्थः। इह दृष्टान्तः दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनात्' इति लक्षणात्।

यद्यपीति। निजाः स्वकीयाः गुणगणा विद्याविनयादय एव आभरणानि आभूषणानि तैः भूषिता अलङ्कृता अङ्गयष्टयो येषां ते तादृशाः। भवादृशाः त्वत्सदृशाः, क्लेशहेतुं भारवशात् क्लेशकारणम्, इतरैर्गुणरहितैर्जनैर्लोकैर्बहुमतम् आदरपूर्वमङ्गीकृतम् आभरणभारम् आभूषणवीवधम् अङ्गेषु करचरणादिषु नारोपयन्ति न स्थापयन्ति, तथापि एवं सत्यपि कादम्बरीप्रीतिः कादम्बरीस्नेहः अत्र हारधारणे कारणं नियामकम्। कुः पृथिवी 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः, तां स्तुभ्नाति व्याप्नोतीति कुस्तुभः सागरः तत्र भव इत्यर्थेऽणि सति कौस्तुभः स एव अभिधानं नाम यस्य तत्तथोक्तम्, शिलाशकलं पाषाणखण्डं लक्ष्म्याः श्रियः निजप्रियतमाया इत्यर्थः, सहजम् एकसागरोत्पन्नत्वात् सोदर्यम् इति हेतोः बहुमानम् अधिकादरम् आविष्कुर्वता प्रकटयता भगवता परमैश्वर्यवता शार्ङ्गम् एतन्नामकं-स्वचापं पाणौ हस्ते यस्य स तेन तादृशेन नारायणेन, 'चापः शार्ङ्गं मुरारेस्तु' इत्यमरः, किम् उरसि वक्षसि न कृतम् नार्पितम् अपि तु कृतमेवेत्यर्थः। अत एव तत्प्रीत्यै भवताऽप्ययं हारो वक्षसि परिधेय एवेत्यभिप्रायः। इहाप्युक्तालङ्कारः, तेन च भवतोऽपि प्रेयसी कादम्बरीति वस्तु प्रतीयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

ननु नारायणादयो ह्यस्मदादिभ्यो मुख्यतमा अत एव तेषां चरितमपि लोकातीतमहं तु तादृशो न भवामीति चेत्तत्राह—न चेति। अत्रभवन्तं समादरणीयं त्वाम्, नारायणः शार्ङ्गपाणिः न अतिरिच्यते

मानती है। यह हार क्षीरसागर मन्थन करके निकाले गए सब रत्नोंमें अवशिष्ट 'शेष' नामका है, इस कारणसे ही भगवान् जलधि इसका अत्यन्त आदर करते हैं और वे इसे लेकर गृहस्थित वरुणको दान कर दिये थे। उन्होंने गन्धर्वराजको और गन्धर्वराजने कादम्बरीको दिया। उसने भी 'आपके शरीरके उपयुक्त यह अलङ्कार' समझकर 'चन्द्रका उपयुक्त स्थान आकाश ही है भूतल नहीं' यह स्थिर कर इसे आपके समीप भेजा है। यद्यपि आप जैसे सत्पुरुष अपने गुण-ग्रामरूप अलङ्कारसे ही अपने शरीरको आभूषणोंसे अलङ्कृत गिनकर, अपने ही समान अन्य लोगोंके भी प्रिय आभूषणको क्लेश-हेतु जानकर धारण नहीं करते तथापि [ तो भी ] आपको इस हारके धारण करनेके विषयमें कादम्बरीकी प्रीति ही कारण है। यथा भगवान् नारायणने कौस्तुभ नामक प्रस्तरके खण्ड ( टुकड़े ) को भी, लक्ष्मीके सहोदर होनेके कारण विशेष आदरसे अपने वक्षःस्थल ( छाती ) पर धारण नहीं

१. उद्धृतानाम्। २. एकशेष इति। ३. लब्धनामा। ४. सुधासुतो धाम्नः। ५. गुण··· । ६. शार्ङ्गिणा। ७. नापि।

च्यते, नापि कौस्तुभमणिरणुनापि गुणलवेन शेषमतिशेते, न चापि कादम्बरीमाकारानुकृति-कलयाप्यल्पीयस्या लक्ष्मीरनुगन्तुमलम्। अतोऽर्हतीयमिमं बहुमानं त्वत्तः। न चाभूमिरेषा प्रीतिप्रसरस्य। नियतञ्च भवता भग्नप्रणया[1] महाश्वेतामुपालम्भसहस्रैः[2] खेदयित्वात्मानमु-[3]त्स्रक्ष्यति। अतएव महाश्वेता[4] तरलिकामपीमं हारमादाय त्वत्सकाशं प्रेषितवती[5]। तयापि कुमारस्य सन्दिष्टमेव 'न खलु महाभागेन मनसापि कार्यः कादम्बर्याः प्रथमप्रणयप्रसरभङ्गः' इत्युक्त्वा च ताराचक्रमिव चामीकराचलस्य तटे तं तस्य वक्षःस्थले बबन्ध।

चन्द्रापीडस्तु विस्मयमानः प्रत्यवादीत्—'मदलेखे! किमुच्यते[6], निपुणासि, जानासि ग्राहयितुम्[7], उत्तरावकाशमपहरन्त्या कृतं वचसि कौशलम्। अयि मुग्धे! के वयमात्मनः?

---

गुणैरधिको भवति। अणुनापि अल्पेनापि गुणलवेन उत्कर्षलेशेन शेषं तत्संज्ञकमिमं हारं न अतिशेते नातिक्रामति अल्पीयस्यापि आकारस्य स्वरूपस्य अनुकृतिरनुकरणं तस्याः कलालेशः तयापि कादम्बरीम् अनुगन्तुम् अनुसर्त्तुं नालं न समर्था, हरिप्रियातः कादम्बरी रूपेणाधिकश्रेष्ठेति भावः। अत एव तत्प्रीति-वशाद्धारोऽयं भवता धारणीय एवेति तात्पर्यम्। इह कादम्बरी लक्ष्मीतो मुख्येतिप्रतिपादनाद् व्यतिरेकः।

अत इति। इयं कादम्बरी, त्वत्तो भवत्सकाशात् इमं हारधारणरूपं बहुमानमत्यादरम् अर्हति लब्धुं योग्या भवति। एषा कादम्बरी, प्रीतिप्रसरस्य भवतः स्नेहातिशयस्य अभूमिः अपात्रं न अपि तु पात्र-मेवेत्यर्थः। भग्नः हारपरावर्त्तनेन खण्डितः प्रणयः अनुरोधः स्नेह इत्यर्थः, यस्याः सा कादम्बरी, उपा-लम्भसहस्रैः 'एवंविधेन अदक्षिणेन सह त्वया मैत्री विहिता, स एव चेह प्रापितः एवंविधैरपमानसमूहैः, महाश्वेतां खेदयित्वा विषादं प्रापयित्वा नियतं निश्चितम् आत्मानम् उत्स्रक्ष्यति परित्यक्ष्यति।

अत इति। हारम् आदाय गृहीत्वा विद्यमानामिति विद्यमानपदाक्षेपात्तैककर्तृकत्वव्याघातः। त्वत्सकाशं भवदन्तिकं प्रेषितवती प्रहितवती। महाश्वेताया अपि हारग्रहणे महाननुरोध इत्यवगन्तव्यम्, अन्यथा तरलिकां त्यक्त्वा काचित् सेविकैवागच्छेदित्याशयः। तया महाश्वेतयापि, कुमारस्य त्वत्तो निकटे सन्दिष्टमेव वाचिकं कथितमेव। महाभागेन जन्मप्रभृतिकलङ्कपङ्करहितानुपमकीर्त्तिसंयुतेन भवता। प्रथम प्रणयप्रसरभङ्गः आद्यस्नेहप्राप्तिनिरासः मनसा चेतसापि न कार्यो हारनिराकरणेन न विधेयः किं पुनर्वचसे-त्याशयः। चामीकरः सुमेरुः तदाख्यो यः अचलः पर्वतस्तस्य तटे उपरिभागे ताराचक्रं नक्षत्रवृन्दमिव, तस्य चन्द्रापीडस्य वक्षःस्थले उरोदेशे बबन्ध बन्धनं चकार परिहितवतीत्यर्थः, मदलेखेत्यन्वयः। इहोपमा।

चन्द्रेति। विस्मयमानो मदलेखाया वचनचातुर्येणाश्चर्यमापन्नः। किमुच्यते किं मया वाच्यम्। निपुणासि कुशलासि, ग्राहयितुं स्वीकारयितुं जानासि अवगच्छसि। उत्तरावकाशं प्रतिवचनसमयम् अप-हरन्त्या दूरीकुर्वन्त्या वचसि वाग्व्यापारे कौशलं पाण्डित्यं कृतं विहितम्।

अयीति। अयीति कोमलामन्त्रणे। आत्मनः स्वस्य वयं के? अपि तु न केऽपीत्यर्थः। युष्माकमा-चरणेन वयं युस्मदीया एव सम्पन्ना इत्याशयः। के वेति। युष्माकमभिलाषयैव स्वीकरणमस्वीकरणं वा

---

किया? नारायण कुछ आपसे बढ़कर नहीं हैं, कौस्तुभ-मणि अल्पमात्र गुणसे भी इस हारसे उत्कृष्ट नहीं है और स्वरूपके अनुकरणमें कादम्बरीकी समानता लक्ष्मी अल्पमात्र भी नहीं कर सकती। अत एव यह आपके समीप इस आदर पानेके योग्य है, क्योंकि आपके स्नेहका अपात्र नहीं है। (अतः उसके मानकी रक्षा आपको अवश्य करना चाहिए)। विशेषतः आप इस अनुरोधकी रक्षा यदि नहीं करेंगे तो हजारों उलाहनोंसे वह महाश्वेताको दुःखित कर निश्चय ही प्राण-त्याग कर देगी। इसलिए ही महाश्वेताने यह हार लेकर तरलिकाको भी आपके समीप भेजा है, और उसने भी, आपके समीप सन्देश दिया है कि—'महाभाग! कादम्बरीके प्रथम प्रणय-प्रसरके भङ्ग करनेका विचार मनसे भी नहीं करना' इतनी बात कह कर मदलेखाने सुमेरु-शृङ्गके ऊपर तारागणके समान उसके वक्षःस्थल पर हार धारण करा दिया।

किन्तु चन्द्रापीडने मदलेखाकी वाक्पटुतासे विस्मयापन्न होकर उत्तर दिया—'मदलेखे! मेरे कहनेके लिए क्या है? तुम बहुत निपुणा हो, अङ्गीकार कराना जानती हो, बोलनेमें ऐसी विशेष वाक्पटुता दिखलाई है। कि मेरे उत्तर देनेके लिए अवकाश ही नहीं रखा। हे मुग्धे! अपना मैं कौन हूँ? और फिर लेने और न लेनेका

---

१. लग्नप्रणया। २. महाश्वेताम्। ३. स्वात्मानम्। ४. महाश्वेतया। ५. अनुप्रेषिता। ६. उच्यसे। ७. कथयितुम्।

के वा वयं ग्रहणस्याग्रहणस्य[1] वा ? गता[2] खल्वियमस्तं कथा। सौजन्यशालिनीभिर्भवतीभिरुपकरणीकृतोऽयं जनो यथेष्टमिष्टेष्वनिष्टेषु वा[3] व्यापारेषु विनियुज्यताम्। अतिदक्षिणायाः खलु देव्याः कादम्बर्याः निर्दाक्षिण्यमपि[4] गुणा न कञ्चिन्न दासीकुर्वन्ति' इत्युक्त्वा च कादम्बरी-सम्बद्धाभिरेव कथाभिः सुचिरं स्थित्वा विसर्जयाम्बभूव मदलेखाम्।

अनतिदूरं[5] गतायाञ्च तस्यां क्रीडापर्वतकगतम्[6] उदयगिरिगतम्[7] इव चन्द्रमसं चन्दनदुकूलहारधवलं चन्द्रापीडं द्रष्टुं समुत्सारित[8]-वेत्र-च्छत्र-चामर-चिह्नानिषिद्धाशेषपरिजना[9]नुगमना तमालिकाद्वितीया चित्ररथसुता पुनरपि तदेव सौधशिखरमारुरोह। तत्रस्था च पुनस्तथैव विविध-विलास-तरङ्गितैर्विकारिविलोकितैः[10] जहारास्य मनः। तथाहि, [11]मुहुर्नितम्बबिम्ब-

मम सञ्जायेतेत्यभिप्रायः। वयमित्यत्र 'अस्मदो द्वयोश्च' इत्यनेन बहुवचनम्। इयं कथा अस्माकं स्वतन्त्रताप्रस्तावः, अस्तं गता, युष्माकमाचरणेन सर्वथैवायत्तीकृतत्वादिति भावः।

सौजन्येति। सौजन्यशालिनीभिः सुजनतायुक्तमतीभिः। उपकरणीकृतः परिचारकीकृतः अयं मल्लक्षणो जनः अतएवाह--यथेष्टमित्यादि। इष्टेष्वनिष्टेषु हिताहितेषु। विनियुज्यतां प्रेर्यताम्।

अतीति। अतिदक्षिणाया अत्युदारायाः, देव्याः कादम्बर्या गुणाः सुशीलतासौन्दर्यादयः, निर्दाक्षिण्यमपि अनुदारमपि कञ्चिज्जनं न दासीकुर्वन्ति इति न, अपि तु सर्वमेवेत्यर्थः। अतएव ममोपायनीकरणे किमपि न विस्मयावहमित्याशयः। विसर्जयाम्बभूव गृहे गन्तुमनुज्ञापयाम्बभूव चन्द्रापीड इति शेषः।

अनतीति। गतायां प्राप्तायां तस्यां मदलेखायाम्। उदयगिरिगतम् उदयाचलप्राप्तं चन्द्रमसं शशिनमिव चन्दनेन मदलेखाद्वाराविहितमलयजानुलेपेन दुकूलाभ्यां तत्परिधापिताभ्यां सूक्ष्मवस्त्राभ्यां हारेण च शेषनामकेन धवलं शुभ्रवर्णम्, पक्षान्तरे—चन्दनदुकूलहारवद्धवलम्। समुत्सारितानि दूरीकृतानि वेत्रच्छत्रचामराण्येव वेतसातपत्रबालव्यजनान्येव चिह्नानि लक्षणानि यया सा तादृशी, वेत्रयष्टिधारिणीं द्वारपालिकां छत्रधारिणीं चामरधारिणीं च सेविकामागमनाय निवार्येत्यर्थः, निषिद्धं निवारितम् अशेषाणां समग्राणां परिजनानां परिचारिकाणाम् अनुगमनम् अनुव्रजनं यया सा, तथा तमालिकैव द्वितीया अपरा यस्याः सा चित्ररथसूता गन्धर्वराजपुत्री कादम्बरी। पुनरपि द्वितीयवारमपि। आरुरोह आरूढा। इह श्रौतोपमा।

तत्रस्थेति। तथैव प्राग्वदेव विविधा नानाप्रकारा ये विलासा भ्रूसङ्कोचप्रभृतयः तैः तरङ्गितानि चपलीकृतानि तैः, विकारीणि विकारोत्पादकानि च तानि विलोकितानि दृष्टिपाताश्चेति तैः, अस्य चन्द्रापीडस्य मनो हृदयं जहार हृतवती।

नानाविधविभ्रमानेव प्रतिपादयति—तथाहीति नितम्बबिम्बे स्त्रीकट्याः पश्चाद्भागप्रतिच्छाये न्यस्तं

ही मैं कौन हूँ ? मेरी स्वाधीनताकी कथा तो अब अस्तमित हो गई। क्योंकि—आप सब सौजन्यशालिनी कुमारिकाओंने मुझे अपना एक वार दास बना लिया है, अत एव इष्ट अथवा अनिष्ट, जिस किसी व्यापारमें इस व्यक्तिको इच्छानुसार ( जिस प्रकार चाहें वैसा ही ) नियुक्त करें। अत्यन्त उदार प्रकृति कादम्बरी देवीके वशीकरण-शीलगुणग्राम किस औदार्य-विहीन व्यक्तिको भी वशीभूत नहीं करते हैं—'यह कहा नहीं जा सकता' यों कह कर कादम्बरी-सम्बन्धी कथोपकथनमें बहुत समय तक रह कर, राजपुत्रने मदलेखाको विदा कर दिया।

मदलेखाके कुछ दूर चले जानेके बाद क्रीड़ापर्वत पर—उदयाचल पर आए हुए चन्द्रके समान—चन्दन, सूक्ष्म वस्त्र तथा हार धारण करनेसे श्वेतवर्ण दीखते हुए चन्द्रापीडको देखनेके लिए, प्रतीहारी, छत्रधारिणी और चामरधारिणी परिचारिकाओंको छोड़ कर, अन्यान्य समस्त परिजनोंको भी साथ आनेमें निषेध कर केवल तमालिकाके साथ कादम्बरी फिरसे उसी अट्टालिका (महल) के शिखर पर चढ़ी। वहाँ रहकर फिरसे पहलेकी भाँति ही वह नानाविध भ्रूविलासवश चञ्चल और विकारजनक दृष्टिपात से उसका मन हरण करने लगी। कितनी ही

१. ग्रहणाग्रहणस्य। २. गता। ३. अनभीष्टेषुवा। ४. निर्दाक्षिण्या अपि। ५. अनतिचिरम्। ६. क्रीडापर्वतगतम्। ७. उदयगताम्। ८. उत्सारित…। ९. क्वचित् 'अनुगमना' इति पदं न दृश्यते। १०. तरङ्गिभिः, तरङ्गितैर्विलोकितैः, विकारिभिर्विलोकितैः। ११. 'मुहुर्मुहुः' इति क्वचित्।

न्यस्तवामहस्तपल्लवा प्रावृतांशुकानुसार[१] प्रसारित-दक्षिणकरा निश्चलतारका लिखितेव, मुहुर्जृम्भिकारम्भदत्तोत्तानकरतलतया तद्गोत्रस्खलनभिया निरुद्धवदनेव[२], मुहुरंशुकपल्लव-ताणित-निश्वासामोद[३]-लुब्ध-मधुकर-मुखरतया प्रस्तुताह्वानेव, मुहुरनिल गलितांशुक-सम्भ्रम[४]-द्विगुणीकृत-भुजयुगल-प्रावृत-पयोधरतया दत्तालिङ्गनसंज्ञेव, मुहुः केशपाशाकृष्ट-कुसुम-पूरिताञ्जलि-समाघ्राण-लीलया कृतनमस्कारेव, मुहुरुभय-तर्जनी-भ्रमित-मुक्ताप्रालम्बतया[५] निवेदितहृदयोत्कलिकोद्गमेव, मुहुरुपहारकुसुमस्खलन-विधुत-करतलतया[६] कथितकुसुमायुधशरप्रहारवेदनेव,

स्थापितं वामहस्तपल्लवं सव्यपाणिकिसलयं यया सा, प्रावृतस्य परिहितस्य अंशुकस्य सूक्ष्मवस्त्रस्य अनुसारेण पवनेनापहृतस्य तत्सज्जीकरणव्याजेनेत्यर्थः प्रसारितो विस्तारितो दक्षिणकरः अपसव्यहस्तो यया सा, तथा निश्चले निष्पन्दे तारके कनीनिकायुगलं यस्याः सा, लिखिता चित्रितेव सती कादम्बरी, 'विलोकयन्ती तावदवतस्थे' इत्यग्रिमेण सम्बन्धः। अग्रेऽपीत्थमेव सम्बन्धो ज्ञेयः। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

मुहुरिति। जृम्भिका मुखादिविकाशः तस्य आरम्भे प्राक्काले दत्तं व्यात्तवदनोपरि न्यस्तम् उत्तानं करतलं पाणितलं यया तस्या भावस्तया कारणेन, तस्य चन्द्रापीडस्य यद् गोत्रस्खलनं भ्रमेण नामोच्चारणं तद्भियेव तद्भीत्येव निरुद्धवदना पिहितमुखी। मदनजागरेण या जृम्भा जाता तत्र व्यात्तमुखस्य पिधानार्थं यः कर आच्छादनीकृतः स मन्ये प्रीतिवशाच्चन्द्रापीडस्य नामनिर्गमनभीत्या विहित इत्यभिप्रायः। हेतूत्प्रेक्षा।

मुहुरिति। अंशुकपल्लवेन वस्त्रप्रान्तेन ताडिताः प्रहताः निःश्वासस्य आमोदेन परिमलेन लुब्धा लिप्सवो ये मधुकरा भ्रमराः तैर्मुखरतया शब्दायमानतया, प्रस्तुतम् उपक्रान्तम् आह्वानम् आकरणं यया सेव। आह्वानप्रस्तावोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

मुहुरिति। अनिलेन पवनेन गलिते कुचमण्डलात् स्रस्ते अंशुके उत्तरीयवस्त्रे सम्भ्रमेण शीघ्रेण द्विगुणीकृतम् ऊर्ध्वाधोरूपेणोरसि स्थापितं यद् भुजयुगलं बाहुद्वयं तेन प्रावृतौ आच्छादितौ पयोधरौ कुचौ यया तस्या भावस्तया कारणेन बाहुद्वयवेष्टितकुचयेत्यर्थः। दत्ता अर्पिता आलिङ्गनाय आश्लेषाय संज्ञा सङ्केतो यया सेव, बाहुद्वयेनाश्लेषप्रकारविधानादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

मुहुरिति। केशपाशात् कचकलापात् आकृष्टैः आनीतैः कुसुमैः प्रसूनैः पूरितस्य अञ्जलेः समाघ्राणस्य लीलया विभ्रमेण कृतनमस्कारेव विहितप्रणामेव, अञ्जल्युपरि आघ्राणाय नमिते शिरसि नमस्कारचेष्टा सञ्जातेति भावः। उक्तालङ्कारः।

मुहुरिति। उभयतर्जनीभ्याम् अङ्गुष्ठसमीपाङ्गुलिद्वयाभ्यां भ्रमितं घूर्णितं मुक्ताप्रालम्बं मौक्तिकहारो यया तस्या भावस्तया कारणेन, निवेदितो ज्ञापितो हृदयस्य उत्कलिकाया सङ्गमोत्कण्ठाया उद्गम उत्पत्तिर्यया सेव, हारभ्रान्त्या औत्सुक्येन हृदयभ्रमणस्य द्योतनादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

मुहुरिति। उपहारकुसुमेषु उपायनप्रसूनेषु स्खलनेन विधुतं कम्पितं करतलं पाणितलं यया

बार अपना बायाँ कोमल हाथ नितम्बमण्डल पर रखकर, पहने हुए वस्त्रके वायुद्वारा उड़ाकर ले जाने तक दायाँ हाथ नीचे लटका कर, निश्चल कनीनिकाद्वय ( दो पुतली ) रख कर चित्रितके समान ( काढ़ी गई ) हो, कितनी ही बार जँभाई आरम्भ करनेके समयमें मुखके ऊपर उत्तानभावसे ( चित्त ) करतल रखनेसे भ्रमवश चन्द्रापीडका नामोच्चारण हो जानेके भयसे ही मानो अपना मुँह बन्द करती हो; निश्वास ( साँस ) के सौरभलोभसे घूमते भ्रमरोंको, कितनी ही बार, वस्त्राञ्चल ( वस्त्रके किनारे ) से झपट मार कर उनकी गुञ्जारसे मानो चन्द्रापीडको आह्वान करती ( बुलाती ) हो; कितनी ही बार वायुके वेगसे वक्षःस्थलीय उत्तरीय वस्त्रके उड़जानेकी त्वरा ( घबराहट ) से अपनी दोनों भुजाओंको मोड़ और उनसे स्तनोंको आच्छादित ( ढक ) कर मानो आलिङ्गनका सङ्केत ( इशारा ) करती हो; कितनी ही बार केशकलापमेंसे पुष्पोंको लेकर अपनी अञ्जली पूर्ण ( भर ) कर लीलासहित सूँघनेके बहाने मानो नमस्कार करती हो; कितनी ही बार दोनों हाथोंकी तर्जनी अङ्गुलियोंसे मुक्ताहार भ्रमण कराते रहनेसे हृदयमें उत्पन्न होती उत्कण्ठाको मानो सूचित करती हो; कितनी ही बार विक्षिप्त कुसुमोंके ऊपर ठोकर खाजानेसे हाथ काँपते रहनेके कारण मानो मदन-बाणके प्रहारकी वेदना प्रकाशित करती

१. अंसप्रावृत॰॰॰। २. गोत्रस्खलनभयनिरुद्धवदनेव। ३॰॰॰निःश्वासामोदः॰॰॰। ४॰॰॰सम्भ्रमद्विगुणितभुजलतावृतपयोधरतया, संवरणसम्भ्रम॰॰॰। ५॰॰॰प्रलम्बतया। ६. करतया।

मुहुर्गलित-रशना-निगडं[1]-नियमित[2]चरणतया संयम्यार्पितेव मन्मथेन, [3]मुहुश्चलितोरुविधृत-दुकूला क्षितितलदोलायमानांशुकैकदेशाच्छादितकुचा, चकित-परिवर्त्तन-त्रुट्यत्त्रिबलीलता, [4]अंसस्रस्तचिकुरकलाप-सङ्कलनाकुल-करकमला[5], कटाक्ष-क्षेप-धवलीकृतकर्णोत्पलं[6] [7]विलक्ष-स्मितसुधाधूलि-धूसरितकपोलं साचीकृत्य[8], वदनमनेकरस-भङ्गि[9]भङ्गुरं विलोकयन्ती, तावदवतस्थे यावदुपसंहृता[10]लोको दिवसो बभूव।

अथ हृदयस्थितकमलिनीरागेणेव रज्यमाने राजीवजीवितेश्वरे सकल-लोकचक्रवाल-

---

तस्या भावस्तया कारणेन, कथिता बोधिता कुसुमायुधशरप्रहारस्य कामबाणाघातस्य वेदना पीडा यया सेव। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

मुहुरिति। गलिता कटिप्रदेशात् स्रस्ता या रशना काञ्चीदाम सैव निगडः शृङ्खला तया नियमितौ बन्धनीकृतौ चरणौ पादौ यस्यास्तस्या भावस्तया कारणेन, मन्मथेन कामेन संयम्य बद्ध्वा चन्द्रापीडाय अर्पितेव दत्तेव। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

मुहुरिति। चलितौ कम्पितौ यौ ऊरू जङ्घे ताभ्यां विधृतं दुकूलं च्युतप्रायवस्त्रं यया सा, क्षितितले भूतले दोलायमानेन सञ्चाल्यमानेन अंशुकैकदेशेन वसनाञ्चलेन पुनरुत्थापितेनेति तात्पर्यम् आच्छादितौ आवृतौ कुचौ पयोधरौ यया सा। कादम्बर्या विलासवशादुत्तरीयांशुकः स्वस्थानादपसृत्य भूतले लम्बितः भूयश्च सविभ्रमं स्वस्थानं स्थापितस्तेनाच्छादितकुचा जातेति सरलार्थः। चकितं ससम्भ्रमं यत्परिवर्त्तनं परावर्त्तनं तेन त्रुट्यन्ती चर्मविसरणाद्भ्रश्यन्ती त्रिवलीलता त्रिरेखारूपवल्ली यस्याः सा। अंसयोः स्कन्धयोः स्रस्तो विच्युतो यः चिकुरकलापः केशपाशः तस्य सङ्कलने पुनरेकत्रसम्पादने आकुलं विह्वलं करकमलं हस्तपङ्कजं यस्याः सा। कटाक्षक्षेपेण तस्य कान्त्येत्यर्थः धवलीकृतं शुभ्रीकृतं कर्णोत्पलं श्रवणाभरणं यत्र कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा। इह शुभ्रीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः। विलक्षेण त्रपया सहितं यत् स्मितम् ईषद्धास्यमेव सुधाधूलिः श्वेतत्वसादृश्यात् गृहधवलीकरणद्रव्यचूर्णपरागः, विलक्षस्मितं सुधाधूलिरिवेति वा तया धूसरितौ श्वेतपाण्डुवर्णीकृतौ कपोलौ गण्डौ यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा। इह प्राग्वदतिशयोक्तिरलङ्कारः रूपकोपमयोः सन्देहसङ्करश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। तथा अनेका नानाप्रकारा या रसभङ्गयः आसक्ता, रचनाविशेषाः ताभिर्भङ्गुरं कुटिलं यथा स्यात्तथा, वदनं मुखं साचीकृत्य कुटिलं विधाय चन्द्रापीडं विलोकयन्ती पश्यन्ती सती तावत् अवतस्थे स्थितवती, यावत् उपसंहृतः सूर्येण सङ्कोचित आलोक आतपो यस्य स तथोक्तो लोहितो रक्तो दिवसो वासरो बभूव जातः। अनेन स्पष्ट एव सन्ध्यासमयो वर्णितः।

प्रदोषसमयं वर्णयितुमुपक्रमते—अथेति। राजीवानां कमलानां जीवितेश्वरे निजातपेनैवोज्जीवनात् प्राणनियन्तरि, सकलाः समस्ता ये लोका भुवनानि तेषां चक्रवालस्य मण्डलस्य चक्रवर्त्तिनि सार्वभौमे

---

हो; कितनी वार कटिदेशमें ( कमरमें ) चन्द्रहार ( तागड़ी की लड़ ) खिसक जानेसे शृङ्खलारूपमें चरण बँध जानेके कारण मानो कामदेवद्वारा बाँधकर अर्पित की गई हो; कभी-कभी ऊरुयुगल कम्पित होनेसे उसका परिधान वस्त्र ढीला हो जाता था और भूतल पर लुण्ठित ( लोटते ) केवल वस्त्राञ्चल ( वस्त्रके एक किनारे ) ही से स्तन आच्छादित ( ढके ) रहते थे। कभी-कभी चकित होकर पीछे मुड़नेसे उसकी त्रिवली–लता ( उदरके ऊपर तीन थर ) टूट जाती थीं; कभी-कभी उसके हाथ स्कन्ध ( कँधे ) पर लटकते केशोंको एकत्र करने तथा उसे बाँधनेमें लग जाते थे; कभी-कभी कटाक्ष फेंकनेसे कर्ण–कमल श्वेतवर्ण हो जाता था और लज्जासे युक्त ईषद् हास्यरूप चूर्ण–रेणु उसके कपोलयुगलको धूसरवर्ण कर देती थी, इस प्रकार वह मुखमण्डल मोड़-मोड़ कर, अनुरागवश नानाविध भावभङ्गी उत्पन्न होनेके कारण कटाक्ष ( तिरछी नजर ) से देखती-देखती जब तक सूर्य–प्रकाश मन्द पड़ कर दिवस लाल-लाल दीखने लगा तब तक वह वहाँ खड़ी रही।

उसके बाद कमलोंके जीवितेश्वर और समस्त भूमण्डलके सम्राट् भगवान् सूर्यनारायण अपने हृदय–स्थित

---

१…निविड…। २…पतित…। ३. मुहुर्मुहुर्विचलित। ४. समस्त…। ५. करतला। ६…कर्णोत्पल…। ७. विलक्ष्यमाणस्मितधूलिधूसरकपोलम्; विलक्षस्मितसुधाधूलिधूसरितैककपोला, विलक्ष्यचास्मितसुधाधूलि…। ८. साचीकृतवदनम्…। ९. भ्रूभङ्गि…। १०…उपसंहृता…।

चक्रवर्त्तिनि[1] भगवति पुष्णि[2], क्रमेण च दिनपरिलम्बनरोषरक्ताभिः कामिनीदृष्टिभिरिव संक्रमितशोणिम्नि व्योम्नि, संहृतशोचिषि जाते जरठ-हारीत-हरित-हये हरितवाजिनि, रवि[3]-विरह-मीलितसरोज-संहतिषु हरितायमानेषु कमलवनेषु श्वेतायमानेषु कुमुदषण्डेषु[4] लोहिताय-मानेषु दिङ्मुखेषु[5], नीलायमाने शर्वरीमुखे, शनैः शनैश्च पुनर्दिनश्री-समागमाशाभिरिवानुरागिणीभिः सहैव दीधितिभिरदर्शनतामुपगते भगवति गभस्तिमालिनि,

---

अधीश्वरे, भगवति माहात्म्यवति पूष्णि सूर्यनारायणे स्वस्य हृदयस्थितः चित्ते विद्यमानो यः कमलिनीरागो नलिनीं प्रत्यनुरागः स एव रागो लौहित्यं तेन रज्यमाने आलोहितीक्रियमाणे इव सति ।

इह राजीवसूर्ययोः स्त्रीपुँल्लिङ्गाभ्यां नायकनायिकाव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिरलङ्कारः, अनुराग-लौहित्ययोर्भेदेऽपि श्लिष्टेनाभेदारोपादतिशयोक्तिरलङ्कारः, 'रज्यमाने इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारश्च सर्वेषामेतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः तस्य च पुनश्छेकानुप्रासेन संसृष्टिः ।

क्रमेणेति । किञ्च, व्योम्नि नभसि, दिनस्य वासरस्य परिलम्बने परिणामे यो रोषः दत्तसङ्केतस्यापि कामुकस्यानुपस्थितत्वात् क्रोधः तेन रक्ताभिः शोणिमाभिः कामिनीनां रमणीनां दृष्टिभिर्लोचनैः, सङ्क्रमित आसञ्जितः शोणिमा रक्तिमा यत्र तस्मिन्निव विद्यमाने, इहापि रक्तिम्न आसञ्जनोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

संहृतेति । जरठः परिणतवयो ( वृद्धः ) यो हारीतः 'हरियाल' इति लोकप्रसिद्धः पक्षिविशेषस्तद्वत् हरिताः पालाशवर्णा नीला इति यावत् हया घोटका यस्य तस्मिन् , हरितवाजिनि हरिद्वर्णतुरगे, सूर्ये, संहृतानि सङ्कोचितानि शोचींषि कान्तयो येन तस्मिन् सति ।

इह 'हारीतहरिते' त्यत्र लुप्तोपमा वृत्त्यनुप्रासश्चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः । तथा जरठेत्यादिविशेषणस्य मुख्यानुपकारित्वेनापुष्टार्थत्वार्थगतपुनरुक्तयोर्विद्यमानत्वात् परित्याग एव वरमित्यालोचयन्ति कुशलाः ।

रवीति । रविविरहेण सूर्यविश्लेषेण मीलिता सङ्कुचिता सरोजसंहतिः पङ्कजसमूहो येषां तेषु तादृशेषु, कमलवनेषु पद्मारण्येषु हरितायमानेषु पङ्कजसङ्कोचनादेव हरिद्वर्णायमानेषु सत्सु ।

श्वेतेति । कुमुदानां कैरवाणां षण्डेषु समूहेषु, श्वेतायमानेषु धवलवदाचरमाणेषु प्रस्फुटनादित्याशयः । दिङ्मुखेषु दिग्वदनेषु लोहितायमानेषु रक्तायमानेषु सत्सु, सन्ध्यारागादिति भावः । शर्वरीमुखे प्रदोषे नीलायमाने हरितायमाने सति, तिमिरप्रादुर्भावादित्याशयः ।

शनैरिति । अपि च, भगवति माहात्म्यवति गभस्तिमालिनि सूर्ये, शनैः शनैः मन्दं मन्दं पुनरपि भूयोऽपि दिनश्रियः वासरलक्ष्म्याः समागमाशाभिः सङ्गमाकाङ्क्षाभिरिव अनुरागिणीभिः आसक्तिमतीभिः रक्ताभिश्च दीधितिभिः रश्मिभिः सहैव अदर्शनताम् अवलोकनाक्षमताम् उपगते प्राप्ते सति ।

इह सूर्यावासरलक्ष्म्योः स्त्रीपुँल्लिङ्गाभ्यां नायकनायिकाव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिरलङ्कारः, 'समागमाशाभिरिव' इत्यत्र पूर्णोपमालङ्कारश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

---

कमलिनीके प्रति मनके अनुरागसे ही मानों जब रक्तवर्ण ( लाल ) होने लगे; क्रमशः दिवसावसानमें सङ्केतकारी नायकके अनुपस्थित होनेके कारण क्रोधसे आरक्तवर्ण ( लाल-लाल ) कामिनीयोंकी दृष्टिसे ही मानो आकाशमें जब रक्तिमा सञ्चारित की गई ( अर्थात् जब आकाश लाल हो गया ); वृद्ध हारीत पक्षीके समान हरित अश्ववाले सूर्य जब अपनी किरणोंको सङ्कुचित (थोड़ी थोड़ी कम) करने लगा; सूर्यके वियोगसे मुद्रित ( बन्द ) हुए कमलवाले पद्म–वन जब हरितवर्ण दीखने लगे; कुमुद–गण जब श्वेतवर्ण होने लगे, दिशाओंके मुख जब लाल लाल होने लगे; एवं प्रदोषकाल जब श्यामवर्ण होने लगा; भगवान् सूर्यनारायण, फिरसे दिनलक्ष्मीके साथ सम्मिलनकी आशाके समान राग ( ललाई, स्नेह ) समन्वित किरणोंके साथ जब धीरे धीरे अदृश्य हो गये; कादम्बरी मनके

---

१. सकलचक्रवाकचक्रवालहृदयचक्रवर्तिनि, चक्रवालचित्तवर्त्तिनि । २. उष्णदीधितौ । ३. हरितवाजि··· जनित । ४. तत्कालनिर्वर्तितोपारुसुजसहस्रविस्तारितसर्वपुरस्कृतगजवर्मणेव । ५. निजसुहृदस्तमूर्त्तिसमालोकनाशया प्रहर्षसन्दर्शितस्मितेष्विवोन्मुखेषु धवलायमानेषु कुमुदखण्डेषु ।

तत्कालविजृम्भितेन च कादम्बरीहृदयरागसागरेणेव[1] आपूरिते सन्ध्यारागेण जीवलोके, कुसुमायुधानल-दह्यमानहृदय-सहस्रधूम[2] इव जनितमानिनीनयनवारिणि[3] विस्तीर्य्यमाणे तरुणतमालत्विषि तिमिरे, दिक्करि-करावकीर्ण-शीकरासार[4] इव श्वेतायमानतारागणे गगने[5], जाताया-ऽन्योन्यादर्शनक्षमायां वेलायां सौधशिखरादवततार कादम्बरी, क्रीडापर्वतकनितम्बाच्च चन्द्रापीडः।

ततोऽचिरादिव[6] गृहीतपादः प्रसाद्यमान इव कुमुदिनीभिः, कलुषमुखीः कुपिता इव

तत्कालेति। अपि च, तत्काले तस्मिन् समये विजृम्भितेन प्रसृतेन, कादम्बर्या हृदयस्य चेतसः रागसागरेणेव चन्द्रापीडं प्रत्यनुरागसमुद्रेणेव सन्ध्यारागेण, जीवलोके संसारे आपूरिते सति। इह 'हृदयरागसागरेणेव' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकं श्रौतोपमा चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशसङ्करः।

कुसुमेति। कुसुमायुधः काम एव अनलो वह्निः तेन दह्यमानं ज्वलमानं यत् हृदयसहस्रं वियोगिजनचेतःसमूहः तस्य धूमे बाष्प इव, जनितानि स्वामिवियोगादुत्पादितानि मानिनीनां मानवतीनां रमणीनां नयनवारीणि नेत्रजलानि (अश्रूणि) येन यस्मिन्, तथा तरुणतमालस्येव अभिनवतापिच्छवृक्षस्येव त्विट् कान्तिर्यस्य तस्मिन्, तिमिरे अन्धकारे विस्तीर्यमाणे विस्तारं प्राप्यमाणे सति।

इह 'कुसुमायुधानल' इत्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्, 'धूम इव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। अस्य पुनः 'तरुणतमालत्विषि' इत्यत्र विद्यमानया लुप्तोपमया संसृष्टिः।

दिगिति। गगने आकाशे, दिक्करिभिर्दिग्गजैः करैः शुण्डादण्डैः विकीर्णो विक्षिप्तः शीकरासारः अम्बुकणाधारा यत्र तस्मिन्निव श्वेतायमानः श्वेतवदाचरमाणः तारागणो नक्षत्रमण्डलं यस्मिन् तथोक्ते सति अम्बुकणाधारानक्षत्रमण्डलयोः साम्यादित्याशयः।

जातायामिति। किञ्च, अदर्शनक्षमायाम् अन्योन्यावलोकनायोग्यायां वेलायां काले जातायाम् उत्पन्नायाम्, सौधशिखरात् प्रासादश्रृङ्गात् कादम्बरी, क्रीडापर्वतकनितम्बाच्च क्रीडागिरिपश्चाद्भागाच्च चन्द्रापीडः अवततार इत्यन्वयः।

तत इति। ततस्तदनन्तरम्, कुमुदिनीभिः कैरविणीभिः, गृहीतो धृतः पादो रश्मिश्चरणश्च यस्य सः प्रसाद्यमानः प्रसन्नीक्रियमाण इव सन् सुधासूतिश्चन्द्रमाः अचिरात् अल्पकालेनैव उदगात् उदयं प्राप्तवान् इत्युत्तरेण सम्बन्धः। इह कुमुदिनीति सुधासूतिरिति पुँल्लिङ्गाभ्यां च पादप्रसादनरूपकार्येण च कुमुदिनीषु मानिनीव्यवहारसमारोपात् श्लेषानुप्राणिता समासोक्तिः, 'प्रसाद्यमान इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशसङ्करः।

कलुषेति। कलुषाणि अन्धकाराच्छन्नानि क्रोधेन मलिनानि च मुखानि अग्रभागाः वदनानि च यासां ताः, कुपिता इव क्रुद्धा इव आशा दिशः प्रसादयन् ज्योत्स्नाभिः श्वेतीकुर्वन् शान्तयंश्च। इहापि प्राग्वदलङ्कारः।

अनुरागसागरके समान तत्काल वृद्धि हुए सन्ध्या-रागसे जब समस्त भुवन परिपूर्ण हो गया; कामानलमें जलते हजारों विरहियोंके हृदयोंमेंसे निकलते धूमके समान—मानिनियोंके नयनोंमेंसे अश्रुधारा उत्पन्न करता—नूतन तमालवृक्षके समान रंगका अन्धकार जब सर्वत्र विस्तृत होने लगा; दिग्गजोंके शुण्ड (सूँड़) द्वारा विक्षिप्त (छिड़के) हुए मानो जल-कणके समान तारागणसे जब आकाश श्वेतवर्ण दीखने लगा और अन्धकार उपस्थित हो जानेके कारण परस्पर देख नहीं पड़ने का समय उपस्थित हुआ, तब कादम्बरी अट्टालिका (महल) के शिखर परसे नीचे उतरी और क्रीडा-पर्वतके शिखर परसे चन्द्रापीड भी उतरा।

उसके बाद अचिरकालमध्यमें ही पाद (किरण, चरण) ग्रहण करके कुमुदिनियाँ जिनको प्रसन्न करती

१…रागरससागरेणेव। २…चक्रवाकहृदय…। ३…नयनासारवारिणि। ४…आकीर्ण…। ५. गगने जाते। ६. नचिरादिव।

 


प्रसादयन्नाशाः, प्रबोधाशङ्कयेव परिहरन् सुप्ताः कमलिनीः, लाञ्छनच्छलेन निशामिव हृदयेन समुद्वहन् , रोहिणीचरणताडनलग्नमलक्तकरसमिवोदयरागं दधानः, तिमिरनीलाम्बरां[1] दिवमभिसारिकामिवोपसर्पन्' अतिवल्लभतया विकिरन्निव सौभाग्यम् , उदगाद्भगवानीक्षणोत्सवः । उच्छ्रिते [2]च कुसुमायुधाधिराज्यैकातपत्रे कुमुदिनीवधूवरे विभावरीविलासदन्तपत्रे श्वेतभानौ धवलितदिशि, [3]दन्तिदन्तादिवोत्कीर्णे भुवने, चन्द्रापीडश्चन्द्रातपनिरन्तरतयैव

प्रबोधेति । प्रबोधो जागरणं तस्य आशङ्कयेव आतङ्केनेव, सुप्ता मुकुलिता निद्रिताश्च कमलिनीः नलिनीः पत्न्यन्तराणि च परिहरन् परित्यजन् । इह लिङ्गेन कार्येण च शशिनि हठकामुकव्यवहारसमारोपात् श्लेषानुप्राणिता समासोक्तिः, तथा 'प्रबोधाशङ्कयेव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरपि प्राग्देव सङ्करः ।

लाञ्छनेति । लाञ्छनच्छलेन कलङ्कमिषेण हृदयेन चेतसा निशां रात्रिम् उद्वहन्निव धारयन्निव । इह सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा ।

रोहिणीति । रोहिण्या निजपत्न्याः चरणताडनेन रतिकलहे पादप्रहारेण लग्नं सक्तम् अलक्तकरसमिव यावकद्रवमिव उदयरागम् उदयकालीनलौहित्यं दधानो धारयन् । इह 'अलक्तकरसमिव' इति जात्युत्प्रेक्षा ।

तिमिरेति । अभिसारिकां पूर्वदर्शितस्वरूपां कामिनीमिव, तिमिरेण अन्धकारेण नीलं हरितम् अम्बरं गगनं निजागोचरे गगनैकदेश इत्यर्थः यत्र ताम् , पक्षान्तरे तु तिमिरवन्नीलम् अम्बरं वस्त्रं यस्यास्ताम् , दिवं गगनम् उपसर्पन् अभिव्रजन् । इह पूर्णोपमा ।

अतिवल्लभेति । अतिवल्लभतया जनानां नितान्तप्रियतया सौभाग्यं तेषु स्नेहं विकिरन्निव विक्षिपन्निव । इह क्रियोत्प्रेक्षा ।

उदगादिति । ईक्षणोत्सवः लोचनप्रमोदहेतुरित्यर्थः । सुधाया अमृतस्य सूतिरुद्भवो यस्मात् स सुधासूतिश्चन्द्र उदगात् उदयं प्राप्तवान् ।

इह हेतोः सुधासूतेः कार्येणेक्षणोत्सवेन सह तादात्म्येन प्रतिपादनात् हेतुर्नामालङ्कारः ।

उच्छ्रित इति । अपि च, कुसुमायुधस्य कामस्य यत् अधिराज्यं साम्राज्यं तस्य एकम् अद्वितीयम् आतपत्रं छत्रस्वरूपं तस्मिन् । कुमुदिनी कैरविण्येव वधूः तस्या वरे स्वामिनि । विभावर्या रजन्या विलासाय विभ्रमाय दन्तपत्रं गजदन्तरचितश्रोत्रभूषणस्वरूपः तस्मिन् । धवलिता रश्मिभिः श्वेतीकृता दिश आशा येन तस्मिन् । श्वेतभानौ चन्द्रमसि उच्छ्रिते उपर्युत्थिते सति ।

इह 'कुसुमायुधाधिराज्यैकातपत्रे' इत्यत्र श्वेतभानौ अद्वितीयच्छत्रत्वारोपः शब्दः कामे राजत्वारोपस्त्वार्थ इत्येकदेशविवर्त्तिरूपकमलङ्कारः । एवं विभावरीविलासदन्तपत्रे' इत्यत्रापि श्वेतभानौ दन्तपत्रत्वारोपः शाब्दः विभावर्यां विलासिनीत्वारोपस्त्वार्थ इत्युक्तालङ्कार एव । 'कुमुदिनीवधूवरे' इत्यत्र तु परम्परितरूपकमलङ्कारः ।

दन्तीति । भुवने विष्टपे दन्तिदन्ताद् गजदशनात् उत्कीर्णे तं निरतचय रचित इव सति, शशिकिरणैः श्वेतत्वादित्याशयः । इह क्रियोत्प्रेक्षा ।

चन्द्रेति । चन्द्रातपेन चन्द्रालोकेन निरन्तरतया सान्द्रतया समन्तात् व्याप्ततयेत्यर्थः, कुमुदमय्या

थीं; मलिन-मुख होनेसे कुपितके समान दीखती दिशाओंको जो मानो प्रसन्न करता था; जग जानेकी आशङ्कासे ही मानो सुप्त कमलिनियोंको छोड़ता जाता था; कलङ्कके बहाने जो मानो साक्षात् रात्रिको ही अपने हृदयमें धारण करता था; रोहिणीदेवीके चरण-प्रहारके समय उसमें लगी हुई आल्ता ( महावर ) के रसके समान उदयकालकी रक्तिमासे संयुक्त; जो अभिसारिका नायिकाके समान अन्धकारसे नीलवर्ण एकदेशविशिष्ट ( दूसरे पक्षमें- अन्धकारके समान नीलाम्बर धारिणी ) आकाशके समीप जाता था, और लोगोंके अत्यन्त प्रिय होनेके कारण उसके प्रति मानो प्रीतिवर्षण करता था; ऐसा नयनानन्दकारी भगवान् चन्द्रका उदय हुआ । क्रमशः जबमदन साम्राज्यके अद्वितीय छत्र, कुमुदिनी-रूपिणी वधूके प्रिय, रजनी-नायिकाके विलासके गजदन्ताभरण वे चन्द्र, समस्त दिशाओंको श्वेतवर्ण कर ऊपर उठे, और समस्त भुवन मानो गजदन्त ( हाथी दाँत ) में से उत्कीर्ण किया हो इस प्रकार दीखने लगा, तब जिसकी सुधाके समान शुभ्रवर्ण सीढ़ियाँ बड़े-बड़े जल-तरंगसे प्रक्षालित होती (धोई जाती)

१. नीलाम्बरवराम् । २. उदिते च । ३. क्वचित् 'दन्ति' पदं नोपलभ्यते ।

कुमुदमय्या इव[1] गृहकुमुदिन्याः कल्लोल-धौत[2]-सुधा-धवल-सोपाने तनु-तरङ्ग-तालवृन्त-वात-वाहिनि सुप्तहंसमिथुने, विरह-वाचाल[3]-चक्रवाक-युगले तीरे, कुमुददलावलीभिः पर्यन्त लिखित-दन्तपत्र-लतम्[4], अवदातसिन्दुवारदामोपहारम्, हरिचन्दनरसैः प्रक्षालितम्, कादम्बरीपरिजनोपदिष्टम्, मुक्ताशिलापट्टं चन्द्रशीतलमधिशिश्ये। तत्रस्थस्य चास्यागत्याकथयत् केयूरकः—'देवी कादम्बरी देवं द्रष्टुमागता' इति।

अथ चन्द्रापीडः ससम्भ्रममुत्थायागच्छन्तीम्, अल्पसखीजनपरिवृताम्, अपनीताशेषराजचिह्नाम्, इतरामिव, एकावलीमात्राभरणाम्, अच्छाच्छेन चन्दनरसेन धवलीकृततनुलताम्, एककर्णावसक्तदन्तपत्राम्, इन्दुकलाकलिकाकोमलं कर्णपूरीकृतं कुमुददलं दधा-

---

इव क्वचित् क्वचित् कुमुदाया अपि कुमुदैः कैरवैः पूर्णाया भृताया इव, विरलकुमुदापि गृहकुमुदिनी (सरसी) चन्द्रातपव्याप्ततया कुमुदमयी जाताः चन्द्रालोकस्यैव कुमुदस्थाने जायमानत्वादित्याशयः। गृहकुमुदिन्या भवनसमीपकैरवयुक्तसरसः 'तीरे' इत्यन्वयः, कल्लोलैः तस्या एव बृहत्तरङ्गैः धौतानि निर्मलीकृतानि सुधाधवलानि गृहश्वेतीकरणचूर्णद्रव्येण श्वेतानि सोपानानि यत्र तस्मिन्। तनवः सूक्ष्माः तरङ्गाः कल्लोला एव तालवृन्तानि व्यजनानि तेषां वातं पवनं वहति दधातीति तस्मिन्। सुप्तानि निद्रितानि हंसमिथुनानि कादम्बयुगलानि यत्र तस्मिन्। तथा विरहेण रजनीवशादन्योन्यविश्लेषेण वाचालानि विषादध्वनिना शब्दायमानानि चक्रवाकानां रथाङ्गानां युगलानि मिथुनानि यस्मिन् तत्र तीरे तटे।

इह 'पूर्णाया इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा। 'तनुतरङ्गतालवृन्ते'त्यत्र निरङ्गकेवलरूपकम्।

कुमुदेति। कुमुदानां कैरवाणां दलानि पत्राणि तेषाम् आवलीभिः पङ्क्तिभिः पर्यन्तेषु प्रान्तभागेषु लिखिता लिपीकृता दन्तपत्रलता लतावल्लम्बमानपत्रावल्यो यस्य तम्। अवदातानि धवलानि सिन्दुवारकुसुमानां निर्गुण्डीपुष्पाणां दामानि माल्यानि उपहारशोभातिशयाय सर्वतः स्थापितानि यस्य तम्। हरिचन्दनरसैः श्वेतमलयजसलिलैः प्रक्षालितं निर्मलीकृतम्। कादम्बरीपरिजनोपदिष्टं कादम्बरीपरिचारिकाप्रदर्शितं चन्द्रवत् शीतलं शिशिरम्। मुक्तावत् रसोद्भववत् शिलापट्टः पाषाणखण्डस्तं श्वेतमेकं शिलापट्टमित्यर्थः, अधिशिश्ये अवलम्ब्य शयनं चकार।

तत्रेति। अस्य चन्द्रापीडस्य निकटे। देवं भवन्तं द्रष्टुम् अवलोकयितुम् आगता आयाता।

अथेति। ससम्भ्रमं सत्वरम्। अल्पसखीजनपरिवृतां स्तोकसहचरीगणपरिवेष्टिताम्। अपनीतानि दूरीकृतानि अशेषाणि समग्राणि राजचिह्नानि तदुपयुक्तवेशभूषणच्छत्रचामरप्रभृतीनि यया ताम्, अतएव इतरामिव अन्यामिवावलोक्यमानाम्, एकावलीमात्रं केवलैकपङ्क्तिकहाराभूषणं यस्यास्ताम्। अच्छाच्छेन अत्यन्तनिर्मलेन चन्दनरसेन मलयजद्रवेण धवलीकृततनुलतां श्वेतीकृतशरीरवल्लीम्। एकस्मिन् कर्णे श्रवणे अवसक्तं लग्नं दन्तपत्रं हस्तिदशनरचितपत्रसदृशभूषणं यस्यास्ताम्। इन्दुकलेव शशिकलैव कलिका यद्वा इन्दुकला च कलिका कुड्मलं च तद्वत् कोमलं मृदुलम्। कर्णपूरीकृतं श्रवणा-

---

थी, छोटी छोटी तरङ्गरूपी तालवृन्त (पंखों) की जहाँ हवा बहती थी, बहुतर हंसदम्पति (हंसके जोड़े) जहाँ शयन करते थे और परस्पर वियोगवश चक्रवाकदम्पतिगण जहाँ शब्द कर रहे थे, जो चन्द्रिकाके निरन्तर पड़नेसे मानो मुकुदमय दीखता था, ऐसे गृह के समीपवर्ती कुमुदपूर्ण सरोवर के तीर (किनारे) पर चन्द्रापीड, कादम्बरीके परिजनों के द्वारा निर्देश किए गए, मुक्ताके समान शुभ्रवर्ण चन्द्रके समान शीतल एक शिलातल पर शयन किया (लेटा)। इस शिलातलके चारों ओर श्वेतोत्पलदलसमूहद्वारा पत्रलता निर्मित थी, श्वेतवर्ण सिन्धुवार पुष्पकी मालाएँ शोभाके लिए चारों ओर लटकाई गई थीं, और श्वेतचन्दनके जलसे उसे धोकर स्वच्छ किया गया था, वहाँ वह शयन करता ही था कि इतनेमें केयूरकने आकर कहा–'देवी कादम्बरी आपको देखने आई हैं।'

उसके बाद चन्द्रापीड शीघ्रतासे उठा और उसने अल्प सखियोंसे परिवेष्टित कादम्बरीको, मदलेखाका हाथ पकड़े आती हुई देखा। समस्त राजचिह्नोंका उसने परित्याग कर दिया था, उससे वह साधारण स्त्रीके समान देखनेमें आती थी, केवल एक लड़ का हार पहन रखी थी, अत्यन्त निर्मल चन्दनके लेपसे कोमल शरीरको शुभ्रवर्णकर रखी थी, एक कानमें दन्द-पत्र पहनी थी, दूसरे कानमें चन्द्रकला और पुष्पकलिकाके समान कोमल

१. कुमुद इव। २. धूत। ३'''वाचालित'''। ४'''लतादन्तुरम्।

नाम्, ज्योत्स्नाशुचिनी कल्पद्रुमदुकूले बिभ्रतीम्, तत्कालरमणीयेन वेशेन साक्षादिव चन्द्रोदयदेवताम्, मदलेखया दत्तहस्तावलम्बां कादम्बरीमपश्यत् । आगत्य च सा प्रीतिपेशलतां दर्शयन्ती प्राकृतेव[1] परिजनोचिते भूतले समुपाविशत् । चन्द्रापीडोऽपि 'कुमार ! अध्यास्यतां शिलातलमेव' इत्यसकृदनुबध्यमानोऽपि मदलेखया भूमिमेवाभजत ।

अथ[2] सर्वासु चासीनासु तासु[3] मुहूर्त्तमिव स्थित्वा वक्तुमुपचक्रमे चन्द्रापीडः—'देवि ! दृष्टिपातमात्र[4]प्रीते दासजने सम्भाषणादिकस्यापि प्रसादस्य नास्त्यवकाशः, किमुतैतावतोऽनुग्रहस्य । न खलु चिन्तयन्नपि निपुणं तमात्मनो गुणलवमवलोकयामि, यस्यायमनुरूपोऽनुग्रहातिरेकः । अतिसरला तवेयमपगताभिमानमधुरा च सुजनता, यदभिनवसेवकजनेऽप्येवमनुरुध्यते । प्रायेण[1] मामुपचारहार्यमदक्षिणं देवी मन्यते । धन्यः खलु परिजनस्ते, यस्यो-

लङ्कारीकृतं कुमुददलं कैरवपत्रं दधानां धारयन्तीम् । ज्योत्स्ना चन्द्रिका तद्वत् शुचिनी श्वेतवर्णे, कल्पद्रुमदुकूले मन्दारवृक्षोत्पन्नसूक्ष्मवस्त्रद्वयम्, बिभ्रतीं दधतीम् । तत्कालरमणीयेन तत्समयमनोहरेण वेशेन नेपथ्येन साक्षात् प्रत्यक्षगतां चन्द्रोदयदेवतामिव शश्युद्गमदैवतमिव । दत्तः अर्पितः हस्तावलम्बो निजकरावलम्बनं यस्यास्ताम् ।

इह 'इन्दुकलाकलिका' इत्यत्र किं रूपकं किं वोपमेति सन्देहालङ्कारः । 'इतरामिव' 'चन्द्रोदयदेवतामिव' इत्युभयत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः ।

आगत्येति । प्रीतेः स्नेहस्य पेशलतां सौन्दर्यम् । प्राकृतेव सामान्ययोषिदिव दर्शयन्ती प्रकटयन्ती परिजनोचिते सेवकजनयोग्ये । समुपाविशत् समुपविष्टवान् । अध्यास्यताम् अधिष्ठीयताम् । असकृद् वारंवारम् अनुबध्यमानोऽपि अनुरुध्यमानोऽपि । भूमिमेव पृथिवीमेव अभजत आश्रितवान्, पृथिव्यामेवोपविष्टवानिति । तात्पर्यम् ।

अथेति । आसीनासु उपविष्टासु । उपचक्रमे उपक्रमं कृतवान् । दृष्टिपातमात्रप्रीते केवलावलोकनेनैव प्रसन्ने दासजने सेवकजने मयीति शेषः । सम्भाषणादिकस्यापि मधुरालापादिकस्यापि प्रसादस्य अनुग्रहस्य अवकाशः अवसरो नास्ति न विद्यते । एतावतः मधुरालापायागमनपर्यन्तस्य । निपुणं सविशेषं यथा स्यात्तथा चिन्तयन्नपि विचारयन्नपि, आत्मनः स्वस्य तं गुणलवं गुणलेशं खलु निश्चयेन न अवलोकयामि न पश्यामि । यस्य गुणलवस्य । अनुरूपो योग्यः अनुग्रहातिरेकः प्रसादोत्कर्षः ।

अतीति । तव भवत इयं प्रत्यक्षतो दृश्यमाना सुजनता सौजन्यम्, अतिसरला छलादिरहिता, अपगतो दूरीभूतः अभिमानोऽहङ्कारो यस्याः सा चासौ अतएव मधुरा मनोहरा चेति । अत्र हेतुं दर्शयति—यदिति । यत् यस्मात् कारणात् अभिनवे नूतने सेवकजनेऽपि भृत्यजनेऽपि एवम् अनेन प्रकारेण अनुरुध्यते प्रीत्युपचारः क्रियते सा सुजनतेत्यर्थः । अवहेलनास्थानेऽपि दर्शितायाः सुजनताया माधुर्यं भवेदेवेत्याशयः ।

प्रायेणेति । देवी कादम्बरी, मां चन्द्रापीडम् उपचारेण मधुरालापादिबाह्याचारेण हार्यम् आयत्तीकर्त्तुं योग्यम्, अतएव अदक्षिणम् अनुदारस्वभावम् अगुणज्ञमिति तात्पर्यम् मन्यते जानाति अन्यथैवं

एक कुमुददल धारण कर रखी थी, ज्योत्स्नाके समान शुभ्रवर्ण कल्पवृक्षसे उत्पन्न दो सूक्ष्मवस्त्र पहन रखे थे। उस समयमें मनोहर लगते वेशसे साक्षात् चन्द्रोदय-देवताके समान आकर स्नेहका सौन्दर्य दिखाती परिजनों के योग्य भूतल पर, साधारण स्त्रीके समान वह बैठ गई, यह देखकर—'राजकुमार आप शिलातलके ऊपर ही बैठे रहिये'—इस प्रकार मदलेखा द्वारा वारंवार अनुरोध करने पर भी, चन्द्रापीड भूमि पर ही बैठा ।

उसके बाद सब कन्याओंके बैठ जाने पर मानो क्षण भर ठहर कर वह कहनेके लिए आरम्भ किया-देवि ! केवल दृष्टिपात करने पर ही जो व्यक्ति सन्तुष्ट हो जाता है, उस दासके प्रति सम्भाषणादि अनुग्रहका भी प्रयोजन नहीं है, अतएव ऐसे बड़े अनुग्रहका तो कहना ही क्या है । विशेष सूक्ष्म विचार करने पर भी मैं अपनेमें ऐसा गुणलेश भी नहीं देखता जो ऐसे महान् अनुग्रहके अनुरूप हो। आपकी यह सुजनता अत्यन्त सरल और अभिमान-रहित होनेके कारण मधुर है, अत एव यह अभिनव सेवकके प्रति भी इस प्रकार से उपस्थित हुई हैं।

१. प्राकृते । २. क्वचित् 'अथ' इति न विद्यते । ३. क्वचिच्च 'तासु' इत्यपि नोपलभ्यते । ४. दृष्टिमात्रप्रीते ।

१. क्वचिदिह 'च'कारोऽधिको दृश्यते ।

परि[?]नियन्त्रणा[?]स्यात् । आज्ञासंविभागकरणोचिते भृत्यजने क इवादरः । परोपकारोपकरणं [?]शरीरम्[1], तृण-लव-लघु च जीवितमपत्रपे[2] त्वत्प्रतिपत्तिभिरुपायनीकर्त्तुमागतायास्ते । वयमेते शरीरमिदमेतज्जीवितमेतानीन्द्रियाणि, एतेषामन्यतरदारोपय[3] परिग्रहेण गरीयस्त्वम्' इति ।

अथैवंवादिनोऽस्य वचनमाक्षिप्य मदलेखा सस्मितमवादीत्—'कुमार ! भवतु, अतियन्त्रणया[?]खिद्यते[?]खलु सखी कादम्बरी[4], किमर्थञ्चैवमुच्यते, सर्वमिदमन्तरेणापि वचन-

---

मधुरालापादिबाह्यव्यवहाराय नोद्योगं कुर्वीतेत्याशयः । अनेनाहमुदारस्वभावाधीनत्वाद् युष्माकं गुणैनैवाधीनीभूतोऽस्मीति ध्वन्यते ।

धन्य इति । धन्यः कृतपुण्यः । नियन्त्रणा कठिनकार्यभारदानेन यातना । तथाविधदुष्करकार्यभारार्पणाभावादहमधन्य इत्याशयः ।

आज्ञेति । आज्ञाया आदेशस्य संविभागकरणे सम्यक् पृथक्कृत्यार्पणे उचितो योग्यः तस्मिन्, भृत्यजने सेवकजने क इव आदरो बहुमानः, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । अतएव मम मधुरालापायागमनस्य किमपि फलं नाभूदित्याशयः ।

परोपकारेति । आगताया इहायातायाः ते तव निकटे, त्वत्प्रतिपत्तिभिः त्वां प्रति भक्तिभिः, परोपकारस्य अन्योपकृतेः[?]उपकरणं साधनम् इदं शरीरं वपुः, तथा तृणस्य लववत् लेशवत् लघु अल्पम् इदं जीवितं जीवनं च, उपायनीकर्तुम् उपहाररूपेणार्पितुम् अहम् अत्रपे लज्जे—

'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् । परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥'

परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत् ।

इत्याद्यभियुक्तोक्तिदिशा देहस्य स्वभावत एव यस्य कस्यान्यस्योपकारकरणत्वेन भवति विशेषाभावात् जीवितस्य च तृणलवलघुत्वेन तुच्छतया तदर्पणेन गौरवप्रकटनाभावादित्याशयः ।

वयमिति । एते वयम्, इदं शरीरम्, एतज्जीवितम्, एतानि इन्द्रियाणि, परिग्रहेण उपाददानेन एतेषां मध्ये अन्यतरत् एकतमदित्यर्थः । गरीयस्त्वम् अत्यन्तगौरवम् आरोपय स्थापय । वयमित्यत्र 'अस्मदो[?]द्वयोश्च' ( पा० ) बहुवचनम् । बहूनां मध्ये कस्यचिदेकस्य निर्धारणे डतमच् प्रत्ययस्यैव 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' इति (पा०) सूत्रेण विधानात् 'अन्यतरत्' इत्यत्रोक्तार्थे डतरच् प्रत्ययः कथं तस्य द्वयोर्निर्धारण एव विधानादिति चेत् ? बहूनां मध्ये निर्धारणेऽपि क्वापि डतरच् प्रत्ययो भवतीत्यवगमात् ।

अथेति । अस्य चन्द्रापीडस्य । आक्षिप्य निराकृत्य । अतियन्त्रणया नितान्तप्रशंसावादयातनया खिद्यते । खेदं प्राप्नोति, स्वस्मिन् तथाविधोत्कर्षाभावेनोपहासावगमादित्याशयः । किमर्थं कस्मै प्रयोजनाय । उच्यते कथ्यते । इदं वचनमन्तरेणापि त्वयाभिहितं 'वयमेते' इत्यादिवाक्यं विनापि अनया कादम्बर्या परिगृहीतम् आत्तमिति परिहसितम्, अथ च स्वामित्वेन हृदयेन भवन्तं स्वीकृतमिति

---

सम्भवतः आप मुझको ऐसा अनुदारस्वभाव समझती होंगी जो बाहरके व्यवहारसे ही वशमें हो जाय । आपका परिजनवर्ग ही धन्य है, जिसके ऊपर आपका आज्ञा-प्रयोग होता रहता है । पृथक् पृथक् भावसे आज्ञा करनेके योग्य सेवक-जनके प्रति इतना आदर कैसा ? यह शरीर तो स्वभावतः ही परोपकार करनेके लिए है और जीवन भी तृण-बिन्दुके समान तुच्छ है । अत एव आपके प्रति भक्तिवश उस शरीर और जीवनको यहाँ आए हुए आपको उपहार देने ( अर्पण करने ) में मैं लज्जित होता हूँ । 'तो भी यह मैं हूँ, यह शरीर है, यह जीवन है, ये इन्द्रियाँ हैं—इन सबों के मध्यमें जो आपको अच्छा लगे उसका ग्रहण करके अत्यन्त गौरवान्वित कीजिए ।'

चन्द्रापीड इस प्रकार कह ही रहा था कि, इतनेमें मदलेखाने उसके वाक्यमें बाधा देकर ( बात काटकर ) जरा हँसते हँसते कहा—'राजपुत्र ! बस, अपना अत्यन्त स्तुति-वाद रहने दीजिए, इससे मेरी सखी कादम्बरीको ग्लानि होती है । आप क्यों इस प्रकार कह रहे हैं; आपके कहे बिना भी ये सब वाक्य उसने स्वीकार कर लिया

---

१. शरीरकम् । २. अपि त्रपे तव प्रतिपत्तावुपायनीकर्त्तुम्, अत्र ये, तत् [ त्वत् ] प्रतिपत्तिभिरुपायनीकर्त्तुमागतास्ते । ३. अन्यतरमारोपय । ४. सव्रीडा कादम्बरी ।

मनया परिगृहीतम्, किं पुनरमुनोपचारफल्गुना वचसा सन्देहदोलामारोप्यते' इति । स्थित्वा च कञ्चित् कालं कृतप्रस्तावा 'कथं राजा तारापीडः, कथं देवी विलासवती, कथमार्यः शुकनासः, कीदृशी चोज्जयिनी, कियत्यध्वनि सा च, कीदृग् भारतं वर्षम्, रमणीयो वा मर्त्यलोकः' इत्यशेषं पप्रच्छ । एवंविधाभिश्चान्याभिः कथाभिः सुचिरं स्थित्वोत्थाय कादम्बरी केयूरकं चन्द्रापीडसमीपशायिनं समादिश्य परिजनञ्च, शयनसौधशिखरमारुरोह । तत्र च सितदुकूलवितानतलास्तीर्णं शयनीयमलञ्चकार । चन्द्रापीडोऽपि तस्मिन्नेव शिलातले निरभिमानताम् अभिरूपताम् अतिगभीरताञ्च कादम्बर्याः, निष्कारणवत्सलताञ्च महाश्वेतायाः सुजनताञ्च मदलेखायाः, महानुभावताञ्च परिजनस्य, अतिसमृद्धिञ्च गन्धर्वराजलोकस्य रम्यताञ्च किम्पुरुषदेशस्य मनसा भावयन् केयूरकेण संवाह्यमानचरणः क्षणादिव क्षणदां क्षपितवान् ।

अथ क्रमेण कादम्बरीदर्शन-[1]प्रजागरखिन्नः स्वप्तुमिव ताल-तमाल-ताली-कदलीकन्द-

---

व्यञ्जितम् । अतएव उपचारे बाह्यव्यवहारे फल्गुना निस्तत्त्वेन व्यर्थेनेत्यर्थः 'अमुना वयम्' इत्यादिवचसा किं पुनः सन्देहदोलामारोप्यते कादम्बरी संशयविह्वला विधीयते । निर्देशीकृतविषये भूयो निर्बन्धेन सन्देहोद्गमस्य स्वतः सिद्धत्वादित्याशयः ।

स्थित्वेति । कृतप्रस्तावा प्रश्नेच्छायां गृहीतावसरा मदलेखा । कथं कीदृशः, तारापीडः तव तातः । कीदृशी किंस्वरूपा उज्जयिनी विशाला । सा उज्जयिनी कियत्यध्वनि अस्मात्प्रदेशात् कियद्दूर इत्यर्थः । रमणीयो मनोहरः । मर्त्यलोको मनुष्यलोक इति एवंप्रकारेण अशेषं समग्रं पप्रच्छ पृष्टवती ।

एवमिति । कथाभिर्वार्ताभिः सुचिरं बहुकालं स्थित्वा अवस्थाय । चन्द्रापीडस्य समीपशायिनं निकटे शयनं विधातुमित्यर्थः । परिजनं परिचारकगणं च समादिश्य सेवितुम् आज्ञाप्येति सम्बन्धः । शयनसौधं स्वापोचितप्रासादस्य शिखरम् उपरितलम् आरुरोह आरूढवती ।

तत्रेति । तत्र तस्मिन् सौधतले, सितं धवलं यद् दुकूलस्य क्षौमवस्त्रस्य वितानं चन्द्रातपः तस्य तले अधोभागे आस्तीर्णं पातितं शयनीयं तल्पम् अलञ्चकार शयनेन अलङ्कृतवती । चन्द्रापीडोऽपि । निरभिमानतां निरहङ्कारताम् अभिरूपतां सौन्दर्यम्, अतिगम्भीरताम् अत्यन्तदुर्ज्ञेयस्वभावताम् । निष्कारणवत्सलतां निर्हेतुकहितकारिताम् । सुजनतां सौजन्यम् । महानुभावताम् उदारस्वभावताम् । अतिसमृद्धिं विपुलसम्पत्तिम् । रम्यतां मनोहरताम् । संवाह्यमानौ स्वाङ्के आदाय सेवमानौ चरणौ पादौ यस्य सः । क्षणदां रात्रिं क्षपितवान् अतिवाहितवान् ।

अथेति । कादम्बर्या दर्शनेन निरीक्षणेन यः प्रजागरो मदनौत्सुक्येन जागरणं तेन खिन्नः क्लान्तः तारापतिश्चन्द्रः स्वप्तुं निद्रां विधातुमिव, तालस्तालवृक्षः, तमालस्तापिच्छः, ताली वृक्षविशेषः, कदली

---

है, अत एव बाहर के व्यवहारयोग्य निरर्थक वाक्यसे क्यों इसे संशयाकुल करते हैं ।' इतना कहनेके अनन्तर थोड़ी देर ठहरकर जिज्ञासा करनेका अवसर ग्रहण कर ? उसने पूछा—'महाराज तारापीड कैसे हैं ? महारानी विलासवती कैसी हैं ? माननीय शुकनास कैसे हैं ? उज्जयिनी कैसी है ? यहाँसे वह कितनी दूर होगी ? भारतवर्ष कैसा है ? और मर्त्यलोक रमणीय है या नहीं ?' इस प्रकार बहुत देर तक अन्यान्य प्रकारसे कथा-वार्ता होनेके पश्चात् कादम्बरी उठी और चन्द्रापीडके निकट शयन करनेवाले केयूरक और अन्य परिजनोंको परिचर्या करनेके लिए आज्ञा देकर अपने शयन अट्टालिका ( महल ) के ऊपर शिखर ( ऊपरके तल ) पर चढ़ गयी । वहाँ जाकर शुभ्रवर्ण पट्टवस्त्र-निर्मित चन्द्रातप ( चँदोवे ) के नीचे बिछी एक शय्या पर शयन कर उसको अलङ्कृत की । चन्द्रापीड़ भी उसी शिलातल पर रहकर, कादम्बरीकी निरहङ्कारता, सौन्दर्य और गाम्भीर्य, महाश्वेताका निष्कारण वात्सल्य, मदलेखाका सौजन्य, परिजनवर्गोंका उदार स्वभाव, गन्धर्वराजकी अत्यन्त समृद्धि और किन्नर देशकी रमणीयताके विषयमें भावना करता था, इधर केयूरक उसका चरणयुगल दबाता था । इतनेमें ही निद्रावश हो गया और उस रात्रिको क्षणकालके समान व्यतीत किया ।

उसके बाद कादम्बरीके दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठावश जागनेके कारण परिश्रान्त होकर मानो शयन करने

---

१ ···जागरखिन्नः ।

लिनीं [1]प्रविरल-कल्लोलानिल-शीतलां वेलावनराजिमवततार तारापतिः। अभ्यर्णविरहविधुरस्य च कामिनीजनस्य निश्वसितैरिव[2] उष्णैर्म्लानिमनीयत चन्द्रिका। चन्द्रापीडविलोकनारूढमदनेव कुमुददलोदरनीतनिशा पङ्कजेषु निपपात लक्ष्मीः। क्षणदापगमे च स्मृत्वा कामिनीकर्णोत्पल-प्रहाराणाम्[3] उत्कण्ठितेष्विव क्षामतां व्रजत्सु पाण्डुतनुषु [4]वासगृहप्रदीपेषु, अनवरतशर-क्षेप-खिन्नानङ्ग-निश्वास[5]-विभ्रमेषु [6]वहत्सु [7]तरुलता-कुसुमपरिमलेषु[8] प्रभातमातरिश्वसु,

---

रम्भा आसां कन्दलं समूहः अस्या अस्तीति ताम्। प्रविरला अल्पाल्पा ये कल्लोलानिलाः समुद्रस्य बृहत्तरङ्गपवनाः तैः शीतलां शिशिरां वेलावनराजिं तीरवर्त्तिवनपङ्क्तिम् अवततार अवतीर्णवान् अस्तोन्मुखो बभूवेत्यर्थः। अपरोऽपि जागरणखिन्नः स्वप्तुं निभृतशिशिरस्थानमाश्रयति। 'स्वप्तुमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अभ्यर्णेति। चन्द्रिका कौमुदी, अभ्यर्णेन दिवसागमस्य समीपस्थायिना विरहेण प्रियविश्लेषेण विधुरस्य व्यग्रस्य कामिनीजनस्य सुन्दरीगणस्य, उष्णैः निःश्वसितैः श्वासमारुतैः म्लानिं म्लानिम् अनीयत प्रापत्, उष्णपवनेन मृदुकिसलयवदित्याशयः। दिवसोपस्थितेश्चन्द्रिकाया उज्ज्वलता विलुप्तेत्यर्थः। उक्तालङ्कारः।

चन्द्रेति। चन्द्रापीडविलोकनेन चन्द्रापीडनिरीक्षणेन आरूढ उपस्थितो मदनः कामो यस्यां सा तथोक्तेव, लक्ष्मीः शोभा कापि कामिनी च, कुमुददलानां कैरवपत्राणाम् उदरेषु अभ्यन्तरेषु नीता व्यतिक्रान्ता निशा रात्रिर्यया सा तथोक्ता सती, पङ्कजेषु कमलेषु निपपात अधितस्थौ, मदनविह्वला शैत्यसेवनाय कैरवेषु क्वापि कमलेषु च निपतति। निशायां कैरवाणां प्रस्फुटनात्तेषु शोभासीत्, दिवसोपस्थिते तु सङ्कुचिततया तानि परित्यज्य प्रस्फुटत्सु कमलेषु प्राप्तेत्याशयः। उक्तालङ्कारः।

क्षणदेति। अपि च, क्षणदापगमे रात्रिशेषे, पाण्डुतनुषु, क्रमशो दिवसालोकप्रकाशाद्वियोगाच्चेत्याशयः। वासगृहप्रदीपेषु वासभवनदीपकेषु कामिनीनां रमणीनां कर्णोत्पलैः श्रोत्रालङ्कारैः ये प्रहारास्ताडनानि तेषां स्मृत्वा तान् विचिन्त्येत्यर्थः। कर्मणि षष्ठी। उत्कण्ठितेष्विव पुनस्तन्निमित्तं समुत्पन्नोत्सुकेष्विव, क्षामतां क्षीणत्वं व्रजत्सु गच्छत्सु सत्सु। सुरतेप्सुना प्रियेण समाकृष्यमाणे वसने लज्जया प्रदीपोपशमार्थं कर्णोत्पलं तदुपरि क्षिपन्ति, तं स्मृत्वा पुनस्तादृशप्रहारप्राप्त्यर्थमौत्सुक्यं प्रदीपानामित्यभिप्रायः। उक्तालङ्कारः।

अनवरतेति। अनवरतं निशायां कामुकान् प्रति निरन्तरं यः शरक्षेपः बाणवृष्टिस्तेन खिन्नस्य परिश्रान्तस्य अनङ्गस्य कामस्य ये निश्वासाः श्वासमरुतः तेषां विभ्रमा इव विभ्रमा विलासा येषु तेषु, तरुलताकुसुमानां वृक्षवल्लीपुष्पाणां परिमला विमर्दगन्धा येषु तेषु, प्रभातमातरिश्वसु प्रातःकालिकपवनेषु वहत्सु चलत्सु सत्सु। इह 'विभ्रमविलासा' इत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः।

---

जाता हो यों, ताल, तमाल, ताली और कदली-वृक्षोंसे परिपूर्ण, एवं थोड़े-थोड़े जल-तरङ्गोंकी पवनसे शीतल, समुद्रतीरस्थ वनपङ्क्तिके अभ्यन्तरमें चन्द्रमा क्रमशः उतर गया। वियोग-समयके समीप आनेसे विह्वल कामिनियोंके उष्ण निश्वाससे ही मानो ज्योत्स्ना ( चाँदनी ) मलिन हो ( फीकी पड़ ) गयी। चन्द्रापीडको देखनेसे कामसन्तप्त होकर ही मानो शोभा, कुमुद-दलके अभ्यन्तर समस्त-रात्रि को व्यतीत कर उस समयमें कमलोंके ऊपर जा पड़ी। रात्रिशेषमें जब मन्द हुए शयनगृहके दीपक, कामिनियोंके कर्णोत्पल-प्रहारको स्मरण कर उत्कण्ठित होकर ही मानो पाण्डुशरीरसे क्षीण हो गये; रात्रिमें कामुकोंके प्रति निरन्तर बाण-वर्षण करनेसे परिश्रान्त (थके) कामदेवकी निश्वास वायुके समान विलास-सम्पन्न, एवं तरुलतोत्पन्न पुष्पोंके सौरभवाही प्रभातकालीन पवन चलने लगी;

---

१. अविरल। २. निःश्वसितैरिव। ३...प्रहारान्, स्मृतकामिनीकर्णोत्पलप्रहारेषु। ४. क्वचिद् 'वास' इति पदन्न दृश्यते। ५...निःश्वास...। ६. भ्रमत्सु। ७. क्वचित् 'तरु' इतिपदं न विद्यते। ८. आमोदिषु।

मन्दरगिरिलतागृहगमनानि च[1] भियेव भजन्तीष्वरुणोदयोपप्लविनीषु तारकासु, क्रमेण च समुद्गते[2] चक्रवाक-हृदय-निवास-लग्नानुरागमिवालोहितं[3] मण्डलमुद्वहति सवितरि, चन्द्रापीडः शिलातलादुत्थाय प्रक्षालितमुखकमलः कृतसन्ध्यानमस्कृतिर्गृहीतताम्बूलः[4] 'केयूरक ! विलोकय देवी कादम्बरी प्रबुद्धा न वा, क्व वा तिष्ठति'[5] इत्यवोचत्।

गतप्रतिनिवृत्तेन च तेन 'मन्दरप्रासादस्याधस्तादङ्गनसौधवेदिकायां महाश्वेतया सहावतिष्ठते' इत्यावेदिते गन्धर्वराजतनयामालोकयितुमाजगाम। ददर्श च धवलभस्मकृतललाटिकाभिः[6][7] अक्षमालिका-परिवर्त्तन-प्रचल-करतलाभिः पाशुपतव्रतचारिणीभिर्धातुरागारुणाम्बराभिश्च परिव्राजिकाभिः, परिणत-तालफल-वल्कल-लोहित-वस्त्राभिश्च रक्तपटव्रतवाहि-

---

मन्दरेति। अपि च, अरुणोदयेन गरुडाग्रजोद्गमेन उपप्लवः तेजोविनाशाद्विपदासामस्तीति तासु, तारकासु ऋक्षेषु, भियेव सूर्योदयत्रासेनेव, मन्दरगिरेः मन्दराचलस्य लतागृहेषु व्रततिभवनेषु गमनानि भजन्तीषु विदधतीषु सतीषु। मन्दराचलस्य पूर्वस्यां दिशि विद्यमानत्वात्तारकाणां च प्रायेण तस्यामेवास्तगमनादिदमभिधानमित्यवधेयम्।

क्रमेणेति। अपि च, चक्रवाकानां रात्रिवियोगिनां रथाङ्गयुगलानां हृदये चित्ते निवासेन निजोदये तेषां पुनः सङ्गमस्य भावित्वेन रजन्यां निरन्तरमेव तैरात्मनो भावितत्वादित्याशयः, लग्नः चेतसा एव संसक्तः अनुरागः सूर्यं प्रति प्रीतिरेव अनुरागो रक्तिमा यस्मिंस्तदिव, आलोहितम् आरक्तवर्णं मण्डलं बिम्बम् उद्वहति धारयति सवितरि सूर्ये, क्रमेण क्रमशः समुद्गते उदिते सति। इह प्रीतिरक्तिम्नोर्भेदेऽपि श्लिष्टेनाभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोः सङ्करः।

चन्द्रेति। प्रक्षालितमुखकमलो धौतवदनपङ्कजः, कृते विहिते सन्ध्यानमस्कृती सन्ध्यावन्दनस्वेष्टदेवप्रणामौ येन सः। प्रबुद्धा सुप्तोत्थिता। अवोचत् अब्रवीत्।

गतेति। पूर्वं गतः पश्चात् प्रतिनिवृत्तः प्रत्यागत इति तेन तादृशेन केयूरकेण। मन्दरसंज्ञकः प्रासादः सौधः मन्दरप्रासादः तस्य, अङ्गने अजिरे या सौधवेदिका गृहश्वेतीकरणचूर्णलिप्तबद्धभूमिस्तस्याम्। इति एवम् आवेदिते कथिते। आलोकयितुं वीक्षितुम् आजगाम आययौ।

ददर्शेति। चन्द्रापीडो महाश्वेतां कादम्बरीं च ददर्शेति सम्बन्धः। आदौ महाश्वेतां विशिनष्टि—धवलेति। धवलभस्मभिः श्वेतविभूतिभिः कृता विहिता ललाटिका भाले क्षुद्रतिलकविशेषा याभिस्ताभिः, अक्षमालिका जपमालाः तासां परिवर्तने भ्रामणे प्रचलानि चलितानि करतलानि पाणितलानि यासां ताभिः, पाशुपतव्रतचारिणीभिः शैवव्रतविधायिनीभिः तथा धातुरागेण गैरिकरञ्जनेन अरुणानि लोहितवर्णानि अम्बराणि वस्त्राणि यासां ताभिश्च, परिव्राजिकाभिः संन्यासिनीभिस्तापसीभिः उपास्यमानाम् आराध्यमानाम् इत्युत्तरेण सम्बन्धः।

परिणतेति। अपि च, परिणतं परिपक्वं यत् तालफलं तस्य यद् वल्कलं त्वक् तद्वत् लोहितानि रक्त-

---

अरुणोदयसे तेजोहीन विपन्न होते तारागण, भयवश से ही मानो मन्दर-पर्वतके लता-मण्डपोंका झाड़ोंमें प्रवेश करने (घुसने) लगे; और चक्रवाक-दम्पतिगणके हृदयमें निवास करनेसे संलग्न अनुरागसे मानो आरक्तवर्ण हुआ सूर्यमण्डल क्रमशः उदय होने लगा, तब चन्द्रापीडने उस शिलातलसे उठकर, मुखकमल-प्रक्षालन (धो) कर, सन्ध्या-वन्दन, इष्टदेवताको नमस्कार और ताम्बूल-चर्वण कर, केयूरकसे कहा—'केयूरक ! देखो-देखो, देवी कादम्बरी अभी जगी हैं या नहीं, अथवा इस समय कहाँ हैं ?'

केयूरकने वहाँसे आकर सूचना दी कि—'देव ! 'वे मन्दरनामक प्रासाद (महल) के नीचे प्राङ्गणमें सुधाशुभ्रचूर्णलिप्त बैठकके चबूतरे पर महाश्वेताके साथ बैठी हैं।' ऐसा सूचित करनेपर वह गन्धर्वराजपुत्रीको देखनेके लिए वहाँ आया। वहाँ आकर उसने पहले महाश्वेताको देखा। जिनके ललाटपर शुभ्रवर्ण भस्मके तिलक किये हुए थे, जपमालाको फिराते रहनेसे जिनके हाथ चलायमान हो रहे थे, ऐसी शैव-व्रत का आचरण करनेवाली गैरिक रागसे रञ्जित रक्तवर्ण वस्त्रवाली परिव्राजिकाएँ; पक्व तालफलके वल्कलके समान रक्तवर्ण वस्त्र पहने

---

१. सुमन्दरलतागृहगहनानि च। २. समुद्गतचक्रवाक...। ३. लोहितं। ४. आबद्धशेखरो गृहीतताम्बूलः। ५. अवतिष्ठति। ६. धवलभस्मललाटिकाभिः। ७. अक्षमाला...। ८. धारिणीभिः।

नीभिः सित-त्रसननिविड-निबद्ध-स्तन-परिकराभिश्च श्वेतपटव्यजनाभिः[1] जटाजिन-मौञ्जी[2]-वल्कलाषाढधारिणीभिर्वर्णिचिह्नाभिस्तापसीभिः, साक्षादिव मन्त्रदेवताभिः पठन्तीभिर्भगवत[3]स्त्र्यम्बकस्याम्बिकायाः कार्त्तिकेयस्य[4] विष्टरश्रवसः कृष्णस्य[5] आर्यविलोकितेश्वरस्यार्हतो विरि[6]ञ्चस्य पुण्याः स्तुतीरुपास्यमानाम्, अन्तःपुराभ्यर्हिताश्च सादरं नमस्कारैराभाषणैरभ्युत्थानैरासन्नवेत्रासनदानैश्च[7] दर्शनागतगन्धर्वराजबान्धववृद्धाः समानयन्तीं महाश्वेताम्, पृष्ठतश्च समुपविष्टेन किन्नरमिथुनेन[8] मधुकर[9]मधुराभ्यां वंशाभ्यां दत्तेताने[10] कलगिरा गायन्त्या नारददुहित्रा[11] पठ्यमाने च सर्वमङ्गलमहीयसि महाभारते दत्तावधानाम्, पुरोधृते[12] च मणिदर्पणे[13] ताम्बूल-

---

वर्णानि वस्त्राणि वसनानि यासां ताभिः, रक्तपटव्रतवाहिनीभिः शाक्यभिक्षुविशेषनियमधारिभिः, सितनसनैः श्वेतवस्त्रैः निविडं दृढं निबद्धा बन्धनीकृताः स्तनपरिकराः कुचमण्डलानि याभिस्ताभिः, श्वेतपटः सितवसनं स एव व्यजनं तालवृन्तकं यासां ताभिः। जटां सटाम्, अजिनं कृष्णसारमृगचर्म, मौञ्जीं मेखलाम्, वल्कलं तरुत्वचम्, आषाढं दण्डञ्च धारयन्ति वहन्तीति ताभिः, वर्णिनो ब्रह्मचारिणः चिह्नं लक्ष्म यासु ताभिः, साक्षात् प्रत्यक्षं मन्त्रदेवताभिरिव विद्यमानाभिः। त्र्यम्बकस्य महेशस्य, अम्बिकाया दुर्गायाः, कार्त्तिकेयस्य षडाननस्य, विष्टरश्रवसो विष्णोः, कृष्णस्य वासुदेवस्य, आर्यविलोकितेश्वरस्य बौद्धस्य, अर्हतः तीर्थङ्करस्य, विरिञ्चस्य प्रजापतेः, पुण्याः पावनीः स्तुतीः स्तोत्राणि पठन्तीभिर्वाच्यमानाभिः तापसीभिस्तपस्विनीभिश्च उपास्यमानाम् आराध्यमानाम्। इह 'साक्षान्मन्त्रदेवताभिरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा।

अन्तरिति। अपि च अन्तःपुरेषु अवरोधपुरेषु मध्ये या अभ्यर्हिताः अर्चनीयास्ताः, सादरं सत्कारपूर्वकं नमस्कारैः प्रणामैः, आभाषणैर्मधुरालापैः, अभ्युत्थानैः, आसन्ने निकटे वेत्रासनदानैः वेतसविष्टरार्पणैः, दर्शनाय अवलोकनाय आगता आयाता या गन्धर्वराजस्य चित्ररथस्य बान्धववृद्धाः स्वजनस्थविरा नार्यः सम्मानयन्तीं सत्कारं कुर्वन्तीम्।

पृष्ठत इति। अपि च, पृष्ठतः कादम्बर्या एव पश्चाद्भागे, समुपविष्टेन समासीनेन किन्नरमिथुनेन किंपुरुषयुग्मेन, मधुकरमधुराभ्यां भ्रमरध्वनिवत् सुश्राव्यस्वराभ्यां वंशाभ्यां वेणुभ्याम्, ताने अत्रुटितस्वरप्रवाहे दत्ते 'गाता यं यं स्वरं गायेत्तं तं वंशेन तानयेत्' इति भरतोक्तिदिशा गीतिस्वरमेलनाय स्थापिते, कलगिरा मधुरवचनया, नारददुहित्र्या भद्राभिधेयया नारदस्य धर्मपुत्रा, पठ्यमाने व्याख्यायमाने अभिधीयमाने वा, सर्वेभ्यः समस्तेभ्यो मङ्गलेभ्यः श्रेयउत्पादकेभ्यो ग्रन्थेभ्यो महीयसि अत्यन्तमुख्ये महाभारते ग्रन्थे दत्तावधानां न्यस्तैकाग्रमानसामिति अग्रेतनस्य 'कादम्बरीम्' इत्यस्य विशेषणम्।

पुर इति। अपि च, पुरो धृते कयापि सेविकया अभिमुखे स्थापिते मणिदर्पणे रत्नादर्शे, ताम्बूल-

---

रक्त-पट-व्रतधारिणी; और समस्त ब्रह्मचर्यके चिह्न धारण करनेवाली तपस्विनी—शुभ्रवर्ण वस्त्रसे जिन्होंने अपने स्तनमण्डलको बाँध दिया था, श्वेत-वस्त्र का व्यजन धारण किया था और जटा, कृष्णसार (मृग) का चर्म-मुञ्ज (मूँजकी) मेखला, वल्कल और पलाशके दण्ड—ये सब धारण कर रही थीं-जो साक्षात् मन्त्रदेवताके समान ही देखनेमें हों, इस प्रकार उन सबोंके मध्यमें कोई भगवान् शङ्करकी, कोई दुर्गाकी, कोई कार्त्तिकेयकी, कोई नारायणकी, कोई कृष्णकी, कोई बौद्धकी, कोई तीर्थंकर (गुरु विशेष) की और कोई ब्रह्माको पवित्र स्तुति पाठ करतीं-करतीं उस (महाश्वेता) की उपासना कर रही थीं और वह (महाश्वेता) गन्धर्वराज चित्ररथके ज्ञातिवर्गके मध्यमें प्राचीन (वृद्ध) एवं अन्तःपुर (रनवास) में मान पायी हुई (प्रधान) तथा दर्शन करनेके लिए आयी हुई स्त्रियोंको आदरपूर्वक नमस्कार कर, सम्भाषण कर, अभ्युत्थान कर, समीपस्थ वेत्रासन बैठनेको देकर, उनका सम्मान कर रही थी। फिर उसने कादम्बरीको देखा। उसके पीछे बैठा किन्नर-मिथुन भ्रमर-ध्वनि (झङ्कार)के समान सुमधुर वंशीस्वरसे तान देता था। और मधुर स्वरसे गान करती नारदकी धर्मकन्या भद्रादेवी समस्त माङ्गलिक ग्रन्थोंके मध्यमें उत्कृष्ट महाभारत ग्रन्थको बाँच रही थी, उसे वह (कादम्बरी) एकाग्रचित्तसे सुनती थी; सामने रखे एकमणिमय

---

१...व्यञ्जनाभिः। २. क्वचित् 'मौञ्जी' पदन्नास्ति। ३. शौद्धोदनेः। ४. विश्रवस्य। ५. अर्जुनस्य, जिनस्य। ६. विश्रवणस्य, वैश्वदेवस्य मार्त्तण्डस्य विरिञ्चस्य। ७. क्वचित् 'दर्शनागते'ति पाठो न विद्यते। ८...मिथुनकेन। ९. क्वचित् 'मधुकर' इति पदं न दृश्यते। १०. स्थानके, ताले। ११...दुहित्रा च सावित्र्या। १२. पुरो विधृते परिजनेन। १३. दर्पणे।

रागं-बद्धकूणिकान्धकारिताभ्यन्तरं दशनज्योत्स्ना-सिक्तमुन्मृष्ट[2]-मधूच्छिष्ट-पट्ट-पाटलमधरं[3] विलोकयन्तीम्, शैवलतृष्णया कर्णपूर-शिरीष प्रेषितोत्तान-विलोचनेन-[बद्धमण्डलं भ्रमता-भवनकलहंसेन प्रभातशशिनेव क्रियमाण-गमन-प्रणाम-प्रदक्षिणां कादम्बरीञ्च। समुपसृत्य कृतनमस्कारस्तस्यामेव सुधा[4]वेदिकायां विन्यस्तमासनं भेजे। स्थित्वा च कञ्चित् कालं महाश्वेताया वदनं विलोक्य स्फुरितकपोलोदरं मन्दस्मितमकरोत्। असौ तु तावतैव विदिताभिप्राया कादम्बरीमब्रवीत्—'सखि! भवत्या गुणैश्चन्द्रापीडश्चन्द्रकान्त इव चन्द्रमयूखैरार्द्रीकृतो न शक्नोति वक्तुम्। जिगमिषति खलु कुमारः, पृष्ठतो दुःखमविदितवृत्तान्तं राजचक्रमास्ते।

रागेण नागवल्लीदलरक्तिम्ना बद्धा विहिता या कूणिका श्यामता तया अन्धकारितं समुत्पन्नान्धकारं मलिनीकृतम् अभ्यन्तरं मध्यभागो यस्य तम्, दशनज्योत्स्नया दन्तप्रभया सिक्तं चालितम्, तथा उन्मृष्टं घृष्टं यन्मधूच्छिष्टं सिक्थकं भाषायां 'मोम' इति ख्यातं तस्य पट्टं पिण्डं तद्वत् पाटलं श्वेतरक्तम् अधरम् ओष्ठं विलोकयन्तीं पश्यन्तीं कादम्बरीम्। 'मधूच्छिष्टं तु सिक्थकम्' इत्यमरः।

शैवलेति। शैवलतृष्णया शैवाललोभेन तद्भ्रान्त्येत्यर्थः कर्णपूरशिरीषे कादम्बर्याः श्रवणभूषणीकृतशिरीषकुसुमं प्रति प्रेषिते प्रेरिते उत्ताने ऊर्ध्ववदने विलोचने नयने येन तेन, प्रभातशशिनेव प्रत्यूषचन्द्रेणेव बद्धं विहितं मण्डलं यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा भ्रमता अटता, भवनकलहंसेन गृहकादम्बेन क्रियमाणानि विधीयमानानि गमनं निकटोपस्थितिः प्रणामो नमस्कारः प्रदक्षिणञ्च तानि यस्यास्ताम्। हंसः निकटे गमनं प्रणामं प्रदक्षिणां च कृत्वा कर्णपूरशिरीषं याचत इत्यर्थः।

इह कर्णपूरशिरीषे शैवालभ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारः, तथा 'प्रभातशशिनेव' इत्यत्रोपमा चेत्युभयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

समुपेति। समुपसृत्य कादम्बर्या निकटमेत्य, कृतनमस्कारः। विहितप्रणामः तस्यामेव यत्र कादम्बरी समुपविष्टा तत्रैवेत्यर्थः, सुधावेदिकायां गृहधवलीकरचूर्णद्रव्योपलिप्तबद्धभूमौ विन्यस्तं स्थापितम् आसनं विष्टरं भेजे अध्यासयामास चन्द्रापीड इत्यन्वयः।

स्थित्वेति। स्फुरितं चलितं कपोलयोर्गण्डयोः उदरं मध्यदेशो यत्र तत् तादृशम्, मन्दस्मितम् ईषद्धास्यम् अकरोत् कृतवान्।

असाविति। असौ महाश्वेता। तावतैव ईषद्धास्येनैव, विदिताभिप्राया ज्ञातचन्द्रापीडचित्तवृत्तिः सती। सखि आलि! भवत्यास्तव गुणैरुत्कर्षैः चन्द्रापीडः, चन्द्रमयूखैः शशिकिरणैः चन्द्रकान्तश्चन्द्रोपल इव आर्द्रीकृतः जलनिर्गमात् क्लिन्नः कृतश्च वक्तुं कथयितुं न शक्नोति समर्थो भवति। 'चन्द्रकान्त इव' इत्यत्र श्रौतोपमालङ्कारः।

वक्तव्यमेव दर्शयति—जिगमिषतीति। खलु निश्चयेन। जिगमिषति गन्तुमिच्छति। तत्र कारणमुपपादयति—पृष्ठत इति। न विदितो ज्ञातो वृत्तान्तः चन्द्रापीडोदन्तो येन तत्तादृशम्, राजचक्रं सेनास्थराजगणः दुःखमास्ते दुःखाकुलं यथा स्यात्तथा विद्यते।

दर्पणमें ताम्बूल-चर्वण करनेसे संलग्न काली रेखासे श्यामता उत्पन्न हुए मध्यस्थानवाले तथा दन्तप्रभासे चमकते मोम लगाकर साफ किये वस्त्र जैसे श्वेत-रक्तवर्ण (गुलाबी) अधरको देख रही थी; और शैवल (सेंवार) की तृष्णासे गृह-पालित एक कलहंस, उसके कानमें धारण किये हुए शिरीष-पुष्पके ऊपर दृष्टि रखकर, प्रभात-चन्द्रके समान मण्डलाकारमें भ्रमण करता उसके समीप जाकर नमस्कार और प्रदक्षिणा करता था। ऐसी कादम्बरीके समीपमें जाकर नमस्कार कर, चन्द्रापीड उसी शुभ्रवेदिका (चबूतरे) के ऊपर संस्थापित एक आसन पर जा बैठा। और कुछ देर रहकर, महाश्वेताके मुखको देख ईषद् हास्य किया (मुस्कुराया) जिससे उसके गण्डयुगल (गाल) का मध्यभाग स्फन्दित हो गया, परन्तु महाश्वेता तो उस मुसकुराहट से ही चन्द्रापीडका अभिप्राय समझ गयीं और कादम्बरीसे कहने लगीं—'सखि! चन्द्रमाकी किरणोंमें चन्द्रकान्तमणि जिस प्रकार पिघलने लगता है, उसी प्रकार चन्द्रापीड तुम्हारे गुणोंसे वशीभूत हो गये हैं, इसलिए स्वयं बोल नहीं सकते। [मुख्य बात यह है कि]—राजकुमारको अब जानेकी अभिलाषा हुई है; क्योंकि-पीछे सब उनका राजगण राजकुमारका वृत्तान्त न मिलनेसे दुःखी होते होंगे। और भी देखो—पद्मिनी और सूर्यके समान एवं कुमुदिनी

१. बहलताम्बूलराग… । २. उत्सृष्ट…। ३. …पट्टपाण्डुरमधरं। ४. क्वचित् 'सुधा' इति पदं नावलोक्यते

अपि च युवयो दूरस्थितयोरपि स्थितेयमिदानीं कमलिनीकमलबान्धवयोरिव कुमुदिनीकुमुदनाथयोरिव प्रीतिराप्रलयात्। अतोऽभ्यनुजानातु[1] भवती' इति।

अथ कादम्बरी 'सखि[2] ! महाश्वेते ! स्वाधीनोऽयं सपरिजनो जनः कुमारस्य स्व इवान्तरात्मा, क इवात्रानुरोधः' इत्यभिधाय गन्धर्वकुमारानाहूय 'प्रापयत कुमारं स्वां भूमिम्' इत्यादिदेश। चन्द्रापीडोऽप्युत्थाय प्रणम्य प्रथमं महाश्वेताम्, ततः कादम्बरीम्, तस्याश्च प्रेमस्निग्धेन चक्षुषा मनसा च गृह्यमाणः—'देवि ! किं ब्रवीमि, बहुभाषिणः[3] न श्रद्धाति लोकः, स्मर्त्तव्योऽस्मि परिजनकथासु' इत्यभिधाय कन्यकान्तःपुरान्निर्जगाम कादम्बरीवर्जः अशेषः कन्यकाजनो[4] गुणगौरवाकृष्टः परवश इव तं व्रजन्तमाबहिस्तोरणादनुवव्राज।

अपीति। युवयोः कादम्बरीचन्द्रापीडयोः दूरस्थितयोरपि दविष्ठयोरपि, इदानीं साम्प्रतं कमलिनीकमलबान्धवयोरिव पद्मिनीसूर्ययोरिव कुमुदिनीकुमुदनाथयोरिव कैरविणीचन्द्रयोरिव प्रीतिः स्नेहः आप्रलयात् आकल्पान्तात् इयं स्थिता, अतः अस्मात्कारणात्। अभ्यनुजानातु गमनाय आज्ञां ददात्वित्यर्थः।

इह कमलिनीकमलबान्धवयोः स्त्रीपुँल्लिङ्गाभ्यां कामिनीकामुकव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः श्रौतोपमा चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशसङ्करः, एवं कुमुदिनीकुमुदनाथयोरित्यत्रापि सङ्करः, तयोश्च पुनः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः, एवञ्च कादम्बरीचन्द्रापीडयोरपि कामिनीकामुकभावो ध्वन्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

अथेति। सपरिजनः परिचारिकागणसहितः अयं मल्लक्षणो जनः, कुमारस्य चन्द्रापीडस्य स्वः अन्तरात्मन्येव स्वस्य अधीन आयत्तः, अतएव अत्र गमनविषये क इव अनुरोधः सङ्कोचः ( मदनुमतिग्रहणाग्रहः ) अपि तु न कोऽपीत्यर्थः, सेवकजनात्स्वामिनोऽभ्यनुज्ञाग्रहणापेक्षाभावदित्याशयः।

इह श्रौतोपमा वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

चन्द्रेति प्रथमम् आदौ। प्रणम्य नमस्कृत्य। प्रेमस्निग्धे अनुरागार्द्रेण। गृह्यमाणो वशीक्रियमाणः सन्। बहुभाषिणो वाचालान्। न श्रद्धाति विश्वसिति, 'ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु शब्देन' इति न्यायात् अतोऽल्पाक्षरेण कथयामीत्यभिप्रायः। किन्तद्वक्तव्यमित्यत आह—स्मर्त्तव्य इति। परिजनकथासु निजसेवकवार्त्तासु स्मर्त्तव्यः स्मरणीयोऽस्मि। अनेन स्वस्य परिचारकजनत्वं ध्वनितम्। इत्यभिधाय इत्युक्त्वा कन्यकान्तःपुरात् कुमारिकावरोधपुरात् निर्जगाम निर्ययौ।

कादम्बेति। कादम्बरीं वर्जयति त्याजयतीति सः कादम्बरीभिन्न इत्यर्थः। अशेषः समग्रः कन्यकाजनः कुमारिकावर्गः, गुणगौरवेण उत्कर्षातिशयेन आकृष्टः आकर्षितः, परवश इव चन्द्रापीडाधीन इव। तं चन्द्रापीडम्। आबहिस्तोरणात् बहिर्द्वारपर्यन्तम् अनुवव्राज पृष्ठतो जगाम।

और चन्द्रके समान दूर रहने पर भी तुम दोनोंकी प्रीति अभीसे लेकर प्रलयकाल तक स्थिर रहेगी; इसलिए तुम जानेके लिए कुमारको अनुमति-प्रदान करो।'

उसके बाद कादम्बरीने कहा—'सखि, महाश्वेते ! जिस प्रकार उनकी अन्तरात्मा उनके अधीन है, उसी प्रकार परिजन-वर्गके साथ यह व्यक्ति भी कुमारके अधीन है, इसलिए इस विषयमें अनुरोध क्या है ?' इतना कहकर गन्धर्वकुमारोंको बुलाकर इस प्रकार आदेश दिया कि—'तुमलोग राजकुमारको अपने देशमें पहुँचा दो।' इसके पश्चात् चन्द्रापीडने भी उठकर पहले महाश्वेताको और तदनन्तर कादम्बरीको प्रणाम किया। उस समय कादम्बरीके प्रेमसे स्निग्ध नेत्र और मनके द्वारा अपनी ओर आकृष्ट होनेसे वह कहने लगा—'देवि ! क्या करूँ ? लोग बहुत बोलनेवाले व्यक्तिका विश्वास नहीं करते, इसलिए थोड़ेमें इतना कहता हूँ कि—'परिजन-कथाओंके मध्यमें आप मुझे भी स्मरण करना' इतना कहकर वह कन्याओंके अन्तःपुरसे निकल गया। उस समय कादम्बरीके अतिरिक्त अन्य समस्त कन्याएँ उसके गुण-गौरवसे आकृष्ट होकर पराधीनके समान बाहरके बड़े दरवाजे तक उसका अनुगमन कीं ( बहिर्द्वार पर्यन्त आयीं )।

१. अनुजानातु २. सखि स्वाधीनः। ३. बहुभाषिणे ! ४. ···वर्जोऽवशेषः, वर्जमशेषकन्यकाजनः, वर्जमशेषस्तु कन्याजनः।

निवृत्ते च कन्यकाजने केयूरकेणोपनीतं वाजिनमारुह्य[1] गन्धर्वकुमारकैस्तैरनुगम्यमानो हेमकूटात् प्रवृत्तो गन्तुम् । गच्छतश्चास्य चित्ररथतनया न केवलमन्तर्बहिरपि सैव सर्वाशानिबन्धनमासीत् । तथाहि, तन्मयेन मानसेनासह्यविरहदुःखानुशयलग्नामिव पृष्ठतः, कृतमार्गगमननिरोधामिव पुरस्तात्, वियोगाकुलहृदयोत्कलिकावेशोत्क्षिप्तामिव[2] नभसि, सम्यगालोकयितुं वदनं विरहातुरमानसामिवावस्थितामुरःस्थले, तामेव मृगलोचनां[3] ददर्श। क्रमेण च प्राप्य महाश्वेताश्रममच्छोदसरस्तीरे सन्निविष्टमिन्द्रायुधखुरपुटानुसारेणैवागतमात्मस्कन्धावारमपश्यत् । निवर्तिताशेषगन्धर्वकुमारश्च सानन्देन सकुतूहलेन सविस्मयेन च स्कन्धा-

निवृत्त इति । निवृत्ते परावृत्य आगते कन्यकाजने कुमारिकागणे । उपनीतम् उपस्थापितम्, वाजिनमश्वम् । तैः पूर्वोक्तैः गन्धर्वकुमारकैः देवगायकपुत्रैः अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः । गन्तुं चलितुं प्रवृत्तस्तत्परः अभूदिति शेषः ।

गच्छत इति । अपि च, गच्छतो व्रजतः अस्य चन्द्रापीडस्य, अन्तः अन्तःकरणे सर्वासां निखिलानाम् आशानाम् आकाङ्क्षाणां निबन्धनं हेतुः, तथा बहिरपि सर्वासाम् आशानां दिशां निबन्धनं निरोधकारणम् आसीत् बभूव ।

बहिर्निरोधकारणत्वं प्रदर्शयितुमाह—तथाहीति । तन्मयेन कादम्बरीमयेन मानसेन हृदयेन कारणेन, पृष्ठतः पश्चात् असह्यं सोढुमशक्यं यद् विरहदुःखं वियोगक्लेशः तेन योऽनुशयः पश्चात्तापः (अनुगमनं) तेन लग्नां संसक्तामिव। अनेन पृष्ठतो निरोधकारणमभिहितम् । तन्मयेन हृदयेन कारणेन, पुरस्तात् संमुखतः, कृतो विहितो मार्गगमने निरोधो निबन्धो यया तामिव। एतेनाग्रतो निरोधकारणत्वमुक्तम् । तन्मयेन हृदयेन कारणेन, नभसि गगने, वियोगाकुलं विरहव्यग्रं यद्हृदयं मानसं तत्र य उत्कलिकावेशः औत्सुक्याविर्भावः तेन उत्क्षिप्तामिव पर्यस्तामिव । अनेनोर्ध्वं निरोधकारणत्वं निरूपितम् । तथा तन्मयेन हृदयेन कारणेन, वदनं स्वस्य ( कादम्बर्याः ) मुखं सम्यक् साधुतया आलोकयितुं दर्शयितुम् । उरःस्थले आत्मनो वक्षःस्थले अवस्थितामिव कृतावस्थानामिव, विरहातुरमानसां वियोगव्यग्रहृदयां मृगलोचनां हरिणाक्षीं तामेव कादम्बरीं ददर्श अवलोकयामास, उरस्यवस्थाय रक्षणेन समन्तादेव निरोधसम्भवात्, एतेन दिगन्तरेषु निरोधकारणत्वं द्योतितम् । इह चतस्रः क्रियोत्प्रेक्षाः, तासां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

क्रमेणेति । प्राप्य आसाद्य । संनिविष्टं स्थापितम्, इन्द्रायुधो निजाश्वः तस्य खुरपुटानुसारेणैव खुरपुटचिह्नानुसरणक्रमेणैव आगतं प्राप्तम् आत्मनः स्वस्य स्कन्धावारं सैन्यम् अपश्यत् ऐक्षत ।

निवर्त्तितेति । निवर्त्तिताः परावर्त्तिता अशेषाः समग्रा गन्धर्वकुमारा येन सः । सानन्देन सहर्षेण बहुसमयानन्तरं निजस्वामिविलोकनादित्याशयः । सकुतूहलेन सकौतुकेन अतिरमणीयगन्धर्वजनावलोकनादिति भावः । सविस्मयेन साश्चर्येण तथाविधमुक्ताप्रालम्बदर्शनादिति भावः । प्रणम्यमाणो

उसके बाद उन कन्याओंके लौटने पर केयूरकके द्वारा लाये हुए घोड़े पर वह सवार होकर पीछे-पीछे आते गन्धर्व-कुमारोंके साथ हेमकूटमेंसे चल निकला, चलतेमें वह कादम्बरी केवल अन्तःकरणमें ही समस्त आकाङ्क्षाओंका कारण नहीं हुई थी, किन्तु बाहरमें भी वह समस्त दिशाओंके अवरोधका कारण हुई थी ( अर्थात् चन्द्रापीडको कादम्बरी समस्त अभिलाषाओंका केन्द्र हो गयी और सब दिशाओंमें उसे कादम्बरी ही दीखने लगी), क्योंकि हृदय तन्मय होनेसे वह मानो असह्य-विरह-दुःखके सन्तापके कारण अनुसरण कर उसके पीछे पीछे आती हो, सामने चलनेके मार्ग पर आकर मानो अवरुद्ध करती ( रोकती ) हो, विरहसे व्याकुल हुए चित्तमें उत्कण्ठा आविर्भूत होकर उससे मानो आकाशमें फेंक दी गई हो और सम्पूर्णरूपमें अपने मुख देखनेके लिए मानो वक्षःस्थलमें आ बैठी हो-इस प्रकार उस हरिणनयना विरहार्त्तहृदया कादम्बरी को ही वह देखने लगा । क्रमशः ( धीरे-धीरे ) महाश्वेताके आश्रममें पहुँचकर उसने देखा कि—अपने सैन्यगण, इन्द्रायुधके टापोंके चिह्न का अनुसरण कर अच्छोदसरोवरके तट पर आकर ठहरे हैं । उस समय वहाँसे समस्त गन्धर्वकुमारोंको उसने लौटा दिया, इधर सेनान्तर्गत पुरुषोंने उसको देख, आनन्द-सहित, कौतुक-सहित और विस्मय-सहित प्रणाम किया । इस रीतिसे

१. अधिरुह्य । २ आवेशक्षिप्तामिव आवेशविक्षिप्तामिव । ३. क्वचित् 'मृगलोचनाम्' इति पदन्न विद्यते ।

वारवर्तिना जनेन प्रणम्यमानः स्वभवनं विवेश। सम्मानिताशेषराजलोकश्च[1] वैशम्पायनेन पत्रलेखया च सह 'एवं महाश्वेता, एवं कादम्बरी, एवं मदलेखा, एवं तमालिका, एवं केयूरकः' इत्यनयैव कथया प्रायो दिवसमनैषीत्। कादम्बरीरूपदर्शनद्विष्टयेव[2] नास्य पुरेव[3] प्रीतिमकरोत् राजलक्ष्मीः। तामेव च धवलेक्षणामाबद्धरणरणकेन चेतसा चिन्तयतो जाग्रत एवास्य सा[4] जगाम रात्रिः। अपरेद्युश्च समुत्थिते भगवति रवौ, आस्थानमण्डपगतस्तद्गतेनेव मनसा सहसैव प्रतीहारेण सह प्रविशन्तं[5] केयूरकं ददर्श। दूरादेव च क्षितितलस्पर्शिना मौलिना कृतपादपतनम्, 'एह्येहि' इत्युक्त्वा प्रथममपाङ्गविसर्पिणा चक्षुषा, ततो हृदयेन, ततो रोमोद्गमेन, पश्चाद्भुजाभ्यां प्रधावितः प्रसृतम्[6] आलिलिङ्ग गाढम्। [7]उपावेशयच्चैनमात्मनः

---

नमस्क्रियमाणः, स्वभवनं पटमण्डपं विवेश प्रविष्टवान्। संमानिता प्रत्यभिवादनादिना आदृता अशेषाः समग्रा राजलोका येन सः। प्रायो बाहुल्येन अनयैव कथया वार्त्तया दिवसं वासरम् अनैषीत् व्यतीतवान्।

कादेति। कादम्बर्या रूपदर्शने चन्द्रापीडद्वारा सौन्दर्यावलोकने या द्विष्टिर्द्वेषस्तयैव कारणेन, राजलक्ष्मीः राज्यश्रीः पुरेव पूर्वमिव, अस्य चन्द्रापीडस्य प्रीतिं स्नेहं नाकरोत् न कृतवती। अनेन राजलक्ष्म्याः सपत्नीभावसूचनेन चन्द्रापीडस्य निरतिशयप्रभावोऽभिव्यज्यते।'''द्विष्टयेव'इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः।

तामिति। आबद्धो धृतो रणरणक औत्सुक्यं येन तेन, चेतसा हृदयेन धवले शुभ्रे ईक्षणे, अवलोकने यस्यास्तां तामेव कादम्बरीमेव, चिन्तयतो ध्यायतो जाग्रतः कृतजागरणस्य अस्य चन्द्रापीडस्य सा रात्रिः जगाम ययौ।

अपरेद्युरिति। अपरेद्युः अपरस्मिन् दिने। आस्थानमण्डपे सभामण्डपे गतः स्थितः, तद्गतेनैव कादम्बरीं प्रति प्रधावितेनैव मनसा हृदयेन उपलक्षितः, सहसैव अतर्कित एव प्रतीहारेण सह द्वारपालकेन साकं प्रविशन्तम् अभ्यन्तर आयान्तम्। ददर्श अद्राक्षीत्। क्षितितलं भूतलं स्पृशति चुम्बतीत्येवंशीलेन मौलिना मस्तकेन कृतं विहितं पादयोश्चरणयोः पतनं येन तम्। प्रथमम् आदौ अपाङ्गविसर्पिणा प्रान्तगामिना चक्षुषा नयनेन। रोमोद्गमेन रोमाञ्चोद्भवेन। प्रसृतम् आयातं केयूरकं गाढं निबिडम् आलिलिङ्ग उपगूहितवान्।

उपावेशयदिति। आत्मनः समीप एव स्वासनान्तिक एव उपावेशयत् अस्थापयत्। स्मितमेव ईषद्धास्यमेव सुधा गृहधवलीकरणलेपविशेषः तेन धवलीकृतानि श्वेतीकृतानि अक्षराणि वर्णा यस्य तत्, तथा क्षरन् निर्गच्छन् यः प्रीतिद्रवः स्नेहरसः तन्मयं तेन व्याप्तमिव वचनं वाक्यम् उच्चारयन् ब्रुवन्, आदृतः सम्मानवान् पप्रच्छ प्रश्नं चकार।

इह 'स्मितसुधाधवलीकृताक्षरम्' इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकम्, धवलीकरणसम्बन्धाभावेऽपि

---

वह अपने पटमण्डप ( तंबू ) में प्रवेश किया (घुसा)। और वहाँ प्रत्यभिवादन द्वारा समस्त राजाओंको सम्मानित कर, दिनका बहुत कुछ अंश उसने इस प्रकार महाश्वेता है, इस प्रकार कादम्बरी है, इसप्रकार मदलेखा है, इस प्रकार तमालिका है, इस प्रकार केयूरक है—प्रायशः ऐसे ऐसे-आलाप वैशम्पायन तथा पत्रलेखाके साथ करनेमें दिन व्यतीत किया। कादम्बरीका सौन्दर्य अवलोकन कर लेने पर राज्यलक्ष्मीसे उसे मानो विद्वेष हो गया हो इस प्रकार पहलेके समान अब वह उसको प्रीति उत्पन्न नहीं करती थी और उत्कण्ठित चित्तमें उसी धवलनयनाका चिन्तन करते-करते जागरण करते हुए ही उसने समस्त रात्रिको बिताया। दूसरे दिन भगवान् सूर्यनारायणके उदित होने पर स्वयं तद्गतचित्तसे ही सभामण्डपमें बैठा था कि इतनेमें सहसा ही उसने प्रतीहारी ( द्वारपाल ) के साथ केयूरकको प्रवेश करते हुए देखा। केयूरक दूरसे ही भूतलमें मस्तक-स्पर्श कर उसके चरणके ऊपर गिर गया इतनेमें 'आओ, आओ'—यह कहकर चन्द्रापीडने पहले प्रान्तगामी नयनसे, उसके बाद हृदयसे, तदनन्तर रोमाञ्च द्वारा, उसके पीछे दौड़कर बाहुओंसे उपस्थित केयूरकका गाढ आलिङ्गन किया और उसको अपने समीपमें ही

---

१. समानितप्रत्यक्षीकृताशेषः'''संभावितप्रत्यक्षीकृतराजसंमानितराज'''। २'''विद्विष्टेव। ३. पुरे। ४. क्वचित् 'सा'ेति न विद्यते। ५. संप्रविशन्तम्। ६. निभृतम्, प्रथितम्, पथि तमा'''। ७. समुपावेशयत्।

समीप एव, पप्रच्छ च स्मितसुधाधवलीकृताक्षरं क्षरत्प्रीतिद्रवमयमिव वचनमादृतः 'केयूरक! कथय कुशलिनी देवी ससखीजना सपरिजना कादम्बरी, भगवती महाश्वेता च' इति। असौ तु तेन राजसूनोः प्रीतिप्रकर्षजन्मना स्मितेनैव स्नपित इवानुलिप्त इव सद्य एवापगताध्वखेदः प्रणम्यादृततरमवोचत्[1]—'अद्य कुशलिनी, यामेवं देवः पृच्छति' इत्यभिधायापनीयार्द्रवस्त्रावगुण्ठितं[2] बिससूत्रसंयतमुखमार्द्रचन्दन-पङ्क-न्यस्त-बाल-मृणाल-वलय-मुद्रं नलिनीपत्रपुटमदर्शयत्। उद्घाट्य च तत्र कादम्बरीप्रहितान्यभिज्ञानान्यदर्शयत्। तद्यथा-मरकतहरिन्ति व्यपनीतत्वञ्चि चारुमञ्जरीभञ्जि क्षीरीणि पूगीफलानि, शुककामिनीकपोलपाण्डूनि ताम्बूलीदलानि, हरचन्द्रखण्डस्थूलशकलञ्च कर्पूरम्, अतिबहल-मृगमदामोदमनो-

---

तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिश्चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपसङ्करः। 'प्रीतिद्रवमयमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, अनया चोक्तसङ्करस्य मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

असाविति। असौ केयूरकः, राजसूनोः चन्द्रापीडस्य, प्रीतिप्रकर्षः स्नेहातिशयः तस्माज्जन्म उत्पत्तिर्यस्य तेन, स्मितेनैव ईषद्धास्येनैव स्नपित इव परिष्कृत इव, अनुलिप्त इव अनुलेपनविषयीकृत इव। अपगतो निवृत्तः अध्वखेदो मार्गश्रमो यस्य सः, प्रणम्य नमस्कृत्य आदृततरम् अत्यादरपूर्वकम् अवोचत् अब्रवीत्। इह 'स्नपित इव' 'अनुलिप्त इव' इत्युभे क्रियोत्प्रेक्षे, अनयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अद्येति। आर्द्रवस्त्रेण क्लिन्नवसनेन अवगुण्ठितम् आच्छादितम्, बिससूत्रेण मृणालतन्तुना संयतं बद्धं मुखम् अग्रदेशो यस्य तत्, आर्द्रे क्लिन्ने चन्दनपङ्के मलयजकर्दमे न्यस्ता स्थापिता बालमृणालवलयस्य नवीनबिसकङ्कणस्य मुद्रा चिह्नम् (अन्यो नोद्घाटयेदिति) यत्र तत्, नलिनीपत्रपुटं कमलिनीदलपुटम् अपनीय तद्वसनावरणम् अपसार्य अदर्शयत् अवलोकनमकारयत्।

उद्घाट्येति। उद्घाट्य उन्मुद्रय। कादम्बर्या प्रहितानि प्रेषितानि, अभिज्ञायते अवबुध्यते प्रेम एभिरिति अभिज्ञानानि स्नेहद्योतकचिह्नानि। मरकतवत् अश्मगर्भवत् हरिन्ति हरिद्वर्णानि, व्यपनीता दूरीकृताः त्वचो वल्कलानि येषां तानि, चार्वीः पेशलाः मञ्जरीः भजन्त इति तानि, तथा क्षीरीणि रसयुक्तानि, पूगीफलानि क्रमुकाणि। शुककामिन्याः कीररमण्याः सारिकाया इत्यर्थः कपोलवत् गण्डवत् पाण्डूनि पाण्डुरवर्णानि, ताम्बूल्या नागवल्या दलानि पत्राणि। हरस्य महेशस्य चन्द्रखण्डवत् शशिशकलवत् स्थूलानि स्थविष्ठानि शकलानि खण्डानि यस्य तत्तथोक्तं कर्पूरं घनसारञ्च। तथा अतिबहलैः अत्यन्ताधिकैः मृगमदानां कस्तूरीणाम् आमोदैः परिमलैः मनोहरं रमणीयम्, मलयजविलेपनं चन्दनानुलेपनञ्च।

इह 'मरकतहरिन्ति' 'शुककामिनीकपोलपाण्डूनि, 'हरचन्द्रखण्डस्थूलशकलम्' एषु सर्वत्र लुप्तोपमालङ्कारः, तस्य च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

---

बैठाया। फिर मानो विगलित प्रेम-रससे व्याप्त ईषद् हास्यरूप सुधा-लेपसे शुभ्रवर्ण अक्षरवाले वाक्योंमें आदर-सहित पूछने लगा—'केयूरक! कहो, सखीजन और परिजन वर्गके सहित देवी कादम्बरी और भगवती महाश्वेता सब कुशल तो हैं? विशेष प्रणयसे उत्पन्न हुए राजपुत्रके उस ईषद् हास्यसे केयूरक मानो स्नान कर गया हो और अनुलिप्त हो गया हो, इस प्रकार उसका तत्काल ही मार्गश्रम जाता रहा और प्रणाम-पूर्वक विशेष आदरसे उसने उत्तर दिया—'आज वह कुशलिनी हैं, जिसके सम्बन्धमें आपने इस प्रकार प्रश्न किया है' इतना कहकर, कमलके पत्तोंके एक संपुटको निकाल कर उसने दिखाया। वह पद्मपत्र-दलका संपुट पहले आर्द्रवस्त्र (रुमाल) से आच्छादित था, मृणाल-सूत्रसे उसका मुखभाग बद्ध था, एवं चन्दन-रसके लेपसे ऊपर नूतन मृणाल-वलयकी छाप (मुहर) लगी हुई थी। उसके बाद उस पुटकका उद्घाटन कर, उसके अन्दरमें कादम्बरीके द्वारा प्रेषित कितने ही अभिज्ञान उसने दिखाये। वह अभिज्ञान इस प्रकार था—जिसमें मरकत मणिके समान हरिद्वर्ण, वल्कल-विहीन (छिली हुई), सुन्दरमञ्जरी समन्वित और क्षीरपरिपूर्ण कितने पूगीफल (दुधिया सुपारियाँ) थे, सारिका (तोते) के गण्डस्थल (गाल) के समान पाण्डुवर्ण कितने ही ताम्बूल थे, शिव-मस्तकस्थित चन्द्रखण्डके समान कर्पूरका बड़ा एक खण्ड (टुकड़ा) था और कस्तूरीके अतिप्रचुर सौरभसे मनोहर लगता चन्दनानुलेपन था। [इनको

---

१. आदृततरमेवावोचत्। २. आर्द्रकर्पटावगुण्ठितम्, आर्द्रवस्त्रकर्पटावगुण्ठितम्।

हरश्च मलयजविलेपनम् । अब्रवीच्च—'चूडामणिचुम्बिना [1]कोमलाङ्गुलिविवरविनिर्गत-लोहितांशुजालेनाञ्जलिना देवमर्चयति देवी कादम्बरी, महाश्वेता च सकण्ठग्रहेण कुशलवचसा, पर्यस्त-शिखण्ड-माणिक्य-ज्योत्स्ना-स्नपित-ललाटेन च नमस्कारेण मदलेखा, क्षितितलघटितसीमन्त-मकरिकाकोटिकोणेन सकलकन्यालोकश्च, सचरणरजःस्पर्शेन च पादप्रणामेन तमालिका' । सन्दिष्टश्च तव महाश्वेतया—'धन्याः खलु ते, येषां न गतोऽसि चक्षुषोर्विषयं[2] तथा नाम समक्षं भवतस्ते तुहिनशीतलाश्चन्द्रमया इव गुणा विरहे विवस्वन्मया इव संवृत्ताः[3] स्पृहयन्ति खलु जनाः कथमपि दैवोपपादितायामृतोत्पत्तिवासरायैवातीतदिवसाय । त्वया वियुक्तं[4] निवृत्त-महोत्सवालसमिव[5] वर्त्तते गन्धर्वराजनगरम् । जानासि च मां कृतसकल-

अब्रवीदिति । चूडामणिः शिरोमणिः तच्चुम्बिना तत्स्पर्शिना, कोमलाङ्गुलीनां मृदुकरशाखानां विवरेभ्यश्छिद्रेभ्यो विनिर्गतं विनिःसृतं लोहितं रक्तम् अंशुजालं हस्ततलकिरणसमूहो यस्य तेन, अञ्जलिना बद्धपाणिपुटेन, देवं भवन्तम् अर्चयति सम्मानयतीति सर्वत्रान्वीयते । सकण्ठग्रहेण स्नेहालिङ्गनसहितेन कुशलवचसा मङ्गलवाक्येन । पर्यस्तं मस्तकनमनाल्लम्बितं यत् शिखण्डमाणिक्यं चूडारत्नं तस्य ज्योत्स्नया दीप्त्या स्नपितं परिष्कृतं ललाटं भालं यत्र तेन । क्षितितलेन भूमितलेन घटितःसम्बद्धः सीमन्तमकरिका यः सीमन्तस्थायिमकरसदृशाभूषणस्यकोटिकोणःसंमुखप्रदेशैकभागो यत्र तेननमस्कारेणप्रणामेनसकलकन्यकालोकश्च समस्तकुमारिकाजनश्च । तथा चरणरजसः पादरेणोःस्पर्शेन सहेति तेन पादप्रणामेन चरणाभिवन्दनेन ।

इह महाश्वेता प्रभृतीनामनेकानां कर्त्रीणाम् 'अर्चयति' इत्येकक्रिययाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितालङ्कारः ।

सन्दिष्टमिति । सन्दिष्टं वाचिकं निवेदितम् । येषां चक्षुषोर्नयनयोर्विषयं गोचरं न गतो यातोऽसि त एव खलु निश्चयेन धन्याः, येषां गतोऽसि ते तु तव विरहेण तप्यन्त इत्यर्थः । धन्यत्वे कारणं साधु स्फोरयति—तथेति । भवतस्तव ते विख्याता गुणाः सौन्दर्यादयः, समक्षं प्रत्यक्षं चन्द्रमयाश्चन्द्रनिष्पन्ना इव तुहिनं हिमं तद्वत् शीतलाः शिशिरा आसन् , सम्प्रति तु विरहे वियोगे विवस्वन्मयाःसंतापदायकत्वात्सूर्यनिष्पन्ना इवअस्माकंसंवृत्ताःसञ्जाताः,अतएवैवंविधवियोगसन्तापाभावादेव येषां लोचनगोचरो नतेधन्याइत्याशयः।

इह 'तुहिनशीतला' इत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः, 'चन्द्रमया इव' 'विवस्वन्मया इव' इत्युभयत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, इत्येषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

स्पृहेति । कथमपि दैवेन विधिना उपपादिताय निष्पादिताय, यस्मिन् वासरे दिवसे अमृतोत्पत्तिः पीयूषाविर्भाव आसीत् तस्मै अमृतोत्पत्तिवासरायैव, अतीतो गतो यो दिवसो वासरः तस्मै यत्र तव संमिलनमभूत् तस्मै इत्यर्थः जना इहत्या लोकाः खलु निश्चयेन स्पृहयन्ति वाञ्छन्ति । 'स्पृहेरीप्सित' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी विभक्तिः ।

त्वयेति । वियुक्तं विरहितं निवृत्तेन दूरीभूतेन महोत्सवेन अलसं मन्दमिव । गन्धर्वराजस्य चित्ररथस्य नगरम् । 'अलसमिव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा ।

जानासीति । कृतसकलपरित्यागां विहितसमस्तपरित्यागाम् । अकारणपक्षपातिनम् अहेतुकसाहा-

दिखाकर केयूरकने ] कहा—'कोमल अङ्गुलियोंके विवरमेंसे निकलती रक्तवर्ण किरणोंका वर्षण करनेवाली चूडामणि स्पर्शी अञ्जलिद्वारा देवी कादम्बरी आपकी पूजा ( सम्मान ) करती है, महाश्वेता देवी प्रणया ( कण्ठा ) लिङ्गनके सहित कुशल-समाचर-पूर्वक आपका सम्मान-वर्द्धन करती है, अवनत-शिरोरत्नकी प्रभासे रँगे ललाटदेशसे नमस्कारद्वारा आपका सम्मान-वर्द्धन करती है, और समस्त कन्याएँ भी सीमन्तके मकराकार अलङ्कारके अग्रदेश से भूतल स्पर्श कर नमस्कार द्वारा आपका सम्मान-वर्धन करती है, तथा तमालिका आपके चरण-रज-स्पर्शके साथ चरणमें प्रणाम कर अर्चना करती है ।' और महाश्वेताने आपके समीप सन्देशा भेजा है कि—'जिनके आप दृष्टिपथ नहीं हुए हैं, वे लोग ही धन्य है; क्योंकि—आपका गुणग्राम, समक्षमें चन्द्र-निर्मित होनेके कारण ही मानो शिशिरके समान शीतल लगते थे और अब वियोगके समय सूर्य-निर्मित होकर ही मानो हम लोगोंको सन्ताप दे रहे हैं । इस स्थानके सब लोग ही अमृतोत्पत्ति-दिनके समान दैवयोगसे आए पिछले दिनको किसी प्रकार फिर देखनेके इच्छुक हैं । यह गन्धर्व-राजधानी आपके विरहमें, महोत्सव-निवृत्तिके अनन्तर निस्तब्धके समान मन्द हो गयी हो ऐसी प्रतीत होती है । आप जानते ही तो हैं कि मैंने समस्त पदार्थोंका परित्याग कर दिया

१. क्वचित् 'विवर' इति पदं नोपलभ्यते । २. अविषयं । ३. वृत्ताः । ४. विनिवृत्त··· । ५. महोत्सवानन्दम् ।

थरित्यागम्, तथाऽप्यकारणपक्षपातिनं भवन्तं द्रष्टुमिच्छत्यनिच्छन्त्या अपि मे बलादिव हृदयम्। अपि च बलवदस्वस्थशरीरा कादम्बरी, स्मरति च स्मेराननं स्मरकल्पं त्वाम्, अतः पुनरागमनगौरवेणार्हसीमां गुणवदभिमानिनीं कर्त्तुम्। उदारजनादरो हि बहुमानमारोपयति। अवश्यं सोढव्या चेयमस्मद्विध जन-परिचयकदर्थना कुमारेण, भवत्सुजनतैव जनयत्यनुचितसन्देशप्रागल्भ्यम्। एष देवस्य शयनीये विस्मृतः शेषो हारः प्रहितः[1]' इत्युत्तरीयपटान्तसंयतं सूक्ष्मसूत्रविवर[2]-निःसृतैरंशुसन्तानैः संसूच्यमानं विमुच्य चामरग्राहिण्याः करे समर्पितवान्।

अथ चन्द्रापीडः 'महाश्वेताचरणाराधनतपःफलमिदं यदेवं परिजनेऽप्यनुस्मरणादिकं प्रसादभारमतिमहान्तमारोपयति देवी कादम्बरी' इत्युक्त्वा तत्सर्वं शिरसि कृत्वा स्वयमेव

---

प्यकारिणम्। अनिच्छन्त्या अनभिलषन्त्या अपि मे मम हृदयं चेतः बलात् हठादिव भवन्तं त्वां द्रष्टुमिच्छति दिदृक्षति। बलवदस्वस्थशरीरा अत्यधिकपीडायुक्तदेहा। स्मेराननं विकसितवदनं स्मरकल्पं मदनसदृशं त्वां भवन्तं स्मरति स्मृतिपथम् आनयति, अतः अस्माद्धेतोः पुनरागमनमेव द्वितीयवारोपस्थितिरेव गौरवं गुरुत्वसम्पादकं तेन। इमां कादम्बरीम्। गुणवन्तम् आत्मानं स्वम् अभिमन्यत इति ताम्, चन्द्रापीडसदृशोऽपि ममान्तिकमागच्छतीति गुणवत्यहमित्यात्मन्यभिमान इत्यभिप्रायः। कर्त्तुं विधातुम् अर्हसि शक्नोषि। हि यतः, उदारस्य महतो जनस्य आदरः सत्कारः, बहुमानं स्वस्मिन्नत्यादरम्। इह सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

ननु भूयोऽपि तत्र गमने महान् परिश्रमो भवेदित्याशङ्कायामाह—अवश्यमिति। अस्मद्विधानां गुणशून्यजनानामित्यर्थः परिचयेन या कदर्थना आत्मनोऽवमानः सा च अवश्यं नूनं कुमारेण भवता सोढव्या सौजन्यवशात् सहनीयेत्यर्थः। भवत्सुजनतैव त्वत्सज्जनतैव अनुचितसन्देशप्रागल्भ्यम् अयोग्यसन्देशपाण्डित्यं जनयति निष्पादयति। शयनीये भवतैव व्यवहृतायां तल्पे। प्रहितः प्रेषितः।

इतीति। उत्तरीयपटान्तेन संव्यानवस्त्राञ्चलेन संयतं बद्धम्, सूक्ष्मसूत्राणाम् अतितनुतन्तूनां विवरेभ्यश्छिद्रेभ्यो विनिःसृतैः विनिर्गतैः, अंशुसन्तानैः किरणधाराभिः संसूच्यमानम् अभिव्यज्यमानम्, विमुच्य वसनप्रान्तादुन्मुच्य चामरग्राहिण्या बालव्यजनधारिण्याः करे हस्ते समर्पितवान् प्रदत्तवान्।

अथेति। महाश्वेतायाः चरणयोः पादयोः आराधनमेव उपासनमेव तपः तस्य फलम्। परिजनेऽपि सेवकेऽपि मयीति शेषः। प्रसादभारम् अनुग्रहभारम्। तत्सर्वं पूगीफलादिकमुपहारम्, शिरसि कृत्वा मस्तके आरोप्य स्वयमेव आत्मनैव जग्राह गृहीतवान्।

---

है; तो भी, आपमें अकारण पक्षपाती होनेके कारण—मेरी इच्छा न रहने पर भी-मेरा हृदय, बलपूर्वक ही मानो आपको देखनेकी इच्छा करता है। विशेषतः, कादम्बरीका शरीर भी अत्यन्त अस्वस्थ है। वह-सहास्यवदन और कन्दर्पतुल्य-आपका स्मरण करती है, इसलिए फिरसे गौरवसम्पादक आगमनद्वारा आपको उसे गुणोंमें अभिमानिनी बनाना उचित है, क्योंकि—प्रधान उदार पुरुषोंके किए हुए आदरसे मनुष्योंके हृदयमें अभिमानका सञ्चार होता रहता है। मेरे समान लोगोंके साथ परिचय हो जानेके कारण इस प्रकारकी यातना तो आपको अवश्य ही सह्य करनी होगी। आपके सौजन्यको देख कर ही, ऐसा अनुचित सन्देश भेजनेकी प्रगल्भता उत्पन्न हुई है। आपके विस्मरण-वश यह हार शय्याके ऊपर छूट गया है, अतएव 'शेष' नामक इस हारको भेज दिया है।' इस प्रकार कह कर, उत्तरीयवस्त्रके अञ्चल (पल्ले) में बँधा हुआ, सूक्ष्म सूत्रकी बनावटमेंसे निकलती किरण-रेखाओंसेससूचित (पहचान लिया जाता) उस हारको खोलकर उसने चन्द्रापीडके चामरधारिणीके हाथमें समर्पण कर (दे) दिया।

उसके बाद-यह, महाश्वेताकी चरणाराधनारूपी तपस्याका फल है कि मेरे समान परिजनके प्रति भी देवी कादम्बरीने इस प्रकार अनुस्मरणादिका अत्यन्त गुरुतर अनुग्रहभार आरोप किया है' यों कह कर चन्द्रापीडने उन समस्त उपहारद्रव्योंको अपनेसे ही मस्तक पर धारण कर ग्रहण किया। कादम्बरीके गण्डस्थल (गाल) से

---

१. क्वचित् 'प्रहित' इति नास्ति। २. सूक्ष्मवस्त्रविवर...।

जग्राह। तेन च कादम्बर्याः कपोललावण्येनेव गलितेन, स्मितालोकेनेव[1] रसतामुपनीतेन, हृदयेनेव द्रुतेनेव गुणगणेनेव निस्यन्दितेन[2] स्पर्शवता ह्लादिना सुरभिणा च विलेपनेन विलिप्य तमेव कण्ठे हारमकरोत्। आगृहीतताम्बूलश्च मुहूर्त्तादिवोत्थाथ वामबाहुना स्कन्धदेशे समवलम्ब्य[3] केयूरकम्, ऊर्ध्वस्थित एव कृतयथाक्रियमाणसम्मानमुदितं प्रधानराजलोकं विसृज्य शनैः शनैर्गन्धमादनं करिणं द्रष्टुमयासीत्। तत्र च स्थित्वा क्षणमिव तस्मै स्वयमेव निज नखांशुजालजटिलं समृणालमिव शुष्कशष्पकवलमवकीर्य वल्लभतुरङ्ग[4]-मन्दुराभिमुखः प्रतस्थे, गच्छंश्चोभयतः किञ्चित् किञ्चिदिव तिर्यग्वलितवदनः परिजनं विलोकयाम्बभूव।

अथ चितज्ञैः प्रतीहारैः प्रतिषिद्धानुगमने निखिले समुत्सारिते परिजने केयूरकद्वितीय

---

तेनेति। गलितेन प्रस्तुतेन कादम्बर्याः कपोललावण्येनेव गण्डयोः सौन्दर्येणेव, रसतां द्रवताम् उपनीतेन प्रापितेन कादम्बर्याः स्मितालोकेनेव मन्दहास्यदीप्त्येव, द्रुतेन द्रवीभूतेन कादम्बर्या हृदयेनेव अन्तःकरणेनेव, निस्यन्दितेन गलितेन कादम्बर्या गुणगणेनेव, स्पर्शवता प्रशस्तस्पर्शयुक्तेन, ह्लादिना आनन्दोत्पादकेन, सुरभिणा घ्राणतृप्तिविधायिना च तेन विलेपेन अङ्गरागेण, चन्दनेन विलिप्य अङ्गानीति शेषः। तमेव हारं शेषनामानं कण्ठे गले अकरोत् अघटयत्।

इह 'कपोललावण्येनेव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा, अवशिष्टेषु यथाक्रमं त्रिषु जात्युत्प्रेक्षाः।

आगृहीतेति। स्कन्धदेशे अंसभागे समवलम्ब्य सम्यगालम्बनं विधाय, ऊर्ध्वस्थित एव अनुपविष्ट एव दण्डायमान एवेत्यर्थः। क्रियमाणं मुख्यराजपुरुषैरादौ विधीयमानं नमस्कारादिकमनतिक्रम्य विद्यमानमिति यथाक्रियमाणम्, कृतेन विहितेन यथाक्रियमाणेन सम्मानेन प्रतिनमस्कारादिना मुदितं सन्तुष्टम्, प्रधानराजलोकं सामन्तगणं विसृज्य गृहे गम्यतामित्यभिधाय। गन्धमादनं तत्संज्ञकं करिणं हस्तिनम्। अयासीत् अगमत्।

तत्रेति। निजनखांशुजालेन स्वनखकिरणसमूहेन जटिलो विषमीकृतः तम्, अतएव समृणालमिव बिससहितमिव, नखकिरणसमूहस्य मृणालसदृशत्वादित्याशयः। तस्मै गन्धमादनाय शष्पकवलम् अभिनवतृणगुडेरकम् अवकीर्य खादनाय विक्षिप्य, वल्लभाः प्रिया ये तुरङ्गमा अश्वाः तेषां या मन्दुरा शाला तदभिमुखः तत्संमुखः सन् प्रतस्थे चचाल। गच्छन् व्रजंश्च उभयतः द्वयोः पार्श्वयोः। तिर्यग् वलितम् उभयतः प्रवर्त्तितं वदनं मुखं येन सः, परिचारकादीनामपसारणायेत्याशयः। विलोकयाम्बभूव ईक्षाञ्चक्रे।

अथेति। अथ तत्समीपगमनानन्तरम्, चित्तज्ञैः आशयाभिज्ञैरित्यर्थः। प्रतिषिद्धं निवारितम् अनुगमनं राजपुत्रानुसरणं यस्य तस्मिन्, समुत्सारिते निकटाद्दूरीकृते सति। मन्दुरां बाजिशालां प्रविवेश प्रविष्टवान्। 'बाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः।

---

पिघले हुए लावण्यके समान, रसताको प्राप्त हुए मन्द-हास्यके समान, द्रवताको प्राप्त हुए हृदयके समान और प्रवाहित हुए गुण-ग्रामके समान सुखस्पर्शवाले, आह्लादजनक एवं नासिकाकी तृप्ति करनेवाले चन्दनसे उसने समस्त अङ्गमें लेपन कर उस हारको कण्ठमें धारण किया। फिर ताम्बूलको लेकर, कुछ समयके बाद उठ कर, वाम-बाहुद्वारा केयूरकके कन्धे पर सहारा देकर, दण्डायमान रह कर ( खड़े-खड़े ) ही, प्रत्यभिवादन-सम्मानसे सन्तुष्ट हुए अभिवादनकारी प्रधान राजाओंको विदा कर, धीरे धीरे वह **गन्धमादन** हाथीको देखने चला। वहाँ कुछ देर ठहर कर, नख-किरणोंसे उद्भासित, अत एव मृणालयुक्तके समान दीखती थोड़ी सी शुष्क घास, उस गन्धमादनके आगे अपने ही डाल कर, वहाँसे प्रीतिभाजन अश्वसमूहके गृहाभिमुख ( अस्तवलकी ओर ) प्रस्थान किया। जानेके समयमें वह दोनों तरफ थोड़ा-थोड़ा मुँह फेर कर परिचारकोंके प्रति दृष्टिपात करने लगा।

उसके बाद, उसके मनके अभिप्रायको जाननेवाले द्वारपालोंने परिजनोंको उसके अनुसरण करनेका निषेध करके दूर कर दिया। तब वह केवल केयूरकके साथ ही जाकर अश्वशाला (अस्तबल) में प्रवेश किया। द्वारपालोंके

---

१. स्मितावलोकेनेव। २. विस्पन्दितेन। ३. अवलम्ब्य। ४'''तुरङ्गम'''।

एव मन्दुरां प्रविवेश । उत्सारणभयसम्भ्रान्तलोचनेषु प्रणम्यापसृतेषु मन्दुरापालेषु, इन्द्रायुधस्य पृष्ठावगुण्ठनपटं किञ्चिदेकपार्श्वे[1] गलितं समीकुर्वन्नुत्सारयंश्च कूणितनेत्रत्रिभागस्य[2] दृष्टिनिरोधिनीं कुङ्कुमकपिलां केसरसटां खुरधारिण्यां[3]-विन्यस्तचरणो लीलामन्दं मन्दुरादारुदत्तदेहभरः सकुतूहलमुवाच—'केयूरक ! कथय, मन्निर्गमादारभ्य को वा वृत्तान्तो गन्धर्वराजकुले ? केन वा व्यापारेण वासरमतिनीतवती[4] गन्धर्वराजपुत्री ? किं वाऽकरोन्महाश्वेता ? किमभाषत वा मदलेखा ? के वाऽभवन्नालापाः परिजनस्य ? भवतो वा को व्यापार आसीत् ? आसीद्वा काचिदस्मदाश्रयिणी कथा ?'

केयूरकस्तु सर्वमाचचक्षे—'देव ! श्रूयताम्, निर्गते त्वयि हृदय-सहस्र-प्रयाण-पटह-कलकलमिव नूपुरचक्र[5]-क्वणितेन कन्यकान्तःपुरे [6]कुर्वति, देवी कादम्बरी सपरिजना सौधशिखरमारुह्य तुरगधूलिरेखाधूसरं देवस्यैव गमनमार्गमालोकितवती । तिरोहितदर्शने च देवे,

उत्सारणेति । उत्सारणं द्वारपालद्वाराकृतवेत्रताडनं तस्माद् यद् भयं त्रासस्तेन सम्भ्रान्तानि चकितानि लोचनानि नयनानि येषां तेषु तथोक्तेषु, मन्दुरापालेषु, वाजिशालारक्षकेषु प्रणम्य नमस्कृत्य अपसृतेषु दूरीभूतेषु सत्सु । एकपार्श्वे किञ्चिद्गलितम् ईषत्पतितम् इन्द्रायुधस्य पृष्ठावगुण्ठनपटं पृष्ठाच्छादनवस्त्रं समीकुर्वन् स्वस्थाने नयन्, कूणितः केसरपतनात् सङ्कोचितो नेत्रस्य नयनस्य त्रिभागः तृतीयभागो येन तस्य तादृशस्य इन्द्रायुधस्य दृष्टिनिरोधिनीं दृष्टिबाधाकारिणीम्, कुङ्कुमो यावकः तद्वत् कपिलां पिङ्गलवर्णाम्, केसरस्य स्कन्धप्रदेशोत्पन्नकेशस्य सटा गुच्छीभूतत्वाज्जटा ताम्, उत्सारयन् नयनाद्दूरीकुर्वन् । खुरधारिण्याम् इन्द्रायुधशफाधारभूतदारुपट्टिकायां विन्यस्तौ स्थापितौ चरणौ येन सः, तथा लीलया विलासेन मन्दं शनैः यथा स्यात्तथा मन्दुरादारुणि वाजिशालास्थकाष्ठविशेषे दत्तो निहितो देहभरः शरीरभारो येन सः । सकुतूहलं सकौतुकम् ।

केयूरकेति । वृत्तान्त उदन्तः । गन्धर्वराजपुत्री कादम्बरी, वासरं दिवसम्, अतिनीतवती अतिवाहितवती । अकरोत् अन्वतिष्ठत् । आलापा वचनव्यापाराः ।

केयूरक इति । सर्वं निखिलम् आचचक्षे कथयामास बालत्वेन कोमलहृदयत्वादित्याशयः । कन्यकान्तःपुरे कुमारिकाऽवरोधपुरे, नूपुरचक्रस्य कुमारिकाणां पादकटकसमूहस्य क्वणितेन शब्देन, हृदयसहस्रस्य कुमारिकाणामेव मानससमूहस्य यत् प्रयाणं गृहं प्रत्यागच्छता त्वया सह प्रस्थानं तस्य पटहकलकलो ढक्काशब्दकोलाहलः तं कुर्वतीव विदधतीव सति, नूपुरशब्दा नासन्, मन्ये भवता सह प्रस्थितानां कुमारिकाहृदयसहस्राणां प्रयाणे पटहध्वनय एवाभूवन्नित्यभिप्रायः । तुरगस्य भवदश्वस्य धूलिरेखया रजःसमूहेन धूसरं मलिनम्, देवस्यैव भवत एव । आलोकितवती दृष्टवती ।

तिरोहितेति । किञ्च, देवे भवति तिरोहितदर्शने अन्तर्हितवीक्षणे सति, मदलेखायाः स्कन्धे निक्षिप्तं

वेत्र-ताडनके भयसे, चकित-नयनवाले वहाँके अश्वशालारक्षकगण ( साईश ) प्रणाम कर करके खिसक गये, तब इन्द्रायुधकी पीठ परसे एक तरफ कुछ अधिक खिसका हुआ आवरणवस्त्र ( जीन ) को समान करता-करता, जरा तृतीयभाग सङ्कुचित ( मिची हुई ) आँख पर आकर दृष्टिको निरोध करती कुङ्कुमकेसमान पिङ्गलवर्ण केसर-सटाको हटा दिया । उसके बाद खुरधारिणी (लटके हुए दोनों पांवको थामने वाली) पर चरणयुगल रख, अस्तबलके किसी खूँटे पर देहका भार रखकर, वह कौतुकसहित लीलाके सहारे धीरे धीरे कहने लगा—'केयूरक ! कहो, मुझे वहाँसे निकल कर चले आने पर गन्धर्वराजकुलमें क्या घटना हुई है ? गन्धर्व-राजनन्दिनीने किस कार्यमें दिन बिताया ? महाश्वेताने क्या किया ? मदलेखाने क्या कहा ? परिजनवर्गका क्या आलाप हुआ ? तुमने कौन कार्य किया ? एवं मेरे सम्बन्धमें कोई कथा-वार्त्ता हुई है या नहीं ?

केयूरकने सरलचित्त होनेके कारण समस्त प्रश्नोंका उत्तर दिया-'राजपुत्र ! सुनिये-आपके बाहर निकलते ही तत्काल कन्याओंके अन्तःपुरमें नूपुरोंके रणरणाहटसे हजारों हृदयोंके प्रस्थान-दुन्दुभिका मानो कोलाहल हुआ । ऐसे समयमें देवी कादम्बरी परिजनोंके साथ सौधशिखर पर आरूढ होकर, अश्वके द्वारा उड़ाई हुई धूलसे धूसरवर्ण दीखते आपके ही जानेके मार्गको देखने लगीं ? उसके बाद जब आप नेत्रपथसे बहिर्भूत हो गये तब मदलेखाके

१. इन्द्रायुधपृष्ठावगुण्ठनपटं किञ्चिदेकपार्श्वगलितं किञ्चिदेकपार्श्वे । २. कूणितनेत्रत्रिभागां । ३. खुरधोरणी…। ४. अवसरमतिनीतवती । ५…नव…। ६. कुर्वन्ती ।

मदलेखास्कन्धनिक्षिप्तमुखी प्रीत्या तं दिगन्तं दुग्धोदधिधवलैः प्लावयन्तीव दृष्टिपातैः, सितातपत्रापदेशेन शशिनेर्ष्यया निवार्यमाणरविकरस्पर्शा[1] सुचिरं तत्रैव स्थितवती। तस्माच्च कथमपि सखेदमवतीर्य क्षणमिवावस्थानमण्डपे[2] स्थित्वोत्थाय स्खलनभियेव निवेद्यमानोपहारकुसुमा शब्दायमानैर्मधुकरैः, जलधारा-धवल-नख-मयूखोन्मुखानामनुगलं[3] गलद्भिर्वलयैः कण्ठबन्धानिवोपपादयन्ती केकारवोद्विग्ना भवनशिखण्डिनाम्, पदे पदे च कुसुमधवलान् करेण गृह[4]लतापल्लवान् मनसा च देवस्य गुणगणानवलम्बमाना तमेव क्रीडापर्वतकमागतवती, यत्र

---

स्थापितं मुखं वदनं यया सा तथोक्ता कादम्बरी, प्रीत्या भवत्स्नेहेन, दुग्धोदधिवत् क्षीरसमुद्रवत् धवलैः शुभ्रैः दृष्टिपातैस्तं दिगन्तं प्लावयन्ती क्षालयन्ती सती, तथाविधनिरीक्षणानां निरन्तरत्वादित्याशयः। तया ईर्ष्यया सूर्यं प्रति स्पर्द्धया कारणेन, सितातपत्रापदेशेन शुभ्रच्छत्रव्याजेन शशिना चन्द्रेण, निवार्यमाणो दूरीक्रियमाणो रविकरस्पर्शः सूर्यकिरणस्पर्शो यस्याः सा तथोक्ता च सती, सूर्येण सह चन्द्रस्य स्पर्धा 'त्वं कादम्बरीं यदि तापयेस्तर्ह्यहं त्वत्तापं दूरीकृत्य शीतलेयम्' इति। अतएव श्वेतच्छत्रस्य तु व्याजमात्रं, शुक्लत्व-प्रकाशशालित्वादिगुणैश्चन्द्र एव सः। अतएव तेन निवार्यमाणातपेत्यर्थः। तत्र सौधशृङ्ग एव सुचिरं बहुकालं स्थितवती अवस्थानं कृतवती।

इह 'दुग्धोदधिधवलदृष्टिपाते' त्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः, 'प्लावयन्तीव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। तथा श्वेतच्छत्रमपह्नुत्य चन्द्रस्थापनात्कैतवापह्नुतिरलङ्कारः।

तस्मादिति। तस्मात् प्रासादशृङ्गात्, कथमपि महता कष्टेन, सखेदं भवद्वियोगेन सकष्टं यथा स्यात्तथा अवतीर्य अवतरणं कृत्वा, अवस्थानमण्डपे वासभवने क्षणमिव किञ्चित्कालमिव स्थित्वा अवस्थाय, उत्थाय स्खलनभियेव अतीवोन्मनस्कतया अदृश्यमानत्वादेषूपायनप्रसूनेषु कादम्बरी स्खलित्वा पतिष्यतीति त्रासेनेव, शब्दायमानैः मुखरायमाणैः मधुकरैर्भ्रमरैः निवेद्यमानानि ( स्वीयैरेव रवैः सूच्यमानानि 'पुष्पाण्यत्र, न स्खलितव्यम्' इति ) उपहारकुसुमानि उपायनप्रसूनानि यस्यै सा। तथा केकारवेण तेषां शिखण्डिनामेव केकाशब्देन उद्विग्ना उद्वेगं प्राप्ता कादम्बरी, अतएव जलधारावत् सलिलासारवत् धवलाः शुभ्रा ये नखमयूखाः कादम्बर्या एव नखरश्मयः तेषु उन्मुखानां सलिलधाराभ्रान्त्या उन्नमिताननानां भवनशिखण्डिनां गृहपालितमयूराणाम्, गलेषु कण्ठेषु इत्यनुगलं विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, गलद्भिः केवलसमर्पणेनैवाधःपतद्भिः बलयैः कङ्कणैः, कण्ठबन्धान् उपपादयन्ती विदधतीव सती, सति सामर्थ्ये उद्वेजकानां निग्रहावश्यकत्वात्। भवद्वियुक्ता कादम्बरी गृहमयूराणां शब्दैर्दुःखिता भवतीति कण्ठेषु वलययोजनेन तान् मूकीकर्त्तुमभिलषति किन्तु वलयसमर्पणकाले तस्या नखमयूखेषु जलधाराभ्रमेण तद्ग्रहणाय ते उन्मुखा भवन्ति, अतएव प्रदानकाल एव ते वलयास्तेषां कण्ठादधः पतन्तीत्यभिप्रायः। किञ्च, पदे पदे प्रतिपदक्षेपं करेण पाणिना, कुसुमैः पुष्पैः धवलान् शुभ्रान् गृहलतापल्लवान् भवनसंसृष्टव्रततिकिसलयानि अवलम्बमाना दधाना तथा मनसा चेतसा च कुसुमवद्धवलान् देवस्य भवतो गुणगणान् सौन्दर्यादिगुणसमूहान् अवलम्बमाना दधाना चिन्तयन्ती।

इह 'स्खलनभियेव' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः। 'नखमयूखेषु' इत्यत्र भ्रान्तिमान् व्यङ्ग्यः। 'कण्ठबन्धानुपपादयन्तीव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा तु स्फुटैव। 'कुसुमधवलान्' इत्यत्र लुप्तोपमा।

---

कन्धेपर अपना मुख रख कर, आपके प्रति स्नेहवश, क्षीरोदसागरके समान धवलवर्ण-दृष्टिपातसे उस दिशाको प्लावित करने ( भरने ) लगीं, एवं सूर्यके प्रति ईर्ष्यावश चन्द्र ही मानो श्वेतच्छत्रके बहानेसे उस समय उसका धूप निवारण करने लगा, ऐसी अवस्थामें वह बहुत देर तक वहाँ पर ही रही। अन्तमें किसी किसी प्रकार खेदके साथ उस सौधशिखर परसे नीचे उतर कर, कुछ देर सभामण्डपमें बैठ कर उठीं और 'सम्भव अन्यमनस्क हो जानेसे लक्ष्य न कर उपहार-पुष्पों पर वह गिर न पड़े' इस भयसे ही मानो गुञ्जार करते भ्रमरगण उन्हें बिखरे फूलोंको बताने लगे; जलधाराके समान शुभ्रवर्ण नख-किरणोंकी ओर मुख उठाकर देखते गृहपालित मयूरोंके केकारवसे उद्विग्न होकर, शासनके लिए निकले कङ्कणसे प्रत्येक मयूरके गलेमें मानो गलबन्धन बाँधने लगी; प्रत्येक पदक्षेप ( पग-पग ) पर पुष्प-धवल गृह-लताओंके पल्लवोंको हाथसे धारण कर, एवं पुष्पके समान धवलवर्ण

---

१. ...किरणस्पर्शा। २. आस्थानमण्डपे। ३. अनुपलम्। ४. क्वचिद् 'गृह' पदं नास्ति।

स्थितवान् देवः। तमुपेत्य च 'देवेनात्र मरकतशिला-मकरिकाप्रणाल-प्रस्रवण-सिच्यमान-हरित[1]-लतामण्डपे शीकरिणि[2] शिलातले स्थितम्, अत्रगन्धोदक-परिमललीनालिजाल-जटिल-शिलाप्रदेशे स्नातम्, अत्र कुसुमधूलि-सिकतिले[3] गिरि-नदिकातटे[4] भगवानर्चितः शूलपाणिः, अत्र ह्रेपित-शशधर-रोचिषि स्फाटिक[5]-शिलातले भुक्तम्, अत्र संक्रान्त-चन्दन-रस-लाञ्छने मुक्ताशैलशिलापट्टे[6] सुप्तम्' इति परिजनेन पुनरुक्तं निवेद्यमानानि देवस्यैव स्थानचिह्नानि पश्यन्ती क्षपितवती दिवसम्। दिवसावसाने च कथमपि महाश्वेताप्रयत्नादनभिमतमपि तस्मिन्नेव स्फटिकमणिशिलावेश्मन्याहारमकरोत्। अस्तमुपगते भगवति रवौ, उदिते चन्द्रमसि, तत्रैव कञ्चित्कालं स्थित्वा चन्द्रकान्तमयीव चन्द्रोदये प्रत्यार्द्रीकृततनुश्चन्द्रबिम्बप्रवेशभयेनेव करौ कपोलयोः कृत्वा किमपि चिन्तयन्ती, मुकुलितेक्षणा क्षणमात्रं स्थित्वोत्थाय विमल-नख-

---

तमिति। अपि च, कादम्बरी तं क्रीडापर्वतकम् उपेत्य प्राप्य दिवसं क्षपितवतीति सम्बन्धः। मरकतशिलायाम् अश्मगर्भप्रस्तरे यो मकरिकाप्रणालो मकरसदृशसलिलनिर्गमनयन्त्रं तस्मात् प्रस्रवणेन सलिलनिःसरणेन सिच्यमानः, हरितो हरिद्वर्णो लतामण्डपो यत्र तस्मिन्, अतएव शीकरिणि सलिलकणवति अत्र इह शिलातले, देवेन चन्द्रापीडेन स्थितम्। गन्धोदकानि सुगन्धसलिलानि तेषां परिमलैः सौरभैः लीनं संलग्नं यत् अलिजालं मधुकरसमूहः तेन जटिलो विषमीकृतो यः शिलाप्रदेशः प्रस्तरमयभूमिः तस्मिन्, स्नातम् आप्लवः कृत इत्यर्थः। कुसुमानां पुष्पाणां या धूलयः परागाः ताभिः सिकतिले समुत्पन्नसैकते अत्र गिरिनदिकातटे पर्वतीयाल्पसरित्तीरे। शूलं पाणौ यस्य स शिव इत्यर्थः। अर्चितः पूजितः। ह्रेपितं लज्जां प्रापितं शशधररोचिः चन्द्रालोको येन तस्मिन् शशधरादपि धवले इत्यर्थः। सङ्क्रान्तं संसक्तं चन्दनरसो मलयजद्रव एव लाञ्छनं चिह्नं यस्मिन् तत्र, मुक्ताशैलशिलापट्टे मुक्तासदृशश्वेतपर्वतीयप्रस्तरखण्डे सुप्तं स्वापो विहित इत्यर्थः, इति एवं परिजनेन पार्श्ववर्तिसेवकलोकेन पुनरुक्तं वारं वारं यथा स्यात्तथा निवेद्यमानानि कथ्यमानानि देवस्य भवत एव स्थानचिह्नानि स्थितिलक्ष्माणि पश्यन्ती विलोकयन्ती दिवसं वासरं क्षपितवती अतिवाहितवती।

दिवसेति। कथमपि महता कष्टेन। अनभिमतमपि असमीहितमपि, तस्मिन्नेव चन्द्रापीडो यत्र भक्षितवान् तत्रैवेत्यर्थः। आहारं भोजनम् अकरोत् अकल्पयत्। चन्द्रकान्तमयीव चन्द्रकान्तमणिनिष्पन्नेन, चन्द्रोदये प्रत्यार्द्रीकृता स्वतः सलिलनिःसरणाद् घर्मोद्भूतत्वाच्च क्लिन्ना तनुर्देहो यस्याः सा चन्द्रबिम्बं शशिमण्डलं तस्य यः प्रवेशः तस्य भयेनेव त्रासेनेव। कृत्वा अर्पयित्वा, मदनोद्दीपकशशिमण्डलप्रवेशप्रतिषेधनायेत्याशयः। चिन्तयन्ती ध्यायन्ती, मुकुलिते मुद्रिते ईक्षणे नयने यस्याः सा। विमलेषु

---

आपके गुण-गणोंका मन ही मन चिन्ता करतीं, जिस क्रीडापर्वतपर आप रहते थे वहीं आ पहुँची। वहाँ आनेके बाद परिजनगण उनसे निवेदन करने लगे कि-'मरकत मणिके मकराकार मोरीके प्रस्रवण (जलयन्त्र) से सिञ्चन किये हुए हरितवर्ण लता-मण्डपवाले इस जलबिन्दुसे छाए हुए शिलातल पर राजपुत्र बैठे थे; गन्ध-जलके सौरभसे एकत्रित हुए भ्रमरोंके ऊँच नीचोंसे भरे इस शिलातलपर राजपुत्रने स्नान कियाथा; पुष्प-पराग-रूप बालुका (रेती) से भरे इस क्षुद्र पर्वतीय नदीके तटपर भगवान् शङ्करकी पूजाकी थी; चन्द्र-किरणको भी लज्जित करनेवाले स्फटिकमय शिलातलपर भोजन किया था; और चिपके हुए चन्दन-रसके चिह्नवाली मुक्ताके समान शुभ्रवर्ण इस पर्वतीय-शिलाखण्डके ऊपर शयन किया था।' इस प्रकार बारंबार दिखाए हुए आपके ही स्थानके चिह्नोंका अवलोकन करते करते उन्होंने समस्त दिन व्यतीत किया। दिनके शेष भागमें महाश्वेताके प्रयत्नसे किसी प्रकार अनभिमत होने पर भी उन्होंने उसी स्फटिक-मणिमय गृहमें भोजन किया। उसके बाद भगवान् सूर्यनारायणके अस्तमित होने पर जब चन्द्रमाका उदय हुआ तब वे उस गृहमें कुछ देर तक रहीं। फिर चन्द्रोदयसे चन्द्रकान्तमणिनिर्मितके समान उनका शरीर आर्द्र (गीला) हो गया और सम्भवतः चन्द्र-मण्डलके प्रवेश करनेके भयसे ही मानो गण्डस्थल (गाल) पर हाथ रखकर थोड़ा नेत्रोंको सङ्कुचित (मींच) कर किसी विषयकी भावना ही करनेमें वहाँ क्षणमात्र बैठी रहीं। फिर उठकर निर्मल नखमें पड़े चन्द्र-प्रतिबिम्बके भारसे मानो

---

१. क्वचित् 'हरित' इति पदं न दृश्यते। २. सीकरिणि। ३. सिकताकर्दमनीलगिरि··· । ४. गिरिनदीकाननतटे। ५···स्फटिक··। ६···शिलापट्टशयनीये।

निपतित-शशिप्रतिमाभर-गुरूणीव कृच्छ्रादुत्क्षिपन्ती, लीला-मन्थर-गमन-पटूनि पदानि शय्यागृहमगात् । शयन-निक्षिप्त-गात्रयष्टिश्च, ततः प्रभृति प्रबलया शिरोवेदनया विचेष्टमाना, दारुणेन च दाहरूपिणा ज्वरेणाभिभूयमाना केनाप्याधिना[2] मङ्गलप्रदीपैः कुमुदाकरैश्चक्रवाकैश्च सार्द्धमनिमीलितलोचना दुःखदुःखेन क्षणदामनैषीत् । उषसि च मामाहूय देवस्य वार्त्ताव्यतिकरोपलम्भाय[3] सोपालम्भमादिष्टवती' ।

चन्द्रापीडस्तदाकर्ण्य जिगमिषुः 'अश्वोऽश्व' इति वदन् भवनान्निर्ययौ । आरोपित-पर्याणञ्च त्वरित-तुरग[6]-परिचारकोपनीतमिन्द्रायुधमारुह्य, पश्चादारोप्य पत्रलेखाम् , स्कन्धावारे

---

निर्मलेषु नखेषु पादयोरेव नखरेषु निपतिता याः शशिप्रतिमाः चन्द्रप्रतिबिम्बानि तासां भरेण गुरूणीव भारवन्तीव, अन्यथा क्लेशादुत्क्षेपणं न युज्यत इत्याशयः । लीला विलासः तया मन्थरगमने मन्दसञ्चरणे पटूनि कुशलानि, पदानि चरणन्यासानि, शय्यागृहं शयनीयभवनम् अगात् अगच्छत् । बहुवचनमौपचारिकम् , न्यासानामाधिक्यादित्यवगन्तव्यम् ।

इह 'चन्द्रकान्तमयीव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, चन्द्रबिम्बप्रवेशभयेनेव' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः, 'गुरूणीव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

शयनेति । अपि च, शयने तल्पे निक्षिप्ता स्थापिता गात्रयष्टिः शरीरयष्टिर्यया सा । ततः प्रभृति तत्कालादारभ्य प्रबलया तीव्रया शिरोवेदनया शिरःपीडया विचेष्टमाना व्याकुलीक्रियमाणा, दाहः सन्तापस्तद्रूपिणा दारुणेन भयङ्करेण ज्वरेण तापेन अभिभूयमाना पराभूयमाना केनापि अनिर्वचनीयेन आधिना मानसव्यथया, मङ्गलप्रदीपैः शयनीयभवनस्थायिभिरिति शेषः । कुमुदाकारैः कैरवसदृशैः चक्रवाकैः रथाङ्गैश्च अनिमीलितलोचना अमुकुलितेक्षणा सती । रजन्यां दीपकानां स्वत एव प्रकाशात् कैरवाणां चन्द्रोद्गमेन प्रस्फुटनात् रथाङ्गानाञ्च विरहवशादमुद्रितनयनत्वमित्याशयः । दुःखदुःखेन गुरुतरक्लेशेन क्षणदां निशाम् अनैषीत् क्षपितवती ।

इह प्रदीपकुमुदयोरमुद्रितनयनत्वं प्रकाशमात्रं कादम्बरीरथाङ्गयोस्तु लोचननिमीलनाभाव इति भेदेऽप्यभेदमूलातिशयोक्तिरलङ्कारः तन्मूला च सहोक्तिः ।

उषसीति । उषसि प्रातःकाले । आहूय आह्वानं कृत्वा, देवस्य भवतः, वार्त्ताव्यतिकरोपलम्भाय वृत्तान्तव्यापारप्राप्तये समाचाराकर्णनायेत्यर्थः । सोपालम्भम् उचितज्ञोऽपि सम्भावितमहोदारस्यातिथे राजकुमारस्य कुशलप्रवृत्तिमानेतुं न व्रजसीति सतिरस्कारम् आदिष्टवती कथितवती ।

चन्द्रेति । तदाकर्ण्य तच्छ्रुत्वा जिगमिषुः गन्तुमिच्छुः । भवनान्निर्ययौ गृहान्निर्जगाम । आरोपितं यथास्थानं स्थापितं पर्याणं पल्ययनं यस्य तम् , त्वरितेन शीघ्रेण तुरगपरिचारकेण अश्वपालकेन उपनीतम् उपस्थापितम् । पश्चात् आत्मन एव पश्चाद्भागे आरोप्य उपवेशनंकारयित्वा । स्कन्धावारे सैन्यवेशे । अशेषं

---

भारी हुए चरणयुगलको महाकष्टसे उठाकर, विलासयुक्त मन्द गतिसे चलकर शयनगृहमें गईं और तत्रस्थ शय्याके ऊपर लेट गईं । तबसे लेकर ही अत्यन्त प्रबल शिरोवेदनासे छटपटाने लगीं और दारुण दाह-ज्वरसे आक्रान्त हो गईं । उससे सब रात उन्होंने अनिर्वचनीय मनःपीडासे, माङ्गलिक-प्रदीप, कुमुद-समूह और चक्रवाकगणके साथ ही अमुद्रित ( खुले ) नयनसे अत्यन्त दुःखमें बिताई । फिर प्रातःकाल मुझे बुलाकर, ( तुम मेरे विवेचक प्रियभृत्य होकर भी मेरे ही अतिथिभूत राजपुत्रकी इस समय भी सुखसे पहुँचनेकी वार्त्ताको लानेके लिए नहीं जाते हो, इस प्रकारका) तिरस्कार ( ताना दे ) कर, आपके वृत्तान्तको जाननेके लिए आदेश दिया ।'

इस कथाको सुनकर चन्द्रापीड जानेकी इच्छासे—'घोड़ा घोड़ा, [ लाओ ]' इस प्रकार कहता भवनसे बाहर निकला और किसी अश्वरक्षक ( साईश ) द्वारा शीघ्रतासे पल्ययन ( जीन ) कसकर लाये गये इन्द्रायुध पर चढ़, पीछे पत्रलेखाको बैठाकर, शिविरपर वैशम्पायनको नियत कर, समस्त परिजनोंको साथ आनेसे निषेध

---

१. क्षिप्त । २. व्याधिना । ३. उपालम्भाय । ४. क्वचित् 'अथ' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते । ५. वदन् पूर्ववृत्तचमत्कृतचेताः । ६. क्वचित् 'तुरग' इति नोपलभ्यते ।

स्थापयित्वा[1] वैशम्पायनम्, अशेषं परिजनं[2] निवर्त्य च अन्यतुरगारूढेनैव केयूरकेणानुगम्यमानो हेमकूटं ययौ। आसाद्य च कादम्बरीभवनद्वारमवततार[3]। अवतीर्य च[4] द्वारपालार्पिततुरङ्गः कादम्बरी-प्रथम-दर्शन-कुतूहलिन्या च पत्रलेखया चानुगम्यमानः प्रविश्य 'क्व देवी कादम्बरी तिष्ठति' इति सम्मुखागतमन्यतमं वर्षवरम्[5] अप्राक्षीत्। कृतप्रणामेन च तेन 'देव! मत्तमयूरस्य[6] क्रीडापर्वतकस्याधस्तात् कमलवनदीर्घिकातीरे विरचितं हिमगृहमध्यास्ते' इत्यावेदिते केयूरकेणोपदिश्यमानवर्त्मा प्रमदवनमध्येन गत्वा किञ्चिदध्वानम्, मरकतहरितानां कदलीवनानां[7] प्रभया शष्पीकृतरविकिरणं हरितायमानं दिवसं ददर्श। तेषाञ्च मध्ये निरन्तर-नलिनी-दलच्छन्नं हिमगृहमपश्यत्। तस्माच्च निष्पतन्तमार्द्रांशुकच्छलेनाच्छोद-

---

समग्रं। निवर्त्य पश्चाद् व्याघुट्य। अन्यतुरगारूढेनैव इतराश्वकृतारोहणेनैव। अनुगम्यमानः अनुव्रज्यमानः। आसाद्य प्राप्य। अवततार उत्तीर्णवान्। द्वारपालस्य अर्पितः तुरङ्ग इन्द्रायुधो येन सः। कादम्बर्याः प्रथमदर्शने आद्यावलोकने कुतूहलं कौतुकमस्या अस्तीति तया पत्रलेखया, चकारात् केयूरकेण चानुगम्यमानः। संमुखागतं समक्षोपस्थितम्। वर्षवरं क्लीबम् अप्राक्षीत् पृष्टवान्। अन्तःपुरप्रवेशे पूर्वमेव महाश्वेताद्वारेण राज्ञोऽनुमतिप्रदानत्वादनुमोदनेन च प्रविशन्तं चन्द्रापीडं न कोऽपि प्रतिषेधयामासेत्यवधेयम्।

कृतेति। कृतो विहितः प्रणामो नमस्कारो येन तेन। मत्ताः क्षीबा मयूराः कलापिनो यत्र तस्य। अधस्तात् अधोभागवर्त्तिनि, कमलवनेन पङ्कजविपिनेन पूर्णा दीर्घिका वापी तस्याः तीरे तटे विरचितं निर्मितं हिमगृहं सलिलोद्गारयन्त्रविद्यमानत्वात् शिशिरं सद्म, अध्यास्ते अधितिष्ठति 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यनेनाधारस्य गृहस्य कर्मसंज्ञा बोध्या। प्रमदवनेन उद्यानवाटिकया। मरकतवत् अश्मगर्भवत् हरिता हरिद्वर्णास्तेषाम्, कदलीवनानां रम्भाकाननानां प्रभया दीप्त्या शष्पीकृता अभिनवतृणवदवलोक्यमानीकृता रविकिरणाः सूर्यरश्मयो यस्मिन् तम्, अतएव हरितायमानं नीलायमानं दिवसं दिनं ददर्श अवलोकयामास। इह शष्पीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, 'शष्पीकृता' इत्यत्र लुप्तोपमा चेत्युभयोः सङ्करः।

तेषामिति। तेषां कदलीवनानाम्। निरन्तरैः अविरलैः, नलिनीदलैः उपनीतैः कमलपत्रैः, छन्नम् आच्छादितं हिमगृहं शीतलं वेश्म अपश्यत् दृष्टवान्।

तस्मादिति। अपि च, तस्मात् हिमगृहात् निष्पतन्तं निःसरन्तम्, आर्द्रांशुकच्छलेन क्लिन्नवस्त्रव्याजेन, अच्छोदस्य एतन्नामकसरोवरस्य जलेन सलिलेनेव संवीतम् आच्छादितशरीरम्। आर्द्रांशुकाच्छोदसलिलयोः श्वेतसादृश्यादित्याशयः। 'अच्छोदजलेनेव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा। इत आरभ्य द्वितीयाया एकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'परिजनमद्राक्षीत्' इत्यत्र परिजनमित्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि।

---

(लौटा) कर दूसरे घोड़े पर चढ़कर पीछे-पीछे आते केयूरकके साथ हेमकूट-पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। [क्रमशः चलते-चलते] कादम्बरीके महलके द्वार पर उपस्थित होकर घोड़े परसे उतरा; उतर कर किसी द्वारपालके समीप घोड़ेको रख (सुपुर्द) कर, कादम्बरीको पहले देखनेके लिए कौतुकवती पत्रलेखा एवं केयूरकको पीछे कर, अन्दर जाकर, सम्मुखागत किसी नपुंसकसे पूछने लगा—'देवी कादम्बरी कहाँ हैं?' उसने प्रणाम कर सूचित किया कि—'राजकुमार! मत्त-मयूर-गण जहाँ रहते हैं, उस क्रीडा-पर्वतके नीचे कमल-वन-परिपूर्ण बावड़ीके तट पर एक शीतल-गृह निर्मित है, वहाँ पर ही देवी कादम्बरी विराजती हैं। इस प्रकार उसके सूचित करने पर केयूरकके बताए मार्गसे प्रमदोद्यानके मध्यमें होकर वह कुछ दूर गया था कि इतनेमें ही मरकतके समान हरिद्वर्ण कदलीवनके प्रभासे—नूतन तृणके समान—सूर्यके किरणोंसे समन्वित दिवस हरिद्वर्ण (हरासा) दीखने लगा और उनके मध्यमें कमलके पत्तोंसे निरन्तर आच्छादित (ढँके) हिम-गृहको उसने देखा। उसमेंसे बाहर निकलती हुई, शिशिर उपचारमें निपुण, कादम्बरीके शरीरकी परिचर्या करनेवाली, अलङ्कार-रहित दासियोंको उसने देखा। वे आर्द्रवस्त्रके बहाने अच्छोदसरोवरके जलसे ही मानो आच्छादित की

---

१. संस्थापयित्वा। २. अशेषपरिजनम्। ३. अवततार तुरगात्। ४. क्वचित् चकारो नास्ति। ५. वर्षधरम्। ६. नृत्यन्मयूरस्य। ७. कदलादलानाम्।

जलेनेव संवीतम् , बाहुलताविधृतैर्मृणालवलयैराभरणकैरिव धवलितावयवम् , आपाण्डुभिश्चैकश्रवणाश्रयैस्ताटङ्कीकृतैः[1] केतकीगर्भदलैरुपहसितदन्तपत्रम्, आलिखितचन्दनललाटिकानि मुखारविन्दानि बद्धसौभाग्यपदानीव[2] दधानम् , कृतचन्दनविन्दुविशेषकांश्च दिवापि स्पर्शलोभस्थितेन्दुप्रतिबिम्बानिव कपोलानुद्वहन्तम्[3] , अपहृताशेषशिरीषसौभाग्याभिः शैवलमञ्जरीभिः कृतकर्णपूरम् , कर्पूरधूलिधूसरेषु मलयज-रस-लव-लुलितेषु[4] वकुलावलीवलयेषु[5] स्तनेषु[6] न्यस्तनलिनीपत्रप्रावरणम् , अनवरत-चन्दन-चर्चा-प्रणयन[7]-पाण्डुरैः सन्ताप-रोष-मृदित-चन्द्र-

बाहुलतेति । अपि च, आभरणकैरिब रजताभूषणैरिव बाहुलताविधृतैः भुजवल्लीस्थापितैः मृणालवलयैः बिसकङ्कणैः धवलिताः श्वेतीकृताः, अवयवा अङ्गानि यस्य तम् इह श्रौतोपमा ।

आपाण्डुभिरिति । अपि च, आपाण्डुभिः अत्यन्तपाण्डुरैः, एकं श्रवणं श्रोत्रम् आश्रय आधारो येषां तैः, ताटङ्कीकृतैः श्रवणालङ्कारीकृतैः केतक्याः पुष्पस्य गर्भदलैः आभ्यन्तरपत्रैः, उपहसितं निजरूपातिशयात् परिहसितं दन्तपत्रं करिदशनरचितपत्रसदृशाभूषणं यस्य तम् । इह 'उपहसितम्' इत्यनेन साम्याक्षेपादार्थोपमा ।

आलिखितेति । आलिखिताः चित्रिताः चन्दनस्य मलयजस्य ललाटिकाः तिलकविशेषा येषु तानि, अतएव बद्धानि रचितानि सौभाग्यपदानि स्वामिस्नेहत्वद्योतकलक्षणानि येषु तानीव विद्यमानानि, मुखारविन्दानि वदनकमलानि दधानं बिभ्राणम् । इह लुप्तोपमा क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

कृतचन्दनेति । कृता विहिताः चन्दनविन्दवो मलयजकणा एव विशेषकाः तिलकानि येषु तान् , अतएव दिवाऽपि, रात्रौ तु चन्द्रोद्गमात्तत्प्रतिमाः सम्भवन्त्येव किन्तु चन्दनबिन्दवस्तथा प्रतीयन्ते यथा स्पर्शलोभवशाद्दिनेऽपि चन्द्रस्य प्रतिबिम्बाः स्थिता इत्यर्थः । स्पर्शलोभेन स्पर्शतृष्णया स्थितानि विद्यमानानि इन्दोः शशिनः प्रतिबिम्बानि प्रतिच्छाया येषु तानिव विद्यमानान् , चन्दनबिन्दुशशिप्रविच्छायानां सादृश्यादित्याशयः । कपोलान् गण्डभागान् उद्वहन्तं धारयन्तम् । इह इन्दुप्रतिबिम्बविद्यमानत्वोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा ।

अपहृतेति । अपहृतानि दूरीकृतानि अशेषाणि समग्राणि शिरीषस्य कुसुमस्य सौभाग्यानि शुभ्रत्वमृदुलत्वशिशिरत्वानि याभिस्ताभिः शैबालमञ्जरीभिः जलशूकवल्लरीभिः कृतकर्णपूरं विहितश्रवणालङ्कारम् । इहान्येनान्यसौभाग्यदूरीकरणासम्भवाद्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् सौभाग्यसाम्यमाक्षिपतीत्यसम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना । तदुक्तं दर्पणे—

'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् । यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥'

कर्पूरेति । कर्पूरस्य घनसारस्य धूलिभिः रजोभिः धूसरेषु ईषत्पाण्डुषु, मलयजरसश्चन्दनद्रवस्तस्य लवैर्बिन्दुभिः लुलितेषु विच्छुरितेषु ( एकीभूतेषु ), तथा बकुलावलीनां वकुलपुष्पदाम्नां वलयानि मण्डलानि येषु तेषु, स्तनेषु वक्षोजेषु न्यस्तानि स्थापितानि नलिनीपत्राणां कमलिनीदलानां प्रावरणानि आच्छादनानि यस्य तम् ।

अनवरतेति । अनवरतं निरन्तरं चन्दनचर्चायाः मलयजविलेपनस्य प्रणयनेन सम्पादनेन पाण्डुराः श्वेतास्तैः, अतएव सन्तापेन उत्तेजकतया सन्तापोत्पादनेन यो रोषश्चन्द्रं प्रति कोपः तेन कारणेन मृदिताः

गई हों इस प्रकार दीखती थीं; आभूषणके समान भुज-लताओं पर धारण किए मृणाल-वलयोंसे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग धवलवर्ण प्रतीत होते थे; उनके एक कानमें धारण किए हुये अच्छे धवलवर्णके केतकी-गर्भपत्रके किए हुए कर्णभूषण गज-दन्त-पत्र निर्मित कर्णालङ्कारकी शोभाकी भी हँसी करते थे; उनके मुखारबिन्द पर सौभाग्य-सूचक चिह्नके समान चन्दन द्वारा किए हुए तिलक-विशेष लगे थे; कपोलदेशमें चन्दन-विन्दुका तिलक लगानेसे उनके स्पर्श-लोभसे ही मानो दिनमें भी चन्द्रका प्रतिविम्ब वहाँ आकर वास करता है ऐसा प्रतीत होता था । समस्त शिरीष-पुष्पोंके सौन्दर्यको जिन्होंने अपहरण कर ली थी ऐसी शैवल-मञ्जरियोंके उन्होंने कर्णभूषण पहन रक्खे थे । कर्पूरकी रेणुसे धूसर रूप, चन्दन-विन्दुसे परिपूर्ण, वकुल-कुसुम- मालाओंके वलयवाले स्तनों पर उन्होंने कमल-पत्ररूपी वस्त्र रख लिए थे; निरन्तर चन्दन लेपन करनेसे शुभ्रवर्ण हुए—सन्ताप और क्रोधसे निष्पिष्ट

१. तालङ्कीकृतैः ताडङ्कीकृतैः । २...पट्टानीव । ३. कपोलफलकाम् । ४. ललितेषु । ५. वकुलावलिषु, कुवलयावलिषु, ललितकुवलयेषु । ६..पयोधरेष ७. प्रणय ।

करैरिव[1] करैः कल्पितमृणालदण्डानि बिसतन्तुमयानि चामराणि बिभ्राणाम्, उन्नालैश्च कमलैः कुमुदैः कुवलयैः किसलयैः कदलीदलैः कमलिनीपलाशैः कुसुमस्तबकैश्चातपत्रीकृतैर्निवारितातपम्, जलदेवतानामिव समूहम्, वरुणश्रियामिव समूहम्, शरदामिव समाजम्, सरसीनामिव गोष्ठीबन्धनम्, शिशिरोपचारनिपुणं कादम्बर्याः शरीरपरिचारकं[2] शरीरप्रायं परिजनमद्राक्षीत्।

तेन च प्रणम्यमानः पादनखपतनभयादिव[3] त्वरितापसृतेन दीयमानमार्गः, चन्दनपङ्कृतवेदिकानां पुण्डरीककलिकाघटितघण्टिकानां विकसितसिन्धुवार[4]कुसुममञ्जरीचाम-

---

पिष्टा ये चन्द्रस्य शशिनः करा रश्मयस्तैरिव, करैर्हस्तैः, कल्पितः कृतो मृणालं बिसमेव दण्डो येषां तानि, बिसतन्तुमयानि मृणालसूत्ररचितानि चामराणि बालव्यजनानि, बिभ्राणं दधानम्। '......'चन्द्रकरैरिवे' त्यत्र जात्युत्प्रेक्षा।

उन्नालैरिति। अपि च, उद्गतम् उपरि विद्यमानं नालं वृन्तं शाखादण्डश्चेति यथासम्भवं येषां तैः तादृशैः, कमलैः पङ्कजैः, कुमुदैः कैरवैः, कुवलयैः नीलोत्पलैः, किसलयैः पल्लवैः, कदलीदलैः रम्भापत्रैः, कमलिनीपलाशैः पद्मिनीपत्रैः, कुसुमस्तबकैः पुष्पगुच्छैः, आतपत्रीकृतैः छत्रीकृतैः उत्तमाङ्गोपरिधृतैरित्यर्थः। निवारितो निषेधित आतपः सूर्यप्रकाशो यस्य तम्।

जलेति। जलदेवतानां सलिलाधिष्ठात्रीणां समूहमिव वृन्दमिव, आर्द्रशरीरत्वादित्याशयः, इत्थमन्यत्रापि। वरुणस्य प्रचेतसः याः श्रियः सम्पत्तयः तासां समागमं सम्मेलनमिव प्रचेतसः सलिलाधिष्ठातृत्वात्तत्सम्पत्तीनामपि सलिलार्द्रशरीरत्वासम्भव इत्यभिप्रायः। शरदां घनात्ययर्तूनां समाजं समूहमिव। सरसीनां सरोवराणां गोष्ठीबन्धं परिषद्रचनामिव।

इह 'समूहमिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः, 'समागममिव' इत्यत्राप्युक्तालङ्कारः सम्मिलितवरुणसम्पत्तिसमूहमिवेति विवक्षणात्। 'समाजमिव' इहाप्युक्तालङ्कारः, 'समागममिव' इहाप्युक्तालङ्कार एव परिषत्स्थसरसीनां समूहमिवेत्यभिप्रायात्।

शिशिरेति। शिशिरोपचारे शीतलक्रियायां निपुणः दक्षस्तम्। शरीरप्रायं वपुःसदृशं प्रियमित्यर्थः। अद्राक्षीत् अपश्यत्।

तेनेति। तेन परिजनेन पादनखानां चन्द्रापीडचरणनखराणां पतनभयादिव मृदुलत्वात् निजमस्तकघर्षणेन स्खलनत्रासादित्र त्वरितं शीघ्रम् अपसृतेन केनापि प्रकारेण दूरं यातेन सता प्रणम्यमानो नमस्क्रियमाणो दीयमानमार्गश्च चन्द्रापीडः कदलीतोरणानां रम्भाबहिर्द्वाराणां तलेन प्रविश्य सर्वतः समन्तात् निसृष्टदृष्टिः अग्रेतनं सर्वं दृष्टवान् अन्यांश्चैवंप्रकारान् वीक्षमाणः सन् हिमगृहकस्य मध्यभागमाससादेति सम्बन्धः। 'पतनभयादिव' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षा।

इतः कदलीतोरणानि विशिनष्टि—चन्दनेति। चन्दनस्य मलयजस्य पङ्केन सघनद्रवेण कृता लिप्तीकृता वेदिकाः परिष्कृतभूमयः (बद्धतलभूमयः) येषां तेषाम् (तोरणानाम्)। पुण्डरीकाणि सिताम्भोजानि तेषां कलिकाभिः कोरकैः घटिता रचिता घण्टिका लघुघण्टा येषां तेषाम्। विकसितानि प्रस्फुटितानि यानि सिन्धुवारकुसुमानि निर्गुण्डीप्रसूनानि तेषां मञ्जर्यो बल्लर्य एव चामराणि बालव्यज-

---

(मसल डाली गई) चन्द्रकिरण-समूहके समान है ऐसे दीखते हाथोंमें उन्होंने मृणाल-दण्ड समन्वित और मृणाल-सूत्रसे ही निर्मित बहुतसे चामर धारण किये थे। कमलोंके नाल और दण्डको ऊँचे करके कोई कमल, कोई श्वेतोत्पल, कोई नीलोत्पल, कोई पल्लव, कोई कदलीपत्र, कोई पद्मपत्र एवं कोई पुष्पके गुच्छे छत्रके आकारमें मस्तकके ऊपर रखकर उन्होंने रौद्र-निवारण (छाया) कर रक्खी थी और वे जलदेवतासमूहके समान, सम्मिलित वरुण-सम्पत्तिके समान, शरत्कालसमूहके समान एवं एकत्र समवेत सरोवरसमूहके समान हो—ऐसी शोभायमान थीं।

परिचारिकाओंने पद-नखों पर प्रतिबिम्ब गिर जानेके भयसे ही मानो शीघ्रतासे दूर खिसक प्रणाम कर उसको मार्ग दे दिया, इतनेमें ही उसने कदली-तोरणोंके नीचे होकर प्रवेश किया (घुसा)। वहाँ वेदीके ऊपर गाढ़ चन्दन-द्वारा लेपन किया गया था; श्वेत पद्मकी कलिकाद्वारा छोटी छोटी घंटियाँ निर्माण की गई थीं; प्रस्फुटित सिन्धुवार-पुष्पकी माला-द्वारा चामर बने हुए थे;

---

१'''आरक्तचन्द्रकरैरिव, सन्तापरोषप्रकटित'''। २. शरीरपरिचारिकाप्रायम्। ३. पादतलपतन''', पादनखतपनदाहभयादिव। ४'''सिन्दुवार'''।

राणांलम्बितस्थूलमल्लिकामुकुलहाराणामाबद्धलवङ्ग[1]-पल्लव-चन्दन-मालिकानांदोलायमानकुमुद दामध्वजानां मृणालवेत्रहस्ताभिर्गृहीतरुचिरकुसुमाभरणाभिर्मधुलक्ष्मीप्रतिकृतिभिरिव[2] द्वार-पालिकाभिरधिष्ठितानां कदलीतोरणानां तलेन प्रविश्य सर्वतो निसृष्टदृष्टिर्दृष्टवान्। क्वचिदु-भय-तट-निखात[3]-तमालपल्लव-कृत-वनलेखाः कुमुद[4]-धूलि-बालुका-पुलिन-मालिनीश्चन्दनरसेन प्रवर्त्यमाना गृहनदिकाः, क्वचिन्निचुल-मञ्जरी-रचित-रक्त-चामराणां जलार्द्र[5] वितानकानां तलेषु ससिन्दूर[6]कुट्टिमेषु आस्तीर्यमाणानि रक्तपङ्कजशयनानि, क्वचिदेलारसेन सिच्यमानानि स्पर्शानुमेयरम्यभित्तीनि[7], स्फटिकभवनानि[8] क्वचिच्छिरीषपक्ष्मकृतशाद्वलानां मृणालधारा-

---

नानि येषां तेषाम्। लम्बिताः स्थूमल्लिकामुकुलानां पृथुलमालतीकुड्मलानां हारा येषु तेषाम्। आबद्धाः संमेलिताः लवङ्गपल्लवानांदेवकुसुमकिसलयानां चन्दनानां मलयजानां मालिका येषु तेषाम्। दोलायमानाः कम्पमानाः कुमुददामान्येव कैरवस्रज एव ध्वजाः पताका येषु तान्। मृणालं बिसमेव वेत्रं वेतसं हस्ते यासां ताभिः, गृहीतानि आत्तानि रुचिराणि मनोहराणि कुसुमाभरणानि प्रसूनाभूषणानि याभिस्ताभिः तथा मधुलक्ष्म्या वसन्तश्रियः प्रतिकृतिभिः प्रतिरूपाभिरिव द्वारपालिकाभिः द्वाररक्षिकाभिः निसृष्टदृष्टिः दत्तदृष्टिः दृष्टवान् अवलोकितवान्। 'प्रकृतिभिरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा।

यद् यद् दृष्टवान् तत्प्रदर्शयति—क्वचिदिति। क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे उभयतटयोः गृहनदिकानामेव उभयतीरयोः निखातैः आरोपितैः तमालपल्लवैः तापिच्छकिसलयैः कृता विहिता वनलेखा विपिनपङ्क्यो यासां ताः, तथा कुमुदानां कैरवाणां धूलयो रजांसि एव बालुकाः तासां पुलिनमालाः सैकतपङ्क्तय आसां सन्तीति ताः, चन्दनस्य रसेन सलिलेन करणेन, प्रवर्त्यमाना विरच्यमानाः, गृहनदिका भवनीयलघुसरितः दृष्टवानिति सम्बन्धः। इत्थमन्यत्रापि सम्बन्धो ज्ञेयः।

क्वचिदिति। निचुलानां हिज्जलानां (स्थलवेतसानां) या मञ्जर्यः पुष्पवल्लर्यः ताभिः रचितानि निर्मितानि रक्तानि रक्तवर्णानि चामराणि बालव्यजनानि येषां तेषाम्, जलेन सलिलेन आर्द्राणि क्लिन्नानि यानि वितानकानि क्षुद्रचन्द्रातपाः तेषाम्, तलेषु अधोभागेषु, ससिन्दूराणि नागररञ्जितानि यानि कुट्टिमानि बद्धभूमयः तेषु आस्तीर्यमाणानि विस्तीर्यमाणानि रक्तपङ्कजशयनानि लोहितवर्णकमलमयतल्पाः। 'वानीरे कविभेदे स्यात् निचुलः स्थलवेतसे' इति शब्दार्णवः।

क्वचिदिति। एला बालुकाख्यगन्धद्रव्यं तस्या रसेन जलेन सिच्यमानानि सेचनविषयीक्रियमाणानि, स्पर्शेन अनुमेया ज्ञेया अतएव रम्या मनोहरा भित्तयः कुड्यानि येषाम् एवंविधानि स्फटिकभवनानि स्फटिकमणिरचितहर्म्याणि स्फटिकानां पारदर्शकत्वात्तद्भित्तयो नावलोकयितुं शक्याः किन्तु स्पर्शानुमेया इत्यर्थः।

क्वचिदिति। शिरीषाणां कपीतनानां पुष्पाणां पक्ष्मभिः कोमलकेसरैः कृता विहिताः शाद्वलाः नवतृणप्रचुरदेशा येषां तेषाम्, मृणालधारागृहाणां बिसपूर्णसलिलोद्गारभवनानां शिखरम् ऊर्ध्वभागम् आरोप्यमाणानां सेविकाभिर्नीयमानानाम्, धाराकदम्बस्य सलिलधारासमूहस्य धूलिभिः बिन्दुभिः

---

मल्लिका-पुष्पकी बडी बड़ी कलियोंके हार लटकाकर रक्खे गए थे; लवङ्गके पल्लवोंसे समन्वित चन्दन-पुष्पकी मालाएँ बाँधी गई थीं, श्वेतोत्पल-मालाकी पताकाएँ फहरा रही थीं और मृणालकी छड़ी हाथमें लेकर, सुन्दर फूलोंके आभूषण धारण करके वसन्त-लक्ष्मीकी प्रतिमूर्त्तिसमूहके समान द्वारपालिकाएँ खड़ी थीं। सब ओर दृष्टिपात करते करते इस प्रकार देखा कि—किसी स्थानमें दोनों तटों पर तमालपल्लव लगाकर निर्माणकी हुई वन-लेखावाली तथा श्वेतोत्पलके धूलि-रूपी बालुका (रेत) से समन्वित पुलिनवाली चन्दनरस बहाती गृह-नदियाँ हैं; किसी स्थानमें हिज्जल-(स्थलवेतस) वृक्षकी मञ्जरीसे निर्मित हुए रक्तवर्ण, चामरवाले, जलसे आर्द्र वितान (चँदोवे) के नीचे, सिन्दूरसे रँगे अधोदेशमें रक्त कमलोंकी शय्याएँ आस्तृत (बिछी) हैं; किसी स्थान में—स्पर्शद्वारा ही जिनका अनुमान हो इस प्रकार की-सुन्दर भित्ति (दीवारों) वाले स्फटिक-मय गृहोंमें इलायचीका रस-सेचन किया (छिड़का) जाता है, किसी स्थानमें शिरीष पुष्पके कोमल केसरसे समन्वित नव-तृण-मय निम्न

---

१. लविङ्ग…। २…प्रकृतिभिरिव। ३…अन्तर्निखात…। ४. कुमुदवन…। ५. जलार्द्रीकृत। ६. सिन्दूर। ७. स्पर्शानुमेयभित्तीनि, स्पर्शानुमेयरम्यस्थितिप्रदेशानि। ८. अभ्र [अभ्रक] भवनानि।

गृहाणां शिखरमारोप्यमाणानां धारा-कदम्ब-धूलिधूसरितानां[1] यन्त्रमयूरकाणां कदम्बकानि, क्वचित् सहकार-रससिक्तैः[2] जम्बूपल्लवैराच्छाद्यमानाभ्यन्तराः पर्णशालाः, क्वचित् क्रीडित-कृत्रिम-करि कलभ-यूथकाकुलीक्रियमाणाः काञ्चनकमलिनीकाः[3], क्वचिद्-गन्धोदककूपेषु बद्ध-काञ्चन-सुधा-पङ्क-कामपीठेषु स्थूल-बिसलता-दण्ड-घटितारकाणि[4] कृतक[5]-केतक-जल-जल-द्रोणिकानि[6] कुवलयावलीरज्जुभिर्ग्रथ्यमानानि पत्र[7]-पुट-घटी-यन्त्रकाणि, क्वचित् स्फटिकबलाकावली[8]-वान्त-वारिधारा-लिखितेन्द्रायुधाः सञ्चार्यमाणा मायामेघमालाः, क्वचिदुपान्त-प्ररूढ[9]-पाण्डु[10]

धूसरिता धूम्रवर्णीकृताः तेषाम् , यन्त्रमयूरकाणां यन्त्रनिर्मितलघुबर्हिणां कदम्बानि समूहान् मृणालयुक्त-जलधारागृहाणां शिखरे ( पृष्ठे ) सेविकाभिर्यन्त्रमयूरा नीता ये हि जलधारासमूहानां सीकरैर्धूसरिता इत्यर्थः 'पद्माच्छिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्यंशेऽप्यणीयसि' इति । 'शाद्वलः शादहरिते' इति चामरः ।

क्वचिदिति । सहकाररसेन आम्रद्रवेण सिक्ताः क्लिन्नीकृताः तैः, जम्बूपल्लवैः जाम्बवकिसलयैः आच्छाद्यमानानि आव्रियमाणानि अभ्यन्तराणि यासां ताः, पर्णशाला उटजानि ।

क्वचिदिति । क्रीडितेन रचनानैपुण्यात् खेलाप्रवृत्तेन कृत्रिमेण क्रियया निर्वृत्तेन करिकलभानां त्रिंशद्वर्षीयहस्तिशावकानां यूथकेन समूहेन आकुलीक्रियमाणाः परिचाल्यमानाः काञ्चनकमलिनीकाः कनकनलिनीः ।

क्वचिदिति । बद्धानि रचितानि, काञ्चनं सुवर्णमेव सुधापङ्कः धवलीकरणसम्पादकविलेपनद्रव्यं येषु तानि काञ्चनसुधापङ्कानि कामपीठानि अर्चायां प्रयोजनीयानि मदनविष्टराणि येषु तेषु, गन्धोदकानां मलयजसंयुक्तसलिलानां कूपेषु उदपानेषु स्थूलैः बिसलतादण्डैः मृणालदण्डैः घटितानि रचितानि अराणि चक्रान्तर्गतानि काष्ठनिर्मितान्यवयवानि येषां तानि, कृतकानि कृत्रिमाणि केतकदलानि केतकीपत्राण्येव जलद्रोणिका सलिलाधारविशेषा येषु तानि, कुवलयावल्या नीलोत्पलपङ्क्त्या रज्जुभिर्नालतन्तुभिः ग्रथ्यमानानि मिथोबध्यमानानि, पत्रपुटान्येव घट्यः लघुघटाः ता एव च यन्त्रकाणि तानि । शिशिरोपचारवर्णनेऽस्मिन् सुगन्धिजलभृताः कूपा अपि तथा येषामुपरि पत्रपुटरूपान् घटान् वहन्ति यन्त्राणि, जलधारा अपि केतकपत्रैर्विहितानीत्यर्थः । 'अरमङ्गे रथाङ्गस्य शीघ्रशीघ्रगयोरपि' इति शाश्वतः ।

क्वचिदिति । स्फटिकवलाकावलीषु स्फटिकरचितवकपङ्क्तिषु वान्ता उद्गीर्णा वारिधारा जलधारा याभिस्ताः, लिखितानि चित्रितानि इन्द्रायुधानि शक्रधनूंषि यासु ताः, तथा सञ्चार्यमाणा रचनानैपुण्येनैव सञ्चाल्यमानाः, मायामेघमालाः कृत्रिमजलदपङ्क्तीः ।

क्वचिदिति । उपान्तेषु प्रान्तनिकटेषु प्ररूढाः सञ्जाताः पाण्डवः पाण्डुरवर्णा यवाङ्कुरा यासां तासु,

देशवाले, मृणाल-प्रचुर जल-यन्त्रों ( फुहारे ) के शिखर पर रखे, जलधारासमूहके कणसे धूसरवर्ण हुए कृत्रिम यन्त्रमयूरोंके झुण्ड हैं; किसी स्थानमें आमके रससे संसिक्त ( भिगोये हुए ) जम्बू (जामुन) पल्लवोंसे आभ्यन्तरदेश आच्छादित हुई पर्णशालाएँ निर्माण की हुई हैं; किसी स्थानमें कृत्रिमद्वारा कृत्रिम हस्तीके शावकों ( बच्चों ) की क्रीड़ासे सञ्चालित होतीं सुवर्णकी कमलिनियाँ हैं; किसी स्थानमें सुवर्णको गलाकर चूर्णद्रव्यके समान बना उससे लेपकर जिनके चबूतरे सुन्दर बना दिए गए हैं और जिनमें चन्दनसुवासित जल परिपूर्ण हैं—ऐसे कूपोंमें पत्र-पुटक ( पत्तेके ठोंगा ) के जलनिःसारणके यन्त्र पड़े हैं-उनके चक्रके अन्तर्गत-सरल-काष्ठ ( आरे ) स्थूल-मृणाल-लतारूपी दण्डके निर्माण किये गए थे, जल-ग्रहण-पात्र-विशेष ( डोल ) केतकीके कृत्रिम पत्तोंके थे और वे नीलोत्पलावली-रूप रज्जुओंसे परस्पर बँधे थे; किसी स्थानमें स्फटिक-निर्मित-वक-पङ्क्तियों ( क्रमबद्ध बगुलों ) के मुखोंमेंसे निकलती ( वमनकी हुई ) जलधारावाली और चित्रित इन्द्र-धनुषवाली कृत्रिम मेघ-मालाएँ निर्माण-कौशलसे सञ्चालित हो रही हैं; जिनके तटके समीपमें श्वेतवर्ण यवाङ्कुर उत्पन्न हुए थे और जिनकी तरङ्गें तैरती हुई नूतन मालती-पुष्पोंकी कलियोंसे विषम ( उच्च-नीच ) दीखती थीं ऐसे श्वेतचन्दन-जलसे परिपूर्ण

१...धूसरितानि, ...धूसराणाम् । २. सहकारतरुसक्तैः । ३...कमलिनीकाः । ४...दण्डारकाणि । ५. कनककेतक..., कृतकेतक... । ६. दलद्रोणिकानि । ७. कमलपत्र... । ८.वलाकावलीः । ९...रूढ... । १०. क्वचित् 'पाण्डु' इति पदन्न विद्यते ।

यवाङ्कुरासु त[1]रुण-मालती-कुड्मल-दन्तुरित-तरङ्गासु हरिचन्दन-द्रव-वापिकासु शिशिरीक्रियमाणा हारयष्टीः, क्वचिन्मुक्ताफलक्षोद-रचितालबालकान् अनवरतस्थूल[2]-जलबिन्दु-दुर्दिनमुत्सृजतो यन्त्रवृक्षकान्, क्वचिद्विधुत-पत्त्र-निक्षिप्त-शीकरानीत-नीहारा भ्रमन्तीर्यन्त्रमयीः पत्र-शकुनिश्रेणीः, क्वचिन्मधुकर-किङ्किणी-पङ्क्ति-पटुतर-रवाबध्यमानाः[3] कुसुमदामदोलाः, क्वचिदुदरारूढ-निर्गतोन्नाल[4]-नलिनी च्छद-च्छादितमुखान् प्रवेश्यमानान् शातकुम्भकुम्भान्[5], क्वचिद्घटित-कदली-गर्भस्तम्भदण्डानि बध्यमानानि[6] चारुवंशाकृतीनि कुसुमस्तवकातपत्राणि, क्वचित्कर-मृदित-कर्पूर-पल्लव-रसेनाधिवास्यमानानि बिसतन्तुमयान्यंशुकानि, क्वचिल्लवली-

---

तरुणैः अभिनवैः मालतीनां कुसुमानां कुड्मलैः कोरकैः दन्तुरिता उन्नतावनताः तरङ्गाः कल्लोला यासां तासु, हरिचन्दनस्य तैलपर्णिकस्य ( श्वेतमलयजस्य ) द्रवो रसः तस्य वापिकासु दीर्घिकासु, शिशिरीक्रियमाणाः प्रक्षालनेन शीतलीक्रियमाणाः, हारयष्टीः मौक्तिकस्रजः।

क्वचिदिति। मुक्ताफलक्षोदैः मौक्तिकचूर्णैः रचितानि घटितानि आलवालानि आवापस्थानकानि ( सलिलरक्षणाय उच्चवेष्टनानि। येषां तान्, तथा अनवरतं निरन्तरं स्थूलजलबिन्दूनां बृहत्सलिलकणानां दुर्दिनं वर्षणमित्यर्थः। उत्सृजतः मुञ्चतः, यन्त्रवृक्षकान् यन्त्रमयान् लघुतरून्। 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः, 'घनान्धकारे वृष्टौ च दुर्दिनं कवयो विदुः' इति वागीशः।

क्वचिदिति। विधुताः कम्पिता ये पत्त्राः पतत्राणि तैर्निक्षिप्ताः प्रक्षिप्ता ये शीकरा अम्बुकणाः तैः आनीता उपस्थापिता जनिता नीहारास्तुषाराः याभिस्ताः, भ्रमन्तीः भ्रमणं विदधतीः यन्त्रमयीः यन्त्रात्मिकाः, पत्रशकुनिश्रेणीः दलरचितपक्ष्यावलीः।

क्वचिदिति। मधुकरा भ्रमरा एव किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकाः तासां पङ्क्तेः आवल्याः पटुतरः अत्युन्नतः रवः शब्दो यासु ताः, बध्यमानाः सेविकाभिर्विरच्यमानाः (कुसुमदामरचिता दोलाः)। 'मधुकरकिङ्किणी' इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकमलङ्कारः।

क्वचिदिति। उदरेषु अभ्यन्तरेषु आरूढाः सञ्जाता अथ च निर्गता वदनेभ्यो बहिर्निःसृताः उन्नाला उद्गतदण्डाश्च या नलिन्यः कमलिन्यः तासां छदैः पर्णैः छादितानि पिहितानि मुखानि अग्रभागा येषां तान्, प्रवेश्यमानान् गृहान्तर्नीयमानान् शातकुम्भस्य सुवर्णस्य कुम्भान् कलशान्। येषामुदरेषु नलिन्यः उत्पन्नास्ततश्च मुखेभ्यो बहिः उन्नालास्ता निःसृताः तत्पत्रैः कुम्भमुखमाच्छन्नम्। शैत्यार्थं शोभार्थं च वृक्षाधारविशेषः। 'दलः पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः। इह छेकानुप्रासः।

क्वचिदिति। घटिता रचिताः कदलीनां रम्भातरूणां गर्भस्तम्भा अभ्यन्तरस्थूणा एव दण्डा येषां तानि, बध्यमानानि सेविकाभिर्विरच्यमानानि, चारुवंशानां सुन्दरवेणूनाम् आकृतिरिव आकृतिः स्वरूपं येषां तानि, कुसुमस्तवकातपत्राणि पुष्पगुच्छच्छत्राणि।

इह······'गर्भस्तम्भदण्डानि' इत्यत्र रूपकम्, 'चारुवंशाकृतीनि' इत्यत्र च लुप्तोपमा।

क्वचिदिति। करेण हस्तेन मृदिता विमर्दिता ये कर्पूरपल्लवा घनसारकिसलयाः तेषां रसेन निर्यासेन अधिवास्यमानानि सुगन्धीक्रियमाणानि, बिसतन्तुमयानि मृणालसूत्ररचितानि, अंशुकानि वस्त्राणि।

क्वचिदिति। तृणशून्यानां मल्लिकापुष्पाणां मञ्जरीकर्णपूरान् बल्लरीमयश्रवणाभूषणानि।

---

दीर्घिकाओं ( बावलियों ) में किसी परिचारकद्वारा किसी स्थानमें हारलता ( मुक्ताका हार ) धोकर ठंढी की जा रही थी; किसी स्थानमें यन्त्रमय क्षुद्रवृक्ष ( फुहारे ) लग रहे थे—उनके चारों ओर मूलमें मुक्ताचूर्णद्वारा आलवाल ( मोतीके चूरेसे क्यारियाँ ) निर्माणकी गई थीं और उनमेंसे निरन्तर बड़े-बड़े जलबिन्दुओंके वर्षण हो रहे थे; किसी-किसी स्थानमें कम्पित पक्षों ( फड़फड़ाते पंखों ) में से जलबिन्दुओंसे नीहार उत्पादित कर भ्रमण करते पत्र-निर्मित यन्त्र-मय ( कल-पुर्जेके ) पक्षियोंकी पङ्क्तियाँ ( कतारें ) हैं; किसी किसी स्थानमें पुष्पमालाओंके हिंडोले ( झूले ) परिचारिकाओं द्वारा निर्माण किए गये हैं—जिनमें भ्रमर-रूपी घण्टियोंकी पंक्तियों (कतारों) से अत्युन्नत शब्द हो रहे हैं; किसी स्थानमें किसीके द्वारा सुवर्ण-कलस प्रवेश कराये जा रहे हैं—उनके मुख अभ्यन्तरमें उत्पन्न होकर बाहर निकले ऊँचे दण्डवाले कमलके पत्तोंसे छाये हुए हैं; किसी स्थानमें कदलीके अभ्यन्तरके रमणीय बाँसके आकृतिवाले—स्तम्भरूप दण्डोंवाले पुष्पके गुच्छोंके छत्र परिचारिकाओं द्वारा निर्माण किये गए हैं; किसी स्थानमें मृणाल-सूत्र-निर्मित वस्त्र, हस्तमर्दित ( हाथसे मसलकर ) कर्पूर-पल्लवके रससे सुगन्धित किए

---

१. सितरक्त, तरत्तरुण। २. अनवरत-चन्दनस्थूल···। ३···पटुतरबाध्यमानाः, पटुतराबध्यमानाः। ४···निर्गतोत्ताल···५. शातकुम्भान्। ६··· दण्डनिबध्यमानचारु···।

फलद्रवेणार्द्रीक्रियमाणान् तृणशून्यं-मञ्जरीकर्णपूरान्, कचिदम्भोजिनी-दल-व्यजनैर्वीज्यमानान् उपलभाजनभाजः[2] शीतौषधिरसान्, अन्यांश्चैवंप्रकारान् शिशिरोपचारोपकरणकल्पनाव्यापारान्[3] परिजनेन कृतान् क्रियमाणांश्च वीक्षमाणः, हिमगृहकस्य मध्यभागं हृदयमिव हिमवतः, जलक्रीडागृहमिव प्रचेतसः, जन्मभूमिमिव सर्वचन्द्रकलानाम्, कुलगृहमिव सर्वचन्दनवनदेवतानाम्, प्रभवमिव सर्वचन्द्रमणीनाम्, निवासमिव सर्वमाघमासयामिनीनाम्, सङ्केतसदनमिव सर्वप्रावृषाम्, ग्रीष्मोष्मापनोदनोद्देशमिव[4] सर्वनिम्नगानाम्, वडवानलसन्तापापनोदननिवासमिव सर्वसागराणाम्, वैद्युत-दहन-दाह-प्रतीकारस्थानमिव सर्वजलधराणाम्, इन्दु-विरह-दुःसह-दिवसातिवाहन-स्थानमिव कुमुदिनीनाम्, हरहुताशननिर्वापणक्षेत्रमिव

'मल्लिका शतभीरुश्च गवाक्षी भद्रमल्लिका। शीतभीरुर्मदयन्ती भूपदी तृणशून्यकम् ॥'
इति वाचस्पतिः।

क्वचिदिति। अम्भोजिनीदलानि कमलिनीपर्णान्येव व्यजनानि तालवृन्तानि तैः, उपलभाजनानि प्रस्तरपात्राणि भजन्त इति तान्, शीताः शिशिरा ये ओषधीनां फलपाकान्तवल्लीनां रसा निर्यासास्तान्।

अन्यानिति। एवंप्रकारान् एवंविधान्, शिशिरोपचाराः शीतप्रक्रियाः तेषाम् उपकरणकल्पनाः सामग्रीरचनानि तद्रूपा व्यापाराः क्रियास्तान् वीक्षमाणः अवलोकयमानश्चन्द्रापीडः हिमगृहकस्य मध्यभागमाससादेति सम्बन्धः अभिहित एव।

हिमगृहकस्य मध्यभागं विशिनष्टि—हिमेत्यादिना। इह द्वितीयैकवचनान्तानि पदानि 'मध्यभागम्' इत्यस्य विशेषणानि। हिमवतः तुषाराद्रेः हृदयं स्वान्तमिव, प्रचेतसो वरुणस्य जलक्रीडागृहमिव सलिलखेलाभवनमिव, सर्वचन्द्रकलानां समस्तशशिकलानां जन्मभूमिमिव, उत्पत्तिस्थानमिव सर्वचन्दनवनदेवतानां निखिलमलयजारण्याधिष्ठात्रीणां कुलगृहमिव वंशपरम्परागतसदनमिव, सर्वचन्द्रमणीनां समस्तचन्द्रकान्तानां प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते अस्मादिति प्रभवो जन्मभूमिस्तमिव, सर्वमाघमासयामिनीनां समस्ततपोमासरात्रीणां निवसन्ति अस्मिन्निति निवासो वासस्थानमिव, सर्वप्रावृषां समस्तवर्षर्त्तूनां सङ्केतसदनमिव सङ्गमाय सङ्केतितं गृहमिव, सर्वनिम्नगानां सकलसरितां ग्रीष्मे ग्रीष्मर्त्तौ य ऊष्मा सन्तापः तस्य अपनोदनं दूरीकरणं तस्य उद्देशो भूमिस्तमिव, सर्वसागराणां समस्तसमुद्राणां वडवानलेन वडवाग्निना यः सन्तापः तस्य यदपनोदनं तस्य निवासं वासस्थानमिव, सर्वजलधराणां सकलमेघानां विद्युतस्तडितः अयमिति वैद्युतो यो दहन इरंमदः (वह्निः) तेन यो दाहः सन्तापः तस्य प्रतीकारस्थानमिव प्रतिक्रियागृहमिव, कुमुदिनीनां कैरविणीनाम्, इन्दोश्चन्द्रस्य विरहेण वियोगेन दुःसहः असह्यो यो दिवसो वासरः तस्य अतिवाहनस्थानमिव उल्लङ्घनभूमिमिव, तथा मकरध्वजस्य कामदेवस्य, हरस्य महेशस्य यो हुताशनस्तृतीयलोचनोत्पन्नो वह्निः तस्य निर्वापणक्षेत्रमिव निर्यातनस्थानमिव, सर्वत्रैव नितान्तशिशिरत्वादिस्याशयः। जात्युत्प्रेक्षालङ्कारश्च।

जारहे हैं; किसी स्थानमें मल्लिका-पुष्पमञ्जरीके कर्णपूर लवली-फलके रसमें आर्द्र किये जारहे हैं; और किसी स्थानमें पाषाण-निर्मित पात्र (कूँड़ी) में परिपूर्ण शीतल-लताके रसकी पद्म-पत्रके पंखेसे किसी परिचारिका द्वारा वायु की जारही है; परिजनवर्ग शीतलता-सम्पादन करनेके लिए इस प्रकार अन्यान्य समस्त सामग्रियोंका सङ्ग्रह कराते और करते थे। उन सबोंको देखता देखता जाकर राजपुत्र उस हिम-गृहके मध्यस्थानमें उपस्थित हुआ (आ पहुँचा)। वह मध्यस्थानका भाग हिमालयका मानो हृदय था; वरुण-देवका मानो जल-केलिका गृह था; समस्त चन्द्रकलाओंका ही मानो उत्पत्तिस्थान था; समस्त चन्दन वनदेवताओंका ही मानो पैत्रिक वासस्थान था; समस्त चन्द्रकान्त-मणियोंका ही मानो जन्मस्थान था; माघमासकी समस्त रात्रियोंका ही मानो निवास-भूमि था; समस्त वर्षाकालका ही सम्मिलित होनेके लिए सङ्केत-गृह था; समस्त नदियोंका ही मानो ग्रीष्म-सन्ताप-निवृत्तिके लिए निर्दिष्ट स्थान था; समस्त समुद्रोंका ही मानो वडवानल-सन्ताप दूर करनेके लिए वासगृह था, समस्त मेघों (वारिदों) का ही मानो विद्युत्संभूत अग्निद्वारा दाहका प्रतीकार (शान्त) करनेका स्थान था; कुमुदिनियोंको मानो चन्द्र-विरहमें दुःसह दिन व्यतीत करने (काटने) का स्थान था, कामदेवका मानो हरनयनाग्निके

१. तृणशूक…। २…भाजान्। ३…परिकल्पनाव्यापारान्। ४. अपनोदोद्देशमिव।

मकरध्वजस्य[1], दिनकरकरैरपि सर्वतो जलयन्त्र-धारासहस्र-समुत्सारितैरतिशीतस्पर्शभयनिवृत्तैरिव परिहृतम्, अनलैरपि कदम्ब-केसरोत्करवाहिभिः कण्टकितैरिवानुगतम्, कदलीबनैरपि पवनचलितदलैर्जाड्यजनितवेपथुभिरिव परिवारितम्, अलिभिरपि कुसुमामोदमदमुखराबद्धदन्तवीणैरिव वाचालितम्, लताभिरपि निरन्तर[2]-मधुकर-पटल-जटिलाभिर्गृहीतनीलप्रावरणकाभिरिव विराजितमाससाद।

क्रमेण च तत्रान्तर्बहिश्चातिबहलेन पिण्डहार्येणेवोपलिप्यमानोऽतिशीतलेन स्पर्शेनामन्यतात्मनो मनश्चन्द्रमयम्, कुमुदमयानीन्द्रियाणि, ज्योत्स्नामयान्यङ्गानि, मृणालिकामयीं

---

दिनेति। दिनकरः सूर्यस्तस्य करैः रश्मिभिरपि सर्वतः समन्तात् जलयन्त्राणां धारासहस्रेण संपातसमूहेन समुत्सारितैः दूरीकृतैः, अतएव अतिशीतस्पर्शभयेन नितान्तशिशिरस्पर्शत्रासेन निवृत्तैरिव विद्यमानैः परिहृतं परित्यक्तम्। 'निवृत्तैरिव, इति क्रियोत्प्रेक्षा।

अनिलैरिति। अनिलैः पवनैरपि, कदम्बा नीपाः कुसुमानि तेषां केसरोत्करं किञ्जल्कसमूहं वहन्तीति तः, अतएव कण्टकितैः पुलकितैरिव विद्यमानैः कदम्बकिञ्जल्कानां पुलकसादृश्यादित्याशयः, अनुगतं संयुतम्। इहापि पुलकोत्पादनस्यैवोत्प्रेक्षणादुक्तालङ्कारः।

कदलीति। कदलीवनैरपि रम्भाकाननैरपि पवनेन समीरणेन चलितानि कम्पितानि दलानि पर्णानि येषां तैः, अतएव जाड्येन शैत्येन जनित उत्पादितो वेपथुः कम्पो येषां तैरिव विद्यमानैः, परिवारितं परिवेष्टितम्। उक्तालङ्कारः।

अलिभिरिति। अलिभिर्मधुकरैरपि कुसुमामोदेन पुष्पपरिमलेन यो मदो हर्षः तेन मुखरैः शब्दायमानैः, अतएव आबद्धा कृता दन्तवीणा शैत्यातिशयेन मुखकम्पनकाले उपर्यधोभागदशनानाम् अन्योन्यसंघर्षणोत्पन्नः शब्दो यैस्तैरिव विद्यमानैः, वाचालितं मुखरीकृतम्। उक्तालङ्कारः।

लताभिरिति। लताभिरपि वल्लीभिरपि निरन्तरेण सान्द्रेण मधुकरपटलेन भ्रमरसमूहेन जटिलाभिः आच्छादिताभिः, अत एव गृहीतानि शैत्यापनोदनाय धृतानि नीलानि श्यामानि प्रावरणानि आच्छादनवसनानि याभिस्ताभिरिव विद्यमानाभिः विराजितं विभूषितम्। आससाद प्राप्तवान्। उक्तालङ्कारः।

क्रमेणेति। अपि च, तत्र हिमगृहे, अन्तर्बहिश्च अतिबहलेन अत्यन्ताधिकेन, पिण्डवत् मृत्तिकादिपिण्डवत् हार्येण हर्तुं शक्येन करग्रहणोचितेनेत्यर्थः, अतएव तेनोपलेपनसम्भव इत्याशयः, अतिशीतलेन अत्यन्तशिशिरेण स्पर्शेन, उपलिप्यमान इव चन्द्रापीडः आत्मनः स्वस्य मनश्चित्तं चन्द्रमयं चन्द्रनिष्पन्नम् अमन्यत अबुध्यत। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि करणानि कुमुदमयानि कैरवनिष्पन्नानि, अङ्गानि हस्तपादादीनि ज्योत्स्नामयानि चन्द्रिकानिष्पन्नानि धियं बुद्धिं मृणालिकामयीं बिसनिष्पन्नाम् 'अमन्यत' इत्यस्य सर्वत्राप्यन्वयो ज्ञेयः।

इह 'उपलिप्यमान इव' इत्यत्रोक्तालङ्कारः स्पष्ट एव, किन्तु 'अमन्यत' इति क्रियाया अपि उत्प्रेक्षावाचकत्वादन्येषु चतुर्ष्वप्युक्तालङ्कार एवेति सर्वेषां परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

---

निर्वापण ( बुझाने ) का क्षेत्र है इस प्रकार प्रतीत होता था। वहाँ सब ओरसे जलयन्त्रों (फुहारों) में से निकलती हजारों धाराओंसे दूर हुई सूर्यकी किरणें भी अत्यन्त शीत-स्पर्शके भयसे निवृत्ति पाकर ही मानो उसका परित्याग की हुई हैं इस प्रकार प्रतीत होती थीं; कादम्ब-कुसुमके केसरसमूह वहन करती वायु भी रोमाञ्चित होकर ही मानो विचरण करती थी; चारों ओर लगे कदलीवनके पत्ते पवनवेगसे कम्पित होने ( हिलने ) के कारण ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो शीतलतासे कम्पित हो रहे हों; पुष्पोंके सौरभसे आनन्दित होकर गुञ्जार करते भ्रमरगण भी मानो दन्तघर्षणका रव करते (दाँत किड़किड़ाते) हों इस प्रकार प्रतीत होता था; और निरन्तर सान्द्र प्रविष्ट हुए भ्रमरोंसे आच्छादित लताएँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो उन्होंने अत्यन्त शीतवश शरीरमें नीलवर्ण वस्त्र ओढ़ लिया हो, इस प्रकार वहाँ उस गृहमध्यको शोभित करती थीं।

क्रमसे उस गृहमध्यमें अत्यन्त प्रचुर और मृत्पिण्डके समान हस्तधारण-योग्य अत्यन्त शीतल-स्पर्शसे अभ्यन्तर और बाहरमें उपलिप्त होकर ही मानो चन्द्रापीड अपने मनको चन्द्रमय, इन्द्रियोंको कुमुदमय, अङ्गोंको

---

१. मकरध्वजस्य सदनमिव वनदेवतानाम्। २. क्वचित् 'निरन्तर' इति पदं न दृश्यते।

धियम् । अगणयच्च हारमयान्[1] अर्ककिरणान्, चन्दनमयमातपम्, कर्पूरमयं पवनम्, उदकमयं कालम्, तुषारमयं त्रिभुवनम् ।

एवंविधस्य च तस्यैकदेशे सखीकदम्बपरिवृताम्, अशेषसरित्परिवारामिव भगवतीं गङ्गां हिमवतो गुहातलगताम्[2], कुल्याभ्रमि-भ्रमितेन कर्पूररसस्रोतसा कृतपरिवेशाया मृणालदण्डमण्डपिकायास्तले कुसुमशयनमधिशयानाम्, हाराङ्गद-वलय-रशना-नूपुरैर्मृणालमयैर्निगडैरिव संयतामीर्ष्यया[3] मन्मथेन, चन्दनधवले स्पृष्टामिव ललाटे शशलाञ्छनेन, बाष्पवारिवाहिनि चुम्बितामिव चक्षुषि वरुणेन, वर्द्धितनिश्वास[4]-मरुति दष्टामिव[5] मुखे मातरिश्वना,

अगणयदिति । अर्ककिरणान् सूर्यरश्मीन् हारमयान् मुक्ताप्रालम्बसञ्जातान्, अगणयत् अमन्यत अतिशिशिरत्वसादृश्यादित्याशयः । आतपं सूर्यालोकं चन्दनमयं मलयजसञ्जातम् भावश्चोक्त एव । पवनं वायुं कर्पूरमयं घनसारसञ्जातं तत्सौरभयुक्तत्वादिति भावः । कालं समयम् उदकमयं जलसञ्जातम् । त्रिभुवनं त्रिविष्टपं तुषारमयं हिमसञ्जातम् अतिशीतलत्वसादृश्यादित्याशयः ।

इहाप्यगणयदिति क्रियाया उत्प्रेक्षावाचकत्वात् सञ्जातार्थे मयट्प्रत्ययविधानात् पञ्चस्वपि वाच्याक्रियोत्प्रेक्षाणां प्राग्वत्संसृष्टिः ।

एवमिति । अपि च, एवंविधस्य एतादृशस्य तस्य हिमगृहस्य एकदेशे कस्मिंश्चिद्भागे चन्द्रापीडः 'कादम्बरीं व्यलोकयत्' इति दविष्ठया क्रियया सम्बन्धः । इह स्त्रीलिङ्गानि द्वितीयैकवचनान्तपदानि अग्रेतनस्य कादम्बरीमित्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि । सखीकदम्बकेन सहचरीसमूहेन परिवृतां परिवेष्टिताम्, अतएव अशेषाः समग्राः सरितो नद्यः परिवाराः स्वजना यस्यास्ताम्, हिमवतो हिमाचलस्य गुहातलगतां कन्दरातलस्थितां भगवतीं माहात्म्यवतीं गङ्गां भागीरथीमिव विद्यमानाम् । उपमालङ्कारः ।

कुल्येति । कुल्या तन्मण्डपिकाया एव परितो विद्यमाना अल्पा कृत्रिमा सरित् तस्या या भ्रमिः स्वेनैव भ्रमणं तया भ्रमितेन घूर्णितेन कर्पूररसस्रोतसा घनसारद्रवप्रवाहेण कृतो विहितः परिवेषः परिवेष्टनं यस्यास्तस्याः, मृणालानि बिसान्येव दण्डाः स्तम्भा यस्याः सा चासौ मण्डपिका चेति तस्याः, तले अधोभागे, कुसुमशयनं पुष्पतल्पम् अधिशयानां कृतस्वापाम् । 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः ।

हारेति । मन्मथेन कामेन ईर्ष्यया स्पर्द्धया, निगडैः शृङ्खलास्वरूपैः, मृणालमयैः बिसरचितैः, हारो मुक्ताप्रालम्बः, अङ्गदं बाहुकटकम्, वलयं कङ्कणम्, रसना काञ्ची, नूपुराणि पादकटकानि तैः संयतां बद्धामिव विद्यमानाम् । इह निरङ्गं केवलरूपकम्, क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोः सङ्करः ।

चन्दनेति । शशलाञ्छनेन चन्द्रमसा, चन्दनेन मलयजाङ्गरागेण धवले शुभ्रे ललाटे भाले स्पृष्टामिव, लिप्तमलयजव्याजादित्याशयः । इह क्रियोत्प्रेक्षयाऽपह्नुतिरलङ्कारः प्रतीयते । तथाधिकरण एव सप्तमीहेत्यवगन्तव्यम् । इत्थमग्रेऽपि ।

बाष्पेति । वरुणेन प्रचेतसा बाष्पवारिवाहिनि अश्रुजलधारिणि चक्षुषि लोचने चुम्बितामिव, तदश्रुजलव्याजात्प्रचेतसः सलिलमयत्वादित्याशयः । प्राग्वदेवालङ्कारेण ध्वनिः ।

वर्द्धितेति । मातरिश्वना पवनेन, वर्द्धितः कामेन विस्तृतीकृतो निश्वासमरुत् श्वसनवायुः यत्र

ज्योत्स्नामय और बुद्धिको मृणालिकामय भावना करने (समझने) लगा; और वह सूर्यके किरणोंको मुक्तामालामय, रौद्रको चन्दन-मय, वायुको कर्पूरमय, उस समयको जलमय और त्रिभुवनको शिशिरमय मनमें करने(समझने) लगा।

उसके बाद इस प्रकारके हिमगृहके मध्यमें बैठी हुई और समस्त नदियोंसे परिवेष्टित (घिरी हुई) भगवती गङ्गादेवीके समान; सखियोंसे परिवेष्टित कादम्बरीको उसने देखा। वहाँ मृणालदण्डरूप स्तम्भसे निर्माण की हुई एक मण्डपिका थी। उसके सब ओर कर्पूररसका स्रोत, छोटी-सी कृत्रिम एक नदीके समान अपनेसे ही वह रहा था। कादम्बरी उस मण्डपिकाके नीचे पुष्पमय शय्याके ऊपर शयन कर रही थी। कामदेवने ईर्ष्यासे मानो शृङ्खल (जंजीर) स्वरूप और मृणाल-निर्मित हार, केयूर (बाजूबन्द), कङ्कण, मेखला (करधनी) और नूपुरके बहाने उसे बाँधकर रख लिया था। उसके ललाटमें चन्दन-लेपन करनेसे वह शुभ्रवर्ण हो गया था, अत एव मानो चन्द्रने उस स्थानका स्पर्श किया था। नेत्रोंसे अश्रुजल बहते थे, अत एव मानो वरुणने उसका चुम्बन किया था। ओष्ठके समीप होकर दीर्घ निश्वास (लम्बी साँस) निकलते थे, अत एव मानो वायुने उसे

१. नीहारमयान् । २. गृहाचलगताम्, महीतले पतिताम् । ३. इवेर्ष्यया । ४. निःश्वास··· । ५. दृष्टाम् ।

सन्तापप्रतप्तेष्वध्यासितामिवाङ्गेषु पतङ्गेन[1], कन्दर्पदाहदीपिते गृहीतामिव हृदये हुतभुजा, स्वेदिनि परिष्वक्तामिव वपुषि जलेन[2], दैवतैरपि विलुप्यमानसौभाग्यामिव सर्वशः, हृदयेन सह प्रियतमसमीपमिवोपगतैरङ्गैरुपजनितदौर्बल्याम्, आश्यान-चन्दनपाण्डुरञ्च रोमाञ्च-मनवरतहारस्पर्शलग्नं मुक्ताफलकिरणपुञ्जम्[3] इवोद्वहन्तीम्, स्वेदशीकरिणीञ्च कपोलपालीं पक्षपवनेन वीजयद्भिरनुकम्प्यमानामिवावतंसकुसुममधुकरैः, अवतंस-कुसुम[4]-मधुकर-रव-दहन[5]-दग्धमिव श्रोत्रमपाङ्गनिर्गतेनाश्रुस्रोतसा सिञ्चन्तीम्, अतिप्रवृत्तस्य चाश्रुणो निर्वाहप्रणालि-

तस्मिन् मुखे अधर इत्यर्थः। दष्टां विहितदन्तघातामिव, तन्निःश्वासव्याजादित्याशयः। इहाप्युक्तवदेवा-लङ्कारो ध्वनिश्च।

सन्तापेति। पतङ्गेन रविणा, सन्तापप्रतप्तेषु कामोत्तापतप्तेषु अङ्गेषु अवयवेषु अध्यासिताम् अधि-ष्ठितामिव, अवयवेषु तथैव सन्तापज्ञानादित्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'पतङ्ग शलभे शालिप्रभेदे पक्षि-सूर्ययोः। क्लीबं सूते' इति मेदिनी।

कन्दर्पेति। हुतभुजा अग्निना, कन्दर्पदाहदीपिते कामोत्तापसन्तप्ते हृदये गृहीतां धृतामिव, काम-व्याजादित्याशयः। इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, तेनापह्नुतिः प्रतीयते।

स्वेदिनीति। जलेन सलिलसामान्येन स्वेदिनि घर्मवति, वपुषि शरीरे परिष्वक्ताम् आश्लिष्टामिव, घर्मव्याजादित्याशयः। प्राग्वदेवोत्प्रेक्षयाऽपह्नुतिरवगम्यते।

दैवतैरिति। दैवतैरपि प्रागभिहितमदनशशधरादिभिर्देवैरपि सर्वशः सर्वप्रकारेण विलुप्यमानं पृथक् पृथक् सुरतेन विनाश्यमानं सौभाग्यं स्वामिप्रियत्वं यस्यास्तामिव, सौन्दर्यमुग्धत्वाद् देवा अपि तस्याः स्वामिप्रियत्वं पतिवल्लभात्वं न्यूनीकृत्य स्वस्मिन् तदासक्तिं कामयन्ते इत्यभिप्रायः।

इह सौभाग्यलोपोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, तेन चात्यधिकसौन्दर्यमस्या इति व्यञ्जितम्।

हृदयेनेति। हृदयेन चेतसा सह, प्रियतमस्य दयितस्य चन्द्रापीडस्य समीपमन्तिकम् उपगतैः प्राप्तैरिव अङ्गैः अवयवैः उपजनितम् उत्पादितं दौर्बल्यं दुर्बलता यस्यास्ताम्, दूरगमनश्रमेण दुर्बलता समुत्पद्यत एवेत्याशयः।

आश्यानेति। अपि च, आश्यानेन किञ्चिच्छुष्केन चन्दनेन मलयजेन पाण्डुरं श्वेतं रोमाञ्चं पुलकम्, अनवरतहारस्पर्शेन निरन्तरमौक्तिकस्पर्शेन लग्नं सक्तं मुक्ताफलानां हारमध्यस्थितानां मौक्तिकानां किरण-पुञ्जमिव रश्मिसमूहमिव उद्वहन्तीं शरीरे धारयन्तीम्। इह 'किरणपुञ्जमिवे' त्यत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

स्वेदेति। अपि च, पक्षपवनेन पतत्रवायुना, स्वेदशीकरिणीं घर्मकणयुक्तां कपोलपालीं कादम्बर्या कपोलद्वयं वीजयद्भिः वातं कुर्वद्भिः, अवतंसकुसुमेषु कर्णभूषणपुष्पेषु ये मधुकरा भ्रमराः तैः अनुकम्प्य-मानां कृपापात्रीक्रियमाणामिव, घर्मबिन्दुविनाशायैव वीजनादित्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अवतंसेति। अवतंसकुसुममधुकराणां कर्णभूषणपुष्पस्थभ्रमराणां रवः शब्द एव दहनो विरहो-द्दीपनेन अग्निः तेन दग्धं ज्वलितमिव श्रोत्रं कर्णम्, अपाङ्गात् नेत्रप्रान्तात् निर्गतेन निःसृतेन अश्रुस्रोतसा बाष्पप्रवाहेण सिञ्चन्तीं सेकं विदधतीम्, ज्वालापनोदनायेत्याशयः। अपरोऽपि जनो ज्वलितं वस्तु सलिलेन सिञ्चति। इह निरङ्गकेवलरूपकं क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोः सङ्करः।

अतिप्रवृत्तेति। अपि च, अतिप्रवृत्तस्य बाहुल्येन निःसृतस्य अश्रुणो नयनाम्बुनः, निर्वाहप्रणालिका-

दर्शन किया था! मदनसन्तापसे सन्तप्त समस्त अङ्गोंमें ही मानो सूर्यने वास किया था। मदन-दाहसे प्रज्वलित हृदयमें मानो अग्निने ग्रहण किया था। उसके शरीरसे पसीने निकलते थे, इससे प्रतीत होता था कि मानो जलने उसे आलिङ्गन किया है। इस प्रकार देवताओंने भी मानो सब तरहसे उसका सौभाग्य नष्ट कर दिया था। हृदयके साथ उसके समस्त अवयव भी मानो प्रियतम चन्द्रापीडके निकट चले गये थे, उससे ही उसकी दुर्बलता उत्पन्न हुई थी। ईषत् शुष्क चन्दन-लेपसे उसका रोमाञ्च शुभ्रवर्ण हो गया था, इससे प्रतीत होता था कि निरन्तर हारके स्पर्शसे शरीरमें मुक्ताओंकी किरणें लग गई हों। घर्मबिन्दुओं (पसीने की बूँदों) से व्याप्त गण्डस्थलों पर पक्षसञ्चालन द्वारा पवन करके शिरोभूषणीभूत पुष्पोंसे आकृष्ट हुए मधुकर मानो ऐसे प्रतीत होते थे कि उसके प्रति अपनी दया प्रकट करते हों। कर्णभूषण-पुष्पस्थित भ्रमरोंके रव (गुञ्जार) स्वरूप अग्निसे मानो कर्णयुगल दग्ध होते थे, उसे वह तापशान्तिके लिए नयनप्रान्तनिर्गत (आँखके कोनेमेंसे निकलने) अश्रु-जलसे सिञ्चन

१. अनङ्गेन। २. जलदेन। ३…निकरपुञ्जम्। ४. क्वचित् 'कुसुम' पदं न विद्यते। ५…रवदव-दहन…।

कामिव कर्पूरकेतकीकलिकां कर्णे कलयन्तीम् , आयत-श्वास-विधुति-तरलितेन च सन्ताप-भय-पलायमानेन देहप्रभावितानेनेवांशुकेन विमुच्यमानकुचकलसाम् , आपतत्-प्रचल-चामर-प्रतिबिम्बश्च[1] कुचकलसयुगलं प्रियान्तिकगमनौत्सुक्यकृतपक्षमिव करतलेन निरुन्धतीम्[2] , मुहुर्मुहुर्भुजलतया तुषारशिलाशालभञ्जिकामालिङ्गन्तीम् , मुहुः कपोलफलकेन कर्पूरपुत्रिकामाश्लिष्यन्तीम् मुहुश्चरणारविन्देन चन्दनपङ्कप्रतियातनामामृशन्तीम्[3], स्तन-संक्रान्तेनात्ममुखेनापि कुतूहलिनेव परिवृत्य विलोक्यमानाम् , कर्णपूरपल्लवेनापि

मिव निःसरणनालमिव कर्पूरो घनसारः तद्वत् या केतक्याः कुसुमस्य शुभ्रा कलिका कोरकं कर्पूरवासिता केतकीकलिका वा तां कर्णे श्रवणे कलयन्तीं धारयन्तीम्, सलिलनिःसरणप्रणालिकावत् केतकीकलिकाया अपि लम्बमानत्वादित्याशयः । जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः ।

आयतेति । अपि च, आयतो दीर्घो यः श्वासो निःश्वासमरुत् तेन या विधुतिः कम्पनं तया तरलितेन अस्थिरीकृतेन सन्तापभयपलायमानेन ज्वालात्रासात् धावता देहप्रभाणां शरीरकान्तीनां वितानेन आधिक्येनेव अंशुकेन उत्तरीयवस्त्रेण विमुच्यमानौ परित्यज्यमानौ कुचकलसौ स्तनघटौ यस्यास्ताम् । उक्तालङ्कारः ।

आपतदिति । आपतन्ती निपतन्ती प्रचलयोः पार्श्वद्वये वीजनाच्चलितयोः चामरयोर्बालव्यजनयोः प्रतिबिम्बे प्रतिच्छायायुगलं यत्र तत् , अतएव प्रियस्य दयितस्य ( चन्द्रापीडस्य ) अन्तिके समीपे गमनाय यानाय यत् औत्सुक्यम् उत्कण्ठा तेन कृतौ विहितौ पक्षौ पतत्रद्वयं यस्य तदिव कुचकलसयुगलं स्तनकलसद्वयं करतलेन पाणितलेन निरुन्धतीं निरोधं कुर्वन्तीम् , अन्यथा यदि व्रजेदेवेत्याशयः । चामरप्रतिच्छायाद्वयं कुचद्वयस्य पक्षस्थानीयम् , चामरान्दोलनात्तत्प्रतिबिम्बयोरप्यान्दोलनम् , तदान्दोलनाच्च पार्थक्येन विद्यमानस्यापि द्वित्वप्रतीतिः अतएव हि गमनसम्भावनेत्यवधेयम् । ......'कृतपक्षमिव' इत्यत्र पक्षकरणोत्प्रेक्षणाक्रियोत्प्रेक्षा ।

मुहुरिति । भुजलतया बाहुवल्ल्या तुषारशिलाशालभञ्जिकां शिशिरपाषाणरचितपुत्तलिकां मुहुर्मुहुः वारं वारम् आलिङ्गन्तीम् आश्लिष्यन्तीम् , सन्तापोपशमनायेत्याशयः ।

मुहुरिति । कपोलफलकेन गण्डद्वयेन कर्पूरपुत्रिकां घनसारस्य पुत्तलिकां मुहुर्वारंवारम् आश्लिष्यन्तीम् आलिङ्गन्तीम् ।

मुहुरिति । चरणारविन्देन पादकमलेन चन्दनपङ्कस्य गाढमलयजरसस्य प्रतियातनां प्रतिमूर्त्तिं मुहुः आमृशन्तीम् आमर्शं विदधतीम् । प्राग्वदेवाशयः । अनेन निरतिशयस्तापः प्रतीयते ।

स्तनेति । स्तनयोः कुचयोः संक्रान्तेन प्रतिबिम्बितेन आत्ममुखेन स्वकीयवदनेनापि, कुतूहलिनेव 'अस्याः कीदृशी अवस्था समुत्पन्ना' इति कौतुकिनेव विद्यमानेव, परिवृत्य उत्तानीकृत्येत्यर्थः । प्रतिबिम्बस्य बिम्बसांमुख्यादित्याशयः, विलोक्यमानां वीक्ष्यमाणाम् । 'कुतूहलिनेव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा ।

कर्णेति । कर्णपूरपल्लवेनापि श्रवणालङ्कारीभूतकिसलयेनापि, स्वस्य आत्मनः प्रतिबिम्बे अर्थात्

करती थी । अधिक परिमाणमें निकलते अश्रुजलके निःसरणमार्ग ( नालिका ) के समान कपूरके तुल्य शुभ्रवर्ण केतकी-पुष्पकी कलिकाको धारण करती (पहनती) थी । उसका उत्तरीय वस्त्र, दीर्घ निश्वास (लंबी साँसके) के वेगसे काँपनेके कारण चञ्चल होकर स्तन-कलसके ऊपरसे खिसक गया था, इससे प्रतीत होता था कि शरीरकी कान्तिका प्रवाह मानो सन्तापके भयसे भाग गया हो । ( दो परिचारिकाएँ दोनों तरफ खड़ी होकर दो चामर डुलाती थीं ) अत एव उसके दोनों कुच-कलसों पर उस चञ्चल चामर-युगलका प्रतिबिम्ब पड़ता था, इससे प्रतीत होता था कि प्रियतम चन्द्रापीडके निकट जानेके लिए उत्कण्ठासे ही मानो उसके दो पंख उत्पन्न हो गये हों, ऐसे उन कुच-कलसोंको अपने करतलसे उसने अवरुद्ध कर ( दबा ) रखा था । शीतल प्रस्तर-निर्मित पुतलियोंको सन्ताप-शान्तिके लिए भुज-लतासे वह बारम्बार आलिङ्गन करती थी । कपूरकी पुतलियोंको भी बारम्बार कपोलसे स्पर्श करती थी । चरण-कमलोंसे बारम्बार चन्दन-पङ्ककी प्रतिमूर्त्तिका आमर्शन करती थी । अपना मुख भी स्तनमें प्रतिबिम्ब होकर मानो कौतुकवश ही हुआ हो, इस प्रकार फिरकर उसको देखता था । कर्णका अलङ्कार-

१. आपतत् प्रबलचामर''', क्वचित्तु चकारो नास्ति । २. निरुन्धन्तीम् । ३. आमृषन्तीम् आस्पृशन्तीम् ।

स्वप्रतिबिम्बपल्लवशायिना[1] सोत्कण्ठेनेव चुम्ब्यमानकपोलफलकाम्, हारैरपि मुक्तात्मभिर्मदनपरवशैरिव प्रसारितकरैरालिङ्ग्यमानाम्, मणिदर्पणमुरसि निहितं 'नोदेतव्यमद्य त्वया' इति जीवितस्पर्शमयं[2] शपथं शशिनमिव[3] कारयन्तीम्, करिणीमिव सम्मुखागतप्रमदवनगन्धवारणप्रसारितकराम्, प्रस्थितामिवानभीष्टदक्षिणवातमृगागमनाम्, मदनाभिषेकवेदिका-

---

गण्डनिपतिते प्रतिच्छायभूते पल्लवे किसलये शेते तिष्ठतीति तेन, अनेनास्यापि तापवत्त्वं ध्वनितम्, सोत्कण्ठेनेव सकुतूहलेनेव विद्यमानेन, चुम्ब्यमानं स्पृश्यमानं कपोलफलकं यस्यास्ताम्। उक्तालङ्कारः।

हारैरिति। मुक्तः संसारबन्धात्त्यक्त आत्मा येषां तैः जीवन्मुक्तैरपि मदनपरवशैः कामपराधीनैरिवेति विरोधः, मुक्ता मौक्तिकानि आत्मा स्वरूपं येषां तैरिति तत्परिहारः, तथाविधैर्मुक्ताप्रालम्बैरपि प्रसारिता विस्तारिताः करा रश्मयो हस्ताश्च यैस्तथोक्तैः विद्यमानैः आलिङ्ग्यमानाम् आश्लिष्यमाणाम्।

इह विरोधाभासोऽलङ्कारो गुणोत्प्रेक्षालङ्कारश्चेत्युभयोरेकाश्रयानुरूपप्रवेशरूपः सङ्करः, अनेन चास्या निरतिशयं सौन्दर्यमवगम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

मणीति। उरसि वक्षःस्थले निहितं शीतलतासम्पादनाय स्थापितम्, मणिदर्पणमेव रत्नादर्शमेव शशिनं शिशिरत्वशुभ्रत्ववर्त्तुलत्वसादृश्यात् मणिनिष्पन्नादर्शरूपं चन्द्रम्, 'विरहोद्दीपकेन त्वया शशिना अद्य न उदेतव्यं न उदयभाजा भवितव्यम्, ममात्यधिकतापसम्भवादित्याशयः' इति एतन्निवेदनानन्तरमित्यर्थः, जीवितस्पर्शमयं निजजीवनस्पर्शनपूर्वकं शपथम् 'अद्य नाहमुदेष्यामि' एवं शपथं कारयन्तीमिव, रत्नादर्शरूपशशिनः तत्काले हृदयस्पर्शकारित्वादित्याशयः। अन्योऽपि जीवितस्थानहृदयस्पर्शपूर्वकं निश्चितं शपथं विदधाति। इह समासासत्त्वेऽपि निरङ्गकेवलरूपकं क्रियोत्प्रेक्षा चेत्युभयोः सङ्करः।

करिणीमिति। करिणीं गजपत्नीमिव संमुखे समक्षे आगत आयतो यः प्रमदवनस्य तत्संज्ञकान्तःपुरोद्यानस्य गन्धः सौरभं तस्य वारणाय निषेधाय प्रसारितौ विस्तारितौ करौ हस्तौ यया ताम्, वियोगिन्या गन्धस्य उत्तेजकतया क्लेशोत्पादकत्वादित्याशयः। पक्षान्तरे तु समक्षायाते प्रमदे प्रकृष्टमदे वन्यगन्धवारणे अरण्यगन्धगजे तं प्रतीत्यर्थः। प्रसारितः करः शुण्डा यया ताम्। पूर्णोपमालङ्कारः।

प्रस्थितामिति। प्रस्थितां विदेशे चलितां नारीमिव, अनभीष्टम् अनभिलषितं दक्षिणवातस्य मलयमरुतः मृगस्य ( लक्षणावृत्त्या ) मृगमदसुगन्धेश्चागमनम् उपस्थितिर्यस्यास्ताम्, वियोगिन्या मलयवायुकस्तूरीसुगन्ध्यादीनामत्यन्तोत्तेजकत्वादित्याशयः। पक्षान्तरे तु अनभीष्टं दक्षिणे अपसव्यभागे वातमृगस्य वातप्रमीसंज्ञकहरिणस्य आगमनं यस्यास्ताम्। नारीणां प्रयाणे दक्षिणपार्श्वे मृगस्य अमङ्गलद्योतकतया वसन्तराजीयादौ प्रख्यातत्वादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

मदनेति। मदनस्य कामस्य अभिषेकः स्नानं तस्य वेदिका संस्कृता भूमिः तामिव, कमलैः पङ्कजपत्रैः आवृतौ शीतलत्वायाच्छादितौ चन्दनेन मलयजाङ्गरागेण धवलौ श्वेतौ, यौ पयोधरौ पीनत्ववर्त्तुलत्वसादृश्यात् कलसौ स्तनकुम्भौ ताभ्याम् अवष्टब्धौ आक्रान्तौ पार्श्वौ भागद्वयं यस्यास्ताम्। पक्षान्तरे तु

---

पल्लव भी कपोलदेशमें अपने प्रतिबिम्ब-रूपी पल्लवमें संलग्न होकर उत्कण्ठाके साथ ही मानो उसके गाल पर चुम्बन करता था। मुक्तामालाएँ ( मोतियोंके हार ) भी कामार्त्त होकर ही मानो कर( किरण, हाथ )प्रसारण कर उसका आलिङ्गन करती थीं। वक्षःस्थल पर स्थापित मणिमयदर्पण-रूप चन्द्रको 'आज तुम उदित मत होओ' इस प्रकार प्रार्थनाके अनन्तर अपने जीवन-स्पर्श कराकर 'आज मैं उदित नहीं होऊँगा' इस प्रकार शपथ ही मानो कराती थी। हस्तिनी जिस प्रकार मदमत्त वन्यगन्ध हस्तीके सामने आने पर सूँड़ लम्बी कर देती है, उसने भी उसी प्रकार सामनेसे आते हुए प्रमदोद्यानके सौरभको निवारण करनेके लिए हाथ फैला दिये थे। देशान्तर में प्रस्थित स्त्रियोंको जिस दक्षिणभागमें वातप्रमी ( इस नामका एक प्रकारका मृग ) का आगमन अभीष्ट नहीं होता है, उसको भी उसी प्रकार दक्षिणवायु और कस्तूरी-सौरभका आगमन अभीष्ट नहीं था। कामदेवके

---

१. स्वप्रतिबिम्बशायिना। २. विनोदितव्यमेतत् त्वयाद्य। ३. जीवनस्य समयं शशिनम्, जीवनस्पर्शसमयं शशिनम्।

मिव कमलावृतचन्दनधवलपयोधरकलसावष्टब्धपार्श्वाम्, आकाशकमलिनीमिव स्वच्छाम्बरतलदृश्यमानमृणालकोमलोरुमूलाम्, कुसुमचापलेखामिव[१] मदनारोपित-गुणकोटिकान्ततराम्, मधुमासदेवतामिव शिशिरहारिणीम्, मधुकरीमिव कुसुममार्गणाकुलाम्, चन्दनविलेपनामनङ्गरागिणीञ्च, बालां[२] मन्मथजननीञ्च, मृणालिनीमभ्यर्थिततुषारस्पर्शाञ्च कादम्बरीं व्यलोकयत्।

---

कमलावृतौ सलिलस्य शैत्यरक्षणाय पङ्कजदलाच्छादितमुखौ, तथा चन्दनधवलानि मलयजमिश्रणेन श्वेतवर्णानि पयांसि सलिलानि धरतो धारयत इति तौ यौ कलसौ स्नानकुम्भौ ताभ्याम् अवष्टब्धौ आश्रितौ पार्श्वौ यस्यास्ताम्। उक्तालङ्कारः। अविशेषे विशेषदोषवारणाय 'मदनाभिषेक' इत्यस्य स्थाने 'राजाभिषेके'त्यादि पाठोऽवश्यं विधेयः।

आकाशेति। आकाशकमलिनीमिव वियद्गङ्गानलिनीमिव, स्वच्छस्य अत्यन्तनिर्मलस्य अम्बरस्य परिहितवस्त्रस्य तले अभ्यन्तरे दृश्यमानम् अवलोक्यमानं मृणालवत् कोमलं तत्समयेऽपि लोमरहितत्वात्सुन्दरम् ऊरुमूलं सक्थिमूलप्रदेशो यस्यास्ताम्। पक्षान्तरे तु स्वच्छे विशदे अम्बरतले गगने दृश्यमानं मृणालं कोमलम् ऊरुमूलं बृहन्मूलदेशश्च यस्यास्ताम्। उक्तालङ्कारः। एतस्या वर्णन एवेदं विशेषणं पूर्वमप्युक्तम्।

कुसुमेति। कुसुमचापलेखा प्रसूनमयधनुर्यष्टिः तामिव, मदनेन कामावेगेन आरोपिता अध्यस्ता या गुणकोटयो विशेषलावण्यादयो गुणसमूहाः ताभिः कान्ततरा रमणीयतरा ताम्। पक्षान्तरे तु मदनेन मन्मथेन आरोपितः स्थापितो गुणो मौर्वी ययोस्ताभ्यां कोटिभ्याम् अग्रभागाभ्यां कान्ततरां रमणीयतराम्। उक्तालङ्कारः।

मध्विति। मधुमासस्य वसन्तसमयस्य देवताम् अधिष्ठात्रीमिव, शिशिरः शीतलो हारो मुक्तामाला अस्या अस्तीति सा ताम्। पक्षान्तरे तु शिशिरर्तुप्रतिषेधिनीम्। उक्तालङ्कारः।

मध्विति। मधुकरी भ्रमरी तामिव, कुसुममार्गणेन पुष्पशरेण आकुला व्यग्रा ताम्। पक्षान्तरे तु कुसुममार्गणे पुष्परसपानाय तदन्वेषणे आकुला विह्वला ताम्। उक्तालङ्कारः।

चन्दनेति। चन्दनस्य मलयजस्य विलेपनम् अङ्गरागो यस्यास्ताम्, अपि च अङ्गरागोऽस्या अस्तीति अङ्गरागिणी अङ्गरागान्विता सा न भवतीत्यनङ्गरागिणी तामिति विरोधः, अनङ्गरागो मदनानुरागोऽस्या अस्तीति तामिति तत्परिहारः। बालां बालिकाम्, अपि च मन्मथजननीं कामस्य मातरमिति विरोधः, कामोत्तेजनाया उत्पादयित्रीमिति तत्परिहारः। मृणालिनीं कमलिनीम्, अपि च अभ्यर्थितो याचितः तुषारस्पर्शस्तुहिनसंसर्गो यया तामिति कमलिन्याः तुषारसंसर्गे विनाशावश्यम्भावेऽपि तदभ्यर्थनया विरोधः, मृणालिनीं सन्तापनिवृत्तये मृणालवतीं तापाधिक्याच्चाभ्यर्थितशीतस्पर्शामिति तत्परिहारः। इह प्रत्येकविशेषण एव विरोधाभासोऽलङ्कारः।

अहो! कीदृशी प्रतिभा मदनपीडितकादम्बरीवर्णनमधुरिमायां महाकवेः, सर्वथैव सचेतसां चेतोविनोदसम्पादिनीयेयमिति न मनागपि सन्देहलेश इति विभावयन्तु सुधियः।

---

स्नान करनेके दोनों बगलमें जिस प्रकार चन्दन–मिश्रणसे शुभ्रवर्ण हुए जलसे परिपूर्ण और पद्मपत्राच्छादित दो कलस अधिष्ठित रहते हैं, उसके दोनों बगल भी उसी प्रकार कमल–दलसे आच्छादित और चन्दन–लेपनसे शुभ्रवर्ण स्तनरूपी–कुम्भद्वय ( दो कलस ) से आक्रान्त था। निर्मल आकाशमें जिस प्रकार आकाशगङ्गोत्पन्न कमलिनीके कोमल और बृहत् मूलदेश और मृणाल देखे जाते हैं, उसी प्रकार उसके भी निर्मल वस्त्रके नीचे मृणालके समान उस समयमें भी लोम नहीं होनेके कारण कोमल ऊरु–युगलका मूलदेश दिखाई देता था। कामदेवके द्वारा गुणारोपण करने ( डोरीके चढ़ाने ) पर अग्रदेशसे वह पुष्पमय धनुष जिस प्रकार अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होता है, वह भी उसी प्रकार युवावस्थादि विशेष सौन्दर्यके कारण बहुतसे गुणोंसे अत्यन्त शोभायमान प्रतीत हुई थी। वसन्तकालकी देवता जिस प्रकार शीत निवारण ( शिशिर ऋतुका अपहरण ) करनेवाली होती है, वह भी उसी प्रकार शीतल हार धारण करनेवाली थी। भ्रमरी जिस प्रकार पुष्पान्वेषणमें व्यस्त रहती है, वह भी उसी प्रकार पुष्परूपी बाणों ( कामावेशों ) से विह्वल थी। चन्दनके लेपसे समन्वित होने पर भी वह अनङ्गरागिणी ( अङ्गराग रहित ) कामानुरागिणी थी। बाला होने पर भी वह मन्मथजननी ( कामोद्दीपनकारिणी ) और मृणालिनी होने पर भी तुषार–पातकी प्रार्थना करती थी ( मृणाल–धारण करती थी एवं अन्यान्य शीतल-स्पर्शोंकी प्रार्थना करती थी )।

---

१. कुसुमचापचापलेखामिव। २. कान्तां।

अथ सा यथादर्शनमागत्यागत्य चन्द्रापीडागमनमावेदयन्तं परिजनमुत्तरलतारकेण[1] चक्षुसा विलोक्य[2] 'कथय, किं[3] सत्यमागतो दृष्टस्त्वया, कियत्यध्वनि कासौ' इति प्रतिमुखं निक्षिप्तनामाक्षरं[4] पप्रच्छ। प्रवर्द्धमान[5]-धवलिम्ना चक्षुषा दृष्ट्वा च सम्मुखमापतन्तं तं दूरादेव वरारोहा, नवग्रहा करिणीवोरुस्तम्भविधृता विचेष्टमानाङ्गी, कुसुमशयनपरिमलोपगतैः परवशा मुखरैर्मधुकरकुलै[6]रिवोत्थाप्यमाना[7], सम्भ्रमच्युतोत्तरीया[8] हारकिरणानुरसि कर्त्तु-मिच्छन्ती, मणिकुट्टिमनिहितेन वामकरतलेन हस्तावलम्बनं निजप्रतिमामिव याचमाना,

अथेति। सा कादम्बरी, उत्तरला नितान्तचपला तारका कनीनिका यस्य तेन तथोक्तेन चक्षुषा लोचनेन विलोक्य, आगत्य आगत्य दर्शनमनतिक्रम्येति यथादर्शनम्, यस्यां यस्यामवस्थायां दृष्टस्तां-तामवस्थामिति भावः, चन्द्रापीडस्य आगमनम् उपस्थितिम् आवेदयन्तं कथयन्तं परिजनं परिचारक-वर्गम्। इति एतत् प्रतिमुखं प्रत्येकमुखे निक्षिप्तानि प्रतिमुखेनैवाभिधीयमानत्वादर्पितानि नामाक्षराणि चन्द्रापीडेतिनामवर्णा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा पप्रच्छ पृष्टवती। इह द्विकर्मकोऽयं प्रच्छधातुः। अनेन चन्द्रापीडावलोकनस्य निरतिशयावेगः प्रतीयते।

प्रवर्द्धेति। अपि च, वरौ विस्तृतौ आरोहौ नितम्बौ (स्त्रीकट्याः पश्चाद्भागौ) यस्या सा वरारोहा 'नितम्बारोहौ स्त्रीकट्याः पश्चाज्जघनपार्श्वतः' इति कोशः। कादम्बरी, प्रवर्द्धमानः स्नेहाधिक्येनोपचीयमानो धवलिमा श्वेतता यस्य तेन चक्षुषा, सम्मुखम् समक्षम् आपतन्तम् आयान्तं तं चन्द्रापीडं दूरादेव दवि-ष्ठादेव दृष्ट्वा निरीक्ष्य कुसुमशयनात् पुष्पशयनीयात् उत्तस्थौ उत्थिता बभूवेति सम्बन्धः।

तत्कालीना यादृशी दशा कादम्बर्यास्तामेव विशिनष्टि—नवेति। नवो नूतनो ग्रहो ग्रहणं यस्याः सा अभिनवगृहीतेत्यर्थः करिणी हस्तिनीव, ऊर्वोः जङ्घयोः स्तम्भेन सात्त्विकभावजातेन निश्चलत्वेन विधृता व्याहतगमना, पक्षान्तरे तु ऊरुस्तम्भे विस्तृतबन्धस्थूणायां विधृता आबद्धा, अत एव विचेष्टमानाङ्गी निस्पन्दशरीरा विशेषेण कम्पमानशरीरा च। इह पूर्णोपमालङ्कारः।

कुसुमेति। परवशा परतन्त्रा देहस्तब्धतया स्वयमुत्थातुमशक्येत्यर्थः, अतएव कुसुमशयनस्य पुष्पतल्पस्य परिमलेन सुगन्धितृष्णयेत्यभिप्रायः। उपगतैः उपस्थितैः, मुखरैः शब्दायमानैः मधुकरकुलैः द्विरेफसमूहैः उत्थाप्यमाना उत्तोल्यमानेव। क्रियोत्प्रेक्षा।

ससम्भ्रमेति। ससम्भ्रमेण उत्थानवेगेन च्युतं स्रस्तम् उत्तरीयं प्रावरणवस्त्रं यस्याः सा, अतएव उरसि वक्षःस्थले हारकिरणान् मौक्तिकरश्मीन् कर्त्तुम् अर्पयितुम् इच्छन्ती अभिलषन्तीव, कुचयोराच्छा-दनायेत्याशयः। इह प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा।

मणीति। मणिकुट्टिमे रत्नमयबद्धभूमौ निहितं स्थापितं यत् वामकरतलं सव्यपाणितलं तेन, निज-प्रतिमां बद्धभूमिसङ्क्रान्तं स्वकीयप्रतिबिम्बं हस्तावलम्बनं याचमानेव अभ्यर्थ्यमानेव तन्निमित्तमेव

उसके बाद, परिजनवर्ग जिस-जिस भावसे एकके पीछे एक उस चन्द्रापीडको देखे, उस-उस भावसे कादम्बरीके समीपमें आ-आकर उसका आगमन निवेदन किये, तब वह चञ्चल पुतलीवाले नेत्रसे विना कहे ही पूछती कि 'कहो, वे क्या सचमुच आये हैं? तुमने उनको देखा है? वे कितनी दूर हैं? कहाँ हैं?' इस प्रकार संकेतसे पूछने पर प्रत्येकके द्वारा चन्द्रापीडका नामोच्चारण किया जाता था। इतनेमें जब उसने अत्यन्त शुभ्र होते अपने नेत्रसे चन्द्रापीडको दूरसे ही सामने आते देखा, तब वह विशाल-नितम्बा कादम्बरी पुष्प शय्या परसे उठी। तत्काल पकड़ी गई हस्तिनी जिस प्रकार विशाल-बन्धन-स्तम्भमें बद्ध रहकर शरीर-सञ्चालन करती है, वह भी उसी प्रकार अपने विशाल नितम्ब-भागसे बद्ध हो चलनेमें असमर्थ रहकर अवयवोंको निश्चेष्ट रखती थी। शरीर पराधीन रहनेके कारण वह अपनेसे ही उठनेमें असमर्थ थी, अतएव पुष्प-शय्याके सौरभके लोभसे उपस्थित हुए शब्दायमान भ्रमरोंसे ही मानो वह बलपूर्वक उठाई गई थी। शीघ्रतावश उत्तरीय वस्त्र खिसक गए थे, उसे वह हारकी किरणोंसे ही मानो वक्षःस्थल (छाती) का आवरण करनेकी इच्छा करती थी। मणिमय भूमिमें स्थापित (रखे) वाम-हस्तद्वारा समीपस्थ अपने प्रतिबिम्बसे ही मानो उठनेके लिए हस्तावलम्बनकी

१. क्वचित् तारकेण इत्यनन्तरं 'कथय' इत्यधिकः पाठो दृश्यते। २. क्वचित् 'विलोक्य' इति पदं नोपल-भ्यते। ३. कथं सम्यक्। ४. निक्षिप्तेनाक्षरं, निक्षिप्तेन चक्षुषानक्षरम्। ५. वर्द्धमानः। ६. जालैः। ७. आच्छा-द्यमाना। ८…उत्तरीयका, उत्तरीयांशुका।

स्रस्तकेशकलाप-संयमनश्रमितेन गलत्स्वेदसलिलेन दक्षिणकरेणाभ्युक्ष्येव[1] आत्मानमर्पयन्ती, चलित[2] त्रिक ताम्यत्त्रिवली-तरङ्गित[3]-रोमराजितया निष्पीड्यमानेव सर्वरसाननङ्गेन, अन्तः-प्रविष्टललाटिका चन्दनरसमिश्रमिव[4] चक्षुर्षा[5] क्षरन्ती शिशिरमानन्दजलम्, आनन्द[6]-वारिबिन्दु-वेणिकया चलितावतंस[7]-धूलिधूसरं प्रियप्रतिमाप्रवेशलोभेनेव कपोलफलकं प्रक्षालयन्ती, ललाटिकाचन्दनभरेणेव किञ्चिदधोमुखी तत्क्षणमपाङ्ग-भाग-पुञ्जित[8]-तारकया तन्मुखलग्नयेव दीर्घया दृष्ट्याकृष्यमाणा कुसुमशयनादुत्तस्थौ ।

---

तत्र वामकरन्यासादित्याशयः । अनेनोत्थानासामर्थ्यं ध्वनितम् । इह वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा । 'दुह्याच्पच' इत्यादिना द्विकर्मके परिगणितोऽयं याच् धातुः ।

स्रस्तेति । स्रस्तो विक्षिप्तो यः केशकलापः कचसमूहः तस्य संयमनेन बन्धनेन श्रमितः तदुव्यापारेण खेदितः तेन, अतएव गलन्ति क्षरन्ति स्वेदसलिलानि घर्मजलानि यस्मात्तेन दक्षिणकरेण, अपसव्यपाणिना, अभ्युक्ष्य आत्मानं स्वम् अर्पयन्तीव चन्द्रापीडाय प्रयच्छतीव, स्वेदजलानामेवाभ्युक्षणजलरूपत्वादित्याशयः । यः कोऽपि समर्पणीयं वस्तु अभ्युक्ष्य यस्मै कस्मैचित् समर्पयतीति स्थितिः । उक्तालङ्कारः ।

चलितेति—चलितम् उत्थानत्वरया कम्पितं यत् त्रिकं पृष्ठवंशस्य अधरास्थि, तेन ताम्यन्ती खिद्यमाना या त्रिवली उदरस्थरेखात्रयं तया तरङ्गिता कम्पिता रोमराजिः लोमपङ्क्तिर्यस्तास्तस्या भावस्तया कारणेन, अनङ्गेन कामेन सर्वरसान् निष्पीड्यमानेव निष्कासयितुं मर्द्यमानेव, कम्पितत्रिकस्य निष्पीडनयन्त्रसदृशत्वादित्याशयः । उक्तालङ्कारः । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः ।

अन्तरिति । अन्तःप्रविष्टो भालान्तःशुष्को यो ललाटिकाचन्दनरसः भालस्थतिलकविशेषमलयजद्रवः तन्मिश्रमिव सम्पृक्तमिव, अतएव शिशिरं शीतलम् आनन्दजलं प्रमोदाश्रु चक्षुषा नयनेन क्षरन्ती निःसारयन्ती । इह गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

आनन्देति । आनन्दवारिबिन्दूनां प्रमोदाश्रुपृषतां वेणिकया प्रवाहेण, चलितानां कम्पितानाम् अवतंसानाम् उत्तमाङ्गाभरणभूतकुसुमानां धूलिभिः परागैः धूसरं पाण्डुरं स्वं कपोलफलकं गण्डयुगलम्, प्रियप्रतिमायाः चन्द्रापीडप्रतिबिम्बस्य प्रवेशलोभेन तद्गण्डे प्रवेशतृष्णयेव प्रक्षालयन्ती धौतं कुर्वन्ती, प्रक्षालनाभावे धूलिधूसरत्वे च प्रियप्रतिमाप्रवेशासंभव इत्याशयः । उक्तालङ्कारः । 'वेणी सेतुप्रवाहयोः । देवताडे केशबन्धे' इति हेमचन्द्रः ।

ललाटिकेति । ललाटिकाचन्दनस्य भालस्थतिलकविशेषमलयजस्य भरेण भारेणेव किञ्चिदधोमुखी ईषदवाङ्मुखी, तत्क्षणं चन्द्रापीडदर्शनसमये अपाङ्गभागे लोचनप्रान्तदेशे पुञ्जितां समस्तां शक्तिमादाय पुञ्जभावेन स्थिता तारका कनीनिका यस्यास्तया, तन्मुखलग्नया चन्द्रापीडमुखसंसक्तया, अतएव दीर्घया विस्तृतया दृष्ट्या लोचनेन आकृष्यमाणेव आकर्षणं विधीयमानेव । दृष्टिश्च तन्मुखे दृढसम्बद्धा पुनश्च आकृष्यमाणा अतएव सा दीर्घीभूता रज्जुवदित्याशयः । क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

---

प्रार्थना करती थी । स्खलित केशकलापके बन्धन करनेसे परिश्रान्त दक्षिण हाथमेंसे घर्म-जल ( पसीने ) निकल रहे थे, अतएव वह मानो उस दक्षिण-हस्त द्वारा अभ्युक्षण कर चन्द्रापीडको अपना आत्मसमर्पण करती थी । उठनेके समय पीठ मुड़नेसे त्रिवली ( उदरके ३ थर ) चलित होनेके कारण रोमराजिके भी कम्पित होनेसे ऐसा प्रतीत होता था मानों कामदेव उसे निष्पीडन ( निचोड़ ) कर समस्त रसोंको बाहर निःसारण कर ( निकाल ) रहा हो । नयनद्वारा जो आनन्दाश्रु निःसारण करती थी, वह तिलकमेंसे ललाटके अन्दर पहुँचे चन्दन-रससे मिश्रित होकर ही मानो शीतल हो गया था । शिरोभूषण-भूत पुष्पोंकी रेणुसे कपोलदेश धूसरवर्ण ( मलिन ) हो गया था, अतएव उसमें प्रियतम चन्द्रापीडके प्रतिबिम्ब प्रवेश कर जानेके लोभसे ही मानो आनन्द-जलकी बूँदोंके प्रवाहसे उसको धो रही थी । ललाट-तिलक-चन्दनके भारसे ही मानो थोड़ा नीचे देख रही थी, उस क्षण नयनकी तारा उसके प्रान्तभागमें जाकर पुञ्जीभूत हुई और राजपुत्रके मुखमण्डल पर संलग्न होकर और भी लम्बी हुई इस प्रकारकी दृष्टि ही मानो उस पुष्पशय्यासे उसका आकर्षण कर रही थी ।

---

१. समभ्युक्ष्येव । २. बलित''' । ३ ताम्रत्रिवली तरङ्गिणी''' । ४'''चन्दनरसानिव,''' रसमिश्रम्, सरान्, ५. चक्षुर्भ्याम् । ६. नन्द''' । ७. घटितावतंस''' । ८'''पुञ्जित''' ।

चन्द्रापीडस्तु समुपसृत्य पूर्ववदेव तां महाश्वेताप्रणामपुरःसरं दर्शितविनयः प्रणनाम। कृतप्रतिप्रणामायाञ्च तस्यां पुनस्तस्मिन्नेव कुसुमशयने समुपविष्टायां[1] प्रतीहार्या समुपनीतां[2] जाम्बूनदमयीमासन्दिकां रोचिष्णु-रत्न-प्रत्युप्तपादां पादेनैवोत्सार्य क्षितावेवोपाविशत्। अथ केयूरकः 'देवि! देवस्य चन्द्रापीडस्य प्रसादभूमिरेषा पत्रलेखा नाम ताम्बूलकरङ्कवाहिनी' इत्यभिधाय पत्रलेखामदर्शयत्। अथ कादम्बरी दृष्ट्वा ताम् 'अहो! मानुषीषु पक्षपातः प्रजापतेः' इति चिन्तयाम्बभूव। कृतप्रणामाञ्च तां सादरम् 'एह्येहि' इत्यभिधायात्मनः समीपे सकुतूहलपरिजनै[3]र्दृश्यमानां पृष्ठतः समुपावेशयम्। दर्शनादेवोपारूढप्रीत्यतिशया च मुहुर्[4]मुहुरेनां सोपग्रहं करकिसलयेन पस्पर्श।

चन्द्रापीडस्तु सपदि कृतसकलागमनोचितोपचारस्तदवस्थां चित्ररथतनयामालोक्याचिन्तयत्—'अतिदुर्विदग्धं हि मे हृदयमद्यापि न श्रद्दधाति। भवतु, पृच्छामि तावदेनं निपु-

---

चन्द्रेति। समुपसृत्य समीपमागत्य। महाश्वेतायाः प्रणामो नमस्कारः पुरःसरः अग्रवर्त्ती यत्र क्रियायां तद् यथा स्यात्तथा, दर्शितविनयः प्रकटितशिष्टाचारः, तां कादम्बरीम्, प्रणनाम नमश्चक्रे। तदनन्तरं कृतो विहितः प्रतिप्रणामोऽनुनमस्कारो यया तस्याम्, तस्मिन्नेव कुसुमशयने पुष्पशय्यायां समुपविष्टायां समासीनायां तस्यां कादम्बर्याम्, प्रतीहार्या द्वारपालिकया समुपनीतां समुपस्थापितां जाम्बूनदमयीं सुवर्णरचिताम्, रोचिष्णुभिः दीप्तिशीलैः रत्नैः मणिभिः प्रत्युप्ताः खचिताः पादा यस्यास्ताम्, आसन्दिका वेत्रासनम्, पादेनैव चरणेनैव उत्सार्य, अपसार्य, क्षितावेव भूमावेव उपाविशत् उपविष्टवान्, शिष्टाचारप्रदर्शनस्यावश्यकत्वादित्याशयः। 'वेत्रासनमासन्दी स्त्री वृषी च व्रतिकासनम्'इति रामाश्रमी।

अथेति। अथ उपवेशनानन्तरम्, प्रसादभूमिः अनुग्रहपात्रम्। अदर्शयत् दृग्विषयतां प्रापयत्। प्रजापतेः विधातुः पक्षपातः, निरतिशयसौन्दर्यनिर्माणादित्याशयः। तां पत्रलेखाम्। सकुतूहलैः सकौतुकैः परिजनैः स्वीयपरिचारकैः दृश्यमाना अवलोक्यमाना ताम्, पृष्ठतः पश्चात् आत्मनः स्वस्य समीपे निकटे समुपावेशयत् इत्यन्वयः। उपारूढः उत्पन्नः प्रीत्यतिशयः स्नेहाधिक्यं यस्याः सा कादम्बरी। एनां पत्रलेखाम्, सोपग्रहं सस्नेहं करकिसलयेन पाणिपल्लवेन पस्पर्श स्पृष्टवती।

चन्द्रेति। सपदि तत्क्षणम्, कृतो विहितः सकलानां समस्तानां मदलेखाप्रभृतिजनानाम् आगमनोचितोपचारः आत्मनोऽभिनवोपस्थितियोग्याभिनन्दनव्यवहारो येन सः। सैवावस्था मदनविह्वलदशा यस्यास्तां चित्ररथतनयां गन्धर्वराजपुत्रीं कादम्बरीम् आलोक्य वीक्ष्य अचिन्तयत् चिन्तितवान्—मे मम हृदयं चेतः अतिदुर्विदग्धम् अतीव दुःशिक्षितं प्रस्तुतनिश्चयायोग्यमिति तात्पर्यम्, यस्माद्यापि न श्रद्दधाति मां लक्ष्यीकृत्यैवेयं मदनपीडितेति न विश्वसिति प्रस्तुतनिश्चययोग्यत्वे तु नूनमेवैतत् विश्वसेदित्याशयः। निपुणालापेन चतुरजनोचितसम्भाषणेन व्यङ्ग्यार्थपूर्णवाक्येनेत्यर्थः।

---

चन्द्रापीडने तो समीपवर्त्ती होकर पहलेके समान ही विनय-प्रदर्शन-पूर्वक महाश्वेताको प्रणाम कर कादम्बरीको प्रणाम किया। वह भी प्रतिप्रणाम ( बदलेमें नमस्कार ) करके फिर उसी पुष्प-शय्या पर बैठी थी कि इतनेमें प्रतीहारीने एक सुवर्णकी बनाई हुई आसन्दिका ( कुर्सी ) लाकर रखी, जिसके पायोंमें दीप्तिशील ( चमकते हुए ) रत्न खचित ( जड़े ) थे; उसे पैरसे हटाकर वह पृथिवी पर ही बैठ गया। उसके बाद केयूरकने कहा—'देवि! यह राजकुमार चन्द्रापीडके अनुग्रहकी पात्र पत्रलेखा नामकी ताम्बूलकरङ्कवाहिनी (पानके डब्बेको धारण करनेवाली ) है'—यों कहकर पत्रलेखाको दिखाया। तदनन्तर उसको देखकर ही कादम्बरी सोचने लगी कि—'अहो! मनुष्यजातिकी स्त्रियों के प्रति प्रजापतिका यह पक्षपात!' फिर पत्रलेखाके प्रणाम करते ही उसने आदरके साथ—'आओ, आओ'—यों कहकर अपने समीप पृष्ठभाग ( पीछे ) में ही बैठा लिया, और समस्त परिजनवर्ग कौतुकके साथ उसको देखने लगे। देखनेके अनन्तर ही उसके प्रति अत्यन्त प्रेम उत्पन्न होनेके कारण वह बारंबार स्नेह-पूर्वक अपने करपल्लवसे उसका स्पर्श करने लगी।

उस समयमें ही मदलेखादि समस्त परिजनोंको अभिनवागमनोचित सन्तोषणादि सब उपचार सम्पादन कर चन्द्रापीड, कादम्बरीको उस अवस्थामें देखकर विचार करने लगा—'मेरा चित्त अत्यन्त कुशिक्षासे शिक्षित

---

१. उपविष्टायां। २. उपनीतां। ३. सकुतूहलं परिजनेन। ४. क्वचित् द्विरुक्तिर्नास्ति।

णालापेनेति'। 'प्रकाशमब्रवीत्—'देवि ! जानामि[2] कामरतिं निमित्तीकृत्य प्रवृत्तोऽयमविरल-सन्तापतीव्रो व्याधिः[3]। सुतनु ! सत्यं न तथा त्वामेष व्यथयति यथास्मान्[4]। इच्छामि देह-दानेनापि[5] स्वस्थामत्रभवतीं कर्त्तुम्। उत्कम्पिनीमनुकम्पमानस्य कुसुमेषुपीडया पतितामवेक्ष-माणस्य पततीव मे हृदयम्। अनङ्गदे तनुभूते[6] ते भुजलते गाढसन्तापया[7] च दृष्ट्या वहसि

प्रकाशमिति। जानामि अग्रेतममहं मन्ये। कां कामपि शब्दतोऽप्रतिपादनीयाम् अरतिं विरागं निमित्तीकृत्य हेतुं विधाय, अविरलेन अजस्रेण सन्तापेन संज्वरेण तीव्रो महान् अयं प्रत्यक्षतयोपलभ्य-मानो व्याधिः रुक् प्रवृत्तः त्वयि सञ्जात इति वाच्योऽर्थः। कामरतिं मदनानुरागम्, अविरलेन सन्तापेन देहोत्तापेन तीव्र इति व्यङ्ग्योऽर्थः।

सुतन्विति। हे सुतनु कादम्बरि !, एष त्वयि विद्यमान एव व्याधिः, यथा अस्मान् व्यथयति पीड-यति, सत्यमेव नौपचारिकं वचः तथा त्वां भवतीं न व्यथयतीत्यन्वयः। पीडा हि निजाश्रितजनादपि स्नेहिनं जनं निरतिशयं व्यथयतीति जनश्रुतेर्यथार्थत्वादित्याशयः। व्यङ्ग्यार्थस्तु—एष काम इति। इह 'सुतनु !' इति सम्बोधनमपि रतिकालिकं सर्वावयवसौन्दर्यं हृदयाकर्षकमभिव्यनक्ति। एतदनुरूप एव भावः शाकुन्तले यथा—

'तपति तनुगात्रि ! मदनस्त्वामनिशं मा पुनर्दहत्येव'

अत एवोक्तम्—इच्छामीति। देहदानेनापि शरीरावसानं कृत्वापि अत्रभवतीम् आदरणीयां त्वां स्वस्थां सुस्थां कर्त्तुम् इच्छामि अभिलषामि, स्वीयशरीरतोऽपि भवत्या अधिकप्रियत्वादित्याशयः। देह-दानेनापि सुरतसमये तुभ्यं देहार्पणेनापीति व्यङ्ग्योऽर्थः।

उत्केति। उत्कम्पिनीं पीडातिशयात् नितान्तकम्पवतीं त्वाम् अनुलक्ष्यीकृत्य कम्पमानस्य तव कम्पं दृष्ट्वा कम्पयुक्तस्येत्यर्थः, तथा पीडया कामव्यथया कुसुमेषु पुष्पेषु पतितां शयिताम् अवेक्षमाणस्य अव-लोकमानस्य मे मम हृदयं चित्तं पततीव बहिर्निःसरतीव, भवत्याः क्लेशनिरीक्षणेन दारुणक्लेशोदया-दित्याशयः, इति स्फुटोऽर्थः। उत्कम्पिनीम् उत्कटमदनाविर्भावात् कम्पाभिधसात्त्विकभाववतीं त्वाम् अनु-कम्पमानस्य सुरतद्वारा कृपापात्रं कर्त्तुमभिलषतः, तथा कुसुमेषोः पुष्पबाणस्य मदनस्य पीडया यातनया पतितां शिथिलतनुं त्वामवेक्षमाणस्य मे हृदयं पततीव त्वां सुरताय ( आलिङ्गनाय ) धावतीवेति व्यङ्ग्योऽर्थः।

अनङ्गद इति। तनुभूते पीडावशात् कृशीभूते ते तव भुजलते बाहुवल्लीयुगलम् अनङ्गदे केयूराख्य-बाहुभूषणवर्जिते सति इति शेषः, पूर्वतस्तनुत्वेन सम्प्रति शिथिलीभावसम्भवादित्याशयः। तथा गाढः तीव्रः सन्तापो यस्यां तया तादृश्या दृष्ट्या नयनेन च, रक्तं रक्तवर्णं तामरसं कमलं यत्र तां स्थलकमलिन स्थलनलिनीं वहसीव प्रापयसीव, एतद्द्वयमपि महत्कष्टं जनयतीत्याशयः। इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। अनङ्गं कामं कामोत्तेजनां ददाति प्रयच्छतीत्यनङ्गदा तत्सम्बुद्धौ हे अनङ्गदे कामवर्धिके ! इत्यर्थः। ते तव भुजलते तनुभूते मदनव्यथया कृशीभूते, तथा गाढसन्तापया तीव्रकामपीडाद्योतिकया दृष्ट्या, दृष्टिपातेन च, स्थले पद्मिनीचित्रिणीत्यादिनायिकाकीर्णस्थले कमलिनी नलिनीरूपा तां चतुर्विधनायिकामध्यपद्मिनीरूपमास्मानं

है, क्योंकि इस समयमें भी 'इसकी प्रकृत अवस्था पर विश्वास नहीं करता है। जो हो, इससे भङ्गीपूर्णवाक्यमें कुछ पूछूँ।' इस प्रकार विचार कर प्रकाशरूपमें उसने कहा—'देवि! मैं जानता हूँ कि आपको किस अनिर्वचनीय वैराग्यके अभाव ( दूसरा अर्थ—कामजनित अनुराग ) के कारण यह रोग उत्पन्न हुआ है, और निरन्तर सन्ताप होनेसे भयङ्कर हो गया है [ जिसे आप सहन करती हैं ], सुन्दरि ! यह रोग मुझे जिस प्रकार व्यथित करता है, सत्य ही आपको उस प्रकार व्यथित नहीं करता है। इसलिए देहदानसे भी आपको मैं स्वस्थ करनेकी इच्छा करता हूँ। व्याधिके प्रभावसे काँपती आपको देखकर अनुकम्पा (कृपा, कम्पन) करता और पुष्प-शय्यामें व्याधि ( दूसरा अर्थ—कामकी पीड़ा ) से पड़ी आपको देखता मेरा हृदय मानो बाहर निकल पड़ता है। आपकी कृश भुज-लता अनङ्गद ( बाजूबन्द-विहीन, कामको उत्पन्न करनेवाली ) हुई है, तीव्र सन्तापसे सन्तप्त आपका नयन युगल मानो रक्ततामरस ( कठोर रक्तता, विरस अनुराग ) समन्वित स्थलपद्मिनीको धारण करता है। विशेषतः

१. प्रकाशं वाचम्। २. जानासि। ३. अविचलसंतापतन्त्रो व्याधिः। ४. तामयं व्यथयति यथा माम्। ५. देहप्रदानेन। ६. अनङ्गदेवतानुभूते, अनङ्गतनुभूते। ७. गाढसन्तापतया।

स्थलकमलिनीमिव[1] रक्ततामरसाम्। दुःखितायाञ्च[2] त्वयि परिजनेऽपि चानवरतकृताश्रुबिन्दुपातेन वर्त्तते मुक्ताभरणता। गृहाण स्वयंवरार्हाणि [3]मङ्गलप्रसाधनानि। सकुसुमशिलीमुखा हि शोभते नवा लता' इति[4]।

अथ कादम्बरी बालतया स्वभावमुग्धापि कन्दर्पेणोपदिष्टयेव प्रज्ञया तमशेषमस्या-[5]ऽव्यक्तव्याहारसूचितम् अर्थं मनसा जग्राह, मनोरथानान्तु तावतीं भूमिमसम्भावयन्ती शालीनताञ्चावलम्बमाना तूष्णीमेवासीत्। केवलमुत्पादितान्यव्यपदेशा तत्क्षणं तमाननामोद-

---

वहसीव, तथा अरसां श्रृङ्गारवर्जितां सुरतरूपश्रृङ्गारप्रयोजनवर्जिताम्, रक्तां केवलमनुरक्तां वहसीव, गाढकामसन्तापद्योतकेन दृष्टिपातेन कमलिनीभूतस्य स्वस्य कामानुरागं प्रकटयसीवेति व्यङ्ग्योऽर्थः। 'स्थलकमलिनीम्' इत्यस्यापि कर्मसंज्ञा तु वहतेर्द्विकर्मकत्वाद्बोध्या।

दुःखीति। अपि च, त्वयि दुःखितायां व्याधिप्रभावात् समुत्पन्नक्लेशायां सत्याम्, परिजनेऽपि च अनवरतं निरन्तरं कृतो विहितो यः अश्रुपात नयनाम्बुपतनं तेन सह मुक्ताभरणता त्यक्तभूषणता वर्त्तते, अत्यन्तानुरागयुक्ततया त्वत्क्लेशेन क्लेशोदयादित्याशयः। अतएव स्वयम् आत्मनैव त्वम्, वराणि सर्वश्रेष्ठानि च तानि अर्हाणि निजोचितानि चेति तानि वरार्हाणि, मङ्गलप्रसाधनानि माङ्गलिकभूषणानि गृहाण धारय तथासति परिचारकेणापि प्राप्ताश्वासेन सता भूयोऽप्याभूषणं गृह्येतेत्याशयः। एवञ्च नवा नवीना लता व्रततिः, कुसुमैः प्रसूनैः शिलीमुखैर्मधुकरैश्च सह वर्त्तत इति सकुसुमशिलीमुखा सत्येव राजते न पुनः अकुसुमशालिमुखेत्यर्थः, अतो भवति अपि सालङ्कारैव राजसे न पुनरनलङ्कारेति भवत्या नूनमेवालङ्करणं ग्रहणीयमित्याशयः। इह दृष्टान्तोऽलङ्कारः। त्वयि दुःखितायां कामयातनया समुत्पन्नक्लेशायां सत्यां परिचारकेऽपि च अनवरतकृताश्रुबिन्दुपातेन सह निरन्तरविहितनयनाम्बुकणपतनेन सार्धं मुक्ताभरणता वर्त्तते, भवत्याः क्लेशेनैव क्लेशोदयादिति प्राग्वदेवाभिप्रायः। अतएव स्वयंवरार्हाणि विवाहोचितानि, मङ्गलप्रसाधनानि करसूत्रादीनि माङ्गलिकाभूषणानि, गृहाण। एवं विधायामपि दशायां त्वं शोभितैवेति विभज्याह—सकुसुमेति। नास्ति बालता शिशुता यस्याः सा नबालता तरुणी, कुसुममेव पुष्पमेव शिलीमुखः शरो यस्य सः कुसुमशिलीमुखो मदनः, तेन सह वर्त्तत इति सा तादृश्येव शोभते न पुनरमदनेत्याशयः। इह 'नैकधा' इत्यादिवत् 'न बालता' इत्यत्र नञः प्रकृतिभावान्नलोपाभावः। नन्वोष्ठादन्त्यस्थयवकारयोर्भेदस्य स्थानभेदेनैव स्फुटं प्रतीयमानत्वात्प्रकृतेऽभेदः कथमिति चेत्?

'यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बवोरलोस्तथा'

इति नियमावगमेन क्षतेरभावात्।

अथेति। बालतया शिशुतया स्वभावेन प्रकृत्या मुग्धा सरलापि कन्दर्पेण कामेन उपदिष्टयेव शिक्षितयेव प्रज्ञया धिया। अशेषं समस्तम्, अव्यक्तव्याहारसूचितम् अस्फुटवाक्यप्रतिपादितम् अर्थम् उपभोगविषयकं रहःसम्मिलनरूपं वा मनसा हृदयेन जग्राह बुबुधे। इह 'उपदिष्टयेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः। मनोरथानाम् अभिलाषाणां तु तावतीं भूमिं समागमरूपमत्युन्नतविषयम् असम्भावयन्ती अवितर्कयन्ती शालीनतां विनीततामित्यर्थः अवलम्बमाना आश्रीयमाणा तूष्णीं मौनमेव आसीत्। उत्पादितान्यव्यपदेशा

---

आपके दुःखित रहनेसे परिजनोंने भी निरन्तर अश्रुबिन्दु टपका कर अलङ्कार परित्याग कर दिया है (अर्थात् मोतियोंके आभूषणोंके स्थानमें अश्रुधारण किया है) अतएव आप अब स्वयंवरयोग्य (स्वयं अपने आप, अच्छे और उपयुक्त स्वयंवरके योग्य) उत्कृष्ट माङ्गलिक अलङ्कारको धारण करें, क्योंकि नवीनलता (नई लता और युवती) तो पुष्प और शिलीमुख (भ्रमर तथा कामदेवके बाण) के साथ ही शोभायमान प्रतीत होती है।'

तदनन्तर बाल्यावस्थाप्रयुक्त स्वभावसे सरल होने पर भी मानो कामदेव द्वारा उपदिष्ट हुई हो इस प्रकार राजकुमारके उस अस्पष्टार्थ वाक्यसे सूचित समस्त अर्थको मन ही मन वह समझ गई, किन्तु अपने अभिलाषाओंके विषयमें इतनी सफलता की सम्भावना न समझ, लज्जाका आश्रयण कर चुप होकर रह गई। उस क्षणमें मुखके सौरभसे उपस्थित हुए भ्रमरोंके अन्धकारसे आच्छादित (ढके) चन्द्रापीडको देखनेके लिए ही मानो अन्य किसी

---

१. स्थलकमलिनीव। २. दुःखितायामपि। ३. क्वचित् 'मङ्गल' पदं न दृश्यते। ४. अपि च अनवरत''', परिजनोऽपि चानवरतकृताश्रुबिन्दुपातेन वर्त्तते। मुक्ताभरणतां गृहाण।''' कुसुमशिलीमुखान्तर्हिता शोभते यथा लता इति। ५. अस्य वक्त्रसूचितम्।

मधुकरपटलान्धकारितं[1] द्रष्टुमिव स्मितालोकमकरोत् । ततो मदलेखा प्रत्यवादीत्— 'कुमार[2]! किं कथयामि, दारुणोऽयमकथनीयः खलु सन्तापः । अपि च [3]कुमारभावोपेतायाः किमिवास्या यन्न सन्तापाय । तथाहि, मृणालिन्याः शिशिरकिसलयमपि हुताशनायते, ज्योत्स्नाप्यातपायते, ननु किसलयतालवृन्तवातैर्मनसि जायमानं किं न पश्यसि[4] खेदम् ? धीरत्वमेव प्राणसन्धारणहेतुरस्याः' इति । कादम्बरी तु हृदयेन[5] तमेव मदलेखालापमस्य प्रत्युत्तरीचकार । चन्द्रापीडोऽप्युभयथा घटमानार्थतया सन्देहदोलारूढेनैव चेतसा महाश्वेतया

---

प्रकाशितान्यव्याजा । आननामोदेन वदनपरिमलेनोपस्थितमित्यर्थः यत् मधुकरपटलं भ्रमरसमूहः तेन अन्धकारितं समुत्पन्नान्धकारं तं चन्द्रापीडं द्रष्टुम् अवलोकयितुमिव स्मितालोकम् ईषद्धास्यरूपप्रकाशम् अकरोत्, तिमिराच्छादितं घटादिकं द्रष्टुं दीपप्रकाशवदित्याशयः ।

इह तथोपस्थितभ्रमरसमूहेन अन्धकारितत्वसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः, 'द्रष्टुमिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

तत इति । प्रत्यवादीत् प्रत्युत्तरमकार्षीत् । अकथनीयो वक्तुमशक्यः दारुणोऽतिकठिनः सन्तापो दाहः, अत्यधिकतीव्रतया अनिर्वचनीयत्वात्, कामोत्पन्नतया ह्रीजनकत्वाच्चेत्याशयः । कुमारभावोपेतायाः कौमार्यमुपगतायाः सुतरामेव निरतिशयमृदुलाया इत्याशयः, अस्याः कादम्बर्याः सम्बन्धे किमिव वस्तु विद्यते यन्न सन्तापाय दाहायोपपद्यते इति वाच्योऽर्थः । प्रतीयमानार्थस्तु कुमारे (अर्थात् त्वयि) भावोपेताया अनुरक्तायाः अथवा कुत्सितो गर्हितो मारः कन्दर्पो यस्मादेवंविधे परमसुन्दरे त्वयि, किं वा कुत्सितो यो मारः तस्य भावोपेताया आवेशक्रियामुपगताया अस्या विरहोद्दीपकतया सर्वमपि वस्तुजातं तापायैवेति ।

सन्तापप्रतिद्वन्द्विनामपि तदुत्पादकत्वकथनेन निखिलवस्तूनामेव सन्तापकत्वं निरूपयितुमाह— तथाहीति । मृणालिन्याः कमलिन्याः शिशिरकिसलयमपि शीतलपल्लवमपि हुताशनायते वह्निवदाचरति, ज्योत्स्ना चन्द्रिकाऽपि आतपायते सूर्यालोकायते, स्थापनद्वयेऽपि सन्तापयतीत्यर्थः ।

इहोभयोः प्रत्येकं व्यङ्ग्यतोपमालङ्कारः, तेन शिशरपदार्थात् सन्तापजननाद्विषमालङ्कारः प्रतीयत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।

नन्विति । आमन्त्रणे ननुशब्दः । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । किसलयं पल्लवमेव तालवृन्तं व्यजनं तस्य वातैः पवनैः मनसि चेतसि खेदं क्लान्तिं किं न पश्यसि अवलोकयसि ? ननु तथाविधसन्तापे जीवनधारणमित्यत आह—धीरत्वमिति । अस्याः कादम्बर्याः प्राणसन्धारणे जीवितधारणे धीरत्वमेव धैर्यमेव हेतुर्निमित्तमिति वाच्योऽर्थः । हे धीर ! त्वमेव सम्प्रति अस्याः प्राणसन्धारणे हेतुः, त्वां प्राप्यैव सेयं जीवितुं शक्नुयादिति तु प्रतीयमानोऽर्थः सहृदयसंवेद्यः ।

कादेति । मदलेखालापं मदलेखासम्भाषणम्, अस्य चन्द्रापीडप्रतिपादितवचनसन्दर्भस्य, प्रत्युत्तरीचकार प्रतिवचः प्रादात्, स्वस्यापि तथैवाभिधीयमानत्वादित्याशयः ।

चन्द्रेति । उभयथा घटमानार्थतया 'कुमारभाव' पदस्य कौमार्यम् आत्मन्यनुरागश्चेति प्रकारद्वयेन घटिततया कारणेन, सन्देहः मदनुरागायैव कुमारभावपदं प्रयुक्तं न वेति संशय एव दोला ताम् आरूढेनैव

---

बहानेसे ईषत् हास्य-प्रकाश करने लगी । उसके बाद मदलेखाने प्रत्युत्तर दिया—'राजपुत्र ! क्या कहूँ ? अत्यन्त भयङ्कर यह सन्ताप अवर्णनीय है; जिसमें फिर देवी कुमारभावापन्न (सुकुमारता, सन्ताप देनेवाले कामदेवके भावसे समन्वित, (अथवा आप कामसे भी अधिक रमणीय हैं, आपके भावसे युक्त) हैं इसलिए कौनसी ऐसी वस्तु है जिससे उनको सन्ताप उत्पन्न न होता हो । देखिए—'पद्मलताका शीतल पल्लव भी अग्निके समान व्यवहार करता है और चन्द्रिका (चाँदनी) भी रौद्रके समान आचरण करती है । पल्लवोंके पंखेकी पवनसे भी उनके चित्तमें जो कष्ट उत्पन्न होता है, उसे क्या आप देखते नहीं ? ऐसी स्थितिमें इनके प्राण-धारण करनेका केवल धैर्य ही कारण है ।' कादम्बरीने तो मन ही मन मदलेखाके कहनेको ही चन्द्रापीडके वाक्योंका प्रत्युत्तर दिया । 'कुमारभाव' शब्दके अर्थ दो प्रकारसे सङ्गत होनेके कारण ही, 'मेरे प्रति अनुरागार्थमें 'कुमारभाव' शब्दका प्रयोग किया है या नहीं ? 'इस प्रकारके संशयरूप-दोलारूढ़ चित्तमें चन्द्रापीड, महाश्वेताके साथ प्रणय-वृद्धि

---

१···अन्धकारितं मुखं । २. सुकुमार । ३. सुकुमार··· । ४. पश्यति । ५. कादम्बरीहृदयेन ।

सह प्रीत्युपचयचतुराभिः कथाभि[1] महान्तं कालं[2] स्थित्वा तथैव महता यत्नेन मोचयित्वात्मानं स्कन्धावारगमनाय कादम्बरीभवनान्निर्ययौ।

निर्गतश्च तं तुरङ्गममारुरुक्षन्तं पश्चादागत्य केयूरकोऽभिहितवान्—'देव ! मदलेखा विज्ञापयति—'देवी कादम्बरी[3] प्रथमदर्शनजनितप्रीतिः पत्रलेखां निवर्त्तमानामिच्छति, पश्चाद्यास्यति' इति श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।' इत्याकर्ण्य चन्द्रापीडः 'केयूरक ! धन्या स्पृहणीया च पत्रलेखा, यामेवमनुबध्नाति, दुर्लभो देवीप्रसादः प्रवेश्यताम्' इत्यभिधाय पुनः स्कन्धावारमेवाजगाम[5]। प्रविशन्नेव पितुः समीपादागतमभिज्ञाततरम्[6] आलेखहारकमद्राक्षीत्। धृततुरङ्गमश्च प्रीतिविस्फारितेन चक्षुषा दूरादेवापृच्छत्—'अङ्ग ! कच्चित् कुशली तातः सह सर्वेण परिजनेन, अम्बा च सर्वान्तःपुरैः' इति। अथासावुपसृत्य प्रणामानन्तरं—'देव ! यथाज्ञापयसि' इत्यभिधाय लेखद्वितयमर्पयाम्बभूव। युवराजस्तु शिरसि कृत्वा स्वयमेव च तदुन्मुच्य क्रमशः पपाठ—

---

कृतारोहणेनैव चेतसा हृदयेन। प्रीत्युपचयेन प्रणयातिशयेन चतुरा दक्षाः ताभिः कथाभिः सम्भाषणैः, महान्तं कालम् अत्यधिकसमयम्। तथैव तद्विधाभिर्निपुणाभिः कथाभिरेव। आत्मानं मोचयित्वा ताभ्यो निष्काश्य अनुमतिम् आदायेत्यर्थः। स्कन्धावारगमनाय स्वसैन्यसमीपोपस्थितये। निर्ययौ निर्जगाम।

निर्गतमिति। निर्गतं निःसृतम् तुरङ्गमं वाजिनम् आरुरुक्षन्तम् आरोढुमिच्छन्तं तं चन्द्रापीडम्। प्रथमदर्शनेनैव पत्रलेखायाः सर्वप्रथमावलोकनेनैव जनिता उत्पन्ना प्रीतिः स्नेहो यस्याः सा। निवर्त्तमाना भवता इहैव रच्यमाणाम् इच्छति समीहते। पश्चात् यास्यति गमिष्यति पत्रलेखेति शेषः। देवो भवान्, प्रमाणं विधेयनिर्णयिता। देव्याः कादम्बर्याः प्रसादोऽनुग्रहः। अनुबध्नाति अनुगच्छति विषयीकरोतीत्यर्थः। प्रवेश्यतां गृहीत्वा गम्यतां पत्रलेखेति शेषः।

प्रविशन्निति। प्रविशन्नेव स्कन्धावार इति शेषः, पितुःसमीपात् जनकपार्श्वात् अभिज्ञाततरम् अतीव परिचितम्, अतएव प्रतिपत्त्प्रेरिततया न संशय इत्याशयः। आलेखहारकं पत्रवाहकम् अद्राक्षीत् दृष्टवान्। धृततुरङ्गमश्च गृहीताश्वश्च प्रीतिविस्फारितेन स्नेहविस्तीर्णीकृतेन चक्षुषा नयनेन। अपृच्छत् पृष्टवान्—अङ्गेति सम्बोधनबोधकमव्ययम्। 'अथ सम्बोधनार्थकाः स्युः, पाट् प्याडङ्ग हे है भोः' इत्यमरः। कच्चिदिति ज्ञातार्थे। सर्वान्तःपुरैःनिखिलावरोधपुरस्थनारीभिः सह। इति कच्चित् ज्ञातुमभिलषामीत्यर्थः।

अथेति। असौ आलेखहारकः। उपसृत्य समीपमेत्य यथा आज्ञापयसि येन प्रकारेण पृच्छसि तथा ते सर्वं एव क्षेमयुक्ता इत्यर्थः। लेखद्वितयं पत्रयुगलम् अर्पयाम्बभूव अर्पितवान्। स्वयमेव आत्मनैव तत् लेखद्वितयम् उन्मुच्य आच्छादकात् प्रच्याव्य। पपाठ पठितवान्—

---

द्वारा बहुत देर तक मनोहर आलाप करनेके पश्चात् उस भागमें ही गुरुतर यत्नसे अपनेको मुक्त कराकर स्कन्धावार ( डेरे ) में जानेके लिए कादम्बरीके भवन से निकला।

बाहर निकलकर घोड़े पर चढ़नेकी इच्छा ही करता था कि इतनेमें केयूरकने पीछेसे आकर कहा—'राजकुमार ! मदलेखा सूचित करती है कि—'पत्रलेखाके प्रथम दर्शनने ही देवीको सन्तोष उत्पन्न कर दिया है, अतएव वह इच्छा करती हैं कि—आप उसको यहाँ छोड़ जायँ, वह पीछे जाएगी' इसे सुनकर इस समय आप जैसा निश्चय करें ( अर्थात् इस विषयमें आपकी क्या आज्ञा है ? )' यह सुनकर चन्द्रापीडने उत्तर दिया—'केयूरक ! पत्रलेखा धन्य और सब लोगोंका ही स्पृहणीय है, क्योंकि जिसके ऊपर देवीका यह दुर्लभ अनुग्रह हुआ है, अतएव तुम इसे अभ्यन्तरमें प्रवेश कराओ। यों कहकर फिर वह सेनाके समीप ही आ पहुँचा। उसने सेनाके अभ्यन्तरमें प्रवेश करते ही देखा कि—अत्यन्त परिचित एक पत्रवाहक पिताके समीपसे आया हुआ है। उस समय वह घोड़ेको खड़ा करके प्रीतिसे फैले हुए नेत्र-सहित दूरसे ही पूछने लगा—'भद्र! क्या ? समस्त परिजनोंके साथ पूज्य पिताजी और समस्त अन्तःपुरस्थ रमणियोंके साथ माताजी कुशलपूर्वक तो हैं ?' इसके बाद उस पत्रवाहकने समीपमें आकर प्रणाम करनेके अनन्तर कहा—'देव ! आप जैसे कहते हैं, वे उस प्रकारसे ही कुशलसे हैं' यों कहकर दो पत्र समर्पण कर दिए। राजकुमार उन दोनों पत्रोंको शिरसे लगाकर और स्वयं ही खोलकर क्रमसे पढ़ने लगा—

---

१. मधुरालापगर्भाभिः कथाभिः। २. कालञ्च। ३. क्वचित् 'खलु' इत्यधिकः पाठः। ४. क्वचित् 'निज' इत्यधिकः पाठः। ५. अभिजगाम, जगाम। ६. अभिजाततरम्।

'स्वस्ति, उज्जयिनीतः सकल-राजन्य-शिखण्ड-शेखरीकृत-चरणारविन्दः परममाहेश्वरो महाराजाधिराजो देवस्तारापीडः सर्वसम्पदामायतनं चन्द्रापीडमुदञ्चच्चारु-चूडामणि-मरीचि-चक्र-चुम्बिन्न्युत्तमाङ्गे चुम्बन्नन्दयति। कुशलिन्यः प्रजाः, किन्तु[1] कियानपि कालो भवतोऽदृष्टस्य[2] गतः[3], बलवदुत्कण्ठितं[4] नो हृदयम्, देवी च सहान्तःपुरैर्ग्लानिमुपनीता, अतो लेखवाचन-विरतिरेव[5] प्रयाणकालतां[6] [7]नेतव्ये'ति। शुकनासप्रेषिते द्वितीयेऽप्यमुमेवार्थं लिखितमवाचयत्। अस्मिन्नेवावसरे समुपसृत्य वैशम्पायनोऽपि लेखद्वितयमपरमात्मीयमस्मादभिन्नार्थमेवादर्शयत्।

अथ 'यथाज्ञापयति तातः' इत्युक्त्वा तथैव[8] तुरगाधिरुढः प्रयाणपटहमवादयत्[9]। समीपे स्थितञ्च[10] महताश्वीयेन[11] परिवृतं महाबलाधिकृतं बलाहकपुत्रं मेघनादनामानमादिदेश—

स्वस्तीति। स्वस्ति तव शुभाशीरस्त्वित्यर्थः। 'स्वस्ति मङ्गलाशीर्वादपापनिर्णेजनादिषु' इति भागुरिः। पुत्रपत्रे चादावेव स्वस्तिपदं प्रयुञ्जते शिष्टाः। तथा च वररुचिवचनम्—'आशीर्वचनसंयुक्तं पुत्रपत्रे पदक्रमम्' इति। सकलैः समस्तैः राजन्यैः औपनिवेशिकराजभिः शिखण्डेषु शिरःसु शेखरीकृतम् अलङ्कारीकृतं चरणारविन्दं पादकमलं यस्य सः, परममाहेश्वरो महाशैवः। उज्जयिनीतो विशालातः सकाशात् महाराजाधिराजो महतां राज्ञामधीशः। उदञ्चद् उद्गच्छत् चारु मनोहरं यत् चूडामणिमरीचीनां शिरोमणिदीप्तीनां चक्रं समूहः तत् चुम्बति स्पृशतीति तस्मिन्, उत्तमाङ्गे शिरसि चुम्बन् चुम्बनं कुर्वन्, सर्वसम्पदां समग्रसम्पत्तीनाम् आयतनं भाजनं चन्द्रापीडं नन्दयति अभिनन्द्य विलेखयतीत्यर्थः। प्रचलितां रीतिमवलम्ब्यायमंशोऽत्रोपनिबद्धो लेखकेनेत्यवधेयम्।

कुशेति। प्रजा राज्यान्तर्वर्तिजनाः कुशलिन्यः क्षेमवत्यः सन्ति, किन्तु अदृष्टस्य अस्माभिरवीक्षितस्य भवतस्तव, कियानपि अधिकतर इत्यर्थः कालो गतो व्यतीतः। अत एव नोऽस्माकं हृदयं चेतःबलवदुत्कण्ठितम् अत्यधिकोत्सुकम्। देवी तव जननी विलासवती च, अन्तःपुरैः तत्रत्यनारीभिः सह ग्लानिं मनःक्लेशम् उपनीता भवतैव उपलम्भिता, अतोऽस्माद्धेतोः लेखवाचनविरतिरेव पत्रपाठसमाप्तिसमय एव प्रयाणकालताम् उज्जयिनीं प्रति प्रस्थानकालतां नेतव्या प्रापणीया। इदमेकं पत्रम्।

शुकेति। अमुमेव उक्तरूपमेव अर्थं विषयं लिखितं लिपीकृतम् अवाचयत् अपठत्। अस्मात् चन्द्रापीडपत्रात्, आत्मीयं स्वीयम् अपरम् अन्यत् लेखद्वितीयं पत्रयुगलं पितुः शुकनासस्यैकं महाराजाधिराजस्य चैकमित्यर्थः, अदर्शयत् दर्शितवान् चन्द्रापीडायेति शेषः।

अथेति। अथ तद्वाचनानन्तरम्। आज्ञापयति आदिशति। तथैव प्राग्वदेव। प्रयाणपटहं प्रस्थानढक्काम् अवादयत् वादितवान्। महता विपुलेन, अश्वीयेन तुरङ्गमसैन्यनिकरेण परिवृतं परिवेष्टितम्। महद् यद् बलं सैन्यं तत्र अधिकृतं तदध्यक्षतायां नियुक्तम्, बलाहकस्य मुख्यसेनाध्यक्षस्य पुत्रमात्मजम्। आदिदेश आज्ञापयामास—

'तुम्हारा मङ्गल हो, उज्जयिनीसे समस्त सामन्तगण जिनके चरणारविन्दको मस्तकोंमें अलङ्कार किये हैं, ऐसे परम शैव और देवताके तुल्य प्रभावशाली, महाराजाधिराज तारापीड, समस्त सम्पत्तियोंके भाजन चन्द्रापीडके ऊपर फैलते हुए, सुन्दर चूड़ामणिके किरण-जालसे चुम्बित मस्तक पर चुम्बन-पूर्वक अभिनन्दन करके लिखते हैं। प्रजाएं कुशलसे हैं, किन्तु तुझे देखे बहुत समय बीत गए हैं, अतएव मेरा मन बहुत ही उत्कण्ठित हो गया है। और समस्त अन्तःपुरस्थ रमणियोंके साथ महारानी भी मनके कष्टसे कातर हो गई हैं, इसलिए पत्रवाचनके समाप्ति-समयमें ही उज्जयिनीके प्रति यात्राका समय करना।' फिर शुकनासके द्वारा भेजे हुए द्वितीय पत्रको भी बाँचकर देखा कि यही विषय लिखा हुआ है। इस अवसरमें ही वैशम्पायनने भी समीपमें आकर अपने पास आए हुए इस पत्रसे अभिन्न अर्थसम्पन्न दो पत्र चन्द्रापीडको दिखाए।

उसके बाद पिताजी जैसी आज्ञा करते है (वैसा ही करूँगा)' यों कहकर यों का यों ही घोड़े पर बैठे बैठे, उसने प्रयाण-पटह (कूचका नगाड़ा) बजवा दिया और अपने समीपमें रहनेवाले विशाल अश्व-सैन्यसे परिवेष्टित तथा विपुल सैन्यके अध्यक्ष मेघनाद-नामके बलाहक (प्रधान सेनापति) के पुत्रको आदेश दिया कि—

१. किन्नु। २. दृष्टस्य भवतोत्कृष्टस्य। ३. क्वचित् 'गत' इति न विद्यते। ४. क्वचित् 'देवीसमेतम्' इत्यधिकः पाठः। ५. यतस्ततो लेखवाचनविरतिरेव। ६. प्रयाणकालता, प्रयाणकारणता। ७. क्वचित् 'कल्याणिना' इत्यधिकः पाठः। ८. तथैव च। ९. अदापयत्। १०. समीपस्थितञ्च, समीपावस्थितञ्च। ११. महता श्वेतीयेन।

'भवता पत्रलेखया सहागन्तव्यम्, नियतञ्च केयूरकस्तामादायैतावतीं भूमिमागमिष्यति[1], तन्मुखेन विज्ञाप्या प्रणम्य देवी कादम्बरी। नन्वियं सा त्रिभुवननिन्दनीया निरनुरोधा निष्परिचया च[2] दुर्ग्रहा प्रकृतिर्मर्त्यानाम्, येषामकाण्डविसंवादिन्यः प्रीतयो न गणयन्ति निष्कारणवत्सलताम्। एवं गच्छता मयात्मनो नीतः स्नेहः कपट-कूट-जालिकताम्, प्रापिता भक्तिरलीक-काकु करण-कुशलताम्, पातितमुपचारमात्रमधुरं[3] धूर्त्ततायामात्मार्पणम्, प्रकटितं वाङ्मनसयोर्भिन्नार्थत्वम्। आस्तां तावदात्मा, अस्थानाहितप्रसादा दिव्ययोग्या देव्यपि वक्तव्यतां नीता। जनयन्ति हि पश्चाद्वैलक्ष्यमभूमिपातिता[4]: व्यर्थाः प्रसादामृतदृष्टयो[5] महताम्।

---

भवतेति। भवता त्वया। आगन्तव्यं समेतव्यम्। नियतञ्च निश्चितञ्च। आगमिष्यति आयास्यति नूनमेवेह भवदवस्थानोदन्तलाभसम्भवात् तत्र च तव गमनासम्भवादित्याशयः। तस्य केयूरकस्य मुखेन वदनेन विज्ञाप्या संसूच्या। अवधारणे ननु शब्दः। 'ननु प्रश्नेऽप्यनुनयेऽनुज्ञानेऽप्यवधारणे' इति विश्वः। इयं सा जगत्प्रसिद्धा त्रिभुवननिन्दनीया त्रिविष्टपगर्हणीया निरनुरोधा कस्याप्यनुरोधेन न परिवर्त्तनीयेत्यर्थः, निष्परिचया परिज्ञानेनापि नान्यथा विधेयेति भावः, दुर्ग्रहा एवंविधतया दुर्ज्ञेया, मर्त्यानां मानवानां प्रकृतिः स्वभावः। येषां मर्त्यानाम्, अकाण्डे असमये विसंवादिन्यो व्यभिचारिण्यः प्रीतयः स्नेहाः निष्कारणवत्सलतां कस्याप्यहेतुकस्नेहम्, न गणयन्ति नानुसरन्ति। निरूपितमेव विषयं समर्थयति—एवमिति। एवम् अनेन विधिना झटित्येवेत्यर्थः। आत्मनः स्वस्य स्नेहः प्रणयः, कपटो धूर्त्तो यः कूटजालिकः असत्यव्यवहारवान् तस्य भावस्तां धूर्त्तेन्द्रजालिकव्यवहारत्वमित्यर्थः, नीतः प्रापितः। भक्तिः अनुरक्तिः, अलीककाकुकरणे असत्यवक्रोक्तिनिर्मितौ कुशलतां दक्षतां प्रापिता नीता। उपचारमात्रेण केवलेन वचनव्यवहारेण मधुरं मिष्टं न तु तत्त्वतो मधुरमित्याशयः। आत्मार्पणं भवदीयोऽहमिति स्वस्यार्पणं धूर्त्ततायां कपटतायां पातितं स्थापितं पर्यवसायितमित्यर्थः। तथा वाक् च मनश्चेति वाङ्मनसी 'अचतुर' इत्यादिना पा० सूत्रेण निपातः। भिन्नार्थत्वं विसंवादित्वं प्रकटितम् आविष्कृतम्, 'इच्छामि देहदानेनापि स्वस्थामत्र भवतीं कर्त्तुम्' इत्याद्युक्त्वा झटित्येव यात्राकरणादित्याशयः। एवञ्च पूर्वं स्नेहं दर्शयित्वा झटित्येव महाश्वेताकादम्बरीप्रभृतीनां तथाविधं निष्कारणवात्सल्यमननुसृत्य निजदेशं प्रति यात्राकरणात् मर्त्यानां स्वभावो दुर्ग्रह एवेति समुदिताभिप्रायः।

इह विशेषेण सामान्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः, प्रीतौ धूर्त्तेन्द्रजालिकतारोपस्य प्रस्तुतोपयोगितया परिणामालङ्कारः, तथा स्वभावस्य दुर्ग्रहत्वप्रतिपादनकार्यं प्रति अधिकतरहेतूपन्यासात् समुच्चयालङ्कारश्चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

आस्तामिति। आत्मा अस्मद्विषयिणी वार्त्तेत्यर्थः, आस्तां तावत् दूरे तिष्ठतु, अस्थाने अनधिकारिणि आहितो न्यस्तः प्रसादः अनुग्रहो यया सा, तथा दिव्ययोग्या त्रिदशालयीयलोकोचिता देव्यपि कादम्बर्यपि वक्तव्यतां गर्हणीयतां नीता मया प्रापिता, परदेशादायातेनापरिचितकुलशीलेन चन्द्रापीडेन सह कथं मैत्री विहितेति गर्हणां नीतेत्यर्थः। हि यतः, अभूमौ अनधिकारिणि पातिता आहिताः, अत एव व्यर्था

---

आप पत्रलेखाके साथ आइएगा, निश्चय ही उसे लेकर केयूरक यहाँ तक आवेगा; तब मेरी ओरसे उसके द्वारा देवी कादम्बरीको प्रणाम कर यह विज्ञप्ति कहला भेजना कि—'सचमुच यह त्रिभुवन-निन्दनीय, अनुरोध न माननेवाला, परिचय-विहीन और दुर्बोध्य मनुष्योंका स्वभाव है कि उनकी प्रीति असमयमें विपरीत होकर धोखा दे जाती है और अकारण वात्सल्यकी गणना भी नहीं करती।' देखो—इस प्रकार प्रस्थान कर लेनेसे मैं अपने स्नेहको धूर्त्त ऐन्द्रजालिकके व्यवहारमें प्राप्त कर दिया हूँ, ( अतः आपको मेरा स्नेह कपटका मिथ्या-प्रपञ्च प्रतीत होगा ); अनुरागको मिथ्या वक्रोक्तिकी रचनामें निपुण कर लिया हूँ, वाक्य-व्यवहारमें सुमधुर आत्मसमर्पणको धूर्त्ततामें पर्यवसित कर लिया हूँ; एवं वाक्य और मनका विभिन्न भाव प्रकाश कर लिया हूँ ( अर्थात् मेरी वाणी और मनमें आपको भिन्नार्थ प्रकट होगा ) अब मेरी बात दूर रहने दीजिए। अपात्र मनुष्यमें अनुग्रह अर्पण कराकर मैंने दिव्य व्यक्तिके ही योग्य उस देवी कादम्बरीको भी निन्दाका पात्र बना दिया है, क्योंकि अपात्रमें निष्फल विन्यस्त ( डाली ) हुई अनुग्रहामृतसे परिपूर्ण महानुभावोंकी दृष्टियाँ पीछेसे लज्जा उत्पन्न करती हैं। देवीके प्रति

---

१. इति। २. क्वचित् चकारो नास्ति। ३. उपचारमधुरप्रकाशितमुपचारमा…।
४. अभूमिपाताः। ५…वृष्टयः।

न खलु देवीं प्रति प्रबललज्जातिभारमन्थरं मे हृदयं यथा महाश्वेतां प्रति । नियतमेनामलीकाध्यारोपणवर्णितास्मद्गुणसम्भारामस्थानपक्षपातिनीमसकृदुपालप्स्यते देवी। तत् किं करोमि, गरीयसी गुरोराज्ञा प्रभवति[1] देवमात्रकस्य[2], हृदयेन तु हेमकूटनिवासव्यसनिना लिखितं जन्मान्तरसहस्रस्य दास्यपत्रं[3] देव्याः । न दत्तमस्याटविकस्य गौल्मिकेनेव[4] देवीप्रसादेन गन्तुम्, सर्वथा गतोऽस्मि पितुरादेशादुज्जयिनीम् । प्रसङ्गतोऽसज्जनकथा[5]-कीर्त्तनेषु स्मर्त्तव्यः खलु चन्द्रापीडचण्डाल[6]ः। मा चैवं मंस्थाः, यथा जीवन पुनर्देवीचरणारविन्द-वन्दनानन्दमननुभूय[7]

निष्प्रयोजनाः, महतां श्रेष्ठानां प्रसादः अनुग्रह एव अमृतं पीयूषः तत्पूर्णा दृष्टयो निरीक्षणानीति प्रसादामृतदृष्टयः सुस्निग्धा दृष्टिपाता इति त प्रथमं, पश्चात् वैलक्ष्यं त्रपां जनयन्ति उत्पादयन्ति, स्वीयनिन्दावशादित्याशयः । इह सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

नेति । देवीं कादम्बरीम् । प्रबला नितान्तगुरुतरा या लज्जा त्रपा तस्या अतिभारेण अत्यन्तभारेण मन्थरं जडम् । ननु भवतश्चित्तं कथं महाश्वेतां प्रत्येव भिन्नमतिगुरुलज्जातिभारमन्थरमित्यत आह—नियतमिति । देवी कादम्बरी, अलीकाध्यारोपणेन असत्याध्यासेन वर्णितः स्तुतः अस्मद्गुणानां सम्भारः समूहो यया ताम्, तथा अस्थाने अनधिकारिणि पक्षपातिनी ताम्, एनां महाश्वेतां नियतं नूनम् असकृत् वारंवारम् उपालप्स्यते तिरस्करिष्यति तद्विश्वासेन स्वस्यापि पक्षपातस्य व्यर्थत्वादित्याशयः । इह वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ।

तर्हि किं देवीं ( कादम्बरीं ) सर्वथा विस्मृतोऽस्येवेत्यत आह—तदिति । तत्किं करोमि कोऽप्युपायो नास्तीत्यर्थः, यतः गुरोः पितुः आज्ञानिदेशः देहमात्रकस्य केवलं देहस्य प्रभवति तदुत्पन्नत्वादाधिपत्यं कर्त्तुं शक्नोति, अत एव केवलं देह एवोज्जयिनीं गमिष्यतीत्याशयः, एतन्निमित्तय एव कुत्सासूचकः कप्रत्ययः । तु किन्तु हेमकूटनिवासे व्यसनि आसक्तिमत् तेन हृदयेन (कर्त्रा), देव्याः कादम्बर्याः समीपे नास्यैव जन्मनः कृते, अपि तु जन्मान्तरसहस्रस्य दास्यपत्रं लिखित्वा दत्तम् अर्पितम् , अतो हृदयं तत्समीपे स्थास्यतीति न तदनुग्रहं कथञ्चारमपि विस्मरिष्यामीत्याशयः ।

विस्मरणाभावे अन्यदपि कारणान्तरं दर्शयति—गौल्मिकेन सैन्याधिपतिना, आटविकस्य वनेचरस्येव, देव्याः कादम्बर्याः प्रसादेन अनुग्रहेण, अस्य मल्लक्षणस्य पुंसः गन्तुं न दत्तम् , सैन्याधिपतिर्यथा चपलं वनेचरं नियमयति तथा देव्याः प्रसादो मामपीत्यर्थः । नन्वेवं कथं प्रस्थातुं शक्नोषीत्यत आह—सर्वथेति । पितुरादेशात् तातनिदेशात् केवलं देहमेव याति न पुनर्हृदयं, तस्य कादम्बर्या अनुग्रहेणाबद्धत्वादिति सर्वथा गन्तुं न शक्नोत्येवेत्याशयः । इहोपमालङ्कारः । 'गुल्मः स्तम्बे प्लीह्नि चट्टसैन्ययोः सैन्यरक्षण' इति विश्वः ।

प्रसङ्गत इति । असज्जनकथाकीर्त्तनेषु असाधुजनोदन्तोच्चारणेषु चन्द्रापीड एव चण्डालः चन्द्रापीडचण्डालः खलु निश्चयेन स्मर्त्तव्यः स्मरणीयः, प्रसादकर्त्तुरपि क्लेशदत्वादित्याशयः ।

मा चै मिति । देव्याः कादम्बर्याः चरणारविन्दस्य पादकमलस्य वन्दनं नमस्करणं तस्माद् य आनन्दः प्रमोदः तम् अननुभूय अनुभवमविषयीकृत्य स्थास्यति। अनेन नूनमेव भूयोऽप्यागमनं द्योतितम्।

मेरा हृदय, उस प्रकार गुरुतर लज्जा-भारसे जड़ नहीं होता है, जिस प्रकार महाश्वेताके प्रति । क्योंकि—जो गुण मुझमें नहीं हैं उन्हें मिथ्या आरोप करके उनके सामने वर्णन कर मेरी प्रशंसा करने तथा अपात्रमें पक्षपात करनेके कारण, देवी निश्चय ही महाश्वेताको बारंवार उलाहना देगी । किन्तु अब मैं क्या करूँ ? अनुलङ्घनीय पिताका आदेश केवल शरीरके ऊपर ही आधिपत्य कर सकता है [ वह शरीर ही उज्जयिनीमें जाता है ] किन्तु हेमकूटमें निवास करनेके लिए अनुरागी हृदय देवीके समीपमें हजारों जन्मान्तरके लिए दास्यपत्र ( गुलामी बैनामा ) लिख दिया है । सैन्याध्यक्ष जिस प्रकार दुष्ट वनेचर—व्याधको नहीं निकलने देता उसी प्रकार देवीका अनुग्रह मुझे जाने नहीं देता । तथापि पिताकी आज्ञासे ही उज्जयिनी ( उज्जैन ) में जाता हूँ—( किन्तु मन तो सर्वथा प्रस्थान करनेके लिए समर्थ नहीं हो रहा है ) तब प्रसङ्गक्रमसे दुर्जनकी कथा कहनेके समयमें चाण्डाल-चरित्र चन्द्रापीडको भी निश्चय स्मरण करना । किन्तु इस प्रकार मनमें नहीं करना कि—चन्द्रापीड जीवित रह

१. प्रभवति हि । २. देवमात्रस्य हि देवमात्रकस्य । ३. दास्यपट्टं । ४. आटविकलौल्मिकेनेव, देव्या हस्ते न दत्तमस्याः । दविकगौल्मिकेनेव । ५. प्रसङ्गतो जनकथा··· । ६. क्वचित् 'चण्डाल' पदं न विद्यते । ७···चरणारविन्दमननुभूय ।

स्थास्यति चन्द्रापीड इति। महाश्वेतायाश्च सप्रदक्षिणं शिरसा पादौ वन्दनीयौ। मदलेखायाश्च कथनीयः प्रणामपूर्वमशिथिलः कण्ठग्रहः। गाढमालिङ्गनीया च तमालिका। अस्मद्वचनादशेषः प्रष्टव्यः कुशलं कादम्बरीपरिजनः, रचिताञ्जलिना च भगवानामन्त्रणीयो हेमकूटः' इति।

एवमादिश्य तम्—'सुहृदादि[1]-साधनमक्लेशयता शनैः शनैर्गन्तव्यम्[2]' इत्युक्त्वा वैशम्पायनं स्कन्धावारभारे[3] न्ययुङ्क्त स्वयमपि च तथारूढ एव गमनहेला-हर्ष-हेषारव-कम्पित-कैलासेन खुर-ताण्डव-खण्डितभुवा कान्त-कुन्त-लता-वनवाहिना तरुण-तुरगप्रायेण[4]

---

इह वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। यद्यपि कादम्बर्या निश्चीयमानभाविपत्नीत्वेन निखिलोऽपि व्यवहार उपपद्यते, तथापि शिष्टाचारद्योतनेन भक्तिभावप्रकाशः अत्यन्तप्रीत्युपपादनार्थमित्यवधेयम्।

महाश्वेतेति। सप्रदक्षिणं प्रदक्षिणासहितं यथा स्यात्तथा शिरसा मस्तकेन पादौ चरणौ वन्दनीयौ नमस्करणीयौ। एतस्याः अत्यन्तहितैषितया तपस्वितया च केवलं सस्नेहा भक्तिरेव प्रकटिता। प्रणामपूर्वकं नमस्कारपूर्वकं यथा स्यात्तथा अशिथिलो गाढः, कण्ठग्रह आलिङ्गनम्, कथनीयो वाच्यः। एतस्यास्तु कादम्बर्याः सहचरीत्वेन तुल्यस्थानपातितया नमस्कारविज्ञापनम्, तदवलम्बितत्वेन किञ्चिन्न्यूनतया च अशिथिलकण्ठग्रहनिवेदनसाहसम्। गाढम् अशिथिलं यथा स्यात्तथा आलिङ्गनीया आश्लेषणीया। स्वस्य तु कादम्बर्याः परिजनत्वविज्ञापनात्, तुल्यस्थानपातितया स्नेहस्थानतया च परिजनीभूतायास्तमालिकायाः केवलमशिथिलाश्लेषनिवेदनम्। अस्मद्वचनात् अस्मद्वाक्यात् अशेषः समग्रः कादम्बरीपरिजनः कादम्बरीसेवकवर्गः कुशलं श्रेयः प्रष्टव्यो जिज्ञासितव्यः। परिजनेषु कुशलप्रश्नविज्ञापनन्तु तेभ्यः सेवाप्राप्त्या स्नेहोदयात् कादम्बर्याः स्नेहाकर्षणाय तेष्वपि स्वीयत्वद्योतनस्यावश्यकत्वाच्च। रचितो विहितः अञ्जलिः हस्तपुटद्वयसंयोगो येन तेन, भगवान् हेमकूटः तन्नामको गिरिः आमन्त्रणीयः सम्भाषणीयः। एतदामन्त्रणविज्ञापनमपि च कादम्बर्या एव स्नेहाकर्षणाय तत्स्नेहायत्ततत्स्नेहद्योतनपरत्वादित्याशयः।

एवमिति। तं मेघनादम् आदिश्य आज्ञाप्य, सुहृदादि मित्रराजवर्गप्रभृतिकम्, साध्यते संग्रामादिकमनेनेति साधनं सैन्यम्, अक्लेशयता यथावसरम् अशनस्वापादिसम्पादनेन खेदमविदधता त्वयेति शेषः। न्ययुङ्क्त नियोजितवान्।

स्वयमिति। तथा प्रागुक्तदिशा आरूढ एव आरोहणं कृत एव इन्द्रायुधमिति शेषः। गमनं प्रस्थानमेव हेला विलासः तया यो हर्षः प्रमोदः तस्माद् यो हेषारवः तेन कम्पितश्चालितः कैलासो गिरिर्येन तेन। खुराणां शफानां ताण्डवेन उद्धतनृत्येन दृढाहननेनेत्यर्थः खण्डिता, विदारिता भूः पृथिवी येन तेन। तथा कान्ता रमणीया कुन्ता भल्लनामकास्त्रविशेषा लम्बमानत्वाल्लता इव तासां वनं समूहं वहति धारयतीति तेन। तरुणा युवकाः तुरगा अश्वाः प्राया अधिका यत्र तेन, अश्वसैन्येन तुरगस्कन्धावारेण अनुगम्यमानः

---

कर फिरसे देवीके चरणारविन्दोंकी सेवा करनेके आनन्दका अनुभव किए बिना रह सकेगा। प्रदक्षिणा करनेके साथ मस्तकद्वारा महाश्वेताके चरणोंका वन्दन करना। मदलेखासे प्रणाम-पूर्वक गाढ़ आलिङ्गन कहना। तमालिकाका गाढ़ आलिङ्गन करना। और मेरे कथनानुसार देवी कादम्बरीके समस्त परिजनोंसे कुशल-मङ्गल पूछना और अञ्जलि बाँध कर ( हाथ जोड़ कर ) माहात्म्यशाली हेमकूट-पर्वतसे सम्भाषण करना।'

इस प्रकार मेघनादको आज्ञा देकर वह वैशम्पायनसे कहने लगा—'वैशम्पायन! तुम मित्रराजाओंकी सेनाको यथासमय भोजन शयनादि क्लेश न पहुँचे इस प्रकार धीरे धीरे जाना, यों कहकर वैशम्पायनको सैन्य-रक्षाके उपर नियुक्त किया। और आप भी उसी तरह घोड़े पर बैठे बैठे, नूतन कादम्बरी वियोगके कारण शून्य-मन होने पर भी, अपने पल्लयन ( जीन ) में संलग्न देहवाले और दूसरे घोड़े पर चढ़े चलते पत्र-वाहकसे उज्जयिनीकी वार्त्ता पूछता पूछता प्रस्थान किया ( चल निकला )। हेलाके साथ गमनके साथ आनन्दसे हेषा-रव ( हिन-हिनाइट ) करके कैलास पर्वतको कम्पित कराता, खुरों ( टापों ) के आघातसे भूतलको विदीर्ण कराता, सुन्दर लता-ससूहके समान लम्बे लम्बे कुन्त नामक अस्त्रों ( भालों ) को धारण करता, बहुसंख्यक तरुण-वयस्क

---

१. सुहृदापि २. आगन्तव्यम्। ३ '''भरे। ४. खुरपातनताण्डव-खण्डित-भूमण्डलेन तुरगप्रायेण।

अश्वसैन्येनानुगम्यमानस्तमेव लेखहारकं पर्याण-लग्नमभिनवकादम्बरीवियोगशून्येनापि हृदयेनोज्जयिनीवार्त्ता[1]पृच्छन् प्रतस्थे।

क्रमेण चातिप्रवृद्धप्रकाण्ड-पादप-प्रायया, मालिनीलतामण्डपैः[2] मण्डलिततरुषण्डया, गजपति[3]-पातित-पादप-परिहार-वक्रीकृतमार्गया[4], जन[5]-जनित-तृण-पर्ण-काष्ठ-कोटि-कूट-प्रकटित-वीरपुरुष[6]-घातस्थानया, महापादप-भूतलोत्कीर्ण-कान्तार-दुर्गया, तृषित-पथिक-खण्डित-दलोज्झितामलकीफल-निकरया, विकसित-करञ्ज-मञ्जरी[7]-रजो-विच्छुरित-तटैस्तट-तरु-बद्ध-पटच्चर-कर्पट[8]-ध्वज-चिह्नैरिष्टका[9]स्थितैः-शुष्क-पल्लव-विष्टरानुमित-पथिक-विश्रान्तैर्विश्रान्तकार्पटिक-प्रस्फो

अनुव्रज्यमानः, पर्याणे पल्ययने लग्नः अन्यतुरगारोहणेन संसक्तशरीरस्तम्, तमेव पूर्वोक्तमेव, लेखहारकं पत्रवाहकम्। प्रतस्थे चचाल।

क्रमेणेति। चन्द्रापीडः क्रमेण च शून्यया अटव्या दिवसं गत्वा अतिक्रम्येत्यर्थः परिणते रविबिम्बे दूरत एव दविष्ठादेव चिरप्ररूढस्य अधिकसमयेनोत्पन्नस्य रक्तचन्दनतरोः पत्राङ्कुरस्य उपरि बद्धं महान्तं रक्तध्वजं ददर्श अवलोकयामासेत्यन्वयः। इत आरभ्य स्त्रीलिङ्गतृतीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य अटव्येत्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि। अतिप्रवृद्धा अत्यन्तोपचयं प्राप्ताः प्रकाण्डाः स्कन्धदेशा येषां ते तथोक्ताः पादपा वृक्षाः प्रायाः बहुला यस्यां तया।

मालिनीति। मालिनी संज्ञिता या लता वल्लयः तासां मण्डपैः मण्डलितं वेष्टितं तरुषण्डं वृक्षसमूहो यस्यां तया तादृश्या।

गजपतीति। गजपतिभिः यूथाधिपैः पातितानां भग्नीकृत्य निपातितानां पादपानां तरूणां परिहारेण परित्यागेन वक्रीकृतः कुटिलीकृतो मार्गः पन्था यस्यां तया।

जनेति। जनैः पान्थपुरुषैः जनितं स्वरक्षणाय एकत्रीकृतं यत् तृण-पर्ण-काष्ठानां कोटेः कोटिसंख्यायाः कूटं राशिः तेन प्रकटितं द्योतितं वीरपुरुषाणां पराक्रमवतामपि घातस्थानं हिंस्रजन्तुभिः प्राणहननस्थानं यस्यां तया। वीरायिता अपि पथिकजना हिंस्रजन्तुभ्यः स्वरक्षणार्थं तृणकाष्ठादीनां कूटं विधाय तन्मध्ये प्रविश्य निशि निवसन्तीति भयङ्करत्वं द्योत्यते। इह च्छेकानुप्रासवृत्त्यनुप्रासयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः।

महेति। महापादपा उच्चैस्तरवृक्षाः तेषां मूलेषु बुध्नेषु उत्कीर्णा निस्तक्ष्य रचिताः कान्तारदुर्गामूर्त्तयो यस्यां तया।

तृषितेति। तृषितैः पिपासातुरैः पथिकैः पान्थैः खण्डितानि आस्वादितानि दलानि कानिचित् खण्डानि येषां तानि उज्झितानि आस्वादनानन्तरं परित्यक्तानि च एतादृशानि यानि आमलकीफलानि धात्रीफलानि तेषां निकरः समूहो यस्यां तया। 'दलमुत्सेधखण्डयोः' इति रामाश्रमी टीका।

विकसितेति। विकसिताः प्रस्फुटिता याः करञ्जमञ्जर्यः नक्तमालवल्लर्यः तासां रजोभिः परागैः विच्छुरितानि व्याप्तानि तटानि तीराणि येषां तैः। तटतरुषु तीरवृक्षेषु बद्धा नियमिता ये पटच्चराः चौराः तेषां कर्पटाः प्रस्वेदादिमार्जनार्थहस्तस्थवसनखण्डाः त एव ध्वजचिह्नानि पताकालक्ष्माणि येषां तैः। इष्टकासु विद्यमाना ये शुष्कपल्लवानां नीरसकिसलयानां विष्टरा उपवेशनायासनानि तैः अनुमिता अनुमितिविषयीकृताः पथिकानां पान्थानां विश्रामा येषु तैः। विश्रान्ताः स्थिता ये कार्पटिकाः तीर्थयात्रा-

तुरङ्गवाला अश्वारोही सैन्य उसके पीछे-पीछे चला आता था।

क्रमशः चलते-चलते एक शून्य वन आया, जिसके मध्यमें प्रायः ऊँचे तनेके वृक्ष अधिक वृद्धि पा रहे थे; मालिनीनामक लताओंके मण्डपसे वृक्षसमूह परिवेष्टित थे; हाथियोंके द्वारा गिराए हुए वृक्षोंको पथिकों द्वारा परित्याग कर सरक जानेसे पड़े रहनेके कारण मार्ग वक्र हो गया था (पगडण्डी टेढ़ी हो गई थी); हिंसक जन्तुओंसे आत्मरक्षा करनेके लिए पथिकों द्वारा काटे हुए करोड़ों तृण-पर्ण (घासपत्ते) और काष्ठके राशि सङ्ग्रह कर रखनेसे वीरपुरुषोंकी हत्याके स्थानकी सूचना होती थी; पथिकों द्वारा बड़े-बड़े वृक्षोंकी जड़में खोद कर बनाई हुई वन-दुर्गाकी मूर्तियाँ विद्यमान थीं; पिपासार्त्त पथिकों द्वारा छिलका उतार कर चर्वण कर बादमें फेंके गए आमलकी-फलसमूह (आँवले) पड़े थे; वहाँ कितने ही पुरातन (पुराने) कूप थे; उनके तीर देशमें प्रस्फुटित (खिले हुए) करञ्जनामक वनस्पतिकी मञ्जरीकी रज व्याप्त हुई थी; किनारों पर उत्पन्न हुए वृक्षोंमें चोरोंके पुराने वस्त्रों और चिथड़ोंकी पताकाओंके चिह्न बँधे थे; ईंटों पर निर्मित हुए शुष्क पत्रोंकी शय्यासे वहाँ पथिकोंके विश्राम

१. उज्जयिनीमार्गं। २"'मण्डलैः। ३. वनगजपति"'। ४. पथया। ५. अजन"'। ६"'पुरुषहृदय"'। ७. कपिकच्छूच्छुरितमञ्जरी। ८. तटबद्ध"'जरत्कर्पट"'। ९. इष्टकचित"'।

टित[1]-चरण[2]धूलि-धूसर-किसलय-लाञ्छितोपकण्ठैः पत्रसङ्करासुरभीकृताशिशिरपङ्किलविवर्णास्वादुजलैर्व्रतति-ग्रन्थि-ग्रथित-पर्णपुट-तृण-पुली[3]-चिह्नानुमे[4]यैर्जरत्कान्तारकूपैरसुलभ-सलिलतया अनभिलषितोद्देशया, मधु-बिन्दु-स्यन्दिसिन्दुवार[5]-वनराजि-रजोधूसरित-तीराभिश्च कुब्जक[6]-लताजालकैर्जटिलीकृत-सैकताभिः अध्वगोत्खात-बालुका-कूपिकोपलभ्यमान[7]-कलुष-स्वल्प-सलिलाभिः शुष्क-गिरिनदिकाभिर्विषमीकृतान्तरालया, कुक्कुट[8]-कौलेयकरटितानुमीयमान-गुल्म-गहन-ग्रामटिकया[9] शून्यया दिवसमटव्या गत्वा, परिणते रविबिम्बे[10], बिम्बा[11]रुणातपविसरे

कारिणः तैः प्रस्फोटिताः किसलयद्वाराघातेनैव विक्षिप्ता याश्चरणधूलयः पादपांसवः ताभिः धूसराणि धूसरवर्णीकृतानि यानि किसलयानि पल्लवानि तैर्लाञ्छितः चिह्नितः उपकण्ठो निकटदेशो येषां तैः। पत्राणाम् अनेकविधतरुपर्णानां सङ्करेण मेलनेन असुरभीकृतानि दुर्गन्धीकृतानि अशिशिराणि अशीतलानि ( उष्णानि ), पङ्किलानि आविलानि, विवर्णानि अशुभवर्णानि अस्वादूनि स्वादुरहितानि च जलानि सलिलानि येषां तैः। व्रततिग्रन्थिभिः वल्लीग्रन्थिभिः ग्रन्थिता गुम्फिता याः पर्णपुटयुक्तास्तृणपूलयः तृणरचितपत्रपुटाधारविशेषाः ता एव चिह्नानि लक्ष्माणि तैः अनुमेयैः दूरादलक्ष्यत्वेनानुमातुमुचितैः। पिपासिताः पान्था हि रज्ज्वाः पात्रस्य चाभावे, तृणैर्गुरुभारां पूलीं निर्माय तत्र च पत्रपुटं स्थापयित्वा दीर्घलताभिर्बध्वा पत्रपुटकैः कूपाज्जलमुद्धरन्तीति प्रसिद्धिः। जरन्तः प्राचीना ये कान्तारस्य महाविपिनस्य कूपास्तैः कारणैः, असुलभानि दुष्प्राप्याणि सलिलानि येषु स्थानेषु ते तथा तेषां भावस्तया कारणेन, अनभिलषिताः प्रयातुमनिच्छिता उद्देशाः स्थानानि यस्यास्तया। इह स्वभावोक्तिः।

मध्विति। अपि च, मधुबिन्दुस्यन्दिन्यः पुष्परसकणवर्षिण्यो या सिन्दुवारवनराजयः निर्गुण्डीकाननपङ्क्तयः तासां रजोभिः परागैः धूसरितानि कपोतवर्णीकृतानि तीराणि तटानि यासां ताभिः। कुब्जकानि लघुनिकुञ्जानि तेषां लताजालकैः वल्लीसमूहैः। जटिलीकृतानि व्याप्तानि सैकतानि जलोज्झितपुलिनानि यासां ताभिः। तथा अध्वगैः पान्थैः उत्खाता बालुकां दूरीकृत्य रचिता या बालुकासु कूपिकाः लघुविदारकाः ( कूपाः ) तासु उपलभ्यमानानि प्राप्यमाणानि कलुषाणि पङ्किलानि स्वल्पानि स्तोकानि च सलिलानि जलानि यासु ताभिः। शुष्काः जलशोषणं प्राप्ता या गिरिनदिकाः पर्वतीयलघुसरितः ताभिः विषमीकृतानि उन्नतावनतीकृतानि अन्तरालानि मध्यदेशा यस्यास्तया। इह वृत्त्यनुप्रासः।

कुक्कुटेति। कुक्कुटाः ताम्रचूडपक्षिणः कौलेयकाः श्वानः तेषां च रटितैः शब्दैः अनुमीयमानाः अनुमितिविषयीक्रियमाणाः तेषां ग्राम्यत्वादित्याशयः, गुल्मगहनेषु वृक्षवल्लीसान्द्रभूमिषु ग्रामटिका क्षुद्रग्रामा यस्यां तया। इह क्षुद्रार्थे ग्रामशब्दाट्टिकन् प्रत्ययो ज्ञेयः। तथा शून्यया निर्जनया अटव्या विपिनेन काननमार्गेणेत्यर्थः, दिवसं गत्वा वासरं व्यतीत्येत्यर्थः, अन्वयस्तु प्रतिपादित एव।

परीति। रविबिम्बे सूर्यमण्डले, परिणते अन्तिमदशापन्ने अस्तोन्मुखे सतीत्यर्थः, तथा वासरे दिने बिम्बवत् बिम्बफलवत् अरुणो लोहितवर्णः आतपविसरः सूर्यप्रकाशसमूहो यत्र तथोक्ते सति। इह

करनेका अनुमान होता था; उनके किनारोंके समीपके प्रदेश, तीर्थयात्रियोंके विश्राम करनेके समयमें उनके द्वारा चरण पोंछनेके कारण लगी धूलसे मलिन हुए पल्लवोंसे चिह्नित थे; अनेक प्रकारके वृक्षोंसे पत्र गिर कर मिश्रित होनेसे उनका जल-दुर्गन्ध, उष्ण ( गरम ), पङ्कमय, अन्यवर्ण ( गन्दा ) और अस्वादु हो गया था; चारों ओर लताओंकी गाँठें लगाकर निर्मित हुए पत्तोंके पात्र और तृणके निर्मित हुए पत्रपुटाधारविशेष (फिरकिनी) के चिह्न देखकर दूरसे ही उनका अनुमान होता था; महावनके पुराने कूप होनेके कारण उनमें जल दुष्प्राप्य होनेसे उस प्रदेशमें कोई जानेकी इच्छा नहीं करता था। कितनी ही शुष्क पार्वत्य नदियोंसे उस वनका मध्यभाग ऊँचा नीचा हो गया था; उनके तीरदेश मधु-बिन्दुओंका वर्षण करते ( टपकाते ) सिन्धुवारवृक्ष वन-पङ्क्तिमेंसे उड़कर आई हुई रजसे धूसरवर्ण ( मलिन ) हो गए थे; कुब्जननामक लताके समूह उनकी रेती पर व्याप्त थे और पथिकोंने वालुकाओंको हटा-हटा कर वहाँ छोटी-छोटी कुइयाँ खनन की ( खोदी ) थीं जिनमेंसे थोड़ा-थोड़ा कर्दमाक्त ( मटियाला ) जल मिल जाता था ) जिसमें वन-मुर्गों और कुत्तोंके शब्दसे अनुमान किया जाता था कि सघन-तरु-लतामय ( झाड़ी ) के अभ्यन्तरमें कोई छोटा गाँव होगा—ऐसे शून्य वनमें दिन भर चलनेके पश्चात् जब सूर्यमण्डल प्रायः अस्त होने लगा और दिन बिम्ब-फलके समान रक्तवर्ण आलोक ( धूप ) से समन्वित

१…प्रस्फुटित, स्फोटित…। २. धूलि…। ३. तृणोलुपपुलाक…। ४. अनुमितप्रमेयः। ५…सिन्धुवार…। ६. कुब्जक…। ७…कूपकोप लभ्यमान…। ८. कुक्कुटकुल…। ९. ग्रामया। १०. परिणतरविबिम्बे। ११. सन्ध्यारुणा।

वासरे, निःशाखीकृत[1]-कदम्बशाल्मली-पलाश बहुलैः शिखर-शेषैक-पल्लव-विडम्बितातपत्रैः पादपैः, ऊर्द्धस्थित[2]-प्ररोह-स्थूल-स्थाणु-मूल-ग्रन्थि-जटिलैश्च हरिताल-कपिल-पक्ववेणु-विटप-पटल रचित[3]-वृतिभिर्मृग-भय-कृत-तृणपुरुषकैर्विपाकपाण्डुभिः फलितैः[4]प्रियङ्गुप्रायैरटवीक्षेत्रैर्वि-रलीकृते वनप्रदेशे[5]चिरप्ररूढस्य[6] रक्तचन्दनतरोरुपरि बद्धम्, सरस-पिशित-पिण्डनिभैरल-क्तकैः, अभिनवशोणितारुणेन[7] रक्तचन्दनरसेन चार्द्रम[8], जिह्वा-लता-लोहिनीभी रक्तपता-काभिः, केशकलापकान्तिना च कृष्णचामरावचूलेन प्रत्यग्रविशसितानां जीवानामिवावय-

लुप्तोपमाच्छेकानुप्रासश्चेत्युभयोः संसृष्टिः ।

निःशाखीति । निःशाखीकृता वनस्थायिभिः विटपैः शून्यीकृताः कदम्बशाल्मलीपलाशाःनिजाभिधे-यविख्याताः तरव एव बहुला अधिका येषु तैः, तथा शिखरेषु ऊर्ध्वदेशेषु शेषा अवशिष्टा एके एकैके ये पल्लवाः किसलयाः तैः विडम्बितानि अनुकरणीकृतानि आतपत्राणि छत्राणि यैस्तैः पादपैः अगणितैस्त-रुभिः । 'विरलीकृत' इत्यग्रेतनस्य कर्त्तृपदमेकमेतत् । अपि च ऊर्ध्वस्थिता उपरिविद्यमाना दण्डायमानी-भूताः प्ररोहा नूतनाङ्कुरा येषां ते तादृशा ये स्थूलाः स्थाणवः निःशाखा वृक्षस्तम्बाः तेषां मूलग्रन्थिभिः बुध्नभागैः जटिलानि व्याप्तानि तैः । हरितालं नटमण्डनं धातुविशेषः तद्वत् कपिलैः पिङ्गलवर्णैः पक्ववेणु-विटपपटलैः परिणतवंशशाखानिकरैः रचिता कृता वृतिर्वेष्टनं येषां तैः । मृगेभ्यो हरिणेभ्यः पशुना पशु-द्वारा प्रियङ्ग्वदनादिति तात्पर्यम् भयेन त्रासेन कृताः तृणपुरुषाः तृणरचितपुरुषस्वरूपपदार्थाः चञ्चा पुरुषाः इत्यर्थः, येषु तैः । पशवो हि तथाविधान् जनान् निरीक्ष्य त्रासान्नोपगच्छन्तीति विख्यातम् । विपाकेन विशेषेण परिणततया पाण्डुभिः श्वेतरक्तैः । तथा फलितैः समुत्पन्नफलैः, प्रियङ्गवः श्यामाकाः प्रायेण आधिक्येन येषु तैः । अटवीक्षेत्रैः तदरण्यस्थसस्यक्षेत्रैः विरलीकृते सङ्कोचं प्रापिते, वनप्रदेशे अरण्य-स्यैकभागे, चिरप्ररूढस्य अधिकपूर्वं सञ्जातस्य अत्यन्तपुरातनस्य रक्तचन्दनतरोः उपरि ऊर्ध्वे बद्धं रश-नाभिः संयतम् 'रक्तध्वजम्' इत्यग्रेतनस्य विशेषणम् । इत्थमतिरिक्तमपि द्वितीयान्तपदं बोध्यम् ।

सरसेति । सरसानि क्लिन्नानि रक्तानि लोहितानि यानि पिशितपिण्डानि मांसखण्डानि तन्निभैः तत्सदृशैः अलक्तकैर्यावकैः अभिनवं तत्कालनिर्गतं यत् शोणितं रुधिरं तद्वत् अरुणेन रक्तवर्णेन रक्तचन्द-नेन पत्राङ्गरसेन च आर्द्रं सरसम् । इहार्थोपमा लुप्तोपमा चेत्युभयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

जिह्वेति । जिह्वा रसना लता वल्ली इव लम्बमानत्वात्तद्वत् लोहिनीभिः रक्ताभिः रक्तपताकाभिः लोहितवैजयन्तीभिः । इह लुप्तोपमा । तथा''''''लोहिनीभी रक्तपताकाभिः' इत्यत्राधिकपदत्वदोषवार-णाय रक्तपदं परित्याज्यमेव । केशकलापः कचसमूहः तद्वत् कान्तिः शोभा यस्य तेन, कृष्णचामरमेव श्यामबालव्यजनमेव अवचूलम् अधोमुखकूर्चकं तेन च । अत एव प्रत्यग्रविशसितानां तत्कालनिहतानां

हो गया तब एक विशाल रक्त-ध्वज दूरसे ही उसे दीख पड़ा । उस वनके अधिकतर प्रदेशके मध्यमें अगणित शाखा-विहीन कदम्ब, शाल्मली और पलाश वृक्ष लगे थे, जिनके चोटीपर एक पल्लव रहनेसे वे छत्रका अनुकरण करते थे, जिनमें नए अङ्कुर ( कोंपल ) निकल कर ऊपरको चढ़ रहे थे ऐसे स्थूल स्तम्बोंकी जड़ोंसे वह प्रदेश परि-पूर्ण हुआ था; वहाँ हरितालके समान पिङ्गलवर्ण हुए पके बाँसके वृक्षोंकी बेड़ा ( चारों ओर घेरा ) बनाई गई थी; पशुगण शस्य भक्षण कर लेते हैं—इसके भयसे तृणद्वारा बहुतर कृत्रिम-पुरुष निर्माण कर रखे गए थे, पक जानेके कारण पाण्डुवर्ण ( पीले ) दीखते और फल-समन्वित प्रियङ्गु वृक्षोंसे वह सङ्कुचित हो रहा था, वहीं चिरकालसे लगे रक्त-चन्दनके वृक्षके ऊपर वह विशाल ध्वजा बँधी हुई थी, जो इतस्ततः पथिकोंके बलिदानका मार्ग देखता था । वह ध्वज, रक्तार्द्र मांसखण्डके समान गाढ़ आलता ( महावर ) रससे और सद्योनिःसृत-रक्त ( तत्काल निकले शोणित ) के समान लाल रक्त-चन्दनके लेपसे आर्द्र था; उस ध्वजके ऊपरमें लताके तुल्य लम्बमान जिह्वाके सामन रक्त वर्ण रक्त-पताकाएँ और केश-कलापके समान सौन्दर्य-सम्पन्न और अधोमुखसे काले बहुतसे चामर लटकते थे, जिनसे प्रतीत होता था कि मानो सद्योनिहत ( ताजे मारे हुए ) प्राणियोंके

१. निःशाखीकृतैः । २. ऊर्ध्वीकृतप्ररोहस्थूलस्थित, ''' अर्द्धाद्भूतप्ररोहन्मूल-स्थूलस्थाणुग्रन्थि''' । ३. विटपिपटलरचित, विटपिदल'''विटपदल''', विटपरचित । ४. फलितैः । ५. विरलीकृतवनप्रदेशे । ६. दूरत एवाचिर''' । ७. अभिनवशोणितारुणेन । ८. रसेन आर्द्रजिह्वा''' ।

वैरुपरचित-दण्ड-मण्डनम्, परिणद्ध[1]-वराटक-घटितबुद्बुदार्द्धचन्द्र-खण्ड-खचितम्, सुत-महिष-रक्षणावतीर्ण-दिनकरावतारित-शशिनेव विराजितशिखरम्, दोलायित-शृङ्ग-सङ्गि-लोह-शृंखला[2]वलम्बमान-घर्घर-रव-घोरघण्टया च घटित-केसरि-सटा-रुचिर-चामरया काञ्चनत्रि-शूलिकया लिखितनभस्तलम्[3], इतस्ततः पथिकपुरुषोपहार-मार्गमिवावलोकयन्तं[4] महान्तं रक्तध्वजं दूरत एव ददर्श।

तदभिमुखश्च कञ्चिदध्वानं[5] गत्वा, केतकी-सूची-षण्ड-पाण्डुरेण[6] वन-द्विरद-दन्त-कपाटेन[7]

---

जीवनाम् अवयवैः अङ्गैः उपरचितं विहितं दण्डे दण्डांशे मण्डनम् अलङ्करणं यस्य तमिव। वैजयन्तीनां रसनासदृशत्वात् श्यामबालव्यजनस्य च कचतुल्यत्वादित्याशयः। इहालङ्करणनिर्माणोत्प्रेक्षणात्क्रियोत्प्रेक्षा।

परिणद्धेति। परिणद्धा दण्डाग्रभागे परितः संयता ये वराटकाः कपर्दकाः तैः घटितं रचितं यद् बुद्बुदवत् (बुद्बुदतुल्यः पीनो मध्यभागो यस्य) यः अर्धचन्द्रखण्डः अर्धचन्द्राकारं मण्डनमित्यर्थः तेन खचितम् ऊर्ध्वभागेऽङ्कितम्, अतएव सुतस्य आत्मजस्य यमस्य यो महिषो रक्ताक्षः तस्य रक्षणाय त्राणाय अवतीर्णो यो दिनकरः सूर्यः तेन अवतारितो गगनादवरोहितो यः शशी चन्द्रः तेनेव विराजितं शोभितं शिखरम् उर्ध्वदेशो यस्य तम्। कपर्दकनिर्मितार्धचन्द्राकारभूषणस्य प्रकृतशशिवदवलोक्यमान-त्वादित्याशयः। इह वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, तथाविधार्धशशिनि प्रस्तुतशशित्वोत्प्रेक्षणात् द्रव्यो-त्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। अत्र हि चण्डिकामन्दिरे प्रतिदिनमेव निरतिशयाः पशुबलयो दीयन्ते तदर्थं महिषवाहनो यमः सन्निहितः। तत्र च पशूनां प्राणविनाशाय यमस्यातिव्याकुलतायां पशुबुद्ध्या मा केनचित् यममहिषो विहन्यतामिति सुतस्नेहेन सूर्योऽप्यवतीर्णः, अवतरता च तेन स्वजनभूतश्चन्द्रो-ऽप्यवतारित इति महाकवेरभिप्रायः।

दोलायितेति। अपि च दोलायितं घण्टान्दोलनात् दोलावच्चलितं यत् त्रिशूलिकायाः त्रिशूलस्य एव एकं शृङ्गं विषाणं तत्सङ्गिनी तत्सम्पर्कवती या लोहशृङ्खला तत्रअवलम्बमाना संयततया विद्यमाना घर्घ-ररवा काहलस्वरा घोरा भीषणा च घण्टा यस्यां तया। तथा घटितं संयोजितं केसरिसटावत् मृगेन्द्रजटा-वत् चामरं बालव्यजनं यत्र तया, काञ्चनत्रिशूलिकया सुवर्णरचितविस्तृतत्रिशूलेन लिखितं संस्पृष्टं नभ-स्तलं गगनतलं येन तम्। इह लुप्तोपमा।

इत इति। पथिकपुरुषाः पान्थजना एव उपहारा बलयः तेषां मार्गम् आगमाध्वानम् अवलोकयन्तं पश्यन्तमिव विद्यमानम्। अत्युन्नतत्वादर्धचन्द्रसदृशवराटकाभूषणस्य विकसितलोचनरूपत्वाच्चेत्याशयः। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

तदिति। अपि च, चन्द्रापीडः तस्य रक्तध्वजस्य अभिमुखः संमुखः सन्, किञ्चित् कियन्तम् अध्वानं मार्गं गत्वा 'चण्डिकामपश्यत्' इति सुदूरस्थायिन्या क्रियया सम्बन्धः। इह स्त्रीलिङ्गद्वितीयैक-वचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'चण्डिकाम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि।

केतकीति। केतक्याः तदाख्यकुसुमस्य सूचिषण्डवत् अग्रसमूहवत् पाण्डुरेण श्वेतेन, वनद्विरद-दन्तस्य आरण्यकगजस्य दन्तस्य दशनस्य कपाटेन अररेण, परिवृताम् आवृताम्। इह लुप्तोपमा।

---

अवयवोंके ही अलङ्कारोंसे उसे सुसज्जित किया हो। बुद्बुदके समान स्थूलमध्यवाले और अर्धचन्द्रके समान टेढ़े-टेढ़े सब ओर कपर्दक (कौड़ियाँ) बाँधकर उस ध्वजाके ऊपरका भाग चिह्नित किया हुआ था; अत एव प्रतीत होता था कि मानो—अपने पुत्र यमके महिषकी रक्षा करनेके लिए उसपर उतरे सूर्यने चन्द्रको भी उतार लिया हो। उसके ऊपर जो आकाशको स्पर्श करले इतना ऊँचा—एक सुवर्ण-निर्मित त्रिशूल लगा था, उसके ही चञ्चल शृङ्गमें बँधी लोह शृङ्खलाओं (लोहेकी जंजीरों) के हिलनेसे गम्भीर-ध्वनि करनेवाली तथा भयङ्कर एक घण्टी लटक रही थी, और सिंहकी सटाके समान सुन्दर एक चामर उसमें बँधा हुआ था।

उस ध्वजाके अभिमुख होकर थोड़ी दूर चलनेके पश्चात् उसने वनैले हाथीदाँतके बने हुए, केवड़ेके अग्रभाग

---

१. परिणत''', हाटकघटितबुद्बुदपुटार्धचन्द्र । २.'''लोहशृङ्खलमाला''' । ३'''नभःस्थलम् । ४. आलोकयन्तं। ५. किञ्चिदध्वानं। ६. केतकीसूचित-खण्डपाण्डुना च। ७. कवाटेन।

परिवृताम्, लोहतोरणेन च रक्त[१]चामरपरिकरां कालायस-दर्पणमण्डलमालां शबर-मुख-मालामिव कपिलकेशभीषणां बिभ्राणेन सनाथीकृतद्वारदेशाम्, अभिमुखप्रतिष्ठितेन च विनिहितरक्तचन्दन[२]हस्तकतया रुधिरारुण-यम-करतलास्फालितेनेव शोणित-लव[३]-लोभलोल-शिवालिह्यमान[४]-लोहितलोचनेन लोह[५]महिषेणाध्यासिताञ्जनशिलावेदिकाम्, क्वचिद्रक्तोत्पलैः शबरनिपातितानां वनमहिषाणामिव लोचनैः क्वचिदगस्तिकुसुमकुड्मलैः[६] केसरिणामिव करजैः क्वचित् किंशुककुसुमकुड्मलैः शार्दूलानामिव सरुधिरैर्नखरैः कृतपुण्यपुष्पप्रकराम्[७],

लोहेति । अपि च, कपिलैः पिङ्गलवर्णैः केशैः कचैः भीषणा भयङ्करा ताम्, शबराणां भिल्लानां मुख-मालां वदनपङ्क्तिमिव, रक्ता लोहितवर्णा चामरावलिः बालव्यजनपङ्क्तिः परिकरः परिच्छदो यस्यास्ताम्, कालं श्यामं अयो लौहमिति कालायसं तस्य यानि दर्पणमण्डलानि आदर्शाकारगोलखण्डानि तेषां मालां-पङ्क्तिं बिभ्राणेन धारयता, लोहतोरणेन अयोरचितबहिर्द्वारेण, सनाथीकृतो युक्तो द्वारदेशो यस्यास्ताम् चण्डिकामित्यस्य विशेषणमिदम् । इह शबरवदनानि श्यामवर्णानि तत्कचाश्च कपिलवर्णाः, अतएव शब-रवदनपङ्क्त्या सह कृष्णलौहादर्शमण्डलपङ्क्त्याः तदीयपिङ्गलवर्णकचसमूहैश्च सह लोहितवर्णचामरावले-रौपम्यमित्युपमालङ्कारः । तथा 'शबरमुखमालामिव' इत्यस्य स्थाने 'शबरमुखश्रेणीमिव' इत्येव पाठो विधेयः, अन्यथा पौनरुक्त्यस्य वारयितुमशक्यत्वात् ।

अभीति । अपि च, विनिहिताः तत्रत्यलोकैरर्पिताः रक्तचन्दनहस्ताः पत्राङ्गरसाक्तहस्तचिह्नानि यत्र स तथा तस्य भावस्तया तादृश्या कारणेन रुधिरेण शोणितेन अरुणं रक्तवर्णं यद् यमस्य धर्मराजस्य करतलं युगपाणितलं तेन आस्फालितः चालनाय खन्ताडितः तेनेव, पत्राङ्गरसाक्तकरचिह्नानामास्फा-लनसमयलग्न-शोणिताक्त-यमकरचिह्नवदवलोक्यमानत्वादित्याशयः । तया शोणितलवानां रुधिरकणानां लोभेन रक्तचन्दनचिह्नेषु रुधिरबिन्दुभ्रमात् तत्पानतृष्णयेत्यर्थः, लोलाश्चपला याः शिवाः जम्बूकपत्न्यः ताभिर्लिह्यमाने जिह्वया आस्वाद्यमाने लोहिते अरुणवर्णे लोचने नयने यस्य तेन । अभिमुखप्रतिष्ठितेन भगवत्याः संमुखस्थापितेन, लोहमहिषेण कालायसनिर्मितरक्ताक्षेण, अध्यासिता अधिष्ठिता अञ्जनशिला-वेदिका कज्जलवत् श्यामवर्णप्रस्तररचितबद्धभूमिः यस्यास्ताम् । इह क्रियोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोर्मिथो नैर-पेक्ष्येण संसृष्टिः । तथा रक्तचन्दनचिह्नेषु रुधिरबिन्दुभ्रमव्यञ्जनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः । प्रतीयते ।

क्वचिदिति । क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे शबरनिपातितानां भिल्लव्यापादितानां वनमहिषाणाम् अर-ण्यरक्ताक्षाणां लोचनैर्नयनैरिव रक्तोत्पलैः कोकनदैः, कोकनदानां रक्ताक्षनयनसदृशस्वरूपत्वादित्याशयः, क्वचित् केसरिणां मृगाधिपानां करजैर्नखैरिव अगस्तिकुसुमकुड्मलैः वक्रप्रसूनकोरकैः, अगस्तिपुष्पकुड्म-लानां केसरिनखसमानस्वरूपवत्त्वादित्याशयः, क्वचिच्च शार्दूलानां व्याघ्राणां सरुधिरैः शोणितसहितैः कर-जैरिव किंशुककुसुमकुड्मलैः पलाशपुष्पकोरकैः, पलाशपुष्पमुकुलानामपि शार्दूलनखरसमानरूपत्वादित्य-भिप्रायः, तन्मुकुलानां रक्तत्वात् सादृश्यनिरूपणाय सरुधिरैरिति विशेषणमवगन्तव्यम्, कृतो बिहितः पुण्यः पूतः पुष्पप्रकरः प्रसूनोपहारो यस्यास्ताम् । इह[२] तिस्रः श्रौतोपमाः तासां परस्परं नैरपेक्ष्येण

( बाल ) के समान श्वेतवर्ण, कपाट ( केवाड़ो ) के अभ्यन्तर, चण्डिकाकी मूर्त्तिको देखा । वहाँ द्वारदेशमें लोहेका तोरण ( महराव ) बना था । उसमें शबरोंके पिङ्गलवर्ण ( कपिल ) केश-कलापसे भयङ्कर मुख-पङ्क्तिके समान लाल-लाल चामर-पङ्क्तियोंसे परिवेष्टित और दर्पणके समान वर्त्तुलाकार ( गोल ) काले लौह-खण्ड ( वन्दनवार ) लटक रहे थे । देवीके सम्मुखमें कज्जल-तुल्य कृष्ण-वर्ण-प्रस्तर-निर्मित एक वेदी ( काले पत्थरके बने हुए चबूतरे ) पर एक लौह-निर्मित महिष बैठा था, उसके शरीरमें हस्ताकृति रक्त-चन्दनके चिह्न ( थापे ) लगे थे; उनसे ऐसा प्रतीत होता था कि मानो यमने उसे चलानेके लिए रक्तार्द्र हाथसे ताड़न किया हो; और रक्तबिन्दुके लोभसे चञ्चल शृगालगण, उसके लाल नेत्रको जिह्वासे चाट रहे थे । किसी स्थानमें व्याधोंके द्वारा मारे गए जङ्गली महिषोंके नेत्रोंके समान रक्त-कमलोंसे किसी स्थानमें सिंह-नखों ( पञ्जों ) के समान अगस्ति-कुसुमकी कलियोंसे, किसी स्थानमें रक्तार्द्र व्याघ्र-नखके समान पलाश-पुष्पोंकी कलियोंसे पवित्र-पुष्पोंके उपहार दिए गए थे । अन्य किसी स्थानमें हनन कर देवीके उपहार ( भेंट ) दिए गए पशुओंकी हिंसा, मन्दिरमें एक ओर ऐसी प्रतीत होती

१. नवरक्त… । २. रक्तचन्दननिहित । ३…नव… । ४. शिवालिह्यमान । ५. लोहित । ६. अगस्ति-कुड्मलैः अगस्त्यतरुकुड्मलैः । ७…प्रकोपहाराम् ।

अन्यत्राङ्कुरितामिव कुटिलहरिणविषाणकोटिकूटैः पल्लवितामिव सरसजिह्वाच्छेदशतैः कुसुमितामिव रक्तनयनसहस्रैः फलितामिव मुण्डमण्डलैरुपहारहिंसां दर्शयन्तीम्, शाखान्तराल-निरन्तर-निलीन[1]-रक्त-कुक्कुट-कुलैः श्वभयात्[2] अकाल-दर्शित-कुसुमस्तवकैरिव रक्ताशोकविटपैर्विभूषिताङ्गनाम्, बलि-रुधिर-पान-तृष्णया समागतैश्च वेतालैरिव तालैर्दीयमानफलमुण्डोपहाराम्, शङ्काज्वरकम्पितैरिव कदलिकावनैर्भयोत्कण्ठितैरिव श्रीफलतरुषण्डैस्त्रासोद्ध्र्वकेशैरिव खर्जूर[3]वनैः समन्ताद्गहनीकृताम्, विदलित-वन-करि-कुम्भ-विगलित-मुक्ताफलानि रुधिरारु-

संसृष्टिः। तथा पौनरुक्त्यदोषनिवारणाय एकस्य 'कुसुमकुड्मलैः' इत्यस्य स्थाने 'पुष्पमुकुलैः' इति पाठ एव विधेयः। हिंसाया मुख्यस्थानत्वात् हिंसाद्योतकोपमानप्रदर्शनमित्यवधेयम्।

अन्यत्रेति। अन्यत्र अपरस्मिन् भागे, कुटिलानि वक्राणि यानि हरिणानां मृगाणां विषाणानि शृङ्गाणि तेषां कोटयः अग्रभागाः तेषां कूटैः पुञ्जैः मृगहत्यापूर्वकनिहितैरित्यर्थः, अङ्कुरितां समुत्पन्नप्ररोहामिव, तच्छृङ्गाग्रदेशराशीनां प्ररोहवदवलोक्यमानत्वादित्याशयः। सरसा आर्द्रा रुधिराक्ता ये जिह्वाच्छेदा रसनाखण्डानि तेषां शतैः समूहैः पल्लवितां समुत्पन्नकिसलयामिव, रसनाच्छेदानां किसलयसदृशत्वादित्याशयः। मुण्डमण्डलैः छिन्नमस्तकसमूहैः फलितां समुत्पन्नफलामिव, तेषां फलसदृशस्वरूपत्वादित्यभिप्रायः। उपहाराणाम् उपायनीभूतानां जीवानां हिंसां दर्शयन्तीं प्रकाशयन्तीम्, हिंसापूर्वकं शृङ्गाग्रराशीनां विक्षिप्तत्वादित्याशयः।

इह प्ररोहादीनामुत्पन्नोत्प्रेक्षणात् चतसृणां[6] क्रियोत्प्रेक्षाणामङ्गाङ्गिभावसङ्करः। तथा सर्वासां तृतीयानामभेद एव विद्यमानत्वात् शृङ्गाग्रदेशराश्यादिरूपप्ररोहादिप्रतीतेरुपायनहिंसाया वल्लीरूपत्वप्रतीतेश्च साङ्गरूपकालङ्कारो ध्वन्यते।

शाखेति। श्वभयात् कौलेयकत्रासात् शाखान्तरालेषु शाखामध्येषु निरन्तरम् अनवरतं निलीनानि निविडं निभृतभावेनावस्थितानि रक्तकुक्कुटकुलानि लोहितताम्रचूडपटलानि येषु तैः, अतएव अकाले असमये दर्शिताः प्रकटिताः कुसुमस्तवकाः पुष्पगुच्छा यैस्तैरिव विद्यमानैः, लोहितताम्रचूडपटलानामेव पुष्पगुच्छसदृशत्वादित्यभिप्रायः, रक्ताशोकानां लोहितकङ्केल्लिवृक्षाणां विटपैः विस्तृतशाखाभिः विभूषितम् अलङ्कृतम् अङ्गनम् अजिरं यस्यास्ताम्। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

बलीति। अपि च, बलीनाम् उपायनीभूतजीवानां रुधिरपानतृष्णया रक्तपानलोभेन समागतैः समायातैः वेतालैः भूतविशेषैरिव तालैः वृक्षैः, दीयमानाः समर्प्यमाणा फलान्येव मुण्डानि मस्तकानि तेषाम् उपहारा उपायनानि यस्यै ताम्, तालफलानां मस्तकसदृशस्वरूपत्वादित्याशयः। इह जात्युत्प्रेक्षा निरङ्गकेवलरूपकं चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

शङ्केति। शङ्का पशुवधजनिता स्ववधातङ्कः तस्या यो ज्वरस्तापः तेन कम्पितैरिव आन्दोलितैरिव, पवनेनान्दोलनादित्याशयः, कदलिकावनैः रम्भाकाननैः। भयोत्कण्ठितैरिव त्रासौत्सुक्योत्पन्नपुलकसदृशकण्टककूटावलोकनादिति भावः, श्रीफलतरुषण्डैः बिल्ववृक्षपुञ्जैः। तथा त्रासोद्ध्र्वकेशैरिव भयोद्ध्र्वकचैरिव, उद्ध्र्वपत्रसमूहानां त्रासेनोद्ध्र्वीभूतकचवदवलोक्यमानत्वादित्याशयः। खर्जूरवनैः समन्ताद्गहनीकृतां परितः सान्द्रीकृतां। इहाद्या द्वितीया च क्रियोत्प्रेक्षा, तृतीया तु गुणोत्प्रेक्षा, आसाञ्च परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

विदलितेति। बलिसिक्थेषु पूजोपायनीभूतान्नेषु रुधिराक्तेष्वित्यर्थः लुब्धाः तृष्णायुक्ताः, मुग्धा

थी कि मानो हरिणोंके टेढ़े सींगोंके अग्रभागके पुञ्जोंसे अङ्कुरित हुई हो, सैकड़ों रक्तार्द्र जिह्वाओंसे पल्लवित हुई हो, हजारों रक्त-नेत्रोंसे पुष्पित हुई हो और मुण्डसमूहसे फलित हुई हो। उसकी प्राङ्गण-भूमि (आँगन) रक्तवर्ण अशोक वृक्षसे अलङ्कृत थी, उसकी छोटी छोटी शाखाके अभ्यन्तरमें (डालियोंके बीचमें) रक्तवर्ण वहुतर वन-कुक्कुट (वन मुर्गे) निरन्तर कुक्कुरों (कुत्तों) के भयसे छिपे हुए थे, इससे प्रतीत होता था कि—उसकी शाखाओंमें अकाल पुष्प-स्तवक लगे हों। बलि-रुधिर पान करनेकी अभिलाषासे आये वेतालगणके समान तालवृक्ष फलरूपी मुण्डका उपहार दे रहे थे; पशुओंके वध देखनेके आतङ्कसे उत्पन्न हुए ज्वरसे मानो कम्पित होते कदली-वनोंसे, भयसे मानो उत्कण्ठित हुए बिल्व वृक्षोंसे और त्राससे मानो ऊँचे उठे केशवाले खर्जूर (खजूर) के वनोंसे उसकी प्राङ्गण-भूमि व्याप्त हो गई थी। वहाँके प्राङ्गणमें सिंह-विदारित जङ्गली हाथियोंके कुम्भस्थलोंमेंसे

१. शाखान्तरालनिलीन··· ! २. कुक्कुटकुलैश्च भयात्···। ३. खर्जूर।

णानि बलि-सिक्थ[1]-लुब्ध-मुग्ध-कृकवाकु-ग्रस्तमुक्तानि विकिरद्भिरम्बिकापरिग्रहदुर्ललितैः क्रीडद्भिः केशरि-किशोरकैर शून्योद्देशाम, प्रभूत-रुधिर-दर्शनोद्भूत-मूर्च्छापतितेनेव प्रतिबिम्बितेनास्ततताम्रेण सवित्रा ताम्रतरीकृतैः[2] क्षतज-जल-प्रवाहैः[3] पिच्छिलीकृताजिराम्, अवलम्बमान-दीप-धूप[4]-रक्तांशकेन ग्रथित-शिखि-गल-वलयाबलिना[5] पिष्ट-पिण्ड-पाण्डुरित[6]-घन-घण्टा-मालभारिणा[7] त्रापुष-सिंह-मुख-मध्यस्थित-स्थूल-लोह-कण्टकं[8] दत्त-दन्त-दण्डार्गलं लसत्पीत[9]-नील-लोहित-दर्पण[10]-स्फुरित-बुद्बुदमालं कपाटपट्टद्वयं[11] दधानेन गर्भगृहद्वारदेशेन दीप्यमानाम्,

मुक्ताफलेषु पूजोपायनीभूतान्नभ्रान्त्या मूढा ये कृकवाकवः ताम्रचूडाः तैरादौ ग्रस्तानि पूजोपायनीभूतान्नभ्रमादेव कवलितानि पश्चात् मुक्तानि कार्कश्यावगमादुज्झितानि, रुधिरारुणानि शोणिताक्ततया रक्तवर्णानि, विदलितेभ्यो विदारितेभ्यः करिकुम्भेभ्यो गजमस्तकेभ्यो विगलितानि प्रस्तुतानि यानि मुक्ताफलानि मौक्तिकानि तानि, विकिरद्भिः रुधिराक्ततया तृष्णया गृहीत्वा मांसाद्यभावाद्भूयो विक्षिपद्भिरित्याशयः, अम्बिकायाः चण्डिकायाः परिग्रहेण वाहनसजातीयतया स्वीकारेण दुर्ललितैः प्राणवियोगाभावाद्दुर्दान्तीभूतैः क्रीडद्भिः खेलां कुर्वद्भिः, केशरिकिशोरकैः मृगेन्द्रबालकैः अशून्यैः अवर्जित उद्देशः स्थानं यस्यास्ताम्। इह 'केशरिकिशोरकैः' इत्यत्रच्छेकानुप्रासः, तेन हि कुक्कुटानां मौक्तिकेषु पूजोपायनीभूतान्नभ्रमाद्भ्रान्तिमानलङ्कारः संसृज्यते।

प्रभूतेति। प्रभूतं प्रचुरं यद् रुधिरं शोणितं तस्य दर्शनेन अवलोकनेन उद्भूता उत्पन्ना या मूर्च्छा मोहः तया पतितेनेव स्रस्तेनेव, प्रतिबिम्बितेन क्षतजसलिलधारास्वेव सङ्क्रान्ताकृतिना, अस्ते अस्ताचलगमनसमये ताम्रो रक्तवर्णः तेन, सवित्रा सूर्येण, ताम्रतरीकृतैः विशेषेण रक्तवर्णीकृतैः क्षतजप्रवाहाः प्रागेव ताम्रवर्णाः, ततस्तु अस्तकालिकसूर्यप्रभया नितान्तमरुणीकृता इत्यभिप्रायः। क्षतजानि शोणितान्येव जलानि सलिलानि क्षतजानि जलानीति वा तेषां प्रवाहैः धाराभिः, पिच्छिलीकृतम् आर्द्रीकृतम् अजिरम् अङ्गणं यस्यास्ताम्।

इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, तथा 'क्षतजजले' त्यत्र किं रूपकं किं वोपमेति सन्देहसङ्करः, उभयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

अवेति। अवलम्बमानानि अवतिष्ठमानानि दीपधूपै रञ्जितानि अंशुकानि वस्त्राणि यत्र तेन, ग्रथिता गुम्फिता शिखिगलवलयानां बर्हिकण्ठमण्डलानाम् आवलिः पङ्क्तिःयस्मिन् तेन, पिष्टपिण्डेन तण्डुलचूर्णपिण्डन पाण्डुरिताः श्वेतपर्णीकृताः घनाः सान्द्राः या घण्टाः तासां मालां पङ्क्तिं बिभर्त्ति धारयतीति तच्छीलेन 'इष्टकेषीकामालानाम्' इत्यादिना ह्रस्वः। त्रपुषः सीसकस्यायमिति त्रापुषः सीसकरचितो यः सिंहः केशरी तस्य मुखमध्ये वदनान्तराले स्थितं विद्यमानं स्थूलं लोहकण्टकं यत्र, तत्, दत्तं दन्तदण्डो गजदशनदण्ड एव अर्गलं विष्कम्भः कपाटरोधनकाष्ठमित्यर्थः यत्र तत्, तथा लसत्सु अभिमुखे शोभमानेषु पीत-नील-लोहितवर्णेषु दर्पणेषु मुकुरेषु स्फुरिता सङ्क्रान्ता बुद्बुदमाला बुद्बुदसदृशगोलाकारलौहशङ्कुपङ्क्तिः यत्रतत्तथोक्तं कपाटपट्टद्वयं अररफलकयुगलं दधानेन धारयता, गर्भगृहस्य अन्तर्भवनस्य द्वारदेशेन

रक्तार्द्र मुक्तासमूह गिरे हुए थे, उन्हें बलिका अन्न-समूह समझकर लोभी वन-कुक्कुट, पहले खाकर पीछे कठिन होनेके कारण परित्याग कर दिए थे, इधर अम्बिकाके परिग्रह करनेसे हिंसाके अभावसे दुर्दान्त सिंहके बच्चे उन मुक्ताओंको बिखेर कर क्रीड़ा करते हुए विचरण करते थे। जलके समान रक्तका प्रवाह वहाँके प्रांगणको पिच्छिल कर दिया था, अस्तकालीन ताम्रवर्ण सूर्य उस रक्तके प्रवाहमें प्रतिबिम्बित होकर उसे और भी अधिक ताम्रवर्ण कर दिया था, उससे प्रतीत होता था कि,—प्रचुर रक्त देखनेसे मूर्च्छा उपस्थित हो जानेके कारण ही मानो सूर्य उसमें गिर पड़ा हो। अभ्यन्तरस्थ द्वारदेशके वस्त्र, लटकते हुए दीपकोंके धूमसे रक्तवर्ण (रंगीन) हो गए थे; उसमें मयूरके कण्ठकी माला गुथी हुई थी, तण्डुल-चूर्ण (आँटे) से शुभ्रवर्ण की हुई निरन्तर घण्टियोंकी माला लटक रही थी; उस द्वारदेशके दोनों किवाड़ोंमें शीशेके सिंहके मुखके अभ्यन्तरमें मोटी एक लोहेकी काँटी (चटखनी) बनी थी; हाथी दाँतकी अर्गला (कील) दी हुई थी, और उस कपाटमें बुद्बुदके समान वर्तुलाकार लौहशङ्कुश्रेणी (लोहेकी काँटियों) का सम्मुखवर्त्ती पीतवर्ण, नीलवर्ण और रक्तवर्णवाले दर्पणोंमें प्रतिबिम्ब पड़ता था। मन्दिरके

१. वनकरिकुम्भविदलितमुक्ताफलानि, विदलितवनकरिकुम्भविगलितरक्तमुक्ताफलानि नवरुधिरा रुणबलिं। २. अन्तरीकृतैः। ३. क्षतजलप्रवाहैः। ४...दीपधूम। ५. वलयावलम्बिना। पिष्टपाण्डुरित...। ७...मालाभारिणा। ८...कण्टकदत्त...। ९. गलत्पीतलसत्...। १०. तर्पण। ११. कपाटपटद्वयं।

अन्तःपिण्डिकापीठपातिभिश्च सर्वपशुजीवितैरिव शरणमुपागतैरलक्तक[1]-रस-रक्त-पटैरविरहित-चरणमूलाम्, पतितकृष्णचामरप्रतिबिम्बानाञ्च शिरश्छेदलग्न-केशजालकानामिव[2] परशुपट्टि[3]शप्रभृतीनां जीवविशसनशस्त्राणां प्रभाभिर्बद्धबहला[4]न्धकारतया पातालगृहवासिनीम्[5] इवोपलक्ष्यमाणाम्, रक्तचन्दन-खचित-स्फुरत्फल[6]-पल्लव-कलितैश्च बिल्वपत्रदामभि[7]- बालकमुण्डप्रालम्बैरिव कृतमण्डनाम्[8], शोणितताम्र[9]-कदम्ब स्तबक-कृताचर्चनैश्च पशूपहार-पटह-पटु-रटित

दीप्यमानां विराजमानाम्, कपाटद्वये ये लोहकीलका जटितास्ते 'जगन्मोहन' ( स्वभवनस्याग्रदेश ) स्थदर्पणेषु प्रतिबिम्बिता इत्यभिप्रायः।

अन्तरिति। अपि च, अन्तर्मध्ये या पिण्डिका परिष्कृता भूमिः तत्र यत् पीठं मूर्त्तिस्थापनाय सिंहासनं तत्र पतन्तीति तैः, शरणमुपागतैः रक्षकं प्राप्तैः सर्वपशूनां जीवितैरिव, तेषामपि रुधिरसम्पर्केण लोहितत्वसम्भवादित्याशयः, अलक्तकरसेन यावकद्रवेण रक्ता लोहिता ये पटास्तैः, अविरहितम् अवर्जितं चरणयोः पादयोः मूलं निकटं यस्यास्ताम्। इह जात्युत्प्रेक्षा।

पतितेति। अपि च, पतितानि कृष्णचामराणां श्यामबालव्यजनानां प्रतिबिम्बानि प्रतिच्छायानि येषु तेषाम्, अत एव शिरश्छेदे मस्तककर्त्तने सति लग्नं सक्तं केशजालं कचसमूहो येषु तेषामिवावलोक्यमानाम्, श्यामबालव्यजनप्रतिबिम्बानामेव कचसमूहवदवलोक्यमानत्वादित्याशयः, परशुः कुठारः, पट्टिशः 'पट्टिशो लोहदण्डो यस्तीक्ष्णधारः क्षुरोपमः' इति वैजयन्त्युक्तः तत्प्रभृतीनां जीवविशसनशस्त्राणां प्राणिहिंसायुधानां प्रभाभिर्दीप्तिभिः बद्ध उत्पादितः, बहलोऽधिकः अन्धकारस्तिमिरो यत्र गृहे तस्य भावस्तया कारणेन, पातालगृहवासिनीमिव अधोभुवनभवननिवासिनीमिव उपलक्ष्यमाणां दृश्यमानाम्।

इह कचसमूहलग्नक्रियोत्प्रेक्षणादाद्या, अधोभुवनभवनवासोत्प्रेक्षणादपरा च क्रियोत्प्रेक्षैव, उभयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

रक्तेति। अपि च, रक्तचन्दनेन पत्राङ्केन खचिता रञ्जिता अतएव स्फुरन्तः शोभमाना ये बिल्वस्यैव फलपल्लवाः तैः कलिताः सम्मेलितास्तैः, अतएव बालकमुण्डानां शिशुशिरसां प्रालम्बैः ऋजुलम्बिनीभिः स्रग्भिरिव विद्यमानैः, बिल्वपत्राणां श्रीफलदलानां दामभिः स्रग्भिः ( मालाभिः ) कृतमण्डनां विहितालङ्काराम्। बिल्वपत्राणां मालासु मध्ये मध्ये रक्तचन्दनखचितानि श्रीफलान्यपि प्रोतानि, अतएवमवबुध्यते यद् बालकमस्तकानां माला परिहिता भवेदित्यभिप्रायः। इह जात्युत्प्रेक्षा। शिशुमस्तकगतलोहितसादृश्यनिरूपणाय 'रक्तचन्दनखचिते'ति विशेषणम्। बालकपदन्तु तच्छिरसामापेक्षिकलघुतया श्रीफलसादृश्यावगमायेति बोध्यम्।

शोणितेति। अपि च, शोणितेन रुधिरसंस्रवेण ताम्रा रक्ता ये कदम्बस्तबका नीपगुच्छकास्तैः कृतं विहितम् अर्च्चनं पूजनं येषां तैः संसक्तनीपपुष्पपरागैरित्यर्थः, अतएव पशूपहारे पशूपायनदानकाले पटहस्य दुन्दुभेः यत् पटुरटितम् उच्चशब्दः तस्य रसेन श्रवणोत्साहेन उल्लसन्ति उद्व्रजन्तीति ते तादृशा रोमाञ्चाः पुलका येषु तैरिव, अङ्गैर्हस्तपादादिभिरवयवैः, क्रूरतां रौद्रताम् उद्वहन्तीं धारयन्तीम्।

अन्दरमें देवीके चरणके समीपमें एक वेदी थी वह आलताके रससे रञ्जित एक वस्त्रसे आच्छादित थी, उससे प्रतीत होता था कि वहाँ समस्त पशुओंका जीवन आकर मानो शरणागत होकर रहता है। वहाँ परसु और पट्टिश ( माला ) आदि कितने ही जीवहत्या करनेके शस्त्र थे, उनमें कृष्णवर्ण चामरोंका प्रतिबिम्ब ( परछाईं ) पड़नेसे ऐसा प्रतीत होता था कि—शिरश्छेद हो जानेसे उसके केश-कलाप ही मानो चिपक रहे हों। इस प्रकारके शस्त्रोंकी प्रभासे प्रचुर अन्धकार हो जानेके कारण देवी पाताल-वासिनीके समान देखनेमें प्रतीत होती थी। देवी कण्ठदेशमें कितनी बिल्व-पत्रकी मालाएँ पहन कर भूषित हुई थी, उनके बीच-बीचमें रक्त-चन्दन-रञ्जित ( लाल-चन्दन-लिप्त ) बहुतर बिल्व-फल और बिल्व-पत्र संयोजित ( चिपके ) हुए चमक रहे थे अत एव वे मालाएँ बालकोंके मुण्ड की लम्बी-लम्बी मालाओंके समान प्रतीत होती थीं। रुधिरसे रक्त हुए कदम्ब-पुष्पके गुच्छोंसे अर्चन किए गए और पशुओंका बलिदान करते समय बजाई गई दुन्दुभीके उत्पन्न हुए उच्च शब्द श्रवण

१ ···अलक्तकपुटैः, अलक्तकपटैः, अलक्तकरसरक्तपुटैः। २. कलापानाम्। ३. असिपरशु···। ४. बहलबद्ध···। ५. पातालनिवासिनीम् पातालगुहावासिनीम्···। ६. स्फुरत्फलक। ७. बिल्वदामभिः। ८. कृतमण्डलाम्। ९. शोणितताताम्र···।

रसोल्लसितं[1] रोमाञ्चैरिवाङ्गैः[2] क्रूरतामुद्वहन्तीम्, चारु-चामीकर-पट्ट[3]-प्रावृतेन च ललाटेन शबर-सुन्दरी-रचित-सिन्दूर-तिलक-बिन्दुना दा[4]डिम-कुसुम-कर्णपूर-प्रभा-सेक-लोहितायमान-कपोल-भित्तिना रुधिर-ताम्बूलारुणिताधरपुटेन भ्रूकुटि-कुटिल-बभ्रु-नयनेन[5] मुखेन कुसुम्भ-पाटलित-दुकूल[6]-कलितया च देहलतया महाकालाभिसारिकावेशविभ्रमं बिभ्रतीम्, सम्पिण्डित-नील-गुग्गुलु[7]-धूपधूमारुणीकृताभिश्च प्रचलन्तीभिर्गर्भगृहदीपिकालताभिरङ्गुलीभिरिव[8] महिषासुर-शोणित-लवालोहिनीभिः स्कन्धपीठ-कण्डूयन-चलित-त्रिशूलदण्ड-कृतापराधं वनमहिषमिव तर्जयन्तीम्, [9]प्रलम्ब-कूर्चधरैश्छागैरपि धृतव्रतैरिव, स्फुरदधरपुटैराखुभिरपि जपपरैरिव,

इह पुलकाविर्भावोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा वृत्त्यनुप्रासश्चेत्युभयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपसङ्करः ।

चार्विति । अपि च, चारुः सुन्दरो यः चामीकरपट्टः सुवर्णफलकं तेन प्रावृतम् आच्छादितं तेन, तथा शबरसुन्दरीभिः भिल्लवनिताभिः रचितो विहितः सिन्दूरतिलकबिन्दुः यत्र तेन तथोक्तेन ललाटेन भालेन । दाडिमकुसुमे एव करकपुष्पे एव कर्णपूरौ श्रवणालङ्कारौ तयोः प्रभायाः कान्तेः सेकेन सम्पर्केण लोहितायमाने रक्तायमाने कपोलभित्ती गण्डद्वयं यस्य तेन, रुधिरताम्बूलाभ्यां शोणितनागवल्लीभ्याम् अरुणितं लोहितवर्णीकृतम् अधरपुटं यस्य तेन, तथा भ्रुकुट्या भ्रूभङ्गेन कुटिले वक्रे बभ्रुणी पिङ्गले च नयने लोचने यस्य तेन तथोक्तेन, तथा कुसुम्भेन कमलोत्तराख्यरञ्जनद्रव्यविशेषेण पाटलितं श्वेतलोहितीकृतं यद्दुकूलं वसनं तेन कलितया आच्छादितया देहलतया शरीरवल्लया च करणेन, महाकालस्य रुद्रस्य-अभिसारिकावेशविभ्रमम् अभिसारिकानेपथ्यविलासं बिभ्रतीं धारयन्तीमिव विद्यमानाम् । इह प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा ।

सम्पिण्डितेति । अपि च, सम्पिण्डित एकत्रीभूतो यो नीलगुग्गुलधूपयोः पलङ्कषधूपयोर्धूमस्तेन अरुणीकृताभिः रक्तीकृताभिः प्रचलन्तीभिः पवनभरात् कम्पमानाभिः, गर्भगृहस्य अन्तर्भवनस्य दीपिकालताभिः पवनवशात् वल्लीवल्लम्बमानीभूतैः प्रदीपैः, महिषासुरस्य तन्नामकप्रसिद्धदैत्यस्य शोणितलवैः रुधिरकणैः आलोहिन्य आरक्ताः ताभिः अङ्गुलीभिः करशाखाभिरिव विद्यमानाभिः, स्कन्धपीठस्य स्कन्धभागस्य कण्डूयनेन खर्जनेन चलितः कम्पितो यः त्रिशूलदण्डः तेन कृतो विहितः अपराध आग येन तं वनमहिषम् अरण्यरक्ताक्षं तर्जयन्तीं न्यक्कुर्वन्तीमिव विद्यमानाम् । चूर्णहरिद्रयोः संयोगे यथाऽरुणवर्णस्तथा नीलस्यापि गुग्गुलुधूपयोर्धूमस्य दीपिकाभिः संयोगे अरुणवर्णः समुत्पद्यते, संयोगवैचित्र्यादित्यवधेयम् । अत एवेह हेतुविरुद्धकार्यजननाद्विषमालङ्कारः, तथाद्या जात्युत्प्रेक्षा अपरा च क्रियोत्प्रेक्षा चैत्येतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः । ननु भगवत्याश्चण्डिकाया मन्दिरे वनमहिषप्रवेशः कथमिति चेत्? तन्मन्दिरस्यारण्यान्तःपातितया वनमहिषप्रवेशस्यापि सम्भवादिति बोध्यम् ।

प्रलम्बेति । अन्येषु का कथा, प्रलम्बकूर्चधरैः लम्बमानचिबुकाधःस्थलवर्त्तिरोमधारिभिः छागैरपि बस्तैरपि धृतव्रतैः गृहीततपोनियमैः सद्भिः आराध्यमानामिव उपास्यमानामिव, प्रलम्बकूर्चधरत्वादि-

करनेके उत्साहसे मानो रोमाञ्चित हों ऐसे अवयवोंसे वह भयङ्करता दिखाती थी। सुन्दर स्वर्णफलकसे आवृत तथा शबर-रमणियों ( भीलिनियों ) द्वारा लगाए गए सिन्दूरके तिलक बिन्दुसे समन्वित ललाटसे, कर्णयुगलमें धारण किए हुए दाड़िमपुष्प ( अनारके फूल ) की प्रभाके सम्पर्कसे रक्तवर्ण हुए कपोल-भित्ति ( चौड़े गाल ) से, रुधिर-संस्रवसे और ताम्बूलके रससे अरुणवर्ण हुए ओष्ठ-युगल ( होठ ), से स्वभावतः पिङ्गल नयनवाले तथा टेढ़ी भौंहवाले मुखसे, और कुसुम्भ नामक रञ्जनद्रव्यविशेषमें श्वेतरक्तवर्ण ( गुलाबो रँगे ) हुए वस्त्रसे समन्वित देह-लतासे, उसने मानो महाकालके प्रति अभिसारिकाके वेशका विलास धारण किया था। वायुके भारसे कम्पित हुई लताके समान लम्बमान श्यामवर्ण गुग्गुल और धूपके धूमपुञ्जसे अरुणवर्ण हुए अभ्यन्तरके मण्डपके चञ्चल प्रदीप, महिषासुरके रुधिर-बिन्दुओंसे रक्तवर्ण हुई अङ्गुलियोंके समान दीखनेमें आते थे, इधर एक जङ्गली महिषने अपने चौड़े कन्धेको खुजला कर मन्दिरके त्रिशूल-दण्डको कम्पित कर दिया, इस अपराधके कारण ही उसको मानो देवी उन प्रदीपोंसे तर्जना करती ( धमकाती ) थी। दीर्घ-श्मश्रु-धारण ( लम्बी-लम्बी डाढ़ी बढ़ा )

१. अविरतपशूपहारपटहपटुरचितरसोत्तम्भित··· । २···चाङ्गैः । ३···पट··· । ४. दाडिमी··· । ५. भ्रुकुटिकुटिलभ्रूणा रक्तनयनेन, भृकुटिकुटिलबभ्रुणा रक्तनयनेन, भ्रकुटिः··· । ६. पाटलितमुखदुकूल । ७···गुग्गुल··· । ८···विरचिताङ्गुलीभि··· । ९. प्रबल··· ।

कृष्णाजिनप्रावृताङ्गैः कुरङ्गैरपि प्रतिशयितैरिव[1] ज्वलित-लोहित-मूर्द्ध-रत्न-रश्मिभिः कृष्णसर्पैरपि शिरोधृतमणिदीपकैरिवाराध्यमानाम्, सर्वतः कठोरवायसगणेन च रटता[2] स्तुतिपरेणेव स्तूयमानाम्, स्थूलस्थूलैः शिराजालकैर्गोधा-गोधिका[3]-कृकलासकुलैरिव दग्धस्थाण्वाशङ्कया समारूढैर्गवाक्षितेन, अलक्ष्मी[4]-समुत्खात-लक्षणस्थानैरिव [5]विस्फोटव्रणबिन्दुभिः कल्माषित-सकलशरीरेण, कर्णावतंससंस्थापितया च चूडया रुद्राक्षमालिकामिव[6] दधानेन,

त्यभिप्रायः। स्फुरन्ति स्पन्दमानानि अधरपुटानि येषां तैः, आखुभिर्मूषकैरपि जपपरैः मन्त्रजपप्रवृत्तैः सद्भिः आराध्यमानामिव, जपप्रवृत्तवत् स्पन्दमानाधरपुटत्वादिति भावः। अधरपुटस्पन्दनमाखूनां स्वभावः। कृष्णाजिनं श्यामवर्णमात्मीयं चर्म कृष्णसारचर्म च तेन प्रावृतम् आच्छादितम् अङ्गमवयवो येषां तेषां तैः कुरङ्गैर्मृगैरपि प्रतिशयितैः कृतप्रतिशयनैः सद्भिः आराध्यमानामिव, तद्वत् कृष्णाजिनाच्छादितावयवत्वादिति भावः। विपत्प्रतीकाराय अभीष्टप्राप्तये दिवसमासादिनियतमशनापरित्यागपूर्वं देवताग्रे शयनं प्रतिशयनम्। तथा ज्वलिता दीप्ताः, लोहिता अरुणवर्णाः, मूर्धरत्नस्य शिरोमणे रश्मयो रोचिषो येषां तैः, कृष्णसर्पैर्विजातीयभुजङ्गैरपि शिरःसु मूर्धसु धृता मणयो रत्नान्येव दीपा मणिवद्दीपाश्च यैस्तैः सद्भिराराध्यमानामिव, मस्तकेषु दीपधारणादित्याशयः। अन्योऽपि मस्तके दीपधारणपूर्वकं देवतोपासनां विधत्ते।

इह प्रत्येकवाक्य एव क्रियोत्प्रेक्षा, तथा 'आराध्यमानाम्' इत्येकस्यामेव क्रियायामनेकेषां कर्तृत्वेनाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। अनेन च महाराधनाभूमित्वं प्रतीयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

सर्वत इति। अपि च, सर्वतश्चतुर्दिक्षु रटता शब्दं विदधता, कठोरः कर्कशस्वरो यो वायसगणः सकृत्प्रजासमूहस्तेन, स्तुतिपरेण स्तुतिप्रवृत्तेन सता स्तूयमानामिव नूयमानामिव, स्तवप्रवृत्तवत् समन्तात् शब्दविधानात्। स्तुतिपरो हि प्रदक्षिणतया भ्रमन्नुच्चैः स्तुतिशब्दं विधत्ते। इहापि क्रियोत्प्रेक्षा।

स्थूलेति। दग्धो ज्वलितो यः स्थाणुः शाखापर्णरहितस्तरुः तस्य आशङ्कया भ्रान्त्या समारूढैः शरीरारूढैः, गोधा गोधिका, कृकलासः सरट एतेषां कुलैः समूहैरिव, स्थूलस्थूलैः अन्यान्यापेक्षया अत्यन्तस्थूलैः शिराजालकैः धमनीसमूहैः, गवामक्षीवेति गवाक्षः 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' इत्यच्, गवाक्षं सञ्जातमस्येति गवाक्षितः तारकादित्वादितच्। तेन जालकमयीभूतेन 'जरद्द्रविडधार्मिकेणाधिष्ठिताम्' इत्यधिकदूरस्थायिन्या क्रियया सम्बन्धः। इह भ्रान्तिमान् जात्युत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः। इत आरभ्य पुँल्लिङ्गतृतीयैकवचनान्तानि पदानि अग्रेतनस्य 'जरद्द्रविडधार्मिकेण' इत्यस्य विशेषणान्यवगन्तव्यानि।

अलक्ष्मीति। अलक्ष्म्या अश्रिया देव्या समुत्खातानि मूलत उन्मूलितानि यानि लक्षणानि सामुद्रिकशास्त्रोक्तानि शुभचिह्नानि तेषां स्थानैरिव, विस्फोटकाः शीतलाप्रकोपजाःप्रसिद्धाः तेषां व्रणबिन्दुभिः कल्माषितं विचित्रीकृतं सकलं समग्रं शरीरं यत्र तेन। इह जात्युत्प्रेक्षा।

कर्णेति। अपि च, कर्णावतंसे श्रवणालङ्कारस्थाने संस्थापितया न्यस्तया चूडया शिखया कारणेन, रुद्राक्ष मालिकां दधानेन धारयतेव, मयूरपिच्छरचितायास्तच्छिखायाः कण्ठपर्यन्तपातित्वेन रुद्राक्षमालावदवगतेरित्याशयः। क्रियोत्प्रेक्षा।

कर छागगण ( बकरे ) भी मानों व्रतालम्बन कर देवीकी आराधना करते हों; ओष्ठयुगल निरन्तर स्पन्दित होनेके कारण मूषकगण भी मानो जपमें प्रवृत्त होकर देवीकी उपासना करते हों, कृष्ण-चर्म ओढ़ कर हरिणगण भी धरना देकर देवीकी आराधना करते हों, और मस्तकमें प्रज्वलित ( चमकते ) हुए रक्तवर्ण रत्नकी किरणोंके कारण कृष्णसर्पगण भी मानो मस्तक पर मणिप्रदीप धारण कर देवीकी उपासना करते हों—ऐसा प्रतीत होता था। कर्कश-स्वरवाले काकगण (कौवे) भी सर्वत्र काँव काँव करके मानो स्तुति करनेमें प्रवृत्त होकर उसकी आराधना करते थे। वहाँ एक द्रविड़देशीय वृद्ध धार्मिक रहता था। दग्ध-स्थाणु ( जले हुए ठूंठ ) की आशङ्कासे शरीर पर चढ़े हुए गोह, छिपकली और गिरगिटोंके समूहके समान अत्यन्त-स्थूल शिराओं ( मोटी मोटी नसों ) के समूहसे व्याप्त होनेके कारण उसके शरीरमें गवाक्ष-जाल (जालीदार खिड़कियाँ) उत्पन्न हो गए थे। अलक्ष्मी देवीके द्वारा जड़से उखाड़े गए शुभलक्षणोंके रिक्त-स्थानके समान विस्फोटक-व्रण-बिन्दुओं (फोड़ोंके घावके चिह्नों) से उसका शरीर विचित्र हो गया था। कर्णाभरणके स्थानमें रक्खी गई उसकी शिखा वक्षःस्थल पर्यन्त लटकनेके कारण प्रतीत होता था कि वह मानो रुद्राक्ष-माला धारण करता था। अम्बिकाके चरणोंमें गिरनेसे उसके काले ललाटदेश पर अर्बुद-

१. प्रतिशयनैरिव। २. रुवता। ३. शिराजालैर्गोधार'''गोधालिका,- गोधारगृहगोधिका गोधारगोधिका।
४. लक्ष्मी। ५. विस्फोटक। ६. क्वचित् 'इव' शब्दो नास्ति।

अम्बिकापाद-पतन-श्याम-ललाट-वर्द्धमानार्बुदेन[1], कुवादि[2]-दत्त-सिद्धाञ्जनदानस्फुटितैक[3]-लोचनतयात्रिकालमितरलोचनाञ्जनदानादर[4]-श्लक्ष्णीकृत-दारुशलाकेन, प्रत्यहं कटुकालावु-स्वेद-प्रारब्ध-दन्तुरताप्रतिकारेण, कथञ्चिदस्थान-दत्तेष्टका-प्रहारतया शुष्कैक[5]-भुजोपशांत-मर्द्दन-व्यसनेन, उपर्युपर्यविश्रान्त[6]-कटुकवर्त्ति-प्रयोग-वर्द्धिततिमिरेण, अश्मभेद-संगृहीत-वराहदंष्ट्रेण, इङ्गुदीकोषकृतौषधाञ्जनसंग्रहेण, सूची-स्यूत-सिरा-सङ्कोचित-वाम-कराङ्गुलिना, कौशेयक-कोषावरण[7]-क्षति

अम्बिकेति । अम्बिकायाः पार्वत्याः पादपतनेन श्यामे कृष्णवर्णीभूते ललाटे भाले वर्धमानः एधमानः अर्बुदः कृष्णवर्णः किणः यस्य तेन, अनवरतभूमिघर्षणादित्याशयः ।

कुवादीति । कुवादिना कुतूहलाय असत्यभाषिणा पुरुषेण दत्तस्य सिद्धाञ्जनस्य नेत्रौषधस्य दानेन अर्पणेन स्फुटितं नाशमुपगतम् एकं लोचनं नयनं यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, त्रिकालं प्रातर्मध्याह्न-सायाह्नेषु, इतरलोचने अपरनयने अञ्जनदाने सामान्यकज्जलार्पणे न तु कुवाद्यर्पितसिद्धाञ्जनार्पणं इत्यर्थः आदरेण यत्नेन श्लक्ष्णीकृता चिक्कणीकृता दारुशलाका काष्ठरचिता कज्जलार्पणशलाका येन तेन । एकं लोचनं तु सिद्धाञ्जनाभासेन लुप्तमेव, उन्मीलिते द्वितीये नयने तु शोभायै तत्र नियमाद्वा साधारण-कज्जलम् ( न तु सिद्धाञ्जनम् ) इयद्दीयते येन नित्यघर्षणात् दारुशलाकाऽपि चिक्कणा जातेति निखिलाभिप्रायः ।

प्रत्यहमिति । कटुकालाबुः कटुतुम्बी तस्याः स्वेदेन घर्मवारिणा प्रारब्धो दन्तुरताया उन्नतदशनतायाः प्रतीकारश्चिकित्सा येन तेन । तथाविधस्वेदेन दशनपातावश्यम्भावात् वर्वरत्वावगतिः ।

कथञ्चिदिति । कथञ्चित् केनापि विधिना अस्थाने अप्रतिपादितस्थाने दत्त इष्टिकाप्रहार इष्टिकाघातो यस्य तस्य भावस्तया कारणेन, शुष्के शुष्कीभूते एकस्मिन् भुजे बाहौ उपशान्तं फलाभावज्ञानात्यक्तं मर्द्दनव्यसनं वायुविनाशकतैलमर्द्दनाग्रहो यस्य तेन । आमवातेन व्याधिना स्तब्धीकृतशरीरस्य तद्वायुदूरीकरणाय सैन्धवादिस्नेहविशेषमर्द्दनानन्तरं स्थानविशेषे करञ्ज(चिरविल्व)काष्ठसंपादिताग्नितप्तेष्टकानामाघात आयुर्वेदशास्त्रप्रतिपादितः, तस्मिंश्चाविहितस्थाने विहिते कश्चिद्बाहुः शुष्को भवति, सा च शुष्कतास्योत्पन्ना, एवञ्चासौ तस्मिन् बाहौ व्यपगतो वायुरिति विज्ञाय सैन्धवादितैलमर्द्दनं परित्यक्तवानिति स्फुटोऽर्थः ।

उपरीति । उपर्युपरि ऊर्ध्वोर्ध्वं अधिकाधिकमित्यर्थः अविश्रान्त निरन्तरञ्च यथा स्यात्तथा यः कटुवर्तिप्रयोगः कटुवस्तुरचितनेत्ररोगापनोदकवर्त्तिका ( दशा ) दानं तेन वर्धितम् अधिकं सञ्जातं तिमिरं नेत्ररोगविशेषो यस्य तेन, आन्ध्यविनाशाय कटुवर्तिप्रयोग इत्यस्कृतो येन नेत्रमन्दत्वं बहुलीभूतमित्यर्थः ।

अश्मेति । अश्मभेदाय प्रस्तरखण्डार्थं संगृहीता एकत्रीकृता वराहदंष्ट्रा वनक्रोडदशना येन तेन ।

इङ्गुदीति । इङ्गुदी तापसद्रुमः तस्य कोषः फलं तन्मध्ये कृतो विहित औषधाञ्जनस्य तिमिररोगौषधीभूतकज्जलस्य संग्रहो येन तेन, तत्र स्थापितस्यौषधाञ्जनादेर्विशेषगुणजनकत्वादित्याशयः ।

सूचीति । सूच्या सीवन्या स्यूताभिः औन्नत्यव्यावृत्तये तन्तुना गुम्फिताभिः धमनीभिः सङ्कोचित-दृढाकर्षणेन खर्वीकृता वामकराङ्गुलयः सव्यहस्तशाखा यस्य तेन ।

कौशेयकेति । कौशेयकः कृमिसूत्रं तस्य कोषो गृहं तेन यत् आवरणम् आच्छादनं तेन या क्षतिः

रोग ( गूमड़ा ) की वृद्धि हो गई थी, किसी मिथ्यावादीके द्वारा दिए हुए सिद्ध-कज्जल ( अञ्जन ) के प्रयोग करने ( लगाने ) से उसकी एक आँख फूट गई थी, इस लिए वह सायं प्रातः मध्याह्न समयमें दूसरी आँखमें साधारण कज्जल लगानेके लिए यत्न-पूर्वक एक पतली दारु-शलाका ( लकड़ीकी सलाई ) किया करता था । बाहर निकले दाँतोंकी चिकित्साके लिए वह प्रतिदिन कड़वी तुँबरीका स्वेद लगाया करता था । आमवात विनाश करनेके लिए तैलविशेषके मर्दन करनेके बाद अविहित स्थानपर करञ्जाग्निमें तपी हुई ईंट लग जानेके कारण शुष्क हुई एक भुजाका उसने तैल मर्दन करनेका आग्रह छोड़ दिया था । बार-बार कटुपदार्थ निर्मित नेत्ररोगनाशक वर्त्तिकाका निरन्तर प्रयोग करनेसे उसका नेत्र-रोग बढ़ गया था । पाषाण भङ्ग करने ( काटने ) के लिए उसने शूकरके दाँत सङ्ग्रह कर रक्खे थे । इङ्गुदी फलके कोषमें नेत्ररोगके औषध कज्जल ( अञ्जन ) का संग्रह कर रक्खा था । प्रकोष्ठकी एक नसको औन्नत्य निवृत्तिके लिए सूईसे सी लेनेके कारण बाएँ हाथ की अङ्गुलियाँ दृढ़ाकर्षणसे सङ्कुचित हो ( सिकुड़ ) गई थीं । कुशादिसङ्घर्षवारण करनेके लिए जो कौशेयक कोषो ( रेशमी मोजों

१ ...बुद्बुदेन । २. कुवादिक..., कुवादि... । ३ ...स्फोटितैक..., ...सिद्धाञ्जनस्फुटितैक... । ४. आरब्ध । ५. कथञ्चिच्छुष्क । ६. उपर्यविश्रान्त... । ७. कौशेयकास्तरण... ।

व्रणितचरणाङ्गुष्ठकेन, असम्यक्कृत-रसायनानीताकालज्वरेण, जरां गतेनापि दक्षिणापथाधि-राज्यवरप्रार्थना-कदर्थित दुर्गेण, दुःशिक्षित-श्रमणादिष्ट[1]-तिलकाबद्धविभवप्रत्याशेन, हरित-पत्र-रसाङ्गार-मसी[2]-मलिन-शम्बूकवाहिना, पट्टिका-लिखित-दुर्गास्तोत्रेण,धूम-रक्तालक्तकाक्षर-ताल-पत्रकुहक-तन्त्र-मन्त्र[3]-पुस्तिका-संग्राहिणा, जीर्ण-पाशुपतोपदेश[4]-लिखित-महाकालमतेन, आवि-र्भूत-निधि-वाद-व्याधिना, सञ्जात-धातुवाद-वायुना, लग्नासुर-विवर-प्रवेश-पिशाचेन, प्रवृत्त-

---

सङ्घर्षः तेन व्रणितः चरणाङ्गुष्ठो यस्य तेन, दर्भादिक्षतिदूरीकरणाय कृमिसूत्रकोषेण पादाङ्गुष्ठाच्छादनम् ।

असम्यगिति । सम्यक् कृतो यथाविधि विहितो न सम्यक् कृतो येन तेन रसायनेन जराव्याधि-विनाशिबहुद्रव्यव्ययसाध्यपारदकलङ्काद्यौषधसेवनेन आनीतः प्रापितः कालज्वरः मरणपर्यवसायितापो येन तेन । अनेन मुमूर्षोरपि वैराग्यं नोत्पद्यत इति तृष्णातिशयो ध्वन्यते ।

जरामिति । जरां गतेनापि अत्यन्तपरिणतवयस्त्वं वृद्धत्वमिति यावत् प्राप्तेनापि सता, दक्षिणा-पथस्य दाक्षिणात्यदेशस्य यद् अधिराज्यमाधिपत्यं तस्य वरप्रार्थनया अभीष्टयाञ्चया कदर्थिता विरक्ती-कृता दुर्गा चण्डिका येन तेन ।

दुरिति । दुःशिक्षितेन लब्धकुशिक्षेण श्रमणेन केनचित् अनिर्दिष्टनाम्ना परिव्राजकविशेषेण आदिष्टे तिलके सिद्धौषधिजनिते भ्रूयुगलमध्यबिन्दौ आबद्धा विहिता विभवप्रत्याशा धनसम्पदभिलाषो येन तेन ।

हरितेति । हरितपत्ररसेन नीलपलाशनिर्यासेन युक्ता सहिता या अङ्गारमसी तया मलिनं शम्बूकं शङ्खं वहतीति तेन शङ्खमयमसीपात्रधारिणेत्यर्थः ।

पट्टिकेति । पट्टिकायां दारुफलके लिखितं लिपीकृतं दुर्गास्तोत्रं येन तेन ।

धूमेति । धूमेन रक्तानि रञ्जितानि अलक्तकाक्षराणि यावकद्वारा लिपीकृतवर्णा येषु तैस्तथोक्तैः तालपत्रैः या कुहकाय इन्द्रजालाय तन्त्रमन्त्राणां वशीकरणमारणमोहनोच्चाटनादीनां पुस्तिका तां संगृह्णातीति तेन सङ्ग्रहकारिणेत्यर्थः ।

जीर्णेति । जीर्णः परिणतवयो यः पाशुपतः शैवः तस्य उपदेशेन मनुष्यरुधिरेण होमप्रतिपादक-शिक्षया लिखितं लिपीकृतं महाकालमतम् ईश्वरमतं येन तेन ।

आविरिति । आविर्भूतः प्रकटितो निधिवादः 'अनेन विधिना निधिर्लभ्येत' इति धनभाण्डवाद इव व्याधिर्यस्य तेन ।

सञ्जातेति । सञ्जातः समुत्पन्नः धातुवादः 'अनेन कर्मणा लौहं ताम्रं वा सुवर्णं भवति' इति धातु-विषयकप्रवाद एव वायुः वातव्याधिर्यस्य तेन ।

लग्नेति । लग्नः असुरविवरे पातालवासिदैत्यच्छिद्रे प्रवेशः प्रवेशावेश एव पिशाचो यत्र तेन ।

प्रवृत्तेति । प्रवृत्तः उत्पन्नो यक्षकन्यासु गन्धर्वपुत्रीषु कामित्वमनोरथेन सुरताभिलाषेण व्यामोहो विशेषेण बुद्धिभ्रान्तिर्यस्य तेन ।

---

से अङ्गुष्ठावरण किया था उसे घिस जानेके कारण चरणके अँगूठेमें बिवाई फट गई थी। विधिके अनुसार निर्माण नहीं किए गए रसायनके प्रयोग ( सेवन करने ) से असामयिक ज्वर आ गया था। अत्यन्त वृद्ध होने पर भी दक्षिणात्यदेशके राज्यके वरकी प्रार्थना करके चण्डिका देवीको विरक्त करता ( पीड़ा देता ) था। कुशिक्षासे शिक्षित किसी संन्यासीके आदेशसे तिलक धारण कर, उससे ही धनसम्पत्ति मिलनेकी प्रत्याशा करता था, हरिद्वर्ण पत्तोंके रससे संयुक्त अङ्गार ( कोयले ) की बनी हुई मसी ( स्याही ) से मलिन हुई एक सीपी उसके निकट थी। एक काष्ठ–फलक ( पट्टी ) पर उसने दुर्गाका स्तोत्र लिख रक्खा था। उसके पास इन्द्रजालके लिए एक मन्त्रिक मन्त्रोंकी पुस्तकोंका संग्रह था, जिनके तालपत्रों पर लिखे आलताके रस ( लाल लाख ) से अक्षर धुएँसे रँग गए थे। किसी प्राचीन महापाशुपतके उपदेशसे उसने महाकाल–मत लिख लिया था। 'इस अनुष्ठानको करनेसे निधि ( खजाना ) प्राप्त किया जाता है' इस प्रकारके प्रवादकी व्याधि उसके हृदयमें आविर्भूत हुई थी। 'इस अनुष्ठानको करनेसे लोहा भी सोना होता है' इस प्रकारके धातुविषयक प्रवादमूलक वातव्याधि उसे उत्पन्न हो गई थी। असुरोंके छिद्र ( पाताल ) में प्रवेश करनेका आग्रहरूप पिशाच उसके पीछे लगा था। यक्ष–कन्याओंके

---

१···श्रवणादिष्ट···। २···मषी···। ३. कृतकुहकतन्त्रयन्त्रमन्त्र। ४. जीर्णमहापाशुपतोपदेश।

यक्ष-कन्यका-कामित्व-मनोरथ-व्यामोहेन, वर्द्धितान्तर्धान-मन्त्रसाधनसंग्रहेण[1], श्रीपर्वताश्चर्य-वार्त्तासहस्राभिज्ञेन, असकृदभिमन्त्रित-सिद्धार्थक-प्रहति-प्रधावितैः[2] पिशाचगृहीतकैः करतल-ताडन-चिपटीकृत[3]-श्रवणपुटेन[4], अविमुक्त[5]-शैवाभिमानेन, दुर्गृहीतालाबुवीणा वादनोद्वेजित-पथिक-परिहृतेन, दिवसमेवं[6] मशककणितानुकारि किमपि कम्पितोत्तमाङ्गं गायता, स्वदेश-भाषा-निबद्ध भागीरथी भक्ति स्तोत्र-नर्त्तकेन, गृहीत-तुरगब्रह्मचर्यतया अन्यदेशागतोषितासु[7] जरत्प्रव्रजितासु[8] बहुकृत्वः सम्प्रयुक्त-स्त्रीवशीकरणचूर्णेन, अतिरोपणतया कदाचिद्‌दुर्न्यस्ताष्टपु-

वर्धितेति । वर्धितो वृद्धिमुपगतः अन्तर्धानमन्त्रसाधनाय तिरोभावमन्त्रनिष्पादनाय सङ्ग्रह आग्रहो येन तेन ।

श्रीति । श्रीपर्वते श्रीसंज्ञकशैले यत् आश्चर्यवार्तासहस्रम् अद्भुतजनश्रुतिसमूहस्तस्य अभिज्ञेन निपुणेन ।

पुरा किल कस्मिंश्चिदचले वाग्देव्या अपि सौभाग्यमिच्छन्ती लक्ष्मी (मुहुर्मुहु) रत्यन्तं तपस्यन्ती निजवक्षोजं कर्त्तयित्वा वह्नौ हवनं चकार, तत आरभ्यासावचलः 'श्रीपर्वत' इति नाम्ना प्रसिद्धोऽभूदिति पुराणप्रसिद्धम् ।

असकृदिति । असकृन्निरन्तरम् अभिमन्त्रितानां मन्त्रद्वारालौकिकशक्तिमुत्पादितानां सिद्धार्थकानां सर्षपाणां प्रहत्या रक्षोभूतपिशाचानां दूरीकरणाय तच्छरीरेषु मुहुर्मुहुः प्रक्षेपेण प्रधावितैः कोपाच्छीघ्र-मायातैः पिशाचगृहीतकैः भूताविष्टैर्लोकैः करतलताडनेन हस्ततलतास्फोटेन चिमटीकृतं चिपिटकवत् विस्तारितीकृतं श्रवणपुटं श्रोत्रपुटं यस्य तेन ।

अवीति । अविमुक्तः अनुज्झितः शैवाभिमानः शैवोऽहमित्यवलेपो येन तेन ।

दुर्गृहीतेति । दुर्गृहीता वादनकालिकग्रहणप्रकारं विरहय्य परिधृता या अलाबुवीणा तुम्बीरचित-वल्लकीयन्त्रं तस्य वादनेन उद्वेजितैर्विरक्तीकृतैः पथिकैः पान्थैः परिहृतः परित्यक्तस्तेन ।

दिवसमिति । दिवसं वासरमेव न तु रात्रौ यत् मशकस्य क्वणितं शिञ्जितं तदनुकर्त्तुं शीलं यस्य तद् यथा स्यात्तथा, कम्पितं चालितम् उत्तमाङ्गं शिरो यत्र क्रियायां तद् यथा स्यात्तथा च किमपि वक्तुम-शक्यं गायता गानं विदधता । वासरमित्यत्रात्यन्तसंयोगे द्वितीया ।

स्वदेशेति । स्वदेशभाषा द्रविडदेशवाणी तथा निबद्धं गुम्फितं यद् भागीरथ्या गङ्गायाभक्तिस्तोत्रं तेन नृत्यति गात्रविक्षेपं करोतीति तेन ।

गृहीतेति । गृहीतं स्वीकृतं तुरगस्येव अश्वस्येव ब्रह्मचर्यं येन—स तादृशस्तस्य भावस्तया कार-णेन यथा अश्वा निरन्तरसंयमनप्रतिबन्धादेव ब्रह्मचर्यं धारयन्ति न पुनः पुण्यप्राप्तिलोभात् तथा अय-मपि योषित्प्राप्त्यभावादेव ब्रह्मचर्यं धारितवान् न पुनः पुण्योपार्जनप्रत्याशयेत्याशयः । अन्यदेशात् अन्य-जनपदात् आगता आयाताः सत्य उषिताः तत्रावस्थितास्तासु जरत्प्रव्रजितासु जराजीर्णसंन्यासिनीषु बहुकृत्वः अनेकवारान् सम्प्रयुक्तं निक्षिप्तं स्त्रीवशीकरणचूर्णं येन तेन । एतेनास्य महाकामुकत्वं प्रतीयते ।

अतीति । अष्टानां पुष्पाणां कुसुमानां समाहार इत्यष्टपुष्पी अज्ञाता अष्टपुष्पीत्यष्टपुष्पिका अज्ञाते

साथ सम्भोग करनेकी अभिलाषा होनेसे उसको मतिभ्रम ( बुद्धिमें भ्रम ) उत्पन्न हो गया था । अन्तर्धान (अदृश्य) हो जानेके उपयोगी मन्त्र-साधन करनेके लिए उसकी आग्रह-वृद्धि पाई जाती थी । श्रीपर्वतके हजारों आश्चर्यमय वृत्तान्तोंको वह जानता था । अभिमन्त्रित की हुई सरसोंको भूतापसरणके लिए बार-बार शरीरों पर फेंकनेसे दौड़े हुए—पिशाचसे अभिभूत—मनुष्योंने करतल (थप्पड़) से मारकर उसके कान चपटे कर दिए थे । उसने अपने शैव होनेका अभिमान नहीं छोड़ा था । विपरीत भावसे ( उलटा पुलटा ) पकड़कर बजाई गई अलाबू ( तमूरे ) की वीणा का शब्द सुनकर उद्विग्न हो कर पथिक गण ( राही ) उसका परित्यागकर चले जाते थे । दिन भर मस्तक हिला-हिलाकर वह मशक-शब्द ( मच्छर के भिनभिनाहट ) के समान अनिवर्चनीय गान करता था । स्वदेशीय भाषामें रचना किए हुए गङ्गाके एक भक्तिस्तोत्रको गाता हुआ नृत्य करता था । अश्व-ब्रह्मचर्य ( स्त्रियोंके न होनेसे बलात्कारसे रक्षित ब्रह्मचर्य ) के समान ब्रह्मचर्य ग्रहण करनेके कारण, अन्यदेशसे आकर उस स्थानमें बसती हुई वृद्ध संन्यासिनियोंके शरीरपर स्त्री-वशीकरणका चूर्ण निक्षेप ( डाला ) करता था । अत्यन्त कोपन-स्वभाव ( चिड़-चिड़ापन ) होनेके कारण चण्डिकाके समीपमें जैसी-तैसी अथवा दूसरेके द्वारा

१…अन्तर्धानमन्त्रसंग्रहेण । २… आहतिधावितैः । ३…निविडीकृत… । ४. श्रवणनासापुटेनाप्ययुक्त । ५. अनवमुक्त । ५. अनवमुक्त…, अवमुक्त… । ६. दिवसमशककणितानुकारिणा स्वरेण । ७…आगतासु । ८. प्रव्राजिकासु । ९. आखुपुष्पिका… ।

ष्पिकापातोत्पादितक्रोधेन चण्डिकामपि मुखभङ्गिविकारैर्भृशमुपहसता, कदाचिन्निवार्यमाणावास-रुषिताध्वगारब्ध-बहु-बाहुयुद्ध पात-भग्न-पृष्ठकेन[1], कदाचित् कृतापराध-बालक-पलायनामर्ष-पश्चात्-प्रधावित स्खलिताधोमुख-पात-स्फुटित शिरःकपालभुग्न-ग्रीवेण, कदाचिज्जानपद कृत[2] नवागतापरधार्मिकादरमत्सरोद्बद्धात्मना[3], निःसंस्कारतया यत्किञ्चनकारिणा, खञ्जतया मन्दमन्द-सञ्चारिणा[4], बधिरतया संज्ञाव्यवहारिणा, रात्र्यन्धतया दिवाविहारिणा, लम्बोदरतया

---

कःप्रत्ययः, यानि कानिचित् अष्टसंख्याकानि कुसुमानीत्यर्थः। एवञ्च अतिरोषणतया अत्यन्तकोपस्वभावतया, कस्मिंश्चित्समये दुर्न्यस्ताया अयथारूपे स्थापिताया अष्टपुष्पिकायाः, पातेन कुतूहलाद्भाग्याद्वा केनचित्पुरुषेण चण्डिकापीठात् पातनेन उत्पादितो जनितः क्रोधः कोपो यस्य तेन, अतएव मुखभङ्गिविकारैः चण्डिकामपि भृशमत्यर्थम् उपहसता हासं विदधता। अज्ञातानि यानि कानिचिदष्टौ पुष्पाणि चण्डिकायाः पीठे दुष्प्रकारेण विहितानि तानि पुष्पाणि दैवात्पतितानि कुतूहलाय केनचित्पातितानि वा। ततस्तदुपरि द्रविडस्य कोपश्चण्डिकाया उपरि भवति यत्त्वं पुष्पाण्यपि रक्षितुं नापारयः, अतएव मुखभङ्गिविकारैस्तामुपहसतीत्यभिप्रायः।

कदाचिदिति। निवार्यमाणेन 'इह वासो न विधेयः' इति निषिध्यमानेन आवासेन निवासस्थानेन कारणेन, रुषितैः कुपितैः अध्वगैः पान्थैः आरब्धेषु बहुषु अनेकेषु बाहुयुद्धेषु भुजसङ्ग्रामेषु पातेन भग्नं स्फुटितं पृष्ठं पश्चाद्भागो यस्य तेन।

कदाचिदिति। कृतो रजः पर्णनिक्षेपादिना विहितः अपराध आगो येन तस्य तथोक्तस्य बालकस्य शिशोः पलायनेन योऽमर्षः कोपः तेन यत् पश्चात् प्रधावितं शीघ्रगमनं तेन यत् स्खलितं प्रच्युतिस्तस्मात् अधोमुखपातेन स्फुटितं भग्नं शिरः कपालं मस्तकखर्परं भुग्ना कुटिलीभूता च ग्रीवा यस्य तेन।

कदाचिदिति। जानपदैः देशस्थितैः पुरुषैः कृतो विहितो यो नवागतस्य नूतनायातस्य अपरधार्मिकस्य अन्यसत्पुरुषस्य आदरः संमानं तत्र मत्सरेण विद्वेषेण उद्बद्धः स्वनिधनायोद्बन्धनावलम्बनीकृत आत्मा शरीरं येन तेन।

'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्त्तनेऽपि च।' इति धरणिः।

निरिति। निःसंस्कारतया शिक्षा—सत्सङ्गाद्युत्पन्नसाधुवासनारहितत्वेन, यत्किञ्चनकारिणा तुच्छकर्मविधायिना अकार्येष्वपि प्रवृत्तिविधायिनेत्यर्थः।

खञ्जेति। खञ्जतया खोडतया मन्दं मन्दं शनैः शनैः सञ्चरितुं विहर्त्तुं शीलं यस्य तेन।

बधिरेति। बधिरतया श्रवणेन्द्रियरहिततया, संज्ञया हस्तचालनादिकसङ्केतेन व्यवहर्त्तुं शीलं यस्यतेन।

रात्र्यन्धेति। रात्र्यन्धतया रजन्यामनवलोकितत्वेन दिवाविहारिणा दिवसभ्रमणकारिणा।

लम्बोदरेति। लम्बोदरतया प्रभूताहारिणा अत्यधिकभोजनकारिणा।

---

इधर उधर रक्खी हुई अष्टपुष्पिका ( आठ प्रकारके फूलोंका संग्रह ) के गिर जाने पर उसको अभिनव क्रोध उत्पन्न हो जाता था, अतएत उस पुष्पकी रक्षा करनेमें समर्थ न होनेसे नानाविध मुखभङ्गी ( मुँह बना-बना ) कर चण्डिका देवीका भी अत्यन्त उपहास करता था। वहाँ विश्राम करने की अभिलाषा वाले पथिकों ( राहियों ) को रहनेके लिए निषेध करने पर क्रुद्ध हुए उन लोगोंके साथ अनेक बाहुयुद्ध होनेमें गिर पड़नेसे किसी समय उसकी पीठ टूट गई थी। किसी समय धूलि-पत्र आदि फेंककर अपराध करके भागे हुए बालकोंसे चिढ़ कर उनके पीछे दौड़नेमें पद-स्खलन हो ( ठोकर लग ) जाने पर अधोमुख ( औंधे मुँह ) होकर प्रस्तर पर गिर पड़नेसे उसके मस्तक और कपाल फूट गये थे तथा गर्दन टेढ़ी हो गई थी। वहाँके लोगोंके द्वारा किसी समय नवीन आए हुए अन्य किसी धार्मिकका आदर किया हुआ देखकर उसमें विद्वेष हो जानेके कारण वह आत्महत्या करनेके लिए गलेमें उद्बन्धन ( फाँसी ) लगा लेता था। शिक्षाजनित व्युत्पत्तिरहित होनेके कारण वह अतितुच्छ ( चाहे जो कुछ ) कार्य करता था। खञ्ज ( लँगणा ) होनेके कारण धीरे-धीरे चलता था। बधिर ( बहरा ) होनेके कारण अङ्गुल्यादि संकेतों ( इशारों ) से दूसरेके साथ व्यवहार करता था। रात्र्यन्ध ( रतौंधी ) होनेके कारण दिनमें ही बाहर भ्रमण करता था और लम्बा उदर ( पेट ) होनेके कारण प्रचुर भोजन करता था। विविध उपायों

---

१. कदाचिन्निवार्यमाणावासिताध्व प्रारब्धबहुबाहुयुद्धपातभग्नपृष्ठेन, कदाचिदनपरतभुजशिखरलोहिना शिरःकम्पनवक्रितभग्रीवेण। २…जनपदकृत…। ३…उद्बद्धात्मना। ४. मन्दं मन्दं सञ्चारिणा।

प्रभूताहारिणा, अनेकशः फल-पातन-कुपित-वानर-नखोल्लेख-च्छिद्रितनासापुटेन, बहुशः कुसुमावचय-चलित-भ्रमर-सहस्र-दंश-शीर्णीकृत-शरीरेण[1], सहस्रशः शयनीकृतासंस्कृत शून्यदेवकुल-कालसर्पदष्टेन, शतशः श्रीफलतरु-शिखर-च्युति-चूर्णितोत्तमाङ्गेन, असकृदुत्सन्न-देवमातृ-गृह-वास्यृक्ष-नख[2] जर्जरित कपोलेन, सर्वदा वसन्तक्रीडिना जनेनोत्क्षिप्त-खण्ड-खट्वारोपित-वृद्धदासी-विवाह-प्राप्तविडम्बनेन, अनेकायतन-प्रतिशयित-निष्फलोत्थानेन, दौःस्थित्यमपि[3] विविध-व्याधि-परिवृतं स्वकुटुम्बमिवोद्वहता, मूर्खतामपि बहुव्यसनानुगतां प्रसूतानेकापत्यामिव दर्शयता, क्रोधमप्यनेकदण्डाघातै[4]-निर्मितबहुगात्रगण्डकं[5] फलितमिव प्रकाशयता,

अनेकश इति। वृक्षान्दोलनाद्युपायैः फलपातनेन कुपितानां क्रुद्धानां वानराणां कपीनां नखैर्नखरैः उल्लेखेन अनेकशो बहुवारं छिद्रितं कृतच्छिद्रं नासापुटं यस्य तेन।

बहुश इति। बहुशो बहुप्रकारेण कुसुमावचये पुष्पचयनकाले चलितस्य शीघ्रं गतस्य भ्रमरसहस्रस्य भृङ्गसमूहस्य दंशेन दशनेन शीर्णीकृतं शरीरं वपुर्यस्य तेन।

सहस्रश इति। सहस्रशः सहस्रवारं शयनीकृतेषु स्वापस्थानीकृतेषु असंस्कृतेषु अशोधितेषु शून्येषु निर्जनेषु देवकुलेषु देवभवनेषु कालसर्पैः कृष्णनागैः दष्टो दंशितस्तेन।

शतश इति। शतशः शतवारं श्रीफलतरोः बिल्ववृक्षस्य शिखरात् अग्रदेशात् च्युत्या पतनेन चूर्णितम् उत्तमाङ्गं शिरो यस्य तेन।

असकृदिति। असकृत् वारंवारम् उत्सन्नेषु भग्नेषु देवमातृगृहेषु ब्राह्मीप्रभृतिभवनेषु वसन्तीति तादृशा ये ऋक्षा भल्लूकाः तेषां नखैः नखराघातैः जर्जरितः क्षतविक्षतीकृतः कपोलो यस्य तेन।

सर्वदेति। सर्वदा सर्वस्मिन् काले वसन्तक्रीडिना वसन्तोत्सवविधायिना लोकेन उत्क्षिप्तायाम् उत्तोलितायां खण्डायां त्रुटितायां खट्वायाम् आरोपिता स्थापिता या वृद्धा परिणतवया दासी कूटहारिका तया विवाहेन परिणयेन प्राप्तं लब्धं विडम्बनं कदर्थना येन तेन।

अनेकेति। अनेकेषु बहुषु आयतनेषु देवतास्थानेषु यानि प्रतिशयितानि मनोरथप्राप्तये दिनमासादिनियतं भोजनादिपरित्यागपूर्वकं देवताग्रे शयनानि तेभ्यो निष्फलं निरर्थकम् उत्थानं जागरणं यस्य तेन

दौःस्थित्यमिति। विविधा अनेकप्रकारा ये व्याधयः पीडाः तैः परिवृतं परिवेष्टितम्, दुःस्थितस्य भावो दौःस्थित्यं तदपि दुर्गतिमपि स्वकुटुम्बमिव आत्मीयवर्गमिव उद्वहता धारयता। इह जात्युत्प्रेक्षा, तया च दुर्गतिपीडानां नैरन्तर्यं प्रतीयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

मूर्खतामिति। बहुभिः अनेकैः व्यसनैः सुरापानाद्यासक्तिभिः अनुगताम् अनुसृताम्, मूर्खतामपि अविवेकत्वमपि, प्रसूतानि जनितानि अनेकानि बहूनि अपत्यानि सन्ताना यया तामिव, दर्शयता व्यवहारेण प्रकाशयता व्यसनानामेवापत्यरूपत्वादित्याशयः। इह बहुसन्तानजननोत्प्रेक्षणाक्रियोत्प्रेक्षा।

क्रोधमिति। अनेकैर्विविधैः दण्डाघातैः अपकारिलोकद्वारालगुडप्रहारैः निर्मिता रचिता बहवोऽ-

के द्वारा फल गिरानेसे क्रुद्ध ( चिढ़े ) हुए वानरोंने नखों (पञ्जों) के आघातसे अनेक बार उसकी नाक पर छिद्र कर दिए थे। कितनी ही बार पुष्पचयन करने के समयमें उड़े हुए हजारों भौरोंने दंशन ( डंक मार मार ) कर उसका शरीर शीर्ण कर डाला था। अपरिष्कृत ( साफ किए बिना ) शून्य देवालयोंमें शयन करनेसे काले सर्पोंने हजारों बार उसे काट लिया था। श्रीफल-वृक्षके शिखर (चोटी) पर से गिरने के कारण सैकड़ों बार उसका मस्तक चूर्ण हो गया था। ब्राह्मी-प्रभृति देवमाताओंके भग्न ( टूटे फूटे) मन्दिर में; रहने वाले भल्लूकों ( रीछों ) ने नखों ( पञ्जों ) के आघातसे मार मार कर उसके गाल जर्जरित कर दिए थे। वसन्तोत्सव (होली) में मत्त नागरिकों द्वारा एक टूटी खाट् पर बैठाकर लाई गई वृद्ध-दासी के साथ उसका विवाह करा देनेसे वह सर्वदा विडम्बना पाता था। अनेक देव-मन्दिरों में मनोरथ सिद्धिके लिए धरना देकर शयन करने पर भी वहाँ से वह निष्फल होकर ही उठता था। अनेक व्याधियोंसे पीड़ित अपनी दुर्गति का भी वह अपने परिजन (कुटुम्ब) के समान पालन करता था। मद्यपानादि बहुतसे व्यसनों से समन्वित मूर्खता को इस प्रकार प्रकाशित करता था मानो उस मूर्खताने अनेक सन्तान उत्पन्न किए हों। अपकारियों द्वारा अनेक लाठियों (डंडों) के आघात (चोट) से शरीर में उत्पन्न व्रणविशेषों

१.…असारीकृत… । २.…वासि ऋक्षनख… । ३. दौस्थित्यमपि । ४.…अभिघात… । ५.…गण्डकं ।

क्लेशमपि सर्वावयवज्वलितदीपिका-दाह-व्रण-विभावितं बहुमुखमिव प्रकटयता, परिभवमपि निष्कारणाक्रुष्ट[1]-जनपददत्त-पदाक्रुष्टि-शत-सम्प्रवाहमिव[2] दधानेन, शुष्कवनलता-विनिर्मित-बृहत्कुसुमकरण्डकेन, वेणुलता-रचित-पुष्प-पातनाङ्कुशिकेन, क्षणमप्यमुक्त-काल-कम्बल-खण्ड-खोलेन[3], जरद्द्रविडधार्मिकेणाधिष्ठितां चण्डिकामपश्यत्। तस्यामेव च वासमरोचयत्[4]।

अथावतीर्य तुरगात् प्रविश्य। भक्तिप्रणेन चेतसा तां प्रणनाम। कृतप्रदक्षिणश्च पुनः प्रणम्य प्रशान्तोद्देशदर्शनकुतूहलेन[5] परिभ्रमन्नुच्चैरारटन्तमाक्रोशन्तञ्च कुपितं द्रविडधार्म्मि-

---

नेका गात्रगण्डका देवव्रणविशेषा येन तम्, क्रोधं कोपमपि फलितमिव समुत्पन्नफलमिव, प्रकाशयता प्रकटयता, शरीरव्रणानामेव कोपफलरूपत्वादित्याशयः। उक्तालङ्कारः।

क्लेशमिति। सर्वेषु समस्तेषु अवयवेषु अङ्गेषु ज्वलिताः द्रविडोत्पीडितलोकैर्दाहार्थं प्रज्वालिता या दीपिकाः प्रदीपाः ताभ्यां दाहेन प्रज्वलनेन ये व्रणाः गण्डकाः तैः विभावितं परिचायितं क्लेशमपि बहुसुखमिव अधिकानन्दमिव प्रकटतया सहाससुखेन लोकसमूहे विज्ञापयता। इह गुणोत्प्रेक्षा।

परीति। परिभवं तिरस्कारमपि, निष्कारणं निर्हेतुकम् आक्रुष्टा अपमानिता ये जनपदा देशवासिनो लोकाः तैः दत्तस्य अर्पितस्य पदाक्रुष्टिशतस्य चरणाघातसमूहस्य संप्रवाहं विस्तृतस्रोत इव दधानेन धारयता। जात्युत्प्रेक्षा।

शुष्केति। शुष्काभिर्नीरसाभिः वनलताभिः अरण्यवल्लीभिः विनिर्मितं विरचितं बृहत् विशालं कुसुमकरण्डकं पुष्पसंस्थापनपात्रं येन तेन।

वेण्विति। वेणुलता वंशकञ्चिता तया रचिता कृता पुष्पपातनाय कुसुमपातनार्थम् अङ्कुशिका येन तेन।

क्षणमिति। क्षणं किञ्चित्कालमपि अमुक्तः अनुज्झितः कालकम्बलखण्डस्य कृष्णरल्लकैकभागस्य खोलः शिरस्त्राणायितमावरणं येन तेन। 'खोलकः पाकवल्मीकपूगकोषशिरस्त्रके' इति विश्वः। जरन् वृद्धो यो द्रविडधार्मिको द्रविडदेशीयसाधकस्तेन, अधिष्ठिताम् आश्रिताम्। इह द्रविडदेशीयोपासकवर्णनसमूहेऽनेकविशेषणपरिपुष्टः केवलं स्वभावोक्तिरलङ्कार एव मुख्यः। तथा च दर्पणे—

'स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।'

अहो! सुप्रसूतिरिवेयं कविकल्पना निरतिशयकुतूहलोत्पादिनी प्रकृत्यैव स्वाभिमुखं करोति काव्यरसिकान्, अन्यांश्च वैराग्यमुत्पादयत्याधिक्यात्।

तस्यामिति। तस्यामेव चण्डिकायां तन्मन्दिर इत्यर्थः वासमरोचयत् रजन्यामवस्थानं विधातुमैच्छत् चन्द्रापीड इत्यन्वयः।

अथेति। प्रविश्य चण्डिकायतनमिति शेषः। भक्तिप्रवणेन प्रेमप्रणतेन चेतसा मनसा प्रणनाम नमश्चक्रे। प्रशान्ताः शमगुणोत्कर्षका ये उद्देशा भूमयः तेषां दर्शनकुतूहलेन अवलोकनकौतुकेन परिभ्रमन् पर्यटन्, उच्चैस्तारस्वरेण आरटन्तं शब्दायमानम् आक्रोशन्तं सैन्यानधिक्षिपन्तं च। एकदेशे एकस्मिन् भागे ददर्श अवलोकयामास।

---

( गूमड़ों ) से क्रोध भी मानो फल गए हों इस प्रकार प्रकाश करता था। उसके व्यवहारसे उत्पीड़ित लोगोंके द्वारा समस्त अवयवों पर प्रज्ज्वलित दीपकके समान दाह उत्पन्न करने वाले व्रणों से अपने क्लेश को भी वह हास-युक्त मुखसे बहुतर सुखके समान जन समाजमें दिखलाता था। बिना कारण गालि-प्रदान करने से देशीय लोगोंके द्वारा मानो पदाघात ( पैरोंसे मार ) होनेके प्रवाहके समान हो इस प्रकार अपमान भी सहन करता था। शुष्क वन्य लता द्वारा एक बड़ा पुष्प-पात्र ( टोकरी ) फूल भरने के लिए और बाँस की एक अङ्कुशिका ( अँकड़ा ) फूल तोड़ने के लिए उसने निर्मित कर ली थी और कृष्णवर्ण ( काले ) कम्बलके खण्ड ( टुकड़े ) का एक शिरस्त्राण ( टोपी ) का क्षणकालके लिए भी परित्याग नहीं करता था। उसी चण्डिकामन्दिरमें चन्द्रापीडने रातमें निवास करनेके लिए इच्छा की।

तदनन्तर घोड़े परसे उतर कर, चण्डिकाके गृह में प्रवेश-पूर्वक उसने भक्ति-पूर्णचित्तसे उसे प्रणाम किया और प्रदक्षिणा-पूर्वक फिरसे प्रणाम करके शान्तकर स्थानों को दर्शन करनेके कौतुक (चाव) से वह इतस्ततः

---

१'''आक्रुष्ट'''। २'''शतं प्रवाहमिव,'''शतं सप्रवाहमिव। ३. क्षणमप्यमुक्तकालकम्बलखण्डलोलेन। ४. आवासम् अरचयत्। ५. प्रशस्तदेवादर्शन।

क्रमेकदेशे ददर्श। दृष्ट्वा च कादम्बरीविरहोत्कण्ठोद्वेगदूयमानोऽपि सुचिरं जहास। न्यवारयच्च तेन सार्द्धं प्रारब्धकलहान्[1] उपहसतः स्वसैनिकान्। उपसान्त्वनैश्च कथमपि प्रियालापशतानुनयैः प्रशममुपनीय क्रमेण जन्मभूमिं जातिं विद्याञ्च कलत्रमपत्यानि विभवं वयःप्रमाणं प्रव्रज्यायाश्च कारणं स्वयमेव पप्रच्छ। पृष्टश्चासाववर्णयदात्मानम्, अतीत-स्वशौर्य-रूपविभववर्णनवाचालेन तेन[2] सुतरामरज्यत राजपुत्रः। विरहातुरहृदयस्य विनोदनतामिवागात्[3]। उपजातपरिचयश्चास्मै ताम्बूलमदापयत्। अस्तमुपगते च भगवति सप्तसप्तौ, आवासितेषु यथासम्पन्न-पादपतलेषु राजसूनुषु, शाखावसक्तापनीतपर्याणेषु[4] क्षितितल-लुण्ठनै[5]-पांशुल-सटावधूननानुमितोत्साहेषु गृहीत कतिपय-शष्प-कवलेषु पीतोदकेषु स्नानार्द्रपृष्ठतया

दृष्ट्वेति। कादम्बर्या गन्धर्वराजपुत्र्या विरहेण वियोगेन या उत्कण्ठा औत्सुक्यं तया य उद्वेगो हृदयस्य चाञ्चल्यं तेन दूयमानोऽपि सन्तप्यमानोऽपि चन्द्रापीडः, सुचिरं बहुकालं दृष्ट्वा विलोक्य जहास हास्यं चक्रे। तेन जरद्द्रविडधार्मिकेण सार्धं सह प्रारब्धकलहान् उपहसतं हास्यं विदधतः स्वसैनिकान् निजसैन्यान् न्यवारयत् न्यषेधयत्। प्रियालापानां मधुरसंभाषणानां शतानि च अनुनयाश्च तैः, उपशान्त्वनैः सामभिश्च कथमपि महता क्लेशेन प्रशमं शान्तभावम् उपनीय प्रापय्य च। विभवं धनसम्पत्तिं वयःप्रमाणं वर्षपरिमाणम्, प्रव्रज्यायाः संन्यासतायाः कारणं हेतुम्।

पृष्ट इति। असौ जरद्द्रविडधार्मिकः। अवर्णयत् वर्णितवान्। अतीतानां व्यतीकान्तानां स्वशौर्यरूपविभवानां स्वकीयपराक्रमसौन्दर्यधनसम्पदां वर्णनेषु, कुत्सितो बहुभाषत इति वाचालो मुखर इत्यर्थः 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' इत्यालच् प्रत्ययः, तेन। तेन जरद्द्रविडधार्मिकेण करणेन, सुतरां नितान्तं राजपुत्रश्चन्द्रापीडः अरज्यत अनुरक्तो बभूव। वियोगविह्वलमानसस्य राजपुत्रस्य विनोदनतां वियोगोत्पन्नप्रशमनिवृत्युपायतां प्रापदिव, जरद्द्रविडधार्मिक इति शेषः। अपि च, उपजातपरिचयः प्राप्ताभिज्ञः, अस्मै जरद्द्रविडधार्मिकाय ताम्बूलं नागवल्लीदलम् अदापयत् दापितवान्।

अस्तमिति। सप्त सप्तसंख्याका अश्वाः तुरगा यस्य तस्मिन् सप्तसप्तौ सूर्ये। उपगते प्राप्ते राजसूनुषु नृपसुतेषु, यथासम्पन्ना यथाप्राप्ता ये पादपा वृक्षाः तेषां तलेषु आवासितेषु परिचारकैर्वासमुपलम्भितेषु सत्सु। शाखासु विटपेषु अवसक्तानि संलग्नानि अपनीतपर्याणानि शरीरपातितपल्ययनानि येषां तेषु क्षितितले भूतले लुण्ठनेन पांशुला रजोव्याप्ता याः सटाः केशसंहतयः तासाम् अवधूननेन कम्पनेन अनुमितः अनुमितिविषयीकृतः उत्साहः पुनर्गमनोद्योगो येषां तेषु, गृहीता आत्ताः कतिपये कियन्तः शष्पकवला घासग्रासा यैस्तेषु, पीतानि उदकानि सलिलानि यैस्तेषु, स्नानेन आप्लवेन आर्द्राणि क्लिन्नानि

परिभ्रमण करने लगा। इतनेमें उसने देखा कि एक स्थानमें द्रविड धार्मिक क्रोधमें आकर ऊँचे स्वरसे चीत्कार करता और सैनिकों का तिरस्कार करता है। कादम्बरीके विरहसे उत्पन्न हुई उत्कण्ठा और उद्वेगसे सन्तप्त होने पर भी उसे देखकर बहुत काल तक हँसा। उसके साथ कलह आरम्भ कर उपहास करते अपने सैनिकों को उसने रोक दिया और बहुतर सान्त्वना युक्त प्रियवाक्य (मीठे-मीठे वचन) तथा अनुनयसे किसी-किसी प्रकार समझा बुझाकर उसे शान्त (ठंढा) किया। क्रमशः उसकी जन्मभूमि, जाति, विद्या, स्त्री, सन्तान, धनसम्पत्ति, वयःपरिमाण और संन्यास ग्रहण करने का कारण इन सबों को उसने अपने आप ही पूछा। इस प्रकार पूछे जाने पर उसने अपना सब वर्णन किया और पहले के शौर्य, सौन्दर्य और धनसम्पत्ति आदि का विस्तार-पूर्वक वर्णन सुन कर राजकुमार को अत्यधिक ही आनन्द हुआ। अतएव उसके विरहातुर-हृदय को अशान्ति से निवृत्ति होने का कुछ उपाय-सा हुआ। परिचय हो जानेसे उसको ताम्बूल दिलाया। उसके बाद जब भगवान् सूर्यनारायण अस्तमित हुए, सब राजपुत्रोंने जैसे प्राप्त हुए वैसे वृक्षोके तले डेरे डाल लिए, सुवर्ण की जीनें घोड़ों पर से हटाकर शाखाओं पर लटका दिए भूतल पर लोटनेसे संसक्त हुई धूल झारनेके लिए सटाओंको इधर उधर फटकारनेसे घोड़े पुनर्गमनका उत्साह सूचित करने लगे उन्होंने थोड़ी घासका ग्रास ग्रहण करके, जल पी लिया, स्नान

१. संरब्धकलहान्, समारब्धक…। २. अतीतस्वसौन्दर्यरूपविभववर्णनावाचालेन। ३. तच्चरितं विनोदनताम्। ४. शाखावसक्तपनीयपर्याणेषु। ५…लुठन।

विगतश्रमेषु पुरोनिखातकुन्तयष्टिषु संयतेषु वाजिषु, वाजि-समीप-विरचित-पर्णसंस्तरे[1] च दिवस-गमन-खिन्ने[2] परिवर्त्तितयामिके[3] सुषुप्सति सैनिकजने, कृत-बहु-पावकप्रभा-पीत-तमसि[4] दिवस इव विराजमाने सेनानिवेशे चन्द्रापीडः परिजनेनैकदेशे संयतस्येन्द्रायुधस्य पुरः परिकल्पितं प्रतीहार[5]-निवेदितं शयनीयमगात् । निषण्णस्य चास्य तत्क्षणमेव पस्पर्श दुःखासिका हृदयम्, अरतिगृहीतश्च विसर्जयाम्बभूव राजलोकम्, अतिवल्लभानपि नाललाप पार्श्वस्थान्, निमीलितलोचनो मुहुर्मुहुर्मनसा जगाम किम्पुरुषविषयम्, अनन्यचेताः सस्मार हेमकूटस्य[6], निष्कारण-बान्धवतामँ[7]चिन्तयन्महाश्वेतापादानाम्[8], जीवित[9]फलमभिललाष पुनः पुनः कादम्बरीदर्शनम्, अपगताभिमानपेशलाय नितरामस्पृहयन्मदलेखापरिचयाय, तमा-

पृष्ठानि येषां तेषां भावस्तया तादृश्या कारणेन विगतश्रमेषु दूरीभूतायासेषु, वाजिषु तुरगेषु पुरः अग्रतो निखाताः प्रोथिता याः कुन्तयष्टयः प्रासलगुडाः तासु संयतेषु बद्धेषु सत्सु । वाजिनां तुरगाणां समीपेषु निकटेषु विरचिताः स्वपाय निर्मिताः पर्णसंस्तराः पत्रमयास्तरणानि येन तस्मिन्, दिवसं वासरपर्यन्तं गमनेन खिन्ना केचन परिश्रान्ता अत एव अन्ये परिवर्त्तिताः परिवर्त्तनं कृता यामिका प्रहरिणो येन तस्मिन्, सुषुप्सति स्वपितुमिच्छति सति, तथा कृतानां जनितानां बहूनामनेकेषां पावकानां वह्नीनां प्रभाभिर्दीप्तिभिः पीतानि ग्रस्तानि विलोपितानि तमांसि अन्धकारा यस्य तस्मिन् तादृशे सेनानिवेशे सैन्यसमूहे, रजन्यामपि दिवस इव विराजमाने शोभमाने सति । परिजनेन सेवकेन एकदेशे एकभागे संयतस्य बद्धस्य । प्रतीहारेण द्वारपालेन निवेदितं विज्ञापितम्, शयनीयं तल्पम् अगात् गतवान् ।

निषण्णस्येति । अपि च, दुःखस्य आसनम् आसिका दुःखप्राप्तिरित्यर्थः, 'पर्यायार्हणोत्पत्तिषु' इत्यनेन ण्वुच्प्रत्ययः । निषण्णस्य तल्पे विद्यमानस्य, अस्य चन्द्रापीडस्य । पस्पर्श स्पृष्टवती । अपि च अरतिगृहीतः समस्तविषयेष्वेवारुचिसम्पन्नः । विसर्जयाम्बभूव शयनायानुज्ञां प्रदत्तवान्, अतिवल्लभानपि अतिप्रियानपि पार्श्वस्थान् समीपस्थायिनो नाललाप न बभाषे, निमीलिते मुद्रिते लोचने नयने यस्य सः । किंपुरुषविषयं किन्नरदेशं मनसा जगाम चिन्तयामासेत्यर्थः । मातुःस्मरति इतिवत् 'हेमकूटस्य' इत्यत्र 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' इत्यनेन षष्ठी । महाश्वेतपादानां महाश्वेताया इत्यर्थः, तपस्वितया गौरववशात्पादशब्दयोगो बहुत्वं च सङ्गच्छते । वस्तुतस्तु—'प्रसादानाम्' । इत्युचित इव इति प्रतिभाति । जीवितफलं जीवनप्रयोजनस्वरूपम् कादम्बरीदर्शनम् । अभिललाष ववाञ्छ । अपगतेन दूरीभूतेन अभिमानेन अहङ्कारेण कारणेन पेशलो मनोहरः तस्मै, मदलेखापरिचयाय मदलेखासंस्तवाय । आचकाङ्क्ष

करनेसे पीठ आर्द्र हो जानेके कारण परिश्रम ( थकावट ) दूर हो गया और उनको सम्मुखमें प्रोथित ( गढ़ी हुई ) भालोंकी लकड़ियोंसे बाँधकर रख दिया, दिन भर चलनेसे परिश्रान्त हुए प्रहरीगण ( पहरेदार लोग ) प्रहर निश्चयकर घोड़ोंके समीपमें ही पत्तोंकी शय्या ( बिछौने ) निर्माण कर उस पर शयन करनेकी अभिलाषा करने लगे और बहुतर स्थानोंमें प्रज्वलित अग्निके आलोकसे अन्धकारका नाश हो जानेके कारण समस्त सेनानिवेश ( सेनाका डेरा ) दिनके समान शोभा पाने लगा, तब चन्द्रापीड किसी भृत्यके द्वारा एक भागमें बाँधे गए इन्द्रायुधके सम्मुख ( सामने ) निर्माण किए हुए किसी दौवारिकके द्वारा निवेदित किए हुए, शयनके तम्बूमें प्रवेश किया । वहाँ आकर उस शय्याके ऊपर जब बैठा तत्काल ही दुःखासिका ( अकुलाहट ) आकर उसके हृदयका स्पर्श करने लगी, इस तरह समस्त विषयोंसे ही अरुचि हो जानेके कारण उसने समस्त राजाओं को बिदा किया । समीपमें बैठे हुए अत्यन्त प्रियजनोंके साथ भी वह कुछ वार्त्तालाप नहीं कर सका । केवल नेत्रोंको सङ्कुचित ( मीच ) कर बारंबार मनसे किन्नरदेशकी भावना करने लगा । एकाग्रचित्तसे हेमकूट-पर्वतका स्मरण करने लगा । महाश्वेताकी अनुकम्पाकी अकारण बान्धवताके विषयमें चिन्तन करने लगा । बारंबार कादम्बरीके दर्शन करनेसे ही सफल जीवन है, ऐसा मनमें समझकर उसकी ही इच्छा करने लगा अहङ्कार-रहित होनेके कारण बहुत ही मनोहर लगते-मदलेखाके—आलाप-व्यवहारको फिरसे निरन्तर होनेकी

१…प्रस्तरे, स्रस्तरे । २. खिन्नेषु । ३…परिकल्पितयामिके । ४. प्रभाप्रणाशिततमसि दिवसायमाने सेनानिवेशे । ५…प्रतिहार… । ६. हेमकूटं हेमकूटस्य रम्यताम् । ७. उत्कण्ठितोऽचिन्तयत् । ८. प्रसादानाम् । ९. जीवितमिव ।

लिकां द्रष्टुमाचकाङ्क्ष, केयूरकागमनमुत्प्रैक्षत, हिमगृहकमपश्यत्, [1]उष्णमायतं पुनरुक्तं [2]निश्श्वास बबन्ध [3]चाधिकां प्रीतिं शेषहारे, पश्चात् स्थितां पुण्यभागिनीममन्यत पत्रलेखाम्, एवञ्चानुपजातनिद्र एव तामनयन्निशाम्। उषसि चोत्थाय तस्य जरद्द्रविडधार्मिकस्येच्छया[4] निसृष्टैर्धनविसरैः पूरयित्वा मनोरथम्, [5]अभिमतमभिरमणीयेषु प्रदेशेषु निवसन्नल्पैरेवाहोभिरुज्जयिनीमाजगाम।

आकस्मिकागमनप्रहृष्टसम्भ्रान्तानां पौराणामर्घकमलानीव नमस्काराञ्जलिसहस्राणि प्रतीच्छन्नतर्कित एव विवेश[6] नगरीम्। अहमहमिकया च प्रधावितादतिहर्षरसविह्वलात् परिजनात्[7]—'देव! द्वारि चन्द्रापीडो वर्त्तते' इत्युपलभ्यास्य पिता निर्भरानन्दमन्दगमनो मन्दर इव क्षीरोदजलमुत्तरीयांशुकममलमागलितमाकर्षन्, प्रहर्षनेत्रजलबिन्दुवर्षी [8]मुक्तमुक्ताफला-

---

अभिललाष। उत्प्रैक्षत सम्भावितवान् निजतुलनया कादम्बर्या अप्युत्सुकत्वेन तयैव प्रेषणसम्भवादित्याशयः। अपश्यन्मनसेति शेषः, अचिन्तयदित्यर्थः। आयतं दीर्घं पुनरुक्तं मुहुर्मुहुः निश्श्वास निश्वासान् मुमोच। शेषहारे शेषसंज्ञके मुक्तामालायाम् अधिकां बहुलां प्रीतिं स्नेहं बबन्ध विदधौ। पुण्यभागिनीम् अमन्यत अबोधिष्ट कादम्बरीविलोकनलाभादित्याशयः। एवञ्च अनेन विधिना, अनुपजातनिद्रोऽनागतप्रमील एव तां निशां रात्रिम् अनयत् यापितवान्, सर्वत्र प्रायेणैव कादम्बर्या औत्सुक्यवशादित्यभिप्रायः।

उषसीति। इच्छया तदभिलाषानुसारेणैव निसृष्टैर्दत्तैः, धनानां द्रव्याणां विसरैर्वृन्दैः। अभिरमणीयेषु समन्तादेव सुन्दरेषु प्रदेशेषु स्थानेषु अभिमतम् इष्टं यथा स्यात्तथा निवसन् आवासं विदधन् अल्पैः स्तोकैरेव अहोभिर्दिवसैः उज्जयिनीं विशालाम् आजगाम आययौ।

आकस्मिकेति। आकस्मिकम् असम्भावितं यत् आगमनम् उपस्थितिस्तेन प्रहृष्टाः प्रमुदिताः सम्भ्रान्ताः सत्वराश्चेति ते तादृशास्तेषाम्, पौराणां पुरवासिनाम् अर्घकमलानीव पूजानिमित्तपङ्कजानीव नमस्काराञ्जलिसहस्राणि प्रणामाञ्जलिसमुदायानि प्रतीच्छन् गृह्णन् अतर्कित एव असम्भावित एव नगरीम् उज्जयिनीं विवेशप्रवेशं चकार। इहोपमालङ्कारः।

अहमिति। अपि च, अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहमहमिकया। उपलभ्य संवादं प्राप्य, अस्य चन्द्रापीडस्य पिता तारापीडः, निर्भरेण सातिशयेन आनन्देन प्रमोदेन मन्दं मन्थरं गमनं यस्य सः, मन्दरः सागरमन्थनकाले मन्दराचलः क्षीरोदजलमिव दुग्धाम्बुधिसलिलमिव, आगलितं स्कन्धदेशान्निपतितम् अमलं विशदम् उत्तरीयांशुकम् उपसंव्यानवस्त्रम् आकर्षन् स्वस्थानं प्रापयन्। इहोपमावृत्यनुप्रासयोः संसृष्टिः। प्रहर्षात्प्रमोदात् नेत्रजलबिन्दून् अश्रुकणान् वर्षतीति सः, अत एव मुक्तस्त्यक्तः मुक्ताफलानां मौक्तिकानाम्

---

अभिलाषा करने लगा। तमालिकाको देखनेके लिए आकाङ्क्षा होने लगी। केयूरकके आगमनकी सम्भावना करने लगा। उस हिमगृहकी कथा स्मृत हुई। उसके बाद वह बारंबार उष्ण और दीर्घ (गरम और लम्बे) निश्वासका परित्याग करने लगा। 'शेष' नामक मुक्तामालासे अधिक प्रीति करने लगा। पश्चाद्वर्त्तिनी (पीछे रही) पत्रलेखाको पुण्यवती मानने लगा। इस प्रकार निद्रा नहीं होनेके कारण जागरित अवस्थाओं में ही उसने समस्त रात्रिको व्यतीत किया। एवं प्रातःकालमें उठकर, उस वृद्ध द्रविड़धार्मिकको अभिलाषाके अनुसार बहुत द्रव्यके दानसे उसका मनोरथ पूर्ण करके, मार्गमें सुन्दर स्थान पर यथारुचि (इच्छाके अनुसार) ठहरता हुआ, थोड़े ही दिनोंमें उज्जयिनीमें प्रवेश किया (आ पहुँचा)।

आकस्मिक आ जानेसे आनन्दसे व्यस्त हुए पुरवासियोंकी-पूजार्थ-कमलके समान-हजारों नमस्काराञ्जलियोंको ग्रहण करते राजकुमारने सबके अतर्कित भावमें ही राजधानीमें प्रवेश किया। सर्वप्रथम समाचार ले जानेकी आशासे 'मैं आगे, मैं आगे' कह कर दौड़ते और अत्यन्त संरम्भ तथा आनन्दसे विह्वल हुए राजपरिजनोंसे जब उसके पिताने सुना कि—'महाराज! चन्द्रापीड द्वार पर उपस्थित हुए हैं', तब वह अत्यन्त आनन्दके मारसे मन्द मन्द गमन करता, क्षीरोदसागरके जलको मन्दराचलके समान अपने नीचे गिरते निर्मल उत्तरीयवस्त्र (दुपट्टे) को आकर्षण करता (खींचता), कल्पवृक्षमें से गिरते मुक्ताओंकी वर्षाके समान आँखोंमें से आनन्दाश्रु

---

१. उष्णमुष्णमायतः। २. मुहुर्निशश्वास। ३. बबन्ध बान्धवेभ्यश्चाधिकां। ४. स्वेच्छाविसृष्टः। ५. मनोरथानभिमतेष्वतिरमणीयेषु मनोरथमभिमतेष्व···। ६. आविवेश। ७. प्रधावितानतिरभसहर्षविह्वलान् परिजनान्। ८. क्वचित् मुक्तपदं नास्ति।

सार इव कल्पपादपः, प्रत्यासन्नवर्त्तिभिर्जरापाण्डुमौलिभिश्चन्दनविलेपनैरनुपहतक्षौमधारि-[1]भिः केयूरिभिरुष्णीषिभिः किरीटिभिः शेखरिभिर्बहुकैलासामिव बहुक्षीरोदामिव क्षितिं दर्शयद्भिः प्रतिपन्नासि-वेत्र-च्छत्र-केतु-चामरैरनुगम्यमानो राजसहस्रैश्चरणाभ्यामेव प्रत्युज्जगाम। [2]चन्द्रापीडोऽपि [3]दृष्ट्वा पितरं दूरादेवावतीर्य वाजिनश्चूडामणिमरीचिमालिना मौलिना महीमगच्छत्। अथ प्रसारितभुजेन 'एह्येहि' [4]इत्याहूय पित्रा [5]गाढमुपगूढः सुचिरं परिष्वज्य तत्कालसन्निहितानाञ्च [6]माननीयानां कृतनमस्कारः करे गृहीत्वा विलासवतीभवनमनीयत राज्ञा। तयापि तथैव सर्वान्तःपुरपरिवारया [7]प्रत्युद्गम्याभिनन्दितागमनः कृतागमनमङ्गला-

---

आसारो धारा येन स तथोक्तः कल्पपादप इव पारिजाततरुरिव स्थितः। इहोपमा। प्रत्यासन्नवर्त्तिभिः सततं निकटस्थायिभिः सहचारिभिरित्यर्थः, जरया वार्धकेन पाण्डवः श्वेताः मौलयः शिरांसि येषां तैः, चन्दनविलेपनैः मलयजाङ्गरागैः, अनुपहतानि अखण्डानि क्षौमानि पट्टवस्त्राणि धारयन्तीति तैः, केयूरमङ्गदं विद्यते येषां तैः, उष्णीष शिरोवेष्टनं विद्यते येषां तैः, किरीटं कोटीरं विद्यते येषां तैः, शेखरः विद्यते येषां तैः, बहवोऽनेके कैलासाः पर्वता यस्यां तामिव, तथा बहवः क्षीरोदाः सागरा यस्यां तामिव, क्षितिं भूमिं दर्शयद्भिः प्रकाशयद्भिः, तुल्यश्वेतत्वात्सर्वेषामेव कैलासक्षीरसागरयोः सदृशत्वादित्याशयः। इह जात्युत्प्रेक्षाद्वयम्, तयोश्च परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। तथा प्रतिपन्नानि शिष्टताप्रकटनाय धृतानि (गृहीतानि) असिवेत्र-च्छत्र-केतु-चामराणि खड्ग-वेत्रातपपताकबालव्यजनानि यैस्तैः, राजसहस्रैः स्वाधीननृपसमूहैः अनुगम्यमानोऽनुव्रज्यमानः सन् चरणाभ्यामेव पादाभ्यामेव प्रत्युज्जगाम अभिमुखं प्रतस्थे।

चन्द्रेति। वाजिनः अश्वात्। चूडामणेः शिरोरत्नस्य मरीचिमाला दीधितिश्रेणी अस्त्यस्येति तादृशेन, मौलिना शिरसा, महीं भूमिम्, अगच्छत् प्राप्नोत् स्पर्शमकरोदित्यर्थः, प्रणामार्थमित्याशयः। इह च्छेकानुप्रासः।

अथेति। अथ प्रणामानन्तरं प्रसारितभुजेन विस्तारितबाहुना। गाढमत्यर्थम् उपगूढ आलिङ्गितः सन् सुचिरं बहुकालं परिष्वज्य तातं प्रत्याश्लिष्येत्यर्थः, तत्कालसन्निहितानां तत्समयसमीपागतानां माननीयानां पूज्यानां च जनानामिति सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, कृतो विहितो नमस्कारः प्रणामो येन स तादृशश्चन्द्रापीडः। विलासवतीभवनं मातृगृहं राज्ञा तारापीडेन अनीयत प्राप्यत।

तयेति। सर्वाणि समस्तानि अन्तःपुराणि अवरोधपुरस्थजनाः परिवारा यस्यास्तया, तया विलासवत्याऽपि, प्रत्युद्गम्य अभिमुखमेत्य अभिनन्दितं श्लाघितम् आगमनम् उपस्थितिर्यस्य सः, तथ कृतो विहित आगमनस्य मङ्गलाचारः अभ्युदयिकव्यवहारो यस्य स चन्द्रापीडः। दिग्विजयसम्बद्धाभिः

---

वर्षण करता ( टपकाता ) पैदल ही सामने मिलने आया और उसके पश्चात् महाराज तारापीडके अनुगमन करने वाले हजारों राजाओंका आगमन हुआ। उनके केश वृद्धावस्था होनेके कारण शुभ्रवर्ण हो गए थे। चन्दनका उन्होंने लेप किया था। और अच्छिन्न पट्टवस्त्र ( कोरे रेशमी कपड़े ) केयूर ( बाजूबन्द ) उष्णीष ( पगड़ी ), मुकुट और शेखर ( शिरोमाल्य ) धारण करनेसे वे पृथिवीको बहुतर कैलास-पर्वत एवं बहुतर क्षीरोद-सागर-सम्पन्नके समान दरसाते थे, और उन्होंने खड्ग ( तलवार ), छड़ी, ध्वज तथा चामर आदिको धारण किया था। पिताको दूरसे ही देखकर चन्द्रापीडने घोड़े परसे उतर कर चूडामणिके किरण-जालसे व्याप्त हुए मस्तकके द्वारा नमस्कार करनेके लिए अवनत हो भूमिका स्पर्श किया। तदनन्तर—'आओ, आओ' इस प्रकार कह कर बाहु युगल प्रसारण-पूर्वक ( फैला ) पिताने उसका गाढ़ आलिङ्गन किया। चन्द्रापीड भी बहुत काल तक पिताका प्रत्यालिङ्गन कर, उस समयमें निकटवर्ती माननीय व्यक्तियोंको नमस्कार किया। तदनन्तर महाराज तारापीड हाथ पकड़ कर उसको विलासवतीके महलमें ले गया। महारानीने भी उस भावसे ही अन्तःपुरस्थ समस्त रमणियोंके साथ मिलनेके लिए आगे आकर, आगमनका अभिनन्दन करके माङ्गलिक क्रियाएँ सम्पन्न कीं। उसके

---

१. धारिभिर्हारिभिः। २. क्वचित् 'चन्द्रापीडोऽपी'ति नोपलभ्यते। ३. दृष्ट्वा च। ४. आदरादाहूय। ५. सुचिरं गाढमुपगूढः। ६. माननीयाममात्यानां महीपतीनां च। ७. प्रत्युद्गमाभिनन्दितागमनः।

चारो दिग्विजयसम्बद्धाभिरेव कथाभिः कञ्चित्कालं स्थित्वा शुकनासं द्रष्टुमाययौ। तत्राप्य-मुनैव क्रमेण सुचिरं स्थित्वा निवेद्य वैशम्पायनं स्कन्धावारवर्त्तिनं कुशलिनम्, आलोक्य च मनोरमाम्, आगत्य विलासवतीभवन एव सर्वाः स्नानादिकाः परवश इव क्रिया निरवर्त्तयत्। अपराह्णे निजमेव भवनम् अयासीत्। तत्र च रणरणक-खिद्यमान-मानसः कादम्बर्या विना न केवलमात्मानं स्वभवनमवन्तीनगरं वा सकलमेव महीमण्डलं शून्यममन्यत। ततो गन्धर्वराजपुत्रीवार्त्ताश्रवणोत्सुकश्च महोत्सवमिव ईप्सितवरप्राप्तिकालमिव अमृतोत्पत्तिसमयमिव पत्रलेखागमनं प्रत्यपालयत्।

ततः कतिपयदिवसापगमे मेघनादः पत्रलेखामादायागच्छत्, उपानयच्चैनाम्। कृतनमस्काराञ्च दूरादेव स्मितेन प्रकाशितप्रीतिश्चन्द्रापीडः प्रकृतिवल्लभामपि कादम्बरीसकाशात् प्रसादलब्धापरसौभाग्यामिव वल्लभतरतामुपागतामुत्थायातिशयदर्शितादरमालिलिङ्ग पत्रलेखाम्, मेघनादञ्च प्रणतं पृष्ठे करकिशलयेन पस्पर्श। समुपविष्टश्च[1] अब्रवीत्—'पत्रलेखे!

दिगधीनीकरणविषयाभिः। आययौ आजगाम।

तत्रेति। तत्रापि शुकनासभवनेऽपि अमुना क्रमेणैव उक्तविधिनैव। स्कन्धावारवर्त्तिनं सैन्यमध्यस्थायिनम्। परवश इव परतन्त्र इव, कादम्बर्यौत्सुक्येन चेतोरहितत्वादित्याशयः। निरवर्त्तयत् निष्पादितवान्।

तत्रेति। रणरणकेन कादम्बर्या औत्सुक्योद्वेगेन खिद्यमानं पीड्यमानं मानसं चेतो यस्य सः। अमन्यत अगणयत्।

तत इति। ईप्सितवरप्राप्तिकालमिव अभिलषितवरलब्धिसमयमिव। प्रत्यपालयत् प्रतीक्षितवान्। इह तिसृणामुपमानां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

तत इति। कतिपयदिवसापगमे कियत्कालातिक्रमे। आदाय गृहीत्वा आगच्छत् आययौ। एनां पत्रलेखाम्, उपानयत् चन्द्रापीडनिकटे उपास्थापयत्। प्रकाशिता आविष्कृता प्रीतिः स्नेहो येनैवंभूतः। प्रकृत्या स्वभावेनैव वल्लभा प्रिया तामपि। प्रसादेन अनुग्रहेण लब्धं प्राप्तम् अपरसौभाग्यम् अन्यसुभगत्वं यया तामिव, अतएव वल्लभतरताम् अतिशयेन दयिततां उपगतां प्राप्तां पत्रलेखाम्। अतिशयेन आधिक्येन दर्शितः प्रकाशित आदरः सम्मानं यत्र कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा आलिलिङ्ग आश्लेषितवान्। करकिसलयेन हस्तपल्लवेन पस्पर्श स्पृष्टवान्। इह क्रियोत्प्रेक्षा पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

समुपेति। समुपविष्टः समासीनः। कथय निवेदय, तत्रभवत्याः पूज्यायाः। मदलेखया सहेति

बाद वहाँ थोड़ी देर तक दिग्विजयके सम्बन्धमें नानाविध कथोपकथन ( बातचीत ) करके वह शुकनाससे मिलने गया। वहाँ भी उसी भावसे अधिक देर तक रहकर 'वैशम्पायन सैन्यगणके अभ्यन्तरमें ठहरे हैं, एवं कुशल हैं' इस प्रकारका वृत्तान्त सूचित कर, मनोरमासे मिलकर, फिर विलासवतीके महलमें आकर, वहाँ ही पराधीनके समान उसने स्नानादिक समस्त कार्योंका सम्पादन किया। एवं सायङ्कालमें अपने महलमें ही चला गया किन्तु वहाँ उत्कण्ठोद्वेगसे मन पीडित होने लगा, इसलिए वह कादम्बरीके विरहमें केवल अपने ही को, अपने महल ही को, एवं उज्जयिनी-नगरी ही को नहीं, किन्तु समस्त भू-मण्डलको ही शून्य समझने लगा। उसके बाद गन्धर्वराजनन्दिनी-कादम्बरीका वृत्तान्त सुननेके लिए उत्कण्ठित होनेके कारण, महोत्सवके समान, अभीष्ट ( मनोवाञ्छित ) वर-प्राप्ति समयके समान एवं अमृतके उत्पत्तिकालके समान पत्रलेखाके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगा।

उसके बाद कुछ दिन बीत जाने पर मेघनाद पत्रलेखाको लेकर आया और उसे राजपुत्रके निकट उपस्थित किया; उस समय पत्रलेखाको नमस्कार करने पर दूरसे ही ईषद्हास्य ( मुसकुराहट ) उसके प्रति दिखाकर चन्द्रापीडने स्वभावसे ही प्रियपात्र होने पर भी, कादम्बरीके समीपसे उसके अनुग्रहसे अन्य सौभाग्य प्राप्ति कर लेनेके कारण ही मानो और भी उसको अधिक प्यारी समझ कर, उठ कर अत्यन्त आदर दिखा कर आलिङ्गन किया। प्रणाम करते हुए मेघनादकी पीठ पर उसने अपना कोमल हाथ फेरा और बैठ कर कहने

१. समुपविष्टाश्च समुपपिष्टां च, समुपविष्टा च ताम्।

कथय, तत्रभवत्या महाश्वेतायाः समदलेखाया देव्याः कादम्बर्याश्च कुशली वा सकलः तमालिका-केयूरकादि[1]परिजनः ?' इति। सात्रवीत्—'देव ! यथाज्ञापयसि भद्रम्। त्वामे[2]च्चर्चयति शेखरीकृताञ्जलिना ससखीजना सपरिजना देवी कादम्बरी' इति। एवमुक्तवतीं पत्रलेखामादाय मन्दिराभ्यन्तरं विसर्जितराजलोको विवेश। तत्र चोत्ताम्यता मनसा धारयितुमपारयन् कुतूहलम्, अतिप्रीत्या दूरमुत्सारितपरिजनः प्रविश्यागारप्ररूढायाः[3] स्थलकमलिन्याः पृथुभिरुन्नालैः पलाशैरुपरचितातपत्रकृत्यायाः[4] अध्यास्य मध्यभागमन्यतरस्य मरकतपताकायमानस्य पत्रमण्डपस्य[5] तले चरणारविन्देन समुत्सार्य सुखप्रसुप्तं हंसमिथुनमुपविश्याप्राक्षीत्—'पत्रलेखे ! कथय, आगते मयि[6] कथमसि स्थिता? कियन्ति वा दिनानि ? कीदृशो वा देवीप्रसादः ? का वा गोष्ठ्यः समभवन् ? कीदृश्यो वा कथाः समजायन्त ? को वातिशयेनास्मान् स्मरति[7] ? कस्य र्वा[8] गरीयसी प्रीतिः' इति। एवं पृष्टा च व्यजिज्ञपत्—'देव ! दत्तावधानेन श्रूयताम्, यथा स्थितास्मि, यावन्ति वा दिनानि, यादृशो वा देवीप्रसादः, यथा

---

समदलेखा तस्याः। शेखरीकृतो मस्तकालङ्कारीकृतो योऽञ्जलिः पाणिद्वयसंयोगस्तेन।

एवमिति। विसर्जितः परित्यक्तो राजलोकः स्वाधीननृपतिवर्गो येन स तादृशश्चन्द्रापीडः। विवेश प्रविष्टवान्। उत्ताम्यता कादम्बरीवियोगेन अस्थैर्यं प्राप्नुवता। धारयितुं संवरीतुम् अपारयन् अशक्नुवन्, अतिप्रीत्या अत्यधिकस्नेहेन दूरम् उत्सारितो विसर्जितः परिजनो येन सः। अगारप्ररूढाया भवनाभ्यन्तरोत्पन्नायाः पृथुभिर्विस्तृतैः, तथा उद्गतानि उत्थितानि नालानि येषां तैः, पलाशैः पर्णैः, उपरचितं विहितम् आतपत्रकृत्यं छत्रकार्यं यया तस्याः स्थलकमलिन्याः स्थलपद्मिन्याः, मध्यभागं मध्यदेशम् अध्यास्य अधिष्ठाय, मरकतपताकायमानस्य अश्मगर्भरत्नरचितवैजयन्तीवदाचरतः पत्रमण्डपस्य पर्णमण्डपस्य तले अधःप्रदेशे सुखप्रसुप्तम् आनन्दशयितं हंसमिथुनं हंसयुगलं चरणारविन्देन पादकमलेन समुत्सार्य दूरीकृत्य। अप्राक्षीत् पृष्टवान्।

पत्रेति। कियन्ति किं संख्यावन्ति वा दिनानि वासराणि स्थितासीति शेषः। देव्याः कादम्बर्याः कीदृशः किंरूपः प्रसादोऽनुग्रहः। गोष्ठ्यः अन्योन्यसंलापाः। 'गोष्ठी सभासंलापयोः' इति मेदिनी। अतिशयेन आधिक्येन, स्मरति स्मृतिपथमानयति। गरीयसी अतिशयेन गुरुतरा प्रीतिः स्नेहो मयीति शेषः।

एवमिति। अपि च, एवम् उक्तप्रकारेण पृष्टा प्रश्नविषयीकृता पत्रलेखेति शेषः, व्यजिज्ञपत् न्यवेदयत्। दत्तावधानेन चित्तैकाग्रयेण।

---

लगा—'पत्रलेखे ! माननीया देवी महाश्वेता और मदलेखासहित देवी कादम्बरी सबकी कुशल तो कहो ? एवं तमालिका और केयूरकादि समस्त परिजनवर्ग भी कुशलसे तो हैं ?' पत्रलेखाने उत्तर दिया—'राजपुत्र। जैसे आप पूछते हैं वैसे ही वे कुशल हैं सखी जन और परिजनोंके साथ देवी कादम्बरी मस्तक पर अञ्जलिपुट रखकर आपको नमस्कार करती हैं। इस प्रकार कहती हुई पत्रलेखाको लेकर और समस्त राजाओंको विदा करके वह मन्दिरके अभ्यन्तरमें प्रवेश किया। वहाँ मन विरहसे उतावले होनेके तथा अत्यधिक प्रीतिके कारण वह बहुत देर तक कुतूहलको रोकनेमें समर्थ न हुआ, इसलिए समस्त परिजनोंको हटाकर एक कमरेमें जाकर, एक स्थल-पद्मिनीके मध्यमें प्रवेश कर गया। उसके ऊँचे नाल ( दण्ड ) वाले और बड़े बड़े पत्रसमूह छत्र ( छाते ) का कार्य करते थे। आनन्दसे सोए हुए एक हंस-मिथुनको मरकतमणि-निर्मित पताकाके समान शोभायमान प्रतीत होते एक दूसरे पत्र-मण्डपके तले चरणारविन्दद्वारा सरका कर, वहाँ बैठ कर, पत्रलेखासे पूछने लगा—'पत्रलेखे ! कहो, मेरे आने पर तू किस भावसे वहाँ कितने दिन तक रही ? देवी कादम्बरीका अनुग्रह तुम्हारे ऊपर किस रूपका था ? परस्पर क्या क्या वर्त्तालाप हुआ ( बात-चीत हुई ) ? सहचरियोंसे कैसी कैसी बातें हुईं ? [ मेरा प्रस्ताव किस रूपमें आया ] हमें वहाँ कौन अधिक स्मरण करता है ? और मेरे प्रति किसकी अधिक प्रीति मालूम होती है ?' इस प्रकार राजपुत्रसे पूछी जाने पर उसने उत्तर दिया—'राजकुमार ! मैं किस भावसे कितने दिन वहाँ रही, देवीका जिस प्रकार अनुग्रह हुआ, परस्पर जो वार्तालाप हुआ, और जैसी कथाएँ हुईं

---

१. केयूरकादिः, केयूरकादिकः। २. त्वामेव। ३. अगारमचिरप्ररूढायाः। ४. विरचितातपत्रकृत्यस्य। ५. शयनमण्डपस्य तालस्य तले। ६. क्वचित् 'आगते मयी'ति पाठो न विद्यते। ७. यो वातिशयेन तव स्मरति यस्य वा त्वयि गरीयसी प्रीतिरस्तीति। ८. इह 'मयि' इत्यधिकः पाठः।

वा गोष्ठ्यः समभवन्, यादृश्यश्च कथाः समजायन्त, यो वातिशयेन तव स्मरति, यस्य वा त्वयि गरीयसी प्रीतिरस्ती'ति ।

'ततः खल्वागते देवे केयूरकेण सह प्रतिनिवृत्याहं' तथैव कुसुमशयनीयसमीपे समुपाविशम्, अतिष्ठञ्च सुखं नवनवाननुभवन्ती देवीप्रसादान् । किं बहुना, प्रायेण मम चक्षुषि चक्षुः,वपुषि वपुः,करेकरपल्लवः², नामाक्षरेषु वाणी, प्रीतौ हृदयं देव्याःसकलमेव तं दिवसमभवत् अपराह्णे च मामेवावलम्ब्य निष्क्रम्य हिमगृहकात् सञ्चरन्ती यदृच्छया निषिद्धपरिजना वल्लभबालोद्यानं जगाम । तत्र सुधाधवलां कालिन्दीजलतरङ्गमय्येव मरकतसोपानमालया प्रमदवनवेदिकामध्यारोहत्³ । तस्याञ्च मणिस्तम्भावष्टम्भस्थिता⁴ स्थित्वा च मुहूर्त्तमिव हृदयेन सह दीर्घकालमवधार्य किमपि व्याहर्त्तुमिच्छन्ती निश्चलधृततारकेण निष्पन्दपक्ष्मणा चक्षुषा मुखं मे सुचिरं व्यलोकयत् । विलोकयन्त्येव⁵ च कृतसङ्कल्पा मदनाग्निं प्रवेष्टुमिच्छन्ती सस्नाविव

तत इति । तथैव प्रागवदेव, कुसुमशयनीयसमीपे कादम्बर्याः पुष्पतल्पनिकटे समुपाविशं समुपविष्टा । देव्याः कादम्बर्याः प्रसादा अनुग्रहास्तान् ।

किमिति । मम 'चक्षुषि चक्षुः'देव्या इत्यन्वयः, एवं सर्वत्राप्यनुसन्धेयः, अनेन मदवलोकनातिशयः, 'वपुषि वपु'रित्यनेन सङ्गमातिरेकः, 'करे करपल्लव' इत्यनेन मयि स्नेहाधिक्यम्, 'मम नामाक्षरेषु वाणी वचनम्' अनेन मुहुर्मुहुर्मम नामोच्चारणम्, 'मम प्रीतौ च हृदयम्' इत्यनेन च मम प्रीत्युत्पादने चित्तैकाग्र्यं ध्वन्यते । इह अभवदित्येकस्यां क्रियायामनेकेषां कर्तृत्वेनाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता ।

अपेति । अवलम्ब्य आश्रित्य । निष्क्रम्य निर्गत्य । यदृच्छया स्वेच्छया सञ्चरन्ती व्रजन्ती निषिद्धपरिजना निवारितपरिच्छदा, वल्लभं प्रियं यद् बालोद्यानम् अभिनवोपवनं तत् जगाम गतवती । तत्र वल्लभबालोद्याने कालिन्द्यायमुनाया जलतरङ्गैः सलिलकल्लोलैः रचितेति कालिन्दीजलतरङ्गमयी तयेव, श्यामत्वसादृश्यादित्याशयः, मरकतसोपानमालया अश्मगर्भसोपानपङ्क्त्या करणेन, सुधया चूर्णलेपेन धवला शुभ्रा ताम्, प्रमदवनस्य क्रीडोद्यानस्य वेदिका परिष्कृतोन्नतभूमिस्ताम् अध्यारोहत अधिरोहणं कृतवती । क्रियोत्प्रेक्षा ।

तस्यामिति । अपि च मणिस्तम्भस्य अवष्टम्भेन आश्रयेण तदाधारेणेत्यर्थः । स्थिता उपविष्टा, हृदयेन सह दीर्घकालं बहुसमयम् अवधार्य सम्मन्त्रणेन निश्चित्य । व्याहर्त्तुं कथयितुम् इच्छन्ती अभिलषन्ती, निश्चलं स्थिरं यथा स्यात्तथा धृता तारका कनीनिका यस्य तेन, निष्पन्दानि निश्चलानि पक्ष्माणि रोमाणि यस्य तेन । व्यलोकयत् अपश्यत् ।

विलोकेति । विलोकयन्त्येव कृतसङ्कल्पा व्याहर्त्तुं प्राणान् परित्यक्तुञ्चेति शेषः । मदनः काम एव अग्निर्वह्निस्तं प्रवेष्टुं प्रवेशं कर्त्तुम् इच्छन्ती अभिलषन्ती, स्वेदाम्भसो घर्मजलस्य स्रोतसि प्रवाहे सस्नाविव

[ जैसे प्रस्ताव हुआ ], जो आपको अधिक स्मरण करती है और आपमें जिसकी अधिक प्रीति है, यह सब आप मनोयोग ( ध्यान ) देकर श्रवण कीजिए ।'

आपके वहाँसे आने पर 'केयूरकके साथ पीछे लौटकर' मैं पूर्वके समान पुष्प-शय्याके समीप जा बैठी और देवी कादम्बरीके नए-नए अनुग्रहका अनुभव करती वहाँ सुखसे रहने लगी । अधिक और क्या कहूँ, जहाँ मेरी आंख, वहाँ देवीकी; जहाँ मेरा शरीर, वहीं देवीका; जहाँ मेरा हाथ, वहाँ देवीका हस्त-पल्लव; [ विद्यमान था ] वह मेरे नामके अक्षरोंका ही उच्चारण करती थीं और मुझसे प्रीति करनेमें ही देवीका मन संलग्न था । इस प्रकार उन दिनोंके मध्यमें प्रतिदिन ही होता रहा । सन्ध्या-कालमें मेरे ही सहारे हिम-गृहमें से निकल कर, समस्त परिजनोंको साथ आनेमें रोक कर, अपने इच्छानुसार भ्रमण करती वह अपने प्रिय नूतन उपवन ( फुलवारी, बगीचे ) की ओर चलीं । वहाँ यमुनाके जल-तरङ्गसे निर्मितके समान प्रतीत होती, एक मरकत-मणि की सोपान-माला ( सीढ़ियों ) पर होकर चूर्णलेप ( चूने ) से शुभ्रवर्ण हुए प्रमद-वनकी वेदिका ( चबूतरे ) पर चढ़ीं और उस वेदिकाके ऊपर मणिमयस्तम्भका अवलम्बन ( सहारा ) लेकर क्षणभर खड़ी रहकर, मनके साथ बहुत समय तक स्थिर विचार करके, मुझसे कुछ कहनेकी अभिलाषासे नयनयुगलकी ताराओं और पलकोंको निश्चल भावसे मेरे मुखकी ओर अधिक काल तक अवलोकन करती रहीं । अवलोकन करते-करते ही कृतसङ्कल्प होकर मदनानलमें प्रवेश करनेकी अभिलाषासे घर्म-जलके स्रोतमें ही मानो स्नान किया । उस प्रवाहसे

१. प्रतिनिवृत्ता । २. करपल्लवम् । ३. आरुरोह । ४. मणिस्थूणावष्टम्भास्थिता । ५. आलोकयन्त्येव ।

स्वेदाम्भसः स्रोतसि[1], स्रोतसेव तरलीकृता समकम्पत, कम्पिताङ्गी च पतनभियेवागृह्यत विषादेन।

अथ मया विदिताभिप्रायया तन्मुख-विनिवेशित-निष्कम्प-नयन-दत्तावधानया 'आज्ञापय' इति विज्ञापिते निजावयवैरपि वेपथुमद्भिर्निवार्यमाणेव, रहस्यश्रवणलज्जया आत्मप्रतिमामपि[2] लिखित-मणिकुट्टिमेन चरणाङ्गुष्ठेनापक्रमायेवामृशन्ती, भवनकलहंसान् कुट्टिमोल्लेखमुखर-नूपुरेण चरणारविन्देन विसर्जयन्ती, कर्णोत्पलमधुकरानपि स्विद्यद्वदनव्यजनीकृतेन[3] अंशुकपल्लवेनोत्सारयन्ती, ताम्बूलवीटिकाशकलमुत्कोचमिव दन्तखण्डितं शिखण्डिने ददती, वनदेवता[4]श्रवणशङ्कितेव मुहुर्मुहुरितस्ततो विलोकयन्ती, वक्तुकामापि न शक्नोति स्म

स्नानं कृतवतीव। अन्योऽपि मर्त्तुकामोऽग्निप्रवेशायाभिलषन् प्रथमं स्नाति। स्रोतसा धर्मप्रवाहेण तरलीकृतेव चालितेव सती समकम्पत। अन्योऽपि धर्मजलेन चालितः सन् कम्पते। विषादेन वियोगक्लेशेन, कम्पिताङ्गी, कादम्बरी, पतनभियेव च्युतीभीत्येव अगृह्यत अवालम्ब्यत। अन्यमपि अपस्मारप्राप्त्यादिना कम्पिताङ्गं च्युतिभीत्या अन्य आदत्ते। इहाद्ये द्वे क्रियोत्प्रेक्षे, तृतीया च गुणोत्प्रेक्षा।

अथेति। विदितो ज्ञातः अभिप्रायः कादम्बर्या हृद्गतभावप्रकाशाशयो यया तया, तस्याः कादम्बर्या मुखे वदने विनिवेशिते स्थापिते निष्कम्पे निश्चले नयने लोचने यया सा चासौ दत्तम् अवधानं चित्तैकाग्र्यं यया सा चेति तया। विज्ञापिते निवेदने कृते। वेपथुमद्भिः कम्पवद्भिः निजावयवैः स्वाङ्गैरपि निवार्यमाणेव निषिध्यमानेव। अन्योऽपि कम्पयुक्तः सन् बन्धुमनर्थान्निषेधयति। रहस्यस्य गोपनीयवस्तुनः श्रवणलज्जया आकर्णनत्रपया। अग्रिमवाक्येष्वप्येतत्कारणमित्यवधेयम्। लिखितं संघृष्टं मणिकुट्टिमं रत्नबद्धभूमिः येन तेन चरणाङ्गुष्ठेन पादाङ्गुष्ठेन, अपक्रमायेव अपसारणायेव, आत्मप्रतिमामपि निजप्रतिबिम्बमपि आमृशन्ती स्पर्शं कुर्वन्ती। कुट्टिमस्य बद्धभूमेः उल्लेखेन घर्षणेन मुखरं वाचालं नूपुरं पादकटकं यस्य तेन, चरणारविन्देन पादकमलेन भवनकलहंसान् गृहकादम्बान् विसर्जयन्ती अपसारयन्तीव, चरणे नूपुरशब्दो नास्ति मन्ये तस्मात् स्थानादपसरणस्यैव स शब्द इत्यभिप्रायः। स्विद्यतो घर्मार्द्रीभवतो वदनस्य मुखस्य व्यजनीकृतेन अंशुकपल्लवेन वस्त्रप्रान्तेन, कर्णोत्पलमधुकरानपि श्रवणोत्पलभ्रमरानपि उत्सारयन्तीव दूरीकुर्वन्तीव। शिखण्डिने गृहमयूराय, दन्तैर्दशनैः खण्डितं चर्वितम्, ताम्बूलवीटिकायाः नागवल्लीदलवीटिकायाः शकलं खण्डम् उत्कोचमिव अपसारणार्थं 'रिश्वत'इति यवनभाषाप्रसिद्धं गुप्तं द्रव्यदानमिव ददती अर्पयन्ती। अन्योऽप्यर्थी स्वाभीष्टस्थानादपसर्तुं कस्मैचित् द्रव्यं ददाति। तथा वनदेवतानाम् अरण्याधिष्ठात्रीणां श्रवणात् आकर्णनात् शङ्कितेव सती। लज्जया त्रपया कलितो विहितो गद्गदः अस्फुटस्वरो यस्याः सा, गदितुम् अभिधातुं न शक्नोति स्म न समर्था बभूव।

इह निवार्यमाणेव' 'अपक्रमायेव' 'शङ्कितेव' इत्येतेषु वाच्याः क्रियोत्प्रेक्षालङ्काराः। 'विसर्जयन्ती' 'उत्सारयन्ती' इत्युभयत्र प्रतीयमानक्रियोत्प्रेक्षे। 'उत्कोचमिव' इत्यत्र तु जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः।

सञ्चालित होकर ही मानो काँपने लगीं और उस समय कम्पित होनेके कारण गिर जानेके भयसे ही मानो विषाद ने आकर उनको पकड़ लिया।

उसके बाद मैंने उनका अभिप्राय समझ लिया और उनके मुख-मण्डल पर निश्चल भावसे नेत्रोंको रख मनोयोगपूर्वकसे कहा—'देवि! आप अपने मनका भाव व्यक्त करें, इस प्रकार निवेदन करनेपर उनके अवयव भी कम्पित होकर मानो उसको रोकने लगे; गुप्त–विषय सुननेकी लज्जासे अपने प्रतिबिम्बको भी मानो हटानेके लिए चरणके अङ्गुष्ठसे मणि-मय भूतल कर्षण (घिस) कर वह उसे स्पर्श करने लगी; मणि–मय भूतलपर अङ्गुष्ठ-घर्षण (घिसने) से शब्दायमान (झनझनाहट करते) नूपुरवाले चरणकमलोंसे गृहपालित कलहंसोंको भी मानो दूर भगाने लगीं; घर्मार्क्त मुखमण्डल पर हवा करनेके लिए सञ्चलित वसनाञ्चलसे कर्णोत्पलस्थित भ्रमरोंको भी मानो उड़ाने लगीं; गृह–पालित मयूरोंको (केका न करनेके लिए) उत्कोच (रिश्वत) के समान दन्त–चर्वित ताम्बूल खण्डको देने लगीं; 'वनदेवताएँ सुन लेंगी' इस आशंकासे मानो वारम्बार इधर-उधर दृष्टिपात करने लगीं; और

१. स्वेदाम्भःस्रोतसि। २. मत्प्रतिमाम्। ३. स्विद्यद्वदनव्यजनक्षिप्तेन। ४. उपवन…।

किञ्चिदपि लज्जाकलितगद्गदां गदितुम् । प्रयत्नतोऽपि चास्या निःशेषं ज्वलता मदनानलेनेव दग्धा, प्रस्नुता नयनोदकेनेवोढा, प्रविशद्भिर्दुःखैरिवाक्रान्ता, पतद्भिः कुसुमचापशरैरिव शकलीकृता, निष्पतद्भिर्निश्वसितैरिव निर्वासिता, हृदयवर्त्तिभिश्चिन्ताशतैरिव विधृता, निश्वासपायिभिः मधुकरकुलैरिव निपीता, न प्रावर्त्तत वाणी । केवलं दुःखसहस्रगणनाय मुक्ताक्षमालिकामिव कल्पयन्ती गलद्भिरस्पृष्टकपोलस्थलैः शुचिभिरधोमुखी नयनजलबिन्दुभिर्दुर्दिनमदर्शयत् ।

तदा च तस्याः सकाशादशिक्षतेव लज्जापि लज्जालीलाम्, विनयोऽपि विनयाति-

---

प्रयत्नत इति । अस्याः कादम्बर्या वाणी वाक्, निःशेषं समस्तावयवं यथा स्यात्तथा ज्वलता कामाग्निना दग्धेव सती, प्रस्नुता प्रस्रवता नयनोदकेन अश्रुणा ऊढा सञ्चाल्य प्रापितेव सती, प्रविशद्भिः वदनच्छिद्रद्वारा हृदयं प्राप्नुवद्भिः दुःखैः क्लेशैः आक्रान्तेव व्याप्तेव सती, पतद्भिः उपरि पतनं कुर्वद्भिः कुसुमचापस्य कामस्य शरैर्बाणैः शकलीकृता खण्डीकृता छिन्नेव सती, निष्पतद्भिर्निःसरद्भिः निश्वासवायुभिः वदनानिलैः निर्वासिता बहिष्कृतेव सती, हृदयवर्त्तिभिः मानसस्थायिभिः चिन्ताशतैः विधृता आकृष्टेव सती, निश्वासपायिभिः वदनानिलपानकारिभिः निरतिशयसौरभत्वादित्याशयः, मधुकरकुलैः भ्रमरसमूहैः निपीतेव पानविषयीकृतेव सती च, प्रयत्नतोऽपि अत्यधिकोद्योगादपि न प्रावर्त्तत वदनान्न निरगच्छत् । इह प्रत्येकविशेषण एव क्रियोत्प्रेक्षा ।

केवलमिति । कादम्बरी अधोमुखी अवाङ्मुखी सती दुःखसहस्रगणनाय क्लेशसहस्रपृथक्सङ्ख्याविधानाय मुक्ताक्षमालिकां मुक्तामयजपमालां कल्पयन्तीव रचयन्तीव, अवाङ्मुखत्वादेव अस्पृष्टकपोलस्थलैः विद्यमानैः गलद्भिः स्रवद्भिः शुचिभिः श्वेततवर्णैः नयनजलबिन्दुभिः बाष्पकणैः केवलं दुर्दिनं वृष्टिम् अदर्शयत् प्रकटमकारयत् । इह क्रियोत्प्रेक्षा । 'घनान्धकारे वृष्टौ च दुर्दिनं कवयो विदुः' इति कोशः ।

तदेति । अपि च, लज्जा त्रपापि तदा तस्मिन् समये तस्याः कादम्बर्याः सकाशात् लज्जालीलां त्रपाकार्यं सङ्कुचितभावम् अशिक्षतेव शिक्षितवतीव । लज्जाया लज्जा जाता, अर्थात् लज्जावशाल्लज्जा सङ्कुचिताऽभवदित्यनेन न्यूना लज्जा जातेति प्रतीयते । यदि लज्जा प्रबला स्यात्तदा चन्द्रापीडप्रणयो वाण्या कथं प्रकाश्येत ? किन्तु विश्वासवशात्तस्या न्यूनत्वे सति प्रणयप्रकाशनं सञ्जातमित्यभिप्रायः । परमार्थतस्तु—इयन्तं समयपर्यन्तं लज्जा स्वकृत्यं सङ्कुचितभावं न जानाति स्म, तस्याः सकाशात् शिक्षणोत्तरमेव तं प्रकाशितवतीति रहस्यम् ।

इह क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, तेन च कादम्बर्याः निरतिशयलज्जया सङ्कुचितभावो ध्वन्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । उत्तरत्राप्येवंविध एवाभिप्रायोऽलङ्कारो ध्वनिश्चोहनीयः । विनयः शिष्टाचारोऽपि

---

बोलनेकी अभिलाषा रहने पर भी लज्जासे कण्ठ गद्गद (स्वर अस्पष्ट) हो जानेके कारण कुछ भी बोलनेमें समर्थ न हुई । उनकी वाणी मानो प्रज्वलित मदनानलने निःशेष करके दग्ध कर (जला) दी हो, अनवरत नयन-जल-प्रवाहमें मानो वह (सञ्चालित होकर ले) गई हो, हृदयमें प्रवेश करते हुए ही मानो दुःखोंने आक्रमण किया हो, मदनके बाण गिरते रहनेसे ही मानो टुकड़े-टुकड़े कर दी गई हो, निकलते हुए निश्वासोंने मानो निर्वासन कर (बाहर निकाल) दी हो, 'हृदयमें रहनेवाली सैकड़ों चिन्ताओंने मानो आकर्षण कर (पकड़) रक्खा हो और निश्वासको पान करते हुए भ्रमरोंने मानो पान कर लिया हो—इस प्रकार विशेष यत्न करने पर भी निकलनेमें प्रवृत्त न हुई । हजारों दुःखोंकी गणना करनेके लिए ही मानो मोतीके दानों की जपमाला निर्माण करती हों, इस प्रकार वह अधोमुख होकरके, कपोल (गाल) का स्पर्श न करें ऐसे निर्मल अश्रु-बिन्दुओंके द्वारा केवल वृष्टि प्रदर्शन करने लगीं ।

उस समय लज्जाने भी मानो उनके समीपसे लज्जाके कार्यको शिक्षा ली, विनयने भी मानो अत्यन्त

---

१. लज्जाकुलितगद्गदतया । २. क्वचित् 'अस्याः' इति पदं न विद्यते । ३ दग्ध्वा । ४. कीलिता ५. निःश्वसितैरिव, श्वसितैरिव । ६. आवृता । ७. निःश्वासपायिभिः, निश्वासपातिभिः । ८. लज्जापि लज्जां लीलापि लीलां विनयोपदेशम् ।

शयम्, मुग्धतापि मुग्धताम्, वैदग्ध्यमपि वैदग्ध्यम्, भयमपि भीरुताम्, विभ्रमोऽपि विभ्रमिताम्, विषादोऽपि विषादिताम्, विलासोऽपि विलासम्।

तथाभूता च 'देवि! किमिदम्' इति विज्ञापिता मया प्रमृज्य लोहितायमानोदरे लोचने दुःखप्रकर्षेणात्मनः समुद्बन्धनायेव मृणालकोमलया बाहुलतया वेदिकाकुसुमपालिकाग्रथित-कुसुममालामवलम्ब्य समुन्नतैकभ्रूलता मृत्युमार्गम्[1] इवावलोकयन्ती दीर्घमुष्णञ्च निश्वसितवती। तद्दुःखमुत्प्रेक्षमाणया च[2] कथनाय पुनः पुनरनुबध्यमाना मया व्रीडया नखमुख-विलिखितकेतकीदला[3] लिखित्वेव वक्तव्यमर्पयन्ती विवक्षास्फुरिताधरा निश्वासमधुकरानिवोपांशु सन्दिशन्ती क्षितितल-निहित-निश्चल-नयना सुचिरमतिष्ठत्।

क्रमेण च भूयो मन्मुखे निधाय दृष्टिं पुनः पुनरप्यापूर्यमाणं[4] लोचनच्युतैर्मदनानलधूम-

---

विनयातिशयम् अशिक्षतेव। विभ्रमोऽपि अधीरताऽपि, विभ्रमिताम् अधीरताम्। विषाद इष्टविषयेषु प्रातिकूल्यरूपः।

तथेति। लोहितायमानो निरन्तररोदनादारक्तवर्णे उदरे अभ्यन्तरे ययोस्तथोक्ते लोचने नयने प्रमृज्य प्रोञ्छ्य, दुःखप्रकर्षेण क्लेशातिशयेन आत्मनः स्वस्य समुद्बन्धनायेव संयतायेव मृणालवत् बिसवत् कोमलया मृदुलया बाहुलतया भुजवल्लया करणभूतया, वेदिकाकुसुमानां या पालिका रक्षिका दासी तया ग्रथिता गुम्फिता या कुसुममाला पुष्पस्रक् ताम् अवलम्ब्य आश्रित्य, समुन्नता ऊर्ध्वमुपगता एका भ्रूलता यस्याः सा अत एव मृत्युमार्गं यमपन्थानम् अवलोकयन्तीव पश्यन्तीव सती। इहाद्या फलोत्प्रेक्षा अपरा क्रियोत्प्रेक्षेत्युभयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

तदिति। किञ्च, तस्याः कादम्बर्या दुःखं क्लेशम् उत्प्रेक्षमाणया स्वप्रज्ञया सम्भावयन्त्या (मया), पुनः पुनः भूयो भूयः कथनाय अभिधानाय अनुबध्यमाना अनुरुध्यमाना, व्रीडया लज्जया नखमुखेन नखराग्रेण विलिखितं व्रीडास्वभावात् संघृष्टं केतकीदलं यया सा, अत एव वक्तव्यं कथनीयं विषयं लिखित्वा लिपीकृत्य अर्पयन्तीव ददतीव, विवक्षया वक्तुमिच्छया स्फुरितश्चलितः अधरो यस्याः सा, अत एव निश्वासमधुकरान् वदनानिलपानार्थोपस्थितभ्रमरान् उपांशु रहसि सन्दिशन्तीव कथयन्तीव, क्षितितले भूतले निहिते स्थापिते निश्चले निस्पन्दे नयने लोचने यया सा तादृशी सती, सुचिरं बहुकालपर्यन्तम् अतिष्ठत् स्थिता।

क्रमेणेति। भूयः पुनरपि मन्मुखे मद्वदने दृष्टिं निधाय स्थापयित्वा। आपूर्यमाणाभ्यां लोचनाभ्यां नयनाभ्यां च्युतैः पतितैः बाष्पजलबिन्दुभिः अश्रुकणैः, मदनानलस्य कामाग्नेः धूमेन धूसरां मलिनाम्,

---

विनयका अभ्यास किया, मुग्धता (अनभिज्ञता) ने भी मानो मुग्धता की शिक्षा ली, सौन्दर्यने भी मानो सौन्दर्यका अभ्यास किया, भयने भी मानो भीरुता की शिक्षा ली, अधैर्यने भी मानो अधीरता की शिक्षा ली, विषादने भी मानो विषादिताका अभ्यास किया और विलासने भी मानो विलासकी शिक्षा ली।

इस प्रकार उनकी अवस्था होने पर मैंने उनसे विनती की—'देवि! यह कैसा व्यापार है?' तब उन्होंने अभ्यन्तरसे रक्तवर्ण हुए अपने नयनयुगल पोंछ डाले, अत्यन्त दुःखसे अपनेको उद्बन्धन करने (फाँसी लगाने) के लिए ही मानो मृणाल तुल्य कोमल बाहुलता द्वारा वेदिका-पुष्परक्षिणी दासी (लता-गृह की मालिन) की गूँथी हुई एक पुष्प-मालाको पकड़ कर, मृत्युका मानो मार्ग देखती हों इस प्रकार एक भ्रू-लताको उन्नमित (ऊँची चढ़ा) कर, वह दीर्घ और उष्ण निश्वास (लम्बी और गरम साँस) छोड़ने लगीं। उनके मनोदुःखकी सम्भावना कर कहनेके लिए मैंने बारम्बार अनुरोध किया, उस समय वह लज्जाके कारण वक्तव्य विषयको नखाग्रद्वारा केतकीके पत्र पर लिख कर ही मानो समर्पण करने लगीं और बोलनेकी अभिलाषासे अधर स्पन्दित होने (होठ फड़कने) लगे, उससे वह निश्वास-पान करनेके लिए आए हुए भ्रमरोंके समीपमें ही मानो गुप्त विषय कहने लगीं और भूमि पर निश्चलभावसे नेत्र रख कर अधिक काल तक खड़ी रहीं।

क्रमशः फिर मेरे मुखकी ओर दृष्टि रख कर, मन्मथाग्निके धूमसे धूसरवर्ण हुई अपनी वाणीको परिपूर्ण

---

१. मृत्युपाशम्। २. तद्दुःखकारणं ततो दुःख। ३…विलिखितैककेतकीदला। ४. पुनरथापूर्यमाण।

धूसरां वाचमिव प्रक्षालयन्ती बाष्पजलबिन्दुभिः, बाष्पजलबिन्दुव्याजेन च विलक्ष-स्मित-स्फुरितैर्दशनांशुभिः साध्वस-विस्मृतान् पूर्वान्[१] अभिधेयवर्णानिव ग्रथ्नती कथमपि व्याहारा-भिमुखमात्मानमकरोत्। अब्रवीच्च माम्—'पत्रलेखे! वल्लभतया तस्मिन् स्थाने न तातो नाम्बा न महाश्वेता न मदलेखा न जीवितम्, यत्र मे भवती दर्शनात्प्रभृति प्रियाऽसि। न जाने केनापि कारणेनापहस्तित[२]-सकलसखीजनं त्वयि विश्वसिति[३] मे हृदयम्। कमपरमुपालभे, कस्य वाऽन्यस्य कथयापि परिभवम्, केन वाऽन्येन साधारणीकरोमि दुःखम्। दुःखभारमिममसह्यमद्य[४] निवेद्य भवत्यास्त्यदयामि जीवितम्। जीवितेनैव शपामि ते, स्वहृदयेनापि विदितवृत्तान्तेनामुना जिह्रेमि, किमुतान्यहृदयेन। कथमिव मादृशी रजनिकर-किरणा-

---

अस्फुटामित्यर्थः। वाचं स्वयमुच्चार्यमाणं वचनं प्रक्षालयन्तीव धौतं कुर्वन्तीव सती। अपि च, विलक्षस्मितं सलज्जमन्दहास्यं तेन स्फुरितैर्दीपितैः दशनांशुभिः दन्तमयूखैः, साध्वसेन भयेन विस्मृतान् स्मरणरहितान्, पूर्वान् पूर्वनिश्चितान् बाष्पजलबिन्दुव्याजेन अश्रुकणच्छद्मना विद्यमानानिति शेषः, अभिधेयवर्णान् प्रतिपाद्यविषयसूचकाक्षराणि ग्रथ्नतीव गुम्फतीव सती। इहाश्रुकणानां गोलाकारतादिरूपत्वेन अक्षरसादृश्यं दशनांशूनाञ्च विस्तृतत्वेन सूत्रसादृश्यम्, अत एव च तैस्तेषां गुम्फनमुपपद्यत इत्यवधेयम्। आत्मानं स्वं व्याहाराभिमुखं भाषणायोद्यतम् अकरोत् व्यदधात्। इह सापह्नवा क्रियोत्प्रेक्षा।

अब्रवीदिति। अब्रवीत् अवादीत्। स्थाने विषये। यत्र स्थाने, भवती त्वम् दर्शनात्प्रभृति अवलोकनादारभ्य प्रिया वल्लभाऽसि। अपक्रान्तो हस्तादित्यपहस्तः स कृत इत्यपहस्तितः कर्मणि क्तः। अपहस्तिता निष्कासिताः सकलाः समस्ताः सखीजनाः सहचरीवर्गा येन तत्, मे मम हृदयं चित्तं कर्तृ, केनापि प्रतिपादयितुमशक्येन हेतुना त्वयि भवति विश्वसिति विश्वासं विधत्ते, इति न जाने नाकलयामि इत्यन्वयः।

कमिति। अपरमन्यं कम् उपालभे निन्दामि, परिभवं कामदेवजनितमत्याचारम्, कथयामि निवेदयामि। दुःखं मानसक्लेशम् साधारणीकरोमि विभजामीत्यर्थः।

दुःखेति। असह्यं सोढुमशक्यम् इमम् अनुभवविषयीभूतं दुःखभारं क्लेशातिशयं, निवेद्य कथयित्वा, भवत्यास्तव निकटे जीवितं जीवनं त्यजयामि विसर्जयिष्यामि।

ननु 'शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते' इत्यभियुक्तोक्तिदिशा सहचरीभ्यः श्रावयित्वा क्लेशातिशयोऽयमल्पीक्रियतामित्यत आह—जीवितेनेति। जीवितेनैव निजजीवनेनैव, ते तव निकटे शपामि शपथं करोमि। विदितो ज्ञातो वृत्तान्त उदन्तो येन तेन, अमुना स्वहृदयेनापि निजस्वान्तेनापि जिह्रेमि त्रपे, अत एव अन्यहृदयेन किमुत कथनीयमित्यर्थः। सुतरां न सम्भवितुमर्हति परेभ्यो निवेदनमित्याशयः।

कथमिति। मादृशी शैशवातिक्रान्तत्वादुद्भूतविचारशक्तिरित्याशयः। कौलीनेन, सहसात्मसमर्पणा-

---

नेत्रोंमेंसे विगलित (गिरते) बाष्प-बिन्दुद्वारा मानो बारम्बार प्रक्षालन करती (धोती) हुई, और बाष्प-बिन्दुओंके बहाने भयवश पूर्वनिर्दिष्ट भूले हुए वक्तव्य विषयोंके अक्षरोंको लज्जा-युक्त मन्द-हास्यसे प्रकाशित हुई दन्त-रश्मियोंसे मानो ग्रथित करती (गूँथती) हुई देवीने किस प्रकारसे अपने आप ही बोलनेमें साहस किया और मुझसे कहा—'पत्रलेखे! प्रियताके कारण जिस स्थानमें तू है, उस स्थानमें न पिता हैं, न माता हैं, न महाश्वेता हैं, न मदलेखा है, न मेरे प्राण हैं। जबसे तुझे देखा है तबसे ही तू मेरी प्रिय हो गई है। मैं नहीं जानती कि मेरा हृदय क्यों सब सखियोंको भी दूर रख कर तुम्हारे ऊपर ही विश्वास करता है। मैं और किसकी निन्दा करूँ? अन्य किसके समीपमें ही इस अत्याचारकी कथा कहूँ? अन्य किसको इस दुःखको विभक्त कर दूँ? तो आज तुम्हारे समीपमें इस असह्य दारुण दुःखको जता कर अब मैं अपना जीवन त्याग कर दूँगी। मैं तुम्हारे निकटमें अपने जीवनकी शपथ लेती हूँ। मेरा हृदय भी यह वृत्तान्त जानता है, इसलिए मैं उससे भी लज्जित होती हूँ, फिर अन्य किसीके हृदयका तो कहना ही क्या है? मेरे समान कन्या चन्द्र-किरणोंके समान

---

१. अपूर्वान्। २. अपहस्तित...। ३. निःश्वसिति। ४. क्वचित् 'दुःखभारमसह्यम्' इत्येव पाठः।

वदातं कौलीनेन[1] कलङ्कयिष्यति कुलम्, कुलक्रमागताञ्च लज्जां परित्यक्ष्यति, अकन्यकोचिते[2] वा चापले चेतः प्रवर्त्तयिष्यति। साहं न सङ्कल्पिता पित्रा, न दत्ता मात्रा,[3] नानुमोदिता गुरुभिः, न किञ्चित् सन्दिशामि, न किञ्चित् प्रेषयामि, नाकारं दर्शयामि, कातरेव[4] अनाथेव नीचेव[5] बलादवलिप्तेन[6] गुरुगर्हणीयतां[7] नीता कुमारेण चन्द्रापीडेन। कथय, महतां किमयमाचारः, किं परिचयस्येदं फलम्, यदेवमभिनव-बिस-किसलय-तन्तु-सुकुमारं मे मनः परिभूयते। अपरिभवनीयो[8] हि कुमारिकाजनो यूनाम्। प्रायेण प्रथमं मदनानलो लज्जां दहति, ततो हृदयम्। आदौ विनयादिकं कुसुमेषुशराः खण्डयन्ति, पश्चान्मर्माणि। तदामन्त्रये

---

जनापवादेन, रजनिकरस्य शशिनः किरणवत् अवदातं निर्मलं कुलं वंशं कथमिव कलङ्कयिष्यति कलङ्कवत् कलङ्कयुक्तं विधास्यति न कथमपीत्यर्थः। अप्रशस्ता कन्या अकन्यका, एवञ्च अकन्यकोचिते अप्रशस्तकन्यायोग्ये, चापले मदनचाञ्चल्ये स्वेनैव निजार्पणे चेतो हृदयं प्रवर्त्तयिष्यति प्रेरयिष्यति।

साहमिति। साहं कादम्बरी, पित्रा जनकेन न सङ्कल्पिता परिणयेन दातुमभिमता, न मात्रा जनन्या दत्ता अर्पिता, गुरुभिर्मातुलादिभिः नानुमोदिता न समर्थिता। सन्दिशामि वाचिकं कथयामि। किञ्चित् मदनोपायनादिकं न प्रेषयामि प्रेषणं करोमि। आकारं स्वरूपविकारं शृङ्गारव्यापारमित्यर्थः। इह तथापीति अध्याहर्त्तव्यम्। कातरा सामर्थ्यहीना, अनाथा परित्रायकरहिता। अवलिप्तेन आत्मना प्रवृत्तेर्दर्पितेन कुमारेण अनुद्वाहितेन चन्द्रापीडेन गुरुभिर्महद्भिः गर्हणीयतां निन्दनीयतां नीता प्रापिता निजसौन्दर्यावलोकनेनैव मदनविह्वलीकृतत्वादित्याशयः। इह हेतोरभावेऽपि महानिन्दनीयताप्रापणरूपकार्योत्पत्तेर्विभावनालङ्कारः।

कथयेति। कथय अभिधेहि, महतां सत्पुरुषाणाम्। आचारः कुलक्रमागतव्यवहारः। परिचयस्य संस्तवस्य। अभिनवं नूतनं यद् बिसकिसलयं मृणालपल्लवं तस्य तन्तुः सूत्रं तद्वत् सुकुमारं कोमलम्। परिभूयते आक्रम्य स्वाधीनीक्रियते। नन्वेतेन का हानिरित्यत आह—अपरीति। हि यस्मात् यूनां तरुणैः, कुमारिकाजनः कन्याजनः अपरिभवनीयः आक्रम्याधीनीकर्त्तुं न योग्यः, अधर्मोत्पत्तेरित्याशयः। इह सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः स च वैधर्म्यपुरस्कृतो वेदितव्यः। तथा 'अमुक्ता भवता नाथ!' इतिवत् मुख्यस्य नञर्थस्य 'अपरिभवनीय' इत्यत्र समासेन गुणीभावाद्विधेयाविमर्शदोषः समापतति, स च नञः पार्थक्यकरणेनैव समाधातुं शक्यः।

प्रायेणेति। प्रथमम् आदौ। दहति भस्मीकरोति विलोपयतीत्यर्थः। कुसुमेषुशराः मदनबाणाः विनयादिकं शिष्टाचारादिकं खण्डयन्ति शकलीकुर्वन्ति छिन्दन्तीत्यर्थः।

मर्मच्छेदे प्राणवियोगस्य निश्चितत्वादाह—तदिति। तत्तस्मात् कारणात्, आमन्त्रये अभ्यर्थयामि,

---

निर्मल कुलको लोकापवादद्वारा कलङ्कित कैसे करेगी? और किस प्रकार ही कुलक्रमागतका परित्याग करेगी? और निन्दनीय कन्याओंके उपयुक्त चञ्चलतामें कैसे चित्तको प्रवर्त्तित करेगी? पिताने मुझे देनेके लिए अपना मत नहीं दिया, माताने भी दान नहीं किया, और गुरुजनोंने भी अनुमोदन नहीं किया, इसलिए मैं कोई भी सन्देशा नहीं कहती हूँ, न उस प्रकारका कोई उपहार भी भेजती हूँ और न कोई आकृतिका विकार दिखाती हूँ; तथापि गर्वित-स्वभाव कुमार चन्द्रापीडने मुझे कातरताके समान, अनाथके समान एवं नीच जातीयके समान बलपूर्वक अत्यन्त निन्दाके पात्र बना दिया है। तू ही कह—क्या यह महापुरुषोंका व्यवहार है? क्या यह परिचयका फल है कि—नूतन-मृणालसूत्रके समान मेरे कोमल मनको इस रीतिसे आकुल कर दिया जाता है? क्योंकि युवकोंको तो प्रायः कन्याओंको आकुल करना उचित नहीं है [ अर्थात् कन्याओंके साथ कभी बलात्कार नहीं करना चाहिए ]। कामाग्नि प्रायः सर्वप्रथम लज्जाको दग्धकर देती ( जला डालती ) है, उसके बाद हृदयको; कामके बाण तो सर्वप्रथम विनयादिकका खण्डन करते हैं, तदनन्तर मर्म-स्थानका अत एव जन्मान्तरमें

---

१. कालीनन। २. अन्यकन्यकोचिते, अन्यकन्यकाजनोचिते। ३. सा चाहमसंकल्पिता मात्रा पित्रा न दत्ता। ४. कातरा च इतरेव। ५. कातरा चानाथेव। ६. अवलिप्तेव। ७. गुर्वी गर्हणीयताम्। ८. अनभिभवनीयः, परिभवनीयः।

भवतीं पुनर्जन्मान्तरसमागमाय, नहि मे त्वत्तोऽन्या प्रियतरा। प्राणपरित्यागप्रायश्चित्तेन प्रक्षालयाम्यात्मनः कलङ्कम्।' इत्यभिधाय तूष्णीमभूत्।

अहन्तु यत्सत्यमविदितवृत्तान्ततया ह्रीतेव भीतेव विलक्षेव विसंज्ञेव सविषादं विज्ञापितवती—'देवि! श्रोतुमिच्छामि, आज्ञापय किं कृतं देवेन चन्द्रापीडेन, को वाऽपराधः समजनि, केन वा खल्वविनयेन खेदितमखेदनीयं देव्याः कुमुदकोमलं मनः?। श्रुत्वा प्रथममुत्सृष्टजीवितायां मयि पश्चात् समुत्स्रक्ष्यति देवी जीवितम्[1]'' इति। एवमभिहिता च पुनरवदत्—'आवेदयामि ते, अवहिता शृणु—स्वप्नेषु प्रतिदिवसम्[2] आगत्यागत्य मे रहस्यसन्देशेषु निपुणधूर्त्तः[3] पञ्जरशुकसारिका दूतीः करोति[4]। सुप्तायाः श्रवणदन्तपत्रोदरेषु व्यर्थमनोरथमोहितमानसः सङ्केतस्थानानि लिखति। स्वेदप्रक्षालिताक्षरानपि निप-

---

भवतीं त्वाम्। जन्मान्तरसङ्गमाय भवान्तरसम्बन्धाय। ननु मामेव केवलं कथमभ्यर्थयसीत्यत आह—नहीति। प्राणपरित्यागो मृत्युरेव प्रायश्चित्तं तेन, आत्मनः स्वस्य कलङ्कमपवादं प्रक्षालयामि अपाकरिष्यामीत्यर्थः।

अहमिति। अविदितवृत्तान्ततया अज्ञातोदन्ततया सत्यम् (निश्चितम्) ह्रीतेव लज्जितेव। विलक्षेव त्रपावशात्किंकर्त्तव्यविमूढेव, विसंज्ञेव विगतचेतनेव सती। विज्ञापितवती निवेदितवती। अविनयेन अशिष्टाचारेण। देव्या भवत्याः कादम्बर्याः, कुमुदवत् कैरववत् सुकुमारं खेदितं खेदयुक्तीकृतम्। उत्सृष्टम् उज्झितं जीवितं जीवनं यया तस्यां सत्याम्। समुत्स्रक्ष्यसि त्यक्ष्यसि।

इह 'विसंज्ञेव' इत्यत्र चेतनाविगमोत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा, 'ह्रीतेवे'त्यादौ तु नोत्प्रेक्षा तासां वास्तविकत्वेन सम्भावनाभावात्। तथा 'उत्सृष्टजीवितायाम्' इत्यस्य स्थाने 'जीवितमुत्सृजन्त्याम्' इत्येव पाठो विधेयः, अन्यथा विधेयाविमर्शदोषस्य वारयितुमशक्यत्वात्।

एवमिति। आवेदयामि विज्ञापयामि, अवहिता दत्तावधाना। निपुणश्चासौ धूर्त्तश्चेति निपुणधूर्त्तः दक्षकूटस्वभावः धूर्त्तकर्मसु दक्ष इत्यर्थः, रहस्यसन्देशेषु गोपनीयवाचिकेषु मे मम पञ्जरशुकसारिकाः पञ्जरवर्त्तिकीरपीतपादा दूतीः करोति तन्मुखेन मन्निकटे रहस्यसन्देशान् प्रेषयतीत्यर्थः, प्रतिदिवसमेतादृशमहं स्वप्नमवलोकयामीत्यभिप्रायः। इत्थमग्रेऽप्यवगन्तव्यम्।

सुप्ताया इति। व्यर्थः सर्वथैवासम्भवान्निरर्थको यो मनोरथोऽभिलाषस्तेन मोहितं मानसं हृदयं यस्य स चन्द्रापीडः, सुप्ताया निद्रिताया मम, श्रवणयोः श्रोत्रयोः ये दन्तपत्रे गजदन्तरचितपत्रसदृशभूषणे तयोः उदरेषु मध्यभागेषु, सङ्केतस्थानानि लिखति लिपीकरोति।

स्वेदेति। स्वेदेन घर्मेण प्रक्षालितानि धौतानि अक्षराणि वर्णा येषां तानपि निपतिता रोदनेन

---

फिरसे सम्मिलनके लिए तुझसे प्रार्थना करती हूँ; क्योंकि तुझसे अधिक प्रिय व्यक्ति मुझे और कोई दूसरा नहीं है। इस समय प्राण-परित्याग-रूपी प्रायश्चित्तद्वारा मैं अपना कलङ्क-प्रक्षालन कर लेती (धो डालती) हूँ। इस प्रकार कह कर वह निःशब्द (चुप) हो गई।

मैं तो वृत्तान्त न जाननेसे निश्चय ही मानो लज्जितके समान हो गई होऊँ; भयके समान हो गई होऊँ अप्रतिभाके समान घबरा गई होऊँ; चेतना-रहितके समान हो गई होऊँ; इस प्रकार विषादके साथ कहने लगी—'देवि! कुमार चन्द्रापीडने क्या किया? क्या अपराध उनसे हुआ? और खिन्न करनेके अयोग्य एवं कुमुदके समान कोमल आपके मनको किस अन्याय आचरणसे उन्होंने खेद पहुँचाया है? यह सब मैं सुननेके लिए इच्छा करती हूँ, इसलिए कृपा करके कहिए। इन सब विषयोंको सुन कर पहले मैं अपना जीवन त्याग करूँगी, पीछे आप त्याग कीजिएगा।' मुझसे इस प्रकार कहे जाने पर फिरसे वह बोलीं—'ले' मैं तुझसे कहती हूँ, मनोयोग देकर सुन—धूर्त्तकार्यमें निपुण वह चन्द्रापीड प्रतिदिन मेरे स्वप्नमें आ-आकर पिञ्जरवर्त्ती शुकसारिका-रूप दूतियोंके साथ गोपनीय संवाद भेजता है। मैं निद्रित रहती हूँ उस अवस्थामें, निष्फल अभिलाषासे मनको मोह कर, मेरे कानोंके हस्त-दन्तनिर्मित आभूषणके ऊपर सङ्केत स्थान लिख जाता है। चित्त-भ्रमके कारण सम्मिलनकी आशासे प्रेरित होकर वह कितने ही ऐसी सुन्दर सुन्दर काम-लिपि भेजता है कि—अक्षर घर्म-जलसे

---

१. समुत्स्रक्ष्यामि जीवितम्, समुत्स्रक्ष्यति जीवितम्। २. प्रतिदिनम्। ३. निपुणो धूर्त्तः। ४. पञ्जरशुकं सारिकां च दूतीकरोति।

[1]तित-साञ्जनाश्रुबिन्दु-पङ्क्ति-कथितात्मावस्थान्[2] मनोहरान् संमोहाशानुवर्त्तिनो मदनलेखान्[7] प्रेषयति। निजानुरागेणेव [3]बलाद्रञ्जयत्यलक्तकरसेन चरणौ। अविनयनिश्चेतनो [4]नखप्रतिबिम्बितमात्मानं बहुमन्यते। उपवनेष्वेकाकिन्या ग्रहणभयपलायमानायाः पल्लवलग्नांशुक-दशा-प्रतिहत-गमनाया गृहीतेव [5]लतासखीभिः अर्पिताया मिथ्याप्रगल्भः पराङ्मुखायाः [6]परिष्वङ्गम् आचरति। स्तनस्थले मे लिखन् [7]पत्रलतां कुटिलतामिवानृजुप्रकृतिः प्रकृतिमुग्धं मनः शिक्षयति। हृदयोत्कलिकातरङ्गवातैरिव शीतलैर्मुखमरुद्भिः श्रमजल-शीकर-तारकितावलीकचाटु-

---

लोचनात्प्रच्युता साञ्जना लोचनकज्जलयुक्ता या अश्रुबिन्दूनां बाष्पकणानां पङ्क्तिः श्रेणी तया कथिता द्योतिता आत्मनः स्वस्य अवस्थाः कामपीडादशा येषु तान् मनोहरान् रम्यान्, सम्मोहेन चित्तभ्रान्त्या या आशा मत्सम्मिलनाकाङ्क्षा तामनुवर्त्तन्ते अनुसरन्तीति तान् मदनलेखान् कामद्योतकानि पत्राणि प्रेषयति।

निजेति। निजानुरागवत् अलक्तकरसेन यावकद्रवेण 'रक्तौ च क्रोधरागौ' इति कविसमयप्रसिद्ध्या सादृश्यावगतिः, मम चरणौ पादौ बलाद् हठात् रञ्जयति। इह गुणोत्प्रेक्षा।

अविनयेति। अविनयेन अशिष्टव्यवहारेण निश्चेतनः चैतन्यशून्यप्रायश्चन्द्रापीडः, नखेषु मम पादनखरेषु प्रतिबिम्बितं सङ्क्रान्तम् आत्मानं स्वं बहु मन्यते अधिकं जानातीत्यर्थः। अनेन मानभङ्गाय चरणपतनं प्रतीयते।

उपेति। उपवनेषु उद्यानेषु एकाकिन्या असहायायाः, ग्रहणभयेन तद्द्वारा ग्रहणत्रासेन पलायमानायाः शीघ्रं व्रजन्त्याः, पल्लवेषु किसलयेषु लग्नाभिः ससक्ताभिः अंशुकदशाभिः वसनाञ्चलैः प्रतिहतं निषेधितं गमनं पलायनं यस्यास्तस्याः, अत एव लता वल्लय एव सख्यः सहचर्यः ताभिः गृहीत्वा धृत्वा अर्पितायाः तस्मै दत्ताया इव सत्याः। अपरा अपि सहचर्यः प्रियसम्बन्धत्रासात् पलायमानां सहचरीं प्रति इत्थमेव कुर्वन्ति। पराङ्मुखाया ह्रिया विवृताननाया मम, मिथ्याप्रगल्भः असत्यधृष्टश्चन्द्रापीडः परिष्वङ्गं पृष्ठत आश्लेषम् आचरति कुरुते। इह क्रियोत्प्रेक्षा।

स्तनेति। अनृज्वी अमृद्वी प्रकृतिः स्वभावो यस्य स चन्द्रापीडः, मे मम स्तनस्थले कुचस्थले पत्रलतां वक्रपत्रसदृशं लतासदृशं च चिह्नं लिखन् चित्रीकुर्वन्, प्रकृतिमुग्धं स्वभावसरलम्, कथमन्यथा मम कुचस्थलस्य स्पर्शं कुर्यादित्याशयः, मम मनश्चित्तं कुटिलतां वक्रतां शिक्षयतीव पाठयतीव, वक्रपत्रलतालिखनादेवेत्याशयः। उक्तालङ्कारः। तथा 'प्रकृतिमुग्धम्' इत्यस्य स्थाने 'स्वभावमुग्धम्' इत्येव पाठो विधेयः, अन्यथा प्रकृतिपदस्य द्विरुपादानेन पुनरुक्तत्वस्य वारयितुमशक्यत्वात्।

हृदयेति। अलीकचाटुकारोऽसत्यप्रियंवदश्चन्द्रापीडः, हृदये स्वमानसे या उत्कलिका उत्कण्ठाः ता एव तरङ्गाः कल्लोलाः तेषां वातैः पवनैरिव शीतलैः शिशिरैः मुखमरुद्भिः वदननिःसृतपवनैः, श्रमजलशीकरैः स्वेदवारिकणैः तारकितौ समुत्पन्नकनीनिकासदृशचिह्नौ कपोलौ मम गण्डौ वीजयति वायुं

---

प्रक्षालित ( विगड़े ) होने पर भी, उनमें पड़ी हुई अञ्जन-समन्वित अश्रु-बिन्दुके समूह ही उसकी अवस्था व्यक्त कर देती है। बलात् मेरे चरणोंको वह मानो अपने अनुराग के समान अलक्तक ( आलता, महावर ) के रससे रञ्जित करता ( रँगता ) है। अशिष्ट व्यवहारसे वह प्रायः चैतन्य-रहित होकर गिर जाता है, अत एव अपने प्रतिबिम्बको मेरे पाँवके नखमें पड़े हुए देख कर अधिक आदर करता है। उद्यान ( बगीचे ) में अकेली जब उसके पकड़नेकी आशङ्कासे दौड़ती हूँ और पल्लवोंमें वस्त्राञ्चल संलग्न हो (कपड़ेका पल्ला अटक) जानेसे दौड़नेमें असमर्थ हो जाती हूँ तब लता-रूप सखियाँ मुझे पकड़ कर मानो उसके समीप समर्पण कर देती हैं, ऐसे समयमें मेरे मुख फेर लेने पर वह अलीक-प्रगल्भ-स्वभाव चन्द्रापीड मेरा आलिङ्गन करता है, कुटिल-स्वभाव वाला वह मेरे स्तन-मण्डल पर पत्र-लताओंका निर्माण कर, मेरे स्वभावसे मुग्ध मनको मानो कुटिलताकी शिक्षा देता है। घर्म-जलके बिन्दु-रूपी समुत्पन्न तारकाकारचिह्नोंसे परिपूर्ण हुए मेरे कपोलोंका वह—मिथ्या चाटुकारी ( मधुर भाषण

---

१. अश्रुबद्ध। २. अवस्थानान्। ३. निजानुरागेण"'रसेनेव। ४. नखेषु। ५. सखीभिः। ६. पराङ्मुखपरिष्वङ्गम्। ७. पत्रलेखां।

कारः कपोलौ वीजयति । स्वेदसलिल-शिथिलित-ग्रहण-गलितोत्पलशून्येनापि करेण यवाङ्कुरानिव[1] नखकिरणान् शुद्धान् दुर्विदग्धः कर्णपूरीकरोति । वल्लभतर-बाल-वकुल-सेक-काल-कवलीकृतान् सुरागण्डूषान् सकचग्रहमसकृद्धृष्टो[2] मां पाययति । भवनाशोकतरुताडनोद्यतान् पादप्रहारान् दुर्बुद्धिविडम्बितः शिरसा प्रतीच्छति । मन्मथ-मूढ-मानसश्च कथय हे पत्रलेखे ! केन प्रकारेण निश्चेतनो निषिध्यते । प्रत्याख्यानमपीर्ष्यां सम्भावयति, आक्रोशमपि परिहासमाकलयति, असम्भाषणमपि मानं मन्यते, दोषसङ्कीर्त्तनमपि स्मरणोपायमवगच्छति, अवज्ञानमप्यनियन्त्रणं प्रणयमुत्प्रेक्षते,[3] लोकापवादमपि यशो गणयति' इति ।

---

विदधाति, घर्मजलापनोदायेत्याशयः । इह निरङ्गकेवलरूपकं जात्युत्प्रेक्षा चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

स्वेदेति । दुर्विदग्धः अलीकवैदग्ध्यदर्पितश्चन्द्रापीडः, स्वेदसलिलेन घर्मवारिणा शिथिलितं श्लथीकृतं ग्रहणं धारणं तेन गलितं च्युतं यत् उत्पलं कैरवं तेन शून्यो वर्जितः करः पाणिस्तेन, यवाङ्कुरानिव शुद्धान् केवलान् नखकिरणान् नखररश्मीन् कर्णपूरीकरोति श्रवणालङ्कारीकरोति, उत्पलभ्रमादित्याशयः । इहोपमा तथा भ्रान्तिमानलङ्कारो ध्वन्यते इति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः ।

वल्लभेति । धृष्टः प्रगल्भप्रकृतिश्चन्द्रापीडः, बल्लभतराणां समात्यन्तप्रियाणां बालवकुलानां लघुकेसराणां सेककाले तत्पुष्पप्रस्फुटनाय मदुद्वारा मुखमद्यसेचनवेलायां कवलीकृतान् स्वयमेव वदने गृहीतान् सुरागण्डूषान् मद्यचुलुकान् , कचग्रहेण मम केशकलापधारणेन सहेति सकचग्रहम् असकृत् मुहुर्मुहुः मां पाययति पानं कारयति, वकुलसेकसमयेऽयं चन्द्रापीडः, स्वमुखेन मद्यगण्डूषान् कवलीकृत्य कचग्रहणपूर्वकं तान् मां बलात्पाययतीत्यभिप्रायः ।

भवनेति । दुर्बुद्धिविडम्बितः कुमतिवञ्चितश्चन्द्रापीडः, भवनाशोकतरूणां गृहकङ्केलिवृक्षाणां ताडनाय पुष्पप्रस्फुटनायेति तात्पर्यम् , उद्यतान् कर्त्तुमुद्यतान् मम पादप्रहारान् चरणाघातान् शिरसा मूर्ध्ना प्रतीच्छति, गृह्णाति, सम्मानाधिक्यसूचनायेत्याशयः ।

ननु यद्येतान्यनर्थजनकान्येवावबुध्यन्ते तर्हि कथं न निवारणादयो विधीयन्त इत्यत आह—मन्मथेति । अपि च, हे पत्रलेखे ! त्वं कथय निवेदय, मन्मथेन मदनाविर्भावेन मूढं सदसद्विचाररहितं मानसं चेतो यस्य सः, अत एव निश्चेतनः चैतन्यशून्यप्रायश्चन्द्रापीडः केन प्रकारेण केन विधिना निषिध्यते निवार्यते । विधीयमानेऽपि निवारणे मन्मथमूढमानसत्वेन चैतन्यशून्यप्रायत्वेन च वारणफलस्य निवृत्तेरसम्भवादित्याशयः । प्रत्याख्यानमपि तथाविधव्यवहारसमये मया विधीयमानं निराकरणमपि ईर्ष्याम् असूयां सम्भावयति उत्प्रेक्षते चन्द्रापीड इति शेषः, मां प्रति बहुभाग्ज्ञानादित्याशयः । इत्थमन्यत्राऽप्यभिप्रायो ज्ञेयः । आक्रोशम् अवमाननम् । आकलयति चिन्तयति अवबुध्यत इत्यर्थः । असम्भाषणम् असंलापमपि मानं प्रणयकोपम् । अवज्ञानं तिरस्कारम् , अनियन्त्रणम् अनिर्बाधम् अदत्तां प्रत्येव तथा व्यवहरणाज्जनापवाद इत्याशयः । इह विरोधाभासः ।

---

करनेवाला ) हृदय की उत्कण्ठारूप तरङ्गों पर होकर पवनके समान आती हो ऐसी शीतल मुख-पवनसे बीजन ( पंखा ) करता है । घर्म-जलके धारण करनेसे शिथिल (ढीला) होकर कमल जिसमें गिर गया ऐसे शून्य हस्तद्वारा भी वह मिथ्या-नैपुण्य-गर्वित, यवाङ्कुरके समान केवल अपने नख-किरणोंका ही मुझे कर्णका आभूषण पहनाता है । अत्यन्त-प्रीति-भोजन नूतन बकुल-वृक्षके सेचन करनेके समय मुखमें भरे गए मद्य की गण्डूषों ( घूँटों ) को चञ्चल-स्वभाव वह मेरे केश-पाश पकड़ पकड़ कर बारम्बार मुझे पान करा ( पिला ) देता है । गृहस्थित अशोक-वृक्षके ताड़न करनेके लिए जब मैं पाद-प्रहार करती हूँ तब उसे दुर्बुद्धिप्रतारित होकर वह अपने मस्तक पर धारण करता है । कामदेवने उसके चित्तको सदसद्विवेचनाहीन कर दिया है, जिससे वह चैतन्यहीनप्राय होकर गिर गया है, अत एव पत्रलेखे ! कह, उसे किस रीतिसे अब मैं रोकूँ । मुझसे प्रत्याख्यान करने पर भी वह उसको ईर्ष्या समझता है । तिरस्कार करने पर भी उसे परिहास समझ कर धारण करता है । सम्भाषण नहीं करने पर उसको मान समझ कर विवेचना करता है । दोषकीर्त्तन करने पर भी उसको स्मरण करनेका उपाय मानता है । अवहेलना करने पर भी उसको अबाध प्रणय समझ कर धारण करता है और लोक-निन्दाको वह यश समझ कर गणना करता है ।'

---

१. यवाङ्कुरविकरानिव । २. सकचग्रहमगणितचेष्टः पातुं प्रार्थयते । ३. अवज्ञामपि निर्यन्त्रणप्रणयम्''' ।

तामेवंवादिनीमाकर्ण्य प्रहर्षरसनिर्भरा मनस्यकरवम्—'अहो ! चन्द्रापीडमुद्दिश्य सुदूरमाकृष्टा खल्वियं मकरकेतुना । यदि च सत्यमेवं[1] कादम्बरीव्याजेन साक्षान्मनोभवचित्तवृत्तिः प्रसन्ना[2] देवस्य चन्द्रापीडस्य, ततः सहजैः सादरं संवर्द्धितैः प्रत्युपकृतमस्य गुणैः, यशसा धवलिताः ककुभः, यौवनेन रतिरससागरतरङ्गैः पातिता रत्नवृष्टिः, यौवनविलासैर्लि[3]खितं नाम शशिनि, सौभाग्येन प्रकाशिता निजश्रीः, लावण्येनैन्दवीभिरिव वृष्टममृतं कलाभिः । तथा च चिराल्लब्धः कालो मलयानिलेन, समासादितोऽवसरश्चन्द्रोदयेन, प्राप्तमनुरूपं फलं[4] मधुमासकुसुमसमृद्धया, गतो मदिरामददोषो[5] गुणताम् , दर्शितं मुखं मन्मथ-

तामिति । एवंवादिनीम् एवंभाषिणीं ताम् आकर्ण्य तस्य वचनं श्रुत्वेत्यर्थः । प्रहर्षभरेण प्रमोदरसेन निर्भरा परिपूर्णा अहम् , उचितसंमिलनोपक्रमादित्याशयः । अकरवम् अकल्पयम् । चन्द्रापीडम् उद्दिश्य लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । मकरकेतुना मदनेन, सुदूरम् आकृष्टा आकर्षिता । देवस्य चन्द्रापीडस्योपरि कादम्बरीव्याजेन कादम्बरीं व्याजीकृत्य लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः, साक्षान्मनोभवस्य कामस्य चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो यदि च सत्यमेव तथ्यमेव प्रसन्ना दयापन्ना जाता, ततस्तदा, सहजैः प्राकृतिकैः सादरं संवर्धितैः एतावत्समयपर्यन्तं सयत्नं वृद्धिमुपनीतैः, एतेन गुणान् प्रति चन्द्रापीडस्योपकृतिकरणं ध्वनितम् । अस्य चन्द्रापीडस्य गुणैः रूपशिष्टाचारादिभिः प्रत्युपकृतं प्रत्युपकारः कृतः, सर्वथोचितायाः एव समाकर्षणादित्याशयः । तथा यशसा कीर्त्या ककुभो दिशो धवलिताः श्वेतीकृताः, भूतले कन्यारत्नभूतायाः एवाकर्षणादित्याशयः । तथा यौवनेन तारुण्येन रतिरसः शृङ्गाररस एव सागरः समुद्रः तस्य तरङ्गैः कल्लोलैः रत्नवृष्टिः मणिवृष्टिः पातिता च्याविता । चन्द्रापीडस्य यौवनविलासैः तारुण्यविभ्रमैः शशिनि नाम शशकलङ्क इत्यभिधेयं लिखितं लिपीकृतम्, एवञ्च कलङ्कवत्तया शशिना ( चन्द्रेण ) कादम्बर्या अनाकर्षणात्, कलङ्कशून्यतया च चन्द्रापीडेनाकर्षणात् शशितश्चन्द्रापीड एवातिशयश्रेष्ठ इत्याशयः । सौभाग्येन प्रियवाल्लभ्येन निजश्रीः स्वसौन्दर्यं प्रकाशिता प्रकटिता, तस्या वाल्लभ्यादित्याशयः । इन्दोरिमा ऐन्दव्यस्ताभिः इन्दुसम्बन्धिनीभिः कलाभिरिव चन्द्रापीडस्य लावण्येन, अमृतं पीयूषं हर्षश्च वृष्टमुत्सृष्टम्, तस्या आकर्षणेनानन्दवर्षणादित्याशयः ।

इह 'यौवनेन रतिरससागरतरङ्गैः रत्नवृष्टिः पातिता' इत्यत्र पदार्थसम्बन्धोऽसम्भवन् कादम्बरीं लक्ष्यीकृत्य चन्द्रापीडोपरि मकरकेतोः चित्तवृत्तेः करुणापन्नत्वं तारुण्यद्वारा रतिरससागरतरङ्गकरणकमणिवृष्टिपातनमिवेति साम्यमाक्षिपतीति निरङ्गकेवलरूपकेण निदर्शनालङ्कारः सङ्कीर्यते । तथा 'रतिरसे' त्यस्य स्थाने 'भाव' इत्येव पदं पठनीयम्, अन्यथा 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि' इत्युक्तदिशा तयोः स्वशब्दाभिधानेन दोषस्य वारयितुमशक्यत्वात् । एवं यौवनविलासैः नामलिखनसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारस्तेन चोक्तरूपो व्यतिरेकालङ्कारो ध्वन्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः । 'कलाभि' रित्यत्र च पूर्णोपमालङ्कारः ।

तथेति । तथा च किञ्चेत्यर्थः । मलयानिलेन दक्षिणपवनेन चिरात् बहोः कालादनन्तरं कालः समयो लब्धः प्राप्तः परस्परमुचितयोरेव कादम्बरीचन्द्रापीडयोः सम्प्रति यथाशक्त्युद्दीपनसम्भवादित्याशयः । इत्थमपरयोरप्यभिप्रायो ज्ञेयः । समासादितः प्राप्तः । मधुमासश्चैत्रमासस्तस्य कुसुमसमृद्ध्या पुष्पसम्पदा । मदिरामदस्य मद्यपानोत्पन्नमत्तताया दोषः अनुचिते अनुरागोत्पादनरूपो दोषः सम्प्रति गुणतां गतः

उनकी इस प्रकारकी वाणी सुन कर, मैं आनन्दसे परिपूर्ण होकर विचार करने लगी—'कितना आश्चर्य ! चन्द्रापीडके उद्देश से कामदेव इसे बहुत दूर ले गया है । यदि सत्य ही कादम्बरीको उद्देश्य कर साक्षात कामदेवकी चित्तवृत्ति ही महाराज पर इस प्रकार प्रसन्न हुई है, तब तो उनके स्वाभाविक एवं सावधानतासे सम्बर्द्धित सौन्दर्यादि गुणोंने प्रत्युपकार किया; यशने समस्त दिशाओंको धवलवर्ण कर दिया; तारुण्यने शृङ्गार-रूपी समुद्रकी तरङ्गों द्वारा रत्न-वृष्टि बरसाई; यौवनकी विलासिताने चन्द्रके ऊपर 'शशकलङ्क' यह नाम लिख दिया; सौभाग्यने अपने सौन्दर्यका प्रकाश किया; चन्द्रकी कलाके समान लावण्यने अमृतकी वृष्टि की । इस प्रकार ही मलयसमीरणको बहुत दिनके बाद अब समय मिला; चन्द्रोदयको अवसर प्राप्त हुआ; चैत्रमासकी पुष्प-समृद्धिको

१. एवं तदा । २...मनोभवे चित्तवृत्तिः प्रसक्ता । ३. विलासैः । ४...मनुरूपफलं, प्राप्तरूपं फलम् । ५. मदिरारसदोषः ।

युगावतारेणे'ति ।

अथाहं प्रकाशं विहस्यात्रवम्—'देवि ! यद्येवम्, उत्सृज कोपम्, प्रसीद, नार्हसि कामापराधेन[1] देवं दूषयितुम् । एतानि खलु कुसुमचापस्य[2] चापलानि शठस्य, न देवस्य । इत्येवमुक्तवतीं मां पुनः सकुतूहला सा प्रत्यभाषत—'योऽयं कामो वा कोऽपि वा[3] कथय कानि कान्यस्य रूपाणी'ति । तामहं व्यजिज्ञपम्—'देवि ! कुतोऽस्य रूपम् ? अतनुरेष हुताशनः । तथाहि, अप्रकाशयन्[4] ज्वालावलीः सन्तापं जनयति, अप्रकटयन् धूमपटलमश्रु पातयति, अदर्शयन् भस्मरजोनिकरं पाण्डुतामाविर्भावयति । न च तद्भूतमेतावति त्रिभुवने, अस्य शरशरव्यतां[5] यन्न यातं याति यास्यति वा । को वाऽस्मान्न त्रस्यति[6], गृहीतकुसुमकार्मुको बाणैर्बलव-

---

प्राप्तः उचितयोरेव मिथोऽनुरागोत्पादनादित्याशयः । तथा मन्मथयुगस्य मदनसमयस्य अवतारेण आविर्भावेन मुखं वदनं दर्शितं प्रकटितम्, केवलमनयोर्मनोविकारोत्पादनारम्भादित्याशयः ।

अथेति । प्रकाशं प्रकटम् । उत्सृज त्यज । कामस्य मनोभवस्य अपराधेन आगसा देवं चन्द्रापीडं दूषयितुं नार्हसि, अन्यापराधेनान्यस्य दूषणायोग्यत्वादित्याशयः । शठस्य धूर्त्तस्य कुसुमचापस्य पुष्पधनुषः ( कामस्य ) चापलानि विकारोत्पादकचेष्टाः, परन्तु देवस्य चन्द्रापीडस्य न अपराधव्यवहारादित्याशयः ।

इतीति । उक्तवतीं कथितवतीम् । सकुतूहला कौतुकेन सहिता । सा कादम्बरी प्रत्यभाषत प्रत्यवोचत् । कोऽपि अन्यो वेत्यर्थः । कथय प्रतिपादय ।

तामिति । रूपं स्वरूपम् । एषः कामः अतनुः मूर्तिरहितो हुताशनो वह्निः, तद्वत्सन्तापकत्वात्स्वरूपस्यादर्शनाच्च, अत एवास्य न विद्यते स्वरूपमित्यभिप्रायः । इहाधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकम् ।

अस्य वह्निसाम्यं निरूपयितुमाह—तथाहीति । ज्वालावलीः शिखापङ्क्तीः अप्रकाशयन् अप्रकटीकुर्वन् सन्तापं दाहं जनयति उत्पादयति । भस्मरजोनिकरं भस्मकणसमूहमदर्शयन् अप्रकाशयन् । आविर्भावयति प्रकटयति । इह ज्वालाप्रकाशादीनां हेतूनामसत्त्वेऽपि तत्कार्यदाहाद्युत्पत्तेः । प्रत्येकवाक्य एव विभावनालङ्कारः ।

नचेति । अपि चेति चार्थः । एतावति अतिविस्तृते इत्यर्थः, त्रिभुवने त्रिविष्टपे, तत्तथाभूतं भूतं न, स प्राणी नास्तीत्यर्थः । यद्भूतं कर्त्तृ, शरव्यतां वेध्यतां न यातमुपगतमित्यतीतनिर्देशः, न यातीति वर्त्तमाननिर्देशः, न यास्यतीति भविष्यत्कोक्तिः, अत एवायं त्रिष्वपि समयेषु त्रिविष्टप एवाव्याहतमाहात्म्यशालीत्याशयः । इह वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषवारणाय यच्छब्दस्य पूर्वपाठ एव विधेयः ।

क इति । अस्मान्मनोभवात् को वा जनो न त्रस्यति भयमाप्नोति अपि तु सर्व एव, इह कारणं प्रदर्शयति—गृहीतेति । गृहीतम् आत्तं कुसुमकार्मुकं पुष्पधनुर्येन स तादृशः, बाणैः शरैः बलवन्तमपि शक्तिशालिनमपि विध्यति ताडयति, अत एवास्मात् सर्वेषां त्राससम्भव इत्यभिप्रायः इह वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ।

---

अनुरूप फल मिला; मदिरा-रसका दोष गुणता प्राप्त किया और कन्दर्प-युगके आविर्भावने मुँह दिखाया ।

उसके बाद मैं हँस कर प्रकट-रूपसे बोली—'देवि ! यदि ऐसा ही है, तो आप क्रोधका परित्याग करें और प्रसन्न हो जाइए । कामदेवके अपराधसे आपको राजपुत्रको दोष नहीं देना चाहिए—यह सब तो धूर्त्तप्रकृति कामदेवकी ही चञ्चलता है—किन्तु राजपुत्रकी नहीं ।' इस प्रकार मेरे कहने पर उन्होंने फिरसे कौतुकके साथ प्रत्युत्तर दिया कि—'यह काम अथवा जो कोई पदार्थ हो, उसके रूप क्या-क्या हैं ? वे मुझसे कहे ।' तब मैंने उसे सूचित किया—'देवि ! इसका रूप कैसा ? यह तो मूर्त्तिरहित अग्नि है । देखिए-ज्वालाओंका प्रकाश किए बिना ही सन्ताप उत्पन्न करता है, धूमराशिको बाहर निकाले बिना लोगोंका अश्रुपात कराता है और भस्मोंके कणोंको दिखाए विना ही शरीरमें पाण्डुता प्रकट करता है । इस विशाल त्रिभुवनके मध्यमें ऐसा कोई प्राणी ही नहीं जो कामदेवके बाणके लक्ष्य हुआ ही नहीं है, या होता ही नहीं है, या होवेगा ही नहीं । कौन व्यक्ति ऐसा है जो इस कामसे डरता ही नहीं हो; क्योंकि—पुष्पमय-धनुष धारण कर यह बाणों द्वारा बलवान् व्यक्तिको भी

---

१. कामापराध । २. खलु खलस्य कुसुमचापस्य । ३. कामः कोऽपि वा । ४. प्रकाशयन् ।
५. शरव्यतां । ६. को वाऽस्य भ्रस्यति ।

न्तमपि विध्यति। अपि चानेनाधिष्ठितानां कामिनीनां पश्यन्तीनां चिन्तया [1]प्रियमुखचन्द्र-[2]सहस्राणि सङ्कटमम्बरतलम्[3], लिखन्तीनां दयिताकारानविस्तीर्णं महीमण्डलम्, गणयन्तीनां वल्लभगुणानल्पीयसी संख्या,[4] [5]श्रृण्वतीनां प्रियतमकथामबहुभाषिणी सरस्वती,[6] ध्यायन्तीनां प्राणसमसमागमसुखानि ह्रसीयान् कालो हृदयस्यापतति' इति।

एतदाकर्ण्य च क्षणं विचिन्त्य प्रत्यवादीत्—'पत्रलेखे! यथा कथयसि, तथा जनोऽयं कारितः कुमारे पक्षपातं पञ्चेषुणा[7]। यान्यस्यैतानि रूपाणि समधिकानि वा तानि मयि वर्त्तन्ते।

---

अपीति। अनेन कामदेवेन अधिष्ठितानाम् अभिभूतानाम्, चिन्तया चिन्तावशात् प्रियस्य वल्लभजनस्य मुखचन्द्रसहस्राणि पश्यन्तीनाम् अवलोकयन्तीनां कामिनीनां सुन्दरीणां कृते हृदयस्य चेतसः समीपे अम्बरतलम् आकाशं सङ्कटं तन्मुखचन्द्रव्याप्तं सत् आपतति उपगतं भवति, सर्वत्रैव तन्मुखचन्द्रावलोकनादित्याशयः। अनेन सुन्दर्यो वल्लभजनमुखचन्द्रमयमेव संसारमवलोकयन्तीति ध्वन्यते। दयिताकारान् प्रियस्य प्रतिमूर्त्तीः लिखन्तीनां चित्रणं कुर्वन्तीनां कामिनीनां हृदयस्य समीपे महीमण्डलं भूमण्डलम् अविस्तीर्णम् अविस्तृतम् आपतति, यतो हि तच्चित्रिता दयिताकारास्तत्र न मा (भा) न्तीत्याशयः। एतेन निरन्तरमेव कामिन्यः प्रियवल्लभस्य दयितस्य गुणान् सौन्दर्यविनयादीन् गणयन्तीनां गणनां विदधतीनां कामिनीनां हृदयस्य समीपे संख्या परार्धान्तापीत्यर्थः। अल्पीयसी अतिस्तोका सत्यापतति, तद्गुणगणनसमये परार्धान्ताया अपि संख्यायाः पर्याप्तत्वादित्यभिप्रायः। अनेन कामिन्यो गुणरहितानपि दयिताननन्तगुणसंयुक्तान् अवबुध्यन्ते इति चिन्त्यते। प्रियतमस्य दयितस्य कथां श्रृण्वतीनामाकर्णयन्तीनां कामिनीनां हृदयस्य समीपे सरस्वती वाणी अबहुभाषिणी अनधिकसंलापिनी सती आपतति, आशानुरूपं वदितुमसमर्थत्वादित्याशयः। एतेन अनन्तयापि कथया तासां श्रवणाशा न परिपूर्यते इति ध्वन्यते। तथा प्राणसमस्य जीविततुल्यस्य दयितस्य समागमसुखानि सङ्गमसुखानि ध्यायन्तीनां चिन्तयन्तीनां कामिनीनां हृदयस्य समीपे कालः समयो ह्रसीयान् अतिह्रस्वः सन्नापतति, झटित्येवावसितत्वादित्याशयः। अनेन कामिन्यः सर्वस्मिन् काल एव वल्लभसमागमसुखानि चिन्तयन्तीति व्यज्यते। इह 'आपतति' एकस्यां क्रियायाम् अम्बरतलादीनां कर्तृत्वेनाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितालङ्कारः।

एतदिति। कथयसि प्रतिपादयसि। अयं मल्लक्षणो जनः। कुमारे चन्द्रापीडे। पञ्चसंख्याका इषवो बाणा यस्य स तेन मदनेनेत्यर्थः। अस्य पञ्चेषोः, यान्येतानि रूपाणि दाहोत्पादकत्वादीनि पूर्वोक्तानि त्वया प्रतिपादितानीति शेषः, तेभ्यः समधिकानि वा सन्तीति शेषः, तानि समस्तानि मयि विद्यन्त इत्यर्थः, सन्तापबाष्पपतनपाण्डुतावलोकनात् तत्समधिकाधैर्याद्यवलोकनाच्चेत्याशयः।

---

विद्ध कर देता है। और जो सुन्दरियाँ कामाविष्ट होकर चिन्ताद्वारा जब अपने प्रियतमके हजारों मुख-चन्द्र देखा करती हैं, तब उन लोगोंके हृदयके समीप आकाशमण्डल ही प्रियतमके मुख-चन्द्रसे व्याप्त होकर उपस्थित होता है। प्रियतमकी आकृति चित्रित करनेमें तत्पर समस्त भू-मण्डल क्षुद्र-सा प्रतीत होता है। प्रेमी जनकी गुण-गणना आरम्भ करने पर परार्द्ध पर्यन्त संख्याएँ भी अत्यन्त अल्प प्रतीत होती हैं, प्रियतमकी कथा सुनते रहने पर भी उसकी वाणी कम बोलनेवाली लगती है और प्राणतुल्य प्रियतमके समागम-सुखका ध्यान करते रहने पर भी उनके हृदयको तो अधिक समय भी अल्पसा प्रतीत होता है।

यह सुन कर क्षण भर विचार कर उन्होंने प्रत्युत्तर दिया—'पत्रलेखे! तुम जिस प्रकार कहती हो उस प्रकारसे ही मुझे कामने कुमारके प्रति पक्षपाती (तरफदार) बना दिया है। उसके ये सब और इनसे अधिक भी जो रूप हैं, वे सब ही इस समय मुझमें विद्यमान हैं। तुम मेरे हृदयसे अतिरिक्त नहीं हो, इसलिए इस समय में

---

१. चिन्ताप्रिय। २. क्वचित् 'चन्द्र' पदं न विद्यते। ३. चिन्ताप्रियमुखसहस्रसङ्कटम्, चिन्ताप्रियमुखचन्द्रसहस्राणि। ४. वल्लभगुणानसंख्यान्। ५. श्रृण्वन्तीनां। ६. अबहुभाषिणीं सरस्वतीम्। ७. कुमारपक्षपातिना पञ्चशरेण।

हृदयादव्यतिरिक्तासि, इदानीं भवतीमेव पृच्छामि । उपदिश त्वम्[1], यदत्र मे साम्प्रतम् । एवंविधानां वृत्तान्तानामनभिज्ञाऽस्मि । अपि च [2]मे गुरुजनवक्तव्यतां नीताया नितरां लज्जिताया जीवितान्मरणमेव श्रेयः पश्यति [3]'हृदयम्' इति ।

एवंवादिनीं भूयस्तामहमेवमवोचम्—'अलमलमिदानीं देवि ! किमनेनाकारणमरणानुबन्धेन[4], अनाराधितप्रसन्नेन कुसुमशरेण भगवता ते वरो दत्तः । का चात्र गुरुजनवक्तव्यता, यदा खलु कन्यकां गुरुरिव पञ्चशरः सङ्कल्पयति, मातेवानुमोदते, [5]भ्रातेव ददाति, सखीवोत्कण्ठां जनयति, धात्रीव तरुणतायां [6]रत्युपचारं शिक्षयति । कति वा[7] कथयामि ते याः स्वयं वृतवत्यः पतीन् । यदि च नैवम्, अनर्थक एष तर्हि धर्मशास्त्रोपदिष्टः स्वयंवरविधिः ।

हृदयादिति । अव्यतिरिक्तासि अभिन्नासि । इदानीम् अधुना भवतीमेव त्वामेव । साम्प्रतं युक्तं समीचीनमित्यर्थः 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । अनभिज्ञा अपरिचिताऽस्मि । गुरुजनैः मातापित्रादिजनैः वक्तव्यतां गर्हणीयतां नीताया मदनेन प्रापितायाः, नितराम् अत्यर्थं लज्जितायाः त्रपायुक्तायाः मे मम मरणमेव श्रेयः श्रेष्ठमिति हृदयं पश्यति जानातीत्यर्थः ।

एवमिति । अलमलम् एवमभिधेहीति शेषः । अकारणम् अहेतुं यन्मरणं तस्य अनुबन्धेन आग्रहेण, अनाराधितोऽनुपासितोऽपि प्रसन्नस्तेन । वरो दत्तः, समुचिताधिकारिणं प्रत्येव ते प्रीतिजननादित्याशयः ।

केति । गुरुजनवक्तव्यता मातापित्रादिनिन्दनीयता । तरुणतायां यौवने । गुरुः पितेव सङ्कल्पयति दानेच्छाविषयीकरोति, मातेव जननीव अनुमोदते एतत्त्वया साध्वनुष्ठितमिति श्लाघते । सखीव सहचरीव उत्कण्ठाम् औत्सुक्यं जनयति उत्पादयति । रतौ सम्भोगविषये उपचारं तदुपयोगिविभ्रमादिकं शिक्षयति अभ्यासं कारयति, अत एवास्याः पञ्चशरक्रियाया अवश्यंभावित्वान्नास्ति मातापित्रादिनिन्दनीयतेत्याशयः । इह प्रत्येकवाक्य एव श्रौतोपमा ।

कतीति । याः पतीन् स्वयं वृतवत्यः आत्मनैव वरणं कृतवत्यस्ताः कति कथयामि बह्वयः सन्तीत्यर्थः । अत एवाप्यनेकेषां व्यवहारान्नास्ति दोष इत्याशयः ।

यदीति । अपि च, एवं यदि न भवेदित्यर्थः । अनर्थक एव निष्प्रयोजन एव, अनुष्ठानलक्षणप्रामाण्याभावादित्याशयः । स्वयंवरविधिरेव गान्धर्वविधिः । तथा च याज्ञवल्क्यः—'गान्धर्वः समयान्मिथः' इति । मनुरपि—

'इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च । गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुनः कामसम्भवः ॥'

तुझसे ही पूछती हूँ । इस समय मेरे लिए जो उचित हो तुम ऐसे ही उपदेश दो, क्योंकि—ऐसी ऐसी घटनाओंको मैं कुछ भी नहीं समझती । और भी देखो-कामदेवने मुझे गुरुजनकी निन्दाका पात्र बना दिया है, इसलिए मैं अत्यन्त लज्जित हो गई हूँ, अत एव हृदय समझता है कि—जीवनकी अपेक्षा मेरा मरण ही श्रेय ( अधिक अच्छा ) है ।'

उनके इस प्रकार कहे हुए वचनोंको सुनकर मैं फिर उनसे इस प्रकार कहने लगी—'देवि । आप इस समय यह मत कहें, मत कहें । यों निष्कारण मरनेके लिए आपका यह आग्रह कैसा ? माहात्म्यशाली कामदेवकी आराधना न करनेपर भी, उसने स्वयं ही आपके ऊपर प्रसन्न होकर वर दिया है । इस विषयमें गुरुजनकी निन्दा क्या ? जब स्वयं कामदेव यौवनकालमें कन्याका दान करनेके लिए सङ्कल्प करता है, माताके समान अनुमोदन करता है, भ्राताके समान दान करता है, सखीके समान उत्कण्ठा उत्पन्न करता है, और धात्रीके समान अनुरागके उपयोगी विलासादिकी शिक्षा देता है । कहो तो, आपके सामने कितने ही कन्याओंकी ऐसी कथा कह दूँ, जिन्होंने अपने आप ही पतिका वरण किया है । यदि यह प्रकार ही नहीं होता, तो धर्मशास्त्रमें बताया हुआ स्वयम्बर-विधान निरर्थक होता । इसलिए देवि ! आप प्रसन्न होइए, इस तरह मरनेके आग्रहका परित्याग कीजिए; मैं आपके

१. कच्चित् त्वमिति नास्ति । २. अपि च गुरु''' । ३'''मे हृदयम् । ४. वरोरु ! अनाराधित''' । ५. पितेव । ६. तरुणतारत्युपचारम् । ७. किमिव, कति च ।

तत् प्रसीद, देवि ! अलममुना [1]मरणानुबन्धेन, [2]शपे ते पादपङ्कजस्पर्शेन, सन्दिश, प्रेषय माम्, यामि, आनयामि देवि ! ते [3]हृदयदयितम्' ।

इत्येवमुक्ते मया प्रीतिद्रवार्द्रया दृष्ट्या पिबन्तीव मां निरुध्यमानैरपि मकरकेतुशर-शत-[4]जर्जरितां भित्त्वेव लज्जां लब्धान्तरै[5]र्निपतद्भिः अनुरागविभ्रमैराकुलीक्रियमाणा, प्रियवचनश्रवणप्रीत्या च [6]स्वेदाश्लिष्टम् उत्क्षिप्य रोमाञ्चजालकेन दधतीवोत्तरीयांशुकम्, प्रेङ्खत्कुण्डल-माणिक्य पत्र मकर-कोटि-लग्नञ्च शशिकिरणमयं [7]मरणपाशमिव मकरकेतुना निहितं कण्ठे हारमुन्मोचयन्ती, प्रहर्षविह्वलान्तःकरणापि कन्यकाजनसहजां [8]लज्जामिवावलम्ब्य शनैः शनैर-[9]वदत्—'जानामि ते गरीयसीं प्रीतिम्, केवलमकठोर-शिरीष[10]-पुष्प-मृदुप्रकृतेः कुतः प्राग-

---

तदिति । मरणानुबन्धेन प्राणवियोगाग्रहेण । पादपङ्कजस्पर्शेन चरणकमलस्पर्शेन शपे शपथं करोमि, चित्तवल्लभानयनं प्रत्येव शपथोऽयमित्यवधेयम् । संदिश आज्ञापय । प्रेषय प्रेरय । आनयामि तव समीप इति शेषः ।

इतीति । इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण । उक्ते अभिहिते सति । सा कादम्बरी प्रीतिद्रवेण प्रमोदरसेन आर्द्रा तया दृष्ट्या लोचनेन मां पत्रलेखां पिबन्तीव पानं कुर्वन्तीव, निरुध्यमानैरपि संनियम्यमाणैरपि, मकरकेतोः कामस्य शरशतेन बाणसमूहेन जर्जरिताम् अतएव भेदनं सुसाध्यमित्याशयः, लज्जां त्रपां भित्त्वेव विदार्येव लब्धान्तरैः प्राप्तावकाशैः, निपतद्भिः प्रकटीभवद्भिरित्यर्थः । अनुरागविभ्रमैः स्मितायनुरागद्योतकविलासैः आकुलीक्रियमाणा चञ्चलीक्रियमाणेत्यभिप्रायः । अपि च, प्रियस्य दयितस्य चन्द्रापीडस्य यद् वचनं वाक्यं तस्य श्रवणेन आकर्णनेन या प्रीतिरानन्दस्तया, ये स्वेदा घर्माः तैः आश्लिष्टं देहसंसक्तम्, उत्तरीयांशुकम् उपसंव्यानवस्त्रम्, रोमाञ्चानां पुलकानां जालकेन समूहेन उत्क्षिप्य उन्नतं विधाय दधतीव धारयन्तीव । अपि च, प्रेङ्खतश्चलतः कुण्डलस्य कर्णभूषणस्य यो माणिक्यपत्रमकरः रत्नरचितपत्रात्मकमकरसदृशभूषणं तस्य कोटौ अग्रभागे लग्नं सक्तम्, शशिकिरणमयम् अत्युज्ज्वलत्वाच्छशिप्रभानिष्पन्नमित्यर्थः, मकरकेतुना कामदेवेन कण्ठे गले निहितं स्थापितं मरणपाशमिव मृत्युजालकमिव विद्यमानं हारं शेषाभिधानम् उन्मोचयन्ती प्रच्यावयन्ती, प्रहर्षेण निरतिशयानन्देन विह्वलं व्याकुलम् अन्तःकरणं यस्याः सा तादृश्यपि, कन्यकाजनस्य कुमारिकाजनस्य सहजां स्वाभाविकीम् । लज्जां त्रपाम् अवलम्ब्य आश्रित्येव शनैः शनैः मन्दं मन्दम् अवदत् अवोचत् ।

इह केवलं 'मरणपाशमिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षालङ्कारः । 'पिबन्तीव' 'भित्त्वेव', 'उत्क्षिप्येव' 'दधतीव' 'अवलम्ब्येव' एषु सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

जानामीति । गरीयसीम् अतिशयेन गुर्वीं प्रीतिं स्नेहं मयीति शेषः, अत एवं ब्रवीमीत्याशयः । तर्हि शीघ्रमेव स्वयं वरणाय उद्योगं कथं न करोषीत्यत आह—केवलमिति । केवलं किन्तु, अकठोरं नूतनं यत् शिरीषपुष्पं तद्वत् मृदुः सरला प्रकृतिः स्वभावो यस्य तस्य नारीजनस्य, एतावत् स्वयं वरणरूपं

---

पाद-पद्मका स्पर्श कर शपथ ( सौगन्ध ) लेकर कहती हूँ कि—आप कुछ सन्देशा देकर मुझे भेजिए, तो मैं जाकर आपके प्राणवल्लभको ले आऊँ ।'

मेरे इस प्रकार कहनेपर आनन्द-रससे आर्द्र हुई स्निग्धदृष्टिसे मेरा मानो पान करतीं, छिपाये जानेपर भी काम-बाणके प्रहारसे जर्जरित हुई लज्जाको मानो भेदनसे; मार्ग पाकर बाहर निकलते ईषद् हास्यप्रभृति अनुराग-सूचक-विभ्रमोंसे आकुल होतीं, प्राणेश्वरसम्बन्धी प्रियवचन सुननेसे आनन्दवश उत्पन्न हुए स्वेदसे शरीरमें संलग्न ( चिपटे ) उत्तरीयांशुकको इधर उत्पन्न हुए रोमाञ्चके जालसे मानो उठाकर धारण करतीं, और दोलायमान ( लटकते हुए ) कर्णकुण्डलके रत्ननिर्मित मकराकार भागके अग्र ( नोक ) में उलझे हुए चन्द्रकिरणके समान शुभ्रवर्ण अपने हारको, कामदेवके द्वारा गलेमें समर्पण किए गए मृत्युपाशके समान उन्मुक्त करतीं ( सुलझातीं ), वह अत्यन्त आनन्दसे अन्तःकरण विह्वल होने पर भी कन्याओंकी स्वाभाविक लज्जाका अवलम्बन करके ही मानो धीरे धीरे कहने लगीं—'पत्रलेखे ! मेरे ऊपर जो तुम्हारा अत्यन्त प्रेम है, उसे मैं जानती हूँ; किन्तु अभिनव-शिरीष कुसुमके समान कोमल-प्रकृतिवाली रमणियोंमें और फिर विशेष करके बाल-भावकी कुमारियोंमें इतनी

---

१. अलं मरणानु··· । २. शपामि । ३. सन्दिश माम्, याम्यानयामि तं देवं चन्द्रापीडं ते हृदयदयितम् । ४. जर्जरिता । ५. निष्पतद्भिः । ६. स्वेदश्लिष्टम् । ७. मरणाय पाशमिव । ८. आलम्ब्य । ९. शनैरवदत् । १०. पक्ष्म ।

लभ्यमेतावन्नारीजनस्य, विशेषतो बालभावभाजः कुमारीलोकस्य । साहसकारिण्यस्ताः, याः स्वयं सन्दिशन्ति समुपसर्पन्ति वा । स्वयं साहसं सन्दिशन्ती[1] बाला जिह्रेमि । किं वा सन्दिशामि। अतिप्रियोऽसीति पौनरुक्त्यम् , तवाहं प्रियात्मेति[2] जडप्रश्नः, त्वयि गरीयाननुराग इति वेश्यालापः, त्वया विना न जीवामीत्यनुभवविरोधः, परिभवति मामनङ्ग इत्यात्मदोषोपालम्भः, मनोभवेनाहं भवते दत्तेत्युपसर्पणोपायः, बलाद्धृतोऽसि मयेति बन्धकीधाष्टर्यम् ,

---

गुरुतरं प्रागल्भ्यं धृष्टतां कुतः, अपि तु कस्मादपि न भवितुमर्हतीत्यर्थः । बालभावभाजः बालिकावस्थस्य कुमारीलोकस्य कन्यकाजनस्य । इह लुप्तोपमा अर्थापत्तिश्चेत्युभयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

नन्वेवं सति रुक्मिणीप्रभृतयो नार्यः स्वयंवरणात्मकगुरुतरधाष्टर्ये कथं प्रवृत्ता इत्यत आह—साहसेति । याः स्वयं सन्दिशन्ति सन्देशं प्रेषयन्ति एतादृश्यश्च रुक्मिणीप्रभृतयः, 'रुक्मिणी हि श्रीकृष्णसमीपे ब्राह्मणद्वारा सन्देशं प्रेषितवती' इत्येषा कथा सुप्रसिद्धैव । स्वयमुपसर्पन्ति वरणार्थं स्वयमेव समीपे गच्छन्ति, इत्थम्भूताश्चेन्दुमतीदमयन्त्यादयः, स्वयवराय ताः स्वयमेव सभायां गतवत्य इत्येषापि कथा सुप्रसिद्धैव ।

अथैवमपि तथाविधसाहसस्वीकारे मम लज्जैव प्रतिबन्धिकेत्यत आह—स्वयमिति । साहसरूपं स्वयं सन्दिशन्ती सन्देशं प्रेषयन्ती बालाऽहं जिह्रेमि लज्जे ।

लज्जाजनितं प्रतिबन्धं दूरीकृत्यापि सन्देशप्रकारमेव नावलोकयामीत्यत आह—किं वेति । वा अथवा किं सन्दिशामि सन्देशं प्रेषयामि, त्वं ममातिप्रियोऽसीति सन्देशे पौनरुक्त्यं समस्तलोकस्य प्रियत्वेऽनुभवसिद्धे तथाविधसन्देशः 'अग्निरुष्णः' इतिवत् पुनरुक्तता, एवञ्च ज्ञातार्थज्ञापकत्वेन पुनरुक्ततादोषप्रसक्त्या नायं सन्देशो रोचत इत्याशयः ।

तवेति । तवाहं प्रियात्मा वल्लभास्वरूपा किमिति सन्देशस्तु जडप्रश्नः अज्ञजनजिज्ञासा, इङ्गितेनैव वल्लभत्वनिश्चयेऽपि पुनर्जिज्ञासाकरणात् अज्ञानात्तु तथैवाचरणात् , अत एवायमपि न समुचित इत्याशयः । तदुक्तम्—

'स्वरूपं वा प्रियो वापि वृत्तं पौरुषमेव वा । प्रकाशयन् स्वयं यस्तु स वै जडतरः स्मृतः ॥

त्वयीति । त्वयि गरीयान् अतिमहान् ममानुराग इति सन्देशस्तु वेश्याया गणिकाया आलापः संभाषणम्, तद्वत् स्पष्टप्रतिपादनात्; कुलवधूनां तु चेष्टयैव प्रियत्वद्योतनौचित्यादयमपि पक्षो न समञ्जस इत्याशयः ।

त्वयेति । त्वया विना भवद्व्यतिरेकेण न जीवामि न प्राणान् धारयामीति सन्देशे तु अनुभवविरोधः । प्राणधारणाभावे मरणमेव स्यात् , एवं रूपत्वे च सन्देशप्रेषणासम्भवात् , अतएवायमपि पक्षो न युक्त इत्याशयः ।

परीति । अनङ्गः कामो मां परिभवति परिभूय व्यथयतीति सन्देशे तु आत्मनः स्वस्य दोषस्य कामुकत्वरूपस्य उपालम्भो निन्दा करणीया, न तु तद्दूरीकरणाय सन्देशप्रेषणम् , स्वकीयानां नायिकानां मदनविकारस्यावरुद्धीकरणीयत्वेन तत्प्रकटनायोग्यत्वादयमपि सन्देशो न सङ्गच्छत इत्याशयः ।

मन इति । मनोभवेन कामेनाहं भवते दत्ता समर्पिता इति सन्देशस्तु उपसर्पणस्य त्वत्समीपोपस्थितेरुपायः, समर्पणेन समुत्पन्नस्वत्वस्य वस्तुनस्तदधिकारिसमीप एव विद्यमानत्वौचित्यात् । कौशल्यप्रकाशनपूर्वकत्वादयमपि पक्षो न युज्यत इत्याशयः ।

बलादिति । मया त्वं बलाद्धठात् धृतोऽसि गृहीतोऽसीति सन्देशे तु बन्धकीधाष्टर्यं स्वैरिण्या

---

अधिक प्रागल्भता कहाँ ? जो स्वयं सन्देशा भेजती हैं, अथवा अपनेसे ही प्रियतमके समीप उपस्थित हो जाती हैं, वे साहसका कार्य करती हैं । मैं तो बाला हूँ और अपने से ही समाचार भेजनेमें लज्जित होती हूँ—अथवा मुझे सन्देशा भी क्या कहलाना है ? यदि इस प्रकार कहूँ कि—'आप मेरे अत्यन्त प्रिय हैं' तो यह कहना केवल पुनरुक्ति ही होगी; 'क्या आपको मैं प्रिय हूँ ?' [ क्या आपकी प्यारी हूँ ? ] इस प्रकार कहूँ तो इससे निर्बोधता प्रकाशित होगी; 'आपके प्रति मुझे अत्यधिक अनुराग उत्पन्न हुआ है' यदि इस प्रकार कहूँ तो यह वेश्याओंके कहनेका क्रम है; 'आपके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ' यदि यों कहूँ तो अनुभव-विरुद्ध है; 'कामदेव मुझे अधिक पीड़ा देता है' यों कहूँ तो अपने दोषकी निन्दा ही करनी है; 'कामदेवने मुझे आपके हाथमें समर्पण ( दान ) कर दिया है' यह तो उनके निकट जानेका उपाय है, 'मैंने आपको बल-पूर्वक पकड़ रक्खा है' यह तो

---

१. सन्दिशन्ति, दिशन्ती । २. प्रिया नेति ।

अवश्यमागन्तव्यमिति सौभाग्यगर्वः, स्वयमागच्छामीति स्त्रीचापलम्, अनन्यरक्तो[1]ऽयं परिजन इति स्वभक्ति[2]निवेदनलाघवम्[3]। प्रत्याख्यानशङ्कया न सन्दिशामीत्यप्रबुद्धबोधनम्[4] अनपेक्षितानुजीवितं[5]दुःखदारुणा स्यामित्यतिप्रणयिता, ज्ञास्यसि मरणे प्रीतिमित्यसम्भाव्यमेव[6]।

इति श्रीबाणभट्टविरचितः कादम्बरीपूर्वभागः।

---

धृष्टताप्रतीतिः, कुलीनायास्तु तदयोग्यत्वादयमपि पक्षो न सङ्गच्छते इत्याशयः।

अवश्यमिति। त्वया अवश्यं नूनम् आगन्तव्यम् उपस्थातव्यमिति सन्देशे तु सौभाग्यस्य दयितवाल्लभ्यस्य गर्वोऽभिमानः प्रकाशते, तस्य त्वसत्त्वादेषोऽपि पक्षो न समञ्जस इत्याशयः।

स्वयमिति। स्वयमात्मनैव आगच्छामि आयामीति सन्देशे तु स्त्रीचापलं योषितां प्रकृतिसुलभं चापल्यमात्रं प्रकाशते, परमार्थतो गमनासम्भवात्, अत एवायमपि पक्षः परित्याज्य इत्याशयः।

अनन्येति। अनन्यरक्तस्त्वय्येवानुरक्तः अयं मल्लक्षणः परिजन इति सन्देशेऽपि स्वभक्तेः स्वप्रेम्णः स्वयमेव निवेदनेन ज्ञापनेन लाघवम्, अत एवैषोऽपि पक्षो नितरामुपेक्षणीय इत्यभिप्रायः।

प्रत्याख्यानेति। प्रत्याख्यानं सन्देष्टव्यविषयनिराकरणं तस्य शङ्कया आतङ्केन न सन्दिशामि न सन्देशं प्रेषयामीति सन्देशेऽपि अप्रबुद्धस्य अविदितनिराकरणस्य बोधनं तत्सूचनम्, निद्रितभुजङ्गोत्थानवत्, सुतरामेषोऽपि पक्षो न रोचत इत्याशयः।

अनपेक्षितेति। न अपेक्षितं पालनीयतया कयापि नाभिलषितम् अनुजीवितं प्रियविरहानन्तरसमयस्थायिजीवनं येन तथोक्तेन दुःखेन निरन्तरतथाविधक्लेशसहनेन दारुणा कठिनस्वभावा स्यां सहचरीणां समक्ष इति शेषः, इति सन्देशे अतिप्रणयिता अत्युत्कटस्नेहवत्ता प्रतीयेत। परमार्थतस्तु इदानींपर्यन्तमपि तथाविधात्युत्कटस्नेहवत्ताया अभावादिदमपि न सन्देशयोग्यमित्याशयः।

ज्ञास्यसीति। मरणे त्वद्विरहपीडयैव मम मृत्यौ सति प्रीतिं ज्ञास्यसि, भवति कियान् मे स्नेह आसीदित्यवगमिष्यसि इति स्नेहबोधनम् असम्भाव्यमेव एतादृशदुःखान्यनुभवन्त्या मन्दभाग्याया मे बह्वपेक्षितस्य मृत्योरेवासम्भवात्, अत एवायमपि सन्देशो न प्रेषणाय इत्याशयः।

इति मुद्गलपुर ( मुङ्गेर ) मण्डलान्तर्गत–'बरौनी'ग्रामवास्तव्य–वत्सकुलावतंस–वैयाकरणकेसरि-
'बदरीनाथ'शर्मात्मज-ज्योतिर्विदग्रगण्यानेकराजसम्मानित–श्रीलोकनाथ तनुजन्म–व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य-मीमांसा-शास्त्रि-ठक्कुरोपनामक-श्रीकृष्णमोहन-
शास्त्रि एम० ए० निर्मिता कादम्बरीपूर्वार्द्ध–'चन्द्रकला'–टीका समाप्ता।

---

कुलटाकी धृष्टता है; 'आप यहाँ अवश्य आइएगा' यह तो सौभाग्यका अहङ्कार है; 'मैं अपनेसे ही आपके निकट आती हूँ' यह तो स्त्रियोंकी स्वाभाविक चञ्चलता है;' 'यह दासी केवल आपमें अनुरक्त है' यह तो अपनी भक्ति अपनेसे ही प्रकाश करनेमें लघुता है; 'आप अस्वीकार कर देंगे इस आशङ्कासे मैं सन्देशा नहीं भेजती' यह तो निश्चयपूर्वक नहीं समझे गये विषयको जनाना है; 'आपके साथ वियोग हो जानेके कारण जीवन की अपेक्षा नहीं मालूम होती है और मैं दुःख सहन करती हुई सखियोंके समीप कठिन हृदयवाली होकर परिचित हो रही हूँ' यह तो अत्यन्त प्रणय-प्रकाश है, और 'मेरी मृत्यु होनेपर आपके प्रति कितनी दूर तक प्रणय था उसे जानिएगा' यह तो अत्यन्त असम्भव ही है।

इस प्रकार ठक्कुरोपनामक श्रीकृष्णमोहनशास्त्रिविरचित कादम्बरी-
पूर्वार्धका विद्योतिनीनामक भाषानुवाद समाप्त हुआ।

---

१. अनुरक्त। २. स्वयं भक्ति। ३. निवेदनापलाघवम्। ४. उद्धतप्रतिबोधनम्। ५'''अनुजीवित'''।
६. ज्ञास्यसि मरणेन प्रीतिमित्यसम्भाव्यमिति।

# टीकाकर्त्तुः परिचयः

आस्ते भारतवर्ष एव नितरामाचारदीक्षागुरु-
यंत्रासन् षड्दर्शनादिकृतिनो व्यासाक्षपादादयः ।
श्रीवाचस्पति मण्डन प्रभृतयो ये दर्शनोद्धारकाः
सञ्जाताः प्रबलान्धकाररवयः सर्वप्रधाना इह ॥
तत्रास्तेऽखिलखलोक एव प्रथिता सद्विप्रभूपान्विता-
गङ्गा-कौशिकि-गण्डकी हिमघनैर्या चैव सीमाकृता ।
आद्याशक्तिजनिश्च यत्र समभूत्स्वर्गात्मिका याऽवनौ
सा नाम्ना*मिथिलेति तन्त्रलसिता विद्योतते सर्वतः ॥
तस्यां चैव हि 'द्वारवङ्ग' वलये 'उच्चैठ' पीठान्तिके
ख्याता 'चानपुरे'ति रम्यनगरी विद्वद्वरैर्मण्डिता ।
तत्रास्मत्कुलपूर्वजाः समभवन् सत्कर्मदीक्षाव्रताः
शास्त्रारण्यविहारिणो नृपकुलाल्लब्धप्रतिष्ठादिकाः ॥
अत्रास्मज्जनकाच्च यः समभवत् पूर्वक्रमे सप्तमो
योगाभ्यासरतो विचारनिपुणो ज्ञानैकनिष्ठो महान् ।
वत्सेत्यन्वयसन्मणिः सुनगरे शिष्योपशिष्यैर्युतः
सुख्यातिं समुपागतः खलु **भवानन्दा**भिधानो बुधः ॥
एतस्माद्**रघुनाथो**ऽभूच्छास्त्रविज्ञानतत्त्ववित् ।
तदात्मजौ खलु महा-महोपाध्यायसंयुतौ ॥
**तेजनाथ-मेहर्वानौ** सिंहविक्रान्तशालिनौ ।
अनेकग्रन्थकर्त्तारौ सञ्जातौ सुषमान्वितौ ॥
तत्र जातः सुनिपुणो **'बाबूराम'**-पदाभिधः ।
**तेजनाथाद्धि** सर्वोपकारी लोकोक्तिसंग्रही ॥
**हर्षदत्तो घरभर्णो वेणीदत्ता**भिधस्तथा ।
त्रयः पुत्राः समभवंस्तेषु तार्तीयकाच्च यः ॥
नैयायिकवरो **भाइ-नाथ**नामा श्रुतः किल ।
स श्रीजयपुरेशस्य प्रधानः पण्डितोऽभवन् ॥

---

* यामलसारोद्धारे—
वैकुण्ठगान् पुरस्कृत्य लोकाँल्लक्ष्मीरवातरत् ।
वैकुण्ठस्तु निजांशेन मिथिलाभूमिमाविशत् ॥
अतो निवासभूमिस्तु सर्वस्थानाद्विशिष्यते ॥

तथा च **'बदरीनाथो'** वैयाकरणकेसरी।
**बबुए**संज्ञको जातस्तत्परस्**ठीठरा**भिधः ॥
चतुर्ष्वेतेषु बदरीनाथस्य खलु ये सुताः ।
निर्दिशामो हि तानत्र यथावत्प्रथिता भुवि ॥
तत्र ज्येष्ठः सुधीः श्रीमान् दैवज्ञो राजसत्कृतः।
**लोकनाथाभिधो** ज्ञेयः सत्कीर्त्तिलसितो हि यः॥
तथा शाब्दिकमर्मज्ञः प्राज्ञो योगविदग्रगः।
**श्रीयोगनाथः** प्रथितः काव्यतीर्थस्तथा परः॥
**श्रीचेतनाथो** देव्यास्तु समाराधनतत्परः।
तत्सुतः शाब्दिकः काव्यतीर्थोपाधिविभूषितः ॥
**श्रीश्यामसुन्दरो** ज्ञेयो दयालुर्भक्त आत्मवान्।
पारम्पर्यक्रमेणैते ठक्कुरोपाधिसंयुताः ॥
**श्रीकृष्णमोहन**श्चाथ **कमलाकान्त**नामकः।
**सर्वजिच्च** तथा ज्ञेयो **जगदीशा**दिसंज्ञकः ॥
एते **श्रीलोकनाथ**स्य पुत्राः सन्ति महात्मनः ।
**बरौनी**संज्ञके ग्रामे साम्प्रतं निवसन्ति हि ॥
माता मदीया **लक्ष्म्या**ख्या यन्नाम्ना च मया कृता।
**साहित्यदर्पणा**ख्यस्य व्याख्या छात्रहितैषिणी ॥
मातुः परिचयस्तावद्दीयतेऽत्र मया बुधाः।।
सत्कश्यपान्वये जातो **गोविन्दो** हि परोपकृत् ॥
दैवज्ञो **लालजी** ज्येष्ठस्ततः **पद्ममणि**र्मतः।
कनिष्ठश्च ततो जातो नाम्ना **गृद्धमणि**र्मणिः॥
एतस्माज्जन्म मे मातुर्विज्ञेया इह भूतले ।
मध्यमः खलु यः **पद्म-मणिः** ख्यातो हि बुद्धिमान्।
तत्पौत्रश्च **गुणानन्दो** दैवज्ञ इह कीर्त्तितः ।
तथा चैव **रमानन्दो** व्याकरणादिवित्सुधीः ॥
ज्ञेया **'चन्द्रकला'** नाम्नी धर्मपत्नी मम प्रिया।
या च कादम्बरीसख्या संयोज्य समलङ्कृता ॥
मद्ग्रन्थमध्ये बहवो हि दोषा नूनं भविष्यन्ति तथापि मान्याः।।
किं कण्टकाढ्यामपि केतकीं तु लोका न गृह्णन्ति वदन्तु सन्तः॥

492

# संक्षिप्त सूचीपत्रम्

कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन ।
डा. वासुदेवशरण अग्रवाल १३-७५
संस्कृतसाहित्येतिहासः ।
आचार्य रामचन्द्र मिश्र ५-००
संस्कृत साहित्य का इतिहास ।
वाचस्पति गैरोला २०-००
संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास ।
(परीक्षोपयोगी संस्करण) वा० गैरोला ८-००
हिन्दी काव्यादर्श । 'प्रकाश' व्याख्या ६-५०
संस्कृतवाङ्मयपरिचयः । ( वेद से
२० वीं सदी तक की आलोचना ) १-५०
काव्यदीपिका। 'मयूख' संस्कृत हि टीका २-००
काव्यदीपिका-अष्टमशिखा । संपादक
डॉ० भोलाशंकर व्यास १-२५
काव्यप्रकाश । 'नागेश्वरी' व्याख्या ६-००
हिन्दी काव्यप्रकाश। डॉ० सत्यव्रतसिंह १०-००
१-३ उल्लास ३-००, दशम उल्लास ५-००
हिन्दी दशरूपक। डॉ० भोलाशंकर व्यास ५-००
काव्यालङ्कारः। भामहाचार्यविनिर्मित ३-००
काव्यप्रबन्धः । आधुनिक नवीन ग्रन्थ १-५०
किरातार्जुनीयम्। 'घण्टापथ'-'प्रकाश'
संस्कृत-हिन्दीटीका ४-००
कुमारसंभवः। 'पुंसवनी'- संस्कृत-हिन्दी
टीका, १-७ सर्ग ५-००
चन्द्रालोकः। 'राकागम' व्याख्या सहित ३-००
चन्द्रालोकः । 'पौर्णमासी'-कथाभट्टी
संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ३-००
चम्पूरामायणम्। 'प्रकाश' सं. हि. टीका ६-००
चम्पूभारतम् । 'प्रकाश' सं. हि. टीका ८-००
दशकुमारचरितम् । 'बालबोधिनी'-
'बालक्रीडा' संस्कृत-हिन्दी टीका ५-५०
नैषधीयचरितम् । 'जीवातु'-'प्रबोधिनी'
संस्कृत-हिन्दी टीका सहित १३-००
ध्वन्यालोकः। 'दीधिति'- सं. हि. टीका ८-००
नलचम्पूः । 'विषमपदप्रकाश' व्याख्या
'भावबोधिनी' टिप्पणी सहित ४-००
पिङ्गलछन्दःसूत्रम् । हिन्दी टीका ०-७५
भोजप्रबन्धः । 'राज्यश्री' हिन्दी टीका १-५०
मेघदूतम् । 'संजीविनी'-'चारित्रवर्द्धिनी'
आदि संस्कृत-हिन्दी टीका चतुष्टय सहित १-२५
भट्टिकाव्यम्। 'चन्द्रकला'-'विद्योतिनी'
संस्कृत-हिन्दी टीका सहित १२-००
रघुवंशमहाकाव्यम् । 'सञ्जीविनी'-'मणि-
प्रभा' संस्कृत हिन्दी टीका सहित ५-००

रसमञ्जरी । 'सुरभि' सं. हि. व्याख्या १-००
हिन्दी रसगंगाधरः । उत्प्रेक्षालंकारान्त १८-००
वाग्वल्लभः । 'वरवर्णिनी' व्याख्या ४-००
वासवदत्ता। 'चपला' संस्कृत हिन्दी टीका ४-००
वृत्तरत्नाकरः । 'नारायणी'-'मणिमयी'
संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ३-००
शिशुपालवधम् । मल्लिनाथी-मणिप्रभा
संस्कृत-हिन्दी टीका ८-००
साहित्यदर्पणम्। 'लक्ष्मी' टीकासहित १२-००
हिन्दी साहित्यदर्पण । सत्यव्रत सिंह १२-५०
हिन्दी कुवलयानन्द । डा० व्यास ६-५०
हिन्दी गाथासप्तशती । नर्मदेश्वर
चतुर्वेदी ५-००
हिन्दी प्राकृतप्रकाश। मथुरानाथ दीक्षित ५-००
अभिज्ञानशाकुन्तलम् । 'किशोरकेलि'
संस्कृत-हिन्दी टीका, नोट्स सहित ६-००
उत्तररामचरितम्। 'चन्द्रकला' संस्कृत-
हिन्दी टीका, नोट्स सहित ४-५०
नागानन्दनाटकम् । 'भावार्थदीपिका'
संस्कृत-हिन्दी टीका, समालोचना सहित ३-००
मालतीमाधवम् । 'चन्द्रकला' संस्कृत-
हिन्दी टीका, नोट्स सहित ५-००
मुद्राराक्षसम्। 'शशिकला' सं. हि. टीका ३-२५
रत्नावली । 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीटीका ३-००
मृच्छकटिकम् । " " ६-००
अनर्घराघवम् । " " ८-००
प्रसन्नराघवम् । " " ४-००
प्रतिमानाटकम् । " " २-००
मालविकाग्निमित्रम् । " " ३-००
प्रबोधचन्द्रोदयः । " " २-५०
प्रियदर्शिका । " " २-००
महावीरचरितम् । " " ४-००
विक्रमोर्वशीयम् । " " ३-००
वेणीसंहारनाटकम् । " " ३-००
स्वप्नवासवदत्तम् । " " २-५०
कर्पूरमञ्जरी। 'मकरन्द' सं. हि. व्याख्या २-५०
हर्षचरितम् । कथाभट्टी संस्कृत हिन्दी
टीका सहित प्रथम उच्छ्वास १-२५
हिन्दीहर्षचरितम् । 'संकेत' सं. हि. व्या. ६-००
पञ्चतन्त्रम् । 'सरला' हिन्दी टीका ५-००
हिन्दी प्राकृत व्याकरण । मधुसूदन
प्रसाद मिश्र ५-००
प्राकृत साहित्य का इतिहास ।
जगदीशचन्द्र जैन २०-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१